

प्राप्तिस्थान

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था
C/o. श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर,
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चोक, अहमदाबाद.

मुद्रक : पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी
नयन प्रि. प्रेस, का. २-६१
गांधीरोड, ढींकवावाडी, अहमदाबाद-१

अभिधान राजेन्द्रकोषस्य रचना तु सर्वथा अपूर्वेवाऽस्ति
पण्डित शितिकण्ठशास्त्री

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष!

शब्दकोशोंकी परंपरा में 'अभिधानराजेन्द्र' यथार्थमें एक विशिष्ट उपलब्धि है ।

श्रीमद् की जीवनसाधनाका यह अत्यंत उदाहरण है। जब इस कोषका पहिला अक्षर लिखा गया तब वे तिरसठ वर्ष के थे ।

सात भागों में तथा दस हजार पांचसो छियासठ पृष्ठों में प्रकाशित यह कोश वस्तुतः एक विश्वकोष के समान है । जिसमें जिनागमों तथा विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर विस्तृत विवेचन किया गया है

— वसंतीलाल जैन

अभिधानराजेन्द्र कोष जैसे अतिविशाल ग्रन्थरत्नकी रचना उनके सम्यग् ज्ञानके सर्वांगी समर्पणकी साहजिक निष्पत्ति हैं । अन्यथा असंभव सा यह कार्य उनसे होता ही नहीं । अभिधानराजेन्द्र कोष सामान्य शब्दकोष नहीं हैं । किन्तु शास्त्रवचनोंकी समीचीन अभिव्यक्ति और अर्धघटनका सर्वश्रेष्ठ सहायक माध्यम है ।

— रमेश आर. जवेरी

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि-कलिकालसर्वज्ञकल्प-परमयोगिराज
जगत्पूज्य-गुरुदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।



दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी-राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुत : ।
सङ्घस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान्

प्रकाशकीय निवेदन

कलिकाल सर्वज्ञकल्प, सकलागमरहस्यवेदी, विश्वपूज्य, परमयोगीन्द्र, परमकृपालु, पूज्यपाद गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने अपने तप, जप, एवं ज्ञान, ध्यान की आत्मोन्नतिकारिणी प्रवृत्ति में अप्रमत्त भाव से रममाण होते हुए जिन प्रवचन में निर्दिष्ट सत्य वस्तु तत्त्व का जीवनभर प्रचार, प्रसार किया। साथ ही अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया—ग्रन्थ सम्पदा का सर्जन किया। एक विशाल ग्रन्थागार सम उन की जो सर्वोत्तम, और सर्वतोमुखी रचना हैं श्री अभिधान राजेन्द्र केश ! इस अलौकिक कृति के निर्माण द्वारा श्रीमद्ने विश्व के सभी विद्वज्जनों को युगों युगों के लिये अद्भुत प्रेरणा प्रदान की है।

बीसवीं शताब्दी के संध्याकाल में इस ग्रन्थराज की प्रथम आवृत्ति श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्री जैन प्रभाकर प्रिन्टींग प्रेस, रतलाम (म. प्र.) से प्रकाशित की गई थी। प्रथमावृत्ति की प्रतियां समाप्त प्रायः हो जाने के कारण यह ग्रन्थ दुर्लभ हो गया था। विश्व इस की द्वितियावृत्ति का इन्तेजार कर रहा था और हम भी इस के पुनः प्रकाशन के लिये प्रयत्नशील थे। अ. भा. श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ का श्रीभांडवपुरतीर्थ पर विराट अधिवेशन हुआ और उस में इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। तदनुसार प्रकाशन कार्य प्रारंभ हुआ।

इस महान कार्य में परमपूज्य शान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय विद्याचंद्रसूरीश्वरजी महाराज के पट्टप्रभावक परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनिषी आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज का श्रम साध्य सहयोग हमें प्राप्त हुआ है।

वर्षों के बाद पुनः एक बार इस ग्रन्थराज का प्रकाशन हम सब के लिये परम आनन्ददायक है। इस के पुनः प्रकाशन में परमपूज्य तीर्थ प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज, मुनिराज श्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री विनयविजयजी, मुनिश्री नित्यानन्द विजयजी, मुनिश्री जयरत्नविजयजी मुनिश्री जयानन्दविजयजी आदि मुनि मण्डल, एवं साध्वी-मण्डल को ओर से जो सहयोग मिला है उस के लिये हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं :

श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-अहमदाबाद के ट्रस्टी मंडल का भी इस कार्य में पूर्ण सहयोग मिला है।

इस प्रकाशन में हमें जिन जिन ग्राम नगरों के श्री संघ एवं महानुभावों का जो अनमोल आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। नियमानुसार उनका नाम निर्देश करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है।

उन की मंगल नामावली प्रस्तुत है इस प्रकार।

- १ साध्वीजी श्री सुन्दरश्रीजी, विदुषी साध्वीजी श्री गंभीरश्रीजी के उपदेश से श्री मालवदेशीय त्रिस्तुतिक संघ।
- २ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, चोराउ (राज)
- ३ श्री महावीर जैन श्वेताम्बर पेढ़ी, श्रीभाण्डवपुर तीर्थ (राज)
- ४ श्री भेसवाड़ा सिल्क मिल्स, भीवंडी (महाराष्ट्र)
- ५ श्री वस्तीमलजी हेमाजी, जीवाणा (राज)
- ६ शाह नेमिचन्द देवीचन्द फूलचन्द, शुक्नराज, कान्तिलाल, राजु बेटापोता श्री लखमाजी वलदरिया, कोशेलाव (राज.)

- ७ श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक (त्रिस्तुतिक) संघ थराद (उ. गुजरात)
- ८ श्री सौधर्मवृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ अने थराद जैन युवक मंडल, अहमदाबाद
- ९ श्री सौधर्मवृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ दाधाल
- ० श्री सौधर्मवृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-सुराणा
- १ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ-धानेरा
- २ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ थराद जैन मित्रमण्डल, बम्बई ।
- ३ श्री जैन श्वेताम्बर सकल संघ, नेनावा (गुजरात)
- ४ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, मेगलवा (राज)
- ५ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, सियाणा (राज)
- ६ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, आकेली (,.)
- ७ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, राणीस्टेशन (,,)
- ८ श्री मांगीलाल, फूटरमल, शान्तिलाल, किशोरचन्द्र वेटा पोता शेषमलजी खसाजी रामाणी, गुड़ावालोतान् (राज)
- ९ श्री दरजमल, उकचन्द, हस्तिमल, तगराज हीराणी, रेवतड़ा (राज)
- १० श्री चेतनकुमार अशोककुमार, कन्हैयालालजी काश्यप, रतलाम (म प्र)
- ११ श्री चीमनलाल भीखालाल लाधाणो वासणवाला, धानेरा (गुजरात)
- १२ शा जेठमल, जुहारमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, वीरचन्द, गौतमचन्द, अशोककुमार, रतनलाल, गणपतराज, वेटापोता केनाजी मेगलवा, (राजस्थान)
- १३ श्री अमरचन्द देशमल तिलोकचन्द मीठालाल ओटमल धरमाजी पटियात (धाणसा)
- १४ शाह मगराज सुखराज एन्ड कं मद्रास
- १५ शाह सरेमलजी हरखचन्दजी तिलोकचन्दजी वेटा पोता हांसाजी रतनपुराबोरा, मोदरा (राज.)
इन के अतिरिक्त गाँव नगरे के महानुभावोंने लाभ लिया है उन के नाम हैं.

भीनमाल, जोधपुर, मेगलवा, सायला, सुराणा, मद्रास, नल्लोर, विजयवाडा, मांडवला, धाणसा, आहोर, भे'सवाडा, सुरा, सियाणा, कामता, सुराणा, दाधाल, रेवतड़ा, उनडी, पांथेडी, बम्बई, सुमेरपुर, सांचेर, तखतगढ, केशेलाव, थराद, अहमदाबाद, लेवाणा, दूधवा, आणंद, वासणा, डीसा, लाखणी, बामी, धानेरा, कलेल, झाबुआ, टांडा, पारा, रिंगणोद, (धार)

इस प्रकार गुरु कृपा से एवं पू आचार्यश्री के सतत प्रयत्न से यह प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है, शुभम् ।

निवेदक

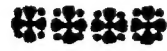
श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चौक
पो. अहमदाबाद

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था
अहमदाबाद

२०४२ पोष सुद७ (गुरुसप्तमी)

द्वितीयावृत्ति

प्रस्तावना



अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन ! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त हो कर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करता है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है । सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का क्रम आत्मा में परिलक्षित होता है ।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अतः इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है; परन्तु अवधिज्ञान, मनःपर्यावज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में समाविष्ट हैं ।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अंधेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होता है । यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर करता है । प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा में स्वयं को डुबो दे । ‘जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पठा ।’

संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आस्रव और बन्ध । दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही सवर और निर्जरा भी आवश्यक है । बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वयं को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्वन्ध अथवा अपुनर्वन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं ।

जिनागम में अध्यात्म समाया हुआ है । सहज स्थिति की कामना करनेवाले को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहे ।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है; अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है; जैसे खान में रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है । मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की । प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है । जब दोनों अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रूप में और सुवर्ण सुवर्ण के रूप में प्रकट होता है । मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है । ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में सम्यक् चारित्र्य के प्रयोग द्वारा अपने पर से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है ।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों में रममाण आत्मा को कर्म भुगतान के लिए प्रेरित करती रहती हैं । जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो अममंजस स्थिति में हैं; ऐसे संसारो जीवों का ये कर्म प्रकृतियाँ विभाव परिणमन करा लेती हैं

ज्ञानावरणीय कर्म आँखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आँखों पर कपड़े की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता; ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानावरणीय कर्म आवृत्त कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल में प्रवेश करने से रोकता है; उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव में आकण्ठ डुबो देता है; अतः जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है। साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है, पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटनेवाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है; पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पड़ता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन कराता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करनेवाला मनुष्य अपने होश-हवास खो बैठता है; इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म-स्वरूप को भूल जाता है और पर पदार्थों के आत्म स्वरूप मान लेता है। यही एकमेव कारण है उसके संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत वादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग में रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता; वह अपने जीवन में आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममकार जब तक हममें विद्यमान हैं; तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन में जकड़े हुए ही हैं। अहंकार और ममकार जितना जितना घटता जाता है; उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोहराजा के निर्देशन में ही कर्म सेना आगेकूच करती है। जीव को भेदविज्ञान में वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया में अटकाये रखा है।

और बेड़ी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रुपी बेड़ी लगा दी है; जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेड़ी टूटती है, तो दूसरी पुनः तुरन्त लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार जब तक जीव की जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती, तब तक जीव मुक्ति की मौज नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र पट पर अंकित करता है; ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चतुर्गति में भ्रमण करने विविध जीवों को भिन्न भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य तिर्यच और नरक गति में भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बड़े बर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पड़ता है।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है—राजा के खजांची के समान। खजाने में माल तो बहुत होता है, पर कुञ्जी खजांची के हाथ में होती है, अतः खजाने में से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता है। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। दान, लाभ, भोग, उपभोग और बोर्य (आत्मशक्ति) के विषय में अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। संक्षेप में यह है जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमों में आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्त्व, मोक्ष मार्ग आदि अनेक ऐसे विषयों का समावेश है, जो जीव के आत्म विकास में परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करनेवाले के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्वस्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन धर्म दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं। 'सर्वं धर्मानं परित्यज्य, मामेकं शरणं ब्रज।', 'बुद्धं शरणं गच्छामि.....धम्मं सरणं गच्छामि।' और 'केवलिपणत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनों पक्षों के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म में प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान् केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनों में जीव को परमात्मप्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है, जब कि जैनधर्मदर्शन में परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात् जीव को परमात्म स्वरूप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थों का अनुशोलन अत्यन्त आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनों के अभाव में जिनागमों का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान् जिनागम की एक ऐसी कुञ्जी तलाश रहे थे, जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय में एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ में लिया। वे दिव्य पुरुष थे—उत्कृष्ट चारित्र्य क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंने जिनागम की कुञ्जी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविजिनाथ जिनालय की छत्र छाया में अपने हाथ में लिया। कुञ्जीनिर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलनी रही और सूरत में कुञ्जी बन कर तैयार हो गयी। वह कुञ्जी है—'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमों का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास में हो तो और कोई ग्रन्थ पास में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमों में निर्दिष्ट

वस्तुतत्त्व जो 'अभिधान राजेन्द्र' में है, वह अन्यत्र हो या न हो; पर जो नहीं हैं; वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञामाँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति में इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परंपरा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश में वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'यास्क' की रचना 'निरुक्त' में और पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' में भी विशाल शब्दसंग्रह दृष्टिगोचर होता है। ये सब कोश गद्य लेखन में हैं।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है—अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धनञ्जय की निघण्टु; इनमें से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों में अमरसिंह का 'अमरकोश' बहु प्रचलित है।

धनपाल का 'पाइय लच्छी नाम माला' २७९ गाथात्मक है और एकार्थक शब्दों का बोध कराता है। इसमें ९९८ शब्दों के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने 'पाइयलच्छी नाम माला' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जयने 'धनञ्जय नाम माला' में शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक बन जाते हैं—जैसे भूधर, कुधर, इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दों निर्माण होता है।

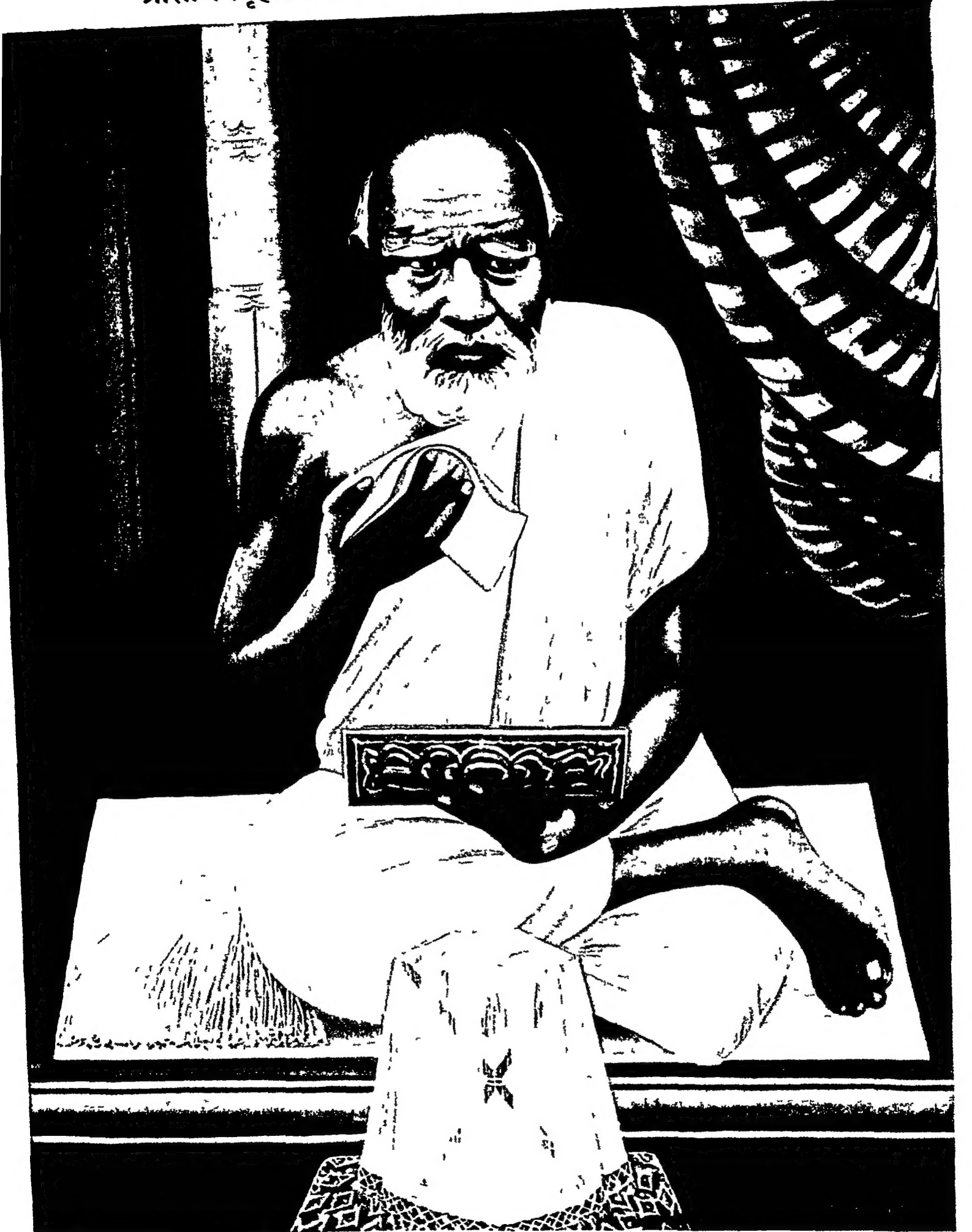
इसी प्रकार धनञ्जयने 'अनेकार्थ नाममाला' की रचना भी की है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्थ संग्रह', 'निघण्टु संग्रह' और 'देशी नाममाला' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा 'शिलोछ कोश', 'नाम कोश', 'शब्द चन्द्रिका', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव', 'शब्दभेद नाममाला', 'नाम संग्रह', 'शारीय नाममाला', 'शब्द रत्नाकर', 'अव्ययैकाक्षर नाममाला', 'शेष नाममाला', 'शब्द सन्दोह संग्रह', 'शब्द रत्न प्रदीप', 'विश्वलोचन कोश', 'नानार्थ कोश', 'पंचवर्ग संग्रह नाम माला', 'अपवर्ग नाम माला', 'एकाक्षरी-नानार्थ कोश', 'एकाक्षर नाममालिका', 'एकाक्षर कोश', 'एकाक्षर नाममाला', 'द्वयक्षर कोश', 'देश्य निर्देश निघण्टु', 'पाइय सहस्रहण्व', 'अर्धमागधी डिकशनरी', 'जैनागम कोश', 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं।

इनमें से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार इस महा ग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है; फिर भी इसकी कुछ विशेषताएँ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक तो नहीं होगा।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर-चर्चाचक्रवर्ति-आगमरहस्यवेदी-श्रुतस्थविरमान्य-
श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज ।



विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवसद्विलासम् ।
हृद्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

‘अभिधान राजेन्द्र’ अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा में आम आदमों के धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमागधी प्राकृत में की गई है। इस महाकोश में श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का मर्म ‘अ’ कारादि क्रम से समझाया है; यह इस महाग्रन्थ की वैज्ञानिकता है। उन्होंने मूल प्राकृत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रूप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है, इसके अलावा उस शब्द के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमें व्यापकता भी है जैनधर्म-दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमें तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें स्यादवाद, ईश्वरवाद सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सप्तानवे सन्दर्भ ग्रन्थ इसमें समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ साथ यह सुविशाल भी है। सात भागों में विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रॉयल पेजी पृष्ठों में विस्तारित है। इसमें धर्म-संस्कृति से संबंधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्याख्यायित हुए हैं। उनकी पुष्ट-सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमें चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सातों भागों का यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे; तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पड़ेगा।

इस महाग्रन्थ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने में यह महाग्रन्थ लिखा गया; उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी नहीं किया। कहते हैं, वे कपड़े का एक छोटा सा टुकड़ा स्याही से तर कर देते थे और उसमें कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होंने कभी नहीं लिखा। चातुर्मास काल के अलावा वे सदैव विहार-गत रहे। मालवा, मारवाड़, गुजरात के प्रदेशों में उन्होंने दीर्घ विहार किये; प्रतिष्ठा-अंजनशलाका, उपधान, संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक कार्य संपन्न किये; जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक सन्ताप भी सहन किये। साथ साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति में केवल चौदह वर्ष में एक व्यक्ति द्वारा इस ‘जैन विश्वकोश’ का निर्माण हुआ; यह एक महान आश्चर्य है। इस महाग्रन्थ के प्रणयन में उन्हें विश्ववपुरुष की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेवसूरिजी महाराज ‘अभिधान राजेन्द्र’ और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोद्घास प्रकट करते हुए लिखते हैं—आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। माधनों के अभाव के जमाने में यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है; इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्त्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन में उनके प्रति सन्मान का भाव उत्पन्न होता है, क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश की रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और उस विकट समय में अपने विचार पर उन्होंने अमल भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौनसी है; तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा; जो बड़ा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने को हलचल और हमारा दक्षिण विहार देनेों एक साथ प्रारम्भ हुए। व बई चातुर्मास में हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला, उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुर्लभ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमें यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पाम वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो, तो हमें इसके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमने उन्हें आश्चस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले में सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडु राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण में वसे हुए दूर दूर के हजारों भद्रालुओं ने इस चातुर्मास में मद्रास की यात्रा की। मद्रास चातुर्मास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् पोप सुदी सप्तमी के दिन मद्रास में गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहव का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन में पूज्य गुरुदेवश्री के महान कार्यों की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति में 'अभिधान राजेन्द्र' का उचित मूल्यांकन करते हुए इसके पुनर्मुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैंने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमें आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई; पर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमें यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन की स्थिति सबके लिए दुःखद थी, पर मैं मजबूर था। आंतरिक विरोध को जन्म दे कर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया-दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओंने
.....। उन्होंने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यवसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा; व्यवसायियों के लिये नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है।' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके इसके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीजैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूँज उठा।

❧ श्री सौधर्म बृहत्तपागणीय पट्टावली ❧

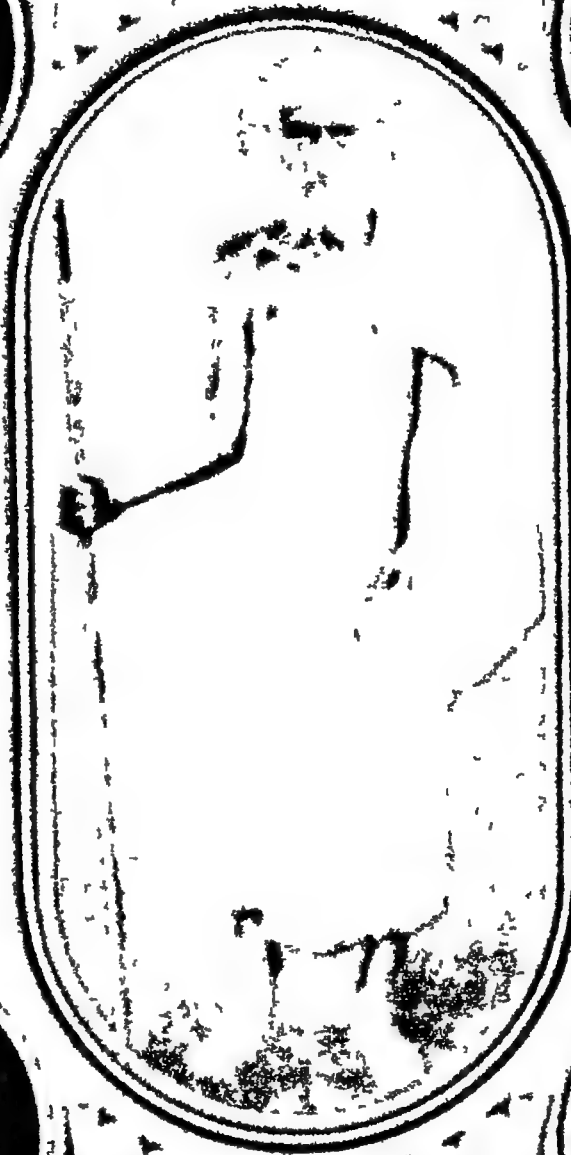
—*—

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

- १ श्रीसुधर्मास्वामी
- २ श्रीजम्बूस्वामी
- ३ श्रीप्रज्ञवस्वामी
- ४ श्रीसय्यंभवस्वामी
- ५ श्रीयशोभद्रसूरि
- ६ { श्रीसंभूतविजयजी
श्रीजम्बूबाहुस्वामी
- ७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
- ८ { श्रीआर्यसुहस्तीसूरि
श्रीआर्यमहागिरि
- ९ { श्रीसुस्थितसूरि
श्रीसुगुणिकसूरि
- १० श्रीइन्द्रदिनसूरि
- ११ श्रीदिनसूरि
- १२ श्रीसिंहगिरिसूरि
- १३ श्रीवज्रस्वामीजी
- १४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
- १५ श्रीचन्द्रसूरिजी
- १६ श्रीसामन्तजसूरि
- १७ श्रीवृद्धदेवसूरि
- १८ श्रीप्रद्योतनसूरि
- १९ श्रीमानदेवसूरि
- २० श्रीमानतुङ्गसूरि
- २१ श्रीवीरसूरि
- २२ श्रीजयदेवसूरि
- २३ श्रीदेवामन्दसूरि
- २४ श्रीविक्रमसूरि

- २५ श्रीनरसिंहसूरि
- २६ श्रीसमुद्रसूरि
- २७ श्रीमानदेवसूरि
- २८ श्रीविवुधप्रभसूरि
- २९ श्रीजयानन्दसूरि
- ३० श्रीरविप्रज्ञसूरि
- ३१ श्रीयशोदेवसूरि
- ३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
- ३३ श्रीमानदेवसूरि
- ३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
- ३५ श्रीउद्योतनसूरि
- ३६ श्रीसर्वदेवसूरि
- ३७ श्रीदेवसूरि
- ३८ श्रीसर्वदेवसूरि
- ३९ { श्रीयशोभद्रसूरि
श्रीनेमिचन्द्रसूरि
- ४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
- ४१ श्रीअजितदेवसूरि
- ४२ श्रीविजयसिंहसूरि
- ४३ { श्रीसोमप्रज्ञसूरि
श्रीमथिरत्नसूरि
- ४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
- ४५ { श्रीदेवेन्द्रसूरि
श्रीविद्यानन्दसूरि
- ४६ श्रीधर्मघोषसूरि
- ४७ श्रीसोमप्रभसूरि
- ४८ श्रीसोमतिष्ठकसूरि
- ४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि

- ५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
- ५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
- ५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
- ५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
- ५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
- ५५ श्रीहेमविमलसूरि
- ५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
- ५७ श्रीविजयदानसूरि
- ५८ श्रीहीरविजयसूरि
- ५९ श्रीविजयसेनसूरि
- ६० { श्रीविजयदेवसूरि
श्रीविजयसिंहसूरि
- ६१ श्रीविजयप्रभसूरि
- ६२ श्रीविजयरत्नसूरि
- ६३ श्रीविजयक्षमासूरि
- ६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
- ६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
- ६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
- ६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
- ६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
- ६९ श्री विजयभूषेन्द्रसूरि
- ७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
- ७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
- ७२ वर्तमानाचार्य
श्री विजयजयन्तसेनसूरि



MAN WITH A BEARD AND GLASSES

अर्हम् ।

ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त जीवन-परिचय ।



रागद्वेषप्रदाकुद्वयदलनकृते वैनतेयत्वमाप्तः,

सूरीणामग्रगण्यो गुणगणमहितो मोहनीयस्वरूपः ।

यः “श्रीराजेन्द्रसूरि” जगति गुरुवरः साधुवर्गे वरिष्ठः,

तस्य स्मर्तुं चरित्रं कियदपि यतते ‘श्रीयतीन्द्रो’ मुनीन्द्रः ॥ १ ॥



आज हम उन महानुभाव करुणामूर्ति उपशम (शान्त) रसस्वरूपवर्तमान सकलजैना-गमपारदर्शी श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय प्रवर जैनाचार्य जट्टारक श्रीश्री १००८ श्रीमद्-विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का अत्यन्त प्रभावशाली संक्षिप्त जीवन-परिचय देंगे, जो कि इस जगत जूमि में अनेक विद्वज्जनों के पूज्य परोपकारपरायण महाप्रभावक आ-चार्य हो गये हैं ।

पूर्वोक्त महात्मा का जन्म श्री विक्रम संवत् १८८३ पौषशुक्ल ९ गुरुवार सुताविक सन् १८९९ ईस्वी दिसम्बर ३ तारीख के दिन ‘अढनेरा’ रेडवे स्टेशन से १९ मील और ‘आगरे’ के किले से ३४ मील पश्चिम राजपूताना में एक प्रसिद्ध देशी राज्य की राजधानी शहर ‘जरतपुर’ में पारखगोत्रावतंस ओश (वाल) वंशीय श्रेष्ठिवर्य ‘श्रीऋषजदास जी’ की सुशीला पत्नी ‘श्रीकेसरी बाई’ सौजाग्यवती की कुक्षि (कूँख) से हुआ था । आपका नाम रत्नों की तरह देदीप्यमान होने से जातीय जीमनवार पूर्वक ‘रत्नराज’ रक्खा गया था । आपके जन्मोत्सव में जगवद्भक्ति, पूजा, प्रभावना, दान आदि सत्कार्य विशेष रूप से कराये गये थे, यहाँ तक कि नगर की सजावट करने में जी कुछ कमी नहीं रक्खी गयी थी ।

आपकी बाढ्यावस्था जी इतनी प्रभावसंपन्न थी कि जिसने आपके माता पिता आदि परिवार के क्या ? अपरिचित सज्जनों के जी चित्तों में आनन्द-सागर का उद्भास करदिया, अर्थात् सबके लिये आनन्दोत्पादक और अतिसुखप्रद थी । आपने अपने बाढ्यावस्था ही में सुरम्य वैनयिक गुणों से माता पिता और कलाचार्यों को रञ्जित कर करीब दस बारह वर्ष की अवस्था में ही सांसारिक सब शिक्षाएँ संपन्न करली थीं । आपके ज्येष्ठ चाचा ‘मा-णिकचन्दजी’ और बड़ी बहन ‘प्रेमाबाई’ थी ।

पूज्य लोगों की आज्ञा पालन करना और माता पिता आदि पूज्यों को प्रणाम करना और प्रातःकाल उठकर उनके चरण कमलों को पूजकर उनसे शुभाशीर्वाद प्राप्त करना, यह तो आपका परमावश्यक नियम कर्त्तव्य कर्म था ।

आपकी रमणीय चित्तवृत्ति निरन्तर स्वाभाविक वैराग्य की ओर ही आकर्षित रहा करती थी, इसीसे आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम शिक्षाओं को प्राप्त करने में उत्साही रहते थे।

सबके साथ मित्रभाव से वर्तना, पूज्यों पर पूज्य बुद्धि रखना, गुणवानों के गुणों को देख कर प्रसन्न होना, सत्समागम की अभिलाषा रखना, कलह से रुकना, हास्य कुतूहलों से उदासीन रहना, और दुर्व्यसनी लोगों की संगति से बचकर चलना, यह आपकी स्वाभाविक चित्तवृत्ति थी।

बारह वर्ष की अवस्था से कुछ ऊपर होने पर अपने पिता की आज्ञा लेकर बड़े भाई 'माणिकचंदजी' के साथ 'श्रीकेसरियाजी' महातीर्थ की यात्रा की, और रास्ते में 'अम्बर' शहर—निवासी सेठ 'सौभाग्यमलजी' की पुत्री के माकिनी का दोष निवारण किया और ज़ीलों के संकट से सारे कुटुम्ब को बचाया था। इसी सबब से इस उपकार के प्रत्युपकार में 'सौभाग्यमलजी' ने अपनी सुरूपा पुत्री 'रमादेवी' का सगपन (सगाई) आप (रत्नराज) के साथ संयोजन करने का मानसिक विचार किया था। परन्तु यहाँ संबन्धियों का संमेलन न होने के सबब से सेठजी अपने कुटुम्ब सहित घर की तरफ रवाना हो गये। इधर 'माणिकचंदजी' जी अपने छोटे भाई को यात्रा कराकर 'गोरुवाड' की पञ्चतीर्थी की यात्रा करते हुए अपने घर को चले आये।

कुछ दिन घर में रहकर फिर दोनों भाई व्यापारोन्नतिके निमित्त अपने पिता का शुभाशीर्वाद ले बङ्गाज की ओर रवाना हुए। क्रमशः पन्थ प्रसार करते हुए दोनों भाई 'कलकत्ते' शहर में आए और सराफ़ी बाजार में आदित्या के यहाँ उतरे। इस शहर में दस पन्द्रह दिन ठहर कर जहाजों में धान (गह्वा) भर, शुद्ध मुहूर्त में 'सिंहलद्वीप' (सिलोन) की ओर रवाना हुए। मार्ग में अनेक उपद्रवों को सहन करते हुए 'सिंहलद्वीप' में पहुँचे। यहाँ से व्यव्योपार्जन करके कुछ दिनों के बाद 'कलकत्ता' आदि शहरों को देखते हुए अपने घर को आये। तदनन्तर माता पिता की वृद्धावस्था समझ कर उनकी सेवा में तत्पर हो वहाँ ही रहना स्थिर किया।

काल की प्रबल गति अनिवार्य है, यह मनुष्यों को दुःखित किये बिना नहीं रहती। अकस्मात् ऐसा समय आया कि—माता और पिता के अन्तिम दिन आ पहुँचे और दोनों भाइयों को अत्यन्त शोक होनेका अवसर आगया, परन्तु किञ्चित् धैर्य पकड़ कर माता पिता की अन्तिम च्छक्ति करने में कटिवद्ध हो, उनकी सुन्दर शिक्षाएँ सावधानी से ग्रहण कीं, और रातदिन उनके निकट ही रहना शुरू किया, यों करते काल समय आने पर जब माता पिता का देहान्त हो गया, तब दोनों भाई संसारी कृत्य कर विशेष शोक के वशीभूत न हो धर्मध्यान में निमग्न हुए।

तब से आपकी सुरम्य चित्तवृत्ति विशेषरूप से निरन्तर वैराग्य की ओर ही आकर्षित रहने लगी, इसी से आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम मुनिराजों के दर्शन प्राप्त करने में प्रोत्साहित रहते थे ।

एक समय ' श्रीकल्याणसूरिजी ' महाराज के शिष्य-यतिवर्य ' श्री प्रमोदविजयजी ' महाराज विचरते विचरते शहर 'जरतपुर' में पधारे और आज्ञा लेकर उपाश्रय में ठहरे । सब लोग आपके पास व्याख्यान सुनने आने लगे । इधर 'रत्नराज' जी देव दर्शन कर उपाश्रय में व्याख्यान सुनने के लिये आये । इस सुयोग्य सजा में 'श्रीप्रमोदविजयजी' महाराज ने संसार की क्षणिक प्रीति के स्वरूप को बहुत विवेचन के साथ दिखाया कि—
“अनित्यानि शरीराणि, विजयो नैव शाश्वतः” अर्थात् इस संसार में शरीरादि संयोग सब क्षणिक हैं, याने देखने में तो सुन्दर लगते हैं परन्तु अन्त में अत्यन्त दुःखदायक होते हैं और धन दौलत जी विनाशवान् हैं इसके ऊपर मोह रखना केवल अज्ञान ही है, क्यों कि—

“ दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्जवासे नराणां,

बालत्वे चापि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् ॥

तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,

संसारे रे मनुष्याः ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ? ” ॥ १ ॥

अर्थात् इस संसार में पहिले तो गर्जवास ही में मनुष्यों को जननी के कुक्षि (कूँख) में दुःख प्राप्त होता है, तदनन्तर बाल्यावस्था में जी मलपरिपूर्ण शरीर स्त्रीस्तनपयः पान से मिश्रित दुःख होता है, और जवानी में भी विरह आदि से दुःख उत्पन्न होता है, तथा वृद्धावस्था तो बिलकुल निःसार याने कफ वातादि के दोषों से परिपूर्ण है; इस-लिये हे मनुष्यो ! जो संसार में थोड़ा जी सुख का लेश हो तो बतलाओ ? ॥ १ ॥

इसवास्ते अरे ज्ञव्यो ! परमसुखदायक श्री जिनेन्द्रप्ररूपित अहिंसामय धर्म की आराधना करो जिससे आत्मकल्याण हो ।

इस प्रकार हृदयग्राहिणी और वैराग्योत्पादिका गुरुवर्य की धर्मदेशना सुनकर 'रत्नराज' के चित्त में अत्यन्त उदासीनता उत्पन्न हुई और विचार किया कि—वस्तुगत्या संयोग मोह ही प्राणीमात्र को दुःखित कर देता है, इससे मुझे उचित है कि-आत्मकल्याण करने के लिये इन्हीं गुरुवर्य का शरण ग्रहण करूँ, क्योंकि संसार के तापों से संतप्त प्राणियों की रक्षा करने वाले गुरु ही हैं ।

ऐसा विचार कर अपने संबन्धियों की अनुमति (आज्ञा) लेकर बड़े समारोह के साथ संवत् १९०३ वैशाख सुदी ५ शुक्रवार के दिन शुभयोग और शुभ नक्षत्र में महाराज 'श्री प्रमोदविजयजी' के कहने से उनके ज्येष्ठ गुरुव्राता 'श्रीहेमविजयजी' महाराज के पास यतिदीक्षा स्वीकार की, और संघ के समक्ष आपका नाम 'श्रीरत्नविजयजी' रक्खा गया ।

महानुभाव पाठकगण ! उस समय यतिप्रणाली की मर्यादा, प्रचलित प्रणाली से अ—

त्यन्त प्रशंसनीय थी अर्थात् रजोहृण मुहपत्ती सर्वदा पास में रखना, दोनों काल (समय) प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन करना, श्वेत-मानोपेन वस्त्र धारण करना, स्त्रियों के परिचय से सर्वथा बहिर्जुत रहना, पठन और पाठन के अतिरिक्त व्यर्थ समय न खोकर निद्रादेवी के वशीभूत न होना, निन्तर अपनी उन्नति के उपाय खोजना, और धर्म-विचार या शास्त्रविचार में निमग्न रहना इत्यादि सदाचारसे अतीव प्रशंसनीय प्राचीन समय में यतिवर्ग था । जैसे आज कल यतियों की प्रथा विगड़ गयी है, वैसे वे लोग विगड़े हुए नहीं थे, किन्तु इनसे बहुत ज्यादा सुधरे हुए थे । हाँ इतना जरूर था कि उस समय (१९०३) में भी कोई यति परिग्रह रखते थे, परन्तु महाराज 'श्रीप्रमोदविजयजी' को रहनी कहनी बिलकुल निर्दोष थी, अर्थात् उस समय के और (दूसरे) यतियों की अपेक्षा प्रायः बहुत जागों में सुधरी हुई थी, इसी से पुरुषरत्न 'श्री रत्नराजजी' ने वैराग्यरागरञ्जित हो यतिदीक्षा स्वीकार की थी ।

फिर कुछ दिन के बाद 'श्रीप्रमोदविजयजी' गुरुकी आज्ञा से श्रीरत्नविजयजी ने 'मूँगी सरस्वती' विरुद्धधारी यतिवर्य श्रीमान् 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज के पास रहकर व्याकरण, न्याय, कोष, काव्य, और अलङ्कार आदि का विशेष रूप से अभ्यास किया । 'श्रीप्रमोदविजयजी' और 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज की परस्पर अत्यन्त मित्रता थी । जब दोनों का परस्पर मिलाप होता था, तब लोगों को अत्यन्त ही आनन्द होता था । यद्यपि दोनों का गच्छ जित्ना था, तथापि गच्छों के ऊगड़ों में न पड़कर केवल धार्मिक विचार करने में तत्पर रहते थे, इसलिये 'श्रीसागरचन्द्रजी' ने आपको अपने अन्तेवासी (शिष्य) की तरह पढ़ाकर हुशियार किया था ।

'सागरचन्द्रजी' मरुधर (मारवाड़) देश के यतियों में एक ज़ारी विद्वान् थे, इनकी विद्वत्ता की प्रख्याति काशी ऐसे पुण्यक्षेत्र में भी थी, आप ही की शुभ कृपा से श्रीरत्न-विजयजी' स्वल्पकाल ही में व्याकरण आदि शास्त्रों में निपुण और जैनागमों के विज्ञाता हो गये, परन्तु विशेषरूप से गुरुगम्य शैली के अनुसार अभ्यास करने के लिये तपागच्छाधिराज श्रीपूज्य 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज के पास रहकर जैनसिद्धान्तों का अवलोकन किया और गुरुदत्त अनेक चमत्कारी विद्याओं का साधन किया ।

आपके विनयादि गुणों को और बुद्धिविचक्षणता को देखकर 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज ने आपको शहर 'उदयपुर' में 'श्रीहेमविजयजी' के पास बनी दीक्षा और 'पन्यास' पदवी प्रदान करवाई थी और अपने अन्त समय में 'पं० श्रीरत्नविजयजी' से कहा कि- " अब मेरा तो यह समय आलगा है, और मैंने अपने पाट पर शिष्य 'श्रीधीरविजय' को धरणेन्द्रसूरि' नामाङ्कित करके बैठाया तो है किन्तु अभी यह अज्ञ है, याने व्यवहार से परिचित नहीं है । इसलिये तुमको मैं आदेश करता हूँ कि-इसको पढ़ाकर साक्षर बनाना

और गच्छ की मर्यादा सिखाना ”। इस शुभ आज्ञा को सुनकर ‘पं० रत्नविजयजी’ ने सा-
ज्जलिवन्ध होकर ‘तहत्ति’ कहा। फिर श्रीपूज्यजी महाराज ने विजयधरणेन्द्रसूरिजी से कहा
कि—‘तुम रत्नविजय पन्यास के पास पढ़ना और यह जिस मर्यादा से चलने को कहें उसी
तरह चलना’। धरणेन्द्रसूरिजी ने जी इस आज्ञा को शिरोधार्य माना।

महाराज श्रीदेवेन्द्रसूरिजी ने तो चारों आहार का त्याग कर शहर ‘राधनपुर’ में अनशन
किया और समाधिपूर्वक कालमहीने में काल किया। पीछे से पट्टाधीश ‘श्री धरणेन्द्रसूरिजी’
ने ‘श्रीरत्नविजयजी’ पन्यास को बुलाने के लिये एक रुक्का लिखा कि पेस्तर ‘श्रीखन्तिविज-
यजी’ ने खेवटकर उदयपुर राणाजी के पास से ‘श्रीदेवेन्द्रसूरिजी’ महाराज को पालखी
प्रमुख शिरोपाव वक्साया था, उसी प्रकार तुम को जी उचित है कि ‘सिद्धविजयजी’ से वन्द
हुआ जोधपुर और बीकानेर नरेशों की तरफ से छड़ी दुशाला प्रमुख शिरोपाव को खे-
वटकर फिर शुरू कराओ, इस रुक्के को वाँचकर ‘श्री प्रमोदविजयजी’ महाराज ने कहा कि-
“सूचिप्रवेशे मुशलप्रवेशः” यह लोकोक्ति बहुत सत्य है, क्यों कि ‘श्री हीरविजय सूरिजी’
महाराज की उपदेशमय वचनों को सुनकर दिल्लीपति बादशाह अकबर अत्यन्त हर्षित
हुआ और कहने लगा कि—“हे प्रजो! आप पुत्र, कलत्र, धन, स्वजनादि में तो ममत्व
रहित हैं इसलिये आपको सोना चाँदी देना तो ठीक नहीं?, परन्तु मेरे मकान में जैन
मजहब की प्राचीन २ बहुत पुस्तकें हैं सो आप लीजिये और मुझे कृतार्थ करिये ”। इस
प्रकार बादशाह का बहुत आग्रह देख ‘हीरविजय सूरिजी’ ने उन तमाम पुस्तकों को आगरा
नगर के ज्ञानजल्लार में स्थापन किया। फिर आरम्भर सहित उपाश्रय में आकर बादशाह
के साथ अनेक धर्मगोष्ठी की; उससे प्रसन्न हो ठाढ़, चामर, पालखी वगैरह बहु मानार्थ
‘श्री हीरविजय सूरिजी’ के अगाड़ी नित्य चलाने की आज्ञा अपने नोकरों को दी। तब हीरवि-
जय सूरिजी ने कहा कि हम लोग जंजाल से रहिन हैं इससे हमारे आगे यह तूफान उचित
नहीं है। बादशाह ने विनय पूर्वक कहा कि—‘हे प्रजो! आप तो निस्पृह हैं परन्तु मेरी जक्ति है
सो आपके निस्पृहपन में कुछ दोष लगने का संभव नहीं है’। उस समय बादशाह का अत्य-
न्त आग्रह देख श्रीसंघ ने विनती की कि—स्वामी! यह तो जिनशासन की शोना और
बादशाह की जक्ति है इसलिये आपके आगे चलने में कुछ अटकाव नहीं है। गुरुजी ने
जी ड्रव्य, क्षेत्र, काल, जाव की अपेक्षा विचार मौन धारण कर लिया। बस उसी दिन से श्री-
पूज्यों के आगे शोजातरीके पालखी छोड़ी प्रमुख चलना शुरू हुआ। “श्री विजयरत्न
सूरिजी” महाराज तक तो कोई आचार्य पालखी में न बैठे, परन्तु ‘लघुक्षमासूरिजी’
वृद्धावस्था होने से अपने शिथिलाचारी साधुओं की प्रेरणा होने पर बैठने लगे। इतनी रीति
कायम रखी कि गाँव में आते समय पालखी से उतर जाते थे, तदनन्तर ‘दयासूरिजी’ तो
गाँव नगर में जी बैठने लगे। इस तरह क्रमशः धीरे-धीरे शिथिलाचार की प्रवृत्ति चलते चलते
अत्यन्त शिथिल होगये क्योंकि पेस्तर तो कोई राजा वगैरह प्रसन्न हो ग्राम नगर क्षेत्रादि

शिरोपाव देता तो उसको स्वीकार न कर उसके राज्य में जीववधादि हिंसा को बुराकर आचार्य धर्म की प्रवृत्ति में वधारा करते थे, और अब तो 'श्रीपूज्य' नाम धराकर खुद खे-वट कराके शिरोपाव लेने की इच्छा करते हैं, यह सब दुःषम काल में शिथिलाचारादि-प्रवृत्ति का प्रभाव जानना चाहिये । अत एव हे शिष्य ! "श्रीपूज्यजी ने जो कुछ लिखा है उस प्रमाणे उद्यम करना चाहिये, क्योंकि बहुत दिन से अपना इनके साथ संबन्ध चला आता है उसको एक दम तोड़ना ठीक नहीं है" । तब अपने गुरुवर्य की आज्ञानुसार पन्यास रत्नविजयजी जी नवीन श्रीपूज्यजी को दत्तचित्त होकर पढ़ाना प्रारम्भ किया और गच्छाधीश की मर्यादाऽनुसार बर्ताव कराना शुरू किया । श्री-पूज्यजी ने अपने गुरुवर्य की आज्ञानुसार पन्यास श्री रत्नविजयजी को विद्यागुरु समझकर आदर, सत्कार, विनय आदि करना शुरू किया । पन्यासजी ने भी श्रीपूज्य आदि सोलह व्यक्तियों को निःस्वार्थ वृत्ति से पढ़ाकर विद्वान् कर दिया । श्रीपूज्यजी महाराज ने अपने विद्यागुरु का महत्त्व बढ़ाने के लिये दफतरीपन का ओहदा [अधिकार] सौंपा अर्थात् जो पदवियाँ किसी को दी जायँ और यतियों को अलग चौमासा करने की आज्ञा दी जाय तो उनको पढ़ा पन्यास 'श्री रत्नविजयजी' के सिवाय दूसरा कोई जी नहीं कर सके ऐसा अधिकार अर्पण किया । तब ज्योतिष, वैद्यक और मंत्रादि से जोधपुर और बीकानेर नरेशों को रज्जितकर छड़ी दुशाखा प्रमुख शिरोपाव और परवाना श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को जेट कराया ।

एक समय संवत् १९२३ का चौमासा 'श्री धरणेन्द्रसूरिजी' ने शहर 'घाणेराम' में किया उस समय पं० श्रीरत्नविजयजी आदि ५० यति साथ में थे परन्तु जवितव्यता अत्यन्त प्रबल होती है करोड़ों उपाय करने पर जी वह [होनहार] किसी प्रकार टल नहीं सकती, जिस मनुष्य के लिये जितना कर्त्तव्य करना है वह होही जाता है, याने पर्युषणा में ऐसा मौका आ पड़ा कि श्रीपूज्यजी के साथ श्रीरत्नविजयजी का अंतर के बाबत चित्त उद्विग्न हो गया, यहाँ तक कि उस विषय में अत्यन्त वाद विवाद बढ़ गया, इससे रत्न-विजयजी जाड्रपद सुदी १ छितीया के दिन 'श्रीप्रमोदरुचि' और 'धनविजयजी' आदि कई सुयोग्य यतियों को साथ लेकर 'नामोल' होते हुए शहर 'आहोर' में आये और अपने गुरु श्री प्रमोदविजयजी को सब हाल कह सुनाया । जब गुरुमहाराज ने श्रीपूज्य को हितशिक्षा देने के लिये श्रीसंघ की संमति से पूर्व परंपराऽऽगत सूरिमंत्र देकर रत्नविजयजी को अत्यन्त महोत्सव के साथ संवत् १९२३ वैशाख सुदी ५ बुधवार के दिन 'आचार्य' पदवी दी और उसी समय आहोर के ठाकुर साहब 'श्रीयशवन्तसिंह' जी ने श्रीपूज्य के योग्य ठड़ी, चामर, पालखी, सूरजमुखी आदि सामान जेट किया । और श्रीसंघ ने श्रीपूज्यजी को 'श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी' महाराज के नाम से प्रख्यात करना शुरू किया ।

श्रीपूज्य श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी महाराज अपनी सुयोग्य यतिमण्डली सहित ग्राम

ग्राम विहार करते हुए मेवाड़देशस्थ 'श्रीशंजुगढ़' पधारे। यहां के चौमासी 'श्री फतेहसागरजी' ने फिर पाटोच्छव करा के राणाजी के 'कामेती' के पास जेट पूजा करायी। फिर गोंवो गाँव श्रावकों से 'खमासमणा' कराते हुए संवत् १९५४ का चौमासा 'श्रीसंघ' के अत्यन्त आग्रह से शहर 'जावरे' में किया और 'श्रीजगवतीजी' सूत्र को व्याख्यान में बाँचा। यहां पर जनाणी मीठादालजी प्रमुख श्रावकों के मुख से श्रीपूज्यजी की प्रशंसा सुनकर 'नवाबसाहेब' ने एक प्रश्न पुछाया कि—“तुम्हारा धर्म हम अंगीकार करें तो हमारे साथ तुम खाना पीना करसकते हो, या नहीं” ? इसका उत्तर श्रीपूज्यजी महाराज ने यह फरमाया कि—“दीन का और जैन का घर एक है इसलिये चाहे जैसी जातिवाला मनुष्य जैनधर्म पालता हो उसके साथ हम बन्धु से ज़ी अधिक प्रेम रख सकते हैं, किन्तु लोकव्यवहार अस्पृश्य जाति न हो तो हम जैन शास्त्र के मुताबिक खाने पीने में दोष नहीं समझते हैं” इत्यादि प्रश्न का उत्तर सुन और सन्तुष्ट हो अपने वजीर के जरिये मोहर परवाना सहित आपदागिरि, किरणीया, वगैरह लवाजमा जेट कराया। इस चौमासे में 'धरणेन्द्रसूरि' ने एक पत्र (रुक्का) लिखकर अपने नामी यति 'सिद्धकुशलजी' और 'मोतीविजयजी' को जावरे संघ के पास भेजा। उन दोनों ने आकर संघ से सब वृत्तान्त (हकीकत) कहा, तब संघ ने उत्तर दिया कि—“हम ने तो इनको योग्य और उचित क्रियावान् देखकर श्रीपूज्य मान लिया है और जो तुम्हारे ज़ी श्रीपूज्य गच्छमर्यादाऽनुसार चलेंगे तो हम उन्हें ज़ी मानने को तैयार हैं।

इस प्रकार बात चीत करके दोनों यति आपके पास आये और वन्दन विधि साँचवकर बोले कि—आप तो बड़े हैं, थोड़ीसी बात पर इतना चारी कार्य कर मालना ठीक नहीं है, इस गादी की बिगरुने और सुघरने की चिन्ता तो आपही को है। तब आपने मधुर वचनों से कहा कि—मैं तो अब क्रियाउद्धार करने वाला हूँ मुझे तो यह पदवी बिलकुल उपाधिरूप मालूम पड़ती है परन्तु तुम्हारे श्रीपूज्यजी गच्छमर्यादा का उल्लंघन करके अपनी मनमानी रीति में प्रवृत्त होने लग गये हैं, इस वास्ते उनको नव कलमें मंजूर कराये बिना अज्जी क्रियाउद्धार नहीं हो सकता। ऐसा कह नव कलमों की नकल दोनों यतियों को दी, तब उस नकल को लेकर दोनों यति श्रीपूज्यजी के पास गये और सब वृत्तान्त कह सुनाया तब श्रीपूज्यजी ने ज़ी उन कलमों को बाँच कर और हितकारक समझकर मंजूर की और उस पर अपनी सही ज़ी कर दी और साथ में सूरिपद की अनुमति ज़ी दी।

इस प्रकार श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को गच्छसामाचारी की नव कलमों को मनाकर और अपना पाँच वर्ष का लिया हुआ 'अजिग्रह' पूर्ण होने पर जावरे के श्रीसंघ की पूर्ण विनती होने से वैराग्यरङ्गरज्जित हो श्रीपूज्याचार्य श्रीविजयराजेन्द्रसूरी-श्वरजी महाराज ने अपना श्रीपूज्यसंबन्धी ठकी, चामर, पालखी, पुस्तक आ-

दि सब सामान श्रीसुपार्श्वनाथजी के मंदिर में चढ़ाकर संवत् १९१५ आषाढ वदि १० बुधवार के दिन अपने सुयोग्य शिष्य मुनि श्री प्रमोदरुचिजी और श्री धनविजयजी के साथ बड़े समारोह से क्रिया-उद्धार किया, अर्थात् संसारवर्द्धक सब उपाधियों को ढेर कर सदाचारी, पञ्च महाव्रतधारी सर्वोत्कृष्ट पद को स्वीकार किया। उस समय प्रत्येक गामों के करीब चार हजार श्रावक हाजिर थे उन सबों ने आपकी जयध्वनि करते हुए सारे शहर को गुंजार कर दिया।

क्रियाउद्धार करने के अनन्तर खाचरोद संघ के अत्यन्त आग्रह से आपका प्रथम चौमासा (संवत् १९१५ का) खाचरोद में हुआ, इस चौमासे में श्रावक और श्राविकाओं को धार्मिक शिक्षण बहुत ही उत्तम प्रकार से मिला और सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हुई। चौमासे के उतार में श्रीसंघ की ओर से अट्टाई महोत्सव किया गया, जिसपर करीब तीन चार हजार श्रावक श्राविका एकत्रित हुए, जिससे जैन धर्म की बड़ी ज़ारी उन्नति हुई; इस चौमासे में पाँच सात हजार रुपये खर्च हुए थे और जीर्णोद्धारादि अनेक सत्कार्य हुए। फिर चतुर्मासे के उतरे बाद ग्रामानुग्राम विहार करते हुए 'नीबारु' देशान्तर्गत शहर 'कूकसी' की ओर आपका पधारना हुआ। 'कूकसी' में आसोजी देवीचन्दजी आदि अच्छे १ विद्वान् श्रावक रहते थे, जिनके व्याख्यान में पाँच पाँच सौ श्रावक लोग आते थे, इन दोनों श्रावकों ने आपके पास द्रव्यानुयोगविषयक अनेक प्रश्न पूछे, जिनके उत्तर आपने बहुतही सन्तोषदायक दिये। उन्हें सुनकर और आपका साधुव्यवहार शुरू देखकर अतीव समारोह के साथ सब श्रावक और श्राविकाओं ने विधि पूर्वक सम्यक्त्व व्रत स्वीकार किया। यहाँ उन्तीस १९ दिन रहकर अनेक लोगों को जैनमार्गानुगामी बनाया। फिर क्रम से संवत् १९१६ रतलाम, १९१७ कूकसी, १९१८ राजगढ़ और फिर १९१९ का चौमासा रतलाम में हुआ। इस चौमासे में संवेगी जवेरसागरजी और यती बालचन्दजी उपाध्याय के साथ चर्चा हुई, जिसमें आपको ही विजय प्राप्त हुआ और 'सिद्धान्तप्रकाश' नामक बहुतही सुन्दर ग्रन्थ बनाया गया। संवत् १९३० का चौमासा जावरा में और १९३१ तथा १९३२ का चौमासा शहर 'आहोर' में हुआ। ये दोनों चौमासे एकही गाँव में एक ज़ारो जातीय ऊगड़े को मिटाने के लिये हुए थे, नहीं तो जैन साधुओं की यह रीति नहीं है कि जिस गाँव में एक चौमासा कर लिया, उसी गाँव में फिर तदनन्तर दूसरे साल का चौमासा करना, परन्तु कोई लाजालाज का अवसर हो तो कारण सर चौमासा पर जी चौमासा हो सकता है।

संवत् १९३३ का चौमासा शहर जालोर में हुआ, यहाँ पर दूढ़ियों के साथ चर्चा कर सात सौ ५०० घर मन्दिरमार्गी बनाये और गढ़ के ऊपर राजा कुमारपाल के बनाये हुए प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, और कुम्भ सेठ का बनाया हुआ जो चौमुखजी का मन्दिर था। उसमें से सरकारी सामान निकलवा कर बड़े समारोह से शास्त्रीय विधि पूर्वक

प्रतिष्ठा करायी । सम्बत् १९३४ राजगढ़, १९३५ रतलाम, १९३६ जीनमाल, १९३७ शिवगंज, १९३८ आलीराजपुर, १९३९ कूगसी, १९४० राजगढ़, और १९४१ का चौमासा शहर अहम-दावाद में हुआ । इस चौमासे में आत्मारामजी के साथ पत्रद्वारा चर्चा वार्ता हुई और बहुत धार्मिक उन्नति भी हुई ।

सम्बत् १९४२ धोराजी, १९४३ धानेरा, और १९४४ का चौमासा 'थराद' में हुआ । यहाँ श्रीजग-वतीजी सूत्र व्याख्यान में वाँचा गया, जिसपर सङ्घ ने जारी उत्सव किया और प्रति प्रश्न तथा उत्तर की पूजा की । सं० १९४५ वीरमगाँम, और १९४६ का चौमासा सियाणा में हुआ, इस चौमासे में 'अग्निधानराजेन्द्र कोष' बनाने का आरम्भ किया गया । सं० १९४७ में गुरा, १९४८ आ-होर, और १९४९ का चौमासा 'निबाहेरा' में हुआ । इसमें ढूँढकपन्थियों के पूज्य न-न्दरामजी के साथ चर्चा हुई, जिसमें दूढ़ियों को परास्त करके साठ ६० घर मन्दिरमार्गी ब-नाये । सं० १९५० खाचरोद, १९५१ और १९५२ का चौमासा 'अग्निधानराजेन्द्रकोष' के काम चलने से राजगढ़ही में हुए । सं० १९५३ में चौमासा शहर 'जावरे' में हुआ, यहाँ कातिक महीने में बड़े समारोह के साथ संघ की तरफ से अट्टाई महोत्सव किया गया, जि-समें बीस हजार रुपये खर्च हुए और विपक्षी लोगों को अच्छी रीति से शिक्षा दी गयी । जि-ससे जैन धर्म की बहुत जारी उन्नति हुई । सं० १९५४ का चौमासा शहर रतलाम में हुआ, यहाँ भी अट्टाई महोत्सव बड़े धूमधाम से हुआ, जिस पर करीब दश हजार श्रावक और श्राविकाएँ आपके दर्शन करने को आईं, और संघ की ओर से उनकी जक्ति पूर्ण रूप से हुई, जिसमें सब खर्च करीब बीस हजार के हुआ, विशेष प्रशंसनीय बात यह हुई कि पाखण्डी लोगों को पूर्ण रूप से शिक्षा दी गयी, जिससे आपको बड़ा यश प्राप्त हुआ ।

सम्बत् १९५५ का चौमासा मारवाड़ देश के शहर 'आहोर' में हुआ, इस चौमासे में भी धार्मिक उन्नति विशेष प्रकार से हुई और इसी वर्ष में श्रीआहोरसंघ की तरफ से 'श्रीगो-पीपार्श्वनाथजी' के बावन ५२ जिनालय (जिनमंदिर) की प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाका आ-पही के करकमलों से करायी गयी, जिसके उत्सव पर करीब पचास हजार श्रावक श्रा-विकाएँ आई और मन्दिर में एक लाख रुपयों की आमद हुई । इस अञ्जनशलाका में नौ सौ ९०० जिनेन्द्रबिम्बों की अञ्जनशलाका की गयी थी, इतना जारी उत्सव मारवाड़ में पहिले पहिल यही हुआ । इतने मनुष्यों के एकत्र होने पर भी कुछ भी किसीकी जो हानि नहीं हुई यह सब प्रजाव आपही का था । सं० १९५६ का चौमासा शहर शिवगंज में हुआ । जिस में अपने गच्छ की मर्यादा बिगड़ने न पावे इस लिये इस चौमासे में आपने साधु और श्रा-वक संबन्धी पैंतीस सामाचारी (कलमें) जाहर कीं, जिसके मुताबिक आजकल आपका साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ बर्ताव कर रहा है ।

सम्बत् १९५७ का चौमासा शहर सियाणा में हुआ । यहाँ श्रीसंघ की तरफ से महाराज

कुमारपाल का बनवाया हुआ 'श्रीसुविधिनाथ जी' के जिनमन्दिर का उद्धार आपही के उपदेश से कराया गया था और आस पास चौबीस देवकुलिका बनायी गयी थी और उनकी प्रतिष्ठा आपके ही हाथ से करायी गयी, इस उत्सवपर मन्दिर में सत्तर ७० हजार रुपयों की आमद हुई और दिव्य एक पाठशाला जी स्थापित हुई ।

सं० १९५८ का चौमासा आहोर, और १९५९ का शहर ' जालोर ' में हुआ । इस चौमासे में जैनधर्म की बहुत बड़ी उन्नति हुई और मोदियों का कुसंप हटाकर सुसंप किया गया । फिर चौमासा उतरे बाद शहर आहोर में दिव्य ज्ञानजणकार की और एक घूमटदार जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा की । इस ज्ञानजणकार में बहुत प्राचीन २ ग्रन्थ हैं । पैंतालीस आगम और उनको पञ्चाङ्गी तिवरती (तेहरी) मौजूद है और प्राचीन महर्षियों के बनाये ग्रन्थ जी अगणित मौजूद हैं, और छपी हुई पुस्तकें जी अपरिमित संग्रह की गयी हैं, इसकी सुरक्षा के लिये एक अत्यन्त सुन्दर मार्बुल (पाषाण) की आलमारी बनायी गयी है, जिसके चारो तरफ श्रीगौतमस्वामी जी, श्रीसरस्वती जी, श्रीचक्रेश्वरी जी, और श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर जी की मूर्तियां विराजमान हैं । यह जणकार आपही की कृपा से संग्रहीत हुआ है । फिर सूरीजी महाराज आहोर से विहार कर ' गुमे ' गाम में पधारे । यहाँ माघसुदी ५ के दिन 'अचला जी' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की । तदनन्तर शिवगञ्ज होकर ' बाली ' शहर में पधारे । यहाँ तीन श्रावकों को दीक्षा देकर 'श्रीकेसरिया जी' और 'श्रीसिद्धाचल जी, ' तथा 'जोयणी जी' आदि सुतीर्थों की यात्रा करते हुए शहर 'सूरत' में पधारे । यहाँ पर सब श्रावकों ने बड़े ज़ारी समारोह से नगरप्रवेश कराया और संवत् १९६० का चौमासा इसी शहर में हुआ । इस चौमासे में बहुत से धर्मझोड़ी लोगों ने आपको उपसर्ग किया, परन्तु सद्धर्म के प्रज्ञाव से उन धर्मझोड़ी धर्मनिन्दकों का कुछभी जोर नहीं चला किन्तु सूरीजी महाराज को ही विजय प्राप्त हुआ । इस चौमासे का विशेष दिग्दर्शन 'राजेन्द्रसूर्योदय' और ' कदाग्रह दुर्ग्रह नो शान्तिमन्त्र ' आदि पुस्तकों में किया जा चुका है, इससे यहाँ फिर लिखना पिष्टपेषण होगा ।

संवत् १९६१ का चौमासा शहर 'कूगसी' में हुआ । इसी चौमासे में सूरीजी महाराज ने हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण को ठन्दोबद्ध संदर्भित किया, यह बात उसके प्रशस्तिश्लोकों में लिखी है—

दीपविजयमुनिनाऽहं यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन । विज्ञप्तः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं त्रिधातुमिमाम् ॥

अत एव विक्रमाब्दे, चूरसंनवविधुमिते दशम्यां तु । विजयाख्यां चतुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥

हेमचन्द्रसंगचितप्राकृतसूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम् । पद्यमयीं सच्छन्दोवृन्दै रम्यामकार्षमिमाम् ॥

अर्थात् मुनिदीपविजय और यतीन्द्रविजय नामक दोनो शिष्यों से ठन्दोबद्ध प्राकृत व्याकरण बनाने के लिये मैं प्रार्थित हुआ, इसीलिये विक्रम सं० १९६१ के चौमासे में आ-

श्विनशुक्ल विजय दशमी को कूकसीनगर में श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित प्रकृतसूत्रों की वृत्तिरूप इस प्राकृतव्याकरण को अच्छे छन्दों में मैने रचा ।

चौमासे के उतार पर गाँव 'बाग' में 'विमलनाथ स्वामी जी' की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी; फिर माह महीने में शहर 'राजगढ़' में ख-जानची 'चुन्नीलाल जी' के बनवाये हुए 'अष्टापद जी' के मन्दिर की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी। और शहर 'राणापुर' में 'श्री धर्मनाथस्वामी' की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी। तदनन्तर 'खाचरोद' शहर में पधारे। यहाँ कुछ दिन ठहर कर शहर जावरे में 'लखलाल जी' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की, और सम्बत् १९६३ का चौमासा शहर 'खाचरोद' में किया। इस चौमासे में आपने चीरोलावालों को बड़े संकट (दुःख) से छुड़ाया। 'चीरोला' माखवे में एक ठोटासा गाँव है, यह गाँव ढाईसौ वर्षों से जातिबाहर था, कारण यह था कि शहर 'रतलाम' और 'सीतामऊ' की दो बारातें एकदम एकही लड़की पर आयीं, जिसमें सीतामऊ वाले व्याह (परण) गये और रतलाम वाले योहीं रह गये। इससे इन्होंने क्रोधित हो चीरोलावालों को जातिबाहर कर दिया। फिर वह ऊगड़ा चला तो बहुत वर्षों तक चलता ही रहा परन्तु जाति में वे लोग न आसके, यहाँ तक कि माखवे ज़र में सब जगह चीरोलावाले जातिबाहर हो गये। कई मरतबा चीरोलावालों ने रतलामवाले पंचों को एक १ लाख रुपया दण्ड देना चाहा लेकिन ऊगड़ा नहीं मिट सका, तब बासठ १९६३ के चौमासे में चीरोलावाले सब श्रावक लोग आकर विनंती की और सब हाथ कढ़ सुनाया, तब आपने दया कर खाचरोद आदि के श्रीसंघ को समजाया और सबके हस्ताक्षर कराकर बिना दण्ड लिये ही जाति में शामिल करा दिया। यह कार्य असाधारण था, क्योंकि इसके लिये पहिले बड़े साहूकार और साधूलोग परिश्रम कर चुके थे किन्तु कोई जी सफलता को नहीं प्राप्त हुआ था। आपके प्रज्ञाव ने सहज ही में इस कार्य को पार लगा दिया। इसीसे आपकी उपदेश-प्रणाली कितनी प्रबल थी यह निःसंशय मालूम पड़ सकती है; यह एकही काम आपने नहीं किया किन्तु ऐसे सैकड़ों काम किये हैं।

सम्बत् १९६३ का चौमासा शहर 'बरुनगर' में हुआ, यहाँ चारो महीना धर्मध्यान का बड़ाजारी आनन्द रहा और अनेक प्रशंसनीय कार्य हुए। इस प्रकार क्रियाउद्धार करने के बाद आपके ३९ उन्तालीस चौमासा हुए। इन सब चौमासाओं में अनेक कार्य प्रशंसनीय हुए और श्रावकों ने स्वामीजक्ति अष्टाहिकामहोत्सव आदि सत्कार्यों में खूब ड्रव्य लगाया। कम से कम प्रत्येक चौमासे में ५००० हजार से लेकर २०००० हजार तक खरचा श्रावकों की तरफ से किया गया है, इससे अतिरिक्त शेष काल में जी आपने उलटे मार्ग में जाते हुए अनेक भव्यवर्गों को रोक कर शुद्ध सम्यक्त्वधारी बनाया। आपके उपदेश का प्रज्ञाव इतना तीव्र था कि जिसको सुनकर कट्टर द्वेषी जी शान्त स्वज्ञाव वाले होगये।

रात्रिभोजन नहीं करना, जीवों को जानकर नहीं मारना, चोरी नहीं करना इत्यादि अनेक नियम जिन्होंने आपसे लिये हुए हैं और जैनधर्मविषयक दृढ़ नियमों को परिपालन कर रहे हैं ऐसे आपके उपदेशी केवल जैन ही नहीं हैं किन्तु अन्यमतवाले भी हैं।

यति अवस्था में जी आपने सम्वत् १९०४ का चौमासा मेवारु देशस्थ शहर 'आकोला' में किया था। फिर क्रमशः इन्दौर, उज्जैन, मन्दसोर, उदयपुर, नागौर, जेसलमेर, पाली, जोधपुर, किसनगढ़, चित्तोर, सोजत, शंजुगढ़, बीकानेर, सादरी, जिलामे, रतलाम, अजमेर, जालोर, घाणेराम, जावरा इत्यादि शहरों में चौमासा कर सैकड़ों जवजीरु महानुभावों को जैनधर्म के संमुख किया।

आपकी विद्वत्ता सारे जारतवर्ष में प्रख्यात थी, कोई जी प्रायः ऐसा न होगा जो आपके नाम से परिचित न हो। ज्योतिषशास्त्र में जी आपका पूर्ण ज्ञान था, जहाँ जहाँ आपके दिये हुए मुहूर्त से प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाकाएँ हुई हैं वहाँ हजारों जनसमूह के एकत्र होने पर जी किसी का शिर जी नहीं दुखा। आपके हाथ से कम से कम बाईस अञ्जनशलाकाएँ तो बड़ी बड़ी हुई, जिनमें हजारों रुपये की आमद हुई और छोटी २ अञ्जनशलाका या प्रतिष्ठा तो करीब सौ १०० हुई होंगी। इसके अतिरिक्त ज्ञानजणारों की स्थापना, अष्टोत्तरी शान्तिस्नात्रपूजा, उद्यापन, जीर्णोद्धार, जिनालय, उपाश्रय, तीर्थसंघ आदि सत्कार्यों में सूरि जी महाराज के उपदेश से जव्यवर्गों ने हजारों रुपये खर्च किये हैं और अब जी आपके प्रताप से हजारों रुपये सत्कार्यों में खर्च किये जा रहे हैं।

आपकी साधुक्रिया अत्यन्त कठिन थी इस बात को तो आबालवृद्ध सभी जानते हैं, यहाँ तक कि वयोवृद्ध होने पर जी आप अपना उपकरणादिजार सुशिष्य साधु को जी नहीं देते थे। गृहस्थों को देने की तो आशाही कैसे संजावित हो सकती है। क्रियाउद्धार करने के पीछे तो आपने शिथिलमार्गों का जी सहारा नहीं लिया और न वैसा उपदेशही किसीको दिया, किन्तु ज्ञानसहित सत्क्रियापरिपालन करने में आप बड़ेही उत्कण्ठित रहा करते थे। और वैसी ही क्रिया करने में उत्थत जी रहते थे, इसीसे आपकी उत्तमता देशान्तरों में जी सर्वत्र जाहिर थी। प्रमाद शत्रु को तो आप हरदम दबाया ही करते थे, इसीलिये साधुक्रिया से बचे हुए काल में शिष्यों को पढ़ाना और शास्त्रविचार करना, या धार्मिक चर्चा करना यही आपका मुख्य कार्य था। दिन को सोना नहीं, और रात्रि को जी एक प्रहर निद्रा लेकर ध्यानमग्न रहना, इसीमें आपका समय निर्गमन होता था; इसीलिये समाधियोग और अनुभवविचार आपसे बढ़कर इस समय और किसी में नहीं पाया जाता है।

शहर 'बरुनगर' के चौमासे में मरुधरदेशस्थ गाँव 'बलदूट' के श्रावक अपने गाँव में प्रतिष्ठा कराने के लिये आपसे विनती करने आये थे, उनसे आपने यह कह दिया था कि 'अब

मेरे हाथ से प्रतिष्ठा अञ्जनशलाका आदि कार्य न होंगे'। इसी तरह 'सूरत' में एक श्रावक के प्रश्न करने पर कहा था कि—'अजी मैं तीन वर्ष पर्यन्त फिर बिहारादि करूँगा'। इन दोनों वाक्यों से आपने अपने आयुष्य का समय गर्जित रीति से श्रावक और साधुओं को बतला दिया था और हुआभी ऐसाही।

आपकी पैदलबिहारशक्ति के अगाड़ी युवा साधु जी परिश्रान्त हो जाते थे, इस प्रकार आपने अन्तिम अवस्था पर्यन्त बिहार किया, चाहे जितना कठिन से कठिन शीत पड़े परन्तु आप ध्यान और प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ उघाढ़े शरीर से ही करते थे और अपने जीवन में फुलाटीन की साढ़े चार हाथ एक काँबली और उतनीही बड़ी दो चादर के सिवाय अधिक वस्त्र जी नहीं ओढ़ते थे। आपने करीब ढाई सौ मनुष्यों को दीक्षा दी होगी लेकिन कितनेही आपकी उत्कृष्ट क्रिया को पालन नहीं कर सके, इसलिये शिथिलाचारी संवेगी और ढुंढकों में चले गये, परन्तु इस समय जी आपके हस्त से दीक्षित चालीस साधु और साध्वियाँ हैं जो कि ग्राम ग्राम बिहार कर अनेक उपकार कर रहे हैं।

सत्पुरुषों का मुख्य धर्म यह है कि जन्मजीवों के हितार्थ उपकार बुद्धि से नाना ग्रन्थ बनाना, जिससे लोगों को शुद्ध धार्मिक पथ (रास्ता) सूझ पड़े। इसी लिये हमारे पूर्वकाशीन आचार्यवर्यों ने अनेक ग्रन्थ बनाकर अपरिमित उपकार किया है तभी हम अपने धर्म को समझकर दृढ श्रद्धावान् बने हुए हैं, और जो कोई धर्म पर आक्षेप करता है तो उसको उन ग्रन्थों के द्वारा परास्त कर लेते हैं, यदि महर्षियों के निर्मित ग्रन्थरत्न न होते तो आज हम कुछ जी अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकते, इसीलिये जो जो विद्वान् आचार्य आदि होते हैं वे समयानुकूल लोगों के हित के लिये ग्रन्थ बनाते हैं। इसी शैली के अनुसार सूरजी महाराज ने जी लोकोपयोगी अनेक ग्रन्थ बनाये हैं।

सूरजी महाराज के निर्मित संस्कृत-प्राकृत-जाषामयग्रन्थ—

१ 'अजिधानराजेन्द्र' प्राकृतमहाकोश—इस कोश की रचना बहुत सुन्दरता से की गई है अर्थात् जो बात देखना हो वह उसी शब्द पर मिल सकती है। संदर्भ इसका इस प्रकार रखा गया है—पहिले तो अकारादि वर्णानुक्रम से प्राकृतशब्द, उसके बाद उनका अनुवाद संस्कृत में, फिर व्युत्पत्ति, लिङ्गनिर्देश, और उनका अर्थ जैसा जैनागमों में मिल सकता है वैसाही जिन्न ३ रूप से दिखला दिया गया है। बड़े बड़े शब्दों पर अधिकार सूची नम्बरवार दी गयी है, जिससे हर एक बात सुगमता से मिल सकती है। जैनागमों का ऐसा कोई जी विषय नहीं रहा जो इस महाकोश में न आया हो। केवल इस कोश के ही देखने से संपूर्ण जैनागमों का बोध हो सकता है। इसकी श्लोकसंख्या करीब साढ़े चार लाख है, और अकारादि वर्णानुक्रम से साठ हजार प्राकृत शब्दों का संग्रह है।

२ 'शब्दाम्बुधि' कोश—इसमें केवल अकारादि अनुक्रम से प्राकृत शब्दों का संग्रह किया

गया है और साथ में संस्कृत अनुवाद और उसका अर्थ हिन्दी में दिया गया है किन्तु अभिधानराजेन्द्र कोश की तरह शब्दों पर व्याख्या नहीं की हुई है ।

३ सकलैश्वर्यस्तोत्र सटीक, ४ खापरियातस्करप्रबन्ध, ५ शब्दकौमुदी श्लोकबद्ध, ६ कल्याणस्तोत्र प्रक्रियाटीका, ७ धातुपाठ श्लोकबद्ध, ८ उपदेशरत्नसार गद्य ए दीपावली (दिवाली) कल्पसार गद्य, ९ सर्वसंग्रह प्रकरण (प्राकृतगाथाबद्ध) ११ प्राकृतव्याकरणविवृति ।

सूरीजी के संकलित संगीत ग्रन्थ—

१२ मुनिपति चौपाई, १३ अघटकुँवरचौपाई, १४ घट्टरचौपाई, १५ सिद्धचक्रपूजा, १६ पञ्चकल्याणकपूजा, १७ चौबीसीस्तवन, १८ चैत्यवन्दनचौबीसी, १९ चौबीसजिनस्तुति ।

सूरीजी महाराज के रचित बालावबोध जाषाग्रन्थ—

२०—उपासकदशाङ्ग सूत्र बालावबोध, २१ गङ्गाचारपयन्ना सविस्तर जाषान्तर, २२ कल्पसूत्र बालावबोध सविस्तर, २३ अष्टाहिकाव्याख्यान जाषान्तर, २४ चार कर्मग्रन्थ अङ्ग-रार्थ, २५ सिद्धान्तसारसागर (बोलसंग्रह), २६ तत्त्वविवेक, २७ सिद्धान्तप्रकाश, २८ स्तुतिप्रभाकर, २९ प्रश्नोत्तरमालिका, ३० राजेन्द्रसूर्योदय, ३१ सेनप्रश्नबीजक, ३२ षड्व्यचर्चा, ३३ स्वरोदयज्ञानयन्त्रावली, ३४ त्रैलोक्यदीपिकायन्त्रावली, ३५ वासष्ठमार्गणाविचार, ३६ षड्वावश्यक अङ्गरार्थ, ३७ एकसौ आठ बोल का थोकड़ा, ३८ पञ्चमीदेववन्दनविधि, ३९ नवपद ओली देववन्दनविधि, ४० सिद्धाचल नवाणुं यात्रादेववन्दनविधि, ४१ चौमासी देववन्दनविधि, ४२ कमलप्रज्ञाशुद्धरहस्य, ४३ कथासंग्रह पञ्चाख्यानसार ।

इस प्रकार उत्तमोत्तम ग्रन्थ बनाकर सूरीजी महाराज ने जैनधर्मानुरागियों पर तथा इतर जनों पर भी पूर्ण उपकार किया है ।

बरुनगर के चौमासा पूरे होनेपर अपनी साधुमण्डली सहित सूरीजी ने शहर 'राजगढ़' की ओर विहार किया था, इस समय आपके शरीर में साधारण श्वास रोग उठा था । यद्यपि यह प्रथम जोर शोर से नहीं था तथापि उसका प्रकोप धीरे २ बढ़ने लगा, यहाँ तक कि औषधोपचार होने पर भी वह रोग शान्त नहीं हुआ, किन्तु श्वास की बीमारी अधिक होने पर भी आप अपनी साधुक्रिया में शिथिल नहीं हुए, और सब साधुओं से कहा कि—“ हमारे इस विनाशी शरीर का भरोसा अब नहीं है, इसलिये तुमलोग साधुक्रियापरिपालन में दृढ़ रहना, ऐसा न हो कि जो चारित्र्य रत्न तुम्हें मिला है वह निष्फल होजावे, सावधानी से इसकी सुरक्षा करना, हमने तो अपना कार्य यथाशक्ति सिद्ध कर लिया है अब तुम भी अपने आत्मा का सुधारा जिस प्रकार हो सके वैसा प्रयत्न करते रहना ”। इस प्रकार अपने शिष्यों को सुशिक्षा देकर सुसमाधिपूर्वक अनशनव्रत को धारण कर लिया और औषधोपचार को सर्वथा बन्द कर दिया । बस तदनन्तर थोड़े

ही दिन के बाद परमोपकारी धर्मप्रज्ञावक आचार्यवर्य श्रीमान् श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वर महाराजजी ने अपने इस अनित्य शरीर का सम्बत् १९६३ पौष शुक्ल ९ शुक्रवार मुताबिक २१ दिसम्बर सन् १९०६ ई० को समाधियुक्त 'परित्याग' किया, अर्थात् इन नाशवान् संयोगों को छोड़ कर स्वर्ग में विराजमान हुए ।

उपसंहार

महानुभाव पाठकवर्ग ! इस समय जीवनचरित्र लिखने की प्रथा बहुतही बढ़ गयी है इसलिये प्रायः बहुत से सामान्य पुरुषों के जी जीवनचरित्र मिलते हैं किन्तु जीवनचरित्र के लिखने का क्या प्रयोजन है यह कोई जी नहीं विचार करता, वस्तुतः सत्पुरुषों की जीवनघटना देखने से सर्व साधारण को लाभ यह होता है कि जिस तरह सत्पुरुष क्रम क्रम से उच्चकोटीवाली अवस्था को प्राप्त हुआ है वैसी ही पाठक भी अपनी अवस्था को उच्चकोटीवाली बनावे और दुर्जन पुरुषों की जीवनघटना देखने से जी यह लाभ होता है कि जिसतरह अपने कुकर्मों से दुर्जन अन्त में दुरवस्था को प्राप्त होता है वैसा वाचक न हो, किन्तु दुर्जन की जीवनघटना की अपेक्षा से सत्पुरुष के ही जीवनचरित्र पढ़ने से शीघ्र लाभ हो सकता है, इसीलिये पाठकों को महानुभाव सूरीश्वरजी का यह जीवनपरिचय कराया गया है, जिससे आपजी ऐसी अवस्था को प्राप्त होकर सदा के सुखजागी बनें, क्योंकि सूरीजी का जीवन इस संसार में केवल परोपकार के वास्ते ही था, न कि किसी स्वार्थ के वास्ते । यदि रागद्वेषरहित बुद्धि से विचारा जाय तो हमारे उत्तमोत्तम जैन धर्म की उन्नति ऐसेही प्रज्ञावशाली क्रियापात्र सद्गुरुओं के द्वारा हो सकती है । आपका जो जीवनपरिचय बहुत ही अद्भुत और आश्चर्यजनक है, उसका यह दिग्दर्शनमात्र कराया गया है, किन्तु बड़ा 'जीवनचरित्र' जो बना हुआ है उसमें प्रायः बहुत कुछ सूरीजी महाराज का जीवनपरिचय दिया गया है, इसलिये विशेष जिज्ञासुओं को बड़ा जीवनचरित्र देखना चाहिये, उसके द्वारा संपूर्ण आपका जीवनपरिचय हो जायगा और इन महानुभाव महापुरुष के जीवनचरित्र पढ़ने से क्या लाभ हुआ सो जी सहज में माधूम पड़ जायगा । इत्यलं विस्तरेण ।

नवरसनिधिविधुवर्षे, यतीन्द्रविजयेन वागरानगरे ।

आश्विनशुक्लदशम्यां, जीवनचरितं व्यलेखि गुरोः ॥ १ ॥



→ श्री सौधर्म बृहत्तपागणीय पट्टावली ←

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

- १ श्रीसुधर्मास्वामी
- २ श्रीजम्बूस्वामी
- ३ श्रीप्रज्ञवस्वामी
- ४ श्रीसख्यंभवस्वामी
- ५ श्रीयशोमन्त्रसूरि
- ६ { श्रीसंभूतविजयजी
श्रीजन्मबाहुस्वामी
- ७ श्रीस्थूलमन्त्रस्वामी
- ८ { श्रीआर्यसुहृत्सूरि
श्रीआर्यमहागिरि
- ९ { श्रीसुरिधत्तसूरि
श्रीसुप्रतिबद्धसूरि
- १० श्रीइन्द्रविजयसूरि
- ११ श्रीदिक्षसूरि
- १२ श्रीसिंहगिरिसूरि
- १३ श्रीवज्रस्वामीजी
- १४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
- १५ श्रीचन्द्रसूरिजी
- १६ श्रीसामन्तजङ्गसूरि
- १७ श्रीवृद्धदेवसूरि
- १८ श्रीप्रद्योतनसूरि
- १९ श्रीमानदेवसूरि
- २० श्रीमानतुङ्गसूरि
- २१ श्रीवीरसूरि
- २२ श्रीजयदेवसूरि

- २३ श्रीदेवामन्दसूरि
- २४ श्रीविक्रमसूरि
- २५ श्रीनरसिंहसूरि
- २६ श्रीसमुद्रसूरि
- २७ श्रीमानदेवसूरि
- २८ श्रीविवुधप्रभसूरि
- २९ श्रीजयानन्दसूरि
- ३० श्रीरविप्रभसूरि
- ३१ श्रीयशोदेवसूरि
- ३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
- ३३ श्रीमानदेवसूरि
- ३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
- ३५ श्रीसद्योतनसूरि
- ३६ श्रीसर्वदेवसूरि
- ३७ श्रीदेवसूरि
- ३८ श्रीसर्वदेवसूरि
- ३९ { श्रीयशोभद्रसूरि
श्रीनेमिचन्द्रसूरि
- ४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
- ४१ श्रीअजितदेवसूरि
- ४२ श्रीविजयसिंहसूरि
- ४३ { श्रीसोमप्रभसूरि
श्रीमखिलसूरि
- ४४ श्रीजगन्मन्त्रसूरि
- ४५ { श्रीदेवेन्द्रसूरि
श्रीविद्यानन्दसूरि

- ४६ श्रीधर्मघोषसूरि
- ४७ श्रीसोमप्रभसूरि
- ४८ श्रीसोमतिष्ठकसूरि
- ४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
- ५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
- ५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
- ५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
- ५३ श्रीदक्षमीसागरसूरि
- ५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
- ५५ श्रीहेमविमलसूरि
- ५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
- ५७ श्रीविजयदानसूरि
- ५८ श्रीहीरविजयसूरि
- ५९ श्रीविजयसेनसूरि
- ६० { श्रीविजयदेवसूरि
श्रीविजयसिंहसूरि
- ६१ श्रीविजयप्रभसूरि
- ६२ श्रीविजयरत्नसूरि
- ६३ श्रीविजयक्षमासूरि
- ६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
- ६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
- ६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
- ६७ श्रीविजयरामेन्द्रसूरि



अर्थ समझ में नहीं आसकता, क्योंकि भगवान् तीर्थङ्करने, तथा गणधरों ने अर्धमागधी भाषा में उन सूत्रों का प्रस्ताव किया है, जो कि सामान्य प्राकृत भाषा से कुछ विलक्षण है। पूर्व समय में तो लोग परिश्रम करके आचार्यों के मुख से सूत्रपाठ और उसका अर्थ सुनकर कण्ठस्थ करते थे तभी वे कृतकार्य जी होते थे (इसका संक्षिप्त विवरण पहिले भाग के 'अट्ठाह्नादिय' शब्द पर देखो) किन्तु आजकल ऐसी परिपाटी के प्रायः नष्ट होजाने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का अत्यन्त हास होगया है। इस दशा को देखकर हमारे गुरुवर्य श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय कलिकालसर्वज्ञकल्प जट्टारक १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज को बड़ी चिन्ता उपस्थित हुई कि दिनों दिन जैन धर्म के शास्त्रों का हास होता जाता है, इसीलिये बहुत से लोग उत्सूत्र काम भी करने लग गये हैं और अपने धर्मग्रन्थों से बिल्कुल बेखबर से होगये हैं। ऐसी दशा में क्या करना चाहिये? क्योंकि संसार में उसी मनुष्य का जीवन सफल है जिसने अपने धर्म की यथाशक्य उन्नति की, अन्यथा—'असंपादयतः कश्चि-दर्थं जातिक्रियागुणैः। यदृच्छाशब्दवत् पुंसः, संज्ञायै जन्म केवलम्' की तरह हो जाता है। ऐसी चिन्ता हृदय में बहुत दित रही, किन्तु एक दिन रात्रि में ऐसा विचार हुआ कि—एक ऐसा ग्रन्थ नवीन रूढ़ि से बनाना चाहिये जिसमें जैनागम की मागधी जाषा के शब्दों को अकारादि क्रम से रखकर संस्कृत में उनका अनुवाद, लिङ्ग, व्युत्पत्ति, और अर्थ लिखकर फिर उस शब्द पर जो पाठ मूलसूत्र का आया है उसको लिखना और टीका यदि उसकी प्राचीन मिले तो उसको देकर स्पष्ट करना और यदि ग्रन्थान्तर में भी वही विषय आया हो तो उसकी सूचना (भलावन) दे देना चाहिये। इससे प्रायः अपने मनोऽनुकूल संसार का उपकार होगा। तदनन्तर प्रातःकाल होते ही पूर्वोक्त सूरीजी महाराज ने अपनी नित्य क्रिया को करके इस कार्य का भार उठाया, और दत्तचित्त होकर बाईस वर्ष पर्यन्त घोर परिश्रम करने पर इस कार्य में सफल हुए, अर्थात् 'अजिघ्रानराजेन्द्र' नाम का कोष मागधीभाषा में रचकर चार भागों में विभक्त कर दिया। इसके बाद कितने ही श्रावकों ने और शिष्यों ने प्रार्थना की कि यदि यह ग्रन्थ भी और ग्रन्थों की तरह भयमार में ही पड़ा रह जायगा तब कितने मनुष्य इससे लाभ उठा सकेंगे? इसलिये अनेक देश देशान्तरों में जिस तरह इसका प्रचार हो वह काम होना चाहिये। इसपर सूरीजी महाराज ने उत्तर दिया कि मेरा कर्तव्य तो पूर्ण होगया अब जिनमें समस्त संसार का उपकार हो वैसा तुम लोगों को करना चाहिये, मैं इस विषय में तटस्थ हूँ। तदनन्तर श्रीसद्व्य ने इस ग्रन्थ के विशेष प्रचार होने के लिये छपवाना ही निश्चय किया। तब इस ग्रन्थ के शोधन का भार सूरीजी महाराज के विनीत शिष्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने ग्रहण किया, जो इस कार्य के पूर्ण अभिज्ञ हैं।

जैनधर्म का ऐसा कोई भी साधु--साध्वी--श्रावक--श्राविका--संबन्धी विषय नहीं है जो इस कोश में आया न हो, किन्तु साधही साथ विशेषता यह है कि मागधीजाषा के अनुक्रम से शब्दों पर सब विषय रखे गये हैं। जो मनुष्य जिस विषय को देखना चाहे वह उसी शब्दपर पुस्तक खोलकर देख ले। जो विषय जहाँ १ जिस १ जगह पर आया है उसकी भलावन (सूचना) भी उसी जगह पर दी है। और वहाँ २ शब्दों पर विषयसूची जी दी हुई है जिससे विषय जानने में सुगमता हो। तथा प्रमाण में मूल सूत्र १, और उनकी निर्युक्ति २, भाष्य ३, चूर्णि ४, टीका ५ तथा और जी प्रामाणिक आचार्यों के बनाये हुए प्रकरण आदि अनेक ग्रन्थों का संग्रह है। जिसशब्द पर या उसके विषय पर किसी आचार्य या श्रावक की कथा मिली है उसे भी उस शब्दपर संग्रह कर दी है। तथा प्रसिद्ध २ तीर्थों की और सजी तीर्थङ्करों की कई पूर्वभवों से लेकर निर्वाणपर्यन्त कथायें दी हुई हैं; इत्यादि विषय आगे दी हुई संक्षिप्त सूची से समझना चाहिये।

इस ग्रन्थ में जो संकेत (नियम) रखे गये हैं वे इस तरह हैं—

१—मागधीभाषा का मूलशब्द, और उसका संस्कृत अनुवाद, तथा मूल की गाथा, और मूलसूत्र, [जिसकी टीका है] मोटे (ग्रेट) अक्षरों में रक्खा है।

२—यदि कोई गाथा टीका में भी आई है और उसकी जी टीका है तो उसे दो लाइन (पदक्ति) में रक्खा है। और मोटे अक्षरों में न रखकर गाथा के आदि अन्त में (" ") ये चिह्न दे दिये हैं। फिर उसके नीचे से उसकी टीका चलाई गयी है। अन्य स्थान में तो मूल मोटे अक्षरों में, और टीका छोटे (पाइका) अक्षरों में दी गई है।

३—जहाँ कहीं उदाहरण में प्राकृत वाक्य या संस्कृत श्लोक आया है उसके आद्यन्त में ' ' यह चिह्न दिया गया है, किन्तु एक से ज्यादा गाथा या श्लोक जहाँ कहीं बिना टीका के हैं वहाँ पर भी दो २ दैन करके उनको रक्खा है। और यदि एकही है तो उसी दैन में रक्खा है। और जहाँ टीका अनुपयुक्त है वहाँ पर मूलमात्र ही मोटे अक्षरों में रक्खा है।

४-जिस शब्द का जो अर्थ है उसको मत्तम्यन्त से दिया है और उसके नीचे [,] यह चिह्न दिया है और उसके बाद जिस ग्रन्थ से वह अर्थ लिया गया है उसका नाम नीचे दे दिया है। यदि उसके आगे उस ग्रन्थ का कुछ भी पाठ नहीं है तो उस ग्रन्थ के आगे अध्ययन उद्देशादि जो कुछ लिखा है वह भी दिया गया है और यदि उस ग्रन्थ का पाठ लिखा है तो पाठ की ममाप्ति में अध्ययन उद्देश आदि रखे गये हैं, किन्तु अर्थ के पास केवल ग्रन्थ का ही नाम रखा है ॥

५-मागधीशब्द और संस्कृत अनुवाद शब्द के मध्य में तथा द्विद्ध और अनुवाद के मध्य में भी (—) यह चिह्न दिया है। इसी तरह तदेव दर्शयति- तथा चाह- या अवतरणिका के अन्त में भी आगे से संबंध दिखाने के लिये यही चिह्न दिया गया है।

६-जहाँ कहीं मागधी शब्द के अनुवाद संस्कृत में दो तीन चार हुए हैं तो दूसरे तीसरे अनुवाद को भी मोटे ही अक्षरों में रखा है किन्तु जैसे प्राकृत शब्द सामान्य पदक्ति (लाईन) से कुछ बाहर रहता है वैसा न रखकर सामान्य पदक्ति के बराबर ही रखा है और उसके आगे भी द्विद्धमदर्शन कराया है; बाकी सभी बात पूर्ववत् मूलशब्द की तरह दी है।

७-किसी किसी मागधीशब्द का अनुवाद संस्कृत में नहीं है किन्तु उसके आगे 'देशी' लिखा है वहाँ पर देशीय शब्द समझना चाहिये, उसकी व्युत्पत्ति न होने से अनुवाद नहीं है।

८-किसी ५ शब्द के बाद जो अनुवाद है उसके बाद द्विद्ध नहीं है किन्तु (धा०) लिखा है उससे धात्वादेश समझना चाहिये।

ए-कहीं कहीं (व० व०) (क० स०) (बहु० स०) (त० स०) (न० त०) (३ त०) (४ त०) (५ त०) (६ त०) (७ त०) (अव्ययी० स०) आदि दिया हुआ है उनको क्रम से बहुवचन; कर्मधारय समास; बहुव्रीहि; तत्पुरुष; नवतत्पुरुष; वर्तमानतत्पुरुष; चतुर्थीतत्पुरुष; पञ्चमीतत्पुरुष; षष्ठीतत्पुरुष; सप्तमीतत्पुरुष; अव्ययीभाव समास समझना चाहिये।
१०- पुं० । स्त्री० । न० । त्रि० । अव्य०-का संकेत क्रम से पुंल्लिङ्ग; स्त्रील्लिङ्ग; नपुंसकल्लिङ्ग; त्रिलिङ्ग और अव्यय समझना।

अध्ययनादि के संकेत और वे किन किन ग्रन्थों में हैं—

११—१ अ०- अध्ययन- आवश्यकचूर्णि, आवश्यकवृत्ति, आचाराङ्ग, उपासकदशाङ्ग, उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा, दशाश्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक, विपाकसूत्र और सूत्रकृताङ्ग में हैं।

२ अधि०- अधिकार- अनेकान्तजयपताकावृत्तिविवरण, गच्छाचारपथभा, धर्मसंग्रह और जीवानुशासन में हैं।

३ अध्या०- अध्याय- छव्यानुयोगतर्कणा में हैं।

४ अष्ट०- अष्टक- हारिभञ्जाष्टक और यशोविजयाष्टक में हैं।

५ उ०- उद्देश- सूत्रकृताङ्ग, जगवती, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्प, व्यवहार, स्थानाङ्ग और आचाराङ्ग में हैं।

६ उद्घा०- उद्घास- सेनप्रश्न में हैं।

७ कर्म०- कर्मग्रन्थ- कर्मग्रन्थ में हैं।

८ कल्प- कल्प- विविधतीर्थकल्प में हैं।

ए ठा०- ठाणा- स्थानाङ्गसूत्र में हैं।

१० खएम- खएम- उत्तराध्ययननिर्युक्ति में हैं।

११ कृण- कृण- कल्पसुबोधिका में हैं।

१२ काएर- काएर- सम्मतितर्क में हैं।

१३ छा०- द्वात्रिंशिका- द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में हैं।

१४ द्वार- द्वार- पञ्चवस्तुक, पञ्चसंग्रह, प्रवचनसारोद्धार और प्रश्नव्याकरण में हैं।

(प्रश्नव्याकरण में आश्रवद्वार और संवरद्वार के नाम से ही द्वार प्रसिद्ध हैं)

१५ पद- पद- प्रज्ञापनासूत्र में हैं।

१६ परि०- परिच्छेद- रत्नाकरावतारिका में हैं।

१७ चू०- चूलिका- दशवैकालिक और आचाराङ्ग में हैं।

- १८ प्रति०- प्रतिपत्ति- जीवाभिगम सूत्र में हैं।
 १९ पाद- पाद- प्राकृतव्याकरण और उसकी टीका दुष्टिका में हैं।
 २० पादु०- पादुडा- चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करणक में हैं।
 २१ वर्ग- वर्ग- निरयावज्ञिका, अणुत्तरोववाई, अन्तकृद्दशाङ्ग में हैं।
 २२ विव०- विवरण- षोडशप्रकरण और पञ्चाशक में हैं।
 २३ प्रका०- प्रकाश- हीरप्रश्न में हैं।
 २४ प्र०- प्रश्न- सेनप्रश्न में हैं।
 २५ श०- शतक- भगवती सूत्र में हैं।
 २६ श्रु०- श्रुतस्कन्ध- सूत्रकृताङ्ग, आचाराङ्ग, ज्ञाताधर्मकथा और विपाकसूत्र में हैं।
 २७ वक्ष०- वक्षस्कार- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हैं।
 २८ सम०- समवाय- समवायाङ्ग सूत्र में हैं।
 २९ सू०- सूत्र- पञ्चसूत्र में हैं।

१२—जिन जिन ग्रन्थों का प्रमाण दिया है उनके सङ्केत और नाम—

- | | |
|--|--|
| १ अङ्ग० - अङ्गचूडिका। | २७ जं० - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक। |
| २ अणु० - अणुत्तरोववाई सूत्र सटीक। | २८ ज्ञा० - ज्ञाताधर्मकथा सूत्र सटीक। |
| ३ अनु० - अनुयोगद्वार सूत्र सटीक। | २९ जी० - जीवाभिगम सूत्र सटीक। |
| ४ अने० - अनेकान्तजयपताकावृत्तिविवरण। | ३० जीत० - जीतकल्पवृत्ति। |
| ५ अन्त० - अन्तगददशाङ्ग सूत्र। | ३१ जीवा - जीवानुशासन सटीक। |
| ६ अष्ट० - अष्टक यशोविजयकृत सटीक। | ३२ जै०६० - जैनइतिहास। |
| ७ आचा० - आचाराङ्गसूत्र सटीक। | ३३ ज्यो० - ज्योतिष्करणक सटीक। |
| ८ आ०चू० - आवश्यकचूर्ण। | ३४ दुं० - दुष्टिका (प्राकृतव्याकरण) टीका। |
| ९ आ०म०प्र० - आवश्यकमलयगिरि (प्रथमखण्ड) | ३५ त० - तन्दुलवयाद्वी पयन्ना टीका। |
| १० आ०म०द्वि० - आवश्यकमलयगिरि (द्वितीयखण्ड) | ३६ तित्थु० - तित्थुगाद्वी पयन्नामूल। |
| ११ आतु० - आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना टीका। | ३७ दशा० - दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रवृत्ति। |
| १२ आ०क० - आवश्यककथा। | ३८ दर्श० - दर्शनशुद्धि सटीक। |
| १३ आव० - आवश्यकबृहद्वृत्ति। | ३९ दश० - दशवैकालिकसूत्र सटीक। |
| १४ उत्त० - उत्तराध्ययन सूत्र सटीक। | ४० द० प० - दशपयन्नामूल। |
| १५ उपा० - उपासकदशाङ्ग सूत्र सटीक। | " १ चउसरण पयन्ना। |
| १६ उत्त०नि० - उत्तराध्ययननिर्युक्ति। | " २ आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना। |
| १७ एका० - एकाद्विरीकोश। | " ३ सधारगइ पयन्ना। |
| १८ ओघ० - ओघनिर्युक्ति सटीक। | " ४ चंदविज्ञा पयन्ना। |
| १९ औ० - औपपातिकसूत्र वृत्ति। | " ५ गच्छाचार पयन्ना। |
| २० कर्म० - कर्मग्रन्थ सटीक। | " ६ तन्दुलवयाद्वी पयन्ना। |
| २१ क०प्र० - कर्मप्रकृति सटीक। | " ७ देविदत्थेव पयन्ना। |
| २२ कल्प० - कल्पसुबोधिका सटीक। | " ८ गणिविज्ञा पयन्ना। |
| २३ को० - पाइयलच्छीनाममाला कोश। | " ९ महापञ्चकलाण पयन्ना। |
| २४ ग० - गच्छाचारपयन्ना टीका। | " १० मरणविधि पयन्ना। |
| २५ चं०प्र० - चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक। | ४१ छन्दा० - छन्दानुयोगतर्कणा सटीक। |
| २६ जै० गा० - जैनगायत्रीव्याख्या। | ४२ द्वा० - द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका(बत्तीसबत्तीसी)सटीक। |
| | ४३ द्वी० - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति। |
| | ४४ दे० ना० - देशीनाममाला सटीक। |

४९ ध० - धर्मसंग्रह सटीक ।
 ४६ ध० र० - धर्मरत्नप्रकरण सटीक ।
 ४७ नयो० - नयोपदेश सटीक ।
 ४८ नं० - नन्दीसूत्र सट्टि ।
 ४६ नि० - निरयावली सूत्र सटीक ।
 ५० नि०चू० - निशीथसूत्र सचूर्णि ।
 ५१ पं० चू० - पञ्चकल्पचूर्णि ।
 ५२ पं०भा० - पञ्चकल्प भाष्य ।
 ५३ पञ्चा० - पञ्चाशक सटीक ।
 ५४ पं०व० - पञ्चवस्तुक सटीक ।
 ५५ पं० सं० - पञ्चसंग्रह सटीक ।
 ५६ पं० सू० - पञ्चसूत्र सटीक ।
 ५७ प्रव० - प्रवचनसारोद्धारटीका ।
 ५८ प्रव०मू० - प्रवचनसारोद्धार मूल ।
 ५९ प्रति० - प्रतिमाशतक सूत्र सटीक ।
 ६० प्रश्न० - प्रश्नव्याकरण सूत्र सटीक ।
 ६१ प्रज्ञा० - प्रज्ञापना सूत्र सटीक ।
 ६२ प्रमा० - प्रमाणनयतत्त्वालोकावङ्गार सूत्र ।
 ६३ पि० - पिएमनिर्युक्तिवृत्ति ।
 ६४ पिण्ड०मू० - पिएमनिर्युक्ति मूल ।
 ६५ पा० - पाक्षिक सूत्र सटीक ।
 ६६ प्रा० - प्राकृतव्याकरण ।
 ६७ भ० - भगवती सूत्र सटीक ।
 ६८ महा० - महानिशीथ सूत्र मूल ।
 ६९ मएक० - मएकप्रकरण सवृत्ति ।
 ७० यो० बि० - योगबिन्दु सटीक ।
 ७१ रत्ना० - रत्नाकरावतारिका वृत्ति ।

७२ रा० - राजपूरणीय (रायपसेणी) सटीक ।
 ७३ ल० - लघितविस्तरा वृत्ति ।
 ७४ लघु० - लघुप्रवचनसार मूल ।
 ७५ ल० द्वे० - लघुक्षेत्रसमास प्रकरण ।
 ७६ व्य०अ० - व्यवहार सूत्र अक्षरार्थ ।
 ७७ वाच० - वाचस्पत्याभिधान (कोश)
 ७८ व्य० - व्यवहारसूत्रवृत्ति ।
 ७९ ती० - विविधतीर्थकल्प ।
 ८० वृ० - वृद्धकल्पवृत्ति सभाष्य ।
 ८१ विशे० - विशेषावश्यक सजाण्य सवृद्धवृत्ति ।
 ८२ विपा० - विपाक सूत्र सटीक ।
 ८३ श्रा० - श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति सटीक ।
 ८४ पो० - पोगगपूकरण सटीक ।
 ८५ स० - समवायाङ्ग सूत्र सटीक ।
 ८६ संथा० - संथारगपयना सटीक ।
 ८७ संस०नि० - संसक्तनिर्युक्ति मूल ।
 ८८ संघा० - सङ्घाचार जाण्य ।
 ८९ सत्त० - सत्तरिसयठाणा वृत्ति ।
 ९० सम्म० - सम्मतितर्क सटीक ।
 ९१ स्था० - स्थानाङ्ग सूत्र सटीक ।
 ९२ स्या० - स्याद्याटमञ्जरी सटीक ।
 ९३ सूर्यप्र० - सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक ।
 ९४ सूत्र० - सूत्रकृताङ्ग सूत्र सटीक ।
 ९५ सेन० - सेनप्रश्न ।
 ९६ हा० - हारिजद्राष्टक सटीक ।
 ९७ ही० - हीरप्रश्न ।

१३-प्राकृतशब्दों में जो कहीं कहीं () ऐसे कोष्ठक के मध्य में अक्षर दिये गये हैं, उन-
 के विषय में थोड़े से नियम—

१-कहीं कहीं एक शब्द के अनेक रूप होते हैं परन्तु सूत्रों में एकही रूप का पाठ विशेष आता है इसलिये उसीको मुख्य रखकर रूपान्तर को कोष्ठक में रक्खा है—जैसे 'अदत्तादाण' या 'अणुजाग' शब्द है और उसका रूपान्तर 'अदिष्ठादाण' या 'अणुजाव' होता है किन्तु सूत्र में पाठ पूर्व का ही प्रायः विशेष आता है तो उसीको मुख्य रखकर दूसरे को कोष्ठक में रखा दिया है; अर्थात्—'अदत्ता (दिष्ठा) दाण, 'अणुजाग (व)' ।

२-कहीं कहीं मागधी शब्द के अन्त में (ए) इत्यादि व्यञ्जन वर्ण भी कोष्ठक में दिया गया है वह "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ॥ ८।१।११ ॥ इस प्राकृतसूत्र से लुप्त हुए की सूचना है ।

३-कहीं कहीं "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८।१।१७७ ॥ इस सूत्र से एक पक्ष में व्यञ्जन के लोप होने पर वचे हुए (अ) (इ) आदि स्वरमात्र को रूपान्तर में दिया है ।

४-इसी तरह "अवर्णो यश्चुतिः" ॥ ८।१।१८० ॥ का भी विषय कोष्ठक में (य) आदि रक्खा है ।

५-तथा "ख घ थ ध ज्ञाप्" ॥ ८।१।१८७ ॥ इस प्राकृत सूत्र से ख घ थ ध ज्ञ अक्षरों को प्रायः हकार हुआ करता

है और कहीं २ हकार न होने का जी रूप आता है तो रूपान्तर की सूचना के लिये (घ) (भ) आदि अक्षर जी कोष्ठक में दिये हैं। यह नियम स्मरण रखने के योग्य है।

६-कहीं कहीं प्राकृतव्याकरण के प्रथमपादस्य १२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-४४ सूत्रों के भी त्रैकाष्टिक रूप, और दूसरे पाद के २-३-५-८-१०-११ सूत्रों से भी किये हुए रूपान्तर को कोष्ठक में दिया है।

७-“ फो भहौ ” ॥ ८ । १ । २३६ ॥ इस सूत्र के लगने से फ को (ज) या (ह) होने पर, दो रूपों में किसी एक को कोष्ठक में दिया गया है। इसी तरह इसी पाद के २४१-२४२-२४३-२४४-२४५-२४६-२४७-२४८-२४९-२५०-२५१-२५२-२५३-२५४ सूत्रों के विषय भी समझना चाहिये।

८-“ स्वार्थे कश्च वा ” ॥ ८ । २ । २६४ ॥ इस सूत्र से आये हुए क प्रत्यय को कहीं कहीं कोष्ठक में (अ) इस तरह रक्खा है। इसी तरह “ नो णः ” ॥ ८ । १ । २७८ ॥ सूत्र का जी आर्ष प्रयोगों में विकल्प होता है, इत्यादि विषय प्रथमजाग में दिये हुए प्राकृतव्याकरण-परिशिष्ट से समझ लेना चाहिये।

१४-प्राकृत शब्दों में कहीं २ संस्कृत शब्दों के लिङ्गों से विलक्षण जी लिङ्ग आता है-

कहीं कहीं प्राकृत मान कर ही लिङ्ग का व्युत्पत्त्य हुआ करता है जैसे तृतीय भाग के ४३७ पृष्ठ में ‘पिडतो वराह’ मूल में है, उसपर टीकाकार लिखते हैं कि ‘पृष्ठेशो वराहः, प्राकृतत्वाद् नपुंसकलिङ्गता’। इसी तरह “ प्रावृद्-शरत्-तरणयः पुसि ” ॥ ८ । १ । ३१ ॥ इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग को पुंलिङ्ग होता है; और दामन्-शिरस्-नभस् शब्दों को गुरुकर सजी सान्त और नान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं, तथा ‘वाऽङ्गर्थवचनायाः’ । १ । ३३ । ‘गुणाद्याः क्लीबे वा’ । १ । ३४ । ‘वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्’ । १ । ३५ । सूत्रों के जी विषय हैं। अन्यत्र स्थल में जी लोक प्रसिद्धि की अपेक्षा से ही प्राकृत में लिङ्गों की व्यवस्था मानी हुई है। जैसे-तृतीय जाग के २०४ पृष्ठ में ‘कहवाइ (ए)-कृतवादिन्’ इत्यादि कां में पुंस्त्व ही होता है। यद्यपि सभा और कुल का विशेषण मानने से स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग भी हो सकता है किन्तु उन दोनों का ग्रहण नहीं किया है; इसी तरह द्वितीय भाग के २८ पृष्ठ में ‘आनुक्खेम-आयुःक्षेम’ इत्यादि कों में यद्यपि ‘कुशलं हेममस्त्रियाम्’ इस कोश के प्रामाण्य से नपुंसकत्व और पुंस्त्व भी प्राप्त है तथापि केवल पुंस्त्व का ही स्वीकार है; क्यों कि काव्यादिप्रयोगों में जी लोक-प्रसिद्धि से ही लिङ्ग माना हुआ है, जैसे अर्धर्चादि गण में पद्म शब्द का पाठ होने से पुंस्त्व जी है, तदनुसार ही-‘जाति पद्मः सरोवरे’ यह किसीने प्रयोग जी किया, किन्तु काव्यानुशासन-साहित्यदर्पण-काव्यप्रकाश-सरस्वतीकण्ठा-चरण-रसगङ्गाधरकारादिकों ने पुंलिङ्ग का आदर नहीं किया है।

इस ग्रन्थ के हर एक जागों में आये हुए शब्दों में से थोके शब्दों के उपयोगी विषय दिये जाते हैं-

प्रथम जाग के कतिपय शब्दों के संहित विषय—

१-‘अन्तर’ शब्द पर अन्तर के जेद, द्वीप पर्वतों में परस्पर अन्तर, जम्बूद्वारों में परस्पर अन्तर, जिनेश्वरों में परस्पर अन्तर, ऋषजस्वामी से वीर भगवान् का अन्तर, ज्योतिष्कों का और चन्द्रमण्डल का अन्तर, चन्द्र सूर्यों का परस्पर अन्तर, ताराओं का परस्पर अन्तर, सूर्यों का परस्पर अन्तर, धातकीखण्ड के द्वारों का अन्तर, विमानकद्वारों का अन्तर, आहार के आश्रय से जीवों का अन्तर, और सयोगि भवस्थ केवल्यनाहारक का अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

२-‘अचित्त’ शब्द पर अचित्त पदार्थ का, तथा ‘अच्छेर’ शब्द पर दश १० आश्रयों का निरूपण देखना चाहिये।

३-‘अजीव’ शब्द पर छव्य-क्षेत्र-काट-जाव से अजीव की व्याख्या की हुई है।

४-‘अज्जा’ शब्द पर आर्या (साध्वी) को गृहस्थ के सामने दुष्टभाषण करने का निषेध, और विचित्र (नाना रंग वाले) वस्त्र पहि-रने का निषेध, तथा गृहस्थ के कपड़े सीने का निषेध, और सबिद्धास गमन करने का निषेध, पर्यङ्क गादी तकिया आदि को काम में लाने का निषेध, स्नान अङ्गरागादि करने का निषेध, गृहस्थों के घर जाकर व्यावहारिक अथवा धार्मिक कथा करने का निषेध, तरुण पुरुषों के आने पर उनके स्वागत करने का, तथा पुनरागमन कहने का निषेध, और उनके अचिताचारादि विषय वर्णित हैं।

५-‘अणायार’ शब्द पर साधुओं के अनाचार; ‘अणारिय’ शब्द पर अनाथों का निरूपण; ‘अणुओग’ शब्द पर अनुयोग शब्द का अर्थ. अनुयोगविधि, अनुयोग का अधिकारी, तथा अनुयोगों की पार्थक्य आर्थरक्षित से हुई है, इत्यादि; और ‘अणुव्वय’ शब्द पर जलनियों के चिन्ता देखने के दायक हैं।

६-‘अनेकान्तवाय’ शब्द पर स्याद्वाद का स्वरूप, एकान्तवादियों को दोष, अनेकान्तवादियों के मत का प्रदर्शन, अनेकान्तवाद के प्रत्यक्षरूप से दिखाई देते हुए भी उसको तिरस्कार करने वालों की उन्मत्तता, एकान्तरूप से उत्पत्ति अथवा नाश मानने में दोष, हर एक वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने में प्रमाण, वस्तु की एकान्तसत्ता माननेवाले सारूपमत का खण्डन इत्यादि विषय उत्तमोत्तम दिखाये गये हैं ।

७ ‘अस्रुतलिय’ शब्द पर एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है कि नहीं ? इसपर अन्ययथिकों के साथ विवाद, अदत्तादानादि क्रिया के विषय में विवाद, एक समय में एक जीव के दो क्रिया करने में विवाद, कल्याणकारी शील है या श्रुत है ? इसपर अन्ययथिकों के साथ विवाद, और अन्ययथिकों के साथ गोचरी का निषेध, तथा अन्ययथिकों को भोजन देने का निषेध, एवं उनके साथ विचारजूमि या विहारजूमि में जाने का निषेध आदि विषय आवश्यकीय हैं ।

८ ‘अदत्तादान’ शब्द पर अदत्तादान के नाम, अदत्तादान का स्वरूप, अदत्तादान का कर्ता, और अदत्तादान का फल इत्यादि विषय उपकारी हैं ।

९ ‘अहगकुमार’ शब्द पर आर्जककुमार की कथा, रागद्वेषराहित के भाषण करने में दोषाज्ञाव, बीजादि के उपजोक्ता भ्रमण (साधु) नहीं कहे जाते, समवसरणादि के उपभोग करने पर भी अर्हन् जगवान् के कर्मबन्ध न होने का प्रतिपादन, केवल ज्ञावशुद्धि ही को माननेवाले बौद्धों का खण्डन, विना हिंसा किये हुए जी मांस खाने का निषेध आदि विषय प्रदर्शित किये गये हैं ।

१० ‘आधिगण’ शब्द पर कलह करने का निषेध, उत्पन्न हुए कलह को शान्त करने की आज्ञा, कलह उत्पत्ति के कारण, कलह करके दूसरे गण में जाने का निषेध, गृहस्थ के साथ कलह उत्पन्न होजाने पर उसको बिना शान्त किये पिएमादि ग्रहण करने का निषेध इत्यादि विषय स्मरण रखने के योग्य हैं ।

११ ‘अप्पाबहुय’ शब्द पर अल्पबहुत्व के चार जेद, पृथ्वीकायादिकों के जघन्याद्यवगाहना से अल्पबहुत्व, आहारक और अनाहारक जीवों का अल्पबहुत्व, सेन्धियों का परस्पर अल्पबहुत्व, क्रोधादि कपार्यों का अल्पबहुत्व, किम क्षेत्र में जीव थोमे है और किसमें बहुत है इसका निरूपण, जीव और पुद्गलों का अल्पबहुत्व, तथा ज्ञानियों का अल्पबहुत्व आदि अनेक विषय हैं ।

१२ ‘अमावासा’ शब्द पर एक वर्ष में द्वादश अमावास्याओं का निरूपण, तथा उनके नक्षत्रों का योग और उनके कुल, एवं कितने मुहूर्तों के जानेपर अमावास्या के बाद पूर्णमासी और पूर्णमासी के बाद अमावास्या आती है इत्यादि विषय हैं; और ‘अयण’ शब्द पर अयन का परिमाण, करण का निरूपण, चन्द्रायण के परिज्ञान में करण आदि विषय समणीय हैं ।

१३ ‘अहिंसा’ शब्द पर अहिंसा का स्वरूपनिरूपण, अहिंसा व्रत का लक्षण, जिनको यह मिली है और जिन्होंने इसको ग्रहण की है उनका वर्णन, अहिंसा पाटन में उद्यत पुरुषों का कर्तव्य, अहिंसा की पांच भावनाएँ, प्राणीमात्र की हिंसा करने का निषेध, वैदिक (याज्ञिक) हिंसा पर विचार, प्राणी के न मारने के कारण; जैनों के ममान छान्य मत में अहिंसा के अभाव का निरूपण, अन्य मत में अहिंसा को मोक्ष की कारणता मुख्य न (गौण) होना, एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य आत्मा के मानने वालों के मत में अहिंसा का व्यर्थ हो जाना, आत्मा के परिणामी होने पर जी हिंसा में अविरोध का प्रतिपादन, आत्मा के नित्यानित्यत्व और देह से जिन्नाभिन्नत्व होने में प्रमाण, तथा आत्मा के शरीरावच्छिन्न होने में गुण आदि विषय ध्यान देने के योग्य हैं ।

प्रथम भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथार्ये आई हैं उनकी नामावली—

‘अइमुंतय’ ‘अज्ज’ ‘अंगारमद्ग’ ‘अंजू’ ‘अंम’ ‘अंब’ ‘अकर’ [कीर्तिचन्द्र नरचन्द्र की] ‘अक्खयपूया’ ‘अक्खुद्’ ‘अगरुदत्त’ ‘अगहिंस्सगराय’ ‘अचंकारियभट्टा’ ‘अचत्त’ ‘अजिअदेव’ ‘अज्जगग’ ‘अज्जचंदणा’ ‘अज्जमंगु’ ‘अज्जमाणग’ ‘अज्जरक्ख’ ‘अज्जरक्खिय’ ‘अज्जव’ (अहंकारिकथा) ‘अज्जवड्ढ’ ‘अज्जुपण्ण’ ‘अहुण’ ‘अहुवाय’ ‘अहिअगाम’ ‘अमवि’ ‘अणस्सिओवहाण’ ‘अणीयस’ ‘अणुवेदंधर’ ‘अणुज्जमवेस’ ‘अणायया’ ‘अणियाउत्त’ ‘अत्तदोसोवमंहार’ ‘अत्थकुसुज्ज’ ‘अहगकुमार’ ‘अप्पमाय’ ‘अब्बुय’ ‘अज्जगसेण’ ‘अजयकुमार’ ‘अभयदेव’ ‘अमरदत्त’ ‘अर’ ‘अरहस्य’ ‘अरिहनेमि’ ‘अलोभया’ ‘अवतिसुकुमाद’ ‘असद’ ‘अस्ताववोहितित्थ’ ‘अहिच्छत्ता’ ‘अहिणंदण’ आदि शब्दों पर कथार्ये ऊष्टव्य हैं ।

द्वितीय भाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘आजु’ शब्द पर आयु के जेद, आयु प्राणीमात्र को अतिप्रिय है इसका निरूपण, आयु की पुष्टि के कारण, और उनके उदाहरणादि देखने चाहिये ।

२-‘आजुकाय’ शब्द पर अप्कायिकों के जेद, अप्कायिक के शरीरादि का वर्णन, और उसके सचित्त-अचित्त-मिश्र भेदों का निरूपण, उष्ण जल की अचित्तसिद्धि, अप्काय शस्त्र का निरूपण, अप्काय की हिंसा का निषेध, अप्काय के स्पर्श का निषेध, और शीतोदक के सेवन का निषेध आदि विषय हैं ।

३-‘आउट्टि’ शब्द में चन्द्र और सूर्य की आवृत्तियाँ किस ऋतु में और किस नक्षत्र के साथ कितनी होती हैं इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

४-‘आगम’ शब्द पर लौकिक और लोकोत्तर भेद से आगम के जेद, आगम का परतः प्रामाण्य, आगम के अपौरुषेयत्व का स्वामन, आत्मों के रचे हुए ही आगम का प्रामाण्य, जहाँ जहाँ प्रामाण्य का संभव है वह सभी प्रमाणी-जुत है इसका निरूपण, मूलागम से अतिरिक्त के प्रामाण्य न होने पर विचार, शब्द के नित्यत्व का विचार, जो आगम-प्रमाण का विषय होता है वह अन्य प्रमाण का भी विषय हो सकता है इसका विचार, धर्ममार्ग और मोक्षमार्ग में आ-गम ही प्रमाण है, जिनागम का सत्यत्वप्रतिपादन, सब व्यवहारों में आगम के ही नियामक होने का विचार, बौद्धों के अपोहवाद का संक्षिप्त निरूपण इत्यादि पचास विषय बड़े रमणीय हैं ।

५-‘आणा’ शब्द पर आज्ञा के सदा आराधक होने का निरूपण, परलोक में आज्ञा ही प्रमाण है, आज्ञा की विराधना करने में दोष, तथा आज्ञाभङ्ग होने पर प्रायश्चित्त, आज्ञारहित पुरुष का चारित्र्य ठीक नहीं रह सकता, और आज्ञा के व्यवहार आदि का बहुतही अच्छा विचार है ।

६-‘आणुपुत्री’ शब्द पर बहुत ही गम्भीर १५ विषय विद्वानों के देखने योग्य हैं ।

७-‘आता’ शब्द पर आत्मा के तीन जेद, आत्मा का लक्षण, आत्मा के कर्तृत्व पर विचार, आत्मा का विभुत्वस्वामन, आत्मा का परिणाम, आत्मा के एकत्व मानने पर विचार, आत्मा का क्रियावत्त्व, और आत्मा के क्षणिकत्व मानने पर विचार इत्यादि विषय हैं ।

८-‘आधाकम्म’ शब्द पर आधाकर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, तीर्थंकर के आधाकर्म-नोजित्व पर विचार, नोजनादिक में आधाकर्म के संज्ञक होने का विचार, आधाकर्म-भोजियों का दारुण परिणाम, और आधाकर्म-भोजियों का कर्मबन्ध होना, इत्यादि अनेक विषय हैं ।

९-‘आजिणिबोहियणा’ शब्द पर १३ विषय विचारणीय हैं; और ‘आयंविहपक्खणा’ शब्द पर आचामाम्ब-प्रत्याख्यान के स्वरूप का निरूपण है ।

१०-‘आयरिय’ शब्द पर आचार्यपद का विवेक, आचार्य के भेद; आचार्य का ऐहलौकिक और पारलौकिक स्वरूप, प्रजाजनाचार्य, और उपस्थापनाचार्य का स्वरूप, आचार्य का विनय करना; आचार्य के लक्षण, जिनके अभाव में आचार्य नहीं हो सकता वे गुण, आचार्य के ब्रह्मचारत्व होने में दुर्गुण, दूसरे का अहित करना ही दुर्गुण है इसका कथन, प्रमादी आ-चार्य के द्विये शिष्य को शिक्षा करने का अधिकार; गुरु के विनय में वैद्यदृष्टान्त, आचार्य के द्विये नमस्कार करने का निरूपण, गुरु की वैयावृत्य, जिस कर्म से गच्छ का अधिपति होता है उसका निरूपण, आचार्य के अतिशय, निर्ग्रन्थियों के आचार्य, एक आचार्य के काल कर जाने पर दूसरे आचार्य के स्थापन में विधि, आचार्य की परीक्षा, आचार्य पद पर गुरु के स्थापन करने में विधि, विना परिवार के आचार्य होने का स्वप्न, स्थापन करने में वृद्ध साधुओं की सम्मति लेने की आव-श्यकता, इत्यादि उत्तमोत्तम विषय हैं ।

११-‘आलोचना’ शब्द पर आलोचना की व्युत्पत्ति, अर्थ और स्वरूप, मूलगुण और उत्तरगुण से आलोचना के भेद, विहारादि भेद से आलोचना के तीन भेद, और उसके भी जेद, शल्य के उच्चारार्थ आलोचना करने में विधि, आलोचनीय विषयों में यथाक्रम आलोचना के प्रकार, आलोचना में शिष्याचार्य की परीक्षा पर आवश्यकद्वार, आलो-चना लेने के स्थान, गोचरी से आये हुए की आलोचना, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जेद से आलोचना के चार प्रकार,

आलोचना का समय, तथा किमके निकट आलोचना लेनी चाहिये इस पर विचार, आमभ्रमण जीव के जी आलोचना लेने में आत्मण का दृष्टान्त, अदत्तालोचन पर व्याध का दृष्टान्त, आलोचना के आठ और दश स्थानक, कृत कर्मों की क्रम से आलोचना लेनी चाहिये, आलोचना न लेकर मृत होने पर दोष, और आलोचना का फल इत्यादि विषय आवश्यकिय हैं ।

१२-‘आसायणा’ शब्द पर आशातना करने में दोष, और आशातना का फल इत्यादि विवेचन देखने के योग्य है।

१३-‘आहार’ शब्द पर ‘सयोगी केवली, अनाहारक होते हैं’ इस दिगम्बर के मत का खण्डन, केवलियों के आहार और नीहार प्रच्छन्न होते हैं इस पर विचार, पृथिवीकायिकादिकों के आहार का निरूपण, तथा वनस्पतियों का, वृक्षोपगिस्थ वृक्षों का, मनुष्यों का, तिर्यग्जन्तुचरों का, स्थलचर सर्पादिकों का, खेचरों का, विकलोन्धियों का, पञ्चेन्द्रियों के मूत्र पुरीषों से उत्पन्न जीवों का आहार; तेजस्कायिक और वायुकायिक के आहार का निरूपण, और माचिताहार का प्रतिपादन, यावज्जीव प्राणी कितना आहार करता है इसका परिमाण, आहार के कारण, आहारत्याग का कारण, और आहार करने का प्रमाण, भगवान् ऋषभ स्वामी के द्वारा कन्दाहारी युगलियों का अनाहारी होना इत्यादि विषय हैं ।

१४-‘इन्द्रिय’ शब्द पर इन्द्रियों के पाँच जेद होने पर जी नामादि भेद से चार जेद, तथा छव्यादि भेद से दो जेद, और इन्द्रियों के संस्थान (रचना), इन्द्रियों के विषय, नेत्र और मन का अप्राप्यकारित्व, अवशिष्ट इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व, और इन्द्रियों के गुहागुप्त दोष का निरूपण आदि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१५-‘इत्थी’ शब्द पर स्त्री के लक्षण, स्त्रियों के स्वभाव जानने की आवश्यकता, और उनके कृत्यों का वर्णन, स्त्रीसंबन्ध में दोष, स्त्रियों के साथ विहार नहीं करना, स्त्री के साथ संबन्ध होने से इसी लोक में फल, स्त्री के संसर्ग में दोष, भोगियों की विम्वना, विश्वास देकर स्त्रियों के अकार्य करने का निरूपण, स्त्रियों के स्वरूप और शरीर की निन्दा, वैराग्य उत्पन्न होने के लिये स्त्रीचरित्र का निरीक्षण, स्त्रियों की अपवित्रता, प्राणी का सर्वस्व हरण करने वाली और बन्धन में विशेष कारण स्त्रियाँ हैं, उनके स्नेह में फसे हुए पुरुष को दुःखप्राप्ति, स्त्री का संबन्ध सर्वथा त्याज्य है इसका निरूपण, और उसके त्याग के कारण, स्त्री के हस्तस्पर्श करने का निषेध, तथा स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय, आहार, उच्चार, प्रसवण, परिष्ठापनिका, और धर्मकथादि करने का जी निषेध इत्यादि बहुत अच्छे ९० विषय द्रष्टव्य हैं ।

१६-‘इस्सर’ शब्द पर ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का खण्डन, तथा ईश्वर के एकत्व और विभुत्व का खण्डन, अन्य तीर्थियों के माने हुए ईश्वर का खण्डन आदि विषय विचारने के योग्य हैं ।

१७-‘उर्झणा’ शब्द भी द्रष्टव्य है, और ‘उववाय’ शब्द पर ३० विषय ध्यान रखने के योग्य हैं, जैमे-देवना देवलोक में क्यों उत्पन्न होते हैं, अविराधित आमण्य होने पर देवलोक में उपपात होता है, और नैरायिक कैमे उत्पन्न होते हैं इत्यादि विषयों पर विचार है ।

१८-‘उवसंपया’ शब्द पर आचार्यादि के काह्न कर जाने पर साधु के अन्यत्र गमन करने पर विचार, हानि और वृद्धि की परीक्षा करके कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण, भिक्षु का एक गण से निकल कर दूसरे गण में प्राप्त हो के विहार, तथा इसीका दूसरा प्रकार, कुगुरु होने पर अन्यत्र गमन करना इत्यादि विचार है ।

१९-‘उवसर्ग’ शब्द पर उपसर्ग की व्याख्या, उपसर्गकारी के भेद से उपमर्ग के जेद, और उपसर्ग का सहन, तथा संयमों का रूक्षत्व आदि विषय हैं ।

२०-‘उवदि’ शब्द पर उपधि के भेद, जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिकों के उपधि, जिन कल्पिक और गच्छ-वासियों के उपधि में उत्कृष्ट विभाग प्रमाण, उपधि के न्यूनाधिक्य में प्रायश्चित्त, प्रथम प्रव्रज्या के ग्रहण करने पर उपधि, प्रव्रज्या को ग्रहण करती हुई निर्ग्रन्थी के उपधि, रात्रि में अथवा विकाल में उपधि का ग्रहण, भिक्षा के लिये गये हुए साधु के उपकरण गिरजान पर विधि, स्थविरों के ग्रहण योग्य उपधि, माध्वियों का जो उपधि देता हो उसे उनके आने के माग में रख देना चाहिये इत्यादि विषय उपयोगी हैं ।

२१-‘उसज’ शब्द पर ऋषभस्वामी के पूर्व जन्म का चरित्र, ऋषभस्वामी के तीर्थङ्कर होने में कारण, ऋषभस्वामी का जन्म और जन्मदोहोत्सव, ऋषभस्वामी के नाम, और उनकी वृद्धि, और उनका विवाह, पुत्र, नीतिव्यवस्था, राज्याभिषेक, राज्यसंग्रह, लोकस्थिति के लिये शिष्यादि का शिक्षण, वास, तदनन्तर ऋषभस्वामी के पुत्र का

अभिषेक, ऋषजस्वामी का दीक्षाकल्याणक, और उनके चीवरधारी होने का कालप्रमाण, जिज्ञाकाल का प्रमाण, ऋषभस्वामी के आठ भवों का श्रेयांसकुमार के द्वाग कथन ऋषजनाथ का श्रामण्य के बाद प्रवर्तनप्रकार, श्रामण्यावस्थावर्णन, केवलोत्प-
स्यनन्तर धर्मकथन, ऋषजस्वामी के चन्दनार्थ मरुदेवी के साथ जरत का गमन, और जरत का दिग्विजय, ब्राह्मणों की उत्पत्ति का प्रकार, ऋषजस्वामी की सङ्घमङ्ख्या, और उनके केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद कितने कालानन्तर जन्मों का सिद्धिगमन प्रवृत्त हुवा, और कब तक रहा, ऋषजस्वामी के जन्मकल्याणकादि के नक्षत्र, और उनके शरीर की संपत्ति, शरीर का प्रमाण, कुमारावस्था में तथा राज्य करने के समय में और गृहस्थावस्था में जितना काल है उसका मान, ऋषभस्वामी का निर्वाण इत्यादि विषय स्थित हैं ।

इस से आतिरिक्त भी विषय इस भाग में स्थित हैं जिनका विस्तार के भय से निरूपण नहीं हो सकता ।

द्वितीय जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी नामावली—

‘आड’ ‘आणंद,’ ‘आधाकम्प,’ ‘आपई,’ ‘आभीरवंचग,’ ‘आयरिय,’ ‘आराहणा,’ ‘आरुगदिय,’ ‘आलंबण,’ ‘आलोय-
णा,’ ‘आसाढचूइ,’ ‘इंददत्त,’ ‘इंदचूइ,’ ‘इच्छकार,’ ‘इत्थिपरिसह,’ ‘इत्थी,’ ‘इलापुत्त,’ ‘इसिभइपुत्त,’ ‘इसिभासिय,’
‘उस्सर,’ ‘उत्तंभरदत्त,’ ‘उक्कम,’ ‘उवघायमाण,’ ‘उज्जयत,’ ‘उज्जुमतिववहार,’ ‘उज्जुववहार,’ ‘उज्झियय,’ ‘उएहपरी-
सह,’ ‘उदयण,’ ‘उदयप्पजसूरि,’ ‘उदेमिय,’ ‘उप्पत्तिय,’ ‘उप्पत्तिया,’ ‘उरन्न,’ ‘उववूह,’ ‘उवसंपया,’ ‘उवहि,’ ‘उवालं-
ज,’ ‘उस्सापकप्प’ इत्यादि शब्दों पर कथायें द्रष्टव्य हैं ।

तृतीय जाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘एगद्धावेहार’ शब्द पर एकाकी विहार करने में साधू को क्या दोष होता है इस पर विचार, एकाकीविहारियों के जेद, अशिवादि कारण से एकाकी होने में दोषाभाव, गण को गुरु कर एकाकी विहार करने पर प्रायश्चित्तादि वर्णित हैं ।

२-‘एगावाइ’ शब्द पर आत्मा का एकत्व मानने वालों का खारन, तथा एक मानने में दोष, अद्वैतवाद (पुरुषद्वैत) का खारन विस्तार से है ।

३-‘एसणा’ शब्द पर १४ विषय दिये हैं वे जो साधू और गृहस्थों के देखने योग्य हैं, जैसे—साधू को किस प्रकार भिक्षा लेना, और गृहस्थ को किस प्रकार देना चाहिये इत्यादि ।

४-‘ओगाहणा’ शब्द पर अवगाहना के भेद, औदारिक शरीर की अवगाहना (क्षेत्र) का मान, द्वित्रिचतुरिन्ध्रियों की औदारिकावगाहना, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियों की औदारिकावगाहना, मनुष्यपञ्चेन्द्रियों की औदारिकशरीरावगाहना, बौद्धिक शरीर की अवगाहना का मान, पृथिव्यादिकों की बौद्धिकशरीरावगाहना, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्चों की बौद्धिकशरीरावगाहना, असुरकुमारों की बौद्धिकशरीरावगाहना, आहारकशरीरों की अवगाहना का मान, तैजस शरीर की अवगाहना का मान, निगोद जीवों की अवगाहना का मान, धर्मास्तिकाय के अवगाहनावगाह की चिन्ता, एक जगह एकही धर्मास्तिकायादि प्रवेशावगाह है इत्यादि विवेचन है ।

५-‘ओसप्पिणी’ शब्द पर अवसर्पिणी शब्द की व्युत्पत्ति, और अवमार्पिणी कितने काल को कहते हैं, अवसर्पिणी काल में संपूर्ण शुभ भाव क्रम से अनन्त गुण से क्षीण होते हैं, और उसी तरह अशुभ जाव बढ़ते हैं, सुषमसुषमा से लेकर दुःषमदुःषमा पर्यन्त अवसर्पिणी के ७ जेद, सुषमादिकों का प्रमाण, भेरुनालादि वृक्ष का वर्णन, अष्टम कल्पवृक्ष का स्वरूप, उस काल में होने वाले मनुष्यादिकों के स्वरूप का वर्णन, और उनकी जवस्थिति, प्रथम से लेकर षष्ठ आरा तक का स्वरूपनिरूपण, जगत की व्यवस्था का वर्णन, भरतचूमिस्वरूप, अवसर्पिणी के तीन जेद इत्यादि विषय दिये हुए हैं ।

६-‘ओहि’ शब्द पर अवधि शब्द की व्युत्पत्ति और दक्षिण, अवधि के जेद, अवधि के नामादि सात जेद, अवधि-क्षेत्र मान, अवधिविषयक ध्वज का मान, क्षेत्र और काल के विषय का मान इत्यादि अनेक विचार हैं ।

७-‘कज्जकारणभाव’ शब्द पर कापिद्धादि मतों का खारन आदि विषय विचारणीय हैं ।

८-‘कम्म’ शब्द पर कर्म के तीन जेद, और उनके स्वरूप का निरूपण, कर्म और शिल्प में जेद, नैयायिक और वैयाकर-
गों के कर्म पदार्थ का निरूपण, कर्म के स्वरूप का निरूपण, पुण्य और पापरूप कर्म की भिन्नि, अकर्मवादी नास्तिक के मत

का खण्डन, कर्म के मूलत्व पर आक्षेप और परिहार, जगत के वैचित्र्य से भी कर्म की सिद्धि, जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध, कर्म का अनादित्व, जगत की विचित्रता में कर्मही कारण है ईश्वरादि नहीं हैं इसका निरूपण, स्वज्ञावादी के मत का खण्डन, पुण्य और पाप कर्म रूप ही हैं, पुण्य और पाप के निश्चयज्ञान, कर्म के चार जेद, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और मोहनीयों का विचार, नामकर्म गोत्रकर्म और आयुष्यकर्म का निरूपण इत्यादि ३७ विषय विचारणीय हैं ।

ए—‘कसाय’ शब्द पर कषायों का निरूपण है ।

१०—‘काउसमा’ शब्द पर कायोत्सर्ग का अर्थ, किन किन कार्यों में कितने उच्चास मान व्युत्सर्ग है, किस रीति से कायोत्सर्ग में स्थित होना इत्यादि १५ विषय बने गंजीर हैं ।

११—‘काम’ शब्द पर काम की रूपित्वसिद्धि, अरूपित्व का खण्डन; तथा ‘कायद्विः’ शब्द पर जीवों की कायस्थिति, जीवों की नैरयिकादि पर्याय से स्थितिचिन्ता, तिर्यक् तथा तिर्यक्स्त्रियों की, और मनुष्य तथा मनुष्यस्त्रियों की कायस्थिति, देव तथा देवियों की कायस्थिति, पर्याप्तापर्याप्त के विशेष से नैरयिकों की कायस्थिति, इन्द्रियों के द्वारा से जीवों की कायस्थिति, कायद्वार से जीवों की कायस्थिति, इसी तरह योगद्वार, वेदद्वार, कषायद्वार, लेश्याद्वार, सम्पद्द्वार, ज्ञानद्वार, दर्शनद्वार, संयमद्वार, उपयोगद्वार, आहारद्वार, ज्ञापकाज्ञापकद्वार, संज्ञाद्वार, जवस्थितिकद्वार के जेद से जीवों की कायस्थिति, और उदकगर्जादिकों की कायस्थिति इत्यादि २० विषय हैं ।

१२—‘काल’ शब्द पर कालशब्द की व्युत्पत्ति, काल की सिद्धि, काल का लक्षण, काल के भेद, दिगम्बर की प्रक्रिया से काल का निरूपण, और उसका खण्डन, काल का ज्ञान मनुष्य क्षेत्र ही में होता है इसका निरूपण, काल के संख्येय, असंख्येय और अनन्त भेद से तीन जेद तीर्थकर और गणधरों से कहे हुए हैं, स्निग्ध और रुक्ष जेद से काल के दो जेद, स्निग्ध और रुक्ष के तीन तीन जेद इत्यादि विषय निर्दिष्ट हैं ।

१३—‘किङ्कर्म’ शब्द पर कृतिकर्म में साधुओं की अपेक्षा से साधवियों का विशेष, यथोचित वन्दना न करने में दोष, कृतिकर्म में द्रव्य और भाव के जनाने के लिये दृष्टान्त, कृतिकर्म करने के योग्य साधुओं का निरूपण, तथा वन्दन करने के योग्य साधुओं का निरूपण, द्रव्य-क्षेत्र-काल-जाव से जेद, आचरणा का लक्षण, और पर्याय ज्येष्ठों से आचार्य की वन्दना का विचार, दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण के मध्य में स्तुति मद्गल अवश्य करना चाहिये, कृतिकर्म किसको करना चाहिये और किसको नहीं इसका विवेचन, पार्श्वस्थादि कों की वन्दना पर विचार, सुसाधु के वन्दना पर गुण का विचार, कृतिकर्म करने में उचितानुचित का निरूपण, कृतिकर्म को कब करना और कब नहीं करना, और कितनी बार कृतिकर्म करना इसका निरूपण, नियत वन्दनस्थान की संख्या का कथन, कृतिकर्म के स्वरूप का निरूपण इत्यादि २१ विषयों का विवेचन है ।

१४—‘किरिया’ शब्द पर क्रिया का स्वरूप, क्रिया का निक्षेप, क्रिया के जेद, स्पृष्टास्पृष्टत्व से प्राणातिपाताक्रिया का निरूपण, क्रिया का सक्रियत्व और अक्रियत्व, मृषावादादि का आश्रयण करके क्रियाकरने का प्रकार, अष्टादश स्थानों के अधिकार से एकत्व और पृथक्त्व के द्वारा कर्मबन्ध का निरूपण, ज्ञानावरणीयादि कर्म को बाधता हुआ जीव कितनी क्रियाओं से समाप्त करता है, मृगयादि में उद्यत पुरुष की क्रिया का निरूपण, क्रिया से जन्य कर्म और उसकी वेदना के अधिकार से क्रिया का निरूपण, भ्रमणोपासक की क्रिया का कथन, अनायुक्त में जाते हुए अनगर की क्रिया का निरूपण इत्यादि १८ विषय आये हुए हैं ।

१५—‘कुशील’ शब्द पर कुशील किसको कहना, और उनके जेद, कुशील के चरित्र, कुशीलों के निरूपणानन्तर कुशीलों का निरूपण, पार्श्वस्थादिकों का संसर्ग नहीं करना, और उनके संसर्ग में दोष इत्यादि विषय हैं ।

१६—‘केवलज्ञान’ शब्द पर केवलज्ञान शब्द का अर्थ, केवलज्ञान की सिद्धि. इसका साधपर्यायसितत्व, केवलज्ञान के भेद, सिद्ध का स्वरूप, किस प्रकार का केवलज्ञान होता है इसका निरूपण, स्त्रीकथा जक्तकथा देशकथा और राजकथा करनेवाले के लिये केवल ज्ञान और केवल दर्शन का प्रतिबन्ध इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१७—‘केवलिपञ्च’ शब्द पर केवली से कहे हुए धर्म का निरूपण, केवली के जेद, पहिले केवली हो कर ही सिद्धि को प्राप्त होता है, केवली के आहार पर दिगम्बर की विप्रतिपत्ति आदि विषय निरूपित हैं ।

१८—‘सत्रावसमिय’ शब्द पर कथोपशमिक के जेद तथा औपशमिक से इसका भेद, और उसके अठारह जेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१७—‘स्वरयर’ शब्द पर स्वरतर गच्छ का संक्षिप्त विवरण; तथा ‘स्वाणियवाइ’ शब्द पर बौद्धों के मत का संक्षिप्त निरूपण, और स्वरमन आदि देखने के लायक है ।

२०—‘खेत्त’ शब्द पर क्षेत्र का निरूपण, क्षेत्र के तीन भेद, क्षेत्र के गुण, क्षेत्र का आभवनव्यवहार आदि कई विषय निरूपित हैं ।

२१—‘गइ’ शब्द पर स्पृशद्गति और अस्पृशद्गति से-गति के दो जेद, प्रकारान्तर से जी दो भेद, गति शब्द की व्युत्पत्ति, नारक तिर्यग् मनुष्य देव के जेद से गति के चार भेद, प्रकारान्तर से पाँच भेद, अथवा आठ जेद, नारकादिकों की शीघ्रगति आदि विषय दिये हुए हैं ।

२२—‘गच्छ’ शब्द पर गच्छविधि, सदाचाररूपी गच्छ का लक्षण, गच्छ का अगच्छत्व, गच्छ में बसने से विशेष निर्जरा होती है इसका निरूपण, शिष्य तथा गच्छ का स्वरूप, आर्थिकाओं के साथ संवाद का निषेध, क्रयविक्रयकारी गच्छ का निषेध, सुगच्छ में बसना चाहिये, बसति का रक्षण, अष्टदृष्टिनाश, गच्छमर्यादा, आचार्यादिकों के अभाव होने पर गच्छ में नहीं बसना, गच्छ और जिनकल्प दोनों की प्रशंसा इत्यादि विषय हैं ।

२३—‘गणह (ध) र’ शब्द पर गणधर का स्वरूप, किस तीर्थङ्कर के कितने गणधर हैं, गणधर शब्द का अर्थ, जिन-गुणों से गणधर होने की योग्यता होती है उनका निरूपण किया है ।

२४—‘गब्ज’ शब्द पर गर्ज में अहोरात्रियों का प्रमाण, मूहूर्तों का प्रमाण, गर्ज में निःश्वासोच्छ्वास का प्रमाण, गर्ज का स्वरूप, ध्वस्तयोनि के काल का मान, कितने वर्ष के बाद स्त्री गर्भ धारण नहीं करती और पुरुष निर्वाय हो जाता है इसका निरूपण, कितने जीव एक देहा से एक स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कुक्षि में पुरुषादि कहाँ बसते हैं, गर्भ में जीव उत्पन्न होकर क्या आहार करता है?, गर्जस्थ जीव के उच्चार और प्रसवण का विचार, गर्भ-से जी जीव नरक या देवलोक को जाता है या नहीं इस गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर, नवमास का अन्तर हो जाने पर पूर्व भव को जीव क्यों नहीं स्मरण करता?, और गर्जगत का शौचादि विचार, स्त्री के गर्भधारण करने के पाँच प्रकार, गर्ज-पतन का कारण, गर्भपोषण में विधि इत्यादि विषय हैं ।

२५—‘गिलाण’ शब्द पर ग्लान के प्रति जागरण, सच्चिच्चि से चिकित्सा, ग्लान का अनुवर्तन, वैद्यानुवर्तना, वैद्य का उपदेश, ग्लान के लिये एषणा इत्यादि विषय हैं ।

२६—‘गुण’ शब्द पर मूलगुण, उत्तमगुण, एकतीस सिद्धादिगुण, सत्ताईस अनगाग गुण, महर्द्धि प्राप्त्यादि, सौजाग्यादि, मृष्टतृणौदार्यादि, ज्ञान्त्यादि, वैशेषिकसंमत गुण, छव्यगुणों का परस्पर अभेद, गुणपर्याय के जेद, गुणपर्याय का ऐक्य, और जैनसंमत गुण इत्यादि छष्टव्य विषय हैं ।

२७—‘गुणह्माण’ शब्द पर चौदह गुणस्थान, कायस्थिति, गुणस्थान में बन्ध इत्यादि विषय हैं ।

२८—‘गोयरचरिया’ शब्द पर जिनकल्पिक स्थविरकल्पिक, निर्ग्रन्थियों की जिज्ञा में विधि, जिज्ञाटन में विधि, आचार्य की आज्ञा, जाने के समय धार्याधार्य और कार्याकार्य, मार्ग में जिस तरह जाना, वृष्टिकाय के गिरने पर विधि, गृह प्रवेश, गृह के अवयवों को पकड़ करके नहीं खड़े होना, अंगुली दिखाने का निषेध, अगारी (स्त्री) के साथ खड़े होने का निषेध, ब्राह्मणादि को प्रविष्ट देख कर के जिज्ञा के लिये प्रवेश नहीं करना, तीर्थकर और उत्पन्नकेवलज्ञानदर्शन वाले जिज्ञा के लिये भ्रमण नहीं करते, आचार्य भिक्षा के लिये नहीं जाता, आश्वस्तु, गोचरातिचार में प्रायश्चित्त, साधवियों की जिज्ञा का प्रकार इत्यादि विषय बहुत उपयोगी हैं ।

२९—‘चक्रवट्टी’ शब्द पर चक्रवर्तियों की गति का प्रतिपादन, गोत्रप्रतिपादन, चक्रवर्त्ती के पुर का प्रतिपादन, चक्रवर्त्ती का वस्त्र, मुक्ताहार, वर्णादि, स्त्रियाँ, स्त्रियों के सन्तान आदि का निरूपण. उत्सर्पिणी में १२ चक्रवर्त्ती होते हैं, कौन और कैसे चक्रवर्त्ती होता है इसका निरूपण इत्यादि विषय हैं ।

३०—‘चारित्र’ शब्द पर कुम्भ के दृष्टान्त से चारित्र के चार भेद, सामायिकाटि रूप से चारित्र के पाँच जेद, किस तरह चारित्र की प्राप्ति होती है इसका प्रतिपादन, चारित्र में हीन ज्ञान अथवा दर्शन मोक्ष का साधन नहीं होता है, किन कषायों के उदय से चारित्र का हानि ही नहीं होता और किन से हानि होती है इसका निरूपण, वीतराग का चारित्र न बढ़ता है और न घटता है, चारित्र की विराधना नहीं करना, आहारशुद्धि ही प्रायः चारित्र का कारण है इत्यादि विषय हैं ।

३१-‘चेइय’ शब्द पर चैत्य का अर्थ, प्रतिमा की सिद्धि, चारणमुनिकृत वन्दनाधिकार, चैत्य शब्द का अर्थ जो ज्ञान मानते हैं उनका खण्डन, चमरकृतवन्दन, देवकृत चैत्यवन्दन, सावद्य पदार्थ पर भगवान् की अनुमति नहीं होती, और मौन रहने से भगवान् की अनुमति समझी जाती है क्योंकि निषेध न करने से अनुमति ही होती है इसपर दृष्टान्त, हिंसा का विचार, साधु को स्वातन्त्र्य से चैत्य में अनधिकार, द्रव्यस्त्व मे गुण, जिनपूजन से वैयावृत्य, तीन स्तुति, जिन ध्वन के बनावे में विधि, प्रतिमा बनाने में विधि, प्रतिष्ठाविधि, जिनपूजाविधि, जिनस्नात्रविधि, आभरण के विषय में दिगम्बरों के मत का प्रदर्शन और खण्डन, चैत्यविषयक प्रश्नों पर हीरविजय स्वरिकृत उत्तर इत्यादि अनेक विषय हैं ।

३२-‘चेइयवन्दण’ शब्द पर नैषेधिकीत्रय, पूजात्रिक, भावनात्रिक, त्रिदिङ्निरीक्षणप्रतिषेध, प्रणिधान; अभिगम, चैत्यवन्दनदिक, अवगाह, ३ वन्दना, ३ या ४ स्तुति, जघन्यवन्दना, अपुनर्वन्धकाऽऽदिक अधिकारी हैं, नमस्कार, प्रणिपात-दण्डक, २४ स्तव, सिद्धस्तुति, वीरस्तुति, वैयावृत्य की चौथी स्तुति, १६ आकार, कायोत्सर्ग इत्यादि अनेक विषय आये हैं ।

तृतीय भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

‘एगत्तभावणा,’ ‘एलकक्ख,’ ‘एसणासमिह,’ ‘कप्पाणयणीय,’ ‘कप्पीरह,’ ‘कत्तिय,’ ‘कप्प,’ ‘कप्पअ,’ ‘कयण्ण,’ ‘कवडि-जक्ख,’ ‘कंडरिय,’ ‘कंबल,’ ‘करंडु,’ ‘काकंदिय,’ ‘कायगुत्ति,’ ‘काल,’ ‘कालसोअरिय,’ ‘कासीराज,’ ‘किइकम्म,’ ‘कुबेरदत्त,’ ‘कुबेरदत्ता,’ ‘कुबेरसेणा,’ ‘कोडिसिला,’ ‘गंगदत्त,’ ‘गयसुक्कुमाल,’ ‘गुणचंद,’ ‘गुणसागर,’ ‘गुत्तस्सरि,’ ‘गुरुकुलवास,’ ‘गुरुणिग्गह,’ ‘गोप्तामाहिल,’ ‘चंडरुह,’ ‘चंदगुत्त,’ ‘चंदप्पभस्सरि,’ ‘चंपा,’ ‘चकदेव,’ ‘चेइयवन्दण’ ।

चतुर्थभाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘जीव’ शब्द पर जीव की व्युत्पत्ति, जीव का लक्षण, जीव का कथञ्चित् अनित्यत्व, और कथञ्चित् अनित्यत्व, इस्ति और कुन्थु का समान जीव है इसका प्रतिपादन, जीव और चैतन्य का भेदाभेद, संसारी और सिद्ध के भेद से जीव के दो भेद, संसारियों का सेन्द्रियत्व, सिद्धों का अनिन्द्रियत्व इत्यादि विषय वर्णित हैं ।

२-‘जोइसिय’ शब्द पर जम्बूद्वीपगत चन्द्र सूर्य की संख्या, तथा लवण समुद्र के, घातकी खण्ड के, कालोद-समुद्र के, पुष्करवर द्वीप के, और मनुष्यक्षेत्रगत समस्त चन्द्रादि की संख्या का मान, चन्द्र-सूर्यों की कितनी पङ्क्तियाँ हैं और किस तरह स्थित हैं इसका निरूपण, चन्द्रादिकों के भ्रमण का स्वरूप, और इनके मण्डल, तथा चन्द्र से चन्द्र का और सूर्य से सूर्य का परस्पर अन्तर इत्यादि अनेक विषय हैं जिनका पूरा २ निरूपण यहाँ नहीं किया जा सकता ।

३-‘जोग’ शब्द पर योग का स्वरूप, तथा योग के भेद, और योग का माहात्म्य आदि अनेक बृहत् विषय हैं ।

४-‘जोनि’ शब्द पर योनि का लक्षण, और उसकी संख्या, और भेद, तथा स्वरूप आदि अनेक विषय हैं ।

५-‘झाण’ शब्द पर ध्यान का अर्थ, ध्यान के चार भेद, शुक्लध्यानादि का निरूपण, ध्यान का आसन, ध्यातव्य और ध्यानकर्ताओं का निरूपण, ध्यान का मोक्षहेतुत्व इत्यादि विषय हैं ।

६-‘ठवणा’ शब्द पर स्थापनानिष्पेय, प्रतिक्रमण करते हुए गणधर स्थापना करते हैं, स्थापनाचार्य का चालन, स्थापना कितने प्रदेश में होती है इसका निरूपण, स्थापना शब्द की व्युत्पत्ति, और स्थापना के भेद इत्यादि विषय हैं ।

७-‘ठाण’ शब्द पर साधु और सन्धी को एक स्थल पर कायोत्सर्ग करने का निषेध, स्थान के पंद्रह भेद, बादर पर्याप्त तेजस्कायिक स्थान, पर्याप्तपर्याप्त नैरयिक स्थान, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का स्थान, भवनपति का स्थान, और स्थान शब्द की व्युत्पत्ति इत्यादि विषय हैं ।

८-‘ठिई’ शब्द पर नैरयिकों की स्थिति, पृथिवीविभाग से स्थितिचिन्ता, देवताओं की स्थिति, तथा देवियों की, भवनवासियों की, भवनवासिनियों की, असुरकुमारों की, असुरकुमारियों की, नागकुमारों की, नागकुमारियों की, सुर्वणकुमारों की, सुवर्णकुमारियों की, पृथिवीकायिकों की, सूक्ष्म पृथिवीकायिकों की, आउकायिकों की, बादर आउकायिकों की, तेउकायिकों की, सूक्ष्म तेउकायिकों की, बादर तेउकायिकों की, वायुकायिक-सूक्ष्म वायुकायिक-बादर वायुकायिकों की, वनस्पतिकायिक-सूक्ष्म वनस्पतिकायिक बादर वनस्पतिकायिकों की, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, समूर्द्धिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्, जलचरपञ्चेन्द्रिय, समूर्द्धिम जलचर पञ्चेन्द्रिय, चतुष्पद स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय, समूर्द्धिम चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, गर्भापक्रान्तिक चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, उरःपरिसर्प स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, भुजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, समूर्द्धिम भुजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय—

तिर्यग्योनिक. गर्भापक्रान्तिकञ्ज०, खचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, समूर्च्छिम०, गर्भापक्रान्ति०, मनुष्यों की, स्त्रियों की, नपुंसकों की, निर्ग्रन्थों की, वाणव्यन्तरों की, वाणव्यन्तरियों की, ज्योतिष्कों की, ज्योतिष्कियों की स्थिति-चन्द्रविम न में, सूर्य विमान में, ग्रहविमान में, नक्षत्रविमान में, ताराविमान में स्थिति, वैमानिकों की स्थिति, सौधर्म कल्प में, ईशान कल्प में, सनत्कुमार कल्प में, माहेन्द्र कल्प में, ब्रह्मलोक-लान्तक कल्प में, महाशुक्ल-सहस्रार कल्प में, आनत कल्प में प्रायात कल्प में, आरणअच्युत कल्प में स्थिति-अधोऽधोऽधैवेयकों की, अधोमध्यमग्रैवेयकों की, अधउपरिग्रैवेयकों की, मध्यमाधोऽधैवेयकों की, मध्यममध्यमग्रैवेयकों की, मध्यमउपरिग्रैवेयकों की, उपरिमाधोऽधैवेयकों की, उपरिममध्यमग्रैवेयकों की, उपरिमउपरिम ग्रैवेयकों की स्थिति-विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धों में देवों की स्थिति, वेदनीय कर्मों की स्थिति, पुंनपुंसकों की स्थिति, अकामकायके शतपस्वियों की, व्यन्तरों में उत्पन्न की स्थिति-बाल मरण से मरे हुये व्यन्तरों की, विधवाओं की अल्पाश्वासप्रवृत्त व्यन्तरों में उत्पन्न की स्थिति इत्यादि विषय बहुत भेद प्रभेद से निरूपित हैं ।

६-‘शकखत्त’ शब्द पर नक्षत्रों की संख्या, इन नक्षत्रों में कब क्या कार्य(गमन ग्रस्थानादि) करना, स्वाध्यायादि नक्षत्र-क्षिप्र, मृदु और ज्ञानवृद्धिकर नक्षत्र, चन्द्रनक्षत्रयोग, कितने भाग नक्षत्र चन्द्र के साथ युक्त होते हैं, प्रमदकोमी नक्षत्र, कौन नक्षत्र कितने तारावाला है, नक्षत्रों के देवता, नक्षत्रों के गोत्र, भोजन.द्वार, नक्षत्रविजय, सायंकाल और ज्ञातःकाल में नक्षत्रचन्द्रयोग, अमावास्याओं में चन्द्रनक्षत्रयोग, संवत्सरान्तों में नक्षत्रचन्द्रयोग, और संस्थान(रचना)आदि विषय है ।

१०—‘णम्मोकार’ शब्द पर नमस्कार के भेद, सिद्धनमस्कार, वीतराग के अनुग्रह से रहित होने पर भी नमस्कार का फलद होना, सिद्ध गुण अमूर्त ही होते हैं, नमस्कार का क्रम इत्यादि अनेक विषय द्रष्टव्य है ।

११—‘णय’ शब्द पर नय का लक्षण, अपेक्षानय, सप्तभङ्गी, वस्तु का अनन्तधर्मात्मकत्व, एक जगह अनेकाकार नयप्रमाणबुद्धि, नयज्ञान प्रमात्मक है या अमात्मक है इसपर विचार, द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, और उन दोनों का मत, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के मध्य में नैगमादि नयों का अन्तर्भाव, नैगमादि ७ मूल नय हैं और उनके मत का संग्रह, ‘सिद्धसेन दिवाकर’ के मत में ६ नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्दनय, एवंभूत नय, ७०० नय, निष्पन्नयोजना, कौन दर्शन किस नय से उत्पन्न हुआ, शब्दब्रह्मवादियों का मत, अद्वैतवादियों का मत, निश्चय और व्यवहार में सभी नयों का अन्तर्भाव, व्यवहार नय से साङ्ख्यमत, वेदान्त और साङ्ख्य का शुद्धाशुद्धत्व, नैगम और संग्रह का व्यवहार में अन्तर्भाव, कणाद और सौगत (बौद्ध) का मत, दिगम्बर मत में नय, शब्दनय, अर्थनय, नयों में सम्यक्त्व, नयफल, ज्ञानक्रियानय, नयपार्थक्य आदि विषय दिये हुये हैं ।

१२—‘शरग’ शब्द पर नरकदुःखवर्णन, नरकवेदमा, नरक के बहुत से स्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१३—“खाण” शब्द पर पाँच ज्ञान, मति श्रुत भेद से ज्ञान के भेद, ज्ञान का साकारानाकारत्व, ज्ञान का स्वप्रकाशकत्व, तत्त्वज्ञान इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं, और “शिगंथ” शब्द पर निर्ग्रन्थ शब्द की व्युत्पत्ति आदि देखना चाहिये।

१४—‘तपस’ शब्द पर तप क्या वस्तु है, अनशन व्रत तप कैसे है, बाह्य और आभ्यन्तर तप का निरूपण, तप वैसा करना चाहिये जिसमें शरीर की ग्लानि न हो. तप का फल, तप के चार भेद इत्यादि विषय हैं ।

१५-‘तित्थयर’शब्द पर तीर्थकर शब्द की व्युत्पत्ति और यह किसका प्रतिपादक है इस का निरूपण, तीर्थकरों के अति-शय, तीर्थकरों के अन्तर, और तीर्थकरों में अष्टादश दोष का अभाव, तीर्थकरों के अभिग्रह और उनकी आदेशसङ्ख्या, आव-श्यक, और उनके आहार, जन्मावसर में इन्द्रकृत्य, समानिवेशन, शक्रक्रिया, देवलोक से उतरने के मार्ग, मेरुगमन, उपकरण-संख्या, उपसर्ग देहमान (उँचाई आदि) चतुर्विंशति जिनों के अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या, कल्पशोधि, कुमारवास, केव-ल (ज्ञान) नक्षत्र केवलनगरी, केवलतप, केवलमास-तिथि, केवलराशि, केवलवृक्ष, केवलवृक्षमान, केवलवन, केवलवेला, के-लिकाल, केवलिसंख्या, गणसंख्या, गणधरसंख्या, गर्भस्थिति, गृहिकाल, गृहस्थावस्था के तीव्र ज्ञान, गोत्र, चतुर्दशपूर्वी, च-क्रित्वकाल, चरित्र, च्युतिनक्षत्र, च्युतिमास, च्युतिराशि, च्युतिवेला, छद्मस्थत्व, छद्मस्थावस्था में वीरतपमान, यक्ष, यक्षिणी, जन्मनक्षत्र, जन्मनगरी, जन्मदेश, जन्ममास, जन्मराशि, जन्मवेला, जन्मारक, जन्मारकशेषकाल, तत्त्वसंख्या, तीर्थप्रवृत्ति-काल, तीर्थोच्छेदकाल, तीर्थकरनाम, ‘चक्रवर्ति, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, तीथोत्पत्ति, दीक्षाकाल, दर्शन, दीक्षानक्षत्र, दीक्षापर्याय, दीक्षातरु, दीक्षातप, दीक्षापरिवार, दीक्षापुर, दीक्षाज्ञान, दीक्षामास, दीक्षाराशि, दीक्षालोचमुष्टि, दीक्षावन, दीक्षावय, दीक्षाशिविका, दिक्कुमारीकृत्य, अष्टकुमारियों के नाम, और इनके आसनों का चलन, गमनावसर

में क्या करती हैं, तीर्थकरमाताओं को नमस्कार, इनोंका कर्तव्य, दक्षिणरुचकवासियों का कृत्य, पश्चिमरुचकवासियों का कृत्य, उर्दाची में रुचकवासियों का कृत्य इत्यादि, देवदूष्यवस्त्र, देवदूष्यवस्त्रस्थिति, धर्मप्रभेद, धर्मोपदेशक, नाम तीर्थकरों के, पञ्चकन्याणक, पर्यायान्तकृतभूमि, प्रतिक्रमणमंख्या, प्रथमगणपरनाम, प्रथमप्रवर्तिनी, प्रथमश्रावक, प्रथमश्राविका, प्रत्येकबुद्धसंख्या, प्रमाद, परिवह, पारणाकाल, पारणाद्रव्य, पारणादायक, पारणादायकगति, पारणादायकदिव्य-पञ्च, पारणादायकवसुधाराष्ट्रि, पारणापुर, प्रियगति, प्रियनाम, पूर्वप्रवृत्तिकाल, पूर्वप्रवृत्तिच्छेद, जिनों के पूर्व भव, (ऋषभदेव के पूर्वभव 'ऋषभ, शब्द पर हैं) चन्द्रप्रभ के सात भव, शान्तिनाथ के द्वादश पूर्वभव, मुनिसुव्रत के नवभव, नेमिनाथ के नवभव, पार्श्वनाथ के पूर्वभव, वीर के अष्टादशभव, शेष जिनों के भव, पूर्वभवगुरु, पूर्वश्रवायु, पूर्वभवचेत्र, पूर्वभवदीक्षा, पूर्वभवजिनहेतु, पूर्वभवद्वीप, पूर्वभवनाम, पूर्वभवपुरी, पूर्वभवरान्य, पूर्वभवविजय, पूर्वभवसर्ग, पूर्वभवसूत्र, मुख्यआसन, मुख्यस्थान, मुख्यतप, मुख्यनक्षत्र, मुख्यपरिवार, मुख्यपथ, मुख्यमास, मुख्यराशि, मुख्यविजय, मुख्यवेला, मुख्यारक, मुख्यारकशेषकाल, मुख्यावगाहना, मुनिस्वरूप, मुनिसंख्या, राज्य, रुद्रनाम, लाञ्छन, शरीरलक्षण, जिनवंश, वस्त्रवर्ण, जिनों के वर्ष, विवाह, विहार, संयम, सांवत्सरिक दान, समवसरण, सर्वायु, सामान्यमुनि, सामायिक, सामायिकमंख्या, श्रावकसंख्या, स्वप्न, स्वप्नविचार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१६— ' तेजकाश्य ' शब्द पर तेज की जीवत्वसिद्धि, अग्नि की जीवत्वसिद्धि, तद्विषयसमारंभ कटुकफलपरिहारोपन्यास, अग्निसमारम्भ में नानाविधप्राणियों की हिंसा, तेजस्कायपिण्डप्रतिपादन, तेजस्कायहिंसानिषेध इत्यादि विषय हैं ।

१७— ' थंडिल ' शब्द पर स्थण्डिल का विवेचन देखना चाहिये । ' दंसण ' शब्द पर दर्शन की व्युत्पत्ति, सम्बन्ध और मिथ्या भेद से दर्शन के दो भेद, ध्यायिकादि भेद से तीन भेद, तथा दर्शन का पञ्चविधत्व और सप्तविधत्व, कारक रोचक दीपक भेद से तीन भेद, नवविधदर्शन इत्यादि विषय हैं ।

१८— ' द्रव्य ' शब्द पर द्रव्य का निरूपण, द्रव्य का लक्षण, षड्द्रव्यनिगमन, जीवाजीवद्रव्य असंख्य अनन्त, द्रव्य के दो भेद, वैशेषिकरीति से नव द्रव्य, और उनमें दोष इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१९— ' दाण ' शब्द पर दान का विशेष विचार देखना चाहिये ।

२०— ' देव ' शब्द पर देवताओं के दो भेद, तीन भेद, चार भेद, पाँच भेद इत्यादि विषय हैं ।

२१— ' धम्म ' शब्द पर धर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, धर्म के दो भेद, धर्म का लक्षण, धर्म के भेद और प्रभेद, धर्म के चिह्न, औदार्यलक्षण, दाक्षिण्यलक्षण, निर्मलबोधलक्षण, भैर्यादिकों के लक्षण, धर्म के अधिकारी, धर्म के योग्य, अवश्यही धर्म की रक्षाकरना चाहिये इसका निरूपण, अर्थ और काम का धर्म ही मूल है, धर्मोपदेश का विस्तार, धर्म का माहात्म्य, धर्म का मोक्षकारणत्वप्रतिपादन, धर्म का फल, और वह किसको दुर्लभ है और किसको सुलभ है इसका निरूपण, केवलभाषित धर्म का श्रवण दुर्लभ है, धर्म की परीक्षा, धर्माधर्म का विचार सूक्ष्म बुद्धि से करना चाहिये इत्यादि विषय हैं ।

चतुर्थ जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथार्ये आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

' जत्तासिद्ध, ' ' खंदसिरि, ' ' खंदिसेण, ' ' नरसुंदर, ' ' शागज्जुण, ' ' शागहत्थिण, ' ' ताराचंद, ' ' दमदंत, ' ' दसउर, ' ' दससुभद, ' ' धणमित्त, ' ' धणवई, ' ' धणावह, ' ' धणसिरी, ' ' धम्मघोस, ' ' धम्मजस ' ।

पञ्चम भागमें आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१— ' पञ्चखाण ' शब्द पर अहिंसाप्रत्याख्यान, प्रतिषेधप्रत्याख्यान, भावप्रत्याख्यान, मूलगुणप्रत्याख्यान, सम्यक्त्वप्रतिक्रमण, सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यान अनागतादि दशविध प्रत्याख्यान, अद्धाप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानविधि, दान-विधि, प्रत्याख्यानशुद्धि, प्रत्याख्यान का षड्विधत्व, ज्ञानशुद्ध, अनुभाषणाशुद्ध, अनुपालनाशुद्ध, आकार, प्रत्याख्यान में सामायिक, प्रत्याख्याताकृत प्रत्याख्यान दान का निषेध, निर्विषयक प्रत्याख्यान नहीं होता, श्रावक का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान का फल आदि कई विषय हैं ।

२— ' पच्छित्त ' शब्द पर प्रायश्चित्त का अर्थ, मात्र से प्रायश्चित्त किसको होता है, आलोचनादि दशविध प्रतिसेवना प्रायश्चित्त, तपोई प्रायश्चित्त में सामिक प्रायश्चित्त, संयोजनाप्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त देने के योग्य पर्वत (सभा), दण्डानुरूप प्रायश्चित्त, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पाञ्चमासिक, और बहुमासिक प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तदानविधि, आलोचना को सुनकर प्रायश्चित्त देना, प्रायश्चित्त का काल, प्रायश्चित्त का उपदेश इत्यादि विषय हैं ।

३- 'पञ्जुसणाकप्प' शब्द पर पर्युषणा कब करना, पर्युषणास्थापना, माद्रपदपञ्चमीविचार, क्षेत्रस्थापना, मि-
चाक्षेत्र, संखंडि, एकनिर्ग्रन्थी के साथ नहीं ठहरना, अगारी के साथ नहीं ठहरना, इच्छा से अधिक नहीं खाना,
शय्यासंस्तार, उच्चारप्रसवणभूमि, पर्युषणा में केशलोच, उपाश्रय, दिगवकाश इत्यादि देखने के योग्य हैं।

४- 'पडिकमण' शब्द पर प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ, प्रतिक्रामक, नामस्थापनाप्रतिक्रमण, प्रतिक्रान्तव्य के पाँच भेद,
ईर्याप्रतिक्रमण, दैवसिकप्रतिक्रमणवेला, रात्रिकप्रतिक्रमण, पाक्षिकादिकों में प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी ही
में होता है, मङ्गल, त्रैकालिक प्राणातिपातविरति, श्रावक के प्रतिक्रमण में विधि इत्यादि बहुत विषय हैं।

५- 'पडिमा' और 'पडिलेहसा' शब्द देखने चाहिये। 'पडिसेवणा' शब्द पर प्रतिसेवना शब्द का अर्थ,
और भेद आदि का बहुत विस्तार है।

६- 'पत्त' शब्द पर पात्र का लेपकरणादिक देखना चाहिये।

७- 'प्रमाण' शब्द पर प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण का लक्षण, स्वतःप्रामाण्यविचार, प्रमाणसंख्या, प्रमाणफल,
द्रव्यादिप्रमाण आदि विषय हैं।

८- 'परिग्रह' शब्द पर परिग्रह के दो भेद, मूर्च्छापरिग्रह आदि अनेक भेद द्रष्टव्य हैं।

९- 'परिद्वयणा' शब्द पर परिष्ठापनाविधि, पृथ्वीकामपरिष्ठापना, अशुद्ध गृहीत आहार की परिष्ठापना, कालगत-
साधु की परिष्ठापनिका इत्यादि अनेक विषय हैं।

१०- 'परिणाम' शब्द पर परिणाम की व्युत्पत्ति और अर्थ, जीवाजीव के परिणाम, नैरयिकादिकों का परिणाम
विशेष, स्कन्ध और पुद्गलों का परिणामित्व, देवताओं का बाह्यपुद्गलों को ले करके परिणामी होने में सामर्थ्य, पुद्गल-
परिणाम, वर्ण गन्ध रस स्पर्श के संस्थान से पुद्गल परिणत होते हैं, पुद्गलों का प्रयोग परिणतहोना, दण्डक, जीव
का परिणाम, मूलप्रकृति का महदादिपरिणाम, स्वभावपरिणाम, परिणाम के अनुसार से कर्मबन्ध, आकारबोध और
क्रिया के भेद से परिणाम इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

११- 'पवज्जा' शब्द पर प्रव्रज्या का अर्थ और व्युत्पत्ति, प्रव्रज्या के पर्याय, दीक्षा का तत्त्व, किससे किसको
प्रव्रज्या देना, किम नच्च और किस तिथि में दीक्षा लेनी, दीक्षा में अपेक्ष्य वस्तु, दीक्षा में अनुराग आदि, लोकविरुद्ध-
त्याग, सुन्दरगुरुयोग, समवसरण में विधि, पुष्पपात में दीक्षा, वासच्छेपादिरूप दीक्षासामाचारी, दीक्षा किस प्रकार से
देना, चैत्यवन्दन, प्रव्रज्याग्रहण में सूत्र, और उसके पालन में सूत्र, प्रव्रज्या में विधि, गुरु से अपना निवेदन, दीक्षा
की प्रशंसा, जिसतरह साधर्मिकों की प्रीति हो वैसा चिह्न धारण करना, दीक्षाफल, प्रव्रजित का आयिकाओं के द्वारा
वन्दन, प्रव्रजित को ऐसा उपदेश करना जिसमें अन्य भी दीक्षा लेले, परीक्षा करके प्रव्राजन, एकादशप्रतिपक्ष
श्रावक को दीक्षा देना, पण्डक (क्लीव) आदि को दीक्षा नहीं देना इत्यादि अनेक विषय हैं।

१२- 'पुढवीकाइय' शब्द पर पृथिवीकायिक की वक्रव्यता स्थित है।

१३- 'पोग्गल' शब्द पर पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, पुद्गल का लक्षण, पुद्गल भिदुरधर्मवाले हैं, परमाणु
का पुद्गल से अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

१४- 'बन्ध' शब्द पर बन्धमोक्षसिद्धि, बन्ध के भेद, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध, प्रेमद्वेषबन्ध, अनुमागबन्ध, बन्ध में
मोदक का दृष्टान्त, ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बन्ध इत्यादि अनेक बातें हैं।

१५- 'भरह' शब्द पर भरत वर्ष का स्वरूपनिरूपण, दक्षिणार्द्ध भरत का निरूपण, और वहाँ के मनुष्यों का स्वरूप,
भरत के सीमाकारी वैताड्य गिरि का स्थाननिर्देश, और इसके गुहाद्वय का निरूपण, तथा श्रेणि और कूटों
का निरूपण, उत्तरार्द्ध भरत का निरूपण, भरत इस नाम पड़ने का कारण, तदनन्तर राजा भरत की कथा है।

१६- 'भावणा' शब्द पर भावना का निर्वचन, प्रशस्ताप्रशस्त भावना का निरूपण, भैरव्यादि भावनाओं के चार
भेद, सद्भावना से भावित पुरुष को जो होता है उसका निरूपण इत्यादि विषय आये हैं।

पञ्चम जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या लपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'पण्णरीसह,' 'पउमसेह,' 'पउमावई,' 'पउमसिरी,' 'पउमभइ,' 'पउमइह,' 'पुढविचंद,' 'फासिंदिय,'
'बंधुमई,' 'भइ,' 'भइयंदिनु,' 'भरह,' 'भीमकुमार'।

षष्ठभागमे आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘ मग्न ’ शब्द पर द्रव्यस्त्व और भावस्त्व रूप से मार्ग के दो भेद, मार्ग का निषेध, मार्ग के स्वरूप का निरूपण इत्यादि अनेक विचार हैं ।

२-‘ मरण ’ शब्द पर सपराक्रम और अपराक्रम मरण, पादपोषगमनादिकों का संक्षिप्त स्वरूप, भक्तपरिज्ञा, बालमरण, कालद्वार, अकाम मरण और सकाम मरण, विमोक्षाध्ययनोक्त मरणविधि, मरण के भेद इत्यादि विषय दिये गये हैं ।

३-‘ मल्लि ’ शब्द पर मल्लिनाथ भगवान् की कथा द्रष्टव्य है ।

४-‘ मिच्छत्त ’ शब्द पर मिथ्यात्व के छ स्थान, मिथ्यात्वप्रतिक्रमण, मिथ्यात्व की निन्दा, मिथ्यात्व का स्वरूप, द्रव्य और भाव से मिथ्यात्व के भेद आदि निरूपित हैं ।

५-‘ मेहुण ’ शब्द पर मैथुन के निषेध का गंभीर विचार है ।

६-‘ मोक्ष ’ शब्द पर मोक्ष की सिद्धि, निर्वाण की मत्ता—है, या नहीं, इसका निरूपण, मोक्ष का कारण ज्ञान और क्रिया है, धर्म का फल मोक्ष है, मोक्ष पर साहूख्य और नैयायिकों का मत, मोक्ष पर विशेष विचार, मोक्ष पर वेदान्तियों के मत का निरूपण और खण्डन. स्त्री की मोक्षमिद्धि मोक्ष का उपाय इत्यादि विषय हैं ।

७-‘ रजोहरण ’ शब्द पर रजोहरण शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति, रजोहरण का प्रमाण, मांसचक्षु वाले मनुष्यों को सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं दे सकते इसलिये उनको जीवदयार्थ रजोहरण धारण करना चाहिये, रजोहरण की दशा (किनारी या अग्रभाग) सूक्ष्म नहीं करना चाहिये, रजोहरण के धारण करने का क्रम और नियम, अनिसृष्ट रजोहरण ग्रहण नहीं करना चाहिये इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

८-‘ रात्रिभोजन ’ शब्द पर रात्रिभोजन का त्याग, रात्रिभोजन करने वाला अनुद्धातिक होता है, रात्रिभोजन के चार प्रकार, रास्ते में रात्रिको आहार लेने का विचार, कैमा आहार रात्रि में रक्खा जा सकता है इसका विवेक, राजा से द्वेष होने पर रात्रि को भी आहार लेने में दोषाभाव, रात्रि में उद्गार आने पर उद्गिरण करने में दोष, रात्रिभोजन प्रतिगृहीत हो तो परिष्ठापना करना, रात्रिभोजन के प्रायश्चित्त, औषधि के रात्रि में लेने का विचार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

९-‘ रुद्रज्जाण ’ शब्द पर रौद्रध्यान का स्वरूप, और उसके चार भेद, रौद्रध्यानी के चिह्न आदि अनेक विषय हैं ।

१०-‘ लेश्मा ’ शब्द पर लेश्या के भेद, लेश्याके अर्थ, आठ लेश्याओं का अल्पबहुत्व, देवविषयक अल्पबहुत्व, कौन लेश्या कितने ज्ञानों में मिलती है, कौन लेश्या किस वर्ण से साधित होती है, मनुष्यों की लेश्या, लेश्याओं में गुणस्थानक, धर्मध्यानियों की लेश्या आदि विषय हैं ।

११-‘लोक’शब्द पर लोक शब्द का अर्थ; और व्युत्पत्ति, लोक का लक्षण, लोक का महत्त्व, लोक का मंस्थान आदि विषय हैं ।

१२-‘ वस्त्र ’ शब्द पर लिखा है कि कितनी दूर तक वस्त्र के वास्ते जाना. कितनी प्रतिमा से वस्त्र का गवेषण करना, याच्ना वस्त्र और निमन्त्रण वस्त्र की याच्ना पर विचार. निर्ग्रन्थियों के वस्त्र लेने का प्रकार, चातुर्मास्य में वस्त्र लेने पर विचार, आचार्य की अनुज्ञा से ही साधू अथवा साध्वी को वस्त्र लेना चाहिये, वस्त्र का प्रमाण, भिन्न (फटे) वस्त्र लेने की अनुज्ञा, वस्त्रों के रँगने का निषेध, वस्त्र के सीने पर विचार, अन्ययुथिक और पार्श्वस्थादि कों को वस्त्र देने का निषेध, वस्त्र को यत्न से रखना जिसमें विकलेन्द्रियों का घात न हो, वस्त्रों के धोने का निषेध आचार्य के मलिन वस्त्रों के धोने की अनुज्ञा इत्यादि विशेष विचार हैं ।

१३-‘ वसति ’ शब्द पर किम प्रकार के उपाश्रय में रहना चाहिये इसका निरूपण, उपाश्रय के उद्गमादि दोषों का निरूपण, भिक्षु के वास्ते असंयत उपाश्रय बनावे, अविधि से उपाश्रय के प्रमार्जन में दांप, जहाँ गृहपति कन्दादिकों का आहार करता है वहाँ नहीं रहना, सखीक उपाश्रय में नहीं रहना, रुग्ण माधु की प्रतिक्रिया, जहाँ गृहिणी मैथुन की वाञ्छा करे उम गृहपति के गृह में नहीं वसना, गृहपति के घर में वसने के दोष, प्रतिबद्ध शय्या में वसने के दोष जिसमें धरवाला भोजन बनावे वहाँ नहीं रहना, और जहाँ पर घर का मालिक कष्ट फाड़े या अग्नि जलावे वहाँ नहीं रहना, जहाँ पर साधर्मिक निरन्तर आते हों वहाँ नहीं रहना, कार्यवश मे चरक और कार्पटिकों के साथ वसने में विधि, वसति के याचन का प्रकार, जहाँ पर गृहपति के मनुष्य कलह करते हों या अभ्यङ्ग (मर्दन) करते हों वहाँ नहीं रहना, कब कहां कितना वास करना इसका नियम, जहाँ राजा हो उस उपाश्रय मे वसने का निषेध, साध्वियों की वसति में साधू के जाने का निषेध इत्यादि विषय हैं ।

१४-‘ विजय ’ शब्द पर विजय की विशेषवृत्तव्या देखना चाहिये ।

१५-‘ विनय ’ शब्द पर विनय के पाँच ५ भेद और सात ७ भेद, विनयमूलक धर्म की सिद्धि, गुरु के निकट विनय की आवश्यकता, आर्थिका के विनय इत्यादि विस्तृत विषय देखने के योग्य हैं ।

१६ ‘ विमान ’ शब्द पर विमानों की संख्या, और विमानों का मान, विमानों का संस्थान, विमानों के वर्ष, विमानों की प्रभा, गन्ध, स्पर्श, और महत्त्व आदि देखने के योग्य हैं ।

१७-‘ विहार ’ शब्द पर आचार्य और उपाध्याय के एकाकी विहार करने का निषेध, किनके साथ विहार करना और किनके साथ नहीं करना इसका निरूपण, वर्षाकाल में या वर्षा में विहार करने का निषेध, अशिवादि कार्यों में वर्षा में भी विहार करना, वर्षा की समाप्ति में विहार करना, मार्ग में युगमात्र देखते हुए जाना चाहिये, नदी के पार जाने में विधि, आचार्य के साथ जाते हुए साधू को विधि, साधुओं का और साध्वियों का रात्रि में या विकाल में विहार करने का विचार इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१८-‘ वीर ’ शब्द पर वीरशब्द की व्युत्पत्ति, और कथा देखना चाहिये ।

षष्ठ जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या लपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

‘ मल्लि ’ ‘ महापश्रिकतर ’ ‘ शृणिसुव्वय ’ ‘ मूलदत्ता ’ ‘ मूलसिरी ’ ‘ मेहघोस ’ ‘ मेहपुर ’ ‘ मेहमुह ’ ‘ मेहरिपुत्त ’ ‘ रहणेमि ’ ‘ रोहिणी ’ ‘ रोहिणेयचोर ’ ‘ वद्धमाणस्रि ’ ‘ वरुह ’ ‘ वराहभिहिर ’ ‘ वरुण ’ ‘ वयहारकुसल ’ ‘ वाणा—रसी ’ ‘ विजइंदसरि ’ ‘ विजयकुमार ’ ‘ विजयघासे ’ ‘ विजयचंद ’ ‘ विजयतिलकसरि ’ ‘ विजयसेट्ठि ’ ‘ विजयसेण ’ ‘ विणयंधर ’ ‘ विसेसणु ’ ‘ वीर ’ ।

सप्तम जाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘ संसार ’ शब्द पर संस्तार का विचार है । ‘ संवर ’ शब्द पर सम्बर का निरूपण है । ‘ संसार ’ शब्द पर संसार की असार दशा दिखाई गई है ।

२-‘ शक्र ’ शब्द पर शक्र की अद्वि और स्थान, विकुर्वणा, और पूर्वभव, शक्र का विमान, और शक्र किस भाषा को बोलते हैं इसका निरूपण और शक्र की सामर्थ्य आदि वर्णित है ।

३-‘ सज्झाय ’ शब्द पर स्वाध्याय का स्वरूप, स्वाध्यायकाल, स्वाध्यायविधि, स्वाध्याय के गुण, स्वाध्याय के फल इत्यादि विषय हैं, तथा ‘ सत्तभंगी ’ शब्द पर सप्तभङ्गी का विचार है ।

४-‘ सह ’ शब्द पर शब्द का निर्वाचन, नामस्थापनादि भेद से चार भेद, बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन, नित्यानित्य विचार, और शब्द का पौद्गलिकत्व, शब्द के दश भेद, मनोज्ञ शब्दों के सुनने का निषेध, शब्द के आकाश गुणत्व का खण्डन इत्यादि विषय हैं ।

५-‘ सावय ’ शब्द पर आवक शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, आवक के लक्षण आवक का सामान्य कर्तव्य, निवास—विधि, आवक की दिनचर्या, आवक के २१ एकविंशति गुण इत्यादि विषय हैं ।

६-‘ हिंसा ’ शब्द पर हिंसा का स्वरूप, वैदिक हिंसा का खण्डन, षड्जीवनिकायों की हिंसा का निषेध, जिन—मन्दिर बनवाने में आते हुए दोष का परिहार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

७-‘ हेउ ’ शब्द पर हेतु के प्रयोगप्रकार, कारक और ज्ञापक रूप से हेतु के दो भेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

सप्तम जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या लपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

‘ संखपुर ’ ‘ संजय ’ ‘ संतिदास ’ ‘ संतिविजय ’ ‘ सकह ’ ‘ सत्त ’ ‘ समुहपाल ’ ‘ सयंभूदत्त ’ ‘ सावत्थी ’ ‘ साव—यगुण ’ ‘ सिंहगिरि ’ ‘ सीलंगायरिय ’ ‘ सीह ’ ‘ सुकण्हा ’ ‘ सुक्क ’ ‘ सुगगीव ’ ‘ सुज्जमिरी ’ ‘ सुज्जमिव ’ ‘ सुट्ठिय ’ ‘ सुणंद ’ ‘ सुणक्खत्त ’ ‘ सुदंसण ’ ‘ सुदक्खिण ’ ‘ सुपासा ’ ‘ सुप्पम ’ ‘ सुभद् ’ ‘ सुभूम ’ ‘ सुमंगल ’ ‘ सुमंगला ’ ‘ सुव्वय ’ ‘ सूर ’ ‘ सेणिय ’ ‘ सोमचंद ’ ‘ सोमा ’ ‘ हरिएस ’ ‘ हरिभद् ’ ‘ इत्यादि शब्दों पर कथाएँ द्रष्टव्य हैं ।



इस तरह से सातों भागों की यह अत्यन्त संक्षिप्त सूची समझना चाहिये, विस्तार तो ग्रन्थ से ही मालूम होगा क्योंकि भूमिका में विशेष विस्तार करके पाठकों का समय व्यर्थ नष्ट करना है ।

अकार से ककार तक शब्दों के अन्तर्गत () कोष्ठक में आये हुए शब्दों की अकारादिक्रम से सूची-

अइह-अविह-अइति-अदिति ।
 अइदिअ-अइदिय ।
 अइकत-अतिकत ।
 अइकत-अतिकत ।
 अइकतजोवण-अतिकतजोवण ।
 अइकतपच्चक्खाण-अतिकतपच्चक्खाण ।
 अइगत-अइगय ।
 अइत-अईत-अतीत-अइय-अईय-अतीय ।
 अइतका-अईतका-अतीतका-अइयका-
 अईयका-अतीयका ।
 अइतपच्चक्खाण-अईतपच्चक्खाण-
 अतीतपच्चक्खाण-अइयपच्चक्खाण-
 अईयपच्चक्खाण-अतीयपच्चक्खाण ।
 अइताण-अतिताण-अइयाण-अतियाण ।
 अइताणकहा-अतिताणकहा-अइयाणकहा-
 अतियाणकहा ।
 अइताणगिह-अतिताणगिह-अइयाणगिह-
 अतियाणगिह ।
 अइयाणिहि-अनियाणिहि-अइताणिहि-
 अतिताणिहि ।
 अइताणागयसाण-अईताणागयसाण-
 अतीताणागयसाण-अइयाणागयसाण-
 अईयाणागयसाण-अतियाणागयसाण ।
 अइमुत्तय-अइमुत्तय ।
 अइयात-अइयाय ।
 अइयार-अईयार-अतियार-अतीयार ।
 अइरत्तकवलसिला-अतिरत्तकवलसिला ।
 अइरावण-अरावण ।
 अइरित्त-अतिरित्त ।
 अइरित्तसिआसभिय-अतिरित्तसिआस-
 भिय ।
 अइरेग-अतिरेग ।
 अइरेगसठिय-अतिरेगसठिय ।
 अइरेण-अचिरेण ।
 अइरोवणण-अचिरोवणण ।
 अइलोभुय-अतिलोभुय ।
 अइवइत्ता-अतिवइत्ता ।
 अइवाइन्-अतिवाइन्-अइवातिन्-अति-
 वातिन् ।
 अइवापमाण-अतिवापमाण ।
 अइवाय-अतिवाय ।
 अइवाहइ-अतिवाहरु ।
 अइविज्ज-अतिविज्ज ।
 अइविसय-अतिविसय ।
 अइविसाया-अतिविसाया ।
 अइविसाल-अतिविसाल ।
 अइवुट्ठि-अतिवुट्ठि ।
 अइसकिवेस-अतिसकिवेस ।

अइसंधाण-अतिसंधाण ।
 अइसंधाणपर-अतिसंधाणपर ।
 अइसंपभोग-अतिसंपभोग ।
 अइसक्खा-अतिसक्खा ।
 अइसय-अतिसय ।
 अइसयणणि-अतिसयणणि ।
 अइसयमईयकाल-अतिसयमईयकाल ।
 अइसाइ-अतिसाइ ।
 अइसीय-अतिसीय ।
 अइसुहुम-अतिसुहुम ।
 अइसेस-अतिसेस ।
 अइहि-अतिहि ।
 अइहिपूभा-अतिहिपूभा ।
 अइहिबल-अतिहिबल ।
 अइहिम-अतिहिम ।
 अइहिवणीमग-अतिहिवणीमग ।
 अइहिसविभाग-अतिहिसविभाग ।
 अइव-अतिव ।
 अउअ-अउय ।
 अउल-अतुल ।
 अकधर-अकहर ।
 अकिअ-अकिय ।
 अगहसि-अंगरेसि ।
 अगच्छेइ-अगच्छेय ।
 अगण-अङ्गण ।
 अंगसुइफरिस-अंगसुइफासिय ।
 अंगार-अंगार-अंगाल-अंगाल ।
 अंगारकट्टिणी-अंगारकट्टिणी-अंगालकट्टि-
 णी-अंगालकट्टिणी ।
 अंगारकम्म-अंगारकम्म-अंगालकम्म-
 अंगालकम्म ।
 अंगारकारिया-अंगारकारिया-अंगालकारि-
 या-अंगालकारिया ।
 अंगारग-अंगारग-अंगालग-अंगालग ।
 अंगारमाइ-अंगारमाइ-अंगालमाइ-अंगा-
 रदाह-अंगालदाह-अंगारदाह-अंगालमा-
 इ-अंगालदाह ।
 अंगारपतावणा-अंगारपतावणा-अंगालप-
 तावणा-अंगालपतावणा ।
 अंगारमइग-अंगारमइग-अंगालमइग-अ-
 गालमइग ।
 अंगाररासि-अंगाररासि-अंगालरासि, अं-
 गालरासि ।
 अंगारवई-अंगारवई ।
 अंगारसइस्स-अंगारसइस्स-अंगालसइ-
 स्स-अंगालसइस्स ।
 अंगालसोष्ठिय-अंगालसोष्ठिय ।
 अंगारायतण-अंगारायतण-अंगालायतण ।

अंगारिय-अंगारिय-अंगालिय-अंगालिय ।
 अंगुअ-अंगुअ ।
 अंगुलि-अंगुली ।
 अंगुलिज्जग-अंगुलेज्जग ।
 अंगुलिधज्जा-अंगुलीधज्जा ।
 अचिअ-अचित्त ।
 अचिअरिजिय-अचियरिजिय ।
 अजणगिरि-अजणगिरि ।
 अजलि-अजली ।
 अतक-अतग ।
 अतकर-अतगर ।
 अतकरभूमि-अतगरभूमि ।
 अतगत-अतगय ।
 अतद्धाणी-अतद्धाणिया ।
 अतरकप्प-अतराकप्प ।
 अतरणई-अतरणदी ।
 अतरदीवण-अतरदीवय ।
 अतरावय-अतराय ।
 अतरिक्ख-अतल्लिक्ख ।
 अतरिक्खजाय-अतल्लिक्खजाय ।
 अतरिक्खपनिवण-अतल्लिक्खपनिवण ।
 अतरिक्खपासणाह-अतल्लिक्खपासणाह ।
 अतरिक्खोदय-अतल्लिक्खोदय ।
 अतावेइ-अतावेई ।
 अतिअ-अतिय ।
 अतेउर-अतेपुर ।
 अदोलण-अदोलण ।
 अधकार-अधयार ।
 अधकारपक्ख-अधयारपक्ख ।
 अधिल्लग-अधेल्लग ।
 अवरु-अम्मड ।
 अंबमालग-अंबदालग ।
 अबरिस-अबरीस ।
 अबरिस-अबरीस-अबरिसि-अबरीसि ।
 अविआ-अविया ।
 असगय-असागय ।
 अकइ-अकति ।
 अकइसचिय-अकतिसंचिय ।
 अकम्हा-अकम्मा ।
 अकम्हाकिरिया-अकम्माकिरिया ।
 अकम्हादरु-अकम्मादरु ।
 अकम्हादरुवत्तिय-अकम्मादरुवत्तिय ।
 अकम्हाजय-अकम्माजय ।
 अकालसज्जायकर-अकालसज्जायका-
 रिन् ।
 अकिरियवाइ-अकिरियावाइ ।
 अकुओभय-अकुतोभय ।

अकूर-अकूर ।
 अक्केज्ज-अक्केय ।
 अक्कोसपरिसह-अक्कोसपरीसह ।
 अक्कोसपरिसहविजय-अक्कोसपरीसहवि-
 जय ।
 अक्खित्त-अक्खेत ।
 अक्खीरमधुसप्पिय-अक्खीरमहुसप्पिय ।
 अगत-अगद ।
 अगार-आगार ।
 अगारधम्म-आगारधम्म ।
 अगाणीअ-अग्गेणीअ ।
 अगिअ-अगिय ।
 अग्गेई-अग्गेणी ।
 अग्गेतण-अग्गेयण ।
 अघुणित-अघुणिय ।
 अचकारियभट्टा-अचंकारियभट्टा ।
 अचरम-अचरिम ।
 अचरमतपएस-अचरिमनपएस ।
 अचरमसमय-अचरिमसमय ।
 अचरमावट्ट-अचरिमावट्ट ।
 अचल-अयल ।
 अचल्लट्ठाण-अयल्लट्ठाण ।
 अचलपुर-अयलपुर ।
 अचलभाया-अयलभाया ।
 अचला-अयला ।
 अचलिय-अयलिय ।
 अचुक्ख-अचोक्ख ।
 अचेल-अचेलग ।
 अचेत्तपरिसह-अचेत्तपरीसह ।
 अच्छतित-अच्छदित ।
 अच्छिदण-आच्छिदण ।
 अच्छिदिता-आच्छिदिता-आच्छिदिय-
 अच्छिदिय ।
 अच्छिदमाण-आच्छिदमाण ।
 अच्चेर-अच्चेरग ।
 अज्जजीयधर-अज्जजीयहर ।
 अछपदचित्तण-अछपयचित्तण ।
 अट्टपदपरवणया-अट्टपयपरवणया ।
 अट्टिककुट्टिय-अट्टिककुट्टिय ।
 अरुचिवास-अरुचीवास ।
 अणगकिहा-अणगकीमा ।
 अणनग-अणतय ।
 अणक्क-अणक्ख ।
 अणपज्ज-अणप्पज्ज ।
 अणवट्ठियसठाण-अणवट्ठितसठाण ।
 अणविकखा-अणवेक्खा ।
 अणहिलपारुगणयर-अणहित्तवारुगणयर ।
 अणाइल्लवयणपच्चायाय-अणाएल्लवयण-
 पच्चायाय ।
 अणागत-अणागत ।

अणागतकाल-अणागतकाल ।
 अणागतकालगहण-अणागतकालगहण ।
 अणित्तय-अणित्तय ।
 अणिज्जमाण-अणिज्जमाण ।
 अणिज्जमाणमग्ग-अणिज्जमाणमग्ग ।
 अणिदा-अणिया ।
 अणिदाण-अणियाण ।
 अणिदाणज्ज-अणियाणज्ज ।
 अणिदाणया-अणियाणया ।
 अणियत-अणियय ।
 अणियतचारिण-अणिययचारिण ।
 अणियतप्प-अणिययप्प ।
 अणियतवट्ठि-अणिययवट्ठि ।
 अणियतवास-अणिययवास ।
 अणियतविट्ठि-अणिययविट्ठि ।
 अणिहुत-अणिहुय ।
 अणिहुतपरिणाम-अणिहुयपरिणाम ।
 अणुगाम-अणुगाम ।
 अणुजात-अणुजाय ।
 अणुएण-अणुएय ।
 अणुपरिहारि-अणुपरिहारि ।
 अणुपायाकिरिया-अणुपायाकिरिया ।
 अणुपायण-अणुपायण ।
 अणुपावण-अणुपावण ।
 अणुपावणकप्प-अणुपावणकप्प ।
 अणुपावणसुद्ध-अणुपावणसुद्ध ।
 अणुप्पदाण-अणुप्पदाण ।
 अणुजाग-अणुभाव ।
 अणुभागबंध-अणुभावबंध ।
 अणुभागबंधाण-अणुभावबंधाण ।
 अणुभागसंकम-अणुभावसंकम ।
 अणुभासणसुद्ध-अणुभासणसुद्ध ।
 अणुमत-अणुमय ।
 अणुमुक्क-अणुमुक्क ।
 अणुमोयण-अणुमोयण ।
 अणुविग्ग-अणुविग्ग ।
 अणुव्वय-अणुव्वय ।
 अणुसुयत्ता-अणुसुयत्ता ।
 अणुक्क-अणुक्क ।
 अण-अण ।
 अणइलाय-अणइलाय-अणगिलाय-अ-
 न्निगिलाय ।
 अणओ-अणत्तो-अणदो ।
 अणगोत्तिय-अणगोत्तिय ।
 अणगहण-अणगहण ।
 अणण-अणण-अणण-अणण ।
 अणणतर-अणणतर-अणणतर-अणणतर ।
 अणणहा-अणणहा-अणणहा-अणणहा ।
 अणणस्-अणणस् ।
 अणणणिय-अणणणिय ।

अणात-अणात ।
 अणातउल्ल-अणातउल्ल ।
 अणातचरय-अणातचरय ।
 अणादिस-अणादिस-अणादिस-
 अणादिस ।
 अणुएण-अणुएण-अणुएण-अणुएण ।
 अतारिअ-अतारिअ ।
 अतसंजोग-अतसंजोग ।
 अतहिय-आतहिय ।
 अत्तिज्ज-अत्तिज्ज ।
 अत्थादाण-अत्थादाण ।
 अत्थिणत्थिप्पवाय-अत्थिणत्थिप्पवाय ।
 अत्थिर-अत्थिर ।
 अत्थिरल्ल-अत्थिरल्ल ।
 अत्थिरणाम-अत्थिरणाम ।
 अत्थिरतिग-अत्थिरतिग ।
 अत्थिरदुग-अत्थिरदुग ।
 अत्थिरव्वय-अत्थिरव्वय ।
 अत्थिवाय-अत्थिवाय ।
 अत्थुग्गह-अत्थुग्गह ।
 अत्थुग्गहण-अत्थुग्गहण ।
 अदरकुट्टिम-अदरकुट्टिम ।
 अदसण-अदसण ।
 अदत्त-अदत्त ।
 अदत्तहारि-अदत्तहारि ।
 अदत्तादाण-अदत्तादाण ।
 अदत्तादाणकिरिया-अदत्तादाणकिरिया ।
 अदत्तादाणवत्तिय-अदत्तादाणवत्तिय ।
 अदत्तादाणविरह-अदत्तादाणविरह ।
 अदत्तादाणवेरमण-अदत्तादाणवेरमण ।
 अदत्तालोयण-अदत्तालोयण ।
 अदूरग-अदूरय ।
 अदगकुमार-अदगकुमार ।
 अदगपुर-अदगपुर ।
 अदणो-अदणो ।
 अदगपत्तिण-अदगपत्तिण ।
 अद अदण ।
 अदकप्प-अदकप्प ।
 अदकुल्ल-अदकुल्ल ।
 अदक्खिक्क-अदक्खिक्क ।
 अदक्खिक्क-अदक्खिक्क ।
 अदुव-अदुव ।
 अदुववधिणी-अदुववधिणी ।
 अदुवसतकम्म-अदुवसतकम्म ।
 अदुवसकम्मिया-अदुवसकम्मिया ।
 अदुवसत्तागा-अदुवसत्तागा ।
 अदुवसाहण-अदुवसाहण ।
 अदुवोदया-अदुवोदया ।
 अधम-अधम ।
 अधम्म-अधम्म ।

[illegible]

अपत्यथण—अपत्यथण ।
 अपत्थिय—अपत्थिय ।
 अपत्थियपत्थय—अपत्थियपत्थय—अपत्थि-
 यपत्थिय—अपत्थियपत्थिय ।
 अपद—अपय ।
 अपदुस्समाण—अपदुस्समाण ।
 अपभु—अप्पभु ।
 अपमज्जणसील—अपमज्जणसील ।
 अपमज्जिता—अपमज्जिता ।
 अपमज्जिय—अपमज्जिय ।
 अपमज्जियचारि—अपमज्जियचारि ।
 अपमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवण
 भूमि—अपमज्जियदुप्पमज्जियउच्चार
 पासवणभूमि ।
 अपमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासथार—अ-
 प्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथार ।
 अपमत्त—अप्पमत्त ।
 नपमत्तसंजय—अप्पमत्तसंजय ।
 अपमत्तसंजयगुणघाण—अप्पमत्तसंजय
 गुणघाण ।
 अपमाण—अप्पमाण ।
 अपमाणभोइ—अप्पमाणभोइ ।
 अपमाय—अप्पमाय ।
 अपमायपडिलेहा—अप्पमायपडिलेहा ।
 अपमायभावणा—अप्पमायभावणा ।
 अपमायबुद्धिजगत्तण—अप्पमायबुद्धिज
 गत्तण ।
 अपमायपडिसेवणा—अप्पमायपडिसेवणा ।
 अपमेय—अप्पमेय ।
 अपराइत—अपराइय ।
 अपरिस्ताइ—अपरिस्ताइ—अपरिस्तावि—अप-
 रिस्तावि ।
 अपलीण—अप्पलीण ।
 अपवत्तण—अप्पवत्तण ।
 अपवित्त—अप्पवित्त ।
 अपधिसि—अप्पधिसि ।
 अपससणिज्ज—अप्पसंसणिज्ज ।
 अपसज्ज—अप्पसज्ज ।
 अपसज्जपुरिस्ताणुग—अप्पसज्जपुरिस्ताणुग ।
 अपसत्थ—अप्पसत्थ ।
 अपि—अपि ।
 अपीडणया—अपीडणया ।
 अपुस्सुय—अप्पुस्सुय ।
 अप्पज्ज—अप्पसू ।
 अप्पाबहुय—अप्पाबहुय ।
 अप्पादिय—अप्पालिय ।
 अप्पोआ अप्पोया ।
 अप्पोमिअ—अप्पोमिह ।
 अप्पोव अप्पोव ।
 अबहुस्सुय—अबहुस्सुत ।

अभंगिता-अभंगेता ।
 अभंतर-अभितर ।
 अभंतरओसचित्तकम्म-अभितरओस-
 चित्तकम्म ।
 अभनतरकरण-अभिनतरकरण ।
 अभंतरग-अभितरग ।
 अभनतरगणिज्ज-अभितरगणिज्ज ।
 अभनतरतव-अभितरतव ।
 अभनतरनो-अभितरनो ।
 अभनतरदेवसिय-अभितरदेवसिय ।
 अभनतरपरिस-अभिनतरपरिस ।
 अभनतरपाणिय-अभिनतरपाणीय ।
 अभनतरपुक्खरद्ध-अभिनतरपुक्खरद्ध ।
 अभनतरपुप्फफल-अभिनतरपुप्फफल ।
 अभनतरबाहरिय-अभितरबाहरिय ।
 अभनतरय-अभिनतरय ।
 अभनतरलद्धि-अभिनतरलद्धि ।
 अभनतरसवुक्का-अभिनतरसवुक्का ।
 अभनतरसगमुक्किया-अभिनतरसगमुक्किया ।
 अभनरोहे-अभिनरोहि ।
 अभनरिया-अभिनरिया ।
 अभविय-अभव ।
 अभिह-अभीह ।
 अभिणाय-अभिजाणिय ।
 अभिसग-अभिसंग ।
 अभिसंगभंड-अभिसंगभंड ।
 अभिसंगसभा-अभिसंगसभा ।
 अभिहित-अभिहित ।
 अभग्घाय-अमाघाय ।
 अमावसा-अमावासा ।
 अभिज्ज-अभेज्ज ।
 अभिज्झ-अभेज्झ ।
 अभिज्झपुण्ण-अभेज्झपुण्ण ।
 अभिज्झमय-अभेज्झमय ।
 अभिज्झरस-अभेज्झरस ।
 अभिज्झसज्ज-अभेज्झसज्ज ।
 अभिज्झुक्कर-अभेज्झुक्कर ।
 अयपाद-अयपाय ।
 अयसीवरण-अयसिचसु ।
 अरइपरिसह-अरइपरीसह ।
 अरइपरिसहविजय-अरइपरीसहविजय ।
 अलाभ-अलाह ।
 अलाभपरिसह-अलाहपरिसह-अलाभप-
 रीसह-अलाहपरीसह ।
 अलाग-अलाय ।
 अवायाणुपेहा-अवायाणुपेहा ।
 अवरइवाय-अवरइयवाय ।
 अयसिवायणजोग-अयसिवायणजोग ।
 अयसिवायणजोग-अयसिवायणजोग ।
 अयसिवायणजोग-अयसिवायणजोग ।

असथरमाण-असथरत ।
 असाधारण-असाधारण ।
 असाय-असान ।
 असायण-असायण ।
 असायवेयाणअ-असायवेयणिज्ज ।
 असिय-असित ।
 असुज-असुद ।
 असुभकम्मवहुव-असुहकम्मवहुव ।
 असुजकिरियादिरहिय-असुहकिरियादि-
 रहिय ।
 असुभज्झवसाण-असुहज्झवसाण ।
 असुभणाम-असुहणाम ।
 असुभतरकुत्तरणपाय-असुहतरकुत्तरण-
 पाय ।
 असुजत्त-असुहत्त ।
 असुजकुत्तनागि-असुहकुत्तनागि ।
 असुभावेयाग-असुहवेयाग ।
 असुभा-असुहा ।
 असुभाणुपेहा-असुहाणुपेहा ।
 अहत-अदथ ।
 अदकूठ-अदहोठ ।
 अहाकम-अहागड ।
 अदिआइ-अदिआइ ।
 अदिगरणकर-अदिगरणकर ।
 अदिगार-अदियार ।
 अदिशघ-अदिशघ ।

॥ आ ॥

आभ-आगभ ।
 आभरिस-अभरिस ।
 आइअतियमरण-आदिअतियमरण ।
 आइक्खग-आइक्खय ।
 आइज्ज-आदेज्ज ।
 आइज्जमाण-आदेज्जमाण ।
 आइज्जवक्क-आदेज्जवक्क ।
 आइज्जवयण-आदेज्जवयण ।
 आइज्जवयणया-आदेज्जवयणया ।
 आइयावण-आइयावण ।
 आइण-आत्तीण-आदीण ।
 आइणभोइ-आदीणभोइ ।
 आइणवित्ति-आदीणवित्ति ।
 आइणिय-आदीणिय ।
 आउत्तणा-आउत्तणा ।
 आउत्तय-आउत्तय ।
 आउत्त-आउत्त ।
 आपज्ज-आदेज्ज ।
 आपज्जवक्क-आदेज्जवक्क ।
 आपज्जणाम-आदेज्जणाम ।
 आपज्जवयण-आदेज्जवयण ।
 आपज्जवयणया-आदेज्जवयणया ।
 आपस-आदेस ।

आपसग-आपसय ।
 आकिई-आगई ।
 आगंतुय-आगंतुग ।
 आगामि-आगामि ।
 आगमिस्स-आगमिस्सत् ।
 आगमेत्ता-आगम्म ।
 आगासफलिह-आगासफलिय ।
 आगासफलियसरिसप्पह-आगासफलि-
 हसरिसप्पह ।
 आगासफलियामय-आगासफलिहामय ।
 आघायण-आघायण ।
 आजग-आजय ।
 आजम्मसुरहिपत्त-आयम्मसुरहिपत्त ।
 आजवंजयीनाव-आयवंजयीभाव ।
 आजाइ-आयाइ ।
 आदग-आदय ।
 आदत्त-आदत्त ।
 आणमणी-आणवणी ।
 आणयणप्पभोग-आणवणप्पभोग ।
 आणाकारि-आणागारि ।
 आणाजोग-आणाजोग ।
 आणिय-आणिय ।
 आणुपुब्बसुजाय-आणुपुब्बसुजाय ।
 आतंक-आयंक ।
 आतंकदंसि-आयंकदंसि ।
 आतंकविचारास-आयंकविचारास ।
 आतंकसंपभोगसंपउत्त-आयंकसंपभोगसं-
 गसंपउत्त ।
 आतकि-आयकि ।
 आतंचणिया-आयंचणिया ।
 आयंतकर-आयंतकर ।
 आततम-आयतम ।
 आतंदम-आयंदम ।
 आतंव-आयंव ।
 आतंबज्झयण-आयंबज्झयण ।
 आतभरि-आयंभरि ।
 आतकम्म-आयकम्म ।
 आतगवेसय-आयगवेसय ।
 आतगय-आयगय ।
 आतगुत्त-आयगुत्त ।
 आतच्छाह-आयच्छाह ।
 आतच्छाह-आयच्छाह ।
 आतज्ज-आयज्ज ।
 आतजस-आयजस ।
 आतजोगि-आयजोगि ।
 आतजोगि-आयजोगि ।
 आतज्जाण-आयज्जाण ।
 आतठ-आयठ-अप्पणठ ।
 आतठि-आयठि ।
 आतणाण-आयणाण ।

आतनिद्र-आयनिद्र ।
 आतनिष्क्रेय-आयनिष्क्रेय ।
 आतणीण-आयणीण ।
 आतण-आयण ।
 आतत-आयत ।
 आततकर-आयतकर ।
 आततस-आयतस ।
 आततसप्पगास-आयतसप्पगास ।
 आततर-आयतर ।
 आततुला-आयतुला ।
 आतस-आयस ।
 आतदरु-आयदरु ।
 आतदरुसमायार-आयदरुसमाचार ।
 आतदरिस-आयदरिस ।
 आतद्दहि-आयद्दहि ।
 आतपप्प-आयपप्प ।
 आतपरिण-आयपरिण ।
 आतपसंसा-आयपसंसा ।
 आतप्पभोग-आयप्पभोग ।
 आतप्पभोगणिव्वसिय-आयप्पभोगणिव्वसिय ।
 आतप्पभ-आयप्पभ ।
 आतप्पमाण-आयप्पमाण ।
 आतप्पवाय-आयप्पवाय ।
 आतप्पियसंबंधणसंयोग-आयप्पियसंबंधणसंयोग ।
 आतवत-आयवत ।
 आतवल-आयवल ।
 आतववत्-आयववत् ।
 आतवाल-आयवाल ।
 आतवोध-आयवोध ।
 आतभाव-आयभाव ।
 आतभावकणया-आयभावकणया ।
 आतभाववत्तवया-आयभाववत्तवया ।
 आतजु-आयजु ।
 आतरक्ख-आयरक्ख ।
 आतरक्खा-आयरक्खा ।
 आतरक्खि-आयरक्खि ।
 आतरक्खिय-आयरक्खिय ।
 आतव-आयव ।
 आतवस-आयवस ।
 आतवस्स-आयवस्स ।
 आतवायपत्त-आयवायपत्त ।
 आतवि-आयवि ।
 आतविज्जा-आयविज्जा ।
 आतवीरिय-आयवीरिय ।
 आतविसोहि-आयविसोहि ।
 आतवेयावच्चकर-आयवेयावच्चकर ।
 आतसज्ज-आयसज्ज ।
 आतसज्जपर-आयसज्जपर ।

आतसंजमोवाय-आयसंजमोवाय ।
 आतसंवेयण-आयसंवेयण ।
 आतसंवेयणिज्ज-आयसंवेयणिज्ज ।
 आतसक्खि-आयसक्खि ।
 आतअप्पसत्तम-आयअप्पसत्तम ।
 आतसत्ति-आयसत्ति ।
 आतसमण-आयसमण ।
 आतसमया-आयसमया ।
 आतसमुग्ग-आयसमुग्ग ।
 आतसमोयार-आयसमोयार ।
 आतसरीरखेसोगाद-आयसरीरखेसोगाद ।
 आतसाय-आयसाय ।
 आतसायाणुगामि-आयसायाणुगामि ।
 आतसिद्ध-आयसिद्ध ।
 आतसुह-आयसुह ।
 आतसोहि-आयसोहि ।
 आतहित-आयहित ।
 आता-आया ।
 आताणुकपय-आयाणुकपय ।
 आताणुस्सरण-आयाणुस्सरण ।
 आताणुसासण-आयाणुसासण ।
 आताधीण-आयाधीण ।
 आतावग-आयावग ।
 आतावण-आयावण ।
 आतावणया-आयावणया ।
 आतावणा-आयावणा ।
 आतावित्त-आयावित्त ।
 आताविया-आयाविया ।
 आतावेमाण-आयावेमाण ।
 आताभिणिवेस-आयाभिणिवेस ।
 आताभिसिद्ध-आयाभिसिद्ध ।
 आतार-आयार ।
 आताराम-आयाराम ।
 आतारामि-आयारामि ।
 आताव-आयाव ।
 आतावाद्-आयावाद् ।
 आतासय-आयासय ।
 आताहम्म-आयाहम्म ।
 आनाहिगरणवसिय-आयाहिगरणवसिय ।
 आताहिगरणि-आयाहिगरणि ।
 आताहिय-आयाहिय ।
 आतिण-आतीण ।
 आतीकय-अप्पीकय ।
 आस-आताय ।
 आदस-आयस-आदरिस-आदस्स ।
 आदसग-आयसग-आदरिसग-आदसग ।
 आदसघरग-आयसघरग-आदरिसघरग-आदसघरग ।
 आदसतल-आयसतल ।

आदसतलोवम-आयंसतलोवम-आदरि-
 सतलोवम-आदसतलोवम ।
 आदसमंरुल-आयंसमंरुल-आदरिसमं-
 रुल-आदसमंरुल ।
 आदसमुह-आयसमुह-आदरिसमुह-आ-
 दसमुह ।
 आदसलिवि-आयंसलिवि-आदरिस-
 लिवि-आदसलिवि ।
 आदर-आयर ।
 आदरण-आयरण ।
 आदरणया-आयरणया ।
 आदरणिज्जा-आयरणिज्जा ।
 आदरतर-आयरतर ।
 आदराइजुत्त-आयराइजुत्त ।
 आदान-आयाण ।
 आदानअटि-आयाणअटि ।
 आदानगुत्त-आयाणगुत्त ।
 आदानणिक्खेवदुगुल्लय-आयाणणिक्खे-
 वदुगुल्लय ।
 आदाननिरुद्ध-आयाणनिरुद्ध ।
 आदानपय-आयाणपय ।
 आदानफलह-आयाणफलह ।
 आदानभट्टमत्तनिक्खेवणासमिह-आया-
 णमंरुमत्तनिक्खेवणासमिह ।
 आदानभट्टमत्तनिक्खेवणासमिय-आया-
 णमंरुमत्तनिक्खेवणासमिय ।
 आदानजय-आयाणजय ।
 आदानजरिय-आयाणजरिय ।
 आदानया-आयाणया ।
 आदानवत्त-आयाणवत्त ।
 आदानसोयगाहिय-आयाणसोयगाहिय ।
 आदानिज्ज-आयाणिज्ज ।
 आदानिज्जज्झयण-आयाणिज्जज्झयण ।
 आदाय-आयाय ।
 आदाहियपयाहिण-आयाहियपयाहिण ।
 आदाहियपयाहिणा-आयाहियपयाहिणा ।
 आधमण-आहमण ।
 आधरिसिय-आदरिसिय ।
 आधा-आहा ।
 आधाकम्म-आहाकम्म ।
 आधाकम्मिय-आहाकम्मिय ।
 आधाण-आहाण ।
 आधाणिय-आहाणिय ।
 आधाय-आदाय ।
 आधायग-आहायग ।
 आधार-आहार ।
 आधारसत्ति-आहारसत्ति ।
 आधि-आहि ।
 आधिक-आहिक ।
 आधिगरणिय-आहिगरणिय ।

आधिगरणिया-आहिगरणिया ।
 आधिरेणु-आहिरेणु ।
 आधित्येण-आहित्येण ।
 आधिदेविय-आहिदेविय ।
 आधिबध-आहिबध ।
 आधिभोइय-आदिभोइय ।
 आधिरज्ज-आहिरज्ज ।
 आधिवेयणिय-आधिवेयणिय ।
 आधीगड-आहीगड ।
 आधीगरण-आहीगरण-
 आधुणिय-आहुणिय ।
 आधुय-आहुय ।
 आधय-आहेय ।
 आधेवच्च-आहेवच्च ।
 आधोरण-आहोरण ।
 आधोधि-आहोधि ।
 आप-आव ।
 आपई-आवई ।
 आपईधम्म-आवईधम्म ।
 आपगा-आवगा ।
 आपगंज-आवगेज्ज ।
 आपरुण-आवडण ।
 आपरुव-आवडव ।
 आपडिग-आवमिग ।
 आपनिय-आवनिय ।
 आपण-आवण ।
 आपणगिह-आवणगिह ।
 आपणवीहि-आवणवीहि ।
 आपणिग-आवणिग ।
 आपजिज्ज-आवणिज्ज ।
 आपण-आवण ।
 आपणपरिहार-आवणपरिहार ।
 आपणसत्ता-आवणसत्ता ।
 आपत्त-आवत्त ।
 आपत्ति-आवत्ति ।
 आपत्तिमुत्त-आवत्तिमुत्त ।
 आपदकाल-आवदकाल ।
 आपदेव-आवदेव ।
 आपमिच्चग-आवमिच्चग ।
 आपपित्ता-आवपित्ता ।
 आपरणिहय-आवरणिहय ।
 आपलव-आपिल्लव ।
 आपसररीरअणवकंसवत्तिया-आयसररीर-
 अणवकंसवत्तिया ।
 आपाग-आपाय-आवाग-आवाय ।
 आपाड-आवाड ।
 आपाण-आवाण ।
 आपाणग-आवाणग ।
 आपाय-आवाय ।
 आपायओ-आवायओ ।

आपायण-आवायण ।
 आपायभइय-आवायजइय ।
 आपायसिया-आवायसिया ।
 आपासि-आवासि ।
 आपासाविय-आपिसाविय ।
 आपिज्जर-आविज्जर ।
 आपिससि-आविससि ।
 आपेक्खिय-आवेक्खिय ।
 आपेइघर-आवेइघर ।
 आपेस-आवेस ।
 आमोइग-आमोसय ।
 आयइ-आवई ।
 आयज्ज-आयम्भ ।
 आयतकणायय-आययकणायय ।
 आयतचक्खु-आययचक्खु ।
 आयतजोग-आययजोग ।
 आयतट्ठित-आयतट्ठिय ।
 आयनतर-आयतयर ।
 आरियक्खेत्त-आवरियक्खेत्त ।
 आरिपण-आवरिपण ।
 आरियदंसि-आवरियदंसि ।
 आरियदिण-आवरियदिण ।
 आरियदेस-आवरियदेस ।
 आरियधम्म-आवरियधम्म ।
 आरियपणसिय-आवरियपणसिय ।
 आरियपण-आवरियपण ।
 आरियव्वेय-आवरियव्वेय ।
 आयाम-आचाम ।
 आयारयं-आयारमंत ।
 आरजइत्ता-आरज्जइत्ता ।
 आराहग-आराहय ।
 आरि-आरिय ।
 आरुग्ग-आरोग्ग ।
 आरुग्गफत्त-आरोग्गफत्त ।
 आरुग्गबोहिसाभ-आरोग्गबोहिसाभ ।
 आरुग्गबोहिसाभाइपत्थणाच्चित्तुत्तु-आ-
 रोग्गबोहिसाभाइपत्थणाच्चित्तुत्तु ।
 आरुग्गसाहग-आरोग्गसाहग ।
 आसिधग-आसीधग ।
 आसिधण-आसीधण ।
 आसिधिय-आसीधिय ।
 आसिदग्ग-आसिदग्ग ।
 आलुग-आलुय ।
 आव-जाव ।
 आवत्त-आवत्त आवड-आवड ।
 आवडपणावरुसेट्ठिपसेट्ठियसोत्थिय (सो-
 वथिय) पूसमाणवक्कमात्तगमच्छुडमक-
 रंरुगजाराभाराकुल्लावत्तिपउमपत्तसाग-
 रतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्त-आ-
 वट्ठपणावरुसेट्ठिपसेट्ठियसोत्थिय (सो-

वथिय) पूसमाणवक्कमात्तगमच्छुडम-
 करंरुगजाराभाराकुल्लावत्तिपउमपत्तसा-
 गतरतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्त ।
 आयतकूड-आयट्ठकूड ।
 आयत्तण-आवट्ठण ।
 आयत्तणपेडिया-आवट्ठणपेडिया ।
 आयतणिज्ज-आवट्ठणिज्ज ।
 आयतय-आवट्ठय ।
 आयत्तायत-आवट्ठायत्त ।
 आवसि-आवसी ।
 आवसियविवाय-आवसियविवाय-आव-
 सितविवाय ।
 आवसियपविट्ठ-आवसियपाविट्ठ ।
 आवसियपाविमत्ति-आवसियापाविमत्ति ।
 आवसियवाट्ठिर-आवसियावाट्ठिर ।
 आवीकम्म-आवीकम्म ।
 आसुय-आसुरी ।

॥ ५ ॥

इर-इति ।
 इरकह-इतिकह ।
 इरकायव्वया-इतिकायव्वया ।
 इरइ-इतिह ।
 इरइस-इतिइस ।
 इमो-इत्तो-इत्तो-एत्तो ।
 इंगिम-इंगिय ।
 इंगिममरण-इंगियमरण ।
 इवकाइय-इवगाइय ।
 इदियत्तकोयण-इदियत्तचिकोपन ।
 इक्खाग-इक्खागु ।
 इक्खागकुल-इक्खागकुल ।
 इक्खागभूमि-इक्खागभूमि ।
 इक्खागराय-इक्खागुराय ।
 इक्खागवशा-इक्खागुवशा ।
 इक्खु-उच्छु ।
 इक्खुकरण-उच्छुकरण ।
 इक्खुसंभ-उच्छुसंभ ।
 इक्खुगमिया-उच्छुगमिया ।
 इक्खुघर-उच्छुघर ।
 इक्खुचोयग-उच्छुचोयग ।
 इक्खुजंत-उच्छुजंत ।
 इक्खुसग-उच्छुसग ।
 इक्खुपेसिया-उच्छुपेसिया ।
 इक्खुमिस्ति-उच्छुमिस्ति ।
 इक्खुमंरग-उच्छुमंरग ।
 इक्खुलट्ठि-उच्छुलट्ठि ।
 इक्खुवण-उच्छुवण ।
 इक्खुवार-उच्छुवार ।
 इक्खुवाडिया-उच्छुवाडिया ।
 इक्खुसाग-उच्छुसाग ।
 इक्खुकार-इक्खुकार ।

इच्छामित्त-इच्छामेत्त ।
 इक्षि-रिक्खि-इक्खि ।
 इक्षिअप्पवट्ठण-इक्खिअप्पवट्ठण ।
 इक्षिमं-इक्खिमंत ।
 इक्षो-इक्खो-इक्खो ।
 इत्थिआणमणी-इत्थीआणमणी ।
 इत्थिकम्म-इत्थीकम्म ।
 इत्थिकला-इत्थीकला ।
 इत्थिकलेवर-इत्थीकलेवर ।
 इत्थिकहा-इत्थीकहा ।
 इत्थिकाम-इत्थीकाम ।
 इत्थिकामभोग-इत्थीकामभोग ।
 इत्थिगण-इत्थीगण ।
 इत्थिगम्भ-इत्थीगम्भ ।
 इत्थिगुम्म-इत्थीगुम्म ।
 इत्थिचिध-इत्थीचिध ।
 इत्थिचोर-इत्थीचोर ।
 इत्थिजण-इत्थीजण ।
 इत्थिजिय-इत्थीजिय ।
 इत्थिठ्ठाण-इत्थीठाण ।
 इत्थिणपुंसग-इत्थीणपुंसग ।
 इत्थिणामगोयकम्म-इत्थीणामगोयकम्म ।
 इत्थितित्थ-इत्थीतित्थ ।
 इत्थिदोस-इत्थीदोस ।
 इत्थिपच्चाकड-इत्थीपच्चाकरु ।
 इत्थिपणवणी-इत्थीपणवणी ।
 इत्थिपरिणज्झयण-इत्थीपरिणज्झयण ।
 इत्थिपरिण्णा-इत्थीपरिण्णा ।
 इत्थिपरिसह-इत्थीपरिसह ।
 इत्थिपरिसहविजय-इत्थीपरिसहविजय ।
 इत्थिपोसय-इत्थीपोसय ।
 इत्थिपुंसलक्खणा-इत्थीपुंसलक्खणा ।
 इत्थिभाव-इत्थीभाव ।
 इत्थिभोग-इत्थीभोग ।
 इत्थिमज्झगय-इत्थीमज्झगय ।
 इत्थिरज्ज-इत्थीरज्ज ।
 इत्थिरयण-इत्थीरयण ।
 इत्थिराग-इत्थीराग ।
 इत्थिरूव-इत्थीरूव ।
 इत्थिलक्खण-इत्थीलक्खण ।
 इत्थिलिंगा-इत्थीलिंग ।
 इत्थिलिंगसिद्ध-इत्थीलिंगसिद्ध ।
 इत्थिलिंगसिद्धकेवलणाण-इत्थीलिंगसिद्ध-
 णकेवलणाण ।
 इत्थिवत्त-इत्थीवत्त ।
 इत्थिवयण-इत्थीवयण ।
 इत्थिवस-इत्थीवस ।
 इत्थिविग्गह-इत्थीविग्गह ।
 इत्थिविणवणा-इत्थीविणवणा ।
 इत्थिविप्पजह-इत्थीविप्पजह ।
 इत्थिविप्परियासिया-इत्थीविप्परियासिया ।

इत्थिविलोयण-इत्थीविलोयण ।
 इत्थिवेय-इत्थीवेय ।
 इत्थिवेयण-इत्थीवेयण ।
 इत्थिसाकिक्षिट्ठ-इत्थीसाकिक्षिट्ठ ।
 इत्थिसंग-इत्थीसंग ।
 इत्थिसंपक्क-इत्थीसंपक्क ।
 इत्थिसंपरिखुड-इत्थीसंपरिखुरु ।
 इत्थिसवास-इत्थीसवास ।
 इत्थिसंसत्त-इत्थीसंसत्त ।
 इत्थिसक्का-इत्थीसक्का ।
 इत्थिसहाव-इत्थीसहाव ।
 इत्थिसेवा-इत्थीसेवा ।
 इत्थाणि-इत्थाणि-इत्थाणि ।
 इध-चिण्ह ।
 इन्नग-इन्नय ।
 इमी-इमा-इमिआ ।
 इत्ति-रित्ति ।
 इत्तिदिण-इत्तिदित्त ।
 इत्तर-इत्तर ।
 इत्तरकड-इत्तरकड ।
 इत्तरकरुवाइ-इत्तरकरुवाइ ।
 इत्तरकारय-इत्तरकारय ।
 इत्तरवाइ-इत्तरवाइ ।
 इत्तरविभूह-इत्तरविभूह ।
 इत्तरसरित्त-इत्तरसरित्त ।
 इत्तरियमय-इत्तरियामय-इत्तरियमय-
 इत्तरियामय ।
 इत्तरियसिद्धि-इत्तरियसिद्धि ।
 इत्तररीकय-इत्तररीकय ।
 ईत्ति-ईत्ति-ईत्ति ।
 ईत्तिउत्तावल्लि-ईत्तिउत्तावल्लि ईत्तिउ-
 त्तावल्लि ।
 ईत्तित्तवच्छिक्कणी-ईत्तित्तवच्छिक्कणी-
 ईत्तित्तवच्छिक्कणी ।
 ईत्तित्तुंग-ईत्तित्तुंग-ईत्तित्तुंग ।
 ईत्तिपणवणिज्ज-ईत्तिपणवणिज्ज-ईत्ति-
 पणवणिज्ज ।
 ईत्तिपम्मार-ईत्तिपम्मार-ईत्तिपम्मार ।
 ईत्तिपम्मारगय-ईत्तिपम्मारगय-ईत्तिप-
 म्मारगय ।
 ईत्तिपम्मारा-ईत्तिपम्मारा-ईत्तिपम्मारा ।
 ईत्तिपुरोवाय-ईत्तिपुरोवाय-ईत्तिपुरोवाय ।
 ईत्तिमत्त-ईत्तिमत्त-ईत्तिमत्त ।
 ईत्तिरहस्स-ईत्तिरहस्स-ईत्तिरहस्स ।
 ईत्तिविच्छेयककुवा-ईत्तिविच्छेयककुवा-
 ईत्तिविच्छेयककुवा ।
 ईत्तिलिद्धपुष्पगास-ईत्तिलिद्धपुष्पगास-
 गास-ईत्तिलिद्धपुष्पगास-ईत्तिलिद्ध-
 पुष्पगास-ईत्तिलिद्धपुष्पगास-ई-
 त्ति, लिद्धपुष्पगास ।

॥ उ ॥

उअओइअ-उदिओइअ-उअओदिअ-उदि-
 ओदिअ ।
 उअण-उदिण ।
 उअणकम्म-उदिणकम्म ।
 उअणबलवाइण-उदिणबलवाइण ।
 उअणमोह-उदिणमोह ।
 उअणवेय-उदिणवेय ।
 उअय-उदिय ।
 उअयत्थमिय-उदियत्थमिय ।
 उअण-उदीण ।
 उअणा-उदीणा ।
 उअणपार्हण-उदीणपार्हण ।
 उअणवाय-उदीणवाय ।
 उअत्ता-उदीत्ता ।
 उअरण-उदीरण ।
 उअरणा-उदीरणा ।
 उअरिज्जमाण-उदीरिज्जमाण ।
 उअरिय-उदीरिय ।
 उअरैत्त-उदीरैत्त ।
 उअवर-उवर ।
 उअवरदत्त-उवरदत्त ।
 उअवरपणग-उवरपणग ।
 उअवरपुष्प-उवरपुष्प-उअवरपुष्प-उवर-
 पुष्प ।
 उअवरवच्च-उवरवच्च ।
 उअवरीय-उवरीय ।
 उअपरियट्ठ-उअपरियट्ठ ।
 उअसंधि-उअसंधि ।
 उअदुर-उअदुर ।
 उअरुमाला-उअरुमाला ।
 उअट्ठ-उअट्ठ ।
 उअत्तअ-उअत्तअ ।
 उअत्तिअकरण-उअत्तिअकरण ।
 उअत्तिअकरणज्ज-उअत्तिअकरणज्ज ।
 उअत्तिअकिञ्च-उअत्तिअकिञ्च ।
 उअत्तिअजोग-उअत्तिअजोग ।
 उअत्तिअट्ठिह-उअत्तिअट्ठिह ।
 उअत्तिअत्त-उअत्तिअत्त ।
 उअत्तिअत्थापायण-उअत्तिअत्थापायण ।
 उअत्तिअपवित्तिप्पहाण-उअत्तिअपवित्तिप्प-
 हाण ।
 उअत्तिअचरण-उअत्तिअचरण ।
 उअत्तिअणुट्ठाण-उअत्तिअणुट्ठाण ।
 उअत्त-उअत्त ।
 उअत्तण-उअत्तण ।
 उअत्तदसरीरगिह-उअत्तदसरीरगिह ।
 उअत्तेद-उअत्तेय ।
 उअत्तुग-उअत्तुय ।

उज्जुगनूय-उज्जुयभूय ।
 उज्जुगया-उज्जुयया ।
 उज्जुगा-उज्जुया ।
 उज्जुमह-रिउमह ।
 उज्जुसुत्त-उज्जुसुय ।
 उज्जुसुत्तवयणविच्छेय-उज्जुसुयवयण-
 विच्छेय ।
 उज्जुसुत्ताज्ञास-उज्जुसुयाज्ञास ।
 उच्छिन्न-उच्छिय ।
 उच्छिन्नद-उच्छियदं ।
 उद्धुग-उद्धुग ।
 उद्धुजाण-उद्धुजाण ।
 उद्धुलोग-उद्धुलोय ।
 उद्धुलोगविभक्ति-उद्धुलोयविभक्ति ।
 उष्ण-उष्ण ।
 उष्णुइतो-उष्णुइतो ।
 उपदपरिसह-उपदपरीसह-उसिणपरिस-
 ह-उसिणपरीसह ।
 उपदपरियाव-उसिणपरियाव ।
 उपहानित्त-उपहादित्त ।
 उत्तमाङ्गि-उत्तमारिङ्गि ।
 उत्तरकुरा-उत्तरकुरु ।
 उत्तरसमा-उत्तरासमा ।
 उत्तरिज्ज-उत्तरिअ ।
 उत्तरुह-उत्तरुहु ।
 उत्तारुण-उत्तारलण ।
 उत्ताडिज्जत-उत्तालिज्जत ।
 उदग-उदय ।
 उदगगम्भ-उदगगम्भ ।
 उदगवेव-उदगलेव ।
 उदगसीमय-उदगसीमय ।
 उदगहारा-उदगहारा ।
 उदयसायर-उदयसागर ।
 उदर-उदर ।
 उदरगठि-उदरगंठि ।
 उदरत्ताण-उदरत्ताण ।
 उदार-उदाल ।
 उद्देसिय-उद्देसिउ ।
 उद्धत-उद्धय ।
 उद्भिदिउ-उद्भिदिय ।
 उम्माद-उम्माय ।
 उम्मादपमाय-उम्मायपमाय ।
 उम्मिवीह-उम्मीवीह ।
 उराल-ओराल ।
 उलुग-उलुग ।
 उलुगच्छि-उलुगच्छि ।
 उलुगपत्तन्नहुय-उलुगपत्तन्नहुय ।
 उलुगी-उलुगी ।
 उवपसणा-उवदेसणा ।
 उवक्खत्ता-उवक्खत्ता ।

उवगारण-उवयारण ।
 उवगारियालयण-उवगारियलयण ।
 उवचित्त-उवचिय ।
 उवट्टण-उवट्टण ।
 उवट्टणविहि-उवट्टणविहि ।
 उवट्टवणा-उवट्टावणा ।
 उवट्टवणाकप्पिय-उवट्टावणाकप्पिय ।
 उवट्टवणागहण-उवट्टावणागहण ।
 उवट्टवणायरिय-उवट्टावणायरिय ।
 उवट्टवणारिह-उवट्टावणारिह ।
 उवट्टवणी-उवट्टावणी ।
 उवट्टवित्तप-उवट्टावित्तप-उवट्टवित्तप-
 उवट्टावित्तप ।
 उवरिम-उपरिम ।
 उवल्लीण-उवल्लीण ।
 उववूह-उववूहा ।
 उसम-उसह ।
 उसमकंठ-उसहकंठ ।
 उसमणाराय-उसमहणाराय ।
 उसमदत्त-उसहदत्त ।
 उसमपुर-उसहपुर ।
 उसमपुरी-उसहपुरी ।
 उसन्नसेण-उसहसेण ।
 उसिणपरिसह-उसिणपरीसह ।
 उसिय-उस्सिय-ऊसिय ।

॥ ए ॥

एह-एया ।
 एक-एग-एय ।
 एकअ-एगअ-एकइअ-एगइअ ।
 एकइअ-एगइअ-एकइय-एगइय ।
 एकसि-एकसिअ-एकइआ-एकइआ-
 एगया ।
 एककओ-एगओ-एकको-एकको-एगको ।
 एकओखदा-एगओखदा ।
 एककओणतय-एगओणतय ।
 एककओपमाग-एगओपमाग ।
 एककओवका-एगओवका ।
 एककओवत्त-एगओवत्त ।
 एककओसमुवायग-एगओसमुवायग ।
 एककओसहिय-एगओसहिय ।
 एककंगिय-एगंगिय ।
 एककत-एगंत ।
 एककंतओ-एगतओ ।
 एककंतकूरु-एगतकूड ।
 एगंतचारि-एगंतथारि ।
 एगचरियापरिसह-एगचरियापरीसह ।
 एगत-एगयर ।
 एगता-एगया ।
 एगदा-एगया ।

एगारस-एगारह ।
 एगूणवीस-एगूणवीसह ।
 एज-एय ।
 एजत-एजयंत ।
 एजण-एयण ।
 एजणा-एयणा ।
 एज्जमाण-एज्जमाण ।
 एणिज्ज-एणिज्ज ।
 एणिज्जय-एणिज्जय ।
 एण्ह-एताहे ।
 एत-एय ।
 एतकम्म-एयकम्म ।
 एतप्पगार-एयप्पगार ।
 एतप्पहाण-एयप्पहाण ।
 एतसमायार-एयसमायार ।
 एतारिस-एयारिस-एतारिच्छ-एयारिच्छ ।
 एनारूव-एयारूव ।
 एतवन्ति-एयवन्ति ।
 एरिक्ख-एलिक्ख ।
 एलकक्ख-एलकक्ख ।
 एलग-एलय ।
 एव-एवं ।

॥ ओ ॥

ओघसिय-ओघसिय ।
 ओघ-ओघ ।
 ओचिइय-ओचिच्च ।
 ओचिइयजोग-ओचिच्चजोग ।
 ओदण-ओयण ।
 ओदणविहि-ओयणविहि ।
 ओमासण-ओहासण ।
 ओमासणभिक्षा-ओहासणभिक्षा ।
 ओजासमाण-ओहासमाण ।
 ओरसवत्तसमसागय-उरस्सवत्तसमसा-
 गय ।
 ओलि-ओली ।

॥ क ॥

कअगह-कयगह ।
 कअवपप्पसि-कइयवपप्पसि ।
 कइअवपेमगिरित्ठी-कइयवपेमगिरि-
 त्ठी ।
 कइअविया-कइयविया ।
 कइविया-कइविका ।
 कंत-कय ।
 कखापओस-कंसप्पओस ।
 कचणउर-कचणपुर ।
 कची-कचि ।
 करक-करग ।
 कहुगह-कहुगह ।

कंसपत्नी-कंसपाई ।
 कक्कोम-कक्कोस ।
 कक्कमी-कक्कयी ।
 कक्कु-कक्कु ।
 कक्कुस-कक्कुसु ।
 कमजोग-कयजोग ।
 कनि-कनी ।
 कनुग-कनुप ।
 कनुगतुबी-कनुयतुबी ।
 कनुगफलदंसग-कनुयफलदंसग ।
 कनुगफलविभाग-कनुयफलाविभाग ।
 कणगावली-कणगावलि ।
 कणाद-कणाय ।
 कणिआर-कणिआर ।
 करिक-कणिय ।
 कणधार-कणहार ।
 कण्णपालि-कण्णपाली ।
 कण्णयवदार-कण्णयवहार ।
 कमण-कमन ।
 कमलानरखंदयोहय-कमलानरसंनयोहय ।
 कमलापीठ-कमलामेल ।
 कम्मरि-कम्मरी ।
 कप्पकारि-कम्मकत्ता ।
 कम्मपगनि-कम्मपयडि ।
 कम्मयकायजोग-कम्मणकायजोग ।
 कम्मयणाम-कम्मणणाम ।
 कम्मयवग्गणा-कम्मणवग्गणा ।
 कम्मायरिय-कम्मरिय ।
 कम्मोपाहिद्विणिमुक्क-कम्मोवाहिद्विणिमु-
 क्क ।
 कयण-कयन् ।
 कयधिकयज्झाग-कयधिकयज्झाण ।
 करणओ-करणती ।
 करतल-करयस ।
 करतलपग्गादिय-करयलपग्गादिय ।
 करतलपग्गद्विप्पमुक्क-करयलपग्गद्विप्प-
 प्पमुक्क ।
 करतलमाइय-करयलमाइय ।
 करतलपरिमिय-करयलपरिमिय ।
 करज-करद ।
 कलसगलिया-कलसियलिया ।
 कलाद-कलाय ।
 कलिकलुस-कलिकलुस ।

कलुसकम्मण-कलुसकम्म ।
 कलुसाउलवेय-कलुसाधिसवेय ।
 कलुग-कलुय ।
 कविह्वय-कवेह्वय ।
 कविह्वयावाय-कवेह्वयावाय ।
 कह-कहं ।
 कहकहभूय-कहकहभूय ।
 काठण-काठण ।
 काक-काग ।
 काकंदिय-कागदिय ।
 काकंदिया-कागदिया ।
 काकजघ-कागजंघ ।
 काकजंघा-कागजंघा ।
 काकणि-कागणि ।
 काकारिमसग-कागणिमंसग ।
 काकाणिरयण-कागणिरयण ।
 काकाणिलक्खण-कागणिलक्खण ।
 काकतालिज्ज-कागतालिज्ज ।
 काकतुंड-कागतुंड ।
 काकधठ-कागधठ ।
 काकपाल-कागपाल ।
 काकपिंडी-कागपिंडी ।
 काकल-कागल ।
 काकलि-कागलि-काकली-कागली ।
 काकस्सर-कागस्सर ।
 काणक-काणग ।
 कादंढ-कायड ।
 कादंढग-कायंढग ।
 कादंढरी-कायंढरी ।
 कामभोगसत्तापभोग-कामभोगसंसाप-
 भोग ।
 कामासंसत्तापभोग-कामासंसापभोग-का-
 मासत्तापभोग ।
 कायपरिचारग-कायपरिचारग ।
 कायरो-कायलो ।
 कारवण-कारावण ।
 कारयादिय-कारायादिय ।
 कारयिय-कारादिय ।
 कालागरु-कालागुरु ।
 कालिग-कालिय ।
 कालिगसुय-कालियसुय ।
 कालिगा-कालिया ।
 कालिगावाय-कालिगावाय ।

कालोऽ-काक्षोय ।
 किरियारय किरियरय ।
 किसल-किसलघ ।
 कीयकड-कीयगर ।
 कुंनग-कुनय ।
 कुंभगर कुनयार ।
 कुक्किम-कुक्कि ।
 कुक्किमकिमि-कुक्किकिमि ।
 कुक्किमपूर-कुक्किपूर ।
 कुक्किमयेयणा-कुक्किवेयणा ।
 कुक्किमसन्नय-कुक्किसंभूय ।
 कुक्किमसंघल-कुक्किसंघल ।
 कुक्किमसूय-कुक्किमसूय ।
 कुक्किमहार-कुक्किहार ।
 कुयेर कुयेर ।
 कुमुम-कुमुय ।
 कुमुमवणविघोहग-कुमुमवणविघोहग ।
 कुमुआ-कुमुया ।
 कुमुआगर-कुमुयागर ।
 कुलकर-कुलगर ।
 कुलकरइत्थी-कुलगरइत्थी ।
 कुलकरगंठिया-कुलगरगंठिया ।
 कुलकरयंस-कुलगरयंस ।
 कुलतिसग-कुलतिलय ।
 कुयलयप्पम-कुयलयप्पह ।
 कुयणि कुयणी ।
 कुसथ-कुसथ ।
 कुहग-कुहय ।
 कुणिय-कोणिय ।
 केकय-केयय ।
 केकाइय-केगाइय ।
 केयलदसण-केयलदरिसण ।
 केयलदंसणावरण-केयलदरिसणावरण ।
 कोउहल-कोऊहल-कोउहल-कोऊहल ।
 कोकस्सर-कोगस्सर ।
 कोमिग-कोमिम ।
 कोमिगण-कोमियगण ।
 कोत्थुम-कोत्थुड ।
 कोदड-कोडड ।
 कोमुई-कोमुदी ।
 कोमुईचार-कोमुदीचार ।
 कोरंट-कोरंटग ।
 कोलपाल-कोलवाल ।
 कोलपागपट्टण-कोलवागपट्टण ।

आगे से कोष्ठक में शब्दान्तर देने की प्रथा उठा दी गयी है किन्तु उनको ग्रन्थ में ही यथास्थान स्थान दिया जायगा ।
 और 'अन्यथानस्य लुक्' इस सूत्र से लुक् हुए वर्ण का शब्दान्तर में समावेश नहीं है ।



आवश्यक कतिपय सङ्केत—

१-प्राकृतशैली से अनुस्वार और मकार (गाथाओं में) समस्त दो शब्दों के मध्य में जी आया करता है, इसीलिये अनेक स्थल पर (टीका में) लिखा रहता है कि 'अनुस्वारोऽत्राद्याक्षणिकः' तथा 'मकारोऽत्राद्याक्षणिकः,' जैसे प्र० भा० ८३८ पृष्ठ में 'असञ्ज्हाय' शब्द पर वृ० की गाथा है—'पंसुयमंमयरुहिरं-केससिलावुष्टि तह रओघाए' ॥ यहाँ समस्त 'रुहिर' शब्द में जी अनुस्वार है। और ३७५ पृष्ठ में 'आणुजाण' शब्द पर "सीलेह मंखफलए, इयेर चोयंति तंतुमादीसु" । यहाँ 'तन्त्वादिषु' का 'तंतुमादीसु' हुआ। और तृ० भा० ६०३ पृष्ठ में भी 'कुसमयमोहमोहमोहमोहिय'- 'कुसमयौघमोहमतिमोहित' इस शब्द पर लिखा है कि—'मकारस्तु प्रकृतत्वात्'। इस पाठ से भी यह बात सिद्ध होती है।

२-बहुत सी जगह गाथाओं में दीर्घ को ह्रस्व, और ह्रस्व को दीर्घ हुआ करता है, उसका कारण यह है कि ऐसा करने से गाथाओं के बनाने में बहुत सुगमता होती है, इसीलिये कहा हुआ है कि—“अपि मापं मपं कुर्यात् वन्दोभङ्गं न कारयेत्” । और व्याकरणकार भी “दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ” ॥ ८ । १ । ४ ॥ इस सूत्र से इस बात का अनुमोदन करते हैं। जैसे 'साहू' को 'सद्', और 'विरुञ्ज्हा (ति)' का 'विरुञ्ज्हा [ता]' होता है।

३-कहीं कहीं प्राकृतशैली से अनुस्वार का लोप जी होता है, जैसे विशेषावश्यक ज्ञाप्य के २०६ गाथा में “समवाह असमवाह, वन्विह कत्ताय कम्मं च ॥” (वन्विहत्ति) 'अनुस्वारस्य लुप्तस्य दर्शनात्'। प्रायः करके निर्युक्तिकार अपनी गाथाओं में इस नियम को विशेष रूप से काम में लाये हैं, इसलिये उनको गाथा बनाने में अत्यन्त सुगमता हुई है। जैसे तृ० भा० ५१७ पृष्ठ में 'किङ्कम्म' शब्द पर आवश्यकनिर्युक्ति है कि—'गुरुजण वंदावन्ती, सुस्समण जहुत्तकारि च' ॥ ३३ ॥ इसकी वृत्ति में लिखा है कि 'अनुस्वारलोपोऽत्र छष्ट्यः' ।

४-प्राकृतशैली से कहीं कहीं बहुवचन के स्थान में जी एकवचन हुआ करता है, जैसे आवश्यकवृत्ति के पाँचवें अध्ययन में 'जरतैरवतविदेहेषु' के स्थान में 'जरहेरवयविदेहे' ऐसा एकवचन किया है।

५-प्रायः सूत्रों में और निर्युक्तिगाथाओं में जो निर्विभक्तिक पद आया करते हैं उनमें “स्यम्-जस्-शसा लुक्” ॥ ८ । ४ । ३४४ ॥ तथा “षष्ठ्याः” ॥ ८ । ४ । ३४५ ॥ इन सूत्रों से अथवा सौत्र सुप् का लोप समझना चाहिये। जैसे तृतीय भाग के ४४६ पृष्ठ में उक्त २४ अ० का मूलपाठ है कि—“उल्लंघण पल्लंघण” इत्यादि। और इसपर टीकाकार लिखते हैं कि 'उजयत्र सौत्रत्वात् सुपो लुक्'। इसी तरह अन्य स्थल में जी समझना चाहिये।

६-सूत्रों में बाहुल्य से प्रथमा के एक वचन में 'अतः सेमोः' । ८ । ३ । २ । इस सूत्र को न लगाकर “अत एत्सौ पुंसि मागध्याम्” । ८ । ४ । २२७ ॥ इस सूत्र से एकार ही किया गया है, जैसे तृ० भा० ४६० पृष्ठ में है कि—“आहारए दुविहे पष्ठत्ते” । इस पर टीकाकार की टीका है कि 'आहारको द्विविधः प्रज्ञप्तः' । इसी तरह निर्युक्तिगाथाओं में जी समझना चाहिये—जैसे “वाहे” का अनुवाद 'व्याधः' है।

७-प्रायः करके सूत्रों में आया करता है कि—“तेणं कालेणं तेणं समएणं” और इसपर टीकाकार लिखा करते हैं कि “तस्मिन् काले तस्मिन् समये” इसको हेमचन्द्राचार्य जी सिद्धहेमन्याकरण के अष्टमाध्याय-तृतीयपाठ में “सप्तम्या द्वितीया” । ८ । ३ । १३७ ॥ इस सूत्रपर अनुमोदन करते हैं कि 'आर्षे तृतीयाऽपि दृश्यते। यथा—'तेणं कालेणं तेणं समएणं' अस्यार्थः—'तस्मिन् काले तस्मिन् समये' । किन्तु रायपसेणी के टीकाकार मलयगिरि लिखते हैं कि 'ते इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मिन्निजि छष्ट्यम्' एमिति वाक्यालङ्कारे। दृष्टान्तश्चान्यत्रापि—'एणं' शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। यथा—'इमाणं पुढवी' इत्यादि। यह पदान्तर जी उनके मत से स्थित है।

८-व्यवहार, बृहत्कल्प, आवश्यकचूर्णि और निशीथ सूत्र, पं० भा०, पं० चू० आदि में प्रायः करके विशेष रूप से सूत्र निर्युक्ति और चूर्णि में 'तदोस्तः' । ८ । ४ । ३०७ । इस से और आर्षत्वाद् भी वर्णान्तर के स्थान में तकार हो जाता है, जैसे तृ० भा० 'किङ्कम्म' शब्द के ५१४ और ५१५ पृष्ठ में बृहत्कल्प की निर्युक्ति है कि—“ओसंकं भेदु, संकच्छेती उ वातगो कुविओ” । यहाँ पर शङ्काढेदी की दकार को तकार और वाचक की चकार को तकार किया है। इसी तरह “इय संजमस्म विवतो, तस्सेवडा ए दोसा य” ॥ इस गाथा में भी व्यय शब्द की यकार को भी तकार किया है। इसी तरह तृ० भा० ५०६ पृष्ठ के 'काडिय' शब्द पर निशीथ सूत्र की निर्युक्ति और चूर्णि की व्यवस्था है, जैसे 'तक्कम्मो जो धम्मं, कथेति सो काधितो होई' ॥ ६३ ।

इस निर्णुक्तिगाथा की चूणि है कि—‘एवंविधो काहितो जवति’। यहाँ पर जी काधिक के ककार को तकार किया हुआ है, इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। यकार को धकार तो ‘यो धः’ ॥ ८।४। २६७ ॥ और ‘अनादौ स्वरादसं-युक्तानां कगतयपफां गघदयवभाः’ ॥ ८।४। ३६६। इत्यादि सूत्रों से होता है।

ए-संस्कृत शब्दों की सिद्धि तो पचास अक्षरों से है, परन्तु प्राकृत शब्दों की सिद्धि चालीस ही अक्षरों से होती है, क्योंकि स्वरों में तो ऋ, लृ, ऐ, औ का अभाव है और व्यञ्जन में श, ष, तथा असंयुक्त ङ, य आदि कई व्यञ्जनों का अभाव है।

१०-व्यञ्जनान्त शब्दों के व्यञ्जन का ‘अन्त्यव्यञ्जनस्य लुक्’ ॥ ८।१।११ ॥ इस सूत्र से लुक् होजाने पर किसी शब्द का तो व्यञ्जनान्तत्वही नष्ट हो जाता है और किसी किसी का अजन्त में विपरिणाम हो जाता है, इसीलिये ह्रस्वन्त शब्दों की सिद्धि के लिये कोई विशेष नियम नहीं है, केवल ‘आत्मन्’ शब्द और ‘राजन्’ शब्द की सिद्धि के लिये जो थोड़े से नियम हैं उन्हें अन्य नकारान्त शब्दों की जी व्यवस्था की जाती है।

११-यदि किसी ग्रन्थ का पाठ कुछ बीच में ठोकर फिर लिया है तो जहाँ से पाठ बूटा है वहाँ पर उसी ग्रन्थ का नाम इस बात की सूचना के लिये चलते हुए पाठ के मध्य में जी दे दिया है कि पाठक भ्रम में न पड़ें।

१२-प्राकृत जापा में हिन्दी जापा की तरह द्विवचन नहीं होता, किन्तु “द्विवचनस्य बहुवचनं नित्यम्” ॥ ८।३।१३० ॥ इस सूत्र से द्विवचन के स्थान में बहुवचन हो जाता है, इसलिये द्वित्वबोधन की जहाँ कहीं विशेष आवश्यकता होती है वहाँ द्वि शब्द का प्रयोग किया जाता है; और चतुर्थी के स्थान में पष्ठी “चतुर्थ्याः पष्ठी” ॥ ८।३।१३१ ॥ इस सूत्र से होती है।

१३-गाथाओं में पाद पूरे होने पर यदि सुबन्त अथवा तिबन्त रूप पद पूरा हो जाता है तो (,) यह चिह्न दिया जाता है और जहाँ पाद पूरा होने पर जी पद पूरा नहीं हुआ है वहाँ [-] ऐसा चिह्न दिया है।

१४-बहुतसी जगह गाथाओं में शुद्ध या व्यञ्जनमिश्रित एकार स्वर आता है किन्तु उसकी दीर्घाक्षर में परिगणना होने से जो किसी जगह मात्रा बढ़ जाती है, उसको कम करने के लिये [०] ऐसा चिह्न दिया गया है। यद्यपि ‘दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ’ ॥ ८।१।४ ॥ इस सूत्र से ह्रस्व करने पर एकार को इकार हो सकता है, किन्तु वैसा करने से सर्वसाधारण को उसकी मूल प्रकृति का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये ह्रस्वबोधक संकेत किया गया है, इसीतरह व्याकरणमहाभाष्य में जी लिखा है कि—“अर्ध एकारः, अर्ध ओकारो वा इति राणायनीयाः पठन्ति”। और वाग्जटविरचित प्राकृत पिद्मलसूत्र में भी लिखा है कि—

“दीहो संजुत्तपरो, विन्दुजुओ पामिओ अ चरणंते।

स गुरु वंक् डुमत्तो, अणो लहु होइ सुद्ध एककडो” ॥

इस तरह गुरु लघु की व्यवस्था करके लिखते हैं कि—

‘कत्थ वि संजुत्तपरो, वणो लहु होइ दंसणेण जहा।

परिहसइ चित्तिधिज्ज, तरुणिकडक्खम्मि णिवुत्त’ ॥

दूसरा अपवाद—‘इहिकारा विन्दुजुआ, एओ मुप्पा अवणमिलिआ वि लहु।

रहवंजणसंजोए, परे असेसं पि सविहासं’ * ॥

उदाहरण—‘माणिणि ! माणहिं काई फल, ऐओ जे चरण पडु कन्त।

सहजे जुअंगम जइ एमड, किं करिए मणिमन्त?’ ॥

दूसरा विकल्प—‘जइ दीहो वि अ वणो, लहु जीही पढइ सो वि लहु।

वणो वि तुरियपडिओ, दो तिप्पि वि एक जाणेहु” — ॥

उदाहरण—‘अरेरे वाहहिं कान्ह ! एव ठोटि डगमग कुगति ण देहि।

तइ इयिं एदिहिं सेंतार देइ, जो चाहसि सो देहि” ॥

* इकारहिकारौ विन्दुयुतौ एओ शुओ च वर्णमिलिताद्यपि लघू। रेफहकारौ, व्यञ्जनसंयोगे परेऽशेषमपि सविभाषम् ॥

— यदि दीर्घमपि वर्णं लघु जिह्वा पठति सोऽपि लघुः। वर्णौ अपि त्वरितपठितौ द्वौ त्रयो वा एक जानीत ॥

छन्द की परम आवश्यकता— ' जेम् न सहइ कणअतुला, तिन्नतुलिअं अदअदेण ।

तेम् ए सहइ सवणतुला, अवच्छंदं छंदभगेण ” ॥

१५—कहीं कहीं गाथाओं में शब्दों के आद्यन्त स्वर को 'लुक्' । ८।१।१०। सूत्र से लोप कर मात्तते हैं, और कहीं आर्षत्वान् भी लोप करते हैं—जैसे एक उदाहरण तृ० जा० ५५६ पृष्ठ में 'किरियावाइ (ण)' शब्द पर सूत्रकृताङ्ग की गाथा है कि—“गइं च जो जाणइऽगागइं च”। इसी तरह अतीत के स्थान में 'तीत' लिखा करते हैं, और प्र० जा० ७८७ पृष्ठ में 'अवच्च' शब्द पर 'बेतियरे अल्लं तू' और ७७२ पृष्ठ में 'अलाजपरीसह' शब्द पर 'अलाजए होउदाहरणं' इत्यादि समझना चाहिये।

१६—प्रायः बहुत से स्थान पर 'से एणं' इत्यादि मूलपाठों में 'से' शब्द आया करता है, उस पर ज० १३-१-३ (स्था० ५६२-२-५) में लिखा है कि—“से शब्दो मागधीदेशीप्रसिद्धोऽयं शब्दार्थः, कचिदसावित्यर्थे, कचित्तस्येत्यर्थे प्रयुज्यते।

प्रकीर्णक विषय—

१—ज्योतिष्करणक में लिखा है कि स्कन्दिज्ञाचार्य की मृत्युति समय में दुःषम आरा के प्रभाव से दुर्निह पढ़ जाने पर साधुओं का पढ़ना गुणना सब नष्ट होगया, फिर दुर्निह शान्त होने पर जब दो संघों का मिश्राप हुआ (जो एक मथुरा में और दूसरा बलभी में था) तब दोनों के पाठ में वाचना जेद हो गया, क्योंकि विस्मृत सूत्रार्थ के पुनः स्मरण करके संघटन में अवश्य वाचनाजेद हो जाता है।

२—विशेषावश्यक ज्ञाप्य आदि कई ग्रन्थों में लिखा हुआ है कि 'आर्यवैर' के समय तक अनुयोगों का पार्थक्य नहीं हुआ था, क्योंकि उस समय व्याख्याता और श्रोता दोनों तीक्ष्ण बुद्धिवाले थे, किन्तु 'आर्यरक्षित' के समय से अनुयोगों का पार्थक्य हुआ है, यह बात प्रथम भाग में 'अज्जरविलय' शब्द पर और 'अणुओग' शब्द पर विस्तार से लिखी हुई है।

३—तृतीय जाग के ५०० पृष्ठ में 'कालियमुय' शब्द पर कालिकश्रुत (एकादशाङ्गी) के व्यवच्छेद की चर्चा है, कि सुविधि जिन के तीर्थ का सुविधि और शीतल जिन के मध्य काल में व्यवच्छेद हो गया, और व्यवच्छेद का काल एन्योपमचतुर्थजाग माना गया है। इसी तरह और भी षट् (६) जिनों में समझना, किन्तु व्यवच्छेद काल तो सातों जिनों के मध्य में इस तरह समझना—“चउजागो १ चउजागो २, तिष्ठि य चउजाग ३ पलियमेगं च ४ । तिष्ठे-ब य चउजागा ५, चउत्थजागो य ६ चउजागो ७” ॥ १ ॥ इति। परन्तु दृष्टिवाद अङ्ग का व्यवच्छेद तो सभी जिनान्तरों में था, और उसकी अवधि भी नहीं की हुई है।

४—यद्यपि मीमांसादर्शन के तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने इस प्राकृतजाषा (अर्धमागधी) पर बहुत कुछ आक्षेप किया है, किन्तु वह उनकी अदूरदर्शिता है और व्यर्थ का ही कटाक्ष है, क्योंकि इस कोश के 'पागढ' शब्द पर विशेषावश्यक ज्ञाप्य पर टीकाकार का लेख है कि—“ननु जैनं प्रवचनं सर्वं प्राकृतनिबन्धमिति दुःश्रव्यम् । मैवं शब्दक्यम्—‘बालस्त्रीमूढमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहाय तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः’ ॥ १ ॥ और यह विचारसहज ही है क्योंकि जो जाषा 'राष्ट्रजाषा' या 'मातृभाषा' जिस समय होती है, उसीमें जो लोगों को उपदेश मिश्रता है उसीसे आवाहवृष् पठितापठित स्त्री पुरुष सर्वसाधारण जीवों का विशेष उपकार होता है।

५—'वागरण' शब्द पर आ० म० द्वि० कार लिखते हैं कि—जगवान् ऋषभ देव ने शक्रेन्द्र से जो व्याकरण प्रथम कहा था वही ऐन्द्र व्याकरण के नाम से प्रख्यात हुआ। तथा कटपसुबोधिका में लिखा है कि—२० व्याकरण हैं, अर्थात्—१ ऐन्द्र, २ जैनेन्द्र, ३ सिद्धहेम, ४ चान्द्र, ५ पाणिनीय, ६ सारस्वत ७ शाकटायन, ८ वामन, ९ विभ्रान्त, १० बुद्धिसागर, ११ सरस्वतीकण्ठाज्जरण, १२ विद्याधर, १३ कट्वापक, १४ जीमसेन, १५ शैव, १६ गौरु, १७ नन्दि, १८ जयोत्पल, १९ मुष्टि व्याकरण, और २० वाँ जयदेव नाम से प्रसिद्ध है। इसीलिये आवश्यक-कवृत्ति के दूसरे अध्ययन में लिखा है कि जब ऐन्द्रादि आठ व्याकरण हैं तब केवल पाणिनीय व्याकरण पर ही आग्रह नहीं करना चाहिये। यद्यपि प्राकृतकल्पलता, प्राकृतप्रकाश, हेमचन्द्र, प्राकृत षड्जा-षाचन्द्रिका, प्राकृतमञ्जरी आदि कई प्राकृत के व्याकरण हैं परन्तु जैसा सिद्धहेम का अष्टमाध्याय उत्तम प्राकृत व्याकरण बना है वैसा प्रायः सकलविषयमग्राहक दूसरा प्राकृत का व्याकरण नहीं है। तथापि उसके गद्यमय होने से लोगों को कठस्थ करने में कठिनता पड़ती देखकर इस कोश के कर्ता हमारे गुरुवर्य पूर्वोक्त सुरीजी महा-

राज ने अनुग्रह करके सिद्धहेम सूत्रों पर श्लोकवद्ध विवरण रचकर सरल कर दिया, जो कि कोश के प्रथम भाग के परिशिष्टों में संकलित कर दिया गया है। क्योंकि जिस भाषा का ज्ञान अपेक्षित होता है उसके व्याकरण की बड़ी आवश्यकता होती है, अर्थात् बिना व्याकरण के किसी भाषा का पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। इस दिये पड़े उसको एक बार खूब मनन करके पीछे कोश को देखने से विशेष आनन्द आवेगा।

६-यद्यपि महानिशीथ सूत्र में टीका या चूर्णि नहीं पायी जाती, तथापि हमारी पुस्तक में चतुर्थाध्ययन की समाप्ति में लिखा है कि-“अत्र चतुर्थाध्ययने बहवः सैद्धान्तिकाः, केचिदालापकान् सम्यक् श्रद्धयत्येवं तैरश्रद्धानैरस्माकमपि न सम्यक् श्रद्धानमित्याह हरिचन्द्रसूरिः, न पुनः सर्वमवेद चतुर्थाध्ययनमन्यानि वाऽध्ययनानि। अस्यैव कतिपर्यैः परिमितैराज्ञापकैरश्रद्धानमित्यर्थः। यतः स्यान्समवायजीवाभिगमप्रज्ञापनादिषु न कथञ्चिदिदमाचक्षे, यथा प्रतिसंतापस्यद्वयमस्ति-तद्गुहावासिनस्तु मनुजास्तेषु च परमाधार्मिकाणां पुनः ३ सप्ताष्टवारान् यावदुपपत्तेस्तथा च तैर्दारुणैर्वज्रशिक्षाघरदृष्टसंपुटैर्गिलितानां परिपीड्यमानानामपि संवत्सरं यावत् प्राणव्यापत्तिर्न जवतीति। वृद्धवादस्तु पुनर्यथा-तावदिदमार्थसूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र प्राविष्टा, प्रचूताश्चात्र श्रुतस्कन्धे अर्थाः, शुद्धातिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चेह वचनानि, तदेवं स्थिते न किञ्चिदाशङ्कनीयम् ॥” इसके बाद फिर ‘ एवं कुशीलसंनगिं सन्वोपाएहिं पयहियं’ इत्यादि पञ्चमाध्ययन का प्रारम्भ है। इसीतरह कहीं ३ चूर्णि जी मिलती है जैसे इसी कोश के प्र० भा० ‘ अरहंत’ शब्द पर ७५६ पृष्ठ में मूल और चूर्णि दोनों हैं। और ‘ एस समासत्यो ’ ‘ वित्यरत्य तु इमं ’ ऐसा हमारे पुस्तक के ६ पत्र ३ पृष्ठ ३६ पङ्क्ति में लिखा है।

७-सूत्रकृताङ्ग की गाथाएँ कई अध्ययनों में ऐसी टूटीसी मालूम पड़ती हैं जैसे बन्दोभङ्गवाली हों, किन्तु प्रायः वे जी बन्दोलक्षणविहीन नहीं हैं, क्योंकि कि बहुत से ऐसे भी बन्द हैं जो पढ़ने में असकत से मालूम होते हैं किन्तु लक्षण से पूर्ण सद्गत हैं। क्योंकि प्राकृत पिङ्गलसूत्र में चन्द्रलेखा-चित्र-नाराच-नील-चञ्चला-ऋषभगजविलसित-चकिता-मदन-दाहिता-वाणिनी-प्रवरलाहित-गरुडस्त-अचलधृति बन्द जी विलक्षण हैं। जैसे मदन दाहिता का यह उदाहरण है-

“ विप्रष्टसंगदितचिकुरा धौताधरपुटा,
म्लायत्पत्रावलिक्वचतटोच्छासोमितरला ।
राधाऽत्यर्थं मदनललिताऽऽन्दोलालसवपुः,
कंसाराते रतिरसमहो चक्रेऽतिचटुलम् ” ॥ १ ॥

और यदि कहीं पर किसी भी बन्द का लक्षण सद्गत न हो तो वहाँ आर्ष बन्द समझना चाहिये।

पैंतालीस आगमों के नाम, और उनकी मूलश्लोकसंख्या, और हर एक पर पृथक् पृथक् आचार्यों की निर्मित वृहद्वृत्ति, लघुवृत्ति, निर्युक्ति और ज्ञाप्यादिक, और उनका श्लोकसंख्याप्रमाण इस रीति से है-

श्रीसुधर्मास्वामीकृत ग्यारह अङ्गों के नाम और व्याख्यासहित ग्रन्थप्रमाण-

१-आचाराङ्ग सूत्र, अध्ययन २५, मूलश्लोकसंख्या ३५००, और उसपर शीलाङ्गाचार्यकृत टीका १२०००, चूर्णि ८३००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्तिगाथा ३६८, श्लोक ४५०, (ज्ञाप्य और लघुवृत्ति इस पर नहीं है)। संपूर्णसंख्या ३३२५० है।

२-सूत्रकृताङ्ग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन २३, मूलश्लोकसंख्या ३१००, और उसपर शीलाङ्गाचार्यकृत टीका १३८५०, चूर्णि १००००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्तिगाथा ३०८, श्लोक ३५०, (ज्ञाप्य नहीं है) संपूर्ण संख्या ३५३०० है। संवत् १५८३ से नवीन श्रीहेमविमलसूरि ने दीपिका टीका बनायी है, किन्तु वह पूर्वाचार्यों की गिनती में नहीं है।

३-स्थानाङ्ग सूत्र, अध्ययन (ठाणा) १०, मूलश्लोकसंख्या ३७७०, और उसपर संवत् ११२० में अभयदेवसूरि ने टीका बनायी है, उसका मान १५२५० है, संपूर्ण संख्या १६०२० है।

४-समवायाङ्ग सूत्र, (१०० समवाय तक समवाय मित्रते हैं) मूलश्लोकसंख्या १६६७, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ३७७६, चूर्णि पूर्वाचार्य कृत ४००, संपूर्ण संख्या ५८४३ है।

५-जगवती सूत्र (विवाहपञ्चति), शतक ४१, मूलश्लोकसंख्या १५७५२, और उसपर श्रीअजयदेवसूरिकृत टीका (जोणाचार्य से शोधि हुई) १८६१६, चूर्णि पूर्वाचार्यकृत ४०००, संपूर्ण संख्या ३८३६८ है । संवत् १५६८ में दानशेखर उपाध्याय ने १२००० श्लोक संख्या की लघुवृत्ति बनायी है ।

६-ज्ञातार्थकथाङ्ग सूत्र, अध्ययन १६, मूलश्लोकसंख्या ५५००, और उसपर अभयदेवसूरिकृत टीका ४२५२ है । इस समय में १९ कथाएँ दिखायी देती हैं, किन्तु पूर्व समय में साढ़े तीन करोड़ कथाएँ थी ऐसी प्रसिद्धि है ।

७-उपासकदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन १०, मूल श्लोकसंख्या ८१२, और इसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ९००, संपूर्ण संख्या १७१२ है ।

८-अन्तर्गुरुदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन ९०, मूलश्लोकसंख्या ९००, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ३००, संपूर्ण संख्या १२०० है ।

९-आणुत्तरोवाइयदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन ३३, मूलश्लोकसंख्या २६२, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका १००, संपूर्ण संख्या ३९२ है ।

१०-प्रश्नव्याकरण सूत्र, ५ आश्रवद्वार और ५ सम्बरद्वाररूप १० अध्ययन, मूलश्लोकसंख्या १२५०, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ४६००, संपूर्ण संख्या ५८५० है ।

११-विपाक सूत्र, अध्ययन २०, मूलश्लोकसंख्या १२१६, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ९००, संपूर्ण संख्या २११६ है ।

संपूर्ण ग्यारह अङ्गों की मूलश्लोकसंख्या ३५६५९ है, और टीका ७३५४४ है, और चूर्णि २२७०० है, तथा निर्युक्ति ७०० है, और सब मिलकर १३२६०३ है ।

आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग की टीका तो शीलाङ्गाचार्यकृत है और बाकी नवाङ्गी की टीका अजयदेवसूरिकृत है, इसी लिये अजयदेवसूरि का नवाङ्गीवृत्तिकार के नाम से उल्लेख किया जाता है; अजयदेवसूरिजी का चरित्र प्र० भा० ७०६ पृष्ठ में और ' सीलंगाचार्य ' शब्दपर शीलाङ्गाचार्य की कथा देखना चाहिये ।

बारह उपाङ्गों के नाम, टीका, और संख्या इस तरह है—

१-उववाई उपाङ्ग, (आचाराङ्गप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या १२००, और उसपर अजयदेवसूरिकृत टीका ३१२५, संपूर्ण संख्या ४३२५ है ।

२-रायपसेणी उपाङ्ग, (सूत्रकृताङ्गप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या २०७८, और उसपर मलयगिरिकृत टीका ३७००, संपूर्ण संख्या ५७७८ है ।

३-जीवाभिगम उपाङ्ग, (स्यानाङ्गप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या ४७००, मलयगिरिकृत टीका १४०००, लघुवृत्ति ११००, और चूर्णि १५०० है, संपूर्ण संख्या २१३०० है ।

४-पञ्चवणा (मङ्गापना) उपाङ्ग, (समवायाङ्गप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या ७७८७, मलयगिरिकृत टीका १६०००, हरिजङ्गसूरिकृत लघुवृत्ति ३७२८ है, संपूर्ण संख्या २७५१५ है ।

५-जम्बूद्वीपपञ्चति उपाङ्ग, (जगवतीप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या ४१४६, मलयगिरिकृत टीका १२०००, चूर्णि १८६० है, संपूर्ण संख्या १८००६ है ।

६-चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र, (ज्ञाताप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ९४११, लघुवृत्ति १००० है, संपूर्ण संख्या १२६११ है ।

७-सूरपञ्चति सूत्र उपाङ्ग, (ज्ञाताप्रतिबद्ध) मूलसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ६०००, चूर्णि १०००, संपूर्ण संख्या १२२०० है । चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति दोनों मिलकर ज्ञाताप्रतिबद्ध हैं ।

८-कटिपिका उपाङ्ग, [उपासकदशाङ्गप्रतिबद्ध] काव, मुकाल, महाकाल, कृष्ण, सुकृष्ण, महाकृष्ण, वीरकृष्ण, रामकृष्ण, पितृसेनकृष्ण, सदासेनकृष्ण के नाम से १० अध्ययन हैं ।

ए-कल्पावतंसिका उपाङ्ग, [अन्तगददशाङ्गप्रतिबन्ध] पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मज, पद्मसेन, पद्मगुल्म, न-
सिनीगुल्म, आनन्द, नन्दन के नाम से १० अध्ययन हैं ।

१०-पुष्पिका उपाङ्ग, [अणुचरोवार्धप्रतिबन्ध] चन्द्र, सूर, शुक्र, बहुपुत्रिका, पुण्यभद्र, माणिभद्र, दत्त, शिव,
बालि, अनाहत नाम से दश १० अध्ययन हैं ।

११-पुष्पचूडिका उपाङ्ग, [प्रशल्याकरणप्रतिबन्ध] श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, सङ्गमी, इलादेवी, सुरादेवी,
रसदेवी, गन्धदेवी नाम से दश १० अध्ययन हैं ।

१२-वह्निदेशा उपाङ्ग, [विपाकसूत्रप्रतिबन्ध] निसहृ, अत्रि, दह, घह, पगती, जुति, दसरह, दहरह, महाधनु,
सप्तधनु, दसधनु, नामेसय के नाम से १२ अध्ययन हैं ।

इन पाँचो उपाङ्गों का एक नाम ' निरयावली ' है, और कल्पिका आदि पाँचो उपाङ्गों के ५२ अध्ययन हैं । इनकी
संपूर्ण मूलग्रन्थसंख्या ११०९ है, इनकी टिप्पणी ७०० श्री चन्द्रसूरिकृत है । संपूर्ण ग्रन्थसंख्या १८०६ है ॥

इस तरह बागद उपाङ्गों की मूलसंख्या २५४२० है और टीका की संख्या ६७९३६, और त्रिपुटि ६८२८, चूर्ण
११६०, संपूर्णसंख्या १०१५४४ है ।

दश पद्मार्थों (प्रकीर्णक) की गाथा संख्या इस तरह है—

१-चरितरण पद्मा में ६३ गाथा हैं । २ आठरपञ्चखण्ड पद्मा में ८४ गाथा हैं । ३ भक्तपञ्चखण्ड पद्मा में
१७७ गाथा हैं । ४ संघारण पद्मा में १७२ गाथा हैं । ५ तन्त्रवेयाली पद्मा में ४०० गाथा हैं । ६ चन्द्रविज्जगप-
द्मा में ११० गाथा हैं । ७ देविन्दित्य पद्मा में २०० गाथा हैं । ८ गणिविज्जा पद्मा में १०० गाथा हैं । ९
महापद्मस्त्राण पद्मा में १३४ गाथा हैं * । १० समाधिपरण पद्मा में ७२० गाथा हैं ।

इन दश पद्मार्थों की संपूर्ण गाथाम संख्या २३०५ है और प्रत्येक में दश दश अध्ययन हैं, और ये दश पद्मा जी
पैतालीस आगम की गिनती में हैं ।

१ वीरस्तव पद्मा गाथा ४३ ।

२ अपिनापित सूत्र संख्या ७५० ।

३ सिद्धिमान्नसूत्र संख्या १५०, और इसकी टीका ७५० है ।

४ दीवसागरपन्नचि संग्रहणी संख्या २५०, और इसकी टीका २५०० है ।

५ अन्नविज्जापद्मा संख्या ८८०० (कहीं २ पाई जाती) है ।

६ ज्योतिष्करणक पद्मा संख्या ५००, इसकी टीका मलयगिरिकृत ५४०० है, और २१ पादुका [प्राचूतक] हैं ।

७ गन्ध्याचारपद्मा, टीका विजयविमलगाणिविरचित, मूलटीका संख्या ५८५० है, और ४ अधिकार हैं ।

८ अन्नचूलिया ग्रन्थसंख्या ८००, इसमें लिखा हुआ है कि "आर्यसुधर्मा स्वामी से उन के शिष्य जम्बूस्वामी ने पूछा कि-
ग्यारह अङ्गों की अन्नचूलिका किस वास्ते है ?" इस पर सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया कि-"जिस तरह आचूषणों से अन्न शोणित
होते हैं उसी तरह अन्नचूलिका से एकादशाङ्ग शोणित होती है, इस लिये निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को ये जानने के
लायक हैं और गुरुपरंपरागम से ग्रहण करने के योग्य हैं" । फिर जम्बू स्वामी ने पूछा कि-"गुरुपरंपरागम कैसा ?"
उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा कि-"आगम तीन प्रकार के हैं-१ अन्तागम, २ अनन्तरागम, और ३ परंपरागम । अर्थ से तो
अर्हन् जगवान् का अन्तागम है, और मूत्र से गणधरों का अनन्तरागम है । तदनन्तर गणधरशिष्यों का अनन्तरागम है,
उसके बाद सभी का परंपरागम है " । और अन्नचूलिका के अन्त में उपाङ्गचूलिका की चर्चा है कि-सुधर्मा-
स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि-"सेस उर्वगचूलिया तो गहेयव्वं " अर्थात् अवशिष्ट जाग उपाङ्गचूलिका
से लेना चाहिये ।

* कई लिखी प्रतियों में महापद्मस्त्राण पद्मा के स्थान में ४३ गाथावाला वीरस्तव पद्मा लिखा है, किन्तु ऊपर कहे हुए
दश पद्मार्थों से पृथक् जी है परन्तु उनकी यहाँ आवश्यकता न होने से केवल नामनिर्देश ही किया है ।

छः वेदग्रन्थों के नाम और उनकी ग्रन्थसंख्या—

१-निशीथ सूत्र, उद्देश २०, मूलश्लोकसंख्या ८१५, और इस पर लघुजाण्य ७४००, और जिनदासगणिमहत्तरविरचित चूर्णि २८०००, बृहद्भाष्य १२००० है, यह टीका के नाम से ही प्रसिद्ध है। जछबाहुस्वामी की बनायी हुई निर्युक्ति गाथाएँ हैं। संपूर्ण ग्रन्थसंख्या ४८२१५ है। शीलभञ्जसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि ने वि० सं० ११७४ में व्याख्या की है। जिनदासगणिमहत्तर ने अनुयोगद्वारचूर्णि, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्पजाण्य, आवश्यकचूर्णि आदि कई एक ग्रन्थ बनये हैं।

२-महानिशीथ सूत्र, अध्ययन ७, बूलिका २, मूलश्लोकसंख्या ४५००, मतान्तर में इसकी तीन वाचनाएँ हैं—१-लघुवाचना; ४२००; २-मध्यवाचना ४५००; ३-बृहद्वाचना ११८०० है। किन्तु हमारी पुस्तक के अन्त में लिखा है कि—

“ चत्वारि सयसहस्रा, पंचसयाग्रो तदेव पंचासं ॥

चत्वारि सिसोगा बी, महानिशीथम् पापणं ” ॥ १ ॥ ४५५४ ॥

३-बृहत्कल्पसूत्र, उद्देश ६, मूलसंख्या ४७३ है। इसपर सं० १३३२ में बृहच्छालीय श्रीकैमकीर्तिसूरि ने ४२००० संख्यापरिमित टीका बनायी है। जाण्य जिनदासगणिमहत्तरकृत १२०००, लघुजाण्य ८००, चूर्णि १४३२५, संपूर्णग्रन्थसंख्या ७६७८८ हुई। टीका में लिखा हुआ है कि— [कः सूत्रमकार्षीत्, को वा निर्युक्तिं, को वा जाण्यमिति ? । उच्यते—पूर्वेषु यन्नवमं प्रत्याख्याननामकं पूर्वं तस्य यत्तृतीयमाचाराख्यं वस्तु तस्मिन् विंशतिनाममाजृते मूलगुणेषुत्तरगुणेषु बाऽपराधेषु दशविधमालोचनादिकं प्रायश्चित्तमुपवर्णितं, कालक्रमेण च दुष्प्रमाणभावतो धृतिबलवीर्यबुद्ध्यायुःमजृतिषु परिहीयमानेषु पूर्वाणि दुरवगाहानि जातानि ततो मा भूत् प्रायश्चित्तव्यवच्छेद इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण जगत्वा भद्रवाहुस्वामिना कल्पसूत्रं, व्यवहारसूत्रं चाकारि; उज्योरापि च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ती]

४-व्यवहारदशकल्पच्छेद सूत्र, उद्देश १०, दो खण्ड, मूलश्लोकसंख्या ६००, टीका मलवागिरिकृत ३३६२५, चूर्णि १०३६१, जाण्य ६००० है। निर्युक्ति की संख्या अज्ञात है। संपूर्ण ग्रन्थ संख्या ५०५८६ है।

५-पञ्चकल्पच्छेद सूत्र, अध्ययन १६, मूलसंख्या ११३३, चूर्णि २१३०, और दूसरी टीका की संख्या ३३००, जाण्य ३१२५, संपूर्ण संख्या ६३८८, और गाथासंख्या २०० है।

६-दशाश्रुतस्कन्धवेदसूत्र, मूलसंख्या १८३५, अध्ययन १०, चूर्णि २२४५, निर्युक्तिसंख्या १६८, संपूर्णसंख्या ४२४८ है। टीका श्रीब्रह्मविरचित है, इसका आठवाँ अध्ययन कल्पसूत्र १२१६ है जिसकी टीका कल्पसुबोधिका है *।

७-जीतकल्पच्छेदसूत्र, मूलसंख्या १०८, टीका १२०००, सेनकृत चूर्णि १०००, भाष्य ३१२४, संपूर्ण संख्या १६२३२ है, और चूर्णि की व्याख्या ११२० है, और इसकी लघुवृत्ति श्रीसाधुरत्नकृत ५७००, और तिलकाचार्यकृत वृत्ति १५०० है।

साधुजितकल्पविस्तार ३७५, धर्मघोषसुरिकृत वृत्ति २६५० है, और उसपर पृथ्वीचन्द्रकृत टिप्पण ६७०, और निर्युक्तिगाथा १६८ जछबाहुस्वामीकृत है, इसकी चूर्णि और टीकाएँ बहुत हैं, परंतु प्रायः करके वि० सं० १२०० के पीछे की बनी हुई हैं।

चार मूलसूत्रों की संख्या इस तरह है—

१-आवश्यक सूत्र, मूलगाथा १२५, टीका हरिजञ्जसूरिकृत २२०००, निर्युक्ति भद्रबाहुस्वामिकृत ३१००, चूर्णि १८००० है। दूसरी आवश्यकवृत्ति [चतुर्विंशति] २२००० है, उसकी लघुवृत्ति तिलकाचार्य कृत १२३२१ है, और अञ्चलगच्छाचार्यकृत दीपिका १२००० है, इसका भाष्य ४००० है, आवश्यकटिप्पण मलधारि हेमचन्द्रसूरिकृत ४६०० है। संपूर्णसंख्या ८८१४६ है, निर्युक्ति की टीका हरिजञ्जसूरिकृत २२५०० है।

* अर्थतो प्रगवता वर्द्धमानस्वामिना असमाधिस्थानपरिज्ञानपरमार्थ उक्तः, सूत्रतो द्वादशस्वकेषु गणधरैः, ततोऽपि च मन्दमेधसामनुग्रहाय अतिशायिनि. प्रत्याख्यानपूर्वाद्बुद्धृत्य पृथक् दशाध्ययनत्वेन व्यवस्थापितः । दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, न चासौ भुतस्कन्धः । दशकल्प इति पर्यायनाम । अथ च ग्रन्थोऽसमाधिस्थानादिपदार्थशासनाच्छास्त्रम् । अस्याष्टमाध्ययन कल्पसूत्रमुच्यते, टीका चास्य कल्प-सुबोधिकेति ।

१-विशेषावश्यकसूत्र, [आवश्यकसूत्र सूत्र (सामायिकाध्ययन) का विशेष परिकर है] मूलसंख्या ५००० है। श्री-जिनभद्रगणिकमाश्रमण कृत है, और इसकी बृहद्वृत्ति १८००० मलधारिहेमचन्द्रसूत्रिकृत है, सप्तवृत्ति १४००० को-यचार्यकृत, या खोणाचार्यकृत है, बृहद्वृत्ति की टीका तर्कानुविद्या जैनस्थापनाचार्य कृत है।

१-पात्नी (पाक्षिक) सूत्र, मूल ३६०, सं० ११८० में यशोदेवसूत्रिकृत टीका ५७००, चूर्णि ४०० है।

१-वृत्तिमतिक्रमणसूत्रवृत्ति ६०० है।

२-दशवैकालिक सूत्र, सत्यंभवसूत्रिकृत, मूल ७००, वृत्ति तिलकाचार्यकृत ७०००, दूसरी वृत्ति हरिभद्रसूत्रिकृत ६८१०, और मलयगिरिकृत वृत्ति ७७००, चूर्णि ७५००, लघुवृत्ति ३७०० है। निर्युक्तिगाथा-४५० है। आधुनिक सोमसुन्दरसूत्रिकृत सप्तुटीका ४२००, तथा समयसुन्दरउपाध्यायकृत सप्तुटीका २६०० है।

२-पिण्डनिर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामिकृत, मूलसंख्या ७००, इसपर टीका मलयगिरिकृत ७०००, दूसरी प्रति में ६६०० है, वि० सं० ११६० में वीरगणिकृत टीका ७५०० है और महामसूत्रिकृत लघुवृत्ति ४००० है, संपूर्णसंख्या १९२०० है।

१-ओघनिर्युक्ति, जद्रबाहुस्वामिकृत, मूलगाथा ११७० हैं, खोणाचार्यकृत टीका ७०००, और इसका भाष्य ३००० है, चूर्णि ७००० है, संपूर्णसंख्या १८४५० है।

४-उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३६ हैं, मूलसंख्या २००० है, वादिवेताल शान्तिसूत्रिकृत बृहद्वृत्ति [पाईटीका] १८००० है, दूसरी प्रति में १७६४५ [सद्धमीवद्वजनी टीका] है, सं० ११२६ में नेमिचन्द्रसूत्र से कृत लघुवृत्ति १३६०० है, भद्रबाहुस्वामिकृत गाथानिर्युक्ति ६०७ है, और चूर्णि ६००० है, संपूर्णसंख्या ४०३०० है।

अब दो चूलिकासूत्र की संख्या और नाम—

१-नन्दीसूत्र, देवार्किगणिसमाश्रमणकृत, मूलसंख्या ७०० है, इसपर मलयगिरिकृत वृत्ति ७७३५, चूर्णि सं० ७३३ में बनी हुई २००० है, हरिचन्द्रसूत्रिकृत लघुटीका २३१२ है, संपूर्णसंख्या १२७४७ है। चन्द्रसूत्रिकृत टिप्पण ३००० है।

२-अनुयोगद्वारसूत्र, गाथा १६०० हैं, उसपर मलधारिहेमचन्द्रसूत्रिकृत वृत्ति ६००० है। जिनदासगणिमहत्तर कृत चूर्णि ३०००, और हरिभद्रसूत्रिकृत लघुवृत्ति ३५०० है, इसतरह संपूर्णसंख्या १४३०० है।

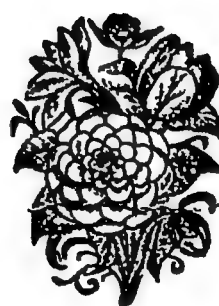
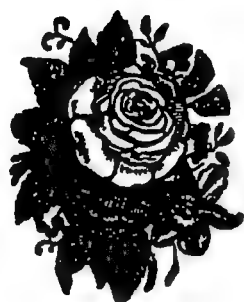
इस तरह ग्यारह अङ्क, बारह उपाङ्क, दस पङ्क्ता, छः षेदसूत्र, चारमूलसूत्र, और दो चूलिकासूत्र मिलकर इस समय पैंतालीस आगमों की संख्या बनी जाती है। इत्यन्तं विस्तरेण।

विशेष विज्ञापन—

इस पुस्तक के संशोधन में हमारे सतीर्थ्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने पूर्ण परिश्रम किया है किन्तु देखकों की लिखी हुई पुस्तकों के अत्यन्त जीर्ण होने से और प्रायः एकही एक प्रति के मिलने से भी कहीं कहीं त्रुटित गाथाएँ टीका का अवलम्बन लेकर प्रकरण और विषय के अवि-रोध से पूरी की गयी हैं उनमें यदि कहीं पर पाठ भेद हो गया हो तो सज्जनों को उसे ठीककर लेना चाहिये।

निवेदक

उपाध्याय मुनि श्री १०८ मोहनविजयजी



आभार-प्रदर्शनम् ।

—:0:—

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारदृश्व-आबालब्रह्मचारी-जङ्गमयुगप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमयोगिराज-क्रिपाशुद्धयुपकारक-श्री सौधर्मवृद्धतपोगच्छीय-सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-जट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअजिधानराजेन्द्र' प्राकृत-मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लछितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया। इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमदधनचन्द्रसूरिजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी। इस प्रकार करीब साठे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत वृद्धकोष संवत् १९६० चैत्र-शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत-गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ।

गवालियर-रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दर-मियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनिमहाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बड़े ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक-मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-महंम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अजिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महा-कोश का जैन और जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इसलिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्जुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखवदासजीत्-जागीरथजी, वीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंजीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअजिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रज्ञाकरप्रिन्टिंगप्रेस' स्वतन्त्र खोलना चाहिये। कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त-भार महंम-गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य-मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीम-
द्विजयचूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सौंपा जाय । वस,
प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदी ५ के दिन उक्त कोश को
छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और
उक्त दोनों पूज्य-मुनिराजों की देख-रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ,
जो सं० १९८१ चैत्र-वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता
को प्राप्त हुआ ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमंगजमदजजनकेसरी-
कलिकालसिद्धान्तशिरोमणी-प्रातःस्मरणीय-आचार्य-श्रीमद्धनचन्दसूरि-
जी महाराज, उपाध्याय-श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-
मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक-मुनिश्रीहुकुमविज-
यजी महाराज, सत्क्रियावान्-महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज;
साहित्यविशारद-विद्याचूषण-श्रीमद्विजयचूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्या-
ख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी
मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी,
मुनिश्री-गुलाबविजयजी, मुनिश्री-दर्पविजयजी, मुनिश्री-हंसविजयजी,
मुनिश्री-अमृतविजयजी, आदि मुनिवरों ने अपने अपने विहार
के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन,
मन और धन से पूर्ण सहायता पहुँचाई, और स्वयं भी अनेक
जाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आचारी है ।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस
महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-
सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

श्रीसंघ-रतलाम ।

श्रीसंघ-वाँगरोद ।

श्रीसंघ-राजगढ़ ।

” जावरा ।

” बारोदा-बड़ा ।

” आबुवा ।

श्रीसंघ-बड़नगर ।	श्रीसंघ-सरसी ।	श्रीसंघ-भकणावदा ।
॥ खाचरोद ।	॥ मुंजाखेड़ी ।	॥ कूकसी ।
॥ मन्दसोर ।	॥ खरसोद-बड़ी ।	॥ आलीराजपुर ।
॥ सीतामऊ ।	॥ चीरोला-बड़ा ।	॥ रींगनोद ।
॥ निम्बाहेड़ा ।	॥ मकरावन ।	॥ राणापुर ।
॥ इन्दौर ।	॥ बरड़िया ।	॥ पारां ।
॥ उज्जैन ।	॥ (भाट)पचलाना ।	॥ टांडा ।
॥ महेन्द्रपुर ।	॥ पटलावदिया ।	॥ बाग ।
॥ नयागाम ।	॥ पिपलोदा ।	॥ खवासा ।
॥ नीमच-सिटी ।	॥ दशार्ई ।	॥ रंभापुर ।
॥ संजीत ।	॥ बड़ी-कड़ोद ।	॥ अमला ।
॥ नारोयणगढ़ ।	॥ घामणदा ।	॥ बोरी ।
॥ बरड़ावदा ।	॥ राजोद ।	॥ नानपुर ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद ।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद) ।	श्रीसंघ-ढीमा ।
॥ वीरमगाम ।	॥ वाव ।	॥ दूधवा ।
॥ सूरत ।	॥ भोरोल ।	॥ वात्यम ।
॥ साणंद ।	॥ घानेरा ।	॥ वासण ।
॥ बम्बई ।	॥ धोराजी ।	॥ जामनगर ।
॥ पालनपुर ।	॥ डुवा ।	॥ खंभात ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर ।	श्रीसंघ-भीनमाल ।	श्रीसंघ-शिवगंज ।
॥ आहोर ।	॥ सांचोर ।	॥ कोरदा ।
॥ जालोर ।	॥ बागरा ।	॥ फतापुरा ।
॥ भेंसवाड़ा ।	॥ धानपुर ।	॥ जोगापुरा ।
॥ रमणिया ।	॥ आकोली ।	॥ भारुंदा ।
॥ मांकलेसर ।	॥ साथू ।	॥ पोमावा ।
॥ देवावस ।	॥ सियाणा ।	॥ बीजापुर ।
॥ विशनगढ़ ।	॥ काणोदर ।	॥ बाली ।
॥ मांडवला ।	॥ देलंदर ।	॥ खिमेल ।

श्रीसंघ-गोल ।

- ” साहेला ।
- ” आलासण ।
- ” रेवतड़ा ।
- ” धाणसा ।
- ” बाकरा ।
- ” मोदरा ।
- ” थलवाड़ ।
- ” मेंगलवा ।
- ” सूरणा ।
- ” दाधाल ।
- ” धनारी ।

श्रीसंघ-मंडवारिया ।

- ” बलदूट ।
- ” जावाल ।
- ” सिरोही ।
- ” सिरोड़ी ।
- ” हरजी ।
- ” गुडाबालोतरा ।
- ” भूति ।
- ” तखतगढ ।
- ” सेदरिया ।
- ” रोवाडा ।
- ” भावरी ।

श्रीसंघ-सांडेराव ।

- ” खुड़ाला ।
- ” राणी ।
- ” लिमाड़ा ।
- ” कोशीलाव ।
- ” पावा ।
- ” एंदला का गुड़ा ।
- ” चाँणोद ।
- ” डूडसी ।
- ” थाँवला ।
- ” जोयला ।
- ” काचोली ।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवों के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है ।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतनाम (मालवा)



उपोद्घातः

अहम् ।

कः खलु सचेतनो जन्मी नाऽस्मात् संसृतिस्तरणकलेशात्-
त्मानमपवर्त्तयितुं कामयते ? तथा चास्मिन् भवे बन्धनमाण-
स्य कस्य वा प्रेक्षावतो दुःखमनागतमजिहासितं भवति ? कि-
न्तु दानोपायपरिज्ञानमन्तरा कथं कृती कोऽपि समापयेत् ?
ततो विश्वस्याऽपि विश्ववार्त्तनश्चेतस्तदुपायजिज्ञासार्था साऽ-
मिलाषम्-यदेतदपारससारपारावारान्तरिन्तरनिमग्नकलेवर-
धारिणामनवरतोत्कटजन्मजरामरणाऽऽदिवेदनाऽजिभूतानां को-
ऽभ्युपायो मौलो हेयमिदं समूलमुन्मूलयति ? यद्यपि खरनर-
धिषणादीन्तिमाक्षिनो विचारशालिनो नरा वाढमुत्तरायितुं प्राग-
हन्यमात्मविषयन्ते-यद् धर्ममन्तरेण कीऽप्युपायो न प्रेक्षाप-
थमारोहति नस्मात् पराङ्मुखीकर्तुम् । परं तु क्षीरनीरयोरिव
धर्मो धर्मयोर्धिया केचन्निहसमपास्य मिश्रणमितथोरन्यतरं दिवे-
कुमसाधारणजनाऽतिरिक्तस्याऽसुकरं वर्वर्ति, यतोऽस्मिन् समये
पर-शतानि मनानि धर्मव्याणि तत इमः प्रचरन्ति, यानि सं-
ख्यातुमपशक्यानि सख्यावतां महामनीषिणामपि, किं पुनः
पार्थक्येन धर्मोऽयमय धर्माभास इति प्रदर्शयितुम् । यद्यपि महा-
नुभावानामस्मद्महामान्यानां धन्यतमानामादेशानुसारेणैयद्-
वश्यमाभाषितुं शक्यते-यद्वास्मिन् दुःखमागपरपरांये पञ्चमे
काले धर्मानासानामेव विशेषतः प्रायशः प्रचारो भवितुमर्हति
धर्मस्य चाऽयनतिदशा ज्ञवितुं युज्यते इति ।

पुनरप्यत्र पर्यनुयोगतः स्मृतिसरणावधिरुह्यते-यत्तेषामन्यतम-
स्तादृश को नु धर्मोऽनिधयधुरामधिरोहति ? तत्रेत्यं प्रातःवाक्यमु-
पदौक्यन्त्याह्विताभियुक्ता-यर्कर्मप्रवर्त्तकपुरुषा रागद्वेषकलङ्कपङ्का-
ङ्किताङ्गविकृता भवेयुर्धर्मश्च कुञ्जरादिपिपीलिकापर्यन्तस्य कस्या-
पि प्राणिनः परमप्रेयः प्राणपरिवर्त्तनोपदेष्टा न स्यात्, प्रत्युत शाश्व-
तमशाश्वतं च श्रेयसमेव प्रापयितुं प्रभवत्, स एव धर्मोपदोषा-
देयपदवीमद्भुर्तुमश्रमः । परमार्थतो यदीदृक्कः परमार्थः परामृश्यं
तु तदा तत्र ज्ञवतां तीर्थकराणामथवा जगवता वर्द्धमानस्येवाऽऽ-
नन्नोपकारित्वेनानेकान्तजयपताका प्रादुर्भूयात् । यनस्त एव वि-
मलकथलालोकेन काष्ठप्रयवर्त्तिसामान्यविशेषात्मनिलिखितपदा-
र्थसार्थवेत्तारः, शकाणामपि जन्मस्नात्राद्यष्टमहायातिहार्यादि-
सपादनेनार्चनार्हाः, अविद्यवस्तुनन्वप्रवक्तारः, शान्तरससरस-
स्वान्तत्वेन रागद्वेषविजयकर्तारः, राक्षान्तश्च तेषामहिंसा पर-
मो धर्म इति ॥

यद्यपि पृथग्भूतेष्वितो धर्माभासेष्वपि किंपाकपाकोपहितपा-
यसदेइया हिंसागर्भिता अहिंसा भगवती यत्र तत्र विज्ञोक्त्यते-
तस्या जिघृक्षा मधुदिग्धधाराकरावकाशप्रलोलरसनानामि,
व जनानां न सुखाकरोतीति एकत्रामत्रे सपृक्तविषमधुकल्पेव
न युक्ता । यतस्तेषु जन्मादितु खमुमुक्षूणां प्राधान्येन कारणता
वस्या नोपलज्यते, अपि तु यद्यश्नस्तत्र दयाऽभिनिविष्टा, हिं-
साऽपि तर्ह्यन्याशतो जागर्त्ति, यथा संसारमोचकानामिदमैदपर्य-
म-यादे नरपशुशकनिधन्यतमं कोऽपि नवेऽस्मिन् ससारवेद-
नमनुभवति, तर्हि तस्येतो देहतः पृथक्करणमेव दयापरवशानां
कत्तव्यमिति । सतततुप्रवणानां यज्वना तु तादृक्मवसरमासा-

द्य दयापात्राणामनन्यगतिकानां कृगतिकानां विशमनमेवोर्ध्वं
गतिप्रापणमित्यादि ग्रन्थेऽस्मिन्नेव प्रथमभागे "अहङ्कृमा" "
"अहिंसा" शब्दयोरुपरि विशेषविस्तरः प्रेक्षणीयो जिज्ञासुनामि-
ति । अत एवाभियुक्तानामाभाषक -

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्यं परिग्रह ॥ १ ॥

रागद्वेषानिमुक्ता-हं कृतं च कृपापरम् ।

प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्" ॥२॥ इत्यादि ॥

दयाऽऽचारक्रियावस्तुभेदैर्धर्मोऽयमाह्वनश्चतुर्धा प्रविभक्तः । नि-
दानमस्माद्देवनिर्मितसमवसरणसमवस्तुतस्य देवाधदेवस्य
भगवतोऽखिलज्ञस्य श्रीतीर्थकरस्योपदेशादविभूत शासन-
मेव । यद्वा धीमद्भिर्गोतमादिभिर्गणधरैः समनन्तरं कियत्य-
प्यनेहसि समतीते द्वादशाङ्गीरूपेणैकादशाङ्गीरूपेण वा सद-
र्जितं सत् सूत्रनाम्ना व्यवह्रियते, तथा चैतत् प्रत्येकतीर्थकर-
शासनसमयेऽस्तित्वदशामासादयति । यद्यपि काले पूर्वस्मि-
न् चतुर्दशपूर्वधर-दशपूर्वधर-श्रुतकेवलप्रभृतयो महाबुभावा
महात्मानो ये केचनाऽऽसन् तेषामतिशयवैजयचशाद् मूलादे-
वार्थज्ञानं सुकरमतः स्पष्टीकरणप्रवणताकाटिपुस्तकाढानामा-
वश्यकतैव नासीत्, परन्तु तादृशज्ञानविकलानां जीवामामर्वा-
चामवधाणधुरां बोदुमसमर्थानां विस्मृत्पदार्थसार्थस्मृतिम-
लभमानानां दुर्बोधस्य गहनातिगहनविषयस्य स्याद्वादिक-
दर्शनस्य विरुद्धीकरणाय भगवद्भिर् श्रीमद्बुवाहुस्वामिप्रमुखै-
र्यद्यपि निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि-टीकाऽऽदीनां रचना कृता, तथापि
साम्प्रत जैनग्रन्थस्य भूयान् विस्तरं समजनि, यद्बुधना स्व-
ल्पीयसाऽऽयुषा न कोऽपि क्लमो मनुष्य सासारिकं कृत्य स-
माचरन् गृहस्थविरक्तान्यतरोऽमुष्माजैनशासनसागरात् पार-
मुत्तरीतुम् । हेतुरयमत्र विभाव्यते-यत् प्रथमनः सर्वेषां ग्रन्थानां
समुपलब्धिरव न सधं समुपजायते, ये चाल्पयोऽसं काचित्
काचित्पि समुपलभ्यन्ते, के विषयाः कुत्र तत्र विन्यस्ता इति
सर्वसाधारणस्य तत्त्वतो ज्ञानरसुकरम् । यदि कस्यापि कास्त्र-
क्षपि ग्रन्थे जायेतापि विषयाणां यथाकथञ्चिदुपलब्धिस्तथापि
चेमेऽभिधेया अन्यत्रान्यत्र ग्रन्थे च कुत्र कुत्र भविष्यन्तीति
परामर्शैर्दग्धविधुरधुरामधिरुह्याल्लब्धवर्णोऽपि ।

कारणान्तरमप्येतत्-यदि जैनदर्शनं यस्याम् (अर्कमागध्याम्)
भाषायामभिनिबद्धम्, एषा सैव, यया प्राकृतसमये भारतभूम्या
मातृभाषात्वेन, राष्ट्रभाषात्वेन च स्थान प्रापि । यस्याश्च तीर्थ-
करणधरप्रभृतिजिर्मेहानादरः कृतोऽमुष्या एव भाषायां प्र-
चार प्रचलितसमये कियानपि क्वापि नोपपन्न्यते । यद्यपि
दशरूपकादिषु यत्र तत्र पात्रप्रभेदप्रयुक्ता कनिषयप्रभेदजिज्ञा
प्राकृतभाषा दृष्टिपथमधिरोहति, तद्यपि तन्निम्ननिहितच्छाया-
त एव कार्यं निर्वहन्ति यथाकथञ्चित् सर्वेऽपि पाठका ।

यदि केनापि प्राकृतप्रकाशादिव्याकरणदर्शनेन समन्यस्ताऽपि
शुद्धा प्राकृतभाषा न तावत्या जैनागममूलसूत्राणां निर्युक्तिगथा-

चूर्णप्रभृतीनां तात्पर्यमवधारयितुं शक्यम्, यतस्तीर्थकरगणधरादिभिरर्च्यमाण्यमेवैषां प्रस्तावः प्रस्तुतः, या च सामान्यप्रकृतभाषानो नेदीयसी किञ्चिद् विलक्षणतरा ।

गतवति समये तु गुरुशुश्रूषापरायणाः भ्रममविगणय्यान्नेवासिजनाः स्वस्वाचार्यमुखाभोजसकाशात् समुपलब्धमधुविन्दुनिकरसहस्रानुपूर्वीतदर्धान् सन्निनानां कण्ठस्थ कुर्वन्त एव कृतकार्या बभूवुः, किन्त्वद्यध्वीनायास्तादृश्या परिपाट्या प्रायशो वैकल्याद् ज्ञानदर्शनचारित्र्याणां भूयान् हास समजनि । संक्षिप्तविचरणं चास्याऽत्रैव प्रथमजगो "महालक्ष्मि" शब्दे तत्त्वबुल्लुप्तुमिर्जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यम् ।

निरोद्धय चैतादृशीं दुर्दृशामस्माकं गुरुवर्याणां श्रीसौधर्मबृहत्पागच्छीयकलिकालसर्वज्ञकल्पभट्टारक १००८ श्रीमदावजयगजेन्द्रसुरीश्वरमहाराजानां चेतसि चिन्ताऽतिमहनी समुपस्थिता-यत् प्रत्यहमाहृतधार्मिकदार्शनिकशास्त्राणां हानिरेवोपजायते, कारणादस्मान्देवाक्षा बहव सुज्ञं मन्वाना कार्यमुत्स्रमपि कर्तुमारब्धवन्त, तथा स्वधर्मग्रन्थेभ्यो विस्मृति-सरणिमाश्रिता इव । ततः किमस्यामवस्थायां करणीयमस्माभिः ? यतः ससारेऽस्मिन्नसारे तस्यैव मर्त्यस्य जनिः सार्थिका, येन यथाशक्यमात्मधर्मस्योन्नतिः कृता । अन्यथा-

"असपादयनः कञ्चि-दर्थं जातिक्रियागुणैः ।

यदृच्छाशब्दवत् पुनः, सज्ञायै जन्म केवलम् ॥"

अथवा-"स लोहकारमन्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति" ।

इति लौकिकोक्तिं सार्थकयति । एतादृशो धिमर्शश्चेतसि प्रभूतकालमुवास, किन्तु कटाचिदेकस्यां कण्ठ्यायां सहसा विचारः प्रादुर्भूत-कोऽप्येकस्तादृशो ग्रन्थः प्रले-तरशेल्या रचनीयो, यस्मिन् जेनागमसत्कामागधीभाषाशब्दानामकाराद्यनुक्रमतो विन्यासविधाय गीर्वाणभाषायां तदनुवादलिङ्गव्युत्पत्तिवाच्यार्थान् निधाय समनन्तरं यथासंभवतदुपरि मूलसूत्राणां पाठनिर्देशपुरःसरं समुपलब्धपुरातनटीकाचूर्ण्यादि विवरणं दत्त्वा स्पष्टयितव्यः । यदि स एव विषयो ग्रन्थान्तरेष्वप्युपलभ्येत तर्हि तदनुपदमेव सोऽपि निर्देश्य । प्रायशोऽस्माद् निजमनोऽनुकूलो शोकस्योपकारो भविष्यतीति । अथोषसि समुत्थाय सूरिन्द्रः स्वनित्यनैमित्तिकी क्रिया समाप्तास्य प्रकृतकार्यस्य भारमुवाह । समाहितमानसेन द्वाविंशतिवर्षं यावद् महान्तमपि भ्रममविगणय्य तेन कार्यमेतद् विघ्नानपोह्य सपूर्णतां लभितम् । यद्-"भूमिधानराजेन्द्र" नामा कोशः प्राकृतज्ञापात्रेन्दुभूतमागध्या विरचय्य चतुर्षु भागेषु विभक्तः ।

अथैकदाऽनल्पकल्पा श्रावकाः शिष्याश्च मुनयः श्रीमदुपाध्यायमोहनविजयदीपविजयतीन्द्रविजयप्रभृतयः साधवो विनेया साञ्जालिबन्धं प्रार्थनापुरःसरं व्यजिज्ञपन्-भगवद् ! यद्यमपि ग्रन्थो ग्रन्थान्तरसमं पुस्तकभाण्डागारेष्वेव निहितं स्थास्यति तदा कियन्तो जना अनर्घ्यस्यास्य प्रवररत्नस्यैव कोषरत्नस्य लाभभाजां जविष्यन्ति ? । तस्मादनेकेषु देशदेशान्तरेषु यथा रीत्या चूयान् प्रचारः स्यात्, तदुपायं करणीय इति गुरुचरणान्तं विज्ञप्तिपुरस्सरं निवेदयामः ।

तदुत्तरं प्रशान्तगम्भीरया गिरा श्रीसूर्यश्वरा नातिस्तोक-हुस प्रोक्तु-अहमात्मीयं करणीयं पूर्तिमनयमतः परयेनोपायेन

निमित्तसोकोपकारः स्यात् स तु युष्माभिः कर्तुमर्हः, किन्तु वयमात्रेऽयं तादृश्यमुपगताः ।

ततः श्रीसङ्केतास्याभिधानस्य विशेषप्रचाराय शीशकाक्षरेः पुष्टविकल्पपत्रेषु मुद्रापयितुमेव निश्चित्य प्रारब्धते स्म । पुनरस्य शोधनादिभारः सूरिन्द्राणां विनीतशिष्याभ्यां मुनि-भ्रातृपविजय-मुनिभीयतीन्द्रविजयाभ्यां जगृदे, यावत्स्मिन् कार्ये पूर्णाऽभिज्ञां वर्तते । अतः परं यत्कल्यान्तरं ज्ञाया (हिन्दी) जूमिकाताऽवसेयम् ॥

स्याद्वादनिरूपणेन समवाय-सत्ताऽपोह-वेदाऽपौरुषेयत्व-जगत्सकृत्कृत्य-शब्दाकाशगुणत्वा-ऽद्वैतवादादिखण्डनेन एकेन्द्रियाणां भावेन्द्रियज्ञानस्वापनेन च जैनदर्शनस्यातिगाम्भीर्यं व्यक्तीभवतीति दिग्भात्रमिह तद् दृश्यते-

अथ वस्तुनः स्याद्वादात्मकत्वं सप्तमङ्गीप्ररूपणेन सुसोभ्य स्यादिति प्रथमं तस्या निरूपणम्-

एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्ययोगः सप्तमङ्गी ॥

एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्मविययप्रभववशादविरोधेन प्रत्यक्षादिवाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाभितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तमङ्गी विज्ञेया ।

सप्तमङ्गा पुनरिमे-

स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिविकल्पनया प्रथमो भङ्गः १ स्यान्नाऽस्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः २ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः ३ स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद् विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः ४ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ५ स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः ६ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः ७

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । स्यात्-कथञ्चित्, स्वल्प-क्षेत्रकालभावरूपेण अस्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः पर-द्रव्यक्षेत्रकालज्ञावरूपेण । तथाहि-कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति, न जलादिरूपत्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शैशिरत्वेन, न वासन्तिकादित्वेन । भावतः इयामत्वेन, न रक्तत्वादिना । अन्यथा इतररूपापस्या स्वरूपहानिः स्यादिति । अत्र भङ्गे एवकारस्तु अनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम् । अस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्वरूपाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्ते प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात्, तत्प्रतिपक्षे स्यादिति प्रयुज्यते, स्यात् कोऽर्थ-कथञ्चित्, स्वल्पादिभिरेवायमस्ति, न परद्रव्यादिभिरपार्थ ॥ (२) स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपान्नावाद् वस्तुप्रतिनियमविरोधः । न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्ति-

त्वमसिद्धमित्यभिधानीयम् । कथञ्चित् तस्य वस्तुनि युक्ति-
सिद्धत्वात् साधनवत् । न हि कश्चिदनित्यत्वाद्वा साध्ये सत्त्वा-
दिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, तस्य
साधनाभासत्प्रसङ्गात् । अथ यदेव नियत साध्यसद्भावेऽ-
स्तित्वं तदेव साधनाभावे साधनस्य नास्तित्वमभिधीयते, त-
त्कथं प्रतिषेध्यम् ? , स्वरूपस्य प्रतिषेधत्वात्तु उपपत्तेः, साध्य-
सद्भावे नास्तित्वं तु यत् तत् प्रतिषेध्यम्, तेनाधिनाभावित्वे
साध्यसद्भावास्तित्वस्य व्याघातात् तन्नैव स्वरूपेणास्ति नास्ति-
चेति प्रतीत्यज्ञावादिति चेत् । न तदसत् । एव हेतोः स्वरूपत्वविरो-
धात् । विपक्षासत्त्वस्य तारिफकस्याज्ञावात् । यदि चायं ज्ञा-
वाभावयोरेकत्वमाचक्षीत, तदा सर्वथा न कश्चित् प्रवर्तते,
नापि कुतश्चिद्विवर्तते । प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयस्य भावस्याज्ञाव-
परिहरिणासम्भवात्, अभावस्य च भावपरिहारेणेति वस्तुनोऽ-
स्तित्वनास्तित्वयोः रूपानन्तरत्वमेष्टव्यम् । तथा चास्तित्वं नास्ति-
त्वेन प्रतिषेध्येनाधिनाभाविति सिद्धम् । यथा च प्रतिषेध्यमस्ति-
त्वस्य नास्तित्वं तथा प्रधानभावतः क्रमार्पितोऽज्ञावादिधर्म-
पञ्चकमपि वक्ष्यमाणं लक्षणीयम् ॥ (३) सर्वमिति द्विती-
यलक्षणादिहोत्तरत्र चानुवर्तनीयम् । ततोऽयमर्थः-क्रमार्पि-
तस्वपरद्वयादिचतुष्टयापेक्षया क्रमार्पिताभ्यामस्तित्वनास्तित्वा-
भ्यां विशेषितं सर्वं कुम्भादि वस्तु स्यात् (कथञ्चित्)
अस्त्येव, स्यात् (कथञ्चित्) नास्त्येवेत्युल्लेखेन वक्तव्यमि-
ति ॥ (४) द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वाभ्यामर्थान्यां युगपत्
प्रधानतयाऽर्पिताभ्यामेकस्य वस्तुनोऽनिधिस्त्यायां तादृशस्य
शब्दस्यासम्भवादवक्तव्यं जीवादि वास्त्विति । तथाहि-सद्-
सत्त्वगुणद्वयं युगपदकत्र सत्त्वमित्यभिधानेन वक्तुमशक्यम्,
तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात् । तथैवासदिति अभिधानेन
न सद् वक्तुं शक्यम्, तस्य सत्त्वप्रत्यायने सामर्थ्याभावात् ।
साङ्केतिकमेकं पदं तदभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यम्,
तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तः । "तौ सत्"
३ । ३ । १२७ । (पाणि०) इति शतृशान्तोः सकेनितसञ्च-
वत् । इति सकलवाचकरहितत्वावक्तव्यं वस्तु युगपद् स-
दसत्त्वाभ्यां प्रधानज्ञावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते । (५) स्व-
द्रव्यादिचतुष्टयाऽऽपेक्षयाऽस्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वान्यां सह
वक्तुमशक्यं सर्वं वस्तु ; ततः स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमे-
वेत्येव पञ्चमभङ्गेनोपदर्श्यते इति (६) परद्वयादिचतु-
ष्टयापेक्षया नास्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वान्यां युगपदेन प्रति-
पादयितुमशक्यं समस्तं वस्तु ; ततः स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य-
मेवेत्येव षष्ठ्यभङ्गेन प्रकाशयते (७) स्वपरद्वयादिचतुष्टयापेक्षया-
ऽस्तित्वनास्तित्वयोः सतोरस्तित्वनास्तित्वान्यां समसमयमभि-
धातुमशक्यमस्ति वस्तु, तत एवमनेन भङ्गेनोपदर्श्यते इति ॥

उक्तं च-

"या प्रहनाद् विधिपर्युदासजिदया बाधच्युता सप्तधा,
धर्मं धर्ममपेक्ष्य वाक्यरचनाऽनेकात्मके वस्तुनि ॥
निर्दोषा निरदोश देव ! जवता सा सप्तभङ्गा यथा,
जल्पन् जल्परणाङ्गणे विजयते वादी विपक्षं कृणात् ॥ १ ॥"

अथ समुज्झीर्षितदिशा स्यादवादास्तित्वम्-

दीपादारभ्य व्योमपर्यन्तं सर्वं वस्तु समस्वरूपम्, यतो व-
स्तुनोऽव्यपरीत्यात्मकत्वमिति । घाचकमुखयोऽप्येवमेवाह-"उ-

त्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्" । समस्वभावत्वे हेतुस्तु स्यादवाद्,
नित्यानित्याद्यनेकधर्मशब्दैकवस्तुभ्युपगम इत्यर्थः । तदनभ्यु-
पगमे सर्ववस्तुनां स्वरूपानिप्रसङ्गः, कस्यचित् व्योमादिवस्तु
नित्यमेव, अन्यस्य प्रदीपादिवस्तु अनित्यमेवेत्यस्य प्रतिपे-
क्षस्तु दिक्मात्रमुच्यते-सर्वे ज्ञायाऽव्ययार्थिकनयापेक्षया नित्याः,
पर्यायार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः ; तत्रैकान्तानित्यनया परै-
रङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवस्थापनमित्यम् । त-
थाहि-प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसा परमाणवः स्वरसतः तै-
जसायात् घातान्निघाताद् वा ज्योतिःपर्यायं परित्यज्य तमो-
रूपं पर्यायान्तरमासादयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः ; पुनस्त-
व्यरूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम् । न ह्येनावनैवानित्यत्वं या-
वता पूर्णपर्यायस्य नाश उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः । न खलु
मृदूद्रव्यं स्यासक-कोश-कुशूल-शिवक-घटाद्यवस्थान्तरमाप-
द्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम्, तेषु मृदूद्रव्यानुगमस्याबाह्यगोपा-
लं प्रतीतत्वात् । न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्, चाकुपत्वा-
न्यथाऽनुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत् । अथ यद्याक्षुषं तत्सर्वं स्वप्र-
तिभासे आलोकमपेक्षते, न चैव तमः, न तत्कथं चाक्षुषम् । नैवम् ।
उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासनात्, येस्त्वसदादि-
भिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमाक्षोकं विना नोपलभ्यते, तैरपि ति-
मिरमालोकयिष्यते, विचित्रत्वाद् भावानाम् । कथमन्यथा पीत-
श्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आक्षोकपेक्षदर्शनाः, प्रदीप-
चन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः, इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम् ।
रूपवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते, शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात् ।
यानि त्वनिविमावयवत्वमप्रतिघातिवमनुदूतस्पर्शविशेषत्व-
मप्रतीयमानखरमावयवविषयप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः
पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि, तानि प्रदी-
पप्रमाहृत्यैतैव प्रतिषेध्यानि, तुल्ययोगक्षेमत्वात् । न च वा-
च्यम्-तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्तः ? इति ।
पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्व-
स्यापि दर्शनात् । दृष्टो ह्यार्धेऽन्धनसयोगवशाद् भास्वरूपस्या-
पि घटैरज्ञास्वरूपधूमरूपकार्योत्पादः, इति सिद्धो नित्यानित्यः
प्रदीपः । यद्यपि निर्वाणादवाक्कं देखीप्यमानो दीपस्तदाऽपि
नवनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्या-
नित्य एव ॥ एवं व्योमापि उत्पादव्ययधौव्यात्मकत्वाच्चित्या-
नित्यमेव । तथाहि-अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानो-
पग्रह एव तल्लक्षणम्, 'अवकाशदमाकाशम्' इति वचनात् । यदा
चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगनो विद्युत्सातो वा एकस्मात्सम-
प्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति, तदा तस्य व्योमस्तैरवगाहकै-
रसममेकस्मिन् प्रदेशे विभागः, उत्तरस्मिन् प्रदेशे च सयोगः, स-
योगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ, तदनेदे चावश्यं ध-
र्मिणो भेदः । तथा चाह- "अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद् विरु-
द्धधर्माभ्यासः कारणभेदश्च " इति । ततश्च तदाकाशं पूर्वस-
योगविनाशलक्षणपरिणामापर्यायं विनष्टम्, उत्तरसयोगोत्पादा-
ख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम्, उभयत्राकाशव्यवस्थानुगतत्वा-
च्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम् । तथा च 'यदप्रच्युतानुत्प-
न्नस्थिरैकरूपं नित्यम्' इति नित्यलक्षणमाचक्षते, तदपास्तम् ।
एवविधस्य कस्यचिद् वस्तुनोऽज्ञावात् । 'तद्भावाव्ययं नि-
त्यम्, इति तु सत्यं नित्यलक्षणम् । उत्पादविनाशयोः सद्भा-
वेऽपि तद्भावादन्वयिरूपाद् यन्न व्येति तन्नित्यम् इति' तदर्थ-
स्य घटमानत्वात् । यदि हि अप्रच्युतादिप्रमाणं नित्यमिष्यते,

तदोत्पादव्यययोनिर्नाधारत्वप्रसङ्गः, न च तयोर्योगे नित्यत्व-
हानिः । " द्रव्य पर्यायविद्युतः, पर्याया इव्यवर्जिताः । क कदा
केन किरूपा, दृष्टा मानेन केन वा ? ॥ " इति वचनात् । न चा-
काश न इव्यम्, लौकिकानामपि घटाऽऽकाश पटाऽऽकाशमि-
ति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम् । घटाकाशमपि
दि यदा घटापगमे पटेनाकान्तः, तदा पटाकाशमिति व्यवहारः ।
न चायमौपचारिकत्वाद् प्रमाणमेव, उपचारस्यापि किञ्चिन्मा-
धर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । नञसो हि यत् किल सर्व-
व्यापकत्वं मुख्य परिमाण तत्तदाध्यघटाऽऽदिसम्बन्धिनियन-
परिमाणवशात् कलितमेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यव-
हियमाण घटाकाशपटाकाशादि नत्तत् व्यपदेशनिबन्धनं भवति
नत्तद्वदादिसम्बन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्याप्तोऽवस्थान्त-
राऽऽपत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावनोऽपि भेदः, तासां ततोऽ-
विष्वगभावात् । इति सिद्धं नित्यानित्यत्व व्याप्तः । इति
नैकान्तनित्यपक्षां युक्तिस्तमः ।

स्याद्वादे तु-पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरि-
णामेन भावानामथक्रियोपपत्तिरविरुद्धा । न चैकत्र वस्तुनि प-
रस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसत् स्याद्वाद् इति वाच्यम् ?
नित्यानित्यपक्षविग्रहणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, त-
थैव च सर्वैरनुजवात् । तथा च पठन्ति—

" भागे सिंहो नरो ज्ञाने, योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।

तमभाग विभागेन, नरसिंह प्रचक्षते" ॥१॥

एव चोपस्थितमिदं नित्यानित्यात्मकं वस्तु, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक-
त्वाव्ययऽनुपपत्तेरिति । तथाहि-सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते,
विपद्यते वा, परिस्पृष्टमन्वयदर्शनात् दूनपुनर्जातनस्मादिषु अन्व-
यदर्शनेन व्यञ्जितार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वय-
स्यापरिस्पृष्टत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्र-
त्यभिज्ञानरुद्धत्वात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरिव सर्वस्य वस्तुनः,
पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तुत्पद्यते, विपद्यते च, अस्खलितप-
र्यायानुजवसङ्गात् । न चैव हृक्के शङ्के पीतादिपर्यायानुभवेन
व्यभिचारः, तस्य स्खलदुरुपत्त्यात् । न ह्यल्लु सांस्खलदुरुपा,
येन पूर्वाकारविनाशाजहदुत्तोरकारोत्पादाविनाभावी भवेत् ।
न च जीवाद्यो वस्तुनि हर्षामर्षादासीन्यादिपर्यायपरम्पराऽनु-
भव स्खलदुरुपः, कस्यचिद्वाधकस्याभावात् । ननूत्पादाद्य
परस्पर जिघ्रन्ते, नवा ? यदि मिघ्रन्ते, कथमेकं वस्तु आत्मक-
म् ? न मिघ्रन्ते चेत्, तथापि कथमेकं इयात्मकम् ? । तथाच
" यद्युत्पत्त्यादयो मिश्रा, कथमेकं त्रयात्मकम् ? ।

अथोत्पत्त्यादयोऽजिज्ञा, कथमेकं त्रयात्मकम् ? ॥ १ ॥ "

इति चेत् । न द्युक्तम् । कथञ्चिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चि-
द् जेदाभ्युपगमान् । तथाहि-उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्वि-
ज्ञानि, मिश्रलक्षणत्वात्, रूपादिवत् । न च मिश्रलक्षणत्वमसि-
द्धम् । अमन आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगः, इव्यरूपतयाऽ-
नुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसर्काणानि लक्षणानि स-
कललाकमाङ्गिकाण्येव । न चामी मिश्रलक्षणा अपि परस्पर-
रानपेक्षा, खपुष्पवद्भवन्वापत्तः । तथाहि-उत्पादः केवलो
नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः
केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिगदितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थिति-
केवलो नास्ति, विनाशात्पादशून्यत्वात्, तद्वत् । इत्यन्याऽन्या-
पेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथाच क-
थं नैक आत्मकम् ? । उक्तं च पञ्चाशति-

" प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते,
पुत्रः प्रीतिमुवाह कामपि नृप शिश्राय मध्यस्थताम् ।

पूर्वाकारपरिहृत्यस्तदपराकारोदयस्तद्व्या-

धारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथाप्रत्ययात् ॥ १ ॥ "

तथा च स्थितं नित्यानित्यानेकान्तं कान्त एवेति । एवं सदसद-
नेकान्तोऽपि । नन्वत्र विरोधः । कथमेकमेव कुम्भादिवस्तु स-
च्च, असच्च जयति ? । सत्त्वं ह्यसत्त्वपरिहारेण व्यवस्थितम्, अ-
सत्त्वमपि सत्त्वपरिहारेण, अन्यथा तयोरविशेषः स्यात् । तत-
श्च तद्यदि सत्, कथमसत् ? । अथासत्, कथं मदिति ? । तदनव-
दातम् । यतो यदि येनैव प्रकारेण सत्त्वम्, तैवाऽसत्त्वम्, यनैव
चासत्त्वम्, तेनैव सत्त्वमन्युपेयत, तदा स्याद्विरोधः । यदा तु
स्वरूपेण घटादित्वेन, स्वद्रव्येण हिरण्यमयादित्वेन, स्वक्षेत्रेण
नगरादित्वेन, स्वकालत्वेन वा सन्तिकादित्वेन सत्त्वम्, पररूपा-
दिना तु पटस्य तन्तुप्राम्यवर्गप्राम्यकत्वादिनाऽसत्त्वम्, तदा क-
विरोधगन्धोऽपि । ये तु सौगताः परासत्त्वं नाभ्युपयन्ति, तेषां
घटाः-सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः । तथाहि-यथा घटस्य स्वरूपादिना
मत्वं तथा यदि पररूपादिनाऽपि स्यात्, तथा मति स्वरूपादित्ववत्
पररूपादित्वप्रसक्तः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत् ? । परासत्त्वेन तु
प्रतिनियतोऽसौ सिध्यति । अथ न नाम नास्ति परासत्त्वम्, किन्तु
स्वसत्त्वमेव तदिति चेत्, अहा ! नूनन कोऽपि तर्कवितर्कक-
श्च-समुल्लासः । न खलु यदेव सत्त्वम्, तदेवात्मत्वं भवितुमर्हति;
विधिप्रतिषेधरूपनया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायागात् ।
अथ पृथक् तन्नाभ्युपगम्यते; न च नाभ्युपगम्यते एवेति कि-
मिदमिच्छजालम् ? । ततश्चास्यानङ्गरमसत्त्वमेवाकं भवति ।
एवं च यथा स्वासत्त्वासत्त्वात्स्वं नस्व तस्य, तथा परासत्त्वास-
त्त्वात्परसत्त्वप्रसक्तिरनिवारितप्रसराः, विशेषाऽभावात् । अथ
नाभावनिवृत्त्या पदार्थो जावरूपः प्रतिनियतो वा भवति,
अपि तु स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियन एवोपजायत इति किं-
परासत्त्वेनेति चेत् ? । न किञ्चित् । केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभा-
वनियतोऽपानिरेव परासत्त्वात्मकत्वव्यतिरेकेण नोपपद्यत, पार-
मार्थिकत्वात्त्वासत्त्वात्मकस्य सत्त्वमैव परामत्त्वासत्त्वात्मकप-
रसत्त्वेनाप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । इति सूक्तं सदसदनेकान्तः । एव-
मपरेऽपि जेदाजिघ्रानेकान्तादयः स्वयं चतुरैर्विवचनीयाः संमति-
तर्कादिभ्यो विस्तरभयाग्नेह प्रतन्यते ।

अतोऽतकान्तवाद एव सन्मार्गः । यदाह-

" इच्छेयं गणपिमगं, निरुचं दन्वद्विपार्थं नायव्य ।

पञ्चापण अणिच्च, निरुचानिच्च च सियवाद्यो ॥ १ ॥

जो लियवाय भासति, पमाणनयपेसल गुणाधारं ।

जावेइ से ण सय, सो हि पमाण पवयणस्स ॥ २ ॥

जो सियवाय निदति, पमाणनयपेसलं गुणाधार ।

भावेण दुदुजावो, न सो पमाण पवयणस्स ॥ ३ ॥ "

अथ समवायत्वादनम्-

अयुनसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्ध-
समवायः । स च समवयनात् समवाय इति, इव्यगुणकर्म-
सामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद् वृत्तरिति चाख्या-
यते । तथा वृत्त्या समवायसम्बन्धेन तयाधर्मधर्मिणोरितरेतर-
विनितुंशितत्वोऽपि धर्मधर्मिन्यपदेश इत्यने ।

अत्र जैनाचार्या वदन्ति-

अयं धर्मी, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धन

समवाय इत्येतद् वस्तुप्रथं ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते । यथा शिलाशकलस्युगलस्य मिथोऽनुसन्धायकं रालादिद्रव्यं तस्मात् त्रितीयतया प्रतिभासते, नैवमत्र समवायस्यापि प्रतिभानम्; किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः, इति शपथप्रत्यायनी-योऽयं समवायः । किञ्चायं वादिना एको नित्यः सर्वव्यापकोऽ-मूर्तश्च परिकल्प्यते, ततो यथा घटाभिनाः पाकजकपादयो ध-र्मो समवायसम्बन्धेन समवेताः, तथा किं न पटेऽपि, तस्यैक-त्वनित्यत्वव्यापकत्वेः सर्वत्र तुल्यत्वात् । यथाऽऽकाश एको नित्यो व्यापकोऽमूर्तश्च सन् सर्वैः सम्बन्धिजैर्युगपद्विशेषेण संबध्यते, तथा किं नायमपीति ? विनश्यदेकवस्तुसमवायाभा-वे च समस्तवस्तुसमवायाऽभावः प्रसज्यते । तत्तद्वच्छेदक-भेदाभावं दोष इति चेदेवमनित्यत्वापत्तिः, प्रतिवस्तुस्वभावभे-दादिति । अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभानम् ? यनस्त-स्येहेतिप्रत्ययः सावधान साधनम् । इहप्रत्ययश्चानुभवसिद्ध-एव । इह तन्तुषु पटः, इहात्मनि ज्ञानमिह घटे रूपादय इति प्र-तीतेरुपलम्भात् । अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्म्यनालम्ब-नत्वादस्ति समवायस्य पदार्थान्तर तद्वेतुः, इति पराशङ्काम-भिसन्धाय पुनरुच्यते-त्वन्मते यथा पृथ्वीत्वासिम्बन्धात्पृथ-वी, तत्र पृथ्वीत्वं पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वात् न अपरं वस्तुन्तरम् । तेन स्वरूपेणैव समं योऽसावभिसम्बन्धः पृ-थिव्या, स एव समवाय इत्युच्यते, “ प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः ” इति वचनात् । एवं समवायत्वमिसम्बन्धात्सम-वाय इत्यपि किं न कल्प्यते ? यतस्तस्यापि यत्समवायत्वं स्व-स्वरूपं तेन मार्जे सम्बन्धोऽस्त्येव । अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशुविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत् । ततश्च इह समवाये समवाय-त्वमित्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटन एव । तता-यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वं समवायेन समवेत, समवायेऽपि समवा-यत्वमेवं समवायान्तरेण सम्बन्धनीयम्, तदप्यपरेणेत्येवं दुस्त-राऽनवस्थामहानदी । ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिसम्बन्ध-निबन्धन समवायो मुख्यस्तत्र त्वत्वादिप्रत्ययान्वित्यङ्गस्य सं-गृहीतसकलावान्तरजातित्वकृष्णव्याक्रिमेदस्य सामान्यस्योद्भा-त् । इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिनेदाभावे जातेरनुद्यूत-त्वात्त्रौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवा-यत्वान्निसम्बन्ध, तत्साध्यश्च समवाय इति । तदेतन्न विप-क्षित्वेत्तद्वत्कारणम् । यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती कन नि-रुच्येत । व्यक्तेरनेदेनेति चेत् । न । तत्तद्वच्छेदकवशात्तद्वेदो-पपत्तौ व्यक्तेरुद्भवनाया दुर्निवारत्वात् । अन्यो हि घटसम-वायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्ति-भेद इति, तत्सिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भवः । तस्मादन्यत्रापि मुख्य एव समवाय, इहप्रत्ययस्योजयत्राप्यभिचारात् । यदाह-
“ अव्यभिचारी मुख्योऽधिकलोऽसाधारणोऽन्तरद्वयम् ।
विपरीतो गौणोऽर्थः, सति मुख्ये धाः कथं गौणे ? ” ॥१॥
तस्मात्तद्वर्धर्मिणो सम्बन्धेन मुख्यः समवाय, समवाये च समवायत्वमिसम्बन्धे गौण इत्यर्थं भेदो नास्तीत्यर्थः । किञ्च-योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात्समवायसाधनम-नोरथ, स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम् । इह तन्तुषु पट इत्यादेर्व्यवहारस्याऽलौकिकत्वात्पांशुलपादानाम-पि इह पटे तन्त्र इत्येव प्रतीतिदर्शनात् इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात् ।

अथ सत्तानिरसनम्—

अविशेषेण सद्रूपिद्येष्टापि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादित्रये, इति महनीयं पश्यतोदरता । यतः परिभाष्यतां सत्ताशब्दस्य शब्दार्थः । अस्तीति सन्, सतो भावः सत्ता, अस्तित्वं तद्वस्तुस्वरूपं नि-विशेषमशेषेष्वपि पदार्थेषु त्वयाऽभ्युक्तम् । तत्किमिदमर्द्धजर-तीयम्-यद्द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो नेतरत्न इति ? अनुवृत्ति-प्रत्ययाऽभावान्न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेत् । न । त-त्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्थत्वात् । पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादि-सामान्येषु सामान्य सामान्यमिति । विशेषेष्वपि बहुत्वादयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति । समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तद्व-च्छेदकभेदादेकाकारप्रतीतेरनुभवात् । स्वरूपसत्त्वसाध्यं सत्ताऽध्यारोपात्सामान्यादिष्वपि सत्सादित्यनुगम इति चेत्तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते । अयं मिश्रस्वभावेष्टेकानुगमो मिथ्यैवे-ति चेद्द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोपकृत्न एवास्तु प्रत्ययानुगमः । अ-सति मुख्येऽध्यारोपस्यासंनधात् द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगतः प्रत्ययः, सामान्यादिषु तु गौण इति चेत् । न । विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात् । सामान्यादिषु बाधकसमवायस्य मुख्योऽनुगत-प्रत्ययो, द्रव्यादिषु तु तदभावान्मुख्य इति चेद्, ननु किमिदं बाध-कम् ? अयं सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमेऽनवस्था, विशेषेषु पुन-सामान्यसद्भावेस्वरूपहानिः । समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्वस्तुत्यर्थं सम्बन्धान्तराभाव इति बाधकानीति चेत् । न । सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था, तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु ? तेषा-मपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुन स-त्ताऽभ्युपगमेऽपि न स्वरूपहानि । स्वरूपस्य प्रतुतोत्तेजनात् । निःसामान्यस्य विशेषस्य काचिदप्यनुपलम्भनात् । समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपद्यत एवा-विषयान्तात्मकः सम्बन्धः, अन्यथा तस्य स्वरूपाऽनावप्रसङ्गः ; इति बाधकानावात्तेष्टपि द्रव्यादिवन्मुख्य एव सत्तासम्बन्धः ; इति व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम् । किञ्च-तैर्वादि-नियो द्रव्यादित्रये मुख्य सत्तासम्बन्धः कक्षीकृतः, सोऽपि वि-चार्यमाणो विशीर्येत । तथाहि-यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविल-क्षणा सत्ता, तदा द्रव्यादीन्यसद्भावाद्येव स्युः । सत्तायांगात्स-त्त्वमस्त्येवेति चेत् । असतां सत्तायोगेऽपि कुन सत्त्वम् ? सतां तु निष्फलः सत्तायोगः । स्वरूपसत्त्व जावानामस्त्येवेति चेत्-र्हि किं शिक्षापेक्षना सत्तायोगेन । सत्तायांगात्प्राग् भावो न स-न्, नाप्यसन्; सत्तायोगात्तु सत्त्वो नि चेद्वाङ्मात्रमेतत् । सदस-त्त्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात् । तस्मात् सतामपि स्यात्कचिदेव सत्तेति तेषां वचनं विदुषां परिपदि कथमिव नो-पहासाय जायते ।

अपोहस्य स्वरूपनिर्वचनपुरस्सरं निरसनम्—

अपोहत्वं च स्वाकारविपरीताकारोन्मूलकत्वेनावसेयम् । अपो-हाने स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेत्यपोह इति व्युत्पत्तेः । तत्त्वन्तस्त्वं न किञ्चिद्वाच्यं वाचकं वा विद्यते, शब्दार्थतया कथि-ने बुद्धिप्रतिबिम्बतामन्यपोहे कार्यकारणभावस्यैव वाच्यवाच-कतया व्यवस्थापितत्वात् ।

ननु कोऽयम् अपोहो नाम ? किमिदम् अन्यस्मा-दपोहाते, अस्माद्वा अन्यदपोहाते, अस्मिन् वा अन्यद-पोहात इति व्युत्पत्त्या विजातिव्यावृत्तं यादमेव विवर्जितं नु-

ज्ञाकारो वा, यदि वा अपोहनमपोह इति अन्यव्यावृत्तिमात्रम्, इति त्रयं पक्षाः । न तावदादिमौ पक्षौ, अपोहनाज्ञा विधेरेव विवक्षितत्वात् । अन्तिमोऽप्यसङ्गतः, प्रतीतिबाधितत्वात् । तथाहि-पर्वतोद्देशे बहिरस्तीति शब्दो प्रतीतिविधिरूपमेवोद्दिशन्ती लक्ष्यते, नानाग्नौ प्रवतीति निवृत्तिमात्रमामुल्लयन्ती । यथा प्रत्यक्षबाधित न तत्र साधनान्तरावकाश इत्यतिप्रसिद्धम् ।

अथ यद्यपि निवृत्तिमहं प्रत्येमीति न विकल्पः तथापि निवृत्तपदार्थोद्देश एव निवृत्त्युद्देशः । न ह्यनन्तरजाधितविशेषणप्रतीतिविशिष्टप्रतीतिः । ततो यथा सामान्यमहं प्रत्येमीति विकल्पाभावेऽपि साधारणाकारपरिस्फुरणात् विकल्पबुद्धिः सामान्यबुद्धिः परेषाम्, तथा निवृत्तप्रत्ययाक्रिया निवृत्तिबुद्धिरपोहप्रतीतिव्यवहारमातनोतीति चेत् ? ननु साधारणाकारपरिस्फुरणे विधिरूपतया यदि सामान्यबोधव्यवस्था; तत् किमायातमस्फुरद्भावाकारे चेत्सि निवृत्तिप्रतीतिव्यवस्थायाः । ततो निवृत्तिमहं प्रत्येमीत्येवमाकाराभावेऽपि निवृत्त्याकारस्फुरणं यदि स्यात्, को नाम निवृत्तिप्रतीतिस्थितिमपन्नपेत् । अन्यथा सति प्रतिज्ञासे तत्प्रतीतिव्यवहारितरिति गवाकारेऽपि चेत्सि तुरगबोध इत्यस्तु ।

अथ विशेषणतया भन्तर्भूता निवृत्तिप्रतीतिरित्युक्तं, तथापि पद्यगवापोह इतीदृशाकारो विकल्पस्तदा विशेषणतया तदनुप्रवेशो भवतु, किन्तु गौरिति प्रतीतिः । तदा च सतोऽपि निवृत्तिलक्षणस्य विशेषणस्य तत्रानुत्कलनात्, कथं तत्प्रतीतिव्यवस्था । अथैवं मति-यद्विधिरूप स्फुरित तस्य परापोहोऽप्यस्तीति तत्प्रतीतिरुच्यते, तथापि सम्बन्धमात्रमपोहस्य विधिरेव साक्षात्तिर्नासी । अपि चैवमध्यक्षस्याप्यपोहविषयत्वमनिवार्यम् । विशेषतो विकल्पादेकव्यावृत्तोद्देशेऽस्मिन्नाप्यव्यावृत्तमीकमाणस्य तस्माद्विध्याकारावग्रहाद्व्यवहारविकल्पास्यापि विधिविषयत्वमेव नान्यापोहविषयत्वमिति कथमपोहः शब्दार्थो घुष्यते ? ।

अत्रानिधीयते-

नास्मान्निरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः, नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रम्, किन्तु नान्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः । ततश्च न प्रत्येकपक्षोपनिपातिदोषावकाशः । यत्तु गो' प्रतीतौ न तदात्मा परात्मेति सामर्थ्यादपोहः पदचाञ्चिदधीयते इति विधिवादिनां मतम् । अन्यापाहप्रतीतौ वा सामर्थ्यात् अन्यापोहोऽवधार्यते इति प्रतिषेधवादिनां मतम् । तदसुन्दरम् । प्राथमिकस्यापि प्रतिपत्तिकमादर्शनात् । न हि विधिं प्रतिपद्य कश्चिदर्थोपपत्तिः । पश्चादपोहमवगच्छति, अपोह वा प्रतिपद्यान्यापोहम्, तस्माद् गो' प्रतिपत्तिरिति अन्यापोहप्रतिपत्तिरुच्यते । यद्यपि चान्यापोहशब्दानुल्लेख उक्तः । तथापि नाप्रतिपत्तिरेव विशेषणभूतस्यान्यापोहस्य; अगवापोह एव गोशब्दस्य निवेशितत्वात् । यथा नीलोत्पले निवेशितादिन्दीवरशब्दान्नीलोत्पलप्रतीतौ तत्काल एव नीलमस्फुरणमनिवार्यम्, तथा गोशब्दादपि अगवापोहे निवेशितात् गोप्रतीतौ तुल्यकालमेव विशेषणत्वात् अगोऽपोहस्फुरणमनिवार्यम् । यथा प्रत्यक्षस्य प्रसङ्गरूपाभावग्रहणमभावविकल्पोत्पादनशक्तिरेव, तथा विधिविकल्पानामपि तदनुकरानुष्ठानान्दानशक्तिरेवाज्ञावग्रहणमभिधीयते । पर्युदासरूपाज्ञावग्रहणं तु नियतस्वरूप-

संवेदनमुजयोरविशिष्टम्, अन्यथा यदि शब्दादर्थप्रतिपत्तिकाले कश्चितो न, परापोहः कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिः । ततो गां बधानेति चोदितोऽश्वादीनपि बध्नीयात् । यद्वोचद्वाचस्पतिः-जातिमस्यो व्यक्त्यः, विकल्पानां शब्दानां च गोचरः, तासां च तद्वतीनां रूपमतज्जातीयपरावृत्तमित्यर्थतस्तद्वगतैर्न गां बधानेति चोदितोऽश्वादीन् बध्नाति । तदप्यनेनैव निरस्तम् । यतो जातेराधिकाया प्रक्षेपेऽपि व्यक्तीनां रूपमतज्जातीयव्यावृत्तमेव चेत्, तदा तेनैव रूपेण शब्दविकल्पयोर्विषयोऽभवन्तीनां कथमतज्जावृत्तिपरिहारः ? अयं न विजातीयव्यावृत्तं व्यक्तिरूप, तथाप्रतीतं वा तदा जातिप्रसाद एव इति कथमर्थतोऽपि तद्वगतिरित्युक्तं प्रायम् । अथ जातिबलादेवान्यतो व्यावृत्तम् । भवतु जातिबलात् स्वदेतुपरम्पराबलाद्वाऽन्यव्यावृत्तम् । उजयथाऽपि व्यावृत्तप्रतिपत्तौ व्यावृत्तिप्रतिपत्तिरस्त्येव । न चागोऽपोहे गोशब्दसंकेतविधावन्योन्याश्रयदोषः ; सामान्ये तद्वति वा सङ्केतेऽपि तदोषावकाशात् । न हि सामान्यं नाम सामान्यमात्रमभिप्रेतम्, तुरगोऽपि गोशब्दसङ्केतप्रसङ्गात्, किन्तु गोत्वम्; तावता च स एव दोषः, गवापरिज्ञाने गोत्वसामान्यापरिज्ञानात् । गोत्वसामान्यापरिज्ञाने गोशब्दवाक्यापरिज्ञानात् । तस्मात् एकपि एमदर्शनपूर्वको यः सर्वव्यक्तिसाधारण इव बहिरध्यस्तो विकल्पबुद्ध्याकारः, तत्राय गौरिति सङ्केतकरणे नेतरेतराश्रयदोषः । अज्जिमते च गोशब्दप्रवृत्तावगोशब्देन शेषस्याप्यभिधानमुचितम् । न चान्यापोहान्यापोहयोर्विरोधो, विशेष्यविशेषणक्षतिर्वा, परस्परव्यवच्छेदाभावात्, सामानाधिकरण्यासङ्गात्वात्, भूतव्यवहारवत् । स्वाभावेन हि विरोधो, न पराभावेनेत्याक्षयप्रसिद्धम् । एष पन्थाः शुभ्रमुपतिष्ठते इत्यत्राप्यपोहो गम्यत एव । अप्रकृतपथान्तरापेक्षया एष एव । शुभ्रप्रत्यमीकानिष्ठस्थानापेक्षया शुभ्रमेव । अरण्यमार्गवद्विच्छेदाभवादुपतिष्ठत एव, सार्धदूतादिव्यवच्छेदेन पन्था एवेति प्रतिपदव्यवच्छेदस्य सुलभत्वात् । तस्मादपोहधर्मस्य विधिरूपस्य शब्दादवगतिः, पुणर्रीकशब्दादिव श्वेतिमविशिष्टस्य पक्षस्य । यद्येव विधिरेव शब्दार्थो वक्तुमुचितः कथमपोहो गीयत इति चेत् ? , उक्तमत्रापोहशब्देनान्यापोहविशिष्टो विधिरुच्यते; नत्र विधौ प्रतीयमाने विशेषणतया तुल्यकालमन्यापाहप्रतीतिरिति । न चैव प्रत्यक्षस्याप्यपोहविषयत्वव्यवस्था कर्तुमुचिता, तस्य शब्दप्रत्ययस्येव वस्तुविषयत्वे विवादाभावात् । विधिशब्देन च यथाऽध्यवसायमतद्रूपपरावृत्तौ बाह्योऽर्थोऽभिमतः; यथा प्रतिभासबुद्ध्याकारश्च तत्र बाह्योऽर्थोऽध्यवसायादेव शब्दवाच्यो व्यवस्थाप्यते, न स्वलक्षणपरिस्फूर्त्या, प्रत्यक्षवदेशकालावस्थानियतप्रत्यक्षस्वलक्षणास्फुरणात् । यच्छास्त्रम्-

" शब्देनान्यापृताव्यस्य, बुद्धावप्रतिज्ञासनात् ।

अर्थस्य दृष्टाविवेति । "

इन्द्रियशब्दस्वभावोपायभेदात् एकस्यैव प्रतिज्ञासभेद इति

चेत् ? । अत्राप्युक्तम्-

" जातो नामाभयोऽन्यान्यः, चेतसाऽन्तस्य वस्तुनः ।

एकस्यैव कुतो रूपं, मित्राकारावभासि तत् ? " ॥ १ ॥

न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूपे परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुनः स्तः, यत एकेनेन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासेतान्यत्र विकल्पे, तथासति वस्तुन एव जेदप्राप्ते । न हि स्वरूपभेदादपरो वस्तुभेदः । न च प्रतिभास-

भेदादपरस्वरूपभेदः, अन्यथा त्रैलोक्यमेकमेव वस्तु स्यात् । दूरा-
सम्बन्धेश्चार्तिनो पुरुषयोः एकत्वं शास्त्रिणि स्पष्टास्पष्टप्रतिभासमे-
देऽपि न शास्त्रिभेद इति चेत्, न प्रम. प्रतिभासभेदो निम्नवस्तुनि-
यतः, किन्तु एकविषयत्वाभाधानियत इति । ततो यत्रार्थक्रिया-
भेदादिसन्निधः प्रतिभासभेदः तत्र वस्तुभेदः, घटवत् । अन्यत्र
पुनर्नियमेनैकविषयतां परिहरतीत्येकप्रतिज्ञासो भ्रान्तः ।

एतेन यदाह वाचस्पतिः-न च शब्दप्रत्यक्षयोर्वस्तुगोचरत्वे
प्रत्ययाभेदः, कारणभेदेन पारोक्ष्यापारोक्ष्यभेदोपपत्तेरिति । तन्नो-
पयोगि । परोक्षप्रत्ययस्य वस्तुगोचरत्वासमर्थनात् । परोक्षताऽऽ-
ध्यस्तु कारणभेद इन्द्रियगोचरप्रदणविरहेणैव कृतार्थः । तत्र
शब्दे प्रत्यये स्ववक्तृत्वं परस्फुरति । किञ्च-स्ववक्तृत्वात्मनि वस्तुनि
वाच्ये सर्वात्मना प्रतिपत्तेः विधिनिषेधयोरयोगः । तस्य हि
सद्भावेऽस्तीति व्यर्थम्, नास्ति इत्यसमर्थम्; असद्भावे नास्तीति
व्यर्थम्, अस्ति इत्यसमर्थम् । अस्ति चास्त्यादिपदप्रयोगः । तस्मात्
शब्दप्रतिज्ञासस्य बाह्यार्थभावाभावसाधारण्यं न तद्विषयतां
क्रमते । यच्च वाचस्पतिना जातिमद्भावात्किञ्चाव्ययतां स्वाचैव
प्रस्तुत्याऽनन्तरमेव न च शब्दार्थस्य जातेर्जावानावसाधारण्यं
नोपपद्यते; सा हि स्वरूपतो नित्याऽपि देशकालविप्रकीर्णानेकव्य-
क्त्याभ्यतया ज्ञावाभावसाधारणीनवअस्ति-नास्ति-संयन्धयो-
ग्या । वर्तमानव्यक्तिसम्बन्धिता हि जातेरस्तितः, अतीतानागत-
व्यक्तिसम्बन्धिता च नास्ति तेति सदिग्व्यतिरेकित्वादनैकान्ति-
कं भावाभावसाधारण्यमन्यथासिद्धं चेति विलपितम्, तावन्न
प्रकृतकृतिः, जातौ भर न्यन्यता स्वलक्षणवाच्यत्वस्य स्व-
स्वीकारात् । किञ्च-सर्वत्र पदार्थस्य स्वलक्षणस्वरूपेणास्तित्वा-
दिक चिन्त्यते । जातेस्तु वर्तमानादिव्यक्तिसम्बन्धोऽस्तित्वादि-
कमिति तु बालप्रतारणम् । एव जातिमद्भावाच्चनेऽपि दोषः,
व्यक्तेष्वेव प्रतीतिसिद्धिः, जातिरधिका प्रतीयताम्, मा वा, न तु
व्यक्तिप्रतीतिदोषान्मुक्तिः ।

एतेन यदुच्यते कौमारिलैः-समागतत्वादेव वस्तुनो न सा-
धारण्यदोषः । वृक्तव्य ह्यनिर्धारितज्ञावाजायं शब्दादवग-
म्यते । तयोरन्यतरेण शब्दान्तरावगतेन सव्ययत इति ।
तदप्यसङ्गतम् । सामान्यस्य नित्यस्य प्रतिपत्तावनिर्धारितज्ञा-
वाभावावयवयोगात् । यद्येदं न च प्रत्यक्षस्येव शब्दानाम् अर्थ-
प्रत्यायनप्रकारो येन तददृष्ट इवास्त्यादिशब्दापेक्षा न स्याताधि-
चिप्रशक्तित्वात् प्रमाणानामिति । तदप्यैन्द्रियकशब्दप्रतिज्ञास-
योरेकस्वरूपप्राप्तित्वे भिन्नाध्यामामदूषणेन दूषितम्, निचित्रशक्ति-
रऽच प्रमाणानां साक्षात्काराध्यवसायान्यामपि चरितार्थम् ।
ततो यदि प्रत्यक्षार्थप्रतिपादनं शब्देन तद्वदेवावभास स्यात्,
सन्नवन्धं न तद्विषयक्यापन्नं क्रमते । ननु वृक्तशब्देन वृक्तत्वादे-
वोदिते मत्तयाद्यशनिधयनार्थमस्त्यादिपदप्रयोग इति चेत्, नि-
रंशायेन प्रयक्तममधिगतस्य स्वलक्षणस्य कोऽप्यपेक्षा पदान्-
तरेण; धर्मा इत्येधितिषेधयोः प्रमाणान्तरेण वा । प्रत्यक्षेऽपि प्रमा-
णान्तरापेक्षा दृष्टेति चेत्, भयतु तस्यानिधयामस्त्यात् अनव्य-
रास्वरूपविषये, पितृत्वस्तु स्वयं निधयामको यत्र प्राहो नत्र
विमपरेण, अस्ति च शब्दातिज्ञानापेक्षा, ततो न वस्तुस्वरू-
पमदः । ननु भिन्ना जातपादयो धर्मा परस्परधर्मिण्येने जाति-
सङ्गतैकधर्मद्वारेण प्रतीतेऽपि शास्त्रिणि धर्मान्तरस्यैव न प्र-
तीतिरिति विप्र निप्रतिपत्तावनिर्धारितज्ञावाजायं धर्मान्तरस्य
चेत्तत्प्रादेरपयोऽपि । तदेतदमदृष्टम् । अस्त्येव धर्म-
स्य प्रयत्ने प्रतिज्ञासनात् । इदमप्य धर्मधर्मिभेदस्य प्रयत्न-

नितिसत्त्वात्, अन्यथा सर्वं सर्वत्र स्यादिति अनिप्रसङ्गः । काव्य-
निकजेन्द्राश्रयस्तु धर्मधर्मिण्यवहार इति प्रमाधित शब्दे; भव-
तु वा पारमार्थिको धर्मधर्मिभेदः, तथाऽप्यनयो समवायादे-
दूषितत्वाद्युपकारलक्षणैव प्रत्यासत्तिरेषितव्या । एवं च यथे-
न्द्रियप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षेण धर्मिप्रतिपत्तौ सकलतद्वधर्मप्रतिप-
त्तिः । तथा शब्दलिङ्गान्यामपि वाच्यवाचकादिसंपन्धप्रतिप-
त्त्यां धर्मिप्रतिपत्तौ निरवश्यतद्वधर्मप्रतिपत्तिर्भवेत्, प्रत्यास-
त्तिमात्रस्याविशेषात् । यच्च वाचस्पतिः-न चैकोपाधिना सत्त्वे
विशिष्टे तस्मिन् गृहीते, उपाध्यन्तरविशिष्टतद्वधर्मः । स्वभावा-
दिद्रव्यस्य उपाधिनिर्विशिष्ट्यने; न तूपाधयो वा, विशेष्यत्वं वा,
तस्य स्वभाव इति । तदपि पश्यत एव । न ह्यभेदादुपाध्यन्तरप्र-
हणत्वमासङ्गितम् । भेद पुरस्कृत्यैवोपकारकप्रहणे उपकार्यप्रह-
णप्रसङ्गनात् । न चाग्निधूमयोः कार्यकारणभाव एव, स्वभावत-
एव धर्मधर्मिणो प्रतिनियमकल्पनमुचितम्, तयोरपि प्रमाणासि-
द्धत्वात् । प्रमाणसिद्धे च स्वभावोपवर्णनमिति न्यायः । एवञ्चात्र
न्यायभूषणेन सूर्यादिप्रहणे नदुपकार्याशेषवस्तुराशिप्रहणप्रस-
ङ्गमुक्तम् । तदभिप्रायानवगाहनफलम् । तथाहि-त्वन्मते धर्म-
धर्मिणोभेदः, उपकारलक्षणैव च प्रत्यासत्तिः । तदोपकारकप्र-
हणे समानदेशस्यैव धर्मरूपस्यैव चोपकार्यस्य प्रहणमासङ्गि-
तम्, तत् कथं सूर्योपकार्यस्य भिन्नदेशस्य द्रव्यान्तरस्य वा इष्ट-
व्यभिचारस्य प्रहणप्रसङ्गः सङ्गः । तस्मादेकधर्मद्वारेणाऽपि व-
स्तुस्वरूपप्रतिपत्तौ सर्वात्मप्रतीतेः, क शब्दान्तरेण विधिनिषे-
धावकाशः । अस्ति च, तस्माज्ज्यलक्षणस्य शब्दविकल्पसिद्धप्र-
तिभासित्वमिति स्थितम् । नापि सामान्य शब्दप्रत्ययप्रतिभा-
सि । सरितः पारे गावश्चरन्तीति गरादिशब्दात् सामानाशृङ्गा-
लाङ्गलादयोऽक्षराकारपरिकरिनाः सजातीयभेदापरामर्शनात्
संपिण्डिप्रथाः प्रतिज्ञासन्ते । न च तदेव सामान्यम् । वर्णाह-
त्यक्षराकारशून्यं गोत्व हि कथ्यते । तदेव च सामानाशृङ्गा-
दिमात्रमात्रव्यक्तावत्यन्तविलक्षणमपि स्वलक्षणेनैकक्रियमा-
णं सामान्यमित्युच्यते; नादृशस्य बाह्यस्याप्राप्तेर्मानिरेयासौ,
केशप्रतिज्ञासवत् । तस्माच्छासनावशाद्द्वारेण तद्वत्त्वना धियनो-
ऽयमस्तु, असदेव वा तद्वत् एवातु, व्यक्त्य एव वा सजातीयभेद-
तिरस्कारेणान्यथा भामन्ताम्, अनुभवव्यवधानात् । स्मृतिप्र-
मोयो वाप्रतिधीयताम्, नयंवा निर्विषय ब्रह्मण्य सामान्यप्रत्ययः,
क सामान्यवार्ता । यत् पुन सामान्याभावे सामान्यप्रत्ययस्याक-
स्मिकत्वमुक्तम् । नदुक्तम् । यत् पूर्वापिण्डदृग्दृशेनस्मरण-
सहकारिणाऽनिरिच्यमानाविशेषप्रत्ययजनितः सामग्री निर्विष-
यं सामान्यविकल्पमुपादयति; तदेव न शब्दप्रत्यये जातिः, प्रति-
भाति, नापि प्रयत्ने, नचानुमाननोऽपि सिद्धिः; अदृश्यस्य प्रति-
बद्धसिद्धादशनात् । नापीन्द्रियवदस्या सिद्धिः, ज्ञानरूपतः कादा-
चिकस्यैव निमित्तान्तरस्य सिद्धेः । यदाऽपि पिण्डान्तरेऽपि तद्वत्
या गोबुद्धेर्भाव दर्शयेत्, नदा शायदेयादिमन्त्रगोपिण्डाना-
न्तराभावे द्वायो गोबुद्धेरुपपद्यमान कल्पनां तस्माद्विषये,
गोत्वदेव गोपिण्ड, अन्यथा नुरगोऽपि गोपिण्डः स्यात् । यत्
य गोपिण्डादेव गोत्वमवस्था नुरगतमपि गोत्व स्यात्, नद्वन्
काव्यप्रत्ययस्य एव गोपिण्डो, गोत्व न भयतु मा वा । ननु
सामान्यप्रत्ययजननसामान्यं यदेकस्मिन् पिण्डादतिप्रमः, नदा
पिज्ञातीयगोबुद्धिः पिण्डान्तरममर्थम् । अथ निर्वि, नदा तदेव
सामान्यं, नास्ति परं विवाद इति चेत्, अन्तरं सा शक्तिः ।

तिवस्तु; यथा त्वेकं शक्तस्वभावो भावः तथा अन्योऽपि भवन्
कीदृश दोषमाप्नोति ? यथा जघतां जातिरेकाऽपि समानध्व-
निप्रसवहेतुगत्याऽपि स्वरूपेणैव जात्यस्तरनिरपेक्षा, तथाऽ-
स्माकं व्यक्तिरपि जातिनिरपेक्षा स्वरूपेणैव भिन्ना हेतुः ।

यत्तु त्रिलोचनः—अश्वत्वगोत्वादीनां सामान्यविशेषाणां स्वाध-
ये समवायः सामान्यम्; सामान्यमित्यभिधानप्रत्यययोर्निमित्त-
मिति । यद्येव व्यक्तित्वप्रत्ययमेव तथाभिधानप्रत्ययहेतुरस्तु किं
सामान्यस्वीकारप्रमादेन ? न च समवायः सम्मयी ॥

“इहेति बुद्धेः समवायसिद्धि-रिहेति धीश्च द्वयदर्शने स्यात् ।
न च कचित्तद्विषये त्वपेक्षा, स्वकल्पनामात्रमतोऽनुपायः” ॥ १ ॥
एतेन येन प्रत्ययानुवृत्तिरनुवृत्तवस्त्वनुयायिनी कथमत्य-
न्तमेदिनीषु व्यक्तिषु व्यावृत्तविषयप्रत्ययभावानुपातिनीषु भवि-
तुमर्हतीत्युहाप्रवर्त्तनमस्य प्रत्याख्यातम् । जानिष्वेव परस्परव्या-
वृत्ततया व्यक्तीयमानास्वनुवृत्तप्रत्ययेन व्यभिचारात् । यत् पु-
नरनेन विपर्यये बाधकमुक्तम्, अभिधानप्रत्ययानुवृत्तिं कुतास्मि-
न्निवृत्त्यै क्वचिदेव नवन्ती निमित्तवती । न चान्यन्निमित्तमित्या-
दि । तत्र सम्यक् । अनुवृत्तमन्तरेणपि अभिधानप्रत्ययानुवृत्ते-
रतद्रूपपरावृत्तस्वरूपविशेषात् अवश्यं स्वीकारस्य साधि-
तत्वात् । तस्मात्—

“तुल्यजेदे यया जातिः, प्रत्यासत्त्या प्रसर्पति ।

कचिन्नान्यत्र सैवास्तु, शब्दज्ञानानिबन्धनम्” ॥ १ ॥

यत् पुनरत्र न्यायभूषणेनोक्तम्—नह्येव भवति यया प्रत्यासत्त्या द-
दसूत्रादिकं प्रसर्पति क्वचिन्नान्यत्र सैव प्रत्यासत्तिः पुरुषस्फ-
टिकादिषु दृशिदसूत्रित्वादिव्यवहारनिबन्धनमस्तु किं दृश्य-
सूत्रादिनेति । तदन्वयम् । दणसूत्रयोर्हि पुरुषस्फटिकप्रत्या-
सन्नयोर्दृष्टयोः दृशिदसूत्रप्रत्ययहेतुत्वं नापलप्यते । सामान्यं
तु स्वप्नेऽपि न दृश्यम् । तद्यदीदं परिकल्पनीयं तदा वरं प्रत्यास-
त्तिरेव सामान्यप्रत्ययहेतुः परिकल्प्यताम्, किं गुर्व्या परिक-
ल्पनयेत्यभिप्रायापरिहानात् ।

अथेदं जातिप्रसाधकमनुमानमभिधीयते—यद्विशिष्टज्ञानं त-
द्विशेषणग्रहणनान्तरीयकम् । यथा दृग्निज्ञानम् । विशिष्ट-
ज्ञानं चेद-गौरयमित्यर्थतः कार्यहेतुः; विशेषणानुभवकार्यं हि
दृष्टान्ते विशिष्टबुद्धिः सिद्धेति । अत्रानुयोगः विशिष्टबुद्धेर्निष्प्रवि-
शेषणग्रहणनान्तरीयकत्वं वा साध्यम्; विशेषणमात्रानुभव-
नान्तरीयकत्वं वा ? प्रथमपक्षे पक्षस्य प्रत्यक्षबाधासाधना-
ध्यानमनवकाशयति वस्तुग्राहिणः प्रत्यक्षस्योभयप्रतिभा-
सानात्वात् विशिष्टबुद्धित्वं च सामान्यम् । हेतुर्नैकान्तिकः ।
निष्प्रविशेषणग्रहणमन्तरेणापि दर्शनात्, यथा स्वरूपवान् घटः ।
गोत्व सामान्यमिति वा । द्वितीयपक्षे तु निश्चिन्नाधमः स्वरूपवा-
न् घट इत्यादिघट गोत्वजातिमान् पियम् इति परिकल्पितं मे-
दमुपादाय विशेषणविशेष्यजावस्थेष्टत्वादगोव्यावृत्तानुजयमा-
वित्वात् गौरयमिति व्यवहारस्य । तदेव न सामान्यबुद्धिः ।
बाधकं च सामान्यगुणकर्माद्युपाधिविश्वस्य, केवलव्यक्तिग्राहकं
पटुप्रत्यक्षम् । दृष्ट्यानुपलम्भो वा प्रसिद्धः । तदेवं विधिरेव
शब्दार्थः । स च बाह्योऽर्थो बुद्ध्याकारश्च विवक्षितः तत्र, न बु-
द्ध्याकारस्य तत्त्वतः सवृत्त्या वा विधिनिषेधौ, स्वसवेदनप्र-
त्यक्षगम्यत्वात्, अनध्यवसायाच्च । नापि तत्त्वतो बाह्य-
स्यापि विधिनिषेधौ, तस्य शब्दे प्रत्ययेऽप्रतिज्ञासनात् । अत-
एव सर्वधर्माणां तत्त्वतोऽनजिज्ञाप्यत्व प्रतिभासाध्यवसाया-

जावात् तस्मात् बाह्यस्यैव साम्भृतौ विधिनिषेधौ । अन्यथा
संव्यवहारहानिप्रसङ्गात् । तदेवं—

“नाकारस्य न बाह्यस्य, तत्त्वतो विधिसाधनम् ।

बहिरेव हि संवृत्त्या, सवृत्त्याऽपि तु नाकृतेः ॥ १ ॥”

एतेन यद्वर्त्मोत्तर-आरोपितस्य बाह्यत्वस्य विधिनिषेधावि-
त्यलौकिकमनागममताकिंकीयं कथयति । तद्वदस्ति तम् ।
नन्यव्यवसाये यद्यध्यवसाये वस्तु न स्फुरति तदा तदध्यवसाय-
मिति कोऽर्थः ? अप्रतिभासेऽपि प्रवृत्तिविषयीकृतमिति योऽर्थः ।
अप्रतिभासाविशेषे विषयान्तरपरिहारेण कथं नियतविषया प्र-
वृत्तिरिति चेत् ? उच्यते—यद्यपि विभ्रमगृहीतं तथापि विकल्प-
स्य नियतसामग्रीप्रसूनत्वेन नियताकारतया नियतशक्तिवात्
नियता एव जहादी प्रवृत्तिः । धूमस्य परोक्षाभिज्ञानजननवत् ।

नियतविषया हि प्रायाः प्रमाणपरिनिष्ठितस्वभावा न शक्ति-
साङ्गपर्यनुयोगभाजः । तस्मात् तदध्यवसायित्वमाकारविशेष-
योगात् तत्प्रवृत्तिजनकत्वम् । न च सादृश्यादारोपेण प्रवृत्तिं
धूमः, येनाकारे बाह्यस्य बाह्ये वा आकारस्यारोपद्वारेण दृ-
षणावकाशः, किं तर्हि स्ववासनाधिपाकवशादुपजायमानैव
बुद्धिरपश्यन्त्यपि बाह्यं बाह्ये वृत्तिमातनोतीति विष्णुनैव । तदे-
वमन्याभावविशिष्टो विजातिव्यावृत्तोऽर्थो विधिः । स एव बा-
पोहशब्दवाच्यः शब्दानामर्थः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयश्चेति स्थितम् ।
अत्र प्रयोगः—यद् वाचकं तत्त्वधर्मव्यवसितातद्रूपपरावृत्तव-
स्तुमात्रगोचरम्; यथेदं कूपे जलमिति वचनम् । वाचकं
चेदं गवादिशब्दरूपमिति स्वभावहेतुः । नायमसिद्धः, पूर्वोक्ते-
न न्यायेन पारमार्थिकवाच्यवाचकजावस्याभावेऽपि अध्य-
वसायकृतस्य सर्वव्यवहारिन्निरयस्य स्वीकर्तव्यत्वात् । अन्य-
था सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । नाऽपि विरुद्धः, सपक्षे प्रा-
वात् । न चानैकान्तिकः, तथाहि—शब्दानामव्यवसितविजा-
तिव्यावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वमनिच्छद्भिः परैः परमार्थतः—

“वाच्यं स्वलक्षणमुपाधिरुपाधियोगः,
सोपाधिरस्तु यदि वा कृतिरस्तु बुद्धेः ।”

गत्यन्तराभावात् । अधिषयत्वे च वाचकस्वायोगात् । तत्र—

“आद्यन्तयोर्न समयः फलशक्तिहाने-
र्मध्येऽन्युपाधिविरहात् त्रितयेन युक्तः ॥”

तदेव वाच्यान्तरस्याभावात् । विषयवत्त्वसङ्गणस्य व्यापकस्य
निवृत्तौ विपक्षतो निवर्त्तमान वाचकत्वमव्यवसितबाह्यावि-
षयत्वेन व्याप्यत इति व्याप्तिरिति सिद्धिः ।

“शब्दैस्तावन्मुख्यमाख्यायतेऽर्थः,
तत्रापोहस्तद्वृत्त्येन गम्यः ।

अर्थश्चैकोऽप्यासतो भासतोऽन्यः,
स्थाप्यो वाच्यस्तत्त्वतो नैव काश्चित् ॥”

अथापोहसिद्धिर्जैनाचार्यैरिति पराक्रियते—

“अथ श्रीमदनेकान्त-समुद्घोषपिपासितः ।

अपोहमापिबामि छाक्, वीक्षन्तां भित्तवः क्षणम्” ॥ १ ॥

इह तावद्विकल्पानां तथाप्रतीतिपरिहृतविरुद्धधर्माध्यासकध-
ञ्जितादात्म्यापन्नसामान्यविशेषस्वरूपवस्तुलक्षणाक्षणद्वि-
क्षितस्य प्राक् प्राकट्यन । ततस्तत्त्वतः शब्दानामपि तत्प्रसिद्धमे-

व । यतोऽजलिप्युष्मदीयैः—“स एव शब्दानां विषयो यो विकल्पानाम्” इति कथमपोहः शब्दार्थः स्यात् ? । अस्तु वा, तथाऽप्यनुमानवत् किं न शब्दः प्रमाणमुच्यते । अपोहोच्चरत्येऽपि परस्परया पदार्थे प्रतिबन्धात् प्रमाणमनुमानमिति चेत्, तत एव शब्दोऽपि प्रमाणमस्तु । अतोतानागताम्बरसरोज्यादि-
भवसत्त्वपि शब्दोपलम्भान्नात्रार्थप्रतिबन्ध इति चेत्, तर्ह्यनुद्-
वृष्टिः, गिरिनदीवेगोपलम्भात्, भावी भरतयुद्धात्, रेवत्युद्धात्,
नास्ति रासजशृङ्गम्, समप्रमाणैरनुपलम्भात्, इत्यादेरर्था-
भावेऽपि प्रवृत्तेऽनुमानेऽपि नार्थप्रतिबन्धः स्यात् । यदि वचो-
धाच्यापोहोऽपि पारम्पर्येण पदार्थप्रतिष्ठः स्यात्, नदानीमलाबू-
नि मञ्जन्तीत्यादिविप्रतारकवाक्यापोहोऽपि तथा भवेदिति
चेत्, अनुमेयापोहेऽपि तुल्यमेतत्, प्रमेयत्वादिहेतुनुमेयापोहेऽ-
पि पदार्थप्रतिष्ठिताप्रसक्तैः । प्रमेयत्वं हेतुरेव न प्रयति, विप-
क्षासत्त्वतल्लक्षणाभावादिति कुतस्त्या तदपोहस्य तन्निष्ठतेति
चेत्, तर्हि विप्रतारकवाक्यमप्यागम एव न भवति, आसौक-
त्वतल्लक्षणाभावादित्यादि समस्त समानम् । यस्तु नासौक्यत्वं
वचसि धियेचपितुं शक्यमिति शक्यो वक्ति, स पर्यनुयोज्यः-
किमाप्तस्यैव कस्याप्यज्ञावादेयमभिधीयेत, भावेऽप्यस्य निश्च-
याभावात्, निश्चयेऽपि मौनमनिकत्वात्, वक्तृत्वेऽप्यनासन्नचानात्,
तद्वचसो विधेकावधारणाभावात् । सर्वमप्येतच्चार्वाकाधिवा-
चां प्रपञ्चात्, मातापितृपुत्रभ्रातृगुरुसुगतादिष्वचसां विशेषमा-
तिष्ठमानैरप्रकटनीयमेव । न च नास्ति विशेषस्वीकारः, तत्प-
ठितानुष्ठानघटनायामेव प्रवृत्तेर्निर्निबन्धनत्वापत्तेः । अथानुमानि-
क्येवाऽऽशब्दादर्थप्रतीतिः ; कथम् ?—

“पादपार्थविवक्षावान्, पुरुषोऽयं प्रतीयते ।

वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात्, पूर्वावस्थास्वहं यथा ॥ १ ॥ ”—

इति विवक्षामनुमाय, सत्या विवक्षेयम्, आसद्विवक्षात्वात्, मद्रिय-
क्षावदिति वस्तुनो निर्णयादिति चेत् । तद्वचनुरक्षम् । अमृदशब्द-
वक्ष्याया अनन्तरस्तद्विशेषिकपक्षप्रतिक्षेपेण कृतिनिर्वचनत्वा-
त् । किञ्च-शास्त्रादिमति पदार्थे वृक्षशब्दसङ्केते सत्येतद्विवक्षाऽ-
नुमानमातयेन, अन्यथा वा । न तावदन्यथा, केनचित् कक्षे
वृक्षशब्द सकेत्य तदुच्चारणात्, उन्मत्तसुप्तशुक्लशारिकादिना
गोत्रस्त्रलनवता चान्यथाऽपि तत्प्रतिपादनाच्च हेतोर्व्यभिचारा-
पत्तेः । संकेतपक्षे तु यद्येव तपस्वी शब्दस्तद्वशाद्वस्त्येव वदेत्,
तदा किं नाम क्षुण्ण स्यात् । न खल्वेयोऽर्थाद्विमेति । विशेषलाम-
धैव सति यद्वचविधाननुभूयमानपारम्पर्यपरित्याग इति ।
यदकथि-परमार्थनः सर्वतोऽप्यवृत्तस्वरूपेषु स्वसङ्गोपेकार्थ-
कारित्वेनेत्यादि । तदवयवम् । यतोऽर्थस्य बाह्योहादेरेकत्वम्,
अद्विरूपत्व, समानत्व वा विवक्षितम् ? । न तावदाद्य
पक्षः, परस्परमुपडादौ कुण्डकाण्डभाण्डादिवाहादेरर्थस्य निश्च-
जिज्ञम्बैव संदर्शनात् । द्वितीयपक्षेऽपि सदृशपरिणामारूपद-
त्वम्, अन्यव्यावृत्त्यधिष्ठितत्व वा समानत्व स्यात् ? । न प्राच्यः
प्रकारः, सदृशपरिणामस्य सौगन्धैरस्वीकृतत्वात् । न द्वितीयः,
अन्यव्यावृत्तेरतात्त्विकत्वेन चान्येयस्यैव स्वलक्षणैर्धर्माणा-
संभवात् । किञ्च-अन्यतः सामान्येन, विजातीयत्वाद् व्यावृ-
त्तिरन्यव्यावृत्तिर्भवेत् ? । प्रथमपक्षे, न किञ्चिदसमानं स्यात्,
सर्वस्यापि सर्वतोऽप्यवृत्तत्वात् । द्वितीये तु विजातीयस्य वा-
जिकुञ्जरादिकार्याणां बाहादिसजातीयत्वे सिद्धे सति स्यात्,
तच्चान्यव्यावृत्तिरूपमन्येषां विजातीयत्वे सिद्धे सति, इति स्पष्ट

परस्परभयत्वमिति । एवं च कारकैक्यं, प्रत्यक्षमर्शक्यं च वि-
कल्प्य दूषणीयम् । अपि च—यदि बुद्धिप्रतिविम्बात्मा शब्दार्थः
स्यात्, तदा कथमतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? । स्वप्रतिजा-
सेऽनर्थेऽर्थोपवसायाच्चेत् । ननु कोऽयमर्थान्वयवसायो नाम ? ।
अर्थसमारोप इति चेत्, तर्हि सोऽयमर्थान्वयोरग्निमाणवक-
योरिव तद्विकल्पविषयभावे सत्येव समुत्पत्तुमर्हति । न च
समारोपविकल्पस्य स्वलक्षणं कदाचन गोचरतामश्नति । यदि
चानर्थेऽर्थसमारोपः स्यात्, तदा बाह्योहादर्थक्रियाधिनिः
सुतरां प्रवृत्तिर्न स्यात् । न हि दाहपाकादर्थी समारोपितपाव-
कत्वे माणवके कदाचित्प्रवर्तते । रजतरूपताऽवभासमानशुक्ति-
कायामिव रजतार्थिनोऽर्थक्रियाधिनि विकल्पास्तत्र प्रवृत्तिरि-
ति चेत् । आतिरूपस्तर्ह्ययं समारोपः, तथा च कथं ततः
प्रवृत्तोऽर्थक्रियाधी कृतार्थः स्यात् । यथा शुक्तिकायां प्रवृत्तो
रजतार्थक्रियाधीति । यदपि प्रोक्तम्—कार्यकारणभावस्यैव
वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वादिति । तदप्युक्तम् । यतो
चदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा
भात्रज्ञाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कार-
णमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दः
कारणम्, एवं परस्परया स्वलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचक भवे-
दिति प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थान प्रलयपद्धतिमनु-
धावेत् । ततः शब्दः सामान्यविशेषात्मकार्थव्यवधाननिबन्धनम-
वेति स्थितम् ॥

अथापौरुषेयत्वव्यापातः—

भागमस्यापौरुषेयस्य स्याद्वादमञ्जरीम् । स हि पौरुषेयो वा
स्यादपौरुषेयो वा ? । पौरुषेयश्चेत्सर्वकृतस्तदितरकृतो वा ? ।
प्राचपक्षे शुष्मन्मत्स्याहतिः । तथा च भवत्सिद्धान्तः—

“अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् रूपं न विद्यते ।

नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थव्यधिनिश्चयः” ॥ १ ॥

द्वितीयपक्षे तु तत्र दोषवत्कर्तृत्वेनाऽनाम्नासप्रसङ्गः । अ-
पौरुषेयश्चेन्न सन्नस्येय, स्वरूपनिराकरणात्, तुरकशृङ्गव-
त् । तथाहि—उक्तिर्बचनमुच्यते इति चेति पुरुषाक्रियानुगत रू-
पमस्य एतत्क्रियानावे कथं भवितुमर्हति । न खेतत् केवलं
काचिद् ध्वननुपलभ्यते, उपलब्धभावप्यदृश्यवक्त्राशुक्लासम्भ-
वात् । तस्माद्यद्वचनं तपौरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात्, कुमारस-
म्भवादिवचनवत् । वचनात्मकश्च वेदः । तथा चाहुः—

“तालवादिजन्मा ननु वर्णवर्गो,

वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च ।

पुंसश्च तालवादि ततः कथं स्या-

दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः ? ॥ १ ॥ ” इति ।

सुतेरपौरुषेयत्वमुररकृत्यापि तावन्नवद्विरपि तदर्थव्याख्यानं
पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते । अन्यथा अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम
इत्यस्य स्वमांस भक्षयेदिति किं नार्थो, नियामकाभावात्ततोऽवर
सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगमम् । अस्तु वा अपौरुषेयस्येनापि
तस्य न प्रामाण्यम्, आसपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणेनेति ।
यत्तु कर्तृस्मरणं साधनं तद्विशेषणं सविशेषणं वा वार्येत, प्रा-
क्तन तावत्पुराणकूपप्रासाद्वारामविहारादिव्यभिचारि, तेषां क-
र्तृस्मरणेऽपि पौरुषेयत्वात् । द्वितीय तु सम्प्रदायान्वयवच्छेदे
सति कर्तृस्मरणादिति व्यधिकरणासिद्ध, कर्तृस्मरणस्य भुते-
रन्यत्राभये पुंसि वर्तमानात् । अथापौरुषेयी भूतिः, सम्प्र-

दायाव्यवच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादाकाशवदित्यनुमान-
रचनायामनवकाशा व्यधिकरणासिद्धिः मैवम्, एवमपि विशेषणे
संदिग्धासिद्धतापत्तेः । तथा ह्यादिमतामपि प्रासादादीनां स-
म्प्रदायो व्यवच्छिद्यमानो विलोक्यते, अनादेयस्तु भुतेरव्यवच्छे-
दी संप्रदायोऽद्यापि विद्यत इति मृतकमुष्टिबन्धमन्वकार्थत्वं ।
तथा च कथं न संदिग्धासिद्धिः विशेषणं विशेष्यमप्युभया-
सिद्धि वादिप्रतिवादिभ्यां तत्र कर्तुः स्मरणात् । न तु भो-
त्रियाः भुतौ कर्तारं स्मरन्तीति मृषाद्यं भोत्रियापसदाः क-
ल्मसी इति चेन्ननु यूयमास्नायमास्नासिष्ट तावत्ततो 'यो वै
वेदांश्च प्रहिणोतीति प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्तत्त-
यो वेदा अन्वसृजन्तेति च' स्वयमेव स्वस्व कर्तारं स्मा-
रयन्ती भुतिं विश्रुतामिव गणयन्तो यूयमेव भोत्रियापसदाः
किञ्च स्यात् । किं च-क एवमाध्यन्दिनितिस्मिन्ननुतिमुनिना-
माङ्किताः काश्चन शास्त्रास्तत्कृतत्वादेव मन्वादिस्मृत्यादिवदु-
त्सन्नानां तासां कल्पादौ तैर्दृष्टत्वात्, प्रकाशितत्वाद्वा तन्मा-
मचिहेऽनादौ कालेऽनन्तमुनिनामाङ्कितत्वं तासां स्यात् ।
जैनाश्च कालासुरमेतत्कर्तारं स्मरन्ति । कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेर-
प्रमाणमेवैतत्स्मरणमिति चेत्, नैवम् । यतो यत्रैव विप्रतिपत्तिः
तदेवाप्रमाणमस्तु, न पुनः कर्तृमात्रस्मरणमपि ।

“वेदस्याध्ययनं सर्वं, गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वाद्-धुनाऽध्ययनं यथा ॥ १ ॥

अतीतानागतौ कालौ, वेदकारविवर्जितौ ।

कालत्वाच्चयथा कालौ, वर्तमानः समीकृते ॥ २ ॥

इति कारिकोक्तैर्वेदाध्ययनवाच्यत्वकालत्वेऽपि हेतुः कुरङ्ग-
शृङ्गभङ्गुरं कुरङ्गाङ्गीणां चेत इति वाक्याध्ययनं गुर्वध्ययन-
पूर्वकमेतद्व्याख्याध्ययनवाच्यत्वाद्धुनातनाध्ययनवदतीतानाग-
तौ कालौ प्रक्रान्तवाक्यकर्तृवर्जितौ कालत्वाच्चर्तमानकालव-
दिति वेदप्रयोजकत्वाद्नाकर्णनीयौ सकर्णानाम् । अथार्था-
पत्तेरपौरुषेयत्वनिर्णयो वेदस्य । तथाहि-सवादविस्वादादर्श-
नादर्शनाज्यां तावदेव निःशेषपुरुषैः प्रामाण्येन निर्णायि, तस्मि-
न्त्यस्यास्य पौरुषेयत्वे दुरापः । यतः-

“शब्दे दोषोद्भवस्ताव-द्वक्षधनीन इति स्थितिः ।

तदभावः क्वचित्तावद्, गुणवद्वक्तृत्वतः ॥ १ ॥

तद्गुणैरपकृष्टानां, शब्दे सक्रान्त्यसंज्ञात् ।

वेदे तु गुणवान् वक्ता, निर्णेतुं नैव शक्यते ॥ २ ॥

ततश्च दोषाज्जावोऽपि, निर्णेतुं शक्यतां कथम् ।

वक्त्रभावे तु सुज्ञानो, दोषाभावो विज्ञायते ॥ ३ ॥

यस्माद्वक्तुरजावेन, न स्युर्दोषा निराश्रयाः” ।

ततः प्रामाण्यनिर्णयान्यथाऽनुपपत्तेरपौरुषेयोऽयमिति ।
अस्तु तावदत्र कृपणपशुरम्पराप्राणव्यपरोपणप्रगुणप्रचुरो-
पदेशापवित्रवादप्रमाणमेवैव इत्यनुसरोत्तरप्रकारः प्रामाण्य-
निर्णयोऽप्यस्य न साध्येसिद्धिर्विरुद्धत्वात्, गुणवद्वक्तृतायामेव
वाक्येषु प्रामाण्यनिर्णयोपपत्तेः । पुरुषो हि यथा रागादिमान्
मृगावादी तथा सत्यशौचादिमान् वितथवचनः समुपलब्धः,
भुतौ तु तदुभयाजावे नैरर्थक्यमेव जवेत् । कथं वक्तुगुणित्वानि-
श्चयश्छन्दसीति चेत् कथं पितृपितामहप्रपितामहादेरप्यसौ
तस्माद्यनं तस्मिन्पत्न्याकरभेणे पारम्पर्योपदेशस्य चानुसारं
प्राष्टयेनिधानादौ नि शङ्कः प्रयतंया, क्वचित् सवादाच्चेदत
एवमप्यत्रापि प्रतीहि कारीयादौ संवाददर्शनात् । कदाचित्

क्वचित् सवादस्तु सामग्रीवैगुण्यात् स्वयाऽपि प्रतीयत
एवं प्रतीतास्तमन्त्रोपदिष्टमन्त्रवत् । प्रतिपादितश्च प्राक्
रागद्वेषाज्ञानशून्यपुरुषविशेषनिर्णयः किं चास्य व्याख्यानं
तावत्पौरुषेयमेवापौरुषेयत्वे भावना नियोगादिविरुद्धा-
स्याने जेदाभावप्रसङ्गात्, तथा च को नामात्र विभ्रम्भो भवेत्;
कथं चैतद् ध्वनीनामर्थनिर्णीतिलौकिकव्यन्यनुसारेणेति चेत्
किं न पौरुषेयत्वनिर्णीतरपि तत्रोभयस्यापि विज्ञावनादप्यथा
त्वर्ज्जरतीयम् । न च लौकिकार्थानुसारेण मदीयोऽर्थः स्या-
पनीय इति भुतिरेव स्वयं वक्ति । न च जैमिन्यादावपि तथा
कथयति प्रत्यय इत्यपौरुषेयवचनसामर्थ्योऽप्यस्य एव कोऽपि
संभाष्येत, पौरुषेयीणामपि स्लेच्छार्थवाच्यमेकार्थं नास्ति किं
पुनरपौरुषेयवाचां, ततः परमरूपापीयूषस्तावितान्तःकरणः
कोऽपि पुमान् निर्दोषः प्रसिद्धार्थं ध्वनिभिः स्वाध्यायं विधाय
व्याख्यातीदानीं तनग्रन्थकारवदिति युक्तं पश्यामः । अथोचाम
च-“ उक्तः स्वीकुरुषे प्रमाणमथ चेत्तद्व्याख्यानमिच्छामः ।
कंचिद्विभ्रविदं न जल्पसि ततो ज्ञातोऽस्य मूल्यकयी” इति
भागमोऽपि नापौरुषेयत्वमाख्याति । पौरुषेयत्वाविष्कारिण
एवास्योक्तवद् सद्भावात् । अपि चेयमानुपूर्वीं पिपीलिकादीना-
मिव देशकृताङ्कुरपत्रकदलकाण्मादीनामिव कालकृता चावर्णा-
नां वेदेन संभवति, तेषां नित्यव्यापकत्वात् । क्रमेणाभिव्यक्तेः सा
संज्ञवतीति चेत्तर्हि कथमियमपौरुषेयी जवेदभिव्यक्तिः, पौरुषे-
यत्वादिति सिद्धा पौरुषेयी भुतिः ।

अथ जगत्कर्तृत्वविध्वंसः-

यत्तावदुच्यते परैः-दित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वात्
घटवदिति । तदयुक्तम् । व्याप्तेरग्रहणात् । साधनं हि सर्वत्र
व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धार्थां साध्यं गर्भयेदिति सर्ववादिसबाद् ।
स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात् ? । नशरीरो-
ऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशिष्ट उत पिशाचादिवद् द-
ृश्यशरीरविशिष्टः ? । प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः । तस्मिन्तरेणापि च
जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरन्नादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेय-
त्वादिवत्साधारणानैकान्तिको हेतुः । द्वितीयधिकल्पे पुनरदृश्य-
शरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणमाहोस्विदस्मदाद्यदृष्ट-
वैगुण्यम् । प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्यायनीयः । तत्सिद्धौ प्रमा-
णाभावात् इतरेतराभयदोषापसेहच । सिद्धे हि माहात्म्यवि-
शेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्, तत्सिद्धौ च माहात्म्य-
विशेषासिद्धिरिति । द्वितीयकस्तु प्रकारो न संवरत्येव विचार-
गोचरे; संशयानिवृत्तेः । किं तस्याऽसत्त्वाददृश्यशरीरत्वं, वा-
न्येयादिवत्, किं चाऽसत्तादृष्टवैगुण्यात्पिशाचादिवदिति नि-
श्चयाभावात् । अशरीरश्चेत्तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैयर्थ्यम् ।
घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः । अशरीरस्य च
सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमाकाशादिवत् । तस्मात्सश-
रीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्यसिद्धिः । किञ्च-
त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः । घट्येकदेशस्य तरुविशु-
द्धमृदादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन
प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरहेतुजगन्नात् । तदेवं न कश्चिज्जगतः
कर्ता । किञ्च-स ईश्वरः अयु नित्यत्वेनैकरूपः सन् त्रिभुवनसर्ग-
स्वभावोऽतत्त्वजावो वा ? । प्रथमविधायी जगन्निर्माणात्कदाचिद्-
पिनोपरमेत । तदुपरमे तत्त्वजावत्वहानि । एव च सर्गक्रियाया
अपर्यवसानादेकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः । घटो हि स्वारम्भक-
जादारभ्य परिसमाप्तेरुपान्त्यकण यावन्निश्चयनयाभिप्रायेण न

घटय्यपदेशमासाद्यति । अलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतम-
त्वात् । अतस्त्वनावपके तु न जातु अगन्ति सूत्रेस्तत्त्वनापायो-
गाङ्गनवत् । अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपायै सृष्टिपसंहारो-
ऽपि न घटते । मानाकूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्तेः । स हि येनैव
स्वजायेन अगन्ति सूत्रे तेनैव तानि संहरेत्, स्वभावान्तरेण वा ।
तेनैव चेत्सृष्टिसंहारयोर्योगपदप्रसङ्गः, स्वजायाभेदात् । एकस्व-
भावात्कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात् । स्वभावान्तरेण
चेन्नित्यत्वहानिः । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः । यथा
पापिबधरीरस्याहारपरमाणुसङ्कतस्य प्रत्यक्षमपूर्वापूर्वोत्पादे-
न स्वभावभेदादनित्यत्वम् । इष्टञ्च भवतां सृष्टिसंहारयोः शंभो
स्वभावभेदः । रजोगुणात्मकतया सृष्टौ, तमोगुणात्मकतया संह-
ारयोः, सात्त्विकतया च स्थितौ तस्य व्यापारस्वीकारात् । एवं
चावस्थानेदस्तत्रेदे चावस्थायतोऽपि नेदाभित्यत्ववृत्तिः । अ-
थास्तु नित्यः सस्तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टने । इष्टा-
वशाच्चेन्न ता भवीच्छा स्वसत्तामात्रनिबन्धनामलाभाः सदै-
व किञ्च प्रवर्तयन्तीति स पवोपालम्भः । तथा शम्भोरष्टगुणा-
धिकरणत्वे कार्यभेदानुमेयानां तद्विज्ञानामपि विपमरूपत्वाभे-
त्यत्वहानि केन धार्यते । किञ्च-प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकारु-
ण्याभ्यां न्याता । ततश्चायं अगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थत्कारुणा-
द्वा । न तावत्स्वार्थं, न स्य कृतकृत्यत्वात् । न च कारुण्यात्, परदु-
ःखप्रहायेच्छा हि कारुण्यम् । ततः प्राक्सर्गाञ्जीवानामिन्द्रि-
यशरीरोपययानुत्पत्तौ दुःखामावेन कस्य प्रहायेच्छा कारुण्य-
म् । सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽधलोक्ष्य कारुण्यान्पुण्यगमे दु-
ःखपरितरेतप्राप्त्यम् । कारुण्येन सृष्टिः, सृष्ट्या च कारुण्यम्
इति नास्य अगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यतीति सङ्केपः ।

अथ शब्दाकाशगुणत्वखण्डनम्-

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः ।

पुद्गलैर्भाषावर्गणापरमाणुभिरारब्धः पौद्गलिकः । पौद्गलिकः
शब्द इन्द्रियायत्वाद्भाषाविषयः । यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिवेधाय
स्पर्शशून्याश्रयत्वादतिनिविष्टप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघाता-
त्पूर्वं पञ्चाच्चावयवानुपलब्धेः सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराग्रेरकत्वाङ्ग-
नगुणत्वाच्चेति पञ्च हेतयो यौगैरुपन्यस्तास्ते हेत्वाभासा । तथा
हि-शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा, न पुनराकाशं, तत्र च स्पर्शो
निर्व्याप्यत एव । यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवाननुवातप्रतिघातयोर्वि-
प्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलब्धमानानुपलब्धमानेन्द्रियायत्वात्तथा-
विधगन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत् इत्यसिद्धः प्रथमः । द्विती-
यस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः । वर्तमानजात्यकस्तु-
रिकादिगन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशतिं बाह्य-
निर्याति, न चापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसम्भवाभाति-
निविरुद्धमतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्कर्मौ, कथमन्यथोद्घाटितद्वाराव-
स्थायामिव न तदेकार्णवत्वम्, सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः
संज्ञय इति चेत्तर्हि शब्देऽप्येतत्समानमित्यसिद्धो हेतुः । तृती-
येस्तु तद्विल्लोकादिभिरनैकान्तिकः । चतुर्थोऽपि तथैव, गन्धद्र-
व्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारत्वात् । नहि गन्धद्रव्यादिक-
मपि नासायां निविशमानं तद्विषयद्वारदेशोद्भिन्नशब्दभूरेकदृश्य-
ते । पञ्चमः पुनरसिद्धः, तथा हि-न गगनगुणः शब्दोऽस्मदादिप्र-
त्यक्त्वाद्भाषादिषदिति सिद्धः पौद्गलिकः शब्द इति । अथ नायं
शब्दः पौद्गलिकः संगच्छत इति यौगाः सङ्क्रिमाणाः सप्रणयप्र-
णयिनीनामेव गौरवाद्वा । यनः कोऽत्र हेतुः, स्पर्शशून्याभयत्व-

म्, सतिनिविष्टप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातः, पूर्वं पञ्चाच्चाव-
यवानुपलब्धिः, सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराग्रेरकत्व, गगनगुणत्व चा ।
भाषः पञ्च । यतः शब्दपर्यायस्याश्रये भाषावर्गणाकूपे स्पर्शाभा-
यो न तावदनुपलब्धिमात्रात् प्रसिद्ध्यति, तस्य सव्यभिचारत्वात् ।
योग्यानुपलब्धिस्तस्यसिद्धा तत्र स्पर्शस्यानुभूतत्वेनोपलब्धिलक्ष-
णमात्रत्वाभावात्, उपलब्धमानगन्धाधारद्रव्यवत् । अथ घन-
सारगन्धसारदौ गन्धस्य स्पर्शाव्यभिचारनिष्पत्त्यादत्रापि तत्रि-
श्वेऽप्यनुपलब्धमादनुभूतत्व युक्तम्, नेतरत्र, तद्विर्णायकानावा-
त् इति चेत्, मापूत्तापत्तेर्भिर्णायक किञ्चित्, किन्तु पुद्गला-
नामुभूतानुभूतस्पर्शानामुपलब्धेः शब्देऽपि पौद्गलिकत्वेन परै-
र्प्रणिगद्यमाने, बाधकाभावे च सति सदेह एव स्यात्, न त्व-
न्नापनिष्ठयः, तथा च सन्दिग्धासिद्धो हेतुः । न च नास्ति तत्रि-
र्णायकम् । तथा हि-शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिघातयो-
र्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलब्धमानानुपलब्धमानेन्द्रियायत्वा-
त्, तथाविधगन्धाधारद्रव्यवत्, इति । द्वितीयकल्पेऽपि गन्ध-
द्रव्येण व्यभिचारः, वर्तमानजात्यकस्तुरिकाकपूरकश्मीरजादि-
गन्धद्रव्यं हि पिहितकपाटसपुटापवरकस्यान्तर्विशतिं, बाह्य-
निस्सरति, नचापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसम्भवेनाति-
निविडत्वाभावात् तत्प्रवेशनिष्काशौ, अत एव तदल्पीयस्ता,
न त्वपावृतद्वारदशायामित्य तदेकार्णवत्वम्, सर्वथा नीरन्ध्रे तु
प्रदेशे मैत्री संज्ञयत इति चेत्, एव तर्हि शब्देऽपि सर्वस्य
तुल्ययोगसेमत्वादसिद्धता हेतोरस्तु । पूर्वं पञ्चाच्चावयवानुपल-
ब्धिः, सौदामिनीदामोल्कादिभिरनैकान्तिकः । सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्त-
राग्रेरकत्वमपि गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारी ।
न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नासि निविशमानं तद्विषयद्वारदेशोद्भि-
न्नशब्दभूरेकं प्रेक्ष्यते । गगनगुणत्वं त्वसिद्धम् । तथा हि-न गग-
नगुणः शब्दः भस्मदादिप्रत्यक्त्वात् रूपादिषदिति । पौद्गलिक-
त्वसिद्धिः पुनरस्य-शब्दः पौद्गलिकः, इन्द्रियायत्वात्, रूपादिव-
देवेत्यतितरां संक्षेपः ।

अद्वैतखण्डनम्-

येशान्तिनस्त्वेवं प्रजल्पन्ति- ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽ-
स्ति किञ्चन । आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन '
॥ १ ॥ इति न्यायादयं प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमान-
त्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा शुक्तिशकले कलघौतम्, तथा
चायं, तस्मात्तथा । तदेतद्भासम् । तथा हि-मिथ्यारूपत्व तै-
र्कादृग् विवक्षितम् । किमन्यन्तासत्त्वम् उतान्यस्यान्याकारत-
या प्रतीयत्वम्, आहोस्विदनिर्वाच्यत्वम् । प्रथमपक्षेऽसत्त्वस्या-
तिप्रसङ्गः । द्वितीये विपरीतस्यासिद्धीकृति । तृतीये तु किमि-
दम् अनिर्वाच्यत्वम् । निःस्वभावत्व चेत् निसः प्रतिषेधार्थत्वे
स्वभावशब्दस्यापि भाषाभाषयोरन्यतरार्थत्वेऽसत्त्वस्यातिसत्त्व्या-
त्यभ्युपगमप्रसङ्गः । भाष्यप्रतिषेधेऽसत्त्व्यानिर्जावप्रतिषेधे
सत्त्व्यातिरिति । प्रतीय गोचरत्व निःस्वभावत्वमिति चेत्,
अत्र विरोधः । न प्रपञ्चो, हि न प्रतीयते चेत्कथम् धर्मितयोपा-
सः । कथं च प्रतीयमानत्व हेतुतयोपासम् । तथोपादाने
वा कथं न प्रतीयते । यथा प्रतीयते, न तथेति चेत्तर्हि विपरीत-
स्यातिरियमभ्युपगता स्यात् । किञ्चेयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य
प्रत्यक्त्वाधिता, घटोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक् प्रपञ्चस्य स-
त्यतामेव व्यवस्यति, घटादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मन-
स्तस्योत्पादात् । इतरेतरविचित्रवस्तूनामेव च प्रपञ्चशब्द-

वाच्यत्वात् । अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात्कथं प्रतिषेधे सा-
मर्थ्यम् । प्रत्यक्षं हि-इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति, नान्यत्स्व-
रूपं प्रतिषेधति ।

“आहुर्विधात् प्रत्यक्षं, न निषेद्धृ विपश्चितः ।

नैकत्व आगमस्तेन, प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते” ॥ १ ॥

इति वचनात्, इति चेन्न । अन्यरूपनिषेधमन्तरेण त-
त्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः । पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नील
नीलमिति गृहीतं भवति, नान्यथा । केवलवस्तुस्वरूपप्र-
तिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात् । सुखमभूतलप्रदणो
घटाभावग्रहणवत् । तस्माद्यथा प्रत्यक्षं विधायक प्रति-
पन्न तथा निषेधकमपि प्रतिपत्तव्यम् । अपि च-विधाय-
कमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयते,
तथा किं नाविद्यापि इति । तथा च द्वैतापत्तिः । ततश्च सुव्य-
वस्थितः प्रपञ्चः । तदमी वादिनोऽविद्याविवेकेन सम्मात्रं प्रत्य-
क्षात्प्रतीयन्तोऽपि न निषेधक तदिति ब्रुवाणाः कथं नोन्मत्ताः । इति
सिद्धं प्रत्यक्षाबाधितः पक्ष इति । अनुमानाबाधितश्च-प्रपञ्चो
मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत् । प्रतीयमानत्वं
च हेतुब्रह्मात्मना व्यभिचारी । स हि प्रतीयते न च मिथ्या ।
अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्विषयवचसामप्रवृत्तेर्मूकतैव तेषां
श्रेयसी । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । श्रुतिशकलकसधौतेऽपि
प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन अनिवर्चनीयतायाः साध्यमानत्वात् । किञ्चेद्-
मनुमान प्रपञ्चाद्विभक्तम्, अभिन्नं वा । यदि भिन्नं तर्हि सत्यम-
सत्य वा । यदि सत्यं तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्व स्यात् ।
अद्वैतवादप्राकारे सङ्गपातात् । अथासत्यम्, तर्हि न किञ्चि-
त्सेन साध्ययितुं शक्यम्, अवस्तुत्वात् । अभिन्नं चेत् प्रपञ्च-
स्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपत्वापत्तिः । मिथ्यारूपं च तत्कथं
स्वसाध्यसाधनायालम् । एवं च प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वा-
सिद्धेः कथं परमब्रह्मणस्तत्त्विकत्वं स्यात्, यतो बाह्यार्थाना-
घो भवेदिति । अथ वा प्रकारान्तरेण सम्मात्रसङ्गणस्य परम-
ब्रह्मणः साधनं दूषणं चोपन्यस्यते । ननु परमब्रह्मण एवैकस्य
परमार्थसतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात्प्रमाणविषयत्वम् । अप-
रस्य द्वितीयस्य कस्यचिदप्यभावात् । तथाहि-प्रत्यक्षं तदा-
वेदकमस्ति । प्रत्यक्षं द्विधा जिघत्ते-निर्विकल्पकसविकल्पकमे-
दात् । ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सम्मात्रविषयात्तस्यैकस्यैव
सिद्धिः । तथा चोक्तम्-

“अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं, प्रथमं निर्विकल्पकम् ।

बालमुकादिविज्ञान-सदृशं शुद्धवस्तुजम्” ॥ १ ॥

न च विधिवत्परस्परव्यावृत्तिरप्यव्यक्त एव प्रतीयत इति
चेतसिद्धिः, तस्य निषेधाऽविषयत्वात्, “आहुर्विधात् प्रत्यक्षं
न निषेद्धृ” इत्यादिवचनात् । यच्च सविकल्पकप्रत्यक्षं घट-
पटादिभेदसाधकं तदसि सत्त्वरूपेणान्वितानामेव तेषां प्रकाश-
कत्वात् सत्ताद्वैतस्यैव साधकम्, सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात् ।
तदुक्तम्-“यद्वैतं तद्ब्रह्मणो रूपम्” इति । अनुमानादपि तत्
सद्भावो विज्ञाव्यत एव । तथाहि-विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात् ।
यत् प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः, प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमाना-
गमोपमानार्थापत्तिमङ्गकानां भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः ।

तथा चोक्तम्-

“प्रत्यक्षाद्यवतारः स्या-द्भावांशो गृह्यते यदा ।

ध्यापारस्तदनुपपत्ते-रजायांशे जिघृक्षिते” ॥ १ ॥

यच्चाभावात् प्रमाणं, तस्य प्रामाण्याभावाच्च तत्प्रमाणम् ।
तद्विषयस्य कस्यचिदप्यभावात् । यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स
विधिरेव । तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात् । सिद्धं प्रमेयत्वेन
विधिरेव तत्त्वम्, यत्तु न विधिरूपं, तन्न प्रमेयम् । यथा करवि-
षाणम् । प्रमेयं चन्दं निखिलं वस्तुतत्त्वम् । तस्माद् विधिरूपमेव ।
अतो वा तत्सिद्धिः । प्रामाण्यमाद्यः पदार्थाः प्रतिभासान्तः-
प्रविष्टाः प्रतिज्ञासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तः-
प्रविष्टम् । यथा प्रतिज्ञासत्त्वरूपम् । प्रतिज्ञासन्ते च प्रामाऽऽरा-
माद्यः पदार्थास्तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः । आगमोऽपि परम-
ब्रह्मण एव प्रतिपादकः समुपलज्यते-“पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूत
यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्येशानो यद्भेनातिरोहति । यदेजति
यजैजति यद् दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य
बाह्यतः” इत्यादि । ‘भूतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्योऽनुमन्त-
व्यः’ इत्यादिवेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः । कुत्रिमेणापि आगमेन त-
स्यैव प्रतिपादनात् । उक्तं च-

“सर्वं वै कल्पिर्द्ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन ।

आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यति कश्चन” ॥ १ ॥

इति प्रमाणतत्त्वस्यैव सिद्धेः परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सक-
लभेदानां तद्विरतत्वात् । तथाहि-सर्वे ज्ञावा ब्रह्मविधर्ताः, सत्त्वै-
करूपेणान्वितत्वात् । यद्यप्येणान्वितं तत्त्वदात्मकमेव । यथा
घटघटीशराशोदञ्चनादयो मृदूपैकेनान्विता मृद्विधर्ताः ।
सत्त्वैकरूपेणान्वितं च सकलं वस्तु । इति सिद्धं ब्रह्मविधर्तित्वं
निखिलभेदानामिति । तदेतत्सर्वं भदिरारसाऽऽस्वाद्यदृग्दो-
दितमिवावज्ञासते, विचारासदत्वात् । सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं
न तु बाह्यान्तरेण । अद्वैतमते च प्रमाणमेव नास्ति, तत्सद्भावे द्वै-
तप्रसङ्गात् । अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात् ।
अथ मतं लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाणमप्यन्युपगम्यते ।
तदसत् । तन्मते लोकस्यैकात्म्यत्वात् । एकस्यैव नित्यनिरञ्जस्य
परमब्रह्मण एव सत्त्वात् । अथास्तु यथाकथञ्चिन्प्रमाणमपि ।
तर्त्तिकप्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुररीक्रियते ?
न तावत्प्रत्यक्षम् । तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव प्रकाश-
कत्वात्, आभासगोपासं तथैव प्रतिज्ञासनात् । ‘यच्च निर्वि-
कल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकम्’ इत्युक्तम् । तदपि न सम्यक् । तस्य
प्रामाण्यानन्युपगमात् । सर्वस्यापि प्रमाणतत्त्वस्य व्यवसाया-
त्मकस्यैवाविसंवादात्त्वेन प्रामाण्यायोपपत्तेः । साधिकल्पकेन तु प्र-
त्यक्षेण प्रमाणतूतेनैकस्यैव विधिरूपस्य परब्रह्मणः स्वप्नेऽपि अ-
वस्थितं न पेक्षलम् । प्रत्यक्षेण अनुवृत्तव्यावृत्ताकारात्मकवस्तु-
न एव प्रकाशनात् । एतच्च प्रागेव कुरुणम् । न ह्यनुस्यूतमेकम-
कालं सत्तामात्रं विशेषनिरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते, येन
यद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपमित्याद्युक्तं शोभेत । विशेषनिरपेक्षसामा-
न्यस्य करविषाणवद्वैतज्ञासनात् । तदुक्तम्-

“निर्विशेषं हि सामान्यं, जवेत् करविषाणवत् ।

सामान्यरहितत्वेन, विशेषास्तद्वदेव हि” ॥ १ ॥

ततः सिद्धे सामान्यविशेषात्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य
परमब्रह्मण प्रमाणविषयत्वम् । यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्त-
म्, तदप्येतैवैवापास्तं बोध्यम् । पक्षस्य प्रत्यक्षाबाधितत्वेन
हेतोः काहात्ययापदिष्टत्वात् । यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमान-
त्वसाधनमुक्तम् । तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधना-
याऽलम् । प्रतिभासमानत्वं हि निखिलज्ञावानां स्वतः, परतो वा ?

न तावत्स्वतः; घटपटमुकुटशकटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वे-
नासिद्धेः । परतः प्रतिभासमानत्वं च परं विना नोपपद्यते
इति । यच्च परमब्रह्मविवर्तवर्तित्वमखिलभेदानामित्युक्तम्,
तदप्यत्र स्थलेऽन्वयमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिब-
ध्नात्येव । न च घटादीनां चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति, मृदाद्यन्वयस्यैव
तत्र दर्शनात्, ततो न किञ्चिदतदपि । अतोऽनुमानादपि न त-
त्सिद्धिः । किञ्च-पक्षदेतुद्वयान्ता अनुमानोपायभूताः परस्परं
जिज्ञासाः, अभिज्ञा वा ? । भेदे द्वैतसिद्धिरभेदे त्वेकतारूपतापत्तिः ।
तत्कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति । यदि च हेतुमन्तरेणा-
पि साध्यसिद्धिः स्यात्तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः ? ।

तदुक्तम्-

“हेतोरद्वैतासिद्धिभेदं, द्वैत स्यादेतुसाध्ययोः ।

हेतुना चेद्विना सिद्धि-द्वैत वाङ्मात्रतो न किम् ? ” ॥ १ ॥

“पुरुष एवेदं सर्वम्” इत्यादेः, “सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म” इत्यादे-
भ्यगमादपि न तत्सिद्धिः । तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन भेदेत
प्रति प्रामाण्यासंभवात् वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्यैव
तत्रापि दर्शनात् ।

तदुक्तम्-

“कर्मद्वैतं फलद्वैतं, लोकद्वैतं विरुध्यते ।

विद्याऽविद्याद्यं न स्यात्, बन्धमोक्षद्वयं तथा ” ॥ १ ॥

अथ कथमागमादपि तत्सिद्धिः । ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेक-
मेव प्रमाणस्य विषयः । इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः ।

ईश्वरव्यापकत्वखण्डनम्-

ईश्वरस्य सर्वगतत्व नोपपन्नम् । तद्धि शरीरात्मना ज्ञानात्मना वा
स्यात् ? । प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वादितर-
निर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता;
अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रो-
डीकरणाभ्युपगमात् । यदि परमेव भवत्प्रमाणीकृतेन घेदेन वि-
रोधः । तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुच्यते-“विश्वतश्चक्षुरुत
विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पादः ” इत्यादिभ्युतेः ।
यच्चोक्तं तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिस्तुवनगतपदार्थानाम-
नियतदेशवृत्तीनां यथावभिर्माणानुपपत्तिरिति । तत्रेदं पृच्छ्यते ।
स जगत्त्रय निर्ममाणस्तत्कादिवत्साक्षादेहव्यापारेण निर्मिमी-
ते, यदि वा सङ्कल्पमात्रेण ? । आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादेर्वि-
धाने अत्रोदीयसः कालक्षेपस्य सम्भवाद्ब्रह्मीयसाध्यनेहसा न
परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां निय-
तदेशस्थापित्वेऽपि न किञ्चिद् दूषणमुत्पश्याम । नियतदेशस्थापि-
नां सामान्यदेवानामपि सङ्कल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनप्रति-
पत्तेः । किञ्च-तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽशुचिषु निरन्तरसन्त-
मसेषु नरकादिष्वेष्टेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते । तथा चानिष्टाप-
त्तिः । अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मना सर्वजगत्त्रयं व्याप्नोतीत्यु-
च्यते तदाऽशुचिरसाक्षादादीनामप्युपलम्भसम्भावनात्, नरका-
दिदुःखस्वरूपसवेदनाऽऽप्तकतया दुःखाऽनुभवप्रसङ्गाच्चानि-
ष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत् । तदेतदुपपत्तिजिः प्रतिकर्तुमशकस्य
भूलिजिर्वाचकरणम् । यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थलस्थमेव
विषय परिच्छिनत्ति, न पुनस्तत्र गत्वा, तत्कुतो भवदुपालम्भः
समीचीनः ? । न हि भवनोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तत्साक्षादानु-
भूतिः । तद्भावे हि स्रक्चन्दनाऽङ्गनारसवत्यादिचित्तनमात्रेणैव

वृत्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति । यत्तु ज्ञानात्मना स-
र्वगतत्वे सिद्धसाधन प्रागुक्तम्, तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम् ।
तथा च वक्तारो भवन्ति-अस्य मतिः सर्वशालेषु प्रसरति
इति । न च ज्ञानं प्राप्यकारि, तस्याऽऽप्तमर्भत्वेन बहिर्निर्गमाभात् ।
बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्या अजीबत्वप्रसङ्गः । न हि धर्मो
धर्मिणमतिरिच्य कचन केवलो बिलोकिताः । यच्च परे दृष्टान्त-
यन्ति-यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्याभिष्क्रम्य दृ-
वन् प्रासयन्त्येवं ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद्बहिर्निर्गत्य प्रमेयं
परिच्छिनत्तीति । तत्रेदमुत्तरम् । किरणानां गुणत्वमासिद्धम्,
तेषां तैजसपुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात् । यच्च तेषां प्रकाशात्मा
गुणः स तेभ्यो न जातु पृथग् भवतीति संक्षेपः ।

अथैकेन्द्रियाणां जावेन्द्रियज्ञानसमर्थनेन भावश्रुत-
समर्थनम्-

एकेन्द्रियाणां तावच्चोत्रादिद्रव्येन्द्रियाजावेऽपि भावेन्द्रियज्ञानं
किञ्चिद् दृश्यत एव, घनस्पत्यादिषु स्पष्टतस्त्रिज्ञोपलम्भात् । त-
याहि-कलकण्ठोद्गीर्णमधुरपञ्चमोद्गारभ्रवणात् सद्यः कु-
सुम-पल्लवादिप्रसवो विरहकवृक्षादिषु भवणोन्द्रियज्ञानस्य व्य-
क्तं लिङ्गमवलोक्यते । तिस्रकादितरुषु पुनः कमनीयकामि-
नीकमलदलदीर्घशरदिन्दुधवललोचनकटाक्षविशेषात् कुसु-
माद्याविर्भावश्चक्षुरिन्द्रियज्ञानस्य, चम्पकाद्यङ्गिषु तु विविध-
सुगन्धिगन्धवस्तुनिकुरम्बोन्मिश्रविमलशीतलससिद्धिसेकात् त-
त्प्रकटनं प्राणेन्द्रियज्ञानस्य, वकुलादिभूतदेषु तु रम्भातिशा-
यिप्रवररूपवरतरुणजामिनीमुक्ताप्रदत्तस्वच्छसुखाऽसुरजिवा-
णीगणकूषास्वादनात् तदाविष्करणं रसनेन्द्रियज्ञानस्य, कुरब-
कादिष्विष्टविश्वशोकादिमुषेषु च घनपीनोन्नतकठिनकुचकुम्भ-
विभ्रमापत्राजितकुम्भीनकुम्भरणम्भणिविषयकण्टकङ्काजरण-
भूषितमन्यमामिनीशुज्ज्वलताऽवगूहनसुखात् निषिष्टपद्मराग-
चूर्णशोणतल्लतत्पादकमलपाणिप्रहारान्न ऋगिति प्रसूनपल्लवादि-
प्रभवः स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमभिधीयते । ततश्च
यथैतेषु द्रव्येन्द्रियासत्त्वेऽप्येतत् भावेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सकल-
जनप्रसिद्धमस्ति, तथा द्रव्यभुताभावे भावभुतमपि भविष्यति ।
इदयते हि जलाद्याहारोपजीवनाद् घनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा,
संकोचनवल्यादीनां तु हस्तस्पर्शादिभीत्याऽवयवसंकोचनादि-
ज्यो प्रयसज्ञा, विरहक-तिलक-चम्पक-केशराऽशोकादीनां
तु मैथुनसज्ञा दर्शितैव; विल्वपलाशादीनां तु निधानीकृतद्रवि-
णोपरिपादमोचनादिज्यः परिग्रहसंज्ञा । नचैताः सज्ञा भावभु-
तमन्तरेणोपपद्यन्ते । तस्मात् भावेन्द्रियपञ्चकावरणकृतोपशमा-
द् भावेन्द्रियपञ्चकज्ञानवद् भावभुतावरणकृतोपशमसङ्गावा-
द् द्रव्यभुताभावेऽपि यच्च यावच्च भावभुतमस्त्येवैकेन्द्रि-
याणामित्यलमतितरां पल्लवितेन । इत्थं सत्त्वपि प्रभूतेषु जैन-
दार्शनिकविषयेषु कथमलपीयस्यस्मिन्नुपोद्घाते पार्यते दर्शयि-
तुमिति विरम्यते कतिपयविषयप्रदर्शनेनेति-

निवेदयन्ति

संशोधकाः



॥ श्रीः ॥



मत्तन्नान्तविपद्दन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी-
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनाऽऽगमः।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशो,
धन्यःसूरिपदाङ्कितोविजयराजेन्द्रात्परोन्योस्तिकः॥



॥ अग्निधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ॥

(सिद्धहेमशब्दानुशासनम्)

[अ० ८ पा० १]

नत्वा धीरे चन्द्रवन्द्य, रागद्वेषविवर्जितम् ।

प्राकृतव्याकृतिरिय, वन्दोषद्धा विरच्यते ॥ १ ॥

अथ प्राकृतम् ॥ १ ॥

अथशब्दोऽधिकारार्थ-अनन्तर्यार्थ इष्यते ।

प्रकृतिः सस्कृतं, तत्र-भव, वा तत भागतम् ॥

प्राकृतं, सस्कृतस्यान्ते, तदधिक्रियते तत ।

सिक् च साप्यमान च, द्विविध सस्कृत मरम् ॥

तद्वयेनेरेव तस्येह, सकृण, देशजस्य न ।

इति विज्ञापनार्थं हि, प्राकृतस्यानुशासनम् ॥

संस्कृतानन्तरं कुर्मस्तद् धीरैरवधार्यनाम् ।

विभक्तिः कारक लिङ्ग, प्रकृति प्रत्ययोऽभिधा ॥

समासश्चापि सवैद्य, सस्कृतस्येव प्राकृते ।

आ आ ल ल विसर्गश्च, पे भौ डप्रशया लुन ॥

एतद्वज्रयो वर्णगणो, लोकाद् बोध्योऽनुवृत्तित ।

इमौ स्ववर्गसयुक्ता, वर्णौ च भवनो हि तौ ॥

येदौतौ चापि केवाचित्, केनच कैमय यथा ।

सौन्दर्यं च सौमित्रश्च, कौरवाः कौरवा इति ॥

अस्वर्गं व्यञ्जन सर्वं, कृत्वा द्विवचन तथा ।

अनुवर्णस्तु बहु-व च, न भवत्यत्र कुत्रचित् ॥

बहुलम् ॥ २ ॥

' बहुलम् ' इत्यधिकृत-माशास्त्रपरिपूरणात् ।

वेदितव्यं, यथास्थान, तदकार्यं दर्शयिष्यते ॥

आर्षम् ॥ ३ ॥

आग्नीनामिदमार्थं च, प्राकृतं बहुल भवेत् ।

तच्चापि दर्शयिष्यामो, यथास्थान यथाविधि ॥

कचित् प्रवृत्तिः कचिदप्रवृत्तिः, कचिद् विज्ञाया कचिदन्यदेव ।

धियेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं यदन्ति ॥

दीर्घ-इत्सौ मिथो वृत्तौ ॥ ४ ॥

स्वराणां दीर्घस्वरत्वे, समासे भयतो मिथ ।

तत्र दीर्घस्य ह्रस्वस्य, पूर्वं तावन्निरुधते ॥

' अन्तर्घेदि ' -पदस्थाने, ' अन्तर्घेर्द् ' प्रयुज्यते ।

सप्तविंशतिरित्यत्र, ' सप्तावीसा ' भवेदिदम् ॥

कचिन्नो ' जुवद्-जणो, ' चिकल्यस्तु कचिद् यथा-न ।

बायी-मर्द् यारि-मर्द्, भुजयन्त्रमथोच्यते ॥

भुआ-यत ह्रस्व-यत, यथो पतिगृह त्विदम् ।

पद्-हर पद्-हर, अथ घेणुवन पदम् ॥

' घेणु-घण घेणु-घण, ' इत्येवमभिधीयते ।

अथ दीर्घस्य ह्रस्वस्य, निमग्नसित इत्यपि ॥

कचिद् विहृत्यो- जडगु-यम च जडगुणा यद् ।

मह-सोक्त नर्द्-सोक्त, घेय गीर्-हर त्विदम् ॥

गोरी-हर, पद्-मुद्, गद्-मुद्गुदाहनम् ।

पदयोः सन्निर्वा ॥ ५ ॥

महत्तोल सन्निधत्तव्यं, व्यग्रस्थितयिभाषया ।

प्राकृते निमित्तं येष, तदुदाहियते यथा-॥

गात्रेभ्यो वास-इत्सो, विममाऽऽययो विमम पाययो भयति ।

दृष्टि ईसरो विकल्पाद्, दृष्टि-सरो, माउ-वर्षयं तु ॥

साक-भयमिति पेय, ' पद्गोरिति ' कि ' मर्द् मर्द् ।

पाया, पद्, पायाभो, गुदाय चतपि मुदाय ॥

बहुसाधिकारजायात्, कचिदेकस्मिन् पदेऽपि यथा-।

काहिं काही, बिम्बो, बीम्बो, इत्यादि बोध्यम् ॥

न युवर्णस्यास्वे ॥ ६ ॥

इवर्णोवर्णयोरस्वे, परे वर्णे न सहिता ।

यंदांमि अज-वहर, न वेरि-वमो वि अययासो ॥

दण्ड-वहिर-लिप्तो, सहर्द उद्दो, सहर्द एसो ।

सजाबहु अवज्जटो, नव-वारिहगे व्व विज्जुलाभिम्बो ॥

नह-व्यभावलि अरुणो, वेद्य चेत्याद्युदाहरणम् ॥

' युवर्णस्येति ' किं !, गूढो-अर-तामरसत्पभम् ।

' अस्वे ' इति च किं !, सिध्येत्. पुहयीसो यथा पद्म् ॥

पदोतोः स्वरे ॥ ७ ॥

एकारौकारयोः सान्ध-र्न स्यात् क्वापि स्वरे परे ।

बहुभाक् नहुक्लिङ्गे, आद्यधतीर्षं कचुअ अगे ।

मयरूपसरधारणि-धारा-वेअव्य दीसन्ति ॥

चवमासु अज्जसे-न-कलम-दन्तावदासमूर्जुषं ।

त चेअ मिथिभ-विस-द-म-विरसमालपिज्जमां एपिह ॥

अहो अच्चरिभ चापि, ' पदोतोरिति ' किं !, यथा-।

आथालोमण-तरसा, इयरकईण जमति बुद्धीमो ।

अथअम निराय-भमैति दिअय कइन्वाण ॥

स्वरम्योदृते ॥ ८ ॥

व्यञ्जनसप्तको य, स्वरो व्यञ्जनेऽत्राशेष्यते लुप्ते ।

उद्धृत् स इह स्याद्, न स्वरसन्धिस्तु तत्परत ॥

गयणे विअ गध-उभि, कुणन्ति, रयणी-अरो य मणुअस ।

निसा-अरो य निसि अये, बाहुलकात् क्वापि वैकल्प्यम्-॥

कुमारो कुजअरो च, मुरिसो च सुजुरिसो ।

सन्धिरेव क्वचित् चछ-ओ च सालादणो यथा ॥

अन एव प्रतिषेधात्, समासेऽपि स्वरस्य तु ।

स धौ भिअपद-व च, वेदितव्यं मनोपिभि- ॥

त्यादेः ॥ ९ ॥

तिबादीनां स्वरस्य स्यात्, न तु सन्धि स्वरे परे ।

यथा ' जवति इह ' स्यात्, तथा- ' होह इह ' स्मृतम् ॥

लुक् ॥ १० ॥

स्वरस्य बहुत्र लुक् स्यात्, सहितायां स्यरे परे ।

नि श्यामोच्चासो नी-सानृसासा च सभयत्यत्र ।

त्रिदशश तंयमीमो, प्रयुज्यते कोविदेरेषम् ।

अन्त्यव्यञ्जनस्य ॥ ११ ॥

शब्दानामन्तिमस्य स्याद्, व्यञ्जनस्येह अग्नं यथा ।

तमो जम्मो जमो जाय, ताय चेत्यादि गठने ॥

समामं तु विभक्तीनां, राफयगानामपेक्षया ।

सन्त्यन्त चाप्यनन्त्यत्वे, भयनोपयगम्यताम् ॥

यथा सभिकम् मङ्गिण, मद्यत मङ्गलोऽपि च ।

एनहुणा यम्-गुणा, तग्गुणा तद्गुणा इति ॥

न भञ्जोः ॥ १२ ॥

अदृष्टित्येतयोस्तय, एवञ्जनं नैव लुप्ते ।

यथा-सहृदय सह, इगय चोअय पद्म् ॥

निर्दुरोः ॥ १३ ॥

निर्दुरेत्पन्मोपो या मिमम न मद् यथा ।

इत्सरो इत्सरो चापि, इत्तिमो इत्तिमो तथा ॥

स्वरेऽन्तरश्च ॥ १४ ॥

मान्तरो निर्धुरीभ्रान्त्य, व्यञ्जन सुप्यते स्थरे ।
निरन्तरं भतरऽन्या, निरसैस दुरुत्तरम् ॥
दुरवगाहमित्यादि, कचिच्छुक् चापि दृश्यते ।
यथा भ्रन्तोवरीत्यत्र, रकारो होपमाप्तवाद् ॥

स्त्रियामादविद्युतः ॥ १५ ॥

स्त्रियां प्रवर्तमानस्य, शब्दस्यान्त्यं यदस्वरम् ।
तस्य स्थाने भवत्यात्वं, विद्युच्छब्दे तु नेप्यते ॥
प्रतिपत् पाडिविभ्रा स्यात्, सपत् सपत्रा च सरित् सरित्रा च ।
बाहुलकात् 'सरिया' ऽऽद्यपि, 'अविद्युतः' किं?, यथा विज्जू ॥

रो रा ॥ १६ ॥

स्त्रियां रेफान्तशब्दस्य, 'रा' इत्यादेश इप्यते ।
अयमात्वापवादोऽस्ति, यथा रूप धुरा-पुरा ॥

क्षुधो हा ॥ १७ ॥

क्षुधो घस्यास्तु हादेश-स्तेन रूप 'क्षुहा' भवेत् ।

शरदादेरत् ॥ १८ ॥

शरदादेरन्तिमस्य, व्यञ्जनम्याद् भवेदिह ।
शरद् भिषगू यथा स्यातां, सरत्रो मिसत्रो क्रमात् ॥

द्विप्रावृषोः सः ॥ १९ ॥

द्विप्रावृषोः सौ भवति, तेन स्यात् पाउसौ दिसा ।

आयुरप्सरसोर्वा ॥ २० ॥

आयुषोऽप्सरसश्चान्ते, सौ वा भवति, तद्यथा- ।
दीहाउसौ च दीहाऊ, अचक्रराऽचक्ररसा भवेत् ॥

ककुनो हः ॥ २१ ॥

ककुनो भस्य 'हः' स्यात्, ककुहा तेन सिद्ध्यति ।

धनुषो वा ॥ २२ ॥

धनुषः यस्य हो वा स्यात्, धणुह च धणु यथा ।

मांऽनुस्वारः ॥ २३ ॥

अन्तिमस्य मकारस्या-नुस्वारोऽत्र विधीयते ।
जलं फल गिरिं वच्छ, पेच्छेत्यादि निदर्शनम् ॥
काप्यनन्त्यस्यापि यथा, -वणमि च वणमि च ।

वा स्वरे मश्च ॥ २४ ॥

अन्तस्वस्य मकारस्या-नुस्वारो वा स्वरे परे ।
पक्षे लुगपवादो मौ, मस्य स्थाने भवेदिह ॥
उसभ अजिअ वदे, उसभम् अजिअं च वा ।
बाहुलत्वात् तथाऽन्यस्य, व्यञ्जनस्यापि मौ भवेत् ॥
साक्षात् सक्ख, यत् ज, तत् तं, विष्वक् च वीसुमथ सम्यक् ।
सम्म, पृथक् पिहम्, इह-मिहय चाऽऽलेदुअ वेद्यम् ॥

क-अ-ए-नो व्यञ्जने ॥ २५ ॥

स्थाने रुप्रगणानां म्या-दनुस्वारोऽस्वरे यथा- ।
पङ्क्ति पती च, पराह-मुख परमुहो, कञ्चुक कञ्चुओ ।
अपि लाङ्कन सङ्कण, एणुख इति छमुहो, जयनि ।
उकएण तूकण, मन्था मजा च, विन्ध्य इति विंजो ।
एव लादिष्वनुप्रश-निदर्शनं चान्यदपि वेद्यम् ॥

वक्रादायन्तः ॥ २६ ॥

वक्रादीनां च शब्दानां, प्रथमादिश्च य स्वरः ।

तस्यान्ते स्यादनुस्वारः-ऽऽगमो सस्यानुसारतः ॥

वक् तस असू, मसू पुत्रं च कुपत्रं पसू ।
गुत्र मुदा बुध, कंकोडो विच्छिन्नो गित्री ॥
मंजारी दसणमि-त्यादिष्वान्यस्य कार्यमिह वेद्यम् ।
परं सुआ च वयसो, मणसिणी चापि माणसी ॥
मणांसिला चेत्यादि-प्रागमकार्यं भवेद् द्वितीयस्य ।
अणिञ्चतयमद्भुतय-मघरिं अनयोस्तृतीयस्य ॥
कचिच्छन्दःपूरणेऽपि, 'दंघ-नाग-सुवशभं' ।
कचिन्न-गिणी मञ्जारी, मणसिला मणांसिला ॥
आषे 'मणोसिला' रूप, 'अद्भुतयम्' इत्यपि ।
वक्र ज्यस्त्र इमशु पुत्र, गुच्छ मूर्धा च कुम्भल ॥
अशूपारि वयस्या मा-जारी गृष्टिर्मनस्विनी ।
पर्युष्टमश्च कर्कोटो, दर्शन गृष्टि-वृष्टिकौ ॥
अतिमुक्तकः प्रतिश्रुत्, मनस्वी च मनःशिला ।
इत्यादयो नूरि शब्दाः, वक्रादौ परिकीर्तिताः ॥

क्त्वा-स्यादेर्ण-स्वोर्वा ॥ २७ ॥

क्त्वाप्रत्ययस्य स्यादीनां, प्रत्ययानां च यौ ण-सू ।
तयोरन्नस्त्वनुस्वारो, वा स्यादित्यवधार्यताम् ॥
यथा-काऊण काऊण, काऊभाण पद तु वा ।
स्यात् काऊभाण, स्यादौ व-च्छेण वच्छेणमित्यपि ॥
तथा वच्छेसु वच्छेसु, 'णस्वोरिति' किम्? अगिणो ।

विंशत्यादेर्धुक् ॥ २८ ॥

विंशत्यादिपदानां योऽ-नुस्वारस्तस्य सुभवेत् ।
तेन स्याद् विंशतिर्धौसा, त्रिंशत् तीसा च सस्कृतम् ॥
सक्यं स्याच्च सस्कार, सकारो विनिगद्यते ।

मांसादेर्वा ॥ २९ ॥

मांसादीनामनुस्वारो, लोपमेति विकल्पनः ।
मास मस, मासल मसल वा, ।
काग कम, केसुअ किंसुअ वा ।
सीहो सिहो, कि कि, वा दाणि दाणि, ।
पासु पमू वा, कह वा कह स्यात् ॥
एव एव नूण नूण, समुह समुह तथा ।
इआणि वा इआणि, म्यान् मांसादीनां निदर्शनम् ॥
मांस कांस्य कथ पांसु-मांसत्र सिंह-किंशुकौ ।
एव नूनम् इदानीम् किम्, दाणिम् समुख इत्यपि ॥

वर्गेऽन्त्यो वा ॥ ३० ॥

अनुस्वारस्य वर्गान्त्यो, वा तद्वर्गे परे भवेत् ।
पङ्को पको, कञ्चुओ कञ्चुओ वा, ।
सज्जा सजा, कएटओ कटओ वा ।
कड कएड, अन्तर अतर वा, ।
चन्दा चदो, कम्पर कपर वा ॥
इत्याद्यन्यद् वदिनव्य च लदय, वर्गे किं? यन् ससओ सहरेति ।
कांचद धारा शब्दविद्याप्रवीणा, एतत्कार्यं नैत्यक वर्णयन्ति ।

प्राष्ट-शरत्-तरणयः पुंसि ॥ ३१ ॥

प्राष्टशब्द-शरच्छब्द-स्तरणिश्चेति ते त्रय ।
पुंसि स्तुत्तरणी चैस, पाउमो सरत्रो यथा ॥

स्त्रमऽदाम-शिरो-नजः ॥ ३२ ॥

दामन्-शिरो-नभो वज्र, यत् सान्न नान्तमस्ति वा ।
शब्दस्वरूप तत्सर्वं, पुंलिङ्गमवगम्यताम् ॥

‘ जसो पञ्चो तमो तेभ्यो, उरो ’ सान्ते निदर्शनम् ।
‘ जम्भो नम्भो तथा मम्भो , ’ नान्ते लक्ष्यमिदं मतम् ॥
‘ अदामेत्यादि ’ किं प्रोक्तम् ? , यथा-दाम सिर नह ।
सेय चम्म वय चैता दृश बाहुलक पदम् ॥

वाऽङ्ग्यर्थ-वचनाद्याः ॥ ३३ ॥

ये चाक्षिवाचकाः शब्दा-स्तथा ये वचनादयः ।
ते पुंसि सप्रयोजक्याः , सर्वेऽपीह विकल्पनात् ॥
तत्राक्षरार्था यथा-‘ अच्छी, अच्छीह ’ चापि गद्यने ।
अञ्जल्यादिगणे पाठात् , ‘ एसा अच्छी ’ कचिद् भवेत् ॥
चक्खू चक्खूई , नयणा, नयणाह च , लोअणा ।
लोअणाह च , वचना-दिर्यथा-वयणा तथा ॥
वयणाह, विज्जुणा तु, विज्जुण च , कुलो कुल ।
छन्दो छन्द च , माहप्पो , माहप्प , भायणाई तु ॥
भायणा च , तथा दुक्खा, दुक्खाह चेति भण्यते ।
नेत्ता नेत्ताहमित्यादे , सिद्धि-संस्कृतवद् भवेत् ॥

गुणाद्याः क्लीबे वा ॥ ३४ ॥

क्लीबे गुणादयः शब्दा , प्रयोक्तव्या विकल्पन ।
गुणा गुणाह, देवाणि, देवा, विन्दूई विन्दुणो ॥
अग्ग अग्गो , मण्डलग्ग, मण्डलग्गोऽपि भण्यते ।
करुह करुहो , रुक्खा रुक्खाई चेत्यपि ॥

वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् ॥ ३५ ॥

ये तु शब्दा इमान्ताः स्यु-स्तथाऽञ्जल्यादयश्च ये ।
ते सर्वे वा स्त्रिया वाच्या स्तदुदाहिष्यते यथा- ॥
गरिमा महिमा नित्त-ज्जिमा च धुत्तिमाऽणिमा ।
एते स्त्रापुसयार्थेभ्यः , अथाञ्जल्यादिरुच्यते ।
अजल। चोरिआ पिछी , तथा पिछ च चोरिअ ।
अच्छ। अच्छि च वा पण्हा, पण्हो कुच्छ। बली निही ॥
गण्ण। रस्सी विही चैता-दृशोऽञ्जल्यादिरिष्यते ।
‘ गड्ढा गड्ढो ’ ऽनयो सिद्धि-रत्र संस्कृतवन्मता ।
इमात तन्त्रमाश्रित्य, कार्य्यद्वयमिहेष्यते ॥
त्वादेशस्य डिमेत्यस्य, पृथ्वादीन्नाञ्च सग्रहः ।
त्वादेशस्य सदा स्त्रीत्व-मिच्छन्त्येके विपश्चितः ॥

वाहोरात् ॥ ३६ ॥

आकारो बाहुशब्दस्य, स्त्रीत्वेऽन्तादेश इष्यते ।
“ बाहाए जेण धरिओ, पक्काए ” इति दृश्यते ॥

अतो मो विसर्गस्य ॥ ३७ ॥

अत पर संस्कृतोक्तो , यो विसर्गो भवेदिह ।
तस्य स्थाने तु ‘ मो ’ ह्यन्ता-दृशादेशो विधीयते ॥
सर्वेन सञ्जआ तेन, पुरन पुरओ तथा ।
अग्रनस्वगगओ वाच्यो , मार्गेनो मगगओऽपि च ।
सिद्धावस्थापेक्षयाऽपि , नवतो भवओ तथा ।
नव-तस्तु भवतो स्यात्, सन्त सतो, कुतः कुदो ।

निष्पती ओत्परी माल्य-स्थान्वा ॥ ३८ ॥

निष्पती ओत्परी वा स्त , परे माल्ये च तिष्ठती ।
अत्र योऽभेदनिर्देशः , स च सर्वार्थ इष्यते ।
ओमाल वाऽपि निम्मल्ल , पङ्का परिण तथा ॥

आदेः ॥ ३९ ॥

आदेरित्यधिकारोऽयः, ‘कगचा-’। ७।१।१७७। ऽवधिको मतः
इतः परस्तु यः स्थानी , तस्यादेः कार्य्यमिष्यते ॥

त्यदाद्यव्ययात् तत्स्वरस्य लुक् ॥ ४० ॥

त्यदाद्यव्ययशब्दान्यां, यौ त्यदाद्यव्ययौ परौ ।
तयोरादे स्वरस्येह, बहुलं लुग् विधीयते ॥
अम्हे पत्थ यथाऽम्हेत्थ, जइ इमा जइमाऽपि वा ।
अइअह जइह , चैव-माद्य वेद्य निदर्शनम् ॥

पदादपेर्वा ॥ ४१ ॥

पदात्परो योऽपि शब्दस्तस्यादेर्घोऽत्र लुग्भवेत् ।
यथा-केण वि केणाधि, वा , त पितमवाप्यते ।

इतेः स्वरात् तश्च द्विः ॥ ४२ ॥

इति. पदात् परो यत्र, तस्यैकारो विबुध्यते ।
स्वरात्परस्तकारस्तु, तदीयो द्वित्वमाप्नुयात् ॥
स्यात् किं ति जति दिट्ति , ‘ न जुत्ति ति ’ स्वराद् यथा-
तहत्ति जत्ति पीओ सि, पुरिसो ति निगद्यते ॥

लुप्त-य र-व-श-ष-सां शषसां दीर्घः ॥ ४३ ॥

येषामुपर्य्यधस्ताद् वा , शषसा यान्ति होपताम् ।
यरवा. शषसा वाऽपि, तेषां म्यादादिदीर्घता ॥
शस्य यलोपे ‘ पश्यति , पासई ’ ति निगद्यते ।
‘ कश्यप कासवो ’ ‘ आव-श्यकमावासय ’ तथा ।
रस्य होपे तु ‘ विश्राम , वीसामो ’ सप्रयुज्यते ।
‘ विश्राम्यति वीसमह , ’ मिश्र मीसं च ज्ञेयते ॥
यलोपे त्वश्च आसौ स्यात् , शलोपे तु मन शिला ।
मणासिहा , च तु शास-नोऽपि दृसासणो जवेत् ।
यकारस्य यलोपे तु, शिष्य सीसोऽनिधीयते ।
तथा रलोपे वर्षास्तु, वासा चाथ वलोपेन-॥
विष्वाण स्याच्च वीसाणो , विष्वक् वीसु च ज्ञाप्यते ।
पस्य होप तु निषिक्तो, नीसित्तो, सस्य होपने ।
सस्य सास कस्यचित् तु , कास-ईति रलोपने ॥
रञ्च ऊसो च विश्रम्भ , वीसम्भोऽथ वलोपने ।
नि स्व नीसो , सलोपे तु , निस्सह नीसहो भवेत् ॥

अतः समृद्ध्यादौ वा ॥ ४४ ॥

समृद्ध्यादिषु दीर्घ स्या-दकारस्याऽऽदिमस्य वा ।
सामिच्छी च सामिच्छी , जवति पसिद्धी च पासिद्धी ॥
पयम् तु पायम् स्यात् , पाडिचआ पमिचआ वेद्या ॥
पासुत्तो च पसुत्तो , पमिसिद्धी पामिसिद्धी स्यात् ।
सारिच्छोऽपि सारिच्छो , तथा मणसी च माणसी ॥
माणसिणी मणसिणी , अहिआई आहिआई वा ।
पारोहो तु परोहो , जवति पवासू च पावासू ॥
पाडिप्फकी पडिप्फकी , समृद्ध्यादिरय गण-॥
समृद्धि. प्रतिबिद्धिश्च , प्रतिस्पर्धी मनस्विनी ।
प्रगेह प्रकट प्रतिपत् , प्रसुप्तोऽथान्नयानि च ।
सदृक्च मनस्वी च , प्रवासी चैवमादयः ।
तेन प्रवचन पाव-यण , अस्पर्श आप्त्सो ।
परकीय पारकेर , पारकं चापि पठ्यते ।
अतुरत आउरत , इत्याद्यपि च सिध्यति ।

अव्ययेषु तथोत्प्राता-दिष्वाकारस्य चाऽद् भवेत् ।
 तत्राऽव्यये 'जह जहा,' रूप 'तह तहा' तथा ॥
 'व वा' 'ह हा' 'ऽह वाऽह' -प्रमुखा बहवो मताः ।
 उत्प्रातादौ तु-उक्त्वाय, उक्त्वाय, चमरो तथा ॥
 चामरो, कलधो काल-आं परिष्ठाविभो पुनः ।
 स्यात् परिद्विभ्यो, सग-विभो सगविभो पदम् ॥

तल्लवेण्ड ताल्लवेण्ड, ठविभो ठाविभो भवेत् ।
तल्लवोण्ड ताल्लवोण्ड, पायस पयस, स्मृतम् ॥
इलिभो हलिभो, नारा-भो नराभो च, खाहर ।
अहर, कुमरो वाच्य, कुमारो, वलया पुन ॥
बलाया, बाम्हणो बम्ह-णो, पुण्डाणो मनान्तरे ।
पुण्डाणो च, चमू चामू, दावगी च दवग्यपि ॥
उत्खान चामर ताल्ल-वृन्त प्राकृतहासिकौ ।
स्थापित, कालको नारा-चो बलाका च खादिर ॥
कुमारो, ब्राह्मण, पूर्वा-ह्येभौ कस्यन्मते ।
उत्खातादिरय धीरै-राकृत्या परिगण्यते ॥

घञ्ठुष्टेर्वा ॥ ६८ ॥

घञ्निमित्तो घुञ्ठिरो, य आकारोऽस्तु तस्य वाऽद् ।
'पवाहो पवहो' वा स्यात्, 'पयारो पयरो' तथा ॥
'पथावो पथवो' कापि, न 'रात्रो' रागवाचकः ।

महाराष्ट्रे ॥ ६९ ॥

महाराष्ट्रे हकारस्या-ऽऽकारस्त्व त्वद्विधानतः ।
'मरहट्ट मरहटो', पुनपुसकतो भवेत् ॥

मांसादिष्वनुस्वारे ॥ ७० ॥

कृतानुस्वारमांसादा-वाकारो यात्यकारनाम् ।
मस कसं तथा पसू, पसणो कसिभोऽपि च ॥
वंसिभो परुवो ससि-न्दिभो सज्जिभो यथा ।
'अनुस्वारे' इति कथम् ?, 'मास पासू' न चाऽदिह ॥
मांस कास्य पांसन कां-सिक वाशिकपाणरुचौ ।
पासु सासिकिक, साया-त्रिको मांसादिरिष्यते ॥

इयामाके मः ॥ ७१ ॥

इयामाके तु मकारस्य, य आकारोऽस्ति नस्य तु ।
अदादेशेन इयामाक, 'सामभो' विनिगद्यते ॥

इः सदादौ वा ॥ ७२ ॥

सदादिशब्देऽप्यित्वा स्या-दाकारस्य विभाषया ।
'सया सइ' च वा रूप, 'कुप्पासो कुप्पिसो'ऽपि च ।
'निसाभरो निसिभरो', तथैवान्ये सदादय ॥

आचार्ये चोऽच ॥ ७३ ॥

आचार्यशब्दे चस्याऽऽन-इत्वमत्वं च वा भवेत् ।
रूप 'आयरिभो' तेन, सिद्धम् 'आहरिभो' तथा ॥

ईः स्त्यान-खट्वाटे ॥ ७४ ॥

स्त्यान-खट्वाटयोरादे-रात ईत्वं विधीयते ।
त्रीण थीण तथा धिम्, खल्लीभो तेन सिद्ध्यति ॥

उः सास्ना-स्तावके ॥ ७५ ॥

सास्ना-स्तावकयोरादे-रात उत्त्य निगद्यते ।
तेन सास्ना भवेत् 'सुणहा', स्तावक 'थुचभो' भवेत् ॥

ऊदाऽऽसारे ॥ ७६ ॥

भासारशब्दे स्यादादे-रात ऊत्वं विभाषया ।
तेन सिद्ध्यति 'ऊमारो, भासारो' रूपयुग्मकम् ॥

आर्यायां र्यः उवञ्चाम् ॥ ७७ ॥

र्यस्याऽऽत ऊत्वं 'आर्यायाम्', 'अञ्जु' भवञ्चां नतो भवेत् ।
'भवञ्चामिति' तु किम् ?, अज्जा, साध्वी श्रेष्ठाऽपि भव्यते ॥

एदशब्दे ॥ ७८ ॥

प्राह्यशब्दे भवेदेत्वं-मातो गेज्ज ततो भवेत् ।

द्वारे वा ॥ ७९ ॥

द्वारशब्दे भवेदेत्वं-माकारस्य विज्ञापया ।
देर पक्के दुआर स्याद्, दार बार प्रद तथा ॥
'नेरइभो नारइभो', स्यातां नैरयिकनागिकयोस्तु ।
आर्षेऽन्यत्रापि यथा, 'पच्छेकम्म' तथाऽन्यदपि ॥

पारापते रो वा ॥ ८० ॥

भवेत् पारापते रस्या-ऽऽकारस्यैत्वं विकल्पनात् ।
तेन 'पारेवभो पारा-वभो' रूपद्वय मतम् ॥

मात्रटि वा ॥ ८१ ॥

स्यान्मात्रप्रत्यये वाऽऽत-एत्वं रूपद्वय ततः ।
एक 'एसिअमेस ए-सिअमस' तथाऽपरम् ॥
बहुलाद् मात्रशब्दे 'भो-मणमेस' ततो भवेत् ।

उदोद्वाऽऽर्द्धे ॥ ८२ ॥

आकारस्याऽऽर्द्धशब्दे स्या-हुत्त्वमोत्वं विज्ञापया ।
'उल्ल ओल्ल' तथा पक्के, 'अल्ल अल्ल' च वा भवेत् ॥

ओदाल्यां पङ्क्तौ ॥ ८३ ॥

'आली' शब्दे भवेदात-ओत्वं पङ्क्त्यर्थबोधने ।
'ओली' पङ्क्ति विज्ञानीयात्, 'आली' नात्र, सखी यदि ॥

इस्वः संयोगे ॥ ८४ ॥

दीर्घवर्णस्य ह्रस्वत्व, संयोगे परतो भवेत् ।
तद्यथादर्शन वेद्य, न सर्वत्र विधीयते ॥
ताम्ब 'तम्ब' आम्र 'अम्ब', आस्यम् 'अस्स' प्रयुज्यते ।
मुनीन्स्त्व 'मुणिन्दो' स्यात्, नीर्थ 'तिथ' तथा पुन ॥
गुक्ल्लापा 'गुक्ल्लावा', चूर्ण, 'चुणो' प्रपठ्यते ।
नरेन्द्रस्तु 'नरिन्दो' स्यात्, 'मिलिच्चो' स्नेच्छ उच्यते ॥
अधरोष्ठो 'ऽहरुठ' स-वेद्य, नीलोत्पल तथा ।
'नीलुप्पल' विज्ञानीया-देधमन्यद् निदर्शनम् ॥

इत एद्वा ॥ ८५ ॥

संयोगे तु परे वाऽऽदे-रित एत्वं विभाष्यते ।
पिएरु पेणं च धम्मिद्ध, धम्मिद्ध विबुधा विदुः ।
स्यात् सिन्दूरं तु सेन्दूर, विण्हू वेण्हू निगद्यते ।
'पिट्ट पेट्ट' अनित्यत्वात्, 'चित्ता' इत्यत्र नो भवेत् ॥

किंशुके वा ॥ ८६ ॥

एत्वं वाऽऽदेरितो वेद्य, किंशुके वाचके यथा ।
'केसुअ किंसुअ' चैतद्, द्वय रूप विदुर्बुधा ॥

मिरायाम् ॥ ८७ ॥

भवेदेत्त्वमिकारस्य मिरा मेरा ततो भवेत् ।
पथि-पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-विज्जीतकेष्वत् ॥ ८८ ॥

पथि प्रतिश्रुत् पृथिवी, हरिद्रा-मूषिके तथा ।
विज्जीतके भवेदादे-रितोऽत्त्वमिति भव्यते ।
पहो च पुहवी पुहवो, परसुमा मूसभो इलही तु ।
वा स्यादत्र हलदा, 'वहेरुभो' कापि वैकल्प्यम् ।
'पथ किर देसित्ते', 'त्यत्र तु पथिशब्दतुल्यवाच्यस्य ।
पन्थशब्दस्य रूप, ज्ञातव्य शब्दविक्रिंह ।

शिथिलेद्गुदे वा ॥ ८९ ॥

शिथिलेद्गुदयोरादेरितोऽद् वा सप्रयुज्यते ।

सदिल नवति पसदिल, सिदिल पसिदिलमिहाऽस्त्वैकल्य्यात् ।
इदुअमहुअमिहुद-शब्दे रूपद्वय बोध्यम् ॥

तित्तिरौ रः ॥ ८० ॥

रस्येतोऽस्त्व तित्तिरौ स्यात्, तेन रूप हि 'तित्तिरो ।

इतौ तो वाक्यादौ ॥ ८१ ॥

वाक्यादेरिति शब्द-स्याऽन्त्यस्येतोऽत्र सभक्त्यत्वम् ॥

'अ' जम्पिआवसाणे, 'अ' विअसिम-कुसुमसरोऽप्याह ॥

ईजिहा-सिह-त्रिशद्विशतौ त्या ॥ ८२ ॥

जिहादिषु इकारस्य, ईकार सप्रयुज्यते ।

'जीहा' सीहो 'तथा' 'तीसा', यत् तित्तिर त्वा सह ॥

'तीसा' इति नवेद रूप, किन्तु क्वापि न जायते ।

'सिहदत्तो' 'सिहराओ' इति बाहुल्यकान्तम् ॥

लुकि निरः ॥ ८३ ॥

निरौ रलोपे दीर्घ स्या-दिकारस्येति शब्दते ।

स्याद् 'नीसासो' 'नीसरह', एवमन्यन्निदर्शनम् ॥

'लुकीति' किम् ? , यथा-निस्स-दाइ अगाई, निरणओ ।

द्विग्योस्तु ॥ ८४ ॥

द्विशब्दे न्युपसर्गे च, भवेदुत्त्वमितो यथा- ।

दु-मत्तो च दु-आई च, दु-रेहो दु-विहो तथा ॥

द्वययण, वैकल्प्य च, नवेद बाहुल्यकादिह ।

दु-उणो वि-उणो चैव, दुइओ विइओ यथा ॥

'क्वचिन्न' द्विरद-शब्दो, 'दिरओ' स्याद् द्विजो 'दिओ' ।

ओत्व क्वापि यथा रूप, 'दो-वयण' प्रपठ्यते ॥

स्याद् 'णुमओ' 'णुम-जह', न्युपसर्गे निदर्शनम् ।

अनित्यत्वाद् 'निवरइ', नवतीत्यादि चूरिश- ॥

प्रवासीदौ ॥ ८५ ॥

इदौ प्रवासिनि तथा, नवेदुत्त्वमितो, यथा- ।

'उच्छ' 'पावासुओ' चैतद्, द्वय व्याह्रियते पदम् ॥

युधिष्ठिरे वा ॥ ८६ ॥

युधिष्ठिरे भवेदादे-रित उच्च विकल्पनात् ।

जहुष्ठिलो तनो रूप, विकल्पेन जहिष्ठिलो ॥

ओच्च द्विधा कृगः ॥ ८७ ॥

उत्त्वमेत्वं द्विधाशब्दे, वा कृधातावित्, परे ।

'दोहा-किज्जइ' तेन स्यात्, 'दुहा-किज्जइ' इत्यपि ।

दोहा-इअं दुहा-इअ-मिति, 'कृग' इति किं ? , 'दिहाऽऽगय' येन ।

क्वचित् केवलस्य स्यात्, 'डहा वि सो सुर-वहू-सत्थो' ।

वा निर्जरे ना ॥ ८८ ॥

निर्जरे तु नकारेण, सहेतो वौत्त्वमिष्यते ।

'ओज्जरो' 'निज्जरो' चैना-दृश रूपं बुधा विदुः ॥

हरीतक्यामीतोऽत् ॥ ८९ ॥

हरीतकीपदे रीका-रस्येतोऽत्त्व विधीयते ।

रूपं 'हररई' तेन, बुधैरेवं प्रयुज्यते ।

आत् कश्मीरे ॥ ९० ॥

आत्त्वमीतोऽस्तु कश्मीरे, 'कम्हारा' तेन सिद्ध्यति ।

पानीयादिष्वित् ॥ ९१ ॥

पानीयादिषु शब्देषु, स्यादीतोऽत्त्वमध्वम् ।

पाणिअ अक्षिअ ओसि-अतं जिअइ आणिअ ॥

विलिअ करिसो वम्मि-ओ तयारि च जीअउ ।

दुइअ तदअ गहिर्, गहिअ सिरिसो च पलिविअ पसिअ ॥

उवणिअमिति सवेद्यः, पानीयादिर्गणो विदुषा ।

बाहुल्यकान् क्वचिदेषु, स्याद् वैकल्प्य ततः करोसोऽपि ॥

पाणीअ च अलीअ, उवणीओ जीअइ स्यात् ॥

पानीय ब्रीडिन घल्मी-क तदानीं प्रदीपितम् ।

अवसीदटलीक चा-ऽऽनीत जीवति जीवतु ॥

उपनीत गृहीत च, शिरीष च प्रसीद च ।

गभोरत्तनीयकरी-यद्वितीयादय स्मृताः ॥

उज्ज।णै ॥ ९०२ ॥

जीर्णशब्दे भवेदीत-उत्त्व जुष-सुरा ततः ।

जिषं भोअणमसे च, नात्र बाहुल्यकाद् भवेत् ॥

ऊर्हीन-विहीने वा ॥ ९०३ ॥

ऊत्त्व हीने विहीने स्या-दीकारस्य विभाषया ।

इणो हीणो विहीणो च, विदुणो सिद्धिमाययु ॥

तीर्थे हे ॥ ९०४ ॥

ऊत्त्वमीतो भवेत् तीर्थ-शब्दे हे तु कृते सति ।

तूह, 'हे' इति किं प्रोक्तम् ? , 'तित्थ' नात्र यथा भवेत् ॥

एत् पीयूपापीरु-विभीतक-कीदृशेदृशे ॥ ९०५ ॥

पीयूपापीरु-विभीतक-कीदृशेदृशेषु स्यादेत्वम् ।

पेकस आमेलो, बहेडओ केरिसो एरिसो ॥

नीरु-पीठे वा ॥ ९०६ ॥

नीडपीठयोरीतो, वा स्यादेत्त्व ततश्च सिद्ध्यन्ति ।

नेड नीड पेठ, पीठं क्वाप्यन्यथाऽपि स्यात् ॥

उतो मुकुलादिष्वत् ॥ ९०७ ॥

मुकुलादीनामादे-रतो भवेदत्त्वमत्र तेन स्युः ।

मउल मउलो मउर, मउड अगरु गलोई च ॥

जहिष्ठिलोऽथ च गरई, जहुष्ठिलो सोअमल्लमिति शब्दाः ।

क्वचिदाकारोऽपि स्याद्, यथा-विदुस्तु 'विहाओ' ॥

मुकुलो मुकुरो गुर्वी, सौकुमार्य-युधिष्ठिरौ ।

अगुरुअ गुडची च, मुकुट मुकुलादयः ॥

वोपरौ ॥ ९०८ ॥

उपरौ स्यादुतो वाऽत्त्वम्, अवर्णि उवर्णि यथा ।

गुरौ के वा ॥ ९०९ ॥

गुरोः कृते स्वार्थिके के, वाऽत्त्वमादेरुनो भवेत् ।

गरुओ गुरुओ रूपे, कं विना तु 'गुरु' स्मृतम् ॥

इष्टुकुटौ ॥ ९१० ॥

इष्टुकुटौ स्यादुतश्चादे-रित्वं हि 'मिउडी' भवेत् ।

पुरुषे रोः ॥ ९११ ॥

पुरुषे रोरु. स्याद्, पुरिसो वा पउरिसं ।

ईः जुते ॥ ९१२ ॥

क्षृतं प्रयुज्यते क्लीअं, भवेदीत्वमुतो यदा ।

ऊत् सुजग-मुसले वा ॥ ९१३ ॥

सुजगे मुसले च स्या-दुत ऊत्त्व धिजायया ।

सुडघो सुडघो तेन, मुसल मुसलं भवेत् ॥

अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्चे ॥ ९१४ ॥

उत्साहोत्सन्नभिन्ने यौ, शब्दे त्सच्छौ निरीकितौ ।

तयोरादेरकारस्य, नित्यमूय विधीयते ॥

ऊसुओ ऊमयो ऊमि-त्तो ऊमरइ, उच्छुक' ।
ऊसुओ ऊससइ चे-त्यादि वेद्य निदर्शनम् ॥
उत्साहोत्सन्नयोस्तृणा-हो उच्छुओ निगद्यते ।

लुकि दुरो वा ॥ ११५ ॥

दुरो रेफस्य लेपि स्या-दुत ऊरव विकल्पनात् ।
दृप्तहो दुसहोऽपि स्याद्, दृहयो दुदयो तथा ।
मूत्रे लुकीति किं ? प्रोक्तं, दुस्सहो विरहोऽत्र न ॥

ओत् संयोगे ॥ ११६ ॥

ओत्त्वमादेरुतो नित्य, संयोगे परतो नवेत् ।
तोएम् मोएम् पोक्खर कोट्टिम वा,
कोएदो कोन्तो पोत्थओ सोखओ वा ।
बोक्कन्त वा मोगारो योगगलं वा,
मोत्था चैतान्यस्य हव्याणि सन्ति ॥

कुतूहले वा हस्वश्च ॥ ११७ ॥

कुतूहले भवेदोत्त्वमुतो हस्वश्च वा तत् ।
कोऊहल कोउदल्ल, कुऊदल्लमिति त्रयम् ॥

अदूतः सूक्ष्मे वा ॥ ११८ ॥

सूक्ष्मशब्दे नवेदत्व-सूतो वा तेन सिद्ध्यति ।
सण्ड सुण्ड तथाऽऽपि तु, 'सुहुम्' सप्रयुज्यते ॥

दुकूले वा लश्च द्विः ॥ ११९ ॥

दुकूलशब्दे वाऽऽव स्या-दूतो लश्च द्विरुच्यते ।
दुअल्ल च दुऊल्ल च, 'दुगुल्ल' त्वार्थे उच्यते ॥

ईर्वोद्भूदे ॥ १२० ॥

उद्ब्यूदशब्दे स्यादीत्व-भूकारस्य विभाषया ।
'उब्बीड' तेन 'उब्बूद,' द्वयं विद्वद्भिरुच्यते ॥

उर्भूदन्मत्कणूय-वातूले ॥ १२१ ॥

उर्भूदन्मत्कणूय-वातूलेषूत उर्भेधत् ।
उमया इनुमतो वा-उलो, कण्डुभइ स्मृतम् ॥

मधूके वा ॥ १२२ ॥

ऊत उत्वं मधूके वा, महुअ महुअ यथा ।

इदेतौ नूपुरे वा ॥ १२३ ॥

इदेतौ नूपुरे स्याता-भूकारस्य विकल्पनात् ।
निउर नेउर पक्के, नूउर संप्रकीर्त्यते ॥

ओत् कूष्माण्ण-तूणीर-कूर्पर-स्थून्न-ताम्बूल-

गुहूची-मूख्ये ॥ १२४ ॥

कूष्माण्णी-स्थूल-ताम्बूल-गुहूची-मूख्य-कूर्परे ।
तूणीरे च भवत्योत्त्वभूकारस्येति दर्शयते ।
कोहण्णी कोहणी थोर, तोणीर कोप्पर तथा ।
मोक्ख गल्लोई तबोल, व्युत्क्रमेण प्रदर्शितम् ॥

स्थूणा-तूणे वा ॥ १२५ ॥

स्थूणा-तूणयोरोत्त्वभूकारस्य विभाषया ।
थोणा थूणा तथा तोण, तूण चैवमुदाहृतम् ॥

अतुोऽतु ॥ १२६ ॥

अकारस्याऽऽदिचूतस्य, प्रवत्यत्वमितीर्यते ।
वृयभो वल्लहो वाच्यो, घृष्टो घट्टोऽजिधीयते ॥
घृत घय, तृण तर्ण, कृत कय, मृगो मओ ॥
उहाइअ कृपादिपा-उतोऽवसेयमित्यपि ॥

आत् कृशा-मृष्टक-मृदुत्वे वा ॥ १२७ ॥

मृष्टक मृष्टत्व-कृशाया-मारघमृत स्याद् यथा किंसा कासा ।
माचक च मरुत्तण मथ माउक च मरुअ वा ॥

इत् कृपादौ ॥ १२८ ॥

कृपेत्यादिषु शब्देषु, भवेद्विचयमृतो यथा ।
किंवा मिठं रसे वाच्य. मट्टमन्यत्र पठ्यते ॥
दिअय दिट्ट सिठं, दिठी सिठी निवो किवो किष्ठा ॥
गिटी पिच्छी इच्छी, गिच्छी निण धिई किच्छ ॥
सिगारो जिगारो, भिगो किसिओ निऊ धिणा घुसिण ।
किसरो किई सिमालो, विसी विइएहो विडा किषिणो ।
विक्क-कई वाहित, किसो सयिक्की च सइ किसाणू वा ॥
हिअ विंचुओ विच, इसी निसलो च उकिठ ॥
विच्ची तथा विहिओ, किवाणय वा कृपादयश्चैते ।
बाहुलकादपि कार्यं, वेद्य सिद्धेयं यथा रिच्छी ॥
कृपा मृष्ट दृष्ट हृदय-भृगु-सृष्ट रुपनूपौ,
घृणा दृष्टि सृष्टि कृति-घुखण-गृष्टि कृशहृत्तौ ॥
वृसी पृथ्वी कृत्या कृपित-कृपणी वृश्चिकधृती ।
नृशसो भृङ्गार. कृशर-सकृतौ व्याहृत-शृषी ॥
उत्कृष्ट-गृहित-शृगाल-कृशानु-गृद्धि-
शृङ्गार-शृद्धकवि-वृत्त-कृपाण-तृप्ताः
शृद्धि-सृष्टे अथ वितृष्ण-समृद्धि-कृच्छ-
भृङ्गास्तु वृत्तिरपि तेऽत्र कृपादयः स्युः ॥

पृष्ठे वाऽनुत्तरपदे ॥ १२९ ॥

स्यात् पृष्ठेऽनुत्तरपदे, वेदस्वमृत्वस्य, तद्यथा-
पिटी पठी पिठि, परि-ट्टविअ सप्रयुज्यते ॥
किमनुत्तरपद इति ?, महिवठ यथा भवेत् ।

मसृणमृगाङ्ग-मृत्यु-मृङ्ग-घृष्टे वा ॥ १३० ॥

शृङ्गे घृष्टे मृगाङ्गे च, मृत्यौ च मसृणे तथा ।
शृङ्गारस्य भवेद्विचय, विकल्पेनेति दृश्यताम् ॥
स्याद् मिअङ्गो मयङ्गो वा, मिच्छू मच्छू च पठ्यते ।
सिंग सग विजानीयाद्, धिट्टो घट्टोऽपि गद्यते ॥

उहत्वादौ ॥ १३१ ॥

श्रुत्वादीनामृकारस्य, भवेदादेरुकारता ।
उऊ पुट्टो परामुट्टो, पउट्टो पुहई भुई ॥
पउत्तो पाउसो बुदा-वणो बुट्टो च निव्वुअ ।
पाउओ पाहुड बुट्टी, उज्जु वुत्तन्त सवुअ ॥
निहुअ निउअ जामा-उओ माउओ भाउओ ।
मुणाल च परहुओ, बुद्द पहुडि निव्वुई ॥
विउअ उसहो पिउ-ओ, पुहवी च माउआ ।
अतुः परामृष्टमृणालवृन्दा-वनप्रवृत्तिप्रभृतिप्रवृष्टाः ।
वृन्दर्षभम्रातृकमातृकामा-तृकर्जुजामातृकवृद्धिवृक्षा ॥
विवृतनिवृतवृत्ता-न्ताभृतिप्राभृतप्रा-
वृतपितृकपृथिव्य, सवृतप्रावृषौ च ।
परभृतनिभृतस्पृ-ष्टानि निर्वृत्तपृथ्वी,
परिपठति च श्रुत्वा-दिं गण निर्वृत्तिश्च ॥

निवृत्त-वृन्दारके वा ॥ १३२ ॥

श्रुत उरव वा वाच्य, निवृत्तवृन्दारके पदे तु यथा ।
वृन्दारया च वृन्दा-रया निवृत्त निश्चितं च ॥

वृषभे वा वा ॥ १३३ ॥

वृषभे वेन साक स्या-टकारस्योत्त्वमत्र वा ।
'उसहो वसहो' चैता-दृशं रूपं प्रयुज्यते ॥

गौणान्त्यस्य ॥ १३४ ॥

शुणीभूतस्य शब्दस्य, योऽन्त्य ऋत् तस्य उद् भवेत् ।
स्याद् माउ-मण्डल, माउ-हर पिउहर तथा ।
माउ-सिआ पिउ-सिआ, तथा पिउ-वण स्मृतम् ॥

मातुगिद्वा ॥ १३५ ॥

मातृ-शब्दस्य गौणस्य, ऋत् इत्त्व विकल्पते ।
माइ-हर माउ-हर, कापि माईणमिष्यते ॥

तदुदात्तमृषि ॥ १३६ ॥

ओदूधुच क्रमादेतद्, मृषाशब्दे भवेदन ।
मोसा मूसा 'मुसा मोसा-वाओ' चेदक प्रयुज्यते ॥

इदुतौ वृष्ट-वृष्टि-पृथक्-मृदङ्ग नमृके ॥ १३७ ॥

वृष्टौ वृष्टे मृदङ्गे च, नमृके पृथगव्यये ।
ऋकारस्येदुतौ स्यातां, तदुदात्तिहसते यथा-॥
स्याद् मिहङ्गो मुहङ्गो वा, नसिओ नसओ तथा ।
विओ बुओ तथा विड्डी, बुडी रूपं पिह पुह ॥

वा बृहस्पतौ ॥ १३८ ॥

बृहस्पतौ भवेद् ऋतो, विकल्पनादिदुत् तथा ।
बिहृप्फर् बृहृप्फर्, बहृप्फर् च पात्तिकम् ॥ [नगस्वरूपिणी०]
इदेदोदृन्ते ॥ १३९ ॥

ऋकारस्य भवेदित्वमेवमोस्व यथाक्रमम् ।
तेन दृन्न भवेद् 'विण्ट, वेण्ट वोण्ट' त्रिधाऽऽत्मकम् ॥

रिः केवलस्य ॥ १४० ॥

केवलस्य ऋतो रिः स्याद्, 'रिङ्गी रिङ्गो' ततो भवेत् ।

ऋणार्ज्वजत्वेपौ वा ॥ १४१ ॥

ऋणऋजुऋवनऋतुऋषिषु, ऋतोऽस्तु वा रिः रिण अण रिङ्गु
उज्जू 'रिसहो वसहो', रिङ्ग उज्जू स्याद् रिसी इसी रूपम् ॥

दृशः कृप्-टक्मकः ॥ १४२ ॥

कृप् टक्-सगन्तस्य दृशे-धातोः रिः स्याद् ऋतो यथा ।
'सहृवर्ण' सरिवर्णो, सहृशः सरिसो मनः ॥
सहृस्तु 'सरिङ्गो' स्याद्, यादृशो जारिसो भवेत् ।
एव पयारिसो अजा-रिसो अम्हारिसो तथा ॥
तारिसो केरिसो तुम्हा-रिसो सन्तीह नृरिश ।
एदाद्यन्यादि-(५।१।१५२) सूत्रोक्त, प्रत्ययः क्विबिहेष्यते ॥

आहते दिः ॥ १४३ ॥

आहते तु ऋतो दिः स्याद्, 'आदिओ' तेन सिद्ध्यति ।

अरिहत्त ॥ १४४ ॥

हमशब्देऽरिगदेश-ऋकारस्य विधीयते ।
हमसिहेन दरिअ-सीहेनेति निगद्यते ॥

सृत् इतिः कृत्-कृन्ने ॥ १४५ ॥

कृत्-कृन्नेयोरनयो-सृत् इतिरादेश इष्यते तेन ।
धागाकिलिसवस, किलिन्न-कुसुमोवयारेसु ॥

एन इद् वा वेदना-चपेटा-देवर-केसरे ॥ १४६ ॥

वेदनायां चपेटायां, देवरे केसरे तथा ।

एत इत्त्व विकल्पेन, भवेदित्यवगम्यताम् ॥

विअणा वैअणा वा स्यात्, चवेडा चविना तथा ।
दिअरो देवरो घेयः, किसर केसरं मतम् ॥

ऊः स्तेने वा ॥ १४७ ॥

एत ऊत्त्व तु वा स्तेने, यूणो थेणो द्वयं जवेत् ।

ऐत एत् ॥ १४८ ॥

ऐकारस्यादिभूतस्य, भवत्येत्त्व ततो भवेत् ।
वेडव केडवो वेडो, सेला परावणो तथा ॥
तेडुक्क चैव केलासो, रूपाएयेतानि सन्ति च ।

इत् मैन्धव-शनैश्चरे ॥ १४९ ॥

ऐत इत्त्व भवेन्नित्य, सैन्धवे च शनैश्चरे ।
सण्णिच्छरो सिधव च, द्वय रूपं प्रसिध्यति ।

सैन्ये वा ॥ १५० ॥

ऐत इत्त्व तु वा सैन्ये, 'सिन्न सेन्न' ततो द्वयम् ।

अइदैत्यादौ च ॥ १५१ ॥

ऐतोऽह' सैन्यशब्दे स्याद्, दैत्यादौ च तथा गणे ।
सैन्य सइन्न सप्रोक्त, दैत्यादिर्लक्ष्यनेऽधुना-॥

अइसरिअ वइजवणो, वइभालीअ च कइअव नइर ।
वइएसो च दइओ, चइत्त वइवम्भ-वइसालो ॥

वइएहो च वइस्सा-णरो दइवअ दइन्न-वइसाहो ।
भइरव इति दैत्यादि-गणो बुधैर्व्याहृतः पूर्वे ॥

'विम्लेये तु न जवति'—चेइअमिति चैत्य इष्यते रूपम् ।

आवे- 'चैत्यवन्दन ची-चन्दण-' मुच्यते सङ्गि ।

दैत्यो दैन्य भैरवो दैवत च, धैतादीय कैतव स्वर-चैत्यम् ।

वैशालो वैशाल-वैभानरो वै-दन्नो वैदेहअ वैदंश एवम् ॥

ऐभ्वर्थ च वैजवन, दैत्यादिर्गण इत्ययम् ।

आकृत्या गणयते यस्माद्, न सख्यानियमस्ततः ॥

वैरादौ वा ॥ १५२ ॥

वैरादिषु भवेदैतो-ऽइरादेशो विकल्पनात् ।

तेन रूपद्वयं वैरे, 'वइर घेर-' मीदृशम् ॥

कइसासो केलासो, वइसवणो पण्यने च वेसवणो ।

वइआलिओ च वेआ-लिओ, चइत्तो तथा चेत्तो ॥

कइरवमिति केरवमिह, वइसिअमिति वेसिअ वा स्यात् ।

वइसपायण-वेस-पायणरूपद्वयं च मतम् ॥

वैर वैभवणो वैज्ञ-स्पायणभैर-कैरवे ।

कैलासो वैशिको वैता-विको वैरादिरुच्यते ।

एव दैवे ॥ १५३ ॥

ऐत एत्त्वमइत्त्व च, दैवशब्दे पृथग्भवेत् ।

देव वइव वइव, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

उच्चैर्नीचैरित्यत्र ॥ १५४ ॥

अथ एतादृशादेशो, भवेदैतोऽविकल्पनः ।

उच्चैर्नीचैरिति पदे, नीचम उच्चम् तथा ॥

ईद् धैर्ये ॥ १५५ ॥

धैर्य-शब्दे जवेदेन-ईत्त्व 'धीर' ततो भवेत् ।

ओतोऽद्वाऽन्योऽन्य-प्रकोष्ठाऽऽतोद्य-शिरावेदना-

मनोहर-सरोरुहे क्तोश्च वः ॥ १५६ ॥

शिरावेदनाऽन्योऽन्य-प्रकोष्ठ-मनोहर-सरोरुहातोद्ये ।
ओतोऽन्य वा, क-तयो-र्ययासजव च एत्त्व स्यात् ॥

अन्नं अन्नं, मणोहर मणहर, सिरोविभ्रणा ।
मिरविभ्रणा. आवज्ज, आबज्ज सररुह सररुहमिति ॥
रूप भवति पवट्टो, तथा पडट्टो प्रकोष्ठशब्दस्म ।
बाहुलकादि, कार्य्य, कचिदिह वेद्य यथास्थानम् ॥

ऊत्सोच्छासे ॥ १५७ ॥

ओत ऊत्त तु सोच्छासे, सूसासो सिद्धिमृच्छति ।

गव्यउ-आअः ॥ १५८ ॥

‘अठ’-‘आअ’ इत्यादेशौ, स्या-तामोतस्तु गोपदे ।
गठओ गडआ गाओ, ‘गाई एसा हरस्स’ च ॥

ओत ओत् ॥ १५९ ॥

औकारस्यादिभूतस्य, भवेदोत्त्वमिति स्थितम् ।
कौमुदी-‘कौमुई’ कौञ्च -‘कौंचो’ यौवनमेव च ।
‘जोवण’ कौस्तुज. ‘कोत्तु-हो’ कौशाम्बी च कौशिकः ।
‘कोसबी’ ‘कोसिओ’ रूपं, यथाक्रममुदीरयेत् ।

उत् सौन्दर्यादौ ॥ १६० ॥

उदादेशो प्रवेद्यैतः, सौन्दर्यादिषु, तद्यथा ।
सुन्दरं सुन्दरिअ, सुगन्धसण डुवारिओ सुमो ।
सुकोअणी पुलोमी, मुजायण-सुवणिओ प्रवति ।
सौन्दर्य-शौण्ड-पौलोमी-दौवारिक-सौवर्णिकाः ।
मौञ्जायन. शौकोदनिः, सौन्दर्यादिः प्रकीर्तितः ॥

कौक्षेयके वा ॥ १६१ ॥

कौक्षेयकशब्दे स्या-दौकारस्योत्त्वमत्र वैकल्प्यम् ।
कुञ्चेमय च कोच्छे-अय द्विरूप समुद्दिष्टम् ॥

अउः पौरादौ च ॥ १६२ ॥

कौक्षेयके च पौरादौ, य औकारः प्रपठ्यते ।
तस्य स्याद् अउरादेशः, कउच्छेअयमित्यपि ॥
पौरः-पउरा, गौमो-गउमो, सौधो निगद्यते सउहं ।
कौशसमिह कउसलमिति, पौरुपमिह पउरिसं वेद्यम् ॥
स्यात् कौरव. कउरवो, सौराः सउरा बुधैर्निगद्यन्ते ।
मौलि-मउली, मौन-मउणं, कौलास्तथा कउला ॥
पौरा गौरः कौशलं पौरुषं च, सौराः कौलाः कौरवो मौन-सौधौ ।
मौलि. पौरादिर्गणो धीरवयै-यकृत्या सउरायते नेह सउरा ॥

आश्च गौरवे ॥ १६३ ॥

ओन आत्वम्, अउश्च-स्या-दादेशो गौरवे पदे ।
स्याद् गारव गउरव, कविभिः समकीर्तितम् ॥

नाव्यावः ॥ १६४ ॥

आवाऽऽदेशोऽस्तु नौ-शब्दे, औतो ‘नावा’ ततो भवेत् ।
एत् त्रयोदशादौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन ॥ १६५ ॥

त्रयोदशादिषु संख्या-शब्देषु सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैव विधीयते ॥
यथा-तेरह तेवीसा, तेतीसा परिपठ्यते ।

स्थविर-विचकिन्नायस्कारे ॥ १६६ ॥

स्थविरे च विचकिन्ने-अयस्कारे सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैव विधीयते ॥
थेरो वेहलं पक्कारो, विअहलमपि कचिद्वि ।

वा कदले ॥ १६७ ॥

विप्रापया तु कदल-शब्दे स्वरयुतेन हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैव विधीयते ॥
फयल कयली केली, केल रूपचतुष्टयम् ।

वेतः कर्णिकारे ॥ १६८ ॥

कर्णिकारे भवेदेत्वमितो वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः कषेरं कषिआरओ ॥

अयौ वैत् ॥ १६९ ॥

प्राकृते तु विकल्पेना-ऽयि शब्दे सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैव विधीयते ॥
‘अइ उम्मसिप’ ‘पे वी-हेमि’ चैव प्रयुज्यते ।
पेकारस्य प्रयोगोऽपि, प्राकृते तेन बुध्यते ॥

ओत्-पूतर-चदर-नवमालिका-नवफलिका-पूगफले ॥ १७० ॥

पूतर-नवमालिकयो-नवफलिकाचदरयोश्च पूगफले ।
व्यञ्जनसहितेनाऽऽदेः, स्वरस्य चैव परस्वरेणापि ॥
नोमालिआ पोण्फले, नोहलिआ पोण्फली तथा बोरी ।
पोरो धोर रूपं, निर्दिष्टं कोविदैरेवम् ॥

नना मयूर-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थ-चतुर्दश-
चतुर्वार-सुकुमार-कुतूहलोदूखलोदूखले ॥ १७१ ॥

उदूखले चतुर्वारे, सुकुमारे चतुर्दशे ।
उदूखले मयूखे च, लवणे च चतुर्गुणे ॥
कुतूहले चतुर्थे च, वैकल्प्यं सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैव विधीयते ॥
मोहो मऊहो लवणं, लोण भवति चोग्गुणो ।
चउम्मुणो, चउत्थो चो-त्थो, चउहह चोहह ।
चोव्वारो च चउव्वारो, कोउहलं च कोहल ।
सुकुमालो च सोमालो, ओहलो स्यादुऊहलो ॥
सऊखलं ओफलं स्या-देवं सर्वमुदाहृतम् ॥

अवापोते च ॥ १७२ ॥

उतेऽपेऽपेऽप्यये शब्द-त्रये, वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैव विधीयते ।
‘ओ अरई’ ‘अव यरई,’ तथाऽवयासो भवेद्य ‘ओआसो’ ।
‘ओ सरई’ ‘अव सरई’ ओ-सारिअमवसारिअ चैव ॥
ओ वणं, ओ घणो, अअ-वणमुअ घणोऽथ च बाहुलकात् ।
‘अवगय-मवसहो, उअ, रवी’ न चैत्वं प्रवत्यत्र ॥

ऊचोपे ॥ १७३ ॥

उपसर्गे लूपशब्दे, सार्के वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैव विधीयते ॥
उचहसिअ ओहसिअ, ऊहसिअ वा उवज्जाओ ।
ओज्जाओ ऊज्जाओ, त्रय त्रय चात्र रूप स्यात् ॥

उमो निषण्णे ॥ १७४ ॥

निषण्ण-शब्दे वैकल्प्य आदेशः सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्योमो विधीयते ॥
णुमण्णो च णिसण्णो च, बुधै रूपद्वयं स्मृतम् ।

प्रावरणे अङ्गवाज ॥ १७५ ॥

‘अहु’ ‘आउ’ इत्यादेशौ, शब्दे प्रावरणे स्मृतौ ।

आदे स्वरस्य स्त सव्य-जनस्वरपरस्य, वा ॥
पहुरण पाउरण, पावरणमुदाहृतम् ।

स्वरादसंयुक्तस्यानादेः ॥ १७६ ॥

सूत्र 'स्वरादसंयुक्त-स्यानादे' निखिलं त्विदम् ।
इतोऽधिक्रियते कार्य-सिद्धये, तद् विचिन्त्यनाम् ॥

क-ग च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ॥ १७७ ॥

स्वरात् परेऽन्युक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये तेषाम् ।
क-ग-च ज प-य-वाना, प्रायो लुक् प्राकृते भवति ॥
के तित्थयरो द्वौओ, जे-नयर स्याद् नओ मयको च ।
चे-सई कयगाहो स्याद्, जे-वा रयय पयावई च गओ ।
ते-जई रसायल, दे-मयणो, पे-रिऊ सुउरिसो च ।
धे-तु बिओओ नग्रण, वे-लायस च विउहो च ।
प्रायोग्रहणात् कचिदपि, न जवति यद्वत्-पयागजलमगरु ।
विदुरो समवाओ दा-णवो सुकुसुम तथा सुगओ ।
स्वरात् पर किं कथितः ? पुद्दरो सवुडो च सकरओ ॥
नकचरो सगमो, धणजओ सवरो नात्र ॥
किमसयुक्ता ? -अओ, वगो कज्ज तथैव विण्णो च ।
अच्चो धुत्तो सव्व, वज्ज उहाम इति च यथा ॥
कचिदापि सयुक्तस्य च, नकचर इति जवेद् यथा रूपम् ।
उक्ता अनादिभूता, जारो चोरो तरु वणो ॥
समासे तु विभक्तीनां, वाक्यगानामपेक्षया ।
पदत्वं चापदत्वं च, तत्र लक्ष्यानुसारतः ॥
यथा-भागमिओ आय-मिओ, जलचरस्तथा ।
याच्यो 'जळयरो' चेदक्, सुइदो सुहओऽपि च ॥
कचिदादेरपि यथा 'सपुन'-सधण' स्मृतम् ।
सच सोअ, तथा चिन्द इन्ध चैव प्रयुज्यते ॥
पिशाची तु पिमाजी स्या-अस्य जत्वेन कुञ्चित् ।
व्यत्ययो दृश्यते कपि, तदुदाह्रियतेऽधुना ।
'एगत्त' एकत्वम्, 'एगो' एकोऽमुको- 'ऽमुगो' चापि ।
'लोगस्सुज्जोयगरा, ' 'असुगो' असुकोऽपि 'आगारो' ॥
आकारस्तार्थकर, 'तित्थगरो' 'सावगो' विनिर्देश्यः ।
आवक इति 'आगरिसो, 'आकर्ष. कस्य गत्वञ्च ॥
व्यत्ययश्चे- (४।४४७) ति सूत्रानु, रूपनिष्पत्तिरिष्यते ।
दृश्यते चान्यदप्यपे, चस्य दत्वविधानतः ॥
यथाऽऽकुञ्जनमित्यत्रा-ऽऽवटण रूपमृच्छति ।

यमुना-चामुएना-कामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च ॥ १७८ ॥

यमुना चामुएना का-मुकातिमुक्तकपदेषु लुक् मस्य ।
अनुनासिकश्च मस्य, स्थाने स्यादित्युदाह्रियते ॥
'जँउणा' 'काँउओ' 'चाँउ-ना' तथा 'अँणित्तय' ।
कचिन्न जायते 'अइ-मुनय' 'अइमुनय' ।

नावर्णात् पः ॥ १७९ ॥

अवर्णाङ्गुस्तरस्याना-देर्मुक् गस्य न जायते ।
शपथ- 'सवहो' शाप, 'सावो' नादे कदाचन ॥
'परउओ' यतो नात्र, पस्य लोपो विधीयते ।

अवर्णो यश्रुतिः ॥ १८० ॥

कगचजे- (४।१७७) त्यादिसूत्रात्, लुकि जातेऽवशिष्यते ।
अवर्णाञ्च परीभूतो, योऽवर्णस्तस्य यश्रुतिः ।
सयद नयर गया मयको, रयय कायमणी पयावई ।

मयणो नयण कयगाहो, सयल तित्थयरो रसायल ॥
'लायस' चैव 'पायाल,' 'दयाल' इति गृह्यते ।
अवर्ण इति किं प्रोक्त, 'सउणो' 'पउणो' 'कई' ।
'पउर' 'निहओ' 'वाऊ,' 'राईव' 'निनओ' तथा ।
यश्रुतिर्नात्र कर्तव्या, नच 'लोअस्स' 'देअरो' ।
प्रवत्यवर्णादित्येव, कचिन् 'पियइ' इत्यपि ॥

कुञ्ज-कर्पर-कीले कः खोऽपुण्ये ॥ १८१ ॥

कुञ्जकर्परकीलेषु, कस्य वर्णस्य खो भवेत् ।
कुञ्जाभिधेय पुण्य चेत्, तदा नैव विधीयते ॥
'खुज्जो' च 'खीलओ' चैव, 'अण्णरं' च तथैव हि ।
अपुण्य इति किं प्रोक्त, 'बधेउ कुञ्ज-पुण्यं' ॥
आर्येऽन्यत्रापि 'खसिअ' 'कसिन' 'खासिअ' तथा ।
'कासित' रूपमप्येव, विकल्पमिह दृश्यते ॥

मरकतमदकक्षे गः कन्दुके त्वादेः ॥ १८२ ॥

मरकतमदकलशब्दौ, कस्य च गत्वेन सिद्ध्यतः किंतु ।
कन्दुकशब्दस्यादे-रेव च गत्व विनिर्देश्यम् ॥
रूप 'मरगय' मय-गलां 'गँदुअमित्यापि ।

किराते चः ॥ १८३ ॥

किरातशब्दे चत्व हि, ककारस्य विधीयते ॥
विधि' पुस्तिन् एवाय, 'चिलाओ' इति दृश्यते ।
न कामरूपिणि विधिः, 'नमो हरकिरायय' ॥

शीकरे भ-हौ वा ॥ १८४ ॥

शीकरे तु ककारस्य, भ-हौ स्यातां विकल्पनात् ।
सीभरो सीहरो, पक्षे सीभरो विनिगद्यते ॥

चन्द्रिकायां मः ॥ १८५ ॥

चन्द्रिका चन्द्रिमा जाता, कस्य मे विहिते सति ।

निकष-स्फटिक-चिकुरे हः ॥ १८६ ॥

निकषे स्फटिके चिकुरे, कस्य हकारो विधीयते तस्मात् ।
निहसो फलिहो चिकुरो, क्रमेण रूपाणि सिद्ध्यन्ति ॥

ख-घ-थ-ध-ज्ञाम् ॥ १८७ ॥

स्वरात् परेऽस्युक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।
ख-घ-थ-ध ज्ञा चर्णानां, प्रायो हः प्राकृते भवति ॥
खे-मेहला च साहा, धे-मेहो जहणमिति तथा माहो ।
ये-आवसहो, नाहो, धे-बाहो वाहई-न्दहण ॥
मे-यणहरो सहावो, सहा महं सोह इत्युदाहरणम् ।
स्वरात् पर. किं कथितः ? , सखो सघो तथा बघो ॥
किमसयुक्ताः ? अक्खइ, अग्घइ कथय च सिद्धओ बंधइ ।
'गज्जते खे मेहा, 'अनादिभूताभिधानेन ।
प्रायोग्रहणाद् अधिगो, पलय-घणो वा नज च जिणधम्मो ।
सरिसव्वल्लो पणहुम-ओ, कार्ये चेदगिह वेधम् ॥

पृथकि धो वा ॥ १८८ ॥

पृथक्शब्दे थकारस्य, स्थाने धो वा विधीयते ।
पिध पुध पिहं तेद्वत्, पुद रूपचतुष्टयम् ॥

शृङ्खले खः कः ॥ १८९ ॥

शृङ्खले खस्य कादेशः सङ्कलं तेन सिद्ध्यति ।

पुत्राग-भागिन्योर्गो मः ॥१६०॥

स्यात् पुत्राग च जागिन्यां, गकारस्य मकारना ।
'पुत्रामाह वसन्ते च' 'भाभिणी सप्रयुज्यते ॥

झांगे झः ॥१६१॥

गगे गस्य लकार, स्यात्, गङ्गो गङ्गी च सिध्यतः ।

ऊत्वे दुर्भग-मुजगे वः ॥१६२॥

दुर्भगे सुभगे चोत्वे, क्त गस्य तु वो भवेत् ।
दूहवो सूहवोऽनूत्वे- 'दूहवो सुहवो' मनः ॥

खचित-पिशाचयोश्चः स-झौ वा ॥१६३॥

खचिने तथा पिशाचे, चस्य तु स-झौ विकल्पतो भवनः ।
खसिओ खरओ तस्माद्, भवति पिसहो पिसाओ च ॥

जटिले जो भो वा ॥१६४॥

जटिले जस्य भो वा स्याद्, भूमिलो जडिलो तथा ।

टो रुः ॥१६५॥

स्वरात् परस्यास्युक्त-स्यानादेष्टस्य डो भवेत् ।
नडां भनां घडां रूप, घडश्च प्रणिगद्यते ॥
अस्वरात् नवेद् घटा, खटा-स्युक्तदर्शनात् ।
आदेरेवेत्यतः 'टक्को' कचिन्न स्याद् यथा-ऽटइ ॥

सटा-शकट-कैटजे डः ॥१६६॥

सटायां शकटे कैट-जे शब्दे टस्य डो भवेत् ।
केढवो सयडो तद्वत्, सटा रूप पृथक् पृथक् ॥

स्फटिके झः ॥१६७॥

स्फटिके टस्य लादेशे, 'फटिहो' सिद्धिमृच्छति ।

चपेटा-पाटौ वा ॥१६८॥

चपेटायां च, वा एयन्ते, पटिधातौ च टस्य लः ।
चविला चविडा फाले-इ फादेइ प्रसिध्यति ।

ठो डः ॥१६९॥

स्वरात्परस्यास्युक्त-स्यानादेष्टस्य डो भवेत् ।
मढो सढो च कमढो, कुढारो पढइत्यपि ॥
स्वरादित्येव वेकुगो-ऽस्युक्तस्यैव चिद्वह ।
अनादेरेव 'हिअण-गाइ' चैव प्रयुज्यते ॥

अङ्कोठे झः ॥२००॥

अङ्कोठे ठस्य लो द्वित्व-भूतो भवति तेन हि ।
अकोष्ठतेल-तुप्पं तु, पदं लोकेः प्रयुज्यते ॥

पिठरे हो वा रश्च रुः ॥२०१॥

पिठरे ठस्य हो वा, हस्य योगे च रस्य रुः ।
पिहडो पिढरो रूप-द्वय सिद्धिमुपागमत् ।

नो लः ॥२०२॥

स्वरात्परस्यास्युक्त-स्यानादेष्टस्य लो भवेत् ।
प्रायो, 'गरुओ' वडवा-मुख च- 'वलयामुह' ।
अस्युक्तस्य किं ?-खगो, स्वरात् किम् ?-मौडमिप्यते ।
अनादेरिति किम् ? डिमो, प्रायः किम् ? कापि वा भवेत् ॥

वलिस वलिस णाली णाढी वाऽस्ति यावत् णम् ।
दाहिम दाहिम आमे-लो आमेडो गुलो गुडो ॥
कचिन्नव, यथा-नीड निधिड गडडो तमी ।
उडू पाडिआमित्यादि यथालक्ष्य विनाव्ययताम् ॥

वेणौ णो वा ॥ २०३ ॥

वेणौ तु णस्य हो वा स्यात्, 'वेलू वेणू' इय मनम् ।

तुच्छे तश्च-झौ वा ॥ २०४ ॥

तुच्छशब्दे तकारस्य, च-झौ वा स्तो यथाक्रमम् ।
चुच्छ चुच्छ तथा तुच्छ, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

तगर-त्रसर-तूवरे टः ॥ २०५ ॥

तसर-तगर-तूवर-पदे, तस्य टकारो विधीयते तस्मात् ।
टसरो टगरो तूवरो, रूपत्रयमत्र जानीहि ॥

प्रत्यादौ डः ॥ २०६ ॥

प्रत्यादिषु शब्देषु तु, तस्य मकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
पडिचन्न पमिहासो, पडिहारो पमिनिन्न च ॥
पाडिप्फडी पडिमा, पडसुआ पमिवया च पमिसारो ।
पहुडि पाहुरु मरुय, बहंडओ हररुई पडाया च ॥
डुक्कत डुक्कड त्वापे सुकृत सुकड तथा ।
अऽहत्त चाऽवडड, आहत्त त्वा ऽऽहड स्मृतम् ॥
प्रायः किम् ? प्रतिसमय पइसमय, प्रतीपमिति पूर्व च ।
संप्रति सपइ बोध्य, तथा प्रतिष्ठा पइडा च ॥
प्रति-प्रनृति-मृतक-प्राज्ञताश्च हरीतकी ।
विभीतक-पताका-ज्या-पृता, प्रत्यादिरिच्यते ॥

इत्वे वेतसे ॥ २०७ ॥

इत्वे सति तकारस्य, मः स्यात् शब्दे तु वेतसे ।
वेडिसो, इत्व इति किम् ? 'वेअसो' नेत्वमत्र तु ॥

गर्भितातिमुक्तके णः ॥ २०८ ॥

गर्भितातिमुक्तकयो-स्तस्य णकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
अणिडंतय गम्भिणोऽपि, क्वचिन्न- 'अश्मुत्तय' जवति ॥

रुदिते दिना एणः ॥ २०९ ॥

रुदिते तु दिना साक, तस्य षे-रुणमुच्यते । *

सप्ततौ रः ॥ २१० ॥

सप्ततिः सप्तरी जाता, तस्य रे विहिते सति ।

अतसी-सातवाहने लः ॥ २११ ॥

* अत्र केचित् ऋत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः, स तु शौ-
रसेनीमागधीविषय एव दृश्यते इति नोच्यते । प्राकृते हि
ऋतु- 'रिक्' 'उक्' । रजतम्- 'रयय' । एतद्- 'एअ' ।
गतः- 'गओ' । आगतः- 'आगओ' । सांप्रतम्- 'संपय' ।
यतः- 'जओ' । ततः- 'तओ' । कृतम्- 'कयं' । इ (ह)
तम्- 'हय' । इताशः- 'इयासो' । श्रुतः- 'सुओ' । आकृतिः-
'आकिई' । निवृत्तः- 'निवुओ' । तातः- 'ताओ' । कतरः- 'क-
यरो' । द्वितीयः- 'डुइ (ई) ओ' । इत्यादयः प्रयोगा भवन्ति ।
न पुनः 'उदू' 'रयदमित्यादि । कचिद् जावेऽपि " व्यत्य-
यञ्च " (४।४४७) इत्येव सिद्धम् । 'दिही' इत्येतदर्थं तु
" धृतोर्दिहिः " (३।१३१) इति वक्ष्यामः ।

अतसी-सातवाहने, तस्य लकारो भवेद्, यथा-अतसी ।
सालवाहणो सात्ता-हणो च सालाहणी भासा ॥

पलिते वा ॥ २१२ ॥

पक्षिते तस्य लो वा स्यात्, पक्षिल पक्षिअ यथा ।

पीते वो द्वे वा ॥ २१३ ॥

पीते तस्य तु व. स्यात्, स्वार्थलकारे परे विकल्पेन ।

भवन्ति पीवन्न पीअन्नमिति, ल. किम् ? स्याद् यथा-‘पीअ’ ॥

वितस्ति वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे हः ॥ २१४ ॥

वितस्तौ वसतौ मातु-लिङ्गे भरत-कातरे ।

पञ्चस्त्रेषु तकारस्य, हकारादेश इष्यते ॥

विहत्थी, वसही कापि-नाय स्याद् ‘वसई’ यथा ।

भरहो काहहो माहु-लिंग चैतदुदाहृतम् ॥

मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे यस्य हः ॥ २१५ ॥

मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथ-मेषु थकारस्य दो भवत्यत्र ।

मेही सिढिलो सिढिलो, पढमो रूपाणि सिध्यन्ति ॥

निशीथपृथिव्योर्वा ॥ २१६ ॥

निशीथे च पृथिव्या च, वा थकारस्य दो भवेत् ।

निसीहो च निसीहो च, पुढवी पुढवी तथा ॥

दशन-दष्ट-दग्ध-दोहो-दण-दर-दाह-दम्न-

दर्भ-कदन-दोहदे दो वा रुः ॥ २१७ ॥

दग्ध-दष्ट-दोहदेपु, दोला-दर-दण-दाह-दम्नेषु ।

दशन-कदन-दर्भेषु च, दस्व डकारो विकल्पेन ॥

डसण दसण, डटो दटो, मटो च दटो च ।

मोला दोला, रमो दडो, डाहो तथा दाहो ॥

डभो दभो, डम्नो, दम्नो, कडण च कयण च ।

अपि मोहला दोहलो, डरो दरो चेति रूपाणि ॥

दंश-दहोः ॥ २१८ ॥

स्याद् धातोर्दंश-दहयो-र्दकारस्य डकारता ।

तेनैव रूप ‘डसइ, मइइ’ प्रतिपठ्यते ॥

संख्या-गद्गदे रः ॥ २१९ ॥

संख्यावाचिनि गद्गद-शब्देऽपि च रो दकारस्य ।

वारह तेरह एआ-रह रूप मगर च यथा ॥

अनादेरित्येव यथा-‘ते दस’ प्रतिज्ञायते ।

असङ्कुक्तस्येति यावत्, ‘चउहइ’ यथा ज्ञेयम् ।

कदयाम्भुमे ॥ २२० ॥

अम्भुमे कदलीशब्दे, दकारस्य रकारता ।

करली, अम्भुम इति, किम् ?-केली कयली यथा ॥

प्रदीपि दोहदे लः ॥ २२१ ॥

प्रपूर्वे दीप्यतौ धातौ, तथा शब्दे च दोहदे ।

दस्य ल स्यात् पलीवेश, पलित दोहलो यथा ॥

कदम्बे वा ॥ २२२ ॥

स्यात् कदम्बो कयम्बो वा, कदम्बे दस्य ले कृते ।

दीपौ धो वा ॥ २२३ ॥

दीप्यतौ दस्य धो वा स्यात्, यथा-धिप्पइ दिप्पइ ।

कदर्थिते वः ॥ २२४ ॥

कदर्थिते दस्य व. स्याद्, येन सिध्येत ‘कवट्टिओ’ ।

ककुदे हः ॥ २२५ ॥

ककुदे हो दस्य तेन-‘कउह’ सिद्धिमृच्छति ।

निषधे धो हः ॥ २२६ ॥

निषधे धस्य डस्तेन-‘निसडो’ रूपमाप्नुयात् ।

वौषधे ॥ २२७ ॥

वौषधे धस्य डो वा स्याद्, यथा-ओसडमोसइ ।

नो णः ॥ २२८ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेर्नस्य णो भवेत् ।

कयण वयण नयणं, मयणो माणइ, तथाऽऽरनाल तु ।

आपे-अनिहो अनहो, नानारूपाणि सन्तीह ॥

वाऽऽदौ ॥ २२९ ॥

असंयुक्तस्य नस्य स्या-दादिभूतस्य वा तु णः ।

णरो नरो, णेइ नेइ, सद्यते च णई नई ॥

असंयुक्तस्य किम् ?-न्यायो-‘नामो’ नैवात्र णो भवेत् ।

निम्ब-नापिते ह-एहं वा ॥ २३० ॥

निम्ब-नापितयोर्नस्य, ह-एहादेशौ यथाक्रमम् ।

क्षिम्बो निम्बो, एहाविओ तु, नाविओ, सिद्धिमाप्नुत ।

पो वः ॥ २३१ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेः पस्य वो भवेत् ।

प्रायः, सवहो सावो उवसगो कासवो पईवो च ।

उवमा कविलं पाव, कुणव गोवइ च मदि-वाल्लो [१] ।

पाटि-परुप-परिघ-परिखा-पनस-परिभट्टे फः ॥ २३२ ॥

पाटिधातुर्यदा गयन्तः, परुपादिभ्यो यो गणः ।

तयोरेव पकारस्य, फकारादेश इष्यते ॥

यथा-फावेइ फावेइ, फरुसो फाल्लो तथा ।

फलिहा फणसो फालि-हहो रूपाण्यमूनि हि ॥

प्रभूते वः ॥ २३३ ॥

प्रभूते पस्य वो वा स्याद्, वदुत्त तेन सिध्यति ।

नीपाऽऽपीमे मो वा ॥ २३४ ॥

स्यान्नीपाऽऽपीडयोः पस्य, मकारः पाङ्गिको यथा ।

नीमो नीवो, तथा-ऽऽमेलो, आमेडो सिद्धिमाप्नुत ॥

पापड्यौ रः ॥ २३५ ॥

पापड्यौवपदादौ स्यात्, ‘पारकी’ पस्य रे कृते ।

फो भ-हौ ॥ २३६ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेः फस्य वा भहौ ।

कचिद् नकारः स्याद् न-रेफो रेजो, शिफा सिमा ।

कचिद् दकारः स्याद् मुत्ता-हल, कचिद् नञावपि ।

समन्न सहल, सेजा-लिआ सेडालिआ तथा ।

वो वः ॥ २३७ ॥

स्वरात् परस्यासंयुक्त-स्यानादेर्बस्य वो भवेत् ।

यथाऽलावू अलावू चाऽऽलाऊ वस्येइ लोपनात् ॥

बिसिन्यां भः ॥ २३८ ॥

बिसिनी भिसिणी जाता, बस्य भे विहिते सति [२] ।

[१] स्वरादित्येव-‘कपइ’ । असंयुक्तस्येत्येव-‘अप्पमसो’ । अनादेरित्येव-‘सुडेण पढइ’ । प्राय इत्येव कई रिऊ । पतेन पकारस्य प्राप्तयोर्लोपवकारयोः यस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यम् । [२] स्त्रीलिङ्गनिर्देशादिह न ज्ञवति-‘विसतनुपेत्तवाण’ ।

कबन्धे म-यौ ॥२३७॥

स्यात् कमन्धो कयन्धो च, कबन्धे बस्य वा म-यौ ।

कैटने जो वः ॥२४०॥

कैटने मस्य वस्तेन, 'कैटवो' सिद्धिमाप्नुयात् ।

विषमे मो ढो वा ॥२४१॥

विषमे मस्य ढो वा स्यात्, 'विसढो विसमो' यथा ।

मन्मथे वः ॥२४२॥

मन्मथे मस्य वस्तेन, वम्महो सिद्धिमृच्छति ।

वाऽभिमन्यौ ॥२४३॥

अभिमन्यौ मकारस्य, वकारो वा विधीयते ।

'अदिवन्तू अदिवन्तू', 'द्वयसिद्धिमुपागमत्' ॥

भ्रमरे सो वा ॥ २४४ ॥

भ्रमरे मस्य सो वा स्याद्, भसलो भमरो यथा ।

आंदर्यो जः ॥ २४५ ॥

पदादेशस्य जादेशः, जसो जाइ जमो यथा ।

बहुलात् सापसर्गस्या-नादेरपि भवेत् कचित् ॥

सजोगो संजमो क्वापि न-'पञ्चोत्रो' ऽजिधीयते ।

लोपोऽप्यार्ये-यथाख्यातम्-अहकक्षाय प्रयुज्यते ॥

युष्मद्यर्थपरे तः ॥ २४६ ॥

युष्मद्यर्थपरे यस्य, तकारादेश इष्यते ।

तुम्हारिसो तुम्हकेरो, किमर्थपर इत्यदः ? ।

'तुम्हदम्हपरण' नात्र, शब्दपरो यत् ।

यष्ट्यां लः ॥ २४७ ॥

यष्ट्यां यस्य लो 'लघी', वेणुलघी च भण्यते ।

वांत्तरीयानीय-तीय-कृद्ये उजः ॥२४८॥

उत्तरीयानीय-तीय-कृद्ये प्रत्ययेषु च ।

द्विरुक्तो यस्य वा उजः स्यात्, तदुदाह्रियतेऽधुना ॥

उत्तरीजं उत्तरीअ, करणिज्ज विभाषया ।

करणीअ, विहज्जो तु वीओ तीयस्य दृश्यनाम् ।

कृद्यस्य पेज्जा पेज्जा च, उन्ध सर्वमुदाहृतम् ।

गायायां होऽकान्तौ वा ॥ २४९ ॥

अकान्तिवाचके छाया-शब्दे हो यस्य वा भवेत् ।

अच्छस्स छाही गाया वा, आनपाभाव उच्यते ॥

नाह-वौ कतिपये ॥ २५० ॥

यस्य स्यातां कतिपये, नाहो वञ्चेयुर्मा क्रमात् ।

कहवाह कहअव, द्वय निर्वर्तते पदम् ॥

किमि-भेरे रो मः ॥ २५१ ॥

किमि-भेरयो. रस्य डः, किमी भेडो च सिद्ध्यतः ।

पर्याणो ना वा ॥ २५२ ॥

पडायाण च पल्लान्, पर्याणो रस्य डाऽस्तु वा ।

करवीरे णः ॥ २५३ ॥

'कणवीरो' करवीरे, रस्याऽऽद्यस्य तु णो ज्ञेयम् ।

हरिजादौ झः ॥ २५४ ॥

असयुकस्य रस्य स्याद्, हरिद्रादिगणे तु लः ।

हरिही सिद्धिलो लुको दलिहाइ अहुटिलो ॥

दसिहो मुहलो दालि-इं दसिहो च काहलो ।

चलणो वलुणो इक्का-लो सकालो च निहुलो ॥

सोमासो कसुणो फालि-हहोऽवहाल फालिहा ।

चिलाओ फलिहो चैव, भसलो बढलो तथा ॥

जडलं चेत कपाणि, विह्वयानि मनीषिणिः ।

हरिद्रा दारिद्यं शिथिर-मुक्कराङ्गार-परिखा,

हरिद्र. सत्कारं जठर-चरणौ रुण-करुणौ ।

किरातापट्टार-भ्रमर-सुकुमाराश्च वरुणो,

हरिद्रातिर्धातुः परिष-वठरौ निम्नुरमपि ॥

युधिष्ठिरः पारिमहो, हरिद्रः कातरस्तथा ।

हरिद्रादिगणभ्याम्-माहृत्या परिगण्यते [१] ॥

स्थूले ङो रः ॥ २५५ ॥

स्थूले लस्य रकारः स्यात्, थोर व्युत्पद्यते तदा ।

यूसमहो हरिद्रादिलत्वे स्थूरस्य सिध्यति ।

लाहल-झाङ्गल-लाङ्गुले वाऽऽर्द्धेः ॥ २५६ ॥

लाहले झाङ्गले लाङ्गु-ले वाऽऽर्द्धस्य णो ज्ञेयम् ।

णाहलो लाहलो, णङ्ग-ल लङ्गलं च णङ्गलं ।

लङ्गलं चेति कपाणि, द्वन्द्वभूतानि चक्रेते ॥

ललाटे च ॥ २५७ ॥

ललाटे चादिभूतस्य, लस्य णः संप्रवर्तते ।

णिमालं च णमाल च, चस्वादेरिति बोधकः ।

शबरे बां मः ॥ २५८ ॥

शबरे बस्य मत्वेन, समरो सिद्धिमृच्छति ।

स्वप्ननीव्योर्वा ॥ २५९ ॥

स्वप्न-नीव्योर्वकारस्य, मकारो वा विधीयते ।

सिमिणो सिमिणो, नीमी नीमी व्युत्पत्तिमेति च ।

शपोः सः ॥ २६० ॥

शेषयोस्तु सकारः स्यात् सर्वत्रात्र, निर्वर्त्यते ।

संसो विसंसो निहसो, कसाओ दस सोहह ॥

स्तुषायां एहो वा ॥ २६१ ॥

स्तुषायां यस्य एहो वा स्यात्, ततः 'सुरहा सुसा' इयम् ।

दश-पापाणे हः ॥ २६२ ॥

दशन्-पापाणयोर्हो वा, शपयोस्तस्यदर्शनात् ।

दहमुहो दस-मुहो ददहलो दस-बलो ।

दह-रहो दस-रहो वारहै-भारह ।

पापाणस्य तु पाहाणो, पासाणोऽपि च दृश्यते ॥

दिक्से सः ॥ २६३ ॥

दिक्से सस्य हो वा स्याद्, दिक्से दिक्से तथा ।

हो घोऽनुस्वारात् ॥ २६४ ॥

अनुस्वाराद् ङकारस्य, घकारो वा विधीयते ।

[१] बहुलाधिकाराभरणशब्दस्य पदार्थवृत्तरेष । अन्यत्र 'चरणकरणं' । भ्रमरे ससनियोगे एव । अन्यत्र 'भमरो' । तथा 'जडर' 'वठरो' 'निहुरो' इत्यादिपि ।

सिंघो सीहो च सघारो, सहारो, कचिदन्यथा [१] ॥

पद्-शमी-शाव-मुधा-सप्तपर्णेष्विदेशः ॥ २६५ ॥

सप्तपर्ण-मुधा-शाव-शमी-पद्मदिमस्य उ० ।

वृत्तिवक्षो ब्रुहा गवो, कुमी गघो यथाक्रमम् ॥

शिरायां वा ॥ २६६ ॥

शिराशब्दे भवेदादे-श्चकारो वा, क्षिरा सिरा ।

द्वुग्भाजन-दनुज-राजकुलं जः सस्वरस्य नवा ॥ २६७ ॥

भाजने दनुजे राज-कुले सस्वरजस्य वा ।

लुगिष्यते, यथा ज्ञाण भायण, दणुओ दणु ॥

स्याद् रा-उल, राय-उल, यथाक्रममुदाहृतम् ।

व्याकरण-प्राकारागतैः कगोः ॥ २६८ ॥

व्याकरणप्राकाराऽऽगतेषु कगयोस्तु सस्वरयोः ॥

लुग् वा वायरण वा-रण च पारो च पायाग ॥

आओ तथाऽऽगओ रूपे, आगतस्येति बुध्यताम् ।

किसलय-कात्रायस-हृदये यः ॥ २६९ ॥

कात्रायसे किसलये, हृदये यस्तु-सस्वरः ।

यकारस्तस्य लुग्वा स्याद्, यथा-कात्रायस त्विदम् ॥

कात्रायस स्यात् किसलय, किमत्र, हिमत्र हिम्र ।

दुर्गाद्व्युद्भूत-पादपतन-पादपठेऽन्तर्दः ॥ २७० ॥

दुर्गादेश्वा तथा पाद-पतने चाप्युद्भूते ।

पादपीठ सस्वरो यो, मध्ये ङो, वा स लुप्यते ॥

दुग्गाएवी तु दुग्गावी, उम्बरो स्याद् उउम्बरो ।

पा-वरुण च वा पाय-वरुण सप्रकीर्तितम् ॥

पाय-वडि तु पा-वीडि, 'अन्तर' -दुर्गा-दरक्तकम् । [७]

यावत्तावज्जीवितावर्तमानावट-प्रावारक-देवकुलै-

वमेवे वः ॥ २७१ ॥

प्रावारके देवकुल एवमेवे च जीविते ।

आवर्तमानावटयास्तथा यावति तावति ।

योऽन्तर्वर्ती सम्बरो व-स्तस्य लुग्वा विधीयते ।

जा जाव, ताव ता, जोअ जीविअ, अवमो अडो ।

अस्तमाणो तथाऽऽवत्तमाणो, देवउल पुनः ।

देउल, पारआ पावारओ एमेव तृच्यते ।

एवमेव तथाऽन्तस्तु मेव वस्यास्ति रक्तकम् [३] ॥

या ज्ञापा जगद्वचोन्निरगम् ख्यातिं प्रतिष्ठा पगं,

यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूर्तिं निखिलान्येकादशाङ्गानि च ।

तस्याः संप्रति दुःपमारवशतो जानोऽप्रचारः पुनः,

सचागय मया कृते विवरणे पादोऽप्यमाद्यो गतः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ

श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-

तायां प्राकृतव्याकृतौ प्रथमः पादः ।

[१] कचिदननुस्वागङ्गपि-दाह - 'दाघो' । [२] अन्तरिति-
किम् ? दुर्गादेव्यामादौ मा भूत् । [३] अन्तरित्येव । एवमेव-
त्यस्य न भवति ।

॥ * अर्हम् * ॥

॥ अथ द्वितीयः पादः ॥

—०५०—

संगुक्तस्य ॥ १ ॥

ज्यायामीत् [२।१।१५] अन्यतो यावद् अधिकानोऽयमीरित ।
यदितोऽनुक्रमिष्यामस्तन् सयुक्तस्य बुध्यताम् ॥

शक्त-मुक्त-दष्ट-रुण-मृदुत्वे को वा ॥ २ ॥

शक्ते मुक्ते मृदुत्वे च, दष्टे रुणे विभाषया ।

सयुक्तस्य ककार स्याद्, यथोदाह्रियतेऽधुना ॥

सक्का सत्तो, मुक्को मुक्तो, मक्को तथा दष्टो ।

लुक्का लुगो, माउत्तण च माउत्तर्माति वेशम् ।

क्षः खः कचित्तु छ-जौ ॥ ३ ॥

कस्य खः स्याद्, छ-भौ कापि, 'खओ' लक्षणमुच्यते ।
छ-भावपि, यथा-खीण छीण, भीणं च किञ्चिद् ।

ष्क-स्कयोर्नास्ति ॥ ४ ॥

संज्ञायां ष्कस्कयोः खः स्याद्, निष्कस्य पोक्कस्ति यथा ।
अवक्खन्दा तथा खन्धा-वोगा खन्धा प्रकीर्त्यते ।

शुष्क-स्कन्दे वा ॥ ५ ॥

शुष्के स्कन्दे ष्क-स्कयोः खो, विकल्पेन प्रवर्तते ।

सुष्कस्य सुक् तथा खन्दा, 'कन्दो' चैवमुदाहृतम् ॥

द्वेष्टकादौ ॥ ६ ॥

द्वेष्टकादिषु शब्देषु, सयुक्तस्यात्र खो भवेत् ।

द्वेष्टक खेडओ, द्वेष्टकः खेडओ ।

स्फोटक खोरओ, स्फोटकः खेडओ ।

स्फोटकः खेडिओ चाय, द्वेष्टकादिमुदाहृतम् ॥

द्वेष्टकः द्वेष्टकश्चैव, स्फोटकः स्फोटकश्चैव ।

स्फोटकश्चेति सख्यान, द्वेष्टकादिभ्य गणः ।

स्थाणावहरे ॥ ७ ॥

अहरार्थे स्थाणुशब्दे, य स्यात् 'खाणू' ततो भवेत् ।

स्तम्भे स्तो वा ॥ ८ ॥

स्तम्भे स्तस्य खकारो वा, खम्भो यम्भो प्रभाष्यते ।

थ-ठावस्पन्दे ॥ ९ ॥

अस्पन्दार्थे स्तम्भे, स्तम्भ्य ठ-थौ स्तो यथा पद्-थम्भो ।
ठम्भो, स्तम्भ्यत इति थ-स्मिञ्जइ ठम्भिञ्जइ स्याताम् ॥

रक्ते गो वा ॥ १० ॥

रक्ते कस्य गकारो वा, रग्गो रक्ता विभाष्यते ।

शुक्के झो वा ॥ ११ ॥

शुक्के कस्य झो विभाषा, सुक्क सुक्क प्रकीर्तितम् ।

कृत्ति-चन्वरे चः ॥ १२ ॥

कृत्ति-चन्वरयो सयु-क्तस्य च सप्रवर्तते ।

किञ्चो च चण्डर रुप-ठये किञ्चि मुपागतम् ।

न्याऽर्चत्ये ॥ १३ ॥

चैत्यवर्जं त्यस्य च स्यात्, पञ्चओ सञ्च-मुच्यते ।

प्रत्युपे पक्ष हो वा ॥१४॥

प्रत्युपे त्यस्य चः स्यात् तत्सन्निधौ पश्य ह्रस्व वा ।
विधीयते च पच्चूहो, पच्चूसो नेन सिध्यतः ॥

त्व-ध्व-द्व-ध्वां च-छ-ज जाः कचिन् ॥१५॥

त्व-ध्व-द्व-ध्वा च-छ-ज जाः कचिदेते भवन्ति हि ।
भृक्त्वा भोक्त्वा, ज्ञान्वा णक्त्वा,
श्रुत्वा सोक्त्वा पृथ्वी पिच्छी ।
विज्ञान् विज्ज, बुद्ध्वा बुज्जा,
एव चान्यद् रूप वंध्यम् ।
“भोक्त्वा सयल पिच्छि, विज्ज बुज्जा अणणयग्गामि ।
चच्छण तव काउ, सन्तो पत्ती सिव परम ॥”

वृश्चिके श्रेञ्चुर्वा ॥१६॥

वृश्चिके श्रेः सस्वस्य, ङ्चुरादेशो विभाष्यते ।
विञ्चुआ विञ्चुओ, पक्के-विञ्चिओ, ङोऽत्र बाध्यते ।

छाङ्क्यादौ ॥१७॥

अङ्क्यादिषु ङकारः स्यात् सनुक्तस्य, प्रयाध्य स्वम् ।
अर्चि उच्छ्रु अर्चि कच्छो, गीअ गीरकुच्छी दन्धो ।
वेत्त वच्छ वच्छा कच्छा, छुण्णो छारा सारिच्छ च ।
सारिच्छो मच्छिआ कुच्छो, ‘अथ वच्छो’ इय छुणे ।
छुहा, आपे तु-सारिक्ख, इक्खु खोण च दृश्यते ।
अक्षी-कु-अक्षमी-भुन-कक्ष-कांके-यकाक्ष-वक्ख-क्षन-दक्ष-वृक्षा ॥
कक्षा-क्षुण-क्षार-सदक्ष-कुक्षि-क्षीर-क्षुध-क्षेत्रमथो शृणुष्व ।
सादृश्य मक्षिका क्षुण्ण, कथितोऽङ्क्यादिस्त्रियम् ॥
आकृतिग्रहणाः शब्दाः, न सख्यानियमस्ततः ।

क्षमायां कौ ॥ १८ ॥

पृथिव्यर्थे क्षमाशब्दे, क्षस्य छदेश इभ्यन्ते ।
क्षमा क्षमाऽपि क्षमा भूमि, क्षान्यर्थे तु क्षमा स्वमा ॥

क्षभ वा ॥ १९ ॥

अक्षे क्षम्य ङकारो वा, निच्छो निक्खोऽस्त्रियां मनौ ।
वृक्ष-क्षित (२ । १२७) निम्बेण, ‘रुक्ख-सूद्धा’ च सेत्स्यतः ॥

क्षण उत्सवे ॥ २० ॥

उत्सवार्थे क्षणे क्षम्य छ, ‘छणो’ स्यात् खणोऽन्यतः ।

ह्रस्वान् ध्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चये ॥ २१ ॥

ह्रस्वात् ध्य-श्च-त्स-प्सां, स्थाने छा भवति, निश्चले न स्यात् ।
मिच्छा, पच्छा, सव-च्छलो, जुगुच्छ च निश्चल च ॥
ह्रस्वात् किम् ‘उसारिओ’ इति किम् ‘च निश्चलो’ येन,
आप-तथ्ये चाऽपि तु भवति ततः ‘नश्चमिति रूपम् ॥

मामर्थ्यात्मिकान्मत्रे वा ॥ २२ ॥

उत्सुकोन्सव-सामर्थ्ये, वा सयुक्तस्य छो भवेत् ।
सामच्छ वा च सामन्थ, उच्छुओ ऋसुओ तथा ॥
उच्छयो उत्सवो वा स्यान्, पृथगुक्त द्वयं द्वयम् ।

स्पृहायाम् ॥ २३ ॥

सयुक्तस्य ङकार स्यात्, स्पृहायां फस्य बाधकः ।
विहा, याहुलकात् कापि निस्पृहो निष्पिहो ‘मत’ ॥

द्य-ग्य-र्यो जः ॥ २४ ॥

द्य-ग्य-र्यानां तु युक्तानां, स्थाने ज सप्रवर्तते ।
(द्य) मज्ज भवज्ज, (ग्य) जज्जो च, मेज्जा, (र्य) भज्जा च भारिभा ॥

अभिमन्यौ न-ञ्जौ वा ॥ २५ ॥

अभिमन्युपदे न्योजो, अञ्चाऽऽदेशो विकल्पनात् ।
अहिमञ्जू अहिमञ्जू, अहिमन्नु तु पाक्षिकः ॥ [१]

साध्वस-ध्य-द्या जः ॥ २६ ॥

साध्वसे ध्य-ह्ययोश्च स्याद्, युक्तयोर्जो हि, मज्जस ।
सज्जाओ वज्जप जाण, मज्ज गुज्ज च नज्जइ ॥

ध्वजे वा ॥ २७ ॥

ध्वजे ध्वस्य ङकारो वा, तत स्यातां ‘ऊओ’ ‘धओ’ ।

इन्धौ भौ ॥ २८ ॥

इन्धौ धातौ तु युक्तस्य, ‘जा’ इत्यादेश इष्यते ।
समिज्जा च विज्जाइ, चेदृश सप्रयुज्यते ॥

वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदर्थिते टः ॥ २९ ॥

वृत्ते प्रवृत्ते पत्तने, मृत्तिकायां कदर्थिते ।
सयुक्तस्य टकार स्याद्, यथा रूप कवट्टिओ ॥
पयट्टो मट्टिआ वट्टा, पट्टण समुदाहनम् ।

र्त्तस्याधूर्त्तादौ ॥ ३० ॥

धूर्त्तादीन् वर्जयित्वा टो, ‘र्त्त’स्य स्थाने प्रवर्त्तने ।
केवट्टो नट्टइ सय-ट्टिअ जट्टो पयट्टइ ॥
धूर्त्तादौ तु विधिर्नाय, ततो धूर्त्तादिरुच्यते ।
धुत्तो किर्त्ती वत्ता, निवत्तओ वत्तिओ मुहुत्तो च ॥
आवत्तण च सव-त्तण च आवत्तओ मुत्त ।
निवत्तण च पवत्तण-मुक्त्तिओ वत्तिओ कत्तिओ च ॥
निवत्तओ पवत्तओ, सवत्तओ कत्तरी मुत्तो ।
आवत्तकावर्त्तनकीर्त्तिर्नानिर्वर्त्तनाप्रवर्त्तकमुहुर्त्तनियर्त्तकाश्च ।
सर्वर्त्तकावर्त्तनकीर्त्तिर्नानिर्वर्त्तनानिर्वर्त्तकानिर्वर्त्तकाश्च ॥
वर्त्तिका कर्त्तरी चापि, सवर्त्तननिवर्त्तने ।
निर्वर्त्तनकमसौ धूर्त्तादिर्गण परिकीर्त्तितः ॥

वृन्ते एटः ॥ ३१ ॥

सयुक्तस्य भवेद् वृन्ते, एटाऽऽदेशो निर्धिकल्पकः ।
तालवेण्ट च वेण्ट च यथा सिद्धि समश्नुते ॥

ओऽस्थि-विसंस्थुले ॥ ३२ ॥

विसंस्थुलेऽस्थिशब्दे च, सयुक्तस्य टकारना ।
अछो विसडुल नेन, पृथक् सिद्धिमुपागमन् ॥

स्त्यान-चतुर्थ्ये वा ॥ ३३ ॥

अर्थ-स्त्यान-चतुर्थ्ये, वा सयुक्तस्य ओ भवेत् ।
ठाण थीण चउत्थोऽछो-अधनेऽत्थो धनवाचकः ॥

एस्याऽनुप्रेष्टामंदष्टे ॥ ३४ ॥

सदृष्टमिष्टामुष्ट च न्यक्त्वा एस्य तु ओ भवेत् ।
लछो मुछो सुगछा च, कछ छट्टो अणिछ च ॥
उट्टो छट्टा च सदृष्टो रूपमुष्टादिसज्जचम् ।

गते मः ॥ ३५ ॥

स्याद् गते ‘ते’स्य डो, ‘गट्टो गट्टा’-इय टस्य बाधकः ।
मम्मट-विनटि-विच्छटि-च्छटि-रुपटि-मटिने टस्य ॥ ३६ ॥
सम्मटं विच्छटं छटि-विनटि-रुपटि-मटिने च ।
टस्य ङकारो भवति, सम्मटो मट्टिओ छट्टी ।

[१] अनिग्रहणान् इह न भवति- मन् ।

सम्प्रदिशो कवडो, विच्छडो वडुह विअडो ।

गर्दभे वा ॥ ३७ ॥

गर्दभे दंस्य डो वा स्याद्, गडुहो गदुहो तथा ।

कन्दरिका-जिन्दिपाले एम्ः ॥ ३८ ॥

एम् सयुक्तस्य वै जिन्दि-पाले कन्दरिकापदे ।
जिदिमवालो काज्जिअ, द्वयं ससिद्धिमृच्छति ।

स्तब्धे ठ-ढौ ॥ ३९ ॥

स्तब्धे सयुक्तयोः स्याता, ठढौ, 'ठडो' यथाक्रमम् ।

दग्ध-विदग्ध-वृद्धि-वृद्धे ढः ॥ ४० ॥

दग्धे विदग्धे वृद्धौ च, वृद्धे युक्तस्य ढो भवेत् ।

दडो विअडो वुडो च वृद्धे, विद्धो क्वचिन्मत [१] ।

श्रद्धि-मूर्धार्धेऽन्ते वा ॥ ४१ ॥

ढ' स्याच्छ्रद्धि-मूर्धार्धेऽन्ते सयुक्तस्य वा, यथा ।

सद्धा सद्धा, इद्धी रिद्धी, मुग्धा मुद्धा अद्गु अद्गु ॥

झझोर्णः ॥ ४२ ॥

णाण निष् च विष्णाण, पञ्जुसो मन्त्रयोर्णतः ।

पञ्चाशत्पञ्चदश-दत्त ॥ ४३ ॥

स्यात् पञ्चाशत्-पञ्चदश-दत्ते युक्तस्य णो, यथा ।

पष्ठासा पष्परह च, दिष्त्र त्रयमुदाहृतम् ॥

मन्यौ न्तो वा ॥ ४४ ॥

मन्यौ युक्तस्य वा न्तः स्याद्, मन्तु मन्यु च पठ्यते ।

स्तस्य थोऽममस्त-स्तम्वे ॥ ४५ ॥

स्तम्ब समस्त च त्यक्त्वा, 'स्त' स्य थादेश इष्यते ।

थोस्त थोअ थुई इत्थो, पस्तथो पत्थरोऽस्थि च ।

तम्बो स्तम्बे, समस्तो तु-समस्तेऽर्थे प्रकीर्तितः ॥

स्तवे वा ॥ ४६ ॥

स्तवशब्दे स्तस्य थो वा, ततो रूप थवो तवो ।

पर्यस्ते थ-ढौ ॥ ४७ ॥

पर्यस्ते स्तस्य तु स्यातां, थ-ढौ पर्यायजाविनौ ।

पल्लथो वा तु पल्लडो, रूप व्युत्पद्यते द्वयम् ।

वोत्साहं थो हश्च रः ॥ ४८ ॥

उत्साह-शब्दे थादेशः सयुक्तस्य विकल्पनात् ।

हस्य रश्चापि, 'वरधारो,' 'उच्छाहो' सिद्धिमाप्नुतः ॥

आश्लिष्टे झ-धौ ॥ ४९ ॥

सयुक्तयोर्यथासख्यमाश्लिष्टे तु ल-धौ स्मृतौ ।

आलिङ्गो ईदृश रूप तदाऽऽश्लिष्टस्य जायते ।

चिह्ने न्यो वा ॥ ५० ॥

चिह्ने हस्य तु वा न्यः स्याद् एह वाधित्वैव, तद्यथा- ।

चिन्ध इन्ध च, चिणह तु पक्के एहस्यापि सभवात् ।

जस्मात्मनोः पो वा ॥ ५१ ॥

जस्मात्मनो पकारः सयुक्तस्य, विभाषया भवति ।

भष्पो जस्तो, अप्या अप्याणो, पात्तिको 'ऽत्ता' ऽपि ।

रुम-कपोः ॥ ५२ ॥

अस्य कमस्य च पादेशः, कुञ्जल कुम्पल तथा ।

[१] क्वचिन्न भवति 'विद्ध-कद-निद्धविअ' ।

रुक्मिणी-रुक्मिणी, रुक्मी, रुक्पी रुमः कापि इष्यते ।

स्प-स्पयोः फः ॥ ५३ ॥

फः स्प-स्पयोर्भवेत्, पुष्प पुष्पं स्यात्, स्पन्दन पुनः ।

फन्दण च प्रतिस्पर्धी पाणिफन्दी प्रयुज्यते ।

बहुलात् कापि वैकल्प्यं, यथा-रूपं बुद्धिर्ह ।

बुद्धिर्ह च, न कापि-निष्पहो च परोष्पर ।

जीष्मे ष्मः ॥ ५४ ॥

जीष्मे ष्मस्य फकारः स्यात्, रूपं 'भिष्मो' यथा भवेत्

श्लेष्मणि वा ॥ ५५ ॥

श्लेष्मणि ष्मस्य फः, सेफो सिलिम्हो च विकल्पनात् ।

ताम्राग्रे म्वः ॥ ५६ ॥

अस्य म्व स्यात् ताम्र आग्रे, 'तम्ब' 'मम्ब' च सिध्यतः ।

हो जो वा ॥ ५७ ॥

हस्य भो वा, यथा-जिम्मा जीहा सिद्धिमवाप्नुतः ।

वा विहले नौ वश्च ॥ ५८ ॥

विहले हस्य भो वा स्याद्, विशब्द वा च वस्य भः ।

जिम्भलो विम्भलो वा च विहलो च त्रये मतम् ।

वोर्ध्वे ॥ ५९ ॥

ऊर्ध्वे युक्तस्य जो वा स्याद्, उर्ध्वं वरु च सिध्यतः ।

कश्मीरं भो वा ॥ ६० ॥

कश्मीर-शब्दे भो वा स्यात् सयुक्तस्य, ततो द्वयम् ।

सिद्धिमृच्छति, 'कश्मारा' 'कश्मारा' चेति पाक्षिकम् ॥

न्मो मः ॥ ६१ ॥

न्मस्य मो वा, यथा-जम्मो वम्महो मम्मण तथा ।

ग्मो वा ॥ ६२ ॥

ग्मस्य मो वा, यथा-गुग्मं जुग्म जुग च कथ्यते ।

ब्रह्मचर्य-तूर्य-मौन्दर्य-शौण्डर्ये यो रः ॥ ६३ ॥

तूर्य-सौन्दर्य-शौण्डर्य-ब्रह्मचर्येषु 'र्य' स्य रः ।

बम्हचर च सुन्दर, सोण्डीर तूरमित्यपि ॥

पठ्यते बम्हचरिअं, क्वापि चौर्यसमतत्त्वतः ।

धैर्ये वा ॥ ६४ ॥

धैर्यं र्यस्य रकारो वा, धीर धिज्ज च सिध्यतः ।

'सुरो सुज्जो' इति कथं ? रूपे स्त, 'सूर-सुर्ययोः' [१] ॥

एतः पर्यन्ते ॥ ६५ ॥

पर्यन्तशब्दे एतः स्याद् र्यस्य रस्तेन सिध्यति ।

'परन्तो,' एत इति किम् ? 'पञ्जन्तो' परिपठ्यते ॥

आश्रये ॥ ६६ ॥

एतः परस्य रो 'र्य'स्याऽऽश्रये, अच्चेरामिष्यते ।

अतो रिआर-रिज्ज गीअं ॥ ६७ ॥

अत परस्याश्रये, र्यस्य 'रिआर-रिज्ज-रीअ'-मादेशाः

अच्छरिज्ज-मच्छरिअ, तथाऽच्छरीअ च अच्छर ॥

पर्यस्त-पर्याण-सौकुमार्ये द्वः ॥ ६८ ॥

सौकुमार्ये च पर्याणे पर्यस्ते र्यस्य द्वद्वयम् [२] ।

पल्लथ पल्लथ सोअमल्लमिनि भवति ।

पलिअङ्गा पल्लङ्गो पल्लङ्गस्यैव रूपे द्वे ।

[१] सुरो सुज्जो इति तु सूरसूर्यप्रकृतिभेदात् । [२] 'ल्ल' इति

बृहस्पति-वनस्पत्योः सो वा ॥ ६६ ॥

बृहस्पतिवनस्पत्योः, सो युक्तस्य विकल्पनात् ।
बहस्सई बहपफई भयस्सई भयप्फई ।
वणस्सई वणप्फई च सिद्धिमश्नुते पृथक् ॥

वाष्पे होऽश्रुणि ॥ ७० ॥

स्यादश्रुवाचके वाष्पे, संयुक्तस्य हकारता ।
बाहो नेत्रजल, ' बप्फो- ' ऊष्मार्येऽय प्रयुज्यते ॥

कार्षापणे ॥ ७१ ॥

कार्षापणे हकारः स्यात्, संयुक्तस्येति कथ्यते ।
काहावणो, क्वचिद् ह्रस्वे कृते रूप कहावणो [१] ॥

दुःख-दक्षिण-तीर्थे वा ॥ ७२ ॥

दु खे च दक्षिणे तीर्थे वा संयुक्तस्य हो भवेत् ।
दाहिणो दक्षिणो, तित्थं तूह, दुखं दुह तथा ॥

कूष्माण्ड्यां षो लस्तु रमो वा ॥ ७३ ॥

' ष्मा ' इत्येतस्य कूष्माण्ड्यां इः स्याद्, एदस्य तु वा च लः ।
कोइणी कोइली चैतद् इय व्युत्पद्यते ततः ॥

पक्ष-इम-ष्म-स्म-स्मां म्हुः ॥ ७४ ॥

म्हुः पक्ष-इम-ष्म-स्म-स्मानां संयुक्तानामादेशः स्यात् ।
पक्षमाणि स्यात् पम्हाई, कुइमान् कम्हाणो पठ्यन्ते ।
अप्पो गिम्हो भवेद् 'अम्हा-रिलो' अस्मादशः स्मृतः ।
अम्हा बम्हा, तथा सुम्हाः 'सुम्हा' जातास्तथा पुनः ।
बम्हणो बम्हचेर च, इदयते म्मोऽपि कुत्रचित् ।
बम्मणो बम्मचेरं च, सिम्मो रूपं यथा भवेत् ।
कच्चिन्न इदयते चाय रश्मिः-रस्सी, स्मर-सरो ॥

सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह-ह-क्ष्णां एहः ॥ ७५ ॥

सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह-ह-क्ष्णां
संयुक्तानामादेशो एहः ।
सूक्ष्म सण्हं (ऋ) पण्हो सिएहो
(ण) विण्हू जिएहू उपहीस स्यात् ।
(ऋ) जोएहा एहाओ पण्हो च, (ह) वएही जएहू तथैव च ।
(ह) पुव्वपण्हो अवएहो च, (ण) सण्ह तिण्ह प्रयुज्यते ।
विप्रकर्षे तु कसणो कसियो कृष्ण-कृत्स्नयोः ॥

हो न्हः ॥ ७६ ॥

न्हः स्याद् ह्रस्व तु कल्हार, पल्हाओ रूपमीदृशम् ।

क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-क-पामूर्ध्वं लुक् ॥ ७७ ॥

क-ग-ट-ड-त-द-प-श-षानां, स-क-पानां तयोर्ध्वभूतानाम् ।
संयुक्तवर्णसम्बन्धिनां लुगन्नेति शास्ति मुनि ।
(क) छुत्त (ग) दुक्क (ट) वट्पदः 'उप्पओ' च
(ड) खड्ग खगो (त) उप्पल उत्पलं च ।
(द) मङ्गु-मग्गु, मुङ्गरो-मोग्गरो च,
(प) सुत्तो गुत्तो (श) निश्चलो निश्चलो च ।
(ष) गोठी ठो निट्ठो च, (स) नेहो च खल्लिओ तथा ।

[१] कथ 'कहावणो' । 'ह्रस्व-सयोगे' [१. ८४] इति पूर्वमेव
ह्रस्वत्वे पाश्चादादेशः कार्षापणशब्दस्य वा भविष्यति ।

(* क) दुःखं दुक्ख (* प) अन्तःपातः, अन्तर्पाओ निगद्यते ।

अधो म-न-याम् ॥ ७८ ॥

युक्ताधो वर्तमानानां, मनयानां तु लुग् भवेत् ।
(म) जुग्मा रस्सी सरो (न) नग्गो, (य) सामा कुडु यथा पदम् ।

सर्वत्र द्व-व-रामऽवन्दे ॥ ७९ ॥

युक्तस्योर्ध्वमधो वा ये, सस्थिता ल-व-रा क्वचित् ।
वन्दशब्दं विना तेषां लुक् स्यादित्युपदिश्यते ॥
(कर्ध्वम्) (ल) उट्का उट्का, वट्कल वट्कल च,
(व) शब्दः सट्ठो, लुब्धको लोक्कओ च ।
(र) अक्को वग्गो अर्क-वर्गो भवेताम्,
(अधः) (ल) अक्कण सण्ह, विकलवो विकलवो च ॥
(व) पक्क पक्क च पिक च, (र) चक्क चक्कं ग्रहो ग्रहो ।
रात्रि रस्सी, यथालक्ष्य, लोपः स्यात् कापि, तद्यथा ।
(कर्ध्वम्) उद्विग्न स्याद् उद्विगो, द्विगुणो विउणो तथा ।
कम्मव कम्मस, सर्व-सन्व, सन्ति सहस्रशः । -
(अधः) काव्य कव्व प्रवक्तव्य, माव्यं मल्लं, द्विपो दिओ ।
पर्यायेण क्वचित् द्वार-द्वार द्वार प्रचक्षते ।
एवमुद्विग्न उद्विगो, उद्विगो विनिगद्यते ।
वन्द पदं तु सवेद्य, सस्कृते प्राकृते समम् ।

छे रो न वा ॥ ८० ॥

छ-शब्दे तु विकल्पेन, लुक् स्याद् रेफस्य तद्यथा ।
चन्दो चन्दो च, रुहो रुहो, भह भद्रमित्यपि ॥
परिवृत्त्या स्थिते रूपद्वयं वेद्यं ह्रस्वे यथा ।
रुहो रुहो, रलोप तु केऽपि नेच्छन्ति सूरयः ।
ये वोरुहादयः शब्दास्तरुणार्थवाचकाः ।
ते नित्यं रेफसयुक्ता देव्या एवेति बुध्यताम् ॥

धात्र्याम् ॥ ८१ ॥

धात्र्यां वा मुग् रस्य, धच्छी धारी धाई रलोपनात् ।

तीक्ष्णे णः ॥ ८२ ॥

तीक्ष्ण-शब्दे णस्य लुग्वा, तिक्ख तिण्ह ततो द्वयम् ।

ज्ञो अः ॥ ८३ ॥

अस्य सम्बन्धिनो अस्य, लुक् स्यादत्र विभाषया ।
जाण णाणं, कच्चिन्न स्याद्, विष्ठाण सप्रयुज्यते ॥

मध्याहे हः ॥ ८४ ॥

स्याद् ' मज्जओ च मज्जएहो ' मध्याहे मुकि हस्य वा ।

दशार्हे ॥ ८५ ॥

दशार्हे हस्य लुक् वेद्यो, दसारो सिद्धिमृच्छति ।

आदेः श्मश्रु-श्मशाने ॥ ८६ ॥

श्मश्रु-श्मशानयोरादे-र्ह्यग्रदेशो विधीयते ।
मासू मसू च मस्सू च, मसाण चेह सिध्यति ।
आर्षे सुसाण सीआणं, श्मशानस्य द्विरूपता ।

ओ हरिश्चन्दे ॥ ८७ ॥

अस्य लुक् स्याद् हरिश्चन्दे, ' हरिश्चन्दो ' ततो जनेन् ।

रात्रौ वा ॥ ८८ ॥

रात्रौ युक्तस्य वा लुक् स्याद्, रात्रि रत्नी च सिध्यतः ।

अनादौ शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वम् ॥ ८९ ॥

अनादिचूतयोः शेषाऽऽदेशयोर्द्वित्वमिष्यते ।

तत्र शेषे यथा-कप्पतरु छुत्त प्रयुज्यते ।

आदेशे तु यथा-रुक्को जक्खो रगो निगद्यते ।

कप्पचिन्न-कसिणो-ऽनादाविति किम्? खलित्वा यथा ।

द्वित्वं द्वयोरेव न स्याद्, भिरिणपालो च विञ्चुओ ।

द्वितीय-तुर्ययोरुपरि पूर्वः ॥ ९० ॥

द्वितीय-तुर्ययोर्द्वित्व-प्रसङ्गे पूर्ववर्तिनौ ।

वर्गस्थौ भवतो घर्णावुपरिष्ठादित्यर्थः ॥

शेषे यथा तु वक्खण, घग्घो मुच्छा च निज्जरो ।

कठ तित्थ च गुप्फ च, निज्जरो निज्जरो तथा ।

आदेशे तु यथा-जक्खो, (घस्य नास्तेन) अच्छी मज्जं च निग्गहो ।

पट्टी बुद्धो च हत्थो चाऽऽलिद्धो पुप्फ प्रपठ्यते ।

तैलादौ (१।८८) ओक्खल, नक्खानहा सेवादिषु (१।९६) स्मृतम्
कइरुओ कइधओ, समासे वा (२।६७) प्रयुज्यते ।

दीर्घे वा ॥ ९१ ॥

दीर्घशब्दे तु शेषस्य, घकारस्य विभाषया ।

उपरि स्यात् पूर्ववर्णो, दिग्घो दीहो द्वयं यथा ।

न दीर्घानुस्वारात् ॥ ९२ ॥

दीर्घानुस्वाराभ्यां, लाक्काणि काळाक्काणिकरूपाज्याम् ।

शेषस्यादेशस्य च, परस्य द्वित्वं विजानीयात् ॥

छूढो फासो नीलासो-ऽलाक्काणिके यथा-ऽऽस्य-माऽऽसं स्यात् ।

पाथ्वे पास, शीर्षे सीस द्वेभ्यो भवेद् वेसो ।

हास्य हास, प्रेष्यः पेसो, आहसिराणसी ।

अवमात्यम्-‘ओमाल,’ आन्ना-आणा, हानुस्वारात्- ।

अयस्-तस, चालाक्काणिके सभा तु मध्यायाः ।

विंशो कसावो चत्यादि तु नानाविधं लक्ष्यम् ।

‘र-होः ॥ ९३ ॥

रेफस्यापि हकारस्य न द्वित्वं स्यात् कदाचन ।

रेफो न शिष्यते क्वापि, तस्मादादेश इक्ष्यताम् ॥

सुन्देर बम्हचेरं पेरन्त शेषस्य इत्यं तु ।

विदहो स्यात्, तथाऽऽदेशस्य रूपं च कहावणो ।

धृष्टद्युम्ने णः ॥ ९४ ॥

धृष्टद्युम्ने तु न द्वित्वं णस्याऽऽदेशस्य कर्हिचित् ।

धट्टज्जुणो ततो रूप, प्राकृते सिद्धिमृच्छति ।

कर्णिकारे वा ॥ ९५ ॥

कर्णिकारे न वा द्वित्वं णस्य शेषस्य, तद्यथा- ।

कणिआरो कप्पिआरो, द्वयं सिद्धिमुपागमत् ।

हसे ॥ ९६ ॥

हसे शेषस्य न द्वित्वं, वरिओ हस उच्यते ।

समासे वा ॥ ९७ ॥

स्यात् शेषदेशयोर्द्वित्वं, समासे तु विभाषया ।

नहगामो नहगामो, अशेषादेशयोः क्वचित् ।

स-पिवासो स-पिवासो, अहसण-मऽहसण ।

तैलादौ ॥ ९८ ॥

तैलादिषु यथालक्ष्यमनादेर्व्यञ्जनस्य तु ।

अन्त्याऽनन्त्यस्य वर्णस्य, द्वित्वं स्यादिति समतम् ।

तेल्ल बहुत्त मणुक्को, विड्डा वेइल्लमित्यपि ।

सोत्त पेम्म जुव्वण स्यादनन्त्यस्य निदर्शनम् ।

आर्षे तु विस्सोअसिआ, पडिस्सोओ च भूरिशः ।

तैल-प्रभूत-मणूका ऋजु वीरा च यौवनम् ।

छातो विचकिन्न प्रेम, तैलादि-समुदाहृतः ॥

सेवादौ वा ॥ ९९ ॥

सेवादिषु यथालक्ष्यमनादेर्व्यञ्जनस्य वा ।

अन्त्याऽनन्त्यस्य वर्णस्य द्वित्वं स्यादिति कथ्यते ।

सेव्वा सेवा, मेडु नीम, नक्खा नहा, निहित्तो तु ।

निहिओ, वाहिओ वाहिओ, दइव्व च दइव्व स्यात् ॥

माउक माउअमे-को एओ कोउहल्ल कोउहल ।

थुल्लो थोरो हुत्त इअ मुक्को च मूओ च ॥

वाउल्लो च वाउल्लो, तुणिहको तुणिहओ विकल्पवशात् ।

मुक्को मूओ, खण्णू खाण्णू, पिण्ण च थीण च ॥

द्वित्वमनन्त्यस्य यथा-अम्हकेर तथाऽम्हकेर च ।

सोच्चिअ सोच्चिअ वा स्याद्, रूपं तच्चेअ तच्चेअ ।

सेवा नीडो निहित-मुदुक-व्याकुल स्थूल-मूका

एकस्त्पणीक-चिअ-नख-चेआऽस्मदीयाश्च दैवम् ।

स्त्यानो हूतो निगदति मुनिः स्थाणु-कौतूहलं च

सेवादि तद् ग्रहशशिमित १६ व्याहृतश्चापि शब्दः ।

शाङ्गे ङात् पूर्वोऽत् ॥ १०० ॥

शाङ्गे ङात् प्रागकारः स्यात्, ‘सारङ्ग’ सिद्धिमश्नुते ।

दमा-श्लाघा-रत्नेऽन्यव्यञ्जनात् ॥ १०१ ॥

अन्तिमाद् व्यञ्जनात् प्रागत् दमा-श्लाघा-रत्न इष्यते ।

कृमा सत्ताहा खण्ण, सूदम सुदममाऽऽर्षतः ॥

स्नेहाग्न्योर्वा ॥ १०२ ॥

स्नेहेऽग्नौ यश्च सयोगस्तस्य मध्ये तु वाऽह् भवेत् ।

नेहो सणेहो, अगणी अग्नी रूपं विदुर्बुधाः ।

प्लुके लात् ॥ १०३ ॥

अः स्यात् प्लुके लकारात् प्राक् ‘पलक्खो’ सिद्धिमश्नुते ।

ह-श्री-ही-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् ॥ १०४ ॥

श्री-ही-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्या-ऽहेषु युक्तान्त्यवर्णतः ।

प्रागिकारो भवेदेषु षट्सु, तल्लक्ष्यतेऽधुना ।

सिरी हिरी, च कसिणो किरिआ दिठिआऽरिहा,

‘ हयं नाण क्रिया-हीण ’ इत्यर्थे क्वचिदिष्यते ।

श-र्ष-तप्त-वज्रे वा ॥ १०५ ॥

तप्त-वज्र-श-र्षशब्दे सयुक्तस्यान्त्यवर्णतः ।

प्रागिकारो विकल्पेन, भवेदित्युपदिश्यते ॥

(शं) आयरिसो आयसा, सुदरिसणा वा सुदसणो, (र्षं) वासा ।

वरिसा, वास वरिस, वरिस-सय वाससयमिति च ॥

नित्यं कचिद् व्यवस्थित-विज्ञापया इष्यते-ऽपरिसा ।

हरिसो च परामरिसो, तविश्रो तप्तो, घहरं वज्र ॥

लात् ॥ १०६ ॥

सयुक्तस्य तु लादन्त्य-व्यञ्जनात् प्रागिकारता ।
किलिन्न च किलिघो च, क्वचिन्न स्यात्-कमो पचो ॥

स्याद्-जव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात् ॥ १०७ ॥

स्यादादिषु चौर्यशब्द-तुल्येषु निनदेषु च ।
संयुक्तस्य यकारात् प्रागिदादशो विधीयते ॥
सिन्ना यथा-सिन्नाचाश्रो, भविश्रो चेद्वन्न तथा ।
(चौर्यसमा.) चोरिन्न येरिन्न गम्भीरिन्न सोरिन्न धीरिन्न ॥

स्वमे नात् ॥ १०८ ॥

स्वप्नशब्दे नकारात् प्रागिकार, सिचिणो यथा ।

स्निग्धे वाऽदितौ ॥ १०९ ॥

स्निग्धशब्दे नकारात् प्राग्, अदितौ स्तो विकल्पनात् ।
सणिञ्च च सिणिञ्च च, पक्वे निरुं निगद्यते ॥

कृष्णे वर्णे वा ॥ ११० ॥

वर्णे कृष्णे गुकारात् प्राग्, अदितौ स्तो विकल्पनात् ।
कसणो कसिणो कण्हो, विष्णो कण्हो प्रयुज्यते ॥

उच्चार्यति ॥ १११ ॥

अर्हत्-शब्दे हकारात् प्राग्, अदितौ स्तो विकल्पनात् ।
अरहो अरिहो रूप-मरहो चेति सिध्यति ॥
अरहन्तो अरिहन्तो, अरहन्तो च पठ्यते ।

पद्म-क्षेत्र-मूर्ख-द्वारे वा ॥ ११२ ॥

पद्मे क्षेत्रे च मूर्खे च द्वारे युक्तान्यवर्णतः ।
प्रागुद् वा, पठम पोम्मं, छम्म च ङउम तथा ॥
मूर्खो मुरुक्खो मुक्खो वा, दुवार द्वारमुच्यते ।
पते वार च देर च दार चेति त्रय स्मृतम् ॥

तन्वीतुल्येषु ॥ ११३ ॥

उदन्ता ङीप्रत्ययान्ताः, शब्दास्तन्वीसमा स्मृताः ।
सयुक्तस्यान्यवर्णात् प्राग्, उकारस्तेषु पठ्यते ॥
तण्णी लङ्गी गरुवी, क्वचिद्वन्यत्रापि दृश्यते च यथा ।
छुन्न नवति मुरुग्धं, आर्ये-छुन्नं तु सुहुमं स्यात् ।

एकस्वरे श्वः स्वे ॥ ११४ ॥

एकस्वरे पदे यौ भवत्-स्व इत्येतौ तयोरिदं ।
वकारात् प्राग्, उकार स्यात्, भव कृतं तु-‘सुवे कय’ ।
‘सुवे जणा स्वे जनास्तु, कुत ‘एकस्वरे’ इति ? ।
स्वजन-‘सयणो’ नात्र, यतोऽनेकस्वरे स्थितः ॥

ज्यायामीत् ॥ ११५ ॥

ज्या-शब्दे तु यकारात् प्राग्, ईत् स्यात् ‘जीआ’ ततो भवेत् ।

करेणू-वाराणस्योः र-णोर्व्यत्ययः ॥ ११६ ॥

वाराणस्यां करेणवा च, र-णोर्व्यत्ययो भवेत् ।
वाणारसी, कणेरु, स्त्री-निर्देशात् पुंसि नेष्यते ।

आलाने लनोः ॥ ११७ ॥

ल-नोर्व्यत्ययादाला-नमाऽऽलानो प्रयुज्यते ।

अचलपुरे चलोः ॥ ११८ ॥

अचलपुरे तु शब्दे, च-लयोः स्थानभेदतः ।
प्रयुज्यतेऽश्चचपुर बुधैः प्राकृतयेदिनि ।

महाराष्ट्रे हरोः ॥ ११९ ॥

‘मरदह’ महाराष्ट्रे हरयोर्व्यत्ययाद् भवेत् ।

हदे हदोः ॥ १२० ॥

हृद-शब्दे ह-दयोर्व्यत्ययेन रूप दहो भवत्यत्र ।
‘हरण मह पुण्णरिण’ इत्याप्ये दृश्यते तत्तु ।

हरिताले र-लोर्नवा ॥ १२१ ॥

र-लोर्व्यत्ययः कार्यो, हरिताले विकल्पनात् ।
सिरु ततो ‘हरिभातो, हलिभातो’ इति द्वयम् ।

लघुके ब्रह्मोः ॥ १२२ ॥

लघुके घस्य इत्वे वा लघ्यार्व्यत्ययः स्मृतः ।
हलुभ लङ्भ, घस्य व्यत्यये न तु हो भवेत् [१] ॥

ललाटे ल-मोः ॥ १२३ ॥

ललाट-शब्दे लङ्योर्व्यत्ययो वा विधीयते ।
णमालं च णलाम च, ललाटे चेति [१२५७] लस्य ण. [२] ।

ते ह्योः ॥ १२४ ॥

ह्य-शब्दे ह-ययोर्वा स्यात् व्यत्ययः सहा-गुह्ययोः ।
सरहो सज्जो, तथा गुग्द गुग्ज, रूपे इमे मते ।

स्तोकस्य थोक्-थोव-थेवाः ॥ १२५ ॥

थोक्-थोव-थेवा वा स्युः, स्तोकशब्दे त्रयः क्रमात् ।
थोक् थोव च थेव च, पक्वे थोवं विधीयते ।

दुद्धित्-जगिन्योर्धूआ-वहियौ ॥ १२६ ॥

वा भवेद् दुद्धितुर्धूआ, जगिन्या बहिणी तथा ।
यदिणी भरणी, धूआ दुद्धिआ च त्रिभाष्यते ॥

वृक्ष-क्षिप्तयोः रुक्ख-छूदौ ॥ १२७ ॥

वृक्ष-क्षिप्तशब्दयो-र्यथाकृत् ‘रुक्ख’ ‘छूद’ इति वा स्तः ।
रुक्खो वच्छो, छूद खित्त, उच्छूदमुक्खित्त ॥

वनिताया विलया ॥ १२८ ॥

वनिताया विलया वा, विलया वणिआ ततः ।

गौणस्येषतः कूरः ॥ १२९ ॥

ईषच्छब्दस्य गौणस्य, कूरादेशो विजाषया ।
चिचव्व कूर-पिक्केति, पक्वे म्याद् ‘ईसि’ निर्वृतम् ॥

स्त्रिया इत्थी ॥ १३० ॥

स्त्री-शब्दस्य भवेदित्थी वा, ‘इत्थी थी’ प्रयुज्यते ।

धृतेर्दिहिः ॥ १३१ ॥

धृतेर्वा दिहिरादेश-स्ततः स्यातां दिही धिई ।

मार्जारस्य मज्जर-वज्जरौ ॥ १३२ ॥

मार्जारस्य विकल्पेन स्यातां मज्जर-वज्जरौ ।
मज्जरो वज्जरो, पक्वे मज्जारो चाऽभिधीयते ।

वैदूर्यस्य वैरुलित्रं ॥ १३३ ॥

वैरुलित्र इत्यादेशो, वा वैदूर्यस्य स्यात् ततः ।
वैरुलित्र वैरुज्ज च, द्वय सिक्किं समश्नुते ।

[१] घस्य व्यत्यये कृते पदादित्वाद् हो न प्राप्नोतीति ह-
रणम् । [२] “ ललाटे च ” [१. २५७] इति आदेशस्य ण-
विधानादिह द्वितीयो ल. स्थानी ।

एणिह एत्ताहे इदानीमः ॥ १३४ ॥
इदानीमो भवेद् एणिह, एत्ताहे च विकल्पनात् ।
इआणि एणिहम एत्ताहे, त्रय चैतत् प्रकृतम् ।

पूर्वस्य पुरिमः ॥ १३५ ॥
पूर्वस्य पुरिमो वा स्यात्, पुर्व च पुरिमं तथा ।
त्रस्तस्य द्वित्य-तद्वौ ॥ १३६ ॥
त्रस्त-शब्दस्य वा स्यातां, द्वि-तद्वौ विकल्पनात् ।
द्वित्य तच्च च तत्थं च, त्रय सिद्धि समश्नुते ॥

बृहस्पतौ बहो जयः ॥ १३७ ॥
बृहस्पतौ बहस्य वा भयो निगद्यते पदे ।
भयस्सर्हं प्रयप्पर्हं भयप्पर्हं ततो भवेत् ।
बहस्सर्हं बहप्पर्हं बहप्पर्हं च पाक्षिकम् ।
इदुश्च यत्र 'वा बृहस्पतौ' (१ । १३८) इति प्रदर्शितौ ।
बिहस्सर्हं बिहप्पर्हं बिहप्पर्हं बुहस्सर्हं ।
बुहप्पर्हं बुहप्पर्हं च तत्र यान्ति सिद्धिताम् ।

मलिनोजय-शुक्ति-बुद्धाऽऽरब्ध-पदातेर्महत्वावह-
सिप्पि-ठिका-दन्त पाइक्कं ॥ १३८ ॥
मलिनोदेर्महत्वाविरादेशो वा विधीयते ।
मलिन-मल्लिणं महत्, उभय-अवह च उवहमिति केचित् ।
शुक्तिः-सिप्पी सुत्ती, बुद्धः-ठिको च बुद्धो च ॥
आरब्धश्चादत्तो आरब्धो वा, पदातिरिति तु पदम् ।
पाइक्को च पर्याह, 'उभयोक्तौ' प्रवेदायै ।

दंथया दादा ॥ १३९ ॥
दंथा-शब्दस्य दादा स्यात्, सम्कृतेऽप्ययमिष्यते ।
बहिसो बाहि-बाहिरौ ॥ १४० ॥
'बाहि बाहिरमित्येतौ' स्थाने द्वौ बहिसो मतौ ।
अधसो हेडं ॥ १४१ ॥

हेड इत्ययमादेशोऽधसो, हेडमतो भवेत् ।
मातृ-पितुः स्वसुः सिआ-गौ ॥ १४२ ॥
मातु पितु पर. स्वसृ-शब्दः, तस्य सिआ च छा ।
स्याद् माउच्छा माउसिआ, पिउच्छा च पि (उ) ऊसिया ।

तिर्यचस्तिरिच्छिः ॥ १४३ ॥
तिरिच्छिस्तिर्यच' स्थान आदेशो विनिगद्यते ।
'तिरिच्छि वेच्छह' आर्थे-'तिरिआ' ऽपि प्रयुज्यते ॥

गृहस्य घरोऽपतौ ॥ १४४ ॥
गृहस्य घर आदेशः, पतिशब्दः परो न चेत् ।
घर-सामी, राय-घर पत्यौ-गहवर्हं पुनः ॥

शीलाद्यर्थस्येरः ॥ १४५ ॥
शील-धर्म-साध्वर्थे यो, विहितः प्रत्ययो भवेत् ।
इ' न्त्ययमादेशः, तस्य स्थाने विधीयते ॥
हासशीलस्तु-हसिरो, रोकिरो लज्जिरो तथा ।
जगिरो वाविरो ऊस-सिरो च भामिरो ऽपि च ॥
तुन एव इर केचिद्विच्छन्ति, नमिराऽऽद्य ।
तेषां मने न सिध्यन्ति, तूना बाधाऽत्र रादिना ॥

क्त्वस्तुमन्तुण-तुआणाः ॥ १४६ ॥
तुम अन्तुण तुआणाः' स्यु, स्थाने क्त्वाप्रत्ययस्य तु ।

(तुम) मोत्तुं (अन्तु) प्रमिअ (तूण) काऊण,
कट्टा-ऽऽर्हं (तुआण) जेतुआण च ।

इदमर्थस्य केरः ॥ १४७ ॥
प्रत्ययस्येदमर्थस्य, 'केर' आदेश इष्यते ।
तुम्हकेरो अम्हकेरो, युष्मदीयाऽस्मदीययोः ।
न स्यात् 'मईम-पक्के' तु 'पाणिणीया' इहापि च ।
पर-राज्यां क-मिकौ च ॥ १४८ ॥

प्रत्ययः पर-राज्या-मिदमर्थः परोऽस्तु यः ।
तस्य स्थाने भवेतां तु, क-डिकौ केर इत्यपि ॥
परकीय तु पारक, परक पारकेरअ ।
राजकीयं तु राहकं रायकेरं च पठ्यते ।

युष्मदस्मदोऽत्र एवमयः ॥ १४९ ॥
यः परो युष्मदस्मदोऽत्र प्रत्ययोऽभिदमर्थकः ।
एवमयस्तस्य, युष्माकमिद यौष्माकमित्यदः ।
तुम्हेकचयं स्याद्, आस्माक प्रवेदम्हेकचय तथा ।

वतेर्व्वः ॥ १५० ॥
प्रत्ययस्य वतेर्व्वः स्याद्, 'मुहुर्व्व' निदर्श्यते ।
सर्वाङ्गादीनस्येकः ॥ १५१ ॥

सर्वाङ्गात् 'सर्वादे. पथ्यक्के-[हैम० ७१]' त्यादिना य ईनऽस्ति ।
तस्येकः स्यात्, सर्वा-ङ्गीणः-सन्वत्किमो गदितः ।

पथो एस्येकद् ॥ १५२ ॥
'नित्य णः पन्थअ' [हे० ६४] सूत्रेणैतेन यः पथो णः स्यात् ।
तस्येकद् करणीयः, पन्थः पथिमो ततो भवति ।

ईयस्यात्मनो जयः ॥ १५३ ॥
आत्मनः पर ईयो यो, एयादेशोऽस्तु तस्य तु ।
आत्मीय पठ्यते तेन, बुधैरऽप्यण्य पदम् ।

त्वस्य हिमा-त्तणौ वा ॥ १५४ ॥
त्व-प्रत्ययस्य वा स्यातां 'हिमा' 'त्तण' इमौ कमात् ।
पीणिमा पुष्किमा, पीणत्तण पुष्कत्तण तथा ।
पक्के पीणत्तं पुष्कत्तं, एवमन्यभिदर्शनम् ।
इह. पृथ्यादि-शब्देषु नियतत्वाद्य विधिः ।
तदन्यप्रत्ययान्तेषु साम्प्रत तु विधीयते ।
पीनता 'पीण्या' चेहाऽ-न्यभाषायां तु-पीणदा' ।
तेनेह 'दा' तन्नः स्थाने, आदेशो न विधीयते ।

अनङ्कोवात् तैलस्य मेदुः ॥ १५५ ॥
अङ्कोवर्जितात् शब्दात्, 'मेदुः' तैलस्य कथ्यते ।
ककुपलं, न चाङ्कोवर्जितेष्टमत्र प्रवर्तते ।

यत्तदेतदेतोरिति अ एतल्लुक् च ॥ १५६ ॥
इतिअो यत्तदेतद्व्यः स्याद् मावादेरतोरिह ।
परिमाणार्थकस्याऽऽदेशो, लुक् स्यादेतदोऽपि च ।
एतावत् इतिअ, तावद् यावत् तितिअ जितिअ ।

इदंकिमश्चेत्तिअ-हेसिल-मेदहाः ॥ १५७ ॥
शब्देभ्यो यत्तदेतद्व्यः किमिदम्यं च यः परः ।
अतुर्वा नवतुर्वा स्यात् तस्य स्थाने नित्ययः ।
मेदहो मेसिअो हेसिलो, भवेदेतद्व्य लुक् ।

एत्तिअ एत्तिलं एदह स्यादियत्त
केत्तिअ केत्तिलं केदह स्यात् कियत्त ।
जेत्तिअ जेत्तिलं जेदह यावत् ।

तेत्तिमं तेत्तिलं तेहं तावतः ।

पासिअ पासिल एधमेतावतः ।

यइहं, चेहश सूरिजिर्व्याहतम् ॥

कृत्वसो हुत्तं ॥ १५८ ॥

“वारे कृत्वस्” [हेम०७।२] हि सूत्रेण यः कृत्वस्प्रत्ययः कृतः ।

तस्य स्थाने भवेद् ‘हुत्तं’ ‘सयहुत्त’ निदर्शनम् ।

कथं प्रियाजिमुखं तु ‘पियहुत्तं’ प्रयुज्यते ? ।

दृष्टेनाभिमुखार्थेन रूपसिद्धिर्नैविष्यति ।

आदिवल्लोद्वाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः ॥ १५९ ॥

आलुइ, इल्लो, मणो, वन्त-आल-उल्ल-एर., तथा ।

इच्छो, मन्तो, यथास्तदय, नवाऽऽदेशा मतोः स्मृताः ।

(आलु)नेहालू च दयालू (इल्ल) सोहिल्लो भवति जामइल्लो च ।

(उल्ल)मसुल्लो दप्पुल्लो (आल) तथा जमालो च सहालो ॥

(वन्त)धणवन्त-भत्तिवन्तो(मन्त)हण्णमन्तो भवति पुष्पमन्तो च ।

(इत्त) कव्वइत्तो माणइत्तो (इर)गव्विरो रेह्विरो भवेत् ।

(मण) स्याद् ‘धणमणो,’ केषांचिद्, मादेशाद् हणुमा मतः ॥ [१]

चो दो तसो वा ॥ १६० ॥

प्रत्ययस्य तसः स्थाने ‘सो’ ‘दो’ वा भवतो, यथा ।

सव्वत्तो सव्वदो, पक्के भवेद् रूपं तु सव्वत्तो ।

त्रपो हि-ह-त्थाः ॥ १६१ ॥

प्रत्ययस्य त्रपः स्थाने हि-ह-त्थाः स्युरिमे त्रयः ।

निदर्शनं यत्र-तत्र-कुत्राणामिह दृश्यताम् ।

जहि वा जह वा जत्थ, तत्थ वा तहि वा तह ।

काहि वा कह वा कत्था-ऽकत्थ वाऽअहि वाऽअह ।

वैकादः सि सिअं इआ ॥ १६२ ॥

एक-शब्दात् परो यो दा-प्रत्ययस्तस्य वा त्रयः ।

‘इआ सिअ सि’ इत्येते, आदेशाः स्युर्यथाक्रमम् ॥

स्यादेकदा ‘एकसिअ’, तथा ‘एकसिआ’ऽपरम् ।

‘एकासि’ त्रिनय चैतत्, पक्के स्याद् ‘एगया’ पदम् । [२]

मिह-हुल्लो जवे ॥ १६३ ॥

नामः परौ डिह-हुल्लो, भवेऽर्थे प्रत्ययौ भित्तौ ।

गामल्लिआ, उशन्त्यन्त्य, आल्वालौ [२।१५६] प्रत्ययावपि । [३]

स्वार्थे कश्च वा ॥ १६४ ॥

स्वार्थे को डिह-हुल्लो च, भित्तौ वा प्रत्ययाख्यः ।

चन्दा इहय, क्वापि द्वित्व-‘ बहुभय ’ यथा ।

ककारोच्चारणं पैशाचिकभाषार्थमिष्यते ।

यथा वतनक, इल्ल इतोऽप्रे लक्ष्यते स्फुटम् ।

पुरा पुरो वा ‘पुरिल्लो’ ‘पल्लविह्वेण’ इत्यपि ।

उल्ल-पिउल्लभा इत्थुल्ला मुहुल्ल त्रय मतम् ।

पक्के-चन्दा इह बहु बहुअ मुहमित्यपि ।

स्यात् कुत्सादिविशिष्टे तु ‘कप्’ सस्कृतवदेव च ।

यावादिलक्षणं कस्तु, नियतस्थान इष्यते ।

द्वौ नवैकाद्वा ॥ १६५ ॥

नवादेकाश्च वा स्वार्थे सयुक्ता ‘द्वः’ प्रवर्तते ।

ततो नवल्लो एकल्लो, एअो एको नवोऽपि वा ।

सेवादित्वात् (३।६६) कस्य द्वित्वे ‘एकल्लो’ सिद्धिमृच्छति ।

[१] मतोरिति किम् ? धर्णी, अत्थिआ । [२] एकइआ ।

[३] पुरिल्ल, हेडिल्ल, उवरिल्ल, अप्पुल्ल ।

उपरेः संव्याने ॥ १६६ ॥

संव्यानेऽर्थे स्थितात् स्वार्थे लो भवेद् उपरेरिह ।

‘अवरिल्लो’ ‘उवरि’ रूपमसंव्याने प्रतिष्ठितम् ।

भुवो मया रुमया ॥ १६७ ॥

स्वार्थिकौ प्रत्ययौ स्यातां, भ्रूशब्दाद् डमया मया ।

भुमया भमया चेमौ, शब्दौ सिक्किमवाप्नुतः ।

शनैसो मिअम् ॥ १६८ ॥

शनैस्शब्दाद् भवेत् स्वार्थे, डिअम् तु ‘सणिअं’ यथा ।

मनाको नवा डयं च ॥ १६९ ॥

डयम् मिअम् च वा स्वार्थे, मनाकशब्दादिमौ यथा ।

मणय मणिअ पक्के ‘मणा’ इत्यपि सिध्यति ।

मिश्राड्वादिअः ॥ १७० ॥

मिश्र-शब्दात् तु वा स्वार्थे, ‘मादिअ’ प्रत्ययो भवेत् ।

मीसादिअ तथा पक्के, ‘मीस’ इत्यपि दृश्यते ।

रो दीर्घात् ॥ १७१ ॥

स्वार्थे दीर्घात् परो वा रः, दीर्हर दीर्घमित्यपि ।

त्वादेः सः ॥ १७२ ॥

‘भावे त्वतल्’ (हेम०७।१) हि सूत्रेण, यः त्वाऽऽदिर्विहितस्ततः ।

स्वार्थे स एव त्वादिर्वा, भवेदित्युपदिश्यते ।

मृडुकत्वेन ‘मउअत्तयाइ’ अनुवाद्यते ।

स्यात् कणिट्टयरो जिट्टयरो रूपं पृथग्विधम् ।

विद्युत्पत्र-पीतान्धाद्वः ॥ १७३ ॥

वा विद्युत्पत्रपीतान्धशब्देभ्यः स्वार्थिकोऽस्तु लः ।

विज्जुला पत्तल अन्धलो च पीवत् पीअलं ।

पक्के विज्जू च पत्त च पीअ ‘अन्धो’ चतुष्टयम् ।

यमलस्य सस्कृतस्य ‘जमल’ रूपमिष्यते ।

गोणादयः ॥ १७४ ॥

गोणादयो निपात्यन्ते, बहुल लक्ष्यदर्शनात् ।

गोणो गावी च गौर्वाच्यो, गावीआ गाव उच्यते ।

बहल्लो तु बह्वीवर्द., आल आप इतीरितः ।

‘पञ्चावष्ठा पणपक्षा’ पञ्चपञ्चाशद्विष्यते ।

तेवष्ठा तु त्रिपञ्चाशत्, तेआलीसा त्रिवेदमित् * ।

विउसग्गो तु व्युत्सर्ग, घोसिरण व्युत्सर्जनम् ।

‘वहिद्धा’ इत्ययं शब्दो बहिर्वा मैथुनार्थकः । [१]

‘णामुक्कासिअम्’-इत्येतत् कार्यं, कथं नु कचित् ।

मुव्वहइ उव्वहति, अपस्मारस्तु वम्हलो ।

कन्दुट्ट उत्पन्न, धिक्धिक् ठिक्ठि किक्ठि च पठ्यते ।

‘धिगस्तु’ वाक्यमित्येतद् धिरत्पु प्रतिभरयते ।

पमिसिद्धी पाडिसिद्धी, प्रनिस्पर्धाऽभिधीयते ।

चच्चिक स्यासक., साक्षी सक्खिणो, जन्म जम्मणं ।

निहेसण तु निलय, मघोणो मघवानिति ।

महान् महन्तो, आसीसा आशीरिति, भवान् पुनः ।

भवन्तो कुत्तचित् स्यातां इकारस्य ड्मौ, यथा ।

वृहत्तर वड्डयर, स्याद् हिमोरो भिमोरओ ।

ल्लस्य ड्मो दृश्यते क्वापि, कुल्लक खुल्लओ यथा ।

‘घायणो’ गायनो, ऽक्काण्डम्-‘ अत्थक्क ’ च, वनो ‘वढो’ ।

लज्जावती च लज्जायुष्णी ककुदमित्यपि ।

* त्रिचत्वारिंशदित्यर्थः । [१] बहिस्तादथवा मैथुनम् ।

ककुध, कडुमित्येतत् कुतूहलपदस्य तु ।
 चूतो भवति मायन्दो, 'आगया'—असुराः तथा ।
 माकन्दः सस्कृतेऽपि स्यात्, मट्टियो विष्णुरुच्यते ।
 हमशान करसी, खेल खेडु, अल्लं दिन तथा ।
 पौष्प रजस्तु 'तिङ्गिच्छि,' समर्थः पक्कलो, बली ।
 उज्जल्लो, पण्णको णेलच्छो, शाखा साहुली मता ।
 कर्पासः पहली, ताम्बूल मत ऊसुर इह ।
 पुश्चली तिडई, चैव सन्ति वक्ष्याणि भूरिशः ।
 वाऽधिकारात् पक्केऽत्र यथादर्शनमिष्यते ।
 तेन गौः—'गउओ' ईदग्रप चापि प्रयुज्यते ।
 गोला गोआवरी चैमौ, गोला-गोदावरी-भवौ ।
 भाषाशब्दाश्च सन्तीह बहवस्तान् प्रवीम्यहम् ।
 आदित्यो लल्लक्को, विडिर-पञ्चडिओ च उज्जल्लो ।
 उप्पेहरु-विहरुप्फरु—मरुप्फरो अट्टमट्टो च ।
 पडिचिक्कर-इल्लप्फल इत्याद्या भूरिशाऽभिधाशब्दाः [१] ।
 अवयासइ कुम्फुल्लइ, उप्फावेई क्रियाशब्दाः ।
 अत एव कृष्ट-घृष्ट-वाक्य-विद्वत्प्रचेतसाम् ।
 वाचस्पति-प्रोक्त-प्रोत-विष्टरश्रवसां तथा ।
 अग्निचित्-सोमसुत्-सुगल-सुम्बादीनां च नृयसाम् ।
 किवादिप्रत्ययान्तानामनुक्तानां तु सूरिभिः ।
 प्रतीनिवैषम्यपरः, प्रयोगो न विधीयते ।
 किंतु शब्दान्तरैरेव, तदर्थोऽत्राऽभिधीयते ।
 वाचस्पतिर्गुरुः, कृष्टः कुशलो, विष्टरश्रवाः ।
 हरिरित्यादिवद् बेल्लो, भवेत् पर्यायसंभवः ।
 सोपसर्गस्य घृष्टस्य, प्रयोगः क्रियते बुधैः ।
 परिघट्ट निहठ चेत्येवमादि निदर्शनम् ।
 आर्थे यथादर्शनं तु, न विरुद्धं किमप्यतः ।
 'घटा मठा विउसा,' तथैव 'सुअ-लक्खणाणुसारेण' ।
 'वक्कन्तरेसु अ पुणो,' इत्याद्यार्थे विजानीयात् ।

अव्ययम् ॥ १७५ ॥

अव्ययमित्यधिकार आपादपरिपूर्णात् ।
 इतः परं ये वक्ष्यन्ते, ते सर्वेऽप्यव्ययाभिधाः ।

तं वाक्योपन्यासे ॥ १७६ ॥

तमिति वाक्योपन्यासे, प्रयोक्तव्यं यथाविविधं ।
 'तं तिअस-बन्दिमोक्खं' एवं सर्वत्र बुध्यताम् ।

आम अज्युपगमे ॥ १७७ ॥

आम-शब्दोऽज्युपगमे, वाच्ये साधु प्रयुज्यताम् ।
 तद्यथा—'आम वहला वणोली' ईदगुच्यते ।

णवि वैपरीत्ये ॥ १७८ ॥

णवीति वैपरीत्ये स्यात्, तथाहि—'णवि हा वणे' ।

पुणरुत्तं कृतकरणे ॥ १७९ ॥

'पुणरुत्तम्' इतिशब्दः, कृतकरणेऽर्थे प्रयुज्यते हि, यथा—
 'अइ सुप्पइ पसुलि! णीसहेहि अल्लेहि पुणरुत्तं' ॥ [३]

हन्दि विषाद-विकल्प-पश्चात्ताप-निश्चय-सत्ये ॥ १८० ॥
 विषादे निश्चये सन्धे, पश्चात्तापे विकल्पने ।

[१] इत्यादयो महाराष्ट्रविदर्जादिदेशप्रसिद्धा लोकतोऽव-
 गन्तव्याः । [२] हे पांसुले ! त्वं निःसहैरङ्गैः पुनरुत्तं [वार
 वार] स्वपि ।

'हन्दि' शब्दः प्रयुज्येत, वक्ष्यमेतद् निश्चयताम् ।

"हन्दि चलणे णओ सो, ण माणिओ हन्दि इल्ल पसाहे
 हन्दि ण होही भणिरी, सा खिज्जइ हन्दि तुह कळे" । [१]

हन्द च गृहाणार्थे ॥ १८१ ॥

'हन्द' 'हन्दि' इमौ शब्दौ गृहाणार्थस्य वाचकौ ।

यथा—'हन्द पलोएसु इमं' हन्दि गृहाण च ।

मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा ॥ १८२ ॥

'मिव-पिव-विअ-विव-व-व्वा' अमी इवार्थे च वा प्रयुज्यन्ते ।

कुसुम मिव, हसो विव, कमल विअ, चन्दण पिव च ।

सेसस्स व निम्मोओ, खीरोओ सायरो व्व, पक्के तु ।

नीलुप्पलमाळा इव, दिशाऽनया त्वन्यदपि बोध्यम् ।

जेण तेण वक्षणे ॥ १८३ ॥

जेण तेण इत्येतौ, सदा वक्षणे बुधैः प्रयोक्तव्यौ ।

जेण प्रमररुअं कमल, 'भमररुअ तेण कमलवणं' ।

एण् चेत्र चित्र च अवधारणे ॥ १८४ ॥

'एण् चेत्र च चित्र' इमे-ऽवधारणेऽर्थे यथा—'गईएँ एण्' ।

ज चेअ मल्लण लो-अणण, ते चेअ सप्पुरिसा ॥

अणुवक्क तं चित्र का-मिण्ण, सेवादिदर्शनाद् द्वित्वे ।

'ते खिअ धन्ना' इत्यपि, स च्च य रुवेण, स च्च सीवेन ।

बले निर्धारण-निश्चययोः ॥ १८५ ॥

निर्धारणे निश्चये, 'बले' इतीदं, यथा—'बले सीहो' । [२]

अत्थि बले सप्पुरिसो, धणजओ खसिआण तु । [३]

किरेर हिर किलार्थे वा ॥ १८६ ॥

'किरेर इर हिर' इत्येते, त्रयः किलार्थे हि वा प्रयुज्यन्ते ।

पते सोदाहरणा, कथ्यन्ते तेऽवगन्तव्याः ।

'कल्ल किर खर-हिअओ' 'एव किल तेण सिविणए प्रणिआ'

'तस्स इर,' 'पिअ-वयसो हिर' किल-शब्दोऽपि वा वाच्यः

एवरं केवले ॥ १८७ ॥

एवरं तु केवलार्थे, 'एवर' 'नवरं' च कुत्रचिद् दृष्टम् ।

'एवर पिआइ चिअ णि-व्वडन्ति' चैव प्रयोक्तव्यम् ।

आनन्तर्ये एवरि ॥ १८८ ॥

आनन्तर्ये 'एवरि' प्रयुज्यते, तन्निर्दर्शनं चैतत् ।

'एवरि अ से रहु-वइणा,' 'एवरणवरि' सूत्रमेकेषाम् । [४]

अल्लाहि निवारणे ॥ १८९ ॥

अर्थे निवारणे 'अल्लाहि,' सुधीभिः समुदीरितम् ।

अल्लाहि किं वाइएण, वेहेणेति निदर्श्यते ।

अण णाई नयर्थे ॥ १९० ॥

'अण, णाई' इत्येतौ, बुधैर्नेओऽर्थे परं प्रयुज्यते ॥

अणचिन्तिअममुणन्ती, 'णाइ रोस करेमि' यथा ।

माई माऽर्थे ॥ १९१ ॥

'माई रोसं तु काहीअ,' अत्र माई तु माऽर्थकः ।

[१] हन्दि [विषादे] चरणे नतः सः, न मानितो हन्दि [वि
 कल्पे] भविष्यति इदानीम् (नवा) । हन्दि [पश्चात्तापे] न
 विष्यति भणिरी [जगन्मोक्षार्थं] सा खिद्यते हन्दि [सत्यम्]
 कार्ये । [२] निश्चये—सिंह एवायम् । [३] निर्धारणे । [४]
 केचित्तु केवलानन्तर्यार्थयो 'एवर-एवरि' इत्येकमेव सूत्रं कुर्वं
 ते, तन्मते उभावप्युभयार्थौ ।

हृषी निर्वेदे ॥ १९५ ॥

‘हृषी’ इति निर्वेदे, हाधिक-शब्दस्य भवति वाऽऽदेशः ।
तस्माद् ‘हृषी हृषी’ तथा च ‘हा धाह धाह’ इति ।

वेवे भय-वारण-विषादे ॥ १९६ ॥

भय-वारण विषादेषु, ‘वेवे’ इत्यभिधीयते ।
‘वेवे’ इति भये वेवे, इति वारणे जूरणे अ वेवे इति ।
उल्लाविरीह वि तुह, वेवे इति गयस्त्रि ! किं ऐम ? ॥
किं उल्लावेन्तीष उअ जूरन्तीष किं तु जीआप ।
उल्लाविरीष वेवे इति ताँ णिभ न विम्हरिमो” [१] ॥

वेव च आमन्त्रणे ॥ १९७ ॥

वेवे वेव च आमन्त्रणे, यथा-भवति ‘वेव गोले’ वा ।
‘वेवे’ मुरन्दवे वह-से पाणिअ’ चेदं वाक्यम् ।
मामि हला हले सरया वा ॥ १९८ ॥
‘हला मामि, हले’ चैते सरया आमन्त्रणे तु वा ।
पणवह माणस्स हला, ‘मामि हु सरिसप्पराण’ वि’य कथितम् ।
‘हले हयास्स’ तथा, पक्क-‘सहि पारिसि धिअ गई’ तु ।

दे संमुखीकरणे च ॥ १९९ ॥

‘दे’ तु संमुखीकरणे, सरया आमन्त्रणे च वक्तव्यम् ।
‘दे’ पसिअ ताव सुन्दरि’ ! ‘दे आ खु पसिअ निभत्तसु च ॥

हुं दान-पृच्छा-निवारणे ॥ २०० ॥

स्याद् ‘हु’ निवारणे दाने, पृच्छाया चापि, तद्यथा-
‘अप्पणो धिअ हु गेएह’ ‘हु निर्लज्ज ! समोसर ।
‘हुं च साहसु सज्जाव, एवमादि निदर्शनम् ।

हु खु निश्चय-वितर्क-संभावन-विस्मये ॥ २०१ ॥

‘हु’ ‘खु’ निश्चय-संभावन-वितर्क-विस्मय-पदेषु वक्तव्यौ ।
(निश्चये) ‘त पि हु अच्चिन्नसिरी’, ‘त खु सिरीए रहस्स च’ ।
ऊहसशयौ द्वावपि, वितर्क-वाक्यौ (ऊहे) हसह खु एअ सा ।
‘न हु णवर सगहिआ’ (सशये) खु जसहरो धूमवडलो खु ॥
(संभावने) ‘एअ खु हसह’ इत्यपि, ‘णवर इम ण हु तरीअ’ च ।
(विस्मये) को खु सहस्ससिरा, हुनाऽनुस्वारात् परो वाक्यः ।

ऊ गर्हाऽऽक्षेप-विस्मय-सूचने ॥ २०२ ॥

‘ऊ’ गर्हा विस्मयाऽऽक्षेप-सूचनेषु प्रयुज्यते ।
(गर्हा) ‘ऊ णिल्लज्ज’ (सूचने) ‘ऊ केण, न विण्णाय गुणं तुह’ ।
(आक्षेपे) ‘ऊ मए भणिअ किं खु’ (विस्मये) ‘ऊ मुणिआऽहय कह’ ।
आक्षेपः सोऽत्र, वाक्यस्य यद् विपर्यासवारणम् ।

थू कुत्सायाम् ॥ २०३ ॥

कुत्सायां थू, यथा-‘लोओ निल्लज्जो थू’ प्रयुज्यते ।

रे अरे संभाषण-रतिकलहे ॥ २०४ ॥

सभाषणे तु ‘रे’ स्यात्, रतिकलहे सप्रयुज्यते च ‘अरे’ ।
रे हिअय ! मडह-सरिआ, ‘अरे मए मा करेसु उवहास’ ।

हरे क्षेपे च ॥ २०५ ॥

[१] वेवे इति भये वेवे इति वारणे जूरणे [खेदे] च वेवे इति ।
उल्लापयन्त्या अपि (मया) तव वेवे इति मृगाकि ! किं श्रेयम् ।
किं उल्लापयन्त्या उत जूरन्त्या किंतु भीतया । उद्व-
टन्त्या (निषेध कुर्वत्या) वेवे इति तथा जणित न विसराम ।

क्षेपे रतिकलहे संभाषणविषये च कथ्यते तु ‘हरे’ ।
(क्षेपे) हरे णिल्लज्ज ! (रतिकलहे) हरे बहु-
वल्लह ! दुल्लण ! (संभाषणे) हरे पुरिसा ! ।

ओ सूचना पश्चात्तापे ॥ २०६ ॥

सूचनायां तथा पश्चात्तापे ‘ओ’ इति पठ्यते ।
‘ओ अविणय तत्तिहे’ (पश्चात्तापे) ‘ओ छाया इत्तिआप न’ ।
उतस्य तु विकल्पार्थवाचकस्यापि ‘ओ’ भवेत् ।
यथा ‘नहयले ओ विरपमीति’ निगद्यते ।

अव्वो सूचना-दुःख-संभाषणापराध विस्मयानन्दादभय-
खेद-विषाद-पश्चात्तापे ॥ २०७ ॥

अव्वो दु खे सूचनायामपराधे च विस्मये ।
संज्ञाषणे भये खेदे, पश्चात्तापविषादयोः ।
आनन्दादस्योश्चापि प्रयोक्तव्यं हि, तद्यथा ।
[१] अव्वो दुकरधारय ! (२) अव्वो हियय दल्लन्ति वयणाणि ।
[३] अव्वो किमिण किमिण, अपराधे विस्मये तु यथा-
[४] * अव्वो हरन्ति हिअय, तह वि न वेसा हवन्ति जुवईण ।
[५] अव्वो किपि रहस्य, मुणन्ति धुत्ता जणम्महिआ ॥
[६] अव्वो सुपहायमिण (७) अव्वो अज्झमह सप्पल जीम ।
[८] अव्वो अइअम्मि तुमे, नवर जइ सा न जूरिहह ॥
[९] अव्वो न जामि नेत्त, पश्चात्तापेऽभिधीयते तु यथा ॥
[१०] “अव्वो तह तेण क्या, अइअ जइ कस्स साहेमि” ? ।
[११] * “अव्वो नासेन्ति दिहिं, पुलय वहेन्ति देन्ति रणरणयं ।
एहिह तस्सेअ गुणा, ते धिअ अव्वो कहणु एअ ? ।

अइ संभावने ॥ २०८ ॥

अइ संभावने, अइ दिअर ! किं न पेच्छसि ? ।

वणे निश्चय-विकल्पानुकम्प्ये च ॥ २०९ ॥

संभावनेऽनुकम्प्ये च विकल्पे निश्चये वणे ।
[निश्चये] वणे देमि ‘वणे होइ, न होइ’ स्याद् विकल्पने ।
दासो न मुच्छइ वणे, अनुकम्प्यो न मुच्यते ।
[संभावने] ‘नत्थि वणे ज न देइ’ विहि परिणामो’ यथा ।

मणे विमर्शे ॥ २१० ॥

मणे विमर्शे, ‘मन्ये’ इत्यर्थेऽपीच्छन्ति केचन ।
किंस्वित् सूर्यो-‘मणे सूर्यो’ रूपमीदृग् विदुर्बुधाः ।

अम्मो आश्चर्ये ॥ २११ ॥

आश्चर्येऽर्थे भवेद् अम्मो, ‘अम्मो कह तरिज्जइ’ ।
स्वयमोऽर्थे अप्पणो नवा ॥ २१२ ॥

[१] सूचनायाम् (२) दुःखे [३] संभाषणे [४]
अपराधे [५] विस्मये [६] आनन्दे (७) आदरे
[८] जने [९] खेदे [१०] विषादे [११] पश्चात्तापे ।
* अव्वो हरन्ति ह्रस्व तथाऽपि न द्वेष्या भवन्ति युवतीनाम् ।
अव्वो किमपि रहस्य जानन्ति धूर्ता जनाभ्यक्ता ॥
* अव्वो नाशयन्ति धूर्ति पुत्रक वद्धयन्ति ददति रणरणकम् ।
इदानीं तस्यैव गुणा त एव अव्वो कथं नु पतत् ॥

वच्छाहितो च, वृक्षेभ्यः वच्छसो हस्य [१४] सूत्रतः ।
वच्छाश्रो वच्छाउ [४।१।६], आभि-रूप 'वच्छाण' सिध्यति ।
ऊसिग्रहेणैव सिद्धे, 'सो दो ड' - ग्रहणेन किम् ? ।
एत्वस्य बाधनार्थाय न्यसि, तस्य ग्रहो मतः ।

न्यसि वा ॥ १३ ॥

न्यसादेशे परे दीर्घो, वाऽकारस्य विधीयते ।
यथा- 'वच्छादि वच्छेदि, ' तथाऽन्यदपि बुध्यताम् ।

टाण-शस्येत् ॥ १४ ॥

टाऽदेशे-णे च, शसि च, भवत्येत्वमतो, यथा ।
[शस्] वच्छे पेच्छ, [टा-ण] च वच्छण, ऐति किम् ? अ-
प्यणा यत ।

भिस्न्यस्यसुपि ॥ १५ ॥

भिस्-न्यस्-सुप्सु भवत्येत्वमतः, तद्दर्शयाम्यहम् ।
वच्छेहितो च वच्छेदि वच्छेसु त्रयमीरितम् । [७]

इदुतो दीर्घः ॥ १६ ॥

इकारोकारयोर्दीर्घो भिस्-भ्यस्-सुप्सु परेषु च ।
गिरीहि च गिरीहितो, गिरीसु च तरुसु च ।
तरुहि च तरुहितो बुद्धीहि, नापि कुप्रचित् ।
' दिअभूमिषु शानजहोहिआइ ' तु यादृशम् । [८]

चतुरी वा ॥ १७ ॥

उकारान्तस्य चतुरो भिस्-न्यस्-सुप्सु परेषु वा ।
दीर्घो भवति, चउश्रो चउश्रो, चउहि च वा ।
चउहि, चउसु स्याद् वा चउसु, इति बुध्यताम् ।

लुप्ते शसि ॥ १८ ॥

इदुतो शसि लुप्ते तु दीर्घो भवति, तद्यथा ।
गिरी बुद्धी तरु धेणु पेच्छ, चैव निदर्शनम् ।
' लुप्ते ' इति किम् ? ' गिरिणा, तरुणो पेच्छ ' यद् नवेत् ।
इदुत किम् ? यथा- ' वच्छे पेच्छ ' नास्त्यत्र दीर्घता ।
जस्-शस्-[३।१२] इत्यादिना योग शसि दीर्घस्य यः कृतः ।
सोऽस्ति लक्ष्यानुश्रवार्थो न सर्वत्र प्रयत्ने ।
णवि [३।२७] प्रतिप्रसवार्थ [३।१०५] शङ्काया चिनिवृत्तये ।
' लुप्ते ' इति हि योगोऽस्ति, स ग्रन्थ सूत्रमदर्शयति ।

अक्लीवे सौ ॥ १९ ॥

इदुतो सौ भवेद् दीर्घः, स चाक्लीवे विधीयते ।
गिरी बुद्धी तरु धेणु, क्लीवे तु स्याद् वाहिं महु ।
विकल्प्य केऽपि दीर्घस्य तदभावे वदन्ति च ।
समादश, यथा सिच्येत्-अग्नि वाउ निहिं विहु ।

पुंसि जसो मज्ज ममो वा ॥ २० ॥

इदुत परस्य जसोऽउ अश्रो पुंसि वा भित्तौ ।
अग्नाश्रो अग्नाउ स्याताम्, 'अग्निणो' इति पाक्षिकम् ।
'वायश्रो वायउ' प्राक्, 'वाउणो'-ऽग्न्यग्निवन्मतम् ।
शेष त्वदन्तवद्भावाद् अग्नी वाऊ च सिध्यतः ।

वातो मवो ॥ २१ ॥

उदन्तात् परस्य जस, पुंसि वा 'ऽयो' डिदिष्यते ।
साहवा, साहवा परु साहु साहउ साहुणा ।

[४] सौ [५] वा [६] ड [७] भिस्-वच्छेदि, वच्छेदि,
वच्छेदि । न्यस्-वच्छेदि, वच्छेदितो, वच्छेसुतो । सुप्-वच्छे-
सु । [८] हिजभूमिषु शानजहोहिआइ ।

जस्-शसोर्षो वा ॥ २२ ॥

इदुतः परयो पुंसि जस्-शसोर्षोऽस्तु 'णो' इति ।
गिरिणो तरुणो, पक्षे स्यातां रूपे 'गिरी तरु' । [१]

डसि-डसोः पुं-क्लीवे वा ॥ २३ ॥

इदुतो वा डसिडसोः, पुंसि क्लीवे च वाऽस्तु 'णो' ।
गिरिणो तरुणो रूप दहिणो महुणो तथा ।

पक्षे 'गिरीश्रो गिरीउ गिरीहितो,' अन्यथा दिशा ।
अन्येषामपि रूपाणि, हि-लुको न नविष्यतः ।

डसो 'गिरिस्स' इत्येक पक्षे रूप प्रयुज्यते ।

टो णा ॥ २४ ॥

इदुद्व्यां पुंसि क्लीवे च, 'टा' इत्यस्य तु 'णा' नवेत् ।
गिरिणा च गामणिणा, तरुणा दहिणा यथा ।

क्लीवे स्वरान्म सेः ॥ २५ ॥

क्लीवे स्वरान्ताद् नाम्नः से, स्थाने मो व्यञ्जन भवेत् ।
दहिं महु वण पेम्म, केऽपीच्छन्त्यनुनासिकम् ॥ [२]

जस्-शस् ई-ई-णयः सप्राग्दीर्घाः ॥ २६ ॥

नाम्न परयोर्जस्-शसोः क्लीवे ई-ई-णयस त्रयः ।
एषु सत्सु भवेत् पूर्वस्वराणा दीर्घता, यथा ॥
वयणाई पङ्कवाइ दहीइ पङ्कयाणि च ।

स्त्रियामुदोतौ वा ॥ २७ ॥

नाम्नः परयोर्जस्-शसोर् उदोतौ वा स्त्रियां मतौ ।
तयोस्तु परया पूर्वस्वरस्येष्टा च दीर्घता ॥
यथा बुद्धीउ बुद्धीभो, सहीश्रो च सहीउ च ।
पक्षे बुद्धी सही चैवमन्येऽप्युह्या विचारणात् ।

ईतः मेश्वाऽऽवा ॥ २८ ॥

सेज्ज-शसोश्च वाऽऽकार, स्त्रियामीत परस्य तु ।
यथा एसा हसन्तीश्रो, गोरीश्रो सन्ति पेच्छ वा ।
पक्षे हसन्ती गोरीश्रो, एवमन्यत्र बुध्यताम् ।

टा-डस्-डरदादिदेव वा तु डसः ॥ २९ ॥

नास्त्र परेषा स्त्रीभिर्दे, टा-डस्- डीना क्रमात् बुधैः ।
अद् आद् इद् एतश्चत्वारः, सप्राग्दीर्घाः प्रकीर्तिताः ।
कवलस्य डसः स्थाने, सप्राग्दीर्घा अमी तु वा ।

यथा मुद्धाअ मुद्धाइ मुद्धाए च कय विअ ।
कप्रत्यये मुद्धिआअ, मुद्धिआइ च कथ्यते ।
एव सहीअ धेणुअ बहुआऽऽदि प्रयुज्यताम् ।
मुद्धाहितो च मुद्धाउ मुद्धाओ चेति पाक्षिकम् ।

शेषेऽदन्ता [३।१२४] तिदेशाद्धि, वा दीर्घत्वजसादिना [३।१२]

नात आत् ॥ ३० ॥

स्त्रियामातः परेषा तु, डसिटाडि-डमा न चाऽऽत् ।
भवद् 'मालाअ मालाइ मालाए' चेति वै त्रयम् ।

प्रत्यये डीर्गना ॥ ३१ ॥

अणादि [हेम० २४] सूत्रतो यो डीरुको, वा स स्त्रियामिह ।
आत् [हेम० २४] इत्याए च नवेत् पक्षे, साहणी साहणा यथा ।

अजातेः पुसः ॥ ३२ ॥

अजातिवाचिपुल्लिङ्गात् स्त्रिया डीर्घा विधीयते ।

[१] जसशसागिति द्वित्यभिदुत इत्यनन यथासख्याभा-
वार्थम् । [२] दहिं, महु । स्वरान्तादि इदुतो निवृत्त्यर्थम् ।

नीली नीला, हसमाणी हसमाणा, इमीए तु ।
स्याद् इमाए, इमीण तु, इमाण, अजिधीयते ॥
अजातेरिति किम् ? यद्वत् करिणी एवया अया ॥
अप्राप्ते तु विभाषेय, तेन सस्कृतवत् सदा ॥
गौरी 'कुमारी' इत्यादौ, वृधैर्दोः प्रविधीयते ॥

किं यत्तदोऽस्यमामि ॥ ३३ ॥

किं-यत्-तदन्त्यः स्त्रियां डीर्वा, न सौ आमि तथाऽमि च ॥
कीओ काओ कीसु कासु, कीए काए यथा किमः ॥
तथैव जीओ जाओ च, तीओ ताओ ऽस्ति यत्तदोः ॥
किमऽस्यमामि ? का जा सा क ज त, कारण जाण च ॥

ढाया-हरिद्वयोः ॥ ३४ ॥

छयाहरिद्वयोरापः, प्रसङ्गे डीर्विकल्प्यते ।
छाही ङाया हलदी तु हलदा तेन भग्यते ॥

स्वस्त्रादेर्मा ॥ ३५ ॥

डाप्रत्ययः स्त्रियां स्वस्त्रादिभ्यः स्यात् तद्यथा ससा ॥
दुहिआ दुहिआहि च, नणन्दा गणआ तथा ॥

हस्वोऽमि ॥ ३६ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽमि ह्रस्वः स्यात्, 'पेच्छ माल नहं बहु' ।

नामन्यात् सौ मः ॥ ३७ ॥

आमन्यार्थात् परे सौ तु, नैव 'क्लीबे स्वरान्मसे' [३।३५] ।
इति सुत्रेण सेमो, हे तण ! हे दहि ! हे महु ! ।

मो दीर्घो वा ॥ ३८ ॥

आमन्यार्थात् परे सौ तु 'अन. सेमो' [३।२] अय विधिः ।
'अक्लीबे सौ' [३।१६] चेति दार्ढ्यं, द्वय चैनद् विकल्प्यते ।
यथा-हे देव ! हे देवो ! हे हरी ! हे हरि ! द्वयम् ।
हे गुरु ! हे गुरु ! च, 'हे पदु हे पदु' इत्यपि ।
एषु प्राप्ते विकल्पोऽस्ति, अप्राप्ते त्विह दृश्यताम् ।
हे गोअमा ! हे गोअम !, हे हे कासव ! कासवा !

ऋतोऽद् वा ॥ ३९ ॥

ऋकारान्तस्य वाऽत्वं तु, भवेदामन्त्रणे हि सौ ।
हे पितः ! हे पिअ ततो, पक्के हे पिअर मतम् ।

नामन्यरं वा ॥ ४० ॥

आमन्त्रणे सौ ऋतः, सङ्गायां वा 'अर' भवेत् ।
स्याद् हे पितः ! हे पिअर !, पक्के 'हे पिअ' इत्यपि ।
नामनाति तु किम् ? हे कर्तः !, हे कत्तार ! इति स्मृतम् ।

वाऽऽप ए ॥ ४१ ॥

आमन्त्रणे सौ परे स्याद्, आप एत्व विभाषया ।
हे माले ! महिले !, पक्के-हे माला महिला ! मता ।
आप किं नु ? हे पिउच्छा !, हे माउच्छा !, न चेह 'ए' ।
'अम्मो भणामि भणिए' ओत्व बाहुलकादिह ।

ईदुतोर्ह्रस्वः ॥ ४२ ॥

स्यादीदुदन्तयोर्ह्रस्वः, सधुद्धौ सौ परे यथा ।
हे गामणि ! हे समणि !, एवमन्यन्निदर्शनम् ।

किपः ॥ ४३ ॥

ईदुदन्तस्य ह्रस्वः स्यात्, किवन्तस्येति दृश्यताम् ।
गामणिणा खण्णुणा, गामणिणो खण्णुणो ।

ऋतामुदस्यमौसु वा ॥ ४४ ॥

सि-अम्-औ-वर्जिते स्यादौ ऋदन्तानाम् उद् अस्तु वा ।
जसि 'भच् भत्तुणो च जत्तओ भत्तउ' स्मृतम् ।
भत्तारा पाक्षिक रूप, शसि भच् च जत्तुणो ।
भत्तारे चेति, टायां तु भत्तारेण च भत्तुणा ।
भिसि भच्चहि जत्तारेहि रूप, डसि भत्तुणो ।
जत्तुहिंतो च जत्तुहि भत्तुओ भत्तुव स्मृतम्, ।
भत्ताराहि च जत्ताराहिन्तो पाक्षिकरूपतः ।
भत्ताराओ च भत्तारा भत्ताराउ प्रयुज्यते ।
जत्तुस्स भत्तुणो डसि भत्तारस्सेति पाक्षिकम् ।
सुपि भत्तुसु पक्के तु, भत्तारेसु निगद्यते ।
व्याप्त्यर्थत्वाद् बहुत्वस्य नाम्न्यपि काप्युदस्तु वा ।
जस्-शस्-डस्-डसो जामाअणो च पिउणो पुन ।
टायां तु पिउणा रूप, भिसि रूप पिउहिं च ।
पिउसु सुपि पक्के तु पिअरा रूपमिष्यते ।
अस्यमौस्विति किं प्रोक्त ? (जस्)पिमारा(अम्)पिमर(सि)गिआ ।

आरः स्यादौ ॥ ४५ ॥

ऋतः स्थाने जवेद् आराऽऽदेशः स्यादौ परे, यथा- ।
भत्तारो, चैव भत्तारा, भत्तार, परिपठ्यते ।
भत्तारे च जत्तारेहि, जत्तारेण डसेस्तथा ।
लुप्तस्याद्यापेक्षया तु 'भत्तार-विहिम' मतम् ।

आ अरा मातुः ॥ ४६ ॥

मातृसम्बन्धिन ऋतः, स्यादौ तु आ अरा, मतौ ।
माआअ माआरा माआ माआओ माआराउ च ।
माअराओ च माअ माअरं इत्यादि साध्यताम् ।
जनन्यर्थस्य आ-ऽऽदेशो देवतार्थस्य स्यादरा ।
यथा-माआए कुच्छीप, नमो मे माआराण च ।
'मातुरिद्वा' [१।१३५] इतीत्वेन, रूप 'माईण' सिध्यति ।
ऋताम्- [३।४४] उक्त्वे तु 'माऊए अह वन्दं समभिअ' ।
स्यादौ किं नु ? माइदेवो, तथा माइगणो इति ।

नामन्यरः ॥ ४७ ॥

ऋदन्तस्याऽर इत्यन्तादेशो स्यादौ हि नामनि । [१]
पिअरा पिअर पिअरे, पिअरेण पिअरेहिमिष्यते रूपम् ।
'जामायरा, भायरा,' रूप पितृतुल्यमनयोः स्यात् ।

आ सौ न वा ॥ ४८ ॥

ऋदन्तस्येह वाऽऽकारः, सौ परे तु विधीयते ।
पिआ प्राया च जामाया, कत्ता, पक्के भवेद् 'अरः' ।
पिअरो प्रायरो कत्तारो च जामायरो तथा ।

राङ्गः ॥ ४९ ॥

राङ्गो न-लोपेऽन्यस्याऽऽत्व, वा भवेत् सौ परे यथा ।
राया तथा च हे राआ ! 'रायाणो' चेति पाक्षिकम् ।
शौरसेन्यां तु हे राया हे रायमिति प्राप्यते ।
एव हे अण्ण ! हे अण्ण ! इत्यादीनि विदुर्बुधाः ।

जस्-शस्-डसि-डसां णो ॥ ५० ॥

राजन्शब्दान् परेषां वा, जस्-शस्-डसि-डसां हि 'णो' ।
रायाणो जस्-शसो, राया जसि, राप च वा शसि ॥

[१] सङ्गायाम् ।

रुसौ रक्षो राइणो च, पक्के तावन्निशम्यताम् ।
रायाहिन्तो च रायाहिं, राया रायाड इत्यापि ॥
रायाओ (रुसि) राइणो रक्षो, पक्के रायस्स पठ्यते ।

टो णा ॥ ५१ ॥

राजन्-शब्दात् विकल्पेन, टा-स्थाने 'णा' विधीयते ।
रक्षा च राइणा, पक्के, रायेणेत्यपि सिद्ध्यति ॥

इर्जस्य णो-णा-डौ ॥ ५२ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येत्त्व वा णो-णा-ङिषु कथ्यते ।
राइणो पेच्छ चिट्ठन्ति आगओ वा धण यथा ॥
राइणा चैव, रायम्मि, पक्के रूपं निशम्यताम् ।
रक्षो रायम्मि रायाणो, रायण रायणा तथा ॥

इणममामा ॥ ५३ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येणम्, अमास्या सह वेप्यते ।
राइण वा धण पेच्छ, राय राइण पात्तिकम् ॥

इर्जिस्स्यसाम्मुपि ॥ ५४ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येत्त्व भिस्-भ्यसाम्-सुप्सु वेप्यते ।
राइहिन्तो च राइहि राइसुन्तो भवेद् ज्यसि ॥
निसि राइहि, राइणं आमि, राइसु सुप्यदः ।
पक्के 'रायाणेहि' इत्या-दीनि रूपाणि चकते ॥

आजस्य टा-डसि-डस्सु सणाणोप्पण् ॥ ५५ ॥

राजन्-शब्दस्य योऽस्त्याजोऽवयवस्तस्य भवेदण् ।
णा-णो-आदेशरूपेषु, टा-डसि-डस्सु वा मतः ॥
टायं रक्षा राइणा, डस्-डस्यो रक्षो च राइणो ।
सणाणोप्पिति किम् ? रायाओ रायस्स च रायण ॥

पुंस्यन आणो राजवच ॥ ५६ ॥

अन्नन्तस्य भवेद् 'आण' इति पुंसि विकल्पनात् ।
पक्के तु राजवत् कार्य्ये, यथादर्शनमिष्यते ॥
आणादेशे अतः सेडो. [३ । २] एवमादि प्रवर्तते ।
पक्के तु गङ्ग. 'जस्' [३ । ५०] 'टोणा,' [३ । २४]
'इणम्' [३ । ५३] एतद् विधित्रयम् ॥

अप्पाणो अप्पाणा, अप्पाणं अप्पाणे ।

अप्पाणाओ अप्पाणासुन्तो पञ्चम्याम् ॥

अप्पाणेण अप्पाणेहि, टायं निसि यथाक्रमम् ।

अप्पाणस्साऽऽप्पाणाण, रुसि चाऽऽमि क्रमेण हि ॥

अप्पाणम्मि तथा अप्पा-खेसु डौ सुपि चोच्यते ।

अप्पाण-कय, पक्के तु, राजवत् कार्य्यमीदृशनाम् ।

अप्पा अप्पो च, हे अप्पा ! हे अप्प ! इयमीदृशम् ।

अप्पाणो जसि, अप्पाणो शसि, टायं तु अप्पणा ।

अप्पेहि निसि, अप्पाणो अप्पाओऽप्पाञ्च वै पुनः ।

अप्पाहि अप्पाहितो अप्पा अप्पासुन्तो स्याद् ज्यसि ।

अप्पाणो धणम्, अप्पाण, अप्पे अप्पेसु कीर्त्यते ।

रायाणो चैव रायाणा 'एव सर्वे विभाव्यनाम् ।

पक्के तु राया इत्यादि, जुवाणो च जुआ तथा ।

बम्हाणो पात्तिको बम्हा, अखाणोऽखाऽपि चेप्यते ।

उच्छाणो वा भवेद्-उच्छा, गावा गावाणो वा भवेत् ।

तथैव पूसा पुसाणो, तक्खा तक्खाणो इत्यपि ।

मुखाणो वा च मुखा स्यात्, 'साणो सा' इवा प्रकीर्तित ।

सुकम्माणे पेच्छ, शर्म सम्म, क्वाबेऽत्र नेप्यते ।

आत्मनष्टो णिआ राइआ ॥ ५७ ॥

आत्मशब्दाद् हि टा-स्थाने वा 'णिआ' 'णइआ' मतौ ।
अप्पाणिआऽप्पाणइआ, पक्केऽप्पाणेण' कथ्यते ।

अतः सर्वादेर्जेसः ॥ ५८ ॥

भवेददन्तात् सर्वादेर्जेस' स्थाने निदेदिह ।

सव्वे अन्ने च जे ते के कयरे इयरे तथा ।

डेः सिस्-म्मि-त्थाः ॥ ५९ ॥

सर्वादीनामतो डे' स्युः सिस्-म्मि-त्थास्तु यथाक्रमम् ।

सव्वत्थ सव्वसिस्स सव्वम्मि, अतः किम् ? अमुम्मि तु ।

न वाऽनिदमेतदो हिं ॥ ६० ॥

इदमेतदौ विना सर्वादेरदन्तात् परस्य डेः ।

हिमादेशो विकल्पेन, भवेदित्युपदिश्यते ।

सव्वहिं मज्झहिं, कियत्तद्वज्य स्याद् हिं क्षियामपि ।

काहिं जाहिं च ताहिं च, कियत्तद्वज्यो न ड' [३।३३] रिह ।

एतद् द्वयं बाहुल्यक कार्य्ये, पक्के निशम्यताम् ।

सव्वत्थ सव्वसिस्स सव्वम्मि चैवं बुध्यता परम् ।

क्षियां तु पक्के काए च, कीए चैव विचार्य्यताम् ।

इदमेतदोरिमसिस्स, एअसिस्स रूपमिष्यते ।

आमो मेसिं ॥ ६१ ॥

अदन्तात् सर्वनाम्न' स्याद्, आमो 'डेसि' विभाषया ।

सव्वेसिस्स अवरेसिस्स च, जेसि तेसिमिमेसिं च ।

पक्केऽवरण सव्व्राण जाण ताण इमाण च ।

क्षियां बाहुल्यकात्-सर्वासां सव्वेसिस्स प्रयुज्यते ।

कित्दज्यां मासः ॥ ६२ ॥

कित्दभ्यां तु परस्यामः, स्थाने डासो विकल्प्यते ।

तास कास जवेत्, पक्के-तेसि केसि प्रयुज्यते ।

कियत्तद्वज्यो डसः ॥ ६३ ॥

कियत्तद्वज्यो डसः स्थाने, डासाऽऽदेशो विकल्प्यते ।

डसः स्स (३।१०) स्यापवादोऽयं, पक्के सोऽपि प्रवर्तते ।

कास कस्स जास जस्स, तास तस्स प्रयुज्यते ।

आदन्ताज्यां च कित्दग्धा-मपि डासो विभाषया ।

कस्याः तस्याः कास तास, काए ताए च पात्तिकम् ।

ईद्वज्यः स्सा से ॥ ६४ ॥

ईद्वन्तेज्यः किमादिभ्यो, डसः 'स्सा' 'से' विकल्पितौ ।

टाडस्स-[३।१६] इत्यादिसूत्रस्यापवादोऽयं निरूपितः ।

तेन पक्केऽद्वाद्वाऽपि प्रवर्तन्ते, निदर्श्यते ।

'किस्सा कीसे कीअ कीआ, कीए कीइ' भवन्ति षद् ।

जिस्सा जीसे जीअ जीआ, जीए जीइ यदो मताः ।

'तिस्सा तीसे तीअ तीआ, तीए तीइ' इमे तद् ।

डेहाहे माला उआ काले ॥ ६५ ॥

कियत्तद्वज्यस्तु डे' स्थाने, 'माहे डाहा इआ' त्रयः ।

हिंसिस्साम्मन्थान् अपाकन्थ, काहे वाच्ये भवन्ति वा ।

काहे काला कइआ, जाहे जाला जइआ ।

ताहे ताहा तअआ, पक्के ते चापि मता * ।

'कहिं कसिस्स कम्मि कन्थ' रूपाणीमानि तत्र च ।

डसेम्हा ॥ ६६ ॥

* ताला जाआन्ति गुणा, जाला ते सहिअएहिं वेप्यन्ति ।

किंयत्तदभ्यो डसे. स्थाने, म्हाऽऽदेशो वा विधीयते ।
कम्हा जम्हा च तम्हा च, काश्चो जाओ तु पाक्षिकम् ।

तदो डोः ॥ ६७ ॥

तद. परस्य तु डसेर्नो ' वा, ' तम्हा ' च ' तो ' यथा ।

किमो मिणो-मीसौ ॥ ६८ ॥

किम' परस्य तु डसे-डिणो डीसौ च वा स्मृतौ ।

किणो कीस, तथा कम्हा, ग्रीणि सिद्धिमुपागमन् ।

इदमेतत्-किं-यत्तदभ्यष्टो मिणा ॥ ६९ ॥

इद-यत्-तत्-किमेतदभ्योऽदन्तेज्यस् टो-मिणाऽस्तु वा ।

इमेण इमिणा, जेण जिणा, एदेण एदिणा ।

किणा केण, तिणा तेण, एव टाया डिणाविधिः ।

तदो एः स्यादौ कचित् ॥ ७० ॥

तद स्थाने ण आदेश, स्यादौ वक्ष्यानुसारन् ।

' ण तिअमा ' तां त्रिजटा, ' पेच्छण ' पश्य त यथा ।

तेन णेण, तथा णाप, तैः तामिर्णेहिं णहिं च ।

किमः कस्त्र-तसोश्च ॥ ७१ ॥

किम को भवति स्यादौ, ततसो. परयोस्तथा ।

को के क के केण, [त्र] कत्थ, [तस्] कसो कसो कदो यथा ।

इदम डमः ॥ ७२ ॥

पुखियोरिदम. स्यादौ, स्यादिमो, हि 'डमो' 'डमा' ।

पुं-स्त्रियोर्नवाऽयमिमिआ सौ ॥ ७३ ॥

इदम सौ परे पुसि 'अथ' वा 'इमिआ' स्त्रियाम् ।

इमो इमा भवेत् पक्के, एव रूपचतुष्टयम् ।

स्मि-स्मयोरत् ॥ ७४ ॥

इदमोऽस्य विकल्पेन, स्मि-स्मयो परयोरिह ।

अस्मि अस्स. इमादेशे इमस्मि च डमस्स च ।

बहलग्रहणादन्यत्राध्यय सप्रवर्तते ।

पहि एभि., आहि आभिइ, एसु एषु प्रयुज्यते ।

डेर्मेन हः ॥ ७५ ॥

इदम कृतेमादेशाद्, वा मेन सह होऽस्तु डे ।

इह, पक्के-इमस्मि च, इमस्मि प्रतिपद्यते ।

न तयः ॥ ७६ ॥

न 'त्य' [३।५६] स्यादिदमो डेस्तु, डेहेमस्मि इमस्मि च ।

णोऽम्-शस्-टा-जिमि ॥ ७७ ॥

इदमो णोऽस्तु वाऽम्-शस्-टा-मिस्सु, ण णेण रोहि रो ।

पक्के इम डेहेनेहि इने सिद्धिमाययु ।

अमेणम् ॥ ७८ ॥

अमा महेदम स्थाने, 'इणम्' वा स्याद्, इण, इम ।

क्रीवे स्यमेदमिणमो च ॥ ७९ ॥

' इदम' 'इणम' च 'इणमो', फलीवे नित्यममी प्रय ।

स्यमस्या महेदम स्थाने, भवन्तीति विभाव्यताम् ।

इद इण या इणमो, धण चिह्न पेच्छ वा ।

विमः कि ॥ ८० ॥

कर्मणि प्रयत्नमानस्य, म्हाऽभ्यां मह किमोऽस्तु कि ।

वि इणं तु, कि कि ते पट्टिहाड' यथा भवेत् ।

वेदं-तदेतदो ङसाम्ज्यां से-सिमौ ॥ ८१ ॥

इदम् तद् एतद् इत्येषां, वाऽऽम्ङसज्यां सह से-सिमौ ।

अस्य तस्य च वैतस्य शील-'से' शील-मुच्यते ।

एषां तेषां तथैतेषां शिद्धि-'सि' शील-मिष्यते ।

पक्के 'इमस्स चेमेसि इमाण, तस्स ताण च ।

तेसि, एअस्स एपसि एआण ' इति बुध्यताम् ।

कञ्चिदामात्रपि से आदेश घटीदतदोरिह ॥

से-सिमौ त्रिषु लिङ्गेषु, तुल्य रूपमवाप्नुतः ।

वैतदो ङसेस् तो चाहे ॥ ८२ ॥

एतद् परस्य डसेस् ' सो, चाहे ' स्तो विकल्पनात् ।

एत्तो एत्ताहे, पक्के तु, पञ्च रूपाणि, तद्यथा— ।

एआहिन्तो च एआहि, एआ एआठ एआओ ॥

त्ये च तस्य लुक् ॥ ८३ ॥

एतद् त्ये परे ' सो चाहे-' ऽनयो' परयोरपि ।

तकारस्य लुक्, ' एत्ताहे, एत्थ एत्तो ' इति त्रयम् ॥

एरदीतौ म्मौ वा ॥ ८४ ॥

एतद् आदिवर्णस्य, ङ्यादेशे म्मौ अदीच वा ।

यथा-अयम्मि ईयम्मि, पक्के एअम्मि मएयते ॥

वैसेणमिणमो सिना ॥ ८५ ॥

सिना सहैतदो वा स्यु, एसेणम् इणमो अब् ।

इण एसेणमो, एअ एसा एसो च पाक्षिकम् ॥

तदर्थं तः सोऽङ्गीवे ॥ ८६ ॥

तदेतदोस्तस्य स. स्या-दङ्गीवे सौ परे यथा— ।

सो पुरिसो, सा महिला, एसो एसा पिओ पिआ ॥

वाऽऽसो दस्य होनोदाम् ॥ ८७ ॥

अदसो दस्य सौ हो वा, नो [३ । ३] आत् [४ । ४४८]

आप् [२ । ४] मध्य [३ । २५] नो तत् ।

अह पुरिसो, अह महिला, अह मोहो अह वण च इसड मआ ॥

पक्के तु मुरादेशो, [३ । ८८] अमू अमू त्रिषु अमु रूपम् ।

मुः स्यादौ ॥ ८८ ॥

अदसो दस्य तु स्यादौ, मुरादेशोऽभिधीयते ।

अमू पुरिसो, अमुणो पुरिसा, च अमु वण ॥

ततो अमू वणाई, तथाऽमूणि वणाणि च ।

अमू माला, अमूओऽमूञ मालाओ, अमुणाऽतथा ॥

ङनौ अमूओऽमूहिन्तोऽमूञ, ज्यसि निगम्यताम् ।

अमूहिन्तो अमूकुन्तो, अमुस्स अमुणो डसि ॥

आमि डां सुपि चाऽमूण स्याद् अमुम्मि अमूसु च ।

म्मावयेओ वा ॥ ८९ ॥

इकारान्तम्यादमो वा, ङ्यादेशे म्मौ इआऽय च ।

ततोऽयम्मि इयम्मि हो, म्यात् पक्के ' अमुम्मि ' इत्यपि ॥

युष्मदः तं तुं तुवं तुह तुपं मिना ॥ ९० ॥

युष्मदस्तु मिना माके, तत्तु तुह तुव तुम ।

पञ्च रूपाणि सौ विद्या-द्वेष्टेऽप्येवे विचिन्तयेत् ॥

जे तुदधे तुज्ज तुम्ह तुम्हे उम्हे जसा ॥ ९१ ॥

तुम्हे उम्हे तुज्ज तुम्ह भे तुम्हे च जना मह ।

भो म्हाज्जी वेति [३।१०४] वचनात्तुम्हे तुज्जे तनाऽष्टकम् ।

तं तुं तुमं तुवं तुह तुमे तुप अमा ॥ ९२ ॥

तुप तुमे तुम त तु, तुं तुह अमा सह ।

वो तुज्ज तुन्ने तुये उग्गे जे शमा ॥ ९३ ॥

वो तुज्ज तुन्ने तुये जे, उग्गे उद्ग शमा सह ।

'मो म्हाज्जो वेति' [३।१०४] वचनात्, तुम्हे तुज्जे ततोऽष्टकम् ।

भे दि दे ते तऽ तप तुमं तुमऽ तुमप तुमे तुमाइ टा ॥ ९४ ॥

भे दि दे ते तऽ तप, तुमाइ तुमप तुम ।

तुमे तुमइ सार्धं तु, टया उद्गमित [११] पदम् ।

भे तुन्नेहि उज्जेहि उग्गेहि तुग्गेहि उग्गेहि जिसा ॥ ९५ ॥

तुग्गेहि उग्गेहि, तुम्हाहि उज्जेहि उग्गेहि ।

जे-मो म्हा-ज्जो [३।१०४] मृषात्, तुम्हे तुज्जे ततोऽष्टा स्युः ।

तऽ-तुव-तुम-तुह-तुन्ना दसा ॥ ९६ ॥

तऽ-तुव-तुम-तुह-तुन्ना दसा युष्मदो भयन्त्यमी नित्यम् ।

सां दो दुहि हित्तो तुह उग्गेधप्राप्तमेव स्यात् ।

स्यात् तऽतो तुपतो च, तुमतो च तुन्तो च ।

तुम्भतो, उत्र तु तुम्हतो तुज्जतो, पूर्वपत् [३।१०४] पुनः ।

एव दो-दु-हि-हित्तो-तुद्वप्युदाह्रियता पुनः ।

तत्र इत्यस्य ततोऽत्रो रूपमस्ति पलोपनात् ।

तुह तुन्ने तहित्तो दमिना ॥ ९७ ॥

तुह तुम्भ तहित्तो च, प्रय स्युर्दमिना सह ।

तुम्ह तुज्ज च वैकल्याद्, रूपपञ्चकमिष्यते ।

तुन्ने-तुग्गे-तुम्हा जयामि ॥ ९८ ॥

तुम्भ, तुग्गे, उग्गे, उद्ग इत्यमी युष्मदो भवन्ति ।

अयम स्यात् यथाप्राप्तमादेशा [३।६] पूर्वदर्शिता ।

तुम्भतो तुग्गेतो उग्गेतो उद्गतो ।

तुम्भतो तुज्जतो वैकल्यान् पदरूपो ।

तो आदेशो यथा चैव परमगो दर्शिता मया ।

एव दो-दु-हि-हित्तो-तुतोपुदाह्रियता तथा ।

तऽ तु-ने-तुम्हं तुह-तुहं-तुव-तुम-तुम-तुमो-तुमाइ-दि-

दे-उ-ए-तुन्ने-तुन्ने-तुन्ना दसा ॥ ९९ ॥

तऽ ने तु तुह तुम्ह, तुमा तुम तुमे तुह ।

तुमाइ तुय दे ए उ तुम्हा-तुम्हा-दि, या टमा ।

विकल्पनात् [३।१०४] तुम्हा तुज्ज उग्गे उद्ग चतुष्टयम् ।

एव आदिशनी रूपाणां जटपति कोविदा ।

तु वो भे तुज्ज तुज्ज तुज्जाण तुवाण तुमाण तुहाण

उग्गाण अमा ॥ १०० ॥

तुम्भ, तुवाण, उग्गाण, तुमाण, तु, तुहाण भे ।

तु-न, तुम्माण, वो, अमा सह स्युर्गुणमदो दश ।

कृता स्यादे- [१।२७] स्त्रियनुस्वार, सानुस्वार णपञ्चकम् ।

यथा-तुवाण तुमाण तुमाण च तुहाणं च ।

उग्गाण चेति उद्गते पञ्च रूपाणि णस्य च ।

'मो म्हा-ज्जो नेति' [३।१०४] वचनात्, पुनरष्टौ भवन्ति च ।

तुज्ज तुज्जाण तुम्हाण, तुम्हाण तुम्ह तुज्ज च ।

तुम्हाण तुम्हमित्यव, प्रयोविशतिगामि तु ।

तुमे तुमप तुमाइ तऽ तप डिना ॥ १०१ ॥

तुमे, तुमाइ, तुमप, तप, तऽ, डिना सह ।

तु-तुव-तुम-तुह-तुन्ना दसा ॥ १०२ ॥

दो युष्मदस् 'तु तुव तुम, तुह तुम्हा, ' पञ्च तु स्युरादेशा ।

उंस्तु यथाप्राप्त स्यादादेशो दर्शित पूर्वम् ॥

तुम्भितुपमित्तुममित्तुच, तुहमित्तुम्भमित्तुचात्र वैकल्यात् [३।१०४]

तुम्हामित्तु च तुज्जमित्तु च, रूपाण्यन्यानि बोध्यानि ।

सुपि ॥ १०३ ॥

सुपि युष्मदस् तु-तुव-तुम-तुह-तुम्हा, पञ्च तु स्युरादेशा ।

तुसु च तुवसु तुमेसु च, तुहसु तुम्भेसु रूपाणि ।

म्भस्य [३।१०४] विकल्पाद् रूपद्वयं च तुम्भेसु भवति तुज्जेसु ।

सुप्येत्यस्य विकल्प, केचित् कथयन्ति, तदपि यथा ।

तुम्भसु तुम्हसु तुज्जसु, तुवसु तुमसु तुहसु पदसंख्यम् ।

म्भस्याऽऽत्वमपि पर तु-ज्जासु च तुम्हासु तुज्जासु ॥

वो म्हा-ज्जो वा ॥ १०४ ॥

युष्मदादेशरूपेषु, यो हिरक्तोऽम्भ उच्यते ।

तस्याऽऽदेशो तु वा 'म्हा-ज्जो, ' स्याताम्, सर्वमुदाहृतम् ।

अस्मादो म्भ अस्मि अस्मिह इ अह अहयं सिना ॥ १०५ ॥

अस्मि अस्मिह म्भ अहय, अह इ च सिना सह ।

अस्मद पद तु रूपाणि, सां जयन्तीति बुध्यताम् ।

अम्ह अम्हे अम्हो मो वय जे जमा ॥ १०६ ॥

मो वयो अम्ह मो जे वयं, पद स्युर्जसा सह ।

णे न मि अस्मि अम्ह मम्ह म मम मिम अहं अमा ॥ १०७ ॥

अस्मि अम्ह मिम ने न मि म मम्ह मम सह ।

अमा सह दशाऽऽदेशा, सभयन्त्यसदोऽत्र तु ।

अम्हे अम्हो अम्ह ए शसा ॥ १०८ ॥

अम्हे अम्हो अम्ह ने च, चत्वारि स्यु' शसा सह ।

मि मे मम ममप ममाइ मइ मए मयाइ ने टा ॥ १०९ ॥

मि मे मम ने मयाइ, ममाइ ममप भए ।

मइ, चेति नवादेशा, सार्धं टा-प्रत्ययेन हि ।

अम्हेहि अम्हाहि अम्ह अम्हे ए जिसा ॥ ११० ॥

अम्हाहि अम्ह अम्हे ने, अम्हेहि स्युर्भिसा सह ।

मइ-मम-मह-मज्जो दसा ॥ १११ ॥

दसा परे 'मइ-मम-मह-मज्जो' स्युर्गुणमदः ।

उंस्तु यथाप्राप्तमेवाऽऽदेशा स्यु पूर्वदर्शिता ।

यथा मज्जो मज्जतो, ममतो च महतो च ।

एव दो-दुहि-हित्तो-तुद्वप्युदाह्रियता पुनः ।

ममाम्हा जयसि ॥ ११२ ॥

भयसि स्याता ममाम्हा दौ, यथाप्राप्त भयसोऽपि च ।

अम्हाहित्तो ममाहित्तो, अम्हासुन्तो ममतो च ।

ममेसुन्तो ममासुन्तो अम्हेसुन्तो च अम्हत्तो ।

मे मइ मम मह महं मज्ज मज्ज अम्ह अम्ह दसा ॥ ११३ ॥

अम्हाऽम्ह मे मइ मम, मज्ज मज्ज अम्ह मह मह ।

दसा सह नवादेशा, समवत्यम्भदोऽत्र तु ।

णे णो मज्ज अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण-

महाण मज्जाण आमा ॥ ११४ ॥

अम्हे महाण मज्जाण अम्होऽम्हाण ममाणे ।

णो अम्ह अम्ह मज्ज स्युर आमा सार्धं च पञ्च षट् [११] ।

'क्त्वा स्यादेरिति' [१२७] वा णस्य सानुस्वार चतुष्टयम् ।

यथा महाण मज्जाण अम्हाण च ममाणं च ।

मि मऽ ममाइ मए मे ङिना ॥ ११५ ॥

मए ममाइ मइ मे, मि, स्यु पञ्च ङिना सह ।

अम्ह-मय-मह-मज्जा ङौ ॥ ११६ ॥

अम्ह-मज्जौ मम-महौ, ङौ स्युरेतेऽस्मद् परे ।

ङे. स्थाने तु यथाप्राप्तमादेश पूर्वदर्शित ।

यथा ममस्मि मज्जस्मि, तथाऽम्हस्मि महस्मि च ।

सुपि ॥ ११७ ॥

चत्वारोऽम्हादयोऽत्रापि, ऋवन्ति सुपि तद्यथा ।

यथा ममेसु मज्जेसु, अम्हेसु च महेसु च ।

सुप्येत्य केऽपि वेच्छन्ति, तन्मतेऽम्हसु मज्जेसु ।

ममसु स्यात् महसु च, ततो रूपचतुष्टयी ।

केचिद् अम्हस्यात्वमपि, वाञ्छन्त्यम्हासु तन्मते ।

त्रेस्ती तृतीयादौ ॥ ११८ ॥

त्रे. स्थाने ती तृतीयादौ, प्रत्यये परतो भवेत् ।

तीहन्तो तीसु तिण्हं च, तीहिं चेति प्रकीर्तितम् ।

द्वेदौ वे ॥ ११९ ॥

द्विशब्दस्य तृतीयादौ 'दो' 'वे' स्त, दोहि वेहि च ।

दोण्ह वेण्ह च दोहन्तो, वेहन्तो दोसु वेसु च ॥

दुवे दोषि वेषि च जस्-शसा ॥ १२० ॥

जस्-शस्भ्यां सहितस्य द्वे, स्थाने स्यु, दोषि, वेषि, च ।

दुवे, दो, वे, 'दुषि विषि' सयगे [१८४] ह्रस्वदर्शनात् ॥

त्रेस्तिषिः ॥ १२१ ॥

जस्-शस्भ्यां सहितस्य त्रै, स्थाने तिषि प्रयुज्यते ।

चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि ॥ १२२ ॥

चतुर इत्यस्य जस्-शस्भ्या, सहाऽऽदेशास्त्रयो मताः ।

यथा चत्तारि चत्तारो, चउरो आसि पेंच्छ वा ॥

मंरुयाया आमो एह एहं ॥ १२३ ॥

सत्याशब्दात् परस्याऽऽमो, 'एह एह' एतद् द्वय भवेत् ।

दोण्ह पञ्चण्ह सत्तण्ह, तिण्ह छण्ह चउण्ह च ॥

दोण्ह तिण्ह चउण्ह पञ्चण्ह छण्ह च सत्तण्ह ।

प्रजावाद् बहुलस्यैर्मा, विशत्यादंनं चाऽनुत् ॥

शेषेऽदन्तवत् ॥ १२४ ॥

इहोपयुक्तादन्यो यः, स शेष इति कथ्यते ।

तत्र स्यादिविधि सर्वोऽदन्तवत् सोऽनिदिश्यते ॥

येष्वादन्तादिशब्देषु, पूर्व कार्यं न दर्शितम् ।

तेष्वदन्ताधिकारोक्तो, लुगादि [३।४] विधिरिच्यते ॥

तत्र तावत् 'जस्-शमोर्लुक्' [३।४] विधिरिच्यते ।

'मात्रा गिरी गुरु रेहन्ति वा पेंच्छ' ययोच्यते ॥

'अमोऽस्य' [३।५] इति कार्यस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

गिरिं गुरु महि पेंच्छ, गामणिं यज्ञपुं बहु ॥

'टा-ऽऽमोर्ण' [३।६] इति कार्यस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

कय हःताण, मालाण गिरीण धणमीदशम् ॥

टायास्तु दोणा[३।७]टाऽस्मदे-[३।८]न्यय दर्शने

'भिसो हि हिं हिं' [३।७] इत्येतत् कार्यं चाप्यतिदिश्यते ॥

यथा गिरीहि मावाहि गुरुहिं च सहीहिं च ।

विद्यादेव चातिदेशमनुस्वारेऽनुनासिके ॥

'डमेस् तो-दो-ड' [३।८] सूत्रस्य विधिरिच्यते ।

मालाहिनो च मावाओ बुक्कीओ, हिमुकौ नहि[३।१२७।१२६] ॥

'भ्यसस् तो दो दु' [३।९] सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

मावाहिनो तथा मावासुन्तो, हिस्तु निषेत्स्यते [३।१२७] ॥

'डसः स्स.' [३।१०] इति सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

गिरिस्सेति गुरुस्सेति दहिस्सेति महस्स च ॥

'टा-डस् डे.' [३।११] इति सूत्रं तु स्त्रियां सम्यगुदाहृतम् ।

'मे मिमि डे.' [३।१२] इति सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

यथा 'गिरिमि' इत्यादि, डेविधिस्तु निषेत्स्यते [३।१२८] ॥

'जस्-शस्-डसि तो' [३।१३] सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।

गिरी गुरु गिरीओ च, गुरुओ च गुरुण च ।

'भ्यसि वा' [३।१४] इति सूत्रस्यातिदेशो नोपदिश्यते ।

'इडतो दीर्घ' [३।१५] सूत्रेण नित्य दीर्घस्य शासनात् ।

टाण-शस्येत् [३।१६] च 'भिस-ज्यस्' [३।१५]

इत्यतिदेशो निषेत्स्यते [३।१२६] ॥

न दीर्घो णो ॥ १२५ ॥

इदन्तोदन्तयोर्जस्-शस्-डस्यादेशो परे णवि [३।१२] ॥

न दीर्घ पूर्ववर्णस्य, अग्निणो वाउणो यथा ।

डसेल्लुक् ॥ १२६ ॥

आकारान्तादिशब्देभ्यो, लुक् नैवादन्तवद् डसे ।

मालाहिनो च अग्नीओ, वाउओ-ऽस्ति निदर्शनम् ॥

ज्यसश्च हिः ॥ १२७ ॥

हिर्नाऽऽदन्तादिशब्देभ्योऽदन्तवत् स्याद् ज्यसो डसेः ।

मावाहिनो च मावाओ, अग्नीहिनो निदर्शनम् ॥

डेर्मेः ॥ १२८ ॥

'मे' नाऽऽदन्तादिशब्देभ्योऽदन्तवत् डेर्मेवेदिह ।

यथा-अग्निमि वाउमि, दहिमि च महुमि च ॥

एत् ॥ १२९ ॥

टा-शस्-भिस-भ्यस्-सुप्सु नैत्वम्, आदन्तादेरदन्तवत् ।

कय हाहाण, मालाओ पेंच्छ, मालाहि वा कय ।

मालाहिनो तथा मालासुन्तो मावासु अग्निणो ।

वाउणो चेट्श लक्ष्य, विविध प्रतिबुध्यनाम् ।

द्विवचनस्य बहुवचनम् ॥ १३० ॥

सर्वासां हि विभक्तीनां, स्यादि-त्यादिप्रवर्तिनाम् ।

स्थाने द्विवचनस्येह, बहुत्व सप्रयुज्यते ॥

चतुर्थ्याः षष्ठी ॥ १३१ ॥

स्थाने चतुर्थ्या षष्ठी स्यात्, 'नमो देवस्स' ईदृशम् ।

तादर्थ्यदेवा ॥ १३२ ॥

तादर्थ्येऽत्र चतुर्थ्यैरुपचनस्य विभाषया ।

षष्ठी, देवस्स देवाय, 'देवार्थ' तस्य बुध्यनाम् ॥

वमाद् काडश्च वा ॥ १३३ ॥

षष्ठशब्दात् तु तादर्थ्येऽत्र षष्ठी काड चाऽस्तु वा ।

वहाइ वहस्स वहाय वधार्थं त्रय मनम् ।

कचिद् द्वितीयादेः ॥ १३४ ॥

द्वितीयादिविभक्तीनां स्थाने षष्ठी कचिद् भवति ।

सीमाधरस्स वन्दे, तिस्सा भरिमो मुहुस्स, अम्हो अ (द्विती० पष्ठी)
लको धणस्स, मुक्का चिरस्स (तृती० पष्ठी) चोरस्स वीहस्स सा ।
इअराई जाण सहुअक्खराई पायन्ति मिल्लसहिआणा (पञ्च० पष्ठी)
' पिट्ठीं केस-नारो ' (सप्त० पष्ठी) विचिन्तनीय बुधैरेवस्स ।

द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी ॥ १३९ ॥

द्वितीयायास्तृतीयया. स्थाने स्यात् सप्तमी क्वचित् ।
गामे वसामि, नयरे न जामि (द्वि० स०) मरु घोविरीपें मलिआइ ।
लोए तिसु तेसु अल्लकिआ अ पुहवी जहा भाइ (तृती० सप्त०)

पञ्चम्यास्तृतीया च ॥ १३९ ॥

स्यातां तृतीया-सप्तम्या पञ्चम्या कुत्रचित् यथा ।
चोराट् विभेनि ' चोरेण वीहइ ' प्रतिपाद्यते ।
' अन्तेउरे महाराओ आगओ रमिउ ' यथा ।

सप्तम्या द्वितीया ॥ १३९ ॥

क्वचिद् द्वितीया सप्तम्या. स्थाने सन्नि प्रयुज्यते ।
जवेदापे तृतीयाऽपि, द्वितीया प्रथमास्यले ।
' विज्जुज्जोय रसि भरु, ' तृतीया तु-तेण कालेण ।
तेण समएण वा, चउयीस जिणवरा पि' यथा ।

क्यदोयत्तुक् ॥ १३९ ॥

क्यदन्तस्य क्यदपन्तस्य, यस्य वा लुक् भवेदिह ।
गरुआइ च गरुआअइ, अगुरुगुरुभयति, गुरुरिवाचरति ।
दमदमाइ दमदमाअइ, लोहिआइ लोहिआअइ च ।

त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचेर्चा ॥ १३९ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति प्रथम त्रिकम् ।
इचेर्चा स्त, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।
यथा-हसइ हसए, तथा वेवइ वेवए ।
' इचेच. ' [४३१८] इति सूत्रस्य चकारावुपकारकौ ।

द्वितीयस्य सि से ॥ १४० ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यद् द्वितीय त्रिक भवत् ।
सि, से, च स्त, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।
यथा-हससि हससे, तथा वेवसि वेवसे ।

तृतीयस्य मिः ॥ १४१ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यद् तृतीय त्रिक भवत् ।
मिगदेशस्तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।
यथा-हसामि वेवामि, भवद् बाहुलकादिह ।
मिगेमैरिकाग्लोपो, न मर न म्रिये तथा ।
' बहुजाणय रुमिउ ' सक ' शक्तामि गयते ।

बहुप्राशस्य न्ति न्ते डरे ॥ १४२ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति प्रथम त्रिकम् ।
तदन्त्यस्य त्रयो ' न्ति न्ते डरे ' स्यु पदयोर्द्वयोः ।
हसिज्जन्ति रमिज्जन्ति वेरन्ति च हसन्ति च ।
उप्पज्जन्ते विज्जु'हर वीहन्ते च पटुपिरे ।
एकत्वऽपि कर्त्तारं स्याच्च सूत्रेण इति । [१]

मध्यमस्येत्या-हुर्चा ॥ १४३ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति मध्यम त्रिकम् ।
' इत्या-हुर्चा ' तदन्त्यस्य, भवता पदयोर्द्वयोः ।
यथा-हसिन्था हसह, वेविन्था अपि वेवह ।

[१] शुष्यतीत्यर्थः ।

' इत्या ' अन्यत्रापि बहुलम् - ' यद्यस्ते रोचते ' इदम् ।
वाक्य ' ज ज ते रोइत्या, ' ईदृशं सप्रयुज्यते ।
स्यात् च. ' इह-हचोईस्य ' [४३६८] सूत्रस्यास्य विशेषकः ।

तृतीयस्य मो-मु-माः ॥ १४४ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यद् तृतीय त्रिक भवेत् ।
' मो-मु-मा ' स्युस्तदन्त्यस्य, पदयोरुभयोरपि ।
यथा हसामो हसामु हसाम, तुवराम च ।
तुवरामो तुवरामु, तथा अन्यत्रापि बुध्यताम् ।

अत एवैच् से ॥ १४५ ॥

त्यादेः स्थाने तु यौ ' एच्, से ' इत्येतौ परिकीर्तितौ ।
अदन्तादेव तौ स्यातां, नाऽन्यस्यादिति हि स्थितिः ।
हसए हससे-ऽतः किम् ? वाइ वासि न चेह तौ ।
अदन्ताद् ' एच् से ' एवंत्यवधारणवारणः ।
एवकारस्ततोऽदन्तात् सि-इचावपि सिध्यतः ।
अतो ' हसइ हससि ' तथा वेवइ वेवसि ।

सिनाऽस्तेः सिः ॥ १४६ ॥

सिना मध्यत्रिकस्थेन, सहाऽस्तेः सिर्जवेदिह ।
सिनेति किम् ? ' अत्थि तुम ' से आदेशे कृते सति ।
मि-मो-मैम्हि-म्हो-म्हा वा ॥ १४७ ॥

अस्ते स्थाने यथामख्य, ' मि-मो-मैः ' सह वा त्रयः ।
' मिह-म्हो-म्ह ' इत्यादेशास्तु भवन्ति, तन्निदर्शयते ।
' एस मिह ' एपोऽस्मीत्यर्थः, गयम्हो च गयम्ह च ।
मुकाराग्रहणात् तस्याऽप्रयोग इति मन्यताम् ।
पक्के-अत्थि अह, अत्थि अम्हे, अम्हो वि अत्थि च ।
ननु सिद्धावस्थाया, 'म्हो' इति सिद्ध हि पक्षसूत्र [२१७४] वलात् ?
प्रायस्तु साध्यमानाऽवस्था मान्या विभक्तिविधौ ।
नो चेत् ' सव्ये, जे, के, ' इत्याद्यर्थं बहूनि सूत्राणि ।
न विधेयानि स्युरताऽङ्गीकार्या साध्यमानाऽत्र ।

अत्थिस्त्यादिना ॥ १४८ ॥

अस्ते स्थाने जवेद् अत्थि-रादेशस्त्यादिभि सह ।
अत्थि सां, अत्थि ते, अत्थि तुम, अत्थि अह तथा ।
अत्थि तुम्हे, अत्थि अम्हे, रूपपदमुदाहृतम् ।

णेरदेदावावे ॥ १४९ ॥

णे ' अत् एत् आव आवे ' सन्त्वमी च यथाक्रमम् ।
दरिसइ कारइ करा-चइ च करावेइ, वा हसावेइ ।
हामेइ हसावेइ वा, नैत्य कापीह बाहुलकात् ।
जाणावेइ, न आवे इत्यादृशः प्रवर्तते कापि ।
तेन भवेदिह रूप सिद्ध ' पाएइ ' भावेइ ' ।

गुर्वोदरविर्वा ॥ १५० ॥

गुर्वोदरौ अविर्वा स्यात्, शोणितम्-सोसिअ तथा ।
सांसविअ, तापितम्-तांसविअ तोसिअ यथा ॥

जमेरामो वा ॥ १५१ ॥

अमे परस्य णेराड आदेशो वा विधीयते ।
अमाडइ अमादेइ, पक्के रूप निशम्यताम् ।
जमावइ अमावेइ, अमंइ त्रयमिष्यते ।

तृगारी क्त-जाव-कर्मसु ॥ १५२ ॥

णेलेग् आवि जवेना के, प्रत्यये भावकर्मणो ।
कोराविअ कारिअ दासिअ चैव हसाविअ ।

[भावकर्म०] कारीअइ च करावी अइ कारिज्जइ तथा कराविज्जइ ।
हासीअइ च हसावी-अइ हासिज्जइ हसाविज्जइ ।

अदेद्वुक्क्यादेरत आः ॥ १५३ ॥

अद्-पद्-लोपेषु जातेषु, णेरादेरस्य ' आ ' भवेत् ।
पति-कारेइ खामेइ, अति-पामइ मारइ ।
लुकि-कारिअ खामिअ, कारीअइ भवति वा च कारिज्जइ ।
खामीअइ खामिज्जइ, किमदेल्लुकि-इति ? कराविज्जइ ॥
कराविअ च करावी-अइ, आदे. किम् ? यथा सगामेइ ।
व्यवहितान्त्ययोर्न स्यात्-कारिअ, किम् ? अतश्च-दूसेइ ॥
आवे आवादेशेऽप्यादेरत आत्वमाह कोऽपि बुधः ।
कारावेइ च, 'हासाविओ जणो सामलोप च' ।

मौ वा ॥ १५४ ॥

अत आत्व वाऽदन्ताद् धातोर्भवतीह मौ परे हि यथा ।
हसमि हसामि, च जाणमि, जाणामि लिहामि, लिहमि यथा ।

उच्च मो-मु-मे वा ॥ १५५ ॥

अत इत्व चाऽऽत्य वाऽदन्ताद्धातो. परेषु मु-मे-मोषु ।
जणिमु जणामु, भणामो, भणिमो, च भणाम जणिम यथा ।
पक्के तु स्यात् भणमो, जणमु भणम, 'वर्त्तमान' [३।१५८] सूत्रेण ।
एत्वे कृते, भणेमो जणेमु सिरु भणेम तथा ।

क्ते ॥ १५६ ॥

अत इत्व के परे स्याद्, हसिअ हासिअ यथा ।
सिञ्चावस्थापेकणात् तु गयमित्यादि सिध्यति ॥

एच्च क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु ॥ १५७ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु परतो, भविष्यत्प्रत्यये तथा ।
एत्वम् इत्वम् अत स्यातां, तत् क्रमेणेह दृश्यताम् ।
(क्त्वा) हनिरुण हसेऊण (तुम्) हसेउ हमिउ तथा ।
(तव्य) हसिअव्य हसेअव्य (भविष्यत्) हसिहिइ हसेहिइ ।

वर्तमाना-पञ्चमी-शतृषु वा ॥ १५८ ॥

पञ्चम्या वर्तमानायां शतरि प्रत्यये तथा ।
परतोऽतो विकल्पेन स्थाने स्यादेत्वमत्र तु ।
हमइ हसेइ, हसिम हसेम, हसिमु हसेमु इह च भवन्ति । [१]
'हसउ हसेउ सुणउ सुणेउ, इति विबुधा हि परिणिगदन्ति । [२]
वा हसन्तो हसेन्तो च, काचिन्नो-जयईत्यन । [३]
आत्व च दृश्यते क्वापि-'सुणाउ' इतिरूपतः ।

जा-ज्जे ॥ १५९ ॥

जा-ज्जयो परयोरस्य भवेदेत्वं ततो जवेत् ।
हसज्ज च हसेज्जा च, ' होज्जा होज्ज ' अत विना ।

ईअ-इज्जौ क्यस्य ॥ १६० ॥

त्रिज्यादीना भावकर्मविधिरग्रे प्रवक्ष्यते ।
येषां न वक्ष्यते तेषां क्यस्य ईअ च इज्ज च ।
एतो भवेतामादेशौ, हामीअइ हसिज्जइ ।
हमीअन्तो हसिज्जन्तो, पढिज्जइ पढीअइ ।
हमीअमाणो च हसिज्जमाणो, क्योऽपि वा क्यञ्चित् ।
मए नयेज्ज तु मए नयिज्जेज्ज भवेदिह ।

इशि-वचेमीस-डुच्च ॥ १६१ ॥

इशेयचे पगे य क्यस्तस्य स्तो ' डीस मुच्च ' च ।

[१] वर्तमाना । [२] पञ्चमी । [३] शतृ ।

ईअ-इज्जापवादोऽयम्, यथा ' दीसइ ' बुच्चइ ' ।

सी ही हीअ जूतार्थस्य ॥ १६२ ॥

प्रत्ययो योऽद्यतन्यादिर्भूतेऽर्थे विहितो भवेत् ।
तस्य जूतार्थसङ्गस्य ' सी ही हीअ ' ज्वन्त्यमा ।
व्यञ्जनादीअ [३ । १६३] करणात् स्वरान्ताद्यमिष्यते ।
' कासी काही च काहीअ ' अकार्यद् अकयेत् तथा ।
चकारेत्यर्थकाः, आपे- ' देविन्दो इणमन्ववी ' ।
इत्यत्र सिद्धावस्थातः, प्रयुक्ता हास्तनी क्रिया ।

व्यञ्जनादीअः ॥ १६३ ॥

व्यञ्जनान्ताद् जवेद् धातोर्भूतार्थस्य तु ' ईअ ' हि ।
वभूवाभूदभवदित्यर्थे वाच्य ' हुवीअ ' तु ।
एव ' अच्छीअ ' आसिअ आसाञ्चके तथाऽऽस्त वा ।
अगृह्णाद् अग्रहीत् जग्राह वा ' गेगहीअ ' कथ्यते ।

तेनास्तेरास्यहेसी ॥ १६४ ॥

जूतार्थं प्रत्ययो योऽत्र कथितः सह तेन हि ।
अस्तेर्धातोः पदे स्याताम् ' आस्यहेसी ' इमौ यथा ।
' तुम अह वा सो आसि ' ये आसन्निति ' आसि ये '
एवम् ' अहेसि ' इत्यस्य, सर्वं वाक्यं विभाव्यताम् ॥

ज्जात् सप्तम्या ऽर्वा ॥ १६५ ॥

सप्तम्यादेशभूताद् हि, ज्जात् परो वा इरिष्यते ।
' होज्ज होज्जइ ' इत्येतत्- ' भवेत् ' इत्यर्थबोधकम् ।

जविष्यति हिरादिः ॥ १६६ ॥

जविष्यदर्थे विहिते प्रत्यये पर ऽप्यते ।
तस्यैवादिर्हिरादेशो, यथा ' होहिइ ' इत्ययम् ।
वा जविष्यति भविता, एव होहिन्ति होहिसि ।
होहित्था वा हसिहिइ, तथा काहिइ बुध्यताम् ।

मि-मो-मु-मे स्सा हा नवा ॥ १६७ ॥

अर्थे जविष्यति परेषु मु-मो-मि-मेषु
' स्सा हा ' इमौ हि विदधीत तदादिभूतौ ।
वाऽयं विभिर्हिमऽपवाच्य भवत्यतो हि ।
पक्षे जवेदिति बुधे. परिज्ञावनीयम् ॥
होस्सामो होहामो. तथैव होस्सामि भवति होहामि ।
होस्सामु च होहामु च, भवति च होस्साम होहाम ।
पक्के होहिमि होहिम, होहिमु होहिमो च भवति रूपमिति ।
' हा ' न कापि जवदिह, यथा-हसिहिमो हसिस्सामा ।

मो-मु-मानां हिस्सा हित्था ॥ १६८ ॥

जविष्यति प्रवृत्तानां, मो-मु-मानां पुनर्मनौ ।
' हिस्सा ' हित्था, इमां धाता परौ वेन्युपदिश्यते ।
हसिहिस्सा हसिहिन्था, होहिस्सा पठ्यते च होहित्था ।
पक्षे होस्सामो होहामो होहिमो च रूपाणि ॥

मेः स्सं ॥ १६९ ॥

धातो. परो जविष्यति काले, मे स्स विकल्पनो जवति ।
होस्स हसिस्सं, पक्के होहिमि होस्सामि होहामि ।

कु-डो ह ॥ १७० ॥

करोतेश्च ददातेश्च, पर काले भविष्यति ।
विहितस्य हि ' मे ' स्थाने ' हम ' आदेशो विकल्प्यते ।
काह दाह करिष्यामि दास्यामीत्यर्थो प्रकौ ।

पक्षे रूपद्वयं वेद्यं, यथा-कादिमि दादिमि ।

श्रु-गामि-रुदि-विदि-हशि-मुचि-वचि-त्रिदि-भिदि-भुजां
सोच्छं गच्छं रोच्छं वेच्छं दच्छं मोच्छं वोच्छं नेच्छं जेच्छं
भोच्छं ॥ १७१ ॥

श्वादीना दशधातूनां, म्यन्तानां हि ऋविष्यति ।
सोच्छमित्यादयस्तेषां निपात्यन्ते पक्षे, यथा ।
सोच्छं भोष्यामि तथा, दच्छं द्रक्ष्यामि, मोच्छं मोक्ष्यामि ।
घोच्छं घक्ष्यामि पुनः, छेच्छं छेत्स्यामि जानीहि ।
भेच्छं भेत्स्यामि तथा, भोच्छं भोक्ष्ये च धीवरेरुक्तम् ।
सगच्छं सगस्ये, रोदिष्यामीति रोच्छमिति भवति ।
वेदिष्यामि च वेच्छं, तथैव गच्छं गमिष्यामि ।

सोच्छादय इजादिषु हिलुक् च वा ॥ १७२ ॥

श्वादीना धातूनां स्थाने सोच्छादयो यथासण्यम् ।
भविष्यतीजादिषु-देशेषु स्युर्, हिलुक् च वा ।
साच्छिद् वा तु साच्छिद्दिह, एव सोच्छिन्ति सोच्छिहन्ति तथा ।
सोच्छिसि सोच्छिदिसि स्यात्, सोच्छित्था सोच्छिदित्था च ॥
सोच्छिह सोच्छिदिह स्यात्, सोच्छिमि साच्छिदिमि भवति रूपम् ।
सोच्छिस्सामि सोच्छिहामि सोच्छिस्स सोच्छिमो सोच्छ ॥
सोच्छिदिमो सोच्छिस्सामो सोच्छिहामो सोच्छिदिस्सा च ।
रूपं च सोच्छिदित्था, एव सु-मयोरपि द्वेयम् ॥
गच्छिद् वा तु गच्छिद्दिह, एव गच्छिन्ति गच्छिहन्ति तथा ।
गच्छिसि गच्छिदिसि स्यात्, गच्छित्था गच्छिदित्था च ॥
गच्छिद् गच्छिदिह स्यात्, गच्छिमि गच्छिदिमि भवति रूपम् ।
गच्छिस्सामि गच्छिहामि गच्छिस्स गच्छिमो गच्छ ॥
गच्छिदिमो गच्छिस्सामो गच्छिहामो गच्छिदिस्सा च ।
रूपं च गच्छिदित्था एव सु-मयोरपि द्वेयम् ॥
रुदादीना च धातूनामप्युदाहार्यमीदृशम् ।

दु सु मु विध्यादिष्वृक्स्मिन्त्रयाणाम् ॥ १७३ ॥

विध्यादिष्वृक्स्मिन्त्रयाणाम्, पक्षेऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।
त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थाने स्युः 'दु सु मु' क्रमात् ॥
हसउ सा, हससु तु, हसामु अहमित्यपि ।
एव भवति पेच्छामु तथा पेच्छउ पेच्छसु ॥
दकारोच्चारण भाषान्तगर्थं प्रतिपद्यताम् ।

सांदिर्वा ॥ १७४ ॥

कृतस्य पूर्वसूत्रेण सो स्थाने हिर्विकल्प्यते ।
'देहि देसु' ततो रूपद्वयं सिद्धिं समश्नुते ।

अत इज्जस्विज्जहृज्ज-लुको वा ॥ १७५ ॥

अतः परस्य सो स्थाने 'इज्ज इज्जसु इज्जहि'
इत्येते लुक् च चत्वार आदेशाः परिकीर्तिताः ।
हसेज्जसु हसेज्जं च हसेज्जहि च वा हस ।
पक्षे-हससु, किमत ? यथा स्याद् होसु ग्राहि च ।

वहुषु न्तु ह मो ॥ १७६ ॥

विध्यादिष्वृक्स्मिन्त्रयाणां बहुत्वेऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।
त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थाने स्युर् 'न्तु ह मो' क्रमात् ।
यथा-[न्तु] हसन्तु हसन्तु हसयुवा [ह] हसह हसेत वा हसत ।
भवति-[मो] हसामो च हसाम वा हसेम स्युरिति बोध्यम् ।
वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च उज्ज उजा वा ॥ १७७ ॥

वर्तमानाभविष्यन्त्योर्विध्यादिषु च य कृतः ।

ए

प्रत्ययस्तस्य तु स्थाने, 'उज्ज उजा'-ऽऽदेशौ विकल्पितौ ।
[वर्तमाना] हसेज्जं च हसेज्जा च, पक्षे 'हसह' सिद्ध्यति ।
पदेज्जं च पदेज्जा च, पक्षे 'पदह' इत्यपि ।
[भविष्यन्ती] पदेज्जं च पदेज्जा च, पक्षे पदिदिह स्मृतम् ।
[विध्यादिषु] हसेज्जं पक्षे, हसतु हसिज्जा च हसेज्जं च ।
एव सर्वत्र बोद्धव्यं, तृतीये तु त्रिके यथा ।
अइवापज्जा अइवायावेज्जा चेह पठ्यते ।
स्याद् न समणुजाणामि, समणुजाणेज्जा न वा ।
अन्ये तु सुरयाऽन्वासामपि वाञ्छन्ति, तद्यथा ।
लकारदशके 'होज्ज' भवतीत्यादिवाचकम् ।

मध्ये च स्वरान्ताद् वा ॥ १७८ ॥

धातोः स्वरान्तात् प्रकृति-प्रत्ययान्तरगौ तथा ।
चात्प्रत्ययानां च स्थाने, 'उज्ज उजा'-ऽऽदेशौ विकल्पितौ ।
वर्तमाना-भविष्यन्त्योर्विध्यादिषु च दर्शयते ।
[वर्तमाना] होज्जा होज्जह होज्जाह होज्ज, होह तु पाक्षिकम् ।
होज्जा होज्जसि होज्जासि होज्ज, होसि तु पाक्षिकम् ।
[भविष्यन्ती] होज्जाहिह होज्जहिह, होज्जा होज्जं च पठ्यते ।
पक्षे 'होदिह' इत्येतद् रूपं सिद्धिं प्रयाति च ।
होज्जाहिसि होज्जहिसि, होज्ज होज्जा च होहिसि ।
होज्जाहिमि होज्जहिमि, होज्जहसामि तत परम् ।
होज्जहामि च होज्जहस, होज्ज होज्जा-ऽऽदि बुध्यताम् ॥
[विध्यादिषु] होज्ज होज्जं च होज्जाह होज्जा, नवतु वा नवेत् ।
पक्षे होउ, स्वरान्तात् किम् ?-हसेज्जा च हसेज्जं च ॥

क्रियाऽतिपक्षेः ॥ १७९ ॥

क्रियाऽतिपक्षे स्थाने तु, 'उज्ज उजा'-ऽऽदेशौ प्रकीर्तितौ ।
अतो-'ऽभविष्यद्' इत्यर्थे 'होज्ज होज्जा' प्रयुज्यते ॥

न्त-माणौ ॥ १८० ॥

क्रियाऽतिपक्षे स्थाने तु, 'न्त-माणौ' इति भाषितौ ।
अतो 'होन्तो' च 'होमाणौ'-ऽभविष्यद् इति बोधकौ ॥
" हरिण-छाणे हरिणक 'जह सि हरिणाहिव निवेसन्तो ।
न सहन्तो चिय तो राहुपरिहव से जिअन्तस्स " * ॥

शत्रानशः ॥ १८१ ॥

'शत्रु-भानश्' इत्यनयोर् 'न्त-माणौ' स्तः पृथक् पृथक् ।
[शत्रु] हसन्तो हसमाणो च, [भानश्] वेवन्तो वेवमाणो च ॥
ई च स्त्रियाम् ॥ १८२ ॥

स्त्रियां शत्रानशोः स्थाने, 'ई, न्त-माणौ' भवन्ति च ।
हसन्तो हसमाणो च, हसई च शत्रुख्यम् ।
वेवन्तो वेवमाणो च वेवई त्रयमानशः ॥

या जापा जगवद्रचोचिरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां,
यस्या सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ।
तस्याः संप्रति दुःपमारवशतो जातोऽप्रचारः दुःहः
संचाराय मया कृते विवरणे पादस्तृतीयो गमः ॥
इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कालेकालसर्वज्ञ-
श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसूरिधिराचि-
ताया प्राकृतव्याकृतौ तृतीयः पादः ।

* हरिणस्थाने हरिणाह ! यदि त्वं हरिणस्य वधं करोष्यसि
नासादिष्वप्यथा एव ततो राहुपरिहव से जिअन्तस्स

॥ * अहम् * ॥

॥ अथ चतुर्थः पादः ॥



इदितो वा ॥ १ ॥

इदितो धातवः सूत्रे ये वक्ष्यन्तेऽत्र चूरिषः ।
तेषा विकल्पेनाऽऽदेशा भवन्तीत्यवगम्यताम् ॥

कथेर्वज्जर-पज्जरोप्पाल-पिसुण-सह-बोह-चव-जम्प-
सीस-साहाः ॥ २ ॥

‘सह-बोह-चवा. जम्प-पज्जरोप्पाल-वज्जरा. ।
साहा सीसो च पिसुण’ आदशा वा कथेर्दश ॥
पिसुणह सहइ बोहइ, उप्पालह वज्जरइ च पज्जरइ ।
साहइ जम्पइ सीसइ, चवइ कथयतीति सचेद्यम् ॥
‘वृक् प्रषण’ इति धातोरुत्पूर्वस्यैव तस्य उष्णुक्कइ ।
पक्षे ‘कहइ’ इतीदं रूपं चेद्यदि कथधानो ॥
अन्यैरेते तु देशेषु पठिता अपि सूरिणि ।
‘विविधेषु प्रत्ययेषु प्रयुक्ता’ इत्यनो मया ॥
धात्वादेशीकृता हेते, तत्सर्वं श्रूयतामिह ।
वज्जरिओ कथितो, वज्जरिअञ्च कथयितव्यमिति भवति ॥
वज्जरण कथनं, वज्जरिऊण चापि कथयित्वा ।
कथयद् हि वज्जरन्तो, सहस्रश सन्ति चास्य रूपाणि ॥
संस्कृतधातुवदत्र प्रत्ययज्ञोपागमादिविधिः ।

दुःखे णिव्वरः ॥ ३ ॥

दुःखविषयस्य कथेः, ‘णिव्वरो’ वा विधीयते ।
दुःख कथयतीत्यर्थे, क्रिया ‘णिव्वरइ’ स्मृता ।

जुगुप्सेर्कुण-दुगुच्छ-दुगुञ्जाः ॥ ४ ॥

‘कुण-दुगुच्छ-दुगुञ्जा’ जुगुप्सेर्वा त्रयो मनाः ।
कुणइ दुगुच्छइ च दुगुञ्जइ, पक्षे भवति वै जुगुच्छइ च ।
लोपे गस्य दुगुच्छइ तथा दुगुञ्जइ जुगुच्छइ च ।

बुधुक्षि-वीज्योर्णीरव-वीजौ ॥ ५ ॥

बोह-णीरवौ स्यातां, क्तिबन्त-वीजस तथा बुधुक्केर्वा ।
बोहइ वीजइ तस्माद्, भवति बुधुक्कइ च णीरवइ ।

ध्या-गोर्भा-गौ ॥ ६ ॥

‘ध्या गा’ अनयोर ‘जा गा’ इत्यादेशौ हि, जाइ जाअइ च ।
णिज्जाअइ णिज्जाइ च, जाण गाण, च गाइ गायइ च ।

ज्ञो जाण-मुणौ ॥ ७ ॥

जानाते स्तो ‘जाण-मुणौ’ स्यातां ‘मुणइ जाणइ’ ।
क्वचिद् विकल्पो बहुधात्, यथा-णाय च जाणिअ ।
वा जाणिऊण णाऊण, रूप ‘मणइ’ मन्यते ।

उदो ध्मो धुमा ॥ ८ ॥

उद् परस्य ध्मा-धातोर् ‘धुमा’ स्याद्, ‘उद्धुमाइ’ हि ।

अदो धो दहः ॥ ९ ॥

अत्परस्य दधातेर्दह इति वै ‘सद्दहइ’ ।

पिवेः पिज्ज-रुल्ल-पट्ट-घोट्टाः ॥ १० ॥

वा ‘पिज्ज-रुल्ल-पट्ट-घोट्टा’, एते स्युरत्र वा पिवते ।
पिज्जइ रुल्लइ पट्टइ, घोट्टइ, पक्षे ‘पियइ’ रूपम् ।

उघातेरोरुम्मा वसुआ ॥ ११ ॥

‘ओरुम्मा वसुआ’ च स्यातामुत्पूर्व-वातिधातोर्वा ।
‘ओरुम्माइ’ च ‘वसुआइ’ च पक्षे भवति ‘उव्वाइ’ ॥

निजातेरोहीरोद्धौ ॥ १२ ॥

‘ओहीर उ[ओ]ह’ इत्येतौ, वा नि-जाते पटे मतौ ।
यथा-‘उ[ओ]ह निहाइ ओहीर’ भवेत् त्रयम् ।

आघ्रेराऽग्यः ॥ १३ ॥

घाऽजिघते. स्याद् आग्य, आग्यइ अग्यइ च ।

स्नातेरञ्जुत्तः ॥ १४ ॥

स्नातेर् ‘अञ्जुत्त’ इति वा स्याद् अञ्जुत्तइ एहाइ च ।

समः स्तयः खाः ॥ १५ ॥

सपूर्वस्य स्तयायते ‘खा’ स्यात् ‘सखाइ’ यथा भवेत् ।

स्थष्ठा-थक्-चिट्ट-निरप्पाः ॥ १६ ॥

‘थक्को चिट्टो निरपः, ठा’ स्था-धातोः स्युरिमे यथा ।
ठाइ थक्कइ चिट्टइ चिट्टिऊण निरप्पइ ।
पठिओ उठिओ पठाविओ उठाविओ तथा ।
क्वचिन्न बहुलात्-धाण थिअ थाऊण उथिओ ।

उदह-कुक्कुरौ ॥ १७ ॥

उद् परस्य स्था-धातोः, स्यातामत्र उ-कुक्कुरौ ।
‘उठ्ठ’ स्यात् तथा ‘उक्कुकुर’ द्वयमत्र तु ।

म्येर्वा-पव्वायौ ॥ १८ ॥

‘पव्वाय वा’ इत्यादेशौ, म्नायतेर्वाऽच समतौ ।
‘वाइ पव्वायइ’ तथा, पक्षे रूप ‘मिहाइ’ च ।

निर्मो निम्माण-निम्मवौ ॥ १९ ॥

‘निम्माण-निम्मवौ’ स्यातां, निर्मिमीतेरिमौ यथा ।
‘निम्माणइ निम्मवइ’ यथैते सिद्धिमाप्नुन ।

होणिज्झरो वा ॥ २० ॥

तयतेर् होणिज्झरो वा णिज्जरइ, पक्षे भिज्जइ ।

उदेर्णेण्ण-नूम-सन्नुम-ढक्कौम्वाल-पव्वाणाः ॥ २१ ॥

‘स्युर ढक्कौम्वाल-पव्वाणा णुमो नूमश्च सन्नुम. ।
उदेर्ण्यन्तस्य वाऽऽदेशा. षडेते, तन्निशम्यताम् ।
णुमइ च नूमइ, एत्वे णुमइ ढक्कइ च सन्नुमइ भवति ।
ओम्वालइ पव्वालइ, तथा च णायइ निगद्यन्ते ।

निम्विपत्योणिहोरः ॥ २२ ॥

निवृग पनेश्च धातो, एयन्तस्य तु वा ‘णिहोड’ इति भवतु ।
यथा ‘णिहोरइ’ पक्षे तथा निचारेइ, पाडेइ ।

दूडो दूमः ॥ २३ ॥

दूडो एयन्तस्य दूम स्यात्, हिअय मज्झ दूमेइ ।

धवलैर्दुमः ॥ २४ ॥

धवलयनेर्ण्यन्तस्य दुमादेशो वा, दुमइ च धवलइ च ।
स्वर-[४।२३८] सूत्रेण तु दीर्घे दुमिअमिनि धवलित भवति ।

तुलेरोहामः ॥ २५ ॥

तुलेर्ण्यन्तस्य ‘ओहामो’ वा, तुलइ ओहामइ ।

विरिचेरोलुएमोल्लुएरु-पट्टहत्याः ॥ २६ ॥

विरिचेतेर्यन्तस्य तु वा, स्युरोलुएडोल्लुएरु-पट्टहत्या' ।
ओलुएडइ उल्लुएडइ पट्टहत्या वा विरेभइ च ।

तमेराहोरु-विहोमौ ॥ २७ ॥

तडेएर्यन्तस्य वाऽऽहोरु-विहोमौ भघतः क्रमात् ।
आहोमइ विहोडइ, पक्के 'तामेइ' सिध्यति ।

मिश्रेर्वीसाल-मेलवौ ॥ २८ ॥

मिश्रयतेर्यन्तस्य तु, वा स्तो वीसाल-मेलवौ ।
वीसालइ मेलवइ, पक्के 'मिस्सइ' जायते ।

उरूद्वेगुएरुः ॥ २९ ॥

एयन्तस्योद्धूलि-धातो. स्याद्, गुणऽऽदेशो विभाषया ।
ततो गुणइ पक्के स्याद्, 'उद्ध्वेइ' क्रियापदम् ।

अमेस्तालिअएट-तमाडौ ॥ ३० ॥

तालिअएट-तमामौ द्वौ, अमेर्यन्तस्य वा मतौ ।
स्यात् तालिअएटइ तमाडइ चेति द्वय, तथा ।
जमाडेइ भमावेइ, भामेइ त्रयमीरितम् ।

नशेर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः ॥ ३१ ॥

पलावो विउडो विप्पगालो नासव-हारवौ ।
एते पञ्च विकल्पेन स्युएर्यन्तस्य नशेरिह ।
विप्पगालइ च पला-वइ हारवइ स्मृतम् ।
विउडइ नासवइ, पक्के 'नासइ' सिध्यति ।

दशेर्दाव-दंस-दक्खवाः ॥ ३२ ॥

दावो दसो दक्खवश्च, दशेएर्यन्तस्य वा त्रयः ।
दावइ दसइ दक्खवइ दरिसइ स्मृतम् ।

उदघटेरुगः ॥ ३३ ॥

एयन्तस्य वोदघटेरु गग', उग्घाडइ च उग्गइ ।

स्पृहः सिहः ॥ ३४ ॥

स्पृहो एयन्तस्य 'सिह' इत्यादेश', सिहइ स्मृतम् ।

सजावेरामद्धः ॥ ३५ ॥

सभावयनेर्धातोरासद्धो वा विधीयते ।
भवेद् आसद्धइ तथा, सभावइ च पाक्षिकम् ।

उन्नमेस्त्यह्वोल्लाह-गुलुगुञ्जोप्पेलाः ॥ ३६ ॥

उत्थह्वोल्लाह-गुलुगुञ्जोप्पेला वा स्युर उन्नमे ।
उत्थहइ उल्लाहइ, उप्पेलाइ तथा पुन ।
गुलुगुञ्जइ, पक्के तु पदम् उन्नावइ स्मृतम् ।

प्रस्थापेः पट्टव-पेएरुवौ ॥ ३७ ॥

प्रस्थापयतेरादेशौ वा पट्टव-पेएरुवौ ।
पट्टवइ पेएडवइ, पक्के पठावइ स्मृतम् ।

विङ्गपेर्वोक्कावुक्कौ ॥ ३८ ॥

वुक्कावुक्कौ विजानाने, स्थान स्यातां विज्ञापया ।
स्याद् अवुक्कइ वोक्कइ, पक्के विण्णवइ स्मृतम् ।

अर्पेगद्विव-चच्चुप्प-पणामाः ॥ ३९ ॥

अर्पेगद्विव-चच्चुप्प-पणामाः ।
अर्पेगद्विव-चच्चुप्प-पणामाः ।
अर्पेगद्विव-चच्चुप्प-पणामाः ।

यापेर्जवः ॥ ४० ॥

जवो यापयतेर्वा जवइ, जावेइ वेण्यते ।

प्लावेरोम्वाल-पव्वाडौ ॥ ४१ ॥

स्याताम् 'ओम्वाल-पाव्वलौ' स्थाने प्लावयतेस्तु वा ।
ओम्वालइ पव्वालइ, पक्के 'पावेइ' सिध्यति ।

विकोशेः पक्खोडः ॥ ४२ ॥

वा विकोशयतेर्नामधातो. 'पक्खोड' इष्यते ।
'पक्खोडइ' तत' सिद्ध, पक्के रूप 'विकोसइ' ।

रोमन्थेरोग्गाल-वग्गोलौ ॥ ४३ ॥

स्याताम् 'ओग्गाल-वग्गोलौ' रोमन्थेस्तु विज्ञापया ।
ओग्गालइ वग्गोलइ, रोमन्थइ तु पाक्षिकम् ।

कमेण्हुवः ॥ ४४ ॥

स्यात् कमे स्वार्थे एयन्तस्य, णिहुवोऽत्र विकल्पनात् ।
प्रयुज्यते णिहुवइ, तथा कामेइ पाक्षिकम् ।

प्रकाशेण्हुवः ॥ ४५ ॥

ण्हुव. प्रकाशेएर्यन्तस्य, वा पयासेइ णुवइ ।

कम्पेर्विच्छोलः ॥ ४६ ॥

कम्पेएर्यन्तस्य विच्छोलो वा, विच्छोवइ कम्पेइ ।

आरोपेर्वेदः ॥ ४७ ॥

एयन्तस्य वाऽऽरुदे. स्थाने वलाऽऽदेशोऽभिधीयते ।
रुपं 'वदइ' ससिद्धम्, आरोवेइ च पाक्षिकम् ।

दोद्वे रद्धोलः ॥ ४८ ॥

स्वार्थे एयन्तस्य तु दुद्वे, रद्धोलो वा विधीयते ।
सिद्ध रूप ततो रद्धावइ 'दोद्वइ' पाक्षिकम् ।

रज्जेः रावः ॥ ४९ ॥

रज्जेएर्यन्तस्य वा रावो, यथा-रावेइ रज्जेइ ।

घटेः परिवादः ॥ ५० ॥

परिवामो विकल्पेन घटेएर्यन्तस्य जायत ।
ससिद्ध परिवोडइ, पक्के रूप घमेइ च ।

वेष्टेः परिआलः ॥ ५१ ॥

वेष्टेएर्यन्तस्य तु स्थाने 'परिआलो' विकल्पनात् ।
'परिआवेइ' वेष्टेइ, द्वय ससिद्धिसृज्यति ।

क्रियः किणो वेस्तु के च ॥ ५२ ॥

णेरित्यत्र निवृत्त च, कीणाते किण इष्यते ।
वे. परस्य द्विरुक्त के चात् किणश्चेति वृथ्यताम् ।
रूप किणइ विक्रेइ, तथा विक्रिणइ स्मृतम् ।

जियो भा-वीहौ ॥ ५३ ॥

भा-वीहौ च बिजेते स्त, जाइ वीहइ भाइम् ।
बीहिम्, बहुलाद् 'जीओ', इति रूप च सिध्यति ।

आलीडोऽद्वी ॥ ५४ ॥

आलीयनेर् भवेद् अद्वी, अलीणो च अलिअइ ।

निडीडेर्णिद्वीअ-णिलुक्-णिरिग्य-लुक्-लिक-लिट्-

काः ॥ ५५ ॥

'लुक्-णिलीअ-णिमुक्का, लिको लिट्को णिरिग्य' इत्येते ।

आदेशास्तु निलीडो धातोः षच् वा प्रवर्तन्ते ।
लुक्कश्च लिङ्कश्च भवति णिलीअश्च तथा णिलुक्कश्च ।
तथा णिरिगधश्च रूपं, पक्के वेद्य निलिज्जश्च तु ।

विदीष्टेर्विरा ॥ ५६ ॥

विरा विलीडेरादेशो वा, विराश्च विद्विज्जश्च ।

रुते रुज्ज-रुएटौ ॥ ५७ ॥

रौतेः स्थाने विकल्पेन रुज्ज-रुएटौ प्रकीर्तितौ ।

रुज्जश्च रुएटश्च ततः, पक्के रवश्च सिध्यति ।

श्रुटेर्हणः ॥ ५८ ॥

शृणोतेर्वा हणो, हण-ञ्च सुणश्च सिद्धिमितः ।

धुगेर्धुवः ॥ ५९ ॥

धुनातेर्वा धुवो धुवश्च स्याद् धुणश्च पाक्षिकम् ।

जुवेर्हो-हुव-हवाः ॥ ६० ॥

'हो हुव हव' इत्येते जुव स्थाने विकारिपताः ।

'होइ हुवइ हवश्' स्युर, 'होन्ति हुवन्ति च हवन्ति' यद्बुवच्चे ।

पक्के भवश्च भवन्ति च, जविञ्च पभवश्च च परिभवश्च ।

काचिदन्यदपि यथा-जच्च, जञ्चुअश्च स्मृतम् ।

अविति हुः ॥ ६१ ॥

विद्वर्जं प्रत्यये 'हु' स्याद्, भुव स्थाने विज्ञापया ।

यथा हुन्ति, भवन् हुन्तो, किम् ? अवितितीति, 'होइ' च ।

पृथक् स्पष्टे णिव्वमः ॥ ६२ ॥

पृथग्भूते तथा स्पष्टे, कर्त्तरि 'णिव्वडो' भुव ।

पृथक् स्पष्टो वा जवती-त्यर्थे 'णिव्वमश्' स्मृतम् ।

प्रजौ हुप्पो वा ॥ ६३ ॥

प्रजुकर्तृकस्य जुव, स्थाने हुप्पो विकल्प्यते ।

प्रभुत्व च प्रपूर्वस्यै-वार्थो ऽनेति विभाव्यताम् ।

अङ्गं चिञ्च पडुप्पश्च, न, पक्के पभवेश्च ।

क्ते हुः ॥ ६४ ॥

क्ते जुवो ह्वश्च अणुह्वश्च, पडुअं ह्वअमीदृशम् ।

कुगेः कुणः ॥ ६५ ॥

कुगः कुणो वा, कुणश्च, करश्च स्यात्तु पाक्षिकम् ।

काणेक्षिते णिआरः ॥ ६६ ॥

काणेक्षितविषयस्य तु, कुग पदे वा णिआर आदेशः ।

काणेक्षित करोतीत्यर्थे वाच्य 'णिआरश्' हि ।

निष्टम्भावष्टम्भे णिडुह-संदाणं ॥ ६७ ॥

अवष्टम्भे च निष्टम्भे, कुगः सदाण-णिष्ठहौ ।

इत्यादेशौ यथासंख्य, विकल्पनेह बुध्यताम् ।

णिष्ठहश्च तु निष्टम्भ करोती-न्यर्थबोधकम् ।

'सदाणश्' अवष्टम्भ करोतीत्यर्थवाचकम् ।

अमे वावम्फः ॥ ६८ ॥

अमविषयस्य तु कुगो, वावम्फो वा विधीयते ।

अम करोति इत्यर्थे, 'वावम्फश्' निगद्यत ।

मन्युनौष्ठमालिन्ये णिव्वोलः ॥ ६९ ॥

मन्युनौष्ठमालि-न्ये, 'णिव्वोलश्' कुगोऽस्तु वा ।

माखिनीकुरुते स्वौष्ठ कुधा, 'णिव्वोलश्' स्मृतम् ।

शैथिल्यपक्षम्बने पयल्लः ॥ ७० ॥

शैथिल्ये लम्बनेऽर्थे च, 'पयल्लो' वा कुगो यथा ।

लम्बते वा च शिथिलीभवति स्यात् 'पयल्लश्' ।

निष्पाताच्छोटे णीलुञ्जः ॥ ७१ ॥

आच्छोटेऽर्थे च निष्पाते, 'णीलुञ्जो' वा कुगो भवेत् ।

'णीलुञ्जश्' निष्पतति, वाऽऽच्छोटयति कथ्यते ।

कुरे कम्मः ॥ ७२ ॥

कुरार्थस्य कृग 'कम्म', इत्यादेशो विभाषया ।

'कुर करोति' इत्यर्थे, पदं 'कम्मश्' ज्ञप्यते ।

चाटौ गुललः ॥ ७३ ॥

चाटुविषयस्य कुगो, 'गुललो' वा विधीयते ।

प्रयुज्यते 'गुललश्', चाटुकार करोत्यतः ।

स्मरेर्जर-भूर-जर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः ॥ ७४ ॥

पम्हुहो विम्हरो भूरः पयरः, सुमरो भरः ।

भलो लढो जरो धैते, नवादेशाः स्मरेर्मताः ।

भूरश्च भरश्च विम्हरश्च, सुमरश्च पयरश्च च पम्हुहश्च सरश्च ।

जरश्च भलश्च लढश्च ततः, स्मरेर्भवन्तीह रूपाणि ।

विस्मः पम्हुस-विम्हर-वीसराः ॥ ७५ ॥

'पम्हुस विम्हर वीसर' इत्यादेशा भवन्ति विस्मरतेः ।

'पम्हुसश्च विम्हरश्च वीसरश्च' च लिङ्गान्ति रूपाणि ।

व्याहुरेः कोक्क-पोक्कौ ॥ ७६ ॥

व्याहुरेर्वा स्याता-मादेशौ द्वौ हि 'कोक्क-पोक्कौ' च ।

कोक्कश्च, ह्रस्वत्वे कुक्कश्च पोक्कश्च, 'वाहरश्' पक्के ।

प्रसरेः पयल्लोवेद्धौ ॥ ७७ ॥

उवेद्धश्च पयल्लो वा, स्यातां प्रसरतेरिमौ ।

उवेद्धश्च पयल्लश्च, पक्के प्रसरश्च स्मृतम् ।

महमहो गन्धे ॥ ७८ ॥

गन्धार्थस्य प्रसरतेः, स्थाने महमहोऽस्तु वा ।

'मालश्च महमहश्च', गन्धे किं ? प्रसरश्च च ।

निस्सरेणीहर-नील-धारु-वरहाडाः ॥ ७९ ॥

निस्सरतेर् 'वरहाडो, नीलो धाडो च नीहरो' वा स्युः ।

वरहाडश्च नीलश्च नीहरश्च च धाडश्च च, नीसरश्च ।

जाग्रेर्जगः ॥ ८० ॥

जागर्तेर् 'जग' इति तु, स्यादादेशो विभाषया ।

रूप 'जगश्' तेन स्यात्, पक्के 'जागरश्' स्मृतम् ।

व्याप्रेराअडुः ॥ ८१ ॥

धातोर्व्यापियने स्थाने, 'आअडु' वा विधीयते ।

आअडुश्च तथा 'वावरेश्' रूपं तु पाक्षिकम् ।

मंठगेः साहर-साहट्टौ ॥ ८२ ॥

संवृणोतेस्तु साहर-साहट्टौ वा पदे मतौ ।

साहट्टश्च साहरश्च, पक्के 'सवरश्' स्मृतम् ।

आहडः सन्नामः ॥ ८३ ॥

वाऽऽहडश्च स्यात्तु 'सन्नामो', आदरश्च सन्नामश्च ।

महगेः सारः ॥ ८४ ॥

‘सार’ प्रहरते. स्थाने, वा पहरइ सारइ ।

अवतरेरोह-ओरसौ ॥ ८५ ॥

‘ओह ओरस’ इत्येतौ, वाऽत्रावनरनेर्मनौ ।

ओहइ वा ओरसइ, पक्षे ‘ओअरइ’ स्मृतम् ।

शकेश्वर-तर-तीर-पाराः ॥ ८६ ॥

चयस्तरस्तीरपारौ, चत्वारो वा शकेरिमे ।

तीरइ पारइ सकइ, चयइ तरइ, चयइ च न्यजतेः । [१]

तरतेरपि तु तरइ वा, तीरयतेरपि भवेत् तीरइ ।

पारयतेरपि भवेत्, रूप ‘पारेइ’ गच्छते । [२]

फकस्यकः ॥ ८७ ॥

थकस्तु फकते स्थाने भवेत्, ‘थकइ’ सिध्यति ।

श्लाघः सलहः ॥ ८८ ॥

श्लाघते सलहादेशो भवेत्, ‘सलहइ’ स्मृतम् ।

खचर्चेअहः ॥ ८९ ॥

खचनेर् ‘वेअडो’ वा, ‘वेअडइ’ ‘खचइ’ स्मृतम् ।

पचेः सोल्ल-पउल्लौ ॥ ९० ॥

वा ‘सोल्ल-पउल्लौ’ इत्यादेशौ स्तः पचते स्थले ।

‘सोल्लइ’ वा ‘पउल्लइ’, पक्षे ‘पयइ’ सिध्यति ।

मुचेइउवावहेम-मेहोस्सिक-रेअव-णिल्लुञ्ज-धंसामाः ॥ ९१ ॥

मेहोऽवहेडो धसामो, णिल्लुञ्जोस्सिक-रेअवाः ।

छुइधैते मुचे. स्थाने, सप्तादेशा विकल्पिता ।

णिल्लुञ्जइ वस्सिकइ, अचहेडइ रेअवइ च धसारइ ।

छुइइ मेहइ, पक्षे ‘मुअइ’ च रूप तु भवतीति ।

डुःखे णिव्वडः ॥ ९२ ॥

डु खविषयस्य मुचेर्णिव्वडो वा विधीयते ।

‘डु ख मुञ्चति’ इत्यर्थे ‘णिव्वडेइ’ क्रियापदम् ।

वञ्चेव्वेहव-वेहव-जूरवोमच्छाः ॥ ९३ ॥

वा वेहव-वेहव-जूरवा उमच्छाऽपि वञ्चते स्थाने ।

वेहवइ वेलवइ जूरवइ उमच्छइ च, वञ्चइ च ।

रचेरुगहावह-विमविड्डाः ॥ ९४ ॥

धातो. रचेइ उगहावह-विडविड्डाख्यो भवन्त्येते ।

विमविड्डइ उगहाइ च अवहइ, पक्षे रयइ भवति ।

समारचेरुवहत्य-सारव-समार-केलायाः ॥ ९५ ॥

समारचेरु उवहत्य., केलायः सारवः समारो वा ।

उवहत्यइ केलायइ, समारयइ सारवइ समारइ च ।

सिचेः सिञ्च-मिम्पौ ॥ ९६ ॥

सिञ्च-सिम्पौ विकल्पेन, सिञ्चतेर्वा पदे स्मृतौ ।

सिञ्च सिञ्चइ सिम्पइ, पक्षे सेअइ प्रणयते ।

प्रच्छः पुच्छः ॥ ९७ ॥

प्रच्छे स्थाने प्रवेत् पुच्छादेशः, पुच्छति सिद्ध्यति ।

गर्जेर्बुक्कः ॥ ९८ ॥

गर्जेर्बुक्क इत्यादेशो वा, बुक्कइ, गजइ ।

वृषे ढिकः ॥ ९९ ॥

वृषे कर्तरि गजैर् वा, ढिकाऽऽदेशो विधीयते ।

‘ढिकइ’ ‘गर्जति वृष.’ इत्यर्थे परिपठ्यते ।

राजेरग्घ-उज्ज-सह-रीर-रेहाः ॥ १०० ॥

अग्घो रीरो रेहः, उज्जश्च सहो भवन्तु वा राजे ।

अग्घइ उज्जइ रीरइ, रेहइ रायइ च सहइ तथा ।

मस्जेराउड्ड-णिउड्ड-वुड्ड-खुप्पाः ॥ १०१ ॥

आउड्डश्च णिउड्डो, वुड्ड. खुप्पश्च मज्जतेर्वा स्युः ।

आउड्डइ च णिउड्डइ, वुड्डइ खुप्पइ च मज्जइ च ॥

पुञ्जेरारोल-वमालौ ॥ १०२ ॥

आरोलश्च वमालश्च, पुञ्जरेतौ विकल्पितौ ।

आरोलइ वमालइ, पक्षे ‘पुञ्जइ’ सिध्यति ।

लस्जेर्जीहः ॥ १०३ ॥

जीहो वा लज्जते स्थाने, यथा-जीहइ, लज्जइ ।

तिजेरोसुकः ॥ १०४ ॥

ओसुको वा तिजे. स्थाने, ओसुकइ च तेअण ।

मृजेरुगुस-लुञ्ज-पुञ्ज-पुंस-फुस-पुस-लुह-हुल-

रोसाणाः ॥ १०५ ॥

उगुसो रोसणो लुञ्ज, पुञ्ज पुंस फुस पुस ।

लुहो हुलो, नवादेशा विकल्पन मृजेर्मता ।

लुञ्जइ पुञ्जइ पुसइ, रोसाणइ फुसइ पुसइ तथा लुहइ ।

हुलइ उगुसइ, पक्षे ‘मज्जइ’ इति सिद्धिमेति पदम् ।

जज्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूरु-विर-पविरञ्ज-

करञ्ज-नीरञ्जाः ॥ १०६ ॥

मुसुमूरो विरो मूर, सूर सूडश्च वेमयः ।

पविरञ्ज. करञ्जो नीरञ्जो वा मज्जनेर्नव ।

मूरइ सूरइ सूरुइ, मुसुमूरइ वेमयइ च पविरञ्जइ ।

नीरञ्जइ च करञ्जइ, विरइ च पक्षे भवेद्-‘मज्जइ’ ।

अनुव्रजेः पमिअगः ॥ १०७ ॥

अनुव्रजे. ‘पडिअग’ इत्यादेशो विकल्प्यते ।

‘पमिअगइ’ पक्षे तु-‘अणुवञ्चइ’ सिध्यति ।

अर्जेर् विहवः ॥ १०८ ॥

अर्जधातोर्धिकल्पेन, विहवाऽऽदेश इष्यते ।

प्रयुज्यते ‘विहवइ,’ तथा ‘अज्जइ’ पाक्षिकम् ।

युजो जुञ्ज-जुञ्ज-जुप्पाः ॥ १०९ ॥

युज. स्थाने ‘जुञ्ज-जुञ्ज-जुप्पा’ एते त्रयो मताः ।

जुञ्जइ जुञ्जइ तथा, जुप्पइ सिद्धिमागमन् ।

युजो जुञ्ज-जिम-जेम-कम्माएह-समाण-चपढ-चड्डाः ॥ ११० ॥

समाणश्चमडश्च, कम्मो युज्जो जिमस्तथा ।

अएहो जेमो, युज स्थानेऽष्टादेशा. परिकीर्तिता ।

‘जुञ्जइ जिमइ च जेमइ, चमडइ कम्मेइ चड्डइ समाणइ ।

‘अएहइ’ इति युजधानो., रूप वेद्य सुधीभिरत ।

वोपेन कम्मवः ॥ १११ ॥

उपेन युक्तस्य युजे, ‘कम्मवो’ वा विधीयते ।

तेन सिद्ध ‘कम्मवइ,’ ‘उवहुञ्जइ’ इत्यपि ।

[१] हानिं करोति । [२] कर्म समाप्नोति ।

घटेर्गदः ॥ ११२ ॥

घटेर्गदो वा, गदह, घडह स्यात्तु पाक्षिकम् ।

समो गदः ॥ ११३ ॥

सर्पस्य घटे स्थाने, गदादेशो विकल्पनात् ।
ततः सिरु 'सगदह', पक्षे 'सघरुह' स्मृतम् ।

हासेन स्फुटेर्मुः ॥ ११४ ॥

हासेन स्फुटेनेऽर्थे तु, स्फुटेः स्थाने मुनेऽस्तु वा ।
हासेन स्फुटनीत्यर्थे, रूप 'मुरह' कथ्यते ।

माणेश्विश्च-चिश्च-चिश्चिष्ट-रीम-टिविभिकाः ॥ ११५ ॥

चिश्चिष्टश्चिश्चिश्चिश्चिश्चो, रीदष्टिचिडिक्तथा ।
एते मण्डेर विकल्पेन, पञ्चादेशाः प्रकीर्तिताः ।
चिश्चिष्टश्चिश्चश्च, टिविडिक्तश्चिश्चश्च ।
गंडह तथा, 'मण्डह', इति रूप तु पाक्षिकम् ।

तुमेस्तोड-तुट-खट-खुमोखुहोल्लुक् शिनुक् लुकोल्लूराः ॥ ११६ ॥

लुकोल्लूरो तुट-खुटौ, शिनुक्खु खुडोफखुडौ ।
तोडोल्लुको, तुडे स्थाने, विजाया न्युग्मो नय ।
तोडह तुटह खुटह, उल्लुक्क उप्खुडह गिलुक्क च ।
खुमह तुडह उल्लूह, लुक्क रूप नुनरेनत् ।

धूर्णो धुन्न-योन्न-धुम्म-पहन्नाः ॥ ११७ ॥

धुलो धोलः पहल्लश्च, धुम्नो धूर्णरमी मनाः ।
'धुलह घोन्नह पहल्लह धुम्मह सिञ्जयति ।

विहृतेर्दसः ॥ ११८ ॥

दसो वा विहृते स्थाने, दसह स्याद् विचट्ट ।

क्वथेरट्टः ॥ ११९ ॥

क्वथेरट्टो वा, अट्टह, पक्षे-कट्टह सिध्यति ।

ग्रन्थो गण्डः ॥ १२० ॥

ग्रन्थेर्गण्डोऽस्तु, गण्डह, गण्ठी सादृशं प्रयुज्यते ।

मन्थेषुसन्न-विरोद्धौ ॥ १२१ ॥

धुसन्नश्च विरोलश्च, मन्थेरनौ विकल्पितौ ।
रूप धुसलह विगन्नह, मन्थह इत्यपि ।

हादेरवअच्छः ॥ १२२ ॥

हादेर्गयन्तस्यावअच्छोऽयन्तस्यापि स्थले भवेत् ।
हाटने हादयति वा, 'अवअच्छह' उच्यते ।
अत्रेकारस्तु एयन्तस्यापि ग्रहाथ प्रयुज्यते ।

नेः मद्रो मज्जः ॥ १२३ ॥

निर्णयस्य सदा मज्जः, 'अस्ता एत्थ निमज्जह' ।

छिन्देद्दहाय-णिच्छद्व-णिज्झांम-णिच्चर-णिच्चर-
लूराः ॥ १२४ ॥वा स्युर णिच्छल्ल-णिज्झोमौ, छिन्दल्लो लृ णिच्चरौ ।
दुहावश्च पमादेशाः, छिन्द-धानो पदे यथा ।
णिच्छल्लह णिज्झाडह, णिल्लूह णिच्चरह दुहावह च ।
लूरह इति छिन्दधानो, पक्षे 'छिन्दह' मन रूपम् ।

आडा ओअन्तोहाडौ ॥ १२५ ॥

'ओअन्तोहालौ' वा, स्याताम् आडा महात्र छिन्द-धानो ।

'ओअन्तह, उहासह' 'अच्छिन्दह' इति विकल्पवशात् ।

मृदो मद्र-मद-परिहट्ट-खट्ट-चट्ट-मट्ट-पञ्चाभाः ॥ १२६ ॥

मट्ट-चट्टौ च पञ्चाडः, परिहट्टो मद्रो मल ।
मट्टश्चापि मृदः स्थाने, सप्तादेशाः प्रकीर्तिताः ।
पञ्चामह मट्टह च, परिहट्टह खट्टह ।
मदह चट्टह तथा, मलह प्रतिपठ्यते ।

स्पन्देरचुल्लुचुन्नः ॥ १२७ ॥

स्पन्देरचुल्लुचुलादेशो, विकल्पेन प्रयुज्यते ।
सिरु 'सुल्लुचल्लह' तु, पक्षे 'फन्टह' इत्यपि ।

निगः पदेर्वलः ॥ १२८ ॥

नि पूर्वस्य पदे स्थाने, यन्तादेशो विकल्प्यते ।
'निग्यन्नह निप्पज्जह', द्वय सिरुमिगादिदम् ।

विमन्नेर्विअट्ट-विलोट्ट-फंसाः ॥ १२९ ॥

विअट्टश्च विलोट्टश्च, फसश्चेति त्रयोऽपि वा ।
विसर्पस्य तु वदे, स्थाने सन्तु यथाक्रमम् ।
विअट्टह ततः सिरु, विलोट्टह च फन्टह ।
विसयअह चेतसु, पाक्षिक रूपमिष्यते ।

शशो ऊरु-पक्खोर्मा ॥ १३० ॥

शशः स्तो ऊरु-पक्खोर्मा, ऊमह, वा पक्खोडह ।

आकन्देर्णीहरः ॥ १३१ ॥

आकन्देर्णीहरो वा स्याद्, णीहरह अकन्दह ।

विदेर् जूर-विसूरा ॥ १३२ ॥

विदेर् जूर-विसूरा द्वौ, स्यातामत्र विकल्पनात् ।
'विसूरह' ततः सिद्ध, पक्षे जूरह, सिज्जह ।

रुधेरुत्थङ्गः ॥ १३३ ॥

रुधेरुत्थङ्ग इति वा, उत्थङ्गह च रुधह ।

निपेधेर्दकः ॥ १३४ ॥

हक्को निपेधतेर् हक्कह वा पक्षे निसेहह ।

कुपेर्जूरः ॥ १३५ ॥

कुपेर्जूरौ विकल्पेन, 'जूरह' 'कुज्जह' इत्यपि ।

जनो जा-जम्मौ ॥ १३६ ॥

जा-जम्मौ जायते स्थाने, सिद्ध 'जाअह जम्मह' ।

तनेस्तम-तट्ट-तट्टव-विगल्लाः ॥ १३७ ॥

तम-तट्ट-तट्टव-विगल्लाश्चत्वारस्तन स्थले वा स्युः ।
तट्टह तमह तट्टवह, तथा विगल्लह, 'तणह' पक्षे ।

तृपस्थिप्पः ॥ १३८ ॥

तृप्यनेस्तु पदे थिप्प, 'थिप्पह' प्रणिगद्यते ।

उपमर्पेर्गल्लिअः ॥ १३९ ॥

वृत्तगुणस्योपमर्पे स्थाने वा 'अल्लिआ' मत ।
ततः सिरुम् 'अल्लिअह', 'उवम्पह' पाक्षिकम् ।

मंतपेर्भङ्गः ॥ १४० ॥

सनपेर्भङ्ग इति वा, सनपह च उल्लह ।

व्यापेर्गोअगः ॥ १४१ ॥

व्याप्नोनेस्तु विकल्पेनाऽऽदेश 'ओअग' इष्यते ।

‘ओम्नाग’ ततः पक्षे, रूप ‘वावे’ सिध्यति ।

समापेः समाणः ॥ १४३ ॥

समाप्नोतेः समाणो वा, समावेः समाणः ।

क्षिपेर्गलत्याङ्गुल-सोक्ष-पेक्ष-णोक्ष-छुह-हुल-परी-

घत्ताः ॥ १४३ ॥

सोक्षपेक्षौ परी-घत्तौ, गलत्यश्च छुहो हुल ।

अङ्गुलौ णोक्ष इत्येने, नवादेशा क्षिपेस्तु वा ।

अङ्गुलश्च गलत्यश्च, सोक्षश्च पल्लश्च छुहश्च हुलश्च घत्तश्च ।

णोक्षश्च ह्रस्वत्वे शुल्लश्च परीश्च, पाक्षिक सिवश्च ।

उत्तिपेर्गुलगुञ्जोत्थङ्गाल्लत्थोञ्जुत्तोत्तिसक्क-हक्खुवाः ॥ १४४ ॥

गुलगुञ्जोत्थङ्गाल्लत्थोञ्जुत्तोत्तिसक्क-हक्खुवा वा स्यु ।

उत्पर्वस्य तु क्षिपेर्, धातो स्थाने षमादेशा ।

गुलगुञ्जश्च उत्थङ्गश्च, अल्लत्थश्च हक्खुवश्च च उत्तिसक्कश्च ।

उञ्जुत्तश्च इति पक्षे, रूप वेद्य तु ‘उत्तिसवश्च’ ।

आक्षिपेर्णीरवः ॥ १४५ ॥

आक्षिपेर्वस्य क्षिपेर्धातोर्णीरवो वा विधीयते ।

ततः सिद्ध ‘णीरवश्च’, पक्षे ‘अक्षिपवश्च’ स्मृतम् ।

स्वपेः कमवस-लिस-लोटाः ॥ १४६ ॥

‘कमवस-लिस-लोटा’ वा, स्युर्गमी धातो स्वपे म्यले ऋमश ।

लोटाश्च लिसश्च कमवसश्च, भवति तु पक्षे ‘सुअश्च’ रूपम् ।

वेपेरायम्बायज्जौ ॥ १४७ ॥

वेपेर् ‘आयम्ब आयज्ज’ इत्यादेशौ विकल्पनात् ।

आयम्बश्च तथा आयज्जश्च, पक्षे तु ‘ववश्च’ ।

विलपेर्जङ्घ-वरुवमौ ॥ १४८ ॥

विलपेस्तु विकल्पेन जङ्घो वडवडश्च वा ।

जङ्घश्च वडवडश्च, पक्षे विलवश्च स्मृतम् ।

लिपां लिम्पः ॥ १४९ ॥

लिम्पस्तु लिम्पते. स्थाने, ततो लिम्पश्च सिध्यति ।

गुप्येर्विर-णमौ ॥ १५० ॥

स्थाने धातोर्गुप्येनेयी, भवता द्वौ ‘विरौ, णड’ ।

विरश्च णमश्च पक्षे, गुप्पश्च सिद्धिमश्नुते ।

कृपोऽवहो णिः ॥ १५१ ॥

अवहस्तु कृपे स्थाने, गयन्तो भवति, तद्यथा ।

‘कृपा करोति’ इत्यर्थे, ‘अवहावे’ पठ्यते ।

प्रदीपेस्संअव-सन्दुम-सन्धुक्काञ्जुत्ताः ॥ १५२ ॥

‘तअव-सन्दुम-सन्धुक्काञ्जुत्ता’ वा प्रदीप्येतेरेते ।

सन्धुक्कश्च अञ्जुत्तश्च, सन्दुमश्च पर्लावश्च तेअवश्च ।

लुजं मजावः ॥ १५३ ॥

सभावो लुज्यनेर्वा स्यात्, सभावश्च च लुग्मश्च ।

लुजं खजर-पड्डौ ॥ १५४ ॥

खजर पड्डा वा स्त, श्रुतेर्धानो. पदे यथा ।

खजरश्च पड्डश्च, पक्षे ‘लुग्मश्च’ सिध्यति ।

आडो रजेः रम्भ-ढवौ ॥ १५५ ॥

आड परस्य तु रभे स्यात्ता रम्भो ढवश्च वा ।

आरम्भश्च आवडश्च पक्षे आरम्भश्च स्मृतम् ।

उपाद्वम्भेर्जङ्घ-पचार-वेदवाः ॥ १५६ ॥

उपालम्भेखयो वा स्युर्जङ्घ-पचार-वेदवाः ।

पचारश्च वेदवश्च, उपालम्भश्च ऊङ्गश्च ।

अवेर्जम्भो जम्ना ॥ १५७ ॥

जम्भेर् जम्ना, न तु वेः परस्य, जम्भाश्च भवति जम्भाश्च ।

किम् ? अवेरिति हि निषेधः, ‘सुकेलिपसरो विशम्भश्च अ’ ।

भाराक्रान्ते नमेर्णिसुदः ॥ १५८ ॥

भाराक्रान्ते तु कर्तरि, णिसुदो वा नमे. स्मृत ।

णिसुदश्च, वा ‘णवश्च’, आक्रान्तो नमतीत्यतः ।

विश्रमेर्णिवा ॥ १५९ ॥

‘णिवा’ विश्राम्यतेर्वा ‘णिवाश्च, वीसमश्च’ इयम् ।

आक्रमेरोहावोत्थारञ्जुन्दाः ॥ १६० ॥

आक्रमे. ‘वृन्द उत्थार ओहावो’ वा त्रयो मता ।

ओहावश्च उत्थारश्च, वा अक्रमश्च वृन्दश्च ।

भ्रमेष्टिरिटिह-हुण्डुह-ढाण्ड-चक्कम-भम्मन-भम-

म-भमाम-तद्वअण्ट-ऊण्ट-ऊम्प-लुम-गुम-फुम-फु-

स-हुम-हुस-परी-पराः ॥ १६१ ॥

चक्कम्मो भम्ममो ऊम्पष्टिरिटिहो लुमो गुम ।

हुण्डुल्लो जममो ढण्डल्लो भमाड फुम फुस ।

तलअण्टस्तथा ऊण्टो, हुमो हुस-परी-परा ।

इत्यमो भ्रमतेरष्टादशादेशा विकल्पनात् ।

टिरिटिल्लश्च हुण्डुल्लश्च, ढण्डल्लश्च तलअण्टश्च च ऊण्टश्च ।

भमडश्च चक्कम्मश्च भम्मरुश्च भमारुश्च लुमश्च ऊम्पश्च ।

गुमश्च फुमश्च फुसश्च हुमश्च, हुसश्च परीश्च च परश्च जमश्च पक्षे ।

भ्रमधातोर्निह रूप, विविध वेद्य सुधीजिस्तु ।

गमेर्इ-अऽच्छाणुवजावज्जसोक्कुमाक्कुस-पच्चड-पच्च-

न्द-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ परिअह-

वोल-परिअह-णिरिणास-णिवाहावसेहावहराः ॥ १६२ ॥

अर्ह णी पदअोऽच्छोऽणुवज्जोऽवज्जसोऽक्कुस ।

पच्चडो णिवह पच्चण्डोऽवसेहश्च णिम्मह ।

परिअल्ल परिअला, णिरिणासस्तथोक्कुस ।

रम्भो णीणश्च णीलुक्कोऽवहरो वोल इत्यम ।

एकविंशतिरादेशा गमधातोस्तु वा मता ।

अणुवज्जश्च पच्चडुश्च, अवज्जसश्च अक्कुसश्च च पच्चण्डश्च ।

णीणश्च अर्हश्च रम्भश्च, णिरिणासश्च णीश्च णीलुक्कश्च ।

पदअश्च णिम्महश्च अचच्छश्च परिअल्लश्च च उक्कुसश्च बोद्धश्च ।

अवसहश्च अवहरश्च च, णिवहश्च परिअल्लश्च वा गच्छश्च ॥

[णीहम्मश्च आहम्मश्च, पहम्मश्च णिहम्मश्च तु तथा हम्मश्च ।

‘हम्म गतौ’ इति धानोगमूनि रूपाणि वेद्यानि ।]

आडा अहिपञ्चुअः ॥ १६३ ॥

आडा सहितस्य गमे, स्थाने वाऽस्त्वहिपञ्चुअः ।

‘अहिपञ्चुअश्च’ म्याद् वा, तथा-ऽऽगच्छश्च पाक्षिकम् ॥

समा अग्निदः ॥ १६४ ॥

समा युक्तस्य तु गमेर्, ‘अग्निदो’ वा विधीयते ।

सिद्ध नतो अग्निदश्च, ‘पक्षे-सगच्छश्च स्मृतम् ।

अन्याङ्गोऽस्मत्पथः ॥ १६५ ॥

अस्मत्पथस्तु गमे. स्थानेऽभ्याङ्गन्यां युक्तस्य वा प्रवेत् ।
' अस्मत्पथः ' तथा-ऽभ्यागच्छः ' रूपद्वयं तत ।

प्रत्याङ्गा पलोदः ॥ १६६ ॥

पलोदस्तु गमे. प्रत्यङ्गभ्यां युक्तस्य पदेऽस्तु वा ।
' पलोदः ' तथा- ' पञ्चागच्छः ' स्यात्तु पाङ्क्तिम् ।

शमेः पडिसा-परिसामौ ॥ १६७ ॥

शमेः पदे तु पडिसा-परिसामौ विकल्पितौ ।
' परिसामः ' समः, पडिसाः ' त्रयं शमे ।

रमेः संखुड-खेडोऽभाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-

मोदय-णीसर-वेह्याः ॥ १६८ ॥

मोदयायो णीसरो वेह्यः, किलिकिञ्चश्च कोट्टुमः ।
खेडोऽभावौ च संखुडो, रमेर्वा स्युरमी पदे ।
संखुडः उब्जावः, किलिकिञ्चः कोट्टुमः च मोदयः ।
खेडः तथा णीसरः, खेल्लः पक्के ' रमः ' रूपम् ।

पूरैरग्यामाग्यवोऽपुमाङ्गुमाहिरेमाः ॥ १६९ ॥

' अहिरेमोऽग्यवोऽग्यारु उडुमाऽङ्गुम ' इत्यमी ।
पञ्चादेशा विकल्पेन, पूरे' स्थाने प्रकीर्तिताः ।
' अग्यारुः ' अग्यवः, अहिरेमः पूरः ।
उडुमाः अङ्गुमः, ' सविकल्पमुदाहृतम् ।

त्वरस्तुवर-जअरौ ॥ १७० ॥

त्वरौ जअरश्चैमौ, भवेतां त्वरते. पदे ।

सिक्क रूपं त्वरः, तथा जअरः स्मृतम् ।

त्यादिशत्रोस्तूरः ॥ १७१ ॥

त्वर. शतरि त्यादौ च, तूर. - तूरन्तो तूरः ।

तुरोऽन्यादौ ॥ १७२ ॥

त्वरौऽन्यादौ तुरादेशः, तूरन्तो तुरिओ यथा ।

क्षरः खिर-ऊर-पऊर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआः ॥ १७३ ॥

णिच्चलो णिट्टुओ पच्चडो ऊर. पऊर. खिर. ।

क्षरेरेते षमादेशाः, भवन्तीति विभाव्यताम् ॥

पऊरः पच्चमः, खिरः ऊरः तथा ।

णिच्चलः णिट्टुआः, एव रूपाणि चक्षते ॥

उच्छल उत्थल्लः ॥ १७४ ॥

स्याद् ' उत्थल्ल ' उच्छलते, रूपम् ' उत्थल्लः ' स्मृतम् ।

विगलेः थिप्प-णिट्टुहौ ॥ १७५ ॥

धातोर् विगलते स्थाने, वा स्यातां ' थिप्प-णिट्टुहौ ' ।

वा थिप्पः णिट्टुहः, पक्के ' विगलः ' स्मृतम् ॥

दलि-वल्पोर्विमट्ट-वम्फौ ॥ १७६ ॥

स्यातां विसट्ट-वम्फौ, वा दलि-वल्पो पदे यथासंख्यम् ।

ततो ' विसट्टः वम्फः, ' पक्के रूपं दलः वल्लः ॥

ज्रशेः फिर-फिट्ट-फुम-फुट्ट-चुक्-जुल्लाः ॥ १७७ ॥

वा स्युर ज्रश चुक्-जुल्ला, फिट्ट-फुट्टौ फिट्टः फुड ।

फिट्टः फुट्टः चुक्क, फिट्टः फुरुड भुल्लः च भवति रूपम् ॥

पक्के ' भसः ' रूप, वेद्यं ज्रशे सुधीभिरिदम् ।

नशेऽणिरिणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहराः ॥ १७८ ॥

णिरिणासश्च णिवहोऽवसेहः पडिसा तथा ।

सेहश्चावहरश्चैते, परादेशा नशेस्तु वा ॥

णिरिणासः णिवहः अवसेहः पडिसाः अवहरः सेहः ।

पक्के ' नस्तः ' इत्यप्यसूनि रूपाणि नशधातोः ॥

अवात् काशो वासः ॥ १७९ ॥

अवात् परस्य काशस्तु, ' वासः, ' ' ओवासः ' स्मृतम् ।

सन्दिशेरप्पाहः ॥ १८० ॥

अप्पाहः सदिशेर वा स्यात्, अप्पाहः सन्दिशः ।

दशो निअच्छ-येच्चावयच्चावयज्ज-वज्ज-सव्वव-

देक्खौ अक्खवाक्खवाक्खव-पुलोए-पुलए-

निअवाअस-पासाः ॥ १८१ ॥

वज्जो निअच्छ ओअक्खोऽवयच्छ सव्ववो निअ ।

अवयच्छोऽवयज्ज. पेच्छो देक्ख पुल्लअस्तथा ॥

अवअक्ख. पुलोएश्च पासोऽवक्खौ, दशेर अमी ।

अवयच्छः अवयज्जः, वज्जः पेच्छः च सव्ववः पासः ॥

ओअक्खः च निअच्छः, देक्खः अवअक्खः पुलोएः ।

अवआसः अवक्खः, निअः च पुलए चेदश रूपम् ॥

' निज्जाअः ' खरादत्यन्ते निध्यायते. सिद्धम् ।

स्पृशः फास-फंस फरिस-ब्रिव-ब्रिहाल्लुखालिहाः ॥ १८२ ॥

आलुल्ल. फरिस. फंसः, ब्रिव. फासः ब्रिहाल्लिहौ ।

इत्यमी स्पृशने. स्थाने, सप्तादेशाः प्रकीर्तिताः ।

फासः फंसः फरिसः, छिवः छिहः आलिहः तथाऽऽलुल्लः ।

इति धातो स्पृशतेरिह, रूपाणां सप्तकं भवति ।

प्रविशेरिअः ॥ १८३ ॥

धातो प्रविशते. स्थाने रिआऽऽदेशो विकल्प्यते ।

सिक्क ' रिआः ' पक्के तु, रूप ' प्रविसः ' स्मृतम् ।

ग्रान्मृश-मुषोर्मुसः ॥ १८४ ॥

प्रात् परस्य तु मुष्णाते-मृशतेश्च मृसो भवेत् ।

' मृसः ' प्रमृशति, वा प्रमुष्णाति कथ्यते ।

पिषेणिवह-णिरिणास-णिरिणज्ज-रोअ-चड्डाः ॥ १८५ ॥

णिरिणासो णिरिणज्जो, रोअश्चड्डश्च वा पिषेणिवहः ।

रोअश्च चड्डः णिरिणासः णिरिणज्जश्च पीसः णिवहः ।

भपेर्मुक्कः ॥ १८६ ॥

भपेर्मुक्को विकल्पेन, सिद्धं भसः मुक्कः ।

कूपेः कट्ट-साअट्टाञ्चाणञ्चायञ्छाड्डाः ॥ १८७ ॥

कट्ट. साअट्ट आट्टोऽयञ्छोऽणञ्छोऽञ्च इत्यमी ।

धातो कूपेः परादेशा, विकल्पेन प्रकीर्तिताः ।

आट्टः साअट्टः, कट्टः अञ्चः अणञ्चः अयञ्चः ।

पक्के ' करिसः ' रूप, कूपधातोर्न संवध्यम् ।

असावक्खोरः ॥ १८८ ॥

अक्खोडस्तु कूपे स्थाने-ऽयं कोशात् खण्णकर्षणे ।

' अक्खोडः ' असि कोशात्, कर्षणीति प्रतीतिर्युक्ता ।

गवेपेर्दुल्ल दण्डोल-गमेस-घत्ताः ॥ १८९ ॥

घत्तो गमेसो दण्डोलो, दुल्लो वा गवेपतेः ।

दण्डुल्लः दण्डोलः, गमेसश्च घत्ताः [१]

[१] गवेसः ।

श्लिषेः सामगावयास परिअन्ताः ॥ १६० ॥

अवयास सामगाः, परिअन्तश्च त्रयः श्लिषेर्वा स्युः ।

अवयासश्च सामगाश्च, परिअन्तश्च, वा सिलेसश्च च ।

असेओप्पनः ॥ १६१ ॥

असेस्तु ओप्पनो वा स्याद्, वा मक्खश्च ओप्पमश्च ।

काङ्गेराहाहिलह्वाहिलह्वा-वच्च-वम्फ-मह-सिह-
विलुम्पाः ॥ १६२ ॥

अहिलह्वाऽहिलह्वा धम्मो विलुम्पो महः सिहः ।

आहो वच्चः काङ्गतेर्वाऽप्राधादेशा अमी मता ।

अहिलह्वा अहिलह्वा, आहश्च वच्चश्च महश्च विलुम्पश्च च ।

यम्फश्च सिहश्च च, पक्षे-‘कङ्गश्च’ इति सिद्धिमेति पदम् ।

प्रतीक्षेः सामय-विहीर-विरमालाः ॥ १६३ ॥

पदे प्रतीक्षेर्वा स्युः, विरमाल सामयो विहीरश्च ।

विरमालश्च च विहीरश्च, सामयश्च तथा पञ्चिक्खश्च वा ।

तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः ॥ १६४ ॥

तच्छश्च चच्छश्च रम्पो, रम्फश्चेति तु तक्षतेर्वा स्युः ।

तच्छश्च चच्छश्च रम्पश्च, रम्फश्च, तक्षश्च तु वैकल्यात् ।

विकसेः कोआस-वोसट्टो ॥ १६५ ॥

कोआसो वोसट्टो, विकसेरेतौ पदे तु वा भयत ।

कोआसश्च वोसट्टश्च, तथा विकल्पेन विअसश्च च ।

हसेर्गुञ्जः ॥ १६६ ॥

हसेर्गुञ्जो विभाया स्याद्, यथा हसश्च गुञ्जश्च ।

स्सेट्ठस-डिम्मो ॥ १६७ ॥

हसो डिम्मश्च वा स्यातां, असेर्धातोः पदे यथा ।

हसश्च डिम्मश्च तथा, पक्षे-‘ससश्च’ सिध्द्यति ।

त्रसेर्मेर वोज्ज-वज्जाः ॥ १६८ ॥

वोज्जो वज्जो मरश्चेति, वा मयन्तु त्रसेः पद ।

सिक्ख वाज्जश्च डरश्च, तथा तसश्च वज्जश्च ।

न्यसो णिम-णुमौ ॥ १६९ ॥

न्यस्यते स्तो णिम-णुमौ, ‘णिमश्च णुमश्च’ यथा ।

पर्यसः पल्लोट्ट-पल्लट्ट-पल्लट्ठयाः ॥ १७० ॥

पर्यस्यते, ‘पल्लोट्ट’, पल्लट्ट, पल्लट्ठ इति सन्तु हि ।

पल्लट्टश्च पल्लट्ठश्च, तथा पल्लोट्टश्च भवति रूपम् ।

निग्वसेर्जङ्घः ॥ १७१ ॥

भङ्गो वा निग्वसेर्, नीससश्च अङ्गश्च च द्वयम् ।

उल्लमेरुसत्तोसुम्भ-णिद्धस-पुलआअ-गुञ्जोद्वारोआः ॥ १७२ ॥

ऊसुम्भ ऊसलो गुञ्जोद्वारः, पुलआअ-णिद्धसौ ।

आराआं, वा पद्मादशा, उल्लसेस्तु पदे मता ।

पुलआअश्च गुञ्जोद्वारः, ‘गुञ्जुल्लश्च हस्वतस्तु,’ ऊसलश्च ।

ऊसुम्भश्च आराअश्च, तथा णिद्धसश्च च उल्लसश्च ।

जामेर्णिमः ॥ १७३ ॥

भासेर् मिसो वा, ‘मिसश्च’ पक्षे-‘जामश्च’ इत्यपि ।

ग्रसेर्धिमः ॥ १७४ ॥

ग्रसेर् धिमो वा, धिसश्च, पक्षे ‘गसश्च’ इत्यपि ।

अवाद् गाहेर्वाहः ॥ १७५ ॥

अवाद् गाहेस्तु गाहो वा, ओवाहश्च ओगाहश्च ।

आरुहेश्वर-वल्लगौ ॥ १७६ ॥

चमो वल्लगश्च वल्लगौ, भवेताम् आरुहेः पद ।

वा वल्लगश्च चडश्च, तथाऽऽरुहश्च पाकिक्कम् ।

मुहेर्गुम्म-गुम्ममौ ॥ १७७ ॥

वा गुम्म-गुम्ममौ स्यातां, मुहेर्धानोः पदे, यथा ।

वा गुम्मश्च गुम्ममश्च, पक्षे ‘मुज्जश्च’ सिध्यति ।

दहेरहिज्जानुद्धो ॥ १७८ ॥

आलुद्धो वाऽहिज्जल्लश्च, दहे स्थाने विकल्पितौ ।

अहिज्जल्लश्च आलुद्धश्च, पक्षे-महश्च स्मृतम् ।

ग्रहो वज्र-गेएह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपञ्चुआः ॥ १७९ ॥

वज्र-गेएह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपञ्चुआ ग्रहे स्युरमी ।

अहिपञ्चुआश्च वज्रश्च निरुवाराश्च गेएहश्च हरश्च पङ्गश्च ।

क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत् ॥ १८० ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु पगतौ, ‘घट्’ आदेशो ग्रहेर्भूत ।

[क्त्वा] स्याद् घेत्तुआण घेत्तुण, क्वचित्तो-‘गेएहश्च’ स्मृत
[तुस] घेत्तु [तव्य] घेत्तव्यम् इत्येतत्, विविध लक्ष्यमीदृशेति

वचो वोत् ॥ १८१ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत्तुर् ‘वोत्’, इत्यादेशो विधीयते ।

‘वोत्तुण वात्तु वात्तव्य’, अथ चैतदुदाहृतम् ।

रुद्-भुज-मुचां तांऽन्यस्य ॥ १८२ ॥

त- स्याद् रुद्-भुज-मुचां, क्त्वा-तुम्-तव्येषु, तद्यथा ।

भोत्तूण भोत्तु भोत्तव्य, ज्ञातव्यमनया दिशा ।

दृष्टेन दृष्टः ॥ १८३ ॥

दृष्टोऽन्यस्य तकारेण, सह च- प्रभवेद्, यथा ।

दृष्टूण दृष्टु दृष्टव्य, मप्रयुक्तं युधैरिदम् ।

आः कृगो जूत-भविष्यतोश्च ॥ १८४ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु च तथा, काल भूते जविष्यति ।

कृगाऽन्यस्य तु ‘आ’ इत्यादेशः स्यादिति कथ्यते ।

‘चकाराकार्योदकरोत्’, ‘एषु’ काहीअ’ भाष्यते ।

‘कर्ता करिष्यतीत्यर्थे, पद ‘काहिश्च’ पठ्यते ।

क्त्वा-तुम्-तव्येषु काऊण, काऊ कायव्वमिष्यते ।

गमिष्यमाऽऽसां छः ॥ १८५ ॥

गमिष्यमाऽऽसामन्यस्य, उकारादेशः इष्यते ।

गच्छश्च छच्छश्च तथा, सिक्ख जच्छश्च अच्छश्च ।

छिदि-भिदो नः ॥ १८६ ॥

न्य स्यात् छिदि-भिदोर् अन्ते, यथा-छिन्दश्च भिन्दश्च ।

युध-युध-युध-कुध-सिध-मुहां ज्जः ॥ १८७ ॥

स्यान् युध-युध-युध-गृध-सिध-मुहां छिक्को ‘ज्ज’ ईदृशादेशः

कुज्जश्च जुज्जश्च गुज्जश्च, गिज्जश्च सिज्जश्च च मुज्जश्च च ।

रुधो न्य-ज्जो च ॥ १८८ ॥

रुधो न्य-ज्जो तु चान् ‘ज्जो’, रुधश्च रुम्मश्च रुज्जश्च ।

मद्-पतोर्डः ॥ १८९ ॥

अन्ते मद्-पतोर्डः स्यान्, सडश्च पडश्च स्मृतम् ।

क्वय-वर्धा ढः ॥ २२० ॥

क्वथेर् वधेर् अन्तिमस्य, ढ स्यात् कढइ वढइ ।
वृधेः कृतगुणस्येह, वधेश्च ग्रहण समम् ।

वेष्टः ॥ २२१ ॥

‘वेष्ट वेष्टने’ इत्यस्य, धातोः ‘कगट’-[१. ७७] सूत्रतः ।
षलोपेऽन्त्यस्य ढो, ‘वेदिज्जइ, वेदइ’ इत्यापि ।

समो ल्लः ॥ २२२ ॥

सवेष्टतेरन्तिमस्य, ‘ल्ल’ स्यात्, ‘सवेष्टइ’ स्मृतम् ।

वांढः ॥ २२३ ॥

वा ‘ल्ल’ उद्वेष्टतेर् ‘उव्येष्टइ, उव्वेष्टइ’ स्मृतम् ।

स्विदां ज्ञः ॥ २२४ ॥

स्विदिप्रकाराणां ‘उज्ज’ स्यात्, अन्तिमस्य द्विरूपक ।
सव्वङ्ग-सिज्जिरीप सपज्जइ खिज्जइ स्मृतम् ।
बहुत्व तु प्रयोगानुसरणार्थमिहेष्यते ।

व्रज-नृत-मदां षः ॥ २२५ ॥

अन्तिमस्य व्रज-नृत-मदानां ‘षो’ मवेदिह ।
वचचइ नचचइ तथा, मचचइ सिद्धिमाययुः ।

रुद-नमोर्वः ॥ २२६ ॥

रुद-नमोर् षो, रुवइ, रोवइ नवइ स्मृतम् ।

उद्विजः ॥ २२७ ॥

उद्विजतेरन्त्यस्य वः, उव्वेवो च उव्विवइ ।

खाद-धावोर्लुक् ॥ २२८ ॥

खाद-धावोर्लुक् अन्ते स्यात्, खाइ खाअइ खाहिइ ।
स्यात् धाइ धाव धाहिइ, कञ्चिजो-‘धावइ’ स्मृतम् ।
वर्तमाना-भविष्यद्-विश्याद्येकवचनेषु हि ।
तेनेह नैव ‘खादन्ति, धावन्ति’ बहुलप्रहात् ।

सृजो रः ॥ २२९ ॥

सृजो धातोर्गन्तिमस्य, रकारोऽत्र विधीयते ।
घोसिरामि घोसिरइ, तथा निसिरइ स्मृतम् ।

शकादीनां द्वित्वम् ॥ २३० ॥

अन्तिमस्य शकादीनां, द्वित्वं भवति, तद्यथा ।
[शक्] सकइ [जिम] जिम्मइ [ङ्] लङ्गाइ,
[मग्] मग्गाइ [कुप्] कुप्पइ [सुट्] पलोट्टइ च [तुट्] तुट्टइ ।
[नश्] नस्सइ [अट्] पणिअट्टइ [नट्] न-
ट्टइ [सिट्] सिव्वइ, अन्यदपि वैषम्यम् ।

स्फुटि-चन्नेः ॥ २३१ ॥

स्फुटिश्चलेश्च वैकल्प्य, द्वित्वमन्त्यस्य भाष्यते ।
फुरइ फुट्टइ तथा, रुप चलइ चल्लइ ।

प्राटेमीलिः ॥ २३२ ॥

प्रादे. परस्य मीलेयां, द्वित्वमन्त्यस्य बुध्यताम् ।
समिल्लइ तथा समीलइ, मीलइ त विना ।

उवर्णस्यावः ॥ २३३ ॥

अवादेशस्तु धातूनामन्त्योवर्णस्य बुध्यताम् ।
[हुइ] निहइवइ [डु] निहवइ, [कु] कवइ प्रभृति स्मृतम् ।

अवर्णस्यावः ॥ २३४ ॥

अवादेश अवर्णस्य, जवेद् धात्वन्तवर्तिनः ।
यथा करइ धरइ, हरइ प्रमुख मतम् ।

वृषादीनामरिः ॥ २३५ ॥

अरिर्बृषादिधातूनाम्, अवर्णस्य परे जवेत् ।
वृषो ‘वरिसइ’ वृषो, तथा ‘करिसइ’ स्मृतम् ।
एव सृषो ‘मरिसइ’, वृषो ‘हरिसइ’ स्मृतम् ।
अरि-सदृश्यते येषां, वेद्यास्ते हि वृषादयः ।

रुषादीनां दीर्घः ॥ २३६ ॥

रुषप्रभृतिधातूनां, खरस्य दीर्घो भवेद्, यथा रुसइ ।
तूसइ सूसइ दूसइ, पूसइ सीसइ तथाऽन्यदपि ।

युवर्णस्य गुणः ॥ २३७ ॥

इवर्णोवर्णयोर्धातो-र्गुणः कित्यपि कित्यपि ।
यथा जेऊण नेऊण, नेइ उदेइ नेन्नि च ।
कञ्चिन्नाय विधिर् नीञ्जो, उड्डीञ्जो सिध्यतो यत् ।

स्वराणां स्वराः ॥ २३८ ॥

धातुषु स्वराणां स्थाने, जवन्ति बहुल स्वराः ।
सइहण सइहाण, तथा धुवइ धावइ [१] ।
कञ्चिन्नित्य वेइ वेइ, आर्वे ‘वेमि’ प्रयुज्यते ।

व्यञ्जनादन्ते ॥ २३९ ॥

व्यञ्जनवर्णान्ताद् धातोर्गन्तेऽकार आगमो भवति ।
भमइ हसइ खुम्बइ उवसमइ कुणइ सिअइ च रुन्धइ ।
शवादीनां प्रयोगश्च, प्रायां नास्तीति बुध्यताम् ।

स्वरादनतो वा ॥ २४० ॥

अनदन्त-स्वरवर्णान्ताद् धातोर्वाऽस्त्वदागमस्त्वन्ते ।
पाअइ पाइ च, धाअइ धाइ, मिलाअइ मिलाइ तथा ।
उव्वाअइ उव्वाइ च, होऊण च होइऊण इति भवति ।
‘अनत’ इति च किमुक्तम् ? यथा खिइच्छइ उगुच्छइ च ।
चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धूगां णो हस्वश्च । २४१ ।
चिज्यादीनामन्ते भवति णागमः, स्वरस्य हस्वश्च ।
[चि] चिणइ [जि] जिणइ [श्रु] श्रुणइ [हु] हुणइ,
[स्तु] थुणइ [लू] लुणइ [पू] पुणइ [धू] धुणइ तथा ।
बहुलात् कापि विकल्पो, जयइ जिणइ उच्चिणइ च उक्कइ ।
जेऊण च जिणिऊण च, तथैव सोऊण सुणिऊण ।

नवा कर्म-जावे वः क्यस्य च लुक् ॥ २४२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तानां, चिज्यादीनां विभाषया ।
व्वोऽन्ते, तत्सन्नियोगे च, क्यस्य लुक् स्यादित्यर्थे ।
चिठवइ चिणिज्जइ, जिठवइ जिणिज्जइ,
सुठवइ सुणिज्जइ, हुठवइ हुणिज्जइ ।
धुठवइ धुणिज्जइ, लुठवइ लुणिज्जइ,
पुठवइ पुणिज्जइ, धुठवइ धुणिज्जइ ।
एव चिठ्विहइत्यादि, रुप काले भविष्यति ।

म्मश्नेः ॥ २४३ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, चिगो धातोर् विभाषया ।
म्मोऽन्ते, तत्सन्नियोगे च क्यस्य लुक् स्यादित्यर्थे ।
वर्तमाने ‘चिणिज्जइ, तथा जिम्मइ चिठ्वइ’ ।
‘चिठ्विहइ चिणिठ्वइ, जिम्मिहइ भविष्यति ।

[१] हवइ हिवइ । चिणइ श्रुणइ । रुवइ रोवइ ।

हन्-खनोऽन्त्यस्य ॥ २४४ ॥

धात्वोर् हन्-खनोरत्र, भाव-कर्मप्रवृत्तयो ।
अन्त्यस्य वा स्याद् भ्म, तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
[वर्तमाने] यथा हम्मइ खम्मइ, हणिज्जइ खणिज्जइ ।
[भविष्यति] हम्मिहिइ हणिहिइ, खम्मिहिइ खणिहिइ ।
कर्तर्यपि हनोऽय स्याद्, हन्तीत्यर्थे तु ' हम्मइ ' ।
क्वचिन्न दृश्यते-'हन्तव्य' 'हन्तुण' 'हन्तो' यथा ।

ब्धो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चातः ॥ २४५ ॥

दुह-लिह-वह-रुधधातूनां ङो वाऽन्त्यस्य भावकर्मजुगाम् ।
मुक् च तत्सन्नियोगे क्यस्य, भवेद् उद् घहेरस्य ।
स्याद् दुहिज्जइ दुम्मइ, वा लिग्नइ लिहिज्जइ ।
दुग्भइ वहिज्जइ दग्भइ रुग्धिज्जइ स्मृतम् ।
दुग्भिहिइ दुहिहिइत्यादि काले भविष्यति ।

दहो ज्जः ॥ २४६ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, दहो धातोर् विज्ञापया ।
ज्जः स्याद्, अन्त्यस्य तत्सन्नियोगे क्यस्यापि मुग् भवेत् ।
स्याद् वर्तमाने डज्जइ, तथा रूप डहिज्जइ ।
' डज्जिहिइ डहिहिइ ' इति काले भविष्यति ।

बन्धो न्धः ॥ २४७ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, बन्धधातोर्विभाषया ।
ज्जः स्याद् अन्त्ययोर् तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
स्याद् वर्तमाने वज्जइ, तथा बन्धिज्जइ स्मृतम् ।
' वज्जिहिइ बन्धिहिइ ' इति काले भविष्यति ।

समनूपादुधेः ॥ २४८ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, समनूपाद् रुधेस्तु वा ।
अन्त्यस्य वा ज्जः, तत्सन्नियोगे क्यस्यापि लुग् भवेत् ।
सकज्जइ अणुज्जइ, उक्कज्जइ भवति, पाक्षिक तु यथा ।
संरुग्धिज्जइ अणुरुग्धिज्जइ उक्करुग्धिज्जइ भवति ।
संरुज्जिहिइ संरुग्धिहिइत्यादि भविष्यति ।

गमादीनां द्वित्वम् ॥ २४९ ॥

भावकर्मप्रवृत्तानां, गमादीनां विज्ञापया ।
स्याद् द्वित्वमन्त्यस्य तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
[गम्] गम्मइ गमिज्जइ [हस्] हस्सइ हसिज्जइ ।
[भग्] भण्णइ भणिज्जइ [लुप्] लुप्पइ लुविज्जइ ।
[रुग्] रुग्गइ रुविज्जइ [लृत्] लृग्गइ लृहिज्जइ ।
[कथ्] कथ्थइ कथिज्जइ [भुज्] भुज्जइ भुज्जिज्जइ ।
गम्मिहिइ गमिहिइत्यादि रूपं भविष्यति ।
कद्-[४ । २२६] सूत्रेण कृतवाऽऽदेशोऽत्र रुदिरिष्यते ।

ह-कृ-रु-आमीरः ॥ २५० ॥

धातूनां ह-कृ-रु-आ स्याद्, ईरादेशो विज्ञापया ।
क्यलुक् तत्सन्नियोगे च, भवेदित्युपदिश्यते ।
हीरइ हरिज्जइ, कीरइ करिज्जइ ।
तीरइ तरिज्जइ, जीरइ जिरिज्जइ ।

अर्जेर्विदण्यः ॥ २५१ ॥

अर्जेर्विदण्यो वा तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
विदण्यइ, विदविज्जइ, अर्जिज्जइ पाक्षिकम् ।

ज्ञो एव-एज्जौ ॥ २५२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, जानातेर्भवतः पदे ।
णव्वो एज्जइ वा, तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
एव्वइ एज्जइ, पक्के-जाणएज्जइ मुणिएज्जइ ।
' म्म-ज्ञोर्णे ' [२ । ४२] इति णादेशो, एाएज्जइ च सिध्यति ।
नऽपूर्वकस्य जानातेर् 'अणाएज्जइ' पठ्यते ।

व्याहणेर्वाहिण्यः ॥ २५३ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, जवेद् व्याहरते, पदे ।
वाहिण्यो वाऽत्र तत्सन्नियोगे क्यस्यापि मुग् भवेत् ।
वाहिण्यइ तथा वाहरिज्जइ स्यान्निदर्शनम् ।

आरजेरादण्यः ॥ २५४ ॥

आरजे' कर्मभावे स्याद्, वाऽऽदण्यः क्यस्य चास्तु लुक् ।
आदण्यइ भवेत्, पक्के-' आदवीअइ ' सिध्यति ।

स्निह-सिचोः सिण्यः ॥ २५५ ॥

स्निह-सिचोः कर्मभावे, सिण्यः स्यात् क्यस्य चास्तु लुक् ।
' स्निह्यते, सिच्यते ' इत्येतयोर् अर्थेऽत्र ' सिण्यइ ' ।

ग्रहेर्घेण्यः ॥ २५६ ॥

कर्मभावे ग्रहेर् घेण्यो, वा भवेत्, क्यस्य चास्तु लुक् ।
यथा ' घेण्यइ ' इत्येतत्, पक्के गिणिएज्जइ स्मृतम् ।

स्पृशेर्शिण्यः ॥ २५७ ॥

स्पृशतेः कर्मभावे स्याद्, वा शिण्यः, क्यस्य चास्तु लुक् ।
तेन ' शिण्यइ ' ससिद्ध, तथा रूप ' गिणिएज्जइ ' ।

केनाप्फुष्मादयः ॥ २५८ ॥

आक्रमिप्रवृत्तीनां तु, धातूनाम् अप्फुष्मादयः ।
अप्फुष्मो आक्रान्तः, उक्कोस उक्कए, लुग्गो रुण ।
घोहीणोऽतिक्रान्तः, पल्लहं पल्लोहं वा पयंस्तम् ।
फुड रूप, विकसितो वीसट्ठो, निमिअ त्विदम् ।
स्थापित, चक्खिअ आस्थादित, कित्त तु ज्जोसिअ ।
निपानितो निस्सट्ठो स्याद्, हीसमाण तु हपितम् ।
वा प्रमुष्टः प्रमुषित', पम्हुट्ठो परिपठ्यते ।
लिहक्को नष्टो, जट त्यक्त, विट्ठत्त अर्जित तथा ।
छिन्न स्पृष्ट, लुभ लून, भवेद् निक्कूढम् उद्धूढम् ।
इत्यादयो वेदिनव्याः, शब्दाः सन्धानुसारतः ।

धातवोऽर्थान्तरेऽपि ॥ २५९ ॥

उकादर्थान् प्रवर्त्तन्तेऽर्थान्तरेऽपीह धातवः ।
उक्तो वक्षि. प्राणनेऽर्थे, खादनेऽपि स वर्त्तते ।
यथा ' वल्लइ ' खादति, प्राणन च करोति वा ।
एव कलिअ सख्याने, सङ्गानेऽपि स दृश्यते ।
यथा ' कल्लइ ' जानाति, सख्यान च करोति वा ।
रिगिर्गतौ प्रवेशेऽपि, ' रिगइ ' विशत्येति च ।
काङ्क्षतेः प्राकृते वम्फो, ' वम्फइ ' खादतीच्छति ।
फक्कतेः स्थक्क आदेशस्तत्. सिध्यति ' थक्कइ ' ।
नीचा गतिं करोतीति वा, विलम्बयति वा ।
धात्वोर्विदण्युपासम्भ्योर् उक्तादेशे तु ' भक्कइ ' ।
तस्यार्थं उपालभते, वा विलपति भाषते ।
एवं हि ' पडिवाल्लइ ' वा रक्षति प्रतीकते ।
क्वचित् कैश्चिदुपसर्गैर्नित्यमन्यार्थकं मता ।

'सहरश्' सवृणोति, स्यात् 'पहरश्' युज्यते ।
 'अणुहरश्' तु सहशीभवतीति 'नीहरश्' पुरीषमुत्सृजति ।
 क्रीमति 'विहरश्', 'आहरश्' च स्वादति, 'उच्छुपश्' चटति ।
 पुनः पूरयति 'पमिहरश्', स्यात् त्यजतीति 'परिहरश्' रूपम् ।
 'उषहरश्' पूजयति, 'वाहरश्' तथा-ऽऽह्वयति इत्यर्थे ।
 याति विदेश 'पवसश्', नि सरतीत्यर्थे 'उल्लुहश्' भवति ।
 एवं बहुपसर्गात्, बहुधा धातवो वेद्याः ।
 इति प्राकृतभाषा समाप्ता ।

॥ अथ शौरसेनी ज्ञाषाऽऽरज्यते ॥

तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ॥ २६० ॥
 शौरसेन्यां तु भाषायामपदादौ प्रवर्तिनः ।
 तकारस्य दकारः स्याद्, न स युक्तो भवेद् यदि ।
 तदो माखदिना पृरिद-पदिञ्मन मन्तिदो ।
 अनादाविति किम् ? तस्स, तथा, नेह प्रवर्तताम् * ।
 अयुक्तस्येति किम् ? मत्तो, अल्लवत्तो, सउन्तले ।।
 अपः कचित् ॥ २६१ ॥
 शौरसेन्यां तु वर्णाधोवर्तमानस्य तस्य द ।
 यथालक्ष्य, महन्दो निखिन्दो अन्देउरे यथा ।
 वाऽऽदेस्तावति ॥ २६२ ॥
 तावच्छन्दे तकारस्य दो वा, दाव च ताव च ।
 आ आमन्त्ये सौ वेनो नः ॥ २६३ ॥
 इनो नकारस्याऽऽमन्त्ये, वाऽऽकारः सौ परे यथा ।
 भो सुदिआ ! कञ्चुआ ! जो तवस्सि ! मणस्सि ! वा । [१]
 मो वा ॥ २६४ ॥
 आमन्त्ये सौ परे नस्य, मकारो वा विधीयते ।
 भो राय ! भो सुकम्म !, जो भयव कुसुमाउह ! ।
 पक्क तु भयव ! अन्तआरि ! चैव प्रयुज्यते ।
 भवज्जगवतोः ॥ २६५ ॥
 भवद्-भगवतोर्नस्य, मकारः सौ परे भवेत् ।
 भव 'चिन्तेदि किं एत्थ, भगव' च हुदासणो । [२]
 क्वचिदन्यत्रापि यथा-मधव पागसासणे ।
 फयव, सपाअव सीसो, काह करेमि च ।
 नवा यो ययः ॥ २६६ ॥
 वा व्यो र्यस्य भवेत् स्थाने, 'अय्या सुय्या' प्रपठ्यते ।
 पत्ते कज्जपरवसा, अज्जो पज्जाउलो यथा ।
 यो धः ॥ २६७ ॥
 यस्य धो वा, यथा-णाधो णाहो वा स्यात् कथं कह ।
 अण्णदादाव, 'थाम, थेओ' नेह धकारता ।
 इह-हवोहस्य ॥ २६८ ॥
 इहशब्दे, हचादेशे [३१४३] च हकारस्य धोऽस्तु वा ।
 उध, हाध, उय पक्के-इह, होह निगद्यते ।
 जुवो जः ॥ २६९ ॥
 भवनेर्हरय भो वा स्याद्, भोदि होदि यथा इयम् ।

* तथा करेय जधा तस्स राइसिणो अण्णकपणीया होमि ।
 [१] पक्के । [२] समणे भगव महावीरे ।

तथा भुवदि हुवदि, भवदि इवदि स्मृतम् ।
 पूर्वस्य पुरवः ॥ २७० ॥
 पूर्वशब्दस्य 'पुरव' इत्यादेशो विकल्प्यते ।
 यथा-ऽपुरव नामय, पक्के-ऽपुव्वं पदं मतम् ।
 क्त्व इय-दूणौ ॥ २७१ ॥
 क्त्वाप्रत्ययस्य वा स्याताम्, 'इय-दूणौ' यथाक्रमम् ।
 यथा 'भविय' 'भोदूण', पक्के 'जोत्ता' प्रयुज्यते ।
 कु-गमो ममुअः ॥ २७२ ॥
 कु-गमिज्यां परस्य क्त्व, स्थाने वा 'ममुअो'ऽस्तु डित् ।
 सिद्ध कमुअ गमुअ, पक्के रूप निशम्यताम् ।
 कीरदूण गच्छिदूण, तथा करिय गच्छिय ।
 दिरिचेचोः ॥ २७३ ॥
 दिद् इचेचोः [३१३६] भवेद्, नेदि देदि भोदि च होदि च ।
 अतो देश ॥ २७४ ॥
 अत परयोर् इचेचो, स्थाने 'दे दि' इमौ क्रमात् ।
 अच्छदे अच्छदि तथा, सिद्ध गच्छदि गच्छदे ।
 अन किम् ? स्याद् 'वसुआदि' 'नेदि, भोदि' यथाऽत्र न ।
 जविण्यति स्सिः ॥ २७५ ॥
 भविष्यदर्थे विहिते, प्रत्यये स्सिः परे भवेत् ।
 हिस्साहामपवादोऽय, तथा रूप भविस्सिदि ।
 अतो डसेर्मादो-माद् ॥ २७६ ॥
 अतः परस्य तु डसे, 'मादो डाडु' इमौ क्रितौ ।
 'दूरादो व्येव' 'दूराडु' द्वय ससिक्किमृच्छति ।
 इदानीमो दाणिं ॥ २७७ ॥
 इदानीमः पक्के 'दाणिं' इत्यादेशोऽभिधीयते ।
 'अय्यो दाणिं आणवेडु', व्यत्ययात् प्राकृतऽपि च ।
 अतस्तत्रापि 'अअ च दाणिं बोहि' प्रयुज्यते ।
 तस्मात् ताः ॥ २७८ ॥
 तस्माच्छब्दस्य 'ता' इत्यादेशो भवति, तद्यथा ।
 'माणेण एदिणाऽअ ता, 'ता जाव पविरामि च' ।
 मोऽन्त्याणो वेदेतोः ॥ २७९ ॥
 इदेतोः परयोर् अन्त्याद्, मात् परो णामोऽस्तु वा ।
 [इकारे] लुत्तणिम लुत्तमिण, [एकारे] किं रोद वा किमेदं च ।
 एवार्थे व्येव ॥ २८० ॥
 एवार्थे 'व्येव' इति तु, निपातोऽत्राभिधीयते ।
 मम व्येव बम्भणस्स, 'एसो सो व्येव' पठ्यते ।
 हज्जे वेदथाहाने ॥ २८१ ॥
 वेदथाहाने भवेद् 'हज्जे', 'हज्जे चट्टरिके !' यथा ।
 हीमाणहे विस्मय-निर्वेदे ॥ २८२ ॥
 'हीमाणहे' निपातोऽय, निर्वेदे विस्मये तथा ।
 [विस्मये] जीवन्त-वञ्चा जणणी, मे च हीमाणहे, यथा ।
 [निर्वेदे] हीमाणहे पल्लिस्सन्ता, किं दुव्ववसिदेण वा ।
 णं नन्वर्थे ॥ २८३ ॥
 नन्वर्थे णमिति बुधैर्निपात संप्रयुज्यते ।
 'अय्यमिस्सेहि' आणत्तं, पुढम व्येव ण 'यथा' ।
 इदम् आर्ये पक्क वाक्यालङ्कारेऽपि च दृश्यते ।

नमोऽथ ए, जया ए च, तथा ए, चैवमादयः ।

अम्महे हर्षे ॥ १८४ ॥

'अम्महे' इति निपातो, हर्षेऽर्थे सप्रयुज्यते ।

'भव सुपल्लिगदिदो, सुमिमलाए च अम्महे' ।

हीही विदूषकस्य ॥ १८५ ॥

हर्षे विदूषकाणां तु, द्योत्ये 'हीही' निपात्यते ।

'हीही' पियवयस्सस्स, भो सपभा मणोरघा' ।

शेषं प्राकृतवत् ॥ १८६ ॥

दीर्घ-[१४]नो दो-[४।२६०]ऽनयोर्मध्ये, सुत्रयोर् यदयदीरितम् ।

तत् सर्वं कार्यमत्रापि बोध्य, भेदस्तु दर्शितः [१] ।

इति शौरसेनी भाषा समाप्ता ।

॥ अथ मागधी जापाऽऽरज्यते ॥

अत एव सौ पुंसि मागध्याम् ॥ १८७ ॥

मागध्यां सौ परेऽकारस्यैकार पुंसि जायते ।

पशे मेशे एव मेष, पशे च पुलिशे तथा ।

'भो मदन्त ! करोमीति भवेद् 'जन्ते' करोमि भो' ।

अत किं नु ? 'कली' रूप, किं पुत्नीति ? 'जल' यथा । [२]

र-सोर्ल-शौ ॥ १८८ ॥

ल-तालव्यशकारौ स्तो, रेफ-दन्त्यसकारयो ।

[र] नले कले [स] शुद्ध हशे (उभयोः) 'शालशे पुलिशे' तथा ।

"लहग-वश-नमित्त शुल-शल-विमल्लिद-मन्दाह-लायिदहि-युगे ।

वील-यिणे पक्खाल्लु, मम शयलमवय्य-यम्बाल" * ।

स-पोः संयोगे मोऽग्राप्ते ॥ १८९ ॥

सयोगे स-ययोः म स्यात्, न तु ग्रीष्मे कटाचन ।

ऊर्ध्वलोपादिसूत्राणामपवादोऽयमीरित ।

[स] इस्ती वृहस्पदी मस्कली पस्त्रवदि विस्मये ।

[प] कस्ट, विस्तु, शुस्क-टालु, धनुस्वरण च निस्फल ।

'अग्रीप्ते' इति किम् ? 'गिम्ह-वाशले' नेह सो भवेत् ।

ट-पृयोः सटः ॥ १९० ॥

द्विरुक्त-टस्य, पाऽऽक्रान्त-टस्य 'सटो' भवति द्वयोः ।

[ट] पस्टे, नस्टालिका, [ष्ठ] 'कोस्टागाल, शुस्टु कट' यथा ।

स्थर्ययोस्तः ॥ १९१ ॥

'स्थ-र्थे' इत्येतयोः स्थाने, साक्रान्तस्नो विधीयते ।

[१] शौरसेन्यामिह प्रकरणे यत्कार्यमुक्त ततोऽन्यच्छौर-
सेन्या प्राकृतवदेव भवति । 'दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' [१।४]
इत्यारज्य 'तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य' [४।२६०] ए-
तस्मात् सूत्रात् प्राग् यानि सूत्राणि एषु यान्युदाहरणानि तेषु
मध्ये अमूनि तदवस्थान्येव शौरसेन्यां भवन्ति, अमूनि पुनरेव-
विधानि जवन्तीति विज्ञातः । प्रति सूत्र स्वयमन्युदाहरणीयः ।
यथा अन्दावेदी । जुवदि-जणो । मणसिला इत्यादि ।

[२] नदपि "पोराणमद्ध-मागह-भासा-नियय इवइ
सुत्त" इत्यादिनाऽऽर्यस्य अर्द्धमागधजाणानियतत्वमाज्ञायि वृ-
द्धैस्तदपि प्रायोऽस्यैव विधानात् वक्ष्यमाणलक्षणस्य । कयरे
आगच्छ । से तारिसे दुक्खसहे जिह्निदइ इत्यादि ।

* रमसवशनमसुरशिरोविगलितमन्दारराजितां हि युगः ।

वीरजिन प्रकालयतु, मम सकलमवद्यजम्बालम् ॥

[स्थ] उपस्तिदे शुस्तिदे [र्थ] शन्तवाहेऽस्तवदी यथा ।

ज-य-यां यः ॥ १९२ ॥

पटाऽवयवभूतानां, ज-य-यानां पटेऽस्तु यः ।

[ज] अय्युणे दुय्यणे [य] मय्य, अय्ये विख्याहले [य] यदि ।

आदेर्यो ज-[१।२४५] स्य बाधार्थ, यस्य यत्त्व विधायते ।

न्य-एय-इ-ज्जां ज्ञः ॥ १९३ ॥

'न्य-एय-इ-ज्ज' अमीपां तु, ठिरुक्तो ज्ञो विधीयते ।

[न्य] कज्जा [एय] पुज्ज च [इ] शव्वज्जे,

[ज्ज] अज्जली च धणज्जए ।

व्रजां जः ॥ १९४ ॥

व्रजे जस्य ठिरुक्तो ज्ञो, यापवादोऽस्तु, 'वज्जदि' ।

छस्य श्रोऽनादौ ॥ १९५ ॥

अनादौ वर्तमानस्य, छस्य अ. सविधीयते ।

'पिञ्जले, उञ्जलदि, पुञ्जदि, गञ्ज' निदर्शनम् ।

अथ लाक्षणिकस्यापि, यथा आपञ्जवत्सलः ।

'आवञ्जवच्छे' चैतद्, भवेद् 'आवञ्जवच्छे' ।

अनादाविति किम् ? 'गले' नेह श्वत्व भवेद् यथा ।

क्षस्य ऋ कः ॥ १९६ ॥

अनादौ क्षस्य ऋको जिह्वामूलीयो, 'ल-क्षशे' यथा ।

स्कः प्रेक्षा-चक्षोः ॥ १९७ ॥

प्रेक्षेर् धानोस्तथाऽऽचक्षे, क्षस्य स्क. ऋक्ष बाधक ।

आचस्कदि पेस्कदि च, द्वय सिद्धि समन्वुते ।

तिष्ठश्चिष्ठः ॥ १९८ ॥

स्थाधातोस् 'तिष्ठ' इत्यस्य, 'चिष्ठो' भवति, चिष्ठदि ।

अवर्णाद्वा ङसो ङाहः ॥ १९९ ॥

अवर्णात् परस्य तु ङसः, स्थाने ङाहो विकल्प्यते ।

'एलिशाह हगे काली न कम्माह' प्रयुज्यते ।

'मीमशेणस्स पञ्चादो दिण्डीअदि' तु पाक्षिकम् ।

आमो माहँ वा ॥ २०० ॥

अवर्णाद् उत्तरस्याऽऽमो, विभाषा 'माहँ, इष्यते ।

शयणाहँ सुह, पक्षे 'नखिन्दाण' इति स्मृतम् ।

व्यत्ययात् प्राक्तेऽपि स्यात्, तदुदाहरणं यथा ।

ताहँ तुम्हाहँ अम्हाहँ, कम्माहँ सरिआहँ च ।

अहं-वयमोर्हगे ॥ २०१ ॥

'हगे' इत्यमादेश, पदेऽह-वयमोर् भवेत् ।

'शक्कावदालतित्थ-णिवाशी च धीवले हगे ।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ २०२ ॥

मागध्यां यदनुक्त तच्छौरसेनीवदिष्यते [१] ।

[१] 'शष प्राकृतवत्' [४-१८६] मागध्यामपि 'दीर्घह्रस्वौ मि-
थो वृत्तौ' [१-४] इत्यारभ्य 'तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयु-
क्तस्य' [४-२६०] इत्यस्मात् प्राग् यानि सूत्राणि तेषु यान्यु-
दाहरणानि सन्ति तेषु मध्ये अमूनि तदवस्थान्येव मागध्याममू-
नि पुनरेवविधानि भवन्तीति विभाग स्वयमन्युदाहरणीयः ।

यथा 'हञ्जे' [४१८१] चदुरिके, हञ्जे चदुलिके, इह ।
इति मागधी जाषा समाप्ता ।

॥ अथ पैशाची जाषाऽऽरज्यते ॥

झो ङ्यः पैशाच्याम् ॥ ३०३ ॥

पैशाच्यां भाषायां, ङस्य पदे ङ्यो विधीयते, स यथा ।
पञ्चा सञ्जा सव्वञ्जो विञ्जानं तथा ङ्जान ।

राज्ञो वा चिञ् ॥ ३०४ ॥

'राङ्' इत्यत्र शब्दे यो, ङकारस्तस्य वाऽस्तु चिञ् ।
राचिञ्चा लपित, रञ्जा लपित, राचिञ्चो धन ।
रञ्जो धन, ङ इत्येव, 'राजा' नेह प्रवर्तते ।

न्य-एयोऽङ्यः ॥ ३०५ ॥

न्यएयोः स्थाने 'ङ्य' आदेशः, 'पुञ्जाह, कञ्जका' यथा ।

णो नः ॥ ३०६ ॥

णस्य न' स्यात्, 'गुनगनयुक्तो' यद्वद् 'गुनेन' च ।

तदोस्तः ॥ ३०७ ॥

त-दयोस्तो, [नस्य] भगवती पव्वती च सतं यथा ।

[डस्य] पतेसो सतन तामोतरो रमतु हांतु च ।

तकारस्यापि तादेश आदेशान्तरबाधकः ।

'पताका, वेतिसो' इत्याद्यपि सिद्धं ततः पदम् ।

लो लः ॥ ३०८ ॥

लस्य ल' स्यात्, कुलं सील कमल सलिल जल ।

शषोः सः ॥ ३०९ ॥

श-षयोः स [शस्य] ससी सक्को, [षस्य] किसानो विसमो यथा ।
'न कगचेति' [४३२४] सूत्रस्य, बाधकोऽयं विधिः स्मृतः ।

हृदये यस्य पः ॥ ३१० ॥

हृदये यस्य पस्तेन, सिद्धं 'हितपक' पदम् ।

टोस्तुर्वा ॥ ३११ ॥

टो. स्थाने तु तुरादेशो, विभाषा संप्रवर्तते ।

कुतुम्बक ततः सिद्धं, तथा रूप कुटुम्बकम् ।

क्त्वस्तूनः ॥ ३१२ ॥

तूनः क्त्वाप्रत्ययस्यास्तु, गन्तून हसितून च ।

तून-त्यूनौ ष्वः ॥ ३१३ ॥

'तू' इत्यस्य पदे 'तून-त्यूनौ' तूनस्य बाधकौ ।

नतून नत्यून ततून तत्यून इति स्मृतम् ।

र्य-स्न-ष्टां रिय-सिन-सटाः कचित् ॥ ३१४ ॥

स्न-र्य-ष्टानां सिन-रिय-सटाः स्युः क्रमतः कचित् ।

भार्या तु भारिया वेधा, सिनात स्नातमुच्यते ।

कष्ट तु कसट बोध्य, त्रयमेतदुदाहृतम् ।

कचिदिति किं ? सुनुसा, सुञ्जो तिष्ठो यथा भवेत् ॥

क्यस्येय्यः ॥ ३१५ ॥

क्यप्रत्ययस्य तु स्थाने, इय्यादेशोऽज्जिधीयने ।

रमिष्यते गिष्यते दिष्यते चैव पठिष्यते ।

कृगो मीरः ॥ ३१६ ॥

कृगः परस्य 'मीरः' तु, क्यस्य स्थाने, विधीयते ।

'सम्मान कीरते सव्वस्स व्येव' तु निदर्शनम् ॥

यादशादेर्हस्तिः ॥ ३१७ ॥

यादशादिपदे यो 'ह.', 'तस्य तिः क्रियते पदे ।

यातिसो तातिसो युम्हातिसो अम्हातिसो तथा ॥

केतिसो एतिसा अम्हातिसो चैव प्रजातिसो ।

इचेचः ॥ ३१८ ॥

'इचे चो.' [३१३६] ति, नेति तेति, वसुआति च भोति च ।

आत्तेश्व ॥ ३१९ ॥

अतः परयोद् इचेचो, पदे 'ते ति' इमौ मतौ ।

गच्छते गच्छति यथा-ऽऽदिति किम् ? नेति होति च ॥

भविष्यत्येय्य एव ॥ ३२० ॥

एय्य एव न तु स्तिः [४१७५] स्याद्, इचेचोस्तु, भविष्यति ।

तद्गून चितितं रञ्जा, का एसा त हुवेय्य च ॥

अतो रुसेर्मातो-डातू ॥ ३२१ ॥

अतः परस्य तु रुसे, 'डातो मातू' इमौ मतौ ।

यथा-तूरातु तूरातो, तुमातो च तुमातु च ॥

तदिदमोष्टा नेन स्त्रियां तु नाए ॥ ३२२ ॥

सार्धं टा-प्रत्ययेन स्याद्, 'नेनो' तदिदमो. पदे ।

स्त्रीलिङ्गे तु तयोरेव, 'नाए' इत्यज्जिधीयते ॥

'नेन कत-सिनानेन तत्थ' पुसि, स्त्रियां पुनः ।

पातग्ग-कुसुम-प्पतानेन नाए च पूजितो ॥

इति किं ? चिन्तयन्तो नाए समीप गतो च सो ।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ३२३ ॥

पैशाच्यां यदनुक्त तच्चौरसेनीवदिष्यते ॥

विशेषो दर्शितः सर्वः, तथापीषन्निशम्यताम् । [१]

न क-ग-व-जादि-षट्-शम्यन्त-सूत्राक्तम् ॥ ३२४ ॥

क-ग-व [११७७] षट्-शमी- [११६५] इत्ये-

तयोद् मध्येऽपि सूत्रयो ।

यत् कार्यं दर्शितं सर्वं, न तदत्र प्रवर्तते ।

मकरकंत्, सगरपुष्प-वचन, लपित ।

विजयसेनेन, पाप, आयुध चैव तेवरो ।

अन्येषामपि सूत्राणामेवमूह्य मनीषया ।

इति पैशाची भाषा समाप्ता ।

॥ अथ चूलिकापैशाचिकजाषा प्रारज्यते ॥

चूलिकापैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ ॥ ३२५ ॥

जाषायां चूलिकापैशाचिकाख्यायां यथाक्रमम् ।

तृतीय-तुर्ययोर् आद्य-द्वितीयौ वर्गवर्णयोः ।

[१] अथ ससररीरो जगव मकरधजो । एत्थ परिब्भमन्तो ह-
वेय्य । एवविधाए भगवतीए कध तापस-वेस-गहन कत ।
एतिस भतिष्ठपुरव महाधन तद्गून । जगव यदि म वर पयच्छसि
राज च दाव लोक । ताव च तीए दूरानो व्येव तिष्ठो सो आग-
च्छमानो राजा ।

नगर नकर तेन, मेघो मेखः प्रयुज्यते ।
एव पञ्चसु घणेषु, लक्ष्य बोध्य मनोयिभिः ।
कविज्ञाकणिकस्यापि, पदे कार्यमिदं भवेत् ।
दाढा ताठा ततो बोध्या, पङ्क्तिमा पटिमा तथा ।

रस्य लो वा ॥ ३२६ ॥

रस्य स्थाने लकारः स्यात्, गौरी 'गौली' हरो 'हलो' ।
"पनमथ पनय-पकुपित-गौली-चलनग-लग-पतिबिम्ब ।
तससु नल-तपनेसु, एकृतस-तनु-यल लुह ।
नच-तस्स य लीला-पातुकसेवेन कम्पिता वसुधा ।
उचलन्ति समुद्रा, सइला निपतन्ति त इह नमथ" [१] ।

नादि-युज्योरन्येषाम् ॥ ३२७ ॥

अन्येषां तु मते, घातौ युजि चाऽऽदिमवर्णयोः ।
हताय-तुर्यधोराद्यद्वितीयौ प्रयतो न तौ ।
यथा 'नियोजित' इत्येतद् अत्रापि 'नियोजित' ।
गतिरु 'गती' तथा घमौ, 'घम्मो' विद्वद्भिरुच्यते ।

शेष प्राग्वत् ॥ ३२८ ॥

अत्रानुक्त तु यत् कार्यं, तत् पेशाच्चोदक्षिप्यते ।
यद्यद नम्य यान्व न, नस्य नत्व तु सर्वत ।
इति चूलिका-पेशान्त्रिकभाषा समाप्ता ।

अथापभ्रंशभाषाऽऽरभ्यते ।

स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे ॥ ३२९ ॥

अपभ्रंशे स्वराणां तु, स्थाने प्रायः स्वरा मता ।
यथा-बादा बाद बाहु, किलभो च किलिभ्रभो ।
'अत्रापभ्रंश-भाषायां, विशेषो यस्य वक्ष्यते ।
तस्यापि शौरसेनीयत्, कार्यं प्राकृतवत् कथञ्चित् ।
इत्यर्थबोधकः 'प्रायः इह' सूत्रे नियोजितः ।

स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ ॥ ३३० ॥

प्रायः स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वा, स्तो नाम्नोऽन्त्यस्वरस्य तु ।
[सौ] "दोल्ला सामत्रा धण चम्पा-चण्डी ।
णाञ सुवण-रेह कस-वट्टर दिग्घी ॥
[आमन्त्र्य] दोह्ला ! मई तुहु वारिया, मा कुरु दीदा माणु ।
निहणै गमिही रत्तमी, दडवर होड विहाणु ॥
[स्त्रियाम्] विट्टोए ! मइ भणिय तुहु, मा कुरु वट्टी दिट्टि ।
पुत्ति ! सकर्णो भल्लि जिधै, मारइ दिअइ परट्टि ॥
[जसि] एड ति घोडा एह थलि एड ति निसिआ खमा ।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ, जो नचि वावइ वग" [२] ॥

[१] प्रणमन प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाप्रलम्पप्रतिविम्बम् ।

दशसु नलदर्पणेषु एकादशानुधर रुद्रम् ।
नृत्यतश्च लीलापादैर्लक्ष्येण कम्पिता वसुधा ।
उचलन्ति समुद्रा शैला निपतन्ति त इह नमत ।

[२] नायक श्यामल प्रिया चम्पावर्णा ।

जायते सुवर्णरेखा कणपट्टके दत्ता ॥
नायक ! मया त्वं वारितो मा कुरु दीर्घमानम् ।
निद्रया गमिष्यति रात्रि शीघ्रं भवति विभातम् ॥
पुत्रिके ! मया त्वं भणिता मा कुरु वक्रा दृष्टिम् ।
पुत्रि ! सकर्णा भल्लियथा, मारयति हृदयं प्रविष्टा ॥
एते ते घोटका एषा स्थली एते ते निशिनाः खड्गाः ।
अत्र मनुष्यत्वं ज्ञायते यो नापि वाहयति वलाम् ॥

अन्यासां च विभक्तीनामेवमुक्तं निदर्शनम् ।

स्यमोरस्योत् ॥ ३३१ ॥

अन उत्तं स्यमोः, 'अत्रमुहु छमुहु' सिध्यत ।

"ददमुहं लुवण-भयकरं नोभियं सकरुणिगठं रहवरिचमिभउ ।
अत्रमुहु छमुहु जाइवि एकाहिं लाइवि नावइ दइवै घडिअउ" [१] ॥

सौ पुंस्योद्वा ॥ ३३२ ॥

नाम्नोऽकारस्य सौ पुंस्योद् वा, 'जो' 'सो' यथा भवेत् ।

"अगलिअ-नेह-निबट्टाड जोअण्णक्खुवि जाउ ।

वरिम-सण्ण वि जो मिलइ सहि सोक्खइ सो ठाउ" [२] ॥

पुम्नीति किम्—

"भङ्गीहि अहु न मिलिउ हलि । अहरै अहरु न पत्तु ।

पिय जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्भइ सुरउ समत्तु" [३] ॥

एट्टि ॥ ३३३ ॥

टायाम् एत्वमकारस्य, घमन्तेण बहेण च ।

"जे महु दिष्ठा दिअहडा, दइए पवसन्तेण ।

ताण गणतिणै अहुलिउ जअरिआउ नडेण" [४] ॥

डिनेच्च ॥ ३३४ ॥

इवेतौ स्तो डिना साकम्, अकारस्य पदे यथा ।

'तले घल्लइ' इत्यत्र, 'तलि घल्लइ' वेप्यते ।

"सायक उप्पारि तणु धरइ तल्लि घल्लइ रयणाइ ।

सामि सुभिच्चु वि परिहरइ, समणैइ सलाइ" [५] ॥

जिस्यंद्वा ॥ ३३५ ॥

अत एत्व वा भिसि स्याद्, 'गुणेहि गुणहि' यथा ।

"गुणहि न सपइ कित्ति पर फलं लिहिआ लुज्जन्ति ।

केसरि न लइइ बोड्डिअवि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति" [६] ॥

डसेर हे-हु ॥ ३३६ ॥

अत परस्य 'हे हु' इत्यादेशौ स्तो डसे. पदे ।

घच्छहे वच्छहु यथा, रूप धैनापिक मतम् ।

"घच्छहे गिएहइ फलइ जणु कटुपल्लव वज्जेइ ।

तो वि महइमु सुअणु जिवै, ते उच्छड्ढि धरेइ" [७] ॥

ज्यसो हुं ॥ ३३७ ॥

अन. परस्य तु पञ्चमी-बहुवचनस्य हुम् एति ।

[१] दशमुखो भुवनत्रयङ्करस्तोपितशङ्करो निर्गतो रथवरे चटितः ।
चतुर्मुखं परमुखं च ध्यात्वैकस्मिन्नागित्वा ज्ञायते दैवेन घटितः ॥

[२] अगलितस्नेहनिवृत्तानां योजनलक्षमपि यातु ।

वर्षातेनापि यो मिलति सखि ! सौख्यानां स स्थाने ॥

[३] अङ्गैरङ्गं न मिलति सखि ! अधरेऽधरो न प्राप्तः ।

प्रियस्य पश्यन्त्या मुखकमलमेवमेव सुरतं समाप्तम् ॥

[४] ये मम वक्ता दिवसा दयितेन प्रवसताः ।

तान् गणयन्त्या अहुदयो जर्जरिता नल्लन ॥

[५] सागरं वर्षारं तृणं धरति तले क्षिपति रत्नानि ।

स्वामी सुभृत्यमपि परिहरति समानयति सलान् ॥

[६] गुणैर्न सपदं कीर्तिं परं, फलानि विक्षिप्तानि लुज्जन्ति ।

केसरी न लज्जते कपार्दिकामपि गजा लक्ष्मैरुह्यन्ते ॥

[७] वृक्षाद् गृह्णाति फलानि जनो कटुपल्लवान् वर्जयति ।

तनाऽपि महादुमं सुजनो यथा, तान् उत्सङ्गे धरति ॥

“दूरद्वारै पमिन्न खलु, अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि-सिङ्गहु पमिन्न सिद्ध अन्नु वि चूरु करेइ” [१] ।
उतः सु-हो-स्सवः ॥ ३३८ ॥
अतः परस्य डस. पदे ‘स्सु सु हो’ इमे भवन्ति ।
‘तसु सुअणस्सु परस्सु वा, दुल्लहहो’ निगदन्ति ।
“जो गुण गोवइ अप्पणो, पयडा करइ परस्सु ।
तसु इउ कलिज्जुगि दुल्लहहो वलि किज्जउ सुअणस्सु” [२] ॥
आमो हं ॥ ३३९ ॥
अतः परस्य ‘ह’ आम, पदे स्यात्, ‘तणह’ यथा ।
“तणह तइज्जी भङ्गि नवि तं अवड-यमि वसन्ति ।
अह जणु लग्गि वि उत्तरइ अह सह सइ मज्जन्ति” [३] ॥

हुं चेदुदज्याम् ॥ ३४० ॥
इदुदज्यां तु परस्याऽऽमो, भवेतां ‘हु इम’ इत्यमू ।
सिक्क ‘सउणिह’ तेन, ‘तरुहु’ च पदद्वयम् ।
प्रायोऽधिकाराद् ‘हु’ काऽपि, सुपोऽपि ‘हुइम’ इत्यपि ।
“दइव घडावइ वणि तरुहु सउणिह पक्क फळाइ ।
सो वरि सुक्खु पइउ णवि, कप्पहिं खल-वयणाइ” [४] ॥

डासि-न्यस्-डीनां हे-हुं-हयः ॥ ३४१ ॥
इदुदज्यां तु परेपा भ्यस्-डासि डीनां ‘हि-हु-हय’ ।
[डसेहे] तरुहे [भ्यसो हु] तरुहु रूप,
तथा [डेहिं] कलिहि सिध्यति ॥
“गिरिहे सिलायलु तरुहे फलु घेप्पइ नीसावन्नु ।
घरु मेहेप्पणु माणुसइ तो वि न रुच्चइ रन्नु ॥
तरुहु वि वक्कलु फलु मुणि वि परिइणु असणु बहति ।
सामिहु पत्तिउ अमालउ आयरु भिच्चु गृहन्ति” [५] ॥

आटो णानुस्वारौ ॥ ३४२ ॥
अत परस्याद्यास्तु, णानुस्वारौ मतौ, पदे ।
‘दइए पवसन्तेण, द्वाविमौ सिद्धिमृच्छतः ।
एं चेदुनः ॥ ३४३ ॥
इदुदज्यां टा-पदे ‘ए’ चात् णानुस्वारौ, मताख्यः ।
अत सिध्यन्ति रूपाणि, ‘अग्गि अग्गिण अग्गिए’ ।
“अग्गिए उणहइ होइ जगु, वाप सीयल तेव्वे ।
जो पुण अग्गि सीअला, तसु उणहत्तणु केव्वे” [६] ॥

[१] दूरोद्धानेन पतित खल आत्मान जन मारयति ।
यथा गिरिशिङ्गे पतिता शिला (स्वम्) अन्यमपि चूर्णीकरोति ॥
[२] जो गुणात् गोपयति आत्मनः, प्रकटीकरोति परस्य ।
तस्याह कलियुगे दुर्लभस्य वलि क्रिये सुजनस्य ॥
[३] तृणानां तृतीया भङ्गी नापि, ततो अवटतटे वसन्ति ।
अथ जनो लगित्वाऽपि उत्तरति अथ सह स्वयं मज्जन्ति” ॥
[४] दैवो घटयति वने तरुणा शकुन्ताना पक्कफलानि ।
तद् वर सुख प्रविष्टानि नापि कर्णयो खलवचनानि” ॥
[५] गिरेः शिलातलं तरो फल गृह्णाति नि.सामान्यः ।
गृह मुक्त्वा मनुष्येभ्यः ततोऽपि न रोचनेऽरण्यम् ॥
तरुभ्योऽपि घटफल फल मुनयोऽपि परिधानमशन लभन्ते ।
स्वामिभ्य इयदर्शयमाय भृत्या गृह्णाति ॥
[६] अग्निनोष्ण भवति जगत् घातेन शीतल तथा ।
य. पुनराग्निनाऽपि शीतलस्तस्योष्णत्व कथम् ? ॥

“विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ, तोवि त आणाहि अज्जु ।
अग्गिण दइवा जइवि घरु तो ते अग्गि कज्जु” [१] ॥
स्यम् जस्-शसां लुक् ॥ ३४४ ॥
स्यम्-जस्-शसां लुगत्रास्तु, स्यम्-जसां स्यम्-शसां यथा-
“एउ ति घाडा एह थवि एउ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ जा नवि वाचइ वग्ग” ।
[अत्र स्यम्जसां लुक्]
“जिवे जिवे वक्किम लोअणह णिरु सामलि सिक्खइ ।
तिवे तिवे वम्महु निअय-सरु खर-पत्थरि तिक्खेइ” [२] ॥
[अत्र स्यम्शसां लुक्]

पठ्याः ॥ ३४५ ॥
पठ्या प्रायो लुगत्रास्तु, तडुदाहरण यथा ।
“सगर-सअणहि जु वप्पिअइ देक्खु अम्हाग कन्तु ।
अइमत्तइ चत्तहुम्मइ गय-कुम्भइ दारन्तु” [३] ।
पृथग्योग. कृतो वदयानुरोधार्थोऽत्र सूत्रयो ।
आमन्त्ये जसो होः ॥ ३४६ ॥
आमन्त्येऽर्थे जसः स्थाने ‘हो’ स्याल्लोपस्य बाधकः ।
स्याद् अप्पहो तरुणिहो, तथा तरुणहो यथा ।

निस्सुपोर्हि ॥ ३४७ ॥
भिस्सुपोर् ‘हिं’ भवेत् [सुण] ‘मग्गोहिं’ [निस्] ‘गुणेहिं’ प्रयुज्यते ।
स्त्रियां जस्-शसोऽस्ते ॥ ३४८ ॥
स्त्रियां लोपापवादौ ऋतुदाता जस् शसो पृथक् ।
यथा-जज्जरियाओ अगुलिउ स्याद् द्वय जस ।
‘विलासिणीओ सुन्दर सन्वद्वाउ’ शसः स्मृतम् ।
यथासख्यनिवृत्त्यर्थो, भेदोऽत्र उच्यते तु ।

ट ए ॥ ३४९ ॥
स्त्रियां टायाः पदे स्याद् ‘ए’ चन्दिमए च कान्तिए ।
“नियमुइकरहिं वि मुद्ध कर अन्धारउ पडिपक्खइ ॥
ससिमएरुल चन्दिमए पुणु काइ न दूरे देक्खइ” [४] ॥
डस्-डस्योर्हि ॥ ३५० ॥

स्त्रियां ‘हे’ ऊस्डस्यो. स्याद्, धणहे बालहे यथा ।
न्यसामोर्हुः ॥ ३५१ ॥
स्त्रियां न्यसामो. स्थाने हुः, ‘वयसिअहु’ गद्यते ।
डेहिं ॥ ३५२ ॥

स्त्रियां डेहिं, यथा ‘मह्याम्’ इत्येतत् ‘महिहि’ स्मृतम् ।
ह्रीवे जस्-शसोरि ॥ ३५३ ॥
ह्रीवे ‘इ’ जस्-शसा स्थाने, ‘गण्णाइ’ ‘कुल्लइ’ यथा ।

[१] विप्रियकारको यद्यपि प्रियस्तथाऽपि तमानयाद्य ।
अग्निना दग्ध यद्यपि गृह ततोऽपि तेनाग्निना महत्कार्यम् ॥
[२] यथा यथा वक्रत्व लोचनानां इयामला शिक्कते ।
तथा तथा मन्मथो निजशरान् खरप्रस्तरे तीक्ष्णयति ॥
[३] सगरशतेषु यो वर्ण्यते पश्य मर्दय कान्तम् ।
अनिमत्तानां त्यक्ताङ्गुशानां गजानां कुम्भान् दारयन्तम् ।
[४] निजमुखकरैरपि मुग्धा करमन्धकारे प्रत्यवेकते ।
शशिमण्डल चन्द्रिकया पुनः कथं न दूरे पश्यति ? ॥

कान्तस्यात उ स्यमोः ॥ ३५४ ॥
 क्रीये ककारान्तनासोऽन ' उ ' स्यात् परयो स्यमोः ।
 पसरिभउ तुच्छव, भगवत् चाऽऽजधीयते ।
 सर्वादेर्हमेर्ही ॥ ३५५ ॥
 सर्वादीनामकारान्ताद्, डमेर्हो स्याद्, जडा तडा ।
 किमो किहे वा ॥ ३५६ ॥
 किमोऽदन्ताद् डमेर् वा स्याद्, ' किहे, ' रूप ' किहे ' यथा ।
 हेर्हि ॥ ३५७ ॥
 सर्वादीनामकारान्ताद्, डे स्थाने ' हि ' यथा ' जहि ' ।
 यत्तर्किक्यो डमो कामृर्नवा ॥ ३५८ ॥
 यत्तवर्किक्यो डसो डामुर्, भदन्तेच्यो विकल्प्यते ।
 जासु तासु तथा कामु, सङ्गिरेव निगद्यते ।
 स्त्रिया डहे ॥ ३५९ ॥
 यत्तर्किक्यो ' डहे ' वाऽस्तु, डम स्थाने स्त्रियां यथा ।
 जहे तहे कहे चैनत्, प्रय सिद्धि समश्नुते ।
 यत्तदः स्यमोर्धुं त्र ॥ ३६० ॥
 यत्तदोस्तु पदे ' धुं ' ' धं, ' या स्याता परयो, स्यमोः ।
 नाहु प्रह्णि चिछति, धुं अं रणि करहि न ।
 इदम इनुः क्रीये ॥ ३६१ ॥
 इमु स्यादिदम क्रीये, स्यमोर्, ' इमु कुलु ' स्मृतम् ।
 एतदः स्त्री-पुं-क्रीये एह एहो एहु ॥ ३६२ ॥
 स्त्री-पुं-क्रीये ' एह एहो, एहु ' स्यादेतद्, स्यमो ।
 ' कुमारी एह ' वा, ' एहु गणु ' ' एहो नरु ' स्मृतम् ।
 एडर्जस्-शसोः ॥ ३६३ ॥
 एतदो जस्-शसोर् ' एड, ' एड चिछन्ति पेच्छ वा ।
 अदस ओऽ ॥ ३६४ ॥
 अदसो जस्-शसोर् ' ओह, ' ओह चिछन्ति पेच्छ वा ।
 उदम आयः ॥ ३६५ ॥
 आय स्याद्, इदमः स्याद्, आयदो आयह यथा ।
 सर्वस्य साहो वा ॥ ३६६ ॥
 सर्वशब्दस्य साहो वा, सिद्ध ' साहु वि सञ्चु वि ' ।
 किमः काडं-कवणी वा ॥ ३६७ ॥
 वा किम, ' कवणी काड, काड दूरे न देक्खइ ।
 ' जण कज्जे कवणेण, ' पक्के ' गज्जहि कि खस ' ।
 युष्मदः सौ तुहुं ॥ ३६८ ॥
 युष्मद, सौ ' तुहु ' इत्यादेशः स्यात्, त्व ' तुहु ' ततः ।
 जस्-शमोस्तुम्हे तुम्हर् ॥ ३६९ ॥
 युष्मदो जस्-शसोर् ' तुम्हे, तुम्हर् ' च पृथक् पृथक् ।
 जाणह तुम्हर् तुम्हे, तुम्हे पेच्छह तुम्हर् ।
 यथासख्यनिवृत्त्यर्थो, जेदोऽत्र वचनस्य तु ॥
 टा-डयमा पडं तर्हं ॥ ३७० ॥
 ' अम टा डि ' इत्येतै सार्धं, युष्मदस्तु ' तर्हं ' पड ' ।
 ' त्वां त्वया त्वयि ' इत्येषा, स्थाने वाच्य ' तर्हं ' ' पड ' ।
 भिसा तुम्हेर्हि ॥ ३७१ ॥
 युष्मदस्तु भिसा साक, ' तुम्हेर्हि ' इति पठ्यते ।

कमिडस्त्र्यां तउ तुज्ज तुध ॥ ३७२ ॥
 डसि-डस्त्र्यां सह ' तउ, तुज्ज, तुध ' च युष्मदः ।
 ' तव त्वत् ' अनयो स्थाने, ' तुज्ज ' ' तुध ' ' तउ ' प्रथम ।
 ज्यसाम्भ्यां तुम्हह ॥ ३७३ ॥
 युष्मदस्तु पदे, साक भ्यसाम्भ्या, तुम्हह मतम् ।
 युष्मभ्य तुम्हह वाच्य, तथा युष्माकमित्यपि ।
 तुम्हासु सुपा ॥ ३७४ ॥
 युष्मदस्तु पदे, साक सुपा ' तुम्हासु ' पठ्यते ।
 मानस्मदो हउं ॥ ३७५ ॥
 अस्मद सौ परे रूप, ' हउ ' इत्यभिधीयत ।
 ' दुल्लह अहो कत्तज्जाग डउ तसु ' निदर्शनम् ।
 जस्-शसोर्म्हे अम्हह ॥ ३७६ ॥
 अस्मदो जस्-शसोर् ' अम्हे अम्हह ' च पृथक् पृथक् ।
 टा-डयमा पडं ॥ ३७७ ॥
 ' अम टा डि ' इत्येतै सार्धं, अस्मदस्तु भवेद् ' मड ' ।
 ' मा मया मयि ' इत्येषां, स्थाने वाच्य ' मड ' सदा ।
 अम्हेर्हि जिसा ॥ ३७८ ॥
 अस्मदस्तु भिसा साकम्, ' अम्हेर्हि ' इति पठ्यते ।
 महु मज्जु डसि-डस्त्र्याम् ॥ ३७९ ॥
 डसिडस्त्र्या सह ' महु मज्जु ' स्तोऽत्राऽस्मद, पदे ।
 ' मत्त ममेत्यनयो, स्थाने, ' महु मज्जु ' यथाक्रमम् ।
 अम्हहं ज्यसाम्भ्याम् ॥ ३८० ॥
 अस्मदस्तु पदे, साक भ्यसाम्भ्याम्, ' अम्हह ' मतम् ।
 अस्मभ्यम् ' अम्हह ' वाच्य, तथा चास्माकमित्यपि ।
 सुपा अम्हासु ॥ ३८१ ॥
 अस्मदस्तु पदे, साक सुपा ' अम्हासु ' पठ्यते ।
 त्यादेराद्यत्रयस्य बहुत्वे हिं नवा ॥ ३८२ ॥
 त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदाद्य त्रिकमुच्यते ।
 तद्बहुत्वस्य ' हिं ' वा स्याद्, धरन्ति-धरहिं ' स्मृतम् ।
 मध्यत्रयस्याद्यस्य हिः ॥ ३८३ ॥
 त्यादीनां तु विभक्तीनां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।
 तदाद्यवचनस्येह, हिरादेशो विकल्प्यते ।
 "वप्पीहा ! पिठ पिठ भणवि, किच्छिउ ' रुअहिं ' हयास ' ।
 तुह जलहे महु पुणु वल्लहे, बिडु वि न पुरिअ आस ।
 [आत्मेनेपदे] वप्पीहा ! कइ बोझिपण, निग्घिण वारइ वार ।
 सायदि भरिअइ विमलि-जलि, ' लहहिं ' न एकइ धार " * ।
 एव ' दिज्जहिं ' रूप स्यात्, रुअसीत्यादि पाक्षिकम् ।
 बहुत्वे हुः ॥ ३८४ ॥
 त्यादीनां तु विभक्तीनां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।
 तद्बहुत्वस्य हुर्वा स्याद्, यथा- ' इच्छुहु इच्छुह ' ।
 अन्त्यत्रयस्याद्यस्य उं ॥ ३८५ ॥
 त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदन्त्य त्रिकमुच्यते ।
 ' उ ' तदाद्यस्य वाऽऽदेशो, यथा- ' कल्लामि कल्लउ ' ।

* वप्पीह ! प्रिय प्रिय भणित्वाऽपि कियत् रोदिषि इताश ! ।
 तव जलधरेण मम पुनर्वल्लभेन द्वयोरपि न पुरिता आशा ।
 वप्पीहक ! किं कथनेन निर्घृण ! वार वारम् ।
 सागरे भृते विमलजलेन बभसे नैकामपि धाराम् ॥

बहुत्रे हुं ॥ ३८६ ॥

त्यादीनां तु विजक्तीनां, यदन्त्य विकमुच्यते ।
तद्वहुत्वस्य 'हु' वा स्याद्, 'लहुहुं लहिमु' स्मृतम् ॥

हि-स्वयोरिदुदेत् ॥ ३८७ ॥

पञ्चम्या हि-स्वयोर वा स्युर्, 'इदुदेत्' इमे प्रयः ।
[उक्] "कुञ्जर ! सुमरि म सल्लहव सरला सास म मेहि ॥
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेहि
[उक्] भमरा ! पत्थु वि लिम्भरु केवि दियदडा विलम्बु ॥
घण-पत्तलु गाय-बहुलु फुल्लइ जार्वे कयम्बु ।
[एत्] प्रिय ! एम्बहि करि सेल्ल करि बड्ढि तुहु करवालु ॥
ज कावाविय बप्पुसा वेहिं भमग्गु कवालु" ॥ [१]
पक्के सुमरहीत्यादि, रूप बोध्य मनीषिभिः ॥

वत्स्यति स्यस्य सः ॥ ३८८ ॥

भविष्यदर्थे त्यादीनां, स्यस्य सो वा विधीयते ।
यथा 'होसइ' इत्येतत्, पक्के होदिइ पठ्यते ॥

क्रियेः कीसु ॥ ३८९ ॥

'क्रिये' क्रियापद त्वेतत्, वाऽत्र 'कीसु' निगद्यते ।
पक्के तु 'किज्जव बलि सुअणस्सु' प्रयुज्यते ॥

भुवः पर्याप्तौ हुचः ॥ ३९० ॥

पर्याप्त्यर्थे भुवो धातोः, पदे 'हुच', 'पहुचर' ।

भूगो भुवो वा ॥ ३९१ ॥

भूगो धातोर भुवो वा स्याद्, 'बुवइ ब्रोप्पिणु' स्मृतम् ।

ब्रजेर्वुचः ॥ ३९२ ॥

ब्रजतेस्तु बुआदेशो, बुजेप्पिणु बुजेप्पि च ।

दृशेः प्रस्सः ॥ ३९३ ॥

दृशेर्धातोः पदे प्रस्साऽऽदेशः, 'प्रस्सदि' पश्यति ।

ग्रहेर्गृहः ॥ ३९४ ॥

गृहहादेशो ग्रहे. स्थाने, 'पढ गृहेप्पिणु व्रतु'

तद्व्यादीनां ओझादयः ॥ ३९५ ॥

तद्व्यादीनां तु धातूनां, पदे ओझादयो मताः ।
ये क्रियावाचका देश्या आदिशब्दग्रहा हि ते ॥
"जिवं तिवं लिक्खा वेवि सर जइ सलि ओझिज्जन्तु ।
तो जइ गोरिह मुह-कमलि सरिसिम कावि लहन्तु ॥
चूखुल्लउ खुष्ठीहोइ सइ मुद्धि कवोळि निहिच्च ।
सासानल-जाल-भलकिअउ वाह-सविल-ससिच्च" ॥ [२]

[१] कुञ्जर ! स्मर मा सल्लकान् सरलान् श्वासान् मा मुञ्च ।

कवला ये प्राप्ता विधिवशेन तान् चर मान मा मुञ्च ॥

भ्रमर ! अत्रापि निम्बे कियन्ति दिवसानि विद्वम्बस्व ।

घनपत्रवान् गायबहुलः फुल्लति यावत् कदम्ब ॥

प्रिय ! इदानीं करे सेल्ल कुरु मुञ्च त्व करवालम् ।

यत् कापालिका घराका दान्ति भमग्र कपालम् ॥

[२] यथा तथा तीक्ष्णान् लात्वा शरान् यदि शशी अतक्लिप्यत ।

ततो जगति गौर्या मुखकमलेन सदृशतां कामपि अद्वप्यत ॥

चूटकश्चूर्णीभविष्यति मुग्धे ! कपोले निहितः ।

श्वासानलज्वालादग्धः वाष्पसन्निधिसासिक ॥

"अम्भरुचिउ वे पयइ पेम्मु निग्रत्तइ जौव ।
सव्वासण-रिउ-सज्जवहो कग् परिअत्ता तौय ॥
हिअइ खुम्भइ गोरमी गयणि धुरुकइ मेहु ।
वासा-रात्ते-पवासअह विंसमा सकरु पहु ॥
अम्मि ! पओहर वज्ज मा निच्चु जे समुह यन्ति ।
मद् कन्तहो समरङ्गणइ गय-घम भजिउ जन्ति ॥
पुत्ते जाण कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुणुण ।
जा वणीकी भुहमी चम्पिअइ अवरेण ॥
त तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवहु वित्थारु ।
तिसहे निवारणु पलुवि नवि पर धुट्ठमइ असारु" ॥ [१]

अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ग-न-थ-प-फां ग-ध-

द-ध-ब-जाः ॥ ३९६ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।
'क ग-त-थ-प-फ-' वर्णानां स्थाने 'ग-घ-द-ध-ब-भाः' प्रायः ॥
[कस्य ग] "जं दिउउ सोम-माहणु असज्जहिं हसिउ निसङ्कु ।
पिय-माणुस-विज्जोह-गरु गिदि गिदि राहु मयङ्कु ॥
[खस्य घ] अम्मीए सत्थावत्थोहिं सुधि चिन्तिअइ माणु ।
पिय दिउ हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ? ॥

तथपफाना दधबजा. यथा-

सवधु करेप्पिणु कधिदु मइ तसु पर समलउं जम्मु ।
जासु न चाउ न चारहमि न य पम्हउउ धम्मु" ॥ [२]

मोऽनुनासिको वो वा ॥ ३९७ ॥

अनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य तु मस्य वा ।
स्याद् वोऽनुनासिकस्, तेन कचलु कमलु द्वयम् ॥
अय लाक्षणिकस्यापि, जेव तेव इति स्मृतम् ।

वाऽयो रो तुक् ॥ ३९८ ॥

सयोगाऽथ स्थितस्येह, वा रेफस्य लुगिष्यते ।
'जइ केवइ पावीसु पिउ' पक्के 'प्रियेण' च ॥

अचूतोऽपि कचित् ॥ ३९९ ॥

रेफोऽत्राविद्यमानोऽपि कचिद् भवति, दर्शयते ।

[१] अनुवज्य (मुत्काद्याय) द्वौ पादौ प्रेम (प्रिया) निवर्तते यावत् ।

सर्वाशनस्त्रिपुसज्जवस्य करा. परिवृत्तास्तावत् ॥

हृदये शल्यायने गौरी गगने गर्जति मेघः ।

वर्षारात्रिप्रवासिकानां विषम सकटमेतत् ॥

अम्ब ! पयोधरौ वर्जय मा नित्य यौ समुखौ तिष्ठतः ।

मम कान्तस्य समराङ्गे गजघटा जङ्-क्त्वा यान्ति ॥

पुत्रेण जातेन को गुण अपगुण को मृतेन ।

या पैतृकी भूमिराक्रम्यते अपरेण ॥

तत्तावत् जल सागरस्य स तावान् बिस्तारः ।

तृषाया निवारणे पलमपि नापि, पर शब्दायतेऽसारः ॥

[२] यद् दृष्ट सोमग्रहणमसतीभिर्हसितं नि शङ्कम् ।

प्रियमानसविक्रामकर गिल गिल राहो ! मृगाङ्गम् ॥

अम्ब ! स्वस्थावस्थै सुखेन चिन्त्यते मानः ।

प्रिये दृष्टे औत्सुक्येन क आत्मान चेतयते ॥

शपथ कृत्वा कथितं मया तस्य परं सफल जन्म ।

यस्य न त्यागो न चारजटी न च प्रमृष्टो धर्मः ॥

‘यासु महागिभि पञ्च भण्ड जड सुह-सागु पम्माणु ।
मायत् नलण नयन्नात् शिथिलिभि गङ्गा-गङ्गागु’ ॥ [१]
कविदिदि विम ? ‘बहु बासेन थि नारद-मग्नि’ च ॥

आपट्टिपन्मपदां द डः ॥ ४०० ॥

पिपवापन्मपदां स्वाद, दम्पेवार क्विचिद्, यथा- ।
रुपम् ‘सायद’ ‘सपद’ तथा ‘विपद’ इत्यपि ॥
प्रायोऽधिकाराद् ‘गुणादि न किलि पर सपद’ ।

कथं-यथा तथा चादेरेभेमेहेभा मितः ॥ ४०१ ॥

‘कथं यथा तथा’ पन्था धन्दरययस्य तु ।
‘इद इध पम इम’ इत्यादेशा डिङ् पृथक् ।
अन ‘कथं’ ‘किट् किथ विम केम’ मितयते ।
‘यथा’ जिह जिधेयादि, ‘तथा’ तिह तिधादि च ।

यादक् तादक्-कीदगीदशां टादेरेहः ॥ ४०२ ॥

‘यादक्तादक्-कीदगीदश’ इत्येतेषां तु योऽस्मिन् ।
तदापायययस्येह, मेहादेशो विधीयते ।

“मह भलिभउ बलिगय ! तुदु केहउ मगण पदु ।
जेहु मेहु नावि होह पद ! मर नरापदु पदु” ॥ [२]

अता मडमः ॥ ४०३ ॥

इदम्-कीदम्-यादम्-नादम्-गङ्गेषु टादिगङ्गस्य ।
दरमाऽऽदेशो, जडमो तदमो कडमोऽऽमो च यथा ।

यत्र नत्रपोष्यस्य मिदेन्त्रत्तु ॥ ४०४ ॥

‘एषु अषु’ डिङो प्रत्य, गङ्गयोर्वत्र-नत्रयो ।
‘अषु तषु अषु तेऽषु’ भिद रूपचतुष्टयम् ।

एषु कुत्रात्रे ॥ ४०५ ॥

कुत्राऽत्रयोश्च प्रशब्दस्य, पदे ‘एषु’ मिदिष्यते ।
केषु थि सेषिगु निष्कट्टु, एषु जेषु थि तेऽषु थि ।

चावत्तावतोर्वाऽऽदेरे उं मदि ॥ ४०६ ॥

यावत्तावदित्यनयोर्, याऽऽदेशययस्य तु ।
म, उं, मदि चेत्येते म्युद, चादेशास्तु त्रयो यथा ।
जाव ताव, जाम ताम, जामदि तामदि तथा ।

वा यत्तदोऽतोर्मेवदः ॥ ४०७ ॥

अत्यन्तयत्तदोर् यावत्तावतो यौ, तयोः पुनः ।
याऽऽदेशययस्येह, पदे या ‘नेयमो’ ऽस्तु कित् ।
“जेयकु अन्तर रायण-रामद तेयकु अन्तर पट्टण-गामद” ।
पदे रूप भयति जेयुलो, नायच्छब्दस्येह तेयुला ।

वेदं किमोर्वादेः ॥ ४०८ ॥

अत्यन्तवेदं-किमोर् ‘इयत्-कियतो’ यौ तयोः पुनः ।
याऽऽदेशययस्येह, पदे या ‘नेयमो’ ऽस्तु कित् ।
एयुलो केयुलो रूप, तथा एयु केयु ।

परस्परस्यादिरः ॥ ४०९ ॥

परस्परस्य शब्दस्व, भवेद् आशब्द आगम ।

[१] व्यासो महर्षिरतद्गणति यद्वि श्रुतिशास्त्र प्रमाणम् ।

मातृणां चरणां नमतां दिवसे दिवसे गङ्गास्नानम् ॥

[२] मया प्रणितो बलिराज । त्व कीदग् मार्गण पयः ।

यादक् तादग् नाऽपि भयति मूर्ख ! स्वयं नारायण ईदक् ॥

‘अयमेव’ इत्येतत्, तत् ‘मिद परस्पर’ ।

कादि-स्थैर्योतोऽन्यार-ज्ञाघवम् ॥ ४१० ॥

पक्षोतो लघुनाऽस्तु, प्रायः स्थिनयोः कादिषु हि ।
सुप्ते चिन्तितञ्च माणु, तमु इव कलि-जुगि दुल्लहो ।

पदान्ते उं-हुं-हिं-हंकाराणाम् ॥ ४११ ॥

‘उं-हुं-हिं-हं’ इत्यमीनां, पदात्तानां तु भाषणे ।
कर्तव्यं ताघव प्रायो, यथा लहद् किञ्चर ।

म्हो म्जो वा ॥ ४१२ ॥

प्राप्ते पञ्च- [२७४] सूत्रेण, यो म्हाऽऽदेशो विधीयते ।
तस्य ‘म्हो’ याऽत्र जायेत, ‘गिम्हो सिम्हो’ यथा पदम् ।

अन्यादशोऽन्याऽसावराडमौ ॥ ४१३ ॥

स्यान्त्यस्यादशस्यात्राऽप्रादमः स्तोऽपरादसः ।

प्रायसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्व-पगिम्वः ॥ ४१४ ॥

‘पगिम्व-प्राइव-प्राउ-प्राइम्वः’ प्रायसः पदे ।

वाऽन्यथाऽनुः ॥ ४१५ ॥

‘अनु’ स्याद् याऽ यथेत्यस्य, पक्षे स्याद् रूपम् ‘अचद’ ।

कुतसः कउ कहन्तिहु ॥ ४१६ ॥

‘कहन्तिहु कउ’ स्यातामादेशो कुतस पदे ।

ततस्तदोस्तोः ॥ ४१७ ॥

‘ततस् तदा’ इत्यनयोश्च, ‘तो’ इत्यादेश इष्यते ।

“जह भग्ना पारफडा, तो मदि’ मज्जु पियेण ।
अद भग्ना अम्ह तणा, तो ते मदिअडेण” ॥ [१]

एय-परं-सम-धुवं-मा-मनाक् एम्व पर समाण धुवु मं

मणाउ ॥ ४१८ ॥

एय ‘एय’ तथा मा ‘म’, ‘धुव धुवु, पर पर ।

मनाक् ‘मणाउ’ वक्तव्य, समग्र भव ‘समाणु’ च ।

किन्नायवा-दिवा-तह-नहेः किराहवड दिवे सहं नादि ॥ ४१९ ॥

किल किर, अथवा अहवड, दिया दिये, नहि नादि ।

मद महुम, इत्यभिधीयत, प्रायो, नैव सदा हि ।

[सहस्य महु] “जउ पयस-ते सह न गयअ न मुअ विओप तस्सु ।
जजिअ सदेमका, दिन्तेहि सुएय-जणस्सु” ॥ [२]

पश्चादेवमेवेदानीं-प्रत्युनेततः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं

पश्चाउ एतदे ॥ ४२० ॥

पश्चात् पच्छइ, एय जि, इत पसदे, एयमेव एम्वइ च ।

भयतीवानाम् एम्वहिं, तथा प्रत्युनेति पश्चाउ ।

विपक्षोक्त-वर्त्मनो बुभ-बुत्त-विधं ॥ ४२१ ॥

उक्त युत्त, वर्त्म विध, विपक्षं बुभम् चच्यते ।

शीघ्रादीनां बहिष्ठादयः ॥ ४२२ ॥

शीघ्रादेस्तु बहिष्ठादिरादेशोऽत्र निगद्यते ।

शीघ्र ‘बहिष्ठा’ इत्युक्त, भक्तो बहल स्मृतः ।

[१] यदि भग्नाः परकीयास्ततः साखि ! मम प्रियेण ।

अथ भग्ना आस्माकीनास्ततस्तेन मारितेन ॥

[२] यत् प्रवसता सह न गता न मृता वियोगेन तस्य ।

लज्ज्यते सदेशाद् ददतीभिः सुभगजनस्य ॥

[घट्टल] "जिवं सुपुरिस तिवं घट्टलइ जिवं नइ तिवं चलणाइ ।

जिवं डोकर तिवं कोट्टरइ दिआ विसुरहि काइ" । [१]

'विट्ठावो'ऽस्पृश्यससर्गो, 'द्रवको' जयवाचकः ।

आत्मीयाऽप्यण, इत्युक्तो 'निष्पट्टो' गाढ ईरितः ।

द्रेहिर दृष्टौ, रवरणस्तु रम्ये, खेडुस्तु क्रीरने ।

स्यात् कोडु' कौतुके सट्टलस्त्वसाधारणे तथा ।

अद्रुते दक्करि, हेस्तिः हेसाख, नवखो नव ।

अवस्कन्दे दडवरुः, पृथगर्थे जुअजुअ ।

सम्यन्ध्यर्थे केर-तणौ, मूदेऽर्थे वड-नालिऔ ।

मा णैषीरिति मब्भोसा, यद्यर्थे बुडुर इष्यते ।

'यद्यद् दृष्ट तत्तद्' इत्यर्थे जाइठिआ स्मृता ।

हुडुरु-घुग्घादयः शब्द-चेष्टानुकरणयोः ॥ ४२३ ॥

रुडुर हुडुरु-प्रभृतयः, शब्दानुकरणे तथा ।

चेष्टाऽनुकरणे घुग्घादयः शब्दा व्यवस्थिताः ।

"मइ जाणिउ बुडीस हउ पेम्म-ऊहि हुडुरु ति ।

नवरि भच्चिन्तिय सपन्निअ विणिय नाव भडडि ।

अजवि नाहु महाजि घरि सिद्धत्था चन्देइ ।

ताउजि विरदु गवक्खेहि मक्कहु-घुग्घिउ देइ" । [२]

घड्मादयोऽनर्थकाः ॥ ४२४ ॥

'घइम्' इत्यादयः शब्दाः, निपाता परिकीर्तिता ।

वेद्या अनर्थकास्तेऽत्र, 'घइ खाइ' निदर्शनम् ।

तादर्थ्ये केहि-तेहि-रेसि-रेसि-तणेणाः ॥ ४२५ ॥

'कहि-तेहि-रसि-रेसि-तणेणा' इति पञ्च तु ।

निपाताः सप्रयोक्तव्यतादर्थ्यं यत्र गम्यते ।

"ढोक्खा एह परिहासडी अइभ न कवणहि देसि ।

हउ छिज्जत तउ केहि पिअ' तुहु पुणु अन्नाहि रोसि" । [३]

पुनर्विनः स्वार्थे दुः ॥ ४२६ ॥

'पुनर् विना' इत्येताभ्यां, स्वार्थे दुः प्रत्ययो भवेत् ।

पुनरर्थे पुणु ततो, विनाऽर्थे 'विणु' सिध्यति ।

अवश्यमो नै-ढौ ॥ ४२७ ॥

अवश्यमं परौ 'नै-ढौ,' स्वार्थिकौ प्रत्ययौ स्मृतौ ।

तस्माद् अवश्यम् 'अवसे अवस' स्मर्यते बुधैः ।

एकशमो मिः ॥ ४२८ ॥

स्वार्थे डिर् एकशस् शब्दाद्, रूपम् 'एकसि' संस्मृतम् ।

अ-रुड-कुट्टाः स्वार्थिक-क-लुक् च ॥ ४२९ ॥

नाम्न परे-'रुडु हुडु' इत्यमी स्वार्थिकाल्पयः ।

तत्सन्नियोगे स्वार्थे क-प्रत्ययश्चेह लुप्यते ।

[१] यथा सुपुरिस्ताथा भगटका यथा नद्यस्तथा चत्तनानि ।

यथा गिर्यस्तथा कोटराणि हृदय । खिद्यसे कथम् ? ।

[२] मया ज्ञातं बुडिप्यामि अहं प्रेमहृदे हुडुरुरिति ।

कवलमच्चिन्तित्वा सपनिता (सप्राप्ता) विप्रियनैः भट्टिति ॥

अद्यापि नाथो ममैव गृहं सिद्धार्थान् वन्दते ।

नावदेव विरहो गवाक्षेषु मर्कटचेष्टां वदाति ॥

[३] नायक ! एषा रीतिः अत्यद्भुता न कुत्रापि दृष्टा ।

अहं कीये तव कृते प्रिय ! त्वं पुनरन्यस्यार्थे ॥

"विरदानल-जाल-करालिअउ पहिउ पथि ज दिट्टु ।

त मेलवि सव्वाहिं पथिअहिं सोजि किअउ भगिट्टु" [१] ॥

ममस्य 'दोसडा' 'हुल्लस्य कुमुल्ली निदर्श्यते ।

योगजार्थपाम् ॥ ४३० ॥

एषाम् अ-रुड-मुट्टानां, योगनेदेन निर्मिताः ।

जायन्ते प्रत्यया येऽत्र, तेऽपि स्वार्थे कच्चिन्मताः ।

[रुडुअ] 'फोमेन्ति जे हिअमउ' किसलेति [१२६६] यमुकु मतः ।

[मुट्टअ] 'चुप्रीहांइसउ चउल्लउ' 'हुल्लरु भृणु- ।

[हुल्लरु] "सामिपसाउ सलज्जपिठ सीमा-सर्थाइ वासु ।

पेकिअवि बाहु-यलुल्लमा धण मेल्लइ नीसासु" [२] ॥

आमि 'स्यादै' 'दोघे-दुस्सौ'-[४३३०] इति दौघोऽत्र बुध्यताम् ।

'बाहु बलुल्ल डउ' तु, प्रत्ययत्रयसमवयम् ।

स्त्रियां तदन्ताट्टीः ॥ ४३१ ॥

पूर्यसूत्रद्वयोक्तप्रत्ययान्ताद् मी स्त्रिया ज्ञेयः ।

"पहिआ दिछी गोरमी दिट्टी मग्गु निअन्त ।

अव्सासेहि कञ्चुआ तितुच्चाण करन्त" [३] ॥

आन्तान्ताट्टाः ॥ ४३२ ॥

स्त्रियां अप्रत्ययान्त-प्रत्ययान्ताद् 'मा'ऽस्तु नैव डीः ।

"पिउ आउ सुअ वत्तडी जुणि कम्भइ पठ्ठ ।

तहो विरहहो नासतभहो धूलडिष्ठा वि न दिट्ठ" [४] ॥

अस्येदे ॥ ४३३ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽत इत्थं स्याद् आकार प्रत्यये परे ।

'धूलडिष्ठा वि दिट्ठ न' इति वाक्ये विभाव्यताम् ।

युष्मदादेरीयस्य डारः ॥ ४३४ ॥

युष्मदादिभ्य ईय प्रत्ययस्य 'डार' इष्यते ।

"सउसे काइ तुहारेण ज सक्कहो न मिळिज्जइ ।

सुइणन्तरि पिण पाणिण पिअ' पिमास किं जिज्जइ" [५] ॥

अम्हारा च महारा च, वेद्य चैव निदर्शनम् ।

अतोर्मेतुल्लः ॥ ४३५ ॥

इवक्रियसदेतद्भयोऽतो. स्थाने 'डेकुलो' भवेत् ।

एकुलो केकुलो जेकुलो च तेकुलो एतलो ।

अस्य भेत्तहे ॥ ४३६ ॥

सर्वादेस् प्र-प्रत्ययस्य, पदे स्यात् 'भेत्तहे' यथा- ।

"एत्तहे तेत्तहे वीरघरि लच्छि विसण्डुल ठाइ ।

पिअ-पम्भट्टव गोरडी निअल कहिंवि न गइ" [६] ॥

[१] विरदानलज्वालाकरालितः पथिकः पथि यद् दृष्टः ।

तत् मिलित्वा सर्वे पथिकैः स एव कृतोऽग्निष्टः ॥

[२] स्वामिप्रसाद्. सलज्जप्रियः. सीमासर्था वासः ।

प्रह्वं बाहुवक्ष नायिका मुञ्चति निश्वासम् ॥

[३] पथिकः । दृष्टा गौरी दृष्ट्या मार्गं पश्यन्ती ।

अभूच्छासाभ्यां कञ्चुकं तेमिताद्वातं कुर्वती ॥

[४] प्रिय आगतः. श्रुता वार्ता ध्वनिः कर्णप्रविष्टः ।

तस्य 'विरहस्य नश्यतो' धूलिरपि न दृष्टा ॥

[५] सदेशनं कियत् युष्मदायेन यत् सङ्कायं न मिह्यते ।

स्वप्नान्तरे पीतेन पानीयेन प्रिय ! पिपासा किं तिष्ठति ।

[६] अत्र तत्र वीरगृहे लक्ष्मी विसस्पुला तिष्ठति ।

प्रियप्रपन्नया गौरी निश्चला कापि न तिष्ठति ॥

त्व-तलोः प्पणः ॥ ४३७ ॥

प्रत्यययोस् त्व-तलो स्यात्, 'प्पण', 'वट्टप्पण' स्मृतम् ।
प्रायोऽधिकाराद् 'वट्टप्पणहो' इत्यपि सिध्यति ।

तव्यस्य डएव्वउं एव्वउ एवा ॥ ४३८ ॥

डएव्वउ एव्वउ एवा' तव्यस्य पदे अय ।

"एउ गृहेणियणु धु मइ, जइ प्रिय उच्चरिज्जइ ।

महु करिण्वच किं पि एवि, मरिण्वच पर देज्जइ ।

देसुच्चाडणु सिहिकडणु, धणकुट्टणु ज लोइ ।

मज्झिप अइरसिप, सव्वु सहेव्वउ होइ ।

सोएवा पर धारिआ, पुण्णवईहिं समणु ।

जग्गेवा पुणु को धरइ, जइ सो वेउ एमाणु ?" ॥ [१]

क्त्व इ-इउ-डावे-अवयः ॥ ४३९ ॥

'अवि इवि इउ इ' इतीमे, चत्वार क्वः पदे भवन्ति, यथा ।

[इ] जइ [इवि] चुम्विचि च [मवि] विछोडवि,

[इउ] मज्झिउ रूपाणि सिध्यन्ति ।

[अवि] "बाड विछोडवि जाहि तुहु, हउ नेव्वइ को दोसु ?

हिअय-ट्टिउ जइ नोसरइ, जाणउ मुज्ज ! सरोसु ॥" [२]

एत्थेप्पिआवेण्येविणवः ॥ ४४० ॥

चत्वार क्व पदे 'एप्पि, एवि एणियणु विणु' ।

सुत्रयोर्य पृथग्योग उन्नयार्थं स इत्येते ।

"जेप्पि असंसु कसाय-यलु, देप्पिणु अभउ जयस्सु ।

लेवि महव्वय सिवु लहहिं, भाणविणु तत्तस्सु ॥" [३]

तुम एवमणणहमणहिं च ॥ ४४१ ॥

'अणहिं अणह एव, अण एणियणु एणियणु ।

एप्पि एवि' अमी अष्टौ, प्रत्ययस्य तुम पदे ।

"देव दुक्कव निअय-धणु, करण न तउ पमिहाइ ।

एव्वइ सुहु मुज्जणहं मणु, पर च्छुज्जणहिं न जाइ ।

जेप्पि चण्णियणु मयल धर, लेविणु तसु पालेवि ।

विणु सन्ते तिथेसरेण, को सक्कइ भुवणे वि ?" [४]

गमेरेप्पिआवेण्योरेल्लुग् वा ॥ ४४२ ॥

गम-धातो' परौ यौ स्त, 'एप्पि एणियणु' इत्यम् ।

तयोर् एनो भुग् अत्रास्तु, विभायेति विधीयते ।

"गम्पियणु वाणारसिहिं नर, अह उज्जेणिहिं गम्पि ।

मुआ परावहिं परम-पठ, दिव्वन्तरइ म जम्पि" [५]

[१] एतद् गृहीत्वा यन्मया यदि प्रिय! उद्धार्यते ।

मम कर्तव्य किमपि नापि, मर्तव्य पर दीयते ॥

देशोच्चाटन शिखिकथन धनकुट्टन यल्लोके ।

मज्झिपुया अतिरक्तया सर्वं सोढव्यं प्रवति ॥

स्वपितव्य परवारिता पुष्पवतीभिः समम् ।

जागर्तव्य पुन को विजतिं यदि स वेद-प्रमाणम् ॥

[२] बाहु विच्छेद्य यासि त्व भवतु तथा को दोषः ? ।

इदयस्थितो यदि नि-सरासि जाने मुख ! सरोष ॥

[३] जित्वाऽशेष कषायबलं दत्त्वाऽभयं जगत ।

लात्वा महाम्रतानि शिवं लभन्ते ध्यात्वा तत्त्वम् ॥

[४] दातुं दुष्करं निजकथनं कर्तुं न तपः प्रतिप्राति ।

एवमेव सुखं भोक्तुं मनः परं भोक्तुं न याति ॥

जेतुं त्यक्तुं सकलां धरां लातुं तपः पालयितुम् ।

विना शान्तिना तीर्थस्नानेन कः शक्नोति भुवनेऽपि ? ॥

[५] गत्वा वाराणस्यां नरा अथोज्जयिन्यां गत्वा ।

मृता (अयन्ते) प्राप्नुवन्ति परमपदं दिव्यान्तराणि मा जह्य ॥

[पक्षे] "गङ्गा गमेप्पिणु जो मुअइ, जो सिव-तिथ गमेप्पि ।
कीलदि तिदसावास-गउ, सो जम-लोउ जिणेप्पि ॥" [१]

तृनाऽणअः ॥ ४४३ ॥

प्रत्ययस्य तृन-स्थानेऽणआऽदेशो विधीयते ।

बोहणउ वज्जणउ, तथा प्रसणउ स्मृतम् ।

इवार्थे न-नउ-नाड नावइ-जणि-जणवः ॥ ४४४ ॥

अपञ्चशे 'जणि जण नाइ नावउ न नउ' ।

इत्यमी पदं प्रयुज्यन्ते, इवार्थे कोविदै सदा ।

[नाड] "वत्तयावक्षि-निवडण-भएण, धण उद्धण्णुअ जाइ ।

वल्लह-धिरह-महाडहो, थाह गवेसउ नाइ ॥" [२]

लिङ्गमतन्त्रम् ॥ ४४५ ॥

अत्र लिङ्ग व्यभिचारि, प्रायो भवति तेन हि ।

स्त्रीपुनपुसक लिङ्ग, यथेष्ट सप्रवर्तते ।

"अम्भा लग्गा कुङ्गरिहिं, पडिउ रम्मतउ जाइ ।

जो एहा गिरि-गिलण-मणु, सा किं धणहे धणाइ ॥" [३]

अत्र अग्नेनि पुस्तव हि, क्लीबस्य प्रतिपादितम् ।

एवमन्यासु गाथासु, स्वयं वृत्त्या विचार्यताम् ।

शौरसेनीवत् ॥ ४४६ ॥

अपञ्चशे शौरसेनीवत् कार्यं प्रायशः स्मृतम् ।

व्यत्ययश्च ॥ ४४७ ॥

भाषाणां प्राकृतादीनां, लक्षणाणि तु यानि हि ।

तेषां च व्यत्यय प्रायो, भवेदित्युपदिश्यते ।

तिष्ठच्छिष्टेति [४४८] मागध्या, यथा कार्यं प्रदर्शितम् ।

तत् पैशाची-शौरसेनी प्राकृतेष्वपि जायते ।

अपञ्चशे तु रेफस्याधो वा लुक् स्यादिति रितम् ।

मागध्यामपि तत् कार्यं, प्रवर्तनीति निदर्शनम् ।

न केवलं हि भाषालक्षणां व्यत्ययः कृतः ।

त्याद्यादेशानामपि तु, व्यत्ययो दृश्यते यतः ।

वर्तमाने प्रसिद्धा ये, ते चूनेऽपि भवन्ति तु ।

भूतकाले प्रसिद्धास्तु, वर्तमानेऽपि वीक्षिताः ।

यथा 'पेच्छइ' इत्येतत्, 'प्रेक्षाञ्जके' कचिन्मतम् ।

'आजासइ' 'आवभाये', इत्यथ क्वापि दृश्यते ।

एव 'सोहीअ' इति तु, शृणोतीत्यर्थकं कञित् ।

शिष्टप्रयोगतः सर्वं, बोद्धव्यं सूक्ष्मदर्शिभिः ।

शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ॥ ४४८ ॥

प्राकृताहिषु भाषासु, यत् कार्यं नेह दर्शितम् ।

सप्ताध्यायीनिश्चयेन, संस्कृतेन समं हि तत् ।

"हेठ-ट्टिय-सूर-निवारणाय, उच अहो इव वहन्ती ।

जयइ समेसा धराइ-सास-दूरुक्खुया पुहवी" [४]

यद्यप्यत्र चतुर्थ्यास्तु, नादेशो दर्शितः कञित् ।

तथाऽपि सोऽतिदेशेन, सिद्धं संस्कृतवत् खलु ।

[१] गङ्गा गत्वा यो मृतो यः शिवतीर्थं गत्वा ।

क्रीडति त्रिदशावासगतः स यमलोकं जित्वा ॥

[२] वनयावहनिपतनभयेन नायिका ऊर्ध्वं गृजां याति ।

वल्लजविरहमहाह्वस्य स्ताघं गवेययति इव ॥

[३] अघ्राणि लग्नानि पर्वतेषु पथिको रटन् याति ।

य इच्छति गिरिगलनमनाः स किं नायिकाया धनानि ? ॥

[४] अथ स्थितसूरानिवारणाय छत्रमध इव वहन्ती ।

जयति समेषा धरादृश्वसदूरोत्क्षिता पृथिवी ॥

उक्त चापि भवत्यत्र, कार्ये संस्कृतवत् कश्चित् ।
'उरे सरम्मि' इत्येतौ, प्रयोगौ प्राकृते मनौ ।
उरसीत्यपि तस्यार्थे, कापि संस्कृतवन्मतम् ।
सिरे सिरम्मि सिरसि, सरम्मि सरसि सरे ।
इत्याद्यपि बुधैरेव, वेष्य लङ्गयानुसारम् ।
सिद्धस्य ग्रहण सूत्रे, मङ्गलार्थे प्रकीर्तितम् ।
येन वाचकवृन्दस्य, नित्यमभ्युदयोऽस्तिवति ।
या भाषा भगवद्वचोन्निरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां
यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्यंकादशाद्भानि च ॥
तस्याः संप्रति दुःषमारवशनो जातोऽप्रचारः पुनः
संचाराय मया कृते विवरणे पादश्चतुर्थो गतः ॥१॥
इति श्रीबृहत्सौधर्मतपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञ-
श्रीमद्भट्टारक—श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-
तायां प्राकृतव्याकृतौ चतुर्थः पादः ।
तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं प्राकृतव्याकृतिः ।

अथ प्रशस्तिश्लोकाः—

श्रीसौधर्मबृहत्पेतिविदिते गच्छे पुरा धर्मराट्
संजातः खलु रत्नसूरिरपरः सूरिः क्षमाऽऽख्यस्ततः ।
देवेन्द्रश्च तनो बभूव विबुधः, कल्याणसूरिर्महान्
अचार्यः सकलोपकारनिगतः सूरिः प्रमोदस्ततः ॥१॥
तच्छिष्यो निजगच्छकृत्यविशदीकर्ता स नट्टारको
राजेन्द्रान्निधकोशसंप्रणयने संजातचूरिश्रमः ।
ग्रन्थानां सुविचारचारुचतुरो धर्मप्रचारोद्यतो
जैनाचार्यपदाङ्कितोऽहमधुना राजेन्द्रसूरिर्बुधः ॥२॥
दीपविजयमुनिना वा यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन ।
विज्ञप्तः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं विधातुमहम् ॥३॥
मोहनविजयेन पुनः प्रधानशिष्येण चूरि विज्ञप्तः ।
सकलजनोपकृतिश्चेदेवं करणे महान् लाभः ॥४॥
अत एव विक्रमान्दे, भूरसेनवविधुमिते दशम्यां तु ।
विजयाख्यायां चातुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥५॥
हेमचन्द्रसंगचितप्राकृतसूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम् ।
पद्यमयी सच्छन्दोवृन्दै रम्यामकार्षमिमाम् ॥६॥
श्रीवीरजिनप्रीत्यै, प्रायो विवृतिः कृताऽवधानेन ।
स्खलनं कापि यदि स्यान्मिथ्या मे दुष्कृतं भूयात् ॥७॥

अथ सूत्रनिर्दिष्टानां गणानां नामानि ।

पादे सूत्रे	पादे सूत्रे
२ । १७ अङ्ग्यादिः	१ । ७० मांसादिः
१ । ३५ अंजल्यादिः	१ । १०७ मुकुलादिः
४ । २५८ अण्फुणादिः	४ । ३१७ यादृशादिः
१ । ५६ अभिज्ञादिः	४ । ४३४ गुप्तादिः
३ । १७२ इजादिः	४ । २३६ रुपादिः
१ । ६७ उत्वातादिः	१ । २६ वक्रादिः
१ । १३१ अत्वादिः	१ । ३३ वचनादिः
१ । १२८ कृपादिः	४ । ४२२ वहिष्णादिः
२ । ६ द्वेष्टकादिः	४ । २३५ वृषादिः
४ । २४९ गमादिः	१ । १५२ वैरादिः
१ । ३४ गुणादिः	१ । २८ विशत्यादिः
२ । १७४ गोणादिः	४ । २३० शकादिः
४ । ४२४ घडमादिः	१ । ५७ शय्यादिः
४ । ४२३ घुघादिः	१ । १८ शरदादिः
४ । ३९५ ङोद्धादिः	४ । ४२२ शीघ्रादिः
४ । ३९५ तच्यादिः	२ । १४५ शीलादिः
२ । ९८ तैलादिः	१ । ७२ सदादिः
१ । ४० त्यदादिः	१ । ४४ समृद्धादिः
२ । १७२ त्वादिः	३ । ५८ सर्वादः
१ । १५१ दैत्यादिः	२ । ९९ सेवादिः
२ । ३० धूर्त्तादिः	३ । १७२ सोच्छादिः
१ । १०१ पानीयादिः	१ । १६० सौन्दर्यादिः
१ । १६२ पौरादिः	१ । ४६ स्वप्नादिः
२ । २१८ प्यादिः	३ । ३५ स्वप्नादिः
१ । २०६ प्रत्यादिः	१ । २५४ हरिद्रादिः
१ । २९ मांसादिः	४ । ४२३ हुहुर्वादिः

अथ प्राकृतसूत्राणां सूत्रसङ्ख्या ।

पादे	सूत्रसङ्ख्या
१	२७१
२	२१८
३	१८२
४	४४८
४	१२१६

॥ अग्निधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् २ ॥

॥ अथ प्राकृतसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका ॥



पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
८	अर्द्धैत्यादौ च । ८।१।१५१।	२८	अमेणम् । ८।३।७८।	६	आञ्च गौरवे । ८।१।१६३।
२३	अइ सभावने । ८।२।७०५।	२५	अमोऽस्य । ८।३।५।	२७	आजस्य टाड० । ८।३।५५।
६	अठ पारादौ च । ८।१।१६२।	५५	अम्महे हरे । ८।४।२८४।	४८	आटो णानुसारौ । ८।४।३४२।
२५	अङ्गीये सा । ८।३।१६।	२३	अम्मो आश्चये । ८।२।२०८।	६	आत्कइमीरे । ८।१।१००।
११	अङ्गोठे छः । ८।१।२००।	२६	अम्ह अम्हे अम्हो० । ८।३।१०६।	७	आन्कुशा-मृदुक० । ८।१।१२७।
१६	अचयपुरचलो० । ८।२।१६८।	३०	अम्ह मम मह म० । ८।३।११६।	४६	आत्तेश्व । ८।४।३१६।
२५	अजाते पुम० । ८।३।३२।	४६	अम्हह ज्यसां० । ८।४।३८०।	२७	आत्मनष्टो णि० । ८।३।५७।
५२	अ-मड-मुला० । ८।४।४२६।	२६	अम्हे अम्हो अम्हो० । ८।३।१०८।	३६	आहह सन्नाम० । ८।४।८३।
२२	अण णाइनअर्थे । ८।२।१६०।	४६	अम्होहि अम्हादि० । ८।३।११०।	८	आहते दि० । ८।१।१४३।
३३	अत इज्जस्विज्ज० । ८।३।१७५।	४६	अम्होहि जिता । ८।४।३७८।	३	आदे० । ८।१।३६।
४५	अत एत्सौ पुसि० । ८।४।२८७।	४६	अयौ वैत्त । ८।१।१६६।	१७	आदे० इमभ्रुश्म० । ८।२।८६।
३१	अत एवैच् से । ८।३।१४५।	८	अरिर्दसे । ८।१।१४४।	१३	आदेयो ज । ८।१।२४५।
११	अतसीसातवाह० । ८।१।२११।	४३	अर्जोधिदप्प । ८।४।२५१।	२२	आनन्तये णवरि । ८।३।१८८।
५१	अतां मज्ज । ८।४।४०३।	३७	अर्जोविद्व । ८।४।१०८।	५२	आन्नान्ताङ्गु । ८।४।४३२।
४६	अतो डसेडातो० । ८।४।३२१।	३५	अपेरास्तिव-चच्चु० । ८।४।३६।	५१	आपद्विपत्तपदां० । ८।४।४००।
४४	अतो डसेडादो० । ८।४।२७६।	२२	अलाहि निवारणे । ८।२।१८६।	२२	आम अभ्युपगमे । ८।२।१७७।
३	अतो डो विसर्ग० । ८।१।३७।	३७	अवतरेरोह-आर० । ८।४।८५।	४८	आमन्थे जसो० । ८।४।३४६।
४४	अतो देव । ८।४।२७४।	४५	अवर्णाङ्गा डसो० । ८।४।२६६।	४५	आमो डाँह वा । ८।४।३००।
१६	अतो रिमारिज्ज० । ८।२।६७।	१०	अवर्णो यथुति । ८।१।१८०।	२७	आमो डेसि । ८।३।६१।
५२	अतो मेत्तु । ८।४।४३५।	५२	अवश्यमो नैडौ । ८।४।४०७।	४८	आमो ह । ८।४।३३६।
३	अत समुद्गादौ० । ८।१।४४।	४०	अवात्काशो वा० । ८।४।१७६।	३	आयुरप्सरसोर्वा । ८।१।२०।
२७	अत सर्वादेर्नेजं० । ८।३।५८।	४१	अवाद गाहेर्वाह । ८।४।२०५।	४३	आरभेरादप्पं । ८।४।३५४।
२४	अत. सेडो० । ८।३।२।	६	अवापोते च । ८।१।१७२।	४१	आरुहेभ्रम-व० । ८।४।२०६।
३१	अथि स्स्यादिना । ८।३।१४८।	३६	अविति हु० । ८।४।६१।	३५	आरोपेर्वल० । ८।४।४७।
१	अथ प्राकृतम् । ८।१।१।	३६	अवेर्जुम्मो जम्मा । ८।४।१५७।	२६	आरः स्यादौ । ८।३।४५।
४६	अदस ओह । ८।४।३६४।	२२	अव्ययम् । ८।२।१७५।	५	आर्यायां र्य० । ८।१।७७।
७	अदूत. सुदमे वा । ८।१।१२८।	२३	अवो सूचनादु० । ८।३।२०४।	१	आर्षम् । ८।१।३।
३२	अदेल्लुक्यादेरत० । ८।३।१५३।	४०	असावक्कलोड । ८।४।१८८।	१६	आलाने लनो० । ८।३।११७।
२०	अधसो हेट्टं । ८।३।१४१।	२६	अस्मदां मि अ० । ८।३।१०५।	३५	आलीङ्कोऽली । ८।४।५४।
१७	अधो मनयाम् । ८।२।७८।	५२	अस्येदे । ८।४।४३३।	२१	आल्लिहोल्हाल० । ८।३।१५६।
४४	अधः कचित् । ८।४।२६१।	४५	अहवयमोर्हणे । ८।४।३०१।	१६	आभ्यर्थे । ८।२।६६।
२०	अनङ्कोवात्तस्य० । ८।२।१५५।		आ	१६	आभिरुपे लथौ । ८।२।४६।
१८	अनादौ शेषादे० । ८।२।८६।	२६	आ अरा मातु० । ८।३।४६।	२६	आ सौ नवा । ८।३।४८।
५०	अनादौ स्वराद० । ८।४।३६६।	४४	आ आमन्थे सौ० । ८।४।३६३।		इ
६	अनुत्साहोत्सप्ते० । ८।१।११४।	४१	आ. कृगो भूत-म० । ८।४।२१४।	५	इः सदादौ वा । ८।१।७२।
३७	अनुज्जे पणिअग्ग । ८।४।१०७।	३८	आक्रन्देर्णीहर० । ८।४।१३१।	४	इः स्वमादौ । ८।१।४६।
४९	अन्त्यव्यस्या० । ८।४।३८५।	३६	आक्रमेरोदावो० । ८।४।१६०।	४६	इचेचः । ८।४।३१८।
१	अन्त्यव्यञ्जनस्य । ८।१।११।	३६	आक्षिपेर्णीरिवः । ८।४।१४५।	३३	इच्च मो-मु-मे वा । ८।३।१५५।
५१	अन्यादशोऽआइ० । ८।४।४२३।	३४	आक्षेराइय० । ८।४।१३।	२४	इजेराः पादपूरणे । ८।२।२७७।
१५	अभिमन्यौ जञौ वा । ८।३।२५।	३६	आङ्का अहिप० । ८।४।१६३।	२७	इणममाभ । ८।३।५३।
५०	अचूतोऽपि कचित्० । ८।४।३६६।	३८	आङ्का ओअन्दो० । ८।४।१२५।	५	इत पद्मा । ८।१।८५।
४०	अभ्याङ्कोम्मरथः । ८।४।१६५।	३६	आङ्को रमेः र० । ८।४।१५५।	३	इतेः स्वरात्तस्य० । ८।१।४३।
		५	आचार्ये चोऽब्ज । ८।१।७३।	६	इतौ तौ वाक्या० । ८।१।८१।

पृष्ठ.	सूत्र
७	इत्तुपादौ । ८ । १ । १२८ ।
११	इत्वे वेतसे । ८ । १ । २०७ ।
८	इत्सैन्धवशनैश्चरे । ८ । १ । १४६ ।
४९	इदम आय. । ८ । ४ । ३६५ ।
२८	इदम इमः । ८ । ३ । ७२ ।
४६	इदम इमु क्रीवे । ८ । ४ । ३६१ ।
२०	इदमर्थस्य कर. । ८ । २ । १४७ ।
२८	इदमेनत्तिकयत्त० । ८ । ३ । ६६ ।
४४	इदानीमो दाणि । ८ । ४ । २७७ ।
३४	इदितो वा । ८ । ४ । १ ।
२५	इदुनो दीर्घ । ८ । ३ । १६ ।
८	इदुतौ वृष्टवृष्टिपृ० । ८ । १ । १३७ ।
७	इदेतौ नूपुरे वा । ८ । १ । १२३ ।
८	इदेदोचून्त । ८ । १ । १३६ ।
३०	इद किमभ्यडेत्ति० । ८ । २ । १४७ ।
१५	इन्धौ भा । ८ । २ । २८ ।
२७	इर्जस्य णोणाडौ । ८ । ३ । ५२ ।
६	इर्जकुदौ । ८ । १ । ११० ।
५३	इवार्थे न-नच० । ८ । ४ । ४४४ ।
३४	इहरा इतरथा । ८ । २ । ३१७ ।
४४	इह हचोर्हस्य । ८ । ४ । ३६८ ।

इ

३२	ईअ-इज्जौ कय० । ८ । ३ । १६० ।
६	ई. छुते । ८ । १ । ११२ ।
५	ई. स्त्यानसत्त्वा० । ८ । १ । ७४ ।
३३	ई च स्त्रियाम् । ८ । ३ । १८२ ।
३५	ईत सेष्वाऽऽवा । ८ । ३ । ३८ ।
२६	ईदुतोर्हस्वः । ८ । ३ । ४२ ।
८	ईदु भैर्ये । ८ । १ । १५५ ।
२७	ईर्जिस्त्रभ्यसां सु० । ८ । ३ । ५४ ।
२७	ईर्जय. स्सा से । ८ । ३ । ६४ ।
२०	ईयस्यात्मनो णय. । ८ । २ । १५३ ।
६	ईर्जिह्वासिह्मिश० । ८ । १ । ६२ ।
७	ईर्वोष् व्यूदे । ८ । १ । १३० ।
४	ईर्हरे वा । ८ । १ । ५१ ।

उ

२४	उम पश्य । ८ । २ । २११ ।
५	उ. साक्षास्तावके । ८ । १ । ७५ ।
१५	उषार्हति । ८ । २ । १११ ।
८	उषैर्नीचैस्यभः । ८ । १ । १५४ ।
४०	उच्छुल उत्थसु. । ८ । ४ । १७४ ।
६	उज्जीर्णे । ८ । १ । १०२ ।
६	उतो मुकुत्तादिभ्यन्त. । ८ । १ । १०७ ।
३६	उत्तिपेर्गुलशुष्को० । ८ । ४ । १४४ ।
५	उत्त सौन्दर्यादौ । ८ । १ । १६० ।
३४	उत्थकुक्कुरौ । ८ । ४ । १७ ।
८	उद्वोन्मृषि । ८ । १ । १३६ ।

पृष्ठ.	सूत्र
७	उहत्वादौ । ८ । १ । १३१ ।
५	उदोद्वाऽऽर्जे । ८ । १ । ८२ ।
३४	उदो भो धुमा । ८ । ४ । ८ ।
३५	उदघटेरुग । ८ । ४ । ३३ ।
३५	उदधूलेर्गुणः । ८ । ४ । ३७ ।
३४	उदवातेरोरुम्मा० । ८ । ४ । ११ ।
४२	उद्विज. । ८ । ४ । २२७ ।
३५	उन्मोक्त्यहोलाह० । ८ । ४ । ३६ ।
२१	उपरेः सव्याने । ८ । २ । १६६ ।
३८	उपसर्पेरालिभ. । ८ । ४ । १३६ ।
३६	उपालम्भेर्भङ्ग० । ८ । ४ । १५६ ।
५	उमो निपथे । ८ । १ । १७४ ।
७	उर्ध्वहनुमत्कण्ठय० । ८ । १ । १२१ ।
४१	उल्लेखसङ्गोसुम्न० । ८ । ४ । २०२ ।
४२	उत्तर्णस्यावः । ८ । ४ । २३३ ।

ऊ

८	ऊ. स्तेने वा । ८ । १ । १४७ ।
२३	ऊ गर्हाऽऽक्षेपवि० । ८ । २ । १६६ ।
५	ऊचोपे । ८ । १ । १७३ ।
११	ऊत्वे दुर्जगसुभगे० । ८ । १ । १७२ ।
६	ऊत्सुभगमुसंवा । ८ । १ । ११३ ।
५	ऊत्सोच्चास । ८ । १ । १५७ ।
५	ऊद् वाऽऽसारे । ८ । १ । ७६ ।
६	ऊर्हीनविहीने वा । ८ । १ । १०३ ।

ऋ

१५	ऋ के वा । ८ । २ । १९ ।
८	ऋणर्जुषमर्तृपौ० । ८ । १ । १४१ ।
३६	ऋतामुदस्यमौ० । ८ । ३ । ४४ ।
७	ऋतोऽत् । ८ । १ । १२६ ।
२६	ऋतोऽद् वा । ८ । ३ । ३७ ।
४३	ऋवर्णस्यारः । ८ । ४ । २३४ ।

ऌ

८	ऌत शशिः क्लृप्त० । ८ । १ । १४५ ।
---	----------------------------------

ए

४६	एज्जसुशसो । ८ । ४ । ३६३ ।
४८	ए चेद्रुतः । ८ । ४ । ३४३ ।
५२	एकशसो नि. । ८ । ४ । ४२८ ।
१६	एकखरे भव. खे । ८ । २ । ११४ ।
२४	एकसरिभ्र ऋणि० । ८ । २ । ३१३ ।
३२	एषक्त्वातुमत्त० । ८ । ३ । १५७ ।
८	एष दैवे । ८ । १ । १५३ ।
४	एच्छय्यादौ । ८ । १ । ५७ ।
४७	एष्टि । ८ । ४ । ३३३ ।
२०	एष्टिह पत्तादे इ० । ८ । २ । १३४ ।
८	एत इच्छा वेदना० । ८ । १ । १४६ ।
१६	एतः पर्यन्ते । ८ । २ । ६५ ।
४६	एतद् स्त्रीपुङ्गी० । ८ । ४ । ३६३ ।

पृष्ठ.	सूत्र
३०	एत् । ८ । ३ । ११६ ।
५	एत् प्रयोदशादौ० । ८ । १ । १६५ ।
५१	एत्सु कुत्रात्र । ८ । ४ । ४०५ ।
६	एत् पीयूपापीड० । ८ । १ । १०५ ।
१	एदोनो. खरे । ८ । १ । ७ ।
५	एद् ग्राह्ये । ८ । १ । ७८ ।
५३	एप्येप्येवे० । ८ । ४ । ४४० ।
२८	एरदीतौ स्मौ वा । ८ । ३ । ८४ ।
५१	एव-पर-सम० । ८ । ४ । ४१८ ।
४४	एवार्थे व्येव । ८ । ४ । २८० ।

ऐ

८	ऐत एत् । ८ । १ । १४८ ।
---	------------------------

ओ

६	ओष द्विधा कृग. । ८ । १ । ७७ ।
८	ओतोऽद्वाऽन्यो० । ८ । १ । १५६ ।
७	ओत्कृष्माण्णीत० । ८ । १ । १३४ ।
४	ओत्पथे । ८ । १ । ६१ ।
६	ओत्पूतरयदर० । ८ । १ । १७० ।
७	ओत्सयोगे । ८ । १ । ११६ ।
५	ओदाल्यां पङ्क्तौ । ८ । १ । ८३ ।
३३	ओ सूचनापञ्चा० । ८ । २ । २०३ ।

औ

६	औत औत् । ८ । १ । १५७ ।
---	------------------------

क

१०	कगच जतद० । ८ । १ । १७७ ।
१७	कगटनतदप० । ८ । ३ । ७७ ।
१२	ककुदे ह. । ८ । १ । ३२५ ।
२	ककुमो ह. । ८ । १ । २१ ।
३४	कथेवज्जरपञ्ज० । ८ । ४ । २ ।
५१	कथयथातथा० । ८ । ४ । ४०१ ।
१३	कदम्बे वा । ८ । १ । २२२ ।
१३	कदर्थिते व. । ८ । १ । ३२४ ।
१३	कदल्यामहमे । ८ । १ । २२० ।
१६	कन्दरिकाभि० । ८ । ३ । ३८ ।
१३	कबन्धे मयौ । ८ । १ । २३६ ।
३५	कमेणिह्व । ८ । ४ । ४४ ।
३५	कम्पेर्विच्छोलः । ८ । ४ । ४६ ।
१३	करवीरे ण. । ८ । १ । २५३ ।
१६	करेण्वाराण० । ८ । ३ । ११६ ।
१८	कर्णिकारे वा । ८ । २ । ६५ ।
१६	कश्मीरे स्मो वा । ८ । २ । ६० ।
४१	काह्वेराहाहिल० । ८ । ४ । १६२ ।
३६	काणिकिते णि० । ८ । ४ । ६६ ।
५१	कादिस्थेदोतो० । ८ । ४ । ४१० ।
४६	कान्तस्यात उ० । ८ । ४ । ३५४ ।
१७	कार्वापणे । ८ । ० । ७१ ।

पृष्ठ.	सूत्र
२७	कितद्ग्यां मासः । ८ । ३ । ६२ ।
२६	कियत्तदोऽस्य० । ८ । ३ । ३३ ।
२७	कियत्तद्ग्यो ड० । ८ । ३ । ६३ ।
५	किंशुके वा । ८ । १ । ८६ ।
२४	किणो प्रश्ने । ८ । २ । २१६ ।
२८	किमो किणोमी० । ८ । ३ । ६८ ।
४६	किमो मिहे वा । ८ । ४ । ३५६ ।
२८	किम कल्लतसो० । ८ । ३ । ७१ ।
४७	किम काइ कव० । ८ । ४ । ३६७ ।
२७	किम. किं । ८ । ३ । ८० ।
१०	किराते चः । ८ । १ । १८३ ।
१३	किरिभेरे रो मः । ८ । १ । २५१ ।
१२	किरेरहिरकिता० । ८ । २ । १८६ ।
५१	कितायवादि० । ८ । ४ । ४१६ ।
१४	किसलयकाता० । ८ । १ । २६६ ।
५१	कुतस कड० । ८ । ४ । ४१६ ।
७	कुतहले वा ह० । ८ । १ । ११७ ।
१०	कुज्जकर्परकीले० । ८ । १ । १८१ ।
१७	कूप्पाण्ड्यां प्पो० । ८ । २ । ७३ ।
४४	कुगमो न्हअः । ८ । ४ । २७२ ।
३६	कुगे कुणः । ८ । ४ । ६५ ।
४६	कुगो मीर. । ८ । ४ । ३१६ ।
१४	कुत्तिचत्तरे चः । ८ । २ । १२ ।
२१	कुत्वसो दुत्त । ८ । २ । १५८ ।
३२	कुदो ह । ८ । ३ । १७० ।
३६	कुपोऽवहो णि० । ८ । ४ । १५१ ।
४०	कुपे कट्टसाअ० । ८ । ४ । १८७ ।
१६	कुप्णे मणे वा । ८ । २ । ११० ।
१३	कुट्ठमे भो व. । ८ । १ । २४० ।
ए	कौत्तेयके वा । ८ । १ । १६१ ।
३२	के । ८ । ३ । १५६ ।
४३	केनाप्फुणणादय । ८ । ४ । २५८ ।
३६	के हु. । ८ । ४ । ६४ ।
४४	कव इअ-कूणौ । ८ । ४ । २७१ ।
५३	कव इ इउ इवि० । ८ । ४ । ४३९ ।
२०	कवस्तुमत्तूणतु० । ८ । २ । १४६ ।
४६	कवस्तून । ८ । ४ । ३१२ ।
४१	कवा तुम तव्येपु० । ८ । ४ । २१० ।
२	कवास्सदेणस्वो । ८ । १ । २७ ।
३१	कयडोयल्लुक । ८ । ३ । १३८ ।
४६	कयस्सेय' । ८ । ४ । ३१५ ।
३५	किय किणो व० । ८ । ४ । ५२ ।
३३	क्रियातिपत्ते । ८ । ३ । १७६ ।
५०	क्रिये कीलु । ८ । ४ । ३८६ ।
३८	कुधेर्जर । ८ । ४ । १३५ ।
४८	कूवे जशसो० । ८ । ४ । ३५३ ।
२८	कूवे स्यमेदमि० । ८ । ३ । ७७ ।
२५	कूवे स्वरान्मस्से । ८ । ३ । २५ ।
३०	कच्चिद्वितीयादे । ८ । ३ । १३४ ।
४७	कयवर्धो ढ । ८ । ४ । २२० ।

पृष्ठ.	सूत्र
३७	कथे रट्. । ८ । ४ । ११६ ।
२६	कियप । ८ । ३ । ४३ ।
१४	क ख कच्चित्तु० । ८ । २ । ३ ।
१५	कण जत्तमे । ८ । २ । २० ।
१५	कमायां कौ । ८ । २ । १७ ।
४०	कर खिरभर० । ८ । ४ । १७३ ।
४५	कस्य क । ८ । ४ । २६६ ।
३६	किपेगवत्थाडु० । ८ । ४ । १४३ ।
२	कुधो हा । ८ । १ । १७ ।
३६	कुभे सउरप० । ८ । ४ । १५४ ।
३६	कुंरे कम्म । ८ । ४ । ७२ ।
३४	कुणिज्जरो वा । ८ । ४ । ७० ।
१८	कमाश्रयाधारत्तेऽ० । ८ । २ । १०१ ।
१४	कुवेटकादौ । ८ । २ । ६ ।

ख

१०	खघधभाम् । ८ । १ । १८७ ।
११	खचिनपिशाच० । ८ । १ । १६३ ।
३७	खचेवेभडः । ८ । ४ । ८७ ।
४२	खादधावोर्लुक । ८ । ४ । २२८ ।
३८	खिदेर्जरविसूरो । ८ । ४ । १३२ ।

ग

४३	गमादीनां द्वित्वम् । ८ । ४ । २४६ ।
४१	गमिप्यमासा ङः । ८ । ४ । २१५ ।
३६	गमेर्रअइच्छाणुव० । ८ । ४ । १६२ ।
५३	गमेरेप्पिणवे० । ८ । ४ । ४४२ ।
३७	गज्जुक्क. । ८ । ४ । ८८ ।
१५	गते म. । ८ । ७ । ३५ ।
१६	गर्दे मे वा । ८ । २ । ३७ ।
११	गभितातिमुक्कके० । ८ । १ । २०८ ।
४	गवये व' । ८ । १ । ५४ ।
४०	गवेपेदुदुल्लददो० । ८ । ४ । १८९ ।
६	गव्यञ आअ । ८ । १ । १५८ ।
३	गुणाया कूवे वा । ८ । १ । ३४ ।
३६	गुप्पोर्विरणडौ । ८ । ४ । १५० ।
६	गुरौ के वा । ८ । १ । १०६ ।
२१	गुर्वादेरविर्वा । ८ । ३ । १५० ।
२०	गृहस्य घरोऽपतौ । ८ । २ । १४४ ।
२१	गोणादय । ८ । २ । १७४ ।
१६	गौणस्येपन कुर. । ८ । २ । १२६ ।
८	गौणान्त्यस्य । ८ । १ । १३४ ।
१६	गो वा । ८ । २ । ६२ ।
३८	ग्रन्थो गरुः । ८ । ४ । १२० ।
४१	ग्रसेधिस । ८ । ४ । २०४ ।
५०	ग्रहेर्गण्ड' । ८ । ४ । ३६४ ।
४३	ग्रहेर्घेण्य । ८ । ४ । २५६ ।
४१	ग्रहो वल्लगेण्डहरप० । ८ । ४ । २०९ ।

घ

५२	घहमादयोऽनर्थका । ८ । ४ । ४२४ ।
----	--------------------------------

पृष्ठ.	सूत्र
५	घञ्जुक्केवा । ८ । १ । ६८ ।
३५	घटे परिवारः । ८ । ४ । ५० ।
३८	घटेर्गढ । ८ । ४ । ११२ ।
३८	घूर्णो घुन्न-घोल० । ८ । ४ । ११७ ।

ङ

२	ङञ्जनो व्यञ्जने । ८ । १ । ७५ ।
४८	ङम सुहोन्सव । ८ । ४ । ३३७ ।
२४	ङम म्स. । ८ । ३ । १० ।
२५	ङसिङसो. पुक्कीवे० । ८ । ३ । २३ ।
४६	ङसिङभ्यां० । ८ । ४ । ३७२ ।
४८	ङसिभ्यसङ्नां० । ८ । ४ । ३४१ ।
२७	ङमेमर्हा । ८ । ३ । ६८ ।
३०	ङमेर्लुक । ८ । ३ । १२६ ।
४७	ङसेर्हहु । ८ । ४ । ३३६ ।
२४	ङसेस्तोदोदुहि० । ८ । ३ । ८ ।
४८	ङसुटस्याहं । ८ । ४ । ३५० ।
४७	ङिनेष्व । ८ । ४ । ३३४ ।
२७	ङेर्डाहेमालाह्रिआ० । ८ । ३ । ६५ ।
३०	ङेर्मे । ८ । ३ । १२८ ।
२८	ङेर्मेन ह. । ८ । ३ । ७५ ।
४८	ङेहिं । ८ । ४ । ३५२ ।
४६	ङेहिं । ८ । ४ । ३५७ ।
२७	ङे. रिसमित्था । ८ । ३ । ५७ ।

च

४	चण्डखण्डिने शा० । ८ । १ । ५३ ।
३०	चतुरश्चत्तारो चड० । ८ । ३ । १२२ ।
२५	चतुरो वा । ८ । ३ । १७ ।
३०	चतुर्थ्या षष्ठी । ८ । ३ । १३१ ।
१०	चन्द्रिकाया म । ८ । १ । १८५ ।
११	चपेटापाटी वा । ८ । १ । १६८ ।
३६	चाटो गुल्ल. । ८ । ४ । ७३ ।
४२	चिजिभ्रुस्तुलु० । ८ । ४ । २४१ ।
१६	चिहे न्यो वा । ८ । ७ । ५० ।
४६	चूलिकापैशाचि० । ८ । ४ । ३२५ ।

छ

३४	छदेर्णमनूमस० । ८ । ४ । २१ ।
४५	छस्य आऽनादो । ८ । ४ । २७५ ।
११	छगे ल । ८ । १ । १६१ ।
१३	छायाया होऽका० । ८ । १ । २४६ ।
२६	छायाहरिद्रयो । ८ । ३ । ३४ ।
४१	छिदिमिदी न्द । ८ । ४ । २१६ ।
३८	छिदिहवा णि० । ८ । ४ । १२४ ।
१५	छोऽद्यादौ । ८ । २ । १७ ।

ज

११	जटिले जो शो० । ८ । १ । १७४ ।
४५	जद्यया य. । ८ । ४ । २७२ ।

पृष्ठ.	सूत्र
३७	जनो जा जम्मौ । ७ । ४ । १३६ ।
२५	जसूशस् ईहं । ८ । ३ । २६ ।
४९	जसूशसोरम्हे । ८ । ४ । ३७६ ।
२५	जसूशसोर्णो वा । ८ । ३ । २२ ।
२४	जसूशसोर्लुक् । ८ । ३ । ४ ।
४६	जसूशसोस्तु । ७ । ४ । ३६६ ।
२४	जसूशसुडासि । ७ । ३ । १३ ।
२६	जसूशसुडासि । ७ । ३ । ५० ।
३६	जाभेजंग । ७ । ४ । ८० ।
३४	जुगुप्सेर्कुण । ८ । ४ । ४ ।
२२	जेण तेण ब्रं । ७ । ३ । १८३ ।
३२	जाजे । ८ । ३ । १५९ ।
३२	जात् सप्तम्या । ८ । ३ । १६५ ।
३४	हो जाणमुणौ । ८ । ४ । ७ ।
१७	हो अः । ८ । २ । ७३ ।
४६	हो अः पैशा । ८ । ४ । ३०३ ।
४	हो णत्वेऽभिज्ञा । ८ । १ । ५६ ।
४३	हो णव्वणज्जौ । ७ । ४ । २५२ ।
१६	ज्यायामीत् । ८ । २ । ११५ ।

ट

४८	टप । ७ । ४ । ३४९ ।
२४	टाआमोर्णः । ८ । ३ । ६ ।
२५	टाङ्गुडेरदादि । ८ । ३ । २९ ।
४९	टाङ्गुमा पइत्त । ८ । ४ । ३७० ।
४९	टाङ्गुमा मइ । ७ । ४ । ३७७ ।
२५	टाणशस्येत् । ८ । ३ । १४ ।
११	टो डः । ८ । १ । १६५ ।
२५	टो णा । ७ । ३ । २४ ।
२७	टो णा । ७ । ३ । ५१ ।
४६	टोस्तुर्वा । ८ । ४ । ३११ ।
४५	टुष्टयोः स्तः । ८ । ४ । ३६० ।

ठ

११	ठो ढः । ८ । १ । १६६ ।
१५	ठोऽस्थिविसस्थुले । ८ । २ । ३२ ।

ड

१३	डाहवौ कतिपये । ८ । १ । २५० ।
२१	डिद्धड्ढौ भवे । ८ । ३ । १६३ ।
२४	डेम्मि डं । ८ । ३ । ११ ।
२६	डो दीर्घो वा । ७ । ३ । ३८ ।
११	डो लः । ८ । १ । १०२ ।
१६	डकमोः । ७ । ३ । ५२ ।

ण

२२	णइत्तेअचित्रश्च । ८ । २ । १८४ ।
२२	णवर केवले । ८ । २ । १८७ ।
२२	णवि वैपरीत्ये । ८ । २ । १७८ ।

२६	णेण मिअम्मि । ८ । ३ । १०७ ।
२६	णे णो मज्ज अम्ह । ८ । ३ । ११४ ।
३१	णेरेदावावे । ८ । ३ । १४६ ।
४६	णो नः । ८ । ४ । ३०६ ।
२८	णोऽमशसटाजि । ८ । ३ । ७७ ।
४४	ण नन्वर्थे । ८ । ४ । २८३ ।

त

२६	तइ तु ते तुम्ह तुह । ८ । ३ । ६६ ।
२६	तइ तुव तुम तुह । ८ । ३ । ९६ ।
४१	तक्केस्तच्चच्चरम्प । ८ । ४ । १६४ ।
५०	तक्ष्यादीनां गोष्ठा । ८ । ४ । ३६५ ।
११	तगरप्रम्परतुवेरटः । ८ । १ । २०५ ।
३५	तमेराहोअभिहोर्मा । ८ । ४ । ७७ ।
५१	ततस्तदोस्तो । ८ । ४ । ४१७ ।
२८	तदश्च त सोऽक्कीवा । ७ । ३ । ७६ ।
४६	तदिदमोष्टा नेन सि । ८ । ४ । ३२२ ।
२८	तदो मोः । ८ । ३ । ६७ ।
३८	तदो णः स्यादौ क । ८ । ३ । ७० ।
४६	तदोस्तः । ७ । ४ । ३०७ ।
३७	तनेस्तनतइतइव । ८ । ४ । १३७ ।
१९	तन्वीतुल्येषु । ७ । ३ । ११३ ।
५३	तव्यस्य इणव । ८ । ४ । ४३८ ।
४४	तस्मात्ता । ८ । ४ । २७८ ।
३०	तादर्थ्यडेर्वा । ७ । ३ । १३३ ।
५२	तादर्थ्ये केहि तेहि । ८ । ४ । ४२५ ।
१६	ताम्रास्ते च । ८ । ३ । ५६ ।
३७	तिजेरोसुकः । ८ । ४ । १०४ ।
६	तित्तिरौ रः । ८ । १ । ९० ।
२०	तिर्यचस्तिरिच्छि । ७ । २ । १४३ ।
४५	तिष्ठश्चिष्ठ । ८ । ४ । २६७ ।
१७	तीक्ष्णे णः । ७ । २ । ८२ ।
६	तीर्थे हे । ८ । १ । १०४ ।
११	तुच्चे तश्चलौ वा । ८ । १ । २०४ ।
३७	तुमेस्तोरुतुष्टु । ८ । ४ । ११६ ।
२६	तु तुव तुम तुह । ८ । ३ । १०२ ।
२६	तुम्ह तुम्होयहो । ८ । ३ । ६७ ।
५३	तुम एवमणा । ७ । ४ । ४४१ ।
२६	तुमे तुमण तु । ८ । ३ । १०१ ।
४६	तुम्हासु सुणा । ८ । ४ । ३७४ ।
२६	तुम्ह तुम्ह तहि । ८ । ३ । ९७ ।
४०	तुरोऽप्यादौ । ८ । ४ । १७२ ।
३४	तुलेरोहाम । ८ । ४ । ७५ ।
२६	तु वो जे तुम्ह । ८ । ३ । १०० ।
३१	तृतीयस्य मि । ७ । ३ । १४१ ।
३१	तृतीयस्य मामु । ८ । ३ । १४४ ।
५३	तृतीयाण्यः । ८ । ४ । ४४३ ।
३८	तृपस्थिप । ८ । ४ । १३७ ।
३२	तेनास्तेगस्यहे । ७ । ३ । १६४ ।
१७	तैलादौ । ८ । २ । ९८ ।

४८	तो दोऽनादौ शौ । ७ । ४ । २६० ।
४	तोऽन्तरि । ८ । १ । ६० ।
२६	ते तुं तुम तुव तु । ८ । ३ । ९० ।
२२	ते वाक्योपन्यास । ८ । २ । १७६ ।
३१	तो दो तमो वा । ८ । २ । १६० ।
२८	त्ये च तस्य सुक् । ८ । ३ । ८३ ।
३	त्याद्याव्ययान् । ८ । १ । ४० ।
४०	त्यादिशत्रोन्तः । ७ । ४ । १७१ ।
३१	त्यादीनामाद्यत्र । ८ । ३ । १३९ ।
१	त्यादेः । ८ । १ । ९ ।
४६	त्यादेराद्यत्रय । ८ । ४ । ३८२ ।
१४	त्योऽन्तये । ८ । ७ । १३ ।
२१	त्रपो हिहत्थाः । ८ । ३ । १६१ ।
४१	त्रसेर्दर्योजव । ७ । ४ । १६७ ।
२०	त्रस्तस्य दिग्धत । ८ । २ । १३६ ।
५२	त्रस्य केतहे । ८ । ४ । ४३६ ।
३०	त्रेस्तिष्ठि । ८ । ३ । १२१ ।
३०	त्रेस्ती तृतीयादौ । ८ । ३ । ११८ ।
५३	त्वन्तोः णण । ७ । ४ । ४३७ ।
१५	त्वश्चद्वर्वा चक्षु । ८ । २ । १५ ।
४०	त्वरस्तुवरजश्च । ८ । ४ । १७० ।
२०	त्वस्य डिमात्त । ७ । २ । १५४ ।
२१	त्वादे सः । ८ । ३ । १७७ ।

थ

१४	थगात्रम्पन्दे । ७ । २ । ६ ।
२३	थुकुत्सायाम् । ८ । ३ । २०० ।
४४	थो ध । ८ । ४ । २६७ ।

द

४	दक्षिणे हे । ८ । १ । ४५ ।
१६	दग्धविदग्धवृद्धि । ८ । २ । ४० ।
२४	दरार्धल्ये । ७ । ३ । २१५ ।
४०	दलिवल्योर्विसदृश । ७ । ४ । १७६ ।
१२	दशनदृष्टदग्धदो । ७ । १ । २१७ ।
१३	दशपाषाणे ह । ८ । १ । २६२ ।
१७	दशाहं । ७ । २ । ८५ ।
४१	ददेरहिकलालु । ७ । ४ । २०७ ।
४३	दहो अक्षः । ८ । ४ । ७४९ ।
२	दिक्रमावृणो सः । ७ । १ । १९ ।
४४	दिरिचेचो । ८ । ४ । २७३ ।
१३	दिवसे स । ७ । १ । २६३ ।
१२	दीपौ धो वा । ७ । १ । २१३ ।
१	दीर्घह्रस्वौ मिथो । ७ । १ । ४ ।
१७	दीर्घे वा । ८ । १ । ६१ ।
१७	दुःखदक्षिणीर्थे । ८ । २ । ७२ ।
३४	दुःखे णिव्वर । ८ । ४ । ३ ।
३७	दुःखे णिव्वल । ८ । ४ । ६२ ।
७	दुक्खे वा लश्चि । ८ । १ । ११६ ।
१४	दुर्गादेव्युदुम्बर । ८ । १ । ७७० ।

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
३०	बुवेदोषिषेक्षि० । ८ । ३ । १२० ।	४०	नशेणिरिणास० । ८ । ४ । १७८ ।	१६	पञ्चममूर्तद्वारे० । ८ । २ । ११२ ।
३३	झ-मु-मु-विभ्यादि० । ८ । ३ । १७३ ।	३५	नशेवउरुनास० । ८ । ४ । ११ ।	२०	परराजच्यां क० । ८ । २ । १४८ ।
१६	झहिनगिन्पोधे० । ८ । ३ । १२६ ।	१	न भद्रदोः । ८ । १ । १० ।	४१	परस्परस्यादिर । ८ । ४ । ४०७ ।
३४	झडो दूम० । ८ । ४ । २३ ।	२५	नात आत । ८ । ३ । १० ।	४१	पर्यस० पञ्चोद-प० । ८ । ४ । २०० ।
१८	झते । ८ । २ । १६६ ।	४	नात्पुनर्यादाइ वा । ८ । १ । ६५ ।	१६	पर्यस्तपर्याण० । ८ । २ । ६८ ।
४१	झशस्तेन दृः । ८ । ४ । २१३ ।	४७	नादियुग्योरन्ये० । ८ । ४ । ११० ।	१६	पर्यस्तं घटौ । ८ । २ । ४७ ।
३२	झशिषवेर्मीसमुच्च । ८ । ३ । १६१ ।	२६	नामन्यात्सी मः । ८ । १ । १७ ।	१३	पर्याणे का वा । ८ । १ । २५२ ।
३५	झशेयदशद० । ८ । ४ । ३२ ।	२६	नाम्यर वा । ८ । ३ । ४० ।	१२	पक्षिते वा । ८ । १ । २१२ ।
४०	झशो निमृच्छपे० । ८ । ४ । १८१ ।	२६	नाम्यर० । ८ । ३ । ४० ।	४१	पञ्चादेवमेवैवे० । ८ । ४ । ४२० ।
८	झशे कियप्टकस० । ८ । १ । १४२ ।	१०	नायर्णापः । ८ । १ । १७६ ।	१२	पातिप्रकपपरि० । ८ । १ । २३२ ।
४०	झशे प्रस्व० । ८ । ४ । ३९३ ।	६	नाव्याप० । ८ । १ । १६५ ।	६	पानीयादिभित्त । ८ । १ । १०१ ।
०३	हे समुलोकरणे च । ८ । २ । १६६ ।	१०	निकपस्कटिक० । ८ । १ । १७६ ।	१२	पापद्धौ र० । ८ । १ । २३५ ।
३५	होलेखाल । ८ । ४ । ४८ ।	३४	निघातेरोदीरो० । ८ । ४ । १२ ।	४	पारापते रो वा । ८ । १ । ८० ।
१२	हशदहो० । ८ । १ । २१७ ।	१२	निम्यनापिते ल० । ८ । १ । २१० ।	११	पिठरेहो वारम्भ० । ८ । १ । २०१ ।
२०	हप्राया दादा । ८ । २ । १३६ ।	३८	निर० पदेबलः । ८ । ४ । १२७ ।	३४	पिबे पिञ्जमृष्ट० । ८ । ४ । १० ।
४६	हन्तपुना पु । ८ । ४ । ३१३ ।	१	निर्दुरोया । ८ । १ । १३ ।	४०	पियेणिवहणि० । ८ । ४ । १८५ ।
१५	हय्ययो ज । ८ । २ । २४ ।	३४	निर्मो निम्माण० । ८ । ४ । १९ ।	१२	पीते वो ले वा । ८ । १ । २१३ ।
१७	हेरो न वा । ८ । २ । ८० ।	३५	निलीडेणेली० । ८ । ४ । ५५ ।	२५	पुंसिजसो डठ० । ८ । ३ । २० ।
४	हारे, वा । ८ । १ । ७६ ।	७	निघृष्टवृन्दारके० । ८ । १ । १३२ ।	२८	पुस्त्रियोर्न वास्य० । ८ । ३ । ७३ ।
१८	द्वितीयतुययोक्प० । ८ । २ । ६० ।	३४	निघृष्टयोर्णिहो० । ८ । ४ । २२ ।	२७	पुस्त्रन आणो रा० । ८ । ३ । ५६ ।
३१	द्वितीयस्य सि से । ८ । ३ । १४० ।	१२	निर्गोपधिव्योर्वा० । ८ । १ । २१६ ।	३७	पुञ्जरोलवमालौ । ८ । ४ । १०२ ।
३१	द्वितीयातृतीययो० । ८ । ३ । १३५ ।	४१	निभ्यसेभ्रज । ८ । ४ । २०१ ।	२२	पुणरुक्त कृतकरणे० । ८ । २ । १७६ ।
६	द्विन्योक्त । ८ । १ । १०४ ।	१७	निपधे धो द० । ८ । १ । २१६ ।	४२	पुनर्धिन स्वाये० । ८ । १ । १२६ ।
३०	द्वियचनस्य बहुय० । ८ । ३ । १३० ।	३७	निपधेर्हफः । ८ । ४ । १३४ ।	११	पुञ्जागनागिन्योर्गो० । ८ । १ । १६० ।
३०	द्विर्दो वे । ८ । ३ । ११९ ।	३६	निष्टमाधपृष्ठे० । ८ । ४ । ६० ।	६	पुरुषे रो० । ८ । १ । १११ ।
ध		३६	निष्पानाच्छाटे० । ८ । ४ । ७१ ।	४४	पूर्वस्य पुरवः । ८ । ४ । १०० ।
२	धनुयो वा । ८ । १ । २२ ।	३	निष्पती ओत्प० । ८ । १ । ३७ ।	२०	पूर्वस्य पुरिम० । ८ । १ । ११५ ।
३४	धधल्लुम । ८ । ४ । ७४ ।	३६	निस्सरेणीहर० । ८ । ४ । ७७ ।	४०	पूररग्घाडाग्य० । ८ । १ । १६६ ।
४३	धानयोऽधान्तर० । ८ । ४ । ७५९ ।	६	नीमपीठे वा । ८ । १ । १०६ ।	१०	पृथकि धो वा । ८ । १ । १८८ ।
१७	धाज्याम । ८ । २ । ८१ ।	१२	नीपापीडे मो वा । ८ । १ । २३४ ।	३६	पृथक् रूपे णिब्ब० । ८ । ४ । ६९ ।
३६	धुगधुव । ८ । ४ । ४९ ।	३८	ने. सदा मज्जः । ८ । ४ । १२३ ।	७	पृष्ठे वाऽनुत्तरपदे । ८ । १ । १२९ ।
१६	धुनेदिहि । ८ । ० । १३१ ।	१२	नो ण । ८ । १ । २२७ ।	१२	पो वः । ८ । १ । २११ ।
१८	धुष्टधुम्ने णः । ८ । २ । ६४ ।	३३	न्तमाणौ । ८ । ३ । १८० ।	२४	प्यादय० । ८ । १ । २१७ ।
१६	धयं वा । ८ । २ । ६४ ।	१६	न्मो म० । ८ । २ । ६१ ।	३५	प्रकाशार्णुव० । ८ । ४ । ४५ ।
३४	ध्यागोर्भागा । ८ । ४ । ६ ।	४५	न्यपयङ्गाञ्ज० । ८ । ४ । २७३ ।	३०	प्रच्छ पुच्छ० । ८ । ४ । ६७ ।
१५	ध्वजे वा । ८ । २ । २७ ।	४६	न्यगयोर्ज्ज० । ८ । ४ । ३०५ ।	४१	प्रतीकं सामय० । ८ । ४ । १६१ ।
४	ध्वनिप्रवचोर । ८ । १ । ४२ ।	४१	न्यसो णिम० । ८ । ४ । १७७ ।	२५	प्रत्यये डीर्नवा । ८ । ३ । ३१ ।
न		प		४०	प्रत्याडा पलोदृ । ८ । ४ । १९९ ।
४६	न कगचजादि० । ८ । ४ । ३७४ ।	४	पकाकारञ्जलाटे० । ८ । १ । ४७ ।	११	प्रत्यादौ न० । ८ । १ । ३०६ ।
२८	न ल्य । ८ । ३ । ७६ ।	१७	पङ्कमग्रमसु० । ८ । २ । ७४ ।	१५	प्रत्यये पञ्च हो वा । ८ । २ । १४ ।
१८	न दीर्घानुस्वारात् । ८ । ७ । ६२ ।	३७	पंच साहपञ्जला । ८ । ४ । ७० ।	२४	प्रत्येकम० पामि० । ८ । २ । २१० ।
३०	न दीर्घा णा । ८ । ३ । १२५ ।	३१	पञ्चम्यास्तृतीया० । ८ । ३ । १३६ ।	४	प्रथमे पथोर्वा । ८ । १ । ५५ ।
४	नमस्कारपरम्पर० । ८ । १ । ६२ ।	१६	पञ्चाशत्पञ्चद० । ८ । २ । ४३ ।	१२	प्रदीपि दोहदे ल । ८ । १ । २२१ ।
१	न युवर्णम्याम्बे । ८ । १ । ६ ।	५	पथिपृथिवीप्रति० । ८ । १ । ८७ ।	३६	प्रदीपेस्तेअवस० । ८ । ४ । १५२ ।
४२	न वाकर्मभाव० । ८ । ४ । २४२ ।	२०	पथो णस्येकद० । ८ । २ । १५२ ।	१२	प्रभूते वः । ८ । १ । २३३ ।
०७	न वाऽनित्यमेत० । ८ । ३ । ६० ।	१	पत्रयो० सन्धिवो० । ८ । १ । ५ ।	३६	प्रभो हुप्पो वा । ८ । ४ । ६३ ।
६	न वा मयूषलव० । ८ । १ । १०१ ।	३	पदादपेयो । ८ । १ । ४१ ।	९	प्रवासीकौ । ८ । १ । ६५ ।
४३	न वा यो थ्य । ८ । ४ । २९६ ।	२१	पदात्ते उहुर्दि० । ८ । ४ । ४११ ।	४०	प्रविशेरिअ० । ८ । ४ । १८३ ।
				३६	प्रसरे. पयल्लो० । ८ । ४ । ७७ ।

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
३५	प्रस्थापेः पट्टवपे० । ८ । ४ । ३७ ।	४८	मिस्सुपोहिं । ८ । ४ । ३४७ ।	५	मात्रटि वा । ८ । १ । ८१ ।
३७	प्रहृगोः सारः । ८ । ४ । ८४ ।	१६	भीष्मे षमः । ८ । २ । ५४ ।	२३	मामि हला० । ८ । २ । १६५ ।
४२	प्रादेर्मलि । ८ । ४ । २३२ ।	३७	घृजो मृज्जजिम० । ८ । ४ । ११० ।	१९	मार्जारस्य मज्ज० । ८ । २ । १३२ ।
४०	प्रान्शुशमुपोर्हु० । ८ । ४ । १८४ ।	३६	घृवेहोदुवहवाः । ८ । ४ । ६० ।	५	मांसादिष्वनुस्वा० । ८ । १ । ७० ।
५१	प्रायसः प्राउ प्रा० । ८ । ४ । ४१५ ।	४४	घृवो ज । ८ । ४ । २६६ ।	२	मांसादेर्वा । ८ । १ । ३९ ।
६	प्रावरणे अक्ष्वा० । ८ । १ । १७५ ।	५०	घृव पर्याप्तौ हु० । ८ । ४ । ३६० ।	३०	मि मयि ममाह० । ८ । ३ । ११५ ।
२	प्रावृत्तशरत्तर० । ८ । १ । ११ ।	२८	मे तुम्मे तुज्ज० । ८ । ३ । ६१ ।	२६	मि मे मम मम० । ८ । ३ । १०९ ।
१७	प्लक्के लाक् । ८ । २ । १०३ ।	२६	मे तुज्जहिं उज्ज० । ८ । ३ । ६५ ।	३२	मि मो मु मे स्ता० । ८ । ३ । १६७ ।
३५	प्लावरोम्बाल० । ८ । ४ । ४१ ।	२६	मे दि दे ते तइत० । ८ । ३ । ६४ ।	३१	मिमामैर्हि म्हा० । ८ । ३ । १४७ ।
फ		३०	भ्यसश्च हिः । ८ । ३ । १२७ ।	५	मिगयाम् । ८ । १ । ८७ ।
३७	फक्स्थक्कः । ८ । ४ । ८७ ।	२४	भ्यसस्तो दो० । ८ । ३ । ६ ।	२२	मिव पिव विव० । ८ । २ । १८२ ।
१२	फां भहौ । ८ । १ । २३६ ।	४८	भ्यसामोर्हु० । ८ । ४ । ३५१ ।	२१	मिथाद् माक्षिषः । ८ । ३ । १७० ।
ब		४६	भ्यसामभ्या० । ८ । ४ । ३७३ ।	३५	मिधेर्वीसालमे० । ८ । ४ । २७ ।
४३	बन्धो न्यः । ८ । ४ । २४७ ।	२५	भ्यसि वा । ८ । ३ । १३ ।	२८	मुः स्यादौ । ८ । ३ । ८८ ।
२२	बक्षे निर्धारण० । ८ । २ । १८५ ।	४७	भ्यसो हु । ८ । ४ । ३३७ ।	३७	मुचेरुङ्गायहे० । ८ । ४ । ९१ ।
२०	बाहिसो बाहि० । ८ । ३ । १४० ।	४०	भ्रशोः फिफिहृ० । ८ । ४ । १७७ ।	४१	मुहेर्गुम्मगुम्मौ । ८ । ४ । २०७ ।
५०	बहुत्वे हु । ८ । ४ । १७१ ।	१३	भ्रमेरे सां वा । ८ । १ । २४४ ।	३७	मुजेरुगुसमुम्भ० । ८ । ४ । १०५ ।
४६	बहुत्वे दुः । ८ । ४ । ३८४ ।	३१	भ्रमेराडो वा । ८ । ३ । १५१ ।	३८	मुदो मलमद० । ८ । ४ । १२६ ।
१	बहुलम् । ८ । १ । २ ।	३९	भ्रमेष्टिरिटिहृ० । ८ । ४ । १६१ ।	३२	मे. स्त । ८ । ३ । १६६ ।
३३	बहुपु न्नु ह मो । ८ । ३ । १७६ ।	३५	भ्रमेस्तालि० । ८ । ४ । ३० ।	१२	मेथिशिथिरशि० । ८ । १ । २१५ ।
३१	बहुष्वाद्यस्य० । ८ । ३ । १४२ ।	२१	भ्रुवो मया डमया । ८ । २ । १६७ ।	२६	मे मह मम मह० । ८ । ३ । ११३ ।
१७	बाष्पे डोऽधु० । ८ । २ । ७० ।	म		५०	मोऽनुनासिको० । ८ । ४ । ३६७ ।
३	बाहोरात् । ८ । १ । १६ ।	२६	मह मम मह म० । ८ । ३ । १११ ।	२	मोऽनुस्वारः । ८ । १ । २३ ।
१२	बिसिन्यां भः । ८ । १ । १३७ ।	२३	मणे विमर्शे । ८ । २ । २०७ ।	४४	मोऽन्याद् णो वे० । ८ । ४ । २७९ ।
३४	बुभुक्षिवीज्योर्णो० । ८ । ४ । ५ ।	३७	मणनेभिञ्जवि० । ८ । ४ । ११५ ।	३२	मोमुमानां दि० । ८ । ३ । १६८ ।
१७	बृहस्पतिव्रन० । ८ । २ । ६६ ।	७	मधुके वा । ८ । १ । १२२ ।	२४	मोरचक्षा मुधा । ८ । २ । ७१४ ।
२०	बृहस्पतौ वहो० । ८ । ३ । १३० ।	४६	मध्यत्रयस्याद्य० । ८ । ४ । ३७३ ।	४४	मो वा । ८ । ४ । २६४ ।
१२	वो व । ८ । १ । २३७ ।	४	मध्यमकनमे० । ८ । १ । ४८ ।	३२	मौ वा । ८ । ३ । १५४ ।
४३	भो दुहलिह० । ८ । ४ । २४५ ।	३१	मध्यमस्येत्था० । ८ । ३ । १४३ ।	१६	म्लहोर्णः । ८ । २ । ४२ ।
२६	भो म्हुज्जौ वा । ८ । ३ । १०४ ।	१७	मध्याहे इः । ८ । ३ । ८४ ।	४२	म्लभः । ८ । ४ । २४३ ।
१६	ब्रह्मचर्यनूर्यसौ० । ८ । २ । ६३ ।	३३	मध्यं च स्वरा० । ८ । ३ । १७७ ।	२८	म्लाययंशौ वा । ८ । ३ । ८९ ।
४	ब्रह्मचर्ये च । ८ । १ । ५९ ।	२१	मनाकां न वा ड० । ८ । २ । १६६ ।	४१	म्लक्ष्मोपडः । ८ । ४ । १९१ ।
५०	ब्रगो ब्रुवो वा । ८ । ४ । ३६१ ।	३७	मन्थेर्धुमन्नवि० । ८ । ४ । १०१ ।	३४	म्लर्वा पञ्चायौ । ८ । ४ । १७ ।
भ		१३	मन्मथ व । ८ । १ । २४२ ।	५१	म्लो भो वा । ८ । ४ । ४१२ ।
३७	भज्जेवमय-मु० । ८ । ४ । १०६ ।	३६	मन्युनौष्ठमा० । ८ । ४ । ६६ ।	य	
४४	भवद्भगवतो । ८ । ४ । २६५ ।	१६	मन्यो न्तो वा । ८ । २ । ४४ ।	४६	यत्तरिकन्यो० । ८ । ४ । ३५७ ।
४४	भविष्यति स्तिः । ८ । ४ । ७७५ ।	२६	ममाहौ ज्यसि । ८ । ३ । ११२ ।	२०	यस्तदेतदोतो० । ८ । २ । १५६ ।
३२	भविष्यति हिग० । ८ । ३ । १६६ ।	४	मयट्यइर्वा । ८ । १ । ५० ।	४६	यस्तद स्यमोर्ध्व । ८ । ४ । ३६० ।
४६	भविष्यत्येय एव । ८ । ४ । ३२० ।	१०	मरकतमदकले० । ८ । १ । १७२ ।	५१	यत्रतत्रयान्नस्य० । ८ । ४ । ४०४ ।
४०	भवेर्लुक् । ८ । ४ । १७६ ।	२०	मलिनाभयवृ० । ८ । २ । १३८ ।	१०	यमुनाचामुएमा० । ८ । १ । १७८ ।
१६	भन्मात्मनो० । ८ । २ । ५१ ।	७	मस्त्रणमृगाङ्गु० । ८ । १ । १३० ।	१३	यष्ट्यां ल । ८ । १ । ३४७ ।
३९	जाराकान्ते नमे० । ८ । ४ । १५७ ।	३७	मस्त्रराउडुणिउ० । ८ । ४ । १०१ ।	५१	यादकतादक० । ८ । ४ । ४०२ ।
४१	जासंमिस् । ८ । ४ । २०३ ।	३६	महमहो गन्धे । ८ । ४ । ७८ ।	४६	यादशादेर्कुस्ति । ८ । ४ । ३१७ ।
३५	जियो भाषादौ । ८ । ४ । ५३ ।	५	महाराष्ट्रे । ८ । १ । ६९ ।	३५	यापेजव । ८ । ४ । ४० ।
४६	जिमा तुम्हेहिं । ८ । ४ । ३७१ ।	१६	महाराष्ट्रे हरो । ८ । २ । ११६ ।	१४	यावत्तावज्जीवि० । ८ । १ । २७१ ।
२४	जिसो दि हिं हिं । ८ । ३ । ७ ।	४६	मद् मज्जु डसि० । ८ । ४ । ३७६ ।	५१	यावत्तावतावा० । ८ । ४ । ४०६ ।
२५	मिस्स्यस्सुपि । ८ । ३ । १५ ।	७२	माड मार्ये । ८ । २ । १६१ ।	३७	युजा जुअज्जु० । ८ । ४ । १०९ ।
४७	मिस्स्येद्वा । ८ । ४ । ३३५ ।	८	मानुरिद्धा । ८ । १ । १३५ ।	४१	युधुधुधुधु० । ८ । ४ । २१७ ।
		२०	मातृपितु स्व० । ८ । २ । १४२ ।	६	युधिष्ठिर वा । ८ । १ । १५६ ।

पृष्ठ.	सूत्र
४७	युष्मन्स्य गुणः । ८ । ४ । ३३७ ।
४८	युष्मद् सौ तुहु । ८ । ४ । ३६७ ।
२८	युष्मदस्तु तुवः । ८ । ३ । ६० ।
२०	युष्मदस्मदोऽस्म । ८ । २ । १४९ ।
५२	युष्मदादेरी० । ८ । ४ । ४३४ ।
१३	युष्मदर्थपरे त । ८ । १ । ३४६ ।
५२	योगजाज्ञेयम् । ८ । ४ । ४३० ।

र

१४	रके गो वा । ८ । ५ । १० ।
३७	रचेरुगहावह० । ८ । ४ । ९४ ।
३५	रञ्जेः राव । ८ । ४ । ४७ ।
४०	रमः संखुडुबे० । ८ । ४ । १६८ ।
४५	रसोर्लशौ । ८ । ४ । २७८ ।
४७	रस्य लो वा । ८ । ४ । ३२६ ।
१८	रदोः । ८ । २ । ७३ ।
३७	राजे रघ्वः । ८ । ४ । १०० ।
४६	राज्ञो वा चिञ् । ८ । ४ । ३०४ ।
३६	राज्ञः । ८ । ३ । ४७ ।
१८	रात्रौ वा । ८ । २ । ८७ ।
८	रि'केवसस्य । ८ । १ । १४० ।
३६	रते रुज्जकपटौ । ८ । ४ । ५७ ।
४३	रदनम्मोर्व । ८ । ४ । ३३६ ।
४१	रदभुजमुचां० । ८ । ४ । २१३ ।
११	रदिते दिना ऋः । ८ । १ । २०७ ।
३८	रधेरुपङ्ग । ८ । ४ । १३३ ।
४१	रधो न्धम्भौ च । ८ । ४ । ३१८ ।
४२	रपादीनां दीर्घः । ८ । ४ । २३६ ।
३३	रे अरे सभाषण० । ८ । २ । २०१ ।
२१	रो दीर्घात् । ८ । २ । १७१ ।
३५	रोमन्ये रोगा० । ८ । ४ । ४३ ।
३	रो रा । ८ । १ । १६ ।
१५	रोम्याधूर्त्तादौ । ८ । २ । ३० ।
४६	रोस्नष्टा रिय० । ८ । ४ । ३१४ ।
७	लुकि डुरो वा । ८ । १ । ११५ ।
६	लुकि निर । ८ । १ । ६३ ।
१८	रोपतसवज्जे वा । ८ । २ । १०५ ।
१७	रुध्रीन्हाकृत्स्न० । ८ । २ । १०४ ।

ल

१६	लघुके लहो । ८ । ५ । १२२ ।
१३	लघाटे च । ८ । १ । ३५७ ।
१६	ललाटे लमो । ८ । ५ । १२३ ।
३७	लस्जेर्जीदः । ८ । ४ । १०३ ।
१६	लात् । ८ । २ । १०६ ।
१३	लाहललाङ्गल० । ८ । १ । २५६ ।
५३	लिङ्गमतन्त्रम् । ८ । ४ । ४४५ ।
३६	लिपो लिम्पः । ८ । ४ । १४६ ।
१	लुक् । ८ । १ । १० ।
३१	लुगावी कभाव० । ८ । ३ । १५२ ।
१४	लुभाजनदनुज । ८ । १ । ३६७ ।
३	लुसयरवशप० । ८ । १ । ४३ ।
२५	लुसे शसि । ८ । ३ । १७ ।

३६	लुजे' सभावः । ८ । ४ । १५३ ।
४६	लोळ । ८ । ४ । ३०८ ।
२१	ल्लो नवैकाद्या । ८ । २ । १६५ ।

व

२	वक्रादाधन्तः । ८ । १ । २६ ।
४१	वचो वात् । ८ । ४ । २११ ।
३७	वज्जेर्वहवेलव० । ८ । ४ । ६३ ।
२३	वणे निश्चयवि० । ८ । २ । २०६ ।
२०	वतेर्व्व । ८ । २ । १५० ।
३०	वधात् डाह्वा । ८ । ३ । १३३ ।
१६	वनिताया विल० । ८ । २ । १२८ ।
२	वर्गेऽन्त्यो वा । ८ । १ । ३० ।
३२	वर्तमानापञ्च० । ८ । ३ । १५८ ।
३३	वर्तमानाभवि० । ८ । ३ । १७७ ।
५०	वत्स्यति स्यस्य० । ८ । ४ । ३७८ ।
४	वल्गुत्करपर्य० । ८ । १ । ५७ ।
७	वा कदले । ८ । १ । १६७ ।
३	वाक्यार्थवचना० । ८ । १ । ३३ ।
५८	वाऽदसो दस्य० । ८ । ३ । ८७ ।
४४	वाऽदस्तावति । ८ । ४ । २६३ ।
१२	वाऽद्वौ । ८ । १ । ३२६ ।
५०	वाऽधो रो मुक् । ८ । ४ । ३९८ ।
६	वा निर्भरे ना । ८ । १ । ६७ ।
५१	वाऽन्यथोऽनु । ८ । ४ । ४१५ ।
२६	वाऽप य । ८ । ३ । ४१ ।
८	वा बृहस्पतौ । ८ । १ । १३८ ।
१३	वाऽभिमन्यौ । ८ । १ । २४३ ।
५१	वा यत्तदाऽतोर्मे० । ८ । ४ । ४०७ ।
४	वाऽपी । ८ । १ । ६३ ।
४	वाऽलावरण्ये० । ८ । १ । ६६ ।
१६	वा विह्वले वौ० । ८ । २ । ५८ ।
४	वाऽव्ययोत्खाता० । ८ । १ । ६७ ।
२	वा स्वरे मञ्च । ८ । १ । ५४ ।
२	विशत्यादलुक् । ८ । १ । २८ ।
४१	विकसे कोत्रा० । ८ । ४ । १६५ ।
३५	विकोशे पक्षो० । ८ । ४ । ४५ ।
४०	विगले शिष्य० । ८ । ४ । १७५ ।
३५	विक्रपेर्वोक्ता० । ८ । ४ । ३८ ।
१२	वितस्तिवस० । ८ । १ । ३१४ ।
२१	विनुत्पत्रपीता० । ८ । २ । १७३ ।
३५	विर्चिचरासुगो० । ८ । ४ । २६ ।
३७	विलपेर्भक्तवम० । ८ । ४ । १४८ ।
३६	विलीडर्विरा । ८ । ४ । ५६ ।
३७	विवृत्तर्दसः । ८ । ४ । ११८ ।
३६	विभ्रमर्णिवा । ८ । ४ । १५६ ।
५१	विषण्णकृत्तर्म० । ८ । ४ । ४२१ ।
१३	विषमे मो ढो वा । ८ । १ । २४१ ।
३८	विसवदर्विभ्रष्ट० । ८ । ४ । १२६ ।
३६	विस्मु पम्हुस-० । ८ । ४ । ७५ ।
२४	वीप्सात्स्यादेर्वी० । ८ । ३ । १ ।
१६	वृक्कितयो र० । ८ । २ । १२७ ।

१५	वृत्तप्रवृत्तमृत्ति० । ८ । २ । २७ ।
१५	वृन्ते एट । ८ । २ । ३१ ।
१५	वृश्चिकेऽर्जुर्वा । ८ । २ । १६ ।
७	वृषभे वा वा । ८ । १ । १३३ ।
४२	वृषादीनामरः । ८ । ४ । २३५ ।
३७	वृषे ढिकः । ८ । ४ । ६६ ।
११	वृणौ णो वा । ८ । १ । २०३ ।
९	वेतः कर्णिकारे । ८ । १ । १६८ ।
५१	वेदकिमोऽर्थादेः । ८ । ४ । ४०७ ।
२८	वेदतदेतदो ङ० । ८ । ३ । ८१ ।
३६	वेपेरायम्बाय० । ८ । ४ । १४७ ।
३	वेमाञ्जल्याद्या ० । ८ । १ । ३५ ।
२३	वेव च आमन्त्रणा । ८ । २ । १६४ ।
२३	वेवे जयधारण० । ८ । २ । १६३ ।
४३	वष्ट । ८ । ४ । २२१ ।
३५	वेष्टेः परिभालः । ८ । ४ । ५१ ।
२१	वैकाहः सि सि० । ८ । २ । १६३ ।
१६	वैमूर्यस्य वैरुलिया । ८ । ३ । १३३ ।
२८	वैतत्तदः । ८ । ३ । ३ ।
२८	वैतदो ङसेस्त्तो० । ८ । ३ । ८९ ।
८	वैरादौ वा । ८ । १ । १५२ ।
२७	वैसेणमिणमो० । ८ । ३ । ८५ ।
२६	वोतुञ्जक्तुमे० । ८ । ३ । ६३ ।
२५	वोतो ङवो । ८ । ३ । २१ ।
१३	वोत्तरीयानीय० । ८ । १ । २४८ ।
१६	वोत्साहे थो हञ्ज० । ८ । २ । ४८ ।
५३	वोदः । ८ । ४ । २२३ ।
६	वोपरौ । ८ । १ । १०७ ।
३७	वोपेन कम्मवः । ८ । ४ । १११ ।
१६	वोध्वे । ८ । २ । ५६ ।
११	वोषधे । ८ । १ । २२७ ।
५२	व्यञ्जनाददन्ते । ८ । ४ । २३६ ।
३२	व्यञ्जनादीभ्यः । ८ । ३ । १६३ ।
५३	व्यत्ययञ्च । ८ । ४ । ४४७ ।
५४	व्याकरणप्राका० । ८ । १ । २६७ ।
३८	व्यापेरोऽभ्रगः । ८ । ४ । १४१ ।
३६	व्यापेरोऽभ्रङ् । ८ । ४ । ७१ ।
३६	व्याहणे काक० । ८ । ४ । ७६ ।
४३	व्याहणेर्वादिष्यः । ८ । ४ । २५३ ।
४२	व्यज्जुतमदां ऋः । ८ । ४ । २२५ ।
५०	व्यजेर्वुभः । ८ । ४ । ३६२ ।
४५	व्यजो जः । ८ । ४ । २६४ ।

श

४२	शकादीनां० । ८ । ४ । २३० ।
३७	शकेभ्यतरती० । ८ । ४ । ७६ ।
१४	शक्तमुकदष्टरुण० । ८ । ३ । ३ ।
३३	शङ्खानशः । ८ । ३ । १८१ ।
३८	शदो ङरुपक्षो० । ८ । ४ । १३० ।
२१	शनैसो ढिभ्रम् । ८ । २ । १६८ ।
१३	शबरे वो म । ८ । १ । २५८ ।
४०	शमेः पणिसाप० । ८ । ४ । १६७ ।
३	शरदादेरत् । ८ । १ । १८ ।

पृष्ठ	सूत्र
१३	शपो स० । ८ । १ । ३६० ।
४६	शपो स० । ८ । ४ । ३०६ ।
१७	शार्ङ्गे डात्पूर्वोऽन् । ८ । २ । १०० ।
५	शिथिलेङ्गुदे वा । ८ । १ । ७६ ।
१४	शिराया वा । ८ । १ । २६६ ।
१०	शीकरे भहौ वा । ८ । १ । १८४ ।
५१	शीघ्रादीनां वहि० । ८ । ४ । ४२२ ।
२०	शीघ्राद्यर्थे स्पेर० । ८ । २ । १४५ ।
१४	शुटके ङा वा । ८ । २ । ११ ।
१४	शुष्कस्कन्दे वा । ८ । २ । ५ ।
१०	शृङ्खले ख० क० । ८ । १ । १७६ ।
४५	शेष प्राकृतवत् । ८ । ४ । ३८६ ।
४७	शेष प्राग्वत् । ८ । ४ । ३७८ ।
४५	शेष शौरसेनीवत् । ८ । ४ । ३०२ ।
४६	शेष शौरसेनीवत् । ८ । ४ । ३३३ ।
५३	शेष सस्कृतवत् । ८ । ४ । ४४७ ।
३०	शेषेऽदन्तवत् । ८ । ३ । १२४ ।
३६	शैथिल्यल० । ८ । ४ । ७० ।
५३	शौरसेनीवत् । ८ । ४ । ४४६ ।
१७	श्रो हरिश्चन्द्रे । ८ । २ । ७७ ।
५	श्यामाके मः । ८ । १ । ७१ ।
३४	श्रदो धो दहः । ८ । ४ । ९ ।
१६	श्रद्धार्थिपूर्वाऽर्थे० । ८ । २ । ४१ ।
३६	श्रमे वाक्स्फः । ८ । ४ । ६८ ।
३३	श्रुगमिरुदिविदि० । ८ । ३ । १७१ ।
३६	श्रुतेर्हणः । ८ । ४ । ५८ ।
३०	श्रुतः सलहः । ८ । ४ । ७७ ।
४१	श्रुतेः सामगाव० । ८ । ४ । १९० ।
१६	श्रेष्ठाणि वा । ८ । २ । ५५ ।

ष

१४	षट्शमीशावसु० । ८ । १ । २६५ ।
४८	षष्ठ्या० । ८ । ४ । ३४५ ।
१४	ष्कस्कयोर्नाम्नि । ८ । ३ । ४ ।
१५	ष्ट्यानुष्टुप्सादष्टे । ८ । २ । ३४ ।
१६	ष्पस्पयोः फः । ८ । २ । ५३ ।

स

१३	सख्यागङ्गे र० । ८ । १ । ३१६ ।
३०	सख्याया आमो० । ८ । ३ । १२३ ।
१७	सतपेर्मह । ८ । ४ । १४० ।
४०	सादिशोरप्पाहः । ८ । ४ । १८० ।
३५	सभावेरासङ्गः । ८ । ४ । ३५ ।
१४	सयुक्तस्य । ८ । २ । १ ।
३६	सवृगेः साहर० । ८ । ४ । ८२ ।
११	सटाशकटकैट० । ८ । १ । १९६ ।
४१	सदपतोर्दः । ८ । ४ । ३१६ ।
११	सप्ततौ र० । ८ । १ । ३१० ।
४	सप्तपर्णे वा । ८ । १ । ४९ ।
३१	सप्तम्या द्वितीया । ८ । ३ । १३७ ।
३४	सप्तम्यः स्था । ८ । ४ । १५ ।
४३	सप्तम्याद् वधे । ८ । ४ । २४८ ।
३६	समा अग्निङ् । ८ । ४ । १६४ ।
३६	समापे समाणः । ८ । ४ । १४३ ।
३७	समारचरेवह० । ८ । ४ । ९५ ।

१८	समासे वा । ८ । २ । ९७ ।
३८	समो गलः । ८ । ४ । ११३ ।
४३	समो ह्य । ८ । ४ । ३२२ ।
१५	सम्मर्दविनर्दि० । ८ । २ । ३६ ।
१७	सर्वत्र लवराम० । ८ । २ । ७९ ।
४६	सर्वस्य साहो वा । ८ । ४ । ३६६ ।
२०	सर्वाङ्गादीनस्येकः । ८ । २ । १५१ ।
४६	सर्वादेर्दसेर्हा । ८ । ४ । ३५५ ।
४५	सपो सयोगे सो० । ८ । ४ । ३८६ ।
१५	साध्वसध्याह्याङ् । ८ । ३ । २६ ।
१५	सामर्थ्योत्सुको० । ८ । २ । २२ ।
४६	सावस्मदो हउ० । ८ । ४ । ३७५ ।
३७	सिचे सिञ्चसि० । ८ । ४ । ६६ ।
३१	सिनास्ते सि । ८ । ३ । १४६ ।
३२	सी ही हीअ भू० । ८ । ३ । १६२ ।
४६	सुपा अम्हासु । ८ । ४ । ३८१ ।
२६	सुपि । ८ । ३ । १०३ ।
३०	सुपि । ८ । ३ । ११७ ।
१७	सुद्धमश्रुणक्ष० । ८ । २ । ७५ ।
४२	सृजो र० । ८ । ४ । २३६ ।
१८	सेवादौ वा । ८ । २ । ६६ ।
७	सैन्ये वा । ८ । १ । १५० ।
३३	सोच्छादय इजा० । ८ । ३ । १७२ ।
३३	सोर्हिर्वा । ८ । ३ । १७४ ।
३७	सौ पुस्योद्वा । ८ । ४ । ३३२ ।
४५	स्कः प्रेक्षाचक्रो० । ८ । ४ । ३६७ ।
१६	स्तब्धे ठदौ । ८ । २ । ३६ ।
१४	स्तम्भे स्तो वा । ८ । ३ । ८ ।
१६	स्तवे वा । ८ । २ । ४६ ।
१६	स्तस्य थोऽसम० । ८ । २ । ४५ ।
१६	स्तोकस्य थोक्क० । ८ । २ । १३५ ।
१५	स्त्यानचतु० । ८ । २ । ३३ ।
१६	स्त्रिया इत्थी । ८ । २ । १३० ।
४८	स्त्रियां जस्श० । ८ । ४ । ३४८ ।
४६	स्त्रियां रुहे । ८ । ४ । ३५६ ।
५२	स्त्रियां तदन्ताङ्गी । ८ । ४ । ४३१ ।
२२	स्त्रियामादवि० । ८ । १ । १५ ।
२५	स्त्रियामुदातौ वा । ८ । ३ । २० ।
४५	स्थर्थयोस्त । ८ । ४ । २६१ ।
६	स्थविरविचकि० । ८ । १ । १६६ ।
३४	स्थष्टाथक्क० । ८ । ४ । १६ ।
१४	स्थाणावहरे । ८ । २ । ७ ।
७	स्थूणातूणे वा । ८ । १ । १२५ ।
१३	स्थूलं लो र० । ८ । १ । २५५ ।
३	स्नमदामशिरो० । ८ । १ । ३२ ।
३४	स्नातेरञ्जुत्तः । ८ । ४ । १४ ।
१६	स्निग्धे वाऽदितौ । ८ । ३ । १०६ ।
४३	स्निहसिचो सि० । ८ । ४ । २५५ ।
१३	स्तुपायां एहो वा० । ८ । १ । २६१ ।
१७	स्नेहान्योर्वा । ८ । २ । १०३ ।
३८	स्पन्देऽञ्जुलुञ्ज । ८ । ४ । १२७ ।
४३	स्पृशेऽश्लुप्पः । ८ । ४ । २५७ ।
४०	स्पृश फासफ० । ८ । ४ । १८२ ।
३५	स्पृहः सिंहः । ८ । ४ । ३४ ।
१५	स्पृहायाम् । ८ । २ । २३ ।

११	स्फटिके व० । ८ । १ । १९० ।
४३	स्फुटिचत्वे० । ८ । ४ । २३१ ।
३६	स्फुरन्तुरङ्ग० । ८ । ४ । ७५ ।
४७	स्यमोरस्यात् । ८ । ४ । ३३१ ।
४७	स्यमजसृशसा० । ८ । ४ । ३४४ ।
४७	स्यादौ दीर्घ० । ८ । ४ । ३३० ।
१९	स्याद्भ्यन्यैत्य० । ८ । ३ । १०७ ।
४१	स्रसेर्हमिर्मभौ । ८ । ४ । १९७ ।
४	स्वपावुष्य । ८ । १ । ६४ ।
३९	स्वपेः कमवस० । ८ । ४ । १४६ ।
१३	स्वप्नोर्व्यावा । ८ । १ । २५६ ।
१९	स्वप्ने नात् । ८ । २ । १०८ ।
२३	स्वयमोऽर्थे अण्ण० । ८ । ३ । २०६ ।
१	स्वरस्यादुत्ते । ८ । १ । ७ ।
४३	स्वराणां स्वराः । ८ । ४ । ३३८ ।
४७	स्वराणां स्वरा० । ८ । ४ । ३०९ ।
४२	स्वरादनतो वा । ८ । ४ । ३४० ।
१०	स्वरादस्युक्त० । ८ । १ । १७६ ।
२	स्वरेऽन्तरश्च । ८ । १ । १४ ।
२६	स्वस्मादेर्मा । ८ । ३ । ३५ ।
३१	स्वार्थे कश्च वा । ८ । २ । १६४ ।
४२	स्विदां जज् । ८ । ४ । ३३४ ।
२८	स्विस्सयोरत् । ८ । ३ । ७४ ।

ह

४४	हज्जे चेत्याह्वाने । ८ । ४ । २७१ ।
४३	हन्त्रोऽन्यस्य । ८ । ४ । ३४४ ।
२२	हन्द् च गृहाणार्थे । ८ । २ । १७१ ।
२२	हन्दि विषादवि० । ८ । २ । १८० ।
२३	हज्जी निर्वेदे । ८ । २ । १९२ ।
१९	हरिताले रत्नो० । ८ । २ । १९१ ।
१३	हरिदादौ व० । ८ । १ । २५४ ।
६	हरीतक्यामी० । ८ । १ । ६९ ।
२३	हरे कपो च । ८ । २ । २०९ ।
४१	हसेर्गुञ्ज । ८ । ४ । १६६ ।
३७	हासेन स्फुटेर्मु० । ८ । ४ । ११४ ।
५०	हिस्वयोरिदु । ८ । ४ । ३८७ ।
४४	हीमाणहे विस्र० । ८ । ४ । २८३ ।
४५	हीही विदूषकस्य । ८ । ४ । २८५ ।
४८	हु चेदुऽयाम् । ८ । ४ । ३४० ।
२३	हु दानपृच्छानि० । ८ । ३ । १९७ ।
२३	हु खु निश्चयवि० । ८ । ३ । १८८ ।
५२	हुहुगुग्घादय० । ८ । ४ । १२३ ।
४३	हुहुत्तुर्जामीर । ८ । ४ । २५० ।
४६	हुदये यम्य प । ८ । ४ । ३१० ।
१३	हो घोऽनुस्वारात् । ८ । १ । २६४ ।
१६	हो ह्यो० । ८ । २ । १२४ ।
१६	हुदे हदो० । ८ । २ । १३० ।
१५	हुस्वात् थ्यश्च० । ८ । २ । ०१ ।
२६	हुस्वामि । ८ । ३ । ३६ ।
५	हुस्व सयोगे० । ८ । १ । ७४ ।
३८	हुदेरवचच्छः । ८ । ४ । १२२ ।
१७	हो ल्ह । ८ । २ । ७६ ।
१६	हो भो वा । ८ । २ । ५७ ।

इति प्राकृतसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका ।

॥ श्रीअभिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ३ ॥

॥ संक्षिप्तप्राकृतशब्दरूपावलिः ॥



अकारान्तः पुंलिङ्गो 'वृद्ध' शब्दः ।

विभक्तिः	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	वृद्धो ।	वृद्धा ।
द्वितीया	वृद्ध ।	वृद्धे, वृद्धा ।
तृतीया	वृद्धेण, वृद्धेण ।	वृद्धेहि, वृद्धेहिँ, वृद्धेहिँ ।
चतुर्थी	वृद्धाय, * वृद्धस्स ।	वृद्धाणं, वृद्धाण ।
पञ्चमी	वृद्धतो, वृद्धाओ, वृद्धाउ)	वृद्धतो, वृद्धाओ, वृद्धाउ, वृद्धाहि, वृद्धेहि ।
„	वृद्धाहि, वृद्धाहिन्तो, वृद्धा ।	(वृद्धाहिन्तो, वृद्धेहिन्तो, वृद्धासुन्तो, वृद्धेसुन्तो ।
षष्ठी	वृद्धस्स ।	वृद्धाणं, वृद्धाण ।
सप्तमी	वृद्धस्मि, वृद्धे ।	वृद्धेसुं, वृद्धेसु ।
संबोधनम्	हे वृद्ध, हे वृद्धो, हे वृद्धा ।	हे वृद्धा ।

आकारान्तः पुंलिङ्गो 'गोपा' शब्दः ।

विभक्तिः	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गोवो ।	गोवा ।
द्वितीया	गोवां ।	गोवा ।
तृतीया	गोवाणं, गोवाण ।	गोवाहिँ गोवाहिँ, गोवाहि ।
चतुर्थी	गोवे, गोवस्स ।	गोवाणं, गोवाण ।
पञ्चमी	गोवतो, गोवाओ, गोवाउ)	गोवतो, गोवाओ, गोवाउ, गोवाहिन्तो,
„	गोवाहिन्तो ।	(गोवासुन्तो ।
षष्ठी	गोवस्स ।	गोवाण, गोवाण ।
सप्तमी	गोवस्मि ।	गोवासुं, गोवासु ।
संबोधनम्	हे गोवो, हे गोवा ।	हे गोवा ।

इकारान्तः पुंलिङ्गो 'गिरि' शब्दः ।

विभक्तिः	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गिरी ।	गिरिणो, गिरी, गिरउ, गिरओ ।
द्वितीया	गिरिं ।	गिरिणो, गिरी ।
तृतीया	गिरिणा ।	गिरीहिँ, गिरीहिँ, गिरीहि ।
चतुर्थी	गिरिणो, गिरिस्स, गिरये ।	गिरीणं, गिरीण ।
पञ्चमी	गिरिणो, गिरित्तो, गिरीओ, गिरीउ)	गिरित्तो, गिरीओ, गिरीउ, गिरीहिन्तो,
„	गिरीहिन्तो ।	(गिरीसुन्तो ।
षष्ठी	गिरिणो, गिरिस्स ।	गिरीण, गिरीण ।
सप्तमी	गिरिस्मि ।	गिरिंसुं, गिरीसु ।
संबोधनम्	हे गिरि, हे गिरी ।	हे गिरिणो, हे गिरी, हे गिरउ, हे गिरओ ।

ईकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' गामणी ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गामणी ।	गामणिणो, गामणी, गामणउ, गामणओ ।
द्वितीया	गामणि ।	गामणिणो, गामणी ।
तृतीया	गामणिणा ।	गामणीहि, गामणीहिँ, गामणीहिं ।
चतुर्थी	गामणये, गामणिणो, गामणिस्स ।	गामणीणं, गामणीण ।
पञ्चमी	गामणिणो, गामणित्तो, गामणीओ)	गामणित्तो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिन्तो,
"	गामणीउ, गामणीहिन्तो ।	(गामणीसुन्तो ।
षष्ठी	गामणिणो, गामणिस्स ।	गामणीणं, गामणीण ।
सप्तमी	गामणिम्मि ।	गामणीसुं, गामणीसु ।
संबोधनम्	हे गामणि, हे गामणी ।	हे गामणिणो, हे गामणी, हे गामणउ, हे गामणओ ।

उकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' गुरु ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गुरु ।	गुरुणो, गुरु, गुरओ, गुरउ, गुरवो * ।
द्वितीया	गुरु ।	गुरुणो, गुरु ।
तृतीया	गुरुणा ।	गुरुहिं, गुरुहिँ, गुरुहि ।
चतुर्थी	गुरवे, गुरुणो, गुरुस्स ।	गुरुणं, गुरुण ।
पञ्चमी	गुरुणो, गुरुत्तो गुरुओ, गुरुउ)	गुरुत्तो, गुरुओ, गुरुउ, गुरुहिन्तो,
"	गुरुहिन्तो ।	(गुरुसुन्तो ।
षष्ठी	गुरुणो, गुरुस्स ।	गुरुणं, गुरुण ।
सप्तमी	गुरुम्मि ।	गुरुसुं, गुरुसु ।
संबोधनम्	हे गुरु, हे गुरु ।	हे गुरुणो, हे गुरु, हे गुरउ, हे गुरओ, हे गुरवो ।

ऊकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' खलपू ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	खलपू ।	खलपुणो, खलपू, खलपउ, खलपओ, खलपवा ।
द्वितीया	खलपुं ।	खलपुणो, खलपू ।
तृतीया	खलपुणा ।	खलपूहिं, खलपूहिँ, खलपूहि ।
चतुर्थी	खलपवे, खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणं, खलपूण ।
पञ्चमी	खलपुणो, खलपुत्तो, खलपूओ)	खलपुत्तो, खलपूओ, खलपूउ,
"	खलपूउ, खलपूहिन्तो ।	(खलपूहिन्तो, खलपूसुन्तो ।
षष्ठी	खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणं, खलपूण ।
सप्तमी	खलपुम्मि ।	खलपूसुं, खलपूसु ।
संबोधनम्	हे खलपु, हे खलपू ।	हे खलपुणो, हे खलपू, हे खलपउ, हे खलपओ, हे खलपवो ।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' पितृ ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	पित्रा, पिअरो ।	पित्ररा, पिउणो, पिअउ, पिअओ, पिऊ ।
द्वितीया	पिअरं ।	पित्ररा, पिअरं, पिउणो, पिऊ ।
तृतीया	पिउणा, पिअरेणं, पिअरेण ।	पिअरोहिं, पिअरोहिँ, पिअरोहि, पिऊहि, पिऊहिँ, पिऊहिं ।

विभक्ति एकवचन ।

चतुर्थी पिअरस्म, पिउणो, पिउस्स ।

पञ्चमी पिउणो, पिउत्तो, पिउओ, पिउउ, पिउहि—)

” न्तो, पिअरत्तो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि,)

” पिअराहिन्तो, पिअरा ।

षष्ठी पिअरस्स, पिउणो, पिउस्स ।

सप्तमी पिअरम्मि, पिअरे, पिउम्मि ।

सम्बोधनम् हे पिअ, हे पिअरं ।

बहुवचन ।

पिअराणं, पिअराण, पिउणं, पिउण ।

पिअरत्तो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि, पिअरेहि,

(पिअराहिन्तो, पिअरेहिन्तो, पिअरासुन्तो, पिअरेसु—

न्तो, पिउत्तो, पिउओ, पिउउ, पिउहिन्तो, पिउसुन्तो ।

पिअराणं, पिअराण, पिउण, पिउण ।

पिअरेसुं, पिअरेसु, पिउसुं, पिउसु ।

हे पिअरा, हे पिउ, हे पिउणो ।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गो ‘नर्तृ’ शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा भत्ता, नत्तारो ।

द्वितीया नत्तारं ।

तृतीया नत्तुणा, भत्तारेणं, नत्तारेण ।

चतुर्थी भत्तुणो, नत्तुस्स, नत्तारस्स ।

पञ्चमी नत्तुणो, नत्तुत्तो, नत्तुओ, भत्तुउ, भत्तुहिन्तो,)

” भत्तारत्तो, भत्ताराओ, नत्ताराउ, नत्ताराहि, भ—

” चाराहिन्तो, नत्तारा ।

षष्ठी भत्तुणो, भत्तुस्स, भत्तारस्स ।

सप्तमी भत्तुम्मि, भत्तारम्मि, भत्तारे ।

सम्बोधनम् हे नत्त, हे नत्तार ।

बहुवचन ।

भत्तुणो, भत्तु, भत्तुउ, नत्तुओ, नत्तारा ।

नत्तुणो, भत्तु, नत्तारे ।

भत्तारंहिं, भत्तारोहिं, नत्तारोहि, भत्तूहिं, भत्तूहिं, नत्तूहि ।

भत्तूणं, नत्तूण, भत्ताराणं, नत्ताराण ।

भत्तुत्तो, भत्तुओ, नत्तुउ, नत्तुहिन्तो, नत्तुसुन्तो, भ—

(त्तारत्तो, भत्ताराओ, नत्ताराउ, भत्ताराहि, भत्तारोहि, भ—

(त्ताराहिन्तो, नत्तारेहिन्तो, नत्तारासुन्तो, भत्तारेसुन्तो ।

भत्तूणं, नत्तूण, भत्ताराणं, नत्ताराण ।

नत्तूसुं, नत्तूसु, भत्तारेसुं, भत्तारेसु ।

हे भत्तु, हे नत्तुणो, हे नत्तुउ, हे भत्तुओ, हे नत्तारा ।

नकारान्तस्यापि ‘राजन्’ शब्दस्य प्राकृतेऽकारान्तवद् रूपं ज्ञेयम् ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा राया, रायाणो ।

द्वितीया रायाणं, रायं, राइणं ।

तृतीया रायाणेणं, रायाणेण, राइणा, रखा, राखणं,

” राएण, रायणा ।

चतुर्थी रायाणस्स, रायाणो, रखो, राइणो, रायस्स ।

” ”

पञ्चमी रायाणत्तो, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि,)

” रायाणाहिन्तो, रायाणा, राइणो, रायाणो, रखो,)

” रायत्तो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, रायाहिन्तो,)

” राया ।

” ”

षष्ठी रायाणस्स, राइणो, रखो, रायाणो, रायस्स ।

” ”

सप्तमी रायाणम्मि, रायाणे, राइम्मि, रायम्मि, राए ।

सम्बोधनम् हे रायाण, हे रायाणा, हे रायाणो, हे राअ, हे राआ ।

बहुवचन ।

रायाणो, राइणो, राया, रायाणा ।

रायाणो, राइणो, रायाणे, राए ।

रायाणेहिं, रायाणेहिं, रायाणेहि, राईहिं, राईहिं, रा—

(ईहि, राएहिं, राएहिं, राएहि ।

रायाणाणं, रायाणाण, राइण, राइण, राईणं, राईण,

रायाणं, रायाण ।

राइत्तो, राईओ, राईउ, राईहिन्तो, राईसुन्तो, राया—

(णत्ता, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि, रायाणेहि,

(रायाणाहिन्तो, रायाणेहिन्तो, रायाणासुन्तो, रायाणेसु—

(न्तो, रायत्तो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, राएहि, राया—

(हिन्तो, राएहिन्तो, रायासुन्तो, राएसुन्तो ।

रायाणाणं, रायाणाण, राईण, राईण, राइणं, राइण,

(रायाण, रायाण ।

रायाणेसुं, रायाणेसु, राईसु, राईसु, राएसुं, राएसु ।

हे रायाणा, हे राइणो, हे रायाणो ।

नकारान्तः पुँल्लिङ्गो ‘आत्मन्’ शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अप्पाणो, अप्पो, अप्पा ।

बहुवचन ।

अप्पाणा, अप्पाणो, अप्पा ।

विज्ञक्ति एकवचन ।

द्वितीया अप्पाणं, अप्पं ।

तृतीया अप्पाणेणं, अप्पाणेण, अप्पेणं, अप्पेण, अप्प-

" एण, अप्पणइआ, अप्पणिआ ।

चतुर्थी अप्पाणस्स, अप्पस्म, अप्पणो ।

पञ्चमी अप्पाणत्तो, अप्पाणाओ, अप्पाणाउ, अप्पाणाहि,)

" अप्पाणाहिन्तो, अप्पाणा, अप्पणो, अप्पत्तो, अप्पा-

" ओ, अप्पाउ, अप्पाहि, अप्पाहिन्तो, अप्पा ।

"

षष्ठी अप्पाणस्स, अप्पस्स, अप्पणो ।

सप्तमी अप्पाणम्मि, अप्पाणे, अप्पम्मि, अप्पे ।

सम्बोधनम् हे अप्पाणो, हे अप्पो, हे अप्प ।

बहुवचन ।

अप्पाणे, अप्पाणो, अप्पे ।

अप्पाणेहिं, अप्पाणेहिं. अप्पाणेहि, अप्पेहिं, अप्पेहिं,

(अप्पेहि ।

अप्पाणाणं, अप्पाणाण, अप्पाणं, अप्पाण ।

अप्पाणत्तो, अप्पाणाओ, अप्पाणाउ, अप्पाणाहि, अप्पा-

(णेहि, अप्पाणेहिन्तो, अप्पाणाहिन्तो, अप्पाणेसुन्तो,

(अप्पाणासुन्तो, अप्पत्तो, अप्पाओ, अप्पाउ, अप्पाहि,

(अप्पेहि, अप्पाहिन्तो, अप्पेहिन्तो, अप्पासुन्तो, अप्पेसुन्तो।

अप्पाणाणं, अप्पाणाण, अप्पाणं, अप्पाण ।

अप्पाणेसुं, अप्पाणेसु, अप्पेसुं, अप्पेसु ।

हे अप्पाणो, हे अप्पाणा, हे अप्पा ।

॥ अथ सर्वादीनां पुँल्लिङ्गे रूपाणि तत्र सर्वशब्दः ॥

विज्ञक्ति एकवचन ।

प्रथमा सन्वो ।

द्वितीया सन्वं ।

तृतीया सन्वेणं, सन्वेण ।

चतुर्थी सन्वस्स ।

पञ्चमी सन्वत्तो, सन्वाओ, सन्वाउ, सन्वाहिन्तो, स-

" न्वाहि, सन्वा ।

षष्ठी सन्वस्स ।

सप्तमी सन्वस्सिं, सन्वम्मि, सन्वत्थ, सन्वहिं ।

सम्बोधनम् हे सन्व, हे सन्वो, हे सन्वा ।

बहुवचन ।

सन्वे ।

सन्वे, सन्वा ।

सन्वेहिं, सन्वेहिं, सन्वेहि ।

सन्वेसिं, सन्वाणं, सन्वाण ।

सन्वत्तो, सन्वाओ सन्वाउ, सन्वाहि, सन्वेहिं, सन्वा-

(हिन्तो, सन्वेहिन्तो, सन्वासुन्तो, सन्वेसुन्तो ।

सन्वेसिं, सन्वाणं, सन्वाण ।

सन्वेसुं, सन्वेसु ।

हे सन्वे ।

तथाऽकारान्तः पुँल्लिङ्गे 'विश्व' शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा विस्सो ।

द्वितीया विस्स ।

तृतीया विस्सेणं, विस्सेण ।

चतुर्थी विस्सस्स ।

पञ्चमी विस्सत्तो, विस्साओ, विस्साउ, विस्साहि, वि-

" स्साहिन्तो, विस्सा ।

षष्ठी विस्सस्स ।

सप्तमी विस्सस्सिं, विस्सम्मि, विस्सत्थ, विस्सहिं ।

सम्बोधनम् हे विस्स, हे विस्सो, हे विस्सा ।

बहुवचन ।

विस्से ।

विस्से, विस्सा ।

विस्सेहिं, विस्सेहिं, विस्सेहि ।

विस्सेसिं, विस्साणं, विस्साण ।

विस्सत्तो, विस्साओ, विस्साउ, विस्साहि, विस्सेहि, वि-

स्साहिन्तो, विस्सेहिन्तो, विस्सासुन्तो, विस्सेसुन्तो ।

विस्सेसिं, विस्साण, विस्साण ।

विस्सेसुं, विस्सेसु ।

हे विस्से ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्गे 'उज्जय' शब्दः

विज्ञक्ति एकवचन ।

प्रथमा उज्जयो ।

द्वितीया उज्जयं ।

बहुवचन ।

उज्जये ।

उज्जये, उज्जया ।

विज्ञप्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
हृतीया	उभयेणं, उभयेण ।	उभयेहिं, उजयेहिं, उजयेहि ।
चतुर्थी	उजयस्स ।	उभयेसिं, उभयाणं, उजयाण ।
पञ्चमी	उजयत्तो, उजयाओ, उभयाउ, उजयाहि, उ-	उभयत्तो, उजयाओ, उजयाउ, उजयाहि, उजवेहि, उ-
„	भयाहिन्तो, उभया ।	(भयाहिन्तो, उजयेहिन्तो, उभयासुन्तो, उभयेसुन्तो ।
षष्ठी	उभयस्स ।	उभयेसिं, उजयाणं, उजयाण ।
सप्तमी	उभयस्मि, उजयस्सि, उजयस्य, उजयहिं ।	उभयेसुं, उभयेसु ।
सम्बोधनम्	हे उजय, हे उभयो, हे उभया ।	हे उजये ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' अन्य ' शब्दः ।

विज्ञप्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अस्यो ।	अस्ये ।
द्वितीया	अस्यं ।	अस्ये, अस्या ।
हृतीया	अस्येणं, अस्येण ।	अस्येहिं, अस्येहिं, अस्येहि ।
चतुर्थी	अस्यस्स ।	अस्येसिं, अस्याणं, अस्याण ।
पञ्चमी	अस्यत्तो, अस्याओ, अस्याउ, अस्याहि, अस्या-	अस्यत्तो, अस्याओ, अस्याउ, अस्याहि, अस्येहि, अ-
„	हिन्तो, अस्या ।	(स्याहिन्तो, अस्येहिन्तो, अस्यासुन्तो, अस्येसुन्तो ।
षष्ठी	अस्यस्स ।	अस्येसिं, अस्याणं, अस्याण ।
सप्तमी	अस्यस्मि, अस्यस्सि, अस्यस्य, अस्यहिं ।	अस्येसुं, अस्येसु ।
सम्बोधनम्	हे अस्य, हे अस्यो, हे अस्या ।	हे अस्ये ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' कतर ' शब्दः ।

विज्ञप्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	कयरो ।	कयरे ।
द्वितीया	कयरं ।	कयरे, कयरा ।
हृतीया	कयरेणं, कयरेण ।	कयरेहिं, कयरोहिं, कयरेहि ।
चतुर्थी	कयरस्स ।	कयरोसिं, कयराणं, कयराण ।
पञ्चमी	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि,)	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि, कयरेहि, कय-
„	कयराहिन्तो, कयरा ।	राहिन्तो, कयरोहिन्तो, कयरासुन्तो, कयरेसुन्तो ।
षष्ठी	कयरस्स ।	कयरोसिं, कयराणं, कयराण ।
सप्तमी	कयरस्मि, कयरस्मि, कयरस्य, कयरहिं ।	कयरेसुं, कयरेसु ।
सम्बोधनम्	हे कयर, हे कयरो, हे कयरा ।	हे कयरे ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' अवर ' शब्दः ।

विज्ञप्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अवरो ।	अवरे ।
द्वितीया	अवर ।	अवरे, अवरा ।
हृतीया	अवरेणं, अवरेण ।	अवरोहिं, अवरोहिं, अवरोहि ।
चतुर्थी	अवरस्स ।	अवरोसिं, अवराणं, अवराण ।
पञ्चमी	अवत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अ-	अवत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अवरोहि, अ-
„	वराहिन्तो, अवरा ।	वराहिन्तो, अवरोहिन्तो, अवरासुन्तो, अवरोसुन्तो ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

षष्ठी अवरस्स ।

अवरोसिं, अवराणं, अवराण ।

सप्तमी अवरोस्सिं, अवरम्मि, अवरत्थ, अवरहिं ।

अवरोसुं, अवरोसु ।

सम्बोधनम् हे अवर, हे अवरा, हे अवरो ।

हे अवरो ।

अकारान्तः पुँद्विलङ्ग ' इतर ' शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा इयरो ।

इयरे ।

द्वितीया इयरं ।

इयरे, इयरा ।

तृतीया इयरेणं, इयरेण ।

इयरोहिं, इयरोहिं, इयरोहि ।

चतुर्थी इयरस्स ।

इयरोसिं, इयराणं, इयराण ।

पञ्चमी इयरत्तो, इयरात्तो, इयरात्त, इयराहि, इयरा—)

इयरत्तो, इयरात्तो, इयरात्त, इयराहि, इयरोहि, इयराहि-

,, हिन्तो, इयरा ।

(न्तो, इयरोहिन्तो, इयरासुन्तो, इयरोसुन्तो ।

षष्ठी इयरस्म ।

इयरोसिं, इयराणं, इयराण ।

सप्तमी इयरस्मिं, इयरम्मि, इयरत्थ, इयरहिं ।

इयरोसुं, इयरोसु ।

सम्बोधनम् हे इयर, हे इयरा, हे इयरो ।

हे इयरे ।

पुँद्विलङ्गे यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा जो ।

जे ।

द्वितीया जं ।

जे, जा ।

तृतीया जेणं, जेण, जिणा ।

जेहिं, जेहिं, जेहि ।

चतुर्थी जस्स ।

जेसिं, जाणं, जाण ।

पञ्चमी जत्तो, जात्तो, जात्त, जाहि, जाहिन्तो, जा,)

जत्तो, जात्तो, जात्त, जाहि, जेहि, जाहिन्तो, जेहिन्तो,

,, जम्हा ।

(जासुन्तो, जेसुन्तो ।

षष्ठी जस्म ।

जेसिं, जाणं, जाण ।

सप्तमी जस्मिं, जम्मि, जत्थ, जहिं, जाहे, जाला,)

जेसुं, जेसु ।

,, जइया ।

,,

पुँद्विलङ्गे तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा सो, एो ।

ते, एो ।

द्वितीया त, एं ।

ते, जे, ता, एा ।

तृतीया तेणं, तेण, तिणा, जेणं, ऐण ।

तेहिं, तेहिं, तेहि, ऐहिं, जेहिं, जेहि ।

चतुर्थी तास, तस्स, से, एस्म ।

तेसिं, ताण, ताण, सिं, जेसिं, जाणं, एाण ।

पञ्चमी तम्हा, तत्तो, तात्तो, तात्त, ताहिन्तो, ता, एम्हा,)

तत्तो, तात्तो, तात्त, ताहि, ताहिन्तो, तेहिन्तो, ता-

,, एत्तो, एात्तो, एात्त, एाहि, एाहिन्तो, एा ।

(सुन्तो, तेसुन्तो, एत्तो, एात्तो, एात्त, एाहि, ऐहि, एा-

,, ,,

(हिन्तो, ऐहिन्तो, एासुन्तो, जेसुन्तो ।

षष्ठी तास, तस्स, से, एस्स ।

तेसिं, ताणं, ताण, सिं, जेसिं, एाण, एाण ।

सप्तमी तस्मिं तत्थ, तम्मि, तहिं, एास्मिं, एम्मि, एत्थ,)

तेसुं, तेसु, ऐसु, जेसु ।

,, एहिं, ताहे, ताला, तडआ, एाहे, एाला, एइआ ।

,,

एकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एको ।	एके ।
द्वितीया एकं ।	एके, एका ।
तृतीया एकेणं, एकेण ।	एकोहिं, एकोहिं, एकेहि ।
चतुर्थी एकस्स ।	एकेसिं, एकाणं, एकाण ।
पञ्चमी एकतो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकाहिन्तो,)	एकतो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकेहि, एकाहिन्तो,
एका ।	(एकेहिन्तो, एकासुन्तो, एकेसुन्तो ।
षष्ठी एकस्स ।	एकेसिं, एकाणं, एकाण ।
सप्तमी एकस्सि, एकस्मि, एकत्य, एकहि ।	एकेसुं, एकेसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एकशब्दस्यैवान्यानि रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एगो ।	एगे ।
द्वितीया एग ।	एगे, एगा ।
तृतीया एगेणं, एगेण ।	एगेहिं, एगेहिं, एगेहि,)
चतुर्थी एगस्स ।	एगेसिं, एगाणं, एगाण ।
पञ्चमी एगतो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगाहिन्तो,)	एगतो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगेहि, एगाहिन्तो,
एगा ।	(एगेहिन्तो, एगासुन्तो, एगेसुन्तो ।
षष्ठी एगस्स ।	एगेसिं, एगाणं, एगाण ।
सप्तमी एगस्सि, एगस्मि, एगत्य, एगहि ।	एगेसुं, एगेसु ।

प्रकृत्यन्तरेणैव पुनरेकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इको ।	इके ।
द्वितीया इक ।	इके, इका ।
तृतीया इकेण, इकेण ।	इकेहिं, इकेहिं, इकेहि ।
चतुर्थी इकस्स ।	इकेसिं, इकाणं, इकाण ।
पञ्चमी इकतो, इकाओ, इकाउ, इकाहि, इकाहिन्तो,)	इकतो, इकाओ, इकाउ, इकाहि, इकेहि, इकाहिन्तो,
इका ।	(इकेहिन्तो, इकासुन्तो, इकेसुन्तो ।
षष्ठी इकस्स ।	इकेसिं, इकाणं, इकाण ।
सप्तमी इकस्सि, इकस्मि, इकत्य, इकहि ।	इकेसुं, इकेसु ।

किंशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा को ।	के ।
द्वितीया क ।	के, का ।
तृतीया केणं, केण, किण ।	केहिं, केहिं, केहि ।
चतुर्थी कस्स, कास ।	केसिं, काणं, काण, कास ।
पञ्चमी कतो, काओ, काउ, काहि, काहिन्तो, कम्हा,)	कतो, काओ, काउ, काहि, केहि, काहिन्तो, केहिन्तो,
किणो, कीस ।	कासुन्तो, केसुन्तो ।

विभक्ति एकवचन ।

षष्ठी कस्स, कास ।

सप्तमी कस्सि, काम्म, कत्थ, कहिं, काहे, काला, कइआ ।

बहुवचन ।

केसिं, काणं, काणं, कास ।

केसुं, केसु ।

एतच्छब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एसो, एस, इणं, इणमो ।

द्वितीया एअं ।

तृतीया एएण, एएण, एइणा ।

चतुर्थी एअस्स, से ।

पञ्चमी एअत्तो, एआओ, एआउ, एआहि, एआहिन्तो,)

” एआ, एत्तो, एत्ताहे ।

षष्ठी एअस्स, से ।

सप्तमी एअस्सि, एअम्मि, अयम्मि, ईयम्मि, एत्थ ।

बहुवचन ।

एए ।

एए, एआ ।

एएहिं, एएहिं, एएहि ।

एएसिं, एआणं, एआण, सिं ।

एअत्तो, एआओ, एआउ, एआहि, एएहि, एआहिन्तो,

(एएहिन्तो, एआसुन्तो, एएसुन्तो ।

एएसिं, एआणं, एआण, सिं ।

एएसुं, एएसु ।

इदंशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अयं, इमो ।

द्वितीया इमं, इणं, णं ।

तृतीया इमेणं, इमेण, णेणं, णेण, इमिणा ।

चतुर्थी इमस्स, अस्स, से ।

पञ्चमी इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमाहिन्तो, इमा ।

” ”

षष्ठी इमस्स, अस्स, से ।

सप्तमी अस्सि, इमस्सि, इमम्मि, इह ।

बहुवचन ।

इमे ।

इमे, इमा, णे, णा ।

इमेहिं, इमेहिं, इमेहि, णेहिं, णेहिं, णेहि, एहि, एहिं, एहि ।

इमेमिं, इमाणं, इमाण, सिं ।

इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमेहि, इमाहिन्तो, इमे-

हिन्तो, इमासुन्तो, इमेसुन्तो ।

इमेसिं, इमाणं, इमाण, सिं ।

इमेसुं, इमेसु ।

अदःशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अह, अमू ।

द्वितीया अमुं ।

तृतीया अमुणा ।

चतुर्थी अमुणो, अमुस्स ।

पञ्चमी अमुणो, अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो ।

षष्ठी अमुणो, अमुस्स ।

सप्तमी अमुम्मि, अयम्मि, इअम्मि ।

बहुवचन ।

अमुणो, अमआ, अमओ, अमउ, अमू ।

अमुणो, अमू ।

अमूहिं, अमूहिं, अमूहि ।

अमणं, अमूण ।

अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो, अमुसुन्तो ।

अमूणं, अमूण ।

अमूसुं, अमूसु ।

अथ स्त्रीलिङ्गशब्दाः ।

आकारान्तः स्त्रीलिङ्गो रमाशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा रमा ।

द्वितीया रमं ।

बहुवचन ।

रमाओ, रमाउ, रमा ।

रमाओ, रमाउ, रमा ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

तृतीया रमाए, रमाअ, रमाइ * ।

रमाहि, रमाहिँ, रमाहि ।

चतुर्थी रमाए, रमाअ, रमाइ ।

रमाणं, रमाण ।

पञ्चमी रमाए, रमाअ, रमाइ, रमतो, रमाओ, रमाउ,)

रमतो, रमाओ, रमाउ, रमाहिनतो, रमासुन्तो ।

” रमाहिनतो ।

”

षष्ठी रमाए, रमाअ, रमाइ ।

रमाणं, रमाण ।

सप्तमी रमाए, रमाअ, रमाइ ।

रमासुं, रमासु ।

सम्बोधनम् हे रमे, हे रमा ।

हे रमाओ, हे रमाउ, हे रमा ।

इकान्तः स्त्रीलिङ्गो रुचिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा रुई + ।

रुईओ, रुईउ, रुई ।

द्वितीया रुई ।

रुईओ, रुईउ, रुई ।

तृतीया रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।

रुईहिँ, रुईहिँ, रुईहि ।

चतुर्थी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।

रुईणं, रुईण ।

पञ्चमी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए, रुईतो, रुईओ, रुईउ,)

रुईतो, रुईओ, रुईउ, रुईहिनतो, रुईसुन्तो ।

” रुईहिनतो ।

”

षष्ठी रुईआ, रुईअ, रुईइ, रुईए ।

रुईणं, रुईण ।

सप्तमी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।

रुईसुं, रुईसु ।

सम्बोधनम् हे रुई, हे रुइ ।

हे रुईओ, हे रुईउ, हे रुई ।

ईकारान्तः स्त्रीलिङ्गो नदीशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा नई, नईआ × ।

नई, नईआ, नईउ, नईओ ।

द्वितीया नई ।

नई, नईआ, नईउ, नईओ ।

तृतीया नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

नईहिँ, नईहिँ, नईहि ।

चतुर्थी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

नईणं, नईण ।

पञ्चमी नईअ, नईआ, नईइ, नईए, नईतो, नईओ, नईउ,)

नईतो, नईओ, नईउ, नईहिनतो, नईसुन्तो ।

” नईहिनतो ।

”

षष्ठी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

नईणं, नईण ।

सप्तमी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।

नईसुं, नईसु ।

सम्बोधनम् हे नई, हे नइ ।

हे नईओ, हे नईउ, हे नई, हे नईआ ।

स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा इत्थी, इत्थीआ ।

इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।

द्वितीया इत्थि ।

इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।

तृतीया इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।

इत्थीहिँ, इत्थीहिँ, इत्थीहि ।

* “टाङ्स्केरदादिदेव् वा तु ङसेः” ॥ ८ । ३ । २ए ॥ स्त्रियां वर्तमानाङ्गान्ः परेषां टाङ्स्ङीनां प्रत्येकम् आत्, आत्, इत्, एत् एते चत्वार आदेशाः सप्राग्वर्ध्यां प्रवर्तन्ति, ङसेस्तु पुनरेते वा भवन्ति । ‘नात् आत्’ ॥ ८ । ३ । ३० ॥ स्त्रियां वर्तमानाङ्गान्ः परेषां टाङ्स्ङिङसीनामादादेशो न भवति । + ‘अङ्गीषे सौ’ ॥ ८ । ३ । १ए ॥ इदुतोऽङ्गीषे नपुंसकादन्यत्र सौ दीर्घो प्रवर्तते । बुद्धी । × “ईतः सेआवा” ॥ ८ । ३ । २ए ॥ स्त्रियां वर्तमानाङ्गकारान्तात् सेजस्ससोश्च स्थाने आकारो वा प्रवर्तते ।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा जा ।

जाओ, जाउ, जा ।

द्वितीया जं ।

जाओ, जाउ, जा ।

तृतीया जाए, जाअ, जाइ ।

जाहिं, जाहिं, जाहि ।

चतुर्थी जाए, जाअ, जाइ ।

जाण, जाण ।

पञ्चमी जाए, जाअ, जाइ, जत्तो, जाओ, जाउ, जा-

जत्तो, जाओ, जाउ, जाहिन्तो, जासुन्तो ।

,, हिन्तो, जम्हा ।

,,

षष्ठी जाए, जाअ, जाइ ।

जाणं, जाण ।

सप्तमी जाए, जाअ, जाइ ।

जासुं, जासु ।

प्रकृत्यन्तरेण यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा जा * ।

जीओ, जीउ, जीआ, जी ।

द्वितीया जं ।

जीओ, जीउ, जीआ, जी ।

तृतीया जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।

जीहिं, जीहिं, जीहि ।

चतुर्थी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।

जाणं, जाण ।

पञ्चमी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जित्तो, जीओ, जीउ,)

जित्तो, जीओ, जीउ, जीहिन्तो, जीसुन्तो ।

,, जीहिन्तो ।

,,

षष्ठी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।

जाणं, जाण ।

सप्तमी जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।

जासुं, जासु ।

तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा सा, ता, एा × ।

ताओ, ताउ, ता ।

द्वितीया तं, एं ।

ताओ, ताउ, ता ।

तृतीया णाए, ताए, ताअ, ताइ ।

ताहिं, ताहिं, ताहि, णाहिं, णाहिं, णाहि ।

चतुर्थी ताए, ताअ, ताइ, तास + ।

ताणं, ताण, ताम ।

पञ्चमी ताए, ताअ, ताइ, तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, तो, तम्हा ।

तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, तासुन्तो ।

षष्ठी ताए, ताअ, ताइ, तास ।

ताणं, ताण, तास ।

सप्तमी ताए, ताअ, ताइ ।

तासुं, तासु ।

प्रकृत्यन्तरेण तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा सा, ता, एा ।

तीओ, तीउ, तीआ, ती ।

द्वितीया तं, एं ।

तीओ, तीउ, तीआ, ती ।

तृतीया तीअ, तीआ, तीइ, तीए ।

तीहिं, तीहिं, तीहि ।

चतुर्थी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।

ताणं, ताण ।

* 'कियत्तदोऽस्यमामि' ॥ ८ । ३ । ३३ ॥ सि अम आम वजिने स्यादौ परे एभ्यः स्त्रियां ङीर्वा । जाओ । अस्यमामीति किम् । जा, ज, जाण । × 'तदो ए. स्यादौ कचित्' ॥ ८ । ३ । ७० । तद स्थाने स्यादौ परे ण आदेशो भवति क्वचिद् लक्ष्यानुसारेण । स्त्रियामपि । इत्थुमामिअमुही ण नियटा । तां भिज्जेत्यर्थः । भणिअ च णाए, तथेत्यर्थः । णाहिं कय, तामि कृतमित्यर्थः । + बहुलाधिकारात् किन्तुभ्यामाकारान्ताभ्यामपि डासादेशो वा । तास घण । पत्ते ताए ।

विभक्ति एकवचन ।

पञ्चमी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिचो, तीओ, तीउ, ती-

, हिन्तो ।

षष्ठी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।

सप्तमी तीअ तीआ, तीइ, तीए ।

बहुवचन ।

तिओ, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीमुन्तो ।

"

ताणं, ताण ।

तीसु, तीसु ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा का ।

द्वितीया क ।

तृतीया काए, काअ, काइ ।

चतुर्थी काए, काअ, काइ, कास ।

पञ्चमी काए, काअ, काइ, कतो, काओ, काउ, काहिन्तो,

, कम्हा, कीस, किणो * ।

षष्ठी काए, काअ, काइ, कास ।

सप्तमी काए, काअ, काइ ।

बहुवचन ।

काओ, काउ, का ।

काओ, काउ, का ।

काहिं, काहिं, काहि ।

काण, काण, कास, केसिं + ।

कतो, काओ, काउ, काहिन्तो, कासुन्तो ।

"

काणं, काण, कास, केसिं ।

कासुं, कासु ।

प्रकृत्यन्तरेण किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा का ।

द्वितीया कं ।

तृतीया कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।

चतुर्थी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।

पञ्चमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, कितो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो ।

षष्ठी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।

सप्तमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।

बहुवचन ।

कीओ, कीउ, कीआ, की ।

कीओ, कीउ, कीआ, की ।

कीहिं, कीहिं, कीहि ।

काणं, काण, कास, केसिं ।

कितो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो, कीसुन्तो ।

काणं, काण, कास, केसिं ।

कीसु, कीसु ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एसा, एस, इणं, इणमो × ।

द्वितीया एअं ।

तृतीया एआअ, एआइ, एआए ।

चतुर्थी एआअ, एआइ, एआए, से ।

पञ्चमी एआअ, एआइ, एआए, एतो—, एआओ,)

, एआउ, एताहिन्तो ।

षष्ठी एआअ, एआइ, एआए, से ।

सप्तमी एआअ, एआइ, एआए ।

बहुवचन ।

एआओ, एआउ, एआ ।

एआओ, एआउ, एआ ।

एआहिं, एआहिं, एआहि ।

एआणं, एआण, एआसिं, सिं ।

एतो, एआओ, एआउ, एआहिन्तो, एआसुन्तो ।

"

एआखं, एआण, एआसिं, सिं ।

एआसुं, एआसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एई, एस, इणं, इणमो ।

बहुवचन ।

एईओ, एईउ, एईआ, एई ।

+ "आमो केसिं" । ८।३।६१ । बहुसाधारणत्वात् निर्यामपि । मय्येसिं, केसिं । "किमो दिण्णोसोमो" ४८।३।१८ । ×
 "वेसेणमिणमो सिना" ॥ ८।३।८५ ॥ एतद् सिना सह एम इणम् इणमो इण्णोसोमो वा नयन्ति । एम मरं । = "एवं च
 तस्मिन्नुक्" ॥ ८।३।८३ ॥ एतद् एवं चो चारे परे नस्य बुद्धः । एण्ण, एण्णं, एण्णो ।

विभक्ति एकवचन ।

द्वितीया एऽ ।

तृतीया एऽअ, एऽआ, एऽइ, एऽए ।

चतुर्थी एऽअ, एऽआ, एऽइ, एऽए ।

पञ्चमी एऽअ, एऽआ, एऽइ, एऽए एऽत्तो, एऽओ, एऽउ,)
एऽहिनतो ।

षष्ठी एऽअ, एऽआ, एऽइ, एऽए ।

सप्तमी एऽअ, एऽआ, एऽइ, एऽए ।

बहुवचन ।

एऽओ, एऽउ, एऽआ, एऽ ।

एऽहिं, एऽहिं, एऽहि ।

एऽणं, एऽण ।

एऽत्तो, एऽओ, एऽउ, एऽहिनतो, एऽसुन्तो ।

”

एऽणं, एऽण ।

एऽसुं, एऽसु ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा इमिआ, इमा * ।

द्वितीया इम, इणं, एं × ।

तृतीया इमाए, इमाइ, इमाअ, एमाए, एमाइ, एमाअ ।

”

चतुर्थी इमाए, इमाइ, इमाअ, से + ।

पञ्चमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहिनतो ।

षष्ठी इमाए, इमाइ, इमाअ, से ।

सप्तमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इह ÷ ।

बहुवचन ।

इमाओ, इमाउ, इमा ।

इमाओ, इमाउ, इमा, एमाओ, एमाउ, एमा ।

इमाहिं, इमाहिं, इमाहि, एमाहिं, एमाहिं, एमाहि, आहिं,
आहिं, आहि = ।

इमाण, इमाण, सिं ।

इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहिनतो, इमासुन्तो ।

इमाणं, इमाण, सिं ।

इमासुं, इमासु ।

प्रकृत्यन्तरेण इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा इमिआ, इमी ।

द्वितीया इमिं ।

तृतीया इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

चतुर्थी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

पञ्चमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए, इमित्तो, इमीओ,)
इमीउ, इमीहिनतो ।

षष्ठी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

सप्तमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।

बहुवचन ।

इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।

इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।

इमीहिं, इमीहिं, इमीहि ।

इमीणं, इमीण ।

इमित्तो, इमीओ, इमीउ, इमीहिनतो, इमीसुन्तो ।

”

इमीणं, इमीण ।

इमीसुं, इमीसु ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अह, अमू ।

द्वितीया अमु ।

तृतीया अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

चतुर्थी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

पञ्चमी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए, अमुत्तो अमूओ,)
अमूउ, अमूहिनतो ।

षष्ठी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

सप्तमी अयस्मि, अस्मि, अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।

बहुवचन ।

अमूउ, अमूओ अमू ।

अमूउ, अमूओ, अमू ।

अमूहिं, अमूहिं, अमूहि ।

अमूणं, अमूण ।

अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिनतो, अमूसुन्तो ।

”

अमूणं, अमूण ।

अमूसुं, अमूसु ।

* " पुत्रियानं वाऽयमिमिआ सा " ॥ ८३१७३ ॥ पङ्के 'इम इम' ॥ ८३१७२ ॥ × 'अमेगम' ॥ ८३१७२ ॥ 'गोऽमृशसूडामि-
सि' ॥ ८३१७७ ॥ = "स्मि-स्मयोगत्" ॥ ८३१७४ ॥ बहुलाधिकारान् अन्यत्रापि जवनि । आहि । + "वेदतवेतदो ढसाम्भ्यां
से-स्मिमा" ॥ ८३१७१ ॥ - "डेमेन ह " ॥ ८३१७५ ॥ इदम कृतेमादेशात् परस्य ड स्थाने मेन सह ह आदेशो वा भवति । इह ।

॥ अथ नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

अकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मङ्गलशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा मङ्गलं ।

मङ्गलाणि, मङ्गलाङ्, मङ्गलाई × ।

द्वितीया मङ्गलं ।

मङ्गलाणि, मङ्गलाइ, मङ्गलाई ।

शेषं ' वच्छ ' शब्दवत् + ।

इकारान्तो नपुंसकलिङ्गो वारिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा दहिं, दहि, दहिँ # ।

दहीइं, दहीईं, दहीणि ।

द्वितीया दहिं ।

दहीइं, दहीईं दहीणि ।

शेषं पुम्बत् ।

उकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मधुशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा महुं महु, महुँ ।

महूइ, महूँ, महूणि ।

द्वितीया महुं ।

महूइं, महूँ, महूणि ।

शेषं ' गुरु ' शब्दवत् ।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा जं ।

जाणि, जाइं, जाईं ।

द्वितीया ज ।

जाणि, जाइं, जाईं ।

शेषं पुम्बत् ।

एवं तच्छब्दरूपाणि ज्ञेयानि ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा एस, इणं, इणमो, एअं ।

एआणि, एआइं, एआईं ।

द्वितीया एअं ।

एआणि, एआइं, एआईं ।

शेषं पुम्बत् ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा इदं, इणं, इणमो = ।

इमाणि, इमाईं, इमाइ ।

द्वितीया इदं, इण, इणमो ।

इमाणि, इमाईं, इमाइ ।

शेषं पुम्बत् ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा अदं, अमुं — ।

अमूणि, अमूइं, अमूईं ।

१ " क्लीबे स्वरान्म से " । ८ । ३ । १५ ॥ × " जस्शस ई-ई-यय सप्राग्वीर्घा " । ८ । ३ । १६ ॥ + " नामन्त्यात्सौ म " । ८ । ३ । ३७ ॥ # दहि इति सिद्धापेक्षया । केचिदनुनासिकमपीच्छन्ति दहिँ । = " क्लीबे स्यमेदमिणमो च " ॥ ८ । ३ । ७६ ॥ इति स्यमर्च्या सदितस्य इदं इणमो इणम आदेशाः । ÷ " वाऽइतो दस्य हो नोदाम् " ॥ ८ । ३ । ८७ ॥ " मु स्यादौ " ॥ ८ । ३ । ८८ ॥

विभक्ति एकवचन ।

द्वितीया अमु ।

बहुवचन ।

अमूणि, अमूइ, अमूह ।

शेषं पुम्बत् ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा किं + ।

द्वितीया किं ।

बहुवचन ।

काणि, काइं, काई ।

काणि, काइं, काई ।

शेषं पुम्बत् ।

॥ इति नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

॥ अथ संख्यावाचकशब्दाः ॥

पञ्चशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा ०

द्वितीया ०

तृतीया ०

चतुर्थी ०

पञ्चमी ०

” ”

षष्ठी ०

सप्तमी ०

बहुवचन ।

पंच ।

पच ।

पंचहिं, पंचीहिं, पंचहि * ।

पचएहं, पंचएह × ।

पंचत्तो, पंचाओ, पंचाउ, पंचाहि, पंचेहि, पंचाहिन्तो,
(पंचेहिन्तो, पचासुन्तो, पंचेसुन्तो ।

पंचएह, पंचएह ।

पंचेसुं, पंचेसु ।

एवं ङ, सत्त, अठ, नव, दशशब्दरूपाणि हेयानि ।

द्विशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा ०

द्वितीया ०

तृतीया ०

चतुर्थी ०

पञ्चमी ०

षष्ठी ०

सप्तमी ०

बहुवचन ।

दुवे, दोषि, दुषि, वेषि, विषि, दो, वे ।

दुवे, दोषि, दुषि, वेषि, विषि, दो, वे ।

दोहिं, दोहिं, दोहि, वेहिं, वेहिं, वेहि ।

दोएहं, दुएहं, वेएहं, विएहं ।

दोहिन्तो, वेहिन्तो ।

दोएहै, दुएहै, वेएहै, विएहै ।

दोसुं, दोसु, वेसुं, वेसु ।

त्रिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा ०

द्वितीया ०

तृतीया ०

चतुर्थी ०

बहुवचन ।

तिषि ।

तिषि ।

तीहिं, तीहिं, तीहि ।

तिएहं, तिएह ।

+ "किम. कि" । ८। ३। ८०। स्वमाम्भ्यां सह कि ॥ * तु० मा० ५८६ पृष्ठे २७ पङ्क्तिः ॥ × "सख्याया आमो एह एह" । ८। ३। १२३।

विभक्ति एकवचन ।

पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।

तिक्तो, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीमुन्तो ।
तिहं, तिह ।
तीयं, तीयु * ।

कतिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	०
द्वितीया	०
तृतीया	०
चतुर्थी	०
पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।

कइ ।
कइ ।
कईहिं, कईहिं, कईहि ।
कइएह, कइएह ।
कइत्तो, कईओ, कईउ, कईहिन्तो, कईमुन्तो ।
कइएह, कइएह ।
कईयु, कईयु ।

चतुश्शब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	०
द्वितीया	०
तृतीया	०
चतुर्थी	०
पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।

चत्तारो, चउरो, चत्तारि ।
चत्तारो, चउरो, चत्तारि ।
चऊहिं, चऊहिं, चऊहि ।
चउएह, चउएह ।
चउत्तो, चऊओ, चऊउ, चऊहिन्तो, चऊमुन्तो ।
चउएहं, चउएह ।
चऊयं, चऊयु ।

गुणमन्त्ररूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा	त, तु, तुवं, तुह, तुमं ।
द्वितीया	त, तु, तुमं, तुवं, तुह, तुमे, तुए ।
तृतीया	जे, दि, दे, ते, तइ, तए, तुमं, तुमइ, तुमए, तुमे,)
"	तुमाइ ।
चतुर्थी	तइ, तु, ते, तुमहं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमां,)
"	तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुज, तुज्ज, तुमह, उज्ज,)
"	उज्ज, उमह, उयह ।
"	"
पञ्चमी	तइत्तो, तईओ, तईउ, तईहिन्तो, तुवत्तो, तुवा-)
"	ओ, तुवाउ, तुवाहि, तुवाहिन्तो, तुवा, तुमत्तो,)
"	तुमाओ, तुमाउ, तुमाहि, तुमाहिन्तो, तुमा,)
"	तुहत्तो, तुहाओ, तुहाउ, तुहाहि, तुहाहिन्तो,)
"	तुहा, तुभत्तो, तुजाओ, तुजाउ, तुजाहि, तु-)
"	भाहिन्तो, तुजा, तुमत्तो, तुमाओ, तुमाउ,)

बहुवचन ।

भे, तुब्जे, तुम्हे, तुज्जे, तुज्ज, तुम्ह, तुय्हे, उय्हे ।
वो, तुज्ज, तुब्जे, तुम्हे, तुज्जे, तुय्हे, उय्हे, जे ।
भे, तुब्जेहिं, तुज्जेहिं, तुम्हेहिं, उज्जेहिं, उम्हेहि, तुय्हे-)
(हिं, उय्हेहिं ।
तु, वो, जे, तुब्ज, तुज्ज, तुम्ह, तुभं, तुज्ज, तुम्ह,
(तुब्जाणं, तुब्भाण, तुज्जाण, तुज्जाण, तुम्हाण, तुम्हा-
(ण, तुवाण, तुवाण, तुमाणं, तुमाण, तुहाण, तुहाण,
(उम्हाणं, उम्हाण ।
तुम्भत्तो, तुब्जाओ, तुम्भाउ, तुब्जाहि, तुम्भेहि, तुब्जा-
(हिन्तो, तुब्जेहिन्तो, तुम्भासुन्तो, तुम्भेसुन्तो, तुम्हत्तो, तु-
(म्हाओ, तुम्हाउ, तुम्हाहि, तुम्हेहि, तुम्हहिन्तो, तुम्हेहि-
(न्तो, तुम्हासुन्तो, तुम्हेसुन्तो, तुज्जत्तो, तुज्जाओ, तुज्जाउ,
(तुज्जाहि, तुज्जेहि, तुज्जाहिन्तो, तुज्जेहिन्तो, तुज्जासु-
(न्तो, तुज्जेसुन्तो, तुय्हत्तो, तुय्हाओ, तुय्हाउ, तुय्हाहि,

* "क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वा" । ॥ २१२७ ॥ क्त्वाया स्यादीना च यौ णसु नयोरनुस्वारोऽन्तो वा भवति । वच्चेण वच्चेण, वच्चेसु वच्चेसु ।

विभक्ति एकवचन ।

” तुम्हाहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हा, तुज्जत्तो, तुज्जा-
 ” ओ, तुज्जाउ, तुज्जाहि, तुज्जाहिन्तो, तुज्जा,
 ” तुम्ह, तुम्भ, तुम्ह, तुज्ज, तहिन्तो ।

” ”

” ”

षष्ठी तइ, तु, ते, तुम्हं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो,
 ” तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुम्भ, तुम्ह, तुज्ज, उब्ज,
 ” उम्ह, उज्ज, उम्ह ।

” ”

सप्तमी तुमे, तुमए, तुमाइ, तइ, तए, तुम्मि, तुवम्मि,
 ” तुवस्सि, तुवत्थ, तुमम्मि, तुमस्सि, तुमत्थ, तुहम्मि,
 ” तुहस्सि, तुहत्थ, तुब्जम्मि, तुब्जस्सि, तुब्जत्थ,
 ” तुम्हम्मि, तुम्हस्सि, तुम्हत्थ, तुज्जम्मि, तुज्ज-
 ” स्सि, तुज्जत्थ ।

बहुवचन ।

(तुम्होहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हेहिन्तो, तुम्हासुन्तो, तुम्हेसुन्तो,
 (उम्हत्तो, उम्हाओ, उम्हाउ, उम्हाहि, उम्होहि, उम्हा-
 (हिन्तो, उम्होहिन्तो, उम्हासुन्तो, उम्हेसुन्तो, उम्हत्तो,
 (उम्हाओ, उम्हाउ, उम्हाहि, उम्हेहि, उम्हाहिन्तो,
 (उम्हेहिन्तो, उम्हासुन्तो, उम्हेसुन्तो ।

तु, वो, भे, तुब्ज, तुम्ह, तुज्ज, तुम्भं, तुम्हं, तुम्भं,
 (तुब्जाणं, तुब्जाण, तुम्हाणं, तुम्हाण, तुज्जाणं, तुज्जाण,
 (तुमाणं, तुमाण, तुवाणं, तुवाण, तुदाणं, तुदाण, उम्हा-
 (ण, उम्हाण ।

तुसु, तुसु, तुवेसुं, तुवेसु, तुमेसुं, तुमेसु, तुहेसुं, तुहेसु, तु-
 (ब्जेसु, तुब्जेसु, तुम्हेसुं, तुम्हेसु, तुज्जेसुं, तुज्जेसु, तुवसुं,
 (तुवसु, तुमसुं, तुमसु, तुहसुं, तुहसु, तुब्जसुं, तुब्जसु,
 (तुज्जसुं, तुज्जसु, तुम्हसुं, तुम्हसु, तुम्भासुं, तुम्भासु,
 (तुम्हासुं, तुम्हासु, तुज्जासुं, तुज्जासु ।

अस्मच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा अहं, हं, अहयं, म्मि, अम्मि, अम्मि ।
 द्वितीया ऐ, णं, मि, अम्मि, अम्ह, मम्ह, मं, ममं, मिमं अहं ।
 तृतीया मि, मे, ममं, ममए, ममाइ, मइ, मए, मयाइ, ऐ ।
 चतुर्थी मे, मइ, मम, मह, महं, मज्ज, मज्जं, अम्ह, अम्ह ।

”

पञ्चमी मइत्तो, मइओ, मइउ, मइहिन्तो, ममत्तो, ममाओ,
 ” ममाउ, ममाहि, ममाहिन्तो, ममा, महत्तो, महा-
 ” ओ, महाउ, महाहि, महाहिन्तो, महा, मज्जत्तो,
 ” मज्जाओ, मज्जाउ, मज्जाहि, मज्जाहिन्तो, मज्जा ।
 षष्ठी मे, मइ, मम, मह, महं, मज्जं, मज्ज, अम्ह, अम्ह ।

”

सप्तमी मि, मइ, ममाइ, मए, मे, अम्हम्मि, अम्हस्सि,
 ” अम्हत्थ, ममम्मि, ममस्सि, ममत्थ, महम्मि, मह-
 ” स्सि, महत्थ, मज्जम्मि, मज्जस्सि, मज्जत्थ ।

बहुवचन ।

अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं, भे ।

अम्हे, अम्हो, अम्ह, ऐ ।

अम्हेहि, अम्हाहि, अम्ह, अम्हे, ऐ ।

ऐ, एो, मज्ज, अम्ह, अम्ह, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं, अ-
 (म्हाण, ममाणं, ममाण, महाणं, महाण, मज्जाणं, मज्जाण ।
 ममत्तो, ममाओ, ममाउ, ममाहि, ममेहि, ममाहिन्तो, ममे
 (हिन्तो, ममेसुन्तो, ममासुन्तो, अम्हत्तो, अम्हाओ, अम्हाउ,
 (अम्हाहि, अम्हेहि, अम्हाहिन्तो, अम्हेहिन्तो, अम्हा-
 (सुन्तो, अम्हेसुन्तो ।

ऐ, एो, मज्ज, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं,
 (अम्हाण, ममाणं, ममाण, महाण, महाण, मज्जाणं, मज्जाण ।
 अम्हेसुं, अम्हेसु, ममेसुं, ममेसु, महेसुं, महेसु, मज्जेसु,
 (मज्जेसु, अम्हसुं, अम्हसु, ममसुं, ममसु, मज्जसुं, मज्जसु,
 (महसुं, महसु, अम्हासुं, अम्हासु ।

॥ इति प्राकृतशब्दरूपावलिः समाप्ता ॥

पठन्तु बालकाः सर्वे जैनानामितरे तथा । तस्मान्मयेयं प्राकृत-शब्दरूपावलिः कृता ॥ १ ॥



अभिधानराजेन्द्रः ।

जयति सिरिवीरवाणी, बृहविबुहनमंसिया या सा ।
वत्तव्यं से वेमि, समासथो अक्वरक्रमसो ॥ १ ॥



अ-अ-पुं० स्वरसंज्ञके कण्ठस्थानीये स्वनामख्याते धर्णे, एका० ।
अर्हति, आद्याक्षरेण तस्य प्रदणात् सिद्धे च । अक्षरीरेति सि-
क्वाचकस्याद्याक्षरेण तद्विधात् । गा० । अवति रक्ताति अतति
सातत्येन तिष्ठतीति वा भव अत-वा-म-विष्णौ, "भकारो विष्णु-
रहिहः" वाच० । शिवे, ब्रह्मणि, वायौ, चन्द्रे, अग्नौ, ज्ञानौ, कम-
डे, अम्भ-पुरे, जूषणे, वरणे, कारणे, रणे, अजिते, गौरवे, एका० ।
अ-अव्य० अव प्रीणनादौ, ङ स्वरादिस्वाव्ययत्वम् अभावे,
वाच० । प्रतिषेधे, "अमानोनाः प्रतिषेधे" आ० म० द्वि० । सू-
त्र० । अत्रोदाहरणम्, "नियरिस्त्रेण अर्धमो" अकारस्य तज्ज्ञा-
प्रतिषेधे निदर्शनं यथा अघटोऽयमिति न घटो घटव्यतिरिक्तः पटा-
दिकः पदार्थ इत्यर्थः । वृ० १ उ० । "अज्ञावे न ह्यनोन." इत्यम-
रटीकायां नञादेशोऽयमित्युक्तम् । स च आदेशः नखनमुल्या-
दिनिग्रहधटके उत्तरपदस्ये हलादौ शब्दे परे भवति । स
तु नञर्थे एव स्थानितुल्यार्थत्वाद् आदेशस्य । वाच० । स्वल्पेऽर्थे,
अनुकम्पाया, सम्बोधने, अ अनन्त । अधिक्षेपे, अ पचासि त्व जा-
लम् ! "तपसर्गस्वरविज्ञकिप्रतिरूपकाश्चेति" स्वरादिगणसूत्रे अ
इति सिद्धान्तकौमुद्यामुदाहृतं मनोरमायां च अ सम्बोधने, अधि-
क्षेपे, निषेधे चेति व्याख्यातम् । वाच० । "अपच्छिममारणति-
यसंसेहणाजोसणार्हि" अत्र अपच्छिमाः पश्चात्कालभाविन्यः ।
अकारस्त्वमङ्गपरिहारार्थ इति । स० ।

च-अव्य० कगचजतदपयवां प्रयो लुक्, उ० । १ । ७७ । इति
सूत्रेण चक्षोप । न चाऽनादेरेव स कचिदादेरपि विधानात् ।
सो अ-स च० प्रा० । अर्थस्तु चक्षुष्ये ।

अअ-अज-पुं० न जायते जन-रु-न० त० ईश्वरे, जीवे, ब्रह्मणि,
विष्णौ, हरे, ह्यग्रे, मेवरूपे प्रथमे राजौ, माक्षिकधानी च । जन-
मश्वये गगनादौ, त्रि० । आत् विष्णोर्जायते इति । चन्द्रे, कामे,
वृषारथपितरि रघुनृपपुत्रे रामचन्द्रस्य पितामहे सूर्यवश्ये नृप-
भेदे, वाच० । प्राकृते अजाते पुंस उ० । ३ । ३२ इति जातिपर्यु-
दासाञ्ज ङीष्चिकल्पः प्रा० । मेवशृङ्गधाम, गा० ।

अअगर-अजगर-पुं० अज गग गिरति गिलति गृ-अच । वृह-
त्सर्पे, । अजगरमगस्त्यशापात् वृहत्सर्पजावापञ्च नहुषमधिकृत्य
कृतो ग्रन्थ अण्-आजगरम् । अजगरकथायाम्, न० । वाच० ।
अआवालग-अजापालक-पुं० ६ त० । गगरकके, अजारकण-
प्रवृत्ते अष्टमते, वाचकभेदे च । वृ० ३ उ० । (तदृत्त किय-
कम्म शब्दे) ॥

अइ-अयि-अव्य० सम्भावने, अइ संभावने ८ । २ । ४ । संजा-
वने अइ इति प्रयोक्तव्यम् । "अइ दिअर" किं न पेच्छसि, "अयि
देवर ! किञ्च प्रेक्षसे प्रा० ॥

गम्-धा० सक० पर० ज्वा० गतौ, गमेरइ ति उ० । ४ । ६१ ।
इति सूत्रेण गमेः अ० आदेशः । अइ-गच्छति प्रा० ।

अति-अव्य० अत्-इ-पूजायाम्, उत्कर्षे. अतिक्रमणे, वि-
क्रमे, अनुचौ, भृशे, "विक्रमातिक्रमावुद्धिभृशार्थानि शयेश्वती-
ति" गणरत्नम् । तत्र विक्रमे अतिरथः । अतिक्रमे अति-
मतिः । अनुचौ अतिगहनम् । बुद्धेरविषय । भृशे अतितप्तम् ।
अतिशये अतिवेगः वाच० । "अति सर्वत्र वर्जयेत्" यत "अइ-
रोसो अइ तौसो, अइदासो दुज्जणेहि सवासो । अइअजमो य
वेसो, पंच वि गुरुअ पि बहुअं पि" ध० १ अधि० ॥

अ [दि] इ-[ति] इ-अदिति-स्त्री० न दीयते क्षणक्यते वृह-
त्वाद्-दो-किञ्च न० त० दातुं णेचुमयोभ्यायां पृथिव्याम्, दिति-
र्वनुजमाता । विरोधार्थे, न० त० । देवमातरि, सा च दक्षस्य
सुता वाच० । पुनर्वसुनक्षत्रस्याधिपतिर्देवता ज्यो० ६ पादु० ।
"पुणव्वसु अइइ देवयाप पणसे" सु० प्र० १० पादु० ॥ ज० ॥
"दो अइइ" पुनर्वस्वोद्धित्याददितिद्वित्वम् । स्था० २ उ० ॥
अइउकस-अत्युत्कर्ष-त्रि० उत्कर्षमतिक्रान्त । उत्कर्षरहिते,
"तवस्वी अइउकसो" तपस्वी साधुः अत्युत्कर्ष अइ तपस्वी-
त्युत्कर्षरहित । दश० ५ अ० ॥

अइउभट-अत्युज्झट-त्रि० अतिशयितचेतश्चमत्कृतिकृति, "अ-
इउभटो अ वेसो" ध० २ अधि० ॥

अइत-अतियत्-त्रि० प्रविशति, नि० चू० १६ उ० । "पदम
उसज मुहेण अइत पासइ" कल्प० ॥

अइदि [य] अ-अतीन्द्रिय-त्रि० अतिक्रान्तमिन्द्रिय तद्वि-
षयत्वात् अत्या० स० वाच० । इन्द्रियज्ञानाग्राम्ये, अण्० ॥
अतीन्द्रिया अर्था आगमेन उपपत्त्या च ज्ञायन्ते न केवलया यु-
क्त्या तदुक्तम् । "आगमश्चोपपत्तिश्च, सपूर्णं दृष्टिकारणम् । अ-
तीन्द्रियाणामर्थानां, सञ्ज्ञावप्रतिपत्तये" । १ । विशो० । दर्श० ॥
कर्म० । अनु० । कथं न युक्तयेति चेत् ॥

ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।

कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥

यदि यावता कालेनातीन्द्रिया इन्द्रियागोचराः पदार्था धर्मा-
स्तिकायादयः हेतुवादेन युक्तिप्रमाणसमूहेन ज्ञायेरन् एतावता
कालेन परमात्मभावश्रवणचिन्तननिदिध्यासनादिना स्वात्म-
स्वरूपे उपयोगोऽनुभवः कृतः स्यात् तदा तेषु धर्मास्तिकायादि-
षु बुद्ध्यात्मनि च निश्चयः कृतः स्यात् प्राज्ञैः इत्यनेन परद्रव्यचि-
न्तनकासमात्रेणात्मस्वरूपचिन्तने स्वपरावबोधो भवति तेन सद्भिः
स्वस्वभावभावने मतिः कार्या येन निश्चयासतः स्वपरा " जे
एगं जाणइ से सव्वं जाणति " इति वचनात् बोधपरित्यागपरि-
णतिर्भवति ॥ ४ ॥ अष्ट० ॥ (तनु अतीन्द्रिया अर्थो न सन्त्येवेति
चेन्न । मङ्गुलभ्रमणोपासकेनाऽन्ययूथिकाप्रतिवातघ्राणसहगत-
पुञ्जस्वरूपादेरतीन्द्रियार्थस्य सत्त्वप्रसाधनात् । मङ्गुल मङ्गुल
शब्दे तद् दृष्टव्यम्) अतीन्द्रियार्थज्ञानं वेदवाक्येभ्यः प-
वेति जैमिनीयाः । साक्षादतीन्द्रियार्थदर्शनस्तन्मतेऽभावात् य-
दुक्तम् " अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टुं न विद्यते । नि-
त्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वविनिश्चयः ॥ १ ॥ गा० (सम्म-
वत्यतीन्द्रियार्थज्ञानं सर्वज्ञस्येति सव्वस्य शब्दे उपपादयिष्यते)
अइकंदुइय-अतिकरमूयित-न० अत्या० स० अतिशयिते नलै-
विलेखने, सूत्र० १ भु० ३ अ० ३ उ० ।

अ [ति] इकंत-अतिक्रान्त-त्रि० अत्या० स० अतिक्रमनीये,
प्रश्न० १ अ० ५० ४ अ० । समुद्रज्ज्वाधिपतौ च पुं० द्वी० ।
अइकाय-अतिकाय-पुं० अतिक्रान्तः कायात् अत्या० स०
महोरगविशेषे, प्रश्न० १ पद ॥ महोरगेन्द्रे च स्था० २ उ० ।
(अग्रमहिष्यादयः स्वस्वस्थाने) वृहच्छरीरे, त्रि० " उमाविसे
चमघोरविसे महाविसे अइकाये महाकाय " (सर्पवर्णकः) का-
यान् शरीराणि शेषाहीनामतिक्रान्तोऽतिकायः अत एव महाका-
यः । ज्ञा० ६ अ० । अथवाऽतिकायानां मध्ये महाकायोऽतिकाय-
महाकायः ज० १५ श० १ उ० । अत्युत्कटः कायोऽस्य । विक-
टदेहे, त्रि० रावणपुत्रे राक्षसजेदे, पुं० । वाच० ॥

अ (ति) इकंत-अतिक्रान्त-त्रि० अति-क्रम-क- । अतीते,
आचा० १ भु० ४ अ० १ उ० " जेय बुद्धा अतिकंता " सूत्र० १
भु० ११ अ० । तीर्णे, विशेषे । आ० म० प्र० । पर्यन्तवर्तिनि,
जी० ३ प्रति० । औ० । त्यक्तवति, " सश्वसिणेहाइकंता " औ० ।

अ (ति) इकंतजोव्वण-अतिक्रान्तयौवन-त्रि० अत्या० स०
अतीततारुण्ये, " अप्रपञ्चजोव्वणा अइकंतजोव्वणा " स्था० ५ उ० ।

अ (ति) इकंतपञ्चखाण-अतिक्रान्तप्रत्याख्यान-न० अति-
क्रान्ते पर्वणि यत् क्रियते तदतिक्रान्तं तच्च तत्प्रत्याख्यानम् ।
प्रत्याख्यानजेदे, ध० २ अधि० । आव० । एवमेवातीते पर्युष-
णादौ करणादतिक्रान्तम् । आह च ' पञ्जोसवणात् तच्च, जो खलु न
करेइ कारणज्जाप । गुरुवेयावच्छेण, तवस्सिगेण्णयाप च
। १ ॥ सो दाई तवोक्कम्मं, पमिवज्जइ त अइच्छिण काले । एवं
चवक्खाणं, अइकंतं होइ नायव्वंति " ॥ २ ॥ स्था० १० उ० ।
" अतिकंतं नाम पञ्जोसवणात् तच्च तेहि कारणेहि ण कीरति
गुरुतवस्सिगिण्णकारणेहि सो अतिक्रान्तं करोति तदेव विभा-
सा । आ० चू० । आव० ।

अइकम-अतिक्रम-पुं० अति० क्रम-घञ् अतिचारे, " पाणाइवाय-
स्स वेरमणे एस वुत्ते अइकमे " ध० ३ अधि० । सूत्र० अतिलङ्घने,

आचा० १ भु० ७ अ० । उपा० । विनाशे, आचा० १ भु० २ अ० । साधुक्रि-
योस्तुलने, आव० ४ अ० ।

अतिक्रमव्यतिक्रमादयः साधुक्रियोस्तुलनरूपास्तत्रातिक्रम-
स्याधाकर्माधित्य स्वरूपमित्यम् ।

आहाकम्म निमंतण, पढिमुणमाणो अतिक्रमो होई ।

पयजेयाइवइकम-गहिण तइओ तरो गिलिण ॥

कोऽपि आद्यो नाहप्रतिषद्यो ज्ञानिप्रतिषद्यो गुणानुरक्तो वा
आधाकर्म्म निष्पाद्य निमन्त्रयति । यथा प्रगद्यन्मुष्मिषिषम-
स्मरुहे सिद्धमभ्रमास्ते इति समागत्य प्रतिगृह्यतामित्यदि ।
तत्प्रतिगृह्यति अच्युपगच्छति अतिक्रमो नाम दोषो भवति । स
च तावद्यावदुपयोगपरिसमाप्तिः । किमुक्तं प्रवर्ति । अत्यतिमृ-
णोति प्रतिश्रवणानन्तरं चोच्छिद्यति पात्रायुक्त्यति उड्डा च
गुरोः समीपमागत्योपयोगं करोति । एव समस्तोऽपि व्यापारोऽति-
क्रमः । उपयोगपरिसमाप्त्यनन्तरं च यदाधाकर्म्मप्रदभाय पद-
भेदं करोति आदिशब्दान्मार्गे गच्छति गृहं प्रविशति आधाक-
र्म्मप्रदभाय पात्रं प्रसारयति न चाद्यापि प्रतिगृह्यति एव सर्वो-
ऽपि व्यापारो व्यतिक्रमः (गहिण तइओति) आधाकर्म्मणि गृ-
हीते उपलक्षणमेतत् । यावदसतौ समानीते गुरुसमक्रमालोचि-
ते भोजनार्थमुपस्थापिते मुखे प्रक्षिप्यमाणेऽपि च बावचाद्यापि
गिरति तावच्चतुर्थोऽतिचारस्तत्रो दोषः । गिरिते त्वाधाकर्म्म-
एयनाचारः । एवं सर्वेष्वप्यौद्देशिकादिषु नावनीयम् । पि० ।
धर्म० । व्य० । स्था० । ध० २० । आनु० । एवं भावना सूत्रगुणेषु
उत्तरगुणेषु च कार्या । अत्रायं विवेकः । सूत्रगुणेषु अतिक्रमा-
दिभिर्निमित्तिभ्यारित्रस्य मासिन्यं तस्य चासौच्यप्रतिक्रमणादिभिः
बुद्धिभूतैर्न तु प्रज्ञ एव तथा च सति पुनरुपस्थापनैव युज्यते ।
उत्तरगुणेषु चतुर्निरपि चरित्रस्य मासिन्यं न पुनर्मङ्ग इत्युक्ता
मूलोत्तरगुणातिचारा । ध० ३ अधि० (ज्ञानदर्शनचारित्र्यज्ज्ञेदा-
दतिक्रमादीनां त्रैविध्यमिति सकिंसेस शब्दे)

अइकमण-अतिक्रमण-न० अति-क्रम-ल्युट्-सङ्घने, विराजने,
ध० २ अधि० । आव० ।

अइकमणिज्ज-अतिक्रमणीय-त्रि० अतिलङ्घनीये, सूत्र० १ भु० ७ अ०

अइकमित्तु-अतिक्रम्य-अव्य० अति क्रम-त्वा-ल्यप्-उड्डाद्ये-
त्यर्थे, " तं अइकमित्तु न पविसे " दश० ५ अ० ।

अइगंजीर-अतिगम्भीर-त्रि० अतीवानुच्छाशये, पंचा० २ वि० ।

अइगच्छमाण-अतिगच्छत्-त्रि० अति-गम+शतृ प्रविशति,
नि० चू० एउ० । ज्ञा० ।

अइग (य) त अतिगत-त्रि० अति-गम् क-प्रविष्टे, " जे मि-
क्खु गाहावइकुलं अतिगते " नि० चू० ३ उ० । प्राप्ते च । तं० ।

अइगम-अतिगम-पुं० प्रवेशे, आ० म० प्र० ।

अइगमण-अतिगमन-न० प्रवेशमार्गे, ज्ञा० १ अ० ।

अइगुरु-अतिगुरु-पुं० अतिशयितो गुरुः पूज्यतमत्वात् प्रा० स०

" अयं पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति पिता माताऽऽचार्यश्चेति " वाच० ।

अइचंद-अतिचन्द्र-पुं० षष्ठे लोकोत्तरमुद्धते, कल्प० ।

अइचरा-अतिचरा-स्त्री० अनिक्रम्य-स्थस्थान सरोऽन्तरं चर-
ति गच्छति चर+अच् पश्चिन्याम्, तत्तुल्याकारवत्त्वात् स्थस्यप-
श्चिन्यापञ्चचारिण्यां लतायाञ्च । अतिक्रमणकारिणि, त्रि० वाच० ।

अङ्कित-अतिचिन्त-त्रि० अतीव चिन्ता यस्मिन्स्तदतिचिन्तम् ।
अतिचिन्तासहिते, झा० १ अ० ॥

अङ्कित-अतीत्य-अम्य० अति-इ-त्वा-स्यप्-त्यक्त्वेत्यर्थे, "स-
न्वाह संगारं अङ्कित धीरे" सूत्र० १ ध्रु० ७ अ० ॥

अङ्कित-गम्-धा० प्त्वा० प० सक० । गमेरङ् अङ्किते । उ।४।६१ ।

इति सूत्रेण गम्धातोर्हच्चादेशः । गतौ, अङ्कित, गच्छति, प्रा०

अङ्कित-गच्छत्-त्रि० विचरति, अतिक्रामति, उच्यते १७ अ० ।

अङ्कित-अतिचिन्त-पुं० अतिक्रान्तश्चन्द्रम । तुल्याकारेण
अत्या० स० । (जातिया) इति प्रसिद्धे स्वस्तृणविशेषे, (तात-
मजाना) इति प्रसिद्धे जलतृणभेदे च । कीरस्थामिमते उया
इत्येव नाम । अतिक्रमकारेणि, त्रि० अतिक्रमेऽप्यधी० उया-
तिक्रमे, अन्य० पाच० ॥

अङ्कितपक्षस्ताण-अदित्सा (अतिगच्छ) प्रत्याख्यान-
न०-प्रत्याख्यानभेदे, " भिक्षार्णमदाणा अङ्कित " भिक्षण
निष्ठा प्राभृतिका आदिशब्दादस्मादिपरिग्रहेस्तेषामदाने अतिग-
च्छेति अदित्सेति वा वचनप्रतिगच्छप्रत्याख्यानमादित्साप्रत्याख्या
नं वा । आ० म० प्र० "अङ्कित" च्छ पञ्चपञ्चाणं वभणसमणा-
न् । अङ्कित " अदित्साप्रत्याख्यानं हे ब्राह्मण ! हे भ्रमण ! अदि-
त्सेति नाम दातुमनिच्छ न तु नास्ति यद्गृह्यतां याचित तत्तदादि
त्सैव यस्तुन " प्रतिषेधात्मिकेति धृत्वा प्रत्याख्यातमिति गाथार्थः ।
आव० ६ अ० ॥

अङ्कित-अतिजा (या) त-पुं० पितु संपदमतिलङ्घ्य जा-
त सवृक्षो घा०तिक्रम्य या तां यातः प्राप्तो विशिष्टतरसपद स-
मृद्धतर इत्यर्थः । इत्यतिजातोऽतिपातो वा क्रममयत । सुतभेदे,
स्था० ४ ग० ॥

अङ्कित-अतिष्ठित-त्रि० अतिप्रगते, उत्तुष्टितयति, उच्यते ७ अ० ।
अतिष्ठाय-अम्य० अतिप्रगतेष्वङ्गुपेत्यर्थे, उच्यते ७ अ० ॥

अङ्कित-अतिनिश्चय-त्रि० अतीव निश्चयमे, पचा० १५ वि०

अङ्कितमहुरत्त-अतिस्निग्धमधुरत्व-न० घृतगुमादियत् सु-
खकारित्वरूपे एकोनविंशे वचनातिशये, ख० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) त-अतीत-त्रि० अति-इ-त०
अतिक्रान्ते, सूत्र० १ ध्रु० १० अ० । आचा० आ० म० प्र० । दश० ।
वियक्तिनसमयमप्रीत्य चतुर्थेन समयराशौ, ज्यो० १ पाहु० ।
प्राकृते, अतिक्रान्तसमयजायिनि, विशेष० । आनु० (अतीतवस्तु-
न सत्यविचार सच्चक्षुशब्दे) दूरीभूते च उच्यते १५ अ० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) तद्वा-अतीताद्वा-स्त्री० अती-
तकाले, आचा० १ ध्रु० १ अ० १ उ० । अतीतेषु अनन्तेषु पुनस्त-
पराधर्मेषु, अनु० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) तपचक्राण-अतीतप्रत्याख्यान-
न० पूर्वकालकरणीये प्रत्याख्यानभेदे, प्रघ० ४ द्वा० । ख० । प्र० ॥

अ (ति) इ (या) ताण-अतियान-न० नगरादौ राजादे
प्रवेशे, स्था० ४ ग० ॥

अ (ति) इ (या) ताणकहा-अतियानकथा-स्त्री० रा-
जादे नगरादौ प्रवेशकथायाम्, यथा " मिय सिंधुरखधगभो,
सियचमरो सेयपत्तवन्नहो । जणनयणकिरणसेभो, एसो पवि-
सइ पुदे राया " इति स्था० ४ ग० । राजकथाभेदे, (व्याख्या-
रायकहा शब्दे) ॥

अ (ति) इ (या) ताणगिह-अतियानगृह-न० नगरादि-
प्रवेशे यानि गृहाणि तेषु, स्था० २ ग० ॥

अ (ति) इ (ता) याणिहि-अतियानहि-स्त्री० राजा-
दे नगरप्रवेशे सम्भवन्त्यां तोरणद्वारोभाजनसम्मर्दादिलङ्क-
णायामुच्यते, स्था० ३ ग० ॥

अ (ई) इ [ती] [या] ताणागयसाण-अतीतानागतज्ञान-
न० अतिक्रान्तानुत्पत्त्यर्थपरिच्छेदने, द्वा० २६ द्वा० ॥

अङ्कित-अतिताल-न० उच्यते गेयदोषे, अनु० ।

अङ्कितखरोस-अतितीक्ष्णरोष-त्रि० ६ अ० । पुनः पुनः रोषण-
शीले, दीर्घरोषिणि, ध्रु० २ उ० ।

अङ्कित-अतितीव्र-त्रि० अत्युत्कटे, पंचा० १ वि० ।

अङ्कितवक्त्रविगम अतितीव्रकर्मविगम-पुं० ६ त० अत्युत्कट-
स्य कर्मणो ज्ञानावरणीयमित्यात्वादेः विनाशे, पचा० १ वि० ।

अङ्कित-अतिवृष्ट-न० अतिशयेनापनयने, सूत्र० १ ध्रु० १ अ०

अङ्कित-अतितेजा-स्त्री० चतुर्वर्ग्यां राज्ञौ, जं० ७ वक्त्र० । कल्प० ।

अङ्कित-पेदपर्य-न० इदं पर प्रधानमस्मिन् वाक्ये इतीदं परं
तज्ञाय पेदपर्यम् । वाक्यस्य तात्पर्यशक्तौ, षो० १ वि० । पूर्वोक्त-
तात्पर्यं, षो० १६ वि० । प्राचार्यगर्जे (प्रति०) तत्त्वे, पञ्चा०
१५ वि० ॥

अङ्कित-अतिदारुण-त्रि० महाभयानके, अष्ट० ।

अङ्कित-अतिदुःख-न० अतिदुःखे, आचा० १ ध्रु० ६ अ० ।

अङ्कितधम्म-अतिदुःखधर्म-त्रि० अतीव दुःखमसातवेदनी-
य धर्म स्वभावो यस्य तत्तथा । अत्यन्तासातस्वभावे, " गा-
दोवणीयं अङ्कितधम्म " सूत्र० १ ध्रु० ५ अ० । अतिदुःखरूपो
धर्मः स्वभावो यस्मिन्निति इदमुक्तं प्रवर्तते । अङ्कितमेवमात्र-
मपि कालं न ह्यस्य विनाश इति । सूत्र० १ ध्रु० ५ अ० ।

अङ्कित-अतिदुर्दिन-न० अतिशयेन मेघतिमिरे, पि० ।

अङ्कित-अतिदुर्लभ-त्रि० अतिशयेन दुष्प्राप्ये, ग० १ अधि० ।

अङ्कित-अतिदुस्सह-त्रि० अत्यन्तदुःखासे, उच्यते १ ए अ०

अङ्कित-अतिदूर-त्रि० अतिविप्रकृष्टे, रा० । औ० ।

अङ्कित-अतिदुष्पमा-स्त्री० दुष्पमदुष्पमाऽऽख्ये अवसर्पि-
ण्यां पृष्ठे उत्सर्पिण्याश्च प्रथमे अरके, एतद्वर्णनञ्च तत्रैव ति० ।
नं० । ज्यो० ।

अङ्कित-अतिदेश-पुं० अतिक्रम्य स्वविषयमुल्लङ्घ्य अन्यत्र वि-
षये देश अतिदेशः । अतिदिश्यते वा करणे कर्मणि वा चञ्च " अ-
न्यत्रैव प्रणीतायाः, कृत्स्नाया धर्मसदृशे । अन्यत्र कार्यतः प्रा-
प्तिरतिदेशः स उच्यते ॥ प्राकृतात् कर्मणो यस्मात्तत्समानेषु
' कर्मसु । धर्मप्रवेशो येन स्यादतिदेशः स उच्यते " इत्यधिक-
रणमात्राधृतानियुक्तवाक्योक्ते अन्यत्र प्राप्तेऽन्यधर्मे, तत्प्रापके
शास्त्रभेदे च । पाच० ।

अङ्कित-अतिधर्म-त्रि० अतिशयेन शब्दकारके, नि० ध्रु० १ उ०

अङ्कित-अतिधर्म-त्रि० अतिशयेन शब्दकारके, नि० ध्रु० १ उ०

अङ्कित-अतिधर्म-त्रि० अतिशयेन शब्दकारके, नि० ध्रु० १ उ०

सोऽतिधूर्तः । बहुलकर्मणि, सूत्र० २ अ० २ अ० १ उ० ।
अडपंदिय-अतिपरिणाम-त्रि० अतीव दुर्विदग्धे, वृ० १ उ० ।

अङ्गपङ्कवलासिला-अतिपाणमुकम्बलाशिला-स्त्री० मन्दरप-
र्वनस्य दक्षिणदिगतायामभिषेकशिखायाम्, स्था० २४० "दो म-
ङ्गपङ्कवलासिलाओ" स्था० ४ उ० । पाणमुकम्बलाशिलेत्यस्या
नामान्तरमिति तत्रैव घर्णको वक्ष्यते । जं० २ वक्ष० ।

अङ्गपडागा-अतिपताका-स्त्री० एकां पताकामतिक्रम्य या प-
ताका साऽतिपताका । ज्ञा० १ अ० । पताकोपरिवर्तिन्यां पताका-
याम्, । दशा० । औ० ।

अङ्गपरिणाम-अतिपरिणाम-पुं० अतिव्याप्या परिणामो यदु-
क्तार्थपरिणमन यस्य स तथा व्य० १ उ० । नि० चू० । अपवादैकम-
तौ, वृ० १ उ० । तद्वक्षणम् ॥

अतिपरिणामकमाह ॥

जो द्रव्वखेत्तकाल-जावकयं जं जहिं जया काले ।

तद्धेसुस्सत्तुमई, अङ्गपरिणामं वियाणाहि ॥

छव्यक्षेत्रकाक्षभायकृत यद्वस्तु यस्मिन् विकृष्टाध्वादौ यदा
काले आत्यन्तिकदुर्भिक्षादौ प्रणितम् [तद्धेसुस्ति] तस्मिन् द्रव्या-
दिदृष्टे अत्रादिकवस्तुनि हेदया यस्य स तद्धेदयः पश्यामि ।
तावच्च किमपि निश्चापद ततस्तदेवावलम्ब्यपिष्यामीत्यपवादै-
कमतिरित्यर्थः । तथा सुत्रादपवादधृतादुत्प्रावल्यानमतिरस्येत्यु-
त्सन्नमतिः । श्रुतोक्तापवादादप्यधिकापवादबुद्धिरिति भावस्त-
मेवविद्य साधुमतिपरिणामक विजानीहीति वृ० १ उ० ।

अथ प्रसङ्गादत्रैव परिणामकापरिणामातिपरिणामानां
सदृष्टान्त स्वरूपम् दर्शयते ।

परिणामऽजहत्थेणं, मई उ परिणामगस्स कज्जेसु ।

विऽए न तु परिणामऽ, अहिगमऽ परिणामे तऽओ ॥

परिणामकस्य मतिं कार्येषु याथार्थ्येन यथार्थप्राप्तकतया परि-
णमनि । अत एवासौ परिणामक उच्यते । द्वितीये द्वितीयस्याप-
रिणामकस्य मतिर्न तु नैव परिणमते । अत एवासावपरिणामस्तु-
तीय पुनरधिका मतिमधिगच्छतीति परिणामकोऽनिधीयते एत-
देव स्पष्टयति ॥

दोसु विपरिणमऽ मऽ-मुस्सगववायओ उ पढमस्स ।

विऽतस्स उ उस्सगो, अङ्गववाए अ तऽयस्स ॥

प्रथमस्य परिणामकस्य मतिरुत्सर्गापवादयोरपि परिणमति ।
किमुक्तं प्रवति । य परिणामको भवति तस्योत्सर्गो प्राप्ते उ-
त्सर्ग एव मतिः परिणमते । अपवादे प्राप्तेऽपवाद एव मतिः प-
रिणमते । यत्रोत्सर्गो बलीयान् तत्रोत्सर्ग समाचरति । यत्राप-
वादो बलवान् तत्रापवाद गृह्णाति । द्वितीयस्यापरिणामकस्य पु-
नरुत्सर्ग एव मतिः परिणमते । न पुनरपवादे । तृतीयस्य तु
अनि अन्यर्थम् । अपवादे मतिः परिणमते । स च छव्यादिकार-
णे प्रतिभेवनामनुमानां हान्या न किञ्चित्परिहरति । कारणमन्त-
रेणापि प्रतिसेयते । अथ यदुक्तमासीत् (अर्वाहं दिदृतोत्ति)
तद्विदानीं जायते । एतेषां परिणामकादीनां त्रयाणामपि जिज्ञासया
केचिदाचार्या स्वशिष्यानिन्धमभिदध्यु आर्या ! आह्वैरस्माकं
प्रयोजनमस्ति । त्युक्ते यः परिणामक शिष्य स ब्रूयात् ।

चेयणमचेअणं वि य, केदहद्विअ ओकित्तिया वा वि ।

हप्पा पुणो व वोच्चं, वीणासत्थं च वुत्तोसि ॥

नगवन् 'थैरात्रै प्रयोजन तानि किं चेतनानि किं जायितानि

लवणदिग्निर्वासितानि उताजावितानि (केदहसि) किं प्रमा-
णानि किं महन्ति किं वा लघूनि (वुत्तसि) किं पूर्वदिग्निर्वा-
न किं वा इदानीं जित्वा आनीतानि । अथवा (जिज्ञासि) किं
जिज्ञानि आनीकृतानि किं वा सकृतानि (किञ्चित्ति) कि-
यन्ति वा गणनायां द्विज्यादिसंख्याकान्यानेकानि वा अपिशब्दा-
त् किं बद्धास्थिकानि अबद्धास्थिकानि वा तरुणानि जरणी
वेत्यत्रापि प्रष्टव्यम् । इत्थं शिष्येणानिहिते आचार्येण वक्तव्यं
सौम्य ! ब्रह्मानि सन्त्यग्रेऽपि मम पुनः पुरा विस्मृतान्यासाभिदानीं
स्मृतिपथमवतीर्णनीति । यद्वा पर्याप्तं तावदिदानीं प्रयोजने समा-
पतिते पुनर्जन्तं वक्ष्यामि भणिष्यामि । अथवा वत्स ! किं ममा-
द्वैः कार्यं विमर्शार्थं किमयं विनीतो न वा परिणामको वानवेति
विज्ञानार्थमुक्तीऽसीति । यः पुनरपरिणामकः स ब्रूयात् ।

किं ते पित्तपलावो, मा वयं एरिसाईं जंपाहि ।

मा एं परे वि सोइ, कहं पि नेच्छाम एयस्स ॥

भो आचार्य ! किं ते पित्तपलावः समजनि यदेवमुन्मत्तवदसं-
बद्ध प्रलपसि यद्येकवारं ममाग्रे जट्टितं बहिर्जट्टितं नाम मा
पुनर्द्वितीयं धारमीदृशानि सावधानि वचनानि जल्पेति । यतो-
"मा णमि" त्येतत्त्वदीयं वचनं परोऽप्यन्योऽपि श्रोष्यति । वयंपुनः
कथमपि नेच्छाम एतस्यार्थस्याप्राप्तयनसङ्कल्पस्य किं पुनः कर्तव्यं
तामित्यपिशब्दार्थः । यः पुनरतिपरिणामकः स एवमभिदध्यात् ।

कालेसिं अइवत्तऽ, अहं वि इच्छा न भाणिउं तरिमो ।

किं एच्चिरस्स वुत्तं, अन्नाणि वि किं च आणेमि ॥

कृमाश्रमणा ! यदि शुष्माकमाद्वैः प्रयोजनं तत इदानीमप्या-
यामि यतः (नि इत्ति) एवामात्राणां काहोऽतिवर्धते अति-
क्रामति । अथ तावत्तानि तरुणानि वर्तन्ते अत ऊर्ध्वं जरणीज-
विष्यन्तीत्यर्थः । यच्चा अस्माकमप्यात्राणां प्रदणे महती इच्छा-
परं किं कुर्मो न वयं यौष्माकीणभयजीता भणितुं किमपि (तरि-
मोत्ति) शक्नुमः । अथवा यद्यान्नाएयपि प्रदीतुं कल्पन्ते ततः
किमियतश्चिरात्काहोऽप्युक्तं वञ्छिता स्मो वयमियन्तं काहमिति-
भावः । किं वा अन्यान्यपि मातुर्हिद्विद्वान्यानामीति । अन्-
योपरिणामकातिपरिणामकयोरेवं जट्टपतोराचार्येणैदमुत्तरं दा-
तव्यम् ।

नाभिण्यायं गिएहसि, असमत्ते चेव भाससी वयणे ।

मुत्तंविद्वलोणकए, भिन्ने अहवा वि दोधंगे ॥

भो मुग्ध ! त्वं न मदीयमभिप्रायं गृह्णासि किन्तुसुकनया म-
दीये वचने असमाप्त एवेदं समयविरुद्धं निष्ठुरवचनं भाषसे ।
मया पुनरेतेनाभिप्रायेणानिहितम् (मुत्तबिल इत्यादि) मुक्तं
काञ्चिकं तदेवात्यस्तं मुक्ताम्बं तेन लवणेन वा कृतानि भाषि-
तानि मुक्ताम्ललवणकृतानि जिज्ञानि च । किमुक्तं प्रवति । न म-
या प्रवतः पार्श्वोदपरिणतान्यान्नाप्यानायितानि किं तु चतुर्थ-
रसिकभावितानि वा लवणजायितानि वा छव्यतो जावतश्च जि-
ज्ञानि परिणतानीति भावः । अथ वा (दोधंगत्ति) सामयिकी-
संज्ञा ओदनादिमूलापेक्षया प्रोजनस्य द्वितीयाङ्गानि राक्ष-
करूपाणि तानि मया आनायितानीति प्रक्रमः । "अर्वाहं" इत्य-
त्रादिशब्दसूचितौ वृक्षबीजदृष्टान्ताधिमौ । आचार्या भणन्ति ।
आर्या ! "रुक्तेहिं वा पन्नोअरुणंति" अत्रापि परिणामकादीज-
ट्टपस्तथैवावसातव्यः । नवरम् । अपरिणामकातिपरिणामको
प्रति स्मरिणा प्रतिवक्तव्यम् ।

चिप्पावकाइवाई-णि वेमि स्वखाणि न हरिण स्वखे ।

अंबिन्नविच्छत्थाणि अ. भणामि न विरोहणसमत्पे ॥

निष्पावा चला कोइया प्रनीतास्तदादीनि (स्वस्त्राणिचि)
रुक्काणि द्रव्याणि तान्येवाह ब्रवीमि न दारितान् तु सचिन्ता नृ-
ज्ञान् । तथा बीजान्यपि यानि अम्बमावितानि विध्वस्तानि वा
व्यवच्छिन्नानि यानि कानि तान्यह भणामि न विरोहणसमर्था-
नि पुनरुक्तोद्भवनशक्तिकानीत्येष आम्नादिदृष्टान्तः । कथनाचार्ये-
णामीनि स्थाने. "मुच्यिष्ये" इत्यादिभिः प्रकारै कृत्वा एव परी-
क्ष्य य परिणामकस्तस्य दातव्यम् । पुनस्तेन श्रोतव्यमित्याह ।

निहाविगहापरिव-जिएण गुत्तिदिण पंजलिणा ।

जत्ती बहुमाणेण य, उवउत्तेणं सुणेयव्वं ॥

अजिकंखतेण सुभा-सियाई वयणाई अत्थमहुराई ।

विम्हियमुहेण हरिसा- गणण हरिसं जणातेण ॥

निद्रायमाण सन् न किञ्चिदप्यवधारयति । विकथार्या क्रिय-
माणया न्याघातो जवतीत्यतो निद्राविकथापरिवर्जितेन श्रोत-
व्यम् । गुप्तानि स्वस्वविषयप्रवृत्तिनिरोधेन सवृत्तानीन्द्रियाणि
येनासौ गुप्तेन्द्रियस्तेन । तथा प्राञ्जलिना योजितकरयुगलेन ज-
क्त्या बहुमानेन च श्रोतव्यम् । जक्तिर्नाम गुरुणामिति कर्तव्यता-
या निषेधारचनादिकायां वाह्या प्रवृत्तिः । बहुमानस्तु गुरुणामु-
परि आन्तरः प्रतिबन्धः । अत्र चतुर्भङ्गी । जक्तिर्नामैकस्य न ब-
हुमानः, बहुमानो नामैकस्य न जक्तिः, एकस्य भक्तिरपि बहु-
मानोऽपि, एकस्य न जक्तिर्न वा बहुमान इति । अत्र च भक्ति-
बहुमानयोर्विशेषज्ञापकं शिवाख्यानमन्तरमकयोर्मैकपुष्टिन्द-
योः द्वाहरण तच्च सुप्रसिद्धमिति कृत्वा न लिख्यते । यदि च
भक्तिं बहुमान वा न करोति तदा चतुर्बन्धु । तथोपयुक्तानान्यम-
मसा श्रोतव्यम् । "अजिकंखतेण" इत्यादिवचनानि श्रुतव्याख्या-
रूपाणि सुभाषितानि शोभनभणितानि अर्थमधुराणि जावार्थ-
सुखादनि अभिकाङ्क्षता आभिमुख्येन वाञ्छता । तथा विस्मि-
तमुक्तेन पूर्वापूर्वश्रवणसमुद्भूतविस्मयस्मरवदनेन हर्षगतेन अहो
अमी जगवन्तः स्वगर्लतासुशोषमवगणय्यास्मभिमिचितमेव-
विध सूत्रार्थव्याख्यानं कुर्वन्ति नानृणी भवेयममीषां परमोप-
कारिणामहमित्येवंविधं हर्षमागतः प्राप्तो दर्शनागतेन । तथा
गुरुणामपि स्ववदनप्रसन्नतया उत्फुल्लितोचनतया च हर्षम्
अहो कथमयं सवेगरङ्गतरङ्गिमानस परमागमव्याख्यानं शृणो-
तीति तत्क्षण प्रमोद जनयता श्रोतव्यमिति ।

अथ परिणामकद्वारमुपसहरसाह ।

आधारियसुत्तयो, सविसेसो दिज्जए परिणयस्स ।

सुपरिच्छिता य मुनिच्छि-यस्स इच्छागए पच्छा य ॥

कल्पम्यवहारादेः सूत्रार्थः सविशेषः सापवादः स्वगुरुसकाशा-
वधारित आगृहीतः स सर्वोऽपि दीयते परिणतस्य परिणा-
मकस्य शिष्यस्य सुपरीक्ष्य पूर्वोक्तान्नादिदृष्टान्तैः सुष्ठु अवि-
सर्वादेन परीक्षां कृत्वा मुनिश्चितस्य प्रारब्धसूत्रार्थं ग्रहीतव्ये
कृतनिश्चयस्य । यद्वा ज्ञानदर्शनचारित्र्याणां यावज्जीवमपि विरा-
धनानकर्तव्येत्येव सत्तु निश्चितो निश्चयवान् यस्सुनिश्चितस्तस्य
दीयते (इच्छागए पच्छति) अपरिणामकातिपरिणामकयो-
पुनर्यदा सा आत्मीया यथाक्रमं केवलतोऽसर्गापवादरुचिलकृणा
इच्छा गता नष्टा जवाति तदा पश्चात्तयो. छेदभुतानि दातव्या-
मीति । उक्त परिणामकद्वारम् । वृ० १ उ० । (अत्रैव म-
रुद्धशान्त स च पक्षशब्दे कारणिकतद्गृहणावसरे वक्ष्यते)

अइपास-अतिपार्थ-पु० भरतक्षेत्रजाराजिनसमकासजाते पेरव-
तजे तीर्थकरे, " अरजिणवरो य भरदे, अइपासजिणे य
परवय " ति० ।

अइपासन-अतिपश्यत्-त्रि० अतीव असाधारणं पश्यति, ।
सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ अ० ।

अइप्पमान-अतिप्रमाण-न० वारजयाऽतीते भोजने, पि० ।
(अइवहुशब्देऽस्य स्वरूपम्) अतिक्रान्तः प्रमाणम् । अत्या०
स० प्रमाणातिक्रान्ते, यस्य यत् प्रमाणमुचितं ततोऽधिकप्रमा-
णवति, प्रा० स० । अत्यन्तप्रमाणे, वृहत्प्रमाणे, न० वाच० ।
अइप्पसंग-अतिप्रसङ्ग-पु० अतिपरिचये, पञ्चा० १० विव० ।
अतिव्याप्तिरूपणायामनिष्ठापत्तौ, पञ्चा० ६ विव० ॥

अइवल-अतिवन्न-त्रि० पुरुषान्तरवन्नान्यतिक्रान्तोऽतिवन्नः ।
प्रभा० अघ० ४ अ० । अतिक्रान्ताशेषपुरुषामरतिर्यम्बले, ।
उपा० २ अ० । अतिशयबले, औ० । राय० । स० । भविष्यति
पञ्चमे वासुदेवे च पुं० ती० । स० । ति० । ऋषभदेवस्य
चतुर्थमवे महाबलनाम्नो राज्ञः पितामहे शतवत्सस्य पितरि, "ग-
वसमिन्द्रे विज्जाहरनगरे अइवलरखो णत्ता सयवलरायणो पुत्ते
महाबल्लो नाम राया जातो" । आ० म० प्र० । चूण्यौ तु "गंध-
समिन्द्रे णगर राया रायी च विबुद्धणयणो जणवयदिहो सत-
वत्सस्स रखो णगर नत्तुतो अतिवन्नसुतो महाबल्लो नाम । आ०
म० द्वि० । आ० चू० । भरतचक्रिण प्रपौत्रे च । स्थानं ग० । आ०
चू० । अतिशयितं बलं यस्याः ५ व० । अत्यन्तबलाधायिकायां
पीतवर्णायां (वेमियाला) इति व्यातायां सतायाम्, विश्वामित्रे-
ण रामाय दक्षे अस्त्रविद्याज्ञे च स्त्री० । अतिशयितं बलम् प्रा०
स० अत्यन्ते बले, सामर्थ्ये, सैन्ये च न० । अतिरिक्तं बलमस्य
अत्यन्तबल्युक्ते, त्रि० "जयत्यतिबल्लो रामो लक्ष्मणश्च महाबल्लः"
इति रामा० । अतिरथे च । वाच० ।

अइवहुय-अतिबहुक-न० अतिशयेन बहु-निजप्रमाणाऽन्य-
धिके भोजने, पि० ।

तत्स्वरूपम् ।

बहुयातीयमइवहुं, अइवहुसो तिचि तिचि य परेणं ।

तं वि य अइप्पमाणं, ज्ञेज्जं न वा अतिपंतो ॥

बहुकातीतमतिशयेन बहु अतिशयेन निजप्रमाणाऽन्यधिकमि-
त्यर्थः । तथा विवसमस्ये यस्त्रीन् वारान् भुङ्क्ते त्रिच्यो वा वारे-
न्यः परतस्तद्भोजनमतिबहुम् । तदेव च वारत्रयातीतमतिप्रमा-
णमुच्यते " अइप्पमाणे " त्यवयवो व्याख्यातः । अस्यैव प्रका-
रान्तरेण व्याख्यानमाह । वृद्धे यद्वा अतृप्यन् एव " अइप्पमा-
ण " इत्यस्य शब्दस्यार्थः । " अइप्पमाण " इत्यत्र च शान्त्य-
त्ययस्ताच्छील्यविवक्षायां यद्वा प्राकृतलक्षणवशादिति पि० ।

अइवहुसो-अतिबहुशब्द-अव्य० विवसमस्ये त्रीन् वारान् त्रि-
च्यो वा परतो भोजने, पि० । (स्वरूपमनन्तरमुक्तम्)

अइवेल-अतिवेला-अ० वेलामतिक्रान्त्याऽतिवलम् । यो यस्य कर्त-
व्यस्य काहोऽध्ययनं वा तां वेलामतिवृद्धेत्यर्थः, सूत्र० १ अ० १४
अ० । " नातिवेल उवाचरे " न मर्यादोऽस्तुन्नमित्यर्थः कुयादात
आचा० १ श्रु० ८ अ० ।

अइवेला अतिवेला-स्त्री० अन्यसमयातिशायिन्यां मर्यादायाम्,
साधुमर्यादायाम् उक्त० ३ अ० ।

अइजह-अतिजह-पुं० कस्यचिच्चोष्ठिन पुत्रे, येन स्त्रीकलहे सति भद्रनामजातुः पृथग्नूय गृहाद्यर्द्धकरणं कृतम् तं ।

अइभदग-अतिभदक-त्रि० प्ररुदर्शने, प्रति० ।

अइभदा-अतिभदा-स्त्री० प्रजासनामगणधरस्य मातरि, आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अइजय-अतिजय-त्रि० ऐहलौकिकादीनि जयान्यतिक्रान्ते, प्र-अ० अअ० १ द्वा० ।

अइजार-अतिभार-पुं० अत्यन्तं भारः । गुरुत्वे, पि० । घोडुम-शक्ये भारे, प्रव० ४ द्वा० । अतीव जरणमतिभारः । प्ररुतस्य पूग-फलादेः स्कन्धपृष्ठादिभारोपणरूपे, आच० ६ अ० । धर्म० । घ० । २० । प्रव० । तथाविधशक्तिकलानां महाजारापणस्यरूपे, उ-पा० १ अ० । प्रथमाणुव्रतस्य चतुर्थेऽतिचारे, पंचा० १ विव० । "अतिमारो न भारोवेयवो पुर्व्वि चेव जा वाहणाप जीविगा सा मोक्षवा न होज्ज अभा जीविगा ताहे दुपमो जं सयं उक्खिबवइ ओयारेइ वा भार एव चहाविज्जइ बइल्लाण जहा सा-भाविआओ वि भाराओ ऊणो उ कीरइ इल्लसगमेसु वि बेलाए सुयइ आसइत्थीसु वि एसेव विही आव० ६ अ० चू० ।

अइभारग-अतिभारग-पुं० अतिभारेण वेगेन गच्छति, गम-म-३ त० स्तरे, अभ्यतरे, गर्दनाद् वमवायां जाते अभ्यतेदे, वाच० ।

अइजारा रोवण-अतिभारारोपण-न० अतिशयितो जारोऽति-जारो घोडुमशक्य इति यावत् तस्यारोपणं गोकर्जरासभमनु-प्यादेः स्कन्धे पृष्ठे शिरसि वा स्थापनम् । प्रथमाणुव्रतस्य चतु-र्थेऽतिचारे, घ० ३ अधि० । प्रअ० ।

अइचूमि-अतिचूमि-स्त्री० पलुकात्परजागे, अननुज्ञाता गृह-स्वैर्यवान्यनिज्ञाचरा नायान्तीत्यर्थः दशा० ८ अ० । (तत्र गमनं निषिद्धमिति गोयरचरिया शब्दे) अतिशयिता भूमिमर्यादा आ० । स० । अतिक्रमेऽप्यथी० मर्यादातिक्रमे, अव्य० । चूमि मर्यादां वाऽनिक्रान्ते, त्रि० वाच० ।

अइमंच-अतिमञ्च-पुं० मञ्जोपरितने विशिष्टमञ्जे, 'मञ्चाश्मञ्च-कसियं' औ० । दशा० । हा० ॥

अइमट्टिया-अतिमृत्तिका-स्त्री० कर्दमरूपायां मृत्तिकायाम्, जी० ३ प्रति० ।

अइमहल्ल-अनिमहत्-पुं० घयसाऽतिगरिष्टे, व्य० ३ उ० ॥

अइमाण-अनिमान-पुं० अतीव मानोऽतिमानः । सुभूमादी-नामिव महामाने, सूत्र० १ ध्रु० ८ अ० । चारित्रमतिक्रम्य वर्तमाने कषायजेदे, सूत्र० १ ध्रु० ११ अ० ।

अइमाय-अतिमात्र-त्रि० मात्रामतिक्रान्तः । मात्राऽधिके, उक्त० १६ अ० । आ० चू० ।

अइमाया-अतिमात्रा-स्त्री० उचितमात्राया अधिकमात्रायाम्, "अइमायापणभोयणं आहारित्ता जवइ" उक्त० १६ अ० । प्रअ० ।

अतिमाया-स्त्री० अतीव माया अतिमाया । चारित्रमतिक्रम्य वर्तमाने कषायजेदे, सूत्र० १ ध्रु० ११ अ० ॥

अइमुत्त (मुत्त) य-अतिमुत्तक-न० मुत्तो जावे कः । अतिश-येन मुत्त बन्धहीनता यस्य कप् वाच० । वक्रादावन्तः ८।१।१६ । इति वृत्तीयस्य अनुस्वाराऽऽगमः आर्मे तु न प्रा० । तिन्दुकवृ-क्ते, तालवृक्ते, वाच० । पुण्यप्रधाने वनस्पतौ, ज० १ वक्र० । वल्ली-जेदे, प्रहा० १ पद । अतिमुत्तकमपका जी० ३ प्रति० । विशेषः ।

प्रहा० । सताजेदे, आचा० १ ध्रु० १ अ० । औ० कंसआतरि, पुं० येन वात्ये देवकी स्वस्वसा प्रोक्ता 'त्वमहं पुत्रान् सहशान् जन्-यिष्यसि' आ० म० द्वि० । आ० चू० । पोलासपुष्पास्तम्ये विजयराजस्य श्रीनाम्न्यां देव्यां जाते पुत्रे, स्था० १० ता० । तच्छक्त्यता अन्तकृद्दशाङ्गे यथा ।

तेणं कालेणं तेणं समणं पोलासपुरे णयरे सिरिबणे उज्जाणे तस्स णं पोलासपुरे णयरे विजये नामं राया होत्था । तस्स णं विजयस्स रओ सिरि नामं देव । होत्था वणओ तत्थ णं विजयस्स रओ पुत्ते सिरिए देवीए अत्तत्त अइमुत्ते नामं कुमारे होत्था सुमाहं तेणं कालेणं तेणं समणं समणं ३ जाव सिरिबणे उज्जाणे विहर-ति । तेणं कालेणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेहे अंतेवासी इंदजती जहा पएणत्तीए जाव पोलासपुरे णय-रे उज्ज जाव अमति इमं च णं अतिमुत्ते कुमारे एहाए जाव विचूसिते बहहिं दारएहि य भिभएहि य कुमारेहि य कुमारयाहि य सार्द्धं संपरिवुमे माओ गिहातो पमिनिक्ख-मइ पमिनिक्खमइत्ता जेणेव इंदहाणे तेणेव उवागते तेहिं बहहिं दारएहि य संपरिवुमे आनिरममाणे अभिरममाणे विहरति । तते णं जगवं गोयमे पोलासपुरे णयरे उज्जी-य जाव अममाणे इंदहाणस्स अदूरसामंतेण वीतिवयति । तते णं से अइमुत्ते कुमारे जगवं गोयमं अदूरसामंतेण वीति वयमाणं पासति पासतिता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवा-गते भगवं गोयमं एवं वयासी । के णं भंते ! तुज्जे किं वा अमह तते णं भगवं गोयमं अतिमुत्तं कुमारं एव वया-सी अम्हे णं देवाणुप्पिया समणा निगंथा इरियासमिया जाव बम्भचारी उच्चनीय जाव अममाणे । तते णं अति-मुत्ते कुमारे जगवं गोयमे एवं वयासी । अह णं भंते ! तुज्जे जेणेव अहं तुज्जं भिक्खं दत्तावेमि ति कहु भ-गवं गोयमं अंगुलीते गेहएति गेहएतिता जेणेव सते गि-हे तेणेव उवागए तते णं सा सिरि देवी जगवं गोयमं एज्जमा-णं पासति पासतिता इइतुहा आसणाओ अञ्जुहेति अञ्जु-द्वितिता जेणेव जगवं गोयमे तेणेव उवागच्छति उवागच्छति-ता जगवं गोयमं तिकखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं बंदति नमंसति विउल्लेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पतिलाजति पडिहाभतिता पमिविसज्जेति । तते णं मे अइमुत्ते कुमारे एवं वयासी । कहु णं भंते ! तुज्जे परिवसह । जगवं गो-यमे अतिमुत्तं कुमारं एवं वयासी । एवं खलु देवाणुप्पि-या ! मम धम्मायरियत्ते धम्मोवएसए धम्मे नेतारिए सम-णं ३ महावीरे आदिकरे जाव संपाविउकामे इहेव पोला-सपुरस्स नगरस्स बहिया सिरिबणे उज्जाणे य उमाहं उ-गाएत्ता समणेणं जाव जावेमाणे विहरति । तत्थ णं अ-म्हे परिवसामो । तते णं से अतिमुत्ते कुमारे जगवं गोयमं

एवं वयासी गच्छामि णं भंते ! अहं तुज्जेहिं सच्छिं सम-
 खं ३ पायं वंदति अहासुहं तते णं से अश्मुत्ते कुमारे भ-
 गवं गोयमं सच्छिं जेणेव समणे ३ तेणेव उवागच्छ-
 ति उवागच्छतित्ता समणं ३ तिकखुत्तो आयाहिणं
 पयाहिणं करेति जाव पज्जुवासति । तते खं जगवं गोयमे
 जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागते जाव पमिदंसेति
 पडिदंसेतित्ता संजमे तवसा आयाहिणं पयाहिणं विहरति ।
 तेणं समणे ३ अतिमुत्तस्स कुमारस्स तीसे य धम्मकहा क-
 रेइ से अतिमुत्ते समणस्स जगवओ अंति ए धम्मं सोच्चा नि-
 सम्म इहत्तुहं जं नवरं देवाणुप्पिया अम्मापितरो आपु-
 च्छामि तते णं अहं देवानुप्पिया अंतिते जाव पव्वयामि अ-
 हासुहं देवाणुप्पिया ! मा पमिबंधं करेह । तते खं से अति-
 मुत्ते कुमारे जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागते जाव पव्वति ए
 तते खं अतिमुत्तं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी बालेसि
 ताव तुमं पुत्ता ! असंबण्डे किएह तुमं जाणसि धम्मं ।
 तते खं से अश्मुत्ते कुमारे अम्मापितरो एवं खलु अहं
 अम्मयाओ जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि जं चेव ण
 जाणामि तं चेव जाणामि । तते खं अश्मुत्तं कुमारं अम्मा-
 पियरो एवं वयासी । कहं खं तुमं पुत्ता ! जं चेव जाणामि
 जाव तं चेव न जाणामि तेसिं अतिमुत्ते कुमारे अम्मापियरे
 एवं वयासी जाणामि अहं अम्म जाओ जहा जातेण
 तहा अवस्सं मरियव्वं न जाणामि अहं अम्म जाओ काहे वा
 कहं वा कहं वा केव चिरेणेव वा कालेण न जाणामि खं
 अम्म यो मे यातो केहिं कम्मायाणेहिं वा जीवा नेरइयति-
 रिक्खजोणियमणुस्सदेवेसु उववज्जंति । जाणामि खं अ-
 म्म यातो जहा सत्तेहिं कम्मायाणेहिं जीवा नेरइय जाव
 उववज्जंति । एवं खलु अहं अम्मं यातो जं चेव जाणामि
 तं चेव न जाणामि जं चेव न जाणामि तं चेव जाणामि
 तं इच्छामि णं अम्म यातो तुज्जेहिं अन्नणुएणाते समणे
 जाव पव्वति ए । तते खं से अश्मुत्ते कुमारे अम्मापियरो जा-
 हे नो संचाएति बहुहिं आघवति ४ तं इच्छामो ते जाया
 एगदिवसमावि रायसिं पासेति पासेतित्ता । तते खं से
 आतमुत्ते कुमारे अम्मापिजवयणमणुयत्तमाणे तुसिणीए
 संचिच्छति । अजिसेओ जहा महाबलस्स निक्खमणं जाव
 सामाइयाति एकारस अगाइं अहिज्जति अहिज्जतित्ता बहुहिं
 वासाति सामाणपरियागं पावणेति पावणित्ता गुणरयणेणं
 तवोकम्मेणं जाव विपुले पव्वए सिच्छे अन्तं ५ वर्गं ।

अस्य सिद्धिविषय स्थविराणां ग्रहणो यथा-

तेणं कालेणं तेणं समणं समणस्स भगवओ महावीर-
 स्स अंतवासी अश्मुत्ते णामं कुमारसमणे पगइजहए जाव
 विणीए । तए णं से अश्मुत्ते कुमारसमणे अएणया कयाइं

मया बुद्धिकायांसि निवयमाणंमि कक्खपमिग्गहरयहरणमा-
 याए वहिया संपट्टिए विहाराए । तए णं से अश्मुत्ते कु-
 मारसमणे वाहयं वाहयमाणं पासइ पासइत्ता मट्टियपाळिं
 बंधइ बंधइत्ता एावियामेव नाविओ विव णावमय पमि-
 गहयं उदगंसि पवाहमाणे अजिरमइ । तं च थेरा अहक्खु
 जेणेव समणं जगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छं-
 तित्ता एवं वयासी । एवं खलु देवाणुप्पिया खं अंतवासी
 अश्मुत्ते णामं कुमारसमणे । सेणं जंते ! अश्मुत्ते कुमारसमणे
 कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिहति जाव अंतं करेहिं ?
 अज्जोति समणे जयवं महावीरे ते थेरे एवं वयासी । एवं
 खलु अज्जो ! ममं अंतवासी अश्मुत्ते णामं कुमारसमणे
 पगइजहए जाव विणीए से णं अश्मुत्ते कुमारसमणे एगेणं
 चेव भवग्गहणेणं सिज्झिहइ जाव अंतं करेहिइ । तं मा ण
 अज्जा ! तुज्जे अश्मुत्तं कुमारसमणं हीलह निंदह खिसह
 गरिहह अवमसह तुज्जे णं देवाणुप्पिया अश्मुत्तं कुमार-
 समणं अगिलाए संगिएहह अगिलाए उवागिएहह अगि-
 द्वाएणं जत्तेणं पाणेणं विणएणं वेयावमियं करेह । अश्-
 मुत्तेणं कुमारसमणे अंतकरे चेव अतिमसरीरिए चेव ।
 तए खं ते थेरा जगवतो समणेणं भगवया महावीरेणं एवं
 बुत्ता समाणा ममणं भगव महावीरं वंदंति वंदंतित्ता अश्मुत्तं
 कुमारसमणं अगिलाए संगिएहंति जाव वेयावमियं करंति

कुमारसमणेति । धर्मवर्षजातस्य तस्य प्रवर्जितत्वादाह च
 'उत्तरितो पञ्चइओ णिगयं रोइकण पावयणति' एतदेव चाअ-
 र्थमिहाऽन्यथा वर्षाष्टकादारात् प्रवर्ज्या स्यादिति (कक्खपमि-
 गहरयहरणमायाएसि) कक्कायां प्रतिग्रहकं रजोहरणं चादाये-
 त्यर्थः । (नावियामेसि) नौका छोणिका मे ममेयमिति विक-
 लपथक्षिति गम्यते "नाविशो विव नायति " नाविक इव नौवाहक
 इव नावं छोणीं (अवति) असायतिमुक्तकमुनिः प्रतिग्रहकं
 प्रवाहयन्नजिरमते एवं च तस्य रमणक्रिया बाधावस्थाबला-
 दिति (अहक्खुसि) अज्जालु हृष्टवन्तस्ते चैतदीयामत्यन्ता-
 बुचिताञ्छेष्टां हृष्टा तमुपहसन्त इव जगवन्त पप्रच्छु । एतदेवाह
 "एव खलु" इत्यादि (हीलहसि) जात्याद्युद्धनत (निंदहसि)
 मनसा (खिसहसि) जनसमक्षम् (गरिहहसि) तत्समक्षम्
 (अवमसहसि) तद्वृत्तिप्रतिपत्त्यकरणेन (परिजवहसि)
 कचित्पाठस्तत्र परिभव समस्तपूर्वोक्तपदकरणेन (अगि-
 द्वाएसि) अग्न्यान्वा अस्त्रेदेन (संगिएहहसि) सगृहीत स्वकिरुत
 (उवागिएहहसि) उपगृहीत उपग्रम्भ कुरुत एतदेवाह
 (वेयावमियति) वैबावृत्यं कुरुतास्येति शेषः । (अंतकरे चेवसि)
 भवच्छेदकर स च दूरतरमवेऽपि स्यादत आह (अंतिमसरी-
 रिए चेवसि) चरमशरीर इत्यर्थः अ० ५ श० ४ उ० ।
 अनुत्तरोपपातिकेषु दशमाध्ययनतयोक्ते च स्था० १० उ० ।
 (तदपर एवायं नविष्यतीति सभाष्यते)

अश्मुत्तिय-अतिमूर्च्छित-त्रि० विषयदोषदर्शनं प्रत्यभिमुह-
 तामुपगते, प्रश्न० आ० ४ द्वा० ।

अश्मोह-अतिमोह-त्रि० अतीव मोहो यस्मिस्तदतिमोहम् ।

अतिकामाशकौ, अतिशयितमोहयुते, प्रा० १ अ० ॥

अयंचिय-अत्यञ्चय-अव्य० अतिक्रम्येत्यर्थे, स्था० ५ ठा० ।

अश्यञ्च-अतिगत्य-अव्य० अतिक्रम्येत्यर्थे, आचा० १ शु० ६ अ० ।

अश्यञ्च-अत्यदन-न० अतिभक्षणे, "अणुकंपा साणाश्यञ्च-
दुगुञ्चा" व्य० २ उ० ।

अश्या-अजिका-खी० छगालिकायाम्, वृ० १ उ० ।

अश्या (य)त-अतियात-त्रि० गते, "अश्याओ णराहिबो"
उत्त० २० अ०

अश्यायरक्त्व-अत्यात्मरक्त- त्रि० अतीवाऽऽत्मनः परै पापक-
र्मभिः रक्तायस्यासावत्यात्मरक्तः । अनोवाऽऽत्मनः पापै रक्षति,
अश्यायरक्ते दाहिणगामिप नेररुए' सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अ (ई) (ति) (ती) श्यार-अति (ती) चार-पु०
अतिचरणमतिचारः । लङ्गने, सूत्र० २ अ० ७ अ० । तृतीये अपराधे,
षो० ११ विव० आ० चू० । अतिप्रमे, अतिक्रम्य गमने, आव० ४
अ० । ग्रहणतो व्रतस्यातिक्रमणे, व्य० १ उ० । चारेत्स्नज्ञनविशेषे,
आ० म० छि० । आ० चू० । देशजङ्गहेनौ आत्मनोऽशुने परि-
णामविशेषे, धर्म० २ अधि० । देशभङ्गेऽतिचारता यथा ननु
हिंसैव आवकेण प्रत्याख्याता ततो वधादिकरणेऽपि न दोषो
हिंसाविरतेरस्मिन्नितत्वात् । अथ वधादयोऽपि प्रत्याख्याता-
स्तदा तत्करणे व्रतभङ्ग एव विरतिस्त्वमनात् । किञ्च वधादीनां
प्रत्याख्येयत्वे व्रतयत्ता विशीर्येत प्रतिव्रतमतिचाराणामाधिक्या-
दिति एवं च न वधादीनामतिचारतेति ? उच्यते-सत्य हि सैव
प्रत्याख्याता न वधादयः केवलं तत्प्रत्याख्यानेऽर्धनस्तेऽपि,
प्रत्याख्याता दृष्ट्या हिंसोपायत्वात् । तेषामेव चेत्तर्हि वधा-
दिकरणे व्रतभङ्ग एव नातिचारो नियमस्यापादनान्नैव यतो
द्विविधं व्रतमन्वृत्त्या बहिर्वृत्त्या च तत्र मारयामीति विकल्पा-
भावेन यदा कोपाद्यावेशाग्निरपेक्षनया वधादौ प्रवर्तते न च
हिंसा भवति तदा निर्दयतया धिरत्यनपेक्षप्रवृत्तत्वेनान्वृत्त्या
तस्य भङ्गः हिंसाया अभावाच्च बहिर्वृत्त्या पावनमिति देशस्यैव
भङ्गनादेशस्यैव पावनान्निवारण्यपदेश प्रवर्तते तदुक्तम्
" न मारयामीति कृतव्रतस्य, विनैव मृत्युं क इहातिचारः ।
निगद्यते यः कुपितो वधादीन्, करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्षः ।
मृत्योरनावाश्रयमोऽस्ति तस्य, कोपाद्याहीनतया तु जग्नः ।
देशस्य भङ्गानुपाखनान्त्व, पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति" ।
यच्चोक्तं व्रतयत्ता विशीर्येत इति तदप्ययुक्तं विशुद्धाऽहिंसासद्भावे
हि वधादीनामभाव एव तत् स्थितमेतद्वधादयोऽतिचारा एवे-
ति । यद्वा । अनानोगसहसाकारादिनाऽतिक्रमादिना वा सर्वत्रा-
तिचारता क्लेशा ध० २ अधि० (आध्याकर्मणाश्रित्यातिचारता
अक्षम्म शब्दे दर्शिता) अयं चातिचारः सक्तेपत एकविधः ।
सक्तेष्विस्तरनस्तु द्विविधास्त्रिविधो यावदसंख्येयवित्र सक्तेप-
विस्तरतः पुनर्द्विविधः त्रिविधः प्रति विस्तर इत्येवमन्यत्रापि
योज्य विस्तरतस्त्वनन्तविधः आव० ४ अ० । स्था० । ध० ।
आतु० । एतेषु अतिक्रमादिषु उत्तरोत्तरं दोषाधिक्यं प्राय-
श्चित्ताधिक्यात् आध्याकर्मणा निमित्तं सन् यः प्रतिशृणोति
सोऽतिक्रमे वर्तते तद्ग्रहणनिमित्तं पदमेव कुर्वन् व्यतिक्रमे
गृह्णानोऽतीचारे भुञ्जानोऽनाचारे । एवमन्यदपि परिहारस्थान-
मधिकृत्यातिक्रमादयो ज्ञापनीयाः एतेषु च प्रायश्चित्तमिदम् ।

अतिक्रमे मासगुरु व्यतिक्रमेऽपि मासगुरु कालगुरु अतीचारे
मासगुरु द्वाभ्यां विशेषितं तद्यथा तपोगुरु कालगुरु च ।
अनाचारे चतुर्गुरु यस्मात् गुरुकातीचारः चत्वारोऽनुकसमु-
द्यार्थः स चैतत् समुच्चिनोति अतिक्रमात् व्यतिक्रमो गुरुक-
स्तस्मादपि गुरुकोऽतीचार इति । ततोऽप्यतीचारात् गुरुतर-
कोऽनाचारः ।

तत इत्य प्रायश्चित्तविशेषः

तस्य जवे न उ सुते, अतिक्रमादी उ वक्ष्या केई ।

चोयग ! सुत्त मुत्ते, अतिक्रमादी उ जोएजा ॥

तत्र एवमुक्तेन प्रवेत्तमतिश्रोदकस्य यथा न तु नैव सूत्रे निशी-
थाध्ययनलक्षणे केचिदतिक्रमादय उपवर्णिताः सन्ति ततः कथं
चत्वारोऽतिक्रमादयस्तत्रैवाध्ययने सिक्ता इति । सूरिराह चोदक !
सर्वोप्येष प्रायश्चित्तगणोऽतिक्रमादिषु भवति ततः साक्षादनु-
कानपि सूत्रे सूत्रितान् अतिक्रमादीन् योजयेत् अर्थतः सूचि-
तत्वात् व्य० १ उ० ।

अत्रैव प्रायश्चित्तविधिमाह ।

तिभि य गुरुगा मासा,

विसेसिया तिणिण चउगुरु अंते ।

एए चेव य लहुया,

विसोहिकोमीए पच्छित्ता ॥

त्रयाणामतिक्रम्यतिक्रमातीचाराणां त्रयो गुरुका मासाः । क-
थञ्चूता इत्याह विशेषितास्तपःकालविशेषिता । किमुक्तं भव-
ति । अतिक्रमे मासगुरुव्यतिक्रमेऽपि मासगुरुतीचारेऽपि मा-
सगुरेते च त्रयोऽपि यथोत्तर तपःकालविशेषिताः । तथा भ-
न्ते अनाचारलक्षणे दोषे चतुर्गुरु चतुर्भासगुरु प्रायश्चित्तम् ।
एते च मासगुर्वाद्यः प्रायश्चित्ता अतिक्रमादिष्वविशोधिकोऽर्था
दृष्टव्याः विशोधिकोऽर्थात्वेत एव ग्रासादयो लघुकाः प्रायश्चित्ता-
नि । तद्यथा अतिक्रमे मासलघु व्यतिक्रमेऽपि मासलघु अतीचारे
ऽपि मासलघु नवरमेते यथोत्तर तपःकालविशेषिताः व्य० १ उ० ।

ज्ञानातिचारादयस्तेषु प्रायश्चित्तम् ।

उदसेज्झयणसुय-खंधंगेसु कमसो पमाइस्स ।

कालाइकमणाइसु, नाणावरणाइयारेसु ॥ ११ ॥

निव्वीए पुरिमहे, गजत्तमायंविंलं च णागादे ।

पुरिमाई खमणं तं, आगादे एवमत्येवि ॥ २३ ॥

युगलमिह तपोऽईप्रायश्चित्ते ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोवीर्याचार-
पञ्चकशनातीचारचक्रमालोच्यम् । तत्राद्यो ज्ञानाचारस्याति-
चारे ज्ञानाचारातिचारः सोऽष्टविधः तद्यथा अकाले स्वाध्याय-
करणं कालातिचारः ॥ १ ॥ श्रुतमधिजिघांसोऽर्थातिमदायत्तेन
गुरुष्वविनयो वन्दनादिरूपाचारस्तस्य प्रयोजन हीनं वा विनया-
तिचारः ॥ २ ॥ श्रुते गुरौ वा बहुमानो हर्षः प्रतिबन्धविशेषस्त
स्याकरणं बहुमानातिचारः ॥ ३ ॥ उपधानम् आत्माभ्यामादि
तपसा योगविधानं तस्याऽकरणमुपधानाऽतिचारः ॥ ४ ॥ यथा-
र्थे श्रुतमधीतं त निहुतेऽपलपति अन्य वा युगप्रधानमात्मनोऽ
ध्यापक निर्दिशति स्वयं वाऽधीतमित्याचष्टे एव निह्वनाजिघा-
नातिचारः ॥ ५ ॥ व्यज्यते अर्थोऽनेनेति व्यजनमागमसूत्रं तन्मा-
त्राक्षरविन्दुभिरूनमतिरिक्तं वा करोति संहृतं वा विधत्ते
पर्यायैर्वा विदधाति यथा "धम्मो मंगलमुक्किट" मित्यादिना
"पुत्र कल्लणमुक्कासदयो सवर निज्जेरेति" व्यज्जनातिचारः ६ ॥

सम्यक् सूक्ष्मेण न्यायेन विचारयितव्यमर्थपदज्ञानाप्रधा-

(अहरस्तिति) अतिरात्रोऽधिकदिनं दिनवृत्तिरिति यावत् चतुर्थं पर्वं आपाढाद्युक्तपक्ष एवमिहैकान्तरितमासानां ह्युक्तपक्षासंवेत्रं पञ्चार्णोति, स्था० ६ उ० । सप्रत्यतिरात्रप्रतिपादनार्थमाह “ तन्त्येत्यादि ” तत्र एकस्मिन् मघत्सरे खल्विमे पदं अतिरात्राप्रकृतास्तद्यथा ‘चतुर्थं पदं’ इत्यादि इह कर्ममासमपेक्ष्य सूर्यमासचिन्तायामेकैकसूर्यतुं परिसमाप्तावेकैकोऽधिकोऽहोरात्रः प्राप्यते तथाहि त्रिंशता अहोरात्रैरेकः कर्ममासः सार्कत्रिंशता अहोरात्रैरेकः सूर्यमासो मासद्वयात्मकश्च ऋतुः तत एकसूर्यतुं परिसमाप्तौ कर्ममासद्वयमपेक्ष्य एकोऽधिकोऽहोरात्रः प्राप्यत सूर्यतुंश्च आपाढादिकस्तत आपाढादारभ्य चतुर्थं पर्वणि एकोऽधिको

ऽहोरात्रो नवत्यष्टमे पर्वणि गते द्वितीयं तृतीयो द्वादशे पर्वणि चतुर्थः पोरुशे, पञ्चमो विंशतितमे, षष्ठश्चतुर्विंशतितमे इति । अवमरात्रश्च कर्ममासद्वयमपेक्ष्य चन्द्रमासचिन्तायां चन्द्रमासाश्च श्रावणाद्यास्ततो वर्षाकालस्य श्रावणादिरित्युक्तं प्राक् । संप्रति यमपेक्ष्यान्निरात्रा य चापेक्ष्य अवमरात्रा प्रवन्ति तदेतत् प्रतिपादयति ॥

ब्रूवे व यं अङ्गत्ता, आङ्गत्ता हवन्ति माणाहि ।

छच्चेव ओमरत्ता, चंदाहि हवन्ति माणाहि ॥ १ ॥

अनिरात्रा भवन्ति आदित्यमपेक्ष्य किमुक्तं भवति आदित्यमासानपेक्ष्य कर्ममासचिन्तायां प्रतिवर्षं पदं अनिरात्रा प्रवन्तीति (माणाहि) जानीहि । तथा पदं अवमरात्रा प्रवन्ति चन्द्रात् चन्द्रमपेक्ष्य चन्द्रमासमधिकृत्य कर्ममासचिन्तायां प्रति सप्तसरं पदं अवमरात्रा भवन्तीत्यर्थे इति (माणाहि) जानीहि तदेवमुक्ता अवमरात्रा अनिरात्राश्च चं० प्र० १२ पादु० । ज्यो० । सू० प्र०॥ अङ् (ति) रक्तकंबलसिद्धा-अतिरक्तकम्बलशिला-स्त्री० मन्दरपर्वतस्योत्तरस्या दिशि वर्तमानायामभिषेकशिलायाम्, " वो अङ्गत्तकम्बलसिलाओ " स्था० २ ठा० ।

अङ्गा-अचिरा-स्त्री० विश्वसेनभार्यायां शान्तिजिनेन्द्रस्य मारि, ती० ए क० । आच० । स० । प्रव० ।

अङ् (ए) रावण-ऐरावण-पु० इन्द्रगजे, को० ।

अङ् (ति) रिक्त-अतिरिक्त-त्रि० अति-रिक्-क्त-अतिशयिते, श्रेष्ठे, मित्रे, शून्ये च । तत्र भेदे " अतिरिक्तमथापि यद् भवेदिति " भाषा० । यस्य यावत्प्रमाणं युक्तं ततोऽधिकत्वे, वाच० । आचा० । अधिके, स्था० २ ठा० १ उ० । अतिप्रमाणे, स० । सूत्र० । अतिरेके, प्रश्न० स० ५ द्वा० । भाव-क्त-अतिशये आधिक्ये च न० वाच० । नि० चू० ।

अङ् (ति) रिक्तसिद्धासिद्धय-अतिरिक्तशय्याशानिक-पुं० अतिरिक्ता अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च पीठकादीनि यस्य सन्ति सोऽतिरिक्तशय्याशानिक । चतुर्थेऽसमाधिस्थाने, स चाऽतिरिक्तार्या शय्याया ग्रहशालादिरूपायामन्येऽपि कौटिकादयः (कौटिकादयः) आवासयन्तीति तै सहाधिकरणत्वादसमाधिस्थानमेव सहाधिकरणसम्भवादात्मपरावसमार्यो योजयतीति स० । दशा० । आ० चू० प्रश्न० । अङ्गुगय-अचिराङ्गत-त्रि० क्षणमात्रमुज्जते, रा० । प्रथमोदिते, " अङ्गुगय वि सूर " उक्त० ३ अ० । " अङ्गुगयसमगा-सुखिद्धचददसठियणिडाला " न० ।

अङ्गुव-अतिरूप-पुं० अतिक्ता तो रूपम् । रूपवर्जिते परमेश्वरे, वाच० (एतन्निराकरणमन्यत्र) भूतभेदे च प्रश्ना० १ पद ।

अङ् (ति) रेग-अतिरेक-पुं० अति-रिक्-घञ्-भेदे, प्राधान्ये, वाच० । अतिशये, जी० ३ प्रति० २ उ० । आधिक्ये, हा० १ अ० । " अङ्गरेगरेहृतसगिसे " " अतिरेकेण राजमानस्सन् सदृशः " कल्प० । कर्मणि-घञ् । अधिकतरे, कल्प० ।

अङ् (ति) रेगसंज्ञिय-अतिरेकसंस्थित-त्रि० अतिरेकेण संस्थित यस्य स । अतिशयितया संस्थानवति, " कयलीखभा-इरेगसठिप " जी० ३ प्रति० ।

अङ् [च] रेण-अचिरेण-अव्य० चिरेणेत्यव्ययस्य न० त० स्तोके काले, " अचिरेण सिद्धिपासाय " व्य० ८ उ० । विशेष० ।

अङ्गरोस-अतिरोष-पुं० अतिशयितक्रोधे, " अङ्गरोसो अङ्गतोसो अङ्गहासो बुज्जणेहि संवासो । अङ्गुम्भडो य वेसो, पच वि गुर्य पि लहुय पि " ध० २० ।

अङ् [चि] रोववसाग-अचिरोपपन्नक-त्रि० न० त० अचिरजाते, आच० ५ अ० ।

अङ्गरोहिय-अनिरोहित-त्रि० न० त० । प्रकाशिते, स्फुटेऽर्थे, अव्यवहिते च वाच० ।

अङ् [ति] लोत्रुय-अतिलोत्रुप-त्रि० अतीव रसलम्पटे, उक्त० ११ अ० ।

अङ् [ति] वडिता-अति(व्रज्य)पत्य-अव्य० अति-पत् वज्वा-कत्वा ल्यप् । अतिक्रम्येत्यर्थे, हा० ५ अ० । प्रविश्येत्यर्थे च प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अङ्गवटण-अतिवर्तन-न० उल्लङ्घने, आचा० १ शु० ५ अ० ६ उ० ।

अङ् [ति] वाङ् [ति] न्-अतिपातिन्-त्रि० अतीव पातयितुं शीलमस्य । हिंसके, सूत्र० १ शु० ५ अ० ।

अङ्गवाङ्ता-अतिपातयितृ-त्रि० अति-पत्-णिच्-शीलाऽर्थे तृन् । प्राणिनां विनाशनशीले, " णो पाणे अङ्गवाङ्ता भवद् " स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अतिपात्य-अव्य० अति-पत्-कत्वा-घ्यप्-प्राणिनो विनाशयेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अङ्गवाङ्ग-अतिपातिक-त्रि० अतिपतनमतिपातस्स विद्यते यस्य सोऽतिपातिक । प्राण्युपमर्दके, सूत्र० २ शु० १ अ० ।

अङ्गवाङ्गा-अतिपातिका-स्त्री० अतिक्रान्ता पातकमतिपातिका निर्दोषायाम्, पापाद् दूरीचूतायाम्, आचा० १ शु० ५ अ० ।

अङ् [ति] वाणमाण-अतिपातयत्-त्रि० प्राणिन उपमर्दयति, सूत्र० १ शु० ५ अ० ।

अङ् (ति) वाय-अतिपात-पुं० अतिपतनमतिपातः । प्राण्युपमर्दने, सूत्र० २ शु० १ अ० । विघ्नशे, स्था० ५ ठा० । विनाशे, सूत्र० १ शु० १० अ० । पा० ।

अतिवाद-पुं० अत्यन्तकथने, वाच० ।

अङ्वास अतिवर्ष-पुं० अतिशयपर्वे, वेगवद्वर्षणे, ज० ३ श० ६ उ० ।

अङ् (ति) वाहृ-अतिव्याघ्रात-त्रि० अतीव घ्राते, दुर्गन्धादिविशिष्टे, घृ० ४ उ० ।

अङ् [ति] विज्ज-अतिविद्-त्रि० विवितागमसद्भावे, " तम्हा इ (ति) विज्जो णो पमिसज्जिज्जा " आचा० १ शु० ४ अ० ।

अङ् [ति] विसय-अतिविषय-पुं० प्रवलपञ्चेन्द्रियद्वारमन्त्रे, त० ।

अङ् [ति] विसाया-अति[विस्वादा][विषयगा][वृषाका]

[विषाचा] विषादा-स्त्री० अतिविषादा दारुणविषादहेतुत्वात् १ यद्वा अतीत्यतिक्रान्तो गतोऽकार्यकरणे विषाद क्रान्तो यासां तास्तथा २ यद्वा अतीति भृश विषमतिविषम् आसमन्ताद् ददति पुरुषाणां विरक्ता सत्य सूर्यकान्तावदिति अतिविषादाः ३ यद्वाऽतीति भृश धीति नानाविध स्वादो द्वा-र्यया यासां ता अतिविस्वादास्तथा ४ अतिविषयगा अतिविषयात् प्रबलद्वारमन्त्रात् पृष्ठीं नरकपृथिवीं गच्छन्ति चक्रव

तिस्त्रीरत्नवत्सुसदमातृषट्ठा प्राकृतत्वाच्च यद्वोपेसन्धि ए यद्वा
अतिविषादा इष्टपुरुषाप्राप्तौ स्वेच्छियविषयाप्राप्तौ वाऽतिवि-
षादोयासां ताः ६ अतिकोपादत्युग्र विषमदन्ति प्रकृत्यन्ति इति
अतिविषादाः ७ अतिवृषं महत्पुण्यं येषां तेऽतिवृषास्साधवः तेषां
कायन्ते यम इवाचरन्ति चारित्रप्राणहरणेनेति ८ यद्वा अतिवृ-
षाणां कायन्ति अनीयन्ति संयमग्रहज्वालनेनेति अतिवृषाकाः ए
यद्वा अतिवृषे लोकानां पुण्यरूपमदहने आज्ञश चायन्ते चौर
इवाचरन्ति यास्तास्तथोक्ताः १० एता दश व्युत्पत्तयः । डुष्ट-
स्वभावासु स्त्रीषु, तः ।

अइ [ति] विसाह-अतिविशाह-त्रि० अत्यन्तविशाहे, यम-
प्रजशैवस्य दक्षिणपार्श्वे वर्त्तमानायाम् राजधान्याम्, स्त्री० ङी०
अइ [ति] वृष्टि-अतिवृष्टि-स्त्री० अति-वृष्टि-किन्-अधिकवर्षे,
स० शस्योपघातकोपघातविशेषे, दर्श० ।

अइस-ईदृश-त्रि० अयमिव पश्यति इदम् दृग्-कर्मकर्त्तरि-
किन् ईदृशदेशो दीर्घः । अतांरुइस ८ । ४ । ३ इति सूत्रेणाप-
भ्रंशे ईदृशशब्दस्य अइसाऽऽदेशः । एतत्तुल्ये, प्रा० ।

अइसइय-अतिशयित-त्रि० विशेषिते, को० ।

अइ (ति) संकिञ्चेश-अतिसंक्लेश-पु० आत्यन्तिके चित्तमा-
लिन्ये, पचा० १५ विव० ।

अइ [ति] संधाण-अतिसंधान-न० प्रख्यापने, आच० ४ अ० ।

अइ [ति] संधाणपर-अतिसंधानपर-त्रि० असद्रूपगुण गु-
णवन्तमात्मानं ख्यापयति, आच० ४ अ० ।

अइ [ति] संपत्रोग-अतिसंप्रयोग-पु० गार्ध्वे, " अतिशयेन
हव्येण कस्तूरिकादिना परस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः । अतिशयह-
व्येण हव्यान्तरस्य संप्रयोगे, सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अइ [ति] सकृणा-अतिष्वकृणा-स्त्री० अग्निज्वलत्त्विति
इन्धनानां समीरणायाम्, नि० चू० २ उ० ।

अइ [ति] शय-अतिशय-पु० अति-शीङ् अच्-आधिक्ये,
अतिरेके, वाच० । प्रकर्षभावे, न० । अतिक्रान्तः शय इ-
स्तम् अत्या० स० हस्तातिक्रमकारके, त्रि० अतिशय-अस्त्य-
र्थेऽच् । अतिशयवति, वाच० (आचार्योपाध्यायादीनां तीर्थकृतां
चातिशयाः अइसेसशब्दे)

अइ [ति] सयणाणि-[न] अतिशयज्ञानिन्-पुं० अव-
धिज्ञानादिकलिते, व्य० १ उ० ।

अइ [ति] समयसकाल-अतिशयानीतकाल-पुं० अतिश-
येन योऽतीतः कालः समयः स तथा (मकरोऽन्ताक्षणिकः)
अतिव्यवहिते काले, स० ।

अइसयसंदोह-अतिशयसंदोह-त्रि० अतिशयान् संदुग्धे प्रपू-
रयति यत्तदतिशयसंदोहम् । अतिशयसंदोहबद्धे, अतिशयस-
मूहसपन्ने, पो० १५ विव० ।

अइसरिअ-ऐश्वर्य्य-न० ईश्वरस्य भावः । अइदैत्यादौ च ८ । १ । ८
इति सूत्रेणैव अइ इत्यादेशः । अणिमाद्यष्टविधभूतिभेदे, प्रा० ।

अइ [ति] साइ [न]-अतिशायिन्-त्रि० अद्विमत्सु, के-
वलमन पर्यायाऽवधिमच्चतुर्दशपूर्ववित्सु, अमर्षोपाध्यादिप्राप्त-
अद्विषु, आचा० २ अ० ३ चू० ।

अइसिरिहर-अतिश्रीभर-पुं० अतिशयिते श्रीभरे, (शोभासमूहे)
" अइसिरिभरपिहणाविसत्पतकंतलोहतचारुकुह " कल्प० ।

अइ [ति] सीय-अतिशीत-त्रि० अतिशयिते शीते, स्था०
५ ठा० १ उ० । तिशयित शीतम् प्रा० स० । अत्यन्तशीतल-
स्पर्शे, तद्विशिष्टे, त्रि० वाच० ।

अइ [ति] सुहुम-अतिमूढम्-त्रि० अतिशयसूक्ष्मबुद्धिगम्ये,
पो० ११ वि० ।

अइ [ति] सेस-अतिशेष-पुं० अतिशये, आचार्योपाध्या-
यगणं पञ्च अतिशयाः ।

(सूत्रम्) आयरियउवज्जायस्स एं गणंसि पंच अतिसेसा
पसत्ता तं जहा आयरियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्म
पाये निगिज्जिय निगिज्जिय पप्फोमेमाणे वा पमज्जेमाणे
वा एणइकमइ । आयरियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्स
उच्चारपासवणं विगिचमाणे वा विसोहेमाणे वा एणइकमइ ।
आयरियउवज्जाए पञ्चउच्चावेयावमियं करेज्जा इच्छा
एणे करेज्जा । आयरियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्म एगराई
वा दुराई वा एगगी वसमाणे एणइकमइ । आयरियउव-
ज्जाएवाहि उवस्मगस्स एगराई वा दुराई वा वसमाणे
एणइकमइ स्या० ए ठा० २ उ० । व्य० ६ उ० ॥

आचार्यश्चासाधुपाध्यायश्चेत्याचार्योपाध्यायः स हि केषांचिदा-
चार्यः केषांचिदुपाध्यायस्तत एवमुक्तं यावता पुनः स नियमा-
दाचार्य एव तस्य गणे गणमध्ये पञ्च अतिशेषा अतिशयाः प्र-
कृतास्तद्यथा आचार्योपाध्यायानामुपाश्रयस्यान्तर्मध्ये पादान्
निगृह्य निगृह्य तथा पादा यतनया प्रस्फोटयितव्या यथा धृष्टिः
कस्यापि कृपकादेर्न गच्छति एव शिक्षयित्वा शिक्षयित्वा प्रस्फो-
टयत प्रस्फोटको नातिक्रामति एष एकोऽतिशयः । यथा आचा-
र्योपाध्यायान् उपाश्रयस्यान्तरुच्चारं प्रकृवणं वा विगिञ्चयतो
व्युत्सृजतो विशोधक उच्चारविपरिष्ठापको नातिक्रामति एष
द्वितीयस्तथा आचार्योपाध्यायः प्रचुरतो वैयावृत्यमिच्छया
कारयेत् न ब्रह्मभियोगतः " प्राणा ब्रह्मभियोगो निगृह्याणं न
कल्पे कालमिति " वचनात् एष तृतीयः । तथा आचार्योपाध्या-
य उपाश्रयस्यान्तर्मध्ये एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसेत् नातिक्रा-
मति नातीचारजाग्नयति एष चतुर्थः । आचार्योपाध्याय उपाश्र-
याद्विहरेकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसेत् नातिक्रामति इत्येष सूत्रस-
ङ्केपार्थः (व्य० ६ उ०) आचार्योपाध्यायस्य वसतेरन्तः पादप्र-
स्फोटनप्रमार्जने इत्ययं प्रथमोऽतिशयस्तत्र भाष्यविस्तरः ।

बहिःअंतो विवज्जासो, पणं सागारिचिच्छं मुहुत्तं ।
विइयपयं विच्छिसे, निरुद्धवसदीए यजणाए ॥

बहिरन्तश्च यदि विपर्यासो बहिरन्तस्फोटयान्तः प्रस्फोटनरूपस्त-
दा पञ्चक पञ्चरात्रिन्दिव प्रायश्चित्तमय बहिः सागारिको व-
र्तते ततस्तिष्ठति मुहुत्तं व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरन्तर्मुहुत्त-
मित्यर्थः । अथैतावता कालेन सागारिको नापयाति तर्हि द्विती-
यपदमपवादपदमाश्रीयते । बहिः पादा अप्रस्फोटताऽप्यन्तर्वसतेः
प्रविश्यते तत्र विस्तीर्णं उपाश्रये अपरिमोगे प्रदेशे आचार्य-
पादाः प्रस्फोटयितव्या निरुद्धायां संकटायां वसतो यश्चाचार्य-
सत्त्ववण्टकाद्यवकाशस्तत्र यतनया यथा न कन्यापि धृष्टिर्बगती-
त्येवरूपया प्रस्फोटयितव्या । एष द्वारगाथासङ्केपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुरिदमाह ॥
वाहिं अपमज्जते, पणिणं गणिणो उ सेसए मासो ।

अप्पमिलेह दुपेहा, पुव्वुत्ता सत्त जंगा उ ॥

आचार्य कुलादिकार्येण निर्गत प्रत्यागत उत्सर्गेण तावद्वसन
वसतेर्वाहिर्य पादान् प्रस्फोटयति प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति चेत्परं ।
यदि पुनर्निष्कारणं बहिः पादान् स्फोटयति तदा बहिरप्रमार्जने
गणिन आचार्यस्य प्रायश्चित्त पञ्चकं दोषके सार्धं बहिः पादान्
अप्रमार्जयति तद्युक्तो मासः प्रायश्चित्तम् । तस्मात् बहिः पादान्
प्रस्फोटयन्त प्रवेष्टव्यं तत्र प्रस्फोटन विधिना कर्त्तव्यम् । स चा
यं विधिं प्रत्युपेक्षते तत् प्रमार्जयति । अविधिं पुनरयं प्रत्युपे-
क्षते न प्रमार्जयति ॥ १ ॥ न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति ॥ २ ॥
प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ॥ ३ ॥ प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति च ॥ ४ ॥
सत्राद्येषु त्रिषु भक्तेषु प्रत्येक प्रायश्चित्त मासिक चतुर्थे भद्र
भद्राक्षरस्तथा दुष्प्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ॥ १ ॥ दुष्प्र-
त्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ॥ २ ॥ सुप्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ॥ ३ ॥
सुप्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ॥ ४ ॥ अत्र चतुर्थो भद्र शृङ्ग
शेषेषु तु त्रिषु भक्तेषु प्रत्येक प्रायश्चित्त पञ्चगात्रिद्वयम् एत-
देवाह ॥ भद्रप्रत्युपेक्षणे उपपन्नकामेतत् अप्रमार्जने च । तथा
दुष्प्रत्यायानप्राप्त्युपपन्नकामेति दुष्प्रमार्जननायां च पूर्वो-
क्ता कल्पाध्ययनोक्ता सप्त भद्रा । तत्र चोक्त प्रायश्चित्तविधिः ।

बहि भंतो विज्जासो, पणगं सागारिय असनम्मि ।

सागारियम्मि उ च्चे, अत्यति मुहुत्तगं थेरा ।

यदि सागारिके असति अत्रिपमाने बहिरतत्रिपर्याप्तो नयति
बहिरनास्फोटयन्त प्रस्फोटयतीत्यर्थं तदा गणिन प्रायश्चित्त
पञ्चकम् । अथ सागारिकं बहिस्मिष्टति सोऽपि च चत्तमसो
नाम मुहूर्त्तमात्रेण गन्ता नस्मिन्सागारिके चये निष्ठति मुहुत्तक
मत्पार्थे कप्रत्ययोऽस्य मुहूर्त्तं किमुक्तं नयति समनायातिमात्र
सप्तपदानिप्रमणमात्र वा कात्र स्थितिगस्मिष्टति ।

थिगिक्खित्ते सागा-रिय अणुवउत्ते पमज्जिउं पविमे ।

निक्खिक्खित्ते, अतो अ पमज्जणा तोह ॥

स्थिते नाम यथावस्थायां धृतकर्मिको व्याक्रियः कर्मणि
कर्त्तव्ये व्याक्रियस्मिष्टिपरिनाऽयाक्रियः । उपयुक्त आचार्यान्
दृष्ट्वा निर्गन्तमानस्मिष्टिपरिनाऽनुपयुक्तः । तत्र स्थिते व्याक्रियेऽ-
नुपयुक्ते सागारिके विद्यमाने बहिः पादान् प्रमृज्य प्रविशेत्
स्थितं निर्व्याक्रिये उपयुक्ते बहिः सागारिकं सति वसतेरन्तः
प्रमार्जना पादानाम् । अथाचार्यस्य पादा किं स्वयमेवाचार्ये-
ण प्रस्फोटयितव्या वतायेन साधुना तत् आह ।

आजिग्गहियम्म अमति, तम्मव रओहरेण अणायरे ।

पाउंछणमिपणव, पुस्मति य अणायुत्तुत्तणं ॥

केनापि साधुना अजिग्रहो गृहीतो वर्तते यथा मया आचार्यस्य
बहिर्निर्गतस्य प्रत्यागतस्य पादा प्रस्फोटयितव्या इति स यद्य-
स्ति तर्हि तेन प्रमार्जनायोपस्थातव्यं तत्र आचार्यस्यात्मियमन्य-
दार्णिकं पादप्रोष्ठनकमन्येन साधुना पादप्रमार्जनेनापरिगृह्यते-
नाचार्यस्य पादान् प्रस्फोटयति । अथाभिग्रहिको न विद्यते तत्
आभिग्रहिकस्यास्यजाये अन्यतरेण तस्यैवाचार्यस्य रजोहरणे-
न आर्णिकेन वा पादप्रोष्ठनकेनानन्यपुक्तेन पादान् प्रोष्ठयति ।
यदि पुनरव्यापृतोऽपि निष्कारणमाचार्यस्य पादान् प्रमार्जयति
तदा मासवधुः । अथात्म्यायेन रजोहरणेन पादप्रोष्ठनकेन वाऽन्य-
पादप्रमार्जनं परिजुक्तेन प्रमार्जयति तदापि मासवधुः । यदि
बहिर्गमत् सागारिकस्मिष्टिनीत्याचार्यस्य पादा न प्रस्फोटिता-
स्तर्हि वसतेरन्तः प्रविष्टस्य प्रस्फोटनीयास्तत्राय विधिः ।

विपुलाए अपरिभोगे, अप्पणओ वासए वविष्ठस्स ।

एमेव भिक्खुयस्स वि, नवरि वाहिं चिरयरं तु ॥

यदि विपुला वसतिस्तर्हि नस्यां विपुलायां वसतावपरिभोगे
अवकाशे आचार्येण स्थित्वा पादाः प्रस्फोटयितव्याः । अथ सक-
टा वसतिस्तर्हि य आचार्यस्य आत्मा यो वण्टकाद्यवकाशस्तत्र
पर्यापधिकं प्रतिप्रत्योपविष्टस्य पादाः प्रमार्जनीयास्ते च कुश-
लेन साधुना तथा प्रमार्जनीया यथा अन्ये साधवो धृत्या न
वियन्ते । यथा आचार्यस्योक्तमेव निक्कोरपि छेद्यं नवरं यदि
बहिर्गमते सागारिकस्मिष्टिनि ततश्चिरतरमपि कात्र प्रतीकृत
यावच्च सागारिको व्यतिश्रामति । यदि पुनर्निर्गम्यवसतेर्बहिः सा-
गारिकाभावेऽपि पादावप्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशति तदा तस्य
प्रायश्चित्त मासवधुः ॥

निगिज्जिय पमज्जाहि, अभणंतस्सेव मासियं गुरुणो ।

पायग्यवखमगादी, चोयग कज्जागते दोसा ॥

यदि बहिः सागारिक इति कृत्या वसतेरन्तः पादाः प्रस्फोटयि-
तव्यास्ततः सकटाया वसता पादान् प्रमार्जयितुमुपस्थित सा-
धुमाचार्यो ध्वने आर्यः ! निगृह्य पादान् प्रमार्जय । किमुक्तः भवति
तथा यतनया पादान् प्रमार्जय यथा पादधृत्या न कोऽपि साधु-
धियते । अथेव न ध्वने तत् एवमभणतो गुरोः प्रायश्चित्त मास
वधुः । तथा पादरजसा कृपकादयः खरगटने तथा सति घट्ट-
माणा दयाः । अत्र चोदक आह आचार्यः कस्माद्विगन्तति
सुग्राह कार्यागने कार्येषु समापतितेष्वगते दोषास्तस्माच्छ-
ति । अणुना " पायग्यवखमगादी " इत्येतत् व्याख्यानयति ॥

तवसोसितो व खमगो, इहिवुहो व कोवितो वा वि ।

मा भंरणवमगादी, इति मुत्त निगिज्झिए जयणा ॥

तपसा शोपितस्त्वपि शोपितः कृपकस्तस्य त्वत्पेऽप्यपराधे
कोपो जायते तत् स आचार्यपादप्रमार्जनधृत्या विकीर्णः कुपि-
तो जयेत् कुपितश्च सन् न एरुन कृत्या अन्यत्र गच्छेत् प्रविशेत्
प्रतिपद्येत वा । अथवा कोऽपि ऋद्धिमान् वृद्धो राजादिः प्रव-
जितः स पादधृत्याऽवकीर्णो कष्टं सन् न एरुनादि कुर्यात् ।
कोपिनो नाम शैक्लकः कोऽपि कष्टं प्रतिपद्येत तस्मात्कृपकादि-
ना भिगमनं कार्यादिति सूत्रे निगिज्जिय निगिज्जियेत्युक्तमस्याप्य-
यमयां यतनयेति ।

सप्रति " चोयग कज्जागते दोसा " इति व्याख्यानयति ॥

थाणे कुप्पति खमगो, किं चेव गुरुस्म निगमो भणितो ।

भाम्भ कुट्टगणकज्जे, चेडयनमणं च पव्वेसु ॥

स्थाने कुप्यति कृपकस्तथा हि स पादधृत्या अवकीर्यते ततो
मा कोप कार्यात् । किं चैव गुरोराचार्यस्य निर्गमः केन कारणेन
भणितस्तत्कारणमेव नास्ति येन कारणेन बहिराचार्यस्य निर्ग-
मना आचार्य आह भण्यते अत्रोत्तरदीयते । कुलकार्यं उपलक्ष-
णमेतत् सद्दकार्यं च बहुविधे समापतिते तथा पर्वसु पाङ्क्ति-
कादिषु चैत्याना सर्वेषामपि नमनमवश्यं कर्त्तव्यमिति हेतो-
श्चाचार्यस्य वसतेर्बहिर्निर्गमनम् ॥

पुनश्चोदक आह ॥

जति एवं निगमणे, जणाति तो वाहिं चिडिए पुंछे ।

बुच्चति बहि अत्थंते, चोयग गुरुणो डमे दोसा ॥

चोदको प्रणति यदि एव कुलादिकार्यनिमित्तमाचार्यस्य निर्ग-
मनं ततो निर्गमने सति प्रत्यागतो यदि वसतेर्बहिः सागारिक-

स्ततस्तावद्बहिस्तिष्ठतु यावच्चक्षसागारिको व्युत्क्रान्तो जवति ततो बहिरेव पादान् प्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशतु एवं च सति कप-काविदोषाः परित्यक्ता भवन्ति । आचार्य आह उच्यते उत्तर प्रणयते हेचोदक ! गुरोराचार्यस्य वसतेर्बहिः तिष्ठत इमे वक्ष्यमाणा बहवो दोषास्तानेवाह ॥

तएहुएहाविअजाविय, वुद्धा वा अत्थमाणपुच्छादी ।

विणए गिद्धाणमादी, साहू सन्नी पमिच्छन्तो ॥

कुलादिकार्येण निर्गत आचार्य उष्णेन भाविते तृष्णा जायते तत-स्तृष्णाजिन्तुतो वसतिमागतो यदि बहिर्वसते. प्रतीकृते यावत्सा-गारिकोऽपगच्छति ततस्तृष्णया उष्णेनादिशब्दादनागाढागाढप-रितापनापरिग्रहः पीनिते मूर्च्छा जायते । आदिशब्दात् वसतिप्र-विष्टस्स प्रचुर पानीयमापिवेत् । ततो जक्ताजीर्णतया ग्लानत्व ज-वैदेत्यादिपरिग्रहस्तथा वृद्धा उपलक्षणमेतत् बाह्यशैक्षासहाया-दयश्चाचार्ये तिष्ठति प्रतीकृन्ते ते च प्रतीकृमाणाः प्रथमाद्वितीयप-रिग्रहाभ्यां पीनिता मूर्च्छाद्याप्नुवन्ति तथा ग्लान आदिशब्दात् क-पकादिपरिग्रहस्ते विनयेन प्रतीकृमाणा जोजनमकुर्वन्त औषधा-दिक च गुरुणा विना अन्नप्रमाणा गाढतर ग्लानत्वाद्याप्नुवन्ति । तथा साधवः केचित्प्राधूर्षका गन्तुमनसस्तथा सङ्गिनः आवका अष्टम्यादिषु कृतजक्ताः पारणके भिक्षायामदत्तायाम-पारयन्त आचार्य प्रतीकृमाणास्तिष्ठन्ति तत्र साधूनां दिवसो गरीयान् चढाति तत्र चोष्णादिपरितापना दोषाः । संज्ञिनां चान्तरायमित्येष गाथासङ्केपार्थः ॥

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः “ तएहुएहादिअजाविय ”

इत्येतद् व्याख्यानयति

तएहुएहाजावियस्स, पडिच्छमाणस्स मुच्छमादी य ।

खप्पादिए गिलाणे, सुत्तत्थविराहणा चेव ॥

आचार्यः स्वरूपत उष्णेन भावितः काचित्कदाचित्प्रयोजनव-शतो बहिर्गमनात् ततः कुलादिकार्येषु निर्गतस्तृष्णाभिन्तुतो वसतिमागतोऽपि यदि सागारिकमपगच्छन्त यावत्प्रतीकृते ततः प्रतीकृमाणस्य तृष्णया उष्णेन च तापितस्य मूर्च्छादयो भवन्ति आदिशब्दादनागाढादिपरितापनापरिग्रहस्तथा वसति-प्रविष्टोऽतीव तृष्णाभिन्तुतः खरुस्य प्रचुरस्य पानीयस्या-दानं ग्रहणं कुर्यात् प्रचुर पानीयं पिवेदित्यर्थः । ततो जक्ता-जीर्णतया ग्लानो जवेत् तस्मिन्च ग्लाने सूत्रार्थपरिहाणि-विराधना च तस्याचार्यस्य स्यात् ग्लानत्वेनाचार्यो म्रियेते-ति ज्ञावः । अथवा सूत्रार्थपरिहाण्या अज्ञानतां साधूनां ज्ञाना-दिविराधना स्यात् । सूत्रार्थाज्ञावतोऽज्ञानन्तः साधवां ज्ञाना-दिविराधनां कुर्युरिति ज्ञावः ।

अधुना “ वुद्धावेति ” व्याख्यानार्थमाह ।

वुद्धासहसेहादी, खमगो वा पारणे विज्जुक्खुतो ।

चिद्ध पमिच्छमाणो, न भुजेण लोडयमदिट्ठं ॥

वृद्धा वयोवृद्धा असहाः प्रथमद्वितीयपरीपहान् सोढुमसम-र्थाः शैक्षका आदिशब्दात् ग्लानाश्चाचार्य प्रतीकृमाणास्तिष्ठन्ति ते च तथा तिष्ठन्तस्तृष्णादिभिः पीनिता मूर्च्छाद्याप्नुवन्ति ग्लानस्य च गाढतरं ग्लानत्वमुपजायते । यदि पुनरागतमात्र एव वसतौ प्रविशति ततो यथायोगं वृद्धादीनामकावर्तन सपद्यते इति न काश्चिदोषः अधुना “ विनयेगिज्ञाणादि ” इत्येतद्व्याख्यानय-ति (खमगो वा इत्यादि) कपको वा कोऽपि विक्लिष्टेन तपसा

वृक्षान्तो विनयेन पारणके वुद्धकर्तः प्रतीकृमाणस्तिष्ठति न तु भुङ्क्ते अद्यापि नालोचितमाचार्येण च न दृष्टमिति कृत्वा ।

परितावअंतराया, दोसा होंति अभुजणे ।

चुंजणे अविणादीया, दोसा तत्थ भवति य ॥

एव क्षपकस्य विक्लिष्टतपसा क्लान्तस्य प्रतीकृणेनाजोजने महा-न परितापो भवति अन्तरायं चोपजायते । अथ वृद्धे तर्हि ज्ञो-जने तत्राविनयादयो विनयः प्रतीत आदिशब्दाददृष्टाद्यना-लोचितभोजने अदत्तादानदोषपरिग्रहो दोषा भवन्ति ।

ग्लानमधिकृत्याह ।

गिलाणस्सोसहादी उ, न देंति गुरुणो विणा ।

ऊणाहियं व देज्जाहि, तस्स वेज्जा तिगच्छति ॥

ग्लानस्यौषधादिकं साधवो गुरुणा विना न ददति । आदिश-ब्दात् भोजनपरिग्रहः । यदि वा कनमधिक वा द्युस्तस्य च ग्लानस्याचार्यं प्रतीकृमाणस्य वेज्जातिगच्छति ।

संप्रति “ साहूसखी ” इति व्याख्यानयति ।

पाहुणगा गंतुमणा, बंदिय जो तेसि उएहसंतावो ।

पारणयपमिच्छन्ते, सप्पे वा अंतरायं तु ॥

प्राधूर्षका केचित्साधव आगतास्ते गन्तुमनसस्ते यद्याचार्य-मवन्दित्वा अनापृच्छथ गच्छन्ति ततोऽविनयादयो दोषास्ततः प्रतीकृमाणास्तिष्ठन्ति आचार्यश्चरेण वसतिं प्रविष्टस्तावद्विस आ रुमन्तात्ततोऽभवत् ततो गुरुवन्दित्वा प्रजता य उष्णस-तापस्तेषां स आचार्यनिमित्तकस्तथा आढे अष्टम्यादिषु पर्व-सु कृताभके पारणके आचार्यं प्रतीकृमाणे अन्तराय कृत भवति ।

उपसहारमाह ।

जम्हा एते दोसा, तम्हा वाहिं चिरं तु वसहीए ।

गुरुणा न चिद्धियव्वं, तस्स न किं दोस होंते य ॥

यस्मादेते दोषास्तस्मात् गुरुणा न वसतेर्बहिश्चिरं स्थातव्यं जिन्तुणा पुनश्चिरमपि स्थातव्यं यावच्चक्षसागारिको न प्रयाति ततो बहिः पादान्प्रमृश्यान्तर्बसते प्रवेष्टव्यम् । अत्र चोदक आह तस्य जिज्ञोः किमेते अन्तरोदिता दोषा न जवन्ति ।

आचार्य आह ।

अण्णेगवहुण्णिग्गमणे, अब्बुद्धण्णजाविया य हिंदंता ।

दसविह वेयावन्चे, सग्गामे वहिं च वायामो ॥

सीउएहसहा जिकखा, न य हाणी वायणादिया तेसिं ।

गुरुणो पुण ते नत्थी, तणमज्जितो य खेयसे ॥

अनेकै कारणैर्बहुनां निर्गमनमनेकबहुनिर्गमनतस्मिन् तथा गु-र्वादीनामज्युत्याने आसनप्रदानादौ च तथा जिज्ञार्थं द्विरुमा-ना ज्ञाविता व्यायामितशरीराः । यदुक्तमनेकैः कारणैर्बहुवार निर्गमन तत्र कारणान्याह दशाधिधर्मेयावृत्त्यानीमित्त स्वग्रामे बहिः परग्रामे अनेकवारमनेकधा व्यायामोऽभवत् तथा शीतोष्णसहा भिक्षवो न च तेषां जिज्ञाणां वाचनादिका वाचनादिविषया हा-निर्गुराः पुनरनेके बहुनिर्गमनादयो न सन्ति ततस्तृष्णाद्यध्यासि-तुमसाद्विष्णव आचार्या वसतेर्बहिः सागारिके तिष्ठति बहु वस-तेरन्तः प्रविशन्ति ततः खेदहेन कुशलेन पादान् प्रमार्जयन्ति ।

इदानीं भिक्षोरपि द्वितीयपदापवादमाह ।

धुवकम्मियं व नाउं, कज्जेण्णए वा अण्णतिपाति ।

अव्वक्खित्ता उत्त, न उ दिक्खति वाहि भिक्खु वि ॥

वसतेर्बहिः सागारिकं ध्रुवकर्मिकं वा लोटकारादिकम-
न्येन वा कार्येणान्यमपि सागारिकमनतिपातिनमिच्छन्तं तथा
अव्याक्षिप्तमायुक्तं च ज्ञात्वा भिक्षुरपि बहिर्नोदोक्षेन न प्रतो-
क्षेत किन्तु वसतिं प्रविश्यात्प्रोयावकाशे यतनयाऽऽत्मतः पादौ
प्रमार्जयेत् । प्रथमोऽतिशयो गतः ।

आचार्योपाध्यायस्य अन्तरुपाश्रयस्य उच्चारप्रत्ययण्यजन-
नामा द्वितीयोऽतिशयः । सप्रति द्वितीय विभाययिपुरेदमाह ।

बहिर्गमणे च उगुरुगा, आणादी वाणिष य मिच्छत्त ।

परियरणमणाभोगे, खरिण्णमरूपे तिरिक्खादी ॥

आचार्यो यदि विचारभूमिं बहिर्गच्छति ततः प्रायश्चित्तं च-
त्वारो गुरुकाः आह्लादयश्च दोषाः । तथा "वाणिष य मिच्छ-
त्तमिति" वणिजे अभ्युत्थानं पूर्वं कृतं भवति पश्चादकुर्वति
केवाञ्चिन्मिथ्यात्वमुपजायते । इयमत्र भावना । आचार्यं स-
न्नाभूमिं व्रजन्त ततः प्रत्यागच्छन्तं च दृष्ट्वा वणिजो निजनिजा-
पणे स्थिता अभ्युत्थानं कृतवन्तस्त्वं च तथा वणिजां बहुमान-
नाऽभ्युत्थानं दृष्ट्वा केचिदन्ये मन्यन्ते गुणवानेव आचार्यो येन
वणिजं पश्येनमभ्युपतिष्ठन्ति तस्मादस्माकमपि पूज्य इति
तेऽपि पूजयन्ति । यदा त्वाचार्यः कदाचित् द्वौ वारौ सन्नाभू-
मिं व्रजति तदा चतुरो वागन् गमने प्रत्यागमने चोत्थातव्यं
ते चालस्य मन्यमाना अभ्युत्थानव्यं भविष्यतीति कृत्वा आ-
चार्यं दृष्ट्वाऽन्यतो मुग्नं कुर्वन्ति ताश्च तथा कुर्वन्तो दृष्ट्वा
अन्ये चिन्तयन्ति नूनमेव प्रमादी जानो ज्ञानोऽपि गुणवानपि
यदीदृगं पतति तर्हि न किञ्चिदिति ते मिथ्यात्व गच्छन्ति ।
तथा आचार्यं त्रोटकेन पूज्यमानं दृष्ट्वा मरुके प्राप्नोष्य मार-
ण्युक्त्या प्रतिचरणं भवति । ततः सन्नाभूमिं गतं विजने प्रदेशे
मार्ग्येन तथा नग्मुर्गा नपुंसको दासी वा प्रापयित्वा दृष्ट्वा
कुर्यात् अनामोगेन वा घनगहने प्रविष्टे तिर्यगादी च गर्दभ्या-
दौ कुलटादौ च प्रविष्टायामात्मपरोभयममुत्था दोषा एव
गाथान्तोपायः ।

सप्रति "वाणिष य मिच्छत्तमि" स्येतिद्विभावयिपुराह ।

गुणवन्तं पि परित्रा-रव च वणिष्यन्तरञ्जणुट्टाणे ।

दृष्ट्वाण निगमस्मि य, हाणी य पमुहावमो ॥

सन्नाभूमिं व्रजन्ति ततः प्रत्यागच्छन्ति वा तस्मिन्नाचार्यं भु-
वानेव परिवारवाञ्छेति मन्यमाना अन्तरा निजनिजापणेपु
स्थिता वणिजोऽभ्युत्थानं कृतवन्तं तेषां चोत्थाने लोकस्य च
भूयानं बहुमान आसीत् । कदाचिद्वाचार्यो द्वौ वारौ सन्नाभूमिं
व्रजेत् ततो द्विस्थाने निर्गमने चतुरो वागन् गच्छन्ति प्रत्या-
गच्छन्ति चोत्थातव्यं ततस्ते आलस्य मन्यमाना अभ्युत्थानस्य
हानिं कुर्वन्ति ते च हानिमभ्युत्थानस्य चिकीर्षयोऽभ्युत्था-
तव्यं भविष्यतीति कृत्वा तमाचार्यं दृष्ट्वा परमुखा भवन्ति अ-
न्यतो मुग्नं कुर्वन्तीति भावः । अथवा अवर्णः स्यात्तथाहि द्वौ
वारौ सन्नाभूमिं व्रजन्तमाचार्यं दृष्ट्वा ते वदन्ति नूनमेव आ-
चार्यो द्वौ त्रान्वारान्समुद्दिशति तेन द्वौ वारौ सन्नाभूमिं याति ।

गुणव तु जत्रो वणिषा, प्र्यतणै वि सम्मुहा तस्मि ।

पडियं ति अणुट्टाणे, पुविह नियत्ती अज्जिमुहाणं ॥

वणिजां बहुमानेनाभ्युत्थानं दृष्ट्वा केचिदन्ये चिन्तयन्ति । गु-
णवानाचार्यो यतो वणिजः पूजयन्ति एव चिन्तयित्वा तेऽप्य-
न्ये तस्मिन्नाचार्यं सन्मुखा भवन्ति वारद्वयमज्ञाभूमिगमने व-
णिजामनुत्थाने ते चिन्तयन्ति मूलभेष आचार्यः पतितं कथ-

मन्यथा वणिजः पूर्वमभ्युत्थानं कृतवन्तो नेदानीम् । तथा च
सति तेषामभिमुखानां द्विविधा निवृत्तिस्तथा ये श्रावकत्वं
प्रहीतुकामा ये च तस्य समीपे प्रव्रजितुकामास्ते चिन्तयन्ति
यद्येवोऽपि प्रधानो ज्ञाता कुशीलत्वं प्रतिपद्यते तर्हि नूनं सर्वे
जिनवचनमसारमिति मन्यमानाः श्रावकत्वाद्गतप्रहणाद्वा प्र-
तिनिवर्तन्ते मिथ्यात्व गच्छन्ति ।

सप्रति "पडियग्गमणाभोगे" इत्यादि व्याख्यानयन्नाह ।

आउटो ति व द्योगे, पडियरिओ वन्नमारए मरुगे ।

खरियमुहसंगहं वा, लोनेउ तिरिक्खसगहणं ॥

गुणवानाचार्य इति कृत्वा सर्वो लोक आचार्यस्यावृत्तोऽभ-
घत् प्रणोऽभूत् धिग्जातीयानां केवाञ्चित्पापीयसां तथा पू-
जामाचार्यस्य दृष्ट्वा महामत्सरो भवेत् मात्सर्येण संज्ञाभूमिग-
तमाचार्यं प्रतिवर्त्यं क्षुभ्रे प्रदेशे मरुको ब्राह्मणः कोऽपि जाविता-
द्वयपरोप्य गत्तादिषु प्रच्छन्ने प्रदेशे स्थगयेत् । तथा खरिका-
मुर्खा दासी नपुंसक वा प्रलोभ्य तत्र प्रेष्य सग्रहं कुर्यात् यथा
मैथुनमेव सेवमानो गृहीतस्तत उद्गाह स्यात्तथा अनामोगेना-
चार्यो वनादिगुपिलमवकाशं संज्ञाव्युत्सर्जनाय प्रविष्टः स्या-
त्तत्र च (तिरिक्खत्ति) तिर्यग्योनिका गर्दभ्यादिका पूर्वगता
पश्चाद्वा प्रविष्टा भवेत् तां च केचित्प्रत्यनीका दृष्ट्वा उद्गाहं
कुर्यात् । मूलगाथायां यदुक्तं (तिरिक्खादीति) तत्रादिशब्दव्या-
ख्यानार्थमाह ।

आदिग्गहणा उग्गा, -मिगा व तह अन्नतिथिगा वावि ।

अहवा वि अस्सदोमा, इवमिमे वादिमादी य ॥

आदिग्रहणादुद्गामिका कुलटा तथा अन्यतीर्थिका वा प-
रिगृह्यते सा तस्मिन् गहने पूर्वं गता पश्चाद्वा प्रविष्टाऽभवत् ।
तत्र चात्मपरोभयसमुत्था दोषाः संग्रहणादयश्च प्रागुक्ताः ।
अथवा इमे वक्ष्यमाणा अन्ये वाद्यादयो दोषा भवन्ति ।

तानेव सजिघृक्षुर्द्वारगाथामाह ।

वादीदंमियमादी, मुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी ।

आवस्सगदिट्ठनो, कुमार अकरंतकरंते य ॥

वादिदण्डिकादयो वादिदण्डिकादिविषया बहवो दोषास्त-
था सूत्रार्थानां गच्छस्य परिहाणि । अथवा सूत्रार्थानां परिहा-
णिर्गच्छे च ज्ञानादीनां परिहाणिस्तथा आवश्यकमुच्चारव-
श्यकं कुर्वन्नकुर्वन् कुमारो दृष्टान्तः । एव द्वारगाथासङ्क्षेपार्थः
साप्रतमेनामेव विचरीषुः प्रथमतो वादिद्वारमाह ।

सुत्तागतो ति पिट्ठे, जयातिमारो ति चेति परवादी ।

मा होही गिमिक्खमा, वच्चामि अलं विवाएण ॥

कोऽपि परप्रवादी बहुश्रुतमाचार्यं लोकपूजितं श्रुत्वा तेन
समं वादं करिष्यामीत्यागतो भवेत् आचार्यश्च संज्ञाभूमिं तदा
गतस्तेन चागतेन वसतौ पृष्ठं क आचार्यः साधुमि कथित-
माचार्याः सन्नाभूमिं गता एव श्रुत्वा स परप्रवादी ज्ञात्वा स
मम भयेन पलायितो यदिवामम भयेनातीसारो जातः । अथ-
वा मा भवत्येषां हत्येति व्रजामि अलं पर्याप्तं विवादेन ।

अधुना "दण्डियमादीति" व्याख्यानयति ।

चंदगवेज्जासरिसं, आगमणं एव इट्ठिमंताण ।

पव्वज्जसावज्जदग-इच्चादिगुणाण परिहाणी ॥

यथा इन्द्रपुरे इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुतेन कथमपि पुत्तलिका-
क्षिचन्द्रकस्य वेधः कृतस्तत्सदृश "काकताक्षीयवत्" राज्ञः

भृद्धिमतां चान्येषामाचार्यसमीपे आगमन आचार्यं च सञ्ज्ञा-
भूमिं गते दण्डिकादिरागतो भवेत् ततः सञ्ज्ञाभूमिं गतआ-
चार्य इति श्रुत्वा प्रतिनिवर्तन्ते यदि पुनः सञ्ज्ञाभूमिं न गता आ-
चार्या भवेयुस्ततो धर्मं श्रुत्वा कदाचित्ते प्रव्रज्यां गृहीयुः प्रव-
जितेषु च राजादिषु महती प्रवचनप्रभावना । तथा आवक-
त्व केचित्कदाचित्प्रतिपद्येरन् यथा भद्रका वा भवेयुस्तथा च
चैत्यसाधूनां महानुपग्रहः । सञ्ज्ञाभूमिगमने चैतेषां गुणानां
हानिः । सप्रति " सुत्तत्थाणं च गच्छे परिहाणी " इत्येतद्व्या-
ख्यानार्थमाह ॥

सुत्तत्थे परिहाणी, वीयारं गंतुं जा पुणो एति ।

तत्थेव य वोसरणे, सुत्तत्थेमुं न सीयंतं ॥

विचार विचारभूमिं गत्वा यावत् पुनरेति तावत्सूत्रार्थपरि-
हाणिः । इयमत्र भावना सञ्ज्ञाभूमिदूरे भवेत्सूत्रपौरुष्यामर्थपौरु-
ष्यां चाद्धकृतायामाचार्यः सञ्ज्ञावान् ज्ञातस्ततो गतः सञ्ज्ञाभू-
मिं तत उद्घाटयां पौरुष्यामर्थपौरुष्यां कालवेलायां समाग-
तस्ततः सूत्रार्थपरिहाणिं तद्भावाच्च शिष्याः प्रातीच्छि-
काश्चान्य गणं व्रजन्ति ततो गच्छस्यापि परिहाणिस्तत्रैव पु-
नरुपाश्रये सञ्ज्ञाया व्युत्सजने सूत्रार्थेषु साधवो न सीदन्ति ।
अत्र चावश्यकं कुर्वन्नकुर्वन् कुमारो दृष्टान्तः ॥

एवमेव भावयति ।

तीरगए ववहारं, खीरगते होति तदिह उट्टाणे ।

कोसस्स हाणि परचम्मु-पेळ्ण रज्जस्स अपसत्थे ॥

कुमारस्याऽऽस्थाने समुपविष्टस्यार्थिनः प्रत्यर्थिनश्च व्यवहा-
रेणोपस्थितास्तेषां चोत्तरोत्तरेण व्यवहरतां व्यवहारस्तीर-
गन् । पर नाद्यापि समाभिमुपयाति तस्मिन्नासमाप्ते व्यवहारे
सति राजकुमारः सञ्ज्ञावान् जातस्तत उत्थाय सञ्ज्ञाभूमिं गतः
स च यावन्नायाति तावदर्थिनः प्रत्यर्थिनश्च क्षीरोदकसयोगा-
द्विदेकीभूतास्ततो राजकुमारस्य प्रत्यागतस्य ते ब्रुवते वयं
परस्परं स्वस्थीभूताः एव सदा सर्वत्र समस्तादपि लक्षादि-
प्रमाणाद् दण्डायपदात् परिभ्रष्टास्ततः कोशस्य हानिर्जाना
नां च ज्ञात्वा परचम्मुः परवलमागच्छेत् तथा च राज्यस्य प्रेरण-
मेषोऽप्रशस्ते दृष्टान्तः । प्रशस्ते पुनर्दृष्टान्तः स्वयं भावनीयः ।
स चायं प्रथमत एवावश्यकमुच्चार्य कृत्वा आस्थाने समु-
पविशति उपविष्टो यदि सञ्ज्ञावान् भवति ततः प्रच्छन्ने प्रदे-
शे व्युत्सजति एव तस्य कुर्वतः प्रभूतः प्रभूततरं दण्डायपदं
जातं तथा च सति कोशस्य महती वृद्धिस्ततः परवलस्य प्रे-
रणं राज्यान्तरसंग्रहः । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः । य आ-
चार्यो वहिस्सञ्ज्ञाभूमिं व्रजति तस्य प्रागुक्तप्रकारेण सूत्रार्थप-
रिहाणिस्तत्परिहाण्या गच्छस्यापि परिहाणिः शिष्याणां प्रा-
तीच्छिकानां चान्यत्र गणान्तरे गमनात् । यस्तु तत्रैवोपाश्रये
व्युत्सजति तस्य न किञ्चिदपि परिहीयते इति सर्वं सुस्थम् ।

एतदेवाह ।

वेलं सुत्तत्थाणं, न जंजए दंभियादिकहणं वा ।

पञ्जणअमयकोमे, पुच्छा पुण सोहणा विणए ॥

यथा बडिर्निर्गन्तव्यमेव ग्रामादीनामन्तरपि सूत्रार्थानामपरि-
हाणिनिमित्तं दण्डिकादीनामागतानां धर्मकथाया अविघ्ननिमि-
त्तं च संज्ञाव्युत्सजनाय न गन्तव्यं किन्तु पाश्र्वस्यान्तर्व्युत्सजनीयं
येन सूत्रार्थप्रेक्षा न जनक्ति, नापि दण्डिकादीनामागतानां धर्म-
कथनं विघ्नयति । पूर्वमेव चोपयोगः कर्त्तव्यः किं मम सञ्ज्ञा भवे-

न्न वा । तत्र यदि शङ्का तदा कृतावश्यकेन सूत्रपौरुष्यामर्थपारुष्यां
च सूत्रार्थप्रदानायोपवेष्टव्यं तत्रापि न तावदासितव्यं यावदवश्य-
मुच्येयं भवति किन्त्वग्रे । अत्रार्थं निदर्शनमेक आचार्य आवश्य-
क शोधयित्वा तिष्ठति दण्डिकश्च धर्मश्रवणार्थमागत आचार्येण
धर्मकथा प्रारब्धा स च धर्मकथाक्षितो राजकुमारो धर्मं गृण-
न्भीक्षणमभीक्षणं कायिकीव्युत्सजनायोत्तिष्ठति आचार्यस्य
प्रच्छन्नो मूत्रकोशः समर्प्यते प्रच्छन्नं कायिकीमात्रक साधवः
समर्पयन्ति तत्र कायिकी व्युत्सजति । ततो विनये लोको-
त्तरिके बलवति राज्ञः पृच्छा आचार्यस्य कथनमेतदेव वि-
भावयिषुरिदमाह ॥

निद्धाहारो वि अहं, असइं उट्टेमि नेस कहयंते ।

पासगतो तं (सप्प) मत्त, वत्थंतरियं पणामेइ ॥

राजा चिन्तयति मम स्निग्ध आहारस्तथाऽपि कायिकीव्यु-
त्सर्गाय पुनः पुनरुत्तिष्ठामि । आचार्यस्तु कथयन् रुद्धाहारो-
ऽपि कायिकीव्युत्सर्गाय नोत्तिष्ठति नूनं मर्ष्ये य एष आचा-
र्यस्य पार्श्वे स्थितः । जुल्लकः स तत्कायिकीमात्रं प्रच्छन्नं व-
स्त्रान्तरितं प्रणमयति समर्पयति तत्र कायिकीमाचार्यो व्यु-
त्सजति एतच्च यदि पृच्छयते तर्ह्यविनयः कृतो भवति त-
स्मादुपायेन पृच्छामीति विचिन्त्येदं पृच्छति ॥

विणओ लोड्यलोउ-त्तरिओ (त्त य वट्ठं) ततो गंगा ।

कतोमुहं । अचलंतो, जणिति निवं आगिति जतो ॥

राजा सुरिमापृच्छति भगवन् ! किं लौकिको विनयो बली-
यान् अथवा लोकोत्तरिकः । आचार्येणोक्तमयमर्थं परीक्षतां
परमेव ज्ञायते लोकोत्तरिको विनयो बलीयान् तत्र परीक्षा
कर्तुमारब्धा आचार्येणोक्तं यस्तव दृष्टिप्रत्ययो य वा कृत्वा
त्व जानासि न एष विनयम्रंसी त प्रेषय । यथा
कुनोमुखी गङ्गा वहतीति ज्ञात्वा निवेदय । ततो
राजा य आकृतिमान् यश्च दृष्टप्रत्ययस्तं प्रेषयति व्रज कुतो-
मुखी गङ्गा वहति सोऽचलन् तत्रैव स्थितो नृप भणति यथा
पूर्वमुखी गङ्गा वहति लोकोऽप्यन्य एतत् जानाति । ततः
आचार्यो ब्रूते मम शिष्याणां मध्ये य त्वं विषमकरणनाशादि-
निर्विषम जानासि । उक्तञ्च " विषमसमैर्विषमसमा, विषमैर्वि-
षमाः समैः समाचाराः । करचरणवदननासा कर्णोष्ठनिरीक्ष-
णैः पुरुषाः " विषमत्वाच्च विनयम्रसं करिष्यतीति तं प्रेषय ।

रक्षा पयंसितो एस, वयओ अविणीयदंसणो समणो ।

पञ्जागय उस्सगं, काउं आलोयए गुरुणो ॥

एवमाचार्येणोक्ते राज्ञा यो विषमकरचरणादिना अविर्नातद-
र्शनः श्रमणः प्रदर्शित एष व्रजतु कया दिशा गङ्गा वहतीति
आचार्येण सप्रेषितः स आचार्यानापृच्छय तत्र गत्वा ततः प्र-
त्यागत्यैर्य्यापथिक्याः कायोत्सर्गं कृत्वा गुप्तेः पुरत आलोच-
यति कथमित्याह ।

आदिच्चदिसा लोयण-तरंगतणमाइया य पुव्वमुहं ।

मोहो य दिसाए मा होउ, पुटो त्ति जणो तहं वट्ठो वि ॥

हेभगवन् ! युष्मत्पादानापृच्छयाह गङ्गातटं गतस्तत्र च गत्वा
सूर्यं निर्ध्यानवान् यत आदित्यादिविभागः सम्यक् ज्ञायते
वमादित्यदिगालोचनं कृतं तथा तरङ्गैस्तृणादीनि पूर्वभिमुखा-
न्यूलमानानि दृष्टानि तत्र कदाचिद्विगमोहोऽपि स्यात्ततो मा भू-
द्विगमोह इत्यन्योऽपि जनस्त्रिसख्याकः पृष्ठं सोऽपि तथैवाह
यथा पूर्वभिमुखी गङ्गा वहतीति । एतच्च राज्ञा प्रत्ययि-

कप्रच्छन्नपुरैः परि (भाविता) भावापितं तैरपि तथैव कथितम् ततो राजा प्राह ।

वह्वंधयेयमारण-निर्विसयधणवहारलोगम्भि ।

भवदडो उत्तरितो, उच्छ्रहमाणस्स तो वलितो ॥

लोके योऽस्माकमाज्ञां भनक्ति तस्य वध लकुटादिप्रहारैस्ता-
मन बन्ध निगडादिभिश्छेद कर्षच्छेदादिक केषाञ्चित् मा-
रण विनाशनमपरेषा निर्विषयकरणमन्येषा धनापहार कुर्म-
स्तथाऽपि केचिदस्माकमाज्ञां भजन्ति । लोकोत्तरेषु पुनरेषां
भज्जतामेतानि न भयानि सन्ति तथाऽपि परेण प्रयत्नेन लो-
कोत्तरिका आज्ञां कुर्वन्ति तत्र किं कारणमाचार्य आह “भ-
वदडो” इत्यादि पश्चार्द्धयस्तीर्थकरणधरादीनामाज्ञां भनक्ति
तस्य परभवे हस्तच्छेदनादीनि भवन्ति एष लोकोत्तरे भव-
दण्डः अस्माद्भातस्य साधोरुत्सहमानस्य स्वशक्त्यानिगूह-
नेनोद्यम कुर्वतो विनयो बलीयान् । एव लोकोत्तरिको वि-
नयो बलिकः ।

अत्रैवापवादमाह ।

वितियपयं असतीए, अष्ठाए उवस्सय व सागारो ।

न पवत्तति सन्ने वि, जे य समत्था ममं तेहिं ॥

कुपद्वादीनिगमणे, नातिगभीरे अपच्चवायाम्मि ।

वोसरियम्मि य गुरुणा, निसिरंति महंतदडधरा ॥

द्वितीयपदमपवादपदमधिकृत्य सज्ञाभूमिमाचार्यो ब्रजेत् ।
तदेव द्वितीयपदमाह । उपाश्रये च पश्चात्कृते सज्ञाभूमिर्नास्ति
तनस्तस्या असति बहिर्व्रजेत् । (अष्ठाएत्ति) यत्र न ज्ञायते
एष आचार्यस्तत्रापि बहिर्व्रजेत् । अथवा उपाश्रये सागारिको
विद्यते ततो बहिर्याति कस्यापि पुनरुपाश्रयस्य पश्चात्कृते वि-
द्यमानेऽपि सज्ञा न प्रवर्तते सोऽपि बहिर्याति एतै कारणैर्ब-
हिर्गमनम् तत्र ये समर्थान्तरुणा साधवस्तै सम याति । तत्र
शानि कुपथादीनि कुरथ्यादीनि तैर्गन्तव्य तैर्गच्छतोऽपि प्रायः
पूर्वोक्ता दोषा न भवन्ति । तत्रापि यन्नातिगम्भीर नातिविषय-
मप्रत्यवार्य प्रत्यवायविरहितं तत्राचार्यः सज्ञां व्युत्सृजति ।
येषां च सहायानां हस्ते महान्तो दण्डकास्ते महादण्डधरा-
श्चतसृष्वपि दिक्षु सरक्षणपरायणास्तिष्ठन्ति व्युत्सृष्टे च गु-
रुणा पुरीषे ते महादण्डधरास्ततस्तस्मिन् कस्मादेव रक्षा
क्रियते इति चेत् कुलस्य तदायत्तत्वात् उक्तञ्च “जम्मि कुल
आयत्त, त पुरिस आयरेण रक्खाहि ” इत्यादि कथ पुनः स
रक्षितव्य इत्यत आह ।

जह राया तोसलिओ, मणिपणिमा रक्खए पयत्तेण ।

तड होइ रक्खियव्वो, सिरिधरसरिमो य आयरितो ॥

यथा राजा तोसलिको मणिप्रतिमे च प्रयत्नेन रक्षति तथा
भवत्याचार्यो रक्षितव्यो यतः श्रीगृहसदृश एष आचार्य ।

अथ के ते प्रतिमे इत्यत आह ।

पडिमुप्पत्ती वाणिय, उदहिप्पातो उवायणं भीतो ।

रयण्णुगे जिणपडिमे, करेमि जइ उत्तरे विग्घ ॥

उप्पाज्वममजुत्तर-मविग्घए एकपणिमं वा ।

देवयच्छेदेण ततो, जाया वितिए वि पडिमा तां ॥

प्रतिमयोरुत्पत्तिर्वक्तव्या सा चैवमेकस्य वणिज समुद्र प्रव-
हणेनावगाढस्थोत्पात उपस्थितः । ततः स औपयाचनिक क-

रोति यथा यदेतदौत्पातिकमुपशाम्यति अविघ्नेनोत्तरामि च
ततोऽनयोर्द्वयोर्मणिरत्नयोर्द्वे मणिमयौ जिनप्रतिमे कारयि-
ष्यामि एवमौपयाचनिके कृते देवतानुभावेनौत्पातिकमुप-
शान्तमविघ्नसमुद्रोत्तरणमभूत् स चोत्तीर्णं सन् लोभेन एक-
स्मिन्मणिरत्ने एकां जिनप्रतिमां कारयति ततो देवतया द्वि-
तीये मणिरत्ने द्वितीया जिनप्रतिमा कारिता तथा चाह । देव-
ताच्छन्देन ततो जाता द्वितीयेऽपि मणिरत्ने प्रतिमा ।

तो भत्तीए वणितो, सुस्ससइ ता परेण जत्तेणं ।

ता दीवणए पणिमा, दीसंतिहरा उ रयणाइं ॥

ततः काराणानन्तर ते प्रतिमे वणिको भक्त्या परेण यत्ने-
न शुश्रूषते ततः तयोश्च प्रतिमयोर्गिद प्रातिहार्य ते प्रतिम या-
वदीपक पाश्वे ध्रियते तावदीपकेन हेतुना प्रतिमे दृश्येते इ
तरथा दीपकाभावे सप्रकाशे अपि प्रकाशमणिरत्ने दृश्येते ॥

सोऊण पामिहेरं, राया घेत्तेण सिरिहरे बुद्धति ।

मंगलभत्तीए तो, पूएति परेण जत्तेण ॥

इदमनन्तरोदित प्रातिहार्य राजा तौसलिकः श्रुत्वा ते प्रति-
मे स्वयमेवान्मीयश्रीगृहके भारडारे क्षिपति मुञ्चति ततो
मङ्गलबुद्ध्या भक्त्या च परेण यत्नेन ते पूजयति । यस्मिंश्च
दिवसे ते प्रतिमे श्रीगृहमानीने ततः प्रभृति राज्ञः कोशादि-
षु वृद्धिरुपजाता । ततः श्रीगृहसदृश आचार्य इत्युक्तं ततः
एव दृष्टान्तभावना कर्त्तव्या यथा राजा श्रीगृह प्रयत्नेन रक्ष-
यति एवमाचार्योऽपि रक्षणीयस्ततः कथमत्र मणिमयप्रतिमा-
भ्यां दृष्टान्तभावना कृता उच्यते ॥

मगलभत्ती अहिया, उप्पज्जइ तारिसम्मि दव्वम्मि ।

रयण्णगहणं तेण, रयणञ्जतो तहारारनो ॥

श्रीगृहे द्रविण रक्षणीय मणिमयप्रतिमयोः पुनर्द्रविणमप्य-
तिप्रभूतमस्ति मङ्गलबुद्धिश्च तत्रापि परमतीर्थकरभक्तिश्चेति ।
प्रयत्नेन रक्षणे त्रीणि कारणानि तथा चाह । मङ्गल मङ्गल-
बुद्धिर्भक्तिश्चाधिका तादृशे द्रव्ये समुत्पद्यते ततो रत्नग्रहण
यथा ते रत्नप्रतिमे कारणत्रयवशाद्विशिष्टेन प्रयत्नेन रक्षेते
शुश्रूष्येते च तथा शिष्यैराचार्य प्रयत्नेन रक्षणीय शुश्रूषणीय-
श्च । अथैवमाचार्य रक्षिते शुश्रूषिते च को गुण इत्यत आह ।

पूयंति य रक्खयनि य. मीसा सव्वे गणिं सया पयथा ।

इह परलोए य गुण, हवंति तप्पूयणे जम्हा ॥

गणितमाचार्य शिष्या सर्वे सदा प्रयता प्रयत्नपरा पूजय-
न्ति शुश्रूषन्ते च यस्मात्तत्पूजने आचार्यपूजने इह लोके परलोके
च गुणा भवन्ति इह लोके सुत्रार्थ तद्भयमुपयाति परलोके
सूत्रार्थान्यामधीताभ्यां ज्ञानादिमोक्षमार्गप्रसाधनम् । अथवा
पारलौकिका गुणा “आयरिए वेयावच्च करेमाणे महानिज्जेरे म-
हापज्जवसाणे भवति ” इत्येवमादयः । गतो द्वितीयोऽतिशयः ।
सप्रति तृतीयमाह “इच्छाप पडू वेयावन्निय करेज्जा ” इत्येव-
मतिशयमभिधित्सुराह ।

जेणाहारो उ गणी, सवाल्लवुद्धस्स होइ गच्छस्स ।

तो अतिसेसपत्तुत्तं, ओहिं दारेहिं तस्स भवे ॥

येन कारणेन गणी आचार्य सवाल्लवुद्धस्य गच्छस्याधारस्त-
तस्तस्य भवत्यतिशयप्रभुत्वमतिशायिप्रभुत्व तच्चैर्भिर्द्वयमा
शौर्द्धैरैरवगन्तव्यम् । तान्येवाह ॥

तित्थयरपवयणे नि-ज्जरा य सानेक्खञ्जत्तिवोच्चेतो ।

यथा गोपालस्तिष्ठषु वेदासु गवामाहोक करोति । तद्यथा प्राक् प्रसरन्तीनां मध्याह्ने गद्यासु स्थितानां विकाहवेद्यायां गृहं प्रत्यागच्छन्तीनां यदि न करोति तदा न जानाति काचिन्नष्टा का वा गतेति एव माचार्येणापि तिसृषु वेदासु गच्छेऽप्याहोक. कर्त्तव्यः । तद्यथा प्रातर्मध्याह्ने विकासवेद्यायां च तत्र यदि प्रातःगवहयके कृते गणाहोकं न करोति तदा मासवधु जिज्ञावेद्यायां द्वितीयवारं गणाहोकमकुर्वतो मासवधु तृतीयवारं विकासवेद्यायामप्यकुर्वतो मासवधु । तत्राचार्यो यदि भिक्षां नाटयति तदा तिसृषु वेदासु गणाहोकं कर्तुं न शक्नोति भिक्षामदन् कथं कुर्यात् गणाहोके चाक्रियमाणे श्मे दोषाः । कोऽपि साधुर्नष्टो भवेत् स च नष्ट इति ज्ञात्वा प्रत्यानीयते गणाहोके पुनरकृते नष्ट इत्येव न ह्यायते । तथा भिक्षाचार्यागमने कः स-

निवृत्त को वा नेति न ज्ञायते । तथा गणाहोके अक्रियमाणे को बौध काल भिक्षाचर्या करोति को वा नेति केन ज्ञायते । तथा भिक्षामटल्याचार्यं भिक्षाचर्यात आगनानामाहोचनायां कः शोधं करोति । तथा भिक्षां हिएडमाने सुरौ कोऽपि गृहनिषयां वाहयत्येतन्न ज्ञायते ॥

सो आवस्सयहाणि, करेज्ज भिक्खाद्वसा व अत्येज्जा ।

तेण तिसंजाहोगं, सिस्साण करेइ अत्थंतो ॥

भिक्षामटल्याचार्यं ये आवश्यककर्तव्या योगास्तेषां यः प्रमादतो हानिं करोति स न ज्ञायते तथा आचार्य एवास्माकं भिक्षामानेप्यतीति केचित् भिक्षाद्वसा वसतावेव तिष्ठेयुर्न भिक्षामटेयुर्यत एवं गणाहोकेऽक्रियमाणे इमे दोषास्तस्मात्तिसृष्वपि संख्यासु शिष्याणामाहोके तिष्ठन् भिक्षामहिमएरुमान करोति । गत गणाहोकेद्वारम् ॥

अधुना कायक्लेशद्वारमाह ।

हिंदंतो उब्वातो, सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी ।

नासेहिति हिंदंतो, सुत्तं अत्थं च आणेणं ॥

हिएरुमानः पुनर्भिक्षां महान् कायक्लेश इति (उब्वातोति) परिभ्रान्तो भवति परिभ्रान्तत्वात्सूत्रमर्थ इति शिष्येषु प्रतीच्छिकेषु च सूत्रार्थानां परिहाणिस्ततो गच्छस्यापि परिहाणि शिष्याणां प्रतीच्छिकानां चान्यत्रान्यत्र गणान्तरे सगमात् । तथा हिएरुमानः सूत्रमर्थं चारेकेणाकेपेणात्मनो नाशयिष्यति । गत कायक्लेशद्वारम् ।

इदानीं चिन्ताद्वारमाह ।

जा आससिउं भुजइ, भुत्तो खेयं च जाव परिणोइ ।

ताव गतो सो दिवसो, नट्सती दाहिती किं वा ॥

यावद्भिक्षामर्थयित्वा कृणमात्रमाश्वस्य भुङ्क्ते भुत्तोऽपि च खेदं भिक्षादनपरिश्रमं यावत्प्रतिनयति स्फोटयति तावद्दिवस सकलोऽपि गतस्ततो नास्ति सा वेदा यत्र सूत्रस्यार्थस्य वा चिन्ता करोति अचिन्तितं च विस्मृतिमुपयाति ततो नष्टस्मृतिः किं दास्यति न किमपीति भावः । वाशब्दो दूषणसमुच्चये । एतदेव सुव्यक्तं प्राचयति ॥

एगा नत्थि दिवसतो, रत्तिं पि न जग्गते समुग्धातो ।

न य अगुणेउं दिज्जइ, जइ दिज्जइ संकितो दुहतो ॥

नास्ति एको विविक्तोऽवसरो दिवसमध्ये यत्र सूत्रमर्थं वा चिन्तयति रात्रावपि समुद्रात् सम्यक् परिभ्रान्तो न जागर्ति । न च सूत्रमर्थं वा अगुणयित्वा दीयते यदि पुनर्दीयते तर्हि द्विधातः सूत्रतोऽर्थतश्च शङ्कितो भवति । गतं चिन्ताद्वारम् ।

अधुना मेढिद्वारमाह ।

मेढीचूते बाहिं, जुंजण आदेसमाइ आगमणं ।

विणए गिलाणमादि, अत्थंते मेढिसंदेसा ॥

आचार्य सर्वस्यापि गच्छस्य मेढीचूतं मेढिरिति वा आधार इति वा चक्षुरिति वा एकार्थं स चेद्भिक्षां गच्छति ततः साधूनां वसतेर्बहिर्यद्वच्छया भोजनं स्यादेतदनन्तरमेव प्राचयिष्यते । तत एव ज्ञायते केचिदादेशः प्राघूर्णका आगच्छेयुरादिशब्दात्केचिद्व्याधिक्का व्याधिपरिहीनास्ततस्तेषामादेशादीनामागमनं ज्ञात्वा कः प्राघूर्णकानां विश्रामणं संदेशं वा कुर्यात् ॥ को वा व्याधिपरिहीनानां श्रमस्तित्तस्य दानं प्राघूर्णकानामितरेषां वा वात्सल्याकरणे विनयो न कृतः स्यात्तथा ग्लान-

स्यादिशब्दात् बाधवृत्तासहायानां च कः संदेशप्रदानेन चिन्तं कुर्यात् तिष्ठति भिक्षामनटल्याचार्ये मेढेः संदेशादादेशात् सर्वमादेशादि सुस्थं भवति ।

सप्रति यदुक्तं " बाहिं जुंजणात्ति " तद्भावयति ॥

आलोयदायणं वा, कस्म करेहामु कं च छदेमो ।

आयगिए य अहंते, को अत्थि उ मुच्छहे अन्नो ॥

शिष्याः प्रतीच्छिकाश्च भिक्षां प्रविष्टाश्चिन्तयन्ति सूरिरपि भिक्षार्थं निर्गतो भविष्यति ततो वयः सप्रति प्रतिश्रयं गन्वा कस्य पुरनः आलोचयिष्यामः कस्य वा भक्तं पानं वा दर्शयिष्यामः कं चान्यं साधुं तत्र गताश्चन्द्रयामो निमन्त्रयामो यतो भिक्षामटल्याचार्यं कोऽन्यः साधुः स्थातुमुत्सहते सर्वोऽपि भिक्षां यातीति भावस्तथाहि सर्वं साधवो भिक्षामटल्याचार्यं चिन्तयन्ति यदि स्वयमाचार्यो भिक्षां हिएरुते काऽस्माकं शक्तिः पश्चात् स्थातुं वयमपि यास्यामः । एव सर्वस्यापि गमने निमन्त्रणाऽपि कस्य स्यादिति विचिन्त्य बहिरेव समुद्दिश्य वसतावागच्छेयुरिति । गत मेढिद्वारम् ॥

इदानीमकारकद्वारमाह ॥

एण्कासिते अकारगम्मि, ठव्वे पमिसेहणा हवति दुक्खं ।

रायनिपंतणगहणे, खिसणवावारणा दुक्खं ॥

भिक्षामटल आचार्यस्य यदकारकं तस्य तत् भिक्षार्थं निष्काशितं तस्मिन् अकारके रूढ्ये भिक्षार्थं निष्काशिने प्रतिषेधनं ममैतदकारकमन्यदेहीति वक्तुं लज्जितो भवति तु ख यदि पुनर्हंज्जां मुक्त्वा जणति तदाऽनन्तरं वक्ष्यमाणा गाथाद्वयोक्ता दोषास्तथा भिक्षामटल्याचार्यं राज्ञा मत्तवारणकस्थितेन दृष्टस्तत आचारयित्वा जणितो मम गृहे भिक्षा गृहीतः स प्रादः न कल्पते राजपिएरु इति एव निमन्त्रणानन्तरमग्रहणे राज्ञा जण्यते साधो! किं तव पतद्बद्धं समस्ति ततो दर्शितेऽन्तर्प्रान्तादिके वासिकादौ च राजा तत् दृष्ट्वा खिसनं कुर्यात् । तथा आचार्योऽव्यधिको प्रवेत्तः स चेत् ग्लानादिनिमित्तं शिष्यान् प्रतीच्छिकाश्च व्यापारयेत् तथा ध्यानादीनां योग्यमानयेति ते व्याधिकं ज्ञात्वा परिभवमुत्पादयन्तीति तेषां व्यापारणे तु खमेवति चारगाथासमासार्थः । प्रांप्रतमेनामेव विवररीर्षुर्हंज्जा मुक्त्वा अकारकरूढ्यप्रतिषेधने दोषास्तानेवाह ॥

जेणेव कारणेणं, सीसमिणं मुंढियं नदंतेण ।

वयणपरवासिणीं वि हु, न मुंढिया ते कहिं जीहा ॥

येनैव कारणेन हेतुना भदन्तेन गुरुणा तव शीर्षमिदं मुणिरुतं तेनैव कारणेन तव जिह्वाऽपि वदनगृहनिवासिनी ममैतदकारकमन्यदेहीति सुवाणा कथं न मुणिरुता येनैव माषते यथा ।

गयमागममि लोए, सीसा वि तहेव नस्स गच्छंति ।

सयमेव दुद्धजिब्भा, सीसे विणइस्सती केण ॥

गतागतोऽयं स्वजावतो लोकः पितृस्वभावः पुत्रोऽनुकरोतीति प्राचः ततो गतागमेऽस्मिन् लोके यथाऽऽचार्यो गच्छति चेष्टते शिष्या अपि तस्य तथैव गच्छन्ति वर्तन्ते त्वं च स्वयमेवेत्थं दुष्टजिह्वस्ततः केन प्रकारेण शिष्यान्विनेष्यसि शिष्यायिष्यसि नैव कथञ्चनेति । ततस्तेऽपि त्वत्सदृशा जविष्यन्तीति ।

पमिसेहंतमजोग्ग, अस्सस्स वि दुद्धं हवइ जिक्खं ।

सद्धाभंगचियत्त, जिब्भादोसो अवस्सो य ॥

अयोग्यमकारकं प्रतिषिध्यमानं महान्तमपगुणं करोति कं

नमित्याह कोऽसावपगुण इत्याह अन्यस्यापि साधोर्ल्लंजं भवति प्रैक्रे नैने यद्वा तद्वा गृह्णीत्यदानात् । तथा अकारकस्य प्रतिषेधने कस्या अपि महत्या श्रद्धाया भङ्ग अपरस्या (अत्रियस) अप्रीतिस्तनस्तद्वशादवर्णो जिह्वाटोप उत्पद्यते । सप्रति यदुक्त राजनिमन्त्रणाग्रहणस्त्रिसनमिति तत्र तदेव विमनमाह ।

पुण्यि अदत्तदाणा, अकीरिया इह उ संकलिस्संति ।

काऊण अतरायं, नेच्छंतिद्व वि दिज्जते ॥

आन्तप्रान्तादौ च दर्शिते राजा प्राह पूर्वमदत्तदाना यूय नत इहाकोविदा अदत्तज्ञा सन्त क्लिश्यन्ते । तथाच राजपिएह इत्यन्तराय कृत्वा इष्टमपि दीयमान प्रयत्नो नेच्छन्ति ।

गहणपमिसेहजुंजण, अजुंजणे चेव मासियं लहुयं ।

समणुएण अद्वजे वा, ग्विमेज्ज व मेहमादी य ॥

अकारकस्य प्रहणे सति यद्यन्ये साधुभि प्रतिषिध्यमानोऽपि हृङ्गे तदा ग्लानत्वमथ न भुङ्गे तदा अभोजने पाणिष्ठापनिका-दोषस्तत्र च प्रायश्चित्त मासिकं लघु । तथा यद्याचार्योऽल-ब्धिकस्तदा अमनोऽल्लाभे वा शैक्कादयः खिंसयुर्न किमपि क्वापि गतो लज्जते रिक्तमेतस्याचार्यत्वम् ।

वावग्गिया गिलाणा-दियाण (गेएहह) जोग्गंति ते तत्रो वेति तुब्जे कीम न गेएहह, हिंमंतात्रो सयं चेव ॥

आचार्यो द्वाचिहीनः सन् शिष्यान्प्रातीन्त्रिकांश्च व्यापारयेते यथा ग्लानादीना ग्लानप्राधूम्यं प्रवृत्तीना योग्य गृह्णीत न एव व्या-पारिताः सन्तो ब्रुवते यूय स्वयमेव हि एरुमाना ग्लानादिप्रायो-ग्य कस्मान्न गृह्णीत ।

एवाणाए परिभन्नो, वेति य दीसति य पामिस्सवं जे ।

आएह जाणमाणा, खिमंती एवमादीहि ॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण आज्ञाया परिजत्र उत्पाद्यते यथा य-दि यूय प्रायोग्य न लभध्वे वय कथं लप्स्यामहे एवमुक्ते याद्या-चार्यो ब्रूते आर्या उद्यमेन किं न द्रव्यते तत एवमुक्तं रुष्टा ब्रुवते दृश्यते खलु जे भवतां प्रतिहार्यं सानिदयमाचार्यन्व स्वयमेव-जानतः कस्मान्नानयत एवमादिनिरुद्धावचेर्वचने खिंसयन्ति हीलयन्ति । गतमकारकद्वारम् ।

व्याख्यारमाह ।

वाडो य माणसादी, दिट्ठतो तत्थ होति उत्तेण ।

डोजे य आजिओगो, विसे य इत्थीकए वा वि ॥

भिक्षामटतो व्याख्य श्वप्रभृतिकः कदाचिह्यगति तदा महत्य-पभ्राजना तत्र दृष्टान्तश्चित्रेण यथा उत्रमुपरि ध्रियमाण शोज-ने अथ पतितं तु न किमपि एवमाचार्योऽपि बहुभि परिवारि-तो गच्छन् शोभत तथा भिक्षाटनप्रवृत्तस्तु श्वादिपरिगृहीतो न किमपि । तथा प्रतिरूपवानाचार्यो भवतीति लोभेन गाथाया स-प्तमी तृतीयाथोऽज्जियोगो वशीकरण-स्त्रीकृत स्यात् । विष वा केन-चिन्प्रविष्टेन दीयत । एतदेवात्तरार्थं व्याचिख्यासुराह ।

मोएउ असमत्था, वद्धं रुद्धं च नच्चणं कुसिया ।

जुवतिकमणिज्जरूवो, सो पुण सव्वे वि ते सत्तो ॥

जुवतिकमनयिरुपतयाऽत्राकदोषमभावनाया अन्यथा बह-रू नर्त्तक नटाना नायक कुसिना मोचयितु न समर्थास्तेषां ता-

दृक्स्वजावात्स पुनर्युवतिकमनीयरूपस्तान् कुसितान्सर्वानपि के-नापि दोषेण बह्वान् रुद्धान्वा मोचयितु शक्तस्ततो यथा स प्र-यत्नेन रक्ष्यते एवमाचार्योऽपि रक्षणीयोऽन्यथा दोषस्तथा चाह ।

एमेवायरियस्स वि, दोमा पमिस्सवं च सो होइ ।

दिज्जवि स भिच्छुवासो, अभिजोगवसीकरणमादी ॥

एवमेव नर्त्तकस्येवाचार्यस्याप्यरक्षितस्य दोषा ज्वन्ति । तथाहि सोऽपि प्रतिरूपवान् भवति ततः कोऽपि जिघृषासको जिनप्रवचनप्रज्ञावनामसाहिष्णुर्विष दद्यात्स्त्री वा काचिद्रूपबुद्ध्या अभियोगं कुर्यात् वशीकरणादि वा प्रयुज्जीत यस्मादेते दोषास्त-स्मात्प्रयत्नेन रक्षणीयोऽन्यथा तदभावे गणस्याप्यभावाप-त्तिस्तथा चाह ।

नच्चणहीणा वनडा, नायगहीणा च रूपिणी वा वि ।

वक्कं व तुंरहीणं, न हवति एवं गणो गणिणा ॥

यथा नर्त्तनहीना नटा यथा नायकहीना रूपवती स्त्री यथा च वक्त्रं तुंरहीनं न भवति एव गणिनाऽऽचार्येण विना गणोऽपि न भवति तदेव व्याख्यारमाह । इदानीं गणचिन्ताद्वारमाह ।

लाभालाजप्पाणि, अकारके वाडवुक्कमादेसे ।

मेहखमए न नाहिंति, चिद्धतो नाहिंति न सव्वो ॥

केन पर्याप्तं लब्धं केन वा न लब्धमिति न ज्ञास्यति स्वयं भि-क्काटने परिश्रान्तत्वात्तथा अध्वनि मार्गे ये परिश्रान्ता समागमन-प्राधूम्यका तेषामिदं वाऽकारकं तथा बालान् वृक्षान् पुष्पां गतां-श्चादृशान् प्राधूम्यकान् तथा शैक्षान् कपकाश्च करणीयसाराकर-णतया न ज्ञास्यति । स्वयं भिक्षापरिश्रमणपरिश्रान्तत्वात् ति-ष्ठन् पुन सर्वान् यथोचित्येन ज्ञास्यति परिश्रमाज्ञावात् । गतं गणचिन्ताद्वारम् ।

अधुना वादिद्वारमाह ।

सोऊण गतं खिसति, पमिच्छिउच्चा य वादिपेद्धेइ ।

अत्यंति सत्थचित्ते, न होंति दोसा तवादी य ॥

भिक्षामटितु प्रवृत्ते आचार्ये वादी कोऽपि समागतस्तेन साध-व उक्ता क आचार्या साधुजिरुक्त भिक्षाटनाय गतस्ततः स भिक्षार्थं गतं श्रुत्वा खिंसति हीनयति एतावत्तस्य पाणिस्तस्य स स्वयं भिक्षामटति । ततः कणमात्रं प्रतीकृतं स आचार्य उच्चा-न्तः समागतस्तः समागतं दृष्ट्वा वादी प्रेरयति । स च परिश्रान्त-त्वाद्दुस्तरं दातुमसमर्थस्तिष्ठति । पुन स्वयंचित्ते दोषास्नापादय आदिशब्दासृषिनादिपरिग्रहो ज्वति तथा च सति न वादि-ना तस्य प्ररणं किं तु जयति । वादः समागतो भिक्षार्थं गत इति श्रुत्वा यदि गच्छेत्तदुपदर्शयति ॥

पागडिय माहप्पं, विष्ठाणं चेव सुहु ते गुरुणो ।

जइ सो विजाणमाणे, न वि तुब्भमणादितो हुंतो ॥

भिक्षार्थं गत इति ब्रुवाणैर्जवद्भिः सुष्ठु अतिशयेन माहात्म्यग-रिमद्वक्त्रेण विज्ञानं च प्रकटितम् । यदि सोऽपि ज्ञाता भवति न चैष युष्माकमनादतो जवेत् । अधुना " पमिच्छिउच्चा य वा-दि पिद्धेइ " इति व्याख्यानयति ।

न वि उत्तराणि पासइ, पासाणियाणं च होति परिचूतो ।

सेहादिभत्तगा वि य, दइ अमुहं परिणमंति ॥

स भिक्षाटनपरिश्रान्तः सन् न वि नैव उत्तराणि पश्यति परिश्रमेण बुद्धेः सव्यापादनात्तथा च सति स प्राश्निकानामपि

सभ्यानामपि पारेभूतो भवति ततो ये शैककादयो ये च भद्रका-
दयस्ते तन्मुख निरुत्तर दृष्ट्वा परिणमन्ति विपरिणाम प्रजन्ते ।
जिज्ञार्थमनन्दने पुनरिमे गुणा ।

सुत्तस्थाण गुणाणं, विज्जामंता निमित्तजोगाणं ।

वीसत्थे पइरिक्खे, परिजिणइ रहस्ससुत्ते य ॥

सुत्रार्थानां तथा विद्यानां मन्त्राणां निमित्तशास्त्राणां योगशा-
स्त्राणां च गुणनं परावर्त्तनं भवति । तथा विश्वस्तः सन् प्रतिरि-
क्ते विविक्ते प्रदेशे रहस्यसूत्राणि परिजयति अत्यन्तं स्वच्यस्तानि
करोति तस्मान्न भिज्ञार्थमदितव्यमाचार्येण गत वादिचारम् ।

इदानीमृच्छिमद्वारमाह ।

रम्भा वि दुवक्खरको, उवितो सव्वस्स उत्तमो होति ।

गच्छस्मि वि आयरितो, सव्वस्स वि उत्तमो होइ ॥

राज्ञा द्वयक्खरको दासो यद्यपि जात्या हीनस्तथाऽपि सस्था-
पित सन् सर्वस्याप्युत्तमो भवति । उत्तमत्वाच्च यथा न कश्चि-
न प्रेषणेन हिण्डाप्यते सोऽप्येष यथा तथा गच्छेऽप्याचार्यः स-
र्वस्याप्युत्तमो भवतीति स सुतरां भिक्षां न हिण्डापयितव्यः ।

रायामच्चपुरोइय, सेट्ठी सेणावर्ता तलवरा य ।

अभिगच्छंतायरिए, वहियं च इमं उदाहरण ॥

यथा तीर्थकरश्चाश्वकाले हिण्डमानोऽप्युत्पन्ने ज्ञाने देवेन्द्रा-
द्यभिगमाच्च हिण्डन्ते । एवमाचार्यानापि आचार्यपदस्थापिता-
न् राजा अमात्य पुरोहितः श्रेष्ठी सेनापति तलवराश्चाभिगच्छ-
न्ति ततस्तेऽपि भिक्षां न हिण्डन्ते । अन्यथा दोषस्तत्रेदमुदाहर-
ण तदेवाह ।

सोऊण य उवसंतो, मच्चो रम्भो तगं निवेदेइ ।

राया वितिए दिवसे, तइएऽमच्चो य देवी य ॥

राज्ञोऽमात्य आचार्यसमीपे धर्मं श्रुत्वा उपशान्तः स च राज्ञः
स्वकमाचार्यं निवेदयति । यथा गुणवानतीवाचार्योऽमुकप्रदेशे
निष्ठति ततो द्वितीयदिवसे राजा अमात्येन सह गत धर्मं
श्रुत्वा परितुष्ट आगतो निजाग्रमहिष्याः परिकथयति अमात्येना-
प्यामीयजायाया कथितं ततोऽमात्यो देवी च तृतीयदिवसे ध-
र्मश्रवणाय समागते आचार्यो जिज्ञार्थं गनस्ततः ।

सोउं पमिच्छिऊण, वगया अहवा पमिच्छणे खिसा ।

हिरुति होंति दोसा, कारण पमिवत्तिकुसलेहिं ॥

भिक्षार्थं गत इति श्रुत्वा ते हीलयित्वा गते । अथवा क्षणमात्र
प्रतीक्ष्य हीलयन्त्यौ गते । यदि वा यावदाचार्य आगच्छति
तावत्प्रतीक्षमाणे हीलयत । अथवा प्रस्विन्नशरीर परिगलत्प्र-
स्वेदमागन् दृष्ट्वा खिसतो यदि वा क्रमेण सुष्ठु कृत वन्दनं वा
सोम कथयतो वा परिश्रमेण न सुष्ठु वचनविनिर्गमस्तत उ-
त्थिते हीलयतो, यथा पिण्डोलक इवैष भिक्षामदति किमाचा-
र्यत्वमेतस्य । एते जिज्ञां हिण्डमाने दांपाः । यदि पुन कारणे
वक्ष्यमाणे भिक्षार्थं गतो भवेत् राजादयश्च तत्र गतास्ते च पृ-
च्छेयुः क गत आचार्यस्तत्र ये प्रतिपत्तिकुशलास्तैर्नैदं प्रतिवक्त-
व्यं भिक्षार्थं गत इति किंतु चैत्यवन्दननिमित्तं गत इति । यदि
राजादय आचार्यमागच्छन्त प्रतीक्षेरन् तदा येऽतीव दक्षा गी-
तार्थास्ते सुन्दर पानक प्रथमालिकां च सुन्दर कल्प चोलपट्टं
च गृहीत्वाऽऽचार्यस्य कथयन्ति । तत आचार्यो मुखहस्तपा-
दादि प्रक्षाल्य प्रथमालिका पानकं च कृत्वा अल्प प्रावृत्य पात्रा-
श्रन्यस्य समर्प्य तादृशवेधो वसतावानीयते यथाऽनास्था-

तोऽपि राजादिभिर्हीयते एष आचार्य इति । ततो वसतिं प्राप्तस्य
पादप्रोञ्जन् पादप्रमार्जनार्थमादाय साधव उपतिष्ठन्ति । पादप्र-
मार्जनानन्तर वसनेरन्तः प्रविश्य पूर्वरचितायां निषद्यायामुप-
विशति उपविष्टस्य चरणकल्पकरणाय कोऽपि साधुरुपदौकते
चरणप्रक्षालनानन्तर च सर्वे साधव पुरतः पार्श्वतः पृष्ठतो वा
किंकरभूतास्तिष्ठन्ति यथा राजा चकितस्तिष्ठति । एतदेवाह ।

कारणजिक्खस्स गते, वि कज्जमन्नं निवस्स साहिच्चा ।

निजोगनयनपदमा, कमादिधुवणं मणुष्साइ ॥

कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे समापतिते भैक्षस्य गतेऽप्याचार्ये नृ-
पस्यान्यत्कार्यं कथयित्वा प्रथमालिकादेर्नियोगस्य नयनं ततः
कमादिप्रक्षालनं ततो मणोःप्रथमालिकावितरणम् ।

कयकुरुकुय आसत्थो, पविसई पुव्वरइयनिसेज्जाए ।

पयया य होंति सीसा, जह चकितो होइ राया वि ॥

कृतकुरुकुच कृतकुलकुल आस्वस्थः प्रविशति प्रविश्य पूर्व-
रचितायां निषद्यायामुपविशति ततः पादप्रक्षालनसमीपोपवे-
शनप्रयतास्तथा भवन्ति यथा राजाऽपि चकितो जायते ।

अत्र परप्रश्नमाह ।

मीसा य परिच्छत्ता, चोयगवयणं कुटुंबिसामणिया ।

दिट्ठतो दंमिएण, सावेक्खे चैव निरेक्खे ॥

चोदकवचनमाचार्यं रक्षयित्वा शिष्या भिक्षायां प्रेषितास्तर्हि
ते त्यक्ताः । आचार्य आह । अत्र कुटुम्बिगृहप्रदीपनदृष्टान्त-
स्तथा दरिद्रकेन दृष्टान्तः सापेक्षो निरपेक्षश्चाचार्य एष द्वार-
गाथाक्षरार्थः ।

सप्रत्येनामेव विवरीषुः प्रथमतः “सीसा य परिच्छत्ता”

इति भावयति ।

वायादीया दोसा, गुरुस्स इतरेसि किं न ते होंति ।

रक्खयसिस्सच्चाए, हिंरुणतुद्धे असमता य ॥

घातादयो दोषा गुरोर्भवन्ति इतरेषां साधूनां किं तेन भवन्ति
भवन्त्येवेति ज्ञावः । ततो हिण्डने हिण्डनदोषे तुल्ये आत्मनो
रक्षा क्रियते शिष्याणां च त्याग इत्यसमता नेह समञ्जसमित्य-
र्थः । अन्यच्च ॥

दसविहवेयावच्चे, निच्चं अब्भुट्ठिया असदभावा ।

ते दाणिं परिभूआ-अणुज्जमंताण दंमो य ॥

दशविधे आचार्यादिभेदतो दशप्रकारे वैयावृत्येत्ये नित्यं सर्वका-
लमशठजावाः सन्तोऽभ्युत्थितास्ते सप्रति घातादिदोषान्पश्य-
न्निरपि जिज्ञाटने प्रेष्यमाणाः परित्यक्तास्तथा दशविधे वैयावृ-
त्ये नोद्यच्छन्ति ततस्तेषामनुद्यच्छतामाचार्यादिवैयावृत्याकरणे
यथाऽहं प्रायश्चित्तं दण्डो दीयते तदेव “सीसा य परिच्छत्ता”
इति भावितम् ॥

इदानीं कुटुम्बिसामणियेति दृष्टान्तं भावयति ॥

बुद्धीधनसुजगियं, कोछागारं रुज्जति कुमुंबिस्स ।

किं अम्ह मुहा देइ, केई तहियं न अस्सीणा ॥

एक कौटम्बिकः सकर्षकाणां कारणे उत्पन्ने वृद्ध्या काहान्तररू-
पया धान्य ददाति तथा च वृद्ध्या कौटम्बिकस्य कोष्टागाराणि
धान्यसुजृतानि जातानि । अन्यदा च तस्यैक कोष्टागारं वृद्धिधा-
न्यसुजृतं वह्निना प्रदीप्तेन दह्यते तत्र केचित्कर्षका विष्मापननि-
मित्तं तत्र प्रवक्ष्यमाने कोष्टागारे समागतास्तत्र केचित्कथयन्ति

किमेष कौटुम्बिकोऽस्माक मुधा ददाति येन वयं विघ्नापनार्थ-
मन्युद्यता भवामः ॥

एयस्स पन्नावेणं, जीवा अम्हेति एव नाकण ।

अस्ये उ समद्वीणा, विज्जाविण तेसि सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुम्बिकस्य प्रभावेण वयं जीवन्तः स्म
जीव अनुप्रत्ययः जीविता इत्यर्थः । एव ज्ञात्वा समादीनास्तत्र
समागता विघ्नापनाय च प्रवृत्तास्ततो विघ्नापिते कोष्टागारे स
कौटुम्बिकस्तेषां तुष्ट । ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥

जे उ हायागतं, करेसु तेसि अवहियं दिन्नं ।

दट्ठंति न दिणिणयरे, अकासगा दुक्खजीवी य ॥

ये विघ्नापने सहायकत्वमकार्षुस्तेषामवृद्धिः काष्ठान्तरवृद्धिर-
हित धान्य दत्तमितरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दध्वमित्युत्तरं
विधाय न दत्त ततस्ते अकर्षका सन्तो दुःखजीविनो जाता ।
एष दृष्टान्तः ॥

सांप्रतमुपनयमज्जिधित्सुराह ॥

आयरिय कुटुवी वा, सामाणियथाणिया जवे साहू ।

वावाहअगणितुद्धा, सुत्तथा जाण धन्नं तु ॥

आचार्यः कुटुम्बी इव कुटुम्बितुल्य इत्यर्थः । सामान्यकर्षक-
स्थानीयाः साधव आचार्यस्य जिज्ञातने वातादिभ्यावाधा अग्नि-
तुल्या सूत्रार्थान् जानीहि धान्य भान्यतुल्यान् ॥

एमेव विणीयाणं, करेति सुत्तथसंगहं येरा ।

हावेति उदासीणे, किलेसभागी यं संसारे ॥

एवमेव कौटुम्बिकदृष्टान्तप्रकारेण ये विनीतास्तेषां स्थविरा
आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वन्ति सूत्रार्थान्प्रयच्छन्ति यस्तदुदासी-
नस्तत्र ह्यापयन्तीति न प्रयच्छन्तीति ज्ञायः स चोदासीना वृत्त-
मानः केवलं सूत्रार्थयोग्यो भवति षष्ठेशभागी च संसारे जायते
गत आपनद्वारम् ।

सप्रति दक्षिणकट्टणन्त विभावयिषुविदमाह ॥

उप्पसकारणे पुण, जइ सयमेव सहसा गुरू हिंमे ।

अप्पाण गच्छमुज्जयं, परिचयती तत्थिमं नायं ॥

उत्पन्ने कारणे वक्ष्यमाणवृक्षणे यदि सहसा स्वयमेव गुरुरा-
त्मान गच्छमुभय च परित्यजति तत्र चेद वक्ष्यमाणं ज्ञातमुदा-
हरणम् । तदेवाह ।

सोउं परवलमार्यं, सहसा एकागिओ उ जो राया ।

निगगच्छति सो चयती, अप्पाणं रज्जमुभयं च ॥

यो निरपेक्षो राज्ये परवलमागतं श्रुत्वा वलवाहनान्यमेवयित्वा
सहसा एकाकी परवलस्य समुखो निर्गच्छति स आत्मान
राज्यमुभय च त्यजति वलवाहनव्यतिरेकेण गुरुरग्ने मरण-
भावात् । एवमाचार्योऽपि निरपेक्षं समुत्पन्नेऽपि कारणे सहसा
भिक्षामटन्नात्मान गच्छमुज्जयं च परित्यजति । उक्ता निरपेक्षद-
क्षिणकट्टणन्तज्ञावना ।

सप्रति सापेक्षदण्डकदृष्टान्तभावनामाह ।

सावेक्खो पुण राया, कुमारमादीहि परवल खवियं ।

अजिए सय पि जुज्झइ, उवमा एमेव गच्छे वि ॥

सापेक्षः पुन राजा प्रथमं कुमारदो न युक्त्या प्रेषयति ततः
कुमारादिभि परवलं क्षपयित्वा यदा कुमारं परवलं क्षपितं तदा
तस्मिन्नाजिते स्वयमपि राजा युज्यते एषोपमा गच्छेऽपि दृष्ट्या ।

आचार्योऽपि पूर्वं यतनां करोति तथाऽपि असस्तरणे स्थयमपि
हिएडते एव चात्मानं गच्छमुज्जय निस्तारयतीति ज्ञायः ।
सप्रति यैः कारणैराचार्येण जिज्ञार्थमदितव्यं तानि कारणान्याह ।

अप्पाणकक्खवासति. गेलसादेसमाइएसुं तु ।

संथरमाणे भइतो, हिंमेज्ज असंथरंतम्मि ॥

अध्वानं प्रपन्नः सार्थेन सममाचार्यो गच्छुस्तत्र चासस्तरणे
यदि सार्थिका आचार्यस्य गौरवेण प्रयच्छन्ति ततः स्थयमेवा-
चार्यो हिंरुते एव कर्कशेऽपि क्षेत्रे भाषमाथ तथा असति
सहायानामभावे को भिक्षामानीय ददातीति स्वयं हिंरुते ।
तथा ग्नाना बहवस्ततस्तेषां सर्वेषामपि गच्छसाधवः प्रयो-
ग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवा ग्नानप्रयोग्यमन्यः कोऽपि न सज्जेते
तत आचार्यो हिंरुते एवमादेशाः प्राघूर्षका आदिशब्दात्
वावृद्धासहपरिग्रहस्तेष्वपि प्रावनीयम् । एतेषु विषयेषु असस्त-
रति गच्छे नियमादाचार्यो हिंरुते अन्यथा प्रायश्चित्तसंभवा-
त्संस्तरति पुनर्भक्तो विकल्पित हिंरुते कदाचिन्न अन्युद्यत-
विहारपरिकर्म कुर्वन् हिंरुते शेषकाव नेत्यर्थः । एष द्वारगा-
थासंक्षेपार्थः । अत्र यदुक्तं सस्तरणे न हिंरुते इति तत्र सं-
स्तरण त्रिविधं जघन्य मध्यममुत्कृष्टं च तत्र जघन्यमधिकृत्याह ।

पंच वि आयरियादी, अत्थंतं जहणए वि संथरणे ।

एमेव संथरंतै, सयमेव गणं अरुति गामे ॥

जघन्येऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपे सस्तरणे पञ्चाप्याचार्योपाध्ययप्र-
वर्त्तिस्त्विगणावच्छेदिनस्तिष्ठन्ति जघन्येऽपीत्यपिशब्दः सभाव-
ने स चैतत्संज्ञायति । यदि तावत् जघन्येऽपि सस्तरणे प-
ञ्चाप्याचार्योद्यस्तिष्ठन्ति ततो मध्यमे उत्कृष्टे संस्तरणे नियमा-
पक्षभिरपि स्थातव्यम् । एवमपि जघन्येनापि सस्तरणेनास-
स्तरति गच्छे स्वयमेव मणी आचार्यो ग्रामे भिक्षामटति स च
प्रतिलोमपरिपाठ्या पर्यन्ते तथाहि जघन्येनापि असस्तरति प्रथम
गणावच्छेदको हिंरुते तथाऽप्यसस्तरणे स्थवरोऽपि हिंरुते
एवमप्यसंस्तरणे प्रवर्त्यते तथाप्यसस्तरणे उपाध्यायोऽपि त-
थापि चेन्न सस्तरति गच्छस्तत आचार्योऽपि ।

तत्र प्रथमत उत्कृष्टसस्तरणमाह ॥

मंडलगयामि सुरे, उत्तिष्ठा जाव पटवणवेला ।

ता एति जुत्तासेस-गया च उकोससंथरणे ॥

नजोमएरुत्तस्य मध्यगते सुर्ये मध्यह्ने इत्यर्थं जिज्ञार्थमवतीर्ष-
स्ततः पर्याप्तं हिंरुत्वा यावत् तृतीयपौरुष्या आदौ स्वाध्याय-
प्रस्थापनवेद्या तावत्संनिवर्त्तते एतदुत्कृष्टं सस्तरणम् । अथवा तृ-
तीयपौरुष्या आदौ स्वाध्यायप्रस्थापनवेद्यायां स निवर्त्तते एत-
दुत्कृष्टं सस्तरणम् ।

मध्यम जघन्य चाह ।

सप्पातो आगयाण, चउपोरिसि मज्झिमं हवति एयं ।

विसुयाविय मत्तादिणे, समतिऽत्थंतं जहणं तु ॥

मध्याह्नादारभ्य भिक्षार्थमवतीर्णानां पर्याप्तं हिंरुत्वा वसता-
वागतानां जुक्तानां सञ्ज्ञातः सञ्ज्ञाचूमित आगतानां यदि चतु-
र्थी पोरुषी अवगाहते एतत् मध्यमं सस्तरणं भवति । मध्या-
ह्नादारभ्य भिक्षामटित्वा जुक्त्या सञ्ज्ञाचूमित प्रत्यागतमात्रपुंवि
सुयावियसु, विशोधितेष्वस्तमये पुनर्दिने समति जघन्यं सस्त-
रणमवसातव्यं तदेवमुक्तं जघन्यादिज्ञेदभिन्नं सस्तरणम् ।

इदानीं मध्याह्नद्वारव्याख्यानार्थमाह ॥

अप्पाणेऽसंथरणे, अकोवियाणं विकरणं पलवे ।

एमेव कक्खरुम्मि वि, असति चि सहायगा नत्थि ॥
भत्थानि सार्थेन समं व्रजतामसस्तरणे भिक्खार्थमाचार्यो हि-
एमते । अथवा ते सहाया अकोविदाः सार्थे च प्रज्ञम्भान्यविक-
रणीकृतान्यस्त्वामीकृतानि दृश्यन्ते तत आचार्य स्वयमेव हि-
एमानस्तानि विकरणानि कृत्वा सन्निवर्त्तने अथवा ददनामु-
पदेश ददाति विकरणानि कृत्वा ददध्वमिति । एवमकोविदानां
सहायानां प्रावे प्रलम्बविकरणानिमित्तमाचार्यो गच्छति । एव-
मेव कर्कशेऽपि क्षेत्रे भिक्खार्थं गमनमाचार्यस्य भवति तत्रान्यस-
स्तरणे अकोविदाः सहायप्रावे प्रज्ञम्बविकरणाय वा गच्छन्तीति
तथा असतीति नाम सहायका न सन्ति ततः स्वयमेव जि-
क्कामदति ।

बहुया तत्थ तरंता, अह गिह्वाणस्स सो परं लहति ।

एमेव य आदेसे, सेसेसु विजासवुद्धीए ॥

बहवस्तत्र गच्छे अतरतो ग्लानास्ततः सर्वेषां गच्छसाधवः प्रा-
योग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवा ग्लानस्य परः प्रायोग्यमन्या न
लभते किंतु स एवाचार्यस्ततः स हि एडते । एवमेवाददेशेषु प्र-
स्थानकेषु शेषेषु च यावद्वृत्तासहेषु विभाषा विनापण तच्च बु-
द्ध्या कर्त्तव्यं तथैव यथादेशादयो बहवः सर्वेषां साधवः कर्तुं
न शक्नुवन्ति यदि वा स एवादेशादिप्रायोग्य लभते नान्य को-
ऽपि ततः स हि एरुते ।

सप्रति " सथरमाणे मइओ इति " व्याख्यानयति ।

अब्भुज्जयपरिकम्मं, कुणमाणो जा गणं न वोसिरिति ।

ताव सयं सो हिंसइ, इति भयणे संथरंतम्मि ॥

अन्युद्यतविहारपरिकर्मं कुर्वन् यावत् गण न व्युत्सृजति ता-
वत्स्य स आचार्यो हि एमते इत्येषा भजना सस्तरति गच्छे ।

अप्पाणादिसुवेहं, मुहसीलत्तेण जो करेज्जाहि ।

गुरुगा य जं च जत्थ व, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥

अध्वादिषु अध्यकर्कशादिप्यसस्तरति गच्छेत् सुखशीलत्वेन
सुखमाकाङ्क्षमाण आचार्योऽहमित्यालम्बनमाधाय य उपेक्षा-
माचार्यं करोति जिक्का न हि एरुते इत्यर्थस्तस्य प्रायश्चित्त च-
त्वारो गुरुका । यच्च तत्र वा अनागाढपरितापनादि साधवः
प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्त तस्मात्सर्वप्रयत्नेना-
ध्वादिप्यसस्तरणे जिक्काटन कर्त्तव्यम् ।

साप्रतमसस्तरणयतनामाह ।

असती पमिलोमं तु, सगामे गमणदाणसहेसु ।

पेसति विंतिए दिवसे, आयज्जइ मासियं गुरुर्यं ॥

असति अवमौदर्यादिना गच्छमसस्तरणाभावे प्रतिलोमगणा-
वच्छेदकादारभ्य प्रतिकूलगमनमवसातव्यं तद्यथा प्रतिवृषभादि-
नाऽसस्तरणे गणावच्छेदकं प्रतिवृषभादिभिः मह हि एडते तथा
प्यसस्तरणे स्वविरोऽपि तथा प्यमसस्तरणे प्रवर्त्तकोऽपि तथा-
प्यसस्तरणे उपाध्यायोऽपि तथाचैत्र सस्तरति तर्हि स्वग्रामे
दानश्राद्धेषु कुलेष्वान्यपि गृहाणि । तथा केनापि साधुना कस्मिंश्चि-
त्कुले ग्लानप्रायोग्य किमपि द्रव्यं याचितं परं न लब्धम् । अथवा
तद्रव्यं तस्मिन्गृहे प्रभूतमस्ति अन्यत्र च न विद्यते तत्र यदि द्वि-
तीयं दिवसे तस्मिन्कुले येन न लब्धं तमेवाचार्यं प्रेषयति ततो
गुरुक मासिक प्रायश्चित्तम् । तस्मिन् कुले प्रतिलोमं प्रेषयति ।
तद्यथा प्रथम गणावच्छेदकः प्रेष्यस्तेनालब्धे स्थविग्ननेनाप्य-

लब्धे प्रवर्त्तकस्तेनाप्यलब्धे उपाध्यायस्तेनाप्यलब्धे स्वयमा-
चार्यो व्रजति । यदि वा स गृहप्रभुर्यस्य गौरव करोति स
प्रेषयितव्यः ।

सांप्रतमस्या एव गाथायाः पूर्वार्द्धं भाषयति ।

गणावच्छेदओ पुव्वं, ठवणकुल्लेसुं व हिंसइ सगामे ।

एवं येरपवित्ती, अभिसेयं गुरुर्यपमिन्नोमं ॥

पूर्वं गणावच्छेदकः स्वग्रामे स्थापनाकुलेषु हि एडते एवं गणा-
वच्छेदकादारभ्य प्रतिलोमं यत्तव्यं तद्यथा असस्तरणे स्थविग-
ऽपि हि एडते तथाऽप्यसस्तरणे अभिवेक उपाध्यायस्तथापि स-
स्तरणाभावे गुरुपि । अधुना " पेसति विंतिए दिवसे " इत्यादि
भाषयति ।

ओभासिय पडिसिच्चं, तं चेव न तत्थ पट्टवेज्जा उ ।

पमिलोमं गणिमादी, गारव जत्थ वा कुणति ॥

केनापि साधुना ग्लानप्रायोग्य किमपि द्रव्यं कस्मिंश्चित्कुले
अवभाषितं याचितमित्यर्थः । तच्च गृहप्रभुणा प्रतिषिद्धमन्यत्र
तत् द्रव्यं नास्ति किं तु तस्मिन्नेव गृहे ततो द्वितीयदिवसे तत्र
कुले न तमेव प्रेषयेत्किं तु प्रतिलोमं गणावच्छेदकप्रभृतिक
यथोक्तं प्राक् यत्र वा गृहप्रभुर्गौरव करोति त वा प्रेषयेत् ।

तित्थकर चि समत्तं, अहुणा पावयणनिज्जरा चेव ।

वच्चंति दो व समगं, दुवाइसगं पवणं तु ॥

तीर्थकर इति द्वार समाप्तम् । अधुना प्रवचनं निज्जरा चति द्वे
अपि द्वारे समकमेककालं व्रजतस्तत्र प्रवचनं नाम चादशाङ्ग-
गणिपिटकम् ।

तं तु अहिज्जंताणं, वेयाव्वे उ निज्जरा तेसिं ।

कस्म भवे कैरिसिया, सुत्तत्थे जहोत्तर वलिया ॥

ननु द्वादशाङ्गं गणिपिटकमधीयानानां वैयावृत्ये क्रियमात्रे
तेषां वैयावृत्यकराणां महती निज्जरा तदावरणीयरथ कर्मणः क्ष-
यकरणात् महापर्यवसानः पुनरन्यनवकर्मबन्धाभावात् । अत्र
शिष्यः प्राह । कस्य कीदृशी निज्जरा भवति । आचार्यः प्राह
सूत्रे अर्थे च यथोत्तरं वलिका एतदेव विभावयिषुराह ।

सुत्तावस्सगरादी, चोइसपुव्वाण तह जिणारं च ।

जावे सुद्धमसुच्छ, सुत्तत्थे मंरुत्ती चेव ॥

सूत्रमावश्यक्यादि यावच्चतुर्दशपूर्वाणि एतद्द्वारा यथो-
त्तरं महती महत्तरा निज्जरा एवमर्थेऽपि ज्ञावनीयम् । तथा
जिनानामप्येवविधाजिनप्रवृत्तीनां यथोत्तरं वदिका निज्जरा ।
इयमत्र ज्ञावना । एक आवश्यकसूत्रधरस्य वैयावृत्यं करोति
अरुते दशवैकात्रिकसूत्रधरवैयावृत्यकरस्तस्य आवश्यकरा-
न्महती निज्जरा एवमप्रश्ननाशस्तननरश्रुतधरवैयावृत्यकरादुप-
र्युपरितरश्चतुर्दशवैयावृत्यकरो यथोत्तरं महानिर्जस्तावदवसेयो
यावत्त्रयोदशपूर्वधरवैयावृत्यकराच्चतुर्दशपूर्वधरवैयावृत्यकरो -
महानिर्जरा । एवमर्थेऽपि भावनीयं तदुभयचिन्ताया ग्लान-
वैयावृत्यकरादर्थवैयावृत्यकरो महत्किं नवर निश्चायकल्प-
व्यवहारार्थधराणां वैयावृत्यकरो महानिर्जरा । तथा श्रुतज्ञा-
निवैयावृत्यकरः । तथा ज्ञाव परिणामस्तस्मिन् शुद्धे अशुद्धे च
तदनुवारेण निर्जरा प्रवर्त्तते । तथा सूत्रार्थं युगपच्छिन्त्यमानं यथो-
त्तरं वदिका । तथा मरुह्नीसूत्रार्थविधित्वं विचारणीया । इहा-
चार्यं प्रस्तुतस्तमधिकृत्य वैयावृत्यकरणे महती निज्जरा तामाह ।

पावयणी खलु जम्हा, आयरितो तेण तस्म कुणमाणो
महतीए निज्जराए, वड्ढति साहू दमविहम्मि ॥

पावयणी प्रावचनिक खलु यस्मादाचार्यस्तेन तस्य वैयावृत्यकु-
र्वन् साधुर्महत्यां निर्जरायां वर्तते एव दशविधेऽपि वैयावृत्य
महा नर्जराकत्व भावनीयम् । सप्रति यदुक्तं प्रावे गुद्धे अशुके
च तदनुसारतो निर्जगं जवतीति तत्र भावो व्यवहारतः शुक्-
वस्तुप्रजावान्भवतीति प्रतिपिपादयिषुगद् ।

जारिसगं जं वत्थु, सुयं च निहं च ओहिमादीण ।

तारिमतो च्चिय भावो, उप्पज्जति वत्थुतो जम्हा ॥

आदश यद्वस्तु प्रतिमादिक यस्य यावच्च श्रुत त्रयाणां चावृ-
द्धादीनां स्वस्थाने ये विशेषास्तस्माद्वस्तुन श्रुताद्विशेषात्तादृशा-
न् प्राव परिणामो व्यवहारस्तादृश उत्पद्यते तदनुसारेण च
निर्जगं तत् पूर्वं श्रुतचिन्तायामर्थचिन्तायां तथा जिनानां च य-
थोत्तरं बलिका निर्जरोक्ता । तथा चैवमेव व्यवहारनय प्रति-
पिपादयिषुगद् ।

गुणजूड्डे दव्व-म्मि जेण मत्ताहियत्ताणं जावे ।

इति वत्थुतो इच्छति, व्यवहारो निज्जरं विउल्लं ॥

यत् यतो गुणजयिष्ठ इत्य ततस्तस्मिन् येन कारणेन मात्रा-
धिक्यं परिणाम इति अस्मान्कारणात् वस्तुन प्रतिमाश्रुतादे-
र्यथोत्तरं गुणजयिष्ठात् विपुला निर्जगमिच्छति व्यवहारो व्यव-
हारनयः । एतदेव स्पष्टतरं ज्ञावयति ॥

दक्खणजुत्ता पम्मा, पासादीया समत्तलंकारा ।

पट्हायति जह व माणं, तह निज्जरं मो वियाणाहि ॥

या प्रतिमा लक्षणयुक्ता प्रसादो मनःप्रसादकारणं समस्ताल-
कारा ता पश्यतो यथैव मनः प्रहादते तथा निर्जगं विजानाहि
यथाधिकं मनः प्रहृष्टस्तता महती निर्जरा मन्दमनःप्रहृष्टौ तु
मन्देति भावः ॥

मुयवं अतिमयजुत्तो, सुहोचितो तह वि तत्रगुणजुत्तो ।

जो सो मणप्पसातां, जायइ सो निज्जरं कुणनि ॥

श्रुतवानेष अत्राप्यनेकं ज्ञेयस्तथा अनिशययुक्ताऽवध्याद्यनि-
शयोपेतोऽत्राप्यवध्यादिविषये बहवस्तर्कमविशेषा सुखोचि-
तोऽपि तपसि स बाह्यान्त्यन्तरे गुणं ज्ञानादौ उद्युक्तस्तपोगु-
णाद्यन्त इत्येव योऽनौ यादृशो मनः प्रसादो मनः प्रसन्तिपरिणा-
मो जायते स तादृशी निर्जरा करोति । तस्माद्वस्तुनो निर्जरेति
व्यवहारनयः । तदेवमुक्तं व्यवहारनयमनम् ।

अधुना निश्चयनयमतमाह ।

निच्छयतो पुण अप्पे, जस्म वत्थुम्मि जायते भावो ।

तत्तो सो निज्जगो, जिण्णोयम सीहआहरण ॥

निश्चयत पुनरप्येव महागुणा गुणान्तर्गतानि गुणेऽपि व-
स्तुनि यस्य जायते तीव्रं शुभं प्रावस्तस्मान्महागुणतरविषय-
भावयुक्तात् स हीनगुणविषयनीवशुभभावो निर्जरा महानि-
र्जरतरं सद्भावम्यानीव शुभत्वात् । अत्र जिनगातम-
निहं उदाहरणम् । तच्चैवम् " निविट्ठत्तणे भयवया वरुमाण-
सामिणा सीहो निहतो, अधिनि करेइखुदुग्गेण निहतो हसि-
नि परिजवतो मोयमेण मारहिच्चणेण मणुसामिनो मा अधि-
सि करेह तुम पसुमीहो नरसीहण मारियस्स तुज्ज को परिभ-
धो एव मो अणुसामिज्जतो मनो । ननो मसार ममिरुण भय-

वतो वरुमाणसामिस्स चरमतिथगरभावे रायगिहे नयरे क-
विलस्स वमणस्स य वरुणो जातो सो अणुया समोसरणे आ-
गतो जयवत दट्टण धमधम्मोइ । ततो जयवया गोयमसामी पे-
सितो जहा उवसामेह ततो गतो अणुसासितो य जहा एस
महप्पा तित्थकरो एयम्मि जो परिनिवसति सो डुग्गइ जाति ।
एव सो उवसामितो तस्स दिक्खा गोयमसामीणा दिग्गा ।

एतदेवाह ।

सीहो तिविट्ठनिहतां, भमिउं रायगिहं कविलवकुत्ति ।

जिणवरकट्टणमणुवमम, गोयमोवस मे दिक्खा य ॥

सिंहस्त्रिपुष्टेन निहतः ससारं जामित्वा राजगृहे कपिलस्य ब्रा-
ह्मणस्य वटुकोऽभूत् जिनस्य वीरस्य कथनं तथाऽपि तस्यानु-
पशमो गौतमेन चानुशासने कृतेऽभूत् उपशमो दीक्षा च । अत्र
भगवदपेक्षया हीनगुणेऽपि गौतमं तस्य गुरुपरिणामो जायते
इति महती निर्जराऽभवदिति ।

सप्रति 'सुत्तये' इत्यस्य व्याख्यानमाह ।

सुत्ते अत्थे तदुज्जए, पुत्तिं जणिआ जहोत्तरं वड्ढिया ।

मंरुद्धिए पुण भयणा, जइ जाणइ तत्थ जूयत्थं ॥

सूत्रे अर्थे तदुज्जयस्मिन् स्वस्थाननिर्जरा पूर्वं यथोत्तरं वड्ढिका
वड्ढवती जणिता । सप्रति पुन सूत्रार्थतदुज्जयेषु युगपच्चिन्त्य-
मानेषु यथोत्तरं निर्जरा बलवती । साप्रत 'मंरुद्धी चैवत्ति' व्या-
ख्यानार्थमाह (मंरुद्धीए पुण इत्यादि) मंरुद्ध्यां पुनर्भजना वि-
कल्पना यदि जानाति तत्र मंरुद्ध्यां ज्ञेयार्थं सद्भूतमर्थं तदा
स महानिर्जरकः । इयमत्र भावना मंरुद्ध्यां पठन्ति पाठय-
न्ति च तत्रावश्यकानि पठतां यथोत्तरं पठतां वड्ढिका । अथ
जानानि वैयावृत्यकरो यथाऽधस्तनसूत्रपाठको ज्ञानादिभिर्गु-
णैरधिकतरस्ततोऽधस्तनश्रुतवाचकस्य वैयावृत्यकरणे महती
निर्जरा ददतां मध्ये य उपरितनश्रुतवाचक स ज्ञानादिभिरधिक-
तर इति तद्वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा । अथ जानाति वैया-
वृत्यकरो यथाऽधस्तनश्रुतवाचको ज्ञानादिभिरधिकतरस्ततोऽ-
धस्तनश्रुतवाचकस्य वैयावृत्यकरणे वड्ढवती निर्जरा वाचकप्रा-
तीच्छिकानां मध्य यो वाचकस्तद्वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा
अथ वैयावृत्यकरो जानात्येव प्रातीच्छिक आचार्या वाच्यते
तत्प्रत्युज्जानमात्रं यावता सर्वमेतस्यायाति सूत्रतोऽर्थतश्चा-
धिकतर इति तदा तस्य प्रातीच्छिकस्य वैयावृत्यकृते महती
निर्जरा । इह सूत्रेऽर्थे तदुभये च यथात्तरं वड्ढवती निर्जरेत्युक्तम्
तत्र यथोत्तरं निर्जराया बलवत्ता भावयति ।

अत्थो उ महट्ठित्तो, करणेणं घरस्म निप्पत्ती ।

अब्भुट्ठाणे गुरुगा, रणो याणे य देवी य ॥

दृष्टान्तं सूत्रात् केवलात् अर्थाद्वा स सूत्रार्थो महर्द्धिकः किं
कारणमिति चेत् उच्यते । अत्र कृतकरणेन गृहस्य निष्पत्ति
इत्यत्र सूत्रार्थं स सूत्रो महर्द्धिकः सूत्रमगमक्यामाचार्यादय
प्राधुर्भूतप्रभृतीनामन्युत्थानं कुर्वन्ति अर्थमण्डल्या पुनर्यस्य
समीपे अनुयोगं श्रुतवान् तमेकं मुक्त्वा अन्यस्य दौक्षागुरो-
रन्युत्थानं चत्वारो गुरुका प्रायश्चित्तं तत् सूत्रार्थो वर्तमानः
अत्रार्थे राज्ञः ज्ञानवाहनस्य याने निर्गमने देवी दृष्टान्तः । एष
गाथद्विरार्थः ।

साप्रनमेनामेव धिवरीपु कृतकरणेन गृहस्य

निष्पत्तिरिति दृष्टान्तं भावयति ।

अश्वसेस

आराहितो नरवती, तिहि उ पुरिसेहिं तेसि संदिसति ।

अमुयपुरे सयसहसस, घरं व एएसि दायव्वं ॥

पट्टग घेत्तूण गतो, उंभियं वितियो उ तइओ उभय ।

निष्फलगा दोणि तहिं, मुद्रापट्टे उ सफलो उ ॥

एकं नरपतिस्त्रिजि पुरुषैराराधितस्ततः पण्डितुष्ट स नरपति-
स्नेपां प्रत्येकं सदिशति । यथा अमुकपुरे सुन्दर गृहं शत सह-
स्रं च द्वाभिराणामिन्धेषां प्रत्येकं दातव्यमिति तत्रैकोऽमु सदेशं
पट्टके गृहीत्वा ह्येखयित्वा गतो द्वितीयः (उण्णिका) मुद्रां
गृहीत्वा गतस्तृतीय उभय पट्टके ह्येखयित्वा गतस्तत्र येन
पट्टकतद्व्यतिरेकेण मुद्राप्रतिविम्बमात्रं गृहीतं तौ द्वावपि निष्फलो
जातौ । तथाहि ते त्रयोऽपि तत्र गतास्तत्र य आयुक्तस्तस्य
समीपमुपागता । पट्टकं मुद्रामुजय च दर्शयन्ति तत्रायुक्तेन प्र-
थमो ज्ञातिनां मुद्रां न पश्यामि कथं ददामि द्वितीयो ज्ञातिनां
जानामि राज्ञो मुद्रां न पुनर्जानामि राज्ञः सदेशं किं दातव्य-
मिति । एव तौ निष्फलो जातौ यस्य तृतीयस्य मुद्रा पट्टकद्वय-
सं सफलस्तस्यायुक्तेन यथाङ्गसदानात् एव दृष्टान्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ।

एवं पट्टगसरिसं, मुत्त अत्थो य उंभियट्टाणे ।

उत्सगववायत्थो, उभयसरिच्छेय तेण वट्ठी ॥

एवमुना प्रकारेण पट्टकसदृशं पट्टकस्थानीयं सूत्रम् उण्णिका
मुद्रा तत्स्थानीयोऽर्थ उत्सर्गापवादस्य उभयसदृशस्तेन श्री
तस्योपनयस्य ज्ञात्वात् ।

संप्रति 'अञ्जुछाणे गुरुगा' इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

मुत्तस्स मंरुलीए, नियमा उट्ठति आयरियमाट्ठी ।

मुत्तूण पवायतं, न उ अत्थे दिक्खाण गुरु पि ॥

सूत्रमण्डल्या वाचयन्त आचार्यादय आचार्योपाध्यायप्रभृतय
प्रचूर्णकादीनामागच्छता सर्वेषामपि नियमादुत्तिष्ठन्ति अञ्जुत्था
न कुर्वन्ति अर्थमण्डल्या पुनरुपविष्ट सन् यस्य समीपेऽनुयो-
गं श्रुतस्तमेकं प्रवाचयन्त मुक्त्वा अन्य दीक्षणगुरुमपि नाञ्जु-
त्तिष्ठन्ति यद्यञ्जुत्तिष्ठन्ति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।
श्रोतारोऽपि यथाचार्ये अनञ्जुत्तिष्ठन्त्युत्तिष्ठन्ति तदा तेषाम-
पि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकं यदि पुनर्यस्य समीपेऽनुयोगं श्रुतवान्
तस्य नाञ्जुत्तिष्ठति तर्हि तदाऽपि तस्य चतुर्गुरुकम् । अत्र द-
ष्टान्ता राज्ञो देवः त ज्ञाययति ।

पतिलील कमेणी, नोड्डिया सानवाहणं ॥

पुढवी नाम सा देवी, सो य रुद्धो तहिं निवो ॥

राज्ञः शा (जि) तवाहनस्य पृथिवी नाम अग्रमहिषः । अन्यदा सा
क्वापि निर्गते राज्ञि शेषाभिरन्तःपुरिकाभिर्देवीभिः सपरिवृता
आतवाहनधेयमाश्रय राज्ञः आस्थानिकायामुपपत्तिर्द्विधा विरुद्ध्य-
मानाऽस्ति । राजा प्रत्यागतः प्रविष्टस्तस्मिन्प्रदेशे सा च पति-
द्विधां कुर्वन्ती पृथिवी नाम देवी शान्तवाहनराजानमायान्तमपि
दृष्ट्वा नोत्थिता तस्या अनुत्थाने शेषा अपि देव्यो ना न्युत्थितव-
न्त्यस्तं स वृषो राजा तत्र वृषो व्रते त्वं तावन्महादेवी ततो म-
हादेवात्प्रेतना न्युत्थिता गता किं त्वया वारिता यन्नाम न्युत्थानम-
कार्युस्तता न सुन्दरमेतदिति ।

ततो एं आह सा देवी, अत्थाणीए तवाणहा ।

दासा वि सामियं एतं, नोड्डंति आने पत्थिव ॥

ततो राजोत्थनन्तरं सा पृथिवी नाम देवी राजानमाह ।
तवास्थानिकायामुपविष्टा दासा अपि नाथाः सपुर्णगुणा पा-
थिवमपि स्वामिनमागच्छन्त नाञ्जुत्तिष्ठन्ति तवास्थानिकाया
प्रजं व एवैषः । तथाहि ।

तुंवावि गुरुणो मोत्तुं, न वि उट्ठेमि कस्सड ।

न ते लीला कया होंती, उट्ठती हं म तोसितो ॥

त्वमप्यस्यामास्थानिकायामुपविष्टा गुरुन् मुक्त्वा नान्यस्य क-
स्यापि महीयसोऽञ्जुत्तिष्ठसि अहमपि तवास्थानिकायां त्वदीया
लीलां धरन्ती समुपविष्टा ततो न सपरिवाराऽञ्जुत्थिता यदि
पुनस्ते तव लीला न कृता स्यात्ततोऽहमञ्जुत्तिष्ठेयमित्येव राजा
देव्या तोषितः । एवमत्रापि तीर्थकरस्थानीय आचार्योऽर्थमण्ड-
ल्यामुपविष्टः सन् न कस्याप्यञ्जुत्तिष्ठति ॥

अमुमेवार्थं गौतमदृष्टान्तेन दृढयति ।

कहं ते गोथमो अत्थ, मोत्तुं तित्थगरं मयं ।

न वि उट्ठेइ अन्नस्स, तग्गयं चेव गम्मति ॥

न खलु भगवान् गौतमोऽर्थं कथयन् स्वकमान्मीय तीर्थकर
मुक्त्वा अन्यस्य कस्यापि उत्तिष्ठति अभ्युत्थानं कृतवान् नऽत
चेदानीं सर्वैरपि गम्यन्ते तदनुष्ठितं सर्वमिदानीमनुष्ठेयते ततोऽ
र्थं कथयन् न कस्याप्युत्तिष्ठेत् ।

संप्रति श्रवणविधिमाह ।

सोयव्वे उ विट्ठी पुण, अव्वक्खेवादि होड नायव्वो ।

विक्खेवमि य दोसा, आणादीया मुण्णेयव्वा ॥

श्रोतव्ये पुनर्य विधिरव्याक्रेपादिर्भवति ज्ञातव्य आदिशब्दा-
च्छिकथादिपरिग्रहस्तद्व्याक्रेपे पुनराज्ञातव्यः । आज्ञानवस्थामि-
थ्यात्वाधिराश्वनारूपदोषा ज्ञातव्याः । अत्र एवाञ्जुत्थानमपि न
क्रियते तस्मिन्सति व्याक्रेपादिसंभवात्तथा चैतदर्थमेव द्वारगा-
थाद्वयेनाह ।

काउस्सग्गे विकखे-वया य विकहा वि सोतिया पयते ।

उवणय वाउलणा वि य, अव्वेवो चेव आहरण ॥

आगेवणा परूवण, उग्गह निज्जरा य वाउलणा ।

एणहं कारयोहिं, अञ्जुछाणं तु पभिकुड्ड ॥

अनुयोगारम्भनिमित्तं कारयोत्सर्गं कृते षष्ठे. कारणैरञ्जुत्थान
प्रति कुष्टं निराकृतम् । कै कारणैरत आह । " दिक्खेवया य
इति ' व्याक्रेपस्य व्याक्रेपशब्दस्य ज्ञातं प्रवृत्तिनिमित्तं व्या-
क्रेप इत्यर्थः । अञ्जुत्थाने क्रियमाणे व्याक्रेपो भवति व्याक्रेपाच्च
विकथा चतुर्विधा प्रवर्तते तत्प्रवृत्तौ चेन्दिशेर्मनसा विश्रात-
सिका सयमस्थानप्रावनमिति भावः । तस्मादञ्जुत्थानमकुर्वन्
प्रयत्नं शृणुयात् प्रयतो नाम कृताञ्जलिप्रग्रहो दृष्ट्वा सूरिमुखार-
विन्दमवेक्षमाणो बुध्यपयुनस्तथाऽञ्जुत्थाने क्रियमाणे उपन-
यस्य विषये व्याकुलना उपनयः कस्याप्यर्थं न क्रियतः । उप-
नयग्रहणमुपपन्नं तत्र यद्ग्रहणं जातं तन् व्याकुलनात् भ्रश्यति
पृच्छा वा कर्तुमारब्धा विस्मृतिमुपयाति काहो वा व्याख्यानस्य
ब्रूयतीति । तथा निरन्तरमविच्छेदेन ज्ञापमाणेऽस्य शृण्वतो
महान्व्याक्रेपस्तीव्रशृङ्गपरिणामरूपो जायते अञ्जुत्थानं च तद्व्य-
घातस्तथा च सति कुञ्जपणिनामभवतो योऽवध्यादिज्ञातः स-
ज्ञाप्यते तस्य विनाशोऽत्रार्थं चाहरणं ज्ञातं वक्तव्यम् । तथा
आरोपणाया प्रायश्चित्तप्रकरणे क्रियमाणे अञ्जुत्थाने व्याघा-
तो भवति, व्याघाताच्च सस्यगच्छो ग्रहणं न भवति न खलु

व्याक्रिमोऽवग्रहीतु शक्नोति किं त्वव्याक्रित इति प्रतीतमेतत् ।
तथाऽप्युत्थाने क्रियमाणे व्याकुलना तत् । सम्यक् भुनोपयोगा
न भवति तदज्ञानाच्च ज्ञानावरणीयस्य कर्मणो न निर्जरा । ए-
तै कारणैरभ्युत्थानं प्रतिकुष्टम् ।

माप्रतमेतदेव गाथाद्वयं विवरीषु प्रथमतः " कावस्सगो
विक्खेवया य " इति ज्ञापयति ॥

उच्चारियाणं नंदीए, विक्खेवे गुरुतो जवे ।

अपसत्थं पसत्थे य, दिट्ठंतो इत्थिजावका ॥

अनुयोगारम्भार्थं कायोत्सर्गे कृते नन्द्यां कृत्वा नपञ्चकरूपाया-
मुच्चारितायामभ्युत्थानेनान्येन वा प्रसारेण यो व्याक्रेष करो-
ति तस्य प्रायश्चित्तं गुरुको मासस्तस्माद् व्याक्रेषो न कर्त्तव्यः ।
अत्राप्रशस्तं व्याक्रेषकरणे प्रशस्तं च व्याक्रेषकरणे दृष्टान्ता
इति ज्ञापयति । इत्थी च शास्त्रीनां ज्ञापकाश्च । तत्राप्रशस्तं प्रात-
पादयति ॥

जहं सालिं लुण्णवैतो, कोइ अत्थारिण्हि उ ।

सेयं हत्थि तु दावडं, धाविया ते य मग्गओ ॥

न ज्ञना अहं सालीओ, वक्खेवेणोव तेण उ ।

वक्खेवावरयाणं तु, पोरिसीए व जज्जइ ॥

यथा कोऽपि कुटुम्बी निजे क्षेत्रे "अत्थारिण्हि तु" ये मूल्य-
प्रदानेन शालिलवनाय कर्मकं क्षेत्रे लिप्यन्ते ते आस्तारिका-
स्त्रैर्लाव्यन्कथमपि सप्ताङ्गप्रतिष्ठितं श्वेतमारण्यहस्तिनमागन्
दृष्ट्वा दर्शयति तद्दर्शनं च ते हस्तिनो मार्गं पृष्ठुनो धावताः ।
आगतैरपि हस्तिनो रूपेण क्षिप्तैर्हस्तिरूपं वर्षयन्ति तेन व्याक्रे-
षेणा ते शालयो न लूना एवमिहापि अभ्युत्थानेन व्याक्रेषरता-
नां पौरुषीभक्ता जवति । व्याख्यानं पुनर्न किमपि याति तस्मा-
द् व्याक्रेषो न विधेयः । प्रशस्तं व्याक्रेषकरणे दृष्टान्तं स्वयं ज्ञाव-
नीयम् । स चैव एकं कौटुम्बिकं शालिक्षेत्रं ज्ञापयति तस्य
सत्कया दास्या शान्तिं लूनन्त्या सप्ताङ्गप्रतिष्ठितं श्वेतो वनहस्ती
चरन् दृष्टो दास्या ज्ञानं यदि शालिज्ञापकानां कथयिष्यामि ततो
हस्तिन इष्ट्वा हस्तिनो रूपेण क्षिप्ता हस्तिनो रूपं वर्षयन्त आसि-
ष्यन्ते एष च हस्ती दिनेऽस्मिन्नवकाशे दृश्यते तत् शान्तिं
न विष्यते यदा तु शान्तिः परिपूर्या लूनोऽजवत् तदा सा दासा
स्यामिन् शालिज्ञापकानां चाचक्षत् ततस्तेरुक्तं किं तदा
न गता तदा दासी प्रादं शालिलवितव्यव्याघातो जविष्यतीति
हेतोस्तत् पश्चमुक्ते कौटुम्बिकं परितुष्टेन च परितुष्टेन मस्त-
कप्रक्षालनतोऽदासी कृता । एवमिहापि व्याक्रेषो न करणीय-
स्तथा च सति प्रगवदाशपरिपालनं कर्मक्षयेण शिष्टाम-
स्तकरथो प्रवर्ति ।

संप्रति विकथादिपदव्याख्यानार्थमाह ।

विकहा चउज्विहा वुत्ता, इंदिण्हि विसोतिया ।

अंजलीपग्गहो चैव, दिट्ठं बुक्खुवजुत्तया ॥

विकथा स्त्रीकथादिभेदाच्चतुर्विधोक्ता विश्रोतसिका इन्द्रियै-
रुपलक्षणमेतन् मनसा वाचा प्रयता भज्जलिप्रग्गहो गुरोर्मुखे
दधिरुचुरयुक्तता च ।

उपनयव्याकुलनेने व्याख्यानयति ।

नस्सने वाउल्लाना मो, अन्नहा वोवणिज्जइ ।

नायं वा करणे वा वि, पुक्खाअट्ठाव जस्सइ ॥

अभ्युत्थानेनात्मेन वा व्याकुलनाया म दर्शित उपनयो न-

श्यति विस्मृतिं याति यदि वा व्याकुलनया अन्यथोपनीयते
ज्ञातं वा व्याकरणं वा पृच्छा वा कर्तुमारम्भा अद्धा वा पौरुषी-
लक्षणा भ्रश्यति आक्षेपव्याख्यानार्थमाह ।

भासतो भावतो वावि, तिव्वं मे जायमाणसो ।

लज्जंतो ओहिद्वंजादी, जहा मुमिवगो मुणी ॥

निरन्तरमविच्छेदेन भाषकः श्रावको वा उत्तरविशिष्टावगाह-
नतस्तीव्रमजातमानसो जानपरमोक्षेपो यद्यभ्युत्थाने व्या-
क्षेपो नाभविष्यत् ततोऽवधिलाभादिकमलप्स्यत यथा मुडि-
म्बको मुनिस्तथा मुडिम्बक आचार्य परमकाष्ठीभूते शुभ-
ध्याने प्रवृत्तोऽवध्यादिलब्धिमलप्स्यत यदि तस्य पुष्पमित्रेण
ध्यानविघ्नो नाकरिष्यत पर सर्वसाधुसाध्वीप्रभृत्याकुलमभ-
वदिति तेन ध्यानव्याघातः कृतः ।

अधुना " आरोगणा परूवणेति " व्याख्यानार्थमाह ।

आरोगणमक्खेवं, दाउं कामो तहिं तु आयरितो ।

वाउल्लणाए पिट्ठइ, उत्थेत्तुज्जणे न ओगेणहे ॥

आरोगणा प्रायश्चित्तं तत्रार्थमाख्यामाचार्यो दातुकामं प्र-
पयतुकाम इति तात्पर्यार्थः । यद्यभ्युत्थानं करोति ततो व्याकुल-
नया स्फिटति व्याकुलनेन प्रायश्चित्तप्रकरणं न तिष्ठतीति भाव-
स्तथा अवग्रहीतुमना अभ्युत्थानेन व्याकुलनातो नावगृह्णाति ।

एकगो आंगिण्हइ, विक्खिपत्तस्म विस्मृति जाइ ।

इंदपुरे इंददत्तो, अज्जुण्णतेणो य दिट्ठंतो ॥

एकप्रः सन् अवगृह्णाति अभ्युत्थानेन पुनर्व्याक्षिप्त्यमाणस्या-
वग्रहीतमपि विस्मृतिं याति कुतोऽनवग्रहीतार्थावग्रहणव्याक्षे-
पाच्च विस्मृतिगमने इन्द्रपुरपत्तने इन्द्रदत्तस्य गच्छ सुता द-
ष्टान्तस्तथा च तेषां कला अज्यस्यतां प्रमादविकथादिव्याक्षेपाच्च
किमप्यवग्रहीतमभूत् यदपि किंचिदवग्रहीतं तदपि विस्मृति-
मुपगतमत एव नैराध्यावेधो न कर्त्तुं शक्तिः । तथा अज्जु-
स्तेनश्च दष्टान्तस्तथाहि सोऽज्जुनकस्तेनोऽगडदत्तेन सह युध्य-
मानो न कथमप्यगडदत्तेन पराजितुं शक्यते ततो निजजारायाऽ-
तीव रूपवती सर्वालकारविभूषिता रथस्य तुण्डे निवशिता
तत् स्त्रीरूपदर्शनव्याक्षेपात् युद्धकरणं विस्मृतिमुपगतमिति
सोऽगडदत्तेन विनाशितः । एवमिहापि व्याक्षेपात् भुनोपयोग-
प्राणविनाशमाप्नोति ।

एए चैव य दोमा, अञ्जुत्ताणे वि हंति नायन्वा ।

नवरं अञ्जुत्ताण, इमेहिं तिहिं कारणेहिं तु ॥

यस्मात् श्रवणे कर्त्तव्ये व्याक्षेपादिषु क्रियमाणेष्वेतेऽनन्तरोक्ता
दोषान्तस्माद्व्याक्षेपादिरहितैः श्रोतव्यम् । एत एव च व्याक्षे-
पादयो दोषा अभ्युत्थानेऽपि क्रियमाणे भवन्ति तस्मादभ्यु-
त्थानमपि न कर्त्तव्यं नवरमभ्युत्थानमेभिर्द्वयमाणैस्त्रिभिः का-
रणैः कर्त्तव्यं तान्येवाह ।

पगयसमत्ते कात्ते, अज्जुत्ताण्णुदेम अगमुयवधे ।

एएहिं कारणेहिं, अञ्जुत्ताणं तु अणुयोगो ॥

प्रकृते समाप्ते तथा कात्ते समाप्ते अध्ययनोद्देशाद्भुतस्कन्धेषु
वा समाप्तेषु यदि प्राधूर्मीकाद्यागमनं भवति तदैतैः कारणैरभ्यु-
त्थानमनुयोगो भवति तत्र कालोऽध्ययनादिकं च प्रतीतं न
प्रकृतमिति । कल्पे व्यवहारे च प्रकृतप्रतिपादनार्थमाह ।

कव्यमि दोषि पगया, पलवसुत्तं च मासकथ्ये य ।

दो चेव य ववहारे, पढमे दसमे य जे जणिया ॥

कल्पे कल्पाध्ययने द्वे प्रकृते तद्यथा प्रलम्बसूत्र मासकल्पसूत्र च व्यवहारे द्वे प्रकृते ये प्रणिते प्रथमे आरोपणासूत्र दशमे पञ्चविधव्यवहारसूत्रम् । न केवलमेतदेव प्रकृत कित्वन्यदपि तथा चाह ।

पादियातो य मन्वातो, चूलियातो तदेव य ।

निष्पत्ती कप्पनामस्म, ववहारस्म तदेव य ॥

सर्वा. प्रकल्पकल्पादिगता. पीठिकास्तथा सर्वाश्रलिकास्तथा कल्पनाम्नो व्यवहारस्य च तथा चैवेति वचनादन्येषां च दश-
वैकालिकप्रभृतीनां च निर्युक्तयः प्रकृताः ।

अत्रैवादेशान्तरमाह ।

अप्पो वि य आपसो, जो रायणितो य तत्त सोयवे ।

अणुअगोधम्मयाए, किंक्म्म तस्स कायव्वं ॥

अन्योऽपि चादेशो मतान्तरं तत्र श्रान्तये यो रत्तिको रत्ता-
धिकोऽनुज्ञापक इत्यर्थः तस्य नन्द्यामुच्चारितायामनुयोगधर्मं
तथा कृतिकर्म वन्दनं कर्तव्यम् । तथा ।

केवलिमादी चोदस, दसनवपुव्वी य उट्टणिज्जो उ ।

जे तीहि जणतरगा, समाणे अगुरुं न उट्टति ॥

अर्थमपि कथयता समागच्छन् केवली अभ्युत्थानव्य । आ-
दिशब्दात् मनः पर्यवहानी अवधिज्ञानी च परिगृह्यते तथा ये
तेभ्यो नवपूर्वधरादिभ्यः ऊननरास्तेनवपूर्वधरादिरेभ्युत्थानी-
यस्तथाहि कथको यदि कालिकश्रुतधारी तर्हि तेनार्थमपि क-
थयता नवपूर्वी दशपूर्वी चतुर्दशपूर्वी वाऽभ्युत्थातव्यो नवपूर्विणा
दशपूर्वी दशपूर्विणा चतुर्दशपूर्वीति । तथा यदि समागच्छन्
समान समानश्रुतोऽगुरुश्च तदा नेतरेऽभ्युत्तिष्ठन्ति । तदेव प्र-
वचने निर्जग चति द्वारद्वयं गतम् ।

इदानीं सापेक्षद्वारमाह ।

मावेक्खे निरवेक्खे, गच्छे दिट्ठतगाममगमेण ।

राउल्लकज्जनिउत्तं, जह गामेणं कय मगरं ॥

अस्सामिबुद्धियाए, पमियं मदिय व न वि य रक्खति ।

रम्माणत्ते दमो, मय न दीमति कज्जेसु ॥

आचार्यस्य शिष्ये प्रातीच्छिकैश्च सर्वं कर्त्तव्यं ते च तथा कु-
र्वन्त सापेक्षा उच्यन्ते य तु न कुर्वन्ति ते निरपेक्षास्तत्र सापे-
क्षे निरपेक्षे च गच्छे दृष्टान्तो ग्रामशकटेन तद्यथा एकस्मिन्
ग्रामे ग्रामेयकैः पुरमे राजकुलकार्यनियुक्त शकटमेकं कृतं ततो
यस्तन राजकुलेनाज्ञायते धान्य घृतघटादि वा ननव्यमानेनव्य
वाऽस्मिन् शकटे आरोग्य आनयन्ति नयन्ति वा । तथा नास्य क-
श्चिन्त्वामात्यस्वामिबुद्ध्याऽऽत्मनोऽपि कार्याणि तन कुर्वन्ति अ-
स्मामिबुद्धौव पतिन शर्त्तित वा तस्य शकटस्य नापि रक्कन्ति
तन कालेन गच्छता जगम । अन्यथा राजकुलेन ते आज्ञाता धा-
न्यमानय तैः शकटाज्ञाचान्नानीन तन आज्ञाभङ्गाऽऽशरीरिणि तेषां
दगम कृतं कार्येषु वा समापतितेषु स्वयं ते न दृश्यन्ते । एव
दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः ।

एव न कर्तेति मीमा, काहिनि पक्किन्दयन्ति काऊण ।

ते वि य सीमन्ति ततो, हिमणपेहादिमु मिगो ॥

एव ग्रामेयकदृष्टान्तप्रकारेण शिष्या प्रातीच्छिका करिष्यन्ती-

ति मत्वा न कुर्वन्तीति तेऽपि च प्रातीच्छिका शिष्या. करिष्य-
न्तीति बुद्ध्या न कुर्वन्ते ततः सीद्वाचार्य स्वयं निजामदति
स्वयं चोपकरणप्रेक्षादिकं विधत्ते इति हि एवमेव प्रेक्षादौ च निर-
पेक्षा शिष्या प्रातीच्छिकाश्च शकटनियुक्तभृत्य इव दण्डनी-
या भवन्ति विनाशं चोपयान्ति ।

अथ सापेक्षे दृष्टान्तमाह ।

सारावियं जेहिं सगरं रम्मा ते उक्करा य कया ।

इय जे कर्तेति गुरुणो, निज्जरलाभो य किच्ची य ॥

अपरस्मिन् ग्रामे द्वितीयके ग्रामे ग्रामेयकैः राजकुलकार्यनियुक्त
शकटं कृतं तेन राजकीय धान्यघृतघटाद्यानयन्ति नयन्ति च तच्च
शकटं तैः मम्यक् सारापितं ततो न कदाचिदाज्ञाभङ्गः कृतः इति
परितुष्टेन राज्ञा ते उक्करा करविहीना कृताः । एव दृष्टान्तोऽयम-
र्थोपनय इति एवमुक्तेन प्रकारेण शिष्या प्रातीच्छिकाश्चात्मानु-
ग्रहबुद्ध्या ये गुरोः कृत्य कुर्वन्ति तेषां महान् भूयान् ज्ञानादि-
ज्ञान कीर्त्तिश्च गतः सापेक्षद्वारम् ।

सप्रति प्रक्तिव्यवच्छेदद्वारमाह ।

दव्वे जावे जत्ती, दव्वे गणिगाउ दूत जाराणं ।

जावम्मि सीमवग्गो, करेति जत्तिं सुयधरस्स ।

आचार्यस्य भक्तौ क्रियमाणाया तीर्थस्याव्यवच्छेदो प्रकटावक्रि-
यमाणाया तु तीर्थव्यवच्छेदः सा च प्रक्तिर्द्विधा द्रव्ये भावे च ।
तत्र यन्नाम गणिका भुजङ्गानां प्रक्तिं कुर्वन्ति द्रुतयो वा
जाराणां सा द्रव्ये द्रव्यभक्तिर्भावे जावविषया भक्तिः । पुनरिय-
यन् शिष्यवर्गः श्रुतधरस्य भक्तिं करोति । यद्यपि चान्योऽपि
गुरोर्भक्तिं करोति तथापि ममापि निर्जरा स्यादित्यात्मानुग्रहबु-
द्ध्याऽभ्येनापि प्रक्तिं कर्त्तव्येति बोधार्थगौतमदृष्टान्तेन जावयति ।

जडवि य झोहसमाणो, गेएहइ खीणंतराऽणो उंछं ।

तह वि य गोयमसामी, पारणए गेएहए गुरुणो ॥

यद्यपि च बोहसमानो बोधार्थं क्षीणान्तरायस्य जगवतो वर्द्धमा-
नस्वामिनः सदैवाऽऽमेयणीयप्रकटादिकं गृह्णाति । तस्य भग-
वद्वैयावृत्त्यकरत्वात् उक्तं च । 'धनो सो लोहज्जो खतिखमो
पवरलोहसखिन्नो जस्स जिणो पत्ता तो इच्छइ पाणीहिं चुत्तु
जे' तथापि गोतम स्वामी स्वपारणके गुरोर्वर्द्धमानस्वामिना
योग्यं गृह्णाति एवमन्येनापि वैयावृत्त्यकरभावे यथायोग्यं गुरो-
कर्त्तव्यम् । तदेव भक्तिर्व्याख्याताऽधुना तस्या क्रियमाणाया यथा
तीर्थस्याव्यवच्छेदो भवति तथाह ।

गुरुअणुकंपाए पुण, गच्छो अणुकंपितो महाज्जागो ।

गच्छाणुकपयाए, अण्वोच्छित्ती कया तित्थे ॥

गुरोरनुकम्पया अनुग्रहेण गच्छो महाचिन्त्यशक्तिरनुकम्पितो
गृहीतो भवति गच्छानुकम्पया चाव्यवच्छिन्तिर्तीर्थस्य कृता ।

कह तेण नु होइ कय, वेयावच्च दसविह जेण ।

तम्म पउत्ता अणुकं-पितो उ थरो थिरसहावो ॥

कथं तेन दशविधं वैयावृत्त्यं कृतं येन स्थविर आचार्य स्थविर-
म्यतावाऽनुत्तमुत्तमस्य दशविधस्य वैयावृत्त्यस्य प्रयोक्ताऽनुक-
म्पितोऽनुगृहीतस्तत्करणं कृतं तेन दशविधमपि वैयावृत्त्यं
तत्प्रत्यपणायास्नद्वितीनत्वादिनि भावः । तदेवमव्यवच्छेदोऽपि
भावितः । यधुना अतिसेसा पञ्च आयगिए' इति व्याख्यानयति ॥

अन्ने वि अत्थि जणिआ, अतिसेसा पंच होंति आयरिए ।

जो अन्नस्स न कीरइ, नयातिचारो असति सेसे ॥

अतिशेषाः पञ्च भवन्त्याचार्ये इत्यनेन वचनेनान्येऽप्यतिशया पञ्चार्थतो जणिताः सन्ति यः पञ्चानामन्यतरोऽन्यस्यानाचार्यस्य न क्रियते न च शेषेऽनाचार्ये पञ्चानामेकतरस्त्रिपञ्चक्रियमाणेऽनीचारः । तानेव पञ्चातिशयानाह ॥

जत्ते पाणे धुव्वण, पसंसणा हत्थपायसोए य ।

आयारिए अतिसेसा, अणातिसेसा अणायरिए ॥

उत्कृष्ट जक्तमुत्कृष्टं पानं मलिनोपधिधावनं प्रशसनं हस्तपादशौचं च । एते पञ्चातिशेषा अतिशया आचार्ये अनाचार्ये त्वनतिशया अनाचार्ये एते न कर्तव्या इति ज्ञावः ।

सप्रति रक्तादिव्याख्यानाथमाह ।

कालसद्वावाणुमयं, जत्तं पाणं च अच्चिन्नं खेत्ते ।

मल्लिणमल्लिणा य जाया, चोलादी तस्म धोवंति ॥

यत् कालानुमतं स्वभावानुकूलं चेत्यर्थं भक्तमाचार्यस्य आदेयमिति प्रथमोऽतिशयः । तथा यत् यत्र क्षेत्रे अर्चितं पानीयं तत्तत्पाद्यमाचार्यस्येति द्वितीयोऽतिशयस्तथा चोलादीनि मल्लिनमल्लिनानि जातानि तस्याचार्यस्य प्रक्षाल्यन्ते किं कारणमिति चेन्न आह ।

परवादीण अगम्मे, नेव अवण कगिति सुम्मेहा ।

जह अकहितो वि नज्जइ, एस गणी णुज्जपरिहीणो ॥

यथा परवादिनामगम्यो जवति यथा च शुचिशैक्षाश्चोक्षशिक्षाः अवज्ञानं न कुर्वन्ते यथा चाकथितोऽपि ज्ञायन्ते एष गणी आचार्यस्तथाऽनुद्यमसौन्दर्यतत्परिहीनो मल्लिनमल्लिनवस्त्रप्रक्षालनं कर्तव्यं न च एव विभूषादोषप्रसक्त्येन आह ।

जह उवगरणं सुज्जइ, परिहरमाणो अमु च्छतो साहू ।

तह खड्डु विसुद्धभावो, विसुद्धवासाण प रजोगो ॥

यथा साधुरूपकरणं कर्मोपकरणममूर्च्छितं सन् परिहरन् परिभोगयन् शुद्ध्यते न परिग्रहदोषेण त्रिप्यते अमूर्च्छितत्वात्तथाऽऽचार्योऽपि विशुद्धवाससा परिभोगेन विशुद्धभावः सन् शुद्ध्यतीति गतस्तृतीयोऽतिशयः ।

सप्रति प्रशसनमाह ।

गंभीरो मद्वितो, अब्भुवगयवच्छदो सिवो सोमो ।

वित्थिष्ठाकुत्तुप्पन्नो, दाया य कयप्पुतो मुयव ॥

खंतादिगुणोवेओ, पहाणणाणतवसजमावसतो ।

एमाडसत्तगुरुगुण, विकत्थण संसणातिसये ॥

गम्भीरोऽपरिभ्रावी मार्दवितो मार्दवोपेतस्तथा अज्युपगमस्य शिष्यस्य प्रातीक्षिकस्य वत्सलो यथोचितवान्मल्यकारी तथा शिवोऽनुपखवत्स्तथा सोमः शान्ताकृतिः तथा विस्तीर्णकुशोत्पन्नो दाता कृत्स्नः श्रुतवान् तथा कान्त्यादिगुणोपेतः प्रधानज्ञानतपःसयमानामावसर्था गृहे एवमादीनां सनां गुरुणा नाविक्रान्त्यनश्लघनमेव चतुर्थः प्रशसनः तिशयः अथवा प्रशसनस्य फलनात् ।

सग्गुणुकित्तणाए, अवत्तवादीण चेव पभियातो ।

अवि होज्ज संसईणं, पुच्छाजिगमे दुविह्वानो ॥

सद्गुणोत्कीर्तनायां महती निर्जरा जवति तथा सद्गुणकीर्तनया अर्पणवादिना प्रतिष्ठानं कृतं भवति । अपि भवेद्य

महान् गुणो गुणवन्तमाचार्यं श्रुत्वा बहूनां राजेश्वरतद्वरप्रभृतीनां पृच्छार्थमभिगमो भवति । पृच्छानिमित्तमाचार्यसमीपमागच्छन्त आगताश्च धर्मं श्रुत्वा अगारधर्ममनगारधर्मं वा प्रतिपद्यन्ते इति द्विविधत्वम् ।

पञ्चमातिशयप्रतिपादनार्थमाह ।

करचरणनयणदसणा, ईधावणपंचमो उ अतिसेसो ।

आयारियस्स उ सययं, कायव्वो होति नियमेण ॥

करचरणनयनदशनादिप्रक्षालनं पञ्चमोऽतिशयः सतनमाचार्यस्य नियमेन जवति कर्तव्यः । अत्र पर आह ।

मुहनयणदंतपाया—दिधोवणे को गुणो त्ति ते बुद्धी ।

अग्गिमातिवाणिपडुया, होइ अगोत्तपया चेव ॥

मुखनयनपदादिधावने को गुण इति एषा ते बुद्धिः स्यात् अत्रोच्यते मुखदन्तादिप्रक्षालनेऽग्निपटुता जातराग्निप्राप्त्य मतिपटुता वाक्पटुता च नयनपादादिप्रक्षालने " अगोत्तपया " अत्रज्जनीयशरीरता भवति । एष गुणो मुखादिप्रक्षालने एते चातिशया पञ्च । उपलक्षणमन्यदपि यथायोगमाचार्यस्य कर्तव्यं तथा चाह ॥

असदस्स जेण जोगाण संधाणं जह उ होइ थेरस्स ।

तं तं करोति तस्स उ, जह संजोगा न हायति ॥

यथा स्थविरस्याशठस्य सतो येन येन क्रियमाणेन योगानां सन्धानं भवति तत्तत्तस्याचार्यस्य साधवः कुर्वन्ति तथा (से) तस्याचार्यस्य योगा न हीयन्ते न हानिमुपगच्छन्ति ।

एए पुण अतिसेसे, उवजीवे न यावि को वि दददेहो ।

निदरिस्सणं एत्थ जवे, अज्जसमुद्धा य मंगु अ ॥

एतान् पुनरतिशयान् कोऽयाचार्यो दददेहः सन् नोपजीवति यस्त्वेददेहः सोऽशठो नृत्वा उपजीवति न तु तैरतिशयैर्गर्वं करोति हर्षं वा मनसि सन्यते । अत्र निदर्शनं जवत्यर्थसमुद्रा मङ्गवाचार्यश्च ।

एतदेव निदर्शनद्वयं भावयति ।

अज्जममुद्धा दुव्वल, कितिकम्मा तिणि तस्स कीरति ।

सुत्तत्थपोरिसिसमु—द्वियाण तस्य तु चरमाए ॥

आर्यसमुद्रा सूरयो दुर्बला दुर्बलशरीरास्ततस्तेऽतिशयानुपजीवितवन्तोऽनुपजीवने योगसन्धानकरणाशक्तेस्तथा च तस्य प्रतिद्विषमं त्रीणि कृतककर्माणि विश्रामणारूपाणि क्रियन्ते तद्यथा द्वे सूत्रार्थपौरुषीसमुपस्थितानां तृतीयं कृतकर्म चरमाया पौरुष्यामियमत्र भावना सूत्रपौरुषीसमाप्यनन्तरं यावन्निपद्या क्रियन्ते तावत्प्रथमा विश्रामणा द्वितीयाऽर्थपौरुषीसमाप्यनन्तरं तृतीया चरमपौरुषी पर्यन्ते कालप्रतिक्रमणानन्तरम् ।

सद्गुणेषु य तेसिं, दो वंगादी उ वीसु घेप्पंति ।

मंगुस्स न किइरम्म, न य वीसुं घेप्पणं किं वि ॥

आद्यकुलेषु जनेषु नेपामार्यसमुद्राणामाचार्याणां योग्यानि दूगादीनि द्वितीयाद्वात्रा मात्रकादौ विषयकं गृह्यन्ते आर्यमङ्गो पुनराचार्यस्य न कृतिकर्म क्रियते नापि तद्योग्यं पौद्गलिकादिप्रक्षालनं विषयकं मात्रके गृह्यते किन्तु यदापि आर्यकुलेष्वपि प्रक्षालनं लज्यते तदपि गृहीत्वा ज्ञानोत्थपतद्गृहे क्षिप्यते विषयगतीतमपि न जुझे तौ च चावध्याचार्यौ बिहरन्ताप्यदा सौपारके गतो तत्र च द्वौ श्रावकावेकः शाकटिकोऽपरो वैकटिको

वैकटिको नाम सुरासन्धानकारी तौ द्वावापि श्रावकाचार्यममु-
क्षाणा योग्यमतिशायिपौ द्वौ द्वौ प्रकृतिक विष्वक् मात्रके गृह्यमाण-
मार्यमङ्गना पुनर्योग्यमेकस्मिन्नेव पतङ्गदे गृह्यमाण पश्यतो दृष्ट्वा-
ऽऽचार्यमङ्गसमीपमागच्छताम् ।

वैति ततो णं सद्वा, तुब्ज वि वीसुं न घेप्पए कीस ।

तो वैति अज्जमंगु, तुब्जे विय इत्थ दिट्ठतो ॥

तत समीपागमनानन्तर तौ श्रावका ब्रुवते किन्नार्यसमुक्षा-
णामिव युष्माकमपि विष्वक् प्रायोग्य गृह्यते ततो ब्रुवन्त्यार्यम-
ङ्गव आचार्या अत्रार्थे यूयमेव दृष्टान्त कथमित्याह ॥

जा जेमी दुब्बज्जा उ, तं तुब्जे बंधह प्पयत्तेण ।

न वि बंधह वलियाउ, दुब्बलवल्लिए व कुंमी वि ॥

अहो शाकटिक! या तव भण्मी गन्त्री दुर्वला ता यूय प्रयत्नेन
बन्धीय । तत सा वहति यदि पुनरवद्धा वाहते तदा विनश्य-
ति या पुनर्वलिका तां नैव बन्धीय । बन्धनव्यतिरेकेणापि तस्या
वहनात् । वैकटिक प्रति ब्रुवते भो वैकटिक ! या तव कुण्मी
दुर्वला ता वशद्वैर्बला नत्र मय सधत्थ या तु वहिका कुण्मी
तस्या बन्धमकृत्वाऽपि तत्र सधान कुरुथ “दुब्बलवल्लिए व कुंमी
वि ” एव कुण्मयपि दुर्वला वहिका च ज्ञानीवत् वक्तव्या ।
उक्तो दृष्टान्त ।

सांप्रतमुपनयमाह ।

एवं अज्जसमुद्धा, दुब्बज्जज्जी व संठवयणाए ।

धारैति सरीरं तु, वल्लिभंजीसरिसगवयं तु ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण दुर्वलमण्मी दुर्वला गन्त्री चात्मीयं शरीर
संस्थापनया धारयति नेतरथा ततस्तेषां योग्य विष्वक् मा-
त्रके गृह्यते वयं तु वहिकज्जणीसदृशास्ततो न शरीरस्य स-
स्थापनामपेक्षामहे ।

निप्पट्टिकम्पो वि अहं, जोगाण तरामि संधणं काउं ।

नेच्छामि य वितियंगे, वीसुं इति वैति ते मंगू ॥

निष्प्रतिकर्माऽपि योगानां सधान कर्तुं शक्नोति ततो नेच्छामि
द्वितीये अङ्गे गात्रके विष्वक् गृह्यमाणमिति ते महत्वाचार्या ब्रुवते ।

न तरंति य तेण विणा, अज्जसमुद्धा उ तेण वीसं तु ।

इय अतिसेसा यरिए, सेसा पतेण दाहेति ॥

आर्यसमुद्धाः पुनराचार्यास्तेन विष्वक् प्रायोग्यग्रहणेन विना
योगानां सन्धान कर्तुं न शक्नुवन्ति । तेन तत्प्रायोग्य विष्वक्
गृह्यते एव शेषाणामपि त्र्यस्मात् कारणात् अतिशेषा अतिशया
आचार्ये भवन्ति शेषाः पुनः साधवः प्रान्तेन दाढयन्ति आत्मानं
यापयन्ति गन्तुं तीयोऽतिशयः । आचार्याः पाच्यायस्य वसतेरन्त-
र्बहिर्वा एकाकित्वेन वास इति चतुर्थपञ्चमावतिशयौ ।

सप्रतिचतुर्थपञ्चमावतिशयावाह “ अतो उवस्सयस्स एगराय
वा डुरायं वा ” इत्यादिवक्त्रेण (पूर्वोक्त) विज्ञावयिषुरिदमाह ।

अतो वहिं व वीसुं, वसमाणे मासियं तु जिक्खुस्स ।

संजमआयविराहण, सुप्पे असुजोदतो होइ ॥

यदि भिक्षुरपाश्रयस्यान्तरपवरके विष्वक् वसति यदि वा बहि-
रुपाश्रयात् शून्यगृहादिषु तदा तस्य प्रायश्चित्त मासिक न केव-
लमिदं प्रायश्चित्त किन्तु दोषाश्च तानेवाह । अन्तर्बहिर्वा शून्य-
स्थाने वसतोऽशुभोदयोऽशुभकर्मोदयो नवति तद्गवाच्चात्म-
विराधना सयमविराधना च । एनामेव ज्ञावयति ॥

तत्भाववयोगेण, रहिए कम्मादि सजमे जेदो ।

मेरावलंविद्या मे, वेहाणसमादिनिव्वेदा ॥

तस्य ज्ञावस्तज्ञाव पुयेद् इत्यर्थः । तस्मिन्पयोगस्तेन तद्वा-
चोपयोगेन विजने स्थाने च वर्त्तमान सहायरहितोऽस्तकर्मो-
दि कुर्यात् एव सयमे सयमस्य भेदो विराधना । तथा कोऽप्य-
तिप्रबलपुर्वेदोदयपीडित एव चिन्तयेत् यथा मया मर्यादा सक-
लजनसमक्ष गुरुपादसमीपेऽवद्विभवा सप्रति चाहमतिपीडित
आसितु न शक्नोमि ततो निवेदात् वैहानसमुत्कलम्बनमादि-
शब्दादन्यद्वा आत्मघातादिकमाचरेत् एषा आत्मविराधना ।
तथा विहरता वा एकाकिना न स्थानव्यमाह यदि सयमाभिर्गत-
ज्ञावस्तनस्तस्य सहाया अपि किं करिष्यन्ति तत आह ॥

जइ वि य निगयज्जावो, तह वि य रक्खिज्जए स अस्सेहिं ।

वंसकडिह्वे जिन्ने, विवेणुतो पावए न महिं ॥

यद्यपि च स सयमात् निर्गतभावस्तथापि सोऽन्यैर्हस्तकर्मोदि
वैहानसादि वा समाचरन् रक्ष्यते अत्रैवार्थं प्रतिवस्तूपमाह ।
(वंसकडिह्वेति) वेणुको वशो मही न प्राप्नोति अन्यैरन्यैर्ब-
हैरपान्तराले स्खलितत्वात् एव सयमभावानिर्गतोऽपि शेषसा-
धुभिः सर्वथा पतन् रक्ष्यते तदेतद्विज्ञोक्तम् ।

इदानीं गणावच्छेदकाचार्ययोराह ॥

वीसु वसंते दप्पा, गणिआयरिए य होंति एमेव ।

सुन्न पुण कारणियं, जिक्खुस्स वि कारणे शुन्ना ॥

विष्वक् दप्पात् कारणमन्तरेण गणिनि गणावच्छेदके आचा-
र्ये च एवमेव निक्षोरिव प्रायश्चित्त सयमात्मविराधने च भव-
तः । यद्येव तर्हि सूत्रमनवकाशमत आह । सूत्र पुनः कारणि-
क कारणमधिकृत्य प्रवृत्त ततो नानवकाश न केवल गणावच्छे-
दकाचार्ययोः कारणे वसतेरन्तर्बहिर्वा वसनमनुज्ञात किं तु भि-
क्षोरपि कारणे बहिरन्तर्वा वसनस्यानुज्ञा ।

अथ किं तत्कारण यदधिकृत्य सूत्र प्रवृत्तमत आह ।

विज्ञाणं परिवानी, पव्वे एए य देंति आयरिया ।

मासस्समासियाणं, पव्व पुण होइ मज्जं तु ॥

आचार्याः पर्वणि विद्याना परिपाटीर्ददति विद्याः परावर्त्तन्ते
इति भावः । अथ पर्व किमुच्यते तत आह मासाह मासयोर्म-
ध्य पुनः पर्व भवति । तदेवाह ।

पव्वस्स अठ्ठी खलु, मासस्स य पविस्सय मुण्येव्वं ।

असु पि होइ पव्वं, उवरागो चंदसूराणं ॥

अर्द्धमासस्य पञ्चात्मकस्य मध्यमाऽष्टमी सा खलु पर्वः । मास-
स्य मध्य पाक्षिक पक्षेण निर्वृत्त ज्ञातव्य तच्च कृष्णचतुर्दशीरु-
पमवसानव्य तत्र प्रायो विद्यासाधनोपचारज्ञावात् बहुला-
दिका मासा इति वचनाच्च न केवलमेतदेव पर्व किंवन्त्यपि
पर्व भवति यत्रोपरागो ग्रहण चन्द्रसूर्ययो रेतुषु पर्वेषु विद्या-
साधनप्रवृत्तिर्यद्येव तत एकरात्रग्रहण तत आह ।

चउइसीगहो होइ, कोई अहवा वि सोलमिगहणं ।

वत्त तु अणुज्जतो, होइ डुराय तिरायं वा ॥

कोऽपि विद्याया ग्रहश्चतुर्दश्यां भवति अथवा योरुश्यां
शुक्लपक्षप्रतिपदि विद्याया ग्रहणम् । किमुक्तं नवति कोऽपि
विद्याग्रहश्चतुर्दश्यां कृत कोऽपि प्रतिपदि क्रियते इत्येव
विरात्रवसनमथ च केन दिवसेन व्यहमनुज्ञायमान वि-

द्याया ग्रहण भवति । द्विगत्र विगत्र वा विप्रकृ वसनमिति ।
यदुक्त सूत्रेऽतिराय चेति तत्र याशब्दव्याख्यानाथमाह ।

वासदेण चिरं पि, महापाणादीसु मो उ अत्यज्जा ।

ओयविए भरहम्मि, जह राया चक्कवट्टादी ।

वाशब्देनेदं सूच्यते चिगमपि काल महा (पाना) प्राणा-
दिषु ध्यानेषु स निष्ठेन् स हि यावन्नाद्यापि विनिष्टलाभो भ-
वति तावन्न निवर्त्तते ध्यानादत्रैव दृष्टान्तमाह । यथा राजा
नक्रवर्त्यादिगादिशब्दाद्वासुदेवपरिग्रहः (ओयविए) प्रसाधि-
ते अर्द्धभग्ने वा न निवर्त्तते यावदवध्यादिलाभो न भवतीति ।

अथ महाप्राणध्याने क कियन्त कालमुत्कर्षतस्तिष्ठतीति
प्रतिपादनार्थमाह ।

वारसवामा भरहा-हिवस्स छन्चेव वासुदेवाणं ।

तिमि य मंभलियम्म, उम्मामा पागयजणस्म ॥

महाप्राणध्यानमुत्कर्षतो भरताधिपस्य चक्रवर्त्तिनो द्वादश
वर्षाणि यावत्पट्ट वर्षाणि वासुदेवानां चलदेवानामित्यर्थः ।
त्रीणि वर्षाणि माण्डलिकस्य परमात्मान् यावत् प्राकृतजनस्य ।

जे जत्थ अट्टिगया खट्ठु, अस्सादक्कवमाइयारस्सा ।

तेसि जरणम्मि जणे, भुंजति भांए अदकादी ॥

ये " अस्सादक्कवमाइया " महाश्वपत्यादयो यत्राश्वभर-
णादौ राज्ञा अधिकृता व्यापारितास्ते तेषामश्वार्थानां भरणे
ऊने सति भोगान् अदण्डादीन् दण्डादिरहितान् भुङ्क्ते न तस्य
तथा भोगान् भुञ्जानस्य दण्डोऽपराधो वा अद्याप्यश्वदिभ-
रणभावात् एष दृष्टान्त उक्तः ।

सप्रति दार्ष्टान्तिकयोजनामाह ।

इय पुक्कगयाधीते, बाहुनामेव तम्मि एो पन्ना ।

पियइ त्ति व अत्थपण, मिणइ त्ति व दो वि अविस्सुत्ता ॥

इत्येवममुना दृष्टान्तप्रकारेण पूर्वगते अधीते "बाहुसनामेव"
भद्रबाहुग्वि तत् पूर्वगत पश्चात् महापानध्यानबलेन मिनाति
नि शेषमात्मेच्छया तावन्न निवर्त्तते तत्स्थिरकालमपि वसति
तस्य न कोऽप्यपराधः प्रायश्चित्तं दण्डो वा । सप्रति महापान-
शब्दस्य व्युत्पत्तिमाह पियतीति वा मिनीतीति वेति द्वावपि
शब्दावेतावविस्सुत्ता तत्तत् एकार्थवित्थर्थः । तत एव व्य-
त्पत्तिः पियति अर्थपदानि यत्र स्थितस्तत् पान महश्च तन्पान
च महापानमिति ।

अतो गणी वा गणो, विक्खेवो माहु होज्ज अग्गहण ।

वमनेहिं परिक्खित्तो, उ अत्यते कारणे तेहिं ॥

अन्तर्गणी गणो वा वाशब्दादेव बहिरपि । इयमत्र भावना ।
यत्राचार्यो वसन्तरेन्तस्ततो गणो बहिर्वसति अथ गणोऽन्त-
स्तत आचार्यो बहि किं कारणमाचार्यो गणश्च विष्वक् व-
सति तत आह (विक्खेवो) इत्यादि आचार्यस्य विद्यादिगुणा-
दिषु व्याक्षेपो मा भूत् (अग्गहणमिति) अयोग्यानां कर्षणत-
ननो विद्यादीनामग्रहणं भूयान एताभ्यां कारणभ्यां वृषभे-
परिहितोऽन्तर्बहिर्वा विष्वगाचार्यो वसति । व्य० १ उ० ।

आचार्यापाध्यायस्य गणे स्म अतिशयो ।

आयरियउवज्जायस्म ए गणंसि सत्त अइमेसा पमत्ता
तं जहा आयरियउवज्जाए अतो उवस्सगस्स पाए निग-
ज्झिय २ पफोमेमाणे वा पमज्जेमाणेवा नाइक्कमइ एव

जहा पंचठाणे जाव बाहि उवस्सगस्स एगगयं वा दुगयं वा
वसमाणे नाइक्कमइ उवगरणाउसेमे जत्तपाणाइमेसे ॥

एतद्व्याख्यानमेवेति इदमधिकमुपकरणानिशेष शेषसाधुभ्य-
सकाणान् प्रधानोऽज्जलवत्त्राशुपकरणेन उक्तं च । "आयरि-
यगिलाणाण, महला महला पुणो वि धोवति । मा हु गुरुण
अवणो, लोगम्मि अजिगण इयगेत्ति" ॥ १ ॥ ग्लाने इत्यर्थः
भक्षपानानिशेष पूज्यतर्भक्षपाननेति उक्तञ्च "कलमोयणा
उ पयसा, परिहाणी जाव कोहवज्झज्जी । तत्थ उ मिउप्पतर,
जत्थ य ज अच्चिय दोसु" ॥ १ ॥ (कोहवज्झज्जित्ति कोहव-
जाउलये दोसुत्ति) क्षेत्रकालयोरिति गुणाश्चैते "सुत्तत्थधि-
गीकरणा, विण्णो गुरुपूय से य वहुमाणो । द्राणवइसहुवुद्धो,
बुद्धोवलवद्धण चेव त्ति" स्था० ७ ग० ॥ १ ॥

गणावच्छेदकस्य गणे द्वौ अतिशयौ ।

(सूत्रम्) गणावच्छेयस्स गणंसि ए दो अइमेसा प-
मत्ता तं जहा गणावच्छेए अतो उवस्सयस्स एगगयं वा
दुगय वा वसमाणे णो अइक्कमइ १ गणावच्छेए बाहि उ-
वस्सयस्स एगगयं वा दुगय वा वसमाणे णो अतिक्कमइ ॥

"गणावच्छेयस्स गणंसि ए" इत्यादि गणावच्छेदकस्य
गणे गणमध्ये द्वावतिशयौ भवतस्तद्यथा गणावच्छेदक उपा-
श्रयस्यान्तः एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन नातिक्रामति ना-
तीचारभाभवति तथा गणावच्छेदको बहिरपाश्रयादेकग-
त्र वा द्विरात्रं वा वसन् नातिक्रामति । एतौ च द्वावप्यतिश-
यां सूत्रोक्तौ गणावच्छेदकस्य दृष्टव्यौ यो नियमादाचार्यो भ-
विष्यति यः पुनर्गणावच्छेदकत्वे वर्त्तमान आचार्यपदस्यानर्ह-
स्तस्यैतौ द्वावप्यतिशया न कल्पेते । भाष्यम् ।

पंचेते अतिसेसा, आयरिए होंति दोमि उ गणिस्स ।

भिक्षुस्स कारणाम्म उ, अतिसेसा पंच वा जणिया ॥

एते अनन्तरसूत्रोदिताः पञ्चातिशया आचार्ये भवन्ति । द्वा ग-
णिनो गणावच्छेदकस्य त्रिकोः पुनः कारणेऽप्यतिशया भणि-
ताः । एतदेवाह ।

जे मुत्ते अतिसेसा, आयरिए अत्थतो व जे जणिया ।

ते कज्जे जयसेवी, भिक्षू वि न वाउमी जवात्ति ॥

येऽतिशेषा आचार्यसूत्रे साक्षादभिहिता ये चान्ये पञ्चार्थतो
भणितास्तान् दशाप्यतिशयान् कार्ये कारणे समागते । "कज्जित
ता कारणति वा एगममिति" वचनात् (जयसेवीति) यतनया
सेवमानो भिक्षुरपि न वक्कुशत्वदोषेण गृह्यते इति भावः किं त-
त्कार्यमत आह ।

वालासहमतरंतं, सुड्वादि पप्प इट्ठिवुद्धं वा ।

दस वि भइयातिमेसा, निक्खुस्स जहक्कम कज्जे ॥

बोद्धममहमतरन्तं ग्लान शुचिवादिन ऋद्धिवृत्तं वा प्राप्य
दशाप्यतिशेषा त्रिकोः कार्ये समापनिते यथाक्रमं जजिताविक-
ल्पिता भवन्तीति भावः तथा हि वात्रस्य हस्तपादादयः प्रकाल्य-
न्ते अन्ये वातिशया यथासज्जव क्रियन्ते तथा असहो नामास-
मर्थस्तस्यापि यथाप्रयोगमतिशया क्रियन्ते । तथाऽतरन्तं ग्लान
शुचिवादी शौचप्रधानं शिष्य ऋद्धिवृत्तो राजादि प्रव्रजित इ-
त्येवमपि दशाप्यतिशया यथायोगं विधेया । व्य० ६ उ० ।

(जिनकल्पिकस्य दौ भतिशयौ) "डुविहो तेसि" (जिनक-

अङ्गसेस

ल्लिकानाम्) "अङ्गसो नाणाङ्गसो सरीगङ्गसो य । नाणा-
ङ्गसो अङ्गो मणपञ्चसुत्तय तदुत्तय च । निवर्त्त । अभि-
न्रवच्चा, सारीरा हौर्ति भङ्गसेसा " ५० चू० ॥ (तीर्थकृत च-
त्वार सूलातिशया) "अपायापगमातिशयो ज्ञानातिशय पूजा-
तिशयो वा गतिशयश्च " ५० सु० । २० । स्या० । न० ।

बुद्धस्य (तीर्थकृत) चतुर्विंशदतिशया ।

चोर्त्तीसं बुद्धाङ्गसेसा पञ्चत्ता तं जहा अवर्द्धयकेसम-
सुरोमनहे १ निरामया निरुत्तरेवा गायलङ्गी २ गोक्खीर
पमुरे मंससोणिण ३ पउमुप्पलगांधिण उस्सामानिस्सासे ४
पञ्चुत्ते आहारनीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा ५ आगा-
सगय चक्क ६ आगासगय उच्च ७ आगासगयात्रा सेय-
वरचामराओ ८ आगामफालियामय सपायपीढ सीहा-
सण ९ आगासगओ कुरुभीसहस्सपरिमंभियानिरामो
इंदज्झओ पुरओ गच्छ १० जत्थ जत्थ वि य णं अर-
हता जगवता चिद्धंति वा निमीयंति वा तत्थ तत्थ वि
य ण तक्खणादेव सच्छन्नपत्तपुप्फपल्लवसमाउलो सच्छत्तो
सज्झओ सघटो मपमागो अनोगवरपायवे अभिसजायइ
११ ईसिं पिट्ठओ मउरुट्ठाणम्मि तेयमरुल अभिसजायइ
अंधकारे वि य णं दस दिसाओ पजासेइ १२ बहुसमरम-
णिज्जे भूमिजागे १३ अहोमिरा कंटया जायति १४ उज्ज
विवरीया मुहफासा भवंति १५ सयिलेणं मुहफासेणं सु-
रज्जिणा मारुणं जोयणपरिमंरुलं सन्वओ ममंता संपम-
ज्जिज्जइ १६ जुत्तफुमिणं मेहेण य निहयग्यरेण पकि-
ज्जइ १७ जलथलयभासुरपत्तेणं विट्ठुवियदसच्छवन्नं
कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फावयारे किज्जइ १८
अमणुत्ताणं सदफगिरसररुवगंधाणं अवकरिसो भवइ
माणुत्ताणं सदफगिरसररुवगंधाणं पाउम्भाओ जवइ १९
उज्जओ पांसिं च णं अरहताण जगवताण दुवे जक्खा
करुगनुत्तियथंभियज्जुया चामरुक्खेयणं करति २० पच्चा-
हरओ वि य णं हिययगमणीओ जोयणनीहारी सरो २१
भगव च णं अद्धमागहीणं जामाए धम्ममाइक्खइ २२ सा
वि य णं अद्धमागही जासा जासिज्जमाणी तेसिं सन्वेसिं
आरियमाणारियाणं दुपयचउप्पयमियपमुपक्खिसरीसि-
वाण अप्पण्णो हियसिवसुहदाए जासत्ताए परिणमइ २३
पुव्ववद्धवेरा वि य णं देवासुरनागसुवम्भजक्खरक्खसाकि-
नरकिंपुरिसगरुद्धगंधवमहोरगा अरहओ पायमूले पसंत-
चित्तमाणसा धम्मं निसामंति २४ अन्नतित्थियपावयणिया
वि य समागया वंदंति २५ आगया समाणा अरहओ
पायमूले निप्पडिवयणा इवति २६ जओ जओ वि य णं
अरहंतो भगवंतो विरहंति तओ तओ वि य णं जोयण-
पणवीसाणं ईती न जवइ २७ मारी न जवइ २८ सच-
कं न जवइ २९ परचकं न जवइ ३० अइवुट्ठी न भवइ ३१

आणवुट्ठी न भवइ ३२ दुब्भिकवं न भवइ ३३ पुव्वुप्पन्ना
वि य णं उप्पाड्या वाही विप्पामेव उवसमंति ३४ । म. । ३५
अथ चतुर्विंशत्तमस्थानक किमपि विन्यने (बुद्धाङ्गसेसत्ति)
बुद्धाना तीर्थकृतानामप्यतिशेषा अनिशया बुद्धानिशया" अव-
स्थितमवृद्धिस्वभावं केशाश्च शिरोजा स्मश्रूणि च कूर्चरोमाणि
च शेषशरीरलोमानि नखाश्च प्रतीता इति द्वन्द्वकृतमित्येकः १
निरामया नीरीगा निरुत्तरेवा निर्मला गात्रयष्टिस्तनुस्तेति द्विती-
यः २ गोक्खीरपाणमुर मानशोणितमिति तृतीयः ३ तथा पञ्च च
कमल गन्धद्रव्यविशेषो वा यत्पञ्चकमिति रुद्रमुत्पल च नीलो
त्पलमुत्पलकुण्ड वा गन्धद्रव्यविशेषस्तथोयो गन्ध स यत्रास्ति
तत्तथोच्चासति इवासमिति चतुर्थः ४ प्रच्छन्नमाहारनिहारम्
अन्यवहरणमूत्रपुरीषोत्सर्गौ प्रच्छन्नमेव स्फुटतरसाह अदृश्य
मांसचक्षुषा न पुनरवध्यादिलोचनेन इति पञ्चमः ५ पतच्चद्विती-
यादिकमतिशयचतुष्क जन्मप्रत्ययम् । आकाशके चक्र पष्ठ तथा
आकाशगत व्यामर्शति आकाशक वा प्रकाशमित्यर्थं चक्र धर्म-
चक्रमिति पष्ठः ६ आकाशके उन्नमिति सप्तम एवमाकाशग उन्न
उन्नम्रमित्यर्थः ७ आकाशके प्रकाशे श्वेतधरचामेर प्रकीर्णके
इत्यष्टम ८ (आगासफालियामयत्ति) आकाशमिव यदत्यन्त-
मच्छ स्फटिक तन्मय सिंहासन सहपादपीठमिति नवमः ९
(आगासगओत्ति) आकासगतोऽत्यर्थं तुङ्गमित्यर्थः कुड्मि-
त्तिवधुपताका संभान्यन्ते तत्सदृशं परिमणिरुतश्चासावभि-
गमश्चानिरमणीय इति विग्रहः (इदज्जओत्ति) शेषध्वजापे-
क्षयातिमहत्वादिन्द्रश्चान्नी ध्वजश्च इन्द्रध्वज इति (पुरओत्ति)
जिनस्याग्रतो गच्छतीति दशम १० " चिच्छति वा निसीयति
वेत्ति" तिष्ठन्ति गतिनिवृत्त्या निपीदन्त्युपविशन्ति (तक्खणा-
देवात्ति) तत्क्षणमेवाकाशहीनमित्यर्थः पत्रं सञ्चिन्न इति वक्त-
व्ये प्राकृतत्वात् सङ्ख्यपत्र इत्युक्तं स चासा पुष्पपल्लवसमाकुल-
श्चेति विग्रहः पल्लवा अङ्गुरा सच्छन्नः सध्वज सघण्ट सपताका-
ऽशोकवरपादप इत्येकादशः ११ (ईसिंत्ति) ईषदल्प (पिट्ठओत्ति)
पृष्ठतः पश्चाद्भागे (मउरुट्ठाणमिति) मन्तकप्रदेशे तेजोमणेरुहं
प्रमापदमिति द्वादश १२ बहुसमरमणीयो नृभिर्भाग इति त्रयो-
दश १३ (अहोमिरत्ति) अधोमुखाः कण्टका भवन्तीति चतु-
दशः १४ अन्नवा विपरीता कथमित्याह । सुखस्पर्शा भवन्तीति
पञ्चदश १५ योजनं यावत् क्षेत्रशुद्धिं सवर्तकवातेनेति षोडशः
१६ (जुत्तफुमिणत्ति) उच्चितविन्दुपातेनेति (निहयग्यरे-
णुयति) वातेत्त्वानामाकाशवर्ति रजो भूवर्ती तु रेणुरिति ग-
न्धोदकवर्षाभिधान सप्तदशः १७ जलस्थलज यद्वास्वर प्र-
भूतं च कुसुम तेन वृन्तस्थापिता ऊर्ध्वमुखेन दशार्द्धवर्णेन प-
ञ्चवर्णेन जानुनोक्तसेधस्य उच्चत्वस्य यत्प्रमाणं यस्य स
जानूत्सेधप्रमाणमात्रः पुष्पोपचारः पुष्पप्रकर इत्यष्टादशः १८
तथा (कालागुरुपवरकुदुरुक्ततुरुक्कधूवमघमघतगंधुद्धयाभि-
रामे भवइत्ति) कालागुरुश्च गन्धद्रव्यविशेषः प्रवरकुन्दुरुक्क-
श्च चीडाभिधान गन्धद्रव्यं तुरुक्कं च शिहकाभिधान गन्ध-
द्रव्यमिति द्वन्द्वस्ततः पतल्लक्षणा यो धूपस्तस्य मधमघायमा-
नो बहुलमौरभ्यो यो गन्ध उद्धूत उद्धूतस्तेनाभिराममभि-
रमणीय यत्तत्तथा स्थानं निपीदनस्थानमिति । प्रक्रम इत्येको
नविंशतितमः १९ तथा उभयोः "पांसिं च णं अरहताणं भग-
वताणं दुवे जक्खा कडयतुडियथभियमुया चामरुक्खेयणं क-
रत्ति" कटकानि प्रकोष्ठाभरणविशेषास्त्रुटितानि बाह्याभर-
णविशेषास्त्रैगनिबन्धनेन स्तम्भितनाविव स्तम्भितौ भुजौ ययो-

स्तौ तथा यत्तौ देवाविति विंशतितम २० बृहद्वाचनायामन-
न्तरोक्तमतिशयद्वय नाधीयते अतस्तस्यां पूर्वेऽष्टादशैव अम-
नोज्ञानां शब्दादीनामपकर्षोऽभाव इत्येकोनविंशतितम १६ म-
नोज्ञानां प्रादुर्भाव इति विंशतितम २० (पञ्चाहरओत्ति) प्रव्या-
हरतो व्याकुर्वतो भगवतः (हिययगमणीउत्ति) हृदयङ्गमः (जो-
ययणीहारीत्ति) योजनातिक्रमी स्वर इत्येकविंश २१ (अद्भमा-
गहीयात्ति) प्राकृतादीनां षष्ठां भाषाविशेषाणां मध्ये या मागधी ना-
म भाषा 'रसोलसौ' मागध्यामित्यादिलक्षणवती सा असमा-
श्रितस्वकीयसमग्रलक्षणैर्दमागधीत्युच्यते तथा धर्ममाख्याति
तस्या एवातिकोमलत्वादिति द्वाविंश २२ (भासिजमाणीत्ति)
भगवताऽभिधीयमाना (आरियमणारियाणति) आर्यानार्यद-
शोत्पन्नानां द्विपदा मनुष्याश्चतुष्पदा गवादयः मृगा आटव्या-
पशवो ग्राम्याः पक्षिणः प्रतीताः सरीसृपा उरःपरिसर्पा भुजप-
रिसर्पाश्चेति तेषां किमात्मन आत्मतया आत्मीययेत्यर्थः भाषा
तथा भाषाभावेन परिणमतीति संबन्धः । किं भूताऽसौ भा-
षेत्याह हितमभ्युदयः शिवं मोक्षं सुखं श्रवणकालोद्भवमा-
नन्द ददातीति हितशिवसुखदेति त्रयोविंशः २३ पूर्व भवा-
न्तरेऽनादिकाले वा जातिप्रत्ययबद्ध निकाचित वैरममित्रभा-
वो येषां ते तथा तेऽपि च आसतां मध्ये देवा वैमानिका अ-
सुरा नागाश्च भवनपतिविशेषाः सुवर्णाः शोभनवर्णा एते
च ज्योतिष्का यज्ञराक्षसकिन्नराः किंपुरुषाः व्यन्तरभेदाः ग-
रुडागरुडालाञ्छनत्वात् सुपर्णकुमारा भवनपतिविशेषाः ग-
न्धर्वा महोरगाश्च व्यन्तरविशेषा एव एतेषां द्वन्द्वः (पसंत-
चित्तमाणसत्ति) प्रशान्तानि समझतानि चित्राणि रागद्वेपा-
द्यनेकविधविकारयुक्ततया विविधानि मानसान्यन्तःकरणा-
नि येषां ते प्रशान्तचित्रमानसा धर्म निशामयन्ति इति चतु-
र्विंशः २४ ब्रूवाद्दतया इदमन्यदातिशयद्वयमधीयते यदुत अ-
न्यतीर्थिकप्रावचनिका अपि च ए वन्दन्तो भगवन्तमिति ग-
म्यते इति पञ्चविंश २५ आगताः सन्तोऽर्हतः पादमूले नि-
ष्पतिवचना भवन्ति इति षड्विंशः २६ (जओ जओ वि य-
णति) यत्र यत्नापि च देशे (तओ तओ त्ति) तत्र तत्राऽ-
पि च पञ्चविंशतियोजनेषु इतिर्व्याख्याद्युपद्रवकारी प्रचुरमे-
षकादिप्राणिगण इति सप्तविंशः २७ मारिर्जनमारक इत्यष्टा-
विंशः २८ स्वचक्र स्वकीयराजसैन्य तदुपद्रवकारि न भव-
तीति एकोनविंशः २९ एवं परचक्र परराजसैन्यमिति त्रिंशः
३० अतिवृष्टिरधिकवर्ष इत्येकत्रिंशः ३१ अनावृष्टिर्वर्षणाभाव
इति द्वात्रिंशः ३२ दुर्मिच्छं दुष्काल इति त्रयस्त्रिंशः ३३ (उप्पा-
इयावाहित्ति) उत्पाता अनिष्टसूचका रुधिरवृष्ट्यादयस्तद्दे-
तुका येऽनर्थास्ते औत्पातिकास्तथा व्याधयो ज्वराद्यास्तदु-
पशमोऽभाव इति चतुस्त्रिंशतम ३४ अन्यच्च " पञ्चाहरओ " इत आरभ्य येऽभिहितास्ते प्रभामण्डल च कर्मक्षयकृता-
शेषा भवप्रत्ययेभ्योऽन्ये देवकृता इति एते च यदन्यथाऽपि
दृश्यन्ते तन्मतान्तरमेव मन्तव्यमिति सम० ३४ स० (इदमत्र नि-
गमन चत्वारो जन्मप्रवृत्तित एकोनविंशति देवकृता एका-
दश घातिकर्मणां क्र्याद्भवन्तीति चतुस्त्रिंशदतिशयाः उक्ताः
दर्श०) । सत्यवचनस्य पञ्चविंशदतिशयाः ।

पण्तीसं सच्चवयणाइसेसापणत्ता ।

पञ्चविंशत् स्थानक सुगमं नवर सत्यवचनातिशया आगमेन
दृष्टा एते तु ग्रन्थान्तरे दृष्टाः सजावितवचनं हि गुणवद्वक्तव्यं
तद्यथा सस्कारवत् १ उदात्त २ उपचरोपेत ३ गम्भीरशब्दम् ४
अनुनादि ५ दक्षिणम् ६ उपनीतराग ७ महार्थ ८ अव्यादतपौ-

र्वापर्यम् ९ शिष्टम् १० असदिग्धम् ११ अपहृतान्योत्तरम् १२
हृदयग्राहि १३ देशकालाव्ययीतम् १४ तत्त्वानुरूपम् १५ अप-
कीर्णप्रसृतम् १६ अन्योऽन्यप्रगृहीतम् १७ अभिज्ञानम् १८
अतिस्निग्धमधुरम् १९ अपरममवेधितम् २० अर्थधर्माज्यासा-
नपेतम् २१ उदारम् २२ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तम् २३ उपग-
तश्राघ्रम् २४ अनपनीतम् २५ उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलम् २६
अद्भुतम् २७ अनतिविश्रम्बितम् २८ विभ्रमविक्रपकिलकिञ्चिना-
दिविमुक्तम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रम् ३० आहितविशे-
षम् ३१ साकारम् ३२ सत्त्वपरिश्रमम् ३३ अपरिखेदितम् ३४
अव्युच्छेदम् ३५ चेतिवचनम् महानुभावैर्वत्तव्यमिति । तत्र
संस्कारवत्त्व सस्कृतादिश्रवणयुक्तत्वम् । उदात्तत्वमुच्चैर्वृत्तिना २
उपचारोपेतत्वमग्रास्यता ३ गम्भीरशब्द मेघस्येव ४ अनुनादित्व
प्रतिरोपेतता ५ दक्षिणत्व सरलत्व ६ उपनीतरागत्व माद-
कोशादिग्रामरागयुक्तता ७ एते सप्त शब्दोपेक्षा अतिशयाः ।
अन्ये त्वर्थाश्रयास्तत्र महार्थत्वम् बृहदभिधेयता ८ अव्यादत-
पौर्वापर्यत्वम् पूर्वापरवाक्याविरोधः ९ शिष्टत्वम् अभिमत-
सिद्धान्तोक्तार्थना वक्तुः शिष्टतासूचकत्व वा १० असदिग्धत्वम्
असंशयकारिता ११ अपहृतान्योत्तरत्वम् परदूषणाविषयता १२
हृदयग्राहित्वम् श्रोतृमनोहरता १३ देशकालाव्ययीतत्वम् प्रस्ता-
वोचितता १४ तत्त्वानुरूपत्वम् विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारिता
१५ अपकीर्णप्रसृतत्वम् सुसंबन्धस्य सतः प्रसरणम् अथवाऽ
संबद्धाधिकारित्वातिविस्तरयोरभावः १६ अन्योऽन्यप्रगृहीतत्वम्
परस्परपेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षता १७ अभिज्ञानत्व
चक्षु प्रतिपाद्यस्येव ज्ञानिकानुसारिता १८ अतिस्निग्धमधुरत्वम्
धृतगुणादिवत् सुखकारित्वम् १९ अपरममवेधित्वम् परमार्-
तुद्वन्द्वस्वरूपत्वम् २० अर्थधर्माज्यासानपेतत्वम् अर्थधर्मप्रति-
बद्धत्वम् २१ उदारत्वम् अभिधेयार्थस्यानुच्छिन्नगुण गुणवि-
शेष वा २२ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्वमिति प्रतीतमेव २३
उपगतश्राघ्रत्वम् उक्तगुणयोगात् प्राप्तश्राघ्रता २४ अनपनीत-
त्वम् कारककालवचनसिद्धादिव्यत्ययरूपवचनदोषापेतता २५
उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलत्वम् स्वविषये श्रोतृणां जनितमविच्छिन्न
कौतुक येन तत्तथा तद्भावस्तत्त्वम् २६ अद्भुतत्वमनतिविलम्बि-
तत्व च प्रतीतम् २७—२८ विभ्रमविक्रपकिलकिञ्चितादिवि-
मुक्तत्वम् विभ्रमो वक्तृमनसो भ्रान्तता विक्रपस्तस्यैवाभिधेयार्थ
प्रत्यनासक्तता किलिकिञ्चित रोषमयाभिज्ञावादिज्ञावानां युग-
पदा सकृत्करणमादिशब्दान्मनोदोषान्तरपरिश्रमस्तैर्विमुक्त यत्त
तथा तद्भावस्तत्त्वम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रत्वम् इदं
जातयो वर्णनीयवस्तुरूपवर्णनानि ३० आहितविशेषत्वम् वच-
नान्तरापेक्षया दौकितविशेषता ३१ साकारत्वम् विच्छिन्नवर्ण-
पदवाक्यत्वेनाकारप्राप्तत्वम् ३२ सत्त्वपरिश्रुहीतत्व साहसोपेतता
३३ अपरिखेदितत्वम् अनायाससजवः ३४ अव्युच्छेदित्व विव-
क्षितार्थसम्यक्सिद्धिं यावदनवच्छिन्नवचनप्रमेयतेति ३५ सम० ।

सूत्रार्थाद्यतिशयाः ।

मुत्तये अइसेसा, सामायारी य विज्जजोगाह ।

विज्जजोगाह सुए, तिसंति दुविहा अओ होंति ॥

इहातिशयास्त्रिविधास्तद्यथा सूत्रार्थातिशया सामाचार्यति-
शयाः विद्या योगा आदिशब्दान्मन्त्राश्चेति त्रयोऽतिशयास्तत्र-
विद्या स्त्रीदेवताधिष्ठिता पूर्वसेवादिप्रक्रियासाध्या वा योगाः
पादद्वेषप्रवृत्तयो गगनगमनादिफलाः । मन्त्राः पुरुषदेवताः

पठितसिद्धा वा । यदा विद्ययागाशब्दान्मन्त्राश्च श्रुते एव विशन्ति अन्तर्भवन्ति अनो द्विविधा अतिशया भवन्ति तत्र सूत्रार्थानिशया. सामाचार्यतिशयाश्चेत्येतेषामनिशयानामुपलब्धिं प्रवाचनाच्चार्यपर्युपासनया भवति धृ० १ उ० । अवध्यादौ, श्री० । कर्मणि प्रत्यय अतिक्रान्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० अतिशय्यते कर्मणि घञ् । स्वल्पाऽत्रशिष्टे; वाच० ।

अइसेसइहि-अतिशेषि-पु० अतिशेषा अवधिमनःपर्याय-ज्ञानामर्यौपध्यादयोऽनिशयास्ते नैर्वा ऋक्षिर्यस्याऽसौ अतिशेषिः । प्रथमे प्रवचनप्रज्ञाचके, प्रव० १४ द्वा० । नि० च० । दश० अइसेमपत्त-अतिशेषप्राप्त-त्रि० आमर्यौपध्यादिलब्धी. प्राप्ते, कल्प० ॥

अइसेमपहुत्त-अतिशेषप्रचुत्त-न० अतिशयाप्रभुत्वे, व्य० ६ उ० । अइसेसि (न)-अतिशेषिन्-त्रि० स्फांते, ओघ० ।

अइसेसिय-अतिशेषित-त्रि० अतिशयिते, व्य० ६ उ० ।

अइ (ति) हि-अतिथि-पु० न विद्यन्ते सततप्रवृत्त्या विश-वैकाकाराऽनुष्ठानतया तिथयो दिनविभागा यस्य सोऽतिथिः " तिथिपूर्वत्सत्वा सर्वे, त्यक्त्वा येन महात्मना । अतिथिं त विजानोयाच्छेषमभ्यागत विदुर्गित्युल्लङ्घने (ध० २ अधि०) तिथिपूर्वादिलौकिकव्यवहारपरिवर्जके भोजनकालोपस्थायिनि भिक्षुविशेषे, ध० २ अधि० । आव० । आ० । आतु० । प्रति० । आचा० । आगन्तुके, भ० ११ शु० ६ उ० ।

अइ (ति) हिपूत्रा-अतिथिपूजा-स्त्रो० ६ त० आहारादि-दानेनातिथे सत्कारलक्षणे लोकोपचारविनयभेदे, द० ४ अ० " बलिब्रह्मदेवं करेदत्ता अतिहिपूय करेद करेदत्ता तत्रो पञ्चा अर्पणा आहारमाहाग्रे " भ० ११ शु० ६ उ० । नि०, अइ (ति) द्विवृत्त-अतिथिवृत्त-न० अतिथे शक्त्युपचये, आचा० १ शु० २ अ० २ उ० । प्रति० ।

अइ (ति) हिम-अतिहिम-न० अतिशयितहिमे, पि० ।

अइ (ति) द्विणीमग-अतिथिनीपक-पु० अतिथिमा-श्रित्य वनीपकः । अतिथिदानप्रशसनेन तद्भक्तात् लिप्स्यमाने याचकभेदे, स्था० ४ ठा० ।

सांप्रतमतिथिभक्तानां पुरतोऽतिथिप्रशसारूप वनीपकत्वं यथा साधुर्निदधानि तथा दर्शयति ।

पाएण देइ लोगां, उवगारिसु परिचिएसु कुसिए वा ।

नो पुण अइखिन्नं, अनिहिं पूएइ तं दाणं ॥

इह प्रायेण लोक उपकारिषु यद्वा परिचितेषु यदि वा अध्यु-यिते आश्रिते ददाति भक्तादि यः पुनरुपलभ्यते अतिथिं पूज-यति तदेव जगति दान प्रधानमिति शेषः । पि० । नि० चू० ।

अइ (ति) हिंसंविज्ञाग-अतिथिसंविज्ञाग-पु० तिथिपूर्वा-दिलौकिकव्यवहारत्यागाद् भोजनकालोपस्थायी आवक-स्यातिथिः साधुवृत्त्ये तस्य सगतो निर्दोषो न्यायागतानां कल्पनीयान्नपानादीनां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तः पश्चा-त्कर्मादिदोषपरिहारेण त्रिशिष्टो माग आत्मानुग्रहबुद्ध्या दान-मतिथिसंविभागः । यथा सविभागापरनामके चतुर्थे शिद्धा-व्रते, भ० ३ अधि० (तत्त्व च)

अतिहिसेविभागो नाम न्यायागयाणं कप्पाणिज्जाणं अन्न

पाणाणां दन्वाणं देसकालसद्धासकारकमनुत्तरां परा-भत्तीए आयाणुगहृद्धीए संजयाणं दाणं ॥

नामशब्दः पूर्ववत् न्यायागतानामिति न्यायो द्विजज्ञत्रियवि-दशूद्राणां स्ववृत्त्यनुष्ठान स्ववृत्तिश्च प्रसिद्धैव प्रायो लोकव्यव-हार्या तेन तादृशा न्यायेनागतानां प्राप्तानामनेनान्यायेनाग-तानां प्रतिषेधमाह । कल्पनीयानामित्युद्गमादिदोषवर्जिताना-मनेनाकल्पनीयानां निषेधमाह अन्नपानादीनां द्रव्याणामादि-ग्रहणादन्नपानौपध्वभेषजादिपरिग्रहः अनेनापि हिरण्यादिव्य-वच्छेदमाह । देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तं तत्र नानाब्रौहि-कोद्वककुगोभूमादिनिष्पत्तिभादेशः, सुभिक्षुदुर्भिक्षादि का-लः, विशुद्धचित्तपरिणामः श्रद्धा, अभ्युत्थानासनदानवन्द-नानुव्रजनादिः सत्कारः, पाकस्य पेयादिपरिपाट्या प्रदान-क्रमः, एभिर्देशादिभिः युक्तं समन्वितमनेनापि विपक्षव्यव-च्छेदमाह । पर्या प्रधानतया भक्त्योत्पन्नेन फलप्राप्तौ भक्ति-तमतिशयमाह । आत्मानुग्रहबुद्ध्येति न पुनर्यस्यनुग्रहबुद्ध्येति-तथा आत्मपरागनुग्रहपरा एव यतः सत्यता मूलगुणोत्तरगु-णसपत्ना साधवः तेभ्यो दानमिति सूत्राक्षरार्थः । आव० ६ अ० । अत्र बुद्धोक्ता सामाचारी आवर्केण पोषध पात्रयता नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा पारयितव्यमन्यदा पुनरनियमो दत्त्वा वा पात्रयति पारयित्वा वा ददाति तस्मात्पूर्वं साधुभ्यो दत्त्वा पश्चात्पारयितव्यम् । कथं यदा देशकालो भवति तदात्मनो विभूषां कृत्वा साधूस्तत्पश्चात्पत्वा निमन्त्रयते भिक्षां गृही-तेति । साधूनां का प्रतिपद्यते । तदा एक पटलकमन्यो मुखानन्तकमपरो भाजनं प्रत्युपेक्षते मा अन्तरायदोषाः स्थाप-नदोषा वा भवन्तु स च यदि प्रथमायां पौरुष्यां निमन्त्रयते अस्ति च नमस्कारसहितप्रत्याख्यानीयस्तनस्तब्रह्मते । अथवा नास्त्यसौ तदा न गृह्यते यतस्तदोदव्य भवति । यदि पुनर्ध-नं लगेत्तदा गृह्येत सस्थाप्यते च यो बोद्धाटपौरुष्यां पारयति पारणकवानन्यो वा तस्मै तद्वीयते पश्चात्तेन आवर्केण सम-सघाटको व्रजत्येको न व्रजेत् प्रेषयितुं साधुपुरतः आवकस्तु मार्गतो गच्छति ततोऽसौ गृहं नीत्वा तावासनेनोपनिमन्त्रयेत यदि निविशेते तदा अष्टमथ न निविशेते तथाऽपि विनयः प्रयु-क्तो भवति ततोऽसौ भक्तं पानं च स्वयमेव ददाति अथवा भाजनं धारयत्यथवा स्थित एवास्ते यावदन्नं साधू अपि सावशेषं गृहीतः पश्चात्कर्मपरिहरणार्थं ततो दत्त्वा वन्दित्वा च विसर्जयत्यनुगच्छति च कतिचित्पदानि तत् स्वयं भुङ्क्ते यच्च किल साधुभ्यो न दत्तं तत् आवर्केण न भोक्तव्यम् । यदि पुनस्तत्र ग्रामादौ साधवो न सन्ति तदा भोजनवेलायां दिगवलोकनं करोति विशुद्धभावेन च चिन्तयति यदि सा-धवोऽभविष्यस्तदा निस्तारितोऽहमभविष्यमिति विभाषेति गार्थः ३१ पचा० १ विव० । ध० २० । ध० । आ० । " एसा विहीणाणोसु बभयारीसु भत्तीए गिही उगहं कुज्जा पाणि-उकामो य वर इह परलोके य द्वाणं फलं " आ० चू० ४ अ० ॥

अस्य पञ्चातिचाराः ।

तयाणंतरं च एं अहासंविज्ञागस्स पंच अइआराजा-णियव्या न समारियव्या । तं जहा सच्चित्तनिकखेवणया १ सच्चित्तपेहणया २ कालाऽकमदाणे ३ परवदेसे ४ मच्छरया ५

यथा सिद्धस्य स्वार्थे निर्वर्तितस्येत्यर्थोऽशनादेः समिति सङ्गतत्वेन पञ्चात्कर्मादिदोषपरिहारेण विभजनं साधवे दान-
द्वारेण विभागकरणं यथा सविभागस्तस्य (सखित्तनिकलेवणे-
त्यादि) सचित्तपु ब्रीह्यादिषु निक्षेपणमन्नादेरदानबुद्ध्या मा-
तृस्थानतः सचित्तनिक्षेपणमेव सचित्तेन फलादिना स्थगनम्
सचित्तपिधानम् २ कालातिक्रमः कालस्य साधुभोजनकाल-
स्यातिक्रम उल्लङ्घन कालातिक्रमः । अयमभिप्रायः कालभूत-
मधिकं च ज्ञात्वा साधवो न ग्रहीष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च यथा-
ऽयं दद्यात्येवं विकल्पतो दानार्थमभ्युत्थानमतीचर इति ३ ।
तथा परव्यपदेशः परकीयमेतत्तेन साधुभ्यो न दीयते इति
साधुसमक्ष भणन जानन्तु साधवो यद्यस्यैतद्भक्षादिकं ज-
वेत् तदा कथमस्मन्य न दद्यादिति साधुप्रत्ययार्थम् अथवा
ऽस्मादानान्ममान्नादे पुण्यमस्तिवति भणनमिति ४ मत्सरिता
अपरेणैव दत्त किमहं तस्मादपि रूपणो हीनो वाऽतोऽहमपि
ददामीत्येवरूपोदानप्रवर्तकविकल्पो मत्सरिता एते चाति-
चारा एव न भङ्गा दानार्थमभ्युत्थान दानपरिणतेष्वदृष्टितत्वात्
भङ्गस्वरूपस्य चेद्देवमभिधानात् यथा “ दानतराय दोसा, न
देह दिङ्गतय च वारेह । दिन्ने वा परितप्पह, इति किवणत्ता
भवे भगो ” १ उपा० १ अ० । घ० ।

अई (ति) व-अतीव-अ० अति-इव-समासः । अतिशयार्थे,
पचा० १९ विव० । “अईव णिच्चधयारकत्तिपसु ” प्रश्न० आश्र०
२ द्वा० । “अईव सोमचारुक्का” अतीव अतिशयेन सोम दृष्टि-
भग चारु रूप येषां तेऽतोव सौन्दर्यारुक्काः जी० ३ प्रति० २ उ० ।

अउअ [य]-अयुत-न० चतुरशीत्या दक्षैर्गुणिते, अनु० । अ-
युताङ्गे, स्था० २ ग० । अनु० । जी० । ज० । दशसहस्रेषु, क-
ल्प० । असबके, असयुक्ते च वाच० ।

अउअंग-अयुताङ्ग-न० चतुरशीत्या दक्षैर्गुणिते अर्थनिपुणे, जी०
३ प्रति० । ज० । कल्प० । स्था० । अनु० ।

अउअ सेख-अयुतसेख-त्रि० कारणकपालाद्रेरपृथग्भूततया
सिद्धे कायद्रव्ये घटादौ, तथाभूते वैशेषिकोक्ते द्रव्याश्रिते गुणे,
कर्मणि च वाच० । आ० म० । सम्म० । स्था० ।

अउज्ज-अयोध्य -त्रि० परैर्योद्धमशक्ये, जी० ३ प्रति० ।
जुगत्तत्वात्परबलैः सप्राप्तयितुमशक्ये, स्था० ४ ग० ।

अउज्ज-अयोध्या-स्त्री० विनीताऽपरनामके पुरीजेदे,
तन्माहात्म्यम् ।

अउज्जाए एगछियाइ जहा अउज्जा अउज्जा कोसहा विणीया
सा केय इक्ष्वागुन्तूमी रायपुरी कोसदत्ति एसा सिरिउसज
अजिअभिनदणसुमइभणतजिणाण तहा नवमस्स सिरित्री-
रणणहरस्स अउज्जाउणा जम्मन्तूमी रहुवसऊवाण दसरहराम-
भरहाईण च रज्जछाण विमदवाइणाइ सप्त कुलगगा इत्थ उप्प-
आ उसमसामिणो रज्जाजिसेए मिहुणगेहिं जिसीणीपत्तेय उ-
दय धित्तु पापसुच्छूद तओ सा हुविणीया पुरिसत्ति जणिअ स-
क्केण तओ विणीयत्ति सा नयगी रुढा । जत्थ य महासईए सी-
याए अप्पाण साहनीए निअसीलवलेण अगी जलपूरा कओ सो
अज्जपुगे नयगिं दोवतो निअमाहप्पेण तीए चेव रक्खिअओ जाय
अह्जरहवसुइगोअस्स मज्जन्तूआ सया नवजोअणवित्थिआ
वारसजोअणदीहा य जत्थ चक्केसरी रयणमयायतणइअप-
डिमा सवविणह हरेइ । सोमुहजक्खो अ जत्थ धम्मरदहो उ-

सरऊ नईए सम मिलित्ता सग्गदुवारंति पसिद्धमावओ जीए
उत्तरदिसाए बारसहिं जोयणेहिं अट्टावयनगवरो जत्थ भ-
गव आइगरो सिद्धो जत्थ य भरहेसरेण सीहनिस्सिज्जाययणं
ति कोसुअं कारिय नियनियवम्पमाणसठाणजुत्ताणि अ च-
उवीसजिणाण विवाइ ठावियाइ तत्थ पुव्वदारे उसमजियाणं
दाहिणदारे सभवाईणं चउअं, पच्छिमदुवारे सुपासाईणं अ-
ट्टाह उत्तरदुवारे धम्माईणं दसरह थूमसयं च भाउआअं
तेण च कारिअ । जीए नयरीए वत्थव्वा जण अट्टावयउअव-
यासु किलिसु जओ असेरीसयपुरे नवगवित्तिकारसाहास-
मुम्भवेहिं सिरिदेविंदसूरीहिं चत्तारि महाविआइ दिव्वसत्तीए
गयणमगेण आणीआइ जत्थ अज्जवि नाभिरायस्स भदिं
जत्थ पासनाहवामिअसीयाकुड सहस्सधारं च पायारट्टिओ
मत्तगयदजक्खो अलाविज्जस्स अणो करिणो न सचरति
सचरति वा ता मरति गोपथराईणि य अणेगाणि य लोइअति-
छाणि वरुति “पसा पुरी अउज्जा, सरउज्जाभिसिच्चमाण-
गढमिच्छी । जिणसमयसत्तित्थी, जत्तपवित्तिअज्जा जयइ ॥
कइ पुण देविंदसूरीहिं चत्तारि विआणि अउज्जापुरओ आणि-
याणित्ति जअइ सेरीसेयमयरे विहरता आराहिअपठमावइध-
रणिदा उत्तावट्टीयसिरे देविंदसूरीणो उ कुक्कि अण्णए ठाणे-
काउसग्गि करिंसु एव बहुवार करिंते दट्ठूण सावपाईं पुच्छिय
भयव को विसेसो इत्थ काउसग्गकरणे सूरिहिं जणिअ इत्थ
पहाणफलहं चिछइ जंसे पासनाहपनिमा कीरइ सा य सत्तिहिं
अपानिहेरा हवइ तओ सावयवयणेण पठमावई अराहणत्थ
उचवासतिग कय गुरुणा आगया जगवइ तीए आइडु जहा सो
पारए अओ सुत्तहारो चिट्ठइ सा जइ इत्थ आगच्छइ अठमजत्त
च करेइ सूरिए अत्थमिए फलहिअं अथाउमादवइ अणुदिए
पडिपुअं सपानेइ तओ निप्पजइ । तओ सावपाईं तदाहवणत्थ
सो पारए पुरिसा पठविआ सो आगओ तहेव धमिठमादत्ता
धरणिंधधारिआ निप्पन्ना पनिमा धमिठत्तस्स सुत्तहारस्स पनि-
माएहिं अपमासा पाउअओ । तमुविक्खिअणा उत्तरकाउ ध-
मिओ पुणो समारिणेण मसो दिट्ठो ढकिआ वाहिआ रुहिर निस्स-
रिउमारऊ तओ सूरिहिं जणिअ किमेय तुमए कय एवम्म
मसे अत्थत सा पनिमा अईव अज्जुअ अह उसमपभवा हुता ।
तओ अगुट्ठेणं चपिउ धमिअ सरुहिर एव तीसे पनिमाए नि-
प्पन्नाए चउवीस अआणि विआणि आणीहिंता आणित्ता ठावि-
आणित्तओ दिव्वसत्तीए अउज्जापुरओ तिअ महाविआण रत्तीए
गयणमगेण आणियाणि । चउत्थे वि आणिज्जमाणे विहाया
रयणी चउधारासेणेयग्गामे खित्तमज्जे विव उविअ रामासि-
रिकुमारपात्तेण चालुक्कचक्कवणा चउत्थ विव कारित्ता ठाविअ ए
व सेरीसे मदप्पजावो पासनाहो अज्ज वि सघेण पूइज्जइ मि-
च्छावि उवइव कारिउ न पारैति कुसुअघमिसेण न तहा सला-
वणा अवयवा दीसति तम्मिअ गामे न विव अज्ज वि चेईहरे पु-
इज्जइति । इति श्री अयोध्याकल्प समाप्त ती० १३ कल्प० । गन्धि-
दावतीविजये वर्तमाने पुरीगुगले च “दो अउज्जाओ” स्था० २ ग०

अउ (तु) ह-अतुल-त्रि० अनन्यसदृशे, आ० ६ अ० ।

दण निरुपमे, उत्त० २० अ० । प्रधाने, आ० । नास्ति तुला शु-
भ्रताया यस्यामिति तिलकवृत्ते, पु० । वाच० ।

अओ-अतस्-अ० इदम् तसिद्ध-एतत्केतुकार्ये, वाच० “अओ सन्वे
अहिंसिया ” सूत्र० १ अ० १ अ० १ उ० ।

अंकोल्लतेल्ल-अकोट [उ] तेल्ल- न० अङ्कोट-तैल्लच् अनङ्को-
गतैत्रस्य मेल्ल ८ । १ । ५५ । इत्यङ्कोटगुरुदासान् तैल्लप्रत्य-
यस्य डेल्लः । अङ्कोटस्नेहे प्रा० ॥

अंग-अङ्ग-अ० आमन्त्रणे, न० ए १० ३३ उ० दशा० । झा० ।
ओ० । अलंकारे च । “विमग पुण अह अज्जोवगमिओ” स्था०
४ ठा० अज्जुयत्तिप्रकरणगतिष्वितिअज्ज धातोर्ज्यन्ते गर्भोत्पत्ते
रारज्य व्यक्तीजयन्ति जन्मप्रभृतेर्भ्रज्यन्ते चेत्यङ्गानि । शिर-
उदरादिषु न० कर्म० । देहावयवेषु, प्रव० ८ द्वा० । आ० चू०
प्रज्ञा० निचू० विशेष० उक्त० अङ्गान्यष्टौ शिर प्रभृतीनि तदुक्त
“सीसमुरोत्तरपिठो, दो वाहू ऊरुया य अट्टगा ” कर्म०रा० ।
“बाहूकपुठिसिरउत्तरयरागा ” बाहू चउजद्वयम् ऊरु ऊरुद्वय
पृष्ठिः प्रतीता शिरो मस्तकमुरो वक्ता उदर पोष्टमित्यष्टावङ्गान्यु-
च्यन्ते इह विभक्तिक्षेपः प्राकृतत्वात् कर्म० १ क० । आ०म० ।
गात्रे, औ० । स्था० । उक्त० । अवयवे, स्था० ७ ठा० । “अठ-
गाह ” झा० १ अ० । स० । स्था० बौक्तिकानि वेदस्य षड-
ङ्गानि तद्यथा शिक्षा १ कल्पो २ व्याकरण ३ उन्दा ४ नि-
रुक्त ५ ज्योतिष ६ चेति आ०चू० २ अ० । अनु० । आ० म० ।
आव० । लोकोत्तराणि प्रवचनस्य द्वादश अङ्गान्याच्चा-
राङ्गादीनि (तानि अगण्यविदुशब्दे व्याख्यास्यन्ते) कारणे,
प्रति० । स्था० ।

अस्य निक्षेपमाह ।

णामंगं ठवणंगं, ठवंगं चैव होइ भावंगं ।

एसो खलु अगस्स, णिकखेवो चउव्विहो होइ उक्त०नि०
नामाङ्ग स्थापनाङ्ग द्रव्याङ्ग चैव जवति भावाङ्गमेष खलु
(अगस्स इति) प्राकृतत्वाद्गस्य निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति गा-
थासमासार्थः । अत्र च नामस्थापने प्रसिद्धत्वाद्वाच्यं द्रव्या-
ङ्गमभिधित्सुमाह ।

गंधंगमोसहंगं, मज्जाजुज्जं सरीरजुज्जं ।

एत्तो एक्केकं पि य, णेगविहं होइ णायव्वं ॥

गन्धाङ्गमौषधाङ्ग (मज्जाजुज्जं सरीरजुज्जं) विन्दौरलाङ्गणिकत्वा-
द्गस्य च प्रत्येकमभिसम्बन्धात् मद्याङ्गमातोद्याङ्ग शरीराङ्ग
युक्ताङ्गमिति षड्विधम् (एत्तोत्ति) सुव्यत्ययादेषु मध्ये एकै-
कमपि चानेकविध भवति ज्ञानव्यमिति गाथाकाराथ । भावार्थ
तु विवक्षुराचार्यो “यथोद्देशं निर्देशमिति” न्यायमाश्रित्य गन्धाङ्ग
प्रतिपादयन्माह ।

जमदग्गिजहा हरेणु-या सवरणिबसणयं सपिप्पियं ।

रुक्खस्स बाहिरा तपा, मल्लियवासियकोडिअग्घती ॥

उसीरहिग्विराणं, पलं भददारुणो करिसो ।

सत्तपुप्फाण भागो य, भागो य तमालपत्तस्स ॥

एयं पण्णाणमयं, विद्धेवणं एस चैव पट्ठासो ।

वासवदत्ताकत्तो, उदयणमज्झिधारयतीए ॥

तत्र जमदग्निजटा बालको हरेणुका प्रियङ्गुः सवरनिबसनक
तमालपत्र (मपिप्पिय) पिप्पिका ध्यामकाख्य गन्धद्रव्य तथा सह
सपिप्पिक वृक्षस्य च बाह्या त्वक् चातुर्यात्तकाङ्ग प्रतप्तमेव
“मल्लियवासियन्ति” मल्लिका जातिस्तद्वासितमनन्तरोक्तद्रव्य-
जान् चूर्णीकृतमिति गम्यते कोटिं (अग्घ इति) अर्हति कोटि-
मल्ल्याहं जवति । महार्घनोपबक्षणं चेतत् तथा उशीर प्रसिद्ध
हीमेरो बालक पल पलमन्त्रोस्तथा भद्रदारोर्द्वेचदारो कर्ष

“सयपुप्फाणति” वचनव्यत्ययात् शतपुष्पाया जागो जागश्च
तमालपत्रस्य भाग इह पलिका मात्रा । अस्य माहात्म्यमाह । एत
त्क्षानमेतदिलेपनमेष चैव पट्ठासः बासवदत्तया चाण्डप्रद्योत-
दुहित्रा कृतो विहित उदयन वीष्णावत्सराजमज्झिधारयन्त्या चे-
तसि वहन्त्या अनेन परिचिन्ताक्षेपकत्यमस्य माहात्म्यमुक्त-
मिति सूत्रार्थः । औषधाङ्गमाह ।

दोषि य रयणीं महिद-फलं च तिप्पि य समूसणंग्गाइं ।

सरसंव कणयमूलं, एसा उदगट्टमागुत्तिया ॥

एसा उ हणइ केणु, तिमिरं अवहेरुगं पिरोरोगं ।

तेज्जगचाउत्थग-मूसगसप्पावरणं च ॥

द्वे रजन्यौ पिप्पुदाकहरिद्रे माहेन्द्रफलं चेन्द्रयवा श्रीणि च
समूषण त्रिकटुक तस्याङ्गानि सुण्ठीपिप्पलीमरिचद्रव्याणि स-
रस चार्द्रकनकमूलं विल्वमूलमेषोदकाष्टमेत्युदकमष्टम यस्य
सा च तथा गुटिका वटिका । अस्याः फलमाह । एसा तु हन्ति
कणु तिमिर (अवहेरुयति) अर्द्धशिरोरोग समस्तशिरो-
व्यथां (तेज्जगचाउत्थगति) सुपो लोपे तार्तीयकचातुर्थिकौ
रुद्ध्या ज्वरौ मूषकसर्पापराद्धमुन्दराहिदष्ट चः समुच्चय इति
गाथाद्वयार्थः । मद्याङ्गमाह ।

सोलस दक्खिजागा, चउरो जागा य धावतीपुप्फे ।

आदगमो उच्छुरसे, मागहमाणेण मज्जंगं ॥ दारं ॥

(सोलसगाहा) षोडश द्राक्षाजागाश्चत्वारो भागाश्च धात-
कीपुष्पे धातकीपुष्पविषयाः (आदगमोत्ति) आर्षवादादक
उच्छुरसविषयः आदक इह केन मानेनेत्याह । मागधमानेन “दो-
असइ” इत्यादिरूपेण मद्याङ्ग मदिराकारणं जवतानि गाथार्थः ।
आतोद्याङ्गमाह ।

एगं मगुदातूर-मेगं अहिमारुदारुअं अग्गी ।

एगं साडियपोनं, बप्पो आमोलतो होइ ॥

(एगगाहा) एक मकुन्दातूर्यमिति । एकैव मकुन्दा घाटित-
विशेषो गम्भीरस्वरत्वादिना तूर्यकार्यकारित्वान् तूर्यमनेनास्या
विशिष्टमातोद्याङ्गत्वमेवाह । किमेकैव मकुन्दातूर्य सौपस्कार-
त्वाद्यैकमभिमारस्य वृक्षविशेषस्य दारुक काष्ठमभिमारदारु-
कमग्निविशेषतोऽग्निजनकत्वाद्यथा वा एक शास्त्रमलीपाण्ड
शास्त्रमलीपुष्प बद्धमामोरुको जवति । आमोरुक पुष्पोन्मिश्रो
यालबन्धविशेष स्फारत्वादस्येत्थ दृष्टान्ताज्झिधारयितयेद् व्या-
ख्यायते प्रसङ्गतो आग्नीमोरुकाङ्गयोरप्यभिधानमिति सू-
त्रार्थः । शरीराङ्गमाह ।

सीसं उरो य उदरं, पिट्ठी वाहू य दोषि ऊरू य ।

एए होंति अट्टंगा खलु, अंगोवंग्गाइं सेसाइं ॥

होंति उवंगा कन्ना, एसाच्छीइत्थपादजघा य ।

एहकेसमंसअगुत्ति, ओट्टा खलु अंगुवंग्गाइं [दाग्ग]

शिरश्च उग्गश्च प्राग्गुदरं “पिठित्ति” प्राकृतत्वात्पृष्ठ बाहु द्वौ
ऊरू च एतान्यष्टाङ्गानि । प्राग्गुत्थ लिङ्गव्यत्यय खलुग्वधारणे
एतान्येवाङ्गानि अङ्गोपाङ्गानि शेषाणि नखादीनि उपलक्षणत्वा-
दुपाङ्गानि च कर्णादीनि यत् उक्तम् । होंति उवंगा कन्ना नासच्छी
जघहत्थपाया य । नहकेसमंसअगुत्ति ओट्टा खलु अंगुवगाणि
इति गाथार्थः ।

साप्रत युक्ताहमाह ।

जाणानरणपहरणे, जुद्धे कुशलत्तणं व एतीती य ।

दक्खत्त ववसातो, सरीरमारोगए चेव ॥

(दारम) (जाणावरणपहरणेत्ति) यान च हस्त्यादि तत्र सत्यपि न शक्नोत्यभिभवितुं शत्रुमत आघरणं च कवचादि सत्यप्यावरणे प्रहरणं विना किं करोतीति प्रहरणं च खड्गादि यानावरणप्रहरणानि यदि युद्धे कुशलत्वं नास्ति किं यानादिनेति युद्धे सग्रामे कुशलत्वं च प्रावीण्यरूपं सत्यप्यस्मिन्नाति विना न शत्रुजननमतो नीतिश्चापक्रमादिलक्षणा सत्यामपि चास्या दन्तवाधीनो जयस्ततो दक्षत्वमाशुकारित्वं सत्यस्मिन्निर्व्यवसायस्य कुतो जय इति व्यवसायो व्यापारस्तत्रापि यदि न शरीरमहीनाङ्ग ततो न जय इति शरीरमर्थतत्परिपूर्णाङ्ग तत्राप्यारोग्यमेव जयायेति (आरोग्यत्ति) आरोग्यता चः समुच्चये एवावधारणे ततः समुदितानामेवैषां युद्धाङ्गत्वमिति सूत्रार्थं भावाङ्गमाह ।

जावंगं पि य एविहं, सुतमगं चेव एोसुत अंगं ।

सुतमंगं वारसहा, चउव्विहं एोमुयज्जग ॥

भावाङ्गमपि च द्विविधम् (सुयमंगं चेवात्ति) श्रुताङ्गं चैव नो-
श्रुताङ्गं च । श्रुताङ्गं द्वादशधा आचारादि भावाङ्गता चास्य द्वायोपशमिकजायान्तर्गतत्वात् । उक्तं च “ भावे खओवसमिप एवाल्लसगं पि होति सुयणाणाति” चतुर्विधं चतुष्पकारं नोश्रुता-
ङ्गं तु नोशब्दस्य सर्वनिषेधार्थत्वाद्दश्रुताङ्गं पुनः मकारश्च सर्व-
प्राज्ञाक्षणीक इति गार्थार्थः । एतदेवाह ।

माणुस्स धम्मसुत्ती, सप्पा तवसंजमम्मि विरयं च ।

एए जावगा खलु, दुल्लभगा होति संसारे ॥

मानुष्य मनुजत्वमस्य चादावुपन्यास एतन्नावे शेषाङ्गभावा-
त् धर्म्मश्रुतिरहंत्प्रणीतधर्म्माकर्षणं श्रद्धा धर्म्मकरणाभिहाप ।
तपोऽनशनादिस्तत्राधानः सयमं पञ्चाश्रयविरमणादिस्तप स-
यमो मध्यमपदशोपी समासः । तपश्च सयमश्च तप सयममिति
समाहारो वा तस्मिन्वीर्यं च वीर्यान्तरायद्वयोपशमसमुत्था-
शक्तिः । अस्य च द्विष्टस्याप्येकत्वेन विवक्षितत्वाच्चोक्तसख्या-
विरोधः । एतानि ज्ञावाङ्गानि खलु निश्चितं दुर्लभकानि भवन्ति
संसारे विद्वन्मन्ययश्च प्राकृतत्वादेतच्चानुक्तमपि सर्वत्र ज्ञाव-
नीयमिति गार्थार्थः । इह अव्याङ्गेषु शरीराङ्गं भावाङ्गेषु च स-
यमः प्रधानमिति । तदेकार्थिकान्याह ।

अंगं दसजागभेए, अवयव असगद्वज्जुसियाखंमे ।

देसे पदेसपव्ये, साहापरुलपज्जवखिलं च ॥

दया य संजमे लज्जा, दुगुणा अच्छद्वणादि य ।

तितित्त्वा य अहिंसा य, हिरी ति एगद्विया पदा ।

अङ्गदशभागो भेदोऽवयवोऽसकलश्चूर्णं खण्डो देश प्रदेशः
पर्वशाखा पाटल पर्यवः खिलं चेति शरीराङ्गपर्याया इति वृद्धा ।
व्याख्यानिकस्त्वाविशेषतोऽमी अङ्गपर्यायास्तथा (दसभाग-
त्ति) दशभाग इति च भिन्नावेव पर्यायावित्याह । चः समुच्च-
ये सूत्रत्वाच्च सुपः क्वचिदश्रवणमिति । सयमपर्यायानाह
दया च संयमो वज्जा जुगुप्सा अच्छद्वणा । इमिशब्दः स्वरूप-
परामर्शकः पर्यन्ते योद्व्यते तितित्त्वा चाहिंसा च न्हीश्रुत्येकार्थ-
कान्यभिन्नाभिधेयानि पदानि सुवन्तशब्दरूपाणि पर्यायाभिधान-
च नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमिति गार्थाद्वयार्थः । उक्तं ३ अ०
स्था० । अज्यते अयन्तीक्रियते ऽस्मिन्नि चतुर्विधं नामस्थाप-

नाद्व्यभाचभेदात् । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्याङ्गं इशरीरप्र-
व्यशरीरव्यतिरिक्तं शिरो बाह्यादि । जावतोऽयमेवाचार आचा-
राङ्गम् आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । नित्ते, अङ्गजे कामे उपाये,
प्रयानोपयोगिनि उपकरणे, फत्रवन्सन्निधावफलं तदङ्गमिति
मीमांसा जन्मादिलक्षणे, यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गमिति
पाणिनिपरिभाषिते प्रत्ययावधिचूने शब्दभूते च वाच० । ऋष-
भदेवस्य द्वादशे पुत्रे, कल्प० । तौ० जनपदाविशेषे, यत्र चम्पा-
नगरी ज्ञा० ८ अ० । प्रव० । स्था० । वृ० । कल्प० । सूत्र० ।

आङ्ग-पु० अङ्गानां राजा आङ्ग अङ्गदेशाधिपे, वहधेऽणो लुक् अङ्गा
अङ्गदेशास्तत्राजानो वा भक्तिरस्य अण आङ्ग । अङ्गदेशभक्ते,
अङ्गाजभक्ते वा त्रि० । अङ्गादागतम् आङ्गम् । अङ्गनिर्मिते
कार्ये, वार्णादाङ्गं वलीयः इति परिज्ञाया वाच० । अङ्गशरीरा-
वयवस्तद्विकार आङ्गम् । देहावयवविकारे, स्था० ८ उ० ।
अङ्गे जवमाङ्गम् । शरीरोत्पत्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ऋक्विषयमा-
ङ्गम् । आव० ४ अ० । शिरस्फुरणादौ, स्था० ८ उ० ।
शरीराऽवयवप्रमाणस्फुटितादिविकारफत्रोद्भावकं महानिमित्त-
भेदे, स० । अङ्गस्फुरणादिनि । शरीरावयवस्पन्दनप्रमाणादि-
भिर्यदिह यतमानमतीतमनागतं वा वृत्तं प्रशस्तमगुनं वाऽप्रश-
स्तमन्यस्मै कथ्यते तद्गण्यते आङ्गं निर्मितं यथा ‘मूर्त्तिस्फुर-
त्याद्यु पृथिव्यवासि, स्थानप्रवृत्तिश्च ललाटदेशे । नृप्राणमध्य
प्रियसगमः स्यान्नासाक्षिमध्ये च महार्थज्ञान’ इत्यादि प्रव० २५७
द्वा० “दक्षिणपार्श्वे स्पन्दनमभिधास्ये तत्फलं स्त्रिया वामे । पृथि-
वालां शिगसि, स्थानविवृत्तिश्च ललाटे स्यात्” इत्यादि स्था० ८ उ०
(आङ्गनाम्नो महानिमित्तस्य सूत्रादिमानम्) “अगस्स सय-
सहस्स, सुत्तचित्तीय कोडिविन्नेया । वक्खण अपारमिय, इय-
मेव य वत्तिय जाण” आव० ४ अ० । आ० चू० । स० ।

अंगत्र-अङ्गज-पु० अङ्गाज्जायते जन-र-पुत्रे, को० ज्ञा० । आ०
चू० । दुहितरि, स्त्री० देहजातमात्रे, त्रि० रुधिरं, न० रोगे, पु०
लोम्नि, न० अङ्गं मनस्तस्माज्जायते कामे, पु० वाच० ।
अङ्गद-न० अङ्गं दायति शोधयति दै-क-बाहुशीर्षाभरणे,
प्रज्ञा० २ पद० । जी० । ज० । ज्ञा० । स्था० । रा० । औ० । वात्ति-
वानरराजपुत्रे, वाच० ॥

अगङ्-अङ्गजित्-पु० धावस्तीवास्तव्ये गृहपतिभेदे, नि० स्था० ।
(स च पार्श्वजिनान्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वाऽनशनेन मृत्वा चन्द्र-
विमाने चन्द्रत्वेनोपपन्न इति चदशान्ते वक्ष्यते)

अंगइ (रि) सि-अङ्गर्षि-अङ्गर्षि-पु० चम्पावास्तव्ये कौ-
शिकार्थशिष्ये, तस्य नद्रत्वादङ्गर्षिरिति कौशिकार्थेण नाम
कृतम् । आ० म० द्वि० । आव० । आ० चू० । आ० क० । तीर्थ० ।
(तेनोपशमे सति सामायिकमवाप्य केवलमधिगतमिति अङ्ग-
वशब्दे वक्ष्यते)

अंगचूलिया-अङ्गचूलिका-स्त्री० अङ्गस्याऽऽचारादेश्चूलिका
यथाचाचारस्यानेकविधा इहानुक्तार्थसमाहिका चूलिका । वा-
लिकश्रुतभेदे, पा० । न० । स्थानाङ्गसूत्रे तु सत्त्वोपेकादशायास्तु-
तीयाध्ययनत्वेनेयमुक्ता स्था० १० उ० ।

सम्प्रत्युपलभ्यमानाङ्गचूलिकाग्रन्थस्येत्थमारम्भादि ।

नमो सुअदेवयाए भगवईए नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाण नमो उवज्जायाण नमो दोए सेव्वसा-
हूण । नेणं कालेणं तेणं समएणं चंपाणामं एयररी होत्था

वषट्ठो पुषभदे चेत्तिण । तेणं काळेण तेणं समणं
समणस्स जगवत्तो महावीरस्स अंतेवासी । अज्जसोहम्मे
णामं अणगारे । जाइसपत्ते जहा उववाए जाव चउणा-
णसंपत्ते । पंचहिं अणगारसएहिं संपरिबुत्ते पुव्वाणपुव्वि
चरमाण जाव जेणेव पुषभदे चेइए अहापडिस्सुवं विहरइ
परिसा णिगया । धम्मं सोचा णिसम्म जामेव दिसिं पा-
उव्वत्ता तामेव दिसिं पणिगया । तेण काळेण तेणं सम-
एण अज्जसुहम्मस्स अंतेवासी अज्जजंबूणाम अणगारे ।
जायमहे जाव जेणेव अज्जसोहम्मे सामी तेणेव उवागच्छइ
उवागच्छइत्ता तिखुत्तो आयाहिण पयाहिणं करइ करित्ता
वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता जाव पज्जुवास-
ति एवं वयासी । जइ एणं भंते समणेणं भगवया महावी-
रेणं जाव संपत्तेणं इकारस अंगाणं अयमट्ठे पन्नत्ते इका-
रस अंगाण अंगचूलियाए केअट्ठ पन्नत्ते ततेण अज्जसुह-
म्मे अणगारे जंबूअणगारं एवं वयासी । एव खड्डु जंबू-
समणेणं जाव संपत्तेणं अंगचूलियाए अयमट्ठे पन्नत्ते ।
जंबूअंगचूलिया अंगचूलियानूया णायव्वा । जहा कण-
यगिरिचूलिया सिआ । चत्तालीसं जोअण्णवा कणयगि-
रम्मि रमणिज्जे दीसंति । जहा पुरिसिस्थीणमच्छी ।
जहा य चूलियाए सिरं सौजति मणिरयणमंभियमउमेणं
मउद्वियं दिप्पति तिलयरयणेणं जालं दिप्पति । विवि-
हनाणामणिरवचियकुंमलजुअलेणं कक्षे दिप्पति । तेहिं
विलिहिज्जमाणेणं गंडे दिप्पति । उन्नयनामाए विमलस-
मुत्ताहलं दिप्पति । कज्जलेणं विसाव्वलोअणे दिप्पति ।
पंचसुगंधिणं तंवोद्वेणं वयणकमलं दिप्पति । गीवाजर-
णेण गीवा दिप्पति । वरमुत्ताहद्वहारणं वच्छत्थलं दि-
प्पति । वरकणगरयणखचियकमिसुत्तएणं कर्डी दिप्पति ।
नेउरेणं पाए दिप्पति । तहा अंगचूलिआए इकारसं अं-
गाणि दिप्पति । सा अंगचूलिया निगंथाण निगंधीणं
सम्मं जाणि व्वा फासियव्वा तीरियव्वा किट्ठियव्वा भुज्जो
भुज्जो अट्ठा रुहेउत्ता सवागरणा गुरुपरंपरागमेण गहि-
यव्वा । तत ए अज्जसुहम्मसामिणा एवं बुत्ते समाणेहट्ठ-
तुट्ठ चित्तमाणटिणं जंभ एव वयासी । कह ए जंते ! गुरु-
परंपरागमो जणइ । जंबूसमणेण भगवया महावीरेणं तओ
आगमा पणत्ता । तं जहा अत्तागमे अणंतरागमे परंप-
रागमे अत्तओ अरहताणं भगवताणं अत्तागमे । सुत्तओ
गणहराणं अत्तागमे । गणहरसीसाणं अणतरागमे । तओ
परं मव्वेसिं परंपरागमे ॥

(अस्य ग्रन्थस्य श्लोकमानमष्टौ शतानीति तत्रैव ग्रन्थसमाप्तौ
प्रतिपादितम् ।

अगच्छ ह्य-अङ्गच्छि-वि० अङ्गेषु विभः । कृत्ताङ्गे, " इमं

नक्रभोद्वन्नीसमुद्रच्छिण्य करेह वेयगच्छदिय अगच्छहियं इम
पुक्खाफोभिय करेह " सूत्र० २ धु० २ अ० ।

अंगच्छे [य] द-अङ्गच्छेद- पु० कृपितावयवकर्त्तने, " अं-
गच्छेदो सञ्चितो सेसरक्खछा " पंचा० १६ विव० ।

अंग [अङ्ग] ए-अङ्गण (न)-न० अङ्गि-गतौ अङ्गयते गृ-
हाक्षि-सत्य गम्यते ल्युट् । पृषोदरादित्वाद्वा णत्वम् । वगैऽन्यो
वा ङ० १३० इत्यनुस्वारस्य वा परस्वरणः । प्रा० अजिरे, प्रश्न०
सं० २ द्वा० ४ अ० । गृहाग्रभागे, कल्प० । ' अगण मरुवट्ठाण'
नि० चू० ३ उ० ।

अंगणा-अङ्गना-स्त्री० अङ्गे स्वशरीरे पयोधरनितम्बजघनस्म-
रकूपिकादिरूपे अनुगमो यैरा ते अङ्गानुरागास्तान् अङ्गानुरा-
गान् कुर्वन्तीति अङ्गना । स्त्रीपु, । त० आचा० । नि० चू० ।

अंगादिया-अङ्गदिका-स्त्री० तीर्थविशेषे, यत्र श्रीमदजितस्वा-
मिशान्तिदेवताद्वय श्रीब्रह्मेन्द्रदेवतायसर ती० ४५ कल्प० ।

अंगप्पजव-अङ्गप्रभव-त्रि० अङ्गः दृष्टिवादादेः प्रभवउत्पत्ति-
रस्येति अङ्गप्रभवः । दृष्टिवादादेरुपपत्तेः, यथोत्तराच्ययने पर। पहा-
ध्ययनम् " कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुमि ज सुत्त । स-
णय सोढाहरण ते चेव इह पि णायव्व ' उत्त० १ अ० ।

अंगप्पविट्-अङ्गप्रविष्ट-न० इह पुरुषस्य द्वादश अङ्गानि भव-
न्ति तद्यथा द्वौ पादौ चे जहे चे ऊरुणी चे गात्रादौ द्वौ बाहु
प्रौवा क्षिरश्च पत्र श्रुतरूपस्यापि परमपुरुषस्याचारादीनि द्वा-
दशाङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि तथा चोक्तम् । " पायडुग ज-
घोरु गायदुगं तु दो य बाहु य । गीवा सिर च पुरिसो, वार-
स अगेसु य पविष्ठो " श्रुतपुरुषस्याङ्गेषु प्रविष्टमङ्गप्रविष्टम् ॥
अङ्गभावेन व्यवस्थिते श्रुतभेदे, न० । स्था० । अनु० । पा० ।
अङ्गप्रविष्टस्यानङ्गप्रविष्टाद् भेद इह प्रदर्श्यते ॥ " अह जगव तु-
ल्ले चेव सव्वनुमते को विसेसो । जहा इम अगप्पविट् इम अ-
गवाहिरति । आयरिओ आह जे अरहतेहिं भगवनेहिं अतीता-
णागतवट्ठमाणदव्वडिगखेत्तकाव्वजावजहावत्थितदसीहिं अन्थ-
परुविता ते गणहरेहिं परमवुत्तिसिन्धवादगुणसपञ्चेहिं सय चे-
व तित्यगरसकासातो उववमिणुण सव्वसत्ताण हियठताय सु-
त्ता तेण उवणिवत्ता त अगप्पविट् आयारादि दुवावसविह ।
जं पुण अत्रेहिं विसुद्धागमवुत्तिजुत्तेहिं थेरेहिं अप्पाव्वाण मणु-
याणं अप्पवुत्तिसत्ताण बहुग्गाहकति नाऊण त चेव आयारादि
सुयणाण परंपरागय अत्थतो गथतो य अतिबहु ति काऊण अ-
ण्णकपानिमित्त दसवेयाद्वियमादिपरुवित्त अणेगभेद अणगप्पवि-
ट् " आ० चू० १ अ० ॥ तथा च ॥

गणधरथेरकयं वा, आपसा मुक्कागरणओ वा ।

धुवचलविसेसओ वा, अंगाणंगेसु णाणत्तं ॥

अङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतयोरिदं नानात्वमेतद् भेदकारण किमि-
त्याह गणधरा गौतमस्वाम्यादयस्तत्कृतं श्रुतं द्वादशाङ्गरूपमङ्ग-
प्रविष्टमुच्यते विशेषः ॥ गणधरदेवा हि मूलभूतमाचारादिक
श्रुतमुपरचयन्ति तेषामेव सर्वोत्कृष्टश्रुतत्वविधिसंपन्नतया तद्वचयि-
तुमीशत्वान्न शेषाणा ततस्तत्कृतं सूत्रं मूलभूतमित्यङ्गप्रविष्टमु-
च्यते (न) यत्पुनः शेषैः श्रुतस्थविरै तदेकदेशमुपजीव्य विर-
चित्तं तदनङ्गप्रविष्टम् (न) स्थविरास्तु भद्रबाहुस्वाम्यादय-
स्तद्वदृष्टं श्रुतमावश्यकनिर्युक्त्यादिकमनङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यमुच्यते
अथवा वारत्रय गणधरपृष्टस्य तीर्थकरस्य संबन्धनीय आदेशः

प्रतिचन्तमुत्पादय्यधौव्यवाचकपदत्रयमित्यर्थं तस्माद्यन्त्रिप्प-
न्नतदङ्गप्रविष्टद्वादशाङ्गमेव विपा० २ शु० १० अ० । आदेशा यथा
"आर्यमङ्गुराचार्यस्त्रिभिध शङ्खमिच्छति एकमधिकं श्रद्धायुष्क-
मभिमुखनामगोत्रं च । आर्यस्तमुच्चो द्विभिध श्रद्धायुष्कमभिमुख-
नामगोत्रं च । आर्यस्तु इति । एकमभिमुखनामगोत्रमिति । वृ०
१ उ० । मुक्तं मुक्तमप्रभूपूर्वकं यद् व्याकरणमर्थप्रतिपादनम्
(वि० २ शु० १० अ०) यथा चर्यदेवकुणाद्यामित्यादि ।
तथा मरुदेवी जगवती अनादिघनस्पतिफायिकातज्जघन सिद्धा
इति (वृ० १ उ०) तस्माद्यन्त्रिप्रमङ्गवाणमभिधीयते तथाव-
श्यकादिकं वाशब्दोऽङ्गानङ्गप्रविष्टत्वे पूर्वोक्तभेदकारणादन्यत्व-
सूचकः । तृतीयभेदकारणमाह (ध्रुयेति) ध्रुव सर्वेषु तीर्थकर-
तांशेषु निश्चयभावि (विपा० २ शु० १० अ०) सर्वेषु क्षेत्रेषु
सर्वकाल चार्थकम चाधिकृत्य एवमेव व्यवस्थितं ततस्तदङ्गप्र-
विष्टमुच्यते अङ्गप्रविष्टमङ्गचतुर्त्तं मूलचतुर्त्तमित्यर्थः । न० ॥ द्वा-
दशाङ्गमिति यत्पुनश्चलमनियतमनिश्चयभावि तत्तत्पुनश्चैका-
लिकप्रकीर्णकादिभुनमङ्गवाणं वाशब्दोऽत्रापि भेदकारणान्तर-
त्वसूचकः । इदमुक्तं भवति गणधरकृतं पदत्रयलक्षणतीर्थकरा-
देशनिष्पन्नं ध्रुव च यत्पुन नदङ्गप्रविष्टमुच्यते । तच्च द्वादशाङ्गी-
रूपमेव यत्पुन स्थविरकृतमुक्तकार्याभिधानं चतुर्त्तं च तदाव-
श्यकरूपकीर्णादि भुनमङ्गवाणमिति विशेषः ।

अङ्गप्रविष्टश्रुतनेदा यथा ।

मे किं त अंगपविष्टं अंगपविष्टं दुवालसविष्टं पञ्चत्तं तं
जहा । आपारो १ सुपगनो २ ठाणं ३ समवाओ ४
विवाहपञ्चत्ती ५ नायाधम्मकहाओ ६ उवासजदसाओ ७
अतगरुदसाओ ८ अनुत्तरोववाण्यदसाओ ९ पण्हावा-
गरणां १० विवागसुय ११ दिट्ठियाओ य १२ ॥

अथ किं नदङ्गप्रविष्टं सूरिगाह अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधं प्रकृतं त-
द्यथा आचारं स्वकृतमित्यादि न० आ० म० प्र० १० । (आचारा-
दीनामर्थं स्वस्वस्थाने) एतेषां मानं तथा हि 'अचरसपयसहस्सा
आयारे १ उगुणउगुणसेसेसु । सुयगड २ ठाण ३ समवाय ४
अगवई ५ नायाधम्मकहा ६ । ११ अग उवासजदसा, ७ अंतगरु ८
अनुत्तरोववाण्यदसा ९ । पण्हावागरणं तथा, १० विवागसुय ११
मिगदस अंग' दृष्टिवादे सर्वश्रुतसङ्गावेऽपि शेषश्रुतरचने हेतु
विशेषः । आह ननु प्रथमं पूर्वाण्येवोपनिबध्नाति गणधर इत्या-
गमे श्रूयते पूर्वकरणादेव चैतानि पूर्वाण्यऽभिधीयन्ते तेषु च नि-
श्चयेऽपि धाद्वयमवतरति अतश्चतुर्दशात्मकं द्वादशमेवाङ्गमस्तु
किं शेषाणामङ्गविरचनेन अङ्गवाह्यश्रुतरचनेन वा इत्याशङ्क्याह ॥

जइ वि य नूतावाए, सन्वस्स वि उगयस्स ओयारो ।

निव्वूहणा तथा वि ह, दुम्मेहे पप्प इत्थीया ॥

अशेषविशेषान्वितस्य समप्रवस्तुस्तोमस्य चूतस्य सङ्गतस्य
वादो भणनं यत्राऽसौ चूतवादः । अथवाऽनुगतव्यावृत्तापरिशे-
षधर्मकज्ञापान्वितानां समेदमज्ञेदानां चूतानां प्राणिनां वादो य-
त्राऽसौ भूतवादो दृष्टिवादः । दीर्घत्व च तकारस्यापेक्षाचक्ष-
यद्यपि दृष्टिवादे सर्वस्यापि बाह्यस्यावतारोऽस्ति तथापि दु-
र्मेधसां तद्व्यधारेणाद्ययोग्यानां मन्दमतीनां तथा स्त्रीणां चानु-
ग्रहार्थं निर्व्यूहणा विरचना शेषश्रुतस्येति । विशेषः १८० पत्र० ।
अंगवाहिर-अंगबाह-न० द्वादशाङ्गात्मकस्य श्रुतपुरुषस्य बहि-
र्व्यतिरेकेण स्थितमङ्गवाहम् । अङ्गवाहत्वेन व्यवस्थिते श्रुतवि-

शेषे, न० । एतदेवा यथा " अंगवाहिरे दुविहे पणत्ते त जहा
आउस्सए चेव आउस्सयवहरित्ते चेव' स्था० १ ठा० न० । अनु०
आ० चू० । रा० । कर्म० । (अङ्गप्रविष्टादस्य भेदोऽनन्तरमेव
अङ्गपविष्ट शब्दे उक्तः)

अंगवाहिरिया-अङ्गबाह-स्त्री० अङ्गान्याचागदीनि तेज्यो वा
हा अङ्गवाहाः । अनङ्गप्रविष्टायाम्, चण्डसुरजम्बूदीपदीपसागर-
प्रकृतयः । ए अङ्गवाहाः । स्था० ४ ठा० ॥

अंगभंजण-अङ्गभञ्जन-न० शरीराऽवयवप्रमोदने, प्रअ०
सव० ५ ठा० ।

अंगभूय-अङ्गभूत-त्रि० कारणजने, प्रव० १ ठा० ।

अंगभंग-अङ्गाङ्ग-न० (प्राकृतेऽङ्गाङ्गणिको मकारः) अङ्गप्रत्य-
क्षेषु, " रायक्षप्पणविराड्यगमगा " रा० । स० । शरीराऽवय-
वेषु, ज्ञा० ९ अ० ।

अंगमागेभावचार-अङ्गाङ्गिभावचार-पु० परिणामपरिणामि-
मायगमने, ठा० ।

अंगमंदिर-अङ्गमन्दिर-न० चम्पानगर्यां महिविद्यमाने चैत्ये,
" अगमदिरसि चैत्यसि महारामस्स सरीरं विप्पजहामि " ।
न० १ श० १ उ० ।

अंगमदिया-अङ्गमर्दिका-स्त्री० शरीरमर्दनकारिण्यां दास्याम्,
" अछ अगमदियाओ अछ उम्मदियाओ " इहाङ्गमर्दिकानामु-
न्मर्दिकानां चावयवमर्दनकृतो विशेषः । म० ११ श० ११ उ० ।
अगरक्ख-अङ्गरक्ष-न० अङ्गं रक्षयति । अङ्गं रक्ष-अच् चर्मणि,
ज्ञा० ३ अ० ।

अंगदुहण-अङ्गदुहण-न० अंशुकेनाङ्गस्य स्नानजक्लिन्नताप-
नयने, ध० २ अधि० ।

अंगविज्जा-अङ्गविद्या-स्त्री० अङ्गरूपा व्याकरणादिशास्त्ररूपा
विद्या ज्ञानसाधनम् । ज्ञानसंपादके व्याकरणादिशास्त्रे, वाच० ।
शिरं प्रभृत्यङ्गस्फुरणतः शुभाशुनसूचिकायां विद्यायाम्, अङ्ग-
स्फुरणफलशास्त्रे, यथा " शिरसः स्फुरणे राज्यं, हृदयस्फुरणे
सुखम् । बाहोश्च मित्रसलापो उद्भूयोर्जोगसगमः ॥१॥ उक्त० ८
अ० । स्वनामन्यानेऽङ्गादिनिमित्तफलदेशके ग्रन्थविशेषे च ।
स च ग्रन्थं कुतो निर्युद्धं कति नत्राध्याया कियत्थो वा तत्र
विद्या इति तत्रैवादी प्रदर्शितः । यथा ऋद्धानि च विद्याश्च अ-
ङ्गविद्या । अङ्गविद्याव्याघणितेषु भौमान्तरिकादिषु हिलि हिलि
मातङ्गिनि स्वाहा इत्यादिषु विद्यानुवादप्रसिक्तासु विद्यासु च ।
" अगविज्जा च जे पउजति न हु ते समणा " उक्त० ८ अ० ।

अंगवियार-अङ्गविकार-पु० ६ त० शिरःस्फुरणादौ, शरीर-
स्फुरणादिनः शुभाशुनसूचके शास्त्रे, उक्त० १५ अ० ।

अङ्गविचार-पु० ६ त० शरीरस्पर्शनस्य नेत्रादीनां स्फुरणस्य
वा विचारे । तद्विचारेण फलादेशके शास्त्रे च उक्त० १५ अ० ।
" अगवियार सरस्स विजय जो विज्जाहिं न जीवई स जियखू "
उक्त० १५ अ० ।

अंगसंचाल-अङ्गसंचार-पु० रोमोन्मादिषु गात्रविचलनप्रकारे-
षु, " सुहुमेहि अंगसंचालेहि " आच० ५ अ० । ध० । ठा० ।

अंगमुहफरिस (फासिय)-अङ्गस्पर्शक-त्रि० अङ्गस्य सुखा
सुखकारी स्वर्णं यस्य तत्तथा । क० । देहसुखहेतुस्पर्शयुक्ते
म० ११ अ० ११ उ० ।

अंगादाण-आङ्गादान-न० अङ्ग शरीर शिर आदीनि वा अङ्गा-
नि तेषामादान प्रज्ञव प्रसूतिरङ्गादानम् । मेढ्रे, अङ्गादानस्य स-
चाङ्गनादिनिषेधस्तत्र प्रायश्चित्तम् ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगादाण कट्टेण वा कट्टिचेण वा अंगु-
लियाए वा सिङ्गागाए वा संचाङ्गेऽ संचाङ्गतं वा साङ्ज्जड । १।

अङ्ग शरीर सिरमादीणि वा अंगाणि तेषि आदाण अगादा-
ण प्रभवो प्रसूतिरित्यर्थः । त पुण अंगादाण मेढ भण्णाति त
ओ अणतरेण कट्टेण वा कट्टिचो वसकपट्टी अंगुली प्रसिद्धा
वेत्रमादि सङ्गागाए तेहि जो सचालेति साङ्ज्जति वा तस्स मास-
गुरु पच्छिन्नत्त ॥

इदानीं निज्जुत्तीए भण्णाति ।

अंगाण उवंगाण, अंगोवगाण एयमादीण ।

एतेणां ताणं, अणंतणं वा जवे वितिय ॥ ११ ॥

अंगाणि अष्टसिरादीणि उवगा कक्षादीणि । अंगोवगाणयस्स पञ्चा-
वी एतेसि सय आदाणं कारणांमिति तेण एय अगादाण भण्णाति ।
अहवा अणायत्तण वा जवे वितिय णाम अगादाण ति ॥

अस्य व्याख्या ।

सीसं उरो य उदरं, पिट्ठी वाहू य दोष्णि ऊरुओ ।

एते अट्टंगा खलु, अंगोवगाणि सेसाणि ॥ १२ ॥

सिर प्रसिद्धं उर स्तनप्रदेश उदर पोष्ट पिट्ठी पसिद्धा
दोष्णि वाहू दोष्णि ऊरु आणि एताणि अट्टंगाणि खलु अवधारणे
जणित अवसेसा जे ते उवगा अंगोवगाय ते इमे य ।

होति उवगा कणा, एासच्छी जंघहत्थपासा य ।

णह केसु मंसु अंगुलि, तद्वीवतत्त अंगुवगाउ ॥ १३ ॥

कक्षा नासिका अच्छी जघा हत्था पादा य एवमादी सन्वे
उवगा भवति नहा वाहा स्मशु भङ्गुली हस्ततल हत्थतलाओ
समता पासेसु अक्षाया उवतल भण्णाति । एते नखादि अंगोव-
गादीत्यर्थः तस्स सचालणसभवो इमो ।

संचालणं तु तस्स, सणिमित्तं अणिमित्तए वा वि ।

आतपरतदुभए वा, अणंतं परंपरा चेव ॥ १४ ॥

तस्यैति मेढस्य संचालणा सणिमित्तं उद्याहारे सरीरे य
इदमपि प्रथमसूत्र एव व्याख्यातम् (एतएवावित्ति) सणिमि-
त्ताणिमित्तवज्जा सामखेण सन्वा विचालणा त्रिविधा अप्प-
सेण परेण वा उभएण वा । एक्केका दुविधा अणतरा परपरा
वा अणतरेण हत्थेण परपरेण कक्षादिणा एत एवावित्ति ।
अस्य व्याख्या ।

उट्ठाणिवेसुद्धंघण, उच्चत्तणगमणमादिएसि तए ।

ए य घट्टणवोसिरिउं, चिधति ताणि पज्जलं जाव । १५ ।

उठेतस्स णिसीपतस्स वा लघणीय वा उल्लघेतस्स सुत्तस्स
वा उवत्तणादि करेतस्स स गच्छतस्स वा आदिसहातो पमि-
द्वेहणादिकिरिया एवमादि इतरा सचाङ्गणा सख काइय वा
वोसिरिउण सचाङ्गेति काइयपरिसारुणणिमित्तं ताव चिट्ठइ
जाव सय चेव णिप्पगल अणतर परपरे सचाङ्गणेमाणस्स
मासगुरु आणादीणो य दोसा भवति ॥

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं संवाहेज्ज वा पञ्चिमदे-
ज्ज वा संवाहतं वा पल्लिमहतं वा सातिज्जति ॥ १६ ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् सचाहति एक्कसि परिमहति पुणो पुणो सा
सचाहणा सणिमित्ता वा अणिमित्ता वा पूर्ववत् । अणादिवि-
राहणा पूर्ववत् ॥

(सूत्रम्) जे निक्खू अंगादाणं तेह्णेण वा घएण वा
णवणीएण वा वसाए वा अब्भगेज्ज वा मंखेज्ज वा अ-
ब्भगतं वा मंखंत वा साङ्ज्ज ॥ ४ ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् तेह्णघना पसिद्धा । वसा अयगरमच्छसू-
कराण अब्भगेति एक्कसि मखेति पुणो पुणो अहवा धोवेण
अब्भगण घट्टणा मखण उच्चट्टणा सूत्रे सणिमित्तअणिमित्ता-
या पूर्ववत् साङ्ज्जणा तहेव आणातिविराहणा पूर्ववत् ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगादाणं कट्टेण वा दोहेण वा
पठमचुएणेण वा एहाणेण वा चुएणेहिं वा वषेहिं वा
उच्चट्टेऽ वा परिवट्टेऽ वा उव्वट्टंत वा परिवट्टंत वा साङ्ज्ज ५५

कक्क उव्वट्टणय रुव्वसंयोगेन वा कक्क क्रियते किंचिल्लोरु
हट्टरुव्व तेण वा उव्वट्टेति पक्कचूणेन वा एहाण एहाणमेव ।
अहवा उव्वट्टणाय जणति त पुण मासचूर्णादिसिणाण गधि-
यावणे अगावसणय बुद्धति वणणो जो सुगधो चदनादिचू-
र्णानि जहा वट्टमाणचुएणे पक्कवासादिवासनिमित्तानि निमित्त
तहेव उव्वट्टेति एक्कसि परिवट्टेति पुणो पुणो ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगादाणं सीओदगवियनेण वा
उसिणोदगवियनेण उच्चोद्वेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्चो-
द्वंत वा पधोयंतं वा सातिज्ज ॥ ६ ॥

शीतमुदकं शीतोदक वियनं ववगयजीविय उसिणमुदक
उसिणोदकं उच्चोद्वेति सकृत् पधोवणा पुणो पुणो ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगादाणं णिच्छोद्वेज्ज णिच्छोद्वंत
वा साङ्ज्जति ॥ ७ ॥

णिच्छोद्वेति त्वचं अवणेति महामणिं प्रकाशयतीत्यर्थः ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं जिघति जिघतं वा साङ्ज्ज ॥ ८ ॥
जे भिक्खू पूर्ववत् जिघन्ति नासिकया आघ्रातीत्यर्थः । इत्ये-
ण वा मलकण वषण सिघति । एतेसि सचालणादीण
जिघणावसाणा सत्तएह वि सुत्ताण इमा सुत्तफासनिभासा-
सुत्ताणि वक्तव्यानि ।

संवाहणमब्भंगण, उव्वट्टणधोवणे य एस कपो ।

णायवो णियमो उ, णिच्छलणजिघणाए य ॥ १०० ॥
सचाहणसूत्रे अब्भगणासूत्रे उव्वट्टणासूत्रे धोवणासूत्रे एस गमो
स्ति सचाहणासूत्रे जणिओ सो चेव य पगारा णायवो णियमो
अवस्स णिच्छलणासूत्रे जिघणासूत्रे च । एतेसु चेव सत्तसु वि
सुत्तेसु इमो दिठ्ठो जहक्कमेण ।

सीहासीविसअगी, भिद्धी वग्गे य अयगरणरिंदो ।

सत्तसु वि पदेसु ते, अहारणा होति णायवो ॥ १०१ ॥
सचालणासुत्ते दिठ्ठो । सीहो सुत्तो सचाहितो जहा जीयत-
गरो भवति एव अगादाण सचाहिय मोहुब्भय जणयति । त-
तो चारित्रिविराधना इमा आयविराहणा सुक्कखण मारज्ज-
पेण वा कक्षाहणा सचाहति त सयिस्स उच्चुत्तियल्लय वा खय
वा कट्टेण हवेज्जा । सचाहणासूत्रे इमो दिठ्ठो । ओ आसीविस
सुहसुत्त सवोहेति सो विबुद्धो तस्स जीवियतकरो भवति ।

एव अगादाण पि परिमहमाणस्स मोहुन्नवो ततो चारित्रिजी-
वियविणासो जवति । अन्नगणासूत्रे इमो दिट्ठो इहरह वि-
ताव अग्गी ज्वनति किं पुण घनादिणा सिन्धमाणो एव अगा-
दाण वि मरिज्जमाणो सुदुत्तर मोहुन्नवो भवति । उव्वट्ठणासूत्रे
इमो दिट्ठो जह्वा शस्त्रविशेष सा सजायेण तिण्हा किमग ।
पुण णिसिया एव अगादाणस्समुत्थो सजायेण मोहो दिप्पति कि-
मग ! पुण उव्वट्ठिते । उव्वट्ठोत्तणा सुत्ते इमो दिट्ठो एगो घग्घो
सो अक्खिरोगेण गहिओ सवद्धा य अक्खी तस्स य एगेण घेजे
ण घमियाए अक्खीणि अंजेऊण पञ्णीकताणि तेण सो चैव य
खलो एव अगादाण पि सो इतर चारित्रावनाशाय भवती-
त्यर्थ । णिन्नेलणासूत्रे इमो दिट्ठो जहा अयगरस्स सुहप्प-
मुत्तस्स मुह विपतेति त तस्स अप्पवहाय भवति एव अगा-
दाण पि णिन्नेलणिय चारित्रिधनाशाय भवति । जिघणासूत्रे इ-
मो दिट्ठो षट्ठिते एगो सया तस्स घेजेपरिसिद्धे अन्नप जि-
घमाणस्स अद्दायाहो उछाह चो गधप्रियेण वा कुमारण गध-
मत्थायमाणेण मप्पा जीयिया उभसिसो एव अगादाण जिघ-
माणा सजमज्जाविया मो दुभो अणाइय च समार नमिस्मति
त्ति सत्तमु वि पदेसु एते माहारणा भवतीत्यर्थ ॥ भणिओ
उस्सग्गो । इदानीं अवयातो जणति ॥

तिवियपट्टमणपमे, अपट्टसे मुत्तसकरपमेहे ।

मत्तमु वि पदेसु ते, वितियपट्टा हांति णायन्वा ॥१०२॥

वितियपट्ट अघयायपट्ट मणपमे अनात्मघश ग्रहगृहीत
इत्यर्थ । सो मच्चालणादी पट्टे सव्वं करेज्जा । अपट्टसो पि-
त्ताइअ मुत्तमुक्क पायाणक पमेहो रेगो ससत्त काइय भ-
रन अन्नत्ति पनेसु पदेसु सत्तमु वि जहामभव भाणियन्वा
भणिय सजयाण ।

इदानीं सजनीण ।

एमेव गमो णियमा, संचात्तणवज्जित्तो उ वज्जाण ।

मवाहणमादीसु, उव्विग्गेषु वसु पदेसु ॥१०३॥

एमेव पगारो सव्वो णियमा संचात्तणमुत्तविचज्जिओ स-
वाहणादिमु उव्विग्गेषु वसु वि मुक्कसु इत्यर्थ ।

[सूत्राणि] जे जग्गु अगादाण अन्नयरंति अचित्तासि
सोयगाम आणुपव्वेसित्ता गृकपांगले णिग्घाएान णिग्घायंत
वा साइज्जति ॥ ए ॥

जे भिक्खु पुरंरत्त अमतर णाम वहुण परुवियाण अमतर
अचित्त णाम जीवविगहिय अयतीति ओत्र तत्र अगादाण प-
विसेरुण मुक्कगोमले णिग्घ एति गात्तयतीत्यर्थ साइज्ज वा ।

इदानीं णिज्जुत्ती ।

अचित्त सोत्त पुण, देहे पडिमा जुत्ततरं चैव ।

दुविध निवियमणगे, पक्खे त पुण कमसा ॥१०४॥

अचित्त जीवगहिन सोत्त छिद्द पुणमहो भेदपदरिसणे त
अचित्तमोत्त तिचिद् देहजुय पडिमज्जुय चैय च । पक्खस्स
पुणो इमो भेदो कमसो ढट्ठवो । देहजुत्त दुविह पडिमाजुत्त
निचिह गगतर अंगगहा । तत्थ देहे जुअ देहजुय दुविह इम ।

निरियमाणस्मिन्स्थीण, जे खलु देहा भवति जीवजहा ।

अपरिगगहेतरा वि य, त देहजुत तु णातव्वं ॥१०५॥

निरियमाणस्मिन्स्थीण जे तहा जीवजहा भवति खलु अवधारणे

ते पुण सरीग अपडिगहा इतरा सपरिगगहा । सचेतणं सपरि-
गगह उपरिवक्खमाण भविस्सति । एय देहजुय जवतीत्यर्थ ।

इदानीं पडिमाजुत्त तिचिद् परुवज्जति ।

तिरियमणयदेवीण, जाय पडिमा असन्निहितिओ ।

अपरिगगहेतरा वि य, तं पडिमज्जुत्त ति णायव्वं ॥१०६॥

तिरियपडिमा मणुयपडिमा देवपडिमा या असन्निहित्याओ
सन्निहित्याओ अ । असन्निहित्याओ दुविहा अपरिगगहा इतरा
सपरिगगहा य । ज एयविहाण णिय त पडिमाजुत्तति णायव्व ।

इदानीं एतर अणेगविहं परुवज्जति ।

जुगविहणालियाकर-गीयेमति सोतग ज तु ।

देहचा विवरीत, तु एतर त गुणेयव्वं ॥१०७॥

जुग विहणालियाकर अणेगविज्जति लोणपसिद्ध तस्स छिद्द
अमतर वा । णालिआ वमणलगादीण विह कर्मीयाणीयभरुग-
तस्स गीया विह या एवमादि सांतग देह सरीर अन्नयति ता-
मिति । अथा प्रतिमा तेसि विवरीत अणुत्तुत्त जवति । इद
पुण असन्निहित्याओपरिगगहेसु अधिकारो ज एरिस त एतर मु-
णेयव्वमित्यर्थ । एतस्मिं सीआण अमतरं जो सुक्कपोमले णि-
ग्घांति तस्म पच्छित्त भावति ।

मासगुरुगादि छद्दहु, जहणए मज्जिमे य उक्कोमे ।

अपरिगगहत्तचित्तं, अदिट्ठदिट्ठे य देहजुते ॥१०८॥

देहजुए अपरिगगहिते अचित्ते जहणए अदिट्ठे मासगुरु दिट्ठे
चउलहु अहोक्कनीए चारियव्व मज्जिमे अदिट्ठे चउलहु दिट्ठे
चउगुरु उक्कोमने अदिट्ठे चउगुरु दिट्ठे वल्लहु । तिरियमणुसा-
मणेण देहजुअ अपरिगगहिय जणिय ।

इदानीं तिचिद् परिगगहिय भवति ।

चउलहुगादी मूलं, जहणगादिमि होति अचित्ते ।

तिचिदेहं परिजुत्ते, अदिट्ठदिट्ठे य देहजुते ॥१०९॥

इमा वि अहोक्कनी चारणीया देहजुते अचित्ते यावच्च परि-
गगहे जहणए अदिट्ठे चउलहुअ दिट्ठे चउगुरुअ कोहविपपरि-
गगह जहणए अदिट्ठे चउगुरु दिट्ठे जहु दमियपरिगगहे जहणए
अदिट्ठे लहुअ दिट्ठे उगुरुअ एतेण चैव कस्सेण तिरिगगहे म-
ज्जिमेण चउगुरुगादी छेदे णानि एतेण चैव कस्सेण तिरिगगहं
उक्कोसए छल्लहुआदी मूत्रे ठाति जणिय देहजुअ ।

इदानीं पडिमाजुअ जणदि ।

पडिमाजुअं वि एव, अपरिगगहएतरे असंणिहिते ।

अचित्तमोयसुत्ते, एसा भणित्ता भवं सोधी ॥११०॥

पडिमाजुअ पि एव चैव जणियव्व जहा देहजुअ अचित्त
अपरिगगह तहा पडिमाजुअ असांणिहिते अपरिगगहिय ॥
जहा देहजुअ अचित्त सपरिगगह तहा पडिमाजुअ असांणिहिते
सपरिगगहं भाणियव्व । इतेसु पुण जुगविहणात्रियादिषु मास-
गुरु गन्ध मुत्तणिवानो गमा अचित्तमोयसुत्तेसोही जणिया ।

एते सामएणतरे, तु सोत्तए जे उदिएणमोहाओ ।

साणिमित्तमाणिमित्त वा, कुज्जा णिग्घत्तणादीणि ॥

एतेस अचित्तमोआणाविचिराहण पावेइ इमा सजमविगहणा
रागगिसंजमिधण, माहो अह संजमे विगहणया ।

सुक्कएए य गरण, आकिच्चकारि ति उव्वं ॥१११॥

गग एव आग्नि रागाग्नि संयम एव इन्धन संयमेधनभ

अं (इ) गार (द्वा) पतावणा-अङ्गारप्रतापना-स्त्री० अ-
ङ्गारेषु प्रतापनाऽङ्गारप्रतापना । शरीरस्य शीतकालादौ अङ्गा-
रेषु प्रतापनायाम्, प्रहन० स० ५ द्वा० ।

अं (इ) गार (ल) मदग-अङ्गारमर्दक-पुं० जीवाध्रदान-
तोऽङ्गाराणां मर्दनेनाङ्गारमर्दकेति प्रसिद्धिं गते रुद्धदेवाभिधे
अभग्याचार्ये, तत्सविधानक चैव श्रूयते ।

"सूरिर्विजयसेनाख्यो, मासकल्पविहारत ।
समायातो महाजाग, पुरे गर्जनकाभिधे ॥ १ ॥
अथाऽत्र तिष्ठनस्तस्य, कदाचिन्मुनिपुङ्गवैः ।
गवां विसर्गवेत्तायां, स्थप्नोऽयं किल वीक्षित ॥ २ ॥
कपजानां शतैर् शरैः, शूकरं परिवारितं ।
पञ्चनिर्जजातीना-मस्मदाधयमागतं ॥ ३ ॥
ततस्ते कथयामासु, सुरे. स्वप्नं तमद्भुतम् ।
सूरिस्तुवाच तस्यार्थे, साधूनां पृच्छताममुम् ॥ ४ ॥
शुसाधुपरिवारोऽयं, सूरिरेष्यति कोऽपि य ।
प्राघूर्णकं परं ज्ञायो, नास्ताविति विनिश्चयः ॥ ५ ॥
यायज्जगत्सौ तेषां, साधूनां सूरिरप्रत ।
रुद्धदेवानिधे सूरि-स्तावच्चत्र समागत ॥ ६ ॥
शनैश्चरन् द्यम्कार-सैत्यप्रदग्गणान्वित ।
परएकनरुक्तान्त-कल्पवृक्षगणान्वित ॥ ७ ॥
कुना च तस्य तैस्तूर्ण-मन्युत्थानादिका क्रिया ।
आनिधेयी यथायोगे, स गच्छत्य यथागमम् ॥ ८ ॥
ततो विक्रात्रपेशाया, फोलाकारस्य तस्य तै ।
परीक्षणाय निक्षिप्ता, अङ्गारा कायिकीष्टुधि ॥ ९ ॥
स्थलीयाचार्यनिर्देशा-प्रच्छन्नैश्च तैः स्थितै ।
यान्तव्यसाधुनिर्दृष्टा-स्ते प्राघूर्णकसाधवः ॥ १० ॥
पादमचूर्णितान्कार कृशकाररयस्तुता ।
मिर्यादुपहृतमित्येत-द्गुणाण प्राणिशङ्कया ॥ ११ ॥
कृशकाररयस्थाने, दृनचिह्ना इतीच्छया ।
दिने निमात्रयिष्याम, दृशत्कार किमुद्वय ॥ १२ ॥
आचार्यो रुद्धदेवस्तु, प्रस्थितं कायिकीं लुचम् ।
कृशकाररयं कुर्य-प्रद्वारपरिमर्दनात् ॥ १३ ॥
जीवाश्रदानो मुढो, वदधैतज्जिने किल ।
जन्तवोऽसौ विनिर्दिष्टा, प्रमाणैर्युक्ता अपि ॥ १४ ॥
वास्तव्यसाधुभिर्दृष्टो, यथादृष्टं च साधितम् ।
सूरिर्विजयसेनस्य, तेनापि गदितं तत ॥ १५ ॥
स पयं शूकरो भद्रा-स्तं पने वरहस्तिन ।
स्वप्नेन स्यान्वता ये वां, न विधेयोऽत्र संशयः ॥ १६ ॥
तैः प्रभातेऽथ तच्छिष्या, बाधितास्तृपयत्तिभिः ।
यथैयं चेष्टिते नाय-मभव्य इति बुध्यताम् ॥ १७ ॥
त्याज्यो वोऽयं, यतो घोर-ससारतरुकारणम् ।
ततस्तैरप्युपायेन, क्रमेणासौ विवर्जितः ॥ १८ ॥
ते चाकङ्क्षसाधुत्व, विधायाथ दिव्य गताः ।
ततोऽपि प्रच्युता सन्त, क्षेत्रेऽमुत्रैव भारते ॥ १९ ॥
श्रीवसन्तपुरे जाता, जितशत्रोर्महीपते ।
पुत्रा सर्वेऽपि कालेन, ते प्राप्ता योचनश्रियम् ॥ २० ॥
अन्यदा तान् सुरुपत्वात्, कलाकौशलयोगतः ।
सर्वत्र स्थितकीर्तित्वा-सर्वानाद्यु न्यमन्त्रयत् ॥ २१ ॥
इस्तिनागपुरे राजा, कनकध्वजसज्जितः ।
स्वकन्याया वरार्थाय, तान् स्वयवरमण्ये ॥ २२ ॥

तत्रायति. स तैर्दृष्टो, गुरुरङ्गारमर्दकः ।
उपूत्वेन समुत्पन्नः, पृष्ठाकटनदाभरः ॥ २३ ॥
गङ्गावन्मिषितस्पृश-कुनुपोऽपेसल रटन् ।
पामनः सर्वजीर्णाङ्गो, गतत्राणोऽतिदुःखितः ॥ २४ ॥
तमुपूमीकमाणानां, तेषां कारुण्यतो भृशम् ।
जातिस्मरणमुत्पन्न, सर्वेषां शुभभावतः ॥ २५ ॥
देवजन्मोद्भवज्ञान-ज्ञातत्वात्तरसौ स्फुटम् ।
करभः प्रत्यभिज्ञातो, यथाऽयं स्वप्नो गुरु ॥ २६ ॥
ततस्ते चिन्तयामासु-र्थिकु ससारविचेष्टितम् ।
येनैव तादृशज्ञान-मवाप्यापि कुजावतः ॥ २७ ॥
अवस्थामीदृशीं प्राप्त, ससारं च प्रमिष्यति ।
ततोऽसौ मोचिनस्तेन्य-स्तत्स्वामिन्य रूपापरै ॥ २८ ॥
ततस्तदैव ते प्राप्य, भवनिर्वेदकारणम् ।
कामनोगपरित्यागा-त्ते प्रज्ज्या प्रपेदिरे ॥ २९ ॥
ततः सुगतिसंताना-भिर्वास्पत्यचिरादमी ।
अन्य पुनरभव्यत्वाद्, जगारण्ये प्रमिष्यतीति ॥ ३० ॥
(गाथार्थ १२) पचा० २ विव० ॥

अं [इ] गार [द्वा] राभि-अङ्गाररासि-पुं० अदिराङ्गारपुञ्जे,
सूत्र० १ ध्रु० ५ प्र० १ उ० । आ० क० । भाव० । आ० सू० ।

अं [इ] गारवर्द्ध-अङ्गारवती-स्त्री० धुन्धुमारनृपसुतायाम्,
(तद्वक्तव्यता सवेगशब्दे वदयते)

अं [इ] गार [ल] सहस्त्र-अङ्गारसहस्र-न० ६ त० लघु-
तराणामनिकणानां सहस्रे, स्था० ८ ग० ।

अं (इ) गालसोद्विष-अङ्गारशू [द्वा] न्य-त्रि० अङ्गारैरि-
ष पके, ज० ११ शा० ६ उ० ॥

अं (इ) गारा [द्वा] यतण-अङ्गारायतन-न० यत्राङ्गार-
परिकर्मं क्रियते तस्मिन् गुहे, आचा० ३ ध्रु० २ अ० २ उ० ।

अं [इ] गारि [लि] य-अङ्गारित-त्रि० विवर्णीचूते, आ-
चा० २ ध्रु० १ अ० ८ उ० ।

अंगिरस-अङ्गिरस-पुं० गोतमगोत्रविशेषचूताङ्गिरःपुरुषापत्ये,
स्था० ७ ग० ।

अङ्गीकृत-अङ्गीकृत-त्रि० अङ्गीतिज्यन्त नत्पूर्वकात् कृञ् कः
स्वाकृते, स्था० ५ टा० 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयतीति' चो-
रपञ्चाशिका वाच० ।

अं [इ] गुञ्ज-इङ्गुद-पुं० इङ्गि-उ. इङ्गु' रोग' त घटि अङ्गु-
यति दो क "शिथिलेऽङ्गुदे ना" ८ । १ । ८६ । इति सूत्रेण
प्राकृते आदेर्वा इत्यम् । तापसतरौ, प्रा० ।

अङ्गुद-अङ्गुद-पुं० अङ्गौ पाणौ प्राधान्येन तिष्ठति स्था-क-क-
त्वम् । हस्ताऽवयवे, स्था० १० ग० ।

अङ्गुदपासिण-अङ्गुदप्रश्न-न० विद्याविशेषे, यथाऽङ्गुष्ठे देवता-
घतारः क्रियते तत्प्रतिपादके प्रश्नव्याकरणानां नवमेऽध्ययने च
परमिदानीतने प्रश्नव्याकरणपुस्तके नन्दमुपलभ्यते स्था० १० ग० ।

अङ्गुम-पूरि-धा० पूर० णिच् पूरेरधाडोघबोद्धमाङ्गुमाहिरमा-
८ । ४ । ६८ । इति सूत्रेण पूरेरङ्गुम इत्यादेशः । पूर्तो, अङ्गुमेह
पूरयति प्रा० ।

अङ्गुल-अङ्गुल-पुं० अङ्गु उल० । इस्तपादशास्त्रायाम्, वाच०
अष्टयवमध्यात्मके परिमाणनेदे, न० "अङ्गुजवमङ्गात्रो से पने

अगुले” म० ३३० ७ उ० । ज्यो० । स्वा० । अगिरगीत्यादिद-
गरुके पठित अगिरगित्यर्थो धातुर्गत्यर्थो ज्ञानार्थो अपि भवन्त्य-
तोऽङ्गहन्ते प्रमाणतो ज्ञायन्ते पदार्था अनेनेत्यङ्गुलम् । मानवि-
शेषे, प्रव० ३५४ द्वा० । तद्भेदा यथा ।

से किं तं अंगुले ? अंगुले तिबिहे पस्यते तंजहा ।

आयंगुले नस्सेहंगुले पमाणंगुले ॥

अक्षुब्ध त्रिविध प्रज्ञत तद्यथा आत्माक्षुब्धमुत्तेधाक्षुब्ध प्रमाणाक्षुब्ध-
म् । तत्र ये यस्मिन् काले भरतसगरादयो मनुष्या प्रमाणयुक्ता
भवन्ति तेषां च सन्नन्धी भवन्तीति गृह्यते आत्मनामक्षुब्धमात्मा-
क्षुब्धत एवाह आत्माक्षुब्धम् ।

से किं तं आयंगुले आयंगुद्वे जे एं जे ए जया मणुस्सा
 नवइ तेसि एं तथा अप्पणो अंगुद्वेणं उवावस अंगुलाइं
 मुहं नवमुहा पुरिमे पमाणजुत्ते भवइ । दोषिए पुरिसे माण-
 जुत्ते भवइ । अद्धभारं तुद्धमाणे पुरिसे उम्माणजुत्ते भवइ
 माणुम्माणप्पमाणजुत्ता लक्खणवंजणगुणेहिं उववेत्ता
 उत्तमकुलप्पसूत्ता उत्तमपुरिमा मुणेअव्वा १ हुंति पुण
 अहियपुरिमा, अट्टसयं अंगुद्वेण उक्किट्ठा । द्दसइ
 अहम्मपुरिसा, चउत्तरं मज्झिमिद्विआओ । २ । हीणा वा
 अट्ठिया वा जे ग्वल्लु सरसत्तमारपरिहीणा । ते उत्तमपु-
 रिसाणं, अवमा पेत्तणमुपेति । ३ । एएणं अंगुलपमा-
 णेण उ अंगुद्वेणं पादो, दो पाया विहत्थी, दो विहत्थी-
 ओ रयणी, दो रयणीओ कुत्थी, दो कुत्थीओ देरु, धणु-
 जुगेनाद्विआ अक्खममुमले, दो धनूमहस्साइं गाउअं ।
 चत्तारि गाउआइं जोअणं । एएणं आयंगुद्वप्पमाणेण किं
 पओयणं ? एएणं आयंगुद्वेणं जे एं जया मनुस्सा इवंति
 तेसि एं तथा एं आयंगुलेणं अग्ररुत्तन्नगदहनदी वा वि
 पुक्खरिणो दोहि य गुजालिआओ सरासरपत्तिआओ
 सरामरपत्तिआओ विलपत्तिआओ आरामुज्जाणकाणण-
 वणवणमंरुवणगइओ देउद्वसभापवायुभवाउअपरिहाओ
 पागारअट्ठायचरिअदारगोपुरपायायघरसरणद्वयणआवण-
 मिधांरुगतिगचउक्कचउम्मुट्टमहापहपहासगरुहजाणजुग्ग-
 गिल्लिधिद्विसिबेअधंदमाणिआओ लोहीद्वोद्वकदाहकवि-
 द्वयजरुत्तोवगरणमाईणि अज्जकद्धिआइं च जोअणाइं
 भविज्जंति से ममासओ तिविहे पप्पत्ते तंजहा सूडअंगुले
 पयरंगुद्वे धणंगुद्वे अंगुलायया एगपएसिया सेदी सूडअंगु-
 ले सूडसूडगुणिया पयरंगुद्वे पयरं सूडए गुणितं घणगुद्वे
 एएसि एं सूडअंगुनपयरंगुद्वधणगुद्वेणं कयरे कयरेहिंतो
 अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा सव्वथोवे
 नइअंगुद्वे पयरंगुद्वे असंखेज्जगुणे धणंगुणे असंखेज्जगु-
 णे सेत्तं आयंगुद्वे ॥

ये जरतादयः प्रमाणयुक्ता यदा जवन्ति तेषां तदा मध्वकीयम-
ह्वयमात्मा ह्यनुच्यते इति शेषः । इयं च पुराणा कालादिभेदे-
नानवस्थितमानत्वादनियतप्रमाणं रूप्यम् । अतस्तैवात्मा ह्यनेन

पुरुषाणां प्रमाणयुक्ततादिनिर्णयं कुर्वन्नाह (अणुषो अणुषे ण
उवाचसेत्यादि) यद्यस्यात्मीयमहुत तनात्मनोऽहुतेन द्वाद-
शाङ्गवानि मुख प्रमाणयुक्त भवत्यनेन च मुख्यप्रमाणेन नव मुखा-
नि सर्वोऽपि पुरुष प्रमाणयुक्तो भवति प्रत्येक द्वादशाङ्गत्वेन-
घनिर्मुखैरष्टोत्तर शतमङ्गवानां सपद्यते । ततश्चैतावदुच्यते ' पुरुष
प्रमाणयुक्तो भवतीति परमार्थः । अथ तस्यैव मानयुक्तताप्रति-
पादनार्थमाह । द्रौणिक. पुरुषो मानयुक्तो भवति द्रौणी जल-
परिपूर्णा महती कुण्डिका तस्यां प्रवेशितो य पुरुषो जलस्य
द्रौण पूर्वात्तत्त्वरूप निष्काशयति द्रौणजलोनां वा तां पूरयति
स द्रौणिक पुरुषो मानयुक्तो निगद्यते इति भावः । इदानीमेत-
स्यैवोन्मानयुक्ततामाह । सारपुङ्गवरचितत्वात्तुल्यारोपितः सन्न-
रुज्जारं तुल्यन्पुरुष उन्मानयुक्तो भवति । तत्रोत्तमपुरुषा यथोक्तै
प्रमाणमानोन्मानै अथैव सर्वैरेव गुणै सपन्ना एव प्रवन्तीत्ये-
तद्वर्णयन्नाह (माण्डूक्यप्रमाणगाहा) अनन्तरोक्तस्वरूपैर्मानोन्मान-
प्रमाणैर्युक्ता उत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयो ज्ञातव्या इति सबन्धस्त-
था लक्षणात् शङ्खस्वस्तिकादीनि व्यञ्जनानि मणीतिष्ठकादीनि
गुणा कान्त्यादयस्तैरुपेतास्तथोत्तमकुलान्युप्रादीनि तत्प्रसूता
इति गाथार्थः । अथात्माकुलेनैवोत्तममध्यमाधमपुरुषाणां प्रमा-
णमाह (हुति पुण गाहा) भवन्ति पुनरधिकपुरुषा उत्तमपुरुषा-
श्चक्रवर्त्यादयोऽष्टशतमकुला (उच्चिच्छात्र) उन्नमिता उच्चस्त्वेन
वा पुनःशब्दस्त्वेषामेवाधिकपुरुषादीनामनेकभेदतादर्शकः ।
आत्माकुलेनैव षष्ठ्यवत्यङ्गुलान्यधमपुरुषा भवन्ति (चतुरस्रमञ्ज-
मिल्लाउत्ति) तेनैवाङ्गुलेन चतुरस्रमङ्गलशत मध्यमान तुशब्दो
यथानुरूपशेषलक्षणादिभावप्रतिपादनपर इति गाथार्थः । अष्टो-
त्तरशताङ्गुलमानाङ्गीना अधिका वा ते किं प्रवन्तीत्याह (हीणा
या गाहा) अष्टोत्तरशताङ्गुलहीना वा अधिका वा येऽङ्गुल स्वर-
सकलजनादेयत्वप्रकृतिगम्भीरतादिगुणालङ्कृतो ध्वनि सत्य दैन्य-
विनिर्मुक्तो मानसोऽवष्टम्भः सारः शुजपुङ्गवोपचयज शारीरशक्ति-
विशेषस्तै परिहीना सन्तस्ते उत्तमपुरुषाणा उपचितपुण्यप्राग्भा-
राणाम् अवशा अनिच्छन्तोऽप्यङ्गुलकर्मवशत प्रेक्षत्वमुपयान्ति
स्वरादिशेषलक्षणवैकल्यमाहाय्यात् यथोक्तप्रमाणाङ्गीनाधिक्य-
मनिष्फलप्रदायि प्रतिपत्तव्यं तत्केवलमिह लक्ष्यते । जरतचक्र-
वर्त्यादीनां स्थाङ्गुलतां चिंशत्याधिकाङ्गुलशतप्रमाणानामपि निर्णी-
तत्वात् । महाधीरादीनां च केपांचिन्मतेन चतुरशीत्याद्यङ्गुल-
प्रमाणत्वाद्भवन्ति विशिष्टा स्वराद्य प्रधानफलदायिनो यत
उक्तम् " अस्थिप्वर्था सुख मांसे त्वचि जोगा. स्त्रियोऽङ्गिषु ।
गतौ यान स्वरे चाह्ना, सर्वे सत्त्वे प्रतिष्ठितमिति " गाथार्थः ।
एतेनाङ्गुलप्रमाणेन षडङ्गुलानि पाद पादस्य मध्यत प्रदेशं षडङ्गु-
लविस्तीर्णं पादैकदेशत्वात्पादा द्वौ च युग्माङ्गुलौ पादौ धित-
स्ति द्व च धितस्ती रन्तिर्हेस्त इत्यर्थः । रन्तिर्द्वयं कुकि प्रत्येक
कुकिर्द्वयानिष्पन्नास्तु षट्प्रमाणविशेषाद्वैरुधनुर्युगनादिकाऽवमुस-
लक्षणा भवन्ति । अत्राङ्गा धुरी दोषो गतार्थः । द्वे धनु सह-
स्रे गव्यून चत्वारि गव्युनानि योजनम् । " एतेन आयुशुल्लभमा-
णेन किं पत्रोअणमिति " गतार्थं नयन ये यत्र मनुष्या भवति
तेषा तदा आत्मनामङ्गुलेन स्वकीयस्वकीयकाहसजर्वाभ्यध-
द्वद्वादानी मीयन्त इति सटङ्क । (अवटार्दीना व्याख्या स्वस्व-
स्थान) अनु० । तत्रेधमात्माङ्गुलेनान्मीयात्मीयकाहसजर्वाभ्यध-
नून्ययकाङ्गीनानि च योजनानि मीयन्ते । ये यत्र काले पुरुषा
भवन्ति तदपेक्षयाऽयं शब्दो लुप्यते । इदं चात्माङ्गुल सून्यङ्गुला-
दिभेदाद्विधिवत् तत्र दीर्घेणाङ्गुलायना दाहस्यस्त्रेकप्रदेशिर्नम

प्रदेशभेदेण सूत्र्यङ्गमुच्यते । एतच्च सङ्गायतोऽस्मैत्येयप्रदेश-
मध्यस्तत्कल्पनया सूत्र्याकारव्यवस्थापितप्रदेशप्रयनिष्पन्न कष्ट-
स्यम् । तद्यथा सूची सूत्र्येय गुणिना प्रतराहुतम् । इदमपि पर-
मार्थितोऽस्त्येयप्रदेशा-मन्त्रम् । अन्तर्भावनेस्त्रेयानन्तरदाहि-
ता निप्रदेशात्मिका सूचिस्तथैव अत्र प्रत्येक प्रदेशनिष्पन्न सूची-
त्रयात्मक नन्प्रदेशात्मक सपद्यते । स्थापना प्रतरश्च सूत्र्या गु-
णिना दैर्घ्येण विष्कम्भन पिपकनश्च समसङ्ग घनाहुत भवति
दैर्घ्यादिषु विष्यपि स्थानेषु समनाप्रकृणस्यैव समयचर्यया
घनस्यैव रुढरात्र प्रतराहुत तु दैर्घ्यविष्कम्भाभ्यामेव सम न
पिपकनस्मस्यैकप्रदेशमाश्रयादिति ज्ञाय । इदमपि यस्तुवृत्त्या
ऽमन्त्रेयप्रदेशात्मनम् । अस्त्यप्रकृणया तु सप्तविंशतिप्रदेशात्मक
पुर्वोक्तसूत्र्या अन्तरगतनयप्रदेशात्मके प्रतरे गुणिने एतावता-
मेव प्रदेशानां भावत । एषा च स्थापना अन्तरनिदिष्टा नवप्र-
देशात्मकप्रतरस्याध उपरि च नय नय प्रदेशान् दत्वा भावनी-
या । तथा दैर्घ्यविष्कम्भनपिपकनस्तुल्यमिदमापद्यते " एपसिण
नत " इत्यादिना सूत्र्यङ्गज्ञादिप्रदेशानामव्यपदुत्पाचिता यथा-
निदिष्ट्यायानुसारत सुत्र्यापसेयेति तदेतदामाहुतमिति ॥

उत्संघाहुलनिर्णयार्थमाह ।

मे किं तं उत्संघं गुले ? उत्संघं गुले अणगविहे एणत्ते
तज्जहा "परमाणु तसरेणूरुदरेणू अणत्तं च चाउरत । द्विक्खा
ज्जा य जवो अट्टगणवित्रिआ कपसो " ॥

उत्संघः "अणुनाण मुहुमपरमाणुपोगल्लाणमित्यादि" प्रमेणो-
च्छ्रयो वृद्धिनयन तस्माज्जातमहुतमुत्संघाहुलम् अथ वा उत्संघो
नारकादिशरीराणामुत्संघस्य तत्स्यरूपनिर्णयार्थमहुलमुत्संघाहु-
लम् । तच्च कारणस्य परमाणुप्रसरेण्यदेरनेकविधित्वादेनेक-
त्यर्थं प्रकृतम् ॥ (परमाणुयादीना स्वरूप स्यस्यस्याने)

एण ए उत्संघं गुले किं पओअणं ? एण ए उत्संघं-
लेण ऐरइअतिरियखनोणिअमणुस्सदेवाण मरीरागाहणा
मविज्जति ॥

(तदेयमेव आगाहणा शब्दे वक्ष्यमाणा अत्रगाहना सर्वाऽप्यु-
त्संघाहुलेन मीयत)

से समासओ निविहे पम्पत्ते तज्जहा, सूत्र्यङ्गुले पयंगुले
घणंगुले एअगुन्नयया एणपएसिया सेढा मइअंगुले मइ
सइए गुणिया पयंगुले पयरं सइए गुणित घणंगुले । एए-
सिणं सइअगुलपयंगुलघणंगुल्लानं कयरे क० रेहिं । अप्पे
वा बहण वा तुक्के वा विसेसाहिए वा सन्वथात्र मइअंगुले
पयरगुल अस्सखेज्जगुणे घणंगुले अस्सखेज्जगुणे सेत्त
उत्संघगुले ॥

एतच्च सूचीप्रतरघनभेदाभिधिमत्माहुतवद्भावनीयम् । उक्त-
मुत्संघाहुलम् ।

अथ प्रमाणाहुलम् ।

मे किं तं पमाणंगुले ? पमाणंगुले एणमेगस्स रन्नां चाउरंत-
चक्कवट्ठिस्स अट्ट सोवणिए कागणीरयणे क्तत्तले दुवालस-
सिए अट्टकणिए अट्टिगरणंठाणसंठिए पम्पत्त तस्स णं
एणमेगा कोमी उत्संघं गुले विक्खंजा तं ममाणस्स जगवओ

महावीरस्म अहुलंज स गुणं पमाणंगुलं भवइ । एए-
णं अगुन्नपमाणेणं क्त अं गुलाइ पाओ दुवालसंगुलाइ विह-
त्थ । दो विट्ठ्याओ रयणं । दो रयणीओ कुच्छी दो
कुच्छीओ धणं दो धणमहस्साइ गाउअं चत्तारि गाउआइ
जोअणं । एणं पमाणंगुलेण किं पओअणं एण पमा-
णंगुलेणं पुट्ठीणं कंमाणं पातालाणं जवाणं जवणपत्थ-
माणं निस्याणं निरयावलीणं निरयपत्थमाणं कप्पाणं
विमाणण विमाणपत्थमाणं टंकाण कुमाणं सेढाणं सिह-
रीणं पन्नाराणं विजयाणं वक्खाएण वरुहराणं पव्वयाण
वेज्जाणं वेदस्सणं वेस्याणं दाराणं तोलाणं दीवाणं समु-
हाणं आयापविवखंजोच्चतोव्वेहपरिवखेवो मविज्जति ॥

सदस्रगुणिनाहुतस्तेषाहुलप्रमाणः, ज्ञान प्रमाणाहुतम् । अथवा
परमप्रकर्षरूप प्रमाण प्राप्तमहुत प्रमाणाहुतं नान पर वृहत्तर
महुतमस्तीति भाव । य हा समस्तलोकव्यवहारादिराज्या-
दिस्थितिप्रथमप्राणनाथेन प्रमाणततोऽस्मिन्नसत्त्विणिकामे
तारगुणादिदेशो नरनो वा तस्याहुल प्रमाणाहुलमेतच्च काक-
णारत्नस्वरूपपरिहानेन शिष्यश्रुत्पत्तिप्रकृण गुणाधिक्यमपश्य
स्तद्वहारेण निरूपयितुमाह । " एणमेगस्स ण रणो इत्यादि "
एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिनोऽष्टौधर्णिक काफणीरत्न
पद्मलतादिधम्मोपेत प्रकृत तस्यैकैका कोटिरुत्सेधाहुतविष्कम्भा
तत्प्रमाणस्य जगत्ता महावीरस्याहुलं तत्सदस्रगुण प्रमाणा-
हुतं जवतीति समुदायार्थं तत्रान्यान्यकालोत्पन्नानामपि चक्रि-
णा काफणीरत्नतुल्यताप्रतिपादनार्थमैककग्रहण निरूपचरितरा-
जशब्दवियवहापनार्थं राजप्रएण दिक्त्रयनेदनिष्पत्तमुच्छहि-
मयःपञ्चनपञ्चनसीमाचतुर्यत्रकृणाश्चत्वारोऽन्तास्ताश्चतुरोऽपि
चक्रेण वर्तयन्ति पात्रयताति चतुरन्तचक्रवर्ती तस्य परिपूर्ण-
पद्मत्राकुरनरनभोक्तुरित्यर्थ । चत्वारि मधुरतृणफलान्येकसर्वप ,
पोरुश सर्वपा एक धान्यमापफ, द्वे धान्यमापफे पकाहुत्ता,
पञ्च गुत्ता, एक कर्ममापफ, पोरुश कर्ममापफा हुत्तर्ण,
एतैरष्टमि काफणीरत्न निष्पद्यते । एतानि च मधुरतृणफला-
दीनि जतचक्रवर्तिकाहसजवान्यथ गृहन्ते अन्यथा काहभेदे-
न तद्वैषम्यसजघ काफणीरत्न सर्वचक्रिणां हुत्तर्ण न स्यात्
तुल्य चेप्यते तदिति चत्वारि ८, सुष्वापि दिक्षु द्वे ऊर्क्षा-
ध इत्येव पद तलानि यत्र तत् पदतलम् । अथ उपरि पा-
थवत्त प्रत्येकं चतसृणामश्रीणा भावात् । द्वादश अथयः
कोटयो यत्र तद् द्वादशाधिक कर्णिका, कोणास्तेषां च अथ
उपरि च प्रत्येकं चतुर्णां सङ्गावादएकर्णिकम् । अथः क-
रणिः सुवर्णकारोपकरण तत्सस्थानेन सस्थित तत्सदशाकार
समचतुरस्रमिति यावत्प्रहस प्रकृत तस्य काफणीरत्नस्यैकैका
काटिरुत्सेधाहुलप्रमाणविष्कम्भा द्वादशाप्यथय एकैकस्य उत्सं-
घाहुलप्रमाणा भवन्तीत्यर्थ । अस्य समचतुरस्रत्वादायामो
विष्कम्भश्च प्रत्येकमुत्संघाहुलप्रमाण इत्युक्तं प्रथमं । यैव च
काटिरुत्सेधाहुल आयाम प्रतिपद्यते साऽधस्तित्यवगवस्थापिना
विष्कम्भजाणवनीत्यायामावष्कम्भज्येरेक नग निर्णयेऽप्यपर निश्च-
य स्यादेवेति सूत्रे विष्कम्भस्यैव प्रहण तद्ग्रहणे चायामाऽप
गुडीत एव समचतुरस्रत्वात्तस्ये त तदेव सवेत उत्संघाहुल-

प्रमाणमिदं सिद्धं तदाऽप्यत्र चतुरङ्गुलप्रमाणसुवर्णा वरकागणी
नेयेति श्रूयते तन्मतान्तरं संभाव्यते नेश्वरं तु सर्ववेदिनो विद-
न्तीति । तदैकैककोटिगनमुत्सेधाङ्गुलं श्रमणस्य भगवतो महा-
वीरस्यार्द्धाङ्गुलं कथमिदमुच्यते श्रीमहावीरस्य सप्तहस्तप्रमा-
णत्वादेकैकस्य हस्तस्य चतुर्विंशत्युत्सेधाङ्गुलमानत्वादष्टपृष्ठ-
धिकशताङ्गुलमानो भगवानुत्सेधाङ्गुलेन सिद्धो भवति स एव
चात्माङ्गुलेन मतान्तरमाश्रित्य स्वहस्तेन सार्द्धहस्तत्रयमानत्वा-
च्चतुरशीत्यङ्गुलमानो गीयतेऽतः सामर्थ्यादेकमुत्सेधाङ्गुलं श्रीम-
न्महावीरात्माङ्गुलापेक्षया अर्द्धाङ्गुलमेव भवति । येषां च मतेन
जगवानात्माङ्गुलेनाष्टोत्तरशताङ्गुलमानः स्वहस्तेन सार्द्धहस्तचतु-
ष्टयमानत्वात्तन्मतेन भगवत एकस्मिन्नात्माङ्गुले एकमुत्सेधाङ्गुलं
तस्य च पञ्च नव जागा भवन्ति अष्टपृष्ठधिकशतस्य अष्टोत्त-
रशनेन भागापहारे एतावत् एव भावात् यन्मतेन तु जगवार्थि-
शत्यधिकमङ्गुलशतं स्वहस्तेन पञ्चहस्तमानत्वात्तन्मतेन जगवत
एकस्मिन्नात्माङ्गुलं एकमुत्सेधाङ्गुलं तस्य च द्वौ पञ्चभागौ भ-
वतः । अष्टपृष्ठधिकशतस्य विंशनाधिकशतेन भागे हृते इयत्
एव हाभासदेवमिहाद्यमतमपेक्ष्यैकमुत्सेधाङ्गुलं भगवदात्माङ्गु-
लस्यार्द्धरूपनया प्रोक्तमित्यवसेयमिति । तदुत्सेधाङ्गुलं सहस्रगु-
णितं प्रमाणाङ्गुलं भवति । कथमिदमवसीयते ? उच्यते जरत-
श्चक्रवर्ती प्रमाणाङ्गुलेनात्माङ्गुलेन च किल विंशतिशतमङ्गुलं नां
जवनि भरतात्माङ्गुलस्य प्रमाणाङ्गुलस्यैकरूपत्वात् उत्सेधाङ्गु-
लेन तु पञ्चधनुःशतमानत्वात्प्रतिधनुश्च षण्णवत्यङ्गुलसंज्ञावा-
त्तद्वत्त्वारिंशत्सहस्राण्यङ्गुलानां सपञ्चतेऽतः सामर्थ्यादेकस्मिन्
प्रमाणाङ्गुले चत्वारि शतान्युत्सेधाङ्गुलानां भवन्ति । विंशत्यधि-
कशतेन अष्टचत्वारिंशत्सहस्राणां भागापहारे एतावतो ला-
जात् । यद्येवमुत्सेधाङ्गुलात्प्रमाणाङ्गुलं चतुःशतगुणमेव स्यात्ततः
कथं सहस्रगुणमुक्तं सत्यं किं तु प्रमाणाङ्गुलस्यार्द्धतृतीयेत्से-
धाङ्गुलरूपं बाह्व्यमस्ति ततो यदा स्वकीयबाह्व्येन युक्तं य-
थावस्थितमेवेदं चिन्त्यते तदोत्सेधाङ्गुलाच्चतुःशतगुणमेव भवति
यदा त्वर्द्धतृतीयेत्सेधाङ्गुललक्षणं बाह्व्येन शतचतुष्टयल-
क्षणं दैर्घ्यं गण्यते तदा अङ्गुलविष्कम्भा सहस्राङ्गुलद्वयां प्र-
माणाङ्गुलविषया सूचिर्जायते । इदमुक्तं जवनि अर्द्धतृतीयाङ्गुल-
विष्कम्भे प्रमाणाङ्गुले तिस्रः श्रेण्य कल्पन्ते एकाङ्गुलविष्कम्भा
शतचतुष्टयदीर्घा द्वितीयाऽपि तावन्मानैव तृतीयाऽपि दैर्घ्येण
चतुःशतमानैव विष्कम्भस्तत्स्वर्द्धाङ्गुलं ततोऽस्यापि दैर्घ्यद्वयं गृ-
हीत्वा विष्कम्भोऽङ्गुलप्रमाणः सपद्यते तथा च सत्यङ्गुलशतद्व-
यदीर्घा अङ्गुलविष्कम्भा इयमपि सिद्धा । ततस्तिष्ठणामप्येता-
सामुपर्युपरि व्यवस्थापने उत्सेधाङ्गुलतोऽङ्गुलसहस्रदीर्घा अङ्गु-
लविष्कम्भा प्रमाणाङ्गुलस्य सूचिः सिद्धा भवति । ततस्तमधि-
कृत्योत्सेधाङ्गुलात्तत्सहस्रगुणमुक्तं वस्तुतस्तु चतुःशतगुणमेव ।
अत एव पृथ्वीपर्वतविमानादमाना अनेनैव चतुःशतगुणेन अ-
र्द्धतृतीयाङ्गुललक्षणस्यविष्कम्भान्वितेन मीयन्ते न तु सहस्रगु-
ण्या अङ्गुलविष्कम्भया सूच्यन्ति शेष भावितार्थं यावत् (पुढ-
वीणति) रत्नप्रभादीनां (कंकाणति) रत्नकाण्ठादीनां (पा-
तालाणति) पातालकलशानां (भवणाणति) भवनपत्यावा-
सादीनां (जवणपथमाणति) भवनप्रस्तदन्तरकप्रस्तदान्तरेतेषां
(निरयाणति) नरकावासानां (निरयात्रालियाणति) नरका-
वासपङ्क्तीनां (निरयपथडाणति) निरेकारसनवसनपञ्चतिश्रित-
हेव एकाद्यादिना प्रतिशदितानां नरकप्रस्तदानां शेष प्रतीति

नवरम् (टंकाणति) विभट्टङ्गानां (कूकाणति) रत्नकूटादीनां
(सेलाणति) मुण्डपर्वतानां (सिंहरीणति) पर्वतानामेव
शिखरवनां (पम्भाराणति) तेषामेवपञ्चतानां (घेलाणति) ज-
लधिवेलाविषयभूमीनामूर्द्धाधोभूमिमध्यऽवगाहः । तदेवम् "अ-
गुलविहतिरयणी" त्यादिगाथापन्यस्ताङ्गुलादीनि योजनाय-
सानानि पदानि व्याख्यातानि ।

साम्प्रत शेषाणि श्रेण्यादीनि व्याचिख्यासुराह ।

से समासत्रो तिविद्दे पष्ठत्ते त जहा सेढांअंगुलं पयरं-
गुले घणगुले अन्खेज्जाओ जोअणकोडाकोकीओ सेढी
सेढीए गुणियाणं पयरं पयरं सेढीगुणियं लोगो संखेज्जए-
ण लोगो गुणओ संखेज्जा लोगा असंखेज्जएणं गुणिओ
लोगो असंखेज्जा लोगा अणंतेणं लोगो गुणिओ अ (णंता)
लोगा एषभिणं सेढिअंगुलपयरंगुलघणंगुलाणं कयरं
कयरोहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुअं वा विसेसाहिए वा
सव्वयोवे सेढिअंगुले पयरंगुले असंखेज्जगुणे घणंगुले
असंखेज्जगुणे सेत्त पमाणगुले ।

अनन्तरनिर्णीतप्रमाणाङ्गुलेन यद्योजनं तेन योजनेनासख्येया यो
जनकोटीकोट्य सवर्त्तितसमचतुरस्त्रीकृतद्वोकस्यैका श्रेणिर्ज-
वति (सप्तरज्जुप्रमाणत्वं द्वोकस्य द्वोगाद्वे) अनु० । तद्विदं
सप्तरज्जुव्यामन्वात्प्रमाणाङ्गुलतांऽसख्येययोजना कोटिकोठ्या-
यता एकप्रदोशिकी श्रेणिः सा च तयैव गुणिता प्रतरः सोऽपि
यथोक्तश्रेण्या गुणितो द्वोकः अयमपि सख्येयेन राशिना गुणि-
त संख्येया लोका असख्येयेन तु राशिना समादतोऽसख्ये-
या लोकाः अनन्तैश्च लोकैरलोकः ॥ अनु० ॥ प्रव० । आ०
म० प्र० । विशेष० । वात्स्यायनमुनौ, पुं० अङ्गौ पाणौ लीयते वा
रु-अङ्गुष्ठं, न० वाच० ।

अंगुलपोहत्तिय-अङ्गुलपृथक्त्विक-त्रि० अङ्गुलमुच्ययाङ्गुलं पृथ-
क्त्वं हि द्विप्रभृतिरानवच्य इति परिभाषा अङ्गुलपृथक्त्व शरीर-
वगाहनामानमेषामस्तीति अङ्गुलपृथक्त्विकाः अतोऽनेकस्वरा-
दितीक प्रत्ययः जी० १ प्रति० । अङ्गुलद्विकादिशरीरावगाहना-
माने, प्रज्ञा० १ पद ।

अंगुलि (ली) अङ्गुलि- (ली) खी० अङ्गुलि वा डीष् वा-
च० करपादशास्त्रायाम्, त० । औ० । प्रव० । गजकर्णिकावृत्ते,
गजशृणुग्रे च पुंस्त्वमपि सवृताधरौष्टमङ्गुलिनेति शकु० वाचः ।
अंगुलिकोश-अङ्गुलिकोश-पु० अङ्गुलीनां रक्तार्थं भिद्यमाणे
तदावरणे चर्मादौ, रा० । तत्कारणे "अंगुलिकोसे पणग" । नि०
चू० १ उ० ।

अंगुलि [ले] जग-अङ्गुलीयक-न० अङ्गुलौ भवमङ्गुलीय
ततः क० । अङ्गुल्याजरणविशेषे, औ० । उपा० । प्रव० । आष० ।
कल्प० । आ० । आ० म० प्र० ।

अंगुलिफोमण-अङ्गुलिस्फोटन-न० अङ्गुलीनां परस्पर तार-
नं, कदिकाकरणे च त० ।

अंगुलिजमुद्रा-अङ्गुलिज्जु-खी० अङ्गुलीर्भुवौ वा चास्यत-
कायोत्सर्गस्थितिरूपे उत्सर्गदोषे, । तत्त्व च "अंगुलिजमुद्रा-
ओ वि य, चावतो तद य कुण्ड वस्समा । आवावगगण-
डा, सव्वणठ च जोगाण" भाव० ५ म० । प्रव० । आलाप-

कगणनार्थमङ्गुलीश्चाद्यन् नथा योगो नाम स्थापनार्थं व्यापा-
रान्तरनिरूपणार्थं भ्रुवौ चालयन् भ्रूसंज्ञां कुर्वन् चकारादेवमेव
वा भ्रुवुत् कुर्वन्नुत्सर्गे तिष्ठतीति अङ्गुलीभूदोषः प्रव० ५ द्वा० ।
अंगुलि [ली] विज्ञा-अङ्गुलि [ली] विद्या-स्त्री० आ-
वस्थां नगर्था बुद्धप्रकाशिते महाप्रज्ञावे विद्याजेदे, "अंगुली-
विज्ञा य इत्येव बुद्धेण सपयासिया महप्पज्ञाया" ती० ३५ पत्र ।
अंगोवंग-अङ्गोपाङ्ग-अङ्गानि शिरःप्रभृतीन्पृष्ठौ उपाङ्गानि अङ्गा-
वयवभूतान्यङ्गुल्यादीनि शेषाणि तत्प्रत्ययवयवभूतान्यङ्गुलीपर्व-
रेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि
अङ्गोपाङ्गस्यादावसंख्येय इत्येकशेषः । इतरेतरयोग शिरःप्रभृ-
तिषु अङ्गुल्यादिषु, तत्पर्वरेखादिषु च प्रज्ञा० २३ पद० । कर्म० ।
नहकेसमसु अंगुलिओट्टा खलु अंगुवगाणि " उक्त० ३ अ० ।
अंगोवंगणाम-अङ्गोपाङ्गनामन्-न० अङ्गोपाङ्गनिबन्धन नाम अ-
ङ्गोपाङ्गनाम । नामकर्मभेदे, यदुदयाच्छरीरतयोपात्ता अपि पु-
ङ्गला अङ्गोपाङ्गविभागेन परिणमन्ति तत्कर्माङ्गोपाङ्गनाम । कर्म०
१ क० । अङ्गोपाङ्गनाम त्रिविध मन्तव्यं तथाहि आदाराकाङ्गोपा-
गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम तैजसकार्मण-
यास्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वाप्तास्ति अङ्गोपाङ्गसंभव
इत्युक्त त्रिविधमङ्गोपाङ्गनाम । कर्म० ६ क० । प्रज्ञा० । प० स० ।
प्रव० । आ० । आ० चू० ।
अं चि—आञ्चि—पु० गमने, भ० १५ श० १ उ० ।
आञ्चि—पु० आगमने, १५ श० १ उ० ।
अं च अ (त)—आञ्चित-त्रि० पूज्ये राजमान्ये पितृव्यादौ,
व्य० ४ उ० । सकृज्जने, भ० १५ श० १ उ० । पञ्चविंशतितमे-
नाट्यभेदे, रा० । आ० म० प्र० । ज० । दात्रसन्धौ, नि० चू० १२० ।
अं चि अं च य—अञ्चिताञ्चिक—पु० अञ्चिते सकृज्जने अञ्चितेन
सकृज्जने वा देशेनाञ्चि पुनर्गमनमञ्चिताञ्चि । गतपूर्वदेशे तेन
वा पुनर्गमने अञ्चयाञ्चि अञ्चया गमनेन सह आञ्चिरागमन-
मञ्चयाञ्चि । गमागमे, "णो कमह णो पकमह अचियचिय करेह
भ० १५ श० १ उ० । स्था० ।
अं चि अ [य] रिजिय—अञ्चितरिजित-न० नाट्यभेदे, रा० ।
आ० म० प्र० ।
अं चेत्ता-अंचयित्वा-अव्य० उत्पाटयित्वेत्यर्थे, आ० म० । ज्ञा० ।
अं उ-देशी धा० उज० प० आकर्षणे, अञ्जति वासुदेवं अगस्तम-
स्मि आ० म० प्र० । विशे० । भ० । कल्प० ।
अं उण-देशी० आकर्षणे, ओ० । नि० चू० ।
अंजण-अञ्जन-न० अञ्ज ल्युट् । नयनयोः कञ्जवापादने,
सूत्र० १ श्रु० ए अ० । तं० । तप्तायःशलाकया नेत्रयोः कु-
शोत्पादने, क्कारतैलादिना देहस्य मृक्षणे च स० । अज्यतेऽ-
नेन अञ्ज-करणे ल्युट् वाच० । कञ्जले, ज्ञा० ६ अ० । सौवीरा-
दौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जं० । आ० म० प्र० । औ० । जी० ।
प्रज्ञा० । भाव० । रसाञ्जने, दश० ३ अ० । रत्नविशेषे, आ०
म० प्र० । रत्नप्रज्ञाया खरकारणस्य दशमे भागे च । तदश-
योजनशतानि बाह्येन प्रज्ञप्तम् स्था० १० उ० । वनस्पतिविशे-
षे, औ० । आ० म० प्र० । चन्द्रसूर्याणां लेहयानुबन्धचारिणां पुङ्ग-
वानां पञ्चमे पुङ्गले, च० प्र० २० पाङ्ग० । सू० प्र० । मन्दरस्य पूर्वेण
शीतोदाया महानद्या दक्षिणेन स्थिते वक्रस्कारपर्वतभेदे, स्था०
५ उ० । ज० । "दो अजप्ता" स्था० २ उ० । द्वीपकुमारैन्द्रस्य

वेत्तम्बस्य तृतीये लोकपात्रे, भ० ३ श० ६ उ० । उदधिकुमारे-
न्द्रस्य प्रभञ्जनस्य चतुर्थे लोकपाले, स्था० ४ उ० । मन्दरस्य
पुरतो रुचकवरपर्वते, सप्तमे कूटे च पु० । स्था० ८ उ० ।
अंजण-अञ्जनिका-स्त्री० यद्वाभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।
अंजणकेसिया-अञ्जनकेशिका-स्त्री० वनस्पतिविशेषे, आ० ।
म० प्र० । ज० । रा० । प्रज्ञा० ।
अंजणग-अञ्जनक-पु० अञ्जनरत्नमयत्वादञ्जनास्तत स्वार्थ-
कप्रत्ययः । कृष्णवर्णत्वेन अञ्जनतुल्या अञ्जनका. उपमाने क-
प्रत्यय । जं० २ वक्र० । नन्दीश्वरर्द्धपस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थितेषु
पर्वतभेदेषु, स्था० ४ उ० । प्रव० ।
अथ नन्दीश्वरस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थिता अञ्जनकपर्वता. उच्यन्ते
एदीमगरस्स एं दीवस्स चक्रवाद्याविक्रम्भस्म बहुमज्ज-
देमभाए चउद्दिनि चकारि अंजणगपव्वया पणत्ता तंज-
हा पुरच्छ म्हे अंजणगपव्वए पच्च चमिद्धे अंजणगप-
व्वए उत्तरिद्धे अंजणगपव्वए दाहिणिल्ले अंजणगपव्वए
तेगं अंजणगपव्वयागा चतुरसीति जोयणमहस्साइं उहं
उच्चत्तेणं, एगमेगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं मूढे दसजोयण-
सहस्साइं धरणिपले दसजोयणसहस्साइं आयामविक्रवंजेणं
ततो णतरं चणं माताए पदेसपरिहाये माणामाणा उवरिं
एगमेगं जोयणसहस्सं आयामविक्रवंभेणं मूले एकतीसं
जोयणसहस्साइं उच्च तेवीक्षजोयणसते किंचि विसेसाहिए
परिक्खेवेणं सिहरितले तिसि जोयणसहस्साइं एगं च
छावडजोयणसतं किंचिविमेमाहियं परिक्खेवेणं पणत्ता
मूले वित्थिएण मज्झे संखित्ता उप्पि ताण्णया गोपुउसठा-
ण मत्तिया अच्छ जाव पत्तेयं पत्तेयं पञ्चमवरवेतिया परि-
क्खेवेण पत्तेयं पत्तेयं वणसंरुपरिक्खेत्ता वण्णो गोयमा !
तस्सि एं अंजणपव्वयाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं बहुसमरमणि-
ज्जा जूमिजागा पणत्ता से जहानामए आलिङ्गणपुक्खरेत्ति
वा जाव सयंति ।

ते अञ्जनकपर्वताश्चतुरशीनिर्योजनसहस्राणि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन
एक योजनसहस्रमुद्धेन मध्ये सातिरेकाणि दशयोजनसहस्रा-
णि विष्कम्भेन धरणितले दश योजनसहस्राणि । तदनन्तरे च
मात्रया परिहीयमाना परिहीयमाना उपरिपदैक योजनसहस्रं
विष्कम्भेन मूढे एकत्रिंशत् योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयो-
विंशतियोजनानि किंचिद्विशेषाधिकानि (३१६२३) परिक्रमे-
ण धरणितले एकत्रिंशत् योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयोविं-
शतियोजनानि देशानानि [३१६२३] परिक्रमेण उपरि त्रीणि
योजनसहस्राणि एक च द्वापटियोजनशतं किंचिद्विशेषाधिक
[३१६२] परिक्रमेण ततो मूले विस्तीर्णो मध्ये संक्रियानि उप-
रि तनुका अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिता सर्वात्मना अञ्ज-
नमया अञ्जनरत्नात्मका 'अच्छा जाव परिरुवा' इति प्राग्वत् प्र-
त्येक पञ्चवरवेदिका परिक्रियता प्रत्येक वनखण्डपरिक्रियता. पञ्च-
वरवेदिका वनखण्डवर्णन प्राग्वत् "तैसिणमित्यादि" तेषामञ्ज-
नपर्वतानां प्रत्येक प्रत्येकमुपरि बहुसमरमणीयो जूमिभाग प्र-
ज्ञप्तः तस्य 'से जहानामए आलिङ्गणपुक्खरेत्ति वा इत्यादि' वर्ण-

न जम्बूद्वीपजगत्या उपरितनजागस्येध तावद्वक्तव्यं यावत् 'तत्थ ए बहवे वाणमतग देवा देवीओ य आसयति जाव विहरति' तोसि एं वुसमरमणिजाणं जूमिजागाण वु मज्झदे सजाए पत्तयं पत्तय चत्तारि सिद्धायतणा एगमेकं जोय-
णसयं आयामेणं पप्पासं जोयणाइ विक्खज्जेणं छावत्तारि जायणाति उहुं उच्चत्तेणं अणोगखनसयमान्निविद्धा वण-
ओ गोयमा ! तेसि एं सिद्धायतणाणं पत्तयं पत्तेयं चउ-
दिसिं चत्तारि दारा पप्पत्ता तंजहा देवदारे असुरदारे नाग-
दारे सुवर्णदारे तत्थ ए चत्तारि देवा महिद्धिया जाव प-
लिओवमद्वितिया परिवसति त देवे असुरे नाग सुवर्णे
तेणं दारा साद्वसजोयणाइ उहुं उच्चत्तेणं अट्ट जायणाइ
विक्खज्जेणं तावतियं पवेसेणं सेतावम्भणं । एओ जाव
वणमाद्धाओ । तेसि एं दाराणं चउदिसिं चत्तारि मुहममवा
पप्पत्ता ते एं मुहममवा एगमेग जोयणसय आया—
मेण पप्पास जोयणाइ विक्खज्जेण सातिरेगाइ सोद्वसजो-
यणाइ उहुं उच्चत्तेणं वणओ तेसि ए मुहममवाणं चउ-
दिसिं चत्तारि दारा पप्पत्ता त एं दारा सोलस जायणाइ
उहुं उच्चत्तेणं अट्टजोयणाइ विक्खमेण तावतियं चेव पवे-
सेण सेस तं चेव जाव वणमाद्धाओ । एव पिन्धाघरमड-
वा वि तं चेव पमाण जे मुहममवाण दारा वि तहेव
एवरिं बहुजम्भदेसभाए पेन्धाघरममवाणं अक्खोन्गाम-
णिपेदियाओ अट्टजोयणप्पमाणातो सीहासणा सपरि-
वारा जाव दामा धूमा वि चउदिसिं तहेव एवरिं सोद्वस
जोयणप्पमाणा साद्वरेगाइ सोलस उच्चा सेसं तहेव । जिण-
पडिमाओ चेइयरुक्खा तहेव चउदिसिं तं चेव पमाणं
जहा विजयाए रायहाणीए एवरिं मणिपेदियाओ सोद्वस
जोयणप्पमाणाओ तेसि एं चेतियरुक्खाण चउदिसिं च
त्तारि मणिपेदियाओ अट्ट जोयणविक्खंभेणं चउजोयण-
वाहद्धाओ महिदज्झयाणं चउसाठिं जोयणुच्चा जोयणउ-
ब्बेहा जोयणविक्खंजा सेसं तहेव एवं चउदिसिं चत्तारि
नंदापुक्खरिणीओ नवरिं खोयरसपडिपुन्नाओ जोयणसयं
आयामेणं पप्पासं जोयणाइ विक्खंभेणं दम जोयणाइ उ-
व्वेहेणं सेसं तहेव । मणोगुलिया गोमाणसिया अमया-
लीसं अरुयालीसं सहस्साओ पुरच्छिमेण वि सोलसपव-
च्छिमेण वि सोलस सहस्सा दाहिणेण वि अट्ट सहस्सा उ-
त्तरेण वि अट्ट सहस्साओ तहेव सेस उद्धोया जूमिजागा
जाव बहुजम्भदेसजूमिभागे मणिपेदिया सोलस जोयणाइ
आयामविक्खंभेण अट्ट जोयणाइ वाहद्धेणं तेसि एं मणि-
पेदियाण उप्पि देवच्छदगा सोलस जोयणाइ आयामविक्ख-
मेण सातिरेगाइ सोलस जोयणाइ उहुं उच्चत्तेणं सव्वरय-
णप्पमाओ अट्ट मयं जिणपमिमाणं सव्वो सो चेव गमो

जहा वेमणिया सिद्धाययणस्म ॥

तेषां बहुसमरमणीयानां जूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येक
प्रत्येक सिद्धायनन प्रज्ञप्त तानि च सिद्धायतनानि प्रत्येक प्रत्येक
योजनशतमायामेन पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेन द्विसप्ततियो-
जनानि ऊर्ध्वमुखेन अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानीत्यादि तद्व-
र्णन विजयदेवसुधर्मसभाचक्रवर्त्यम् (तेसिणमित्यादि) तेषां
सिद्धायतनानां प्रत्येक चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दि-
शि एकैकजावेन चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा पूर्वेण पूर्व-
स्यामेव दक्षिणस्यां पश्चिमायामुत्तरस्याम् । तत्र पूर्वस्या दिशि
द्वार देवद्वार देवनामकस्य तदधिपतेस्तत्र भावादेव दक्षिणस्या-
मसुरद्वार पश्चिमायां नागद्वारम् उत्तरस्यां सुवर्णद्वारम् (तथे-
त्यादि) तत्र तेषु चतुर्षु द्वारेषु यथाक्रमं चत्वारो देवा महर्हि-
का याचतल्योपमस्थितयः परिवसन्ति तद्यथा (देवेत्यादि)
पूर्वद्वारे देवा देवनामा दक्षिणद्वारे असुरनामा पश्चिमद्वारे नाग-
नामा उत्तरद्वारे सुवर्णनामा (तेन दारा इत्यादि) तानि द्वा-
राणि योजनशतमायामेन प्रत्येकमूर्ध्वमुखेन अष्टौ योजनानि वि-
ष्कम्भतः (तावद्वयं चेवसि) तावन्त्येव अष्टवैव योजनानी-
ति ज्ञाव । प्रवेशेन (सियावरकणगयुनिया इत्यादिवर्णक विज-
यचारस्येवेति विजयचारशब्दे भावयिष्यते)

तत्थ एं जेसिं पुरच्छिमिद्धाणं अंजणपव्वते तस्स एं चउ-
दिसिं चत्तारि नंदापुक्खरिणीओ पप्पत्ताओ तंजहा एंदा-
त्तरा य एंदा आणदा णदिवद्धा । ताओ णंदापुक्खरि-
णीओ एगमेग जोयणसयसहस्स आयामविक्खंभेण दस
जोयणाइ उव्वेहेणं अच्चाओ सएहाओ पत्तेयं पत्तेयं पड-
मवरवेत्तिया पत्तय पत्तयं वणसंमपरिविक्खत्ता तत्थ तत्थ
जाव तिसोपाणपमिरूवगा तोरणा तासि एं पुक्खरिणीणं
बहुजम्भदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं दहिमुहपव्वए पप्पत्ते तेणं
दहिपुहपव्वया चउसठिं जोयणसहस्साइ उहुं उच्चत्तेणं एं
जोयणसहस्सं उव्वेहेणं सव्वरय समा पल्लगसंठाणसंठिता
दसजोयणसहस्साइ विक्खम्भणं एकतीसं जोयणसहस्साइ
छुच्च तेवीसजोयणसए परिवक्खेवेणं पप्पत्ता सव्वरयया-
मता अच्चा जाव पमिरूवा पत्तेयं पत्तेयं पडमवरवेत्तिया
नलसंरुवण उ बहुसमरमणीयं जाव आसयंति सिद्धाय-
यणं तं चेव पमाणं तं अजणपव्वएसु तत्तव्वया निरवसंसा
जाणियव्वा जाव उप्पि अट्टमंगलया ॥

तत्र तेषु चतुर्षु अञ्जनपर्वतेषु मध्ये याऽसौ पूर्वदिग्भावी अ-
ञ्जनपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि ए-
कैकनन्दापुष्करिणीभावेन चतस्रो न दापुष्करिण्यः प्रज्ञप्तास्त-
द्यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दिषेणा दक्षिणस्याममोषा अपरस्यां
गोस्तूपा उत्तरस्यां सुदर्शना ताश्च पुष्करिण्य एक योजनशत-
सहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश
सहस्राणि द्वे शते सप्तविंशत्यधिकत्रीणि गव्यूतानि अष्टाविंशं
धनुःशत त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिक
परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः । इदं योजनानि उद्धेधेन " अञ्जणो स-
एहाओ रययमयकूलाओ इत्यादि " जगत्पुपरि पुष्करिणीय-
शिरवशेषं वक्तव्यं नवर " वहाओ समतीराओ ओदोदगपडि-

पुष्पागो " इति विशेषः । ताश्च प्रत्येक प्रत्येक पञ्चवरवेदि-
कया परिक्रिस्ताः । प्रत्येक प्रत्येक वनखण्डेन परिक्रिस्ता । अत्रा-
पीदमन्यदधिक पुस्तकान्तरं दृश्यते " तासि ए पुष्करिणीण
पत्तेय पत्तेय चउद्दिशि चत्वारि वणसमा पञ्चत्ता त जहा पुर-
च्छिमेण दाहिणेण अवरेण उत्तरेण पुर्वेण असोगवण जाव
मृयवणं उत्तरे पासे " एव शेषाञ्जनपर्वतसबन्धिनीनामपि
नन्दापुष्करिणीनां वाच्यम् (तासिणमित्यादि) तासां पुष्करि-
णीनां बहुमध्यदेशज्ञागे प्रत्येक प्रत्येक दधिमुखो दधिमुखनामा
पर्वत प्रज्ञप्त (तेणमित्यादि) ते दधिमुखपर्वताश्चतुर्पाष्ट-
योजनसहस्राणि ऊर्द्धमुखैस्त्वेन एक योजनसहस्रमुद्वेधेन स-
र्वत्र समा पत्यसस्थानसस्थिता दशयोजनसहस्राणि विष्क-
म्भेन एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि पद्मयोर्विशानि त्रयोविंशत्य-
धिकानि योजनशतानि परिकेपेण प्रज्ञप्ताः । सर्वात्मना स्फटि-
कमया अञ्जा यावत्प्रतिरूपा प्रत्येक प्रत्येक पञ्चवरवेदिकया
परिक्रिस्ता प्रत्येक २ वनखण्डेन परिक्रिस्ताः (तेसिणमित्यादि)
तेषां दधिमुखपर्वतानामुपरि प्रत्येक बहुसमरमणीयो भूमिभाग
प्रज्ञप्त तस्य च वर्णनं तावद्वक्तव्यं यावद्बहवो " वाणमन्तरा
देवा देवीओ य आसयति सयति जाव विहरति " (तेसि-
णमित्यादि) तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्य-
देशज्ञागे प्रत्येक प्रत्येक सिद्धायतन प्रज्ञप्त सिद्धायतनवक्तव्यता
प्रमाणादिका अञ्जनकपर्वतोपरि सिद्धायतनवक्तव्यता यावद-
ष्टशत प्रत्येक प्रत्येक धूपककुञ्जुकानामिति ।

तत्त ए जे मे दक्खिणिज्जे एणं अजणपव्वए तस्स एणं
चउद्दिशि चत्वारि एणंदापुक्खरिणीओ पञ्चत्ताओ तंजहा
जहा य विमात्रा य कुमुया पुरीगिणी त चेव तंहेव दहि-
मुहपव्वया तं चेव पमाण जाव सिद्धायतणे ।

[तत्त ए जे से दाहिणिज्जेण अजणपव्वए इत्यादि] दक्षि-
णाञ्जनकपर्वतरुस्यापि पूर्वदिग्भावाञ्जनकपर्वतस्येव निरवशेष
वक्तव्यं नवर नन्दापुष्करिणीनामिमानि नामानि तद्यथा पूर्वस्या
नन्दोत्तरा दक्षिणस्या नन्दा अपरस्यामानन्दा उत्तरस्या नन्दि-
बर्द्धना शेष तथैव ॥

तत्त एणं जे से पच्चोत्तमेण अंजणपव्वए तस्स एणं चउ-
द्दिशि चत्वारिपुक्खरिणीओ पञ्चत्ताओ तं जहा णंदेसिणा
य अमोहा य गोत्थुजा य सुइसणा य तं चेव सर्व्वं भाणिय-
व्वं जाव सिद्धाययणं तत्त जे से उत्तरिज्जे अजणपव्व-
ते तस्स एणं चउद्दिशि चत्वारि नन्दापुक्खरिणीओ पञ्चत्ता-
ओ तंजहा विजया वेजयत जयन्ती अपराजिता सेसं तंहेव
जाव सिद्धाययणा सर्व्वो चेति य वण्णया णेयव्वा । तत्त
ए बहुवे भवणवइवाणमन्तरजोतिमवेमाणिया देवा चाउ-
म्भासियपनिवण्णसु संवच्छरेसु य अण्णेषु बहुजिणजम्मण-
निक्रवमणणाणुप्पपातपरिणिव्वाणमादिएसु य देवकज्जेसु य
देवसमुदएसु य देवसमतीसु य देवममत्राएसु य देवपओयणेसु
य एगंतओ सहिया समुवागया समाणा पमुदितपकालिया
अट्टहियाओ महामहिमाओ कारेमाणा पालेमाणा सुहं
सुहेण विहरति । कयस्सासहरिवाहणा य तत्त दुवे देवा
महिहिया जाव पलिओवमड्डितिया परिवसति से तेया-

हेणं गोयमा ! जाव निच्चे जोतिमं संखेज्जं ॥

पूर्वदिग्भावाञ्जनकपर्वतस्येव पश्चिमदिग्भावाञ्जनपर्वतस्या-
पि वक्तव्यं यावत्प्रत्येक प्रत्येकमष्टशत धूपककुञ्जुकानां नवर
नन्दापुष्करिणीनां नामनानात्वं तद्यथा पूर्वस्यां भद्रा दक्षिणस्यां
विशाखा अपरस्यां कुमुदा उत्तरस्यां पुण्डरीकिणी शेष तथैव ।
एवमुत्तरदिग्भावाञ्जनकपर्वतेऽपि वक्तव्यं नवरमत्रापि नन्दा-
पुष्करिणीनां नामनानात्वं तद्यथा पूर्वस्यां दिशि विजया
दक्षिणस्यां वेजयन्ती अपरस्यां जयन्ती उत्तरस्यामपराजिता
शेष तथैव यावत्प्रत्येक प्रत्येकमष्टशत धूपककुञ्जुकानामिति पोरु
शानामपि चामूषां वापीनामपान्तराले प्रत्येक प्रत्येकं रतिकर-
पर्वतो जिनभवनमग्निरुतशिखरौ शास्त्रान्तरे अग्निहिताविति ।
सर्व्वसंख्यया नन्दीश्वरद्वीपे चापञ्चाशत्सिद्धायतनानि (तत्त एण
मित्यादि) तत्र तेषु सिद्धायतनेषु णमिति पूर्ववत् बहवो प्रव-
नपनिवाणमन्तराज्योनिष्कवैमानिका देवाश्चातुर्मासिकेषु पर्यु-
षणायामन्येषु च बहुषु जिनजन्मनिष्कमण्णानोत्पादपरिनिर्वा-
णादिषु देवकार्येषु देवसमितियु एतदेव पर्यायद्वयेन व्याचष्टे
देवसमवायेषु देवसमुदायेष्वागतः प्रमुदितप्रकीर्तिता अष्टा-
हिकारूपा महामहिमा, कुर्वन्तः सुखं सुखेन विहरन्ति आसते ।
(अनुत्तर च ए गोयमा ! इत्यादि) अथान्यत् गौतम ! नन्दीश्व-
रद्वीपे चक्रवाहविष्कम्भेन बहुमध्यदेशज्ञागे चतसृषु दिक्षु
एकैकस्यां विदिशि एकैकजायेन चत्वारो रतिकरपर्वताः प्रज्ञ-
प्ता तद्यथा एक उत्तरपूर्वस्यां द्वितीयो दक्षिणपूर्वस्यां तृतीयो
दक्षिणापरस्यां चतुर्थ उत्तरापरस्याम् । (तेणमित्यादि) ते र-
तिकरपर्वता दशयोजनसहस्राणि ऊर्द्धमुखैस्त्वेन एकयोजनस-
हस्रसमुद्वेधेन सर्व्वत्र समा भट्टरीसस्थानसस्थिता दशयोजन-
सहस्राणि विष्कम्भेन एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि पद्मविशानि
योजनशतानि परिकेपेण सर्वात्मना रत्नमया अञ्जा यावत् प्र-
तिरूपाः । तत्र योऽसावुत्तरपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि
चतसृषु दिक्षु एकैकराजधानीभावेन ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवरा-
जस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाः चतस्रो राजधा-
न्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा
पश्चिमायामुत्तरकुरा उत्तरस्यां देवकुरा । तत्र कृष्णायाः कृष्ण-
नामिकाया अग्रमहिष्या नन्दोत्तरा कृष्णराज्या नन्दा रामाया
उत्तरकुरा रामरक्षिताया देवकुरा । तत्र योऽसौ दक्षिणपूर्वो र-
तिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य च-
तसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञ-
प्तास्तद्यथा पूर्वस्यां सुमनाः दक्षिणस्यां सौमनसा अपरस्याम-
र्व्विमाद्वी उत्तरस्यां मनोरमा । तत्र पद्मायाः पद्मनामिकाया अग्र-
महिष्या सुमनाः शिवाया सौमनसा सोमाया अर्चिमाद्वी अ-
ञ्जुकाया मनोरमा । तत्र योऽसौ दक्षिणपश्चिमो रतिकरपर्वत-
स्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां
जम्बूद्वीपप्रमाणमात्राश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्व-
स्यां दिशि नृता दक्षिणस्यां नृतावतसा अपरस्यां गोस्तृपा उ-
त्तरस्यां सुदर्शना । तत्र अमलाया अमलनामिकाया अग्रमहि-
ष्या नृता राजधानी अप्सरसोऽभूतावसन्तिका नवमिकयोगी-
स्तृपा रोहिण्या सुदर्शना । तत्र योऽसावुत्तरपश्चिमो रतिकरप-
र्वतस्तस्य चतुर्दिशि ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्र
महिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा
पूर्वस्यां दिशि रत्ना दक्षिणस्यां रत्नोच्चया अपरस्यां सर्व्वरत्ना
उत्तरस्यां रत्नसञ्जया । तत्र रत्नवसुनामिकाया अग्रमहिष्या

रत्ना वसुप्राप्ताया रत्नोष्ण्या वसुमित्रायाः सर्वरत्ना वसुन्धरायाः सर्वसञ्चया । इयं रतिकरपर्वतचतुष्टयवक्तव्यता । केषुचित् पुस्तकेषु सर्वथा न दृश्यते कैलासहरिवाहननामानौ च द्वौ देवौ तत्र यथाक्रम पूर्वार्द्धपरार्द्धाधिपतौ महर्षिकौ यावत् पत्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तत एव नन्द्या समृद्ध्या दुर्नदिसमृद्धाविति वचनात् ईश्वर स्फानिमान् न तु नाम्नेति नन्दीश्वरः । तथाचाह । से एषण्ट्रेणमित्यादि उपसहारवाक्य प्रतीत चन्द्रादिसख्यासूत्र प्राम्बत् जी० ३ प्रति० । स० । वनस्पतिविशेषे, रा० । दाअजणा स्था० २ ग० । वायुकुमाररेन्द्राणां तृतीये लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० ।

अंजण [णा] गिरि-अञ्जनगिरि-पु० कृष्णवर्णपर्वतविशेषे, का० ८ अ० । मन्दरपर्वते भद्रशास्त्रवने व्यवस्थिते चतुर्थे विंध्यस्तिकूटे, स्था० ८ ठा० तदधिपे देवे च ज० ४ वक्त्र० । (वर्णन दिसादित्थशब्दे)

अंजणजोग-अञ्जनयोग-पु० सप्तविंशकलाभेदे, कल्प० ।

अंजणपुलग-अञ्जनपुलक-पु० रत्नभेदे, रा० । आ० म० प्र० । रत्नप्रजायाः पृथिव्याः खरकाण्डस्य एकादशे जागे, स्था० १० ग० । मन्दरस्य पूर्वे रुचकवत् पर्वते व्यवस्थितेऽष्टमे कूटे स्था० ८ ग० ॥

अंजणमूल-अञ्जनमूल-पु० रुचकपर्वतस्याष्टमे कूटे, द्वी० ।

अंजणरिष्ठ-अञ्जनरिष्ठ-पु० वायुकुमाराणां चतुर्थे इन्द्रे, ज० ३ श० ८ उ० ।

अंजणसमुगग-अञ्जनसमुद्रक-पु० सुगन्ध्यञ्जनाधारे, जी० ३ प्रति० । रा० ।

अंजणसद्भागा-अञ्जनशलाका-स्त्री० अक्षणोरञ्जनार्थं शलाकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंजणसिद्ध-अञ्जनसिद्ध-पु० अक्षणोरञ्जनविशेषप्रकृत्येनादृश्यतां गते, पि० । नि० चू० । (यथा सुस्थिताभिधसूरिमुखाद्यो-निप्रभृतोक्तमदृशिकरणमञ्जन श्रुत्वा क्लृप्तकक्ष्येनादृश्य चृत्वा चन्द्रगुप्ताऽऽहारो चुकः इत्यादि चुष्य शब्दे)

अंजणा-अञ्जना-स्त्री० तृतीयनरकपृथिव्याम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । प्रव० । जम्ब्याः सुदर्शनाया अपरदक्षिणस्या व्यवस्थितायां पुष्करिण्याम्, ज० ४ वक्त्र० । जी० ।

अंजणिया अञ्जनिका-स्त्री० कज्जलाधारचूतायां नक्षिकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० । ।

अंजलि (ली) - स्त्री० पुं० अञ्जलि-पुं०-अञ्ज-अलि-वेमाञ्जजाद्याः स्त्रियाम् ८ । १ । ३५ । इति प्राकृतसूत्रेण वा स्त्रीत्वम् । प्रा० । मुकुलितकमलाकारकरद्वयरूपे (ज० ३ वक्त्र०) इ-स्तन्यासधौरे, रा० । भ० । च० प्र० । दा विहत्या मन्त्रकमलसन्ध्या अंजली जम्बुनि नि० चू० १ उ० । मुकुलितहस्तयो-र्हस्ताभ्यन्तरे, " एषेण वा दोहि वा मन्त्रिणं हि हत्येहि पिनात्र-सन्निर्हि अजली जम्बुति " नि० चू० ५ उ० । द्वयोर्हस्तयो-रन्योन्यानन्तरिताङ्गुलिकयोः सप्तद्वयतया एकत्र मीलने च जी० ३ प्रति० । आ० म० प्र० । प्रश्नादौ क्रियमाणे कायिक-विनयभेदे, अञ्जलिप्रणामादौ यदि पुनः कथमप्यको हस्त कणि-को जवति तदैकनर हस्तमुत्पाठ्य नमः क्रमाश्रमणेभ्य इति वक्तव्यम् व्य० १ उ० । द्वा० । दश० ।

अंजलिपगह-अञ्जलिप्रग्रह-पु० हस्तजोमने, का० १ अ० ।

अञ्जलिकरणरूपे विनयविशेषे, भ० १४ श० ३ उ० । प्रव० । सम्भोगभेदे च । स० (संजोग शब्दे निरूपणम्)

अंजलिबंध-अञ्जलिबन्ध-पुं० करकुञ्जलस्य शिरसि विधाने, दर्श० ।

अंज [स्]-अञ्जस्-न० अनक्ति गच्छति मिश्रयति वाऽनेन अञ्जु गतौ' मिश्रणे च असुन्न वेगे, बले, औचित्ये च 'अञ्जस उपसथानमिति' वार्तिकात् तृतीयाया' अलुक् । अञ्जसाकृतश्च वाच० । प्रगुणे, न्याये, विशेषे ।

अंजिय-अञ्जित-त्रि० अञ्जि-क्त० कञ्जलेन अङ्किते, तेअंजि-यक्त्वा निलए च ते कए" नि० चू० १ उ० ।

अंजु-अञ्जु-त्रि० प्रगुणे, अङ्गुलिदे, " अप्पणो य वियक्त्वाहिं भ-यमज्झिं डुम्मइ " आचा० १ श्रु० ५ अ० । मायाप्रपञ्चराहितत्वा-दवक्त्रे, "अञ्जुधम्मं जहा तच्च जिणाणं तं सुखेइ मे" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । सयमे प्रगुणे अव्यभिचारिणि सूत्र० १ श्रु० १ अ० । आचा० । व्यक्ते, सूत्र० ७ श्रु० १ अ० । निर्दोषत्वात्प्रकट, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अंजुआ-अञ्जुका-स्त्री० अरनाथस्य प्रथमशिष्यायाम्, स० ।

अंजु-अञ्जु-स्त्री० धनदेवसार्धवाहद्वन्द्वितरि, तद्वक्तव्यता वि-पाकभुते दु खविपा कानां दशमेऽध्ययने श्रूयते स्था० १० ग० ।

जइ एं भंते ! समणेणं जगवया महावीरेणं दमस्त उक्खेवओ एवं खलु जंत् ! तेणं कालेणं तेणं समणं वच्छमाणपुरे णामे णयरे होत्या । विजयवच्छमाणे उज्जा-णं मणिज्जे जक्खे विजयमित्ते राया । तत्थ एं धणदेव-णामं मत्थवाहे होत्या । अट्ठे पियंगुजारिया अंजदारिया जाव मरीरा समोसरणं परिमा णिग्गया जाव पडिगया तेणं काट्ठेण तेणं समणं जेट्ठे जाव अरुमाणे जाव विज-यमित्तस्स रसो गिहस्स अमोगवणियाए अदूरसामंते एं वीइयमाणं पामइ पामइत्ता एणं इत्थिय सुक्कं चुक्ख णिम्मं-स किमिकिमिन्नूयं अठ्ठिचम्मावण्ठं णीलसालगणि-यत्थं कट्ठाइ कट्ठुणाइ विस्मराइं क्वमाणं पामइ पासइत्ता चिंता तहेव जाव एवं वयासी एस एं भंते ! इत्थिया पु-व्वजवे का आसी वागरण एवं खलु गोयमा ! !

अञ्ज्वाः पूर्वजवः ।

तेणं कालेणं तेणं समणं इहेत्त जंत्तवीदीवे भारहे वासे इंदपुरे णामं णयरे तत्थ एं इंदत्ते राया पुढविसिरिणामं गणिया वसओ तएणं मा पुढविसिरिगणिया इंदपुरे णयरे बहवे राईसरं जाव प्पजिइओ बहुहि चुप्पयगेहि य जाव अभिओगिता उरात्ताइ माणस्मगाइं जोगभोगाइं जुजमाणं विहरइ । तए एं मा पुढविमिरिगणिया एए कम्माए य मकम्मा ४ सुबहु पावं समज्जिगित्ता पमात्तीसं वाससयाइं परमाउसं पालित्ता कालमासे काट्ठ किच्चा उट्ठीए पुढवीए उक्कोसे णेरइत्ताए उववणा । सा एं तओ उव्वटित्ता

अञ्ज्वा घर्तमानभवः ।

ज्ञाताधर्मकथायां यथा तेतलिसुतनामा ग्रामात्य पोष्टिला-
भिधानां कलादस्तपिकादारश्रेष्ठिसुतामात्मार्थं याचयित्वाऽऽत्म-
नैव परिणुत्तानवमयमपति दशमाध्ययनविवरणम् ।

अब्ज्या भविष्यद्भवः ।

अज्जयणस्स अयमट्ठ पण्णत्ते सेवं जंतं विपा० १० अ० ।
तत्कल्पनाप्रतिपद्ये कर्मविपाकानां दशमेऽध्यायने च स्था०
१० वा० । शकस्य चतुर्थ्यामग्रमहिष्यां च स्था० ८ वा० सा च
पुर्वभवे हस्तिनापुरे पश्चाद् धिजयायामुत्पन्ना पाश्चाहंतोऽन्तिके
प्रव्रजिता शकस्याग्रमहिषी जाता । स्थितिः सप्तपत्न्योपमा
महाविदेहेऽन्तः कर्त्तव्यति तत्प्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथायाः
द्वितीयश्रुतस्य नवमवर्गस्य चतुर्थेऽध्यायने च ज्ञा० १ अ० ॥
अरु-आरु-न० अमन्ति सम्प्रयोग यास्ति अनेनेति अरु-रु
टवर्गादित्येऽपि रुस्य नेत्वम् । पुसोऽध्यायवभेदे मुक्के, वाच० ।
पिपीलिकादांनानां निम्बे, वृ०४ व०। आचा०। चतुरिन्द्रियकीटवि-
शेषनिर्वर्तिनकोशकारे, विशेष०। ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमभृतस्क-
न्धस्य मयूराणकवक्षकल्पिताप्रतिपद्ये तृतीयेऽध्यायने, ज्ञा० १ अ०।
आघ० । प्रअ० । स० । आ० चू० ।

तत्कथानके चैषम् ।

जइ एणं जंते ! समणं जगवया महावीरेणं जाव एवं सज्जु
जंद् तेणं कावेणं तेणं समणं चंपा नाम नयरी होत्या
वसुओ तीते ण चंपाए नयरीए बहिया उत्तरपुर च्चमे
दिसीजाए सुजूमिजाणे णामं उज्जाणे सव्वओ य सुरम्मे
एंदणवण इव भूहमुरजिसीयलच्चायाए समणबध्दे तस्स
एणं सुजूमिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरे एगदेसम्मि मावूया
कच्चए होत्या वणओ तत्थ एणं एगा वणमयूरी दो पुट्टे
पारियागते पिट्ठउंकी पंडुरे णिव्वणे निरुवइए भिन्नमुट्ठि-
प्पमाणे मयूरी अरुए पमवइ मएणं पक्खवाएणं संरक्खमा-
णी संगोवेमाणी संचिट्ठेमाणी विहरइ । तत्थ णं चंपाए
णयरीए छुवे सत्यवाहदारगा परिवसति तंजहा जिणदत्त-
पुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य मह जायया सहवड्डियया सह
पंसुकीलिया सह दारदरिसी अन्नमन्नमणुरत्तया ब्रह्ममस-
मणुव्वयया असमसच्छंदाणुवत्तया ब्रह्ममसहिययइ-
च्चियकारया असमस्येसु गिहेसु किच्चाइं करणिज्जाइं
पच्चणुन्नवमाणा विहरंति । तए णं तेसिं सत्यवाहदारगाणं
अस्यया कयाइं एगओ सहियाए समुवगयाणं सप्पिसप्पाणं
सप्पिचिट्ठाणं एमेयारूवे मिहोक्कहासमुद्धावे समुप्पज्जिस्था
जेणं देवाणुप्पिया अम्हं सुहं वा दुहं वा पव्वज्जां वा वि-
देसगमणं वा समुप्पज्जति तेण अमहे एगओ समेच्च शि-
च्छरियव्वं तिकट्ठु अएणमणं एयारूवं संकेयं सुणंति सक-
म्मसंपज्जता जाया वि होत्या । तत्थ णं चंपाए नयरीए
देवदत्ता नामं गणिया परिवसति अच्चा जाव भत्तपाणा
चउसट्ठिकलापभिया चउमट्ठिगणियागुणोववेया अज्जणती-
सं विमेषरममाणी एकनीसरइगुणप्पहाणा वत्तीसपुरिसोव-
यारकुसला एवंगमुत्तपडिबोहिया अट्ठारस देसभासा-
विसारया सिंगारागारचास्वेमा संगयगयहसियजणियविहि-
यविद्यासललियसंदावनिउणजुत्तोवयारकुसला ऊसिय-
ऊकया सहम्मसन्नंजा विदिएणउत्तचापरवाहवीयाणिया क-

एणीरहृष्यायी त्रि होत्था । वदूणं गणियासहस्माणं आ-
हेवच्चं जाव विहरति । तएणं तेसिं सत्यवाहदारयाण
अएणया कयाडं पुव्वावरएहकालर.मयंसि जिमियभुत्तुत्त-
रागयाणं समाणाणं आयत्ताणं चोक्वाणं परमसुडञ्ज्याणं
सुहासएवरगयाणं इमेयारुवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्प-
जित्या से णं खलु देवाणुप्पिया कद्ध जाव जन्ते विपुलं
असणं पाणं खाडमं साडमं उक्खडावेत्ता तं विपुलं अस-
णं पाणं खाडमं साडमं धूवपुप्फगंधवत्तं गहाय देवदत्ताए
गणियाए सच्चिं मुज्झिमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं
पच्चणुब्जवमाणा णं विहरत्तए तिकट्टुअसमएणस्म एय-
महं पन्निमुणैइ पन्निमुणैत्ता कद्धं पाउब्जुए कोहुंविपुलुरिसे
सदावेति सदावेत्ता एव वयासी गच्छ ए तुब्भे देवाणुप्पिया
विपुलं असणं पाणं खाडमं साडमं उक्खडावेत्ता तं विपुलं अस-
णं पाणं खाडमं साडमं धूवपुप्फगहाय जेणेव
मुज्झिमिभागे जेणेव पंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उ-
वागच्छत्ता एंदाए एक्खरिणीए अदूरसामंते धूणा मंरुव
आहणहं आमियसमज्झिओवलित्त सुगंध जाव कलियं क-
रेह अमहे पन्निवादिमाणा चिट्ठह । तए णं से सत्यवाहदा-
रगा दोब्बं पि कांहुविपुलुरिसे सदावेति सदावेत्ता एवं व-
यामी खिप्पामेव बहुकरगजुत्तजोडयं समसुरवात्तिहा-
णं ममज्झिदियतिक्खपसंगहिण्हिं रययामयघटसुत्त-
रज्जुयपवगकंचणवचियणत्थवग्गहोवग्गहिण्हिं नीलोप्प-
लकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं णाणामाणिरयणकंच-
णघंटेयाजाजपरिक्खित्तं पवगलक्खणोवचियं जुत्तामेव
पहाण उवणं ते वि तहेव उवणंति तएणं से सत्यवाह-
दारगा पट्टाया जाव सव्वमरीरपवहणं दुरुद्धति जेणेव दे-
वदत्ताए गणियाए गिहे तेणेव उवागच्छति । पवहणाओ
पच्चोरुहंति देवदत्ताए गणियाए गेहं अणुपविसति तएण सा
देवदत्ता गणिया ते सत्यवाहदारगा एज्जमाणे पामइ पा-
सइत्ता इडुत्ता आमणाओ अब्भुत्तेनि अब्भुत्तिता सत्त-
ट्टपयाडं अणुगच्छति अणुगच्छत्ता ते सत्यवाहदारए एवं
वयामी सदिसह णं तुमं देवाणुप्पिया किमागमणप्पओय-
णं तएणं ते सत्यवाहदारगा देवदत्त गणियं एवं वयामी
इच्छामो णं देवाणुप्पिए तुभेहि सच्चिं मुज्झिमिभागस्स उज्जा-
णस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुब्जवमाणा विहरत्तए । तएणं
सा देवदत्ता गणिया तेसिं सत्यवाहदारगाणं एयमहं पन्नि-
मुणैति पन्निमुणैत्तिता एहाया कयवलिकम्मा किं ते पवर-
जाव मेरिसमाणवेसा जेणेव सत्यवाहदारए तेणेव उवा-
गच्छति । तए णं से सत्यवाहदारगा देवदत्ताए गणियाए
मद्धि जा णं दुरुद्धति चपाए नयरीए मब्भ मज्जेणं जेणेव
मुज्झिमिभागे उज्जाणे जेणेव पंदापोक्खरिणी तेणेव उवाग-

च्छति उवागच्छत्तिता पवहणसौ पच्चोरुहंति पंदापोक्ख-
रिणी ओग्गहंति जलमज्जणं करोति जलक्कीं करोति एहाया
देवदत्ताए सच्चिं पच्चोरुहति जेणेव धूणमंरुवे तेणेव उवाग-
च्छति उवागच्छत्तिता अणुपविसति सव्वालंकारविजूसिया
आसत्था वीसत्था सुहामणवरगया देवदत्ताए गणियाए
सच्चिं तं विपुलं असणं पाणं खाडमं साडमं धूवपुप्फगंधव-
त्तं आसाएमाणा विसाएमाणा परिभुंजइ एवं च णं विहरं-
ति जिमियभुत्तोत्तरागया देवदत्ताए गणियाए सच्चिं विपु-
लाइं माणुस्सगाइं कामजोगाइं जुंजमाणा विहरंति तएण से
सत्यवाहदारया पुव्वावरएहकालसमयंसि देवदत्ताए गणि-
याए सच्चिं धूणामरुवाओ पडिनिक्खमंति हत्थसगलिए
मुज्झिमिभागे बहुसु अलियघरेसु य कयल्लीघरेसु य दयाघरे-
सु य अच्छणघरेसु य पेच्छणघरेसु य पासणघरेसु य मोहण-
घरेसु य सादधरेसु य जादधरेसु य कुसुमघरेसु उज्जाणसिरिं
पच्चणुब्जवमाणा विहरंति तए णं ते सत्यवाहदारया जेणेव
से मातुवया कच्छे तेणेव पहारेत्थगमणाए तए णं सा वणम-
यूरी ते सत्यवाहदारए एज्जमाणे पासति पासत्तिता जीया
तत्थ महया महया सदेणं केकारव विणिम्यमाणा मालुया
कच्छाओ पन्निनिक्खमइ । एगंसि रुक्खमालियं ठिच्चा ते
सत्यवाहदारए मालुयाकच्छेय च पविसमाणा अणिमिसदि-
ट्ठीए पेहमाणी चिट्ठइ । तए णं ते सत्यवाहदारए अएणमसं
सदावेइ सदावेत्ता एव वयासी जहा ण देवाणुप्पिया एमा
वणमयूरी अमहे एज्जमाणे पासत्ता भीया तत्थ तसिया उ-
व्विग्गा पट्टाया महया महया सदेणं जाव अमहे मातुया
कच्छगं च पेहमाणी पेहमाणी चिट्ठति तं भवियव्वमेत्थका-
रणेणं । तिकट्टु मातुया कत्थयं अंतो अणुपविसति । तत्थ
णं दो पुट्ठे परियागए जाव पासत्ता अणमसं सदावेति
सदावेत्ता एवं वयासी तं से यं खलु देवाणुप्पिया अमहे
इमे वणमयूरी अंरुए सा णं जाडमताणं कुक्कडियाणं अंरुए
सुपक्खिवावेत्तए तए णं ताओ जाडमताओ कुक्कडियाओ
एए अंरुए य सएणं पक्खवाएणं मा रक्खमाणीओ सगो-
वेमाणीओ विहरिस्संति । तए णं अमह एत्थदो कीडावण-
गा मयूरीपोयगा जविस्संति तिकट्टु अएणमसस्स एयमहं
पन्निमुणैइ पन्निमुणैत्ता सए सए दासवेहए सदावेइ सदा-
वेत्ता एवं वयामी गच्छइ णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! इमे अंरुए
गहाय सयाणं जाडमताणं कुक्कणीए अंरुएसु पक्खिवव
जाव ते वि पक्खिवंति तए णं ते सत्यवाहदारगा देवदत्ता-
ए गणियाए सच्चिं मुज्झिमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाण-
सिरिं पच्चणुब्जवमाणा विहरत्ता तमेव जाण दुरुद्धा समा-
णा जणव चंपानयरी जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहे तेणेव
उवागच्छइ उवागच्छत्ता । देवदत्ताए गिहे अणुपविसति

देवदत्ताय गणियाय विपुल जीवियारिहं पीविदाणं दत्तयाति
सकरोति सम्माणेति देवदत्ताय सिद्धान्त पन्निगिखलमति पन्नि
णिकखमतिता जेणेव सयाई गिदाई तेणेव उवागच्छति सक-
म्मसंपन्निता जाया वि होत्था । तत्थ ए जे से सागरदत्तपुत्ते
सत्थवाहे से णं कद्धं जाव जल्लते जेणेव से वणमयूरीअडए ते-
णेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तंसि मयूरीअंरुयसि संकिए
कंखित्ते वित्तिगिच्छे समावणणे भेयममावणे कल्लसमावणणे
किणं समं ममं एत्थ कीद्वानवणमयूरीपोयए जविस्सति उदाहु
नो जविस्संति चिकहु तं मयूरी अहय अजिक्खण अभिक्खण
उव्वत्तइ पारियत्तेति असारेति संसारेति चाद्धेति घट्टेइ खो-
भेति अजिक्खण अजिक्खण कम्ममूलंसि टिट्ठियावेति तएण
से मयूरीअरुए अभिक्खणं अजिक्खणं उव्वत्तिज्जमाणे
जाव टिट्ठियावेज्जमाणे पोच्चने जाण्या वि होत्था । तए णं
से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाहदारए आणया कयाई जेणेव से
मयूरीअरुए तेणेव उवागच्छति उवागच्छइत्ता तं मयूरी-
अंरुय पोच्चरुमेय पासति पासइत्ता अहो णं ममेसकीद्वान-
वणमयूरीपोचए जाए चिकहु ओहयमणं जाव क्रियायति
एवामेव समणाउमो जो अम्हं निगंथे वा निगंथी वा
आयरिय उवज्जायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंचमहव्वए-
सु जाव उक्कीवानिकाएसु निगंथे पावयणे सार्विए जाव कल्ल-
ससमावणणे से ण इह भवे चेव वट्ठणं ममणाणं वट्ठणं समणी-
णं वट्ठण सावयाण वट्ठणं साविधाणं ह्रीलणिज्जे निर्दाणज्ज
खिमणिज्जे गरट्ठणिज्जे परिभवणिज्जे परत्ताए वि य एं
आगच्छइ वट्ठणि दमणाणि य जाव मणुपरियट्ठति ।
तए णं से जिणदत्तउत्ते जेणेव से मयूरीअंडए तेणेव उवा-
गच्छइ उवागच्छइत्ता तंसि मयूरीअंडयंसि निस्संकिए सुव-
त्तणं ममेत्थ कीद्वानवणमयूरीपोयए जविस्सति चिकहु तं
मयूरीअंडयं अजिक्खणं नो उव्वट्टेइ जाव नो टिट्ठियावेइ
तए णं से मयूरीअडए अणुवत्तिज्जमाणे जाव अटिट्ठिया
विज्जमाणे । तएणं काद्धेणं तएणं समणेणं उज्जिसे मयूरीपोय-
ए एत्थ जाए तए णं से जिणदत्तउत्ते तं मयूरपोययं पासइ
पासइत्ता हट्टनुड्डयहियए मयूरीपोसए सदावेइ सदावेइत्ता
एवं वयासी तुब्बे णं देवाणुप्पिया इमं मयूरपोययं वट्ठहिं
मयूरपोसणपाउग्गेहिं दव्वेहि आणुपुव्वेणं संरक्खमाणे
सगोवेमाणे संवेट्टेइ णट्टल्लगं च सिक्खावेइ । तए णं से
मयूरपोसगा जिणदत्तस्स एयमट्ठं पन्निसेति पन्निसेइत्ता
तं मयूरपोययं गिएहेति जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ
उवागच्छइत्ता तं मयूरपोययं जाव णट्टल्लगं सिक्खावेति ।
तएण से मयूरपोयए उम्मुक्कवावज्जावे विन्नाय जोव्वण-
लक्खणवज्जणमाणुम्माणपमाणपन्निपुणपक्खपहुणकलावे
विचित्तापिच्छोसत्तचंदए नीलकंठए णच्चलसीलए एगाए

चप्पुन्नियाए कयाए समाणीए अणोगाई णट्टल्लगसयाई
केगाई सयाणि य करेमाणे विहरति । तएणं ते मयूरपोस-
गा तं मयूरपोययं उम्मुक्कालं जाव करेमाणे पासित्ता तं
मयूरपोययं गिएहंति गिएहत्तिता जिणदत्तउत्ते उव्वणंति ।
तएण से जिणदत्तउत्ते सत्थवाहदारए मयूरपोययं उम्मु-
क्कं जाव करेमाणं पासित्ता हट्टनुड्डं तं विज्जलं जीवि-
यारिहपीयदानं दत्तइ पडिविस्सजेइ । तए णं से मयूरपो-
ययं जिणदत्तपुत्तेणं एगाए चप्पुन्नियाए कयाए समाणीएणं
गोत्रा भगसिरोधरे सेयावगे उत्तरीयपडिपक्खे उक्खित्तचद-
गाइयकलावे केकाइयसइ य विमुच्चमाणे नच्चइ तएणं से जि-
णदत्तपुत्ते तं मयूरपोययं चंपाए णयरीए सिधामगं जाव पडेसु
सएहि य साहास्सिएहि य सयसाहस्सिएहि य पणियएहिं
जय करेमाणे विहरति एवामेव समणाउसो अम्हं पि णि-
ग्गथो वा णिग्गंथी वा पव्वइए समाणे पंचसु महव्वएसु उसु
जीवनिकाणमु निगंथे पावयणे निस्संकिए निक्खिए नि-
व्वित्तिगिच्छे से णं इह जवे वट्ठणं समणेणं वट्ठणं समणीणं
जाव वित्तिव्वइस्संति एवं खलु जंवूसमणेण जगवया म-
हावीरेणं जाव संपत्तेण तच्चस्स णायज्जयणस्स अयमट्ठे
पमात्ते चि वेमि तच्चं णायज्जयणं सम्मत्तं ॥

टीका सुगमत्वाच्च गृहीता नवरत्न एवमेवेत्यादि उपनयनध्व-
नमिति । जयन्ति चात्र गाथा "जिणवरजासियभावे, सुभावस-
व्वेसु भावओ मइम । नो कुज्जा सदेह, सदेहो णत्थ हेओ सि १
निस्सदेहत्त पुण, गुणहेऊ ज तओ नय कज्ज । एत्थ दो सेट्ठि-
सुया, अरुयगाही उदाहरण २ (तथा) कथं मइडुव्वेण, त-
व्विहायरियविहइओ वावि । नेयग्गहणत्तणेण, नाणावरणोदए-
ण च ३ हेऊदाहरणाण, भवे य सइसुऊजन वुडिक्कज्जा । सव्व-
एणुमयमवित्तह, तह वि इति चित्तए मइम ४ अणुवकयपराणु-
ग्गह-परायणा ज जिणा जुगप्पवरा । जियरागहोसमोहा, य नल्ल-
हा वाइणो तेण ५ तृतीयमध्ययनं विवरणत्तं समाप्तमिति ज्ञा०
३ अ० । पुरिमतालनगरवास्तव्यस्य कुकुटाद्यनेकाविधाएरुजभा-
एरुव्यवहारिणो वाणिजकस्य निन्नकाभिधानस्य पापविपाकप्र-
तिपादके कर्मविपाकाना द्वितीयेऽध्याने च 'स च निन्नको नरक-
द्रुतस्तत उद्धृत्याभग्नसेननामा पट्टीपतिर्जात । स च पुरिम-
तालनगरवास्तव्येन निरन्तर देशलूषणातिकोपितेन विश्वास्या-
नीय प्रत्येक नगरचत्वारेषु तदग्रतः पितृव्यपितृव्यानीप्रभृतिक-
स्वजनवर्गं विनाश्य तिष्ठशो मांसच्छेदनकधिरमांसभोजनादि-
भि कदर्थयित्वा निपातित इति विपाकश्रुते वा भाग्नसेन-
मितादमध्ययनमुच्यते स्था० १० उा० ।

अंडउरु-आरुपुट-न० कर्मधा-स- स्वकीये अण्डके अण्ड-
कस्य पुटम् । अण्डकस्य सवच्चद्वल्लये, दशा० ए अण० स० ।
अरुक-अरुक-न० जन्तुयोनिविशेषे, प्रअ० आश्र० २ द्वा० ।
अरुकड-आरुकुत-त्रि० अण्माजाते, सूत्र० १ अ० १ अ० ३
उ० । अण्डकप्रभूतपुत्रवनादिना मतधित्यमाचकृते ते " सन्नमो

अंडकाञ्च लोको " सभूतो जातोऽण्डकाज्जन्तुयोनिविशेषाल्लोक
किंनिजज्ञानद्वानिबन्धननरनारकितिर्यग्रूप प्रश्न० आश्र० २ ङा०

" पुंस्व आसि जगसिण, पंचमहन्त्र्य वज्जियगज्जीर ।

एगसुवजलेण, महप्पमाण तहिं अरु ॥ १ ॥

वीई परपरेणं, घोडत अत्थिउ सुइरकाव ।

पुठ डुभागजाय, अज्जुमी य सवुत्त ॥ २ ॥

तत्थ सुरासुरनारग-समणुयसचउप्पय जग सव्व ।

उप्पस जणियमिण. वंभरुपुराणसत्थमि ॥ ४ ॥

माहणा समणा एगे, आह अंरुकडे जगे ।

असौ तत्तमकासी य, अयाणंता मुसंवेदे ॥ १ ॥

ब्राह्मणा द्विजातयः श्रमणास्त्रिदशैरुप्रभृतयः एके केचन पौ-
राणिका न सर्वे एवमाहुरुक्तवन्तो वदन्ति च । यथा जगदेतच्च-
राचरमएमेन कृन्मएरुक्कन्म । अएमाज्जातमित्यर्थः । तथाहि
ते वदन्ति यदा न किंचिदपि वस्त्वासीत् पदार्थशून्योऽयं ससार-
स्तदा ब्रह्माऽएरुमप्स्वसृजत्तस्माच्च क्रमेण वृक्षात्पश्चाद् द्विधा-
भावमुपगतादूर्वाधोविभागोऽनृत तन्मध्ये च सर्वा प्रकृतयोऽभू-
वन् । एवं पृथग्व्यसेजोवात्वाकाशसमुच्चरित्पर्वतमकराकरनि-
वेशादिसंस्थितिरनूदिति । तथा चोक्त " आसीदिदं तमोजूत-
मप्रज्ञातमलक्षणम् ॥ अप्रतर्क्यमविज्ञेय, प्रसुप्तमिव सर्वतः " ॥१॥
एवभूते चास्मिन् जगत्सौ ब्रह्मा तस्य ज्ञावस्तत्त्व पदार्थजात
तदग्रादि प्रक्रमेणाकार्षीत् कृतवानिति । ते च ब्राह्मणादयः प-
रमार्थमजानानाः सन्तो मृषा वदन्ति अन्यथा च स्थितं तत्त्वम-
न्यथा प्रतिपादयन्तीत्यर्थः । (सूत्र०। एतदसमीचीनम्) यतो यास्व-
प्सु तदएरु निसृष्ट ता यथाऽएरुमन्तरेणाभूवन् तथा लोकोऽपि
नृत इत्यभ्युपगमे न काचिद्ब्रह्मा दृश्यते तथाऽसौ ब्रह्मा यावद-
एरु सृजति तावल्लोकमेव कस्माच्चोत्पादयति किमनया कष्टया
युक्त्यसगतया चाएरुपरिकल्पनया सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । नि०
चू० । भरतस्य तिमिरगुहाप्रवेशे सप्तरात्र वर्षे वर्षति नागकुमा-
रे, नरहो वि वम्भरयणे खधावारं उवेकण उचर उत्तरयण उ-
वेइ मणिरयणं उत्तरयण वत्थिजाप उवेइ ततो पभिइ होणेण
अरुसज्जव जग पणीयं ति ॥ आ० म० प्र० ।

अंडप्पजव-अएरुप्रजव-त्रि० अएरु प्रजव उत्पत्तिर्बस्य स
तथा । अएरादुप्पत्ते, "जहा य अंरुप्पभवा ब्रह्माणा" उक्त० ३ अ० ।
अंरुय-अण्डज-पु० अएराज्जापतेऽएरुजः । हसादौ, खचर-
पञ्चेन्द्रिययोनिसग्रहजेदे, ज० ७ श० ७ उ० । आचा० ।
विशे० । " अमया तिविहा परणत्ता तंजहा इत्थी पुरिसा णपुं-
सका " अएरुजास्त्रिविधा प्रज्ञास्तद्यथा स्त्रियः पुरुषा नपुंस-
काश्च जावा० ३ प्रति० । शकुनिगृहकोकिलसरीसृपादि-
षु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० त्रसभेदेषु, सूत्र० १ श्रु० ७
अ० ७ । आचा० । दश० । मत्स्यभेदेषु च । स्था० ३ ङा० ।
अण्डेभ्यो हसाद्यण्डकेभ्यो यज्जायते तदण्डजम् । सूत्रभेदे,
न यथा क्वचित्पट्सूत्रम् उक्त० २६ अ० । "अडय हंसगम्भादि"
अण्डाज्जातमण्डज हसपतङ्गश्चतुरिन्द्रियो जीवविशेषो गर्भ-
स्तु तन्निवर्तितः कोशकारो हंसस्य गर्भो हंसगर्भं तदुत्पन्न
सूत्रमण्डजमुच्यते । तर्हि सूत्रे अण्डज हंसगर्भादीति सामा-
नाधिकरण्य विरुध्यते हंसगर्भस्य प्रस्तुतसूत्रकारणत्वादिनि
चेत्सत्य कारणे कार्योपचारादविरोधः । कोशकारभवं सूत्र
पट्सूत्रमिति लोके प्रतीतमण्डजमुच्यत इति हृदयम् ।
पञ्चेन्द्रियहंसगर्भसम्भवम् । अनु० । विशे० । आ० म० प्र० ।

शणकादिवस्त्रे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रतिबन्धभेदे च । अण्डजो
हसादिर्ममायमित्युल्लेखेन वा प्रतिबन्धो भवति अथवा अ-
ण्डकं मयूरादीनामिदं रमणकमयूरादि कारणमिति प्रति-
बन्ध स्यादित्यथवा अण्डज पट्सूत्रजमिति वा स्था० ६
ठा० । सूत्र० ।

अंडमुहुम-अएरुमुहुम-न० अण्डमेव सूक्ष्मम् । मत्तिकाकीटि-
कागृहकोकिलाग्राहणीरुकलाशाद्यण्डकरूपे सूक्ष्मभेदे, सूत्र०
१ श्रु० ६ अ० । दश० ।

से किं तं अंडमुहुमे ? अंरुमुहुमे पंचविहं पप्पत्ते तंजहा
उदंसंडे ? उक्कल्लिअंडे २ पिपील्लिअंडे ३ हाडिअंडे ४
हल्लोहल्लिअंडे ५ जे निग्गथे णं वा जाव पन्निहियव्वे
भवइ सेत्तं अंरुमुहुमे ६ ।

" अण्डसुहुम उदंसंडे इत्यादि " उदंशा मधुमत्तिका मकु-
णाद्यास्तेषामण्ड उदंशाण्डम् १ उत्कलिकाण्ड लूतापुटाण्डम् २
पीपिलिकाण्ड कीटिकाण्डम् ३ हलिका गृहकोलिका ग्रा-
हणी वा तस्या अण्डम् ४ हल्लोहल्लिआ अहिलोडीसरडीक-
किण्डी इत्येकार्थास्तस्या अण्डम् एतानि सूक्ष्माणि स्युः ।
कल्प० । स्था० ।

अंडु-अण्डु (न)-न० काष्ठमयेषु लोहमयेषु वा हस्तयोः
पादयोर्वा बन्धनविशेषेषु, औ० ।

अंत-अन्त-पु० अम् गच्छादसु तस्सेह अमणमंतो वसाणमे-
गत्यं अम् धातुर्गत्यादिष्वर्थेषु पठ्यते तस्येहान्त इति रूप भ-
वति । अमनमन्तः । अवसाने, विशे० । स्था० । यस्मात्पूर्व-
मस्ति न परं सोऽन्तः अनु० । पर्यन्ते, आ० म० प्र० । सूत्र० ।
निक्षेपोऽस्य षड्विधः तद्यथा नामान्तः स्थापनान्तो द्र-
व्यान्तः क्षेत्रान्तः कालान्तो भावान्तश्च । तत्र नामस्थापने प्र-
तीते द्रव्यान्तो घटाद्यन्तः क्षेत्रान्त ऊर्ध्वलोकादि कालान्तः
समयाद्यन्तो भावान्त औदारिकादि आ० म० प्र० । आ०
चू० । परमकाष्ठायाम्, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । परिसमाप्तौ,
विशे० । पारे, ज्ञा० १ अ० । समीपे, व्य० १ उ० । न० ।
स्था० । अमनमधिगमनमन्तः । परिच्छेदे, निर्णये, स्था० ३
ठा० । प्रज्ञा० । स त्रिविधः ।

तिविहे अंते पप्पत्ते तंजहा लोमंते वेयंते समयंते स्था० ३ ङा० ।

अमइ व अ तेणतो अमतीति वा यस्मात्तेनान्त इति कर्त्तुं
साध्यते । अवसानं गते, विशे० । देशे, " एगतमत अवकमति "
एकान्त विजनमन्तं देशमवक्रामन्ति ज० ३ श० २ उ० । " अम
रोगे वा अतो रोगो भगो विणासपज्जाओ " अम रोगे रुजो प्रज्ञे
अम-तन् रोगे, भङ्गे, विनाशे, । अन्तो रोगो प्रज्ञो विनाश इति
पर्यायशब्दा एते विशे० । स्था० । धर्म० । अन्त० । स० । न० ।
अन्तहेतुत्वादन्ते रागद्वेषयोश्च आचा० १ श्रु० ३ अ० " दोहिं
अंतेहिं अदिस्समाणा " आचा० १ श्रु० ३ अ० । जीर्णे, अव्यव-
हरणीये, त्रि० नि० चू० १ उ० । कृये, भेदे, व्यवच्छेदे, कल्प० ।
अन्त्य-न० दशभिर्गुणिते जगधिसंख्याभेदे, कल्प० ।

अन्त्र-न० अन्यते देहो बध्यतेऽनेनेति । अति-बन्धने कारणे पून्
देहबन्धने, " उक्ताः सार्द्धास्त्रयो व्यामा पुंसामन्त्राणि सूरिभिः ।
अर्द्धव्यामेन हीनानि स्त्रीणामन्त्राणि निर्दिशेदिति वैश्वकोक-
परिमाणवति नार्कभेदे, वाच० । सूत्र० । उदरमध्याऽव्यवधि-
शेषे च त० ।

दो अंता पंच वामा पम्पत्ता तंजहा वृद्धते य तणुयते य
५ तत्थ एणं जे से धूद्धंते तेणं उच्चारे परिणमइ तत्थ एणं जे
से तणुयते तेणं पामवणे परिणमइ ॥

द्वे अन्त्रे प्रत्येक पञ्च पञ्च व्यायामप्रमाणे प्रक्षेपे जिनै तद्यथा
स्थूलान्त्र १ तन्त्रन्त्रम् २ तत्र यन्स्फुटान्त्र तनोच्चारं परिणमति ।
तत्र च यत्तन्त्रन्त्र तेन प्रथमं मूत्रं परिणमति तत् । प्रतिबोधा-
र्थं भगवना वीरेण दृष्टे चतुर्थे स्वप्ने च आ० म० द्वि० ।

आन्त-न० अन्ते प्रचमान्तम् । शुकावशेषे, पचा० १ ए विव० ।
अरसतया सर्वधान्यान्तवर्तिनि श्लक्ष्णकादौ, ज० ए श० ३३
च० । स्था० " शिपावमाइ अत " निष्पावा बद्धावचणका-
प्रतीताः आदिशब्दात्कुलमापादिक च आन्तमित्युच्यते वृ०
१ उ० । ज्ञा० ।

अत [१] अन्तर-अन्त्र० अन्-अन्तं तुरागमश्च । वाच० ।
स्वरेऽन्तरश्च ८ । १ । १४ इति अन्तःशब्दस्यान्त्यव्यञ्जन-
स्य स्वरे परे न हुक् अन्त्रं लुक् प्रा० मध्ये, । आ० म० द्वि० ।
रा० । आचा० । विशेष० । "अन्तरप्पा" अत्र स्वरपरत्वान्न हुक् ।
कचिद्वत्यपि " अतोवरि " प्रा० ।

अंतक(ग)-अन्तक-पुं० अन्तयति अन्त करोति अन्त-णिच्-
शुब् वाच० । मृत्यौ, " समागम कश्चति अन्तकस्स " सूत्र० १
श्रु० ७ अ० । पर्यन्ते, " जे एव परिमासति, अतए ते
समाहिण " सूत्र० १ श्रु० २ अ० । अन्तवर्तिनि च सूत्र० १
श्रु० १५ अ० ।

अंतकम्-अन्तकर्मन्-न० अचलकर्मणि, औ० ।

अंतक(ग)र-अन्तकर-त्रि० अन्तस्य कर । समारस्य तत्कार-
णस्य वा क्षयकारिणि, " अताणि धीरा सेवति तेण अतकरा
इह " सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । आ० म० द्वि० । म० । स्था० ।

अंतकर (गर) जूमि-अन्तकर-(कुट्) जूमि-स्त्री० अन्तं
भवस्य कुर्वन्तीति अन्तकरा (अन्तकृतो वा) तेषां भूमि-
कालः कालस्य चाधारत्वेन कारणत्वाद् भूमित्वेन व्यपदेशः ।
मुक्तिगामिनां काले, सा द्विधा युगान्तकरभूमि पर्यायान्तक-
रभूमिश्च ज० २ वत्त० (यस्य तीर्थकृतो यावती अन्तकरभूमि-
सा तच्छब्दे वक्ष्यते)

अंतकाह-अन्तकाह-पुं० मरणकाले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंतकिरिया-अन्तक्रिया-स्त्री० अन्तोऽवसानं तच्च प्रस्तावा-
दिह कर्मणामवसातव्यमन्यत्रागमे अन्तक्रियाशब्दस्य कृद-
त्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया । कर्मान्तकरणे, मोक्षे, कृ-
त्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष इति वचनात् प्रज्ञा० १५ पद ।

अन्त्य(न्त)-क्रिया-स्त्री० अन्त्या च सा पर्यन्तवर्तिनी क्रिया अ-
न्त्यस्य वा कर्मान्तस्य क्रियाऽन्त्यक्रिया । कृत्स्नकर्मक्षयलक्ष-
णायां मोक्षप्राप्तौ, म० १ श० २ उ० । आ० म० प्र० । स० ।

चत्तारि अंतकिरियाओ पम्पत्ता तंजहा तत्थ खड्डु इमा
पढमा अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चाएया वि भवइ से एणं
मुंदं नवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए संजमवहुले
संवरबहुले समाहिबहुले दूहे तीरड्डी उवहाणवं दुक्ख-
क्खवे तवस्सी । तस्स एणं णो तहप्पगारे तत्रे भवइ णो
तहप्पगारा वेयणा भवइ तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणं प-

रियाएणं सिज्जइ युज्जइ मुच्चइ पणिणिज्जाइ मव्वदुक्खा-
णमंतं कण्डे जहा से भग्गे गया चाउरंतचक्कवई । पढमा
अंतकिरिया ।

यस्य न तथाविधं तपो नापि परीपहादिजनिना तथाविधा
वेदना दीर्घेण प्रवज्यापर्यायेण सिद्धिर्भवति तस्यैका यस्य तु
तथाविधे तपोवेदने अल्पेनैव च प्रवज्यापर्यायेण सिद्धिः स्या-
त्तस्य द्वितीया यस्य च प्रकृष्टे तपोवेदने दीर्घेण च पर्यायेण
सिद्धिस्तस्य तृतीया यस्य पुनर्विद्यमानतथाविधतपोवेद-
नस्य ह्रस्वपर्यायेण सिद्धिस्तस्य चतुर्थीति । अन्तक्रियाया
एकस्वरूपत्वेऽपि सामग्रीभेदाच्चातुर्विध्यमिति समुदायार्थः ।
अवयवार्थस्त्वय चतस्रोऽन्तक्रिया प्रज्ञप्ता भगवतेति गम्यन्ते
तत्रेति समग्री निर्द्धारणे तासु चतसृषु मध्य इत्यर्थः । खलुवा-
क्यालङ्कारे इयमनन्तरवक्ष्यमाणत्वेन प्रत्यक्षासञ्ज्ञा प्रथमा इ-
तरापेक्षया आद्या अन्तक्रिया । इह कश्चित् पुरुष देवलोकादौ
गत्वा ततोऽल्पैः स्तोकैः कर्मभिः करणभूतैः प्रत्यायात प्रत्या-
गतो मानुषत्वमिति अल्पकर्मप्रत्यायातो य इति गम्यते । अ-
थवा एकत्र जनित्वा ततोऽल्पकर्मा सन् यः प्रत्यायात स
तथा लघुकर्मतयोत्पन्न इत्यर्थः । चकारो वक्ष्यमाणमहाक-
र्मापेक्षया समुच्चयार्थः । अपि सम्भावने सम्भाव्यनेऽय-
मपि पक्ष इत्यर्थः । भवति स्यात् स इति । असौ णमिति वा-
क्यालङ्कारे मुण्डो भूत्वा द्रव्यतः शिरोलोचनं भावतो रागा-
द्यपनयनेनागारात् द्रव्यतो गेहात् भावतः ससारामिनन्दिनां
देहिनामावासभूतादविवेकगेहाभिष्क्रम्येति गम्यतेऽनगारि-
ताम् अगारी गृही असयतस्तत्प्रतिषेधादनगारी सयतस्तद्भा-
वस्तत्ता तां साधुतामित्यर्थः । प्रव्रजितः प्रगतः प्राप्त इत्यर्थः ।
अथवा विभक्तिपरिणामादनगारितया निर्ग्रन्थतया प्रव्रजितः
प्रव्रज्यां प्रतिपन्न किंभूत इत्याह (सजमबहुलोत्ति) सयमेन
पृथिव्यादिसरक्षणलक्षणेन बहुलः प्रचुरो यः स तथा । स-
यमो वा बहुलः प्रचुरो यस्य स तथा । एव सवरबहुलोऽपि
नवरमाश्रवनिरोध सवर अथवा इन्द्रियकषायनिग्रहादि-
भेदः । एव च सयमबहुलग्रहणं प्राणातिपातचिरने प्राधान्य-
ख्यापनार्थम् । यतः " एकं चिय एत्थ वय, निदिट्ठ जिणवरेहि
सव्वेहि । पाणाइवायविरमण-मवसेसा तस्स रक्खट्ठत्ति " ॥ १ ॥
एतच्च द्वितयमपि रागाद्युपशमयुक्तचित्तवृत्तेर्भवति । यत
आह सामाधिबहुलः समाधिस्तु प्रथमवाहिता ज्ञानादिषां
समाधिः पुनर्निस्नेहस्यैव भवतीत्याह (लूहेत्ति) रुद्धः शरीरे
मनासि च द्रव्यभावस्नेहवर्जितत्वेन रुष लूपयति वा कर्मम-
लमपनयतीति लूष कथमसावेवं सवृत्त इत्याह यत (ती-
रड्डी) तीर पार भवार्णवस्यार्थयत इत्येव शीलस्तीरार्थी
तीरस्थायी वा तीरस्थितिरिति वा प्राकृतत्वात् 'तीरड्डीति' अत
एवाह (उवहाणवति) उपधीयते उपश्रूयते श्रुतमनेनेति उपधान
श्रुतविषयस्तप उपचार इत्यर्थस्तद्वान् अत एव च (दुक्खक्ख-
वेत्ति) दुःखमसुखं तत्कारणत्वाद्वा कर्म तत् क्षपयतीति दुःख-
क्षप । कर्मक्षपणं च तपोहेतुकमित्यत आह । (तवस्सीति) त-
पोऽभ्यन्तरकर्मन्धनदहनज्वलनकल्पमनवरतशुभध्यानलक्षण-
मस्ति यस्य स तपस्वी (तस्स ण ति) यश्चैवविधस्तस्य ण
वाक्यालङ्कारे नो तथाप्रकारमत्यन्तघोरं वर्द्धमानजिनस्येव त-
पोऽनशनादिर्भवति । तथा नो तथाप्रकारा अनिघोरैर्योपसर्गा-
दिसम्पाद्या वेदना दुःखासिका जवाते अल्पकर्मप्रत्यायातत्वा-

दिति । ततश्च तत्तथाप्रकारमप्यकर्मप्रत्यायातादिविशेषणक-
लापोपेत पुरुषजात पुरुषप्रकारो दीर्घेण बहुकालेन पर्यायेण
प्रव्रज्यालक्षणेन कर्मभूतेन सिध्यति । अणिमादियोगेन निर्णय-
ार्थो वा विशेषतः सिद्धिगमनयोगो वा भवति सकलकर्मनाय-
कमोहनीयघानात् ततो घातिचतुष्टयघातेन बुध्यते कैवल्यज्ञान-
जावात् समस्तवस्तूनि ततो मुख्यन्ते भवोपग्राहिकर्मणि परि-
निर्वाति सकलकर्मकृद्विकारव्यतिकरनिराकरणेन शीतोभव-
तीति । किमुक्तं जवतोत्याह सर्वदुःखानामन्त करोति शारी-
रमानसानामित्यर्थः । अतथाविधतपोवेदनो दीर्घेणापि पर्याये-
ण किं कोऽपि सिद्ध इति शङ्कापनोदार्थमाह । “ जहासेऽत्या-
दि ” यथाऽसौ प्रथमजिनप्रथमनन्दनो नन्दनशानाग्रजन्मा प्र-
स्ता राजा चत्वारोऽन्ताः पर्यन्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रदिम-
यल्लक्षणा यस्याः पृथिव्याः सा चतुरन्ता तस्या अय स्वामित्वेन-
नि चातुरन्तः । स चासौ चक्रवर्ती चेति स तथा । स हि प्राग्ज-
वे लघुकृतकर्मा सर्वार्थसिद्धिचिन्तमानान् द्युत्वा चक्रवर्तितयात्पद्य
राज्यावस्थ एव केवलमुत्पाद्य कृतपूर्वलक्षप्रव्रज्य अतथाविध-
तपोवेदन एव सिद्धिमुपगत इति प्रथमाश्रित्येत्येति ॥

अहावरे दीक्षा अंतकिरिया महाकम्म पच्चाएया वि जवइ
से णं मुंढे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइए सजमव-
हुत्ते सवरहुत्ते जाव उवहाणवं दुक्खवक्खवे तवस्सी तस्म
ए तहप्पगारे तवे भवइ तहप्पगारा वेयणा जवइ तहप्पगारे
पुरिमजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्जइ जाव अंतं करेइ
जहा से गजसुकुमात्ते अणगारं दोच्चा अंतकिरिया ॥

अथानन्तरमपरा पूर्वापेक्षया अन्या द्वितीयस्थानेऽभिधानात् द्वि-
तीया महाकर्मजिगुहकर्मजि महाकर्मा वा सन् प्रत्यायातः प्र-
त्याजातो वा य स तथा “ तस्स णमित्यादि ” तस्य महाकर्म-
प्रत्याजातत्वेन तत्क्षपणाय तथाप्रकार धार तपो भवति । एव
वेदनाऽपि कर्मोदयसम्पाद्यत्वादुपसर्गादीनामिति निरुद्धेनेति अ-
ल्पेन यथाऽसौ गजसुकुमारो विष्णोर्लघुजाता स हि भगवतोऽरि-
ष्टनेमिजिननाथस्यान्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपद्य स्मशाने कृतकायो-
ऽसर्गलक्षणमहातपा शिरोनिहितजग्वल्यमानाङ्गारजनितात्य-
न्तवेदनोऽप्येनैव पर्यायेण सिद्धानिति शेषः कण्ठ्यम् ।

अहावरे तच्चा अंतकिरिया महाकम्मपच्चाएया वि जवइ
से णं मुंढे जविता अगाराओ जाव पव्वइए जहा दोच्चा
णवरं दीहेणं परियाएणं सिज्जइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं
करेइ जहा से सणकुमारं राया चाउरंतचक्खट्ठी । तच्चा अंत-
किरिया ३ ॥

“अहावेत्यादि” कण्ठ्य यथाऽसौ सनत्कुमार इति चतुर्थचक्रवर्ती
स हि महातपा महावेदनश्च सारोगत्वात् दीर्घतरपर्यायेण च
सिद्धस्तद्भवे सिद्धभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति ॥

अहावरा चउत्था अतकिरिया अप्पकम्मपच्चाएया वि
जवइ से णं मुंढे भविता जाव पव्वइए संजमवहुत्ते जाव
तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवइ नो तहप्पगारा वेयणा
भवइ तहप्पगारे पुरिमजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्जइ
जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ जहा सा मरुदेवी जगवई
चउत्था अंतकिरिया ॥

“अहावरेत्यादि” कण्ठ्य यथामौ मरुदेवी प्रथमोजिनजननी सा
हिम्मावरत्वेऽपि क्षीणप्रायकर्मत्वेनाल्पकर्मा अव्ययमानतपोवेदना
च सिद्धा गजवराह्याया एवायु ममासौ सिद्धत्वादिति । एषा-
ञ्च दृष्टान्तद्वष्टान्तिकानामर्थानां न सर्वथा साधर्म्यमन्वेषणीय
देशदृष्टान्तत्वादेयां यतो मरुदेव्या “मुणं भवित्त्यादि” विशे-
षणानि कानिचित् न घटन्ते । अथवा फलतः सर्वसाधर्म्यमपि
मुणनादिकार्यस्य सिद्धत्वेन सिद्धत्वादिति स्था ० ४ ग ० १ ३ ० ।

अन्तक्रियाया सकला वक्तव्यता प्रदर्श्यते

तत्रेयमादावधिकारगाथा ।

नेरइयअंतकिरिया, अणंतरं एगसमय उव्वट्ठा ।

तित्थगचक्किवद्वदे-व वासुदेवमरुलियरयणा य ॥ १ ॥

प्रथमतो नैरयिकोपलक्षितेषु चतुर्विंशतिस्थानेष्वन्तक्रिया ।
चिन्तनीया तत्रोऽन्तरागता किमन्तक्रियां कुर्वन्ति परम्परागता
वेत्येवमन्तर चिन्तनीयम् । ततो नैरयिकादिच्योऽनन्तरमागता
क्रियन्त एकसमये अन्तक्रियाकुर्वन्तीति चिन्ता ततः “उव्वट्ठा इति”
उद्धृता सन्त कस्या योनावुपगन्ते इति वक्तव्यतया यत उद्ध-
त्तास्तीर्थकराश्चक्रवर्तिनो वदन्त्या वासुदेवा मरुदिकाश्चक्रव-
र्तिनो रत्नानि च सेनापतिप्रमुखानि भवन्ति ततस्तानि क्रमेण
वक्तव्यानाति द्वारगाथासङ्केपार्थः । विस्तरार्थं तु सूत्रवद्देव वदयति
तत्र प्रथमतोऽन्तक्रियामभिहितपुराह ।

जीवे णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! अत्ये ग-
तिए करेज्जा कत्येगइए नो करेज्जा एवं नेरइए जाव वेमाणिए
जीवे णमिति वाक्यालङ्कनौ भदन्त ! अन्तक्रियामिति अन्तोऽ
वसान तच्च प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यम् । अन्यत्रागमे
अन्तक्रियाशब्दस्य रूढत्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया कर्मा-
न्तकरण मोक्ष इति भावार्थः । कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष इति वचनात्
तां कुर्याद्भगवानाह । गौतम ! अस्त्येकको य कुर्यात् अस्त्येकको
यो न कुर्यात् । इयमत्र भावना यतस्तथाविधमव्यत्यपरिपाक-
शतो मनुष्यत्वादिकामधिकक्षां सामग्रीमवाप्य तन्नामर्थसमु-
भूतातिप्रयत्नवीर्योल्लासवशतः कृपकथंणिसमारोहणेन केवलज्ञा-
नमासाद्य घातीन्यपि कर्माणि क्षपयेत् स कुर्यात् अन्यस्तु न
कुर्याद्विपर्ययादिति । एव नैरयिकादिचतुर्विंशतिद्वारकक्रमेण
तावद्भावनीया यावद्वैमानिकाः सूत्रनस्त्वेवम् “ नेरइयाणं प्रते ।
अतओ किरिय करेज्जा गोयमा ! अत्येगइए करेज्जा अत्येगइए
नो करेज्जा इत्यादि ”

इदानीं नैरयिकेषु मध्ये वर्तमानोऽन्तक्रियां करोति किं वा न
करोतीति विपृच्छिषुरिदमाह ॥

नेरइएणं भंते ! असुरकुमारेसु अंतकिरियं करेज्जा गो-
यमा ! नो इण्णे समहे एवं जाव वेमाणिएसु णवरं मण्ण-
स्सेसु अंतकिरियं करेज्जइ पुच्छा ! गोयमा ! अत्येगति-
ए करेज्जा अत्येगतिए नो करेज्जा एवं असुरकुमारे जाव
वेमाणिए । एवमेवं चउवीसं चउवीसा दंरुगा भवन्ति ॥

नेरइएणमित्यादि भगवानाह गौतम ! नायमर्थः समर्थो युक्तपु-
ण्य इत्यर्थः कथमिति चेदुच्यते इह कृत्स्नकर्मक्षयः प्रकर्षप्राप्तात्
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमुदायाद्भवति न च नैरयिकावस्थाया
चारित्रपरिणामस्तथा स्वाभाव्यादिति । एवमसुरकुमारादिषु

वैमानिकपर्यवसानेषु प्रतिषेधो दत्तः । मनुष्येषु मध्ये समागतं सन् कश्चिदन्तक्रियां कुर्यात् यस्य परिपूर्णा चारित्र्यादिसामग्री कश्चिन्न कुर्यात् यस्तद्विक्रय इति एवमसुरकुमारादयोऽपि वैमानिकपर्यवसाना प्रत्येक नैरयिकादिचतुर्विंशतिद्वयक्रमेण वक्तव्यास्तत एवमेते चतुर्विंशतिद्वयक्रमाश्चतुर्विंशतयो न्वन्ति । अथ ते नैरयिकादय इवस्वनैरयिकादिभवेज्योऽनन्तर मनुष्य-प्रवे समागता सन्तोऽन्तक्रियां कुर्वन्ति किं वा तिर्यगादिस-व्यवधानेन परम्परागता इति निरूपयितुकाम आह ।

नेरइयाणं भंते ! किं अणंतरागया अंतकिरियं करंति परंपरागया अंतकिरियं करंति ? गोयमा ! अणंतरागया वि अंतकिरियं करंति परंपरागया वि अंतकिरियं करंति एवं रयणप्पजापुढविणेरइया वि जाव पंकप्पभापुढविणेरइया धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरंति परंपरागया अंतकिरियं पकरंति जाव अहेसत्तमा पुढविणेरइया असुरकुमारा जाव थणियकुमारा । पुढविआउवणस्सइकाइया य अणंतरागया वि अंतकिरियं पकरंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरंति । तेजवाउवेइदियतेइदियचउरिंदिया नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरंति परंपरागया अंतकिरियं पकरंति सेसा अनतरागया वि अंतकिरियं पकरंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरंति ॥

प्रश्नसूत्र शुगम भगवानाह गौतम ! अनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि तत्र रत्नशर्करावालुकापङ्कप्रभाज्योऽनन्तरागता अपि धूमप्रभापृथिव्यादिज्य पुन परंपरागता एव तथा स्वाभाव्यादेनमेव धिश्ये प्रतिपादयिषु सूत्रसत्कमाह । “ एव रयणप्पजापुढविणेरइया वि इत्यादि ” शुगमम असुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्यवसाना पृथिव्यध्वनस्पतय-अनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति उभयथा आगता अपि । उभयथाऽप्यागतानां तेषामन्तक्रियाकर्णाविरोधात् तथा केवलचक्षुरूपबन्धे । तेजोवा-युद्धिचिचतुरिन्दिया परम्परागता एव नत्वनन्तरागतास्तत्र तेजोवायुनामानन्तर्येण मनुष्यत्वस्थैवाप्राप्ते ङ्गान्ध्यादीना तु तथा नवस्वाभाव्यादिति । शेषास्तु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियादयो वैमानिकपर्यवसाना अनन्तरागता अपि परम्परागता अपि ।

नैरयिकादिभवेज्योऽनन्तरागता कियन्त पकरामये अन्तक्रियां कुर्वन्तीत्येवरूप तृतीय चारमज्झित्सुराह ।

अणंतरागया णं भंते ! नेरइया एगसमएण केवतिया अंतकिरियं पकरति ? गोयमा ! जहन्नेण एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेण दस रयणप्पभा पुढविणेरइया वि एव चेव जाव बाहुयप्पजापुढविणेरइया । अणंतरागयाणं भंते ! पंकप्पभापुढविणेरइया एगसमएण केवतिया अंत करंति ? गोयमा ! जहन्नेण एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेण चत्तारि । अणंतरागयाणं भंते ! असुरकुमारा एगसमएण केवइया अंतकिरियं पकरति जहन्नेण एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेण दस । अणंतरागयाओ णं भंते !

असुरकुमारीओ एगसमएण केवतियाओ अंतकिरियं पकरंति ? गोयमा ! जहन्नेण एको वा दो वा तिन्नि वा उक्कोमेण पंच एव जहा असुरकुमारा सदेवीया तहा थणियकुमारा वि । अणतरागया णं भंते ! पुढविकाइया एगसमएण केवइया अंतकिरियं पकरंति ? गोयमा ! जहन्नेण एगो वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेण चत्तारि एवं आउकाइया वि चत्तारि वणस्सइकाइया ङ पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दस तिरिक्खजोणिणीओ दस मणुस्सा दस मणुस्सीओ वीस वाणमंतरा दस वाणमंतरीओ पंच जोइसिया दम जोइसिणीओ वीस वेमाणिया अहसतं वेमाणिणीओ वीस ॥

“ अणतरागया ण भंते इत्यादि ” नैरयिकभवादन तरमव्यवधानेन मनुष्यजन्यमागता अनन्तरागता नैरयिका इति प्राग्भवपर्यायेण व्यपदेश सुरादिप्राग्भवपर्यायप्रतिपत्तिव्युदासार्थ एवमुत्तरत्रापि नत्तप्राग्भवपर्यायेण व्यपदेश प्रयोजन चिन्तनीय शेष कण्ठ्यम् ।

सम्प्रति तत उद्भूताः कस्यां योनाधुत्पद्यन्ते इति चतुर्थचारमज्झित्सुराह ।

णेरइया णं भंते ! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! एो इण्ठे समहे । नेरइएणं भंते ! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता असुरकुमारेसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! नो इण्ठे समहे एव निरतरं जाव चउरिंदिएसु पुच्छा गोयमा ! नो इण्ठे समहे । नेरइए णं जंते ! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता पंचिंदियतिरिक्खजोणिणसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगइए उव्वज्जेज्जा अत्येगइए नो उव्वज्जेज्जा जे ए जंते ! नेरइएहिंतो अणंतरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणसु उव्वज्जेज्जा से णं केवलपन्नत्त धम्म लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्येगइए लभेज्जा अत्येगतिए नो लभेज्जा । जे ए जंते ! केवलपन्नत्त धम्मं लभेज्जा सवणयाए से ए केवलबोहिं बुज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगइए बुज्जेज्जा अत्येगइए नो बुज्जेज्जा । जे ए जंते ! बुज्जेज्जा से ए सहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ? गोयमा ! सहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा । जे ए भंते ! सहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा से ए आभिणिवोहियनाणसुयनाणा-इ उप्पाहेज्जा गोयमा ! उप्पाहेज्जा । जे ए जंते ! आभिणिवोहियनाणसुयनाणा-इ उप्पाहेज्जा से ए संचाएज्जा सील वा वयं वा गुणं वा वेरमाणं वा पच्चक्खाण वा पोसहोववासं वा पन्निवज्जित्तए ? गोयमा ! अत्येगतिए संचाएज्जा अत्येगइए नो संचाएज्जा । जे ए जंते ! संचाएज्जा सीलं वा जाव पोसहोववासं वा पन्निवज्जित्तए से ए ओहिनाणं उप्पाहेज्जा गोयमा ! अत्येगतिए उप्पाहेज्जा अत्येगतिए एो उप्पाहेज्जा । जे ए जंते ! ओहिनाणं उप्पाहेज्जा से ए संचाएज्जा मुने जयित्ता आगाराओ

अणगारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! णो इण्णहे समट्ठे । खेरइए
ए जंते ! खेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता मणुस्सेसु
उव्वज्जेज्जा गोयमा ! अत्थेगतिए उव्वज्जेज्जा अ-
त्थेगतिए नो उव्वज्जेज्जा । जे ए भंते ! उव्वज्जेज्जा
मे एं केवल्लपन्नं धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा !
जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु जाव जे एं भंते ! ओहि-
नाग उप्पादेज्जा से एं संचाएज्जा मुंके भयित्ता अगाराओ
अणगारिए पव्वइत्तए ? गोयमा ! अत्थेगतिए मंचाएज्जा
अत्थेगतिए नो संचाएज्जा से एं भंते ! मुंके जवित्त, अगारा-
ओ अणगारियं पव्वइत्तए मे ए मणपज्जवनाणं उप्पादे-
ज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उप्पादेज्जा अत्थेगतिए नो
उप्पादेज्जा । जे ए जंते ! मणपज्जवनाण उप्पादेज्जा से एं
के लना ? उप्पादेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उप्पादेज्जा
अत्थेगतिए नो उप्पादेज्जा । जे एं भंते ! केवल्लनाणं
उप्पादेज्जा मे एं सिज्जेज्जा बुज्जेज्जा मुत्तेज्जा सव्वदु-
क्खाण अंतं करेज्जा ? गोयमा ! सिज्जेज्जा जाव सव्वदु-
क्खाण अंतं करेज्जा । नेरइए ए जंते ! नेर.एहिंतो अण-
नरं उव्वट्ठित्ता वाणमंतरेसु जोइमियवेमाणिएसु उव्वज्जेज्जा ?
गोयमा ! एो इण्णहे समट्ठे । असुरकुमारा एं भंते ! असुरकु-
मारेहिंतो अणनरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा !
एोइण्णहे समट्ठे । असुरकुमारेणं जंते ! अणंतरं उव्वट्ठित्ता
असुरकुमारेसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! एो इण्णहे समट्ठे एव
जाव थणियकुमारेसु । असुरकुमारा एं भंते ! असुरकुम-
ारेहिंतो अणनरं उव्वट्ठित्ता पुढविकाइएसु उव्वज्जेज्जा हंता
गोयमा ! अत्थेगतिए उव्वज्जेज्जा अत्थेगतिए नो उव्वज्जे-
ज्जा । जे एं जंते ! उव्वज्जेज्जा मे एं केवल्लपन्नं
धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! णो इण्णहे समट्ठे एवं
आउकाइएसु वि । असुरकुमारे एं जंते ! असुरकुमारेहिंतो
अणंतरं उव्वट्ठित्ता तेउकाइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा !
एो इण्णहे समट्ठे अवसेसेसु पचसु
पंचिंदियतिरिक्खजोणियादिसु असुरकुमारेसु जहा नेरइ-
ओ एव जाव थणियकुमारो । पुढविकाइए एं भंते ! पुढ-
विकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता खेरइएसु उव्वज्जेज्जा ?
गोयमा ! एो इण्णहे समट्ठे एव असुरकुमारेसु वि जाव
थणियकुमारेसु । पुढविकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता
पुढविकाइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उव्वज्जे-
ज्जा अत्थेगतिए नो उव्वज्जेज्जा । जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा
से एं केवल्लपन्नं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ? गोयमा !
नो इण्णहे समट्ठे । एवं आउकाइयादिसु निरंतरं जाणिय-
व्वं जाव चउरिंदिएसु पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सेसु
अणनरं उव्वट्ठित्ता वाणमंतरेसु जोइमियवेमाणिएसु पचसेसो एं

जहा पुढविकाइओ जणिओ तहा आउकाइओ वि वण-
स्सइकाइओ जाणियव्वो । तेउकाइएणं जंते ! तेउकाइए-
हिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता खेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! नो
इण्णहे समट्ठे एव असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु
वि । पुढविकाइएआउव उवणस्सइवेइंदियतेइंदियचउरिंदि-
एसु अत्थेगतिए उव्वज्जेज्जा संणं केवल्लपन्नं धम्मं लभेज्जा
सवणयाए गोयमा ! एो इण्णहे समट्ठे । तेउकाइएणं भंते !
तेउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता पंचिंदियतिरिक्खजोणि-
एसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उव्वज्जेज्जा अत्थे-
गतिए णा उव्वज्जेज्जा उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लपन्नं धम्मं लभे-
ज्जा सवणयाए ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो
लभेज्जा जे एं जंते ! केवल्लपन्नं धम्मं लभेज्जा सवणयाए
से एं केवल्लवोहिं बुज्जेज्जा गोयमा ! णो इण्णहे समट्ठे मणुस्स-
वाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु पुच्छा गोयमा ! एो इण्णहे समट्ठे
एवं जहेव तेउकाइए निरंतरं एव वाउकाइए वि । वेइंदिएणं
भंते ! वेइंदिएहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जे-
ज्जा गोयमा ! जहा पुढविकाइए एवरं मणुस्सेसु जाव मणप-
ज्जवनाण उप्पादेज्जा एवं तेइंदियचउरिंदिया वि जाव म-
णपज्जवनाण उप्पादेज्जा जे एं मणपज्जवनाणं उप्पादेज्जा
से एं केवल्लनाण उप्पादेज्जा ? गोयमा ! एो इण्णहे समट्ठे
पंचिंदियतिरिक्खजोणिए एं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजो-
णिएहिंता अणनरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गो-
यमा ! अत्थेगतिए उव्वज्जेज्जा अत्थेगतिए नो उव्वज्जे-
ज्जा जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लपन्नं धम्मं
लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थे-
गतिए नो लभेज्जा जे एं केवल्लपन्नं धम्मं लभेज्जा सव-
णयाए से एं केवल्लवोहिं बुज्जेज्जा गोयमा ! अत्थेगति-
ए बुज्जेज्जा अत्थेगतिए नो बुज्जेज्जा । जे एं केवल्लवो-
हिं बुज्जेज्जा से एं सहहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा हता गो-
यमा ! जाव रोएज्जा । जे एं जंते ! सहहेज्जा जाव रोए-
ज्जा से एं आनिणिबोहियनाणसुइनाणओहिनाणाइ उ-
प्पादेज्जा ? गोयमा ! जाव उप्पादेज्जा जे एं भंते ! जाव उ-
प्पादेज्जा से एं मंचाएज्जा सीदं वा जाव पचिज्जित्तए
गोयमा ! एो इण्णहे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव थ-
णियकुमारेसु एगिंदियविगलिदिएसु जहा पुढविकाइए पं-
चिंदियतिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु य जहा खेरइएसु उव्वज्जेज्जा पुच्छा ज-
णिया एव मणुस्सेसु वि वाणमंतरजोइसियवेमाणियं जहा
असुरकुमारेसु ॥

(इत्तं पुर्वं टीका मुगमेति न गृहीता) नवर जे एं भंते ! इत्या-
दि मूलम् । नूत्या अनगारतां प्रयजित्ता शक्युयान्तेति प्रश्ने सग-

चानाह नायमर्थं समर्थः तिरिश्चां प्रवस्वभावतः तथारूप-
रिणामासन्नधातु अनगारताया अभावे मनः पर्यवज्ञानस्य चा-
भाव सिद्ध एव यथा च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियविषय सूत्रकदम्बक-
मुक्तं तथा मनुष्यविषयमपि वक्तव्यं नवर मनुष्येषु सर्वज्ञावस-
म्भवात् मनः पर्यवज्ञानकेवलज्ञानसूत्रे अधिके प्रतिपादयति " जे
न भते ! सचापज्जा मुंने भविता इत्यादि " सुगम नवर सि-
ज्जेज्जा इत्यादि सिद्ध्येत समस्ताणिमैश्वर्यादिसिद्धिजाक भवे-
त् नुध्येत् लोकालोकस्वरूपमशेषमवगच्छेत् मुच्येत् भवोपप्रा-
हककर्माभिरपि । किमुक्तं प्रवति सर्वदुःखानामन्तं कुर्यात्
वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रतिषेधो वक्तव्यो नैरयिकस्य
भवस्याज्ञाव्याघ्रैरयिकदेवभवयोग्यायुर्वन्धाऽसम्भवात् तदेव नै-
रयिकादिचतुर्विंशतिदरमकक्रमेण चिन्तितं साम्प्रतमसुरकु-
मारान् नैरयिकादिचतुर्विंशतिदरमकक्रमेण चिन्तयति " असुर-
कुमाराण जते " इत्यादि प्राग्वत् नवरमेते पृथिव्यन्वनस्पति-
ध्वप्युत्पद्यन्ते ईशानान्तदेवानां तेषुत्पादाविरोधात् तेषु चोत्पन्ना
न केवलिप्रज्ञप्त धर्मं लभन्ते । श्रवणतया श्रवणेन्द्रियस्याज्ञावात्
शेष सर्वं नैरयिकवत् । " एव जाव थणियकुमारा इति " एवम-
सुरकुमारोक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमाराः पृथि-
वीकायिका नैरयिकेषु च प्रतिषिध्यन्ते तेषां विशिष्टमनोछन्द्या-
सम्भवतस्तोत्रसकलेशविशुद्धाध्यवसायाज्ञावात् । शेषेषु तु स-
र्वेष्वपि स्थानेषु उत्पद्यन्ते तद्योग्याध्यवसायस्थानसम्भवात् ।
तत्रापि च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु च नैरयिकवद्वक्तव्यमेवमपका-
यिकवनस्पतिकायिकाश्च वक्तव्या नेजस्कायिका वायुकायिका-
श्च मनुष्येष्वपि प्रतिषेधनीयास्तेषामानन्तर्येण मनुष्येष्टूपादस-
म्भवात् असम्भवश्च किञ्चिदपरिणामतया मनुष्यगतमनुष्यानु-
पूर्वमनुष्यायुर्वन्धासम्भवात् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्टूत्पन्ना कव-
क्षिप्रज्ञप्त धर्मं श्रवणतया लभेरन् श्रवणेन्द्रियस्य भावात् । पुन-
स्ता केवक्षिर्को बोधिं नावबुध्येरन् सक्षिप्रपरिणामत्वात् द्विभि-
चतुरिन्द्रियाः पृथिवीकायिकवत् देवनैरयिकवर्जेषु शेषेषु स-
र्वेष्वपि स्थानेषु उत्पद्यन्ते नवर पृथिवीकायिका मनुष्येष्वगता अ-
न्तक्रियामपि कुर्युस्ते पुनरन्तक्रियां न कुर्वन्ति तथास्त्वज्ञावत्वात्
मनः पर्यवज्ञानं पुनरुत्पादयेयुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याश्च सर्वे-
ष्वपि स्थानेषु उत्पद्यन्ते तद्वक्तव्यता पाठसिद्धा । ज्ञानमन्तरज्योति-
ष्कवैमानिका असुरकुमारवद्भावनीया गत चतुर्थद्वारम् । (ले-
ख्याविशेषेणान्तक्रियाविचारो माकदिक शब्दे) ।

इदानीं पञ्चम तीर्थकरत्ववक्तव्यतालक्षणद्वारमभिधित्सुराह ।

रयणप्पभापुढविनेरइए ण जते ! रयणप्पभापुढविनेरइए-
हिंतो अणतरं उव्वट्ठित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा !
अत्येगतिए द्वाभेज्जा अत्येगतिए नो द्वाभेज्जा से केणट्ठेणं
जते ! एव बुच्चइ अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो
लजेज्जा ? गोयमा ! जस्सन्न रयणप्पभापुढविनेरइयस्स ति-
त्थगरनामगोयाइं कम्माइं बच्चाइं पुट्ठाइं कम्माइं पट्ठवियाइं
णिविट्ठाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमन्नागयाइं उदिन्नाइं नो
उवसंताइं हवांति मे णं रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणं-
तरं उव्वट्ठित्ता णं तित्थगरत्तं द्वाभेज्जा जस्सन्न रयणप्पभा-
पुढविनेरइयस्स तित्थगरनामगोयाइं णो बच्चाइं जाव नो
उदिन्नाइं उवसंताइं जवति से णं रयणप्पभापुढविनेरइएहिं-
तो अणतरं उव्वट्ठित्ता तित्थगरत्तं नो लजेज्जा से तेणट्ठेणं

गोयमा ! एवं बुच्चइ अत्येगतिए द्वाभेज्जा अत्येगतिए नो
द्वाभेज्जा एवं जाव वालुयप्पभापुढविनेरइएहिंतो तित्थगरत्तं
द्वाभेज्जा । पंकप्पभापुढविनेरइए ण भते ! पंकप्पभानेरइएहिंतो
अणंतरं उव्वट्ठित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! णो इ-
णट्ठ समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा धूमप्पभापुढविनेरइए
णं पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे विरतिं पुण लजेज्जा
तमाए पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे विरयाविरतिं
पुण द्वाभेज्जा अहेसत्तमाए पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे
समट्ठ सम्मत्तं पुण द्वाभेज्जा असुरकुमारे णं पुच्छा ? गोयमा !
णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा एवं निरतर जाव
आउकाइए । तेउकाइए ण भते ! तेउकाइएहिंतो अणंतरं
उव्वट्ठित्ता उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे केवल-
पणत्तं धम्मं लजेज्जा सवणयाए एवं वाउकाइए वि ।
वणस्मडकाइए णं पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंत-
किरियं पुण करेज्जा वेइंदियतेइंदियच्चइरिंदिय पुच्छा ?
गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे मणपज्जवनाणं उप्पामेज्जा पं-
चिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिएणं पुच्छा ?
गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियाणं करेज्जा । सो-
हम्मदेवेणं जंते ! अणतर चडत्ता तित्थगरत्तं लजेज्जा ?
गोयमा ! अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो द्वाभेज्जा
एवं जहा रयणप्पभापुढविनेरइए एवं जाव सव्वट्ठसिद्ध-
गदेवे रयणप्पभापुढविनेरइए णं भते ! अणंतरं उव्वट्ठित्ता
चक्खट्ठित्तं लजेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए लजेज्जा अ-
त्येगतिए नो लजेज्जा से केणट्ठेण भते ! एवं बुच्चइ गोय-
मा ! जहा रयणप्पभापुढविनेरइयतित्थगरत्ते । सक्करप्पभा-
पुढविनेरइए ण भते ! अणंतरं उव्वट्ठित्ता चक्खट्ठित्तं ल-
भेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं जाव अहेसत्त-
माए पुढविनेरइए तिरियमणुएहिंतो पुच्छा ? गोयमा !
नो इणट्ठे समट्ठे । जवणवइवाणमंतरजोइसियवमाणिएहिंतो
पुच्छा ? गोयमा ! अत्येगइए लजेज्जा अत्येगइए नो द्वाभे-
ज्जा । एव च बलदेवत्तं एवर सक्करापुढविनेरइए वि द्वाभे-
ज्जा एवं वासुदेवत्तं दोहिंतो पुढविहिंतो वेमाणिएहिंतो य
अणुत्तरोववातियवज्जेहिंतो सेसेसु णो इणट्ठे समट्ठे । मं-
कलियत्तं अहेसत्तमाए तेउवाउवज्जेहिंतो सेणावइरयण-
त्तं गाहावइरयणत्तं वट्ठइरयणत्तं पुरोहियरयणत्तं इत्थियर-
णत्तं च एवं चेव नवरं अणुत्तरोववाइयवज्जेहिंतो आसर-
यणत्तं इत्थियरयणत्तं च रयणप्पभाओ निरंतरं जाव सह-
स्सारो अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो लजेज्जा । च-
करयणत्तं चम्मरयणत्तं दंरुयणत्तं वत्तरयणत्तं मणिरय-
णत्तं असिरयणत्तं कागिणिरयणत्तं एएसिं असुरकुमारेहिं-
तो आरद्धं निरंतरं जाव ईमाणाओ सेसेहिंतो नो इणट्ठे समट्ठे ।

एवं शर्करप्रज्ञावायुकप्रज्ञाविषयेऽपि सूत्रे वक्तव्ये पङ्कप्रभापृ-
थिवीनैरयिकस्ततोऽनन्तरमुद्भूतः सस्तीर्थकरत्व न लभते अ-
न्तक्रियां पुन कुर्यात्, धूमप्रज्ञापृथिवीनैरयिकोऽन्तक्रियामपि न
करोति सर्वविरतिं पुनर्लभते, तम प्रज्ञापृथिवीनैरयिकः सर्व-
विरतिमपि न लभते विरत्यविरतिं देशविरतिं पुनर्लभते । अधः
सप्तमपृथिवीनैरयिकस्तामपि देशविरतिं न लभते पर सम्य-
क्त्यमात्र लभते । असुरादयो यावद्वनस्पतिकादयोऽनन्तरमु-
द्भूतास्तीर्थकरत्व न लभन्ते अन्तक्रिया पुनः कुर्युः । वसुदेवच-
रिते पुनः नागकुमारेज्योऽप्युद्भूता अनन्तरमैरवतक्त्रेऽस्यामेवा-
वसर्पिण्यां चतुर्विंशतितमस्तीर्थकर उपदर्शितः तदर्थतत्त्व के-
वलिनो विदन्ति । तेजोवायवोऽनन्तरमुद्भूता अन्तक्रियामपि न
कुर्वन्ति मनुष्येषु तेषामानन्तर्येणोत्पादाभावादपि च ते तिर्यक्कुत्प-
न्नाः केवलप्रज्ञासं धर्मं श्रवणतया लभेरन् न तु बोधिमित्युक्तं प्राग्
वनस्पतिकायिकाद्यनन्तरमुद्भूतास्तीर्थकरत्व न लभन्ते अन्त-
क्रियां पुन कुर्युः । द्विविचतुरिन्द्रिया अनन्तरमुद्भूतास्तामपि न
कुर्वन्ति मनःपर्यवज्ञान पुनरुत्पादयेयुः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्य-
न्तरज्योतिष्का अनन्तरमुद्भूतास्तीर्थकरत्व न लभन्ते अन्त-
क्रियां पुनः कुर्युः । सौधर्मादयः सर्वार्थसिद्धपर्यवसाना नैरयि-
कवत्कृत्याः । गत तीर्थकरद्वारम् । सप्रति चक्रवर्तित्वादीनि द्वा-
राण्युच्यन्ते तत्र चक्रवर्तित्व रत्नप्रज्ञानैरयिकभवनपतिव्यन्तर-
ज्योतिष्कवैमानिकेज्यो न शेषेभ्यः बलदेववासुदेवत्वे शर्करा-
तोऽपि नवर वासुदेवत्वे वैमानिकेज्योऽनुत्तरोपपातयर्जेज्यो मा-
गलिकत्वमधःसप्तमतेजोवायवर्जेज्यः शेषेज्यः सर्वेज्योऽपि
स्थानेज्यः सेनापतिरत्नत्व वर्रिकिरत्नत्व पुरोहितरत्नत्वं स्त्री-
रत्नत्वमधःसप्तमपृथिवीतेजोवायवुत्तरोपपन्नदेववर्जेज्यः शेषे-
भ्यः स्थानेज्यः अश्वरत्नत्व हस्तिरत्नत्व रत्नप्रज्ञाया आरभ्य नि-
रन्तर यावदासहस्राराश्वकरत्नत्व वज्ररत्नत्वं दण्डरत्नत्वमसि
रत्नत्व मणिरत्नत्व काकिणिरत्नत्व चासुरकुमारादारभ्य नि-
रन्तर यावदीशानात् । सर्वत्र विधिवाक्यम् । “अथेगइए लभे-
ज्जा अथेगइए नो लभेज्जा ” इति वक्तव्य प्रतिषेधे “ ना इण्ठे
समठे ” इति तदेवमुक्तानि द्वाराणि प्रज्ञा ० १९ पद । (तीर्थ-
कृतमन्तक्रिया तित्थयर शब्दे)

उग्रादयोऽस्मिन् धर्मेऽवगाहमाना अन्तक्रियां कुर्वन्ति ।

जे इमे भंते ! उग्गा जोगा राइष्ठा इक्खागा णाया कोर-
व्वा एए णं अस्सिं धम्मे ओगाहइ ओगाहइत्ता अट्ठविहं
कम्परयमलं पवाहंति पवाहंतित्ता तओ पच्छा सिज्झ-
ति जाव अंतं करंति हता गोयमा ! जे इजे उग्गा भोगा तं
चेव जाव अंतं करंति अथेगइया अण्यरेसु देवलौएसु दे-
वत्ताए उववत्तारो जवंति ।

(अस्सिं धम्मे ति) अस्मिन् नैग्रन्थ्ये धर्मे इति म० २० श० ८३० ।

[जीवः सदसदमितमेजनादिभाव परिणमन्नान्तक्रियां
करोतीति मरुगपुत्त शब्दे]

केवलिन एव अन्तक्रियां कुर्वन्तीति विवकुगह ।

उत्तमत्येणं जंते ! मणूसे तीतमणंतं सामयं समयं केवले-
णं संजमेणं केवलेणं संवरेणं केवलेण वंभचेरवासेण केव-
लीहिं पवयणमायाहिं सिज्झिं सु बुज्झिं सु जाव सव्वदुक्खा-
णमंतं करिं सु ? गोयमा ! एणो इण्ठे समठे से केण्ठेण जंते !
एव बुद्धं तं चेव जाव अंतं करिं सु ? गोयमा ! जे केइ अं-

तकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिं सु वा
करिंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्नानाणंदसणधरा
अरहा जिणे केवली जवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति मुच्चांति
परिनिव्वायति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंति करिस्संति
वा से तेण्ठेणं गोयमा ! जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिं सु पङ्क-
प्पण्णे वि एवं चेव नवरं सिज्झंति जाणियव्वा अणगए वि
एवं चेव नवरं सिज्झिस्संति जाणियव्वा जहा छउमत्थो
तहा आहोहिओ वि तहा परमोहिओ वि तिन्नि तिन्नि आ-
लावगा भाणियव्वा ॥

इह लुब्धस्थोऽवधिज्ञानरहितोऽवसेयो न पुनरकेवलमात्रमुत्त-
रत्रावधिज्ञानिनो वक्ष्यमाणत्वादिति (केवलेणति) असहाये-
न शुद्धेन वा परिपूर्णं वा असाधारणेन वा यदाह “केवलमेग
सुखं सगलमसाधारणमणंतं च” (सजमेणति) पृथिव्यादिरक्क-
णरूपेण (सवरेणति) इन्द्रियकषायनिरोधेन “सिज्झिं सु” इ-
त्यादौ च बहुवचनं प्राकृतत्वादिति एतच्च गौतमेनानेनाजिप्रायेण
पृष्ठयदुन उपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वविशुद्धा सयमा यतयोऽ
पि भवन्ति विशुद्धसयमादिसाध्या च सिद्धिरिति सा लुब्ध-
स्थस्यापि स्यादिति (अतकरेत्ति) भवान्तकारिणस्ते च दी-
र्घतरकाद्यापेक्षयाऽपि भवन्तीत्यत आह (अंतिमसरीरियावत्ति)
अन्तिम शरीर येषामस्ति तेऽन्तिमशरीरिकाश्चरमदेहा इत्यर्थः ।
वाशब्दौ समुच्चये “ सव्वदुक्खाणमंतं करिं सु ” इत्यादौ “सि-
ज्झिं सु सिज्झती” त्याद्यपि द्रष्टव्यम् । सिद्ध्याद्यविनाभूतत्वात्स-
र्वदुःखान्तकरणस्येति (उप्पन्नानाणंदसणधगेति) उत्पन्ने ज्ञान-
दर्शने धारयन्ति ये ते तथा त्वनादिसंसिद्धज्ञाना अत एव (अर-
हत्ति) पुजार्हाः (जिणस्ति) रागादिजेतारस्ते गच्छन्त्या अपि
ज्वन्तीत्यत आह । केवलीति सर्वज्ञाः ‘सिज्झती’ त्यादिषु चतुर्षु
पदेषु वर्तमाननिर्देशस्य शेषोपलक्षणत्वान् “सिज्झिं सु सिज्झति
सिज्झिस्सति” इत्येवमनीतादिनिर्देशो द्रष्टव्यः । अत एव “सव्व-
दुक्खाण ” मित्यादौ पञ्चमपदेऽसौ विहित इति । “जहा उवम-
त्थो” इत्यादिरिय भावना “आहोहिणं जंते ! मणूसे तीतमणंतं
सासयं मयं जाव अंतं करंति ? हंता गोयमा ! सिज्झं सु जाव अंतं करिं सु
एते तिन्नि आलावगा जाणियव्वा । छउमत्थस्म जहा
नवरं सिज्झं सु सिज्झति सिज्झिस्संति । से एणं जंते !
तीतमणंतं सासयं मयं परुप्पन्नं वा सासयं मयं अणा-
गयमणंतं वा सासयं मयं जे केइ अंतकरा वा अंतिमस-
रीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिं सु वा करिंति वा करि-
स्संति वा सव्वे ते लुप्पन्नानाणंदसणधरा अरहा जिणे

केवली जचित्ता तत्रो पच्छा सिज्झंति जाव अंतं करि-
स्मति वा हंता गोयमा ! तीतमणंतं सासयं जाव अंतं
करिस्संति वा से नूणं जंते ! उप्पन्नानाणदंसणधरे अरहा
जिणे केवली अलमत्थु चि वत्तव्वंसिया हंता गोयमा !
उप्पन्नानाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु चि व-
त्तव्वमिया सेवं जंते भंतेत्ति ॥

"से नूण" मित्यादिषु काव्ययनिर्देशो वाच्य एवेति (अलम-
त्थुत्ति) अत्रमस्तु पर्याप्तं भवतु नातः पर किञ्चिज्ज्ञानान्तर प्रा-
प्त्यवश्यमस्तीति एतद्वक्तव्यं स्याद् भवेत्सत्यत्वादस्येति ज०
१ श० ४ उ० । विनाशे, "उक्कण्णमत करिय काही अचिरेण
काक्षेण" ध० २ अधि० । अन्तो जवान्तस्तस्य क्रियाऽन्तक्रिया
भवच्छेद इत्यर्थस्तस्मैतुर्याऽऽराधना शैलेशीरूपा सा अन्तक्रिये-
त्युपचारात् केवल्याराधनाभेदे, एषा च क्लायिकज्ञानिकेवज्ञाना-
मेव जयति स्वा० २ उ० ।

रागद्वेषक्षये एवान्तक्रिया प्रावितु शक्नोति ।

से नूणं जंते ! कंखापदोमे खीणे समणे शिगंये अंत-
करे भवइ अतिमसरीरिए वा बहुमोहे नि य एं पुण्वि विह-
रित्ता अह पच्छा, संवुमे कावं करोइ तओ पच्छा सिज्झ-
इ बुज्झइ सुचइ जाव अंतं करोइ ? हंता गोयमा ! कंखापदो-
स खीणे जाव अंतं करोइ भ० १ श० ६ उ० ।

(जीवो यावदेजते तावन्नो अन्तक्रिया कर्तुं शक्नोतीति इरियाव-
हिया शब्दे) (आचार्य उपाध्यायो वाऽऽज्ञान्या गणसंग्रह कुर्वन्
कतिनिर्मवै सिद्धयति इति गणसंग्रहकर शब्दे)

अंतकुल-अन्यकुल-न० शूद्रकुले, कल्प० । आ० म० द्वि० ।

अतकरिया-अन्याकारिका-स्त्री० ब्राह्म्या लिपेर्नवमे लेख्य-
विधाने, प्रज्ञा० १ पद । त्रिपष्टिमकलायाश्च कल्प० ।

अतग-अन्तक-त्रि० विनाशकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ए अ० ।

अन्तग-त्रि० अन्तं गच्छत्यन्तगः । दुष्परित्यजे, "चिद्याण अतग
सो य णिरवेक्खो परिव्वप" सूत्र० १ श्रु० ए अ० । अन्तयति
अन्तं करोति अन्तं णिच् एवुब् मृत्यौ, वाच० ।

अंतगद-अन्तकृत् (त)-पु० अन्तो विनाशः स च कर्मणस्तत्फ-
सस्य वा ससारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृताः । तीर्थकरादिषु, स० ।
स्था० । पा० । अन्त० । त० । सूत्र० । अनु० । कल्प० ।

अंतगरुदसा-अन्तकृद् (त) दशा-स्त्री० बहु० अन्तो जवान्तः
कृतो विहितो यैस्तेऽन्तकृतास्तच्छक्त्यता प्रतिबद्धा दशा दशा-
ध्ययनरूपा ग्रन्थपद्धतय इति अन्तकृद् (त) दशा इह चाष्टौ
वर्गा भवन्ति तत्र प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तानि शम्भ्व्युत्प-
त्तेर्निमित्तीकृत्यान्तकृद् (त) दशाः । अष्टमेऽङ्के, अन्त० । स्था० ।
स० । पा० । न० । अनु० ।

आसां वर्गाऽध्ययनानि ।

तेणं कालेणं तेणं समणं चंपा नामं नयरी होत्था पुष्प-
भदे चेति ए वनसंके वषओ तेणं कालेणं तेणं समणं अज्ज-
सुहम्मे समोसरिते परिसा णिगया जाव पडिग्गता । तेण का-
लेणं तेणं समणं अज्जमुष्ममे अंतेवासी अज्जजंबू जाव
पज्जुवासति एवं वयासी जति एं जंते ! समणेणं ३ जाव

सपत्तेणं सत्तमस्म अगस्स उवामगसाणं अयमद्वे पन्नत्ते ।
अट्टमस्म ए जंते ! अंगस्म अतगददसाणं समणेणं के
अद्वे पणत्ते एव खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्टमस्म
अंगस्म अंतगरुदसाणं अट्ट वग्गा पम्पत्ता जाति एं जंते !
समणेण ३ जाव संपत्तेणं अट्टमस्म अगस्स अतगरुदसाणं
अट्ट वग्गा पणत्ता पट्टमस्स एं भंते ! वग्गस्म अंतगरुदसाणं
समणेण ३ जाव सपत्तेण कति अज्जयणा पणत्ता एवं
खलु जंबू ! समणेण जाव संपत्तेणं अट्टमस्स अंगस्स अंत-
गरुदसाणं पट्टमस्स वग्गस्म दस अज्जयणा पणत्ता न
जहा [अन्त० १ वर्ग०] नमी य मंगे सोमिद्धे, रामगुत्ते
सुदंसणे । जमाली य जगाली य, कि कमे पट्टपण्ण ॥१॥
फाले अ अट्टपुत्ते य, एमेते दस आहिया । स्था० १० ठा० ।
अन्तगमेत्यादि इह चाष्टौ वर्गास्तत्र प्रथमवर्गे दशाध्य-
यनानि तानि चामूनि (नमीत्यादि) साखे श्लोकमेतानि
च नमीत्यादिकान्यन्तकृत्साधुनामानि अन्तकृद्दशाङ्गप्रथमवर्गे
अध्ययनसंग्रहे नोपलभ्यन्ते यतस्तत्राभिधीयते " गोयमा ! स-
मुदसागर, गभीरे चेव होइ धिमिप य । अयले कपिल्ले खलु अ-
क्खोज पसंणई विण्णु चि ॥१॥ " ततो वाचनान्तरापेक्षाणीमा-
नीति सम्भावयामो न च जन्मान्तरानामापेक्षयैतानि भविष्यन्ती-
ति वाच्य जन्मान्तराणां तत्रानभिधीयमानत्वादिति ॥

द्वितीये वर्गे इमानि ।

अक्खोमि १ सागरे खलु, २ समुद ३ हिमवंत ४ अच-
लनामे य ५ । धरणे य ६ पूरणे य, ७ अजिचदे चेव
अट्टमए ॥

तृतीये वर्गे ।

जाति णं भंते ! तच्चस्म उक्खेवओ एवं खलु जंबू अट्ट-
मस्स अगस्म तच्चस्स वग्गस्स तेरस अज्जयणा पणत्ता
तंजहा अणीयसेसे १ अणंतसेणे २ अजियसेणे ३ अणिह-
यरोसिओ ४ देवसेणे ५ सत्तुसेणे ६ सारणे ७ गए ८ समूहं
ए हम्मूहे १० कुवए ११ दारुए १२ अणाहिद्धा १३ ॥

चतुर्थे वर्गे ।

जति एं जंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स
अंतगरुदसाणं जाव संपत्तेण के अद्वे पणत्ते १ एवं खलु
जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स दस अज्ज-
यणा पणत्ता तंजहा जाद्वी १ मयाद्वी २ उवयाद्वी, ३ पुरि-
ससेणे य ४ वारिसेणे य ५ । पज्जुएण ६ संवे ७ अनिरुद्धे,
८ सच्चणेमी य ए ददनेमी य १० ॥

पञ्चमे वर्गे ।

जति ए भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्म
अंतगरुदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अद्वे पणत्ते एवं
खलु जंबू समणेण जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स दस अज्ज-
यणा पणत्ता पउमावतीए गोरी गंधारी लक्खणा सुसीमा
य । जंबुवती सत्तचामा य, रुप्पिणी सूदसिरी मूदत्ता वि ।

पष्ठे षष्ठे ।

जति एं जंत! षष्ठस्स उक्खेवतो एवरं सोलस अज्जयणा पसुत्ता तंजहा “ मकारी १ किंकमए चेव २ मोगगरपा-
णी य ३ कासवं ४ खेमती ५ द्वितवरे चेव ६ केद्वाने ७
हरिचंदण ८ वारत ९ सुदंमणे १० पुण्णज्जे ११ तह
सुमणज्जे १२ सुपड्ढे १३ मोहति १४ मुत्ते १५ अलक्खे
१६ अज्जयणेण तु सोलससं ॥ २ ॥

सप्तमे षष्ठे ।

जति णं जंत! समणेणं सत्तमस्स वग्गस्स उक्खेवतो जाव
तैरस अज्जयणा पसुत्ता तंजहा “ नंदा १ तह नदवती २ नदवत्त-
र ३ नंदिसेणिया ४ चेवामरुता ५ सुमरुता ६ महामरुता ७ मरुदेवा
८ य १ अट्टमी महा ९ सुजहा य १० सुजया ११ सुमणाइया १२
जयदिष्ठा १३ य बोद्धवा सेणियज्ज्जाण नामानि २

अष्टमे षष्ठे ।

समणेणं जगवया महावीरेणं जाव अट्टमस्स वग्गस्स
उक्खेवतो जाव नवरं दस अज्जयणा पसुत्ता तंजहा
“ काली १ सुकाली २ महा-काली ३ काहा ४ सुकरहा ५ य
वीरकहा ६ य ७ बोद्धवा सामकहा ८ तहेव य । पउमसे-
णकहा नवमी दसमी महासेणकहा य ॥

सर्वसमग्रहेण ।

अंतगदसाणं अट्टमस्स अंगस्स एगो सुगक्खंधो अट्ट व-
ग्गा अट्टसु चेव दिवसेसु उद्दिशति तत्थ पढमविईयवग्गे दस
दस उद्देसगा तउयवग्गे तैरस उद्देसगा चउत्थपंचमवग्गे दस
दस उद्देसगा षष्ठवग्गे सोलस उद्देसगा सत्तमवग्गे तैरस उद्दे-
सगा अट्टमवग्गे दस उद्देसगा सेसं जहा नायाधम्मकहा ॥

विषयोऽन्तर्गदशानाम् ।

से किं तं अंतगदसाओ अंतगदसासु एं अंतगदसाणं
नगराईं उज्जाणचंडयवणराया अम्मा/पयरोसमोसरणध-
म्मा धम्मकहा इह होइअपरलोइअ इहिविसेसा भोगप-
रिचया पव्वज्जाओ सुयपरिगाहा तवोवहाणाईं पक्कमाओ
वहुविहाओ खमा अज्जवं मदवं च सोअं च सच्चसहियं
सत्तरसविहो य संजमो उत्तमं च वंभं आकिंचिण्या तवो-
किरियाओ समिइगुचीओ चेव । तह अप्पमायजोगो सज्जा-
यज्जाणेण य उत्तमाणं दोएहं पि द्वक्खणाईं पत्ताण य सं-
जमुत्तमं जियपरीसहाणं चउव्विहकम्मक्खयम्मि जहा
केवलस्स वंभो परिया उ जत्तिओ य जह पालिओ
मुणीहिं पावोवगओ य जहिं जत्तियाणि जत्ताणि ठेअइ-
त्ता अतगने मुणिवरो तमरयोधविमुको मोक्खसुहमणतरं
च पत्ता एए अग्गे य एवमाइत्यवित्तरेणं परूवेइ । सम० ।
अंतगदसाणं परिचा वायणा, सखिज्जा अणुओगदारा,
संखिज्जा वेदा, संखिज्जा सिद्धोगा, सखिज्जाओ निज्जुची-

ओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पक्खिज्जाओ,
से एं अंगअट्टयाए अष्टमे अग्गे एगे सुयक्खंधे अट्ट उद्देसणका-
ला अट्ट समुद्देसणकाला, संखिज्जा पयसहस्सा, पयगेण
सखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परिचा
तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिव्वणिकाइया जिणप-
क्कत्ता भावा आधविज्जत्ति पक्खिज्जंति परूविज्जत्ति दंसि-
ज्जंति निर्दंसिज्जंति उवदसिज्जत्ति । से एवं आया एवं
नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आधविज्जड
सेत्त अंतगदसाओ ॥ ८ ॥

तथा प्राप्तानाञ्च सयमोत्तमं सर्वधिरतिजितपरीषद्वाणाञ्चतुर्विध-
कर्मक्षये सति यथा केवलस्य ज्ञानादेर्लाभः पर्यायः प्रवक्ष्यामः
लक्षणो यावत्तथा यावद्वर्षादिप्रमाणो यथा येन तपोविशेषभ्र-
णादिना प्रकारेण पाक्षितो मुनिभिः पादपोषणमभ्य-
पन्नं निधानमनशनं प्रतिपन्नो वो मुनिर्यत्र शत्रुञ्जयपर्वतादौ यावन्ति
च भक्तानि भोजनानि वेदयित्वा अनशनानां हि प्रतिदिनं भक्त-
यच्छेदो भवति अन्तर्गतो मुनिवरो जात इति शेषः । तमोरज-
ओधविप्रसक्त एव च सर्वेऽपि क्षेत्रकालादिविशेषिता मुनयो भो-
क्तसुखमनुत्तरञ्च प्राप्ता आख्यायन्ते इति क्रियायोगः । एते अ-
न्ये “चेत्यादि” प्राग्वत् नवरं (दस अज्जयणसि) प्रथमवर्गा-
पेक्षयैव घटन्ते नन्दां तथैव व्याख्यातत्वात् यस्वेह पठ्यते
“सत्त वग्गात्ति” तत्प्रथमवर्गादन्यवर्गापेक्षया यतोऽत्र सर्वेऽप्यष्ट-
वर्गा नन्दांमपि तथा पठित्वात्तद्वृत्तिश्चेत्यम् (अट्टवग्गात्ति) अत्र
वर्गं समूहः स चान्तर्गतानामध्ययनानां वा सर्वाणि चैकवर्गता-
नि युगपदुद्दिश्यन्ते ततो भणितं “अट्ट उद्देसणकाला” इत्यादि
इह च दश उद्देशनकाला अधीयन्ते इति नास्यानिप्रायमवग-
च्छामः । तथा सख्यातानि पदशतसहस्राणि पदाम्रेणेति तानि
च किञ्च त्रयोविंशतिर्लक्षप्रणि चत्वारि च सहस्राणीति (अ-
ष्टवग्गात्ति) वर्गं समूहः स चान्तर्गतानामध्ययनानां वेदित-
व्यं सर्वाणि चाध्ययनानि धर्मावर्गान्तर्गतानि युगपदुद्दिश्यन्ते
अत आह अष्टौ उद्देशनकालाः अष्टौ समुद्देशनकालाः सख्येया-
नि पदसहस्राणि पदाम्रेण च तानि च किञ्च त्रयोविंशतिर्लक्षाः
चत्वारः सहस्राः शेष पाठसिद्धं यावन्निगमनम् न० । “दस उद्दे-
सणकाला दस समुद्देसणकाला” स० ।

अंतगत (य)-अन्तगत-न० अन्तशब्दः । यर्थ्यन्तवाची यथा
घनान्ते इत्यत्र ततश्चान्ते पर्यन्ते गतं व्यवस्थितमन्तगतम् । अ-
नुगामिकाऽवधिनेदे, इहार्थत्रयव्याख्या अन्ते गतमात्मप्रदेशानां
पर्यन्ते स्थितमन्तगतम् इयमत्र भावना इहावधिरूपधर्मानः कोऽ-
पि स्पर्शरूपतयोत्पद्यते स्पर्शक नामावधिज्ञानप्रभाया गवाक्-
जालादिधारविनिर्गतप्रदीपप्रज्ञाया इव प्रतिनियतो विच्छेदवि-
शेषः । तथा चाह जिनजङ्गणिकमाश्रमण स्तोपज्ञाप्यटी-
कायां स्पर्शकोऽयमवधिर्विच्छेदविशेष इति तानि चैकजीवस्य
सख्येयान्यसंख्येयानि वा भवन्ति । यत उक्तं मूलावश्यकप्रथम-
पीठिकायाम् “फट्ठा वि असंखेजे, सखेज्यावि एगजीव-
स्सेति” तानि च विचित्ररूपाणि तथाहि कानिचित्पर्यन्तव-
त्तिष्वात्मप्रदेशोत्पद्यते तत्रापि कानिचित् पुरतः कानिचि-
त्पृष्ठतः कानिचिदधोभागे कानिचिदुपरितनभागे कानि-
चिन्मध्यवर्तिष्वात्मप्रदेशोत्पद्यधोहानमुपजायते तदात्मनोऽस्ते

पर्यन्ते स्थितमिति कृत्वा अन्तगतमित्युच्यते तैरेव पर्यन्तवर्ति-
जिरात्मप्रदेशैः साक्षादवधिरूपेण ज्ञानेन ज्ञानाभाशेषैरिति । अथ-
वा औदारिकशरीरस्य भन्ते गत स्थितमन्तगत कयाधिदेकदि-
शोपशमनात् इहमपि स्पष्टकरूपमवधिज्ञानम् । अथवा सर्वेषां
मप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमनावेऽपि औदारिकशरीरान्ते क-
यापि दिशा यद्वशादुपलभते तदप्यन्तगतम् । आह यदि सर्वा-
त्मप्रदेशानां क्षयोपशमस्ततः सर्वतः किं न पश्यति ? उच्यते ए-
कदिशैव क्षयोपशमस्य सभवान् विचित्रो हि क्षयोपशमस्ततः
सर्वेणामप्यात्मप्रदेशानामित्यनूत एव स्वासामग्रीवशात् क्षया-
पशम सवृत्तो यदौदारिकशरीरमपेक्ष्य कयाचिद्विचित्रितया ए-
कदिशा पश्यतीति उक्तं च चूर्णैः । "ओरात्रियसरीरते हिय ग-
यति एगदं न चायप्पएसफडुगावहिपगदिसोचलभओ य अत-
गड ओहिनाण जससु । अहवा सव्वायप्परासविसुहेसु वि ओ-
रात्रियसरीरगते एगदिसि पासणागयति अतगयं भससु " नृ-
तीयोऽर्थः एकदिग्भाविनाऽवधिज्ञानेन यदुद्द्योतितं क्षेत्रं तस्यां
वर्षते तदवधिज्ञानमवधिज्ञानवतस्तदन्ते वर्षमानत्वात्ततोऽन्ते
एकदिग्भूपस्यावधिज्ञानविषयस्य पर्यन्ते व्यवस्थितमन्तगतम् ।

तद्भेदा यथा ।

से किं तं अंतगयं अंतगयं ति विहं पयत्त तंजहा पुरओ अंतगयं
मगओ अंतगयं पासओ अंतगयं । से किं तं पुरओ अं-
तगयं ? पुरओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उकं वा
चरुदियं वा अलातं वा मणिं वा पईवं वा जोइ वा पुरओ
काठं पणोद्धेमाणा पणोद्धेमाणा गच्छिज्जा सेत्तं पुरओ अ-
तगयं । से किं तं मगओ अंतगयं मगओ अंतगयं से जहानामए
केइ पुरिसे उकं वा चरुदियं वा अलातं वा मणिं वा
पईवं वा जोइ वा मगओ काठं अणुकडेमाणे अणुकडेमाण
गच्छिज्जा सेत्तं मगओ अंतगयं । से किं तं पासओ अंत-
गयं पासओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उकं वा चरु-
दियं वा अलातं वा मणिं वा पईवं वा जोइ वा पासओ काठं
परिकडेमाणे परिकडेमाणं गच्छिज्जा सेत्तं पासओ अंतगयं
सेत्तं अंतगयं ॥

अथ किं तत् अन्तगतम् अन्तगतं त्रिविधं त्रिप्रकारं प्रकृतं तद्य-
था पुरतोऽन्तगतमित्यादि । तत्र पुरतोऽवधिज्ञानिन स्वयंपेक्ष-
या अग्रभागे अन्तगत पुरतोऽन्तगतम् । तथा मार्गतः पृष्ठतोऽन्त-
गत मार्गतोऽन्तगतम् । तथा पार्श्वतो द्वयोः पार्श्वयोरेकतरपार्श्वतो
वाऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतम् । अथ किं तत्पुरतोऽन्तगतम् (से ज
हेत्यादि) स विवक्षितो यथा नाम कश्चित्पुरुष अत्र सर्वेष्वपि
पदेषु एकारान्तत्वमतः सौ पुंसि इमानि मागधिकजापालकणा-
त्सर्वमधीदि प्रवचनमर्कमागधिकजापालकम् । अर्धमागधिकजा-
पया तीर्थकृतां देशनाप्रवृत्तेः । ततः प्रायः सर्वत्रापि मागधिक-
भाषासकणमनुसरणीयम् । (उक्तं धेने) उक्ता दीपिका वा
शब्दः सर्वोऽपि विकल्पार्थः । चटुग्री वा चटुली पर्यन्तज्वलित-
वृणपूतिका अज्ञात वा अज्ञातमुष्टुकं च अग्रभागे ज्वलत्काष्ठमि-
त्यर्थः । मणिं वा मणिः प्रतीतः ज्योतिर्वा ज्योतिः स एवाद्याधा-
रो ज्वलद्गनिः । आह च चूर्णिकृत " जोइ सि मल्लगाइविओ
अगणी जलतो इति " प्रदीप वा प्रदीपः प्रतीतः पुरतोऽग्रतो
वा हस्ते दण्डादौ वा कृत्वा (पणोद्धेमाणे पणोद्धेमाणेति) प्र

पुष्टम् प्राणुदन् हस्तस्थितं दण्डाग्राद्यवस्थितं वा क्रमेण स्व-
गत्यनुसारं प्रेरयन् प्रेरयन् गच्छेत् यायात् एव दृष्टान्तः ।
उपनयस्तु स्थयमेव प्रावनीयः । तत उपसहरति (सेत्तं पुरओ
अंतगयं) से शब्दः प्रतिवचनोपसहारदर्शने तदेतत् पुरतोऽन्त-
गतम् । इयमत्र भावना । यथा स पुरुषः उक्तादिभिः पुरतः
एव पश्यति नान्यत्र एव येनावधिज्ञानेन तथाविधकृतोपशमना-
यतः पुरतः एव पश्यति नान्यत्र तदवधिज्ञानं पुरतोऽन्तगतम्-
निधीयते । एव मार्गतोऽन्तगत पार्श्वतोऽन्तगतसूत्रं प्रावनीय न-
वरम् (अणुकडेमाणे अणुकडेमाणेति) हस्तगत दण्डाग्रादिस्थित
वा अनु पश्चात् कर्षन् अनुकर्षन् पृष्ठतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षन्
समाकर्षन्नित्यर्थः । तथा (पासाओ काठं परिकडेमाणे परिकडेमा-
णेति) पार्श्वतो दक्षिणपार्श्वतोऽथवा वामपार्श्वतो यद्वा द्वयो-
रपि पार्श्वयोः उक्तादिकं हस्तस्थितं वा दण्डाग्रादिस्थितं वा प-
रिकर्षन् परिकर्षन् पार्श्वभागे कृत्वा समाकर्षन् समाकर्षन्नित्यर्थः ।
नं० १९ पत्र० । (मध्यगतादस्य विशेषः आणुगामिय शब्दे)
अन्तगत-त्रि० अन्तर्गत-त्रि०, सूत्र० २ ध्रु० १ अ० ।

अंतगग्र-अन्तर्गत-त्रि० तोऽन्तरि ८१। ६० इति सूत्रस्य क्वा-
चित्कत्वात्तान्तः शब्दे तस्यात् एत्वम् । मध्यगते, प्रा० । अन्त्य-
न्तरे, अष्ट० ।

अंतचरय-अन्तर्चरक-पु० पार्श्वचारिणि, अभिप्रद्विशेषधार-
के भिक्षाके, स्या० ५ ग० । यो हि अभिप्रद्विशेषान्तेष्वन्तरेषु
चरति स्या० ४ ग० ।

अंतचारि[न] अन्तचारिन्-पु० अन्तेन लुक्कावशेषेण बहुविप्र-
कृष्टेन चरन्तीति । अभिप्रद्विशेषधारके भिक्षाके, स्या० १०
ग० । सूत्र० ।

अंतजीवि (न)-अन्तर्जीविन्-पु० अन्तेन जीवितुं शीलमाज-
न्माऽपि यस्य स तथा । अभिप्रद्विशेषधारके भिक्षाके, स्या० ५
ग० । सूत्र० ।

अंतह-अन्तःस्थ-पु० अन्तः स्पर्शात्मणोर्वर्णयोर्मध्ये तिष्ठतीति
स्या-क्विप् । यरत्नवाक्येषु वर्णेषु, ते हि कादिमावसानस्पर्शानां
श्रवणरूपोष्मणां च मध्यस्थाः । वा विसर्गलोपेऽन्तस्था अपि
मध्यस्थितमात्रे, त्रि० वाच० ।

अंतच्छाण-अन्तर्धान-न० अन्तर्-धा०-ह्युद् । तिरोधाने,

शक्तिस्तम्ने तिरोधानं, कायरूपस्य संयमात् ।

कायः शरीरं तस्य रूपं चक्रुर्ग्राह्यो गुणस्तस्य नास्त्यस्मिन् का-
ये रूपमिति सयमादपस्य चक्रुर्ग्राह्यत्वरूपायाः शक्तेः स्तम्ने,
प्रावनावशात् प्रतिबन्धे सति तिरोधानं प्रवति चक्षुषः प्रकाश-
रूपस्य सात्त्विकस्य धर्मस्य तद्ग्रहणव्यापाराज्जावात्तथा सयम-
वान् योगी न केनचिद् दृश्यत इत्यर्थः । एव शब्दादितिरोधानम-
पि ज्ञेयम् । तदुक्तं कायरूपसयमात् ग्राह्यशक्तिस्तम्ने चक्षुषः
प्रकाशसंयोगेऽन्तर्धानम् । एतेन शब्दाद्यन्तर्काममुक्तमिति द्या०
२६ द्वा० । अज्जनविद्यादिनाऽदृश्यीभवने, नि० सू० १८० । व्यवधानं
च-व्य० २ उ० ।

अंतच्छाणपिंड-अन्तर्धानपिण्ड-पु० आत्मानमन्तर्हितं कृत्वा
गृह्यमाणे पिण्डे, " अप्पाणं अतरहितं करेत्ता जो पिण्डं गेरदइ
मो अतच्छाणपिण्डो प्रसूति जो अतच्छाणपिण्डं जुजइ जुजत वा
साइज्जइ " आज्ञादयोऽत्र दोषाश्चतुर्लक्षे प्रायश्चित्तम् । नि० सू०
२ उ० । अशिवाधिकारणेऽन्तर्धानपिण्डमुत्पादयेत् (अज्ञोदइ-
रणं सुखं शब्दे)

अंतर्द्विषी (गिधा) एी-अन्तर्धानिका-छी० अन्तर्धानकारिणि
विद्याविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अंतर्द्विषी-अन्तर्द्विषी-पु० व्यवधाने, हैम० ।

अंतर्द्विषी-अन्तर्द्विषी-त्रि० नष्टे, “ नष्टेति वा विगणति वा
अंतर्द्विषीतेति वा एगच्छा ” आ० चू० १ अ० ॥

अंतर्द्विषी-अन्तर्द्विषी-पु० कगठरुतदपशषस-क-पामूर्ध्वं लु
क् ८ । २ । ७७ इति ककारादूर्ध्वस्थस्य जीह्वामूलीयस्य लुक् ।
मध्ये यतने, प्रा० ।

अंतर्द्विषी-अन्तर्द्विषी-पु० प्रवेशे, विशेष० ।

अंतर-अन्तर-न० मध्ये, आन्ता० १ श्रु० ६ अ० विशेषे, ध० १ अधि०
अवधौ, परिधानांशुके, अन्तर्धाने, जेदे, परस्परवैलक्षण्यरूपे
विशेषे, तादर्थ्ये, निष्ठे, आत्मीये, विनार्थे, बहिरर्थे, सदृशे,
वाच० । सूरविशेषे, पानीयान्तरमिति सूत्रधारैर्यद् व्यपदिश्यते
ज्ञा० १ अ० व्यवधाने, ज १ वक्त्र० । स्या० । अन्तराति द-
दाति रा-क- । वि० । त० । अवकाश, भ० ७ श० ८
उ० । प्रव० । सूत्र० । नि० ।

[१] अन्तरस्य जेदा ।

[२] द्वीपपर्वतानां परस्पर व्यवधाने वक्तव्ये ईषत्प्राग्भारायाः
अलोकस्यान्तरमुक्तम् ।

[३] कुष्ठहिमवत्कूटस्योपरितनाच्चरमान्तादूर्ध्वधरपर्वतस्य स
मधरणितलस्यान्तरम् ।

[४] गोस्तूभस्य पौरस्त्याच्चरमान्तादुरुषामुखस्य पाश्चात्यचर-
मान्तस्यान्तरम् ।

[५] जम्बूद्वाराणां परस्परमन्तरम् ।

[६] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्यचरमान्ताज्ञोस्तूभस्य पाश्चात्यचर-
मान्तस्यान्तरम् ।

[७] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्याद्वेदिकान्ताद् धातकीखण्डस्य पा-
श्चात्यचरमान्तस्यान्तरम् ।

[८] जिनान्तराणि ।

[९] ऋषभाद्वीरस्यान्तरम् ।

[१०] ज्योतिष्काणां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरम् ।

[११] चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

[१२] ताराणां परस्परमन्तरम् ।

[१३] सूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

[१४] धातकीखण्डस्य द्वाराणामन्तरम् ।

[१५] नन्दनवनस्याधस्तनाच्चरमान्तात्सौगन्धिकस्य काण्ड-
स्याधस्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।

[१६] नरकपृथ्वीनां रत्नप्रज्ञाकारणानामन्तरम् ।

[१७] रत्नप्रभादिभ्यो घनवातादेरन्तरम् ।

[१८] रत्नप्रज्ञादीनां परस्परमन्तरम् ।

[१९] निषधकूटस्योपरितनाच्चरमान्तात्समधरणितलस्या-
न्तरं निरूप्य निषधपर्वतस्य रत्नप्रभायाः बहुमध्यदेश-
भागो निरूपितः ।

[२०] पुष्करवरद्वाराणामन्तरम् ।

[२१] मन्दराजम्बूद्वीपाच्च गोस्तूभस्यान्तरम् ।

[२२] मन्दराज्ञोत्तमस्यान्तरम् ।

[२३] मन्दराद्विकभासस्यान्तरं निरूप्य महाहिमवतोऽन्तरं
प्रतिपादितम् महाहिमवद्विक्रमिकस्यापीति इहैव महा-
हिमवत्सूत्रे प्रतिपादितम् ।

[२४] लवणसमुद्रचरमान्तयोरन्तरम् ।

[२५] लवणसमुद्रद्वाराणामन्तरम् ।

[२६] वडवामुखादीनामधस्तनाच्चरमान्तादुत्तप्रभाया अध-
स्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।

[२७] विमानकल्पानामन्तरम् ।

[२८] आहारमाश्रित्य जीवानामन्तरं प्रतिपाद्य तस्मिन्नेव सू-
त्रे सयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकस्य चान्तरम् ।

[२९] एकेन्द्रियाद्याश्रित्य कालतोऽन्तरम् ।

[३०] कषायमाश्रित्यान्तरं प्रतिपाद्य कायमाश्रित्यान्तरं नि-
रूपितम् ।

[३१] गतिमाश्रित्यान्तरं प्रतिपाद्य ज्ञानमाश्रित्य जीवानाम-
न्तरमभिहितम् ।

[३२] असंस्थावरनोत्रसंस्थावराणामन्तरम् ।

[३३] समष्ट्यष्टिकमाश्रित्यान्तरम् ।

[३४] पर्याप्तिमाश्रित्यान्तरमभिधाय कायादिपरातानामन्त-
रमभिहितम् ।

[३५] पुष्कलमाश्रित्यान्तरमुक्त्वा प्रथमसमयाऽप्रथमसमय-
विशेषणेनैकेन्द्रियाणां नैरयिकादीनां चान्तरम् ।

[३६] वादरसूक्ष्मनोसूक्ष्मनोबादराणामन्तरम् ।

[३७] सूक्ष्मस्यान्तरं प्रतिपाद्य भाषामाश्रित्य जीवानामन्तरं
निरूपितम् ।

[३८] योगमाश्रित्यान्तरमुक्त्वा लेश्यामाश्रित्य जीवानाम-
न्तरं निरूपितम् ।

[३९] वेदविशिष्टजीवानामन्तरं प्रतिपाद्य मनुष्यादिभेदेन
वेदविशेषविशिष्टानां स्त्रीपुंशुपुंसकानामन्तरं प्रति-
पादितम् ।

[४०] औदारिकादिशरीरविशिष्टानामन्तरमुक्त्वा सत्त्वावि-
शेषणेन अन्तरं निरूपितम् ।

[४१] सयमविशेषणेनान्तरमभिधाय सिद्धस्यासिद्धस्य चा-
न्तरं निरूपितम् ।

[१] अन्तरस्य भेदा ।

चञ्चल्विहे अतरे पष्ठत्ते तं जहा कडंतरे पम्हंतरे लोहं-
तरे पत्थंतरे एवामेव इत्थिए वा पुरिसस्म वा चञ्चल्विहे अं-
तरे पष्ठत्ते तं जहा कडतरसमाणे पम्हंतरसमाणे लोहंतरस-
माणे पत्थंतरसमाणे ॥

काष्ठस्य च काष्ठस्य चेति काष्ठयोरन्तरं विशेषो रूपनिर्माणा-
दिभिः एवमेव काष्ठान्तरमिव पद्मकर्पासकृतादि पद्मणोर-
न्तरं विशिष्टसौकुमार्यादिभिर्लोहान्तरमत्यन्ताच्छेदकत्वादि-
भिः प्रस्तरान्तरं पाषाणान्तरं चिन्तितार्थप्रापणादिभिरेवमेव का-
ष्ठान्तरमिव स्त्रिया वा रुयन्तरापेक्षया पुरुषस्य वा पुरुषान्तरा-
पेक्षया वाशब्दौ स्त्रीपुंसयोश्चातुर्विध्यं प्रति निर्विशेष-
ताख्यापनार्थौ काष्ठान्तरेण समानं तुल्यमन्तरं विशेषो विशि-
ष्टपदवियोग्यत्वादिना पद्मान्तरसमानं वचनसुकुमारतयैव
लोहान्तरसमानं स्नेहच्छेदेन परीषदादौ निर्मकत्वादिभिश्च
प्रस्तरान्तरसमानं चिन्तातिक्रान्तमनोरधपूरकत्वेन विशिष्टशु-
णवत् वन्द्यपदवीयोग्यत्वादिना चेति स्था० ४ । ग० ।

(२) द्वीपपर्वतादीनां परस्परं व्यवधानं दर्शयते तत्र ईषत्प्रा-
ग्भाराया अलोकस्य यथा
ईसिप्पन्नागा एणं भंते ! पुढवीए अज्ञोगस्स य केवइए

अवाहाए पुच्छा, गोयमा ! देसूणं जोअणए अवाहाए अंतरं पणत्ते ।

(देसूणं जोयणति) इह सिद्धलोकयोर्देशोन योजनमन्तरमुक्तम्, आवाहयके तु योजनमेव । तत्र च किञ्चिन्न्यूनताया अवि-
वक्षणाच्च विरोधो मन्तव्य इति भ० ४ श० ८ उ० ।

[३] कुट्टहिमवत्कुट्टस्योपरितनाश्चरमान्ताद्वर्षधर-
पर्वतस्य समधरणितवेऽन्तरम् ।

कुट्टहिमवन्तकूरस्स णं उवरिद्धाओ चरमन्ताओ कुट्टहिमवन्-
तस्स वासहरपव्वयस्स समधरणितवे एम णं उ जोयणसयाइ
अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं सिंहरिकूरस्स वि ।

इह प्रावार्थो हिमवान् योजनशतोच्छ्रितस्तत्कुट्ट पञ्चशतोच्छ्रि-
तमिति सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति स० ।

(४) गोस्तुभस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद् वरुवामुखस्य पाश्चा-
त्यचरमान्तेऽन्तरम् ।

गोथूजस्स णं आवासपव्वयस्स पुरच्छिमिद्धाओ चरमन्-
ताओ वलयामुहस्स महापायावस्स पञ्चच्छिमिद्धे चरमन्ते
एस ण बावन्नं जोयणसहस्साइ अवाहाए अंतरे पणत्ते ।

[गोथूमेत्यादि] गोस्तुभस्य प्राच्या लवणसमुद्रमध्यवर्तिनो
वेलन्धरनागराजनिवासभूतपर्वतस्य पौरस्त्याच्चरमान्तादपसृ-
त्य वरुवामुखस्य महापातालकलशस्य पश्चात्यचरमान्ता येन
भवतीति गम्यते [एसणति] एतदन्तरमध्येऽबाधया व्यवधा-
नलक्षणमित्यर्थं द्विपञ्चाशद्योजनसहस्राणि भवन्तीत्यक्षरघ-
टना । भावार्थस्त्वयम् इह लवणसमुद्र पञ्चनवनियोजनसहस्रा-
ण्यवगाह्य पूर्वदिषु दिक्षु चत्वार क्रमेण वडवामुखकेतुकयप-
केभ्यराभिधाना महापातालकलशा भवन्ति । तथा जम्बूपर्यन्ताद्
द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य सहस्रविष्कम्भाश्चत्वार
एव वेलन्धरनागराजपर्वता गोस्तुभादया भवन्ति । ततश्च
पञ्चनवत्यास्त्रिचत्वारिंशत्यपकर्षितायां द्विपञ्चाशत्सहस्राण्य-
न्तरं भवति स० ५१ सम० ।

[५] जम्बूद्वीपस्य परस्परमन्तरम् ।

जंबूदीवस्स णं भंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य केवडए
अवाहाए अंतरे पणत्ते ? गोयमा ! अज्जणामीइं जोअणम-
हस्साइं बावणं च जोअणाइं देसूणं च अद्धजाअणं दारस्स
य दारस्स य अवाहाए अंतरे पणत्ते जी० ।

जम्बूद्वीपस्य णमिति प्राग्वत् जदन्त । द्वीपस्य सवन्धिनो
द्वारस्य २ च कियत् किंप्रमाणम् (अवाहाए अंतरेति) बाधा
परस्पर सञ्छेयत पीरुन नवाधा अवाधा तथा कियदन्तर व्य-
वधानमित्यर्थं प्रक्रमम् । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्वर्थेषु
वर्तमानो ह्यस्मन्तस्तद्व्यवच्छेदेन व्यवधानार्थपरिग्रहार्थमवाधा-
ग्रहणम् अत्र निर्वचनं भगवानाह गौतम ! एकोनाशीनिर्योजन-
सहस्राणि द्विपञ्चाशद्योजनानि देशोन चार्द्धयोजन द्वारस्य
द्वारस्य चावाधया अन्तरं प्रक्रमम् । तथाहि जम्बूद्वीपपरिधिं प्राग-
निर्दिष्टयोजनानि तिस्रो लक्षा पीरुश सहस्राणि द्वे शते सप्त-
विंशत्यधिकं (३१२०७७) क्रोशत्रयम् (३) अष्टविंशत्यनु शत
(१२८) त्रयोदशाङ्गुलानि (१३) एकमर्द्धाङ्गुलमिति । अस्माद्-
द्वारचतुष्कविस्ताराष्टादशयोजनरूपोऽपनीयते यत एकैकस्य
द्वारस्य विस्तारो योजनानि चत्वारि चत्वारि (४) प्रतिद्वारम् ।
द्वारशाखाद्वयचिन्तारश्च क्रोशत्रयं क्रोशत्रयम् । अस्मिन् द्वारस्य

शाखयोश्च परिमाणे चतुर्गुणं जातान्यष्टादश योजनानि (१८)
ततस्तदपनयने शेषपरिधिसत्कस्यास्य योजनरूपस्य (३१६२०९)
चतुर्जागलब्धानि योजनानि एकोनाशीति सहस्राणि द्वि-
पञ्चाशदधिकानि (७९०५१) क्रोशत्रयम् । तथा परिधिस-
त्कस्य क्रोशत्रयस्य धनुष्करणे जातानि धनुषापद् सहास्राणि
(६०००) एव च परिधिसत्क अष्टाविंशत्यधिकधनु शतस्य
क्षेपे जातानि धनुषामेकपट्टिशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि (६१२८)
ततोऽस्य चतुर्भिर्भागे लब्धानि पञ्चदश शतानि द्वाविंशदधि-
कानि (१५३१) यानि च परिधिसत्कत्रयोदश अङ्गुलानि (१३)
तेषामपि चतुर्भिर्भागे लब्धानि त्रीण्यङ्गुलानि (३) शेषे चैक-
स्मिन् अङ्गुले यवा. अष्टौ (८) एषु परिधिसत्कयवपञ्चक (५) क्षेपे
जातास्त्रयोदश यवा (१३) एषा च चतुर्भिर्भागे लब्धास्त्रयो-
यवा (३) शेषे चैकस्मिन् ये यवा अष्टौ (८) आसु परिधि-
सत्कैकयवाक्षेपे जाता नव (९) आसु चतुर्भिर्भागे लब्धे द्वे यवे
(२) शेषस्याल्पत्वाच्च विवक्षा । एतच्च सर्वं देशोनमेकं गम्यन्-
मिति जातं पूर्ववन्नगम्यनेन सह देशोनमर्द्धयोजनमिति (ज०-
१७००) “इममेवार्थं द्विषंस् सुयच्छमिति” अथरुसूत्रो वरुसूत्र
बाधवरुचिसत्त्वानुग्राहकमिति वा गाययाऽऽह । “कुट्टुद्वार पमा-
ण, अछारस्स जोयणाइ परिहाण । सोहियचउहिं विज्जत्ते, इणमो
दारस्स होइ । अज्जणासीइसहस्सा, बावणणा अछ जोयण तूण ।
दारस्स य दारस्स य, अंतरमेय विणिहिदु” जी० ३ प्रति० । स० ।

[६] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद् गोस्तुभस्य
पाश्चात्यचरमान्ते अन्तरमाह ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिद्धाओ चरमन्ताओ, गोथू-
भस्स णं आवासपव्वयस्स पञ्चच्छिमिद्धे चरमन्ते एमण वाथा-
दीसं जोयणसहस्साइं अवाहाए अंतरे पणत्ते । एव चउहिंसि
पि दगजासे संखोदयसीमे य ।

(पुरत्थिमिद्धाओ चरमन्ताओ ति) जगतीबाहापरिधेरपसृत्य
गोस्तुभस्यावासपर्वतस्य वेलन्धरनागराजसवन्धिन पाश्चात्य-
सीमान्तश्चरमविभागो वा यावनाऽन्तरेण भवति [एमणति]
एतदन्तरं द्विचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि प्रक्रममन्तरशब्देन
विशेषोऽप्यभिधीयते इत्यन् आह [अवाहाएति] व्यवधानापेक्षया
यदन्तरं तदित्यर्थः ।

(७) जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्याद् वेदिकान्तात् धातकी-
खण्डस्य पाश्चात्यचरमान्ते अन्तरम् ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिद्धाओ वेडयन्ताओ धाय-
इखंरुचकवालस्स पञ्चच्छिमिद्धे चरमन्ते सत्तजोयणमयसह-
स्साइं अवाहाए अंतरे पणत्ते ।

तत्र लक्ष जम्बूद्वीपस्य द्वे लवणस्य चत्वारि धातकीखण्डस्येति
सप्त लक्षाण्यन्तरं सूत्रोक्तम्भवतीति [७०००००] ।

(८) जिनान्तगाणि ।

जम्मा जम्मा जम्मा, मिवं सिन्ना जम्ममुक्खवओ मुक्खा ४।
इय चउजिणतगाइ, इत्य चउत्थं तु नायव्व ९६ । सत्त०
१६५ द्वा० ।

साग्रत यश्चरुवर्ती वासुदेवो वा यस्मिन् जिने जिनान्तरे वाऽऽ-
सीत् नन् प्रतिपाद्यते इत्यनेन मन्वन्धेन जिनान्तगागमनं तत्रा-
पि तावत् प्रमगन एव कालतो जिनान्तराणि निर्दिश्यन्ते “उ-

सभाओ कोमिलक्ष ५० अजियाओ कोमिलक्ष ३०। संभव-
ओ कोमिलक्ष १० अभिनदणओ कोडिलक्ष ९ सुमतिकोडी-
ओ उ णउइसहस्सेहिं ६० पउमपभओ कोमीणनव सहस्सेहिं
६ सुपासो कोमी नवसपहिं ६०० चदप्पभो कोमीओ णउती
६० पुप्फदंनो कोमीउ णवहिओ ६ सीयलो कोमीऊणाऊणा १००
सा [६६२६०००) वरिसाह सेज्जसो सागरोपमाइ ४४ वासुपु-
ज्जो तीससागराइ ३० विमओ सागरोवमाइ ४ धम्मो सागरो-
वमाइ ३ ऊणाइ १ पलियचउभाओहिं ३ सतिपवियक कयुप-
लियचउभाओ ४ ऊणाओ वासकोडीसहस्सेण १ अरो वास-
कोमीसहस्स १ मल्ली वरिसलक्षचउप्पन्ना ५४ मुणिसुव्वओ
वरिसलक्ष ६ नमी वरिसलक्ष ५ अरिठ्ठनेमि वरिसहस्सं
८३७५० पासो वाससयाइ ३५० वडमाणो जिणंतराई " इह
वासम्मोहार्थ सर्वेषामेव जिनचक्रवर्तिवासुदेवानां यो यस्मिन्
काहेऽन्तरे वा चक्रवर्ती वासुदेवो वा प्रविष्यति वचूष वा त-
स्यान्तरव्याघर्णितप्रमाणायुःसमन्वितस्य सुखपरिज्ञानार्थमय
प्रतिपादनोपायः ।

" बत्तीस घरयाइ, काठ तिरिया य ताहिं रेहाहिं ।
उट्ठायायाहिं काठं, पच घराइ तओ पढमो ॥
पन्नरस जिणनिरतर-सुन्नडुमा तिजिण सुन्नतिग च ।
दो जिणसुन्नजिणिदो, सुन्नजिणो सुन्न दोषि जिणा ॥

[वितीयपतिट्ठवणा]

दो चक्कि सुन्नतेरस, पण चक्की सुन्नचक्कि दो सुन्ना ।
चक्की सुन्नडुचक्की, सुन्न चक्की डुसुन्नं च ।
(ततीयपतिट्ठवणा)

इस सुन्न पच केसव, पण सुन्न केसि सुन्नकेसी य ।
दो सुन्नकेसवो वि य, सुन्नडुग केसव तिसुन्न ॥
स्थापना चेयम् ।

✠ (सा चेहैव सप्त षष्ठितमे पत्रे विव्रियते) ✠
प्रसङ्गादायुः शरीरप्रमाणं च ।
(६) ऋषमाद् वीरस्य ।

उमभस्स भगवओ महावीरस्स य एगा सागरोवमकोडा-
कोडी अवाहाए अंतरे पणत्ते ।

प्राकृतत्वेन श्रीऋषज इति वाच्ये व्यत्ययेन निर्देशः कृतः एक-
सागरोपमकोटाकोटी द्विचत्वारिंशता वर्षसहस्रै किञ्चित्साधि-
कैरूनाऽप्यल्पत्वाद्विशेषस्याविशेषितोक्तेति स० क६प० । वीर-
महापद्मयोः " चुलसीइसहस्साइ, वासा सत्तेव पच मासाइ ।
वीरमहापद्ममाण, अंतरमेय विणिहिड्डु " ति० ।

[१०] ज्योतिष्काणां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरं यथा ।

चंदमण्डलस्स एं भंते ! चंदमण्डलस्म चंदमण्डलस्म केवइआए
अवाहाए अंतरे पणत्ते ! गोयमा ! पणतीसं पणतीसं
जोअणाइ तीमं च एगसट्टिजाए जोअणस्स एगस-
ट्टिजागं च एगं सत्तहा ठेत्ता चत्वारि चुप्पिअजाए
चंदमण्डलस्स २ अवाहाए अंतरे पणत्ते ।

चन्द्रमण्डलस्य भदन्त ! चन्द्रमण्डलस्य कियत्या अयाधया
अन्तरं प्रहस गौतम ! पञ्चविंशद्योजनानि त्रिंशद्वैकषष्टिभागान्
योजनस्य एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छिन्वा चतुरश्रचूर्णिका-
भागान् एतच्च चन्द्रमण्डलस्य अयाधया अन्तरं प्रहसम् अत्र
सप्तचत्वारश्चूर्णिका यथा समायाति तथाऽनन्तरं व्याख्यानम्
ज० ७ अ० ।

[११] चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरमाह ।

चंदतो मूररस य, मूरा चंदस्स अंतरं होइ ।

पष्ठासहस्साइ, तु जोयणाणं अण्णाइ ॥ २७ ॥

मूरस्स य मूरस्स य, ससिणो ससिणो य अंतरं होइ ।

बही तु माणुसनगस्स, जोयणाणं सतसहस्सं ॥ २८ ॥

मानुपनगस्य मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिः सूर्यस्य सूर्यस्य परस्परं
चन्द्रस्य चन्द्रस्य परस्परमन्तरं भवति योजनानां शतसहस्रं
लक्षम् । तथाहि चन्द्रान्तरिताः सूर्याः सूर्यान्तरिताश्चन्द्रा व्याख्य-
ताश्चन्द्रसूर्याणां च परस्परमन्तरं पञ्चाशद् योजनसहस्राणि
(५००००) ततश्चन्द्रस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरं योजनानां
लक्षं भवतीति सू० प्र० १६ पाठ० । (६० प०)

वे जोयणाणि मूरस्स, मंडझाणं तु इवइ अतरिया ।

चंदस्स वि पणत्त सं, साहीया होइ नायव्वा ॥

सूर्यस्य सवितुः सत्कानां मण्डलानां परस्परमन्तरिका अन्त-
रमेवान्तर्यं भृशजालादिवत् स्वार्थं यणप्रत्ययः ततस्त्रीत्वविवक्षायां
डीप्पत्यये आन्तरी अन्तरमेव आन्तर्येव आन्तरिका प्रवति
द्वे योजने पुनश्चन्द्रस्य आन्तरिका भवति ज्ञातव्या पञ्चविंशद्यो-
जनानि साधिकाणि पञ्चविंशत् योजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टि-
भागा योजनस्य एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा द्विस्य
सत्काश्चत्वारो भागा इत्यर्थः ज्यो० १० पाठ० ।

[१२] ताराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबुद्वीपे एं जंते ! दीवे ताराए अ ताराए अ केवइ अवाहाए
अंतरे पणत्ते गो-मा ! दुविहे अंतरे पणत्ते तंजहा वायाइए अ
निव्वाघाइए अ । निव्वाघाइए जहण्णं पंचधणुसयाइ उको-
सेणं दो गाउआइ । वायाइए जहण्णं दोषि ठावडे जोअण-
सए उकोसेण वारस जोअणसहस्साइ । दोषि अ वायाले
जोअणसए ताराख्वस्स ताराख्वस्स अवाहाए अंतरे पणत्ते
जम्बुद्वीपे भदन्त ! द्वीपे तारायास्तारायाश्च कियद्वाधया अ-
न्तरं प्रहसं प्रगयानाह । गौतम ! द्विविधं व्याघातिकं निर्व्याघा-
तिकं च । तत्र व्याघातः पर्वतादिस्खलनं तत्र भव व्याघातिकं
निर्व्याघातिकं व्याघातिकाभिर्गतं स्वाभाविकमित्यर्थस्तत्र यन्नि-
र्व्याघातिकं तज्जघन्यतः पञ्चधनु शतानि उक्कण्ठो द्वे गव्येन
एतच्च जगत्स्वभावादेवावगन्तव्यं यच्च व्याघातिकं तज्जघन्यतो
द्वे योजनशते पट्पट्ठधिके एतच्च निपधकूटादिकमपेक्ष्य वेदि-
तव्यं तथाहि निपधपर्वतं स्वभावतोऽप्युच्चैश्चत्वारि योजनशता-
नि तस्य चोपरि पञ्चयोजनशतौञ्चानि कूटानि तानि च मूलं
पञ्चयोजनशतान्यायामविष्कम्भाज्या मध्ये त्रीणि योजनशतानि
पञ्चसप्तत्यधिकानि उपरि अर्द्धतृतीये द्वे योजनशतं तेषां चोप-
रितनभागममथ्रेणिप्रदेशे तथा जगत्स्वाभाव्यादष्टावष्टौ योजना-
न्याधया कृत्वा ताराविमानानि परिगुमन्ति ततो जघन्यतो व्या-
घातिकमन्तरं द्वे योजनशते पट्पट्ठधिके प्रवत उत्कर्षतो द्वाद-
शयोजनसहस्राणि द्वे योजनशते द्विचत्वारिंशदधिके । एतच्च
मेरुमपेक्ष्य द्रष्टव्यम् । तथाहि मेरौ दशयोजनसहस्राणि मेरो-
ओभयतोऽधाधया एकादशयोजनशतान्येकविंशत्यधिकानि तत्र
सर्वमख्यामीक्ष्ये भवन्ति द्वादश योजनसहस्राणि द्वे च योजने
शते द्विचत्वारिंशदधिके एतत्तारावप्य अन्तरं प्रहसमिति ज०
७ य० । जी० । च० प्र० ।

उत्सर्गो	अभिज्ञो	संभवो	अभिनिदयो	सुमती	पञ्चपयो	सुपासा	चदपहो	गुफ्फदलो	सीयलो	सेजंसा	वासुपुज्जो	विमलो	अणतो	धम्मो	#
अटहो	सागरो	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	मयवं
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	तिविट्ट	डुविट्ट	सयंनु	पुरिसो- सोमो	पुरिस सीहो	०
५००	४५०	४००	३५०	३००	२५०	२००	१५०	१००	६०	८०	७०	६०	५०	४५	४२॥
धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसतं	धनूसतं	धनूसत	धनूसत	धनूसत
८४००००००	७२००००००	६०००००००	४०००००००	४०००००००	३०००००००	२०००००००	१०००००००	२०००००००	१००००००	८४००००००	७२००००००	६०००००००	३०००००००	१०००००००	५०००००००
पुव्वलकसं	पुव्वलकसं	पुव्वलकसं	पुव्वलकस	पुव्वलकसं	पुव्वलकसं	पुव्वलकसं	पुव्वलकस	पुव्वलकस	पुव्वलकस	वरिस लकसं	वरिस लकसं	वरिस लकस	वरिस लकस	वरिस लकस	वरिस लकस

(६७)

आभिधातजेन्द्र.

(६७)

*	संतो	कुंय	अरं	*	*	मंजो	मुणिमु- व्यसा	*	णमी	*	ऐमी	*	पासो	वच्चमाणो
सयंकुमारो	सतो	कुप	अरं	०	सुयंजो	०	पयंजो	०	हरिसेणो	अयनामा	०	वचनदत्तो	०	०
०	०	०	०	पुरिपुटो	०	दत्तो	०	०	नारायणो	०	०	०	०	०
४६॥	४०	३५	३०	२६	२८	२६	२५	२०	१६	१५	१२	१०	७	६
धनूसत	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसत	धनूसतं	धनू	हत्था
३००००००	१०००००	६५०००	८४०००	६५०००	६००००	५६०००	५५०००	३००००	१६०००	१००००	३०००	१०००	७००	१००
वरिस लकसं	वरिस लकस	वरिस सदस्स	वरिस सदस्स	वरिस सदस्स	वरिस सदस्स	वरिस सदस्स	वरिस सदस्स	वरिस सदस्स	वरिस सदस्स	वरिस सदस्स	वरिस सदस्स	वरिस सदस्स	वरिससत	वरिससत
			</											

[१३] सूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

ना केवतियं तं दुवे सूरिया अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिताति वदेज्जा । तत्थ खलु इमातो ठ पन्निवत्ति-
ओ पस्सत्ताओ तत्थ एगे एवमाहंसु ता एगं जोयणसह-
स्सं एगं च तेतीसं च जोयणसतं अस्ममस्स अंतरं कट्टु
सूरिया चारं चरंति आहिताति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । १ ।
एगे पुण एवमाहंसु ता एगं चउतीसं जोयणसयं अन्नम-
न्नस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा
एगे एवमाहंसु । २ । एगे पुण एवमाहंसु । ता एगे जोयणसहस्सं
एगं च पणतीसं जोयणसयं अस्ममस्स अंतरं कट्टु सु-
रिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । ३ । एगं
दीवं एगं समुहं अस्ममस्स अंतरं कट्टु । ४ । दो दीवे दो
समुहे अस्ममस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति । ५ । ति
न्नि दीवे तिन्नि समुहे अन्नमन्नस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं
चरंति आहिताति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । ६ । वयं पुण एवं
वयासी ता पंच पंच जोयणां पणतीसं च एगडिभागे
जोयणस्म एगमेगे मंडले अस्ममस्स अंतरं अन्नवदेमा-
णे वा निवदेमाणे वा सूरिया चारं चरंति आहितेति वदे-
ज्जा । तत्थ एं को हेओ च्ति वदेज्जा ता अयणं जंबूदीवे
दीवे जाव परिकेवेवेणं पस्सत्ते ता जदा एं एगे दुवे सूरि-
या सव्वन्नंतरं मंरुलं उवसंकमिन्ता चारं चरंति तदा एं
एवणउत्तिजोयणसहस्सां च चत्तावे जोयणसते अस्ममस्स-
स्म अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तता एं
उत्तमकट्टपत्ते उक्कोसए अट्टारसमुहुत्ते दिवसे जवति ज-
हणिया दुवात्तसमुहुत्ता राई भवति ते णिक्खममाणा
सूरिया एव सवच्चरं अयमिणे पढमंमि अहोरत्तंसि अ-
न्नितराणंतरं मंरुलं उवसंकमिन्ता चारं चरंति । ता ज-
ता-ए एते दुवे सूरिया अभितराणंतरं मंरुलं उवसंकमि-
न्ता चारं चरंति तदा ए नवनजति जोयणसहस्सां च
पणताले जोयणमते पणतीसं च एगडिभागे जोयणस्म
अस्ममस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिताति वदेज्जा ।
तता ए अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवति दोहिं एगडिभागमु-
हुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ता राती जवति । दोहिं एग-
डिभागमुहुत्तेहिं अधिया ते णिक्खममाणे सूरिया दोच्चंसि
अहोरत्तंसि अन्नितरं तच्चं मंरुलं उवसंकमिन्ता चारं चर-
ति ता जता ए दुवे सूरिया अन्नितरं तच्चं मंरुलं उवसंक-
मिन्ता चारं चरंति तया एं नवनउहं जोयणसहस्सां च
इक्कावणिजोयणमए णव य एगडिभागे जोयणस्स अण-
मणस्स अतर कट्टु चारं चरंति आहिताति वदेज्जा । तदा
एं अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवति चउहिं एगडिभागमुहुत्तेहिं
ऊणो दुवालसमुहुत्ता राई जवति चउहिं एगडिभागमुहुत्ते-

हिं अधिया । एवं खलु एते एवाएणं णिक्खममाणा एगे
दुवे सूरिया तता एंतरतो तदाणंतरं मंरुलातो मंरुलं संक-
ममाणा संकममाणा पंच पंच जोयणां पणतीसं च एग-
डिभागे जोयणस्म एगमेगे मंरुले अस्ममस्स अंतरं अभि-
वदेमाणा अभिवदेमाणा सव्ववाहिरं मंरुलं उवसंकमिन्ता
चारं चरंति । ता जया एं एते दुवे सूरिया सव्ववाहिरं मंरुलं
उवसंकमिन्ता चारं चरंति तता एं एगं जोयणसतसहस्सं
च सट्टिजोयणसते अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चर-
ति । तता एं उत्तमकट्टपत्ता उक्कोसिया अट्टारसमुहुत्ता राई
जवति जहणए दुवात्तसमुहुत्ते दिवसे भवति । एस एं पढ-
मे ठम्मामे एस एं पढमस्म ठम्मामस्स पज्जवमाणे ते य वि
समाणे दुवे सूरिया दोचे ठम्मामे अयमीणे पढमंसि अहो-
रत्तंसि आदिशणंतरं मंरुलं उवसंकमिन्ता चारं चरंति । ता
जया एं एते दुवे सूरिया वाहिराणंतरं मंरुलं उवसंकमिन्ता
चारं चरंति तदा एं एगं जोयणसयमहस्सं च चउण्ण
जोयणसते छत्तीसं च एगडिभागे जोयणस्स अस्ममस्स-
स्म अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तदा एं
अट्टारसमुहुत्ता राई भवति दोहिं एगडिभागमुहुत्तेहिं ऊणा
दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति । दोहिं एगडिभागमुहुत्तेहिं
आहि ए ते पविसमाणा सूरिया दोच्चंसि अहोरत्तंसि वाहिरं
तच्चं मंरुलं उवसंकमिन्ता चारं चरंति ता जता ए एते
दुवे सूरिया वाहिरं तच्चं मण्डलं उवसंकमिन्ता चारं चरंति ।
तता एं एगं जोयणमयमहस्सं च अरुयाले जोयणसते
वावणं च एगडिभागे जोयणस्स अस्ममस्स अंतरं कट्टु
चारं चरंति । तता एं अट्टारसमुहुत्ता राई भवति । चउहिं
एगडिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे जवति
चउहिं एगडिभागमुहुत्तेहिं अहि ए । एवं खलु एते एवा-
एणं पविसमाणा एते दुवे सूरिया तताणंतरतो तदाणंतरं
मंडलाओ मंरुलं संकममाणा पंच पंच जोयणां पणतीसं
च एगडिभागे जोयणस्म एगमेगे मंडले अस्ममस्स अंतरं
अवदेमाणे अवदेमाणे सव्वन्नंतरं मंरुलं उवसंकमिन्ता
चारं चरंति । ता जया एं एते दुवे सूरिया सव्वन्नतरं मंरुलं
उवसंकमिन्ता चारं चरंति । तता एं एवणउत्तिजोयणसहस्सा-
ं च चत्ताले जोयणमते अस्ममस्स अतर कट्टु चारं
चरंति । तता एं उत्तमं कट्ट पत्ते उक्कोसए अट्टारसमुहुत्ते
दिवसे भवति जहणिया दुवात्तसमुहुत्ता राई जवति । एस-
ण दोचे ठम्मामे एस एं दोच्चस्म ठम्मामस्स पज्जवमाणे ।
एस एं आइच्चे मंच्चरे एस एं आइच्चेसवच्चरस्स
पज्जवमाणे चउत्थं पाडुरुपाडुरुं ममत्तं ।

(ता केवदय एए दुवे सूरिया इत्यादि) ता इति प्राग्वत्

एतौ द्वावपि सूर्यौ जम्बूद्वीपगतौ कियत्प्रमाणपरस्परमन्तरं कृत्वा चार चरत चरन्तावाख्याताविति भगवान् वदेत् एव जगवता गौतमेन प्रश्ने कृते सति शेषकुमतविषयतत्त्वबुद्धिव्युदासार्थं परमतरूपा प्रतिपत्तिर्दर्शयति । "तत्थ खलु इमाओ इत्यादि" तत्र परस्परमन्तरचिन्ताया खलु निश्चितमिमा वक्रमाणस्वरूपा पद प्रतिपत्तयो यथास्वरुचिस्त्वन्त्युपगमवक्रणास्तैस्तैर्निर्या-न्तरागैराश्रीयमाणाः प्रकृतास्ता एव दर्शयति "तत्थेगे इत्यादि" तेषां पक्षा तत्प्रतिपत्तिरूपकाणां तीर्थकानां मध्ये एकं तीर्थान्तर-रीयाः प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्येवमाहुः "ता एगमित्यादि" ता इति पूर्ववद्भावनीयम् एकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परस्यान्तरं कृत्वा जम्बूद्वीपे द्वौ सूर्यौ चार चरतश्चरन्तावाख्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । अत्रैवोपसंहार-माह । " एके एवमाहुरिति " । एव सर्वत्राप्युक्तयोजना कर्त्त-व्या । एके पुनर्द्वितीयास्तीर्थान्तररीया एवमाहुरेकं योजनसहस्र-मेकं च चतुस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चार चरत । एके तृतीयाः पुनरेवमाहुः एकं योजनसहस्रमेकं च पञ्चविंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चार चरत । एके पुनश्चतुर्थी एवमाहुः एकं द्वीपमेकं च समुद्रं परस्परमन्तरं कृत्वा चार चरत । एके पुनः पञ्चमा एवमाहुः द्वौ द्वीपौ द्वौ समुद्रौ परस्परमन्तरं कृत्वा चार चरत । एके षष्ठा पुनरेवमाहुः त्रीन् द्वी-पान् त्रीन् समुद्रान् परस्परमन्तरं कृत्वा चार चरत इति । एते च सर्वे तीर्थान्तररीया मिथ्यावादिनोऽप्यथार्यवस्तुव्यवस्थापनात् । तथा चाह (वयं पुन इत्यादि) वयं पुनरासादितकेवलज्ञानलाभा-परतीर्थिकस्थापितवस्तुव्यवस्थाव्युदासेन एव वक्ष्यमाणप्रका-रेण केवलज्ञानेन यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमुपलभ्य वदामः । क-थं वदथ यूयं जगवन्त इत्याह (ता पचेत्यादि) 'ता ङ्गि' आ-स्तामन्यद्वयकथमिदं तावत्कथ्यते द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरान्म-एरुलाभिष्कामन्तौ प्रतिमएरुल पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चविंशतं चैकपट्टिभागान् योजनस्य पूर्वपूर्वमएरुलगतान्तरपरिमाणे अ-निवर्त्तन्तौ वाशब्द उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चये (निबुद्धे-माणा वा इति) सर्वबाह्यान्मएरुलाभ्यन्तरं प्रविशन्तौ प्रति-मएरुल पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चविंशतं च एकपट्टिभागान् या-जनस्य निर्वर्णयन्तौ पूर्वपूर्वमएरुलगतान्तरपरिमाणात् हापय-न्तौ वाशब्दः पूर्वविकल्पापेक्षया समुच्चये सूर्यौ चार चरत च-रन्तावाख्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । एवमुक्ते भगवान् गौ-तमो निजशिष्यनिःशङ्कितत्वव्यवस्थापनार्थं यूयं प्रश्नयति । (तत्थमित्यादि) तत्र एवविधाया वस्तुतत्त्वव्यवस्थाया अव-गमे को हेतुः का उपपत्तिरिति प्रसादं कृत्वा वदेत् भगवा-नाह (ना अयन्नमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपस्वरूपप्रतिपादकं वा-क्यं पूर्ववत्परिपूर्णं स्वयं परिभाषनीयम् । (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति वाक्यान्नकारे एतौ जम्बूद्वीपप्रासि-कौ प्रारतैरावतौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरं मएरुलमुपसक्रम्य चार चरतः नदा नवनवतियोजनसहस्राणि पदं योजनशतानि चत्वारिंशदधिकानि परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावा-ख्याताविति वदेत् । कथं सर्वाभ्यन्तरेमएरुले द्वयोः सूर्ययोः प-रस्परमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इह जम्बूद्वीपो योज-नलक्षप्रमाणविष्कम्भस्तत्रैकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्य मध्ये अशी-त्यधिकं योजनशतमवगाह्य सर्वाभ्यन्तरे मएरुले चारं चरति । द्वितीयोऽप्यशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य अशीत्यधिकं च श-तं द्वाभ्यां गुणितं त्रीणि शतानि पट्टयधिकानि (३६०) नवन्ति

एतानि जम्बूद्वीपविष्कम्भपरिमाणाद्बद्धरूपादपनीयन्ते ततो य-थोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तथा णमित्यादि) तदा सर्वाभ्य-न्तरे द्वयोरपि सूर्ययोश्चरणकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्तं परमप्रकर्षं प्राप्तं उन्कर्षकं उन्कष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तौ दिवसो भवति जघन्या सर्वजघन्या द्वादशमुहूर्त्तौ रात्रि (ते निष्कसममाणा इत्यादि) तनस्तस्मात्सर्वाभ्यन्तरान्मएरुलात्तौ द्वावपि सूर्यौ निष्कामन्तौ नव सूर्यसवत्सरमादशानौ नवस्य सूर्यसवत्सरस्य प्रथमे अ-होरात्रे (अर्धितराणतरमिति) सर्वाभ्यन्तरान्मएरुलाटनन्तरं द्वितीयं मएरुलमुपसक्रम्य चार चरत (ता जया णमित्या-दि) ततो यदा एतौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमएरुल-मुपसक्रम्य चार चरतस्तदा नवनवतियोजनसहस्राणि-पदं शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि योजनानां पञ्चविंशतं चैकपट्टिभागान् योजनस्येतेतावत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चार चरतश्चरन्तावाख्याताविति वदेत्तदा कथमेतावत्प्रमाण-मन्तरमिति चेदुच्यते । इहैकोऽपि सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमएरु-लगतान्पञ्चचत्वारिंशदेकपट्टिभागान् योजनस्य अपरे च द्वे योजने विकम्प्य सर्वाभ्यन्तरानन्तरे द्वितीये मएरुले चरति । एव द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकपट्टिभा-गा योजनस्येति द्वाभ्यां गुण्यते गुणिते च सति पञ्च योज-नानि पञ्चविंशदेकपट्टिभागा योजनस्येति भवति एताव-दधिकपूर्वमएरुलगतान्तरपरिमाणादत्र प्राप्यते ततो यथो-क्तमन्तरपरिमाणं भवति (तथा णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्त-रानन्तरद्वितीयमएरुलचारचरणकाले अष्टादशमुहूर्त्तौ दिव-सो भवति द्वाभ्यां (एगट्टिभागमुहूर्त्तेहि ति) मुहूर्त्तैकपट्टिभा-गाभ्यामून । द्वादशमुहूर्त्तौ रात्रिः द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकपट्टिभागा-भ्यामधिका (ता निष्कसममाणा इत्यादि) ततस्तस्मादपि द्वितीयान्मएरुलाभिष्कामन्तौ सूर्यौ नवस्य सूर्यसवत्सरस्य द्वितीये अहोरात्रे अभ्यन्तरस्य सर्वाभ्यन्तरस्य मएरुलस्य तृतीयमएरुलमुपसक्रम्य चार चरत (ता जया णमित्यादि) ततो यदा णमिति पूर्ववत् एतौ द्वौ सूर्यौ अभ्यन्तरतृतीयं सर्वाभ्यन्तरस्य मएरुलस्य तृतीयं मएरुलमुपसक्रम्य चार चरत तदा तस्मिन्तृतीयमएरुलचारचरणकाले नवनवनि-योजनसहस्राणि पदं च शतानि एकपञ्चाशदधिकानि योज-नानां नव चैकपट्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चार चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत्, तदा कथमेताव-त्प्रमाणमन्तरकरणमिति चेदुच्यते । इहाप्येकं सूर्यः सर्वाभ्य-न्तरद्वितीयमएरुलगतान्पञ्चचत्वारिंशदेकपट्टिभागान् योजन-स्यापरे च द्वे योजने विकम्प्य चार चरति द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजनेऽष्टाचत्वारिंशदेकपट्टिभागान् योजनस्येति द्वाभ्यां गु-ण्यते द्विगुणमेव पञ्च योजनानि पञ्चविंशदेकपट्टिभागा योज-नस्येति भवति । एतावत्पूर्वमएरुलगतान्तरपरिमाणादत्रा-धिकं प्राप्यते इति भवति यथोक्तमन्तरपरिमाणम् (तथा णमित्यादि) यदा सर्वाभ्यन्तरान्मएरुलात्तृतीये मएरुले चार चरतस्तदा अष्टादशमुहूर्त्तौ दिवसो भवति चतुर्भिः [एगट्टिभागमुहूर्त्तेहि ति] प्राकृतन्यायपदव्यत्यासस्तनोऽ-यमर्थं मुहूर्त्तैकपट्टिभागैरून, द्वादशमुहूर्त्तौ रात्रिश्चतुर्भि-र्मुहूर्त्तैकपट्टिभागैरधिका (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चिनमेतेनोपायेन प्रतिमएरुलमेकतोऽप्येकं सूर्यो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशतं चैकपट्टिभागान् विकम्प्य चार चरत्य-परतोऽप्यपरं सूर्योऽपीत्येवरूपेण निष्कामन्तौ एतौ जम्बूद्वी-

पगनौ द्वौ सूर्यौ पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्तदनन्तरमण्णत्तदनन्तर
मण्णल संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मण्णत्वे पूर्वपूर्वमण्णलगतान्तर-
परिमाणापेक्षया पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशत चैकषष्टिजागा-
न् योजनस्य परस्परमन्त्रिवर्द्धयन्तौ नवसूर्यसवत्सरसत्के अशी-
त्यधिकशततमे अहोरात्रे प्रथमपण्णमासपर्यवसानभूते सर्व-
बाह्यमण्णलमुपसक्रम्य चार चरतः । (ता जया णमित्यादि)
ततो यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्य मण्णलमुपसक्रम्य चार
चरतस्तदा तावेक योजनशतसहस्रं षट् शतानि षष्ट्यधिकानि
(१००६६०) परस्परमन्तर कृत्वा चार चरतः । कथमेतद्व-
सेयमिति चेत् उच्यते इह प्रति मण्णलं पञ्च योजनानि पञ्चत्रिं-
शच्चैकषष्टिभागा योजनस्येत्यन्तरपरिमाणचिन्तायामभिवर्द्धमा-
न प्राप्यते सर्वान्यन्तराच्च मण्णलात्सर्वबाह्य मण्णल ज्यशी-
त्यधिकशततमे ततः पञ्च योजनानि ज्यशीत्यधिकेन शतेन गु-
ण्यन्ते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि योजनानामेकष-
ष्टिभागाश्च पञ्चत्रिंशत्सख्यारुयशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते
जातानि तेषां चतुःषष्टिशतानि पञ्चोत्तराणि (६४०५) तेषामे-
कषष्ट्या भागे हते बन्ध पञ्चोत्तर योजनशतम् (१०५)
एतत्प्राक्तने योजनराशौ प्रक्षिप्यते जातानि दश शतानि विंश-
त्यधिकानि योजनानि (१०१०) एतत्सर्वान्यन्तरमण्णलगता-
न्तरपरिमाणे नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि चत्वारिंश-
दधिकानि (६६६४०) इत्येवरूपे प्रक्षिप्यते नतो यथोक्त सर्व-
बाह्ये मण्णत्वे अन्तरपरिमाण भवति (तथा णमित्यादि) तदा
सर्वबाह्यमण्णलचारचरणकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्ता परमप्रकर्षप्रा-
प्ता उत्कृष्टा अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति जघन्यश्च द्वादशमुहूर्त्तो
दिवस "एसण पढमे उम्मासे" इत्यादि प्राग्वत् (ते पविसमाणा
इत्यादि) तौ ततः सर्वबाह्यान्मण्णलादज्यन्तर प्रविशन्तौ द्वौ
सूर्यौ द्वितीयपण्णमासमाददानौ द्वितीयस्य पण्णमासस्य प्रथमे
अहोरात्रे बाह्यान्मन्तरं सर्वबाह्यान्मण्णलादर्वागन्तर द्वितीय
मण्णलमुपसक्रम्य चार चरतः (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा
एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यान्मन्तरमर्वाकन द्वितीय मण्णलमुपस-
क्रम्य चार चरतस्तदा एक योजनशतसहस्रं षट् शतानि चतु-
ष्षादशधिकानि षट्त्रिंशति चैकषष्टिभागान् योजनस्य परस्पर-
मन्तरं कृत्वा चार चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत् कथमता-
वत्तस्मिन्सर्वबाह्यान्मण्णलादर्वाकने द्वितीये मण्णले परस्परमन्त-
रकरणमिति चेत् उच्यते इहैकोऽपि सूर्य सर्वबाह्यमण्णलगतान-
ष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिजागान् योजनस्यापरे च द्वे योजने
अभ्यन्तर प्रविशन्सर्वबाह्यान्मण्णलादर्वाकने द्वितीये मण्णत्वे
चार चरति अपरोऽपि ततः सर्वबाह्यलगतादन्तरपरिमाणादन्ता-
न्तरपरिमाण पञ्चत्रिंशतैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिजागैर्योजन-
स्येन प्राप्यते इति प्रवति यथोक्तमन्तरपरिमाणम् [तथा ण-
मित्यादि] तदा सर्वबाह्यान्मन्तरादर्वाकनद्वितीयमण्णलचारचरण-
कावे अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति द्वाभ्यां तु मुहूर्त्तैकषष्टिभागा-
ज्याम्ना, द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो षाज्यां मुहूर्त्तैकषष्टिजागान्याम-
धिक [ते पविसमाणा इत्यादि] ततस्तस्मादपि सर्वबाह्यमण्णला-
दर्वाकनद्वितीयमण्णलादज्यन्तर प्रविशन्तौ तौ द्वौ सूर्यौ द्वितीय-
स्य पण्णमासस्य द्वितीये अहोरात्रे (बाहिरतश्चति) सर्वबाह्यान्म-
ण्णलादर्वाकन तृतीय मण्णलमुपसक्रम्य चार चरतः (ता ज-
या णमित्यादि) तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यान्मण्णलादर्वा-
कन तृतीय मण्णलमुपसक्रम्य चार चरत तदा एक योजनश-
तसहस्रं षट् च योजनशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि द्विपञ्चा-

शन चैकषष्टिजागान् योजनस्य परस्परमन्तर कृत्वा चार चरतः
प्रागुक्तयुक्त्या पूर्वमण्णलगतादन्तरपरिमाणादन्तरपरिमाण-
मस्य पञ्चत्रिंशतैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिजागैर्योजनस्य हीन-
त्वात् [तथा णमित्यादि] तदा सर्वबाह्यान्मण्णलादर्वाकनतृती-
यमण्णलचारचरणकावे अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति चतुर्भिर्मु-
हूर्त्तैरेकषष्टिभागैरुक्ता । द्वादशमुहूर्त्तो दिवसश्चतुर्भिरेकषष्टिभागे-
र्मुहूर्त्तैरधिक [एव खलु इत्यादि] एवमुक्तप्रकारेण खलु नि-
श्चितमेतेनोपायेन एकनोऽप्येकः सूर्योऽभ्यन्तर प्रविशन् पूर्वपूर्व-
मण्णलगतादन्तरपरिमाणादन्तरे विवक्षिते मण्णत्वे अन्तरप-
रिमाणस्याष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् द्वे च योजने हापय-
त्यपरतोऽप्यपरं सूर्य इत्येवरूपेण एतौ जम्बूद्वीपगतौ सूर्यौ तद-
नन्तरान्मण्णलात्तदनन्तरमण्णल संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मण्णत्वे
पूर्वपूर्वमण्णलगतादन्तरपरिमाणात् अनन्तरे अनन्तरे विव-
क्षिते मण्णत्वे पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशत चैकषष्टिजागा-
न् योजनस्य परस्परमन्तरपरिमाण निर्वेष्टयन्तौ हापयन्तावित्य-
र्थः । द्वितीयस्य पण्णमासस्य ज्यशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे सूर्य-
सवत्सरपर्यवसानभूते सर्वान्यन्तर मण्णलमुपसक्रम्य चारं
चरतः [ता जया णमित्यादि] तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वभ्य-
न्तर मण्णलमुपसक्रम्य चार चरतः तदा नवनवतियोजनस
हस्राणि षट् योजनशतानि चत्वारिंशानि चत्वारिंशदधिकानि
परस्परमन्तर कृत्वा चारं चरतः । अत्र चैवरूपान्तरपरिमाणे
भावना प्रागेव कृता शेष सुगमम् । सू० प्र० १ पाहु० । च०प्र० ।
ज्यो० । म० । ज० । [मन्दरात् कियत्याऽबाधया ज्योति-
ष्का इत्यादि अवाहा शब्दे]

(१४) धातकीखण्डस्य चाराणामन्तरं यथा ।

धायइसंरुस एं जंते ! दीवरुम दारस्स य दारस्स य एस
णं केवतिय अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ! गोयमा ! दम जोयण-
सतसहस्साइं सत्तावीमं च जोयणसहस्साइं सत्त य पण-
तीसे जोयणसते तिष्ठि य कोसे दारस्स य दारस्स य आ-
वाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

धातकीखण्डस्य भदन्त ! द्वीपस्य द्वारस्य च द्वारस्य च परस्पर-
मेतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमबाधया अन्तरितत्वाद् (व्या-
घातेन) व्यवधानेन प्रहस्य भगवानाह गौतम ! दश योजनशतस-
हस्राणि सप्तविंशतिसहस्राणि सप्तशतानि पञ्चत्रिंशानि द्वार-
स्य परस्परमन्तरमबाधया प्रहस्यम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य
द्वारशाखाकस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव पृथुत्वं साद्वर्तानि चत्वारि
योजनानि । ततश्चतुर्णां द्वाराणामेकत्र पृथुत्वपरिमाणमीक्षणे
जातान्यष्टादश योजनानि तान्यनन्तरोक्तात्परिमाणपरिमाणात्
(४११०६६१) शोध्यन्ते शोधितेषु च तेषु जात शेषमिदमेक-
चत्वारिंशत्तद्वा दश सहस्राणि नव शतानि त्रिचत्वारिंशदधि-
कानि (४११०६४३) एतेषां चतुर्भिर्भागे हते लब्धं यथोक्तं
द्वाराणां परस्परमन्तरम् । उक्तं " पण्णतीसा सत्त सया, स-
त्तावीसा सहस्स दस लक्खा । धायइसडे दार-तरं तु अवरं
च कोसतिय " जी० ३ प्रति० ।

(१५) नन्दनवनस्याधस्तनाचरमान्तात्सौगन्धिकस्य कारण-
स्याधस्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।

नंदणवणस्स एं हेट्ठिआओ चरमंताओ सोमंघियस्स कं-
रुस्स हेट्ठिं चरिमंते एस एं पंचासाइं जोयणसयाइं अ-
वाहाए अंतरं पण्णत्ते ॥

नन्दनवनस्य मेरोः पञ्चयोजनशतोच्छ्रितायां प्रथममेखलायां व्यवस्थितस्याधस्ताच्चरमान्तात् सौगन्धिककाण्डस्य रत्न-प्रमापृथिव्या. खरकाण्डाभिधानाथमकाण्डस्यावान्तरका-ण्डभूतस्याष्टमस्य सौगन्धिकाभिधानरत्नमयस्य सौग-न्धिककाण्डस्याधस्त्यश्चरमान्तः. पञ्चाशीतिर्योजनशतान्य-न्तरमाश्रित्य भवति । कथं पञ्च शतानि मेरो सम्बन्धीनि प्रत्येक सहस्रप्रमाणत्वादवान्तरकाण्डानामष्टमकाण्डमशीति-शतानीति । स० ।

(१६) नरकपृथ्वीनां रत्नप्रमाकाण्डानामन्तरम् ।

इमी से एं जंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो च-रिमंतातो हेड्डिछे चरिमंते एस एं केवतियं अवाधाए अंतरे पसुत्ते ! गोयमा ! असी उत्तरं जोयणसतसहस्सं अवा-धाए अंतरे पसुत्ते । इमी से एं जंते ! रयणप्पजाए पुढ-वीए उवरिद्धातो चरिमंतातो खरकमस्स हेड्डिछे चरिमंते एस एं केवतियं अवाधाए अंतरे पसुत्ते ! गोयमा ! सो-लस जोयणसहस्साइं अवाधाए अंतरे पसुत्ते । इमी-से एं जंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो चरिमंतातो रयणसम कंरुस्स हेड्डिछे चरिमंते एस एं केवतियं अवा-धाए अंतरे पसुत्ते ! गोयमा ! एकं जोयणसहस्सं अवाधाए अंतरे पसुत्ते ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्य प्रथ-मस्य खरकाण्डविभागस्य (उवरिद्धातो इति) उपरितना-च्चरमान्तात् परतो योऽधस्तनश्चरमान्तश्चरमपर्यन्तः (एस णमित्यादि) एतत्सूत्रे पुस्तचनिर्देशः प्राकृतत्वात् अन्तरं किय-योजनप्रमाणम् अवाधया अन्तरव्याघातरूपया प्रकृतं भग-वानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमेकयोजनसहस्रप्रमाण-मन्तरं प्रकृतम् ।

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए रयणकंडस्स उवरिद्धातो चरिमंतातो वडरस्स कंरुस्स उवरिद्धे चरिमंते एस एं भंते ! केवतियं अवाधाए अंतरे पसुत्ते ! गोयमा ! एकं जोयणसहस्सं अवाधाए अंतरे पसुत्ते ।

(इमी से णमित्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्याः रत्नकाण्डस्य उपरितनाच्चरमान्तात्परतो यो वज्रकाण्डस्योप-रितनश्चरमान्त एतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमवाधया प्रकृतं भगवानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमवाधया अन्तरं प्रकृतं रत्न-काण्डाधस्तनश्चरमान्तस्य वज्रकाण्डोपरितनश्चरमान्तस्य च परस्परसंलग्नतया लज्जयथापि तुल्यप्रमाणजावात् ।

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो च-रिमंतातो वडरस्स कंरुस्स हेड्डिछे चरिमंते एस एं भंते ! केवतियं अवाधाए अंतरे पसुत्ते गोयमा ! दो जोयणसह-स्साइं अवाधाए अंतरे पसुत्ते एवं जाव रिद्धस्स उवरिद्धे पञ्जरस जोयणसहस्साइं हेड्डिछे चरिमंते सोलस जोयणस-हस्साइं ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितना-च्चरमान्तात् वज्रकाण्डस्य योऽधस्तनश्चरमान्त एतत् अन्तरं

कियत् अवाधया प्रकृतं भगवानाह गौतम ! द्वे योजनसहस्रे अवाधया अन्तरं प्रकृतम् । एव काएने काण्डे द्वौ द्वौ चात्ताप-कौ वक्तव्यौ काण्डस्य वाधनस्तने चरमान्ते चिन्त्यमाने योज-नसहस्रपरिवृक्तिः कर्त्तव्या यावत् रिष्टस्य काण्डस्याधस्तने चरमान्ते चिन्त्यमाने षोडश योजनसहस्राणि अवाधया प्रकृत-मिति वक्तव्यम् जी० ३ प्रति० ।

इमी से एं रयणप्पजाए पुढवीए वडरकंडस्स उवरि-द्धातो चरिमंतातो दोहियक्खकंरुस्स हेड्डिछे चरिमंते एस एं तिन्नि जोयणसहस्साइं अवाधाए अंतरे पसुत्ते ।

(इमी से णमित्यादि) अयमिह जावार्थं रत्नप्रमापृथिव्याः प्रथमस्य षोडशविभागस्य खरकाण्डाभिधानकाण्डस्य वज्रका-ण्ड नाम रत्नकाण्डं द्वितीयं वैकूर्यकाण्डं तृतीयं शोडिताकका-ण्डं चतुर्थं तानि च प्रत्येकं साहस्रिकाणीति प्रमाणं यथोक्तमन्तरं प्रवतीति स० ।

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए उवरिद्धातो च-रिमंतातो पंकवहुलस्स कंरुस्स उवरिद्धे चरिमंते एम एं अवाधाए केवतियं अंतरे पसुत्ते ! गोयमा ! सोलस जो-यणसहस्साइं अवाधाए अंतरे पणत्ते हेड्डिछे चरिमंते एकं जोयणसयसहस्सं ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनाच्च-रमान्तात् परतो यः पङ्कवहुलस्य काण्डस्योपरितनश्चरमान्तस्तत् कियत् किंप्रमाणमवाधया अन्तरं प्रकृतं भगवानाह गौतम ! षोडश योजनसहस्राणि अवाधया अन्तरं प्रकृतम् । [इमी से णमित्यादि] अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्ड-स्योपरितनात् चरमान्तात् परतो यः पङ्कवहुलस्योपरितनश्च-रमान्त एतदन्तरं कियत् अवाधया प्रकृतं भगवानाह गौतम ! एकं योजनशतसहस्रमवाधया अन्तरं प्रकृतम् ।

पंकवहुलस्स एं कंरुस्स उवरिद्धातो चरिमंतातो हेड्डिछे चरिमंते एस एं चोरासीजोयणसयसहस्साइं अवाधाए अंतरे पसुत्ते ॥

श्रेयांसजिन पङ्कवहुल कएणं द्वितीयं तस्य च वादस्य चतुरशी-तिः सहस्राणीति यथाकृतसूत्रार्थं इति स० ।

आयवहुलस्स उवरि एकं जोयणसयसहस्सं हेड्डिछे चरि-मंते असी उत्तरं जोयणमयसहस्सं । घणोदधिस्स उवरिद्धे असी उत्तरं जोयणसयसहस्सं हेड्डिछे चरिमंते दो जोय-णसयसहस्साइं ।

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितना-च्चरमान्तात् परतोऽवबहुलस्य योऽधस्तनश्चरमान्त एतदन्त-रं कियत् अवाधया प्रकृतं भगवानाह गौतम ! अशीत्युत्तरं यो-जनशतसहस्रं घनोदधेरुपरितने चरमान्ते पृष्ठे एतदेव निर्वच-नमशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रम् । अधस्तने पृष्ठे इदं निर्वचनं द्वे योजनशतसहस्रे अवाधया अन्तरं प्रकृतम् ।

(१७) रत्नप्रमादिभ्यो घनवातादे ॥

इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए पुढवीए घणवातस्स उव-रिद्धे चरिमंते दो जोयणसयसहस्साइं हेड्डिछे चरिमंते अस-खेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं इमी से एं भंते ! रयणप्पजाए

पुढवीए तणुवानस उवरिद्वे चरिंते असंखेजाइं जोयण-
मतसहस्साइं अवाधाए अंतरे हेडिद्वे वि संखेजाइं जोयण-
मतसहस्साइं एवं उवामंतरे वि ।

घनवातस्योपरितने चरमान्ते पृष्ठे इदमेव निर्वचन घनोदध-
धस्तनचरमान्तस्य घनवातोपरितनचरमान्तस्य च परस्पर स-
लग्नत्वात् घनवातस्याधस्तने चरमान्ते एतद्विचनम् । अस-
ख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । एव
तनुवातस्योपरितने चरमान्ते अवकाशान्तरस्याप्युपरितने चरमा-
न्ते इत्थमेव निर्वचन वक्तव्यम् । असख्येयानि योजनशतसह-
स्राण्यबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तमिति । सूत्रपाठस्तु प्रत्येक सवेत्रा-
पि पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं परिज्ञावनीयः सुगमत्वात् ।

सकरप्पभाए ए भंते ! पुढवीए उवरिद्विवातो चरिंमंतानो हेडिद्वे
चरिंते एस ए केवतिय अवाधाए अंतरे पणत्ते गोयमा !
वत्तीसुत्तरं जोयणसतसहस्मं अवाधाए अंतरे पणत्ते । सकर-
प्पजाए ए भंते ! पुढवीए उवरि घणोदधिसस हेडिद्वे चरिंते
केवतियं अवाधाए अंतरे पणत्ते गोयमा ! वावणुत्तरं जोयणमय-
सहस्मं अवाधाए घणवातसस अमंखेजाइं जोयणसहस्साइं प-
णत्ताइं एवं जाव उवासंतरसस वि जाव अहेसत्तमाए । एवरं
जंसे जं वाहद्वं तेण घणोदही सवंधेयव्वो वुच्चीए मकरप्प-
भाए अणुमारेण घणोदधिमहिताणं इमं पमाणं । वावुयप्प-
भाए अडयालीसुत्तरं जोयणनतसहस्सं पंकप्पभाए पुढवीए
चत्तालीमुत्तरं जोयणसतसहस्स धूमप्पजाए पुढवीए अड-
तीमुत्तरं जोयणसनमहस्स तमाए पुढवीए छत्तीमुत्तरं
जोयणसतसहस्सं अथस्सत्तमाए पुढवीए अट्टावीमुत्तरं जाय-
णसतसहस्स जाव अहसत्तमाए । एस ए भंते ! पुढवीए
उवरिद्विवातो चरिंमंतानो उवासंतरसस हेडिद्वे चरिंते केव-
तियं अवाधाए अंतरे पणत्ते गोयमा ! असंखेजाइं जोय-
णमयसहस्साइं अवाधाए अंतरे पणत्ते ॥

द्वितीयस्या नदन्त 'अस्या' पृथिव्या उपरितनाचरमान्तात्
परतो थोऽधस्तनचरमान्त एतत् किंप्रमाणमबाधया अन्तर
प्रज्ञप्त भगवानाह गौतम ! द्वात्रिंशदुत्तरं द्वात्रिंशत्सहस्राधिकं
योजनशतसहस्रम् अवाधया अन्तरं प्रज्ञप्त घनोदधेरुपरितने
चरमान्ते पृष्ठे एतदेव निर्वचनं द्वात्रिंशदुत्तरं योजनशतसहस्रम्
अधस्तने चरमान्ते पृष्ठे इदं निर्वचनं द्विपञ्चाशदुत्तरं योजन-
शतसहस्रम् । एतदेव घनवातस्योपरितनचरमान्तपृच्छायामपि
घनवातस्याधस्तनचरमान्तपृच्छाया तनुवानाधकाशान्तरयोरु-
परितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्रभायां तथा वक्त-
व्यमसख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तमिति
वक्तव्यमिति जाव (तच्चाएण जने इत्यादि) तृतीयस्या नदन्त ।
पृथिव्या उपरितनाचरमान्तात् अधस्तनचरमान्त एतदन्तरं
कियत् अबाधया प्रज्ञप्त भगवानाह । अष्टाविंशत्युत्तरं अष्टा-
विंशतिमहस्राधिकं योजनशतसहस्रमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम् ।
एतदेव घनोदधेरुपरितनचरमान्तपृच्छायामपि निर्वचनम् अध-
स्तनचरमान्तपृच्छायामष्टाविंशत्युत्तरं योजनशतसहस्रम-
बाधया अन्तरं प्रज्ञप्तमिति वक्तव्यम् । एतदेव घनवातस्योपरित-

ने चरमान्तपृच्छायामपि अधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवानाव-
काशान्तरयोरुपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्र-
भायां तथा वक्तव्यम् । एव चतुर्थपञ्चमपष्ठसप्तमपृथिवीविष-
यसूत्राण्यपि भावनीयानि जी० ३ प्रति०

छट्ठीए पुढवीए बहुमज्जदेसभायाओ छट्ठसस घणोदहि-
स्स हेडिद्वे चरिंते एस एणं एगूणासीतिजोयणसहस्साइं
अवाधाए अंतरे पणत्ते ॥

अस्य ज्ञावार्थः पष्ठपृथिवी हि बाह्व्यतो योजनानां षट् षो-
डश सहस्राणि भवन्ति । घनोदधयस्तु यद्यपि सप्तपि प्रत्येक
विंशतिसहस्राणि स्युस्तथाप्येतस्य प्रत्यस्य मतेन पष्ठयामसावे-
कविंशतिः सभाव्यते तदेव पष्ठपृथिवीबाह्व्यार्कमष्टपञ्चाशत्
घनोदधिप्रमाणं कैकविंशतिरित्येवमेकोनाशीतिर्नयति । ग्रन्था-
न्तरमतेन तु सर्वघनोदधीनां विंशतियोजनसहस्रबाह्व्यत्वा-
त्पञ्चमीमाश्रित्येव सूत्रमवसेयं यतस्तद्बाह्व्यमष्टादशोत्तरं षट्-
मुक्तं यत आह । "पठमा सीइसहस्सा, १ वत्तीसा २ अछवीस
३ वीसा ग ४ । अछार ५ सोल ६ अट्ट य, ७ सहस्सलक्खोवरिं
कुज्जति" ॥ १ ॥ अथवा पष्ठधाः सहस्राधिकोऽपि मध्यभागो
विचक्षित एवमर्थसूत्रकत्वाद्वहुशब्दस्येति ॥ १० ॥

[१८] रत्नप्रभादीनां परस्परमन्तरम् ।

इमीं से एणं जते ! रयणप्पभाए पुढवीए सकरप्पजाए य
पुढवीए केवइयं अवाधाए अंतरे पणत्ते ? गोयमा ! असंखे-
जाइं जोअणसहस्साइं अवाधाए अंतरे पणत्ते । सकर-
प्पजाए एणं भंते ! पुढवीए बावुयप्पजाए य पुढवीए केव-
इय एवं चेव एवं जाव तमाए अहेसत्तमाए य । अहेसत्त-
माए एणं भंते ! पुढवीए अलोगस्स य केवइयं अवाधाए
अंतरे पणत्ते ? गोयमा ! असंखेजाइं जोअणसहस्साइं
अवाधाए अंतरे पणत्ते । इमीं से एणं जते ! रयणप्पभाए
पुढवीए जोइसियस्स केवइयं पुच्छा, गोयमा ! सत्तणउजो-
अणसए अवाधाए अंतरे पणत्ते ॥

"इमीं से एमित्यादि" (अवाहे अतरेत्ति) बाधा परस्परं
संश्लेषतः एतन्न न बाधा अबाधा तथा अबाधया, अबाधया
यदन्तरं व्यवधानमित्यर्थः । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्व-
र्थेषु वर्तमानो दृष्टस्ततस्तद्व्यवच्छेदेन व्यवधानार्थपरिग्रहार्थ-
मबाधाग्रहणम् (असंखेजाइं जोयणसहस्साइं ति) इह योजन
प्रायः प्रमाणाद्बलनिष्पन्न आह " नगपुढविमिमाणं मिणसु-
यमाणुलेण तु " इत्यत्र भगवदिग्रहणस्योपलक्षणत्वाद-
न्यथा आदित्यप्रकाशादेरपि प्रमाणयोजनाप्रमेयता स्यात्तथा
बाधा लोकग्रामेषु तत्प्रकाशाप्राप्तिः प्राप्नोत्यात्माद्बलस्यानिय-
तत्वेनाव्यवहाराकृतया रविप्रकाशस्योच्छ्रययोजनप्रमेयत्वा-
त्तस्य चातिलघुत्वेन प्रमाणयोजनप्रमितक्षेत्राणामप्राप्तिरिति ।
यच्चेष्टप्राग्भारायाः पृथिव्या लोकान्तस्य चान्तरं तदुच्छ्रया-
द्बलनिष्पन्नयोजनप्रमेयमित्यनुमीयते यतस्तस्य योजनस्योप-
रितनक्रोशस्य षष्ठागे सिद्धावगाहना धनुस्त्रिभागयुक्तत्रयसि-
शदधिकधनुःशतत्रयमानाऽमिहिता भावोच्छ्रययोजनाभयण-
त एव युज्यत इति उक्तं च "इसिप्पम्भाराए, उवरिं सल्लु जो-
अणस्स जोकोसो । कोसस्स ष षुम्भाए, सिद्धाणोगाहणा
भणिय सि " भ० १४ श० ७ उ० ।

[१६] निषधकूटस्य उपरितलाच्छिखरतलात्सम-
धरणितलस्यान्तरम् ।

निसदकूटस्य णं उवरिद्धाओ सिहरतलाओ णिसदस्स
वासहरपव्वयस्स समधरणितले एस णं नवजोयणसयाइं
अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं नीलवंतकूटस्स वि ॥

(निसहकूटस्स णमित्यादि) इहायम्भाच. निषधकूट पञ्च-
शतोच्छ्रितं निषधश्चतुःशतोच्छ्रित इति यथोक्तमन्तरम्भव-
तीति । स० ।

निषधपर्वतस्य रत्नप्रभाया बहुमध्यदेशभागो यथा ।

निमदस्स णं वासहरपव्वयस्स उवरिद्धाओ सिहरतलाओ
इमी से णं रयणप्पत्ताए पुढवीए पढमस्स कंरुस्स बहुम-
ज्जदेसभाए एस णं नवजोयणसयाइं अवाहाए अंतरे प-
प्पत्ते एवं नीलवंतस्स वि ।

(टीका नास्तीति न गृहीता) स० १६२ पत्र.

[२०] पुष्करवरद्वाराणामन्तरम् ।

पुक्खरवरस्स णं जंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्य य एस
ए केगतिथं अवाहाए अंतरे पप्पत्ते ? गोयमा ! “अरुया-
लसयसहस्सा, बावीसं खट्ठु भवे सहस्साइं । अगुण्णत्तराईं
चउरो, दारंतरं पुक्खरवरस्स ” ॥

प्रश्नसूत्र सुगम भगवानाह गौतम ! अष्टचत्वारिंशत् योजन-
शतसहस्राणि द्वाविंशतिसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि
एकोनसप्ततिद्वारस्य च परस्परमबाधयाऽन्तरपरिमाणम् ।
तथाहि चतुर्भासमपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलने अष्टादश यो-
जनानि तानि पुष्करवर्गद्वीपपरिरयपरिमाणात् (१६२८६८६४)
इत्येवरूपात् शोध्यन्ते शोधितेषु च तेषु जातमिदमेका योज-
नकोटौ द्विनवतिशतसहस्राणि एकोनवतिसहस्राणि अष्टौ
शतानि पदसप्तत्यधिकानि (१६२८६८७६) तेषां चतुर्भिर्भागे
हते लब्ध यथोक्त द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं (४८२२४६६)
मिति जी० ३ प्रति ।

[२१] सन्दराद् गोस्तूभादीनामन्तरम् ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-
यजस्स आवासपव्वयस्स पुरत्थिमिद्धे चरमंते एस णं
अट्टासीईं जोयणसहस्साइं अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं
चउसु वि दिसासु नेयव्वं स० १४६ पत्र ।

मेरो पूर्वान्ताज्जम्बूद्वीपस्य पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्रमा-
नत्वान् जम्बूद्वीपान्ताच्च द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रेषु गोस्तू-
भस्य व्यवस्थितत्वात्सम्य च सहस्रविष्कम्भमवायथोक्त सूत्रा-
र्थो भवतीति । अनेनैव क्रमेण दक्षिणादिदिग्व्यवस्थितान् दका-
यभासशङ्कदकसीमाण्यान् वेक्षन्धरनागगजनिवासपर्वताना-
श्रित्य वाच्यमत एवाह ‘पव्वचउसु वि दिसासु नेयव्वमिति’ स० ।

जम्बूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-
यजस्स णं आवासपव्वयस्स पञ्चत्थिमिद्धे चरमंते एम णं
बायालीसं जोयणमहस्साइं अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं
चउदिसि पि दगभासे संखोदयसीमे य ।

(पुगन्धिमिद्धाओत्त) जगनीयाहापधिंरूपवृत्त्य गोस्तूभ-
स्यावागपर्वतस्य बेलन्धरनागरजमवन्धिन पाश्चात्यसीमा-

न्तधरमविभागो वा यावताऽन्तरेण भवति (एसणति) एत-
दन्तरं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि प्रक्षसमन्तरशब्देन विशे-
षोऽप्यभिधीयते इत्यत आह (अवाहापत्ति) व्यवधानापेक्षया
यदन्तरं तदित्यर्थं स० १०६ पत्र ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पञ्चत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-
यजस्स णं आवासपव्वयस्स पञ्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं
सत्ताणउईं जोयणसहस्साइं अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं
चउदिसि पि ।

भावार्थोऽयं मेरोः पश्चिमान्तात् जम्बूद्वीपस्यान्तः पञ्चपञ्चा-
शत् सहस्राणि ततो द्विचत्वारिंशतो गोस्तूभ इति यथोक्तमे-
वान्तरमिति स० १५२ पत्र ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स बहुमज्जदेसभागाओ गोयजस्स
आवासपव्वयस्स पञ्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं वाणउईं जो-
यणमहस्साइं अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं चउणह वि आ-
वासपव्वयणं ॥

भावार्थो मेरुमध्यभागात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशत् सहस्राणि
ततो द्विचत्वारिंशत् सहस्राण्यतिक्रम्य गोस्तूभपर्वत इति
सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति । एव शेषाणामपि स० १४६ पत्र ।

[२२] मन्दराज्ञौतमस्यान्तरं यथा ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-
यमदीवस्स पुरत्थिमिद्धे चरमंते एम णं सत्तसट्ठि जोयणम-
हस्साइं अवाहाए अंतरे पप्पत्ते ।

मेरो पूर्वान्ताज्जम्बूद्वीपोऽपरस्या दिशि जगतीबाह्यान्तर्पथ-
सान पञ्चपञ्चाशद्योजनसहस्राणि तावदस्ति तत पर षादश-
योजनसहस्राण्यतिक्रम्य लवणसमद्रमध्ये गौतमद्वीपान्निधा-
नो ङीपोऽस्ति तमधिकृत्य सूत्रार्थं सम्भवति । पञ्चपञ्चाशतां
द्वादशानां च सप्तपष्टित्वाभावात् । यद्यपि सूत्रपुस्तकेषु गौतम-
शब्दो न दृश्यते तथाप्यसौ दृश्यः जीवान्निगमादिषु लवणस-
मुद्धे गौतमचन्द्ररविद्वीपान् विना द्विपान्तरस्याभ्यवमाणत्वादि-
ति । स० १२५ पत्र ।

मंदरस्स पव्वयस्स पञ्चत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गोयमदी-
वस्स पञ्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं एगूणमत्तरिं जोय-
णसहस्साइं अवाहाए अंतरे पप्पत्ते ॥

लवणसमुद्रपश्चिमाया दिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य
द्वादशसहस्रमानं सुस्थिताभिधानस्य लवणसमुद्राधिपतेर्भवने-
नालङ्कृतो गौतमद्वीपो नाम द्वीपोऽस्ति तस्य च पश्चिमान्तो मेरु-
पश्चिमान्तादेकोनसप्ततिसहस्राणि भवन्ति पञ्चचत्वारिंशतो
जम्बूद्वीपसम्यन्धिनां द्वादशानामन्तरमस्यन्धिना द्वादशानामेधं
द्वीपविष्कम्भसम्यन्धिना च मीलनादिति ।

(२३) मन्दरस्य दकभासस्यान्तरम् ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स दक्खिण्णिद्धाओ चरमंताओ दगभा-
सस्स आवासपव्वयस्स उत्तगिद्धे चरमंते एस णं सत्तासीईं
जोयणसहस्साइं अवाहाए अंतरे पप्पत्ते एवं मंदरस्स पव्व-
त्थिमिद्धाओ चरमंताओ मंगवस्स वा पुरत्थिमिद्धे चरमंते एवं
चेव मंदरस्स उत्तरिद्धाओ चरमंताओ दगसीमसा आवा-

सपन्वयस्स दाहिणिद्वे चरमंते एम एं सत्तासीडं जोयण-
सहस्साइं अवाहाए अंतरे पणत्ते म० १६० पत्र ।

महाहिमवतोऽन्तर यथा ॥

महाहिमवंतस्स चासहरपन्वयस्स समधरणितले एस एं
सत्तजोयणसयाइं अवाहाए अंतरे पाणत्ते एवं रुपि-
कूरस्स वि ॥

जाघाथोऽय दिमवान् योजनशतद्वयोच्चित्तस्तत्कूटं च पञ्च-
शतोच्चित्तमिति सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति स० १४४ पत्र ।

महाहिमवंतकूरस्स एं उवरिमंताओ सोगंधियस्स कंर-
स्म हेट्टिद्वे चरमंते एस एं सत्तासीडं जोयणमयाइं अवा-
हाए अंतरे पणत्ते एवं रुपिकूरस्स वि ।

महाहिमवति द्वितीयवर्षधरपर्वते अष्टौ सिंघायननकूटमहा-
हिमवत्कूटादीनि कूटानि भवन्ति तानि पञ्चशतोच्चित्तानि तत्र
महाहिमवत्कूटस्य पञ्च शतानि षे शते महाहिमवद्वर्षधरोच्-
यस्य अशीतिश्च शतानि प्रत्येक सहस्रमानानामष्टानां सौगन्धि-
ककाण्णवसानानां रत्नप्रभाकरकाण्णवान्तरकाण्णानामित्येव
मीलिते सप्ताशीतिरन्तरमवधीति । (एवं रुपिकूरस्सविच्छि-
रुक्मिणि पञ्चमवर्षधरे यद् द्वितीय रुक्मिकूटाभिधानं कूटं तस्या-
प्यन्तरं महाहिमवत्कूटस्यैव वाच्यं समानप्रमाणत्वाद् द्वयो-
रपीति स० १३७ पत्र ।

महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्यान्तरं यथा ।

महाहिमवंतस्स एं वामहरपन्वयस्स उवरिद्विआओ चरमं-
ताओ सोगंधियस्स कूरस्म हेट्टिद्वे चरमंते एस एं वामीइं
जोयणसयाइं अवाहाए अंतरे पणत्ते ।

महाहिमवतो द्वितीयवर्षधरपर्वतस्य योजनशतद्वयोच्चित्तस्य
(उवरिद्विआओ) उपरितनाश्वरमान्तात् सौगन्धिककाण्णस्या-
धस्तनश्वरमान्तो अशीतिर्योजनशतानि कथं रत्नप्रज्ञापृथिव्यां
हि त्रीणि काण्णानि खरकाण्णपङ्ककाण्णवहुलकाण्णानि खर-
काण्णं पङ्ककाण्णमवहुलकाण्णं चेति । तत्र प्रथमं काण्णं
षोडशविधं तद्यथा रत्नकाण्णं १ वज्रकाण्णं २ एव वैभूर्यं ३
लोहिताकं ४ मसारगल्लं ५ हसगर्जं ६ पुलकं ७ सौगन्धिकं ८
ज्योतीरसा ९ वज्रना १० वज्रपुलकं ११ रजतं १२ जातरूपं १३
पङ्क १४ स्फटिकं १५ रिष्टकाण्णं चेति १६ एतानि च प्रत्येक सहस्र
प्रमाणानि ततश्च सौगन्धिककाण्णस्याष्टमत्वादर्शातिशयानि द्वे
च शते महाहिमवदुच्चय इत्येव अशीतिशतानि एव रुक्मि-
णोऽपि पञ्चमवर्षधरस्य वाच्यं महाहिमवत्समानोच्चयत्वा-
त्तस्येति स० १६५ पत्र ।

(७४) लवणसमुद्रचरमान्तयोरन्तरं यथा ।

लवणस्स एं समुद्रस्स पुगत्थिमिआओ चरमंताओ पञ्च-
त्थिमिद्वे चरमंते एम एं पंचजोयणमयमहस्साइं अवा-
हाए अंतरे पणत्ते ॥

तत्र जम्बूद्वीपस्य लङ्कं चत्वारि च लवणस्येति पञ्च । स०
१६५ पत्र० ।

(१५) लवणसमुद्रागणामन्तरं यथा ।

लवणस्स एं समुद्रस्स दारस्य य दारस्स य केवइयं अवा-
हाए अंतरे पणत्ते गोयमा ! तिष्ठि जोयणसयसहस्साइं

पंचाणवइसहस्साइं दुष्णि य असीए जोयणसए कोसं च
दारंतरे लवणे जाव अवाहाए अंतरे पणत्ते ॥

लवणस्य भदन्तः समुद्रस्य द्वारस्य द्वारस्य [एसममिति] एत-
त् अन्तरं कियत्था अवाधया अन्तराद्वत्वाद् व्याघातरूपया प्रकृतं
मगवानाह गौतम । त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चनवति-
सहस्राणि अशीती द्वे योजनशते कोशश्चैको द्वारस्य द्वारस्यावा-
धया अन्तरं प्रकृतम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य पृथुत्वं चत्वा-
रि योजनानि एकैकस्मिन् द्वारे एकैव द्वारशाखा क्रोशबाहल्याद्
द्वारे च द्वे द्वे शाखे ततः एकैकस्मिन् द्वारे सामस्त्येन चित्त-
माने सार्द्धं योजनचतुष्टयप्रमाणं प्राप्यते चतुर्णामपि च द्वारणा-
मेकत्र पृथुत्वमीदृशे जातान्यष्टादश योजनानि तानि लवणसमु-
द्रपरिरयपरिमाणात् पञ्चदशशतसहस्राणि एकाशीतिः
सहस्राणि एकोनचत्वारिंशद्योजनशतमित्येव परिमाणादपनीम
च यच्छेप तस्य चतुर्भिर्भागे इति यदागच्छति तत् द्वारणां पर-
स्परमन्तरपरिमाणं तच्च यथोक्तमेव । उक्तं च "असीया दोञ्जि
सया, पणनउइसहस्सातिञ्जि लक्खा य । कोसो य अन्तर सा-
गरस्स दारण विञ्जेय" ज्ञी० ३ प्रति ।

[१६] वरुवामुखादीनामधस्तनाश्वरमान्ताद्गतं-

प्रज्ञाया अधस्तनश्वरमान्तः ।

वलयामुहस्स एं पायालस्स हिट्टिद्विआओ चरमंताओ
इमीसे रयाणप्पजाए पुढवीए हेट्टिद्वे चरमंते एस एं
एगणासिं जोयणसहस्साइं अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं
केउस्स वि जूयस्स वि ईसरस्स वि ।

तत्र [वलयामुहस्सति] वरुवामुखान्निधानस्य पूर्वदिग्व्यव-
स्थितस्य [पायालस्सति] महापातालकत्रयस्याधस्तनचरमा-
न्ताद्गतप्रज्ञापृथ्वीचरमान्त एकोनाशीत्या सहस्रेषु जवति । कथं
रत्नप्रज्ञा हि अशीतिसहस्राधिक योजनानां लङ्कं बाहल्यतो ज-
वति तस्याश्चैक समुद्रावगाहसहस्रं परिहृत्याऽधो लङ्कप्रमाणा-
वगाहो वलयामुखपानावकलशो भवति ततस्तश्चरमान्तात्
पृथिवीचरमान्तो यथोक्तान्तरमेव जवति । एवमन्येऽपि त्रयो
वाच्या इति स० १३६ पत्र ।

[१७] विमानकल्पानामन्तरम् ।

जोइसियस्स एं जंते ! सोहम्मीमाणाण य कप्पाणं
केवइयं पुच्छा ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं
जाव अंतरे पणत्ते सोहम्मीमाणाण भंते ! सणकुमार-
माहिंदाण य केवइयं एवं चेव सणकुमारमाहिंदाणं भंते !
वंभजोगस्स कप्पस्स केवइयं एवं चेव वंभजोगस्स णं जंते !
लतगस्स य कप्पस्स केवइयं एवं चेव लतगस्स एं जंते !
महामुकस्स य कप्पस्स केवइयं एवं चेव महामुकस्स य
कप्पस्स सहस्सारस्स य एव सहस्मारस्स आणयपाणयक-
प्पाण एव आणयपाणयाण आरणच्चुयाण कप्पाणं एवं
आरणच्चुयाणं गेविज्जगविमाणाण य एवं गेविज्जगविमा-
णाणं अणत्तरविमाणाण य एवं अणत्तरविमाणाणं जंते !
ईसिण्णभागए पुढवीए केवइयं पुच्छा ? गोयमा ! दुवालस
जोयणं अवाहाए अंतरे पणत्ते ज० १४ श० ८ उ० ।

[श्रीका सुगमत्वाञ्च गृहीता]

[विवक्षितस्वभावपरित्यागे सति पुनस्तेज्ज्वाप्राप्तिविरहे आनु-
पूर्वीन्द्रियाणामन्तरम् आणुपूर्वी शब्दे]

[२८] आहारमाश्रित्य जीवानामन्तरम् ।

छज्जमत्यआहारगस्स ण जंते ! केवतियं कालं अंतरं होइ
गोयमा ! जहएणं एकं समय उक्कोमेणं दो समया । केव-
त्तिआहारगस्स णं अंतरं अजहएणमणुकांमेण तिणिण स-
मया छज्जमत्यअणाहारगस्स अंतर जहएणं खुड्गभव-
ग्गहणं दुममऊणं उक्कोसेणं अमंखेज्जं काइं जाव अंगुल-
स्स अमंखेज्जतिभागं । सिद्धकेवल्लिअणाहारगस्स सात-
यस्स अपज्जवमियस्स एत्थि अंतरं मज्जोगिजवत्यकेव-
लिअणाहारगस्स जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोमेणं वि अंतो-
मुहुत्तं अजोगिजवत्यकेवल्लिअणाहारगस्स नत्थि अंतरं ॥

प्रश्नसूत्र सुगम भगवानाह गौतम । जघन्येन क्षुद्रकभवग्रहणं
क्षिसमयोनमुत्कर्षतोऽसख्येय काइं यावदङ्गुलस्यासख्येयो भा-
ग यावानेव हि छज्जस्थस्याहारकस्य कालस्तदेव छज्जस्थाना-
हारकस्यान्तरं छज्जस्थानाहारकस्य च जघन्येन कालोऽन्तर्मुहुत्तं-
मुत्कर्षतोऽसख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य कालतः क्षेत्रतोऽङ्गुल-
स्यासख्येयो भाग एतावन्तं काइं सनतमविग्रहेणोत्पादसज्जा-
त् । तत छज्जस्थानाहारकस्य च जघन्येन उत्कर्षेणैतावदन्तरं
चेति जी० ३ प्रति० । [अधिकं खुड्गभवग्रहणशब्दे नवरम्]
संयोगिभवस्थकेवल्लिअणाहारगस्स ण जंते " इत्यादि प्रश्नसूत्र सु-
गम जगज्जानाह । गौतम । जघन्येनाप्यन्तर्मुहुत्तंमुत्कर्षेणाप्यन्त-
र्मुहुत्तं समुदातप्रतिपत्तेरन्तरमेवांतर्मुहुत्तं शैलशीप्रतिपत्ति-
भावान् नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपद विशेषाधिकमवसातव्यम-
न्यथोभयपदोपन्यासायां गात् अयोगिभवस्थकेवल्लिअणाहारकसु-
त्रे नास्त्यन्तरमयोग्यवस्थायां सर्वस्याप्यनाहारकत्वात् । एव
सिद्धस्यापि साद्यपर्यवसितस्यानाहारकस्यान्तराज्ञावो भाव-
नीयः जी० ३ प्रति० ॥

[२९] इन्द्रियमाश्रित्यान्तरम् ।

एगिदियस्स णं भंते ! एगिदियस्स अंतरं कालतो केव चिरं
हंति गोयमा ! जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोमेणं दो सागरो-
वमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं । वेइंदियस्स णं भंते !
अंतरं कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणं अंतो-
मुहुत्तं उक्कोमेणं वणप्फतिकालो एवं तेइंदियस्स वि चउ-
रिंदियस्स वि शेरइयस्स वि पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स
वि मणुसस्स वि देवस्स वि सत्त्वेसिं अंतरं भाणियच्च ॥

अन्तरचिन्नायामेकेन्द्रियस्य जघन्यमन्तर्मुहुत्तमुत्कर्षतो द्वे सा-
गरोपमसहस्रे सख्येयवर्षाभ्यधिके द्वित्रिचतुरिन्द्रियनैराधिकति-
र्यक्पञ्चेन्द्रियमनुप्यदेवानां जघन्यतः प्रत्येकमन्तर्मुहुत्तमुत्कर्षतो
वनस्पतिकालः [सर्व० जी० ८ प्रति०] " एगिदियस्स णं जंते ! अंतरं
कालतो केव चिरं होइ " इति प्रश्नसूत्र सुगम भगवानाह । गौतम ।
जघन्येनाप्यन्तर्मुहुत्तं तच्चैकेन्द्रियादुद्भूतं द्विन्द्रियादावन्तर्मुहुत्तं
स्थित्वा त्रयं एकेन्द्रियत्वं नाप्यथमानस्य वेदितव्यम् । उत्कर्षतो द्वे

सागरोपमसहस्रे सख्येयवर्षाभ्यधिके यावानेव हि असकायस्य
कायस्थितिकालस्तावदेवैकेन्द्रियस्यान्तरं असकायस्थितिका-
लश्च यथोक्तप्रमाण एव तथा वक्ष्यति । " तसकाए ण भंते !
तसकायसि कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणं अतोमुहु-
त्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासा अम्भहियाइं "
द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसूत्रेषु जघन्यतोऽन्तर्मुहुत्तं तच्च पूर्वप्रकारे-
ण भावनीयमुत्कर्षतः सर्वत्रापि वनस्पतिकालः द्विन्द्रियादिभ्यः
उद्भूतयवनस्पतिषु यथोक्तप्रमाणमन्तरमपि काइं मवस्थानात्
यथैवामूनि पञ्चसूत्राण्यन्तरविषयाण्यौघिकान्युक्तानि तथैव
पर्याप्तविषयाणि अपर्याप्तविषयाण्यपि भावनीयानि तानि चैवम् ।
" एगिदियअपज्जत्ते " इत्यादि एव पञ्च पर्याप्तसूत्राण्यपि वक्तव्या-
नि । जी० ५ प्रति० । [उत्पादमधिकृत्यान्तरम् उचवाय शब्दे]

[३०] कषायमाश्रित्यान्तरम् ।

कोहकसाई-माणकसाई-मायाकसाई णं भंते ! अंतरं ?
गोयमा ! जहएणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं लोभ-
कमायियस्स अंतरं जहएणं अतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वि
अंतोमुहुत्तं कसाई तदेव जहा हेडा ।

क्रोधकषायिणोऽन्तरं जघन्येनैकं समयं तदुपशमसमयानन्तरं
मरणे त्रयं कस्यापि तदुदयात् उत्कर्षतोऽन्तर्मुहुत्तमेव मानक-
षायिमायाकषायिसूत्रे अपि वक्तव्ये " लोभकसायियस्स अंतरं
जहएणं अतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वि अतोमुहुत्तं अकसाई तदेव
जहा हेडा " । सर्व० जी० ४ प्रति० ।

कायमाश्रित्यान्तरम् ।

पुढवीकाइयस्स णं जंते ! केवतियं कालं अंतरं होति
गोयमा ! जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो
एवं आउतेउवाउकाइयतसकाइयाणं वि वणस्सइकायियस्स
पुढविकालो एव पज्जत्तगाणं वि वणस्सतिकालो । वणस्सइ-
काइयाणं पुढविकालो पज्जत्तगाणं वि एवं चैव वणस्सति-
कालो पज्जत्ताणं वणस्सतीणं पुढविकालो ।

प्रश्नसूत्र सुगम भगवानाह गौतम । जघन्येनान्तर्मुहुत्तं पृथिवी-
कायादुद्भूताऽन्यत्रान्तर्मुहुत्तं स्थित्वा भूयः पृथिवीकायिकत्वेन
कस्याप्युत्पादात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तकालः प्रागु-
क्तस्वरूपो वनस्पतिकालः प्रतिपत्तव्यः । पृथिवीकायादुद्भूतैता-
वन्तं काइं वनस्पतिष्ववस्थानसम्भवात् एवममेज्जोवायुत्रस-
सूत्राण्यपि जावनीयानि वनस्पतिसूत्रे उत्कर्षतोऽसख्येय काइं
" असखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ काइतो खेत्ततो असखेज्जा लोगा "
इति वक्तव्यं वनस्पतिकायादुद्भूतं पृथिव्यादिष्ववस्थानात् ते
च सर्वेष्वप्युत्कर्षतोऽप्येतावत्काइं भावात् जी० ६ प्रति० ।

[३१] गतिमाश्रित्यान्तरं यथा ।

नैरइयस्स अंतरं जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणम्म-
तिकालो एवं मन्वाणं तिरिक्खजोणियवज्जाणं निरिक्ख-
जोणियाणं जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसत-
पुहुत्तं सातिरेगं ॥

नैरायिकस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहुत्तं तच्च नरकादुद्भूतस्य तिर्य-
ग्मनुष्यगर्जं एवाणुमाध्यवसायेन मरणतः परिभावनीयं सानु-
बन्धकर्मफलमेतदिति तात्पर्यार्थः । उत्कर्षतोऽनन्तं कालं स

चानन्तः कालो वनस्पतिकालो नरकादुत्तस्थ पारम्पर्येणा-
नन्त कालं वनस्पतिध्वस्तस्थानात् तिर्यग्योनिकसूत्रे जघन्यतोऽ-
न्तर्मुहूर्त्तं तच्च तिर्यग्योनिकभवादुत्तस्थानान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा
जृयः तिर्यग्योनिकत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यमुत्कर्षतः सागरो-
पमशतपृथक्त्वं सातिरेक तिर्यग्योनिकसूत्रे मनुष्यसूत्रे मानुषी-
सूत्रे देवसूत्रे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकाल-
जी० ७ प्रति० ।

नैरयिकस्य ।

नैरयमणुस्सदेवाणं य अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उ-
क्कोमेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साडरेगं ॥

नैरयिकस्य भदन्त ! अन्तर नैरयिकत्वात्परिभ्रष्टस्य भूय आ-
नैरयिकत्वप्राप्तेरपान्तरात् कालतः कियच्चिर भवति कियन्तं कालं
यावद्भवतीत्यर्थः । भगवानाह जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कथमिति चेत्
उच्यते नरकादुत्तस्थ मनुष्यभवे तिर्यग्नवे वा अन्तर्मुहूर्त्तं स्थि-
त्वा भूयो नरकेपूपादात् । तत्र मनुष्यभवे भावना इय कश्चि-
न्नरकादुत्तस्थ गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्य सर्वाभि पर्याप्तिभिः पर्याप्तो
विशिष्टसङ्ज्ञानोपेतो वैक्रियलब्धिमान् राज्याद्याकाङ्क्षी । परचक्रा-
ष्टपञ्चवमाकर्ण्य स्वशक्तिप्रजावतश्चतुर्द्व सैन्य विकुर्वित्वा स-
ग्रामयित्वा महारौडध्यानोपगतो गर्भस्थ एव कालं करोति
कृत्वा च कालं जृयो नरकेपूपाद्यते तत एवमन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्नवे
नरकादुत्तस्थ गर्भज्युत्क्रान्तिकतन्तुलमस्त्यत्वेनोत्पन्नश्च महा-
रौडध्यानोपगतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा भूयो नरके जायते इति
उत्कर्षतोऽनन्त कालः परम्परया च वनस्पतिपूपादादवमान-
व्यस्तथाचाह वनस्पतिकालः स च प्रागेवोक्तः तिर्यग्योनिकवि-
षय प्रश्नसूत्र पूर्ववत् निर्वचनं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च कस्यापि
तिर्यक्त्वेन मुक्त्वा मनुष्यभवेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा जृयः तिर्यक्त्वे-
नोत्पद्यमानस्य द्रष्टव्यम् उत्कर्षतः सातिरेक सागरोपमशतपृथ-
क्त्वं तच्च नैरन्तरेण देवनारकमनुष्यजयभ्रमणेनावसातव्यं मनु-
ष्याधिपयमपि प्रश्नसूत्र तथैव निर्वचनं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च
मनुष्यभवादुत्तस्थ तिर्यग्नवेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा जृयो मनुष्यत्वेनो-
त्पद्यमानस्यावसानव्यम् उत्कर्षतोऽनन्त कालः स चानन्तकाल
प्रागुक्तो वनस्पतिकालः । देवविषयमपि प्रश्नसूत्र सुगम निर्वचनं
जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कश्चित् देवजयाद् व्युत्त्वा गर्भजमनुष्यत्वे-
नोत्पद्य सर्वाभि पर्याप्तिभिः पर्याप्तो विशिष्टसङ्ज्ञानोपेतस्तथा-
विधस्य भ्रमणोपासकस्य वा धर्मध्यानोपगतो गर्भस्थ एव
कालं करोति कालं च कृत्वा देवेपूपाद्यते ततः एवमन्तर्मुहूर्त्त-
मुत्कर्षतोऽनन्त कालः स चानन्त कालो यथोक्तस्वरूपो वनस्प-
तिकालः प्रतिपत्तव्यः जी० ४ प्रति० । (गुणस्थानका-याधि-
त्यान्तर गुणछाण शब्दे)

चरिमाणं भंते ! चरिमएत्ति कालतो केव चिरं होति
गोयमा ! चरिमे अणादिए सवज्जवसिए अचरिमे दुर्विहे
अणादिए वा अपज्जवसिए सातीए वा अपज्जवसिए
दोएहं पि नत्थि अंतर ॥

प्रश्नसूत्र सुगम भगवानाह गौतम ! अनादिकस्य सपर्यवसित-
स्य नास्त्यन्तर चरमत्थापगमै सति पुनश्चरमत्वायोगात् अचरम-
स्यापि अनाद्यपर्यवसितस्य साद्यपर्यवसितस्य वा नास्त्यन्तरम्
विद्यमानचरमत्वात् जी० ४ प्रति० ।

ज्ञानमाश्रित्य जावानामन्तरम् ।

णाणिस्म अंतरं जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं णं कालं

अवहुं पोगगलपरियट्ठं देसुणं अन्नाणिस्स दोएह वि आदि-
द्वाणं एत्थि अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं
अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं णावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेकाइं ।

ज्ञानिनो भदन्त ! अन्तर कालतः कियच्चिर भवति जगवानाह
गौतम ! सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वेन
सदा तद्भावापरित्यागात् सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्य-
नान्तर्मुहूर्त्तमेतावता मिथ्यादर्शनकालेन व्यवधानेन जृयोऽपि
ज्ञानजावात् उत्कर्षेण अनन्त कालमनन्ता उत्सर्पिष्यवसर्पि-
ष्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुञ्जलपरावर्त्तं देसोऽनं सम्यग्दृष्टेः स-
म्यक्त्वात् प्रतिपतितस्य एतावन्त कालं मिथ्यात्वमनुजृय तद-
नन्तरमवश्यं सम्यक्त्वासादनात् “अस्माग्निस्स ण जन्ते !” इत्या-
दि प्रश्नसूत्र सुगम भगवानाह गौतम ! अनाद्यपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वादेयमनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तर
मवाप्तकेवलज्ञानस्य प्रतिपाताभावात् सादिपर्यवसितस्य जघ-
न्येनान्तर्मुहूर्त्तं जघन्यस्य सम्यग्दर्शनकालस्य एतावन्मात्रत्वात्
उत्कर्षतः पट्पटिसागरोपमाणि सातिरेकाणि एतावतोऽपि का-
लादूर्ध्वं सम्यग्दर्शनप्रतिपाते सत्यज्ञानभावात् जी० सर्वजी० १ प्रति० ।

आजिनिबोधिकादेरन्तरम् ।

आजिणिबोदियणाणिस्स एणं भंते ! अंतरं कालओ केव
चिरं होइ गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अ-
णतं कालं जाव अवहुं पोगगलपरियट्ठं देसुणं एवं सुयणा-
णिस्स वि ओहिणाणिस्स वि मणपज्जवणाणिस्स वि के-
वलणाणिस्स एणं भंते ! अंतरं सादियस्स अपज्जवसिय-
स्स एत्थि अंतरं । मति अणणाणिस्स णं भंते ! अंतरं
अणादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । अणाइ-
यस्स सपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । सादियस्स सपज्ज-
वसियस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं णावट्ठिं साग-
रोवमाइं सातिरेगाइं एवं सुयणाणिस्स वि विजंगणाणि-
स्स एणं भंते ! अंतरं जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-
स्सइकाओ ।

अन्तरचिन्तायामाभिनिबोधिकज्ञानिनोऽन्तर जघन्येनान्तर्मुह-
र्त्तमुत्कर्षतोऽनन्त कालं यावदपार्कपुद्गलपरावर्त्तं देशोन्म । एव
भ्रुनज्ञानिनो मनःपर्यवज्ञानिनश्चान्तरं वक्तव्यम् । केवलज्ञानिन-
साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तर मत्यज्ञानिन भ्रुनज्ञानिनश्चानाद्य-
पर्यवसितस्यानादिसपर्यवमितस्य च नास्त्यन्तर सादिपर्यव-
सितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः पट्पटि सागरोपमाणि
विभक्तज्ञानिन जघन्यनोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्त कालं वनस्प-
तिकालः जी० सर्वजी० ७ प्रति० । आ० चू० । ज० ।

(३२) असंस्थावरनोभ्रमस्थावरानामन्तरम् ।

तसस्स एणं भंते ! केवतिय काल अंतरं होति गोयमा ! ज-
हण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वणस्मइकालो थावग्गस्स एणं
भंते ! केवतियं काल अंतरं होति गोयमा ! जहण्णेणं अनो-
मुहुत्तं उक्कोमेणं असंखेज्जाओ ओमप्पिणिउस्मप्पिणीओ ।
सुगम नवरमसस्येया उत्सर्पिष्यवसर्पिष्यः कालतः क्षेत्र-
तोऽसस्येया लोका इत्येतावन्प्रमाणमन्तरं तेजस्कायिकयायु-

कायिकमध्ये गमनेनावसातव्यमन्यत्र गतावेतावत्प्रमाणस्यान्तरस्यासंभवात् " तस्स ण भते ! अतरमित्यादि " सुगम नवरं " उक्कोसेण वणस्सऽकालो " इति उत्कर्षतो घनस्पतिकालो वक्तव्यः स चैवम् । " उक्कोसेण अणंत कावमणंताओ उस्सप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अणंता होगा असखेज्जा पोगलपरियट्ठा तेण पोगलपरियट्ठा आवलिया असखेज्जइभागो " इति एतावत्प्रमाणं चान्तरं घनस्पतिकायमध्यगमनेन प्रतिपत्तव्यमन्यत्र गतावेतावनोऽन्तरस्यात्रयमानत्वात् जी० १ प्रति० ।

तस्स एं अंतरं वणस्सतिकालो थावरस्स तसकालो नो तमस्स नो थावरस्म एत्थि अंतरं । जी० सर्वजी० ५ प्रति० ।

दर्शनमाश्रित्य जीवानाम् ।

चक्षुर्दंसणस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अचक्षुर्दंसणस्म दुविहस्स एत्थि अंतरं ओहिदंसणस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोमेणं वणस्सऽकालो केवलदंसणस्म एत्थि अंतरं ।

चक्षुर्दर्शनिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं प्रमाणेन अचक्षुर्दर्शनजघेन व्ययधानात् उत्कर्षतो घनस्पतिकालः स च प्रागुक्तस्वरूपः अचक्षुर्दर्शनिनोऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् अनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरम् अचक्षुर्दर्शनत्वापगमे भूयोऽचक्षुर्दर्शनत्वायोगात् क्रीणघातिकर्मण प्रतिपातासंभवात् अवधिदर्शनिनो जघन्येनैकं समयमन्तरं प्रतिपातसमयानन्तरसमय एव कस्यापि पुनस्तत्त्वसंभवात् क्वचिदन्तर्मुहूर्त्तमिति पाठः स च सुगमः तावता व्यवधानेन पुनस्तत्त्वसंभवात् । न चायं निर्मूलः पाठो मूलटीकाकारेणापि मतान्तरण समर्थितत्वात् उत्कर्षतो घनस्पतिकाल तावतः कादादूर्ध्वमवधिमवधिदर्शनसंभवादनदिमिथ्यादष्टेरप्यविरोधात् ज्ञान हि सम्यक्त्वं स चैव न दर्शनमपीति ज्ञाघना केवलदर्शनिनः साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् जी० सर्वजी० ३ प्रति० ।

(३३) दृष्टिमाश्रित्यान्तरम् ।

सम्महिट्टिस्स अंतरं सातियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवहुं पोगलपरियट्ठं देसूणं मिच्छादिट्टिस्स अणादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं अणादियस्स सपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । साइयस्म सपज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं जावहिं मागरोवमाइं सातिरेगाइं । सम्मामिच्छादिट्टिस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवहुं पोगलपरियट्ठं देसूणं ।

" सम्महिट्टिस्सणं जते इत्यादि " प्रश्नसूत्रं सुगमं जगवानाह गौतम । साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सम्यक्त्वात् प्रतिपत्त्यान्तर्मुहूर्त्तेन भूयः कस्यापि सम्यक्त्वप्रतिपत्तेः । उत्कर्षतोऽन्तर्कालं यावदपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं मिथ्यादृष्टिस्त्रेऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपरित्यागात् अनादिसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरमनादित्वात् अन्यथाऽनादित्वायांगात् । सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः वदुषष्टि सागरोपमाणि सातिरेकाणि सम्यग्दर्शनकाल एव हि मिथ्यादर्शनस्य प्रायोऽन्तरं सम्य-

ग्दर्शनकालश्च जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावानिति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्त्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्रतिपत्त्यान्तर्मुहूर्त्तेन भूयः कस्यापि सम्यग्दर्शनभावात् । उत्कर्षतोऽन्तर्कालं यावदपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोन यदि सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्रतिपत्तिनस्य भूयः सम्यग्मिथ्यादर्शनद्वान्नस्तत् एतावता कालेन नियमेनान्यथा तु मुक्तिः जी० २ प्रति० (निर्ग्रन्थानामन्तरनिगद्य शब्दे)

(३४) पर्याप्तिमाश्रित्यान्तरम् ।

पज्जत्तगस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं अपज्जत्तगस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं तइयस्स एत्थि अंतरं

अन्तरचिन्तायां पर्याप्तकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तमन्तरम् अपर्याप्तकाल एव हि पर्याप्तकस्यान्तरम् । अपर्याप्तककालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तम् अपर्याप्तकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्व सातिरेक पर्याप्तककालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाणत्वात् नोपर्याप्तनोअपर्याप्तस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

परीनानामन्तरम् ।

कायपरित्तस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोमेणं वणस्सतिकालो संसारपरित्तस्स एत्थि अंतरं कायअपरित्तस्म जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोमेणं असंखेज्जं कालं । पुढवि-कालो संसारअपरित्तस्स अणातियस्स अपज्जवमियस्स एत्थि अंतरं । अणादियस्म सपज्जवमियस्स एत्थि अंतरं नोपरित्तणोअपरित्तस्म वि एत्थि अंतरं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम । जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं साधारणेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः प्रत्येकशरीरेष्वागमनात् उत्कर्षतोऽन्तर्कालं स चानन्तः कालः प्रागुक्तस्वरूपो घनस्पतिकालस्तावन्तं कालं साधारणेष्ववस्थानात् । संसारपरीतविषय प्रश्नसूत्रं सुगमं जगवानाह गौतम । नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे पुनः संसारपरीतत्वाभावात् मुक्तस्य प्रतिपातासंभवात् । कायापरीतसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्रत्येकशरीरेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः कायापरीतेषु कस्याप्यागमनसंभवात् उत्कर्षतोऽसंख्येय कालं यावत् असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः केव्रतोऽसंख्येया लोका पृथिव्यादिप्रत्येकशरीरजघनमणकालस्योत्कर्षतोऽप्येतावन्मात्रत्वात् । तथा चाह । पृथिवीकालः पृथिव्यादिप्रत्येकशरीरकाल इत्यर्थः । संसारपरीतसूत्रे अनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वादनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे पुनः संसारपरीतत्वस्यासंभवात् । नोपरीतनोअपरीतस्यापि साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं अपर्यवसितत्वात् जी० २ प्रति० ।

[३५] पुद्गलमाश्रित्यान्तरम् ।

परमाणुपोगलस्म एं जंते ! सज्जेयस्स कादओ केव चिरं अंतरं होइ ? गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं एवं चेव । णिरेयस्स केवइ० सट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोमेणं आव-

लियाए असंखेज्जज्जागं, परद्वाणतरं पमुच्च जहएणेणं
एकं समय उक्कोसेणं असंखेज्ज कालं दुपदेसियस्स ए भते !
खंधस्स देसेयस्स केवडयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा !
सद्धानंतरं पमुच्च जहएणेणं एकं समय उक्कोसेणं असंखेज्ज
कालं परद्वाणतरं पमुच्च जहएणेणं एकं समय उक्कोसेणं
अणंतं कालं । सव्वेयस्स केवडयं कालं एवं चेव जह
देसेयस्स । णिरेयस्स केवडयं कालं सद्धानंतरं पमुच्च जहसं-
ए एकं समय उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जज्जागं,
परद्वाणतरं पमुच्च जहसंएणं एकं समय उक्कोसेणं अणंतं
कालं एवं जाव अणंतपदेसियस्स । परमाणुपोग्गद्वान भते !
सव्वेयाणं केवडयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा ! णत्थि
अंतरं णिरेयाण केवडयं णत्थि अंतरं दुपदेसियाणं जत !
खंधाणं देमेयाण केवतिकाज्जं एत्थि अंतरं सव्वेयाणं केवड
णत्थि अंतरं णिरेयाणं केवड एत्थि अंतर एव जाव
अणंतपदेसियाणं ज० २५ श० ४ उ० ।

[टीका नास्तीति न व्याख्याता]

परमाणुपोग्गलस्स एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहसंएणं एगं समय उक्कोसेणं असंखेज्ज
कालं दुपदेसियस्स ए जंते ! खंधस्स अंतरं कालओ केव
चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं एगं समय उक्कोसेणं अणंतं
काल एवं जाव अणंतपदेसियाणं । एगपएसोगादस्स एं
जंते ! पोग्गलस्स सयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ
गोयमा ! जहएणेणं एगं समय उक्कोसेणं असंखेज्ज कालं
एव जाव असंखेज्जपएसोगादे । एगपएसोगादस्स एं
जंते ! निरेयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा !
जहएणेणं एगं समय उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्ज-
भागं एव जाव असंखेज्जपएसोगादे वएणंगंधरसफासमुह-
मपरिणयाणं एएसिं जं चेव अंतरं पि भाणियव्वं । सहप-
रिणयस्म ए भंते ! पोग्गलस्स अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहसंएणं एगं समय उक्कोसेणं असंखेज्ज
कालं असदपरिणयस्स एं जंते ! पोग्गलस्स अंतरं काल-
ओ केव चिरं होइ गोयमा ! जहसंएणं एगं समय उक्कोसेणं
आवलियाए असंखेज्जज्जागं ज० २५ श० ५ उ० ।

(टीका सुगमव्याज गृहीता)

प्रथमसमयाप्रथमसमयविशेषणैकेन्द्रियाणां
नैरायिकादीनां चान्तरं यथा ।

पदमसमयएगिदियाणं जंते ! केवतियं काज्जं अंतरं हाति ?
गोयमा ! जहसंएणं दो खुड्डां भवग्गहणां समयोणां
उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयएगिदियस्म अंतरं
जहएणेणं खुड्डागभवग्गहणं समयाहियं उक्कोसेणं दो-
सागरोवनमहस्सां संखेज्जा वा समब्भाहियां सैसाणं सव्वे-

सिं पदमसमयइकाणं जहसंएणं दो खुड्डां भवग्गहणां समयो-
णां उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयएगिदियाणं
सैसाणं जहसंएणं खुड्डागभवग्गहणं समयाहियं उक्कोसेणं
वणस्सतिकाज्जो ॥

प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य जदन्त ! अन्तरकालत कियच्चिरं भव-
ति जगवानाह गौतम ! जघन्यतो षे क्षुल्लकजवग्रहणे समयोने
ते च क्षुल्लकहीन्द्रियादिभवग्रहणव्यवधानतः पुनरेकेन्द्रिय-
ध्वेनोत्पद्यमानस्यावसानव्ये तथा ह्येकं प्रथमसमयानमेके-
न्द्रियक्षुल्लकभवग्रहणमेव द्वितीयं सम्पूर्णमेव हीन्द्रियाद्यन्य-
तमक्षुल्लकजवग्रहणमिति उत्कर्षतो घनस्पतिकालं सचानन्ता
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यं काज्जतः केवतोऽनन्ता लोका असं-
खेयाः पुनस्तपरावर्ता आव लक या असंखेयो भाग इत्ये-
वं स्वरूपं तथाहि एतावन्तं हि कालं सोऽप्रथमसमयः न तु प्र-
थमसमयस्ततो हीन्द्रियादिषु क्षुल्लकजवग्रहणमेवाऽवस्था-
य पुनरेकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानः प्रथमे समये प्रथमसमय इति
भवत्युत्कर्षतो घनस्पतिकालोऽन्तरं प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य
जघन्यमन्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं नैकेन्द्रियजवग्रह-
णमसमयस्याप्यधिकप्रथमसमयत्वात् तत्र मृतस्य हीन्द्रिया-
दिक्षुल्लकजवग्रहणेन व्यवधाने सति भूय एकेन्द्रियत्वेनोत्पद्य-
स्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यम् । एतावन्तं कालमप्रथमस-
मयान्तराभावात् उत्कर्षतो षे सागरोपमसहस्रे सख्येयवर्षा-
न्यधिके हीन्द्रियादिभवग्रहणस्योत्कर्षतोऽपि सातत्येनैवाव-
न्तं कालं समयात् । प्रथमसमयहीन्द्रियस्य जघन्येनान्तरं
क्षुल्लकजवग्रहणे समयोने तद्यथा एक हीन्द्रियक्षुल्लकजवग्र-
हणमेव प्रथमसमयोन द्वितीयं सम्पूर्णमेकेन्द्रियहीन्द्रिया-
द्यन्यतम क्षुल्लकभवग्रहणम् एव प्रथमसमयं हीन्द्रियक्षुल्लकभव-
ग्रहणमेव प्रथमसमयोन द्वितीयं सम्पूर्णमेकेन्द्रियस्य जघन्यम-
न्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं तच्च हीन्द्रियजवाद्दृष्ट्याप्यत्र
क्षुल्लकजव स्थित्वा भूयो हीन्द्रियत्वेनोत्पद्यस्य प्रथमसमयाति-
क्रमे वेदितव्यम् । उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवस-
र्पिण्यं काज्जतः केवतोऽनन्ता लोका असंखेयाः पुनस्तपरावर्ता
आवलिकाया असंखेयो भाग एतावन्तं हीन्द्रियजवाद्दृष्ट्ये-
तावन्तं कालं घनस्पतिषु स्थित्वा भूयो हीन्द्रियत्वेनोत्पद्यस्य
प्रथमसमयातिक्रमे भावनीयः एव प्रथमसमयत्रिचतुःपञ्चोद्भि-
याणामपि जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं वक्तव्यं भावनाऽप्येतदनुसारेण
स्वयं प्रावनीया ज० १० प्रति० ।

पदमसमयएगिदियस्स एं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहसंएणं दसवाससहस्सां अंतोमुहुत्तप-
ब्जाहियां उक्कोसेण वणस्सतिकालो अपदमसमयएगिद-
यस्स एं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ ? गोयमा !
जहसंएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वणस्सतिकालो । पदमसमय-
तरिक्खजोणिएण भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं हो-
ति ? गोयमा ! जहसंएणं दो खुड्डां भवग्गहणां समयोणां
उक्कोसेण वणस्सतिकालो अपदमसमयतरिक्खजोणि-
यस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ?
गोयमा ! जहसंएणं दो खुड्डां भवग्गहणां समयो-
हियं उक्कोसेणं सागरोवनमसयपुहुत्तं सातिरेणं । पदमसमय-

माणस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गो-
यमा ! जहणेणं दां खुडायं जनगहणं समयूणाइ उक्कोसेणं
वणप्फतिकालो अपढमसमयमाणस्स एं जंते ! अंतरं
जहणेणं खुडायं भवगहणं समयाहियं उक्कोसेणं वणप्फति-
कालो देवस्स एं अंतरं जहा णेरनियस्स । पढमसमयसि-
प्पस्स एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? नत्थि अं-
तरं ! अपढमसमयसिप्पस्स एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! सादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं ।

प्रथमसमयसिद्धस्य नास्त्यन्तरं नृय प्रथमसमयसिद्धस्या-
ज्ञात्वाद् अप्रथमसमयसिद्धस्यापि नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।
जी० १० प्रति० ।

(३६) बादरसूक्ष्मनोसूक्ष्मनोयादराणामन्तरं यथा—

अंतरं वायरस्स वायरवनस्पतिकारिस्स णिआयस्स वाय-
रणिआयस्स एतेसिं चउएह वि पुढविकालो जाव असं-
खेज्जा होया सेमाण वणस्सतिकालो एवं पज्जत्तगाणं
अपज्जत्तगाणं वि अंतरं आहे य वायरतरु उस्सप्पिणी-
ओसप्पिणीओ एवं वायरनिआए कालमसखज्जतरं सेसा-
णं वणस्सतिकालो ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्ष-
तोऽन्तरयेयं कालं सममेव कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति असख्येया
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यं कालतः क्षेत्रतोऽसख्येया लोका यदेव हि
सूक्ष्मस्य सतः कायस्थितिपरिमाणं तदेव बादरस्यान्तरपरिमाणं
बृहस्पत्यस्य च कायस्थितिपरिमाणमेतावन्ति बादरपृथिवीकायिक-
सूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तं कालो
वनस्पतिकालः प्रागुक्तस्य रूपो वेदितव्यः एव बादराकायिकबाद-
रतेजस्कायिकबादरायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । सामा-
न्यतो बादरवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो-
ऽसख्येयं कालं स चासख्येयः कालः पृथिवीकालो वेदितव्यः
स चैवम् असख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यं कालतः क्षेत्रतोऽस-
ख्येया लोकाः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकसूत्रं बादरपृथिवीका-
यिकसूत्रवत्सामान्यतो निर्गोदसूत्रं सामान्यतो बादरवनस्पतिका-
यिकसूत्रयत् बादरप्रसकायिकसूत्रं बादरपृथिवीकायिकसूत्रवत्
पथमपर्याप्तविषया दशसूत्री पर्याप्तविषया च दशसूत्री यथोक्त-
क्रमेण वक्तव्या नानात्वाज्ञावात् । जी० ६ प्रति० ।

[३७] सूक्ष्मस्यान्तरम् ।

सुदुमस्स एं जंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असखेज्जं कालं कालओ
असखेज्जातो उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ खेत्तओ अंगु-
लस्स असखेज्जतिजागो एवं सुदुमवणस्सतिकाइयस्स वि
सुदुमनिआयस्स वि जाव असखेज्जतिजागो पुढविकाइया-
णं वणस्सतिकाओ एवं अपज्जत्तगाणं पज्जत्तगाणं वि ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सूक्ष्मा-
डुहृत्य बादरपृथिव्यादायन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा नृय सूक्ष्मपृथि-
व्यादौ कस्याप्युत्पादात् उत्कर्षतोऽसख्येयं कालं कालक्षेत्राभ्यां
निरूपयति असख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यं कालतः पर्याप्तमार्ग-
वा क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासख्येया जागः किमुक्तं भवति बहुलमात्रके-

प्रस्यासख्येयतमे प्रागे ये आकाशप्रदेशास्ते प्रतिसमयमेकैकप्र-
देशाग्रहारे यावतीजिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्निर्हेपा भवन्ति
तावत्य इति "सुदुमपुढविकाइयस्स एं भंते" इत्यादि प्रश्नसूत्रं
सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तद्भावेना प्राग्वत्
उत्कर्षतोऽनन्तं कालं "जाव आवहियाए असखेज्जभागा इति"
यावत्करणादेव परिपूर्णं पाठ "अणंताओ उस्सप्पिणीओस-
प्पिणीओ कालतो खेत्तने अणता लोगा असखेज्जा पोगलपरि-
यट्ठा तेण पोगगपरियट्ठा आवहियाए असखेज्जभागा" अ-
स्य व्याख्या पूर्ववत् जावना त्वेवं सूक्ष्मपृथिवीकायिको हि सू-
क्ष्मपृथिवीकायिकभवाडुहृत्यानन्तर्येण पारपर्येण वा वनस्प-
तिष्वपि मध्ये गच्छति तत्र चोत्कर्षतोऽप्येतावन्तं कालं तिष्ठता-
ति ज्वानि यथोक्तप्रमाणमन्तरमेव सूक्ष्माकायिकतेजस्कायिक-
वायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । सूक्ष्मवनस्पतिकायिकसूत्रं
जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसख्येयं कालं पृथिवीकालो वक्त-
व्यः स चैवम् "असखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ का-
लतो खेत्तने असखेज्जा लोगा" इति । सूक्ष्मवनस्पतिकायिक-
वाडुहृतो हि बादरवनस्पतिषु सूक्ष्मबादरपृथिव्यादिषु चो-
त्पद्यते तत्र च सर्वत्राप्युत्कर्षतोऽप्येतावन्तं कालमवस्थानमिति
यथोक्तप्रमाणमेवान्तरमेव सूक्ष्मनिर्गोदस्याप्यन्तरं वक्तव्यं यथा
वेयमौघिकी सप्तसूत्री उक्ता तथा अपर्याप्तविषया च सप्तसूत्री
वक्तव्या नानात्वाज्ञावात् जी० ६ प्रति० ।

सुदुमस्स अंतरं वायरकाओ वायरस्स अंतरं सुदुमकाओ
ततियस्स णत्थि अंतरं ।

सूक्ष्मस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसख्येयं कालमस-
ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यं कालतः क्षेत्रतोऽङ्गुलस्य सख्येय-
भागो बादरकाओ जघन्यत उत्कर्षतश्च एतावत्प्रमाणत्वात् । वा-
दरस्यान्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसख्येयं कालमनन्ता उ-
त्सर्पिण्यवसर्पिण्यं कालतः क्षेत्रतोऽसख्येया लोका सूक्ष्म-
स्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्काशप्रमाणत्वात् नोसूक्ष्मनोबाद-
रस्य साधपर्यवसितस्य हेतौ पृथी निर्मितकारणहेतुषु सर्वासां
विजर्त्तानां प्राये दर्शनमिति न्यायात् ततोऽयमर्थः साधपर्यव-
सितत्वाभास्त्यन्तरमन्यथा अपर्यवसितत्वायोगात् जी० ३ प्रति०

प्रवसिद्धिभवमिन्द्रिनोभवांसिद्धिभवसिद्धिकानामन्तरम्
भवसिद्धिरस्म एत्थि अंतरं एव अभवसिद्धिरस्स वि
ततियस्स एत्थि अंतरं ।

अभवसिद्धिकोऽनादिसपर्यवसितोऽन्यथा प्रवसिद्धिकत्वायो-
गात् । अभवसिद्धिकात् अभवसिद्धिकस्यानादिसपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरं प्रवसिद्धिकत्वापगमे पुनर्भवसिद्धिकत्वायोगात्
जी० ३ प्रति ।

जायामाश्रित्य जीवानामन्तरम् ।

जामगस्स एं जंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंनं कालं वणस्सतिका-
लां अभामगस्स सातियस्स अपज्जवतियस्स णत्थि अं-
तरं सातियस्स तपज्जवतियस्स जहणेणं एकं समयं उक्को-
सेणं अंतोमुहुत्तं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्ष-
तो वनस्पतिकालः अजापककालस्य भाषकान्तरत्वात् अभा-
षकसूत्रे साधपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् अपर्यवसितत्वात् सा-

विसर्पयवसितस्य जघन्येनैक समयमुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जाप-
ककालस्याभापकान्तरत्वात् तस्य च जघन्यत उत्कर्षतश्चेता-
बन्मात्रत्वात् । जी० २ प्रति० ।

[३८] योगमाश्रित्यान्तरम् ।

मणजोगिस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-
स्सतिकालो तहेव वयजोगिस्स वि कायजोगिस्स जहएणेणं
एकं समय उक्कोसेण अंतोमुहुत्तं अजोगिस्स एत्थि अंतरं ।
अन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं विग्रहसमयादारभ्य औदारिकशरीरपर्याप्त-
कश्च यावदेवमन्तर्मुहूर्त्तं छण्ड्यमिति (अत्रत्या टीका उस्तु-
त्तपरवचना शब्दे) ।

लेख्यामाश्रित्य जीवानाम् ।

कण्डलेसस्स एं भंते ! अंतरं कालओकेव चिरं होति ?
गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीसमागरोव-
माई अंतोमुहुत्तमब्भहियाई । एव नीलस्स वि काजलेस-
स्स वि । तेउलेस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होई ?
गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो
एवं पम्हलेसस्स वि सुकलेसस्स वि दोएह वि एवमंतरं ।
अत्तेसस्स णं जवे ! अंतरं काजतो केव चिरं होई ? गोयमा !
सादियस्स अपज्जवासियस्स णत्थि अंतरं ।

कृष्णलेख्याकस्यान्तरजघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्मनुष्याणामन्त-
र्मुहूर्त्तं लेख्यापरावर्त्तनात् उत्कर्षतश्चायं किंशत्सागरोपमाय-
न्तर्मुहूर्त्तान्यधिकानि शुक्ललेख्याकृष्णकालस्य कृष्णलेख्यान्त-
रोत्कृष्टकालत्वात् । एवं नीललेख्याकापोतलेखयोरपि जघन्यत
उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यम् । तेज पञ्चशुक्लानामन्तरं जघन्यतोऽन्त-
र्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकाल स च प्रतीत एवेति । अलेख्यस्य
साधपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

(३९) वेदविशिष्टजीवानामन्तरम् ।

सवेदस्म एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
अण्णादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं अण्णादियस्स
सपज्जवसियस्स वि एत्थि अंतरं । सादियस्स सपज्जव-
सियस्स जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।
अवेदगस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
सातियस्स अपज्जवमियस्स एत्थि अंतरं सातियस्स सप-
ज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण । अणंतं-
कालं जाव अवहुं पोग्गलपरियट्ठं देसूणं ।

प्रश्नश्च सुगम भगवानाह गौतम ! अनादिकस्यापर्यवसितस्य स-
वेदकस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसिततया सदा तद्भावापरित्यागात्
अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरम् अनादिसपर्यव-
सितो क्षापान्तरात्ते उपशमश्रेणि प्रतिपद्य भावी क्षीणवेदो न च
क्षीणवेदस्य पुनः सवेदकत्वप्रतिपातान्नावात् । सादिकस्य सपर्य-
वसितस्य सवेदकस्य जघन्येनैक समयमन्तरद्वितीयवारमुपश-
मश्रेणि प्रतिपन्नस्य वेदोपशमसमयानन्तरकस्यापि मरणसंज्ञा-
त् उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तं द्वितीय वारमुपशमश्रेणिप्रतिपन्नस्योपशान्त-
वेदकस्य श्रेणिसमाप्तेरुद्धे पुनः सवेदकत्वभावात् । अवेदकसूत्रे
सादिकस्यापर्यवसितस्यावेदकस्य नास्त्यन्तरं क्षीणवेदस्य पुन

सवेदकत्वाभावात् वेदाना निर्मूलकापकथितत्वात् । सादिकस्य
सपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुपशमश्रेणिसमाप्तौ सवे-
दकत्वे सति पुनरन्तर्मुहूर्त्तस्योपशमश्रेणिलामतोऽवेदकत्वोपपत्ते
उत्कर्षतोऽनन्त कालम् अनन्ता उत्सर्पिण्यवसापिण्यः कालतः
क्षेत्रतोऽपार्कं पुञ्जलपरावर्त्तं देशोनमेकं वाग्मुपशमश्रेणि प्रतिपद्य
तत्रावेदको भूत्वा श्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरेतावता का-
लेन श्रेणिप्रतिपत्तावेदकत्वोपपत्तेः । जी० सर्वजी ० २ प्रति० ।

वेदविशेषविशिष्टानां स्त्रीणां पुसां नपुसकानां चान्तरम् ।

इत्थिए एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अनंतं कालं वणस्सतिका-
लो एवं सञ्वासि तिरिक्खत्थीणं मणसित्थीणं मणसित्थी-
ए खेत्तं पकुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सति-
कालो । धम्मचरणं पकुच्च जहएणेणं समओ उक्कोसेणं
अणंतं कालं जाव अवहुपोग्गलपरियट्ठं देसूणं एवं जाव
पुव्वविट्ठं अवरविदेहियाओ । अकम्मचूमगमास्सीणं
भंते ! केवातयं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जम्म एं पकुच्च
जहएणेणं दसवाससहस्साई अंतोमुहुत्तमब्भहियाई उक्कोसे-
णं वणस्सइकाओ महरणं पकुच्च जहएणेणं अंतोमुहुत्तं
उक्कोसेणं वणस्सइकाओ एवं जाव अंतरदीवियाओ । देवि-
त्थियाणं सञ्वासिं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-
स्सतिकाओ ।

स्त्रिया भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं जवति स्त्री भूत्वा स्त्रीत्वा-
त् भ्रष्टा सती पुनः कियता कालेन स्त्री भवतीत्यर्थः । एव गौत-
मेन प्रश्ने हृते सति जगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं
कथमिति चेत् उच्यते इह काचित् स्त्री स्त्रीत्वान्मरणेन च्युत्वा
भवान्तरे नपुंसकवेदं पुरुषवेदं वाऽन्तर्मुहूर्त्तमनुभूय स्त्रीत्वेना-
त्पद्यते तत एव जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जवति उत्कर्षतो वनस्पति-
कालोऽस्तस्येयपुञ्जलपर्यवर्त्तार्यो वक्तव्यस्तावता कासेनामुक्तौ
सत्यां नियोधत स्त्रीत्वयोगात् । स च वनस्पतिकाल एव वक्त-
व्यः “ अणताओ ओसप्पिणिउरस्सप्पिणीओ कालओ केत्तओ
अणता होगा असंखेजा पोमलपरियट्ठा तेज पोग्गलपरियट्ठा
भावहियाए असंखेज्जभागो इति ” एवामौघिकतियकृत्स्नीनां
जसखरखसखरखरस्त्रीणामौघिकमनुष्यस्त्रीणां च जघन्यत
उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यमभिहापोऽपि सुगमत्वात् सय परिभा-
वनीय । कर्मभूमिकमनुष्यस्त्रियाः क्षेत्र कर्मभूमिक्षेत्रं प्रतीत्य
जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्त कालं वनस्पतिकालप्रमाणं
यावत् धम्मचरणं प्रतीत्य जघन्येनैक समय सर्वजघन्यस्य सम-
यत्वात् उत्कर्षेणानन्तं कालं देशोनमपार्कं पुञ्जलपरावर्त्तं यावत्
नातोऽधिकतरश्चरणसन्धिपातकालासंपूर्णस्याप्यपार्कपुञ्जलपरा-
वर्त्तस्य दर्शनलब्धिपातकालस्य तत्र प्रतिषेधात् । एव भरतै-
रावतमनुष्यस्त्रियाः पूर्वविदेहापरविदेहस्त्रियाश्च क्षेत्रतो धम्म-
चरणं वा आश्रित्य वक्तव्यम् । अकर्मचूमकमनुष्यस्त्रिया जन्म
प्रतीत्यान्तरं जघन्येन दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्तान्यधिकाणि
कथमिति चेदुच्यते इह काचित् कर्मभूमिका स्त्री भूत्वा जघन्य-
स्थितिषु देवेषूपजा तत्र दशवर्षसहस्राण्यायुः परिपाल्य
तत्काले च्युत्वा कर्मभूमिषु मनुष्यपुरुषत्वेन मनुष्यस्त्रीत्वेन
वोत्पद्यते देवेभ्योऽन्तरमकर्मभूमौ न जन्मेति कर्मभूमिभूत्या-

दिता ततोऽन्तर्मुहुर्त्सेन मृत्वा जूयोऽप्यकर्मजूमिजस्त्रीत्वेन जायते इति भवन्ति जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहुर्त्सार्त्तान्यधिकानि उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं सहस्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहुर्त्सम् । अकर्मजूमिजस्त्रियाः (कर्मजूमिजस्त्रिया) कर्मजूमिषु सहस्रं तावता कालेन तथाविधबुद्धिपरावृत्त्या जूयस्तत्रैव नयनात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं तावता कालेन कर्मजूम्युत्पत्तिवत् सहस्रंमपि नियोगतो ज्ञेयम् । तथाहि काचिदकर्मजूमिका कर्मजूमौ सहस्रा सा च स्वायुक्त्यान्तरमनन्तं कालं वनस्पत्यादिषु ससृज्य जूयोऽप्यकर्मजूमौ समुत्पन्ना । ततः केनापि सहतेति यथोक्तं सहस्रस्योत्कृष्टकालमानम् । एव हैमवतहेरप्यवनहरिवर्षस्य कर्षदेवकुरुत्तरकुर्वन्तरजूमिकामपि जन्मतः सहस्रं तत्र प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं वक्तव्यं सूत्रपात्रोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिज्ञावनीयम् । सप्रति देवस्त्रीणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह (देवस्त्रियाणं जते इत्यादि) देवस्त्रिया जन्तः । अन्तरं कावतः कियच्चिरं जवति भगवानाह गौतम । जघन्येनान्तर्मुहुर्त्सं कस्याभित् देवस्त्रिया देवीभवात् ज्युताया गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येषूपपद्य पर्याप्तिसमनन्तरं तथाध्यवसायमरणेन पुनर्देवीत्वेनोत्पत्तिसंज्ञावात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च सुप्रतीत एवमसुरकुमारदेव्या आरभ्य तावदांशान् देवस्त्रिया उत्कृष्टमन्तरं वक्तव्यं पात्रोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिज्ञावनीयः जी० ३ प्रति० ।

पुरिसस्स णं भते ! केवतियं कावतं अंतरं होति ? गोयमा ! जहस्येणं एगं समयं उक्कोसेणं नणस्सइकावो तिरिक्खजो-णियपुरिसाणं जहस्येणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइ-कालो एवं जाव खहरतिरिक्खजोहियपुरिसाणं ॥

पुरुषाणामिति पूर्ववत् भवन्तः ! अन्तरं कावतः कियच्चिरं भवति पुरुषः पुरुषत्वात् परिभ्रष्टः सन् पुनः कियता कालेन तदवाप्नोतीत्यर्थः । तत्र भगवानाह गौतम ! जघन्येनैकं समयं समादनन्तरं जूयोऽपि पुरुषत्वमवाप्नोतीति ज्ञातम् । इयमत्र ज्ञाधना यदा कश्चित् पुरुष उपशमश्रेणि गतः उपशान्ते पुरुष-वेदे समयमेकं जीवित्वा तदनन्तरं म्रियते तदाऽसौ नियमादेवपुरुषेषूपपद्यते इति समयमेकमन्तरं पुरुषत्वस्य । ननु स्त्रीनपुंसकयोरपि श्रेणिलाभो भवति तत्कस्मादनयोरप्येवमेकं समयोऽन्तरं न भवति उच्यते स्त्रिया नपुंसकस्य च श्रेण्याकृदाववेदकज्ञावान्तरं मरणे तथाविधबुद्धिमाध्यवसायतो नियमेन देवपुरुषत्वेनोत्पादात् । उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स चैवमजिलपनीयः “अणता उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अणता होगा असस्सेज्जा पुग्गलपरियट्ठा तेण पुग्गलपरियट्ठा आवल्लियाए असस्सेज्जइभागो इति ” तदेव सामान्यतः पुरुषत्वस्यान्तरमभिधाय सप्रति तिर्यकपुरुषविषयमतिदेशमाह ” (ज तिरिक्खजोणित्थीणमतरमित्यादि) यत्तिर्यग्योनस्त्रीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव तिर्यग्योनिकपुरुषाणामप्यविशेषितं वक्तव्यं तच्चैव सामान्यतस्तिर्यकपुरुषस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहुर्त्सं तावत्कालस्थितिना मनुष्यादिभवेन व्यवधानात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावृत्त्याय तावता कालेनामुक्तौ सत्यां नियोगतः पुरुषत्वयोगात् । एव विशेषचिन्तायां जलचरपुरुषस्य स्थलचरपुरुषस्य खचरपुरुषस्यापि प्रत्येकं जघन्यतः उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यम् ।

सम्प्रति मनुष्यपुरुषत्वविषयान्तरप्रतिपादनार्थमाह ।

मणुस्मपुरिसाणं भते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! खेत्तं पमुच्चं जहस्येणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्स-तिकालो धम्मचरणं पमुच्चं जहस्येणं एकं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणता उस्सप्पिणीओ जाव अवहुं पोग्गल-परियट्ठा देसूणं कम्मजूमकाणं जाव विदेहो जाव धम्मचरणं एको समओ सेसं जहत्थीणं जाव अंतरदीवकाणं ॥

जन्मनुष्यस्त्रीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव मनुष्यपुरुषाणामपि वक्तव्यं तच्चैव सामान्यतो मनुष्यपुरुषस्य जघन्यतः क्षेत्रमधिकृत्यान्तरमन्तर्मुहुर्त्सं तच्च प्रागिव भावनीयम् । उत्कर्षतो वनस्पतिकालो धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यतः एकं समयं चरणपरिणामात्परिभ्रष्टस्य समयानन्तरं भूयोऽपि कस्याचित् चरणप्रतिपत्तिसंभवात् उत्कर्षतो देशोऽपारूपपुद्गलपरावृत्तः एव भरनैरावतकर्मजूमकमनुष्यपुरुषस्य पूर्वविदेहापरविदेहाकर्मजूमकमनुष्यपुरुषस्य जन्म प्रतीत्य चरणमधिकृत्य च प्रत्येकं जघन्यतः उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं सामान्यतोऽकर्मजूमकमनुष्यपुरुषस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तरं दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहुर्त्सार्त्तान्यधिकानि । अकर्मजूमकमनुष्यपुरुषत्वेन मृतस्य जघन्यस्थितिषु देवेषूपपद्य ततोऽपि ज्युत्वा कर्मजूमिषु स्त्रीत्वेन पुरुषत्वेन चोत्पद्य कस्याप्यकर्मजूमकत्वेन जूयोऽप्युत्पादात् देवभवात् ज्युत्वा अनन्तरमकर्मजूमिषु मनुष्यत्वेन तिर्यक्संक्षिपञ्चेन्नित्यत्वेन उत्पादाज्ञावादापान्तरात्वे कर्मजूमिषूपत्पादाभिधानमुत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं सहस्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहुर्त्समकर्मजूमि कर्मजूमिषु सहस्रान्तर्मुहुर्त्सार्त्तानन्तरं तथाविधबुद्धिपरावृत्तादिज्ञावतो जूयस्तत्रैव नयनसंज्ञावात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः एतावतः कावदूर्कमकर्मजूमिषूपत्तिवत् सहस्रंस्यापि नियोगतो भावात् । एव हैमवतहेरप्यवतादिष्वप्यकर्मजूमिषु जन्मतः सहस्रं तत्र जघन्यतः उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं यावदन्तरद्वीपकाकर्मजूमकमनुष्यपुरुषत्ववक्तव्यता ।

सप्रति देवपुरुषाणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह ।

देवपुरिसाणं जहस्येणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सति-कावो भवणवासिदेवपुरिसाणं ताव जाव सहस्सरो जहस्येणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो । आनतदेव-पुरिसाणं जंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहस्येणं वासपुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एव जाव गेवेज्जगदेवपुरिसाणं वि अनुत्तरोववातियदेवपुरिसाणं जहस्येणं वासपुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइ सागरोवमाइ अनुत्तराणं अंतरे एको आत्तावओ ॥

देवपुरुषस्य जदन्तः ! कावतः कियच्चिरमन्तरं जवति भगवानाह । गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहुर्त्सं देवजवात् ज्युत्वा गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येषूपपद्य पर्याप्तिसमनन्तरं तथाविधाध्यवसायमरणेन जूयोऽपि कस्यापि देवत्वेनोत्पादसंज्ञावात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः एवमसुरकुमारादारभ्य निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत्सहस्रारकल्पदेवपुरुषस्यान्तरम् आनतकल्पदेवस्यान्तरं जघन्येन वर्षेष्टयकल्पं कस्मादेनावदिहान्तरमिति चेत् उच्यते इदं यो गर्भस्थः सर्वाणि पर्याप्तिभिः पर्याप्तं स बुद्ध्याध्यवसायोपेतो

मृतः सन् भानतकल्पादारतो ये देवास्तेष्वप्यथे नाऽऽन-
तादिषु तस्य तावन्मात्रकालस्य तद्गोपाध्यवसायविशुद्धभावा-
त् ततो य आनतादिज्यश्च्युतः सन् तृयोऽप्यनतादिपूतपद्यते
स नियमाचारित्रमवाप्य चारित्र चाष्टमे वर्षे नत उक्त जघन्यतो
वर्षपृथक्त्वमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एव प्राणतारणान्युत्कर्ष-
त्वप्रेवेयकदेवपुरुषाणामपि प्रत्येकमन्तर जघन्यतः उत्कर्षतश्च
वक्तव्यम् । अनुत्तरोपपातिककल्पातीतदेवपुरुषस्य जघन्यतोऽन्तर
वर्षपृथक्त्वम् उत्कर्षतः सख्येयानि सागरोपमाणि सातिरे-
काणि तत्र सख्येयानि सागरोपमाणि तदन्यैवमानिकेषु सख्ये-
यवारोत्पत्त्या सातिरेकाणि मनुष्यभवे तत्र सामान्याभिधानेऽ-
प्येतत् अपराजितान्तमयगन्तव्य सर्वार्थसिद्धे सद्देवोत्पादत-
स्तन्त्रान्तरसम्भवात् । अन्ये त्वजिदधति प्रवनवासिन आरज्य
आ ईशानादमरस्य जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्त संतत्कुमारादार-
ज्यासहस्रारात् नव दिनानि भानतकल्पादारज्याच्युतकल्प
यावन्नव मासा नवसु प्रैवेयकेषु सर्वार्थसिद्धमहाविमानवर्जेष्व-
नुत्तरविमानेषु च नव वर्षाणि प्रैवेयकान् यावत् सर्वत्रापि
उत्कर्षतो वनस्पतिकाशः विजयादिषु चतुर्षु महाविमानेषु द्वे
सागरोपमे उक्तं च " आ ईशानादमरस्य अन्तर हीज्य मुहुत्त-
तो वा सहस्रारे अच्युत्तरदिणमासवासनवथावरकायुको-
सो सव्वड्ढीयश्चो नव उववाओ दो अपरा विजयादिसु इति "

नैरयिकनपुसकानामन्तरम् ।

अकम्पभूमकमणुस्सणपुंसणं जते ? गोयमा ! जम्म णं
पमुच्च जहणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं अंतोमुहुत्तं (अंतोमु-
हुत्तपुहुत्तं) संहरणं पडुच्च जहणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं
देसूणा पुव्वकांमं । सव्वेमिं जाव अतरदीवगाणं । एणुमग-
स्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जह-
णेणं अंतोमुहुत्तं उकोमेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं
नेरइयणपुंसगस्स णं जंते ! केवतियं कादं अंतरं होति
जहणेणं अंतोमुहुत्तं उकोमेणं तरुकाओ । रतणप्पजापुढ-
विनेरइयणपुंसगस्स जहणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं तरु-
काओ एव सव्वेमिं जाव अहेमत्तमा तिरिक्खजोणियणपुं-
सकस्स जहणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं सागरोवमसतपुहु-
त्तं सातिरेगं ।

णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! अन्तर कालतः कियच्चिरं भवति
नपुसको चूत्वा नपुसकत्वाद् भ्रष्टः पुनः कियता कालेन नपुस-
को भवतीत्यर्थः । भगवानाह । गौतम ! जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेता-
वना पुरुषादिकालेन व्यवधानात् उत्कर्षतः सागरोपमशतपृथ-
क्त्व सातिरेक पुरुषादिकालस्य एतावदेव सम्भवात् तथा चात्र
सग्रहणीगाथा ' इत्थिनपुसा सच्चि-छणेषु पुरिसन्तरे य समज-
ओ । पुरिसनपुसा सच्चि-छणन्तरे सागरपुहुत्त ॥ १ ॥ " अस्या-
क्तरगमनिका " सच्चिछणा नाम " सातत्येनावस्थानं तत्र स्त्रिया
नपुसकस्य च सातत्येनावस्थाने पुरुषान्तरे च जघन्यत एक स-
मयस्तथा च प्रागभिहितम् " इत्थीण भंते ! इत्थीति कालतो
केव चिरं होइ गोयमा ! एणेण आदिसेण जहणेणं एग समयं
इत्यादि " तथा ' नपुसगेण नपुसगेति कालतो केव चिरं होइ
गोयमा ! जहणेण एक समयमि-यादि " तथा " पुरिसस्स ण
भंते ! अन्तर कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहणेण एक स-
मयमि-यादि " तथा पुरुषस्य च नपुसकस्य यथाक्रम (सच्चिद्वज्)

सातत्येनावस्थानमन्तरं चोत्कर्षतः सागरपृथक्त्वं पदैकदेशै
पदसमुदायोपचारात् सागरोपमशतपृथक्त्वं तथा च प्रागभिहि-
तं " पुरिसेण जने । पुरिसस्ति कालतो कियच्चिरं (केव चिरं)
होइ गोयमा ! जहणेण (जहणेण) अंतोमुहुत्तं उकोसेण सा-
गरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं " नपुसकान्तरात्कर्षप्रतिपादक चे-
दमेवाभिहितं सुत्रमिति । तथा सामान्यतो नैरयिकनपुसकस्यान्तरं
जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सप्तमनरकपृथिव्या उद्भूतं तदुलमस्या-
दिजघेवन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा चूयः सप्तमनरकपृथिवीगमनस्य च श्र-
यणात् प्रतिपृथिव्यपि वक्तव्यम् जी० २ प्रति० ।

तिरश्चामन्तरम् ।

एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकस्स जहणेणं अंतोमु-
हुत्तं उकोसेणं दो सागरोवमसहस्माइं सखेज्जवासमब्भइयाइं
पुढविआउतेउवाऊणं जहणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेण व-
णस्सतिकालो वणस्सतिकाइयाणं जहणेणं अंतोमुहुत्तं
उकोसेणं असखेज्जं कादं जाव अमखेज्जा लोया सेसण
वेदियादीणं जाव खहयराणं जहणेणं अंतोमुहुत्तं उको-
सेणं वणस्सतिकालो ।

तथा सामान्यचिन्तायां तिर्यग्योनिकनपुसकस्यान्तरं जघन्यतो-
ऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकम् । अत्र प्रा-
चना प्रागिव विशेषचिन्तायां सामान्यत एकेन्द्रियतिर्यग्योनिक-
नपुसकस्यान्तर्मुहूर्त्तं तावता द्वीन्द्रियादिकालेन व्यवधानात्
उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे सख्येयवर्षाभ्यधिके प्रसकायस्ति-
तिकालस्य एकेन्द्रियत्वव्यवधायकस्योत्कर्षतोऽप्येतावत् एव
सम्भवान् । पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसकस्य जघ-
न्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकाशः । एवमप्यायिकेतेजस्का-
यिकायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसकानामपि वक्तव्य व-
नस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसकस्य जघन्यतोऽन्त-
र्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसख्येय काल यावत् स चासख्येय कादोऽस-
ख्येया उत्सर्पिण्यवसापिण्य कालतः केवतोऽसख्येया लोका ।
किमुक्तं भवत्यसख्येयलोकाकाशप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकाप-
हारे यावत् उत्सर्पिण्यवसापिण्यो प्रवन्ति तावत् इत्यर्थः । वन-
स्पतिभवात् प्रच्युतस्यान्यत्रोत्कर्षत एतावन्तं कालमवस्थानस-
म्भवात् तदनन्तरं ससारिणां नियमेन भूयोऽपि वनस्पतिकायि-
कत्वेनोत्पादभावात् । द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिय-
निर्यग्योनिकनपुसकानां जलचरस्थलचरखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्यो-
निकनपुसकानां सामान्यतो नपुसकस्य च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्त-
मुत्कर्षतोऽन्तर्काल स चानन्त कादो वनस्पतिकालो यथो-
क्तस्वरूपं प्रतिपत्तव्यः ।

मनुष्यनपुंसकस्य ।

मणुस्सणपुंसकस्स खेत्तं पडुच्च जहणेणं अंतोमुहुत्तं उ-
कोसेणं वणस्सतिकाओ धम्मचरणं पडुच्च जहणेणं एगं स-
मयं उकोसेणं अणंतं कादं जाव अवहं पोगलपरियट्ठं दे-
सूणं । एव कम्मजमगस्स वि भग्गेरवयस्स पुव्वविदेहअ-
वरविदेहकस्स वि अकम्मजमकमणुस्सणपुंसकस्स णं भंते !
केवतियं कादं० जम्मणं पडुच्च जहणेणं अंतोमुहुत्तं उको-
सेणं वणस्सतिकालो संहरणं पडुच्च जहणेणं अंतोमुहुत्तं
उकोसेणं वणस्सतिकाओ एवं जाव अंतरदीवगति ।

कर्मन्मकमनुप्यनपुमरुस्यान्तर क्षेत्र प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मु-
हूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एक
समय यावत् चरणद्विधापातस्य सर्वजघन्यस्य एकसामयि-
कत्वात् उत्कर्षतोऽन्तर् काल तमेवानन्त काल निर्धारयति
“ अणताओ उस्मपिणिओसापिणीओ कावतो येत्तनो अणना
लोगा अवहु पोगलपरियट्ट देसूणमिति” एव जरतैरयत्तपूर्ववि-
देहापरविदेहकर्मन्मकमनुप्यनपुसकानामपि क्षेत्र धर्मचरण
च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्ष चान्तर प्रत्येकं वक्तव्यम् । अकर्मभू-
मकमनुप्यनपुसकस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेतावता
गत्यन्तरादिकाशेन व्यवधानजायात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः
सहरण प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् । तच्चैव कोऽपि कर्म-
भूमकमनुप्यनपुसकनाथकर्मभूमा सहतः स च मागधपुरप-
ट्टान्तवलादकर्मन्मक इति व्यपदिश्यते ततः कियत्कालानन्त-
र तथाविधनुद्धिपरायत्तनजावतो भूयोऽपि कर्मभूमौ सहतस्त-
त्र चान्तर्मुहूर्त्तं धृत्या पुनरप्यकर्मन्मावानीतः उत्कर्षतो वनस्प-
तिकाशः । एव विशेषचिन्ताया हेमयन्तैरयत्तनहरिपरम्यक-
वर्षदेवकुत्तरकुर्व्यकर्मन्मकमनुप्यनपुसकानामन्तरादीपकमनु-
प्यनपुसकस्य च जन्म सहरण च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षत-
श्चान्तर वक्तव्य तदेवमुक्तमन्तरम् जी० २ प्रति० । प० स० ।

(४०) औदारिकादिशरीरविशिष्टानामन्तरम् ।

ओरालियसरीरस्स अंतरं जहण्णेणं एकं समयं उक्को-
सेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमण्हियाइं वेजवि-
यसरीरस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोमेणं अणंतं काइं
वणस्मतिकालो आहारगसरीरस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं
उक्कोसेणं अणंतं काइं जाव अवहुं पोगलपरियट्टं देसूणं
तेयगकम्मगसरीरस्स य दुविहा एत्थि अंतरं ॥

औदारिकशरीरिणोऽन्तरं जघन्यतः एकः समयः स च द्विसा-
मायिकयामपान्तरालगतौ भावनीयः । प्रथमे समये कर्मणश-
रीरोपेतत्वात् उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्य-
धिकानि वक्तव्ये वैक्रियकाश इति भावः । वैक्रियशरीरिणोऽन्त-
र जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सकृदैक्रियकरणे यावता कालेन पुनर्वैक्रि-
यकरणात् मानयदेवेषु भावात् । उत्कर्षतो वनस्पतिकालः प्रक-
ट एव आहारकशरीरिणो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सकृत्करणे एता-
वता कालेन पुनः करणात् उत्कर्षतोऽन्तर् काल यावदपार्द्धं
पुनरपरायत्तम् । जी० सर्वजी० ५ प्रति० । (सघातपरिवा-
टकरणयोरन्तरं करणं शब्दे)

सङ्गाविशेषणेनान्तरम् ।

संखिस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्स-
इकालो असंखिस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं
मागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं ततियस्स एत्थि अंतरं ।

अन्तरचिन्तायां सङ्गिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽन्त-
र् कालम् । स चानन्त कालो वनस्पतिकालः । असङ्गिकाल-
स्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाणत्वात् । असङ्गिनान्तरं जघ-
न्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्व सङ्गिकालस्य ज-
घन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाणत्वात् नोसङ्गिनोऽसङ्गिन माद्यस-
पर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । जी० सर्वजी० २ प्रति

(४१) समयविशेषणेनान्तरम् ।

संजयस्स संजयासंजयस्स दोएह वि अंतरं जहण्णेणं अं-

तोमुहुत्तं उक्कोमेणं अणंतं काल जाव अवहुं पोगलपरि-
यट्टं देसूणं । असंजयस्स आदिदुवे एत्थि अंतरं साइयस्स
सपज्जवमियस्स जहण्णेणं एकं समयं उक्कोमेणं देसूणा
पुव्वकोमी चउत्थगस्स एत्थि अंतरं ।

सयतस्य जघन्येनान्तर्गमन्तर्मुहूर्त्तं नावता कालेन पुनः क-
स्यापि संयतत्वभावात् उत्कर्षतोऽन्तर् कालमनन्ता उत्स-
र्पिण्यवसारिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुनरपरायत्तं देशो-
नम् एतावत कालादूर्ध्वं पूर्वमवामसयमस्य नियमतः सयम-
लाभात् । सयतस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । अनादिमप-
र्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरतस्य प्रतिपातासम्भवात् । सादिस-
पर्यवसितस्य जघन्यत एकः समयः स चैकसमयः प्राग्व्याव-
र्ध्नि सयतसमय एवमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी असयतत्व-
व्यवधायकस्य सयतकालस्य सयतासयतकालस्य वा उत्क-
र्षतोऽप्येतावत्प्रमाणत्वात् सयतासयतस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं
तद्वाचपाते एतावता कालेन तल्लभसिद्धेः । उत्कर्षतः सयत-
वत् त्रितयप्रतिपेधवर्तिन सिद्धस्य साद्यपर्यवसितस्य नास्त्य-
न्तरमपर्यवसिततया सदा तद्वाचपरित्यागात् । जी० स-
र्वजी० ३ प्रति० । (सामायिकादिसयतानामन्तरं सजयशब्दे)
सिद्धासिद्धयो ।

सिद्धस्स एं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
सात।यस्स अपज्जवमियस्स एत्थि अंतरं । असिद्धस्स एं
भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! अणातीयस्स
अपज्जवसियस्स अणातीयस्स मपज्जवसियस्स एत्थि
अंतरं ।

प्रश्नसूत्र सुगम भगवानाह गौतम ! सिद्धस्य सादिकस्याप-
र्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । अत्र “ निमित्तकारणहेतुषु स-
र्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति ” न्यायात् हेतौ पट्टी ततोऽ-
यमर्थो यस्मात्सिद्ध सादिरपर्यवसितस्तस्मात्नास्त्यन्तरमन्य-
थाऽपर्यवसितत्वायोगात् । असिद्धसूत्रे असिद्धस्यानादिक-
स्यापर्यवसितस्य नास्ति अन्तरमपर्यवसितत्वादेवासिद्धत्वा-
प्रच्युते । अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं भूयोऽ-
सिद्धत्वायोगात् जी० सर्वजी० १ प्रति० ।

अंतरंग-अन्तरङ्ग-पु० अन्तरं सहशमङ्ग यस्य । अत्वन्तप्रिये,
बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्ये अन्तर्भूतानि अङ्गानि नि-
मित्तानि यस्य । व्याकरणोक्ते परनित्यबहिरङ्गबाधके कार्य-
भेदे, तद्बोधके शास्त्रे च वाच० । अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्ग
एव विधिर्वैलवान् आ० म० द्वि० । अभ्यन्तरे, त्रि० त० । विश० ।
(काल शब्दे एददुदाहरणम्)

अंतरंजिया-अन्तरङ्गिका-स्त्री० नगरीभेदे, वत्र भूतगृहं चैत्य
बलश्री राजा त्रैराशिकानामुत्पत्तिश्चाभूत्, उक्त० ३ अ० । वि० ।
आ० म० द्वि० । कल्प० । एता० । आ० चू० ।

अतरंगगोक्षिया-अन्तराएरुगोक्षिका-स्त्री० अएरुकोशा-
भ्यन्तरस्य गोक्षिकायाम्, महा० ४ अ० ।

अतरकंद-अन्तरकन्द- पु० अनन्तजीवात्मकवनस्पतिभेदे,
प्रश्ना० १ पद ।

अंतरं (रा) कप्प-अन्तरं (रा) कल्प- पु० चरित्राणाम-
न्तरस्वरूपे कल्पभेदे, । तर्धर्णनभिः थम् ।

गिह्विसकप्पो एसो, एतो वोच्चापि अतराकप्पं ।
संखेवपिणियत्थं, गुरुवएसं जहाकमसो ॥ दारं ॥
पचट्टाणमसंखा, बारसगं चेव तिण्हि वितियाणं ।
अज्जत्थकरणणाण-द्वया य एसोतराकप्पो ॥
सामादिसंजतादी, पंचहचरणं तु तेसि एकेकं ।
संजमठाणमसंखा, एकेके तत्थ ठाणम्मि ॥
होति अणंता चारि-चपज्जवा ताण संखगुणियाणि ।
एकं संजमकमग-कंडसंखा य छट्टाणं ॥
ठट्टाणा संखेज्जा, संजमसेदी तु होति बोधन्वा ।
सामाइयदेदसंजम-ठाणागं तु असंखेज्जा ॥
परिहारसंजमट्टाण, ताहे लग्गांति ते असंखागा ।
गंतुं ण होति विष्ठा, ताहे तत्तो पुणो परतो ॥
वट्ठंति जे असंखा, सामाइयदेदसंजमट्टाणा ।
सामाइयदेदट्टाणा, ताहे विष्ठा भवती तु ॥
तो सुहुमएगट्टाणा, ते वि असंखेज्जगं तु वांच्छिन्ना ।
तस्स अपच्छिमट्टाणा, अणंतगुणवट्ठितं णियमा ॥
एकं परमविमुच्चं, होति अहक्खाय सजमट्टाणं ।
पंचमसंखतिग तं, बारस गयारपकिमाओ ॥ दारं ॥
सुद्धपरिहारचउरो, अणुपरिहारी वि एवमकप्पठितो ।
एते तिण्हि तिया खट्ठु, एतेमि एकमेकस्स ॥
अंतरसंजमट्टाणा, होति असंखालु तेसि सव्वेसिं ।
होति दुविहा तु सोही, करणे अज्जत्थतो चेव ॥
तो दो वी कायन्वा, णाणटाए वउत्तेणं ।
एसो अंतरकप्पो पं०भा० ॥

इयानि अंतरकप्पो गाहा-(पंचट्टाण) अंतरकप्पो नाम पच-
विह चारिस्स सामाइयमाइ एकेकस्स असंखेज्जाइ सजमट्टा-
णाइ अतर बारससि बारस भिक्खुपण्डिमाओ तासिं पि तहेव
अतरं तिषि तिगनिसु च परिहारिणा णव चत्तारि परिहारिया
अणुपरिहारिया वि चत्तारि एसो कप्पट्टिओ । एपसिं अस-
खेज्जाइ अतरा सजमट्टाणाइ तेसु पुण सव्वेसु वि दुविहा
सोही अन्मत्थसोही य करणसोही य । दो वि कायन्वाओ
नाणद्वया एव नाणनिमिस्सं वा नाणोवउत्तो वा ज करेइ तत्थ वि
अन्मत्थकरण पडुख निज्जराविसेसो करणविसोहीए वि बाहि-
रण अन्मत्थओ चेव निज्जराविसेसो एस अंतरकप्पो । प०चू० ।
अंतरकरण-अन्तरकरण-न० यथाप्रवृत्तकरणापूर्वकरणानि-
वृत्तिकरणभेदभिधे सम्यक्त्वौपयिककरणे, पं० सं० १ द्वा० ।
[तद्वृत्तं यथा प्रवृत्तादिशब्देषु करणशब्दे च]

अंतरगय-अन्तर्गत-त्रि० मध्यगते, प्रश्न० सं० ३ द्वा० ।

अंतरगिह-अन्तरगृह-गृहान्तर-न० गृहस्य गृहयोर्वा अन्तरं
राजदन्तादित्वात् अन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातः । गृहस्य गृह-
योर्वा अन्तराले, घृ० ३ उ० । गृहयोरन्तराले स्थानादि न
कर्तव्यम् " गिहंतरणिसिज्जा य चि " अनाचारत्वेन तस्य
कथनात् ।

(सूत्रम्) नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गर्थाणं वा अंतरा-
गिहम्मि चिह्णित्तए वा निसीयत्तए वा तुअट्टत्तए वा निहाइ-
त्तए वा पयत्ताइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा आहारं आहारित्तए उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा
सिंघाणं वा परिट्टवित्तए सज्जायं वा करित्तए भाणं वा
भाइत्तए काउस्सगं वा ठाणं वा ठाइत्तए अह पुण एवं
जाणिज्जा बाहिण जराजुष्णो तवस्सी दुब्बले किहंते मु-
च्छिज्ज वा पवमिज्ज वा एवं से कप्पइ अतरगिहंसि चिह्णि-
त्तए वा जाव ठाणं ठाइत्तए ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तर गृहे गृहस्य
गृहयोर्वा अन्तरे मध्ये राजदन्तादित्वादावर्षत्वाद्वा अन्तरशब्द-
स्य पूर्वनिपातः स्थातु वा निषक्तु वा यावाकरणात्त्वन्वर्तयितु
वा निष्ठापयितु वा प्रचक्षायितु वा असन वा पान वा स्नादिम
वा स्वादिम वा आहर्तुमुच्चार वा प्रस्त्रवण वा खेद वा सिंघाण वा
परिष्ठापयितु स्वाध्याय वा कर्तुं ध्यान वा ध्यातु (काउस्स-
माति) कायौत्सगंलक्षणं वा स्थातु स्थान कर्तुं सूत्रेणैवापवाद
दर्शयति । अथ पुनरेव जानीयात् (बाहिं इत्यादि) व्याधि-
तो ग्लानो जराजीर्णं स्थविरस्तपस्वी क्षपको दुर्बलो ग्लानत्वा-
दधुनैवोत्थितोऽसमर्थशरीरः एतेषां मध्यादन्यतमस्तपसा भि-
क्षापर्यटनेन वा क्लान्तं परिभ्रान्तः सन् मूर्च्छेद्वा प्रपतेद्वा एवं
कारणमुद्दिश्य कल्पते अन्तरगृहे स्थातुं वा यावत् कायोत्सर्गं
वा कर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः ।

संज्ञानमसंभावे, दुएह गिहाणंतं तु संभावे ।

पासपुरोहुरुअंगण, मज्झंति य होतसंज्ञावं ॥

गृहान्तरं द्विधा सज्जावतोऽसंज्ञावतश्च । गृहयोर्गृहयोर्दन्त-
र मध्य तत्संज्ञावो गृहान्तरम् । यत्तु गृहस्य पार्श्वतः पुरोहणे
अङ्गणे गृहमध्ये वा तत्संज्ञावगृहान्तर भवति एतस्मिन् द्विवि-
धेऽपि भिक्षाद्यर्थे निर्गतस्य स्थानादि कर्तुं न कल्पते ।

कुडुतरजितीए, णिवसणे गिहे तहेव रत्थाए ।

बायंतगणे लहुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

द्वयोः कुडुत्तरयोरन्तरे (जितीएणि) सदितपतितस्याभिनव-
क्रियमाणस्य वा गृहस्य जिती निवेदिताश्चारित्रप्रभृतीनां गृहा-
णामाजोगे (गिहिति) गृहपार्श्वे रथ्याया प्रतीतायामेतेषु स्था-
नेषु तिष्ठतश्चतुर्दण्डुका-तत्राप्याह्लादगो दोषा मन्तव्यास्तन्निमित्त
प्रायश्चित्तं पृथग्भवतीति ज्ञातः । तथा-

खरिए खरिया सुएहा, एट्टे वट्टे खरे व संकिज्जा ।

खिएणे य अगणिकाए, दारे वित्तिं व केण तिरियक्खं ॥

खरको दास खरिका दासी स्नुषा वधूः वृत्तखरस्तुरङ्गमः एतेषु
मष्टेषु साधु शङ्क्येत यः श्रमणकः कस्ये अत्र गृहान्तरे उपविष्टः
आसीत् तेन हृतं भविष्यति । द्वारे वा श्रमणेन उद्घाटिते स्तन
प्रविश्य हृतवानिति (वेत्तिस्सि) वेत्तं केनचित् ज्ञात दत्तमि-
त्यर्थे अग्निकायो वा केनापि दत्तो भवेत् द्वारेण वा प्रविश्य
वृत्तिं वा छित्वा केनापि सुवर्णादिकमपि हृत स्यात् तिरिय्या-
नीयां वा गोमहिषीप्रवृत्तिको मृतो भवेत् तत्रापि शङ्कायां ग्रह-
णाकर्षणादयो दोषा बत एवमतो गृहान्तरे ज्ञातव्यम् ।

अथ सूत्रोक्त द्वितीयपद भावयति ।

उच्छुष्कशरीरे वा, दुष्प्लवतपसोसिते व जे होज्ज ।

धरे जुष्महिद्धे, वीसंभणवेसहतसके ॥

उच्छुष्क रोगाघात शरीरं यस्य स उच्छुष्कशरीरो वाशब्दः
उत्तरापेक्षया विकल्पायै दुर्बलोऽधुनोत्थितग्लानः तप शोषितो
या विकृष्टतपोनिष्ठसदेहो प्रवेत्त यो वा स्थविरो जीर्णः पष्टिवर्षा-
तिक्रान्तजन्मपर्यायः सोऽपि यदि महान् सर्वेभ्योऽपि वृद्धतर
एते विश्रामग्रहणार्थं गृहान्तरे तिष्ठेयुः । इह च व्याधितोदये
उत्सर्गतो जिज्ञासु न कार्यते परमात्महन्धिकारणापेक्षया भिक्षा-
मृतां प्राकृतस्तत्रावतारो मन्तव्यः स च व्याधितादिविधमभण-
वेप सविग्नवेपधारी इतश्च हास्यादधिकारविकलतया अ-
संज्ञावनीयव्यतीकशब्दः सन् तत्र स्थानादीनि पदानि कुर्यात् ।

अहवा ओसहहेठं, संखमिसधामए व वासासु ।

वायाए वा तत्थ उ, जयणाए कप्पती ठाठं ॥

सूत्रोक्तस्तावदपवादो दर्शितः । अयार्थतः प्रकारान्तरेणाप्यु-
च्यते इत्यत्र वाशब्दार्थं औपधहेतोर्दातार गृहे अस्वाधीन प्र-
तीकृते सखण्णयां वा यावहेला भवति सघाटकसाधुर्वा याव
द्रूपानभूत भाजनं वसतो विमोच्य समागच्छति वर्पासु वा
गृहं प्रविष्टानां वर्षे निपतेत् वधूवरदागमनं वा रथ्यायां व्या-
घातो प्रवेत्त तावत्तत्रैव गृहान्तरे यतनया वक्ष्यमाणया स्थानु
कल्पते एष द्वारगाथासमासार्थः ।

अर्थनामेव विवरीयुर्यापधिसखमिद्धारे व्याख्यानयति ।

पाममि ओमहाई, ओसहदाता व तत्थ असहणीणो ।

संखमि अमती काटो, उठते वा पमिच्छंति ॥

ग्लानस्यौषधानि पेष्ट्यानि तत्र पेयणशिला प्रतिश्रये नेतु न
कल्पते अतस्तेषां चागारिणां गृहान्तरे स्थित्वा तानि पेयन्ति ।
औषधमार्गणार्थं वा कस्यापि गृहं गता स औषधदाता त-
दानीं तत्रान्वाधीनोऽतस्त प्रतीक्षमाणं स्थातव्यम् । संखडी
वा कापि वर्तते तत्र वसेत्कालोऽद्यापि देशकालो न भवति
गृहस्वामिना चोक्त प्रतीक्षध्व क्षणमेक यावहेला भवति तत-
स्तस्मिन्नन्यस्मिन् वा गृहे प्रतीक्षणीयम् । अगारिणो वा तदानीं
गृहाङ्गणमापूर्य भोक्तुमुपविष्टाः सन्ति ततस्तानुपतिष्ठतः
प्रतीक्षत ।

सघाटकद्वारमाह ।

एगयर उभयओ वा, अह्वंजे अह्वं वा उभयलंभे ।

वसाहिं जाणे एगो, ता इअरो चिद्धई दूरे ॥

एकतरस्य भक्तस्य वा पानस्य वा उभयोर्वा अलाभे दुर्ल-
भतायामित्यर्थः । [आह्वं] कदाचिदुभयमपि प्रचुरतर
लब्ध तेन च भाजनमापूरित ततः सघाटकस्य मध्याद्यावदे-
कस्तद्भाजनं वसति नयति तावदितरः साधुरगारिणां दूर
भूत्वा तिष्ठति एष चूर्णमिश्रणः । पुनरयं भक्तस्य पानकस्य
उभयस्य दुर्लभस्य लाभः समुपस्थितो मात्रक च तस्मिन् दिने
अनाभोगेन न गृहीत ततो यावदेको मात्रक वसतेरानयति
तावदितरस्तत्र गृहिणां दूरे तिष्ठतीति ।

वर्षाद्वारमाह ।

वामासु च वामंतं, आणुषचिच्छाण तत्थ णावाहे ।

अतर्गहिह गिहे वा, जयणाए दो वि चिद्धंति ॥

वर्षासु वा कापि गृहे गतानां वर्षे वर्षन्ति गृहस्वामिनमनु-

ज्ञाप्य तत्रानावाधे अवकाशे अन्तरगृहे वा गृहे वा द्वावपि
सघाटकसाधू यतनया विकथादिपरिहारेण तिष्ठतः ।

प्रत्यनीकद्वारमाह ।

पमिणीपनिवेपंते, तस्स अंतेउरे गतो फिमिए ।

जुगहनिव्वहजावे, वाघातो एवमादीसु ॥

प्रत्यनीक समागच्छन्त दृष्ट्वा यावदसौ अतिव्रजति तावदेकान्ते
निर्लीय तिष्ठन्ति नृपो वा सम्मुखेनैति तस्य वा नृपस्यान्तः-
पुर गजो वा हस्ती निर्गच्छति ततो यावदसौ स्फादितो प्रव-
ति तावत्तत्रैवासते (जुगहसि) दण्डिकौ द्विजौ वा द्वौ परस्प-
र विग्रह कुर्वन्तौ समागच्छतो निर्बह बधूवर ततो महता वि-
च्छेदं समायाति आदिशब्देन गौष्ठिका गीत गायन्तः समा-
यानि एवमादिषु कारणेषु व्याघातस्तत्रैव प्रतीक्षणलक्षणो
भवति । तत्र च निष्ठतामियं यतना ॥

अयाणगुत्ता विकहाविहीणा,

अच्छण्णछाणे व ठिया पविष्ठा ।

अत्यंति ते संतमुहा णिविछु,

भजंति वा सेसपदे जहुत्ते ॥

आदानैरिच्छितैर्गुप्तास्तथा विकथया भक्तकथादिरूपया वि-
शेषेण हस्तसङ्गादेरपि परिहारेण हीनास्त्यक्तास्तत्र गृहान्तरे
अच्छन्ते छन्ने वा प्रदेशे ऊर्द्धस्थिता उपविष्टा वा ते साधवः
शान्तमुखा आसते । निवेद्य चोपविश्य शेषायपि स्वाध्याय
विधानादीनि यथोक्तानि पदानि यथायोगं भजन्ते न च दोष-
मापद्यन्ते । कथमिति चेदुच्यते ।

थाणं च कालं च तहेव वत्थुं,

आसज्ज जो दोसकरे तु ठाणे ।

तेणेव अन्नस्म अदोसवंते,

जवंति रोगिस्स व ओसहाई ।

स्थानं च स्त्रीपशुपण्डकसक्त भूभागादि कालं च ऋतुबद्धा-
दिक तथैव यस्तु तरुणरोगादिक पुरुषद्वयमासाद्य यान्ये-
कस्य गृहान्तरे स्थाननिपदनादीनि स्थानानि दोषकारीणि
भवन्ति तान्येवान्यस्य पूर्वोक्तधिपरीतस्थानकाष्ठपुरुषवस्तुसा-
चिद्याददोषवन्ति रोगिण इवौषधानि । यथा किञ्च यान्यौषधा-
न्येकस्य पित्तरोगिणो दोषाय भवन्ति तान्येवापरस्य वातरोगि-
णो न कमपि दोषमुपजनयन्ति एवमत्रापि भावनीयम् ।

अन्तरगृहे धर्मकथा न कथनीया ।

[सूत्रम्] नो कप्पति निग्गयाण वा निग्गंथीण वा अंतर-
गिहम्मि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा आइखित्तए वा वि-
जावित्तए वा किट्टित्तए वा पवयित्तए वा नन्नत्थ एगना-
एण वा एगवागरणेन वा एगगाहाए वा एगसिद्धोएण वा
सेविय ठिच्चा नो चेव एं अठिच्चा ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरगृहे यावच्चतुर्गाथ
वा पञ्चगाथ वा चिभावयितु वा कीर्तयितु वा प्रवेदयितु वा । एत-
देवापवादमाह । "नन्नत्थ" इत्यादि नो कल्पते इति योऽयं निषेधः
स एकजाताद्वा एकगाथाया वा एकश्लोकाद्वा अन्यत्र मन्तव्यः ।
सूत्रे च पञ्चम्यास्थाने तृतीयानिर्देशः प्राकृतत्वात् । अपि च
एकगाथादिद्वयाख्यानं स्थित्वा कर्तव्यं नैवास्थित्वा भिक्षां पर्यट-
ता उपविष्टेन वा इति सूत्रार्थः ।

अत्र विषयपदानि भाष्यकृद् विवृणीति ।

मंहियकट्टणमादि-कवणं तु पदच्छेद मो विज्ञागो उ ।

मुत्तन्योकिट्टणया, पयतणं तप्फट्टं जाण ॥

इह सहिताया अस्वलिनपदोच्चारणरूपाया यदाकर्षण तदा-
ख्यानमुच्यते तच्चेद व्रतसमितिकपायाणा धारणरक्षणविनि-
ग्रहा सम्यग्दमेत्यश्चोपरमो धर्म पञ्चेन्द्रियदमश्च एव भिक्षां-
गते गृहस्थानां धर्मकथनार्थं सहिताकर्षण करोति । यस्तु पद-
च्छेद 'मो' इति पादपुरणं स विभागो विज्ञावना ज्ञायते यथा
व्रतानां धारण समितीनां रक्षण कथायाणां निग्रह इत्यादि ।
यत् सूत्रार्थं कथन सा चत्कोर्नना सा चैव व्रतानि प्राणानिपा-
नादिविरमणरूपाणि तेषां सम्यगप्रमत्तेन धारण कर्त्तव्यम् ।
समितयं र्ज्यासमित्यादयस्तासामेकाग्रचेतसा रक्षण विधेय-
मित्यादिकस्य धर्मस्य यत्पक्षमैहिकामुष्मिकलाभवरक्षण तत्प्र-
रूपण प्रवेदन जानीयात् यथा जगद्वन्प्रणीतममु धर्ममनुनिष्ठ
इहेव भुवनवन्दनीयतायश प्रवादादयो गुणा उपदौकस्ते परत्र
च स्वर्गापवर्गमौख्यप्राप्तिर्भवतीति एव इलोकादेराख्यानादिषु
भिक्षा गतेन विधीयमानेषु दोषानाह ।

एका वि ता महत्ता, किमंग पुणं होति पंच गाहाओ ।

माहण लहुगा आणा-दिदोसा ते चेविमे अस्से ॥

एव सहितादिविस्तारेण व्याख्यायमाना तावदेकाऽपि गा-
था महती महाप्रमाणा भवति किमङ्ग पुन पञ्च गाथा । अतो
यद्येकामपि गाथां कथयति तदा चतुर्लघुका आजादयश्च
दोषा । तथा चतुर्लघुमादिहतनष्टशब्दादयस्त पचान्तगृहोक्ता
दोषा भवन्ति । इमे च वक्ष्यमाणा अन्ये दोषास्तानेवाह ।

अर्द्धीकारगपोत्थग-खरगणमक्खग चैव ।

माहारणपरिणत्ते, गिह्वाणलहुगाड जा चरिमं ॥

भिक्षां पर्यटन कमप्यगारिणमश्रुद्धां गाथां पठन्त श्रुत्वा प्र-
वीति विनाशितेयं त्वया गाथा । तथा (अर्द्धीकारगात्ति) गा-
थाया अर्द्धमह करोमि अर्द्धं पुनस्त्वया कर्त्तव्यम् । (पुत्थगात्ति)
पुस्तकादेव शास्त्रमर्थान् भवता न पुनर्गुरुमुत्तान् । (खरग-
णत्ति) किमेव खर इवाग्रटन करोमि (अक्खग चैवत्ति) अ-
क्षराण्येव तावद्भवाज्ज जानीते अत पट्टिकामानयाह भवन्त
तानि शिस्त्याम इत्यादिब्रुवाणां यावत्तत्र व्याक्षेप करोति ता-
वत् इमे दोषा (माहारणत्ति) साधारण सर्वेषु मिलितेषु
यन्मगडल्या भोजन तन्निमित्तमितरे साधवः त प्रतीक्षमाणा-
स्तिष्ठन्ति (पडणिगत्ति) तेन साधुना कश्चिन् ग्लान प्रति-
क्षम अयाह भवत प्रायोग्यमानेप्यामीति ततस्तन् ग्लेलावि-
लम्बेन यदस्मां ग्लान परितापादि प्राप्नोति तत्र चतुर्लघु-
कादि चरम पागाञ्चक यावत्प्रायश्चित्तमिति द्वारगाथा-
समासार्थः ।

साप्रतमेनामेव व्याख्यानयति ।

जगविभगा गाहा, भणई हीणा च जा तुमे जणिना ।

अह मे करोमि अहं, तुम मे अहं पमाहेहि ॥

साधुभिक्षां गत सुपारिडन्यन्यापनार्थं गृहस्थ पठन्त श्रुत्वा
प्रवीति येय त्वया गाथा मणिना सा भगविभगा इति भगति
हीना वा कृता । यत्र अहं (से) तस्या गाथाया अह क-
रोमि अहं पुनस्त्व प्रमाथय इत्ययमभिनवा गाथा क्रियते ।

पोत्थगपञ्चगपडिय, किं रटमि रागहु ज्व अभिलापं ।

अकयमुह ! फलयमाणय, जा ते लिक्खं तु पंचगं ॥

पुस्तकप्रत्ययादेव भवता पठितं न गुरुमुखात् अतः किमेतेन
प्रयासेन किं वा त्वमेव रासज इव अभिलाप विस्तारमारटासि ।
यद्वा अकृतमकरसस्कारेणासकृतं मुखं यस्यासावकृतमुखस्त-
स्यामन्त्रण हे अकृतमुख ! अपठिताशिक्षित एव भवान्न किमपि
ज्ञास्यति अतः फलकं पट्टिकामानय येन तव योग्यानि पञ्चा-
प्राण्यकराणि लिख्यन्तामस्मान्निः । एव भिक्षां पर्यटनं यदि वि-
कथ्यते तत इह प्रायश्चित्तम् ।

लहुगादी लहुगुरुगा, तवकालविमोमिया चउगुरुगा ।

अधिकरणमुत्तरुत्तर-एसणसंकाइ फिमियम्मि ॥

गाथायामर्क्षीकारके च चतुर्लघु, पुस्तके चतुर्गुरु, अक्षरशि-
क्षणे परलघु, खररटने परगुरु, । अथवा तपःकालविशेषिता-
श्चतुर्लघुका तद्यथा गाथामर्क्षीकारकयोस्तपः कालाभ्यां लघुका
पुस्तके कालेन गुरुका अक्षरेषु तपसा गुरुका, खररटने तपसा
कालेन च गुरुका । अधिकरणं च कलहस्तेन समं प्रवर्ति उ-
त्तरोत्तरा उक्तिप्रत्युक्ती, कुर्याणस्य च तस्य भिक्षायां देशकाल-
स्फिटिनि तस्मिन् स्फिटिते पर्यटनैरणयोः प्रेरणं कुर्यात् अकाल-
चारिणश्च शठकादयो दोषा जवन्ति ।

वागिएहति डय सो जाव, तेण ता गहिय भायणा इयरे ।

अत्थंते अंतरा य, एमेव य जी परिमत्तो ॥

यावदस्मां तेन समनुत्तरप्रत्युत्तरिका कुर्वन् व्यागृह्णाति व्याक्ते-
पेण वेलां गमयति तावदितरे साधवो गृहीतजाजना सन्त
आत्मने ततोऽन्तरायदोषः । एवमेव यो ग्लान प्रतिक्षमस्त्वयो-
ग्य प्रायोग्यमद्य मया आनेतव्यमित्यर्थं ततस्तस्मिन्नापि तावन्त
कालं बुद्धिक्लिने तिष्ठति तस्य साधोरन्तराय जवति ।

काझाडकमदाणे, होइ गिह्वाणस्स रोगपरिवुद्धी ।

परितावणगाढानि, चउलहुगा जाव चरिमपद ॥

कात्तानिक्रमेण च शानस्य जक्तपानदाने रोगपरिवुद्धिर्भवति
ततश्च यदसावनागाढपरिनापादिक प्राप्नोति तत्र चतुर्लघुका-
दिप्रायश्चित्तं यावत् कालगते चरमपद पागाञ्चकम् । द्विती-
यपदे गोचरप्रविष्टोऽपि परेण स्पृष्टं सन् कथयेत् किं कारणमि-
ति त्रैलुच्यते ।

किं जाणंति य चरगा, हड्डं जहिताण जे उ पवइया ।

एवंविधो अवणो, मा होहिइ तेण कहयति ॥

यदा परेण प्रश्नितो अपि न कथयति तदा स चिन्तयति किमे-
ते चरका जानन्ति ये हल परित्यज्य प्रव्रजिता एवत्रिगोऽवर्ण-
प्रवचनस्य मा नूत तेन कारणेन कथयन्ति । अथ "एगनाण-
वा" इत्यादिसूत्रपदद्वयाच्चिर्यामयाऽऽह ।

एग नाय उदगं, वागराणमहिंसलक्खणो धम्मो ।

गाहाहिं मिलोमहि वु ममासतो त पि त्रिच्चा एं ॥

परप्रश्नितेन धिक्कितार्थममर्थमर्थमेकं ज्ञानमभिधानय तत्र
चोदकृष्टान्तो भवति व्याकरणं निर्वचनं यथा केनचित् धर्मल-
क्षणं पृष्टन्त प्रतियुयात् अहिंसावक्रणो धर्मः । अथवा गाथाभि-
श्वोर्कैर्वा समामतो धर्मकथनं कर्त्तव्यं तदपि च स्थित्वा नापवि-
ष्टेन न वा भिक्षा हिण्डमानेनेति निर्युक्तिगाथासमामार्थः ।

अथेनामच विवृणोति ।

नजइ अगेण अत्थं, एणय दिट्ठन इति व एगहं ।

वागरणं पुण जा ज-स्स धम्मता होति अत्यस्स ॥

ज्ञायते स्मनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातं दृष्टान्त इति चैकार्थं व्याक-
रन् पुनर्यो यस्य मोक्षादेरर्थस्य धर्मता स्वभावास्तस्य निर्वचनम् ।
अथोक्तदृष्टान्तो भाष्यते "एवो साह उभामगमिक्खायरियाए
अक्खे गामयक्खं तथ अतरा गिहयां भिक्षितो ते दो वि यक्खता अ-
तरापदे उदग उल्लिखणा सो अगारो गाम पयिट्ठो तस्म य भगिणी
अत्थि तीए घरं पाहुणगो गतो । साह वि भिक्ख हिंरुतो तं
घर गतो भगिणीए पुरेकम्म कयं साहुणा पडिसिद्ध । भगिणी-
ए क्खियं कीस न गिएहमि । साह भगव उदगसमारंजो न घट-
ह । अगारा जणति जं मय सम पथे उदगं उल्लिखो सि न किह
कप्पह अहो मायायिणो दुदिहधम्मणो सि । साह जणह न यय
मायायिणो न या दुदिहधम्मणो किं तु " एप्प गु परिहगामो,
अप्प विवज्जं व विज्जति दु । एप्प ससु सावज्ज, पज्जंतां होह
अववज्जो " प्राप्यमेव परिहनुं शक्यमेव दयं परिहराम समाप्य-
स्य परिहनुं शक्यस्य मार्गक्रमापातोत्कषाहकादंविषयजं
परिहर्ता न विद्यते अत एव प्राप्य सावज्ज पुर कर्मोदिक यजं-
यद् अनरण्यो निर्दोषो भवति । चापि च नायमकालो यदेकत्रान-
वधतया दृष्ट नदन्यत्र प्राप्यमयममेव ज्ञायते । तथाहि ।

चिरपाहुणतो भगिणि. अरयागितो अटोसर होति ।

तुं चेव मज्ज सक्खी. गराहज्ज अणाहिं काहे ॥

चित्रकालाश्रयात् प्राश्रयणा जगिनीमयकाश्रयान् सन्नेहमा-
हिद्वन् अदोषवान् भवति । तथा चात्र न्यमेव मम साक्षी प्रमाण
साधनमेव भवता चिरप्राश्रयणतया जगिनीपरिष्वङ्गस्य कृत-
त्वादिति ज्ञायते । तस्मात् च जगिनीमन्यस्मिन् काले परिष्वजन्
गहने निज्जन् अत्रापि न्यमेव प्रमाणमिति । तथा ।

पादोहि अथोत्तेहि वि, आकमिप तस्मि कीरती अगा ।

संमिण वि मकिज्जति, मथं चिनीकया उरिभो ॥

अत्र प्रतिमा सा यात्रायापि प्रतिष्ठिता तावदर्थात्तराप पा-
दैराक्रम्योपरि चटित्वाऽपि क्रियते । नैव प्रतिमा चिनीकया चै-
त्यत्र न च्यवस्थापिता शीर्षेणापि स्प्रष्टुं शक्यत शिरसा स्पृश-
न्निपि दाहा विधीयन् इति ज्ञायते ।

केड मगीरावयवा, देहत्था पृथा न पुण विउता ।

सांज्जिति वणमुहा, मलम्मि वुं ए सव्वं उ ॥

केचिन् शरीरावयवा दन्तकेशतगादयो देहत्था सन् पू-
जिता प्रशस्ता नान्त न पुनर्विमुता शरीरावयवज्ञता ।
तथा वणमुत्था यपि श्रान्तव्यु पायुप्रज्ञनीनि मले व्युद्धे सति न
सर्वाण्यपि ग्राह्यन्ते किंतु कानिचिदर्थानि ।

जड एगत्थुल्लु, मव्वत्थ वि एउमाम्मी मोहा ।

जुमीतो होति कणग, रिण गुत्तमा पुणो जुमी ॥

यदि नाम एकर यदुपलब्ध सर्वत्रापि तेन भवितव्यमि-
त्येव मोहादज्ञानान् मन्यन्ते तत्र कथय भूमिन् कनकमुत्प-
द्यमानं शयन् तत्र सुवर्णात्पुनरपि किं न भूमि सम्पद्यते ।

तस्मा उ अणोगतो, ए दिट्ठमगन्थ सव्वहि होति ।

लोए भग्गवभग्गव. पिज्जमपिज्ज च दिट्ठाड ॥

तस्मादनेकान्तोऽनियमो य कीदृश इत्याह । नैकत्र दृष्ट स-
र्वत्रापि भवतीति । तथाच लोके प्राग्यद्वन्द्वे समानेऽयोदनप-
काशदिक भव्य सामान्यभादिकमभव्य तत्रजलादिक पेय

मयुरुधिरादिकमपेयमित्यादीनि पृथक् व्यवस्थोत्तराणि दृ-
ष्टानि तथा अपि उदकसमाहम्भादौ मन्तव्यानि गतमेककालम् ।
अथैकव्याकरणेन यथा धर्मोऽभिधीयते तथा दर्शयति ।

ज इच्छसि अप्पणतो, ज व ए इच्छसि अप्पणतो ।

तं इच्छ परस्म वि यं, इत्तियगं जिणसासणयं ॥

यदात्मनः स्वजीवस्य सुखादिकमिच्छसि यच्च दुःखादिक-
मात्मनो नेच्छसि तत्परस्याप्यात्मव्यतिरिक्तस्य जन्तोरेच्छ
आत्मवत् परमपि पश्येति भावः । एतादृत् जिनशासनमिय-
न्मात्रो जिनेपदेश इति । गाधया पुनरित्थ धर्म उपदिश्यते ।

सव्वारंजपग्गिह-णिक्खेवो सव्वज्जतसमया य ।

एवग्गमणसमाहा-णया अह एत्तिओ मोक्खो ॥

सर्वस्य सूक्ष्मयादगाद्यशेषजीवविषयस्यारम्भस्य सर्वस्य च
सचित्ताचित्तमिधमेदभिन्नस्य परिग्रहस्य गो निक्षेपः स न्यासो
यावत्सर्वभूतेषु समता, या च एकाग्रजन समाधानता, अ-
र्थ एव एतावान् मोक्ष उच्यते । कारणे कार्योपचारादेषो मो-
क्षापाय इत्यर्थः । श्लोकेन यथा ।

सव्वज्जतप्पज्जतस्स, सम्मं जूताइ पासउ ।

पिहिया सम्पस्स दंरुस्स, पावं कम्म न वंधइ ॥

पाठमिह । ये तु ससृजतग्वयस्तेषामित्थ गाधया श्लोकेन वा
धर्मकथा क्रियते । "यत्तसमितिकयायाणा, धारणरक्षणविनि-
मता सम्यक् । दण्डेभ्यश्चोपरमो, धर्मं पञ्चेन्द्रियदमश्च ॥ यत्र
प्राणिश्रेयो नास्ति, यत्र सत्यमनिन्दितम् । तत्रात्मनिग्रहो दृष्टः
स धर्ममपि रोचयेत् " ।

अथ किं कारणं स्थित्या धर्मं कथनीय इत्याशङ्क्याह ।

इरियावहियावणे, मिद्धं ए गिएहए अतो उच्चा ।

जदिही पणिणीए, अभिओगे चउएह वि परेण ॥

इयांपथिको चकमणक्रिया तां कुर्वन् यदि कथयति तदा
लोकं अचलीं भवति दुर्दृष्टधर्माणोऽमी यदेव गच्छन्तो धर्मं
कथयन्ति अपि च शिष्टमपि कथितमपि धर्ममेव श्रोता न शृ-
णाति । अतः स्थित्या एकश्लोकादि कथनीयम् । अथापवाद
उच्यते कश्चिद्वक्तो धर्मश्रवणालु ऋद्धिमान् धर्मं पृच्छ-
ति ततः सत्यानुकम्पया प्रवचनोपग्रहकरश्च भविष्यतीति
हत्या तिस्रश्चतस्रः पञ्च वा बहुतरा वा गाथा उपविश्व
कथयितव्याः । प्रत्यनीको वा कश्चिद् व्यतिव्रजति त
प्रनीक्षमाणस्तावद्धर्मं कथयेत् यावदसौ व्यतीतो जवति ।
यदा स प्रत्यनीक सदसा दृष्टो भवेत् ततो य सव्वन्धिक स
उपशमनानामित्त बहुविधमुपदेश दद्यात् । दण्डिकस्य वा अ-
भियोगो बलात्कारो भवेत् । किमुक्तं जवति । एकश्लोकेन धर्मं उ-
पदिष्टे दण्डिको ब्रूयात् कथय कथय मे सप्रति मदती अस्मा व-
र्तेन तनश्चतुर्णां श्लोकानां परतोऽपि कथयेत् । आह कीदृशी
पुन कथा कथयितव्या कीदृशी वा नेति ।

सिगाररमुत्तिजिया, मोहमई फुंफुका हसहमेति ।

जं पुण माणुस्मरुहं, समणेण नु सा कहेयव्वा ॥

या कथा गृण्यन् श्रोतु स्त्रीसुवर्णकादिश्रवणजनितो रसस्स शृ-
ङ्गाणे नाम रसस्तेनोत्तेजिता सती मोहमयी फुफुका (हसह-
सन्ति) जाज्वल्यन्ते सा कथं श्रवणेन कथयितव्याः ।

समणेण कहेयव्वा, तव नियमकहा विरागमंजुत्ता ।

जं सौकुण मणूसो, वच्चइ संवेगणिन्वेयं ॥

तपोऽनशनादि नियमा इन्द्रियनिग्रहास्तत्प्रधाना कथा तपो-
नियमकथा विरागसंयुक्ता न निदानादिना रागादिसंगता श्र-
मणेन कथयितव्या या श्रुत्वा मनुष्यः श्रोता सवेगनिर्वेदं व्रजति ।
सवेगो मोक्षाभिलाषो निर्वेदः ससारवैराग्यम् ।

महाव्रतानि न गृहान्तर कथनीयानि ।

(सूत्रम्) नो कप्यइ निगंधाणं वा निगंधीणं वा अंतरगिहमि
इमाइ पंचमहन्वयाइ सजावणाइ आइखित्तए वा विजावि-
त्तए वा किट्ठित्तए वा पवेयत्तए वा नन्नत्थ एगणाएण वा
जाव सिलाएण वा सेविय ठिच्चा नो चेव ण अट्ठिच्चा ।

अस्य व्याख्या प्राक्सूत्रवद् द्रष्टव्या । नवरम्-इमानि स्वयमनु-
चूयमानानि पञ्च महाव्रतानि सभावानि प्रतिव्रतं प्रावनापञ्चा-
युक्तानि आख्यातु वा विजावयितु वा कीर्तयितु वा प्रवेदयितु वा
न कल्पते । आख्यातं नाम साधूनां पञ्च महाव्रतानि प्रावनायुक्ता-
नि षट्कार्यरक्षणसाराणि भवन्ति । विभावनं तु प्राणातिपातादि-
रमण यावत्परिग्रहाद्विरमणमिति । प्रावनास्तु "इरियासमिण स-
या जण इत्यादि" गाथोक्तस्वरूपाः षट्कायास्तु पृथिव्यादयः का-
र्त्तन नाम या प्रथमव्रतरूपा अहिंसा सा जगवती सदेवमनु-
जासुरस्य लोकस्य पूज्या प्राण गति' प्रतिष्ठेत्यादि एवं स-
र्वेषामपि प्रश्नव्याकरणाङ्गोक्तान् गुणान्कीर्त्तयति प्रवेदनं तु म-
हाव्रतानुपालनात् स्वर्गोऽपवर्गो वा प्राप्यत इति सूत्रार्थः । पर-
मार्ह । ननु पूर्वसूत्रेण गतार्थमिदमतः किमर्थमारभ्यते उच्यते ।

गहियागहियविसेमा, गाथासुत्ता तु होति वयमुत्ते ।

णिदेसकतो व जने, परिमाणकतो व विमंयो ॥

गाथासूत्राद्गतसूत्रे पठितो ग्रथितः विशेषो मन्तव्यः किमुक्तं भव-
ति अनन्तरसूत्रे च उगाह वा पचगाह वा इत्येकं ताश्च गाथा ग्रथि-
ता भवन्ति इमानि तु महाव्रतानि ग्रथितानि अग्रथितानि वा भवे-
युग्रंथितानि नाम पदपाठबन्धेन वा श्लोकबन्धेन वा षट्कानि क-
थयति अग्रथितानि तु मुक्तैरेव वचनैरान्यभिधीयन्ते यथा
निर्देशः कृतोऽत्र वक्ष्यो भवति अनन्तरसूत्रे चतुर्गाथ पञ्चगाथ
वा कथयितु न कल्पते इत्युद्देशमात्रमेव कृतम् अत्र तु महाव्र-
तानि सभावनाकानीत्यनेन तस्यैव विशेषनिर्देशः क्रियते । परि-
माणकतां वा विशेषो विज्ञेयः । यद्धस्तनसूत्रे धर्मस्वरूपमुक्तं
तद्वैवात्र महाव्रतमञ्चकमिति सख्यया विशेषो निरूप्यते ।

अथात्रैव दोषानाह ।

पंचमहन्वयतुंगं, जिणवयणं जावणापिण्डगं ।

माहणवहुगा आणाइ-दोभं जं वा णिसिज्जाण ॥

इह जिनवचनं मेरुसदृशं पञ्चनिर्महाव्रतैस्तुङ्गमुच्छ्रितं पञ्च-
महाव्रतमयोच्छ्रितमित्यर्थस्तस्यैव महाव्रतोच्छ्रितस्य रक्षणार्थं
भावनाभिः पञ्चविंशतिसख्याकामि पिनरुंगादतरं नियन्त्रि-
मीदृशं जिनवचनमन्तरगृहे उपविश्य कथयन् श्रुतुं श्लेषुकाः आ-
क्षादयो दोषाः । यद्वा गृहनिषद्याया वाहितायां प्रायश्चित्तं यच्च
दोषजालं तदापद्यते । तथा महाव्रतपञ्चकविषया दोषा भवन्ति ।
प्राणवधमापद्यते प्राणवधो वा शङ्क्यते । एव यावत्परिग्रहमापद्यते
परिग्रहे वा शङ्क्यते । तथाहि ।

पाणवहम्मि गुविण्णी, कप्यट्ठाणाणए य सकाओ ।

जणिऊण दाइ कोइ, मोममियं सकणा साणे ॥

गृहे उपविश्य साधुधर्मं कथयति गुविण्णी च तस्यान्तिके उ-
पविश्य शृणोति यावच्छासौ तत्र तिष्ठति तावत्तदीयगर्मस्याहा-
रव्यवच्छेदेन विपस्तिर्भवति । एव प्राणवधो लगति । तथा ध-
र्मं कथयतः काचित्द्विरतिका शृण्वत्येवापान्तराले कायिक-
चूर्मिं गच्छेत् स च पुनस्तत्रैवास्ते ततः सपत्नी द्विदं लब्ध्वा-
तत्तनय मिषेण साधोरग्रतो निपात्य द्वावयति एव प्राणातिपात-
विषया शङ्का भवेत् । तथा यत्तीर्थकरैः प्रतिषिद्धं तन्मया न क-
र्त्तव्यमिति प्रतिज्ञातैः प्रतिषिद्धां निषद्यां वाहयतो मृषावादो भव-
ति । यद्वा स्वमुखेनैव गृहनिषद्यां निषिध्य पञ्चादात्मनैव तां परि-
भुजानो मृषावादमापद्यते । अथवा स दिने दिने तस्या अविर-
तिकाया अग्रे धर्मं कथयति ततो गृहस्वमिना भणितो मे मम
गृह नायासीरिति । साधुना भणितम् । आगमिष्यन्ति ते गृह पा-
णशुनका एवमुक्त्वाऽपि जिह्वाहोलतादिदोषेण तदेव गृह इ-
जन् भणितोऽपि तेन गृहस्थेन वारितोऽपि कश्चिदिति एव मृषा-
वादमाप्नोति । स च गृहस्था ब्रूयात् किं पाणशुनकः सवृत्तोऽ-
स्तीति । यद्वा गृहस्थो भोजनं कुर्वन् धर्मं शृण्वतीमगारं किम-
प्युक्तं द्वितीयाङ्गं याचेत् सा ब्रूयात् शुना भक्षितम् । अगारो
ब्रूयात् जानाम्यहं त इधानं येन ज्ञातमिति । एव मृषावादवि-
षया शङ्का भवेत् । अथास्या एव पूर्वार्द्धे व्याचष्टे ।

खुहिया पिपासिया वा, मंदक्खेणं न तस्स उट्ठेइ ।

गञ्जरस्स अंतरायं, बाधिज्जइ संनिरोधेणं ॥

गुर्विणी धर्मकथां शृण्वती खुधिता वा पिपासिता वा भ-
वेत् सा च तस्य साधोः संबन्धिना मन्दाक्षेण लज्जमाना ति-
ष्ठति ततो गर्भस्यान्तराय भवति । तेन चाहारव्यवच्छेदलक्ष-
णेन संनिरोधेन स गर्भो बाध्यते । ततो व्यापस्तिमप्यसौ
प्राप्नुयादिति प्राणवधमापद्यते ।

अथ प्राणवधविषयशङ्कां दर्शयति ।

उक्खिवितो सो हत्था, चुत्तां तस्सग्गतो णिवाक्किता ।

सुणते य वियारगते, हाह त्ति स वित्तिणी कुणति ॥

अविरतिकाया अग्रे स धर्मं कथयति सा चापान्तराले का-
यिकार्थं निर्गता ततस्तस्यां शृण्वत्यां आधिकायां विचार-
भूमौ गतायां सपत्नी तदीय पुत्र तस्य साधोरग्रत उत्तिष्ठ्य
भूमौ सहसैव निपातयति निपात्य च अहो अनेन श्रमेण
अय पुत्र उत्तिष्ठ । सन्नेनदीयहस्ताच्छ्रुतो विपन्न इति महता
शब्देन हातिपूर्त्कारं करोति । ततो भूयान् लोको मिलितस्त-
साधु तत्र स्थित दृष्ट्वा शङ्कां कुर्यात् किमेतत्सत्यमेवेदमिति ।
मृषावाददोषप्रकाशः संप्रपञ्चसुरूप इति न भूयो भाव्यते ।

अथादत्तादानमैथुनयोर्दोषानाह ।

सयमेव कोइ लुद्धो, अपहरती तं पणुच्च कम्मकरी ।

वाणिगिणी मेहुणए, बहुसो य चिरं च संका य ॥

कश्चिद्भूता लुद्धः सन् विजन मत्वा स्वयमेव सुवर्णकलिकां
मुष्टिकामपहरति एवमदत्तादानमापद्यते । त वा सयत प्र-
तीत्य "साधुरत्रार्थं शङ्किष्यते नाहमिति" कृत्वा कर्मकारी का-
चित्पहरेत् । वाणिजिका वा काचित्प्रोपितभर्तृका तया सम-
मैथुनविषया आत्मपरोमयसमुत्था दोषा भवन्ति । अथवा
यत्र प्रोपितपतिकास्तिष्ठन्ति तत्रासौ बहुशो वारं व्रजति
चिरं च नाभिः सह कन्दर्पं कुर्वाणस्तिष्ठति ततश्चतुर्थवि-
षये शङ्क्यते ।

अथ परिग्रहदोषमाह ।

धम्मं कहेइ जस्स उ, तस्मि उ वीपारए गए संते ।

मारवणपरिग्रहो, परेण दिट्ठस्मि उट्ठाहो ॥

यस्य भ्रावकादेरप्रे धर्मं कथयति स व्यात यावदह कायिकी व्युत्सृज्य यत्र समागच्छामि तावद्भयता गृह रक्षणीयमेव-
मुत्त्वा तत्र विचारभूमौ गते स संयतो यावत्तद्गृहं मरुत्तति
तावत्परिग्रहदोषमापन्नते नदेव गृह रक्षन् परेण दृष्टं स जहा
कुर्यान् नूनमेतस्यापि हिरण्यं मुरगं वा वियने उट्ठात् च स
कुर्यान् अतो अयं धम्मगक सपरिग्रह इति । यत् एते दोषा
अतो नान्तरगृहे धर्मकथा कथय्या ।

तिर्तीयपदमाह ।

एगं एणं उदकं, वागगणमहिंसद्वस्वणो धम्मो ।

गाहाहिं सिलोगेहि य, समासतो नं पि ठिचा एं ॥

गतायं । वृ० ३ उ० ।

अंतरजाय-अन्तरजात-न० भाषाउच्यते ज्ञानभेदे, यानि द्रव्या-
णि भन्तरासे समधेगयामेव निरूप्यन्ति तानि जायापरिणाम
नजन्ते तावन्तरजातमुच्यते आचा० ६ प्र० ४ अ० ।

अंतरणई (टी)-अन्तरनदी-स्त्री० चुटनटीपु,

यत्र यागन्योऽन्तरगतस्तन्निपादयति ।

जंवमंदरम्म पुरच्छिमेण सीयाए महाणईए उच्चरेण
तओ अतरणईओ पणत्ता तेजहा गाहावई दहवई पंरुवई ।
जवमंदरपुरच्छिमेण सीयाए महाणईए दाहिणेणं तओ
अंतरणईओ पणत्ता तेजहा तत्तजला मत्तजला उम्मत्तज-
ला । जंवमंदरपच्छिमेण सीओटाए महाणईए दाहिणेणं
तओ अंतरणईओ पणत्ता तेजहा खीरोदा सीहसोया अतो-
वाहिणी । जंवमंदरपच्छिमेण सीओटाए महाणईए
उच्चरेणं तओ अतरणईओ पणत्ता तेजहा उम्मिमालिणी
फेणमालिणी गंभीरमालिणी । एव थायइवडदीवपुगच्छि-
मदे वि । अकम्मज्मीओ आदवेत्ता जाव अतरणदीओ
नि णिरवमेसं जाणियव्वं जाय पुग्गवरवदीवपुगच्छिम-
दे तदेव णिरवमेसं जाणियव्वं ।

अन्तरनदीनां विष्कम्भ पञ्चविंशत्यधिक । योजनशतमिति
स्था० ३ गा० ॥

जंवमंदरपुरच्छिमेण सीयाए महाणदीए उच्चयकले उ अंत-
रणईओ पणत्ताओ तेजहा गाहावई दहवई पंरुवई तत्तजला
मत्तजला उम्मत्तजला । जंवमंदरपच्छिमेण सीओयाए
महाणईए उच्चयकले उ अंतरणईओ पणत्ता तेजहा खीरोदा
सीहसोया अतोवाहिणी उम्मिमालिणी फेणमालिणी ग-
भीरमालिणी स्था० ६ गा० ॥

सप्रहेण

दो गाहावईओ दो दहवईओ दो पंरुवईओ दो तत्तजला-
ओ दो मत्तजलाओ दो उम्मत्तजलाओ दो खीरोयाओ दो
सीहसोयाओ दो अतोवाहिणीओ दो उम्मिमालिणीओ
दो फेणमालिणीओ दो गंभीरमालिणीओ ॥

चित्रकूटपक्षकूटयक्षस्कारपर्वतयोरन्तरं नीलवर्धपरपर्वतनित-
म्यन्यत्रस्थितत्वात् प्राहयतीकुण्डादिक्रिगतारणविनिर्गता अप्रा-
विशतिनदीसहस्रपरिवारा शीताभिगामिनी सुकन्धमहाकन्ध-
विजययोर्विभागकारिणी प्राहयती नदी । एव यथायोगं द्वयोर्ह-
योर्वक्षस्कारपर्वतयोर्विजययोरन्तरं क्रमेण प्रदक्षिणया हादशा-
प्यन्तरगणो योज्यास्तद्विह्व च पूर्ववदिति स्था० २ गा० (पूर्व-
पश्चिमाक्षांपेक्षया द्विगुणत्वादिति)

अन्तरदीव-अन्तरद्वीप-पु० अन्तरशब्दो मध्यवार्त्ती अन्तरे लव-
णसमुद्रस्य मध्य द्वीपा अन्तरद्वीपा प्रज्ञा० १ पद । अथवा
अन्तर परस्पर विभागस्तन्प्रधाना द्वीपा अन्तरद्वीपा । एकोर-
कादिषु अष्टाविंशतिविधद्वीपभेदेषु, स्था० ४ गा० ।

मे किं तं अंतरदीवया ? अन्तरदीवया अष्टावीसविधा प-
णत्ता एगोरुया अट्टामिया वेसाणिया पंगोली १ हयकन्न
गयकन्ना गोकन्ना सकञ्चिन्ना २ आयसमुहा मेहमुहा अय-
मुहा गोमुहा ३ आममुहा हत्थिमुहा सीहमुहा वग्गमुहा
४ आमरुन्ना सीहकन्ना अकन्ना कामपाउरणा ५ उक्का-
मुहा मेहमुहा विज्जुमुहा विज्जुदत्ता ६ घणदत्ता लद्धदत्ता
गद्धदत्ता मुद्धदत्ता ७ सेत्तं अन्तरदीवगा ।

मे किं तमिन्यादि सुगम नवगमप्राविशतिविधा इति यादृशा
एव यावत्प्रमाणा यावदपान्तरात्रा यन्नामानो हिमवन्पर्वतपूर्वा-
परदिग्यन्तम्वितता अष्टाविंशतिविधा अन्तरद्वीपास्तादृशा एव
तावत्प्रमाणास्तावदपान्तरात्रास्त्वन्नामान एव शिखरिपर्वतपूर्वाप-
रदिग्यन्तम्वितता अपि ततोऽप्यन्तसदृशतया व्यक्तिभेदमनपेक्ष्य
अन्तरद्वीपा अष्टाविंशति विधा एव विवक्षिता इति तज्ज्ञाना म-
नुष्या अपि अष्टाविंशतिविधा उक्तास्तानेव नामप्राहमुपदर्श-
यति ' तेजहा एगोरुया इत्यादि ' एते सप्त चतुष्का अष्टावि-
शतिसंख्यत्वात् एते च प्रत्येक हिमवति शिखरिण तत्र हिम-
वततया तावद्भाव्यते (प्रज्ञा० १ पद) इह एकोरुकादिनामा-
ना द्वीपा पर तान्स्थितास्तद्व्यपदेश इति न्यायान्मनुष्या अप्येको-
रुकादय उक्ता यथा पञ्चालदेशनिवासीन पुरुषा पञ्चाला
इति । जीरा० ३ प्रति० । एतेषु सप्तसु चतुष्केषु प्रथमश्चतु-
ष्कः । तथा च एकोरुक्रमनुष्याणामेकोरुकाद्वीपः पिपृच्छिपुराह ।

काहिं ए भंते ! दाहिणिद्व्याण एगुरुयमणुस्साए एगुरुयदीवे
णामं दीवे पञ्चत्ते ? गोयमा ! जवदीवे मंदरस्स पव्वयस्स
दाहिणेण चुट्टाहिमवतस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमि-
द्व्याओ चरिमंताओ द्रवणसमुदं तिमि जोयणसयाइं उग्गा-
द्वित्ता एत्थ एं दाहिणिद्व्याणं एगुरुयमणुस्साए एगुरुयदीवे
नामदीवे पणत्ते तिमि जोयणसयाइं आयामविकखंनेणं एव
एकणपणणे जोयणसए किंचि विसेमूणे परिकखेव्वेण । से ण
एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसरुणं मव्वओ समता
संपरिकखेत्ता से ण पउमवरवेइया अद्वजोयण उच्चं उच्च-
त्तेणं पंच धणुसेयाइं विकखंभेण एगुरुयदीवममता परि-
कखेव्वेणं पन्नत्ता । तीसे ण पउमवरवेइयाए अयमेयारुवे व-
न्नावासे पन्नत्ते तेजहा वयगमया निम्मा एव वेतिया व-
न्नओ जहा रायपसेणीपु तद्वा भाणयव्वा । से ण पउम-

वरवेइया एगेणं वणसंभेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता
मे णं वणसंभेणं देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालाविकखं-
भेणं वेइया समए परिकखेवेणं पन्नत्ते से णं वणखंभे कएहे
किएहोवभासे एवं जहा रायपसेणइज्जे वणसंडवन्नओ त-
हेव निरवसेसं भाणियव्वं । तणाण य वन्नगंधफासो सहे
तणाणं वा वीओप्पायपव्वयगा पुढविसिलो पट्टगा य जा-
णियव्वा जाव तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ
य आमयंति जाव विहरति । एगुरुयदीवस्स णं दीवस्स
अंतो बहुसमरमणिज्जे जूमिनागे पन्नत्ते से जहानामए
आलिगपुक्खरेइ वा एवं सयणीए भाणियव्वे जाव पुढवि-
सिन्नापट्टगं ति । तत्थ णं बहवे एगुरुयदीवया मणुस्सा य
मणुस्सीओ य आमयंति जाव विहरंति । एगुरुयदीवे णं दीवे
तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे उदादका मोदालका
कोदालका कतमाला नत्तमाला एट्टमाला सिंगमाला सं-
खमाला दंतमाला सेलमाला गाम दुमगणा पन्नत्ता सम-
णाउसो ! कुसविकुसविसुद्धखमूला मूलमंतो कदमंतो जाव
वीयमंतो पत्तेहि य पुप्फेहि य अच्चन्नपक्कन्ना सिरीए
अइव २ सोभेमाणा ओघसोजेमाणा चिहंति । एगुरुयदीवे णं
दीवे तत्थ तत्थ बहवे हेरुयालवणा नेरुयालवणा मेरुया-
लवणा सेरुयालवणा मालवणा सरलवणा मन्नपणवणा
पयफणिवणा खज्जूरीवणा नालिएरवणा कुसविकुस जाव
चिहंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे तिलयाद्वउत्ता
नगोहा जाव रायरुक्खा एंदिरुक्खा कुसविकुस जाव चि-
हंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहुओ पउमलयाओ नागज्जा-
याओ जाव मोमलयाओ निच्चं कुममियाओ एव झयावन्नओ
जहा उववाईए जाव पक्खिवाओ । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ
बहवे सिग्गियुग्मा जाव महाजाइगुग्मा तणगुग्मा दसक्क-
वन्नं कुमुम कुमुमंति जेणं वायविहुलगसाला । एगुरुयदी-
वस्स बहुसमरमणिज्जं जूमिभागं मुक्कपुप्फपुजोवयारकलियं
करंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहुओ वणराईओ पन्नत्ता-
ओ नाओ णं वनराईओ किएहाओ किएहोवभामाओ जाव
रम्माओ महामेहणिरुवन्नयाओ जाव महता गंधाणि मुयं-
ताओ पासाईयाओ । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे मत्तंगा
नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से चंदप्पभमणिसि-
लागवरसीधुपवरवारुणिमुजायफलपुप्फचोणिज्जा संसार-
बहुदव्वजुत्तिमंसारकादसयिय आसवमहुमेरगरिद्धाभदुट्टजा-
इपसन्नतेज्जगा स ताओ खज्जूरमुदियासारका विमायण-
सुपक्खोयरसवरसुरावएणरसंगं फरिसजुत्तवलवीरियप -
रिणामा मज्जविधी य बहुप्पगाग तहेव ते मत्तंगया वि दुम-
गणा अणेगवहुविविहवीससा परिणयाए मज्जविहीए उव

वेया फलोहिं पुन्ना त्रिव विसट्ठंति कुमविकुसविसुद्धखमूला
जाव चिहंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे भिंगंगा णाम
दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से चारगघडकरगक-
दसककरिपायकंचाणिउत्तुक्कवद्धणिसुपइड्डकविद्धा पारावस-
गा भिंगारा करोमिसरंगपरगपत्तीयाद्वणिद्वगववलियअ-
यपलगवालविचित्तवट्टकमणितट्टकसिप्पित्थारपिणद्धकंचण-
मणिरयणभत्तिविचित्तविभायणविहिवहुप्पगारा तहेव तेसिं
जिंगंगेया वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीससा परिण-
त्ताए भायणविहीए उववेया फलोहिं पुण्णा विव विसट्ठंति
कुसविकुस जाव चिहंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे
तुर्यंगा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा
से आलिगपणवददरपरुहानिभामभंभातहोरंजकिणियख-
रमुहिमुयंगसंखियपरिद्वए पव्वगा परिवायणिव्वंसवेण्वी-
गोसुग्घोसगविपंचमहतिकच्छतिरिक्खसतकलाकंसालता -
द्वकसंपत्ताओ आतोयविधीए णिउणगंधव्वसमयकुस-
लेहिं फादिया तिद्धाणकरणमुद्धा तहेव ते तुमियंगा
वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीससा परिणत्ताए ततवितत-
बंधणसिराए चउव्विहाए आतोज्जविहीए उववेया फलोहिं
पुण्णा विव विसट्ठंति कुसविकुसविसुद्धखमूलाओ जाव
चिहंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे दीवसिद्धा
णाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से संभवि-
रागममए नवनिसीहिपतिणो विदीविया चक्कवालचंदे पभूय-
वट्टिपलित्तज्जणेहिं विउज्जद्विय तिमिरमए कणगनिकर-
कुसुमियपारिजायघणप्पगासे कंचणमणिरयणविमलमहरि-
हतवाणिज्जुज्जलविचित्तदंमाहिं दीवियाहिं सहसा पज्जा-
त्तिओ सवियणिच्छतेयदिप्पंतविमलगहगणसमयप्पदाहिं वि
तिमिरकरकमूरपसरिउज्जोवविद्धियाहिं जालाउज्जलपह-
सियाभिरामाहिं सोजमाणाहिं सोजमाणा तहेव ते दीवसि-
द्धा वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीससा परिणयाए उज्जो-
यविहीए उववेया फलोहिं कुमविकुस जाव चिहंति ।
एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे जोइसिया नाम दुमगणा
पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से अचिरुगयसरयसूरमरुद्ध-
परंतउक्कासहस्सदिप्पंतविज्जुज्जलद्वहुयवहुनिज्जूमजालि-
निच्छंतधोयतत्तवणिज्जकिसुया सोगजामुयणकुसुमविमउ-
द्वियपुंजमणिरयणकिरणजचहिंमुद्वयतिरयरुवाइरेगरुत्ता त-
हेव ते जोतिसिद्धा वि दुमगणा अणेगवहुविविहवीससा
परिणयाए उज्जोयविहीए उववेया मुहलेसा मंदलेसा मडा-
तवलेसा कूमावाणद्विया अन्नोन्नसमोगाहाहिं देसाहिं साए
पभाए तेयसा सव्वओ समंताओ जासंति उज्जोवति
पजासंति कुसविकुस वि जाव चिहंति । एगुरुयदीवे णं

दीवे तत्थ बहवे चित्तंगा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो !
जहा से पेच्चाघरे व्व चित्ते एमेव कुमुमदाममाला कुट्टु-
ज्जलेसा जासंतमुक्कपुप्फपुंजोवयारकद्विए विरद्वियविचि-
त्तमत्तासिरिसमुदप्पगारंभे गथिमवेदिमपूरिमसंघयमेणं मत्तेणं
छेयसिरियविजागरणं सव्वओ समंता चेव ममणुवप्पे प-
विरललंबंतविप्पड्ढेहि पंचवओहि कुसुमदोमेहि सोजमाणे
वनमालकतग्गए चेव दिप्पमाणे तद्देव ते चित्तंगया वि दुम-
गणा अणेगवहुविबिहवीससा परिणयाए मत्ताविहीए उव-
वेया कुसविकुम वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे एं दीवे
तत्थ बहवे चित्तरसा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो !
जहा से सुगंधवरकलमसादितंतुलविसिष्ठणिरुवयदुद्धर-
प्पे सारयवयमंखंमन्दुमेलिए अउरसे परमन्ने देज्जउत्त-
मेगवन्नगंधमचे राणो जहा वावि चक्कवट्टिस्स होज्ज निउणे-
हिं सूपपुरिमेहिं तज्जिए चाउरकप्पमेयसिचे व ओदणे
कलमसाद्विण्णवतिए विवक्केसेवप्फमिउविमयसगद्वसिस्थे
अणेगमालणमंजुत्ते अहवा पन्निपुन्नदव्वुवखडे सुसक्कए
वण्णगंधरमफतिसजुत्तवन्नवीरियपरिणामे इंदियवन्नवप्पणे
खुप्पिवासासहणे पद्दाणगुलकट्टियखंडमच्छंमिउवणीय व्व
भोयगे मएहमामितिगन्ने हवेज्जा । परमट्टगसंजुत्ते जहेव
ते चित्तरसा वि दुमगणा अणेगवहुविबिहवीससा परिण-
याए भायणाविहीए उववेया कुसविकुम जाव चिट्ठंति ।
एगुरुयदीवे एं दीवे तत्थ बहवे मणियंगा नाम दुमगणा पण-
त्ता समणाउसो ! जहा से हारद्वहारवेटणमउरकुंडलवा-
सुज्जमहंमजाद्वमणिजाद्वरुणगजा त्तागसुत्तगउचित्तियकदग-
खड्डयणावलिंकंठमुत्तमगरगजउरत्यगेवेज्जसोणिमुत्तमचूत्ता-
मणिकणगतिलगफुत्तागसिद्धित्तियकणवालिससिसूरजसज-
चक्कगतद्वभंगेयतुडियहत्तयमाद्वगवद्वंखदीनारमाद्विया चंद-
सूरमाद्विया दूरिसयकेयूरवद्वियपाद्वंअंगुलिज्जगकंचीमेह-
लाकलावपरकपायजाल्पट्टियवंग्खिणिरयणोरुजाद्वज्जि-
वरनेउरवद्वणमाद्विया कणमणिगमालिया कंचणमणि-
रयणभत्तिचित्तवन्नमणविही बहुप्पगारा तद्देव ते मणियंगा
वि दुमगणा अणेगवहुविबिहवीससा परिणयाए नूसणवि-
हीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे एं दीवे
तत्थ बहवे गेहागारा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो !
जहा से पागारट्टाद्वगचरियागोपुरपासायागामनलगमंडवण-
गसाद्वगचाउसाद्वगमज्जघरपोहणघरवलजिघरचित्तसाद्व-
गमालियजत्तिघरवहत्तंसंनंदियावत्तमठियावत्तपंमुरतलपुरुमा
द्वहम्मियअहवणंथलहरअद्वसागहंविबभतसेद्वद्वमेद्वसंठि-
पकूडारगसुविहिकोद्वगअणेगघरसरणद्वेणअवेणविद्वंगजाद्व-
चंदनिव्वुहअपवरककरोत्ताद्विचंदसाद्विविभत्तिकद्विता जव-

णविही बहुविगप्पा तद्देव ते गेहागारा वि दुमगणा अणेगवहु-
विबिहविस्समा परिणयाए गृहाकद्वणमुदोचाराए मृहनिक्ख-
मणपवेसाए दहरसोपाणपतिकद्वियाए पद्विरिचाण मुहाविहाराए
मणाणकूलाए भवणविहीए उववेया कुसविकुम वि जाव चि-
ट्ठंति । एगुरुयदीवे एं दीवे तत्थ बहवे अणिगणा नाम दुमगणा
पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से अणेगआडगम्वोमतणुयक्कं-
लदुगद्वकोसेज्जकाद्वमियपट्टाणअमृतवन्नावरणतवाग्वा-
एगपन्नन्नाभरणचित्तसहिणगकल्लाणगज्जिमेहद्वकज्जल-
वहुवन्नरत्तपीयमुक्किद्वमगकयमिगद्वोमहेमप्फल्लगअवग्गतसि-
धुउसभदामिद्वविगकद्विगनद्विणतंतुमयभत्तिचित्ता वत्थविही
बहुप्पगारा हवेज्ज वरपट्टणुग्गता वण्णगगकाद्विया तद्देव ते
अणियणा वि दुमगणा अणेगवहुविबिहवीससा परिणयाए
वत्थविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति ए० । एगु-
रुयदीवे एं जंते ! दीवे मणुयाण केरिसए आगारभावपढो-
यारे पासत्ते ? गोयमा ! ते एं मणुया अणतिवरसोमचारुक्खा
भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा जोगमास्सिरीया सुजायसव्वं-
गसुंदग्गा सुपड्डियवुम्मचारुक्खलणा रत्तुप्पलपत्तमजयसुकु-
माद्वकोमद्वतला नगणग्गमगरसागरचक्कहंरंकद्वक्ख-
णंकियचद्वणा अणगुव्वससाद्वयंगुलिया उल्लयतणुयतंव-
णिच्छणखा संत्रियसुसलिट्टगद्वगुप्फा एणिकुर्विदावत्तवद्दा-
णुपुव्वजंघा सामुग्गनिमुग्गगूदजाणुगतससणसुजातसाध्विभो-
खरवारणमत्तद्वविक्रमविद्वासितगती सुजातवरतुरगगम्भ-
देमा आडन्नहता व्व णिरुवदेवा पमुइयवरतुरगसीहअइ-
रेगवद्वियकमी साहयमोणिंदमुसलदप्पणाणिगरित्तरकणम-
व्वरुसरिसवरवइरवलितमज्जा उज्जअसमसंहितसुजायजच्च-
तणकसिणणिच्छादेज्जलउहसुकुमालमज्जयमणिज्जरोम-
राई गंगावत्तयपयादिणावत्ततरंगजंगुररविकिरणतरुणवो-
धियअकोसा तंतपउमगंजीरविगरुणाभा ऊसविहगसुजायपी-
णकुच्छी ऊमोदग सुइकरणी पम्हविगरुणा जामन्नत्तपासा
मंगतपासा सुंदरपासा सुजातपासा मितमाइतपीणरइतपामा
अकरंदुयकणगरुयगनिम्मद्वसुजायनिरुवहयदेहधारी पसत्थ-
वत्तीसद्वक्खणधरा कणगसिद्धातद्वुज्जद्वपसत्थसमतलउव-
चियविच्छिन्नपिहुद्ववच्छा सिरिवच्छंकियवच्छा पुरवफद्वि-
हवद्वियजुया जुयगीसरविपुद्वजोगआयाणफलिहउच्चद्व-
दीहवाहुज्जुगमन्निभपीणरइयपीवरपउद्वसंत्रियउवचियषणा-
थिरसुवच्छसुसद्विद्वपव्वसंधी रत्तद्वोवइतमउयमंसद्वपमत्थल-
क्खणसुजायअच्छिद्वजालयाणी पीरवद्वियसुजायकोमद्ववर-
गुलीआ तंवत्तद्विणसुतिरतिद्व (रुचिर) निद्वद्वुक्खा (नखा)
चंदपाणिलेहा मूरपाणिलेहा मंखपाणिलेहा चक्काणिलेहा
दिसासोवत्थियपाणिलेहा चंदसूरसंखक्कदिसासोवत्थियपा-

णिश्रेहा अणेगवरलखणुत्तमपसत्थसुविरइयपाणिलेहा वरम
हिसवराहसीहसद्वलसभणागवरविजलउत्तमइदखंधा च-
उरंगुलसुणप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा अवडितसुविजत्तसु-
जातचित्तमंसुमंसलसंठियपमत्थसद्वलविजलहणुया उतवित-
सिलप्पवालविंवलसन्निजाधरोट्टा पंडुरससिमगलाविम-
लनिम्मलसंखदधिघणगोखीरफेणदगरयमुणालियाधवद्व-
दंतसेही अखंरुदंता अफुमियदंता अविरद्वदंता सुसिणि-
प्पदता सुजातदता एगदतासेहि व्व अणेगदंता हुतवहानि-
प्पतथोतत्ततवणिज्जरत्ततदतादुजीहा गरुडायतउज्जुतुग-
णासा अवदात्रियपोंरुयीयणया कोकासितधवद्वपत्त-
दंता आणामियचावरुडलकिएहन्नरादयसंठियमंगतआ-
यतसुजाततणुसिणिप्पजुमया अद्वीणपमाणजुत्तसव-
णा सुस्मवणा पीणमंसलकवोद्वदेसभागा अइरुगयवावद्वच-
दसंठियपमत्थविच्छिन्नमणिडाला उरुवइपनिपुन्नसोम-
वयणा उत्तागरुत्तिमंगदेसा धणनिचियसुवप्पलखणुन्न-
यकूडागारणिज्जपिंमियसिरा हुतवहानिप्पतथोतत्ततवणिज्ज-
रत्तकंमंतकंमन्मिमामद्विपोंरुयणणिचियओडियमिडविमय
पसत्थमुहुमद्वलखणसुगंधसुदरुयमोयगजिगणीद्वकज्जलप-
हट्टमरगयणिप्पणिक्कुरुवणिचियकुंचियपयाहिणावत्तसुद्ध-
मिरिया लखणयजणगुणोववेया सुजायसुविभत्तमूखा
पामाइया दरिसणिज्जा अजिरुवा पडिरुवा । ते णं मणुया
ओहस्सरा हसस्सरा कोंचस्सरा एदियोसा सीहस्सरा सीह-
घोमा मंजुस्सरा मजुघोसा सुस्सरा निग्घोसा ङायलज्जो-
ड्यंगमंगा वज्जरिसहनारायसधयणा समचउरंमसंठाणमं-
ठिया सिणिप्पद्वी निरायंका उत्तमपसत्थअइसेमनिरुवम-
तणु जद्वमद्वकद्वकसेयरयदोसविविज्जियसरीरा निरुवमले-
वा अणुलोमवाउवेगा कंकगहणी कपांतपरिणामा सडनि-
पोमपित्तरोरुपरिणया विग्गहियउन्नयकुच्छी पउमप्पद्व-
सरिसगंधनिस्सामसुराहियवयणा अट्टधणुसयज्जसिया तेसिं
मणुयाण चउसद्विपिडिकरंरुगा पन्नत्ता समणाउमो ! ते णं
मणुया पगइभइया पगइविणीया पगइउवमंता पगइयणु-
काहमाणमायालोत्ता मिउमइवसंपन्ना अद्वीणा भइगा वि-
णीया अपिच्छा अमस्मिहिमंचया अचंरु विरुमंतरपावि-
रुणा जह्मिथियकामगामिणो य ते मणुयगणा पन्नत्ता समणा-
उसो ! तेसि णं भंते ! मणुयाण केवतिकालस्स अहारद्वे ममु-
प्पज्जइ ? गोयमा ! चउत्तयभत्तस्स आहारद्वे समुप्पज्जइ एगुरु-
यमणुडण भंते ! कैरिसए आगारभावपमोयारे पसत्ते ! गोयमा !
ताओ ण मणुडओ सुजायमन्वगसुंदरीओ पहाणमहिलागु-
णेहि जुत्ता अचंताविसप्पमाणपउमसूमाद्वकृम्मसंठियविसि-
द्वचद्वणा उज्जुमउयपीवरनिरंतरसुमातचद्वणंगुलीओ अ-
द्वुसुयरतियतल्लिणतवसुसिणिप्पणखा रोमरहियवट्टल-

द्वसंठियअजहन्नपसत्थलखणअकोप्पजंयजुयत्ता सुणिमि-
यसुगूदजाण मंसलसुवप्पसधा कयद्विखंजातिरेगमंठिया णिव्व
णसुमाद्वमउयकोमद्व अविरद्वसमसहंतसुजातवट्टपीवरनिरंतरो-
रुअट्टावयदीविद्वसंठिया पसत्थविच्छिप्पिहुद्वसोणिवद-
णायामप्पमाणउगुणियविसाद्वमसलसुवप्पजहसुवरधारिणि-
उवज्जविराड्यपसत्थलखणणिरोदरा तिवालयतणुणामियम-
ज्जियाओ उज्जुयसममहियजत्ततणुर्कमणिणाणिप्पआदेज्जल
हरुसुविभत्तकंतसुजायसो जंतरुद्वलरमणिज्जरोमराई गंगावत्त-
कप्पयाहिणावत्ततरंगजंगुररविकिरणतरुणवोधियअकोसाय-
तपउमगजीरविगमणाजा अणुब्भरुपमत्थपीणकुच्छी सन्न-
यपामा संगयपामा सुजायपासा मियमाईयणिणरइयपासा अ-
करंरुयकणगरुयगनिम्मद्वसुजायणिरुवहयगायद्वट्टी कंचण-
कद्वसपमाणममसहियसुजायालद्वचूयआमद्वजमद्वजुगद्व-
वद्वियअचुसुयरतियसंठियपयोधराओ जुजगअणुपुव्वत-
णुयगोपुच्छवट्टसममहियणमियआएज्जलालियवाहाओ तं-
वणहा मंसलगहत्या पीवरकोमलवरंगुलीओ णिप्पपा-
णिलेहा रविसिसिंखचक्कमोत्थियविजत्तसुविरतियपाणि-
लेहा पीणुसुयकवखवखवत्थिपदेमा पनिपुसुगलकवोला
चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठियपसत्थह-
णुगा दालिमपुप्फपगासपीवरपलंबकुचियवराधरा सुंदरोत्त-
रोट्टा दधिदगरयचद्वकुंदवामंतिमउलअच्छिद्विपलद्वसणा
रत्तुप्पलरत्तमउयसुमाद्वतादुजीहा कणयरमउद्वअकुनिलअ-
वज्जुगयउज्जुतुंगणासा सागयनवकमलकुमुदकुचलयविमु-
क्कमउलद्वनिगरसरिमलखणअकियकंतनयणा पत्तल-
धवलायततंवद्वोयणाओ आणमितचावरुद्वकिएहभराइसं-
ठियसंगयआययसुजायतणुसिणिप्पजुमया अद्वीणप-
माणजुत्तसवणा सुस्तवणा पीणमद्वरमणिज्जगंदलेहा चउरं-
सपसत्थसमणिमाला कोमुदीरयणीकरविमलपरिपुन्नसोम-
वयणा उत्तसुयउत्तिमंगा कुनिलसुसिणिप्पदीहमिरिया
उत्तज्जभयजुवधूजदामिणिकमरुद्वकद्वसवाविसोत्थयपडा -
गजवमच्छकुम्मरहवरमगरज्जभयसुकयाद्वअकुसअट्टावयवी-
ईसुपइकम्मज्जरसरियाजिसेयतोरणमेइणीउदधिवरजव-
णागिरिवरआयंसद्विलयगयउत्तज्जसीहचमरउत्तमपसत्थद्व-
त्तीसलखणधरीओ हंससरिसगईओ कोइद्वमहुरगिरसुस्त-
राओ कन्नाओ सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवद्विपद्विया-
वगद्वुवन्नवाही दोभग्गसोगमुक्काओ वत्तेणयनराण थोचूण-
मूसियाओ सव्वनावसिंगारचारुवेसा संगतगतद्वसियभणिय-
चिद्वियवद्विाससंदावनिजणुत्तोवयारकुसदा सुंदरयणजह-
णवयणकरचरणयणद्ववन्नवन्नरुज्जोव्वणविभासकलिया
नंदणवणविवरचारिणीओ व्व अच्छराओ अच्छेरगपिच्छ-
णिज्जा पासाइतातो दरिसणिज्जातो अजिरुवाओ पनिरुवाओ

तासि न जंते ! मणुर्णं केवतिकावस्म आहारद्वे समुप्यज्जइ ? गोयमा ! चउत्थनचस्स आहारद्वे समुप्यज्जइ । ते एं भंते ! मणुया किमाहारंति ? गोयमा ! पुढवीपुप्फफलाहारा ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! तीसे एं जंते ! पुढवीए केरिमए अस्साए पन्नत्ते ? गोयमा ! से जहानामए गुह्वेइ वा खंमेइ वा सकराइ वा मच्छंडियाइ वा भिसकंदेइ वा पप्पममोततेति वा पुप्पत्तराइ वा पउमुत्तराइ वा अक्रोसियाति वा विजताति वा महाविजयाति वा पायसोवमाइ वा उवमाइ वा अएणोवमाइ वा चउरके गांखीरं चउट्टाणे परिणए गुहखंममच्छंमिउवणीए मंदगिकट्टिए वण्णेण उव्वेए जाव फामेए जवे एतास्वेसि ता नो इण्ठे ममद्वे । तीसे एं पुढवीए एत्तो इट्ठपराए चेव जाव मणामतराए चेव । आमाएणं भंते ! पुप्फफलाणं केरिमए आसाए पसत्ते ? गोयमा ! से जहानामए रन्नो चाउरंतचक्कवट्ठिस्म कट्ठाणपवरजोयणे सयसहस्सनिप्फन्ने वन्नेणं उव्वेए गंधेणं उव्वेए रमेणं उव्वेए फामेणं उव्वेए आसायाणिज्जे बीसायणिज्जे दीवणिज्जे दप्पणिज्जे वीदिणिज्जे मयणिज्जे सव्विदियगायपल्लयाणिज्जे भवे ता रुवे मिया नो इण्ठे ममद्वे । तेमि एं पुप्फफलाणं इत्तो इट्ठतराणं चेव जाव अस्माएणं पन्नत्ते । ते न भंते ! मणुया तमाहारेत्ता कट्ठि वसहिं उव्वेति ? गोयमा ! रुक्खगेहालयाणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! ते एं भंते ! रुक्खा किं भंठिया पसत्ता ? गोयमा ! कमागारसंठिया पच्छाघरसंठिया उत्तागारसंठिया ऊयसंठिया धूभसंठिया तारणमंठिया गोपुरमंठिया पावगसंठिया अट्टावगसंठिया पासायसंठिया हम्मिमतवसंठिया गवस्ससंठिया बावगपातियसंठिया बलभीसंठिया अएणे तत्थ बहवे वरजवणसयणासणविसिद्धमंठाणसंठिया सुभसीतल्लयाणं ते दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे गेहाणि वा गेहावयणाणि वा एो इण्ठे समद्वे रुक्खगेहालया ए मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे गामाइ वा नगराइ वा जाव सन्निवेसाइ वा एो इण्ठे समद्वे । जहत्थियकामगामिणो एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे अमीइ वा मसीइ वा किसीति वा विवणीइ वा पणीइ वा वाणिज्जाइ वा नो इण्ठे समद्वे । ववगयअसिमासिकिमीविज्जणिपणियवाणिज्जवज्जा एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे हिराणेइ वा सुवन्नं वा कंसं वा हूसेइ वा मणीइ वा मुत्तिएइ वा विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिद्धपवासंत-

सारमावयज्जे वा हंता ! अत्थि एं चेव एं तेसि मणुयाणं तिब्बे ममत्तिजावे समुप्यज्जइ । अत्थि एं जंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे गयाइ वा जुवरायाइ वा ईसंसेइ वा तल्लवरेइ वा माडविण्ड वा कोमुविण्ड वा इब्भेइ वा सेट्टिण्ड वा सेणावड वा सत्थवाहेइ वा नो इण्ठे समद्वे ववगयइट्ठिसकाराएणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे दासाइ वा पेसाइ वा सिस्साइ वा भयगति वा जाइश्वगाइ वा कम्मगाराइ वा भोरापुरिसाइ वा नो इण्ठे समद्वे ववगयआभोगिया एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे माताति वा पियाइ वा जायाइ वा जयणीइ वा भज्जा वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा सुएहाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव एं तेसि एं मणुयाणं तिब्बे पेम्मबंधणे समुप्यज्जइ पयणुपेम्मबंधणा एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे अरीइ वा वेरिइ वा घायगाइ वा बहगाइ वा पडणीइ वा पच्छामित्ताइ वा एो इण्ठे ममद्वे ववगयवेराणुवंधा एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे मित्ताइ वा वयंमाइ वा घमियाति वा सुहंति वा गृहीयाइ वा महाभागाति वा संगतियाति वा नो इण्ठे ममद्वे ववगयपेमाणुरागा एं ते मणुयगणा पसत्ता समणाउसो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे आवाहाइ वा विवाहाइ वा जन्नाइ वा सट्ठाइ वा थालिपागाइ वा चोलोवणतणाइ वा सीमंतोवणतणाइ वा पित्तिपिंडनिवेयणाइ वा नो इण्ठे समद्वे ववगयआवाहविवाहजन्नसट्ठथालिपागचोलोवणसीमंतोवणतणपित्तिपिंडनिवेदणा एं ते मणुयगणा पसत्ता समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे इंदमहाइ वा रुद्धमहाइ वा खंदमहाइ वा सिक्खमहाति वा वेसमणमहाति वा मुगुद्धमहाति वा नागमहाइ वा जक्खमहाइ वा भूतमहाइ वा कूवमहाइ वा तल्लगमहाइ वा नदिमहाइ वा इंदमहाइ वा पव्वयमहाति वा रुक्खमहाइ वा चेतियमहाइ वा थूजमहाइ वा एो इण्ठे समद्वे ववगयमहातिया एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! । अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे नरुपिच्छाइ वा एट्ठपेच्छाति वा मल्लपेच्छाति वा मुट्ठियपेच्छाति वा विरुम्भगपेच्छाति वा कहकपेच्छाति वा पवगपेच्छाति वा अक्खवाइगपेच्छाति वा द्वासगपेच्छाति वा दंसवपेच्छाति वा मंसवपेच्छाति वा तणइट्ठपेच्छाति वा तुंबवीणपेच्छाति वा कीवपेच्छाति वा मागहपेच्छाति वा जल्लपेच्छाइ वा कहयापेच्छाइ वा एो इण्ठे समद्वे ववगयकोऊद्धा एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि

एवं भते ! एगुर्यदीवे ए दीवे सगमाइ वा रहाइ वा जाणाइ वा गिल्लीति वा पल्लीति वा थिल्लाइ वा पवहणाइ वा सीयाइ वा संदमाणियाइ वा नो इण्डे समेटे पादचारविहारिणो एवं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे आमाइ वा हत्थीइ वा उट्ठाति वा गोणाइ वा महिसाइ वा खराइ वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता अत्थि नो चेव एं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि एं भंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे गावीइ वा महिसीइ वा उट्ठाति वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव एं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि एं भंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे सीहाइ वा वग्घाइ वा दीवियाइ वा अत्थाइ वा परस्सराइ वा सियाझाइ वा विडालाइ वा मुणगाइ वा कोल्लमुणगाति वा कौकितियाइ वा ससगाइ वा दित्तचित्तलानि वा चित्तुलगाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव एं अनमन्नस्म तेसिं वा मणुयाणं किंचि आवाहं वा पवाहं वा उप्पायंति अविच्छेयं वा करेंति । पगइभद्गा एं ते सावयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे साझीइ वा वीहीइ वा गोदूमाइ वा इक्खूइ वा तिझाय वा हंता ! अत्थि नो चेव एं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि एं भंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे गत्ताइ वा दरीइ वा पाइ वा धंसीइ वा जिगूइ वा उवाएइ वा विसमेइ वा विजलेइ वा धूलीइ वा रेणुति वा पंकेइ वा वल्लयीइ वा एणो इण्डे समेटे । एगुर्यदीवे एं दीवे बहुसमरमाणज्जे जूमिजागे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे खाणुइ वा कंटाएइ वा करीमहाइ वा सक्कराइ वा तणकयवराइ वा सत्तकयवराइ वा असुईइ वा पूईइ वा पुब्बिगंधाइ वा अचोक्खाइ वा एणो इण्डे समेटे ववगयखाणुकंटकरीसहसकरतणकयवरअसुईपूर्ययडुब्बिगंधमचोक्खवज्जिएणं एगुर्यदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे दंसाइ वा मसगाति वा पिसुगाइ वा जूयाइ वा लिक्खाइ वा ढिकुणाइ वा नो इण्डे समेटे ववगयदंसमसगपिसुगजूयाडिक्खढिकुणपरिवज्जिएणं एगुर्यदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे अहीइ वा अयगराइ वा महोरगाति वा हंता अत्थि नो चेव एं ते अन्नमन्नस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आवाहं वा पवाहं वा अविच्छेयं वा पक्कंति पगइभद्गा एं ते वाझगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे गहदक्काति वा गहमुसझाइ वा गहगज्जियाइ वा गहजुप्पाइ वा गहसंधाडाइ वा गहअवमन्वा अन्ताइ वा अन्नरुक्खाइ वा संभाइ वा गंधव्वणगराइ वा गज्जियाइ वा विज्जुयाइ वा उक्कापयाइ वा दि-

सादाहाइ वा णिग्घाइ वा पंसुविट्ठीइ वा जूयाइ वा जक्खालित्ताइ वा धूमियाइ वा महिधाति वा रत्तग्घायाइ वा चंदोवरागाइ वा सूरुवरागाइ वा चंदपरिवेसाइ वा मुरपरिवेसाइ वा पक्किंदाइ वा पक्किमूराइ वा इंदधणुआइ वा उगमच्छाइ वा अमोहाइ वा कविहसीयाइ वा पाईणवायाइ वा पढीणवायाइ वा जाव सुद्धवायाइ वा गामदाहाइ वा नगरदाहाइ वा जाव सन्निवेमदाहाइ वा वाणक्खयजणक्खयकुद्धक्खयधणक्खयवसणज्जतमणाग्याइ वा नो इण्डे समेटे । अत्थि एं भंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे हिंवाइ वा रुमराइ वा कलहाइ वा बोझाइ वा खाराइ वा बेराति वा विरुद्धरज्जाइ वा नो इण्डे समेटे ववगयक्खिक्खरुक्खलहवाल्खारवेरविरुद्धरज्जविवज्जिया एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं भंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे महाजुप्पाइ वा महासंगामाइ वा महासत्थपडणाइ वा महापुरिसपहाणाइ वा महावधिरपण्णाइ वा नागवाणाति वा खेलवाणाति वा तामसवाणाति वा दुन्नुइयाइ वा कुल्लरोगाइ वा गामरोगाइ वा नगररोगाइ वा मंरुल्लरोगाइ वा सीसवेयणाइ वा अस्खिवेयणाइ वा कन्नवेयणाइ वा नक्खेयणाइ वा दंतवेयणाइ कासाइ वा सासाइ वा जराइ वा दाहाइ वा कच्छूइ वा खमराइ वा कोट्टाइ वा कुकाति वा टगोवराइ वा अरिसाइ वा अजिरगाइ वा जगंदलाइ वा इंदग्गहाइ वा खंदग्गहाइ वा कुमारग्गहाइ वा नागग्गहाइ वा जक्खग्गहाइ वा जूयग्गहाइ वा उव्वेवग्गहाइ वा धणुग्गहाइ वा एगाहियाइ वा वेयाहियाइ वा तेयाहियाइ वा चाउत्थगाहियाइ वा हिययसूलाइ वा मत्थगसूलाइ वा पाससूलाइ वा कुच्छिसूलाइ वा जोखिसूलाइ वा गाममारवा जाव सन्निवेसमारी वा पाणक्खय जाव वसणज्जतमणायरियं वा नो इण्डे समेटे ववगयथरोगायंका एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं जंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे अइवामाइ वा मंदवासाइ वा सुवुड्डीइ वा मंदवुड्डीइ वा उदवाहीइ वा पवाहाइ वा दग्गुन्धेयाइ वा दग्गुन्धेलाइ वा गामवहाइ वा जाव सन्निवेसवहाइ वा पाणक्खय जाव वसणभूतमणारियाइ वा नो इण्डे समेटे ववगयवगोवद्गा एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि एं भंते ! एगुर्यदीवे एं दीवे आयागराइ वा तंवागराइ वा सीमागराइ वा सुवन्नागराइ वा रयणागराइ वा वइरागराइ वा वसुहाराइ वा हिरणवासाइ वा सुवन्नवासाइ वा रयणवासाइ वा वइरवासाइ वा आजरणवासाइ वा पत्तं वा पुप्फं वा फलं वा वीयं वा संगंथं वा समल्लं वा सवन्नं वा सच्चुन्नं वा सखीरुड्डीइ वा रयणुड्डीइ वा

हिरण्यवुडीइ वा सुवन्नं तदेव जाव चुन्नवुडीइ वा सुकालाइ वा दुकालाइ वा सुभिकवाइ वा दुब्भिकवाइ वा अप्पग्याइ वा महग्याइ वा कयाइ वा विकयाइ वा मं-
णिहीइ वा संचेयाइ वा निरीइ वा निहाणाइ वा चिर-
पोराणाइ वा पहीणमामियाइ वा पहीणसज्याइ वा पही-
णोत्तागाइ जाइ इमाइ गामागरनगरखेरुक्कवडमंरुवडोहमु-
हपडशममसंवाहसन्निवेसेसु सिंघानगतिगचउक्कचचरचउ-
म्मुहमहापडमडेसु नगरनिष्क्रमणेसु सुसाणगिरिकंदरसंतिस-
लोवच्चाणभवणगिहेसु सन्निवित्ता चिद्धतिनो इण्टे समट्टे
एगुरुयदीवे एं भंते ! दीवं मणुयाणं केवइयं कालं
त्रिं पसत्ता ? गोयमा ! जहएणेणं पडिओवमस्स असंवेज्जइ-
भागं अमंखेज्जति भागेणं ऊणगं उक्कोसेणं पडिओवमस्स
असंखेज्जइजागं ते एं जंते ! मणुया कात्तमासे कात्तं किच्चा
कहिं गच्छंति कहिं उवज्जंति गोयमा ! ते एं मणुया उ-
म्मासावसेसाउम्मा मिहुणां पसवंति अउणासीइ राइंदियाइ
मिहुणां सारक्खंति संगोवंति मारगित्ता उस्समित्ता णि-
स्ससित्ता कासित्ता छित्तिता अकिट्ठा अवाहिया अपरि-
याविया मुइं मुहेणं कालमासे कालं किच्चा अस्सयरेसु देव-
ओएसु देवत्ताए उववत्तारो जवंति देवओगपरिग्गहिया एं
ते मणुयगणा पणत्ता समणाउसो ॥

एकोरुक्कमनुष्याणामेकोरुक्कद्वीपं पिपृच्छिपुराह । कहिण भते !
इत्यादि क जदन्त ! दाक्षिणात्यानामिह एकोरुक्कादयो मनुष्या-
शिक्षरिष्यपि पर्वते विद्यन्ते ते च मेरोरुक्तरदिग्धर्तिन इति तद्वधव-
च्छेदार्थं दाक्षिणात्यानामित्युक्तम् एकोरुक्कमनुष्याणामेकोरुक्क-
द्वीपः प्रहस्तः जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरपर्वतस्यान्य-
त्रासमवादस्मिन् जम्बूद्वीपद्वीपे इति प्रतिपत्तव्यं मन्दरपर्वतस्य
मेरुदक्षिणस्यां दिशि कुल्लहिमवद्वर्धधरपर्वतस्य कुल्लप्रदण म-
हाहिमवद्वर्धधरपर्वतव्यवच्छेदार्थं पृथस्मात् पूर्वरूपाश्चरमान्तात्
उत्तरपूर्वेण उत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्र त्रीणि योजनश-
तान्यवगाह्यान्तरे कुल्लहिमवद्वर्धधरा उपरि दाक्षिणात्यानामे-
कोरुक्कमनुष्याणामेकोरुक्कद्वीपो नाम द्वीपः प्रहस्तः स च त्रीणि
योजनशतान्यायामविष्कम्भेन समाहारो ब्रह्म आयामेन वि-
ष्कम्भेन चेत्यर्थः । नवैकोनपञ्चाशदान्येकोनपञ्चाशदधिकानि
नवयोजनशतानि (९५९) परिकेपेण प्रहस्तः परिकेपेण परिमा-
णगणितभावना विष्कम्भ “ वग्गदहदहस्य गुण-करणीचट्टस्स
परिरओ होइ ” इति कारणवशात् स्वयं कसंख्या सुगमत्वात्
“ से णमित्यादि ” स एकोरुक्कनामा द्वीप एकया पञ्चवरवेदि-
कया एकेन वनखएनेन सर्वतः सर्वासु दिक्षु समतत सामस्त्येन
परिक्षिप्तः । तत्र पञ्चवरवेदिकावर्षको वनखएरुवर्णकश्च
वह्यमाणजम्बूद्वीपजगत्पुपरि पञ्चवरवेदिकावनखएरुवर्णकवत्
भावनीयः । स च तावत् यावच्चरममासयतीति पदम् ।
“ एगुरुयदीवस्स एं भते ! इत्यादि ” एकोरुक्कद्वीपस्य णमिति
पूर्ववत् भदन्त ! कीदृशः क इव दृश्यः आकारभवप्रत्यवतार
भूम्यादिस्वरूपसम्भवः प्रहस्तः जगवानाह गौतम ! एकोरुक्कद्वीपे
एगुरुसमरणीयः प्रभूतसमः सन् रम्यो चुमिभागः प्रहस्तः “ से

जहा णामए आद्विगपुक्कखरेइ वा इत्यादि उत्तरकुसुमस्ताव-
दनुमर्त्तव्यो यावदनुमज्जनासत्र नवरमत्र नानात्वमिदं मनुष्याः
अष्टौ धनु शतान्युच्छ्रिता वक्तव्याश्चतु पट्टिपृष्ठकरएरुकाः पृष्ठ-
वशा वृहत्प्रमाणानाहिते बहवो भवन्ति एकोनाडीति च
रात्रिन्दिवानि स्वापत्यान्युपपालयन्ति स्थितिस्तेषां जघन्येन
देशेन पल्यापमासरयेयभाग एतदेव व्याचष्टे पल्यापमाम-
स्येयभागन्यून वत्कर्पतः परिपृच्छ पल्यापमासस्येयजाग-
जी० ३ प्रति० ।

कहि एं जंते ! दाहिणिह्वाणं आभासियमणुयाणं आजा-
सियदीवे नाम दीवे पसत्ते ? गोयमा ! जंबुद्वीवे दीवे तदेव
चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणपूर्वाच्छिमिल्ला-
तो चरिमंताओ लवणसमुद्रं तिन्नि जोयणं सेसं जहा ए-
गुरुयाणं निरवसेसं सव्वं ॥

क भदन्त ! दाक्षिणात्यानां प्राभाषिकद्वीपानामन्तरद्वीपः प्रहस्तो
जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि
कुल्लहिमवतो वर्धधरपर्वतस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् दक्षिणपूर्वेण
दक्षिणपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्र कुल्लहिमवद्वर्धधरा उपरि त्रीणि
योजनशतान्यवगाह्यान्तरे द्वाया उपरि दाक्षिणात्यानामा-
प्राषिकमनुष्याणामप्राभाषिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रहस्तः शेषवक्तव्यता
एकोरुक्कवद्वक्तव्या यावत् स्थितिसूत्रम् ।

कहि ण भंते ! दाहिह्वाणं वेसाणियमणुस्साणं पुच्छा ? गो-
यमा ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमव-
तस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं पच्चिच्छिमिल्लाओ चरिमंता-
ओ लवणसमुद्रं तिन्नि जोयणा सेसं जहा एगुरुयाणं ।

“ कहिण जंते इत्यादि ” क भदन्त ! दाक्षिणात्यानां वैशाखि-
कमनुष्याणां वैशालिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रहस्तः जगवानाह गौ-
तम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि कुल्लहिम-
वतो वर्धधरपर्वतस्य पश्चात्याच्चरमान्तात् दक्षिणपश्चिमायां दि-
शि लवणसमुद्र त्रीणि योजनशतान्यवगाह्या अत्रान्तरे दाक्षि-
णात्यानां वैशालिकमनुष्याणां वैशालिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रहस्तः
शेष यथा एकोरुकाणां तथा वक्तव्यं यावत् स्थितिसूत्रम् ।

कहि एं भते ! दाहिणिह्वाणं नंगोलियमणुस्साणं पुच्छा
गोयमा ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्ल-
हिमवतस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपच्चिच्छिमिल्लाओ चरि-
मंताओ लवणसमुद्रं तिन्नि जोयणसयाइं सेसं जहा एगु-
रुयमणुस्साणं ।

क जदन्त ! नाङ्गोलिकमनुष्याणां नाङ्गोलिकद्वीपो नाम द्वीपः
प्रहस्तः जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षि-
णस्यां दिशि कुल्लहिमवतो वर्धधरस्य पश्चात्याच्चरमान्तात्
उत्तरपश्चिमेन उत्तरपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्र त्रीणि यो-
जनशतानि अवगाह्यान्तरे द्वाया उपरि नाङ्गोलिकमनुष्याणां
नाङ्गोलिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रहस्तः शेषमेकोरुक्कवत् वक्तव्यं या-
वत् स्थितिसूत्रम् । जी० ३ प्रति० । स्था० । न० । कसं० ।

द्वितीयश्चतुष्कः ।

कहि एं भंते ! दाहिणिह्वाणं हयकस्समणुस्माणं हयक-
न्दीवे नाम दीवे पसत्ते ? गोयमा ! एगुरुयदीवस्स उत्तर-

तत एतेषामश्चकार्णाडीनां चतुर्णां ढीपानां परतो यथाक्रम
पूर्वोत्तरादिदिदिक् प्रत्येकमष्टौ अष्टौ योजनशतानि स्रवणसमु-
द्रमवगाह्याप्रयोजनशतायामविष्कम्भा एकोनविंशदधिकपञ्च-
विंशतियोजनशतपरिक्रेपाः पञ्चवरवेदिकायनसप्तगमिन्त-
परिसग जम्बुद्वीपवेदिकान्तादप्रयोजनशतप्रमाणान्तग उत्का-
मुखमेवसुखविशुमुखविशुदन्ताभिधानादचत्वारो ढीपा वक्त-

व्यास्तद्यथा अश्वकर्णस्य परतो उल्कामुखं हरिकर्णस्य परतो मेघमुखः अकर्णस्य परतो विद्युन्मुखः कर्णप्रावरणस्य परतो विद्युदन्तः ॥ जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

तेषु णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुदं णव णव जोयणसयाइ ओगाहत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पणत्ता तंजहा घणदंतदीवे लट्टदंतदीवे गूढदंतदीवे सुच्छ-दंतदीवे । तेषु णं दीवेषु चउत्तवा मणुस्मा परिवमंति तंजहा घणदंता लट्टदंता गूढदंता सुच्छदंता ।

एतेषामप्युल्कामुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रम पूर्वाक्षरादिविदिक्षु प्रत्येकं नव योजनशतानि लवणसमुद्रमव-गाह्य नवयोजनशतायामविष्कम्भा पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टा-विंशतियोजनशतपञ्चवरवेदिकावनखण्डरुसमवगूढा जम्बूद्वीप-वेदिकान्तात् नवयोजनशतप्रमाणान्तरा घनदन्तलट्टदन्तगूढदन्त-शुद्धदन्तनामानश्चत्वारो द्वीपास्तद्यथा उल्कामुखस्य परतो घ-नदन्तः मेघमुखस्य परतो लट्टदन्तः विद्युन्मुखस्य परतो गूढद-न्तः विद्युदन्तस्य परतः शुद्धदन्तः जी० ३ प्रति० ।

अन्तरद्वीपप्रकरणार्थं सप्रहगाथाः ।

" बुद्धिद्विभवंतपुञ्जा-वरेण विदिसासु सागर तिस्रः ।

गतून्तरद्वीवा, तिष्ठि सप्त द्वीति विदिधिया ॥ १ ॥

अठ्ठावस्यनवसप्त, किञ्चूणे परिहिपसिमे नामा ।

एगोरुय आभासिय, वेसाणी चैव लगुदी ॥ २ ॥

एपसि दीवाण, परओ चत्तारि जोयणसयाइ ।

ओगाहिकण लवण, स पमिदिसि चउसयपमाणा ॥ ३ ॥

चत्तारतरदीवा, ह्यगयगोकक्षसकुलीकक्षा ।

एव पच सयाइ, उ सत्त अठे व नव चैव ॥ ४ ॥

ओगाहिकण लवण, विक्खभोगाहसरिसया भणिया ।

चउरो चउरो दीवा, इमेहि नामेहि नायत्वा ॥ ५ ॥

आयसमैदगमुहा, अओमुहा गोमुहा य चउरते ।

अस्समुहा इत्थिमुहा, सीहमुहा चैव वग्घमुहा ॥ ६ ॥

तसो य अस्सकक्षा, इत्थिअकक्षा अकक्षपाठरणा ।

उक्कामुह मेइमुहा, विज्जुमुहा विज्जुदता य ॥ ७ ॥

घणदत लट्टदंता, निगूढदता य सुद्धदता य ।

वासइरे सिहरम्मि वि, एव चिय अठवीसावि ॥ ८ ॥

अतरदीवेषु नरा, धणुसयअद्धसिया सया मुद्धया ।

पालिति मिहुणधम्मं, पट्टस्स असखजागाओ ॥ ९ ॥

अउससि पिट्टिकर-रगाणि मणुयाण वच्चपालणया ।

अठ्ठासीइ तु दिणा, चउत्थमत्तेण आहारो सि ॥ १० ॥

स्था० ४ ग० । एतेषामेव द्वीपानामवगाहनायामविष्कम्भ-परिरयपरिमाणसप्रहगाथापट्कमाह ।

पदमम्मि तिष्ठि उ सया, सेसाण सतोत्तरा नवउज्जा च ।

ओगाहण विक्खंजं, दीवाणं परिरयं वोच्छं ॥

पदमचउकपरिरया, वीयचउकस्स परिरओ अहिओ ।

सोक्खेहि तिहि उ जोयण-सएहि एमेव सेसाणं ।

एगोरुयपरिक्खेवो, नव चैव सयाइ अउणपण्णाइ ॥

बारसपण्णइइ, ह्यकक्षाणं परिक्खेवो ।

पणरस एकसीया, आयसमुहाण परिरओ होइ ।

अट्टारसनउयाओ, आसमुहाणं परिक्खेवो ।

वावीसं तेराइ, परिक्खेवो होइ आसकएणाण ॥

पणवास अउणतीसा, उक्कामुहपरिरओ होइ ।

दो चैव सहस्ताइ, अट्टेव सया हवंति पणयात्ता ॥

घणदंता दीवाणं, विसेसमहिओ परिक्खेवो ।

प्रथमद्वीपचतुष्के चिन्त्यमाने त्रीणि योजनशतानि अवगाहना लवणसमुद्रावगाह विष्कम्भ च विष्कम्भप्रहणादायामोऽपि गृह्यते तुल्यपरिमाणत्वात् जानीहि इति क्रियाशेषः । शेषाणां द्वी-पचतुष्काणां शतोत्तराणि त्रीणि शतानि अवगाहनाविष्कम्भ तावज्जानीयात् यावन्नव शतानि तद्यथा द्वितीयचतुष्के चत्वारि शतानि तृतीये पञ्च शतानि चतुर्थे षट् शतानि पञ्चमे सप्त श-तानि षष्ठे अष्टौ शतानि सप्तमे नव शतानि अत ऊर्ध्वं द्वीपाना-मेकोरुक्प्रभृतीनां परिरयप्रमाणं वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहय-ति " पदमचउक्केत्यादि " प्रथमचतुष्कपरिरयात् प्रथमद्वीपच-तुष्कपरिरयपरिमाणात् द्वितीयचतुष्कस्य द्वितीयद्वीपचतु-ष्टयस्य परिरयः परिरयपरिमाणमधिकः षोरुशै षोरुशोत्त-रैस्त्रिभिर्योजनशतैरेवमेवानेनैव प्रकारेण शेषाणां द्वीपानां द्वीप-चतुष्काणां परिरयपरिमाणमधिकं पूर्वपूर्वचतुष्कपरिरयपरिमा-णादवसातव्यमेतदेव चैतेन दर्शयति (एकोरुकेत्यादि) एको-रुक्परिक्रमेण एकोरुकोपक्षकितप्रथमद्वीपचतुष्कपरिक्रमेण नव श-तानि एकोनपञ्चाशदधिकानि ततस्त्रिषु योजनशतेषु षोरुशोत्त-रेषु प्रक्षिप्तेषु " ह्यकक्षाणमिति " बहुवचनात् ह्यकर्णप्रमुखाणां द्वितीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्रमेण जवति स च द्वादश योज-नशतानि पञ्चषष्ठ्यधिकानि तत्रापि त्रिषु योजनशतेषु षोरु-शोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आयसमुहाणति) आदर्शमुखप्रमुखाणां तृतीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिरयपरिमाणं भवति तच्च पञ्च-दशयोजनशतान्येकाशीत्यधिकानि ततो ज्ञेयोऽपि त्रिषु योजन-शतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आयसमुहाणति) अश्वमुखप्र-भृतीनां चतुर्थानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्रमेण तद्यथा अष्टादशयो-जनशतानि सप्तनवत्यधिकानि तेष्वपि त्रिषु योजनशतेषु षोरु-शोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आसकएणाणति) अश्वकर्णप्रमुखाणां पञ्चमानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्रमेण भवति तद्यथा द्वाविंशति-योजनशतानि त्रयोदशधिकानि ततो ज्ञेयोऽपि त्रिषु योजनश-तेषु षोरुशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु उल्कामुखपरिरय उल्कामुखप्रमुखष-ष्ठद्वीपचतुष्कपरिरयपरिमाणं जवति तद्यथा पञ्चविंशतियोजनश-तानि एकोनत्रिंशदधिकानि तत पुनरपि त्रिषु योजनशतेषु षोरु-शोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु घनदन्तद्वीपस्य घनदन्तप्रमुखसप्तद्वीपचतु-ष्कस्य परिक्रमेण तद्यथा द्वे सहस्रे अष्टौ शतानि पञ्चचत्वारिंश-दधिकानि (विसेसमहिओइति) किञ्चिद्विशेषमधिकोऽधिकृतः परिक्रमेणः पञ्चचत्वारिंशानि किञ्चिद्विशेषाधिकानीति ज्ञातार्थः । इदं पदमन्ते ऽभिहितत्वात्सर्वत्राप्यभिसम्बन्धनीय तेन सर्वत्रापि किञ्चिद्विशेषाधिकमुक्तरूपं परिरयपरिमाणमवसातव्यम् तदे-वमेते हिमवन्ति पर्वते चतस्रषु विदिक्षु व्यवस्थिताः सर्वस-ख्यया अष्टाविंशतिः एव हिमवत्तुल्यवर्णप्रमाणे पञ्चदशप्रमाणा-यामविष्कम्भावगाहपुणरुकीकहदोपशोभितशिखरिण्यपि पर्वते लवणोदादार्णवजलसम्पर्शादारण्य यथोक्तप्रमाणान्तराश्चत-स्रषु विदिक्षु एकोरुकादिनामानोऽधुखापान्तराद्यायामविष्कम्भा अष्टाविंशतिसख्या द्वीपा वेदितव्याः ।

कहिं णं भंते ! उत्तरिद्वीपां एगुरुयमणुस्साणं एगुरुदी-

वे नामं दीवे पाणत्ता ? गोयमा ! जम्बूद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं सिंहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपुर-
च्छिमिद्धाओ चरिमंताओ ववणसमुद्धं तिन्नि जोयणस-
याइं ओगाहिच्चा एवं जहा दाहणिद्धाणं तहा उत्तरिद्धाणं
भाणियव्वं णवरं सिंहस्स वासहरपव्वयस्स विदिसासु
एवं जाव सुद्धदंतदीवेत्ति जाव सेत्तं अंतरदीवगा ॥

“कहि णं जंते ! एगुर्येत्यादि” सर्वे तदेव नवरमुत्तरेण विभा-
षा कर्त्तव्या सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपाः । उपसहारमा-
ह । सेत्तमन्तरदीवगा ते एते अन्तरद्वीपका इति ॥ जी० ३
प्रति० ॥ प्रज्ञा० । स्था० । ज० । कर्म० । एतज्ज्ञात मनुष्या अप्ये-
तज्ज्ञातान् उपचाराद्भवन्ति । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो यथा षष्ठा-
द्वेष्टनिवासिनः पुरुषाः षष्ठात्वा इति प्रज्ञा० १ पदः । जी० । स्था० ।
अंतरदीवग [य] अन्तरद्वीपग [ज]-पु० अन्तरद्वीपेषु गता
अन्तरद्वीपगाः प्रज्ञा० १ पदः । तेषु जाता वा अन्तरद्वीपजा ।
न० । एकोरुकाद्यन्तरद्वीपवासिगर्भव्युत्क्रांतिकमनुष्यभेदेषु, ते
च एकोरुकादिनामानोऽष्टाविंशतिर्दाकिणात्यौत्तराहमेदेन भि-
द्यमानाः षट्पञ्चाशत् कर्म० १ क० । स्था० । आ० म० द्वि० ।
(तद्वर्णकोऽनन्तरमेव अंतरदीवशब्दे दर्शितः)

अंतरदीववेदिया-अन्तरद्वीपवेदिका-स्त्री० द्वीपान्तरवेदिका-
याम्, तथा अन्तरद्वीपवेदिकायां चाराणि सन्ति न चेति प्रश्ने
जगत्यां चाराणि कथितानि सन्ति अन्तरद्वीपे तु वेदिका जगत्याः
स्थानेऽस्ति अतो वेदिकायामपि द्वाराणि सभाव्यन्ते इयेन० ४
उद्धा० ३८ प्र० ।

अंतरदीविया-अन्तरद्वीपिका-स्त्री० अन्तरे मध्ये समुद्रस्य
द्वीपा ये ते तथा तेषु जाता आन्तरद्वीपास्त एवान्तरद्वीपिकाः ।
अन्तरद्वीपवास्तव्यमनुष्यस्त्रीषु, स्था० ३ ग० । जी० । (व-
क्तव्यता चासामन्तरदीवशब्दे दर्शिता) ।

अंतरक्षा-अन्तरक्षा-स्त्री० अन्तरकाले, आचा० १ भु० ८ अ० ।
अन्तर्धा-स्त्री० अन्तर्धाने, “सह अन्तरक्षा” स्मृतेश्चोऽन्तर्धान
किं मया परिगृहीतं कया मर्यादया व्रतमित्येवमननुस्मरणमि-
त्यर्थः आच० ६ अ० ।

अंतरपट्टी-अन्तरपट्टी-स्त्री० मूलकेशात्सार्वक्षिगव्युत्सथे प्रा-
मविशेषे, प्रव० ७ द्वा० । वृ० ।

अंतरप्पा-अन्तरात्मन-पु० अन्तर्मध्यरूप आत्मा शरीररूप इ-
त्यन्तरात्मेति भ० २० श० १ उ० । स्वरेऽन्तरश्च ८ । १ । १४
इति सूत्रेणान्त्यव्यञ्जनस्य स्वरे परे लुक् निबद्धः प्रा० । जीवः,
प्रश्न० संव० १ द्वा० । अष्ट० । आत्मभेदे, यो हि सकर्मावस्था-
यामपि आत्मनि ज्ञानाद्युपयोगलक्षणे शुरुचैतन्यलक्षणे महान-
न्दस्वरूपे निर्विकारामृताव्याधाररूपे समस्तपरमावमुक्ते आ-
त्मबुद्धिः (स.) अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिगुणस्थानकत क्षीणमो-
हं यावत् अन्तरात्मा उच्यते अष्ट० ११ अष्ट० ।

अंतरभाव-अन्तरभाव-पु० परमार्थे, पञ्चा० १८ विव० ।

अंतरभावविहण-अन्तरभावविहीन-त्रि० परमार्थविद्युक्ते,
पञ्चा० १८ विव० ।

अंतरभाषा-अन्तरभाषा-स्त्री० गुरोर्भाषमाणस्य विचात्रभाषणे,
ध० १ अधि० । आच० । विहरन् साधुः चैरिः पृष्ट “आयरिण
उवज्जप वा सभासेज्ज वा वियागरेज्ज वा आयरियउवज्जा-

यस्स जासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा यो अतराजास
करेज्जा ” आचा० २ भु० ३ अ० ।

अंतराहिय-अन्तरहित-त्रि० व्यवहिते, “अणंतराहियाए पुड-
वीए ” आचा० २ भु० १ अ० । नि० चू० ।

अंतरा-अन्तरा-अव्य० अन्तरेति इण्-ना-निकटे, वर्जने, भेदि-
नी-वाच० । अन्तराले, सुत्र० १ भु० ८ अ० । विशेष० । आचा० ।
मध्ये, “इच्छादयारमागंतु अंतरायं विसीयइ” सूत्र० भु० ३ अ० ।
अर्वागर्थे च. कल्प० “अंतरा वि य से कप्पइ ना से कप्पइ ”
अर्वागपि कल्पते परं न कल्पते कर्म० ५ क० ।

अंतरा (य) इय-अन्तराय-न० पुं० अन्तरा दातृप्रतिप्रा-
हकयोरन्तर्भाषागारिकवद् विघ्नहेतुतया अयते गच्छती-
त्यन्तरायम् उक्त० ३३ अ० । अन्तरा अय-अच्-प्रव० १५ द्वा० ।
जीवं दानादिकं वा अन्तरा व्यवधानापादनाय एति गच्छ-
तीति अन्तरायम् । अन्तरा-इ-अच्-पं० स० ३ द्वा० । कर्म० ।
अन्तर्मध्ये दातृप्रतिप्राहकयोर्विचाले आयातीत्यन्तरायः । जी-
वस्य दानादिविघ्नकारकेऽष्टमे कर्मभेदे, यथा राजा कसैचि-
दातुमुपदिशति तत्र भाषागारिकोऽन्तराले विघ्नकृद् भवति
तदन्तरायकर्माऽष्टमम् भवति उक्त० ३३ अ० । “जह राया
दाणाइ, न कुणइ मंडारिण विक्कलमि । एव जेणं जीवो,
कम्मं तं अंतरायंति ” स्था० ।

तद्भेदा यथा-

अंतराए कम्मे दुविहे पण्त्ते तंजहा पणुप्पणविणा-
मिए चेव पिहतिथ आगामिपहं स्था० ५ ग० ।

(पणुप्पणविणासिएचेवत्ति)प्रत्युत्पन्नं वर्तमानं दग्धं वस्तु इत्यर्थो
विनाशितमुपहतं येन तत्तथा । पाठान्तरेण प्रत्युत्पन्नं विनाशय-
तीत्येवं शीलं प्रत्युत्पन्नविनाशि चैव समुच्चये इत्येकमन्यत्र पि-
धत्ते च निरुणद्धि च आगामिनो दग्धव्यस्य वस्तुनः पन्थाः
आगामिपथः तमिति कचेदागामिपथानिति दृश्यते कचिच्च
(आगमपहति) तत्र च लाजमार्गेमित्यर्थः । स्था० २ ग० ।

अंतराए णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्त्ते ? गोयमा !
पंचविहे पण्त्ते तंजहा दाणंतराए जाव वीरियंतराए
प्रज्ञा० ५५ पद० ।

तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्र-
दत्तमस्मै महाफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तदानान्तराय
यथा यदुदयवशादानगुणेन प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानम-
पि दीयमानमर्थजात याच्ञाकुशलोऽपि गुणवानपि याचको न
ब्रभते तज्ज्ञानान्तराय तथा यदुदयवशात् सत्यपि विशिष्टादा-
रादिसंभवे असति च प्रत्याख्यानपरिणामे वैराग्ये वा प्रवृत्त-
कार्पण्याभोत्सहते ज्ञोक्तुं तद्भोगान्तर्गम्यमेवमुपभोगान्तरायमपि
भावनाथम् । नवर ज्ञोगोपज्ञोगयोरय विशेषः सकृत् लुप्यते इति
ज्ञोग ‘आहागपुप्फमाई उ, उवभोगो उ पुणो पुणे’ । उवभुज्जइव-
त्यविब्रयाइ’ तथा यदुदयात्सत्यपि निरुज्जि शरीरे यौवनिकाया-
मपि वर्तमानोऽल्पप्राणो जवति यद्वलवत्यपि शरीरे साध्योऽपि
प्रयोजनेऽपि हीनसत्त्वतया प्रवर्त्तते तद्वीर्यान्तरायम् प्रज्ञा० २३ पदः ।

दाणे द्वाभे य भोगे य, उवजोगे वीरिए तहा ।

पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं उक्त० ३३ अ० ॥

एतच्च भाषागारिकसममिति दर्शयन्नाह ।

सिरिहस्यसमं एव, जह पम्कूलेण तेण रायाई ।

न कुण्ड दाणाईयं, एवं विगेषेण जीवो वि ॥

धियो गृहं भीगृहं भाषागारं तद्विद्यते यस्य स श्रीगृहको भाषागारिकस्तेन समं तुल्यमेतदन्तरायकर्म यथा तेन ध्योगृहकेण प्रतिकूलेन राजादिः राजा नृपतिः आदिशब्दात् श्रेष्ठोभरतलवरादिपरिग्रहः न करोति कर्तुं न पारयति दानादि आदिशब्दाच्च लाभभोगोपभोगादिग्रहणम् । एवममुना श्रीगृहकद्वयान्तेन विष्णोर्नान्तरायकर्मणा जायतेऽपि जन्तुरपि दानादि कर्तुं न पारयतीति व्याख्यातं पञ्चविधमन्तरायं कर्म । कर्म० १ कर्म० । प० सं० । आ० । (अनुभागादयोऽस्य अणुभागादिशब्देषु) (बन्धोद्यमस्ताम्भानान्यस्य कम्म शब्दे) विष्णे, सूत्र० १ सु० ११ अ० ।

योगस्यान्तराया ।

प्रत्यूहा बाधयःस्त्यानं, प्रमादालस्पवित्रमाः ।

मंदेहाविरतीजुम्प-लान्नाप्यनवस्थितिः ॥ ए ॥

(प्रत्यूहा इति) व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनात्तन्धूमिकत्यानपस्थितत्वादि चिच्छिद्योपास्तेऽन्तराया इति सूत्रम् । हा० १६ हा० । विष्णुकरणे, स्था० ४४० । व्यवच्छेदे, " जे अंतरायं चेपर " स० । शक्यमावे च । " नअत्य अंतरायं परगहे गिसीयए " सूत्र० १ सु० ६ अ० । आन्तरागिक-न० विष्णे, प्र० सं० ३ हा० । बहुप्रत्ययाये, आचा० १ सु० ६ अ० ।

अंतरापह-अन्तरापय- पु० विद्यादेतत्स्थानयोरन्तरालमार्गं, म० २ श० १ उ० ।

अंतरायबहुल-अन्तरायबहुल-त्रि० विष्णुप्रचुरे, तं० ।

अतरायवर्ग-अन्तरायवर्ग-पु० अन्तरायप्रकृतिसमुदाये, क० प्र० ।

अंतराह-अंतराल-न० अन्तरं सीमानमाराति गृह्णाति-आ-रा-क-रस्य द्यत्यम् वाच० । मध्ये, विशे० । सकीर्णयणं च पु० तद्वर्तिनि त्रि० वाच० ।

अंतरावण-अंतरापण-पु० अन्तरे ग्रामादीनामर्द्धपथे आपणाः अन्तरापणाः प्र० अ० ३ हा० । राजमार्गप्रवृत्तिमध्यभागवर्तिषु दृष्टेषु, विष्णु० १ सु० ३ अ० । धीधीषु दृष्टमार्गेषु, घृ० १ उ० । " अतरावणां धरुपडय गिरहति " परिखोदकमार्गान्तरालवर्तिनो दृष्टात् कुम्भकारसम्बन्धिन इत्यर्थः हा० १२ अ० । अंतरावणगिह-अन्तरापणगृह-न० गृहविशेषे, तद्यथा ।

अह अंतरावणो पुण, वीहीसा एगओ व हुहओ वा ।

तत्थ गिहं अंतरावण-गिहं तु सयमावणो चेव ॥

अधेन्यानन्तरे अन्तरापणो नाम धीधी दृष्टमार्ग इत्यर्थः सा एकतो वा एकपाश्वरेण (हुहओ विस्ति) द्वाभ्यां वा पार्श्वोभ्यां भवेत् तत्र यद्गृहं तदन्तरापणगृहमुच्यते घृ० १ उ० ।

अन्तरावाम-अन्तरवर्ष-पु० अन्तरमवसरोवर्षस्य वृष्ट्येवासा-वन्तरवर्ष । वर्षाकाले, ज० १५ श० १ उ० ।

अन्तरावास-पु० अन्तरेऽपि जिगमिषतः क्षेत्रमप्राप्याऽपि यत्र सति साधुभिरवश्यमावासो विधीयते सोऽन्तरावासः । वर्षाकाले, ज० १५ श० १ उ० । " अडिथे गाम नासाए पदम अतरा. वास उवागए " कल्प० ।

अंतरि (लि) कख-अन्तरि (री) क्ष-न० अन्तः स्वर्गपृथिव्योर्मध्ये ईदृश्यते इक्ष-कर्मणि घञ्-अन्तः ऋक्षाणि अस्य वा पृथोदरादित्यापक्षे ह्रस्वः श्रुकारस्य रित्वा वा वाच० । अन्तर्मध्ये ईक्षा दर्शनं यस्य तदन्तरीकर्म भ० १७ श० १० उ० । आकाशे, विशे० " अतक्षिप्सन्ति ए ब्रूया, गुज्जाणुच्चरियन्ति य'दश० ७ अ० आन्तरिक्ष-न० अन्तरिक्षमाकाशं तत्र प्रवमान्तरिक्षम् । गन्धर्वनगरादौ, स्था० ८ हा० । उक्त० । मेघादिके, सूत्र० २ सु० २ अ० । ग्रहाणामुदयास्तादिपरिज्ञानात्मके, कल्प० । उल्कापातधूमकेतुप्रमुखाणामुदयविचारविद्यालक्षणे, (उक्त० १५ अ०) आकाशप्रभवप्रहयुद्धभेदादिभावफलनिवेदिके वा चतुर्थे महानिमित्तशास्त्रे, स० । " ग्रहवेधभूअग्रहहासपमुह जमतरीकृत " प्रव० २५७ हा० । ग्रहवेधनूतादृहासप्रमुखमान्तरिक्षं निमित्तम् । तत्र ग्रहवेधो ग्रहस्य ग्रहमध्येन निर्गमः । नूतादृहासोऽतिमहानाकाशे आकिङ्किटारायः यथा " जिनासि सोममध्येन, ग्रहेष्वन्यतमो यदा । तदा राजजय विद्यात्प्रजाहो-भं च दारुण " मित्यादि प्रमुखग्रहणार्धवर्धनगरादिपरिग्रहः । यथा " कपिलं शस्यपाताय, माडिजुहरण गवाम् । अव्यक्तवर्णं कुरुते बलदोभ न सशय । गन्धर्वनगरं हेय, सप्ताकारं सतोर-णम् । सोम्यां दिशं समाश्रित्य, राहस्तद्विजयकरमित्यादि " प्रव० २५७ हा० । अस्य सूत्रं सदस्यप्रमाणं वृत्तिर्लक्षप्रमाणा चार्तिकं कोटिप्रमाणम् स० ७९ पत्र- । आव० ।

अन्तरि (लि) कखजाय-अन्तरिक्षजात-त्रि० स्कन्धमञ्चक-प्रासादादौ, भुव उपरिवर्तिपदार्थजाते, आचा० २ सु० ५ अ० ।

अन्तरि (लि) कखपमिवल-अन्तरिखमतिपन्न-त्रि० आकाशगते, उपा० २ अ० । ज० ।

अन्तरि (लि) कखपासणाह-अन्तरिक्षपार्श्वनाथ-पुं० श्रीपुरेऽन्तरिक्षस्वपार्श्वनाथप्रतिमायाम्,

तत्कल्प इत्थम् ।

‘पयदपहावनिवासं, पासं पणमिचु सिरिपुरं नगरं । किसेमि अंतरिख-द्विअतप्पमिमाइ कप्पलवं’ पुर्व्वि लंकापुरीए द-सग्गीवेण अञ्चकिणा माली सुमालिनामानो निअगाओ लग्गा केणावि पेसिया तेसिं उविमाणरूढाई तह पहे व-क्षताणं समागया भोअणवेत्ता । फल्लवमुएण चित्तिं मए ताव अज्ज जिणपमिमाकरंभिया ओसग्गत्तेण घरे विसा-रिआ एएमिं च हुएह वि पुन्नवंताणं देवपूयाए अकयाए न कन्थ वि भोयणं तओ देवयावसरकरमिअमदहु ममोवरि पकुविस्संति च्चि । तेण विज्जावलेण पविचवाहुआए अडि-एवा भाविजिणपासनाहपडिमा निम्मविआ । माहिमुमा-लिहिं तं पूइत्ता जोअणं कणं तओ तेसु तह मग्गे पडिएसु सा पडिमा आसन्नसरोवरमज्जे अखंकिअरूवा चेव तत्थ त्रिया । कालक्रमेण तस्स सरोवरस्स जहं अप्पिअअं जल्लज्ज-रिअं खरुणं व दीसइ । तओ कालंतरेण विंगउद्धीदेसे विंग-द्धनयरं तत्थ सिरपालो नाम नरवई हुत्था । सो अगादको-दविदुरिअसव्वंगो अचयरेहिं हज्जहिं बाहिं गओ ते तत्थ पि-

वासाए लम्गाए तम्मि खुडुकमेणं पत्तो तत्थ पाणिअं पीअं
मुहं इत्था य पक्खाद्विया । तओ ते अंगावयवा जाया
नीरोगा कणयकमलुज्जलच्छाया । तओ घरं गयस्स रओ
महादेवी तमच्छेरं दडुं पुच्छिच्छा सामि ! कत्थ वि तुम्हेहिं
अज्ज एहाणइ कयं राएण जहड्डियं पस्सत्तं देवीए चित्तियं ।
अहो सामि ! सा दिव्वं ति बीयदिणे राया तत्थ नीओ तीए
सव्वंगं पक्खालियं जाओ पुण एवसरीरावयवो राया, तओ
देवीए बलिपुआइअं काऊण भणिअं जो इत्थ देवया विसि-
सो चिट्ठइ सो पयमेउ अप्पाणं । तओ घरं पत्ताए देवीए
नुमिणंतरे देवयाए नणिअं इत्थ भावितित्थयरपासनाह-
पडिमा चिट्ठइ तस्स पभावेणं रन्नो आरुगं संजायं एअं
पडिमं सगमे आरोविऊण सत्तदिस्सजाए ति णिज्जुत्तित्ता
आममुत्तंतुमिन्नरस्सीए रन्ना मयं सारहिहूएणं सट्ठाणं
पइवाले अघाटमा । जत्थेव निवो पच्छा हुत्थं पटोइस्सइ
तत्थेव पडिमा ठाहिइ । तओ नरनाहेण त खुडुगजलमा-
लोइऊण मा पडिमा लच्छा । तेण तहेव काउं पडिमा चा-
द्विआ कित्तिअं पि जूमिं गएण रन्ना किं पडिमा एइ न
वि ति सिंहावलोइअं कयं पडिमा तत्थेव अंतरिखे ठि-
आ । सगओ अगओ हुत्तं नीसरिओ रन्ना पडिमा अ-
द्धणि अधिइ गया । तत्थेव य सिरिपुरं नामं नयरं नि-
अनामोवत्ताक्खियं निवेसिअं चेइअं च तहिं कारियं । तत्थ
पडिमा अणेगमहूसवपुव्वं ठाविआ पूयइत्तं पुहवि पइति-
कात्तं अज्जवि सा पडिमा तहेव अंतरिखे चिट्ठइ । पुव्वि
किर सा वाहमिअं घरं सिरमि बहंती नारी पडिमाए सी-
हासणवलोसिं वरिसु कात्तेण जूमिवेगचरणेण वा मिच्छाइ-
दूसिअकालाणुजावेण वा अहो अहो दीसंती जाव संपइ
नारी मित्तं पडिमाए हिडे संचरइ पईपयाहायसीहाम-
णजूमिअंतराळे दीसइ जया य सा पडिमा सगरुमारोवि-
आ तथा देवी खित्तवालो असहेव पडिमाओण सगत्तेण
सिद्धबुद्धाणं अन्नयरो पुत्तो अंवाए देवीए गहिओ अ-
ओ अए ठाविओ तओ खित्तवालस्स आणती दिन्ना
जहा एसदारओ ताए आणेअव्वो तेणावि अइउत्ताहं वलं
तेण नाणीओ तओ देवीए रुंषण समत्थइ अह सो अं-
तवालसीसे दीसइ एवं अंवाए वि खित्तवालोहिं सेवि-
ज्जमाणे धरणिदपउमावईहिं च कयपडिहेरो सा पडिमा
सव्वलोएहिं पूज्जइ अंतरिखड्डिअपासनाहकप्पे जहासु-
अं किं पि सिरजिणप्पहसुरिहिं लिहिओ सपरोवयारकए
अन्तरिक्खिपार्थनाथकल्पः ती० ५२ क० ।

अंतरि (द्वि) कखोदय-अन्तरिक्षोदक-न० अन्तरिक्षे उदक
मन्तरीलोवकम् । वर्षादके, नि० चू० १ उ० । यज्जलमाकाशा-
त्पतदेव गृह्यते " उपा० १ अ० ।

अंतरिज्ज-अन्तरीय-न० अन्तरे भवं गहादित्वाच्चः " नाभौ
धृत च यद्वत्-माच्छादयति जानुनी । अन्तरीय प्रशस्त तद-
च्छिन्नमुभयान्तयो " रित्येवदक्षणे परिधानवस्त्रे, वाच० । शय्या-
या अधस्तने वस्त्रे च । " अतरिज्ज णाम खियसण अहवा अ-
तरिज्ज णाम ज सेज्जाए हेछिह पत्त " नि० चू० १५ उ० ।
आचा० । प्रवाचये-बुद्ध अन्तरीयक. तद्वदे, त्रि० वाच० ।
अंतरिज्जिया अन्तरीया-स्त्री० स्थविगात्कामद्वेर्निर्गतस्य वेषपा-
तित (वसत्राभिय) गणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प० १८१ पत्र ।
अंतरिय-अन्तरित-त्रि० अन्तर-इण्-कर्त्तरि कः । अन्तर्गते,
अन्तर व्यवधानं करोतीति णिचि-कर्मणि-क्त । व्यवधापिते,
निरस्कृते, अच्छादिने, वाच० । व्यवहिते, विशेषेण आ० म० द्वि०
अन्तरिया-अन्तरिका-स्त्री० अन्तस्य विच्छेदस्य कारणमन्तरि-
का स्त्रीलिङ्गशब्द विवक्षितधस्तुन समासौ, " भ्रातृतरियाय
घट्टमाणस्स " आरब्धध्यानस्य समाप्तिरपूर्वस्यानारम्भणमित्य-
र्थः ज० २ वक्त्र० ।

अन्तरिका-स्त्री० अन्तरमैवान्तर्यं प्रेषजादित्वात्स्वायंषु अण
ततः स्त्रीत्वविचक्षायां ङीप् प्रत्यये आन्तरी आन्तर्येव आन्तरि-
का । अन्तरे, व्यवधाने, सू० प्र० १० पाहु० । लघ्वन्तरे च रा० ॥
अंतरुच्छुय-अन्तरिच्छुक-पु० इधुपर्वमध्ये, आचा० २ श्रु० १
अ० " उभयोपेक्षरद्वय अंतरुच्छुअ होति " नि० चू० १६ उ० ।
अंतरेण-अन्तरेण-अव्य० अन्तरेति इण्-ण-टवर्गादित्वेऽपि
णस्य नेत्सङ्गकत्वम् । मध्यार्थे, वाच० । विनार्थे च. उत्त० १ अ० ।
अन्तरमन्तरेण नाम अहाराजावेन नि० चू० १ उ० ।
अंतव (त)-अन्तवत्-त्रि० अन्तोऽस्यास्ती अन्तवान् । परि-
मिते, " अतवणिइय लोप इति धीरोति पासइ " अन्तवान् लोकः
सप्तर्षीणां वसुंधरेति परिमाणेकेस्तादृक्परिमाणेनेत्यर्थः ।
सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतवाल-अन्तपाद-पु० अन्तं तच्छक्रिण आदेश्यदेशसम्बन्धिर्न
पालयति उपरुवादिज्य इत्यन्तपादः । पूर्वदिगादिदेशलोकानां
देवादिकृतसमस्तोपरुवनिवारके, ज० ३ वक्त्र० आ० म० ।
अंतविकट्टियंतमाल-अन्तविकर्षितान्त्रमाद-त्रि० शृणुलादि-
जिरूपाटितोदरमध्यावयवे, तं० ।

अंतमुह-अन्तमुख-न० परिणाममुखे, " मासैरष्टनिरह्य च
पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्त्तव्यं मनुष्येण, वस्थान्ते सुखमेध-
ते " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

अंतसो-अन्तशस्-अव्य० अन्त-शस् निरवशेषत इत्यर्थे,
" सप्त कतति अतसो " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । विपाककाले इत्य-
र्थे सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । यावज्जीवमित्यर्थे, " मणसा वयसा चेव
कायसा चेव अंतसो " सूत्र० १ श्रु० ११ अ० कथञ्चित्कार्य-
निस्तारे, " भक्तपाणे अ अन्तसो " प्रकृते पात्रे चान्तशः सम्यगु-
पयोगवता जाव्यमिति सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतावेइ (ई)-अन्तर्वेदि (दी)-स्त्री० अन्तर्गता वेदिर्ब्रह्म
देशे । दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ऽ । १५ । इति ह्रस्वस्य दीर्घः ।
ब्रह्मावर्त्तदेशे, प्रा० । वाच० ।

अंताहार-अन्त्याहार-पु० अन्त्ये भवमन्त्यं जघन्यधान्य बद्धा-
दि आहारो यस्य । कतरसपरित्यागे, स्त्री० । सूत्र० । स्था० ।

अंति (न)-अन्तिन्-त्रि० अन्तो जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽ-
स्यास्तीत्यन्ती । जात्यादिभिरुचमतया पर्यन्तवर्तिनि,
स्था० १० ठा० ।

अंति [य]-अन्तिक-न० अन्त्यते संबध्यते सामीप्येन
अन्त-घञ् । घाच० । समीपे, तं० । सूत्र० । उक्त० । स्था० ।
विशे० । उक्त० । " बुद्धार्थं अंतीय सया " उक्त० १ अ० ।
आ० म० द्वि० । नि० । म० । रा० । पर्यवसाने, " अह भिक्षु
गिलापजा, आहारस्सेव अंतिया " आचा० १ अ० ८ अ० ।
पार्श्वे च " देवाणंदाय माहणीय अंतिप पयमदु सोष्ठा "
कल्प० । अन्तोऽस्यास्तीति अन्तिकोऽन्ते वा चरतात्यन्तिकः ।
पर्यन्तवासिनि, सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अंतिम-अन्तिम-त्रि० अन्ते भवमन्तिमम् । चरमे, स्था० १
ठा० । यत् परं न किञ्चिदस्ति विशे० ।

अंतिमराज्ञ्या-अन्तिमरात्रिका-स्त्री० अन्तिमाऽन्तिमभागरू-
पावयवे समुदास्योपचारात् सा चासी रात्रिका चान्तिमरा-
त्रिका । रात्रेरवसाने, स्था० १० ठा० । म० ।

अंतिमसंश्रयणतिग-अन्तिमसंहननत्रिक-न० अर्धनाराचस-
हननकीलिकासहननसेवार्तसंहननरूपे संहननत्रिके, कल्प० ।
अंतिमसारीरिय-अन्तिमश (शा) रीरिक-त्रि० अन्ते भव-
मन्तिमं चरमं तच्च तच्छरीर चेत्यन्तिमशरीर तत्र भवा अ-
न्तिमशारीरिकी दीर्घत्व च प्राकृतशैल्या । चरमदेहभवेषु क्रि-
यादियु, स्था० १ ठा० ।

अंतेआरि (न) अन्तआरिन्-त्रि० अन्तश्चरति अन्तर चर-
णिनि । तोऽन्तरि ८।१।६०। इति अत एत्वम् । मध्यगामिनि, प्रा० ।
अतेज [पु] र-अन्तःपुर-न० अन्तरभ्यन्तरं पुरं गृहकर्म
घाच० । तोऽन्तरि ८।१।६०। इत्यन्तःशब्दस्वात एत्वम् प्रा० ।
अवरोधे, राजस्त्रीणां निवासगृहे, रा० । झा० । " चिय अंतेउर
घरदारपवेसी " श्री० । तत्र गमनं निषिद्धम् ।

[सूत्रम्] जे भिक्षु रायतेपुरं पविसइ पविसंतं वा
साइज्जइ ॥३॥

इममेव सूत्रं गाथया व्याख्यानयति ।

अन्तेउरं च तिविधं, जुणं एव चवं कसगाणं च ।

एकेकं पि य दुविधं, सत्याणत्थं च परत्थाणे ॥१८॥

रक्षो अतेपुरं तिविधं रहसियं जोव्वणाओ अपरिमुज्जमा-
णीओ अत्यति एयं जुसतेपुरं । जोव्वणं पत्ताओ परिमुज्जमा-
णीओ जत्थ अत्यति तं सुधंतेपुर । अपत्तजोव्वणाणं रायदु-
हियाण सगओ कसतेपुरं । तं केत्तओ एकेकं दुविधं सट्ठाणे
परट्ठाणे य । सट्ठाणत्थं रायघरे चेव परट्ठाणत्थं वसंतादिसु
उज्जाणियागय ।

एते सामणत्तरं, रक्षो अंतेउरं तु जो पविसे ।

सो आणाअणवत्थं, मिच्छुत्तविराधणं पावे ॥ १९॥

इमे दोषाः ।

दंभारक्खिगदोवा-रिण्हि वरिसवक्खं चुइजेहिं ।

णितेहि अन्तिहेहि य, बाघावो होइ निक्खुस्स ॥२०॥

इमं वक्ख्वाणं ।

दंभरो दंभरक्खिओ, दोवारिजा तु दारिडा ।

वरिसवरट्ठिप्पिति, कंजुगिपुरिसा मट्ठरगा ॥ २१ ॥

दंभगदियदत्थो सच्चतो अतेपुर रक्खइ रक्षा वइसेण इत्थि पुरि-
सं वा अतेपुर णीणेति पवेसेति वा एस दंभरक्खिनो । दोवारि-
या दारं चेव जं समेत्तेति हिक्केनि ता तप्पिया रणो आणत्तीय
अतेपुरियसमीव गच्छंति । अतेपुरिया णतीय वा रक्षो समी-
व गच्छंति जं रक्षो समीवं अतेपुरिया णयति आणेति चादिउ-
रहाय वा कहकहिते कुविय वा पसादेति कहेति य रक्षो विदि-
ते कारणे अणुसुत्तो वि जे अगतो काउ वयति ते मट्ठरगा ।
अस्य य इमे दोसा ॥

असो व होंति दोसा, आइसो गुम्मरतणइत्थीओ ।

तष्ठीसाए पवेसो, तिरिक्खमण्या जवे हुडा ॥ २२ ॥

पूर्ववत् ।

सदादिइंदियत्थो, पयोगदोसाण एस णं सीवे ।

सिगारकहाकहणे, एगतरुजए य वहु दोसा ॥ २३ ॥

तत्थ गीयादिसदोवओणेण इरिय एसण वा ण सोहेति
तहिं वा पुच्छितो सिगारकह कहेज्ज । तत्थ य आयपरोजय-
समुत्था दोसा एते सट्ठाणत्थे दोसा । इमे परट्ठाणे ।

कोहिता वहोंति दोसा, केरिसगा कधणगिएहणादीया ।

गव्वो पायसिउत्तं, सिगाराणं व संजरणं ॥ २४ ॥

उज्जाणादिट्टियासु कोइ साधू कोउगेण गच्छेज्ज ते चेव पु-
व्ववणिण्या दोसा सिगारकहाकहणे वा गणहणादिया दोसा
अतेपुरे धम्मकहा णाणगव्व गच्छेज्ज ओरालसरीरो वा गव्व क-
रेज्ज अतेउरपवेसे ओज्जातितो मिहइ, अत्थे पट्ठादिकप्प करंते
पाउसदोसा भवति सिगारे य सोत्तं पुव्वरयकीलिते सुमरेज्ज
अहवा पाउ दहु अप्पणो पुव्वसिगारे संभरेज्ज पच्छा पमिगम-
णादी दोसा हवेज्ज ।

वितियपदमणाओगे, विसंधिपरिखेवसेज्जसंधारे ।

इयमादी हुडाणे, संघकुलगणाण कजे व ॥ २५ ॥

अणाओगेण पविट्ठो अहवा अतेपुर परट्ठाणत्थं साधुणा जातं
पयाओ अतेपुरिअसि पुव्वभासेण पविट्ठो अयाणतो अहवा
साधू उज्जाणादिसु ठिता रायतेपुर च सव्वओ समंता आग-
ओ परिवेडिय ठिय अण्णसहिमभावे य तं वसहिं अतेपुर म-
ज्जेण अतिति णिति वा । अहवा सथारगस्स पच्चप्पणाणहेओ
पविट्ठो अहवा सोहवग्गमहिसादियाण हुट्ठाण परणीयस्स वा
जया रायतेपुर पविसेज्जा अण्णतो णत्थि सीसरणो वा तो क-
ज्जेति कुलगणसंघकज्जेसु वा पविसेज्जा तत्थ देवी दव्वसा-
रायण उपणेति अतेपुरपविट्ठो रायदुत्तवो नि० चू० ए उ० ।

अंतेउरपरिवारसंपरिवुड-अन्तःपुरपरिवारसंपरिवृत-त्रि० अन्तः

पुरं च परिवारश्च अन्तःपुरलक्षणो वा परिवारो य स ।
ताभ्यां तेन वा सपरिवृत । अन्तःपुरलक्षणेन परिवारेण अ-
न्तःपुरेण परिवारेण वा सपरिवृते, झा० उ अ० ।

अंतेउरिया-अन्तःपुरिकी-स्त्री० अन्तःपुरे विद्या आन्तःपु-

रिकी । रोगिप्रागुण्यकारके विद्याजेदे, यया आतुरस्य नाम गृ-
हीत्वा आत्मनोऽङ्गमपमार्जयति आतुरश्च प्रणुणो जायते सा आ-
न्तःपुरिकी व्य० उ उ० ।

अंतेवासि (न) अन्तेवासिन्-पुं अन्ते समीपे वस्तुं चारित्र-
क्रियायां वस्तु शील स्वभावो यस्येत्यन्तेवासी । दशा० ४ अ० ।

अन्ते गुरो समीपे वस्तु शीलमस्येत्यन्तेवासी । शिष्ये, स्था० ।
अ० प्र० । ज० । सूर० । रा० । भ० ।

अन्तेवासिनां जेदप्रतिपादनार्थमाह ।

चत्वारि अंतेवासी पञ्चत्ता तंजहा उद्देमणंतेवासी नाम ए-
गे नोवायणतेवासी, वायणंतेवासी नाम एगे नो उद्देसणं-
तेवासी, एगे उद्देमणतेवासी वि वायणंतेवासी वि, एगे नो
उद्देसणंतेवासी वि नो वायणतेवासी वि ।

अस्य सूत्रस्य सबन्धप्रतिपादनार्थमाह ।

पमुच्चारियं होइ, अंतेवासी उ मेलणा ।

अंतिगमन्भासमासन्नं, समीवं चेव आहियं ॥

अधस्तनानन्तरसूत्रे आचार्याः प्रोक्ताः आचार्यं च प्रतीत्यान्ते-
वासी भवति ततोऽन्तेवासिसूत्रमित्येषां मेलतः सबन्धः । अ-
त्रान्तेवासी तत्र योऽन्तशब्दस्तद्व्याख्यानार्थमेकार्थिकान्याह ।
अन्तं नाम अन्तिकमभ्यास आसन्नं समीप चाख्यात तत्र वस-
तीत्येवशीलोऽन्तेवासी ।

संप्रति भङ्गनावनार्थमाह ।

जह चेव उ आयरिया, अंतेवासीति होति एमेव ।

अते य वसति जम्हा, अंतेवासी ततो होइ ॥

यथा चैव आचार्या उद्देशनादिजेदतश्चतुर्द्धा प्रवन्ति एवमेव
अन्तेवासिनोऽपि यस्मादाचार्यस्यान्ते वसति तस्मान्नवत्याचा-
र्यवस्तुर्द्धाऽन्तेवासी । इयमत्र नाचना यो यस्यान्ते उद्देशनमेवा-
धिकृत्य वसति वर्त्तते स त प्रत्युद्देशनान्तेवासी । यस्य त्वन्ते वा-
चनमेवाधिकृत्य वसति तस्य वाचनान्तेवासी । यश्चोद्देशन वा-
चनां वाधिकृत्य यस्यान्ते वसति स तं प्रत्युजयान्तेवासी । य-
स्य त्वन्ते नोद्देशनं नापि वाचनामधिकृत्यान्ते वसति किं तु ध-
र्मश्रवणमधिकृत्य स त प्रत्युभयविकल्पो धर्मान्तेवासी । उद्दे-
शनान्तेवासी वाचनान्तेवासी वा । तत्र कश्चित्त्रिभिरपि प्रकारैः
समन्वितो भवति कश्चिद् द्वाभ्यां कश्चिदेकैकेन । व्य० १० उ० ।

चत्वारि अंतेवासी पञ्चत्ता तंजहा पञ्चावणतेवासी एो
उवट्टावणतेवासी, उवट्टावणंतेवासी, एाममेगे णो पञ्चावणंते-
वासी, पञ्चावणंतेवासी वि उवट्टावणंतेवासी वि, एगे णो
पञ्चावणंतेवासी णो उवट्टावणंतेवासी ॥

अन्ते गुरो समीपे वस्तु शीलमस्येत्यन्तेवासी शिष्यः । प्रजा-
जनया दीक्षया अन्तेवासी प्रजाजनान्तेवासी दीक्षित इत्यर्थः ।
उपस्थापनान्तेवासी महावतारोपणतः शिष्य इति चतुर्थमङ्ग-
कस्थः क इत्याह धर्मान्तेवासीति धर्मप्रतिबोधनतः शिष्यो
धर्मार्थितयोपसम्पन्नो वेत्यर्थः । स्था० ४ ठा० ।

वीरान्तेवासिनां वर्णकः ।

तेणं कालेणं तेण मपणं समणस्स जगवन्नो महावीरस्स
अंतेवासो बहवे समणा भगवंतो अप्पेगइया उग्गपव्वइआ
भोगपव्वइया राइस्सणातकोरव्वत्तिअपव्वइआ भन्ना
जोहा सेणावइपमत्थारो सेट्ठी इव्भे अस्से बहवे एवमाइणो
उत्तमजातिकुलरूवविणयविष्ठाणवण्णावस्सविकमपहाण -
सोच्चगकंतिधुत्ता बहुधणधणणिचयपरियाद्वफिन्निआ णर-
वइगुणाइच्चिअभोगा भुहसंपलिआ किंपागफलोवमं च

मुणिअ विसयसोक्खं जलवुब्बुअसमाणं कुसन्नाजलबिंदुचं-
चलं जीवियं च णाज्जण अज्जुवमिणं रययमिव पढग्गन्नमं
संविधुणित्ताणं चइत्ता हिरसं जाव पव्वइआ । अप्पेगइआ
अप्पमासपरिआया अप्पेगइया मासपरिआया एवं दुमासा
तिमासा जाव एकारस । अप्पेगइया वासपरिआया दुवा-
स तिवासा अप्पेगइया अणेगवासपरिआया संजमेणं तवसा
अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समणं
समणस्स भगवन्नो महावीरस्स अंतेवासी बहवे णिग्गंथा
भगवंतो अप्पेगइया आभिणिबोहियणाणी जाव केवल-
णाणी । अप्पेगइआ मणवलिआ वयवलिआ कायवलिआ
अप्पेगइआ मणेणं सावाण्णगहममत्था ३ अप्पेगइआ खं-
लोसहिपत्ता एवं जट्ठोसहि विप्पोसहि आमोसहि सन्वोसहि
अप्पेगइआ कोट्टुवुद्धी एवं वीअवुद्धी पम्बुद्धी अप्पेगइया
पयाण्णमारी अप्पेगइआ संजिन्नमीआ अप्पेगइया खीरा-
सवा अप्पेगइआ महुवासवा अप्पेगइआ सप्पिआसवा अ-
प्पेगइआ अक्खीणमहाणसिआ एवं उज्जुमती अप्पेगइआ
विउलमई विउव्विणिह्मिपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासा-
तिवाइणो । अप्पेगइआ कणगावलिं तवोकम्मं पमिवस्सा एवं
एकावलिं खुट्ठाकसीहनिक्कीलियं तवोकम्मं पडिवस्सा अप्पे-
गइया महालयं मीहानिक्कीलियं तवोकम्मं पडिवस्सा जइप-
डिमं महाभइपमिमं सव्वतो जइपडिमं आयंविबव्वमाणं
तवोकम्मं पमिवस्सा मासिअं जिक्खुपडिमं एवं दोमासिअं
पमिमं तिमासिअं पमिमं जाव सत्तमासिअं भिक्खुपमिमं
पमिवस्सा पढमं राइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवस्सा जाव तच्चं
सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पमिवस्सा । अहोराइंदियं जिक्खु-
पढमं पमिवस्सा इकराइंदिअं भिक्खुपमिमं पडिवस्सा सत्त-
सत्तमिअं जिक्खुपडिमं अट्ठमिअं भिक्खुपमिमं एवण-
वमिअं जिक्खुपमिमं दसदसमिअं जिक्खुपडिमं खुडिय-
मोअपमिमं पमिवस्सा महद्धियं मोअपमिमं पमिवस्सा जव-
मज्झं चंदपडिमं पमिवस्सा वज्जमज्झं चंदपमिमं पमिवस्सा
संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति औ०७५पत्र ।

(मनोवलिकादीनामर्थं स्वस्वशब्दे)

तेणं काझेणं तेलं समणं समणस्स भगवन्नो महावीरस्स
अंतेवासी बहवे थेरा जगवंतो जातिमंपसा कुलसंपसा
वलसंपणणा रूवसंपणणा विणयसंपणणा णाणसंपणणा
दंसणसंपणणा चरित्तसंपणणा लज्जामंपसा लाघवमंपसा
उ अंसीतेअंसी वच्चंसी जसंसी जिअकोहा जियमाणा
जिअमाया जिअन्नोभा जिअइंदिआ जिअणिहा जिअप-
रीसहा जीविआसमरणभयविप्पसुका वयप्पहाणा गुण-
प्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा णिग्गहप्पहाणा

अन्तो जल-अन्तर्जल-न० जलाक्षयस्तरे, "अन्तो जले वि एवं
गुणभाग कामञ्चक्षुषिच्यते" दृ० ६ उ० ।

अंतोणाय-अन्तर्नाद-त्रि० हृदये सद्यः समावृत्ति, "छोपड मुहं हृत्थेण अंतोणाय गळे रव" आव० ४ अ० ।

अंतोणियसणी-अन्तर्निवसनी-स्त्री० आर्याणामौघिकोपधिने-दे, तत्स्वरूपम् ॥ "अंतोणियसणी पुण, हीणतरा जाव अद्ध-जघातो" । अन्तर्निवसनी पुनरुपरिकटिजागादारज्याधोऽर्धज-ह्वा थावन् भवति सा च परिधानकाळे हीनतरा परिधीयते मा जृदनावृता जनोपहास्येति" वृ० ३ उ० । नि० चू० । पं० चू० ।
अंतोदहणसील-अन्तर्दहनशील-त्रि० हृदयस्य दुःखाम्बिना दाहके, "फुफुया विव अंतोदहणसीलाओ" (नाय्ये) फुफुक' करीषाग्निस्तद्वत् अन्तर्दहनशीला पुरुषाणामन्तर्दुःखाम्बिना ज्वालनत्वात् । उक्तं च "पुत्रश्च मुखो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रम् । विद्यासकालेऽपि दरिद्रता च, विनाऽग्निना पञ्च दहन्ति कायम्" तं० ४६ पत्र ।

अंतोदुह-अन्तर्दुष्ट-पु० न० सुतादिदोषतो नवहीराद्यजावेन सौम्यत्वात् अभ्यन्तरदोषयुते व्रणभेदे, शठतया संवृताकारत्वाद् हृदयदुष्टे पुरुषभेदे च पु० स्था० ४ उ० ।

अंतोभूम-अन्तर्भूम-पु० अभ्यन्तरभूमे, गृहादिनिरुद्धभूमे, आव० ४ अ० ।
अंतोमज्जोवसाणिय-अन्तर्मध्यावसानिक-पु० लोकमध्यावसानिकाख्ये अभिनयभेदे, नाट्यकुशलेभ्यो ऽयं विशेषतो वेदितव्यः रा० ।

अंतोमुह-अन्तर्मुख-न० अज्यन्तरद्वारे, "अंतोमुहस्स अस-वी उभयमुहे तस्स बाहिर पिहप" वृ० १ उ० ।

अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त-न० मुहूर्त्तस्य घटिकाद्वयवृत्तस्य कालविशेषस्यान्तर्मध्ये ऽन्तर्मुहूर्त्तम् । निपातनादेवात्र अन्त-शब्दस्य पूर्वनिपातः न० । भिन्नमुहूर्त्तं, आव० ५ अ० ।

अंतोलित-अन्तर्लित-त्रि० अन्तर्मध्ये लिप्तमन्तर्लितम् । मध्ये ले-पेनोपदिग्धे, "घटिमतो लिप्तं" वृ० १ उ० ।

अंतोवट्ट-अन्तर्वृत्त-त्रि० मध्ये वृत्तसंस्थानसंस्थिते, ते णं णरगा अतोवट्टा वट्ठि चडरसा "बाह्व्यमङ्गीकृत्यान्तर्मध्ये वृत्ता सूत्र० २ अ० ।

अंतोवत्ति-अन्तर्व्याप्ति-स्त्री० पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तौ, यथाऽनेकान्तात्मक वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः रा० ६ पत्र ।

अंतोवाहिणी-अन्तर्वाहिनी-स्त्री० मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे प्रवहन्त्यामन्तरनद्याम्, स्था० ३ उ० । "कुमुप विजय अरजा रायहाणी अतावाहिणी णई" ज० ४ वत्त० ।

अंतोवीसंज-अन्तोविश्रम-पु० अन्तर्विश्रमः तं० स० । तोऽन्तरीत्यस्य क्वाचित्कत्वान्तात्स्यैत्वम् । चित्तविश्वासे, "अंतो-वीसंजनिवेशिआण" प्रा० ।

अंतोसल्ल-अन्तःशल्य-त्रि० अन्तर्मध्ये शल्य यस्य अदृश्यमानमित्यर्थः तत्तथा । वहिरनुपलब्धयमाणे व्रणभेदे, स्था० ४ उ० । अनुद्धृततोमरादौ, भ० २ श० ५ उ० । अन्तर्मध्ये मनसीत्यर्थः । शल्यमिव शल्यमपराधपद यस्य सोऽन्तःशल्यः । अग्निमानादिभिरनालोचितातिचारे, स० ५१ पत्र ।

अंतोसल्लमयग-अन्तःशल्यमृतक-त्रि० अनुद्धृतभावशाल्येषु मय्यवर्त्तिमल्लादिशल्येषु वा सत्सु मृतेषु, औ० २५६ पत्र ।

अंतोसल्लमरण-अन्तःशल्यमरण-न० अन्तःशल्यस्य क्षय-तो ऽनुद्धृततोमरादेर्जावतः सातिचारस्य यन्मरणं तदन्तःशल्यमरणम् । वालमरणभेदे, ज० २ श० १ उ० । स० ।

तत्स्वरूपम्

लज्जाए गारवेण च, बहुस्सुयमयेण वावि दुच्चरियं ।

जेण कहेति गुरुणं, एण हु ते आराहगा होंति ।

गारवयंकणिवूरा, अङ्गार जे परस्स ण कहेति ।

दंसणणाणचरित्ते, ससल्लमरणं हवति तेसिं उच्च० नि० ।

तत्र लज्जया अनुचितानुष्ठानसवरणात्मिकया गौरवेण च सातर्कितसगौरवात्मकेन मा हृन्ममालोचनाहमाचार्यमुपसर्पत-स्तद्वन्दनादिना तदुक्ततपोनुष्ठानासेधनेन च अक्षिरससाता-जावसंजघ इति बहुभुतमदेन वा बहुभुतोऽहं तत्कथमप्यभुतोऽय-मम शल्यमुकरिष्यति कथं चाहमस्मै वन्दनादिक दास्याम्यपत्रा-जना हीयं ममेत्यग्निमानेन अपिः पूरणे ये गुरुकर्माणो न कथय-न्ति नालोचयन्ति केषां गुरुणामालोचनाहमाचार्यादीनां किं तत् दुश्चरितं दुरनुष्ठितमिति सबन्धः । न हु नैव तेऽनन्तरमुक्तरूपाः आराध्यन्त्यविकलतया निष्पादयन्ति सम्यग्दर्शनादी-नीत्याराधका भवन्ति । ततः किमित्याह । गौरवपङ्क इव काबुध्यहेतुतया तस्मिन्निबुद्धा इति प्राकृतत्वात्निमग्ना इव निम-ग्नास्तत्क्रोमीकृततया लज्जामदयोरेपि प्राशुपादाने यदिह गौर-वस्यैवोपादानं तदस्यैवातिदुष्टताख्यापनार्थम् । अतिचारमपरा-ध परस्याचार्यादेर्न कथयन्ति किं विषयमित्याह । दर्शनज्ञान-चारित्र्ये दर्शनज्ञानचारित्र्यविषय दर्शनविषयं शङ्कादिज्ञानविषयं कात्वातिक्रमादि चारित्र्यविषयम् । समित्यननुपासनादिशल्यमिव शल्यं कालान्तरेऽप्यनिष्टफलविधानं प्रत्यबन्धतया सह तेनेति सशल्यं तच्च तन्मरणं च सशल्यमरणं तन्मरणाःशल्यमरणं भवति । तेषां गौरवपङ्कमग्नानामिति गाथाद्वयार्थः ॥

अस्यैवात्यन्तपरिहार्यतां ख्यापयन् फलमाह ।

एतं ससल्लमरणं, मरिज्जण महाभए दुरतस्मि ।

सुचिरं भमांत जावा, देही संसारकंतारे ॥ उच्च० नि०

एतदुक्तस्वरूपं सशल्यमरणं यथा भवति तथेत्युपस्कारः । सुख्यत्ययाद्वा एतेन सशल्यमरणेन मृत्वा त्यक्त्वा प्राणान् जीवा इति सबन्धः । किं सुचिरं भ्रमन्ति बहुकालं पर्यटन्ति क संसारः कान्तारमिवातिगहनतया संसारकान्तारस्तस्मि-न्निति संतङ्कः । कीदृशि महद्भयं यस्मिन्स्तन्महामयं तस्मिन्तथा दुःखेनान्तःपर्यन्तो यस्य तद्वन्तं तस्मिन् । तथा दीर्घे अ-वावौ केषांचिदपर्यवसिते चेति तत्सर्व्वथा परिहर्त्तव्यमेवेति भाव इति गाथार्थः । प्रव० १५७ द्वा० ।

अंत्रमी-स्त्री०-अन्त्र-न० अपभ्रंशे स्वार्यिकप्रत्यये कृते । लिङ्ग-मतन्त्रम् ८४१४५ । इति नपुंसकस्याऽपि स्त्रीत्वम् । उदरम-ध्याऽवयवभेदे, "पादविलग्नो अत्रडी" प्रा० ।

अन्द्रू-अन्द्रू-स्त्री० अन्यते बध्यतेऽनेनेति अदि-कू-वाच० ।

निगडे, "अन्द्रू सुपक्षिस्त्र्यविहन् देहे" सूत्र० १ अ० ५ अ० ।

अंदेजर-अन्तःपुर-न० अघःकचिद् ८४१२६० इति शौरसेन्यां

तकारस्य दकारः । राजस्याणां गृहे, प्रा० ।

अंदोलग-आन्दोलक-पु० यत्रागत्य मनुष्या आत्मानमान्दो-

क्षयन्ति ते आन्दोलकाः । हिएडोल इति लोकप्रसिद्धेषु, जी०

३ प्रति० । रा० । जं० । दोलनकर्त्तरि, त्रि० वाच० ।

अंदोल (झ) ए-अ (आ) न्दोलन-न० वृत्तशास्त्रादौ खे-
लने, घ० २ अधि० । करणे-घञ्-हिएडोल इति प्रसिद्धे आन्दो-
लनयम्, सूत्र० १ शु० ११ अ० । यत्रान्दोलनेन दुर्गमतिलङ्घयते
तस्मिन् मार्गविशेषे, सूत्र० १ शु० ११ अ० ।

अंध-अन्ध-त्रि० अन्ध-अन्-नयनरहिते, द्वा० १२ द्वा० । पो० ।
पञ्चा० । सूत्र० । स चान्धो द्विधा जात्यन्धः पञ्चाद्वा हीनने-
त्रोऽपगतचक्षुः सूत्र० १ शु० १२ अ० । स चान्धो द्रव्यतो
भावतश्च । तत्रैकेन्द्रियद्वौन्द्रियत्रीन्द्रियाः द्रव्यभावान्धाः । च-
तुरिन्द्रियादयस्तु मिथ्यादृष्टयो ज्ञावान्धाः उक्तञ्च “ एक हि
चक्षुरमलं सहजो विवेक-स्तद्वज्जिरेव सह संवसति द्वितीयम् ।
एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध-स्तस्यापमार्गचलने खलु
कोऽपराधः ” सम्यग्दृष्टयस्तु पहतनयना द्रव्यान्धास्त एव स-
चक्षुषो न द्रव्यतो नापि भावतस्तदेवमन्धत्वं द्रव्यभावमेवमि-
हमेकान्तेन दुःखजननमघामोतीत्युक्तञ्च “ जीवभेष मृतोऽन्धो,
यस्मात्सर्वक्रियासु परतन्त्रः । नित्यास्तमितदिनकर-स्तमो-
न्धकारार्णवनिमग्न ” “ लोकद्रव्ययसनवद्विविदीपिताङ्ग-मन्धं
समीक्ष्य रूपेण पर्यष्टिनेयम् । को नोद्विजेत भयकृज्जननादि-
बोधात्, कृष्णाहिनैकनिचितादिव चान्धगर्तात् ” आचा० १
शु० २ अ० ३ उ० । अन्ध इवान्धः । अज्ञाने, ज्ञानरहिते, “ ए-
रणं अधा मूढा तमप्यविद्धा ” म० ७ श० ७ उ० । “ तिष्ठतो
व्रजतो वापि, यस्य चक्षुर्न दूरगम् । चतुष्पदां भुधं मुक्त्वा,
परिवाडन्ध उच्यते ” इत्युक्तलक्षणे परित्राम्भेदे, वाच० ।
पु० । अन्धयतीत्यन्धम् अन्ध-चु० प्रेरणे-णिच् अच् । अन्ध-
करणे, अच् वा अन्धकारे, तमसि, अज्ञाने च । जले, न.
मेदि० । वाच० ।

अन्ध-पु० अन्ध-रन्० । देशज्येदे, स च देशः जगन्नाथावूर्कजा-
गादूर्वाक् श्रीममरात्मकात् तावदन्धामिधो देश इत्युक्तः वाच० ।
तद्देशोत्पन्ने जने च. स्य० ७ उ० । स च म्लेच्छत्वेनोक्तः प्रज्ञा० १
पद. । प्रज्ञ० । प्रव० । सूत्र० । वैदेहेन कारावरस्य स्त्रियामु-
त्पादिते अन्त्यजभेदे, व्याघ्रज्येदे इति काश्यपः वाच० ।

अंधकटइज्ज-अन्धकटइकीय-न० अन्धस्याधितर्कितकटको-
पगमनरूपेऽस्तर्कितोपगमने, आचा० १ शु० १ अ० ।

अंधकट-आन्धकृत्-त्रि० स्वरूपावलोकनशक्तिकृत्वे, अष्ट०
२ मष्ट० । अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्धकृत् अष्ट० ।

अंधका (या) १-अन्धकार-पु० न० अन्ध करोति कृ-अण
उप० । वाच० । कृष्णजृतेष्वादिजवे, अरुणभवसमृजोऽरुणवत्-
मस्काये च. त० ४६ पत्र. । बहुव्रतमोनिकुम्भे, अनु० ।
स्था० । ज्ञा० । तच्च तेजोद्रव्यसामान्याज्ञावरूपमिति नैयायिकाः
वाच० । “ काहं महलं तं पियं वियाणं तं अधयारं ति ” इत्युक्त-
लक्षणः पुनलपरिणाम इति समयविद् सूत्र० १ शु० १ अ० ।
अन्यत्रापि “ सद्ध्ययारज्जोभो, पहाग्यातवेइया । घन्नगधर-
साफासा पोग्गहाणं तु हक्खणं ” उक्त० ३ अ० । नच तमसः
पौनल्लिकत्वमसिक्क चाहुषत्वान्यथानुपपत्तेः प्रदीपाद्वोकवत् ।
अथ यच्चान्धुप तत् सर्वं प्रतिज्ञासै आहोक्कमपेक्कते नचैव
तमस्तत्कथं चाक्षुष मैवम् उल्लाकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्र-
तिज्ञासात् । यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुष घटादिकमाहोक्क
विना नोपलभ्यते तैरपि तिमिरमाहोक्कयिष्यते विचित्रत्वाद्वा-
धानां कथमन्यथा पीतभ्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आहोक्का-
पेक्कदर्शनाः प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षा इति सिद्ध

तमश्चाक्षुषम् । रूपयन्नाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते । शीत्यस्पर्-
शप्रत्ययजनकत्वात् । यानि त्वनिविभावयवत्त्वमप्रतिघातित्वम-
नुभूतस्पर्शविशेषावमप्रतीयमानस्पर्शविशेषावविश्वप्रविभागत-
मित्यादीनि तमसः पौनल्लिकत्वनिवेधाय पैर. साधनान्युपन्य-
स्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिपेक्ष्यानि स्या० ६ पत्र. ।

सर्वाजन्यन्तरं मारुतमधिकृत्यान्धकारसंस्थितिं प्रति-

पिपादयिषुस्तद्विषय प्रश्नसूत्रमाह ।

तता एं किंसंतिता अंधकारसंतिता आहिताति वदेज्जा ।
ता उप्पीमुहकलंबुतापुप्फगठिता आहितेति वदेज्जा । अं-
तोसंकुमा बाहिं वित्थहा तं चेव जाव ता से एं दुवे बाहातो
अणवद्वितातो भवंति तं सव्वब्भंतरिता चेव बाहा सव्व-
बाहिरिता चेव बाहा । तीसे एं सव्वब्भंतरिता बाहा मंदरं
पव्वयं तेणं छ जोजणसहस्साइ तिप्पि य चउव्वीसे जोज-
णसते उ विदसजागे जोजणस्स परिकखेवेणं । ता से एं
परिकखेवविसेसो कतो आहितेति वदेज्जा । ता जे एं मंद-
रस्स पव्वस्स परिकखेवेणं तं परिकखेवं दोहिं गुणिता द-
सहिं छेत्ता दसहिं जागे हिरमाणे हिरमाणे एम एं परि-
कखेवविसेसे आहिताति वदेज्जा । ता से एं सव्वबाहिरिता
बाहा लवणसमुदं तेणं तेवहिं जोजणसहस्साइ दोप्पि य
पणयाले जोजणसते उच्च दसजागे जोजणस्स परिकखेवेणं
ता से एं परिकखेवविसेसो कतो आहितेति वदेज्जा । ता
जे एं जंबुदीवस्स दीवस्स परिकखेवेण परिकखेवं दोहिं गु-
णिता दसहिं छेत्ता दसहिं जागे हिरमाणे हिरमाणे एस
ए परिकखेवविसेसे आहिताति० तामे एं अंधकारे केवतितं
आयमेणं आहिताति० ता अहुत्तिं जोजणसहस्साइ तिप्पि
य तेचीसे जोजणसते जोजणतिजागं च आयामेणं आहितेति
वदेज्जा तता ण उच्चमकट्टे उक्कोसे अचारसमुत्तुत्ते दिवसे जवति
जहप्पिया चुवालसमुत्तुत्ता राती भवति । ता जता एं सूरिए
सव्वबाहिरं मंरुलं उवसंक्रमित्ता चारं चरति ता उप्पीमुह-
कलंबुतापुप्फसंतिता तावक्खत्तसंतिता अतो संकुमा बाहिं
वित्थमा जाव सव्वब्भंतरिता चेव बाहा सव्वबाहिरिता
चेव बाहा । ता से एं सव्वब्भंतरिता बाहा मंदरपव्वतेणं
उ जोजणसहस्साइ तिप्पि य चउव्वीसे जोजणसते छच्च
दसजागे जोजणस्स एवं जंपमाणं अब्भंतरमंदले अंधका-
रसंतिते तं इमाए वि तावक्खत्तं संतिती खेतव्वा । बाहिर-
मंमले आयामो सव्वत्थं वि एक्को तया एं किंसंतिता
अंधकारसंतिता आहिताति वदेज्जा । ता उप्पीमुहकलंबुता
पुप्फसंतिता अंधकारसंतिता आहिताति वदेज्जा । अतो
संकुमा बाहिं वित्थमा तं चेव जाव सव्वब्भंतरिता बाहा
सव्वबाहिरिता आहिता चेव बाहा । ता से एं सव्वब्भन्-
रिता बाहा मंदरपव्वयं तेणं एव जोजणसहस्साइ चत्तारि
य उलसीते जोजणसते एव दसभागे एवं जंपमाणे अब्भन्-

तरमंरुत्रिण सूरिण तावखेत्तसंतितीण तं चेव नेयव्वं जाव आतामो ता जता एं उत्तमउकोसा अट्टारसमुहुत्ता राती जवति जहृष्ण दुवावसमुहुत्ते दिवसे भवति ।

तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले (किं सतिश्रुति) किं संस्थितं संस्थान यस्याः । यद्वा कस्येव संस्थान संस्थितिर्यस्याः सा किंसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् । भगवानाह " ता इत्यादि " ता इति पूर्ववत् ऊर्द्धीकृतकलम्बुका पुष्पसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् । सा चान्तर्मेरुदिशि विष्कम्भमधिकृत्य (संकुडा) संकुचिता बहिर्लवणदिशि विस्तृता । तथा अन्तर्मेरुदिशि वृत्ता ऊर्द्धे बलयाकारा सर्वतो वृत्ता मेरुगतौ द्वौ देशभागौ व्याप्य तस्यावस्थितत्वात् । बहिर्लवणदिशि पृथुला विस्तीर्णा एतदेव संस्थानकथनेन स्पष्टयति " अतो अंकमुहसंतिश्रुतिं सतिश्रुतिमुहसंतिश्रुतिं " अनयोः पदयोर्व्याख्यानं प्राग्वत् वेदितव्यम् । " उभयोपासेणमित्यादि " तस्या अन्धकारसंस्थितेस्तापक्षेत्रसंस्थितेर्बैविध्यवशाद् द्विधा व्यवस्थिताया मेरुपर्वतस्योभयपार्श्वेन उभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकमेकैकभावेन ये जम्बूद्वीपगते वाहे ते आयामेन आयामप्रमाणमधिकृत्यावस्थिते भवतस्तथा पञ्चत्वारिंशत् योजनसहस्राणि (४५०००) द्वे च वाहे विष्कम्भमधिकृत्य एकैकस्या अन्धकारसंस्थितेर्भवतस्तथा सर्वाभ्यन्तरा सर्वबाह्या च एतयोश्च व्याख्यानं प्राग्वत् द्रष्टव्यम् । ततः सर्वाभ्यन्तराया वाहाया विष्कम्भमधिकृत्य प्रमाणमभिधित्सुराह (तासेणमित्यादि) तस्या अन्धकारसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरवाहा मन्दरपर्वतान्ते मन्दरपर्वतसमीपे सा च षड्योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि (६३२४) षड् दश भागा योजनस्य (६) यावत् परिक्षेपेणाख्याता इति वदेत् । अमुमेवार्थं स्पष्टावबोधनार्थं पृच्छति (ता सेण इत्यादि) ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थितेर्यथोक्तः परिसाणपरिक्षेपविशेषो मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेषः कृतः । कस्मात्कारणादाख्यातो नानाधिको वेति भगवान् वदेत् एवं प्रश्ने कृते भगवानाह । ता इति प्राग्वत् । यो एमिति वाक्यालङ्कारे मन्दरपर्वतस्य परिक्षेपः प्रागुक्तप्रमाणः त परिक्षेपे द्वाभ्यां गुणयित्वा कस्माद् द्वाभ्यां गुणनमिति चेदुच्यते इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चार चरतोः सूर्ययोरेकस्यापि सूर्यस्य जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र तत्र प्रदेशे तत्तच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण दश भागास्त्रयः प्रकाश्या भवन्ति । अपरस्यापि सूर्यस्य त्रयः प्रकाश्या दश भागास्तत उभयमीलने षड्दश भागा भवन्ति तेषां त्रयाणां दशानां भागानामपान्तराहे द्वौ द्वौ दशभागौ रज्जो ततो द्वाभ्यां गुणनं तौ च दशभागाविति दशभिर्भागहरणं दशभिर्भागहरणे यथोक्त मन्दरस्य समीपे अन्धकारसंस्थितिपरिमाणमागच्छति । तथाहि मेरुपर्वतपरिरयपरिमाणमेकत्रिंशद्योजनसहस्राणि षड् शतानि त्रयोविंशत्यधिकानि (३१६३३) एतानि द्वाभ्यां गुणयन्ते जातानि त्रिषष्टिसहस्राणि द्वे शते षड्चत्वारिंशदधिके (६३२४६) एतेषा च दशभिर्भागे हते लब्धानि षड् योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि । षड्दश भागा योजनस्य (६३२४) (६) तत एव एतावानन्तरोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपो मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेष आख्यात इति वदेत् । तदेवमुक्तमन्धकार-

संस्थितेः सर्वाभ्यन्तराया वाहाया विष्कम्भपरिमाणम् । अधुना सर्वबाह्याया वाहाया आह । " तासेण इत्यादि " तस्या अन्धकारसंस्थितेः सर्वबाह्या वाहा लवणसमुद्रान्ते लवणसमुद्रसमीपे जम्बूद्वीपपर्यन्ते सा च परिक्षेपेण जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेणाख्याता त्रिषष्टियोजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चत्वारिंशद्योजनशते षड् दशभागा योजनस्य यावत् (६३२४५) (६) एतदेव स्पष्टं स्वशिष्यानवबोधयितुं भगवान् गौतम पृच्छति " तासेण इत्यादि " ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थितेः स एतावान् परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेण (१०) विशेषः कृतः कस्मात्कारणादाख्यातो नानाधिको वेति वदेत् भगवान् वर्द्धमानस्वामी आह " ता जे णं इत्यादि " ता इति पूर्ववत् यो एमिति वाक्यालङ्कारे जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपः प्रागुक्तप्रमाणस्तं परिक्षेपे द्वाभ्यां गुणयित्वा दशभिर्भागित्वा दशभिर्विभज्य अत्र च करणं प्रागेवोक्तं दशभिर्भागे न्हियमाणे यथोक्तमन्धकारसंस्थितेर्जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपमागच्छति । तथाहि जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपपरिमाणं त्रीणि लक्षाणि चतुर्विंशत्यधिकानि द्वे शते अष्टाविंशत्यधिके (३१६२७७) तद् द्वाभ्यां गुणयन्ते जातानि षड् लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि षड्पञ्चाशदधिकानि (६३२४५६) तेषां दशभिर्भागे हते लब्धानि त्रिषष्टियोजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चत्वारिंशदधिके षड् च दशभागा योजनस्य (६३२४५) (६) तत एव एतावानन्तरोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेण विशेष आख्यात इति वदेत् । तदेवमुक्तं सर्वबाह्याया अपि वाहाया विष्कम्भपरिमाणम् । " सम्प्रति सामस्त्येनान्धकारसंस्थितेरायामप्रमाणमाह " । " तासेण इत्यादि " । इदं चायामपरिमाणं तापक्षेत्रसंस्थितिगनायामपरिमाणवद्भावनार्थं समानजावनिकत्वात् । अत्रैव सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानयोः सूर्ययोर्दिवसरात्रिमुद्गत्प्रमाणमाह । " तथा एं इत्यादि " सुगमं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले तापक्षेत्रसंस्थितिमन्धकारसंस्थितिं चाभिधाय सम्प्रति सर्वबाह्यमण्डले तामभिधित्सुराह " ता जेया णमित्यादि " ता इति पूर्ववदेव यदा सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलमुपसक्रम्य चारं चरति तदा किंसंस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिराख्यातेति जगवान्वदेत् । भगवानाह । " ता वद्धीमुदेत्यादि " पूर्ववद्वाक्येया " ता से ण इत्यादि " तस्या अन्धकारसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरवाहाऽभ्यन्तरमेरुसमीपे सा च परिक्षेपेण मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण षड् योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि (६३२४) षड् च दशभागा योजनस्य (६) आख्यातानि भवेति वदेत् स्वशिष्येभ्यः । " एवं इत्यादि " एवमुक्ते सति कारणे यदभ्यन्तरमण्डलगतसूर्योऽन्धकारसंस्थितेः प्रमाणमुक्तं तद्वाहे बाह्यमण्डलगते सूर्योऽस्या अपि तापक्षेत्रसंस्थितेः परिमाणं ज्ञातव्यम् । तच्चैव " ता से ण परिक्षेपविशेषसक्तो आहिआसि । जेण मन्दरस्स पव्वयस्स परिक्षेवे त द्वाहि भागेहि हिरमाणे एस ण परिक्षेवविसेसे आहिआसि वणज्जा ता जेण जम्बूद्वीवस्स दीवस्स परिक्षेव द्वाहि गुणिता दस्सहि छित्ता दस्सहि भागेहि हिरमाणे एस ण परिक्षेवविसेसे आदिअत्ति वणज्जा ता से णं तावक्खित्ते केवइय आयामेण आहिआसि वणज्जा । नीतेसीह जोअणसहस्साहं तिप्पि अ तेतीसइजोअणतिभाग चायामेण आहिआसि वणज्जा " इदं सकलमपि सुगमं नवर मन्दरपरिरयादिर्यद् द्वाभ्यां गुणनं तत्रैवं कारणम् इह सर्वबाह्ये मण्डले चार चरतोः सूर्ययो-

अंशुलीपगनस्य चक्रात्मस्य यत्र तत्र या प्रवेदो तच्चक्रयास्तक्रे-
त्रानुसारेण द्वौ द्वौ दशभागौ नापक्षेत्रम् । एतच्च प्राग्य नान्यितं
ततो मन्दरपरिणयादि हात्र्यां गुणयते गुणयित्वा च दशभिर्भा-
गहरण तथा सर्वपात्रे मण्डले सूर्यस्य चार करतो ह्यणम-
मुद्रमये पञ्चयोजनसदस्यापि तापक्षेत्रं यस्मिन् तत्र त्रयशालितयो-
जनसदस्यापि इत्याद्युक्तम् । देवाक्रयोजना तु प्राग्य नान्यनीया
तदेव सर्वपात्रे मण्डले यस्मिन् तापक्षेत्रमस्तिथि परि-
माणमभिधाय सम्प्रति तदेव त्रयशालितयोजनसदस्यापि परिमाणमाह ।
(तथा च किं सठिस्था इत्यादि) तदा सर्वपात्रे मण्डले चारचरण-
काले णमिति यावत्तद्वा किं सठिस्थाऽन्धकारमस्तिथिरा-
भ्यान्तंति यदेव । नगवानाह " ताउलीमुनेत्यादि " सुगमं
" तासे गुं इत्यादि " तस्या अन्धकारमस्तिथिः सर्वाऽप्यत्रयः सा
मन्दरपर्यन्तान्ते मन्दरपर्यन्तमभिधाय । " ताप जाय परिप्लेपयि
सेवे आदिमिति यदज्ञा । ता मे ण अंधकारे वेगइअ आया-
मेण आदिमिति यदज्ञा ता सेवी । जोअणमदस्ताइ तिप्रि स
सेवीसय जोअणस्त जोअणतिभाग च आदिमिति यदज्ञा "
इह यन्मन्दरपरिणयादेभिर्गुणयते दशय च देवाक्रयोजना तु
प्राग्यत्कस्य । तदेव सर्वपात्रे मण्डले तापक्षेत्रमस्तिथि परि-
माणं योजनमभुना सर्वपात्रे मण्डले यस्मिन् तापक्षेत्रमस्तिथि परि-
माणमाह । (ता जया ण इत्यादि) तदा सा
सर्वपात्रमण्डलस्य चारचरणकाले उच्यते । तापक्षेत्रमण्डलस्य
चर्या गतिर्नपति जपयो दशममुद्रस्यो द्विगम नदेयमुक्त ताप-
क्षेत्रमस्तिथिपरिमाणम अन्धकारमस्तिथिपरिमाणं च । च० प्र०
४ पाहु० । सू० प्र० ॥

उपोतान्धकारो जगदन्धकारेणाह ।

से गुणं भंते ! दिवा उज्जोए गइअंधयारे ? हंता गो-
यमा ! जाय अंधयारे मे केणट्टेणं ? गोयमा ! दिवा सुभा
पोगगला सुने पोगगलपरिणामे राति अमुजा पोगगला
अमुने पोगगलपरिणामे । मे तेणट्टेणं नेरइया गुं जते !
किं उज्जोए अंधयारे ? गोयमा ! नेरइयाणं नो उज्जोए
अंधयारे मे केणट्टेणं ? गोयमा ! नेरइयाण अमुभा पों-
गाज्ञा अमुभे पोगगलपरिणामे से तेणट्टेणं असुरकुमाराण
भंते ! किं उज्जोए अंधयारे ? गोयमा ! असुरकुमाराणं
उज्जोए नो अंधयारे । मे केणट्टेणं ? गोयमा ! असुरकु-
माराणं सुभा पोगगला सुभे पोगगलपरिणामे से तेणट्टेणं
जाव पव बुचइ जाव धणियाणं पुढवाकाइया जाव तेइंदिया
जहा नेरइया । चउरिंदियाणं भंते ! किं उज्जोए अंधयारे ?
गोयमा ! उज्जोए वि अंधयारे वि से केणट्टेणं ? गोयमा !
चउरिंदियाणं सुभासुभा पोगगला सुभासुने पोगगलपरि-
णामे से तेणट्टेणं एव जाव मणुस्साणं वाणमंतरजोइसवे-
माणिया जहा असुरकुमारा ॥

" से गुणमित्यादि " (दिवा सुहा पोगगलसि) दिवा दिवसे
सुभा पुज्जा जयन्ति । किमुक्त भवति सुभपुज्जलपरिणाम स
चार्ककरमंफर्कात् (रसिति) रात्रौ (नेरइयाण अमुभा पोगग-
लसि) तत्क्षेत्रस्य पुज्जलशुभतामिमिच्छत्तरधिकरादिप्रकाश-
कयस्तुर्वर्जितत्वात् । (असुरकुमाराण सुहा पोगगलसि) तदा-
अवादीना मास्वरत्वात् (पुढविकाइयेत्यादि) पृथिदीकायि-

कावयस्त्रोन्धियान्ता यथा नैरयिका उक्तास्तथा घाच्या । एषां
हि नाम्मुद्रयोतोऽन्धकार चास्ति एज्जलानामश्रुमत्वाद् इह चेय
भायना एनत्तैरे सन्त्यपि रधिकरादिसपक एषां चक्रुग्निन्द्रिया-
भावेन दृश्यवस्तुनो दर्शनाज्ञायात् । शुभपुज्जलकार्याकरणेनाशु-
भाः पुज्जला उच्यन्ते तत्रैषामन्धकार एवेति (चउरिंदियाण
सुजासुनपोगगलसि) एषां हि चक्रुः सज्ञावेन रधिकरादिसज्ञा-
ये दृश्यार्थाद्ययोधेतुत्वात् शुभा पुज्जला रधिकराद्यभावे त्वर्था-
वयोधाजनकत्वाद्दशुभा इति ज० ५ श० ए उ० ।

अधोलोकेऽन्धकारः ।

अधोलोके एषं चत्तारि अंधकारं करेति तंजहा एग्गा
ऐरइया पावाडं वम्माडं असुजा पोगगला ॥

" अदेत्यादि " सुगम किन्तु अधोलोके उक्तलक्षणे चत्वारि
यस्तुनीति गम्यते नरका नरकावासा नैरयिका नारका एते कृ-
ष्णरूपत्वाद्अन्धकार कुर्वन्ति पापानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि
मिथ्यात्वज्ञानसंक्षणनायान्धकारित्वाद्अन्धकार कुर्वन्तीत्युच्यते ।
अथवाऽन्धकारस्यरूपेऽधोक्षके प्राणिनामुत्पादकत्वेन पापानां
कर्मणामन्धकारकर्तृत्वमिति तथा अमुभा पुज्जलास्तमिच्छभावे-
न परिणता इति । स्था० ४ ग० । तथा स्थानाङ्गे चतुर्भिः कारणेर्लोके
उद्घोतो भवति तथा अन्धकारमपि अहंनिर्वाणेऽहंछुनध-
र्माज्ञाये जानतेजस उच्छेदेऽपि तत्र यथाऽहंतां निर्वाणे लोकेऽ-
न्धकारं जयति तथा त्रयाणां नागे समानमुत कश्चिद्विशेषो वेति
प्रश्ने लोकानुनायादिवाहदादीनां चतुर्णामप्युच्छेदे द्रव्यान्धकार
समानम् अग्निविनाशे त्रयोच्छेदे भावान्धकारमधिक स्यादिति
विशेष स्यानाद्गृह्यनुसारेण ज्ञायत इति १६० इयेन०२ उच्छा० ।
(अहंति निर्वाणे गच्छति धर्मेऽप्युच्छिद्यमाने पूर्वगते वा व्युच्छि-
द्यमाने लोकान्धकार इत्यहंछन्दे) तमसि, स्था० ३ ग० । अरु-
णभवसमुद्रोद्भवतमस्काये च० त० । तमोरूपत्वात्तस्य ज० ।
स्था० । अर्शाद्यच् अन्धकारयति, त्रि० ज्ञा० १ अ० । औ० ।
अंधका (या) रपक्व-अन्धकारपक्व-पु० कृष्णपक्वे, सू० ।
१३ पाहु० ॥

अंधग-अहिप-पु० धृक्के, भ० १८ श० ४ उ० ॥

अंधगवहिह-अहिपवहि-पु० अहिपा वृक्षास्तेषां बह्व्यस्तदा-
भ्यत्येनेत्याहिपवह्यः । वादरतेजस्कामेषु ज० १८ श० ४ उ० ।
अन्धकवहि-अन्धका अप्रकाशकाः सूक्ष्मनामकर्मोदयाद्ये
बह्व्यस्ते अन्धकवह्यः । सूक्ष्मतजेज्जकायेषु ।

जीवइया एषं भंते ! चरा अंधगवहिहणो जीवा तावइया
परा अंधगवहिहणो जीवा ? हंता ! गोयमा ! जावइया चरा
अंधगवहिहणो जीवा तावइया परा अंधगवहिहणो जीवा
सेवं जते ! भंतेत्ति ।

तत्परिमाणा. (परास्ति) परा प्रकृष्टा स्थितितो दीर्घायुष
इत्यर्थ इति प्रश्नः हन्तेत्याहुत्तरमिति । भ० १८ श० ४ उ० ।
यदुवशजन्पभेदे, " चारवतीए शयरीए अंधगवहिह शाम
राया परिवसइ महया हिमवत वणओ तस्स ए अंधगव-
हिहस्स रओ धारणी शाम देवी होत्था " अन्त० । अन्धक-
वहेर्दश पुत्राः " समुहे १ सागरे २ गमीरे ३ थिमिए ४ अ-
यले ५ कपिले ६ अक्खोभे ७ पसेणइ ८ विणइ ९ एते नव
एतेषां प्रथमो गौतम इति दश-अन्त० १ वर्ग० । " अह व

भोगरायस्स तं च सि अंधगवहिहणो" । त्व च भवसि अन्ध-
कवृक्षः समुद्रविजयस्य सुत इति गम्यते " दश० २२ अ० । ग० ।

अंधतम-अन्धतमस-न० अन्धकारे, तत्रान्धतमसस्तेजोरूपा
न्तरस्य सक्रमे, "असुरिय नाम महाभिताव अधतमं दुष्पतरं
महत" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । (अत्र प्राकृतत्वादन्धतम इति)
अधतमम-अन्धतमम-न० अन्धं करोतीत्यन्धयति अन्धयती-
त्यन्ध तच्च तमश्चेति अन्धतमसम् । समवान्धात्तमस इत्यप्र-
त्ययः । निविडान्धकारे, स्या० ६८ पत्र० ।

अंधतामिस्म-अन्धतामिस्-न० तमिस्मा तमस्सन्ततिः । तमि-
स्त्रैव तामिस्म । अन्धयतीत्यन्धम कर्म-स० । निविडान्ध-
कारे, साङ्ख्यशास्त्रप्रसिद्धे भयविशेषविषयकेऽभिनिवेशे, पु०
स्या० ३६ पत्र० । देहे नष्टे अहमेव नष्ट इत्यज्ञाने च. वाच० ।
अधपुर-अन्धपुर-न० नगरभेदे, यत्र अनन्धो राजाऽन्धभ-
क्तः वृ० ४ उ० ।

अंधपुरिस-अन्धपुरुष-पु जात्यन्धे, यथा मृगापुत्रः वि० १ अ० ।
अंधल-अन्ध-पु० प्राकृते " विशुत्पत्रपीतान्धाह्नः ८२।७३ इति
स्वार्थे लः प्रा० । चक्षुर्द्वयहीने, वृ० ४ उ० । नि० चू० (अन्धदृ-
ष्टान्तो व्युद्ग्राहितशब्दे-सिक्खाशब्देऽप्यन्धदृष्टान्तः ।)

अंधारूव-अन्धरूप-त्रि० अन्धारूतौ, " तप एं सामिया देवी
नदा रूप हुड अंधारूव पासइ " विपा० १ अ० ।

अधिया-अन्धिका-स्त्री० चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, उक्त० ३६
अ० । प्रज्ञा० । जी० ।

अधि (धे) लृग-अन्ध-पुं० अन्ध एवान्धिलकः । जात्यन्धे,
प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । चक्षुर्विकले, पि० । प्रश्न० ।

अंधी-अन्ध्री-स्त्री० अन्धदेशजस्त्रियाम्, " अन्ध्रीणां च ध्रुवं
लीला-चलितं भूतले मुखे । आसज्य राज्यभारं स्व, सुख स्व-
पिति मन्मथ. " आच० ४ अ० ।

अंब-अम्ब-पु० पञ्चदशासुरनिकायान्तर्धर्तिपरमाधार्मिकनि-
कायानां प्रथमे परमाधार्मिके, यो देवो नारकान्भरतले नीत्वा
विमुञ्चत्यसावम्ब इत्युच्यते ज० ३ श० ६ उ० ।

ते चाभ्यामिधाः परमाधार्मिका यादृक्कां घेदनां परस्परोदी-
णद्भुः चोत्पादयन्ति तां दर्शयितुमाह ।

धामेति पदामेति य, इणंति विधंति तह णिसुंमंति ।

मुंचंति अवरतले, अंबा खलु तत्प एरइया ॥ ७० ॥

" धामेतीत्यादि " तत्राभ्यामिधाना. परमाधार्मिका. स्वभव-
नाभरकावासं गत्वा क्रीरया नारकान् अत्राणान् सारमेयानिव
शूलादिप्रहारैस्तुदन्तो [धामेति] प्रेरयन्ति । स्थानान् स्थान-
ान्तरं प्रापयन्तीत्यर्थः । तथा (पदामेति) स्वेच्छयेत-
श्चेतश्चाऽनाथं ज्ञमयन्ति । तथाऽम्बरतले प्रक्षिप्य पुनर्निपतन्त
मुञ्जरादिना घ्नन्ति । तथा शूलादिना विध्वन्ति तथा (मिस-
भतिचि) कृकाटिकायां गृहीत्वा जूमौ पातयन्ति । अधोमुखमथो-
त्क्षिप्याम्बरतले मुञ्चन्तीत्येवमादिकया विदग्धनया तत्र नरक-
पृथिवीषु नारकान् कदर्थयन्ति सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । आच० आ०
चू० । (अवरीसशब्देऽपि)

अम्ब-न० अम्ब-ल-तक्के, रसभेदे, पु० तद्वति, त्रि० वाच० ।

आम्ब-त्रि० तक्रादिसंस्कृते, ज० ३ वक्ष० प्र० ॥

आम्ब-पु० अम्ब गत्यादिषु रत्न दीर्घश्च । ष्वस्व. संयोगे ङी-

र्धस्य ण । १ ८४ इति सूत्रेण आदिर्हस्थत्वम् । प्रा० । चूत-
वृक्षे, स्या० दर्श० (पार्श्वस्थादिभिः संसर्गे दोषनाशे आम्बकदृष्टा-
न्तः क्षेत्रशब्दे) तस्य फलम् अणु तस्य लुक् आम्बफले नपु. अणुण
अप्रासुकामप्रदणनिषेधो यथा ।

अहं निक्खू इच्छेज्जा अंवं जोत्तए वा सेज्जं पुण अंवं
जाणेज्जा सअंवं जाव ससंताणं तहप्पगारं अंवं अफासुयं
जाव ए० पमिगाहेज्जा । से निक्खू वा भिक्खुणी वा से-
ज्जं पुण अंवं जाणेज्जा अप्पं जाव संताणं अतिरिच्छ-
च्छिणं अवोच्छिणं अफासुयं जाव ए० पमिगाहेज्जा । से भि-
क्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अंवं जाणेज्जा अप्पं
जाव संताणं तिरिच्छच्छिणं वोच्छिणं फासुयं जाव प-
मिगाहेज्जा । से निक्खू वा निक्खुणी वा अभिक्खेज्जा
अंवंभित्तं वा अंवपेसियं वा अंवचोयं वा अंवमादं
वा अंवदादं वा जोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जा-
णेज्जा अंवजित्तं जाव अंवदादं वा सअंवं जाव स-
ताणं अफासुयं जाव ए० पमिगाहेज्जा । से भिक्खू वा
निक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंवजित्तं वा अप्पं
जाव संताणं अतिरिच्छच्छिणं वा अफासुयं जाव ए० प-
मिगाहेज्जा । से भिक्खू वा निक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणे-
ज्जा अंवंभित्तं वा अप्पं जाव संताणं तिरिच्छच्छि-
णं वोच्छिणं फासुयं जाव पमिगाहेज्जा ॥

से इत्यादि स भिक्षुः कदाचिदाभ्रवनेऽनग्रहमीश्वरादिकं
याचेत तत्रस्थश्च सति कारणे आम्बोक्तुमिच्छेत्तन्नाम् साएन
समन्तानकमप्रासुकमिति च मत्वा न प्रतिगृहीयादिति । किंच
'से'त्यादि' स भिक्षुर्यत्पुनराम्बमप्याणमल्पसन्तानकं वा जानी-
यार्तिकस्वतिरस्त्रीनच्छिन्न तिरस्त्रीनमपादित तथा न्यवच्छिन्न न
स्त्रिभूतं यावदप्रासुकं न प्रतिगृहीयादिति । तथा "सेइत्यादि"
स भिक्षुरप्याणमल्पसन्तानकं तिरस्त्रीनच्छिन्न तथा न्यवच्छिन्न
यावदप्रासुकं कारणे सति गृहीयादिति । एवमाभ्यावयवसंबन्ध-
सुत्रत्रयमपि नेयमिति । नवरम् । "अवजित्तं" आम्बोक्तुम् "अं-
वपेसी" आम्बफाली (अंवचोयं) आम्बच्छिन्नीसादं (रस-
दादं) आम्बशब्दमखरानीति । आच० २ श्रु० ७ अ० ३ उ० ।
(सूत्रम्) जे भिक्खू सचित्तं अंवं जुजइ अंवं मुंजंतं वा
साइज्जइ । ५ । जे निक्खू सचित्तं अंवं विदसइ विमसंतं वा
साइज्जइ । ६ ।

एवं सचित्तपदमिते वि दो सुत्ता । एते चउरो सुत्ता एतेसि
इमो अत्थो । सचित्तं नाम सजीव चतुर्धरसास्वादं गुणणिप्फ-
णं नाम अंवं जुज पालनाच्चवहारयोः इह ज्ञेयणे इच्छो
आणादी चउदहुं च पच्छिन्न । एव वित्तियसुत्तं पिणवर विरस-
ए निक्खण विविहेहिं पगारेहिं मसति विरसइ एव पइट्ठिप
वि एवर चउमगो । सचित्ते पइट्ठिने पइट्ठि सचित्त, अचि-
त्ते अचित्तं सचित्तेषु आदिहेषु दोसु भगेसु चउदहु । अरिमेसु
दोसु मासलहु । इमो सुत्तफासो ।

सचित्तं वा अंवं, सचित्तपदिट्ठियं च दुविहं तु ।
जो मुंजे विरुणे सो, दणअगारं भोदि तो भएति । ३ ।

आगादफरुसमीसग, दममुहेममि वक्षियं पुवं ।
तं चेव बज्जवत्यो, सो पावति आणमाटीणि ॥ ४ ॥
सच्चिं सच्चिं पडिचियं वा एव चेव डुपिह सेस कठ ।
अमिलाताजिणवं वा, अपकं सच्चित्तहोति त्रिणं वा ।
तं चियं मयं मिज्ञातं, रुक्खगयं सचेयणपतिट्ठं ॥ ५ ॥

ज अभिणयं त्रिणं अभिषाणं तं सच्चित्तं जयति । ज च रुक्खे
चेव द्वितं सच्चिं यच्छिं अयद्विचियं वा अपकं वा तं पि
सच्चित्तं । तं चियं तदेयं अयादियं पलंघरुक्खे चेव चियं दुग्घा-
यमादिणा अप्पणा वा अप्पज्जति भायं मिलणं ते सचेयणपति-
चियं भणति ।

अहवा जं वद्धन्नियं, वाहिरं पक्कं तं वियं रापतिट्ठं ।

विविहं दमणाय जं वा, अक्खुंदति विहसणे होति ॥ ६ ॥

ज वा पलंघं वाहिरं कमाहपकं अतो सचेयणं धीयं तं वा स-
च्चित्तपतिचियं भणति । अपतीतय्यं एतपतीयय्यं च गुणेन वा
सह कप्पूरेण वा सह नधान्येन वा लयणचानुजानकयासा-
दिना सह पसा विविहदमणा अक्खुंद इति अक्खिणं मुचति
अन्योन्यं नहेदि वा अक्खुंदति नयपदा विद्वान्तीत्यर्थं पसा वा
विमसणा भणति । एव परिते भणियं अणते पि एव च नयं
चउगुदपच्छिं । सच्चिं सच्चिं पतिट्ठिते यं दोसु विमुत्तेसु
इमो भववातो गाहा ।

वितियपदमणप्पन्ने, जुंजे अविक्खोविणं य अप्पन्ना ।

जाणंते वावि पुणो गिलाण अद्धानाओमेव ॥ ७ ॥

वेत्तादिगो घणप्पन्ने वा जुजति सेहो वा अविक्खोवियत-
गओ अजाणतो रोगोवसमणिमित्तं येज्ज वा दसतो गिलाणो वा
जुंजे अद्धानाओमेव वा असाधरता जुजता तिसुच्चा इमो दोसुधि
विडवमाणसुत्ते अघयातो गाहा ।

वितियपदमणप्पन्ने, विहसे अवितेव अप्पन्ने ।

जाणंतेयावि पुणो, गिलाण अद्धानाओमेव ॥ ८ ॥

कठणवरं चोदगं आह-विमसणा दाहा तं अचराते माकरेड ।
आचार्यं आह । जरटवाहिरकमाहं न अचरेडं गायतस्स अय-
यादो न दोसो । जइ वा पल्यस्स जो उयकारी लयणादिके
तेण सह तं जुजतस्स न दोसो । कोमलं जरटं वा इमति परि-
ष्साहेवं नहमादीहि वि अगुहेज्जा ।

(सूचम्) जे भिक्खुं सच्चित्तं अंवं वा अंशपेसियं वा
अंशभित्तिं वा अंशसालगं वा अंशचोयगं वा जुंजडं जुंजंतं
वा साइज्जइ ॥ ७ ॥ जे निक्खुं सच्चित्तं अंवं वा अंशपे-
सियं वा अंशभित्तिं वा अंशसालगं वा अंशमालगं वा अं-
शचोयगं वा विमसइ विहसंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खुं
सच्चित्तपडिट्ठियं अंवं जुंजडं जुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे
भिक्खुं सच्चित्तपडिट्ठियं अंवं विमसइ विहसंतं वा साइज्जइ
॥ १० ॥ जे निक्खुं सच्चित्तपडिट्ठियं अंवं वा अंशपेसियं वा
अंशमालगं वा अंशमालगं वा अंशचोयगं वा जुंजडं जुंजंतं
वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खुं सच्चित्तपडिट्ठियं अंवं वा अंश-
पेसियं वा अंशभित्तिं वा अंशमालगं वा अंशमालगं वा
अंशचोयगं वा विमसइ विहसंतं ॥ १२ ॥

एते उ सुत्तपटा विमसणाए वि छेद्य एतेसिं इमो अथो अथ
सकल ए केणइ ऊण चोदगं आह अतिद्वेसु चउसु सुत्तेसु ए प-
ल्यणसकल्यं चेव भणियं । आचार्यं आह सच्चं किंतु तन पल्य-
सणेण पज्जत्तं घटियं गहियं इमं तु पल्यसणं अपज्जत्तं अथरु-
चियं अविपक्कं सच्चादमकलमंवत्यर्थं । ऐमी दीहागागा अठ-
भित्तिं वाहिरां छुट्ठीं साहं जणइ । अहं वि समचकारियागा-
रेण जं खरुतं गहं भणति एदकणिभागारा जे केसरा तं चोयं
भणति । इमो सुत्तफालो । गाहा ।

एमेव गमओनिटा-मगलेसोद्वेयमिमं चोए ।

चउसु वि मुत्तेसु भवे, पुव्वे अवराग्मि यं पदे उ ॥ ९ ॥

अथग पेसिवज्जा चउसु सुत्तेसुत्ति सेस कठं । अहवा आ-
दिहेसु चउसु सुत्तेसु जो गमो भणितो सो चेव गमो अवगा-
दिपसु चउसु पदेसु सचिक्खणसु भाणियव्वो । चोदगाहं णयु-
पदमसुत्तेसु जणितो चेव अथां किं पुणा अथगादियाणं गह-
णं । आचार्यं आह । गाहा ॥

एवं ताव आभिमे, अस्मेव पुणो इमो भेदो ।

मगलंतुं दोइ खंडं, सालं पुणं वाहिरां उट्ठीं ॥ १० ॥

एव ताव आदिहेसु चउसु सुत्तेसु अजिणायगहणं । अहवा
आदिसुत्तेसु अविमिठं गहणं इह विमिठं गहणं कयं । अह-
वा मा काइ वि तिहिनि अजिणायकवणिज्जं भिण्णं अमक्ख-
णिज्जं भिण्णं पुणं जप्पत्तं अथगपेसिमादिगायिणिं सिज्ज-
ति । मगलंतुं पच्छं कठं । गाहा ।

जित्तं तु होइ अच्चं, चोयं जे तस्स केमगं होति ।

मुहपएकरं हारि, तेण तु अमेकयं सुत्तं ॥

पुव्वं कठं चोदगाहा किं अणेमाओ लघादिया फला ज-
प्पना जेण अयं चेव णिसिज्जति । आचार्यं आह । एगगहणागहणं
तज्जातीयाणति सच्चं सगहिया । अव पुणं मुहपए पच्छं
अंथेण मुह पट्ठाति पस्पंदते इत्यर्थः । किंच हारितं जिह्वेन्द्रिय-
प्रातिकारकमित्यर्थः । अनेन कारणेन अयं सूत्रप्रतिबन्ध कृ-
तः । अन्याचार्याभिप्रायेण गाथा ।

अवे केणतिऊणं, मगलं भित्तं चउन्नागो ।

चोयणतया उ जप्पति, सगलं पुणं अक्खुयं जाणा ॥ ११ ॥

योधेण ऊणं अव भणति मगलं अद्धं भणति भिन्नं चउ-
भागादितया चोयणं भणति नरकादिभिक्खुणं साहं जप्पति ।
अक्खुं अवसाहमित्यर्थः पेसी पर्ववत् ।

सच्चित्तं च फलेहि, अगपलं वा तु सुत्तिता सच्चं ।

अगपलं वेहि पुणो, मूवं चेव कया सुया य ॥ १२ ॥

नि० चू० १५ उ० ।

अंशक-अम्बक-न० अम्बति शीघ्रं नक्कत्रस्थानपर्यन्तं गच्छ-
ति अम्ब एवमुक्त्वा १ नेत्रे, अम्बते स्नेहेनोपशब्धते घञ् स्वार्थे
क-२ पितरि, वाच० ।

अमलकं० पु० अल्पोऽमलः अल्पार्थं कन लक्ष्मचवृक्षे वाच० ।

आम्रक-न० चूतफले, पि० ।

अंशगडिया-आम्रकास्थि-न० आम्रकस्य फलविशेषस्यास्थीनि
आतपं दत्तेषु शुष्काग्रफलास्थिषु, अनु० ।

अंशगपेसिया-आम्रकपेशिका-स्त्री० आम्रफलखण्डे, अनु० ।

अंबचोयग-न० आस्रत्वच्-खी० आस्रच्छयाम, आचा० २-
श्रु० ७ अ० २ उ० ।

अंबट्ट-अम्बट्ट-पु० अम्बाय चिकित्सकत्वाय तत्प्रस्थापनार्थं
तिष्ठते अभिप्रैति स्था. क. षष्ठ्यम् । चिकित्सके, वाच० ।
ब्राह्मणेन वैद्यायां जातेऽत्रान्तरजातीये, सूत्र० १ श्रु० ए अ० ।
आचा० । अयं जात्याऽऽर्यत्वेनैतज्जातित्वेन चोपदर्शितः स्था०
६ उ० । प्रज्ञा० । देशभेदे, हस्तिपके, च । यूथिकायाम् खी०
स्वार्थे कन् अत इत्वे अम्बष्टिकाऽप्यत्र " वामनहामी " इति व्या-
तायां लतायाम्, वाच० ।

अंब (म्) म-अम्ब (म्) ड-पु० ब्राह्मणपरिव्राजकभेदे
औ० । तद्वक्तव्यता चैवम् ।

अम्बमशिष्याणामनशनेन मृत्वा देवलोके उपपातः ।

तेषां काङ्क्षेणं तेषां समणसं अम्बरुस्स परिव्यायगस्स सत्त
अंतेवासिसयाइं गिम्हकावसमयंसि जेह्मामूलं मामंसि गंगाए
महानईएओ उज्जकूले कं पिण्डपुरातो एगराओ पुरिमतालं
एगरं संपत्तिआ विहारए । तएणं तेषिं परिव्यायगाणं
तीसे अगामियाए विष्णोवायाए दीहमठाए अमवीए किं-
चिदेसंतरमणुपत्ताणं से पुव्वगहिण उदए अणुपुव्वेणं परि-
चुजमाणे भीणे तएणं ते परिव्याया जीणोदका समाणा
तएहाए परिज्वमाणा परिपरिजदगदातारमपस्समाणा अस्स-
मसं सदावेत्ति अस्समसं सदावेत्ति एवं वयासी एवं खलु
देवाणुप्पिया अम्ह इमीसे अगामिआए जाव अडवी ए-
गंवि देसंतरमणुपत्ताणं से उदए जावज्जीणे तं सेयं खलु
देवाणुप्पिया अम्ह इमीसे अगामियाए जाव अडवीए-
उदगदातारस्स सव्वओ समंता मग्गणं गवेसणं करित्ता
कहु अस्समसस्स अंतिए एअमड्डं पमिसुणंति पमिसुणंति-
त्ता तीसे अगामियाए जाव अरुवीए उदगदातारस्स सव्व-
ओ समंता मग्गणगवेसणं कोइ करित्ता उदगदातारमलभ-
माणा दोच्चं पि अस्समसं सदावेइ सदावेइत्ता एवं वयासी
इहसं देवाणुप्पिया उदगदातारो णत्थि । तं एो खलु कप्पइ
अम्ह अदिस्सं गिणहेत्तए अदिस्सं सति जित्तए तं माणं अम्हे
इदाणि आवइ काहं पि अदिस्सं गिणहामो अदिस्सं सादि-
ज्जामो माणं अम्हं तवलोवे नविस्सइ । तं सेयं खलु
अम्हं देवाणुप्पिया तिदंयं कुंडियाओ य कंचणि
याओ य करोमियाओ य जिसियाओ य ष्णालए
य अकुंमए य केसरीयाओ य पावेत्तए य गणेत्तिया
ओ य उत्तएय वीहणाओ अ पाजआओ अ धाउरत्ताओ
य एगंते पमिन्ता गंगामहाणइ ओगाहिन्ता बालुअसंथा-
रए संथरित्ता संदेहणाज्झाओसियाणं भत्तपाणयाइपव-
क्खित्ताणं पाइओवगयाणं कालं अणवकंखमाणं
विहरित्तए तिकहु अस्समसस्स अंतिए एअमड्डं पमिसुणंति
अस्समसस्स अंतिए पमिसुणिन्ता तिदंइए य जाव एगंते

पमेइ पमेइत्ता गंगामहाणइ ओगाहेइ ओगाहेइत्ता बेलुआ-
संथारए संथरंति बालुया संथारयं दुरुहंति बालुहंति ता
पुरत्थानिमुहा संपलियं कनिसआ करयय जाव कहु एवं
वयासी णमोत्थुणं अरहंताणं जाव संपत्ताणं नमोत्थुणं सप-
णस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविज्जकामस्स नमोत्थुणं
अंवरुस्स परिव्यायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवदेस-
गस्स पुव्वेणं अम्हे अम्ममस्स परिव्यायमस्स अंति-
ए थूलगपाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए मूसावा-
ए अदिष्ठादाणं पच्चक्खाए जावज्जीवाए सव्वे मेहुणे
पच्चक्खाए जावज्जीवाए थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए जा-
वज्जीवाए । इदाणि अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स
अंतियं सव्वं पाणाइवाय पच्चक्खामो जावज्जीवाए एवं
जाव सव्वं परिग्गहहं पच्चक्खामो जावज्जीवाए मव्वं
कोहं माणं मायं लोहं पेज्जं दोसं कद्वहं अम्भक्खाणं पेसु-
सं परपरिवायं अरइरइमायामोसं मिच्छादंसणसद्धं अकर-
णिज्जं जोगपच्चक्खामो जावज्जीवाए सव्वं असणं पाणं
खाइमं साइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामो जावज्जीवाए
जंपिय इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं मणुसं मणामं थेज्जं वेसासि-
यं संमतं बहुमतं अणुमतं भंरुकरंदकसमाणं माणं सीयं माणं
उयहं माणं खुहा माणं पिवासा माणं बाला माणं चोरा
माणं दंसा माणं मसगा माणं वातियं पित्तियं संनिवाइयं
विविहा रोगातंकापरीसहोवसग्गा फुसं तु तिकहु एतं पिणं
चरमेहिं जसासणीसासेहिं वोसिरामि तिकहु संदेहणा अ-
सणा श्रुसिया जत्तपाणा पमियाइक्खिया पाओवगया
काहं अणवकंखमाणं विहरंति तए णं ते परिव्याया बहुं
भत्ताइं अणसणाए ठेत्तिन्ति ठेत्तिन्ता आलोइयपमिकंठो
समाहिपत्ता कालमासे काहंकिन्ना बभलोए कप्पे देवत्ताए
उव्वेत्ता तेहिं तेमिं गई दससागरोवमाइं डिइं पवत्ता प-
रलोगस्स आराहगा सेसं तं चेव १३ ॥ औ० ॥

एते च यद्यपि देशविरतिमन्तस्तथापि परित्राजकक्रियया ब्र-
ह्मलोकं गता इत्यवसेयमन्यथैतद्गणनं नृथैव स्यादेशविरतिफल-
त्वेण परलोकाराधकत्वमेवेति न च ब्रह्मलोकगमनं परित्राजक-
क्रियाफलमेवामेवोच्यते अन्येषामपि मिथ्यादृशां कपिसम्भृ-
तीनां तस्योक्तत्वादिति । औ० । ३० । अम्बरुस्य व्रतप्रदणम् ।

बहुजणेणं भंते ! अस्समसस्स एवमाइक्खंति एवं नासइ
एवं परुवेइ एवं खलु अंबडे परिव्यायाए कं पिण्डपुरे णयरे
घरासते आहारमाहारेति घरसतेवसहिह ते तीसे कहयेयं भंते !
एवं गोयमा ! जसं से बहू जणो अस्समसस्स एवमाइक्खइ
जाव एवं परुवेति एवं खलु अंबडे परिव्याए कं पिण्डपुरे जाव
घरासते वसहि उवेइ सव्वेणं समडे अहं पि णं गोयमा !
एवमाइक्खामि जाव एवं परुवेमि एवं खलु अंबडे परि-
व्यायाए जाव वसहि उववेसे केण्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ

अंबडे परिव्यायाए जान वसहिं उवेइ गोयमा ! अम्ममस्स एं परिव्यायगस्स एगइजइयाए जान विणीयाए ठठठठेणं अतिविस्सेणं तत्रोक्कमेणं ठठं वाहाओ पणिन्जिय इ सरानिमुहस्स भातावणज्जीए भातावेमाणस्स मुभेणं परिणामेणं पमत्पेहि लेसाहिं विमुन्नमाणीहिं अम्भया कयाइ तदावरणिज्जाणं कम्माणं जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापमणगणवेसणकमेमाणस्स वीरियलक्कीए वेजज्वियलक्कीए ओहिणाणलक्कीए समुप्पखा । तएणं से अम्ममे परिव्यायए ताए वीरियलक्कीए वेजज्वियलक्कीए ओहिणाणलक्कीए समुप्पखाए । जणविम्हावणइउं कंप्पिअपुरे घरसते जाव वसहिं उवेइ से तेणहेणं गोयमा ! एवं मुच्चइ अंबडे परिव्यायए कंप्पिअपुरे नगरे घरसए जाव वसहिं उवेते । पभूणं जंते ! अंबडे परिव्यायए देवाणप्पियाणं अंतिए मुने जवित्ता आगाराओ अणगारियं पन्दइत्तए गोतिणहे ममहे गोयमा ! अम्ममेणं परिव्यायए मयणोवासए अजिगपजी-बाजीवे जाव अप्पाणं जावेमाणे विहरति एवर ऊमिय-फलिहे अंबंगुदुरारे चियत्तंते पुरयग्दापवेसीणवं ण बुच्चति अम्ममस्स ण परिव्यायगस्स भूए पाणातिवाते पशरवाते जावज्जीवाए जाव परिग्गहे एवरं सवे मेणुणे पच्च-क्ववाते जावज्जीवाए अम्ममस्स णं एो कप्पइ अस्सवसो-तप्पमाणमेत्तं पि जल समएहं उत्तएहं उच्चरित्तए । एत्थय अच्चाणमणेणं अम्ममम्मणं एो कप्पइ मगं एवं चेव जाणियच्चं । जाव एत्थय एगा एगं गामट्टियाए अंबरुस्सणं परिव्यायगस्स णो कप्पइ आहाकम्मिए वा जेसिए वा सीसजाएति वा अज्जोश्वरए वा पूक्कमे वा कीयमेति वा पामिच्चे वा निअणिसिच्चे वा अभिट्ठे वा इत्तए वा रत्तए वा फंतारज्जे वा दुब्भिवखज्जे वा पाहुणकज्जे वा गिल्लणक्खे वा वदालयाभत्ते वा जोत्तए वा पाइत्तए वा अंबरुस्स णं परिव्यायगस्स एो कप्पइ मूलजोयणे वा जाव बीयभोयणे वा भोत्तए वा पाइत्तए वा अंबरुस्स णं परिव्यायगस्स चठच्चिहे अणत्थादं पक्खवाए जावज्जीवाए तंजहा अवज्जभाणाय-रिए पमादायरिए हिंसणयाणे पावक्कमोवदेसे अंबरुस्स कप्पइ मागहए अ आढए जलस्स पडिग्गाहित्तए सेविय-वहमाणे नो चेव णं अक्खमाणे जाव से वि पूए नो चेव णं अपरिपूए से विय सावजेत्ति काळं णो चेव णं अणवज्जे से त्रिय जीवाइ कट्ठ णो चेव णं अजीवा से विय दिसे णो चेव णं अदिसे से त्रिय दंतहत्थपायचारुवमस-क्खवाणत्ताए पवित्तए वा णो चेव णं सिणाइत्तए अंबरु-स्स णं परिव्यायगस्स कप्पइ मागहएय आढए जलसपारु-ग्गाहित्तए से त्रिय वयमाणे दिसे नो चेव णं अदिसे से ।

य सिणाइत्तए णो चेव णं हत्थपादचारुवमसपक्खालयणत्ता-याए पवित्तए वा अंबरुस्स परिव्यायगस्स णो कप्पइ अक्ख-त्तिया वा अक्खत्तितदेवयाणि वा अक्खत्तितपरिग्गाहि-याणि वा चेइयाइ वंदित्तए वा एमंसित्तए वा जाव पज्जुवा-सित्तए वा अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा ।

[एत्थय अरहतेदिघसि] न कल्पते इह योऽयं नेति प्रतिषेध-स्तोऽन्यत्रार्थद्वय- अर्हतो घञ्जयित्वेत्यर्थः । स हि कित्त परिव्याज-कथेयधारकोऽतोऽन्ययूथिकवेयतावन्वनादिनिषेध- अर्हतामपि पदनादिनिषेधो मात्रादिति कृत्वा णत्थयेत्याद्यधीतं, स्तो० । अ०।

अम्ममस्य मृत्योपपातः ।

कालमासे कालं विधा कहिं गच्छहिति कहिं उववाज्जि-हिति ? गोयमा ! अंबडेणं परिव्यायए उवावएहिं सीलव-यगुणवेरमणपचस्साणपोमहेत्तवासेहिं अप्पाणं जावेमाणे वहुई वासाइं समणोवासयपरियायं पाउणित्तए पाउणि-त्ता मासियाए संझेणए अप्पाणं जूसित्ता सद्धिं जत्ताइं अणसणाइं वेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते काळ-मासे कालं विधा वंभत्तोए कप्पे देवत्ताए उववज्जेहिति तत्थ णं अप्पेगइयाणं देवाणं दससागरोवमाइं त्रिती पणत्ता तत्थ णं अम्ममस्स वि देवस्स दससागरोवमाइं त्रिती । से णं भंते ! अवडे देवत्ताओ देवलोगाओ आउ-वरणं जवक्खएणं द्विक्खएणं अणंतरं चइ चइत्ता क-हिं गच्छहिति कहिं उववज्जइचि ? गोयमा ! महा-विदेहे वासे जाइकुलाइं जवंति अह्माइं दित्ताइं वि-त्ताइं विच्छिणविउल्लज्जणसयणासणजाणवाहणाइं बहुध-एजायरुवरयत्ताइं आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छिडि-यपउरभत्तपाणाइं बहुदासीदासगोमहिसवेलगप्पजूयाइं व-हुजणस्स अपरिजयाह तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ता प-व्यायाहिति । तएणं तस्स दारगस्स गन्धत्यस्स चेव समाणस्स अम्मापिती णं धम्मे ददपत्तिष्ठो भविस्सइ से णं तत्थ ए-वएहं मासाणे बहुपमिपुष्पाणं अक्खमाणराइंदियाणं वीतिकंताणं सुकुमालपाणिपाए जाव सासिसोमाकारे कंतं पियदंसणे सुरूवे दारए पयाहिति । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे छिती पयियं काहिति तइयदिव-से चंदसरदंसणियं काहिति ठठे दिवसे जागरियं काहिति एक्कारसमे दिवसे वीतिकति णिव्वते अमुइ जावइ कम्मं करणे संपत्ते वारसमे दिवसे अम्मापियरो इमं एयारुवं गुणं गुणणिप्पन्नं एामधेज्जं काहिति जम्हाणं अम्ह इमं-सि दारगंसि गन्धत्थंसि चेव समाणंसि धम्मे ददपत्तिष्ठा त होत्तएणं अम्हं दारए ददपइष्णामेणं तत्तेणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एामधेज्जं करोहिति “ददपइष्सेत्ति” तं ददपइष्णं दारग अम्मापियरो यान्निज्जत्तामज्जतं जागित्ता मोध-

णंसि तिहिकरणदिवसणवत्तमुहुत्तंसि कलायरियस्स उव-
 षेहिंति । तए णं से कलायरिणं तं ददपइस्सं दारगं द्वेहा-
 तियाओ गणियप्पहाणाओ सन्नणरूपज्जवसाणाओ
 बावत्तरिकत्ताओ मुत्ततो य अत्थतो य करणतो य सेहा-
 विहिति । औ० (कलानामानि कलाशब्दे) सिक्खावेत्ता
 अम्मापितीणं उवणेहिंति तए णं तस्स ददपइस्सं दारगस्स
 अम्मापियरो तं कलायरियं विपुलेणं असणपाणखाइमेणं
 माइमेणं वत्थगंधमद्वालंकारेण य सकारेहिंति सम्माणेहिंति
 सकारेत्ता मम्मायेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइ-
 स्सति विपुलं विपुलेत्ता पमिविसज्जेहिंति तए णं से ददपइस्सं
 दारए बावत्तरिकत्तापंमिणं नवंगमुत्तपमिवोहिये अद्वारस-
 देसीजासाविसारए गीतरती गंधव्वणच्छकुसले हयजोही
 गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमदी वियाद्वचारी
 साहसिए अद्वं भोगसमत्थे आविचविस्सति तते णं ददपइ-
 स्सं दारगं अम्मापियरो बावत्तरिकत्तापंमिणं जाव अलं
 जोगसमत्थं वियाणित्ता विपुलेहिं अस्सजोगेहिं द्वेणजोगेहिं
 वत्थजोगेहिं सयणभोगेहिं कामभोगेहिं उवणिमंतेहिंति ।
 तए णं से ददपइस्सं दारए तेहिं विजलेहिं अस्सभो-
 गेहिं जाव सयणजोगेहिं णो सज्जिहिंति णो रज्जिहिं-
 ति णो गिब्बिहिंति णो अववज्जिहिंति से जहाणामए
 उप्पदेइ वा पजमेइ वा कुसुमेइ वा नमिणेइ वा सुभ-
 गेत्ति वा सुगभेत्ति वा पोंडरीएत्ति वा महापोंडरीएत्ति
 वा सत्तपत्तेइ वा सहस्सपत्तेइ वा सतसहस्सपत्तेइ वा
 पंके जाते जत्ते संबुद्धे णोवद्विप्पइ पंकरएणं णोवद्विप्पइ
 जलरएणं एवमेव ददपइस्सं वि दारए कामेहिं जाते भोगे-
 हिं संबुद्धे णो वल्लिप्पहिंति कामरएणं णोवल्लिप्पहिंति भो-
 गरएण णोवद्विप्पहिंति । मिच्छणाइणियगमयणसंवांधिपरि-
 जणेणं सेणं तहारूवाणं धेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झि-
 हित्ति । केवलबोहिं बुज्झित्ता अगाराओ अणगारियं पव्व
 हित्ति । से णं जाविस्सइ अणगारे भगवंते इरियासमिति
 जाव गुत्तवंभयारी तस्स णं जगवंतस्स एते णं विहारेणं
 विहरमाणस्म अणंते अणुत्तरे णिवाघाए निरावरणे क-
 सिणे पडिपुष्से केवलवरणाणदंमणे समुप्पज्जेहिंति । ततेणं
 से ददपइस्सं केवली वेहूइं वासाइं केवली परियागं पाउणिहिंत्ति
 पाउणिहिंत्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं कुसित्ता सट्ठि
 जत्ताइ अणसणाणं जेएत्ता जस्सट्ठाए कीरए एगभावे मुं-
 मजावे अन्हाणए अदंतवणए केमलोए बंधवेरवासे अ-
 ञ्जुतकं अणोवाहणक जूमिसेज्जा फल्लहसेज्जा कट्ठसेज्जा
 परधरपवेसो द्वाव्हावल्लं वित्तीए परोहिं हीद्वणाओ
 स्विमणाओ णिंदणाओ गरहणाओ ताद्वणाओ तज्ज-

णाओ परिजवणाओ पव्वहणाओ उवावया गामकंदका
 वावीसं परीसहोवसग्गा अट्ठियासज्जंति । तमद्वमारा-
 हित्ता चरिमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं सिज्जिहिंति बुज्झि-
 हिंति मुच्चहिंति परिणिव्वाहिंति सव्वदुक्खाणमंतं करोहिं-
 ति औ० । ज० ।

परिव्राजके विद्याधरधर्मणोपासके च अस्य वक्तव्यता ।

चम्पायां नगर्यामस्यको विद्याधरधर्मको मदाचीरसमीपे ध-
 र्ममुपश्रुत्य राजगृहं प्रस्थितः स च गच्छन् भगवता बहुस्तो-
 पकाराय भणितो यथा सुखसाध्याविकायां कुशलवार्ता कथ-
 य स च चिन्तयामास पुण्यवतीयं यस्यास्त्रिलोकनाथः स्व-
 कीयकुशलवार्ता प्रेषयति, क पुनस्तस्या गुण इति तावत्सम्य-
 क्त्व परीक्षे, ततः परिव्राजकवेषधारिणा गत्वा तेन भणित-
 ता, आयुष्मति । धर्मो भवत्या भविष्यतीत्यस्मभ्य भक्त्या भो-
 जन देहि तथा जणितं येज्यो दत्ते भवत्यसौ ते विदिता पव, त-
 तोऽसावकाशविरचिततामरसासनासीनो जनं विस्मापयति
 स्म, ततस्त जनो भोजनेन निमग्नयामास स तु नैच्छत् ।
 लोकस्तं पप्रच्छ कस्य भगवन् । भोजनेन भागधेयवतां
 मासकृपणकपर्यंतं स बर्द्धयिष्यसि । स प्रतिभणति स्म सुल-
 सायाः । ततो लोकस्तस्या वर्द्धनक न्यवेदयत् । यथा तव
 गेहे भिक्षुरयं बुभुक्षुः तयाऽन्यथायि किं पात्राणिमिरस्माकमि-
 ति लोकस्तस्मै न्यवेदयत् । तेनापि व्यङ्गायि परमसम्यक्दर्श-
 रेणा या महातिशयदर्शनेनापि न दृष्टिव्यामोहमगमदिति ततो
 लोकेन सहासौ तद्देहे नैषेधिकीं कुर्वन्पञ्चनमस्कारमुच्चारयन्
 प्रविवेश । साऽप्यन्युत्थानादिकां प्रतिपत्तिमकरोत् तेनाप्यसा-
 धुपवृद्धिरेति । स्था० ६७० । अयमागमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां देवो
 नाम द्वाविंशस्तीर्थरुद्धं चूत्वा धर्मं प्रज्ञाप्य सेत्स्यति यावत्सर्वदुः-
 खानामन्त करिष्यति । स्था० ६७० । ती० । आ० म० द्वि० ।
 नि० चू० । ही० । अयं पूर्वोक्तादम्बरपरिव्राजकादन्य एव ।
 तदुक्तम् । यश्चौपपातिकोपाङ्गे महाविदेहे सेत्स्यतीत्यभिधाने
 सोऽन्य इति सम्भाव्यते । इति स्था० ६७० । नि० चू० ।
 अंशमा(दा)लग-आम्रहालक-न० आम्रसूदमखण्डेषु, आचा०
 शु० २ अ० ७ ।

अंशत-अ (आ) स्तुत्व-न० (अम्लरसवत्त्वे) "अंशतणेन
 जीहाय, कूविया होइ खरिमुदगमि " विशेष० ।

अंशदेव-आम्रदेव-पु० नेमिचन्द्रसूरिकृताऽऽख्यानकमणिकोश-
 स्योपरि टीकाकारके स्वनामख्याते आचार्ये, जै० ६० ।

अंशपलंवकोरव-आम्रमलम्बकोरक-न० आम्रचूतस्तस्य प्रल-
 म्बः फलं तस्य कोरक तन्निष्पादकं मुकुलमात्रफलकोरकम् कोरक-
 विशेषे, एवं यं पुरुषः सेव्यमान उचितकाले उचितमुपकारक-
 फलं जनयत्यसावाप्रलम्बकोरकसमान उच्यते, स्था० ७४० ।

अंशपलवपविजत्ति-आम्रपलवपविजत्ति-न. नाट्यविधिनेद्रे, रा.

अंशपेसिया-आम्रपेशी-स्त्री० आम्रस्य पेशीयं शुष्काग्रकोशे, आचा०

आम्रपेशी-स्त्री० आम्रफल्याम । आचा० २ शु० ७ अ० ७ ।

अंशफल-आम्रफल-न० रसालफले, श्य० ९३० (सागारिकस्या-
 म्रफलानि आम्रवृक्षआरोपित इत्येतत्कल्पते न वेति सागारीय-
 पिरुशब्दे) ।

अंशजित्तय-आम्रजित्तक-न० आम्राज्जे आचा० २ शु० ७ अ० ७ व० ।

अंबर-अम्बर-न० अम्बेव मातेष जननसाधर्म्यादभ्या जल तस्य राणाहानाभिरुक्तितोऽम्बरम् आकाशे । भ० २ श० २ उ० । द्वा० । वस्त्रे, नि० चू० १ उ० । आ० म० प्र० । सूत्र० । आय० प्रश्न० । स्वनामख्याते गन्धकद्रव्ये, अम्बरधातो च, वाच० ।

अम्बरतल्ल-अम्बरतल्ल-न० आकाशतले, रा० । द्वा० ।

अम्बरतिल्लय-अम्बरतिल्लक- पुं० धातुर्कारणरूपे पर्यतनेदे, यत्र मद्रावतीविजयघातितान्दिग्रामसभियेशस्थवरिरुद्रजा-तनिर्नायिका नाम कन्या मातुः साधमनघाप्य तद्वचनेन गत्वा पकफलानि गृहीतवती । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

अम्बरतिल्ल-अम्बरतिल्लका-स्त्री० नगरीभेदे यत्र एसादिर्ष-विमर्दनो महाराज । दर्श० ।

अम्बरवत्त-अम्बरवत्त-न० स्थच्छतया अम्बरतुल्यानि घस्याणि अम्बरवत्ताणि स्थच्छवस्त्रेषु । कल्प० ।

अम्बरस-अम्बरम्-न० अभ्या पूर्वाक्तयुक्त्या जल तद्रूपो रसो यस्माभिरुक्तितोऽम्बरसम् आकाशे, न० २० श० २ उ० ।

अम्बरि (री) स-अम्बरि (री) प-पु० न० अम्ब्यते पच्यतेऽत्र अम्ब अरिष नि० वा दीर्घं भर्जनपात्रे, अम्बरीसमपि वाच० । ज्ञा०, न० ३ श० ६ उ० । प्रव० । कोष्ठके, लोहकाराम्बरीये या, जी० ३ प्रति ।

अम्बरि (री) स (सि)-अम्बरिप (रीप) ऋषि (पिं)-पु० यस्तु नारकान् निहितान् कल्पानिकाभिः यण्डशः कृत्वा आष्टपाकयोग्यान् करोतीत्यसाधम्यरीपस्य आष्टस्य सधन्वाद्-म्बरीप इति द्वितीयपरमाधार्मिक, प्रव० १८० द्वा० । न० । स० ।

आह्वयहयेय तद्विषयं, णिस्मन्ने कण्णीहि कण्पति ।

विभुल्लगचदुल्लगत्रिभे, अम्बरिसी तत्थ णेरइए ॥११॥

(आह्वय्यादि) उप सामीप्येन मुञ्जरादिना इता उपइता पुनरप्युपइता पय यद्वादिना इता उपइतइतास्नाभारकान् तस्यां नरकपृथिव्यां नि सङ्गकान् नष्टमङ्गकान् मूर्च्छितान्सतः कर्षणीभिः कल्पयन्ति त्रिन्दर्नातद्येतश्च पाटयन्ति । तथा द्विद-लचदुल्लगचिन्नानिति मध्यपाटितान् यण्डशद्विभ्रान्श्च नारकां-स्तत्र नरकपृथिव्यामधीनानामानेऽसुराः कुर्वन्तीति सूत्र० ५ श्रु० ५ अ० । आव० प्रव० । आ० चू० । प्रश्न० ।

अम्बरिसि-अम्बरिप (पिं)-पु० उज्जयिनीवास्तव्ये ग्राहण-भेदे, यस्य मालुफ्या प्रिया निम्बः सुत (इति विणमोयगय शब्दे वक्ष्यते) आ० क० । आव० । आ० चू० ।

अम्बरवण-अम्बरवण-न० आम्रस्य वनम् । नित्यं गत्वम् । आम्रवृ-क्षसमुदायात्मके वने, वाच० । आ० ।

अम्बरमाण-अम्बरसमान-पु० “अवपरिसेहि अबो न तोहिं सिद्धिं तु ववहारो” येषु वचनेषूपकेषु परस्य शरीर विरुक्तायते तानि अम्बरानि अम्बैः पर्येक्ष्य वचनैर्व्यवहारनसिद्धिनयति सोऽम्बर-वचनयोगादमल इति इत्युक्तद्वक्त्रेण दुर्व्यवहारिणि । ध्य० १ उ० ।

अम्बरालवण-आम्रसालवण-न० आम्रफले आम्रैः शङ्खैश्चानि-प्रचुरतयोपलक्षिते वने तद्योगादामलकल्पाया ईशानकोणस्थे चैत्ये च “ आमलकल्पाय गयरीय बहिया उत्तरपुरच्छिमे दि-सीभाय अम्बरालवणे णाम वेइय होत्था पोराणे जाव पमिरु-वे” पूर्णजलचैत्यघटस्य वर्णकः । रा० । उ० । ग० । आ० म० । द्वि० । आव० । द्वा० । आ० चू० ।

अम्बरुडि-अम्बरुडि-स्त्री० वेषाभेदे । महा० २ अ० ।

अम्बा-अम्बा-स्त्री० अम्ब्यते स्नेहेनोपगम्यते अम्बा । कर्मणि घञ् ।

वाच० । मातरि । उ० ३ अ० । स्था० । श्रीनेमिनाथस्य तीर्थाधिष्ठा-तृदेवताया च सा च, अम्बादेवीकनककान्तरुचिः सिंहवाहना च-

तुर्गुजा आम्रलुम्बिपाशयुतदक्षिणकरद्वयासिपुत्राकुशाधिष्ठितवा-मकरद्वया च । प्रव० २७ द्वा० । तस्याः प्रतिमा यथा-अहिच्छन्नाया अ-विहरे (सकृत्त्रे पार्श्वस्वामिनश्चैत्यप्राकारसमीपे श्रीनेमिभूति-स-हिता सिद्धवुक्कहिता आम्रलुम्बिहस्ता सिंहवाहना अम्बादेवी । तिष्ठति, ती० ७ कल्प० । प्रतिष्ठानपुरपत्तने ऐरवतमेखवायां कृष्णेन अम्बादेवीप्रतिमा कृता “ तत्थय अवाप सेण उवघासतिगेण ” ती० २ कल्प० । अम्बप्राज्ञताया, काशीराजकन्यायां च, । वाच० ।

अम्बाजकल-अम्बायक-पु० यक्षभेदे, “ गोवामंमि णिरुक्ता, समणा रोसेण मिसिमिसाप ता । अवाजफलो य णणति, एवम-वाहेहि सघति” ति० ।

अम्बामग-आम्नातक-पु० आम्र इवातति आम्नात् किञ्चिद्धी-नरसफलकत्वात् अत्-एषुद् (आमडा) १ वृक्षे २ तत्फले, न० । आम्नेण तत्फलरसेन तक्ते प्रकाशते । आ+तक हासे अच् । शु-ष्काभ्ररसनिर्मिते (आमद्) द्रव्यभेदे, तत्करणप्रकार भाव-प्र० उक्त । यथा “आम्नस्य सहकारस्य, कटेर्विस्तरितो रसः । घर्मवृष्को मुहुर्दृष्ट, आम्नातक इति स्मृतः ” वाच० । प्रज्ञा० । अनु० । आ० ।

अम्बादिय-आम्बित-त्रि० आम्र इव कृत् खरटिते, आ० म० । द्वि० “चमदेति खरटेति अवाडेत्तित्ति वुत्त णवति” नि० चू० ४ उ० ।

अम्बातव-अम्बातप-न० अम्बादेशेन कृत तपः । अम्बातपः द्वी-किकफलप्रदे तपोभेदे, तथ अम्बातपः पञ्चसु पञ्चमीष्वेकाहना-दि विधेय नेमिनाथाऽम्बिकापूजा वेति, पञ्चा० १ ए विव० ।

अम्बावल्ली-अम्बलवल्ली-स्त्री० अम्बरसेवती वल्ली त्रि० पर्णिका-नामकभेदे, वाच० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

अम्बिआ (या)-अम्बिका-स्त्री० अम्बैव । कन्, मानरि, दुर्गायां, वाच० । नेमितीर्थाधिपदेवतायां, तस्याः प्रतिमा मयुरायाम् “इत्थ कुवेरो नरवाहणो अविआ सीहवाहणा” ती० १० कल्प० । उज्ज-यन्तशैलशिखरेऽवलोकनशिखरात्प्राक् “अविआय भवणं दीस-इ” ती० ५ कल्प । टिपुर्ण्यमम्बिकामूर्तिः “अम्बिकाद्वारसमीप-वती, श्रीकृष्णपातो जुजपद्भास्वरः । सर्वज्ञपादाम्बुजसेवनादि-नौ, सघस्य विष्णौघमपोहतः कृणात्” ती० ४४ कल्प० । पञ्च-मवासुदेवमातरि च । स० । आव० ।

अम्बियासमय-अम्बिकासमय-पु० उज्जयन्तशैले गिरिप्रद्युम्ना-घतारे स्वनामख्याते तीर्थभेदे । “ गिरिपञ्जुषवयारे, अविअ-समय व नामेण । तत्थ वि पीआपुढवी, हिमवाण होइ वरहेम ” ती० ४ कल्प ।

अम्बिणी-अम्बिनी-स्त्री० कोटीनारनगरवास्तव्यसोमग्राहण-प्रार्थायाम् । ती० ५६ कल्प । (कोहडिदेवकल्पशब्दे)

अम्बिल-अम्बिल-अ (आ) म्ल-पु० अम्-कृ प्राकृते “दात्” ८ २६ । इति सूत्रेण सयुक्तलकारात्पूर्वमिदागमः, प्रा० । अग्नि-दीपनादिकृति अम्बिकायाश्चिते रसभेदे, “ अम्बोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्ध, शोकपित्तकफावह ” । क्लेदन पाचनो रच्यो, मूढवाता-जुलोमक ” ॥ १ ॥ कर्म० १ कर्म० । अनु० । ज० ।

एगे अम्बिले-आश्रवणक्लेदनकृद्भक्तः । स्था० १ द्वा० । अम्बरस-

वनि, त्रि० तक्रादिसंस्कृते, ज्ञा० १७ अ० । तक्रारनालकादौ, ल० । काञ्जिके, स्था० १० ठा० । सौवीरे, स्था० १० ठा० । वाच० । 'कल्लाल-धरेसु अविल साउअ' कल्पपात्रगृहेषु किलाम्बुशब्दममुच्चारिते सुग विनश्यति अनिष्टपरिहारार्थमम्बं स्वादूच्यते, अनु० । अंबिलणाम-अम्बिलनामन्-न० रसनामकर्मभेदे, यदुदयाजी-वशरीरमस्तीकादिवदस्त भवति तदम्बनाम, कर्म० १ कर्म० । अंबिलरस-अम्बलरस-पु० क० स० अम्बे रसे, तद्वति, त्रि० वाच० अम्बलरसश्च तद्वत् । प्रश्न० संव० ५ द्वा० । अंबिलरसपरिणय-अम्बलरसपरिणत-पु० अम्बलेतसादिव-दम्बलरसपरिणामं गते पुत्रले, प्रश्न० १ पद । अंबिलिआ-अम्बिका-स्त्री० अम्बैव स्वार्थे कन् १ तित्तिड्याम्, अत्राम्लीकेत्यपि सा च २ पलाशीलतायां ३ श्वेताम्लिकायां ४ क्षुद्राम्लिकायाञ्च, राजनि० । ज० ३ वत्त० । अंबिलोदग-अम्बलोदक-न० काञ्जिकवत्स्वजावत एवाम्लपरिणामे, जज्ञे, जी० १ प्रति० । प्रश्न० । अंबुणाह-अम्बुनाथ-पु० समुद्रे, व्य० ६ उ० । अंबुत्थंभ-अम्बुस्तम्भ-पुं० जलनिरोधरूपे त्रयोदशे कला-भेदे, कल्प० । अंबुभक्ति (ण्)-अम्बुनक्तिन्-पुं० जलमात्रभक्तके वानप्र-स्थभेदे, औ० । नि० । अंबुवासि (न्)-अम्बुवासिन्-पु० अम्बुप्रधाने देशे वसति, वस-णिनि-ङीष् । पाटशावृक्षे, जलवासिमात्रे, त्रि० वाच० । वानप्रस्थभेदेषु, पुं० ये जलनिमग्ना एवास्ते । औ० । अभ-अम्भस्-न० आप्यते । आप्-असुन् । उदके तुम्भौ चेति उणा० अम्भ शब्दे असुन् वा । वाच० । जज्ञे, प्रति० । अष्ट० । अस-अंश-(स)-पु० अश (श) जावे अच् । विज्ञागे, स्था० ३ ठा० । कर्मणि अच् । जागे, विशेष० । आ० चू० । प्रति० । आचा० करणे अच् । अवयवे, पञ्चा० ७ विव० । जेदे, विशेष० । जेदाः विकल्पा अशा इत्यनर्थान्तरम् । आ० म० प्र० । आव० । पर्याये, विशेष० । स्कन्धे च, ज्ञा० १८ अ० । अम (मा) गय-अंश (श) गत-त्रि० स्कन्धदेशमागते, विपा० १ अ० ३ अ० । स्कन्धावस्थिते, ज्ञा० १८ अ० । अंसलग-अंश-पु० स्कन्धे, त० । अमि-अस्मि-स्त्री० । अम-क्ति० । कोटौ, स्था० ८ ठा० । अंसिया-अशिका-स्त्री० । अश एवांशिका । स्वार्थे कप्रत्ययः । भागे, " सागारियस्स असिया अविमत्ता " वृ० ३ उ० । " असियाओ गामदमार्हओ " अशिका तु यत्र ग्रामस्याहम् । आदिशब्दात् त्रिभाग वा चतुर्भाग वा गत्वा स्थितः स ग्राम-स्याश एवांशिका, नि० चू० ३ उ० । अंशस्-न० वदिकाकारे रोगभेदे, " असिया अरिसा ता य अ-हिद्विणे णासाए वणेषु वा जवति " नि० चू० ३ उ० । तस्स (आ-तापयत) " असिया ओल्लब त चेव विज्जो अदक्खु इस्सि पामेइ पामेइत्ता असियाओ भिदेज्जा " (असियाओत्ति) अ-शोसि तानि च नासिकासत्कानीति चूर्णिकारः, ज० १६ श० ३ उ० । प्रति० (शेष अणगारशब्दे) अंसु-अंशु-पु० अश मृग-कु किरणे, सूत्रे, सूत्रमांशे, प्रकाशे, प्रमायां, वेगे च, वाच० ।

अशनु-न० अश्रुते व्याप्नोति नेत्रमदर्शनाय । अश क्रुन् । प्राप्नोते । वक्रादावन्त' ८।१।२६ इति सूत्रेण अनुस्वारागमः, प्रा० नेत्रजने, वाच० । " गुरुदुष्खभरकतस्स अंसुणि वाएण ज जज्ञ गाति य तं अगमतलायणईसमुदमार्हसु ण वि होज्जा " महा० ६ अ० । " असुपुण्णयणे तित्थयरसगीरय तिकखुसो " ज २ वत्त० । 'असुपुण्णहि णयणेहि उर मे परिस्सिचइ' उच्च० ३० अ० । अंसुय-अशुक-न० चीनविषये बहिस्तादुत्पन्ने सूत्रे, अनु० । आ० म० प्र० । " अम्भतरहीरे ज उण्णज्जति त असुय " नि० चू० ७ उ० । आचा० । अशुक शृङ्गणपट्टस्ताक्षिण्यक्षमशुकम्, वृ० २ उ० । यस्त्रविशेषे, ज्ञा० १ अ० । ज० । जी० । पत्रे च, अशु स्वार्थे कन् । अंशुशब्दार्थे, पु० । वाच० । अंसोवसत्त-अंसोपसक्त-त्रि० । ७ त० । अश (स) योः स्कन्धयोः पसक्त द्वयं यत् स्कन्धलग्ने, कल्प० । अकइ (ति)-अकत्ति-त्रि० न कति न सख्याता इत्यकति असख्यातेषु अनन्तेषु, स्था० ३ ठा० । भ० । अकइ (ति) संचिय-अकतिसञ्चित-पु० न कति न संख्याता इत्यकति असंख्याता अनन्ता वा तत्र ये अकत्यकतिमसख्याता असख्याता एकैकसमये उत्पन्ना सन्तस्तथैव सञ्चितास्ते अकति सञ्चिता । स्था० ३१ ठा० । एकसमयेऽसख्यातोत्पादनान्तोत्पादेन च पिण्डितेषु नैरयिकादिषु (अत्र द्वायकक्रमेण नैरयिकादीनामकतिसञ्चितत्वमुपपातशब्दे) ज० २ श० १० उ० । अकटग-अकटक-त्रि० न० व० । कण्टकरहितेषु न तेषु मध्ये बन्धुभादिवृक्षाः सन्तीति, जी० ३ प्रति । पाषाणादि-व्यकण्टकविकलेषु, आव० ५ अ० । प्रतिस्पष्टिगोत्रे (राज्ये) " ओहयकटय मल्लियकटय अकटय " ज्ञा० १ अ० । स्था० । सूत्र० । अकंम-अकाएम-न० । न० त० । अपस्तावे, अनवसरे, आतु० । " एत्थ मया अकमे विणायिया त कारण सुणइ " आ० म० प्र० । अकावे, वृ० १ उ० । अकंमूयग-अकमूयक-पुं० न कर्मयते इत्यकमूयकः । स्था० ५ ठा० । अकमूयनकारके अभिग्रहविशेषवति, प्रश्न० सब० १ द्वा० । अकंत-अकान्त-त्रि० कान्त कान्तियोगात्, स्था० ८ ठा० । न कान्तोऽकान्तः । जी० १ प्रति० । स्वरूपेणाकमनीये, उपा० ८ अ० । भ० । प्रश्न० । अकततर-अकान्ततर-त्रि० स्वरूपतोप्यकमनीयतरे, जी० ३ प्रति० । वि० । अकंतता-अकान्तता-स्त्री० असुन्दरतायाम्, म० ६ श० २ उ० । अकतदुख-अकान्तदुःख-त्रि० अकान्तमनमिमत् दुःख येषा-न्तेऽकान्तदुःखः अनजिमताशातेषु सूत्र० १ श्रु० १ अ० " अकतदुख तसथावरा दुहो अबूसण " आचा० २ श्रु० २ अ० । दु खद्विदुसु, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । अकंतस्सर-अकान्तस्वर-त्रि० ६ व० अकान्तियुक्त्वे, स्था० ८ ठा० । अकंदपि (न्)-अकन्दर्पिन्-त्रि० कन्दर्पोदीपनजावितादि-विकले, व्य० १ उ० । अकंप-अकम्प-त्रि० स्वरूपनिष्ठे, अष्ट० । अज्ञोच्ये, " नाणमि

इंसणमि य, तवे चरित्ते य चउसु पि षकपे " अकम्पोऽहो-
न्यो देवैरप्यचाल्य इत्यथे, आतु० ।

अकंपिय-अकम्पित-पु० । न० त० । धीमहावीरस्याष्टमे गणधरे,
स० (अस्यागारपर्यायादयो गणधरशब्दे) आ० चू० । आ०
म० द्वि० । कल्प० । (अयमकम्पितनामा विजोपाध्यायो
वीरान्तिक गतो भगवता नामगोत्रान्यामाभाष्य) वि० । "आ-
इहे य जियेण, जाइजरामरणविप्पमुक्केण । नामेण य गुत्तेण
य, सव्वन्सुन्दरिसीण ॥ किं मन्ने नेरइया, अत्थि नत्थित्ति
ससओ तुज्ज, वेदपयाण अत्थ, न याणसी तेसिमो अत्थो "
(इत्याद्युक्त इति नारयशब्दे प्रदर्शयिष्यते)

अककसत्तासा-अकर्कशत्तापा-खी० अतिशयोक्त्या हामन्स-
रपर्यायां भाषायाम्, दश० ७ अ० ।

अककसवेयणिज्ज-अकर्कशवेदनीय-न० अकर्कशेन सुखेन
वेद्यन्ते यानि तानि अकर्कशवेदनीयानि जरतादीनामिह सुख-
वेदनीयेषु कर्मसु ॥ अत्र दण्डमक "अत्थिण भते जीवाण अकक-
सवेयणिज्जा कम्मा कज्जति ? हुंता अत्थि कहण भते ! जीवा-
ण अककसवेयणिज्जा कम्मा कज्जति ! गोयमा ! पाणाइवायवे-
रमणेण जाव परिगइयेरमणेण कोहयियेगेण जाव मिच्छादस-
णसहविधेगेण एव खलु गोयमा ! जीवाण अककस-
वेयणिज्जा कम्मा कज्जति अत्थिण भते ! नेरइयाण अकक-
सवेयणिज्जा कम्मा कज्जति णोइण्ठे समट्ठे एव जाव वेमा-
णियाण एवर मणुस्साण ज जीवाण । भ० ७ श० ६ उ० ।

अकज्ज-अकार्य-न० अप्रशस्त कार्यम् अप्रशस्तेन त० कुत्सि-
तकार्ये, निषिद्धकार्ये च । कर्त्तव्यभिन्ने, त्रि० वाच० । आचा० ।
अकज्जमाण-अक्रियमाण-त्रि० न० त० वर्त्तमानकाले अ-
निवर्त्तमाने भ० १ श० १० उ० ।

अकज्जमाणकम-अक्रियमाणकृत-त्रि० क्रियमाण वर्त्तमान-
काले कृत चातीतकाले तन्निषेधादधियमाणकृतं (वर्त्तमाना-
तीतकालयोरनिवर्त्तमानानां निवृत्ते) "अकिञ्च दुक्ख अकु-
स दुक्ख अकज्जमाणकड दुक्ख " भ० १ श० १० उ० ।

अकड-अकाष्ठ-त्रि० न० य० काष्ठरहिते अनिन्धने, "जसीज-
लतो अगणी अकट्ठो " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अकरु-अकृत-त्रि० न० त० अविहिते । " कडं कडित्ति भा-
सिज्जा, अकड नो कडित्ति य " उच्च० १ अ० " अकड करि-
स्सामित्ति मम्मये " यदपरेण न कृतम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ।

अकमजोगि (न्)-अकृतयोगिन्-पु० यतनया योगमकृत-
वति, व्य० ३ उ० । अकृतयोगी अर्गीतार्थः । श्रीन् वारान् कल्पमेप-
णीय वा परिभाष्य प्रथमवेलायामपि यतस्ततोऽकल्पमनेपणी-
यमपि ग्राही । व्य० १० उ० । " अकडजोगित्ति दार तिगुण प-
च्छद्वित्ति तिसखा तिषि गुणीओ तिगुणो असथरातीसु
तिभि वारा एसणीयं सधिसिओ जाता ततियवाराप वि ण
लज्जति तदा चउत्थपरिवाडीए अणेसणीय वेत्तव्वं एव ति-
गुण जोग काऊण जोगो व्यापारः । वितियवाराएवेव अणेस-
णीय गेहहत्ति जो सो अकडजोगी भवति अकमजोगित्ति
गय " नि० चू० १ उ० ।

अकडपायच्छित्त-अकृतप्रायश्चित्त-त्रि० न कृतं प्रायश्चित्तं येन
अनुष्ठितविशोध " जे भिक्खू साहिगरण अबिउसविय-
पाहुडं अकडपायच्छित्त " नि० चू० १० उ० ।

अकमसामायारि-अकृतसामाचारि-पु० ३ व० अविनया मण्ड-
ल्युपसपत्सामाचारीमकुर्वति, वृ० ३ उ० । एवंविधां (सामाचारी-
शब्दे वक्ष्यमाणां उपसम्पन्नमण्डलीविषयां द्विविधामपि सा-
माचारीयो न करोति सोऽकृतसामाचारीक उच्यते, वृ० ३ उ० ।
अकटिण-अकठिन-त्रि० कोमले, जी० ३ प्रति ।

अकण-अकर्ण-पु० सिंहमुखद्वीपस्य नैर्ऋतश्रोत्रे (अन्तर्द्वी-
पशब्दोक्त) प्रमाणे अन्तर्द्वीपे, तद्वास्तव्यं मनुष्ये च, स्था० ४
रा० । प्रज्ञा० न० । कर्णरहिते, वाच० ।

अकण्डिण-अकर्णच्छिन्न-अच्छिन्नकर्णं त्रि० न त्रिन्नौ
कर्णौ यस्य स तथा । अकृतश्रवणे, नि० चू० १४ उ० ।

अकत्तण-अकर्त्तन-त्रि० उच्चस्थ फल कर्तितु शीघ्रमस्य । कृत-
युक् न० त० । उच्चत्वविरोधिहस्तत्ववति खर्त्त, कृत-भावे ल्युट्
न० य० वेदनकर्त्तरि त्रि० वाच० ।

अकत्तिम-अकृत्रिम-त्रि० न कृत्रिमः । न० त० कृत्रिमजिज्ञे, स्वप्ना-
वसिष्ठे, वाच० "अकत्तिमेहिं चेव कत्तिमेहिं चेव" ज० २ वक्त० ।

अकप्प-अकट्प-पु० कल्पो न्यायो विधिगच्चाश्चरणकण-
व्यापार इति यावत् । न कल्पोऽकल्पः । अतद्रूप इत्यर्थः । य० २
अधि० अविधौ चरकादिद्वीक्यायाम् अप्राप्तौ, पचा० १२ विव० ।
आच० । आ० चू० । अकृते, अयोम्य, "अकप्प परियाणामि
कप्प उवसपज्जामि " आ० ४ अ० । दर्पादौ, व्य० १ उ० ।
अभोज्ये, "जहकम्म अकप्प तत्थिक्कं " पि० । "अकप्प पडिगा-
हेज्ज, चउत्थाइ जहाजोग कप्प या । पडिसेहेइ उवठा-वण
गोयर पविट्ठो उ " । महा० ७ अ० । दृपणीये । नि० चू० १५
उ० । अनाचारे, कल्प० । अकल्प श्रमय्यादा अनानि अनुपदश
इत्यनर्थान्तरम्, प० चू० । पिण्डशय्यावस्त्रपात्ररूपचतुष्टयेऽक-
ल्पनीये, व्य० २ उ० । " वयवक्क कायउक्क, अकप्पो गिहिजायण "
अकल्पः शिक्षकस्थापनाकल्पादि । दश० ६ अ० । तत्राकल्पो
द्विविधः शिक्षकस्थापनाकल्पः अकलस्थापनाकल्पश्च तत्र
शिक्षकस्थापनाकल्पः अनधीतपिण्डनिर्गुण्यग्निनानिमाहा-
रादि न कल्पते इत्युक्तं च ' अणहीया खलु जेण, पिमैस-
णसेज्जवत्थपाएसा । तेणाणियाणि जतिणो, कप्पति न पिम-
माईणि ॥ उववक्कमि ण अणहा, याम्मावासेउ दो वि णो सेहा ।
दिकिलज्जंतो पाय, उवणाकप्पो हसो होइ " अकल्पस्थाप-
नाकल्प त्वाह ॥

जाइं चत्तारिजुज्जाड, इसिणा हारमाइणि ।

ताइं विहिणा वज्जंतो, मंजयं अणुपालं ॥ ४७ ॥

सूत्र व्याख्या-यानि चत्वार्यंमोज्यानि सयमापकारित्येनाकल्पनी-
यानि ऋषीणां साधूनामाहारादीन्याहारशय्यावस्त्रपात्राणि
तानि तु विधिना वर्जयेन् सयमं सप्तदशप्रकारमनुपालयेत् ।
तदत्यागे सयमावावदिति सूत्रार्थः । एतदेव स्पष्टयति ।

पिडसेज्जं च वत्थं च, चउत्थ पायमेव य ।

अकप्पियं न इच्छिज्जा, पमिगाद्विज्ज कप्पियं ॥ ४८ ॥

पिण्डशय्यां च वस्त्रं चतुर्थं पात्रमेव च । एतत्स्वरूप प्रगटा-
र्थमकल्पिकं नेच्छेत् प्रतिगृहीयात् कल्पिकं यथाचितमिति
सूत्रार्थः । अकल्पिके दोषमाह ।

जे नियागं ममायंति, कियमुहेसियाहं ।

वहं ते अणुजाणंति, ईइं वुत्तं महेसिणा ॥ ४९ ॥

ये कैचन द्रव्यसाध्वादयो द्रव्यलिङ्गधारिणः (नियोगंति) नित्यमामन्त्रित पिरण्ड (ममायन्तीति) परिगृह्णन्ति । तथा क्रीत-मुद्देशिकाहृतम् । एतानि यथा लुल्लकाचारकथायां वधं अस-स्थावरादिघात ते द्रव्यसाध्वादयोऽनुजानन्ति । दातृप्रवृत्त्यनुमो-दनेनेत्युक्तं च महर्षिणा वर्धमानेनेति सूत्रार्थः । यस्मादेवम् ।

तम्हा असणपाणां, कियमुद्देसियाहरु ।

वज्जयंति ठियप्पाणो, निग्गया धम्मजीविणो ॥१०॥

तस्मादशनपानादि चतुर्विधमपि यथोदितं क्रीतमौद्देशिक-माहृतं वर्जयति स्थितात्मानो महासत्त्वा निर्ग्रन्थाः साधवो धर्मजीविनः सयमैकजीविनः इति सूत्रार्थः । उक्तोऽकल्पः । दश० ६ अ० । जीत० प० चू० प० भा० । “अपरिगृहणा अकप्पमि हारे पलवादीसलौम मम जिणादि हँति उवहीण सेज्जाए द गसाला अकप्पसेहा य जे अत्रे ” प० क० चू० । प० भा० ।

एतो अकप्पं वोच्छामि णिक्खि वणिरणुकपो पुप्फ-लाणं च सारणं कुणति जं च एह एवमादं । सव्वं त जाणसु अकप्प जो तु किं ए करेती दुक्खभेसुं तु सव्वसत्तेसुं णिरवेक्खो रीयादिसु पवत्तं णिक्खि वो सोतुं सहसा वय-साए ए व परितावणमादिविंदियादोणं काऊण नाणु-तप्पं णिरणुकपो हवति एसो सत्तद्धममाणेसु सट्ठाणासे-वणाए सट्ठाणं गच्छागाढंमि तु कारणंमि वितियं भवेत्ताणं मत्तद्धमट्ठाणाइ उ कप्पो चेव तह अकप्पो य ते निक्कार-रणसेवी यावति सट्ठाणं पच्छिच्च पत्तंमि कारणे पुण रा-यडुड्ढादियंमि आगाढं जयणा य करेमाणो होठियकप्पो वि तिट्ठाणं दारं । प० चू० ।

“इयानि अकप्पो गाहा नामणिओ नामणी थमणीओ विज्जा-ओ पउजइ अद्धवेयाली नाम जो उडुठ नेऊण परिपावेइ वेयाली उछवेइ गम्भाटाण परिस्सामेइ समुच्छिय पाडेइ जोणिपाडुड वा करेइ अणेषु य एवमाइसु पावायपणेषु वहुइ गाहा तसप-गिंदियतसपाणइममगाइविच्छिण वा ससेइमे वा समुच्छावेइ मुच्छाणमरणअभिगोमाइहि माहेसरि वा आहव्वण वा पउजइ रुद्धा दिव्वण वमडुन वा अगणिकाय थमइ गाहा निक्कोवो नाम निग्घिणो निरणुकपो पुप्फफलायाणि य विरुसेइ विज्जा-ओ परसुमादि पउजइ एवमाइ कम्मकरो सो अकप्पो एयाणि पुण ओकपअकप्पाणि निक्कारणे करेतो अट्ठाणपच्छिच्चमावज्ज इ । एतदर्थं गाहा सत्तद्धममाणेसु गच्छमाइसु पुण कारणेसु य रायडुडमाइसु असिवाइसु य कारणेसु जयणाए करेतस्स ओकप्पा कप्पा विइय ठाण भवति किं पुण त वितिय ठाण पक-प्पो चेव सो भवइ एस अकप्पो” प० चू० [अपरिगृहणादेरकल्प-स्याग्राह्यताऽपरिगृहणादिशब्देषु वक्ष्यते] अस्थितकल्पे च, वृ. ४ उ. । अकप्पट्टावणाकप्प-अकल्पस्थापनाकल्प-पु० अनेपणीयपि-पाकण्यावस्त्रपात्रवस्त्रेणऽकल्पभेदे, जीत० ।

अकप्पट्टिय-अकल्पस्थित-पु० कल्पे दशविधे आचेलुक्क्यादौ सपूर्णं न स्थिता अकल्पस्थिता चतुर्णामधर्मप्रतिपत्तुषु, वृ० ४ उ० मन्मथविंशतिजिनसाधुषु महाविदेहजेषु च, जीत० [कल्प-स्थितानामर्थाय कृतं कल्पते कल्पस्थितानां तदर्थं कृतं कल्पते कल्पस्थितानां नेतरथा]

जे कमे कप्पट्टियाणं कप्पइ से अकप्पट्टियाण, नो कप्पइ कप्पट्टियाण । जे कहे अकप्पट्टियाणं नो मे कप्पइ कप्पट्टियाणं, कप्पइ से अकप्पट्टियाणं । कप्पे ट्टिया कप्प-ट्टिया णो कप्पे ट्टिया अकप्पट्टिया ।

यदशनादिकं कृतं विहितं कल्पस्थितानामर्थाय कल्पते तदकल्पस्थितानां, न कल्पते कल्पस्थितानां । इहाचेलुक्क्या-दौ दशविधे कल्पेऽत्रस्थितास्ते कल्पस्थिता उच्यन्ते पञ्चयाम-धर्मप्रतिपत्ता इति भाषः । ये पुनरेतस्मिन् कल्पे सपूर्णं न स्थिता स्ते अकल्पस्थिताश्चतुर्णामधर्मप्रतिपत्तार इत्यर्थः । ततः पाञ्चया-मिकानुद्दिश्य कृतं चातुर्यामिकानां कल्पते इत्युक्तं भवति तथा यदकल्पस्थितानां चातुर्यामिकानामर्थाय कृतं नो स क-ल्पते कल्पस्थितानां, पाञ्चयामिकानां किन्तु कल्पते तदक-ल्पस्थितानां चातुर्यामिकानामर्थाय व्युत्पत्तिमाह कल्पे आचेलु-क्क्यादौ दशविधे स्थिताः कल्पस्थिता न कल्पे स्थिता अकल्प-स्थिता । एष सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

कप्पट्टिपरूवणाता, पंचेव महव्वया चउज्जामा ।

कप्पट्टियाण पणग, अकप्पचउज्जाम सेहे वि ॥

कल्पस्थिते प्रथमतः प्ररूपणा कर्तव्या । तद्यथा । पूर्वपश्चिम-साधूनां कल्पस्थिति पञ्चमहाव्रतरूपा मध्यमसाधूनां महाविदेह-साधूनां च कल्पस्थितिश्चतुर्णामधर्मप्रतिपत्तार ततो ये कल्पस्थितास्ते षां (पणगंति) पञ्चेव महाव्रतानि जवन्ति अकल्पस्थितानां तु चत्वारो यामाश्चत्वारि महाव्रतानि जवन्ति नापरिगृहीता आ-शुज्यत इति कृत्वा चतुर्थव्रतपरिग्रहवतामेव तेषां अन्तर्जवती-ति भावः । यश्च पूर्वपश्चिमतीर्थकरसाधूनामपि सम्बन्धी सैकस्या-पि सामायिकसंयत इति कृत्वा चातुर्यामिकोऽकल्पस्थितश्च मन्तव्यः यदा पुनरुपस्थापितो भविष्यति तदा कल्पस्थित इति प्ररूपिता कल्पस्थितिः । इह “ जे कमे कप्पट्टियाण ” इत्यादिना आध्यात्मसूचितमतस्तस्य उत्पत्तिमाह ।

सालीघयगुदगोर-सावसु बट्ठीफलेसु जातेसु ।

पण्डुकरणसट्ठा, आहाकम्मे णिमंताणता ॥

कस्यापि दानरुचेरभिगमश्चादस्य वानव शालिः भूयान् गृहे समायतस्ततः स चिन्तयति पूर्व यतः नामदत्त्वा ममात्मना परि-भोक्तुं न युक्त इति परिभाष्याध्याकर्मं कुर्यात् एव घृते गुणे गोरस-नवे यद्यतुम्यादिवल्लीफलेषु जातेषु पुण्यार्थं दानरुचिः शब्दः (करणानि) आध्याकर्मं कृत्वा साधूनां निमन्त्रणं कुर्यात् । तस्य आध्याकर्मणोऽसूच्येकार्थकपदानि ।

आहा आहयकम्मे, अत्ताहम्मेय अत्तकम्मे य ।

ते पुण आहाकम्मं, णायव्वं कप्पते कस्स ॥

आध्याकर्म, अध्याकर्म, आत्मज्ञ, आत्मकर्म, चेति चत्वारि नामानि तत्र साधूनामधेयप्राणिघातेन यत्कर्म परकायविनाशेना-शनादिनिष्पादनं तदाध्याकर्म । तथाविशुद्धसयमस्थानेऽपि प्रतिपत्त्यात्मानमाविशुद्धसयमस्थानेषु यदाध्याकर्मो करोति तदध्याकर्म आत्मानं ज्ञानदर्शनचारित्र्यरूपविनाशयतीत्यात्मज्ञ । यत्पाचका-दिसम्बन्धि कर्म पाकादिवक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा तदा-त्मनः सम्बन्धि क्रियते, अनेनेत्यात्मकर्म । तत्पुनराध्याकर्म कस्य पुरुषस्य कल्पते न वा यद्वा कस्य तीर्थं कथं कल्पते न कल्प-ते वेत्यमीनिर्द्धारैर्ज्ञातव्यं, तान्येव दर्शयति ।

संघस्य पुरिममज्जिम-समणानां चैव समणीण ।

चउएहं उवस्सयाण, कायव्वा मग्गणा होति ॥

आधाकर्मकारी सामान्येन विशेषेण वा सघस्योद्देशं कुर्यात् तत्र सामान्येनापिशेषित संघमुद्दिशति विशेषेण तु पूर्वं वा मध्यम वा पश्चिमं वा सघं चेतसि प्रणिधत्ते भ्रमणानामप्योद्यतो विज्ञागतं निर्देशं करोति, तत्रैवतो विशेषितभ्रमणानां विज्ञागतं पाञ्चयामिकभ्रमणानां चातुर्यामिकभ्रमणानामेव भ्रमणीनामपि घट्यते तथा चतुर्णामुपाध्यायानामप्येवमेव सामान्येन विशेषेण च मार्गणा कर्तव्या भवति, तत्र चत्वार उपाध्यायैः पाञ्चयामिकानां भ्रमणानामुपाध्यायमुद्दिशनीत्येकं पाञ्चयामिकानामेव भ्रमणानां द्वितीयं, एव चातुर्यामिकभ्रमणभ्रमणीनामप्येव भावयति ।

संघं समुद्दिशिता, पट्ठो वित्तिओ य समणसमणीओ ।

तत्तिओ उवस्सए खड्डु, चउट्टयओ एगपुरिसस्स ॥

आधाकर्मकारः प्रथमो दानधाकादिः सघं सामान्येन विशेषेण वा समुद्दिश्याधाकर्मं करोति । द्वितीयं भ्रमणभ्रमणीः प्रणिधाय करोति । तृतीय उपाध्यायानुद्दिश्य करोति । चतुर्थं एकपुरुषस्योद्देशं कृत्वा करोति ।

अत्र यथाक्रमं कल्पाकल्पविधिमाह ।

जदि सव्वं उद्दिशिउं, संघं करोति दोएह वि ए कप्पे ।

अहवा सव्वं समणा, समणी वा तत्तय वि तदेव ॥

यद्यत्यन्युपगमे यदि माम् अप्रभस्यामिनोऽजितस्थामिनश्च तीर्थमेकत्र मिलितं जयति पादयंस्थामिवर्द्धमानस्थामिनोर्वा तीर्थं मिलितं यदा प्राप्यते तदा तत्कासमङ्गलप्राप्त्याय विधिरति-धीयते, सर्वमपि संघं सामान्येनोद्दिश्य यदाधाकर्मं करोति । यदा द्वयोरपि पाञ्चयामिकचातुर्यामिकसंघयोर्न कल्पते अथ सर्वान् भ्रमणान् सामान्येनोद्दिशति तत्रापि भ्रमणानामपि सामान्येनोद्देशेन तथैव सर्वेषामपि पाञ्चयामिकानां चातुर्यामिकानां न कल्पते एव भ्रमणीनामपि सामान्येनोद्देशे सर्वेषां सामकल्प्यम् ।

अथ विभागोद्देशे विधिमाह ।

जे पुण पुरिमं संघं, उद्दिशती मज्जिमस्स तो कप्पो ।

मज्जिमउद्दिष्टे पुण, दोएहं पि अरुप्पितं होति ॥

यदि पुनः पूर्वपक्षमस्यामिसत्क संघमुद्दिशति ततो मध्यम-स्याजितस्थामिसघस्य कल्पते अथ मध्यम संघमुद्दिशति तदा द्वयोरपि पूर्वमध्यममघयोरकल्पं जयति, एव पश्चिमतीर्थकरस-त्कमघमुद्दिश्य कृत मध्यमस्य कल्पते मध्यमस्य कृत द्वयोरपि न कल्पते ।

एमेव समणवग्गे, समणीवग्गे य पुव्वमुद्दिष्टे ।

मज्जिमगाणं कप्पे, तंसि कढं दोएहं वि ए कप्पं ॥

एवमेव भ्रमणवर्गे भ्रमणीवर्गे पूर्वपक्षमस्यामिसघन्धिनां भ्रमणानां भ्रमणीनां वा यदुद्दिष्टमुद्दिश्य कृत तन्माध्यमिकानां भ्रमणभ्रमणीनां कल्पते तेषां मध्यमानामर्थाय कृतमुभयेषामपि पूर्वमध्यमानां साधुसाध्वीनां न कल्पते । एवं पश्चिममध्यमानामपि वक्तव्यम् ।

अथकपुरुषोद्देशे विधिमाह ।

पुरिमाणं एगस्स वि, कयं तु सव्वंसि पुरिमचरिमाणं ।

चरिमाणं ए वि कप्पे, उवणामत्तगहणं तद्धिं नत्थि ॥

पूर्वेषामप्यप्रभस्यामिसत्कानामेकस्यापि पुरुषस्यार्थाय कृत सर्वेषामपि पूर्वपक्षिमानामकल्प्य पक्षिमानामप्येकस्यार्थाय कृत सर्वेषां पूर्वपक्षिमानामकल्प्यम् । एतच्च स्थापनामात्रं प्ररु-पणामात्रं सहाविज्ञानार्थं क्रियते यदुक्तकालान्तरत्वेन पूर्वपक्षि-मसाधूनामेकत्वासंभवत तत्र परस्परं ग्रहणं नास्ति न घटने मध्यमानां तु यदि सामान्येनैक साधुमुद्दिश्य कृत तत एकेन गृहीते शेषाणां कल्प्यते अथ किमप्येकं विशेष्य कृत ततस्त-स्यैवाकल्प्य शेषाणां सर्वेषामपि कल्प पूर्वपक्षिमानां तु सर्वेषा-मपि तत्र कल्पते ।

अथोपाध्यायोद्देशे विधिमाह ।

एवमुपसस्य पुरिसे, उद्दिष्टं तं तु पच्छिमा भुज्जो ।

मज्जिमं तु वज्जाणं, कप्पं उद्दिष्टसम पुव्वे ॥

एव यदि सामान्येनोपाध्यायानामुद्देशं करोति तदा सर्वेषाम-कल्प्यम् । अथ पूर्वेषामाद्यतीर्थकरसाधूनामुपाध्यायानुद्दिशति ततस्तदर्थमुद्दिष्टं पक्षिमानामुपलक्षणत्वात्पूर्वं वा साधवः सर्वेऽपि न भुज्जते मध्यमानां पुनः कल्पनीयम् । अथ मध्यमसाधू-नामुपाध्यायान् सर्वानुद्दिश्य करोति ततो मध्यमानां पूर्वपक्षि-मानां सर्वेषामकल्प्यम् । अथ क्रियते एव मध्यमोपाध्यायानुद्दिश-ति ततस्तद्वर्जानान्तेषूपध्यायेषु ये भ्रमणास्तान् वर्जयित्वा शे-पाणां मध्यमभ्रमणभ्रमणीनां कल्पते (उद्दिष्टसमपुव्वेति) पूर्वं साधवः अप्रभस्यामिसत्का भवन्ते ते उद्दिष्टसमये साधुमु-द्दिश्य कृत तत्तुल्या । एकमुद्दिश्य कृत सर्वेषामकल्पनीयमिति भावः । एव तावत्पूर्वेषां मध्यमानां च भणितम् ।

अथ मध्यमानां पक्षिमानां वा अभिधीयते ।

सव्वे समणा समणी, मज्जिमगा चैव पच्छिमा चैव ।

मज्जिमगसमणमभणी, पच्छिमगा समणसमणीतां ॥

सर्वे भ्रमणा भ्रमण्यो वा यदुद्दिश्यन्ते तदा सर्वेषामकल्प्य (मज्जिमगा चैवति) अथ मध्यमाः भ्रमणाः भ्रमण्यो वा उ-द्दिष्टस्ततो मध्यमाना पक्षिमाना च सर्वेषामकल्प्यम् (पच्छिमा-चैवति) पक्षिमानां भ्रमणभ्रमणीनामुद्दिष्टे तेषां सर्वेषामकल्प्य मध्यमानां कल्प्य मध्यमभ्रमणानामुद्दिष्टे मध्यमसाध्वीनां कल्पते मध्यमभ्रमणीनामुद्दिष्टे मध्यमसाधूनां कल्पते पश्चिमभ्रमणीनामु-द्दिष्टे पश्चिमसाधुसाध्वीनां न कल्पते मध्यमानामुभयेषामपि कल्पते । एव पश्चिमभ्रमणीनामप्युद्दिष्टे वक्तव्यम् ।

उवसयगणिय विभाइअ, उज्जुगज्जु य वंजज्जु य ।

मज्जिमगउज्जुपप्पा, पेच्छासप्पायगागमणं ॥

अथोपाध्यायेषु साधून् गणितविभाजितान् करोति गणिताना-मियतां पञ्चादिसंख्याकानां दातव्यं विभाजिता अनुकस्यामु-कस्येति नामोत्कीर्तनेन निर्धारिता अत्र चतुर्भङ्गी यथा गणिता अपि विभाजिता अपि १ गणिता न विभाजिता २ विभाजिता न गणिता ३ न गणिता न विभाजिता, ४ अत्र प्रथमजङ्गं मध्य-मानां गणितविभाजितानामेवाकल्प्य शेषाणां कल्पते । द्वितीयज-ङ्गं यावत् प्रमाणैर्न गृहीतं तावत् सर्वेषामकल्प्य गणितप्रमाणैर्गृ-हीते मध्यमानां शेषाणां कल्प्यम् । तृतीयजङ्गं यावत् सदृशनामा-नस्तेषां सर्वेषां सममकल्प्य शेषाणां कल्प्यम् । चतुर्थजङ्गं सर्वेषां कल्प्य पूर्वपक्षिमानां तु सर्वेष्वपि जङ्गेषु न कल्पते (साधूनां क-ल्पस्थितत्वात् कल्पस्थितत्वकारण कल्पशब्दे) घृ० एतेन का-रणेन चातुर्यामिकपाञ्चयामिकानामाधाकर्मग्रहणे विशेषः कृत इति प्रक्रमः ।

अथ द्वितीयपदमाह ।

आयरिए अजिसेगे, जिक्खुम्मि गिद्दाम्माए य भयणाओ ।
भिखुस्सडविपवेसे, चउपरिवट्टे तओ गहणं ॥

आचार्याजिषेकभिकृणामेकतमः सर्वे वा ग्ञाना भवेयुः तत्र सर्वेषामपि योग्यमुद्गमादिदोषशुद्धं ग्रहीतव्यम् अवलम्ब्यमाने पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा चतुर्गुरुक यदा प्राप्तं प्रवति तदा आधाकर्मणो भजना सेवना भवति अथवा भजना नाम आचार्यस्याभिषेकस्य गीतार्थमिच्छेत् येन दोषेणाशुक्रमानीतं तत्परिस्फुटमेव कथ्यते । य पुनरगीतार्थोऽपरिणामको वा तस्य न निवेद्यते । अशिवादिभिर्वा कारणैरटवीमध्वान प्रवेष्टुमजिलषति तत्र प्रथममेव ह्यष्टोऽध्वकल्पस्त्रिहृत्वस्त्रीन् वारान् गवेप्यते यदा न हस्यते तदा चतुर्थे परिवर्ते पञ्चपरिहाण्याधाकर्मिकस्य ग्रहणं करोति ।

अध्वनिर्गतानां चाय विधिः ।

चउरो चउत्थभत्ते, आयंविद्वएगठाण पुरिमहं ।

एिन्वीयगदायव्वं, सयं व पुव्वोगहं कुज्जा ॥

आचार्यः स्वयमेव चतुष्कल्याणकं प्रायश्चित्तं गृह्णाति तत्र चत्वारि चतुर्थभक्तानि चत्वारि आचामाप्नोति चत्वार्येकस्थानानि एकासनकानीत्यर्थः चत्वारि पूर्वार्त्तानि चत्वारि निर्वृत्तिकानि च प्रवन्ति । ततः शेषा अप्यपरिणामकप्रत्ययनिमित्तं चतुष्कल्याणकं प्रतिपद्यन्ते । योऽपरिणामिकस्तस्य पञ्चकल्याणकं दातव्यं तत्र चतुर्थप्रज्ञादीनि प्रत्येकं पञ्च पञ्च भवन्ति स्वयं आचार्यः पूर्वमेव प्रायश्चित्तस्यावग्रहणं कुर्यात् येन शेषा सुखेनैव प्रतिपद्यन्ते यत्पूर्वं प्रतिसिद्धं वक्ति एव भूयोऽनुज्ञायते अनुज्ञातं चेति ।

अतः किमर्थं प्रायश्चित्तं दीयत इत्याह ।

कादशरीरावेक्खं, जगस्स भावं जिणा वियाणित्ता ।

तह तह दिसंति धम्मं, जिज्जाति कम्मं जहा अखिलं ॥

कालशरीरापेक्ष कालस्य शरीरस्य च यादृशः परिणामो भवेत् वा तदनुरूपं जगतो मनुष्यलोकास्य स्वभावं विज्ञाय जिनास्तीर्थकराः तथा तथा विधिप्रतिषेधरूपेण प्रकारेण धर्ममुपादिशन्ति यथा अखिलमपि कर्म क्षीयते यच्चाप्यनुज्ञाते प्रायश्चित्तदानं तदनवस्थाप्रसंगवारणाय । वृ० ४ उ० ।

अकप्पिय-अकल्पिक-पु० अर्गातार्थे, “ किं वा अकप्पियण, गहिय फासुय तु त होइ ” व्य० १ उ० अनेवणीये, त्रि० “अकप्पियण इच्छिज्जा पमिगाहेज्ज कप्पिय ” दंश० ५ अ० ॥

जं जम्मि देसजाए, अकप्पियं जेण जेण कालेण ।

बुज्जामि अन्नपाणे, वि कारणं सुत्तनिदिदं ॥५॥

मगहाइ मगहासाही-एणं ओयणमुएह यं हवइ भुज्जं ।

सीयलग तु अभुज्ज, कुंथुममाणं रसज्जेणं ॥६॥

तेसिं तु तदुलोदं, एगंतेण जवे अप्पिज्जं तु ।

पिंमालु य पत्तं क, परिवुच्छा सा त्रि य अभुज्जा ॥७॥

वालगकोडिसरिसा, उरुपरिसप्पा तहिं सुहुमदेहा ।

संमुच्छंति अणेगा, दुप्पिक्खा मंसचक्खुणा ॥८॥

तांमि य चेव पएसे, उएह सालुअं हवइ जक्खं ।

सीयलगंमि य जज्जा, रसया समुच्छंति य अणेगा ॥९॥

सरिसवसागं मुग्गेण, मासायां अंबद्वेण जं रप्पं ।

एगंतेण अजक्खं, तहिं मंहुका जवे सुहुमा ॥१०॥

मासा मूलपसिप्पा, परिवुच्छा संजयाणपमिसिप्पं ।

मच्छाय संमुच्छंति, न सरएणसंठिआ वहे ॥११॥

सो पक्खलजाया ? अय-तको ठगणियाहिं सिप्पाओ ।

परिमुच्छंति य विविहा, मव्वे पंचिदिया हंति ॥१२॥

आमे तक्के सिप्पे, कुमुंजसुगं अकप्पियं निव्वं ।

बाज्जसरिसा अणेगा, सप्पा संमुच्छिमा तत्थ ॥१३॥

जवसागरननाअं ? परिवुच्छं नेव कप्पियं होइ ।

संमुच्छंति अणेगा, मच्छा जलुआ सहस्साइ ॥१४॥

एगंतेण अपेयं, खारुं दुरजाइयं तहिं देसे ।

संसज्जं तत्थ जिया, गंडुलया सप्पमंमुका ॥१५॥

दहियं तिरसिपुव्वं, अकप्पयंति जल्यसंधाया ।

गुलवाणिअं अपेयं, पहरंमि गए तहिं देसे ॥१६॥

गुलवाणियं अपेयं, अंमाओगजीवसंजवो तत्थ ।

जवपाणियं अपेयं, सेमाण य उएहतोयाणि ॥१७॥

एगंतेण अभक्खा, परिवुच्छा मामपोलिआ तत्थ ।

संमुच्छंति निगोया, तेहिं य जीवा बहुविहा य ॥१८॥

अह्मगपिंडगगज्जा, मंडुकाया परमपरिवुच्छा ।

पुव्वएहे सा कप्पइ, अववरएहे तंतुआ जीवा ॥१९॥

जक्खा य पंचरत्तं, तु मोयगा देसमंडले तम्मि ।

एगंतेण न कप्पइ, सीयलकूरो अतुसिणो अ ॥२०॥

आयारो पडिसिप्पो, जीमेतासी ? अलंजई भत्तं ।

आयारियपरिमट्ठा, पाणिवहकरा अ साहूआ ॥२१॥

मूळगल्लहा चंचु अ, तत्थ य संसज्जए मुहुत्तेणं ।

न हु मूळगसंसत्ता, कंदफलाई उ संसत्ते ॥२२॥

सव्वं तिलगयआमं, गोरसमासं तु रत्तिपज्जसियं ।

द्वड्ढासीईचूया, संसज्जए मुहुत्तेणं ॥२३॥

उवरुक्खलगतियेयं, पत्तेयं तन्निरत्तकालेयं ।

विज्जलयणद्वग्गाइ ? मूहुमुहार्हसु संसत्ते ॥२४॥

एवं जुज्जं मगहे, विसए तहेव समासओ भणियं ।

मगहा इव नायव्वं, जाव कडिगाउ नेपालं ॥ २५ ॥

दविमं वा विमुवामो ? एयंमि य देसमंरुले पत्ता ।

पाणाणि य भक्खाणि य, नायव्वाइ पयत्तेणं ॥ २६ ॥

मिरियकुडंगकुसज्जी, करमियअगो सत्तिष्कामाया ।

एसा निगोयजोणी, परिवुच्छा होइ अब्जक्खा ॥ २७ ॥

कुद्वतदुन्नजाओ, दगकूल पंचरत्तिपरिवुच्छं ।

एगंतेण अपेयं, जज्जयरपरिनाण जायंति ॥ २८ ॥

पूरियमंडूकमिआ, मासा वथुला य देसला जाया ।

हंति अभक्खा कुंथुअ-मक्खिअमसगाण सा जोणी ॥ २९ ॥

कुप्प न तंडुलजदगं, कूरो जो होइ रत्तिपरिवुञ्जो ।
 एंगतेण अपेयं, बहुविहसत्ताण सा जोणी ॥ ३६ ॥
 गुलपाणिय तु पेयं, मज्जाहे विच्छुपाणिय चेव ।
 सेमं काल न पेयं, तेसु वि जीवा अणेगविहा ॥ ३७ ॥
 आचारसग्गीए, करंगे जगज्जतक्कसिद्धो अ ।
 एंगतेण अभक्खो, सो ऊ उएहो अ सज्जिजेणं ॥ ३८ ॥
 समुच्चंति निगोया, तस्सा पंचिदिया अणेगविहा ।
 सुहुमा जइहिं डिट्ठा, तज्जोणीया वहु जीवा ॥ ३९ ॥
 सूरणकंदो मीसे-हिं सीसिओ ? एगरत्तिपरिवुञ्जो ।
 एंगतेण अभक्खो, तेसि निगोया य मंडूका ॥ ४० ॥
 छागलतक्के सिद्धो, उगणेहिं किएइकगुओ जीओ ।
 धूलं करिहिं मासो, परिवुञ्जो तत्थ वहुयया ॥ ४१ ॥
 पंचद्वयमुहुत्तकंदा, अकप्पिया सिद्धयारिनिच्चं पी ।
 पत्ता कसाणवचयं, मोरट्ठा चारदेसंमि ॥ ४२ ॥
 चउहिं पयारेहिं सया, न कप्पए कंगुओ तहिं देसे ।
 जो अंवलमि सप्पो, तत्थयमावजिया जीवा ॥ ४३ ॥
 उएहे संमुच्चंमि य, अणेगजीवा निगोयमंज्याणा ।
 सीयलयंमि य मच्छा, रहरेण मंजिया दहवे ॥ ४४ ॥
 छागलतक्के सिद्धो, कंगुओ खायरे हिं कट्टेहिं ।
 उएहे निगोयजीवा, सीयलए तंतुया हुंति ॥ ४५ ॥
 तक्क विलंमि सिद्धो, मासो लणणयरएन्नमासमि ।
 उएहमि तमा जीवा, मीयलए हुंतिय निगोया ॥ ४६ ॥
 माहिसत्तक्के छागलेहिं, सिद्धओ जइति कंगुओ होइ ।
 समुच्चंति अणेगा, सीयलए तंतुआ जीवा ॥ ४७ ॥
 चट्ठापत्तंतिद्वं-मि सिद्धयं उएहयं च अगिणीए ।
 उप्पज्जंति अणेगा, सीयलए किण्हया जीवा ॥ ४८ ॥
 अविज्जामिच्छविराट्ठी, एंगतेणं च सा वि पमिसिद्धा ।
 उाहमि तसा जीवा, निगोयजीवा य सीयलए ॥ ४९ ॥
 साद्वारसमाकगुओ, एए तिन्नि च उएहया कूरा ।
 परिहरियन्वा निच्चं मीयलए तंतुआ जीवा ॥ ५० ॥
 छागलतक्के सिद्धो, कंगुओ खायरेहिं कट्टेहिं ।
 तिल्लयमलूणमिस्सो, निगोयपंचिदिया हुंति ॥ ५१ ॥
 निगंथाण अभक्खं, मज्जगसागं तिरत्ति रिवुञ्जं ।
 कुंयुतसायनिगोया, उप्पज्जति य वहुय जीवा ॥ ५२ ॥
 मासाविहुपरिवुञ्जा, एंगतेण वि हुंति अभक्खवा ।
 हुंति य निगोयजीवा, तंतुअ पंचिदिया तत्थ ॥ ५३ ॥
 सतु अजक्खा भक्खा, भक्खा परितुञ्जजेसुरहदेममि ।
 पेडामुहुकुक्कुमिया, पंचिदियजीवजोणी सा ॥ ५४ ॥
 एगं नाम जक्खा, पृग्वरिया कुंथुआ भवे पच्छा ।
 एंगतेण अजक्खा, परिवुञ्जा मासपोट्ठीया ॥ ५५ ॥
 उप्पज्जति निगोया, जीवा पंचिदिया बहुविहा य ।

हुविहेसु मोयगेसुं, परिवुञ्जाइसु तहिं देसे ॥ ५६ ॥
 गोसत्तखाइयाणं, गोणीणं गोरसेण जं मिस्सं ।
 संसप्पइ रसएहिं, खणेण वाहगसरिसेहिं ॥ ५७ ॥
 सन्वेसु वि देमेसुं, परिवुसियाइ अकप्पणिज्जाइं ।
 असणं पाणमजक्खं, नाणा जीवाण सा जोणी ॥ ५८ ॥
 जा परिवुच्चं जुंजइ, एगरसं चउविहं पि आहारं ।
 सा बहुविहजीवाणं, करेइ अंतं अयाणंतो ॥ ५९ ॥
 जो नाही पडिवात्ति, एणादेमेसु सत्तभणिणं ।
 सो संजमं अविकलं, करेइ साहु य परिहरतो ॥ ६० ॥
 अंकुल्लपाणिणं, वायालट्ठीइ जो य इक्खुरसो ।
 मच्छासमुच्चंति अ, तक्काद्वं मन्वदेमेसु ॥ ६१ ॥
 संसत्तयणिज्जुत्ती, एसा साहुहिं चेव पडिअन्वा ।
 अत्थो पुण सन्वेहि वि, सोयन्वो साहु पासाओ ॥ ६२ ॥
 सं० नि० । आचा० ।

अकट्पित-धि० अयोग्ये, ग० १ अधि० ।

अकच्चर-पुं० पारसीकोऽय शब्दः दिल्लीनगराधिपता, म्हे-
 च्छराजे, स हीरविजयप्रतिषेधितः “ यो जीवान्नयदानमिदि-
 ममिषात् स्वीय यशोमिद्धिम्, यममासान्प्रतिवर्षमुग्रमखिले
 च्रमाणेऽवीवदत् । जेजे धार्मिकतामधर्मरसिको म्हे-
 च्छाग्रिमोऽकच्चर, भुत्वा यद्वदनादनाविलमतिर्धर्मोपदेश
 बुजम् ॥ १ ॥ कल्प० ॥

अकम्म-अकर्मन्-न० न० त० कर्मकरणाच्चावे, वृ० १ उ० आ-
 ध्वनिरोधे, सुत्र० १ अ० १० अ० । न विद्यते कर्मस्येति (क्री-
 णकर्मणि) पु० आचा० १ अ० ५ अ० ६ उ० ।

अकर्मणो गतिः ।

अत्थि एं भते ! अकम्मस्स गर्इ पणायइ हंता अत्थि
 कएहं भते ! अकम्मस्स गर्इ पणायइ गोयमा ! निस्संगयाए
 निरंगणयाए गइपरिणामेणं वंधणयेणयाए निरिंथणयाए
 पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गर्इ पणायइ कएहं भते ! नि-
 स्संगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं अकम्मस्स गर्इ प-
 णायइ गोयमा ! से जहा नामए केइ पुरिसे सुकं तुवं निच्चिहं
 निरुवदय आणुपुव्वीए परिकम्ममाणे २ दब्भेहिं कुसेहिं-
 य वेदेइ अट्ठहिं माट्ठियालेवेहिं तिंप्प उएहं दल्लयइ जूइं जूइं
 सुकं समाणं अत्थाहमतारमपोरुसियंसि उदगंमि पक्खिवेज्जा
 से नूणं गोयमा ! मे तुवे तेसिं अट्ठएह माट्ठियालेवाणं गुरुयत्ताए-
 भारियत्ताए गुरुयसंजारियत्ताए सल्लितलमइवइत्ता अहे
 धरणिंतलपइट्ठाणे भवइ हंता हवइ अहे एं से तुवे तेसिं
 अट्ठएहं माट्ठियालेवाणं परिकखएणं धरणिंतलमइवइत्ता
 उप्पिं सल्लितलपइट्ठाणे भवइ हंता भवइ एवं खल्लु गोयमा !
 निस्संगयाए निरंगणयाए गतिपरिणामेणं अकम्मस्स
 गइपणायइ कएहं भते ! वंधणयेणयाए अकम्मस्स
 गर्इ पणायइ गोयमा ! से जहा नामए कलसिंवलियाइ वा

मुगसिंवलियाइ वा मामसिंवलियाइ वा सिंवलिसिंवलियाइ वा एरंमिंजियाइ वा उएहेदिणा सुका समाणी फुडित्ताणं एगंतमंतं गच्छइ एवं खलु गोयमा ! कहएहं जंते ! निरिणयाए अक्रमस्स गई गोयमा ! से जहा नामए धम्मस्स इंधण-विप्पमुक्कस्स उहं वीससाए निव्वाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा ! कहएहं भंते ! पुव्वप्पओगेणं अक्रमस्स गई पप्पत्ता गोयमा ! से जहानामए कंमस्स कोदंमविप्पमुक्कस्स लक्खवाजिमुहं निव्वाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा ! पुव्वप्पओगेणं अक्रमस्स गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा ! नीसंगयाए निरंगणयाए जाव पुव्वप्पओगेणं अक्रमस्स गई पवत्तइ ।

(गह पप्पायइत्ति) गति. प्रज्ञायतेऽन्युपगम्यते इति यावत् (निस्सगयाएत्ति) निःसङ्गतया कर्ममत्तापगमेन (निरंगणयाएत्ति) नीरागतया मोहापगमेन (गहपरिणामेणति) गतिस्वभावतया अत्तावुद्धयस्येव (वधणत्तेयणयाएत्ति) कर्मवन्धनच्छेदनेन परएरुफलस्येव (निरंधणयाएत्ति) कर्मेन्धनविमोचनेन धम्मस्येव (पुव्वप्पओगेणति) सकर्मतायां गतिपरिणामवत्त्वेन बाणस्येवेति एतदेव विवृण्वन्नाह (कहएहमित्यादि) (निरुवहयति) वाताद्यनुपहत (दम्भेहिंयत्ति) दम्भं समूले. (कुसेहिंयत्ति) कुशैर्दंजैरेव छिन्नमूलं. (नृइभूत्ति) चृत्यो ज्ञय (अत्थाहेत्यादि) इह मकारौ प्राकृतप्रज्ञवाचतोऽस्ताद्येऽत एवातारेऽत एवापौरुषेयेऽपुरुषप्रमाणे (कल्लसिंवलियाइ वा) कलायाजिधानधान्यफालिका (सिंवलित्ति) धृक्विशेष. (परममिंजियाइ वा) परएरुफल (एगतमंतं गच्छइत्ति) एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासावेकान्त एक इत्यर्थोऽनस्तमन्तं नृजाग गच्छति इह च बीजस्य गमनेऽपि यत् कलाय सिंवलिकादि । तदुक्तं “तत्तथोरभेदोपचारादिति” (उहं वीससाएत्ति) उर्ध्वं विस्त्रसया स्वजावेन (निव्वाघाएणति) कटाद्याच्छादनाज्जावात्, भ० ७ श० १ उ० (अक्रमस्स ववहारो ए विज्जति) आच्चा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । न विद्यते कर्मास्येति अकर्मा कर्मरहिते, वीर्यान्तरायक्षयजनिते जीवस्य सहजे वीर्ये, “किन्तु वीरस्स वीरत्त, कहं चेय पवुच्चइ । कम्ममेगे पवंदेति, अक्रम वा वि सुव्वया” सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अक्रमओ-अक्रमतस्-अव्य० कर्माणि विनेत्यर्थे, “ एो अक्रमओ विनत्तिजाव परिणमइ” ज० १२ श० ५ उ० ।

अक्रममंम-अकर्माज्ञ-पुं० न विद्यते कर्माशो यस्य सोऽकर्माशः । कर्मव्यवधिप्रमुक्ते “ अप्पत्तिय अक्रमसे, पयमट्ठमिगे चुए ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । विगतघातिकर्मणि स्नातकभेदे, भ० २५ श० ६ उ० ।

अक्रमकारि [नृ]-अक्रमकारिन्-त्रि० स्वजूमिकानुचितकर्मकारिणि, प्रअ० आअ० २ द्वा० ।

अक्रमग-अकर्मक-त्रि० नास्ति कर्म यस्य बहु० कए । व्याकरणोक्ते कर्मशून्ये धातौ । “ल. कर्मणि च भावे चाकर्मेकेज्यः” ३ । ४ । ६९ इति [पाणिनिः] “ फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मक. ” इति हरिः । स्त्रियां टापि कापि अत इत्वम् अकर्म्मिका “प्रसिद्धेरविवक्षात्. कर्मणोऽकर्म्मिका क्रिया” इति हरिः । वाच० । अविवक्षितकर्मका अकर्म्मका जवन्ति । यथा, पश्य मृगो धावति, आच्चा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अक्रमजूमग-अकर्पजूमक-पुं० कर्म कृषिवाणिज्यादि मोक्षा-नुष्ठानं वा तद्विकला जूमियेयान्ते अक्रमजूमस्से एवाकर्म्मजूमका आपर्त्वात्समासान्तोऽप्रत्ययः । जीवा० १ प्रति । अक्रमजूमिजेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकमजुष्येषु, प्रज्ञा० १ पद । ते च त्रिशद्विधाः ।

से किं तं अक्रमभूमिगा ? अक्रमजूमिगा तीसति-विहा पणत्ता तंजहा पंचहिं हेमवणहिं पंचहिं हेरणवरहिं पंचहिं हरिवासेहिं पंचहिं रम्मगवासेहिं पंचहिं देवकुरुहिं पंचहिं उत्तरकुरुहिं सेत्तं अक्रमभूमिगा ।

अथ के ते अक्रमभूमिका ? सूरिराह अक्रमजूमिका त्रिशद्विधाः प्रज्ञाः । तच्च त्रिशद्विधत्वं क्षेत्रज्ञेदात् । तथा आह । “तं जहा पंचहिं हेमवणहिं” इत्यादि । पञ्चजिह्वैर्मवतैः पञ्चभिर्हेरणव-तैः पञ्चभिर्हरिवर्षैः पञ्चभि रम्यकवर्षैः पञ्चभिर्देवकुरुभिः पञ्चभिरुत्तरकुरुभिर्मिथ्यमानास्त्रिशद्विधा जवन्ति । एषां पञ्चानां त्रिशत्संख्यात्मकत्वात् तत्र पञ्चसु हेमवतेषु मनुष्या गज्युतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया पल्योपमायुषो वज्रर्षमनाराचसहननिनः समचतुरस्रसंस्थानाः चतुष्पष्टिपृष्ठकरणकाश्चतुर्धातिक्रमभाजिनः एकोनाशीतिविनान्यपत्यपालकाः । उक्तं च “ गाढयमुष्पाति-ओ-वमाउणो वज्जरिसहसघयणा । हेमवए रन्नवए, अर्हमि-दनरा मिहुणवासी ॥ १ ॥ चउसट्ठीपिट्ठकर-रूयाणमणुयाण तेसिमाहारो । जत्तस्स चउत्थस्से-गुणसिइदिणवच्चपाल-णया ” ॥ २ ॥ पञ्चसु हरिवर्षेषु पञ्चसु रम्यकेषु द्विपल्योपमा-युषो द्विगव्युतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया वज्रर्षमनाराचसहननिनः समचतुरस्रसंस्थानाः पष्टमकातिक्रमाहारप्राहिणोऽष्टाविंशत्य-धिकशतसंख्यपृष्ठकरणकाश्चतुष्पष्टिदिनान्यपत्यपालकाः । (आ-ह च “हरिवासरम्मपसु, आउपमाण सरीरमुस्सेहो । पल्लिओ-वमाणि दोन्नि य, दोन्नि य कोसुस्सिया भणिया ॥ १ ॥ उहस्स य आहारो, चउसट्ठिदिणाणि पालणा तेसि । पिट्ठकरणाणसय, अ-ठावीस मुण्येयव ” ॥ २ ॥ पञ्चसु देवकुरुषु पञ्चसु उत्तरकुरुषु त्रिपल्यो-पमायुषो गव्युतित्रयप्रमाणशरीरोच्छ्रयाः समचतुरस्रसंस्था-ना वज्रर्षमनाराचसहननिनः पष्टपञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणपृष्ठ-करणका अष्टमजकातिक्रमाहारिण एकोनपञ्चाशदिनान्यपत्य-पालकाः । तथाक्तं च “दोसु वि कुरुसु मणुया, तिपल्लपरमावसो तिकोसुच्चा । पिठकररुसयाइ, दोउप्पआइ मणुयाण ॥ १ ॥ सुसमसुसमाणुजाव, अणुभवंमाणएवच्चगोवणया । अवणा पञ्चदिणाइ, अट्ठमजत्तस्स आहारो ” ॥ २ ॥ एतेषु सर्वेष्वपि क्षेत्रेष्वन्तरद्वीपेष्विव मनुष्याणामुपयोगा कल्पद्रुमसम्पादिताः नवरमन्तरद्वीपापेक्षया पञ्चसु हेरणवतेषु मनुष्याणामुत्थानब-लवीर्यादिक कल्पपादपफलानामास्वादो जूमर्माधुर्यमित्येवमा-दिका भावाः पर्यायानधिकृत्यानन्तगुणा रुष्ट्यास्तेज्योऽपि पञ्चसु देव-हरिवर्षेषु पञ्चसु रम्यकवर्षेषु अनन्तगुणास्तेज्योऽपि पञ्चसु देव-कुरुषु पञ्चसु उत्तरकुरुष्वनन्तगुणाः । प्रज्ञा० १ पद । जी० । आ० म० छि० । एषां कल्पवृक्षाः-

अक्रमभूमयाणं मणुआणं दसविहा रुक्खा उवजोगत्ताए उवत्थिया पणत्ता । तंजहा-मत्तंगया य भिगा, तुमि-अंगा दीव-जोइ-चित्तंगा । चित्तरसा मणिअंगा, मेहागारा अणगिया य ॥

तथा अक्रमभूमिकानां मोगजूमिजमनां मनुष्याणां दशविधा (रुक्खति) कल्पवृक्षाः (उवभोगत्ताएत्ति) उपभोगत्ताय

(उवत्थियसि) उपस्थिता उपनीता इत्यर्थः । तत्र मचाङ्गका मद्यकारणचतुताः (जिगसि) भाजनदायिनः (तुमियगसि) तुर्याङ्गसम्पादकाः (दीवसि) दीपशिखाः प्रदीपकार्यकारिणः (जोइसि) ज्योतिरग्निस्तत्कार्यकारिण इति (चित्तगसि) चित्राङ्गाः पुष्पदायिनः चित्ररसाः प्रोजनदायिन मणयङ्गा आजरणदायिनः गेहाकाराः भवनत्वेनोपकारिणः अनग्नत्व सचरत्त्व तत्केतुत्वादनन्ता इति, स० १० सम० ।

अकम्मज्जुमि-अकर्मज्जुमि-खी० न० कृष्यादिकर्मरहिताः । कल्पपादपफलोपभोगप्रधाना भूमयो हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चक-देवकुरुपञ्चकोत्तरकुरुपञ्चकरम्यकपञ्चकैरण्यवतपञ्चकरूपास्त्रि-शदकर्मज्जुमयः । न० । इत्येतासु जोगज्जुमिषु, प्रश्न० आश्र० ५ ब्रा० । स्था० । प्रश्न० ।

जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तओ अकम्म-भूमीओ पप्पत्ताओ तंजहा-हेमवण हरिवासे देवकुरा । जंबुदी-वे दीवे मंदरस्स उत्तरेणं तओ अकम्मज्जुमिओ पप्पत्ताओ तंजहा-उत्तरकुरा रम्मगवासे एरणवण (स्था० ३ ठा० ४ उ०) जम्बुद्वीवे दीवे देवकुरुत्तरकुरुवज्जाओ चत्तारि अकम्मज्जु-मीओ पप्पत्ताओ तंजहा-हेमवण हेरणवण हरिवासे रम्म-गवासे, स्था० ४ ठा० ।

सर्वसङ्गहे ।

जंबुद्वीवेदीवे अकम्मज्जुमीओ पप्पत्ताओ । तंजहा-हेमवण हेरणवण हरिवासे रम्मगवासे देवकुरा उत्तरकुरा । धायइत्वं म-दीवपुरच्छिमकेणं अकम्मज्जुमीओ पप्पत्ताओ । तंजहा-हेम-वण जहा जंबुद्वीवे तहा जाव अंतरणइओ जाव पुक्खवरवस्दीव-हे पच्चत्थिमच्छे भाणियव्वं (स्था० ६ ठा०) कइविहेणं जंते ! अकम्मभूमीओ पप्पत्ताओ ? गोयमा ! तीसं अकम्मज्जु-मीओ पप्पत्ताओ, तंजहा पंच हेमवयाइं पंच हेरणवयाइं । पंच हरिवासाइं पंच रम्मगवासाइं पंच देवकुराइं पंच उत्तर-कुराइं एयासु णं भंते ! तीसासु अकम्मज्जुमीसु अत्थि उत्सप्पिणीति वा ओसप्पिणीति वा ? णो इण्डे समणे । भ० ५० श० ८ उ० ।

अकम्मज्जुमिय-अकर्मभूमिज-पुं० अकर्मज्जुमिषु जाता अकर्म-ज्जुमिजा गर्भजमनुष्यभेदेषु, न० ।

अकम्मज्जुमिआ-अकर्मज्जुमिजा-खी० अकर्मज्जुमिमौगज्जुमि-स्तत्र जाता अकर्मज्जुमिजा प्रोगज्जुमिजगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्य-खीषु, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

से किं तं अकम्मज्जुमियाओ अकम्मज्जुमियाओ तीसति-वि-धाओ पप्पत्ताओ । तंजहा-पंचसु हेमवणसु पंचसु हेरणवणसु पंचसु हरिवासेसु पंचसु रम्मगवासेसु पंचसु देवकुरुसु पंचसु उत्तरकुरुसु सेत्तं अकम्मज्जुमगमास्सीओ । जी० १ प्रति० ।

अकम्मया-अकर्मता-खी० कर्मणामभावे, अस्याः फल यथा-

अहाउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तावसेसाउए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पमिवाइयं सुक्कजाणं भायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं निरुंभइ मणजोगं निरुंजइत्ता वइजोगं

निरुंभइ वइजोगं निरुंजइत्ता कायजोगं निरुंभइ कायजोगं निरुंभइत्ता आणापाणनिरोहं करेइ आणापाणनिरोहं करेइत्ता इसि पंच रहस्मक्खरुच्चारएय णं अणगारं समु-च्छिन्नकिरियं अणियइइ सुक्कभाणं जियायमाणे वेय-णिज्जं आउयं नामं गोयं च एए चत्तारि वि कम्मं से जुग-वं खवेइ ॥७९॥ तओ ओराद्वियकम्माइं च सव्वाहिं विप्प-जहणहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेदी पत्ते अफुसमाणगई उहुं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्जइ बुज्जइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वउक्खाणं अंतं करेइ ॥७३॥

शैलेत्यकर्मताद्वारमर्थतो व्याचिख्यासुराह (अहेति) केव-लाऽवाप्त्यनन्तरमायुष्क जीवितमन्तर्मुहूर्त्तादिपरिमाणं पाल-यित्वा अन्तर्मुहूर्त्तपरिमाणः अद्वा कालोऽन्तर्मुहूर्त्ताद्वा तदशेष मुद्वरित यस्मिन्तदन्तर्मुहूर्त्ताद्वावशेषम् । तथाविधमायुरस्येति अन्तर्मुहूर्त्ताद्वावशेषायुष्कः सन् पाठान्तरतश्चान्तर्मुहूर्त्तावशे-षायुष्कः । पठन्ति च “ अंतोमुहुत्तअद्वावसेसा ” इति प्राकृ-तत्वादन्तर्मुहूर्त्तावशेषाद्वायाम् (जोगनिरोहं करेमाणिसि) योगनिरोधं करिष्यमाणः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपतनशीलमप्रति-पात्यधःपतनाभावात् शुक्लध्यान “समुदायेषु हि प्रवृत्ता-श-ब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते” इति शुक्लध्यानतृतीयभेदं, ध्याय-स्तत्प्रथमतया तदाद्यतया मनसो योगो मनोयोग-मनोद्रव्य-साचिव्यजनितो व्यापारस्तं निरुणद्धि । तत्र च पर्याप्तमात्रस्य सक्षिनो जघन्ययोगिनो यावन्ति मनोद्रव्याणि तज्जनितश्च या-वान् व्यापारस्तदसंख्यगुणविहीनानि मनोद्रव्याणि तद्व्यापारं प्रतिसमयं निरुन्धन् तदसंख्येयसमयैस्तत्सर्वनिरोधं करोति । यत उक्तम् “पज्जत्तमित्तसिद्धि-स्सजत्तिताइं जहणजोगिस्स । होति मणोदव्वाइ, तव्वावारो य जम्मसो” ॥ तयसंखगुण-विहीणे, समए २ निरुंभमाणो हो । मणसो सव्वनिरोहं, कु-णइ असखेज्जसमएहिं ” तदनन्तरं च वाचोवाचि वा योगो वाग्योगो भाषाद्रव्यसाचिव्यजनितो जीवव्यापारस्तं निरु-णद्धि तत्र च पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवाग्योगपर्यायेभ्योऽस-ंख्यगुणविहीनास्तत्पर्यायान्तरसमये २ निरुन्धन्नसंख्येयसमयै-सर्ववाग्योगं निरुणद्धि । यत उक्तम् “ पज्जत्तमेत्तवैदिय, जह-णवइजोगपज्जवाजे उ । तदसंखगुणविहीणा, समए २ ि ह-भतो ॥ सव्ववइजोगरोहं, सखादीएहिं कुणइ समएहिं । आणापाणनिरोहं, पढमसमभोयसुहुमपणगसि ” आणापा-नाबुच्चासनि-श्वासौ तन्निरोधं करोति सकलकाययोगनि-रोधोपलक्षणं चैतत्तं च कुर्वन् प्रथमसमयोत्पन्नसूक्ष्मपनक-जघन्यकाययोगतोऽसंख्येयगुणहीनं काययोगमेकैकसमये निरुन्धन् देहप्रिभागं च मुञ्चन्नसंख्येयसमयैरेव सर्वं निरुण-द्धि । उक्तं च । “ जो किर जहणजोगो, संखेज्जगुणहीणस्मि इक्किहे । समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुचतो ॥ कंभइ सकायजोग, सखाइएहिं चेव समएहिं । तो काययोगनिरोहो, सेलेसीभावणामेति ” इत्थं योगत्रयनिरोधं विधाय (ञसि-त्ति) ईपदिति स्वल्पप्रयत्नोपेक्षया पञ्चानां ह्रस्वाक्षराणां अञ्जकृत्स्नैवैवर्षाणामुच्चारो भणन तस्याद्वाकाहो यावता चक्ष्यन्ते ईपत्पञ्च, ह्रस्वाक्षरोच्चारणाद्वा तस्या च (णामिति) प्रा-ग्बद् अनगारः समुच्छिन्नोपरता क्रिया मनोव्यापारादिरूपा य-स्मिन्तत्तत् समुच्छिन्नक्रियं न निवर्तते कर्मक्षयात् प्रागित्येवंदी-

शयति । तदेव खलु तस्य तत्कर्तुस्तत्प्रत्ययिकमकस्माद्दण्डनि-
मित्तसावधमिति पापमाधीयते संबद्ध्यते । तदेतच्चतुर्थदण्ड-
समादानमकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमास्यातमिति ॥ ११ ॥ सूत्र०
२ शु० २ अ० ।

अकम्हा (म्हा) भय-अकस्माद्भय-न० अकस्मादेव बाह्य-
निमित्तानपेक्षं गृहादिष्वेव स्थितस्य राज्यादौ भयमकस्माद्भ-
यम्, आव० ४ अ० । स्या० । बाह्यानिमित्तनिरपेक्षे स्वविकल्पा-
ज्ज्ञाने भयभेदे, स० ७ सम० । आ० चू० नि० चू० । अकस्मात् सह-
सैव विश्रब्धस्यार्तध्वनिश्रवणाद्भयमकस्माद्भयम् । यथा हस्त्या-
गच्छतीत्यादिश्रवणाद्भयजनम्, दर्श० ।

अकय-अकृत-त्रि० कृ कर्मणि कः । न० त० । कृतजिज्ञे, अन्यथा-
कृते, यत्पूर्वकृते, ऋणलेख्यपत्रादौ, साध्वर्थं दायकेन पाकतोऽ-
विहिते, प्रश्न० सव० १ द्वा० “ अकयमकारियमसकप्यिमणा-
हुय ” न० ७ श० १ उ० । (एकदेशग्रहणेन ग्रहणात्) अकृ-
तकरणे, अगृहीतप्रायश्चित्ते, व्य० १ उ० । ज्ञावे क । अभावार्थे,
न० त० करणाभावे, निवृत्तौ, वाच० ।

अकयकरण-अकृतकरण-पुं० पृष्ठादिनिस्तपोविशेषैरप-
रिकर्मितशरीरे, प्रायश्चित्तयोग्ये पुरुषभेदे, व्य० १ उ० । “ अ-
कयकरणाय पुविहा, अहिगया अणहिगया य बोधवा ” व्य० १
उ० । अकृतकरणा द्विविधाः । अधिगता अनधिगताश्च । तत्र ये
अगृहीतसूत्रार्थस्ते अनधिगताः । गृहीतसूत्रार्थस्तु अधिगताः,
व्य० १ उ० ।

अकयसु-अकृतज्ञ-त्रि० कृतमुपकारं परसबन्धिन न जानाती-
त्यकृतज्ञः, स्या० ४ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । क० । असमर्थं स० ।
कृतोपकारास्मारके कृतज्ञे, वाच० ।

अकयसुया-अकृतज्ञता-स्त्री० अकृतज्ञस्य ज्ञावस्तत्ता । कृतज्ञ-
तायाम्, “ चर्हि गणोर्हि सते गुणे णासेज्जा तंजहा-कोहेण प-
मिणिवेसेण अकयसुयाय मिच्छताहिणिवेसेण ” स्या० ४
ठा० ४ उ० ।

अकयपुस-अकृतपुण्य-त्रि० अविहितपुण्ये, विपा० १ शु० ७
अ० “ अकयपुस जणमणोरहा विवचित्तिज्जमाणी ” ज्ञा० ए अ० ।
अकयप्प (ण्)-अकृतात्मन्-त्रि० अयतेन्द्रिये, “ सुखमात्य-
न्तिक यत्तद्, बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । तं हि मोक्ष विजानीयाद् दु-
ष्प्रापमकृतात्मनि, स्या० ।

अकयमुह-अकृतमुख-त्रि० अकृतमङ्गरसस्कारेणासकृतं मुखं
यस्यासावकृतमुखः । अपठितशिक्षिते, “ पोत्थगपच्चयपडिय, किं
रमसे एस हुव्व अहिन्नाय । अकयमुहफलगमाणय-जाते वि-
क्खतु पचमा ” वृ० ३ उ० ।

अकयसमायारीय-अकृतसमाचारीक-पु० उपसंपदविषयाया
मणुवीविषयायाश्च द्विविधाया अपि समाचार्या अकारके,
वृ० १ उ० ।

अकयसुय-अकृतश्रुत-पु० अगीतार्थे-व्य० ६ उ० । अगृहीतो-
चितसूत्रार्थे, तदुभये, व्य० ४ उ० ।

अकरमग-अकरमक-त्रि० करमको वंशग्रथितः समतलक-
स्तस्येवाकारो यस्य तत्करमकम् न करमकमकरमकम्,
औ० । करमकाकाररहिते दीर्घे, समचतुरस्रे, वा “ अकरमयमि
भाणे, इत्थो उरु जहा न घट्टेत्ति ” वृ० ३ उ० ।

अकरमुय-अकरमुक-त्रि० अविद्यमान मासलतया अनुपल-

क्ष्यमाण करमक पृष्ठवशास्थिक यस्य देहस्यासौऽकरमकः।
जी० ३ प्रति० । मांसलतयाऽनुपलक्ष्यमाणपृष्ठवशास्थिके,
औ० । मांसोपचितत्वावविद्यमानपृष्ठपार्श्वस्थिके, त० । प्रश्न० ।
“ अकरमुयकणगगुर्यगणिम्मलसुजायणिरुवहयदेधारी ”
जी० ३ प्रति० ।

अकरण-अकरण-न० । क० ज्ञावे ल्युट्, । अर्थाज्ञावे, न० त०
अव्यापारे, आचा० १ शु० ए अ० । १ उ० । अनासेवने, आव० ।
६ अ० । पञ्चा० । परिहरणे, आ० चू० १ अ० । अकरणान्मन्दकर-
ण श्रेयः । अकरण च न्यायादिमते करणाभावः, मीमांसकवेदा-
न्तिमते निवृत्तिः, अकरणीये मैथुने, “ जह सेवतअकरण, पचएह
विवाहिरा हुति ” व्य० ३ उ० । सस्कारहीनतारूपे, साधन (हेतु)
दोषे, यथाऽनित्य शब्दः कृतकत्वस्मादिति । अत्र कृतकत्वादिति
धक्तव्ये कृतकत्वस्मादिति सस्काररहितोऽशुद्ध उक्त ।
रत्ना० ८ परि० ।

अकरणया-अकरणाता-स्त्री० करणनिषेधरूपतायाम्, भ० १७ श०
१ उ० “ अकरणयाप अबुठित्तप ” न पुन. करिष्यामीत्यन्यु-
पस्यानुमन्युपगन्तुमिति, स्या० २ ठा० १ उ० । अनासेवनायाम्,
ध० ३ अधि० । “ सज्जायस्स अकरणयाप उभओ काल ”
आव० ४ अ० ।

अकरणओ-अकरणतस्-अव्य० अकरणमाश्रित्येत्यर्थः । अकुर्वत्
इति यावत्, “ अकरणओ ण सादुक्खा ” भ० १ श० १ उ० ।

अकरणणियम-अकरणनियम-पु० अनासेवननियमे, “ अ-
सप्रज्ञातनामा तु, समतो वृत्तिसक्कय । सर्वतोऽस्मादकरणो, नि-
यमः पापगोचरः ” ॥ द्वा० २० द्वा० ॥

अकरणि-अकरणि-स्त्री० नञ् । क० आक्रोशे अनिः । करण माचू-
दित्याक्रोशात्मके शापे, ‘ तस्याकरणिरेवास्तु ’ इति, वाच० । प्रश्न० ।
अकरणिज्ज-अकरणीय-स्त्री० न० त० सामान्येनाकर्तव्ये, आव०
४ अ० । आ० चू० “ इच्छामि पणिकमिउ, अकप्पो अविवाहो
अकरणिज्जो ” आव० ४ अ० । अकर्तव्ये, इहलोकपरलोकवि-
रुद्धत्वादकार्ये, आचा० १ शु० १ अ० ७ उ० । “ अप्पाणेण
अकरणिज्ज पावकम्म त णो अण्णेसी ” आचा० १ शु० ५ अ०
३ उ० । असत्ये, “ मिच्छति वा वितहत्ति वा असच्चति वा
असच्चयति वा अकरणीयति वा एगट्ठा, ” आ० चू० १ अ० ।
अकरणोदय-अकरणोदय-त्रि० भाविकालभाश्रित्याकरणस्यैवो-
दयो यस्मिन्निति तत्तथा (अनागते कालेऽकरणत्वेनोदय प्रा-
प्स्यति) “ उत्थाने निर्वेदात्, करणमकरणोदय सदैवास्याः ”
षो० १५ वि० ।

अकलंक-अकलङ्क-पु० विद्वद्भेदे, अकलङ्कोप्याह-द्विविधप्रत्यक्ष-
ज्ञानम् । सांख्यवहारिकमुख्यं च, इत्यादि न० त० कलङ्करहिते च, त्रि०
अकलुण-अकरुण-त्रि० नास्ति करुणा यस्य यत्र वा, दैन्यगून्वे
च, वाच० । निर्दये, प्रश्न० आश्र० ३ छा० ।

अकलुस-अकलुष-त्रि० न० व० क्रोधादिकालुष्यरहिते, अणु०
द्वेपवर्जिते, अन्त० ७ वर्ग ।

अकसाड (न्)-अकषायिन्-पु० कषाया विद्यन्ते यस्यासौ
कषायी न कषायी अकषायी, सूत्र० १ शु० ६ अ० । आचा० । कषा-
योदयरहिते, प्रज्ञा० ३ पद ।

अकसाय-अकषाय-त्रि० कषायरहिते, “ अकषाय अहक्खाय,

छुमत्थस्स जिणस्स वा” । उक्त० २८ अ०। अकपाया. अशान्त-
माहादयश्चत्वारः सिद्धाश्च, स्था० ४ ठा० ।

अकसिण-अकृत्स्न-त्रि० अपरिपूर्णं, प्रति० । पञ्चा० ।

अकसिणपवत्तय-अकृत्स्नप्रवर्तक-पु० अकृत्स्नमपरिपूर्णं संयमं
प्रवर्त्तयन्ति विवधति ये ते तथा । देशविरते, “अकसिणपवत्तया-
ण, विरयाविरथाण एस खलु जुत्तो । ससारपयणुकरणे,
द्वत्थयकूवदिठतो ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

अकसिणसंजम-अकृत्स्नसंयम-पु० देशविरतौ, प्रति० ।

अकमिणसंजमवत-अकृत्स्नसंयमवत्-पु० देशविरतिमति आक्षे-
“किं योग्यत्वमकृत्स्नसंयमवतां, पूजासु पूज्या जगुः, प्रति० ।

अकसिणा-अकृत्स्ना-स्त्री० चतुर्थे आरोपणाभेदे, स्था० ५ ठा०
२ उ० । यस्यां पाणमासाधिकं भोष्यते तस्यां हि तदतिरिक्त-
जाटनेनापरिपूर्णत्वादिति, स्था० ५ ठा० २ उ०। व्य० । नि० चू०।
अकहा-अकथा-स्त्री० मिथ्यादृष्टिना अज्ञानिना द्विजस्थेन वा
गृहिणा कथ्यमानायां कथायाम्, । तल्लक्षणम् ।

मिच्छन्तं वेयंतो, जं अन्नाणी कं परिकहेड ।

लिंगत्थो व गिही वा, मा अकहा देसिया समए ॥२१॥

मिथ्यात्वमिति । मिथ्यात्वमोहनीय कर्म वेदयन् विपाकेन यां कां-
चित् अज्ञानी कथां कथयति । अज्ञानित्वं चाऽस्य मिथ्यादृष्टित्वादेव
यद्येव नाथोऽज्ञानिप्रद्वेणेन मिथ्यावेदकस्याज्ञानित्वाव्यभिचारादि-
ति चन्न प्रदेशानुभववेदकेन सम्यग्दृष्टिना व्यभिचारादिति । किं-
विशिष्टोऽसाविन्याह-त्रिजस्थो वा स्वयंप्रवर्जितोऽङ्गारमर्दकादिः
गृही वा य कश्चिदितर एव । सा एव प्ररूपकप्रयुक्तयुक्त्या श्रुत-
र्यपि प्रज्ञापकतुल्यपरिणामनिबन्धना कथा देशिता समये । ततः
प्रतिविशिष्टकथाफलाभावादिति गार्थः ॥२१॥ दश० ३ अ०।
अकाडय-अकायिक-पु० नास्ति काय (औदारिकादि. पृथि-
व्यादिपदकायस्तदन्यो वा) येषां ते अकायास्त एवाकायिका ।
सिक्खेपु, ज० ८ श० २ उ० ।

अकाम-अकाम-पु० कमन काम इच्छा, न कामो ऽकामः । अनि-
च्छायाम्, सूत्र० २ श्रु० ६ उ०। उपरोधशीलतायाम् “ त च हुज्ज
अकामेण, विमणेण परिक्षिय ” दश० ५ अ०। ६ उ० । इच्छाम-
दनकामरहिते, आत्मा निर्जराद्यनभिलाषिणि, निरभिप्राये, भ०
१ श० १ उ० । मोक्षे च, तत्र सकलाभिलाषनिवृत्ते । उक्त० १५ अ०
अकामअण्हाणग-अकामास्नानक-पु० अकामस्नानरहिते,
“अकामअण्हाणगसीयायवदसमसगसेयजल्लमद्वपकपरिताव”
अकामानामस्नानादिभिर्यः परिताप परिदाहः स तथा । अका-
मा येऽस्नानकादयस्तेभ्यो यः परिदाहः स तथा निर्जराद्यनभि-
लाषिणामस्नानादिभिः परितापे, श्रौ० । अस्नानादिभिः परिदाहे,
निरभिप्राये वा, भ० १ श० १ उ० ।

अकामकाम-अकामकाम-त्रि० कामानिच्छामदनकामभेदान् का-
मयते प्रार्थयते यः सकामकामो न तथा अकामकामः । न विद्यते
कामस्य कामोऽभिलाषो यस्य स अकामकामः । कामानिष्ठाप-
रहिते, अकामो मोक्षामिष्ठापस्तत्र सकलानिष्ठापनिवृत्ते, त
कामयते यः स तथा (मोक्षार्थिनि) “ सयव जहेज्ज अकाम-
कामे” उक्त० १५ अ० ।

अकामकिच्च-अकामकृत्य-त्रि० कमन काम इच्छा न कामो-
ऽकामस्तेन कृत्य कर्त्तव्यं यस्यासावकामकृत्यः । अनिच्छाकारि-
णि, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०

अकामग-अकामक-त्रि० कर्मणि प्रत्ययः । अनभिलषणीये, प्रश्न०
आश्र० १ द्वा० । कर्तरि एवम् । अनिच्छति, “ अकामग परि-
कम्मं, कोड ते धारेण मरिहति” सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।
अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं पराक्रमन्तं स्वाभिप्रेतानुष्ठानं
कुर्वाणं कस्त्वां भवन्तं धारयितुं निषेधयितुमर्हति योग्यो भवति
यदि वा (अकामगति) वार्षिक्यावस्थायां मदनच्छाकामरहितं
पराक्रमन्तं सयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वामवसरप्राप्तः कर्मणि प्रवृत्तं
धारयितुमर्हतीति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । ज्ञा० । विषयादि
वाञ्छारहिते, त० । प्रश्न० ।

अकामलुहा-अकामलुधा-स्त्री० निर्जराद्यनभिलाषिणां प्रथम-
परिपहसहने, भ० १ श० १ उ० ।

अकामणिगरण-अकामनिकरण-त्रि० अनिच्छाप्रत्यये, तद्यथा ।

ए ए अं अंधा मूढा तमप्पविट्ठा तमपरुलमोहजालपल्लिच्छा
अकामनिगरणं वेयणं वेदंतीति वत्तव्वं मिया हंता गोयमा!
जे इमे असस्सिणो पाणा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया
उट्ठा जाव वेयणं वेदंतीति वत्तव्वं सिया । अत्थि एं भंते !
पचू वि अकामनिकरणं वेदणं वेदेइ हंता अत्थि कहएहं भंते !
पचू वि अकामनिकरणं वेयणं वेदेइ गोयमा ! जे एं नो
पचू विणा पदीवेणं अंधकारंसि रुवाइं जे एं नो पचू पुर-
ओ रुवाइं अणिज्जाइत्ताणं पासित्तए जे एं नो पचू
मागाओ रुवाइं अणवयक्खित्ताणं पासित्तए जे एं नो पचू
पासओ रुवाइं अणुलोएत्ता एं पासित्तए एस एं अकामनि-
करणं वेदणं वेदेइ अत्थि एं जंते ! पचू वि पकामनिकरणं
वेयणं वेदेइ हंता कहएहं समुहस्स जाव वेदणं वेदेइ जे एं
नो पचू समुहस्स पारंगमेत्तए जे एं नो पचू पारगयाइं रुवाइं
पासित्तए जे एं नो पचू देवलोणं गमित्तए जे एं नो पचू दे-
वलोगगयाइं रुवाइं पासित्तए एस एं गोयमा ! पचू वि पका-
मनिकरणं वेदणं वेदेइ ।

(अर्थात्) अन्धा इवान्धा अज्ञानाः (मूढाश्च) मूढास्तत्त्व-
अज्ञानमप्राप्ति एत एवोपमयोच्यन्ते (तमप्पविट्ठा) तमःप्रवि-
ष्टा इव तमःप्रविष्टाः (तमपरुलमोहजालपल्लिच्छाश्च) तमः-
पटलमिव तमःपटलं ज्ञानावरणं मोहो मोहनीय तदेव जाल
मोहजालं ताभ्यां प्रतिच्छन्ना आच्छादितौ ये ते तथा (अकाम-
निगरणश्चि) अकामो वेदनानुभवेऽनिच्छा अमनस्कत्वात्मक एव
निकरणं कारणं यत्र तदकामनिकरणमज्ञानप्रत्ययमिति भावः ।
तद्यथा । भवतीत्येव वेदनां सुखदुःखरूपां वेदनं वा सवेदनं
वेदयन्त्यनुभवन्तीति अथासङ्गिविपक्वमाश्रित्याह (अत्थीत्यादि)
अस्त्यय पक्वो यदुत । (पचूविट्ठा) प्रचुरापि सङ्गित्वेन यथावद्
रूपादिज्ञाने समर्थोऽप्यास्तामसङ्गित्वेनाऽप्रभुरित्यपिशब्दार्थः ।
अकामनिकरणमनिच्छाप्रत्ययमनाभोगात् । अन्ये त्वाहुः । अका-
मेनाऽनिच्छया निकरणं क्रियाया इष्टार्थप्राप्तिलक्षणाया अभावो
यत्र वेदने तत्तथा । यद्यथा । भवतीत्येव वेदनां वेदयन्तीति प्रश्नः,
उत्तरन्तु (जेणति) यः प्राणी सङ्गित्वेनोपायसङ्गावेन च हेया-
दीनां हानादौ समर्थोऽपि (नोपहुत्ति) न समर्थः विनाप्रदी-
पेनान्धकारे रूपाणि (पासित्तपत्ति) ऊर्ध्वमोऽकामप्रत्यय

वेदयतीति सबन्धः (पुरओसि) अग्रतः (भणिज्जापत्ताणति) अनिर्याय चक्षुरन्यापार्ये । (भगाउत्ति) । पृष्ठतः (अणवय-
क्लिप्ताणति) अनवेद्य पश्चाद्भागमनवद्वोषयेति अकामनिक-
रणवेदनां वेदयन्तीत्युक्तमथ तद्विपर्ययमाह (अत्थीणमित्यादि)
प्रचुरपि सहित्वेन रूपदर्शनसमर्थोऽपि (एकामनिकरणति)
प्रकाम ईप्सितार्थाऽप्राप्तिः प्रवर्द्धमानतया प्रकृष्टोऽजिलाय । स
एव निकरणमिष्टार्थसाधकक्रियाणामभावो यत्र, तत्र प्रकामनि-
करणम् । तद्यथा भवति एवं वेदनां वेदयतीति प्रश्नः । उत्तरन्तु
(जेणमित्यादि) यो न प्रष्टु समुच्चस्य पारं गन्तुं तत्तत्तद्व्याप्राप्त्य-
र्थित्वे सत्यपि तथाविधसत्यवैकल्यादत्त एव च, यो न प्रभुः
समुच्चस्य पारगतानि रूपाणि छुपु स तत्तताऽभिलापातिरेकात्
प्रकामनिकरणवेदनां वेदयतीति । न० ७ श० ७ उ० ।

अकामणिज्जरा-अकामनिर्जरा-स्त्री० अकामेन निर्जरां प्रत्य-
नभिलापेण निर्जरा कर्मनिर्जरणहेतुर्बुद्ध्यादिसहनं यत्सा अ-
कामनिर्जरा । निर्जरानभिलापेणैव बुद्ध्यादिसहने, स्था० ४
ठा० ४ उ० । औ० । कर्म० । (अकामनिर्जरया असंयता व्यन्त-
रेपूपयन्ते इति 'चंतर' शब्दे व्याख्यास्यामि)

अकामतएहा-अकामनृणा-स्त्री० निर्जराद्यनभिलापिणां सतां
रूपि, भ० १ श० १ उ० । औ० ।

अकामवर्भवेरवाम-अकामप्रत्यर्च्यवास-पुं० अकामानां नि-
र्जराद्यनभिलापिणां सतामकामो वा निरभिप्रायो ब्रह्मचर्येण
रूपादिपरिमोगाभायमात्रलक्षणेन चासौ रात्रौ शयनमकाम-
ब्रह्मचर्यवास । (फलानभिसन्धिनां ब्रह्मचर्यसेवने) न० १ श०
१ उ० । औ० ।

अकाममरण-अकाममरण-न० अकामेन अनीप्सितत्वेन त्रि-
यतेऽस्मिन् इति अकाममरणम् । बालमरणे, " बालाण च अ-
काम नु, मरण असइ भवे " उक्त० ५ अ० । (' बालमरण ' शब्दे
एतद्विवरिष्यते)

अकामिय-अकामिक-त्रि० न० व० निरभिलापे, " तहेव सता
तंतापरितता अकामिया " विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अकामिया-अकामिका-स्त्री० अनिच्छायाम् । " अकामियाप
चिणति दुक्ख " प्रश्न० ब्राध० ३ द्वा० ।

अकाय-अकाय-पुं० न० व० पृथिव्यादिपञ्चविधकायविरहिते,
स्था० २ ठा० ३ उ० । औदारिकादिकायपञ्चकचिप्रमुक्ते (वा)
सिद्धे, प्रव० १४६ द्वा० । आच० । राहौ, तस्य शिरोमात्रत्वेन
कायशून्यत्वात् देहशून्ये, त्रि० वाच० ।

अकारग-अकारक-पुं० (न करोति भोजने रुचिम्) भक्ष्येपरूपे,
रोगविशेषे, द्वा० १ श्रु० १३ अ० । उपा० अपथ्ये, औ० ।
[अकर्त्तरि] त्रि० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अकारगवाइ (ण)-अकारकवादिन्-पुं० अकारक वदन्ति
तच्छीलाः, आत्मनोऽमूर्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यः
निष्क्रियत्वमेवाभ्युपपन्नेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (' शि-
क्रियवाइ ' शब्दे चैतेषां मत तत्परण्डन च कारिष्यते)

अकारण-अकारण-त्रि० नास्ति करण हेतुरुद्देश्य वा यस्य हेतुर-
हिते, उद्देश्यरहिते च । धृ १८। कारणभिन्ने, न० वाच० । यदा तप-
स्वाध्यायवैयावृत्यादिकारणपद्धि विना धलवीर्याद्यर्थं सरसा-
हार करोति तदा पञ्चमोऽकारणदोष इत्येवमलक्षणे पञ्चमे
परिमोक्षेणया दोषे, उक्त० २४ अ० ।

अकारवित्त-अकारयत्-त्रि० आरम्भकयकारणे परमव्यापार-
यनि । " आरम्भनियत्ताण, अकिण्ताणं अकारवित्ताण । ध-
म्मन्हा दायव्व " धृ० १ उ० ।

अकारिय-अकारित-त्रि० अन्यैरकारिते, प्रश्न० सव० १ द्वा० ।
अकाद-अकाद-पुं० अप्राशस्त्ये, न० त० अप्रशस्तकाले, विहि-
तकर्मसु पर्युदस्ततयाऽजिहिते, गुरुशुक्राद्यस्तकादादौ अप्रस्ता-
वे, उक्त० १ अ०। कर्तव्याऽनवसरे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। वृ० ।
अवर्षासु, " अकाले वरिसइ " स्था० ७ ठा० । अप्राप्तः कालो यस्य
" प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदद्वयोप " इति वा० अ-
न्यलोपश्च । अप्राप्तकाले, अनुचितकाले, पदार्थे । अति कालः
कृष्णः, न० त० । कृष्णविरुद्धाभ्रवर्णे, न० व० । कृष्णत्व विरोधि-
शुभ्रत्ववति, त्रि० । वाच० ।

अकालपमिवोहि(ण्)-अकालप्रतिबोधिन्-त्रि० (असमये व्याप्रि-
यमाणे) " मिद्वक्खूणि अणारियाणि दुस्सखप्पाणि दुप्पमव-
णिज्जाणि अकालपमिवोहीणि " अकालप्रतिबोधीनि । न तेषां
कश्चित् पर्यटनकाक्षोऽस्ति अर्द्धरात्रावपि मृगयादौ गमनस-
म्भवात् । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । नि० चू० ।

अकालपठण-अकालपठन-न० असमयवाचनायाम्, पञ्चा० ।
१५ विव० ।

अकालपरिहीण-अकालपरिहीण-न० परिहाणि. परिहीण का-
लविलम्बः न विद्यते परिहीण यत्र प्रादुर्भवने तत् काळप-
रिहीणम् (शीघ्रप्रकटीभवने) " अकालपरिहीण चैव सूरि-
याजस्त अतिय पाठभवह " रा० ।

अकालपरिभोगि (ण्) अकालपरिभोगिन्-त्रि० रात्रौ सर्वा-
दरेण लुप्ताने, " अकालपमिवोहीणि अकालपरिभोर्हृषि "
नि० चू० १६ उ० । आचा० ।

अकालमच्चु-अकालमृत्यु पुं० अकाल एव जीवितभ्रंशे, " प-
दमो अकालमच्चू, तर्हि तासफलेण दारको वहतो " आव० १ अ० ।
अकालवासि (ण्) अकालवर्धिन्-पुं० अनवसरवर्षिणि मेघे,
तद्वदनवसरे दानव्याख्यानादिपरोपकारार्थप्रवृत्ते पुरुषे च ।
स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अकालसज्जायकर (कारिन्)-अकालस्वाध्यायकर (कारिन्)-
पुं० असमाधिस्थानविशेषे, " अकाले सज्जायकारी य कालियसुय
उग्घारुपोरुसीए पदइयत् [?] देवया असमाहिण योजयति "
इत्यसमाधिस्थानत्व तस्य । आव० ४ अ० । स० ।

अकासि-देशी-पर्याप्ते, दे० ना० ।

अकाहल-अकाहल-त्रि० अममनाक्रे, प्रश्न० सव० २ द्वा० ।

अकिंचण-अकिञ्चन-त्रि० नाऽस्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पद धनक-
नकादि अस्तीति अकिञ्चन । निष्परिग्रहे, उक्त० ३ अ० । आव० ।
आ० चू० । स्था० । औ० । प्रश्न० । आचा० । हिरण्यादि-
मिथ्यात्वादिरूप्यज्ञावकिञ्चनविनिर्मुक्ते, दश० ६ अ० । ' समणा-
भविस्सामो अ, अणुगारा अकिंचणं अजुत्ता य " सूत्र० २५ श्रु० १
अ० । दरिद्रे, वाच० ।

अकिंचणकर-अकिञ्चनकर-त्रि० अकिञ्चित्सपादके, अकिञ्चना-
नां साधूनां प्रयोजनकरे, " बवहारइच्छिण वापय अकिंचणकरे-
य " योऽपि कश्चित्सधूनां प्रत्यनीकः सोऽपि तेषां राजादि-

कुमारप्रव्रजितानां भयतो न किञ्चित् करोति । अथवाऽकिञ्चनानां साधूनां यदि कथमपि केनाप्यर्थजाते प्रयोजनमुपजायते तर्हि तत् सर्वं श्लोके प्रायोऽप्राथितं एव करोति, व्य० २ उ० ।

अकिञ्चण्या-अकिञ्चनता-स्त्री० न विद्यते किञ्चनव्यजात-मस्येत्यकिञ्चनस्तद्भावेऽकिञ्चनता । निष्परिग्रहितायाम्, “चञ्च-विहा अकिञ्चण्या पञ्चत्ता तजहा मणअकिञ्चण्या वइ अकिञ्च-ण्या कायअकिञ्चण्या उवकरणअकिञ्चण्या ” अकिञ्चनता च मन प्रभृतिभिरुपकरणापेक्षया च भवतीति चातुर्विध्यम् । स्या० ४ ठा० ३ उ० । चतुर्थस्य द्वितीयोद्देशकः भोगसाधनानामस्वी-कारलक्षणे यमभेदे, द्वा० द्वा० २१ ।

अकिञ्चिकर-अकिञ्चित्कर-पुं० हेत्वाज्ञासन्नेदे, स च यथा प्र-तीते प्रत्यक्षादिनिराकृते च, साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः प्रतीयते । यथा-शब्द-श्रावण शब्दत्वात् प्रत्यक्षादिनिराकृते । यथानुष्णः कृष्णवर्त्मा छन्यत्वात् । पत्या वनिता, सेवनीया पुरुषत्वादित्यादि र० ६ परि० (अस्य हेत्वाभासत्वमयुक्तमिति ‘हेतुआज्ञास’शब्दे)

अकिञ्च-अकृत्य-न० त० । कृ-क्यप् । अप्राशस्त्ये । अकर-णीये, साधूनामविधेये, पञ्चा० १५ विव० । स्या० । प्रश्न० । “अकिञ्चमप्पणा काउ कयमेण भासइ अकिञ्चं पाणा-इवायादि अप्पणा काउ कयमेतेण भासइ अम्वस्स उच्छेहेइ” (समहामोहं प्रकरोति) आब० ४ अ० । न कृत्यमस्य । न० ब० । कर्मरहिते, त्रि० वाच० ।

अकिञ्चगण-अकृत्यस्थान-न० कृत्यस्य करणस्य स्थानमा-श्रयः कृत्यस्थानं तन्निषेधोऽकृत्यस्थानम् । मूलगुणादिप्रति-सेवारूपेऽकार्यविशेषे, भ० ८ श० ६ उ० ।

अन्नयरं तु अकिञ्चं, मूलगुणे चैव उत्तरगुणे य ।

मूलं व सच्चदेसं, एमेव य उत्तरगुणेषु ॥

अन्यतरदकृत्यं पुनः सूत्रोक्तं मूलगुणे मूलगुणविषयमुत्तर-गुणे वा उत्तरगुणविषय वा तत्र मूलं मूलगुणविषयं सर्वदेशं वा सर्वथा मूलगुणस्योच्छेदे देशतो वेत्यर्थः । एवमेवाने-नैव प्रकारेणोत्तरगुणेष्वपि द्वैविध्यं भावनीयम् । तद्यथा । उत्त-रगुणस्यापि सर्वतो देशतो वा उच्छेदेनेति तत्रैव व्याख्या-नान्तरमाह ।

अहवा पणगादीयं, मासादीयं वि ज्ञानं उम्मासा ।

एवं तवोऽरिहं खट्वा, ठेदादिचउहमेगयरं ॥

(अहवेत्ति) अकृत्यस्थानस्य प्रकारान्तरतोपदर्शने पञ्च-कादिकं रात्रिदिवपञ्चकप्रभृति, प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानं यदि वा मासादिकं तच्च तावद्यावत्परमासाः एतत् खलु अ-कृत्यस्थानं तपोऽहं तपोरूपप्रायश्चित्तार्हं यदि वा छेदादीनां चतुर्थी प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानम् । व्य० १ उ० ।

अकिञ्ज-अक्रय-त्रि० केयानर्हं “सुक्रियं वा सुविक्रीय, अकिञ्जं किञ्जमेव वा” दश० ७ अ० ।

अकिञ्ठ-अकृष्ट-त्रि० अविलिखिते, भ० ३ श० २ उ० ।

अकिण्त-अकीणत्-स्त्री० वस्त्रादिक्रयमकुर्वाणे, बृ० १ उ० ।

अकिञ्चि-अकीञ्चि-स्त्री० सर्वदिग्व्याप्याऽसोऽधुवादे, ग० २ अधि० दानपुण्यफलप्रवादे, दश० १ चृष्टि० दानकृताया एकदिगामि-न्या वा प्रसिद्धेरावे, औ० “अकिञ्ची मे वा सिया” स्या० ७ ठा० ।

अकिरिय-अक्रिय-पुं० । न० ब० । कायिक्याधिकरणिक्यादि-

क्रियावर्जिते, स्या० ७ ठा० । कायिक्यादिक्रियाभिष्वङ्गवर्जिते, प्रशस्तमनोविनयभेदे, भ० २५ श० ७ उ० । न विद्यन्ते-अ-भ्युपगमात्परलोकविषयाः क्रिया येवान्तेऽक्रियाः । नास्तिकेषु, “अकिरियराहुमुहदुकरिस” नं० । नास्य क्रिया साध्या विद्य-ते इत्यक्रियः । सवृत्तात्मकतया सांपरायिककर्माश्वभक्ते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अकिरिया-अक्रिया-स्त्री० नञिह दुः शब्दार्थो यथा अशीता दुःशीलेत्यर्थः । ततश्चाक्रिया दुष्टक्रिया मिथ्यात्वाद्युपहतस्यामो-क्षसाधके अनुष्ठाने, यथा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानमिति । एषा मि-थ्यात्वभेदत्वेन दर्शिता, स्या० ३ ठा० ३ उ० । “अकिरिया तिविहा पञ्चत्ता तजहा पत्रोगकिरिया समुदाणकिरिया अन्नाणकिरिया” अक्रिया हि अज्ञोभना क्रियैवातोऽक्रिया । त्रिविधेत्यभिधायाऽपि प्रयोग इत्यादिना क्रियैवोक्तेति । स्या० ३ ठा० ३ उ० । सूत्र० । क्रिया-ऽस्तीति रूपा सकलपदार्थसार्थव्यापिनी सैव यथा वस्तुविष-यतया कुत्सिता अक्रिया नञः कुत्सार्थत्वात् नास्तिक्ये, स्या० ७ ठा० । नास्तिकवादे, “अकिरियं परियाणामि किरिय उव-संपज्जामि” ध० ३ अधि० । योगनिरोधे, स्या० ८ ठा० । “एका अकिरिया” एका अक्रिया योगनिरोधलक्षणा, नास्तिकत्व वा । स० १ सम० । अभावे, न० त० । अपरिस्थये, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सर्वक्रियाविगमे च । ध० २ अधि० । क्रियाया अभावे, भ० २९ श० २ उ० ।

अकिरियाआय-अक्रियात्मन्-पुं० अक्रिय आत्मा येषामन्युप-गमे ते अक्रियात्मान । सांख्येषु, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जे केइ लोगंमि अकीरियाया, अक्केण पुष्ठा धुयमादिसंति ।

आरंभसत्ता गदिता य लोए, धम्मं ए जाणंति विमुक्खहेउं ॥

ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा येषामन्युपगमे ते-ऽक्रियात्मानः सांख्यास्तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा नि-ष्क्रियः पठ्यते । तथा चोक्तम् । “अकर्ता निर्गुणो मोक्षा, आत्मा कपिलदर्शन” इति तु शब्दो विशेषणे, स कैत-द्विशिनष्टि । अमूर्तत्वव्यापित्वाभ्यामात्मनोऽक्रियत्वमेव बुध्य-ते, ते चाक्रियात्मवादिनोऽन्येनाक्रियत्वे सति बन्धमौलौ न व-देते इत्यभिप्रायवता भोक्तृसद्भाव पृष्टः सन्तोऽक्रियावाददर्श-नेऽपि धृतं प्रोक्तं तदभावमादिशन्ति प्रतिपादयन्ति । ते तु पच-नपाचनादिक स्नातार्थं जलावगाहनरूपे वाऽरम्भे सावधे सत्ता-अध्युपपन्ना लोके भोक्तृकहेतुमूल धर्मे भुतचारित्रास्य न जान-न्ति कुमारग्राहिणो न सम्यगवगच्छन्तीति, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अकिरिय (या) वाङ् (न्)-अक्रियावादिन्-पुं० क्रि-या अस्तीतिरूपा सकलपदार्थसार्थव्यापिनी, सैवाऽयथावस्तु-विषयतया कुत्सिता अक्रिया, नञः कुत्सार्थत्वात्, तामक्रियां व-दन्तीत्येवशीला अक्रियावादिन । यथाऽवस्थित हि वस्तुनेका-न्तात्मकं, तस्यास्त्येकान्तात्मकमेव वास्तीति प्रतिपत्तिमस्तु नास्ति-केषु, स्या० ८ ठा० । ते चाऽह “अह अकिरियावादी पञ्चत्ता तं जहा एकावादी अणिकवादी मितवादी निमित्तवादी सायवादी समुच्छेदवादी णियावादी ए संति परलोगवादी ” स्या० ४ ठा० ४ उ० । (ऐक्यवाद्यादिपदानामर्थो निजनिजस्थानेषु) अक्रि-यां क्रियाया अज्ञाव वदन्ति तच्छीला अक्रियावादिनः । न कस्य-चित्प्रतिकृष्णमनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवति उत्पत्त्य-नन्तरमेव विनाशादित्येव वदन्तु, नं० १ प्र० । तथा चादुरेके । क-णिका सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया “भूतियेषां क्रिया

सैव कारक सैव चोच्यते" न०। अक्रियां जीवादिपदार्थो नास्तीत्या-
दिकां वदितुं शीघ्रं येषान्तेऽक्रियावादिनः । भ० २६ श० २ व० ।
नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येव वादिषु, सूत्र० १ भु० १२ अ० ।
नास्ति माता नास्ति पितेत्येवमादिवादिनि, नास्तिके, उच्यते ३
अ० । आचा० । ते चाशीति । "अकिरियावाइ ए होइ चुलसी-
ई" सूत्र० १ भु० १० अ० ।

इह जीवाइ पयाई, पुषं पावं विणा ठविज्जति ।

तेसिमहोजायमि, ठविज्जए सपरसइदुगं ॥ २०८ ॥

तस्स वि अहो द्विद्विज्जइ, कालजदिच्छाइपयदुगसमेयं ।

नियइस्सहावईसर, अप्पात्ते इमं पयचउकं ॥ २०९ ॥

इहाक्रियावादिभेदानां प्रक्रमे जीवादीनि पूर्वोक्तानि पुरयपा-
पवर्जितानि नवसप्तपदानि परिपाठ्या पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते
तेषां च जीवादिपदानामभोभागे प्रत्येकं स्वपरशब्दद्विकं स्था-
प्यते स्वतः परत इति द्वे पदे न्यस्येने इत्यर्थः । असत्त्वादा-
त्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तस्तत्कर्मिसिद्धापत्तेः । तस्यापि
च स्वपरशब्दद्विकस्याधस्तात् कालयदृच्छारूपपदद्वयसमेत-
मेतन्नियतिस्वभावेभ्वरात्मरूपाणि पदं पदानि स्थाप्यन्ते इत्यर्थः ।
इह यदृच्छावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिन एव न केचिदपि क्रिया-
वादिनस्ततः प्राग्यदृच्छा नोपप्यस्ता । अथ विकल्पानिमापमाह ।

पदमे भंगे जीवो, नत्थि सओ कालओ तयणु बीए ।

परओ वि नत्थि जीवो, कालाइ य भंगगादोन्नि ॥ २१० ॥

एव जइच्छाईहिं वि, पएहिं भंगदुगं दुगं पत्तं ।

मिद्वियावि ते दुबाइस-संपत्ता जीवतत्तेण ॥ २११ ॥

नास्ति जीवः स्वतः कालत इति प्रथमो भङ्गः । तदनु नास्ति
जीव परतः कालत इति द्वितीयो भङ्गः । एतौ द्वौ च भङ्गौ
कालेन लब्धौ, एवं यदृच्छादिभिरपि पञ्चभिः पदैः प्रत्येकं द्वौ
चैव विकल्पौ जायेते । सर्वेऽपि मिलिता द्वादश । अमीषां च
विकल्पानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः । नवर यदृच्छात इति यदृच्छा-
वादिनां मते । अथ गाथा । के ते यदृच्छावादिनः उच्यन्ते । इह
ये भावानां सत्तापेक्षया न प्रतिनियत कार्यकारणजावमिच्छन्ति
किन्तु यदृच्छया ते यदृच्छावादिनस्तथा त एवमाहुर्न खलु
प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणजावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात्
तथाहि-शालूकादपि शालूको जायते गोमयादपि, अग्नेरप्यऽ-
ग्निर्जायते अरणिकाद्यादपि, धूमादपि जायते धूमः अग्नीन्धनसंप-
र्कादपि, कन्दादपि जायते कदलीबीजादपि, घटादयोऽपि बी-
जादुपजायन्ते शास्त्रैकदेशादपि, ततो न प्रतिनियतः कचिदपि
कार्यकारणजाव इति । यदृच्छातः कचिद् किंचिद्व्यवतीति प्रति-
पत्तव्यं, न खल्वन्यथा वस्तुसंज्ञावं पश्यन्तोऽन्यथाऽऽमान प्रेक्षा-
घन्तः परिक्लेशयन्ति । एते च द्वादश विकल्पा जीवतत्त्वेन
जीवपदेन संप्राप्ता लब्धाः । एवमजीवादिभिरपि षड्भिः पदैः प्र-
त्येकं द्वादश विकल्पाः प्राप्ताः । ततो द्वादशभिः सप्त गुणिता
जाता चतुरशीतिः । सर्वसंख्यया चाक्रियावादिनामेते जेदा जव-
न्तीति । प्रव० २०६ द्वा० । सूत्र० । स्था० । ध० । आवा० ।

साम्प्रतमक्रियावादिदर्शनं निराक्षिणीषु गाथापञ्चार्चमाह ।

लवावसंकीयअण्णगएहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियावादी ।

लव कर्म तस्मादपशकितुमपसर्तुं शीघ्रं येषान्ते लवापश-
किनो होकायतिका । शाक्यादयश्च, तेषामात्मैव नास्ति कुतस्तत्-

क्रिया तज्जनितो वा कर्मवन्ध इति । उपचारमात्रेण त्वस्ति बन्धः ।
तद्यथा "बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः" । न चान्ये
द्रव्यतः सन्ति, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः" तथा बौद्धानामयमन्युप-
गमो यथा कृणिकाः सर्वसंस्कारा इत्यस्थितानां च कुतः क्रिये-
त्यक्रियावादित्वम् । योऽपि स्कन्धपञ्चकाभ्युपगमस्तेषां सोऽपि
संवृतमात्रेण न परमार्थेन यतस्तेषामयमन्युपगमः । तद्यथा विचा-
र्यमाणाः पदार्था न कथन्निदृष्यात्मानं विज्ञानेन समर्पयितुमलम् ।
तथा ह्यवयवी तत्त्वातत्त्वान्यां विचार्यमाणो न घटां प्राञ्जति ना-
प्यवयवाः परमाणुपर्यवसानतयाऽतिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञानगोचरतां प्र-
तिपद्यन्ते । विज्ञानमपि ज्ञेयाभावेनामूर्त्तस्य निराकारतया न
स्वरूपं विभर्ति । तथा चोक्तं " यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते, द्विविच्य-
न्ते तथा तथा । यद्येतत् स्वयमर्थेऽन्यो, रोच्यते तत्र के वयम् " ।
इति प्रच्छन्नलोकायतिका हि बौद्धास्तत्राऽनागतैः कृणैः चशब्दा-
दतीतैश्च वर्तमानकृणस्यासङ्गतेर्न क्रिया नापि च तज्जनितः कर्म-
बन्ध इति । तदेवमक्रियावादिनो नास्तिकवादिनः सर्वपक्षापिनया
लवावशङ्किनः सन्तो न क्रियामाहुस्तथा अक्रिय आत्मा येषां सर्व-
व्यापितया तेऽप्यक्रियावादिनः सांख्यास्तदेव होकायतिका बौद्धाः
सांख्या अनुपसंख्यया अपरिज्ञानेनेत्येतत्पूर्वोक्तमुदाहृतवन्तस्तथै-
व तत्त्वाज्ञानेनैवोदाहृतवन्तः । तद्यथा । अस्माकमेवमन्युपगमोऽ-
र्थोऽवज्ञासते गुज्यमानको भवतीति । तदेव श्लोकपूर्वार्द्धं काका-
किगोलकन्यायेनाक्रियावादितेऽप्यायोज्यमिति ।

साम्प्रतमक्रियावादिनामज्ञानविजृम्भित दर्शयितुमाह ।

सम्मिस्सभावं व गिरा गहीए, से मुम्मई होइ अण्णवाइ ।

इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु उद्वायतणं च कम्मं । ॥ १ ॥

स्वकीयया गिरा वाचा स्वान्युपगमेनैव गृहीते तस्मिन्नर्थे-
नान्तरीयकतया वा समागते सति तस्याऽयातस्यार्थस्य गिरा
प्रतिषेध कुर्वाणाः समिध्रीभावमस्तित्व नास्तित्वापगमं ते हो-
कायतिकादयः कुर्वन्ति, चशब्दात् प्रतिषेधे प्रतिपाद्येऽस्ति-
त्वमेव प्रतिपादयन्ति । तथाहि । होकायतिकास्तावत्स्वशिष्येभ्यो
जीवाद्यभावप्रतिपादकं शास्त्रं प्रतिपादयन्तो नान्तरीयकतया-
त्मानं कर्त्तारं करणं च शास्त्रं कर्मतापञ्चांश्च शिष्यान्वश्यमन्यु-
पगच्छेयुः सर्वशून्यत्वे त्वस्य तृतयस्याभावान्मिध्रीभावो व्यत्य-
यो वा । बौद्धा अपि मिध्रीभावमेवमुपगताः । तद्यथा, " गन्ता
च नास्ति कश्चि-जतयः बद् बौद्धशासने प्रोक्ता । गम्यत इति
च गतिः स्या-च्छ्रुतिः कथं शोभना बौद्धी ॥ १ ॥ तथा कर्म च
नास्ति फलं चास्तीत्यसति चात्मनि कारके कथं बद् गतयो ज्ञा-
नसन्तानस्यापि सन्तानव्यतिरेकेण संवृत्तिसत्त्वात् कृणस्य चा-
स्थितत्वेन क्रियाभावाच्च नानागतिसम्भवः । सर्वाण्यपि कर्मा-
ण्यवधनानि प्ररूपयन्ति स्वागमे तथा पञ्चजातकशतानि च
बुद्धस्योपदिशन्ति, तद्यथा "मातापितरौ हत्वा, बुद्धशरीरे च रुधि-
रमुत्पाद्य । अर्हद्वधं च कृत्वा, स्तूपं मित्वा च पञ्चेते ॥ १ ॥ निर-
न्तरमावीचिनरकं यान्ति एवमादिकस्यागमस्य सर्वशून्यत्वे प्रणय-
नमयुक्तिसङ्गतं स्यात् तथा जातिजरामरणरोगशोकोत्तममध्य-
माधमत्वानि च न स्युः एष एव च नानाविधकर्मविपाको जीवा-
स्तित्वं कर्तृत्वं कर्मवत्त्वं चावेदयति तथा "गन्धर्वनगरतुल्या, मा-
या स्वप्नोपपातधनसदृशी । मृगतृणानिहारान्-बुचन्निक्कात्तातच-
क्रसमा" इति भाषणाच्च स्पष्टमेव मिध्रीभावोपगमनं बौद्धानामि-
ति । यदि वा नानाविधकर्मविपाकाच्युपगमात्तेषां व्यत्यय एवेति ।
तथा चोक्तं "यदि शून्यस्तवपक्वो, मत्पक्षनिवारकं कथं भवति ।
अथ मन्यसे न शून्य-स्तथापि मत्पक्षं पवासौ" इत्यादि, तदेवं

बौद्धाः पूर्वोक्तया नीत्या मिश्रीभावमुपगता नास्तित्वं प्रतिपादयन्तोऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति । तथा सांख्या अपि सर्वव्यापितया अक्रियमात्मानमन्युपगम्य प्रकृतियोगान्मोक्षसद्भाव प्रतिपादयन्तस्तेऽप्यात्मनो बन्धमोक्षं च स्ववाचा प्रतिपादयन्ति । ततश्च बन्धमोक्षसद्भावे सति स्वकीयया गिरा सक्रियत्वे गृहीते सत्यात्मनः समिश्रीभावव्रजन्ति, यतो न क्रियामन्तरेण बन्धमोक्षौ घटेते, वाशब्दादक्रियत्वे प्रतिपाद्ये व्यत्यय एव सक्रियत्वं तेषां स्ववाचा प्रतिपाद्यते, तदेव लोकायतिकाः सर्वे प्रावाभ्युपगमेन क्रियाभाव प्रतिपादयन्ति । बौद्धाश्च कृणिकत्वात्सर्वशून्यत्वाच्चाक्रियामेवाच्युपगमयन्तः स्वकीयागमप्रणयनेन चोदिताः सन्तः समिश्रीभाव स्ववाचैव प्रतिपद्यन्ते । तथा सांख्याश्चाक्रियमात्मानमन्युपगच्छन्तो बन्धमोक्षसद्भाव च स्वाभ्युपगमेनैव समिश्रीभाव व्रजन्ति । व्यत्यय चैतदप्रतिपादितम् । यदि वा बौद्धादिः कश्चित्स्याद्वादिना सम्यग्धेतुदृष्टान्तैर्व्याकुलीक्रियमाणः सन् सम्यगुत्तर दातुमसमर्थो यत्किञ्चनजायितया (मुमुर्षु हो-इत्ति) गद्गदभाषित्वेनाऽव्यक्तभाषी भवति । यदि वा प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमर्थो द्रष्टव्यः । तद्यथा । मूकादपि मूको मूकमूको भवति । एतदेव दर्शयति । स्यादादिनोक्त साधनमनुवादितु शीलमस्येत्यनुवादी तत्प्रतिषेधादननुवादी सचेतुजि-र्व्याकुलितमना मौनमेव प्रतिपद्यत इति भावः । अनुभाष्य च प्रतिपक्षसाधन तथाऽदूषयित्वा च स्वपक्षं प्रतिपादयन्ति । तद्यथा । इदमस्मदभ्युपगत दर्शनम् एकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाध पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थः । इदं चैवभूतमपि सदित्याह । द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्ष सप्रतिपक्षमनैकान्तिक पूर्वापरविरुद्धार्थाभिधायितया विरोधिवचनमित्यर्थः । यथा च विरोधिवचनत्वं तेषां तथा प्राग्दर्शनमेव । यदि त्वेतदस्मीय दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्ष कर्मबन्धनिर्जरण प्रतिपक्षद्वयसमाश्रयणात् । तत्समाश्रयण चेहामुत्र वेदना चौरपारदारिकादीनामिव । ते हि करचरणनासिकादीनामिहैव पुष्पकल्पां स्वकर्मणो विभवनामनुभवन्त्यमुत्र चनरकादौ वेदनां समनुभवन्तीति । एवमन्यदपि कर्मोपपन्नमन्युपगम्यते । तच्चेदम् । प्राणी प्राणिज्ञानमित्यादि पूर्ववत् । तथेदमेकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षम्, इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात् । तच्चेदमविज्ञोपचिनं परज्ञोपचितमीर्यापथ स्वप्नादिक चेति । तदेव स्याद्वादिनाभियुक्ताः स्वदर्शनमेवमनन्तरोक्तया नीत्या प्रतिपादयन्ति तथा स्याद्वादिसाधनोक्तौ ब्रह्मायतनं ब्रह्म 'नवकम्बलो देवदत्त' इत्यादिकमाहुस्तत्कवन्तः । चशब्दादन्यच्च दूषणाभासादिक तथा कर्म च एकपक्षोपपक्षादिक प्रतिपादितवन्त इति । यदि वा षडायतनानि उपादानकारणानि आश्रवद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत्त्वकायतनं कर्मैत्येवमाहु रिति ॥ ५ ॥

साम्प्रतमेव तद्दूषणायाह ।

ते एवमक्खन्ति अबुज्जमाणा, विरुवरुवाणि अक्रियवाद् ।
जे मायइत्ता बहवे मणूसा, भमन्ति संसारमणोवदग्गं ॥ ६ ॥

(ते एवमक्खन्ति) ते चार्वाकबौद्धादयोऽक्रियावादिन एवमाचक्षते । सद्भावमनुध्यमाना मिथ्यामलपटलभृतात्मान परमात्मान च व्युद्ग्राहयन्तो विरूपरूपाणि नानाप्रकाराणि शास्त्राणि प्ररूपयन्ति । तद्यथा । दानेन महाजोगो, देहिनां सुरगतिश्च शीघ्रेण । भावनया च विमुक्ति-स्तपसा सर्वाणि सिध्यन्ति ॥ तथा पृथिव्यापस्तेजोवायुरित्येतान्येव चत्वारि भूतानि विद्यन्ते

नापरः कश्चित्सुखदुःखमागात्मा विद्यते । यदि चैतान्यन्यविचारितरमणीयानि न परमार्थतः सन्तीति स्वनेन्द्रजालमरुमी-चिकानि च यद्विचन्द्रादिभ्रतज्ञासरूपत्वात्सर्वस्येति । तथा सर्वे कृणिकं निरात्मकं मुक्तिस्तु शून्यता दृष्टेस्तदर्थो 'शेषभाष-ना इत्यादीनि नानाविधानि शास्त्राणि व्युद्ग्राहयन्त्यक्रिया-त्मानोऽक्रियावादिन इति । ते च परमार्थमनुध्यमाना यद्दर्शन-मादाय गृहीत्वा बहवो मनुष्याः संसारमनवदग्रमपर्यवसान-मरहदृष्टीन्यायेन भ्रमन्ति पर्यटन्ति । तथाहि लोकायतिकानां सर्वशून्यत्वे प्रतिपाद्येन प्रमाणमस्ति । तथा चोक्तम् । "तत्त्वान्युप-हृतानीति, युक्त्यप्रावेन सिध्यति । नास्ति चेत्सैव नस्तत्त्व तत्सि-द्धौ सर्वमस्तु सत्" न च तत्प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणम् । अतीतानागत-तत्त्वतया पितृनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेस्ततः सर्वस-व्यवहारोच्छेदः स्यादिति । बौद्धानामप्यत्यन्तकृणिकत्वेन वस्तु-त्वाभावः प्रसज्जति । तथाहि । यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमा-र्थतः सत् । न कृणः क्रमेणार्थक्रियां करोति । कृणिकत्वदानेनापि योगपद्येन तत्कार्याणामेकस्मिन्नेव कृणे सर्वकार्यापत्तेर्न चैतद्-दृष्टमिष्टम् । न च ज्ञानाधारमात्मानं गुणिनमन्तरेण गुणभूतस्य संकलना प्रत्ययस्य सद्भाव इत्येतच्च प्रागुक्तप्रायम् । यद्योक्त 'दानेन महाभोग' इत्यादि तदाहर्तैरपि कथञ्चिद्विष्यत एवेति न चाभ्युपगमा एव बाधायै प्रकल्प्यन्त इति ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । अक्रियैव परलोकसाधनायाऽन्नमित्येव वदितुं शीलं येषा-न्तेऽक्रियावादिन । ज्ञानवादिषु अक्रियावादिनो ये ब्रुवते किंक्रि-यया चित्तशुद्धिरेव कार्या ते च बौद्धा इति, प्र० ३० श्रु० १ उ० । तेषां हि यथाऽवस्थितवस्तुपरिज्ञानादेव मोक्षः । तथा चोक्तम् । "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः । शिखी मुण्डी जटी-वापि, सिध्यते नात्र सशयः" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । धर्म-धर्मिणोरन्नेदोपचारात् समवसरणविशेषं च । म० २६ श्रु० २ उ० (अक्रियावादिनः कीदृशा किं किं च प्रकुर्वन्तीति 'वादिसमवसर-ण' शब्दे दृश्य मिथ्यादृष्टिवर्णके) "अक्रियवादी वि प्रवति नो हियवादी नो हियपप्पे नोहिय दियनोसम्मावादी णो णि-तियावादी ण सति परलोकवादी" दृशा० ६ अ० ।

अकील-अकील-त्रि० न० ब० शङ्करहिते, ध० २ अधि० पञ्चा० ।

अकुओ (तो) भय-अकुतो जय-त्रि० न विद्यते कुतः कस्माद् भ-य यस्य तत् कुतश्चिदपि भयशून्ये, "चित्ते परिणत यस्य चरित्र-मकुतो भवम् । अस्त्राण्ज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो जयम्" अष्ट० १९ । न विद्यते कुतश्चिदेतो केनापि प्रकारेण जन्तूनां भय यस्मात् सोऽकुतो भयः । सयमे, "अणाय अजिसमेव्वा अकुओ-भय" आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अकुं चियाग-अकुञ्चिकाक-त्रि० कुञ्चिकाविरहिते पि० ।

अकुंठाइ-अकुण्ठादि-पु० सम्पूर्णपापयादौ, प्रब० ६४ ब्रा० ।

अकुक्षु-अकुक्षु-त्रि० न० ब० हस्तपादमुखादिविरूपचेष्टारहि-ते । व्य० ३ उ० । ईषन्मुखविकाररहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सुसाणे सुसगारे वा, स्वस्वमूढे व एगओ ।

अकुक्षुओ शिसीएज्जा, ए य वित्तासए परं ॥

अकुक्षुओऽशिष्टचेष्टारहितो निषीदेत् तिष्ठेत्, यद्वा, अकुक्षु-कुञ्चवादि विराधनाजयात् कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सित हस्तपा-दादिभिरन्यन्दमानो निषीदेत् । उक्त० ३ अ० ।

अकुकूज-त्रि० अपत्याप्राकृते तथात्यम, कुत्सित कूजति पी-
रितः सन्नाक्रन्दति कूजो न तथेत्यकुकूजः, कुत्सितकूजना
कर्त्तरि, उक्त० ११ अ० ।

अकौकुन्य-त्रि० नास्ति कौकुच्य नाएरुघिटचेष्टा यस्य सोऽकौ-
कुच्यः । सम्यक्साधुमुद्रायुक्ते, उक्त० १६ अ० ।

अकुद्विह-अकुटिल-त्रि० न० त० अमायिनि, व्य० ३ उ० ।

अयमे, ज० १ वक्र० । अजौ, आचा० १ अ० १ अ० ३ उ० ।

अकुहल-अकुतूल-त्रि० न विद्यते कुतूहलं यस्य स अकुतू-
हलः, कुहकेन्द्रजालभगवत्प्रधानाटकादीनामविलोकके । "नी-
यायिस्ते अचक्षते, अताई अकुहले " उक्त० १० अ० ।

अकुमारचूय-अकुमारचूत-त्रि० अकुमारह्यचारिणि, "अकुमा-
रभूय जे केह कुमारचूय तिहवप " । स० ३० सम० ।

अकुय-अकुच-त्रि० कुचस्पन्दने, न कुचतीत्यकुचः । इगुपान्त्य-
लक्षणः कप्रत्ययः । व्य० ८ उ० । निश्चले, नि० चू० १ उ० ।

अकुसल-अकुशल-त्रि० अनजिह्वे, प० व० ४ द्वा० वक्तव्यावक्तव्य-
विज्ञानानिपुणे । ग्रहन० आभ० २ छा० स्थूलमतौ, "तस्यधावर-
हिसाप, जणा अकुसला उलपति" दश० १ अ० । अशोभने च ।
औ० । न कुशल मङ्गलमस्य, मङ्गलविरोध्यमङ्गलयुक्ते, न० त० ।
कुशलविरोधिनि अजह्वे, न० वाच० ।

अकुमलकम्पोदय-अकुशलकम्पोदय-पुं० अकुलकम्पोद-
ये, अकर्मानुभावे च । ध० २ अधि० ।

अकुसलचित्तणिरुह-अकुशलचित्तनिरोध-पुं० आर्त्तभ्याना-
दिप्रतिषेधनाऽकुशलमनोनिरोधे, दश० ६ अ० ।

अकुसलजोगणिरुह-अकुशलयोगनिरोध-पुं० अकुशलानां
मनोवाङ्माययोगानां व्यापाराणां निरोधः । अकुशलयोगनिरोधः ।
मनआदिनिविद्यकरणैरायुक्ततायाम्, ओघ० ।

अकुसलणिवित्तिरुव-अकुशलनिवृत्तिरूप-त्रि० सपापारम्भो
परमणस्वभावे, पञ्चा० ७ विध० ।

तत्पत्न्य किञ्चित्चक्षोः, नरनाहो सुयणकुमयधणचक्षोः ।

तस्स कणिट्ठो भाया, जुचराया समगविजड स्ति ॥ २ ॥

अह हणियरायपसरो, समियरओ मल्लिअरओ सदओ ।

अगीकयभइवओ, पत्तो सुमुणि व्य धणसमओ ॥ ३ ॥

तमिय ममए नीरं-धनीरपूरेण अइयहु वहंती ।

भवणोवरिट्ठिणं, दिट्ठा सरिया नरिदेण ॥ ४ ॥

तो कौजहलआउल-हियओ बंधवजुओ तहिं गतुं ।

चडइ निवो इकाए, तीइ सेसासु सेसजणो ॥ ५ ॥

जा ते कीलति तहिं, ता उवरि जलहरम्मि घुट्ठम्मि ।

सो कोधि नइपवाहो, पत्तो अइतिव्ययेगेण ॥ ६ ॥

निज्जति कइयाओ, अन्नअदिसासु जेए वेदीओ ।

थोवो वि तत्थ न फुरइ, घायारो कणधारार ॥ ७ ॥

तो सरियामज्जगओ, तडट्ठिओ पुकरइ पुरलोओ ।

अह पणुपवणहया निव-दोणी उ अइसरण पत्ता ॥ ८ ॥

लम्मा बीहतमाला-मिहाणअटवीए सा कहिं रुक्खे ।

तत्तो उत्तरइ निवो, कइवयपरिवारयधुजुओ ॥ ९ ॥

जा धीसमंइ संतो, तत्तारे ताव पिच्चइ नरिदो ।

नइपरणियज्जसमि-इरपपनं सुमणिरपणनिहिं ॥ १० ॥

गतूण तत्थ सम्मं, पासिय इसेइ समरयिजयस्स ।

चक्षियं च तस्स चित्तं, प्रासुररयणुच्चयं दट्ठु ॥ ११ ॥

चित्तइ सहावकूरो, मारिचु निव इम पणिट्ठामि ।

तं रज्ज सुहसज्ज, अणिठिय रयणनिहिमंय ॥ १२ ॥

रन्नो मुक्को घाओ, पुरीइ सोयम्मि पुकरतम्मि ।

हाहा किमिय ति विचिं-तिठण यचाविओ तेण ॥ १३ ॥

भणइ य अहूरमणो, निवई धाहाड त धरेठण ।

नियकुत्तअणुच्चियमसम, किं प्रायतए इम विदियं ॥ १४ ॥

जइ कज्ज रज्जेण, निहिणा इमिणा य ता नुम वेय ।

गिट्ठाहि माहिमुक्को, समर धरेमो ययतु यय ॥ १५ ॥

तं सो निसुणिय अमुणिय, कोययियागो विरेगिपरिमुक्को ।

विच्चोमिठण वाह, ओसरिओ नियमगासाओ ॥ १६ ॥

पुद्गा य तेहि पप. के तुम्हे ता भणाइ ताणेगो ।
अत्थित्थ मोहनामा, निवई जगतीतलपसिद्धो ॥ २७ ॥
तस्सत्थि वहरिकारिकर-दकेसरी रायकेसरी तणओ ।
तप्पुत्तोऽह सागर, महासओ सागरऽज्झिहाणो ॥ २८ ॥
मम तणओ फुडविणओ, एसो उ परिग्गहाऽभिहासुत्ति ।
वइसानरस्स धूया, एसो किर कूरयानाम ॥ २९ ॥
इय सुणिय हरिसिया ते, कीलति परुप्परं तओ मित्ति ।
निम्मेइ सागरो सह, सिस्सहि न उ कूरयाएवि ॥ ३० ॥
कुणइ कुरगो मित्ति, तेहि सम कूरयाइ सविसेस ।
जयाभिन्नयत्तिकमा, पत्ता ते तारतारुख ॥ ३१ ॥
अह मित्तिपेरियमणा, दविणोवज्जणकए गहियजंढा ।
पियरेहि वारिया वि हु, चलिया देसतरम्मि इमे ॥ ३२ ॥
भिद्धेहि अतरा अ-तरायवसओ य गहियचुरिधणा ।
उरुरियथोवद्ववा, धवत्तपुरं पट्ठणं पत्ता ॥ ३३ ॥
दविणए तेष तदियं, गहिय हट्ट कुणति ववसायं ।
दीणारसहस्सडुग, दुक्खसहस्सेहि अज्जति ॥ ३४ ॥
तो वद्वियवदुतएहा, कप्पासतिवाइ भंमसालाओ ।
पकुणति करिसणं पि हु, उच्चुक्खित्ताई कारति ॥ ३५ ॥
तसससत्तित्ताणं, निपीलण गुत्थियमाइ बवहारं ।
कारति एव जाया, ताण दीणारपणसहसा ॥ ३६ ॥
तो तहसगे इच्छा, कमेण बक्खे वि जाव त मिद्धियं ।
अह कोमि पूरणिच्छा जाया मित्ताणुजावेण ॥ ३७ ॥
तो गुरुगतीनिवहा, पहिया देसंतरेसु विविहेसु ।
जलहिम्मि पोयसघा-यवत्तिया करहममलिया ॥ ३८ ॥
गहियाइ निवकुलाओ, पट्ठेण बहुणि सुक्कगणाइ ।
विहिया धणगणियाओ, बद्धा उ हयाइ हेडाओ ॥ ३९ ॥
इच्छाइ पावकोमिहिं, जा कोमि वि तेसि समिद्धिया ।
तो पावमित्तवसओ, उववन्ना रयणकोडिच्छा ॥ ४० ॥
अह खिब्बिळण सव्व, पोए ते पत्थिया रयणभूमिं ।
ताकूरया विलग्गा, गाढं कन्ने कुरगस्स ॥ ४१ ॥
जपेइ हत हंतु, असहरमिम करेसु अप्पवस ।
सयल दविणमिण ज, धणियो सव्वेवि इह सुयणा ॥ ४२ ॥
इय सा जपइ निच्च, तदेव तं परिणय इमस्स तओ ।
पक्खिवइ सागर सा-गरम्मि लहिरुण सो तिहं ॥ ४३ ॥
असुहज्जाणोवगओ, जलहिजलुप्पीलपीलियसरीरो ।
मरिळण तइयनरग-म्मिनारओ सागरो जाओ ॥ ४४ ॥
काउ मयकिच्च जा-उगस्स हिछो कुरगओ हियए ।
जा जाइ किप्पि दूर, ता फुट्ट पवहण उत्ति ॥ ४५ ॥
बुद्धो दोओ गलिय, कयाणग फवहय लहिय एसो ।
कह कहवि तुरियदिवसे, पत्तो नीरनिदितीरम्मि ॥ ४६ ॥
अज्झिणिय धणुजोए, भुजिस्स इय विचित्तिरो धणिय ।
भमिरो वणम्मि हरिणा, हणियो धूमप्पहं पत्तो ॥ ४७ ॥
तो भमिय जव ते दो, वि कहवि अज्जणनगे हरी जाया ।
इक्कगुहत्थ जुज्जिय, चवत्थनरए गया मरिउ ॥ ४८ ॥
तो अहिणो इगनिहिणो, कए कुणता महत्तय जुज्ज ।
विज्जायसुक्कणा, पत्ता धूमप्पहं पुढवि ॥ ४९ ॥
अह बहुभवपज्जते, एगस्स वणिस्स जविय जज्जाओ ।
तम्मि मए विहवकए, जुज्जिय मरिउ गया उट्ठि ॥ ५० ॥
भमिय जव पुण जाया, तणया निवस्स उवरए तम्मि ।
कल्लहता रज्जकए, मरिउ पत्ता तमतमाए ॥ ५१ ॥

एव दव्वनिमित्त, सहियाओ तेहि वेयणा विविहा ।
न य त कस्सइ दिअ, परिउत्त त सयं नेव ॥ ५२ ॥
अह पुव्वभवे काउ, अज्जाणतव तहाविहं किप्पि ।
जाओ सागरजीवो, त निव इयरोउ तुहयधू ॥ ५३ ॥
तुम्हाणवि पच्चक्खो, इओ पर समरयिजयवुत्ततो ।
सो काही उवसग्ग, इक्कसि तुह गहियन्नरणस्स ॥ ५४ ॥
तो कूरयाइ सहिओ, अहिओ तस्स थावराण जीवाण ।
उसहउहदहियदेहो, भमिहीही जवमणतमिमो ॥ ५५ ॥
इअ सुणिअ गरुयवेर-गपरिगओ गिएहए वय राया ।
नियभाइणज्जहरिकुम-रवसहसकमियरज्जधुरो ॥ ५६ ॥
कमसो अइतव सोसिय, देहो बहुपदिय सुख सिद्धतो ।
अभुज्जयं विहार, उज्जयचित्तो पवज्जेइ ॥ ५७ ॥
कस्सवि नगरस्स बाहिं, पव्वकवाइ छिओ य सो जवव ।
दिछो पाविछेण, समरेण कहिवि गमिरेण ॥ ५८ ॥
वहर सुमरंतेण, इणिओ खग्गेण कंधराइ मुणी ।
गुरुवेयणाभिभूओ, पमिओ धरणीयवे सहसा ॥ ५९ ॥
चित्तइ रे जीव । तए, अज्जाणवसा त्रिवेगरहिएण ।
वियणाओ अयणाओ, नरएसु अणंतसो पत्ता ॥ ६० ॥
गुरुजरवहणकणदो-इवाहसीउड्डुइपिवासाइ ।
उस्सइदुहदंदोली, तिरिएसु वि विसहिया बहुसो ॥ ६१ ॥
ना धीर मा विसीयसु, इमासु अइअप्पवेयणासु तुम ।
को उत्तरिउ जलहिं, निव्वरुए गुप्पई नीरे ॥ ६२ ॥
वज्जेसु कूरजाव, विसुद्धचित्तो जिएसु सव्वेसु ।
बहुकम्मखयसहाओ विसेसओ समरविजयम्मि ॥ ६३ ॥
त लळो इह धम्मो, ज न कया कूरया पुरावि तए ।
इय चित्तो चत्तो, पावेण सम स पाणेहिं ॥ ६४ ॥
सुइसारे सहसारे, सो उववन्नो सुरो सुकयपुओ ।
तत्तो चविय विदेहे, इहिही मुत्ति समुत्तीवि ॥ ६५ ॥
श्रुत्वेत्यश्रुपरिणामविरामहेतोः,
श्रीकीर्तिचन्द्रनरचन्द्रचरित्रमुच्चैः ।
जव्या नरा जननमृत्युजरदिनीता,
अक्रूरतागुणमगौणधिया दधन्वम् ॥ ६६ ॥ ४० २० ।

अकेवल-अकेवल-त्रि० न विद्यते केवलमस्मिन्नित्यकेवलम् ।

अश्रुके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अकोउहद्व-अकोतूहद्व-त्रि० न० ब० स० नटनर्तादिषु, अ-
कौतुके, “नो मावए नो वि य माविअप्पा, अकोउहद्वे य सया
सपुजो ” दश० ए अ० ३ उ० ।

अकोप-अकोप्य-त्रि० अकोपनीये, अदूषणीये, वृ० १ उ०
“अकोप्यजघजुयत्ता ” अकोप्यमोक्ष्य रम्यं जङ्गायुगल यासां
तास्तथा । प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकोविय-अकोपित-त्रि० अदूषणीये, “आरियं उवसपज्जे, स-
व्वधम्ममकोविय” । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अकोविद-पु० श्रुतेन वयसा चाऽप्राप्तयोग्यताके, व्य० १ उ० ।

अपाणिमते, सच्चास्त्रावबोधरहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० “आ-
रजाइ न सकति, अविद्यता अकोविया ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३
उ० । सम्यग्ज्ञानानिपुणै, “वणे मूढे जहा जत्त, मूढे णेयाण्णा-
मिए । दो वि एए अकोविया, तिच्च सोय तियच्छइ ” सूत्र० १
श्रु० १ अ० ३ उ० । दश० । पि० ।

अकोवियप्प (ए)-अकोविदात्मन्-पु० सम्यक्परिज्ञानवि-
फले, वृ० १ उ० ।

अकोहण-अकोधन-त्रि० कोधरहिते, " एसप्पमोक्खो भमुसे
परे वि, अकोहणे समरते तवस्सी " सूत्र० १ धु० १० अ० ।

अकत-देशी-प्रवृत्ते, दे० ना० ।

अकत-आक्रान्त-त्रि० आक्रम-क. । भयएण्ठे, आचा० १ धु० ६
अ० ५ उ० । अभिचूते, स्वोपरिगत्या व्याप्ते, सूत्र० १ धु० १
अ० ४ उ० । भावे क. । आक्रमणे, नं० । अ० १ श० ३ उ० । आ-
क्रमन्ते, पादादिना नृतलादौ प्रयति । अचित्तयायुकायिकभेदे,
पु० अ० ५ उ० ३ उ० ।

अकतदुक्ख-दुःखाक्रान्त-त्रि० आक्रान्ता अभिभूता दुःखेन
शारीरमानसेनाऽऽसातोदयेन दुःखाक्रान्ता. (दुःखानिजृतेषु)
सूत्र० १ धु० १ अ० ४ उ० । " सव्ये अकतदुक्खाय, अओसन्ने
अहिसिया " सूत्र० १ धु० १ अ० ४ उ० ।

अकद-आक्रन्द-पुं० आक्रन्द घञ् । सारयं रोदने, घाच० । तदा-
त्मके एकचत्वारिंश उक्तएऽऽशातनाभेदे, आर्यदकदित्तियेण
पुत्रफलत्रादिययोगे त विधत्ते । प्र० ३८८ आ० । आक्रान्ते, शब्दे च,
कर्मणि घञ् । मित्रे, आतरि च, आधारे घञ् । दारुणे युंक्ते, तु मि
नां रोदनस्याने च । आक्रन्दयति-भच पारिणिप्राहपाश्चादयस्तिनि
नृपभेदे, 'पारिणिप्राहं च सप्रेक्ष्य तथाऽऽक्रन्दच्च मारुते' मनु० ।
अकदण-आक्रन्दन-न० । आ+क्रन्द-ल्युट् । महता शब्देन पि
रवणे, आच० ४ अ० । आक्रान्ते च, घाच० ।

अकतुवरी-अकतु (तू) वरी-स्त्री० गुच्छनेरे, प्र० १ पद ।

अकन्यल-अकस्थल-न० मयुराण्यस्थलभेदे, ती० ६ कल्प ।

अक्रम-आक्रम-पु० आक्रम-घञ् । अवृद्धिः । यसेनाऽतिप्रमणे,
अनिमये, व्याप्तौ, आग्रे च । घाच० । प्राप्ते " आक्रामे रोदायो-
ऋगृह्णदा " ४।१।४६ इति सूत्रेणाक्रमेण्य आदेशा या ओदायइ
उच्छावइ रुदइ । अक्षमइ आक्रमते, प्रा० आक्रमणमाक्रम । परा-
जय, उच्छेद, आ० म० प्र० । बलात्कारे, आच० ४ अ० । आक्रम्यते
परलोकोऽनेन । करणे घञ् । परलोकाप्राप्तिमाधने विधाकर्मादौ,
कृताक्रमणे, अभिभूते, व्याप्ते, आग्रे च । घाच० ॥

अक्रमण-आक्रमण-न० अभिभवे, विशेष० । पादेनाक्रान्ते,
आच० ४ अ० ।

अक्रमित्ता-आक्रम्य-अ० आक्रमण कृत्वेत्यर्थे " भीमरूपेहि अ-
क्रमित्ता दददादा गाढ " प्रहन० आच० १ आ० ।

अक्रशास्त्रा-देशी० बलात्कारे, ईपन्मत्ताया स्त्रियाम्, दे० ना० ।

अक्रा-देशी-भगि याम्, दे० ना० ।

अक्रासीदेवी-स्त्री० व्यन्तरदेवीविशेषे, ती० ६ कल्प ।

अक्रिष्ट-अक्रिष्ट-त्रि० न० त० अयाधिते, निर्वेदने, अ० ३ श०
२ उ० । स्वशरीरोत्पत्त्येकरहिते, जी० ३ प्रति ।

अक्कुट-देशी० अघ्यासिते, दे० ना० ।

अकुम-गम-धा० गतौ, " गमेरइ अइच्छाणुवजावसज्जो-
कुसाकुसु " ४।१६१ इति सूत्रेण गमेरकुसाऽऽदेशः । अकु-
सइ, गच्छति, प्रा० व्या० ।

अक्केज (य)-अक्रेय-त्रि० अक्रेयणीये, स्था० ६ ठा० ।

अको-देशी-दूते, दे० ना० ।

अकोमण-आक्रोमन-न० सग्रहे, विशेष० धु० अ० ।

अकोमो-देशी-छागे, दे० ना० ।

अकोस-अक्रोश-न० धर्मायोग्यक्षेत्रविशेषे, यस्य मूलनिबन्धा-
त्परत पक्षां दिशामन्यतरस्यामेकस्यां द्वयोस्तिसृषु वा दिक्षु
अटवीजलस्यापदः सन्ति, तेन पर्यतनदीव्याघातेन च गमन
भिलाचर्या च न सम्भवति, तन्मूलनिबद्धमात्रमक्रोशम् ।
व्य० १० उ० ।

आक्रोश-पु० आक्रुश-घञ् । दुर्वचने, अ० ८ श० ८ उ० ।
निष्ठुरवचने, आच० ४ अ० । असभ्यभाषायाम्, उक्त० २
अ० । विरुद्धचिन्तने, शापे, निन्दायां च । घाच० ।

अकोसग-आक्रोशक-त्रि० दुर्वचनवादिनि, उक्त० २ अ० ।

अकोसणा-आक्रोशना-स्त्री० मृतोऽसि त्वमित्यादिवचनेषु,
आ० १६ अ० ।

अकोमपरि (री) सह-आक्रोशपरि (री) पद-पुं० आ-
क्रोशनमाक्रोशोऽसभ्यभाषात्मक स एव परीपदः । आक्रोशप-
रीपद आदेशो परीपदे, उक्त० २ अ० । आक्रोशोऽनिष्टवचन,
तच्छ्रुत्या सत्येतरासोचनया न कुप्येत् किन्तु सदेत आच० ४ अ० ।
" आक्रुशोऽपि हि नाक्रोशेत्, क्रमाधमणता विदन् । प्रत्युताक्रो-
रि यनिश्चित्येऽपकारिताम् " ध० ३ अधि० । " नाक्रुशो मु-
निराक्रोशोऽसम्पन्ननाघवर्जक । अपेक्षेतोपकारित्वं न तु द्वेषं
कदाचन " आच० १ अ० । आ० म० द्वि० । तदादि सत्य, क
कोप, शिक्षयति हि मामयमुपकारी, न पुनरेव करिष्यामीति ।
अनृत चेत् सुनरा कोपो न कर्तव्य । उक्त च " आक्रुशेन मति-
मता, तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्य क कोपः,
स्यादनृत किमिह कोपेन " इत्यादि परिभाष्य न कोप कुर्यात् ।
प्र० ८६ आ० । " चाएमात् " किमय द्विजातिरप्यथा शूद्रोऽप्यवा
तापसः, किं वा तत्त्वनिवेशपेक्षसमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा । इ-
त्यस्वल्पविकल्पजल्पमुपरैः सभाष्यमाणो जनैः-नो कृतो न हि
वैष इष्टद्वयो यागीश्वरो गच्छति " पुनर्गालीः धृत्वेति वि-
चिन्तयेत् । " ददतु ददतु गाली गालिमन्तो प्रवन्तः, घयमपि त-
दभावात् गालिदानेऽप्यशक्ता । जगति विदितमेतद्दोषते विद्य-
मान, ददतु शशधिपाण ये महात्यागिनोऽपि ॥१॥ " इति वि-
चार्य समत्वेन तिष्ठेत् । उक्त० २ अ० । " अकोस गहणमारण,
धम्मम्मसाणवालसुल्लजाण । लाम मअइ धीरो, जहुत्तराण
अभावम्मि " सूत्र० १ धु० ८ अ० । एतदेव सूत्ररुदाह ।

अकोसेज्ज परो भिक्खुं,

न तेसिं पस्सिंजले ।

सरिसो होइ बालाणं,

तम्हा भिक्खु न संजले ॥ २४ ॥

आक्रोशोत्तरिस्क्रुयात् । परोऽन्यो धर्मापेक्षया धर्मवाह्य आत्म-
व्यतिरिक्तो वा भिक्षु यतिं यथा धिक् सुएण किमिह त्वमागतोऽस्ती
ति (न तेसिति) सूक्तवचनस्य च व्यत्ययात् न स्मै प्रति सज्जलेत्
निर्योतन प्रति । ततश्चाक्रोशदानतो न सज्जलेदेतन्निर्योतनार्थम्,
वेददाद्वयोहितपातप्रत्याक्रोशाभिघातादिभिरभिघ्न दीप्येत्, स-
ज्ज्वलनकोपमपि न कुर्यादिति । सज्जलेदित्युपादान किमेवमुपदि-
श्यत इत्याह सद्यः समानो भवति सज्ज्वलनिति प्रक्रमः । केवां ?
बालानामज्ञानां, तथाविधकृपकवत् । यथा कश्चित् कृपको देवत-

या शुणैरावर्जितया सततमजिबन्धते, उच्यते च मम कार्यमावेदनी-
यम् । अन्यदैकेन धिग्जातिना सह योद्धुमारब्धस्तेन च बलवता धु-
त्कामशरीरो भुवि पातितस्ताम्रितश्च, रात्रौ देवता बन्दितुमा-
याता कृपकस्तूष्णीमास्ते । ततश्चासौ देवतयाऽभिहितो, भगवन् !
किं मयाऽपगच्छम् । स प्राह । न तस्य त्वया दुरात्मनो ममापका-
रिणः किञ्चित्कृतम् । सोऽवादीत् न मया विशेषः कोऽप्युपलब्धः,
यथाऽयं भ्रमणोऽयं धिग्जातिरिति यतः कोपाविष्टौ द्वावपि समानौ
सपञ्चाविति । ततः सती प्रेरणेनेति प्रतिपन्न क्षपकेणेति । उक्तमे-
वार्थं निगमयितुमाह । (तम्हसि) यस्मात्सदृशो भवति बाला-
नानां तस्माद् भिक्षुर्न सज्ज्वलेदिति सूत्रार्थः ।

कृत्योपदेशमाह ।

सोच्चा एं फरसा नासा, दारुणा गामकंटया ।

तुसिणीओ उवेहिजा, ए ताओ मणसी करे ॥२५॥

श्रुत्वाऽऽकर्ण्य णमिति वाक्यालकारे परुषाः कर्कशा ज्ञाया गिरः।
दारयन्ति मन्दसत्त्वानां सयमविषयां धृतिमिति दारुणास्ताः ग्राम
इन्द्रियग्रामस्तस्य कण्टका इव ग्रामकण्टकाः प्रतिकूलशब्दादयः
कण्टकत्व चैषा दुःखोत्पादकत्वेन मुक्तिमार्गप्रवृत्तिविघ्नहेतुतया च
तदेकदेशत्वेन च परुषज्ञाया अपि तथोक्ताः । भाषाविशेषणत्वे-
ऽपि चात्राविष्टिद्विगुत्वात्पुल्लिङ्गता, तूष्णींशीलेन कोपात्प्रतिपुरु-
षभाषी एवविधश्च । " जो सहइ उ गामकंटए, अक्रोसपहार-
तज्जणायसि " इत्यागम परिज्ञावयन्नुपेक्षेतावधीरयेत् । प्रक-
मात्परुषज्ञाया एव कथमित्याह न ता मनसि कुर्याद्, ज्ञापिणि
द्वेषाकरणेनेति सूत्रार्थः । उक्तं २ अ० ।

कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाऽऽहंसु पुढोजणा ॥ ६ ॥

पृथक्जनाः प्राकृतपुरुषा अनार्थकत्वा इत्येवमाहु रित्येवमुक्तव-
न्तः । तद्यथा । य एते यतयः जलाविह्वदेहा लुञ्चितशिरसः कुधा-
दिवेदनाग्रस्तास्ते एतै पूर्वाचरितै कर्मजिराताः पूर्वस्वकृतकर्मण-
फलमनुभवन्ति । यदि वा कर्मजि कृष्यादिमिरानांस्तत्कर्तुमसम-
र्था उद्विग्ना सन्तो यतयः सवृत्ता इति, तथैते दुर्जगाः सर्वेणैव पुत्र-
दारादिना पणित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामज्युपगता इति ।

एते महे अचार्यंता, गामेसु णगरेसु वा ।

तत्थ मंदा विसीयंति, संगमंमिव जीरुया ॥७॥

एतान् पूर्वोक्तानाक्रोशरूपान् तथा चौरचारकादिरूपान् श-
ब्दान् सोढुमशक्नुवन्तो ग्रामनगरादौ तदन्तराले वा व्यवस्थि-
ता, तत्र तस्मिन् आक्रोशे सति मन्दा अज्ञानव्यग्रप्रकृतयो विषी-
दन्ति विमनस्का भवन्ति संयमाद् भ्रश्यन्ति तथा, भीरवः संग्रामे
रणशिरसि चक्रकुन्तासिशक्तिनाशचाकुले रटपटहशङ्खज्जरी-
नादगम्भीरे समाकुलाः सन्तः पौरुष परित्यज्याऽयसः पटहमङ्गी-
कृत्य प्रज्यन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादसत्त्वाः सयमे वि-
षीदन्ति । सूत्रं १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अत्रार्जुनमाहाकार्षिकथा ।

रायगिहे मालारो, अज्जुणओ तस्स भज्ज खंदसिरी ।

मोगरपाणी गोड्डी, सुदसणो वंदओणीति ॥ उक्तं नि० ।

राजगृहे मालाकारोऽर्जुनकस्तस्य नार्यो स्कदश्री मुजरपाणि-
र्यक्षो गोष्ठौ सुदर्शनो (वदणीति) श्वदनार्थं निर्गच्छतीति गा-
थाकारार्थः, नारायणस्तु सप्रदायगम्य । उक्तं ३ अ० । (स
च 'अज्जुणग' शब्दे)

जो सहइ हु गामकंटए, अक्रोसपहारतज्जणाओ अ ।

जयजैरवसदसप्पहासे, समसुहदुक्खसहे य जे स जिकखू ॥

किञ्च (जो सहइसि) यः खलु महात्मा सहते सम्यग्ग्रामकण्ट-
कान् ग्रामा इन्द्रियाणि, तद्दुःखहेतव कण्टकास्तान् स्वरूपत एवाह,
आक्रोशान् प्रहारान् तर्जनाभ्येति । तत्राक्रोशो अकारादिभिः, प्र-
हारः कशादिभिः, तर्जना असूयादिभिः, तथा भैरवभया अत्यन्त-
रौरभयजनकाः शब्दाः सप्रदासा यस्मिन् स्थान इति गम्यते
तत्तथा तस्मिन्, घेतास्वादिकृतार्तनादादृहास इत्यर्थः । अत्रोपस-
र्गेषु सत्सु समसुखदुःखसहस्रयोऽवलितभावः स भिक्षुरिति
सुत्रार्थः । द० १० अ० ।

अक्रोसपरि (री) सहविजय-आक्रोशपरि (री) पह-
विजय-पु० मिथ्यादर्शनोद्बुद्धतोदीरितदुर्वचसि ज्ञानिदावदादी-
नि क्रोधभूतवहोदीपनपरिष्ठानि गृह्यन्तोऽपि तत्प्रतीकार कर्तु-
मपि शक्नुवन्तो 'दुरन्तः क्रोधादिकषायोदयानिमित्तपापकर्मवि-
पाक' इति चिन्तयतः कषायतलवमात्रस्यापि स्वहृदयेऽनव-
काशदाने, पचा १३ विव० ।

अक्रोह-अक्रोध-त्रि० न० ब० क्रोधोदयविरहिते, विफली-
कृतक्रोधे, औ० । नञः स्वल्पार्थत्वात् स्वल्पक्रोधे, ज० २ वत्त० ।
क्रोधमकुर्वाणे, उक्तं २ अ० । " से णुण भंते । अक्रोहत्त अ-
माणत्त अमायत्त अलोभत्त समणाणं निर्माथाण पसत्थ । हता
गोयमा ! अक्रोहत्त जाव पसत्थ " भ० १ श० ए उ० ।

अखरुम्मिअं-देशी-तथेत्यर्थे, दे० ना०

अख-अह-पु० जीवे, आ० म० प्र० । स्था० उज्जयन्नापि "मा-
वाविचमिकमिहानिकप्यणी" इत्यादिना औणादिकः सप्रत्ययः ।
आ० म० प्र० ।

जीवो अखो अत्थ-व्वावणभोयणगुणाणिओएण ।

अक्रस्तावजीव उच्यते, केन हेतुनेत्याह (अत्थवावणेत्यादि)
अर्थव्यापनजो जनगुणान्वितो येन तेनाक्रो जीवः । इदमुक्तं भव-
ति "अशूक् व्यासौ" अश्नुते ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीत्यौ-
णादिकनिपातनादक्रो जीवः । अथवा "अज्ञ भोजने" अज्ञाति
समस्तत्रिष्टुवनान्तर्वर्त्तिनो देवलोकसमूह्यादीनर्थान् पाहयति
शुक्ले वेति निपातनादक्रो जीवः । अज्ञातेजो जनार्थत्वाद्, ज्ञे-
अ पाह्यनान्यवहारार्थत्वादिति भावः । इत्येवमर्थं व्यापनभोज-
नगुणयुक्तत्वेन जीवस्याकृत्वं सिद्धं भवति । विशेषः । इन्द्रिये,
न० " खमकमिन्द्रिय प्रोक्त, हर्षादि करण स्मृतम् " इति वच-
नात् । " अक्खस्स पोग्गखमया, ज दव्वेदियमणपरा होति "
आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । विशेषे० नि० चू० । दश० । अज्ञा-
ति नवनीतादिकमित्यक्रः । धुरि, (चक्रनाभौ) उक्तं १ अ० । " अ-
क्खमंगम्मि सोयइ " । उक्तं ५ अ० । अनु० । औ० । ज० । ज० ।
चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्नेऽवमानविशेषे, अनु० । ज्यो० । व्यावहारिको-
ऽक्रः षष्ठ्यवत्यहुष्टमानेन भवति । स० ६६ सम० । अक्र इत्यक्रोपाङ्ग-
दानवश्चेति द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने, दश. १ अ० । चन्दनके, अस्मिन् हि
अनाकारवर्ती साध्वादेः स्थापनां कृत्वाऽऽवश्यकक्रियां कुर्वतः
स्थापनाऽऽवश्यक भवति । अनु० । आव० । तद्वपे उत्कृष्टप्र-
हिकोपधिविशेषे, "अक्खासथारो वा, एगमणेगगिओ अक्रो-
सो । पोत्थगपणग फल्लग, उक्कोसोवग्गहो सव्वो" ध० ३
अधि० ग० पि० । प० व० । रुद्राक्षफलविशेषे, अणु० ३ वर्ग ।
पाशके, कपर्दके, "कुजप अपराजिय जहो, अक्खेहि कुसवेहि
दीवय" सूत्रं १ श्रु० २ अ० ३ उ० । विज्जीतके, रावणसुतभेदे, सपे,

जातान्धे, गरुडे च, तुष्टे, सौधर्चले, कर्पपरिमाणे च, न० पाच० ।
अक्षयऽय-अक्षतिक-त्रि० अक्षये, "अक्षयधीषण अण्पाण
कम्मबधणेण मुहरि" अक्षतिकबोजेन अक्षयेण दुःखदेतुनेत्य-
र्थः । प्रश्न० भाष० २ द्वा० ।

अक्षयओदय-अक्षयोदक-त्रि० अक्षयं शास्वतमघिनाह्युदकं
जल यस्य सोऽक्षयोदकः । नित्यसमिलभृते, "जहा से सयं-
हरमणे सद्दही अक्षयओदय" उच० ११ अ० ।

अक्षयचम्प-अक्षचर्मन्-न० जलापकपेणकोशे, "अक्षयचम्प
उचगडदेस" द्वा० ६ अ० ।

अक्षयणवेष्ट-देशी-सुरते, प्रदोषे च । दे० ना० ।

अक्षयणिवद्धा-अक्षनिवद्धा-स्त्री० गन्ध्याम्, पि० ।

अक्षयपाय-अक्षपाद-पु० अक्षं नेत्रं दर्शनसाधनतया जातं पा-
देऽस्य न्यायसूत्रकारके गौतममुनी, स हि स्वमतसूत्रकस्य व्या-
सस्य मुम्बदर्शनं चक्षुषान् कर्णायमिति प्रतिज्ञाय पश्चाद् व्या-
सेन प्रसादितं पादे नेत्रं प्रकाश्य तं दृष्टयानिति पौराणिकी
कथा । पाच० । अक्षपादमते किस पोड्य पदार्थां । "प्रमाणप्रमेय-
संशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्ताप्ययतर्कनिर्णययादजल्पित-
एडाद्वैद्याभासच्छब्दजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाभिधेयसाऽ-
धिगमः" इति वचनात् । इत्याद्यन्यत्र प्रकल्पयिष्यते । स्या० ।
"अक्षपादेनोक्ते प्रमेयं च" विशे० । आ० म० प्र० ।

अक्षय-अक्षम-त्रि० क्षमते क्षमः । अक्ष् । न० त० । असमर्थे, क्ष-
म-भावे अक्षः, अभावाय, न० त० । क्षमाभावे, ईर्ष्यायाम्, स्त्री० ।
पाच० । अक्षयः, स्या० ३ त्वा० ३ उ० । अनुचितत्वे असम-
र्थत्वे, स्या० ५ त्वा० १ उ० ।

अक्षय-अक्षज-न० अक्षाद् इन्द्रियसन्निकर्षाज्जातः । जन-रु० ।
इन्द्रियविषयसन्निकर्षोत्पत्तेः प्रत्यक्षज्ञाने, पाच० । "अक्षयापा-
रमाधित्य, भयदक्षजमिष्यते । तद्व्यापारो न तत्रेति, कथमक्ष-
मय जघेत्" आ० म० छि० ।

अक्षत-पु० वहु० न क्षताः । अखारुतएकुसे, दर्श० । प्रय० ।
पञ्चा० । सस्यमात्रे, । न० क्षययुक्तानिधे, उत्कर्षान्विते, अविदा-
रिते, यवे च, त्रि० क्षणभावे, पाच० । परिपूर्णं, स० १ सम० ।
प्रश्न० । क० न० त० क्षयानाये, न० पाच० ।

अक्षय-त्रि० नाऽस्य क्षयोऽस्तीत्यक्षयः । न० । अपर्ययसाने,
पाच० ४ अ० । अग्रणाशिनि, पञ्चा० ४ धि० । स० । "सिय-
मयलमरुक्षमणं तमफलतममध्यवाहमपुणरायसिय सिद्धिगद्दना-
मधेय त्राण सपाविउकामे" अक्षय क्षयरहित साधनन्तयत्वात् ।
कल्प० । अनाशसाधपर्यवस्थितकत्वात् म० १ श० १ उ० ।
विनाशकरणाज्जायात् । जी० ३ प्रति० । रा० ध० । "स पञ्चया
अपञ्चयसागरे धा, महोदही धा विअणतपावे" स भगवान्
प्रज्ञयाऽक्षयोऽक्षीणज्ञान इत्यर्थः । सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० ।

अक्षयणिहि-अक्षयनिधि-पु० देवजाण्णागारे, अक्षययणि-
हिं च अणुवट्टेस्सामि" विपा० १ ध्रु० ७ अ० । अव्यये भा-
एमागारे । द्वा० १ ध्रु० २ अ० ॥

अक्षयणिहितव-अक्षयनिधितपस्-न० लौकिकफलप्रदे त-
पोन्नेदे, यत्र जिनविम्बस्य पुरतः स्थापितकलशः प्रतिदिनं प्र-
क्षिप्यमाणतपकुलमुष्ट्या यावद्भिदिनैः पूर्यते तावन्ति दिना-
न्येकाशनेनाऽकारितयोऽक्षयनिधितपः । पञ्चा० ९ वि० ।

अक्षयणीवि-अक्षयनीवि-स्त्री० अक्षया चासौ नीविध्वम-

क्षयनीधिः । पो० ६ धि० । अव्यये मूलधने, येन जीर्णाञ्जनस्य
वेद्यकुलस्योद्धारः करिष्यते । द्वा० १ ध्रु० २ अ० ।

अक्षयतट्या-अक्षयतृतीया-स्त्री० कर्म-स० । वैशाखशुक्ल-
तृतीयायाम्, "वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका । अक्षया
सा तिथिः प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता । तस्यां दानादिकं सर्व-
मक्षयं समुदाहृतमिति, पाच० । तन्मादात्म्यकथा चैत्रम-
प्रणिपत्य प्रभुपार्श्वे श्रीचिन्तामणिसङ्गमम् । अथाक्षयतृतीयाया
व्याख्यानं लिख्यते मया ॥ १ ॥ एतदेवाहं श्रुतकेवली भगवान्
भद्रबाहुः ।" उसभस्स हु पारणए, इप्सुरसो आसि लोग
माहस्स । सेसाण परमज, अभियरसस्तोयम आसी ॥ १ ॥
घुट्ट च अहो दाण, दिव्याणि आहियाणि तूराणि । देवा विस-
अियट्ठिआ, यमुदारा खेव बुट्ठीय ॥ २ ॥ भयण धणेण भुवण,
जसेण भयय रसेण पडिहत्यो । अण्णा निरुधमलुक्ख, सुपत्त-
दाण महग्गयिअ ॥ ३ ॥ रिसहेण सम पत्त, निरवज्ज इप्पु-
रससमं दाणं । सेयससमो भावो, हविअ जइमगिय बुद्धा ॥ ४ ॥
इति । एतासां गाथानां भावार्थं कथयाऽवगन्तव्यः । तथाहि-
श्रीशृंगभदेवस्थामिनो जीयं सर्वार्थसिद्धविमानात् व्युत्थाऽऽ-
पादकृष्णचतुर्थ्यां तीर्थं नाभिनाम्नः कुलकरस्य भार्याया मरु-
देव्याः कुलाचयतीर्य । नय मासान् चत्वारि दिनानि च तत्रो-
पित्या चैत्रकृष्णाष्टम्यां निशीथसमये जन्म जगृहे । तदानीं
विष्टपत्रयं विदित्वा । क्षणं नारकैरपि र्जितैः शमध्यगामि ।
तदनु पदपञ्चाशद्विभुमारिकाणामासनानि चकम्पिरे । ताभ्या-
पधिज्ञानेन भगवतो जनिमयगम्य जन्मस्थानमासाद्य च स्वस्व-
कार्यं सपाद्य निजनिकेतनानि प्रत्यगमन् । ततश्चतुष्पादिस-
ङ्गकानामिन्द्राणामपि विष्टराष्ट्रेण । तेऽप्यवधिज्ञानेनैव भग-
वतो जनुर्महणं विदित्वा सौधर्म्येन्द्रव्यतिरिक्ता अन्ये त्रिप-
ष्टिरिन्द्रा हेमाद्रिं प्रतिजग्मुः । ततः सौधर्म्येन्द्रोऽपि जन्मस्थानं
समागत्य तत्रस्थेभ्यो मातृप्रमुक्षेभ्यो जनिभ्योऽवस्थापिनीं निद्रां
दत्त्वा मातृसन्निधौ स्थशक्त्या रचितं भगवत्प्रतिधिस्य निधाय
भगवन्तमुज्जाभ्यां पाणिभ्यां गृहीत्वा कनकाद्रिं समाययौ । तत्र
च चतुष्पादिसङ्गैरिन्द्रैः संभूय स्नात्रमहोत्सवं कृत्वा ततः
सौधर्म्यविरहितैरन्यैरिन्द्रैरष्टमो नन्दीश्वरद्वीपो जग्मे । सौध-
र्म्येन्द्रस्तु भगवज्जनन्याः सन्निरुष्टे पालकं पूर्वयत् सस्थाप्य
अवस्थापिनीं निद्रां पूर्वनिहितं भगवत्प्रतिविम्बं चापहृत्य "न-
मो रत्नकुक्षिधारिण्यै" इत्युक्त्वा मातरं प्रणिपत्य ततो भग-
वन्तं च नमस्कृत्य नन्दीश्वरद्वीपमवासीत् । तत्र सर्वे इन्द्रा
अष्टाद्विकमहोत्सवं विधाय निजनिजसुरालयं समासदन् ।
अथ स भगवान् सौधर्म्येन्द्रसंचारितामृतवन्तं निजाहुष्टमेव
शुचूप । मातृस्तन्यपानं न चकार आऽज्ञाशनात् तीर्थङ्कराणां
तादृशाचरितत्वात् । ततः क्रमेण पिता 'ऋषभ' इति भग-
वतो नाम विदधे । इन्द्रस्तु तदानीमिदवाकुवशमतिष्ठित् ।
विंशतिलक्षपूर्वपर्यन्तं भगवान् कुमारावस्थायामेवातिष्ठत् ।
वासवो विनीताख्यां नगरीं कारयित्वा भगवते प्रायच्छत् रा-
ज्याभिषेकं चाकरोत् । आश्विपष्टिलक्षपूर्ववर्षं महाराजपदवीं-
मनुषभूष । सुनन्दा सुमङ्गला चेति द्वे पत्न्यौ भगवतो यभू-
वन्तु । तयोर्भरतघाहुवलीप्रमुखं सुनुशतमजनिष्ट । तथा आ-
दित्ययशःलोमयशःप्रभृतयो बहवः पौत्रा अभूवन् । ततो भग-
वान् अयोध्याराज्यं ज्येष्ठपुत्राय भरताय ददौ, बाहुवलिने च
तक्षिलाराज्यमदात् । अन्येभ्योऽपि तनूजेभ्यो यथाहं देश-
नगरादिराज्यं प्रदाय स्वयं चैत्रकृष्णाष्टम्यां दीक्षां जगृहे, आ-

वेषु पूर्वं साधुक्रियामञ्जुकीत्, अत एव श्रेयांसकुमारो व्यचिन्तयत् यत् संसारिजीवानां कीदृशमज्ञानित्वं प्रवर्तते येन त्रिलोकी-प्रभु राज्यपदवीं तृणवत् विसृज्य विषयभोगरूप सांसारिकसुखं किंपाकफत्रमिव विदित्वा साधुत्वं गृहीत्वा च कर्मबन्धनविमोचनाय प्रयतमान रागद्वेषाद्यनेकानर्थकारणीभूतं परिग्रहं परमाणुमात्रमप्यस्वीकुर्वाणं जगवन्त नवेदिषुः । यः सर्वथा निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः स कथं पुनर्हस्त्यश्वकन्यास्वर्णमणिमालिक्यमुक्ताफलादीन् परिग्रहान् ग्रहीष्यति । एव बुद्ध्वा स श्रेयांसकुमारो निजप्रासादगवाक्कात् तूर्णमधः समवतीर्य जगवतश्चर-णोपकण्ठ समाययौ जगवन्त त्रिः परिक्रम्य परमानन्दसिन्धु-निमग्नो वचन्दे च । पुनरर्जुनि बद्ध्वा भगवन् तृणवत् व्यजिह्वपञ्च । हे स्वामिन् । मयि कृपा विधीयतामहं संसारतापतप्तोऽस्मि । अतो मे संसाराग्निस्तारः क्रियताम् । अष्टादशकोटाकोटिसागरोपमपर्यन्तविच्छिन्नो मुनिजनानां प्रासुकाहारदानविधिः प्रकाशयताम् । मम गृहे उपहाररूपेण समागतान् इक्षुरसपूर्णान् शुक्लाहारभूतान् अष्टोत्तरशतघटान् भवान् समाददातु । इति वचो निशम्य ज्ञानचतुष्टयसम्पन्नो भगवान् तमिक्षुरसद्व्यक्तैश्चकालज्जावानुकूलं निरवघाहार समवगम्य श्रेयांसनिकेतनमुपेत्य निजहस्ताब्जद्वौ सर्वं युगपज्जग्राह । यतो भगवता पाणिपात्रद्व्यधिमता नृयते, तेनैव स निखिलोऽष्टोत्तरशतघटरसोऽर्जुनि-प्रविवेश । रसग्रहणसमये चैकविन्दुरपि दूमौ न निपपान । यद्यप्ययमष्टोत्तरशतघटपरिच्छिन्न एव रसोऽभूत् यदि च शत-सहस्रवक्त्रपरिमितः समुद्रपरिमितो वा स्यात् तथापि प्रविशेत् । एव भगवते विशुक्लाहारदानस्य महानानन्दः श्रेयांसस्य तनौ न ममौ । पुनर्व्यचिन्तयत् त्रिलोकीपूज्योऽनन्तगुणनिधिर्भगवान् ऋषभदेवो यन्मे हस्तेनाहारमाददे तन्मयि परमप्रसादं व्यधत् । भगवते निर्दोषाहारं ददतो मे सर्वः पापसन्तापः क्षीणः । यावत् स एव विचिन्तयति तावत्कर्षनिर्जरा देवाः पञ्च दिव्यानि प्रकटीचक्रुः, 'अहोदानमहोदानम्' एव प्रजल्पन्तो देवदुन्दुभी-न् च वाद्यांचक्रिरे । तिर्यग्बुद्धमकाश्यास्त्रिदशाः सार्धद्वादश-कोटिसुवर्णदीनाराणां रत्नानां च वृष्टिमकार्षुः । तदा श्रेयांस-गृहं सुवर्णदीनारै रक्षैः समृद्ध्यादिभिश्च परिपूर्णं समजनि । विष्टपत्रय धनधान्यादिभिः परिपूर्णम् । श्रेयांसस्यात्मा निरुप-मसुखजाजन सजातम् । तदारज्य लोके सर्वे साधूनां भिक्षा-दानविधिं विदाञ्चक्रुः । भगवान् यस्मिन् यस्मिन् देशे विहरति तस्मिन् तस्मिन् देशे कदापीतयो न भवन्ति स्म, सकलगृहाण्य-पि परमोत्समाहारपूर्णानि बभूवुः, येन अकिञ्चना अपि जगवत परमाश्रं प्रयच्छन्ति स्म तस्यातिशयविशिष्टत्वात् । अस्मिन् वैशाखशुक्लतृतीयादिने जगवत श्रीऋषभदेवस्य पारणा श्रेया-सगृहे इक्षुरसेन निर्वृत्ता । इदं च दानं श्रेयांसस्याक्षयसुखका-रणीभूतं सजातमतोऽस्यास्तृतीयाया, 'अक्षयतृतीया' 'इक्षु-तृतीया' वा सहा लोके प्रवर्तिष्ट । अत्र कश्चित् प्रश्न करोति, त्रैलोक्यनाथस्य भगवतो धर्ममेकं ज्ञानान्तरायः कथम् । अत्रो-च्यते कल्पविवरणे प्रदर्श्यमानमन्तरायनिदानं कर्म । तथाहि । पूर्वभवे जगवान् मार्गे गच्छन् खले धान्यानि स्नादतो वृषजान् कृषीवद्वैस्ताड्यमानानवलोक्य सजातकरुणस्तान् प्रावोचत्, अरे रे मूर्खाः कृपाणाः ! एतान् बुनुच्छन् यूयं न तामयत किन्तु भोक्तुं शक्यन्ति । तदा ते प्रत्यूचुः, वयं न तां निर्मातुं जानीम । ततो जगवान् तत्रोपविश्य सहस्तेन तां निर्माय तया च वृषजमु-

ख बद्धा तान् प्रादर्शयत् । तथा बरुमुखो वृषजो महता कष्टेन
पष्टुत्तरशतत्रयकृत् । श्वासानमुञ्चत्, अतस्तत्रोपाजितमन्तराय-
कर्म दीक्षाग्रहणसमये प्रादुर्भूयैकवर्षानन्तरमद्योपशमतामवापे-
ति । अथास्य दानस्य प्रज्ञावेण श्रेयांसो भोक्तृपदवीमवाप्स्यति ।
भगवांश्चैकसहस्र वर्षाणि त्र्यम्बकावस्थायामतिष्ठत् । एकसहस्र-
वर्षानन्तरं पूर्ववर्षावधिकेवलित्वावस्थायां स्थित्वाऽनेकान् ज-
नव्यजीवान् प्रणिषोध्यन् विचचार । ततोऽष्टापदपर्वतोपरि नभ-
रमिम लोकमपास्य भोक्तृमवाप । अतोऽक्षयवृत्तीयादिने भव्य-
जीवानां सुपात्रेदान, शीघ्रपालन, तपस्याऽचरण, प्रायानावा-
न, देवपूजन, आत्रमहोत्सवादिक च कर्म विधीयत इति ॥

गद्यपद्यमय हेतुः पूर्वाचार्यैर्विनिर्मितम् ।

माहात्म्यं क्षिप्रित सारं मया राजेन्द्रसूरिणा ॥ १ ॥

युगे प्रथमायामक्षयवृत्तीयायां केनापि पृष्टम् । के ऋतवः पूर्व-
मतिक्रान्ता को वा सम्प्रति वर्तते ? तत्र प्रथमाया अक्षयवृत्ती-
यायाः प्राक् युगस्यादित आरभ्य पर्वाण्यतिक्रान्तानि एको-
नविंशति । तत एकोनविंशतिर्धियते धृत्वा च पञ्चदशभर्गुण्यते
जाते द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके (२८५) अक्षयवृत्तीयाया किल-
पृष्टमिति पूर्वणामुपरि तिष्ठन्तिथयः प्रक्षिप्यन्ते जाते द्वे शते
अष्टाशीत्यधिके (२८८) तावति च कालेऽवमरात्राः पञ्च ज-
वन्ति, ततः पञ्च पात्यन्ते जाने द्वे शते त्र्यशीत्यधिके (२९३) ते
ह्यभ्या गुण्यन्ते जातानि पञ्च शतानि पदपृष्ठधिकानि (५६६)
तान्येकपट्टिसहितानि क्रियन्ते जातानि पदशतानि सप्तविंशत्य-
धिकानि (६२७) तेषां द्वाविंशतिशतेन जागहर्ण दण्डाः
पञ्च ते च परनिर्माणं न सहन्त इति न तेषां परनिर्माणहार,
शेषास्त्वगा उचरन्ति सप्तदश, तेषामर्कजाता सार्काष्टौ, आगत,
पञ्च ऋतवांसतिक्रान्ताः पष्टस्य च ऋतोः प्रवर्तमानस्याष्टौ
दिवसा गता नवमो वर्तते इति । सू० प्र० ११ पादु०

अक्खयपूया-अक्षयपूजा-श्री० जिनप्रतिमानां पुरतोऽखण्डत-
रमुल्लसमर्पणे, तन्माहात्म्यविषये ब्रुककथानक विजयचन्द्र-
चरित्रालिख्यते । तद्यथा—

अखमफुमियसुक्ख-क्खपरिं पुजत्तय जिणिदस्स ।

पुरओ नरा कुणतो, पावति अखमियसुहाइ ॥ १ ॥

जह जिणपुरओ सुक्ख-क्खपरिं पुजत्तय कुणतेण ।

कीरमिहुणेण पत्त, अखमिय सासय सुक्ख ॥ २ ॥

अरित्थ जरहवासे, सिरिपुरनयरस्स बाहिउज्जाणे ।

रिसहजिणेसरजुवण, देवविमाण व रमणीय ॥ ३ ॥

भवणस्स तस्स पुरओ, सहयारमहादुमत्ति सच्छाओ ।

अनुअनेहरत्तं, सुअमिहुण तम्मि परिवसइ ॥ ४ ॥

अह अज्जया कयार्ह, भाणिओ सो तीइ अत्तणो जत्ता ।

आणइ मोहओ मे, सीस इह साखिखित्ताओ ॥ ५ ॥

जणिया सो तेण पिप, एय सिरिकतराणो खित्तं ।

जो एयम्मि वि सीस, गिहइ सीस निवो तस्स ॥ ६ ॥

भाणिओ तीप सामिय, तुह सरित्तो नत्थि इत्थिकापुरित्तो ।

जो भज्ज पि य मरण, इच्छसि नियजीवल्लोहेण ॥ ७ ॥

इय भाणिओ सो तीप, जज्जाप जीवियस्स निरुविकखो ।

गदूण साखिखित्ते, आणइ सो सालिसीसाण ॥ ८ ॥

एव सो पइदियह, रक्खताण पि रायपुरिसाण ।

आणइ मजरीओ, भज्जापसेण सो निच्च ॥ ९ ॥

अह अज्जया नरिंदो, समागओ तम्मि सालिखित्तम्मि ।

पिच्छइ सउणविलत्त, त खित्त एगदसम्मि ॥ १० ॥

पुछो य आयरेणं, पुहवीपालेण सालिया सुत्ति ।

किं इत्थ इमं दीसइ, सउणहिं विणासियं खित्त ॥ ११ ॥

सामिय ! इक्को कीरो, गच्छइ सो सालिमजरी धित्त ।

रक्खिज्जंतो वि दद, चोरुव ऊरुत्ति नासेइ ॥ १२ ॥

भाणिओ सो नरवइणा, मंमियपासेहिं त गढेऊण ।

आणेइ मज्जापासे, हणेइ चोरुव त उट्ठं ॥ १३ ॥

(आणियओ पासे, सहसो चोरुव अइउट्ठो । इतिपागन्तरम्)

अह अज्जिणे कीरो, रायापसेण तेण पुरित्तेण ।

पासनिक्खो निज्जइ, सुईए पिच्छमाणीए ॥ १४ ॥

पुछविलग्गा धावइ, अंसुजत्ता पुअत्तोयणा सुई ।

पत्ता दइएण समं, सुपुक्खिया रायभवणम्मि ॥ १५ ॥

अछाणत्ति राया, विज्जत्तो तेण सालिपुरित्तेण ।

देवेसो सो सूओ, वडो चोरुव आणीओ ॥ १६ ॥

त दट्ठण राया, रंग गहिकण जाव पढेइ ।

ता सहसखिय सुई, नियपइणो अतरे पडिया ॥ १७ ॥

पभणइ सुई पढणसु, निस्सको अज्ज मज्ज देहम्मि ।

मुचसु सामिय ! एय, महजीवियदायग जीय ॥ १८ ॥

तुह सालीए उवर्हि, सजाओ देव मोहलो मज्ज ।

सो तणसरित्त काउ, नियजीयं महवि ओयम्मि ॥ १९ ॥

हसिकण जणइ राया, कीर ! तुम पभिओत्ति विक्खाओ ।

महिलाकजे जीय, जो चयसि वियक्खणो कट्ठण ॥ २० ॥

पज्जणइ सुई सामिय, ! अउउ ता जणणिजणयत्तिताइ ।

नियजीवियं पि उट्ठइ, पुरित्तो महिआणुरायण ॥ २१ ॥

त नत्थि जं न कीरइ, वसणासत्तेहिं कामलुत्तेहिं ।

ता अउउइ इयरजणो, हरेण देहट्ठय दिन्न ॥ २२ ॥

जह सिरिदेवीइ कप, देवतुम जीविय पि छुट्ठइ ।

तह अओ वि हु उट्ठइ, को दोसो इत्थ कीरस्स ॥ २३ ॥

तीइ वयणेण राया, खित्तइ हियएण विहिय इत्तो ।

कह एसा पक्खिणिया, वियाणए मज्ज वत्तत ॥ २४ ॥

पज्जणइ राया भइ, दिट्ठतो कह कओ अह तुमए ।

साहसु सव्व एय, अइणय कोउयं मज्ज ॥ २५ ॥

पज्जणइ कीरी निसुणसु, दिट्ठतो इत्थ जह तुम जाओ ।

आसि पुरा तुह रज्जे, सामिय ! परिवायगा एगा ॥ २६ ॥

पहुकूडकवरुमरिया, भत्ता जा रुहसददेवाण ।

सा तुह जज्जाइ चिर, सिरिया देविप उवयरिया ॥ २७ ॥

नरवइणोहं जज्जा, बहुमज्जो एस मज्जभत्तारो ।

कम्मवसेण जाया, सव्वेसिं दूहवा अहय ॥ २८ ॥

ता तह कुणसु पसाय, जयवइ जह होमि वल्लहा पइणो ।

महजीविय जीवइ, मरइ मरंतीइ किं बहुणा ॥ २९ ॥

जणिया एसा वच्चे, गिह्वाइ तुमं ओसहीवल्लय ।

त देसु तस्स पाणे, जेण वसे होइ तुह जत्ता ॥ ३० ॥

भयवइ भवणपवेसो, वि नत्थि कह दसण सम तेण ।

कह ओसहीयवल्लय, वेमि अह तस्स पाणम्मि ॥ ३१ ॥

जइ एव ता भइ, गहिकण अज्ज महसयासाओ ।

साहुसु एगगमणा, मत सोदगसज्जण ॥ ३२ ॥

अणिकण सुहमुहत्ते, दिओ पव्वाइयाइ सो मतो ।

पूअ काठण पुणो, तीप वि पभिच्छिओ विहिणा ॥ ३३ ॥

जा जायइ सा देवी, त मत पइदिण पयत्तेण ।

ता सहसा नरवइणा, पभिहारी पेसिया भणइ ॥ ३४ ॥

आणवइ देवि देवो, जह तुमए अज्ज वासभवणम्मि ।

आगतव्वमवस्सं, कुवियण्णो नेव कायव्वो ॥ ३५ ॥
 रयणी-कयसिगारा. समतओ रायलोयपरियरिया ।
 करिणीखधारूढा, समागया रायभवणम्मि ॥ ३६ ॥
 नरवरकयसम्माणा, दोहग्ग देवि सेसमहिह्वाणं ।
 सोहग्ग गहिकण, सजाया सा महादेवी ॥ ३७ ॥
 छुंजइ इच्छियसुक्खं, सतुट्ठा देइ इच्छिय दाणं ।
 रुट्ठा पुण सा जेसि, ताण च विणिग्गहं कुणइ ॥ ३८ ॥
 अह अन्नदिणे पुट्ठा, तीप परिवाइया इमा देवी ।
 वच्चे तुह संपन्ना, मणोरहा इच्छिया जेइ ॥ ३९ ॥
 भयवइ तं नत्थि जए, तुह पयभत्ताण ज न संपवई ।
 तइ विहु जयवइ अज्ज वि, हिययं दोलायप मज्ज ॥ ४० ॥
 जइ जीवइ महजीवं, तियाइ अइ मरइ महमरंतीप ।
 जा जाखिज्जइ नेहो, महववरि नरवरिंदस्स ॥ ४१ ॥
 जइ एव ता गिहसु, नास महसूलियाय पयाए ।
 जेण तुमं मयजीवा, लक्खीयासि जीवमाणा वि ॥ ४२ ॥
 थियाइ मूलियाए, नास दाकण तुह करिस्सामि ।
 देहं पुणन्नव चिय, मा भीयसु मज्ज पासत्या ॥ ४३ ॥
 एवति पभणिकण, गहिउ देवीप सूक्षियावल्लयं ।
 सा वि अ समप्पिकण, संपत्ता निययणम्मि ॥ ४४ ॥
 अह सा नरवइ पासे, सुत्ता गहिकण ओसही नास ।
 ता दिट्ठा निब्बिहा, नरवइणा विगयजीवव्व ॥ ४५ ॥
 एत्तो आकदरओ, उच्छलिओ ज्जसि राइणो जवणे ।
 देवी मया मयत्ति य, धाहावइ नरवइ लोओ ॥ ४६ ॥
 नरवइआपसेण, मिलिया बहुमतविज्जकुसळा य ।
 तइ वि य सा परिचत्ता, मइसि दट्ठण निब्बिहा ॥ ४७ ॥
 भणिओ मंतीहिं निवो, किज्जउ पयाइ अगिसक्कारो ।
 भणिया ते नरवइणा, मज्जवि किज्जउ सह इमाए ॥ ४८ ॥
 चलणविल्लगो लोओ, पभणइ न हु देव एरिसं जुत्त ।
 भणइ सुट्ठकख राओ, नेहस्स न जुञ्जि मग्गाओ ॥ ४९ ॥
 ता मा कुणइ विल्लव, कहुइ ढहु चर्दणिधण पउर ।
 इय जणिकण राया, सच्चिओ पिअयमासहिओ ॥ ५० ॥
 वज्जिर तूरवणे, रोविर नरनारिपउरनिवहेण ।
 पूरितो गयणयत्त, संपत्तो पेयणम्मि ॥ ५१ ॥
 जा विरइकण चिअय, राया आरुइ पिअयमासहिओ ।
 ता दूराउ रुयति, पत्ता परिवाइया तत्थ ॥ ५२ ॥
 भणिओ तीप तुमय, मा एव देवसाहसं कुणसु ।
 भणिय तुमए जयवइ, महजीय पिअयमासहिं ॥ ५३ ॥
 जइ एव ती विसहसु, खणमेग मा हु कायरो होसु ।
 जीवावेमि अवस्स, तुह दइअ बोअपच्चक्खं ॥ ५४ ॥
 त वयण सोकण, ऊससिय तस्स राइणो चित्त ।
 न हु जीवियस्स लाहे जइ लाहे तीइ जज्जाए ॥ ५५ ॥
 जयवइ कुणसु पसाय, जीवावसु मज्ज वल्लइ दइअ ।
 तीप वि हु देवीए, दिओ सजीवणी नासो ॥ ५६ ॥
 तस्स पजावेणं चिय, सा देवी सयन्नलोयपच्चक्ख ।
 उज्जीविथा य समय, नरवइणो जीवियासाए ॥ ५७ ॥
 त जीवियति नाउ, आणदजल्लुलोयणो लोओ ।
 नच्चइ उडिमयवाहो, वज्जिरवहुतूलनिवहेण ॥ ५८ ॥
 सव्वगान्नरणेहिं, पाए परिवाइआइ प्रपण ।
 पभणअ अज्जे अज्ज, ज मग्गसि त पणामेमि ॥ ५९ ॥
 भणिओ तीप राया, सुपुरिसमह नत्थि किं पि करणिज्जं ।

निकखागहणेण अहं, सतुठा नयरमज्जस्मि ॥ ६० ॥
 गयवरखंधारूढ, काऊणं निययपिययमाराया ।
 सपत्तो नियभवणे, आणदमहूसव कुणइ ॥ ६१ ॥
 फल्लिमयभित्तघमिआ, कचणसोवाणथमनिम्मविया ।
 काराविया निवेण, मढिया अज्जाइ तुठेणं ॥ ६२ ॥
 पव्वइया सा नरवरं-मरिऊण अट्ठणण दोसेणं ।
 संजाया सुहसई, साह पत्ता तुह सयासे ॥ ६३ ॥
 दट्ठण देव ! तुम, तुह पासपरिठिय महादेवि ।
 जाय आईसरण, समरिअ तुह मए चरिअं ॥ ६४ ॥
 सोऊण तीइ वयणं, रोवती भणइ सा महादेवी ।
 भयवइ कह मरिऊणं, सजाया पक्खिणी तुमय ॥ ६५ ॥
 मा भूपसि किसोयरि, दुक्खित्ता अज्जमज्जज्जमेण ।
 कम्मवसेण जीवो, तं नत्थिह ज न पावेइ ॥ ६६ ॥
 तेण तुम दिठंतो, दिओ नरनाहमहिहिया विसए ।
 सोऊण इम राया, सतुट्ठो सुइगं भणए ॥ ६७ ॥
 सच्चो दिठंतोहं, दिओ तुम एत्थ महिलिया विसए ।
 ता तुठोह पज्जणसु, जं इउ त पणामेमि ॥ ६८ ॥
 पज्जणइ सुई निस्सुणसु, महइओ नाह अत्तणो जत्ता ।
 ता तस्स देसु जीयं, न हु कज्जे किं पि अणेण ॥ ६९ ॥
 इसिऊण भणइ देवी, देव तुमं कुणसु मज्जवयणेण ।
 पयाए पीईदाणं, ज्ञोयणदाणं च निच्चंपि ॥ ७० ॥
 भणिया सा नरवइणा, वच्चसु जइ जहिष्ठिय ठाणं ।
 मुक्कोय एस जत्ता, तुट्ठेण तुज्ज वयणेण ॥ ७१ ॥
 भणिओ य सासिवाओ, पयाए तट्ठलाणदाण च ।
 पइदियहं कवव्व, रासि काऊण खित्तते ॥ ७२ ॥
 ज आणवेइ देवो, इय भणिए भणइ कीरमिहुण पि ।
 एस पसाओ सामिय, ' इय भणिउ जसि उड्डीण ॥ ७३ ॥
 पुव्वत्ते चूअट्ठमे, गट्ठण पुन्नोहत्ता सुई ।
 नियनियम्मि पसूया, निप्पन्न अइयज्जगति ॥ ७४ ॥
 अह तम्मि चेव समये, तीप सवकी वि निययनीम्मि ।
 तम्मि डुमम्मि पसूया, संपुन्न अइय एग ॥ ७५ ॥
 जा सा चूणि निमित्तं, विणिग्गया तं दुम पमुक्खण ।
 ता मच्छरेण पदमा, आणइ त अरुग तीप ॥ ७६ ॥
 जा पच्छिमा न पिच्छइ, समागया तत्थ अत्तणो अरु ।
 ता सफरिअ विलोडइ, धरणियत्ते डुक्खसतत्ता ॥ ७७ ॥
 तं विलवति य दट्ठ, पच्चावायेण तवियहिययाए ।
 पदमाए नेकण, पुणो वि तत्थेव तं मुक्क ॥ ७८ ॥
 धरणियत्ते लुलिऊण, अंब आरुइ जाव नीरम्मि ।
 ता पिच्छइ त इरं, सा कीरिय अमयसित्तव्व ॥ ७९ ॥
 वरुं च त निमित्त, कम्म पदमाए दारुणविवाग ।
 पच्चावायेण हय, धारिय चिय एगमवडुक्ख ॥ ८० ॥
 तम्मिय अइयज्जुत्ते, संजाया सुइगा य सुअगो अ ।
 कीवन्ति वण्णिगुजे, समयचिअ जणणिज्जणेहिं ॥ ८१ ॥
 रइए तंजलकूमे, नरवइवयणाउ सालिखित्तम्मि ।
 चंचुपुडे गहिकण, वच्चइ त कीरमिहुण ति ॥ ८२ ॥
 अह अन्नया कयाई, चारणसमणो समागओ नाणी ।
 रिसहजिणेसरभवणे, वंदणहेउ जिणिंदस्स ॥ ८३ ॥
 पुरनरनारिनिंदो, देव पुप्फक्खणपहिं पूएउ ।
 एच्छइ नमिऊण सुणिं, अक्खयपूयाफल राया ॥ ८४ ॥
 अक्खमफुनियचोक्ख-क्खणहिं पुजत्तय जिणिंदस्स ।

पुरमो नरा कुण्ठो, पावति सरोदियसुहादं ॥ ५५ ॥
 इय गुरुवयण सोउं, अकखयपुमा ममुञ्जल सोमो ।
 वृत्तं सा सूरि, पमणइ निमभत्तणो कंत ॥ ५६ ॥
 अस्से पि नाह ! एय, अकखयपुजत्तण जिनमाहं ।
 पूपमो अविरेण, सिद्धिसुहं जेण पापेमो ॥ ५७ ॥
 एयं तीए जणिक-ण वधुपुमे भियिप चोक्खकखएहि ।
 रईमो जिणिइपुरमो, पुंजतिं कोरमिहुणं ॥ ५८ ॥
 मत्तिम अयच्चनुभलं, जणलीजणएहि जिनएहिस्स ।
 पुरमो मुचह अक्खे, पावइ जेणकखय सुक्ख ॥ ५९ ॥
 इय वरदियहं काउं, अकखयपुम जिणिइमत्तीए ।
 भाउक्खय गयाहं, सत्तारि पि देवसोगम्मि ॥ ६० ॥
 सुत्तण देवसुक्ख, सो सुभज्जीयो पुणो पि अविठ्ठण ।
 सजासो हेमपुरे, राया हेमपरो नाम ॥ ६१ ॥
 सो पि य सुईजीयो, तसो अविठ्ठण देवसोगामो ।
 हेमपहस्स भज्जा, जाया जयसुदरी नाम ॥ ६२ ॥
 मा पच्छिमा पि सुई, मसोटे दिक्खिण सा जाया ।
 हेमपहस्स रसो, रसनामा नागिया दुहण ॥ ६३ ॥
 अग्रामो पि कमेण, पमसया जाय मारिया तम्म ।
 जायामो पुन इट्ठ, पदमा ते मारिया हां पि ॥ ६४ ॥
 (सजाया पुन इट्ठ, पदमासो मारिया दुहि) इति पाठान्तरम् ।
 सह अग्रया मरिदो, दूमहजरायमावियसरीतो ।
 चंदणज्जुल्लिओ पि दु, सोमइ चूमीइ अण्ण ॥ ६५ ॥
 एयं अमणयिदुणो, विष्ठ जा तिप्पि मत्तए राया ।
 ता मंतनंकुसला, पित्ता पि पर मुहा जाया ॥ ६६ ॥
 उगोमयं मत्तो, दिज्जति य बहुपिदाई दानाई ।
 जिननवणेसु य पूसा, देवयसारादणामो य ॥ ६७ ॥
 रयणी य पच्छिमं, पयनी दोऊण रक्खसो मणइ ।
 किं सुतो मि नरेसर ! मणइ निगो कह णु मट निदा ॥ ६८ ॥
 ओसारण करेउ, अण्णं जइ मरिद ! तुद भज्जा ।
 पक्खियइ अणिकं, तो जीअ अग्रहा मयि ॥ ६९ ॥
 इअ भणिकण मरिद, यिणिगामो रक्खामो नियछाण ।
 राया विमिदयहियसो, चित्तइ किं इदजालु ति ॥ ७० ॥
 किं या दुक्खत्तेण, भज्ज मए एम सुयिणगो दिट्ठो ।
 अहया न होइ सुयिणो, पच्छमो रक्खासो एसो ॥ ७१ ॥
 इत्ता यिनयपमहिया, योलीणा जामिण । मरिदस्स ।
 उदयाच्चम्मि चट्ठिमो, सुरो पि दु कुमलिणीनाहो ॥ ७२ ॥
 रयणीण युत्ततां, नग्गइणा माहिंया सुमतिम्म ।
 तेण पि भणित किज्जउ, देय ! इमं जीयकज्जम्मि ॥ ७३ ॥
 परजीएण नियजी-वरक्खण न दु कुणति सप्पुरिसा ।
 ता होउ मज्ज चिहिय, इय भणिमो राइणा मती ॥ ७४ ॥
 सहायिकण सय्याउ, मंतिणा नग्गइस्स जज्जामो ।
 कहिओ रक्खसभणिओ, सुत्ततो ताण नीसेसो ॥ ७५ ॥
 सोऊण मतिथयणं, सय्याओ नियजियस्स लोहेण ।
 ठाउ अहोमुहीओ, न दिंति मतिस्स पडिययण ॥ ७६ ॥
 पण्णुवयणकमला, उठेउ जणइ रई महादेवी ।
 मह जीविएण देवो, जइ जीवइ किं न पज्जस ॥ ७७ ॥
 इय भणिप सो मती, जयणगवक्खस्स हिट्ठभूमीए ।
 काराधिकण कुड, आरोहइ भगरुकट्टेहि ॥ ७८ ॥
 सा पि य कयसिगारा, नमिऊण जणइ अत्तणो कंत ।
 सामिय ! मह जीवेण, जीवसु निगडामि कुम्भि ॥ ७९ ॥

जणइ सदुक्खं राया, मज्ज कए देवि ! वयसु मा जीय ।
 सणुहिययं य मए, सयमेय पुदाकय कम्म ॥ ११० ॥
 पनणइ चण्णयिज्जगा, सामिय ! मा भणसु परिसं वयणं ।
 जं जाइ तुम्भ कज्जे, त सुलहं जीवियं मज्ज ॥ १११ ॥
 ओसारण करेउ, अण्णं सायला वि नरयट्ठणो ।
 मयणगवक्खे नाउ, जलिय कुम्भि पक्खियइ ॥ ११२ ॥
 अह सो रक्खसगाहो, तीसे सत्तेण तोसिमो सहसा ।
 अण्णत पि य कुडं, दुयासदूरं ममुक्खियइ ॥ ११३ ॥
 भणिया रक्खसयइणा, तुट्ठो हं भज्ज तुम्भ सत्तेण ।
 मग्गसु ज हियइट्ठ, देमि पर तुम्भ किं बहुणा ॥ ११४ ॥
 जणयिज्जणएहि दिओ, हेमपहो महयरो किमभेण ।
 मग्गसु तह पि दु भदे, देवाण न दसं विहलं ॥ ११५ ॥
 जइ एय ता एसो, भह भत्ता देव तुह पसायण ।
 जीयउ याहिचिहाणो, चिरकालं हाउ एस वरो ॥ ११६ ॥
 एय ति पभणिकण, दिव्यालंकारभूषिब काउं ।
 कंचणपउमे मुणुं, देवो दु अदंस्सणीहओ ॥ ११७ ॥
 जीय तुमं मणइ जणो, सीसे पुष्पकखय सियेऊण ।
 नियजीयियदाणेणं, जीए जीयायिमो भत्ता ॥ ११८ ॥
 तुट्ठो तुद सत्तेण, वरसु पर जपिप पिय तुम्भ ।
 भणिया पण्ण पमणइ, देय वरो मह तुम चेय ॥ ११९ ॥
 जीयियमुक्खेण तुए, यसीकओ हं सया पि कमलच्छि ।
 ता अन्नं करणीयं, भणसु तुम मणइ सा हसिउ ॥ १२० ॥
 जइ एय ता चिट्ठ, एम वरो सामि ! तुद सयासम्मि ।
 अयसरपडियं एय, पच्छिस्स तुह सयासाओ ॥ १२१ ॥
 अह अग्रया रईए, भणिया पुत्तरियतीइ कुलदेवी ।
 जयसुदरिपुत्तेण, देमि बलि होउ मह पुत्तो ॥ १२२ ॥
 भयियव्वयायसेणं, जाया दुन्हं पि ताण घरपुत्ता ।
 बहुलपक्खणसंपुआ, सुहजणया जणयिज्जणयाणं ॥ १२३ ॥
 तुट्ठा रई पि चित्तइ, विओ कुलदेवयाइ मह पुत्तो ।
 जयसुदरिपुत्तेण, कह कायव्या मए पूसा ॥ १२४ ॥
 एय चित्ततोए, लखो पूयाइ साहुणो यामो ।
 नरयइधरेण रज्ज, काऊण वसे करिस्सामि ॥ १२५ ॥
 इय चिनिऊण तीए, अयसरपत्ताइ पभणिओ राया ।
 ओ पुट्ठि पडियओ, सो दिज्जउ मह वरो सामि ॥ १२६ ॥
 मग्गसु ज हियइट्ठ, देमि वरं जीविय पि किं बहुणा ।
 जइ एय ता दिज्जउ, मह रज्ज पचदियहाइ ॥ १२७ ॥
 एय ति पभणिकणं, दिअ तुह पिये मए रज्जं ।
 पडियन्न त तीए, महापसाउ ति काऊण ॥ १२८ ॥
 पालइ सा त रज्ज, पसो रयणीए पच्छिमे जामे ।
 जयसुदरीइ पुत्त, आणावइ रोयमाणीए ॥ १२९ ॥
 त न्हाचिऊण पाल, चंदणपुष्पकखएहि पूणउ ।
 पडलयउवरि काउ, ठावइ दासीइ सीसम्मि ॥ १३० ॥
 घण्ण परिणयसहिया, उज्जाणे देवयाइ भवणम्मि ।
 घज्जिरनूररेण, नभिर नरनारिलोएण ॥ १३१ ॥
 अह धिज्जाहरवइणा, कचणपुरसामिपण सूरेण ।
 घच्चतेण नहेण, दिट्ठो सो वारगो तेण ॥ १३२ ॥
 उज्जोयंतो गयण, दिणयरतेउव्व निययतेपण ।
 गहिऊण तेण अलक्ख, अन्न मयबालगं मुत्तुं ॥ १३३ ॥
 भणिया सुत्ता भज्जा, अघोवरियादग छवेऊण ।
 उठह सहु किंतोयारि, पिच्छसु निपदारग जाय ॥ १३४ ॥

किं हससि तुमं सामिय !, हसिन्ना हं निग्धिणेण देवेण ।
 किं कइया वि सुवल्लह, बजापुत्त च पसेवइ ॥ १३५ ॥
 पमणइ पहसियवयणो, जइ मह वयणेण नत्थि सहहण ।
 ता पिच्छेहि सय चिय, नियपुत्त रयणरासि व ॥ १३६ ॥
 इय ससयहिययाए, परमत्थ साहिऊण सा भणिया ।
 नियपुत्तविरहियाणं, अम्हाण एस पुत्तो त्ति ॥ १३७ ॥
 पमिबज्जिऊण एयं, नीओ नयरम्मि सो य पइवियइ ।
 परिवहेइ कलाहिं, सियपक्खगओ मियकु व्व ॥ १३८ ॥
 सा वि य रइमयबाल, सीसोवरि नामिऊण देवीए ।
 आफालइ त पुरओ, वत्थ वसियायले तुठा ॥ १३९ ॥
 गतूण तओ भवणे, सपुत्तमणोरहा सुइ वसइ ।
 जयसुदरी वि दियहा, सुयविरहे दुक्खिया गमइ ॥ १४० ॥
 कयविज्जाहरनामो, मयणकुमारुत्ति गहियवरविज्जो ।
 वच्चतो गयणयत्ते, पिच्छइ तं अत्तणो जणणि ॥ १४१ ॥
 भवणगवक्खारुढा, सुयसोयऊरतनयणसल्लिहेहि ।
 अइनेहनिन्नरेण, उक्खित्ता मयणकुमरेण ॥ १४२ ॥
 त दट्टूण कुमारं, हरिसवस्सु च नयणसल्लिलेन ।
 सिच्चती अवलोयइ, पुणो पुणो निरुदिछीए ॥ १४३ ॥
 उज्झिक्खवाहो लोओ, धाहावइ पुरवइए मज्जम्मि ।
 एसा हरिज्जइ धरिणी, नरवइणो उच्चकट्टेण ॥ १४४ ॥
 अइसुरो वि हु राया, पयचारी किं करेइ गयणत्थे ।
 खुज्जउ किं कुणइ फत्ते, तरुसिहरपयछिप दिट्ठे ॥ १४५ ॥
 चितइ मणम्मि राया, डक्ख खयखारसत्तिहं जाय ।
 एग सुअस्स मरण, बीअ पुण जारियाहरण ॥ १४६ ॥
 एवं डक्खियहियओ, चिछइ राया नियम्मि नयरम्मि ।
 अहवा धरिणीहरणे, भण कम्स न जायए दुक्ख ॥ १४७ ॥
 अवहिविसपण नाउ, पुत्तं त सुइगाइ देवीए ।
 मह जाया नियजणणी, धरिणीबुद्धिइ अवहरण ॥ १४८ ॥
 नियपुरपच्चासत्ते, सरवरपाढीइ चूयगायाए ।
 जणणीसहिओ कुमरो, जा चिछइ ताव सा देवी ॥ १४९ ॥
 वानरूय तह वा-नरीइ काऊण चूयसाहाए ।
 पमणइ वानरूवी, कामुयतित्थं इमं मज्जे ॥ १५० ॥
 तिरिओ वि एत्थ पमिओ, नित्थपभावेण लहइ मणुअत्तं ।
 मणुओ वि हु देवत्त, पावइ नत्थित्थ मदेहो ॥ १५१ ॥
 ता खु पेच्छसु दोक्खि वि म-णुसाइ पक्खक्खदेवभूआइ ।
 एआइ मणे काउ, निवडामो इत्थ तित्थम्मि ॥ १५२ ॥
 जण तुम माणुसिआ, अम्ह पुण परित्तो मणुस्सुत्ति ।
 होहामि त्ति पमणिअ, को नाम गिरहइ इमस्स ॥ १५३ ॥
 जो निअजणणि पि इह, धरिणीबुद्धिइ नेइ हरिऊण ।
 तस्स वि पावस्स तुमं, सामियरूवम्मि आहिआसो ॥ १५४ ॥
 सोऊण वानरीए, त वयण दो वि त्रिहसमणाइ ।
 चितति कह एसा, मह जणणी सा वि कह पुत्तो ॥ १५५ ॥
 नेहेण हरिण वि हु, एसा मह जणइ जणणिबुद्धि त्ति ।
 सा वि य चितइ एसो, मह पुत्तो उअरजाओ त्ति ॥ १५६ ॥
 पुच्छइ ससयहियओ, कुमरो त वागहिं पयत्तेण ।
 भदे ! किं सच्चमिण, जं तुमए भासिय वयण ॥ १५७ ॥
 तीए जणिय सच्च, जइ अज्ज वि तुज्ज अत्थि संदेहो ।
 ता एयम्मि निगुजे, पुच्छसु वरणाणिण साहु ॥ १५८ ॥
 इय जणिऊण सहसा, वानरजुअल अदस्सणीहुअ ।
 सो वि य विम्हयहियओ, पुच्छइ त मुणिवर गतु ॥ १५९ ॥

भयवं ! किं तं सच्च, ज भणिय वानरीइ मह पुरओ ।
 मुणिवइणा वि हु भणिओ, सच्च त होइ नहु अत्थिअ ॥ १६० ॥
 निच्चं चिट्ठामि ठिओ, कम्मक्खयकारणम्मि जायंतो ।
 हेमपुरे सविसेस, साहिस्सइ केवली तुज्ज ॥ १६१ ॥
 इय भणिओ त नमिउं, सहिओ जणणीइ सो गओ गेहं ।
 जणणिजणएहिं दिट्ठो, हरिसियहियएहिं सो विमणो ॥ १६२ ॥
 एगंते ठविऊण, चलणवल्लगोए पुच्छिया जणणी ।
 अम्मो साहेसु फुमं, कइ जणणी मज्ज को जणओ ॥ १६३ ॥
 चितइ सा सविइका, किं एसो अज्ज पुच्छए एयं ।
 पमणइ पुत्तय ! अइ य, तुह जणणी एस जणओ त्ति ॥ १६४ ॥
 सच्च अम्मो एय, तह वि हु पच्चा मि जम्मदायारे ।
 त परमत्थं पुत्तय !, तुइ जाणइ एस जणउ त्ति ॥ १६५ ॥
 तेण वि परितुट्ठेण, कहिउ पमलाइवइयरो तस्स ।
 तह पुण जणओ पुत्तयं, विआओ किंचि नहु सम्मं ॥ १६६ ॥
 भणिओ कुमरेण पुणो, एसा जा ताय आणिया नारी ।
 सा वानरीइ मिछा, एसा तुह जम्मजणणि त्ति ॥ १६७ ॥
 मुणिया वि हु पुठेण, एय चिय साहिऊण भणिओ ह ।
 हेमपुरे गतूण, पुच्छसु तं केवलं एयं ॥ १६८ ॥
 तो ताय तत्थ गंतु, पुच्छामो केवलं निरवसेस ।
 जेणेसो सदेहो, तुइइ मह जुअतंतु व्व ॥ १६९ ॥
 इय भणिऊण कुमरो, चलिओ सह निययजणणिजणएहिं ।
 (इय भणिऊणं चलिओ सहिओ सह जणणि जणयलोएहिं
 इति पाठान्तरम्)

संपत्तो हेमपुरे, केवलियो पायमूलम्मि ॥ १७० ॥
 भत्तिमरनिम्मरगो, केवलियो पायपकय नमिउ ।
 उवविछो धरणिणले, सपरियणो सुरकुमार व्व ॥ १७१ ॥
 जयसुदरी वि देवी, बहुदारिसहस्समज्जयारम्मि ।
 नियपुत्तेण समेया, निसुणइ गुरुभासियं वयण ॥ १७२ ॥
 हेमपमो वि य राया, नियपुरनरनारिलोयपरियरिओ ।
 उवविछो गुरुमूले, निसुणइ गुरुभासियं वयणं ॥ १७३ ॥
 पत्थाव लहिऊण, नरनाहो भणइ केवलं नमिउ ।
 भयव ! सा मह मज्जा, जयसुदरि केण अवहरिया ॥ १७४ ॥
 भणिओ सो केवलियो, हरिया नरनाह ! निययपुत्तेण ।
 विम्हियहियओ पमणइ, भयवं ! कह तीइ पुत्तुत्ति ॥ १७५ ॥
 जो आसि तीइ पुत्तो, सो वालो नेव हयकयंतेण ।
 कवलीकओ महायस, बीओ पुत्तो वि से नत्थि ॥ १७६ ॥
 अलिय न तुम्ह वयणं, बीओ पुत्तो वि तिय से वत्थि ।
 इय विहडियकज्ज पिब, सतावं ससओ कुणइ ॥ १७७ ॥
 भणइ मुणिंदो नरवर, ! सच्च मा कुणसु ससय एत्थ ।
 भयव ! कहसु कह चिय, अइगरुअ कोउअ मज्ज ॥ १७८ ॥
 कुलदेवयपूयाए, बुत्तंतो ताव तस्स परिकहिओ ।
 जा वेयकपुराओ, समागओ तम्मि उज्जाणे ॥ १७९ ॥
 विप्फारियनयणजुओ, जोयइ नरवर तमुज्जाण ।
 सो विहडियसंदेहो, कुमरो वि हु नमइ त जणय ॥ १८० ॥
 आलिंगिऊण पुत्तं, असुजलभरियलोयणो राया ।
 रोयतो बहुदुक्ख, दुक्खेण य बोहिओ गुरुणा ॥ १८१ ॥
 (रोयतो वि हु दुक्ख दुक्खेण विबोहिओ गुरुणा
 इति पाठान्तरम्)

जयसुदरी वि पइणो, चसणे गहिऊण तीइ तह दअ ।

जह देवाण वि परिसा, बहुदुक्खसमाउत्ता जाया ॥ १२२ ॥
 (जह देवाण वि दुक्ख, परिसा मज्जे समावसं इत्यपि)
 पुष्ठो य कयंतीए, भयव ! मह केण ! कम्मणा एसो ।
 जाओ पुत्तविभोगो, सोलसवरिसाण अइसुसहो ॥ १२३ ॥
 सोलसमुहुत्तगाह, सुअभवे ज सुइउहे ठविया ।
 अम हरिकण तप, सुअविरहो तेण तुह जाओ ॥ १२४ ॥
 जो दुक्ख व सुद वा, तिलतुसमिच्चं पि देह भन्नस्स ।
 सो बीअ व सुखित्ते, परबोए बहुफल लहए ॥ १२५ ॥
 सोउं गुरुणो धयणं, गुरुपच्चायावतावियमणाए ।
 जम्मंतरदुच्चरिये, समाधिया सा रई तीए ॥ १२६ ॥
 तीए वि उठ्ठिकण, जणिया जयसुदरी वि नमिक्खण ।
 खमसु तुम पि महासह, ज जणिय तुज्ज सुयदुक्ख ॥ १२७ ॥
 जणिया गुरुणा पुत्त वि, ज बरु मच्छरेण गुरु कम्म ।
 त भज्ज खामणाए, खावय तुम्हेहि नीसेस ॥ १२८ ॥
 जणह नरिदो भयव, ! अन्नभवे किं कय पाव ।
 जेण सह सुदरीए, कुमरेण य पावियं रज्ज ॥ १२९ ॥
 जह सुगजम्ममि तप, जिणपुरओ अफसपहिं खिविक्खण ।
 सपत्त देवत्त, रज्ज तह साहिय गुरुणा ॥ १३० ॥
 ज जम्मतरविहिय, अक्षयपुजत्तय जिणिदस्स ।
 तस्स फल तुह अज्ज वि, तइयनये सासय ठाण ॥ १३१ ॥
 इय भणिप सो राया, रज्ज दाकण रइयपुत्तस्स ।
 जयसुदरिकुमरजुओ, पव्वइं गुरुसर्मावमि ॥ १३२ ॥
 पव्वज्जं पाहेउ, सहिओ दइआह तह य पुत्तेण ।
 मरिक्खण समुप्पन्नो, सत्तमकप्पमि सुरनाहो ॥ १३३ ॥
 तत्तो चुओ समाणो, वरूण स माणुसत्तण परम ।
 पाविहिंसि कम्ममुक्को, अक्षयसुक्ख गओ मुक्ख ॥ १३४ ॥
 जह राया तह जाया, कुमरो देवत्तणमि जा देवी ।
 चत्तारि वि पत्ताइ, अक्षयसुक्खमि मुक्खमि ॥ १३५ ॥

अक्षययायार-अक्षताचार-पु० ६ व० । स्थापितादिपरिहारिणि
 आचारवति साधौ, “आहाकम्मुहेसिय, ठवियरइयकीयकारिय
 ठेज्जं । उन्मिष्ठाहममाले, वर्णमगाजीषणणिकाए । परिहरति-
 सणं पाण, सेज्जोवहिपूतिसकियमीस । अक्षययमभिषममप,
 सकलिठ वासए जुत्तो” एतानि (आधाकर्मादीनि) बोझनपा-
 नाविशयोपधीअ परिहरति । तथा पूति सशक्ति मिश्रम, उप-
 लक्षणमेतत् अक्षयपूरकादिक च यथावदयके युक्तं सांस्क-
 ताचारः । व्य० ३ उ० ।

अक्षययायारया-अक्षताचारता-खी० परिपूर्णाचारतायाम् व्य०
 ३ उ० ।

अक्षययायारमपक्ष-अक्षताचारसंपन्न-त्रि० अक्षतेनाचारेण सं-
 पन्नः । अक्षताचारसंपन्न, व्य० ३ उ० ।

अक्षर-अक्षर-न० न करतीत्यक्षर स्वभावात्कदाचिन्न प्रच्यव-
 त इति कृत्वाऽक्षरम् परे तत्त्वे, “ज्योतिः पर परस्तात्, तमसो यद्-
 गीयते महामुनिभिः । आदित्यवर्णममलं, ब्रह्माद्यैरक्षरं परं ब्रह्म”
 षो० १५ विव० । न क्षरति न विनश्यतीत्यक्षरम् । केवलज्ञाने,
 “सर्वजीवाणं पि यणं अक्षरस्स अणुतभाजिच्छुग्धाडिओ”
 विशेषेण क्षरं संचलने, न क्षरतीति अक्षरम् । ज्ञाने, चेतनायाम्,
 न खल्विदमनुपयोगेऽपि प्रच्यवते ततोऽक्षरमिति, आ० म० प्र०।
 न क्षरइ अणुवओगे, वि अक्षरं सो य चेयणाजावो ।

अविमुक्षनयाणमयं, सुप्पनयाणक्खरं चेव ।

‘क्षरं संचलने’ न क्षरति न चक्षत्यनुपयोगेऽपि न प्रच्यवत इ-
 त्यक्षरः स च चेतनाभावो जीवस्य ज्ञानपरिणाम इत्यर्थः । (तथा
 च तन्मतानुसारिणो मीमांसका नित्यं शब्दमतिष्ठमानाः प्र-
 तीता एव । वृ० १ उ०) एतच्च नैगमादीनामविशुद्धनयानां मतं
 शुद्धानां तु श्रुतसूत्रादीनां ज्ञानं क्षरमेव न त्वक्षरमिति ।

कुत इत्याह—

उवओगे चिय नाणं, सुप्पा इच्छंति जअ तव्विरहे ।

उप्पायजंगुरा वा, जं तेसिं सव्वपज्जाया ॥

यस्माच्छुद्धनया उपयोग एव सति ज्ञानमिच्छन्ति नानुपयोगे,
 घटादेरपि ज्ञानवत्त्वप्रसङ्गात् । अथवा यस्मात्तेषां शुद्धनयानां
 सर्वेऽपि मृदादिपर्याया घटादयो भावा उत्पादभङ्गुरा उत्पत्ति-
 मन्तो विनश्वराश्चेत्यर्थः । न पुनः केचिन्नित्यत्वादक्षरा इति
 भावः । अतो ज्ञानमप्युत्पादभङ्गुरत्वेन क्षरमेवेति प्रकृतम् । अ-
 शुद्धनयानां तु सर्वभावानामप्यवस्थितत्वाज्ज्ञानमप्युत्तरमि-
 ति । एव तावदभिलापहेतोर्विज्ञानस्याक्षरतानक्षरता चोक्ता ॥

इदानीं सामिलापाविज्ञानविषयभूतानामभिलाष्यार्था-
 नामप्यक्षराऽनक्षरते नयविभागेनाह ।

अभिलाष्या वि य अत्था, मव्वे दव्वट्टयाए जं निच्चा ।

पज्जाएणानिच्चा, तेण खरा अक्षररा चेव ॥

अभिलाष्या अप्यर्था घटव्योमादयः सर्वेऽपि द्रव्यास्तिकन-
 याभिप्रायेण नित्यत्वादक्षराः, पर्यायास्तिकनयाभिप्रायेण त्व-
 नित्यत्वात् क्षरा एवेति (क्षरा घटादयोऽक्षरा धर्मास्तिकाया-
 दयः । वृ० १ उ०)

अथ परोऽतिव्याप्तिमुद्गावयन्नाह ।

एवं सव्वं चिय ना-णमक्खरं जमविसेसियं सुत्ते ।

अविमुक्षनयमएणं, को सुयनाणे मइविसेसो ॥

यदि न क्षरतीत्यक्षरमुच्यते एव सति सर्वं पञ्चप्रकारमपि
 ज्ञानमविशुद्धनयमतेनाक्षरमेव । सर्वस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपा-
 विचलनाद्यतश्चाविशेषित सूत्रेऽप्यभिहितमित्युपस्कारः । त-
 द्वाथा “सव्वजीवाणं पि यणं अक्षरस्स अणुतभाजो निच्छु-
 ग्धाडियओत्ति” तत्र ह्यक्षरशब्देनाविशेषितमेव ज्ञानमभिप्रेतं
 न पुनः श्रुतज्ञानमेव अपरं च सर्वेऽपि भावा अविशुद्धनया-
 भिप्रायेणाक्षरा एव ततोऽत्र श्रुतज्ञाने को मतिविशेषो येनो-
 च्यते ‘अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतम्’ इति ।

अत्रोत्तरमाह ।

जइ वि हु सव्वं चिय ना-णमक्खरं तह वि रुद्धिओ वओ ।

जणइ अक्षरमिहरा, न खरइ सव्वं सजावाओ ॥

यद्यप्यविशुद्धनयाभिप्रायेण सर्वमपि ज्ञानमक्षरं तथा सर्वेऽपि
 भावा अक्षरास्तथापि रुद्धिवशाद्धर्णा एवेहाक्षरं भण्यते इतर-
 था तु यथा त्वं भणसि तथैवाशुद्धनयमतेन सर्वमपि वस्तुस्व-
 भावाक्षरं क्षरत्येवेति । इदमुक्तं भवति । यथा गच्छतीति गौः,
 पङ्के जातं पङ्कजम्, इत्याद्यविशिष्टार्थप्रतिपादका अपि शब्दा
 रुद्धिवशाद्धिशेषा एव वर्तन्ते, तथाऽप्राप्यक्षरशब्दो वर्ण एव
 वर्तते । वर्णं च श्रुतमेवेत्यतस्तदेवाक्षरानक्षररूपमुच्यते इति ।
 विशेषेण । न० ।

विशे० । तत्र रुद्धिवशादक्षर वर्ण इत्युक्तम् ॥

तत् पुनर्व्यञ्जन द्विविधम् यथार्थनियतमयथार्थं च । यथार्थ-
नियत नामान्वर्थयुक्त, यथा कृपयतीति कृपणः, तपतीति तपन
इत्यादि । अयथार्थं यथा-नेत्र गोपयति तथापीन्द्रगोपक ।
न पल्लमश्नाति तथापि पलाश इत्यादि । अथवा तद् व्यञ्जन
द्विधा एकपर्यायमनेकपर्याय च । एकः पर्यायोऽभिधेयो यस्य
तदेकपर्यायम् । यथा अलोक स्थण्डिलमित्यादि । अलोकशब्देन
अलोकत्वलक्षण एक एव पर्यायोऽभिधीयते । स्थण्डिलशब्देन
स्थण्डिलत्वमेकमिति । अनेके पर्याया अभिधेया यस्य तदनेक-
पर्यायम् । यथा जीव इति जीवशब्देन हि जीवोऽप्युच्यते
सत्त्वोऽपि प्राण्यपि भूतोऽपि च । जीवादयश्च प्रतिनियतविशे-
षाः । तथा चोक्तम् । “प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूताश्च त्रय-
स्मृता । प्राणा पञ्चेन्द्रिया इत्या, शेषा सत्त्वा उदीरिता ।” ततो

अथर्व

भवति सामान्येन जीवशब्दस्यानेकपर्यायाभिधायकत्वमिति ।
एवमेव एकानेकभेदेनाक्षरेष्वपि दृष्टव्यम् । तद्यथा—द्विविध
व्यञ्जनमेकाक्षरमनेकाक्षरम् । एकाक्षरं धीः भीरित्यादि ।
अनेकाक्षरं धीणा लता मासा इत्यादि ।

सकयपाययज्ञासा—विणिजुत्तं देसतो अयोगविहं ।

अजिहाणं अजिधेया—तो होइ भिन्नं अभिन्नं च ॥

अथवा द्विप्रकारं संस्कृतं प्राकृतभाषादिनियुक्तं च, यथा—वृक्षः
रुक्मो इति । देशतो नानादेशानाश्रित्य अनेकविधम्, यथा—
मागधानामोदनो लाटानां कूरो द्रमिलानां चौरोऽन्ध्रानामिमा-
कुरिति, तथा तदभिधानं व्यञ्जनाक्षरमभिधेयात् भिन्नमभिन्न
म् । तत्र भिन्नं प्रतीतं, तादात्म्याभावात् ।

तमेव तादात्म्याभावमाह—

सुरअग्निमोयगुच्चा—रणम्मि जम्हाउ वयणसवणाणं ।

न वि डेओ न वि दाहो, न वि पूरणं तेण जिन्नं तु ॥

यस्मात् सुरशब्दोच्चारणे अग्निशब्दोच्चारणे मोदकशब्दोच्चा-
रणे च यथाक्रमं वदतो वदनस्य भ्रूणतः भ्रवणस्य न छेदो नापि
दाहो नापि पूरणमतो ज्ञायतेऽभिधेयादभिधानं भिन्नम्, अन्यथा
तादात्म्यबन्धनात् पुरादयोऽपि तत्र सन्तीति वदनस्य भ्रवण-
स्य च वेदादिप्रसङ्गः । अजिघ्रत्व नाम संबद्धत्वम् । तथा च
लोकेऽप्यभिघ्रशब्दः संबद्धवाची व्यवहियते यथाऽयमस्माकं
स्नादनपानेनाभिघ्रः संबद्ध इत्यर्थः ।

ततस्तदेव संबद्धत्वं भावयति—

जम्हाउ मोयगे अजि—हियम्मि तत्थेव पच्चओ होइ ।

न य होइ सो अणत्ते, तेण अजिन्नं तदत्थातो ॥

यस्मान्मोदके अजिहिते तत्रैव मोदके प्रत्ययो प्रवति नान्यत्र,
न च स नियमेन तत्र प्रत्ययोऽन्यत्वेऽसंबद्धत्वे सति भवति
संबद्धाभावतो नियामकान्नावेनान्यत्रापि तत्प्रत्ययप्रसङ्गे, तेन
कारणेन ज्ञायते तदभिधानमर्थादभिघ्रमर्थेन सह वाच्यवाचक-
भावसंबद्धम् ।

एकेकमक्खरस्स उ, सप्पज्जाया ह्वंति इयरे य ।

संबद्धमसंबद्धा, एकेका ते भवे दुविहा ॥

व्यञ्जनस्य यान्यक्षराणि तस्याक्षरस्यैकैकस्य द्विविधाः पर्यायाः
स्वपर्याया इतरे च परपर्यायाश्च । तत्र वर्णस्त्रिधा—ह्रस्वो दीर्घः
प्लुतश्च । पुनरैकैकस्त्रिधा—उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्च । पुनरैकैको
द्विधा—सानुनासिको निरनुनासिकश्च । एवमष्टादशप्रकारोऽवर्णः ।
उक्तं च—“ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च, त्रैस्वर्योपनयेन च । अनुनासि-
कभेदाच्च, सख्यातोऽष्टादशात्मकः” एते अवर्णस्य त्रयः पर्या-
याः, तथा ये एकैकाक्षरसंयोगतोऽक्षरसंयोगत एव यावन्तो
घटन्ते सयोगास्तावत्सयोगवशतो येऽवस्थाविशेषा ये च तत्त-
दर्थमभिधायकत्वस्वभावास्तेऽपि तस्य स्वपर्याया इतरे तत्रा-
सन्तः परपर्यायाः । एवमिवर्णादीनामपि स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च
वक्तव्याः । येऽपि परपर्यायास्तेऽपि तस्येति व्यपादिश्यन्ते ।
व्यवच्छेद्यतया तेषां तद्विशेषकत्वात्, यथाऽयं मे पर इति ।
ते च स्वपर्याया, परपर्यायाश्च एकैके द्विविधा भवन्ति । तद्यथा-
सबद्धा असंबद्धाश्च ।

एतदेव भावयति—

अत्थिचे संबद्धा, हुंति अकारस्स पज्जाया जे उ ।

ते चैव असंबद्धा, नत्थिचे णं तु सव्वे वि ॥

ये अकारस्य पर्यायाः स्वपर्यायास्ते तत्रास्तित्वेन सबद्धा भव-
न्ति, नास्तित्वेन पुनस्त एव सर्वेऽप्यसंबद्धा, तत्र तेषां ना-
स्तित्वाभावात् ।

एमेव असंता वि उ, नत्थिचे णं तु होंति संबद्धा ।

ते चैव असंबद्धा, अत्थिचे णं अजावत्ता ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेणासन्तः परपर्याया, अपि नास्तित्वेन
प्रवन्ति सबद्धाः । ते चैव परपर्याया अस्तित्वेनासंबद्धा, तेषाम-
स्तित्वस्य तत्राभावात् ।

अत्रैव निदर्शनमाह—

धम्मसदे धम्मकारा, ह्वंति मंवच्छपज्जाया एते ।

ते चैव असंबद्धा, ह्वंति रहमममाऽसु ॥

घटशब्दे ये धकारटकाराकारास्तेषां ये पर्यायास्ते एते भव-
न्ति । तत्रास्तित्वेन सबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, त एव
धकारटकाराकारपर्यायाः रथशब्दादिषु भवन्ति अस्तित्व-
नासंबद्धाः, तेषां तत्राभावात् । तदेवमस्तित्वेन स्वपर्या-
यास्तत्र सबद्धा अन्यत्र चासंबद्धा उपदर्शिता । एतदुप-
दर्शनेनैतदर्थोदाहरणम् । ते स्वपर्यायास्तत्र नास्तित्वेनासंबद्धा
अन्यत्र तु सबद्धाः । तथा ये रथशब्दस्य स्वपर्यायास्ते त-
त्रास्तित्वेन सबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, घटशब्दे न स-
बद्धास्तेषां तत्रासत्वात् त एव च रथशब्दे नास्तित्वेनासंबद्धा
घटशब्दे तु सबद्धा इति । तदेव स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च
प्रत्येकं सबद्धा असंबद्धाश्च निदर्शिताः ।

अधुना स्वपर्यायान् दर्शयति—

संजुचासंजुत्तं, इय लज्जते जेसु जेसु अत्थेसु ।

विणिओगमक्खरं ते—सि होंति सभावपज्जाया ॥

इत्येव घटशब्दरथशब्दादिगतेन प्रकारेण सयुक्तमसयुक्तं
वाऽक्षरमकारादिकं येषु येष्वर्थेषु विनियोगं लभन्ते ते तेषां
स्वभावपर्यायाः स्वपर्याया भवन्ति । अर्थादिदमायातम अपरे
परपर्याया इति । तदेवमभिहितं व्यञ्जनाक्षरम् । तदभिधाना-
च्चाभिहितं त्रिविधमप्यक्षरम् । वृ० १ उ० ।

लब्ध्यक्षरमाह—

जो अक्खरोवलंभो, सा द्वाप्पी तं च होइ विष्ठाणं ।

इंदियमणोनिमित्तं, जो आवरणक्खओवसमो ॥

योऽक्षरस्योपलम्भो लाभः सा लम्भन लब्धिः, तद्व्यक्षर-
मित्यर्थः । तच्च किमित्याह—इन्द्रियमनेनिमित्तं श्रुतग्रन्थानु-
सारि विज्ञानं श्रुतज्ञानोपयोग इत्यर्थः । यच्च तज्ज्ञानोपयोगो
यच्च तदावरणकर्मक्षयोपशम एतौ द्वावपि लब्ध्यक्षरमिति
भावार्थः । उक्तं त्रिविधमक्षरम् ।

अथात्र किं द्रव्यश्रुतं किं वा भावश्रुतमित्याह—

दब्बसुयं सप्पावं—जणक्खरं जावसुत्तमियरं तु ।

मइसुयंविसेसणम्मि वि, मोत्तूणं दब्बसुत्तं ति ॥४॥

सत्त्वाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं चैते द्वे अपि भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्य-
श्रुतम्, इतरत्तु लब्ध्यक्षरं भावश्रुतम् । अत्र विनेयं ग्राह—ननु
पूर्वं मतिश्रुतभेदविचारे येयं गाथा प्रोक्ता “सोइदिओबलद्धी,
होइ सुयं सेसयं तु मइनाण । मोत्तूणं दब्बसुयं, अक्खरलंभो
यं सेसेसु ति” अस्यां किमस्य त्रिविधस्याक्षरस्य सग्रहोऽस्ति,
श्रुताविचारस्य तत्रापि प्रस्तुतत्वात्, यद्यस्ति तर्हि दर्शयतां कथ-

मसौ ? अथ नास्ति तर्ह्यत्रापि किमनेनाप्रस्तुतेन इति । सूरिः पूर्वापरग्रन्थसंवाद् दिदर्शयिषुस्तत्राप्यस्याक्षरत्रयस्य सग्रह-मुपदर्शयति (महसुयेत्यादि) मतिश्रुतविशेषणेऽपि मतिश्रुतभेदविचारेऽपि “सोइदिओवलक्षी” इत्यादिगाथायां “मोक्षं दव्वसुय” इत्यनेन गाथावयवेन किमित्याह—

दव्वसुयं मसुक्खर-मक्खरद्वंभोत्ति भावसुयमुत्तं ।

सोओवलक्षिवयणे, ए वजणं भावसुत्तं च ॥

संज्ञाक्षरमुक्तम्, कथंभूतमित्याह—द्रव्यश्रुत भावकारणत्वात् द्रव्यश्रुतरूपम् “अक्खरलभो य सेसेसुत्ति” अनेन त्ववयवेन लब्धक्षरमुक्तमिति शेषः । कथंभूतमित्याह—भावश्रुत विज्ञानात्मकत्वात् भावश्रुतरूप “सोइदिओवलक्षी होइ सुयं” इत्यनेन त्ववयवेन श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्यस्य शब्दस्येति बहुव्रीहिसमासाश्रयणात्, व्यञ्जन व्यञ्जनाक्षरमुक्तम् । श्रोत्रेन्द्रियस्योपलब्धिर्विज्ञानमिति षष्ठीसमासाङ्गीकरणेन तु पुनरपि लब्धक्षर भावश्रुतरूपमभिहितमित्येव न पूर्वापरविसंवादः ।

ननु लब्धक्षर कथं प्रमाता लभत इत्याह—

पक्खरमिन्द्रियमाणे—हि दव्वमः द्विगेण वक्खरं कोइ ।

द्विगमाणमाणमणे, सारिक्खाई पमासंति ॥

तच्चाक्षर लब्धक्षर कश्चित्प्रत्यक्ष लभते प्रत्यक्षरूपतयैव कस्यचिदुत्पद्यत इत्यर्थः । काभ्यां कृत्वा इत्याह—इन्द्रियमनोभ्याम्, इन्द्रियमनोनिमित्तं यद् व्यवहारप्रत्यक्षं तत्र कस्यचिद्द्रव्यक्षर श्रुतज्ञानरूपमुपजायत इत्यर्थः । अन्यत् लिङ्गेन धूमादिना तदुत्पद्यते, धूमादिलिङ्गं दृष्ट्वा अग्न्यादिज्ञानरूपं तत्कस्यचिदुत्पद्यत इत्यर्थः । लिङ्गं किमुच्यते इत्याह—अनुमानमिति । ननु लिङ्गग्रहणं सवन्धस्मरणाभ्यामनुपशान्मानमनुमानं लिङ्गं ज्ञानमुच्यते । कथं लिङ्गमेवानुमानमिति चेत्—सत्यम्, किं तु कारणे कार्योपचारादनुमानम्, यथा प्रत्यक्षज्ञानजनको घटोऽपि प्रत्यक्ष इति । तदिह तात्पर्यम्—लब्धक्षर श्रुतज्ञानमुच्यते । तच्चेन्द्रियमनोनिमित्तं प्रत्यक्षं वा स्यादनुमानं वा स्यादन्यत्, शेषस्यात्मप्रत्यक्षस्यावध्यादिरूपत्वादिति भावः । सादृश्यादिभ्यां जायमानत्वात्तदनुमानं पञ्चविधमिति केचित्प्रमाणान्ते । विशेषः ।

सामन्नविसंसेण य, तुविहा वल्ल्ही पढमा अजेया य ।

तिविहा य अणुवल्ल्ही, उवल्ल्ही पंचहा विइया ॥

लब्धिलब्धक्षर द्विविधं द्विप्रकारम् । तद्यथा—सामान्येन विशेषेण च । सामान्यलब्धक्षरं विशेषलब्धक्षरं चेति भावः । तत्र प्राथमिकी सामान्योपलब्धिः । सामान्योपलब्धक्षरमज्ञेदसामान्ये भेदान्नावात् । इहोपलब्धिरनुपलब्धपेक्षातस्तस्या अपि प्ररूपणा कर्तव्येत्यत आह—त्रिविधा त्रिप्रकारा अनुपलब्धिर्या पुनर्हितीया विशेषोपलब्धिर्विशेषोपलब्धक्षरं सा पञ्चधा पञ्चप्रकारा । वृ० १ उ० ।

सांप्रतमक्खरश्रुताधिकारादेव यदुक्तं सूत्रे “अक्खरद्वंभोत्तिअस्स वल्लिअक्खर समुपज्झइ” इति तत्र प्रत्येमुत्थापयन्नाह—

अक्खरद्वंभो सप्पी—ए होज्ज पुरिसाइव्वसुविण्णणं ।

कत्तो उ असप्पीणं, जणियं च सुयस्मि तेसि पि ॥

पुरुषस्त्रीनपुंसकघटपटादिवर्णविज्ञानरूपोऽक्षरलाजः संज्ञिनां समनस्कजीवानां भवेच्छूद्रधामहे एतदसंज्ञिनां चामनस्कानां कुत पतद्वर्णविज्ञानं भवति ? न कुतश्चिदित्यर्थः । अक्षरलाजस्य परोपदेशजत्वान्नोविकलानां तु तदसंज्ञात्, मा जूत् तेषां तर्हि

तदित्याह—भणितं च वर्णविज्ञानं भूतं तेषामप्येकेन्द्रियाद्यसंज्ञिनाम् “एगिदियाणं महअन्नाणीं सुयअन्नाणीं य” इत्यादि वचनात्, न हि श्रुतज्ञानमक्षरमन्तरेण संभवति तदेतत्कथं भज्यातव्यमिति ? अत्रोत्तरमाह—

जह चैयणमकित्तिम—ममप्पीणं तह होहि नाणं पि ।

थोवत्ति नोवल्ल्णइ, जीवत्तमिव इंदियाईणं ॥

यथा चैतन्य जीवत्वमक्षरमस्वजावमाहारादिसंज्ञाद्वारेणासंज्ञिनामवगम्यते तथा द्रव्यक्षरात्मकसमूहज्ञानमपि तेषामवगन्तव्यम्, स्तोकात्वात् स्पूलदर्शिभिस्तन्नोपलब्धयते जीवत्वमिव पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणाम् । एकशब्दस्य चेहं श्लोपः, मामासत्त्वज्ञानेत्यादिदर्शनादिति । यदपि परोपदेशजत्वमक्षरस्योच्यते तदपि संज्ञाव्यञ्जनाक्षरयोरेवावसेयम् । लब्धक्षरं तु क्षयोपशमेन्द्रियादिनिमित्तमसंज्ञिनां न विरुध्यते, तदेव च मुख्यतयेह प्रस्तुतम् । तच्च संज्ञाव्यञ्जनाक्षरे श्रुतज्ञानाधिकारादिति । दृष्टान्तान्तरमाह—

जह वा सप्पीणमण—क्खराणं असइ नरवसुविण्णणे ।

लक्खरं ति भण्णइ, किमपि त्ति तहा असप्पीणं ॥

यथा संज्ञिनामपि परोपदेशाभावे नवाक्षराणां केषांचिदतीव सुगंधप्रकृतानां पुष्पिन्दुबालगोपालगवादीनामसत्यापि नकारादिवर्णविशेषविज्ञाने द्रव्यक्षरं किमपीदृश्यते नरादिवर्णोच्चारणे तच्च वचनादग्निमुखानिरीक्षणदर्शनाच्च । गौरपि हि सवत्सवत्सवादिशब्देनाकारिता सती स्वनाम जानीते प्रवृत्तिनिवृत्त्यादि च कुर्वन्ती दृश्यते, न चैषां गवादीनां तथाविधपरोपदेशः समास्ति । अथवास्ति द्रव्यक्षरं नरादिविज्ञानसंज्ञावात् । एवमसंज्ञिनामपि किमपि तदेष्टव्यमिति । तदेवं साधितमेकेन्द्रियादीनामपि यत्र यावच्च लब्धक्षरम् ॥

अथैकैकस्याकाराद्यक्षरस्य यावन्तः पर्याया

भवन्ति तदेतद्विशेषतो दर्शयति—

एकैकमक्खरं पुण, सपरपज्जायभेयओ जिणं ।

तं सव्वदव्वपज्जा—यरासिमाणं मुणेयव्वं ॥

इह भिन्न पृथगेकैकमपि तदकाराद्यक्षरं पुनः स्वपर्यायभेदतः सर्वाणि यानि द्रव्याणि तत्पर्यायराशिमानं ज्ञातव्यम् । इदमुक्तं प्रवर्ति—इह समस्तत्रिभुवनवर्तीनि यानि परमाणुद्रव्यणुकादीन्येकाकाशप्रदेशादीनि च यानि द्रव्याणि ये च सर्वेऽपि वर्णास्तदभिधेयाश्चार्थास्तेषां सर्वेषामपि पितृरतो यः पर्यायराशिर्भवति स एकैकस्याप्यकाराद्यक्षरस्य प्रवर्ति, तन्मध्ये हकारस्य केचित्स्तोकाः स्वपर्यायास्ते चानन्ता, शेषास्तन्तुगुणाः पर्याया इत्येव सर्वसंग्रहः । अथ च सर्वोऽपि सर्वद्रव्यपर्यायराशिः सङ्गावतोऽनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया किल दृष्टपदार्थाश्चाकारेकारादयो धर्मास्तिकायादयः सर्वाकाशप्रदेशसहिताः सर्वेऽपि किल सहस्रं तत्रैकस्याकारपदार्थस्य सर्वद्रव्यगतलक्षणपर्यायराशिमध्यादस्तित्वेन सवद्धाः किल शतप्रमाणाः स्वपर्यायाः, शेषास्तु नास्तित्वेन सवद्धाः सर्वेऽपि परपर्याया । एवमिकारादेः परमाणुद्रव्यकादेः एकैकस्य द्रव्यस्य वाच्यमिति । आह—क पुनः स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्याह—

जे लब्धइ केवल्लोम—वसुसहिओ व पज्जवायारो ।

ते तस्स सपज्जाया, तेसा परपज्जया सव्वे ॥

यानुदात्तानुदात्तसानुनासिकानिरनुनासिकादीनात्मसङ्गतात्

अक्षर

पर्यायात् केवलौऽन्यवर्णेन संयुक्तौऽन्यवर्णसंयुक्तौ वाऽकारो लभ-
तेऽनुजयति तस्य स्वपर्यायाः प्रोच्यन्तेऽस्तित्वेन संबद्धत्वात् । ते-
चाऽनन्तास्तद्वाच्यस्य विष्णुपरमाण्वादिरूपस्यानन्तत्वात्तद्व-
द्यप्रतिपादनशक्तेरस्य निमित्तत्वात्, अन्यथा तत्प्रतिपाद्यस्य सर्व-
स्याप्येकत्वप्रसङ्गादेकरूपवर्णवाच्यत्वात् । शेषास्त्विकारादिसंब-
न्धिनो घटादिगताश्चास्य परपर्यायास्तेऽन्यो व्यावृत्तित्वेन नास्ति-
त्वेन सयन्धात्, एवमिकारादीनामपि ज्ञावनीयम् । अक्षरविचा-
रस्य चेह प्रक्रान्तत्वादेकैकमक्षरं सर्वरूपपर्यायराशिमानमुच्य-
ते, अन्यथाऽन्येषामपि परमाणुद्वयगुणकघटादिरूप्याणामिदमेव
पर्यायगानं कृष्टव्यमिति । एवमुक्ते सति पर- प्राह—

जइ ते परपज्जाया, न तस्स अहं तस्स न परपज्जाया ।

जं तम्मि असंवद्धा, तो परपज्जायववएसो ॥

इह स्वपर्यायाणामेव तत्पर्यायता युक्ता । ये त्वमी परपर्यायास्ते
यदि घटादीनां तर्हि नाक्षरस्य, अक्षरस्य ते तर्हि न घटादीनाम्,
ततश्च यदि पर्यायास्तर्हि तस्य कथं, तस्य चेत्परस्य कथमिति वि-
रोधः । तदयुक्तमभिप्रायापरिहृतात् । यस्मात्कारणात्तस्मिन्नाक्षरे
काराक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेनासबद्धा, ततस्तेषां परप-
र्यायव्यपदेशोऽन्यथा व्यावृत्तेन रूपेण तेऽपि सबद्धा एवेत्यत-
स्तेषामपि व्यावृत्तरूपनया पारमार्थिक स्वपर्यायत्व न विरुध्यते ।
अस्तित्वेन तु घटादिपर्याया घटादिष्वेव सयन्धा इत्यक्षरस्य ते
परपर्याया व्यपदिश्यन्ते इति भावः । द्विविधं हि घस्तुन 'स्वरूप-
मस्तित्व नास्तित्व च । ततो ये यत्नास्तित्वेन प्रतिपद्यन्ते तस्य
स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तित्वेन सयन्धास्ते तस्य परप-
र्याया प्रतिपाद्यन्ते इति निमित्तभेदक्यापनपराधेव स्वपरशब्दौ,
न त्वेकेषा तत्र सर्वथा सबन्धनिराकरणपरौ, अतोऽक्षरघटादिप-
र्याया अस्तित्वेनासबद्धा इति परपर्याया उच्यन्ते न पुन सय-
न्धा, ने तत्र सबद्धा नास्तित्वेन तत्रापि सबद्धा । न चैकस्योभयत्र
सयन्धो न युक्त एकस्यापि हिमवदादेशद्वयेन पूर्वापरसमुद्भा-
दिसयन्धात् । यदि होकेनैव रूपेणैकस्योभयत्र सबन्ध इष्येत तदा
स्याद्विरोधः, एतच्च नास्ति, रूपद्वयेन घटादिपर्यायाणां तत्रान्यत्र
च सयन्धात् । सत्त्वेन तत्र सयन्धादसत्त्वेन त्वक्षरादिषु । असत्त्व-
मभावत्वाद्घस्तुनो रूपमेव न भवति खरविषाणवदिति चेदयुक्तम्
खरविषाणकल्पत्वस्य वस्त्वभावेऽसिद्धत्वात् न हि प्रागभावप्रध्व
सामावघटाभावपटाभावादिवस्त्वभावविशेषणवत्खरविषाण-
दिष्वपि विशेषण समवति, तेषां सर्वोऽप्याख्याचिरहलक्षणे
निगमिद्वप्ये पष्ठमूतवन्निरूपेऽत्यन्ताभावमात्र एव व्यवहारिभिः
संकेतितत्वात् । न च पष्ठमूतवद्वस्त्वभावोऽप्यस्मान्निर्नीरूपोऽभ्यु-
पगम्यते, नीरूपस्य निरभिद्वप्यत्वेन प्रागभावादिविशेषणानुपप-
त्ते, किं तु यथैव मृत्पिण्डादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारादि-
व्यावृत्तिमात्रात् प्रागभाव इति व्यपदिश्यते, यथावा कपाद्यादिप-
र्यायो भाव एव सन् घटाकारः परममात्रात् प्रध्वसामावोऽभि-
धीयते, तद्वत्पर्यायान्तरापक्षोऽक्षरादिभाव एव घटादिवस्त्वभावः
प्रतिपाद्यते, न तु सर्वथैवाभावस्तथा, सर्वथा न किञ्चिद्रूपस्या-
नभिलप्यत्वात् । न च वक्तव्यं खरविषाणादिशब्देन सोऽप्यभि-
लप्यत एवेति निरभिलप्यताख्यापनार्थमेव संकेतमात्रप्राविनां
खरविषाणादिशब्दानां व्यवहारिजिस्तत्र निवेशात् । किं च यदि
घटादिपर्यायाणामक्षरे नास्तित्वेन सयन्धो नेष्यते तर्ह्यस्तित्व-
नास्तित्वयोरन्योन्यवच्छेदरूपत्वादस्तित्वेन तेषां तत्र सयन्ध
स्यात्तथा च सत्यक्षरस्यापि घटादिरूपतैव स्यात्, एव च सति
सर्वविश्वमेकरूपतामेवासादयेत्, ततश्च सहोत्पत्त्यादिप्रसङ्गः ।

न च वक्तव्यं घटादिपर्यायाणां घटादौ व्यवस्थितानां नास्तित्वल-
क्षणं रूपं कथमक्षरं प्राप्तं, रूपिणामन्तरेण रूपायोगात् । अथ तेऽपि
तत्र सन्ति तर्हि विश्वैकत्वमिति घटादिपर्यायाणां घटादीन् विहा-
यान्यत्र नास्तित्वेन व्याप्तेरिष्टत्वात् अन्यथा स्वपरभावायोगादत
एव कथंचिद्विश्वैकताऽप्यवाधिकैव । क्वयादिरूपतया तदेकत्व-
स्याप्यभ्युपगमादतो गम्भीरमिदं स्थिरबुद्धिभिः परिभावनीयम्,
तस्मात् घटादिपर्याया नास्तित्वेनाक्षरेऽपि सबद्धा इति तत्पर्या-
या अप्येते अस्तित्वेन घटादावेव सबद्धा न त्वक्षरे इति परप-
र्यायताव्यपदेश इति स्थितमिति ।

यदि घटादिपर्यायास्तत्राक्षरे असंबद्धत्वेन परपर्याया

व्यपदिश्यन्ते तर्हि ते तस्य कथमुच्यन्ते इत्याह—

चायसपज्जाया वि—सेसाइणा तस्स जमुवउज्जंति ।

सधणमिवासंवद्धं, जवंति तो पज्जाया तस्स ॥

ततस्तस्मात् घटादिपर्याया अपि तस्याक्षरस्य पर्याया भवन्ति
यतोऽक्षरस्यापि ते उपयुज्यन्ते उपयोगं यान्ति । केनेत्याह—
त्यागस्वपर्यायविशेषणादिना त्यागेन स्वपर्यायविशेषणेन चोप-
योगादित्यर्थः । इदमुक्तं भवति—घटादिपर्याया सत्त्वेनाक्षरे
असबद्धा अपि ते स्वपर्याया भवन्ति, त्यागेनाज्ञावेनोपयुज्यमा-
नत्वात् । यदि हि तत्र तेषामज्ञावेन न जवेत्तर्हि तदक्षर घटा-
दिभ्यो व्यावृत्तं न सिध्येत्तत्रापि घटादिपर्यायाणां ज्ञावादिति ।
ततोऽक्षरस्य त्यागेनाज्ञावेनोपयोगात् घटादिपर्यायास्तस्य भवन्ति
तथा स्वपर्यायाणां विशेषणेन विशेषव्यवस्थापकत्वेन परपर्याया
अपि तस्य जवन्ति, न हि परपर्यायेष्वसत्तु स्वपर्यायाः केचिद्व-
देन सिध्यन्ति, स्वपरशब्दयोरापेक्षिकत्वात्प्रयोगः । इत्थं यद्य-
स्योपयुज्यते तद्वदेवत्यपि तस्येति व्यपदिश्यते, यथा—देवदत्ता-
देः स्वधनम् । उपयुज्यते च त्यागस्वपर्यायविशेषणादिज्ञावेन घ-
टादिपर्याया अप्यक्षरस्यातस्ते तस्यापि जवन्तीति । एवमक्ष-
रपर्याया अपि घटादेर्वाच्या इति । एतदेव भावयति—

सधणमसंवद्धं पि हु, चेयणं पि व नरे जहा तस्स ।

उवउज्जइ ति सधण, भस्सइ तह तस्स पज्जाया ॥

इह देवदत्तादिके नरे चैतन्यं यथाऽऽत्मनि सबद्धं तथा स्वध-
नम्, असबद्धमपि स्वधनं तस्य लोके भण्यते । कुत उपयुज्यत
इति कृत्वा तथाऽक्षरे असबद्धा अपि घटादिपर्यायास्तस्याऽक्षर-
स्य पर्याया भवन्ति । अमुमेवार्थं दृष्टान्तान्तरेण साधयति—

जह दंसणनानचरि—त्तगोयरा सव्वदव्वपज्जाया ।

सधेयनेयकिरिया—फलोवओगि ति भिन्ना वि ॥

जइ णो सपज्जया इव, सकज्जानिप्पाइग ति सधणं च ।

आणायचायफला, तह सव्वे सव्ववन्नाणं ॥

इह यथा सर्वद्रव्यपर्याया जिज्ञा अपि सयत्तेरेव भवन्ति यतेः
सबन्धिनो व्यपदिश्यन्ते । कुत इत्याह—स्वकार्यनिष्पादका
इति हेतुरेतदपि कुत इत्याह—अद्वैतयत्वेनोपयोगात्, ज्ञेयत्वेनोपयोगात्, त्या-
गादानादिक्रियारूपं यच्छ्रुतज्ञानफलं तदुपयोगित्वाच्चेति ।
कथं ज्ञातस्ते सर्वद्रव्यपर्याया इत्याह—दर्शनज्ञानचारित्रिगोचराः
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविषयचतुः, ते हि सम्यग्दर्शनेन अक्षी-
यन्ते ज्ञानेन तु ज्ञायन्ते चारित्रस्याप्याहारवरूपप्राज्ञुपकरणजेष-
जशिष्यादिद्वारेणोपष्टम्भहेतवो बहवो जवन्ति 'अव्यवहारी उ ने-
रइया' इति वचनात् । अथवा 'पदममि सव्वजीवा, वीए चरिमे

य सव्वदव्वाहं । सेसा महव्वया खलु, तदिक्कदेसेण वव्वाणं ” इति वचनादेते सर्वेऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रगोचराः प्रज्ञानां चारित्रात्मकत्वाच्चारित्रस्य च ज्ञानदर्शनाज्यां विनाभावाभावात् । व्युत्पद्यते भद्रयेत्वाद्युपयोगिनमन्तरेण भद्रानाद्ययोगाद्विषयमन्तरेण विषयिणोऽनुपपत्तेः । के यथा स्वकार्यनिष्पादकाः सन्तो यतेर्भवन्तीत्याह—यथा ज्ञानदर्शनादिरूपाः स्वपर्यायाः स्वधर्मं वा यथा भिन्नमपि देवदत्तादेर्मवति तथा सर्वेऽपि द्रव्यपर्यायास्त्यागादानफलत्वात्प्रत्येकं सर्वेषामप्यकाराद्विषयानामुपलक्षणत्वात् घटादीनां भिन्ना अपि भवन्तीति ।

न चैतदुत्सृज्यमिति दर्शयति—

एगं जाणं सव्वं, जाणं सव्वं च जाणमेगं ति ।

इय सव्वमजाणंतो, नागारं सव्वहा मृणइ ॥

इह सूत्रेऽप्युक्तं “जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ चि” । किमुक्तं भवति, एक किमपि वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानन्नवबुद्ध्यमानः सर्वलोकलोकगतं वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानाति सर्ववस्तुपरिज्ञाने नान्तरीयत्वादेव वस्तुज्ञानस्य । सर्वे सर्वपर्यायोपेतं वस्तु जानाति स एकमपि सर्वपर्यायोपेतं जानात्येकपरिज्ञानस्य नान्तरियकत्वात् एतच्च प्रागापि ज्ञावितमेवेत्यतः सर्वे सर्वपर्यायोपेतं यस्त्वजानानो नाकाररूपमकारं सर्वप्रकारैः सर्वपर्यायोपेतं जानाति वस्तु, तस्माच्छेषसमस्तवस्तुपर्यायैः परिज्ञातैरेव एकमकारं कुरं ज्ञायते नान्यथेति भावः । यदि नामैव तथापि प्रस्तुते घटादिपर्यायाणामकारपर्यायत्वे किमायातमित्याह—

जेसु अनाएसु तओ, न नज्जए नज्जए य नाएसु ।

किइ तस्स ते न धम्मा, धमस्स रुवाइधम्म व्व ॥

तत्तस्माद्येषु घटादिपर्यायेष्वज्ञातेषु यदेकं प्रस्तुतमकारं न ज्ञायते, ज्ञातेषु च ज्ञायते ते घटादिपरपर्यायाः कथं न तस्य धर्मा अपि तु धर्मा एव, यथा घटस्य रूपादयः, प्रयोगः—येषामनुपलब्धौ यन्नोपलभ्यते उपलब्धौ चोपलभ्यते तस्य ते धर्मा एव यथा घटस्य रूपादयः नोपलभ्यते च प्रस्तुतमेकमकारं समस्तघटादिपरपर्यायानामनुपलब्धौ, उपलभ्यते च तदुपलब्धाविति ते तस्य धर्मा इति । इह चाकारं विचारयितव्यं प्रस्तुतमित्येताध्वमात्रेणैव तत्सर्वपर्यायराशिप्रमाणं साधितं, न चैतदेव केवलमित्यभूतं द्रष्टव्यं किं त्वस्ति यत्किमपि वस्तु तत्सर्वमित्यंशुतमेव, सर्वस्यापि व्यावृत्तिरूपतया परपर्यायासम्भवादिति ।

नहि नवरमक्षरं पि, सव्वपज्जायमसुमसं पि ।

जं वत्थुमत्थि होए, तं सव्वं सव्वपज्जायं ॥

गताथैव । यद्येव किमकारमेवाङ्गीकृत्येदं पर्यायमानमुक्तमिति भाष्यकार एवोत्तरमाह—

इह अक्षराहिंमारो, पक्खणिज्जा यजेण तन्विसओ ।

ते चित्तिज्जंतं वं, कइ भागो सव्वजावाणं ॥

इहाकाराधिकारो यस्मात्प्रस्तुतोऽतस्तस्यैवेदं पर्यायमानमुक्तं द्रष्टव्यम् । उपलभ्यते च सर्वे वस्तुत्वमेव, भवत्वमेव किं तु प्रस्तुतस्याकारस्य के स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्यादि निवेद्यतामित्याह (पन्नवाणिज्जेत्यादि) तस्य सामान्येनाकाराधिकारस्य स्वपर्यायो विषयस्तद्विषयो येन यतः । के इत्याह—प्रज्ञापनीया अभिज्ञाप्याः पर्याया न पुनरभिज्ञाप्याः अतस्ते एवं

चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते । कथमित्याह—कतिथो भागस्तेषां भवति, केषां सर्वज्ञावानां सर्वेषामभिज्ञाप्यामभिज्ञाप्यपर्यायाणां समुदितानामित्यर्थः । इदमुक्तं प्रवर्ति—अभिज्ञाप्यं वस्तु सर्वमकारेणोच्यतेऽतस्तदभिधानशक्तिरूपाः सर्वेऽपि तस्याभिज्ञाप्याः प्रज्ञापनीयाः स्वपर्याया उच्यन्ते, शेषास्त्वनभिज्ञाप्याः परपर्यायाः । अतस्तेऽभिज्ञाप्याः स्वपरपर्यायाः सर्वपर्यायाणां कतिथो भागो प्रवर्तीत्येवं विचिन्त्यत इति । कथमित्याह—

पसवसिज्जा जावा, वसुण सपज्जया तथा थोवा ।

सेसा परपज्जाया, तो णंतगुणा निरभिलप्पा ॥

यतः प्रज्ञापनीया अभिज्ञाप्या जावाः सामान्येन वर्णानामकारादीनां स्वपर्यायास्ततः स्तोका अनन्ततमज्ञागवर्तिनः शेषास्तु निरभिज्ञाप्याः प्रज्ञापयितुमशक्याः सर्वेऽपि परपर्याया इत्यतः स्वपर्यायेभ्योऽनन्तगुणाः सर्वस्यापि हि वस्तुनो लोकाश्लोकाकाशं विहाय स्तोकाः स्वपर्यायाः, परपर्यायास्त्वनन्तगुणाः, लोकाश्लोकाकाशस्य तु केवलस्याप्यनन्तगुणत्वात् । शेषपदार्थानां तु समुदितानामपि तदनन्तज्ञागवर्तित्वाच्चिपरीतं द्रष्टव्यम् । स्तोकाः परपर्यायाः स्वपर्यायास्त्वनन्तगुणाः । अत्र विनियानुग्रहार्थं स्थापना काचिन्निर्दिश्यते—तद्यथा—सर्वाकाशप्रदेशराशेरन्ये सर्वेऽपि धर्मास्तिकायप्रदेशपरमाणुकादयः पदार्थाः सज्जावतोऽनन्ता अपि कल्पनीयाः किल, देशसर्वाकाशप्रदेशपदार्थास्तु केवला अपि किल शतं प्रतिपदार्थं च पञ्च स्वपर्यायाः । एवं च सति धर्मास्तिकायप्रदेशादीनां सर्वेषामपि पदार्थानां पञ्चाशदेव स्वपर्यायाः, ते च ननसः परपर्यायाः स्तोकाश्च स्वपर्यायाणां तु पञ्चाशतानि, बहवश्चामी परपर्यायेभ्यस्तस्माच्छेषपदार्थानां सर्वेषामपि ननसोऽनन्तज्ञागवर्तित्वान्नसस्तु केवलस्यापि तेभ्योऽनन्तगुणत्वात् स्वपरपर्यायात्पञ्चदशैवपरीत्य द्रष्टव्यमिति । ननसोऽन्यपदार्थानां च तेनैव निर्दिशनेन स्वपर्यायाणां स्तोक्तत्वं परपर्यायाणां तु बहुत्वं परिभाषनीयम् । तथाहि—किलैकस्मिन् धर्मास्तिकायप्रदेशे पञ्च स्वपर्यायाः, परपर्यायाणां तु पञ्चचत्वारिंशदधिकानि पञ्च शतानि । एवमकारपरमाणवादावपि वाक्यमित्यत्र विस्तरेणेति ।

अथ परो प्राप्यस्यागमेन सह विरोधमुद्गाधयति—

नणु सव्वागासपए—सपज्जया वसुमाणमाइहं ।

इह सव्वदव्वपज्जा—यमाणगहणं किमर्थं ति ॥

नन्वित्यसूयायाम्, सर्वस्य श्लोकाश्लोकवर्तिन आकाशस्य प्रदेशास्तेषां मिश्रिता ये सर्वेऽपि पर्यायास्ते वर्णस्य पर्यायाणां सूत्रे मानं परिमाणमादिष्टम् । सर्वाकाशप्रदेशानां यावन्तः सर्वेऽपि पर्यायास्तावन्त एकस्याकारस्य पर्याया भवन्ति इत्येतावदेवागमे प्रोक्तमित्यर्थः । इह तु “तं सव्वदव्वपज्जायरासिमाणमुणेयव्वं” इत्यत्र किमिति सर्वद्रव्यपर्यायमानग्रहणं कृतम् । इदमुक्तं भवति—“सव्वागासपएसगं सव्वागासयपसेहि अणंतगुणियं पज्जवक्खरं निप्पज्जइति” नन्दिस्त्रे प्रोक्तम् । एतच्च वृत्तौ तत्र व्याख्यातम् । तद्यथा—सर्वे च तदाकाशां च सर्वाकाशां श्लोकाश्लोकाकाशमित्यर्थः । तस्य च प्रदेशा निर्दिष्टाभागेष्वामप्रपरिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम्, सर्वाकाशप्रदेशैः किमनन्तगुणितम् । एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽनन्तानामगुरुद्रव्यपर्यायाणां सज्जावात्पर्यायाकारं पर्यायपरिमाणाकारं निष्पद्यत इति । तदेवमागमे केवलसर्वाकाशप्रदेशपर्यायराशिप्रमाणमकारपर्यायमानमुक्तम् । अत्र तु धर्माधर्माकाशपुञ्जसजीवास्तिकायकालरह-

णमर्वञ्च्यपर्यायराशिप्रमाणं तदुच्यते इति कथं न विरोधः ? इति । अत्रोत्तरमाह-

योव त्ति न निदिष्टा, इहं धम्मत्थियाइपज्जाया ।

के सपरपज्जयाणं, हवंतु किं होतु वाऽज्ञावो ? ॥

स्तोका आकाशपर्यायेऽनन्तजागवर्त्तिन इति कृत्वा नन्दि-
सूत्रे धर्मास्तिकायादीनां पञ्चद्व्याणां पर्यायानि निर्दिष्टा नाऽभि-
हिताः साक्षात् किन्तु य एव तेऽन्योऽतिबहवोऽनन्तगुणास्त एव
सर्वाकाशपर्याया साक्षादुक्ताः । अर्थतस्तु धर्मास्तिकायादिपर्या-
या अपि नन्दि-सूत्रे प्रोक्ता द्रष्टव्या । इतरथा यद्येतन्नाच्युपगम्य-
ते तदा ते धर्मास्तिकायादिपर्याया अक्षरस्वपरपर्यायाणामध्या-
त्मे भवन्तु ? , किं स्वपर्याया भवन्तु परपर्याया वा ? , किं वाऽभाव-
स्वरविषाणरूपो भवतु ? इति त्रयी गतिः । त्रिष्वने हि ये पर्या-
यास्तैः सर्वैरप्यक्षरादेर्वस्तुनः स्वपर्यायैर्वा प्रधितव्य, परपर्या-
यैर्वा, अन्यथाऽज्ञावप्रसङ्गात् । तथाहि-यं केचन कचित्पर्यायाः
सन्ति तेऽक्षरादिचस्तुनः स्वपरपर्यायाऽन्यतरूपा प्रधन्त्येव,
यथा रूपादयः । ये त्वक्षरादेः स्वपर्यायाः परपर्याया वा न भवन्ति
ते न सन्त्येव, यथा स्वरविषाणतैक्ष्णादयः । तस्माद्धर्मास्तिकाया-
दिपर्यायाः सूत्रे स्तोक्तत्वेनानुक्ता अपि ' जे एग जाणइ ' इत्यादि-
सूत्रप्रामाण्यादर्थतोऽक्षरस्य परपर्यायत्वेनोक्ता द्रष्टव्या इति ।

अथान्यत् प्रेरयति-

किमणंतगुणा जणिया, जमगुरुल्लुपज्जाया पएसम्मि ।

एकैकम्मि अणंता, पणसा वीयरागेहि ॥

ननु " सव्वागासपपसंगं सव्वागासपपसेहिं अणतगु-
णिय पज्जवत्त्वर निप्पज्जइ " इत्यत्र सूत्रे नन्दिप्रयत्नेन अविशे-
षित सामान्येनैव (नाखमफखर ति) ज्ञानमक्षरं प्रतिपादितम्,
अविशेषोऽभिधाने च केवलज्ञानस्य महत्त्वात्तदेव तत्राक्षरं ग-
म्यते । इह तु श्रुतज्ञानविचाराधिकाराच्छ्रुताक्षरमकाराद्येवाक्ष-
रशब्दवाच्यत्वेन प्रकृतं प्रस्तुतम् । ततः को दोष इत्याह-तस्या-
कारादिश्रुताक्षरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेन्न कथंचिदि-
त्यर्थः । अयमभिप्रायः-केवलस्य सर्वद्व्यपर्यायवेत्तृत्वाद्भव-
तु सर्वद्व्यपर्यायमानता, श्रुतस्य तु तदनन्तजागवर्त्तिनत्वात्कथं
तत्पर्यायमानतुल्यतेति ? अत्रोच्यते-ननु तत्रापि " अक्षरस-
खीसम्म साइय सन्नु " इत्यादिप्रक्रमेऽपर्यवसितश्रुते-विचा-
र्यमाणे " सव्वागासपपसंगं " इत्यादि सूत्रं पठ्यते, अतो यद्यहं
तथा तत्रापि श्रुताधिकारादक्षरमकाराद्येव गम्यते, न तु केवल-
क्षरम् । अथ नृपे-तत्र द्वितीयमनन्तरं सूत्रं यत् पठ्यते " सव्य-
जीघाणं अक्षरस्स अणतजागो निच्चुग्घाणियओत्ति " एतस्मा-
त्केवलसाक्षरं तत्र गम्यते न तु श्रुताक्षरं सकलछादशाङ्गविदां स-
पूर्णस्यापि श्रुताक्षरस्य सद्भावात्सर्वजीघाणामक्षरस्याऽनन्तभागे
नित्योद्घाट इत्यस्यार्थस्यानुपपत्तेः । अहो ! असमीकितमिधा-
नं, यत एव सति केवलानां सपूर्णस्यापि केवलसाक्षरसद्भावात्स-
र्वजीघाणामक्षरस्याऽनन्तभागे नित्योद्घाट इत्यस्यार्थस्याऽनुप-
पत्तिरेव । अथ मनुष्ये तत्राविशेषेण सर्वजीघाणप्रहणे सत्यपि
प्रकरणादपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायाऽन्येषामेवाऽक्षरस्याऽ-
नन्तभागे नित्योद्घाट इति केवलसाक्षरप्रहणेऽविरोधः । हन्त !
तदेतच्छ्रुताक्षरप्रहणेऽपि समानम्, यतस्तत्राविशेषेण सर्वजीघा-
णप्रहणे सत्यपि प्रकरणादपिशब्दाद्वा समस्तद्व्यदेशाङ्गविदो विहा-
याऽन्येषामेवास्मदादीनामक्षरस्थानन्तभागे नित्योद्घाट इति-
हापि शक्यत एव वक्तुम् । तस्मात्तत्रेह च श्रुताक्षरमकाराद्येव
गम्यते । यदि वाऽत्र श्रुताक्षरं, तत्र केवलसाक्षरमपि प्रवृत्तं, न च
श्रुताक्षरस्य केवलपर्यायतुल्यमानता विरुद्ध्यते । कथमित्याह-

सप्रति यथा ज्ञान सर्वाकाशप्रदेशेऽनन्तगुण

भवति तथा दर्शयति-

उवन्नच्छी अगुरुल्लु-सयोगसरादिणो य पज्जाया ।

एतेण हुंतणंता, सव्वागा सपपमेहि ॥

चतुर्णामप्यस्तिकायानां पुद्गलास्तिकायस्य च ये अगुरुल्लघवः
पर्याया, उपलक्षणमेतत् वादरस्कन्धानाम् । अगुरुल्लघुपर्यायाश्च
यावन्तश्चाक्षरेषु स्वरूपतोऽभिलाषभेदतो वा सयोगा यैश्चोटा-
सादिभिः स्वरैरजिलप्यन्ते भाषा, आदिशब्दाद् ये चान्ये शकुन-
रुतादिगताः स्वरविशेषा ये च जीघपुद्गलगताश्चेष्टाविशेषास्तैः
सर्वेऽपि गृह्यन्ते । एतेषां सर्वेषामप्युपलब्धिर्भवति । न च येन
स्वभावेनैकस्य तेनैवान्यस्य, किन्तु भिन्नेन । तदेतेन प्रकारेण
ज्ञानस्य स्वभावाः सर्वाकाशप्रदेशेऽनन्तगुणाः । ४०१ उ० ।

प्रकारान्तरेण प्रेरयन्माह-

तत्थाविसेसयं ना-णमक्खरं इह सुयक्खरं पगयं ।

तं किह केवलपज्जा-यमाणतुल्लं हविज्जाहि ॥

(तर्थाति) " सव्वागासपपसंगं सव्वागासपपसेहिं अणतगु-
णिय पज्जवत्त्वर निप्पज्जइ " इत्यत्र सूत्रे नन्दिप्रयत्नेन अविशे-
षित सामान्येनैव (नाखमफखर ति) ज्ञानमक्षरं प्रतिपादितम्,
अविशेषोऽभिधाने च केवलज्ञानस्य महत्त्वात्तदेव तत्राक्षरं ग-
म्यते । इह तु श्रुतज्ञानविचाराधिकाराच्छ्रुताक्षरमकाराद्येवाक्ष-
रशब्दवाच्यत्वेन प्रकृतं प्रस्तुतम् । ततः को दोष इत्याह-तस्या-
कारादिश्रुताक्षरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेन्न कथंचिदि-
त्यर्थः । अयमभिप्रायः-केवलस्य सर्वद्व्यपर्यायवेत्तृत्वाद्भव-
तु सर्वद्व्यपर्यायमानता, श्रुतस्य तु तदनन्तजागवर्त्तिनत्वात्कथं
तत्पर्यायमानतुल्यतेति ? अत्रोच्यते-ननु तत्रापि " अक्षरस-
खीसम्म साइय सन्नु " इत्यादिप्रक्रमेऽपर्यवसितश्रुते-विचा-
र्यमाणे " सव्वागासपपसंगं " इत्यादि सूत्रं पठ्यते, अतो यद्यहं
तथा तत्रापि श्रुताधिकारादक्षरमकाराद्येव गम्यते, न तु केवल-
क्षरम् । अथ नृपे-तत्र द्वितीयमनन्तरं सूत्रं यत् पठ्यते " सव्य-
जीघाणं अक्षरस्स अणतजागो निच्चुग्घाणियओत्ति " एतस्मा-
त्केवलसाक्षरं तत्र गम्यते न तु श्रुताक्षरं सकलछादशाङ्गविदां स-
पूर्णस्यापि श्रुताक्षरस्य सद्भावात्सर्वजीघाणामक्षरस्याऽनन्तभागे
नित्योद्घाट इत्यस्यार्थस्यानुपपत्तेः । अहो ! असमीकितमिधा-
नं, यत एव सति केवलानां सपूर्णस्यापि केवलसाक्षरसद्भावात्स-
र्वजीघाणामक्षरस्याऽनन्तभागे नित्योद्घाट इत्यस्यार्थस्याऽनुप-
पत्तिरेव । अथ मनुष्ये तत्राविशेषेण सर्वजीघाणप्रहणे सत्यपि
प्रकरणादपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायाऽन्येषामेवाऽक्षरस्याऽ-
नन्तभागे नित्योद्घाट इति केवलसाक्षरप्रहणेऽविरोधः । हन्त !
तदेतच्छ्रुताक्षरप्रहणेऽपि समानम्, यतस्तत्राविशेषेण सर्वजीघा-
णप्रहणे सत्यपि प्रकरणादपिशब्दाद्वा समस्तद्व्यदेशाङ्गविदो विहा-
याऽन्येषामेवास्मदादीनामक्षरस्थानन्तभागे नित्योद्घाट इति-
हापि शक्यत एव वक्तुम् । तस्मात्तत्रेह च श्रुताक्षरमकाराद्येव
गम्यते । यदि वाऽत्र श्रुताक्षरं, तत्र केवलसाक्षरमपि प्रवृत्तं, न च
श्रुताक्षरस्य केवलपर्यायतुल्यमानता विरुद्ध्यते । कथमित्याह-

सयपज्जवेहि तं के-यल्लेण तुल्लं न होज्ज न परेहि ।

सयपरपज्जाएहिं, तुल्लं तं केवल्लेणेव ॥

स्वकाः स्वकीया अकारेकारोकारादयोऽनुगताः पर्यायाः श्रुतज्ञान-

स्य स्वपर्याया इत्यर्थः। तैरनुगतैः स्वपर्यायैः, तच्छ्रुताकारं केवलज्ञानं केवलाकारेण तुल्यं न भवेत्, सर्वपर्यायानन्तजागवर्तितत्वात् । तच्छ्रुतज्ञानं स्वपर्यायाणां, केवलज्ञानं तु सर्वद्रव्यपर्यायराशि-प्रमाणं, सर्वेष्वपि तेषु व्यापारात् । तथाहि-लोके समस्तद्रव्याणां पिण्डः पर्यायराशिरनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया किञ्च लक्षणं, एतन्मध्याच्छ्रुतज्ञानस्य स्वपर्यायाणां किञ्च शतं, तदून-लक्षं तु परपर्यायाः, केवलज्ञानत्वे तल्लक्षणमपि पर्यायाणामुपल-भ्यते, सर्वोपलब्धिस्वभावत्वात्तस्य । ते चोपलब्धिविशेषाः सर्वेऽपि केवलस्य पर्यायाः स्वभावाः, ज्ञेयोपलब्धिस्वभावत्वात् ज्ञानस्य । एव च सति लक्षणपर्यायं केवलं, श्रुतस्य तु शतं स्व-पर्यायाणाम्, अतस्तैस्तत्केवलपर्यायराशितुल्यं न भवेदिति स्थितम् । तर्हि परपर्यायैस्तत्तस्य तुल्यं भविष्यतीत्याह-न परै-र्नापि परपर्यायैस्तत् केवलज्ञानं तुल्यं भवेत् । तथाहि-घटादि-व्यावृत्तिरूपाः परपर्यायास्तस्य विद्यन्तऽनन्तानन्ताः, कल्पन-या तु शतानलक्षमानास्तथापि सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्या न भवन्ति, सर्वपर्यायानन्तभागेन कल्पनया शतरूपेण सद्भावत-स्त्वनन्तात्मकेन स्वपर्यायराशिना न्यूनत्वात् केवलस्य तु सपूर्ण-सर्वपर्यायराशिमानत्वादिति । स्वपरपर्यायैस्तु तत्केवलपर्यायतु-ल्यमेव । केवलवत्तस्यापि सर्वद्रव्यपर्यायप्रमाणत्वादिति । आह-यद्येवकेवलज्ञानं सहाऽन्यः कौ विशेषः? उच्यते, अस्ति विशेषः यत्-

अविसेसकेवलं पुण, सपञ्जाएहि चेव तत्तुल्यं ।

जणेषं पइ तं स-व्वभाववावार विणिजुत्तं ॥

उभयत्र सर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणत्वे तुल्येऽपि श्रुतकेवल-योरस्ति विशेष इत्येव पुन शब्दोऽत्र विशेषद्वयार्थः । कः पुनरसौ विशेष इत्याह-अविशेषेण पर्यायसामान्येन युक्तं केवलमविशेषकेवलं स्वपरविशेषपरहितैः सामान्यत एवाऽनन्त-पर्यायैर्युक्तं केवलज्ञानमविशेषकेवलमित्यर्थः । तदेवचूतं कवलं स्वपर्यायैरेव तत्तुल्यं, तेन प्रक्रमानुवर्तमानसर्वद्रव्यपर्यायराशि-ना तुल्यतुल्यं, श्रुतज्ञानं तु समुदितैरेव स्वपरपर्यायैस्तुल्य-मिति विशेष इति भावः । कथं पुनः केवलज्ञानस्य तावन्तं स्वपर्याया इत्याह- (जणेषमित्यादि) यद्यस्मात्तत्केवलज्ञानं सर्वद्रव्यपर्यायलक्षणं ज्ञेयं प्रति सर्वज्ञावेपु निःशेषज्ञातव्यपदार्थेषु योऽसौ परिच्छेदलक्षणो व्यापारस्तत्र विनिर्युक्तं प्रतिसमयं प्रवृत्तिमदित्यर्थः । इदमुक्तं भवति । केवलज्ञानं सर्वानपि सर्वद्रव्यपर्यायान् जानाति । ते च तेन ज्ञायमाना ज्ञानवादिन-यमनेन तद्वृत्तया परिणताः, ततो ज्ञानमयत्वात् केवलस्य स्व-पर्याया एव भवन्ति, अतः केवलज्ञानं नैरेव सर्वद्रव्यपर्यायराशि-तुल्यं भवति । श्रुतादिज्ञानानि तु सर्वद्रव्यपर्यायराशेरनन्तम-मेव जाग जानन्त्यनन्तेषां स्वपर्याया ण्तावन्त एव भवन्त्यतो न श्रुतज्ञानं स्वपर्यायैस्तत्तुल्यं, तदनन्तभागवर्तितस्वपर्यायमानत्वा-दिनि श्रुतकेवलयोर्विशेषः । अत्र पक्षे केवलस्य परपर्यायविवक्षा न कृता । ये हि केवलस्य निःशेषज्ञेयगताविषयभूता पर्यायास्ते ज्ञानाद्वैतवादिनयमनेन ज्ञानरूपत्वादार्थापत्त्यैव स्वपर्याया प्रोक्ता न तु पर्यायानाव प्रोक्ता । वस्तुस्थित्या पुनरिदमपि स्वपरपर्या-यान्वितमेव दर्शयति-

वत्तुसहाव पइ तं, पि मपरपञ्जायनेयओ जिन्नं ।

त जेण जीवभावो, भिन्ना य तओ घडाईयं ॥

वस्तुस्वभाव प्रति यथविस्थित वस्तुस्वरूपमाश्रित्य तदपि

केवलं ज्ञानमकाराद्यकरवत्स्वपरपर्यायभेदतो भिन्नमेव न तु यथोक्तनीत्या स्वपर्यायान्वितमेवेति भावः । कुत इत्याह-येन कारणेन तत्केवलज्ञानं जीवभावः प्रतिनियतो जीवपर्यायो न घ-टादिस्वरूपं तन्नापि घटादयस्तत्स्वभावाः किन्तु ततो जिज्ञा-इति, तेन ज्ञायमाना अपि ते कथं तस्य स्वपर्याया भवेयुः, सर्व-सकृदैकत्वादिप्रसङ्गात् । तस्मादमूर्तत्वाच्चतनत्वसर्ववेत्तत्वाप्रति-पातित्वनिरावरणत्वादयः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः । घटादिप-र्यायास्तु व्यावृत्तिमाश्रित्य परपर्यायाः । अन्ये तु व्याचक्षते-स-र्वद्रव्यगतान्सर्वानपि पर्यायान् केवलज्ञानं जानाति, येन च स्व-भावेनैकं पर्यायं जानाति न तेनैवापरमपि, किन्तु स्वभावभेदेन, अ-न्यथा सर्वद्रव्यपर्यायैकत्वप्रसङ्गात्, तस्मात्सर्वद्रव्यपर्यायराशि-तुल्याः स्वभावभेदलक्षणाः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः, सर्वद्रव्य-पर्यायास्तु परपर्याया इत्येव स्वपर्यायपरपर्यायाभ्योऽपि पर-स्परं तुल्याः केवलस्येति । एव च सति किं स्थितमित्याह-

अविसेसयं पि सुत्ते, अक्षरपञ्जायमाणमाइहं ।

सुयकेवलक्षराणं, एवं दोएहं पि न विरुद्धं ॥

एव सत्यविशिष्टमपि नन्दिस्त्रे यत्सर्वाकाशप्रदेशाग्रमनन्त-गुणितमक्षरपर्यायप्रमाणमादिष्टं ततः श्रुतस्य केवलस्य वा न विरुद्धं, श्रुताक्षरस्य केवलस्य चोक्तन्यायेनार्थतो द्वयोरपि स-मानपर्यायत्वात्, तथापि श्रुतस्य केवलस्य च स्वपरपर्यायास्ता-वन्निर्वाहं तुल्या एव । स्वपर्यायास्तु 'यद्यप्यन्ये तु व्याचक्षते' इत्यादिनाऽऽगमेनानन्तरमेव केवलस्य भूयांसः प्रोक्तास्तथापि तेभ्यो व्यावृत्तत्ववन्तः श्रुतस्य परपर्याया वर्द्धन्त इति तदेवं द्वयोरपि सामान्यतः पर्यायसमानत्वमित्युभयोरपि ग्रहणे सूत्रे न किमपि श्रूयत इति । नन्वेतत्सर्वपर्यायपरिमाणमक्षरं किं सर्वमपि ज्ञानावरणकर्मणाऽऽव्रियते न वेत्याह-

तस्स उ अणंतजागो, निचुग्याडो य मव्वजीवाणं ।

जणिओ सुयम्मि केवद्वि-वज्जाणं ति विह भेओ वि ॥

तस्य च सामान्येनैव सर्वपर्यायपरिमाणाक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितः सर्वदैवानावृत्तः । केवलविज्जाणां सर्वजीवानां ज-घ-यमध्यमोत्कृष्टविधिवेदाऽपि श्रुतं भणितं प्रतिपादितं इति ।

तत्र सर्वजघन्यस्याऽक्षराऽनन्तभागस्य स्वरूपमाह-

सो पुण सव्वजह्वो, चेयसं नावरिज्जइ कयाड ।

उकोसावरणम्मि वि, जलयच्छन्नकभासोव्व ॥

स पुन सर्वजघन्योऽक्षरानन्तभाग आत्मनो जीवत्वनिबन्धन-चैतन्यमात्रं, तच्च तावन्मात्रमुत्कृष्टावरणेऽपि सति जीवस्य कदा-चिदपि नाव्रियते न तिगस्क्रियत, अजीवत्वप्रसङ्गात् । यथा-सु-ष्टुपि जलदच्छन्नस्याकस्याऽऽदित्यस्य भासः प्रकाशो दिनरात्रि-विजागनिबन्धन किञ्चिन्प्रजामात्रं कदापि नाऽऽव्रियते, एव जी-वस्यापि चैतन्यमात्रं कदाचिन्नाऽऽव्रियत इति भावः इति । कया पुनरसौ सर्वजघन्योऽक्षराऽनन्तभागः प्राप्यत इत्याह-

धीणद्विसहियणाणा-वरणोदयओ म पत्थिवाइणं ।

वेइंदियाडयाणं, परिवट्टए कमविमोहीए ॥

स्थानकिंमहानिःशेषसहितान्तुष्टज्ञानावरणोदयादसौ सर्व-जघन्योऽक्षरानन्तभाग पृथिव्याद्येकंन्द्रियाणां प्राप्यते, ततः क्रमविशुद्धा इन्द्रियादीनामसौ क्रमेण वर्द्धत इति । तदुत्कृष्टं मध्यमश्चैव केषां मन्तव्यं इत्याह-

उकोसो उकोसय-मुयणाणविओ तओ वसेमाणं ।

होइ विमज्जो मज्जे छट्ठाणगयाण पाएण ॥ ४७ ॥

स एवाकराऽनन्तजाग उत्कृष्टो भवत्युत्कृष्टश्रुतज्ञानविदः सपूर्ण-
श्रुतज्ञानस्येत्यर्थः । अत्राह-नन्वस्य कथमकराऽनन्तभागो या-
वता श्रुतज्ञानाऽकर सपूर्णमप्यस्य प्राप्यत एव ? । सत्यम् । किन्तु
सलुलितसामान्यश्रुतकेवलत्वाकराऽपेक्षयैवास्याऽकरानन्तजागो वि-
वक्षितः, “ केवलविज्ज्ञाण तिविहभेभोवि ” इत्यनन्तरवचनात् ।
अन्यथाहि यथा केवलिन सपूर्णकेवलाऽकरयुक्तत्वेनाकराऽनन्त-
भागस्त्रिविधोऽपि न सन्नघतीति तद्वर्जनं कृतम् । एव सपूर्णश्रु-
तज्ञानिनोऽपि समस्तश्रुताऽक्षरयुक्तत्वेनाकराऽनन्तभागस्त्रिवि-
धोऽपि न सन्नघतीति, तद्वर्जनमपि कृतं स्यात्, तस्मान्न समिलि-
तसामान्याकरापेक्षयैवास्याकरानन्तभागः प्रोक्तः, सामान्ये वाऽ-
करे विवक्षिते केवलत्वाकरापेक्षया श्रुतज्ञानाकरस्य सपूर्णस्याप्य-
नन्तभागवर्तित्वं युक्तमेव, केवलज्ञानस्वपर्यायेत्यर्थः । श्रुतज्ञान-
स्वपर्यायापामनन्तजागवर्तित्वात् तस्य परोक्षविषयत्वेनास्पष्ट-
त्वाच्चेति । यच्च समुदितस्वपर्यायाऽपेक्षया श्रुतकेवलत्वाकरयो-
स्तुल्यत्व तदिह न विवक्षितमेवेति । अन्ये तु “ सो उण स-
वज्जहो नेवण ” इत्यादिगाथाया स पुनरकरत्वाभ इति व्याच-
कृते, इदं चाऽनेकदोषाऽन्वितत्वाज्जिनभरुगणिकमाश्रमणपुण्य-
टीकायां चाऽदर्शनादसङ्गतमेव लक्षयामः । तथा हि-“ तस्स
उ अणनभागो निच्छुग्घानो ” इत्याद्यनन्तरगाथायामकराऽनन्त-
जाग एव प्रकृतः, अकरत्वात्तस्य अन्तरपरामर्शना तच्छब्देन कु-
तो ह्यर्थः ? किमाकाशत्पत्तिः ? । किं च, यद्यऽकरत्वाज इतीह
व्याख्यायते तर्हि “ केवलविज्ज्ञाण तिविहभेभोवि ” इत्यत्र कि-
मिति केवलिनो वर्जनं कृतं, यथा हि श्रुताकरमाश्रित्योत्कृष्टोऽक-
रवाम सपूर्णश्रुतज्ञानघनो लक्ष्यते तथा केवलत्वाकरमङ्गीकृत्यो-
त्कृष्टोऽसौ केवलिनोऽपि लक्ष्यत एव, किं तद्वर्जनस्य फलम् ? । त-
माश्रमणपुण्यैश्च “थीणद्धि” इत्यादिगाथायामित्य व्याख्यातम्-
स च किल उच्यन्तोऽनन्तजाग इत्यादि । अथ सामान्यमकर नेह
प्रक्रमे गृह्यते किन्तु श्रुताकरमेवेति । नद्युक्तम्, चिरन्तनटीकाह-
येऽप्यक्षरस्य सामान्यस्यैव व्याख्यानात् । किं च-विशेषतोऽत्र
श्रुताकरं गृह्यमाणं तस्य श्रुताकरस्याऽनन्तभाग सर्वजी-
वानां निर्यादघाट इति व्याख्यानमापद्यते । एतच्चाऽयुक्तम्,
सपूर्णश्रुतज्ञानिनां ततोऽनन्तजागादिहीनश्रुतज्ञानवर्ता च श्रुताक-
रानन्तजागवत्यानुपपत्तः । किं च, “सो उण केवलविज्ज्ञाण नि-
विहभेभोवि ” इत्येतद्वचनमेव स्यात्, केवलिनैर्वर्धय श्रुता-
करस्यासन्नयेन तद्वर्जनस्याऽऽनर्थक्यप्रसङ्गाच्चेति, परमार्थं चेह
केवलिनो बहुश्रुतावा विदन्तीत्यल प्रसङ्गः । विमध्यममकरान-
न्तभागमाह-ननस्तस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानविदोऽवशेषाणामेकेन्द्रि-
यसपूर्णश्रुतज्ञानिनो मध्ये वर्तमानानां यदस्थानपतितानामनन्त-
भागादिगनानां प्रायेण विमध्यो मध्यमाकरानन्तभागो भवति,
एकस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानिनोऽवशेषाः केचित् श्रुतमाश्रित्य तुल्या
अपि भवन्त्यत उक्तप्रायेणावशेषाणां विमध्यम इति । अथार्थ-
विवक्षितानां कस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानिनोऽविशेषाणामपि केयाचिदु-
त्कृष्टश्रुतज्ञानवता तत्तुल्य एवाऽकरानन्तभागो भवति न तु
विमध्यम उत्कृष्ट इत्यर्थः । इति सप्तचत्वारिंशत्तथायार्थः ।
इत्यक्षरश्रुत समाप्तम् । विशेषः ॥

पत्तेयमक्खराइं, अक्खरसंजोय जत्तिया होए ।

एवइया सुयनाणे, पयसीओ होंनि नायव्वा ॥

एकमेक प्रति प्रत्येकमकराण्यकारादीन्यनेकेभेदानि । यथा

अकार सानुनासिको निरनुनासिकश्च । पुनरेकैकस्त्रिधा-ह्रस्वो
दीर्घः प्लुतश्चेति । पुनरेकैकस्त्रिविध-उदात्तोऽनुदात्त स्वरितश्च ।
इत्येवमकारोऽष्टादशभेदः । एवमिकारादिष्वपि यथोक्तं भव भेद-
जालमभिधानीयमिति । तथाऽकराणां सयोगा अकरसयोगा
द्वयादयो यावन्तो द्वौके, यथा-घटः पट इत्यादि, व्याघ्रः स्त्रीत्यादि ।
एवमेतेऽनन्ताः सयोगा, तत्राप्येकैक स्वपरपर्यायापेक्षयाऽनन्त-
पर्यायः, अत एतावत्यः श्रुतज्ञाने प्रकृतयो भेदा ज्ञातव्या इति
निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम्—

संजुत्तासंजुत्ता-ए ताणमेकक्खराइमंजोगा ।

होंति अणंता तन्थ वि, एकेको एतपज्जाओ ।

एकमकरमादियेपा इत्यादीनां तान्येकाकरादीनि, तेषां सयोगा
एकाकरादिसयोगा, ते अनन्ता भवन्ति । केषां ये एकाकरादिस-
योगा इत्याह-तेषामकारककाराद्यकराणाम् । कथं भूतानामि-
त्याह-सयुक्तासयुक्तानाम् । तत्र सयुक्तैकाकरसयोगो यथा-
अग्निः प्राप्त इत्यादि । असयुक्तैकाकरसयोगो यथा-घटः पट
इत्यादि । एते वाक्प्रसयोगा अनन्ता । एकैकश्च सयोगः स्व-
परपर्यायैः पूर्वानिहितन्यायेनाऽनन्तपर्याय इति ॥

अथ परमतमाशङ्क्योत्तरमाह—

मंविज्जक्खरजोगा, होंति अणता कहुं जमजिधेयं ।

पंचत्थि कायगोयर-मन्नोन्नविलक्खणमणंतं ॥

सख्येयानि च तान्यकाराद्यक्षराणि, तेषां योगाः सयोगा कथ-
मनन्ता भवन्ति न घटन्त एवेति भावः । अत्रोत्तरमाह-यदय-
स्मान्सख्येयानामप्यक्षराणामभिधेयमनन्तम् । कथं ततमित्याह-
म योन्यविलक्षणं परस्परविसदृशम् । किं विषयमित्याह-पञ्चा-
स्तिकायगोचरं पञ्चास्तिकायगतस्कन्धदेशप्रदेशपरमाणुका-
दिकम्, अभिधेयानन्याच्चाभिधानस्याप्यानन्यमवक्षेयमिति ।

एनदेव भावयति—

अणुओ पएमनुट्ठी-ए जिन्नरूवाइ धुवमणंताइ ।

जं कमो दव्वाटं, हवति भिन्नाजिह्वाणाइं ॥

इहास्मादणुत परमाणुत प्रारभ्य क्रमशः प्रदेशवृक्षा पुञ्ज-
लास्तिकायोऽपि ध्रुव सचदेवानन्तानि भिन्नरूपाणि द्रव्याणि
प्राप्यन्ते भिन्नाभिन्नानि चैतानि, यथा-परमाणुद्वयैकस्य-
णुकश्चतुरणुको यावदनन्तप्रदेशिक इति, प्रत्येक चानेकाभिधाना-
न्यनानि, तत्राथा-अणु परमाणुनिर्गमो निरवयवो नि प्रदेश
अप्रदेश इति, तथा द्रवणुको द्विप्रदेशिको द्विजेदो हयवयवः । इ-
त्यादि सर्वद्रव्यसर्वपर्यायत्वायोजनीयम् । यस्माच्चैवमभिधेयम-
नन्त विसदृशरूपं जिन्ताभिधानं च तस्मान्किमित्याह—

तेणाभिह्वाणमाण, अभिधेयाणंतपज्जवसमाणं ।

जं च सुयम्मि वि भणियं, अणंतगमपज्जयं सुत्तं ॥

यतोऽभिधेयमनन्तं जिन्नरूपं जिन्ताभिधानं तेन कारणेना-
करमयोगरूपाणामभिधानानां यत्स्वरूपं मानं परिमाणं त-
दपि जयति । कियदित्याह-अभिधेयजेनेनाऽभिधानस्यापि जे-
दात् न हि येनैव रूपेण घटादिगण्ये अकारादिवर्णा सयुक्तास्ते-
नैव स्वरूपेण पटादिशब्देऽपि अभिधेयैकत्वप्रसङ्गात्, करुणशब्दा-
भिधेयत्वात् घटनस्वरूपवदिति, अतोऽभिधेयानन्यादभिधा-
नानन्त्यमिति यत्तत्तं मूत्रेऽप्यभिहितम् । “ अणनागमा अणता
पज्जवा ” इत्यनं स्थितमेतत् “ संजुत्तासंजुत्ताण ” इत्यादीति
गाथाचतुष्टयार्थः । विशेषः ॥

उच्चय भावकखरओ, अणकखरं होज्ज वंजणकखरओ ।

मइनाणं सुचं पुण, उभयं पि अणकखरं करउ ॥

इहाकरं तावाद्धिविधम-इध्याकरं भावाकरं च । तत्र इध्या-
करं पुस्तकादिन्यस्नाकारादिरूप, तावाद्धिकारणजन्य. शब्दो
वा । एतच्च व्यज्यतेऽर्थाऽनेनेनि व्यज्जनाक्रमप्युच्यते, भावाकर
त्वत्. स्फुरदकारादिवर्णज्ञानरूपम् । एव च मति (ज्ञायकखर-
ओ छि) ज्ञावाक्षरमाश्रित्य मतिज्ञान जवत् । कथभूतमित्याह-
(उभय ति) उभयरूपमकरवदनकर चेत्यर्थः । मतिज्ञानजेदे-
ह्यवग्रहे भावाकर नास्तीति तदनकरमुच्यते । इहादिषु तु तद्दे-
षु तदेनेषु तदस्तीति मतिज्ञानमकरवत् प्रतिपादितमिति भावः ।
(अनकखर होज्ज छि) व्यज्जनाक्षर विद्यते, तस्य इध्याभुनन्वेन-
रुढत्वात् द्रव्यमतिव्येनाप्रसिद्धत्वादिति (सुच पुणो छि) सूत्र
श्रुतज्ञान पुनरुभयमपि इध्याश्रुत भावश्रुत चेत्यर्थः । विश० ।
अकारादिलब्धकृगणामन्यतरस्मिन् । कर्म० १ कर्म० । करणश-
न्ये, त्रि० उज्ज्वले, मोक्षे च । न० वाच० ।

अक्षरगुण-अक्षरगुण-पु० ६ त० स० । अकारादीनामकरा-
णां गुणोऽनन्तागमपर्यायवत्त्वमुधारण च, अन्यथाऽर्थस्य प्रति-
पादयितुमशक्यत्वात् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अक्षरगुणमइसंघमणा-अक्षरगुणमतिसंघटना-स्त्री० अक्षरगु-
णेन मतेः (मतिज्ञानस्य) संघटना, भावश्रुतस्य इध्याश्रुतन
प्रकाशनेऽक्षरगुणस्य मत्या संघटनायां बुद्ध्या रचनायां च । सूत्र०
१ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अक्षरपुट्टिया-अक्षरपृष्ठिका-स्त्री० ब्राह्म्या लिपेर्नवमे लेखवि-
धाने । प्रज्ञा० १ पद ।

अक्षरलज-अक्षरलाज-पुं० पुरुषस्त्रीनपुंसकघटपटादिवर्ण-
विज्ञाने, " अक्षरलजो सप्ती-ए होज्ज पुरिसाइवसविष्माण ।
कत्तो असप्तीण, जणिय च सुयम्म तेसि पि" विशेष० । सूत्र० ।

अक्षरविसुद्ध-अक्षरविशुद्ध-त्रि० पदैरक्षरैर्वाऽलङ्कृते, प० चू० ।

अक्षरसंवद्ध-अक्षरसंवद्ध-पु० वर्णव्यक्तिमति, स्था० २ ग० ३
उ० । (अस्य व्याख्या 'भासा' शब्दे)

अक्षरससिवाय-अक्षरसन्निपात-पु० अक्षराणां सन्निपाता
सयोगाः । राय० । अकारादि (वर्ण) सयोगेषु, "अजिणाणं
जिणसका-साण सव्वकखरससिवायाण" स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अक्षरसम-अक्षरसम-न० (अक्षरैः समो यत्र) गेयस्वरभेदे,
यत्र अक्षरे दीर्घे दीर्घस्वरः क्रियते, ह्रस्वे ह्रस्व, प्लुते प्लुतः,
सानुनासिके सानुनासिकस्तदक्षरसममिति, स्था० ७ ग० ।

अक्षरसमास-अक्षरसमास-पु० अकारादिलब्धकृगणां द्वा-
दिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

अक्षरवाया-देशी-दिगेत्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्षरल-देशी-पु० (अक्षरोट) इति प्रसिद्धे, वृक्षे, तत्फल-
च, न० प्रज्ञा० १६ पद ।

अक्षरलिअं-देशी-प्रतिफलिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्षरलिय-अस्वलित-त्रि० न० त० । अप्रच्युते, स्वकर्तव्ये,
अप्रमत्ते, वाच० । उपलक्षकवाद्याकुलचूजागे, लाङ्गलमिव स्ख-
लति यत्तस्खलितं, न तथाऽस्खलितम् । सूत्रगुणजेदे, अनु० ।
ग० । आ० म० प्र० ।

अक्षरलियचरित्त-अस्वलितचारित्र-पुं० अस्खलितमतिचार-
रहित चारित्र मूलगुणरूप यस्यासौ अस्खलितचारित्रः । नि-
रतिचारचारित्रे, ईदृशेण साक केवल्यपि विदग्धेत् । " गीयत्थे
जे सुसविमो, अणावस्सी ददव्वप । अक्षरलियचरित्ते य,
रागदोसविवज्जप " ग० १ अधि० ।

अक्षरलियाइगुणजुत-अक्षरलितदिगुणयुत-त्रि० अस्खलि-
तममिनमव्यत्याग्रेरितमित्यादिगुणयुक्ते, " अस्खलितदिगुणयु-
तैः स्तोत्रैश्च महामतिप्रथितैः " पौ० ए विव० ।

अक्षरवाडग-अक्षपाटक-पु० अक्षे व्यवहारे पाटयति दीप्यते ।
पट्टमौ-गवुत् । व्यवहारनिर्णेतारि धर्माध्यक्षे, वाच० । चतुरस्त्रा-
कारे (आसने,) " तेसि ण बहुमज्जदेसजाए पत्तेय २ वडरा-
मया अक्षरवारुगा पणप्ता " जी० ३ प्रति० ।

अक्षरमुत्तमाला-अक्षमूत्रमाला-स्त्री० अक्षा रुद्राक्षाः फलवि-
शेषास्तेषां सम्बन्धिनी सूत्रप्रतिवक्षा माला आवर्त्ता या सा तथा
सैव गण्यमानेर्निर्मासतयाऽतिव्यक्तत्वात् । रुद्राक्षमालायाम्,
" अक्षमसुत्तमाला विव गणिज्जमाणेहि " अणु० ३ वर्ग ।

अक्षरसोय-अक्षस्रोतस-न० चक्रप्रवेशशब्दे, ज० ७ श० ६ उ० ।

अक्षरसोयप्पमाण-अक्षस्रोतःप्रमाण-त्रि० अक्षस्रोतश्चक्रप्र-
वेशशब्द, तदेव प्रमाणमक्षस्रोतःप्रमाणम् । ज० ७ श० ६ उ० ।
चक्रनाभिच्छिद्रप्रमाणे, आ० ।

अक्षरसोयप्पमाणमेत्त-अक्षस्रोतःप्रमाणमात्र-त्रि० अक्षस्रोत
प्रमाणेन मात्र परिमाणमवगाहनो यस्य स तथा । (चक्रनाभि-
च्छिद्रप्रमिताऽवगाहं) " तेण कात्तेण तेण समण्ण गगासिधुओ
महाणइत्तो रहपहवित्थराओ अक्षरसायप्पमाणमेत्त जज्ज
वांज्जिहिं छि " म० ७ श० ६ उ० ।

अक्षर-आख्या-स्त्री० आ-ख्यायनेऽनया । आ-ख्या-अह ।
वाच० । अभिधाने, " काळो उ लदक्खा, " इन्द्राख्या इत्य-
भिधानम् । स काक्षः प्रतिपत्तव्य । वृ० ३ उ० ।

अक्षराइय-आख्यातिक-न० पठति शृङ्गे इत्यादि (आख्यात-
निष्पन्ने) यत्रजेदे, आ० म० छि० । विशेष० । धावतीत्याख्याति-
कम्, क्रियाप्रधानत्वात् । अनु० । साध्यक्रियापदे, 'यथाऽकरोत्
करोति करिष्यति' प्रश्न० सब० २ द्वा० ।

अक्षराइयड्ढाण-आख्यायिकास्थान-न० कथानकस्थाने, आ-
चा० २ श्रु० ११ अ० ।

अक्षराइयाणिस्सिय-आख्यायिकानिश्रित-न० आख्यायिका
प्रतिवक्तेऽस्तत्प्रत्यये, एष नवमो मृषाजेदः । स्था० १० ठा० ।

अक्षराइया-आख्यायिका-स्त्री० आ-ख्या-एवुत् । कल्पितक-
थायाम्, सथा० । यथा तरङ्गवतीमव्यवतीप्रभृतयः, वृ० १ उ० ।

अक्षरल-आख्यातुम्-अव्य० आख्यान कर्तुमित्यर्थे, " न य
दिदु सुय सव्व जिक्खू अक्षराउमरिहइ " दश० ८ अ० ।

अक्षरग-आख्याक-पु० स्लेच्छविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥

अक्षरामग-आखाटक-पु० प्रेक्षाकारिजनासनचूते, स्था० ४
ग० २ उ० । चतुरक्षे लोकप्रतीतेऽर्थे, स्था० ३ ग० ३ उ० " ते-
सि ण बहुसमरमणिज्जाण भूमिभागाण बहुमज्जदेसभाए पत्तेय
२ वडरामए अक्षराडए " राय० ।

अकरावा-आख्या-न० । आ-ख्या, चक्षिह वा, ल्युट् । आ-
भिसुख्येनादरेण वा ख्यापन प्रकथनमभिधान वा । “ अ-
कक्षाणं खावणाभिहाण वा ” आभिसुख्येनाऽऽदरेण वा
प्रकथनेऽभिधाने च, विशेष० । निवेदने, घ० १ अधि० । अ-
भिधाने, पञ्चा० २ विव० । आख्यानकानि धूर्ताऽऽख्यानकादी-
नि । इ० २ उ० । नि० चू० ॥

अकरावा-आख्यात-त्रि० आ-ख्या-क्तः । पूर्वतीर्थकरण-
धरादिभिः प्रतिपादिते, सूत्र० १ शु० ३ अ० । आ० १ । “ स-
ति मे य दुवे जणा, अकखाया मारणति य ” ॥ उ० ७ ए अ० ।
समन्तात्कथिते, उ० २ अ० । “ सुय मे आउस तेण भग-
वया एवमकखायं ” आ मर्यादया जीवाऽजीवलक्षणासंकी-
र्णतारूपतयाऽजिविधिना वा समस्तवस्तुविस्तारव्यापनलक्षणे-
न ख्यात कथितमाख्यातमात्मादिवस्तुजातमिति गम्यते । स्था०
१ उ० । सूत्र० १ द० । भणिते, सथा० । तिङ्करूपे प्रत्यये, भाव
एव साध्यतया लिङादिरभिधीयते न कर्ता “ पूर्वापरीभूतं जा-
वमाख्यातमाचष्टे ” इतिवचनात् । सम्म० ।

अकरावापवज्जा-आख्यातप्रज्जा-स्त्री० आख्यातेन धर्मद-
र्शनेन आख्यातस्य वा प्रज्ज्येत्यभिहितस्य गुरुभिर्या साऽख्या-
तप्रज्जा । प्रज्ज्याभेदे, स्था० ३ उ० २ उ० । “ अकखा-
याप जब् धम्म अकखादिपभवस्स ” प० मा० । “ अकखाया-
प सुदंसणो सेट्ठी सामिणा संबोहिओ ” प० चू० ।

अक्खि-अक्षि-न० अद्विजते विषयान्, अग्-क्वि । नेत्रे, वाच० ।
“ अक्खिहि य णासाहि य जिम्भाहि य ओट्टेहि य ” विपा० १
शु० २ अ० । “ ते अजिअक्खितिल्लप ” नि० चू० १ उ० ।

अक्खितर-अद्व्यन्तर-न० ६ त० । नेत्ररन्ध्रे, (विपा०)
“ अक्खितरेसु दुवे ” (नाट्यौ) विपा० १ शु० १ अ० ।

अक्खित्त-आक्षिप्त-त्रि० आ-क्षिप्-क्तः । कृताक्षेपे, यस्याक्षेपः
कृतस्त्वस्मिन् । वाच० । आकृष्टे, क्ता० १ शु० १ अ० । उपलोभिते,
क्ता० १ शु० २ अ० । आवर्जिते, दश० ३ अ० । उपन्यस्ते च,
पचा० १२ विव० ।

अक्खि (क्खे) त्त-अक्षेत्र-न० । न० त० । क्षेत्रभावे, “ मग्गणा
खेत्त अक्खेत्ते ” एकक्षेत्रस्थितानां मार्गणा कर्तव्या, कस्य क्षेत्र
भवति कस्य वा न भवति क्षेत्रमित्यर्थः । व्य० ४ उ० ।
क्षेत्रभिन्ने बहिरर्थे, “ अक्खेत्तुवस्सए पुच्छमाणे दूरावलि-
य मासो ” अक्षेत्रे स्थितानामुपाश्रये उपाश्रयविषया मार्गणा
कर्तव्या । अक्षेत्रे उपाश्रयस्य मार्गणा कर्तव्येत्युक्तं तत्र
तावदक्षेत्रमाह- “ एहाणाणुजाण अद्धा-णसीसए कुल्लगणे
चचके य । गमाइवाणुमतए-महेय उज्जाणमादीसु । इवकील-
मणोमाहो जत्थ राया जेहि षपच इमे । अमच्चपुरोहिया सेट्ठी,
सेणावति सत्थवाहो य ” व्य० ४ उ० । ज दिस वाघातो त दिस
अक्खुज्जाणं जाव खेत्त भवति परओ अक्खेत्त ” नि० चू० १ उ० ।

अक्खित्तणियंसण-आक्षिप्तनिवसन-त्रि० ३ ब० । आकृष्टप-
रिधानवस्त्रे, “ अक्खित्तणियंसणा मल्लिणढडिखमवसणा ”
प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्खिराग-अक्षिराग-पुं० अक्षणां रागो रञ्जनम् । सौवीरादि-
केऽञ्जने, “ आसूणिमक्खिराग च, गिद्धवधायकम्मग । उच्छेदण

च कक्कं च, तं विज्ज परियाणिया ” ॥ १५ ॥ सूत्र० १ शु० ७ अ० ।

अक्खिवण-आक्षेपण-न० चित्तव्यग्रतापादने, प्रश्न० आश्र० ३ अ० ।
अक्खिविजं-आक्षेपुम्-अव्य० आ-क्षिप्-तुमुन् । स्वीकर्तुमि-
त्यर्थे, नि० ।

अक्खिविउकाम-आक्षेपुकाम-त्रि० स्वीकर्तुकामे, नि० चू० १ उ० ।

अक्खिवेयणा-अक्षिवेदना-स्त्री० नेत्रपीमात्मके रोगभेदे, विपा०
१ शु० ४ अ० ।

अक्खीण-अक्षीण-त्रि०, न० त० । अक्षुण्णिते, औ० । क्षयमनुपगते,
प्रश्न० २६ पद । “ अक्षीणा विरतज्वरा हि गृहिण ” प्रति० । “ ना
भगोयस्स वा कम्मस्स अक्खीणस्स अवैद्यस्स ” अक्षीणस्य
स्थितेरक्षयेण । कल्प० । “ अक्खीणद्ववसारा ” प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्खीणपमिभोइ (ए) अक्षीणपरिभोगिन्-पुं० अक्षीण-
मक्षीणायुष्कमप्राप्तुक परिभुजते इत्येव शीघ्रा अक्षीणपरिभोगि-
नः । अप्राप्तुकपरिभोगिषु, इन्द्रियस्य स्वार्थकत्वाद्, अनपग-
ताहारशक्तिषु, “ आजीवियसमयस्स ण अयमठे पण्णं अ-
क्खीणपमिभोइणो सव्वसत्ता ” ज० ८ श० ५ उ० ।

अक्खीणमहाणसिय-अक्षीणमहानसिक-पुं० महानसमन्-
पाकक्षान तदाधितत्वाच्चाऽन्नमपि महानसमुच्यते, ततश्चाक्षीण
पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि दीयमान स्वयमक्षुक सत् तथाविधल-
ब्धविशेषादक्षुण्णित, तत्र तन्महानस च भिक्षालब्ध भोजनमक्षी-
णमहानसं तदस्ति येषां ते तथा । औ० । अक्षीणमहानसी नाम
लब्धिमुपपन्नेषु, येषामसाधारणान्तरायक्षयोपशमादल्पमात्र-
मपि पात्रपतितमन्नं गौतमादीनामिव पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि
दीयमानं स्वयमेवाक्षुकं न क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः । उक्तं
च- “ अक्खीणमहाणसिओ, निक्ख जेणाणीय पुणो तेण ।
परिहृत्तं चिय खिज्जइ, बहुपरिहि वि न पुण अक्खेहि ” ॥ १ ॥
ग० २ अधि० । अक्खीणमहाणसियस्स निक्ख ण अक्षेण णिट्ठ-
विज्जइ, तस्मि जिमिते णिछाति । आ० चू० १ अ० । आ० म० प्र० ।

अक्खीणमहाणसी-अक्षीणमहानसी-स्त्री० लब्धिभेदे, येना-
नीत भैक्षं बहुभिरपि लक्षसंख्यैरप्यन्यैस्तृप्तितोऽपि क्षुकं न
क्षीयते यावदात्मना न लुङ्गके किन्तु तेनैव क्षुकं निष्ठां याति, त-
स्याक्षीणमहानसी लब्धिः । प्रव० २७० द्वा० । विशेष० ।

अक्खीणमहालय-अक्षीणमहालय-पुं० लब्धिविशेषमवा-
सेषु, ते च यत्र परिमितभूतदेशेऽवतिष्ठन्ते तत्रासख्याता अपि
देवास्तिर्यङ्मो मनुष्याश्च सपरिवाराः परस्परबाधारहितास्तीर्थ-
करपर्वदीव सुखमासते इति । ग० २ अधि० ।

अक्खीरमधु (हु) सप्पिय-अक्षीरमधुसर्पिष्क-पुं० । न० ब० ।
दुग्धक्षौद्रघृतवर्जके अजिग्रहविशेषधारके, प्रश्न० सब० १ द्वा० ।

अक्खुअ-अक्षुत-त्रि० आर्षत्वाङ्कारः । अप्रतिहतै,
घ० ३ अधि० ।

अक्खुआआरचरित्त-अक्षताकारचरित्त-पुं० अक्षत आकारः
स्वरूप यस्य अक्षताकारमसीधारैरप्रतिहतस्वरूप चरित्र येषां ते
तथा । निरतिचारचरित्रेषु, “ अट्टारस्स सीलंगधरा अक्खुआ-
आरचरित्ता ते सन्ने सिरसा मणसा नत्थएण वंदामि ”
घ० ३ अधि० ।

अकखुस-अकखुस-त्रि० । न० त० । अमर्दिते, नि० चू० १० उ० ।

“ अकखुसेसु पदेसु पुढवी उदगमि होइ पुहओ वि ” बृ० १ उ० ।

अकखुद-अकखुद-पु० । न० त० । अनुत्तानमतौ, ध० १ अधि० ।

ध० २० । अकपणे, कपणो ह्यौचित्येन व्यवव्यकरणाशक्तत्वात् तत्साधनाय शासनप्रभावनाय चात्ममिति तद्विश्वस्य प्रथमश्रावकगुणवत्त्वम् । पचा० ७ विव० । अकूरे, कूरेण हि परोपतापितत्वाज्जनद्वेषेण कृतं तदायतनं तन्मत्सरेण जनद्वेष्यं स्यादिति (तद्विश्वस्य प्रथमश्रावकगुणवत्त्वम्) पंचा० २ विव० । तेन निष्पादितं सर्वानन्ददायितया हितं प्रवर्ति । दर्श० ।

अस्य विस्तरेण प्रतिपादनम्—

खुदो चि अगंजीरो, उचाणमई न साहए धम्मं ।

सपरोवयारसत्तो, अकखुदो तेण इह जुगो ॥ ८ ॥

यद्यपि क्षुद्रशब्दस्तुच्छकूरदरिद्रस्यप्रभृतिष्वर्थेषु वर्तते तथापीदं कृत्वा इत्यगंजीर उच्यते, तुच्छ इति कृत्वा स पुनरुत्तानमतिरनिपुणधिषण इति हेतोर्न साधयति नाराधयति धर्मं, भीमवत्, तस्य सूक्ष्ममतिसाध्यत्वात् । उक्तं च—“ सूक्ष्मबुद्ध्या स विज्ञेयो, धर्मो धर्माधिभिर्नरैः । अन्यथा धर्मबुद्धयैव, तद्विधातः प्रसज्यते ॥ १ ॥ गृहीत्वा ग्लानमैषज्यं, प्रदानाभिग्रह यथा । तदप्राप्तौ तदन्तेऽस्य, शोक समुपगच्छतः ॥ २ ॥ गृहीतोऽभिग्रहश्रेष्ठो, ग्लानो जातो न च क्वचित् । अहो ! मे धन्यता कष्ट, न सिद्धमिवाङ्कितम् ॥ ३ ॥ एवमेतत्समादान, ग्लानभावाज्जिसन्धिमतः । साधूनां तत्त्वतो यत्तद् दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः ” ॥ ४ ॥ इति, एताद्विपरीतः पुनः स्वपरोपकारकरणे शक्तः समर्थो भवतीति शेषः । अकखुदः सूक्ष्मदर्शी सुपर्याप्तोचितकारी तेन कारणेनेह धर्मग्रहणे योग्योऽधिकारी स्यात्, सोमवत् । तयोः कथा चैवम्—

नरगणकलियं सुजइ-च्छद पि व कणयकूरुपुरमत्थि ।

तथासि वासवो वा-सउ व विबुद्धपिओ राया ॥ १ ॥

कमत्ता य कमलसेणा, सुलोयणा नाम तिसि तरुणीओ ।

भूमीवइइहिआओ, दुस्सइपियविरहदुहियाओ ॥ २ ॥

अन्नायसरुवाओ, अन्नुअ पि हु तहिं रुयतीओ ।

समदुइदुहिय चि गिया, एगत्थं गमति दिवसाइ ॥ ३ ॥

तथेगो सुगुणेहिं, अवामणो वामणो उ रुवेण ।

सम्म निययकत्ताहिं, रजइ निवपज्जइसयहपुर ॥ ४ ॥

कइया वि निवेणुत्तो, सो जइ इह विरहदुहियतरुणीओ ।

जइ रंजिहिही नूण, तो तुह नज्जइ कलुक्करिसो ॥ ५ ॥

थोवमिण ति स भणिरो, रज्जोऽणुआइ बहुवयसज्जओ ।

पत्तो ताण प्रवणे, कइइ विविहे कहात्तावे ॥ ६ ॥

एगेण वयसेण, वुत्त किमिमाहिं मित्त ! वत्ताहिं ।

किं पि सुइसुइयचरिय, कइसु तओ कइइ इयरो वि ॥ ७ ॥

महिमहिलाज्जावत्थव-तिवय व पुर इहत्थि तिलयपुर ।

तत्थ य पुरियममाण-प्रणोरहो मणिरहो राया ॥ ८ ॥

सुइसुरहिसीलजियविम-लमालई मावइ चि से दइया ।

एत्ता य जुवणअक्रम-णविक्रमो विक्रमो नाम ॥ ९ ॥

नियमदिरसनिहिण, गिहम्मि कम्मि वि कया वि सजाए ।

सो सुणइ सवणसुइय, केण वि एव पढिज्जत ॥ १० ॥

नियपुअपमाण गुण-वियहिमा सुजणदुज्जणविसेसो ।

नज्जइ नेगत्थविण-हिं तेण निवणा नियंति माहिं ॥ ११ ॥

त मृणिय सुणिय मवगणि-य परियण देसइसणसतएहो ।

कुमरो रयणीइ एरा-उ निग्गओ खग्गवग्गकरो ॥ १२ ॥

सो वच्चतो सतो, अग्गे मग्गे निएइ क पि नर ।

निट्ठुरपहारविहुर, पिवासियं महियसे पडियं ॥ १३ ॥

तो सरवराउ सविहं, गहितु उप्पअपुअकारुनो ।

तं पाइत्ता पत्रण-प्ययाणओ कुणइ पत्रणतणुं ॥ १४ ॥

पुच्छइ य भो महायस !, कोसि तुमं किं इमा अवत्था ते ? ।

सो जणइ सुयणसिररय-ण ! सुणसु सिद्धु चि इं ओई ॥ १५ ॥

विज्जावलिपण विप-क्खजोइणा उलपहारिणा अइय ।

एयमवत्थं नीओ, तए पुणो पगुणिओ सगुणो ॥ १६ ॥

तो सो तोसेणं गरु-मतर्माप्पत्तु नरवरसुयस्स ।

सछाण संपत्तो, कुमरो पुण इत्थं नयरम्मि ॥ १७ ॥

निसि मयणणिहे वुत्थो, चिट्ठइ जा सुट्ठु जगिरो कुमरो ।

ता तथेगा तरुणी, समागया पूइउं मयण ॥ १८ ॥

वहिं नीहरिचं अप्पइ, अस्सो वणदेवया सुणइ सम्मं ।

इह वासवनरवइणो, सुइया कमल चि इं इहिया ॥ १९ ॥

मणिरहसुयस्स विक्रम-कुमरस्सुज्जसगुणाणुरापण ।

दिआ पिठणा सो पुण, इपिइ न नज्जइ कहिं पि गओ ॥ २० ॥

जइ मइ इह नउ जाओ, सो भत्ता तो परत्थं वि हविज्जा ।

इय पभणिअ उल्लवइ, वमविमविणि जाव सा अप्प ॥ २१ ॥

मा कुणसु साइस इय, जणिरो छुरियाइ तिदिउ पासं ।

कमल कमलसुकोमल-वयणेहिं सउवइ कुमरो ॥ २२ ॥

इत्तो तस्सुद्धिकए, प्रमचडगरपरिखुनो तहिं पत्तो ।

वासवनिवो वि कुमरं, दंठुं दिट्ठो भणइ एअं ॥ २३ ॥

तिलयपुरे अस्मेहिं, गपहिं मणिरहस्समिच्छिमिलणत्थ ।

त वाससे दिट्ठो, दक्खिअसुपुअवर ! कुमर ! ॥ २४ ॥

निज्जणरत्ता पसा, पइ कमला कमलणि व्व दिण्णहाहे ।

तुह दाहिणकरमेलण-वत्ता सुइं लहउ मइ उइया ॥ २५ ॥

इय महुरगहिरभणिइ, पत्थिओ वासवेण नरवइणा ।

विक्रमकुमरो कमलं, परिणइ तिविक्खु व्व तओ ॥ २६ ॥

गोसे तोसेण पुरे, पवेसिओ निवइणा समज्जो सो ।

तीइ सम्मं कीलंतो, चिठइ निवदिअपासाए ॥ २७ ॥

तो किं अग्गे कमत्ता-इ जंपिय भणिय रायसेवाए ।

समओ चि गओ खुज्जो, वीयदिणे कहइ पुण एअं ॥ २८ ॥

कइया वि सुणिय रयणीइ, कलुणसइ रुयतरमणीए ।

तस्सइणुसारेण य, स गओ कुमरो मसाणम्मि ॥ २९ ॥

दिट्ठा बाहज्जाविल-विहोललोयणजुया तहिं जुवई ।

तीए पुरओ जोई, तइ कुमं जलिरजलणजुय ॥ ३० ॥

होउं लयतरे पत्र-रपत्ररिसो जाव चिठए कुमरो ।

विसमसरपसरविहुरो, तो जोई भणइ तबाल ॥ ३१ ॥

पसिय च्छिअ सियसयवत्त-पत्तनयणे मम करिय दइयं ।

चूलामणि व्व त हो-सु सयलरमणीयरमणीण ॥ ३२ ॥

सा रुयमाणी पभणइ, किं अप्पमणत्थय कयत्थेसि ।

जइसि हरी मयणो वा, तहा वि तुमए न मे कज्ज ॥ ३३ ॥

अह रुओ सो जोई, वत्ता वि जा गिण्हिही करेण तय ।

ता पुकरिय तीए, हहा ! अणाहा इमा पुढवी ॥ ३४ ॥

ज सिरिपुरपहुजयसे-णनिवइइइया अइ कमलसेणा ।

दिआ पिठणा मणिरह-निवसुयविक्रमकुमारस्स ॥ ३५ ॥

सपइ विज्जावलिओ, अइइ ! अस्सत्तं करेइ को वि इमो ।

इय निसुणिय पयन्नियको-वविग्गमो भणइ कुमरो त ॥ ३६ ॥

पुरिसो हवेसु सत्थं, करेसु समरेसु देवय इट्ठु ।

परमहिलमहिलसतो, रे रे पाविट्ठु ! नछोसि ॥ ३७ ॥

तो खसमलिमो जोई, भणइ परित्थीपसगवारणओ ।
 निवडतो हं नरण, साहु तप रक्खिओ कुमर । ॥ ३७ ॥
 उवयारभो छि दां, रूपरायित्तिकारिणि विज्ज ।
 पणइ जोगी मने, गुरुविक्रमसाहसगुणेहि ॥ ३८ ॥
 तुह पइ इसीइ दिछी, वल्लेणं तसि विक्रमकुमारो ।
 इयरो वि साहइ भदो, तुहिगियागारकुसलत्त ॥ ४० ॥
 तो जोगि पत्थिओ तं, बाहं परिणिनु त विसज्जेउ ।
 तीए जुओ कुमारो, नियभवणुज्जाणमणुपत्तो ॥ ४१ ॥
 ता किं जाय तस्समा-ओ छि पुट्टमि कमलसेणाए ।
 ओल्लगाय वेह छि, जंपिउं निगमो खुज्जो ॥ ४२ ॥
 अथ तइयवासरम्मि, आगतु कहइ तत्थ पुण पव ।
 कुमरो जावुज्जाणो, कीलइ सह कमलसेणाए ॥ ४३ ॥
 परकज्जसज्ज ! मह कज्ज-मज्ज कुणसु छि ताव तं कोइ ।
 आह कुमारो वि जणइ, करेमि जीवियफसं पमं ॥ ४४ ॥
 तयणु विमाणादो, कुमरो वेयट्ठिकणयपुरपणुणो ।
 विज्जयनिवस्स समीवे, नीओ सो तेण इय भणिओ ॥ ४५ ॥
 कुमर ! मह अत्थि सत्तु, भदिसपुरसामिधूमकेउनिधो ।
 त अक्कमिउ आरा-हियाइ कुल्लदेवयाइ मय ॥ ४६ ॥
 तवियजयफसमो तं, कुमर ! पमणिओ गिएहता इमा विज्जा ।
 आगासगामिणीमा-इयाउ तह चेव सो कुणइ ॥ ४७ ॥
 अह साहिययहुविज्ज, इयगयघडसुइरुकोमिसम्भेय ।
 कुमरं इत निसुणिय, सखुदो धूमकेउनिधो ॥ ४८ ॥
 अत्तुल्ललच्छिविज्ज-मन्थि उरुत्त गओ रज्ज ।
 त गहिय महियसत्तु, पत्तो कुमरो वि सछाण ॥ ४९ ॥
 हरिसुक्करिसपरेणं, रत्ता वि सुलोयण निययधूय ।
 परिणाविओ कुमारो, चिट्ठइ तत्थेव कह वि दिणे ॥ ५० ॥
 दहु पुव्वपियाओ, कया वि कुमरो सुलोयणासहिओ ।
 इत्थेव पुणो नयरे, नियभवणुज्जाणमोइओ ॥ ५१ ॥
 सो कथ गओ छि सुलो-यणाइ पुठम्मि धामणो हसिरो ।
 नो तुम्हे विव अम्हे, खणिया इय धुत्तु नीहरिओ ॥ ५२ ॥
 नियनियचरियसवणओ, नियनियतणुनिउणफुरणओ ताहि ।
 कयरूपरावत्तो, नियभत्ता तकिओ खुज्जो ॥ ५३ ॥
 अह रायपहे खुज्जो, गच्छतो सुणिय कम्मि वि गिहम्मि ।
 करणसर तो क पि हु, पुच्छइ रोइज्जण किमिह ? ॥ ५४ ॥
 सो जणइ तिलयमति-स्स पुत्तिया सरसइ छि नामेण ।
 भवणोवरि कीलती, रुक्का कसिणेण उरगेण ॥ ५५ ॥
 चत्ता नरिद्विदा-रणाइ तो तीइ मायपियसयणा ।
 उम्मुककंठमुक्क-उवज्जिया इय कयति वहु ॥ ५६ ॥
 त सोउ भणइ खुज्जो, गच्छामो भइ मतिगेहम्मि ।
 पिच्छामि तयं बाहं, अहमवि उज्जेमि तह किं पि ॥ ५७ ॥
 इय धुत्तु मतिजवण-म्मि धामणो तयणु तेण सह पत्तो ।
 पणणेइ पोढमत-प्पभावओ जत्ति त धाव ॥ ५८ ॥
 नियविन्नाण व तुम, सरुवमविदससु छि सच्चिवेण ।
 सो पत्थिओ खणेण, नहुव्व जाओ सहावत्थो ॥ ५९ ॥
 तस्स पहाण रुव, दहुं अइविहिओ तिलयमती ।
 आ चिट्ठइ ता पदिय, मागहविदेण पयरुमि ॥ ६० ॥
 माणेरहनिवकुल्लससहर !, हरहारकरेणुधवज्जसप्पसर ! ।
 पसरियतिहुयणविक्रम !, विक्रमवर ! कुमर ! जय सुचिर ॥ ६१ ॥
 तो मती वरकुलरु-वविक्रम विक्रम निपण्ण ।

कुमरीइ पाणिगहणं, कारावइ दहत्तुट्टमणो ॥ ६२ ॥
 त सुणिय जाणितं निय-सुयाइ कमलाइ पिययम हिट्ठो ।
 वासवराया कारइ, महसव सव्वनयरम्मि ॥ ६३ ॥
 तत्तो मतिगिहाभां, नीओ नियमदिरे विज्जइए ।
 सो सव्वपियाहि जुओ, सुहेण चिछइ सुरु व्व तहि ॥ ६४ ॥
 कइया वि जणयलेहेण पेरिओ पुच्छिउ ससुरराय ।
 चउहि वि जज्जाहि सम, कुमरो पत्तो तिलयनयरे ॥ ६५ ॥
 पणओ य जणणिजणय, इत्तो उज्जाणपाळण निवो ।
 विज्जत्तो सिरिअकत्त-कसुरिआगमणकदणेण ॥ ६६ ॥
 तो आसुरभूइज्जो, स कुमारो मारसासणु व्व निवो ।
 चद्धिओ गुरुनमणत्थ, रायपहे नियइ नरमेण ॥ ६७ ॥
 अइसलवलतकिमियहु-वज्जात्तमच्छिन्नमच्छियाच्छिन्न ।
 निकिठकुट्टसखिर-सिरहरमइदीणसर ॥ ६८ ॥
 तं दह्मणिछमरिउ-मंमलम्मि व विसायमहिणमुदो ।
 पत्तो गुरुवपासे, नमिउ निसुणेइ धम्मकह ॥ ६९ ॥
 जीवो अणाइतणुक-म्मबंधसजोगओ सया दुहिओ ।
 भमइ अणाइवणस्सइ-मज्जगओ णतपरियट्ठे ॥ ७० ॥
 तो वायरेसु तत्तो, तसत्तण कह वि पावप जीवो ।
 दहुकम्मो य तओ अइ, पावइ पंचिदियत्तं च ॥ ७१ ॥
 पुअविट्ठणो य तओ, न अज्जसित्ते दहेइ मणुयत्त ।
 लळे वि अज्जसित्ते, न कुल जाइ धलं रुव ॥ ७२ ॥
 पय पि कहवि पावइ, अप्पाठ वा हविज्ज वाहिओ ।
 दीदाओ निरोगो हविज्ज जइ पुअजोपण ॥ ७३ ॥
 पत्ते नीरोगत्ते, दसणनाणस्स आवरणओ य ।
 न य पावइ जिणधम्म, विवेयपरिवज्जिओ जीवो ॥ ७४ ॥
 लद्धुण वि जिणधम्म, दसणमोहणियकम्मउदपण ।
 सकाइकलुसियमणो, गुरुवयण नेव सहइइ ॥ ७५ ॥
 अह निम्मलसमत्तो, जहाडियं सहइइ गुरुवयण ।
 नाणावरणस्सुदय, ससिज्ज त न वुज्जेइ ॥ ७६ ॥
 कह ससिय पि वुज्जइ, सय पि सहइइ वोहप अज्ज ।
 चारित्तमोहदोसेण, सजम न य सयं कुणइ ॥ ७७ ॥
 खीणे चरित्तमोहे, विमलतव सजम च जो कुणइ ।
 सो पावइ मुत्तिमुद इय भणियं खीणरागेहि ॥ ७८ ॥
 चुल्लगपासगधत्ते, जुए रयणे य सुमिणचक्के य ।
 अम्मजुगे परमाणु, दस विट्ठता सुयपसिक्का ॥ ७९ ॥
 एपाहि इम सव्व, मणुयत्ताइ कमेण उल्लज्ज ।
 लद्धु करेइ सहल, काळण जिणिंदवरधम्म ॥ ८० ॥
 अह समए भणइ निवो, भयव ! किं दुक्कय कय तेण ? ।
 उक्किट्ठकुट्ठिपणं, तो इह जपेइ मुनिनाहो ॥ ८१ ॥
 मणिसुद्धरमदिरे-हिरम्मि मणिमदिरम्मि नयरम्मि ।
 दो सोमभीमनामा, कुलपुत्ता निच्चमविउत्ता ॥ ८२ ॥
 पढमो गुत्ताणमई, अकखुदो भइओ विणीओ य ।
 तविवरीओ बीओ, परपेसणजीविणो दो वि ॥ ८३ ॥
 अन्नदिणे दिनमणिकिरणमासुर सुरगिरि व उक्कुग ।
 कथ वि वच्च तेहि, तेहि जिणमदिर दिट्ठ ॥ ८४ ॥
 सुहुममइ सोमो जणइ, भीम ! सुकयं कय न किं पि पुरा ।
 अम्हेहि तेण नूण, परपेसत्तणमिण पत्त ॥ ८५ ॥
 ज तुल्ले वि नरत्ते, पगे पहुणो पयाइणो अन्ने ।
 त सुकयदुकयफल, अकारण इवइ किं कज्ज ॥ ८६ ॥

तो पणमामो देवं, देवो य जलजहिं दुहसयाण ।
उत्ताणमई बाया-सभावओ भणइ अह मांमो ॥ ७७ ॥
न य अत्थि नृयपचगपवं-चअहिओ जिउ च्चिय जयम्मि ।
हे सोम ! धोमकुसुम, व तयणु देवाणो किहणु ॥ ७८ ॥
पासमितुडअइचड-तनवानंभरेहि किं मुक्क ! ।
देवो देवु च्चि मुहा-कयत्थसे अण्णमण्णमई ॥ ८६ ॥
इय वारिओ वि तेण, सोमो सोमु व्व सुक्कमइज्जण्हो ।
गतुं जिणभवणे भुव-ण बधव नमइ समियतमो ॥ ९० ॥
गहिउं रुवगकुसुमे, पुणइ जिणं पराइ जत्तीए ।
तप्पुणवसा अज्जइ, स वोहिचीयं नराउज्जय ॥ ९१ ॥
मरिउं स एस सोमो, जाओ मणिरहनरिंद ! तुह पुत्तो ।
पमिपुअपुअसारो, मारो इव विक्रमकुमारो ॥ ९२ ॥
जीमो उण खुइमई, जिणाइनिंदणपरायणो मरिउं ।
जाओ एसो कुली, पुरओ जमिहिं जवमणतं च ॥ ९३ ॥
अह जायजाइसरणो, कुमरो हरिसुल्लसंतरोमचो ।
नमिउं गुरुपयकमलं, गिएइ गिहिधम्ममइरम्मं ॥ ९४ ॥
मणिरहगिवो वि विक्रम-कुमरे संकमियरज्जपम्भारो ।
गहियवओ उप्पामिय, केवलनाणो गओ सिक्कि ॥ ९५ ॥
जिणमदिरजिणपमिमा-जिणरहजत्ताकरावणुज्जुत्तो ।
मुणिजणसेवणसत्तो, दडसंमचो विमलचित्तो ॥ ९६ ॥
सपुअकवो पमिपु-अमंरुओ इणियदुरियतमपसरु ।
विक्रमराया राउ-व्व कुवलय कुणइ सुहकलिय ॥ ९७ ॥
अअम्मि दिणे निवई, नियपुत्तनिहिउगुर्यरज्जधुरो ।
अकलकसूरिपासे, पव्वज्ज सपवज्जेइ ॥ ९८ ॥
अक्खवुहो गज्जिरो, सुहुममई सुयमहिज्जिउ बहुय ।
विहिणा मरिउं पत्तो, दिवम्मि बहिदी कमेण सिवं ॥ ९९ ॥

मुत्वेति गंभीरगुणस्य वैभव,

महान्तमुत्तानमतेश्च वै भव ।

अकाधनाः आरुजनाः समाहिता-

अकुरुतां घत्त सदा समाहिताः ॥ १०० ॥ घ० २० ।

अक्खुपुरि-अत्तपुरि-खी० नगरीभेदे, यत्त सूर्यप्रभो ग्रहपतिः,
सूरश्रीस्तस्य नार्या, तस्याः सूरप्रभाद्या दारिकाः सूर्यस्य अ-
ग्रमहिषीत्वेन जाताः । शा० ३ श्रु० ।

अक्खेव-आक्षेप-पु० आक्षेपणमाक्षेपः, आशङ्कयाम्, आ० म०
दि० । पूर्वपक्षे, विशेष० । आ-क्षिप्, क्षिप प्रेरणे मर्यादोपदि-
ष्टमर्थमाक्षिपति न सम्यगेतदिति । किमाक्षिपति ?, आह-क्षि-
विधमेव सूत्रम् । यत्संक्षेपक, यद्वा विस्तारक । संक्षेपक सामा-
यिकम्, विस्तारक चतुर्दशपूर्वाणि । एवमेष नमस्कारः । नापि
संक्षेपेणोपदिष्टः, नापि विस्तरतः । एतावती वपरिकल्पना तृती-
या नास्ति । “नमो सिद्धाण ति णिबुया गहिया णमो साहूणं ति
संसारया गहिया एव संखेवो वित्थरो, णमो अरहंताणं णमो
सिद्धाण णमो आयरियाण णमो चोइसपुव्वीणं २ जाव णमो
आयतरगाण णमो आमोसहिपत्ताण एवमादि एत्थतरे णं काय-
व्वो जेण ण कीरति तेण डुट्टुत्ति अक्खेवदारं” । आ० चू० १ अ० ।

“अक्खेवो सुत्तदोसा पुच्छा वा” आक्षेपो नाम यत्सूत्रदोषा उच्य-
न्ते, पृच्छा वा क्रियते, वृ० १ व० । परद्रव्याक्षेपस्वरूपे एकोन-
विंशतितमे गौणचौथे, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० । भर्त्सने, अपवादे,
आकर्षणे, धनादिन्यासरूपे निक्षेपे, अर्थादङ्कारभेदे, निवेशने,
उपस्थाने, अनुमाने, यथा जातिशक्तिवादिनामाक्षेपात् व्यक्ते-
र्वोधः । सतिरस्कारवचने च, वाच० ।

अक्खेवणी-आक्षेपणी-खी० आक्षिप्यते मोहात्तत्त्वं प्रत्याकृष्य-
ते भोताऽनयेत्याक्षेपणी, कथामेदे, सा चतुर्विधा-“अक्खेवणी
कहा चउव्विहा पण्णा, तं जहा-आयारक्खेवणी बवहारक्खेव-
णी पण्णक्खेवणी विट्ठिवायक्खेवणी” स्या० ४ ग० ।

आयारे बवहारे, पञ्चत्ती चेव दिट्ठिवाए य ।

एसा चउव्विहा खलु, कहा उ अक्खेवणी होइ । १०० ।

आचारो लोचास्तानादिः, व्यवहारः कथंचिदापन्नदोषव्यपोहा-
य प्रायश्चित्तलक्षणः, प्रज्ञासिद्धेव संशयापन्नस्य मधुरवचनैः
प्रज्ञापना, दृष्टिवादश्च श्रोत्रापेक्षया सूक्ष्मजीवादिज्ञावकथनम् ।
अन्ये त्वज्जिदधति-आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचारा-
द्यभिधानादिति । एषाऽनन्तरोदिता चतुर्विधा । खलुशब्दो विशेष-
णार्थः । श्रोत्रापेक्षयाऽऽचारादिभेदानाश्रित्यनेकप्रकारेति कथा
त्वाक्षेपणी भवति । तुरेवकारार्थः । कथैव प्रज्ञापकेनोच्यमाना
नान्येन । आक्षिप्यन्ते मोहात्तत्त्वं प्रत्यनया भव्यप्राणीत्याक्षेप-
णी भवतीति गार्थार्थः । इदानीमस्या रसमाह-

विज्जा चरणं च तवो, य पुरिसकारो य समिज्जुत्तीओ ।

उवइस्सइ खलु जाहियं, कहाइ अक्खेवणीइरसो । १०१ ।

विद्या ज्ञानमत्यन्तोपकारि मावतमोभेदकं, चरणं चारित्र्यं स-
मप्रविरतिरूपम्, तपोऽनशनादि, पुरुषकारश्च कर्मशत्रून् प्रति
स्ववीर्योत्कर्षलक्षणः, समितिगुणयः पूर्वोक्ता एव । एतदुपदि-
श्यते खलु भोतृभावापेक्षया सामीप्येन कथ्यते । एवं यत्र क-
चिदसावुपदेशः कथाया आक्षेपण्या रसो निश्चयः सार
इति गार्थार्थः । दश० नि० ३ अ० । घ० । ग० । औ० । द्वा० (इय
कस्मै कथयितव्येति ‘धम्मकहा’ शब्दे)

अक्खेवि (ए)-आक्षेपिन्-त्रि० आक्षिपन्ति वशीकरणा-
दिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः (वशीकरणादिना
परद्रव्यमुदधु) प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्खोरु-कुष्-धा० असेः कोशात्कर्षणे, “असावक्खोडः”
न । ४ । १८७ । इति सूत्रेण असिविषयस्य कृषेरक्खोडादेशः । अ-
क्खोडइ । असिं कोशात्कर्षतीत्यर्थः । प्रा० ।

अक्षोट (म)-पु० आ+अक्ष-ओट-ओड-शैलपीलुवृत्ते,
‘अखरोट’ इतिलोके प्रसिद्धः । वाच० । तत्फलं, न० ।
प्रज्ञा० १७ पद ।

अक्खोरुमंग-अक्षोटजङ्ग-पुं० खोटमङ्गशब्दार्थे, “खोटमंगो
सि वा उक्खोडमंगो सि वा अक्खोडमंगो सि वा एगड्ड”
व्य० १ व० । नि० चू० ।

अक्खोज-अक्षोज-त्रि० न० व० । क्षोभवर्जिते, “अक्खोमे सा-
गरो व्व थिमिय” प्रश्न० सम्ब० ४ द्वा० । अचलितस्वरूपे,
“एत्थुस्सग्गो अक्खोमो होइ जिणाचिखो” पंचा० ४ विव० ।
“अक्खोहस्स भगवओ सघसमुहस्स” अक्षोभ्यस्य परी
षहोपसर्गसंभवेऽपि निष्पकम्पस्य, न० । अन्धकवृष्णेर्धरि-
ण्यां जाते पुत्रे, स च द्वारावत्यां नगर्यामन्धकवृष्णेर्धरिण्यां
देव्यामुत्पन्नोऽरिष्टनेमेरुस्तिके प्रवर्जितः शत्रुजये संलेखनां
कृत्वा सिद्ध इत्यन्तरुद्रशानु सूचितम् । तद्वक्तव्यताप्रति-
बद्धेऽन्तरुद्रशानां प्रथमवर्गस्य सप्तमेऽध्ययने च ।
अन्त० १ वर्ग० । स्या० ।

अक्खोवज्जण-अक्षोपाञ्जन-न० शकटधूर्जलये, “अक्खोव-

जणवणाणुलेषणभूयं " अक्षोपाञ्जनवणानुलेपनभूतम् (आहारम्) अक्षोपाञ्जनं च शकटधूर्ध्वक्षणं, वणानुलेपनं च क्षत-
स्यौषधेन विलेपनम्, अक्षोपाञ्जनवणानुलेपने, ते इव विवक्षित-
तार्थसिद्धिरसादिनिरभिष्वङ्गतासाधर्म्याद्यः सोऽक्षोपाञ्जन-
वणानुलेपनभूतस्तम्, क्रियाविशेषणं वा । भ० ७ श० १ उ० ।
अखंड-अखण्ड-त्रि० । न० ३० । पौर्णमासीचन्द्रविम्बवत्
(स्था० ५ ठा० १ उ०) संपूर्णवयवे, आ० म० द्वि० तं० ज्ञा० स-
र्वधर्मास्तिकायादिकं संपूर्णं देशदैशिककल्पनारहितमखण्ड-
वस्तु । विशेष० ' सुहृदुरुजोगो तव्य-एसेवणा आभवमखण्डा'
आभवमखण्डा आजन्माऽऽससारं वा । ल० । पञ्चा० । " स-
घनगरमह ते अखण्डचरितपागारा " अखण्डमविराधितं
चारित्र्यमेव प्राकारो यस्य तत्तथा । न० ।

अखंमणारज्ज-अखण्डानराज्य-त्रि० अचूर्णितज्ञान-
राज्ये, " चित्ते परिणतं यस्य, चारित्र्यमकुतोभयम् । अखण्ड-
ज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् " । अष्ट० १७ अष्ट० ।
अखंमदंत-अखण्डमदन्त-त्रि० अखण्डाः सकला दन्ता येषां
ते अखण्डदन्ताः । (जी० ३ प्रति०) परिपूर्णदशनेषु, जं० २
वक्ष० । औ० ।

अखंमियसील-अखण्डितशील-त्रि० अनन्यचारित्र्ये, प० चू० ।
अखिल-अखिल-त्रि० न खिल्यते न कणश आदीयते, खिल-
क । न० त० । वाच० । समस्ते, अष्ट० ८ अष्ट० । " अखिले
अगिहे अणिए य चारी " अखिलो ज्ञानदर्शनचारित्र्यैः संपूर्णः ।
सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । " अखिलगुणाधिकसयो-गसारसद्व्य-
यागपरः " । यो० ६ वि० ।

अखिलसंपया-अखिलसंपद-त्री० सर्वसंपत्तौ, " आधीनां पर-
मौषध-मव्याहतमखिलसंपदां बीजम् " यो० १५ वि० ।

अखेद-अखेद-पुं० अव्याकुलतायाम्, " अखेदो देवकार्यादा-
वन्यब्राह्मेण एव च " द्वा० २० द्वा० ।

अखेम-अक्षेम-त्रि० सोपद्रवे मार्गे, तद्वत् क्रोधाद्युपद्रवसहिते
पुरुषजाते च । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अखेमरूप-अक्षेमरूप-पुं० आकारेण सोपद्रवे मार्गे, तच्छत
छव्यलिङ्गवर्जिते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अखेयण-अखेदङ्ग-त्रि० अनिपुणे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
अकुशले, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अग-अग-पुं० न गच्छतीत्यगः । वृक्ते, आ० म० द्वि० नि० चू० ।
विशे० । पर्वते, कल्प० । गमनाकर्तरि शूद्रादौ, त्रि० न गच्छति
वक्रगत्या पश्चिममित्यगः । सूर्ये, तस्य हि वक्रगत्यभावः ज्यो-
तिषप्रसिद्धः । वाच० ।

अगत्र-असुर-पुं० " गौणादयः " । उ० । २ । ७४ । इति सूत्रेण अ-
सुरशब्दस्य ' अगत्र ' इति निपातः । दैत्ये, प्रा० ।

अगइसमावण-अगतिसमापन्न-पुं० अगतिं नरकारिं गच्छ-
ति । नैरयिकादौ,

सुविहा णेरइया पणत्ता तं जहा-गइअसमावणगा चेव
अगइसमावणगा चेव जाव वेमाणिया ।

गतिदण्डके गतिसमापन्नका नरक गच्छन्तः, इतरे तु तत्र ये ग-
ताः । अथवा गतिसमापन्ना नारकत्वं प्राप्ताः, इतरे तु छव्यनारकाः,

अथवा चलस्थिरत्वापेक्षया ते ज्ञेया इति । स्था० २ ठा० २ उ० ।
अगंतिम-अग्रन्थिम-न० कदलीफलेषु, खण्णाखण्णीकृतेषु वा
फलेषु, श्रु० १ उ० । अचकले, " सक्करघययगुलमीसा खज्जु-
रअगंतिमा वत्तम्मि " अगंतिमा नाम कयलया अण्णे भक्षति मर-
इच्छसिप फलाण कयलकल्पमाणाओ पि मीओ एकम्मि मावे
बहुक्किओ भयताणि फलाणि खण्णाखण्णाणि कयाणि घेप्पति ।
नि० चू० १६ उ० ।

अगंदिगेहो-देशी-यौवनोन्मत्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अगंइयग-अकण्डूयक-पुं० कण्डूयनाकारकेऽभिग्रहविशेष-
धारके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अगंथ-अग्रन्थ-पुं० न विद्यते ग्रन्थः सबाह्यान्त्यन्तरोऽस्ये-
त्यग्रन्थः । निर्ग्रन्थे, " पाव कम्मं अकुवमाणे एस महं
अगंथे वियाहिप " आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अगंध-अगन्ध-त्रि० नञः कुत्सार्थत्वाद्-अतीव दुर्गन्धे,
श्रु० १ उ० ।

अगंधण-अगन्धन-पुं० नागजातिभेदे, नागानां भेदद्वयम्-गन्ध-
नोऽगन्धनश्च । तत्र अगन्धना नागा मन्त्रैराकृष्टाः " अवि मरणम-
ज्जवस्सति ण य वतमापि वति " । " नेच्छति वतयं ज्ञोषु कुले
जाया अगंधणे " दश० २ अ० ।

अगच्छमान-अगच्छत्-त्रि० । न गच्छत् न० त० पेशाच्यां
न णत्वम् । अचक्षति, प्रा० ।

अगड-अकृत-पुं० अकृते, " सग्गामे मा वीसु, वसेज्ज अगमे
असुवे से " ध्य० ६ उ० । गत्ते, श्रु० ३ उ० ।

अगमतम-अवटतट-पुं० कूपतटे, विशेष० ।

अगमदत्त-अगमदत्त-पुं० शङ्खपुरे सुन्दरनृपस्य सुलसायां
जातेऽगडवत्ते पुत्रे, अथ तत्कथा लिख्यते-शङ्खपुरे सुन्दरनृपः ।
तस्य सुलसा प्रिया । तन्सुतोऽगमदत्तः । स च सप्त व्यसनानि
सेवते स्म । लोकानां गृहेष्वप्यन्यायं करोति स्म । लोकैस्तदु-
पसम्मा राज्ञे दत्ताः । राज्ञा स निर्वासितो गतो वाराणस्यां
पवनचण्डोपाध्यायगृहे स्थितः । द्विसप्ततिकलावान् जातः ।
गृहोद्याने कलाभ्यासं कुर्वन् प्रत्यासन्नगृहगवाक्षस्थया प्रधा-
नश्रेष्ठिसुतया मदनमञ्जर्या तद्रूपमोहितया च तथा प्रक्षिप्तः
पुष्पस्तवकः । सञ्जातप्रीतिस्तन्मय एव जातः । अन्यदा तुरगा-
रुद्धः स नगरमध्ये गच्छन्नस्ति स्म । तावता ईदृशो लोके कोत्ताह्वः
भूतः, यथा- " किं खल्विदं व्व समुद्रो, किं वा जलश्रो हुआसणो
धीरो । किं पत्ता रिउसेणा, तन्दिदमो निवमिओ किं वा ? ॥ १॥ मं-
णेण वि परिचत्तो, मारंतो सुमिगोयरं पत्तो । सवड मुहं चवतं
कालु व्व अकारणे कुत्तो " ॥ २ ॥ तावता तेन कुमारेण अर्धं
मुक्त्वा स हस्ती गजमदनयिषया दान्तः । पश्चात्समारुह्य राजकु-
लासन्नमायातो राज्ञा दृष्ट्वा आकारितो मानपूर्वम् । कुमारेण तं
गजमाद्यानस्तम्भे बद्ध्वा राज्ञः प्रणामः कृतः । राज्ञा चिन्तितम्-
कश्चिन्महापुरुषोऽयम्, यतोऽत्यन्तचिनीतो दृश्यते । यतः- " सा-
ली भरेण तोये-ण जलहरा फल्लजरेण तस्सिहरा । विणपणं य
सप्पुरिसा, नमंति नहु कस्सइ भएण " ॥ ततो विनयरञ्जितेन
राज्ञा तस्य कुलादिकं पृष्टम्, कियान् कलाज्यासं कृतः ? इत्यपि
पृष्टम् । कुमारस्तु राज्ञास्तत्वेन न किञ्चिज्जगौ । उपाध्यायेन तस्य

कुलादिक सर्वविधानैपुण्य च कथितम् । कुमारवृत्तान्तं श्रुत्वा चमन्कृतो नृपतिः । अथ तस्मिन्नेवावसरे राक्षः पुरो नगरलोकः प्राभूतं मुक्त्वा एवमूत्रिवान्-हे देव ! त्वन्नगरं कुबेरसदृशं किय-दिनानियावदासीत् साम्प्रतं घोरपुरतुल्यमस्ति । केनापि तत्स्करे-ण निरन्तरं मुष्यते, अतस्त्वं रक्षां कुरु । राज्ञा तद्वारक्षा आकारिता भृशं वचोभिस्तर्जिताः । तैरुक्तम्-महाराज ! किं क्रियते, कोऽपि प्र-चण्डस्तत्स्करोऽस्ति, बहुपक्रमेऽपि न दृश्यते । ततः कुमारोक्तम्-राजन् ! अहं सप्तदिनमध्ये तत्स्करोऽस्मि चेन्न करोमि ततोऽग्निप्रवेशं करिष्यामीति प्रतिज्ञा कृता । राज्ञा तु पुरश्चोकप्राभूत कुमाराय दत्त-म् । कुमारस्ततः उत्थाय चौरस्थानानि विचारयति स्म । “वेसाणं मदिरासु, पाणान्गारेसु जूयगणेषु । कुल्लूरियठाणेषु अ, उज्जाण-निवाणसाहासु ॥ १ ॥ मण्डसुअदेवलेसु य, चच्चरचवहदसुअ-सालासु । एपसु ठाणेषु जयों पाएण नक्करो होइ” ॥२॥ एव चौर-स्थानानि पश्यतः कुमारस्य घनं दिनानि गतानि । पश्चात्सप्तमदिने नगराद्बहिर्गत्वाऽधः स्थितः चिन्तयति स्म-“विज्जउ सीस अहं हो-उ बधणं चयउ सव्वहा वच्छी । पडिचल्लपालणेसु पु-रिसाणं ज होइ तं होउ ” ॥ १ ॥ एवं चिन्तयन्तसौ कुमार इतस्ततो दिग्बल्लोकनं करोति स्म । तस्मिन्नावसरे एकः परिहितधातुवस्त्रो मुष्णिगतशिरः कुर्चस्त्रिदण्डधारी चामरहस्तः किमपि धुस्सुइ इति शब्दं मुखेन कुर्याणः परिव्राजकस्तत्रायातः । कुमारेण दृष्ट-श्चिन्तितश्च-अयमवश्यं चौरः, यनोऽस्य लक्षणानीदृशानि सन्ति— “ करिसुएमाजुयदणो, विसाव्वचच्छथो पुरुस-वेसो । नवजुअवणो रउहो, रत्तच्छा दीहजघो य” ॥१॥ एव चि-न्तयतः कुमारस्य तेन कथितम्-अहो सत्पुरुष ! कस्त्वमाया-तः ?, केन कारणेन पृथिव्यां भ्रमसि ? । कुमारेण भणितम्-उज्जा-यनीतोऽहमत्रायातः दारिद्र्यभग्नो भ्रमामि । परिव्राजक उवाच-पुत्र ! त्वं मा खेदं कुरु, अद्य तव दारिद्र्यञ्छिनश्चि, समीहितमर्थं ददामि । ततो दिवसं यावता तत्र स्थितौ । रात्रौ कुमारसहितश्चौरः कस्यचिदिज्यस्य गृहे गतः । तत्र स्वात्र दत्तवान् । तत्र स्वयं प्रविष्टः । कुमारस्तु बहिः स्थितः । परिव्राजकेन द्रव्यभृताः पेटि-कास्ततो बहिष्कर्षिताः । ताः खात्रमुखे कुमारसमीपे मुक्त्वा स्व-यमन्यत्र क्वचित्त्वा दारिद्र्यभग्नान् पुरुषान् अनेके आनीताः । तेषां शिरसि ताः पेटिका दत्त्वा कुमारेण समं स्वयं बहिर्गतः । स ता-पसः कुमारं प्रत्येवमुवाच-कुमार ! कृणुमात्रं बहिस्तिष्ठामः, निद्रा-सुखमनुभवामः । परिव्राजकेनेत्युक्ते सर्वेऽपि पुरुषास्तत्र सुप्ताः, कप-टनिद्रया परिव्राजकोऽपि सुप्तः । कुमारोऽपि नो तादृशानां विश्वा-सः कार्य इति कपटनिद्रयैव सुप्तः । तावता स परिव्राजक उत्थाय तान् सर्वान् कङ्कपत्र्या मारयामास । यावत् कुमारसमीपे समा-याति स्म तावत् कुमार उत्थाय तं खड्गेन जङ्घाद्वये जघान । त्रिषे जङ्घाद्वये स तत्रैव पतितः कुमारं प्रत्येवमुवाच-वत्स ! अहं श्रुज-ङ्गनामा चौरः । ममेह इमं शानं पातालगृहमस्ति । तत्र वीरपत्नीना-ञ्जी मम भगिन्यस्ति । अत्र वटपादपस्य मूले गत्वा तस्याः समीपे शब्दं कुरु । यथा सा भूमिगृहद्वारमुद्घाटयति त्वाञ्च स्वस्वामि-न करोति । सङ्केतदानार्थं मत्सङ्गं गृहाणेत्युक्ते कुमारस्तत्खड्गं गृहीत्वा तत्र गतः । स तु तत्रैव मृतः । कुमारेण सा शब्दिताऽऽ-गता द्वारमुद्घाटयामास । कुमारेण भ्रातुः खड्गं दर्शयित्वा स्व-रूपमुक्तम् । तस्या अन्तः खेदो जातः परं न मुखे खेदं दर्शयामा-स । मध्ये आकारितः कुमारः पट्यङ्गे शायितः । उक्तञ्च-तव वि-लेपनार्थं चन्दनादिकमहमानयामीति । ततो निर्गता । कुमारेण चिन्तितम्-प्रायः स्त्रीणां विश्वासो न कार्यः । यतः-शास्त्रे इमे

दोषाः प्रायो निरूपिताः-“ माया अलियं सोमो, मूढत्वं साहसं असोयत्त । निसत्तिया तदं चियं, महिलाणं सहावथा दोसा ” एतस्यास्तु तथाविधचौरभगिन्या विश्वासो नैव कार्य इति विचिन्त्य कुमारः शय्यां मुक्त्वाऽन्यत्र गृहकोणे स्थितः । सा बहिर्गत्वाऽन्यत्रप्रयोगेण शय्योपरि शिलां मुमोच । तथा शय्या चू-र्णिता । ततः कुमारेण सा सद्यः साक्रोशं केशेषु धृता राक्षः स-मीपमानीता । प्रोक्तः सर्वोऽपि वृत्तान्तः । राज्ञा तदभूमिगृहात् समस्तं वित्तमानाय लोकेज्यो दत्तम् । कुमारेण सा जीवन्ती मोचिता । पश्चान्नृपाग्रहात् कुमारेण नृपसुता कमलसेनानाम्नी परिणीता । नृपेण कुमाराय सहस्रं ग्रामा दत्ताः, शतं गजा दत्ताः, दश सहस्राण्यश्वा दत्ताः, लक्षं पदातयो दत्ताः । ततः सु-खेन कुमारस्तत्र तिष्ठति स्म । अन्यदा कलान्याससमये यया भ्रे-ष्टिसुतया सह प्रीतिर्जाताऽऽसीत्तया मदनमञ्जरी कुमारसमीपे दूती प्रेषिता । तथा उक्तम्-तव गुणानुरक्ता तवैवेयं पत्नी जवितुं वाञ्छति । कुमारेणाप्युक्तम्-यदाऽहं शङ्खपुरं यास्यामि तदा त्वां गृहीत्वा यास्यामीति तस्यै त्वया वक्तव्यम् । अथान्यदा तत्र पित्रा प्रेषिता नराः कुमारकारणाय समेताः । कुमारस्तु तेषां वचनमाकर्ण्य पितुर्मित्रिनाय नृशमुत्कारितः । इवञ्च पृष्ट्वा कम-लसेनया समं चक्षितः । चलनसमये च मदनमञ्जरी आकारिता । साऽपि कुमारेण समं चक्षिता । ताभ्यां प्रियाभ्यां सह सैन्यवृतः कुमारः पथि चवन् बहून् भिल्लान् संमुखमापततो ददर्श । तदा कुमारसैन्येनैव समं युक्तं कृतम् । जगन् कुमारसैन्यं भिल्लैर्बु-धितमितस्ततो गतम् । भिल्लपनिस्तु कुमारस्ये समायातः । तप-श्चरुदिना कुमारेण स्वपत्नी रथाग्रभागे निवेशिता । तस्या रूपेण मोहङ्गतो भिल्लपतिः कुमारेण हतः । पतिते च तस्मिन् सर्वेऽपि भिल्ला नष्टाः । कुमारस्तु तेनैव एकेन रथेन गच्छन्ने मह-तः सार्थस्य मित्रितः । सार्थोऽपि सनाथ इव मार्गे चक्षितः स्म । कियन्मार्गे गत्वा सार्थिकैः कुमाराय एवमुक्तम्-कुमार ! इतः प्र-ध्वरमार्गे मयं वर्तते, ततः प्रध्वरमार्गे विहाय अपरेण मार्गेण गम्य-ते । कुमारेणोक्तम्-किं जयम् ? । ते कथयन्ति स्म-अस्मिन् प्रध्वर-मार्गे महत्यटवी समेष्यति, तस्या मध्ये महानेकश्चौरो दुर्योधन-नामा वर्तते, द्वितीयस्तु गर्जारव कुर्वन् विषमो गजो वर्तते । तृ-तीयो दृष्टिविषसर्पो वर्तते । चतुर्थो दारुणो व्याघ्रो वर्तते । एव च-त्वारि भयानि तत्र वर्तन्ते । कुमारः प्राह-एतेषां मध्ये नैकस्यापि भयं कुतः । चक्षत सत्वरं मार्गे । कुशलैर्नैव शङ्खपुरे यास्यामः । ततः सर्वेऽपि तस्मिन्नेवाध्वनिं चाक्षिताः । अग्रे गच्छतां तेषां दुर्यो-धनश्चौरश्चिदण्डभृता मिलितः । सोऽपि पाण्डोऽहं शङ्खपुरे समे-ष्यामीति वदन् सार्थेन सार्कं चलति स्म । मार्गे चैकः सन्निवेशः समायातः । तदा त्रिदण्डिना उक्तम्-मम उपलक्षितोऽयं सन्निवे-शो वर्तते । तेनात्र गत्वा मया दध्यादि आनीयते, यदि भवदभ्यो-रुचिः स्यात् । सार्थिकैरुक्तम्-आनीयताम् । ततस्तेन तदन्तर्गत्वा आनीतं दध्यादि विषमिश्रितं कृत्वा सर्वे पायिताः । ततो मृताः सर्वे सार्थिका । अग्रदत्तेन प्रार्थ्याद्वययुतेन न पीतमिति न मृतः सः । त्रिदण्डी पुनः सन्निवेशमध्ये गत्वा कियत्परिवारयुतो गृहीतशस्त्रः कुमारमारणायऽऽयातः । कुमारेण खड्गं गृहीत्वा समुखं गत्वा घोरसंग्रामकरणेन स हतः । परिवारस्तु नष्टः । नृमौ पतता तेन चौरैर्नैवमुक्तम्-अहं दुर्योधनश्चौरः प्रसि-द्धः, त्वयाऽहं हतो न जीविष्यामि, परं मम बहु द्रव्यं वर्तते, मम भगिनी जयश्रीनाम्नी चैतद्वनमध्येऽस्ति, तत् त्वया गृही-तव्यं सा च पत्नी कार्या । कुमारस्तत्र गतः । साऽऽहता सामाया-

ता । दृष्टः कुमारः । ज्ञातस्तया भ्रातृवृत्तान्तः । तथा कुमारोऽपि गुहामध्ये आकारितः । तत्र गच्छन्मदनमञ्जर्या वारितस्तां तत्रैव मुक्त्वा कुमारोऽग्रे चलितः । कियन्मार्गे यावन्नृतेन कुमारेण प्रचरन्नुपगच्छन्मदनमञ्जर्याकोटिनिघृष्टगिरितटः सवेग संमुख-मागच्छन् यम इव रौद्ररूपो गजो दृष्टः । ततः कुमारो रथा-दुस्तीर्य गजामिमुखं प्रचलितः । चत्तरीयवस्त्रवेष्टिकां कृत्वा गजाम्ने मुमोच । गजस्तत्प्रहारार्थं शुक्रादण्डमधः क्षिपन् यावदीपञ्च-तस्तावत् कुमारस्तदन्तद्वये पादौ कृत्वा तस्य स्कन्धेऽधिरुढः वज्र-कठिनाभ्यां स्वमुष्टिभ्यां तत्कुम्भस्त्रलक्ष्यं जघान । कुमारेण प्रका-ममितस्ततो भ्रामयित्वा स गजो वशीकृतः । पश्चात् स गजो गौरिव शान्तीकृतो मुक्तश्च । तत्रैव पुनः कुमारो रथे निविष्टोऽग्रे चलितः । कियन्मार्गे यावन्नृच्छति कुमारस्तावत् कुण्डलीकृतस्त्रा-ङ्गलः स्वरवेण गिरिप्रतिशब्दान् विस्तारयन् विद्युश्चञ्चललोचनः सपौषमां रसनां स्वमुखकुहराभिष्कासयन् सिंहः सामायातः । तेनापि समं कुमारो युक्तवान् । कुमारेण कर्कशप्रहारैर्जर्जरितः सिंहस्तत्रैव पतितः । कुमारस्ततोऽग्रे चलितः । सर्वोऽप्युपपन्नो मार्गे विद्ययैव निवारितः । कुशलेन कुमारः स्त्रीच्यसयुतः शङ्ख-पुरे प्राप्तः । प्रवेशमहोत्सव प्रकामं पितृभ्यां कृतः । सर्वेषां पौरा-णां परमानन्दः सम्पन्नः । तत्र सुखेन कुमारस्तिष्ठति स्म । अन्यदा वसन्ते मदनमञ्जर्या सह कुमार एकाक्येव क्रीडावने गतः । तत्र रात्रौ मदनमञ्जरी सपेण दृष्टा मृतेव सञ्जाता । कुमारस्तु तन्मोहादसौ प्रविशन् गगनमार्गेण गच्छता विद्याधरेण वारितः । विद्यावसेन सा जीविता । विद्याधरस्तु स्वस्थान गतः । कुमार-स्तथा सम रात्रिवासार्य कस्मिंश्चिद्देवकुले गतः । तत्र तां मुक्त्वा उद्घोतकरणाय अग्निमानेतु कुमारो वदिर्गतः । तदानीं तत्र पञ्च पुरुषाः पूर्वं कुमारदत्तदुर्योधनचौरभ्रातरः कुमारवधाय पृष्ठ आगताः । इतस्ततो भ्रान्ताः कुमारस्थलमहभमानास्समाग-ता सन्ति स्म । तैस्तु तत्र दीपको विहितः । मदनमञ्जर्या तेषां मध्ये लघुभ्रातृ रूपं विज्ञोक्तम् । रूपाक्षिततया तस्यैव प्रार्थना विहि-ता । त्वं मम भर्ता भव, अहं तव पत्नी भवामि । तेनोक्तम्-तव जर्मरिजीवति सति कथमेव प्रवति ? सा प्राह-तमहं भार-यिष्यामि । तदानीमग्निं गृहीत्वा कुमारस्तत्र प्राप्तः । आगच्छ-न्त कुमार दृष्ट्वा तथा तत्रस्थो दीपो विध्यापितः । तत्रायातेन कुमारेण पृष्ठम्-भ्रष्टोद्घोतः कथमभूत् ? । तथा उक्तम्-तव-हस्तस्पर्शस्याग्नेरेवोद्घोतः । सरत्वेन तेन तथैवाङ्गीकृतम् । मदनमञ्जर्या हस्ते खड्गं गृहीतम् । कुमारोऽग्निप्रज्वालनार्थं श्रीवामधश्चकार । तावता तथा कुमारवधार्थं खड्गः प्रति-काशाभिष्कासितः । तस्याश्चरित्रं दृष्ट्वा चौरलघुभ्रातृवै-राग्यमुत्पन्नम् । पश्चादस्या हस्तासेन खड्गोऽन्यत्र पा-तितः । पञ्चापि भ्रातरस्ततः कुमाराऽलङ्घिताः शनैः शनैर्नि-र्गताः । कस्मिंश्चिद्वने गताः । तत्र चैत्यमेकमुत्तुङ्गं दृष्टम् । तत्र सातिशयज्ञानी साधुर्दृष्टः । तत्समीपे तैः पञ्चभिरपि दीक्षा गृहीता । तदाक्षां पालयन्तः सयमे रतास्तत्रैव तिष्ठन्ति स्म । कुमारेण नैतत्किमपि ज्ञातम् । अथ कुमारस्तत्र मदनमञ्जर्या रात्रिमेकामुपित्वा प्रभाते स्वगृहे समायातः । कियद्दिनानन्तर-मश्वापहत एक एवागडदत्तकुमारस्तस्मिन्नेव वने तत्रैव चैत्ये गतः । तत्र देवान्मस्कृत्य साधवो वन्दिताः । गुरुणा देशना कृता । कुमारेण पृष्ठम्- भगवन् ! क एते पञ्चापि भ्रातर इव साधवः, कथमेपां वैराग्यमुत्पन्नम् ? । कथमेभिर्यौवनभरेऽपि मृत गृहीतम् ? । एव कुमारेण पृष्टे गुरुः प्राह सर्वं तदीय वृ-

त्तान्तम् । कुमारस्तश्चरित्रं श्रुत्वा युवतीस्वरूपमेव विचिन्त-यति स्म "अष्टुरज्जंति खणेण, जुवद्भ्रो खणेण पुणो विरज्जति । अन्नुभरागनिरया, हलिहारागु व्व चलपेमा" ॥ १ ॥ इति वि-चिन्त्य कुमारोऽपि वैराग्यात्प्रमजितः । यथाऽसौ अगडदत्तः प्रतिबुद्धजीवी पूर्वं द्रव्यासुप्तः पश्चाद्वासासुप्तोऽपि इह लोके परलोके च सुखी जातः । उक्तं ४ अ० । इयं कथोत्तराध्य-यनस्य बृहदृत्तावपि दृश्यते । तत्राय विशेषः (जितशत्रुनामा राजा । तस्य सारथिरमोघरथनामा । अमोघरथस्य स्त्री यशो-मतिः, पुत्रश्चागडदत्तः । तस्य पितरि मृते माता भृशं करोद । तदाऽगडदत्तो मातरं नितान्तरोदनहेतुं पप्रच्छ । तदा माता प्रत्युवाच-पुत्र ! अयममोघप्रहारी सारथिस्त्वदीयपितृपद-मनुभवति, यदि त्वं कलावित् स्यास्तदा कथमेव भवेत् ? । पुत्रोऽन्वयुक्त-को मां कलामध्यापयिष्यतीति ? । माता प्रत्यगा-दीत्-कौशाम्बीनगर्या दृढप्रहारीत्याख्यः कलाचार्य्यो विद्यने, तत्त्वमुपतिष्ठेति । स मातृवचनमभ्युपगम्य तत्र गत्वा क-लामध्यगीष्ट । ततो राजसभां प्रविवेश । त दृष्ट्वा सर्वे प्रसेदुः । राजा तु प्रसन्नताविरहित एव केवलमुचिताचार परिपाल-यन् तस्यै किमपि दातुमियेष । स तु राज्ञस्तदनादरदानमव-गत्य नाहमीदृशं दानं जिघृक्षामि इत्यभिधाय न जग्राह । तदानीमनेके नागरिकाः 'चौरोऽस्मान् बाधते' इति राज्ञः पुरो व्यजिज्ञपन् । राजा तलारत्तम् [कोट्टपालम्] आहूय न्य-गादीत्-भोस्तलारत्तं भवता सप्तभिरहोरात्रैश्चौरो निग्रही-तव्यः । इत्याकर्ण्य अगडदत्तो राजानं प्रार्थयाञ्चक्रे-महाराज ! अहं सप्तभिर्दिनैस्त चौरं निग्रहीतुं प्रभवामीति) अन्यत्सर्वं समा-नम् । उक्तं ।

अगमददुर-अनटददुर-पु० कूपमएडके, ज्ञा० = अ० ।

अगममह-अवटमह-पु० कूपप्रतिष्ठोत्सवे, आचा० २ भु० १ अ० २ उ० ।

अगदिय-अग्रयित-त्रि० अप्रतिबद्धे, आहारे वाऽगृद्धे, "अ-क्षाप अगद्वीप अदुद्धे अदीये अविमये" प्रश्न० १ सब० द्वा० । मुत्कलैरेव वचनैरभिधीयमाने, वृ० ३ उ० ।

अगणि-अग्रि-पु० अकृति ऊर्ध्वं गच्छति । अगि-नि, नलोपः । वाच० । वन्दौ, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । उक्तं । "चत्तारि अगणिआ समारमिता जेहि कूरकम्माभि तवेति बालं" सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० । "अगारं अगणिं अग्निं, अलाय वा सजो-इय । ए उज्जिजा ए घट्टिजा, नो ए णिव्वाव ए सुणी" । दश० ८ अ० । प्रदीपनके, व्य० १ उ० । (अग्नेः सर्वो विषयः 'ते-उकाइय' शब्दे)

अगणिआहिय-अग्न्याहित-पु० अग्निराहितो यैः । "वाऽ-हिताग्न्यादिषु" २।२।३७। इति वाऽऽहितशब्दस्य पूर्वनिपा-तः । अग्न्याहिता आहिताग्नयः । कृतवन्त्याधानेषु, श्रीश्रृषमजि-नेशचितायामग्निं स्थापितवन्तस्तेन कारयेनाहिताग्नय इति तत्र एव च प्रसिद्धः । आ० म० प्र० ।

अगणिकंरुयद्वाण-अग्निकाणकस्थान-न० अग्निप्रवेशस्थाने, "अगणिकडयद्वाणेषु अक्षयरसि वा तहप्पगारासि यो उ-च्चार पासवण व्वोसिरेज्जा" आचा० २ भु० १० अ० ।

अगणिकाय-अग्निकाय-पु० तेजस्काये, भ० ७ श० १० उ० ।

अनु० । (अस्य विषयः सर्व एव ' तेजःअकाइअ' शब्दे) नवरम-
अगणिकाए णं भंते ! अहुणोज्जालिए समाणे महाकम्मतरा-
ए चेव महाकिरियतराए चेव महस्सवतराए चेव महावेय-
णतराए चेव जवइ, अहं एं समए २ वोक्कसिज्जमाणे वोच्छि-
ज्जमाणे चरिमकावसमयंसि इंगालेनूए मुम्मुरनूए ढारिय-
नूए तओ पच्छा अप्पकम्मतराए चेव किरिया आसव अ-
प्पवेयणतराए चेव भवइ ? । हुंता, गोयमा ! अगणिकाए णं
अहुणोज्जालिए समाणे तं चेव ।

(अगणीत्यादि अहुणोज्जालिए ति) अधुनोज्ज्वलितः सद्यः प्र-
दीप्तः (महाकम्मतराए ति) विध्याप्यमानानलापेक्षयाऽतिशयेन
महान्ति ज्ञानावरणादीनि बन्धमाश्रित्य यस्यासौ महाकर्मतरः ।
एवमन्यान्यपि । नवर, क्रिया दाहरूपा । आश्रयो नवकर्मोपादान-
हेतुः । वेदना पीडा । जावना तत्कर्मजन्या परस्परशरीरसम्बन्ध-
जन्या वा (वोक्कसिज्जमाणे ति) व्यपकृष्यमाणोऽपकर्ष गच्छ-
न् (अप्पकम्मतराए ति) अङ्गाराद्यवस्थामाश्रित्याल्पशब्दः
स्तोकार्थः । कारावस्थायां त्वजावार्थः । भ० ५ श० ६ उ० ।
काहोदायिप्रश्नेन अग्न्युज्ज्वालकविध्यापकयोः कतरो महाकर्मति
विचारितम् । भ० ७ श० १० उ० ।

अगणिजीव-अग्निजीव-पु० अन्नयश्च ते जीवाश्च अग्निजी-
वाः तेजस्कायिकेषु, विशेषेण (अग्निजीवानां परिमाणमवधिः
' ओहि ' शब्दे उक्तम्) ।

अगणिजीवसरीर-अग्निजीवशरीर-न० तेजस्कायजीवबद्ध-
शरीरे, जीवान्तरशक्तीराणामग्निजीवशरीरत्वम् ।

अहं भंते ! उदस्से कुम्मासे सुराए एणं किंसरीराइ वत्तव्वं सि-
या ? । गोयमा ! उदस्से कुम्मासे सुराए जे घणे दव्वे एए णं पुव्व-
जावणवणं पणुच्च वणस्सइजीवसरीरा तओ पच्छा स-
त्थातीया सत्थपरिणामिया अगणिज्जामिया अगणिज्जुसि-
या अगणिसेविया अगणिपरिणामिया अगणिजीवसरीराइवा
वत्तव्वंसिया सुराए य जे दव्वे एए णं पुव्वजावणवणं पणुच्च
आउजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणिसरीरा
इ वत्तव्वं सिया । अहं भंते ! अये तंवे तउए सीसए उवळे कस-
पट्टियाए एणं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! अये तंवे तउए
सीसए उवळे कसपट्टियाए एणं पुव्वभावपणवणं पणुच्च
पुढवीजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थाइया जाव अगणिसरी-
राइ वत्तव्वं सिया । अहं भंते ! अही अट्टिज्जामे चम्मे चम्म-
ज्जामे रोमे २ सिंगे २ खुरे २ नहे २ किए णं किंसरीराइ
वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! अही चम्मे रोमे सिंगे खुरे नहे
एए णं तसपाणजीवसरीरा अट्टिज्जामे चम्मज्जामे रोम-
ज्जामे सिंगखुरणहज्जामे एए णं पुव्वभावपणवणं पणुच्च
तसपाणजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थाइया जाव अगणि-
ति वत्तव्वं सिया । अहं भंते ! इंगाले ढारिए बुसे गो-
मए एए णं किं सरीराइ वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! इंगाले
ढारिए बुसे गोमए एए णं पुव्वभावपणवणं एए एमि-

दियजीवसरीरप्पओगपरिणामिया वि जाव पंचिदिय-
जीवसरीरप्पयोगपरिणामिया वि तओ पच्छा सत्थाइया
जाव अगणिजीव वत्तव्वं सिया ।

[अहेत्यादि पणं ति] एतानि णमित्यसङ्कारे (किंसरीर-
सि) केषां शरीराणि किंशरीराणि (सुराए य जे घणे ति)
सुरायां द्वे द्रव्ये स्याताम्-घनद्रव्यं द्रवद्रव्यं च । तत्र यद् घनद्रव्य-
म्, (पुव्वभावपणवणं पणुच्च सि) अतीतपर्यायप्रकृषणामङ्गी-
कृत्य घनस्पतिशरीराणि, पूर्वं हि ओदनादयो घनस्पतयः (तओ
पच्छा सि) घनस्पतिजीवशरीरवाक्यत्वानन्तरमग्निजीवशरीराणी-
ति, वक्तव्यं स्यादिति सम्बन्धः । किंभूतानि सन्तीत्याह
(सत्थातीया सि) शस्त्रेणोदूखसमुदासयन्त्रकादेना, कारणभूतेन
अतीतानि अतिक्रान्तानि पूर्वपर्यायमिति शक्तातीतानि (सत्थ-
परिणामिय सि) शस्त्रेण परिणामितानि कृताभिनवपर्यायाणि
शस्त्रपरिणामितानि । ततश्च (अगणिज्जामिय सि)
घन्दिना ध्यामितानि ध्यामीकृतानि स्वकीयवर्णत्याजनात्, तथा
(अगणिज्जुसिय सि) अग्निना जोषितानि पूर्वस्वभावकृपणात्
अग्निसेवितानि वा जुषी प्रीतिसेवनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयो-
गात् (अगणिपरिणामियाइ सि) सजातामिपरिणामानि, औष्ण्य-
योगादिति । अथवा ' सत्थातीया ' इत्यादौ शस्त्रमग्निरेव, ' अग-
णिज्जामिया ' इत्यादि तु तद्व्याख्यानमेवेति । (उवळे सि) इह
दग्धपाषाणः (कसपट्टिय सि) कषपट्टः । (अट्टिज्जामे ति) अ-
स्थिध्यामं चाम्निना इयामलीकृतमापादितपर्यायान्तरमि-
त्यर्थः । (इंगालेत्यादि) अङ्गारो निर्व्वलितेन्धनम् (ढारिए सि)
क्षारिकं भस्म (बुसे सि) बुसम् (गोमय सि) जगणम् ।
इह बुसगोमयौ भूतपर्यायानुवृत्त्या दग्धावस्थौ प्राद्वौ, अन्यथा
अग्निध्यामितादिवक्ष्यमाणविशेषणानामनुपपत्तिः स्यादिति ।
एते पूर्वभावप्रकापनां प्रतीत्य एकैन्द्रियजीवैः शरीरतया प्रयो-
गेण स्वव्यापारेण परिणामिता ये ते तथा । एकैन्द्रियशरीराणी-
त्यर्थः । अपिः समुच्चये । यावत्करणाद् द्वीन्द्रियजीवशरीरप्रयोग-
परिणामिता अपीत्यादि दृश्यम् । द्वीन्द्रियादिजीवशरीरपरिणत-
त्वं च यथा सम्भवमेव न तु सर्वपदेष्विति । तत्र पूर्वमङ्गारो
भस्म एकैन्द्रियादिशरीररूपं भवति, एकैन्द्रियादिशरीराणा-
मिन्धनत्वात् । बुस तु यवगोधूमहरितावस्थायामेकैन्द्रियशरी-
रम् । गोमयस्तु तृणाद्यवस्थायामेकैन्द्रियशरीरम् । द्वीन्द्रियादी-
नां तु गवादिनिर्मक्के द्वीन्द्रियादिशरीरमपि । भ० ५ श० २ उ० ।

अगणिज्जामिय-अग्निध्यात-त्रि० ३ त० । अग्निना दग्धे, (ज०)
अग्निध्यामित-त्रि० अग्निनेषद्दग्धे, अग्निना स्वकीयवर्णत्या-
जनाद् ध्यामीकृते, ज० ५ श० २ उ० ।

अगणिज्जुसिय-अग्निजोषित-त्रि० अग्निसेविते, जुषी प्री-
तिसेवनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयोगात् । ज० ५ श० २ उ० ।

अग्निजोषित-त्रि० पूर्वस्वभावकृपणात् (भ० ५ श० २ उ०)
अग्निना कृपिते, भ० १५ श० १ उ० ।

अगणिणिकिवत्त-अग्निनिक्षिप्त-त्रि० अग्निबुपरि निक्षिप्ते,
" अगणिणिकिवत्तं अफासुय अणेसणिज्जं ज्ञाने सते शो पडिगा-
हेज्जा " अच्चा० १ सु० १ अ० ४ उ० ।

अगणिपरिणामिय-अग्निपरिणमित-त्रि० ३ त० औष्ण्ययो-

गाद् मञ्जाताभिपरिणमि. म० १ शु० ७ उ० । पुर्यस्यभावत्वा-
जनेनाऽऽत्मनाचं मीते, म० १ शु० १ उ० ।

अगणिमुद्-अग्निमुद्-पुं० अग्निमुंमिय यस्य । देये, इतच्छब्दं
दि देयेरग्निरूपमस्मद्वारेयेयादयेते " इत्थं पदति देयानाम् " इति
भूतेस्तत्रैव तात्पर्यात् । " अग्निमुद्वा ये देवा " इति च
भूति, इति वेदविद् । वाच० । अग्निमुदेयविनायामग्निक्रमारा
वद्भेः अत्यग्निं प्रक्षिप्तयन्त, तत एव गिय धनाहोके " अग्निमु
द्वा ये देवा " इति प्रविशन्म, इति समपविदः । आ० म०
प्र० । आ० चू० । अग्निमुंमं प्रधानमुपाययो यस्य । अग्निहो-
त्रिलि द्विजे, वाच० ।

अगत (द) अगद्-पुं० नाभि गदो रोगो यस्मात् ५ ब०, श्री-
दये, त्रि० चू० ११ उ० । परमोपदे, यं० व० ३ डा० । मकुसाधो
वये, त्रि० चू० १ उ० । ६ ब० रोगशब्दे, त्रि० । " गद् भाषते " इति,
म० त० अक्षयके, त्रि० । वाच० ।

अगन्धि-अगन्धि-पुं० अगं वि० पापसमस्त्यति । अम्-लिय ।
शुक्लगादिः । अगन्धनामके मूत्रो, " अगन्धस्यापन्धानि, ब-
हुषु यस्मां सुहृ, तद्गोत्रापयेषु ६० ब० । ताम्रवन्धित्यात्
दक्षिणस्यां दिशि, बुद्धमद्वितायामस्य गगनमवस्थे दक्षिणस्यां
ताराकरोत्ये स्थितिर्दत्ता । यक्षपूकं, वाच० । अगन्धितिमहाप्रदा-
त्ता यक्षवर्णारिहो महाप्रदं, " दौ अगन्धी " इत्या० २ जा० ३
उ० । य० प्र० म० प्र० । जै० । कन्० ।

अगम-अगम-पुं० न गच्छतीति । यम-स्य । म० त० । गृध्रे, अ-
गन्तारि, त्रि० । वाच० । अगन्तो, म०, त्रि० गगनमिषारदितयेना
गन्तु । म० २० शु० २ उ० ।

अगमिय-अगमिद्-न० न गतिश्चमगमिकम् । प्रायेः गाथात्रये-
बपेष्टकादसदृशपातामके युगमेदे, । तत्रैवंविध प्रायः [वि० २०]
आवासादिवाचिष्यम, अगमिद्गुणात्मागम्यात् । तयाणाह-
" अगमियं वासिष्यमुयं " म० । आ० म० प्र० । व० १० । ब० ।
अगम्य-अगम्य-त्रि० न गन्तुमर्हति । गम-यत् । म० त० । ग-
मनानर्हत्तु स्तुपादिषु, पातकास्यादिकायां च, " फासंरुण
अगम्य, अनाथ मुमिने गमो अगम्यं ति " मृदा कोपेनेति ग-
म्यते । अगम्या स्तुपां पातकाद्यादिकां या मियमिति शेषः ।
व० १ उ० ।

अगम्यगामि (ण्) अगम्यगामिन्-त्रि० न गम्याद्यगितरि,
प्र० २ वाच० डा० ।

अगरजा-अगर्भा-त्री० न ब०, सुविज्जनाकरनया धरदस्याया
पाण्याम्, श्री० । " अगरजाण ममम्मणाए मय्यक्खरमणिपा-
याए " (जिनयाण्या) तत्र, अगर्भेया एतत्पर्यवर्णयत्यर्थः ।
उपा० २ प्र० ।

अगरहिय-अगर्हित-त्रि० (आहारविषये) अहृतगर्हो, प्र० न०
१ मन्त्र० डा० ।

अगर्ह-त्रि० अनित्ये, " से अगर्हिए द्धचेसे जे समाहिप " आचा० १ शु० ८ अ० ८ उ० ।

अगरु-अगरु-न० अगरुचन्दनाख्ये गन्धिकद्रव्ये " कुठ न-
गरं अगरु सपिठं सम्मसुसिनेण " सूत्र० १ शु० ४ अ०
२ उ० । प्र० । नि-चू० । उपा० । आचा० । " सगतिणिसागु-
चदणाई " नि० चू० २ उ० ।

अगरुगंधिय-अगरुगन्धित-त्रि० अगरुगंधो धूपनादिप्रकारेण
जातोऽस्येति अगरुगन्धितम् । अगरुचन्दनेन धूपिते, त० ।

अगरुपुम-अगरुपुट-पुं० ६ त० अगरुनामकगन्धद्रव्यस्य पुटे,

" अगरुपुडाण वा सयंगपुडाण वा वासपुडाण वा " । जं० १ वक्र० ।
अगरुलदुय-अगरुलघुक-न० न विद्येते गुरुलघुनी यस्मिस्त-
दगुरुलघुकम्, परिणामोपेतमूर्तद्रव्यत्वाद्गुरुलघुकम् । परतस्ये,
" नायं प्रकृतिविपुलं, लोकासोकायलोकनाभोगम् । स्तिमित-
तरङ्गादधिसम-मयणमस्पर्शमगुरुलघु " । यो० १५ विष० । न गुरुकम-
भोगमनस्यभायन लघुकमर्थगमनस्यजाय यद् द्रव्य तद्गुरुल-
घुकम् । अतएव तस्यैव भाषामनःकर्मद्रव्यादौ, इथा २० गा. १ उ० ।

अथ ' किं गुरुलघु किं वा अगुरुलघु ' इति शङ्कायां
तत्स्वरूपप्रतिपादनायमाह-

ओरातियेवेउज्विय-आहारगतेषु गुरुलद् दन्वा ।

कम्पणमणभासाई, एपाई अगरुलदुयाई ॥

इदं द्वौ नयो-व्ययहारनयो निश्चयनयश्च । तत्र व्ययहारन-
य माह-तनुकां द्रव्यं, तद्यथा-किंचिद् गुरु, किंचिल्लघु,
किंचिद् गुरुलघु, किंचिद्गुरुलघु । तत्र यदूर्ध्वं तिर्यग्या प्रकृतम-
पि पुनर्निर्गमादर्थो निपतति द्रव्यं तद् गुरु । तद्यथा-हेट्टादि ।
यत्तु द्रव्य निर्गतं पयोऽर्धगतिस्वभावात् तल्लघु । यथा-दीपकलि-
कादि । यत्पुनर्नोर्ध्वगतिस्वभावं नाप्यधोगतिस्वभावात् किन्तु स्थ-
भावेनैव तिर्यगतिधर्मकं तद् गुरुलघु, यथा-वायुः । यत्तुर्ध्वा-
धस्तिर्ध्वगतिस्वभावानामेकतरस्वभावमपि न भवति सर्वत्र वा
गच्छति तद्गुरुलघु । यथा-व्योम परमाण्यादि । उक्तं च -

गुरुललदुयं उभय वि, नोभयमिति वावहारियनयस्स ।

द्वज्जे रोद्धु दीवो, वाऊ योम जहासंखं ॥

निश्चयनय पुनरेवमाह-न सर्वगुणैकान्तेन किमपि पश्यस्ति,
गुरोरपि सेट्टादे प्रयोगादूर्ध्वादिगमनदर्शनात् । नाप्येकान्तेन
सर्वसत्त्वप्यस्ति, अतिलघोरपि वाय्वादे करतारुनादिनाऽधो-
गमनादिदर्शनात् । तस्माद् द्विविधमेव वस्तु । तद्यथा-गुरुल-
घु, अगुरुलघु च । तत्र यद् बादर भृन्धरादिकं तत्सर्वं गुरुलघु,
शेषं तु भाषाप्राणापानमनावर्णगादिकं परमाणुद्रवणुकव्यामा-
दिकं च सर्वमगुरुलघु । उक्तं च-

निच्छयतो सज्जगुरुं, सज्जलहुं वा न विज्जए दव्वं ।

वायरमिड गुरुलदुयं, अगुरुलहुं सेसयं दव्वं ॥

तत्रैव गाथा निश्चयनयमतेन । पदार्थव्याख्या चैवम-श्रीदा-
रिक्तैक्रियाहारकतैजसद्रव्याणि अपराण्यपि तैजसद्रव्यप्रत्या-
सन्नानि तदाभासानि वादरूपत्वाद् गुरुलघुनि गुरुलघुस्वभा-
वानि । कर्मणमनोज्ञापाख्याणि तु आदिशब्दत्वाणापानद्र-
व्याणि प्रापाख्यार्वाग्वर्तीनि भाषाभासानि । अपराण्यपि च
परमाणुद्रवणुकादीनि, व्योमादीनि चैतानि अगुरुलघुस्वभावा-
नि । वक्ष्यमाणगाथाद्वयसंबन्धः । एव पूर्वं किल क्षेत्रकादसंब-
न्धिनोः केवलयोरहुतावलिकासंख्येयादिविभागकल्पनया पर-
स्परपानिबन्ध उक्तः । आ० म० प्र० ।

इदमेव व्यक्तीकुर्वन्माह-

जा तेयगं सरीरं, गुरुलहुदव्वाणि कायजोगो य ।

मणसा अगुरुलदुयि अ-रुविदव्वाय सव्वे वि ॥

श्रीदारिकशरीरादारन्य तैजसशरीर यावत् यानि द्रव्याणि
यश्च तेषामेव संबन्धी काययोगः शरीरव्यापारः, एतत्सर्वं गुरु-
लघुकमिति निर्देशः । यानि तु मनोज्ञापाप्रयोगाण्युपलक्षणत्वा-
दानपानकर्मण्यप्रयोगाणि तदपान्तराश्वर्त्तानि च द्रव्याणि या-

नि च सर्वाण्यपि धर्माधर्माकाशजीवास्तिकायलक्षणान्यरूपि-
द्रव्याणि, तदेतत्सर्वमगुरुलघुकम् ।

अहवा बायरवोदी-कलेवरा गुरुलघू जवे सव्वो ।

सुहमाणंतपदेसो, अगुरुलघू जाव परमाणु ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने । बादरा बोधिः शरीरं येपांते बादर-
बोन्दयो बादरनामकर्मोदयवर्त्तिनो जीवा इत्यर्थः, तेषां सवन्धी-
नि यानि कलेवराणि यानि वाऽपराण्यपि बादरपरिणतानि त-
त्तदधरादीनि शक्रचापगन्धर्वपुरप्रवृत्तीनि वा वस्तूनि तानि
सर्वाण्यपि गुरुलघूयुच्यन्ते । यानि तु सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्ति-
नां जन्तूनां शरीराणि यानि च सूक्ष्मपरिणामपरिणतानि अ-
नन्तप्रादेशिकादीनि परमाणुपुद्गल यावत् सूक्ष्माणि तानि सर्वो-
पगुरुलघूनि ।

अथ व्यवहारनयमतमाह—

व्यवहारनयं पप्प उ, गुरुया लहुया य मीसगा चेवं ।

लेहुपदीवगमारुय, एवं जीवाण कम्माई ॥

व्यवहारनयं प्राप्याङ्गीकृत्य त्रिविधानि सूक्ष्माणि भवन्ति । त-
द्यथा-गुरुकानि लघुकानि मिश्रकाणि च, गुरुलघुमिश्रणीत्य-
र्थः । तत्र यानि तिर्यगूर्द्धं वा प्रक्षिप्ताण्यपि स्वजावादेवाधो
निपतन्ते तानि गुरुकाणि, यथा-क्षेपुप्रवृत्तीनि । यानि तूर्द्धग-
तिस्वभावानि तानि लघुकानि, यथा-प्रदीपकादीनि । यानि
तु नाधोगतिस्वभावानि नवा ऊर्द्धगतिस्वभावानि किं तर्हि
तिर्यगतिधर्मकाणि तानि गुरुलघूनि, यथा-मारुतो वायुस्त-
त्प्रवृत्तीनि । एव जीवानां कर्माण्यपि त्रिविधानि भवन्ति-गुरु-
णि लघूनि गुरुलघूनि वा । तत्र चैरमी जीवा अधोगतिं नीयन्ते
तानि गुरुकाणि, यैस्तु त एवोर्द्धगतिं प्राप्यन्ते तानि लघुकानि,
यैः पुनस्तिर्यग्योनिकेषु वा मनुष्येषु वा गतिं कार्यन्ते तानि गुरु-
लघुकानीति । तदेव व्यवहारनयाभिप्रायेण समर्थितः कर्मणां
गुरुत्वलघुत्वपरिणामः । बृ० १ उ० ।

एतदेव सर्वमभिप्रेत्य सूत्रवृत्ताह—

सत्तमे णं भंते ! उवासंतरे किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए
अगुरुयलहुए ? गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए नो गुरुयलहुए
अगुरुयलहुए । सत्तमे णं भंते ! तण्णवाए य लहुए ? गोय-
मा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए । एवं नो अगुरुयल-
हुए । सत्तमे घणवाए सत्तमे घणोदही सत्तमा पुढवी उवा-
संतराई सव्वाई जहा सत्तमे उवासंतरे जहा तण्णवाए एव ग-
रुयलहुए घणवायघणउदहिपुढवीदीवा य सागरावासा । ने-
रइयाणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुलहुया ? गोयमा ! नो
गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुलहुया वि । से केण-
ट्ठेण ? गोयमा ! वेउव्वियतेयाई पुरुच्च नो गुरुया नो लहुया
गुरुयलहुया नो अगुरुयलहुया । जीवं च कम्मं च पुरुच्च नो
गुरुया नो लहुया नो गुरुयलहुया अगुरुयलहुया, से तेणट्ठे-
णं एवं जाव वेमाणिया, नवरं णाणचं जाणियव्वं सरीरेहिं
धम्मत्थिकाए जाव जीवत्थिकाए चउत्थपएणं । पोगल-
त्थिकाए णं भंते ! किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए अगुरुय-
लहुए ? गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए वि अ-
गुरुयलहुए वि । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! गुरुयलहुयद-

व्वाइं पुरुच्च णो गुरुए णो लहुए गुरुयलहुए नो अगुरुयलहु-
ए, अगुरुयलहुयदव्वाइं पुरुच्च नो गुरुए नो लहुए नो गुरुय-
लहुए अगुरुयलहुए, समया कम्माणि य चउत्थपएणं । क-
रइहेस्साणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुयलहुया ? गोयमा !
नो गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुयलहुया वि । से
केणट्ठेणं ? गोयमा ! दव्वहेस्स पुरुच्च तइयपएणं भावहेस्सं
पमुच्च चउत्थपएणं, एवं जाव मुक्खेस्सा । दिट्ठीदंसणना-
णअन्नाणसप्पाओ चउत्थपएणं णेयव्वाइं हेड्डिआ चत्तारि
सरीरा नायव्वा, तइएणं कम्मयं चउत्थपएणं पएणं मसजोगे
वइजोगे चउत्थपएणं पदेणं कायजोगे तइयपएणं पएणं मागा-
रोवओगो अण्णागारोवओगो चउत्थपएणं सव्वदव्वाओ
सव्वपदेसा सव्वपज्जवा जहा पोगलत्थिकाओ । अत्तीतद्धा
अणागयद्धा सव्वप्पा चउत्थपएणं पएणं ।

(सत्तमेणमित्यादि) इह चेय गुरुलघुव्यवस्था—

निच्छयओ सव्वगुरु, सव्वलहुं वा न विज्जए दव्व ।

व्यवहारओ उ जुज्जह, बायरसधेसु णाणेषु ॥ १ ॥

अगुरुलहु चउ फासा, अरुविदव्वा य होति नायव्वा ।

सेसा उ अउ फासा, गुरुलहुया निच्छयणयस्स ॥ २ ॥

(चउ फासं स्ति) सूक्ष्मपरिणामानि (अउ फासं स्ति) बादराणि

गुरुलघुसूक्ष्मं रूपि अगुरुलघुसूक्ष्मं त्वरूपि रूपि वेति । नव्वहा-
रतस्तु गुर्वादीनि चत्वार्यपि सन्ति । तत्र निदर्शनानि-गुरुलघु-
धोगमनात्, लघुर्धुम ऊर्ध्वगमनात्, गुरुलघुर्धुयुस्तिर्यगमनात्,
अगुरुलघुकाश तत्त्वभावत्वादिति । एतानि चावकाशान्तरा-
दिस्त्राण्येतन्नाधानुसारेणावगन्तव्यानि । तद्यथा—“उवासवाय-
घणउदहि-पुढवीदीवाय सागरावासा । नेरइयाह अत्थिय, स-
मयाकम्माह हेसाओ ॥ १ ॥ दिट्ठी दंसणणणे, सत्तसरीय य
जोगवओगे । दव्वपएसा पज्जव, तीया आगामिसंबद्धं स्ति” ॥ २ ॥

(वेउव्वियतेयाह पुरुच्च स्ति) नारका वैक्रियतैजसशरीरे
प्रतीत्य गुरुलघुका एव । यतो वैक्रियतैजसवर्गणात्मके ते, ए-
ताश्च गुरुलघुका एव । यदाह—“ओरावियवेउव्विय-आहार-
गतेय गुरुलहु दव्व स्ति” । (जीवं च कम्मं च पुरुच्च स्ति) जीवा-
पेक्षया कर्मणशरीरापेक्षया च नारका अगुरुलघुका एव,
जीवस्यारूपित्वेन गुरुलघुत्वात् । कर्मणशरीरस्य च कर्मव-
र्गणात्मकत्वात्कर्मणवर्गणायां चागुरुलघुत्वात् । आह च—
“कम्मणमणज्जासाई, पयाह अगुरुलहुयाह ति” (नाखत्त जाणि-
यव्व सरीरेहिं ति) यस्य यानि शरीराणि भवन्ति तस्य तानि
ज्ञात्वा असुरादिसुराण्यभ्येयानीति हृदयम् । नत्रासुरादिदेवा
नारकवत्त्वाच्याः । पृथिव्यादयस्तु औदारिकतैजसे प्रतीत्य गुरु-
लघवः, जीव कर्मण च प्रतीत्यागुरुलघवः । वायवस्तु औदा-
रिकवैक्रियतैजसानि प्रतीत्य गुरुलघवः । एवं पञ्चेन्द्रियतिर्य-
ओऽपि मनुष्यास्त्वौदारिकवैक्रियतैजसाहारकाणि प्रतीत्येति
(धम्मत्थिकाये स्ति) इह यावत्करणात्, “अहम्मत्थिकाए आगा-
सत्थिकाए” इति हृदयम् (चउत्थपएणं ति) एते अगुरुलघु-
इत्यनेन पदेन वाच्याः । शेषाणां तु निषेधः कार्यं, धर्मास्तिकाया-
दीनामरूपितया अगुरुलघुत्वादिनि । पुद्गलास्तिकायसुत्रे उच्यते नि-
अयनयाभितम, एकान्तगुरुलघुनोस्तन्मतेनाज्ञावात् (गुरुयलहुय
दव्वाह ति) औदारिकादीनि ४ (अगुरुयलहुयदव्वाह ति) कर्म-

लादीनि (समया कर्माणि य चकारपपण ति) समया कर्म-
ताः कर्माणि च कर्मणवर्गणामकानीत्यगुरुलघुत्वमेवाम् ।
(दण्वलेन पदुच तद्वपपण ति) अन्यतः कृष्णलेनया भौदारि-
कादिशरीरवर्णं , भौदारिकादिकञ्च गुरुलघुत्वमिति कृत्वा गुरुल-
घुत्वमेव तृतीयविकल्पेन व्यपदेश्यम् । नावलेनया तु जीवपरि-
णतिः, तस्याभ्यामूर्त्तत्वाद्गुरुलघुत्वमिति व्यपदेश इत्यत आह
(भावलेसं पदुच चउत्पपपरं ति) (विर्त्तादसनेत्यादि)
इत्यादीनि जीवपर्यायायेनागुरुलघुत्वाद्गुरुलघुत्वकृतेन चतु-
र्थपदेन वाच्यानि । अहानपदे त्विद ज्ञानविषयकत्वाद्भीतम् ,
अन्यथा हारेषु ज्ञानपदमेव दृश्यते (हेचित्ते सि) शौरि-
कादीनि । (तद्वपपण ति) गुरुलघुत्वमेव गुरुलघुत्वग-
णात्मकत्वात् । (कर्मणा चउत्पपण ति) अगुरुलघुत्वस्याम-
कत्वात् कर्मणशरीराणां मनोयोगायोगो चतुर्थपदेन वाच्यो,
तद्व्यापामगुरुलघुत्वम् , काययोगः कर्मणवर्गजस्तृतीयेन गुरु-
लघुत्वात्तद्व्यापामिति । (सप्रद्व्येत्येति) सर्वव्यापि ध-
र्मास्तिकायादीनि सर्वप्रदेशास्तेषामेव निर्दिष्टा भागा अशाः । सर्वपर्य-
वाच्योपयोगादयो द्व्यधर्माः, एते पुञ्जलास्तिकाययद् व्यपदे-
श्याः, गुरुलघुत्वेनागुरुलघुत्वेन वेत्यर्थः । यतः सूक्ष्मापयमूर्त्तानि
च व्यापयगुरुलघुत्वानि, इतराणि तु गुरुलघुत्वानि । प्रदेशपर्यायास्तु
तत्तत्प्रत्ययसम्बन्धेन तत्तत्स्थानाया इति । म० १ श० ९, ३० ।
संप्रति गुरुलघुत्वस्यापामगुरुलघुत्वस्यापाम् चाल्पवद्व्येन धर्म-
णाभिन्नत्वेन-तत्र बादरस्कन्धेषु जघन्यमप्यमोत्कृष्टभेदनिर्देश-
कोत्तरगुरुत्वा प्रयत्नमाना वर्गणा अनन्ता भवन्ति । ताश्च ताव-
द्द्रव्या यापामर्थात्कृष्टो बादरस्कन्धः ।

ततो य बगणाश्रो, सुहमाण नवंत एतगुणियाओ ।

परमाणुण य एवा, सखेरपदेममंखाता ।

नाम्यः समस्तबादरस्कन्धगताभ्यो धर्मणाभ्यः सूक्ष्माणां सूक्ष्मा-
नन्तप्रदेशकस्कन्धानामनन्तगुणिता धर्मणास्तथा परमाणूनां स-
मस्तानामेव धर्मणाः । (मखेरसि) मन्येयप्रदेशेषु द्रवादिप्रभृ-
त्युत्कृष्टं मख्यातं यायत् संख्याताः संख्यातस्य संख्यातनेदभा-
वात् । इतरस्मिन्नमन्येयप्रदेशे असंख्येया धर्मणाः, असंख्यात-
स्य संख्यातमेदभिन्नत्वात् ।

इय पोगन्नकायम्मि य, सव्वत्योचा उ गुरुलहु दव्वा ।

उजयपडिसेहिया पुण, अणंतकप्पा बहुविकप्पा ॥

इति एवमुपदर्शितेन प्रकारेण पुञ्जलायै पुञ्जलास्तिकायै
गुरुलघुत्वव्याप्तिं सर्वस्तोकानि उभयप्रतिपक्षितानि सन्नात-
गुरुलघुप्रतिपक्षानि अगुरुलघुत्वमिति । पुनर्द्रव्याणि अनन्त-
कल्पानि अनन्तभेदानि । तत्रानन्तभेदत्वं गुरुलघुत्वव्ये-
ष्यस्ति, तत आह-बहुविकल्पानि विकल्पातिशयेन बहुभेदानि ।
संप्रति पर्यायपरिमाणमल्पबहुत्वेन चिन्त्यते-इह पञ्चराशयः
क्रमेण स्थाप्यन्ते । तद्यथा-परमाणुराशिः, संख्यातप्रदेशकस्क-
न्धराशिः, असंख्यातप्रदेशकस्कन्धराशिः, सूक्ष्मानन्तप्रदेशक-
स्कन्धराशिः, बादरानन्तप्रदेशकस्कन्धराशिश्च । तत्र बादरान-
न्तप्रदेशकस्कन्धराशौ योऽन्तिपक्षः सर्वोत्कृष्टो बादरस्कन्ध-
स्तत्र बहवो गुरुलघुपर्यायाः, सर्वस्तोका अगुरुलघुपर्यायाः,
इह बादरस्कन्धेष्वप्यगुरुलघवः पर्यायाः सन्ति परमुत्कलिता
गुरुलघुपर्याया इति । त एवं तत्र शेषकालं गणयन्ते, संप्रति
तु वस्तुस्थितिश्चिन्त्यते । इत्यल्पबहुत्वचिन्तायां ते चिन्तिताः ।
तत्सर्वोत्कृष्टाद् बादरस्कन्धाद् येऽधस्तना बादरस्कन्धास्तेषु

गुरुलघुपर्यायाः क्रमेणानन्तगुणहान्या द्रष्टव्याः । अगुरुलघु-
पर्याया पुनरनन्तगुणवृद्ध्या । एवं च तावद् ज्ञातव्यं यावत्सर्व-
जघन्यो बादरस्कन्धः । उक्तं च- " परमाणुसंज्ञसंज्ञा, सुह-
माण ताण बायराण च । एयसिं रासीतो, क्रमेण सव्वे ठवे-
कणं ॥ तेसिं ओ अतिसओ, सव्वुकोसो य बायरो अंधो ।
तस्स बह्व गुरुलहुया, अगुरुलहु पज्जवा थोवा ॥ तसो
दिट्ठा हुत्ता, अणतहाणिए गुरुलहुवुट्ठी । एव ता जाव
अहओ सि " ॥

एतदेवाह-

ते गुरुलहुपज्जाया, पणान्नेदेण वोगसित्ताणं ।

जा बायरो जहणो, अणतहाणिए हायंता ॥

ते गुरुलघुपर्यायाः प्रभावेदनकेनागुरुलघुपर्यायेभ्यो व्युत्कृष्य
पृथक्कृत्वा सर्वोत्कृष्टाद् बादरस्कन्धादधस्तनेषु बादरस्कन्धे-
पनन्तगुणहान्या हीयमानास्तावद् द्रष्टव्या यावद् जघन्यो बा-
दरस्कन्धः । अगुरुलघुपर्यायास्तु क्रमेणानन्तगुणवृद्ध्या प्रव-
र्द्धमानाः, तत परं सूक्ष्मानन्तप्रदेशादिषु स्कन्धेषु केचन
अगुरुलघुपर्याया एव क्रमेणानन्तगुणवृद्ध्या प्रवर्द्धमाना द्र-
ष्टव्या । ते च तावत् यावत्परमाणवः । उक्तं च- " तेण पर
सुहुमाओ, अणंतवुट्ठिए नवरवहता । अगुरुलहु चिय केवल,
जा परमाणुय तो नेया " तदेवं पर्यायपरिमाणमल्पबहुत्वेन
चिन्तितम् । साम्प्रतमरूपि द्रव्य चिन्त्यते- तज्जुत्तर्दा, तद्यथा-
धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवा-
स्तिकायश्च ।

तेषां किमगुरुलघुपर्यायपरिमाणमत आह-

केण हविज्ज विरोहो, अगुरुलहुपज्जवाण उ अमुत्ते ।

अघंतममजोगो, जहियं पुण तव्विवक्खस्स ॥

यत्नामूर्त्तं धर्मास्तिकायादौ तद्विपक्षस्य गुरुलघुपर्यायजात-
स्यात्यन्तमेकान्तेनासंयोगोऽघटना तत्रागुरुलघुपर्यायाणां केन
विरोधो विनाशनं भवेत्?, नैव केनचित् । ततः केनापि विना-
शमावात्सदेव प्रतिप्रदेशमनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

तथाचाह-

एवं तु अणंतेहिं, अगुरुलहुपज्जवेहिं संजुत्तं ।

होइ अमुत्तं दव्वं, अरुविकायाण चाउत्तं ॥

एव तु सति चतुर्णामप्यरूपिकायानामरूपिणामस्तिकायानां
धर्मास्तिकायप्रभृतीनामेकैकाख्यं यदमूर्त्तं द्रव्यं तद् भवति
प्रत्येकमनन्तैरगुरुलघुपर्यायैः संयुक्तम् । तदेवभावित एकैक
आकाशप्रदेशोऽनन्तैरगुरुलघुपर्यवैरूपैतः । वृ० १ उ० ।

अगुरुलहुचउक्क-अगुरुलघुचतुक्क- न० अगुरुलघुपघातप-
राघातोऽङ्गुसलक्षणनामकर्मप्रकृतिचतुष्टये, कर्म० १ कर्म ।

अगुरुलहुणाम-अगुरुलघुणामन्- न० नामकर्मभेदे, यदु-
दयादगुरुलघु स्वयं शरीर जीवानां भवति । स० ।

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगरुलहुउदया ।

अगुरुलघुदयादगुरुलघुनामोदयेन जीवस्य अङ्गं शरीरं न गुरु
न लघु जायते भवति, किन्तु अगुरुलघु, यत एकान्ते गुरुत्वे
हि चोदुमशक्यं स्यात्, एकान्तलघुत्वे तु वायुनाऽपह्रियमाण
धारयितुं न पर्येत, यदुदयाज्जन्तुशरीरं न गुरु न लघु नापि
गुरुलघु किन्तु अगुरुलघुपरिणामपरिणतं भवति, तदगुरु-
लघुनामेत्यर्थः । कर्म० १ कर्म० । प्रघ० । आ० । प० स० ।

अगरुलदुपरिणाम-अगरुलधुकपरिणाम-पुं० अगरुलधुकमे-
व परिणामः, परिणामपरिणामवतोरभेदादगुरुलधुकपरिणामः ।
अजीवपरिणामभेदे, स्था० १० ठा० । अगरुलधुपरिणामस्तु पर-
माणोरारण्य यावदनन्तानन्तप्रदेशिकाः स्कन्धाः सूक्ष्माः । सूत्र०
१ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अगरुलदुपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पप्पत्ते ? गोयमा !
एगागारे पप्पत्ते ।

अगरुलधुपरिणामो भावादिपुल्लानां "कम्मणमणभासाईपया-
ई अगरुलदुयाइ" इतिवचनात् । तथा अमूर्तव्याणां चाकाशा-
दीनाम् । अगरुलधुपरिणामग्रहणमुपलक्षणम्, तेन गुरुलधुप-
रिणामोऽपि द्रष्टव्यः । स चौदारिकादिख्याणां तैजसद्रव्यपर्य-
न्तानामवसेयः । " ओरादियवेउविय-आहारगतेय गुरु-
लह दव्वा । " इति वचनात् । प्रज्ञा० १३ पद ।

अगरुवर-अगरुवर-पुं० कृष्णागरो, ज्ञा० १७ अ० ।

अगलंत-अगलंत-त्रि० अन्नाविणि, " असती मोयमहीए कय-
कण्ण अगलत सत्तप णिसिरे " व्य० ७ उ० ।

अगलिय-अगलित-त्रि० अपतिते, " अगलियणेहणिवट्टा-हं
जोअण वक्खु विज्जाउ । वरिससण वि जो मिल-इ स हि सो-
क्खहं सो छाउ य " । प्रा० १ पाद ।

अगविठ-अगवेधित-त्रि० गवेषण्या अपरिभाविते, "अगविठ-
स्स उ गहण, न होइ न य अगहियस्स परिभोगो ।" पिं० "अ-
गविट्टा य गविट्टा, णिप्पसा धारणदिसासु" व्य० ४ उ० ।

अगहणवग्गाणा-अग्रहणवर्गणा-स्त्री० अल्पपरमाणुरूपत्वेन
स्थूलपरिणामतया च स्वभावाज्जीवानां ग्रहेऽसमागच्छन्तीषु
वर्गणासु, कर्म० ५ कर्म० । प० स० । (आसां स्पष्ट स्वरूप
'वग्गणा' शब्दे दर्शयिष्यते)

अगहिय-अग्रहीत-त्रि० न० त० अस्वीकृते, पञ्चा० १७ विव० ।

अगहियगहण-अगृहीतग्रहण-न० साधुभिरस्वीकृतमक्तादि-
दातव्यव्यये, "पडिबधणिरागरण, केइअखे अगहियगहणस्स"
पञ्चा० १७ विव० ।

अगहिल्लगराय-अग्रहिलकराज-पुं० राजभेदे, (ती०) तत्क-
था चैवम्-केइ पुण अगहिल्लगरायअक्खाणगविहीए कालाइ-
दोसो वि अप्पाण निव्वाहइस्सति, तं च अक्खाणयमेव पञ्च-
वति पुव्वायरिया-पुर्व्वि किर पुइवीपुरीए पुसो नाम राया । त-
स्स मती सुबुद्धी नाम । अन्नया लोगदेवो नाम नेमिस्सिओ आग-
ओ । सो य सुबुद्धिमतिणा आगमेसिं काल पुछो । तेण भणियम्-
मासाणतेरे इत्थजलइरो वरिसिस्सइ । तस्स जलं जो पाहिइ
सो सव्वो वि गह्वीभूओ भविस्सइ । किच्चए वि काले गप
सुबुछी जवस्सइ । तज्जवपाणेण पुणो जणा सुत्थीभविस्सति ।
तओ मतिणा त राइणो विअन्न । रक्षा वि परुहग्घोसेण वारिस-
गहत्थो जणो आइछो । जणेण वि तस्सगहो कओ । मासेण बुछो
मेहो । त च सगहिय नीर काळेण निछविअ ओपहिं नवोदग
चेव पाउमादत्त । तओ गहिहीभूओ सव्वहोओ सामताइ गा-
यति नच्चति सिज्जाए वि चिछतो । केवल राया अमच्चो अ
सगहिअ जलं न निट्ठिय ति । तं चेव दो वि सुत्था चिंठति ।
तओ सामताईहि विसरिस चिछे रायअमच्चोहिं निरिक्खिऊण
परप्परं मतिअं । जहा गहिहो रायामती य । एए अम्हाहिंतो वि
विसारसीयारा । तओ एए अवसारिऊण अचरे अप्पतुल्लायारे

रायाण उवाविस्सामो । मंती ऊण तेसिं मंत नाऊण राइणो विअ-
वेइ । रक्षा वुत्तं-कह मे एहुंतो अप्पा रक्खियव्वो विदेहनरि-
दतुल्लं हवइ । मतिणा भणिय-महाराय ! अगहिहिहिं पि अम्हेहिं
गहिहीहोऊण ठायव्व । न अन्नइ मुखो । तओ कित्तिमगहिही-
होउं ते रायमच्चा तेसिं मज्जे निअसंपयं रक्खता चिट्ठति ।
तओ ते सामताइ तुछा, अहो ! गयमच्चा विअम्हसरिसा सजा-
यत्ति । उवाएण तेण तेहिं अप्पा रक्खिओ । तओ कालतरेण सुह-
बुछी जाया । नवोदगे पीए सव्वे होगा पगइमावसा सुत्था सवु-
त्ता । एव दूसमकाले गीयत्थकुलिगीहिं सह सरिसो होऊण
वट्ठता अप्पणो समय भाविणं पमिवावितो अप्पाण निव्वाहइ-
स्सति । ती० ३१ कल्प० ।

अगाढ-अगाढ-त्रि० अवगाढे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अगाढपप्प-अगाढप्रज्ञ-त्रि० अगाढा तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य
सोऽगाढप्रज्ञः । परमार्थपर्यवसितबुद्धौ, " अगाढपप्पेसु वि भा-
वियप्पा, अन्न जण सपन्न परिहवेज्जा । " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अ (आ) गार-अगार-न० गृहे, दश० १ अ० । अगैर्दुमह-
षदादिभिर्निर्वृत्तमगारम् । दशा० १० अ० । विशेष० । स्था० ॥
अनु० । सूत्र० । आचा० । प्रव० । पञ्चा० । नि० चू० । आ० म०,
द्वि० । (अगारनिक्षेप) अगार द्विविधं ध्वजभावभेदात् । तत्र द्र-
व्यागारमगैर्दुमहषदादिभिर्निर्वृत्तम् । भावागारं पुनरगैर्विपाक-
कालेऽपि जीवविपाकिनया शरीरपुद्गलादिषु बहिःप्रवृत्तिरहि-
तैरनन्तानुबन्धादिभिर्निर्वृत्त कषायमोहनीयम् । " समरेसु य
अगारेसु, सधीसु य महापहे " अगारेषु शून्यगृहेषु । उच०
१ अ० । " अगारमावसंतस्स, सव्वो सविज्जए तथा " सूत्र० १
श्रु० ३ अ० ३ उ० । विशेष० । अगारं द्विविधम्-स्नातमुच्छ्रित च ।
तत्र स्नातं भूमिगृहादि, उच्छ्रितमुच्छ्रयेण कृतम्, उभय भूमि-
गृहस्योपरि प्रासादः । पञ्चा० १ विव० । स्थाने च । " सिंगारा-
गारचारुवेसा " औ० । अगारं गृह तद्योगाद् । विशेष० । अगारं
गृह तदेषां (वा) बिद्यते इत्यर्शादिगणत्वाच्चप्रत्ययः । गृहस्थे,
पुं० । दश० १ अ० ।

अगारत्थ-अगारस्थ-पुं० अगारं गृहं, तत्र तिष्ठन्तीति अगार-
स्थाः । गृहस्थेषु, आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ० ॥

अ (आ) गारधम्म-अगारधम्म-पुं० न गच्छन्तीत्या वृक्षा-
स्तैः कृतमा समन्ताद्वाजत इत्यगार गृहम् । तत्र स्थितानां ध-
र्मोऽगारधर्मः । शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः ।
देशविरतौ, आ० म० छि० ।

पंच य अणुव्वयाई, गुणव्वयाई च होंति तिभेव ।

सिक्खावयाइ चउरो, गिहिधम्मो वारसविहो य । १३ ।

पञ्चाणुव्वतानि स्थूलप्राणातिपातधिरत्यादीनि गुणव्रतानि च
भवन्ति, ग्रीष्मेव दिग्व्रतादीनि शिक्वापदानि चत्वारि सामायि-
कादीनि, गृहिधर्मो द्वादशविधस्तु एव एवाणुव्वतादिः । अणुव्वता-
दिस्वरूप चावश्यके चर्चितत्वाच्चोक्तमिति गाथार्थः ॥ दश० नि० ६
अ० । ध० । तत्र सामान्यतो नाम सर्वविशिष्टजनसाधारणानुष्ठा-
नरूपः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्वतादिप्रतिपत्तिरूपं, चकार
उक्तसमुच्चय इति । तत्राद्य भेद दशभिः श्लोकैर्दर्शयति—

" तत्र सामान्यतो गृह्य-धर्मो न्यायार्जित धनम् ।

वैवाह्यमन्यगोत्रीयै, कुलशीलसमैः समम् ॥ ५ ॥

शिष्टाचारप्रशंसाऽरि-धर्मवर्गत्यजन तथा ।

इन्द्रियाणां जय उपप्सुतस्थानविवर्जितम् ॥ ६ ॥

सुप्रातिघेरिमके स्थाने, नातिप्रकटगुप्तके ।
 अनेकनिर्गमभार-गृहस्य विनिवेशनम् ॥ ७ ॥
 पापभीरुकताख्याता, देशाचारप्रपादनम् ।
 सय्येष्वनपवादित्य, नृपादिषु विशेषतः ॥ ८ ॥
 आयोचितव्ययो वेपो, विमवागनुसारतः ।
 मातृपित्रर्चन सङ्गः, सदाचारैः कृतज्ञता ॥ ९ ॥
 अजीर्णोऽभोजनं काले, हृत्किः सम्पदलोहता ।
 वृत्तस्यज्ञानवृत्ताहो, गौर्हित्यप्रवर्त्तनम् ॥ १० ॥
 मर्त्तव्यनरण दीर्घ-दृष्टिर्धर्मभूतिर्दया ।
 अष्टदुस्त्रिगुणैर्योगः, परुषातो गुणेषु च ॥ ११ ॥
 सदाऽनजिनिवेशश्च, विशेषज्ञानमन्त्रदम् ।
 यथादमतिथौ सार्धो, धीने च प्रतिपत्ता ॥ १२ ॥
 अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्यापि साधनम् ।
 अदेशकानाचरणं, यत्तापश्रविचारणम् ॥ १३ ॥
 यथार्थलोकायात्रा च, परोपकृतिपाटवम् ।
 नही. सौम्यता चेति जिने, प्रकृता दितकारिणि. ” ॥ १४ ॥

(दशानि कुलकम्)

तत्र तयो. सामान्यविशेषरूपयोगे गृहस्थधर्मोऽनुमुपक्रान्तयोर्मध्ये
 सामान्यतो गृहधर्म इति अमुना प्रकारेण हितकारिणि परोपकर-
 णशीलैर्जिनैर्दर्शितं प्रज्ञप्तं प्रकृतिपत ह्यनेन सयन्ध ॥ ४० ॥ अधि० ।
 (न्यायार्जितधनादिपदानामर्थः. 'णायजिय' शब्दे)

अगारबंधण-अगारवन्धन-न० क० स० । पुत्रफलप्रधानधान्या-
 दिकूपे गृहपाशे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ॥ “ पय समुद्रिप
 निक्खु, घोसिज्जा गारयघणं ” सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।
 अगारव-अगौरव-त्रि० न० घ० । ऋकृपादिगौरववर्जिते, प्रश्न०
 ५ सम्ब० द्वा० ।

अगारवाम-अगारवाम-पु० गृहवासे, “ अगारवासमज्जे प-
 सिता ” ज० १५ श्रु० १ उ० ।

इहलोग दुहावहं विज्ज, परलोके य इहं दुहावहं ।

विज्जसणधम्ममेव तं, इति विज्जं कोऽगारमावसे ॥ १० ॥

(इहलोग इत्यादि) इहाऽस्मिन्नेव श्लोके हिरण्यस्वजनादिकं
 दुःखमावहति. (विज्जति) विद्या जानीहि । तथाहि- “ अर्था-
 नामर्जने दुःख-मर्जितानां च रक्षणे । आये दुःख व्यये दुःख,
 धिगर्थं दुःखनाजनम् ” ॥ ११ ॥ तथाहि- “ रेवापय” किसलयानि च
 सल्लकीना विन्ध्योपकराविपिन स्वकुलं च हित्वा । किं ताम्यसि
 क्षिप गतोऽसि वशं करिष्या स्नेहो निधनमनर्थपरम्परा-
 याः ” ॥ १२ ॥ परलोके च हिरण्यस्वजनादिममत्वापादितकर्मज
 दुःखं न गति, तदप्यपरं दुःखमावहति, तदुपादानकर्मोपादाना-
 दिति भावः । तथैतदुपाजितमपि विघ्नसनधर्मं विश्वरूपस्वभाव
 गत्वरमित्यर्थः, इत्येव विद्वान् जानन् कः सकणोऽगारवास
 गृहवासमावसेत्, गृहवास वाऽनुयज्जीयादिति । उक्तं च “ दाराः
 परिज्वकाराः धनुजनो धनं विष विषयाः । कोऽयं जनस्य मोहो,
 ये रिपवस्तेषु सुहृदाश्च ” ॥ १३ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुण्वं पाणेहि संजए ।

समता सन्वत्थं सुव्वते, देवाणं गच्छे स दोगयं ॥ १३ ॥

अगारमपि गृहमप्यावसन् गृहवासमपि कुर्वन् नरो मनुष्यः
 (अणुपुण्वं ति) आनुपूर्व्यां श्रवणधर्मप्रतिपत्त्यादिवक्ष्यया
 प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यग् यतः सयतस्तदुपमर्दाविवृत्तः, कि-
 मिति, यतः समता समभावः आत्मपरतुल्यता, सर्वत्र यतौ गृ-

हस्थे च यदि चैकेन्द्रियादौ श्रयतेऽभिधीयते आर्हते प्रवचने
 तां च कुर्वन् स गृहस्थोऽपि सुव्रतः सन् देवानां पुरन्दरादीनां
 लोकं स्थानं गच्छेत्, किं पुनर्यो महासत्त्वतया पञ्चमहाव्रतधा-
 री यतिरिति । “ सेभो अगारवासो त्ति, इह भिक्खु न चित्त-
 ए ” उक्त० २ अ० ।

अगारि (ण) अगारिन्-पु० गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।
 आचा० क० । “ अगारिणो वि समणा भवतु, सेवति उ ते वि तह
 पगारं ” सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अगारिकम्म-अगारिकर्मन्-न० अगारिणां कर्माऽनुष्ठानम् । गृ-
 हस्थानां सावद्य आरम्भे, जातिमदादिके च । “ णिक्खम्म से से-
 वइ गारिकम्म, ण पारए होइ विमोयणाए ” सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।
 अगारियंग-अगार्यङ्ग-न० अगारिणां गृहस्थानामङ्ग कारण-
 म् । जात्यादिके मदस्थाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अगारी-अगारी-स्त्री० गृहस्थस्त्रियाम्, व्य० १ उ० ।

अगारीपमिवंध-अगारीप्रतिबन्ध-पु० अगार्याः प्रतिबन्धोऽगारि-
 प्रतिबन्ध । यत्रागार्या विषये आत्मपरोजयसमुत्था दोषा इत्ये-
 चरूपे गृहियं पितृप्रतिबन्धे, व्य० ४ उ० ।

अगाह-अगाध-त्रि० गम्भीरे, स्था० ४ उ० ४ उ० ।

अगिज्ज-अग्राह-त्रि० हस्तादिना ग्रहीतुमशक्ये “ ततो अ-
 गिज्जा पण्णत्ता, तज्जहा- समए पण्णत्ते परमाणु ” स्था० ३
 उ० १ उ० । अनाग्नेष्ये, “ अणेगणरह्युयाऽगिज्जे ” औ० ।
 अप्रमेये, रा० ।

अगणिहयव्व-अग्रहीतव्य-त्रि० । न ग्रहीतव्योऽग्रहीतव्य । हेये,
 उपेक्षणीय च । उभयोरपि कार्यसाधकत्वात् । “ गम्भीरो जो क-
 ज्जसाहगो होइ ” इति कार्यसाधकस्यैव ग्राह्यत्वात्के “ णायम्मि
 नेपिहयव्वम्मि, अणेपिहयव्वम्मि चेव अत्थम्मि ” उक्त० १ अ० ।
 आय० ।

अगिच्छ-अगृच्छ-त्रि० न० त० । अनध्युपपन्ने अमूर्जिते, “ अगि-
 छे सहपासेसु, आरंजेसु अणिस्सिए ” सूत्र० १ श्रु० ६ अ०
 “ उवहिम्मि अमुच्छिए अगिच्छे अण्णायउउ पुत्ताणिपुत्ताए ”
 अगृच्छः प्रतिबन्धाभावेन । दश० १० अ० ।

अगिलाइ-अग्लानि-स्त्री० अस्त्रेदे, स्था० ८ उ० १० म० । “ अगि-
 लाइ अणाजीवी, णायव्वो वीरियायारो ” पचा० १५ विव० । अ-
 गिलाणाम णो मनोवाक्काएहिं अज्जज्जमाणेत्यर्थः ” नि० चू० १ उ० ।

अगिला-अग्लानि-स्त्री० निर्जरार्थमात्मोत्साहे, व्य० ४ उ० । गिला-
 व्याख्यानार्थमाह- “ निववेद्धि व कुणतो, जो कुणई एरिसा गिला
 होइ । पम्भिलेहु छवणई, वेयावन्निय तु पुव्वुत्त ” यो नाम नृपवेष्टिं
 राजवेष्टिमिव कुर्वन् वैयावृत्यं करोति एतादृशी भवति गिला-
 ग्लानिस्तस्याः प्रतिपेधोऽगिला । तथा करणीय वैयावृत्यम्, किं
 तदित्यत आह-प्रतिलेखोत्थापनादिक भारणस्य प्रत्युपेक्षणमु-
 पविष्टस्योत्थापनमादिशब्दात् भिन्नानयनादिपरिग्रहः, एतत्पू-
 र्वोक्तं वैयावृत्यम् । व्य० १ उ० । “ अगिलाएण भत्तेण पाणेण
 विणएण वेयावडिय करेइ ” म० ५ श्रु० ४ उ० ।

अगिलाय-अग्लान-पु० अग्लाने, “ कुज्जा भिक्खु गिला-
 एस्स, अगिलाए समाहिए ” भिज्जु साधुग्लानस्य वैयावृ-
 त्त्यमग्लानोऽपरिग्रहः, कुर्यात्, सम्यक् समाधिना ग्लानस्य

वा समाधिमुत्पादयेदिति । सूत्र० १ शु० ११ अ० ।
अगीय-अगीत-पु० अगीतार्थे, व्य० १ उ० ।

अगीयत्थ-अगीतार्थ-पु०। न० ब० । अनधिगताचारप्रकल्पा-
दिनिशीथान्तश्रुतार्थे, जी० १ प्रति० (अगीतार्थो येन छेदश्रु-
तार्थो न गृहीतो गृहीतो, वा पर विस्मारितः । वृ० १ उ० ।

अथागीतार्थोपदेशः सर्वोऽपि दुःखादहो भवतीत्याह-

अगीयत्थस्स वयणेण, अमिञ्चं पि न घुंटाए ।

जेण नो तं भवे अमयं, जं अगीयत्थदेसिञ्चं ॥४६॥

परमत्थो न तं अमयं, विसं हालाहलं खु तं ।

न तेण अजरामरो हुत्था, तक्खणा निहणं वए ॥४७॥

अनयोर्व्याख्या-अगीतार्थस्य (सविग्गा नाम एगे नो गीय-
त्था १, नो सविग्गा नाम एगे गीयत्था २, सविग्गा नाम एगे
गीयत्था वि ३, नो सविग्गा नाम एगे नो गीयत्था वि ४)
पूर्वोक्तप्रथमचतुर्थभङ्गतुल्यस्य वचनेन अमृतमपि (न घुंटाए
त्ति) न पिबेत् । अगीतार्थोपदेशेनामृतवद् दृश्यमान सुन्दरम-
प्यनुष्ठान न कुर्यादिति परमार्थः । येन कारणेन न तदमृतं भ-
वेत् यदगीतार्थदेशिनमगीतार्थोपदिष्टम् । एतदेव विशेषेणाह-
परमार्थतः तत्त्वतस्तदमृतं न गुणकारीत्यर्थः । तद् विष हाला-
हल (खु त्ति) निश्चित, न तेन अजरामरो मोक्षसुखभाग् भ-
वेत् । तत्क्षणादेव निधनं विनाशमनन्तजन्ममरणलक्षणं न-
जेत् प्राप्नुयात्, अगीतार्थोपदेशेनामृतपानस्यापि अनन्तसं-
सारहेतुत्वात् । उक्तं च-“ ज जयइ अगीयत्थो, ज च अगी-
यत्थनिस्सिओ होइ । चट्ठावेइ य गच्छ, अणंतससारिओ
होइ ॥ १ ॥ कह उ जयतो साहू, चट्ठावेइ य जो उ गच्छ तु ।
संजमजुओ होउ, अणतससारिओ भणिओ ॥ २ ॥ दव्व खित्त
काल, भाव पुरिसपडिसेवणाओ य । न वि जाणई अगीओ,
उस्सगाववाइय चेव ॥ ३ ॥ जहठियदव्वं ए जाणइ, सच्चित्ता-
चित्तमीसिञ्च चेव । कप्पाकप्प च तहा, जोगं वा जस्स जं
होइ ” ॥४॥ इत्यादि उपदेशमालायामिति विषमाक्षरेति गाथा-
चक्रन्दसी । ग०२ अधि०। महा० । “अबहुस्सुए अगीय-त्थेणि-
सिरए वा धारए व गण । तहेवसिय तस्स, मासा चत्तारि
भारिया हौति” वृ० १ उ० । (इत्यगीतार्थस्य गच्छधारणनिषे-
धो ‘गणहर’ शब्दे) “अगीयत्थो दायव्वस्स धारेयव्वस्स वा
अकप्पिओ ” उच्यते नर्त्तकीदृष्टान्तेन गाहा-“ जह नट्टे जह न-
ट्टिया, अयाणतिया विवज्जास । करेइ गिज्जमाणे, नट्टे एट्टिया
य गरहिया य ” । १। भवइ एवमगीवत्थो अगीयत्थो य न सक्केइ
समायरिउ पडिलेहणाइ उवादिसिउ वा परेसु ’ प० चू०। वृ०
नि० चू० । (अगीतार्थो गच्छसारणां कर्तुं न शक्नोतीति ‘ग-
च्छसारण’ शब्दे) अगीतार्थो वुस्त्याज्यस्तत्सङ्गेन दुःखप्राप्तिः
“ अगीयत्थत्तदोसेण, गोयमा । ईसरेण उ । जपत त निसा-
मेत्ता, लहु गीयत्थो मुणी भवे ” महा० ६ अ० । (‘ईसर’ शब्दे
अभि० राजेन्द्र-डि० ना० पृ० ६४५ तत्कथानकम्) “सारा-
सारमयाणित्ता, अगीयत्थत्तदोसओ । वितियमेतेणाविरज्जाए,
पावग ज समज्जिय । तेण तीए अह ताए, जा जा होहि निय-
तणा । नारयतिरियकुमाणु-सत्त सोच्चा को धिइ लमे ? ” (र-
ज्जदिया ” शब्दे कथानकम्) “अगीयत्थत्तदोसेण, भावसुद्धि
ए पावए । विणा भावसुद्धीए, सकलसमाणसो मुणी भवे । अ-
णुथोवकलुसहियत्त अगीयत्थत्तदोसओ । काऊण लक्खण-

जाए, पत्ता दुक्खपरपरा । तम्हा त एाउ बुद्धीहि, सव्वमावेण
सव्वहा । गीयत्थेहि भविच्चाए, कायव्व निकलुस मए ”
(महा० ६ अ०) “शाल्यादिवीजयुतोपाश्रये न श्लेयमिति निषेध
द्वितीयपदे ‘ विइयपयकारणमि पुंवि वसमा पमज्ज जत-
णाए ’ इत्याहुस्त्वा, “अगीयत्थस्स न कप्प-इ तिविहं ज-
यए तु सो न जाणाइ । अणुक्खणाए जयणाए, जयए सप-
क्खपरपक्खजयए च ” (वृ० २ उ०) इत्यगीतार्थस्य त्रिविध-
यतनाज्ञानप्रदर्शनं ‘ वसइ ’ शब्दे । अगीतार्थेन साक
न विहरेत् । “ गीयत्थो य विहारो, वीओ गीयत्थणि-
स्सिओ होइ ” इत्यनेन ‘ विहार ’ शब्दे दर्शयिष्यमाणे-
न निषेत्स्यमानत्वात्)

अणहीयपरमत्था वि, गोयमा ! संजए भवे ।

तम्हा ते वि विवज्जिजा, दुगईपंधदायगे ॥ ४३ ॥

हे गौतम ! ये सयता अपि संयमवन्तोऽपि (अणहीयपरम-
त्थे त्ति) अनधीता अनन्यस्ताः परमार्था आगमरहस्यानि यैस्ते
अनधीतपरमार्था, अगीतार्था इत्यर्थः । ते यस्मात् अज्ञातद्वय-
क्षेत्रकालज्ञावौचित्या नवन्तीति शेषः । तस्मान्नानगीतार्थान् वि-
वर्जयेत् । विहारे एकत्र निवासे वा दूरतस्त्यजेत् । अपिशब्दोऽ
त्र भिन्नक्रमः, स च यथास्थान योजित एव । किंभूतान् दुर्गतिप-
थदायकान् तिर्यगारककुमानुषकुदेवरूपदुर्गतिमार्गप्रापकानित्य-
र्थः । ग० २ अधि० । अगीतार्थेन सह सङ्गो न करणीयः । “अगी-
यत्थस्स कुसीदेहि, सगं तिविहेण वज्जई । मोक्खमग्गसिमे
विग्घे, पदम्मी तेणगे जहा ॥ पज्जविय डुयवह दट्ठु, शीसको
तत्थ पविसिओ । अत्ताए पि महिज्जासि, नो कुसील समझि-
ए ॥ वासलक्ख पि सूलीए, समिञ्चो अच्चियासुहं । अगीय-
त्थेण सम एक्क, खण्हं पि न से वसे ॥ विणा वि ततमोहि,
घोरदिठीविस अहि । रुसंतं पि समझीया, णागीयत्थ कुसील-
ग ॥ विसं खाएज्ज हालाहल तं । किर मारेइ भक्खण ।
ए करे गीयत्थससमि, विट्ठवे लक्खं जइ तहि ॥ सीह वण
पिसाय व, घोररूपं भयकर । ओगिहमाव पि तीपज्जा, ण कुसी-
लमग्ग गीयत्थे । सत्तजम्मतर सत्तु, अवमभिज्जा सहेयर ।
वयनियम जो विराहेज्जा, जण्णं पि क्खेतय तिओ ॥ महा० ।
६ अ० । अगीतार्थस्य स्वातन्त्र्येण विहारेऽनन्तससारितैकान्ति-
क्यनाथा वेति प्रश्नः १४ । अत्रोत्तरम्-अगीतार्थस्य स्वातन्त्र्यवि-
हारेऽनन्तससारिता प्रायिकीति ज्ञायते, कर्मपरिणतेर्वैशिष्ट्यादि-
ति । सेन० १ उल्ला० ।

अगुण-अगुण-पु० दोषे, न० । गुणविरोधिनि दोषे, गुणरहिते,
त्रि० । वाच० ।

अगुणगुण-अगुणगुण-पु० अगुणे एव कस्यचिद् गुणत्वेन वि-
परिणममाणे, स वक्रविषय यथा गौर्गविरसज्जातकिणस्कन्धो
गोगणस्य मध्ये सुखेनैवास्ति । तथा च “ गुणानामेव दौर्जन्या-
दुरि धुर्यो नियुज्यते । असजातकिणस्कन्धः, सुख जीवति गौर्ग-
विर ” ॥१॥ आचा० १ शु० २ अ० १ उ० ।

अगुणत्त-अगुणत्व-न० अविद्यमानगुणोऽगुणस्तन्नावस्तत्त्वम् ।
गुणान्नावे, “ अज्जयणगुणी भिक्खू, न सेस इह णो पइअ को
हेऊ । अगुणत्ता इह हेऊ, को दिठ्ठो सुवणमिव ” दश० २ अ० ।
अगुणपेहि (ए)-अगुणप्रेक्षिन्-त्रि० अगुणान् प्रेक्षते तच्छी-
लश्च यः । अगुणदर्शनशीले, दश० ५ अ० ।

अगुणवज्ज - अगुणवर्ज - प्रि० अगुणान् शोषान् वर्जयति सतोऽ-
पि न गृह्णाति इत्यगुणवर्जक । सतामप्यगुणानामप्रादेक, न० ।
अगुत्त-अगुत्त-पि० गुप्तगृहिते, " केवमप्य अगुत्तो, सहसा
रानोगपध्वयपेहि " ध्य० १ उ० । " असमितो मितो कीस
सहसा अगुत्तो वा " अगुत्तो गुप्तप्रमत्त । पञ्चा० १६ विय० ।
अगुत्ति-अगुत्ति-स्त्री० मन प्रभृतीना कुशालाना निरर्त्तनेऽकुश-
लाना प्रवर्त्तने, स्था० ३ गा० १ उ० ।

तत्रो अगुत्तीओ पणुत्ताओ, त जहा-मणअगुत्ती वयअगुत्ती
कायअगुत्ती । एत्थं ऐरुत्थाणं जाव पणियकूमाराणं पवि-
दिपनिरिक्खजोगियाण अत्तं जयपणुत्ताणं वाणमंतराणं
जोडमियाणं वेमागियाण ।

तत्रो इत्यादि कण्टकम् । विशेषतश्चतुर्धिशानि-तत्कं पना भति-
दिशप्राह-परमियादि (पयमिति) सामान्यसुत्रान्तरका-
दीना तिष्ठो गुप्तयो घाट्या, तेषां कण्टकम्, नरम्, ईर्ष्याकेन्द्रिय-
धिकेन्द्रिया नोक्ता, घाट्यतस्योन्मत्तया यथायोगमसम्प्रयात ।
मयतमनुप्या अपि नोक्तास्तेषां गुप्तिप्रतिपादनादिति । स्था०
३ गा० १ उ० । इत्याद्या अगोपनरूपं प्रयाप्यते गाणपरिमदे,
प्रश्न० ५ जाध० गा० । नि० चु० ।

अगुत्तदुत्त-अगुत्तदुत्त-न० । नामकर्मप्रवृत्तिचतुष्टये,
कर्म० १ क० (इत्याद्या आस्य 'कम्म' शब्द)

अगुत्तदुत्ताम-अगुत्तदुत्ताम-न० । नामकर्मभेदे, कर्म० १ क०
(निरूपणमस्य 'अगुत्तदुत्ताम' शब्दे) ।

अगुत्तदुत्त-अगुत्तदुत्त-न० । अत्यन्तमृदमे प्राप्तामन कर्म-
व्याप्ता, स्था० १० गा० (स्पष्टमेतत् 'अगुत्तदुत्त' शब्दे) ।

अगुत्तदुत्तपरिणाम-अगुत्तदुत्तपरिणाम-पु० । अजोपपरिणा-
मभेदे, स्था० १० गा० (प्रत्यया आस्य 'अगुत्तदुत्तपरिणाम' शब्दे)

अगुत्तदुत्त-अगुत्तदुत्त-पु० । इत्याद्या, गा० १ ध्रु० १ अ० ।

अगोविय-अगोपित-प्रि० प्रवृत्ते, सुप्र० १ ध्रु० १ अ० ।

अगोरगव्य-अगोरमप्रत-पु० । गोरममाप्राप्तभक्षके, 'पयोप्रतो
न दध्यति, न पयोऽस्ति दधिप्रत । अगोरमप्रतो नोभे, तस्मात्त-
त्त्व प्रयामकम् " ॥१॥ आद्य० ४ अ० ।

अगु-अगु-न० । अगु-रय, नलोप । उपरिभागे, शेषभागे,
आलम्बने, पृथग्भागे, आच० ।

इदानीं अगो ति दाह दम्भेद भणति-

दब्बो ? गाहण ५ आप-

स ३ काल ४ कम् ५ गणण ६ मंचण ७ जावे ८ ।

अगु भावो ए तु पहा-

एवदुय उपचारतो तिविहं ? ० ॥ ४ए ॥

नामद्वयगाओ गताओ । दब्बग दुविह-आगमओ णो आग
मओ य । आगमओ जाणप अणुयउत्ते, णो आगमओ जाणगस-
रीर भवसररीर जाणगभवसररीर गच्छति तिविह त दिसति ।

तिविहं पुण दब्बगं, सच्चित्तं मीसगं च अच्चित्तं ।

रुक्खगं दस उवचित्त-अवचित्त नस्सेव कुतग ॥ ५० ॥
(तिविह ति) तिनेय, पुणसदो दब्बगावधारणत्थ । सच्चित्त
मीसग च अचित्त । पच्छेकेण जहासख उदाहरण-सच्चित्तवृ-

क्ताप्र । सेमीसे देसो । उवचित्त णाम देसो सच्चित्तो, अवचित्तं
णाम देसो अचित्तो, जहा मीयमी, ईसि ददुमिस्स रुक्खगं च ।
अचित्त कुतग गत ॥ १ ॥

इदानीं ओगाहणग-

ओगाहणगं साम-त्तणगाण उस्सुअचउत्थजागो णं ।
मंदरविज्जितानं, जं चोगाहं तु जावतियं ॥ ५१ ॥

अंजणगदहिमुखाण, कुतलरुयग्रवमंदरारणं च ।

ओगाहो उ सहसं, सेमा पाद समो गाहा ॥ ५२ ॥

अपगाहनमवगाह, 'अधस्तात्प्रवेश इत्यर्थः' । तस्सग अवगा-
हणगः । शब्दज्ञवन्तीति शाश्वता, एगा पवता । ते य जंजुदी-
ये धेयह्वाणो ने धेयनि ण मेसदीवेसु, तेसि उस्सुअचउत्थमा-
गो अवगाहो जवनि । जहा धेयह्वाणुवांस जोयणाणुस्सुओ ते-
सि चउत्थजागेण उज्जोयणाणि सणताणि । तस्स चेवावगाहो
जवनि, सो अवगाहो धेयह्वास्स भवति । एव सेसाण विण्येय । म-
एगे मेरु त वज्जेऊण एव चउत्थजागावगाहलक्षण भणित तस्स
उ सहसमेवावगाहो । ज वा अणदिहस्स चत्थुणो जावतिय
ओगाह तस्स अगु ओगाहणग । गय ओगाहणग ॥ २ ॥

इदानीं आपसग-

आदेसगं पचं-गुलादि जं पच्छिमं तु आदिस्सं ।

त पुरिसाण व जोजय, भोयणकम्मादिकज्जेसु ॥ ५३ ॥

(आदेसगति) आदेशो निर्देश इत्यर्थः । तेण आदेसेण अगु
आदेशग । तत्पुदाहरण-पचगुलादि पचएह अगुहिदब्बाणं
कम्मद्विताण जदि पच्छिम आदिस्सति त आदेसग जवति ।
आदेसकारण इम-भोयणकाले जहा सत्तहाणे बहुआण कम्म-
द्विताण इम बहुय भोजयसु ति आदिसति । एव कम्माइकज्जेसु
वि नेय । गय आदेसग ॥ ३ ॥

कालग-कम्मगे एगा गाहा । ने भणति-

काहगं सव्वदा, कमगचतुधा तु दव्वमादीयं ।

खधोगाहठित्तिसु य, जावेसु य अंतिमा जे ते ॥ ५४ ॥

कलन काल-तस्स अगु कालग, सव्वदा, कह ? समयो
आवलिगा लवो मुहुत्तो पहरो दिवसो अहोरत्त पक्खो भासो
उऊ भयण सवच्छरा जुगपल्लिओवम सागरोवम ओसप्पिणी
उस्सप्पिणी पुगलपरियदा तीतरुमणागतद्धा सव्वदा एव सव्वे-
सि अगु भवति । वृहत्त्वात् कालग गय ॥ ४ ॥ इदानीं कमग-
कम्मो परिवाडी, परिवाकीए अगु कमग, त चउव्विह देवक-
मग आदिसहातो खेत्तकमग कावकमग जावकमग चेति ।
पच्छेकेण जहासखेण उदाहरण-खध इति दव्वग । ओगाह
इति सित्तग । तित्तिसु य ति कालग । भावेसु य ति प्रावग ।
एनेसि चउएह वि अंतिमा जे ते अगु भवति । उदाहरण
जहा-दुपपसिओ चउपचउसत्तद्वणवदसपसिओ असखे,
एव जाव णताणतपपसितो खधो । ततो परं अगो
वृहत्तरो न जवति सो खधो दव्वग । एव एगपसोगा-
हादि जाव असखेयपदेसावगाहो सुहुमखधो सव्वलोणे ततो प-
र अणो उक्कोसावगाहणतरो न जवति । स एव खेत्तग ।
एव एगसमयचित्तिय दव्व दुसमयचित्तिय जाव असखेज्ज-
समयचित्तिय ज तो पर अण उक्कोसतरद्वित्तियुत्त ण जवति
त कालग । चसदो जातिभेयमवेक्ख उदाहरण, जहा-पुढावे-
काइयस्स अतो मुहुत्तादारज्ज जाव वासीवरिससहस्सचि-
त्तियो कालजुत्तो भवति, एव सेसेसु वि ण्येय । चित्तिसु परमा-

एसु एगसमयादारब्धं जाव असखकालट्टिती जाता । परमाणु-
ट्टितीतो पर अस्से परमाणु उक्कोसतरठितीओ ण भवति, तं
परमाणु जानीत कावग्ग । एव जीवाजीवेसु उवउज्ज णेय, एव च-
सहो अवक्खेति, भावमाएगगुणकालमास्ति जाव अणुतगुणका-
लग्ग स्ति भावजुत त भावग्गं जवति । ततो पर अस्सो उक्कोस-
सतरो ण जवति, एतं भावग्ग । गत कमग्गं ॥ ५ ॥ इदाणि गण-
णग्ग-एगादी जाव सीसपहेलिया ततो पर गणणा ण पयट्टति
तेण गणणा ते सीसपहेलिया अग्गं । गत गणणग्ग ॥ ६ ॥

सचय-भावगा, दो वि जससि—

तणसंचयमादीणं, जं उवरि पहाण खाड्गो जावो ।

जीवादिउक्कए पुण, बहुयग्गं पज्जवा होंति ॥ ५५ ॥

तणाणि दब्भदीणि तेसि चउपिन्नेत्यर्थः । तस्स वयस्स उ-
वरि जा पुलो तं सणग्ग भससि, आदिसहातो कट्टपवालाती
दट्टव्वो । गय संचयग्गं ॥ ७ ॥ इदाणि भावग्गं मूलदारगाहाए
भणिय ॥ ८ ॥ (अग्ग भावो तु स्ति) तं एव वत्तव्वं भावो अ-
ग्ग । किमुक्त भवति-भाव एव अग्गं भावग्गं बन्धानुलोम्यात् ।
(अग्ग भावो उ) तं भावग्गं दुविहं-आगमओ णो आगमओ य ।
आगमओ जाणए उवउत्ते, णो आगमओ । इमं तिविह-पहाणभा-
वग्ग बहुयजावग्ग उवचारजावग्ग, एव तिविहं । तुशब्दोऽर्थज्ञाप-
नार्थः । ज्ञापयति-जहा एतेण तिविहभावग्गेण सहितो दश-
विहग्गणिकखेवो जवति, तत्थ पहाणभावग्ग उदइयादीण जा-
वाण समीवओ पहाणे खातिगो भावो पहाणोस्ति गय । इदा-
णि बहुयग्गं भससि—

जीवा पोग्गलसमया, दव्वपदेसा य पज्जवा चेव ।

थोवा एंताणता, विसेसमहिंया दुवे एता ॥ ५६ ॥

जीवो आदी जस्स उक्कगस्स त जीवाइल्लग, तं चिम
पोग्गला जीवा समया दव्वा पदेसा पज्जया चेति । एयमि उक्के
सव्वत्थो वा जीवा जीवेहिंनो पोग्गला अणुतगुणा पोग्गलोहिंनो स-
मया अनतगुणा समपिहिंनो दव्वा विसेसाहिता दव्वेहिंनो पदेसा
अणुतगुणा । जहासखेण तेण भससि-बहुयग्ग पज्जवा होंति बहु-
त्तेण अग्ग बहुयग्ग बहुत्वेनाग्र पर्याया भवन्तीति वाक्यशेषः । पुण-
सहो बहुत्तावधारणत्थो दट्टव्वो । गत बहुयग्ग । इयाणि उवचा-
रग्ग-उवचरणं उवचारो नामग्रहणम्, अधिगममित्यर्थः । स च
जीवाजीवभावेषु समवति । जीवाजीवेषु औदयिकादिषु अजी-
वभावेषु वर्णादिषु । तत्थ जीवाजीवजावाण पिट्ठिमो जो घेप्प-
इ सो उवचारग्ग भावग्ग जवति । इह तु जीवसुत्तभावोवचा-
रग्ग उविह-सगलसुत्तभावोवचारग्ग देससुत्तभावोवचारग्ग
च । तत्थ सगलसुत्तभावोवचारग्ग दिठ्ठिवातो दिट्ठिवातचूवा
वा देससुत्तभावोवचारग्ग पट्टच्च भससि । त चिम चैव पक-
प्पज्जयण । कहं ? जओ भससि—

पंचएह वि अग्गा एं, उवयारेणिदं पंचमं अग्गं ।

जं उवचरित्तु ताइं, तस्सुवयारो ए इहरा तु ॥ ५७ ॥

(पंचएह वि इति) पंच सखा (अग्गाणि ति) आयरग्गाण ते
य पंच चूवाओ । अविस्सहो पंचग्गावहारणत्थे मरणति । ण-
गारो देसिवयणेण पायपूरणे । जहा-समणे ण रुक्खा ण गुच्छा णं
ति । उपचरणं उपचार, तेण उवचारेण करणभूतेण (इमिति)
अयमाचारप्रकल्पः । (पंचमं अग्ग ति) पंचमं अग्ग उपचारेण
अग्ग न भवति । एव वितितयतियचउरग्गा वि भवन्ति । प-

चमचूलग्गं उवयारग्गं अग्गं जवति, तेण जससि पंचम अग्ग ।
शिष्य आह कथम् ? । आचार्य आह—(जमिति) ज यस्मात् कार-
णात् (उवचरित्तु स्ति) उवचरित्तु गृहीत्वा (ताइं ति) चउरो
अग्गाइ (तस्से ति) आचारप्रकल्पस्य उपचारो ग्रहणं । ण इति
प्रतिषेधे (इहरा तु) तेष्वगृहीतेषु सीसो पुच्छति-एत्थ दस-
विहवक्खाणे कयमेण अग्गेणाहिकारो भससि ? ।

उपचारणे तु पगतं, उवचरिताधीतगमितमेग्गहा ।

उवचारमेत्तमेयं, केसिंचि ए तं कमो जम्हा ॥ ५८ ॥

उवचारो वक्खातो । पगतं अहिगारः, प्रयोजनेनेत्यर्थः । तुश-
ब्दो अवधारणे पादपूरणे वा, उवयारसहसपञ्चयत्थं एगछिया
भससि । उवचारो स्ति वा अहितति वा आगमिय ति वा गृहीत
ति वा एगछ (उवचारमेत्तमेयं ति) जमेय पंचम अग्ग अग्गत्ते-
णोवचरिज्जति, एतं उपचारमात्र । उवचारमेत्तं नाम कल्पनामा-
त्रं । कहं ? जेण पढमचूवाए वि अग्गसहो पवत्तइ, एव वितितयच-
उसु वि अग्गसहो पवत्त स्ति, तम्हा सव्वणि अग्गाणि । सव्वगा-
पसणे य एगगा कप्पणा जा सा उपचारमात्र जवति । केषांचि-
दाचार्याणामेवमाद्यगुरुप्रणीतार्थानुसारी गुरुराह—(ण त क-
मो जम्हा इति) ण स्ति पमिसेहे (त ति) केइ मयक-
प्पणा ण घमतीति वक्कसेस । कमो स्ति नाम परिवारी । अनुक-
म इत्यर्थः (जम्हे स्ति) चउसु वि चूवासाहितासु परीहय पचमी
चूमा दिज्जति, तम्हा कमोवचारा पचमी चूवा अग्ग भवति । उव-
चारेण अग्गाण वि अग्ग वक्कसेस दट्टव्वामेति । गत मूलग्गदार
॥ ६॥ १० ॥ नि० चू० १ उ० ।

अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे ।

अग्रं भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयम् । मूलं घातिकर्मचतुष्टयं, यदि वा
मोहनीय मूलम् । शेषाणि त्वग्र, यदि वा मिथ्यात्व मूलं, शेष त्व-
ग्रम् । तदेव सर्वमग्र मूलं च (विगिंच इति) त्यजापनय पृथक् ।
तदनेनेदमुक्तं जवति-न कर्मणः पौद्गलिकस्यात्यन्तिककृतयोऽपि-
त्वात्मनः पृथक्करणम्, कथं मोहनीयस्य मिथ्यात्वस्य च मूलत्व-
मिति चेत्तद्वशाच्छेषप्रकृतिबन्धः । यत उक्तम्—“ न मोहयति
घृत्यबन्ध उदितस्त्वया कर्मणां, न चैकाविधबन्धन प्रकृतिबन्ध-
तो यो महान् । अनादिजवहेतुरेष न च बध्यते नासक्तः, त्वयाऽ-
तिकुटिह्य गति कुशलकर्मणां दर्शिता ” ॥ १॥ तथा चागम—“ कहं
जते ! जीवा अट्टकम्मपगडीओ घधति ? । गोयमा ! णाणावर-
णिज्जस्स कम्मस्स उदएण दरिसणावरणिज्ज कम्म नियच्छइ ।
दरिसणावरणिज्जकम्मस्स उदएण दसणमोहणिज्ज कम्म निय-
च्छइ । दसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएण मिच्छत्त नियच्छइ ।
मिच्छत्तेणं उदिण्णेण एव खलु जीवे अट्टकम्मपगडीओ बंधइ ”
कृत्योऽपि मोहनीयकृत्याविनाभावी । उक्तञ्च—“ णायगमि इए
सत्ते, जहा सेणा विणस्सति । एव कम्मा विणस्सन्ति, मोह-
णिज्ज खय गए ” ॥ १॥ इत्यादि । अथवा, सूत्रमस्यमः कर्म वा,
अग्र सयमतपसी मोक्को वा, ते मूलान्ने धीरोऽक्कोन्यो धीविरा-
जितो वा विवेकेन दुःखसुखकारणतयाऽवधारय । आचा० १
अ० ३ अ० २ उ० । परिमाणे, न० । विशेष० । सु० प्र० । स्या० ।
“ अग्ग ति वा परिमाण ति वा एगछा ” । आ० चू० १ अ० ।
उत्त० । “ अन्ते जेणेव देसमो तेणेव उवागए । देसग्ग देशान्तम् ।
ज्ञा० १५ अ० । उत्कर्षे, समूहे, प्रधाने, अधिके, प्रथमे च । वि०
अभिज्ञेदे, पु० । वाच० ।

अग्ग-त्रिं अग्गे जयमप्यम् । प्रधाने, अन्तः ७ वर्गः । षोः ।
नि० चू० । भ० । हा० । सूत्र० । अत्यन्तैरुपे च । सूत्र० १ ध्रु० २
अ० ३ उ० । ज० । अग्गे जातो यः । जेष्टे ज्ञातरि, त्रि० । पाच० ।

अग्गभो-अग्रतस्-अग्ग० । अग्गे अग्गाद्वा । अग्र-तसिद्वा । प्राकृते
"अतो मो विसर्गस्य" । ८ । १ । ३७ । इति सूत्रेण अत स्था-
ने मो इत्यादेशः, उ इत् । प्रा० । पूर्ववृत्तौ, पूर्वभागाग्रधिके
च । वाच० ।

अग्गर्थ-अग्रन्व-पुं० निमन्थे, आचा० १ ध्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अग्गकेस-अग्रकेश-पु० अग्रभूतेषु केशेषु, म० ए श० ३३ उ० ।

अग्गकत्तपो-देशी-रणमुत्ते, दे० ना० १ वर्गः ।

अग्गजाय-अग्रजात-न० । घनस्पतीनामग्रभागे जाते, " अ-
ग्गजायाणि मूसजायाणि वा संधनायाणि वा " आचा० २
ध्रु० १ अ० ८ उ० ।

अग्गजिभा-अग्रजिह्वा-स्त्री० अग्रजूना जिह्वा अग्रजिह्वा । जिह्वामे,
"सज्ज च अग्गजिभाय, तरेरा रिसहं मरं" (मज्झिमियादि) च-
कारोऽत्रावधारणे । अग्रजमेव प्रथमस्वरसकृण म्यात् । कयेत्या-
ह-अग्रभूता जिह्वा अग्रजिह्वा, जिह्वाप्रमित्यर्थस्तथा । इह यत्रापि
अग्रजमणने स्थानान्तरायपि कण्ठादीनि व्याप्रियन्ते, अग्रजिह्वा
च स्वरान्तरेषु व्याप्रियन्ते, तत्रापि सा नत्र यद्व्यापारवतीति
कृत्वा तथा तमेव म्यादिन्युक्तम् । इदमत्र इदम-अग्रजस्वरोऽग्रे
जिह्वा प्राप्य विशिष्टां व्यक्तिमान्नादयनि नटपेक्षया सा स्वर-
स्थानमुच्यते । एवमन्यत्रापि भाषना कार्या । अन्तः ।

अग्गतावसग-अग्रतापसक-पुं० । ऋषिमेदे, यद्गोत्रे धनिष्ठान
क्षत्रम् । "धनिष्ठानपसक्ते किं गोत्रे पण्णत्ते ? । अग्गतावसगोत्ते
पण्णत्ते" । सू० प्र० १० पाद० । च० । ज० ।

अग्गदारणिज्जापग-अग्रदारनिर्गामक-पु० अग्रदारमूलान-
स्थापके, गानप्रतिचारिणि च । प्रव० ७२ हा० ।

अग्गद-अग्रार्थ-न० । पूर्वाङ्के, नि० चू० १ उ० ।

अग्गपल्लव-अग्रपल्लव-पु० न० । प्रत्यस्यानामग्रभागे, इमे अ-
ग्गपल्लवा- "तत्तणाक्षिपरिलश्रोप, कविट्ट भ्रंवाद् अंवप चेव ।
एय अग्गपल्लव, केयन्न आणुपुत्तीप" ॥ १४ ॥ जग्गपल्लवसिद्धा
पते । (आणुपुत्ति स्ति) एसे च तद्वादिगा । नि० चू० १५ उ० ।

अग्गवीय-अग्रवीज-पुं० अग्गे वीज येवामुत्पद्यते ते तथा । तल-
ताक्षीसहकारादिषु शास्त्रादिषु च अग्रघाण्येवोत्पत्तौ कारणतां
अतिपद्यन्ते येषां कोरपट्टकादीनां ते अग्रवीजाः । कोरपट्टकादिषु
वीजप्रकारेषु घनस्पतिषु, सूत्र० २ सू० ६ अ० । स्था० विशे० ।
आ० म० छि० । अग्रवीया १ मूत्रवीया २ पोरवीया ३ खधवीया
४ इत्यादयो घनस्पतिभेदाः । आचा० १ ध्रु० १ अ० ५ उ० ।

अग्गपिंड-अग्र (इय) पिण्ड-पु० तत्तणोत्तीर्णदनादिस्था-
न्या अव्यापारितायाः शिखायाम्, (उपरितने भागे) प्रव० २
हा० । शास्त्रादनादेः प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यमाने
पिण्डे, आचा० २ ध्रु० १ अ० १ उ० ।

से भिक्षु वा २ जाव पविष्टे समाणे से जं पुण जा-

खोज्जा, अग्गपिंड उन्निक्कपमाणं पेहाए, अग्गपिंमं णि-
क्कपमाणं पेहाए, अग्गपिंमं हीरमाणं पेहाए, अग्गपिंमं
परिजाडजमाणं पेहाए, अग्गपिंमं परिजुजमाणं पेहाए, अ-
ग्गपिंमं परिष्ठवेजमाणं पेहाए, पुरा अमिणाड वा अवहा-
राति वा पुरा जत्थप्पे समणमादणअतिहिक्किवणवणिमगा
खब्बं २ उवसंकापंति, से हंता अहमवि खब्बं उवसंका-
मामि, माड्डाणं संफामे णो एवं करेज्जा ।

(से भिक्षुवेत्यादि) स भिक्षुर्गृहपतिकुल प्रविष्ट सन् यत्पुन-
रेव जानायात् । नग्गया-अग्रपिण्डो निष्पन्नस्य शास्त्रोदनादेरा-
हारस्य देयताद्यर्थं स्नोकस्नोकोद्धारस्तमुत्क्रियमाणं दृष्ट्वा तथाऽ
न्यत्र निष्क्रियमाणं तथा न्हियमाणं नीयमानं देवतायतनादौ तथा
परिजग्यमानं विभज्यमानं स्नोकस्नोकमन्येज्यो दीयमानं तथा
परिजुज्यमानं तथा त्यज्यमानं देवतायतनाद्यनुर्दिष्टुं क्रियमाणं
तथा (पुरा असिणाड वति) पुरा पूर्वमन्ये अमणादयो येषु अ-
ग्रपिण्डमशितवन्तस्तथा पूर्वमपहतवन्तो व्यवस्थयाऽव्यवस्थया
वा गृहीतवन्तः । तदभिप्रायेण पुनरपि पूर्वमिव वयमत्र वृत्त्या-
महं धत्ति । यत्राग्रपिण्डादौ अमणादयः (खब्बं शकं ति) स्वरित-
मुपक्रामति स भिक्षुरेव दपेक्षया कश्चिदेव कुर्यादालोचयेद्यथा-
हतेति वाक्योपन्यासार्थः । अहमपि स्वरितमुपसक्रामामि । एव
च कुर्वन् भिक्षुर्मातृस्थानं संस्पृशेदित्यतो नैव कुर्यादिति ।
आचा० २ ध्रु० १ अ० ५ उ० । काकपिण्डायाम् " अग्गपिण्डमि
वा वायसा सधमा सधिवइया " अग्रपिण्डे काकपिण्डाय वा
यदि किंसायां वायसाः सन्निपतिता जवेयुः । आचा० २ ध्रु० १
अ० ५ उ० ।

जे भिक्षु णितियं अग्गपिंमं भुंजइ, जुंजंतं वा साडज्जइ ३१ ।

णितियं पुन सामतमि-यर्थः । अग्र वर प्रधान अहवा ज प-
ट्टम दिज्जति सो पुण जत्तट्ठो भिक्षुमेत्तं वा होज्जा । एत्तं सु-
त्तत्थो । अधुना निर्युक्तिविस्तरः—

णितिए तु अग्गपिंडे, णिमंतणो वीलना य परिमाणे ।

सान्नाविणं गिहीदो, तिष्ठि य कप्पंति तु कमेण ॥ २१ ॥

णितियगा सुत्ते वक्खवाया । गिहत्थो णिमतेत्ति, साहू उ वील-
ण करेत्ति, साहू चेव परिमाणं करेत्ति, सामाविय गिहत्थो
दो तिष्ठि आड्डाण कप्पंति, सान्नाविय कप्पंति । णिमंतणो
वीलणपरिमाणान् । इमाओ तिष्ठि वक्खवाणाहातो—

जगवं ! अणुग्गहं ता, करेहि मज्झत्ति जणत्ति आमंति ।

किं दाहिसि जेणिट्ठो, गयस्स तं दाहिसि ण वत्ति ॥ २१ ॥

दाहामि चि य जणिते, तं केवतियं व केच्चिरं वा वि ? ।

दाहिसि तुमं ण दाहिसि, दिस्सेऽदिस्से व किं तेण ? ॥ २१ ॥

जावतिणिट्ठो ते, जच्चिरकालं च रोयए तुग्गभा ।

तं तावतियं ताच्चिरं, दाहामि अह अपरिहीणं ॥ २१ ॥

गिही णिमतेत्ति-भगव ! अणुग्गहं करेह मज्झं, घरे जत्त गेह-
ह । साहू भणत्ति-करेम अणुग्गहं, किं दाहिसि ? । गिही जणत्ति-
जेण जे इट्ठो । साहू उ वीलणं करेत्ति, माहणो जणत्ति-घरं गयस्स
त दाहिसि वा ए वा ? । गिहीणो दाहामि चि य जणिते, साहू प-
रिमाणं कारवैतो भणत्ति-तं परिमाणं केवतियं केवच्चिरं वा
काळं दाहिसि ? । प्रथमपादोत्तरं साहू आह-दाहिसि तुमं

ण दाहिसि । दत्तमपि तन् अदत्तवद् उच्यम्. स्वल्पत्वा-
द् । गृहस्थो द्वितीयपादोत्तरमाह जावनिण भत्तेण इट्ठो
ने जावतिय वा काल तुम्भिट्ठो, मिही पुणो नणति-किं बहुणा
भणिएण, ज तुवन् रोयते दव्व जावतिय जत्तिय वा काल, तमह
अपरिहीण अपरिसतो दाहामि त्ति । णिमतणो पीलणपरि-
माणेसु बि मासलहु पच्छित्त । चोदग आह—

साभावितं च उचियं, चोदगपुच्छाण पेच्छिमो को वि ।

दोसो चतुर्विधम्मि, णितियम्मि य अग्गपिडम्मि ॥२१७॥

साभावि णितिय कप्पति, अणिमंतणा वीन्न अपरिमाणे य ।

जं वा वि य समुदाणी, संजिक्खं दिज्ज साधूण ॥२१८॥

सानाविय जं अष्पणो इच्छारु उचिय दिणे दिणे जत्तिय
रुद्ध त चोक्खो भणति । परिसेसा भाविण णिमनणापीलणा-
दिहिं भिक्खामेति एमवि अकप्पाअण्णहा साधूण कप्पोसाभा-
वियउचिए वि णिमतणादिपहिं इमे दोसा—

निष्पेणे वि सअट्ठा, उग्गमदोसा उ उचितगादीया ।

उप्पं जंवे जम्हा, तम्हा सा य वज्जणिज्जा उ ॥२१९॥

अष्पणट्ठा वि निष्पेणे उग्गमादिदोसा जवन्ति । निकाचितो-
हमिति अवश्य दातव्यम् । कुमगादिषु स्थापयति तस्मान्निम-
तणादिपिणो वर्ज्यः ।

उकोसए अहिसक्कण, अज्जभोयरए तहेव ऐकंती ।

असत्थ भोयरम्मि य, कीते पामिच्च कम्मे य ॥ २२० ॥

अवस्सदायव्वे अतिप्पए साहुणो आगच्छति उवियपुव्वस्स
उसक्कण करेज्जा, उस्सूरे आगच्छति अतिहिसक्कण करेज्ज, अज्जो-
यरय वा करेज्ज । णिकातिओ त्ति काउ जनिते अणत्थ णि-
मतिया तद्वा वि तद्वाए कियेज्ज वा पामिच्चेज्ज वा आहाकम्म
वा करेज्ज । कारणे पुण णिकायणा पिंरु गेएहेज्ज । इमे कारणा—

असिवे ओमोयरिए, रायहुट्ठे भए व गेलुएणे ।

अच्छाणरोहए वा, जयणा गट्ठण्तु गीतत्थे ॥ २२१ ॥

असिवग्गहिणो ण लम्भति णिमतणाएसु वि गेहेज्ज । अथवा अ-
सिवे काण्डिट्ठो असिवग्गहियकुलाणिय परिहरतो अगहियकु-
लेसु अपावतो णिमतणो वीलणादिसु वि गेहेज्ज, ओमेवि अप्प-
वतो । एव रायहुट्ठे जपसु वि अत्थतो गच्छतो वा गिलाणपाउग
वा णिमतणातिपसु गेएहेज्जा । अच्छाणे रोहए वा अप्पुव्वतो गी-
तत्थो पणगपरिहाणीए जयणाए जोहे मासलहु पत्ते ताहे णी-
यगा पिंमे गेएहति । नि० चू० १ उ० ।

अग्गपूया—अग्रपूजा—स्त्री० " गधव्वणद्वयाइय—द्वयणजत्तारत्ति-
याइ दीवाह । ज किच्चत सव्व, पि ओअरइ अग्गपूयाए" इत्ये-
व लक्षणे जिनप्रतिमापुरतः पूजामेदे, ध० १ अधि० ।

अग्गप्पहारि (ए)—अग्रप्रहारिन्—पु० । पु०. प्रहरणशीले,
" चोरपाल्लिं गतो तत्थ अग्गप्पहारि णिससो य चोरसेणावति-
मतो " आ० १ अ० । आ० म० छि० ।

अग्गमहिंसी—अग्रमहिषी—स्त्री० अग्रचूता प्रधाना महिषी, रा-
जजार्यायाम्, स्था० ४ ता० ७ उ० । प्रधानजार्यायाम्, उपा० २
अ० । पट्टराइयाम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । अथ देवेन्द्राणा-
मग्रमहिष्यः प्रदर्श्यन्ते—

तत्र सुवनपतीन्द्राणामग्रमहिष्यः—

चमरस्स ए भंते ! असुरिंदस्स असुरकुमाररणो कड
अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ ? । अज्जो ! पंच अग्गम-
हिंसीओ पएणत्ताओ, तं जहा—काली रायी रयणी विज्जू
मेहा । तत्थ एं एगमेगाए देवीए अट्ठदेवीसहस्सपरिवारो
पएणत्तो, पभू णं ताओ एगमेगाए देवीए अएणाइं अट्ठ-
देवीसहस्साइं परिवारं विज्जवित्तए, एवामेव सपुव्वा-
वरेणं चत्तालीसं देवीसहस्सा सेत्तं तुमिए । पचू एं भंते !
चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया चमरचचाए रायहाणीए
सजाए सुहम्माए चमरांसि सीहासणंसि तुमिएणं सद्धिं दि-
व्वाइं जोगजोगाइं जुंजमाणे विहरित्तए ? । एो इण्ठे
समडे, से केण्ठेणं भंते ! एव बुच्चइ, णो पचू ! चमरे असु-
रिंदे असुरराया चमरचचाए रायहाणीए जाव विहरि-
त्तए । अज्जो ! चमरस्स ए असुरिंदस्स असुरकुमाररणो च-
मरचचाए रायहाणीए सजाए सुहम्माए माणवए चेइए
खने वइरामएसु गोलवट्टममुगएसु बहूओ जिणसक-
हाओ सप्पिखित्ताओ चिट्ठंति, जाओ एं चमरस्स अ-
सुरिंदस्स असुरकुमाररणो अणोसिं च बहूणं असुरकुमा-
राणं देवाण यदेवीए य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ णमंस-
णिज्जाओ पूयाणिज्जाओ सकारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ
कट्ठाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासाणिज्जाओ जवंति ।
तेसिं पाणिहाणे णो पचू ! से तेण्ठेणं अज्जो ! एव बुच्चइ-
णो पचू चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचचाए रायहाणीए
जाव विहरित्तए पचू एं ! अज्जो ! चमरे असुरिंदे असुरराया
चमरचचाए रायहाणीए सजाए सुहम्माए चमरांसि सीहा-
सणंसि चउसट्ठी सामाणियसाहस्सीहिं तायत्तीसाए जाव अ-
सुरिंदे च बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं य देवीहिं य सद्धिं संपरि-
वुमे महयाहय जाव जुंजमाणे विहरित्तए केवल परियारि-
ट्ठीए एो चेव एं मेहुणवत्तियं ॥ भ० १० श० १ उ० ॥

आत्मां पूर्वजन्तु—

तेणं काले एं तेणं समए एं रायगिहे णामं नयरी होत्था ।
वस्सओ तस्स-एणं रायगिहस्स नगरस्स बहिआ उत्तरपुर-
च्छिमे दिसिजागे तत्थ एं गुणसिले चेइए नामं चेइए
होत्था । वस्सओ—तेणं काट्ठेणं तेणं समएण समणस्स भग-
वओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसुहम्मे नामं थेरा भग-
वंतो जाइसंपन्ना कुलसंपन्ना जाव चउइसपुव्वी चउन्नाणो-
वगया पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुमा पुव्वाणु-
पुव्वि चरमाणा गामाणुगामं दूइज्जमाणा सुह सुहेणं जेणे-
व रायगिहे नयरे गुणसिलए चेइए जाव संजमेणं तवसा
अप्पाणं जावेमाणे विहरति । परिसा निग्गया । धम्मो क-
हिओ, परिसा जामेव दिसं पाठभूया तामेव दिसिं पामे-

गया । नेणं कालेण तेणं ममएणं अज्जमहम्मस्स अण्णा-
 रम्म अन्तेवामी अज्जजं व नामं अण्णारे जाव पज्जुवास-
 माणे एवं वयामी-जइ एणं जने ! ममएणं जाव संपत्तेणं
 नद्धम्म अंगम्म पदम्म सुयत्तवन्धम्म नायत्तयणम्म
 अयमेहे पत्तने, दोयम्म एणं जते ! सुयत्तवन्धम्म धम्म-
 क्कहाणे ममएणं जाव मपत्तेणं के अहे पत्तने, एवं
 खलु पं व ! धम्मरत्ता एणं दयस्सगापण्णत्ता । न जहा-नरम-
 म्म अग्गमहिनीणं, पदम्मणे ॥ १ ॥ चत्तिगम्म चउरो-
 यत्तिगम्म चउरोयम्मो अग्गमहिनीणं देवी वग्गे ॥ २ ॥
 अग्गमहिनीणं दारिणिणाणं ईदाणं नटए वग्गे ॥ ३ ॥
 उवत्तिगम्म अग्गमहिनीणं चउराणिदटाणं अग्गम-
 हिनीणं चउत्ते वग्गे ॥ ४ ॥ जाट्टिगम्मिणाणं वाणमवगण
 इदाणं अग्गमहिनीणं पदम्म वग्गे ॥ ५ ॥ उवत्तिगम्मिणाणं वा-
 णमवगण इदाणं अग्गमहिनीणं उवत्ते वग्गे ॥ ६ ॥ चउ-
 रम्म अग्गमहिनीणं ममए वग्गे ॥ ७ ॥ सुग्गम अग्गमहि-
 नीणं अहमे वग्गे ॥ ८ ॥ नरम्म अग्गमहिनीणं नरमे
 वग्गे ॥ ९ ॥ ईदाणम्म अग्गमहिनीणं दयम्म वग्गे ॥ १० ॥
 जहाणं भन्ते ! ममएणं जाव संपत्तेणं धम्मरत्ता एणं दयस्सगा
 पत्तना । पदम्म एणं जते ! अग्गम्म ममएणं जाव मपत्तेणं
 के अहे पत्तने ! एणं नत्तु जव ! ममएणं जाव मपत्तेणं प-
 दम्म वग्गम्म एणं अज्जमहम्म पत्तना । न जहा-कावी ?
 राट्ट २ वयामी ? रिज्जा ४ पटा रिज्जा ५ । जइ एणं भन्ते !
 ममएणं जाव मपत्तेणं पदम्म वग्गम्म एणं अज्जमहम्म
 पत्तना । पदम्म एणं जते ! अज्जयण ममएणं जाव संपत्तेणं
 के अहे पत्तने ? । एणं खलु जव ! तेषां वत्तेणं तेणं ममएणं
 गयागेहे नग्गे गुणमिहए चउण, मणिणं गया, चित्तुणाणं दे-
 वीणं, मायी ममोमणि, पग्गिमा निग्गया । जाव पग्गिमा पज्जु-
 वामानि तेणं कालेण तेणं ममएणं कावी देवी
 चमग्गंचाणं गयटाणीणं कावराक्किमग्गजवणे कालमि मी-
 हामणांमि चउहिं माणाण्यमाहमाहिं चउहिं मयहरिया-
 हि मणग्गिगाहिं तिहिं पग्गिगाहिं मत्ताहिं अणिणहिं सत्त-
 हि अणीयाहिं वत्तीहिं मालमाहिं आयरखवदेवमाहस्सीहिं
 अग्गेहिं य वहुणहिं कालरक्किमयभवणवामीहिं अगुरकुमार-
 हिं देवेहिं य देवीहिं य मद्धि सपरिनुमा मयहाहय जाव वि-
 हरइ, इमं च एणं केवलरुणं जंबूदीवे दीवेणं विजलेणं ओ-
 दिणा आभोपमाणी पामइ । जत्थ ममएणं जगय महावीरं
 जवदीवे दीवे जाग्गे वामे रावग्गिहे नगरे गुणसिले चेइए
 अहापभिरुव ओगाहइ, ओगाहइत्ता संजमेणं तवसा अण्णाणं
 भावेमाणं पासइ, पामइत्ता हट्टुहट्टचित्तमाण्डिया पीडमण
 जाव हियया सीहासणाओ उव्वुहट्टइ, उव्वुहट्टइत्ता पायपीदा-

ओ पयोखइ, पयोखइत्ता करयत्त जाव कट्ट एव वयासी-
 नमोइत्थ एणं अरिहंताण जाव संपत्ताणं नमोइत्थ एणं ममएणं
 भगवओ महावीरस्स जाव संपात्रिकामस्स । वट्टामि एणं
 जगय ! तत्तत्थ गयं इह गया तिकट्ट वट्टइ एणं सइ सीहास-
 णवग्गसि पुरत्थाजिमुहे सुहानिसन्ने तए एणं तीसे कालीए
 देवीए इमेयास्से जाव समुप्पज्जिन्था । सेय खलु ममएणं भ-
 गय महावीर वट्टइत्ता जाव पज्जुवासित्तए तिकट्ट एव स-
 पंदइ, मपेहइत्ता आभिओग्गिअदेव मदावेइ, सदावेइत्ता एव
 वयासी-एव खलु देवाणुप्पिया ममएणं जगय महावीरे एवं
 जहा मग्गिभां तदेव आणत्तिं देइ जाव दिव्व मृग्गराजि-
 राममण जंग करेइ, करेइत्ता जाव पञ्चुप्पिणह ते वि तदे-
 व करेत्ता जाव पञ्चुप्पिणत्ति, नवर, जोगणमहस्सतिथिन्न
 जाण, मेम तदेव नाम गोय साहइ, तदेव नट्टिहिं उवदमेइ,
 उवदमेइत्ता जाव पग्गिया (जतेत्ति) भगव गोयमे ! ममएणं
 जगय महावीर वट्टइ नमंइ, एव वयासी-कालीए एणं जते !
 देवी मा दिव्वा देवद्दीणां कट्टि गया क्कहाणरसालादिहंते ? ।
 अदो एणं जते ! कावीदेवी महाग्गिया कालीएणं भन्ते ! देवीए मा
 दिव्वा देवद्दीणं किणा लक्खा किणा पत्तत्ता अजिममन्ना गया-
 पय जहा मग्गिभांम जाव एव खलु गोयमा ! तेणं काले एणं
 तेणं ममएणं इहं व जग्गीरे भाग्गे वामे आमलक्का नाम न-
 यरी होत्था । एणं ओ-अग्गमाज्जवणे चउण जियमत्तुगया । तत्थ
 एणं आमलक्काणं नयरीणं काले नाम गाहावती होत्था । अहे
 जाव अपरिचणं तस्स एणं कालस्स गाहाइस्स कावमिरीए
 नाम भाग्गिया होत्था सुकुमाज्जा जाव सुखा । तस्स एणं काव-
 स्स गाहावतिस्स यथा कालसिगीए जाग्गियाए अत्तया का-
 ली एणं दाग्गिया होत्था । वट्टा वट्टकुमारी जुणा जुणकुमारी
 पट्टियपूत्थणं निव्विन्नररा वग्गपरिवज्जिया वि होत्था ।
 तेणं काले एणं तेणं ममएणं पामे अरहा पुरिसा दाणिए
 आइग्गे जहा वक्खमाणमामी, णवरं, एवुस्सेहे सोल्लस-
 हिं ममएणं साहस्सिहिं अट्टत्तीसाए अज्जिआसाहस्सिहिं
 सच्चि संपरिवुडे जाव अं वसाववणे समोसहे, पग्गिमा णि-
 गया जाव पज्जुवामति । तते एणं सा कावी दारिया इमी-
 से कहाणं लक्खणा समाणी इह तुह जाव हियया जेणेव
 अम्मापियगे तेणेव उवाग्गज्जति, उवाग्गज्जित्ता कयल जाव-
 एणं वयासी-एवं खलु अम्मयाओ पामे अरहा पुरिसा-
 दाणीए आइग्गे जाव विहरइ । तं इच्छामि एणं अमया-
 ओ तुम्हेहिं अब्भणुन्नाया समाणी पासस्स एणं अरहओ
 पुरिसादाणीयस्स पायवदणमत्तए । अहासुहं देवाणु-
 णिया मा पग्गिवंधं करेह । तस्स एणं सा काली दारि-
 आ अम्मापिडहिं अब्भणुन्नाया समाणी हट्टतुह जाव
 हियया एहाया कयवत्तिकम्मा, कयकोजयमगलपायच्छित्ता

सुच्छप्पावेसातिं मंगळातिं वत्थातिं पवरपरिहिया अप्प-
महग्घाभरणाद्धंक्रियसरीरा चेन्निआ चक्कवालपरिकिआ
साओ गिहातो पमिनिक्खमइ, पमिनिक्खमइत्ता जेणेव
बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मियजाणपवरे तेणेव
उवागच्छति, उवागच्छिता धम्मियजाणपवरं दुरुद्धा ।
तए णं सा काली दारिया धम्मियं जाणपवरं एवं जहा
देवाणंदाए जहापज्जुवासइ । तए णं पासे अरहा पुरिसा-
दाणीए कालीए दारियाए तीसे महइ, महइत्ता महाद्वियाए
परिसाए धम्मकहाए तए णं सा काली दारिया पासस्स
ए अरहओ पुरिसादाणियस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णि-
सम्म हत्तुट्ठ जाव हियया पासस्स ए अरहओ पुरिसा-
दाणीयस्स तिक्खुत्तो वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-सदहामि
ए जंते ! निगंथं पावयणं जाव से जहेयं तुब्भे वयह जं
नवरं देवाणुप्पिया अम्मापियरो आपुच्छामि तएणं अहं
देवाणुप्पियाणं अतिए जाव पव्वयामि । अहासुहं देवाणुप्पि-
या मा पडिवंधं करेह । तए णं सा काळिदारिया पासेणं अ-
रहा पुरिसादाणीए ए एवं वुत्ता समाणी हत्तुट्ठ जाव हि-
यया पासं अरहं वंदइ नमंसइ, नमंसइत्ता तमेव धम्मियं जा-
णपवरं दुरुद्धा, दुरुद्धइत्ता पामस्स ए अरहो पुरिसादाणीए
अंतियाओ अंबसालवणचेइयाओ पमिनिक्खमइ, पडिनि-
क्खमइत्ता जेणेव आमलकप्पा नयरी तेणेव उवागच्छइ,
उवागच्छइत्ता आमलकप्पं नयरिमज्झं मज्जेणं जेणेव बा-
हिरिआ उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छि-
त्ता धम्मियं जाणपवरं ठावइ, ठावइत्ता धम्मियाओ जाण-
पवराओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता जेणेव अम्मापियरो तेणे-
व उवागच्छति, उवागच्छइत्ता करयत्तपरिग्गाहिअं एवं
वयासी-एवं खलु अम्मयाओ मए पासस्स ए अरहाओ
अतिए धम्मं निसंते सेविय धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अ-
भिरुइए । तए णं अहं अम्मयाओ संसारभज्जिग्गा जी-
या जम्ममरणणं इच्छामि एं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी
पासस्स ए अरहओ अंतिए मुंदा जवित्ता आगाराओ अ-
णगारियं पव्वइत्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया मा पमिवंधं करेह ।
तए णं काळे गाहावई विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं
उवक्खवावेति, उवक्खवावेतित्ता मित्तनातिनियगसयणसंव-
धीपरियण आमंतेइ । आमंतइत्ता ततो पच्छा एहाए जाव विपु-
ल्लेण पुप्फवत्थगंधमद्वाद्धंकारेणं सक्कारित्ता संमाणित्ता तस्सेव
मित्तणातिणियगसयणसंवधिपरियणस्स पुरओ कालीदा-
रियं सेयापीएहिं कज्जसेहिं एहवेइ, एहवेइत्ता सन्नालंकार-
विभासियं करेइ, करेइत्ता पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरुह-
इ, दुरुहइत्ता मित्तनाति जाव परियणसक्किं संपरिवुडे स-
व्वहीए जाव रवंणं आमलकप्पानयरिं मज्झं मज्झेणं नि-

गच्छइ, निगच्छइत्ता जेणेव अंबसालवणे चेइए तेणेव उवा-
गच्छति, उवागच्छइत्ता ठावइए तित्थयराइ पासइ २ सीयं ठ-
वेइ, ठवेइत्ता काळिया दारिया सीयातो पच्चोरुहाति, पच्चो-
रुहइत्ता तते एं तं कालीयं दारियं अम्मापियरो पुरओ का-
उं जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागच्छति, उ-
वागच्छिता वंदंति, एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया का-
लियदारिया अम्हं भूया इहा कंता जाव किमंग! पुण पाम-
णयाए एस एं देवाणुप्पिया संसारजिउव्विग्गा इच्छइ देवा-
णुप्पियाणं अंतिए मुंढे जवित्ता, जाव पव्वइत्तए तं एयभं
देवाणुप्पियाणं सिसिणिं भिक्खं दलयामो पमिच्छंतु णं
देवाणुप्पिया सिसिणिं भिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया मा-
पमिवंधं करेह । तए णं सा काली देवी कुमारी पासं अ-
रिहं वदइ, वंदइत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभाग अवक्कमति,
अवक्कमइत्ता सयमेव आजरणमद्वाद्धंकारा मुयति, मुयति-
त्ता सयमेव लोयं करेति, जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणि-
ए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छिता पासं अरहं तिक्खुत्तो
वंदंति नमंसंति, एव वयासी-आळि ! तेणं भंते ! दोए एवं
जहा देवाणंदा जाव सयमेव पव्वाविओ तए णं पासे अरिहा
पुरिसादाणीए काळीए सयमेव पुप्फचूलाए अज्जाए सि-
सिणियत्ताए दलयइ । तए णं सा पुप्फचूला अज्जा काळि
कुमारिं सयमेव पव्वावेइ, जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरति,
तते एं सा काळी अज्जया इरिया समिता जाव
गुत्तवंभचारिणी । तए णं सा काली अज्जा पुप्फचूलाए
अज्जाए अंतिए सामाइयमाइयाइ एगारस अंगाइ अहिज्जइ,
अहिज्जइत्ता बहुहिं चउत्थं जाव विहरति । तए णं सा
काली अज्जा अब्भया कयाइं सरीरपासिओसिआ जाया
वि होत्था । अज्जिक्खणं अभिक्खणं हत्थं धोवइ, पाए धो-
वेइ, सीसं धोवेइ, मुहं धोवेइ, थणंतरा य धोवेइ, कक्खंतरा य
धोवेइ, गुज्झंतरा य धोवेइ, जत्थ जत्थ वियट्ठाणं वासेज्जं
वा निसीहिं वा चेएइ, तं पुव्वामेव अब्भुक्खित्ता तओ
पच्छा आसइ वा, सयइ वा तएणं सा पुप्फचूला अज्जा का-
ळिं अज्जि एवं वयासी-नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया समणी-
णं निगमयीणं सरीरपाजसीयाणं होतए तुम च एं देवाणु-
प्पिया सरीरपाजसिया जाया वि होत्था । अभिक्खणं
अभिक्खणं हत्था धोवसि, जाव आसयाहि वा सयाहि वा, तं
तुमं देवाणुप्पिआ एयस्स टाणस्स आलोएहिं जाव पाय-
च्छित्तं पमिवज्जाहि । तए णं सा काली अज्जा पुप्फचूला-
अज्जाए एयमठं नो आढाड जाव तुसिणीया मंचिच्छ, त
एणं ताओ पुप्फचूलाओ अज्जाओ काळिं अज्जं अभिक्खणं
२ हीद्वेति, निंदंति, खिसंति, गरहंति, अवमाणंति, अज्जिक्खणं
२ एयमठं निवारंति, तए णं तीसे कालीए अज्जाए समणीहिं

निगंवीहि अभिवृणं २ हीलिज्जमाणीए जाव वि-
हरिज्जमाणीए एवेयारूवे अन्धत्तिए जाव समुपपज्जित्या,
जया एं अहं अगारयासमज्जे वसित्ता तथा एं अहं सप-
वसा, नणजिनिं च एं अहं भुंमा भविता अगाराओ
अणुगारियं पच्चइया तप्पजित्तिं च णं अहं परवसा
जाया । तं मेयं खलु मम कञ्चं पाठ पजायाए
रयणीए जाव जज्ञंते पाकिण्यं उवमंपज्जित्ता णं वि-
हरिणए तिकट्टु एव मंपेहेइ, मंपेहेइत्ता कट्टं जाव
जल्लते पाकिण्य उवस्सपं गेहइ, गेहइत्ता तत्थ ण भणा-
चारिआ अणोहट्ठिआ सच्छंदमती अभिवत्तणं २ हत्ते
घोवेइ, जाव आसया चा मयइ वा तए णं सा काली
अज्जा पामत्ता पामत्तविहारी कुलीआ कुलीआविहारी अ-
हाइत्ता अहाइत्तविहारी मंमत्ता संगघविहारी बहूणि वा-
साणि मापअपरियाग पाठिणत्ता भस्समामीयाए भेदणाए
अज्जाणं जूसेइ. जूसेइत्ता नीमं जप्पाइं अणुसणाइं वेदिता
तस्म ज्ञाणस्म अणालोस्य अपादिमंता वासो ममे कालं कि-
या चमरनंत्ताए रायहाणीए काहिं वरिस्मए भरणे उवराय-
मत्ताए देवमयणिज्जंमि देवदूमंतरिआ जंगुलस्म अमखेज्जइ
जागमेत्ताए ओगाइत्ताए काली देवी देविताए उवरायाए ।
तए णं मा काली देवी अणुणोराया ममाणी पंचविहा-
ए पज्जत्तीए जहा सूरियामे जाव भामामणपज्जत्तीए ।
तए णं मा काली देवी चउएणं मामाणियमाइस्सीए जाव
अभेभिं च बहूणं काली वरिस्मगजवणरामीणं अणुगकु-
माराणं देवाणं य देवीणं य आहंवरुचं जाव विहरइ, एवं
खलु गोयमा ! कालीए देवीए सा दिव्वा देवकी लच्छा पञ्च-
त्ता अजिममाणा गया । कालीए णं भंते ! देवीए केवति-
यं कालं त्रिची पणत्ता ? । गोयमा ! अद्याइज्जा तिपत्तिओ-
वमाइं त्रित । पणत्ता, कालीए णं भंते ! देवी ताओ देवलो-
गाओ अणंतरं उव्वट्ठित्ता कहिं गच्छहिंति कहिं उववज्जि-
हिंति ? । गोयमा ! महारिदेहे वासे मिज्झिहिइ, एवं
खलु जंबू ! समणे एं जाव संपत्ते णं पदमस्स वगस्स पदमज्ज-
यणस्म अयमट्ठे पणत्ते ति वेमि [पदमं अज्जयणं सम्मत्तं] । १ ।
जतिणं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते ण धम्मरुहा णं पदमस्म
वगस्स पदमज्जयणस्म अयमट्ठे पणत्ते, वित्तियस्स एं भंते !
अज्जयणस्म समणे एं जाव संपत्ते एं केअट्ठे पणत्ते ? ।
एवं खलु जंबू ! तेणं काहे एं तेणं समए एं रायगिहे नगरे
गुणमित्तए चेइए सामी समोसठे परिसा निगया जाव पज्जु-
वासइ । तेणं काहे एं तेणं समए एं राई देवी चमरचचाए रा-
यहाणीए, एवं जहा काली तहेव आगया नट्टविहिं उवदंसेत्ता
जाव पमिगया [भंते त्ति] जगवं गोयमे ! पुव्वजवपुच्छा । एवं

खलु गोयमा ! तेणं काले एं तेणं ममए एं आमन्नकप्पा नयरी
अंवसालवणे चेइए जियमत्तू राया, राई गाहावई रायसिरी
भारिया राई दारिया पासस्स समोमरणं राई दारिया जहेव
काशी तहेव णिक्खित्ता तहेव सररीपाउसिया, त चेव सव्वं
जाव अतं काहिंति, एवं खलु जंबू ! वीयज्जयणस्स निक्खेवओ
॥१॥ जतिणं भंते ! तइयस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ, एवं
खलु जंबू ! रायगिहे नयरे गुणमित्ते चेइए ० एवं जहेव राई तहेव
रयणी वि, नवरं, आमलकप्पा नयरी. रयणी गाहावती रयण-
मिरी भारिया, रयणी दारिया, सेसं तहेव, जाव अतं काहिंति
॥२॥ एवं विज्जू वि, आमन्नकप्पा नयरी, विज्जू गाहावती
विज्जुसिरी चारिआ विज्जू दारिया, सेसं तहेव ॥३॥ एव मे-
हाव । आमन्नकप्पा नयरी मेहा गाहावती मेहसिरी भारिआ
मेहा दारिआ, मेसं तहेव । एव खलु जंबू ! ममणे णं जाव संपत्ते णं
धम्मरुहा णं पदमस्स वगस्म अयमट्ठे पणत्ते । का० २ शु० १ धर्ग ।

चमरस्स णं जंते ! अमुरिंदस्म अमुरकुमारणो सोमस्म
महाराणो कइ अगमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अज्जो !
चत्तारि अगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा— कणया
कणगत्तया चित्तगुत्ता वसुधरा । तत्थ एं एगमेगाए देव । ए
एगमेगं देवीमहस्सं परिवारो पणत्तो । पत्तू ! एं ताओ एगमे-
गा देवी अण्ण एगमेगं देवीमहस्सपरिवारं विउव्वित्तए ?
एवामेव सपुव्वावरे एं चत्तारि देवीसहस्सा सेत्तं तुडिए ।
पत्तू एं जंते ! चमरस्स अमुरिंदस्स अमुरकुमारणो सोमे
महाराया सोमाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए सोमंसि
मीहामणंसि तुडिए एं अवसेमं जहा चमरस्स, नवरं, परि-
वारो जहा सूरियाभस्स, मेसं तं चेव, जाव णो चेव एं मेहु-
णवत्तियं । चमरस्स एं जंते ! जाव रणो जमस्स महाराणो
कइ अगमहिंसीओ ? । एवं चेव, एवरं, जमाए रायहाणीए ०,
सेसं जहा सोमस्स । एवं वरुणस्स वि, नवरं, वरुणाए रायहा-
णीए ०, एव वेममणस्स वि, नवरं, वेसमणाए रायहाणीए ०,
सेमं तं चेव जाव मेहुणवत्तियं । वडिस्म णं जंते ! वडरोयणिं-
दस्स पुच्छ । अज्जो ! पंच अगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं
जहा— सुंभा णिखुत्ता रंभा निरजा मदणा । तत्थ एं एग-
मेगाए देवीए अट्टट्ठ ०, सेसं जहा चमरस्स, एवरं, वलिचचाए
रायहाणीए परिवारो जहा मोओदेनए, सेसं तं चेव जाव
मेहुणवत्तियं । वलिस्स णं भंते ! वडरोयणिंदस्स वडरोयण-
रणो सोमस्म महाराणो कइ अगमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अ-
ज्जो ! चत्तारि अगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा— मीणगा
सुभदा विज्जुआ असणी । तत्थ एं एगमेगाए देवीए ०, मेसं
जहा चमरस्स । एवं जाव वेसमणस्स । भ० १० श० १ उ० ।

आसां पूर्वभवः—

जइ एं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं दोच्चस्म वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! समणे एं जाव संपत्ते ण दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्जयणा पन्नत्ता । तं जहा—सुंभा १ निधुंजा २ रंभा ३ निरभा ४ मदणा ५ । जइ एं जंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा एं दोच्चस्म वग्गस्स पंच अज्जयणा पन्नत्ता । दोच्चस्म एं भंते ! वग्गस्स पदमज्जयणस्स केअट्ठे पन्नत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं काळे एं तेणं समए एं रायगिहे गुणसिले चेइए, सामी समोसदे, परिसा ० जाव पज्जुवासति, तेणं काळे णं तेणं समए एं सुंभा देवी बलिवंचाए रायहाणीए सुंजवडिसए जवणे सुंभंसि मिहासणसि काळिगमए एं जाव एट्ठविहि उवदंसेत्ता जाव पडिगया पुव्वजवपुच्छा । सावत्थी नयरी, कोट्टए चेइए, जियसत्तू राया, सुंभे गाहावई, सुंजसिरी भारिआ, सुंजा दारिया, सेसं जहा काळीए, नवरं, अण्डुछातिं पलिओवमाइं ठिती, एवं खलु जंबू ! उक्खेवओ पदमस्स अज्जयणस्स, एवं सेसा वि चत्तारि अज्जयणा सावत्थीए, नवरं, माया पिया धूयसिरितिनामया । एवं खलु जंबू ! निक्खेवओ वीयस्स वग्गस्स । का०२श्रु०१अ०

धरणस्य—

धरणस्स एं भंते ! णागकुमारिंदस्स णागकुमाररणो कइ अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अज्जो ! उ पणत्ताओ । तं जहा—अला सक्का सतेरा सोदामिणी इदा घणविज्जुया । तत्थ णं एगमेगाए देवीए उ उ देवीसहस्सपरिवारो पणत्तो । पन्नु ! एं ताओ एगमेगा देवी अस्साइं छ उ देवीमहस्साइं परियारं विउव्वित्तए, एवमेव सपुव्वावरेणं उत्तीसं देविसहस्साइं, सेत्तं तुडिण । पन्नु ! एं भंते ! धरणे, सेसं तं चेव, एवरं, धरणए रायहाणीए धरणंसि सीहासणसि सओ परिवारो, सेसं तं चेव । धरणस्म एं जंते ! णागकुमारिंदस्स कालवाडस्स जोगवाडस्स महारणो कइ अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा—असोगा विमला सुप्पजा सुदंसणा । तत्थ एं एगमेगाए देवीए०, अवमेसं जहा चमरजोगपालाणं, सेसाणं तिण्हि वि ।

भूतानन्दस्य—

जूयाणंदस्स एं भंते ! पुच्छा । अज्जो ! उ अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा—रूया रूयंसा सुरूवा रूयगावई रूयकांता रूपपजा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा धरणस्स जूयाणंदस्म एं भंते ! णागकुमारस्स चित्तस्स पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा—सुनंदा सुभदा सुजाया सुमणा । तत्थ एं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा चमरजोगपालाण । एवं सेसाण वि तिण्हि वि लोगपालाणं तहा, दाहिणिद्धा इंदा, तेसिं जहा धरणस्स । लोगपालाण वि, तेसिं जहा धरणलोगपालाणं । उत्तरिंदाणं जहा जूयाणं-

दस्स । लोगपालाणं वि, तेसिं जहा जूयाणंदस्स लोगपालाणं, एवरं, इंदाणं मव्वेसिं रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिसणामगाणि, परिवारो जहा मोओदेसए, लोगपालाणं सव्वेसिं रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिसणामगाणि परिवारो जहा चमरजोगपालाणं । ज० १० श० ५ उ० ॥

चूतानन्दसुत्रे—(एवमिति) यथा कासपाहस्य तथाऽन्येषामपि, नवरं, तृतीयस्थाने चतुर्थो वाच्यः । धरणस्य दक्षिणनागकुमारनिकायेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिंस्यो यथा २ यन्नामिकास्तथा २ तन्नामिका एव सर्वेषां दाक्षिणात्याना शेषाणामष्टाना वेणुदेवहरिकान्ताग्निशिशुपूणजलकान्तमितगतिवेदम्वधोपास्यानामिन्द्राणां ये लोकपालाः सुत्रे दर्शितास्तेषां सर्वेषामिति । यथा च भूतानन्दस्यौदीच्यनगराजस्य तथा शेषाणामष्टानामौदीच्येन्द्राणां वेणुदालिहरिसहाग्निमाणवधसिष्ठजसप्रभामितथाइनप्रभञ्जनमहाधोपास्यानां ये लोकपालास्तेषामपीति । एतदेवाह—जहा धरणस्सेत्यादि ।

आसां पूर्वभवः—

उक्खेवओ नडयवग्गस्स । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते एं तइयस्स वग्गस्स चउप्पभा अज्जयणा पन्नत्ता । तं जहा—पदमे अज्जयणे जाव चउप्पभत्तिमे अज्जयणे । जइ एं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं धम्मकहा एं तइयस्स वग्गस्स चउप्पसा अज्जयणा पन्नत्ता । पदमस्स एं भंते ! अज्जयणस्स समणे णं जाव संपत्ते एं केअट्ठे पन्नत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं काळे एं तेणं समए एं रायगिहे नगरे गुणसिले चेइए सामी समोसदे, परिसा निगया जाव पज्जुवासति । तेणं काले एं तेणं समए एं अला देवी धरणा रायहाणीए अलावडिसए जवणे अद्वंसि सिंहासणंसि, एवं काळी गमए एं जाव नट्टविहे उवदंसेत्ता पडिगया पुव्वजवपुच्छा । वाणारसीए काममहावणे चेइए अद्वे गाहावती अलजसिरी भारिआ अला दारिया, सेसं जहा काळीए, नवरं, धरणस्स अग्गमहिंसित्ताए उववाओ साइरेणं अण्डुपालियोवमं ठिती, सेसं तहेवा एवं खलु निक्खेवओ पदमज्जयणस्स । एवं कमा सक्का सतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया वि, सव्वाओ एयाओ धरणस्स अग्गमहिंसीओ । एते उ अज्जयणा वेणुदेवस्स अवसेसा जाणियव्वा, एवं जाव घोसस्स वि एते चेव अज्जयणा । एए चेव दाहिणिद्धाणं इंदाणं चउप्पभं अज्जयणा भवंति, सव्वाओ वि वाणारसीए काममहावणे चेइए तइयवग्गस्स निक्खेवओ । चउत्थस्स वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! समणे एं जाव संपत्ते णं धम्मकहा एं चउत्थस्स वग्गस्स चउप्पभा अज्जयणा पन्नत्ता । तं जहा—पदमे अज्जयणे जाव चउप्पभा उमे अज्जयणे, पदमस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए एं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवासइ । तेणं काले एं तेणं समए एं रूया देवी रूयाणदारायहाणीए रूयगवडिसए जवणे रूयगसि

सीहासणंसि जहा काविए तहा, नवरं, पुव्वजवे चंपाए पुम-
जरे चेइए रूप गाहावती रूपगसिरी जारिआ रूपा दारिया.
सेसं तहेव, नवरं, ज्ञयाणंठा अगमहिंसिताए उववाओ देसू-
णं पलिओवमहिंती निक्खेवओ। एवं खलु जणू ! सुरूवा
वि रूपंसा वि रूपगावई वि रूपकंता वि रूपपजा
वि, एयाए चेव उत्तरिद्धाणं इंदाणं भाणियन्वाओ जाव महा-
योसस्स । निक्खेवओ चउत्तयस्म वगस्म । ॥ ०२ ॥ ॥ ०१ ॥ वर्ग ।

धम्मरेन्द्राणां कालस्य—

कावस्स णं भंते ! पिमायइंदस्स पिमायण्णो कइ अग-
महिंसीओ पण्णाओ ! अज्जो ! चत्तारि अगमहिंसीओ
पण्णाओ । तं जहा-कमत्ता कमलपपजा लप्पला सुदसा । त-
त्थ णं एगमेगाए देवीए एगमेगं देवीसहस्सं, सेसं जहा चम-
रलोगपालाणं, परिवारो तहेव, णवरं, काव्वाए रायहाणीए
कालंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव, एवं महाकालस्स वि ।

सुरूपस्य—

सुरूवस्म णं जंते ! जइंदस्स जयरणो पुच्छा । अज्जो !
चत्तारि अगमहिंसीओ पण्णाओ । तं जहा-रूपवई
बहुरूवा सुरूवा सुभगा । तत्थ णं एगमेगा०, सेसं जहा
कालस्स, एवं पमिरुवस्म वि ।

पुण्यमयस्य—

पुण्णजइस्स णं भंते ! जइंदस्स पुच्छा । अज्जो ! च-
त्तारि अगमहिंसीओ पण्णाओ । तं जहा-पुण्णा बहुपु-
त्तिया उत्तमा तारया । तत्थ णं एगमेगा०, सेसं जहा
कावस्स, एवं माणिजइस्स वि ।

जीममहाभीमयो—

जीमस्स णं जंते ! रक्खसिंदस्स पुच्छा । अज्जो ! चत्ता-
रि अगमहिंसीओ पण्णाओ । तं जहा-पडमा पडमावई
कणगा रणपपभा । तत्थ णं एगमेगा देवी०, सेसं जहा
कालस्स, एवं महाजीमस्स वि ।

किन्नरस्य—

किण्णरस्स णं जंते ! पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अगम-
हिंसीओ पण्णाओ । तं जहा-वडिसा केतुमई रइसेणा
रइप्पिया । तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं किंपुरिसस्म वि ।

सुपुरुषस्य—

सुपुरिसस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अगमहिंसीओ
पण्णाओ । तं जहा-रोहिणी नवमिया हिरी पुप्फवई । तत्थ
णं एगमेगा देवी०, सेसं तं चेव । एवं महापुरिसस्स वि ।

अतिकायस्य—

अइकायस्म णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अगमहिंसीओ
पण्णाओ । तं जहा-जुयगा भुयगवई महाकच्छा फुमा ।
तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं महाकावस्स वि ।

गीतरते—

गीयरइस्स णं जंते ! पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अगमहिं-

सीओ पण्णाओ । तं जहा-सुघोसा विमत्ता मुम्मग म-
रस्सई । तत्थ णं०, सेमं तं चेव । एवं गीयजसस्स वि । सव्वे-
सिं एएसिं जहा कालस्स, णवरं, सारिसनामगाओ रायहा-
णीओ सीहासणाणि य, सेसं तं चेव । ज० १० श० ५ उ० ।

आसां पूर्वभवः—

पंचमवग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! जाव वत्तीसं
अज्जयणा पण्णाओ । तं जहा—

कमत्ता कमलपपभा, लप्पत्ता य सुदंसेणा ।

रूपवई बहुरूवा, सुरूवा सुभगा वि य ॥ १ ॥

पुण्णा बहुपुत्तिया च, उत्तमा तारया वि य ।

पडमावती सुमई, कणगा कणगपपजा ॥ २ ॥

वडंसा केउमई च, रइसेणा रइप्पिया ।

रोहिणी नवमिया वि, हिरी पुप्फवई इय ॥ ३ ॥

जुयगा जुयगावती, महाकच्छा फुदाइया ।

सुघोसा विमत्ता चेव, सुस्सराइ सरस्सई ॥ ४ ॥

उक्खेवओ पदमज्जयणस्स । एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं
तेणं समए णं रायगिहे णयरे समोसरणं जाव पज्जुवासइ ।

तेणं काले णं तेणं समए णं कमत्ता देवी कमत्ताए रायहाणीए
कमलवडिसए जवणे कमलंसि सीहासणंसि०, सेसं जहा

काव्वाए तहेव, नवरं, पुव्वजवे नागपुरे एगरे सहसंबवणे
उज्जाणे कमलस्स गाहावइस्म कमलसिरी भारिया कमत्ता

दारिया पासस्स णं अंतिए निक्खंता, कावस्स पिमायकुमा-
रिंदस्स अगमहिंसीओ अफपलितोवमं । एवं सेसावि

अज्जयणा । दाहिणिद्धाणं बाणमंतर्दिदाणं भाणियन्वाओ स-
व्वाओ, नागपुरे सहसंबवणे उज्जाणे मायापियरो धूयासिरि-

सनामया ठिती अफपलितोवमं । पंचमो वग्गो सम्मत्तो ॥ ५ ॥
अद्वो वि वग्गो पंचमसरित्तो, नवरं, महाकाव्वाइदाणं उत्तरि-

द्धाणं इंदाणं अगमहिंसीओ पुव्वजवे साए णयरे उत्तरकु-
रुज्जाणे मायापियरो धूयसिरिणामया सेसं तं चेव ।

अद्वो वग्गो सम्मत्तो । ॥ ०२ ॥ ॥ ०६ ॥ व० ।

ज्योतिष्केन्द्राणाम्—

चंदस्स णं जंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरओ कति अग-
महिंसीओ पण्णाओ ! चत्तारि अगमहिंसीओ पण्णाओ ।

तं जहा-चंदपपभा जोसिणाजा अचिमाही पभंकरा । तत्थ णं
एगमेगाए देवीए चत्तारि चत्तारि देवीसाहस्सीओ परिवारो

पण्णाओ । पचू ! णं ततो एगमेगा देवी अन्नाइं चत्तारि चत्ता-
रि देवसाहस्साइं परिवारं विउव्वित्तए, एवमेव सपुव्वाव-

रेणं सोल्लसदेवीसाहस्सीओ पण्णाओ, सेसं तुमिए ।
(चंदस्स णं भंते ! इत्यादि) चन्द्रस्य भदन्त ! ज्योतिषेन्द्रस्य

ज्योतिषराजस्य कति कियत्सब्थाका अगमहिंस्यः प्रकृताः ? ।
प्रगवानाह—गीतम ! चतस्रोऽगमहिंस्यः प्रकृताः । तद्यथा—च-

न्द्रमजा (जोसिणाभेत्ति) ज्योत्स्नाभा, अचिमाही, प्रभङ्करा ।

(तत्थ णमित्यादि) तत्र तासु चतसृष्वग्रमहिंसीषु मध्ये एकैकस्या देव्याश्चत्वारि २ देवीसहस्राणि परिवारः प्रकृताः । किमुक्तं भवति । एकैका अग्रमहिंसी चतुर्णां चतुर्णां देवीसहस्राणां पट्टराज्ञीनामेकैका च सा ह्यथभूताऽग्रमहिंसी, परिचारणावसरे तथाविधां ज्योतिष्कराजस्य चन्द्रदेवेच्छामुपलब्ध्य प्रचुरन्यानि आत्मसमानरूपाणि चत्वारि देवीसहस्राणि विकुर्वितुं स्वाज्ञाविकानि, पुनरेवमेव उक्तप्रकारेणैव पूर्वापरमीलनेन बोरुशदेवीसहस्राणि चन्द्रदेवस्य प्रवन्ति । “सेस तुमिण”-तदेव तावत् शुटिकमन्तःपुरं व्यपदिश्यते ।

सज्ञायामभोगः-

पञ्च ! णं जंते ! चंदे जोतिसिंदे जोतिसराया चंदवर्त्तिसए विमाणे सज्ञाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुमिण सच्चि दिव्वाइं भोगभोगाइं जुंजमाणे विहरित्तए ?। गोयमा ! नो इण्ठे सम्भे । से केण्ठे णं भंते ! एवं बुद्ध ? नो पञ्च ! चंदे जोइसराया चंदवर्त्तिसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुमिण णं सच्चि विपुलं भोगभोगाइं जुंजमाणे विहरित्तए ?। गोयमा ! चंदस्स णं जोतिसिंदस्स जोइसरस्सो चंदवर्त्तिसए विमाणे सभाए सुधम्माए माणवगंसि चेतियखंजंसि वइरामयेसु गोलवत्तसमुग्गएसु बहुयाओ जिणसकहाओ चिट्ठंति, जाओ णं चंदस्स जोतिसिंदस्स जोतिसरस्सो अण्णोसिं च बहूणं जोतिसयाणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ जाव पज्जुवासरिज्जाओ तासि णं पण्णिहाए नो पञ्च ! चंदे जोइसराया चंदवर्त्तिसए जाव चंदंसि सीहासणंसि जुंजमाणे विहरित्तए, से तेण्ठेणं गोयमा ! नो पञ्च ! चंदजोतिसराया चंदवर्त्तिसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुमिण सच्चि दिव्वाइं भोगभोगाइं जुंजमाणे विहरित्तए अदुत्तरं च णं गोयमा ! नो पञ्च ! चंदजोतिसिंदे जोतिसराया चंदवर्त्तिसए विमाणे सज्ञाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसहस्सीहिं जाव सोद्वसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहिं जोतिसिण्हिं देवेहि य देवीहि य सच्चि संपरिबुडे महयाहयणट्ठीयवाइयतंतीतत्ततालतुमियघणमुंगपकुप्पवाइयरेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं जुंजमाणा विहरित्तए केवलपरियारतुमिण सच्चि भोगभोगाइं चोसहिं बुद्धिण नो चेव णं मेहुणवत्तियं ।

(पञ्च णं जंते ! इत्यादि) प्रभुर्भदन्त ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराज्ञश्चन्द्रावतंसके विमाने सज्ञायां सुधर्मायां चन्द्रे सिंहासने शुटिकेनान्तपुरेण सार्द्धं दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जमानो विहर्तुमासितु भगवानाह- गौतम ! नायमर्थः समर्थः । अत्रैव कारणं पृच्छति- (से केण्ठेणमित्यादि) तदेव भगवानाह- गौतम ! चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य चन्द्रावतंसके विमाने सज्ञायां सुधर्मायां माणवकचैत्यस्तम्भे वज्रमयेषु गोलवृत्तसमुज्ज्वलेषु ते च यथा तिष्ठन्ति तथा विजयराजधानीगतसुधर्मासभायामिव द्रष्टव्यम् । बहूनि जिनसकथानि सन्निकितानि

तिष्ठन्ति यानि । सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य अर्चनीयानि पुष्पादिभिर्ध्वनीयानि विशिष्टः स्तोत्रैः स्तोतव्यानि पूजनीयानि वस्त्रादिभिः सत्कारणीयानि आदरप्रतिपत्त्या सम्माननीयानि जिनोचितप्रतिपत्त्या कल्याणमंगलं चैत्यमिति पर्युपासनीयानि (तासिं पण्णिहाए त्ति) तेषां प्रतिजिया तानि आधित्यनो प्रभुश्चन्द्रो ज्योतिषराज्ञश्चन्द्रावतंसके विमाने यार्थाहृत्यैवमिति । (पञ्च णं गोयमा ! इत्यादि) प्रभुर्गौतम ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराज्ञश्चन्द्रावतंसके विमाने सज्ञायां सुधर्मायां चन्द्रे सिंहासने चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिरग्रमहिंसीभिः सपरिवाराजिस्तिस्त्रिभिः पर्वद्भिः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः बोरुशभिरात्मरक्कदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिर्योतिषैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतो महयाहयेत्यादि पूर्ववद् दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहर्तुमिति न पुनर्मेथुनप्रत्ययं मेथुननिमित्तं दिव्यान् स्पर्शादीन् भोगान् भुञ्जानो विहर्तुं प्रभुरिति ।

सूर्यस्याग्रमहिंसी-

सूरस्स णं भंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरन्ने कति अग्गमहिंसीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-सूरिप्पजा आतपाभा अच्चिमाली पजंकरा । एवं अवसेसं जहा चंदस्स, णवरं, सूरिवर्त्तिसके विमाणे सूरंसि सीहासणंसि तहेव ।

(सूरस्स णं भंते ! इत्यादि) सूरस्य भदन्त ! ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य कति अग्रमहिंसीः प्रकृताः ?। भगवानाह- गौतम ! चतस्रोऽग्रमहिंसीः प्रकृताः । तद्यथा-सूरप्रभा आतपाभा अच्चिमाली पजंकरा । ‘तत्थ ण एगमेगाए देवीए’ इत्यादि चन्द्रवत् तावद् वक्तव्यं, यावद् नो चेव णं मेहुणवत्तियं, नवरं, सूर्यावतंसके विमाने सूर्यसिंहासने इति वक्तव्यम्, शेषं तथैव । जी० ४ प्रति० । स्था० ।

अङ्गारकादीनाम्-

इंगालस्स णं भंते ! महागहस्स कति अग्गमहिंसीओ ? पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-विजया वेजयंती जयंती अपराजिता । तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, सेसं तं चेव, जहा चंदस्स, णवरं, इंगालवर्त्तिसए विमाणे इंगालगंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव, एवं वियादस्स वि । एवं अछासीए वि महागहाणं वत्तव्या गिरवसेसा भाणियन्वा जाव जावकेउस्स, णवरं, वर्त्तिसगा मीहासणाणि य सरिसणाभगाणि, सेसं तं चेव । भ० १० श० ५ उ० । जीवा० । स्था० ।

आसां पूर्वभवः-

सत्तमवग्गस्स उक्खेवो । एवं खलु जंबू ! जाव चत्तारि अज्जयणा पण्णत्ता । तं जहा-सूरप्पभा आयंवा अच्चिमाली पजंकरा । पढमस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं काळेणं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवासति । तेणं काळेणं तेणं समए णं सूरप्पजा देवी सूरंसि विमाणंसि सूरप्पजंसि सीहासणंसि सेसं जहा कालिए तहा, नवरं, पुण्वभवो अक्खुपुरीए नयेरे सूरप्पमस्स

गाहावस्स सूरसिरिए भारियाए सूरप्पजा दारिया सूर-
स्स अग्गमहिंसी त्तिती अण्डपल्लिओवमं पंचहिं वाससएहिं
अण्णहियं, सेसं जहा कालिए । एवं सेसाओ वि सन्वाओ
अक्खुपुरीए नयरीए [सत्तमवगो सम्मतो] ॥७॥ अट्टमस्स
वगस्स उक्खेवो । एवं खलु जंबू ! जाव चत्तारि अज्जयणा
पञ्चत्ता । तं जहा-चंदप्पभा दीतिप्पजा अच्चिमाली पट्ठंकरा ।
पढमस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ । एव खलु जंबू ! तेणं काले
एणं तेणं समए एणं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवा-
सइ । तिणं काले णं तेणं समए एणं चंदप्पजा देवी चदप्पजंसि
सीहासणंसि, सेसं जहा कालिए, नवरं, पुव्वभवे महुराए न-
यरीए भंभीवन्सिए उज्जाणे चंदप्पजे गाहावई चंदसि-
री भारिया चंदप्पभा दारिआ चंदस्स अग्गमहिंसी त्तिती
अण्डपल्लिओवमं पञ्चासं वाससहस्सेहिं अण्णहियं, सेसं जहा
कालीए, एवं सेसाओ वि महुराए नयरीए मायापियरो
धुयसिर्गिनामया [अट्टमो वगो सम्मतो] इहा ७ २ शु ७ ।

धैमानिकानां शक्रस्य—

सकस्स एणं भंते ! देविंदस्स देवरणो पुच्छा । अज्जो ! अट्ट
अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-पज्जमा सिवा सेवा
अंजु अमला अचरा नवमिया रोहिणी । तत्थ एणं एगमे-
गाए देवीए मोल्लस २ देवीसहस्मपरिवारो पाणत्तो । पभू !
एणं ताओ एगमेगा देवी अचाइ सोल्लस २ देविसहस्ता-
ई परिवारं विज्जवित्तए । एवमेव संपुव्वावरणं अट्ठावी-
सुत्तरं देवीसयसहस्सं परिवारो विज्जवित्तए, सेत्तं तुमिए ।
ज ७ १० श ७ ५ उ ० ।

उपासकदशाकृटीकार्या कामदेवउत्तम्यतायाममयदेवसुरिणा
अग्रमहिंसीपरिवार- प्रत्येक पञ्चसहस्राणि, सर्वमीलने चत्वारि-
विंशत्सहस्राणि । ति लिखितम्, तस्मिन्त्यम् । ज ७ १० ।

प्रोग.—

पभू ! णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया सोहम्मे कप्पे सोह-
म्पवन्सिए विमाणे सजाए सुहम्माए सक्कंसि सीहासणंसि
तुहिए णं सद्धि, सेसं जहा चमरस्स, एवर, परिवारो जहा
माओदेसए ।

शक्रलोकपालानाम्—

सकस्स एणं भंते ! देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारणो
कति अग्गमहिंसीओ ? पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसी-
ओ पणत्ताओ । तं जहा-रोहिणी मदणा चित्ता सोमा । तत्थ
एणं एगं, सेसं जहा चमरलोगपालाणं, नवरं, सयंपजे विमाणे
सभाए सुहम्माए सोमंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव, एवं जाव
वेसमणस्स, नवरं, विमाणाइ जहा तइयसए । ज ७ १० श ७
५ उ ० । सकस्स एणं देविंदस्स देवरओ वरुणस्स महारओ
सत्त अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । स्था ७ ७ उ ० ।

ईशानस्य—

ईसाणस्स एणं भंते ! पुच्छा । अज्जो ! अट्ट अग्गमहिंसीओ
पणत्ताओ । तं जहा-कएहा कएहराती रामा रामरक्खिया
वसू वसुगुत्ता वसुमिक्ता वसुंधरा । तत्थ एणं एगमेगाए, सेसं
जहा सकस्स । भ ० १० श ७ ५ उ ० स्था ७ ।

ईशानलोकपालानाम्—

ईसाणस्स एणं भंते ! देविंदस्स देवरणो सोमस्स महार-
णो कति अग्गमहिंसीओ ? पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गम-
हिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-पुढवी राई रयणी विज्जु ।
तत्थ एणं, सेसं जहा सकस्स लोगपालाणं । एव जाव वरु-
णस्स, एवरं, विमाणा जहा चउत्थसए, सेसं तं चेव जाव णो
चेव ए मेहुणवत्तियं । ज ७ १० श ७ ५ उ ० । सकस्स एणं
देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारणो उ अग्गमहिंसीओ
पणत्ताओ । सकस्स एणं देविंदस्स देवरणो जमस्स महार-
णो उ अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । स्था ७ ६ उ ० । ईसा-
णस्स एणं देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारणो सत्त अग्गम-
सीओ पणत्ताओ । ईसाणस्स एणं देविंदस्स देवरणो जमस्स
महारणो सत्त अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । स्था ७ ७ उ ० ।
ईसाणस्स एणं देविंदस्स देवरणो वरुणस्स महारणो नव
अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । स्था ७ ८ उ ० ।

आसां पूर्वजव -

नवमस्स ० उक्खेवो । एवं खलु जंबू ! जाव अट्ट अज्जयणा
पञ्चत्ता । तं जहा-पज्जमा सिवा सुई अंजु रोहिणी नवमिया इय
अचला अपचरा । पढमज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु
जंबू ! तेणं काले एणं तेणं समए एणं रायगिहे समोसरणं परिसा
जाव पज्जुवासइ । तेण काले णं तेणं समएणं पज्जमावई देवी
सोहम्मे कप्पे पज्जमवन्सिए विमाणे सभाए सुहम्माए पज-
मंसि सीहासणंसि, जहा कालीए, एवं अट्ट वि अज्जयणे
कालीगमए एणं नेयव्वा, नवर, सावत्थिए दो जणीओ हत्थि-
णान्ने दो जणीओ कपिहत्थपुरे दो जणीओ सासए दो जणी-
ओ पज्जमे पियरो विजया मायरो सन्वाओवि पासस्स अ-
तिए पव्वइया सकस्स अग्गमहिंसीओ त्तिई सत्तपल्लिओव-
माइं महादिदे अंतं काहिति [नवमो वगो सम्मतो] ॥ ८ ॥

दममस्स ० उक्खेवओ । एव खलु जंबू ! जाव अट्ट अज्जयणा-
पञ्चत्ता । तं जहा-कएहा य कएहराई रामा तहा रामर-
क्खिया वसुया वसुगुत्ता वसुमिक्ता वसुंधरा चेव । ईसाणे
पढमज्जयणस्स उक्खेवओ । एव खलु जंबू ! तेणं काले एणं
तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं परिसा पज्जुवासइ । तेणं
काले णं तेणं समए ण कएहा देवी ईसाणे कप्पे कएहवन्सि-
ए विमाणे सजाए सुहम्माए कएहंसि सीहासणंसि, सेसं
जहा कालीए । एवं अट्ट वि अज्जयणा काली-

गमए णं नेयव्वा, नवरं, पुव्वजवे वाणारसीए नयरीए दो जणीओ रायागिहे नगरे दो जणीओ सावत्थीए दो जणीओ कोमवीए दो जणीओ रामेपिया धम्मा माया सव्वा-वि पासस्स अरहओ अतिए पव्वइयाओ पुप्फचूलाए ज-ज्जाए मिसिणीयत्ता ईसाणस्स अग्गमहिंसीओ त्तिती नव-पलिओवमाइं महाविदेहे वासे मिज्जिहिइ जाव सव्वजुक्खा-णं अंतं काहिइ । एवं खलु जंबू ! निक्खेवगो [दसमो वगो सम्मत्तो] ज्ञा० २ श्रु० ।

कृष्णस्याग्रमहिंसीः—

करहस्स णं वासुदेवस्स अट्ठ अग्गमहिंसीओ, अरहओ णं अरिद्धनेमिस्स अंतियं मुक्का भवित्ता अगाराओ अणगारि-यं पव्वइत्ता मिच्छाओ जाव सव्वजुक्खवप्पहीणाओ । तं जहा-पञ्चमावई य गोरी, गंधारी लक्खणा सुसीमा य । जंबू-वइ सच्चपभा रुप्पिणी अग्गमहिंसीओ ॥ १ ॥ स्था० ८ ठा० । अन्यत्तासां कथानकम् (आसां राजधान्यो ' रत्नकरपव्वय ' शब्दे दर्शिताः)

अग्गरस-अग्रयस-पु० अग्रयः प्रधानो रसो येन्यस्ते अग्रयसाः । शृङ्गाररसोत्पादकेषु रत्यादिषु, शृङ्गाररसे च । उक्त० १४ अ० । रसाग्र-न० रसानां सुखानामग्रम् । प्राकृतत्वादग्रशब्दस्य पूर्व-निपात । सुखप्रधाने, उक्त० १४ अ० ।

सुसंभिया कामगुणा इमे ते, संपिंभिया अग्गरसप्पजूआ कीदशाः कामगुणा ? । अग्रधरसप्रचूता-अग्रधः प्रधानो रसो येन्यस्ते अग्रधरसा, शृङ्गाररसोत्पादका इत्यर्थः । यदुक्तम्—“र-तिमाल्यावद्धारै, प्रियजनगन्धर्वकामसेवाभिः । उपवनगमनवि-हारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ” ॥ १ ॥ अग्रधरसाश्च ते प्रचू-ताश्च अग्रधरसप्रचूताः, प्रचूरा इत्यर्थः । अथवाऽन्यरसेन शृ-ङ्गाररसेन प्रचूरास्तान् कामगुणान् (अग्ररसं त्ति) चशब्दस्य गम्यमानत्वात् अग्रथा रसाश्च प्रधाना मधुरादयश्च प्रभूता प्रचू-रा । कामगुणान्तर्गतत्वेऽपि रसानां पृथगुपादानमतिगृहिहेतुत्वा-च्छब्दादिष्वपि चैषामेव प्रवर्त्तकत्वात् । कामगुणविशेषण वा, अग्रथा रसास्त एव शृङ्गारादयो वा येषु ते तथा । वृक्षास्त्वाहु-रसानां सुखानामग्र रसाग्र ये कामगुणाः । सूत्रे च प्राकृतत्वा-दग्रधशब्दस्य पूर्वनिपात । उक्त० १४ अ० ।

अग्गल-अर्गल-न० षमशीतितमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । अर्ज-कलच्-न्यङ्कादित्वात् कुत्वम् । कपाटमध्यस्थे रोधके, क-ल्लोत्रे, कपाटे च । वाच० । “ अग्गलं फव्विह दार, कवारु वा वि सजए । अववविद्या ण चिट्ठिज्जा, गोअरग्गओ मुण्णि ” ॥ १ ॥ अर्ग-ल गोपादिसवन्धिनम् । दश० ५ अ० २ उ० ।

अग्गलपासग-अर्गलपाशक-पुं० यत्रार्गत्वा निक्किप्यन्ते तेषु, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अग्गलपासाय-अर्गलपासाद-पुं० स्त्री० । यत्रार्गत्वा निक्किप्यन्ते तेषु, जी० ३ प्रति० । जी० आह च जीवाभिगममूलटीकाकार-अर्गलपासादो यत्रार्गत्वा नियम्यन्ते । रा० ।

अग्गला-अर्गला-स्त्री० अर्ज-कलच् । न्यङ्कादित्वात् कुत्वम् । कुद्रांगले, गौरादित्वाद् ङीष्, स्वार्थे कन्, अर्गलिकाऽप्यत्रार्थे,

विष्कम्भमात्रे, रोधकमात्रे, स्त्री० न० । वाच० । “ अग्गला अग्ग-लपासाया य वहरामहेतो ” रा० ।

अग्गवीय-अग्रवीज-न० । अग्रे बीजं येषां ते तथा, को-रएट्ठादयः । अग्रे वा बीजं येषां ते अग्रयाजाः । ग्रीष्मादिषु, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अग्गवेओ-देशी-नदीपूरे, दे० ना० १ वर्ग ।

अग्गसिर-अग्रशिरस्-न० शिरोऽग्रे, “ घणनिचियसुवक्खसक्ख-शुभयकूलागाराणिजाणिरुवमपिंभियग्गसिरा ” त० ।

अग्गसिहर-अग्रशिरस्-न० वनस्पत्यादीनां शिखराम्रे, “ सो हियवर कुरग्गसिहरा ” । औ० । रा० ।

अग्गसुयक्खन्ध-अग्रश्रुतस्कन्ध-पुं० आचार्यस्य द्वितीये श्रुत-स्कन्धे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अग्गसोएमा-अग्रशुणा-स्त्री० शुणाम्रे, उपा० २ अ० ।

अग्गह-आग्रह-पुं० आ-ग्रह-अच् । ममताऽभिनिवेशे, प्रति० । मिथ्याभिनिवेशे, बो० १२ विव० । आवेशे, आसक्तौ, आक्रमे, अनुग्रहे, प्रहणे च । वाच० ।

अग्गहच्छेयकारि (ण)-आग्रहच्छेदकारिन्-त्रि० मूर्धावि-च्छेदके, “ समाधिराज एतच्च, वदे तत्तत्त्वदर्शनम् । आग्रहच्छेद-कार्येतत्, तदेतदमृत परम् ” ॥ १ ॥ द्वा० २५ द्वा० ।

अग्गहण-अग्रहण-न० अनादरे, “ भद्दा पुण अग्गहणं, जाण-तो वा विपरिणमेज्जासो ” वृ० ३ उ० । अनुपादाने, उक्त० २ अ० । “ एसणमणोसणिज्ज, तिएह अग्गहणभोयणयाण ” । उक्त० नि० १ ख० ।

अग्गहणवग्गणा-अग्रहणवर्गणा-स्त्री० । वर्गणाज्जेदे, कर्म० ६ कर्म ।

अग्गहत्थ-अग्रहस्त-पुं० अग्रश्चासौ हस्तश्चेति शुणगुणिनोर-भेदात् । क० स० । हस्तस्याग्रभागे, वाच० । हस्ताग्रे, अनु० ।

अग्गहि (ण)-आग्रहिन्-त्रि० अग्निनिवेशिनि, “ आग्रही यत ! निनीयति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पृक्पात-रहितस्य तु युक्तियत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अग्गाणीअ-अग्राणी (नी) क-न० अग्रश्च तदनीक चेति शुण-गुणिनोर्भेदात् । क० स०, णत्वम् । वाच० । सैन्याग्रभागे, जेणेव भरहस्स एणो अग्गाणिअं तेणेव उवागच्छति ” उ० ३ वत्त० ।

अग्गा (गो) णीअ-अग्रायणीय-न० अग्र परिमाण, तस्या-

यनं गमन परिच्छेद इत्यर्थः, तस्मै हितमग्रायणीयम् । सर्वव्या-दिपरिमाणपरिच्छेदकारिणि द्वितीयपूर्वे, तत्र हि-द्वितीयम-ग्रायणीयम् । अग्र परिमाण तस्य अयन गमन, परिच्छेद इत्य-र्थः, तस्मै हितमग्रायणीयम् । सर्वव्यादिपरिमाणपरिच्छेदका-रीति भावार्थः । तथाहि-तत्र सर्वव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यते । यत उक्त चूर्णिह-ता-“ वीइय अग्गेणीय तत्थ सव्वव्वान पज्जवाण य सव्वजी-वाण य अग्गा परिमाण वज्जिज्जइत्ति ” । अग्गेणीय तस्य पठपरि-माण एणवतिपदशतसहस्राणि । न० । सथा० । “ अग्गेणीयपु-व्वस्स यं चोइसवत्थुडुवालसचूदिया वत्थू पक्खत्ता ” । न० ।

अग्नि-अग्नि-पुं० अद्भुत्यूर्द्ध गच्छति, अग्नि-नि, नलोपः । “ छे-हान्योर्वा ” ८ । २ । १०२ । इति प्राकृतसुत्रेण वाऽनयोर्म-

ध्येऽकारः । अग्निः, अग्नी । प्रा० । वैद्वान्निरे, पि० । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां चोजयेषामपि परस्परदर्शनेन बहवो दोषा भवन्तीति दर्शनायाग्निदृष्टान्तप्रकरणे अग्निनिक्षेप उक्तः । यथा-

दुर्विहो य होइ अग्नी, दव्वग्गी चेव तह य भावग्गी ।

दव्वग्गिम्मि अगारी, पुरिसो व धरं पलीवैतो ॥

द्विविधश्च जवत्यग्निः, तद्यथा—द्रव्याग्निश्चैव भावाग्निश्च । द्रव्याग्नी चित्यमाने अगारी अचिरतिकापुरुषो वा गृह प्रदीपयन् यथा सर्वस्व दहति, एव साध्वी वा साधुर्वा सजीवगृहं सद-न सत्त्वाग्निना प्रदीपयन् चारित्रसर्वस्वं दहतीति निर्युक्तिगा-थासक्त्यर्थः । अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्द्रव्याग्निं विवृणोति-

तत्थ पुण होइ दव्वे, दहणादिणेगलक्खणा अग्गी ।

नामोदयपच्चइयं, दिप्पइ देहं समासज्ज ॥

तत्र तयोर्द्रव्याग्निभावाग्नयोर्मध्ये द्रव्याग्निः पुनरय भवति—‘अस्तु दहनाद्यनेककृत्तणोऽग्निः, दहनं भस्मीकरणं तल्लक्षणः । आदिशब्दात् पचनप्रकाशनलक्षणश्च । देहमिन्धनकाष्ठादिकं समासाद्य प्राप्य नामोदयप्रत्ययमुष्णस्पर्शादिनामकमोदयाद् दीप्यते, स द्रव्याग्निरुच्यते ।

किमर्थं पुनरय द्रव्याग्निरिति चेदत आह—

दव्वाइसन्निकारिसा, उप्पन्नो ताणि चेव महमाणो ।

दव्वग्गि चि उ वुच्चइ, आदिमभावाइजुत्तो वि ॥

द्रव्यमूर्धाधो व्यवस्थितमरणिकाष्ठ, तस्य, आदिशब्दात् पुरुष-प्रयत्नादेश्च यः सन्निकर्षः समायोगस्तस्मादुत्पन्न, तान्येव काष्ठादीनि द्रव्याग्निं दहनं यद्यप्यादिमेनौदयिकलक्षणेन भावेन युक्तोऽग्निनामकमोदयेनेत्यर्थः, आदिशब्दात्पारिणामिकादि-भावेन च युक्तो वर्तते तथापि द्रव्याग्निः प्रोच्यते, द्रव्यादुत्पन्नो द्रव्याणां वा दाहकोऽग्निरिति व्युत्पत्तिसमाभयणात् ।

स पुनः कथं दीप्यत इत्याह—

सो पुणिधणमासज्ज, दिप्पति सीदती य तदभावा ।

नाणत्तं पि य लभए, डंघणपरिमाणतो चेव ॥

स पुनर्द्रव्याग्निरिन्धन तृणकाष्ठादिकमासाद्य दीप्यते, सीदती च विनश्यति, तदभावादिन्धनाभावात् । नानात्व विशेषस्तदपि च द्रव्यते, इन्धनतः परिमाणतश्च । तत्रेन्धनतो यथा-तृणाग्नि काष्ठाग्निरित्यादि । परिमाणतो यथा-महति तृणादाविन्धने महान् भवति, अल्पे वेन्धने स्वल्प इत्युक्तो द्रव्याग्निः ।

अथ भावाग्निं निर्युक्तिगाथापर्यन्तं व्याचष्टे—

भावम्मि होइ वेदो, इचो तिविहो नपुंसगादी उ ।

जइ तासि तहं अत्थि, किं पुण तासि तयं नत्थि ? ॥

जावे जावाग्निर्वेदाख्य इत ऊर्द्धं वक्तव्यो भवति । स च वेदस्त्रि-विधो नपुंसकादिको ज्ञातव्यः । अत्र परं प्राह—यदि तासां संव-तीना तत्र मोहनीय स्यात् तर्हि युष्मदुक्तोऽग्निदृष्टान्तोऽपि स-फलः स्यात्, किं पुनः परं तासां तत्र मोहनीय नास्ति, अतः कुतस्तासां भावान्तेः समवो जवेदिति भावः । एतच्चूत्तरत्र भावविषयते । अथानन्तरोक्तभावाग्निस्वरूप स्पष्टयति—

उदयं पत्तो वेदो, भावग्गी होइ तदुवओगेणं ।

जावो चरित्तमादी, तं रुहई तेण जावग्गी ॥

वेदः स्त्रीवेदादिरुदय प्राप्तः सन्, तस्य स्त्रीवेदादिसयन्धी य उप-योगः पुरुषाभिज्ञापादिब्रह्मणस्तेन हेतुभूतेन भावाग्निर्भवति ।

कुन इत्याह—भावश्चारित्रादिकपरिणामस्तत्रावं येन कारणेन दहति तेन जावाग्निरुच्यते । जावस्य दाहकोऽग्निर्भावाग्निरिति व्युत्पत्तेः । कथं पुनर्दहतीति चेदुच्यते—

जह व साहीणरयणे, जवणे कस्सइ पमायदप्पेणं ।

मज्जंति समादित्तं, अनिच्छमाणस्स वि वमूणि ॥

इय संदंसणसंभा—सणेहि संदंविओ मयणवन्ही ।

बम्मादं गुणरयणे, रुहइ अनिच्छस्म वि पमाया ॥

यथा वा स्वाधीनरत्ने पञ्चरागादिबहुवर्तकालिते जवने प्रमा-देन दर्पेण वा समादीप्ते प्रज्वालिते सति कस्यचिदिन्द्रियादेर-निच्छतोऽपि वसूनि रत्नानि दहन्ते (इयं चि) एव सदृशनमव-लोकन, समाषण मिथ-कथा, ताज्यां सदीपित प्रज्वालितो मदनवह्निरनिच्छतोऽपि साधुसाध्वीजनस्य ब्रह्मादिगुणरत्ना-नि ब्रह्मचर्यतप-सयमप्रवृत्तयो ये गुणास्त एव दीर्गव्यष्ट-स्वाप-हारितया रत्नानि प्रमादाद्दहति भस्मसात्करोति ।

अमुमेवार्थं हृदयति—

सुर्विखणवाजवत्ता—भिदीवितो दिप्पते ऽहियं वन्ही ।

दिहिंघणरागानिल—समीरितो वि इय जावग्गी ॥

शुष्केन्धनेन वायुबलेन वाऽभिदीपितो यथा वह्निरधिक दीप्यते (इयं चि) एव दृष्टिरूप यदिन्धन यश्च रागरूपोऽग्निर्लो वायुस्ता-ज्यां समीरित उदीपितो भृश भावाग्निरपि दीप्यते । बृ० १ उ० । कल्प० । (अग्नेर्वर्णको ‘वीर’ शब्दे) (अग्नेः प्र-थमोत्पादादयः ‘उसह’ शब्दे) वह्निनामके लोकान्तिक-देवे, आ० म० प्र० । कृत्तिकानक्षत्रस्य देवतायाम्, स्या० ४ डा० २ उ० । “कत्तिया अग्निदेवया” ज्यो० ६ पाहु० । सू० प्र० । “दो अग्नीश्रो” स्या० २ डा० ३ उ० । “चत्तारि अग्नी जाव जमा” । अग्निरिति कृत्तिकानक्षत्रस्य देवता यावद्यम इति । स्या० ४ डा० २ उ० ।

अग्नि (अ) य—अग्निक—पुं० यमशिष्ये यमदग्निनामके तापसे, “यमाख्यस्तापस्तत्र, स तत्पार्थ्वेऽग्निकोऽगमत् । प्र-पञ्चस्तस्य शिष्यत्व, स घोर तप्यते तपः ॥ यमशिष्योऽग्निक इति यमदग्निरिति श्रुतः ” आ० क० । भाव० । भा० म० द्वि० । आ० चू० । (अस्य कथानकं ‘कोह’ शब्दे)

अग्निओ—देशी—इन्द्रगोपकीटविशेषे, मन्दे च । दे० ना० १ वर्गः ।

अग्निगज्ज—अग्निकार्य—न० यागादिविधौ, स्या० ।

अग्निकारिया—अग्निकारिका—स्त्री० अग्निकर्मणि, साधूनां द्रव्याग्निकारिकाव्युदासेन भावाग्निकारिकैवानुज्ञाता । प्रति० । (‘अग्निहोतृ’ शब्दे चैतद् दृश्यम्)

अग्निकुमार—अग्निकुमार—पुं० अग्निश्चासौ कुमारश्च कुमारवद्येष्ट-मान इति श्रुवनपतिदेवजेदे, प्रज्ञा० १ पद । (अन्तराग्रमहि-प्यादवस्तत्तच्छब्द एव दृश्या) (‘श्रुवणवः’ शब्दे चाऽस्य वर्णादिकम्)

अग्निकुमाराहवण—अग्निकुमाराहान—न० तैजसदेवसंकीर्तने, “अग्निकुमाराहवणे धूव एगे इहं वेति” पञ्चा० २ वि० ।

अग्निचव—अग्नेय—पुं० उत्तरयोः कृष्णराज्ययोर्मध्ये आग्नेया-भविमानवास्तव्येऽष्टमे लोकान्तिकदेवे, स्या० ५ डा० ३ उ० । प्र० । ज० । ज्ञा० । (‘लोगतिग’ शब्देऽस्य सर्ववृत्तम्)

अग्निच्चाभ-अग्नेयाभ-न०। उत्तरयोः कृष्णराज्ययोर्मध्ये वर्त्तमाने आग्नेयनामलोकान्तिकदेवविमाने, स्या०५८०३३०। स०।
अग्निजस-अग्निशस्-पु०। दीपसमुच्चविशेषाधिपतौ, द्वी०।
अग्निज्जोय-अग्निद्योत-पु०। श्रीवीरस्याष्टमे भवे विप्रज्जेदे, श्री-
वीरस्याष्टमे भवे चैत्यसन्निवेशे च। पण्डितकपूर्वायुष्कोऽग्निद्योतो
नाम विप्रस्त्रिदशमीभूत्वा मृतः। कल्प०। आ०चू०।
अग्निदत्त-अग्निदत्त-पु०। प्ररतक्षेत्रजपार्श्वजिनसमकालजाते
पेरवतक्षेत्रजे तीर्थकरे, ति०। भद्रवाहोद्वितीये शिष्ये, कल्प०।
अग्निदहण-अग्निदहन-न०। वह्नौ शरीरभस्मीकरणलक्षणे शा-
रीरदहने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा०।

अग्निदेव-अग्निदेव-पु०। दीपसमुच्चविशेषाधिपतौ, द्वी०।
अग्निजीरु-अग्निभीरु-पु०। चण्डप्रद्योतनृपतेः रथरत्ने, आ०क०।
अग्निजुः-अग्निजुति-पु०। मन्दरसन्निवेशजाते ब्राह्मणज्जेदे, श्री-
वीरस्य दशमभवे, मन्दरसन्निवेशे षट्पञ्चाशत्पूर्वायुष्कोऽग्नि-
जुतिर्नामा ब्राह्मणस्त्रिदशमीभूत्वा मृतः। कल्प०। आ० चू०। आ०
म० प्र०। श्रीमतो महावीरस्य द्वितीये गणधरे, (अस्याऽऽयुरादिः
'गणहर' शब्दे, नवरमिन्द्रजुतौ प्रव्रजिते)

तं पञ्चदशं सोऽं, वीओ आगच्छई अमरिसेणं ।

वच्चाभि एमाणेमि, पराजिणिता ए त समणं ॥

तमिन्द्रजुतिं प्रव्रजितं भूत्वा द्वितीयोऽग्निजुतिनामा तत्सोदर्यबन्धु-
रान्तरेऽमर्येणाकुलितचेताः समागच्छति जगत्समीपम् । केना-
भिप्रायेणेत्याह-(वच्चाभि णमिति) व्रजाति णमिति वाक्यालङ्कारे ।
आनयामि निजभ्रातरमिन्द्रजुतिम् । तत इति गम्यते, गेत्ययमपि
वाक्यालङ्कारे । त भ्रमणमिन्द्रजालिकं कमपि पराजित्येति ।
पुनरपि किं चिन्तयन्नसावागत इत्याह-

बलिओ छलाङ्णा सो, मन्ने माएंदजाद्विओ वा वि ।

को जाणइ कह पत्तं, चाहे वट्टमाणी से ॥

दुर्जयस्त्रिभुवनस्यापि मञ्ज्रातेन्द्रजुतिः, केवलमहमिदं मन्ये
बलादिना बलितोऽसौ तेन धूर्त्तेन छलजातिनिग्रहस्थानग्रहण-
निपुणेन, येन केनापि दुष्टेन भ्रामितो मद्बन्धुरित्यर्थः । अथवा
मायेन्द्रजालिकः कोऽपि निश्चितमसौ, येन तस्यापि जगद्गुरोर्मे-
ज्ञातुर्भ्रामित चेत् । तस्मार्त्तिकं बहुना, को जानाति तद्वाद्यन्तक
तयोस्तत्र कथं वृत्तं, तत्परोक्षत्वात् । इत ऊर्द्धं पुनर्मयि तत्र गते
(से) तस्य तदिन्द्रजालव्यतिकरभ्रमितमानसस्य खचरनरामत्रा-
तवन्दनमात्रवृत्तितचेतसः भ्रमणकस्य (वट्टमाणि चि) या का-
चिच्छार्त्ता वर्तनी वा भविष्यति, तां द्रष्टव्यं समग्रोऽपि लोक
इति । किं च तेन तत्र गच्छता प्रोक्तमित्याह-

सो पक्खंतरमेगं, पि जाइ जइ मे तओ मि तस्सेव ।

सीसत्तं होज्ज गओ, तत्तो पत्तो जिणसगासे ॥

को जानाति तावदिन्द्रभूतिस्तेन कथमपि तत्र निर्जितो न ।
किंतु एकमपि पक्षान्तरं पक्षविशेषं 'मे स यदि यात्यवबुध्यते,
मद्विहितस्य सहेतूदाहरणस्य पक्षविशेषस्य स यद्युत्तरप्रदा-
नेन कथमपि पारं गच्छतीति हृदयम् । ततः, भीति वाक्याल-
ङ्कारे । तस्यैव भ्रमणस्य शिष्यत्वेन गतोऽहं भवेयमिति निश्चयः ।
तत इत्यादिवागजितं कृत्वा जिनस्य श्रीमन्महावीरस्या-
न्तिकं प्राप्त इति । ततः किमित्याह-

आजासियो जिणेणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।

नामेण य गोत्तेण य, सव्वएणु सव्वदरिसीणं ॥

आभाषितं संलपितं जातिजरामरणविप्रमुक्तेन सर्वज्ञे-
न सर्वदर्शिना च जिनेन । कथं ? नाम्ना च हे अग्निभूते ! गोत्रेण
च हे गौतमसंगोत्र ! इति । इत्थं च नामगोत्राभ्यां संलपितस्य
तस्य चिन्ताऽभूत् । अहो ! नामापि मम विजानाति, अथवा ज-
गत्प्रसिद्धोऽहं, कः किल मां न वेत्ति ? यदि हि मे ह्युक्तं सशयं
ज्ञास्यत्यपनेष्यति वा तदा भवेन्मम विस्मय इति चिन्तयति
तस्मिन् भगवानाह-

किं मन्ने अत्थि कम्मं, उयाहु नत्थि चि संसओ तुज्ज ।

वेयपयाण य अत्थं, न याणियो तेमि मो अत्थो ॥

हे अग्निभूते गौतम ! त्वमेतन्मन्यसे चिन्तयसि यदुत कि-
यते मिथ्यात्वादिहेतुसमन्वितेन जीवनेति कर्म ज्ञानावर-
णादिकं तत्किमस्ति न वेति ? नत्वयमनुचितस्तव सशयः ।
अयं हि भवतो विरुद्धवेदपदनिबन्धनो वर्तते, तेषां च वेदप-
दानां त्वमर्थं न जानासि तेन संशयं करोषि । तेषां च वेदपदा-
नामयं वक्ष्यमाणलक्षणोऽर्थ इति । विशेषः (इति विरुद्धवेदपदा-
नामर्थव्याख्यापुरस्सरमसौ यथा ज्ञानावरणादिकं कर्म प्राहित-
स्तथा चास्मिन्नेव ग्रन्थे 'कम्म' शब्दे तृती० २४६ पृष्ठे वक्ष्यते)

त च प्रव्रजितं भूत्वा, दध्यौ तद्बान्धवोऽपरः ।

अपि जानु द्रवेदस्मि-हिंमानी प्रज्वलेदपि ॥ १ ॥

वह्निः शीतः स्थिरो वायुः, समवेन्न तु बान्धवः ।

हारयेदिति पप्रच्छ, लोकानश्रद्धाद् भृशम् ॥ २ ॥

ततश्च निश्चये जाते, चिन्तयामास चेतसि ।

गत्वा जित्वा च तं धूर्त्तं, बालयामि सहोदरम् ॥ ३ ॥

सोऽप्येवमागतः शीघ्रं, प्रमुखा प्राषितस्तथा ।

सदेहं तस्य चित्तस्य, व्यक्तीकृत्यावद्विष्टः ॥ ४ ॥

हे गौतमाग्निभूते ! कः, सदेहस्तव कर्मणः ? ।

कथं वा वेदतत्त्वार्थं, विभावयसि न स्फुटम् ? ॥ ५ ॥

स चायं " पुरुष एवेदं सर्वं यद्वत्तं यच्च भाव्य-

म् " इत्यादि । तत्र १ इति वाक्यालङ्कारे, यद् भूत-

मतीतकाले, यच्च भाव्य भाविकाले, तत्सर्वमिदं पुरुष

एव आत्मैव । एवकारं कर्मभवादिनिषेधार्थः । अनेन च

वचनेन यन्नरामरतिर्यक्पर्वतपृथिव्यादिकं वस्तु दृश्यते तत्स-

र्वमात्मैव । ततः कर्मनिषेधः स्फुट एव । किं च । अमूर्-

त्तस्यात्मनो भूत्तेन कर्मणाऽनुग्रह उपघातश्च कथं भवति ? ।

यथा आकाशस्य चन्द्रादिना मण्डनं खड्गादिना खण्डनं च

न सम्भवति, तस्मात् कर्म नास्ति इति तव चेतसि वर्त्तते । परं

हे अग्निभूते ! नायमर्थः समर्थः । यत इमानि पदानि पुरुष-

स्तुतिपराणि । यथा-त्रिविधानि वेदपदानि-कानिचिद्विधि-

प्रतिपादकानि । यथा-"स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादीनि ।

कानिचिदनुवादपराणि । यथा-"द्वादश मासाः सवत्सरः" इ-

त्यादीनि । कानिचित् स्तुतिपराणि । यथा-"इदं पुरुष एव "

इत्यादीनि । ततोऽनेन पुरुषस्य महिमा प्रतीयते न तु कर्माद्य-

भावः । यथा 'जले विष्णुः स्थले विष्णुः-विष्णुः पर्वतमस्तके ।

सर्वभूतमयो विष्णुः-स्तस्माद्विष्णुमयं जगत्' ॥ १ ॥ अनेन हि

वाक्येन विष्णोर्महिमा प्रतीयते, नत्वन्यवस्तूनामभावः । किं च,

अमूर्त्तस्यात्मनो भूत्तेन कर्मणा कथमनुग्रहोपघातौ ? । तद-

प्युक्तम्, यदमूर्त्तस्यापि ज्ञानस्य मद्यादिनोपघातो ब्राह्म्या-

द्यौयधेनवानुग्रहो दृष्ट एव । किं च । कर्म विना एकः सुखी, अन्यो दुःखी, एकः प्रभुः, अन्यः किङ्कर इत्यादि प्रत्यक्ष जगद्वैचित्र्य कथं नाम सम्भवतीति श्रुत्वा गतसंशयः प्रव्रजितः । इति द्वितीयो गणधरः । कल्पः । आ० म० प्र. (अन्यद् 'गणधर' शब्दे दृष्टव्यम्) पावकविभूत्यां, धीर्ये च । स्त्री० । ६७० । वह्निस्मदे, लि० वाच० ।

अग्निमाणव-अग्निमानव-पु० । दाक्षिणात्यानामग्निकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ अ० ३ उ० । प्र० । (अग्रमहिषीलोकपालादयश्चास्य 'अग्रमहिषीलोगपालादि' शब्देषु निरूपिताः)

अग्निमात्री-अग्निमाली-स्त्री० । रतिकरपर्वतस्योत्तरेण स्थितायां शक्राग्रमहिष्याम्, द्वी० ।

अग्निमिता-अग्निमित्रा-स्त्री० । पोद्वासनगरवास्तव्यस्याजीविकमतोपासकस्यैभ्यः कुम्भकारस्य सहालपुत्रस्य भार्यायाम्, उपा० ७ अ० ('सहालपुत्र' शब्देऽस्या वक्तव्यता)

अग्निमेह-अग्निमेघ-पु० । अग्निवहाहकारिजले मेघे, प्र० ७ श० ६ उ० ।

अग्निमय-अग्निम-पु० । नस्मकाभिधाने वायुविकारे, विपा० १ श्रु० १ अ० । इन्द्रदत्तेन राज्ञा स्वमन्त्रिसुतायामुत्पादितस्य सुरेन्द्रदत्तस्य दास्यां जाते पुत्रे, ('मणुस्म' शब्दे चैतद्विवृतिः) आ० चू० १ अ० । आ० क० । वत्सगोत्रावान्तर्गतगोत्रे, स्था० ७ अ० ।

अग्निमय-अग्निम-पु० । अग्ने भवः । अग्र-दिमचू । ज्येष्ठप्रातरि, अष्टे, वाच० । "अग्निमयि पच्छिमि ससे साहूणपाउमां" । प० व० २ अ० ।

अग्निमय-अग्नि-पुं० । पञ्चपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, सू० प्र० ३० पाहु० । च० प्र० । " दो अग्निमय " स्था० २ अ० । उ० ।

अग्निवेश-अग्निवेश-पु० । लोकप्रसिद्धे अग्निभेदे, न० ।

अग्निवेश-पु० । पक्षस्य चतुर्दशे दिने, ज० १ वक्ष० कल्प० । जो० । दिवसस्य द्वाविंशतितमे मुहूर्ते, च० प्र० । १० पाहु० ।

अग्निवेशायण-अग्निवेशायन-पु० । अग्निवेशस्यापत्यमग्निवेश्यः । गर्गदेश्येति प्रत्ययः । तस्याऽपत्यमग्निवेशायनः । अग्निवेशार्चिषोत्रे, न० । तत्रोत्रजाते च । यथा-सुधर्मा गणधरः । आ० म० छि० । कल्प० । गोशतस्य मङ्गलिपुत्रस्य पञ्चमे दिक्चरे, म० १५ श० १ उ० । द्वाविंशे दिवसमुहूर्ते, स० ३० सम० ।

अग्निसंस्कार-अग्निसंस्कार-पु० । अग्निना संस्कारो मन्त्रपूर्वकः । विधानेन अग्निकृतदाहे, वाच० । " जावण्या अग्निसंस्कारो " व्यापना नामान्निसंस्कारः, स च प्रगवत ऋषयस्य निर्वाणप्रासस्याऽन्येषां च साधूनामिद्विधाकूनामितरेषां च प्रथमं त्रिदशैः कृतः पञ्चाङ्गोऽपि सजातः । आ० म० छि० ।

अग्निमप्यजा-अग्निमप्यजा-स्त्री० । अवसर्पिण्यां द्वादशतीर्थकरस्य वासुपूज्यस्य दीक्षासमय उपयुक्तशिविकायाम्, स० ।

अग्निमप्यजा (ण) अग्निमप्यजा-पु० । तीर्थकोपान्विते अग्निभेदे, वाच० । यमुपहसता गुणसेनेन नवभवानुषङ्गि वैरं वर्कितम् । स्वनामख्याते ब्राह्मणेभ्यः, आन्वा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । (अस्य कथानकं 'सोमोसणिज' शब्दे दृष्टव्यम्)

अग्निसाह्य-अग्निसाह्य-त्रि० । अग्नेर्दायमाकत्वेन साधारणे, यथा- " हिरण्ये य सुवर्णे य जाव सावर्णे अग्निसाह्ये ओरसाह्ये रायसाह्ये मञ्जुसाह्ये " इत्यादि । म० ए० श० ३३ उ० । आ० ।

अग्निमप्यजा-अग्निमप्यजा-पु० । अग्नेरिव अग्निरिव वा शिक्षा यस्य । कुङ्कुमवृक्के, कुसुमवृक्के च । वाच० । अवसर्पिण्याः सप्तमदक्षनामकवासुदेवनन्दनामकवलदेवयोः पितरि, ति० ।

स० । आ० । औत्तराणामग्निकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ अ० । ज्वलनशिखनाम्नो राज्ञो मित्रे च । उ० १३ अ० ।

अग्निमुत्पजटावति, त्रि० । अग्निशिखेव शिखाग्रमस्य त्राङ्गशिकावृक्के, स्त्री० । अग्निमुत्पजटावति, त्रि० । स्वर्णे, कुसुमपुष्पे च । न० । ६ त० । अग्निज्वालायाम्, स्त्री० । वाच० । स्था० ।

अग्निसिद्धाचारण-अग्निशिखाचारण-पु० । अग्निशिखामुपादाय तेजस्कायिकानविराधयत्सु स्वयमदह्यमानेषु पादत्रिहाराणिपुणेषु चारणभेदेषु, प्र० ६७ अ० ।

अग्निमेष-अग्निमेष-पु० । वर्तमानायामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजसम्भवजिनसमकालिकैरवतजे तीर्थकरे, " भरहे य सन्नवजिणो, पेरवण अग्निसेणजिनचदो " ति० । नारतजारिणमिसमकालिकैरवतजे तीर्थकरे च, " नरदे अरिणेमि, पेरवण अग्निसेणजिनचदो " ति० । प्र० ।

अग्निहोत्र-अग्निहोत्र-न० । अग्नये हुयतेऽत्र । हु-प्र० । ४ त० । मन्त्रकरणवह्निस्थापनानन्तरं तदुद्देश्यकदोमे, वाच० । तत्स्वरूपं च समये वर्णिताद् लौकिकप्रतिष्ठितमवस्थादवगन्तव्यम् । यथा 'सिव' शब्दे शिवराज्यचरित्रोपाख्याने वर्णितम् । तच्च नित्यं काम्यं च यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति । वाच० । 'जरामर्त्यं वा पतत्सर्वं यदग्निहोत्रं, तज्जरामर्त्यमेव, यावज्जीव कर्त्तव्यमिति' [आ० म० छि० । विशेषः] श्रुत्या, 'नित्यस्य उपसद्भिश्चरित्वा मासमेकमग्निहोत्रं जुहोतीति' श्रुत्या च, काम्यस्य विधानमुक्तम् । वाच० ।

पतन्नाकिञ्चित्करमिति सिद्धान्ते दर्शितम्—

हुण एमे पवयति मोक्त्वं ॥ १३ ॥

एके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति । ये किल स्वर्गादिफलमनाशस्य समिधा घृतादिभिर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वन्ति, शेषास्त्वन्युदयायेति । युक्तिं चात्र त आहु-यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनामलं दहत्येव दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ।

इति पूर्वपक्षमुद्भाव्य—

हुतेण जे सिद्धिमुदाहरति सायं च पायं अगाणिं फुसता ।

एवं मिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा अग्निं फुसताण कुकम्पिणं पि ॥ १४ ॥

"अग्निहोत्रं जुहुयाव स्वर्गकाम" इत्यस्माद्व्याख्याद्ये केचन मूढा हुतेनाग्रनौ हव्यप्रक्षेपेण सिद्धिं सुगतिगमनादिका स्वर्गावासिलक्षणां मुदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति । कथंभूताः, सायमपरापदे विकाले वा, प्रातः प्रत्युषे वाऽग्निं स्पृशन्तो यथेष्टे हव्यैरग्निं तर्पयन्तस्तत एव यथेष्टगतिमभिसंपरितः । आहुष्येव ते-यथा अन्निकार्यास्तस्यादेव सिद्धिरिति । तत्र च यथेष्टमग्निस्पर्शेन सिद्धिर्भवेत्, ततस्तस्मादग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामद्वा-रदाहककुम्भकारायस्कारादीनां सिद्धिः स्यात् । यदपि च मन्त्रपूर्वादिनां तैरुदाह्रियते तदपि च निरन्तरं सुहृदः प्रयेष्यन्ति, यतः कुकर्मिणामप्यग्निकार्ये नस्मात्पादनमग्निहोत्रिकार्यादीनामपि नस्मत्सात्करणमिति नातिचिन्त्यते कुकर्मिन्योऽग्निहोत्रादिकं कर्मेति । यदप्युच्यते-अग्निमुखा धे दृषा, पतदपि

युक्तिविकलत्वाद् वाहमात्रमेव । विष्ठादिभक्तेन चान्नेस्तेषां
 घटुतरदोषोत्पत्तेरिति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । यदप्यभिहितम्-दे-
 वताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादकत्वाद् वेदविहिता हिंसा न दोषाय
 इति । तदपि वितथम् । यतो देवानां सकल्पमात्रोपनताभिमत-
 हारपुद्गलरसास्वादसुहितानां वैक्रियशरीरत्वाद् युष्मदावर्जि-
 तजुगुप्सितपशुमांसाद्याहुतिप्रतिगृहीताविच्छेदः दुःसमवा, औ-
 दारिकशरीरिणामेव तदुपादानयोग्यत्वात् । प्रक्षेपाहारस्वी-
 कारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वाज्युपगमबाधः । न च तेषां मन्त्र-
 मयदेहत्व भवत्प्रक्षेपेन सिद्धम् । “ चतुर्थ्यन्त पदमेव देवता ” इ-
 ति जैमिनिवचनप्रामाण्यात् । तथा च मृगेन्द्रः- “ शब्देतरत्वे
 युगप-द्विजदेशेषु यष्टुषु । न सा प्रयाति साक्षिभ्यः, मूर्त्तत्वादस-
 दादिवत् ” ॥ १ ॥ इति । सेति देवता । द्रव्यमानस्य च वस्तुनो भस्मी-
 जावमात्रोपलभ्यात् तदुपजोगजनिता देवतानां प्रीतिः प्रला-
 पमात्रम् । अपि च । योऽयं त्रेताऽग्निः स त्र्यम्बिशक्तोऽतिदेवता-
 नां मुखम्, “ अग्निमुखा वै देवाः ” इति श्रुतेः । ततश्चोत्तम-
 मध्यमाधमदेवानामेकैकैव मुखेन जुञ्जानानामन्योन्योच्छि-
 एभुक्तिप्रसङ्गः । तथाच ते तुरुष्केभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते । तेऽपि
 तावदेकत्रैवामत्रे जुञ्जते, न पुनरेकैकैव वदनेन । किंच ।
 एकस्मिन् वपुषि वदनबाहुभ्यः कचन भूयते, यत् पुनरनेकशरी-
 रेणैक मुखमिति महदाश्चर्यम् । सर्वेषां च देवानामेकस्मिन्नेव
 मुखेऽङ्गीकृते यदा केनचिदेको देवः पूजादिनाऽऽराधोऽन्यश्च नि-
 न्दादिना विराद्धस्ततश्चैकैकैव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहवाक्यो-
 ष्यारणसकरः प्रसज्यते । अन्यथा । मुख देहस्य नवमो भागस्त-
 दपि येषां दाहात्मक तेषामेकैकशः सकलदेहस्य दाहात्मक-
 त्वं त्रिबुवननवननस्मीकरणपर्यवसितमेव सामान्यते, इत्यत-
 तिचर्चया । यश्च कारीरीयस्त्रादौ वृष्ट्यादिफलाव्यभिचारस्त-
 त्प्रीणितदेवताऽनुग्रहेतुक उक्तः । सोऽप्यनैकान्तिकः । क्वचि-
 द्यभिचारस्यापि दर्शनात् । यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न
 तदाहिताहुतिभोजनजमा तदनुग्रहः, किं तु स देवताविशेषोऽ-
 तिशयज्ञानी स्वोद्देशनिर्वर्तितं पूजापचारं यदा स्वस्थानावस्थि-
 तः सन् जानीते तदा तत्कर्त्तारं प्रति प्रसन्नचेतोवृत्तिस्तत्तत्कार-
 याणीच्छावशात्साधयति । अनुपयोगादिना पुनरज्ञानानो जाना-
 नोऽपि वा पूजाकर्तुरभाग्यसहकृतः सन्न साधयति, छव्यक्तेत्रका-
 लजावादिसहकारिसाधिव्यापेक्षस्यैव कार्योत्पादस्योपलभ्यात् ।
 स च पूजापचारः पशुविशसनव्यतिरिक्तैः प्रकारान्तरैरपि सुकरः,
 तत्किमनया पापैकफलया शौनिकवृत्त्या ? यश्च ऋगजजाङ्गलहो-
 मात् परराष्ट्रवशीकृतिसिद्ध्या देव्याः परितोषानुमानम् । तत्र कः
 किमाह ? कासांचित् क्षुद्रदेवतानां नथैव प्रत्यङ्गीकारात् । केवलं
 तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादिनैव परितोषो न पुनस्तद्वक्तव्यः । नि-
 म्बपत्रकटुकतैलाऽऽरनालधूमादीनां द्रव्यमानछव्याणामपि तद्-
 भोज्यत्वप्रसङ्गात् । परमार्थतस्तु तत्तत्सहकारिसमवधानसचि-
 वाराधकानां भक्तिरेव तत्तत्फलं जनयति, भवेतने चिन्तामण्यादौ
 तथा दर्शनात् । स्या० ११ श्रु० ॥ ननु “ न वि जाणसि वेयमुहं न
 वि जज्ञाण ज मुहं इति ” जयघोषेण पृष्टो विजयघोषोऽशङ्क उ-
 च्चरदाने “ वेयाण च मुहं बूहि, बूहि जज्ञाण ज मुहं इति ” जयघोष-
 मेव जिज्ञासमानः “ अग्निहोत्रमुहा वेया जज्ञाणी वेयसां मुहं ” ।
 इति तथ्यमुत्तरमवाप्तो विजयघोषः प्रवव्राज । उक्त० २५ अ० ।
 इत्यग्निहोत्रस्य सिद्धान्तेऽपि कर्तव्यत्वमन्युपगतं कथं दृष्यते ?
 सत्यम् । न तत्र प्राणिवधप्रधानं छव्याग्निहोत्रं गृह्यते, किं तर्हि
 ध्यानाग्निहोत्रम् । तथाच तद्दीक्षा-अग्निहोत्रमग्निकारिका, सो

चेह “ कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सज्जावनाऽऽहुतिः । धर्मध्याना-
 ग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ” ॥ १ ॥ इत्यादिरूपा परिगृह्यते ।
 तदेव मुखप्रधानं येषां तेऽग्निहोत्रमुखा वेदाः । वेदानां हि त्र्यधा-
 देरिव नवनीतादि आरण्यकमेव प्रधानम् । उक्तं हि- “ नवनीत
 यथा दध्नश्चन्दनं मलयादिषु । औषधेभ्योऽमृतं यद्व-द्वेदेष्वा-
 रण्यकं तथा ” ॥ १ ॥ तत्र च दशप्रकार एव धर्म उक्तः । तथा च तद्व-
 च- “ सत्यं तपः सतोपः सयमश्चारित्र्यमार्जवं क्रमा धृतिः श्रद्धा
 अहिंसेत्येतद्दशविधमिह धामोति ” । तत्र च धामशब्देन धर्म-
 एव विवक्षितः । एतदनुसारि चोक्तं रूपमेवाग्निहोत्रमिति । उ-
 क्त० २५ अ० ।

एतदेव प्रपञ्चितं हारिभद्राष्टके—

कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सज्जावनाऽऽहुतिः ।

धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥ १ ॥

कर्म ज्ञानावरणादिकं मूलप्रकृत्यपेक्षयाऽष्टप्रकारं, तदेव दाहा-
 त्वादपनेयत्वादिन्धनमिवेन्धनं कर्मेन्धनं तत्समाश्रित्याङ्गीकृत्या-
 ग्निकारिका कार्येति योगः । किंविधा ? दृढा कर्मेन्धनदाहं प्रति
 प्रत्यक्षा । तथा सज्जावना शुभरूपा या जीवस्य वासना सैवा-
 हुतिर्घृतादिप्रक्षेपलक्षणा यस्यां सा तथा । केन करणभूतेनेत्या-
 ह-धर्मध्यानाग्निना धर्मध्यानमुपलक्षणत्वाच्चतुर्गुह्येन तन्वाग्नि-
 वाग्निधर्मध्यानं च तद्गन्धिधर्मध्यानाग्निस्तं कार्या विधेया ।
 केनेत्याह-दीक्षितेन प्रव्रजितेन । काऽसौ ? अग्निकारिका अग्नि-
 कर्मेति । इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्—दीक्षितस्य छव्याग्निकारिका
 अनुचिता, तस्या नृतोपमर्दरूपत्वात्, तस्य च तन्निवृत्तत्वेन
 तत्रानधिकारित्वात् । अधिकारिवशाच्च धर्मसाधनसंस्थितिरिति
 प्रागुक्तम् । गृहस्थस्य तु सर्वथा नृतोपमर्दानिवृत्तत्वेनाधिका-
 रित्वात्तां करोत्यपि । अत एव धूपदहनदीपप्रबोधादिना प्रका-
 रेण छव्याग्निकारिकामपि कुर्वन्त्याहृतगृहस्था इति । अनेन
 श्लोकेनेदमुक्तं भवति—यदि हे कुतार्थिकाः ! यूयं दीक्षितास्तदा
 कर्मलक्षणां समिधः कृत्वा धर्मध्यानलक्षणमग्निं प्रज्वाल्य
 सज्जावनाहुतिप्रक्षेपतोऽग्निकारिका कार्या, नत्वन्या, तस्या दी-
 क्षितानामनुचितत्वात् । यदि तु हन्त ! गृहस्थास्तत्तुल्या वा,
 ततः कुरुष्व द्रव्याग्निकारिकामिति ॥ १ ॥

अथ ध्यानाग्निकारिकैव कार्या दीक्षितेनेति परसि-

द्धान्तेनैव प्रसाधयन्नाह—

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता, ज्ञानध्यानफलं स च ।

शास्त्रं उक्तां यतः सूत्रं, शिवधर्मोत्तरे श्रुतः ॥ २ ॥

दीक्षा प्रव्रज्या, मोक्षार्थं सकलकर्मनिर्मुक्तिनिमित्तमाख्याता त-
 त्स्वरूपज्ञैर्निगदिता । यत एव ततस्तां प्रतिपक्षेन मोक्षसाधक-
 मेवानुष्ठानमाश्रयणीयं न पुनर्छव्याग्निकारिकेति हृदयम् । छ-
 व्याग्निकारिकैव साधनं मोक्षस्येत्याशङ्क्य निराकरणायाह-
 (ज्ञानध्यानफलं स चेति) स पुनर्मोक्षो विज्ञप्तिशून्यैकाग्रत्वयोः
 साध्यो वर्तते न पुनर्छव्याग्निकारिकाया इति भावना । कथमि-
 दमवसितं प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात्तस्येति चेदत आह-शास्त्रे उक्तं ।
 आगमे ज्ञानध्यानफलतयाऽभिहितं इत्यर्थः । यद्यपि हि प्रत्यक्षा-
 नुमानयोरसावतीन्द्रियत्वेनागोचरस्तथाऽप्यागमानिहितत्वात्
 ज्ञानफलतयाऽसौ प्रतिपत्तव्यः । आगमश्च प्रमाणतया सर्वमोक्ष-
 वादिजिरन्युपगत एव । यद्यपि च बौद्धैः स तथा नेष्यते, त-
 थापि सहायविशेषनिबन्धनतया प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुत्वात् तैः क-
 थंचिद्व्युपगतं पदेति । अथ कथमवसितमिदं यदुत शास्त्रेऽसौ

तत्फलतयाऽजिहित इत्याशङ्क्याह—यतो यस्मान्कारणात् सूत्र-
मर्थसूचक वाक्य शिवधर्मोत्तरे शिवधर्माभिधाने पराजिमेते
शैवागमविशेषे, हिरिति वाक्यालकारे । अद एतद्वद्भयमाण-
मिति । अतो भवदच्युपगतशास्त्रे मोक्षस्य ज्ञानादिफलतयोक्त-
त्वात् मोक्षार्थिना दीक्षितेनानाधिकृता द्रव्याग्निकारिका का-
र्येति ज्ञावार्थ इति ॥ २ ॥

तदेव सूत्र दर्शयन्नाह—

पूजया विपुलं राज्य-मशिकार्येण सपदः ।

तपः पापविशुद्ध्यर्थं, ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥३॥

पूजया देवतायाः पुष्पाद्यर्चनवृत्तयः न तु तदन्यथा, तदन्य-
स्यास्तपोज्ञानरूपत्वेन पापविशुद्धिमोक्षयोरेव सपादकत्वाद् । वि-
पुलं विस्तीर्णं राज्य राजभावो भवति, तत्कारकस्येति गम्यते ।
तथा अशिकार्येण अग्नावग्निना वा कार्यं कृत्यमशिकार्यम्, तेन
द्रव्याग्निकारिकेत्यर्थः, न ज्ञावाग्निकारिकया, तस्या ध्यानरूप-
त्वेन मुक्तिसाधकत्वात् । सपदं समृद्धयो जवन्तीति गम्यम् ।
तथा तपोऽनशनादि, पापविशुद्ध्यर्थमशुभकर्मक्षयाय भवति ।
तथा ज्ञानमवबोधविशेषः, ध्यानं च शुभचित्ताग्रतालक्षणम्, च
शब्दं समुच्चये, मुक्तिदं मोक्षप्रदं जवतीति शिवधर्मोत्तरग्रन्थ-
सूत्रार्थ इति ॥ ३ ॥

एव तावत् पराच्युपगमेनैव द्रव्याग्निकारिकाकरण दीक्षितस्य
दूषितम्, अथ तस्यैव पूजां पुनराग्निकारिकां च प्रकारान्तरेण
दूषयन्नाह—

पापं च राज्यसंपत्सु, संभवत्यनर्थं ततः ।

न तद्धेतोरुपादान-मिति सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥४॥

न केवलं मुमुक्षोरग्निकारिकाकरणमपार्थक्यम्, पापं चाशुभं कर्म
च, राज्यसंपत्सु नरपतित्वसमृद्धिषु पूजाग्निकारिकाकरणान-
न्तरं फलभूतासु सतीषु, संभवति सजायते । यत एव ततस्त-
स्मादनघ निरवधं ते नैव भवति, तद्धेतोः राज्यसंपत्कारणयोः
पूजाग्निकारिकारूपयोरुपादानमाश्रयणमिति । एतदनन्तरं पू-
जाग्निकारिकयोरुपादानस्य सपापत्वं सम्यक् स्वसिद्धान्तावि-
रोधेन विचिन्त्यतां पर्यालोच्यतामिति । सुपर्यालोचितकारिणो
हि भवन्ति मुमुक्षव इति ॥ ४ ॥

राज्यसंपत्सु पापं भवतीत्युक्तं तदेवाश्रित्याक्षेपं क्रियते,

ननु राज्यसंपत्तावे भवतु नाम पापम्, दानादिना तु
तस्य शुक्तिर्जविष्यतीत्याशङ्क्याह—

विशुद्धिश्चास्य तपसा, न तु दानादिनैव यत् ।

तदियं नान्यथा युक्ता, तथा चोक्तं महात्मना ॥५॥

विशोधनं विशुद्धिः, सा पुनरस्य राज्यादिजन्यपापस्य तपसा,
अवधारणस्येह सवन्धात्तपसैव अनशनादिनैव, तप पापवि-
शुद्ध्यर्थमिति वचनात्, न तु दानादिना न पुनर्दानहोमादिना,
दानेन प्रोगानामेतीति वचनात् । तत् कथं दीक्षितस्य पूजाग्निक-
ारिके युक्ते इति । इह च द्रव्याग्निकारिकाया एव मुख्यं दूषणं,
पूजायास्तु प्रासङ्गिकमित्यग्निकारिकाया एव निगमनमाह—(त-
दियं नान्यथा युक्तेति) यस्मात् मुमुक्षोर्व्यर्थेयं पापसाधनसप-
क्षेतुतया च, तत्तस्मादियमग्निकारिका, नैव, अन्यथा धर्मध्याना-
ग्निकारिकाया प्रकारान्तरापत्ता, द्रव्याग्निकारिकेत्यर्थः, युक्ता स-
गतेति । विशोधनाहं पापसपादकसपक्षिमित्त्वेन द्रव्याग्निका-
रिकाया अकरणीयत्वं व्यासस्यापि न्यायतः समतमिति दर्शय-
न्नाह—तथा चोक्तं महात्मनेति । तथा च यथाऽस्मदुक्तार्थसंवादे
भवति, तथैव उक्तमजिहितं, महात्मना परमस्वभावेन, व्यासेनेति

शेषः । इह च यन्मिथ्याहृष्टेरपि व्यासस्य महात्मत्वान्निधान-
माचार्येण कृतं, तत्परसमतानुकरणमात्रमात्मनो माध्यस्थ्य-
विष्करणार्थमिति न ह्युच्यते । समतमं परस्य माहात्म्यतया व्या-
सः । अत एव च तद्वचनं स्वपक्षे परप्रतिजननायोपन्यस्तमिति ॥५॥

तदेवाह—

धर्मार्थं यस्य विच्छेदा, तस्यानीहा गरीयसी ।

प्रकालनाच्छि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ ६ ॥

धर्मार्थं धर्मनिमित्तं, यस्य पुंसः, विच्छेदा द्रव्योपार्जनचेष्टा कृषिवा-
णिज्यादिका, तस्य पुरुषस्य, अनीहा अचेष्टा विस्तानुपार्जनमेव, ग-
रीयसी श्रेयसितरा, सङ्गनतरेत्यर्थः । अयमभिप्रायः—विस्तार्थं चेष्टा-
यामवश्यं पापं भवति, तच्चोपार्जितवित्तवितरणेनावश्यं शोध-
नीयं जवति । एवं च विस्तार्थमचेष्टैव वरतरा, वित्तवितरणविशो-
ध्यपापाज्जावात्, परिग्रहारम्भवर्जनात्मकत्वेन चेष्टाया एव च धर्म-
त्वादिति । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह—प्रकालनाच्छि पङ्कस्य दूराद् हिंय-
स्मात्, पङ्कस्याशुचिरूपकर्मस्य दूराद् विप्रकर्षादस्पर्शनमश्लेषण
मेव, वरं प्रधानमिति । इदमुक्तं भवति—यदि पङ्कं करचरणादिरवय-
वः क्षिप्त्वाऽपि प्रकालनीयस्तदा वरमक्षिप्तं एव, एव यद्यग्निकारि-
का विधाय सपदं उपार्जनीयास्तज्जन्यपापकं च पुनर्दानेन शोधनी-
यं, तदा सैवाग्निकारिका वरमकृतेति । प्रयोगश्चेह—न विधेया मुमु-
क्षुणा द्रव्याग्निकारिका, तन्सपादस्य कर्मपङ्कस्य पुनः शो-
धनीयत्वात्, पादादेः पङ्कपवदिति । एव तर्हि गृहस्थेनापि पू-
जादिनं कार्यं स्यात्, नैवम्, यतो जैनगृहस्था न राज्यादिनिमित्तं
पूजां कुर्वन्ति । न च राज्याद्यावर्जितमवधं दानेन शोधयिष्याम
इति मन्यन्ते, मोक्षार्थमेव तेषां पूजादौ प्रवृत्तेः । मोक्षार्थेतया च
विहितस्यागमानुसारिणो वीतरागपूजादेर्मोक्ष एव मुख्यं फलम्,
राज्यादि तु प्रासङ्गिकम् । ततो गृहिणं पूजादिकं नावि-
धेयम्, दीक्षितेतरेयोश्च अनुष्ठानस्यानन्तर्यपारंपर्यकृत एव फलं
विशेष इति ॥ ६ ॥

दीक्षितस्यापि सपदर्थित्वे सति युक्ता द्रव्याग्निका-
रिकेत्याशङ्कानिराकरणायाह—

मोक्षाध्वसेवया चैताः, प्रायः शुभतरा जुवि ।

जायन्ते ह्यनपायिन्य-इयं सच्छास्त्रसंस्थितिः ॥ ७ ॥

मोक्षा निर्वाणम्, तस्याध्वा मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचरणसङ्गणे-
स्तस्य सेवाऽनुष्ठानं मोक्षाध्वसेवा, तथा, चशब्दं पुनः शब्दार्थः ।
ततश्चाग्निकारिकायाः कार्यभूताः सपदः पापहेतुतया अशुभाः,
मोक्षाध्वसेवया पुनः शुभतरा जवन्तीत्यर्थो वक्ष्यते । अवधार-
णार्थो वा चशब्दः, तेन मोक्षाध्वसेवयैव, नाग्निकारिकाकर-
णत एता अनन्तरोदिता अग्निकारिकाफलभूता सपदः, प्रायो
बाहुल्येन । प्रायोग्रहणं च कस्यापि मोक्षाध्वसेवाप्रवृत्तये एव नि-
र्वाणभावात् जायन्ते एवेति ज्ञापनार्थम् । शुभतरा अग्निकारि-
काकरणेभ्यः सकाशात्प्रशस्ततराः । भुवि पृथिव्यां, जायन्ते भव-
न्ति । हिशब्दो यस्मादर्थः, अनपायिन्यः पापवर्जिताः । यस्मा-
न्मोक्षाध्वसेवया प्रशस्ततराः, अनपायिन्यश्च सपदो जायन्ते, त-
स्मादियमग्निकारिकाया नान्यथा युक्तेति प्रक्रमः । मोक्षाध्वसेवया
शुभतरा एता भवन्तीति कथमिदमवसितमित्याशङ्क्यामाह—
इदयमनन्तरोदिता सच्छास्त्रसंस्थितिराविसवादकागमव्यवस्था,
यदाह—“मोक्षमार्गप्रवृत्तस्य, महाच्युदयवन्धयः । सजायन्तेऽनु-
बद्धेण, पलायं सत्कृपाविषं” ॥१॥ मुमुक्षुणां च शास्त्रं प्रमाण-
मेव । यदाऽऽह—“न मानमागमादन्यद्, मुमुक्षुणां हि विद्यते ।
मोक्षमार्गे ततस्तत्र, यतितव्यं मनीषिभिरिति” ॥ ७ ॥

अथ परसमयसमाभयणेनैव छव्याभिकारिकाकरण
निराकुर्वन्नाह-

इष्टापूर्त्तं न मोक्षाङ्गं, सकामस्योपवर्णितम् ।

अकामस्य पुनर्योक्ता, सैव न्याय्याऽभिकारिका ॥ ८ ॥

इज्यते दीयते स्मेतीष्टम्, पूर्यते स्मेति पूर्त्तम्, इष्टं च पूर्त्तं चे-
तीष्टापूर्त्तमिति समाहारद्वन्द्वः । छान्दसत्वाच्चेष्टापूर्त्तम् । तत्स्वरूप
चेदम्-“अन्तर्वेद्यां तु यदक्ष, ब्राह्मणानां समकृतः । अतिविभिर्मे-
न्त्रसस्कारै-रिष्टं तदभिधीयते ॥ घापीकूपतडागानि, देवतायत-
नानि च । अन्नप्रदानमारामाः, पूर्त्तं तदभिधीयते ॥ २ ॥” तदेवमुक्त-
स्वरूपमिष्टापूर्त्तम्, न नैव, मोक्षाङ्गं मुक्तिकारणम् । इदमभि-
प्रायः-अभिकारिका न मोक्षाङ्गमिष्टकर्मरूपत्वात् । तस्या यतोऽन्त-
र्वेशामाहुतिप्राधान्येन कर्माणोप्यन्त इति । कुतस्तन्न मोक्षाङ्गमि-
त्याह-सकामस्याभ्युदयान्निहाविष्, यस्मात्तदित्येष वाक्यशे-
षो दृश्यः । उपवर्णितमुपदिष्टम्, भवदीयसिद्धान्त एव यतः श्रू-
यते-“स्वर्गकामो यजेत ” इत्यादि श्रुतिवचनम् । तथा “इष्टापू-
र्त्तं मन्यमाना वरिष्ठ, नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः । नाकस्य
पृष्ठे सुकृतेन भूत्वा, इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ” इति ।
अथाकामस्य का वार्तेत्याशङ्क्याह-अकामस्य स्वर्गपुत्राद्यनाश-
सावतो मुमुक्षोः, पुन शब्दः । पूर्ववाक्यार्थस्य विशेषाभिधायकः ।
योक्ता कर्मन्धनमित्यादिना प्रतिपादिता, सैव, नान्या परान्युपग-
ता, न्याय्या न्यायादनपेता । न्यायश्च दर्शित एव । अभिकारिकाऽ-
भिक्रियेति ॥ ८ ॥ इति चतुर्थाष्टकविवरणम् ॥ ८१० ४ अष्ट० ।
अग्निहोत्रसम्बन्धित्वाद् द्वित्रिषि, त्रहौ च । पु० । वाच० ।

अग्निहोत्रवाद् (ण) अग्निहोत्रवादिन्-पु० । अग्निहोत्रादेव
स्वर्गगमनमिच्छति, तत्सिद्ध्ये युक्तिवादिनि, “ जे अग्निहो-
त्रवादी जलसोयं जे य इच्छति ” इत्याग्निहोत्रवादिनां कुशील-
त्वं दर्शितम् । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अग्न्युज्जाण-अग्न्योद्यान-न० । नगरादेर्बहिः प्रधानोद्याने, “ ह-
त्थिसीसे जस्स णयरस्स बहिया अग्न्युज्जाणे सत्थसखिवेसं क-
रेति ” । ज्ञा० १७ अ० । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अग्नेऽ-आग्नेय-त्रि० अग्नेरिदम्, अग्निदेवताऽस्य वा दक्ष । अ-
ग्निदेवताके हविरादौ, वाच० । शास्त्रभेदे च । न० । सूत्र० १
श्रु० ८ अ० ।

अग्नेर्ऽ (णी) आग्नेयी-स्त्री० अग्निदेवता यस्याः सा आग्ने-
यी । दक्षिणपूर्वस्यां विदिशि, (‘दिशा’ शब्दे वक्तव्यता) न०
१ श्रु० १ उ० । स्था० । आ० म० द्वि० ।

अग्नेणीय-अग्रायणीय-न० । चतुर्दशपूर्वाणां मध्ये द्वितीयपूर्वे,
(अस्य विस्तरस्तु ‘अग्नाणीय’ शब्दे) न० । स्था० ।

अग्नेत (य) अ-अग्नेतन-त्रि० । अग्ने भवति, अग्ने-टपु । पौर-
स्त्ये, आ० म० प्र० ।

अग्नोदय-अग्नोदक-न० । उपरितन उदके, “लवणस्स णं समु-
हस्स सठि णागसाहस्सीओ अग्नोदयं धारैति ” अग्नोदयति-
षोडशसहस्रोच्छ्रिताया वेल्याया यदुपरि गम्यतिद्वयमानं वृद्धि-
हानिस्वजावं तदग्नोदकम् । जीवा० ३ प्रति० ।

अग्न-राज-धा० दीप्तौ, ज्वादि०, उभ०, अक०, सेद्, फणादिः ।
वाच० । “ राजेरग्नजसहरीररेहा. ” ८ । ४ । १०० । इति
राजेरग्नः । अग्नह, राजति, राजते । प्रा० ।

अर्घ-पु० अर्ह-घञ् । रजतादिद्रव्यरूपे मूल्ये, वाच० । संथा० ।

आघ० मत्स्यभेदे, “ लवणसमुद्दे अर्धवेत्तं धरति वा णाग-
राया अर्घसिंहा विज्जाह वा ” अर्घादयो मत्स्यकच्छपविश-
याः । जी० ३ प्रति० ।

अर्ह-करणे घञ्, न्यङ्कादित्वात् कुत्वम् । पूजोपचारे दुर्वाङ्ग-
तादौ, वाच० । पुष्पादिषु पूजाद्रव्येषु, ज्ञा० १६ अ० ।

अर्घ्य-त्रि० अर्घाय देयं यत्तदर्थम् । पूजार्थं देये अवादी, अ-
र्धद्वयाणि च “आपः क्षीरं कुशाम् च, दधि सर्पिः सतएवमुहम् ।
यवः सिन्धुर्धनश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घः प्रकीर्तितः ” ॥ १ ॥ वाच० ।

अग्न्यान्-पूर-धा० पूर्य, प्रीणने च । दिवा०, आत्म०, सक०, सं-
द् । चुरा०, उभ०, सक०, सेद् । वाच० । प्राकृते “पूरेरग्न्याङ्गोऽग्नोद-
माङ्गुमादिरेमा. ” ८ । ४ । १६८ । इति पूरेरग्न्याभादेशः । अग्न्या-
मह, पूर्यते, पूरयति वा । प्रा० ।

अग्न्यान्-आघ्रातक-पु० । गुच्छवनस्पतिकायभेदे, प्रका० १ पद ।

अग्न्यान्-देशी, अपामार्गे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्न्यान्-देशी, तृप्तार्थे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्न्यान्-आघ्राय-अव्य० । नासिकया गन्धं गृहीत्वेत्यर्थः । “सुर-
जिगंधाणि वा अग्न्यान् से तत्थ आसाय वरियाप मुञ्चिप ”
आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । आ० म० प्र० ।

अग्न्यान्-आजिघ्रत्-त्रि० । उत्सिङ्गति गन्धं नासिकया गृ-
ह्णाति, “ महया गधरुणि सुयत अग्न्यान्माणीओ दोहस विणि-
ति ” ज्ञा० ८ अ० । आ० म० द्वि० ।

अग्निध-अर्धित-त्रि० । अर्ध-क, अर्धः सजातोऽस्य इतच्च् ।
बहुमूल्ये, “ अन्धियं नाम बहुमोलं ” नि० चू० २ उ० ।

अघ-अघ-न० । अघ-भावेऽच् । पापे, वाच० । “ ब्राह्मणो सि-
प्यते नद्यै-र्नैयागप्रतिपत्तिमाद् ” अष्ट० २८ अष्ट० । कर्त्तरि अच् ।
पापकारके, त्रि० । व्यसने, ड्रु-ञ्च । न० । पूतनाषकासुरयो-
न्त्रांतरि असुरजेदे, पुं० । वाच० ।

अघण-अघन-त्रि० । न० त० । अष्टदे, ओ० । विरले, पि० ।

अघाङ्गी-अघातिनी-स्त्री० ज्ञानदर्शनादिगुणानां मध्ये न कि-
ञ्चिद् गुणं प्रतीत्येव शिला अघातिन्यः । ज्ञानादिगुणानामघातनाम-
करणशीलासु कर्मप्रवृत्तिषु, अघातिन्यः प्रकृतयो ज्ञानादिगुणं न
प्रति, केवलं यथा स्वयमतस्करस्वभावाऽपि तस्करैः सह वर्त-
मानस्तस्कर इव दृश्यते, एवमेता अपि घातिनीभिः सह विद्यमा-
नास्तदोषा इव भवन्ति । यदाहुः श्रीशिवशर्मसूरिप्रवरा-“अवसे-
सा पयसीओ, अघाश्यार्दि पलियभागां” पलियभागां सि । सादृश्यं
घातित्वं च प्रकृतीनां रसविशेषाद् विज्ञेयम् (ताभ्यपञ्चसप्ततिस-
क्याका अभिधीयन्ते, इत्यादि ‘कम्म’ शब्दे तृतीयभागे २६५
पत्रे प्रतिपादितम्)

अघाइरस-अघातिरस-पुं० ज्ञानादिगुणस्य स्वकार्यसाधन प्र-
त्यसामर्थ्याकारके रसस्पर्द्धकसङ्गते, प० स० ३ द्वा० ।

अघातिरसस्वरूपमाह-

जाण न विसओ घाइ-तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो ।

जायड घाइसगासे-ण चोरया वेव चोराणं ॥ ३६ ॥

यासां प्रकृतीनां घातित्वमधिकृत्य न कोऽपि विषयो न किमपि
ज्ञानादिगुणं घातयतीत्यर्थः, तासामपि घातिसकाशेन सर्वत्रा-
तिप्रकृतिसपर्द्धतो जायने सर्वघातिरसः । अत्रैव निदर्शनमाह-
यथा स्वयमचौराणां सतां चौरसपर्द्धतश्चौरता । प० स० ३ द्वा० ।

अघुणित (य)-अघुणित-त्रि० धुणैरधिद्धे, वृ० १३० ।

अचं (षं) कारियभट्टा-अचङ्कारितभट्टा-स्त्री० धन्यश्रेष्ठिनो
नद्यायां नार्यायामुत्पादितायामुपायतन्त्रत्वादतिशेहन न केनचि-
देषा चङ्कारयिन्येति स्वनामख्यातायां सुतायाम्, ग० २ अधि० अ-
मानफले अचकारितभट्टेदाहरणम् । यथा-खितिपतिद्विय नगर ।
जियस्स राया धारिणी देवी । सुबुद्धी सचिवो । तथ य नगरे धणो
नाम सेट्ठी । तस्स नट्टा णाम भारिया । तस्स य धूया नट्टा । सा य
मार्जपयभाउयाण य उवायलक्का । मायपितादि य सव्वपरिजणं
प्रणति-एसा ए य केण वि किंचि चकारेयव्व सि । ताहे
सोणेण से कयं णाम अचकारियभट्ट सि । सा य अनीव रुववती
बहुसु वणियकुलेसु वरिज्जति । धणो य सेट्ठी भणइ-जो एय ण च-
कारेदिति तस्सेसा विज्जहिति सि, एव घरगे परिसेहति । अण-
याए सचिवेण वरिया । धणेण भणिय-जइ ण किंचि वि अयराइ
चंकारेहिसि तो ते पयच्छामो । तेण य पमिसुय । तस्स दिष्सा
भारिया । सो त न चकारेति । सो य अमश्चे रातीए जामे गय रा-
यकज्जाणि समाणेउ आगच्छति । सा त दिणे खिसति-सवेलाए
नागच्छसि सि । ततो सवेलाए एतुमसुत्तो । अस्सया रण्णा वि-
ता जाया-किमेसो मती सवेलाए गच्छति । रण्णो अण्णेहिं कहिय-
एस नारियाए आणान्ण ग करेति सि । अस्सया रण्णा भणिय-इम
परिस तारिस च कज्ज सवेलाए तुमे ए गतव्व । सो उस्सुयजु-
तो वि रायाणुयसीए वितो । सा य रुठा दारं बन्धेव विआ । अ-
मच्चओ आगओ । उस्सूरो दारमुग्धाडेहिं चि बहुजणिये वि जा-
हे ण उग्धाडेति, ताहे तेण चिर अत्थिरुण भणिया-तुम ए चे-
व सामिणी डोळ्जासि सि । अहो ! मे आलो अगीकओ, ताहे सा
अहमाहोहिं चि भणिया दारमुग्धाकिउ पिउघर गया, सव्वाल-
कारविभूसिआ अंतरा चोरेहिं गहिया । तीसे सव्वालकारे घेत्तु
चोरेहिं सेणावतिस्स उवणीया । तेण सा भणिया-मम महिला
होहिं सि । सो न बन्धेण ण जुजति । सा वि त णेच्छति । ताहे तेण वि
सा जलूगवेज्जस्स इत्थे विकिया । तेण वि सा प्रणिया-मम प्र-
ज्जा भवाहिं सि । न पि अणिच्छती तेणावि रुसिएण भणिया-पा-
णीयातो जलूगा गेएहहिं सि । सा अप्पाण णवणीएणमखिउं
जलमवगाहइ । एव जलूगाओ गिएहति । सा त अण्णुरुव कम्म
करेति, ण य सीलभग इच्छति । सा तेण रुहिरसावेण विरुव-
लावसा जाया । इतो य तस्स माया दूयकिञ्चेण तत्थागओ । तेण
सा अणुसरिसि सि काउ पुच्छिया । तीए कहिय । तेण दव्वेण
मोयाविया । आणिया य वमणविरेयणेहिं पुण णवसरीरा जा-
या । अमश्चेण पच्छा णियघरमाणिया, सव्वसामिणी उविया ।
ताहे कोहपुरस्सरस्स माणस्स दोस दट्ठु अभिगगो गहियो ।
ए मए कोहो माणो धा कायव्वो । तस्स घरे सयसहस्सपाग
तेल्लमत्थि । त च साहुणा वणसरोहणत्थ ओसह मग्गिय । तीये
दासवेडी आणत्ता आणेहिं सि । तीए आणतीए सह तेल्लणग
भायण भिष् । एव तिष्णि भायणाणि भिष्णाणि, ण य सा रुद्धा ।
तिसु सयसहस्सेसु विणट्ठेसु चउत्थवाराए अप्पणा उट्ठेकण
दिष् । जइ तीए कोहपुरस्सरो मेरुसरिसो माणो निजिओ ।
साहुणीहिं सुट्टुनर णिहतव्वो सि । ग० २ अधि० ।

अचंचल-अचञ्चल-त्रि० । वशीकृतेन्द्रिये, प्रव० ६४ द्वा० । 'च-
चल' शब्दे प्रतिपादयिष्यमाणे चञ्चलविपरीते अनुयोगश्रव-
णाहं, वृ० १ उ० ।

अचंर-अचण्ड-त्रि० । न० त० । अतीवक्रोपे, त० । निष्कार-

णप्रबलकोपरहिते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । स० । सौम्ये, "मा
अचंडालिय कासी" उक्त० १ अ० ।

अचकि (ण)-अचकिन्-पु० न चकी । नञः पर्युदासवा-
चकत्वेन सदशग्राहकत्वात् सामान्यपार्थिवे, वृ० १ उ० ।

अचक्रिय-अचकित-त्रि० । अत्रासिते, "समुद्गमीरसमा दु-
रासया, अचक्रिया केणइ दुप्पहसया" उक्त० ११ अ० ।

अचक्ख-दृश्-धा० चाक्षुषज्ञाने, भ्यादि०, पर०, सक०, अ-
निद् । वाच० । "दशो निअच्छुपेच्छावयच्छावयज्जमच्च-
सच्चवेकलो अक्खच्चक्खा" । ८।४।१८० । इत्यादिना सूत्रेणाच-
क्खादेशः । अचक्खइ, पश्यति । प्रा० ।

अचक्खु-अचक्षुप्-न० । न० त० । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टये,
मनसि च । कर्म० १ कर्म० । जी० । उक्त० । न० व० । चक्षुर्द-
र्शनवर्जिते, कर्म० ४ कर्म० ।

अचक्खुदंसण-अचक्षुर्दर्शन-न० । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जैन्द्रियच-
तुष्टयेन मनसा वा दर्शन यत्तदचक्षुर्दर्शनम् । णा० ६ डा० ।
चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभि स्वस्वविषयस्य सामान्यग्रहणस्वरूपे
दर्शनभेदे, प० स० १ द्वा० । कर्म० । स्था० । ("दसण" शब्दे
वक्ष्यते सर्वम्)

अचक्खुदंसणावरण-अचक्षुर्दर्शनावरण-न० । अचक्षुर्दर्शन-
स्यावरणम् । दर्शनावरणकर्मभेदे, णा० ६ डा० ।

अचक्खुफाम-अचक्षुःस्पर्श-पु० । अन्धकारे, "पुरओ पवाए
पिट्ठओ हत्थिमयदुहओ अचक्खुफासो मज्जे सरा णिवय-
ति" ज्ञा० १ अ० १४ अ० ।

अचक्खुय-अचक्षुष्क-त्रि० । अन्धे, "अचक्खुओवनेयार, बुद्धि
अण्णेसए गिरा" व्य० १ उ० ।

अचक्खुविमय-अचक्षुर्विषय-पु० । ६ त० । चक्षुरगोचरे, "अ-
चक्खु विसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहया" अचक्षुर्विषयो यत्र
न चक्षुषो व्यापारो यत्रेत्यर्थः । दश० ५ अ० ४ उ० ।

अचक्खुम-अचाक्षुष-त्रि० । चक्षुषाऽदृश्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अचक्खुस्स-अचक्षुष्य-त्रि० । छट्टमनिष्टे, वृ० ३ उ० ।

अचरंत-अशकुवत्-त्रि० । असमर्थे, "चोइया भिक्खुचरिया,
अचयता जविसए" सूत्र० १ अ० ३ अ० २ उ० ।

अचर-अचर-पु० । न० त० । पृथिव्यादिषु स्थावरेषु, दर्श० ।
चलनशून्ये, त्रि० । ज्योतिषोक्तवृषसिंहवृश्चिककुम्भराशिसंज्ञेषु
स्थिरराशिषु, वाच० ।

अचरग-अचरक-त्रि० । अनुपमोक्तिरि, "चारिचरकसजीविन्य-
चरकचारणविधानतश्चरमे" यो० ११ विव० ।

अचर (रि) म-अचरम-त्रि० । न० त० । प्रान्तिममध्यवर्तिनि,
तच्छापेक्षिक, तस्य चरमापेक्षाभावात् । यथानथाधिधान्य-
शरीरापेक्षया मध्यशरीरमचरमशरीरम् । प्रज्ञा० ६ पद० ।
(सर्वेषां चरमाचरमत्व 'चरम' शब्दे दर्शयिष्यते) चरमभि-
ज्ञेषु नारकादिषु वैमानिकपर्यन्तेषु जीवेषु, ते हि अचरमा-
येषा भव्यत्वे सत्यपि चरमो भवो न भविष्यति, न निर्वा-
स्यन्तीत्यर्थः । स्था० २ डा० २ उ० । "दुविहा सव्वजीवा प
सुत्ता-चरमा चेव अचरमा चेव" स्था० २ डा० ४ उ० ।

अचरिमे दुविहे पण्ते । तं जहा-अणादि ए वा अप-
ज्जवसिए, सादि ए वा अपज्जवसिए ।

अचरमो द्विविधः-अनाद्यपर्यवसितः साद्यपर्यवसितश्च ।
सत्राऽनाद्यपर्यवसितोऽमव्य, साद्यपर्यवसितः सिद्धः ।
प्रश्ना० १६ पद ।

अचर (रि) मंनपएस-अचरमान्तप्रदेश-पु० अचरम एव क-
स्याप्यपेक्षयाऽनन्तवर्तित्वाद्गते, प्रश्ना० ए पद । ('चरम' शब्दे-
ऽचरमान्तप्रदेशत्वपृच्छा कारिष्यते) ।

अचर(रि) मसमय-अचरमममय-पु० चरमसमयादन्यस्मिन्
यावच्छैलेष्यवस्थाचरमसमये, न० ।

अचर (रि) मावट्-अचरमावर्त्त-चरमपुञ्जलपरावर्तादवार्त्त-
समये, अष्ट० १८ अष्ट० ।

अच (य) द्वा-अचद्व-त्रि० । न० त० । निष्प्रकम्पे, "अयत्ने भय-
भेरवाण" कल्प० । 'अणिहे अचले चले अवहिह्लेस्से परिञ्च-
ए" । न चलतीत्यचल परीषहोपसर्गवातेरितोऽपि । आचा० १ भु०
६ अ० ५ उ० । "अचत्ते जे समाहि ए" यद्यप्यसाविक्रितप्रदेशे स्वतः
शरीरमात्रेण चलानि तथाप्यभ्युद्यतमरणान्न चलतीत्यचल । आ-
चा० १ भु० ८ अ० ८ उ० । "अचले जगव ! रीइज्जा" आचा० १ भु०
६ अ० ३ उ० । 'अचले जह मदरे गिरिवरे' अचलो निश्चलः परीष-
हादिभि । प्रश्ना० ५ सब० द्वा० । "सिवमयलमरुयमकलयमण-
तमन्वावाहमपुणरायित्ति सिक्कगङ्गामधेय णण सपत्ताण" ।
अचलम, स्वाभाविकप्रायोगिकचलनक्रियाव्यपोहात् । जी० ३
प्रति० । स० । ल० । भ० । औ० । स्पन्दनादिवर्जितत्वात् । प्रश्ना०
४ सब० द्वा० । रा० । ध० । दशार्हाणा षष्ठे दशार्हपुरुषे, अन्त० १ वर्ग ।
पूर्वजन्वे मल्लिनाथजीवस्य महाबलनाम्नो बालवयस्ये, स च तेन
सह प्रव्रजितो विपुत्र तपः कृत्वाऽनशनेन मृत्वा जयन्तविमाने
उपपन्नो देशानानि ३० सागरोपमाणि स्थितिं परंपात्य न्युनः
प्रतिबुद्धो नामेक्ष्वाकुराजो जातः । मल्लिनाथेन च सह प्रव्रज्यां
गृहीत्वा सिक्काः ३० १ भु० ८ अ० । ('मल्ली' शब्दे चैतद् विस्तरेण)
अवसर्पिण्यां प्रथमे बलदेवे, प्रव० ३० ए द्वा० । आव० ।
स० । (स च प्रजापतेर्भद्रानाम्यां भार्यायां जातः, तस्य
भगिनी, मृगावती । तां तस्य पिता प्रजापतिश्चक्रमे, इति
जायान्वेन कल्पयित्वा तस्यां त्रिविष्टपनामान दशम वासुदेव
जनयामास । अचलश्च माहिमर्ती नाम पुत्री सह मच्छाऽऽख्यया
मात्रा गतः । इति 'वीर' शब्दे न्यक्त्रेण दर्शयिष्यते) गृहं, दे०
ना० १ वर्ग । तद्वक्तव्यता समासेन-

पुत्तो पयावतिस्स, जहा अयलो वि कुञ्जिसंजुओ ।
गेरुयपडिक्खमहणे, तिबिहु अयलो त्ति दो वि जणा । ७१ ।
अयलं तिबिहु दोन्न वि, संगामे आसि दोवि रायाणं ।
हंतूण मव्वदाहि ए, दाहिणजरहं अडजणं ति ॥ ७३ ॥
उप्पण्णरयणविहवा, कोमिमिलाए वल्ल तुझेऊणं ।
अरुजरहाहिसेयं, अह अयल तिबिहुणो पत्ता ॥ ७४ ॥
चकं मुदरिसणं मे, संखो वि य एव पंचजम्भनामो त्ति ।
नंदयनामो आसी, रिबुसोणियममितो आसी ॥ ७५ ॥
मात्ता य वेजयंती, विचित्तरयणोवसोहियारंजा ।
सारिक्खा जा जणियं, घणसमए इदरायस्स ॥ ७६ ॥

सत्तुजणस्स जयकरं, जावं दवियारिजीवजच्छावं ।
जीवानिग्योसेणं, सत्तु सहसा पमड जस्स ॥ ७७ ॥
कोस्तुभमणी य दिव्वो, वच्छत्यल्लजूसणो तिबिहुस्स ।
द्वच्छीए परिगहिओ, रयणुत्तमस्सरसंगहिओ ॥ ७८ ॥
अमरपरिगहियाई, संत वि रयणाइ अह तिबिहुस्स ।
अमरेसु नूसणेसु य, एयाई अजिअपुव्वाइ ॥ ७९ ॥
वहइ हली वि हलं जो, पणयजिम्भं व तिकस्सवडरवडं ।
पवरं समरमहाभम-विदत्तकित्तीण जीवहरं ॥ ८० ॥
माणंदं वा एंदिय, आसं पि य सत्तुमुक्कसययदं ।
मुसदं से जे महपुर-जंजणकुसदं वडरसारं ॥ ८१ ॥
सव्वो उ पंचमादं, कुसमासवल्लोळप्यं विउदं ।
माणिकुंमदं च वामं, कुवेरघरआमरारामं ॥ ८२ ॥
अचलस्स वि अमरपरि-गहाई एयाई पवररयणाई ।
सत्तूणं अजियाई, समरगुणपहाणगेयाई ॥ ८३ ॥
वद्धमज्जडाण निच्चं, रज्जधुरवहणधोरवसज्जाणं ।
जोइनरिंदाजाणं, सोलसरातीसहस्साइ ॥ ८४ ॥
वायाल्लीसं दक्खा, हयाण रंहगयवरीण पैडिमुक्क ।
अट्टयदेवसहस्सा, अभिजग्गा सव्वकज्जेसु ॥ ८५ ॥
अट्टयाज्जाकोडीओ, पाडकमयाण रणसमत्थाणं ।
सोलसहस्सा उ तहा, सजणवयाणं पुरवराणं ॥ ८६ ॥
पण्णासं विज्जाहर-नगराण सजणवयाई रम्माणं ।
पव्वंतरादवासी, नेगो य फणगधरमउमो ॥ ८७ ॥
नेगाई सहस्साई, गामागरनगरपट्टणादीणं ।
वेयमूढाहिणेण उ, पुव्वावरअंतरागियाणं ॥ ८८ ॥
दुरियानुमाणमहणं, अवसे वसमाणडु नरवडणो ।
दाहिणभरहं सयल, भुंजति तिज्जाण पणिवक्खा ॥ ८९ ॥
सोलससाहस्सीतो नरवडणयाण रुवकलियाणं ।
तवेइ य चिय जणवड-कट्ठाणीतो तिबिहुस्स ॥ ९० ॥
इय वत्तीमसहस्सा, चारुपत्तीण ता तिबिहुस्स ।
धारिणिपामोक्खाण य, अट्टसहस्साइ अयलस्स ॥ ९१ ॥
जसियमगरवयाणं, विदिएणवरच्छत्तवाडवियणाणं ।
सोलसगणियसहस्सा, वसंतसेणपट्टाणाणं ॥ ९२ ॥
एव तु मए जणिय, अयद्वतिविट्ठाण दोएहवि जणाणांति० ।

"अयत्ने बलदेवे, असीइ धणू उहु उच्छेण होत्था" स० ए
सम० । मनोहरपुत्रे, (स चापरविदेहे शशिलावतीधिये
वीतशोकाया नगर्यां जितशत्रो राज्ञो मनोहरीभार्यायामुत्पन्नो
यज्ञदेवो जातः । पितर्युपरते मानसि प्रव्रज्यां गृहीत्वा मृतायां
द्वान्तके कल्पे देवत्वेनोपपन्नायामर्द्धां गन्वा साध्वे विभी-
षणनाम्नि आनसि मृते तत्रैवागत्य तदुरूपं विकुर्य देवक
पया मात्रा मिलित उक्तश्चानित्या मनुजर्कं ज्ञात्वा परलोकहितं
कुर्वति । ततः प्रव्रजितो मृत्वा दलितोऽङ्गको देवो जात इति,
एतत्सर्वं व्यासेनाऽऽमनोऽष्टजयसम्बन्धं प्रारूपयत् श्रेयासः,

इति 'उत्तम' शब्दे चि० भा० ११३३ पृष्ठे वक्ष्यति) आ० चू० १
अ० । आ० म० प्र० । निर्जयपुराधीश्वरस्य रामचन्द्रस्य सामन्ते
स च स्वर्गवेपितकपटयोगिनो घघ दृष्ट्वा सवेगमापद्य प्रव्रजितो
मुनीश्वरो जातः । तन्वरेत चैवम्—

भयरहिण्य निभयपुर-मि पुत्रजणविहियगरुहहरिसो वि ।
रायासि रामचदो, सलक्खणो रामचडु व्व ॥ १ ॥
तस्स गुरुगउरवपय, अयहो नामेण अत्थि सामतो ।
नयसच्चसोयसोमी-रयाइगुणरयणरयणनिही ॥ २ ॥
कइया वि सो नरिंदो, सभागओ चूरिसारपरिवारो ।
कुक्खजसुइगाए, गिराइ पउरेहि इय प्रणिओ ॥ ३ ॥
देव ! न दीसइ चोरो, न य खत्तो न वि य चरणसंचारो ।
केण वि तह वि मुसिज्जइ, अदिठरुवेण पुरमेयं ॥ ४ ॥
त सोउ कुविण्ण, भणिय रत्ता अहो सुहउसघा ।
किं को वि तकरं तं, निग्गहिउं मे समत्थु सि ? ॥ ५ ॥
ओ किं पि न विति भन्ना, ता अयहो आह देव ! मह देसु ।
आएस नणु कित्थिय—मिसे एसो वराओ सि ॥ ६ ॥
रत्ता सहत्थतवो-इदाणपुव्व पयंपिओ स इम ।
तह कुणसु नइ ! सिग्घ, जह लब्भइ तक्करो एसो ॥ ७ ॥
जइ पक्खतो चोर, न लहेमि अह विसामि तो जलण ।
इय काउ पइस सो, विणिग्गओ रायजवणाओ ॥ ८ ॥
परिजमिओ पुरमज्जे, सिंघारुगतिगचवक्कमाईसु ।
लहो न को वि चोरो, नीहरिओ तयणु नयराओ ॥ ९ ॥
करकडियखगादंडो, निविडीकयपरियरो ददपइओ ।
सो रयणिपदमपहरे, पत्तो कुडाभिहमसाणे ॥ १० ॥
तत्थ अइककुयकक्ख-ररुतधूयनकुबट्ठपिच्छे ।
भल्लुककचक्कपरिक्क-पिक्कपिक्कारवे च रुहे ॥ ११ ॥
एगत्थ काववेया-इजाइसजणियकिक्किल्लारावे ।
अन्नत्थ मुक्कपुट्ट-इहासपरिजमियभूयउत्ते ॥ १२ ॥
जा अणुहिओ अयलो, अयहो इव जाइ किं पि भूमागं ।
ता साहगगहणपर, पिलायमेग स पिच्छेइ ॥ १३ ॥
त पइ भणइ मदायस ! साहगपुरिस हणेसि किं एय ? ।
आह पिलाओ इमिणा, पसाइओ ह दिणे सत्त ॥ १४ ॥
सपइ अइडुहिण, मए इमो भगिओ महामसं ।
न तरइ दाउ खुहो, ता एय लहु इण्णिस्सामि ॥ १५ ॥
परउवयारपदाणो, अयलो पच्चाह मुच नरमेव ।
तुह देमि महामस, अहमिय मन्नइ पिसाओ वि ॥ १६ ॥
तो बुरियाए छित्तु, नियमस स तस्स वियरेइ ।
असइ पिसाओ वि अहो ! , अभुत्तपुव्व ति जपतो ॥ १७ ॥
उक्कित्तिरुण जह जह, अयलो स देइ मसखमाइं ।
तह तह दिव्वोसहिविहि-कयं व्व बुद्धिं ब्रुहा जाइ ॥ १८ ॥
नीसेसमसवियन्न, निए वि सयल कलेवर अयलो ।
अह जीवियनिरवक्खो, सीस पि हु जित्तुमारुओ ॥ १९ ॥
धरिंरुण पिसापण, दाहिणहरथेण सत्तनुत्तेण ।
भणिओ सो अल्लमेए ण साहसेण वरेसु वरं ॥ २० ॥
अयहो भणेइ साहग-इट्ट पकरेसु जइसि तुट्ठो मे ।
एव कयं विय मए, मग्गसु अन्न पि आह सुरो ॥ २१ ॥
अयलो जपर तुज्ज वि, किं सीसइ अमरमुणियकज्जस्स ।
नाउ ओहिबलेण, त कउज आह इय अमरो ॥ २२ ॥
त अयल ! गउउ सगिहे, वीसत्थो होसु मुच्चसु विसाय ।
एसो चोरपंघो, गोसे सयलो कुनो होदी ॥ २३ ॥

इय भणिय गओ अमरो, अयहो वि विसिछदेहवावओ ।
निययावासे पत्तो, निच्चित्तो लहइ निह च ॥ २४ ॥
ववगयनिहो अयहो, पए पिसापण पज्जणिओ नइ ।
तं तकरवुत्तत, निसुणसु सो आह कहसु फुमं ॥ २५ ॥
एयस्स पुरस्स/बहि पुव्वदिसाआसमे वसइ जोगी ।
पव्वयओ से सिद्धो, कविलक्खो चेन्नओ अत्थि ॥ २६ ॥
तेण हरेइ नयरे, सो सारं रमइ निसि जहिच्चाए ।
काठण जोगिक्ख, दिवसे पुण कहइ धम्मकइ ॥ २७ ॥
तस्सासमजुमिहरे, चिच्छ अवहारयदव्वसव्वास ।
मा काहिसि इह संसय-मिय भणिय तिरोहिओ देवो ॥ २८ ॥
अह काउ गोसकिच्चं, अयहो कइवयजणाणुगो पत्तो ।
सुरकइयआसमे त-त्थ तेण दिठो कवमजोगी ॥ २९ ॥
गउण य तत्थ खण, अयहो पत्तो नरिंदपयमूले ।
निवपुठो एगते, कहेइ तं चोरवुत्ततं ॥ ३० ॥
को इत्थ पच्चओ इय, नरवरपुट्ठो पयंपए अयहो ।
तस्सासमजुमिगिइ मि मोसजाय सयलमत्थि ॥ ३१ ॥
तो सिरवियणामिसवस-विसज्जियासेसपरियणो राया ।
सुत्तो तयणु जणेणं, पारइ विविदउवयारा ॥ ३२ ॥
जाओ न य को वि गुणो, आइया मतवाइपमुहजणा ।
ते वि अकयपरियारा, गया विलक्खा सगणेसु ॥ ३३ ॥
तो सुविसन्नमणेण व, सो जोगी वाहराविओ रत्ता ।
संभासिउमारुओ, सायरदिआसणो य तयं ॥ ३४ ॥
पुरिसे य पेसिठण, खणाविओ तस्स आसमो ऊत्ति ।
निगयमसेसमोस, आणीय रायजवणमि ॥ ३५ ॥
आहुओ तव्वेसं, मदायणो दसिय तयं मोसं ।
उवलक्खिण्ण जं ज-स्स आसि त तस्स उवणीयं ॥ ३६ ॥
अह बुत्तो सो जोगी, रे रे पासनियाहम ! अणज्ज ! ।
को एसो बुत्तंत्तो, सो भीओ जंपइ न किं पि ॥ ३७ ॥
चेनो दूरीहुओ, सिक्खज्जमि डुज्जणु व्व लहुं ।
सुबहुं विडविठ सो, जोगी माराविओ रत्ता ॥ ३८ ॥
इय दहु तस्स मरण, अयलो चित्तेइ फुरियवेरगो ।
हा ! कह जीवा धणलव-विमोदिया जति इह निदण ॥ ३९ ॥
धणल्लोणेण जीवो, हणेइ जीवे सया भुसं बहइ ।
पियपुत्तमित्तसुकल-त्तपमुहलोय पि वचेइ ॥ ४० ॥
इह लोइयतुच्छपओ-यणत्थमित्थ अक्खिण्णक्ख पि ।
काउ कखइ जीवो, न य पिच्छइ तद्धनं दुप्पस ॥ ४१ ॥
अइगरुयलोहमुग्गर-पहारभरगाहविहुरियसरीरा ।
हा ! किह णु इग्गइमाइ अचने निवमंतिमे जीवा ? ॥ ४२ ॥
ता सयललोहसखोह-निधिरुसरघोरणीसखणदक्ख ।
कवय पिव पव्वज्ज, सपइ गिण्णामि ददसत्तो ॥ ४३ ॥
इय जा अचलो अच्चलिय-सवेगजरो विंचितए चित्त ।
ता तत्थ समोसरिओ, सूरी गुणसुदगे नाम ॥ ४४ ॥
सुत्ता गुरुणो तक्खण, स आगमो आगओ गुरुमगासे ।
पणमियतण्यपउम, आसोणो उच्चियदेसमि ॥ ४५ ॥
तयणु जवपरमानिव्वेय-कारिणो लोदमोहनिम्मदिणो ।
विसयाणुरागपायव-कारिणो सवेयसजप्पी ॥ ४६ ॥
ससारसमत्थसमत्थ-वत्तुगिणुत्तपयमपदाणा ।
सुरसुहकरेहि वयणे-दिं देसणा सुरिणा विहिया । ॥ ४७ ॥
त सोउ पमिबुद्धो, अयलो पुच्छे वि इह वि नरनाइं ।
गुरुणो तस्स समीवे, सविणो गिएए दिप्पर । ॥ ४८ ॥

पमिवन्नद्विहसिक्खो, गुरुणा संह त्रिहरप महीवत्तप ।
 अरहते अरिहंते आराहइ सम्ममरुहते ॥ ४९ ॥
 पवयणवच्छपरो, जायइ सिक्के सया सुहसमिक्के ।
 सिवफलतरुणो गुरुणो, सेवइ दसणविणयजुत्तो ॥ ५० ॥
 सुयवयपज्जायधरे, धरे सुबहुस्सुए तवस्सी य ।
 जह उच्चिय आराहइ, अजिक्खनाणोवओगपरो ॥ ५१ ॥
 सीवव्वएसु आव-स्सएसु परिहरइ दूरमइयारे ।
 अपुव्वनाणगाहण, सुयमत्तिपरायणो कुणइ ॥ ५२ ॥
 तघसा निकाइयाण, कम्माण खउ त्ति कुणइ गरुयतवं ।
 खणलवजाणवत्तो, मुणीण भत्ताइ वियरेइ ॥ ५३ ॥
 पमिमग्गस्स मयस्स व, नामइ चरण सुय अगुणणाप ।
 न हु वेयावच्चाच्चिय, सुहोदय नासए कम्म ॥ ५४ ॥
 इय चित्तो वेया-वच्च पकुणइ अतिप्पमाणमणो ।
 पवयणपजावणपरो, कुणइ समाहिं च सघस्स ॥ ५५ ॥
 एवमणुत्तरदसण-नाणचारित्ते अतिप्पमाणस्स ।
 सगतवकारिणो सु-ज्जमाणसुपसत्थलेसस्स ॥ ५६ ॥
 अज्जियतित्थकरना-मकम्मणो तस्स अचवसाहुस्स ।
 सव्वोसाहिपमुहाओ, जायाओ विविहलकीओ ॥ ५७ ॥
 इत्तो निभयपुरे रा मचदरन्नो विसिछविजोहि ।
 पयडिज्जतेसु वि स ब-हुमेसज्जो सहपओगेसु ॥ ५८ ॥
 बहुमततवार्ह-हिं कारमाणासु अवि सुकिरियासु ।
 रोगेण मरति करी-तो आदन्नो निवो जाओ ॥ ५९ ॥
 अइ गुरुणा शुन्ताओ, अचलमुणी तत्थ आगओ तइया ।
 पत्तो निवो मुणिं त, नमिय निसन्नो उच्चियदेसे ॥ ६० ॥
 मुणिणा वि निवइजुगो, सहसणयूलमूलपरिकलिओ ।
 पचाणुव्वयस्सओ, तिगुणव्वयगरुयसाहीयो ॥ ६१ ॥
 सिक्खवावयपमिसाहो, निम्मलबहुनियमकुसुमसकिन्नो ।
 सुरमण्यसमिक्खिफलो, कहिओ गिहिधम्मकप्पतरु ॥ ६२ ॥
 इय सोउ निवो जंपइ, पडु ! धम्ममिम रुमीहिमो काउ ।
 किं तु अकाळे सिंधुर-सदोह दधु मरमाण ॥ ६३ ॥
 न गिहे न बहिं न जणे, न काण्णे न य दिणे न रयणीए ।
 मह सपइ सपज्जइ, रई मणाग पि मुणिपवरा ॥ ६४ ॥
 तो कहसु किं पि जेण, सुत्थमणो ह करोमि धम्ममिमं ।
 इय रन्ना पुणरुत्त, वुत्तो वि हु सुमुणिसदूलो ॥ ६५ ॥
 सावज्जकज्जवज्जी, सन्नाणो वि हु न किं पि जा भणइ ।
 ता मुणिसमीवठियखे-यरेण एव निवो वुत्तो ॥ ६६ ॥
 बहुलदिसमिद्धिसम-न्नियस्स एयस्स समणसीहस्स ।
 पयरेणहिं सफुसि-य कुणसु सज्ज करिसमूह ॥ ६७ ॥
 त सुणिय निवो तुट्ठो, मुणिपयसफुसियरेणुनियरेण ।
 करिनियर सव्व पि हु, आमरिसावेइ तिक्खुत्तो ॥ ६८ ॥
 विसमिव पीऊसहय, तम व दिवसयरकिरणपडिरुद्ध ।
 वेगेण रोगजाय, त नट्ट कुजरकुलाओ ॥ ६९ ॥
 त पिच्छि वि अच्छरिय, अणतहरिसो इम भणइ राया ।
 भयवं ! वारणवाही, केण निमित्तेण सजाओ ? ॥ ७० ॥
 मुणिणा भणिय नरवर ! जो जोई घाइओ तया तुमए ।
 मरिउ अकामनिज्जर-वसेण सो रक्खसो जाओ ॥ ७१ ॥
 सरिऊण पुव्ववइर, स तुह सरीरमि अप्पभवमाणो ।
 एय पि होउ दुक्ख, ति कासि दतीण रोगमर ॥ ७२ ॥
 मह चरणरेणुपुट्ठा, सपइ ते वाहिणो समुवसता ।
 सो रक्खसो पणट्ठो, सज्ज जाय करिकुडव ॥ ७३ ॥
 मुणिमाहप्पमणप्प, दछूण गहियसुद्धगिहिधम्मो ।

तुट्ठो राया पवयण-पभावगो सावओ जाओ ॥ ७४ ॥
 अयलो वि अतिप्पतो, चरणाइसु काउ अणसण सुमणो ।
 सोहम्मे उववओ, तत्तो य वुओ विदेहम्मि ॥ ७५ ॥
 कच्छाविजय, सिरिजय-पुरीइरओ पुरंदरजसस्स ।
 देवी सुदसणाए, चउदसवरसुमिणकयसूओ ॥ ७६ ॥
 गम्मे पाउभूओ, समुच्चियसमए य जम्ममणुपत्तो ।
 अहिसित्तो स सुरासुर-वग्गेण सुमेरुसिहरम्मि ॥ ७७ ॥
 कयजयमित्तिमिहाणो, उच्चिय समयम्मि पव्वइउकामो ।
 लोगतियतियसेहिं, सविसेसवुट्ठिउच्छाहो ॥ ७८ ॥
 लोगाणं सवच्छुर-मच्छिन्नविदिन्नविहवसमारो ।
 चउसट्ठिसुरेसरविहिय-गरुयनिकम्मणवरमहिमा ॥ ७९ ॥
 तिजय एगजय पि व, एगत्थागयसुरासुरनेरहिं ।
 कुणमाणो पडिवओ, निस्सामन्नं ससामन्न ॥ ८० ॥
 तो सुक्कज्जाणानल-समूलनिहइ धाइकम्मदुमो ।
 उप्पन्नकेवलालोय-लोइयासेसतइलुको ॥ ८१ ॥
 सीहासणोवविओ, सिरउवरिं धरिय सेयवुत्तित्तो ।
 नियदेहदुवालसगुण-महल्लककिल्लिकयसोहो ॥ ८२ ॥
 चाट्टियसियवरचमरो, पुरओ पक्खित्तकुसुमवरपयरो ।
 निज्जियादिणयरमंरुत्त-भामरुत्तन्नियतमोहो ॥ ८३ ॥
 सुरपहयडुदुहिस्सर-पयन्नियदुज्जेयभावरिउविजओ ।
 सव्वसन्नासाणुगदि-व्ववाणिहयतिजयसदेहो ॥ ८४ ॥
 पायन्नियसुगइमग्गो, पमिबोहियभूरिजावमवियजणो ।
 विहारित्ता चिरकाल, अणतसुहम्मपय पत्तो ॥ ८५ ॥
 श्रीजैनशासनवनीनवनिरदस्य
 भुत्वेति वृत्तमचलस्य मुनीश्वरस्य ।
 सज्ज्ञानदर्शनतपश्चरणादिकेषु
 अद्वयमवृत्तमनसो मुनयो विधत्त ॥ ८६ ॥ ३० २० ॥

अच (य) द्वाट्टाण-अचलस्थान-न०। अचओ निष्पकम्प परमा-
 एवादिर्भवति, तस्य स्थानमचलस्थानम् । निरेज काले, अचल च
 तत्स्थान चावस्थानमचलस्थानमिति व्युत्पत्तौ । निरेज कालश्च
 परमाएवादीनामयम्-“ परमाणुपोगले ण ज्ञते । णिरेए काल-
 ओ केव चिर होइ ? । गोयमा ! जहखेण एक्क समय उक्कोसेण
 असखेज्ज काल असखेज्जाओ उसप्पिणी ओस्सप्पिणीतो ” व्य०
 १ उ० । नि० ३० । अचलस्थान तु चतुर्धा, सादिसपर्यवसानभे-
 दात् । तद्यथा-सादिसपर्यवसान परमाएवादेर्द्वयस्यैकप्रदेशा-
 दाववस्थान जघन्यत एक समयमुत्कृष्टतत्त्वासाव्येयकालमिति
 साद्यपर्यवसान सिद्धानां भविष्यदकारूपम्, अनादिसपर्यवसा-
 नमतीताद्वारूपस्य शैलेइयवस्थान्त्यसमये कर्मणतैजसशरी-
 रज्जव्यत्वानां चेति, अनाद्यपर्यवसान धर्माधर्माकाशानामिति ।
 आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अच (य) द्वापुर-अचलपुर-न०। आजीरदेशान्तर्गते ब्रह्मडी-
 पासन्ने पुरजेदे, कल्प० । (‘बभदीविया’ शब्दे कथा चास्य)
 “अयत्तपुरा शिक्खने, कालियसुयआणुओगिए धीरे ” । न० ।
 अच (य) लजाया-अचलभ्राता-पु० । श्रीमहावीरस्य नव-
 मे गणधरे, विज्ञे० । आ० म० द्वि० । कल्प० । (तस्य पुरादिक
 ‘गणहर’ शब्दे वक्ष्यते)

अच (य) द्वा-अचद्वी-स्त्री०। शकस्य देवेन्द्रस्य सप्तम्यामग्रहि-
 न्याम, शा० २ श्रु० (तत्कथा प्र० जा० १७३ पृष्ठे ‘अग्रमहिनी’ शब्दे)
 अच (य) लिय-अचद्वित-न०। वरु शरीर वा न चद्वित

कृत् यत्र तदचलितम् । अग्रभादप्रत्युपेक्षणभेदे, स्था० ६ ठा० ।
ध० । ओघ० । अत्र धनुर्भङ्गी यथा—“घटं अचलियं अप्पाण
अचलिय; तथा घटं चलिय अप्पाण अचलिय; तथा यत्
चलिय अप्पाण चलिय; तथा घटं अचलिय अप्पाण चलिय ।
एत्थ पट्ठमो भगो सुत्तो” । ६ त० । अनारब्धचक्षणक्रिये, त्रि० । “अ-
चलियभावो पवत्तो य” । प० घ० ४ द्वा० । नि० चू० ।

अचवचव-अचवचव-त्रि० । चवचवेति शब्दरहिते, प्रश्न० १
सब० द्वा० । “असुरसुरं अचवचवं आहारमाहारं” । प्र० ७
श० १ उ० ।

अचवल-अचपल-त्रि० । न० त० । स्थिरस्वभावे, व्य० ३ उ० ।
“गतिगणनासमाया-दिपहि ण पि कुणति चवलत्तं तु । गाण
गणिताण भवे, अचवलो सो उमुणेयवो” प० भा० । प० चू० ।
अचपलत्वं चतुर्धा प्रवर्ति-गत्याऽचपलः १, स्थित्याऽचपल-
२, मापयाऽचपल ३, भावेनाऽचपल ४ । गत्याऽचपल शीघ्रचा-
री न भवति १ । स्थित्याऽचपलस्तिष्ठन्नापि शरीरहस्तपादा-
दिकमचालयन् स्थिरस्तिष्ठति २ । मापयाऽचपलस्य सत्यादि-
प्राप्यो न स्यात् ३ । भावेनाऽचपलं सूत्रेऽर्थेऽनागतेऽसमाप्ते
सत्येवाऽप्रेतन गृह्णाति ४ । (एवमूत-शिष्यः) “णीया-
विच्छी अचवले, अमाई अकुन्दले” उक्त० १० अ० ।
कायिकादिचापस्यरहिते, प्रश्न० ४ ब्राध० द्वा० । “अतुरि-
यमचवलमसजते मुदपोत्तिय पडिलेहेइ” अचवस मान-
सचापस्यरहितम् । भ० २ श० ५ उ० । “अतितिणे अचवले, अ-
प्पमासी मियासणे” अचपलो भवेत् सर्वत्र स्थिर इत्यर्थः ।
दश० ८ अ० । विशेष० । रा० । ‘अचवलाय’ गत्या कायचा-
पस्यवर्जितया । कल्प० । “अचवला” अचपला मनो-
वाक्कायस्यैव्यात् । स० ।

अचाइय-अशक्त-त्रि० । असमर्थे, सूत्र० १ ध्रु० १३ अ० ।
“अहादियापोतमपत्तजातं, साचासगा पविउँ मणमाण । त-
मचाइय तरुणमपत्तजातं टकाइ अव्यत्तगम हरेजा” ॥१४॥
सूत्र० १ ध्रु० १४ अ० ।

अचापंत-अशक्वत्-त्रि० । असमर्थे, “अव्यावाध अचापतो ने-
च्छइ अप्पचेतए एए” व्य० ३ उ० । सूत्र० ।

अचाग-अत्याग-पु० । त्यागपरिहारे, ध० २ अधि० ।

अचारुया-अचारुता-स्त्री० । असुन्दरत्वे, “मुधविहेय त्वचारु-
तया” प० १ विव० ।

अचालणिज्ज-अचालनीय-त्रि० । सैव्यादभ्रशनीये, “अभि-
गयजीवाजीवा, अचालणिज्जाउ पवयणाओ” दर्श० ।

अचित-अचिन्त्य-त्रि० । चिन्तयितुमनुमापकहेत्वभावेन तर्क-
यितुमशक्ये, शक्यार्थे कर्मणि एयत् । न० त० । वाच० । अनि-
र्वचनीये, द्वा० १६ द्वा० ।

अचित्तगुणसमुदय-अचिन्त्यगुणसमुदय-न० । अचिन्त्यो गुण-
समुदयो ज्ञानादिसमुदयो यस्य तदचिन्त्यगुणसमुदयम् । पर-
तत्त्वे, “तनुकरणादिविरहित, तथाचिन्त्यगुणसमुदय सूक्ष्मम्”
प० १५ विव० ।

अचित्तचिन्तामणि-अचिन्त्यचिन्तामणि-पु० । चिन्ताऽतिक्रान्ताऽ-
पवर्गविधायकत्वेन चिन्तामणिरत्नकल्पे तीर्थकरे, प० सू० ३ सू० ।

अचित्तण-अचिन्तन-न० । न० त० चिन्तनाभावे, यत्कदाचिद्

रूपादिकं दृष्ट तस्य चेतसि न स्मरणमपरिभावनमित्यर्थः ।
“अचित्तणं चेव अचित्तणं च” उक्त० ३२ अ० ।

अचित्तसत्ति-अचिन्त्यज्ञा-स्त्री० । अनिर्वचनीयस्ववीर्यालो-
से, “अचिन्त्यशक्तियोगेन, चतुर्थो यम उच्यते” द्वा० १६ द्वा० ।
अचिद्-अचेद्-त्रि० । अविद्यमानचेष्टे, आच० ३ अ० ।

अचित्त-अचित्त-त्रि० । न विद्यते चित्तमस्मिन्नित्यचित्तमचेत-
नम् । जीवरहिते, आच० १ ध्रु० १ अ० ८ उ० । आच० ।
अनु० । नि० चू० । सूत्र० । सचित्ताचित्तमिध्व्यक्ति-
प्रायः सर्वाणि धान्यानि । धानकजीराऽजमकविरहाली-
सूआराईसखससप्रभृतिसर्वकणाः सर्वाणि फलपत्राणि
लवणखारीक्षारकः रक्तसैन्धवसूक्ष्मादिरुन्निमः क्षारो मृत्-
खटीर्वर्णिकादि आर्द्रदन्तकाष्ठादि च व्यवहारे सचित्ता-
नि । जले निक्षेपिताश्चणकगोधूमादिकणाश्चणकमुद्गादिदाल-
यश्च क्लिप्ता अपि कचिन्नखिकासमवान्मिध्वाः, तथा पूर्वं लव-
णादिप्रदानं चाप्पादिप्रदानं बालूकादिक्षेपं वा विना सेकिना-
श्चणका गोधूमयुगधर्यादिधानाः क्षारादिप्रदानं विना लोलि-
ततिला ओलकउयिका. पृथुकसेकितफलिका. पर्यटकादयो
मरिचरजिकाषघारादिमात्रसंस्कृतचिर्भटिकादीनि सचित्ता-
न्तीजानि सर्वपक्कफलानि च मिध्वाणि । यद्दिने तिलकुट्टिः
कृता तद्दिने मिध्वा, मध्येऽन्नसेटिकादिक्षेपे तु मुहूर्तादनुप्रासु-
का, दक्षिणमालवादी प्रभूततरगुडक्षेपेण तद्दिनेऽपि तस्याः प्रा-
सुकत्वव्यवहारः । घृत्तात्कालगृहीतं गुदलाक्षाद्यादि, ता-
त्कालिको नालिकेरनिम्ब्रूनिम्बाभ्रेद्वादीनां रसस्तात्कालिक
तिलादितैल, तत्कालमग्ननिर्वीजीकृतं नालिकेरशुद्धाटकपूगी-
फलादि, निर्वीजीकृतानि पक्कफलानि, गाढमर्दितं निष्कण जी-
रकाजमकादि च मुहूर्ते यावन्मिध्वाणि, मुहूर्तादूर्ध्वं तु प्रासुका-
नीति व्यवहृते । अन्यदपि प्रबलाग्नियोगं विना यत्प्रासुकी-
कृतं स्यात्तन्मुहूर्तावधि मिध्वा, तदनु प्रासुकं व्यवहियते । यथा
प्रासुकं नीरादि, तथा कश्चफलानि, कच्चधान्यानि, गाढ मर्दि-
तमपि लवणादि च प्रायोऽग्न्यादिप्रबलशस्त्रं विना न प्रासुका-
नि । योजनशतात्परत आगतानि हरीतकीखारिकीकिसिमि-
सिद्राक्षाखर्जूरमरीचपिप्पलीजातिफलबदामवायमाक्षौदकन-
मिजापिस्ताचिणीकथायस्फटिकानुकारिसैन्धवादिनिसाजिका-
चिरूलवणादि. कृत्रिमः क्षारः कुम्भकारादिपरिकर्मितमृदादि-
कम्, पलालवङ्गजाचित्रीशुष्कमुस्ताकोङ्कणादिपक्कदलीफ-
लान्युत्कलितशुद्धाटकपूगादीनि च प्रासुकानीति व्यवहारो
दृश्यते । उक्तमपि श्रीकल्पे—

जोअणसयं तु गंतुं, अणहारेणं तु भंयसंकंती ।

वायागणिधूमेण य, विष्कृत्यं होइ लोणार्इ ॥ १ ॥

लवणादिकं तु स्वस्थानाद् गच्छत् प्रत्यहं बहुयदुतरादिक्र-
मेण विध्वंस्यमानं योजनशतात्परतो गत्वा सर्वथैव विध्वस्तम-
चित्तं भवति । शस्त्राभावे योजनशतगमनमात्रेणैव कथमचिच्छी-
प्रवतीत्याह—अनाहारेण यदुत्पत्तिदेशादिकं साधारणं तत्
ततो व्यवस्थितं सोपष्टम्भकाहारविच्छेदाद् विध्वंस्यते । तच्च ल-
वणादिकं भाण्डसक्रान्त्या पूर्वस्मात् २-त्राजनादपरभाजनेषु ।
यद्वा । पूर्वस्या भाण्डशालाया अपरस्या भाण्डशालायां सक्र-
म्यमाणं विध्वंस्यते तथा घातेन वा अग्निना वा महानसादौ
धूमेन वा लवणादिकं विध्वस्तं प्रवर्ति ‘लोणार्इ’ इति । अत्रादि-
शब्दादमी कृष्ट्याः—

हरियालमणोसिलपि-प्पद्मी अ खज्जूर मुदिआ अजया ।

आडन्नमणाडन्ना, ते विहु एमेव नायन्वा ॥ २ ॥

हरियाल मन शिखा पिप्पली च खज्जूर एते प्रसिद्धा, मृष्टी-
का छाका, अभया हरीतकी, एतेऽप्येवमेव लवणमिव योजनश-
तगमनादिभिः कार्णैरचित्तीभवन्तो ज्ञातव्याः । परमेकेश्वा-
चीर्णा अपरेऽनाचीर्णाः । तत्र पिप्पलीहरितकीप्रभृतय आचीर्णा
इति गृह्यन्ते । खज्जूरमृष्टीकादयः पुनरनाचीर्णा इति न गृह्यन्ते । २।

अथ सर्वेषां सामान्येन परिणमनकारणमाह-

आरुहणो ओरुहणे, णिसिअण गोणाऽणं च गाउम्हा ।

भोमाहारच्छेए, उवकमेणं च परिणामो ॥ ३ ॥

शकटादिषु द्रवणादीनां यदि जूयो जूय आरोहणमवरोहणं च
तथा यत् तस्मिन् शकटादौ द्रवणादिज्जारोपरि मनुष्या निपी-
दन्ति तेषां गवादीनां च यः कोऽपि पिष्टादिगात्रोष्मा, तेन वा
परिणामो भवति । तथा यो यस्य भौमादिक पृथिव्यादिक आ-
हारस्तद्व्यवच्छेदे तस्य परिणामः उपक्रमः-शस्त्रम्, तच्च त्रिधा-
स्वकायपरकायतदुभयरूपम् । तत्र स्वकायशस्त्रं यथा-लवणो-
दक मधुरोदकस्य, कृष्णजम्बू पारुजम्बूस्य । परकायशस्त्रं यथा-
अग्निरुदकस्य, उदकचाम्नेरिति । तदुभयरूपं यथा-उदक शु-
द्धोदकस्येत्यादि । एवमादीनि सचित्तवस्तूनां परिणमनकारणा-
नि मन्तव्यानि ॥ ३ ॥

उत्पलपडमाई पुण, उह्वे दिह्वाइं जाम न धरिति ।

मोगरगज्जुहिआओ, उह्वे वूढा चिरं हुंति ॥ ४ ॥

मगदंतिअपुप्फाई, उदकचूढाईं जाम न धरिति ।

उत्पलपडमाई पुण, उदए वूढा चिरं हुंति ॥ ५ ॥

उत्पलानि पद्मानि च उदकयोनिकत्वादुष्णे आतपे दत्तानि
याम प्रहरमात्रं काष्ठं न ध्रियन्ते, आवतिष्ठन्ते, किन्तु प्रहरादवागे-
वाचित्तीभवन्ति । मुद्गरकानि-मगदन्तिकापुष्पाणि यूथिकापुष्पा-
णि च उष्णयोनिकत्वादुष्णे क्षिप्तानि चिरमपि काष्ठं भवन्ति,
सचित्तान्येव तिष्ठन्तीति ज्ञावः । मगदन्तिकापुष्पाणि उदके क्षि-
प्तानि याममपि न ध्रियन्ते, उत्पलपद्मानि पुनरुदके क्षिप्तानि चि-
रमपि भवन्ति ॥ ४ । ५ ॥

पत्ताणं पुप्फाणं, सरहुफलाणं तहेव हरिआण ।

विटमि मिलाणाम्मि य, णायन्व जीवविपजड ॥ ६ ॥

पत्राणां पुष्पाणां शरदुफलानामवच्छास्यकफलानां वास्तुला-
दीनां सामान्यतस्तरुणवनस्पतीनां मृते मूलनाशे म्लाने सति
ज्ञातव्यं जीवविप्रयुक्तमेतत्पत्रादिकमिति (श्रीकल्पवृक्षौ शाल्या-
दिधान्यानां तु श्रीपञ्चमाङ्गे षष्ठशतफलसप्तमोद्देशके सचित्ताचि-
त्तव्यविज्ञाण एवमुक्तं, स च 'जोणि' शब्दे दर्शयिष्यते) कर्पास-
स्याचित्तता त्रिवर्षानन्तरं स्यात् । यदुक्तं श्रीकल्पवृक्षकाव्ये-

सेमुग तिवरिसाड गिएहंति ।

सेमुक त्रिवर्षातीतं विष्वस्तयोनिकमेव कल्पते । सेमुक क-
र्पास इति । तद्वृक्षा पिष्टस्य तु मिश्रताद्येवमुक्तं पूर्वमुग्भि-
- " पण्डिनमीमो सुट्टो, अत्रासिओ सायणे अ भइवए । चउ आ-
मोए कसि अ-नगमिरपोमेसु निशि दिना ॥ १ ॥ पणपहर माह
फगुण, पहरा चत्तारि चेतयमाह । जिहामाह निपहर, तेण
पर होइ अशिओ " ॥ २ ॥ जालितस्तु मुद्गत्तादृशं सचित्तं,
सस्य आशिओभूतान्तरं दिनशतकांसमानं तु शास्त्रं न दृश्यते,

पर व्यादिविशेषेण चर्खादिविपरिणामभवनं यावत् कल्पते ।
उष्णनीरं तु त्रिदण्डोत्कलितावधि मिश्रम् । यदुक्तं पिएरुनियुक्तौ-
उसिणोदगमणुवत्ते, दमे वासे य पडिअमिआम्मि ।

मोत्तूणादेसतिगं, चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥

अनुवृत्तेषु त्रिदण्डोत्कालेषु जलमुष्ण मिश्रं, ततः परमचित्त-
म् । तथा वर्षे वृष्टौ पतितमात्रायां ग्रामादिषु प्रभूतमनुष्यप्रचार-
चुमौ यज्जलं तद् यावन्न परिणमति तावन्मिश्रम्, अरण्यभूमौ तु
यत् प्रथमं पतति तत्पतितमात्रं मिश्रं, पश्चात्पतितं सचित्तमात्रा-
देशादिकं मुक्त्वा तन्नुल्लोदकमबहुप्रसन्नं मिश्रम्, अतिस्वच्छीचूतं
त्वचित्तम् । अत्र त्रय आदेशाः । यथा केचिद्वदन्ति-तएकुलोदके
तएकुलप्रकालनजारेनावन्यत्र जारेने क्षिप्यमाणे त्रिट्वा प्रा-
एडपाश्चै लग्ना विद्वो यावन्न शाम्यन्ति तावन्मिश्रम् । अपरे-
तथैव याता यावद्बहुदा न शाम्यन्ति तावत् । अन्ये तु-यावत्त-
एकुला न सिद्ध्यन्ति तावत् । एते त्रयोऽप्यादेशा रुक्तेतरजाण-
पचनान्निसम्भवादिभिः, एषु कालनियमस्याभावात्, ततोऽति-
स्वच्छीचूतमेवाचित्तम् ।

तिव्वोदगस्स गहणं, केइ जाणेसु असूइ पडिसेहो ।

गिहिजायणेसु गहणं, तिअवासे मीसगं ठारो ॥ ७ ॥

तीव्रोदकं हि धूमधूम्राकृतदिनकरकरसम्पर्कसोपमतीव्रसम्प-
कादचित्तम्, अतस्तदुग्रहणे न काचित्तिराधना । केचिदाहुः स्व-
भाजनेषु तद् ग्राह्यम् । अत्राचार्यः प्राह-अवुचित्वात्स्यपात्रेषु
ग्रहणप्रतिषेधः, ततो गृहभाजने कुपिमकादौ ग्राह्यम् । पर्यति मे-
धे च तन्मिश्रम्, ततः स्थिते वर्षेऽन्तर्मुद्गत्तादृश्यं ग्राह्यम् । जलं
हि केवलं प्रासुकीचूतमपि प्रहरत्रयादूर्ध्वं भूय सचित्तं स्या-
दतस्तन्मध्ये ज्वारः केप्यः, एव स्वच्छताऽपि स्यादिति । पिपमनि-
युक्तिवृक्षौ तन्नुल्लोधावनोदकानि प्रथमद्वितीयतृतीयान्यचिर-
कृतानि मिश्राणि, चिरं तिष्ठन्ति त्वचित्तानि, चतुर्थ्यादिधावनानि
तु चिरं स्थितान्यपि सचित्तानि । प्रासुकजलादिकावमानमेव-
मुक्तं प्रवचनसारोक्षारादौ-"उसिणोदगं तिदकु-कालिमं फासु-
अ जल जइ कप्प । नवरि गिलाणाइकए, पहरतिगोवरि विअरि-
अव्व ॥ १॥ जायइ सचित्तपासे, गिह्मासु उ पहरपचगस्सुवरि ।
चउपहरवरि सिंसिरे, वासासु जल तिपहरवरि " ॥ २ ॥ तथा-
ऽचेननस्यापि कडुकमुद्गहरीतकाकुलिकादेरविनष्टयोनिरङ्ग-
णार्थं निःशूकतादिपरिहारार्थं च न दन्तादिभिर्भज्यते । यदुक्तं
श्रीओघनियुक्तिपञ्चसप्ततितमगाथावृत्तौ-अचित्तानामपि कर्पा-
श्चिद्वनस्पतीनामविनष्टा योनिः स्याद् गृह्णीमुद्गादीनाम् । तथा-
हि-गुरुची शुष्काऽपि जलसेकात्तादात्म्यं भजतीति दृश्यते,
एव कडुकमुद्गादिरपि, अतो योनिरङ्गणार्थमचेतनयतनाभ्याय-
वत्येवेति । ७० २ अधि० । ७० । नि० ७० । पि०

एतदेवाऽन्यत्र सद्रूपेण-

अह एयाणं जं ज, कालपमाणं भणामि सन्धेमि ।

भत्तं सिद्धं वियसं, कट्टदंसं हिंशुमहियं जं ॥ ६२ ॥

पुष्पफलपत्तमाय, वीयच्छाली विणा य अमफल ।

मंडपूगह्य जल-लणमीवदीयपप्पकया ॥ ६३ ॥

चउपहरमाणमेमि, ओयणमंनवारजामजगगण ।

तह नयनययुभिण, आहियं परिमाणमात्रे पुत्त ॥ ६४ ॥

दहिनकरगईण, कयसागाणं सोलजाम च ।

यामासु पक्का हंस-न माम्मांमाणु वीमदिममणं ॥ ६५ ॥

पक्कयकालो यिउ, निअसो पुंमकोए पक्कं ।

वासासु एगदिण वा, चक्षियरस जत्थ ज जाइ ॥ ६६ ॥
 निव्विगथ पक्कन्न, असणजुय तस्सिमेव परिमाण ।
 उच्चुवियारगयाण, चक्षियरसे त तहा जाण ॥ ६७ ॥
 घयतिष्ठगुमाईण, वप्परसगधपमुहपज्जासे ।
 कावपरिमाणमुत्त, जाणिज्जा नो तहा पाय ॥ ६८ ॥
 इत्थ य चक्षियरसम्मि, जीवा वेइदिया समुच्चति ।
 पुप्फिय परिदिया, वट्ठति दुवे वि समग वा ॥ ६९ ॥
 अचित्तजत्ते सचित्तो-जवणे एगैदिया समुच्चति ।
 अरण सुज्जियमिलिय, परिणी समुच्चिमा हुति ॥ ७० ॥
 तिष्ठमुगमसूरचवल्लय-भासकुल्लथयकलायतुवरीण ।
 बल्लण वट्ठचणयाण, पचगवरिसप्पमाणं च ॥ ७१ ॥
 साविविद्विजवज्जगधरि गोहुमतिणधस्यतिलकपासाण ।
 वासातिय परिमाण, ततो विरुसए जोणी ॥ ७२ ॥
 छुट्टा कगू अयसी, सणकोसुसगवरट्ठसिद्धत्था ।
 एवयकुहवमेही, मूलगवीया चवड्डा य ॥ ७३ ॥
 पहियाण वृत्ताण, उक्कोसठिई सत्तवासाइ ।
 होइ जहस्येण पुणो, अतमुहुत्त समग्गाण ॥ ७४ ॥
 पिप्परिखज्जूरमिरी-मुहिय अभया बढाम खारिका ।
 एव्हा जाइफल पुण, ककोल चार कुविया य ॥ ७५ ॥
 विरुसिज्जइ जोणी, एपसिं जलथल्लोवभोगेहि ।
 सघानयजलफलाइ, घाण जोणी तहा चित्ता ॥ ७६ ॥
 जोयणसय जलम्मि, थलम्मि सट्ठीइ भरुसकती ।
 वायागणिधूमेहि, पविद्धजोणी हवइ तोसिं ॥ ७७ ॥
 हरियाववणमणसिल्ल-पूगसेवालनाधिकेरा य ।
 एमेव अणाइसा, विरुत्था अवि मुण्येज्जा ॥ ७८ ॥
 सीयासिधवपासक-रणीकयहिगुल्लजाइवभिगनागाई ।
 अचित्तजोणिया क-दासणोहयमिदलमजिठा ॥ ७९ ॥
 पिट्ट मिस्समसुरु, पणचरतियदिणपमाणमापक्ख ।
 सावणासोयपोसे-सु जुयल्लम्मि वण अणुओगो ॥ ८० ॥
 पण्णचरतियजामाण, मादुगे चित्तजुयलजिठडुगे ।
 तह जज्जियधस्यण, दालीण विपज्जए पाय ॥ ८१ ॥
 चालियवन्नियतुसरहिय, सुक्क जा ताव मिस्सिय नेय ।
 होणजुय ज साग, भज्जियतवियण त सुद्ध ॥ ८२ ॥
 अस्से जणति भज्जिय-धस्यण पक्कतवियमिव कावो ।
 सत्तपणदसदसदिण, वासाइसु मिस्सवोणस्स ॥ ८३ ॥
 अतमुहुत्त मोद-स्स चोवीसजाम धाउपत्तगय ।
 गोमुत्त जइ केवल्ल-महिस्सा इम रमविवज्जासे ॥ ८४ ॥
 खइमितले विच्चासे, तिचवपणजामसुसिणनीरस्स ।
 वासाइसु पमाण, फासुजल्लस्सावि एमेव ॥ ८५ ॥

उस्सेइम १ ससेइम, २

तदुवनीर ३ तिलोदग ४ वा वि ।

तुस ५ जव ६ आयाम ७ वा

सोवीर ८ सुखवियर च ए ॥ ८६ ॥

अब १० कविट्टा ११ मनग १२,

अवामग १३ माउल्लिग १४ खज्जूर १५ ।

दक्खा १६ दामिम १७ कैर १८,

चिंचा १९ नारिअर २० कोवजल २१ ॥ ८७ ॥

पुव्वार्तिय भत्ते, उठे तिलतुसजवोदग मणिय ।

आ जाम सोवीर, अट्टमे उस्सिण नीर च ॥ ८८ ॥

मत्थमसित्थ गलिय, तियदकुल्लियपरिमियमल्लेव ।

परकडजई ण कप्पइ, न कप्पइ अस्समरुदेसे ॥ ८९ ॥

उस्सेइम ससेइम, तदुवतिलतुसजवाण नीर च ।

आ जाम सोवीर, सुख वियर जल जवहा ॥ ९० ॥

तिहवा तमालपत्त, मुत्थयकुट्ट च खयरमाईहि ।

फासुकय खजाइहि, कारणओ कप्पणिज्ज तु ॥ ९१ ॥

जिठ तवे भत्ते, परिमुवहासु अभिमाहायामे ।

सट्टाण जियकप्पइ, उएहजत्ते अणसणे वि तहा ॥ ९२ ॥

फल्लिचिचोदगभिगजा-ममाजाम धम्मनीर मुहुत्तातिग ।

उच्चुरसे सोवीरे जामदुग घोयण तिमुहु ॥ ९३ ॥

वप्परसगधपज्जव-भेयविमिस्स खु हवइ फासुजल ।

सक्करगुमखडाइ, वत्थुविजेएहि परिणमिय ॥ ९४ ॥

गोएवगमहिंसीण, खीर पण अट्टदसदिणाणुवरि सुक्क ।

तिदिणाणुवरि यल्लही, नवपस्ययाण एमेव ॥ ९५ ॥

चउपहरोवरि जाय, दहि सुद्ध हवइ कप्पणिज्ज च ॥

तक्करजुयखीरेयी, वीयदिणे होइ वा कप्पा ॥ ९६ ॥

निष्ठीर तिलमिस्स, सघाण तह वियारियफट्टाण ।

अचित्तजोइणो पुण, कप्पइ तक्करमणुगलिय ॥ ९७ ॥

निव्वल्लिनिच्छियफट्ट, जामगमामुहुत्तमुवरि कय ।

वियल तक्करमिस्स, न कप्पमुसिणीकएण विणा ॥ ९८ ॥

मोयाफल पमोली, धोसामोल च रुक्खगुदाइ ।

तण्णिच्छरु ज नो, हवइ त देवडीचिठी ॥ ९९ ॥

उक्किजजहस्यमज्जिम-जेएहि होइ तिविहमज्जच्छ ।

चउहा सचित्तपरि-व्याएणुक्किज्जेएण ॥ १०० ॥

तिविहम्मि अभिगहे खल्लु, न कप्पइ सचित्तवावारो ।

तथाणाहारवत्थु, कप्पइ सव्वावि रयणीए ॥ १०१ ॥

आयविलमवि तिविह, उक्किजजहस्यमज्जिमवपहि ।

तिविह ज वियल पूयाइ पक्कपए वि तत्थ ॥ १०२ ॥

सियसिधवसुगिमिरी, मेही सोवच्चल च विडल्लवण ।

हिंसुसुगधिसुयाइ य, पक्कपए साइम वत्थु ॥ १०३ ॥

कारणजाएण जइ ण, असणे सिक्क हविज्ज ठिमिय वा ।

पिट्ट जत्तेण ररु, घुघेरिट्टाइ सिक्केण ॥ १०४ ॥

पण्णडवरुया रुक्खा, सिद्धा तिगपीकया हवइ कप्पा ।

भज्जियधण तिणधस्य, कट्टदल्ल सिणेहवियल ज ॥ १०५ ॥

सव्वाण धस्यण, पि दु या डुक्केण सिक्किसाइभय ।

वेससत्थाए इह, विट्ठया तीइ अकप्प च ॥ १०६ ॥ अ० प्र० ।

अचित्त-त्रि० अकट्टरे, वृ० ५३० ।

अचित्तदवियकप्प-अचित्तदव्यकल्प-पुं० । अचित्तदव्याणा-

माहारादीनामुपयोगविधिविशेषे, "अचित्तदवियकप्प, एत्तो

वोच्चं समासेण । आहारे उवहिम्मि य, ओवसणे तह य पस्स-

वणे ॥ १ ॥ पयस निसज्जमाणे, दमे वंमे चित्तमिद्विणी अववे-

हणिया वप्पण सो-चणे दतसोहणे चेव ॥ २ ॥ पिप्पल्लगसूतिण-

क्खा-णवेदणे चेव सोलस मज्जा । हारो खल्लु द्विविहो वो-इयलो-

उत्तरे णायव्वो ॥ ३ ॥ तिविहो तु लोइओ खल्लु, तत्थ इमो होति

णायव्वो" । प० प्रा० । प० चू० ('आहार' प्रभृतिशब्देषु विवृति)

अचित्तदव्यरत्न-अचित्तदव्यस्कन्ध-पु० । अविद्यमानचित्तोऽ

चित्त, स चाऽसौ दव्यस्कन्ध । द्विप्रदेशिकादिपुञ्जलस्कन्धरूपे

अचेतने दव्यस्कन्धमेदे, अनु० ।

अचित्तदव्यचूला-अचित्तदव्यचूला-स्त्री० चूमामणिकुन्ताप्र-

सिंहकर्णप्रासादपादपाद्ये, नि० चू० १३० ।

अचित्तमंत-अचित्तवत्-त्रि० । न विद्यते चित्तमुपयोगो ज्ञान
यस्य । कनकरजतादावचेतने, सूत्र० १श्रु० १अ० १व० । 'चि-
त्तमतमचित्त वा णेव सय अदिन्नं गिएहेज्जा' । दश० ४ अ० ।
पा० । आचा० ।

अचित्तमहाखंभ-अचित्तमहास्कन्ध-५० । उत्कृष्टावगाहनेऽ
नन्तप्रदेशिके स्कन्धे, (तत्स्वरूप 'खंभ' शब्दे वक्ष्यते) विशेषः ।

अचित्तसोय (गु)-अचित्तस्रोतम् (क)-न० । जीवरहित-
 बिन्द्रे, (अचित्तस्रोतसो भेदास्तत्र शिष्य प्रवेश्य शुक्रपुद्गलानि-
 ष्कासनं च 'अगादान' शब्देऽदर्शि) ॥ नि० चू० १ उ० ।

अचियत-देशी-त्रि० अप्रीतिकरे, 'अचियाति वा अणियतति वा एग
ठ' इति वचनात् । व्य० २ उ० । पि० अप्रीतौ च । व्य० १ उ० ।
सूत्र० । देशीपदमेतत् । वृ० १ उ० । स्त्री० अप्रीतिमत्याम्,
व्य० ७ उ० ।

अचियंतेउरपरघरप्पवेस-अचियतान्तःपुरपरगृहप्रवेश- पु०
अचियतोऽनभिमतोऽन्तःपुरप्रवेशवत् परगृहप्रवेशोऽन्यतीर्थि-
कप्रवेशो येषां ते तथा । अनभिमतपरमतप्रवेशेषु सम्यक्त्वेषु,
यथा राक्षामन्तःपुरे गन्तुं नेष्यते, एव परतीर्थिकेष्वपि यैः प्र-
वेशो नेष्यते, ते श्रावकाः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । “ऊसियफ-
लिहा अवंगुयडुवारा अचियतेउरपरघरप्पवेसा चाउइस-
डुमुद्धिडुपुसमासिणेषु पडिपुसं पोसहं सम्म अणुपालेमाणा
विहरन्ति ” सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अचु (चो) कव-अचोक्ष-त्रि०। न० त०। अशुद्धे, तं०जी०।
अचिद्धण-अचेष्टन-न०। न० त०। चेष्टामावे, सर्वथा चेष्टा-
निरोधे, ध० ३ अधि०।

अचेयकम-अचेतस्कृत-त्रि० अचैतन्यकृते. भ० १६ श० २ उ०
(जीवानामचेतस्कृतकर्मकत्वं 'चेयकड' शब्दे)

अचेयण-अचेतन-त्रि० । न० त० । चेतनाविकले, आब० ४
अ० । 'अचेयणा' नराधमाः, विशिष्टचैतन्याभावात् ।
प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अचेयस्य-अचैतन्य-न० । न० त० । चेतनावैकल्ये, "अचैत-
न्यमजीविता" द्रव्या० ११ अन्या०

अचेल-अचेल-न० अच्य० । चेलस्याभावोऽचेलम् । जिनक-
लिपिकादीनामन्येषां सुयतीनां भिन्ने स्फुटितेऽल्पमूल्ये च चेले,
प्रव० ११३ द्वा० । वस्त्राणां वासगन्धनवीनावदातसुप्रमाणानां
सर्वेषां वा ऽभावे, स० २२ सम० ।

अचेद्व (ग)-अचेद्व (क)- पुं० । न विद्यन्ते चेलानि
घासांसि यस्यासावचेलकः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । नञ् कु-
त्सार्थे, कुत्सित वा चेलं यस्यासावचेलकः । प्रव० ७ द्वा० ।
अल्पकुत्सितचेले, जिनकल्पिके च । आचा० १ शु० ६ अ० २
उ० । सदसधेलत्वेन तस्य द्वैविध्यम्-

उविही होति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य ।

तिथ्यगर असंतचेव्हा, संताचेव्हा भवे सेसा ॥

द्विविधो भवत्यचेतः-सदचेतो असदचेतश्च । तत्र तीर्थ-
करा असदचेता देवदृष्यपतनानन्तरं सर्वदैव तेषां वस्त्राभा-
वात् । शेषाः सर्वेऽपि जिनकल्पिकादिसाधवः सदचेताः,
अघन्यतोऽपि रजोहरणमुखवस्त्रिकासम्भवात् । ३० १ ३० ।

आह-यद्येव ततः कथममी अश्वेला भण्यन्ते? सत्यम् । सति च चेलं ऽचेलकत्थस्यागमे लोके च रुढत्वात् ।

एतदेवाह-

सदमंतचे लग्नोऽचे-लग्नो य ज द्वागममयमंसिद्धो ।

तेणाचेद्वा मुणित्रो, संतेहि जिणा अमंतेहि ॥

सञ्चासञ्च सदसती चेले यस्यासौ सदसञ्चेलो यद्यस्मा-
ह्लोके समये चाञ्चेलकः ससिद्धः प्रसिद्धः। चशब्दः प्रस्ता-
वनायाम्, सा च कृतैव। तेन तस्मादिह मुनयः सामान्यसा-
धवः सद्भिरेव चेलैरुपचारातोऽचेलामभयन्ते। जिनास्तु ती-
र्थकरा असद्भिश्चेलैर्मुष्यवृत्त्या अचेलामव्यपदिश्यन्ते। इदमुक्तं
भवति-इहाचेलत्व द्विविधम्-मुख्यमुपचरितं च। तत्रेदानीं
मुख्यमचेलत्व संयमोपकारि न भवत्यत औपचारिकं गृह्यते,
मुख्यं तु जिनानामेवासीदिति।

इदमेवौपचारिकमचेतत्वं भावयति-

परिसुद्ध जुन्नकुत्सी-यं योवाऽनिययभोगभोगेहि ।

मुणिओ मुच्चारहिया, सतेहिं अचेन्नया होंति ॥

मुनयः साधवो मूर्खारहिताः सद्भिरपि चेन्नैकरूपचारतोऽचे-
लका प्रवन्ति । कथम्भूतैश्चैत्रित्याह-परिसुद्धंति लुप्तविज्रिक-
कदर्शनात् परिशुद्धैरेषणीयैः, तथा जीर्णैर्बहुदिवसैः, कुत्सितैरसा-
रैः, स्तोकैर्गणनाप्रमाणतो हीनैस्तुच्छैर्वा (अनियतभोगभोगेर्हि ति)
अनियतभोगेन कादाचित्कसेवनेन भोग परिभोगो येषां तानि
तथा तैरेवचूतैश्चैत्रैः सद्भिरप्युपचारतोऽचेलका मुनयो नश्य-
न्ते । तथा 'अन्नजोगोभोगेर्हि ति' इत्येवमपि योज्यते, ततश्च लोक-
रुढप्रकारादन्यप्रकारेण भोग आसेवन, प्रकारलक्षणस्य मध्यमप-
दस्य लोपादन्यभोगः, तेनान्यभोगेन भोगः परिजोगो येषां तानि
तथा तैरप्येवभूतैश्चैत्रैश्चेन्नकत्वं लोके प्रसिद्धमेव, यथा कटी-
वाससा वेष्टितशिरसो जज्ञावगाढपुरुषस्य साधोरपि कच्चाव-
न्धाभावात्कूर्परान्यामग्रभाग, एव चोन्नपट्टकस्य धारणान्मस्त-
कस्योपरि प्रावरणाद्यभावाच्च श्लोकरुढप्रकारादन्यप्रकारेण चेन्न-
जोगो रूपाय्यः । तदेव 'परिशुद्धजुन्नकुत्थिय' इत्यादिविशेष-
णविशिष्टैः सद्भिरपि चेलैस्तथाविधवस्त्रकार्यारणान्तु मू-
र्खज्जावाच्च मनयोऽचेलका व्यपदिश्यन्त इतीह तात्पर्यम् ।

आह-ननु चेन्नस्यान्यथापरिज्ञेयेण किमचेन्नत्वव्यपदेशः

नवापि दृष्ट इत्याशङ्क्य तदुपदर्शनार्थमाह-

जह जलमवगाहंतो, बहुचेझो विसिरवेदियकाढिह्यो ।

भस्मऽनरो अचेन्नो, तद् मुणित्र्यो संतचेन्नो वि ॥

जीर्णादिभिरपि सत्त्वरत्नेष्वकत्वं द्वाके रुढमेवेति भावयति—

तह थोत्र जुन्नकुत्थिय-चेन्नोहिं विजमए अचेन्नो त्ति ।

जह तुर सैलिय ! अप्पय, मे पोत्ति नगिया वत्ते ॥

इयमपि सुगमा, नवर, जह तुरेत्यादिदृष्टान्तः । यथेदं क्वापि
योषित् कटीवेष्टिनजीर्णबहुभिद्रैकशाटिका कञ्चित्कोक्तिक वद-
ति-त्वरस्व भोः दैष्टिक ! शीघ्रो भूत्वा मदीयपोत्ता शाटिकां
निर्माय्य ददस्व समर्य, नग्निका वतेंऽहम्, तदिह सबन्धाया-
मपि योषिति नान्यवाचकशब्दप्रवृत्तिः । विशेषः ।

अथ तत्रैवोपनयमाह—

जुषेहि स्वमिषाहि य, असन्वतण्णपाउतेहि सा य णिम् ।

संतेहि त्रिणिगंथा, अचेसगा होंति चेलेहि ॥

एव जीर्णं पुराणैः, स्मरिभूतैश्चिन्तैः, असर्वतनुप्रावृत्तैः स्वल्पप्रमाणतया सर्वस्मिन् शरीरे अप्रावृत्तैः, प्रमाणैः हीनैरित्यर्थः । न च नित्यं सदैव प्रावृत्तैः किन्तु शीतादिकारणसद्भावे एवविधैश्चे-
लैः, साक्षिरपि विद्यमानैरपि, निर्ग्रन्था अचेलान् जयन्ति ।

अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

एवं दुर्गतपट्टिया, अचेलगा ह्येति ते नवे बुद्धी ।

ते खलु असततीए, धारंति ए धम्मबुद्धीए ॥

यदि जीर्णस्मृतादिभिर्वस्त्रैः प्रावृत्तैः साधवोऽचेलकास्तत एव दुर्गताश्च दरिद्राः पथिकाश्च पान्था दुर्गमपथिकास्तेऽप्यचेलका भवन्तीति ते भवेद्बुद्धिः स्यात् । तत्राच्यते ते खलु दुर्गतपथिका असत्तया नवव्यूतसदृशकादीनां वस्त्राणामसम्पत्त्या परि-
जीर्णादीनि वासांसि धारयन्ति, न पुनर्धर्मबुद्ध्या । अतो भावत-
स्तद्विषयमूर्च्छापरिणामस्यानिवृत्तत्वात् नैतेऽचेलका । साधवन्तु
सति लाभे महाधनादीनि परिहृत्य जीर्णस्मृतादीनि धर्मबु-
द्ध्या धारयन्तीत्यचेलान् उच्यन्ते ।

यद्येवमचेलास्ततः किमित्याह—

आचेलकको धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।

मज्झिमगाण जिण्णं, होति अचेला सचेलो वा ॥

अचेलकस्य ज्ञाव आचेलकस्य, तदस्यास्तीत्याचेलकस्य ।
अन्नादेराकृतिगणत्वादप्रत्ययः । एवविधो धर्मः पूर्वस्य च
पश्चिमस्य च जिनस्य तीर्थं जवति । मध्यमकानां तु जिनानाम-
चेलः सचेलो वा जवति ।

इदमेव भाषयति—

पानेमाए पाउत्ता, णातिकमंते उ मज्झिमा समणा ।

पुरिमचरिमाण अमह-दण्णाइ जिष्साई मोमोत्तुं ॥

मध्यमा मध्यतीर्थकरसत्का साधवः प्रतिमया वा जग्नतया
प्रावृता वा प्रमाणातिरिक्तमहामूल्यादिभिर्वासोभिराच्छादितव-
पुपो नातिक्रामन्ति, ज्ञागवनीमाह्वामिति गम्यते । पूर्वचरमाणा
तु प्रथमपश्चिमतीर्थकरसाधूनाममहाधनानि स्वल्पमूल्यानि,
भिन्नानि वा कृत्स्नानि प्रमाणोपेतान्यदृशकानि चेत्यर्थः । पर-
मिमानि कारणानि मुक्त्वा तान्येवाह—

आसज्ज खेत्तकप्प, वासावासे अजावितो असहू ।

काळे अच्चाणम्मि य, सागरि तेणो व पाउरणं ॥

क्षेत्रकल्प देशविशेषाचारमासाद्याभिन्नान्यपि प्राप्तिरन्ते, यथा
सिन्धुविषये तादृशानि प्रावृत्त्य हि एरुन्ते । वर्षावासे वा वर्षाक-
ल्प प्रावृत्त्य हि एरुन्ते । अभाषित शैल कृत्स्नानि प्रावृत्यो हि एरु-
न्ते यावज्जावितो जवति । असाहिष्णुः शीतमुष्णं वा नाधिसोढु
शक्नोति तत कृत्स्न प्रावृत्तयात् । काळे वा प्रत्यूषे भिक्षार्थं
प्रविशन् प्रावृत्त्य निर्गच्छेत् । अध्वनि वा प्रावृता गच्छन्ति ।
यत्सागारिकप्रतिवद्धप्रतिश्रये स्थितास्ततः प्रावृताः सन्तः
कायिकादिह्युच गच्छन्ति, स्तेना वा पथि वर्तन्ते, तत उत्कृष्टोपधि-
कस्थे कक्षाया वा विण्टिकां कृत्वोपरि सर्वाङ्गीणप्रावृता गच्छ-
न्ति । एतेषु कारणेषु कृत्स्नस्योपधेः प्रावरणं कर्तव्यम् । तथा-

निरुवहयलिंगमेदे, गुरुगा कप्पंति कारणज्जाए ।

गेल्लसुन्नोयरोगे, सरिरेवेतावन्निमादी ॥

निरुपहतो नाम नीरोगस्तस्य लिङ्गमेदं कुर्वतश्चतुर्गुरुका ।
अथवा निरुपहत नाम यथाजातलिङ्ग तस्य मेदे चतुर्गुरु ।
तस्य च लिङ्गमेदस्येमे मेदाः—

खंथे पुवार संमति, गरुलदंसे य पट्टलिंगपुवे ।

लहुगो लहुगो य तिसु त्रि, चउगुरुओ दोसु मूयं तु ॥

स्कन्धे कल्प शीर्षद्वारिकां वा करोति, मासलघु सयती प्रावरणं
करोति, चतुर्लघु गरुडपाक्षिक प्रावृणोति, अर्धशकृत करोति,
कटीपट्टक बध्नाति, एतेषु त्रिष्वपि चतुर्गुरु गृहस्थलिङ्ग पर-
लिङ्ग वा करोति, द्वयोरपि मूलम् । द्वितीयपदे तु कारणजाते
लिङ्गभेदोऽपि कर्तुं कल्पते । कुत्रेत्याह-ग्लानत्व कस्यापि विद्य-
ते । तस्योद्धर्त्तनमुपदेशनमुत्थापन वा कुर्वन् कटीपट्टक बध्नी-
यात् । लोच वा अन्यस्य साधोः कुर्वाणः पट्टक बध्नाति । (रो-
गि त्ति) कस्यापि रोगिणोऽशींसि लम्बन्ते, द्वौ वृषणौ वा शूलौ,
स कटीपट्टक बध्नीयात् । गृहलिङ्गान्यलिङ्गयोरप्यमपवादः—

असिंवे ओमोयरिए, रायदुट्टे व वादिदुट्टे वा ।

आगाढ अन्नलिंगं, काळक्खेवो व गमणं वा ॥

स्वप्नप्रान्ते आगाढे अशिवे अन्यलिङ्गं कृत्वा तत्रैव काल-
क्षेपं कुर्वन्ति, अन्यत्र वा गच्छन्ति । एव राजद्विष्टे राक्षि सा-
धूनामुपरि द्वेषमापन्ने, वादिद्विष्टे वा बादपराजिते कापि वा-
दिनि व्यपरोपणादिक कर्तुं कामे एवविधे कारणे आगाढे
अन्यलिङ्गमुपलक्षणत्वाद्बृहिलिङ्गं कृत्वा कालक्षेपो वा गम-
न वा विधेयम् । वृ० ६ उ० । पं० भा० । प० चू० ।
पचा० । प० स० । आ० । कल्प० । जीत० । प्र० ।
स्था० । (तिन्द्रकोद्याने केशीकुमारेण चातुर्यामपञ्चयामधर्म-
भेदेहेतुप्रश्नकारकेण “ अचेलगो य जो धम्मो, जो
इमो सतरुत्तरो । देसिओ वड्ढमाणेण, पासेण य महायसा ”
(उत्त० २३अ०) इत्याचेलकधर्मस्य कथं वीरतीर्थं सत्त्व पार्श्व-
तीर्थेऽसत्त्वमिति पृष्टो गौतमो विभेदकारणं ‘ गौयमकेसि-
ज्ज’ शब्दे वद्व्यते) महापद्मस्य भविष्यत्प्रथमतर्थिकरस्य स-
मयेऽप्यचेलकधर्मो भविष्यति । स्था० ए डा० ।

पञ्चमि प्रकारैरचेलकः प्रशस्तो भवति—

पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे जवइ । तं जहा-अप्पा-
पडिलेहा, लाघविण पसत्थे, रुवे वेसासिए, तवे अणु-
प्पाए, विउले इदियनिगहे ॥

(पञ्च हीत्यादि) प्रतीतम्, नवरं, न विद्यन्ते चेलानि वासांसि
यस्यासावचेलकः, स च जिनकल्पिकविशेषः, तदज्ञावादेव । त-
था स्वविरकल्पिकश्चाल्पमूल्यसप्रमाणजीर्णमस्त्रिनवसनत्वा-
दिति प्रशस्तः, प्रशसितस्तीर्थकरादिभिरिति गम्यते । अल्पा प्र-
त्युपेक्षा अचेलकस्य स्यादिति गम्य प्रत्युपेक्षणीय, तथाविधोपधे-
रज्ञावात् । एवं च न स्वाध्यायादिपरिमन्थ इति । तथा लघोर्भाषो
लाघवतदेव लाघविक, द्रव्यतो भावतोऽपि रगाधिययाज्ञावात् प्र-
शस्तमनिन्द्य स्यात् । तथा रूप नेपथ्य वैश्वसिक विश्वासप्रयोज-
नमलिप्सुतासूचकत्वात् स्यादिति । तथा तप उपकरणसत्तीनता-
रूपमनुज्ञात जिनानुमत स्यात् । तथा विपुलो महानिष्क्रियनिग्रहः
स्यात्, उपकरणविना स्पर्शनप्रतिकूलशीतघातातपादिसहनदि-
ति स्था० ए डा० ३३३० । (प्रतिमां प्रतिपन्नो वस्त्रप्रयवाच्चतुर्थं वस्त्र-
मन्वेष्टयन् लब्ध्वा च तद् देमन्ते तस्मिन् जीर्णं, “अडुवा एगसाने
अडुवा अचेले लाघविय आगममाणे तवे से अनिसमस्यागते
भवति त्ति” ‘मरण’ शब्दे दर्शयिष्यते) ॥ (अचेलस्य निर्ग्रन्थस्य
सचेष्टिकाभिर्निर्ग्रन्थीभिः सवाल ‘सवाल’ शब्दे द्रष्टव्यम्)
अचेलगधम्म-अचेलकधर्म-पु० । अविद्यमानानि जिनकल्प-

कविशेषापेक्षया असत्त्वादेव, स्थविरकल्पिकापेक्षया तु जी-
र्णमलिनखण्डितश्वेताल्पत्वादिना चेन्नानि वस्त्राणि यस्मिन् स
तथा, धर्मश्चारित्र्यम्, स चासौ धर्मश्चात्रेकधर्मः । आचेलक्याख्ये
द्वाविंशतितीर्थकराप्रज्ञेते ऋषयन्वीरतीर्थसम्मते साध्याचारे, स्था०
६ ठा० (यथा चैष धर्मस्तथाऽनन्तरम् 'अचेलग' शब्दे दर्शितः)
अचेलपरि (री) सह-अचेलपरि (री) षट्-पुं० । अचे-
ल चेलाभावो जिनकल्पिकादीनाम्, अन्येषां तु भिन्नमल्प-
मूल्य च चेलमप्यचेलम्, अवस्त्राशीलवत्, तदेव परीषहोऽचेल-
परीषहः । उक्तं २ अ० । अचेलतायां जीर्णापूर्णमखिनादिचे-
लत्वे दृष्ट्यादित्याऽऽकाङ्क्षाद्यकरणेन परिपहमाणत्वादिति ।
भ० ८ श० ८ उ० । षष्ठे परीषहे, प्र० ५ सव० द्वा० स० । अ-
महामूल्यानि खण्डितानि जीर्णानि च वासांसि धारयेत् । आव०
४ अ० । न च तथाविधवस्त्रं सन् मम प्राक् परिगृहीतं वस्त्रं
नास्ति, नापि तथाविधो दातेति दैन्यं गच्छेत् ; अन्यन्नाभसम्भा-
वनया प्रमुदितमानसश्च न भवेदिति । प्रव० ८६ द्वा० । यथा-
" नास्ति वासोऽशुभं चैतत्, तन्नेच्छेत्साध्याधु वा । नान्येन
विषुतो जानन्, लाभाऽलाभविचित्तम् । " ॥ १॥ ध० ३ अधि० ।
" शीतान्जितापेऽपि यति-स्त्वन्वस्त्राणवर्जितं । वासोऽकल्प
न शुद्धीया-दर्गि नोज्ज्वालयेदपि " ॥ १॥ आव० १ अ० ।

एतदेव सूत्रकार आह—

परिजुष्टेहि वत्थेहि, होक्खामिति अचेलए ।

किंवा सचेदए होक्खं, इइ जिकवू ए चितए ॥

परिजीर्णै समन्ताद् हानिमुपगतैर्वस्त्रैः शाटकादिभिः (हो-
क्खामिति) इतिर्निर्णयः, ततो भविष्याम्यचेलकश्चेलकविक्रयो-
ऽल्पदिनभावित्वादेवामिति भिक्षुर्न चिन्तयेत् । अथवा सचेल-
कश्चेलान्वितो भविष्यामि, परिजीर्णवस्त्रं हि मां दृष्ट्वा कश्चित् आ-
हः सुन्दरतराणि वस्त्राणि दास्यतीति भिक्षुर्न चिन्तयेत् । इदमु-
क्तं भवति-जीर्णवस्त्रः सन्नसमं प्राक् परिगृहीतं न परं वस्त्रम-
स्ति, न च तथाविधो दातेति न दैन्यं गच्छेद् न चान्यलाभसम्भा-
वनया प्रमुदितमानसो भवेदिति सूत्रार्थः । इत्थं जीर्णादिवस्त्रतया-
ऽचेल स्थविरकल्पिकमाश्रित्याचेलपरीषह उक्तः । सप्रति तमेव
सामान्येनाह—

एगयाऽचेलए होई, सचेले वा वि एगया ।

एयं धम्महिंयं णच्चा, एणणी णो परिदेवए ॥ १३ ॥

एकदैकस्मिन्कावे जिनकल्पप्रतिपत्तौ, स्थविरकल्पेऽपि दुर्ल-
भवस्त्रासौ वा सर्वथा चेन्नाभावेन, सति वा चेन्ने विना वर्षादी-
नि तमप्रावरणेन, जीर्णादिवस्त्रतया वा अचेलक इत्यवस्त्रो भव-
ति । पठ्यते च— ' अचेलए सय होति ' तत्र, स्वयमेवात्मनैव
न पराजियोगतः सचेलः सवस्त्रश्चाप्येकदा स्थविरकल्पिकत्वे
तथाविधादम्बनेनावरणे सति । यद्येव तत किमित्याह—एतदि-
त्यवस्थौचित्येन सचेलत्वमचेलत्व च धर्मो यतिधर्मस्तस्मै हि
तमुपकारकं धर्महितं, ज्ञात्वाऽवबुध्य, तत्राचेलकत्वस्य धर्म-
हितत्वमल्पप्रत्युपेक्षादिभिः । यथोक्तम्— " पचिहि णणेहि पुरिम-
पच्छिमाणं अरहताणं भगवताणं अचेलए पसत्थे भवति । त
जहा-अप्पापदिहेहा वेसासिणं रुवे १ तवे २ अणुमए ३ लाघ-
वपसत्थे ४ विउले इदियणिगहे ५ ति " । सचेलत्वस्य तु धर्मो-
पकारित्वमग्न्याधारम्भनिवारकत्वेन सयमफलत्वात् । ज्ञानी
नग्नो एव प्रायस्तिर्यग्नारकास्तद्भवजयादेव च मया सत्यपि
वासास्यपास्यन्त इत्येवबोधत्वाच्च परिदेवयेत् । किमुक्तं भवति-

अचेलः सन् किमिदानीं शीतादिपीमितस्य मम शरणमिति न
दैन्यमात्मन्वेत इति सूत्रार्थः । उक्तं २ अ० ।

अत्र ' एवं धम्महिंयं णच्चेति ' सूत्रसूचितं दृष्टान्तमाह—

वीतजये देवदत्ता, गंधारं सावगं पमियरित्ता ।

लज्जं सयंगुल्लियाणं, पज्जोतेणाणि उज्जोणिं ॥

ददूणं चेन्मिरणं, पभावई पव्वइतु कालगया ।

पुक्खरकरणं गहणं, दस पुरपज्जोयमुयणं च ॥

माया य रुद्धसोमा, पिया य एणमेण सोमदेवो ति ।

जाया य फग्गुरक्खिय, तोसल्लिपुत्ता य आयरिया ॥

सीहगिरिजइगुत्ते, वडरक्खमणा पदित्तु पुव्वगयं ।

पव्ववित्तो य जाया, रक्खियक्खमणेहि जणओ य ॥

उक्तं नि० ॥

गाथाचतुष्टयम् । वीतजये देवदत्ता गन्धारं भावकं प्रतिजा-
गर्त्या लज्जते शताहुल्लिकानां, प्रद्योतेनानीतो उज्जयिनी, दृष्ट्वा चेटीम-
रणं प्रजावती प्रवज्य कालं गता, पुष्करकरणं, ग्रहणं, दशपुरप्रद्यो-
तमोचनं च, माता च रुद्धसोमा, पिता च नाम्ना सोमदेव इति,
भ्राता च फल्गुरक्षितः, तोसल्लिपुत्ता आचार्याः । सिंहगिरिमठ-
गुप्तान्यां वज्रक्रमणं पठित्वा पूर्वगतं प्रवाजितश्च भ्राता रक्षि-
तक्षमणैर्जनकश्चेति गाथाचतुष्टयाकारार्थः । जावार्थस्तु-वृद्धस
प्रदायादवसेयः । स चायं (जीवितस्वामिप्रतिमावकव्यता आ-
र्य्यरक्षितसुरिणां दशपुरमागमनावधि 'अज्जरक्खिय' शब्दे वक्ष्य-
ते) उक्तं ३ अ० । अथार्य्यरक्षितसुरिणां तत्र स्वमातृभगिनीप्रमुखः
सर्वसांसारिकवर्गो दीक्षां प्रादितः । पिता तु प्रतिबोधितोऽ-
पि साधुलिङ्गं न गृह्णाति । त्वज्ञातीयजनानां लज्जां च वहति ।
आचार्या दीक्षाग्रहणाय तस्य बहु कथयन्ति । ततः स कथ-
यति-पृथुलवस्त्रयुगलयज्ञोपवीतकमण्डलुच्छ्रिकोपानि सम-
चेद् दीक्षां ददासि तदा ज्ञामि । ततो लाजं दृष्ट्वा तादृशमेव
तं गुरुः प्रवाजितवान् । प्रादितश्चरणकरणस्वाध्यायम् । अन्यदा
चैत्यवन्दनार्थं गता आचार्यास्तत्र साधुशिक्षिता गृहस्थकिम्भ-
का वदन्ति—एनं वज्रिणं मुक्त्वा सर्वान् साधून् वन्दामहे । ततः
स वृद्धो वक्ति-मम पुत्रनप्त्रादय एते वन्दिता, अहं कस्माच्च
वन्दितः, किं मया दीक्षा न गृहीता ? त आहु-किं दीक्षितस्य वज्र-
कमण्डलादीनि स्युः । ततो गुरुष्यागतेषु स वृद्धो वक्ति-पुत्र ! मम
किम्भका अपि हसन्ति, ततो न कार्यं वज्रेण । एव प्रयोगेण
क्रमतो धौतिकवस्त्रं मुक्त्वा सर्वं त्याजितः । बहुशस्तथा प्रयोगक-
रणेऽपि धौतिकं न मुञ्चति स्म । अन्यदा एक साधुर्गृहीतानशन-
स्वर्गं गतः । तत आचार्यैर्वृद्धस्य धौतिकत्याजनाय साधून् प्रत्येव-
मुक्तम्—य एनं मृतसाधु व्युत्सृष्टं स्कन्धेन वहति, तस्य महत् पु-
ण्यम् । तत स स्थविरो वक्ति-पुत्राऽत्र किं बहुनिर्जरा ? आचार्या
आहु-वाढम् । ततः स वक्ति-अहं वहामि । आचार्या वदन्ति-
अत्रोपसर्गा जायन्ते, चेदकरूपाणि लग्नन्ते, यदि शक्यतेऽधिसोदु-
तदा वर, यदि कोभो भविष्यति तदा शुभमस्माकं भविष्यति,
एवं स्थिरीकृत्य स तत्र नियोजितः साधुसाध्वीसमुदायः पृष्ठे
स्थितः । यावत्तेन साधुशुभं स्कन्धे समारोप्य वोदुमारब्धं, तावत्त-
स्य धौतिकं गुरुशिक्षितकिम्भकैराकर्षितम्, स लज्जया याव-
त्तत्साधुशुभं स्कन्धान्मुञ्चति तावदन्यैरुक्तम्—मा मुञ्च २, एकेन
चोत्तपट्टको दवरकेन कृत्वा कटौ बद्धः । स तु बज्रया तत्साधुश-

व हारभूमि याधदुष्टं तत्र व्युत्सृज्य पश्चाद्गानो वक्ति-पुत्र ।
अथ महानुपसर्गो जात । श्राद्धाचार्या-स्नानायतां धौतिक,
परिधाप्यताम् । ततः स वक्ति सधाऽल धौतिकेन, यद् दृष्टव्यं
तद् दृष्टमेव । अथ चोत्पद्य एवास्तु । पूर्वं तेनाऽचेलपरीपहो न
सोढ, पश्चात् सोढ । उक्तं २ अ० ।

एतदेवाचेलतासहन प्रत्यपादि यथा—

एवं तु मुणी आयाणं सया सुअक्रवायभम्मे विभूतक-
ल्पे णिज्जोसइत्ता, जे अचेले परिवासिते तस्म एं भिस्सु-
स्म णो एवं जवति, परिजुएणे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि सुत्तं
जाइस्सामि सुइं जाइस्सामि संधिस्सामि सीविस्सामि उक्क-
सिस्सामि वोक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि,
अदुवा तत्थ परिकम्पं जूज्जो अचेलं तण्णासा फुसंति
सीयफामा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसपसगफासा फुसंति
एगपरे अण्णपरे विरूवरूवे फामे अहियामेत्ति अचेले
हायवं आगममाण्णा, तवे मे अभिसमण्णाणए जवति, जहेयं
भगवता पवेदितं, नमेव अजिसमेच्चा सव्वतो, सव्वत्ताए
सम्पत्तमेव सपभिजाणिग्या, एवं तेसि महावीराणं चिरराइं
पुन्नाइं वासाणि रीयमाण्णाणं दवियाणं पास अहियासियं
आगयपण्णाणाणं किंसा वाहा भवंति । पयण्णए मंससोणिण
विस्सेण्णि कट्टु परिण्णाए एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहि-
ए चि वेमि ।

एतद्यत् पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं या, खुर्वाक्यासङ्कारे, आदीयत इत्या-
दानं कर्म, आदीयत इति याऽनेन कर्मोत्पादनं कर्मोपादानम् ।
तच्च धर्मोपकरणातिरिक्तं वक्ष्यमाणं यत्नादि तन्मुनिर्भोषयितेति
नबन्ध । किंभूत ? सदा सर्वकालं सुप्राप्त्यातो धर्मोऽस्येति स्वा-
ख्यातधर्मां ससारनीक्याद्यथारोपितप्रारयादीत्यर्थः, तथा चि-
धूत क्षुष्य सम्यक् स्पृष्टः कल्प आचारो येन स तथा, स एवचूतो
मुनिरादानं भोषयित्वा आदानमपनेप्यति । कथं पुनस्तदादानं
वत्त्वादि स्याद् येन तद् जोषयितव्यं भवेदित्याह—(जे अचेले इत्या-
दि) अल्पार्थं नञ्, यथा-अथ पुमान्कः स्वरूपज्ञान इत्यर्थः । यः
साधुनां स्य चेल वत्समस्तीत्यतोऽचेलोऽल्पचेल इत्यर्थः । सयमे
पर्युपितो व्यथस्थित इति तस्य भिक्षोर्नैतद्वचति नैतत्कल्पते ।
यथा परिजीर्णं मे वत्समचेलकोऽहं प्राविष्यामि, न मेऽत्र त्वक्त्रा-
णं जविष्यति, ततश्च शीतार्थादितस्य किं शरणं मे स्याद् वत्स
चिनेत्यतोऽहं कञ्चन श्रावकादिकं प्रत्येत्य वत्सं याचिष्ये, तस्य
वा जीर्णस्य वत्सस्य सधानाय सूत्रं याचिष्ये, सूचीं याचिष्ये
वा, आसन्न्या सूचीसूत्राज्या जीर्णवस्त्ररन्ध्रं सधास्यामि, पाटितं
सीविष्यामि, लघुं वा सदपरशकललग्नत उत्कर्षयिष्यामि,
दीर्घं वा सत् खण्डापनयनतो व्युत्कर्षयिष्यामि । एव च कृत स-
त्परिधास्यामि, तथा प्रावरिस्यामीत्याद्याऽस्यानोपहनं । सत्यपि
जीर्णादिवत्ससद्भावे यद्वाविष्यत्ताप्यवसायिनो धर्मकप्रवणस्य
तु भवत्यन्तं करणवृत्तिरिति । यदि वा जिनकल्पिकाभिः प्राये-
णेवेतत् सूत्रं व्याख्येयम् । तद्यथा—(जे अचेले इत्यादि) नास्याचेल
वत्समस्तीत्यचेलः छिद्रपाणित्वात्पाणिपात्रः । पाणिपात्रत्वात्पा-
त्रादिसप्तविधतन्त्रियोगरहितोऽजिग्रहविशेषात् त्यक्तकल्पत्रयः ।
केवलं रजोहरणमुखवस्त्रिकासमन्वितस्तस्याचेलस्य भिक्षोर्नैत-

द् भवति, यथा परिजीर्णं मे वत्सं सच्छिद्रं पाटितं चेत्येवमादिव-
त्समपध्यानं न भवति, धर्मिणोऽभावाद्धर्माभावः । सति च
धर्मिणि धर्मान्वेषणं न्याय्यमिति सत्यवचस्तथेदमपि तस्य न
भवत्येव । यथा पर वत्समहं याचिष्ये इत्यादि पूर्ववक्ष्यम् । यो-
ऽपि छिद्रपाणित्वात्पात्रनिर्योगसमन्वितः कल्पत्रयान्यतरयुक्ता-
ऽसावपि परिजीर्णादिसद्भावे तद्वत्तमपध्यानं न विधत्ते, यथा
एतस्याल्पपरिकर्मणो ग्रहणात् सूचिसूत्रान्वेषणं न करोति ।
तस्य चाचेलस्याल्पचेलस्य वा तृणादिस्पर्शसद्भावे यद्वि-
धेयं तदाह—(अदुवा इत्यादि) तस्य हाचेलतया परियसतो
जीर्णवत्त्वादिकृतमपध्यानं न प्रयति, अथयैतत् स्यात्तत्राचेलत्वे
पराक्रममाणं (जुज्जो) पुनस्त साधुमचेलं कचिद् ग्रामादौ त्य-
क्त्राणाभावात् तृणशय्याशायिनं तृणानां स्पर्शां परुषास्तृणै-
षां जनिता स्पर्शा दुःखविशेषास्तृणस्पर्शास्ते कदाचित् स्पृ-
शन्ति, तांश्च सम्यगर्दानमनसाऽतिसहते इति सयन्धः । तथा
शीतस्पर्शाः स्पृशन्त्युपतापयन्ति, तेजउष्णस्पर्शाः स्पृशन्ति, तथा
दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति । तेषां तु परीपहाणामेकतरे विरुद्धा
दंशमशकस्पर्शादयः प्रादुर्भवेयुः, शीतोष्णादपरीपहाणां
या परस्परविरुद्धानामन्यतरे प्रादु स्युः । प्रत्येकं बहुवचननिर्दे-
शाच्च तीव्रमन्धमध्यमावस्याससूचकं इति । एतदेव दर्शयति-विरूप
बोभत्स मनोनयनानाहादि विविधं वा मन्दादिभेदादप्येपां ते वि-
रूपरूपा । केते?, स्पर्शा दुःखविशेषास्तदापादकास्तृणादिस्पर्शा
या, तांश्च सम्यक्करणेनापध्यानरहितोऽधिसहते, कोऽसौ?, अ-
चेलोऽपगतचेलोऽल्पचेलो वाऽचेलस्थरूपो वा सम्यक् तितिक्षते ।
किमभिसन्ध्यं परियदानधिसहते इत्यत आह—(लाघवमित्यादि)
लाघोर्जायो लाघवः, ह्रस्वतो भावतश्च, ह्रस्वतो ह्युपकरणलाघवः,
प्राघवतः कर्मलाघवम् । प्रागमयध्वगमयन्त्युध्यमान इति यावद-
धिसहते परीपहोपसर्गानिति । नागाजुर्नीयास्तु पठन्ति—“एवं
गच्छुं से उद्यगरणलाघवियं तव कम्मफलकारणं करोति” एव-
मुक्तक्रमेण लाघवलाघवार्थमुपकरणलाघव तपश्च करोतीति भा-
षार्थः । किञ्च (तवे इत्यादि) (से) तस्योपकरणलाघवेन कर्म-
लाघवमागमयन्तं कर्मलाघवेन चोपकरणलाघवमागमयतस्तृ-
णादिस्पर्शानधिसहमानस्य तपः कायक्लेशरूपतया बाह्यमभिस-
मन्वागतं प्रयति । मम्यगाभिमुष्येन सोढुं भवति । एतच्च न मयोच्य-
त इत्येतद्दर्शयितुमाह—(जहेय इत्यादि) यथा येन प्रकारेण इमिति
यदुक्तं वक्ष्यमाणं चैतद्, जगवता धीरवर्धमानस्यामिना, प्रकर्षे-
णाऽऽर्द्रा वा वेदितं प्रवेदितमिति । यदि नाम भगवता प्रवेदितं ततः
किमित्याह—(तमेव इत्यादि) तदुपकरणलाघवमाहारलाघव वा-
ऽभिसमेत्य ज्ञात्वा, एवकारोऽवधारणे, तदेव लाघव ज्ञात्वेत्यर्थः ।
कथमिति चेदुच्यते-सर्वत इति ह्रस्वतः क्लेशतः काशतो भावतश्च ।
तत्र द्रव्यत आहारोपकरणादौ, क्लेशतः सर्वत्र ग्रामादौ, कालतो-
ऽहनि रात्रौ वा, दुर्भिक्षादौ वा । सर्वात्मनेति । भावतः कृत्रिम-
कल्काद्यभावेन, तथा सम्यक्त्वमिति । प्रशस्तं शोभनमेकं सङ्गतं
वा तत्त्वं सम्यक्त्वम् । तदुक्तम्—“प्रशस्तं शोभनञ्चैव, एकं स-
गतं एव च । इत्येतैरुपस्पृष्टं, भावः सम्यक्त्वमुच्यते” ॥१॥ तदेव-
च्युतं सम्यक्त्वमेव वा समभिजानीयात् सम्यगाभिमुख्येन जामी-
यात् परिच्छिन्नात् तथा हाचेलोऽप्येकचेलादिकं नावमन्येत, यत्
उक्तम्—“जो वि दुवत्थं तिवत्थो, पणेण अचेलगो व संयरह । ए तु ते
हीलोति परं, सव्वे वि हु ते जिणा णाप ॥१॥ तथा—“जखलु विस-
रिसकप्पा, संघयणधियादिकारणं जणिय । पप्पणवमणयहीण,
अप्पाण मल्लई तोहि ॥१॥ सव्वे वि जिणा णाप, जहाविहि कम्म-

खवणमद्राप । विहरति चञ्जुया खलु , सम्म अभिजाणई एवं ”
॥२॥ इति । यदि वा तदेव लाघवमजिसमेत्य सर्वतो ह्यव्यादिना
सर्वात्मनादिना सम्यक्त्वमेव सम्यगभिजानीयात् तीर्थकर-
गणधरोपदेशात् सम्यक् कुर्यादिति तात्पर्यार्थः । एतच्च नाश-
क्यानुष्ठानम् । ज्वरहरतक्कचूडासङ्काररत्नोपदेशवद् जवतः
केवलमुपन्यस्यते , अपि त्वन्यैर्बहुभिश्चिरकासमासेवितमित्येत-
द्दर्शयितुमाह- (एवमित्यादि) एवमित्येवतया पर्युषितानां
तृणादिस्पर्शानधिसहमानानां तेषां महावीराणां सकललोकचम-
त्कृतिकारिणां चिररात्र नकाल यावज्जीवमित्यर्थः । तदेव
विशेषतो दर्शयति-पूर्वा- प्रभः निरीयमाणानां सयमानुष्ठाने ग-
च्छतां, पूर्वस्य तु परिमाणं वषा-नां सति कोटिलक्षाः पञ्च वा श-
तकोटिसहस्रास्तथा प्रजृतानि वर्षाणि निरीयमाणानां तत्र नाभेया-
दारभ्य शीतल दशमतीर्थङ्करं यावत्पूर्वसंख्यासदृजावात् पूर्वाणी-
त्युक्तम् । तत्र आरभ्य श्रेयांसादारभ्य वर्षसंख्याप्रवृत्तेर्वर्षाणीत्यु-
क्तमिति । तथा ह्यव्याणां जव्यानां मुक्तिगमनयोभ्यानां पश्याव-
धारय, यन्मृण्मपार्श्विक पूर्वमभिहितं, तदजिषोढव्यमिति सम्यक्
करणेन स्पर्शान्तिसहन कृतमेतद्वगच्छेति । एतच्चापि सहमा-
नानां यत्स्यात्तदाह- (आगय इत्यादि) भागतं प्रज्ञान पदार्थावि-
र्भावकं येषां ते तथा, तेषामागतप्रज्ञानानां तपसा परीषहान्तिसह-
नेन च कृशा बाहवो भुजा भवन्ति । यदि वा सत्यापि महोपस-
र्गपरीषदादाववगतप्रज्ञानत्वाद्वाधाः पीनाः कृशा भवन्ति, कर्मक-
पणायोत्यतस्तस्य शरीरमात्रपीनाकारिणः परीषदोपसर्गान् सहा-
यानिति मन्यमानस्य न मन पक्रोत्पद्यत इति । तदुक्तम्- “नि-
म्माणेह परोविविध, अपाणञो न वियणं सररीण । अप्पाणोधि-
य हियस्स, न उण दुक्ख परो वेत्ति” ॥१॥ इत्यादि । शरीरस्य
तु पीना भवत्येवेति दर्शयितुमाह- (पयणुप इत्यादि) प्रतनुके च,
मांसं च शोणितं च मांसशोणिते, द्वे अपि । तस्य हि रुक्ताहारत्वा-
दल्पाहारत्वाच्च प्रायशः क्षलत्वेनैवाहारः परिणमति, न रसत्वेन
कारणाजावाच्च प्रतनुकं च शोणितं तत्तनुत्वात् मांसमपीति,
ततो मेदोऽस्यादीन्यपि । यदि वा प्रायशो रुक्कं वातलं भवति
वातप्रधानस्य च प्रतनुतैव मांसशोणितयोरचेलतया च तृणस्प-
र्शादिप्राप्तुर्भावेन शरीरोपपातात्प्रतनुके मांसशोणिते भवत इति
सबन्धः । तथा ससारभ्रेणी ससारवतरणी रागद्वेषकाषायसत-
तिस्तां क्लान्त्यादिना बिभ्रेणि कृत्वा तथा परिक्षात्वा च समत्वजाव-
नया । तद्यथा-जिनकल्पिकः कश्चिदेककल्पधारी द्वौ त्रीन् वा
बिभर्ति, स्थविरकल्पिको वा मासार्द्धमासकूपकस्तथा वि-
कृष्टाविकृष्टतपधारी प्रत्यहं भोजी कूरगडुको वा । एते सर्वेऽपि
तीर्थकृद्भवचनानुसारतः परस्परानिन्दया सस्तृणन्ति सम्यक्त्व-
दर्शन इति । उक्तं च- “ जो वि दुवत्थतिवत्थो, एगेण
अचेलगो व संयरइ । न हु ते हांवेति परं, सव्वे वि हु ते जिणा
णाए” ॥१॥ तथा जिनकल्पिकः प्रतिमाप्रतिपन्नो वा कश्चित्काञ्चि-
त्यरूपि मासानात्मकत्वेन जिज्ञां न सज्जेत तथाऽप्यसौ कूरगडुक-
मपि यथोद्वनमुग्रस्त्वमित्येव न हीक्षयति तदेव समत्वदृष्टिप्र-
ज्ञया विभ्रेणीकृत्यैव उक्तलक्षणो मुनिस्तीर्णः ससारसागरम्, एव
एव मुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो विरत सर्वसावद्यानुष्ठानेभ्यो व्याख्यातो
नापर इति ब्रवीमि । इतिशब्दः पूर्ववत् । आवा० १३७० ६३० २३० ।
अचेलपरि(री)सद्विजय-अचेलपरि(री)वहविजय-पु० ७८८ म
धृतिसहननादिविकलानामिदानीन्तनसाधूनां तृणग्रहणानलसे-
वापरिहारतः सयमस्फूर्तिनिमित्तं अण्डिताल्पमूल्यापरिजीर्णा-
सर्वजीर्णानि वस्त्राणि धारयतामाचेलक्यपरीषहसहने, प० सं०

संजमजोगनिमित्त, परिकुआदीणि धारयतस्स ।

कह न परीसहसहण, जइ णो सइ निम्ममत्तस्स ॥

आचेलक्यमुक्तप्रकारेण तावदौपचारिक ततस्तथारूपाचेलक्या-
सेवन परीषहसहनमप्यौपचारिकमेव स्यात् । तथा च सति कुतो
मोक्षावाप्तिरुपचरितस्य निरुपचरितार्थक्रियाकारित्वायोगात्, न
हि माणवको दहनोपचाराद्वाधीयते पाके इति यद्येव तर्हि कल्पनी-
यमाहारमपि ह्युज्जानस्य न सम्यक् कुत्परीषहसहन भवेत् भव-
दुक्तन्यायेन सर्वथा आहारपरित्यागत एव तत्सहनोपपत्तेः ।
एव च सति जगवानप्यहन् क्षुत्परीषहजेता न जवेत् । सोऽपि
हि भगवान् उग्रस्यावस्थायां जघन्तेनापि कल्पनीयमाहारमु-
पशृङ्गे । न च स तथा कल्पनीयमाहारमुपशृङ्गानोऽपि
क्षुत्परीषहजेता नेष्ट, ततो यथाऽनेपणीयाकल्पनीयभोजनप-
रित्यागतः क्षुत्परीषहसहनमिष्ट, तथा महामूल्यानेपणीयाक-
ल्पनीयवस्त्रपरित्यागत आचेलक्यपरीषहसहनमप्रव्यम् । न च
वाच्यम्-एव तर्हि कमनीयकामिनीजनपरिजोगपरिहारतः का-
ण्डेणविरूपवामनेत्रापरिभोगमपि कुर्वतः स्त्रीपरीषहसहनप्र-
सङ्ग इति, स्त्रीपरिभोगस्यान्यत्र सर्वात्मना सूत्रान्तरेण प्रतिषि-
क्तत्वात् । न चैवं परिजीर्णाल्पमूल्यावस्त्रपरिजोगः सूत्रान्तरेण
प्रतिषिद्धः, ततो नातिप्रसङ्गावाप्ति, कृत प्रसङ्गेन । विस्तरेण तु
धर्मसग्रहणीटीकायामपवादः प्रपञ्चित इति तत एवावधार्यः ।
प० सं० ४ द्वा० ।

अचेलिआ-अचेलिका-स्त्री० । वस्त्ररहितायां स्त्रियाम्, निर्ग्र-
न्त्याऽचेलिकया न भवितव्यम् । वृ० ५ व० ।

नो कप्पइ निगंथीए अचेलियाए हुंतए ।

नो कल्प्यते निर्ग्रन्त्या अचेलिकया वस्त्ररहितया भवितुमेव-
सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यम्-

बुत्तो अचेलधम्मो, इति काइ अचेलगतणं ववष्सा ।

जिनकप्पो वज्जाणं, निवारिओ होइ एवं तु ॥

अचेलको धर्मो भगवता प्रोक्त इति परिभाष्य काचिद-
चेलकत्व व्यक्तस्येत कर्तुमजिलषत्, अतस्तान्निषेधार्थमिदं सूत्रं
कृतम्, अचेलकत्वप्रतिषेधेन आचार्याणां जिनकल्पोऽप्येवम-
नैव सुत्रेणैव निवारितो मन्तव्यः । कुत इत्याह-

अजिअम्मि साहसम्मि, इत्थी ण वए अचेलिआ होउं ।

साइसममं पि करे, तेणेव अइप्पसंगेणं ॥

कुलभाविताविणेच्छति, अचेलयं किमु सई कुले जाया ॥

धिकारदुक्तिआणं, तित्युच्छेओ दुलभावत्ती ॥

साध्वसे मये तरुणादिकृतोपसर्गसमुत्थे अजिते सति अचे-
लिका भवितुं स्त्री निर्ग्रन्थी न शक्नुयात् । अथ जवति ततस्तेनै-
वातिप्रसङ्गेनाचेलतासङ्गणेनान्वदपि चतुर्थसेवादिक साहस
कुर्यात्, तथा कुलटाऽपि तावद् नेच्छत्यचेलतां किपुनः कुले जाता
सती साध्वी । अचेलता प्रतिपन्नानां चार्थिकाणां (धिकारदुक्तिआ-
ण ति) श्लोकापवादजुगुप्सितानां तीर्थोच्छेदः, दुर्लभा च वृत्ति-
भवति, न कोऽपि प्रव्रजति, न वा ज्ञकपानादिक ददातीत्यर्थः ॥

गुरुणा अचेलिगाणं, समलं व दुगंठियं गरहियं च ।

होइ परपत्थणिज्जा, विइयं अञ्चणमाईसु ॥

अत एव यथार्थिका अचेलिका न भवन्ति, यतस्तासां चतुर्गुणा आह्लादयश्च दोषाः तथा चेलरहितां सयतीं समसां मन्त्रादिप्रदेहां दृष्ट्वा लोको जुगुप्सित जुगुप्सां कुर्यात् । आः कष्टमिदं लोको एता-
द्वयवस्था, परलोके तु पापतरा भविष्यति । गर्हितं च गह्वरी
प्रवचनस्य कुर्यात्-असार सर्वमेतद्दर्शनमिति । अचेलिका च
परस्य प्रार्थनीया भवति । अत्र द्वितीयपदमध्वादिषु विधिका-
नां मन्तव्यम् । अपि च-

पुणरावित्तिनिवारण-उदिस्सपोहो व दहु पेलेज्जा ।

पदिचंधो समणार्ह, भिमियदोसा य नगिणाए ॥

अचेलामार्गो दृष्ट्वा प्रमज्जाभिमुत्तानामपि कुलस्त्रीणां पुनरावृ-
त्तिर्भवति, प्रमज्जां न प्रह्वीयुरित्यर्थः । अन्यो वा कश्चिन्निवार-
ण कुर्यात्, किमेतासां कापालिनीनां समीपे प्रयजितेनेति । यथा-
कश्चिदुदीर्णमोहस्तामप्रावृतां दृष्ट्वा कर्मगुरुकतया प्रेरयेत्,
सांप्रति तत्रैव प्रतिबन्धं कुर्यात्, प्रतिगमनादीनि वा विदध्यात् ।
मिहिकमदोषाश्च ज्ञेयः, यत एते नगनाया दोषा अतोऽचेलया न
भवेत्तव्यम् । द्वितीयपदे सयत्या अच्यनि स्तेनैर्विधिकायास्ततो
न किमपि वस्तु भवेत् । आर्दशब्दात् क्लिप्तचित्ता यथाविष्टा वा
वस्त्राणि परित्यजेत्, एवमचेशांप्रति भवतीति । पृ० ५ उ० नि० चू० ।
अचोइय-अचोदित-त्रि० । अप्रोरेते, "क्षितो अचोइओ णिण,
क्षिप्पं इवइ सुचोइए" उक्त० १ अ० ।

अचोप्पमा-अचोपदा-स्त्री० । निस्तुपात्ये अक्षेपकृते पेयद्रव्ये,
ध० ३ अधि० ।

अचोरिय-अचौर्य-न० । अत्य० । चोरताभावे, "अचोरिय करे-
तं" अचौर्यं कुर्वन्त, चौरतामकुर्वाणमित्यर्थः । प्रश्न० २ भाष० द्वा० ।
अच-अर्च-धा० पूजायाम्, उभ०, च्वादि०, सक०, सेट् । अर्च-
ति, अर्चते, आनर्च, आनर्च, आर्चति, आर्चिष्ट । चुरा०, उज०,
सक०, सेट् । अर्चयति, अर्चयते । वाच० । "अर्चये मुत्ते महाभा-
गा, एति किंचण अर्चिमो " उक्त० १२ अ० ।

अर्च-त्रि० । अर्चति यः सः । अर्च-अर्च । "कगचजतदपयवां प्रायो
लुक् " ८ । १ । ७७ । इत्यस्युकस्यैव सुविधायकत्वेन न
लुक् । पूजके, प्रा० । कालविशेषात्मकस्य भेदे च, यस्मिन्
हि भ्रमणो भगवान् महावीरो निर्वृत । कल्प० ।

अर्च्य-त्रि० । पूज्ये, स्था० ३ उ० १ उ० ।

अचङ्ग-अत्यङ्ग-न० । अतिशायिषु कारणेषु, "वज्जणमणंतगुं-
वरि, अचङ्गाण च भोगओ माण " । अत्यङ्गानीत्यतिशायीनि
प्रोगस्य कारणान्यवयवा मधुमद्यमांसादीनि रात्रिजोजतस्रक्-
चन्दनाङ्गनादीनि च । पञ्चा० १ विव० ।

अचचतकाल-अत्यन्तकाल-त्रि० । अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तः,
अत्यन्तः कालो यत्र सोऽत्यन्तकालः । असीमकालिके, "अचचत-
कालस्स समूहयस्स, सर्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो " उक्त० ३२ अ० ।

अचचतथावर-अत्यन्तस्थावर-पु० स्त्री० । अनादिस्थावरे, "मरु-
देवा अचचतथावरा सिक्का " मरुदेवा अत्यन्तस्थावरा अनादि-
वनस्पतिराशेरुद्धृत्य सिक्का । आ० म० द्वि० ।

अचचतपरम-अत्यन्तपरम-त्रि० । अधिकोत्कृष्टे, "अचचतपरमो
आसी, अउलो रुवविहिओ " उक्त० २० अ० ।

अचचतभावसार-अत्यन्तभावसार-त्रि० । अतीवप्रशस्ताभ्यव-
सायप्रधाने, पञ्चा० १४ विव० ।

अचचविशुद्ध-अत्यन्तविशुद्ध-त्रि० । सर्वथा निर्दोषे, स्था०
ए ग० । "अचचविशुद्धीहरायकुल्लवसप्पसूय " अत्यन्त
विशुद्धः सर्वथा निर्दोषो दीर्घश्च पुरुषपरम्परापेक्षया यो राक्षां
भूपाक्षानां कुललक्षणो वशः सन्तानस्तत्र प्रसूतो जातो यः स
तथा । स्था० ए ग० ।

अचचतसंकिट्टेस-अत्यन्तसंकिट्टेस-पु० । अतिनिविडतया रागदे-
वपरिणामे, ध० १ अधि० ।

अचचदुसपरिसुद्ध-अत्यन्तदुपरिशुद्ध-त्रि० । अतिनिर्मलतरे,
पञ्चा० १४ विव० ।

अचचतसुहि (ए)-अत्यन्तसुखिन्-त्रि० । निरतिशयसुखा-
ऽऽप्नुते, "तो होइ अचचतसुही कयत्यो " उक्त० ३२ अ० ।

अचचतानाव-अत्यन्तानाव-पु० । अत्यन्तोऽन्तमतिक्रान्तो नित्योऽ-
भावः । क० स० । नास्तीति वाक्याभिसम्प्यमाने नाशप्रागभाव-
जिज्ञे ससर्गाभावे, वाच० । अत्यन्तानावमुपादिशन्ति- काव-
त्रयापेक्षिणी तादात्म्यपरिणामानिष्ठासिन्त्यन्ताभाव इति । अती-
तानागतवर्तमानरूपकावयवेषु यः यऽसौ तादात्म्यपरिणाम-
निवृत्तिरेकत्वपरिणतिव्यावृत्तिः सोऽत्यन्ताभावोऽभिधीयते ।
निदर्शयन्ति-यथा चेतनाचेतनयोरिति, न खलु चेतनमात्मत-
त्त्वमचेतनपुञ्जलात्मकतामचकलत्कलयति कलयिष्यति वा, तच्चै-
तन्यविरोधात् । नाप्यचेतनं पुञ्जतत्त्व, चेतनस्वरूपमचेतनत्ववि-
रोधात् । रत्ना० ३ परि० ।

अचचितिय-आत्यन्तिक-त्रि० । अत्यन्त-अर्थे उक्त् । अतिशयेन
जाते, वाच० । सर्वकालजाविनि, "नेगंतणञ्चितिय ऊइए वं,
वयंति ते दोवि गुणोदयस्मि" सूत्र० २ अ० ६ अ० । सोऽत्यन्तिको
दु खविगमः सोऽपवर्गः । अत्यन्तः सकलदुःखक्षतिनिर्मूलनेन
जवतीत्यात्यन्तिको दु खविगमः । ध० १ अधि० ।

अचचतोसस-अत्यन्तावसन्न-पु० । अवसन्नेष्वेव प्रव्रजितेषु, सं-
विश्रैः प्रव्रजितमात्रेष्वेवावसन्नतया विहृतेषु च । "अचचतोसस-
सु य, परविगङ्गो य मूलकस्मे य । भिक्खुस्मि य विहियतवोऽ-
ण्णद्वपारविच पत्तं ॥ " जीत० ।

अचचक्खर-अत्यक्षर-त्रि० । एकादिजिरकैरधिके, "अनत्यक्ख-
रत्वं हि सूत्रगुणः " इत्यथ दोषः । अनु० । विशेष० । आव० ।
आ० म० प्र० । आ० चू० । ध० ।

अचण-अर्चन-न० । पुष्पादिभिः सत्करणे, "अचण सेषणं चेष,
मणसा वि ण पत्थए " । उक्त० ३५ अ० ।

अचण्णा-अर्चना-स्त्री० । अर्च-युच् । पूजायाम्, वाच० । "गन्धै-
र्माल्यैर्विनिर्यद्गृहसपरिमलैरङ्गैर्धूपदीपैः, साध्व्यैः प्राज्यभेदै-
श्चक्रिणिरुपहृतैः, पाकचूतैः फलैश्च । अम्भःसम्पूर्णपात्रैरिति हि
जिनपतेरर्चनामभेदा, कुर्वाणा वेदमन्त्राजः परमपदसुखस्तोम-
माराहजन्ते " ॥ १ ॥ ध० ३ अधि० ।

अचण्णिज्ज-अर्चनीय-त्रि० । अर्च-अर्चयिर् । चन्दनगन्धादिभिः
सत्करण्यै, " अचण्णिज्जे वंदणज्जे कल्लणं मंगल देवयं चे-
यं । " औ० । उपा० । जी० । भ० । ज्ञा० ।

अचण्णिआ-अर्चनिका-स्त्री० । सिद्धायतने जिनप्रतिमाद्यर्चने,
भ० ४ श० १ उ० ।

अचत्थ-अत्यर्थ-न० । अतिक्रान्तमर्थमनुरूपत्वरूपम् । अतिश-
ये, तद्वति च । त्रि० । अत्यये, अव्य० स० । अर्थाभावे, अव्य० स० ।
वाच० । " अंगारपलितककप्पअचत्थसीयवेयणा " प्र० २
२ आश्र० द्वा० ।

अचत्थत्त-अत्यर्थत्व-न० । महार्थत्वाऽपरपर्याये परिपुष्टार्था-
निधाचिन्तारूपेऽष्टमे सत्यवचनातिशये, रा० ।

अचय-अत्यय-पु० । अति-इण्-अच् । अतिक्रमे, अभावे, विना-
शे, दोषे, कृच्छ्रे, अतिक्रम्य गमने, कार्यस्याऽवश्यंजावाभावे,
वाच० । प्रत्ययाये, वृ० ३ उ० । आत्यन्तिके विनाशे च ।
वृ० ४ उ० ।

अचल्लीण-अत्यालीन-त्रि० । अतीवात्यर्थमालीने आसक्ते, प्रा० ।

अचसण-अत्यज्ञान-न० । अतिशयितमज्ञानम् । अतिभोजने,
वाच० । प्रतिपदादीनां पञ्चदशदिवसानां (तिथीनां) लोको-
त्तरसङ्ख्या द्वादशे दिनसे, पु० । च० प्र० १० पाहु० ।

अच्चा-अर्चा-स्त्री० । अर्च्यतेऽसावाहारालङ्कारादिभिरित्यर्चा ।
देहे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । सूत्र० । स्था० । " बुविहञ्चा प-
दिमेयरसिद्धित्तेतर अचित्तसच्चित्ते " अर्चा द्विविधा । तद्यथा-
सचित्ता अचित्ता च । तत्राचित्ता द्विविधा-प्रतिमा इतरा च ।
इतरा नाम स्त्रीशरीर निर्जीवम् । एकैक पुनर्द्विधा-सन्निहिता, अ-
सन्निहिता च । व्य० ६ उ० । " एगच्चाए पुण एगे भयतारो
भवन्ति " एके पुनरेकयाऽर्चयैकेन शरीरेणैकस्माद् भवात् सि-
द्धिगतिं गन्तारो जवन्ति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । क्रोधाध्यवसा-
यात्मिकायां ज्वालायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । स्था० ।
लेझायाम्, " इओ विरुसमाणस्स, पुणो सवोहिदुल्लहा ।
डुल्लमाओ तहच्चाओ, जे भम्मडु वियागरे " अर्चा लेझाऽन्तः-
परिणतिः, अर्चा मनुष्यशरीरम् । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।
पूजायां च, " मध्याहेऽर्चा सत्पात्र-दानपूर्वन्तु भोजनम् "
ध० ३ अधि० ।

अच्चाइस-अत्याकीर्ण-त्रि० । जनसकुलत्वादतीवाकीर्णे,
" अच्चाइसा वित्ते णो परस्स णिक्खमणपवेसाए " आचा०
२ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अच्चाउर-अत्यातुर-त्रि० । मृश ग्लाने, " अच्चाउर वा वि स-
मिक्खिऊणं, खिप्प तओ धेत्तु दलित्तु तस्स " वृ० १ उ० ।

अच्चागाढ-अत्यागाढ-न० । अत्यन्तम्लेच्छादिभये, " अच्चागाढे
वसिया, णिक्खित्तो जइ व होज्ज जयणाए " वृ० २ उ० ।

अच्चावेढण-अत्यावेष्टन-न० । अतीवाऽऽवेष्टनेन परितापने, नि०
चू० १२ उ० ।

अच्चासण्या-अत्यासनता-स्त्री० । अत्यन्त सततमासनमु-
पवेशनं यस्य सोऽत्यासनस्तद्भावस्तत्ता । सततमुपवेशने,
स्था० ९ ठा० ।

अत्यशनता-स्त्री० । अतिमात्रमशनंमत्यशन तदेवाऽत्यशनता ।

दीर्घत्व च प्राकृतत्वात् । प्रमाणाधिकभोजने, स्था० १ ठा० ।
अच्चासण-अत्यासन-त्रि० । अतिनिकटे, " एवासाधे णाइरे सु-
स्ससमाणे " म० १ श० १ उ० । रा० । सू० प्र० ।

अच्चासाइत्तए-अत्याशातयितुम्-अव्य० । आयाया अंशयितुमि-
त्यर्थे, " तं इच्चांमि ण देवाणुप्पिया सक्कं देविदं सयमेव अच्चा-
साइत्तए । ज० ३ श० २ उ० ।

अच्चासाइय-अत्याशातित-त्रि० । उपसर्गिते, " से व अच्चा-
साइय समाणे परिकुविप " स्था० १० ठा० ।

अच्चासाएमाण-अत्याशातयत्-त्रि० । उपसर्गं कुर्वति, स्था०
१० ठा० ।

अच्चासायणा-अत्याशातना-स्त्री० । साध्यादीनां आत्यायुद्-
घाटनादिदीक्षारूपायाम्, कर्म० १ कर्म० । आत्यन्तिक्यामाशा-
तनायाम्, स्था० १० ठा० ।

जे निक्खू जदंत ! अणयरीए अच्चासायणाए अच्चा-
साइए अच्चासाएतं वा साइज्जइ चि । नि० चू० १० ठा०
(अ० रा० २ ज्ञा० ४७८ पृष्ठे 'आसायणा' शब्दे वक्ष्यते)

अच्चाहार-अत्याहार-पु० । प्रभूताऽऽहारे, " अच्चाहारेण स-
हइ अण्णिकेण विसया उइज्जति " । आव० ४ अ० ।

अच्चि-अर्चि-स्त्री० । अर्च-इण् । अर्चि-न० । अर्च-इसि ।
वाच० । किरणे, रा० । ज्ञा० । शरीरस्थरत्नादितेजोज्वालायाम्,
" अर्चीए तेपण लेसाए दसदिसाए उज्जोएमाणे " ज०
२ श० ५ उ० । प्रज्ञा० । जी० । उपा० । औ० । शरीरनिर्गततेजो-
ज्वालायाम्, स्था० ८ ठा० । लेझायाम्, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
दाहप्रतिबद्धे ज्वालाविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । ज्ञा० ।
स्था० । अनलविच्छिन्नायां ज्वालायाम्, जी० ३ प्रति० । " एव
बादरेतजसो भेदः " प्रज्ञा० १ पद । दश० । दीपशिखायाम्,
उत्त० ३ अ० । प्रथमकृष्णराजेरन्यन्तरपूर्वयोरवकाशान्तरे
स्थिते लोकान्तिकविमाने, ज० ६ श० ५ उ० ।

अच्चिमालि (ण्)-अर्चिर्मालिन्-त्रि० । अर्चीणि किरणा-
स्तेषां माला, सा अस्यातीति अर्चिर्माही । सर्वतः कि-
रणमात्रापरिवृते, " अच्चिमालिभासरासिवन्नामे " (सौध-
मकल्पः) जी० ४ प्रति० । रा० । प्रज्ञा० । आदित्ये, पुं० । सूत्र०
१ श्रु० ६ अ० । स० । पूर्वयोः कृष्णराज्योरवकाशान्तरे (स्थिते)
लोकान्तिकविमानजदे, ज० ६ श० ५ उ० ।

अच्चिमालिप्पभ-अर्चिर्मालिप्रभ-त्रि० । अर्चिर्माली आदित्य-
स्तद्वत्प्रभान्ति शोभन्ते यानि तानि अर्चिर्मात्रिप्रभाणि सूर्यवत्
किरणैः शोभमानेषु, स० ।

अच्चिमालिणी-अर्चिर्मालिनी-स्त्री० । सूर्याचन्द्रमसोस्तृतीया-
यामग्रमहिष्याम्, ज० १० श० ५ उ० । सू० प्र० । ज० ।
जी० । स्था० । (अनयोर्मेवत्रयकथाऽत्रैव १७२ पृष्ठे 'अग-
महिषी' शब्दे प्रोक्ता) दक्षिणपौरस्त्यरतिकरपर्वतस्य प-
श्चिमदिशि, शक्रस्य सेवानाम्यास्तृतीयाया अग्रमहिष्या सङ्ग-
योजनप्रमाणाया राजधान्यां च । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अच्चिय-अर्चित-त्रि० । चन्दनादिना चर्चिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।
महाध्वं, वृ० ३ उ० । प्रमाणीकृते, नि० चू० २ उ० । मान्ये,
" ज जस्स अच्चिय तस्स पूयणिज्ज तमस्सिया लिंग " । ज्ञा०

वे कप्रत्यय इति चिन्त्यम्, भावप्रत्यये सिद्धविशेषणानुपपत्तेः ।
४५० १ उ० । "अचित्तं यत् तत् पूर्वं निपतति । यथा-भातापितरौ,
घासुदेवाजुनाविति " । नि० चू० १ उ० ।

अचिसहस्रमालाणिज्ज-अचिःसहस्रमालानीय-त्रि० । अचि-
यां किरणानां सहस्रैर्मालानीय परिवारणीयम् । झा० १ अ० ।
रा० । मणिरत्नप्रभाज्वासानां सहस्रैः परिवारणीये, किमुक्त
भवति । एव नाम अत्यद्भुतैर्मणिरत्नप्रभाजैराकलितमवभा-
ति, यथा-नूनमिदं न स्वाभाविक किन्तु विशिष्टविद्याशक्ति-
मत्पुरुषप्रपञ्चप्रभावितमिति । "अचिसहस्रमालाणिज्जं क्वगस-
हस्रकलिय भिसमाण भिम्भिसमाण चक्षुष्टोयणजेस्सं " ।
आ० म० प्र० । रा० । जी० ।

अचिसहस्रमाला-अचिःसहस्रमाला-स्त्री० । दीसिसहस्राणा-
मावलीषु, ज० १० श० ५ उ० ।

अचिमहस्रमालिणीया-अचिःमहस्रमालिनिका-स्त्री० । अचिः
सहस्रमाला दीसिसहस्राणामावलीषु सन्ति यस्यां सा तथा ।
स्वार्थिककप्रत्यये च अचिःसहस्रमालिनिका । दीसिसहस्रपरिवृ-
तायाम्, ज० १० श० ५ उ० ।

अचीकरण-अचीकरण-न० । अकर्तव्या अर्चा अनर्चा, अनर्चाया-
अर्चाकरणमर्चाकरणम् । अचूततद्भावे चिन् । राजादीनां
गुणवर्णेन, नि चू० ४ उ० ।

जे निक्खू रायरक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं
वा साइज्जइ । ३ । जे भिक्खू एगगरक्खियं अचीकरेइ अची-
करंतं वा साइज्जइ । ४ । जे भिक्खू एगगरक्खियं अचीकरेइ
अचीकरंतं वा साइज्जइ । ५ । जे भिक्खू मन्वारक्खियं अ-
चीकरेइ अचीकरंतं वा साइज्जइ । ६ । (नि० चू०) जे भिक्खू
गायरक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं वा साइज्जइ । जे भि-
क्खू देमरक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं वा साइज्जइ । जे
भिक्खू सीमरक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं वा साइज्जइ ।
जे निक्खू रस्सो रक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं वा सा-
इज्जइ । जे निक्खू रत्तो रक्खियं अचीकरेइ अचीकरंतं वा
साइज्जइ । नि० चू० ५ उ० ।

अचीकरणं रस्सो, गुणवयणं तं समासओ दुविधं ।

संतमसंतं च तद्वा, पञ्चखपरोक्खमेकेकं ॥ १५ ॥

रस्सो अचीकरणं किं गुणवयणं सौन्दर्यादि त दुविधं सत
असनं च पक्केक्क पञ्चख परोक्खम् ।

एत्तो एगगरेणं, अचीकरणेण जो तु रायाणं ।

अचीकरेति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ १६ ॥

इमं गुणवयण-

एकत्तो हिमवंतो, अस्सतमो सादवाहणो राया ।

समभारतरोक्कता, तेण ए वस्सत्थए पुहई ॥ १७ ॥

गया रायसुही वा, रायाभित्ता अमित्तसुहिणो वा ।

भिक्खुस्स व सवधी, मवधे सुही तवं सोच्चा ॥ १८ ॥

सजमविग्यकरे वा, मरीरवाधाकरे व निक्खुस्सम् ।

अणुत्तोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवसगो ॥ १९ ॥

गेहल्लरायदुद्धो, वेरज्जविरुक्खरोहमद्धाने ।

उवमुज्जावणणिकखम्-एणएसकज्जमत्थेसु त्रि य ॥ २० ॥

एतेहिं कारणेहिं, अचीकरणं तु होति कातव्वं ।

रायारक्खियणागर-एगमसव्वे वि एस गमा ॥ २१ ॥

नि० चू० ५ उ० ।

अच्युक्कम्-अत्युत्कट-त्रि० । अत्यन्त उत्कटः । अत्यन्तोप्रे, वाच० ।
अच्युन्तते, आ० म० प्र० ।

अच्युगकम्म-अत्युग्रकर्मन्-न० । कर्कशवेदनीये कर्मणि, प्रव०
२२४ द्वा० ।

अच्युगकम्ममहण-अत्युग्रकर्मदहन-त्रि० । अत्युग्र कर्कशवेद-
नीय यत्कर्म तस्य दहनोऽपनायकः । कर्कशवेदनीयस्य कर्मणो-
ऽपनायके, "सक्केपान्निरपेक्षाणां, यतीनां धर्मे ईरितः । अत्यु-
ग्रकर्मदहनो, गहनोऽप्रविहारतः " ॥ १ ॥ ध० ४ अधि० ।

अच्युचिय-अत्युचित-त्रि० । लोकानामतिश्लाघनीये, "गर्मयोगे-
ऽपि मातृणां, भूयतेऽन्युचिता क्रिया " द्वा० १४ द्वा० ।

अच्युद्विय-अत्युत्थित-त्रि० । अतीवाकार्यकरण प्रत्युत्थिने,
"दासीन्वेनाऽत्यन्तमुत्थिता" इति । दास्या अपि दास्याम्, स्त्री० ।
"अच्युद्वियाय घनदासिण वा अगारिण वा समयाणुसिणि"
सुत्र० १ भु० १४ अ० ।

अच्युएह-अत्युष्ण-त्रि० । अतीवोष्ण तृष्णधर्मो यत्र सोऽत्यु-
ष्णः । अनिशयितोष्णस्वभावे, स्था० ५ ता० ३ उ० ।

अच्युदय-अत्युदक-न० । महामहति वर्षे, "समए वा सत्ताणं,
अच्युदये सुवसत्तरुण वा णेइ " ओ० प्रवृत्तजले, जी० ३ प्रति० ।

अच्युय-अच्युत-पु० । सौधर्मावतसकादिसकलविमानप्रधाना-
च्युतावतसकानिधानविमानविशेषोपलक्षिते चादशे देवलोके,
अनु० । दर्श० । नि० चू० । प्रव० । स० । आरणाच्युतयोरेका-
दशद्वादशयोः कल्पयोरिन्द्रे च । स्था० २ ता० ३ उ० ।

अच्युया-अच्युता-स्त्री० । श्रीपद्मप्रजस्य शासनदेव्याम्, सा
च मतान्तरेण श्यामा (नाम्नी) देवी श्यामवर्णा नरवाहना
चतुर्भुजा वरदवाणान्वितदक्षिणकरद्वया कार्मुकानययुतवामपा-
णिद्वया च । श्रीकुन्धो शासनदेव्यां च, सा च मतान्तरेण
पद्मानिधाना कनकच्छविमैयूरवाहना चतुर्भुजा बीजपूरकश्ला-
न्वितदक्षिणपाणिद्वया भुशुण्डिरुपान्वितवामपाणिद्वया च ।
प्रव० २७ द्वा० ।

अच्युन्वाय-अत्युद्धात-त्रि० । अतीवोद्धातः परिभ्रान्तः । वृशं
भ्रान्ते, "अच्युन्वाया वसुवैत्ति" शृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अच्युसिण-अत्युष्ण-त्रि० । अतीव तप्ते ओदनादिके, "अच्यु-
सिण सुप्पेण वा जाव फुमाहि वा" आचा० २ भु० १ अ० ७ उ० ।

अच्छ-आस्-धा० उपवसने । अदादि०, आ०, अक०, सेद ।
प्राकृते "गमिष्यमासां ङ" ८ । ४ । २१४ । इति प्राकृतसूत्रेण

अन्त्यस्य ङ । अच्छइ, आस्ते । प्रा० । "अच्छति अवलोपति य
लङ्गुगा" ॥ अच्छति चि) प्रतीकृते व्य० १ उ० । "अच्छेज्ज वा चिहे-
ज्ज वा" । आसीत सामान्यतः । त० । भ० । अधिपूर्वः अधिरोहणे,
सक० । गगनमध्यमध्यास्ते, वाच० ।

अच्छ-अव्य० । न व्यति षटि, सम्मुखत्वात् । छो-क । न०-
त० । अभिमुखे, "अच्छ गत्यर्थवदेषु" १ । ४ । ६९ । इति पाणिनिस्त्रे

अच्छगत्य, अच्छोद्य इत्युदाहृत्य, अजिमुख गत्वा अभिमुखमु-
क्तेति व्याकृतम् । सि० कौ० त० म० ।

अच्छ-त्रि० । न गतिरिति दृष्टम् । ङी-क । न० त० । आकाश-
स्फटिकरत्नवद्विस्वच्छे, प्रज्ञा० २ पद । जी० । आ० म० प्र० ।
म० । औ० । स्था० । रा० । ज० । निर्मले, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ० ।
पञ्चा० । म० । अनायिज्ञे, जी० ३ प्रति० । स्फटिकवद्विनिर्म-
लप्रदेशे, जी० ३ प्रति० । “अच्छा स एहा लट्टा णीरया शिप्यंका”
मेरौ, पु० । सुनिर्मलजाम्बूनदरत्नबहुलत्वात्तस्य “ ता अच्छंसि
ण पव्वयसि” च० प्र० ५ पाहु० सू० प्र० । जी० । आर्यदेशभेदे,
स्फटिके च । पुं० प्र० २७५ द्वा० न च्छति भक्षयति नाशित-
सत्त्वम् । ङा-भक्षणे-क । न० त० । वाच० । ऋक्, आचा०
२ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रति० । जी० । प्रज्ञा० । प्र० । पव
सनक्षपदज्ञेद । प्रज्ञा० १ पद ।

अप्स-त्रि० । अपः सनोति । सन-मा । प्राकृते “इत्स्वात् थ्यश्च-
सप्तमानिभवे ८ । २ । २१ । इति प्सभागस्य क्छ । प्रा० ।
अपां विशेषगुणीभूते रसे, वाच० ।

अच्छ-देशी-अत्यर्थे, शीघ्रे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छन्द-अच्छन्द-त्रि० । नास्ति बन्धो यस्याः । अस्ववशे । “ अ-
च्छदा जे ए हजति ण से चाइत्ति बुच्चई ” दश० २ अ० । अ-
भिप्रायशून्ये च । वाच० ।

अच्छन्दग-अच्छन्दक-पु० । मोराकग्रामसन्निवेशस्य पाष्ठाणिनि,
“ मोराए सक्कार सक्को अच्छिंदए कुविओ ” आ० क० । (स
मोराके वसन्मन्त्रतन्त्रज्ञो लोकपूजितस्तत्र समागतस्तत्र समाग-
तस्य श्रीवीरस्य पुरतः सिद्धार्यव्यन्तरेणाच्छेद्यमिवमिति प्र-
तिज्ञाय गृहीतं तृणं छिन्दन् शक्रेण वज्रं प्रक्षिप्य छिन्नदशाङ्गुली-
कृतो जनैरुपहसित इति ‘ वीर ’ शब्दे वक्ष्यते) आ० चू० ।
आ० म० द्वि० ।

अच्छण-आसन-न० । अवस्थाने, ग० १ अधि० । ज्ञा० पर्युपास-
ने, वृ० ३ उ० । प्रतिश्रवणे, “अच्छण अवलोगणे वा” व्य० १ उ० ।

अक्कण-पु० । अहिंसायाम्, दश० ८ अ० ।

अच्छणधरग-आसनगृहक-न० । अवस्थानगृहकेषु, येषु यदा
तदा वाऽऽगत्य बहवः सुखासिकयाऽवतिष्ठन्ते । जी० ३ प्रति० । ज० ।

अच्छणजोय-अक्षणयोग-पु० । अहिंसाव्यापारे, “ तेसि अच्छ-
णजोयण णिच्च होयव्वं ” तेषां पृथिव्यादीनामक्षणयोगेनार्हि-
साव्यापारेण नित्यं भवितव्यम् । दश० ८ अ० ।

अच्छणत्थ-अच्छन्नस्थ-त्रि० । अच्छन्नप्रदेशे स्थिते, वृ० ३ उ० ।

अच्छति (दि) त-आच्छादित-त्रि० । निरुद्धे, “ सणद्धवक्का-
छितिव्व ” प्रश्न० ४ सव० द्वा० ।

प्रच्छत्तय-अच्छन्नक-त्रि० । न० ब० । अन्नरहिते, वीरमहापद्मयोरन्न-
को धर्मो मतः “ अदतवणे अच्छत्तवए अणुवाणहए ” स्था० ए० ग० ।

प्रच्छदव-अच्छद्रव-पु० । स्वच्छोदके, प० व० १ द्वा० ।

प्रच्छधी-अच्छधी-त्रि० । ६ ब० । विमलबुद्धौ, “ विष्णुः
प्रातः प्रभु नत्वा, साधूश्चापुच्छदच्छधी ” आ० क० ।

रच्छभल्ल-अच्छन्नल्ल-पु० । ऋक्, व्य० १० उ० । व्याघ्रविशेषे
च । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

रच्छमाण-आसीन-त्रि० । तिष्ठति, “ सुचिरमपि अच्छमाणो ”
ग० ब० ३ द्वा० । ज्ञा० ।

अच्छरणसंघसंविद्ध-अप्सरोगणसंघसंविक्लीर्ण-त्रि० । अ-
प्सरोगणानां संघः समुदायस्तेन सम्यक् रमणीयतया विक्लीर्णा
व्याप्ता अप्सरागेणसंघसंविक्लीर्णा । अप्सरोयूथसपरिवृते, “ अ-
च्छरणसंघसंविक्लीर्णा दिव्वतुभियमधुरसइसपइया ” । जी०
३ प्रति० । प्रज्ञा० । रा० ।

अच्छरस-अच्छरस-त्रि० । अच्छो रसो येषां ते अच्छरसाः । प्रत्या-
सन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारचूतेष्विवाप्रतिनिर्मलेषु, जी० ३ प्रति० ।

अच्छरसा-अप्सरस्-स्त्री० । ब० व० । अद्भ्यः सरन्ति उन्न-
च्छन्ति । सु-असन् । अप्सरसः “ इत्स्वात् थ्यश्चसप्तमा-
निभवे ” ८ । २ । २१ । इति सूत्रेण प्राकृते ‘ प्स ’ भागस्य ‘ च्छ ’
आदेशः । प्रा० । “ आयुरप्सरसोर्वा ” ८ । १ । २० । इति सूत्रेण
च अन्त्यव्यञ्जनस्य वा सः । प्रा० । देवीमात्रे, रूपेण देवीकल्पा-
यां स्त्रियां च । “ णंदणवणविवरचारिणीओ अच्छराओ उत्तर-
कुम्माणसच्छराओ अच्छेरगपेच्छिणियाओ तिप्पि पलिओवमा-
ई परमाउ पालयिन्ता ताओ वि उवणमति मरणधम्म ” प्रश्न० ४
आश्र० द्वा० । औ० । (आसां वर्णकम् ‘ उत्तरकुरु ’ शब्दे वक्ष्यामः)

अच्छरसांतुल-अच्छरसतण्डुल-न० । अच्छो रसां येषु तेऽ-
च्छरसाः प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारचूता इवातिनिर्मला इत्य-
र्थः । अच्छरसाश्च ते तण्डुला अच्छरसतण्डुला । पूर्वपदस्य
दीर्घत्व प्राकृतत्वात् । श्वेतेषु दिव्यतण्डुलेषु, रा० । “ अच्छोहिं
सेणहिं रयणामएहिं अच्छरसतण्डुलेहिं अच्छमगळे आलिहइ ”
रा० । जी० । आ० म० प्र० ।

अच्छरा-अप्सरा-स्त्री० । शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वष्टपा-
मग्रमहिष्याम्, स्था० ८ ग० । म० । ती० । (तस्याः पूर्वाऽपर-
भवकथा एतस्मिन्नेव जागे १७३ पृष्ठे ‘ अग्रमहिप्ती ’ शब्देऽदर्शितः)

अच्छराणिवाय-अप्सरोनिपात-पु० । चप्युटिकायां, तत्करण-
काले च । यावता कालेन चप्युटिका क्रियते तावान् काष्ठोऽप्यप्स-
रोनिपातशब्देनाभिधीयते “ अच्छरानिवातोहिं तिसत्तक्खुसो
अणुपरियत्ताण हव्वमागच्छेज्जा ” जी० ३ प्रति । सूत्र० । ज० ।

अच्छवि-अच्छवि-पु० । न० ब० । योगनिरोधेनाविद्यमानशरीरे
स्नातकाख्यनिर्ग्रन्थभेदे, अत्र चत्वारोऽनुवादाः—‘ अव्य-
थक ’ इत्येके । अवियोगाच्छविः शरीर तद्योगनिरोधेन यस्य ना-
स्त्यसौ ‘ अच्छविक ’ इत्यन्ये । कृपा सच्छेदो व्यापारस्तस्या
अस्तित्वात् कृपी, तन्निषेधात् ‘ अक्कपी ’ इत्यन्ये । घातिकर्मचतुष्ट-
यकृपणानन्तरं वा तत्कृपणाभावादकृपीत्युच्यते । भ० २४
श० ६ उ० ।

अच्छविकर-अक्कपिकर पु० । न कृपिः स्वपरयोरायासो यः सः,
तत्करणशीलो न भवति सोऽक्कपिकरः । ज० २४ श० ७ उ० ।
व्यथाविशेषस्याऽकारके प्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था० ८ ग० ।

अच्छविमलसलिलपुष्प-अच्छविमलसलिलपूर्ण-त्रि० । अ-
च्छेन स्वरूपतः स्फटिकवच्छुद्धेन विमलेनाऽऽगन्तुकमलरहिते-
न सलिलेन पूर्णं । स्फटिककल्पस्वच्छनिर्मलजलभूते, रा० जी० ।

अच्छा-अच्छा-स्त्री० । वरुणदेशप्रतिषेधे पुरीजेदे, आर्यदेशग-
णनायां वरुणा अच्छा । वरुणा नगरी, अच्छा देशः । अन्ये तु
वरुणा देशः, अच्छा पुरीत्याहुः । प्र० २७५ द्वा० । सूत्र० ।

अप्मा-त्रि० । अपो जलानि सनति ददाति । सन्-विच् । जल-
दातरि, वाच० ।

अच्छादणा-आच्छादना-स्त्री०। स्वर्गने, "सतस्स अच्छायणाप मगस्स"। व्य० ३ उ०।

अच्छि-अक्षि-न०। अक्षते विषयान्। अक्ष-क्विप्। "गोऽक्ष्या-दौ" = १२। ११७। इति सूत्रेण सयुक्तस्य क्षुभागस्य उ०। प्रा०। "द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः"। ८। १। ए०। इति द्वितीयस्योपरि प्रथमः। प्रा०। लोचने, त०। दशा०। "वाऽक्ष्यर्थवचनायाः" = १। ३३। इति वा पुंस्त्वम् "अज्ज वि सासह ने अच्छी नञा वि आह तेणम्ह अच्छाह" अज्जल्यादिपाठादक्षिणम्। स्त्रीलिङ्गेऽपि। प्रा०। "एसा अच्छी" उपा० २ अ०। (अक्ष्णोऽप्राप्यकारित्वम् 'इदिय' शब्दे द्वि० भा० ५५७ पृष्ठे कृतव्यम्)

अच्छायणा-आच्छादना-स्त्री०। स्वर्गने, ('अच्छादणा' शब्दसमानार्थः)

अ (आ) च्छिदण-आच्छेदन-न०। एकवारमीयद् वा वेदने, "एक्कसि ईषद् वा आच्छिदण" नि० चू० ३ उ०। "पायपु-ण्णमाच्छिद्व" आच्छिनन्ति बलादुद्वाहयतीति। स्था० ७ ग० १ उ०। "आच्छिदिहि सि-ईषच्छेत्स्यतीति। म० १५ श० १ उ०।

अ (आ) च्छिदिता (य)-आच्छिद्य-अव्य०। आ-च्छिद-ल्यप्। हस्तादुद्वाहनेनापहृत्येत्यर्थः, उपा० ७ अ०। "अच्छि-दिय ज सिद्धसामिमादीण" पञ्चा० १३ विव०। आचा०।

अ (आ) च्छिदमाण-आच्छिन्दत्-त्रि०। ईषत्सकृद् वा च्छिन्दति ("सत्थजाप ण आच्छिदमाणे" म० ८ श० ३ उ०। अन्विक्क-देशी-अस्पृष्टे, "अच्छिक्कोवहिपेहे" व्य० १ उ०।

अच्छिचमदण-अक्षिचमदन-न०। चक्षुषोर्मलने, वृ० २ उ०।

अच्छिञ्ज-अच्छेद्य-न०। न० त०। जेतुमशक्ये, (स्था०)

तथो अच्छेज्जा पणत्ता। तं जहा-समए पएसे परमाणु। एवमत्तेज्जा अरुज्जा अगिज्जा अणद्धा अमज्जा अपएसा तथो अविभाज्जा।

हेतुमशक्या बुद्ध्या स्मृतिकादिशस्त्रेण वेत्यच्छेद्या, अच्छे-द्यत्वे समयादित्वायोगादिति। समयः कालविशेषः, प्रदेशो वर्माधर्माकाशजीवपुद्गलानां निरवयवोऽयः पर-माणुरस्त्वयः पुद्गल इति। उक्तं च- "सत्थेण सुतिक्खेण वि, च्छेसु मेसु च ज किरन सक्क। त परमाणु सिद्धा, वयति आह पमाणान्" ॥१॥ एवमिति। पूर्वसूत्राभिप्रायसूचनार्थं इति, अभेद्याः सूच्यादिना, अदाह्या अग्निहारादिना, अग्राह्या हस्तादिना, न विद्यते अर्द्धं येषामित्यनर्द्धा, विज्ञागच्याज्ञावात्, अमरुषा विभा-गत्रयाभावात्। अत एवाह-अप्रदेशा निरवयवाः, अत एवा-विभाज्या विभक्तुमशक्याः। अथवा विभागेन निर्धृत्वा विज्ञागि-मास्त्रिषेधादविभागिमाः। स्था० ३ ग० २ उ०। "लोणे अच्छि-ज्जमेज्जो" छेद्यः शस्त्रादिना, तन्निषेधादच्छेद्यः। रुज्यपरमाणौ, म० २० श० ६ उ०।

आच्छेद्य-न०। आच्छिद्यते अनिच्छतोऽपि भृतकपुत्रादेः सका-शात् साधुदानाय परिगृह्यते यत्तदाच्छेद्यम्। पि०। "अच्छेज्ज वा तिदिय, ज सामी सिद्धमाईण"। आच्छेद्य चाऽऽच्छेद्या-व्यः पुनर्दोषः। आच्छिद्यापहृत्य यद् भक्तादिक स्वामी प्रभुः भृत्यादीनां कर्मकरादीनां सत्क ददाति तदिति। पञ्चा० १४ विव०। चतुर्दशोद्गमदोषदुष्टे, तदभेदोपचारात् चतुर्दशे उद्गमदोषे च। ग० १ अधि०।

तद्भेदाः—

अच्छेज्जं पि य तिविहं, पभू य सामी य तेणए चेव। अच्छेज्जं परिकुट्टं, समणाण न कप्पए घेत्तु ॥

आच्छेद्यमपि प्रागुक्तशब्दार्थं त्रिविधं त्रिप्रकारम्। तद्यथा-प्रभौ प्रभुविषयं प्रभुरूपकर्त्राभितार्तमर्थः। एव स्वामिनि स्वामि-विषयः, स्तेनकविषयः च। एतच्च त्रिविधमप्याच्छेद्य तीर्थकरण-गर्धरैः प्रतिकुट्टं निराकृतमतः। भ्रमणानां तत्तद् गृहीतुं न कल्पते।

तत्र प्रथमतः प्रभुविषयं भावयति—

गोवालए य जयए-अवरए पुत्ते य धूय सुएहाए।

अचियत्तसंखमाई, केइ पठस्स जहा गोवो ॥

प्रभुकर्तृकमाच्छेद्यं गोपालके गोपालविषयः, तथा भृतकः कर्म-करस्तच्छिष्यम्। अकरको ह्यकरको ह्यकरकाजिधानो दास इ-त्यर्थः, तद्विषयम्। पुत्रविषयः, दुहितृविषयः, स्नुषाविषयम्। उप-लक्षणमेतद् भार्यादिविषयः च। अत्रैव दोषमाह- (अचियत्त-त्यादि) अचियत्तमप्रीतिः, सख्यं कलहः, आदिशब्दादा-त्मपोतादिपरिग्रहः। केचित् पुनः प्रद्वेषमपि साधौ गच्छति। यथा—गोपो गोपालकः।

एतमेवं दृष्टान्तं गाथाद्वयेनाह—

गोवपयं अच्छेत्तुं, दिन्न तु जइस्स भइ दिणे पडुणा।

पयजा एणं दडुं, सिंसड जोई खे चेना ॥

पमियरण पओसे ए, जावं नाठं जइस्स आलावो।

तन्निवंधा गहियं, हंदि उ मुक्कोसि मा वीयं ॥

वसन्तपुर नगरम्। तत्र जिनदासो नाम भ्रातृकः। तस्य भार्या रु-किमणी। जिनदासस्य गृहे वत्सराजो नाम गोपालः। स चा-ष्टमेऽष्टमे दिने सर्वासामीपं गोमहिषीणां दुग्धमादत्ते, तथैव तस्य प्रथमतो धृतत्वात्। अन्यदा च साधुसघाटको भिक्षायै तत्रागमत्। इतश्च तस्मिन् दिने गोपालस्य सर्वदुग्धादानेवा-रकः, ततस्तेन सर्वा अपि गोमहिष्यो दुग्ध्वा महती पारिदु-ग्धेनाऽऽपूर्णा। जिनदासश्च जिनवचनज्ञावितान्त-करणतया साधुसघाटके परमपात्रभूतमायातमवलोक्य भक्तितो यथेच्छं भक्तपानादिकं तस्मै दत्तवान्। ततो दुग्धान्तानि जोजनानीति परिज्ञाय भक्तितरलितमनस्कतया गोपालस्य दुग्धं बलेनाच्छि-द्य कतिपयं ददौ। ततः स गोपालो मनसि साधोरुपरि मनाक् प्रद्वेषं ययौ, परं प्रभुभयात् न किमपि वक्तुं शक्तः। ततस्तत्पयोज्ञा-जन कतिपयन्यूनं स्वगृहे नीतवान्। तच्च तथाभूतं न्यूनमवलो-क्य भार्या सरोषं पृष्टवती—किमिति न्यूनमिदं पयोभाजनमिति? ततो गोपेन यथावस्थिते कथिते सार्धं साधूनां कोट्यु प्राशस्तं। चेदरूपाणि च दुग्धं स्तोकमवलोक्य किमस्माकं प्रविष्यती-ति रोदितुं प्रवृत्तानि। तत इत्थं सकलमपि स्वकुटुम्बमाकुलमवे-त्य स गोपः सजातसाधुविषयमहाकोपः साधून् व्यापादयितुं चलितवान्। दृष्टश्च जिह्वार्थं परिभ्रमन् कापि प्रदेशे साधुः। ततः प्रधाक्षिणो लकुटमुत्पाट्य साधोः पृष्ठतः। साधुरपि कथमपि पश्चादवलोक्य तं गोपं तथाभूतं कोपारुणनयनमावलोक्य परिभा-वयामास—नूनमेतस्य दुग्धं वलादाच्छिद्य जिनदासेन मह्यं वदे, तेन मारणार्थमेव कुपित एष समागच्छन्नुपवृद्धयते। ततः साधु-विशेषतः प्रसन्नवदनो भूत्वा तस्यैव समुखं प्रत्यागन्तुं प्रवृत्तः तेन। वभाण च—यथा भो ज्ञो कीरगृहानियुक्तक! तव प्रभुनिर्वन्धेन मया तदानीं दुग्धमात्रं गृहीतम्, सप्रति तु गृहाण त्वमात्मीयं दुग्धमिति। एव चेत्के सत्युपशान्तकोपः साधुः प्रति स्वस्वभावः प्रकटितवान्—यथा भो साधो!

सुविहित । तव मारणार्थमहमिदानीमागतः, पर सप्रति त्वद्वच-
नामृतपरिषेकत उपशशाम मे सर्वोऽपि कोपानलः । ततो गृहाण
त्वमेवेद दुग्धम्, मुक्तश्चाकृतप्रापणो मया, पर भूयोऽप्येवमाच्छे-
द्य न प्रहीतव्यमिति निवृत्तो गोपः । स्वस्थानं च गतः साधुरिति ।
सूत्र सुगम, नवर (पयज्ञा णूण ति) विप्रकिञ्चोपात् पयोज्ञाज-
नं न्यून दृष्ट्वा (भोई इति) भोग्या ज्ञार्या इत्यर्थ (रुवेत्ति)
रुदन्ति । हृदीत्यामन्त्रणे । तन्निर्वन्धात् तदीयजिनदासाख्यप्रभु-
निर्वन्धाद् गृहीतम् । ततः प्रत्याह-मुक्तोऽसि सप्रति मा छितीय
वारमेव गृहीथाः ।

सप्रति गोपालविषय एव 'अचियत्तसंखडाइ' इत्येतद्वा-
चिख्यासुराह—

नानिन्विट्ठं लब्जइ, दासी वि न जुज्जए रिते नत्ता ।

दोन्नेगयर पत्रोसं, जं काही अंतरायं च ॥

प्रभुणा बलादाच्छिद्यमाने दुग्धे कोऽपि गोपो रुष्टः प्रभोः
समुखमेवमपि भुवाणः सभाव्यते । यथा-किमिति मदीय दुग्ध
बलादागृह्णासि न खल्वनिर्विष्टमनुपाजितमिह किमपि व्रज्यते,
ततो मया स्वशरीरायासबलेनेद दुग्धमुपाजितम्, अतः कथमत्र
प्रभवसि ? । न हि दास्यपि, आस्तामुत्तमवेद्यादिकमित्यपिश-
ब्दार्थः । प्रक्तमृते प्रक्तदानमृते भरणपोषणमृत इत्यर्थः । वृज्यते
भोक्तुं लज्यते । ततो मदीय भोजनमिदमतो न ते तत्र प्रभुत्वा-
वकाशः । एवं चोक्ते सति कदाचित् द्वयोरपि प्रभुगोपालकयो-
परस्परमेकस्य द्वितीयस्योपरि प्रद्वेषो वर्तते । प्रद्वेषे प्रवर्धमाने
यत् करिष्यति धनहरणमारणादिकं तत्स्वयमेव आच्छेद्यादाने
दोषत्वेन विज्ञेयम् । तथा यच्चान्तराय गोपालकस्य तत्कुटुम्बस्य
च, तदपि दोषत्वेन विज्ञेयमिति । तदेव 'गोवाहण' इत्यादि
व्याख्यातम् । एतदनुसारेण च नृत्तकादावपि यथायोगमप्री-
त्यादिकं सभावनीयमिति ।

सप्रति स्वामिविषयमाच्छेद्यं विज्ञावयिषुराह—

सामी चारज्जमा वा, संजय दहूण तेसि अट्टाए ।

कलुणाणं अच्छेज्जं, साहूणं न कप्पए धेत्तुं ॥

इह स्वगृहमात्रनायकः प्रभुः, ग्रामादिनायकः स्वामी । चार-
ज्जमा वा स्वामिज्जमा वा, तेऽपि स्वामिग्रहणेन गृह्यन्ते । सयता-
नृ दृष्ट्वा तेषां सयतानामर्थाय करुणानां कृपास्थानानां दरिद्र-
कौटुम्बिकादीनां सबल्लाच्छिद्य यद्दाति तत्साधूनां न कल्पते ।
एतदेव व्यक्तं भावयति—

आहारोवहिमाई, जइ अट्टाए उ केइ अच्छिज्जे ।

संखमिअसंखडीए, तं गेएहंते इमे दोसा ॥

यदि कोऽपि स्वामी जटो वा यतीनामर्थाय केषांचित्सबन्धि
आहारोपध्यादिकं संखड्या कलहकरणेन, असंखड्या अकलह-
प्रावेन । कोऽपि हि तत्सबन्धिनि बलादाच्छिद्यमाने कलहं करोति,
कोऽपि स्वामिभयादिना न किमपि वक्ति । तत उक्तं संखड्या
असंखड्या वेति । बलादाच्छिद्य यतिज्यो यद् ददाति तद्यतीनां
न कल्पते । यतस्तद्गृह्णतामिमे दोषाः ।

तानेवाह—

अचियत्तमंतरायं, तेनाहं एगणेगवोच्छेओ ।

निच्छरणाई दोसा, तस्स अहंने य जं पावे ॥

येषां सत्कमाच्छिद्य बलात् स्वामिना दीयते तेषामचियत्त-
मप्रीतिरूपं जायते । तथा तेषाम् (अतराय) दीयमानवस्तु-

परिजोगहानि कृता भवति । तथा इत्थं साधूनामाददानां
स्तेनाहृतं भवति, दीयमानवस्तुनायकेनाननुज्ञातत्वात् । तथा
येषां सबन्धि स्वामिना बलादाच्छिद्य दीयते ते कदाचित् प्रद्वि-
ष्टा सन्तोऽपि तस्यैकस्य साधोर्भक्तपानव्यवच्छेदं कुर्वन्ति,
यथा-अनेन सप्रति बलादस्माकं भक्तादि गृहीतं ततः कालान्त-
रेऽप्यस्मै न किमपि दातव्यमस्माज्जिरिति । अथवा सामान्यतः
प्रद्वेषमुपयान्ति, यथा-अनेन सयतेन बलादस्माकं भक्तादिगृह्य-
ते तस्मात् कालान्तरे न कस्मायपि सयताय दातव्यमित्येक-
साधूनां भक्तादिव्यवच्छेदः । तथा ते रुष्टाः सन्तो यः पूर्वमुपा-
श्रयो दत्तः तस्मान्निष्काशयन्ति । आदिशब्दात् करणरूपाणि
भाषन्ते इति परिगृह्यते । तथा तस्योपाश्रयस्याऽज्ञाने यत्किम-
पि कष्टं प्राप्नुवन्ति तदप्याच्छेद्यादाननिमित्तमिति दोषः ।

सप्रति स्तेनाच्छेद्यं भावयति—

तेणा व संजयट्ठा, कलुणाणं अप्पणो व अट्टाए ।

ते य पत्रोसं जं वा, न कप्पई कप्प णुआयं ॥

इह स्तेना अपि केचित् सयतान् प्रति प्रद्रुका जयन्ति । स-
यता अपि कापि दरिद्रसार्थेन सह व्रजन्ति । ततस्तान् जि-
क्कावेलाया जिक्कामप्राप्नुवतो दृष्ट्वा सयताथार्ये सयतानामर्थाय,
यद्वा-स्वस्यात्मनोऽर्थाय तेषां करुणानां कृपास्थानानां दरिद्र-
सार्थमानुषाणां सकाशादाच्छिद्य यद्दाति स्तेनास्तस्तेनाच्छे-
द्य द्रष्टव्यम् । तच्च साधूनां न कल्पते, यतस्नस्मिन् गृह्यमाणे येषां
संबन्धि तद् द्रव्यं ते पूर्वोक्तप्रकारेण एकानैकसाधूनां प्रक्तव्य-
वच्छेदं कुर्वन्ति । यद्वा-प्रद्वेष रोषमुपयान्ति । तथा च सति सा-
र्थान्निष्काशनम्, कालान्तरेऽपि तेषां पार्श्वे उपाश्रयाप्रतिबन्ध-
इत्यादयो दोषाः । यदि पुनस्तेऽपि सार्थिका वक्ष्यमाणप्रकारेणा-
नुजानते तर्हि कल्पते ।

एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टं भावयति—

संजयभट्टा तेणा, आयंते वा असंथरे जइणं ।

जइ देंति न धेत्तव्वं, निच्छुभ वोच्छेठ मा होज्जा ॥

धयसत्तुयदिहंतो, समणुआया व धेत्तुणं पच्छा ।

देति जइ गतेसि वि य, समणुआया य जुंजति ॥

इह स्तेना अपि केचित् सयतभद्रका जयन्ति, साधवश्च क-
दाचित् दरिद्रसार्थेन सह क्वापि व्रजन्ति । ततस्तेषां साधूनां
मिक्कावेलायामसस्तरे अनिर्वाहे ते स्तेना स्वग्रामाभिमुखं प्र-
त्यागच्छन्तः, वाशब्दात् स्वग्रामादन्यत्र गच्छन्तो वा, यदि ते-
षां दरिद्रसार्थमानुषाणां बलादाच्छिद्य भक्तादि प्रयच्छन्ति,
तर्हि न प्राप्नुवन्ति, यद् मा भूत् निकोजः सार्थानाम्, एकानैक-
साधूनां तेज्यो भक्तादिव्यवच्छेदो वा । यदि पुनस्तेऽपि सार्थि-
काः स्तेनैर्बलाद्वाध्यमाना एवं भ्रुवन्ते-यथाऽस्माकमिह घृतशकु-
ह्यन्त उपातिष्ठत । घृतं हि सकतुमध्ये प्रक्षिप्तं विशिष्टसंयोगाय
जायते, एवमस्माकमप्यवश्यं चौरैर्गृहीतव्यम्, ततो यदि चौरा
अपि युष्मन्त्य दापयन्ति ततो महानस्माकं समाधिरिति । तत
एव सार्थिकैरनुज्ञाता साधवो दीयमान गृह्णन्ति । पञ्चाचौरैश्च-
चौरप्रतिभयादस्माभिर्गृहीतं संप्रति ते गतास्तत एतदात्म्यं द्र-
व्यं यूय गृह्णीथ इति । एव चोक्ते सति यदि तेऽपि समनुजानते ।
यथा-युष्मन्त्यमेतदस्माभिर्दत्तमिति तर्हि जुंजते, कल्पनीयत्वा-
दिति । अनेन कल्पं युनायमित्यवयवो व्याख्यातः । पि० । नि०

चू० आच्छेद्ये प्रायश्चित्तम्-‘अच्छिज्जे अणिसिंहे य चउवहु’ प० चू० । सर्वस्मिन्नान्छेद्ये आचामाम्लम् । जी० । दशा० । ध० । प्र-अ० । दर्श० । वृ० । प० व० । व्य० । पचा० । स्वा० । सूत्र० । उत्त० । आचा० । (आच्छेद्याहारग्रहणनिषेधः ‘एसणा’ शब्दे, आच्छेद्य-पात्रग्रहणनिषेधः ‘पत्त’ शब्दे, आच्छेद्यवसतौ स्थाननिषेधो ‘वसद्’ शब्दे द्रष्टव्यः)

अच्छिज्जंती-आच्छिद्यमाना-स्त्री० । तुम्बवीणादिवादनप्रकारेण वाद्यमानायाम्, “तुम्बकाण तुम्बवीणाण वाञ्छताण” आच० १ अ० । अच्छिणिमीलिय-अक्षिनिमीलित-न० । अक्षिनिकोचे, जी० ३ प्रति० ।

अच्छिणिमीलियमेत्त-अक्षिनिमीलितमात्र-न० । अक्षिनिको-चकालमात्रे, “अच्छिणिमीलियमेत्त, णत्थि सुहे दुक्खमेव अणुवद्ध । खरप खेरइयाण, अहोणिस पच्चमाणाण ” ॥ १ ॥ जी० ३ प्रति० ।

अच्छिज्ज-अच्छिन्न-त्रि० । छिद्-कर्मणि क । अपृथग्भूते, स्वा० १० वा० । अस्खलिते, अनवरते च । प० व० १ द्वा० । (छि-अमच्छिज्ज चेत्यौदेशिकस्य भेदद्वयं कृत्वाऽच्छिज्जस्य व्याख्या-नम् ‘उद्देशिअ’ शब्दे द्वि० ज्ञा० ८१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

अच्छिज्ज-त्रि० । आ-छिद्-क । बलेन गृहीते, सम्यक्-छिन्ने च । वाच० । प्रतिनियतकालविवक्षारहिते वृ० १ उ० । अच्छिज्जच्छेदणय-अच्छिन्नच्छेदनय-पु० । सूत्रमच्छिज्जच्छेदेने-च्छति । नयभेदे, यथा ‘धम्मो मगलमुक्किठ’ इति श्लोकोऽर्थतो द्वितीयादिश्लोकमपेक्षमाणः । स० ३२ सम० ।

अच्छिज्जच्छेदणइय-अच्छिन्नच्छेदनयिक-न० । अच्छिज्जच्छे-दनयवति सूत्रे, “अच्छिज्जच्छेयइयाइ आजीवियसुत्तपरि-वाडीए ” स० ३२ सम० ।

अच्छिज्जिणय-अच्छिज्जिनय-पु० । नित्यवादिनि द्रव्यास्तिके, विशेषः । प्रब० ।

अच्छिद्-अच्छिज्ज-त्रि० । न छिद् तत्तत्कार्येषु प्रमादादिना स्खलन रन्ध्र वा यत्र । प्रमादादिना स्खलनरहिते, “अच्छिद् च भवत्वेत-त्सर्वेषां च शिवाय न.” रन्ध्ररहिते, वाच० । अविरले, ज० २ वक्त० “गोशालस्य मङ्गललिपुत्रस्य पष्ठां दिक्चराणां चतुर्थे दिक्चरे, पु० । म० १५ श० १ व० ।

अच्छिद्दजाब्ज-अच्छिद्दजाब्ज-न० । अविवरे, यत्किञ्चिद्वस्तु-समूहे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अच्छिद्दजालपाणि-अच्छिज्जजालपाणि-पुं० । अच्छिद्दजालौ विवक्षिताहुल्यन्तरालसमूहरहितौ पाणी हस्तौ यस्य स तथा । अविवराहुलिसमुदयवद्धस्तके, “अच्छिद्दजालपाणी पीव-रकोमलवरांगुली ” इति करयोः सुलक्षणम् । औ० । प्रश्न० ।

अच्छिद्पत्त-अच्छिद्पत्र-त्रि० । अच्छिद्द्राणि पत्राणि यस्य स । वीरन्ध्रपर्ये, ज्ञा० १ भू० १ अ० औ० । “अच्छिद्पत्ता अविरल-पत्ता अवाईणपत्ता अणईइपत्ता णिकुयजरदयरुपत्ता ” (इति पत्रवर्णनाद् वृत्तवर्णकः) अच्छिद्द्राणि पत्राणि येषां ते अच्छि-रुपत्राः । किमुक्तं भवति । न तेषां पत्रेषु वातदोषतः कालदोष-तो वा गड्ढिकादिरीतिरुपजायते, येन तेषु पत्रेषु छिद्राण्यम-विष्यन्, इत्यच्छिद्पत्रम् । अथवा एवं नामान्योन्यशास्त्राप्र-शास्त्रानुप्रवेशात्पत्राणि पत्राणामुपरि जातानि येन मनागप्य-पान्तरालरूपं छिद्रं नोपलक्ष्यते इति । तथा चाह-“अविरल-पत्ताइति ” रा० । जी० । ज० ।

अच्छिद्पमिणवागरण-अच्छिद्प्रश्नव्याकरण-पु० । अच्छिद्वा-रयविरलानि निर्दूषणानि वा प्रश्नव्याकरणानि येषां ते तथा । अविरलप्रश्नोत्तरेषु, निर्दूषप्रश्नोत्तरेषु च । म० २ श० ५ उ० । औ० । अच्छिद्दविमलदसण-अच्छिज्जविमलदशन-पु० । औ० । अच्छि-द्रा विमला दशना यासां तास्तथा । अविरलस्वच्छुरदना-याम्, ज० ३ वक्त० ।

अच्छिपत्त-अक्षिपत्त-न० । अक्षिपत्तमणि, म० १४ श० ८ उ० । अच्छिवेहग-अक्षिवेधक-पु० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उक्त० ३६ अ० । जीवा० ।

अच्छिमल-अक्षिमल-पु० । दूषिकादौ, तं । नेत्रमले, “अच्छि-मलो दूषिकादि” नि० चू० ३ उ० ।

अच्छिरोमय-अक्षिरोढक-पु० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उक्त० ३६ अ० । जी० ।

अच्छिल-अक्षिल-पु० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उक्त० ३६ अ० ।

अच्छिवहण-देशी-निमीलने, दे० ना० १ वर्गः ।

अच्छिवाञ्छि-देशी परस्परमाकर्षणे, दे० ना० १ वर्गः ।

अच्छिवेयणा-अक्षिवेदना-स्त्री० । ७ त० । लोचनयोर्द्वि-स्त्रा-नुभवने, उक्त० २ अ० । “बोमशानां रोगानां द्वादशोऽयम् ” उपा० ४ अ० । ज्ञा० ।

अच्छिहृद्बो-देशी-द्वेष्ये, वेषे च । दे० ना० १ वर्गः ।

अच्छी-आच्छी-स्त्री० । अच्छनामकदेशोद्भवयां स्त्रियाम्, प्रज्ञा० ११ पदः ।

अच्छुय-अप्सुज-त्रि० । अप्सु जले तद्देतौ अन्तरिक्षे वा जाय-ते । जन-ड, अलुक स० । जलजाते, वाच० ।

आस्तृत-त्रि०-आच्छादिते, ज्ञा० १ भू० ८ अ० ।

अच्छुरण-आस्तरण-न० । प्रस्तरणे, नि० चू० १५ उ० । दावा-नत्वादिभये, यद् भूमावास्तीर्यते प्रलम्बादिवितरणाय वा यत्त-दास्तरणम् । एतत्प्रायश्चर्ममयं प्रवति । साधूनामौपग्रहिकोपधा-वन्तर्भवति । वृ० ३ उ० ।

अच्छुरिय-आच्छुरित-न० । आ-हुर-क । सशब्दहासे, नत्वा-घाते, नक्षवाद्ये च । आस्तीर्णे, वृ० १ उ० ।

अच्छुल्लूढ-अच्छोल्लूढ-त्रि० । स्वस्थानं त्याजिते, वृ० १ उ० ।

अच्छेज्ज-अच्छेद्य-न० । छेत्तुमशक्ये, स्वा० ३ वा० २ उ० ।

अच्छेद-अच्छेद-न० । “जम्हा तु अवोच्छिन्ती, सो कुण्ठी णा-णचरणमादीण । तम्हा खलु अच्छेद, गुणप्पसिद्धं इवति णाम्” ॥ १७ ॥ गौणानुज्ञायाम्, प० भा० ।

अच्छे (ग)-आश्चर्य्य-न० । आ विस्मयतश्चर्य्यन्तेऽवगम्यन्ते इत्याश्चर्य्याणि । आ-चर-यत् ; सकारः कारस्करादित्वात् । स्वा० ६ वा० । प्राकृते “इत्वात्थ्यश्चत्सप्तमनिश्चले” ण० २ । २१ । इति अभागस्य ङ, तुक् च । प्रा० । ओत्तरस्याऽकारस्य वा एत्व-म् । तत् “आश्चर्य्ये” ण० २ । ६६ । इति एत्त-परस्य र्यस्य र, अच्छे । एत्वाभावे “अतो रिभारिखरीअ” ॥ ८ । २ । ६७ ॥ इति अकारात् परस्य र्यस्य रिञ्च अर रिञ्च रीञ्च इत्येतद् आदेशः । अ-च्छेरिअ, अच्छअर, अच्छरिज्ज, अच्छरीअ प्रा० । अदृतेषु, “रि-कृत्थमियसमिद्धं, भारदवासं जिणिंदकात्मि । बहुअच्छेरय पुण्ण, उसजाओ जाव वीरजिणो” ॥ १ । दससु विवासे सेव, दस

से भयवं! अत्थि केई जेण मिणमो परमगुरूणं पि अलंघ-
 णिज्जं परमसरणफुमं पयमं पयडपयडं परमकल्लाणं कसि-
 णकमड्डदुक्खनिड्डवणं पवयणं अइकमेज्ज वा पइकमेज्ज वा
 खंडेज्ज वा विराहिज्ज वा आसाइज्ज वा से मएसा वा व-
 यमा वा कायसा वा जाव णं वयसि गोयमाणं तेणं का-
 ह्वे णं पखित्तमाणे णं सयं दस अच्चेरगे जविंसु। तत्थ णं
 असंखेज्जे अभव्वे असंखेज्जे मिच्छादिद्वे असंखेज्जे सासा-
 यणदव्वट्ठिगं मासीय सइत्ताए। मंभेणं सक्कारिज्ज ते ए-
 त्यए धम्मं गत्ति काल्ळणं बह्वे अदिट्ठकल्लाणे जइ णं पवय-
 णमन्धुवगमंति। तत्थुवगमियं रसस्रोतुत्ताए विसयलोत्तुत्ता-
 ए उइंतियदोसेणं आणुदियेहिं जहट्ठियं भगं निड्डव-
 ति। उम्पगं च कसप्पियंति सव्वे तेणं काले णं इमं
 परमगुरूणं पि अलंघयणिज्जं पवयणं जाव णं आसायंति।
 से भयवं! कयरेणं तेणं काले णं दस अच्चेरगे जविंसु। गो-
 यमा! णं इमे तेणं काले णं दस अच्चेरगे जवंति। तं जह्वा-
 तित्थयराणं उवसग्गा, गन्धसंकमणे, वड्ढा तित्थयरे, तित्थ-
 यरस्स णं देसणाए अभव्वसमुदाए णं परिसा, वंदियसवि-
 माणाणं चंदाइच्चाणं तित्थयरसमवसरणे, आगमणं वा-
 सुदेवाणं, संखेज्जणीए अन्नयरेणं वा रायकउहेणं परो-
 प्परमेत्तावगो। इह इतु भारइ खेत्ते हरिवंसकुल्लुप्पत्तीए,
 चमरुप्पाए एगसमए णं अइसयासिद्धिगमणं, असंजयाणं

पूया कारणे ति । महा० ५ अ० । कल्प० । प्रव० । पं०
 व० । धसो णाम सत्यवाहो, तस्म य छुवे अच्चेरगाणि
 चउसमुदसारजूया मुचावली, धूया । आ० म० द्वि० ।
 अच्चेरपेच्चणिज्ज-आश्चर्यप्रेक्षणीय-त्रि० । अहो ! किमिद-
 मिति कौतुकेन सौष्ठवाद्दर्शनीये, जी० २ प्रति० ।
 अच्चेरवंत-आश्चर्यवत्-त्रि० । चमत्कारपति, " वक्तुमाश्चर्य-
 वान् भवेत् " अष्ट० ४ अष्ट० ।
 अच्चेमण-आस्फोटन-न० । आ-स्फुट-ल्युट्-पृ० । अहुलि-
 मोटने, घाच० । घरन्नाणां रजकैरिव शिलायामास्फालने, पि० ।
 अच्चेमण-देशी-भृगयायाम्, दे० ना० १ घर्ग ।
 अच्चेदग-अच्चेदक-न० । स्वच्छपानीये, रा० ।
 अच्चेदगपद्धित्य-अच्चेदकप्रतिहस्त-त्रि० । स्वच्छपानीय-
 परिपूर्ण, " ताउ ए पाइओ अच्चेदगपद्धित्याओ " रा० ।
 अजंगम-अजङ्गम-त्रि० । गमनशक्तिधिकले, व्य० १ उ० । ज-
 हावलपरिहर्त्तने, " घुसो वलु समधिगतो, अजंगमो ओ य
 जगमविसेसो " व्य० २ उ० ।
 अजजर-अजर्जर-त्रि० । जरारहिते, जी० ३ प्रनि० ।
 अजणियकणिया-अजनिक्कन्यिका-स्त्री० । केनचिदजनि-
 तस्य प्रयज्यायाम्, " उदायणसयोही, पउमाघती देवमणहत्ति,
 चच्च मणुवधी मणको, कप्पाय अजणियो तु केणइ वि
 पुत्तो जाय सि, जो नूमो होति अजणियकणी तु णिवति-
 सुतात्ति दोसि वि निम्पनाइ तु भातुभमाइ । अज्जदा रायसुओ
 तु णिसाए होयप्पणो कुणाति ण्हेहामि पभाते चलणाहो फातु
 कालपमियरत्तो पोगलभेदागमण । अह णिवनिपसु षालेसु धी
 सरिया, ने तस्म य सिरोरुहा तमि नेध ठाणमि । तत्थ य पव-
 सिणीए य अहागता गाम गतुमणा । अह तीए रायडुडिया न य
 दित्तु सपदेसे । अह तस्मि वयचिद्वृणयरीतीए पमोत्तुग सद समो-
 गाढ तज्जाप सद स घेत्तु तेसि रत्ते सुफपोगलाइएहे तुज्जम्मि
 सन्निवेसे । अह सुम्ह जोणिमोगाढतो गम्भो आज्ञतो । अह पोह
 वदिउ पयत्त च सुणिया य सुधिहिया दि पुठा घेती तु न वि
 जाणे अतिसयणाणी थेरा य पुच्छिन्ता तेहि सिट्ठा जहावुत्त
 होही जुगण्णहाणो रक्खह ण अप्पमादेण ज म सहकुलेसु सच-
 हितो गोत्तणामफतकेसीए । सा तु अजणकणी पव्वज्जा होति
 णायव्या " प० भा० । प० चू० ।
 अजमेर-अजमेर-पु० । प्रियग्रन्थसुरप्रतिष्ठाधिष्ठानसुमटपावजू-
 पालपाहितद्वर्षपुरनिकटस्थे ' अजमेर ' इतीदानीं प्रसिद्धे नगर-
 जेदे, कल्प० ।
 अजय-अयत-पु० । न विद्यते यत् यतियेस्येति सर्वसावधचिर-
 तिहीने, कर्म० ४ कर्म । गृहस्थकल्हे साधू, ग० १ अधि० ।
 अविरतसम्यग्दष्टौ, कल्प० । कर्म० ६० । अयत्नवति च, ओ० ।
 यतनाभावे, न० । " अजय चरमाणो य प्राणजूयाइ हिंसइ "
 अयतमनुपदेश न सुआक्येति क्रियाविशेषणमेतत्, चरन्
 गच्छन् । दश० ५ अ० ।
 अजयचउ-अयतचतुर-पु० । अविरतसम्यग्दष्टिनेपवक्रितेषु अ-
 चिरतसम्यग्दष्टिदेशचिरतप्रमत्ताप्रमत्तलक्षणेपु चतुर्षु तृतीयादि-
 गुणस्थानवर्तिषु, " मिच्च अजयचउआळ " कर्म० ५ कर्म ।
 अजयणकारि (ण्)-अयतनकारिन्-पु० । अयतनया कार्य-

कारणि, " अजयणकारिस्सेव, कजे परदव्वार्हिककारिस्स "
 अजयण जो करेति सो भणत्ति अजयणकारी " णिक्कारणप-
 न्निसेवी, अजयणकारी य कारणे साहू " । नि० चू० १ उ० ।
 अजयणा-अयतना-स्त्री० । यतनाऽनायै दूर्याद्यशोधने, " अज-
 यणाए पशुव्वनि, पाहुणगाण अयत्तहा " ग० ३ अधि० ।
 अजयदेव-अजयदेव-पु० । दाउलतावायनामकाद् म्भेच्छनगरादा-
 गच्छतां जिनप्रभसूरीणा मद्दारके राज इति प्रतिष्ठितनामदानरि
 त्रयोदशशतनवाशीतितमवर्षाक्षिके नेरेश्वरजेदे, ती० ४६ कल्प० ।
 अजयभाव-अयतनाव-त्रि० । ६ घ० । असयनाध्यवसाये,
 " परस्म त देइ सउग्गे होइ अहिगरणमजयनावस्स " अय-
 तभावस्य अयतोऽश्रुद्धाऽऽहागपरिहारकत्वन जीयरक्कणरहितो
 भावोऽध्यवसायो यस्य स तथा । पि० ।
 अजयसेवि (ण्)-अयतसेविन्-त्रि० । अयतनया प्रतिसेवके,
 " वोय गमियमि य अजयसेविम्मि " व्य० १ उ० ।
 अजर-अजर-पु० । नास्ति जरा यस्य । देवे, जराशून्ये, त्रि० ।
 वाच० । " उम्मुक्कम्मकयथा अजरा अमरा असगया " सि-
 द्धा अजरा, ययसोऽनावात् । औ० । नास्ति जराऽस्या, धृत-
 कुमारवृद्धे, तस्य जराऽभावात्तत्त्वम् । वाच० । वृद्धारकवृद्धे,
 पु० । गृहगोधिकायाम्, स्त्री० । न विद्यते जरा यस्य तदजरम् ।
 आ० म० प्र० ।
 अजरामर-अजरामर-न० । जरा घयोहानि, मरण मर., स्वरा-
 न्तरादचूप्रत्यय । न विद्यते जरामरौ यत्र तदजरामरम् । मोक्षे,
 विशेष० । ज० । त० । ६ घ० । वार्धक्यमृत्युगदिते, त्रि० " अहोय-
 राओ पणितप्पमाणे, अठे सुमूढे अजरामरे च " अजरामरव-
 द्वात्, क्रिडयते धनकाम्यया " सूत्र० १ शु० १० अ० । " एत्थि कोइ
 जगम्मि अजरामरो " । महा० ७ अ० । मम्मणाएये वणि-
 भेदे, पु० । (तत्कथा ' मम्मण ' शब्दे कृष्ट्या)
 अजस-अयशम्-न० । विरोधे, न० त० । अज्ञाघायाम्, असद्वृत्त-
 तया निन्दायाम्, सूत्र० २ शु० २ अ० । ग० । सर्वदिग्गामिन्या. प्र-
 सिद्धरभावे, ज० । ए श० ३३ उ० । अपराक्रमकृते, न्यूनत्वे च ।
 " इहेव धम्मो अजसो अकित्ती " । दश० १ चूलि० । अवर्ण-
 यादनायाम्, नि० चू० ११ उ० ।
 अजसकारग-अयशःकारक-त्रि० । सर्वदिग्गामिन्या. प्रसिद्धे
 प्रतिषेधके, भ० । ए श० ३३ उ० ।
 अजसकित्तिणाम-अयशःकीर्त्तिनामन्-न० । नामकर्मजदे, य-
 दुदयाद्यश कीर्त्ति न भवतस्तदयशःकीर्त्तिनाम् । कर्म० १ कर्म० ।
 यदुदयवशान्मभ्यर्थजनस्याप्यप्रशस्यो भवति तदयशःकीर्त्ति-
 नाम । कर्म० ६ कर्म० । प्रव० । आ० ।
 अजसजणग-अयशोजनक-त्रि० । निन्दनीयतादिकारके, ग० ३
 अधि० ।
 अजसबहुल-अयशोबहुल-त्रि० । अयशोऽज्ञाघाऽसद्वृत्ततया
 निन्दा तद्वहुलः, यानि यानि परापकारभूतानि कर्मानुष्ठा-
 नानि विधत्ते तेषु तेषु कर्मसु करवरणच्छेदनादिषु अयशो-
 ज्ञाजि, " णियडिबहुले साव्वहुले अजसबहुले, उस्सल्लनस-
 पाणघाती " सूत्र० २ शु० २ अ० ।
 अजससयविगप्पमाणहियय-अयशःशतविसर्पकृदय-त्रि० ।
 न यश शतानि अयशःशतानि, तेषु विसर्पद् विस्तार गच्छद्

हृदय मानसं यस्य स तथा, प्रज्ञाताश्वाधाविस्तृतमनस्के, “अजससयविसण्पमाणहिययाण कइयवपण्णी” (स्त्रीणां) तं० । अजस्स-अजस्स-न० । न०त० । जस्-र । अनवरते, “आमरणतमजस्स, सजमपरिपालण विहिणा ” पञ्चा० ८ विव० । त्रिका-तावस्थायिनि वस्तुमात्रे, त्रि० । वाच० ।

अजहमुकोस-अजघन्योत्कृष्ट-ति० न जघन्योत्कृष्ट स्थितिर्यस्य
सः, एव स्थितिशब्दद्वोपात् तथा । मध्यमायां स्थितौ वर्तमाने,
आ० म० छि० ।

अजहमुकोत्तपएसिय-अजघन्योत्कर्षप्रदेशिक-पु० । जघन्या-
श्रौकर्षाश्च जघन्यात्कर्षाः, न तथा ये तेऽजघन्योत्कर्षाः, मध्यमा
इत्यर्थः, ते प्रदेशाः सन्ति येषां ते अजघन्योत्कर्षप्रदेशिकाः। म-
ध्यमप्रदेशनिष्पेक्षु, स्था० १ ग० १ उ० ।

अजहृत्थ-अयथार्य-न० । पलाशादावयथावदर्थके नामभेदे,
स्था० १ गा० १ उ० ।

अजाइय-अयाचित-वि० । अयाञ्जया लन्धे, अदत्तादाने च ।
 “मुसावायं बहिष्ठ च, उगहं च अजाइय । सत्या दाणाइ दो-
 गसि, त विज्जं परिजाणिया” ॥१॥ अयाचितमित्यनेनादत्तादान
 गृहीतम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अजाणन्त-अजानत्-अजानान-त्रि० । अनवबुध्यमाने, “ अ-
जाणता मुसवधे ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । कल्पाऽकल्पम-
जानति अगीतार्ये, पु० । वृ० ३ उ० ।

अजाणय-अज्ञ-त्रि० । न जानाति । क्षा-क । न० त० । स्वल्प-
ज्ञाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । “ एव विष्पत्तिवन्नेगे,
अप्पणा उ अजाणया ” सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञानशून्ये, सूत्रे,
वेदान्तिमतसिद्धाज्ञानरूपपदार्थवति च । वान० ।

अज्ञाणिय-अज्ञात्वा-अव्य०। अधिज्ञायेत्यर्थे, नि० चू० १ उ०।

अजाणिया-अङ्गिका-खी० । न-ङ्गिका, ङ्गिका विलक्षणयां स-
म्यक् परिज्ञानरहितायां पर्वदि, “ अजाणिया जहा जा होइ
पगम्भदुरा मियठावयसीहकुक्कुरगजूया रयणमिव असठ-
विया अजाणिया सा नवे परिसा ” या ताम्रचूरुकएठीरवकुर-
ङ्गपोनवत्प्रकृत्या मुग्धस्वभावा असस्यापितजात्यरत्नमिवान्तर्गु-
णविशिष्टगुणसमृद्धा सुखप्रज्ञापनीया पर्वत्त सा अङ्गिका । उ-
क्त च-“ पगई सुद्धअयाणिय, मिगठावगसीहकुक्कुरगजूया ।
रयणमिव असठविया, सुहसरणप्पागुणसमिद्धा ” ॥ १ ॥ न० ।
अजाणू-अङ्गा-ख।०। अङ्गस्य हिंसादेर्हेतुस्वरूपफल्गाविदुषो ह्य
नाहं व्यावृत्तौ, स्था० २ गा० ४ ष० ।

अजाय-अजात-त्रि० । न० त० । अनिष्पन्ने, श्रुतसम्पदनुपेतत-
याऽन्नन्धात्मन्नामे साधौ, तद्व्यतिरेकात्कल्पभेदे च । पुं० ।
'गीयत्थ जायकप्पो, अग्निमो खलु भवे अजाओ भ' अगीत'
खल्वेगीतार्थयुक्ते विहारः पुनर्भेदेजातोऽजातकल्प, अव्यक्तत्वे-
न जातत्वात् । ध० ३ अधि० । पञ्चा० ।

अजायकपिय-अजातकल्पित-पु० । अगीतार्ये, “एगविहारो
अजायकपिओ जो भवे ठवणकप्पे” ग० १ अधि० ।

अजिअ--अजित--वि० न० त० अपराजिते, “अजिय महत्थ”
(जिनाह्णम्) अजितामशेषपरप्रवचनाज्ञानिरपराजिताम्,
दर्श० । आव० । जिधातोर्द्विकर्मकत्वाद्निर्जितशत्रौ, अ-
पराजितदेशादौ चास्य प्रवृत्तिः, एकस्य कर्मणोऽविवक्षाया-
मन्यस्य विवक्षायां, तत्रैव कर्मणि क्तः भूरिप्रयोगस्तु-अनिर्जित-

शत्रावेव । तथा च 'गौणे कर्मणि दुह्यादेः' इत्युक्तेः, गौणकर्मण
पवाग्निघाननियमात् तस्यैव जयकर्मनायां केनाऽभिधातुं योग्य-
त्वम्, न च नास्त्येषामजितो देश इत्यादौ गौणकर्मणोऽविवक्ष-
यैव जयप्राप्तदेशादौ जिनशब्दप्रयोगात् ततो नञ्समास
इति जेद । रागादिभिर्जितत्वाभावात् शिवे, विष्णौ, बुद्धे च ।
वाच० । परीषदादिभिरनिर्जितो गर्भस्थे भगवति जननीयूते
राज्ञा नजित इत्यजित । ध० २२अधि । अवसर्पिण्या द्वितीये तीर्थक-
रे, "अक्खेसु जेण अजिया, ज्जणणी अजितो ज्जिणे तम्हा" अक्के-
षु अक्कविषयेण कारणेन भगवतो जननी अजिता गर्भस्थे भग-
वत्यभूतस्मादजितो जिनः । अत्र बृद्धसप्रदायः- "नगवतो रु-
म्मापियरो जूय रमति, पढम राया जिणिया इतो जाहे भयव
आयाओ ताहे देवी जिणाइओ राया ततो अक्खेसु कुमारप्रभावात्
देवी अजिय च्ति, अजिओ से नाम कय" । आ० म० द्वि० आ०
चू० । ध० । स० । कल्प० । (अन्तरायुरादिकमस्य 'तित्थयर' शब्द
वक्ष्यते) भाविनि द्वितीये बलदेवे, ती० २१ कल्प० । श्रीसुवि-
धिजिनस्य यक्के च । स च श्वेतवर्णं कूर्मवाहनश्चतुर्हृजो मातु-
र्द्विज्जाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलकुन्तकालितषामपाणि-
द्वयश्च । प्रव० २७ द्वा० ।

अजिअदेव-अजितदेव-पुं०। मुनिचन्द्रसूरेः शिष्ये, विजयसिंहस्य
गुरौ, "जातौ तस्य (गुरुचन्द्रस्य) विनयौ, सूरियशोभद्वनेमि-
चन्द्राहौ । ताभ्यां मुनीन्द्रचन्द्रः श्रीमुनिचन्द्रो गुरुः सम-
चूत ॥ १ ॥ श्रीअजितदेवसूरिः प्राच्यस्तस्माद्ब्रूव शिष्य-
वरः । वादीति देवसूरिर्द्वितीयशिष्यस्तदीयोऽभूत् ॥ ७ ॥
तत्राऽऽदिमाद् वभासे गुरुर्विजयसिंह इति मुनिपसिंहः ।" ग० ३
अधि० अन्योऽप्येतन्नामा (वि० सं० १२७३ वर्षे) आसीत् । स च
भानुप्रभसूरे शिष्यः, योगविधिनाम्नो ग्रन्थस्य कर्ता । जै० ६०।
अजिअप्रभ-अजितप्रभ-पुं०। स्वनामख्याते गणिनि । स च (वि०
सं० १२७२ वर्षे) गुर्जरधरिण्या विद्यापुर (बीजापुर) प्रान्ते व्यवहारी-
त्, धर्मरत्नश्रावकाचारनामान् ग्रन्थ च व्यरारचत् । जै० ६० ।
अजिअबला-अजितबला-स्त्री०। श्रीअजितस्य शासनवेद्याम्,
सा च गौरवर्णा लोहासनाधिकृता चतुर्भुजा वरदपाशकाधि-
ष्ठितदक्षिणकरद्वया बीजपूरकाकुशालभूतवामपाणिद्वया च ।
प्रव० २७ द्वा० ।

अजिन्नसीह-अजितासिंह-पुं० । स्वनामख्यातेऽञ्जलगन्धीये
सूरौ, स च (वि० सं० १२८३ वचने) जिनदेवेन पित्रा जिनदेव्या
नाम मातरि जन्म लब्ध्वा सिंहप्रज्ञसूरिपादमूले प्रवव्राज, देवे-
न्द्रसिंहनामान च शिष्यं प्राम्नाजयत । जै० इ० ।

अजिअसेण-अजितसेन-पु० । जम्बूद्वीपे जारतवर्षेऽतीताया-
मुत्सर्पिण्यां जाते चतुर्थे कुक्षकरे, स्था० १० वा० । कौशाम्ब्या
अधिपतौ धारणीवल्लभे नृपतिभेदे, “कौशाम्बीत्यास्ति पूस्तत्रा-
जितसेनो महीपतिः । धारणीत्यभिधा देवी, तत्र धर्मवसुर्गुरुः”
॥१॥ आ० क० । आव० । आ० चू० । (तत्कथा ‘अणाय’ शब्दे
वक्ष्यते) आवस्तीनगरीं समवसुते यशोभ्रजायाः कीर्तिमत्या म-
हत्तरिकायाः प्रमाजके आचार्यभेदे, (‘अलोह’ शब्दे कथा दृष्ट-
व्या) आ० चू० । आव० । दर्श० । अजितसेनो नाम अजयदेवसूरि-
शिष्यः राजगच्छीयवाद्महार्णवनाम्नो ग्रन्थस्य कर्त्ता, यत्समये
(वि० स० १२१३ वर्षे) अञ्जल्वगच्छ समजनि । अ० ५० ।
आ० क० । महिलपुरनगरे नागस्य गृहपतेः सुलसानाम्न्यां
भार्यायामुत्पन्ने पुत्रे, स चाऽरिष्टनेमेरुनिके प्रमज्य वासुधये
सिद्धः । अन्त० ४ वर्गः ।

अजिआ-अजिता-स्त्री० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थस्याभिनन्दनजिनस्य प्रवर्तिन्याम्, "अजिण्डणस्स अजिआ, कासयी सुमती-जिण्डस्स " ति० ।

अजिइंदिय-अजितेन्द्रिय-त्रि० । न जितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि येन स तथा । इन्द्रियावशे, "अजिइंदियसोवाहिया, घ-हगा जइ ते णाम पुज्जति " दश० नि० १ अ० । असर्वस्त्वे, स्था० ५ टा० ।

अजिण-अजिन-न० । अजति क्षिपति रज आदि आवरणेन । अज-इन्च्, न व्यादेशः । वाच० । मृगादिचर्मणि, उत्त० ५ अ० । आचा० । सूत्र० । चर्मधारित्वे, "चीराजिणं नगिणिण, जडीसघाडिमुंडिण" उत्त० ५ अ० । न जिनोऽजिनः । न० त० । अवीतरागे, भ० १५ श० १ उ० । असर्वस्त्वे, पु० । "अजिण जिणसकासा जिणह वाऽयितह वागरेमाणा " । औ० । कल्प० । स्था० ।

अजिण-अजीर्ण-न० । अजरणे परिपाकमनागते, त्रि० । अजीर्णेऽभोजनम् । एतदपि गृहिभिर्धर्मोऽयमस्माकमिति बुद्ध्या कार्यम् । तथाऽजीर्णेऽजरणे पूर्वभोजने, अथवाऽजीर्णे परिपाकमनागते पूर्वभोजनेऽर्धजीर्णे इत्यर्थः । अभोजन भोजनत्याग । अजीर्णेभोजने हि सर्वरोगमूलस्य वृद्धिरेव कृता भवति । यदाह-"अजीर्णप्रभवा रोगाः " इति । तत्राजीर्णे चतुर्विधम्-"आम विदग्ध विष्टग्ध, रसशेष तथा परम् । आमे तु ह्रवगन्धित्व, विदग्धे धूमगन्धिना ॥१॥ विष्टग्धे गात्रभ-ङ्गोऽत्र, रसशेषे तु जाम्बता" ह्रवगन्धित्वमिति । द्रवस्य गूथस्य कुपिततक्रादेरिय गन्धो यस्यास्ति तत्तथा, तद्भावस्तत्त्वमिति । "मलवातयोर्विगन्धो, विरुमेदो गात्रगौरवमरौच्यम् । अविशुद्धश्चोद्गारः, पडजीर्णव्यक्लिलङ्गानि" ॥१॥ "मूर्च्छा प्रलापो घमशुः, प्रसेकः सदन भ्रमः । उपद्रवा भवन्त्येते, मरण वाऽप्यजीर्णतः" ॥१॥ प्रसेक इत्यधिकनिष्ठोवनप्रवृत्ति, सदनमित्यङ्गलानिरिति । ध० १ अधि० । "जिआजिषे अभोयण बहुसो" जीर्णाजीर्णे च भोजने बहुशः, एष आयुष उपक्रम । अस्माद् भ्रियन्ते प्राणिन इत्यर्थः । आव० १ अ० । जी० । एतत्प्रतीकारो यथा-"भवेदजीर्णं प्रति यस्य शङ्का, स्निग्धस्य जन्तोर्बलिनोऽन्नकाले । पूर्वं स शुण्ठीमभयामशङ्कः, संप्राश्य भु-ङ्जीत हित हि पथ्यम्" ॥१॥ इति चक्रः । "अजीर्णे भोजने वारि, जीर्णे वारि घलप्रदम् " इति वैद्यके । कस्तरि कः । जीर्णो-वृद्धः, तदभिज्ञे, त्रि० । वाच० ।

अजिम्मकतणयणा-अजिह्वकान्तनयना-स्त्री० । अजिह्वेऽमन्दे मद्रभावतया निर्विकारचपल इत्यर्थः, कान्ते नयने यासां तास्तथा । सुभगत्वयतत्त्वसहजचपलत्वभाजनलोचनासु, "अजिम्मकतणयणा पत्तलधवलायतआयतबलोअणाओ " ज० २ वृत्त० ।

अजिय-अजित-त्रि० । अपराजिते, ('अजिअ' शब्देऽस्य विस्तरः) अजियदेव-अजितदेव-पु० । मुनिचन्द्रसुरेः शिष्ये, (निरूपणमस्य 'अजिअदेव' शब्दे)

अजियप्पज-अजितप्पज-पु० । स्वनामख्याते गणिनि, (विशेषो-ऽस्य 'अजिअप्पम' शब्दे)

अजियवला-अजितवला-स्त्री० । श्रीअजितस्य शासनदेव्याम्, ('अजिअवला' शब्देऽस्य विस्तरः)

अजियसीह-अजितसिंह-पु० । स्वनामख्यातेऽञ्जलगञ्जीये सुरौ, ('अजिअसीह' शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः)

अजियसेण-अजितसेन-पु० । जम्बूद्वीपस्थचतुर्थे कुलकरे, (स्पष्टोऽयं 'अजिअसेण' शब्दे)

अजिया-अजिता-स्त्री० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थस्याभिनन्दन-जिनस्य प्रवर्तिन्याम्, (अस्मिन् विषये 'अजिआ' शब्दो द्रष्टव्यः) अजीरि-अजीर्ण-न० । आहारस्याऽजरणे, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः ।

व्य० १ उ० । ज० । ज्ञा० । वि० । उपा० ।

अजीव-अजीव-पु० । न जीवा अजीवाः । जीवविपरीतस्वरूपेषु धर्माधर्माकाशपुञ्जलास्तिकायाश्चासमयेषु, प्रज्ञा० १ पद । ते च चतुर्धा, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । द्रव्याजीवाः, यदा पुञ्जलद्रव्यमजीवरूप सकलशुण्पर्यायविकलतया कल्प्यते, तदा तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याजीवः, भावे चाजीवद्रव्यस्य पुञ्जलस्वरूपस्य दशविधपरिणामोऽजीव इति प्रक्रमः । ततः शब्दादयः पञ्च शुभाशुभतया भेदेन विवक्षिताः । तथाच स-प्रदायः-शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः शुभाशुभाशुभाश्चेति । उत्त० ३५ अ० ।

एतेषां ह्येतत् क्षेत्रतः कावतो भावतश्च व्याख्या-

रुविणो य अरूवी य, अजीवा दुविहा जवे ।

अरूवी दसहा बुत्ता, रुविणो वि चउज्विहा ॥ ४ ॥

अजीवा द्विविधा भवेयुः, एके अजीवा रुपिणो रूपवन्तः, च पुनरन्ये अजीवा अरुपिणोऽरूपवन्तः । तत्र रूप स्पर्शाद्याभ्य-सूत मूर्ते तदस्ति येषु ते रूपिणः, तद्व्यतिरिक्ता अरुपिण इत्यर्थः । तत्रारुपिणोऽजीवा दशधा उक्ताः, रूपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाः प्रोक्ताः ॥ ४ ॥

पूर्वं दशविधत्वमाह-

धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।

अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ५ ॥

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।

अप्पासमयए चेव, अरूवी दसहा भवे ॥ ६ ॥

अरूपी अजीव एव दशधा भवेदिति द्वितीयगाथायामन्वयः । प्रथम धर्मास्तिकाय-धरति जीवपुञ्जलौ प्रतिगमनोपकारिणेति धर्मस्तस्याऽस्तयः प्रदेशसद्भावास्तेषां कायः समूहो धर्मास्तिकायः, सर्वदेशानुगुणसमानपरिणतिमद् ह्यव्यमिति भावः ॥ १ ॥ पुनस्तद्देशस्य धर्मास्तिकायस्य कतमो विभागो देश-स्तृतीयचतुर्थादिभागस्तद्देशो धर्मास्तिकायदेशः ॥ २ ॥ तथा पुनस्तत्प्रदेशस्तस्य धर्मास्तिकायविभागस्य अतिसूक्ष्मो नि-रशोऽशः प्रदेशो धर्मास्तिकायप्रदेशस्तृतीयकैराराख्यातः कथितः ॥ ३ ॥ एवमधर्मो जीवपुञ्जलयोः स्थिरकारी धर्मास्तिकायाद्विरुद्धोऽधर्मास्तिकायः ॥ ४ ॥ पुनस्तस्य अधर्मास्तिकायस्यापि देशस्तद्देश एकः कश्चिद्भागोऽधर्मास्तिकायदेशः ॥ ५ ॥ एवं पुनस्तस्याधर्मास्तिकायस्य प्रदेशोऽशस्तत्प्रदेश आख्यातोऽधर्मास्तिकायप्रदेश इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इत्यनेन षट्त्रेधा अरुपिणोऽजीवद्रव्यस्य । अथ शेषाश्चत्वार उच्यन्ते-आकाश इति सप्तमो भेदः । आकाशमाकाशास्तिकायः, जीवपुञ्जलयो-रवकाशदायि आकाशम् ॥ ७ ॥ तस्याऽऽकाशस्य देशः कतमो विभाग आकाशास्तिकायदेशः ॥ ८ ॥ तस्य आकाशास्तिकाय-

स्य निरक्षो देशस्तत्प्रदेश आकाशास्तिकायप्रदेशः ॥ ६ ॥
दशमो भेदश्चाद्धासमयः, अक्षा कावो वर्त्तमानलक्षणस्तद्रूपः
समयोऽद्धासमयः। अस्यैक एव भेदो निर्विभागात्वात्। देशप्रदे-
शावपि कालस्य न सम्भवतः ॥ १० ॥ एवं दशभेदा अरूपिणो
हेयाः ॥ ६ ॥

एतान् अरूपिणं क्षेत्रत आह—

धर्माधर्मे य दो एए, दोगमित्ता वियाहिया ।

दोगालोगे य आगासे, समए समयखित्तिए ॥ ७ ॥

धर्माधर्मौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ, एतौ द्वावपि लोक-
मात्रौ व्याख्यातौ । यावत्परिमाणा लोकास्तावत्परिमाणौ धर्मा-
स्तिकायाधर्मास्तिकायौ। चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकं व्याप्तावित्यने-
नालोके धर्माधर्मौ न स्तः । आकाश लोकालोके वर्त्तते इत्यनेना-
ऽऽकाशास्तिकायः चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोक व्याप्य स्थितः, ततो
यद्विद्वत्कमपि व्याप्याऽऽकाशास्तिकायः स्थित इत्यर्थः । स-
मयः समयदिक कावः समयक्षेत्रिको व्याख्यातः । समयोप-
लक्षित क्षेत्र सार्द्धद्वयद्वीपसमुद्रात्मकं समयक्षेत्र, तत्र भवः
समयक्षेत्रिकः । सार्द्धद्वयद्वीपेभ्यो यद्विस्तु समय आवलिका-
दिवसमासादिकालभेदो मनुष्यलोकाभावात् विवक्षितः ॥ ७ ॥

पुनरेतानेव कालत आह—

धर्माधर्मागासा ति—भि वि एए अणाइया ।

अपज्जवसिया चैव, सव्वणं तु वियाहिया ॥ ८ ॥

धर्माधर्माकाशानि एतानि त्रीण्यपि सर्वार्थे इति सर्वकालं
सर्वदा स्वस्वरूपापरित्यगेन नित्यानि अनादीनि च पुनरपर्य-
वसितानि अन्तर्हितानि व्याख्यातानि ॥ ८ ॥

अथ कालस्वरूपमाह—

समए वि संतई पप्प, एवमेव वियाहिया ।

आएसं पप्प साईए, सपज्जवसिए वि य ॥

समयोऽपि कालोऽपि, एवमेव, यथा धर्माधर्माकाशानि अना-
द्यनन्तानि; तथा कालोऽपि अनाद्यनन्त इत्यर्थः । किं कृत्वा ?
सन्ततिं प्राप्य, अपरापरोत्पत्तिरूपप्रवाहात्मिकामाश्रित्य,
कोऽर्थः?, यदा हि कालस्योत्पत्तिर्विलोक्यते तदा कालस्याऽऽ-
दिरपि नास्ति, अन्तोऽपि नास्तीत्यर्थः । पुनरादेशं प्राप्य का-
र्यारम्भमाश्रित्य कालः सादिक आदिसहितः, तथा सपर्यव-
सितोऽवसानसहितो व्याख्यातः । यदा च यत् किञ्चित् कार्यं
यस्मिन् काल आरभ्यते तदा तत्कार्यारम्भवशात् कालस्या-
प्युपाधिवशादादिः, एवं कार्यारम्भसमाप्तौ कालस्याप्यन्तो
व्याख्यात इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ रूपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाश्चतुर्भेदा उच्यन्ते—

खंधा य खंधेदेसा य, तप्पएसा तद्देव य ।

परमाणवो य बोधव्वा, रूविणो वि चउव्विहा ॥ १० ॥

रूपिणोऽप्यजीवाश्चतुर्विधाश्चतुःप्रकाराः । के ते भेदास्तानाह-
स्कन्धाः—यत्र पुञ्जे परमाणवो विचटनाद् मिलनाच्च न्यूना-
अधिका अपि भवन्ति, एतादृशाः परमाणुपुञ्जाः स्कन्धा १,
स्कन्धदेशा २, तथा तत्प्रदेशाः—तेषां स्कन्धानां निर्विभागा
अंशा स्कन्धप्रदेशा ३, तथैवेति पूर्ववत्, च पुनः परमाणवो
बोद्धव्याः, परमाणव एव परस्परममिलिता इत्यर्थः । ४। एवं
चत्वारो रूपिणश्चतुर्विधा बोद्धव्या इति भावः । अत्र च मु-

ख्यवृत्त्या परमाणुद्रव्यस्य द्वौ भेदौ-परमाणवः स्कन्धाश्च । दे-
शप्रदेशयोः स्कन्धेष्वेवान्तर्भावः ॥ १० ॥

अथ स्कन्धानां परमाणूनां लक्षणमाह—

एगत्तेण पहुत्तेण, खंधा य परमाणुओ ।

लोएगदेशे लोए य, भइव्वा ते उ खित्तओ ॥

इत्तो कावविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥ ११ ॥

एते स्कन्धाश्च पुनः परमाणवः, एकत्वेन पुनः पृथक्त्वेन
लोकैकदेशे च पुनर्लोके क्षेत्रतो भङ्गव्याः । तत्र केचित् स्कन्धाः
परमाणवश्च एकत्वेन समानपरिणतिरूपेण लक्ष्यन्ते । अथ च
स्कन्धाः परमाणवश्च पृथक्त्वेन परमाणवन्तरैरसङ्घातरूपेण
लक्ष्यन्त इत्यध्याहारः । इति द्रव्यतो लक्षणमुक्तम् । अथ च
क्षेत्रत आह—ते स्कन्धाः परमाणवश्चेति तत्स्कन्धपरमाणूनां
ग्रहणेऽपि परमाणूनामेवैकप्रदेशावस्थानत्वात् ते परमाणवः
स्कन्धेषु लोकैकदेशे लोके सर्वत्र भङ्गव्या भजनीया दर्शनीया
इति यावत् । ते हि विचित्रत्वात्परिणतेर्बहुप्रदेशे तिष्ठन्ति ।
इतः क्षेत्रप्ररूपणातोऽनन्तर तेषां स्कन्धानां परमाणूनां चतु-
र्विध कालभेदं वक्ष्ये, साधनादिसपर्यवसितापर्यवसितभेदेन
कथयिष्यामि । इदं च सूत्रं षट्पाद गाथेत्युच्यते ॥ ११ ॥

संतई पप्प तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य ।

ठिई पमुच साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १२ ॥

ते स्कन्धाः परमाणवश्च सन्ततिमपरापरोत्पत्तिप्रवाहरूपां
प्राप्याऽनादय आदिरहितास्तथाऽपर्यवसिता अन्तरहिताः
स्थितिं प्रणीत्य क्षेत्रावस्थानरूपां स्थितिमङ्गीकृत्य सादिकाः,
सपर्यवसिताश्च वर्तन्ते ॥ १२ ॥

सादिसपर्यवसितत्वेऽपि कियत्कालमेषां स्थितिरित्याह—

असंखकालमुक्कोसं, इकं समयं जहन्नयं ।

अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा वियाहिया ॥ १३ ॥

स्कन्धानां परमाणूनां चोत्कृष्टाऽसख्यकाल स्थितिः जघ-
न्यिका एकसमया स्थितिः । एषाऽजीवानां रूपिणां पुञ्जानां
स्थितिर्व्याख्याता ॥ १४ ॥

अथ कालतः स्थितिमुक्त्वा तदन्तर्गतमन्तरमाह—

अणंतकालमुक्कोसं, इकं समयं जहन्नयं ।

अजीवाण य रूवीणं, अंतरे यं वियाहिया ॥ १४ ॥

अजीवानां रूपिणां पुञ्जानां स्कन्धदेशप्रदेशपरमाणूनाम-
न्तर विवक्षितक्षेत्रावस्थिते प्रच्युतानां पुनस्तत्क्षेत्रप्राप्तेर्व्यव-
धानमन्तरमुत्कृष्टमनन्तकाल भवति । जघन्यकमेकसमय या-
वन्नवति । इदमन्तर तीर्थकरैर्व्याख्यातम्—पुञ्जानां हि विव-
क्षितक्षेत्रावस्थितितः प्रच्युतानां कदाचित्समयावलिकादि
सख्यातकालतो वा पन्थोपमादेर्यावदनन्तकालादपि तत्क्षेत्र-
त्वावस्थितिः सम्भवतीति भावः ॥ १४ ॥

अथ भावतः पुञ्जानाह—

वक्षओ गंधओ चैव, रसओ फासओ तहा ।

संठाणओ य बिन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा ॥ १५ ॥

तेषां पुञ्जानां परिणामो वर्णतो गन्धतो रसतः स्पर्शतस्तथा
संस्थानतश्च पञ्चधा प्रज्ञप्रकारो हेयः । यतो हि पूरणगलनध-
र्माण पुञ्जास्तेषामेव परिणतिः सम्भवति । परिणमन स्वस्व-
रूपावस्थितानां पुञ्जानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानोदरन्यथाम-
घन परिणामः । स पुञ्जानां पञ्चप्रकार इत्यर्थः । (उक्तं)

पुष्पलानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानानां ज्ञेदान् वक्ष्ये । अथ तेषां क्रमेण प्रत्येकं संस्थां वदति । तद्यथा-एकस्मिन्नेकस्मिन् पुद्गलामिनवर्णं गन्धौ द्वौ, रसाः पञ्च, स्पर्शा अष्टौ, संस्थानानि पञ्च, एव सर्वेऽपि विंशतिविंशतिभेदा जयन्ति । कृष्णनीलसोहितपीतवृषभाणां पञ्चवर्णानां प्रत्येक २ विंशतिभेदमीशनात् शतं भेदा वर्णपुद्गलस्य । अथ गन्धयोर्द्वयोः पदचत्वारिंशद्भेदाः जयन्ति । तद्यथा-घर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च, स्पर्शा अष्टौ, संस्थानानि पञ्च । एवं सर्वे त्रयोविंशतिसंख्याकाः । ते च सुगन्धदुर्गन्धतत्त्वयोर्विंशतित्रयोविंशतिप्रमिताः । उभयमीलने पदचत्वारिंशद्वयवन्ति । अथ रसपुद्गलानां शतं भेदा जयन्ति । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, स्पर्शा अष्टौ, संस्थानानि पञ्च । एवं विंशतिभेदाः । प्रत्येकं २ तिककटुकपायाम्भमधुरादिपञ्चभिर्भेदा सन्तः शतं भेदा जयन्ति । अथ स्पर्शभेदाः पदत्रिंशदधिकशतम् । तद्यथा-घर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, रसाः पञ्च, संस्थानानि पञ्च । एव सप्तदश भेदाः । ते च क्षरमृदुगुरुलघुरुक्कस्निग्धशीतोष्णपुद्गलैरष्टाभिर्गुणिताः पदत्रिंशदधिकं शतं भेदा भवन्ति । प्रज्ञापनायां स्पर्शपुद्गलानां चतुरशीत्यधिकशतं भेदा उक्ताः सन्ति । तद्यथा-घर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, स्पर्शाः पद, एव गृह्यन्ते । यतो हि यत्र परस्पर्शः पुद्गलौ गण्यते, तत्र तदा मृदु पुद्गलौ न गण्यते । यत्र स्निग्धो गण्यते, तदा तत्र रूको न गण्यते । परस्परविरोधिनौ हि एकत्र न तिष्ठतः, तस्मात् स्पर्शाः पद, संस्थानानि पञ्च, एव सर्वे मिश्रितास्तूयोर्विंशतिर्भवन्ति । ते त्रयोविंशतिभेदाः प्रत्येकं खरमृदुगुरुलघुस्निग्धरूक्कशीतोष्णाद्यष्टाभिः पुद्गलैर्गुणिताः चतुरशीत्यधिकशतं भेदा भवन्ति । धीतरागोक्तं च प्रमाणम्, येन यादृशं ज्ञातं तेन तादृशं व्याख्यातम्, तत्त्वं केवली घेद ।

अथोपसंहारेणोत्तरग्रन्थसम्यग्धमाह—

एसा अजीवविभक्ती, समासेण विद्याहिया ।

एसाऽजीवविभक्तिः समासेन संक्षेपेण व्याख्याता । उक्तं ३६ अ० दश० ३० । प्रज्ञा० । जी० । आ० । आ० चू० नं० । सूत्र० । दर्श० । स्था० । “णत्थि जीवा अजीवा वा, णेय सखं णिघेसए” सूत्र० । (‘अत्थिवाय’ शब्दे व्याख्यास्याम् ।)

अजीवआणवणिया-अजीवाज्ञापनिका-स्त्री० । आज्ञापनिका-जन्त्यः कर्मयन्धोऽप्याज्ञापनिका । अजीवनिपयाऽज्ञापनिका अजीवाज्ञापनिका । ‘अजीवमाज्ञापयत’ इत्यादेशनरूपाया आज्ञापनिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ग० १ उ० ।

अजीवानायनी-स्त्री० । अजीवविषया आनायनी, “अजीवमानायनम् । आनायनरूपाया क्रियाया भेदे, स्था० २ ग० १ उ० ।

अजीवआरंजिया-अजीवारम्भिका-स्त्री० । या चाजीवान् जीवकलेवरणि पिष्टादिमयाजीवाकृतींश्च वस्त्रादीन् वाऽऽरम्भमाणस्य सा अजीवारम्भिका । आरम्भिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ग० १ उ० ।

अजीवकाय-अजीवकाय-पु० । अजीवाश्च तेऽचेतनाः कायाश्च राशयोऽजीवकाया । जीवविपरीतेषु धर्माधर्माकाशपुद्गलेषु, भ० ७ श० १० उ० ।

अजीवकायअसंजम-अजीवकायासंयम-पु० । पुस्तकादीनामजीवकायानां ग्रहणपरिभोगानुपरमेण तत्समाश्रितजीवविघाते, स्था० ७ ग० ।

अजीवकायअसमारंज-अजीवकायासमारम्भ-पु० । पुस्तकादीनां ग्रहणपरिभोगतस्तदाश्रितजीवानां परितापकरणे, स्था० ७ ग० ।

अजीवकायआरंभ-अजीवकायारम्भ-पु० । पुस्तकादीनां ग्रहणपरिभोगतस्तदाश्रितजीवानामुपलब्धे, स्था० ७ ग० ।

अजीवकायसंजम-अजीवकायसंयम-पु० । पुस्तकादीनामजीवकायानां ग्रहणपरिभोगपरमे, स्था० ७ ग० । आव० । प्रश्न० ।

अजीवकिरिया-अजीवक्रिया-स्त्री० । जीवस्य पुद्गलसमुदायस्य यत्कर्मैर्याप्य तया परिणमन साऽजीवक्रिया । “अजीवकिरिया दुविहा पणत्ता । त जहा-इरियावहिया चेव, सप-राइया चेव ” स्था० २ ग० १ उ० ।

अजीवाणिसिय-अजीवनिःश्रित-स्त्री० । अजीवाश्रिते, स्था० ७ ग० ।

अजीवनिःसृत-स्त्री० । अजीवेन्यो निर्गते, स्था० ७ ग० ।

अजीवद्वविविज्जति-अजीवद्वविविज्जति-स्त्री० । अजीवद्वव्याणां विनागरूपे विभक्तिभेदे, अजीवद्वविविज्जतिस्तु रूप्यरूपिद्वयभेदाद् द्विधा । तत्र रूपिद्वविविज्जतिश्चतुर्धा । तद्यथा-स्कन्धाः, स्कन्धदेशाः, स्कन्धप्रदेशाः, परमाणुपुद्गलाश्च । अरूपिद्वविविभक्तिर्दशधा । तद्यथा-धर्मास्तिकाया धर्मास्तिकायस्य देशो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः । एवमधर्माकाशयोरपि प्रत्येकं त्रिभेदता द्रव्या । अस्मासमयश्च दशम इति । सूत्र० १ भ० ५ अ० १ उ० ।

अजीवदिट्ठिया-अजीवदृष्टिका (जा)-स्त्री० । अजीवानां चित्रकर्मादीनां दर्शनार्थं गन्तव्यो गतिक्रियारूपे दृष्टिकायाः क्रियाया भेदे, स्था० २ ग० १ उ० ।

अजीवदेस-अजीवदेश-पु० । धर्माधर्मास्तिकायादिदेशेषु, भ० १६ श० ७ उ० ।

अजीवधम्म-अजीवधर्म-पु० । अचेतनानां मूर्तिमतां द्रव्याणां वर्णगन्धरसस्पर्शेषु, अमूर्तिमतां द्रव्याणां धर्माधर्माकाशानां गत्यादिकेषु धर्मेषु, सूत्र० २ भ० १ अ० ।

अजीवपज्जव-अजीवपर्याय-पु० । अजीवानां पर्यायेषु, प्रज्ञा० । पर्याया गुणा विशेषा धर्मा इत्यनर्थान्तरम् । प्रज्ञा० ५ पद ।

अजीवपज्जवा णं जंते ! कइविहा पणत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पणत्ता । तं जहा-रुविअजीवपज्जवा य अरु-विअजीवपज्जवा य । अरुविअजीवपज्जवा णं जंते ! कतिविहा पणत्ता ? । गोयमा ! दसविहा पणत्ता ? । तं जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा । आगासत्थिकाए, आगासत्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पदेसा । अद्दासमए । रुविअजीवपज्जवा णं जंते ! कतिविहा पणत्ता ? । गोयमा ! चउव्विहा पणत्ता । तं जहा-खंधा, खंधदेसा, खंधपदेसा, परमाणुपोगत्ता । ते णं भंते ! किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ? । गोयमा ! नो सखिज्जा, नो असंखिज्जा,

अणंता । से केण्ठे एं जंते ! एवं बुच्चं, नो संखिज्जा, नो असंखिज्जा, अणंता ! गीयमा ! अणंता परमाणुपोगला, अणंता दुपणसिया खंधा, जाव अनंता दसपणसिया खंधा, अणंता संखिज्जपदेसिया खंधा, अनंता असंखिज्जपदेसिया खंधा, अणंता अणंतपदेसिया खंधा, से तेण्ठे ण गो-यमा ! एवं बुच्चं, ते णं नो सखेज्जा, नो असंखिज्जा, अणंता । प्रज्ञा० ५ पद ।

अजीवपञ्चवणा-अजीवप्रज्ञापना-स्त्री०। अजीवानां प्रज्ञापनाऽजीवप्रज्ञापना । प्रज्ञापनाभेदे, प्रज्ञा० ।

से किंतं अजीवपणवणा ?। अजीवपणवणा दुविहा पणवणा । तं जहा-रुविअजीवपणवणा, अरुविअजीवपणवणा य । से किंतं अरुविअजीवपणवणा ?। अरुविअजीवपणवणा दसविहा पणवणा । तं जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्म देसे, धम्मत्थिकायस्म पणसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पणसा । आगामत्थिकाए, आगामत्थिकायस्स देसे, आगामत्थिकायस्स पणसा । अणंतपदेसा, अणंतपदेसा । सेतं अरुविअजीवपणवणा । से किंतं अरुविअजीवपणवणा ?। अरुविअजीवपणवणा चउविहा पणवणा । तं जहा-खंधा, खंधदेसा, खंधपणसा, परमाणुपोगला । ते समासओ पंचविहा पणवणा । तं जहा-वाणपरिणया, गंधपरिणया, रसपरिणया, फामपरिणया, सठाणपरिणया । जे वाणपरिणया ते समासओ पंचविहा पणवणा । तं जहा-कालवाणपरिणया, नीलवाणपरिणया, लोहियवाणपरिणया, हाह्लिदवाणपरिणया, सुकिह्लिदवाणपरिणया ।

अमीपामित्थ क्रमोपन्यासे किं प्रयोजनम् ?। उच्यते-इह धर्मास्तिकाय इति पदं मङ्गलभूतम्, आदौ धर्मशब्दान्वितत्वात् । पदार्थप्ररूपणा च सम्प्रति प्रथमतः उक्तता वर्तते, ततो मङ्गलार्थमादौ धर्मास्तिकायस्योपादानम् । धर्मास्तिकायप्रतिपक्षभूतधर्मास्तिकायस्तनस्तदन्तरमधर्मास्तिकायस्य । द्वयोरपि चानयोराधारभूतमाकाशमिति तदनन्तरमाकाशास्तिकायस्य । ततः पुनरजीवसाधर्म्यादकाशसमयस्य । अथवा इह धर्माधर्मास्तिकायौ विचून भवतस्तद्विशुद्धे तन्मात्रार्थतो जीवपुद्गलानामस्खलितप्रचारप्रवृत्तौ लोकाद्योक्तव्यवस्थाऽनुपपत्तेः । अस्ति च लोकालोकव्यवस्था; तत्र तत्र प्रदेशे सूत्रे साक्षाद्दर्शनम् । ततो यावति क्षेत्रज्ञगाढौ (धर्माधर्मा) तावत्प्रमाणो लोकः, ओषस्त्वलोक इति सिद्धम् । उक्तं च-

“ धर्माधर्मविभुत्वात्, सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात् । नात्रोक्तं कश्चित्स्यात्, न च सम्मतमेतद्व्याख्यायम् ॥ १ ॥

तस्माद्धर्माधर्मा-व्यवगाढौ व्याप्य लोकक सर्वम् ।

एव हि परिच्छिन्नः, सिद्ध्यति लोकस्तद्विभुत्वात् ॥ २ ॥

नन एव लोकालोकव्यवस्थादेत् धर्माधर्मास्तिकायावित्यनयोरादाहुपादानम् । तत्रापि माङ्गलिकत्वात् प्रथमतो धर्मास्तिकायस्य, तत्प्रतिपक्षत्वात्ततोऽधर्मास्तिकायस्य, ततो लोकालोकव्यापिन्यादाकाशास्तिकायस्य, तदनन्तरं लोके समयासमयक्षेत्रत्रयस्याकाशत्वादाकाशसमयस्य । एवमागमानुसारेणान्यदपि शु-

क्त्यनुपाति वक्तव्यमित्यहं प्रसङ्गेन । प्रकृतोपसहारमाह- (सैष्ठ अरुविअजीवपञ्चवणा) सैष्ठा अरुप्यजीवप्रज्ञापना । पुनराह विनेय- (से किंतमित्यादि) अथ का सा रूप्यजीवप्रज्ञापना ?। सूरि-राह-रूप्यजीवप्रज्ञापना चतुर्विधा प्रज्ञता । तद्यथा-स्कन्धाः-स्कन्धन्ति श्रुप्यन्ति, धीयन्ते च श्रुप्यन्ते पुद्गलानां विचटनेन चटनेन वेति स्कन्धाः । पृषोदरादित्वाद् रूपनिष्पत्तिः । अत्र बहुधा वचनं पुद्गलस्कन्धानामानन्त्यव्यापनार्थम् । नचानन्त्यमनुपपन्नम्, आगमेऽभिधानात् । तथा चाजीवशब्दे उक्तम्-“ द्रव्यतो ए पुमावत्थिकाएणता द्रव्या ” इत्यादि । स्कन्धदेशाः स्कन्धानामेव स्कन्धत्वपरिणाममजहन्तो बुद्धिपरिकल्पिता ह्यादिप्रदेशात्मका विभागाः । अत्रापि बहुवचनमनन्वप्रदेशिकेषु तथाविधेषु स्कन्धेषु प्रदेशानन्तत्वसम्भावनार्थम् । स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरिणतानां बुद्धिपरिकल्पिताः प्रकृष्टा देशा निर्विभागा प्रागाः, परमाणव इत्यर्थः, स्कन्धप्रदेशाः । अत्रापि बहुवचनं प्रदेशानन्तत्वसम्भावनार्थम् । (परमाणुपुद्गला इति) परमाण्वेते अणवश्च परमाण्वौ निर्विभागरूप्यरूपाः, ते च ते पुद्गलाश्च परमाणुपुद्गलाः स्कन्धत्वपरिणामरहिताः केवलाः परमाणव इत्यर्थः । (ते समासओ इत्यादि) ते स्कन्धादयो यथासम्भव समासतः सङ्क्षेपेण पञ्चविधाः प्रज्ञताः । तद्यथा-वर्णपरिणता वर्णतः परिणता, वर्णभाज इत्यर्थः । एव गन्धपरिणता, रसपरिणता, स्पर्शपरिणताः, सस्थानपरिणताः । परिणता इत्यतीतकाक्षनिर्देशो वर्तमानानागतकालोपलक्षणम् । वर्तमानानागतत्वमन्तरेणातीतत्वस्यासम्भवात् । तथाहि-यो वर्तमानत्वमतिक्रान्तः सोऽतीतो भवति । वर्तमानत्व च सोऽनुजवति योऽनागतत्वमतिक्रान्तवान् । उक्तञ्च-“ भवति स नामातीतो, यः प्राप्तो नाम वर्तमानत्वम् । एष्यश्च नाम स भवति, यः प्राप्यति वर्तमानत्वम् ” ॥ १ ॥ ततो वर्णपरिणता इति वर्णरूपतया परिणताः परिणमन्तीति परिणमिष्यन्तीति वा द्रष्टव्यम् । एवं गन्धरसपरिणता इत्याद्यपि परिभाषनीयम् । प्रज्ञा० १ पद ।

अजीवपरिणाम-अजीवपरिणाम-पु० । ६ त० । पुद्गलानां परिणामे, “ दसविहे अजीवपरिणामे पणवणे । तं जहा-भधणपरिणामे, गद्यपरिणामे, ठाणपरिणामे, जेदवन्नरसपरिणामे, गंधपरिणामे, फासपरिणामे, अगक्यलहुयसहपरिणामे ” । (बन्धनपरिणामादीनां व्याख्याऽन्यत्र) स्या० १० ठा० ।

अजीवपाठसिया-अजीवप्राद्वेपिकी-स्त्री० । अजीवे पाषाणादौ स्खलितस्य प्रद्वेषादजीवप्राद्वेपिकी । स्या० १ ठा० १ उ० । अजीवस्योपरि प्रद्वेषाद्याः क्रियाः, प्रद्वेषकरणमेव वा । प्राद्वेपिक्याः क्रियाया भेदे, म० ३ श० ३ उ० ।

अजीवपामुचिया-अजीवप्रातीतिकी-स्त्री० । अजीवं प्रतिय यो रागद्वेषोद्भवस्तज्जा यो बन्धः सा अजीवप्रातीतिकी । प्रातीतिक्याः क्रियाया भेदे, स्या० २ ठा० १ उ० ।

अजीवपुट्टिया-अजीवपृष्ठिका (जा) (स्पृष्टिका) -स्त्री० । अजीव रागद्वेषाज्या पृच्छतः स्पृशतो वा क्रियात्मके, पृष्ठिका (जा) (स्पृष्टिका) याः क्रियाया भेदे, स्या० २ ठा० १ उ० ।

अजीवभिरिसिया-अजीवभिरिता-स्त्री० । सत्यमृपाज्जदे, यदा यदा प्रभूतेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवन्तु एकत्र राशीकृतेषु शङ्कादिषु एव वदति-अहो ! महानय मृतोऽजीवराशिरिति तदा सा अजीवभिरिता, अस्या अपि सत्यमृपात्वम्, मृतेषु सत्यत्वात्, जीवन्तु मृपात्वात् । प्रज्ञा० ११ पद ।

अजीवरासि-अजीवराशि-पु० । राशिभेदे, स० ।

अजीवरासी दुविहा पञ्चत्ता । तं जहा-रुवी अजीवरासी,
अरुवी अजीवरासी य । से किंतं अरुवी अजीवरामी ?
अरुवी अजीवरामी दसविहा पञ्चत्ता । धम्मत्थिकाए० जाव
अप्पासमए । रुवी अजीवरासी अणेगविहा ।

तत्राजीवराशिद्विविधः, रूप्यरूपिमेवान् । तत्रारूप्यजीवरा-
शिर्दशधा-धर्मास्तिकायस्तद्देशस्तत्प्रदेशश्चेति । एवमधर्मास्ति-
कायाकाशास्तिकायावपि वाच्यौ । एव नव । दशमोऽङ्कासमय
इति । रूप्यजीवराशिश्चतुर्धा-स्कन्धा, देशा, प्रदेशा, परमाणव-
श्चेति । ते च वर्णगन्धरसस्पर्शसस्थानभेदतः पञ्चविधाः । स-
योगतोऽनेकविधा इति । स० ।

अजीवविजय-अजीवविचय-पु० न० । धर्माऽधर्माकाशका-
लपुञ्जलानामनन्तपर्यायात्मकानामजीवानामनुचिन्तने, स-
म्भ० ४ ख० ।

अजीववेयारणिया-अजीववैदारणिका-अजीववैक्रयणिका-
अजीववैचारणिका-अजीववैतारणिका-स्त्री० । अजीव वि-
दारयति स्फोटयति, अजीवमसमानभागेषु विक्रीणाति, द्वैभा-
षिको विचारयति, पुरुषादिविप्रतारणबुद्ध्याऽजीव भणत्येता-
दृशमेतदिति यत्सा तथा । अजीववैदा- (वैक्रय-) (वैचा-)
(वैता-) रणिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवसामंतोवणिवाया-अजीवसामन्तोपनिपातिकी-स्त्री० ।
कस्यापि रथो रूपवानस्ति, त च जनो यथा यथा प्रलोकयति
प्रशसति च, तथा तथा तत्त्वामी हृष्यतीति । रथादौ हृष्यत-
क्रियात्मके सामन्तोपनिपातिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २
ठा० १ उ० ।

अजीवसाहस्यिया-अजीवस्वाहस्तिका-स्त्री० । स्वहस्तगृही-
तेनैवाजीवेन खड्गादिनाऽजीव मारयति सा अजीवस्वाह-
स्तिकी, स्वहस्तेनाजीव ताडयतोऽजीवस्वाहस्तिका । स्वाह-
स्तिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवापञ्चक्वणकिरिया-अजीवाप्रत्याख्यानाक्रिया-स्त्री० ।
अजीवेषु मद्यादिषु अप्रत्याख्यानात्कर्मबन्धनरूपेऽप्रत्याख्या-
नक्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवाभिगम-अजीवाभिगम-पु० । ६त० । गुणप्रत्ययावध्या-
दिप्रत्यक्षतः पुञ्जलास्तिकायाभिगमे, स्था० ३ ठा० २ उ० । "से
किंतं अजीवाभिगमे ? अजीवाभिगमे दुविहे पञ्चत्ते । तजहा-
रुविअजीवाभिगमेय, अरुविअजीवाभिगमेय । से किंतं अरु-
विअजीवाभिगमे ? अरुविअजीवाभिगमे दसविहे पञ्चत्ते । त
जहा-धम्मत्थिकाए एव जहा पञ्चवणाए जाव । सेत्त अरुवि-
अजीवाभिगमे० " । जी० १ प्रति० ।

अजीवुम्भव-अजीवोद्भव-त्रि० । अजीवप्रभवे, दश० १ अ० ।

अजु-अयु-त्रि० । युक् मिश्रणे इत्यय परैरमिश्रणे चेत्यर्थेऽभिधी-
यते । अतो यौति पृथग्भवति इति यु-विचि, छान्दसत्वाद्
गुणाभावः । न युरयु । अपृथग्भूते, " धियोऽयो न प्रचोद-
यात् " जैनगायत्री ।

अजुअलवप्पा-देशी-अम्लिकावृक्षे, दे० ना० १ वर्ग ।

अजुअलवप्पो-देशी-सप्तच्छदवृक्षविशेषे, दे० ना० १ वर्ग ।

अजुओ-देशी-सप्तच्छदवृक्षविशेषे, दे० ना० १ वर्ग ।

अजुगद्धिअ-अयुगद्धित-त्रि० । असमश्रेणिस्थे, "अजुगलिआ,
अतुरंता, विगहरहिआ वयति पढम तु " ध० ५ अधि० ।
प० व० । ओ० ।

अजुष्पदेव-अजीर्णदेव-पु० । अत्राबुद्दीनाऽऽगमनसमयात्प्रा-
ग्भाविनि जैननरेन्द्रभेदे, ती० २७ कल्प० ।

अजुत्त-अयुत्त-त्रि० । युज-क्त । न० त० । विषयान्तरासक्त-
या कर्तव्येष्वनयहिते, अनुचिते, आपन्नते, असयुक्ते, " अयुक्तः
प्राक्तः स्तब्धः " अयुक्तोऽनवहित । अयोग्ये, बहिर्मुखे, युक्ति-
शून्ये, अनियोजिते च । वाच० । बुरुथा चिन्त्यमाने अनुपपत्ति-
क्रमे सूत्रदोषविशेषद्वये, न० । यथा- " तेषां कटतटस्रष्टैर्गजानां
मदविन्दुभिः । प्रावर्त्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी " ॥१॥
इत्यादि । विशेष० । आ० म० द्वि० । अनु० । वृ० ।

अजुत्तरुव-अयुक्तरूप-त्रि० । न० व० । असगतरूपे, अनुचित-
वेषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अजूरण्या-अजीर्णता-(अजरण्या)-स्त्री० । शरीरजीर्णत्वाऽ-
विधाने, पा० । ध० । शरीरापचयकारिणोकानुत्पादने, " व-
ह्ण पाणाण जाव सत्ताण अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूर-
ण्याए " । म० ७ हा० ६ उ० ।

अजोग-अयोग-पु० । न० त० । शैलेशीकरणे, सकलयोगचापल्य-
रहिते योगे च । " प्रीतिजक्रियचोसङ्गैः, स्थानाद्यपि त्रुतिर्विधम् ।
तस्मादयोगयोगासेर्मोक्षयोग क्रमाद् भवेत् " ॥१॥ अष्ट० २५ अष्ट० ।
" तत्रायोगाद्योगमुख्याद्, भवोपग्राहिकर्मणाम् । कृत्य कृत्वा प्र-
यात्युच्चैः, परमानन्दमन्दिरम् " ॥१॥ द्वा० २५ द्वा० "अतस्त्वयोगो
योगानां, योग पर उदाहृतः । मोक्षयोजनज्ञावेन, कर्मसन्त्यास-
वक्त्रण " ॥१॥ ल० । अव्यापारे, द्वा० ३५ द्वा० । असम्भवे च । द्वा०
१० द्वा० । अप्राशस्त्ये, न० त० । ज्योतिषोक्ते तिथिवारादीनां
द्वये योगे, " अयोग सिद्धियोगश्च, द्वैतौ भवतो यदि । अ-
योगो हन्यते तत्र, सिद्धियोग प्रवर्त्तते " ॥१॥ राजमार्तएरु । न०
व० । विधुरे, कूटे, कठिनोदये, सुश्रुतोक्ते वमनापशमनीये रोग-
ज्जेदे च । यत्राभ्मान हृदयग्रहस्तृष्णा मूर्च्छा दाहश्च भवति तमयो-
गमित्याचकृते, तमाशु वमयेदिति । वाच० ।

अजोगया-अयोगता-स्त्री० । योगनिरोधोत्तर शैलेशीकरणात्प्रा-
ग्वर्तमानायामवस्थायाम्, औ० " योगनिरोहं करेह, करेज्जता
अजोगत्त पाउण्ड, अजोगत्त पाउणिता इस्सि रहस्स० " औ० ।
अजोगरुव-अयोगरूप-त्रि० । ६ व० । अघटमानके, " अजोग-
रुव इह सजयाण, पाव तु पाणाण य सभक्काउ " सूत्र० २
श्रु० ६ अ० ।

अजोगि (ण)-अयोगिन्-पु० । न सन्ति योगा यस्य । स्था० २
ठा० १ उ० । बहुव्रीहेर्मत्वर्थीय इति । यथा-सर्वधनी । सर्वध-
नादेराकृतिगणत्वात् । दर्श० । न योगीति वा योऽसावयो-
गी । स्था० २ ठा० १ उ० । निरुद्धयोगे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।
शैलेश्यवस्थायाम् सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । आच० । कर्म० । कथमयो-
गित्वमसावुपगच्छतीति चेत् ? उच्यते-स भगवान् सयो-
गिकेवही जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुकृष्टतो देशानां पूर्वकोटि विहृत्य
कश्चित्कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनी-
यादिकमायुष सकाशादधिकतर भवति, अन्यस्तु न करोति ।
(' कैवलिसमुग्धाय ' शब्दे चैतद् वक्ष्यामः) भवोपग्राहिकर्म-
क्षण्याय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकल्प परमनिर्जराकारण ध्यानं

प्रतिपित्तुर्योगनिरोधार्थमुपक्रमते । तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो वाग्योगम् । ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोग, तेनैव सूक्ष्ममनोयोग सूक्ष्मवाग्योगं च । सूक्ष्मकाययोग तु सूक्ष्मक्रियमनिवर्ति शुक्लध्यान ध्यायन् स्वावष्टम्भेनैव निरुणद्धि, अन्यस्यावष्टम्भनीयस्य योगान्तरस्य तदाऽऽसत्त्वात् । तदध्यानसामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरणेन सकुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । तदनन्तर समुत्सन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यान ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्विगणमात्रकाल शैलेशीकरण प्रविशति । कर्म० २ कर्म० ।

अजोगिकेवलि (ए)-अयोगिकेवलि-पुं० । अयोगी चाऽसौ केवली च अयोगिकेवली । निरुद्धमनःप्रभृतियोगे शैलेशीगते, स० १४ सम० । विगतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान ध्यातवांश्चायोगिकेवली नि शेषितमलकलङ्कोऽवाप्तशुद्धनिजस्वभाव ऊर्ध्वगतिपरिणामः । स्वाभाव्याभिवातप्रदेशप्रदीप्तशिखावदूर्ध्वगच्छत्येकसमयेनाऽऽलोकान्तात् । सम्म० ५ ख० । कर्म० । अयं च शैलेशीकरण चरमसमयानन्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मबन्धनत्वाद्दृष्टिकालेपि लिप्ताधोनिमग्नक्रमापनीतमृत्तिकालेप-जलतलमर्यादोर्ध्वगामि तथाविधाऽलावुवदूर्ध्वलोकान्ते गच्छति, नापरतोऽपि, मत्स्यस्य जलकल्प गत्युपष्टम्भकधर्मास्तिकायाभावात् । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत् स्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तावदेव प्रदेशादूर्ध्वमवगाहमानो विवक्षितसमयाच्च समयान्तरमस्पृशन् गच्छति । तदुक्तमावश्यकचूर्णौ-“जत्ति ए जीवो अवगाढो तावद्याप ओगाहणाए उहु उज्जुग गच्छइ न वक वीय च समय न फुसइ चि” । दु पमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपप्रतिमाः श्रीजिनभद्रगणिपूज्या अप्याहु-“उज्जुसेढीपडिवसो, समये समयतर अफुसमाणो । एगसमयेण सिज्झइ, अह सागारोवउत्तो सो” ॥ १॥ कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

अजोगिकेवलिगुणगण-अयोगिकेवलिगुणस्थान-न० । ६८० । चतुर्दशे गुणस्थाने, कर्म० १ कर्म० । न योगी अयोगी, अयोगी चासौ केवली च अयोगिकेवली । तस्य गुणस्थानमयोगिकेलिगुणस्थानम्, तस्मिन् वर्तमानः कर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमनिवृत्ति ध्यानमारोहति । आह च-“स ततो देहत्रयमोक्षार्थमनिवृत्तसर्ववस्तुगतम् । उपयाति समुच्छिन्नक्रियमतमस्क पर ध्यानम् । १। एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्वयेणानुभवन् क्षपयति । यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न सम्भवन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिवुकसक्रमेण सक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया वा वेद्यमानस्तावद् याति यावदयोग्यवस्थाद्विकचरमसमयः, तस्मिन्श्च द्विचरमसमये देवगतिदेवानुपूर्वाशरीरपञ्चकबन्धनपञ्चकसघातपञ्चकसस्थानपद्माङ्गोपाङ्गत्रयसहननषट्कर्णादिविशतिपराघातोपघातागुरुव्यूहसप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिष्ठिरास्थिरबुजाबुभसुस्वरदु स्वरदुर्भगप्रत्येकानादेयायशः कीर्तिनिर्माणपर्याप्तकनीचैर्गोत्रसातासातान्यतरानुदितवेदनस्वरूपाणि द्विसप्ततिसंख्यानि स्वरूपसत्तामधिकृत्य क्रियमुपगच्छन्ति । चरमसमये स्तिवुकसक्रमेणोदयवर्तीषु प्रकृतिषु मध्ये सक्रम्यमाणत्वात् । सक्रमश्च सर्वोऽप्युक्तस्वरूपो मूलप्रकृत्यभिन्नासु परप्रकृतिषु दृश्यः । “मूलप्रकृत्यभिन्ना, संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः” इति वचनात् । चरमसमये च सातासातान्यतरवेदनीयमनु-

प्यगतिमनुप्यानुपूर्वमनुप्यायुःपञ्चेन्द्रियजातित्रससुप्रगादेय-शःकीर्तिपर्याप्तबादरतीर्थकरोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः । अन्ये पुनराहुः-मनुप्यानुपूर्व्या द्विचरमसमये व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिवुकसक्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्वीनाम्नां तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकतया प्रधापान्तरावगाताधेवोदयः, तेन भवस्थस्य तदुदयसम्भवः, तदसंजवाच्यायोग्यावस्था द्विचरमसमये एव, मनुप्यानुपूर्व्या सत्ताव्यवच्छेदः इति तन्मतेन द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः, चरमसमये द्वादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्पन्नजावविशेषादेरएकफलमिव भगवानपि कर्मसबन्धनिर्मोक्षलक्षणसहकारिसमुत्पन्नभावाविशेषादूर्ध्वं लोकान्ते गच्छति । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तावदेव प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत्समयान्तरमस्पृशन् गच्छति । उक्तं चाऽऽवश्यकचूर्णौ-“जत्ति ए जीवो अवगाढो तावद्याप ओगाहणाए उहु उज्जुग गच्छइ, न वक वीय च समय न फुसइ चि” तत्र च गतः सन् भगवान् शाश्वत कालमवतिष्ठते । प० स० १ द्वा० ।

अजोगिजवत्थ-अयोगिजवत्थ-पुं० । अयोगी चासौ भवस्थश्चायोगिभवस्थः । शैलेइयवस्थामुपगते, न० ।

अजोगिजवत्थकेवलणाण-अयोगिजवत्थकेवलज्ञान-न० । ६८० । शैलेशीकरणव्यवस्थितस्य केवलज्ञाने, न० । (‘केवलणाण’ शब्दे व्याख्याऽस्य दृष्ट्या)

अजोगिसंतिगा-अयोगिसत्ताका-स्त्री० । अयोगिकेवलिनि सत्ता यासां ता अयोगिसत्ताका । चतुर्दशगुणस्थानिनि लब्धसत्ताकासु प्रकृतिषु, प० स० १ द्वा० ।

अजोग-अयोग्य-त्रि० । अनुचिते, पञ्चा० १० वि० ।

अजोगिजय-अयोगिजय-न० । विष्वस्तयोनी प्ररोहासमर्थे, दश० ।

अजोगिय-अयोगिक-पुं० । न० ब० । सिक्के, स्था० २३० १ उ० ।

अजोसिय-अजुष्ट-त्रि० । असेविते, “जे विष्ववणा अजोसिया” सूत्र० १ भ० २ अ० १ उ० ।

अज-अर्ज-धा० प्रतियक्षे । श्वादि०, पर०, सक०, सेट् “अर्जे-विट्” ८ । ४ । १०८ । इति प्राकृतसूत्रेण विट्वादेशाजवे, अज्झइ, अर्जति । आनर्ज । आर्जीत् । प्रा० । अज्जिज्झइ, अर्ज्यते । प्रा० । अर्जं सस्कारे, चुरा०, उज्ज०, सक०, सेट् । अर्जयति-ते । आर्जिजत्-त् । “अनुपपन्नं पितृव्यं, भ्रमेण यदुपा-र्जयेत्” स्मृतिः । वाच० ।

अर्हु-त्रि० । न० त० । “हो अः” ८ । २ । ८३ । इति असोपे द्वित्वं जस्य । ज्ञानराहिते मूर्खे, प्रा० ।

अज-अव्य० । अस्मिन्नहनि इदंशब्दस्य निपात सप्तम्यर्थे ।

उत्त० ३ अ० । सूत्र० । वर्तमानदिने, नि० चू० एउ० । “अजो । अज्जम्ह सफलं जीअ” प्रा० । अद्यतया वाऽधुनातनतया वर्तमानकाल इत्यर्थः । म० १४ श० ए उ० । वैजारपर्वतस्याऽधस्थे हृदे, पुं० । म० २ श० ५ उ० ।

अज-न० । अप्सु जायते । जन-र० । ७ त० । पद्मे, सङ्गे, पुं० न० ।

निचुलवृक्षे, तस्य जलप्रायप्रवृत्तात् तथात्वम् । चन्द्रे, घन्वन्तरौ च (पुं०) तयोः समुद्रजातत्वात् तथात्वम् । चन्द्रनामके कर्पूरे, पुं० । जलजातमात्रे, (त्रि०) वाच० । दशार्बुदसंख्यायां, शतकोटिसंख्यायां, तत्संख्येये च (न०,) कल्प० ।

आर्य-त्रि० । आ-यत् । “आर्यः स्वामिवैश्ययो” ३। १। १०३। इति पाणिनिसूत्रात् स्वामिनि वैश्ये च वाच्ये एततोऽपवादो यत् । स्वामिनि, म० ३ श० २ उ० ।

आर्य-त्रि० । आरात् सर्वदेयधर्मेभ्यो यातः प्राप्तो गुणैरित्यर्थः । प्रज्ञा० १ पद । नं० । आव० । पापकर्मबहिर्भूतत्वेनापापे, स्था० ४ ग० २ उ० । नं० । साधौ, कल्प० । वृ० । “अणायरियप्रज्ञाणं, आस-इत्तु सइत्तु वा” दश० ६ अ० । चारित्रादे, आचा० १ शु० ५ अ० २ उ० । आर्यकर्मकारिणि अजुगुप्सितकारिणि, व्य० १ उ० । मुजने, वृ० १ उ० । आमन्त्रणे आर्यशब्दप्रयोगः “अज्जो” सामादय जाणा-मो” हे आर्य्य !, ओकारान्तता सम्बोधने प्राकृतत्वात् । म० १ श० ६ उ० । “एस ए अज्जो कएदे वासुदेवे” अज्जो ति आमन्त्रणवचनम् । भगवान् महावीरः किं साधूनामन्त्रयति-हे आर्य्य ! । स्था० ६ ग० । “अज्जो ति समणे जगव महावीरे गोयमाइसमणे णिगगये आमतित्ता एव वयासो” । स्था० ३ ग० २ उ० । मातामहे, नि० । पितामहे, ज्ञा० = अ० । गोत्रप्रवर्तके ऋषिभेदे, पुं० । यद्गोत्रे जीतधर, “अदे सकिञ्च अञ्जजीयधरं” शाण्डिल्यस्यापि शिष्य आर्यगोत्रो जीतधरना मा सूरिरासीत् । नं० ।

अञ्जसिवाक्षि-आर्यर्षिपालित-पुं० स्त्री० । आर्यशान्तिश्रेणि-कस्य मातरसगोत्रस्य चतुर्येयथापत्ये अन्तेवासिनि, कल्प० । आर्यर्षिपालिताभिः सृतायां शाखायाम्, स्त्री० । “थेरेहिं तो अज्जसिवाक्षिपहिं तो इत्थ ण अज्जसिवाक्षिया सादा णिगया” । कल्प० ।

अञ्जउत्त-आर्यपुत्र-पुं० । ६ त० । अपापकर्मवतोर्मातापित्रोः पुत्रे, स्था० = ग० ।

अञ्जओ-देशी-सुरसगुरेदयोस्तृणनेदयोः, दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जकाह-आर्यकृष्ण-पुं० । दिग्गम्बरमतप्रवर्तकस्य शिवचूतेर्गुरौ, आ० म० द्वि० । उक्त० । विशेष० । आ० चू० । (‘बोक्षिय’ शब्दे किञ्चित् विशेष बह्याम्)

अञ्जकम्म-आर्यकर्मन्-न० । आर्य देयधर्मेभ्यो नृशंसतादिभ्यो दूरयात कर्मे । शिष्टज्जनोचिते अनुष्ठाने, “जइ तसि मोप चरुं असतो अज्जाइ कम्माइ करेह राय” उक्त० १३ अ० ।

अञ्जकालग-आर्यकालक-पुं० । स्वातिशिष्ये हारीतगोत्रे इयामार्यापरनामके आचार्य्ये, न० । (‘सम्मवाय’ शब्देऽस्य तत्कारित्वं दृष्टव्यम्) आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अञ्जखड्ग-आर्यखपट-पुं० । विद्यासिद्धे आचार्यभेदे, आ० म० द्वि० । आ० चू० । (‘विज्जासिद्ध’ शब्देऽस्य वक्तव्यता)

अञ्जग-आर्यक-पुं० । पितामहे, व्य० १ उ० । ज्ञा० । आ० म० प्र० । “अज्जए पज्जए वा वि वप्पचुल्ल पिउ सिय । माउला माइणिजे सि पुत्तो नत्त पस्सिय” ॥ १ ॥ दश० ७ अ० । “अज्जयपज्जयपिउपज्जयागए य बहुहिरण्णे य सुवण्णे य” म० ६ श० ३३ उ० ।

आद्यक-पुं० भूतृणे, नि० चू० ११ उ० ।

अञ्जगंग-आर्यगङ्ग-पुं० । द्वैकियनिवृत्तमतप्रवर्तके निहवाऽऽचार्य भेदे, “उल्लुकातीरक्षेत्रे महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम । अस्यापि शिष्य आर्यगङ्गो नामाऽऽचार्यः । अयं च नद्याः पूर्वतटे, तदाऽऽचार्यास्त्वपरतटे । ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गानदीमुत्तरति स्म । स च खल्वाटः । ततस्तस्योपरिष्ठादुष्णेन दह्यते स्म खल्ली, अधस्तात् नद्याः शीतलजलेन शैत्यमुत्पद्यते स्म । ततोऽग्रान्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोदयादसौ चिन्तितवान्-अहो ! सिद्धान्ते युगपत्क्रियाद्वयानुभवः किल निषिद्धः । अहं त्वेकस्मिन्नेव समये शैत्यमौष्ण्य च वे-शि । अतोऽनुजवविरुद्धत्वाज्ज्ञेदमागमोक्तं शोभनमाभातीति वि-चिन्त्य गुरुभ्यो निवेदयामास । ततस्तैर्वेद्यमाणयुक्तिभिः प्रज्ञा-पितोऽसौ यदा स्वाग्रहप्रस्तबुद्धित्वान्न किञ्चित्प्रातिपद्यते स्म, तदा उद्घाट्य बाह्यः कृत । स विहरन् राजगृहनगरमागतः । तत्र च महातपस्तीरप्रभवनाम्नि प्रस्त्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य चैत्यमस्ति । तत्समीपे च स्थितो गङ्गः पर्वतपुरःसरं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयति स्म । तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनागस्तम्बादीन्-अरे दुष्ट शिष्यक ! किमेव प्रज्ञापयसि, यतोऽत्रैव प्रदेशे समवसृतेन श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिना एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियायां वेदनं प्ररूपितम्, तच्चेह स्थितेन मयाऽपि श्रुतम् । तर्हि ततोऽपि लंघनं प्ररूपको भवान् येनैवं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयति ? तत्परित्यज्जैनं कूटप्ररूपणाम्, अन्यथा नाशयिष्यामीत्यादि । न तत्र प्रथवाक्यैर्युक्तिवचनैश्च प्रबुद्धोऽसौ मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा गुरुमूलं गत्वा प्रतिक्रान्त इति । अत्र प्राप्यम्-“न इमुल्लगमुत्तरओ, सपरसीय जलमज्जगगस्स । सुराजितत्तसिरसो, उ-सिणवेयणोभयउ लग्गो ॥ १ ॥ (अ) यमसम्माहो जुगव, उअयकिरि-याय उवओगो ति । जइ वि समयमेव य, सीओसिणवेयणाओ मे” ॥ २ ॥ गतार्थेव । विशेष० । (‘दोकिरिय’ शब्दे पतन्मतम्)

अञ्जघोस-आर्यघोष-पुं० । पार्श्वनाथस्य द्वितीये गणधरे, स्था० = ग० । कल्प० ।

अञ्जचंदणा-आर्यचन्दना-स्त्री० । भगवतो महावीरस्य प्रथम-शिष्यायाम्, कल्प० । आ० चू० । आ० म० प्र० । अन्त० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्—

“ इतश्च नगरी चम्पा नरेन्द्रो दधिवाहनः ।

तामादातु शतानीको, नौसैन्येन स्म गच्छति ॥ २४ ॥

निशैक्या गतश्चम्पा-मवेष्टयदचिन्तिताम् ।

चम्पापति पलायिष्ठ, तदानीं दधिवाहनः ॥ २५ ॥

यद्ग्राहो घोपितस्तत्र, शतानीकमहीभुजा ।

तदनीकमदाश्चम्पां, स्वेच्छया मुमुक्षुस्ततः ॥ २६ ॥

औष्ट्रिकः कोऽपि जग्राह, दधिवाहनवल्गुनाम् ।

वसुमत्या समं पुज्या, नश्यन्तीं धारिणीं तदा ॥ २७ ॥

कृतकृत्यः शतानीको, निजं नगरमागमत ।

औष्ट्रिकोऽप्याह शोकानां, पत्न्येषा मे भविष्यति ॥ २८ ॥

विकल्पे कन्यकां चैतां, राक्षीं श्रुत्वेति दुःखिना ।

मृता इदयसघट्टात्, स्वशीलप्रशशङ्कया ॥ २९ ॥

दधिवानौष्ट्रिकोऽथा-न्तर्युक्तं नोक्तमिदं मया ।

सुताऽथ रुदती तेन, नीता स बोध्य चाटुभिः ॥ ३० ॥

वसुमत्याऽथ विक्रेतु, दत्त्वा सूर्तिं तृणं धृताम् ।

कन्यामनन्यसामान्यां, हृष्टा श्रेष्ठी धनावहः ॥ ३१ ॥

दधौ राक्षसुना कस्या-पीश्वरस्यायवा जवेत् ।

तन्माऽऽपदापदमसौ, कापि हीनकुल गता ॥ ३२ ॥
 बाक्ष्यं स्वजनैर्जातु, मिलेदस्मद्गृहे स्थिता ।
 पत्यर्थितमथ छव्य, दत्त्वा तामग्रहीकृतः ॥ ३३ ॥
 नीत्वा सा स्वगृहं पृष्टा, कन्ये ! काऽसीति नावदत् ।
 सुतेत्यथ प्रपन्ना सा, श्रेष्ठिना मूलयाऽपि च ॥ ३४ ॥
 चिखेत्त स्वेच्छया श्रेष्ठि-गेहे स्वे वेष्टमनीव सा ।
 सुवाग्धिनयशीलाद्यै-र्गृहलोको वशीकृतः ॥ ३५ ॥
 स लोकस्तां ततोऽवादीत्, तैर्गुणैश्चन्दनेत्यसौ ।
 ततो द्वितीयमवैत-न्नामाऽनूद्विष्वविश्रुतम् ॥ ३६ ॥
 ग्रीष्मेऽन्यदा मध्यमाहे, श्रेष्ठि मन्दिरमागमत् ।
 कोऽप्यङ्घ्रिकाक्षको नासीत्, तदाऽदौकिष्ट चन्दना ॥ ३७ ॥
 श्रेष्ठिना वार्यमाणाऽपि, वज्रादक्वालयत् पदौ ।
 क्वालयन्त्यास्तदा तस्याः, वृद्धिता केशवल्लरी ॥ ३८ ॥
 पतन्ती पाणियष्टपैव, धृत्वा श्रेष्ठि वयन्ध ताम् ।
 सार्द्धायां मा पतेद् भूमौ, मूलैकत गवाक्षगा ॥ ३९ ॥
 अचिन्तयत्ततो मूला, मया कार्यं विनाशितम् ।
 यद्येतामुद्वहेत् श्रेष्ठि, तदाऽह पतिता बहिः ॥ ४० ॥
 व्याधिर्यावत्सुकुमार-स्तावदेनं तिनप्रघटम् ।
 गते श्रेष्ठिन्यथाऽऽहूय, नापित ताममुद्वहत् ॥ ४१ ॥
 निगमैर्यन्त्रयित्वाऽऽङ्घ्री, किंसा कापि गृहान्तरे ।
 श्रेष्ठिनोऽवारि कथयन्, सर्वं परिजनोऽनया ॥ ४२ ॥
 मूला मूलगृहे ऽयासीद्, भोक्तुं श्रेष्ठि गृहाऽऽगतः ।
 एव चन्दनेति पप्रच्छ, मूलासीतौ न कोऽप्यवक् ॥ ४३ ॥
 सोऽङ्गासीरुममाणा सा, भविष्यत्यथवोपरि ।
 पृष्टा निश्चयपि नाऽऽख्याता, ज्ञात सुप्ता भविष्यति ॥ ४४ ॥
 द्वितीयेऽप्यङ्घ्रि नादर्शि, तृतीयेऽप्यनवेक्ष्य ताम् ।
 ऊचे श्रेष्ठि न यो जानन्ताख्याता स हनिष्यते ॥ ४५ ॥
 ततः स्थविरया दास्यै-कया मज्जीवितेन सा ।
 जीवत्वित्याचक्षेऽस्य, चन्दनाचारकक्रियाम् ॥ ४६ ॥
 दृष्ट्वा तावक भङ्गत्वा, तद्द्वारमुदघाटयत् ।
 क्षुत्तृषार्त्ता निरीक्ष्यैता-माश्वास्याथ धनावहः ॥ ४७ ॥
 पश्यन्, भोज्यं कृते तस्याः, नापश्यत् किंचनापि सः ।
 कुलमाषान् वीक्ष्य दत्त्वाऽऽस्यै, सूर्यकोणे निधाय तान् ॥ ४८ ॥
 निगडानां भञ्जनाया-ऽगात्कर्मारगृहे स्वयम् ।
 तदा सा कुलमस्मार्षाद्, दुःखपूरेण दुःखिता ॥ ४९ ॥
 क मे राजकुल तादृग्, दुर्दशा केयमीदृशी ? ।
 किं मया प्राक् कृतं कर्म, विपाकोऽयं यतोऽभवत् ? ॥ ५० ॥
 स्वाकसि घ्रासनस्यापि, तपसः पारणादिने ।
 सार्धमिकाणां घात्सल्य, कृत्वा पारणक व्यधाम् ॥ ५१ ॥
 कस्याप्यदत्त्वा किमपि, षष्ठ पारणके कथम् ? ।
 अश्रामीत्यतिथेर्मागे, पश्यन्त्याऽऽस्तेऽस्ति सा न तु ॥ ५२ ॥
 मध्येऽह्निमेक देहल्याः, बहिष्कृत्वा द्वितीयकम् ।
 द्वारशाखाविलग्नाऽऽस्ते, रुदती मन्दमुन्मनाः ॥ ५३ ॥
 तदाऽगाद्गवान् वीरो, भिक्षार्थं तमवेक्ष्य सा ।
 अहो ! पात्र मया प्राप्त, किञ्चित्पुण्यं ममास्त्यपि ॥ ५४ ॥
 नोचितं वः प्रभो ! देय, परं कृत्वा कृपां मयि ।
 कल्पते चेदाददीध्व, ज्ञात्वाऽथावधिना प्रभुः ॥ ५५ ॥
 पूर्णोऽद्याभिग्रह इति, पाणिपात्रमधारयत् ।
 कुलमाषांस्तान् ददौ सर्वान्, धन्य मत्वाऽतिमङ्गितः ॥ ५६ ॥
 सार्द्धद्वादशकोट्यस्तु, पतन्स्वर्णस्य तद्गृहे ।

चेनोत्क्षेपः पुष्पगन्ध-वृष्टयो दुन्दुभिध्वनिः ॥ ५७ ॥
 केशपाशस्तथैवाभू-भ्रिगडानि च पादयोः ।
 स्वर्णनूपुरतां भेजु-र्वपु कान्तिर्नवाऽभवत् ॥ ५८ ॥
 तत्क्षणाच्चन्दना चक्रे, सुरैः सर्वाङ्गभूषिता ।
 आययौ देवराद् शक्रः, प्रमोदभरनिर्भरः ॥ ५९ ॥
 दुन्दुभिध्वनिमाकर्ण्य, ज्ञात्वा पारणक प्रभोः ।
 शतानीकः सपत्नीको-ऽप्यागमन्दनवेश्मनि ॥ ६० ॥
 धात्र्यानीतः सपुलोऽभूद्, दधिवाहनकञ्चुकी ।
 सोऽप्यागात् तत्र तां वीक्ष्य, तदङ्गुष्ठोः प्रणिपत्य च ॥ ६१ ॥
 मुक्तकण्ठ रुदन् सोऽथ, कैषेत्यप्रच्छि भूभुजा ? ।
 सोऽवक् चम्पेशपुत्रीयं, वसुमत्यभिधाननः ॥ ६२ ॥
 तादृश्यपि कथं प्रेक्ष्य-भावं प्राप्तेति रोदिमि ? ।
 मृगावती तदाकर्ण्या-वोचन्मेऽसौ स्वसुः सुता ॥ ६३ ॥
 अमात्योऽपि सपत्नीक-स्तत्रैत्यावन्दत प्रभुम् ।
 पञ्चाहन्यूनपरमास्याः, कृत्वा पारणक प्रभुः ॥ ६४ ॥
 निर्ययौ कनक गृह्णन्, भूपः शक्रेण वारितः ।
 यस्यै दास्यत्यसौ स्वर्ण-मेतत्तस्य भविष्यति ॥ ६५ ॥
 सा पृष्टा मत्पितुः स्वर्णं, ततः श्रेष्ठि तदाददे ।
 शक्रेणाऽभाणि राजाऽथ, स गोप्या चन्दना त्वया ॥ ६६ ॥
 आस्त्रामिज्ञानमेवा यत्, शिष्याऽऽद्या भाविनी प्रभो ।
 चन्दनाऽस्याहृहे राक्षः, शक्राद्याः स्वालय ययुः ॥ ६७ ॥
 लोकनिन्द्याऽज्वन्मूला, स्तुता चन्दनया पुनः ।
 दुर्दशैवं न चेन्मे स्यात्, कथं स्यात्पारणा प्रभोः ? ॥ ६८ ॥
 धन्याऽहं कृतपुण्याऽहं, पारणाकारणात् प्रभोः ।
 वभूव दुर्दशाऽपीयं, मम सर्वोत्तमा दशा ॥ ६९ ॥ आ० क० ।
 स्था० । अनयैव काली- (अन्त० ८ वर्ग) देवानन्दाप्रभृतयः प्रभा-
 जिता । म० ए० श० ३३ उ० । उपालम्भे, दश० १ अ० ।
 अज्जजंबु-आर्यजम्बू-पुं० । सुधर्मस्वामिन शिष्ये, "अज्जसु-
 हम्म अत्तेवासी अज्जजम्बू जाव पज्जुवासति" अन्त० १ वर्ग ।
 अज्जजक्खिणी-आर्यजक्खिणी-स्त्री० । अरिष्टनेमे. प्रथमशि-
 ष्यायाम्, कल्प० ।
 अज्जजयन्त-आर्यजयन्त-पु० । आर्यजसेनस्य तृतीये शि-
 ष्ये, कल्प० ।
 अज्जजयन्ती-आर्यजयन्ती-स्त्री० । स्थविरादार्यरथाभिर्ग-
 तायां शास्त्रायाम्, "येरेहिता णं अज्जरेहिता ण इत्थं ण अ-
 ज्जजयती साहा णिग्गया" कल्प० । आर्यजयन्ताभिर्गतायां
 शास्त्रायां च । "येराओ अज्जजयताओ अज्जजयती साहा
 णिमाया" । कल्प० ।
 अज्जजीयध(ह)र-आर्यजीतधर-पु० । आरात्सर्वहेयधर्मेभ्यो-
 ऽवांग् यातमार्यम्, जीतमिति सूत्रमुच्यते । जीत, स्थितिः, कल्पः,
 मर्यादा, व्यवस्था, इति हि पर्यायाः । मर्यादाकरणं च सूत्र-
 मुच्यते । 'धृष्ट धारणे' ध्रियते, धारयतीति वा धरः । लिहादि-
 न्य इत्यचूप्रत्ययः । आर्यजीतस्य धर आर्यजीतधरः । सूत्र-
 सम्पन्ने, आर्यज्जासौ जीतधरः । आर्ययोगेने शाण्डिल्यशिष्ये
 जीतधरनामके सूरौ, "वन्दे कौसियगुप्त, सडिह अज्जजीयधर"
 इत्यत्राऽऽर्यजीतधरशब्दस्य प्रदर्शितार्थद्वयपरतया व्याख्या-
 नात् । न० ।
 अज्जण-अर्जन-न० । अर्ज-व्युद् । ग्रहणे, विशेषे० ।

आद्य० । सम्पादने, स्वामित्वसंपादके व्यापारभेदे च । वाच० ।
अञ्जणकवत्त-आर्यनक्षत्र-पु० । आर्यनक्षत्रस्य शिष्ये, कल्प० ।
अञ्जणदिल-आर्यनन्दिल-पु० । आर्यमङ्गो शिष्ये आर्यना-
गहस्तिगुरौ,

नाणम्मि ढंसणम्मि य, तवविणयणिच्चकालमुज्जुत्तं ।

अञ्जानंदिलखमणं, सिरसा वंदे य संतमणं ॥

आर्यमङ्गोरपि शिष्यमार्यनन्दिलकपण प्रसन्नमनस शमरिक्त-
द्विष्टान्तकण शिरसा चन्दे । कथञ्चतमित्याह-ज्ञाने श्रुतज्ञा-
नदर्शने, सम्यक्त्वे, चशब्दाधारित्रे च, तथा तपसि यथाथो-
गमनशनादिरूपे, विनये ज्ञानविनयादिरूपे, नित्यकालमुद्युक्तमप्र-
मादिनम् । न० । अनेनैवार्यनन्दिलेन धरणेन्द्रपन्था नागेन्द्राया
'नमिठण सि' शब्दादि स्तोत्र कृतम् । जै० १० ।

अञ्जणाइल-आर्यनागिला-पु० । आर्यवज्रसेनस्य प्रथमेऽन्ते-
वासिनि, कल्प० ।

अञ्जणाइला-आर्यनागिला-स्त्री० । स्थविरादार्यनागिलाभि-
र्गतायां शास्त्रायाम्, " येराओ अञ्जणाइलाओ अञ्जणाइला सा-
हा णिमाया " कल्प० ।

अञ्जणाइली-आर्यनागिली-स्त्री० । आर्यवज्रसेनाभिर्गतायां
शास्त्रायाम्, " येरेहितो अञ्जवहरसेणेपहितो इत्थ ण अञ्ज-
णाइली साहा णिगया " कल्प० ।

अञ्जणिता-अर्जयित्वा-अव्य० । उपादायेत्यर्थे, " एगतदुक्ख
भवमञ्जणिता, वेदति दुक्खी तमणतदुक्ख " सूत्र० १ शु० ५
अ० २ उ० ।

अञ्जतावस-आर्यतापस-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य चतुर्थेऽन्तेवा-
सिनि, कल्प० ।

अञ्जतावसी-आर्यतापसी-स्त्री० । आर्यतापसाभिः सृतायां
शास्त्रायाम्, " येराओ अञ्जतावसाओ अञ्जतावसी साहा णि-
गया " कल्प० ।

अञ्जता-अद्यता-स्त्री० । वर्त्तमानकालतायाम्, " अञ्जका-
लिना अञ्जत्तया वा " कल्प० ।

आर्यता-स्त्री० । पापकर्मबहिर्भूततायाम्, " जे इमे अञ्जताप
समणा णिगंथा विहरति " अष्ट० २ अष्ट० कल्प० । म० ।

अञ्जपूजभट्ट-आर्यस्थूजभट्ट-पुं० । आर्यसञ्चूतविजयस्य शि-
ष्ये महागिरिसुहस्तिनोगुरौ, कल्प० । आव० ।

अञ्जटिस्स-आर्यदत्त-पुं० । पार्श्वनाथस्य प्रथमगणधरे, स० ।
"पासस्स अञ्जटिणो पढमो अट्ठेव गणहरा " ति० । इन्द्र-
दत्तस्य काश्यपगोत्रस्य शिष्ये च । तस्य शान्तिधेणिक सिंह-
गिरिश्च । कल्प० ।

अञ्जहय-आर्यार्जिक-पुं० । आर्यार्जिकनाम्नि धीरशिष्ये, ('अहय'
शब्दे कथा चास्य) सूत्र० २ शु० ६ अ० ।

अञ्जधम्म-आर्यधर्म-पुं० । आर्यमङ्गो शिष्ये प्रह्नुसगुरौ, " वं-
दामि अञ्जधम्म, तत्तौ धदेय णइगुत्ते य" । न० । आर्यमिहस्य
शिष्ये आर्यशारिर्मयस्य गुरौ, कल्प० ।

अञ्जपत्तम-आर्यपद्म-पुं० । आर्यवज्रस्य शिष्ये द्वितीये, कल्प० ।

अञ्जपत्तमा-आर्यपद्मा-स्त्री० । आर्यपद्माद्विनि सृताया शा-

स्त्रायाम्, " येरेहितो अञ्जपत्तमेहितो इत्थ ण अञ्जपत्तमा साहा
णिमाया " कल्प० ।

अञ्जपुंगव-आर्यपुङ्गव-पुं० । बौक्कपरिभाषितेषु बाह्यार्थाभावात्
केवलबुद्ध्यात्मसु अर्थेषु, अने० ४ अधि० ।

अञ्जपूसगिरि-आर्यपुष्पगिरि-पुं० । आर्यरथस्य शिष्ये, कल्प० ।

अञ्जपोमिल-आर्यपोमिल-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य द्वितीये शि-
ष्ये, कल्प० ।

अञ्जपोमिला-आर्यपोमिला-स्त्री० । आर्यपोमिलाभिर्गताया
शास्त्रायाम्, " येराओ अञ्जपोमिलाओ अञ्जपोमिला साहा णि-
गया " कल्प० ।

अञ्जप्पभव-आर्यप्रभव-पुं० । आर्यजम्बूनाम्नः काश्यपगोत्र-
स्य शिष्ये, कल्प० । ('पभव' शब्दे वक्तव्यता चास्य)

अञ्जप्पजिह-अद्यप्रवृत्ति-अव्य० । इतो वर्त्तमानादिनादार-
न्येत्यर्थे, " एो खलु मते । कप्पइ, अञ्जप्पजिह अद्यप्रवृत्तियां
वा " उपा० १ अ० । प्रति० ।

अञ्जफगुमित्त-आर्यफलगुमित्र-पुं० । आर्यपुष्पगिरे शिष्ये
आर्यधनगिरेर्गुरौ, कल्प० ।

अञ्जम (ण)-अर्यमन-पुं० । अर्यं श्रेष्ठमिति । मा-कनिन् ।

सूर्ये, आदित्यजेदे, पितृणा राजनि, वाच० । अर्यमनामके देव-
विशेषे, ज० ७ वक्क० । अनु० । उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्यार्यमा दे-
वतेति । ज्यो० ६ पाद० । अर्यमदेवोपबद्धिते उत्तरफाल्गुनीन-
क्षत्रे, ज्यो० १५ पाद० । च० प्र० । सू० प्र० । ग० । " दो अञ्ज-
मा " स्था० २ ग० ३ उ० ।

अञ्जमंगु-आर्यमङ्गु-पुं० । आर्यसमुद्रस्य शिष्ये,

भण्णं करणं ऊणं, पभावणं णाणदंसणगुणाण ।

वंदामि अञ्जमंगुं, सुयमागरपारणं धीरं ॥ ३० ॥

प्रणगमित्यादि । आर्यसमुद्रस्यापि शिष्यमार्यमङ्गु वन्दे । किञ्च-
तमित्याह-प्रणक कालिकादिसूत्रार्थमनवरत भणति प्रतिपाद-
यतीति भण, भण एव भणक । "कञ्च" इति प्राकृतलक्षणसु-
त्रात् स्वार्थे कप्रत्यय, तम् । तथा कारक काविकादिसूत्रोक्तमेवो-
पधिप्रत्ययेकणादिरूपक्रियाकक्षाप करोति कारयतीति वा कार-
क, तम् । तथा धर्मध्यान ध्यायतीति ध्याता, तं ध्यातारम् ।
इह यद्यपि सामान्यतः कारकमिति वचनेन ध्यातारमिति वि-
शेषण गनार्थम्, तथापि तस्य विशेषतोऽभिधान ध्यानस्य प्रधा-
नपरलोकाद्गताख्यापनार्थमिति । यत एव प्रणक कारकं ध्यातारं
वा, अत एव प्रभावकम् । ज्ञानदर्शनगुणानाम्, एकग्रहणे तज्जाती-
यग्रहणमिति न्यायात् चरणगुणानामपि परिग्रहः । तथा धिया
राजते इति धीर, तम् । तथा श्रुतसागरपारगम् । न० । "तेन प्र-
माटेनातिलोभतो यक्त्व नावाप्तम् " घ० २० ।

इह अञ्जमंगुसूरी, ससमयपरसमयकणयकसवष्टो ।

यहुभत्तिजुत्तसुस्सु-ससिस्मसुत्तयदाणपरो ॥ १ ॥

सद्धम्मदेसणाप, पमिचोहियजयियहोयसदोहो ।

कइया वि विहारेण, पत्तो महुरा नयरीए ॥ २ ॥

सो गाढपमायापिसाय-गहियिहिययो धिमुक्कनयचरणो ।

गारयतिगपमिबक्को, सट्ठेसु ममससजुत्तो ॥ ३ ॥

अणयरयमसज्जएदि-अमाएकरअययहोनेण ।

सुत्थो तहिं चिय चिद, दुरुजियउज्जुयविहारो ॥ ४ ॥

ददसिदिलयसामओ, निस्सामन्न पमायमच्चइत्ता ।
 कालेण मरिय जाओ, जक्खो तत्थेव निद्धमणे ॥ ५ ॥
 मुण्णिं नियनाणेणं, पुब्बज्ज तो विचित्तए एव ।
 हा हा पावेण मय, पमायमयमत्तचित्तेण ॥ ६ ॥
 पमिपुञ्जपुञ्जवम, दोगच्चहर महानिहाण य ।
 वरुं पि जिणमयमिण, कह नु विहवत्तमुपणीय ? ॥ ७ ॥
 माणुस्सखित्तजार्ह-पमुह वद्ध पि धम्मसामग्गि ।
 हा हा पमायज्ज, इत्तो कत्तो लहिस्सामि ? ॥ ८ ॥
 हा जीव ! पाव तइया, इद्धीरसगारवाण विरसत्त ।
 सुत्तत्थजाणणेण वि, इयासन हु लक्खियं तइया ॥ ९ ॥
 चउदम्पुब्बधरा वि हु, पमायओ जति णतफापसु ।
 एय पि ह हा हा पा-व जीवनतए तया सरिय ॥ १० ॥
 धिद्धी मइसुहमत्त, धिद्धी गारवपमायपडियम्म ।
 धिद्धी परोवएस-वपदाणपमिच्चमक्कत्त ॥ ११ ॥
 एवं पमायडुव्विल-सिय निय जायपरमनिव्वेओ ।
 निदतो दिवसाइ, गमेइ सो गुत्तिस्सित्तु व्व ॥ १२ ॥
 अह तेण पपसेण, वियारजूमीइ गच्छमाणा ते ।
 दण्ण नियविणेय, तेसि पमिवोहणनिमित्त ॥ १३ ॥
 जक्खपमिमाहुआओ, दीह निस्सारिउं त्रिओ जीहं ।
 त च पत्तोइय मुण्णिओ, आसन्नीहोउ इय विति ॥ १४ ॥
 जो कोइ इत्थ देवो, जक्खो रक्खो व किनरो वा वि ।
 सो पयम चिय पज्जणउ, न किपि पय वय मुणिमो ॥ १५ ॥
 तो सविसाय जक्खो, जपइ भो भो तवस्सिणो ! सोह ।
 तुम्ह गुरु किरियाप, सुपमत्तो अज्जमंगु त्ति ॥ १६ ॥
 साह हि वि पडिन्नणिय, विसन्नहियणहि हा सुयनिहाण ।
 किह देव ! दुम्माइमिम, पत्तोसि अहो ! महच्छरिय ॥ १७ ॥
 जक्खो वि आह न इम, वुद्धं इह साहुणो महाभागा ! ।
 एस च्चिय होइ गई, पमायवससिद्धिच्चरणण ॥ १८ ॥
 ओसन्नविहारीण, इद्धीरससायगारवगुरुण ।
 चम्मुकसाहुकिरिया—जराण अम्हारिणाण फुमं ॥ १९ ॥
 इय मज्ज कुदेवत्त, भो भो मुण्णिओ ! वियाणिउ सम्म ।
 जइ सुगईए कज्ज, जइ भीया कुगइगमणाओ ॥ २० ॥
 ता गयसयत्तपमाया, विहारकरणुज्जुया चरणजुत्ता ।
 गारवरहिया अममा, होह सया तिच्चतवकलिया ॥ २१ ॥
 भो भो देवाणुपिय !, सम्म पमिवोहिया तए अहे ।
 इय जपिय ते मुण्णिओ, पमिवन्ना सजमुज्जोय ॥ २२ ॥
 इति सूरिरार्यमहु—महुत्तफलमवभत प्रमादवशात् ।
 तद्यतय. शुजमतय !, सदीघता जवत चरणजरे ॥ २३ ॥
 (इत्यार्यमहुकथा) दर्श० । ती० । आ० चू० । नि० चू० ।

अज्जमण्ण—आर्यमणक—पु० । श्रीशय्यम्भवसूरिपुत्रे ,

अहि मासेहिं अहिअं, अज्जयणमिणं तु अज्जमण्णेणं ।

उम्मासा परियाओ, अह कालगओ समाहीए ॥ ३९ ॥

परिजिर्मौलैरधीत पठितमध्ययनमिदं तु अधीयत इत्यध्ययनम्,
 इदमेव दशवैकालिकाख्य शास्त्रम् । केनाधीतमित्याह—आर्यमण-
 केन ज्ञावाराधनयोगात्, आराद् यातः सर्वह्यधर्मैश्च इत्यर्थः ।
 आर्यश्चासौ मणकश्चेति विग्रहः । तेन पणमासा. पर्याय
 इति, तस्यार्यमणकस्य पणमासा एव प्रव्रज्याकालः, अ-
 प्यजीवितत्वात् । अत एवाह—अथ कालगतः समाधिनेति यथो-
 कशास्त्राध्ययनपर्यायानन्तरं कालगत । आगमोक्तेन विधिना

मृतः, समाधिना शुभभेदयाध्यानयोगेनेति गार्थार्थः । अत्र वैवं
 वृत्तवादः—यथा तेनैतावता भुतेनाराधितम्, एवमन्येऽप्येतदा-
 राधनानुष्ठानत आराधका भवन्विति ।

आणंदंअंसुपायं, कासी सिज्जंजवा तहिं घेरा ।

जसभइस्स य पुच्छा, कहणा अ विआल्लणासंघे ॥ ४० ॥

आनन्दाधुपातमहो ! आराधितमनेनेति हर्षाभ्युपेक्षणमकार्यः
 कृतवन्तः, शय्यम्भवाः प्रागुक्त्यवर्णितस्वरूपाः । तत्र तस्मिन् काल-
 गते स्थधिराः श्रुतपर्यायवृक्षाः प्रवचनगुरवः । पूजार्थं बहुवच-
 नमिति । यशोज्ञद्रस्य य शय्यम्भवप्रधानशिष्यस्य गुर्वधुपातद-
 र्शनेन किमेतदाश्चर्यमिति विस्मितस्य सतः पृच्छा-भगवद् !
 किमेतदकृतपूर्वमित्येवभूता । कथनाच्च भगवनः—ससारखेह ईह-
 शः स्वतो ममायमित्येवरूपा । चशब्दादनुतापश्च यशोभक्षादीना-
 म्—अहो ! गुराविव गुरुपुत्रके वर्तितव्यमिति, न तत् कृतमिदमस्मा-
 भिरित्युक्तप्रतिबन्धदोषपरिहारार्थं मया न कथितं, नात्र प्रवर्ता
 दोषो गुरुपरिसंस्थापनं च विचारणासङ्गं इति शय्यम्भवेना-
 ध्यायुपमेनमवेत्येव मयेद् शास्त्र निर्व्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते
 विचारणासङ्गे कालहासदोषात् प्रभूतसत्त्वानामिदमेवोपकारक-
 मतस्तिष्ठत्वेतदित्येवंचूता स्थापना चेति गार्थार्थः ।

अज्जमहागिरि—आर्यमहागिरि—पु० । आर्यरूपमभस्य पेत्ता-
 पत्यसगोत्रे शिष्ये, न० । अयञ्च जिनकल्पिकवद्विहारः रा-
 जपिण्डोपभोजिन आर्यसुहस्तिनः स्वगुरुशिष्यादपि सतः वि-
 सभोगमुत्पाद्य पृथगाच्छ कृत्वा विजहार । तदाप्रभृत्येव गच्छ-
 पृथक्त्वमासीत् । ('सभोग' शब्दे चैतद् वक्ष्यामि)

अज्जरक्ख-आर्यरक्ष—पु० । आर्यनक्षत्रस्य शिष्ये, 'थेरस्स ण अ-
 ज्जरक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स अज्जरक्खे थेरे अतेवासी कासव-
 गोत्ते' अयं रक्षितार्याद् (भग्नोऽग्निश्चो धेत्यत्र कल्पसूत्रसुबोधिका-
 टीकाकृतां विप्रतिपत्तयः—' थेरे अज्जरक्ख त्ति ' अहो ! वत
 किरणावलीकारस्य बहुश्रुतप्रसिद्धिमात्रोऽप्यनाभोगविश्लिष्टम्,
 यतो येन श्रीतोसलिपुत्राचार्यशिष्या. श्रीवज्रस्वामिपाम्भेऽधीत-
 साधिकनवपूर्वा नाम्ना च श्रीश्रीआर्यरक्षितास्ते जिज्ञाः, एते च
 श्रीवज्रस्वामिच्य. शिष्यप्रशिष्यादिगणनया नवमस्थानभाविनो
 नाम्ना चार्यरक्षा इत्येवमनयोरार्यरक्षितार्यरक्षयोः स्फुटं नेद
 विस्मृत्याऽऽर्यरक्षस्थाने आर्यरक्षितव्यतिकरं लिखितवान् । कल्प० ।

अज्जरक्खिय—आर्यरक्षित—पु० । सोमदेवद्विजेन रूक्षसोमायां
 प्रार्थयामुत्पादिते तोसलिपुत्राचार्यशिष्ये वज्रस्वामिसमीपेऽधी-
 तसाधिकनवपूर्वे स्थविरभेदे, " वदामि अज्जरक्खिय, जमणे
 रक्खियचरित्तसव्वगो । रयणकरुगज्जओ, अणुगोओ रक्खि-
 ओ जेहि " ॥ १ ॥ न० । तदुत्पत्तिस्त्वेवम्—

" माया य रुद्धसोमा, पिआ य नामेण सोमदेवु त्ति ।
 प्राया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिआ ॥ २४ ॥
 निज्जमणमइशुत्ते, वीसु पढण च तस्स पुब्बगय ।
 पव्वाविओ अ भाया, रक्खिअल्लमणेहि जणओ त्ति " ॥ २५ ॥
 "आस्ते पुर दशपुर, सार दशदिशामिव ।
 सोमदेवो द्विजस्मन्न, रुद्धसोमा च तत्पिया ॥ १ ॥
 तस्यार्यरक्षिन् सूरुज्ज फग्गुरक्षितः " ।
 (दशपुरोत्पत्ति 'दसउर' शब्दे छष्ट्या) भा० क० ।
 उत्पन्नो रक्षितस्तत्र, शास्त्र यावद्वृत्तितु ।
 तत्रैवाधीतव्रंस्ताव-दथागात् पाटलीपुरम् ॥ ७६ ॥

चतुर्दशापि तत्रासौ, विद्यास्थानान्यधीतवान् ।
 अथागच्छद्दशपुरं, राजाऽगात्तस्य समुपम ॥ ७७ ॥
 उत्तम्भितपताकऽत्र, द्रष्टोति द्राक्ष्यैः स्तुतः ।
 अधिरूढं करिस्कन्धे, प्रविवेशोत्सवेन स ॥ ७८ ॥
 स्वगृहे यावत्शालायां, स्थितो लोकार्थमग्रहीत् ।
 पुरोधसः सूरुरिति, न या कैः कैरपूज्यतः ॥ ७९ ॥
 सुदर्णरत्नवस्त्रार्थं-स्तदगृहं प्राभूतैर्भूतम् ।
 मयान्तर्गमनं गत्वा, जननीमन्यघादयत् ॥ ८० ॥
 घत्स ! स्वागतमित्युक्त्वा, मध्यस्थेव स्थिता प्रसू ।
 सोऽवदत् किं न ते मात- स्तुष्टिर्मद्विषयाऽनघत् ॥ ८१ ॥
 सत्त्वानां वधच्छ्रुत्वा-ऽधीतं यद्यपि पाप्मने ।
 तुष्याम्यहं दृष्टिवादं, पठित्वा चेत्समागम ॥ ८२ ॥
 स वयौ तमधीत्याम्नां, तोषये किं ममापरैः ।
 दृष्टिवादस्य नामापि, तावदाह्लादयत्यहम् ॥ ८३ ॥
 अस्य काव्यापका मातः !, साऽऽर्यदिक्षुगृहे निजे ।
 सन्ति तोसतिपुत्रास्याः, आचार्याः श्वेतपाससः ॥ ८४ ॥
 तं प्रगेऽप्येतुमारप्से, मातर्भयाभूतिं कृथाः ।
 अथोत्थाय प्रभानेऽपि, नत्वाऽस्या प्रस्थितं सुधीः ॥ ८५ ॥
 रक्षितं द्रष्टुमागच्छत्, ग्रामात्प्रियसुहृत्पितु ।
 नवेक्युष्टिकाः सार्काः, विघ्नत्मानृतेतथे ॥ ८६ ॥
 पुरस्तं प्रेक्ष्य सोऽप्राक्कीत्, कस्य भो 'रक्षितोऽस्म्यहम् ।
 तमयासिङ्गं सस्नेह-मूचे त्या द्रष्टुमागमम् ॥ ८७ ॥
 सोऽदृष्ट्वाभ्यहं कार्या-प्रायास्त्य मद्गृहे पुनः ।
 रक्षितं प्रेक्षतादीं मा-मिति मातुर्नियेदयेः ॥ ८८ ॥
 तेन तत्कथितं गन्या, माता दध्याग्रिदत्त ।
 नवपूर्वाणि सार्कानि, मत्पुत्रोऽप्येप्यते स्फुटम् ॥ ८९ ॥
 सोऽपि दध्यौ नद्याऽप्यायान्, शकलं दशमस्य तु ।
 अभ्येप्ये दृष्टिवादस्य, ज्ञायते शकुनादत् ॥ ९० ॥
 ततः सेक्षुगृहे यातो, दध्यौ यामि किमकृषत् ।
 पतद्भवेन केनापि, समं गत्वा नमामि तान् ॥ ९१ ॥
 इति यावद् बहिः, सोऽस्यात्, तावदागाधुपाश्रयम् ।
 दहुरश्रायको गाढः, व्यधाम्नेपेधिकीश्रयम् ॥ ९२ ॥
 ईर्यादिषदनं सर्वं, स चकार परस्तरम् ।
 अनुगस्तम्य तत्सर्वं, मेधाधी सोऽपि निर्ममे ॥ ९३ ॥
 आस्तेनावन्दि तेनेति, ज्ञानो नव्य स सूरिभिः ।
 पृष्टोऽथ भो ! कुतो धर्मा-ऽऽसिस्ते सोऽग्रवीदिति ॥ ९४ ॥
 साधुभिः कथितं पूज्याः !, रक्षितं आविकासत् ।
 ह्यः प्रवेशोऽभवत्तस्य, विमर्देन महीयसा ॥ ९५ ॥
 आचार्याः स्नाहुरस्माकं, दीक्षयाऽधीयते हि सः ।
 परिपाठया च सोऽवादी-दस्त्वेष नाहमुत्सुकः ॥ ९६ ॥
 किं त्वग्र स्यान्न मे पूज्याः !, प्रमज्या यन्नुपादय ।
 बलान्मां मोचयेयुस्तां, यामो देशान्तरततः ॥ ९७ ॥
 अथाऽऽस्यरुक्षितस्तेपा, जनन्या प्रेषितः प्रभो ।
 युष्माकं सनिधौ दृष्टि-वादमध्येतुमागमम् ॥ ९८ ॥
 सोऽदीक्ष्यत तथा कृत्वा, पाठ्याऽसौ शिष्यचौरिका ।
 तेनार्थिकादशाङ्गानि, पठितान्यचिरादपि ॥ ९९ ॥
 दृष्टिवादो गुरोः पार्श्वे, योऽनृत्तमपि सोऽपठत् ।
 सोऽथाध्येतु दशपूर्वां, वज्रस्वाम्यन्तिकेऽचलत् ॥ १०० ॥
 याते तेनान्तराक्षे च, श्रीमद्रघुसूरयः ।
 अवन्त्यां वन्दितास्तैः स, धन्य इत्युपवृष्ट ॥ १०१ ॥
 तैरुक्तं मम निर्यामो, नास्त्यन्यस्त्व ततो प्रव ।

स तत्प्रतिभृणोति स्म, नोद्धदध्य गुरुशासनम् ॥ १०२ ॥
 कालं कुर्वन्निरुचे तै मां वात्सीवज्रसनिधौ ।
 वसेणस्तैः सदैकाम-प्युपां तैः सह तन्मृतिः ॥ १०३ ॥
 पठेभिन्नाभयस्थस्त-त्तथेति स्वीचकार सः ।
 तेषां स्वर्गमेने सोऽगात्, धीवज्रस्वामिसनिधौ ॥ १०४ ॥
 एष्ट्य तैरपि स्वप्नः, किञ्चित् किन्तुऽतः पयः ।
 सावशेषभृतप्रादी, तत्प्रतीच्छ समेप्यति ॥ १०५ ॥
 इति यावद्विमृष्टं तैः, रक्षितस्तावदागतः ।
 पृष्टस्तोसतिपुत्राणां, किं शिष्योऽस्म्यार्यरक्षितः ॥ १०६ ॥
 पयमुक्तेऽयद्वज्रं, स्वागतं तव घत्स ! किम् ? ।
 कस्थितोऽसि बहिः स्वामिन् !, बहिःस्थोऽप्येप्यसे कथम् ॥ १०७ ॥
 स ऊचे भगवन् ! भद्र-गुप्ताऽऽदेशाद्बहिः स्थितः ।
 वज्रस्वाम्युपयुज्योचे, गुरुक्तं युक्तमाचर ॥ १०८ ॥
 ततोऽप्येतु प्रवृत्तो ह्यहं, नय पूर्वाण्यधीतवान् ।
 प्रारेमे दशमं पूर्व-मार्यवज्रस्ततोऽभगत् ॥ १०९ ॥
 यद्यिकानि प्रशस्त्युक्त-परिफर्मसमान्यदो ।
 पठाऽऽदी जिनसख्यानि, कष्टात्तान्यथ सोऽपठत् ॥ ११० ॥
 इतस्तन्मातापितरौ, शोकार्त्ताविति दध्यतु ।
 चद्वोने कर्तुमिष्टे चे-दन्धकारान्तर एतः ॥ १११ ॥
 यथैत्यद्यापि न पुत्रोऽ-थाहृतोऽप्यागमेत्तु सः ।
 अथानुजं तमाहृतु, प्राद्विष्टं फलगुररक्षितम् ॥ ११२ ॥
 सोऽन्यथाहृतारागच्छ, प्रतार्थी ते जनोऽखिलः ।
 स ऊचे सत्यमेतच्छे-त्तत्त्वमादीं परिमज ॥ ११३ ॥
 लग्नं प्रमज्य सोऽप्येतु-मधीयन् रक्षितोऽग्रतः ।
 यद्यिकैर्धृष्टितोऽप्राक्कीत्, शेषमस्य कियत्प्रभो ! ॥ ११४ ॥
 स्वाम्युचे सर्वं मेरो-र्वि-द्रुमवधेस्त्वमग्रही ।
 ततो दध्यौ विपणात्मा, दुष्प्राप पारमस्य मे ॥ ११५ ॥
 अथापृच्छत्प्रभो ! यामि, ज्ञाता मामाह्वयत्यलम् ।
 आहुस्तेऽधीप्य तस्याथ, पौनःपुन्येन पृच्छतः ॥ ११६ ॥
 उपयुज्य गुरुर्जने, पूर्वं स्यात्स्यत्यदो मयि ।
 द्यसृजत्त दशपुरं, सानुजः सोऽथ जग्मिवान् ॥ ११७ ॥
 वज्रस्वामी तु याति स्म, विहरन् दक्षिणापथम् ।
 श्लेष्मात्स्याऽऽनायिता बुरही-मेकदा श्रवणे न्यधात् ॥ ११८ ॥
 मुखे कोप्स्यामि नृपत्वेति, भोजनान्ते स्मृता न सा ।
 विक्राहे च प्रतिक्रान्तौ, मुखपोतीहताऽपतत् ॥ ११९ ॥
 उपयोगादथ ज्ञात-माः ! प्रमादोऽन्तिके मृतिः ॥
 प्रमादे सयमो नास्ति, युज्यतेऽनशनं ततः ॥ १२० ॥
 द्वादशाब्दं च दुर्भिक्षं, तदा सन्नवहा पथाः ।
 विद्यापिण्डं तदानीय, वज्रः साधूनभोजयत् ॥ १२१ ॥
 अथोचे तान्न भिक्षाऽस्ति, विद्यापिण्डेन वर्त्तनम् ।
 ऊचुस्ते व्रतहान्या किं, क्रियतेऽनशनं न भो ! ॥ १२२ ॥
 वज्रसेनोऽन्तिपद् ज्ञात्वा, प्राक् प्रैषीत्यनुशिष्य तु ।
 यत्र त्वं सभसे भिक्षां, भक्षजान्नात्तदा मुने ! ॥ १२३ ॥
 गतं दुर्भिक्षमित्येत-द्विज्ञाय स्थानमाचरेः ।
 वज्रस्वामी पुनर्भक्त, विमोक्तु सपरिच्छदः ॥ १२४ ॥
 लघुः कुल्लक एकस्तु, तिष्ठत्युक्तोऽपि साधुभिः ।
 नात्थावाख्याय भव्याना-नथ व्यामोह्य तं गतः ॥ १२५ ॥
 शैलमेकमयारुक्त्वा, कुल्लकोऽप्यनु तत्पदैः ।
 नितम्बे तद्विरे स्थित्वा, पादपोषगमं व्यधात् ॥ १२६ ॥
 तापेन तु कृणमिव, विहीय धां स जग्मिवान् ।

सुरैस्तन्महिमा चक्रे, किमिदं मुनयोऽवदन् ? ॥ १२७ ॥
 आचष्ट्युर्गुरवस्तेषां, कुलः स्वार्थमसाधयत् ।
 ऊचुस्ते दुष्कर तर्हि, नास्माकं स्वार्थसाधनम् ॥ १२८ ॥
 प्रत्यनीकाऽमरी तत्र, भ्राविका रूपजाय मुनीन् ।
 न्यमन्त्रयद्भक्तपानैः, पारणं कियनामिति ॥ १२९ ॥
 प्रत्यनीकेति तां ज्ञात्वा, गुरवोऽन्य गिरिं ययुः ।
 कायोत्सर्गमधिष्ठायै, चक्रुः साऽऽगत्य तावद्व ॥ १३० ॥
 पूज्याः सन्तु सुखेनात्र, ततस्तत्र समाधिना ।
 चक्रुः काल रथेनेत्य, शक्रस्ताननमत् ततः ॥ १३१ ॥
 प्रदक्षिणां रथस्थोऽदा-दृक्कादीनप्यनामयत् ।
 ते तथैवास्थुराद्रिः स, तदथावसे इत्यनुत् ॥ १३२ ॥
 (तस्मिन् नगवन्ते अद्वनाराय दसपुत्रा वृच्छिन्ना । आ० म० द्वि०)
 वज्रसेनस्तु यः प्रैषि, स सोपार पुरं गतः ।
 धान्यमादाय लक्ष्णेणा-ऽपाक्षीक्षेत्रेश्वरी तदा ॥ १३३ ॥
 दध्यौ चात्र विषं क्षिप्वा, स्मृत्वा पञ्चनमस्कृतम् ।
 कुर्मः समाधिना काक्ष-मिति तत्प्रगुणीकृतम् ॥ १३४ ॥
 स चागाच्छदृष्टे साधु-स्तेन त प्रतिलाज्य सा ।
 स्वमाख्यायिषित्त तस्य, सोऽश्वीन्मा कथा इदम् ॥ १३५ ॥
 यत्र लक्षाभिदाऽऽसिः, स्यात्तत्राऽऽशु सुनिष्ठा ।
 वज्रस्वामीदमूचे मां, नान्यथा भावि तद्वचः ॥ १३६ ॥
 तएतुलानां तदैवाप्त-पीतास्तत्र समागमन् ।
 सुनिक सहसा जातं, कुटुम्ब प्रत्यवोधितत् ॥ १३७ ॥
 चन्दनागेन्द्रविद्यानृ-दसुरैः सममीश्वरीम् ।
 अदीक्ष्यच्छत्रेण-स्तेभ्योऽचूद्वज्रसन्ततिः ॥ १३८ ॥
 इतश्च रक्षिताचार्यैः, गतैर्दशपुर तदा ।
 प्रवाज्य स्वजनान् सर्वान्, सौजन्य प्रकटीकृतम् ॥ १३९ ॥
 स्नेहात् पिताऽपि तैः सार्क-भास्ते गृहानि तद् व्रतम् ।
 शूते सुतास्तुषादीनां, पुरो नावसरत्नपे ॥ १४० ॥
 उक्तः पुत्रेण सोऽवादीत्, प्रवाजिष्याम्यहं परम् ।
 उपानकुलिङ्काच्छत्र-वस्त्रयुगमोगवीतज्व ॥ १४१ ॥
 ददिरे पितुराचार्या, प्रपद्येदमपि व्रतम् ।
 स च तत्पालयामास, ब्रह्मवेष तु नामुचत् ॥ १४२ ॥
 अयोचुः शिक्षिता भिम्नाः, सर्वान् वन्दामहे मुनीन् ।
 मुक्त्वा त्रिणमेकं तु, तत्पराभवतोऽथ सः ॥ १४३ ॥
 ऊचे पुत्रेण पुत्राऽल, गुरुरप्याह साम्प्रतम् ।
 नापे दद्याः पटीं मौला-वेवं सर्वाण्यमोच्यत ॥ १४४ ॥
 अन्यदोपगते साधौ, साधव पूर्वसंज्ञिता ।
 अहपूर्विकया बोधु, गुरुमूलमुपस्थिताः ॥ १४५ ॥
 स्थविरोऽप्युचिवान् पुत्रां, श्रेयश्चेत्तद्वहाम्यहम् ।
 गुरु स्माहोपसर्गः स्यात्, स सहो मेऽन्यथा कितिः ॥ १४६ ॥
 तत्रोत्क्षिप्तं स सधानां, गच्छतां पथि डिम्भकैः ।
 कश्यपुके इनेऽप्यस्यात्, तूष्णीं माऽनुद् गुरोः कितिः ॥ १४७ ॥
 साधुभिश्च तदैवास्य, बह्व्योऽक्षपट पुरः ।
 अथाऽऽगतानां गुरवः, शाटकानायनेऽवदन् ॥ १४८ ॥
 द्रष्टव्य दृष्टमेवेदं, स्याच्छालपट एव तत् ।
 पितुर्निष्ठातनायं च, गुरु साधून् रहोऽन्यथात् ॥ १४९ ॥
 भिक्षामानीय भुञ्जीष्य, मा स दत्त पितुर्मम ।
 प्रति कार्पा पितुर्मदत्, साक्षादुचया मुनीमिति ॥ १५० ॥
 मापृच्छार्थमगाद् प्राप्त-मागन्तास्मि पितः ! प्रगे ।
 सर्वेऽन्यापुनं तस्यादु-र्विहृत्यैकैकशोऽथ ते ॥ १५१ ॥

दध्यौ दृष्टोऽथ संप्राप्ते, सूनावाक्यास्यतेऽक्षितम् ।
 आचार्याः प्रातरायाताः, पृष्टस्तातोऽक्षित जगौ ॥ १५२ ॥
 किं च त्वं नाजविष्यद्भे-न्नाजीविष्यमहोऽप्यहम् ।
 ततः सर्वेऽपि गुरजि-निरमत्स्यन्त साधवः ॥ १५३ ॥
 पात्रमानय ताताञ्ज-मानेभ्यामि स्वयं तव ।
 अहमप्येतदानीतं, जोष्ये नैवाऽथ हे पितः ! ॥ १५४ ॥
 सोऽथ दध्यौ लोकपूज्यो, जिह्वां यास्यत्यसौ कथम् ? ।
 ततोऽहमेव यास्यामी-त्युक्त्वा भैक्षाय सोऽगमत् ॥ १५५ ॥
 सोऽयैकत्र गृहेऽविदा-वपद्गरेऽवदद् गृही ।
 साधो ! घारेण किं नैषि, सोऽवदद् मूर्ख ! वेत्सि नो ॥ १५६ ॥
 किं द्वारं किमप्यद्वारं, प्रविशन्त्या गृहे धियः ।
 तं गृही शकुनं मत्वा, ददौ स्थालेन मोदकान् ॥ १५७ ॥
 आगत्यालोचयन्तान् स, तत्संख्यान् वीक्ष्य सूरयः ।
 ऊचुः शिष्या भविष्यति, द्वाविंशतिजसन्ततौ ॥ १५८ ॥
 कुटुम्बमिति साधूनां, लाज स प्रथम ददौ ।
 आनीयादात्स्वयं पद्मात्, सख्येण सपायसम् ॥ १५९ ॥
 स एवं सन्धिसम्पन्नो-ऽचूद् बाह्याद्युपकारकः ।
 तदा दुर्बलिकापुष्पः, पुष्पो च धृतवस्त्रयोः ॥ १६० ॥
 गुर्विण्या धिग् यया वक्षि-र्भासैर्य-नीक्षितं धृतम् ।
 धृतपुष्पस्य तद्व्यात्, साऽपि तस्युन्धिराक्षी ॥ १६१ ॥
 निर्वीरा काऽपि कष्टेन, कर्तनात् शाटकं व्यधात् ।
 वस्त्रपुष्पस्य तद्व्यात्, साऽप्यन्येषां किमुच्यते ? ॥ १६२ ॥
 तत्र दुर्बलिकापुष्पो-प्रधिगतां नवपूर्विकाम् ।
 दुर्बलोऽभूत्स्मरन्नित्य, विस्मारयति चास्मरन् ॥ १६३ ॥
 सौगतैर्भावितास्तस्य, सजना गुरुमूचिरे ।
 अस्माकं निक्षेपो ध्यान-परा न ध्यानमस्ति वः ॥ १६४ ॥
 ध्यानाद् दुर्बलिकापुष्पो, दुर्बलोऽयं गुरुर्जगौ ।
 तान्यादुर्गहवासेऽचूत्, स्निग्धाहारादसौ बली ॥ १६५ ॥
 न स वोऽस्ति गुरुः स्माह, धृतपुष्पाद्बहुः स न ।
 प्रत्ययश्चेन्न वो नीत्वा, सगृहे पोष्यतामयम् ॥ १६६ ॥
 ततस्तैः पोषितोऽप्यन्तं, पूर्वध्यानात्तथैव सः ।
 अथाध्यानः कृतः पूज्यैः, प्रान्तजोग्योऽप्यचूद् बली ॥ १६७ ॥
 ततस्तानि प्रवृत्तानि, भावकत्वं प्रपेदिरे ।
 तत्र गच्छे च चत्वारो, मुख्यास्तिसृष्टि साधवः ॥ १६८ ॥
 आधो दुर्बलिकापुष्पो, द्वितीयः फल्गुरक्षितः ।
 विन्यस्तुतीयको गोष्ठा मादिसन्न चतुर्थकः ॥ १६९ ॥
 विन्यस्तेष्वपि मेधावी, सूत्रप्रदणुधारणे ।
 गुरुनुवाच मएमस्या-माज्ञापाऽऽतिशिरात्मनः ॥ १७० ॥
 गुरुर्दुर्बलिकापुष्पं, ततोऽस्यालापकं ददौ ।
 दिनानि कतिचिदस्या, भावनां तस्य सोऽन्यथात् ॥ १७१ ॥
 वाचनां ददतोऽमुष्य, पुनं मे नवमं प्रनो ! ।
 विस्तरिष्यत्यतः पूज्या-देशोऽस्तु मम कीदृशः ? ॥ १७२ ॥
 अथैवं दक्षुराचार्या, यद्यमुष्यापि विस्मृतिः ।
 भविष्यति ध्रुव प्रज्ञा-दीनां हानिरतः परम् ॥ १७३ ॥
 चतुर्थकैकसुत्रार्था-स्याने स्यात्कोऽपि न क्रमः ।
 ततोऽनुयोगांश्चतुरः, पार्थक्येन व्यधात् प्रवृत्तः ॥ १७४ ॥

आनुर्विषयमाह—

“कालिभसुभं च इमिमा-मिमाहं तद्विद्मो अ मय्यधनं ।
 सन्धो न विधिवाभो, अउत्पन्नो होह अणुभांगो” ॥

कासिकभुतमेकादशाङ्गरूप करणचरणानुयोगः, अविनापितानि
वत्तराध्ययनानि धर्मकयानुयोगः, सूर्यग्रहस्यादीनि गणितानु-
योगः, दृष्टिवादश्च, सर्वोऽपि व्यानुयोगः; दृष्टिवादाङ्गुल्य
ऋषिभिर्भाषितत्वात् । कल्पादीनामपि तर्हि धर्मकयानुयोग-
त्वम् । तन्नेत्याह-

“जं च महाकल्पसुभ, जाणि अ सेसाणि छेमसुत्ताणि ।
चरणकरणाणुओगो-सि कासिअत्थे चवगयाणि ” ॥ १ ॥

यच्च महाकल्पभुतमेकादशाङ्गरूपम्, यानि च शेषाणि निशी-
धादीनि वेदसूत्राणि, चरणकरणानुयोग इति चरणकरणानु-
योगसङ्क्षेपे कालिकार्ये कालिकभुतसङ्क्षेपे उपगतानि सम्भ-
व्यानीत्यर्थः ।

अर्थार्यरक्षिताचार्याः, मयुरां नगरां गताः ।

तत्र यक्षगुहायां च, व्यन्तरायतने स्थिता ॥ १७५ ॥

ततः शक्रो विवेदान्तः, असीमन्धरसन्निधौ ।

निगोदजीवानप्राक्की-ऋगवान् व्याचकार तान् ॥ १७६ ॥

अयोचे भरतेऽप्येव, निगोदान् वकि कश्चन ?

ऋगवान् चिचानार्य-रक्षिताः सन्ति सुरयः ॥ १७७ ॥

भिक्षागे साधुवृन्दे च, वृक्षग्राहणरूपजाक ।

शक्रोऽन्यागत्य पप्रच्छ, कियदायु प्रभो ! मम ॥ १७८ ॥

नाणित यवकेष्वायु-ज्याथ प्राप्तेषु तेषु ते ।

यावत्साधुरीक्षन्ते, तावद् द्वे सागरे गते ॥ १७९ ॥

अयोत्पाट्य त्रुवावूचे, शक्रस्त्वं सोऽवधीक्षतः ।

हेतु स्वागमने तेऽथ, निगोदान् स्वामिषज्जगु ॥ १८० ॥

ततस्तुष्टः प्रणम्योचे, शक्रो यामीति तेऽभ्यधु ।

तावदागमयस्व त्व, यावदायान्ति साधवः ॥ १८१ ॥

ये चक्षा निश्चलास्ते स्यु-र्येन त्वां वीक्ष्य वीक्षिताः ।

स ऊचेऽष्टपाः फरिष्यन्ति, निदान वीक्ष्य माममी ॥ १८२ ॥

तेऽभ्यधु कुरु तच्चिह्न-मथ यक्षगुहामुखम् ।

शक्रोऽन्यथा विधायागा-दाजगमुश्च तपोधना ॥ १८३ ॥

ते च चार न वीक्षन्ते, गुरवस्तानथाज्यधुः ।

शक्रो चार व्यधादित्य-मित एव ततोऽधुना ॥ १८४ ॥

ऊचुस्ते किं मुहूर्त्तं न, धृतोऽस्माक निरीक्षितुम् ?

शक्रोक्तमथ ते तेषा-माप्यन् दुःखमथ स्थिताः ॥ १८५ ॥

अथान्यथा दशपुर, यान्ति स्म गुरवः क्रमात् ।

मयुरां नास्तिकस्त्वागात्, सर्वं नास्तीति स भुवन् ॥ १८६ ॥

सङ्घः सङ्घाटक प्रैषीद्, गुरु ज्ञापयितुं ततः ।

तैर्गोष्ठामाहिलः प्रैषि, न्यप्रहीत् स वादिनम् ॥ १८७ ॥

आवकैरथ तत्रैव, चतुर्मासीं स कारितः ।

इतश्चायुर्निजं ज्ञात्वा, गुरवो गच्छमूचिरे ॥ १८८ ॥

आचार्यः कोऽस्तु व स्माहुः, स्वजनां फल्युरक्षिता ।

स्यान्नोष्ठामाहिलो वाऽपि, पुष्पस्त्वन्निमतो गुरोः ॥ १८९ ॥

शब्दयित्वा च निःशेषान्, गुरुर्दृष्टान्तमूचिवान् ।

निष्पावतैलहव्यानां, क्रियन्तेऽधोमुखाः कुटाः ॥ १९० ॥

सर्वे नियान्ति निष्पावा-स्तैलांशाः सन्ति केचन ।

तिष्ठत्याज्य पुनः प्राज्य-मेवमेतेष्वहं त्रिषु ॥ १९१ ॥

पुष्प प्रति भुतेनाह, निष्पावकुटसन्निभः ।

धृतकुम्भ पुनर्गोष्ठा-माहिल मातुष प्रति ॥ १९२ ॥

फल्युरक्षितमाश्रित्य, तैलकुम्भसमस्तथा ।

तदाचार्योऽस्तु वः पुष्प-स्तैरपि प्रत्यपद्यत ॥ १९३ ॥

नवाऽऽचार्यं तथा साधून्-नुशिष्य यथोचितम् ।

विधायानशन शुद्ध, स्वर्गलोकमगाद् गुरुः ॥ १९४ ॥

तद् गोष्ठामाहिलेनापि, श्रुतं यद् ग्रामगाद् गुरुः ।

निष्पावकुटदृष्टान्तात्, पुष्पश्च स्वपदे कृतः ॥ १९५ ॥

स गोष्ठामाहिलोऽथैत्य, पृथक् तस्यौ तदाश्रयात् ।

कर्मबन्धविचारेऽभू-न्निहवः सोऽन्यथोक्तितः ॥ १९६ ॥ आ०क० ।

देविंदवदिर्हि, महाणुभावेहि रविखयजेहि ।

जुगमासज्जविभक्तो, अणुओगो तो कओ चवहा ॥

वेधेऽवन्दिर्तैर्महानुभावैरार्यरक्षितैर्दुर्धक्षिकापुष्पमिश्राङ्गमप्य-
तिगुपिलतयाऽनुयोगस्य विस्मृतसुत्रार्थमवलोक्य युगमासाद्य
प्रवचनहिताय विनक्तः पृथग् व्यवस्थापितोऽनुयोगः, ततः
कृतश्चतुर्धा, चतुर्षु स्थानेषु नियुक्तः चरणकरणानुयोगादिरिति ।
आ० म० द्वि० । उत्त० । आ० चू० । ध० २० । दर्श० । ती० ।
विशे० । स्था० । अञ्जलगच्छस्थापके आचार्ये च । अथ च
(विक्रमसं० ११३६ वर्षे) वन्ताणीनामग्रामे द्रोणश्रेष्ठिनो देदीना-
मन्याज्जार्जयाः जानः, (विक्रमसं० ११४२ वर्षे) प्रव्रजितः, (वि-
क्रमसं० ११६९ वर्षे) विधिपङ्क्त- (अञ्जल-) गच्छमस्थापयत्,
(विक्रमसं० १२२६ वर्षे) ९१ वर्षेजन्मपर्यायो मृत्वा देवलोक
गतः । जे० ३० ।

अञ्जरविखयमीस-आर्यरक्षितमिश्र-पु० । अनुयोगचातुर्विध्य-
कारके रक्षिताचार्ये, सूत्र० १ अ० १ उ० ।

अञ्जरह-आर्यरथ-पु० । आर्यवज्रस्वामिनस्तृतीये शिष्ये, कल्प० ।

अज्जल-आद्यल-पु० । मेच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अञ्जव-आर्जव-न० । ऋजोः रागद्वेषवत्त्वर्जितस्य सामायिक-

वतः कर्म भावो वा आर्जवम् । सवरे, स्था० ५ ठा० १ उ० । ऋ-

जुभाव आर्जवम् । आव० । मनोवाक्कायविक्रियाधिरहे मायारा-

हित्ये, ध० ८ अधि० प्रव० व्य० पंच० । अचा० । कल्प० । आव० ।

ज्ञा० । परस्मिन्नकृतिपरेऽपि मायापरित्यागे, दश० १० अ० ।

एतच्च वीरेणाज्यनुज्ञातम् । स्था० ५ ठा० १ उ० । एतत्तृतीय-

भ्रमणधर्मः । स्था० ३ ठा० १ उ० । दशमो योगसंग्रहः । स०

३१ सम० । आव० । “ चपाप कोसिभ्रजो, अगरेसी रुहए अ

आणसी । पथगजो इजसा वि अ, अममक्ताणे असवोही ” ॥ १ ॥

चम्पायां कौशिकार्योऽभू-दुपाध्यायो महामतिः ।

तस्याद्योऽङ्गश्रुषिः शिष्यो, ग्रन्थिच्छिद्रुद्रकोऽपरः ॥ १ ॥

उपाध्यायेन दार्वर्यं, द्वावपि प्रेषितौ वने ।

दारुमार गृहीत्वैति, सायमङ्गश्रुषिर्वनात् ॥ २ ॥

रुद्रो रन्त्वा दिवा साय, स्मृत्वा बहिरधावतः ।

दक्ष्यौ वीक्ष्य तमायान्तं, गुरुर्निःसारयाम्यमुम् ॥ ३ ॥

इतो ज्योतिर्यशा वत्स-पाशौ नीत्वाऽभ्रमात्मनः ।

पुत्रस्य पञ्चकस्यार्थं, चलन्ती दारुकाष्ठजृत् ॥ ४ ॥

दृष्ट तेनाथ तां हत्वाऽऽदाय तद्दारुमारकम् ।

शीघ्र मार्गान्तरेणैत्य, गुरोरग्रे करो धुनन् ॥ ५ ॥

आख्यद्व प्रियशिष्येण, ज्योतिर्यशा व्यनाश्यत ।

आगतः सोऽथ गुरुणा, ययौ निस्सारितोऽद्वीम् ॥ ६ ॥

तत्र बुद्ध्या मनोप्यानात्, जातजातिस्मृतिर्घ्नतम् ।

सोऽवाप केवल चाथ, महिमान व्यधुः सुराः ॥ ७ ॥

देवै कथितमेतस्या-ऽभ्याख्यानं प्रददेऽमुना ।

रुद्रको हीलितो लोके, दक्ष्यौ सत्य मया ददे ॥ ८ ॥

अन्याख्यानमिति ध्यायन्, सोऽगात्प्रत्येकबुद्धताम् ।

उपाध्यायः सपत्नीकः, प्रव्रज्य प्राप केवलम् ॥ ९ ॥

चत्वारोऽपि ययु सिद्धि-मेवं कर्त्तव्यमार्जवम् । आ० क० ।
आ० चू० । आव० ।

अज्जवइर-आर्यवज्ज- (वैर)-पुं० । आरात्सर्वदेयधर्मेभ्यो यात-
प्राप्तं सर्वैरुपादेयगुणैरित्यर्थः, स चासौ वज्जश्च । आ० म० द्वि० ।
धनगिरेः सुनन्दायां ज्ञार्यायामुत्पादिते पुत्रे आर्यसिंहगिरेः शिष्ये ।
के ते आर्यचैरा इति स्तवद्वारेण तदुत्पत्तिमाह-

तुंववणसंनिवेसा-उ निगयं पितृसगासमद्वीणं ।

ठम्मासिअं ठसु जुअं, माज्ज अ समन्निअं बंदे ॥ १ ॥

तुम्बवनसन्निवेशान्निगतं पितृसकाशमालीन षाण्मासिक षट्-
सु जीवनिकायेषु युत प्रयत्नवन्त मात्रा च समन्वित वन्दे । षष-
गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथादोऽवगन्तव्यः ।

कथा चैयम्-

शक्रस्य लोकपः श्रीद-स्तस्य सामन्तिकः पुनः ।
अनूठज्जविभोजीव, प्राग्भवे जृम्भकामरः ॥ २ ॥
इतश्च पृष्ठचम्पायां, श्रीवीरः समवासरत् ।
सुभूमिभाग उद्याने, शालस्तत्र नृपः पुरि ॥ ३ ॥
युवराजो महाशाल-स्तयोर्यामिर्यशोमती ।
पिठरो रमणस्तस्याः, गागलिस्तनयः पुनः ॥ ४ ॥
शालः श्रुत्वा प्रजोधर्मे, व्रतायानुजमूचिवान् ।
राज्ये त्व विश सोऽयादीद्, न व्रतेऽप्यस्मि ते नु किम् ? ॥ ५ ॥
समानीयाथ काम्पिण्या, गागलिं स्वस्वसुः सुतम् ।
राज्येऽभिषिच्य त तौ द्वौ, पाद्वै प्रावजतां प्रजोः ॥ ६ ॥
साऽपि तद्गनी जाता, श्रमणोपासिका ततः ।
तावप्येकादशाङ्गान्य-ध्यानापातां महाक्रवी ॥ ७ ॥
विहरन्नन्यदा स्वामी, ययौ राजगृहे पुरे ।
ततोऽपि चम्पा नगरि, प्रति प्रातिष्ठत प्रजुः ॥ ८ ॥
मुनी शालमहाशालौ, प्रजु पप्रच्छतुस्तदा ।
आवां यावः पृष्ठचम्पा, कोऽपि स्यात्तत्र धर्मवान् ॥ ९ ॥
ज्ञात्वाऽवबोध तौ तैत्र, प्रैषयन्तौ तमान्वितौ ।
ततः स्वामी ययौ चम्पां, पृष्ठचम्पां च गौतमः ॥ १० ॥
समातापितृकस्तत्र, गागलिगौतमान्तिके ।
श्रुत्वा धर्मे सुत राज्ये, निवेद्य व्रतमग्रहीत् ॥ ११ ॥
यातां मार्गेऽथ चम्पायां, स्वजनव्रतहर्षतः ।
प्राप्तौ शालमहाशालौ, निधानमिव केवलम् ॥ १२ ॥
समातापितृकस्याथ, गागलेरपि केवलम् ।
अत्रामुत्रार्थदावेतौ, ममेति ध्यायतोऽभवत् ॥ १३ ॥
अथ चम्पां ययौ स्वामी, गौतमस्तत्परिच्छदः ।
प्रजु प्रदक्षिणीकृत्य, प्रणिनसु पुरोऽभवत् ॥ १४ ॥
इत एव प्रजु नन्तु, तानित्याचष्ट गौतमः ।
प्रजुगौतममूच मा, केवल्यशातना कथाः ॥ १५ ॥
गौतमोऽथ प्रजु नत्वा, क्लमयामास तान् क्षमी ।
गौतम केवलाऽऽनासि खिन्न मत्वाऽदिशत्प्रजुः ॥ १६ ॥
अष्टापद तपोलब्ध्या-ऽऽरोहेद्यः स्यात्स केवली ।
उन्नच्छास्त्रयद्देव-मुखात् श्रुत्वाऽथ तां गिरम् ॥ १७ ॥
अष्टापदोपकण्ठणा-स्नापसास्तपसा कृशाः ।
कौण्डिन्यदक्षशैबाला, एकद्विज्यन्तरेऽहनि ॥ १८ ॥
आर्जकन्दशुष्ककन्द-शुष्कशैवालमोजना ।
आरुक्नु पदिका एक-द्विज्यन्तरेऽपि तपःक्रमात् ॥ १९ ॥
गौतमोऽपि प्रजुं पृष्ट्वाऽष्टापदादिमुपेयिवान् ।
एषा ते त मिथः प्राहुः, स्पृष्टोऽप्येयोऽधिरोहयति ॥ २० ॥

तप कृशा अपि वयं, न शक्नुम इतः परम् ।
गौतमस्तावदर्कान्-भिन्नां कृत्वाऽऽरुहोह तम् ॥ २१ ॥
तद्वृत्तविस्मितास्तेऽथ, दध्युर्यद्येवमेष्यति ।
ततोऽमुष्य वयं शिष्याः, प्रविष्यामो महाक्रयेः ॥ २२ ॥
नत्वाऽर्हतः प्रजुश्चैस्यां, दिश्यशोकतरोस्तले ।
तत्र पृथ्वीशिखापट्टे, तामवात्सीद्विज्यामरीम् ॥ २३ ॥
आगादष्टापद नन्तु, तत्र वैश्रवणस्तदा ।
जृम्भकेण समं सख्या, नत्वा सर्वान् जिज्ञानथ ॥ २४ ॥
स्वाध्यायध्वनिना ज्ञात्वा-ऽप्येत्य गौतममानमत् ।
कुर्वाणः स्वाम्यपि व्याख्यां, सुधामधुरगीर्ण्यधात् ॥ २५ ॥
अन्ताहारपन्ताहारे-त्यादिक साधुवर्णनम् ।
तच्छ्रुत्वा मुखमाबोक्ष्य, मिथस्तौ दसितौ सुरौ ॥ २६ ॥
एव साधुगुणानाह, स्वयमीदृक् पुनः प्रभुः ।
ज्ञात्वाऽऽर्यस्तन्मनः पुण्ड-रीकाध्ययनमूचिवान् ॥ २७ ॥
न दौर्बल्य बलित्वं वा, सक्त्यै किं तु प्रावना ।
श्रीदोऽथ ध्यानविज्ञानात्, प्रीतो नत्वा प्रतीयवान् ॥ २८ ॥
जृम्भकस्तु प्रतिबुद्धः, बुद्धं सम्यक्त्वमाददे ।
सर्वं च प्रकृया पुण्ड-रीकाध्ययनमग्रहीत् ॥ २९ ॥
गौतमस्तु द्वितीयेऽह्य-ष्टापदादुत्तरवातरत् ।
भीतास्ते प्रजुमाहुर्न, शिष्यं कुरु गुरुर्मव ॥ ३० ॥
स्वाम्यधादाद् व्रत तेषां, वेशान् शासनदेवताः ।
पारणे वोऽस्तु किं वस्तु, पृष्टास्ते प्रजुमज्यधुः ॥ ३१ ॥
इष्टासिञ्चेत्तदस्त्वद्य, पायस घृतक्षण्डयुक् ।
तदैषानीय तत्त्वामी, तानूचे प्रोक्तुमास्यत ॥ ३२ ॥
दध्युस्ते नो भविष्यन्ति, नेयतां तिलकान्यपि ।
पर गुरुवचः कार्यं, न विचार्य नृपोक्तवत् ॥ ३३ ॥
आसीनास्तेऽथ सर्वेऽपि, स्वाम्यङ्गीणमहानसः ।
आवृत्तिं प्रोजयित्वा ता-नञ्जाति स्म स्वयं ततः ॥ ३४ ॥
शतानां तेषु पञ्चानां, तुज्ञानानां महाशिनाम् ।
ध्यायतां गौतमीं लब्धि, जज्ञे केवलमुज्ज्वलम् ॥ ३५ ॥
गच्छतां च प्रचूपान्ते, विलोक्य प्राभवीं श्रियम् ।
पञ्चशत्या द्व्यहृष्टजां, समजायत केवलम् ॥ ३६ ॥
एकान्तगज्जुजां चासीत्, श्रीवीरजिनदर्शने ।
गौतमस्तैः समं भर्तु-दैदौ तिलः प्रदक्षिणाः ॥ ३७ ॥
नवीनाः साधवस्तेऽथ, जग्मुः केवलपर्यदम् ।
गौतमः स्माह तानेवं, नमत त्रिजगत्पतिम् ॥ ३८ ॥
स्वाम्याहाशालनामिन्द्र-भूते ! केवलानां व्यघाः ।
नत्वा प्रजुं ददौ मिथ्या-दुष्कृतं तेषु गौतमः ॥ ३९ ॥
गौतमेऽथाधृतिं सुष्ठु, प्रपन्ने स्वाम्यवोचत ।
अन्ते तुल्या भविष्यामो, मा कार्थीगौतमाऽधृतिम् ॥ ४० ॥
तृणाद्विदलचर्मोर्णा-कटवत्कस्यचिन्पुनः ।
कोऽपि क्वापि भवेत्स्नेहो, मेघोर्णाकटवत् त्वे ॥ ४१ ॥
तत्र स्नेहे चिरज्वे, प्रावृषीव व्यपेयुपि ।
केवलज्ञानहंसस्ते, दृत्तरस्यां स रस्यते ॥ ४२ ॥
उद्दिश्य गौतम लोक-प्रतिबोधकृते तथा ।
आदिशद्भूमपत्रीया-ध्ययन भगवांस्तदा ॥ ४३ ॥
इतश्चावन्तिदेशोर्वी-हृदि हारतटोपमः ।
सन्निवेशस्तुम्बवन-नामा धामाद्भुतश्रियाम् ॥ ४४ ॥
तत्रैज्यसुर्धनगिरि-व्रतार्थी पितरौ पुनः ।
तत्क्षणे धृष्ट-कन्यां, यस्य तं सन्यपेययत् ॥ ४५ ॥

स्वयम्यराऽथ तस्यापुत्र, सुनन्दा धनपालसू ।
 विवाहिताऽथ सा तेन, तथा रुढोऽथ स मतात् ॥ ४६ ॥
 सपान्यदा स्यत स्यानात्, स च्युत्वा जृम्भकामरः ।
 सुनन्दाकुक्षिकासारो-ऽवातरत्कलहसयत् ॥ ४७ ॥
 तपाधाराऽभयद्राणी-त्युक्त्वा धनगिरिः प्रियाम् ।
 अतृप्तिमदगिरेः शिष्य, शालकात्समितादनु ॥ ४८ ॥
 जाते च तनये जमो-ऽस्ये स्फूर्जति काऽप्ययक् ।
 पिता चेत् प्रायजिष्यन्ता-स्यानविष्यद्भर तदा ॥ ४९ ॥
 स संज्ञां तद्वच धुत्वा-ऽकासी-मे मलनूत्पिता ।
 एवं चिन्तयतस्तस्य, जाता जातिस्मृति शिरो ॥ ५० ॥
 अहर्निशं ततोऽरोर्यात्, माता निर्विघ्ने यथा ।
 प्रमन्यानिमुप पश्चा-देव पगमानिकाऽगमत् ॥ ५१ ॥
 अन्यदा समवामासीत्, तत्र सिद्दिगिरिशुं ।
 समितौ धनगिरिश्च, पट्यायः स्यजनानिनि ॥ ५२ ॥
 यावत्पातो गुरुं पृष्ट्वा, हासुनन्तायदृचिचान् ।
 ततस्ती सूर्याऽग्रोचन, नारी स्नाभोऽप वा महान् ॥ ५३ ॥
 सविच धाप्यविच धा, प्राप्य तत् नौ ततो गतौ ।
 सुनन्दा समन्ती-गृन्दा, दृष्ट्वा तापित्यबोचन ॥ ५४ ॥
 का तेयन्नि दिनाम्पने, पाल्यने स्म मया तय ।
 त्यमेन गोपयेदानीं, रुततोऽद्यादिनाम्पुना ॥ ५५ ॥
 तेनोचे माऽन्तु ते पश्चा-त्ताप मोचऽत्र नि स्पृष्टा ।
 दृष्ट्वाऽथ माङ्गिणोऽप्राहि, मोऽप्राह- पाप्रयन्ने ॥ ५६ ॥
 मत्प्राप्त च तत्प्राप्त, रोदनाद्विररान स ।
 अथायातो मुनदोऽप्रा-ऽप्राप्तीतोऽथ क गुरु ॥ ५७ ॥
 अतिनायत्तथाऽऽह्वय, साधो वज्र किमानयः ।
 आहृष्यालोक्य त यास, पाह्यमाप्तमिध स्मरम् ॥ ५८ ॥
 भाग्येप दासनाधारे, घञ्म्वानी गुरुस्तत ।
 साध्वीशर्यानरीणा त नीधिविघ्नानुमापयत् ॥ ५९ ॥
 प्रहृष्यन्प्रासुकाहार-ज्ञानमपदनयेलने ।
 तत्रावर्द्धिष्ट वज्र स, सार्क गुरुमनोरधे ॥ ६० ॥
 यहिर्व्यादापुंराचार्या, सुनन्दाऽमार्गयत्सुतम् ।
 उचुस्ता एव निक्षेपो, गुरुणा नार्थ्यते परे ॥ ६१ ॥
 आगमनुरत्यस्तत्र, घञ्जे जाते त्रिवापिके ।
 सुनन्दा याचते सुनुं, गुरुवस्त्वर्पयन्ति न ॥ ६२ ॥
 पिवादोऽथाभवत्ताज-कुले जातश्च निर्णय ।
 यद्व्रत सुतस्तस्याऽऽहुतो याति यदन्तिके ॥ ६३ ॥
 समघो गुरुकफत्र, नन्दाऽन्यत्र सनागरा ।
 अविक्कदमितो भूप, घञ्जस्तु नृपते पुर ॥ ६४ ॥
 राजोचे शब्दयत्वादै, पिता स्त्रीपाक्षिका जगुः ।
 स्वामिन्नम्याऽऽह्वयत्वादै, दयास्थानमिय यतः ॥ ६५ ॥
 प्राग् राहोक्ताऽङ्गयन्माता, साद्यखेलनचाटुभि ।
 धीहृयाप्यम्यां पर सोऽस्थात्, नाचालीत्किन्वचिन्तयत् ॥ ६६ ॥
 पालनस्थोऽप्युपश्रुत्या, योऽधीतैकादशाङ्गक ।
 सोऽह मोह जनन्या किं, यामि सह विवहृष्य तत् ॥ ६७ ॥
 व्रतस्थे मयि माताऽपि, व्रतमङ्गीकरिष्यति ।
 राज्ञा प्रोक्तः पिताऽवोचत्, वचस्त प्रति तद्यथा ॥ ६८ ॥
 " जशसि कयज्जवसाश्रो, धम्मज्जयमूसिअ इम वहर ।
 गिन्ह लहु रयहरण, कम्मरयप्पमज्जण धीर । " ॥ ६९ ॥
 तच्छ्रुत्वा तत्क्रणादेत्य, स रजोहृतिमाददे ।
 वद्वेवादीकि गुरुणा, सपौरोऽप्यबुध्नन्तः ॥ ७० ॥

दध्यावथ सुनन्दाऽपि, भ्राता भर्ता सुतश्च मे ।
 प्रायजान्कि ममान्येन, साऽपि प्रव्रजिता ततः ॥ ७१ ॥
 वज्र तत्रैव संस्थाप्य, साधुभिः पञ्चपैर्वृतम् ।
 व्यदार्पुर्गुरवोऽन्यत्र, यन्निकत्र यतिस्थितिः ॥ ७२ ॥
 अथाष्टवर्षो घञ्जपि-न्यहरदुरुभिः समम् ।
 जग्मुश्च गुरवोऽन्यथा, घृष्टिश्च प्रावृत्तदा ॥ ७३ ॥
 तस्य प्राग्नवमिश्राणि, यजन्तो जृम्भकामरा ।
 दृष्ट्वा त तत्र ते सार्द्धं, दृष्ट्वा तस्य परीक्षितम् ॥ ७४ ॥
 रान्त्रा न्यमन्त्रयद्वज्र, विप्रयो वीह्य सस्थिता ।
 पुनराहन् स्थिते वर्षे, गनस्तत्रोपयुक्तवान् ॥ ७५ ॥
 अन्यत पक्कूष्माणरु, क्षेत्रतस्तुल्यन्यसौ ।
 कायतः प्रथम वर्षा, भावतो दायका पुन ॥ ७६ ॥
 अभूस्पृशो निर्निमेषा, देवा इत्याददे न तत् ।
 तेष्य तुष्टा निषेध स, विद्या धैकुर्विर्की दृष्ट ॥ ७७ ॥
 नृयोऽनन्या पुरि ज्येष्ठे, वज्रे चाह्वय गते ।
 प्राग्प्रद्विधाय सार्द्धं ते, घृतपूर्णैर्न्यमन्त्रयन् ॥ ७८ ॥
 द्रव्यादिकोपयोगेन, ज्ञात्वा नाचेपु तेप्यपि ।
 तस्याकाशगमां विद्या, दृष्ट्वाऽगु म्व निरूप्य ते ॥ ७९ ॥

निर्मुक्तिकारोऽप्यतदेवाह-

" जो गुज्जरोहिं पातो, निमनिश्रो भोश्रणेण वासते ।
 नेच्छन् विणीअविण्णो, त धयरसिं नमसामि " ॥ १ ॥
 गुणकैर्देधे वासते उर्थति नेच्छति विनीतविनयोऽभ्यस्तविनय ।

तथा-

" उज्जेणीण जो ज-भगेहिं आणक्किवकण पुममहिअ ।
 अक्कीणमहानसिअ, सीहगिरिपससिअ घदे " ॥ १ ॥
 आणक्किवकण परीक्ष्य, स्तुतो वचने, महितो विद्यादानेन ।
 तच्छिष्यान् पठत श्रुत्वा-कादशाङ्गी स्थिराऽभवत् ।
 भुत पूर्वगमप्यात्त, यत्किञ्चित्पठता भुतम् ॥ ८० ॥
 पठेत्युक्तोऽपठन् नित्य, तमेवालापक मुहु ।
 अपरान्पठन् श्रुत्वा, गृहानश्च तत भुतम् ॥ ८१ ॥
 निष्कार्थमन्यदा साधु-याते याते हि मध्यमे ।
 वहिर्जमौ गुरौ प्राप्ते, तस्थौ वज्रः प्रतिश्रये ॥ ८२ ॥
 अथान्यस्य स मण्डल्या, मध्ये त्रियतिवोष्टिका ।
 मध्ये स्थित स्वयमदात्, क्रमेणाह्नादिवाचनाम् ॥ ८३ ॥
 आयाता सूर्यो दधु-भुनयो द्राक् किमाययुः ।
 स्थरमाकर्ण्य गम्भीर, ज्ञात वज्रविजृम्भितम् ॥ ८४ ॥
 अपस्त्य कृण स्थित्वा, व्यधुर्नैवेधिकां ध्वनिम् ।
 यथास्थानेऽपि मुक्त्वा ता, प्रामाङ्गीत्स गुरो पदै ॥ ८५ ॥
 ज्ञात त्वमुं भुतधर, माऽवजानन्तु साधवः ।
 इत्याचार्या विहारार्थं, चक्षिता पञ्चपान् दिनाम् ॥ ८६ ॥
 योगिनः स्माहुरम्माक, भावी को वाचनागुरुः ।
 गुरवो वज्रमादिक-स्ते तथेति प्रपेदिरे ॥ ८७ ॥
 साधवोऽपि गुरुं वज्र-मासयित्वाऽऽसने प्रगे ।
 योगाऽनुष्ठानमाधाय, वाचनार्थमुपाविशन् ॥ ८८ ॥
 वाचनां स तथाऽऽदत्त, मन्दा अप्यपठन् यथा ।
 अधीतमपि तैः स्पष्टी-कर्तुं पृष्ट स शिष्टवान् ॥ ८९ ॥
 अथ ते साधवो दधु-गुरुणां बहवो दिनाः ।
 चेद्वगन्ति तदाऽस्माक, भुतस्कन्धः समाप्यते ॥ ९० ॥
 गुणैर्धीयतेऽह्वाय, तत्पौरुष्याऽपि वज्रतः ।
 इत्येव सर्वसाधूनां, वज्रो बहुमतोऽभवत् ॥ ९१ ॥

ज्ञापितास्ते वज्रगुणा-नित्याचार्याः समाययुः ।
 आप्राप्त्यर्थं तिनो जज्ञे, स्वाध्यायो वस्त ऊचिरे ॥ ९२ ॥
 जज्ञे किं त्वेष पवास्तु, स्वामिन् । नो वाचनागुरुः ।
 गुरुत्वेऽमुनोपात्त, कर्णाघातात् भुत ततः ॥ ९३ ॥
 युज्यते वाचनां दातु, नास्य स्वयमतद्ग्रहे ।
 ज्ञातु वो वज्रमाहात्म्य, वाचनाऽप्यपीयती ॥ ९४ ॥
 यत्स्वस्याऽऽसीद् गुरुः सर्व, श्रुते वज्रस्य तद्ग्रहौ ।
 विहरन्नन्यद्-ऽऽयासीत्, पुर दशपुराह्वयम् ॥ ९५ ॥
 वृक्षावासे सन्त्यवन्त्या, श्रीमच्छुभसूरयः ।
 तेभ्योऽन्यश्रुतमादातुं, वज्रः प्रैषि द्विसाधुयुक् ॥ ९६ ॥
 तदा च भद्रगुप्तार्योः, स्वप्नेऽपश्यन् यथा मम ।
 पतद्ग्रहं क्षीरभृत, पीत्वाऽऽगन्तु समाभवसीत् ॥ ९७ ॥
 साधूनां प्रातराचक्षु-स्तेऽन्योन्यफलमूचिरे ।
 गुरुत्वे प्रतीच्छोमे, वास्यत्येत्याखिल श्रुतम् ॥ ९८ ॥
 वज्रोऽप्यस्याद्वहिर्नक्त-मदक्ष्यायात पव हि ।
 ज्ञात्वादेशाद्गुरुर्वज्र, माहात्म्ये तव गृहवान् ॥ ९९ ॥
 तेषां पाद्वैद्य वज्रवि-र्देशपूर्वमीध्रीतवान् ।
 यत्रोद्देशस्तत्राजुक्-त्यागादशपुरेऽनु सः ॥ १०० ॥
 तत्रानुयोगानुज्ञायां, वयस्यैस्तस्य जृम्भकैः ।
 इन्द्राद्यैर्गौतमादीना-मिव चक्रे महान्महः ॥ १०१ ॥
 अमुमेवार्थं ग्रन्थकृदाह—
 “ जस्त अणुज्ञाप वा-यगस्तणे दसपुरास्मि नयरस्मि ।
 देवेहि कया महिमा, पयाणुसारि नमसामि ” ॥ १ ॥
 यस्याऽनुज्ञाते वाचकत्वे आचार्यत्वे, शेष स्पष्टम् ।
 अथान्यदा सिंहगिरि-र्दत्त्वा वज्रमुनेर्गणम् ।
 विधायानशन धीमान्, ययौ स्वर्गं समाधिना ॥ १०२ ॥
 वज्रस्वाम्यथ सयुक्तः, साधूनां पञ्चमिः शतैः ।
 सर्वेन प्रसरत्कीर्ति-र्व्यहरद्बोधयन् जनम् ॥ १०३ ॥
 इतश्च पाटलीपुत्रे, श्रेष्ठः श्रेष्ठो धनी धनः ।
 तत्पुत्री रुक्मिणी नाम्नी, रूपापास्तपुत्रोमजा ॥ १०४ ॥
 साध्व्यस्तद्यानशास्त्रास्था-भ्यर्क्षुर्गुणस्तुतिम् ।
 वज्रमेव पतीयन्ती, श्रुत्वा त रुक्मिणी स्थिता ॥ १०५ ॥
 आगच्छतोऽप्यनेकान् सा, वरकान् प्रत्यवेधयत् ।
 साध्व्योऽन्यधुर्न हे जज्ञे !, प्रती परिणयत्यसौ ॥ १०६ ॥
 साऽवदत् मा न वज्रविः, परिणयति चेत्ततः ।
 प्रवाजिष्याम्यहमपि, स्त्रियो हि पतिवर्मगाः ॥ १०७ ॥
 विहरन् पाटलीपुत्रे, वज्रोऽप्यन्येयुरागमत् ।
 निर्ययौ समुखस्तस्य, नगरेण सनागरः ॥ १०८ ॥
 दृष्ट्वाऽऽयातो वृन्दवृन्दै-र्दिव्यरूपान् बहुमुनीन् ।
 राजोत्वे सैष वज्रस्ते-ऽन्यधुस्तस्यैकशिष्यकः ॥ १०९ ॥
 मा भूत्वैरजनकोभः, इति वज्रगुरुस्तदा ।
 कृत्वा नपु परावृत्ति-मागच्छन्नस्तिशस्तधीः ॥ ११० ॥
 पश्चिमस्याधर्मे दृष्टो, वज्रः स्वल्पपरिच्छदः ।
 सानन्दं चन्दितो राज्ञा, तत उद्यानवेश्मनि ॥ १११ ॥
 धर्ममाख्यत्प्रभु क्षीरा-श्रवणान्धिर्जिनोदितम् ।
 तेनाक्षिप्तमना कृमानृत, नाऽविदत् कृच्छ्र तथा ॥ ११२ ॥
 अन्त पुरे तदाचक्षौ, चन्दितुं तं तदप्यगात् ।
 श्रुत्वा श्रेष्ठिमुता लोकात्, रुक्मिणी जनक ययौ ॥ ११३ ॥
 आयातोऽस्यत्र वज्रः स, तात ! तस्मै प्रदेहि माम् ।
 सोऽथ शृङ्गारयित्वा तां, निन्ये सार्कं स्वकोटिभिः ॥ ११४ ॥

भगवान् धर्ममाचख्यौ, शोकं सर्वोऽपि रञ्जितः ।
 दक्ष्यौ चास्य यथाऽनेके, गुणा रूपं न तादृशम् ॥ ११५ ॥
 ज्ञात्वा तदाशयं स्वामी, सहस्रदलमम्बुजम् ।
 कृत्वाऽन्यद्युः स्वरूपस्थः, केवलीवोपविष्टवान् ॥ ११६ ॥
 तं वीक्ष्योवाच लोकोऽस्य, सहज रूपमीदृशम् ।
 प्रार्थ्योऽङ्गनानां मा भूव-मित्यास्ते मय्यरूपजाक् ॥ ११७ ॥
 नृपोऽपि विस्मितः स्माह, शक्तिरेषाऽपि वोऽस्ति किम् ? ।
 लब्धीरनेकाः साधूनां, तदाख्यन्तुपतेर्गुरुः ॥ ११८ ॥
 श्रेष्ठिना मन्त्रिपुत्र्याद्यै-स्तानुपास्यज्जगौ च सः ।
 मरुका चेद्व्रतित्यन्तु, जगृहे साऽपि तद्व्रतम् ॥ ११९ ॥

अमुमेवार्थमाह—

“ जो कक्षाध धणेण य, निमतिओ जुवणम्मि गिहवइणा ।
 नयरस्मि कुसुमनामे, तं वयररिंसि नमसामि ” ॥ १२० ॥
 पदानुसारिणा तेन, स्वामिना प्रस्मृता सती ।
 महापरिज्ञाभयना-द्विद्योदधे नजोगमा ॥ १२१ ॥
 “ जेणुकारिआ विज्ञा, आगासगमा महापरिआओ ।
 वंदामि अञ्जवद्भरं, अपाच्छिमो जो सुअहराण ॥ १२२ ॥
 जणह अ आदिमिआ, जवुहीवं इमाह विज्जाप ।
 गत्तण माणुसनग, विज्जाप एस मे विसओ ॥ १२३ ॥
 जणह अ धारेअव्वा, न हु दायव्या मए इमा विज्जा ।
 अप्पहिआ य मणुआ, होहिंति अओ पर अणे ” ॥ १२४ ॥
 वज्रोऽथाऽगात् पूर्वदेशा-द्विहरन्नुत्तरापयम् ।
 अमूच्च तत्र दुर्गिकं, पन्थानोऽपथिकाः स्थिताः ॥ १२५ ॥
 ततः सङ्ग उपागत्याऽ-वादीक्षितारयेति तम् ।
 पटेऽथ विद्यया सङ्ग-मारोप्य प्रस्थितः प्रभुः ॥ १२६ ॥
 शय्यातरस्तु चार्यैः, गतोऽन्यायाद्विज्ञोक्त्य तान् ।
 शिक्षां जित्वाऽवदद्वज्र, प्रभो ! साधर्मिकोऽस्मि वः ॥ १२७ ॥
 अथेदं स्मरता सूत्रं, सोऽन्यध्यारोपितः पटे ।
 (“ साहम्मिअवच्छल-स्मि उज्जुया य सज्जाप ।
 चरणकरणम्मि अ तथा, तित्थस्स पमावणाए य ” ॥ १ ॥)
 पञ्चाङ्गुत्पतितः स्वामी, प्राप्तो नाम्ना पुरी पुरीम् ॥ १२८ ॥
 सुजिक्क वरसेत तत्र, भावकास्तत्र भूरयः ।
 तत्र ताथागत आओ, राजा तेऽहं यवस्ततः ॥ १२९ ॥
 आर्हतानां च तेषां च, चैत्येषु स्पर्धया पुनः ।
 कुर्वतां ज्ञानपूजादि, जेनेन्यस्तत्परामवः ॥ १३० ॥
 न्यवार्यन्ताथ तैः पुष्पा-एयहेतां राजवर्चसा ।
 आकाः पर्युवणायां च, पुष्पामाव गुरु जगुः ॥ १३१ ॥
 प्रजो ! जेनेषु युष्मासु, शासनं वोऽभिचूयते ।
 अथोत्पत्य ययौ वज्रः, कृष्णामाहेश्चरी पुरीम् ॥ १३२ ॥
 हुताशनवने तत्र, पुष्पकुम्भं प्रजायते ।
 भगवत्पिण्डमित्र च, तद्वितस्तस्य चिन्तकः ॥ १३३ ॥
 प्रभु दृष्ट्वाऽवदत्तोपा-त्किं वोऽत्रागमकारणम् ? ।
 स्वाम्यूच पुष्पसम्प्राप्तिः, स स्माहानुग्रहो मम ॥ १३४ ॥
 स्वाम्यूचे सुमनसोऽभि-मेलयेयावदेव्यहम् ? ।
 जुळे हिमवति स्वामी, ययौ श्रीसन्निधौ तत ॥ १३५ ॥
 देवार्वाथोपात्तपद्मा, पद्मा पद्मद्रवास्तदा ।
 प्रैक्ष्य प्रभुं प्रमोदेन, प्रणुआ प्राणमत्यधीः ॥ १३६ ॥
 ऊत्तेऽयादिश्यता स्वामी, सोऽत्रदत्तपद्मपयः ।
 साऽर्पयत् गृहीत्वा स, हुताशनगृहेऽगमत् ॥ १३७ ॥
 विमानं तत्र निर्माय, पुष्पकुम्भं निधाय च ।

जम्नके कृतसंगीत, पद्ममूले स्वयं स्थितः ॥ १३४ ॥
व्योम्ना पुण्या उपर्यागा-द्विचरे सौगतास्ततः ।
अहो ! अस्मात्प्रातिहार्यं, देया अप्याययुर्दिघः ॥ १३५ ॥
तद्विहारमयोद्धृत्य, गतास्ते चैत्यमर्हतः ।
तमाहात्म्यं नृपः प्रेक्ष्य, सपौरुष्याहृतोऽभवत् ॥ १३६ ॥

उक्तमेवार्थमाह—

“माहेसरीउ मेसा, पुरिअ नीआ हुआसणगिदाओ ।
गयणतलमइयइत्ता, बरेण महाणुजायेण” ॥ १ ॥
माहेइयर्थो नगर्याः सकाशात् सस्यामिकात् नत्वरण्यादेरस्यामि-
कात् प्रस्तावात्पुष्पसपदिदि हेयम् । घञ्जेण महानुभावेन हुताशन-
त्यन्तरगृहभूताऽऽरामात् गगनतलमतिव्यतीत्य अतिशयेन उल्ल-
ङ्घ्य पुरिकां पुरिनाम्नीं भर्गी नीता, एवं विहरन् घञ्जस्वामी धीमा-
लपुरं गत । इत्यन्तं कालं यावदनुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्, ततः
पृथक्त्वमत्तदित्याह—

“अपुहत्ते अनुओगो, चत्तारि दुधारमासप एगो ।
पुहत्ताणुओगकरणे, ते अत्थ तओ अघुच्छिआ” ॥ १ ॥
आ०क० । आ० म० । आ०चू० । वि० ० । पचा० । ओघ० । ध० ० ।
कल्प० । तं० । (अस्य घञ्जस्यामिनोऽनशनं कृत्वा देवलोकगमन
'भञ्जराक्षिप' शब्देऽप्येवनागे २१२ पृष्ठे उक्तम्) अस्य घञ्जस्वामिनो
जन्म (वि० सं० २६) (सर्वायु ८८) (वि० सं० ११४ वर्षे) स्वर्गं गत
जै० इ० । अत्रकाव्यानि—“माहाधिहसुकीचक्रे, येन बालेन ली-
हया । स्त्रीनदीस्नेहपूरस्तं यज्ञपि प्लापयेत्कथम् ?” ॥ १ ॥ आ०क० ।
“बदामि अज्जधम्मं, तत्तो यद् यं नदगुत्त च । तत्तो यं अज्जव-
इरं, तन्नियमगुणेहि ययरत्तम्” ॥ न० । “समजनि घञ्जस्या-
मी, जम्मकदेवार्पितस्फुरद्विध । बाल्येऽपि जातजाति-स्मृति-
प्रलुब्धमदशपूर्वी” ॥ १ ॥ ग० ४ अधि० । अस्याचार्यस्य शिष्य-
सम्पद—“थेरस्स णं अज्जवडरस्स गोयमसगोत्तस्स अतेवासी
थेरे अज्जवडरसेणे उणोभियगोत्ते” । “थेरे अज्जपठमे थेरे अज्ज-
रहे” । कल्प० । (तीर्थोन्नासिकमत एतन्मरणे स्थानाङ्गव्युत्पेदे)
“तेरसवरिससण्दि, पण्णासासमहिण्दि घोच्छेदो ।
अज्जवडरस्स मरणे, त्राणस्स जिणेहि निहिट्ठो” ॥ १ ॥ ति० ।
अज्जवडरसेण-आर्यवज्जसेन-पु० । आर्यवज्जस्य शिष्ये, कल्प० ।
अज्जवडरी-आर्यवज्जी-स्त्री० । आर्यवज्जाभिः सृतायां शास्त्राया-
म्, “थेरेहिं तो णं अज्जवडरेहिं तो णं गोयमसगोत्तेहिं तो इत्थ
णं अज्जवडरी साहा णिगया” । कल्प० ।

अज्जवडराण-आर्यवस्थान-न० । आर्यवस्थानस्तस्य स्थाना-
नि भेदा आर्यवस्थानानि । साध्वार्जवादिषु सम्यग्भेदेषु,
पंच अज्जवडराणां पञ्चत्ता । तं जहा-साहुअज्जवं साहुमहवं
साहुलायवं साहुखंती साहुमोत्ती ।

साधु सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वेन शोभनमार्जवं मायानिग्रहस्ततः
कर्मधारय, साधोर्वा यतेरार्जवं साध्वार्जवम् । एवं शेषाण्यपि ।
स्था० ५ ग० १ उ० ।

अज्जवडपाण-आर्यवप्रधान-त्रि० । मायोदयनिग्रहप्रधाने, औ० ।
अज्जवभाव-आर्यवजाव-पु० । अशठतायाम्, “मायं चज्ज-
वभावेण” द० ८ अ० ।

अज्जवया-अर्जवता-स्त्री० । मायवर्जनात्मके भ्रमणभेदे, पा० ।
अस्याः फलम्—

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? अकिंचणाए णं

काउज्जुययं जामुज्जुययं अविंसंवायणं जणयइ । अवि-
संवायणसंपणयाए जीवे धम्मस्स आराहुए भवइ ४२
लोकाविनाजाविनी च मायेति तदभावेऽवश्यं प्रावार्जवमतस्त-
दाह-(अज्जवयाए त्ति) सूत्रत्वाद्भृजुरवक्रस्तद्भाव आर्जवम्, तेन
मायापरिहाररूपेण कायेन, भृजुरेव भृजुकः कायभृजुकस्तद्भा-
वस्तच्चा, कुञ्जादिवेपमूविकाराद्यकरणतः प्राञ्जलिता, ताम् तथा
प्राघोऽभिप्रायस्तस्मिन्स्तेन वा भृजुकता भावभृजुकता, यदन्य-
दविचिन्तयन् लोके भक्त्यादिनिमित्तमन्यद्वाचा कायेन वा स-
माचरति तत्परिहाररूपा, एवं भाषायाभृजुकता भावभृजुकता, य-
दुपहासादिहेतोरन्यदेशभाषया भाषणं तत्परित्यागात्मिका,
तथाऽविसंवादन पराविप्रतारण जनयति, तथा विधिश्चा-
विसंवादनसम्पन्नतयोपलक्षणत्वात् कायभृजुकतादिसम्पन्नतया
च जीवो धर्मस्थाराधको भवति, विशुद्धाध्यवसायत्वेनान्यज-
न्मन्यपि तद्व्यासे । उक्त० २९ अ० ।

अज्जविय-आर्जव-न० । मायावक्रतापरित्यागात् (आचा०)
अमायित्ये, सूत्र० २ भु० १ अ० ।

अज्जवेमय-आर्यवेदेक-न० । श्रीगुप्ताकारीतसगोत्राभिः सृतस्य
चारुणगणस्य पष्ठे कुत्से, कल्प० ।

अज्जसमिय-आर्यसमित-पु० । आर्यवज्जस्वामिमातुः सुनन्दाया
प्रातरि आर्यसिंहगिरिशिष्ये, कल्प० । आ० म० द्वि० । आ०
चू० । येन योगप्रभावाच्चक्षुरासन्नब्रह्मद्वीपे पादद्वेपेन जलो-
परि गच्छन्त तापस जित्वा तं सानुगं प्रबाल्य ब्रह्मद्वी-
पिका शाक्ता निर्गमिता । कल्प० । ('बभदीविया' शब्दे
यद्व्यामि)

अज्जसमुद्-आर्यसमुद्-पुं० । उदधिनामनि आचार्य्यभेदे ज-
ह्वाबलपरिजीणानामुदधिनाम्नामार्य्यसमुद्राणामपराक्रम म-
रणमभूदिति वृद्धप्रसिद्धिः । आचा० १ भु० ८ अ० १ उ० ।

अज्जसाम-आर्य्यश्याम-पु० । आरात् सर्वहेयधर्मेभ्यो यातः
प्राप्तो गुणैरित्यार्य्यं, स चासौ श्यामश्च आर्य्यश्यामः ।
प्रज्ञापनाकृतिकालकाचार्य्यनामके आचार्य्ये, प्रज्ञापनासूत्रक-
रणप्रयोजनादि तदुपक्रम एवोक्तम्—“वायगवरवंसाओ, ते-
धास इमेण धीरपुरिसेण । दुद्धररयेण मुणिणा, पुच्चसुयसमि-
द्धवुद्धीण” ॥ ३॥ “सुयसागरा वि एरु-ए जेण सुयरयणसु-
त्तम विष्ण । सीसगणस्स भगवओ, तस्स एमो अज्जसा-
मस्स” ॥ ४२॥ ('पणवणा' शब्दे चैतद् व्याख्यास्यते)

अज्जसुहत्थि (ए)-आर्य्यसुहस्तिन्-पु० । आर्य्यस्थूलम-
हस्य शिष्ये स्थविरे, आव० ४ अ० । थैरार्य्यसुहस्तिभिर्दीक्षितो
द्रमको मृत्वा सम्प्रति नामा राजाऽभूत् । कल्प० । ('सपइ'
शब्देऽस्य कथानकम्)

अज्जसुहम्म (ए)-आर्य्यसुधर्मन्-पुं० । भ्रमणस्थ भगवतो
महावीरस्य पञ्चमे गणधरे, तत्स्वरूप चेदम्-कुल्लागसन्निवेशे
धम्मिल्लविप्रस्य भार्य्या भद्रिला, तयोः सुतश्चतुर्दशविद्यापात्र-
म् । पञ्चाशद्वर्षान्ते प्रव्रजित । त्रिशद्वर्षाणि वीरसेवा कृता वीर-
निर्वाणाद् द्वादशवर्षान्ते जन्मतो द्विनवतिवर्षान्ते च केवलम् ।
ततोऽष्टौ वर्षाणि केवलित्व परिपाल्य शतवर्षायुषं जम्बूस्वा-
मिन स्वपदे संस्थाप्य शिव गतः । अन्त० १ वर्ग० । अणु० । सं० ।
अज्जसेणिय-आर्य्यसैनिक-पुं० । आर्य्यशान्तिसैनिकस्य द्वि-
तीये शिष्ये, कल्प० ।

अञ्जसेणिया-आर्यसैनिकी-स्त्री०। आर्यसैनिकाभिर्मतायां शाखायाम्, “ थेरेहितो णं अञ्जसेणिएहितो इत्थ ण अञ्जसेणिया साहा णिग्गया ” कल्प० ।

अञ्जा-आद्या-स्त्री० । आद्यौ भवा, दिगादित्वात् यत् । वाच० ‘ गवि ’ इति केचित् । अम्बिकायाम्, दे० मा० १ धर्ग० ।
आर्या-स्त्री० । ऋ-एयत् । प्रशान्तरूपायां दुर्गायाम्, झा० ५ अ०, ग० । सप्तचतुष्कलगणादिव्यवस्थानिषेधे मात्राबन्दासि, ज० ३ चक्र० । आर्यैष सस्कृततरभाषासु गाथासङ्गा । ग० १ अधि० । आर्यारचन हि एकविंशतिरूपाया कलायां गण्यते (तच्च ‘ कला ’ शब्दे तृ० ज्ञा० पृष्ठ ३७७ द्रष्टव्यम्) झा० १ अ० । साञ्ज्याम्, ग० ३ अधि० । आर्यासामाचार्याः सूचनिकामात्रमत्र दर्शयते विस्तरस्तु यथास्थानम् (‘ एकागि ’ शब्दे एकाकित्वनिषेधो वक्ष्यते)

आर्याया गृहसमकं दुष्टभाषणे दोषमाह—

जत्थ जयारमयार, समणी जंपइ गिहत्थपच्चक्खं ।

पच्चक्खं संसारे, अञ्जा पक्खिवइ अप्पाणं ॥११०॥

यत्र गच्छे (जयारमयारमिति) अवाच्यदुष्टगालिरूप अकार-मकारसहित वचन या भ्रमणी गृहस्थप्रत्यक् गृहसमकं जल्प-ति । हे गौतम ! तत्र गच्छे सा आर्या आत्मानं ससारे प्रत्यक् सा-क्षात् प्रक्षिपतीति ॥ ११० ॥ (‘ गारत्थियवयण ’ शब्दे दोष प्रायश्चित्तं च वक्ष्यामः)

अथार्याया विचित्रवस्त्रपरिभ्रान्ते दोषमाह—

गणि ! गोअम ! जा लचित्रं, सेअवत्थं विवज्जिउं ।

सेवए चित्तरूपाणि, न सा अञ्जा विआहिआ ॥१११॥

हे गणिन् गौतम ! याऽऽर्या उचितं श्वेतवस्त्रं विषयं चित्ररूपाणि विविधवर्णानि विविधानि चित्राणि वा वस्त्राणि सेवते, उपलक्षणात्पात्रदण्डाद्यपि चित्ररूपं सेवते, सा आर्या न कथि-तेति । विषमाक्षरेति गाथाबन्धः ॥ १११ ॥

अथार्याया गृहस्थादीनां सीवनादिकरणे दोषमाह—

सीवणं तुन्नणं जरणं, गिहत्थाणं तु जा करे ।

तिल्लमुव्वट्ठणं चावि, अप्पणो य परस्स य ॥११२॥

या आर्या गृहस्थानां तुशब्दादन्यतीर्थिकादीनां च वस्त्रकम्बल-चीनांशुकादिसंबन्धि सीवन, तुन्न, [जरणमिति] भरणं करो-ति, तथा या आत्मनश्च स्वस्य परस्य च गृहस्थभिस्मादेः (तिल्ल-ति) तैलान्यङ्गम् (उव्वट्ठणति) सुरमिचूर्णादिनोद्वर्तनं च अपीति-शब्दाभ्यनञ्जनमुखप्रक्षालनमण्डनादिकं च करोति, न सा आ-र्या व्याहृतेति पूर्वगाथात् आकर्षणीयम् । तस्याः पार्श्वस्थादि-त्वसमासादनात् । ग० ३ अधि० (अत्र सुजघा काली चेत्युदा-हरणे ‘ बहुपुत्तिआ ’ काली ’ शब्दयोः गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्या)

अथ गाथात्रयेण गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्याः दर्शयति-

गच्छइ सविस्सामगई, सयणीयं तूलिअं सविन्वोअं ।

लव्वट्ठेइ सररीरं, सिणाणमार्इणि जा कुणइ ॥ ११४ ॥

गेहेसु गिहत्थाणं, गंतूणं कहा कहेइ काही आ ।

तरुणाइ अहिबन्ते, अणुजाणे साइ पणिणीया ॥११५॥

याऽऽर्या सविन्वोक यथा स्यात्तथा सविस्सासा गतिर्यस्याः सा सविस्सासगतिर्गच्छति, तथा शयनीयं पल्लव्यादि वा तूलिकां च सस्कृतरुतादिभूतामर्कतूलादिभूतां वा, तथा या शरीरमु-द्धनयति, तथा या स्नानादीनि च करोति । अथवा सविस्सास-

गतिर्गच्छति तथा शयनीयं तूलिकां च (सविन्वोअं ति) उच्छी-र्षकसहितां सेवते । शेषं तथैव । तथा गृहस्थानां गृहेषु गत्वा उपलक्षणत्वात् उपाभयेऽपि स्थिता समयोगान् मुक्त्वा या काथिका कथिकलक्षणोपेता आर्या कथा धर्मविषयाः ससार-व्यापारविषया वा कथयति, तथा या तरुणादीन् पुरुषान् अग्नि-पतत अग्निमुखमाच्छतोऽनुजानाति सुन्दरमागमनं प्रवतां पुनराग-मनं विधेयम्, कार्यं ज्ञाप्यमित्यादिप्रकारेण ‘ ईजे इराः पादपूरणे ’ मा३११७ इति प्राकृतसूत्रोक्तेरकारः पादपूरणार्थः । गच्छस्य प्रत्य-नीका शत्रुतुल्या स्यात्, भगवदाज्ञाधिराधकत्वादिति ॥ १५ ॥

वृद्धाणं तरुणाणं, रत्ति अञ्जा कहेइ जा धम्मं ।

सा गणिणी गुणसायर ! पडिणीया होइ गच्छस्स २१६
वृक्षानां स्थविराणां, तरुणानां यूनां, पुरुषाणां (रत्ति ति) “ सप्तम्या द्वितीया ” मा३१३७ इति प्राकृतसूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाविधानात् । रात्रौ या आर्या गणिनी (धम्म ति) धर्मकथां कथयति, उपलक्षणाद् दिवसेऽपि या केवल-पुरुषाणां धर्मकथां कथयति, हे गुणसागर ! हे ह्यम्भूते ! सा गणिनी गच्छस्य प्रत्यनीका भवति । अत्र च गणिनीग्रहणेन शे-षसाध्वीनामपि तथाविधाने प्रत्यनीकत्वमवसेयमिति ॥ ११६ ॥

अथ यथा भ्रमणीभिर्गच्छस्य प्रधानत्वं-

स्यात् तथा दर्शयति-

जत्थ य समणीणमसं-खमाई गच्छम्मि नेव जायंति ।

तं गच्छं गच्छवरं, गिहत्थभासात् नो जत्थ ॥ ११७ ॥

यत्र च गणे भ्रमणीनां परस्परम् (असंखमानि) कलहा नैव जायन्ते नैवोत्पद्यन्ते, तथा यत्र गणे गृहस्थानां प्रायाः ‘ मामा आई वाप प्राई ’ इत्यादिका अथवा गृहस्थैः सह सावद्यप्राया गृहस्थप्रायास्ता नोच्यन्ते, स गच्छं गच्छवरः सकलगच्छप्रधा-नः स्यादिति ॥ ११७ ॥

अथ स्वच्छन्दा भ्रमणयो यत् प्रकुर्वन्ति

तज्जाथापञ्चकेन प्रकटयति—

जो जत्तो वा जाओ, नाऽऽलोअइ दिवसपक्खिअं वा वि ।

सच्छन्दा समणीओ, मयहरिआए न ठायंति ॥ ११८ ॥

यो यावान् वा अतिचार इति शेषः । जातः उत्पन्नः, त तथा दैवसिक पाक्षिकं वा अपिशब्दाच्चातुर्मासिक सांवत्सरिक वाऽतीचार नाऽऽलोचयन्ति । अत्र वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात् । स्वेच्छाचारिण्यं भ्रमण्यः, तथा महत्तरिकाया साञ्ज्या आज्ञा-यामिति शेषः । न तिष्ठन्ति इति ॥ ११८ ॥

विटलियाणि पउंजति, गिह्वाणसेहीण मेव तप्पंति ।

अणगाढे आगाढं, करंति आगाढि अणगाढं ॥ ११९ ॥

विण्टलिकाभि निमित्तादीनि विण्टल निमित्तादीन्योद्यनिर्युक्तिवृ-त्त्यादौ व्याख्यानात् । तानि प्रयुज्यते । अत्रापि वचनव्यत्ययः प्राकृत-त्वादेव । तथा ग्लानाश्च रोगिण्यः शैत्यश्च नवदीक्षिता इति ब्रह्म । अतस्ता नैव तर्पयन्ति-औषधमेपजवस्त्रपात्रज्ञानदानादिना नैव प्रीणयन्तीत्यर्थः । अत्र सूत्रे “ कच्चिद् द्वितीयादेः ” मा३१३४ इति प्राकृतसूत्रेण द्वितीयास्थाने षष्ठी । यथा-“ सीमाधरस्सवदे-त्ति ” तथा आगाढमवश्यकर्त्तव्यं ग्लानप्रतिजागरणादिकं, न आगाढं अनागाढं तस्मिन् अनागाढे, कार्यं इति शेषः । आगाढ-मवश्यकर्त्तव्यमिति कृत्वा कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा आगाढेऽवश्यकर्त्त-व्ये कार्येऽनागाढं कार्यं, येन कृतेन विनाऽपि सरति तत्कार्यं कुर्वन्ती

त्यर्थः । अथवा अनागादयोगानुष्ठाने वर्तमाने आगादयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, तथा आगादयोगानुष्ठानेऽनागादयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, स्वच्छन्दाः श्रमण्य इति कर्तृपदं पूर्वग्रथात् आकर्षणीयम् । एवमश्रेतनगाथाधिकेऽपीति ॥ ११९ ॥

अजयाए पकुवन्ति, पाहुणगाण अबच्छला ।

चित्तलयाणि असेवन्ति, चित्ता रयहरणे तहा ॥ १२० ॥

अश्रेतनया ईर्याद्यशोधनेन प्रकुर्वन्ति गमनादिकमिति शेषः । तथा प्राधूर्णकानां प्रामात्तराद्यागतसाध्वीनामवत्सला निर्दो-विशुज्जाभ्रपानादिना भक्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा चित्राणि, सूत्रे च कप्रत्ययः स्वार्थिकः, प्राकृतलक्षणवशात् । चकारः समुच्चये । विचित्राणि वस्त्राणि इति शेषः । सेवन्ते परिदधति, तथा चित्राणि पञ्चवर्णगुल्लिदिरचनोपेतानि रजोहरणानि सेवन्ते धारयन्ति । स्वच्छन्दाः श्रमण्य इति, बिभ्रमाकुरेति गाथाच्छन्दः ॥ १२० ॥

गइविन्मपाइएहिं अगार-विगार तह पयासंति ।

जह वुह्णगाण मोहो, समुहुरइ किं तु तरुणाणं ? ॥ १२१ ॥

स्वच्छन्दाः श्रमण्यो गतिविभ्रमादि (अगारविगारसि) अत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । तत आकारं मुखनयनस्तनाद्याकृतिं, विकारं च मुखनयनादिविकृतिं, यद्वा-आकारस्य स्वाभाविकाकृतौ विकारो विकृतिस्तथा प्रकाशयन्ति प्रकटयन्ति यथा वृक्षानाम्, अपेक्षितमानत्वात् स्थविराणामपि, मोहः कामानुरागः, समुदीर्यते समुत्पद्यते, किं पुनस्तत्त्वानाम्, तेषां सुतरां समुत्पद्यत एवेत्यर्थः । तुः पुनरर्थः ॥ १२१ ॥

बहुसो उच्चावन्ती, मुहनयणे हत्थपायकक्खाओ ।

गिण्हेइ रागमंमल, सोइदिअ तह य कव्वट्टे ॥ १२२ ॥

मुखनयनानि हस्तपादकक्षाश्च बहुशो वारं वारं उच्छालयन्ति स्वच्छन्दाः श्रमण्यः, तथा रागमाकृतं वसन्तादिरागसमूहः अश्रेतन 'तह य चि' पदस्य 'गिण्हेइ' इति पदेन सह संबन्धात् (तह य गिण्हेइ चि) तथैव गृह्णन्ति तथैव कुर्वन्तीत्यर्थः । यथा (कव्वट्टे चि) कल्पस्थाः समयपरिभाषया बाह्यकास्तेषामपि श्रोत्रेन्द्रियं भवणेन्द्रियम्, 'गिण्हेइ' इति क्रियाया अत्रापि संबन्धाद् गृह्णन्ति हरन्तीत्यर्थः । अथवा कारणे कार्योपचारात् रागो रागोत्पत्तिहेतुर्वस्तु, यथा-मुखे शृङ्गारगीतादि, नयनेऽञ्जनादि, मस्तके सीमन्तादि, वलाटे तिलकादि, कण्ठे कुसुममालादि, अघरे ताम्बूलरागादि, शरीरे चन्दनलेपादि, तस्य मण्डलं समूहं तथा गृह्णन्ति यथा बाह्यानामपि श्रोत्रेन्द्रियमुपलक्षणत्वादन्यदिन्द्रियचतुष्कं मनश्च गृह्णन्ति हरन्ति । अत्रोत्तरार्धे पाठान्तरम् । यथा-"गण्हेण रामणं मंडणं, भोयति च तारु कव्वट्टे" । अस्यार्थः-गृहस्थबाह्यकानां ग्रहणं कुर्वन्ति, रामणं मञ्जुश्रीमन, मण्डनं वा प्रसाधनम्, यदि वा ताः कल्पस्थान् गृहस्थबाह्यकान् प्रोजयन्ति । अत्रापि गाथायां विभक्तिलोपविभक्तित्ववचनव्यत्ययाः प्राकृतत्वादेवेति ॥ १२२ ॥

अथ साध्वीनां शयनविधिं दर्शयन्नाह-

जत्थ य थेरी तरुणी, थेरी तरुणी य अतरे सुयई ।

गोअम ! तं गच्छवरं, वरनाणचरित्तआहारं ॥ १२३ ॥

यत्र च गणे स्थविरा, ततस्तुरुणी, पुनः स्थविरा, ततस्तुरुणीत्येवमन्तरिताः साध्व्यः स्वपन्तीति भावार्थः । तरुणीनां निरन्तरशयने हि परस्परजङ्गाकरस्तनादिस्पर्शनेन पूर्वक्रीमितस्मरणादिदोषः स्यादतः स्थविरान्तरिता एव तां शेरते । हे गौतम ! वर-ज्ञानचारित्र्याधारं तं गच्छवरं जानीहीति ॥ १२३ ॥

अथ या आर्या न भवन्ति ता गाथात्रयेण दर्शयति-
धोअंति कंठिआओ, पोअंती तह य दिति पोत्ताणि ।

गिहिकज्जचित्तगाओ, न हु अज्जा गोअमा ! ताओ ॥ १२४ ॥

कण्ठिका गलप्रदेशान् धावन्ति नीरेण क्षालयन्ति, तथा (पोअति चि) मुक्ताफलविदुमादीनि प्रोतयन्ति, गृहस्थानामिति गम्यते । तथा च (पोत्ताणि चि) बालकाद्यर्थं वस्त्राणि ददति, चकारादीषद् धजटिकादिकमपि ददति । अथवा 'पोत्ताणि चि' जलाद्रीकृतवस्त्राणि ददति, मलस्फोटनाय शरीरे धर्षयन्तीत्यर्थः । तथा गृहिकार्थचित्तिका अगारकृत्यकारणतत्पराः, हे इन्द्रभूते ! ता आर्या 'न हु' नैव भवन्तीति गाथार्थः ॥ १२४ ॥ खरघोमाइहाणे, वयंति ते ना बि तत्थ वचंति ।

वैसत्थीसंसमगी, ठवस्सयाओ समीवम्मि ॥ १२५ ॥

खरा गर्दभाः, घोटाकास्तुरङ्गमाः आदिशब्दाद् इत्यादयः, तेषां स्थाने या व्रजन्ति । उक्तं च व्यवहारभाष्यसप्तमोद्देशके-"तह चैव हत्थिसाला, घोडगसाला न चैव आसन्ना । जति तह जंतसाला, कोहीयत्त च कुव्वन्ति" । अथवा [खरसि] खरका दासा, घोटा भट्टा, अयं चानयो' शब्दयोरर्थः, आदिशब्दात् द्यूतकारादयः, तेषां स्थाने व्रजन्ति ते वा गर्दभाश्चादयो दासभट्टादयो वा, तत्राऽऽर्थिकोपाश्रये व्रजन्ति समायान्तीत्यर्थः । श्री-व्यवहारभाष्यसप्तमोद्देशके त्विदं प्रथमपदस्य पाठान्तरम्-'थ-लिघोडाइहाणे चि' तत्र स्थाल्या देवद्रोण्यः, तत्र घोटा मिङ्गरा, अत्रादिशब्दस्तेषामेव देवडिङ्गराणामनेकमेदव्यापनार्थं, तेषां स्थाने व्रजन्ति । तथा स्थालीघोटादेवडिङ्गरापरपर्यायास्तत्रार्थिकोपाश्रये व्रजन्ति । तथा वेश्यास्त्रीसंसर्गां पुमान् सदैव यासां समीपे वसति, यदि वा वेश्यागृहसमीपे यासामुपाश्रयः, ता आर्यिका न भवन्तीति शेषः ॥ १२५ ॥

सज्जायमुक्कजोगा, धम्मकहाविकहपेसण गिहीणं ।

गिहिनिस्सिज्जं वाहिं-ति संयवं तह करंतीओ ॥ १२६ ॥

स्वाध्यायेन मुक्तो योगो व्यापारो यासां ताः स्वाध्यायमुक्तयोगा । 'छक्कायजोगसि' पाठे तु षट्कायेषु मुक्तो योगो यतनालक्ष्यो व्यापारो यामिस्ताः षट्कायमुक्तयोगास्तथाभूताः सत्यो गृहिणा धर्मकथानामाख्याने, विकथानां च क्लीकथादीनां करणे, प्रेषणे प्रेरणे च नानारूपे गृहिणामुक्ताः, तथा या गृहिनि-बद्धां वाधन्ते गृहे निषद्यामुपविशन्तीत्यर्थः । तथा याः सस्तव परिचयं गृहस्थैः सह कुर्वन्त्यो वर्तन्ते, ताः साध्व्यो न भवन्तीति ॥ १२६ ॥ ग० ३ अधि० ।

अथ गाथात्रयेण वचनगुप्तिमाश्रित्य साध्याचारं दर्शयति-

जत्थुत्तरपडित्तर, बुद्धिआ अज्जा उ साहुणा सच्चि ।

पलवन्ति मुरुहा वा, गोयम ! किं तेण गच्छेण ? ॥ १२७ ॥

यत्र गणे आर्या साधुना सार्कमुत्तरं प्रत्युत्तरं वा (बुद्धिश्चि) वृक्षा अपि ताः, अप्यर्थस्यात्र योजनात्, तथा सुरुष्टा अपि भृशं सरोपा अपि प्रवृत्तपन्ति प्रकर्षेण वदन्ति । हे गौतम ! तेन गच्छेन किम् ? न किमपीत्यर्थः ॥ १२७ ॥

जत्थ य गच्छे गोयम !, उप्पसे कारणम्मि अज्जाओ ।

गणिणीपिठ्ठिआओ, जासंती मडअसहेण ॥ १२८ ॥

हे गौतम ! यत्र च गच्छे ज्ञानादिकारणे उत्पन्ने (अज्जाओ चि) आर्याः साध्व्यो गणिनीपृष्ठस्थिता मृडुकशब्देन भाषन्ते स गच्छः स्यादिति शेषः ॥ १२८ ॥

माज्जए दुहियाए, मुण्हाए अहव जइणिमार्इणं ।

जत्थ न अज्जा अक्खइ, गुत्तिविभेयं तयं गच्छं ॥१३१॥

यत्र गच्छे आर्या मातुः दुहितुः स्नुषाया अथवा भगिन्यादीनां सचन्धि (गुत्तिविभेयं ति) गुतेर्वचनगुतेर्नैदो भद्रो यस्मात्तद् गुत्तिविभेदम्, नात्रकोद्घाटकमित्यर्थः । वचनमिति शेषः । नाख्याति । इदमुक्तं भवति-हे मातः ! हे स्नुषे ! हे भगिनि ! इत्यदिनात्रकोद्घाटकवचनेन मात्रादीनां प्रत्ययति । यदुक्तं श्रीदशवैकादिके सप्तमाध्यायने-“ अज्जिए पज्जिए वा वि, अम्मो माउ-सियं ति अ । पिउस्सिए भायणिज्जत्ति, धूपे नत्तुणियत्तिय” ॥१॥ ॥ १५ ॥ तथा-“अज्जए पज्जए वा वि, वप्पसुल्लु पिउं ति अ । माउसा भायणिज्जत्ति, पुत्ते नत्तुणियत्तिय” ॥१॥ ॥ अथवा ममेय माता ममेय दुहितेत्यादि, अहमस्या वा माता अहमस्या वा दुहिता अहमस्या वा वधूतीत्यादि वा मात्रकोद्घाटनवचन कारणं विना न जल्पति । अथवा मात्रादीनामपि ‘ गुत्तिविभेयं ति ’ गोपनीयमर्थं न कथयति; स गच्छः स्यादिति ॥१३१॥

अथ गाथाश्रयेण साध्वीस्वरूपवक्तव्यताशेषमाह-

दंसणियारं कुणई, चारित्तानां जणेइ मिच्छत्तं ।

दुण्णं वि वग्गाणज्जा, विहारभेयं करेमाणा ॥१३२॥

दर्शनातिचार करोति, चारित्रनाश, मिथ्यात्व च जनयति, द्वयोरपि वर्गयोः साधुसाध्वीरूपयोः, आर्याः किं कुर्वाणाः, विहार-आगमोक्तविधिना विचरणम्, तस्य भेदो मर्यादोलङ्घनम्, तं कुर्वाणाः ॥१३२॥ ग० ३ अधि० ।

आर्याणां ज्ञापणप्रकारः-

तम्मूलं संसारं, जणेइ अज्जा वि गोयमा ! नूणं ।

तम्हा धम्मवएसं, मुत्तुं अन्नं न भासिज्जा ॥ १३३ ॥

तद् धर्मोपदेशव्यतिरिक्त वाक्य, मूल कारण यत्र संसारजनने तत्तन्मूलं, तद्यथा स्यात्तथा हे गौतम ! आर्याऽपि साध्यपि नूनं निश्चिनं संसारं जनयति धिक्कुर्याति, यस्मात् इति शेषः । तस्मा-द्धर्मोपदेशं मुक्त्वा अन्यदर्थमार्या न ज्ञापेत् ॥१३३॥

मासे मासे ऊ जा, अज्जा एगसित्थेण पारए कलहे ।

गिहत्थजासाहिं, सव्वं तीइ निरत्थयं ॥ १३४ ॥

‘ मासे मासे ऊ ’ इत्यत्र “क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च” इति सूत्रेण सप्तमी । वीप्साया चिद्वचनम् । तुल्यैवकारार्थः । ततश्च मासे मासे एव नत्वर्त्तमासादौ या आर्या साध्वी एकासिक्येन एककणेन पारयेत् पारणकं कुर्यात् । (कलहे ति) कलहयेच्च कलहं कुर्यात् गृहस्थजाषाभिर्ममोद्घाटनशापप्रदानजकारम-कारादिवचनैरित्यर्थः । अथवा कलहे राटौ गृहस्थजाषाभिः क्रियमाणे सतः इति शेषः । सर्वं तपः प्रवृत्तिं धर्मानुष्ठानं तस्या निरर्थकं निष्फलमिति । विषमाकरोति गाथाच्छन्दः ॥१३४॥ ग० ३ अधि० ।

अन्यच्च साध्वीनामनाचरितम्-

जत्थ य तेरसहत्थे, अज्जाओ परिहरति नाणधरे ।

मणसा सुयदेवमिव, सव्वमवि त्यी परिहरंति ॥

इतिहासखेडकंद-प्पणाहवादानं कीरए जत्थ ।

धावणद्वणलंधण-मयारजयारउच्चरणं ॥

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने ।

दिट्ठीविसादित्तगी, विसं व वज्जिज्जइ स गच्छे ॥

जत्थित्थीकरफरिसं, लिंगी अरहा विसयमवि करेज्जा ।

तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा मूलगुणवाहा ॥

मूलगुणेहि उ खलियं, बहुगुणकालियं पि हक्किसंपक्कं ।

उत्तमकुट्टे वि जायं, निद्धामिज्जइ जहि तहिं गच्छं ॥

जत्थ हिरस्ससुवाणे, जणधम्मे कंसदोसफलिहाणं ।

सयणाण आसणाण य, नयपरिभोगो तयं गच्छं ॥

जत्थ हिरस्ससुवणं, हत्थेण परागयं पि नोच्छिप्पे ।

कारणसमप्पियं पि हु, खणानिमिसक्कं पि तं गच्छं ॥

दुद्धरवंजवयपाल-णट्ठ अज्जाण चवलाचित्ताणं ।

सतसहस्सं परिहरे-ज्ज ए वी जत्थत्थि तं गच्छं ॥

जत्थुत्तरचरुपक्किउ-त्तरोहि अज्जा उ साहुणा सक्किं ।

पलवंति सकुप्पा वि य, गोयम ! किं तेण गच्छेण ॥

जत्थ य गोयम ! बहुवि-प्पकल्लोद्वचंचलमणाणं ।

अज्जाणमण्णट्ठिज्जइ, जणियं तं केरिसं गच्छं ॥

जत्थ कवंगसरीरो, साहु अणसाहु णिष्ण हत्थमया ।

उट्ठं गच्छेज्ज वहिं, गोयम ! गच्छम्मि का मेरा ॥

जत्थ य अज्जाहि समं, संलावुद्धावमाइ ववहारं ।

मोत्तु धम्मवएसं, गोयम ! तं केरिसं गच्छं ॥

भवमणियत्थविहारं, णिययविहारं ए ताव साहुणं ।

कारणनीयावासं, जो सेवे तस्स का वत्ता ॥

निम्मम निरहंकारे, उज्जुत्ते नाणदंसणचरित्ते ।

सयलारंभविमुक्के, अप्पक्किवच्चे सदेहे वि ॥

आयारमायरंते, एगखेत्ते वि गोयमा ! मुण्णिणो ।

वाससयं पि वसंते, गीयत्थाराहगे जणिए ॥

जत्थ समुदेसकाले, साहुणं मंमल्लीइ अज्जाओ ।

गोयम ! उवंति पादे, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥

जत्थ य हत्थसए वि य, रयणीवारं चउण्हमूणाओ ।

उट्ठं दसएहमसइं, करेत्ति अज्जाउ णो तयं गच्छं ॥

अववाएण वि कारण-वमेण अज्जा चउण्हमूणाओ ।

गोयम ! वीपरिसक्कं-ति जत्थ तं केरिसं गच्छं ॥

जत्थ य गोयम ! साहु, अज्जाहि समं पहम्मि अणूण ।

अववाएण वि गच्छे-ज्ज तत्थ गच्छम्मि का मेरा ॥

जत्थ य तिसाट्ठिभेयं, चक्खुरागगुदीराणि साहु ।

अज्जाओ निरिक्खेज्जा, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ॥

जत्थ य अज्जालद्ध, पाटिग्गहमादि विविहउवगरणं ।

परिभुंजइ साहुहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ॥

अइ दुल्लहं जेसज्जं, बलवुद्धिविवहणं वि पुट्ठिकरं ।

अज्जालद्धं भुंजइ का मेरा तत्थ गच्छम्मि ॥

साऊण गइ मुकुमाहि-याए तह ससगजसगजइणीए ।

ताव न वीसमियव्वं, सेयट्ठी धम्मिओ जाव ॥

ददचारित्तं मोत्तु, आयरियं मयहरं च गुणरासिं ।

अज्जा वज्जावेई, तं अणुगारं न तं गच्छं ॥

घणगज्जिय कुहुकुहुय, बिज्जुदुगेज्ज मूदहिययाओ ।

होञ्ज वावारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
 पच्चक्खा सुयदेवी, ते च वप्पीइ सुराहि आणुया वि ।
 जत्थ परिसए कुज्जा, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
 गोयम ! पंचमहव्वय-गुत्तीणं दसविहस्स धम्मस्स ।
 एकं कह वि खल्लिज्जइ, इत्थी रज्जं न तं गच्छं ॥
 दिण्णदिविखयस्स दमग-स्स अभिमुहा अज्जवंदणा अज्जा ।
 निच्छइ अमसणगहणं, सो विण्णओ सव्वअज्जाणं ॥
 वाससयादिविखाए, अज्जाए अज्जदिविखओ साहू ।
 जत्तिभरनिज्जराए, वंदणविण्णएण सो पुज्जो ॥ महा० १०५अ ।
 (उपध्यादिकम् ' उवहि ' आदिशब्देषु चि० प्रा० १०६०
 पृष्ठे दृष्टव्यम्) नि० चू० । ग० ।

अज्जाकप्प-आर्याकल्प-पु० । आर्याणामेव साध्वीनामेव क-
 ल्पते इत्यार्याकल्पः । साध्यानीताऽऽहारे, ग० ।

अथार्याव्यतिकरेण गच्छस्वरूपमेव गाथादशकेनाह-
 जत्थ य अज्जाकप्पो, पाणच्चाए वि रोरुगुम्भिकखे ।

न य परिज्जइ सहसा, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥ ६१ ॥

यत्र च गणे आर्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याक-
 ल्पः, साध्यानीताहार इत्यर्थः । प्राणत्यागेऽपि मरणगमने-
 ऽपि, रोरुमिंत्ते दारुणदुष्काले, न च नैव, परिभुज्यते साधुभि-
 रिति शेषः । कथम्, सहसेति । अविमृश्य समयस्य विराधना-
 विराधने, यतः सर्वत्र समयमेव रक्षेत्, समये च तिष्ठति आ-
 त्मानमेव रक्षेत्, आत्मान च रक्षत् हिंसादिदोषाद् मुच्यते ।
 मुक्तस्य च प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशुद्धिः स्यात् । तेन च हिंसा-
 दिदोषप्रतिसेवनकालेऽप्यविरतिः, तस्याशये विशुद्धतया
 विशुद्धपरिणामत्वात् । उक्तं चौघनिर्युक्तौ गाथायाम्-“सव्वत्थ
 सजम स-जमाउ अप्पाणमेव रक्खता । मुच्चइ वायाओ
 पु-णो विसोही न याविरई” ॥ ११ ॥ ततो विमृश्य परिभुज्यतेऽपि
 अभिकापुत्राचार्यैरिव । वदाह-“अन्नियपुत्तायरिओ, मत्त पाण
 च पुप्फचूलाए । उवणीय भुजतो, वभवयेण सो अलगज्जा” ॥ ११ ॥
 हे गौतम ! स गच्छो भणित । सूत्रे नपुसकत्व प्राकृतत्वादि-
 ति ॥ ६१ ॥ ग० २ अधि० । (अभिकापुत्राचार्यसवन्धश्च ‘ अ-
 क्षिआउत्त ’ शब्दे बह्यते)

अज्जाणदिल-आर्यनन्दिल-पु० । आर्यमङ्गोः शिष्ये आर्यनाग-
 हस्तिगुरौ, न० । (व्याख्याऽस्य ‘ अज्जणदिल ’ शब्दे दृष्ट्या)

अज्जालम्-आर्यालब्ध-त्रि० । साध्वीं प्राप्ते, ग० २ अधि० ।

जत्थ य अज्जालम्, पडिगहमाई वि विविहउवगरण ।

परिभुज्जइ साहूहि, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥ ६१ ॥

यत्र च गणे आर्यालब्ध साध्वीप्राप्त पतद्ग्रहादिक विविध-
 मुपकरणमपि किं पुनराहारादिकमित्यपिशब्दार्थः । कारण विना
 साधुभिः परिभुज्यते, हे गौतम ! स कीदृशो गच्छ ? न कीदृशो-
 ऽपि नन्वत्राऽऽर्यालब्धत्व पतद्ग्रहाद्युपकरणस्य कथं संभवति ?
 आर्याणां गृहस्थसकाशात् स्वयं वस्त्रपात्रस्यैव ग्रहणनिषेधात्,
 ग्रहणे च प्रायश्चित्तम्, अनेके दोषाश्च । उक्तं च यतिजीनकल्प-
 प्रकरणे-“गुरुउवहिअ पमिहेहे, उप्पइयन्नसोहिकमिततग्गहणे ।
 वहुगुगुगुज्जाण, सयमेव वत्थपायगिहे” ॥ ११ ॥ अस्या-
 किंचिदूनपश्चार्द्धवृत्तिलेशो यथा-आर्याणां सयतीनां गृहस्थ-
 सकाशात् स्वयमेव वस्त्रपात्रग्रहणे चतुर्गुणा । यत सय-

तीनां गृहस्थेभ्यः स्वयमेव वस्त्रादिग्रहणेऽनेके दोषाः संभवन्ति ।
 तथाहि-सयतीनां गृहस्थाद्वस्त्राणि गृह्णन्तीं दृष्ट्वा कोऽप्यजिनवस्त्राको
 मिथ्यात्व गच्छेत्, निर्ग्रन्थोऽपि भार्ता गृह्णातीति शङ्कते वा । गृह-
 स्थो वा वस्त्राणि दत्त्वा मैथुनमवभाषेत, प्रतिषिद्धे चैषामेव व-
 स्त्राणि गृहीत्वोक्तं न करोतीत्युद्गारि कुर्यात् । स्त्री च स्वभावे-
 नाल्पसत्त्वा, ततो येन तेन वा वस्त्रादिनाऽल्पेनापि द्योनेन द्या-
 जिता चाकार्यमपि करोति, बहुमोहा च स्त्री, ततः एवैव । सह
 मलाप कुर्वन्त्या वस्त्राणि गृह्णन्त्याश्च तस्याः पुरुषसंपर्कतो मोही
 दीप्यते, उदाररूपां वा सयतीं दृष्ट्वा कर्मणादिना कश्चिद्वशीकु-
 र्यात् । वशीकृता च चारित्रविराधनां करोति, तस्मान्निर्ग्रन्थीभि-
 र्गृहस्थेभ्यः स्वयं वस्त्राणि न ग्राह्याणि, किन्तु तानि गणधरेण
 दातव्यानि । तत्राय विधि-सयती प्रायोग्यमुपाधिमृत्याद्य सप्त-
 दिनानि स्थापयति, ततः कल्प कृत्वा स्थविर स्थविरां वा परि-
 धापयति, यदि नास्ति विकारस्ततः सुन्दरम् । एव परीक्षाम-
 कृत्वा यदि ददाति, तदा चतुर्गुरुकम् । त च परीक्षितमुपधिमा-
 चार्यो गणिन्या प्रयच्छति, गणिनी च सयतीनां विधिना ददा-
 ति । अथाचार्य स्वयं न तासां ददाति तदा चतुर्गुरुकम्, यतः
 काचिन्मन्धर्मा ज्ञेयस्याश्चोत्तरं दत्तं तेनैषाऽस्येष्टा यौवनस्था
 च एवमस्थाने स्थापयति । तस्मादाचार्येण प्रवर्त्तिन्या एव हस्ते
 दातव्यमित्यादि । एतच्च निशीथपञ्चदशोद्देशकचूर्णावपि सवि-
 स्तरमस्तीति । अत्रोच्यते-यदुक्तं भवता, तत् सत्यं, परं सन्नत्येव,
 भ्रमणाज्ञावादौ आर्यालब्धत्वमुपकरणस्य भ्रमणाज्ञावादौ
 निर्ग्रन्थीनामपि स्थविरादिक्रमेण स्वयमेव वस्त्रग्रहणस्यानुज्ञा-
 नात् । उक्तं च निशीथपञ्चदशोद्देशकचूर्णावैव-यथा चोयग
 आह-यद्येव, सूत्रस्य नैरर्थस्य प्रसज्यते । आयरिओ आह-

‘असइ समणाण चोअग’, जायते निमतणे तद्देव ।

जायति धेरिय सती, व मीसगा मोत्तुमे णाणो’ ॥ १ ॥

हे चोदग ! समणाण असति धेरियाओ वत्थे जायते, निमनेण
 वत्थ वा गेण्हति, जहा साहू तहा ताओ वि, धेरीण असति
 तरुणी व ति मिस्साउ जायति इमे णे मोत्तुमित्यादि । अत्र
 वस्त्रग्रहणवत्पात्रग्रहणमनुक्तमपि भ्रमणाज्ञावादानुज्ञात् स-
 भाव्यते ॥ ६१ ॥

अइउल्लह-नेसज्जं, वल्लुद्धिविवहणं पि पुट्टिकरं ।

अज्जालम् जुंजइ, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥ ६२ ॥

यत्र गणे, अपिशब्दस्य प्रतिविशेषण सवन्धात् अतिदुर्ल-
 भमपि अतिशयेन दुष्प्राप्यमपि । अत्र विज्जकिलोप’ प्राकृतत्वा-
 त् । समासो वा मैथुनशब्देन सह । तथा वस्त्रवृद्धिविवर्धनमपि,
 तत्र वस्त्र शरीरसामर्थ्यं, बुद्धिमैधा, तथा पुष्टिकरमपि शरीरोपचय-
 कार्यपि, भैषज्यमौषधमार्यालब्ध साध्यानीतं भुज्यते, साधु-
 मिरिति शेषः । हे गौतम ! (का मेरा) का मर्यादा तत्र गच्छे ?
 न काचिदपीत्यर्थः । मेरेति मर्यादावाची देशीशब्दः । ॥ ६२ ॥

एगो एगित्थिए सच्चि, जत्थ चिट्ठिज्ज गोअमा ।

संजइए विसेसेण, निमेरं त तु जासिमो ॥ ६३ ॥

एक एकाकी साधुरेकाकिन्या स्त्रिया भार्थ हे गौतम ! यत्र नि-
 ष्टेत् त गच्छ निमेर निर्मर्यादं प्रापामहेचयम् । सयत्या च एका-
 किन्या एकाकी यत्र साधुलिष्टेत् तं तु गच्छं विशेषेण निमेरं
 भापामहे इति । अत्र एकाकिन्या स्त्रिया साध्या च सार्धमे-
 काकिन साधोपदेकत्र स्थानवर्जनं तत्तैषामेकान्ते परस्परमङ्ग-
 प्रत्यक्षादिदर्शनाऽऽलापादिकरणतो दोषोत्पत्तेः समवात् । किं-

च-प्रतीतमेकान्तेऽपि श्रेणिकचेल्लणयोः रूपादिदर्शनेन श्रीमन्महा-
वीरसाधुसाध्वीनां निदानकरणादिदोषोत्पत्तिः संजातेति श्रीद-
शाश्रुतस्कन्धे तथोपसम्मादिति । अनुष्टुप्छन्दः ॥ ए३ ॥ ग० २ अधि० ।
महा० । आव० । ('अक्षिआञ्ज' शब्दे तत्कथा वक्ष्यते)
अञ्जावेयव-आज्ञापयितव्य-वि० । आज्ञाप्ये समाज्ञापयितव्ये,
"अहं णं अञ्जावेयवो अक्षे अञ्जावेयव्वा" सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।
अञ्जासंसर्गी-आर्यासंसर्गी-स्त्री० । साध्वीपरिचये, ग० ।

आर्यासंसर्गवर्जने कारणमाह—

वज्जेह अप्पमत्ता, अञ्जासंसर्गि अग्गिविससरीसि ।
अञ्जाणुचरो साहू, लहइ अकिसि खु अचिरेण ॥ ६३ ॥
वर्जयत मुञ्चत; अप्पमत्ता प्रमादवर्जिताः सन्तो प्रोः साधवः ।
यूयम् काः, आर्यासंसर्गी. साध्वीपरिचयान् । अत्र शसो लोपः
प्राकृतत्वात् । उपसर्गोऽभिविषसदृशीरुपलक्षणत्वात् व्याघ्रविष-
धरादिसदृशीश्च, खुर्यस्मादर्थे । ततोऽयमर्थः—यस्मात्कारणात्
आर्यानुचरः साधुर्मुनिर्बभूवे प्राप्नोति अकीर्तिमसाधुवादमचि-
रेण स्तोककालेनेति ॥ ६३ ॥

थेरस्स तवस्सिस्स, बहुस्सुअस्स व पमाणजूयस्स ।

अञ्जासंसर्गीए, जणजणयं हविज्जाहि ॥ ६४ ॥

स्थविरस्य वृक्षस्य तपस्विनो वा तपोयुक्तस्य बहुश्रुतस्य वाऽ-
धीतवद्भागमस्य प्रमाणभूतस्य वा सर्वजनमान्यस्य एवविध-
स्यापि साधोः आर्यासंसर्ग्या साध्वीपरिचयेन (जणजणयं
ति) जनवचनीयता जनापवाद इत्यर्थः, भवेदिति ॥ ६४ ॥

अथ यद्येवविधस्यार्यासंसर्ग्या जनापवादः स्यात्तर्हि—

एतद्वीपरीतस्य का कथेत्याह—

किं पुण तरुणो अवहु-स्सुअ न य विगिटुतवचरणो ।

अञ्जासंसर्गीए, जणवंचणयं न पाविज्जा ? ॥ ६५ ॥

तरुणो युवा अवहुश्रुतभागमपरिज्ञानरहित, न चापि बहुवि-
कृतप्रश्नरूपो न दशमादितपःकर्ता; एवविधो मुनिरार्यासंसर्ग्या
जनवचनीयतां किं पुनर्न प्राप्नुयात्?, अपि तु प्राप्नुयादेवेत्यर्थः
॥ ६५ ॥ ग० २ अधि० ।

अञ्जासाढ-आर्याषाढ-पुं० । श्रीवीरसिद्धे चतुर्दशाधिकव-
र्षातद्वयेऽतिक्रान्ते उत्पन्नाव्यक्तदृष्टीनां गुरौ, ते चाऽऽर्याषाढा-
जिष्वा आचार्याः श्वेताभ्यां नगर्यां समवसृत्य तत्रैव हृदयशू-
ढारोगतो भूत्वा सौधर्मे उपपद्य पुनः शरीरमधिष्ठाय कश्चित्स्व-
शिष्यमाचार्यं कृत्या दिव गता इति । तच्छिष्याभाव्यक्तदृष्टयोऽन-
वन् । आ० क० । उ० १ अ० १ अधि० । ('अव्यक्तिय' शब्देऽस्य विस्तरः)

अज्जिअ-अर्जित-वि० । उत्पादिते; उ० १ अ० । उपार्जिते,
" धम्मज्जिय च ववहार, बुद्धेहायरिय सया " उ० १ अ० ।
मञ्जिते, " अट्टविह कममूलं, बहुएहि भवेहि अज्जिय पावं "
सथा० । नि० ७० । उ० १ ।

अज्जिअज्ञान-आर्यिकालाज-पुं० । आर्यिकालाज्यो साज-
आर्यिकालाज । साध्यानीतवस्त्रपात्रादौ, आव० ।

अज्जिअज्ञाने गिद्धा, मएण लाजेण जे असंतुद्धा ।

निक्रवायरियानगा, अक्षियपुत्तं ववइसंति ॥ ११७ ॥

आर्यिकालाज्यो लाजः तस्मिन् गृह्णा आसक्ता, स्वकीयेनात्मीये-
न लाजेन ये असन्तुष्टा मन्दधर्मा भिक्षाचर्याया भग्ना- जिज्ञा-
टनेन निर्विषा इत्यर्थः । ते हि सुसाधुना बोदिताः सन्तः भग-
वतोऽयं तपस्विनामिति अभिकापुत्रमाचार्या व्यदिशन्त्याह-
म्यनत्वेनेति गाथार्थः ॥ ११७ ॥

कथम् ?—

अभियपुत्तायारिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए ।

उवणीयं जुंजंतो, तेणैव भवेय अंतगढो ॥ ११८ ॥

अक्षराद्यो निगदसिद्धः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः (तत्र
' अभियाञ्ज ' शब्दे वक्ष्यते) तेन मन्दमतय इदमालम्बन कु-
र्वन्तः सन्तः, इदमपरं नेक्षन्ते । किमत माह—

गयमीसगणा ओमे, भिक्षायायारिओ अपक्खं थेरं ।

निगमंति सहो विसदो, अज्जिअलाभं गवेसंता ॥ ११९ ॥

गतः शिष्यगणोऽस्येति समासस्तम्, (ओमे) धर्मिके जिज्ञा-
चर्यायाम्, (अपक्खलो) असमर्थ, जिज्ञाचर्यायामपक्वत्तमस-
मर्थस्तं स्थविरं वृक्षमेवगुणयुक्तं न गणयन्ति नाहोचयन्ति, स-
हा विसदा-समर्थाः, अपिक्षायात् सहायादिगुणयुक्तत्वेऽपि सव-
मायाविन आर्यिकालाभं वेषं गवेययन्ति अन्वेषन्त इति गाथा-
र्थः ॥ ११९ ॥ आव० ३ अ० ।

अज्जिआ-आर्यिका-स्त्री० । मातुर्मातरि, दश० ७ अ० । पिता-
मह्यम्, वृ० १ उ० । ग० । साध्यां च " जानीते जिनवचनं, अक्षे
चार्यिकासकलम् । नास्यास्त्यसम्भवोऽस्या-नाहृष्टविरो-
धगतिरस्ति " ॥ १ ॥ ध० २ अधि० ।

अज्जु-अद्य-अव्य० । अपज्जुशे उकारान्तत्वम् । अस्मिन्नदिनि,
" विष्पिययारव जइवि, पिठतो वि तं भाणही अज्जु " प्रा० ।

अज्जुण-अर्जुन-पुं० । अर्ज-वनम् । ककुभपर्याये, औ० । बहु-
बीजकवृक्षजनेदे, प्रज्ञा० १ पद० । ज्ञा० १ रा० । तत्पुष्पे, तच्च सु-
रजि भवति । ज्ञा० १ श्रु० १ ए अ० । तृणविशेषे, प्रज्ञा० १ पद० । आ-
चा० । स्वनामख्याते पाण्डुरस्वर्णे, जं० ३ वक्त्र० । गोशालस्य
मङ्गलिपुत्रस्य वष्टे गौतमपुत्रे छिक्चरे, म० १ ए श्रु० १ उ० । " अ-
ज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सररीरं विप्पजहामि " ज० १४ श्रु० १
उ० । हेहयवइये कृतवीर्योऽपत्ये नृपजेदे, भूतावमानी हेहयव-
र्जुनः । ध० १ अधि० । पाण्डुराजस्य तृतीये आत्मजे, ज्ञा० १
श्रु० १६ अ० । (विवाहादि चास्य ' दोषइ ' शब्दे उल्लेख्यम्)
" अज्जुणगुट्टं व तस्स जाणइ " उपा० २ अ० ।

अज्जुणग-अर्जुनक-पुं० । माहाकारजनेदे, अन्त० । तत्कथा चैवम्-
ते णं काले णं ते णं समएणं रायगिहे एयरे गुणसिद्धए चेइ-
ए, सेणिए राया, चेद्धणा देवी, तत्थ णं रायगिहे एयरे
अज्जुणए नाया मालागारे परिवसति । अहे जाव
अपरिचूते तस्स णं अज्जुणयस्स मालागारस्स बंधुमती-
नामं चारिया होत्था । सुमालस्स तस्स णं अज्जुणयस्स मा-
लागारस्स रायगिहस्स नगरस्स बहिया । एत्थ णं महं एगे
पुष्फारामे होत्था, किन्हे जाव निकुलं चूते दमव्वसइसु-
मेइ पामा ते तस्स णं पुष्फारामस्स अवूरमामंते एत्थ णं
अज्जुणयस्स मालागारस्स अज्जयपज्जयपिपज्जयगते अ-
ण्णकुलपरीसं परंपरागते भोगरपाणस्स जक्खाययणे हो-
त्था, पोराणे दिन्वे सच्चे सच्चवातिए जहा पुष्पभेदे तत्थ

णं मोगगरपाणिस्स एणं महं पत्तसहस्सनिप्पसअओमयपो-
 ग्गरं गहाय चिद्धति, तस्सेव अञ्जुणए मालागारे बालप्पजि-
 तिं चैव मोगगरपाणिजक्खस्स जत्तेया वि होत्था, कल्ला-
 कल्लिं पच्छियपमिया ति गेएहोवेति, गेएहोवेतित्ता रायगि-
 हातो णगराओ पमिनिक्खमति, पढिनिक्खमइत्ता जेणेव पु-
 प्फारामे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता पु-
 प्फचय करोति, करोतित्ता अग्गाइ वराइ पुप्फाइ गहाय जे-
 णेव मोगगरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवा-
 गच्छति, उवागच्छतित्ता मोगगरपाणिजक्खस्स महारिह पुप्फ-
 च्चणं करोति, करोतित्ता जाणुपाते पढिते पणामं करोति,
 करोतित्ता ततो पच्छा रायमगंसि विति कप्पेमाणे विहरति,
 तत्थ ए रायगिहे नगरे द्वाहितनामं गोढी परिवसति, अह्मा
 जाव अपरिभुया जकयसुकया या वि होत्था, तं रायगिहे
 णयरे अस्सया कयाइं पमोये घुट्टे या वि होत्था, तस्सेव अञ्जु-
 णए मालागारे कल्लपभुयतराणहिं पुप्फेहिं कज्जमि तिकहु
 पच्चूसकादसमयंसि बंधुमतीए जारियाए सद्धिं पच्छिय प-
 ढियाइं गेएहति, गेएहतित्ता सयाउ गिहातो पमिनिक्खमति,
 पमिनिक्खतित्ता रायगिहं णयरं मज्झं मज्जेणं निगच्छइ,
 निगच्छइत्ता जेणेव पुप्फारामे उज्जाणे तेणेव उवाग-
 च्छति, उवागच्छतित्ता बंधुमतीए जारियाए सद्धिं पुप्फच्चयं
 करोति, तीसे लद्धियाए गोढी; तत्थ गोढिद्धा पुरिसा जेणेव
 मोगगरपाणिस्स जक्खायतणे तेणेव उवागया अजिर-
 ममाणा चिद्धति, तस्सेव अञ्जुणए मालागारे बंधुमतीए
 जारियाए सद्धिं पुप्फच्चयं करोति, करोतित्ता पच्छीयं भरोति
 अग्गाइ पुप्फाइं मिहाइं जेणेव मोगगरपाणिस्स जक्खस्स
 जक्खायअणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता ते छ गो-
 ढीद्धा पुरिसा अञ्जुणए मालागारे बंधुमतीजारियाए सद्धिं
 एज्जमाण पासंति, पासंतित्ता अएणमएणं एव वयासी-एस
 ण देवाणुप्पिया ! अञ्जुणमालागारे बंधुमतीए जारियाए स-
 द्धिं हव्वमागच्छति, हव्वमागच्छतित्ता तं सेयं खलु देवा-
 णुप्पिय ! अहं अञ्जुणय मालागारं अउरुयबंधणयं क-
 रोति, करोतित्ता बंधुमतीए भारियाए सद्धिं विपुलाइं भोग-
 भोगां जुजमाणां विहरित्तए तिकहु एयमहं अएण-
 मएणस्स पढिसुणति, पढिसुणतित्ता कवामंतरेसु निलुक्कति,
 निबल्ला निप्फंदा तुसिणि एया पत्तवा चिद्धति, तस्से अञ्जु-
 णए मालागारे बंधुमतीए जारियाए सद्धिं जेणेव मोगगर-
 जक्खायतणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता आलोए
 पणामं करोति, करोतित्ता महारिहं पुप्फच्चयं करोति, जाणुपाय
 परणामं करोति, तत्ते एं ते ढ गोढिद्धा पुरिसा दवदवस्स
 कवाढंतरेहिं निगच्छंति, निगच्छंतित्ता अञ्जुणयं मा-
 द्वागार गेएहंति, गेएहतित्ता अवमग बधणं करोति, बंधुमती-

मालागाराए सद्धिं विज्झां भोगजोगां जुजमाणा विहर-
 ति, तस्स अञ्जुणयस्स मालागारस्स अयं अप्पसत्थीए । एव
 खलु अहं बाद्धप्पमितिं चैव मोगगरपाणिस्स भगवतो कल्ला-
 कल्लिं जाव कप्पेमाणे विहरामि, तं जयणं इहं सद्धिहिते सुव्व-
 चेणं एस कट्ठे तत्तेण से मोगगरपाणिजक्खे अञ्जुणयस्स
 मालागारस्स अयमेयारूवं अवत्थियं जाव वियाणित्ता
 अञ्जुणयस्स मालागारस्स सरीरय अणुपविसति, अणुप-
 विसतित्ता तमतत्तदसंवच्छां छिदति, छिदतित्ता तं पत्तस-
 हस्सनिप्पसं अउमयं मोगगरं गेएहति, ते इत्थी सत्तमे छ
 पुरिसे घाएइ तसे अञ्जुणए मालागारे मोगगरपाणिणा ज-
 क्खेण अणाड्ठे समाणे रायगिहस्स णगरस्स परिपेरं तेणं
 कल्लाकल्लिं ढ इत्थिसत्तमे पुरिसे घायमाणे विहरति, तए णं
 रायगिहे णयरे सिधामग जाव महापहेसु बहुजणो अस्सम-
 सस्स एवमाइक्खति०४ । एवं खलु देवाणुप्पिय ! अञ्जुणए
 मालागारे मोगगरपाणिणा अणाड्ठे समाणे रायगिहे णयरे
 वहिया छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घायमाणे २ विहरति, तत्ते एं
 से सेणिए राया ड्ढीसे कहाए द्वाड्ठे समाणे कोमुविए स-
 द्धवेति, सद्दवेतित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! एं
 अञ्जुणमालागारे जाव घाएमाणे विहरति, तमाणं तुज्जे के-
 इकट्ठस्स वा तस्स वा पाणियस्स वा पुप्फकल्लाणं वा अट्ठाए
 सतिर निगच्छउमाणं तस्स सरीरयस्स बावत्ती भविस्मति,
 तिकहु दोब्बं पि तच्चं पि धोसणधोसेहति, धोसणधोसेहतित्ता
 खिप्पा मम एय माणत्तियं पच्चप्पिणंति, तए णं कोहुं-
 विय जाव पच्चपिणंति, तत्थ एं रायगिहे णगरे सुदंसणे
 नामे सेट्ठी परिवसति, अट्ठे तस्से सुदंसणे समणो वासए या
 वि होत्था, अजिगयजीवाजीवे जाव विहरति । ते ण काले एं
 ते ए समए णं समणे भगवं महावीरे जाव समोसहे जाव वि-
 हरति, तं रायगिहे णयरे सिधामगवहुजणो अस्समसस्स एव-
 माइक्खति जाव किमग ! पुण विपुलस्स अट्ठस्स गहणताए
 ते तस्स सुदंसणस्स बहुजणस्स अंतिए एयमहं सुद्धा निसम्म
 अन्वत्थिते० ५ । एवं खलु समणे एं जाव विहरति, तं गच्छा-
 मि, एं वंदामि, एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता जेणेव अस्मापियरो
 तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता करयल० एवं वयासी-
 एवं खलु अस्मयाओ समणे जाव विहरति, तं गच्छामि एं
 समणं भगवं महावीरं वंदामि, जाव पज्जुवासामि, तत्ते एं ने
 सुदंसणं सेट्ठी अस्मापियरो एव वयामी-एवं खलु पुत्ता
 अञ्जुणए मालागारे जाव घाएमाणे विहरति, तं माणं तुम
 पुत्ता समणं जगवं महावीरं वंदति, पज्जुवामंति, निगग्गाहि-
 माणं तवमरीरस्स वा विति भविस्सति, तुमए इह गए चैव स-
 मणं भगवं महावीरं वंदहि, तए एं मे सुदंसणे सेट्ठी अस्मापि-

यरो एवं वयासी-किं एं अम्मयातो समणं भगवं महावीरं इह-
मागते इह पत्तं इह समीसदं इह गते चेव वंदिस्सामि, तं गच्छा-
मि, एं अहं अम्मयाउ तुज्झेहिं अञ्जुण्णाते समाणे समणं
भगवं महावीरं वंदति, तं सुदंसणं सेछी अम्मापियरो जा से नो
संचाएति, बहुहिं आघवणेहिय ४ जाव परुवेहिं संता तंता
परितंता तीहे एवं वयासी-अहामुहं तत्ते एं से सुदंसणे अ-
म्मापितीहिं अञ्जुणुष्ठाते समाणे एहाति, सुद्धया वेसाइं जाव
सरीरे सयातो गिहातो पढिनिक्खमति, पमिणिक्खमतित्ता
पायाविहारचारेणं रायगिहं एयरं मज्जं मज्जेणं निग्गच्छति,
निग्गच्छतित्ता मोगगरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायतणे अऊर-
सामंते एं जेणेव गुणसीदए चेतिए जेणेव समणे जगवं तेणेव
पाहिरेत्थगमणाए तत्ते एं से मोगगरपाणी जक्खे सुदंसणं स-
मणो वासयं अदूरसामंते एं वीयीक्ष्यमाणे पासति, पासतित्ता
आमुस्से ५ तं पल्लसहस्सनिप्फणं अओमयमोगगरं उट्ठाद्धेमाणे
जेणेव सुदंसणे समणो वासए तेणेव पहारेत्थगमणाए तत्ते
ए से सुदंसणे समणो वासए मोगगरपाणिं जक्खं एज्जमाणं
पासति, पासतित्ता अजीते अतत्थे अणुव्विगे अक्खमिते
अचल्लिए असंभंते वत्थंतेणं जूमी पमज्जति, पमज्जतित्ता
करयद्वएवं वयासी-एमोत्थु एं अरहंताणं जाव संपत्ताणं;
नमोत्थु एं समणस्स भगवं जाव संपाविउकामस्स पुवं पि
एमए समणस्स जगवओ महावीरस्स अंतिए थूलए
पाणातिवातं पच्चक्खाए जावजीवाए थूलए मूसावाए
थूलए अट्टिएणादाणे सदारसंतोसे करे जावजीवाए तं
उट्ठाणिं पि ए तस्सेव अंतिअं सव्वं पाणातिवायं पच्च-
क्खामि जावजीवाए, मूसावायं अदत्तादाणं मेहुणपरिगहं
पच्चक्खामि जावजीवाए, सव्वं कोहं जाव मिच्छादंसणस-
द्वं पच्चक्खामि जावजीवाए, सव्वं असणं पाणं खाइमं
साइम चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावजीवाए, जति
णं एत्तो उवमयातो मुच्चिस्सामि, तो मे कप्पई पारे तत्ते ।
अह एं एत्तो उवसग्गातो न मुच्चिस्सामि, तो मे तहा
पच्चक्खाए वि तिकट्टु सागारं पमिमं पढिवज्जति । से
मोगगरपाणी जक्खे तं पल्लसहस्सनिप्फणं अओमयं मोग-
गरं उट्ठाद्धेमाणे २ जेणेव सुदंसणे समणो वामए तेणेव
उवागते नो चेव एं संचाएति सुदंसणं समणोवासयं तेयसा
समज्जिपडिताते । तत्ते एं से मोगगरपाणी जक्खे सुदंसणं स-
मणोवासयं सव्वओ समंताओ परिघोलमाणे ३ जाहे नो संचा-
एति सुदंसणं समणो वासयं तेयसा समज्जिपडितते ताहे सुदं-
सणस्स समणो वासयस्स पुरतो सपक्खं सपमिदिसिं उट्ठा
सुदंसणं समणोवासयं आणिमिसाए दिट्ठीए सुचिरं निरिक्ख-
ति, निरिक्खतित्ता अञ्जुणयस्स मात्तागारस्स सरीरं विप्प-
जहति । त पल्लसहस्सनिप्फणं अओमयं मोगगरं गहाय जामे-

व दिसिं पाउज्जाते तामेव दिसिं पमिगते । तए णं अञ्जुणए
मालागारे मोगगरपाणिणा जक्खेणं विप्पमुक्किस्समाणे ४-
सति धरणीयतलंसि, सव्वं गेहं निवाडिए ते सुदंसणे समणो
वासए निरुवमग्गाम्मि तिकट्टु पमिमं पारेति, तत्ते एं से
अञ्जुणए मालागारे ततो मुहुत्तंतरेण आसत्थे समाणे उट्ठेति,
उट्ठेतित्ता सुदंसणं समणो वासयं एवं वयासी-तुज्झेणं
देवाणुप्पिया ! कहिं वासं पथिया ! तत्ते एं से सुदंसणे समणो
वासए अञ्जुणयं मालागारं एवं वयासी-एवं खलु देवाणु-
प्पिया ! अहं सुदंसणे नाम समणो वासए अज्जिगयजीवाजीवे
गुणसिद्धे चेइए समणं जगवं महावीरस्स वंदते, सपथिए
तसे अञ्जुणए मात्तागारे सुदंसणं समणो वासयं एवं वया-
सी-तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! अहमवि तुमए सद्धिं समणं
जगवं महावीरस्स वंदिए जाव पज्जुवासिए । अहामुहं देवाणु-
प्पिया ! तत्ते णं से सुदंसणे समणो वासए अञ्जुणयं मात्ता-
गारेणं सद्धिं जेणेव गुणसिलए चेतिए जेणेव समणं जगवं
महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अञ्जुणयं
मालागारेणं सद्धिं समणं भगवं महावीरं तिकवुत्तो जाव पज्जु-
वासति । तत्तेणं से समणे भगवं महावीरे सुदंसणं समणो वा-
सए अञ्जुणयस्स मात्तागारस्स तिसयद्धम्मकहासुदंसणे स-
मणोवासए पमिगते तसे अञ्जुणए मात्तागारे समणस्स भगवतो
महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा इड्डुट्टा सदहामि, णं जंते !
निग्गंथं पावयणं जाव अञ्जुट्ठेमि, अहामुहं तसे अञ्जुणए
उत्तरपुरच्छिमे य सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति, करेतित्ता
जाव अणगारे जाते जाव विहरति, तत्ते एं से अञ्जुणए अ-
णगारे जं चेव दिवसं मुंमे ० जाव पव्वइए तं चेव दिवसं स-
मणं जगवं महावीरं महावीरस्स वंदति, वंदतित्ता इमं एया-
रूवं उग्गहं उग्गिहहेति, कप्पाति, मं जावजीवाए छट्ठं छट्ठेण
अनिक्खित्तेण तवौकम्मेणं अप्पाणं जावेमाणस्स विहरित्तए
तिकट्टु अयमेयारूवं उग्गहं उग्गिहहेति, जावजीवाए विह-
रति, तत्ते एं अञ्जुणए अणगारे उट्ठक्खमणपारणयंसि
पढमपोरसीए सज्झायं करेति, जहा गोयमसामी जाव अ-
मति, तत्ते एं से अञ्जुणयं अणगारं रायगिहे एयरे उच्च-
नीच च जाव अरुमाणं बहवे इत्थी उ य पुरिसा य रुहरा
य महला य जुवाणा य एवं वयासी-इमे एं मे पितामातरां
इमे एं मे मा मारिया जायज्जिणीजज्जा पुत्ते धूया सुएहा मा
मारिया, इमे एं मे अस्से य सयणसंबंधे परियणं मा मारेति, ति-
कट्टु अप्पेगइया अक्कोसंति, अप्पेगइया हीअंति, अप्पे ० निदंति,
अप्पे ० खिसति, अप्पेगइया गरहंति, अप्पे ० तज्जेति, तत्ते-
एं से अञ्जुणए अणगारे तेहिं बहुहिं पुरसेहिं महल्ले
य जाव अक्कोसिज्ज मा जाव ताद्धेणेते संमणसा वि अ पज्ज-

सस्समाणे समं सहाति, समं कखपाति, तितिकखइ, अहिज्जमा-
णे अहियासेइ, समं सहमाणे कखमतो तितिकखति, अहिया-
सेति, रायगिहे णयरे जं चनीचमज्जिमकुलाइं अरुमाणे जइ
भत्तं सज्जति, तो पाणं न द्दभति, जइ पाणं द्दभइ, तो जत्तं
न द्दभइ, तत्ते णं ते अञ्जुणए अणगारे अदीणे अविमणे
अकलुसे अणाइहे अवीसादी अपरितत्तजोगी अमति, अ-
रुतिच्चा रायगिहातो नगरातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खम-
तिच्चा, जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे
जहेव गोतमसामी जाव पडिदंसेते २ समणं भगवं महावीरे
अब्भणुसुते समाणे अज्जुत्ते ४ विद्वामिव पणगज्जुतेण
अप्पाणेण तमाहारं आहारेति, आहारेतिच्चा तत्ते णं समणे
भगवं महावीरे अभया कयाति, कयातिच्चा रायगिहाओ
पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमतिच्चा वहिया जणविहं विहारं
विहरति, तत्ते णं से अञ्जुणए अणगारे तेणं उरालेणं
विपुत्तेणं पयत्तेणं पग्गहिणं महाणुभागेणं तवोकम्मोणं
अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुत्ते ष्ममासे सामसपरियाणं
पाज्जणाते, अरुमासियाए संझेहणए अप्पाणं जुसेति, ती-
स भत्ताइं अणसणाए षेदेति, षेदेतिच्चा जसट्ठाते कीरति,
कीरतिच्चा जाव सिक्खे ॥ अंतं ६ वर्गं ३ अ० ।

स्वनामय्याते तस्करभेदे, आचा० १ शु० ३ अ० १ उ० । (तस्य
शब्दासक्तत्वाद् 'सह' शब्दे कथा वदयते)

अञ्जुणसुवस-अज्जुणसुवस-न० । श्वेतकाञ्चने, औ० ।

अज्जोग-अयोग-पु० । "सेवादौ वा" ॥ ८ । २ । ६६ ॥ इति प्राकृ-
ततत्तकाञ्चस्य वा चित्त्वम् । योगवर्जितं, पं० सं० १ द्वा० ।

अज्जोगि (ए)-अयोगिन्-पुं० । सेवादित्वाद् जद्वित्वम् । अ-
योगिकेवक्षिति, " अज्जोगो अज्जोगी, समसत्तजोगमि होति
जोगाउ " पं० सं० १ द्वा० ।

अज्जुओ-देशी-प्रातिवेशिमके, दे० ना० १ वर्ग० ।

अज्जुत्त-अध्यात्म-न० । अधि आत्मनि वर्त्तते इत्यध्यात्मम् ।

चेतसि, दश० १ अ० । आचा० । प्रव० । स्था० । ध्याने, आच० ५ अ० ।
सम्यग्धर्मध्यानादिभावनायाम्, सूत्र० १ शु० ८ अ० । आत्मानमधि-
कृत्य यद्वर्त्तते तदध्यात्मम् । सुखदुःखादौ, "जे अज्जुत्त"त्य जाण
इ से वहिया जाणइ, जे वहिया जाणइ से अज्जुत्त जाणइ" आ-
चा० १ शु० १ अ० ३ उ० । (आत्मनि इति अध्यात्मम्, 'अन्यय विज्ज०'
॥ ११॥ ६॥ इति पाणिनिपुत्रेण समास) आत्मनीत्यर्थे, उ० १ अ० ।
अध्यात्मस्य-न० । अध्यात्म मनस्तस्मिन् तिष्ठत्यध्यात्मस्थम्,
प्राकृतत्वाद्दर्शलोपः, इष्टसयोगानिष्टसयोगादिहेतुभ्यो जाते सु-
खदुःखादौ, उ० १ । "अज्जुत्त सव्वओ सव्व, दिस्समाणे
पियायए" उ० ६ अ० ।

अज्जुत्तओग अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणतायाम्,
धर्मध्याने च । सूत्र० १ शु० १६ अ० । योगमेवे च, तल्लक्षणम्-तत्रा-
नादिपरजाव औदयिकभावरमणीयतां धर्मत्वेन निर्धार्य तत्पुष्टि-
हेतु क्रियां कुर्वन् अधर्मे धर्मवृत्त्या इच्छन् प्रवृत्तः स एव निरामय-
निःसगशुद्धात्मभावनाज्ञावितान्त-करणस्य स्वभाव एव धर्म
इति योगवृत्त्याऽध्यात्मयोगः । अष्ट० ८ अष्ट० ।

औचित्याद् वृत्त्युक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।

मैत्र्यादिजावसंयुक्त-मध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ ५ ॥

(औचित्यादिति) औचित्याद्चितप्रवृत्तिवृत्तकाणाद् वृत्त्युक्त-
स्याऽद्युक्तमहाव्रतसमन्वितस्य वचनात्तिनागमात्तत्त्वचिन्तनं
जीवादिपदार्थसार्थपर्यालोचनं मैत्र्यादिभावैर्मैत्रीकरणासुदितो-
पेक्षावृत्तैः समन्वितं सहितमध्यात्मं तद्विदोऽध्यात्मज्ञातारो
विदुर्जानते । द्वा० १८ द्वा० । " अज्जुत्तओगे गयमाणस-
स्स " आचा० १ शु० ।

अज्जुत्तओगमाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पु० । अ-
ध्यात्म मनस्तस्य योगा व्यापारा धर्मध्यानादयस्तेषां साध-
नान्येकाग्रतादीनि तैर्युक्तोऽध्यात्मयोगसाधनयुक्तः । चित्तैका-
ग्रताऽऽदिभाजि, उ० २६ अ० । " निव्विकारे ण जीवे वइ-
गुत्ते अज्जुत्तओगसाहणजुत्ते या वि भवइ " उ० २६ अ० ।
अज्जुत्तओगसुद्धादाण-आध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० अध्या-
त्मयोगेन सुप्रणिहितान्तःकरणतया धर्मध्यानेन शुद्धमवदात-
मादान चरित्र यस्य स तथा । शुभचेतसा विशुद्धचारित्र्ये,
" अज्जुत्तओगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा सखाए परद-
त्तभेई भिक्खू ति वच्चे " सूत्र० १ शु० १६ अ० ।

अज्जुत्तकिरिया-अध्यात्मक्रिया-स्त्री० । केनापि कथञ्चना-
प्यपरिभूतस्य दौर्मेनस्यकरणरूपेऽष्टमे क्रियास्थाने, स्था० ५
ठा० २ उ० । कोङ्कणसाधोरिव यदि सुताः सम्प्रति क्षेत्रवल्ल-
राणि सज्जलयन्ति तदा भव्यमित्यादि चिन्तनमध्यात्मक्रिया ।
ध० ३ अधि० ।

अज्जुत्तज्जाणजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । अध्यात्मना शु-
भमनसा ध्यान यत्नेन युक्तो यः स तथा । प्रशस्तध्यानोपयुक्ते,
प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्जुत्तदंन-अध्यात्मदण-पु० । शोकाद्यभिभवेऽष्टमक्रिया-
स्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्जुत्तदोस-अध्यात्मदोष-पु० । कषाये, सूत्र० ।

कोहं च माणं च तहेव मायं,

लोभं चउत्थं अज्जुत्तदोसा ।

एआणि वंता अरहा महेसी,

ए कुव्वई पाव ए कारवेइ ॥ १६ ॥

(कोह चेत्यादि) निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छे-
दो भवतीति न्यायात् ससारस्थितेश्च क्रोधादयः कार-
णमत एतानध्यात्मदोषांश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कषायान्
वान्त्वा परित्यज्याऽसौ भगवानर्हंस्तीर्थकृद् जातः । तथा म-
हर्षिश्च । एव परमार्थतो महर्षित्वं भवति यद्यध्यात्मदोषा न भ-
वन्ति, नान्यथेति, तथा न स्वतः पाप सावधमनुष्ठान करोति,
नाप्यन्यैः कारयतीति । सूत्र० १ शु० ६ अ० ।

अज्जुत्तमयपरिक्खा-अध्यात्ममत्तपरीक्षा-स्त्री० । नामानुरूपा-
मिधेये, शतग्रन्थीकृता नयविजयशिष्येण यशोविजयवाच-
केन कृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० । द्वा० ।

अज्जुत्तरय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश०
१० अ० ।

अज्जुत्तवात्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-(पुं०)-आध्यात्मिकप्रत्ययि-
क-न० । आत्मनि अधि अध्यात्मम् । तत्र भव आध्यात्मिको द-

गडस्तत्प्रत्ययिकम् । अष्टमे क्रियास्थाने, तद्यथा-निर्निमित्तमे-
व दुर्मेना उपहतमनःसकल्पो हृदयेन ह्रियमाणश्चिन्तासागरा-
वगाढः सतिष्ठते । सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।

एतदेव सूत्रकारो व्यस्यन्नाह—

अहावरे अष्टमे किरियाठाणे अज्जत्तवत्तिं चि आहि-
ज्जइ से जहा णामए केइ पुरिसे णत्थि ण केइ किं विस-
वादेति सयमेव हीणे दीणे छुट्टे छुम्मणे ओहयमणसंकपे
चित्तासोगसागरसंपविट्टे करतलपल्लवत्थमुहे अट्टज्जाणावे-
गए भूमिगयदिट्टिए भियाडं तस्स णं अज्जत्तयथा आसं-
सइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जइ, तं कोहे माणे माया
लोहे अज्जत्तमेव कोहमाणमायालोहे एवं खलु तस्स त-
प्पत्तिं सावज्जंति आहिज्जइ अष्टमे किरियाठाणे अज्ज-
त्तवत्तिं चि आहिण ॥ १६ ॥

अथापरमष्टम क्रियास्थानमाध्यात्मिकमित्यन्त करणोद्भवमा-
ख्यायते । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषचित्तोपेक्षाप्रधानस्तस्य च
नास्ति कश्चिद्विषयवादिता न तस्य कश्चिद्विषयवादेन परिजावे-
न वा सद्भूतोद्भावेन वा चित्तद्वयमुत्पादयति, तथाप्यसौ
स्वयमेव वर्णापसदवद् हीनो दुर्गतवद् हीनो दुश्चिन्ततया दुष्टो दुर्मे-
नास्तथोपहतोऽस्वच्छतया मनःसकल्पो यस्य स तथा । चिन्तै-
व शोक इति सागरश्चिन्ताप्रधानो वा शोकश्चिन्ताशोकः सागर
इव चिन्ताशोकसागरः । तयातूतश्च यदवस्थो जवति तद्दर्शय-
ति-करतले पर्यस्त मुख यस्य स तथा अहर्निश भवति, तथाऽऽ-
र्तध्यानोपगतोऽपगतसद्विवेकतया धर्मध्यानदूरवर्तो निर्निमित्त-
मेव हृद्बोपहतवद्व्यायति । तस्यैव चिन्ताशोकसागरावगाढस्य
सत आध्यात्मिकान्यन्तःकरणोद्भवानि मनःसृष्टान्यसंशयि-
तानि वा निःसंशयितानि वा चत्वारि वक्ष्यमाणानि स्थानानि
ज्वन्ति, तानि चैव समाख्यायन्ते, तद्यथा-क्रोधस्थानम्, मान-
स्थानम्, मायास्थानम्, लोभस्थानमिति । ते चावश्यं क्रोधमान-
मायालोभा आत्मनोऽधि भवन्त्याध्यात्मिकाः, एभिरेव सद्भिर्दुष्ट
मनो भवति । तदेव तस्य दुर्मेनस क्रोधमानमायालोभवत् एव-
मेवोपहतमनःसङ्कल्पस्य तत्प्रत्ययिकमध्यात्मनिमित्त सावद्य क-
र्माऽऽधीयते सवध्यते । तदेवमेतत्क्रियास्थानमाध्यात्मिकाख्यमा-
ख्यातमिति ॥१६॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अज्जत्तवयण-अध्यात्मवचन-न० । आत्मन्याधि अध्यात्मम्,
तच्च तद्वचनम् । हृदयगते वचनप्रेदे, धोरुशवचनानां सप्तममि-
दम् । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । आत्मन्याधि अध्यात्म हृद-
य त तत्परिहारेणान्यद् भविष्यतस्तदेव । सहसा पतिते वचने,
विशे० । आचा० ।

अज्जत्तविंदु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । यथार्थेनामधेये ग्रन्थप्रेदे, "ये
यावन्तोऽध्वस्तवन्धा अज्जत्त, जेदज्ञानान्यास एवात्र मूलम् । ये
यावन्तो ध्वस्तवन्धा भवन्ति, जेदज्ञानाभाव एवात्र बीजम्" ॥१॥
इति तद्वचनम् । अष्ट० १४ अष्ट० ।

अज्जत्तविंसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । सयमकष्टमनुभूय
मनसि विषयीज्वने, सूत्र० ।

जहा संगामकादमि, पिट्ठतो जीरु वेहइ ।

वक्ष्यं गहणं शूमं, को जाणइ पराजयं ? ॥ १ ॥

(जहेत्यादि) दृष्टान्तेन हि मन्दमतीनां सुखेनैवार्थावगतिर्भव-

त्यत आदावेव दृष्टान्तमाह-यथा कश्चिद्गीरुहृतकरणः सं-
ग्रामकाक्षे परानीकयुक्ताऽवसरे समुपस्थितः पृष्ठतः प्रेकते आदा-
वेवाऽऽपत्तीकारहेतुचूत दुर्गादिकं स्थानवमलोकयति । तदे-
व दर्शयति -(वक्ष्यमिति) यत्रोदकं वक्ष्याकारेण व्यवस्थित-
मुदकरहिजा वा गर्तो दुःखनिर्गमप्रवेशास्तथा गहन धवादिदु-
क्षैः कटिसंस्थानीयम् (एवमिति) प्रच्छन्न गिरिशुहादिकम् । किमि-
त्यसावेवमत्रलोकयति ? यत एव मन्यते तत्रैवचूते तुमुले सप्रामे
सुजटसङ्कुले को जानाति कस्यात्र पराजयो भविष्यतीति ? यतो
देवायत्ताः कार्यसिद्धयः स्तोकेरपि बहवो जीयन्त इति ॥१॥

किञ्च-

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो ।

पराजिया वसप्पामो, इति जीरु अवहेइ ॥२॥

मुहुर्तानामेकस्य वा मुहुर्तस्यापरो मुहुर्तः कालविशेषलक्ष-
णोऽवसरस्तादृग्भवति यत्र जयः पराजयो वा सम्भाष्यते, त-
त्रैव व्यवस्थिते पराजिता धयमपसर्पामो नश्याम इत्येतदपि
संभाव्यते, अस्मद्विधानामिति भीरुः पृष्ठतः आपत्तीकारार्थं
शरणमपेक्षते ॥२॥

श्लोकद्वयेन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह-

एवं तु समणा एगे, अवलं नच्चा ण अप्पगं ।

अणागयं जयं दिस्स, अ विकंपति मं सुयं ॥३॥

यथा सप्राम प्रवेष्टुमिच्छुः पृष्ठतोऽवलोकयति किमत्र मम
पराभयस्य वलयादिक शरणं प्राणाय स्यादिति, एवमेव
श्रमणाः प्रवजिता एके केचनाऽदमतयोऽल्पसत्त्वा आत्मा-
नमवल यावज्जीव संयमभारवहनाक्षम ज्ञात्वा अनागतमेव
भय दृष्टोत्प्रेक्ष्य । तद्यथा-निष्किञ्चनोऽहं किंमम वृद्धावस्थायां
ग्लानावस्थायां दुर्भिक्षे वा प्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाम-
यमुत्प्रेक्ष्य विकल्पयन्ति परिकलयन्ति मन्यन्ते, इव व्याकरणं,
गणितं, ज्यौतिष्कं, वैद्यकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिक वा सुतम-
धीत ममाऽयमादौ प्राणाय स्यादिति ॥३॥

एतच्चैते विकल्पयन्तीत्याह-

को जाणइ विज्वातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।

चोइज्जंता एवक्खामो, एण णो अत्थि पक्खियं ॥४॥

अल्पसत्त्वाः प्राणिनः, विचित्रा च कर्मणां गतिः, बहुनि प्रमाद-
स्थानानि विद्यन्ते, अतः को जानाति कः परिच्छिन्नं व्यापातं
सयमजीविताद् भ्रम्यन्तस् । केन पराजितस्य मम सयमाद् भ्रंशः
स्यादिति । किं स्त्रीतः स्त्रीपरीषदाद् उतोदकाव स्नानार्थमुदका-
सेवनानिलाषादित्येव ते घराकाः प्रकल्पयन्ति, न नोऽस्माकं कि-
ञ्चन प्रकल्पितं पूर्वोपार्जितरुच्यजातमस्ति, यत्तस्यामवस्थाया-
मुपयोगे समेत्य यास्यति, अतश्चोद्यमानाः परेणापृच्छमानाः ह-
स्तिशिक्षाधनुर्वेदादिक कुटिलविषयलादिकं वा प्रवक्ष्यामः कथ-
यिष्यामः प्रयोक्ष्याम इत्येव ते हीनसत्त्वाः सप्रघार्यं व्याकरणा-
दौ श्रुते प्रयतन्त इति । न च तथापि मन्दभाग्यानामभिप्रेतार्थावा-
प्तिर्भवतीति । तथा चोक्तम्—" उपशमफलाद्विद्याबीजात्फलं
धनमिच्छताम्, भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्वृत्तम् ?
न नियतफलाः कर्तुर्जीवाः फलान्तरमीशते, जनयति खलु ग्रीहे-
र्बाज न जातु यवाङ्कुरम् " ॥१॥

उपसहारार्थमाह-

इच्चं पमिलेहंति, वलया पमिलेहिणो ।

वितिगिच्छसमावसा, पंथाणं च अकोविद्या ॥ ५ ॥

इत्येवमिति पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थः। यथा भीरव्य सप्तमे प्रवि-
विह्वलो घसयादिक प्रत्यपेक्षितो भवन्तीत्येव तेऽपि प्रवर्जिता
मन्दाभ्यस्तया अन्यस्तया आजीयिकाभयाद्याकरणादिक जी-
वनोपायत्वेन प्रत्यपेक्षन्ते परिकल्पयन्ति । किंभूताः विचिकि-
स्ता विचिपिन्नुति, किमेतं सयमभारमुक्षितमन्तं नेतु पयं सम-
र्था, उन मेतत्तयेधनुता । तथा चोक्तम्—“ लुक्कामणुगदमणि-
यय, कालाहकत भोयणं विरस । सुमीमयण सोआं, अस्मिणा-
लं वनवेर च ” ॥ १ ॥ तां समापन्नाः समागताः । यथा पयानं
प्रत्यकोविदा इतिपुणा - किमप पया विपक्षितं भूभाग या-
स्पन्नुत नेति, इत्येव शतविचिपिन्नुतयो भवन्ति, तथा तेऽपि
संयमभारपहनं प्रति विचिकित्सां समापन्ना निमित्तगणितादिक
जीविकार्थं प्रत्यपेक्षन्ते इति ॥ ४ ॥

साम्प्रत महापुरुषचेष्टिते दृष्टान्तमाह—

जे ठ मंगापकालाम्मि, नाया सूरपुरंगमा ।

एणे वे पिट्टमुवोहंति, किं परं मरणं सिया ? ॥ ६ ॥

ये पुनर्महासत्या, तुमुदो विंशपणाधे, सप्तमकासे परा-
नीकयुक्तायसरे ज्ञातारो लोकविदिता, कथम् ? दूराणामप्रगा-
मिनो युक्तायसरे तेन्याप्रस्कंधवर्तिन इति, एषभूता सप्तम
प्रविदानो न पृष्टमुत्प्रेक्षन्ते न दुर्गादिकमापन्नाय पर्यालोच-
यन्ति, ते चाभद्रकृतपुत्रयोऽपि त्वेवं मन्यन्ते—किमपरमप्रा-
स्माकं भविष्यति, यदि परं मरणं स्यात्, तच्च शाश्वतम्, यदा प्रया-
दमिच्छतामस्माकं स्नोकं यतंत इति । तथा चोक्तम्—“ विदा-
रादभिरपिनभ्यर-मतिचपसैः स्यास्तु याम्भतां विमुदम् । प्राणै-
र्यदि च सुराणां, भयति यश किं न पर्याप्तम् ? ” ॥ ६ ॥

तदेवं सुनटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

एवं समुट्टिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारवंधणं ।

आरंजे तिरिय कट्टु, आतत्ताए परिज्वण ॥ ७ ॥

एवमित्यादि । यथा-सुमटा ज्ञातारो नामतः कुलत शौर्यत
ज्ञातारश्च, तथा सप्रियजपरिकटा, कगृहीतहेतयः प्रतिमट-
समितिभेदिनो न पृष्टोऽयसोकयन्ति । एष भिक्षुरपि साधु-
रपि महासत्य परलोकप्रतिस्पर्द्धिनमिन्द्रियकयायादिकमरिय-
र्गं जेतु सम्पक्क संयमेन्यनेनोत्थित समुत्थितः । तथा चोक्तम्—
“ कोह माणं च मायं च, लोह पचैदियाणि य । ज्जज्ज चेषमप्पा
णं, सव्यमप्पे जिए जिय ” ॥ १ ॥ किं कृत्या समुत्थित ? इति दर्शयति-
प्युत्सृज्य त्यक्त्वा, अगारयन्धनं गृहपाशम् तथा आरम्भ सावद्या-
नुष्ठानरूपं तिर्यक् कृत्याऽपहस्तयित्वाऽऽत्मनो प्राय आत्मत्वमशेष
कर्मकसङ्करहिन्य तस्मै आत्मत्याय । यदि या आत्मा मोक्षः, सय-
मो वा, तज्ज्ञातस्मै तदर्थं, परि समताद् भजेत् सयमानुष्ठानक्रि-
यायां दत्तायधानो भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥ सूत्रं १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।
अज्जत्तविमुद-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे,
सूत्रं १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अज्जत्तविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । ३ त० ।

विशुद्धमाद्ये, “ जाजयमाणस्स भये, विराहणा सुत्तविहिसमग-
स्स । सा होह जिज्जरफला, अज्जत्तविसोहिजुत्तस्स ” ॥ १ ॥ ओण
अज्जत्तवेइ (ण्) -अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादे स्व-
रूपतोऽवगन्तरि, आत्मा ० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अज्जत्तमवुस-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । अध्यात्म मनस्तेन संवृत ।

स्त्रीजोगादक्षमनासि, सूत्रार्थोपयुक्तनिष्क्रमनोयोगे च । “ वइशुत्ते
अज्जत्तसघुडे परिवज्जए सया पाव ” आत्मा ० १ श्रु० ४ अ० ४
उ० । सूत्रं ० ।

अज्जत्तसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानु-
सारिणि, इयं २ उ० ।

अज्जत्तमुइ-अध्यात्मश्रुति-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादन-
शास्त्रे, प्रश्नं १ सम्यं ० द्वा० ।

अज्जत्तमुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, अध्यात्मशु-
द्धिरेव फलदा न बाह्यशुद्धिः, जगतचक्रवर्तिन बाह्यकरणस्य रजो-
हरणादेरभावेऽपि अध्यात्मशुद्धौ केवलोत्पत्तेः । प्रसन्नचन्द्र-
स्य च बाह्यकरणवतोऽपि आन्तरिककरणविकलस्य सप्तमपृथि-
वीप्रायोग्यकर्मवन्धात् पश्चाद्वर्तिन्या अध्यात्मशुद्धौ मोक्षगम-
नात् । द्वा० २ उ० १ अ० ।

अज्जत्तसोहि-अध्यात्मशोधि-त्रि० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १
अ० । (वर्णनमस्य ‘अज्जत्तसुद्धि’ शब्दे कृतम्)

अज्जत्तिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मनि अधि-अध्यात्मम्, तत्र
भव आध्यात्मिकः । आत्मविषये, आ० मं० प्र० । भ० । वि० ।
द्वा० नि० । “ अज्जत्तिय चित्तिए ” आत्मनि क्रियमाणे, “ पर-
किरिय अज्जत्तिय ससेइय णो त सात्तिए ” आत्मा ० २ श्रु० १३
अ० । आन्तरोपायसाध्ये सुखदुःखादौ, आध्यात्मिक दुःख द्वि-
विधस्-शारीर मानस च । शारीर घातपित्तश्लेष्मणा वैषम्यनि-
मित्तस्, मानस कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याधिषयादर्शननिबन्धनम् ।
सर्वं चैतद् आन्तरोपायसाध्यत्वाद् आध्यात्मिक दुःखमिति साङ्गधा ।
स्या० । अध्यात्मनि मनसि भव आध्यात्मिकः । बाह्यानिमित्तान-
पेक्षे शोकाग्निभेदे, “ अष्टम क्रियास्थानमेतत् ” स० ।

अज्जत्तियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-न० । आत्मन्याधि इति
अध्यात्मम्, तत्र प्रथमाध्यात्मिकम् । आन्तरशक्तिजनित सात्त्वि-
कमित्यर्थः । तच्च वीर्यं चेति । “ उज्जमधितिधीरत्त, सौकीरत्त
रमा य गभीर । उवओगयोगतव स-जमादि य होइ अज्जु-
प्पो ” ॥ १ ॥ इत्युक्तेः उद्यमधृत्त्यादौ, सूत्रं ० १ श्रु० ८ अ० ।

अज्जत्तय-अध्यात्म-न० । अधि आत्मनि वर्तते इत्यध्यात्मम् ।
सम्यग्धर्मध्यानादिप्रायनायाम, सूत्रं ० १ श्रु० ८ अ० ।

अज्जत्तयओग-अध्यात्मयोग-पु० । सुप्रणिहितान्तःकरणता-
याम्, धर्मध्याने च । सूत्रं ० १ श्रु० १६ अ० । (निरूपणमस्य ‘अ-
ज्जत्तयओग’ शब्दे कृतम्)

अज्जत्तयओगसाहजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पु० । चित्तै-
काग्रतादिप्राजि, उत्त० २६ अ० ।

अज्जत्तयओगसुप्पादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शु-
भचेतसा विशुद्धचारित्र्ये, सूत्रं ० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्जत्तयओग-अध्यात्मयोग-पु० । योगभेदे, अष्ट० ६ अष्ट० ।
(वक्तव्यताऽस्य ‘अज्जत्तयओग’ शब्दे)

अज्जत्तयओगसाहजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पु० । चित्तै-
काग्रतादिप्राजि, उत्त० २६ अ० ।

अज्जत्तयओगसुप्पादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शु-
भचेतसा विशुद्धचारित्र्ये, सूत्रं ० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्जत्तयओगजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । प्रशस्तस्य नो-
पयुक्ते, प्रश्नं ४ सम्यं ० द्वा० ।

अज्झत्थदंड-अध्यात्मदण्ड-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थदोस-अध्यात्मदोष-पुं० । कषाये, सूत्र० १ भु० १६ अ० ।

अज्झत्थविंदु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, शष्ट० १४ अष्ट० ।

अज्झत्थमयपरिक्खा-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजयवाचकेन कृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।

अज्झत्थपरय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।

अज्झत्थवात्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, सूत्र० २ भु० १२ अ० ।

अज्झत्थवयण-अध्यात्मवचन-न० । पुरुशवचनानां सप्तमे वचने, आचा० २ भु० ४ अ० १ उ० ।

अज्झत्थविसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । संयमकष्टमनुजुय मनसि विषयीभवने, सूत्र० १ भु० ३ अ० ३ उ० । (विवृतिरस्य 'अज्झत्थविसीयण' शब्दे निरूपिता)

अज्झत्थविसुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ भु० ४ अ० २ उ० ।

अज्झत्थविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । विशुद्धभावे, ओ० ।

अज्झत्थवेइ (ण्)-अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्वरूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ भु० १ अ० ७ उ० ।

अज्झत्थसंवुट-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । स्त्रीभोगादक्षमनसि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । आचा० १ भु० ५ अ० ४ उ० ।

अज्झत्थसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानुसारिणि, व्य० २ उ० ।

अज्झत्थसुइ-अध्यात्मश्रुति-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झत्थसोहि-अध्यात्मशोधिन्-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झत्थिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० म० प्र० । आन्तरोपायसाधये सुखदुःखादौ, स्या० ।

अज्झत्थियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमभृत्यादौ, सूत्र० १ भु० ८ अ० ।

अज्झत्थोवाहिसंबन्ध-अध्यस्तोपाधिसम्बन्ध-पुं० । आत्मनि प्राप्तपुत्रलससर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलस्फटिकस्येव, सदृश रूपमात्मनः । अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जरुस्तत्र विमुह्यति " ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।

अज्झत्थ-अध्यात्म-न० । चेतसि, दश० १ अ० । ध्याने, आच० ५ अ० ।

अज्झत्थओम-अध्यात्मयोग-पुं० । अन्तःकरणबुद्धे धर्मध्याने, सूत्र० १ भु० १६ अ० ।

अज्झत्थओगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । बुद्धचेतसा विशुद्धचारित्र्ये, सूत्र० १ भु० १६ अ० ।

अज्झत्थओगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शुद्धचेतसा विशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ भु० १६ अ० ।

अज्झत्थकिरिया-अध्यात्मक्रिया-स्त्री० । अष्टमे क्रियास्थाने, स्था० ५ उ० २ उ० ।

अज्झत्थजगे-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणतायां धर्मध्याने, सूत्र० १ भु० १६ अ० ।

अज्झत्थजोगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । चित्ते-काप्रतादि प्राप्ति, उक्त० २ अ० ।

अज्झत्थजोगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । बुद्धभावेन विशुद्धचारित्र्ये, सूत्र० १ भु० १६ अ० ।

अज्झत्थजाणजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । प्रशस्तध्यानोपयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थपदं-अध्यात्मदण्ड-पुं० । शोकाद्यभिज्ञवरूपे अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थपदोस-अध्यात्मदोष-पुं० । कषाये, सूत्र० १ भु० १६ अ० ।

अज्झत्थविंदु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । यथार्थनामाभिधेये स्वनामख्याते ग्रन्थे, अष्ट० १४ अष्ट० ।

अज्झत्थमयपरिक्खा-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजयकृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।

अज्झत्थपरय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।

अज्झत्थवात्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अज्झत्थवयण-अध्यात्मवचन-न० । हृदयगते वचनजने, पुरुशवचनानां सप्तमभिदम् । आचा० २ भु० ४ अ० १ उ० ।

अज्झत्थविसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । संयमकष्टमनुजुय मनसि विषयीभवने, सूत्र० १ भु० ३ अ० ३ उ० ।

अज्झत्थविसुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ भु० ४ अ० २ उ० ।

अज्झत्थविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । विशुद्धभावे, ओ० ।

अज्झत्थवेइ (ण्)-अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्वरूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ भु० १ अ० ७ उ० ।

अज्झत्थसंवुट-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । स्त्रीभोगादक्षमनसि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । आचा० १ भु० ५ अ० ४ उ० ।

अज्झत्थसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानुसारिणि, व्य० २ उ० ।

अज्झत्थसुइ-अध्यात्मश्रुति-त्रि० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झत्थसोहि-अध्यात्मशोधि-त्रि० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झत्थिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मनि क्रियमाणे आन्तरोपायसाधये सुखदुःखादौ, आचा० २ भु० १३ अ० ।

अज्जप्पियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्यं-न० । उद्यमधृत्यादौ, सूत्र० १ भु० ८ अ० ।

अज्जयण-अध्ययन-न०। अधीयते ज्ञायन्ते एभिस्त्यध्ययनानि । नामसु (वाचकशब्देभ्यः), "ताकध देवताणं अज्जयण आदिताति-क्खञ्जा" चं० प्र० १ पाहु० । सू० प्र० । अधीयते विनेयादिक्रमेण गुरुसमीप इत्यध्ययनम् । विशिष्टार्थध्वनिसधर्मरूपे भृत्येदे, जी० १ प्रति० । "अज्जयणं पिय तिविह, सुत्ते अत्थेय तदुज्जए चेव" विहो० । तन्निक्षेपो यथा-

से कितं अज्जयणे? । अज्जयणे चत्तुर्विहे पण्णत्ते । तं जहा-
णमज्जयणे, उवणज्जयणे, दव्वज्जयणे, भावज्जयणे । एा-
महुवणाओ पुव्ववप्पिआओ । से कितं दव्वज्जयणे? । दव्वज्ज-
यणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आगमओ अ, एोआगमओ अ ।
से कितं आगमओ दव्वज्जयणे? । आगमओ दव्वज्जयणे जस्स
एणं अज्जयणं चि पदं सिक्खितं उतितं जितं पितं परिजितं जाव
एवं जावज्जया अणुवत्ता आगमओ तावज्जयाइं दव्वज्ज-
यणाइ । एवमेव ववहारस्स वि। सगहस्स णं एगो वा अणो गो वा
जाव सेत्तं आगमओ दव्वज्जयणे । से कितं णो आगमओ दव्व-
ज्जयणे? । णो आगमओ दव्वज्जयणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-
जाणगसरीरदव्वज्जयणे, भवियसरीरदव्वज्जयणे, जाणग-
सरीरजविअसरीरवइरिच्चे दव्वज्जयणे । से कितं जाणगसरी-
रदव्वज्जयणे? । जाणगसरीरदव्वज्जयणे अज्जयणपदत्थाहि-
गारजाणयस्स जं सरीरं ववगयचुअचाविअचत्तेदं जीववि-
प्पजदं जाव अहोण इमेणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिठेण भा-
वेणं अज्जयणे चि पदं आघवितं जाव उवदंसितं जहा-को दिट्ठं
तो-अयं धयकुंभे आसी, अयं महुकुंभे आसी, सेत्तं जाणगसरी-
रदव्वज्जयणे । से कितं भवियसरीरदव्वज्जयणे? । भवियस-
रीरदव्वज्जयणे जे जीवे जोणिजम्मणनिक्खन्ते इमेणं चेव आ-
दत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिठेणं जावेणं अज्जयणे चि
पदं से अकाळे सिक्खिस्सति, न ताव सिक्खति, जहा-को दि-
ट्ठतो-अयं महुकुंभे भविस्सइ, अयं धयकुंभे नविस्सइ, सेत्तं भ-
विअमरीदव्वज्जयणे । से कितं जाणगसरीरजविअसरीरवइ-
रिच्चे दव्वज्जयणे? । जाणगसरीरभवियसरीरवइरिच्चे दव्वज्ज-
यणे पत्तयपोत्थयत्तिखितं, सेत्तं जाणगसरीरभवियसरीरवइ-
रिच्चे दव्वज्जयणे । सेत्तं णो आगमओ दव्वज्जयणे । से कितं भा-
वज्जयणे? । भावज्जयणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आगमओ अ
एो आगमओ अ । से कितं नो आगमओ भावज्जयणे? । अ-
ज्जप्पस्साणयणं, कम्माणं अवचओ उवचिआणं । अणु-
वचउ न वियाणं, तह्या अज्जयणमिच्छइ ॥ १ ॥ सेत्तं णो
आगमओ भावज्जयणे, सेत्तं भावज्जयणे, सेत्तं अज्जयणे ।
(से कितं अज्जयणे इत्यादि) नामस्थापना, द्रव्यजावमेदात् ।
चतुर्विधोऽप्यध्ययनशब्दस्य निक्षेपः । तत्र नामादिविचारः सर्वो-
ऽपि पूर्वोक्तद्रव्यावयवकानुसारेण वाच्यः, यावन्मो आगमतो प्रा-
चाध्ययने । अज्जप्पस्सायणमित्यादिगाथान्याख्या-अस्य सच्चित्त-
स्य भाषणम्, इह निरुक्ताविधिना प्राकृतस्वाभाव्याश्च प्रकारस-

काराऽऽकारणकारणमध्यगतवर्णचतुष्टयद्वये अज्जयणमिति
भवति, अध्यात्म चेतस्तस्यावनमध्ययनमुच्यत इति ज्ञावः । आ-
नीयते च सामायिकाध्ययने शोभन चेतोऽस्मिन् सत्यशुभक-
र्मप्रबन्धमात् । अत एवाह-कर्मणामुपचितानां प्रागुपनिवृत्तानां
यतोऽपचयो हासोऽस्मिन् सति विद्यते नवानां चानुपचयो ब-
न्धो यस्तस्माद्वीद यथोक्तशब्दार्थप्रतिपत्तेः 'अज्जयण' प्राकृत-
भाषायामिच्छन्ति सूरयः, सस्कृते त्विदमध्ययनमुच्यत इति ।
सामायिकादिक चाध्ययनं ज्ञानक्रियासमुद्भात्मकम् । ततश्चागम-
स्यैकदेशशुचित्वान्नो आगमतोऽध्ययनाभिदमुक्तमिति गार्थार्थः ।
अनु० । "जेण सुहप्पज्जयण, अज्जप्पाणयण महियणयणं वा ।
घोहस्स सज्जमस्स व, मोक्खस्स व ज तमज्जयण" । १ । इह नैरु-
क्तेन विधिना प्राकृतस्वाभाव्याश्च सिद्धम् । विशेष० । आ० म० ८० ।

निरुक्त्यन्तरेणैतदेव व्याख्यातुमाह-

अधिगममंति व अत्था, अणए अधिगं व एयणमिच्छंति ।

अधिगं व साहु गच्छति, तम्हा अज्जयणमिच्छंति । उच्च० नि०

अधिगम्यन्ते वा परिच्छिद्यन्ते वाऽर्था जीवाद्योऽनेनाधिक वा
नयन प्रापण मर्यादात्मनि ज्ञानादीनामनेनेतीच्छन्ति, विद्वां-
स इति शेषः । अधिकमनर्गल शीघ्रतरमिति यावत्, वा सर्वत्र
विकल्पार्थः । (साहु चि) साधयति पौरुषेयीभिर्बिंशिष्टक्रिया-
निरपवर्गमिति साधुर्गच्छति यानर्थान् मुक्तिम्, अनेनेत्यत्रापि यो-
ज्यते, यस्मादेवमेव च ततः किमित्याह-तस्मादध्ययनमिच्छ-
न्ति, निरुक्ताविधिनाऽर्थनिर्देशपरत्वाद् वा । अस्यायतेरेतेर्वा अधि-
पूर्वस्याध्ययनमिच्छन्तीति वाऽभिधानम् । सर्वत्र सुप्रार्थावा-
धया व्याख्याविकल्पानां पूर्वाचार्यसमतत्वेनाद्भुतव्यापना-
र्थमिति गार्थार्थः । उच्च० १ अ० । अनु० । आ० म० । दश०
स्था० । सूत्र० । अधीयत इत्यध्ययनम् । कर्मणि ल्युट् । पठ्य-
माने, आव० ४ अ० । धर्मप्रज्ञसौ, दश० ४ अ० । "अध्ययनानि
शुलोकच्युतानि "

चोयादीसं अज्जयणा इसिजासिया दियाहोगच्छुया
भासिया ।

चतुश्चत्वारिंशत (इसिभासिय चि) ऋषिभाषिताध्ययनानि
कालिकश्रुतविशेषभूतानि (दियालोयच्छुयाभासिय चि) देवलो-
कच्युतैः ऋषीभूतैराभाषितानि देवलोकच्युताभाषितानि । क-
चिन्त्यावस्तु- " देवद्वोयच्छुयाण चोयालीस इसिभासियज्जयणा
पण्णत्ता " । सम० ४३ सम० । अधि-इइ-जावे ल्युट् । पुनः पु-
नर्ग्रन्थाज्यासे, विशेष० । स्वाध्याये, षो० १३ विध० । पठने, गु-
रुमुखोच्चारणानुसारिणि उच्चारणे च । वाच० । (पठनवक्तव्यताऽ
खिला 'उद्देश' 'वायणा' 'उवसपया' इत्यादिशब्देषु द्रष्टव्या)

अज्जयणकप्प-अध्ययनकल्प-पु० । योग्यताऽनुसारेण वाचना-
दानसामाचार्याम्, प० मा० ।

वक्त्वातां सुतकप्पो, एतो वोच्छामि अज्जयणकप्पं ।

दायव्वं जेण विहिणा, जग्गुणजुत्तस्स वा तं तु ॥

जोए परियाए अण-रिहे अरहे य विणयपमिवन्ने ।

सुत्तत्थ तदुमएसुं, जे अज्जयणेसु अणुभागा ॥

जस्सागाढो जोगो, तं आगाढे ण चेव दायव्वं ।

अणगाढे अणगाढ, एतो वोच्छामि परियागं ॥

जं सखपरीमाणं, जणितं सुत्तम्म तिवरिसादीयं ।

तं तेणं भाणेणं, उद्दिसियव्वं जवे सुत्तं ॥
 खुदियविसाणयविज-त्तिमादि दीहे च जूयमायाए ।
 एवि दिज्जांति अणरिहे. अणरिहेत्ते तु इमो होंति ॥
 तित्तिणिण् चलचित्ते, गाणं गाणिण् य उब्बलचरिसे ।
 आयरिय पारिभावी, वामायट्ठे य पिसुणे य ॥
 आदी अदिहभावे, अकरुसमायारिए तरुणधम्मे ।
 गव्वितपइण्हणिएहइ, वेदसुत्ते वज्जितो अठंरुहरो ॥
 अकुलीणो ति य दुम्मे-हो दमगे मंदबुद्धिं चि ।
 अवियप्पलाभलब्धी, सीसो परिजवइ आकरिए ॥
 सो वि य सीसो दुविहो, पच्चावियतो य सिक्खवउ चेव ।
 सो सिक्खितो वि तिविहो, सुत्ते अत्थे य तदुजयणं ॥
 एतेसिं अणरिहाणं, जे पन्निक्खान् होंति सव्वेसिं ।
 परिणामगा य जे तु, ते अरिहा होंति णायव्वा ॥
 एतारिसे विणीतो, सुत्ते अत्थे य जत्तिया भेदा ।
 अज्जयणा वेसजुया, सेणा असेसए देजा ॥ पं० जा० ।

('सुय' शब्देऽस्य विस्तरो द्रष्टव्यः)

अज्जयणगुणणित्त-अध्ययनगुणनियुक्त-त्रि० । प्रक्रान्तशा-
 स्त्रनिष्पन्दचूते प्रक्रान्ताध्ययनानिहितगुणसमान्विते, दश० ए
 अ० ४ उ० ।

अज्जयणगुणि (ण)-अध्ययनगुणिन्-त्रि० । प्रक्रान्ताध्यय-
 नोक्तगुणवति, दश० १० अ० ।

अज्जयणछक्क-अध्ययनषट्क-न० । आवश्यकनामभुते, तस्य
 सामायिकादिष्वध्ययनकलापात्मकत्वात् । विशेष० ।

अज्जयणउक्कवग-अध्ययनषट्कवर्ग-पु० । आवश्यक, षडध्य-
 यनकलापात्मकत्वात्तस्य । विशेष० । अनु० ।

अज्जवसाण-अध्यवसान-न० । अतिदुर्षविषादाज्यामधिकम-
 वसान चिन्तनमध्यवसानम् । विशेष० । रागस्नेहभयान्मकेऽध्य-
 वसाये, स्था० ७ डा० । रागमयस्नेहभेदात् त्रिविधमध्यवसानम् ।
 (तन्निमित्तक आयुर्जैदो द्वि० भा० १० पृष्ठे 'आउ' शब्दे वक्ष्यते)
 अन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ भु० २ अ० । मानस्यापरिणतौ,
 ज्ञा० १ भु० १ अ० । उक्त० । "मणसकप्पेसि वा अज्जवसाण-
 ति वा एगट्ठा" नि० चू० १० उ० । प्रकर्मतोऽपि प्रयत्नजेदे, अनु० ।
 विशेष० । औ० ।

एरइयाणं जंते ! केवतिया अज्जवसाणा पसत्ता ? ।
 गोयमा ! असंखिज्जा अज्जवसाणा पसत्ता । ते णं जंते !
 किं पसत्था, अपसत्था ? । गोयमा ! पसत्था वि अपसत्था
 वि । एवं जाव वेमाणियाणं ।

अध्यवसायचिन्तायां प्रत्येकनैरयिकादीनामसंख्येयाध्यवसाना-
 नि प्रत्येकं प्रायोऽन्यान्वाध्यवसायज्ञावात् । प्रज्ञा० ३४ पद ।
 अन्तःकरणे, आ० म० द्वि० । उपा० । प्रज्ञा० । आव० ।

अज्जवसाणजोगणिव्वत्तिय-अध्यवसानयोगनिर्वर्तित-त्रि० ।
 अध्यवसानं जीवपरिणामः, योगश्च मनःप्रभृतिभ्यापारस्तान्यां
 निर्वर्तितो यः स तथा । परिणामेन मनोयोगादिना चासाधिते,
 म० २५ श० ८ उ० ।

अज्जवसाणणिव्वत्तिय-अध्यवसाननिर्वर्तित-त्रि० । मनःप-
 रिणितिसाध्ये, " अज्जवसाणणिव्वत्तियं करणोवापणं से य
 काले तं गाणं विप्पजहिता " अध्यवसाननिर्वर्तितेन वत्सो-
 तव्य मयेत्येवंरूपाध्यवसायनिर्वर्तितेन । म० २५ श० ८ उ० ।

अज्जवसाणावरणिज्ज-अध्यवसानावरणीय-न० । अध्य-
 वसानस्याऽऽवरणरूपे कर्मभेदे, म० ६ श० ३१ उ० ।

अज्जवसाय-अध्यवसाय-पु० । अधि-भव-यो-घञ् । इदमेवेति
 विषयपरिच्छेदे निश्चये, स चात्मधर्म इति नैयायिकाः । बुद्धिधर्म
 इति वेदान्तिनः । उपात्ताविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेः
 रजस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रं सौऽयमध्यवसाय इति
 वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाऽऽख्यायत इति साङ्ख्यः । तत्साहे,
 वाच० । सकल्पे, आव० ३ अ० । सूत्रेषु आत्मनः परिणामविशेषेषु,
 आचा० १ भु० १ अ० २ उ० । अनुभागबन्धस्थाने, "अनुभाग-
 बन्धगण, अज्जवसाया व एगट्ठा" प० स० २ डा० । प० चू० ।

अज्जवसायट्ठाण-अध्यवसायस्थान-न० । परिणामस्थाने, तावि
 करणत्रयेऽसंख्यानि । अष्ट० ५ अष्ट० । ('करण' शब्दे तू० जा०
 ३६१ पृष्ठे दृश्यानि चैतानि)

अज्जवसिअं-निवापिते, मुख्ये च । दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जवसिय-अध्यवसित-न० । अध्यवसाये, अनु० ।

अज्जस्सं-देशी-आकुट्टे, दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जहिय-आत्महित-न० । आत्मनां हितमात्माहितम् ।
 स्वहिते, प्रश्न० १ सव० डा० ।

अज्जा-देशी-असत्याम्, शुभायाम्, नववध्वाम्, तरुणाम्,
 एतस्यां च । दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जाय-अध्याय-पु० । आ मर्यादया प्रवचनोक्तेन प्रकारेण
 पठनमध्यायः । स्वाध्यायकरणे, प्रश्न० । अध्ययने, आव० ४ अ० ।
 स्था० । कर्मणि घञ् । वेदादिशास्त्रस्यैकार्थकविषयसमाप्ति-
 द्योतके विश्रामस्थानरूपे अंशविशेषे, वाच० ।

अज्जारुह-अध्यारुह-पु० । उपर्युपर्यध्यारोहन्तीति अध्यारुहाः ।
 वृक्षोपरिजातेषु वृक्षानिधानेषु कामवृक्षानिधानेषु वा वनस्पतिषु,
 सूत्र० ३ अ० । च वल्लीवृक्षानिधाना इति वृक्षाणां शास्त्रप्ररोहे च । सूत्र०
 २ भु० ३ अ० । प्रज्ञा० । आचा० । (अध्यारुहतयोत्पन्नानां जीवा-
 नामाहारकारीरवर्णादिव्यवस्था 'वणस्सइ' शब्दे वक्ष्यते)

अज्जारोव-अध्यारोप-पु० । अधि-आ-रुह-णिच्-पान्ता-
 देशः-घञ् । अतस्मिन् तद्बुद्धौ, यथा-रज्जौ सर्पधीः । वाच० ।
 भ्रान्तौ, बो० ४ विव० ।

अज्जारोवण-अध्यारोपण-न० । अधि-रुह-णिच् । पान्तादेशः,
 ल्युट् । अतिशयेनाऽऽरोपणे धान्यादेर्वपने, वाच० । पर्य्यनु-
 योजने, विशेष० ।

अज्जारोवमंमल-अध्यारोपमण्डल-न० । अध्यारोपो भ्रान्ति-
 स्तया मण्डलं मण्डलाकारम् । मिथ्याज्ञानेन वृत्ताऽऽकाराऽऽ
 रोपणे, " आगमदीपेऽध्यारोपमण्डलं तत्त्वतोऽसदेव "
 बो० ४ विव० ।

अज्जारोह-अध्यारोह-पु० । वृक्षाणां शाखाप्ररोहे, सूत्र० २
 भु० ३ अ० ।

अज्जानप-अध्यापक-पु० । अध्यापयति । अधि-रुह-णिच् ।

बुद्ध । अध्ययनकारयितरि, वाच० । उपाध्याये च, "अज्जा-
वयाण पडिक्खमासी " उत्त० १२ अ० । आ० म० । आ० चू० ।
अज्जावसत-अध्यावसत-त्रि० । मध्ये वर्तमाने, "गिहमज्जा-
वसतस्स " गृहमध्यावसतः-गृहे वर्तमानस्य । उपा० १ अ० ।
अज्जावसित्ता-अध्युप-अव्य० । मध्ये वर्तयित्वेत्यर्थे, " पंच-
तित्थगरा कुमारवासमज्जावसित्ता " स्था० ५ ठा० ३ उ० ।
अधिष्ठायेत्यर्थे च । वाच० ।

अज्जासणा-अध्यासना-स्त्री० । सहने, उत्त० २ अ० । (परी-
पहणामध्यासहना ' परीसह ' शब्दे छप्या)

अज्जाहार-अध्याहार-पुं० । अध्यारुह्यते ज्ञानायाऽनुसन्धी-
यते । अधि-आ ह-घञ् । आकाङ्क्षायिष्यपदानुसन्धाने, ऊहे,
तर्के, अपूर्वोत्प्रेक्षणे च । वाच० । व्याख्याऽङ्गमेव । आचा० १
श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अज्जीण-अदीण-न० । अर्थिभ्योऽनघरतं दीयमानमपि घट्टत
एव, न तु क्षीयत इत्यदीणम् । अथवा व्यवच्छिन्ननयमतेन
सर्वदेव व्यवच्छेदादलीकचदक्षीणम् । विशे० । आ० म० ।
सामग्र्यिकचतुर्विंशतित्वात्मक अध्ययने, अनु० ।

अस्य निरूपे -

से कितं अज्जीणे ? । अज्जीणे चतुर्विधे पण्यते । तं जहा-
णामज्जीणे, ठवणज्जीणे, दव्वज्जीणे, जावज्जीणे । नामज्-
वणाओ पुल्लं वणिआओ । से कितं दव्वज्जीणे ? । दव्वज्जीणे
दुविहे पण्यते । तं जहा आगमओ अ, एओ आगमओ आ । से किं-
तं आगमओ दव्वज्जीणे ? । दव्वज्जीणे जस्स एं अज्जीणे ति
पदं सिक्खित्तं जितं मितं परिजितं जाव मेत्तं आगमओ दव्व-
ज्जीणे । से कितं नो आगमओ दव्वज्जीणे ? । नोआ० दव्व-
ज्जीणे तिविहे पण्यते । तं जहा-जाणगसरीरदव्वज्जीणे, जवि
असरीरदव्वज्जीणे, जाणगसरीरजविअसरीरवइरित्ते दव्व-
ज्जीणे । से कितं जाणगसरीरदव्वज्जीणे ? । जाणगसरीरदव्व-
ज्जीणे अज्जीणपयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगय-
त्तुअचाविअचत्तदेहं जहा दव्वज्जयणे तहा जाणिअव्व जाव
सेत्तं जाणगसरीरदव्वज्जीणे । से कितं जविअसरीरदव्वज्जी-
णे ? । जविअसरीरदव्वज्जीणे जे जीवे जोणिजम्मणिनिक्खं-
ति जहा दव्वज्जीणे जाव सेत्तं जविअसरीरदव्वज्जीणे ।
से कितं जाणगसरीरजविअसरीरवइरित्ते दव्वज्जीणे ? ।
दव्वज्जीणे सव्वागाससेदी सेत्तं जाणगसरीरजविअसरी-
रवइरित्ते दव्वज्जीणे, सेत्तं नो आगमओ दव्वज्जीणे, सेत्तं
दव्वज्जीणे । से कितं जावज्जीणे ? । भावज्जीणे दुविहे
पण्यते । तं जहा-आगमओ अ, नो आगमओ अ । से कितं आ-
गमओ भावज्जीणे ? । जावज्जीणे जाणए उवइत्ते । सेत्तं आ-
गमओ भावज्जीणे । से कितं नो आगमओ भावज्जीणे ? ।
जह दीवा दीवसत्तं, पइणए दीणए अ सो दीवो । दीवसमा
आयरिआ, दिप्पंति पर च दीवति ॥ १ ॥ सेत्तं नो आ-
गमओ जावज्जीणे, सेत्तं जावज्जीणे, सेत्तं अज्जीणे ॥

अत्रापि तथैव विचार, या तु (सव्वागाससेदी ति)
सर्वाकाश लोकालोकनभ-स्वरूपम्, अस्य सबन्धश्रेणिः प्रदे-
शापहारतोऽपहियमाणाऽपि न कदाचित् क्षीयते, अतो ज्ञ-
शरीरमव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्याक्षीणतया प्रोच्यते, द्रव्य-
ता चास्याऽऽकाशद्रव्यान्तर्गतत्वादिति । अत्र वृद्धा व्याचक्षते-
यस्माच्चतुर्दशपूर्वविद आगमोपयुक्तस्यान्तर्मुहूर्तमात्रोपयोग-
काले येऽर्थोपलम्भोपयोगपर्यायास्ते प्रतिसमयमेकैकापहारे-
णानन्ताभिरप्युत्सर्पिणीभिर्नोपहियन्ते, अतो भावाक्षीणतेहा-
यसेया । नो आगमतस्तु भावाक्षीणता-शिष्येभ्यः सामायिकां-
दिश्रुतप्रदानेऽपि स्वात्मन्यनाशादित्येतदेवाह- (जह दीवा)
यथा दीपादवच्छिन्नतादीपशत प्रदीप्यते प्रवर्तते, स च मूलभूतो
दीपस्तथापि तेनैव रूपेण प्रवर्तते, न तु स्वयं क्षयमुपयाति । प्र-
हृते सबन्धयश्चाह-एव दीपसमा आचार्या दीप्यन्ते स्वय वि-
वक्षितभुतत्वेन तथैवावतिष्ठन्ते, पर च शिष्यवर्गं दीपयन्ति-भुत-
सम्पद लभ्यन्ति । अत्र नो आगतो भावाक्षीणता भुतदायका-
चार्योपयोगस्यागमत्वाद्, चाक्षाययोगयोश्चागमत्वाद्भावनायेति
वृत्ता व्याचक्षते इति गार्थार्थ । अनु० । यथा दीपाद् दीपशत प्रदी-
प्यते ज्वलति, सोऽपि च दीप्यते दीपः, न पुनरन्यान्यदीपोत्पत्ता-
वपि क्षीयते । तथा किमित्याह-दीपसमा आचार्या दीप्यन्ते सम-
स्तशास्त्रार्थविनिश्चयेन स्वयं प्रकाशन्ते, परञ्च शिष्यं दीपय-
न्ति शास्त्रार्थप्रकाशनशक्तियुक्तं कुर्वन्ति । इह च तात्स्थ्यात्तद्व्य-
पदेश इत्याचार्यशब्देन श्रुतज्ञानमेव चोक्तम्, भावाक्षीणस्य प्रस्तुत-
त्वात्, तस्यैव चाक्षयत्वसमवादिति गार्थार्थ । उत्त० १ अ० ।
अज्जीणज्जंजय-अक्षीणज्जंजक- त्रि० । अक्षीणकलहे,
आव० ४ अ० ।

अज्जुववण-अध्युपपन्न-त्रि० । अधिकमत्यर्थमुपपन्नस्तच्चित्त-
स्तदात्मकः । विषयपरिमोगायतजीविते, आचा० १ श्रु० १ अ०
७ उ० । स्था० । म० । अधिक तदेकाग्रतां गते, ज्ञा० २ अ० । वि० ।
म० । जातानुरागे, व्य० २ उ० । मूर्च्छिते, आचा० २ श्रु० १ अ० ७
उ० । गृहे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । "मुच्छिद्य गिद्धे गदिप अज्जु-
ववणे य " इति एकार्थाः । वि० । " अज्जोववणा कामेहिं, चो-
इज्जता गया गिह " अध्युपपन्ना, कामगतिचित्ताः । सूत्र० १
श्रु० ३ अ० २ उ० । अज्जोववणा कामेहिं मुच्छिया " अध्युप-
पन्ना गृह्णाः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । पौन पुन्येनाभिलषमाणे,
सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आधिक्येन भोगेषु लब्धे, सूत्र० २ श्रु० १
अ० । स्था० ।

अज्जुसिर-अशुपिर-त्रि० । म० ब० । शृङ्खणशुपिररहिते, रा० ।
" अज्जुसिर जत्थ कोट्टरं नत्थि " नि० चू० २ उ० । तृणाद्य-
नवच्छिन्ने, घ० ३ अधि० । कुशवनतृणादौ, सस्तारकभेदे च । नि०
चू० २ उ० ।

अज्जुसिरतण-अशुपिरतृण-न० । दर्जादौ, शुपिररहिते तृणे
च । जीत० ।

अज्जेमणा-अध्येपणा-स्त्री० । अधि-इप्-युच्-टाप् । सत्कारपूर्व-
कनियोगे, सम्म० । अधिका पपणा प्रार्थना । अधिकमर्थने, स्त्री० ।
वाच० ।

अज्जोयरय-अध्यवपूरक-पु० । अधि आधिक्येनाध्यवपूरण
स्वार्थदत्ताधिभयणादेः साध्वागमनमवगम्य तद्योग्यभक्तसि-
द्ध्यर्थं प्राप्नुयेण भरणमध्यवपूरः । स एव सार्थिककप्रत्ययवि-
धानाध्यवपूरकः, तद्योगाद्भक्ताद्यध्यवपूरकः । प्रच० ६७

द्वा०। स्वार्थमूलाद् ग्रहणे कृते साध्वाद्यर्थमधिकतरकरणप्रक्षेपणे-
न भक्तादौ सपादिते सति, तत्र सम्भवति षोडशे उद्गमदोषे,
भ०६ श० ३३ उ०। “सछापण मूलगहणे, अज्जोयर होइ प-
क्खेवो” स्था० ६ ग०। द०। घ०। आचा०। प०व०। पचा०।

अधुनाऽध्यवपूरकद्वारमाह-

अज्जोयरओ तिविहो, जावत्तिय सघरमीस पासडे ।

मूळमि य पुव्वकए, ओयर्ई तिहए अट्टाए ॥

अध्यवपूरकस्त्रिप्रकारः। तद्यथा-(जावत्तिय इति) स्वगृह-
मिश्रयोः शब्दयोरत्रापि सवन्धनात् स्वगृहयावदर्थिकमिश्रः (स
घरमीस त्ति) अत्र साधुशब्दोऽध्याह्रियते, स्वगृहसाधुमिश्रः ।
(पासडे इति) अत्रापि यथायोगे स्वगृहमिश्रशब्दसवन्धः ।
स्वगृहपाषाणमिश्रः। स्वगृहश्रमणमिश्रः। स्वगृहपाषाणमिश्र-
ऽन्तर्भावितः पृथग् नोक्तः । त्रिविधस्यापि सामान्यतो लक्ष-
णमाह-(मूलमीत्यादि) मूले आरम्भेऽग्निसंयुक्तणस्थालीज-
लप्रक्षेपादिरूपे, पूर्वं यावदर्थिकाद्यागमनात् प्रथममेव स्वार्थं
निष्पादिते पश्चात् यथासंभव त्रयाणां यावदर्थिकादीनाम-
र्थायावतारयति, अधिकतरान् तणकुलादीन् प्रक्षिपति, ए-
षोऽध्यवपूरकः । अत एव चास्य मिश्रजातान्नेदः । यतो मिश्र-
जात तदुच्यते-यत् प्रथमत एव यावदर्थिकाद्यर्थमात्मार्थं च
मिश्र निष्पाद्यते, यत् पुनरारभ्यते स्वार्थं, पश्चात्प्रभूतानर्थिनः
पाषाण्डिन साधून् वा समागतानवगम्य तेषामर्थयाधिकतर-
जलतणकुलादि प्रक्षिप्यते, सोऽध्यवपूरकः, इति मिश्रजाता-
दस्य भेदः ।

अमुमेव भेदं दर्शयति-

तंदुल जल आयाणे, पुष्फकले सागवेसणे लोणे ।

परिमाणे नाणत्तं, अज्जोयर मीसजाए य ॥

इह व्यत्ययोऽप्यासाम् इति वचनात् सप्तमी-यथायोगे पष्ठयर्थे
तृतीयार्थे वेदितव्या। ततोऽयमर्थः-अध्यवपूरकस्य मिश्रजातस्य
च परस्पर नानात्वं हि तणकुलपुष्पफलशाकवेशनलवणादान-
काले यद् विचित्रं परिमाणं तेन द्रष्टव्यम् । तथाहि-मिश्रजाते
प्रथमत एव स्थाल्यां प्रभूत जलमारोप्यते, अधिकतराश्च त-
णकुलादि गृह्यते, पश्चाद् यावदर्थिकादिनिमित्तमधिकतरं तणकु-
लादि प्रक्षिप्यते, तस्मात्तणकुलादीनामादानकाले यद् विचित्रं
परिमाणं तन्मिश्राध्यवपूरके विशोधिकदौ नानात्वमवसेयम् ।

संप्रत्यध्यवपूरकस्य कल्पविधिमाह-

जावत्तिए विसोही, सघरपासंनिमीसए पूई ।

छिन्ने विसोहि दिन्न-म्मि कप्पइ न कप्पई सेसं ॥

यावदर्थिके स्वगृहयावदर्थिकमिश्रेऽध्यवपूरके शुरुभक्तमध्य-
पतिते यदि तावन्मात्रमपनीयन्ते ततो विशोधिर्भवति । अत-
एव स्वगृहयावदर्थिकमिश्रोऽध्यवपूरको विशोधिकोऽपि वक्ष्यते ।
स्वगृहपाषाणमिश्रे, उपलक्षणत्वात् स्वगृहसाधुमिश्रे च शुरु-
भक्तमध्यपतिते पृतिर्भवति, न कल्पते तद्भक्तम्, पृतिदोषदृष्टं प्र-
वर्ततेत्यर्थः । तथा विशोधौ विशोधिकोऽपि रूपे यावदर्थिकाध्यव-
पूरके छिन्ने यावन्तः कणाः कार्पटिकाद्यर्थे पश्चात् क्षिप्तास्ताव-
न्मात्रे स्थाल्या पृथक्कृते, कार्पटिकादिभ्यो वा दत्ते सति, शेष-
मुद्ररिण यद्भक्तं तत्साधूना कल्पते । शेष पुन स्वगृहपाषाणमिश्र-
मिश्रस्वगृहसाधुमिश्राध्यवपूरकं न कल्पते । किमुक्तं भवति ?।

गृहीतं तत्तावन्मात्रं स्थाल्याः पृथक्कृतं दत्तं वा पाषाणपादि-
न्यस्तथापि यत् शेषं, तन्न कल्पत इति ।

‘ जावत्तिए विसोही ’ इत्यवयव विशेषतो व्याख्यानयति-
त्रिभिर्मि तओ उक्क-हियम्मि पुहकए कप्पइ सेसं ।

आहवणाए दिन्नं, व तत्तियं कप्पए सेसं ॥

विशोधिकोऽपि रूपे यावदर्थिकेऽध्यवपूरके यावदर्थिक पश्चात्
प्रक्षिप्तं तावन्मात्रे छिन्ने पृथक्कृते, तत्र त्रयो रेखयाऽपि प्रवर्तते,
तत आह-(तत्रो उक्कहियम्मि) तत्त्वस्थादुत्कर्षितं तत्पादिते,
इहोत्कर्षितं स्वस्थानादुत्पाद्य शेषभक्तस्योपरि निक्षिप्तमपि भ-
ण्यते, ततो विशेषणान्तरमाह-पृथक्कृते स्थाल्या बहिर्निष्का-
शिते, शेष यद्भक्तं तत्साधूनां कल्पते । अथवा आज्ञनया उद्दे-
शेन, न तु शिक्षादिपरिगणनेन यदि तावन्मात्रं कार्पटिकादिभ्यो
दत्तं स्यात् ततः शेष कल्पते । पि० । तत्र प्रायश्चित्तं प्रत्येक
मासगुरु । वृ० १ उ० । “ यावतियमज्जोयरए मासगुरु, सघ-
रपासंनअज्जोयरए मासगुरु ” । प० चू० । अध्यवपूरकान्तर्भेदद्वये
एकाशनकम् । जीत० । पचा० ।

अज्जोवज्जणा-देशी-क्रोडाभरणे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अज्जोवज्जणा-अध्युपपादना-स्त्री० । कच्चिन्वित्तियार्थेऽध्युप-
पत्तौ, अभिष्वङ्गे च । “ तिविहा अज्जोवज्जणा-जाणू, अजाणू,
वित्तिगिच्छा ” तत्र जानतो विषयजन्यमर्थं या तत्राध्युपपात्तिः
सा जाणू । या त्वजानतः सा अजाणू । या तु सहायवतः सा विवि-
कित्सा । स्था० ३ ग० ४ उ० ।

अज्जोववस-अध्युपपन्न-त्रि० । विषयपरिजोगायतजीविते,
आचा० ।

अज्जोववाय-अध्युपपात-पु० । ग्रहणैकाग्रचित्ततायाम्, “ पर-
स्स अज्जोववायलोभजणणा ” पात्राणि परस्यान्यस्य भ-
ध्युपपातं च ग्रहणैकाग्रचित्ततां बोधं मूर्च्छां जनयन्ति यानि
तानि अध्युपपातलोभजननानि । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्ज-कृष्-धा० आकर्षणे, विवेक्षणे च । तुदा०, आत्म०, सक०,
अनिद् । “ कृषेः कट्टसाअठाञ्जाणञ्जायञ्जाइञ्जा ” ॥ ७। ४। १७७ ॥
इति कृषेरञ्जादेशः । अज्जइ, कृषते । प्रा० ।

अज्जिअ-अज्जित-त्रि० । अज्ज-कृ । वर्गेऽन्त्यो वा । ७ । १ ।

३० । इत्यनुस्वारस्य वा परसवर्णः । पूजिते, आकुञ्चिते च । प्रा० ।

अज्ज-अङ्ग-त्रि० । “ न्यएयङ्गां अज्जः ” ॥ ८ । ४। २६३ ॥ इति सूत्रे

मागध्यां इत्य अज्जः, द्विरुक्तो अकार इत्यर्थः । सूत्रे, प्रा० ।

अन्य-त्रि० । न्यस्य स्थाने द्विरुक्तो अकारः । त्रिन्ने, सहशे च । ए-

वमेतद्वद्विता अप्युदाहार्या । प्रा० ।

अज्जलि-अज्जलि-पु० । अज्ज-अलि, “ न्यएयङ्गां अज्जः ” ॥ ७ ।

४ । २६२ । इति मागध्यां अज्ज इति भागस्य अज्ज । सयुतकर-

पुटे, प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-धा० गतौ । ज्वा० सक०, पर०, सेद । “ शकादीनां

द्वित्वम् ” ॥ ७। ४। २२६ । इति टडित्वम् । परिअट्टइ, पर्यटति । प्रा० ।

अट्ट-क्वथ-धा० निष्पाके । ज्वा०, पर०, सक०, सेद । “ क्वथेरट्ट ”

८। ४। ११६ । इति क्वथेरट्ट इत्यादेशः । अट्टइ, क्वथति । प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-पु० । अट्टयति नादियतेऽन्यद् यत्र । अट्ट-आघारे

घञ् । प्रासादस्योपरि गृहे, प्राकारोपरि स्थसैन्यगृहे च । यत्र स्थि-

ता हि नरा अन्यान् हीनतया नादियन्ते । यस्मिन् वसतश्चा-

भ्योत्कर्षेऽनादर । आच० । “अष्टाणि वा अष्टालयाणि वा ”
आच० २ भु० ११ अ० । अष्टपतेऽतिक्रम्यतेऽनेनेत्यष्टः । आका-
शे, ज० २० श० २ उ० ।

आर्त-त्रि० अर्ति शारीरमानसी पीमा, तत्र प्रव आर्तः ।
आच० १ भु० २ अ० ५ उ० । पीमिते, सूत्र० १ भु० १० अ० ।
दुःखिते, आच० १ भु० ४ अ० २ उ० । मोहोदयेन आर्ते,
आच० १ भु० ६ अ० १ उ० । शरीरतो दुःखिते, छी० ।
मोहोदयादगणितकार्याकार्यविवेके च । आच० १ भु० ६ अ०
१ उ० । अस्य निक्षेप-“अष्टे लोप परिजुगो दुस्सवोहे
अधिजाण” । आच० १ भु० १ अ० १ उ० । (‘पुढविकाय’ शब्दे
एतत्सूत्रव्याख्यानं वक्ष्यते)

अष्टे चउव्विहे खयु, दव्वे नदिमादि जत्थ तणकका ।

आवत्तंते पमिया, से व सुवखादि आवट्टे ॥

आर्तं खयु चतुर्थिध । तद्यथा-नामार्तं, स्थापनार्तं, द्रव्यार्तं,
भावात्तं । तत्र नामस्थापने सुप्रतीते । द्रव्यातोऽपि नोन्नागम-
तो कशरीरव्यतिरिक्तो यत्र नद्यादे प्रदेशे वृणकाष्ठानि पतितानि
आवर्तन्ते, यच्च धा सुवर्णाद्यावर्तन्ते, स रूढव्यं । आ सधनः प-
रिभ्रमणेन कृतानि गतानि यत्र यो वा स आर्तं इति व्युत्पत्तेः ।

अहवा अचीनूतो, सचित्तादिहि होइ दव्वम्मि ।

जावे कोहादीहि, उ अचिन्तूतो होति अष्टो उ ॥

अथवा सचित्तादिभिर्द्रव्यैरसंप्राप्तेः प्राप्तधियुक्तैर्या य आर्तं स
द्रव्यात्तं, द्रव्यैरातो रूढव्यार्तं इति व्युत्पत्तेः । कोधादिभिरजि-
भूतो नो आगमतो भावार्तः । तदेवमार्तशब्दार्थ उक्तः । व्य० ४
उ० । आच० । ऋतस्य पीमितस्येदं वचनमिति कृत्वा धोमशे
गौणालेके, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । अतः दुष्पक्ष, तत्र भवमार्तम् ।
यदि वा आर्तं पीमा, पातन च, तत्र प्रवमार्तम् ” ध० २ अधि० ।
प्रव० । क्लिष्टे, आच० ४ अ० । विषयानुरञ्जिते, ध० ३ अधि० ।
इष्टविषयसयोगाभिलाष, प्रश्न० ४ सम्प० द्वा० । एतदात्मके शो-
काकान्दविशेषनादिलक्षणे वा ध्यानभेदे, आच० ४ अ० । द्वा० ।
अष्ट-देशी-कथे, दुर्बले, गुरौ, महति, शुक्पक्षिणि, सुखे, सौ-
ख्ये, धृष्टे, विपाते, अलसे, शीतके, शब्दे, ध्वनौ, असत्ये च ।
दे० ना० १ वर्गः ।

अष्टइ-देशी-कथने, दे० ना० १ वर्गः ।

अष्टक-अष्टक-पु० (आठमो) कुट्टितलेपरुकरूपे पात्रकृत्पूर-
के छव्ये, वृ० १ उ० ।

अष्टज्जाण-अर्तिध्यान-न० । अतः दुःखम् । उक्तं हि-ऋतशब्दो
दुःखपर्यायवाच्याधीयते । ऋते प्रवमार्तम्, उक्त० ३० अ० ।
ऋत दुःख, तस्य निमित्त, तत्र वा भवम् । ऋते वा पीमिते भवमार्-
तम् । स्था० ४ उ० १ उ० । आच० । तच्च तद् ध्यान च । आर्तभाव
गत आर्तः, आर्तस्य वा ध्यानमार्तध्यानम् । आ० चू० ४ अ० ।
मनोहामनोहवस्तुवियोगसयोगादिनियन्धनचित्तविप्लवक्षणे
ध्यानभेदे, स० १ सम० । “ राज्योपमोगशयनासनवाहनेषु,
स्त्रीगन्धमाल्यमणिरत्नविभूषणेषु । इच्छाजिज्ञासमतिमात्रमुपैति
मोहा-रूपाय तदाऽर्तमिति सप्रवदन्ति तज्ज्ञाः ” ॥१॥ दश० १ अ० ।
“ भवकारणमदृक्काह ” । आर्तध्यान स्वविषयलक्षणजेद-
तश्चतुर्था । उक्तं च भगवता वाचकमुख्येन-आर्तममनो-
हानां सप्रयोगे, तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः, वेदना-
ग्रह विपरीतम्, मनोहानां निदानं चेत्यादि । आच० ४ अ० ।

“अष्टज्जाणे चउव्विहे पण्ये” चतस्रो विधा भेदा यस्य तत्तथा ।
अमणुजसंप्रयोगसंपञ्चत्ते तस्स विप्पओगसितिसमप्पाणए
यावि भवइ ॥

अमनोहस्यानिष्टस्य ‘असमणुषस्स चित्ति’ पाठान्तरे अस्वमनो-
हस्यानात्मप्रियस्य शब्दादिविषयस्य, तत्साधनवस्तुनो वा स-
प्रयोगः सवन्धस्तेन सप्रयुक्तः सवद्धोऽमनोहसप्रयोगसप्रयुक्तो-
ऽस्वमनोहसप्रयोगसंप्रयुक्तो वा, य इति गम्यते । तस्येति, अ-
मनोहस्य शब्दादेर्विप्रयोगाय वियोगार्थं स्मृतिश्चिन्ता, ता सम-
न्वागतः समनुप्राप्तो भवति यः प्राणी, सोऽभेदोपचारादार्तमिति ।
वाऽपीनिशब्दः विकल्पापेक्षया समुच्चयार्थः । अथवा मनोहस-
प्रयोगसप्रयुक्तो य प्राणी, तस्य प्राणिन विप्रयोगे प्रक्रमादमनो-
हशब्दादिवस्तूनां वियोजने, स्मृतिश्चिन्तनम्, तस्या समन्वागतः
समागमनः समन्वाहारो विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतः वाऽपीति
तथैव प्रवाति, आर्तध्यानमिति प्रक्रमः । अथवाऽमनोहसप्रयो-
गसप्रयुक्ते प्राणिनि, तस्येति अमनोहशब्दादेर्विप्रयोगस्मृति-
समन्वागतमार्तध्यानमिति ।

अमणुज्जाणं सदा-इविसयवत्थूण दोसमइहस्स ।

धाणिअं विओगचित्तण-मसंपओगाणुसरणं च ॥६॥

अमनोहानामिति । मनसोऽनुकूलानि मनोहानि, इष्टानीत्यर्थः । न
मनोहानि अमनोहानि, तेषाम्, केषामित्यत आह-शब्दादिविषयव-
स्तूनामिति । शब्दादयश्चैते विषयाश्च, आदिशब्दाद्वर्णादिपरिग्र-
हः । विपीदन्त्येतेषु सक्ता प्राणिन इति विषया-इन्द्रियगोचरा,
वस्तूनि तु तदाधारचूतानि रासभादीनि । ततश्च शब्दादि-
विषयाश्च, वस्तूनि चेति विग्रहः । तेषाम्, किसप्राप्तानां सताम् ?
धणियमत्यर्थम्, वियोगचिन्तन विप्रयोगचिन्तेति योगः ।
कथं नु नामैजिर्वियोग स्यादिति प्रावः । अनेन वर्तमानकाल-
ग्रहः । तथा सति च वियोगेऽसप्रयोगानुस्मरण, कथमेभि सहैव
सप्रयोगाभाव इत्यनेन वाऽनागतकालग्रहः । चशब्दात्पूर्वमपि वि-
युक्तासप्रयुक्तयोर्बहुमतत्वेनातीतकालग्रह इति । किंविशिष्टस्य
सत इदं वियोगचिन्तनमिति ? अत आह-देषमलिनस्य, जन्तो-
रिति गम्यते । तत्राप्रतीतिलक्षणो द्वेष, तेन मलिनस्य, तदाक्रान्त-
मूर्त्तिरिति गार्थः । इति प्रथमो भेदः ।

साम्प्रत द्वितीयमभिधित्सुराह-

तह मूलसीसरोगा-इवेअणाए विओगपणिहाणं ।

तयसपओगचित्ता, तप्पडिआराउलमणस्स ॥७॥

तथेति धणियमत्यर्थमेव । शूलशिरोरोगादिवेदनाया इत्यत्र
शूलशिरोरोगौ प्रसिद्धौ । आदिशब्दाच्छेषरोगात्तद्विग्रहः । त-
तश्च शूलशिरोरोगादिभ्यो वेदना । वेद्यत इति वेदना । तस्या
किम् ? वियोगप्रणिधानम्, वियोगे दृढाध्यवसाय इत्यर्थः । अनेन
वर्तमानकालग्रहः । अनागतमधिकृत्याह-तदसप्रयोगचिन्तेति,
तस्या वेदनायाः कथंचिदभावे सति असप्रयोगचिन्ता, कथं
पुनर्ममानयाऽऽयत्या सप्रयोगो न स्यादिति चिन्ता चार्तध्यानमेव
गृह्यते । अनेन वर्तमानानागतकालग्रहणेनातीतकालग्रहोऽपि
कृत एव वेदितव्यः । तत्र प्राचनाऽनन्तरगाथायां कृतैव । किं विशि-
ष्टस्य सत इदं वियोगप्रणिधानमिति ? अत आह-तत्प्रतीकारे वेद-
नाप्रतीकारे चिकित्सायामाकुल व्यग्र मनोऽन्तःकरणं यस्य स
तथाविधस्तस्यावियोगप्रणिधानाच्चार्तध्यानमिति गार्थः ।
उक्तो द्वितीयो भेदः । आच० ४ अ० ।

अधुना तृतीयमुपदर्शयन्नाह-

आत्मकसंपन्नोऽप्युत्तरे तस्य विषयभोगसितिसमप्राग-
ए यावि भवइ ॥

आतङ्गे रोगः इति । स्था० ४ भा० १ उ० ।

इडाणां विसर्गार्ह-ए वेअणाए अ रागरक्तस्य ।

अविभोगज्जवसाणं, तह संजोगाजिहासो अ ॥८॥

इष्टानां मनोऽज्ञानां विषयादीनामिति । विषयाः पूर्वोक्ताः । आदि-
शब्दाद्वस्तुपरिग्रहः । तथा वेदनायाश्च इष्टाया इति वर्तते । किम् ?
अविभोगाध्यवसानमिति योगः । अविप्रयोगवृद्धाध्यवसाय इति
ज्ञाव । अनेन च वर्तमानकालग्रहः, तथा सयोगाजिहास-
श्चेति, तत्र तथेति । धर्णियत्तमित्यनेनात्यर्थप्रकारोपदर्शनार्थः ।
सयोगाजिहासः-कथं भवेत्तु विषयादिभिरायत्यां संबन्धः ? इ-
तीच्छा । अनेन च अनागतकालग्रह इति वृत्ता व्याचक्षते । चश-
ब्दात्पूर्ववदतीतकालग्रह इति । किंविशिष्टस्य सत इदमवियो-
गाध्यवसानादि । अत आह-रागरक्तस्य, जन्तोरिति गम्यते ।
तत्राजिह्वद्वक्त्राणो रागः, तेन रक्तस्य तज्जावितमूर्तेरिति गा-
थार्थः । उक्तस्तृतीयो जेदः । आव० ४ अ० ।

साम्प्रत चतुर्थमभिधत्तुराह-

परिभुसिय कामभोगसंपन्नोऽप्युत्तरे तस्य अविषयभो-
गसितिसमप्रागए यावि भवइ ॥(परिभुसिय च्छि) निषेविता ये कामाः कमनीया जोगा-
शब्दादयः । अथवा कामौ शब्दरूपे, जोगा गन्धरसस्पर्शाः ।
कामभोगाः कामानां वा शब्दादीनां यो भोगस्तैस्तेन वा
राप्रयुक्तः । पाठान्तरे तु तेषां तस्य वा सप्रयोगस्तेन सप्रयुक्तो
यः स तथा । अथवा (परिभुसिय च्छि) परिक्लीणो जरादिना, स
चान्नौ कामभोगसंप्रयुक्तश्च यस्तस्य, तेषामेवाविप्रयोगस्तुतेः स-
मन्वागत समन्वाहारस्तदपि प्रवत्यार्थेभ्यानमिति । स्था० ४ भा०

देविंदचक्रवटि-तणाइ गुणरिच्छिपत्थणामयं ।

अहमं निआणचित्तणमन्नायाणुगयमचंतं ॥६॥

दीव्यन्तीति देवा भवनवास्यादयस्तेषामिन्द्राः प्रभवो देवे-
न्द्राश्चमरादयः । तथा चक्र प्रहरण, तेन विजयाधिपत्ये वर्तितुं
शीलमेषामिति चक्रवर्तिनो प्रस्तादयः । आदिशब्दाद् बलदेवा-
दिपरिग्रहः । अमीषां गुणरूपयो देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिगुणरूपयः ।
तत्र गुणास्तु रूपादयः, अस्तिस्तु विज्ञातिः, तत्प्रार्थनात्मक
तद्याज्यामयमित्यर्थः । किं तद् ? अधम जघन्य, निदानचिन्तन नि-
दानाध्यवसायः, अहमनेन तपस्यागादिना देवेन्द्र स्यामित्यादि-
रूपः । आह-किमिति तद्धममुच्यते ? तस्मादज्ञानानुगतम, अत्य-
न्तम, तथा च नाज्ञानिनो विहाय सांसारिकसुखेऽन्येषामभिलाष
उपजायते । उक्तं च-“ अज्ञानान्धाश्च दुलबनितापाङ्गविक्रिपि-
नास्ते, कामे सक्तिं दधति विजवाजोगतुक्कार्जने वा । विद्वच्चित्त
भवति हि महन्मोक्तकाङ्क्षकतानं, नाल्पस्कन्धे चित्पिनि कथत्य-
समिच्छि गजेन्द्रः ॥१॥ इति गाथार्थः । उक्तश्चतुर्थो जेदः । आव०
४ भा० द्वितीयं ब्रह्मभयनादिविषय, चतुर्थं तत्सपाद्यशब्दादि-
भोगविषयमिति जेदोऽनयोर्भावनीयः । शास्त्रान्तरे (आवश्य-
के) तु द्वितीयचतुर्थयोरेकत्वेन तृतीयत्वम्, चतुर्थं तत्र निदानमु-
क्तम् । उक्तं च-“अमणुषाण सद्धानं” इत्यादि । स्था० ४ भा० १ उ० ।
साम्प्रतमिदं यथाचूतस्य भवति यद्धर्मेन चेदमिति तदेतदभि-
धातुकाम आह-

एयं चउज्जिहं रा-गदोसमोहंकिअस्स जीवस्स ।

अष्टाङ्गाणं संसा-रवट्ठणं तिरिअगइमूलं ॥१०॥

एतदन्तरोदितं चतुर्विधं चतुःप्रकारं रागद्वेषमोहम्, किं तस्य ?
रागादिष्वभिहितस्येत्यर्थः । कस्य ? जीवस्य आत्मनः । किम् ? आ-
र्त्तध्यानमिति । तथा चतुष्टयमपि किं विशिष्टम् ? इत्यत आह-
संसारवर्द्धनम्, भोगतस्तिर्यग्गतिमूलं विदोष इति गाथार्थः ।
आह-साधोरपि शूलवेदनाजिभूतस्यासमाधानादार्त्तध्यानप्रा-
प्तिरित्यत्रोच्यते, रागादिवशावर्त्तनो भवत्येव, न पुनरन्यस्ये-
ति । आह च ग्रन्थकारः-

मज्झत्यस्स उ मुणिणो, सकम्मपरिणामत्राणिअमेअंति ।

वत्पुस्सहावचित्तण-परस्स सम्मं सहंवस्स ॥ ११ ॥

मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थ, रागद्वेषयोरिति गम्यते । तस्य मध्य-
स्थस्य, तुल्यत्वं एवकारार्थः, स चाऽवधारणे । मध्यस्थस्यैव नेतर-
स्य । मनुते जगतस्त्रिकावावस्थामिति मुनिः, तस्य मुनेः, साधारि-
त्यर्थः । स्वकर्मपरिणामजनितमेतत् बलादि, यच्च प्राकर्मविपरिणा-
मिदं वादशुभमापनति न तत्र परिताप्या प्रवन्ति सन्तः । उक्तं च
परममुनिभिः-“ पुर्वं च खलु भो कदापि कर्माणां दुष्क्रियाण
दुष्परिक्लृताणं वेइत्ता मोक्खो नत्थि, अवेइत्ता तवसा वा जोस-
इत्ता” इत्यादि । इत्येवं वस्तुस्वभावाच्चिन्तनपरस्य सम्यक्शोभ-
नाध्यवसायेन सहमानस्य सतः कुतोऽसमाधानम् ? अपि तु ध-
र्ममनिदानमिति वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥ ११ ॥ परिहृताऽऽश-
ङ्का, गतः प्रथमपङ्कः ।

द्वितीयतृतीयाध्याधिकृत्याह-

कुणओ व पसत्थालं-वणस्स पडिआरमप्पसावज्जं ।

तवसंजमपमिआरं, च सेवओ धम्ममणिआणं ॥ १२ ॥

कुर्वतो वा, कस्य ? प्रशस्तं ज्ञानाद्युपकारकम्, आलम्ब्यत इत्या-
म्बन प्रवृत्तिनिमित्तं शुभमध्यवसानमित्यर्थः । उक्तं च-“ कोह
अच्छिसिमित्यादि ” प्रशस्तमात्मम्बनं वृत्तं यस्यासौ प्रशस्ताल-
म्बनः, तस्य । किं कुर्वतः ? इत्यत आह-प्रतीकारं चिकित्सासङ्गणम्,
किंविशिष्टम् ? अल्पसावधम्, अवयवपापं, सहावधेन सावधम् ।
अल्पशब्दोऽभाववाचकः स्तोकवचनो वा । अल्प सावध यस्मि-
न्सावधपसावधस्तं धर्ममनिदानमेवेति योगः । कुतः ? निर्दोष-
त्वात् । निर्दोषत्व च वचनप्राप्त्यात् । उक्तं च-“ गीयथो जय-
णाप कडजोगी कारणमि निहोसो ” । इत्याद्यागमस्योत्सर्गापवा-
दरूपत्वात् । अन्यथा परलोकस्य साधयितुमशक्यत्वात्, साधु
चेतदिति । तथा तप संयमप्रतीकार च सेवमानस्येति । तपःसय
भावेव प्रतीकारः, सांसारिकदुःखानामिति गम्यते । तं च सेवमा-
नस्य, चशब्दात् पूर्वोक्तप्रतीकार च । किम् ? धर्मं धर्मध्यानेनैव म-
र्षति, कथम् ? सेवमानस्यानिदानमिति क्रियाविशेषणम्, देवेन्द्रा-
दिनिदानरहितमित्यर्थः । आह-कृत्स्नकर्मज्ञानान्मोक्षो भवतिती-
दमपि निदानमेव उच्यते, सत्यम् । तदपि निश्चयतः प्रतिपिद्यमेव ।
कथम् ? “ मोक्षे प्रवे च सर्वत्र, निस्पृहो मुनिसत्तम ” । प्रवृत्त्यभ्या-
सयोगेन, यत् उक्तो जिज्ञानमे ॥१॥ इति । तथापि तु भावनायामप-
रिणत सत्त्वमङ्गीकृत्य व्यवहारत इदमदुष्टमेव । अनेनैव प्रकारेण
तस्य चित्तशुद्धेः, क्रियाप्रवृत्तियोगाच्चेत्यत्र बहु वक्तव्यम्, तत्र
नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ॥ १२ ॥ अन्ये पुनरिदं गा-
थादयं चतुर्थेदमप्यार्त्तध्यानमधिकृत्य साधोः प्रतिषेधरूपतया
व्याचक्षते, न च तदत्यन्तमुन्दरम्, प्रथमतृतीयपङ्कद्वये सम्यगाशु-

ज्ञाया एवानुपपत्तेरिति । आह-उक्तं भवता आर्तध्यानसंसारव-
र्जनमिति, तत्कथमुच्यते ? बीजत्वात् ।

बीजत्वमेव दर्शयन्नाह-

रागो दोसो मोहो, जेणं संसारहेअवो जणिआ ।

अहंमि अ ते तिन्नि वि, तो तं संसारतरुवीअं ॥ १३ ॥

रागो दोसो मोहश्च येन कारणेन संसारहेतवः संसारकारणा-
नि भविता उक्ताः, परममुनिभिरिति गम्यते । आर्तं चार्तध्याने च
प्रयोऽपि ते रागादयः सज्जवन्ति यत एव, ततस्तत्संसारतरुबीजं भ-
ववृक्षकारणमित्यर्थः । आह-यद्येवमोघत एव संसारतरुबी-
जं ततश्च निर्यग्गतिम्लमिति किमर्थमभिधीयते ? उच्यते-तिर्य-
ग्गतिगमननिबन्धनत्वेनैव संसारतरुबीजमिति । अन्ये तु व्याच-
कृते-तिर्यग्गताधेव प्रवृत्तसत्त्वसंज्ञवात्स्थितिबहुत्वाच्च संसारो-
पचार इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

इदानीमार्चध्यायिनो लेइयाः प्रतिपाद्यन्ते-

कावोअनीलकाढा, वेसाओ णाइसंकिलिङ्गाओ ।

अट्टज्जाणोवगय-स्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥ १४ ॥

कापोतनीलकण्ठा वेइयाः किंचूता ? नातिसक्किष्ठा रौक्ष्ण्यानवे-
इयापेक्षया नातीवाशुभानुभावाः, भवन्तीति क्रिया । कस्येत्यत-
आह-आर्चध्यानोपगतस्य, जन्तोरेति गम्यते । किनिबन्धना
एता ? इत्यत आह-कर्मपरिणामजनिताः । तत्र-“कृष्णादिष्व-
साविज्यात्, परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्राय, ले-
इयाशब्दः प्रयुज्यते” ॥ १४ ॥ एताश्च कर्मोदयायत्ता इति गाथार्थः ॥
१४ ॥ आव० ४ अ० ।

आह-कथं पुनरोघत एवार्चं ध्यायन् ज्ञायत इत्युच्यते, लिङ्गे-
ज्यः, तान्येवोपदर्शयन्नाह-

अट्टस्स णं भाणस्स चत्तारि दक्खणा पञ्चता । तं जहा-
कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया ।

लक्ष्यते निर्णीयते परोक्षमपि चित्तवृत्तिरूपत्वात् आर्चध्यानमे-
भिरिति ब्रह्मणानि । तत्र क्रन्दनता-महता शब्देन विरवणम्, शो-
चनता-दीनता, तेपनता-तिषेः कृष्णार्थत्वादश्रुविमोचनम्, परि-
देवनता-पुनः पुनः क्लिष्टभाषणमिति । एतानि चैष्टवियोगानिष्ट-
संयोगरोगवेदनाजनितशोकरूपस्येवार्चस्य ब्रह्मणानि ।

(स्या० ४ अ० १ उ०) यत आह-

तस्स कंदणसोअणपरिदेवणताडणाइं हिंगाइं ।

इट्ठाणिट्ठविओगा-विओगविओणानिमित्ताइं ॥ १५ ॥

तस्यार्चध्यायेन, आक्रन्दनादीनि लिङ्गानि । तत्राक्रन्दनं महता
शब्देन विरवणम्, शोचनं त्वश्रुपरिपूर्णनयनस्य दैन्यम्, परिदेव-
नं पुनः पुनः क्लिष्टभाषणम्, तानुनसुर शिरःकुट्टनकेशलुञ्चनादि,
एतानि हिङ्गानि चिह्नानि, अमूनि च इष्टानिष्टवियोगावियोगवेद-
नानिमित्तानि । तत्रेष्टवियोगानिमित्तानि, तथाऽनिष्टावियोगानि-
मित्तानि, वेदनानिमित्तानि चेति गाथार्थः ॥ १५ ॥

किं चान्यत्-

निंदइ निअयकयाइं, पसंमई विमिहओ विचूर्णओ ।

पर्येइ तासु रज्जइ, तंयज्जाणपरायणो होई ॥ १६ ॥

निन्दति च कुत्सति च निजकृतानि आत्मकृतानि अल्पफलवि-
क्रमानि, कर्मशिल्पकृतावाणिज्यादीन्येतद्गम्यते । तथा प्रशंसति
स्तौति बह्वृ मन्यते सविस्मयः साश्चर्यं विचूरी. परसंपद इ-

त्यर्थः । तथा प्रार्थयते अभिष्वपति, परविभूतीरिति । तथा तासु
रज्यते-तास्विति प्राप्तासु विचूरीषु राग गच्छति, तथा तदर्ज-
नपरायणो भवति-तासां विचूरीनामर्जन उपदाने परायण उ-
द्युक्तस्तदर्जनपरायण इति । ततो यश्चैवचूतो भवत्यसावप्यार्चं
ध्यायतीति गाथार्थः ॥ १६ ॥

किञ्च-

सहाइविसयगिद्धो, सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो ।

जिणमयमणविकखंतो, वट्ठइ अट्टम्मि जाणम्मि ॥ १७ ॥

शब्दादयश्च ते विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषु गृह्यो मूर्च्छितः,
काङ्क्षानित्यर्थः । तथा सद्धर्मपराहमुखः प्रमादपरः । तत्र दुर्गतौ
प्रपतन्तमात्मान धारयतीति धर्मः, सञ्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः,
कान्त्यादिकश्चरणकरणधर्मो गृह्यते, तत्पराहमुखः । प्रमादपरो
मद्यादिप्रमादासक्तः, जिनमतमनपेक्षमाणो वर्तते आर्तं ध्यान
इति । तत्र जिनास्तीर्थकरास्तेषां मतमागमरूपम्, प्रवचनमित्यर्थः ।
तदनपेक्षमाणस्तन्निरपेक्ष इत्यर्थः । किम्, वर्तते, आर्तध्याने । इति
गाथार्थः ॥ १७ ॥

साम्प्रतमिदमार्चध्यानसज्जवमधिकृत्य यदनुगतं यदहं च
वर्तते तदेतदभिधित्सुराह-

तयविरयदेसविरय-पमायपरसज्जयाणुगज्जाणं ।

सव्वं पमायमूलं, वज्जेअव्वं जज्जणेण ॥ १८ ॥

तदार्चध्यानमिति योगः । अविरतदेशविरतप्रमादपरसयतानु-
गतमिति । तत्राविरता मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च, देशविरता
एकव्याद्यनुव्रतधरभेदा आवका, प्रमादपरा. प्रमादनिष्ठाश्च,
ते सम्यताश्च, ताननुगच्छतीति विग्रहः । नैवाप्रमत्तं संयता-
नामिति भावः । इदं च स्वरूपतः सर्वं प्रमादमूलं वर्तते, यत-
श्चैवमतो वर्जयितव्यं परित्यजनीयम्, केन? यतिजनेन साधुलोकेन,
उपलक्षणत्वात् आवकजनेन च । परित्यागार्हत्वादेवास्तेति गा-
थार्थः ॥ १८ ॥ आव० ४ अ० । ध० । प्रव० । ग० । हा० ।

अट्टज्जाणवियप्प-आर्चध्यानविकल्प- पुं० । अशुभध्यानभेदे,
“ जो एत्थ अभिस्सगो, सतासतेसु पावहेव चि । अट्टज्जाण-
वियप्पो, स इमीए सगओ रुव ” ॥ १९ ॥ प० १ डा० ।

अट्टज्जाणवेरग-आर्चध्यानवैराग्य-न० । आर्चध्यानं च तद्
वैराग्यम् । वैराग्यभेदे, हा० । तल्लक्षणम्-

इष्टेतरवियोगादि-निमित्तं प्रायशो हि यत् ।

यथाशक्यपि हेयादा-वप्रवृत्त्यादिवर्जितम् ॥ २० ॥

उद्वेगकृद्विषादादय-यात्मघातादिकारणम् ।

आर्चध्यानं ह्यदो मुख्यं, वैराग्यं लोकोतो मतम् ॥ ३ ॥

इष्टश्च प्रिय, इतरश्चानिष्ट, इष्टेतरौ विषयाविति गम्यते । तयोर्थ-
यासङ्गणेन यो वियोगादिविरहसप्रयोगौ, स निमित्तं कारणं
यस्य तदिष्टेतरवियोगादिनिमित्तम्, प्रायशो बाह्येत्येन न पुनरिष्टे-
तरवियोगादिनिमित्तमेव, स्वविकल्पनिमित्तस्यापि तस्य सभ-
वात् । हिशब्दो यस्मादर्थः । तत्प्रयोगं च दर्शयिष्याम । य-
दिति वैराग्यमद एतदार्चध्यानमेवेति सवन्धः । कुतस्तदार्च-
ध्यानमेव न पुनर्यथावैराग्यमित्याह-यस्माद्यथाशक्यं
सामर्थ्यानुपमप्यास्तां अस्माऽतिशयाच्छ्रुतार्थात्कमतं हेयादौ
हेयोपादेयवस्तुविषये क्रमेणाप्रवृत्त्यादिवर्जितं निवर्तनाविरहितं
यत्किल यथावैराग्यं भवति तच्चीन्द्रियार्थरूपादेयेषु च तपोध्या-

नादिषु यथाशक्ति निवृत्तिप्रवृत्तियुक्तं भवति, तत्स्वरूपत्वात् । इदं तु तद्वर्जितं यस्मात् तस्मात्तर्थाध्यायमेवेति भावः । तथा उद्वेगं मनःस्वास्थ्यचक्षणं करोतीति उद्वेगकृत्, तथा विषादो वैश्यः, तेनाऽऽद्य परिपूर्णं विषादाऽऽद्यम्, अनेन मनोदुःखहेतुताऽस्योक्ता । अथ शारीरदुःखहेतुतामस्यैवाह—आत्मेह रुद्धितः स्वशरीरम्, तस्य घातादि हिंसनताडनादि, तस्य कारणं हेतुरात्मघातादि-कारणम्, आर्त्तध्यानम् । हिंसाध्वस्यैवकारार्थत्वादात्तध्यानमेव अहं इति सध्वनितमेव । किंभूतमित्याह—मुखे प्रथमं मुख्यं प्रधानम्, निरुपचरितमित्यर्थः । ननु यथाध्यायमेतत्तदा कस्माद्वैराग्यतयो-क्तमित्याह—वैराग्यमुक्तनिर्वचनं लोकतौ, लोकं पृथग्जनमाश्रित्य तद्वदेत्यर्थो न पुनस्तत्त्वतो मतं संमतं तत्त्वविद्वेषामिति । हा० १० अष्ट० ।

अट्टज्जाणोवगय—आर्त्तध्यानोपगत—त्रि० । अपगतसद्विवेकतया धर्मेध्यानदुर्धर्तिनि आर्त्तध्यानध्यायिनि, “अट्टज्जाणोवगय, चू-मिगयदिष्ठिप ज्जियाह” सूत्र० २ भू० २ अ० ।

अट्टदुहास—अट्टदुहास—पु० । उद्वेहसंनरूपे हासविशेषे, उपा० २ अ० । “जीमं अट्टदुहासं मुयंतो धीहावेह” आ० म० द्वि० । आ० १ । अट्टदु—देशी—याते, दे० ना० १ वर्गे ।

अट्टण—अट्टन—न० । अट्टपते परिचूयते रिपुरनेन । अट्ट—करणे ल्युट् । चक्राकारफलकास्त्रे, प्रावे ल्युट् । अनादरे, न० । वाच० । स्वनामख्याते मल्ले, पुं० । उच० ४ अ० । तत्कथा चैवम्—उज्जयिन्यां जितशत्रुपस्य अट्टनमल्लो वर्त्तते स्म । स च प्रतिवर्षं सोपारके गत्वा सिंहगिरे राज्ञः सभायां मल्लान् विजित्य जयपनाकां लाति स्म । अन्यदा राज्ञा एवं चिन्तितम्—परदेशीयोऽयमट्टनमल्लो मत्स-ज्जायां जित्वा बहु रुच्यं प्राप्नोति, मदीयः कोऽपि मल्लो न जयति, नैतद्वरम्, एवं हि ममैव महत्त्वकृतिर्जायते । इति मत्वा कञ्चिद्-लघन्त मत्स्यीनरं दृष्ट्वा स्वमल्लं चकार । तस्य त्वरितमेव मल्लविद्या समायाता । ‘मत्स्यी मल्ल’ इति नाम तस्य कृतम् । अन्यदा अट्टनमल्लः सोपारके समायातस्तेन समं राज्ञा मत्स्यीमल्लस्य युद्धं कारितम्, जिनो मत्स्यीमल्लः । अट्टनः पराजितः स्वनगरे गत एव चिन्तयति स्म—मत्स्यीमल्लस्य तारुण्येन बलवृद्धिः, मम तु वार्द्धक्येन बलहानिः, ततोऽन्यं स्वपक्षातिनं मल्लं करोमि । ततोऽसौ बलवन्तं पुरुषं विलोक्यन् नृगुणकण्ठदेशे समागतः । तत्र हरिणीग्रामे एकं कर्षकं एकेन करेण हस्तं बाहयन् द्वितीयेन फ-लहीमुत्पादयन् दृष्ट्वा । स भोजनाय स्वस्थानके सार्कं नीतः । त-स्य बहु भोजनं दृष्ट्वा । उत्सर्गसमये च सुदृढमल्लं पुरीषं दृष्ट्वा मल्ल-विद्यां प्रादिता । ‘फलहीमल्ल’ इति तस्य नाम कृतम् । अट्टनः सो-पारके फलहीमल्लं गृहीत्वा गतः । राज्ञा मत्स्यीमल्लेन समं फल-हीमल्लस्य युद्धं कारितम् । प्रथमे दिवसे द्वयोः समतैव जाता । अट्टनेन सोपारके फलहीमल्लः पृष्ट—पुत्र ! तवाङ्गे कं प्रहारा-ल्लगना ? तेन स्वाङ्गप्रहारस्थानानि दर्शितानि । अट्टनेनौषधिरसेन तानि स्थानानि तथा मर्दितानि यथाऽसौ पुनर्नवीभूतः । मत्स्यी-मल्लस्यापि राज्ञा पृष्टम्—कथं तवाङ्गे प्रहारा लग्नास्तथा तान् द-र्शय ? फलहीमल्लं पुनर्नवीभूतः श्रूयते । मत्स्यीमल्लोऽभिमानात् स्वस्थानं दर्शयति स्म, वकि स्म च—अहं पुनर्नवीभूतः फलही-पिनरं जयामि । द्वितीयदिवसे पुनर्युद्धासरे द्वयोरपि साम्यमेष जानम् । तृतीयदिवसे मत्स्यीमल्लो जितः फलहीमल्लेन । अ-ट्टनेन स्वपराजयं स्मारितः । ततो मत्स्यीमल्लेनान्याययुद्धाचर-णेन फलहीमल्लस्य मस्तकं निक्षेपम् । क्षिन्नोऽट्टनमल्लो गत उज्ज-

यिनीम् । तत्र विमुक्तयुक्त्यापारः स्वगृहे तिष्ठति स्म । परं जराकान्त इति न कस्मैचिद् कार्याय क्रम इति स्वजनैः पराचूयते स्म । अन्यदा स्वजनापमानं दृष्ट्वा ताननापृच्छयैव कौशाम्बीं नगरीं गतः । तत्र वर्ष-मेकं यावद्ब्रह्मयनं भक्तिवान् । ततोऽन्यन्तबलवान् जातः । उज्जयि-न्यां राजपर्वदि मल्लमहे प्रथर्त्तमाने पुनर्नवागतयौवनेन अट्टनमल्लेन समागत्य राज्ञो नीरङ्गणनामा महामल्लो जितः । राज्ञा तु मदीयोऽयं आगन्तुकेनानेन जित इति कृत्वा न प्रशंसितः । लोकोऽपि राजप्र-शंसामन्तरेण मौनं प्राकृतं जातः । अट्टनस्तु स्वस्वरूपकापनाय समा-पक्षिणः प्रत्याह—जो जोः पक्षिणः, मृत—अट्टनेन नीरङ्गणो जितः । ततो राज्ञा उपलक्षितः । मदीयं एवायमट्टनमल्ल इति कृत्वा सत्कृतः । बहु द्रव्यं चास्मै राज्ञा दत्तम् । स्वजनस्तं तथाभूतं भुत्वा सम्मु-ज्जमागत्य मिश्रितः । सत्कारादि चकार । अट्टनेन चिन्तितम्—म-व्यभोगाभादेते मम साम्प्रतं सत्कारं कुर्वन्ति, पञ्चाभिर्द्रव्यं मामप-मानयिष्यन्ति, जरापरिगतस्य मे न कश्चित् प्राणाय भविष्यति, यावद्दहं सावधानबल्लोऽस्मि तावत्प्रमजामीति विचार्य गुरोः समीपेऽट्टनेन दीक्षां गृहीतेति । “जरोवणीमस्तं दु नस्थि तार्ण” उच० ४ अ० । आ० चू० । आ० १ ।

अट्टन—न० । गमने, घ० ३ अधि० । व्यायामे, औ० ।

अट्टणसाला—अट्टनशास्त्रा—स्त्री० । व्यायामशास्त्रायाम्, शा० ।

तद्वर्णकः—

जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइचा अट्टणसालं अणुप्पविसति, अणेगवायामजोगवगणवामह-णमद्वयुक्करणेहि संते परिसंते सयपागसहसपागेहिं सुगं-धवरतेल्लमाईएहिं पीयणिज्जेहिं दीवणिज्जेहिं दुप्पणिज्जेहिं मइणिज्जेहिं विहणिज्जेहिं सन्विदियगायपन्हायणिज्जेहिं अन्भिगेहिं अन्भिगिणं समाणे तेल्लचम्मंसि पणिपुमपाणि-पायसुकुमादकोमदतलेहिं पुरिसेहिं छेपहिं दक्खेहिं पड्ढेहिं य कुसलेहिं मेहावीहिं निउणेहिं निउणसिप्पोवगतेहिं जियप-रिस्समेहिं अन्भिगणपरिमइणुवदुकरणगुणनिम्माएहिं अ द्दिउहाए पंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाए संवाहिणं समाणे अवगयपरिस्समे नरिंदे अट्ट-णमालातो पणिनिक्खमेति । झा० १ अ० । आ० चू० । औ० ।

अट्टणियट्टियचित्त—आर्त्तनिवर्तितचित्त—त्रि० । आर्त्तं निवर्तितं चित्तं यैस्त आर्त्तनिवर्तितचित्ताः । आर्त्ताद्वा निवर्तितं चित्तं यैस्त आर्त्तनिवर्तितचित्ताः । क्रिष्टाभ्यवसायिषु, औ० । “अट्टणियट्टि-यचित्ता, जह जोवा दुक्खसागरमुवेति” भ० २ श० १ उ० ।

आर्त्तनिरर्दितचित्त—त्रि० । क्रिष्टपरिजामे, आर्त्तेन नितरामर्दि-तमनुगतं चित्तं येषां ते तथा । औ० ।

अट्टतर—आर्त्ततर—न० । अतिशयिते आर्त्तध्याने, “पज्जिज्ज-माणाऽट्टतरं रसति” सूत्र० १ भू० २ अ० १ उ० ।

अट्टदुहद्व—आर्त्तदुर्धट—त्रि० । दृढ० । आर्त्तनाम्नो ध्यानविशेषस्य दुष्पण, उपा० २ अ० ।

आर्त्तदुःखार्त्त—त्रि० । ३ त० । आर्त्तेन दुःखपीडिते, उपा० २ अ० । आर्त्तध्यासौ दुःखार्त्तः । मनसा देहेन च दुःखिते, वि० १ ।

अट्टदुहद्वसह—आर्त्तदुर्धटवशार्त्त—त्रि० । आर्त्तस्य ध्यानविशेष-

षस्य यो दुर्घटो दु स्थगो दुर्निरोधो वशः पारतन्त्र्य, तेनार्त्तः पी-
डित आर्त्तदुर्घटवशार्त्तः । असमाधिप्राप्ते, ज्ञा० ८ अ० ।
आर्त्तदुःखार्त्तवशार्त्त-त्रि० । आर्त्तेन दुःखार्त्त आर्त्तदुःखार्त्तस्त-
था वशेन च विषयपारतन्त्र्येण श्रुतः परिगतो, वशार्त्तः ।
ततः कर्मधारयः । क्लिष्टाध्यवसायेन विषययन्त्रणया च
दुःखिते, उपा० २ अ० । आर्त्तो मनसा दुःखितः, दुःखार्त्तो
देहेन, वशार्त्तस्तु इन्द्रियवशेन पीडितः । ततः कर्मधारयः ।
विपा० १ श्रु० १ अ० । मनसा, देहेनोन्द्रियवशेन च पीडिते,
“जहा ए तुणं अद्वुहद्वचमद्वे अकाले चेव जीवियाओ वचरो-
विद्वज्ज” उपा० २ अ० ।

अद्वुहद्विचिन्त-आर्त्तदुःखार्त्तचित्त-त्रि० । आर्त्तेन दुःखार्त्त-
त चित्त येषां ते तथा । क्लिष्टाध्यवसायतो दुःखितमनस्केषु, मौ०
अद्वुहद्वोवगय-आर्त्तदुर्घटोपगत-त्रि० । आर्त्तमास्तेष्वानं, दुर्घटं
दु स्थगनीयं दुर्घाव्यमित्यर्थः, उपगतः प्राप्तो यः स तथा ।
दुर्निवार्यार्त्तध्यानवति, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अद्वमय-आर्त्तमातिक-पुं० । आर्त्त आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्त-
मतिः । आर्त्तध्यानोपयुक्ते, आतु० ।

अद्ववस-आर्त्तवश-पुं० । आर्त्तध्यानवश्यतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अद्ववसद्वुहद्व-आर्त्तवशार्त्तदुःखार्त्त-त्रि० । आर्त्तवशमार्त्तध्यान-
वश्यतामृतो गतो, दुःखार्त्तश्च यः स तथा । आर्त्तध्यानविषयी-
भूतदुःखिते, “अद्ववसद्वुहद्वे काले मासे काल किच्चा”
ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अद्ववसद्वोवगय-आर्त्तवशार्त्तोपगत-त्रि० । आर्त्तवशार्त्तश्च स उ-
पगतश्चेति समासः । आर्त्तध्यानसामर्थ्येनार्त्त, आ० ।

अद्वस्सर-आर्त्तस्वर-त्रि० । दु केन शब्दायमाने, “अद्वस्सरे ते
कसुणं रसते” सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अद्वहास-अद्वहास-पुं० । अद्वेनातिशयेन हासः । ३ त० । हस-
घञ् । उच्चाहासे, वाच० “अद्वहासजीसणो” भाव० ४ अ० ।

अद्वालग-अद्वालक-पुं० न० । अद्व इव प्रासादगृहमिव अलति
पर्याप्तो जवति । अल-अच् । वाच० । प्राकारोपरिवर्त्याअगवि-
शेषे, प्रअ० १ आअ० द्वा० । ज० । स० । जी० । ज्ञा० । नि०
चू० । ज० । प्रज्ञा० । आचा० । रा० । अनु० । प्राकारकोष्ठकोप-
रिवर्तिनि मन्दिरे, “पागार कारविस्सा ण, गोपुरद्वालगाणि य”
उत्त० ६ अ० ।

अद्वि-आर्त्ति-स्त्री० । शरीरमानस्यां पीमायाम्, आचा० १ श्रु० २
अ० ५ उ० । यातनायाम्, ध० २ अधि० ।

अद्विचिन्त-आर्त्तितचित्त-त्रि० । आर्त्तिना आर्त्ताद् वा ध्यान-
विशेषादाकुल चित्त येषां ते आर्त्तितचित्ताः । शोकादिपीडिते,
“अद्वि अद्विचिन्ता” उपा० २ अ० ।

अद्व-अर्थ-पुं० । भावकर्मादौ यथायथमच् । “स्त्यानचतुर्थार्थे
वा” ८ । २ । २३ । इति सयुक्तस्य वा उ । प्रा० । प्रयोजने,
नि० चू० १ उ० । कल्प० । सूत्र० । उत्त० । आचा० । स्था० । ज्ञा० ।
भाव० । “अद्व अप्पणो अद्वि च्छेयाद् जवति” आचा० २
श्रु० २ अ० २ उ० । प्रयोजन एव उ, यदा तु धनमुच्यते तदा
उ न स्यात् । अथो धनम् । आर्त्ते तु जवति-“अद्या वय न
सिक्खिज्जा, वेहाद्वय च णो वप” इत्यत्र अर्थत इत्यर्थो धनधा-
न्यहिरण्यादिक इति व्याख्यानात् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

जाविप्रयोजने, “अद्व वा हेवं वा समणस्स उ विरहिण कहेमो”
व्य० २ उ० । धर्मविषयेऽर्थित्वे, उत्त० ३ अ० । कार्ये, स्था० ५
ग० २ उ० । मोक्षे, तत्कारणजृते सयमे च । “अद्ये परिहायती
बहु, अहिगरणं न करेज्ज पणिण” सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । निवृत्तौ,
ज्ञा० १ अ० । सूत्राभिधेये, प्राकृतत्वाद् नपुंसकत्वमप्यर्थशब्दस्या
पा० । अजिधेये (वाच्ये), सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । वस्तुनि,
“से नूण कामदेवा अद्ये समद्ये हता । अद्वि” अस्त्येषोऽर्थ इत्य-
र्थः । अथवा मयोदितं वस्तु समर्थः सगतः । उपा० २ अ० ।
“अद्वि अद्ये पण्ये । तं जहा-ससयअद्ये, वुग्गहअद्ये, अणुजोगी,
अणुसोमे, तहणाणे, अतहणाणे” स्था० ६ ग० । (टीकाऽस्य ‘पद’
शब्दे छष्ट्या) अर्थ्यते गम्यत इत्यर्थः । अर्त्तैरौणादिकः धनः ।
हेये उपादेये वा वस्तुनि, उजयस्याप्यर्थ्यमानत्वात् । उत्त० १
अ० । आ० चू० । नि० । विषयजोगादिके, आचा० १ श्रु० ३
अ० ३ उ० । सूत्र० । (अच्छरूपतामप्राप्तस्यार्थशब्दस्य अर्था ‘अ-
त्य’ शब्दे वक्ष्यन्ते)

अद्वन-त्रि० । व० व० । अग्-व्याप्तौ कनिष्ठः, तुद् च । सङ्ख्या-
भेदे, तत्संख्यान्विते च । वाच० । प्रज्ञा० ।

अद्वंग-अष्टाङ्ग-त्रि० । अष्टावङ्गानि यस्य तदष्टाङ्गम् । यमनियमा-
दावष्टाङ्गयोगे, वाच० ।

अद्वंगणिमि-अष्टाङ्गनिमित्त-न० । भौमम् १, उत्पातम् २,
स्वप्नः ३, आन्तरिकम् ४, आङ्ग ५, स्वर ६, लक्षणं ७, व्यञ्जनम्
८, इत्येव नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुनिर्गते सुखदुःखादिसूचके
निमित्ते, सूत्र० ।

संवच्छरं सुविणं लक्खणं च,

निमित्त देह च उपायं च ।

अद्वंगमेयं बहवे आहिता,

लोगसि जाणंति अणागतां ॥ ९ ॥

सांवत्सरमिति ज्यौतिषम्, स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थः स्वप्नः, तम-
धीत्य । लक्षणं श्रीवत्सादिकम् । चशब्दादन्तरबाह्यभेदज्ञि-
जम् । निमित्तं वाक्प्रशस्तशकुनादिकम् । देहे भव देहम्, मपक-
तिलकादि । उत्पाते प्रवमौत्पातिकमुल्कापातादिग्दानिर्घातभू-
मिकम्पादिकम् । तथाऽष्टाङ्गं च निमित्तमधीत्य । तद्यथा-भौम-
मुत्पातमान्तरिकमाङ्गं स्वरं लक्षणं व्यञ्जनमित्येवंरूपम् । नवमपू-
र्वतृतीयाचारवस्तुनिर्गते सुखदुःखजीवितभरणलान्नाऽन्नाभा-
दिसूचक निमित्तमधीत्य लोकेऽस्मिन्नतीतानि वस्तूनि अना-
गतानि च जानन्ति परिच्छिदन्ति । न च शून्यादिवादेऽप्येतद् घ-
टते, तस्मादप्रमाणिकमेव तैरभिधीयत इति । एव व्याख्याते
सति आह पर-ननु व्यञ्जिचार्यपि श्रुतमुपलभ्यते । तथाहि-
चतुर्दशपूर्वविदामपि पदस्थानपतितत्वमागमे उद्घुष्यते, किं
पुनरष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रविदाम् । अत्र चाङ्गवर्जितानां निमित्तशा-
स्त्राणामानुपुजने चन्द्रसा त्रयोदशशतानि सूत्रम्, तावन्त्येव सह-
स्राणि वृत्तिः, तावत्प्रमाणलक्षणा परिज्ञापेति । अङ्गस्य त्र-
योदशसहस्राणि सूत्रम्, तत्परिमाणलक्षणा वृत्तिः, अपरिमित
वार्तिकमिति ॥

तदेवमष्टाङ्गनिमित्तचोदिनामपि परस्परतः पदस्थानपतितत्वेन
व्यञ्जिचारित्वमत इदमाह—

केऽनिमित्ता तद्विद्या जवन्ति,

केसिं च तं विप्पणिपति णाणं ।

ते विज्जभावं अण्हिज्जमाणा,
आहंसु विज्जापरिमोक्खमेव ॥ १० ॥

अहंसत्वात्प्राकृतशैल्या वा विज्ञव्यत्ययः । कानिचिन्निमित्तानि
तथ्यानि सत्यानि प्रवर्ति । केषांचिन्नु निमित्तानां निमित्तवेदि-
नां वा बुद्धिचैकल्यात्तथाविधकयोपशमाभावेन तन्निमित्तज्ञानं
त्रिपर्यासं व्यत्ययमेति । आहंतानामपि निमित्तव्यभिचारः स-
मुपलभ्यते, किं पुनस्तीर्थिकानाम् ? तदेव निमित्तशास्त्रस्य व्य-
भिचारमुपलभ्यते । अक्रियावादिनो विद्यासद्भावमनधीयानाः
सन्तो निमित्तं तथा चान्यथा च भवतीति मत्वा, ते (आहंसु
विज्जापरिमोक्खमेव) विद्यायाः श्रुतस्य व्यभिचारेण तस्य
परिमोक्त परित्यागमादुरुक्तवन्तः । यद्वा क्रियाया अज्ञावाद्
विद्याया ज्ञानेनैव मोक्ष सर्वकर्मच्युतिलक्षणमाहुरिति । क्वचित्चर-
मपादस्यैव पाठः-“ जाणासु बोग सि वयति मंदिं” विद्यामनधी-
त्यैव स्वयमेव लोकमस्मिन् वा लोके भावान् स्वयं जानीमः, एवं
मन्दा जडा वदन्ति । न च निमित्तस्य तथ्यता, तथाहि-कस्य चित्त-
चित्तकृतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिदर्शनात्, क्वचित् शकुनसद्भावेऽपि
कार्यविधातदर्शनात्, अतो निमित्तबलेनादेशविधायिनां मृषावाद्
एव केवलमिति । नैतदस्ति । न हि सम्यग्धीतस्य श्रुतस्यार्थे
विसंवादोऽस्ति । यदपि षट्स्थानपतितत्वमुद्धोष्यते, तदपि पुरु-
षाश्रितकयोपशमयशेन । न च प्रमाणाभासव्यभिचारे सम्यक्-
प्रमाणव्यभिचाराशङ्कां कर्तुं युज्यते । तथाहि-मरुमरीचिका-
निचये जलप्राप्तिं प्रत्यक्षं व्यभिचरतीति कृत्वा किं सत्यजलप्रा-
प्तिर्नाऽपि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारो युक्तिसंगतो भवति ? न हि मश-
कवर्तिरग्निस्त्रिधा लुपदिश्यमाना व्यभिचारिणीति सत्यधूमस्यापि
व्यभिचारः । न हि सुविवेचितं कार्यकारणं व्यभिचरतीति ।
ततश्च प्रमातुरयमपराधो न प्रमाणस्यैव । सुविवेचितं निमित्तं
क्षुतमपि न व्यभिचरतीति । यच्च कृतेऽपि कार्यसिद्धिदर्शनेन
व्यभिचारः शङ्क्यते, सोऽनुपपन्नः । तथाहि-कार्याकृतात् क्षुतेऽपि
गच्छतः कार्यसिद्धिः साऽपान्तरालेऽन्तरशोभननिमित्तबलात्स-
जातेत्येवमवगन्तव्यम् । शोभननिमित्तप्रस्थितस्यापीतरनिमि-
त्तबलात्कार्यव्याघात इति । तथा च श्रुतिः-“ किल ब्रुः स्वशिष्य-
नादुर्योक्तवान् । यथा-द्वादशवार्षिकमत्र दुर्जितं भविष्यतीत्यतो
देशान्तराणि गच्छत यूयम् । ते नद्वचनाच्छ्रुतस्तेनैव प्रतिषि-
द्धाः । यथा-मा गच्छत यूयमिहाद्यैव पुण्यवान् महासत्त्वः सजा-
तस्तत्प्रजावात्सुमिकं भविष्यति । न तदेवमन्तरापरनिमित्तसद्भा-
त्तद्व्यभिचाराशङ्केति स्थितम् ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।
“ अङ्गुलिमित्रगाहं, दिव्युष्पाततद्विक्लव भोमं च । अगं सर-
लकण व-जण च त्रिविह पुणेकेक ” ॥ ११ ॥ म० ११ श्रु० १३० ।

अङ्गुलिमित्र-अष्टाङ्गुलिमित्र-पुं० । अष्टस्वङ्गेषु पुण्ड्रेषु, ज० ११
श० ११ उ० ।

अङ्गुलिमित्र-अष्टाङ्गुलिमित्र-म० । अष्टाङ्गुलिमित्र, एवं-
विधं यद् महानिमित्तं शास्त्रम् । अष्टस्वप्नेत्याद्यष्टावयवे जा-
विपदार्थसूचके स्यन्नादिफलव्युत्पादके ग्रन्थे, कश्चि० ।

अङ्गुलिमित्र-अष्टाङ्गुलिमित्र-सूत्रार्थधा-
रक-त्रि० । अष्टाङ्गुलिमित्रस्य यन्महानिमित्तं परोक्षार्थप्रतिपत्तिका-
रणव्युत्पादकं महाशास्त्रम्, तस्य यौ सूत्रार्थं तौ धारयन्ति ये ते
तथा । अर्थात्तादृशमहानिमित्तं शास्त्रं सूत्राभिधेयेषु, ज्ञा० १
अ० १० ।

अङ्गुलिमित्र-अष्टाङ्गुलिमित्र-म० । अष्टमिरङ्गैर्निर्दिष्टायाम्, “ प्रवृत्ति-
रष्टाङ्गुलि तत्त्वे ” ज्ञा० १६ वि० ।

अष्टकक्षिप-अष्टकक्षिप-त्रि० । ज० स० । अष्टकोणविभागे,
स्था० ७ ठा० ।

अष्टकम्पगंती विमोचक-अष्टकर्मग्रन्थविमोचक-त्रि० । अष्टक-
मरूपो यो ग्रन्थस्तस्य विमोचकः । ज्ञानावरणीयादिकर्मणां
क्षपके, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अष्टकम्पतंतुघणबंधण-अष्टकर्मतंतुघनबन्धन-म० । ३ त० ।
अष्टकर्मबद्धास्तंतुभिर्धने बन्धने, “ वेढता कोसिकारकीडो ध्व
अप्यग अष्टकम्पतंतुबंधणेण ” प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अष्टकम्पसूरुणतव-अष्टकर्मसूदनतपस्-न० । अष्टानां कर्मणां
ज्ञानावरणादीनां सूरुणं विनाशनं यस्मात्तदष्टकर्मसूदनं तपः ।
तपोभेदे, प्रश्न० २७१ द्वा० । पंचा० ।

अष्टकर-अर्थकर-पु० । अर्थान् हिताहितप्राप्तिपरिहारादीन् राजा-
दीनां दिग्यात्रादौ तथोपदेशतः करोतीति अर्थकरः । मन्त्रिणि,
नैमित्तिके च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अष्टग-अष्टक-न० । अष्टौ परिमाणमस्य प्रत्येकमष्टाध्यायात्मके, अ-
श्वेदांशभेदे, पाणिनिरष्टाध्यायीसूत्रे च । वाच० । अष्टपद्यात्मके प्रकर-
णे, तादृशैर्द्वात्रिंशता घटिते ग्रन्थे च । यथा हरिश्चन्द्रसूरिविरचित-
मष्टकम्, तस्य जितेश्वराचार्यकृता तच्छिष्यभूमिवभयदेवसूरि-
प्रतिसंस्कृता च वृत्तिः । द्वात्रिंशदष्टकानि, तेषु-प्रथमं महादेवा-
ष्टकम्, द्वितीयं स्नानाष्टकम्, तृतीयं पूजाष्टकम्, चतुर्थमभिका-
रिकाष्टकम्, पञ्चमं भिक्षाष्टकम्, षष्ठिपरिविष्टाष्टकम्, सप्तमं
भोजनाष्टकम्, अष्टमं प्रत्याख्यानाष्टकम्, नवमं ज्ञानाष्टकम्, दशमं
वैराग्याष्टकम्, एकादशं तपोऽष्टकम्, द्वादशं वादाष्टकम्, त्र-
योदशं धर्माष्टकम्, चतुर्दशं द्रव्यास्तिकाष्टकम्, पञ्चदशं पर्या-
याष्टकम्, षोडशमनेकान्तवादाष्टकम्, सप्तदशं मांसभक्षणाष्ट-
कम्, अष्टादशं मांसभक्षणदूषणाष्टकम्, एकोनविंशं मद्याष्टकम्,
विंशतितमं मैथुनाष्टकम्, एकविंशं सूक्ष्मबुद्ध्याष्टकम्, द्वाविंशं भा-
वशुष्यष्टकम्, त्रयोविंशं शासनमालिन्याष्टकम्, चतुर्विंशं पुण्या-
पुण्यविचाराष्टकम्, पञ्चविंशमौचित्यप्रवृत्त्यष्टकम्, षड्विंशं तीर्थ-
करदानाष्टकम्, सप्तविंशं तीर्थकृतां महादानयुक्तवाष्टकम्, अ-
ष्टाविंशं तीर्थकृतां राज्याष्टकम्, एकोनत्रिंशं सामायिकाष्टकम्,
त्रिंशत्तमं केवलाष्टकम्, एकत्रिंशं तीर्थकृतां धर्मदेशनाष्टकम्, द्वा-
त्रिंशं सिद्धाष्टकम्, अन्ते च “ अष्टकाख्यं प्रकरणं, कृत्वा यत्पुण्यम-
र्जितम् । विरहात्तेन पापस्य, भवन्तु सुखिनो जनाः ” ॥ १ ॥
हा० । यथा वा श्रीमच्छङ्खोविजयोपाध्यायेन ज्ञानसाराख्यो ज्ञा-
त्रिंशदष्टकप्रमाणो ग्रन्थो विरचितः, तस्य देवचन्द्रगणि-
ना ज्ञानमञ्जरी नाम टीका कृता, तस्य च द्वात्रिंशतोऽष्टका-
नां नामाभिधेयौ तत्रैवान्ते वर्हिताः । “ पूर्णो मन्त्रः स्थिरो मोहो,
ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः । त्यागी क्रियापरस्तुतो, मिलेयो नि-
स्पृहो मुनिः ॥ १ ॥ विद्याविषेकसपन्नो, मत्स्थो भयवर्जितः ।
अनात्मशंसकस्तत्त्व-दृष्टिः सर्वसमृद्धिमान् ॥ २ ॥ ध्याता कर्मधि-
पाकाना-मुद्दिनो प्रववारिधेः । लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तः, शास्त्रार्थ-
निष्पारिग्रहः ॥ ३ ॥ ” अष्ट० ३२ अष्ट० ।

अष्टगुणोपवेय-अष्टगुणोपपेत-म० । अष्टनिर्गुणैरुपपेतमष्टगु-
णोपपेतम् । पूर्णादिगुणाष्टकयुते ज्ञेये । ते आष्टावमी गुणा-
पूर्णं रक्तमङ्कुरं व्यक्तमविपुष्टं मधुरं समं सललितं च । तथा

चोक्तम्—“पुष्य रत्नं च अल-किय च वत्त तदेव अविपुष्टं । महु-
रं सम सत्त्वविय, अष्टगुणा हौति गेयस्स” ॥१॥ जी० ३ प्रति० ।
अष्टचक्रवाहपट्टाणि—अष्टचक्रवालप्रतिष्ठान—त्रि० । अष्टचक्र-
प्रतिष्ठिते, “ एगमेगेणं महाणिही अष्टचक्रवालपट्टाणे अष्ट
अष्ट जोअणाइं उट्ट उट्टेण ” जी० ३ प्रति० ।

अष्टजाय—अष्टजात—न० । जातशब्दो भेदवाचकः । अर्थभेदे, नि०
चू० १ उ० । धनार्थिनि, ०५० ५ ३० ।

सूत्रम्—

अष्टजायं जिकुं गिहायमाणं नो कप्पइ । तस्स गणाव-
च्छेदयस्स निज्जुहिच्चए अगिलाए करणिज्जं वेयावाडियं
जाव रोगातंकातो विप्पमुक्के, ततो पच्छा अहा लहुस्सगे
नामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥

साम्प्रतमर्थजात भिक्षु ग्लायन्तमित्यत्र योऽर्थजातशब्दस्तदु-
त्पत्तिप्रतिपादनार्थमाह—

अत्येण जस्स कज्ज, संजातं एस अष्टजातो य ।

सो पुण संजमभावा, चाब्बिजंतो परिगिह्वाइ ॥

अर्थेनार्थितया जात कार्ये यस्य । सवन्धविवक्षायां यामत्र षष्ठी,
येनेत्यर्थः । सोऽर्थजातः । गमकत्वादेवमपि समासः । उपल-
क्षणे तत् । तेनैवमपि व्युत्पत्तिरवसातव्या—अर्थः प्रयोजन
जातोऽस्येत्यर्थजातः । पक्षद्वयेऽपि कान्तस्य परनिपातः, सु-
खादिगणे दर्शनात् । स पुन कथं ग्लायतीति चेदत आह—स
पुनः प्रथमतः प्रथमव्युत्पत्तिस्त्वितः सयमभावाद् चाल्यमानः
निष्कास्यमानः परिग्लायति । द्वितीयव्युत्पत्तिपक्षे प्रयोजना-
निष्पत्त्या ग्लायति, तस्योभयस्यापि अगिलया प्रागुक्तस्वरूपया
वक्ष्यमाणं वैयावृत्त्य करणीयम्, यावद् रोगातङ्कादिव रोगात-
ङ्कात् सयमभावचलनात् प्रयोजनानिष्पादनाच्च विप्रयुक्त-
स्यात् । ततः पञ्चाद्यत्किमप्याचरितं भीषणादि, तद्विषये यथा
लघुस्वको व्यवहारः प्रस्थापितः स्यादिति ।

सम्प्रति निर्युक्किट्ठु येषु सयमस्थितस्याप्यर्थजातमुत्पाद्यते,
तान्यभिधित्सुराह—

सेवगपुरिसो ओमे, आवन्न अणत्त वोहिगे तेणे ।

एएहि अष्टजातं, उप्पज्जइ संजमठियरस् ॥

सेवकपुरुषे सेवकपुरुषविषये, एवमन्त्रमे दुर्भिक्षे, तथाऽऽपन्ने
वास्व च समापन्ने, तथा विदेशान्तरगमने उत्तमर्शेनानाप्ते, तथा
बोधिकैरपहरणे, स्तेनैरपहरणे च । बोधिका—अनार्यस्तेच्छा,
स्तेना आर्यजनपदजाता अपि शरीरापहारिणः । एतैः कारणै-
रर्थजात प्रयोजनजातमुत्पद्यते, सयमस्थितस्यापीति । एष नि-
र्युक्तिगाथासङ्केपार्थः ॥

साम्प्रतमेनामेव विषरीतुकामः प्रथममाह—

अपरिगहगणियाए, सेवगपुरिसो उ कोइ आलत्तो ।

सा तं अतिरागेणं, पणयए ह् अष्टजाया य ॥

सा रूवीणि चि काडं, रप्पाऽऽणीया उ खंधवारेण ।

इथरो तीए विउत्तो, दुक्खत्तो चेय निक्खत्तो ॥

पच्चागय तं सोडं, निक्खंतं वेइ गंतु णं तहियं ।

वहुयं मे उवउत्त, जइ दिज्जइ तो विसज्जामि ॥

न विद्यते परिग्रहः कस्यापि यस्याः साऽपरिग्रहा, सा चा-
खौ गणिका च अपरिग्रहगणिका, तथा, कोऽपि राजादीना से-

वकः पुरुष आलपितः सभाषितः । आलप्य च स्वगृहमानी-
तः । सा अर्थजाता सती त पुरुषमतिरागेणाऽतिरागवशा-
त्प्रणयते प्रसादयति । अन्यदा सा गणिका रुपिणी अतिशयेन
रुपवतीति कृत्वा राज्ञा स्कन्धावारेण कटकेन गच्छता आत्मना
सहानीता । इतरोऽपि च सेवकपुरुषस्तथा गणिकया वियुक्तो
हु सार्धः । प्रियाविप्रयोगपीमितो निष्क्रान्तस्तथारूपाणामन्तिके
प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः । सा च वेद्या राज्ञा सह प्रत्यागता तं पुरुषं
न पश्यति स्म, गवेषयितुमारब्धः । ततः कस्यापि पार्श्वे निष्क्रान्त
भूत्वा यत्र स तिष्ठति स्म, नस्यां वसतौ गत्वा तान् स्थविरान्
ब्रूते—बहुकं प्रभूतं मम तु ह्ययमनेनोपयुक्तमात्मोपयोग नीतम्, ह्य-
कमित्यर्थः ; तद्यदि दीयते ततो विस्ज्यामि ॥

एवमुक्ते यत् कर्तव्यं स्थविरैस्तदाह—

सरजेयवसंजेयं, अंतद्वाणं विरेयणं वा वि ।

वरधण्णमयवेम पुस्स—भूती कुसलो सुहमे य भाणम्मि ॥

गुटिकाप्रयोगतस्तस्य स्वरभेद वर्णभेद वा स्थविरा कुर्वन्ति,
यथा सा तं न प्रत्यभिजानाति, यदि वा प्रामान्तरादिप्रेषणेना-
न्तरान्न व्यवधानं क्रियते । अथवा तथाविधौषधप्रयोगतो विरे-
चन कार्यते येन स ग्लान इव हृदयते, कृच्छ्रेणैव जीवतीति ज्ञा-
त्वा सा तं मुञ्चति । अथवा शकौ सत्यां यथा ब्रह्मदत्तहिरण्यं
धनु पुत्रेण वरधनुना मृतकवेष कृतस्तथैव निश्चलो निरुच्छ्वासः
सुहममुच्छ्वसन् तिष्ठति, येन मृत इति ज्ञात्वा तथा विस्ज्यते ।
यदि वा पुष्पचूतिराचार्यः सूक्ष्मे ध्याने कुशलः सन् ध्यानवशाद्
निश्चलो निरुच्छ्वासोऽप्यतिष्ठत् तथा तेनापि सुहमध्यानकुशलेन
तथा स्थातव्यं येन सा मृत इत्यवगम्य विमुञ्चति ।

एषां प्रयोगाणामभावे—

अणुसिद्धिं उच्चरती, गर्मेति णं भित्तणायगादीहिं ।

एवं पि अष्टजायं, करेति सुत्तम्मि जं वुत्तं ॥

तस्या गणिकाया यानि मित्राणि, ये च ज्ञातयः, आदिशब्दात्तद-
न्यतथाविधपरिग्रहः । तैः स्थविरास्ता गमयन्ति बोधयन्ति, येना-
नुशिष्टिमुच्चरति, मुक्तत्वन करोतीति भावः । एवमपि अतिष्ठ-
न्त्यां तस्यां यदुक्तं सूत्रे तत्कुर्वन्ति, “ स मोचयितव्यः ”
इति सूत्रे मोचनस्याभिधानात् । तथा चोक्तम्—“ ताहे सो मो-
क्खेयव्वो एव सुत्ते भणिय ” इति । गत सेवकपुरुषचारम् ।

अधुनाऽवमद्वारमाह—

सुकुटुब्बो निक्खंतो, अव्वत्त दारगं तु निक्खिविओ ।

भित्तस्स घरे सो वि य, कालगतो तोऽवमं जायं ॥

तत्थ अणादिजंतो, तस्स उ पुत्तेहि सो तओ चेमो ।

घोलंतो आवसो, दासत्तं तस्स आगमणं ॥

मथुरायां किञ्च नगर्यां कोऽपि षणिकु अव्यक्त बाह्य, दारफ पुत्र,
मित्रस्य गृहे निक्किप्य सकुटुम्बो निष्क्रान्तः, सोऽपि च मित्रचू-
तः पुरुषः कावं गतः । (तो चि) तस्मात्तस्य कालगमनाद्यनन्त-
रमवमं दुर्भिक्षं जातम् । तत्र च दुर्भिक्षे तस्य मित्रस्य पुत्रैः स चे-
मोऽनाखियमाणोऽन्यत्रान्यत्र घोलति परिभ्रमाति, स च तथा
परिभ्रमन् कस्यापि गृहे दासत्वमापन्नः । तस्य च पितुर्यथावि-
हारक्रम विहरतस्तस्यामेव मथुरायामागमनं जातम् । तेन च
सर्वं तज्ज्ञातम् ।

सम्प्रति तन्मोचने विधिमभिधित्सुराह—

अणुण्णाय एवमवियं, भीसण ववहार लिंगं जं जत्त

दूराभोग गवेक्षण, पंथे जयणा य जा जंत्य ॥

पूर्वमनुशासनं तस्य कर्तव्यम्, ततो धर्मकथाप्रसङ्गेन कथनं स्थापत्यापुत्रादेः करणीयम् । एवमप्यतिष्ठति यन्निष्कामता स्थापित इत्यत्र तद् गृहीत्वा समर्पणीयम्, तस्याज्ञावेनिजकानां तस्य वा भीषणमुत्पादनीयम्, यदि वा राजकुले गत्वा व्यवहारः कार्यः । एवमप्यतिष्ठति यतो यत् लिङ्गं पूज्यते, ततस्तत्र परिगृह्य स मोक्षनीयः । एतस्यापि प्रयोगस्याभावे दूरेणोच्छिन्नस्वामिकतया, दूरदेशव्यवधानेन वा व्यभिधानं तस्याभोगं कर्तव्यं, तदनन्तरं तस्य गवेक्षणया च गमने पथि मार्गे यतना यथौघनिर्मुक्तावुक्ता तथा कर्तव्या । या च यत्र यतना साऽपि तत्र विधेया यथासूत्रमिति द्वारगाथासङ्केपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतोऽनुशासनकथनद्वारं प्राह-

नित्यिषो तुज्जगधरे, रिसिपुत्तो मुंच होहिई धम्मो ।

धम्मकहापमंगेण, कहण थावच्चपुत्तस्स ॥

एष ऋषिपुत्रस्तत्र गृहेऽवमादिकं समस्तमपि निस्तीर्णोऽधुना व्रतग्रहणार्थमुद्यत इत्यमुं मुञ्च, तवापि प्रभूतो धर्मो प्राविष्यतीति । एतावता गतमनुशासनद्वारम् । तदनन्तरं धर्मकथाप्रसङ्गेन च कथनं स्थापत्यापुत्रस्य करणीयम्, यथा स स्थापत्यापुत्रो व्रतं जिघृक्षुर्वासुदेवेन महता निष्कमणमहिम्ना निष्काश्य पार्श्वस्थितेन व्रतग्रहणं कारितं, एवं शुष्माभिरपि कर्तव्यम् ।

तह वि य अउते उवियं, जीसण ववहार निक्खमंतेण ।

तं घेत्तूणं देज्जइ, तस्सासइए इमं कुज्जा ।

नथापि च, अनुशासने कथने च कृते इत्यर्थः । अतिष्ठति स्थापितं देयम्, जीषणं वा करणीयम्, व्यवहारे वा समाकर्षणीयम् । तत्र स्थापितं ज्ञायति-तेन पित्रा निष्कामता यत्किमपि स्थापित इत्यमस्ति तद् गृहीत्वा तस्मै दातव्यम् । उपलक्षणमेतत् । तेनैतदपि द्रष्टव्यम्-अजिनं च कोऽपि शिष्यक उपस्थितस्तस्य यत्किमप्यर्थजातं स्थापितमस्ति, यदि वा गच्छान्तेर यः कोऽपि शैक्वक उपस्थितस्तस्य हस्ते यद् अव्यमवतिष्ठते, तद् गृहीत्वा तस्मै दीयते, तस्य अव्यस्यासत्यभावे इदं वक्ष्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह-

नीयद्वगाण तस्स व, जीसणं रायउल्ले सयं वावि ।

अविरिकामो अम्हे, कहं व लज्जा न तुज्ज चि ।

ववहारेणं अहयं, जार्ग पेच्छामि बहुतरागं भे ।

अवियलिंगं च करे, पधवणा दावण्डाए ॥

निजकानामात्मीयानां स्वजनानां, तस्य वा जीषणं कर्तव्यम् । यथा वयमविरिक्ता अविभक्तारिकथावर्त्तामहे, ततो मोक्षयत मदीयं पुत्र, कथं वा केन शुष्माकं न लज्जाऽनुद् यदेव मदीयपुत्रो दासत्वमापन्नोऽद्यापि धृतो वर्त्तत इह । अथैवमुक्ते ते इत्यत्र न प्रयच्छन्ति तत इदमपि वक्तव्यम्-राजकुलं गत्वा व्यवहारेणाप्यहं भागं बहुतरकं प्रभूततरकं ग्रहीष्यामि (मि) जवतां पार्श्वे, तद् वरमिदानीं स्तोकं प्रयच्छथ । एव तेषां भीषणं कर्तव्यम् । यदि वा येन गृहीतो वर्त्तते तस्य भीषणं विधेयम्, यथा यदि मोक्षनीयं तर्हि मोक्षय, अन्यथा भवतस्तं शापं दास्यामि येन न त्वम्, नेदं वा तव कुटुम्बकमिति । एव भीषणेऽपि कृते यदि न मुञ्चति, यदि वा ते स्वजना न किमपि प्रयच्छन्ति, तदा स्वयं राजकुले गत्वा निजकैः सह व्यवहारः करणीयः, व्यवहारं च कृत्वा जग आत्मीयो गृहीत्वा तस्मै दातव्यः । यद्वा-स एव राजकुले

व्यवहारेणाकृष्यतेः तत्र च गत्वा वक्तव्यम्-यथाऽयमृषिपुत्रो व्रतं जिघृक्षुः केनापि कपटेन धृतस्तं न वर्त्तते, यूयं च धर्मस्यापारनिषणास्ततो यथाऽयं धर्ममाचरति, यथा चाभीषामृषीणां समाधिरुपजायते तथा यतध्वमिति । अस्यापि प्रकारस्याभावे यद्यत्र लिङ्गमर्चितं तत्परिगृह्यं दापनार्थम्, विवक्षितवासकमाचनार्थमित्यर्थः । तादृशधारिणां मध्ये ये महान्तस्तेषां प्रज्ञापना कर्तव्या, येन ते मोक्षयन्ति ।

सम्प्रति दूराभोगेत्यादि व्याख्यानार्थमाह-

पुट्ठा व अपुट्ठा वा, चुयसामिनिहिं कहंति ओह्हाई ।

घेत्तूणं जावदट्ठा, पुणरवि सा रक्खणा जयणा ॥

यदि वा अवध्यादयोऽवधिज्ञानिनः । आदिशब्दाद्विशिष्टभूतज्ञानिपरिग्रहः । पृष्टा वा अपृष्टा वा तथाविधं तस्य प्रयोजनं ज्ञात्वा व्युत्स्वामिकं निधिमुत्सन्नस्वामिकं निर्धिं कथयन्ति, तदानीं तस्य तेषां तत्कथनकस्याचित्वात् । ततो वावदर्थः, यावता प्रयोजनं तद् गृहीत्वा पुनरपि तस्य निधिसंरक्षणं कर्तव्यम् । प्रत्यागच्छता च यतनाविधियां, सा चाग्रे स्वयमेव वर्त्तयते ।

सोऊण अट्टजायं, अट्ठं पमिजगणं य आयरिओ ।

संधामयं वि देति य, पटिजगणं णं गिलाणं पि ॥

निधिग्रहणार्थं मार्गं गच्छन्मर्त्यजातं साधुं श्रुत्वा सार्भोगिको वाऽऽचार्योऽर्थं प्रतिजागर्ति उत्पादयति । यदि पुनस्तस्य द्वितीयः सघाटकौ न विद्यते, ततः सघाटकमपि ददाति । अथ कथमपि ग्लानो जायते ततो ग्लानमपि जागर्ति न तूपेक्षते, जिनाहोविराधनप्रसक्तेः ॥

यदुक्तमनन्तरं यतना प्रत्यागच्छता कर्तव्या, तामाह-

काउं निसीदियं जा-ट्टजायमानेयणं च गुरुहत्थे ।

दाऊणं पमिकमणं, मा पेहंता मिगा पेसो ॥

यत्रान्यगणे स प्राधूर्णकं भाषाति, तत्र नैवेधिकीं कृत्वा, 'नमः क्रमाश्रमणेभ्यः' इत्युदित्वा च मध्ये प्रविशति । प्रविश्य च यदर्थजातं तद्गुरुभ्यः आवेदयति कथयति । आवेद्यं च तदर्थजातं गुरुहस्ते दत्त्वा प्रतिक्रामति । न स्वपार्श्वे एव स्थित इति वेदयत आह-मा प्रेक्षमाणा मृगा इव मृगा भगीतार्याः कुलकादयः पश्येयुर्गुरुहस्तेऽवस्थितं तद् निरीकन्ते, असद्विरुद्धां समर्पितमिति विरूपसकल्येऽप्रवृत्तेः ॥

सम्प्रति 'जयणा य जा जंत्येति' तद्व्याख्यानार्थमाह-

सञ्जी व सावको वा, निरुविण् देज्ज अट्टजातस्स ।

पच्चुप्पसनिहाणे, कारणजाए गहणसोही ॥

यत्र सञ्जी सिरूपुत्रः श्रावको वा वर्त्तते तत्र गत्वा तस्मै स्वरूपं निवेदनीयं, प्रज्ञापना च कर्तव्या । ततो यत्र तेन प्रत्युत्पन्नं तत्र निधानं गृहीतं वर्त्तते तस्यार्थजातस्य मध्यात्कतिपयान् जागान् दद्यात् । स्वयं तदानीं प्रज्ञापनातो वा गीतार्थत्वात् । अस्य प्रकारस्याभावे यन्निधानं दूरमवगाढं वर्त्तते, ततस्तेन उत्सन्नं दीयमानमधिकृते कारणजाते गृहानोऽपि शुक्रा, भगवदाज्ञावर्त्तनात् । गतमवमद्वारम् ।

इदानीमापन्नद्वारमाह-

थोवं पि धरेमाणो, कप्पइ दासत्तमेव अददंते ।

परदेसम्मि वि लब्धति, वाणियधम्मो ममेस चि ॥

स्नोकेमापि अणु शेष धारयन् क्वचिद्देशे कोऽपि पुरुषः, ततः (सहस्रते स्ति) अददानं कासकमेव प्रगृह्या, दासत्यमेव प्रति-
पद्यते । तस्यैव दासत्वमापन्नस्य, स्वदेशे दीक्षा न दातव्या ।
अथ कदाचित्परदेशे गत सन्नधिदितस्य रूपोऽधिष्ठापिका कारण-
तो वा दीक्षितो भवेत् । तत्र च यणिजा पाणिभ्यां गतेन दृष्टो
मनेत् । तत्रायं किं न्याय - परदेशमपि गता यणिज आत्मीय
मन्त्रे, तत एव यणिग्धर्मं व्यपस्थितं स एव प्र्यात् ' मम
एव दाम ' इति न मुञ्चिष्येऽमुमिति ।

तत्र पत्न्यस्यैव ताम्रतिपादनाय चारगाधामाह—

नाहं विदेमग्राहर-णमाह विज्जा य मंत जोगा य ।

नेमित्त राय धम्मो पासद गणे भणे वेव ॥

परदय दासत्वमापन्नो पचते, न सोऽहं, किं त्वहमन्यस्मिन्वि-
देशे जातः, एवं तु सदृकाया विप्रसन्नोऽभि, अथ सम्भूतजनपि
दितो पचते तत एवं न चत्तर्प, किं तु स्थापत्यपुत्रापाहरण
कथनीयम्, यद्यपि कदाचित् तच्छ्रवणत प्रतिपुत्रो मुक्तमय-
ति । आदिशुद्धान् गुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदादि कर्तव्यमिति
प्रहं । एतेषां प्रयोगाणामभावे विद्या मन्त्रो योगो वा, न प्रयोक्त-
व्याः, ये परितृष्टास्तं समुत्पन्नयति । तेषामप्यभावे निमित्ते-
नामीतानागतपितृयेण राजा, उपलक्षणमेतत्, तद्व्यो वा नगर-
प्रधान आचरणीय, येन ताम्रनाथाय प्रयते, धर्मो वा कथनी-
यो राजादीनाम्, येन त आधुना मन्त्रं प्रेरयति । एत-
स्यापि प्रयोगस्याभावे पापयान् सदायान् कुर्यात् । यद्वा-
यो गणः सारम्यतादिको बलीयान् न सदाय कुर्यात् । तद्भा-
वे दूरामोगादिना प्रकारेण धनमुत्पाद्य तेन मोचयेत् । एव
धारगाथासंकेपां ।

साम्प्रतमेनामेव गार्वा विपरीपुराह—

सारवरणं जंषामि, जातो अज्जत्य ते वि आपंति ।

बहुजणविष्णाम्मि उ, यावन्मुयादिआहरणं ॥

यदि प्रभूतजनविदितो न भवति, यथा-अथ तद्देशे जात इति,
तत एव प्र्यात् । अहमन्यत्र विदेशे जातस्य तु साह-
स्येण विप्रसन्न एवमसम्भजस जल्पति । एवमुक्ते तेऽपि
तत्रत्या आमेवमेतद् यथाऽय पदतीति साक्षिणो जायन्ते,
अथ तद्देशजातया प्रभूतजनविदितो पचते, ततस्तस्मिन्नु-
जनविज्ञाने पूर्वोक्तं न चक्ष्यम्, किन्तु प्रपोधनाय स्थापत्यापु-
त्रायाहरणं कथनीयम् ।

विज्जा मंत जोगा, अंतद्धाणं विरेयणं वा वि ।

वरधणु य पुस्सभूती, गुलिया मुहुमे य जाणम्मि ॥

विद्यादयो विद्यामन्त्रयोगाः प्रयोक्तव्याः, येन तैरभियोजित-
सन् मुक्तलयति । आहरणमादीत्यत्रादिशुद्ध्यव्याख्यानार्थमाह—
गुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदेन । उपलक्षणमेतत् । यणैश्च कार-
यन्, यदि वा अन्तर्धानं प्रामान्तरप्रयोगेन व्यवधानम्, विरेचन वा
ग्लानतोपदर्शनाय कारयितव्यो यत्कृच्छ्रेणैव जीवतीति ज्ञात्वा
विमुच्यते । यदि वा वरधनुरिय गुटिकाप्रयोगतः, पुष्पभूतिरा-
चार्ये इव सूक्ष्मप्यानवशतो निम्नलो निरुच्छासः तथा स्याद्
येन मृत इति ज्ञात्वा परित्यज्यते ।

असतीए विणवेती, रायाणं सो व होज्जउ अ निओ ।

तो से कहिज्ज धम्मो, अणिच्छमाणा इमं कुज्जा ॥

एतेषां प्रयोगाणामसति अभावे राजानं विहाययन्ति । यथा—

तपस्विममिद परलोकनि स्पृष्टमेव प्रताप्यापयतीति; अथासौ
राजा तेन भित्तो व्युह्नादितो पचते । तत स तस्य राज्ञः प्रति-
पोधनाय धर्मः कथ्यते, सध स धर्मं नेच्छति, ततस्तस्मिन् ध-
र्ममनिच्छति, उपलक्षणमेतत्, निमित्तेन याऽतीतानागतरूपेणा-
धार्यमाणे इदं पश्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह—

पासंमे व महाए, गेएहइ तुज्जं पि एरिसं हुज्जा ।

होहामोह सहाया, तुज्ज वि जो वा गणो वलिओ ॥

पापयान् वा सदायान् गृह्णाति । अथ ते सहाया न प्रवन्ति,
तत इदं तान् प्रति वक्तव्यम्—युष्माकमपीदृश प्रयोजन भवेद्
नधिष्यति तदा युष्माकमपि पर्यं सहाया भविष्याम् । एव
तासदायान् दृष्ट्या तद्व्यसतः स प्रेरणीय, यदि वा यो गणो
बलीयात् त सदाय परितृष्टीते ।

एएसिं असतीए, संता वि जया न होंति ठ सहाया ।

ठवणा दूगभोगे, लिगेण व एसिउ देंति ॥

एतेषां पापयमानां गणानां वा असति अभावे, ये सन्तः शिष्टा-
स्ते सहायाः कर्तव्याः । यदा तु सन्तो वा सहाया न प्रवन्ति, तदा
(ठवणं सि) निष्क्रामता या इव्यस्य स्थापना कृता तद्धानतः
स मोचयितव्यः । यदि वा दूगभोगेन प्राशुक्तप्रकारेण, सधवा
यद्यत्र शिक्षमर्चितं, तेन धनमेपिता कृपाद्य ददति, तस्मै वरवृ-
पमा । गतमापन्नप्राप्तम् ।

इदानीमनासहारमाह—

एमेव अणत्तस्स वि, तवतुज्जणा नवरि एत्थ नाणत्तं ।

जं जस्स होउ धंमं, सो देति ममंतिगे धम्मो ॥

एवमेव अनेनैव दासत्यापन्नगतेन प्रकारेण अनासत्यापि प्राशु-
क्तार्थाथस्य मोक्षणे यतना द्रष्टव्या, नवरत्नम्, अत्र धनदानवि-
न्तायां नानात्वम् । किं तदित्याह—तपस्तुलना कर्तव्या । सा
चैव प्रप्यते—साधयस्तपोधना अहिंसायसुवर्णाः, शोकेऽपि यद्य-
स्य प्राण्ड जयति, स तत्तस्मै उत्तमर्णाय ददाति । अस्माकं च
पार्श्वे धर्मस्ततस्त्वमपि धर्मं गृह्णाण ।

एवमुक्ते स प्राह—

जोऽण्णेण कतो धम्मो, तं देउ न एत्थियं समं तुलइ ।

हीणं जावेताहिं, तावइयं विज्जयंभणया ॥

योऽनेन कृतो धर्मः सर्वं मया ददातु, एवमुक्ते साधुनिर्वक्तव्यम्,
नैतावद्दमः, यतो नैतावत्समं तुलति । स प्राह—एकेन सवत्सरं
हीनं प्रयच्छत, तदपि प्रतिपेधनीयं चेद् द्वाभ्यां सवत्सराभ्यां हीनं
दत्त । एव तावत् विभाषा कर्तव्या—यावदेकेन दिवसेन कृतो
योऽनेन धर्मस्तं प्रयच्छत । ततो वक्तव्यम्—नाज्यधिकं दत्तं
किन्तु यावत्तद् गृहीतं मुहूर्तोदिकृतेन धर्मेण तोल्यमानं समं तुल-
ति तावत्प्रयच्छाम । एवमुक्ते यदि तोलनाय द्वौकते, तदा
विद्यादिनिस्तुला स्तम्भनीया, येन क्षणमात्रकृतेनापि धर्मेण
न समं तोल्यतीति । धर्मतोहनं च धर्माधिकारिकनीति-
शास्त्रप्रसिद्धमस्ति, ततोऽवसातव्यम् ।

जइ पुण नेच्छेज्ज तव, वाणियधम्मेण ताहे सुच्छो उ ।

को पुण वाणियधम्मो, सामुहे संजमे इणमो ॥

वत्थाणाजरणाणि य, सच्चं णडिचु एगविदेण ।

पोयम्मि विवसम्मि उ, वाणियधम्मे हवइ सुच्छो ॥

एयं इमो वि साहू, तुज्जं नियगं च सारमुत्तूणं ।

निकखंतो तुज्जं भरे, करेइ इण्हि तु वाणिज्जं ॥

यदि पुनरुक्तप्रकारेण क्षणमात्रकृतस्वापि धर्मस्यालामेन नेच्छे-
त् तपो ग्रहीतुम् । ततो वक्तव्यम्-वणिग्धर्मणे वणिग्न्यायेन एव
शुद्धः । स प्राह-कः पुनर्वणिग्धर्मो येनैव शुद्धः क्रियते ? साध-
वो वदन्ति-समुद्धे सन्नमे गमनेऽयं वक्ष्यमाणः । तमेवाह-(वत्था-
णाभरणेत्यादि) यथा वणिक् ऋणं कृत्वा प्रवहणेन समुद्रमव-
गाढः, तत्र पोते प्रवहणे विपन्ने आत्मीयानि परकीयानि च प्रजृ-
तानि वस्त्राण्यभरणानि, चशब्दाच्छेषमपि च नानाविध क्रया-
णकं सर्वं छर्दयित्वा परित्यज्य, एकवृन्देन, प्रावप्रधान एकशब्दः-
एकतैव वृन्द, तेनैकाकी उत्तीर्णो, वणिग्धर्मे वणिग्न्याये शुद्धो
भवति, न ऋणं दाप्यते । एवमयमपि साधुस्तव सत्कमात्मीयं
च सार सर्वं तव गृहे मुक्त्वा निष्क्रान्तः ससारसमुद्रादुत्तीर्ण
इति श्रुतः, न धनिका ऋणमात्मीयं याचितुं यमन्ते, तस्मान्न
किञ्चिदन्न तवाऽऽदेयमस्तीति । करोत्विदानीमेष स्वेच्छया त-
पोवाणिज्यम्, पोतम्वृणविगिव निर्द्वयो वाणिज्यमिति । गतम-
नासद्वारम् ।

अधुना बोधिकस्तेनारप्रतिपादनार्थमाह-

बोहियतेणेहि हिण, विमग्गणा साहुणो नियमसो य ।

आणुसासणमादीतो, एसेव कमो निरवसेसो ॥

बोधिका. स्तेनाश्च प्रागुक्तस्वरूपाः, तैर्हते साधौ नियमशो
नियमेन साधोर्विमार्गणं कर्तव्यम्, तस्मिन् विमार्गणे कर्तव्येऽ-
नुशासनादिकोऽनुशिष्टिप्रदानादिको धनप्रदानपर्यन्त एव एवा-
नन्तरादितः क्रमो निरवशेषो वेदितव्यः ।

सप्रत्युपसहारव्याजेन शिक्षामपवाद चाह-

तम्हा अपरायत्ते, दिक्खिज्जाऽणारिण वजेज्जा ।

अप्पाण अणान्नोगा, विदेस असिवादिमुं दो वि ॥

यस्मात्परायत्तदीक्षणेऽनार्यदेशगमने चैते बांषास्तस्मादपरा-
यत्तान् दीक्षयेत्, अनार्याश्च देशान् वर्जयेत् । अत्रैवापवाद-
माह-(अप्पाणं चि) अप्पाणं प्रतिपन्नस्य ममोपग्रहमेते करि-
ष्यन्तीति हेतोः परायत्तानपि दीक्षयेत् । यदिवाऽनान्नोगत प्र-
व्राजयेत् । विदेशस्थान् वा स्वरूपमजानतो दीक्षयेत् । पुनरशि-
वादिषु कारणेषु (दो वि चि) द्वे अपि परायत्तदीक्षणानार्यदे-
शगमनेऽपि कुर्यात् । किमुक्तं भवति-अशिवादिषु कारणेषु स-
मुपस्थितेषु परायत्तानपि गच्छोपग्रहनिमित्तं दीक्षयेत्, अना-
र्यान्पि देशान् विहरेदिति । व्य० २ उ० । एतत्पुरुषस्यार्थजात-
त्वमुपदर्शितम् ।

अथ सप्त्याऽर्थजातत्वमुच्यते-

अट्टजायं णिग्गंथे णिग्गंथि गिएहमाणे वा अवलंबमाणे
वा णाइक्कमइ ॥

अर्थ कार्यमुत्पन्नाजनतः स्वकीयपरिणेत्रादेर्जातं यथा साऽ-
र्थजाता पतिचौरादिना सयमाश्चाद्यमानेत्यर्थः । स्था० ५
ग० २ उ० ।

इह गाथा-

अट्टेण जायकज्जं, संजायं एस अट्टजाया उ ।

तं पुण संयमभावा, चालिज्जंती समवलंबे ॥ १ ॥

अर्थेनार्थतया सजातं कार्यं यथा । यद्वा-अर्थेन द्रव्येण जातमु-
त्पन्नं कार्यं यस्या सा अर्थजाता । गमकत्वादेवमपि समासः ।

उपलक्षणमेतत् । तेनैवमपि व्युत्पत्तिः कर्तव्या । अर्थः प्रयोजन
जातमस्या इत्यर्थजाता । कथं पुनरस्या अवलम्बनं क्रियते इ-
त्याह-तां पुनः प्रथमव्युत्पत्तिसूचितां, सयमभावाच्चात्यमानां ।
द्वितीयतृतीयव्युत्पत्तिपक्षे तु द्रव्याभावेन प्रयोजनानिष्पत्त्या वा
सीदन्तीं समवलम्बेत-साहाय्यकरणेन सम्यग्धारयेत्, उप-
लक्षणत्वाद् गृहीयादपि । वृ० ६ उ० । (सयमस्थिताया निर्ग्रन्था
अर्थजातवक्तव्यता निरवशेषा निर्ग्रन्थस्येव भावनीया, केवल
स्यभिधायः कार्यो भवतीति बृहत्कल्पोक्ता साऽत्र नोपपत्त्या) ।

अट्टजुत्त-अर्थयुक्त-त्रि० । अर्थेन हेयोपादेयात्मकेन युक्तान्यवि-
तानि अर्थयुक्तानि । हेयोपादेयाभिधायकेषु आगमवचनादिषु,
अर्थो मोक्षस्तत्र युक्तान्यन्वितानि अर्थयुक्तानि । मोक्षे उपादेय-
तया सङ्गतेषु वचनादिषु, “अट्टजुत्ताणि सिक्खेज्जा, जिह्मिज्जि
उ वज्जए” उक्त० १ अ० ।

अट्टहमिका-अष्टाष्टमिका-स्त्री० । अष्टावष्टमानि दिनानि यस्यां
साऽष्टाष्टमिका । यस्यां हि अष्टौ दिनाष्टकानि भवन्ति तस्याम-
ष्टौ अष्टमानि प्रवत्येवेति । चतुष्पष्टिदिननिष्पत्त्यायां त्रिभुप्रति-
मायाम्, स० ।

अट्टहमियाणं जिक्खूपडिमा चउसङ्कीए राइदिएहिं दो-
हि य अट्टासीएहिं, भिक्खासएहिं अट्टासुत्तं जाव भवइ ।

त्रिभुप्रतिमाऽभिग्रहविशेषः । अष्टावष्टकानि यतोऽर्था भवन्त्य-
तश्चतुष्पष्ट्या रात्रिदिधैः सा पालिता भवति, तथा प्रथमेऽष्टके
प्रतिदिनमेकैका भिक्षा, एका द्वात्रिंशज्जनस्य पानकस्य च, एवं
द्वितीये द्वे द्वे यावदष्टमे अष्टावष्टाविति संकलनया द्वे शते भिक्षा-
णामष्टाशीत्यधिके भवतः । अत उक्तं द्वात्रिंशं चेत्यादि यावत्करण-
म् । “अहाकप्प अहामग्ग फासिया पासिया सोहिया तीरिया
किसिया सम्मं आणाए आराहिया वि भवइ” इति इदम् ।
स० ६४ सम० । स्था० । अष्टाष्टकिकायामष्टक आदिरष्टक उ-
त्तरमष्टको गच्छ । तत्राष्टसङ्कणो गच्छ उत्तरेणाष्टकेन युतः क्रि-
यते, जाता चतुष्पष्टि, सा उत्तरहीना आदियुता क्रियते, तथापि
सैव चतुष्पष्टि । एतदष्टमेऽष्टके भिक्षापरिमाणम्, एतद्वादिनाऽष्ट-
केन युतं क्रियते, जाता द्वासप्ततिः । ७२ सा गच्छाद्धेन चतुष्केण
गुण्यते, जाते द्वे शते अष्टाशीत्यधिके । व्य० ७ उ० । प्रव० अन्त० ।
अट्टाण-अष्टस्यानक-न० । प्रज्ञापनाया अष्टमे स्थाने, “एव
जहा अट्टाणे” स्था० १० ग० ।

अट्टणाम्-अष्टनामन्-न० । अष्टविधपदार्थनामनि, “से किंतं
अट्टणामे ? । अट्टणामे अष्टविहा वयणविमत्ती” अट्ट० (‘वय-
णविमत्ति’ शब्दे निरूपितमेतत्) ।

अट्टदंसिण-अर्थदर्शिन-त्रि० । यथावस्थितमर्थं यथा गुरुस-
काशाद्वधारितमर्थं प्रतिपाद्यं कष्टं शीलमस्य स भवत्यर्थदर्शी ।
सत्पदार्थवेत्तरि, “समासवेज्जा पणिपुत्रभासी, निसामिया
सामिय अट्टदंसि” सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अट्टदुग्ग-अर्थदुर्ग-त्रि० । अर्थतः परमार्थतो दुर्गं विषमम् ।
सूत्र० १ श्रु० १० अ० । परमार्थतो विचार्यमाणे गदने दुर्गिकेय,
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । परमार्थतो दुरुत्तरे, “इमो दुत्तेह
उहमदुग्ग” सूत्र० १ श्रु० १० अ० ७ उ० ।

अट्टपएसिय-अष्टप्रदेशिक-त्रि० । अष्टौ प्रदेशा यस्मिन्निष्पत्ति-
देशिक । स्वार्थिकप्रत्ययविधानादिति । प्रदेशाष्टकनिष्पत्तेः,
“एथ ण अट्टपएसिए रुयगे” स्था० १० ग० ।

अष्टपद (ष) चितण-अर्थपदचिन्तन-न० । अर्थ्यमाण विचार्यमाणं यत्पद वाक्यादि, पठते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेः । तस्य चिन्तनं भावन विचारणं, स्वविषये स्थापनमिति यावत् । विचारणीयस्य वाक्यादेरर्थपर्यालोचने, ध० । अयं ज्ञाव-सूक्ष्मेक्षिकया ज्ञावनाप्रधानेन सताऽर्थपदं विचारणीयं, विचार्य च बहुश्रुतसकाशा-त्स्वविषये स्थापयितव्यम् । अर्थपदचिन्तनं विना सम्यग्धर्मश्चक्षानमेव न घटते । तथा च परमार्थे " सुच्चा य धम्म अरहंतजासिअ, समादिअ अछपओवसुद्धं " इत्यादि । तस्मादर्थपदं विचार्य स्वविषये स्थापयितव्यम् । तद्यथा-यदि सूक्ष्मोऽप्यतिचारो ग्राह्यीसुन्दर्यादीनामिव स्त्रीभावहेतुस्तदा प्रमत्तानां साधूनां कथं चारित्र्यं मोक्षहेतुत्वेन घटते?, प्रज्ञातिचारवत्त्वात् । अत्रय समाधानज्ञावना-य' प्रमजित. सूक्ष्ममप्यतिचार करोति, तस्य त्रिपाकोऽतिरौघ एव, परं प्रतिपक्काध्यवसायः प्रायस्तस्य कृपणहेतुर्नोचनोचनमिदमात्रम्; ग्राह्ययादीनामपि तद्भावात् । प्रतिपक्काध्यवसायश्च-क्रोधादिषु क्रमादि. सवरभावेनोक्त । एव च प्रमत्तानामपि प्रत्यतिचार तुल्यगुणाधिकगुणप्रतिपक्काध्यवसायवतां धर्मचरणभाविरुद्धम्, सम्यक्कृतप्रतीकारस्य विषयैवातिचारस्य स्वकार्याक्रमत्वात् । नन्वेव प्रतिपक्काध्यवसायस्यैवातिचारप्रतीकारत्वे प्रायश्चित्तादिव्यवहार उच्छिद्येतेति चेन्न । प्रायश्चित्तादियतनाव्यवहारे तुल्यतामप्राप्नुवति प्रतिपक्काध्यवसायस्य विशेषणस्य धौव्यात् । तदुत्कर्षकेणैव च विशेष्यस्य साफल्यत् । विशेष्यविशेषणजावे विनिगमनाविरहस्तु नयभेदाऽऽयत्तो दुष्परिहर एव । तथाप्यसङ्गप्रमादाचरणकृतमतिक्रमजातं प्रतिपक्काध्यवसायेन कथं परिह्रियेत?, असङ्कृतस्य मिथ्यादुष्कृतस्याप्यविषयत्वादिति चेन्नैवम् । अत एव तुल्यगुणाधिकगुणाध्यवसायस्यैव प्रहणात् । एकेनापि बलवता प्रतिपक्केण परिच्युते बहुलमप्यनर्थजातं, कर्मजनिताश्चातिचारादेरात्मस्वभावसमुत्पत्तस्य स्तोकस्यापि प्रतिपक्काध्यवसायस्य बलवत्त्वमुपदेशपदादिप्रसिद्धमेव । स्यादेतत् । मनसो विकारा. प्रतिपक्काध्यवसायनिवर्त्यां प्रवन्तु, कायिकप्रतिसेवनारूपा अतिचारास्तु कथं तेन निवर्त्तेरन् ? इति चेन्नैवम्, सज्वलनोदयजनितत्वेनातिचाराणामपि मानसविकारत्वात्, रूप्यरूपकायिकप्रतिसेवनादीनां तु अदूरविप्रकर्षेणैव निवृत्तिमिति दिक् । ध० ३ अधि० ।

अष्टपद (य) परुवणया-अर्थपदप्ररूपणता-स्त्री० । अर्थरूप-शुक्लकन्धादि, तद्युक्तं तद्विषयं वा पदमानुपूर्व्यादिकं, तस्य प्ररूपणं कथनं, तद्व्याख्योऽर्थपदप्ररूपणता । इयमानुपूर्व्यादिका सज्ञा, अयञ्च तद्विधेरुपपत्त्यादिरर्थः । सज्ञी, इत्येव सज्ञा-सङ्गिसन्धकथने " से कितं गेगमववहाराण अणोवणिहिया द्रव्याणुपूर्वी ? । पंचविहा पसञ्जा । त जहा-अछपदपरुवणया " (इत्यादि सर्वे द्वितीयभागे १३१ पृष्ठे 'आणुपूर्वी' शब्दे ध-क्ष्याम.) अनु० ।

अष्टपदोवसुद्ध-अर्थपदोपशुद्ध-त्रि० । अर्थपदानि युक्तयो हेनवो वा तैरुपशुद्धमवदातम् । सद्युक्तिके, सहेतुके च । अर्थैरभिधेयै पदैश्च वाचकैरुप सामीत्येन शुरु निर्दोषम् । निर्दोषवाच्यवाचके, " सोच्चा य धम्म अरहंतजासिअ, समादिअ अछपओवसुद्धं " सुत्र० १ शु० ६ अ० ।

अष्टपिण्डिणिद्विया-अष्टपिण्डिनिष्ठिता-स्त्री० । अष्टभि शास्त्रप्रसिद्धै पिण्डैर्निष्ठिताऽष्टपिण्डिनिष्ठिता । प्रज्ञ० १७ पद० । अष्टवारपिष्टप्रदाननिष्पन्ने सुराभेदे, जी० २ प्रति० ।

अष्टपुष्पी-अष्टपुष्पी-स्त्री० । अष्टौ पुष्पाणि पूजात्वेन समाहृतान्य-ष्टपुष्पी । पूजार्थके पुष्पाष्टके, पुष्पाष्टकनिष्पाद्यायां पूजायां च । हा० । अष्टपुष्पी समाख्याता, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

अशुक्तेतरजेदेन, द्विधा तत्त्वार्थदर्शिनिः ॥ १ ॥

अष्टौ पुष्पाणि कुसुमानि यस्या पूजायां साऽष्टपुष्पी । नदादि-दर्शनाद्य ईप्रत्यय । इय च ज्ञान्यपदमाश्रित्योच्यते, न द्वित्रिच-तुःपुष्पाण्यारोपणीयानि । यद्वद्वयति-" स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि " इति । अष्टपुष्प्याश्च देवपूजने कारणत्वं वक्ष्यति । द्विधेत्यस्येह सधन्वात् द्वान्यां प्रकारान्यां द्विधा द्विप्रकारा समाख्याता स-म्यग्महिता, तत्त्वार्थदर्शिभिरितिह संयच्यते । तत्त्वज्ञता अर्था जीवाद्यस्ताव, तत्त्वेन वा परमार्थवृत्त्याऽर्थान् पश्यन्तीत्येव-शीलास्तत्त्वार्थदर्शिनस्तैः । कथं द्विधेत्याह-अशुक्तेतरजेदेन, अ-शुक्ला च सावद्यतया, इतरा च निरवद्यतया, अशुक्तेतरै, ताभ्यां कृ-त्वा तयोर्वा भेदो विलक्षणता अशुक्तेतरभेदस्तैन, इदं चेताराश-ब्दस्य पुष्पद्वाभ, " वृत्तिमात्रे सर्वादीनां पुष्पद्वाभ " इति वच-नात् । फलतस्ता निरुपयन्नाह-स्वर्गमोक्षप्रसाधनी, आद्या देवतां कसाधनी, द्वितीया तु निर्वाणसाधनीत्यर्थः । पाठान्तरे तु-स्वर्गमोक्षप्रसाधनाहेतोर्द्विधः । एतदेव क्रथम्?, अशुक्तेतरजेदेन इत्येव पदयोजना कार्येति ॥ १ ॥

अशुक्लां श्लोकाद्वयेन तावदाह-

शुद्धागमैर्यथालाजं, प्रत्यग्रैः शुचिभाजनैः ।

स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि, पुष्पैर्जात्यादिसम्भैः ॥ २ ॥

अष्टापायविनिर्मुक्त-तदुत्पत्त्युत्पत्तये ।

दीयते देवदेवाय, या सा शुद्धेत्युदाहृता ॥ ३ ॥

शुद्धो निर्दोष आगम प्राप्त्युपायो येषां तानि शुद्धागमानि, न्यायोपाचवित्तेनाचौयेण वा गृहीतानित्यर्थः । पुष्पैर्दीयते देव-देवाय या सा शुद्धेत्युदाहृतेति सवन्धः । कथं दीयत इत्या-ह-लाभस्यानतिप्रमेण यथालाभ, प्रवचनप्रभावनायमुदारजा-वेन मालिकाद्यथालाभगृहीतैर्देशकादापेक्षया चोत्तममध्यमज-घन्येषु यानि द्रव्यानि तै पुष्पैरिति भावना । प्रत्यग्रैरपरिग्रहानि, शुचिभाजनैः पवित्रपटलकाद्याधारै, इतरथा स्नानादिशौचमपि न मनोनिवृत्तिमापादयेदिति, स्तोकैरूपै, प्रत्यपायापगम पुष्पदा-नादष्टभिरित्यर्थः । बहुभिर्भूरितिस्तदुद्देशेनादानात् । वाशब्दोऽस्तोकबहुपुष्पपूजयोर्बहुमानप्रधानस्य फल प्रत्यविशेषप्रतिपाद-नार्थः । अपिशब्दस्तु समुच्चयार्थ इति । पुष्पैः कुसुमैः, जात्यादि-सज्वैर्मालतीप्रभृतिप्रभैः, आदिशब्दादिचिकित्सादिपरिग्रहः । इह कश्चिदाह-जात्यादिग्रहणं सुचर्णाद्रिसुमनसां निषेधार्थम् । जात्यादिकुसुमनि हि सकृदारोपितानि निर्माल्यमिति कृत्वा न पुन पुनरुप्यन्ते, सौवर्णादीनि तु पुन पुनरारोपणीयानि भवन्ति, निर्माल्यारोपणदोषश्चैव प्रसज्यत इति । एतद्व्यायुक्तम्- " कचणमोत्तियरयणा-इदामपहि च विविहेहि " इत्यनेन तेषामनुज्ञातत्वात् । पुनरारोपणनिषेधे तु कं विमाह ? । किन्तु यदा नोत्तार्यन्ते तदा निर्माल्यारोपणदोषोऽपि न स्यात् । जात्यादिकुसुमानि हि काष्ठातिप्रमेण विगन्धानि भवन्तीत्यस-म्यनुत्तारणीयानि स्युः । सौवर्णादीनि तु न नयेनि नाशयमु-त्तारणीयानि, तथाविधविगन्धत्वाभावादेव । तेषां पुनरारोपणे-ऽपि न तथाविधो दोष इति मन्यते । यदपि कैश्चिदुच्यते-अलङ्कारोपणमयुक्तं, धीतरागाकारम्याजायप्रमे । तदपि न युक्तम् । पुष्पारोपणेऽपि तथाप्रमद्वान् । यथा हि याजग्यानि

वीतरागस्य नोपपद्यन्ते, एव पुष्पाण्यपि, उजयेषामपि सरागै-
राचरितत्वादिनि । अष्टपुष्पीविधाने कारणमाह-अपायोऽनर्थ-
स्तद्धेतुत्वादाया ज्ञानावरणादयः, अष्टावपायाः समाहृताः
अष्टापायम्, तस्माद्विशेषेण प्रकारान्तरेणैव, दग्धरज्जुकल्पक-
रणतः जयोपग्राहिभ्यश्चतुर्न्य इत्यर्थः । नितरां निःसत्ताकतया
चतुर्न्य एव घातिकर्मभ्यो मुक्तः अपेतः । धात्वर्थमाप्रवृत्ती घा
विशुद्धनिःशब्दाविति । विनिर्मुक्त इव विनिर्मुक्तः, अष्टापायवि-
निर्मुक्तस्तथा, तस्मादष्टापायविनिर्मुक्तोऽष्टापाय उत्यानं यस्याः
सा तदुत्था, गुणा अनन्तज्ञानदर्शनादयस्तेषां चूतिः प्रादुर्भावः,
त एव वा भूतिर्लक्ष्मीर्गुणभूतिः, तदुत्था गुणचूतिर्यस्य स तथा ।
अष्टापायविनिर्मुक्तस्तदुत्थागुणभूतिश्च यः स तथा, तस्मै । यद्यपीह
गुणीभूत विनिर्मुचन, कप्रत्ययार्थस्यैव प्रधानत्वात्, तथापि
तच्छब्देन तदेव परामृश्यते, यत्रा तथैव विवक्षितत्वात् । दृष्ट-
श्चाय न्यायः । यथा-सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति
तद्व्युत्पाद्यत इत्यादाविति । दीयते वित्तीयते, देवदेवाय स्तु-
त्यस्तुत्याय, याऽष्टपुष्पी सा शुभाऽसावद्या, उदाहृता सर्वज्ञैर-
भिहितेति । नन्वष्टापायविनिर्मुक्तोऽष्टापाय एतद्विनिर्मुक्तोऽष्टापाय
गुणचूतिर्यस्येत्यनेनैवाष्टपुष्पीनिबन्धनस्यावसीयमानत्वात्किं त-
च्छब्दोपादानेनेति । नैवम्, अष्टापायविनिर्मुक्ताय दीयते इत्यनेना-
ष्टपुष्पीनिबन्धनमाह । तदुत्थागुणचूतये इत्यनेन चतुःपुष्पिकाया
अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यचतुष्टयरूपत्वादष्टकर्मविनिर्मुक्तिप्रज्ञ-
गुणानाम्, अष्टापायविनिर्मुक्तायेत्यनेनैवावसितमिदमिति चेन्न,
सिद्धाना हि कैश्चित् प्रकृतिवियोगाद् ज्ञानाभावः, शरी-
रमनसोरजावादीर्याभावः, विषयाजावाच्च सुखाजावो भाष्यते,
तन्मतव्युदासार्थत्वादित्यमुपन्यासः, तदाऽऽचारककृते हि तेषां
न्यायप्राप्तत्वात् । यद्येवं ज्ञानावरणपञ्चककृते केवलिनो
ज्ञानपञ्चकप्रसङ्गः, न वेध्यते, “ नदृग्मि वाचमतिथि ए नाणे ”
इतिवचनादिति । नैवम् । केवलज्ञानेनैव शेषज्ञानज्ञेयस्य प्रकाशि-
तत्वेन तेषामनर्थकत्वाज्ज्ञानमुपादिश्यत इति । एतेन तु पूर्वार्द्धेन
ये मन्यन्ते जिनविषयप्रतिष्ठायामवस्थात्रयम्, कल्पयते तेन बाह्या-
वस्थाभ्य स्नानम्, निष्क्रमणावस्थोचित रथारोपणपुष्पपूजादि-
कम्, केवल्यवस्थाभ्य च वन्दनं प्रवर्तत इति, तन्मतमपाकरोति ।
नह्यष्टापायविनिर्मुक्तिद्वारेण पूजा क्रियमाणा गृहस्थावस्थां वि-
षयीकरोति, किन्तु केवल्यवस्थामिव । ननु चिन्तनीयमिदं यद्-
ष्टापायविनिर्मुक्तिमालम्ब्य केवल्यवस्थाया पूजा कार्येति, यतो
न चारित्रिणः स्नानादयो घटन्ते । तद्वत्साधूनामपि तत्प्रसङ्गे ।
न च तच्चरितं सताऽऽलम्बनीयम्, अन्यथा परिणताप्कायादिप-
रिहार आचरणनिषेधार्थं कथं स्यात् ? श्रूयते हि-एकदा स्वजावतः
परिणत तडागोदरस्थाप्काय तिर्यगराशि स्थण्डिलदेवाच्च दृष्ट्वाऽ-
पि जगवान् महावीरस्तत्प्रयोजनवतोऽपि साधून् तत्सेवनार्थं
न प्रवर्तितवान् । मा एतदेवास्मश्चरितमालम्ब्य सूरयोऽन्यास्तेषु
प्रवर्तयन्तु, साधवश्च मा तथैव प्रवर्तन्तामिति । सत्यम्, किन्तु बि-
म्बकल्पोऽन्य इति मन्यते, यथैव ज्ञावार्हति च वर्तितव्यं न त-
थैव स्थापनार्ह्यपीति ज्ञावः । अत एव भगवत्समीपे गौतमाद-
यः साधवस्तिष्ठन्ति स्म । तद्विम्बसमीपावस्थाने तु तेषां निषेध
उक्तः । यदाह-“जह वि न आहाकर्म, नविककय तह वि व-
ज्जयतोहि । जत्ती खलु होह कया, इहरा आसायणा परमा” ॥१॥
तथा-“दुग्धिगंधमग्नस्सावि, तणुरपि सण्डाणि य । उमओ उ-
वहो चेव, ते णडुति न चेइए” ॥१॥ तेनैवार्यिका दारुणक स्थाप-
नाचार्यं स्थापयन्ति । अन्यथा यथा भावाचार्यसमीपे नावश्यक

कुर्वन्ति, तथा स्थापनाचार्यसमीपेऽपि न कुर्युः, न च ताः प्रव-
र्तिनीं स्थापयन्तीति वाक्यम् । प्रतिक्रमणकाल एव चैत्यवन्दना-
वसरे महावीरादेरवश्यं कल्पनीयत्वेन तद्दोषस्य समाप्तत्वा-
त्, नह्यचार्य एव पुरुषो न भगवान् । न च वीतरागत्वेऽपि
भगवत्समीपे आर्यचन्दनाचार्यिका रात्रौ तस्युः । ननु प्रतिक्रम-
णादिकालेऽर्हत्स्थापनां कृत्वा चैत्यवन्दने क्रियमाण आशातनादो-
षप्रसङ्ग इति । नैवम् । जिनायतनेऽपि चैत्यवन्दनस्यानुज्ञातत्वात् ।
यदाह-“ निमककमनिसकडे वा, वि चेइए सव्वहिं पुंरं तिक्कि ।
वेद्वयचेइयाणि व, नाउं एक्केकिया वा वि ” ॥ १ ॥ इत्यस्य प्र-
सङ्गेनति ॥ ३ ॥

अष्टपुष्पी स्वरूपत उक्ता, सैव स्वर्गप्रसाधनीति

यदुक्तं तदधुना प्रदर्शयन्माह-

संकीर्णेषा स्वरूपेण, अन्यथावप्रसत्तितः ।

पुण्यबन्धनिमित्तत्वा-द्विज्ञेया स्वर्गसाधनी ॥ ४ ॥

संकीर्णा अवधेन व्यामिभा, एयाऽनन्तरोक्ताऽष्टपुष्पी, स्वरूपेण
स्वभावेन । कथमित्याह-अन्यात् पुण्यादेः सकाशाद् भावप्रसूति-
तो जगवति चित्तप्रसादोत्पत्तेः । इदमुक्तं भवति-पुष्पादिद्रव्यो-
पयोगादवद्य, शुभभावश्च स्यातामिति संकीर्णत्वम् । इदं च न क-
र्मकृपणनिमित्तमपि तु पुण्यबन्धनिमित्तमेवेत्यत आह-पुण्यस्य
शुभकर्मणो बन्धो बन्धनं तस्य निमित्तं कारणं पुण्यबन्धनिमित्तं
तद्भावस्तत्त्व, तस्मात्पुण्यबन्धनिमित्तत्वात्कृतोर्विज्ञेयाऽवसेया, स्व-
र्गसाधनी देवलोकाप्रसिद्धेति । उपलक्षणत्वात् सुमानुषत्वसा-
धनी, पारंपर्येण भावपूजानिबन्धनतां प्रतिपद्य मोक्षसाधनी चेति
दृष्टव्यमिति ॥ ४ ॥

अथ शुद्धामष्टपुष्पीमभिधातुमाह-

या पुनर्जावजैः पुष्पैः, शास्त्रोक्तिगुणसङ्गतैः ।

परिपूर्णत्वतोऽम्भानै-रत एव सुगन्धिभिः ॥५॥

याऽष्टपुष्पी, पुनःशब्द उक्तवक्ष्यमाणार्थयोर्विशेषणोत्तमार्थः ।
जावजैरात्मपरिणतिसम्भैः, पुष्पैरिव पुष्पैर्वक्ष्यमाणसङ्गैरात्म-
धर्मविशेषैः, किञ्चुतैः, शास्त्रोक्तिगुणसंगतैः, शास्त्रमागमस्तस्यो-
क्तिर्जगतिराज्ञेयार्थः । अथवा शास्त्रोक्तिरेव गुणो दवरकस्तत्स-
गतैः । एतेनैषां माहारूपतोक्ता, तथा च द्रव्यपुष्पाण्यपि यदा माह-
कृत्वाऽऽरोप्यन्ते तदाऽष्टावपायापगमान् स्मृत्वा रोपणीयानीति
दर्शितम् । पाठान्तरे तु-शास्त्रोक्तगुणसंगतैरिति, तथा शास्त्रीयस-
मित्यादिगुणोपेतैरित्यर्थः । पुनः किञ्चुतैस्तैरित्याह-परिपूर्णत्वतो
ऽम्भानैः परिपूर्णतया सकलजीवधर्मभावादादिविषयत्वेन निरति-
चारतया वाऽम्भानैर्ज्ञानिमनुपगतैः । अत एव च परिपूर्णत्वादेव,
सुगन्धिभिः सङ्गन्धोपेतैः, परिपूर्णताधर्म एवैषामम्भानिसुगन्धि-
तालक्षणी पुष्पधर्मो द्रष्टव्यावित्यर्थः । विधीयते सा शुद्धयेष-
रूप श्लोकावसाने वाक्यशेषो दृष्टव्य इति ॥ ५ ॥

नामतस्तान्येवाह-

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।

गुरुनाक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुण्याणि प्रचकृते ॥ ६ ॥

प्रमत्ततायोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा, तदभावोऽहिंसा, सैकं
पुष्पम् । तथा सङ्गो दित सत्यम्, अनृताभावा द्वितीयम् । तथा
स्तेनस्य चोरस्य कर्म भावो वा स्तेयं चौर्यं तदभावोऽस्तेयमि-
ति तृतीयम् । तथा ब्रह्म कुशलं कर्म तदेव चर्यते सेव्यत इति
चर्यम् । ब्रह्मचर्यं, मनोवाक्यैः कामसेवनवर्जनमित्यर्थः, तच्छवतु-
र्थम् । तथा नास्ति सङ्गोऽमिषजो यस्य सोऽसङ्गस्तद्भावो-

ऽसङ्गता, धर्मोपकरणानिरिक्तपरिग्रहपरिवर्जनम्, धर्मोपकरण-
स्यापरिग्रहत्वात् । यदाह—“ ज पि धृत्य व पाय धा, कथल
पापपुञ्ज । त पि सजमलज्जघा, धारति परिहरति य ॥१॥ न
सो परिगृहो वृत्तो, नायपुत्तेण तादृणा । मुञ्जा परिगृहो वृत्तो,
इह वृत्त महेसिणा ॥२॥ ” इतरथा शरीराहाराद्यपि परिग्रहः
स्यादिति पञ्चमम् । तथा गृणाति शास्त्रार्थमिति गुरुः । आह
च—“ धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मपरायणः । सत्त्वेभ्यो धर्म-
शास्त्रार्थ-देशको गुरुकथ्यते ” ॥१॥ तस्य भक्तिः सेवा, बहुमान-
श्च, गुरुभक्तिरिति षष्ठम् । तथा तापयतीति तपोऽनशनादि ।
आह च—“ रसरुधिरमासमेदो-ऽस्थिमज्जशुक्राण्यनेन तप्यन्ते ।
कर्माणि वा शृभानोत्पन्नस्तपो नाम नैरुक्तम् ” ॥१॥ इति सप्तमम् ।
तथा ज्ञायन्तेऽर्था अनेनेति ज्ञानम्, सम्यक्प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतो
बोध इत्यष्टमम् । इह समुच्चयानिधायी चशब्दो रूप्यः ।
सप्तपुष्पाणि अत्यन्तमेकान्तेन च विवर्कितार्थसाधकतया सूक्ष्म-
पुष्पापेक्षया सन्ति शोभनानि पुष्पाणि च पुष्पाणि, भावपुष्पा-
णीत्यर्थः । प्रचकृते शुद्धाष्टपुष्पीस्वरूपज्ञाः प्रतिपादयन्तीति ॥६॥

उक्तमेवार्थं वाक्यान्तरेणाह—

एभिर्देवाधिदेवाय, बहुमानपुरस्सरा ।

दीयते पालनाद् या तु, सा वै शुद्धेत्युदाहता ॥ ७ ॥

एभिरनन्तरोदितैर्जावपुष्पै, देवानां पुरन्दरादीनामधिको देव
पूज्यत्वाद् देवाधिदेवः प्रागुक्तो महादेवस्तस्मै, बहुमान प्रातियो-
ग पुरस्सरः प्रधानो यत्र सा बहुमानपुरस्सरा, दीयते वितर्यते ।
कथमित्याह—पालनाद् हि सादिपुष्पाणां परिरक्षणकारेण, तत्पा-
लने हि देवाधिदेवाज्ञा कृता भवति । आज्ञाकरणमेव च सर्व-
था कृतवृत्त्यस्य तस्य पूजाकरणम्, नद्याज्ञा विराधयता शे-
षपूजोद्यतेनाप्यसावाराधितो जवति, आक्षेपध्वरमहाराजवदिति ।
या तु यैवाष्टपुष्पी, सा वै सैव, शुद्धा निरवशा, इतिरेवप्रकारा-
र्थः, उदाहता तत्त्ववेदिनिरजिदितेति ॥ ७ ॥

अथ शुद्धाया एव मोक्षसाधनीयत्व दर्शयन् विशेषेण

सत्समतत्त्व प्रतिपादयन्नाह—

प्रशस्तो ह्यनया भाव-स्ततः कर्मक्षयो ध्रुवः ।

कर्मक्षयाच्च निर्वाण-मत एषा सतां मता ॥ ८ ॥

प्रशस्तः प्रशस्य शुद्धः, हिशब्दो यस्मादर्थः, ततश्च यस्मात्प्र-
शस्तोऽनयाऽनन्तरोदितत्वेन प्रत्यक्षासन्नया शुद्धाष्टपुष्प्या, भाव
आत्मपरिणामो भवतीति गम्यते, न पुनर्देव्याष्टपुष्प्या जीवो-
पमर्दाश्रितत्वात्तस्याः । ततः प्रशस्तज्ञावात्, कर्मक्षयो ज्ञानाव-
रणादिकर्मविलयो जवति, ध्रुवोऽवश्यभावी, कर्मक्षयाच्चोक्त-
स्वरूपात् । चशब्द पुनरर्थः । निर्वाण मोक्षो भवतीति मोक्ष-
साधनीयमतः प्रशस्तज्ञावजन्यकर्मक्षयसाध्यनिर्वाणसाधनत्वा-
देवा शुद्धाष्टपुष्पी, सता विदुषा, यतीनामित्यर्थः, मता विधेयत्वे-
नेष्टा, न पुनर्देव्याष्टपुष्पी । ततो हे कुतीर्थिका । यदि यूय यत-
यस्तदा ज्ञावपूजामेव कुरुतेत्युक्तं जवति । अथवा यतो अन-
या निर्वाणमतः सता विदुषामेवा समतति ॥ ८ ॥ इति तृतीया-
ष्टकाविवरणम् । हा० ३ अष्ट० ।

अष्टबुद्धिगुण-अष्टबुद्धिगुण-पु० । क० स० । शुश्रूषादिषु अ-
ष्टसु बुद्धिगुणेषु, तैरष्टबुद्धिगुणैर्योगः समागम कर्तव्यः ।
(एष सामान्यशुद्धिर्म) बुद्धिगुणाः शुश्रूषादयः, ते त्व-
मी—“ शुश्रूषा श्रवणं चैव, प्रहणं धारणं तथा । उहोऽपोहोऽर्थ-
विज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणः ” ॥ १ ॥ शुश्रूषादिभिर्हि उपहित-

प्रकर्षः पुमाश्च कदाचिदकल्याणमाप्नोति, एते च बुद्धिगुणा यथा
सम्भव प्राप्ताः । ध० १ अधि० ।

अष्टजात्या-अष्टभागिका-स्त्री० । अष्टमे भागे वर्तत इत्यष्टजा-
गिका । पदपञ्चाशदधिकशतद्वयपलमानायां भागिकायाम्, मा-
णिकाया (घटकपर्यायायाः) अष्टमभागवर्तित्वात्, द्वात्रिंश-
त्पक्षप्रमाणे रसमानविशेषे, अनु० । भ० ।

अष्टमद्वय-अष्टमदिक-त्रि० । अष्टौ मद्रस्थानानि येषां तेऽष्टम-
दिकाः । अष्टसु मद्रस्थानेषु प्रमत्तेषु, “ जे पुण अष्टमईओ, प-
क्षियपसखाऽपसखा य ” आतु० ।

अष्टमंगल-अष्टमङ्गल-न० । अष्टगुणितानि अष्ट वा मङ्गलानि ।
स्वनामख्यातेषु श्रीवत्सादिषु, “ तस्स ण असोगवरपायवस्स
उवरिं बहवे अट्टमंगलगा पणत्ता । त जहा-सोवत्थिय १ सिरि-
वत्था २ एदियावत्त ३ वरुमाणग ४ जहासण ५ कलस ६
मच्छ ७ दप्पण ८ । ” तत्र अष्टावष्टाविति वीप्साकरणात् प्रत्येक
नेऽष्टाविति वृद्धाः । अन्ये त्वष्टाविति सख्या, अष्टमङ्गलानीति
च सङ्गा । भौ० । ज्ञा० । आ० चू० । आ० म० प्र० । म० । जं० ।
रा० । लोकेऽपि च—“ मृगराजो वृषो नागः, कलशो व्यजन
तथा । वैजयन्ती तथा मेरी, दीप इत्यष्ट मङ्गलम् ॥१॥ लोकेऽस्मिन्
मङ्गलान्यष्टौ, ब्राह्मणो गौर्हुताशनः । हिरण्य सर्पिरादित्य-
आपो राजा तथाऽष्टमः ” ॥ २ ॥ वाच० ।

अष्टमभक्त-अष्टमभक्त-न० । एकैकस्मिन् दिने द्विवार भोजनौ-
चित्येन दिनत्रयस्य पक्षा जक्तानामुत्तरपारणकदिनयोरेकैकस्य
भक्तस्य च त्यागेनाष्टमभक्तं त्याज्यं यत्र तत्तथा, इति व्युत्पत्त्या
समयपरिज्ञापया वा उपनासत्रये, “ तण से जरहे राया अट्ट-
मभक्तसि परिणममाणसि पोसहसात्ताओ पडिणिक्खमह ”
ज० ३ वक्त० । पचा० ।

अष्टमभक्तिय-अष्टमभक्तिक-त्रि० । दिनत्रयमनाहारिणि, ज०
३ वक्त० ।

अष्टमयमहण-अष्टमदमथन-त्रि० । अष्टमद्रस्थाननाशके, प्रश्न०
५ सम्ब० द्वा० ।

अष्टमहापामिहेर-अष्टमहाप्रातिहार्य-न० । अर्हतां प्रजौपयिके-
षु अशोकवृक्षादिषु, “ अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-दिव्यध्वनि-
श्रामरमासनं च । जामरुद्व दुन्दुभिरातपत्र, सत्प्रातिहार्याणि
जिनेश्वराणाम् ” ॥१॥ न० ।

अष्टमिपोसहिय-अष्टमीपौषधिक-त्रि० । अष्टम्याः पौषध उप-
वासादिकोऽष्टमीपौषधः, स विद्यते येषां तेऽष्टमीपौषधिकाः ।
अष्टम्याः पौषधव्रते क्रियमाणेषूत्तमेषु, आचा० ३ शु० १
अ० २ उ० ।

अष्टमी-अष्टमी-स्त्री० । अष्टानां पूरणी पोरुशकलात्मकचन्द्र-
स्याष्टमकला । क्रियारूपाया स्वनामख्याताया तिथौ, वाच० ।
“ चाउहसि पञ्जरसि, वज्जेज्जा अष्टमिं च णवमिं च । उट्ठिं च
चउत्थिं वा-रसि च सेसासु देजाहि ॥१॥ ” विशेषः । बृद्धवैयाकरण-
समते विभक्तिभेदे, “ अष्टमी आमनणी भवे ” अष्टमी सवुद्धि-
रामन्त्रणी भवेत्, आमन्त्रणार्थं विधीयत इत्यर्थः । अनु० । “ अष्टम्या-
मन्त्रणी भवेत् ” इति । सु औ जसिति प्रथमाऽपीय विभक्तिरामन्त्र-
णवृत्तस्यार्थस्य कर्मकरणादिनत्वं विद्वार्थमात्रातिरिक्तस्य प्रति-
पादकत्वेनाष्टमुक्ता । स्या० ८ उ० । “ आमन्त्रणे भावे अष्टमी उजहा
हे जुवाण ! चि ” आमन्त्रणे भावे अष्टमी तु यथा-हे युवजिति, वृ-

खवैयाकरणदर्शनेन चेत्यमष्टमी गण्यते, पेदयुगानां त्वसौ प्र-
थमेवेति मन्तव्यमिति । अनु० । अष्टसख्यापुरण्यां च, अष्ट-क ।
अष्टं सघातं ध्याति वा माति, मा-क, गौरा०-डीष् । कोटासता-
याम्, वाच० ।

अट्टमुत्ति-अष्टमूर्ति-पु० । अष्टौ नूत्यादयो मूर्त्तयोऽस्य । शिवे,
“ कितिजलपवनहुताशन—यजमानाऽऽकाशचन्द्रसूर्याख्याः ।
इति मूर्त्तयो महेश्वर-सम्बन्धिन्यो जवन्त्यष्टौ ” ॥१॥ स्था० ६ डा० ।
अट्टरससंपञ्च-अष्टरससंपञ्च-त्रि० । ३ त० । अष्टभिः शृङ्गा-
रादिभि रसैः सम्यक् प्रकर्षेण युक्ते, जी० ३ प्रति० ।

अट्टविह—अष्टविध—त्रि० । अष्ट विधाः प्रकारा यस्य । अष्ट-
प्रकारे, भ० १५ श० १ उ० । ध० । पञ्चा० । “ अष्टविहकम्मत्त-
मपडवपकिच्छे ” अष्टविधकर्मैव तम-पडवमन्धकारसमूहस्तेन
प्रत्यवच्छिन्नानि तथा ” विशेष० ।

अट्टसङ्ख्या-अर्थशतिका-त्रि० । अर्थशतानि यासु सन्ति ता
अर्थशतिकाः । अथवा-अर्थानामिष्टकार्याणां शतानि याभ्यस्ता
अर्थशतास्ता एवार्थशतिकाः । स्वार्थे कप्रत्ययः । अर्थशतोत्पा-
दिकासु वागादिषु, “ अपुणरुत्ताहिं अष्टसङ्ख्याहिं वम्पूहिं अण-
वरय अजिणंदाय य ” ज० २ वक्ता० । भ० ।

अट्टसंघाम-अष्टसङ्घाट-पु० । क० स० । अष्टसु प्रायश्चित्तवता-
सु, ‘ संघामो चि वा लयसि वा पगारो चि वा पगट्ट ’ इति
वचनात् । वृ० १ उ० ।

अट्टसय-अष्टशत-न० । अष्टाजितरधिक शतम् । अष्टोत्तरशते,
स्था० १० डा० ।

अट्टसयसिद्ध-अष्टशतसिद्ध-पु० । अष्टशत च ते सिद्धाश्च नि-
र्वृत्ता अष्टशतसिद्धाः । एकस्मिन् समये ऋषजस्वामिना सह
निर्वृत्तिं गतेष्वष्टोत्तरशतेषु सिद्धेषु । इदञ्चाऽनन्तकालजातमिति
नवममाश्चर्यमुच्यत इति । स्था० १० डा० । कटप० । अत्र गुण-
विजयगणिना कृतस्य प्रश्नस्य हीरविजयस्त्रिदत्तमुरत्तम । ऋष-
जस्वामी अष्टाप्रशतेनैकस्मिन्नेव समये सिद्धः । इदं चाश्चर्यं-तत्र
बाहुबल्याद्यायुराश्रिता का गतिः ? इदं च तत्प्रतिपादकग्रन्था-
नामप्रसाधनपूर्वं निर्णयकारि प्रसाध्यमिति ॥ ५ ॥ उत्तरम्-अत्र
'अट्टसयसिद्धा' अस्मिन्नेवाश्चर्यं बाहुबलेरायुषांऽप्यधर्त्तनमन्तर्भ-
वति । यथा-हरिवसकुमुपत्ति' ति, आश्चर्यं हरिवर्षकेऽानीतस्य
युगक्षस्यायुरपवर्तन शरीरव्युत्करणं नरकगमनादि चान्तर्भव-
तीति ॥ ५ ॥ ही० ।

अट्टसहस्र-अष्टसहस्र-न० । अष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्येषु, “ वरराम-
यवत्थणिउणजोइयअट्टसहस्रवरकचण सलणिम्मिण्ण ” औ० ।

अट्टसामङ्ग-अष्टसामयिक-त्रि० । अष्टौ समया यस्मिन्सोऽष्टसम-
यः, स एवाष्टसामयिकः । समयाष्टकोद्भवत्, स्था० ८ डा० ।
“ केवलिसमुग्घाए अट्टसामङ्गे पणत्ते ” औ० ।

अट्टसेण-अष्टसेन-पु० । वत्सगोत्रजे पुरुषभेदे, तदपत्येषु च ।
स्था० ७ डा० ।

अर्थसेन-पु० । पुरुषविशेषे, स्था० ७ डा० ।

अट्टसोवक्षिय-अष्टसौवर्णिक-त्रि० । षोडशार्कमापात्मकसु-
वर्णमानाष्टकमिने, “ एगमेगस्स णं रत्तो चानरत्तचकवट्टिस्स
अट्टसोवक्षिय काकिणिरयणे ” स्था० ८ डा० ।

अट्टहत्तरी-अष्ट (ष्ट) सप्तति-त्रि० । अष्टात्रिकायां सप्तति-

संख्यायाम्, “ अट्टहत्तरीए सुवणकुमारदीवकुमारावाससय-
सहस्साणं ” स० ।

अट्टा-अष्टा-स्त्री० । प्रववजिबोः स्तोककेशग्रहणे, “ गिएहइ
गुरुवउत्तो, अट्टा से तिभि अट्टिक्का ” । पं० व० १ डा० । मुष्टौ,
“ वउहिं अट्टाहिं लोयं करेइ ” ज० २ वक्ता० ।

आस्था-स्त्री० । आस्थानमात्मा । प्रतिष्ठायाम्, सूत्र० २ शु० १
अ० । आ-स्था-अङ् । आलम्बने, अपेक्षायां, भ्रष्टायां,
स्थितौ, यत्ने, आदरे, सभायाम्, आस्थाने च । वाच० ।

अट्टाण-अस्थान-न० । अनुचिते स्थाने, स्था० ६ डा० । वेद्या-
पाटकादौ कुस्थाने, व्य० २ उ० । प्र० । अयुक्ते, “ अट्टाण-
मेय कुसला वयंति, दणेण जे सिद्धिसुदाहरति ” सूत्र० १ शु०
७ अ० ।

अट्टाणद्ववणा-अस्थानस्थापना-स्त्री० । गुर्ववग्रहादिके अस्था-
ने प्रत्युपेक्षितोपधेः स्थापनं निक्षेपोऽस्थानस्थापना । प्रमाद-
प्रत्युपेक्षणभेदे, स्था० ७ डा० ।

अट्टाणमंभव-अस्थानमादप-पु० । उपस्थानगृहे, स्था० ५ डा०
१ उ० ।

अट्टाणिय-अस्थान (नि) क-न० । अभाजने, अनाधारे,
“ अट्टाणिय होइ बह गुणाण, जेएणाण सकाइ मुसं वपज्जा ”
सूत्र० १ शु० १३ अ० ।

अट्टादंम-अर्थदण्ड-पुं० । अर्थेन स्वपरोपकारलक्षणेन प्रयोज-
नेन दण्डो हिंसा अर्थदण्डः । स० ए सम० । व्रतानां
स्थावराणां वाऽऽत्मनः परस्य धोपकाराय हिंसायाम्, स्था० ५
डा० २ उ० ।

अट्टादंमवत्तिय-अर्थदण्डप्रत्यय-पुं० न० । आत्मार्थाय स्वप्रयो-
जनकृते दण्डोऽर्थदण्डः पापोपादानम्, तत्प्रत्ययः । प्रथमे क्रिया-
स्थाने, सूत्र० । तत्स्वरूपं च—

पहमे दंमसमादाणे अट्टादंमवत्तिए ति आहिज्जइ, से जहा
णामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाहेउं वा आगारेउं
वा परिवारेउं वा भित्तेउं वा णागहेउं वा जूतहेउं वा
जक्खहेउं वा तं दंमं तमथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसि-
रिति, अणेण वि णिसिरावेति, अणेण वि णिसिरितं सम-
एजाणइ, एवं खलु तस्स तत्पत्तियं सावज्जति, आहिज्जइ, प-
हमे दंमसमादाणे अट्टा अट्टादंडवत्तिए ति आहिज्जइ ॥ ५ ॥

यत्प्रथममुपात्त दण्डसमादानमर्थाय दण्डमित्येवमाख्यायते,
तस्यायमर्थः—तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः, पुरुषग्रहणमनुक्तो
पलक्षणार्थम् । सर्वोऽपि चातुर्गतिकः प्राण्यात्मनिमित्तमात्मार्यं
तथाऽजिज्ञातिनिमित्तं स्वजनाद्यर्थं तथाऽगारगृह-तन्निमित्तं, तथा
परिवारो दासकर्मकरादिकं परिकरो वा गृहादेभृत्यादिक-
स्तन्निमित्तं, तथा मित्रनागभूतयक्षाद्यर्थं, तथाचतुस्तत्परोपघात-
रूपं दण्डं तस्यस्थावरेषु स्वयमेव निरुजतिं निक्षेपति, दण्ड-
मिव दण्डमुपरि पातयति, प्राण्युपमर्दकारिणीं क्रियां करोती-
त्यर्थः । तथाऽयेनापि कारयत्यपरं दण्डं निरुजति, निरुजन्तं
समनुजानीते । एवं हनकारितानुमतिभिरिव तस्याऽनात्मनस्य
तत्प्रत्ययिकं सावयक्रियोपात्तं कर्माधीयते सयम्यत इति ।
एतत्प्रथमदण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यातामिति ॥ ५ ॥
सूत्र० २ शु० २ अ० । आ० चू० । आव० ।

अष्टायमाण-अतिष्ठत्-त्रि० स्थितिमकुर्वति, " तद्विद्य अष्टाय-
माण गौण " पञ्चा० १६ विव० ।

अष्टार-अष्टादशन्-त्रि० प्राकृतत्वादस्य लोपः । अष्टाधिकेषु दशसु,
" एष सन्ने वि अष्टारा " पञ्चा० ३ विव० ।

अष्टारस-अष्टादशन्-त्रि० । अष्टौ च दश च, अष्टाधिका वा दश
अष्टादशन् । (अष्टारह) सङ्ख्यायां, तत्सङ्ख्येये च । वाच० । "पठमे
उम्मासे अति अष्टारसमुहत्ताराती" सू० प्र० १ पाद० ।

अष्टारसकर्मकारण-अष्टादशकर्मकारण-न० । अष्टादशबौ-
रप्रसूतिहेतौ, प्रभ० ३ आश्र० द्वा० ।

अष्टारसहाण-अष्टादशस्थान-न० । क० स० । प्रतिषेधनीयेषु
अष्टादशसु स्थानेषु, दश० ।

इह खलु भो पञ्चदशत्वं उप्पसदुक्खेणं संजमे अरइसमा-
वसाचिनेणं ओहाणुपेहिणा अणोहाइएणं चैव हरस्सि-
गयंकुसपोयपमागाभूआई इमाइं अष्टारमठाणाइं सम्मं
संपमिहेहिअन्वाइं हवंति । तं जहा-इंजो दुस्समाइं दु-
प्पजीवी । १ ।

इह खलु भोः प्रवर्जितेन, इहेति जिनप्रवचने, समुशब्दोऽव-
धारणे । स च भिन्नक्रम इति दर्शयिष्यामः । भो इत्यामन्त्रणे ।
प्रवर्जितेन साधुना, किंविशिष्टेनेत्याह-उत्पन्नदुःखेन सजात-
शीतादिशरीरस्त्रीनिषद्यादिमानसदुःखेन, सयमे व्यावर्णितस्व-
रूपे, अरतिसमापन्नचित्तेनोद्वेगगताभिप्रायेण, संयेमनिर्विषमा-
वेनेत्यर्थः । स एव विशेष्यते-अवधावनोत्प्रेक्षणा-अवधावनम
पसरण, सयमादुत्प्राबल्येन प्रेक्षितु शीलं यस्य स तथाविधस्तेन,
उत्प्रमज्जितुकामेनेति भावः । अनवधावितेनैवानुत्प्रमज्जितेनैव, अ-
मूनि वक्ष्यमाणसङ्क्रान्त्यादशस्थानानि, सम्यग्ज्ञावसार संप्रत्यु-
पेक्षितव्यानि सुप्रसाधोचनीयानि, नवन्तीति योग । अवधावितस्य
तु प्रत्युपेक्षणं प्रायोऽनर्थकमिति । तान्येव विशेष्यन्ते-हरइसम-
जाकुणपोतपताकामूतानि अश्वस्वहीनगजाहुशबोहित्यसितपट-
तुल्यानि । एतदुक्तं भवति-यथा हयादीनामुन्मार्गप्रवृत्तिकामा-
नां रश्म्यादयो नियमनहेतवस्तथैतान्यपि सयमादुन्मार्गप्रवृ-
त्तिकामानां भावसत्त्वानामिति । यतश्चैवमतः सम्यक् संप्रत्युपे-
क्षितव्यानि भवन्ति । समुशब्दावधारणयोगात् सम्यगेव संप्र-
त्युपेक्षितव्यान्वेत्यर्थः । (तं जहेत्यादि) तद्यथेत्युपन्यासार्थः ।
इभो दुःखमायां दुष्पज्जीविन इति, ' इजो ' शिष्यामन्त्रणे ।
दुःखमायामधमकासाख्यायां कालदोषादेव दुःखेन कृच्छ्रेण
प्रकर्षणोदारजोगापेक्षया जीवितु शीलं येषां ते, दुष्पज्जीविनः
प्राणिन इति गम्यते, नरेन्द्रादीनामप्यनेकदुःखप्रयोगदर्श-
नात् । अष्टारमोहरहितेन च विरुम्बनाप्रायेण कुगतिहेतुना किं
गृहाभ्रमेणेति, संप्रत्युपेक्षितव्यमिति प्रथमं स्थानम् । १ ।

सहसगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा । २ । जुजो अ
सायबहुसा मणुस्सा । ३ । इमे अ मे दुक्खे न चिरका-
लोवडाई भविस्सई । ४ । ओमजणपुरकारे । ५ । तं-
तस्स य परिपायणं । ६ । अहरगइवसोवसंपया । ७ ।
दुल्लहे खलु भो गिहीणं धम्मे गिहिपासमज्जे वसंताणं
। ८ । आयके से वहाय हांइ । ९ । संकप्पे से वहाय
होइ । १० । सोवक्केसे गिहवासे । ११ । निरुवक्केसे परिआए

। १२ । बंधे गिहवासे । १३ । मुक्के परिआए । १४ । सावज्जे
गिहवासे । १५ । अणवज्जे परिआए । १६ । बहुसाहार-
णा गिहीणं कामभोगा । १७ । पत्तेअं पुक्कपावं । १८ । अ-
णिक्खे खलु भो मणुस्साणं जीविणं कुसग्गजलबिदुचंचझे,
बहुं च खलु भो पावं कम्मं पगदं, पावाणं च खलु जो
कमाणं कम्माणं पुण्विं दुक्खिमाणं दुप्पमिकंताणं वेइत्ता,
मुक्खो नत्थि अवेइत्ता, तवसा वा जोसइत्ता अष्टारसमं पयं
जवइ । भवइ अ इत्थं सिद्धो गो-

तथा-अथ इत्थरा गृहिणां कामभोगाः, दुःखमायामिति वर्त-
ते । सन्तोऽपि सधवस्तुच्छा । प्रकृत्यैव तुषमुष्टिवदसाराः, इत्व-
रा अल्पकासाः । गृहिणां गृहस्थानां कामभोगा मदनकामप्रधानाः
शब्दादयो विषयाः विपाककटवश्च न देवानामिव विपरीताः
अतः किं गृहाभ्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति द्वितीयं स्था-
नम् । २ । तथा-नूयश्च स्वातिबहुला मनुष्याः, दुःखमायामिति
वर्तते एव । पुनश्च स्वातिबहुला मायाप्रचुराः, मनुष्या इति
प्राणिनः, न कदाचिद्विभ्रमभैतवोऽमी, तद्ग्रहितानां च कीदृश
सुखम् ? तथा मायाबन्धहेतुत्वेन च दारुणतरो बन्ध इति किं
गृहाभ्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति तृतीयं स्थानम् । ३ । तथा-
इह च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि न विष्यति, इह चानु-
नूयमान, मम भ्रामण्यमनुपालयतो, दुःखं शरीरमानस कर्म-
फलं परीषदजनित, न चिरकालमुपस्थातु शीलं भविष्यति, भ्रा-
मण्यपाप्मनेन परीषदनिराकृतेः, कर्मनिर्जेरणात्सयमराज्यप्राप्तेः,
इतरथा महानरकादौ विपर्ययः, अतः किं गृहाभ्रमेणेति ? संप्र-
त्युपेक्षितव्यमिति चतुर्थं स्थानम् । ४ । तथा-(ओमजणं सि)
न्यूनजनपूजा, प्रवर्जितो हि धर्मप्रभावाद्राजामात्यादिभिरन्यु-
त्थानासनाञ्जलिप्रदहादिभिः पूज्यते । उत्प्रवर्जितेन तु न्यूनजनस्या-
पि स्वव्यसनगुप्तयेऽभ्युत्थानादि कार्यम्, अधार्मिकराजविषये वा
वेष्टिप्रयोक्तुं स्वरकर्मणो नियम्यत एव, इहैवेदमधर्मफलमतः किं
गृहाभ्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति पञ्चमं स्थानम् । ५ । एव सर्वत्र
क्रिया योजनीया । तथा वान्तस्य प्रत्यापानम्, भुक्तोज्जितपरिभोग
इत्यर्थः । अयं च भवगृगासादिदुःखसत्त्वाचरितः सतां निन्द्यो व्या-
धिदुःखजनकः । वान्ताश्च भोगाः, प्रवर्ज्याङ्गीकरणेनैतत् प्रत्या-
पानमप्येव चिन्तनीयमिति षष्ठं स्थानम् । ६ । तथाऽहरगतिवासो-
पसपत्, अधोगतिर्निरकतिर्यथातिस्तस्यां वसनमधोगतिवासा,
एतन्निमित्तभूतं कर्म गृह्यते, तस्योपसपत्सामीप्येनाङ्गीकरण
यदेतदुत्प्रमजनमेव चिन्तनीयमिति सप्तमं स्थानम् । ७ ।
तथा दुर्लभः खलु भोः गृहिणां धर्म इति प्रमादबहुलत्वाद्
दुर्लभ एव, ' भो ' इत्यामन्त्रणे । गृहस्थानां परमनिर्वृतिजन-
को धर्मः । किंविशिष्टानामित्याह- गृहपाशमध्ये वसतामि-
त्यत्र गृहपाशशब्देन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते, तन्म-
ध्ये वसतामनादिसमाभ्यासादकारणं केहबन्धनमेतच्चिन्तनी-
यमित्यष्टमं स्थानम् । ८ । तथाऽऽतङ्कस्तस्य वधाय भवति;
आतङ्कः सद्योघाती विस्फुटिकादिभिरोगः, तस्य गृहिणो धर्म-
बन्धुरहितस्य, वधाय विनाशाय भवति । तथा वधश्चानेक-
वधहेतुरेव चिन्तनीयमिति नवमं स्थानम् । ९ । तथा सक-
ल्पस्तस्य वधाय भवति; सकल्प इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो
मानस आतङ्कः, तस्य गृहिणः, तथाचेष्टायोगाद् मिथ्या-
विकल्पाभ्यासेन ब्रह्मादिप्राप्तेर्वधाय भवत्येतच्चिन्तनीयमिति

दशमं स्थानम् । १० । तथा-सोपक्लेशो गृहवास इति; सहो-
पक्लेशैः सोपक्लेशो गृहवासो गृहाभ्रमः । उपक्लेशः-कृषि-
पाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगताः परिडतजनगर्हिताः शी-
तोष्णभ्रमादयो घृतलवणचिन्तादयश्चेत्येषं चिन्तनीयमि-
त्येकादश स्थानम् । ११ । तथा-निरूपक्लेशः पर्याय इति; परमि-
रेषोपक्लेशैः रहितः प्रमज्यापर्यायोऽनारम्भी कुचिन्तापरिव-
र्जितः श्लाघनीयो विदुषामित्येष चिन्तनीयमिति द्वादश स्था-
नम् । १२ । तथा-बन्धो गृहवासः, सदा तद्धेतुनुष्ठानात्
कोशकारकीटवदित्येतच्चिन्तनीयमिति त्रयोदश स्थानम् । १३ ।
तथा-मोक्षः पर्यायोऽनवरतकर्मनिगडविगमनाद् मुक्तवदित्येषं
चिन्तनीयमिति चतुर्दश स्थानम् । १४ । अत एव सावद्यो
गृहवास इति; सावद्यः सपापः, प्रणातिपातमृषावादादिप्रवृ-
त्तेरितच्चिन्तनीयमिति पञ्चदश स्थानम् । १५ । एवमनवद्यः पर्याय
इति; अपाप इत्यर्थः; अहिंसादिपालनात्मकत्वादेतच्चिन्तनीयमिति
षोडश स्थानम् । १६ । तथा-बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा इति;
बहुसाधारणाश्चौरजारराजकुलादिसामान्याः, गृहिणां गृहस्था-
नां, कामभोगाः पूर्ववदित्येतच्चिन्तनीयमिति सप्तदश स्थानम्
। १७ । तथा प्रत्येकं पुण्यपापमिति; मातापितृकलत्रादिनिमित्त-
मन्यनुष्ठित पुण्यपापं प्रत्येकं पृथग् २, येनानुष्ठित तस्य कर्तुरेव
तदिति भावार्थः; एवमष्टादश स्थानम् । १८ । एतदन्तर्गतो वृक्षा-
भिप्रायेण शेषग्रन्थः समस्तोऽत्रैव ॥ अन्ये तु व्याचक्षते-सोपक्ले-
शो गृहवास इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानत्रयं
गृह्यते । एवं च बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा इति चतु-
र्दश स्थानम् । प्रत्येकं पुण्यपापमिति पञ्चदश स्थानम् । शेषा-
ण्यभिधीयन्ते-तथाऽनित्यं स्वस्वनित्यमेव नियमतः, 'मो'
इत्यामन्त्रणे, मनुष्याणां पुंसां, जीवितमायुः । एतदेव विशेष्यते-
कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलं सोपक्रमत्वाद्नेकोपलवविषयत्वादित्य-
न्तासारम्, तदलं गृहाभ्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति षोडश
स्थानम् । तथा-बहु च अहु भोः पापं कर्म प्रकृतं; बहु चेत्यत्र चश-
ब्दात् विग्रहं, 'अहु' शब्दोऽवधारणे, बह्वेव, पाप कर्म चारित्र-
मोदनीयादि, प्रकृतं निर्वर्तितं, मयेति गम्यते । आमप्यप्राप्तावप्ये-
वं कुक्षुबुद्धिप्रवृत्तेः, नहि प्रवृत्तचित्तकर्मरहितानामेवमकुशला
बुद्धिर्मवति, अतो न किंचिद् गृहाभ्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति
सप्तदश स्थानम् । तथा-पापानां चेत्यादि; पापानां चापुण्यरूपा-
णां चशब्दत्पुण्यरूपाणां च, अहु भोः कृतानां कर्मणाम्, अहुश-
ब्दः कारितानुमनविशेषणार्थः, 'जो' इति शिष्यामन्त्रणे, कृतानां
मनोवाक्यययोगैरोद्यतो निर्धारितानां कर्मणां ज्ञानावरणीया-
द्यसातवेदनीयादीनां, प्राक् पूर्वम्, अन्यजन्मसु दुष्कारितानां प्रमाद-
कषायजदुष्करितजनितानि दुश्चरितानि, कारणकार्योपचारात् ।
दुश्चरितहेतूनि वा दुश्चरितानि, कार्ये कारणोपचारात् । एव
दुष्पराक्रान्तानां मिथ्यादर्शनाधिरतिजदुष्पराक्रान्तजनितानि
दुष्पराक्रान्तानि, हेतौ फलोपचारात् । दुष्पराक्रान्तहेतूनि वा
दुष्पराक्रान्तानि, फले हेतूपचारात् । इह च दुश्चरितानि-मद्य-
पानाभ्रान्तज्जाषणादीनि, दुष्पराक्रान्तानि-वधबन्धनादीनि ।
तदमीषाभ्रमंभूतानां कर्मणां वेदयित्वाऽनुत्तय, फलमिति वाक्य-
शेषः । किं मोक्षो भवति, प्रधानपुरुषार्थो भवति ? नास्त्यवेद्यि-
त्वा न जवत्यननुभूय, अनेन सकर्मकमोक्षव्यवच्छेदमाह । इष्यते
च स्वल्पकर्मोपेतानां कैश्चित् सहकारिनिरोधस्तत्फला-
दानवादिभिः, तत्तद् विनास्त्यवेदयित्वा मोक्षस्तथाकृपन्वात्मक-
मणः स्वज्ञाने कर्मत्वायोगात्, तपसा वा कृपयित्वा, अनश-

मप्रायश्चित्तादिना वा विशिष्टकायोपशमिकश्चमभावरूपेण त-
पसा प्रसन्नं नीत्वा, इह च वेदनमुद्यमप्राप्तस्य व्याधेरिवानारब्धो-
पक्रमस्य क्रमशोऽनन्यनिबन्धनपरिहृतेन, तपःकृपणं तु सम्य-
गुपक्रमेणानुदीर्णोदीरणदोषकृपणवदन्यनिमित्तम्, अक्रमेणप
रिहृशमित्यतस्तपोनुष्ठानमेव भ्रम इति, न किंचिद् गृहाभ्रमेणेति
संप्रत्युपेक्षितव्यमित्यष्टादश पदं प्रवर्तते-अष्टादश स्थानं प्रवर्तते ।
प्रवर्तते चात्र श्लोकः, अत्रेत्यष्टादशस्थानार्थव्यातिकरं उक्तानु-
कार्यसमग्रपर इत्यर्थः । श्लोक इति च जातिपरो निर्देशः । ततः
श्लोकजातिरनेकभेदा भवतीति प्रवृत्तश्लोकोपन्यासेऽपि न
विरोधः ।

जया य चयं धम्मं, अणज्जो जोगकरणा ।

से तत्थ मुच्छिणं बाहे, आयं नानुज्जणं ॥ १ ॥

यदा धैर्यमप्यष्टादशसु व्यावर्त्तनकारणेषु सत्यपि त्यजति
जहाति, धर्मं चारित्र्यकृणम, अनार्थ इत्यनार्थ इवानार्थो म्लेच्छ-
चेष्टितः । किमर्थमित्याह-भोगकारणात् शब्दादिभोगनिमित्तं सद्
धर्मत्यागी, तत्र तेषु भोगेषु, मूर्च्छितो गृहो, बालोऽङ्गः, आयति-
मागामिकालं, नावबुद्धते न सम्यगवगच्छतीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥
एतदेव दर्शयति—

जया ओहानिओ होई, इंदो वा पमिओ ठमं ।

सन्वधम्मपरिज्जणो, स पच्छा परितप्पइ ॥ २ ॥

यदा चावधाधितोऽपस्तुतो भवति संयमसुखविच्युतेः, उत्पन्नजित
इत्यर्थः । इन्द्रो वेति देवराज इव, पतितः इमां गतः, स्वविभवं
ज्जेशेन भूमौ पतित इति भावः । इमा भूमिः । सर्वधर्मपरिज्जणः
सर्वधर्मेभ्यः कान्त्यादिभ्यः आसेधितेभ्योऽपि यावत् प्रतिहाम-
ननुपालनात्, शौकिकेभ्योऽपि वा गौरवादिभ्यः, परिज्जणं सर्वतः
च्युतः, स पतितो ज्ञत्वा पश्चात्तन्मात्रं मोहावसाने, परितप्यते, कि-
मिदमकार्यं मयाऽनुष्ठितमित्यनुतापं करोतीति सूत्रार्थः । इहो १
चूळिओ (अत्रेतनमाथा नृ० जा० १३२५पृष्ठे 'ओहावण' शब्दे विन्यस्ता)
समणेणं जगवया महावीरेणं समणाणं निमंथाणं स-
क्खुइय वियत्ताणं अट्टारसट्टाणा पणत्ता । तं जहा—“वय-
च्छकं कायच्छकं, अकप्पो गिहिजायणं । पलियं कनिसेज्जा य,
सिणाणं सोभवज्जणं” ॥ १ ॥ स० १८ सम० ।

(अतपदकादीनि विस्तरतोऽन्यत्र स्वस्वस्थाने लिखितानि) एषु
अतपदकं, शोभावर्जनं चेति विधेयं, शेषं प्रतिषेधनीयम् । व्य०-
१० उ० ।

अट्टारसहिं ठाणेहिं जो होति अपतिट्ठितो नल्लमत्थो
तारिसो होइ ववहारं ववहरित्थे । अट्टारसहिं ठाणेहिं जो
होति पतिट्ठितो अल्लमत्थो तारिसो होइ ववहारं ववहरित्थे ।
“व्य० १० उ० । (इति व्यवहारिलक्षण 'ववहार' शब्दे
वक्ष्यते)

अट्टारसपावट्टाण—अष्टादशपापस्थान (क)—न० । पापहेतूनि
स्थानकानि पापस्थानकानि, अष्टादश च तानि स्थानकानि ।
प्रणातिपातादिषु अष्टादशसु पापोपादानहेतुषु स्थानेषु, प्रव० ।

सच्चं पाणाइवायं, अलियमदत्तं च मेहुणं सच्चं ।
सच्चं परिगहं तह, राईजचं च बोसिरिमो ॥ १ ॥
सच्चं कोहं माणं, मायं लौजं च रागदोसे य ।

कलहं अन्नकखाणं पेसुभं परपरीवायं ॥ ५ ॥

भाया-मोसं मिच्छा-दंसणसद्धं तदेव वोसिरिमो ।

अंतिमऊसासम्मि य, देहं पि जिणाइपच्चक्खं ॥ ३ ॥

सर्वे सप्रनेदं प्राणातिपात, तथा-सर्वमल्लिक मृषावादं, तथा-सर्वमदसमदत्तादानं, तथा-सर्वं मैथुनं, तथा-सर्वं परिग्रह, तथा-सर्वं रात्रिभक्त रजनिभोजन, व्युत्सृजामः परिहरामः । तथा-सर्वं क्रोधं, मान, मायां, लोभं च, रागद्वेषौ च, तथा-कण्ड, अभ्याख्यानं, पैशुन्य, परपरिवाद, मायां, मृषा, मिथ्यादर्शनशल्यं च, तथैव संप्रतिहं व्युत्सृजामः । एतान्यष्टादशपापहेतूनि स्थानकानि पापस्थानकानि, न केषम-मेतान्येव किन्तु अन्तिमे उच्छ्रासे, परलोकगमनसमय इत्यर्थः, हेहमपि निजशरीरमपि, व्युत्सृजामः, तत्रापि ममत्वमोचनाद् जिनादिप्रत्यक्ष तीर्थंकरासिक्तानां समकमिति । प्रव० २३७८१० ।

अष्टारसवज्जणाल-अष्टादशव्यञ्जनाकुल-त्रि० । अष्टादश-भिलोकप्रतांतेर्व्यञ्जनैः शालनतक्रादिभिराकुलं सङ्कीर्णं यत्त-तथा । अथवा अष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलम्, शाकपा-र्थिवाददर्शनाद्देशान्श्लोपः । सुपाद्यष्टादशव्यञ्जनसङ्कीर्णं, च० प्र० । अष्टादश च भेदा इमे-“सूत्रो १ दणो २ अवष्ट, ३ ति-ष्ठि य मंसाह ६ गोरसो ७ जूनी ८ । भक्षणा ९ गुललावणिया, १० मूलफला ११ हरियग १२ डागो १३ ॥ १ ॥ होइ रसाल य १४ तहा, पाण १५ पाणीय १६ पाणनं चैव १७ । अष्टारसमो सागो १८, गिरुवहओ लोइओ पिंडो ” ॥ २ ॥ च० प्र० २० पाहु० । स्या० । म० ।

अष्टारसविहिप्पयारदेसीभासाविसारय-अष्टादशविधिप्रका-रदेशीजापाविशारद-पुं० स्त्री० । अष्टादशविधिप्रकाराः, अष्टा-दशभिर्वा विधिभिर्भेदैः प्रचारः प्रवृत्तिर्यस्याः सा तथा, तस्यां देशीभापायां देशभेदेन वर्णावलीरूपायां विशारद परिणतो य स तथा । अष्टादशधाभिन्नदेशीभापापरिणते, “अष्टार-सविहिप्पयारदेसीभासाविसारय गीयरदगंधवणपट्टकुसले हयजोही ” का० १ भु० १ अ० ।

अष्टारससीलिंगमहस्र-अष्टादशशीलाङ्गसहस्र-न० । शी-लभेदानामष्टादशसहस्रेषु, पञ्चा० ।

तानि चैवम्-

नमिक्कण वृद्धमाणं, सीलिंगाई समासओ वोच्छं ।

समणाय सुविहियाणं, गुरुवणमाणसारेण ॥ १॥

नत्वा प्रणम्य, वर्द्धमान महावीर, शीलाङ्गानि चारित्रांशरू-पाणि, तत्कारणानि वा, समासतश्चक्षेपेण, वक्ष्ये भणिष्यामि । केषां सबन्धीनि इत्याह-भ्रमणानां यतीनां, सुविहितानां सबन्-धानानां, गुरुपदेशानुसारेण जिनाविषयानुवृत्त्येति गा-थार्थः ॥ १ ॥

शीलाङ्गानां तावत्परिमाणमाह-

सीलिंगाण सहस्रा, अष्टारस एत्थ होंति णियमेणं ।

जावेणं समणायं, अखंकरिचजुत्ताणं ॥ ५ ॥

शीलाङ्गानां चारित्रांशानां, सहस्राण्यष्टादश, अत्र-भ्रमणधर्मे, प्रवृत्ते वा, भवन्ति स्युः । नियमेनावश्यतया, न न्यूनान्यधिकानि श्रेति भावः । कथमित्याह-भावेन परिणामेन, बहिर्वृत्त्या तु कल्प-प्रतिसेवया न्यूनान्यपि स्युर्गति भावः । केषामित्याह-भ्रमणा-नां यतीनां न तु आक्षेपाणां, सर्वविरतानां चैव तेषामुक्तसख्या-

वतां सज्जवात् । अथवा भावेन भ्रमणानां न तु अन्यभ्रमणानाम्, तेषामपि किंविधानमित्याह-असंख्यकारिचयुक्तानां सकलचर-णोपेतानां, न तु धर्मप्रतिसेवया स्थापितचरणांशानाम् । नन्वसंख्य-चरणा एव सर्वविरता भवन्ति, तन्मन्त्रेण सर्वविरतत्वप्रसगा-त्, तथा 'पनिवज्जइ अइकमइ पव' इत्यागमप्रामाण्यात् सर्व-विरतः पञ्चापि महाप्रणानि प्रतिपद्यतेऽतिक्लामति च पञ्चा-प्येव, नैककादिकमिति कथं सर्वविरतदेशसंख्येयमिति? । अत्रो-च्यते-सत्यमेतत्, किं तु प्रतिपत्त्यपेक्षां सर्वविरतत्व, परिपाल-नापेक्षया त्वन्यथापि सज्जजनकपायोदयात्स्यात् । अत एवोक्तम्-“सज्जे वि य अइयारा, सज्जलणाण उदयओ होंति” इति । अ-तिचारा हि चरणदेशसंख्येयमप्येति । तथैकवृत्तातिक्रमे सर्वा-तिक्रम इति यदुक्तं, तदपि वैयक्तिकम् । विषयका चैवम्-“वेयस्म जाव दाण, ताव अइकमइ चैव एग पि । एगं अइकमतो, अइकक-मे पवमूखेण” ॥ १॥ एवमेव हि दशविधप्रायश्चित्तविधानं सफल स्यात् । अन्यथा मूलाद्येव, तस्माद्यवहारनयतश्चातिचारसंज्ञ, निश्चयतस्तु सर्वविरतितया प्रकृत्येव प्रसंगेनेति गार्थार्थः । २।

कथं पुनरेकविधस्य शीलस्याङ्गानामष्टादशसहस्राणि

भवन्तीत्याह-

जोए करणे सप्पा-इदियज्जमादि समणधम्मे य ।

सीलिंगमहस्राणं, अष्टारमगस्र णिप्पत्ती ॥ ३ ॥

योगे व्यापारे विषयभूते, करणे योगस्यैव साधकतमे, सङ्गादी-नि चत्वारि पदानि द्वन्द्वैकत्ववन्ति । तत्र सङ्गासु चेतनाविशेष-रूपासु, इन्द्रियेष्वङ्गेषु, चूम्यादिषु पृथिव्यादिजीवकायेष्वजीव-काये च, भ्रमणधर्मे च क्लान्त्यादौ, शीलाङ्गसहस्राणां प्रस्तुतानाम्, अष्टादशपरिमाणमस्य वृन्दस्येत्यष्टादशकं, तस्य, निष्पत्तिः सि-द्धिर्भवतीति गार्थार्थः ॥ ३ ॥

योगादीनेव व्याख्यातुमाह-

करणादि तिष्ठि जोगा, मणमादीणि उ हवंति करणाई ।

आहारादी सप्पा, चउ सप्पा ईदिया पंच ॥ ४ ॥

भोमादी एव जीवा, अजीवकाओ य समणधम्मो उ ।

खंवादि दसपगारो, एवं ठेए जावणा एता ॥ ५ ॥

(करणादि ति) सूत्रत्वात्करणादयः, करणकारणानुमतयस्त्वयो योगा भवन्ति । तथा मन आदीनि तु मनोवचनकायरूपाणि, पुन-र्भवन्ति स्युः, करणानि त्रीण्येव, तथा आहारादयः आहारम-यमैथुनपरिग्रहविषयाः वेदनीयभयमोहवेदमोहलोभकषायोद-यसंपाद्याध्यवसायविशेषरूपाः सङ्गाः, (चउ ति) चतस्र सङ्गा भव-न्ति । तथा-श्रोत्रादीनि श्रोत्रचक्षुर्ग्राणरसनस्पर्शनानिन्द्रियाणि पञ्च भवन्तीति । तथा-भूम्यादयः पृथिव्यसेजोवायुधनस्पतिद्वित्रिचतुः-पञ्चेन्द्रिया नव जीवा जीवकायाः, अजीवकायस्तु अजीवराशिः पुनर्देशमो यः परिहार्यतयोक्तः । स च महाधनानि वस्त्रपात्राणि धिकटहिरण्यादीनि च, तथा-पुस्तकानि तूलाद्यप्रत्युपेक्षितानि प्राचारादिपुष्पप्रत्युपेक्षितानि, कोरुवादिदुष्टान्यजादिचर्माणि चागमप्रसिक्तानीति । तथा-भ्रमणधर्मस्तु यतिधर्मः । पुनः क्लान्त्या-दिः क्लान्तिमार्दवाजवमुक्तितपःसयमसत्यशौचाकिञ्चन्यप्रसूच-रूपो दशप्रकारो दशविध इति । (एव ति) एवमुक्तन्यायेन, स्थिते औत्तराधर्येण पट्टकादौ व्यवस्थिते, द्वित्रिचतुष्पञ्चदश-सख्येयमूलपदकलाभभावना भङ्गकप्रकाशना, एषा अनन्तरव-द्यमाणलक्षणेति गार्थाद्वयार्थः ॥ ५ ॥

तामेवाह-

ए करति मणेण आहा-रससविपजदगो उ णियमेण ।
सोइदियसंवुडो पु-ढविकायारंज खंतिजुओ ॥ ६ ॥

न करोतीति करणलक्षणं. प्रथमयोग उपात्तः । मनसेति प्रथमकरणम् । (आहारससविपजदगो उ त्ति) आहारसंज्ञाविप्रहीणः । अनेन च प्रथमसंज्ञा । तथा-नियमेनावश्यतया भोत्रेन्द्रियसंवृतो निरुद्धरागादिमत्त्रोत्रेन्द्रियप्रवृत्तिः, अनेन च प्रथमेन्द्रियम् । पञ्चविधः सन् किं करोतीत्याह-पृथिवीकायारंजं पृथ्वीजीवहिंसाम्, अनेन च प्रथमजीवस्थानम् । क्लान्तियुतः क्लान्तिसंपन्नः, अनेन प्रथमभ्रमणधर्मभेद इति । तदेवमेकं शीलाङ्गमाविर्जायितमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

अथ शेषाणि तान्यतिदेशतो दर्शयन्नाह-

इय मद्वादिजोगा, पुढवीकाए जवंति दस जेया ।
आलकायादीसु वि, इय एते पिमियं तु सयं ॥ ७ ॥
सोइदिण एयं, सेसेहि वि जे इमं तओ पंचो ।
आहारससजोगा, इय सेसाहि सहस्रसुगं ॥ ८ ॥
एयं मणेण वइमा-दिणसु एयं ति ठसहस्राइ ।

ण करइ सेसेहि पि य, एए सन्वे वि अट्टारा ॥ ९ ॥

इत्यनेनैव च पूर्वोक्ताभिलापेन, मार्दवादियोगान् मार्दवार्जवादिपदसंयोगेन, पृथिवीकाये पृथिवीकायमाभित्य, पृथिवीकायसमारम्भमित्यभिलापेनेत्यर्थः । भवन्ति स्युः, दश भेदा दश शीलविकल्पाः, अप्कायादिष्वपि नवसु स्थानेषु, अपिशब्दो दशेत्यस्येहसंबन्धनार्थ इति । अनेन क्रमेण एते सर्वेऽपि भेदाः । (पिडियं तु त्ति) प्राकृतत्वात्पिण्डताः पुनः सन्तः, अथवा पिण्डत पिण्डमाभित्य, शत शतसख्या. स्युरिति, भोत्रेन्द्रियेणैतच्छतं लब्धम्, शेषैरपि चक्षुरिन्द्रियादिभिः, यद्यस्मादिदं शतं प्रत्येकं लभ्यते, ततो मीलितानि पञ्चशतानि स्युः । एतानि चाहारसज्ञायोगाङ्गस्थानि इति । एव शेषाभित्तिस्तुभिः पञ्च पञ्चशतानि स्युः, एव च सर्वमीलने सहस्रद्वय स्यादिति । एतत् सहस्रद्वितीयं मनसा लब्धं (वइमाइणसु त्ति) वागाद्योर्विचनकाययोः प्रत्येकमेतत् सहस्रद्वयम्, इति एव, षट्सहस्राणि न करोतीति अत्र करणपदे स्युः । शेषयोरपि च कारणानुमत्योरित्यर्थः । षट् षट् सहस्राणि स्युः । एते अनन्तराकाः, सर्वेऽपि शीलभेदाः पिण्डता सन्तः, (अट्टार त्ति) प्राकृतत्वाद्दृष्टादशसहस्राणि भवन्तीति गाथात्रयार्थः ॥ ६ ॥ नन्वेकयोग एवाष्टादशसहस्राणि स्युर्यदा तु आदिसंयोगजन्या इह लिप्यन्ते तदा बहुतरा स्युः । तथाहि-एकआदिसंयोगेन योगेषु सप्त विकल्पाः, एव करणेषु, संज्ञाषु पञ्चदश, इन्द्रियेष्वेकत्रिंशद्, भौम्यादिषु त्रयोविंशत्यधिकं सहस्रम्, एव क्षमादिष्वपि । श्लेषां च राशीनां परस्पराभ्यासे द्वे कोटिसहस्रे, त्रीणि कोटीशतानि, चतुरशीति-कोटीनामेकपञ्चाशत्सहस्राणि, त्रिषष्टिसहस्राणि, द्वे शते, पञ्चषष्टि-श्चेति [२३८४५१६३२६५], ततः किमष्टादशैव सहस्राण्युक्तानि ? । उच्यते-यदि श्रावकधर्मवदन्यतरमङ्गकेन सर्वविरतिप्रतिपत्तिः स्यात्, तदा युज्येत, तद्भक्तेन तत्रैवमेकतरस्यापि शीलाङ्गकल्पस्य शेषसङ्गाव एव भावात् । अन्यथा सर्वविरतिरेव न स्यादित्येतदेवाह-

एत्थ इम विसेयं, अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहि ।

एकं पि सुपरिसुद्धं, सीलंगं सेससन्भावे ॥ १० ॥

अत्र एषु शीलाङ्गेषु, इदं वक्ष्यमाणं, विसेयं ज्ञातव्यम् । (अइदंपज्जं त्ति) इदं परं प्रधानमभेतीदं परं, तद्भावं पेदंपर्यं तत्त्वमातुशब्दः पुनः शब्दार्थः । तद्भावना चैवम्-शीलाङ्गसहस्राण्यष्टादश भवन्ति । पेदंपर्यं पुनरेष्विदं ज्ञेयं, बुद्धिमंतिर्बुधैः । किं तदित्याह-एकमपि । अपिशब्दाद् बहुन्यपि, सुपरिशुद्धं निरतिचारं, शीलाङ्ग चरणांशः, शेषसङ्गावे तदन्यशीलाङ्गसत्तायामेव, तदेव समुदितान्येवैतानि प्रवर्त्ततीति न आदिसंयोगमङ्गकोपादानमपि तु सर्वपदान्यमङ्गस्येयमष्टादशसहस्रांशतोक्ता । यथा त्रिविधं त्रिविधेनेत्यस्य नवांशतेति । इह च सुपरिशुद्धमिति विशेषस्याष्टावहारनयमतेनापरिशुद्धानि पाप्मनायामन्यतरस्याभावेऽपि स्युरिति दर्शितम् । एवं हि सज्जलनोदयभरितार्थो जवेदिति; चरणैकदेशमङ्गहेतुत्वात् तस्य । अत एव यो मन्यते स्रवणं भक्त्यामीति तेन (मुनिना) मनसा न करोत्याहारसंज्ञाविहीनो रसनेन्द्रियसंवृतः पृथिवीकायसमारम्भमुक्तिसंपन्न इत्येतदेकं तद्भक्कम् । तद्भक्ते च प्रतिक्रमणादिप्रायश्चित्तेन शुक्तिः स्यात्, अन्यथा मूलेनैव स्यादिति गाथार्थः ॥ १० ॥

अनन्तरगाथार्थं समर्थयन्नाह-

एको वाऽप्यपसोऽसंखेयपससंगओ जह तु ।

एतं पि तहा णेयं, सतत्तचाओ इहरहा उ ॥ ११ ॥

एकोऽपि, आस्तामनेकः । आत्मप्रदेशो जीवांशः, असंख्येयप्रदेशसंगत एव संख्यातीतांशसमन्वित एव भवति, तस्य तथास्रज्जावत्वात् । यथा यद्वत्, तुशब्द एवकारार्थः । तत्प्रयोगश्च दर्शित एव । एतदपि शीलाङ्गमपि, तथा तद्वच्छेषशीलाङ्गसमन्वितमेव, ज्ञेयं ज्ञातव्यम्, शेषानपेक्षत्वे तस्य को दोष इत्याह-सतत्त्वेत्यागः सर्वविरतिलक्षणशीलाङ्गहानिः स्यात् । इतरथा तु एवतायां पुनरित्यर्थः । समुदितान्येतानि सर्वविरतिशीलाङ्गतामापद्यन्ते । अन्यथा पुनः सर्वविरतिशीलाङ्गतां त्यजन्तीति ज्ञायनेति गाथार्थः ॥ ११ ॥

इदमेव समर्थयन्नाह-

जम्हा समग्गेयं, वि सन्वसावज्जजोगविरई उ ।

तत्तेणेगसरुवं, ण खंमरूपत्तणमुवेइ ॥ १२ ॥

यस्मात् कारणात्समग्रं परिपूर्णमेव, सदा वैशिकमित्यर्थः । एतदपि शीलं, न केवलमात्मा समग्रः स आत्मा स्यात् । सर्वसावद्योगविरतिः समस्तपापध्यापारनिवृत्तिर्भवति, तत्स्वभावमित्यर्थः । तुशब्द एवकारार्थः । योजितश्च-तथा च-तत्त्वेन सर्वनिवृत्तिरूपत्वेन हेतुना एकस्वरूपमष्टादशसहस्रांशमेव । अन्यथा सर्वविरतित्वायोगाद्, न अणुरूपत्वमेकादशैकव्ययम्, उयैत्युपमातीति । प्रयोगोऽत्र-यद्यपेक्षया स्वतत्त्वं जज्ञेत तत् तन्न्यूनतायां तन्न भवति । यथा-प्रदेशहीन आत्मा, यथा वा शतमेकादशावे, समं ते च सर्वस्वापेक्षया सर्वविरतिः स्वतत्त्वम्, अत एकादशी-साङ्गविकलोऽसौ न प्रवर्त्ततीति गाथार्थः ॥ १२ ॥

उक्तार्थं एव विशेषाभिधानायाह-

एयं च एत्थ एवं, विरतीजावं पकुव दडुव्वं ।

न उ वज्जं पि पविस्सिं, जं सा जावं विणावि भवे ॥ १३ ॥

एतच्छ्व एतत् पुन शीलम्, अत्र शीलाङ्गप्रक्रमे, एवमङ्ग-शङ्करं, विरतिभावं सावद्ययोगविरमणपरिणामं, प्रतीत्याभित्य, द्रष्टव्यं ज्ञेयम् । न तु न पुन, बाह्यमपि कायबाह्यसंबन्धिनी-मपि, अपिशब्दः समुच्चये; प्रवृत्तिं चेष्टाम्; कुत एतदेव-मित्याह-यद् यस्माद्, सा बाह्या प्रतिपत्तिः, भावमध्यवसायं, विनाऽपि अन्तरेणापि । अपिशब्दाङ्गावेन सहापि, भवेत् स्यादिति गाथार्थः ॥ १३ ॥ पञ्चा० १४ विव० । आच० । अ० प० व० । ६० ।

अष्टारसंज्ञे-अष्टादशश्रेणि-स्त्री०। कुम्भकारादिषु अष्टादश-
सु रात्रि प्रजासु, ज०। अष्टादशश्रेण्यश्रेमा- "कुंजार१ पट्टरहा२,
सुवक्षकारा य३ सूचकारा य४। गंधवा ५ कासवगा ६, मा-
लाकारा य७ कञ्जकारा ८ ॥१॥ तंबोलिमा ९ य पय, नवप्प-
यारा य एणमा भणिमा । अह ए नवप्पयारे, कारुणवणे
पवक्खामि ॥ २ ॥ चम्मयर १ अंतपीलग २, गळिअ ३ क्षिप-
य ४ कंसकारा य ५। सीवग ६ गुमार ७ भिहा ८, धीवण ९
वण्णद अट्टदस " ॥३॥ चित्रकारादयस्तु एतेष्वेवान्तर्भवन्ति ।
"तए णं तामो अष्टारसंज्ञेण्यसंज्ञेणो भरहेणं रमा एव बु-
त्ता समाणीमो हट्टामो " जं० ३ वत्त० ।

अष्टारसय-अष्टादशक-त्रि०। अष्टादशवर्षप्रमाणे, "ते धरिसा
होइ णवा, अष्टारसिया उ हरिया होइ" अष्टादशिका अष्टा-
दशवर्षप्रमाणा । व्य० ४ उ० ।

अष्टालोमि (ण)-अर्थालोमिन्-त्रि०। अर्थोऽत्र कुप्यादि-
स्तात्र आ समन्तालोमः अर्थलोमः स विद्यते यस्येति समन्त-
तो धनलुब्धे, "अहोय रामो परियप्पमाखे कालाकालसमुट्ठा-
ई संजोगट्ठी अट्टालोमी " आचा० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

अष्टावय-अष्ट (ष्ट) पञ्चाशन्-स्त्री०। अष्टाधिका पञ्चाशत्
अष्टपञ्चाशत्; अष्ट च पञ्चाशच्च अष्टपञ्चाशदिति या । 'अ
ट्टावन ' इति प्रसिद्धायां सख्यायां, तत्संख्येये च । " पदमदो-
च्चपंचमासु तिसु पुदयीसु अट्टावयं णेरयावाससयसहस्ता "
स० ५८ सम० ।

अष्टावय-अर्थपद-न०। अर्थत इत्यर्थो धनधाम्यहिरण्यपादि-
कः, पद्यते गम्यते येनार्थस्तत्पदं शास्त्रम्, अर्थार्थपदमर्थपद-
म् । आणक्यादिकेऽर्थशास्त्रे, सूत्र० १ भु० ६ अ० ।

अष्टापद-न०। दूतक्रीडाविशेषे, सूत्र० १ भु० ६ अ०। दूतफल-
के, ज २ वक्क०। प्रम०। दाससतिकलासु केयं त्रयोदशी कला ।
ज्ञा० १ भु० १ अ०। स०। दूतसामान्ये, जं० २ वक्क० । नि०
चू०। "अष्टावयण सिक्खिआ" सूत्र० १ भु० ६ अ०। अथवा-अष्टौ
अष्टौ पदानि पञ्चावस्य । वृत्तौ संख्याशब्दस्य धाप्सार्वत्वाङ्गी-
कारः, आत्वम्, अर्द्धादि । शारीफलके, अष्टसु धातुषु पञ्च
प्रतिष्ठा यस्य, स्वर्णैः उपचारात्, स्वर्णमयेऽपि, शरमे, लूनायां च ।
(पु०) तयोरेष्टपदत्वात् । अष्ट यथा स्यात्तथा पद्यते, कुम्भौ-
अष्टसु दिक्षु आपद्यते, कीलके, अष्टाभिः सिद्धिजिरापद्यते । (आ-
पद-अ०। ३ त०) अणिमाद्यष्टसिक्खियुक्तत्वे, कैशसे च । पुं० ।
वाच०। स्वनामख्याते पर्वतविशेषे, यत्र ऋषभदेव सिक् ।
पञ्चा० १ ए विव०। आ० म० प्र०। कल्प० । "अष्टावयमि
सेले, अडदसमसेण सो महरिसीण । दसहिं सहसेहिं समं,
णिष्वाणमणुत्तर पत्तो" ॥ १ ॥ आ० क०। जं०। सथा०। नं०।
(गौतमस्याष्टापदगमनं तत्र तापसप्रमाजलम् 'अज्जवहर' शब्देऽ
त्रैव भागे २१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) आ० क०। म०। आ० म०
हि०। एतस्मादेव चास्य तीर्थत्वम् । तन्माहात्म्यं यथा—

वरधर्मकीर्तिश्रुतजो, विद्यानन्दाश्रितः पवित्रयुतः ।
देवेन्द्रवन्दितो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १ ॥
अष्टपद्मता नवनवति-बाहुबलिप्रभूनयः प्रवरयतयः ।
यस्मिन्नमज्जमूर्तः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २ ॥
अयुजान्निवृत्तिबागः, वियोगभीरव इव प्रजोः समकम् ।
यत्रादिदशसहस्रा, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ३ ॥
यत्राष्ट पुत्रपुत्राः, युगपद् वृषभेण नवनवतिपुत्राः ।

समयैकेन शिवमगु, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ४ ॥

रत्नत्रयमिव मूर्त्तः, स्तूपत्रितय चित्तित्रयस्थाने ।

यत्रास्थापयदिन्द्रः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ५ ॥

सिद्धायतनप्रार्तिमः, सिद्धनिषण्णोति यत्र सुचतुर्का ।

भरतोऽरचयद्येत्यं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ६ ॥

यत्र विराजति चैत्यं, योजनदीर्घं तदर्कपृष्ठमानम् ।

कोशत्रयोन्मथैः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ७ ॥

यत्र भ्रातृप्रतिमा, व्यधाद्यतुर्विशनिर्जिनप्रतिमाः ।

जरतः सात्मप्रतिमाः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ८ ॥

स्वस्याकृतिमिति वर्णाङ्क-वर्णितान् वर्तमानजिनविम्बान् ।

भरतो यणितयानिदः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ९ ॥

सप्रतिमा नवनवति, बन्धुस्तृपास्तथाऽईतस्तूपम् ।

यत्रारचयच्चक्री, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १० ॥

('वसज' शब्दे हि० भा० ११५१ पृष्ठे वक्तव्यताऽस्य वक्ष्यते)

जरतेन मोहसिद्धः, हन्तुमिवाष्टापदः कृताष्टपदः ।

शुश्रुमेऽष्टयोजनो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ११ ॥

यस्मिन्ननेककोट्यो, महर्षयो जरतचक्रवर्त्याद्याः ।

सिद्धिः साधितवन्तः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १२ ॥

('जरत' शब्देऽस्य वक्तव्यता वक्ष्यते)

सगरसुतामे सर्वा-र्यशिवगतीन् भरतराजवशशीन् ।

यत्र सुबुद्धिरकथयत्, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १३ ॥

परिस्त्रासागरमकर-न्त सागरा सागराऽऽहाया यत्र ।

परितो रक्तिकृतये, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १४ ॥

ज्ञातयितुमिव स्वेनो, जैनो यो गङ्गाया धितः परितः ।

संततमुल्लोलकरैः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १५ ॥

('गंगा' शब्दे कथाऽस्य द्रष्टव्या)

यत्र जिनतिशक्तदाना-हमयन्त्याऽऽपे कृतानुरूपफलम् ।

जालस्वजावतिलकः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १६ ॥

('हमयती' शब्दे कथेषा निरूपयिष्यते)

यमकूपारे कोपात्, क्षिपन्नलं बाहिनाऽऽरुघ्णिनाऽऽक्रम्य ।

आरावि रावणोऽरः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १७ ॥

मुजतन्त्रा जिनमहक-ल्लङ्घेन्तोऽवाप यत्र धरणेन्द्रात् ।

विजयामोघां शक्तिं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १८ ॥

('रावण' शब्दे कथेय प्ररूपयिष्यते)

अतुरअतुरोऽष्टादश, द्वौ प्राच्यादिविद्वज्जिनविम्बान् ।

यत्रावन्दनं गणभृत्, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १९ ॥

अचलेऽत्रोद्वमचलः, स्वशक्तिवन्दितजिनो जनो लज्जते ।

वीरोऽयर्णयदिति यं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २० ॥

प्रभुमणितपुण्डरीका-ध्ययनाध्ययनात् सुरोऽत्र दशमोऽचूत् ।

दशपूर्वपुण्डरीकः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २१ ॥

यत्र स्तुतजिननाथो-ऽद्रीक्षत तापसशतानि पञ्चदश ।

श्रीगौतमगणनाथः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २२ ॥

('अज्जवहर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१६ पृष्ठे कथेयं निरूपिता)

इत्यष्टापदपर्वत इव योऽष्टापदमपि चिरस्थायी ।

व्यावर्ण्यं महातीर्थं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २३ ॥

भरतचक्रवर्तिकारितचैत्यामामिदानीं सत्त्वे प्रश्नोत्तरे—

मन्वष्टापदपर्वते भरतचक्रवर्तिकारिताः सिद्धनिषण्णप्रमुखप्रासा-
दास्तत्तद्विम्बानि चाध्यायावत्कथं स्थितानि सन्ति?, तथा श्रीशङ्ख-
यपर्वतेऽपि भरतकारितानि तान्येव प्रासादविम्बानि कथं न स्थिता-

नि । यतस्तत्राऽसख्याता उकारा जाता श्रूयन्ते, तेनाष्टापदे कस्य-
सांनिध्य, शशुञ्जये च कस्य न ? , यदेतावान् भेद इति व्यक्त्या
प्रसाध्यमिति । उत्तरम्-अष्टापदपर्वते भरतचक्रवर्तिकारितप्रासा-
दादीनां स्थानस्य निरपायत्वाद्, देवादिसाक्षिध्यात् च “केवलयं
पुण काल आययण अवसिज्जिस्सइ । ततो तेण अमेण
भणिअ-जाव इमाओ ओसण्णिणि त्ति मे केवलिजिणाण भंतिण
सुय” इत्यादि वसुदेवादिपञ्चक्रसद्भावाच्चाद्ययावदवस्थानं
युक्तिभेदे । शशुञ्जये तु स्थानस्य सापायत्वात्, तथाविधदे-
वादिसाक्षिध्याभावाच्च, भरतकारितप्रासादादीनामद्ययाव-
दवस्थानाभाव इति संभाव्यते । तत्त्वं तु तत्त्वविद्वेद्यमिति ।
ही०४ प्रका० । किञ्च-अष्टापदपर्वते प्रतिमाप्रतिष्ठा केन कृता ? ,
कुत्र वा सा कथिताऽस्तीति ? , विष्णुश्रुतिगणिप्रश्नः । तदुत्तरम्-
अत्र अष्टापदपर्वते प्रतिमाप्रतिष्ठा श्रीश्रृषभदेवशिष्येण कृतेति
श्रीशशुञ्जयमाहात्म्यमध्ये कथिनमस्तीति । (ही०) अष्टापद-
गिरौ स्वकीयलब्ध्या ये जिनप्रतिमां वन्दन्ते ते तद्भवसिद्धिगा-
मिन इत्यक्षराणि सन्ति, तथा च सन्ति ये विद्याधरयमिनस्त-
था राक्षसवानरचारणभेदमिमां अनेके ये तपस्विनस्तत्र गन्तु
शक्तास्तेषां सर्वेषामपि तद्भवसिद्धिगामित्वमापद्यते, ततः सा
का लब्धिः ? , यथा तत्र गम्यते, तथा गौतमादिवत्तद्भवसिद्धिगा-
मिनो भवन्तीति । तथाऽष्टापदगिरौ ये तपःसयमोत्थलब्ध्या
यात्रां कुर्वन्ति ते तद्भवसिद्धिगामिन इति संभाव्यते, व्यक्ता-
क्षरानुपलम्भान् । ही० १ प्रका० ।

अष्टावयवाइ (ण)-अष्टापदवादिन्-पु० । इन्द्रभूतिना सह
वीरजिनसमीप समागते विप्रभेदे, कल्प० ।

अष्टावीस-अष्टाविंशति-खी० । अष्टाऽधिका विंशतिः । अष्ट
च विंशतिश्चाष्टाविंशतिः । ‘अष्टावीस’ अष्टाधिकविंशति-
सख्यायाम्, “तिष्ठि य केसे अष्टावीस धणुसयं” जं० १ वत्त० ।

अष्टाह-अष्टाह-न० । अष्टानामह्नां समाहारे, का० १ श्रु० ८ अ० ।

अष्टाहिया-अष्टाहिका-खी० । अष्टानामह्नां समाहारोऽष्टाहम्, त
दस्ति यस्यां महिमायां साऽष्टाहिका । महिमामात्रे, व्युत्पत्तेः
प्रदर्शनमात्रफलत्वेन महिमामात्रस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।
का० १ श्रु० ८ अ० । अष्टद्वैवसिक्यां च । “अष्टाहिया य महिमा,
सम्म अणुबधसाहिगा केइ” पञ्चा० ८ विष० । आ० म० प्र० ।

(अष्टाहिकाया रथयात्रायाः स्वरूपम् ‘अणुजाण’ शब्दे वक्ष्यते)

अष्टि-अस्थि-न० । अस्थिते । अस-कियन् । “ठोऽस्थिविससु-
ले” ॥ ७ । १ । ३२ ॥ इति संयुक्तस्य थस्य ठः । प्रा० । कीकशे
प्रश्न० १ आश्र० ह्य० । औ० कुलके, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।
कुल्ये पञ्चमे धातौ, त० । स्था० । सास्थिके सरजस्के कापा-
लिके, “अष्टी विज्जा कुच्छित्तमिक्खू ” वृ० १ उ० ।

अष्टि (ण)-अर्थिन्-त्रि० । अर्थोऽस्याऽस्तीत्यर्थः । प्रयोजन-
वति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अष्टिअगाम-अस्थिकग्राम-पु० । खनामख्याते ग्रामभेदे, तत्र
धीरजिनः समवासरत् । तदेतत्सर्वमुक्तम्-

‘अस्थिकग्राम’ इत्याख्या, कथं जातेति कथ्यते ।

ग्रामोऽयं वर्धमानोऽन्ते, वेगवत्यस्य नद्यभूत् ॥ १२ ॥

मण्यादिपण्यपूर्णानां मनसां पञ्चभिः शतैः ।

धनदेवो वणिक् तत्रा-यातः । प्रेक्ष्य महानदीम् ॥ १३ ॥

महोक्षमेक सर्वेषु, शकटेषु नियोज्य सः ।

वामतो दक्षिणेनान्यां-स्तां नदीमुदतारयत् ॥ १४ ॥

अतिभाराकर्षणेन, सोऽथान्तस्त्रुटितो बृषः ।

तस्य छायां विधायाथ, ग्राम्यानाकार्यं तत्पुरः ॥ १५ ॥

चारिवारिकृते तस्य, तेषां द्रविणमारपयत् ।

पाल्योऽयमिनि चोक्त्वा तान्, साभुहकं स वणिग् ययौ ॥ १६ ॥

ग्राम्या विभज्य तद् द्रव्यं, सर्वे अगृहिरे स्वयम् ।

तस्यासौ निर्वयो ग्राम-आरिं वारि न कोऽप्यदात् ॥ १७ ॥

आस्तां किञ्चित्करिष्यन्ति, दयया मे प्रतिक्रियाम् ।

मत्स्वामिदं द्रव्येणा-प्येते किञ्चिन्न कुर्वते ॥ १८ ॥

ततः प्रद्वेषमापन्न-स्तद्ग्रामोपरि सत्वरः ।

सोऽकामनिर्जरायोगात्, क्षुभृषाबाधितो मृतः ॥ १९ ॥

यक्षोऽभूत् शूलपाण्याख्यो, ग्रामेऽत्रैव पुरो बने ।

उपयुक्तोऽयं सोऽज्ञासीत्, तद्वपुः स्वं ददर्श च ॥ २० ॥

मारिं तद्ग्रामलोकस्य, स विचक्रे ततः क्रुधा ।

तद्योको मर्षुमारजे-ऽभूवस्तैरस्थिसंचयाः ॥ २१ ॥

कारितैरपि रक्षाद्यै-मारिर्नोपशशाम सा ।

ग्रामान्तरेष्वगुर्लोकाः, स तांस्तत्राप्यमारयत् ॥ २२ ॥

अचिन्तयंस्ते तत्रस्यै, कोऽप्यस्माज्जिर्विराधितः ।

यामस्तत्रैव तद्ग्रामे, तत्प्रसादनहेतवे ॥ २३ ॥

अथागतास्तदर्थं ते, प्रसक्तुर्विपुलां बलिम् ।

समन्ततः क्षिपन्तोऽथ, ग्रामस्याज्यधुरमुखा ॥ २४ ॥

देवो वा दानवो वाऽपि, यः कश्चित्कुपितोऽस्ति नः ।

शरणं नः स पवास्तु, काम्यत्वागः प्रसीदतु ॥ २५ ॥

यक्षोऽन्तरिक्षे सोऽवादीत्, कामणां कुरुताधुना ।

वणिग्दत्तधनेनापि, तदा गोर्नं तुणाद्यदुः ॥ २६ ॥

बलीवर्धः स मृत्वाऽहं, शूलपाणिः सरोऽभवम् ।

तेन वैरेण वः सर्वान्, मारयामि ततोऽधुना ॥ २७ ॥

तेऽथ तं भक्तिमन्नाम्ना, दैन्यात् प्रणमयन्तः ।

कृतोऽस्मामिरयं मन्तुः, शान्त्यै कर्तव्यमादिश ॥ २८ ॥

तद्दैन्यात् सोऽपि शान्तस्ता-नूचे मन्मारितास्थिभिः ।

कृत्वा कूटं तद्वपरि, कुरुतायतनं मम ॥ २९ ॥

मत्वे विधाय मे मूर्तिं, बलीवर्धस्य वैकृतः ।

पूजयेयुर्नमस्येयु-स्ततो मारिः शमिष्यति ॥ ३० ॥

तथैव विद्वुस्ते च, मारिश्चापि न्यवर्षत ।

इन्द्रशर्मा भूतिं दत्त्वा, ग्राम्यैस्तस्यार्चकः कृतः ॥ ३१ ॥

वीक्ष्यास्थिकूटं पथिकै-रस्थिग्रामं इतीरितः ।

‘अस्थिकग्राम’ इत्याख्या ग्रामस्यास्य तदाभूत् ॥ ३२ ॥

आ० क० । कल्प० । आ० चू० । आ० म० द्वि० । ला० ।

अष्टिकच्छन्न-अस्थिकच्छप-पु० । अस्थिबहुले कच्छपभेदे,
प्रका० १ पद ।

अष्टिकदिण-अस्थिकठिन-त्रि० । अस्थिभिः कठिनम् । कीक-
शैरमृद्भिः, तं० ।

कठिनास्थिक-त्रि० । कठिनानि अस्थिकानि यत्र तत्तथा ।
अमृद्भीकशके, “अष्टिकदिणे सिरणहाकवधले” त० ।

अष्टिग-अस्थिक-न० । हनुके, प्रश्न० ३ आध० ह्य० । कापालिके,
पु० । ह्य० २ उ० । अवरूबीजे अनिष्यन्ने फले, न० । वृ० १ उ० ।

आ (अ) थिक-न० । अर्थ्यत इत्यर्थो मोक्षः, स प्रयोजनम-
स्येत्यार्थिकम् “तदस्य प्रयोजनम्” इति उक्तं । अथवाऽर्थः स

एव प्रयोजनरूपोऽस्यास्तीति अर्थिकम् “अत इतिउनी” ७ । ४ ।
११५ । इति उक्तं । उक्त० १ अ० । मोक्षोत्पादके, “पसन्ना हा-

जइस्सति, विठ्ठल अट्टिय सुय " उत्त० १ अ० । अभिधाविणि,
सुत्र० १ भु० ३ अ० ३ उ० ।

अट्टिग (य) कटुट्टिय-अस्थिककाष्ठोत्थित-त्रि० । अस्थि-
कान्येव काष्ठानि, काठिन्यसाधर्म्यात्, तेभ्यो यदुत्थितं तत्तथा ।
काठिनकीकरोभ्यः समुत्थिते देहे, ज० ६ श० ३३ उ० ।

अट्टिचम्मसिरत्ता-अस्थिचर्मशिरावत्ता-स्त्री० । अस्थीनि च
चर्म च शिराश्च स्नायवो विद्यन्ते यस्य स तथा, तद्भाषस्तत्ता ।
अस्थिचर्मशिरामात्रशालित्वे, (धनानगारस्य) 'अट्टिचम्म-
सिरत्ताए पणायति णो वेव ण मंससोणियत्ताए धणअणुगार'
अस्थिचर्मशिरावत्तया प्रज्ञायेते तदुत्पादावेताविति, न पुनर्मो-
सशोणितवत्तया, तयोः क्रीणत्वादिति । अणु० २ वर्ग० ।

अट्टिचम्मावण्ण-अस्थिचर्मावन-त्रि० । अस्थीनि चर्माव-
नकानि यस्य सोऽस्थिचर्मावनकः । कृशत्वाच्चर्मलग्नकीकशके,
" अट्टिचम्मावण्णं के किमिकिड्डिणू किसे धम्मणिसतए याधि
होत्था " ज० २ श० १ उ० ।

अट्टिजुण्ण-अस्थियु-न० । योधप्रतियोधयोरस्थिभिः सप्र-
हारे, ज्ञा० १ भु० १ अ० ।

अट्टिज्जाम-अस्थिध्याम-न० । अस्थि च तद् ध्याम चाग्निना
ध्यामहीकृतम् । आपादितपर्यायान्तरेऽस्थिनि, भ० ५ श० ३ उ० ।

अट्टिदामसय-अस्थिदामशत-न० । हनुमालाशते, त० ।

अट्टिधमणिसंताणसंतय-अस्थिधमनिस्तानसन्त-त्रि० । अ-
स्थिधमन्य सन्नानेन परम्परया सन्तत व्याप्त यत्तदस्थिधम-
निसन्ततम् । अस्थिधमनिपरम्परया व्याप्ते, "अट्टिधमणिसतान-
सनय सव्वओ समता परिसमत च " त० ।

अट्टिजंजण-अस्थिभञ्जन-न० । कीकशभञ्जनरूपे शरीरदण्डे,
प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अट्टिमिजा-अस्थिमिज्जा-स्त्री० । अस्थिमध्यरसे, स्था० ३ उ०
४ उ० । त० ।

अट्टिमिजाणुसारि(ण्)-अस्थिमिज्जानुसारिन्-त्रि० । अस्थि-
मिज्जान्तधातुव्यापके, स्था० ६ उ० ।

अट्टिमिजापेमाणुरागरत्त-अस्थिमिज्जापेमानुरागरत्त-त्रि० ।
अस्थीनि च कीकशानि मिज्जा च तन्मध्यवर्तिधातुरस्थिमिज्जा-
स्ताः प्रेमानुरागेण सार्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुमज्जादिरागेण रक्ता
इव रक्ता येया ते तथा । मथवाऽस्थिमिज्जासु जिनशामनगतप्रेमानु-
रागेण रक्ता ये ते तथा । भ० २ श० ५ उ० । सम्यक्त्ववासितान्तधे-
तु, सुत्र० २ भु० ७ अ० । "अयमात्रसो णिग्गथे पावयणे अट्टे
अय परमठे सेसे अणठे" इत्येवमुल्लेखेन सम्यक्त्वेषु, ज्ञा० ५
अ० । दशा० । दर्श० ; रा० ।

अट्टिय-अर्थित-त्रि० । चाञ्छिते, उत्त० १ अ० ।

अस्थित-त्रि० । अव्यवस्थिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अट्टियकप्प-अस्थितकल्प-पुं० । क० स० । अनवस्थितसमा-
चारे, पञ्चा० ।

अस्थितकल्परजिधानायाह-

उसु अट्टिओ उ कप्पो, एत्तो मज्झिमजिणाय विण्णेओ ।

णो सययसेवणिज्जो, अण्णिच्चमेरासरूवो ति ॥ ७ ॥

पट्सु दर्शयिष्यमाणरूपेषु पदेषु, अस्थितस्तु अनवस्थित, पुन-
कल्पः समाचारः, (एत्तो ति) एतेभ्य एव दशस्य पदेभ्यो, मध्या-

नां मध्यमजिनानां, तत्साधूनामित्यर्थः, विज्ञेयो ज्ञातव्यः । कुतो-
ऽस्थितोऽयमित्याह-नो नैव, सततसेवनीयः सदाविधेयो,
दशस्थानकपेक्षया । एतदपि कुत इत्याह-अनित्यमर्यादा-
स्वरूपोऽनियतव्यवस्थास्वभाव इति कृत्वा । ते हि दशानां स्था-
नानां मध्यात् कानिचित् स्थानानि कदाचिदेव पालयन्तीति
भाव इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

पट्सुस्ववस्थित कल्प इत्युक्तमथ तानि दर्शयन्नाह-

आचेत्तककुहेसिय-पमिकमणरायपिण्णमासेसु ।

पञ्जुसणाकप्पम्मि य, अट्टियकप्पो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥

आचेत्तकयोद्देशिकप्रतिक्रमणराजपिण्डमासेषु प्रतीतेषु विष-
यचूतेषु, पर्युषणाकल्पे च वर्षाकालसमाचारे, च समुच्चये ।
अस्थितकल्पोऽभिहितार्थो (मुणेयव्वो ति) ज्ञातव्य इति
गाथार्थः ॥ ८ ॥

एषामपि शेषपदापेक्षया स्थितकल्प एवेति दर्शयन्नाह-

सेसेसु ट्टियकप्पो, मज्झिमगाणं पि होइ विषेओ ।

चउसु ठिताउसु अठिता, एत्तो च्चिय भणियमेयं तु ॥ ९ ॥

शेषेषु तु प्रागुक्तैः बन्धुन्योऽन्येषु पुनः शय्यातरपिण्डादिषु,
स्थितकल्प उक्तार्थः, मध्यमकानामपि द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि
न केवलमाद्यचरमाणानां, भवति स्याद्, विज्ञेयो ज्ञातव्यः । उक्तमेवा-
र्थमागमेन समर्थयन्नाह-चतुर्षु स्थानकेषु शय्यातरपिण्डाषु, स्थि-
ता परिहारादितोऽवस्थिताः, पट्सु आचेत्तक्यादिषु अस्थिता
अनवस्थिताः कादाचित्कपरिहारादितो मध्यमजिनसाधवः,
अत एव पूर्वोक्तार्थवशादेव, जणितमुक्तमागमे, एतत् इदम्,
अनन्तरोक्तम् । तुशब्दः पूरणे, इति गाथार्थः ॥ ९ ॥

शेषेषु स्थित कल्प इत्युक्तमथैतदेव स्पष्टयन्नाह-

सिज्जायरपिमम्मि य, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।

कितिकम्मस्स य करणे, ट्टियकप्पो मज्झिमाणं पि ॥ १० ॥

शय्यातरपिण्डे च प्रसिद्धे, तथा चतुर्णां परिग्रहविरत्यन्तर्ह-
तब्रह्मचर्यत्वेन चतुःस्थानां यामानां व्रतानां समाहारश्चतुर्थीमम,
तत्र च, पुरुष एव ज्येष्ठः पुरुषज्येष्ठस्तत्र च, कृतिकर्मणश्च वदन-
कस्य, चशब्दाः समुच्चयार्थाः । करणे विधाने, स्थितकल्प प्रतीतः,
मध्यमानामपि द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि न केवलमाद्यचरमा-
णामिति गाथार्थः ॥ १० ॥ पचा० १७ विव० । प० भा० । प० सू० ।
('अचेत्त' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८ पृष्ठे अस्थितकल्पो
व्यक्तविस्तरः)

अहुणा वोच्झामि अट्ठितं कप्पं ।

संखेवपिण्डियत्थं, जह जणियमणंतणाणीहि ॥

वत्थे पाए गहणे, उक्कोसजहणमग्नि अठिओ तु ।

ट्टियमट्ठिते विमेषो, परूविता सत्त कप्पम्मि ॥

वत्थाणि य पाताणि य, मज्झिमवित्थं कगाण कप्पम्मि ।

वत्थप्पमाण वेगे, अट्टियकप्पो समक्काओ ॥

मोहगम्यं पि वत्थं, अट्टारमपवत्तं रुवगजेहसं ।

एत्तो य सतमहस्स, उक्कोममोह तु णायव्व ॥

जहणग अट्टारसगं, वत्थ पुण साहुणो अणुण्णातं ।

एत्तो अतिरित पुण, णाणुण्णानं भवे वत्थं ॥

जिगघ्रेराणं कप्पं, अहुणा वोच्झामि आणुपुञ्जीए ।

जं जत्थ जहा णिवयति, समासतो तं जहा सुणसु ॥
 जिणथेराणं कप्पं, जम्हा उद्धितंमि अट्टिए चैव ।
 ठितअद्धितकप्पाणं, तम्हा अंतगता एते ॥
 जो तु विसेसो एत्थं, तं तु समासेण णवरि वक्खामि ।
 जिणथेराणं कप्पे, जिणकप्पे ता इमं वोच्छं ॥
 दुयसत्तगे तियचउ-ककेगस्स अक्खएगढेदेणं ।
 अवि होज्ज काञ्चकरणं, पुणरावत्ती ण वि य तेसिं ॥
 पिंसेसणा उ सत्त उ, हवंति पाणेसणा उ सत्तेव ।
 चउ सेज्ज वत्थ पाते, तिसे ते चउकगा होंति ॥
 दोल्लादिमाउ सत्तसु, अवणेउं सेसमायं च ।
 अक्खद्द होति ठेदो, दो दो अवणे चउकेसु ॥
 गेएहंति उवरिमासुं, तत्थ अवि घेसु अस्सतरियाए ।
 हेड्डिला पुण गेएहति, जदि विकरे काञ्चकिरियं तु ॥
 अणजिगहेण एविता, गिएहंति विही तु एस जिणकप्पे ।
 अहुणा उ थेरकप्पो, वोच्छामि विहिं समासेणं ॥
 गहणे चउव्विहम्मि, वितिए गहणं तु परमजत्तेणं ।
 जं पाणवीयरहिंयं, हवेज्ज तरमाणए सोही ॥
 गहणं चउव्विहंती, वत्थं पातं च सेज्ज आहारो ।
 एतेसिं असतीए, गहणं पढमं तु बीयस्स ॥
 वितियं पातं जप्पति, किं कारणं तस्स गहण पढमं तु ।
 तेण वि ण बोनिपडिमा-गिहिभायणभोगहाणी य ॥
 अहवा चउव्विहं तू, असणादी तत्थ भोज्जगहणं तु ।
 तत्थ तु वितियं पाणं, तस्स तु गहणं पढमताए ॥
 अमतीए फासुयस्स, वसहिए एकं ठविय सहिए वा ।
 किं कारण तेण विणा, आसुं पाणक्खओ होज्जा ॥
 तरमाणे गेएहंती, सुच्छं अतरो प्रेक्षेय संथरे ।
 संथरं तो तु गेएहति, पावति सट्ठाणपच्छिचं ॥
 सेत्तं दुए दसए व, अणेण ठाणं वा भवगहणं ।
 एत्तो ति गादिरित्तं, उगमउप्पायणेसणासुच्छं ॥
 जणियं ति कप्पति ची, तस्स असतीए असुच्छं पि ।
 एत्तो तु थेरकप्पो, पं० भा० ॥

इयानि अद्वियकप्पो । तत्थ गाहा-‘वत्थे पाए’ ति । वत्थाणि सय-
 सहस्समोहानि वि घेप्पति, मज्झिमाण तित्थगराणं, सेसं पुण जं
 त्रियकप्पियाण भणिय त भाणियव्व । जहा-सत्तविहकप्पे ताओ
 चेव, गओ एस त्रियकप्पो । इयानि जिणकप्पो । तत्थ गाहा-‘दुय-
 सत्तगे’ ति । सत्त पिंसेसणाओ, सत्त पाणंसेसणाओ अहवा पि-
 रुचउमाहपडिमाओ य, तियचउके सेज्जपडिमाओ य ४ वत्थप-
 डिमाओ ४ पायपडिमाओ ४ एयासिं अरुक्खेओ दो आह उवणे-
 ऊण सेसाहिए संति आहागइ एयासु एसमाणा जइ न सज्जति
 तो अविकालकिरिया होज्जा, न य हेड्डिमासु गेएहति, एस जि-
 णकप्पो । इयानि थेरकप्पो । गाहा-‘गहणे चउव्विहम्मि’ ति । वत्थं
 पाय आहारो सेज्जा चउएहवि असइ, पढमं पायं घेप्पइ, किं का-
 रणं?, तेण वि पडिमा चेव, अहवा असणाई पढमं, तत्थ विइय पा-

णगहणं परमपयत्तेणं मयमाओ, पढमं संथरमाणो तत्तपाखबी-
 यरहिया कंदमूलरहिए गेएहइ, अतरंतो पुण तत्तपाणसाहिए वा
 बीयकंदमूलसहिए वा गेएहइ, किं कारणं?, तेण विणा आसु पा-
 णक्खओ होज्जा, तरमाणो सुक्ख गेएहेज्जा, अतरतो पेक्षेज्जा । गाहा-
 ‘सत्त दुय तिस्सि पिंसेसणाणेसणाओ वसए’ ति । दस, एसणा
 दोसा । ‘अणेगछाणे ति’ उमामाइअं न दस सोत्तस । ‘एत्तो ति’
 गादिरित्तं नाम उमामउप्पायणएसणासुक्ख, तन्विबरीय ज एतेहि
 चेव उगमाईहि असुक्खं, त गेएहेज्जा गच्छसारक्खणहेउ, गच्छ-
 वासीहि भणियं नामकारणे कप्पइ, इयरहा न कप्पइ । एस थेरक-
 प्पो । पं० चू० । (अस्थितकल्पप्रसङ्गाद् जिनस्थविरकल्पावप्युक्तौ)
 अद्वियप्प (ण्) अस्थितात्मन्-त्रि० । अक्खलाचित्तया अस्थिर-
 स्वभावे, “ अद्वियप्पा भविस्ससि ” उक्त० ३३ अ० ।
 अद्विसरक्ख-अस्थिसरजस्क-पुं० । कापालिके, व्य० ७ उ० ।
 अद्विसुहा-अस्थिसुखा-स्त्री० । अस्थ्यां सुखहेतुत्वादस्थिसुखा ।
 औ० । अस्थ्यां सुखकारिण्यां संवाधनायाम्, कल्प० ।
 अहुत्तर-अष्टोत्तर-त्रि० ६ ब० । अष्टाभिरधिके, “ अहुत्तर सबस-
 इस्सं पीइदाणं वल्लयति ” अष्टोत्तरं शतसहस्रं तत्तं रजतस्य
 तुष्टिदानं कदाति स्मेति । औ० ।
 अहुत्तरमयकूट-अष्टोत्तरशतकूट-पुं० । शतसंख्यपर्वते, तस्य ता-
 वत्प्रमाणकूटत्वात् । ती० १ कल्प० ।
 अहुप्पत्ति-अर्थोत्पत्ति-स्त्री० । अर्थस्योत्पत्तिसंयस्मात् । व्यवहारे,
 अर्थो व्यवहारादुत्पद्यते इति तस्य तथात्वम् । व्य० २ उ० ।
 अहुस्सास-अष्टोच्छास-पुं० । पञ्चनमस्कारे, “ अहुस्सासे महवा
 अणुगहार्इ उडायज्जा ” पं० ब० २ अ० ।
 अहुस्सेह-अष्टोत्सेध-त्रि० । अष्टौ योजनान्युत्सेध उच्छ्रयो ये-
 नां ते तथा । अष्टयोजनोच्चे, “ चक्रद्वपइणा अहुस्सेहा य ”
 स्था० ६ ठा० ।
 अम-अट-धा० गतौ, । उवादि०, सक०, पर०, सेट् । बाब० ।
 ‘ अरुनि ससारे ’ प्रश्न० १ आ०० चा० ।
 अट-पु० लोमपक्षिमेदे, जीव० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।
 अवट-पुं० । अव-अट् । “ यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावट-
 प्रावारकदेवकुलैवमेवेवः ” ८ । १ । २७१ । इति सूत्रेण अन्तर्वर्त्त-
 मानस्य वस्य लोपः । कूपे, प्रा० ।
 अमउडिअं-देवी-पुष्पायिते, विपरीतरते च । दे० ना०
 १ वर्गे ।
 अमउडिअ-अदाह-त्रि० । अग्निहारादिना भक्षमवहरणीये,
 “ तओ अउजेज्जा पम्पत्ता । त जहा-समय पयसे परमावु ” स्था० २
 गा० ४ उ० । “ अरुज्जकुच्छे अहुसुबवे व गुत्ता भजिवा ”
 दश० १० अ० ।
 अमम-अट-न० । चतुरशीतिलकैर्गुणितेऽट्टाके, स्था० २ गा०
 ४ उ० । “ चउरासीइं अरुगसयसहस्साइ से एगे अरुने ”
 अनु० । जी० । म० । जं० । कर्म० ।
 अममंग-अट्टाङ्ग-न० । चतुरशीत्या लकैर्गुणिते नुदिते, “ चउ-
 रासीइं तुनियसयसहस्साइ से एगे अरुनेगे ” अनु० । बाकना-
 न्तरमतेन चतुरशीतिलकैर्गुणिते महानुदिते, ज्यो० २ पाहु० म० ।

अमण-अटन-न०। चरणे, गमने च । स्था० ६ ठा०। आम०। ध०।
अमणी-देशी-मार्गे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमपद्मान-देशी-न०। साटेषु स्थनामप्रसिद्धेऽन्यत्र यिष्ठिरिति
ख्याते वाहनभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अममाण-अटत्-त्रि०। गच्छति, "अणाउहो संयच्छरखमणसि
अममाणे " आ० म० प्र० ।

अमया-देशी-असत्याम, दे० ना० १ वर्ग ।

अमया-देशी-असत्याम, दे० ना० १ वर्ग ।

अडयाल-अष्ट (ष्टा) चत्वारिंशत्-त्रि०। अष्ट च चत्वारिंशच्च,
अष्टाधिका वा चत्वारिंशत् । (अडतालिस) द्रष्टुं पञ्चाशति,
आव० ।

अडयाल-देशी-प्रशसायाम्, प्रज्ञा० २ पद । ज०। स०।
जी०। प्रव०।

अडयालकयवणमाल-अष्ट (ष्टा) चत्वारिंशत्कृतवनमाल-त्रि०।
अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्ना विच्छिन्नयः कृता वनमाला येषु तानि
अष्टचत्वारिंशत्कृतवनमालानि । अष्टचत्वारिंशद्विधविच्छेदवद्वन-
मालायुतेषु, जी० ३ प्रति० ।

अडयालकृतवनमाल-देशी-'अरुयाल' शब्दो देशीवचनत्वा-
त्प्रशसावाचोत्यनुपदमेव निरूपितम् । तेन कृता वनमाला येषु
तानि । प्रशस्तकृतवनमालेषु, जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

अडयालकोष्ठगरय-अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचित-त्रि०। अष्टच-
त्वारिंशद्भेदभिन्नाविच्छिन्नचिह्नलिता कोष्ठका अपवरका रचिता
स्वयमेव रचना प्राप्ता येषु तानि अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचितानि ।
सुखादिगणे दर्शनात्प्राप्तिको निष्ठान्तस्य परनिपातः । " अरुया-
ल " शब्दो देशीवचनत्वात्प्रशसावाची वा । प्रज्ञा० २ पद ।
अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्नाविच्छिन्नचिह्नोऽगोपुररचितेषु, " अरुया-
लकोष्ठरय्या अडयालकयवणमाला " स० । ज०। जी० ।

अडवि-अटवि (वी)-स्त्री०। अटन्ति मृगयायर्थिनो यत्र ।
अट्-अवि, वा जी०। कान्तारे स्था० ५ ठा० २ व०। अरखे, त०।

तद्देवाः सव्याख्याकाः-

" अर्मावि सपञ्चवाय, घोलेड देसिओवपसेण ।
पार्विति जडिष्ठपुर, भवारुवि पो तहा जीवा ॥ १ ॥
पार्विति निव्वुडपुर, जिणोवद्वेण चैव मणेण ।
अरुवीई विसिअत्त, एव नेअ जिणिदाण " ॥ २ ॥
इहाटवी द्विधा - अरुयाटवी, जावाटवी च । तयो कथा—
इहास्ति हास्तिकाश्वीय रथपादातिसकुलम् ।
असस्तपुरमुर्वीस्थ-मप्यधःकारि यद्विधः ॥ १ ॥
सार्थवाहो धनस्तत्र, गन्तुं देशान्तरं प्रति ।
प्रस्थितः कारयामास, घोषणां पुरि स्रग्वतः ॥ २ ॥
य कोऽप्यस्ति यियासुः स, सर्वोऽप्येतु मया सह ।
मिलितानां च सर्वेषां-माख्यन्मार्गगुणगुणान् ॥ ३ ॥
तत्रैकः सरलोऽन्वाऽन्यो, वक्रक्षेत्रेण गम्यते ।
मनाक् सुखेन किं त्विष्ट-पुरावसिष्ठिरान्नवेम् ॥ ४ ॥
स पुनः सरलः पन्था, अन्ते मिहति सोऽपि च ।
गम्यते सत्वरं तेन, कष्टेन महता परम् ॥ ५ ॥
तत्रादितोऽपि मार्गे स्त, सिंहव्याघ्रौ विज्रीवणौ ।
भीतानां ह्यकमार्गाणां, तावनर्याय नान्यथा ॥ ६ ॥

इष्टपूर्वदेशेन यावत्, तावत्तौ चानुधावतः ।
तत्रैके तरवः सन्ति, पत्रपुष्पफलाढ्यता ॥ ७ ॥
तच्छायास्वपि विश्रान्ति-र्न कार्या मृत्यवे हि ताः ।
ये जीर्णशीर्षपर्णाख्याः, स्थेयमीपत्तदाश्रये ॥ ८ ॥
मनोऽरूपलाघण्या, मनोहरगिरी नराः ।
सूर्यासो मार्गपार्श्वस्था-स्तत्राऽऽह्वयन्ति घत्सवाः ॥ ९ ॥
अथ न तद्वचो मोक्ष्या, न मच्छिक्का कदाचन ।
दावाग्निः प्रज्वलन् मार्गे, विध्याप्यः सततोद्यतैः ॥ १० ॥
अविध्यात पुन सर्वे, नियमान्निर्दहत्यसौ ।
अग्नेऽग्निदुर्गं शैलोऽस्ति, सोपयोगे स लक्ष्यते ॥ ११ ॥
अन्यथा बहूने तु स्यात्, स्मलनाद्यैर्मृतिः क्वचित् ।
पुरस्तादस्ति गुपिल-गह्वर वनाजालिका ॥ १२ ॥
सा विद्वद्भ्या भगित्येव, नत्रस्थानां महापद ।
अटपीयानस्ति गर्तोऽग्रे, सर्वदा तत्समीपगः ॥ १३ ॥
द्विजो मनोरथाभिर्यो, वक्त्येन पूरयेति सः ।
वचस्तस्यावमन्तव्यं, पूर्य स्तोकोऽपि नैव सः ॥ १४ ॥
वर्द्धते पूर्यमाणः स, क्षनित्रैः खन्यमानघट् ।
तथा पञ्चप्रकाराणि, स्निग्धमुग्धानि वर्णत ॥ १५ ॥
न प्रेक्ष्याणि न भक्ष्याणि, किंपाकानां फलानि च ।
द्वार्धशठि करालास्तु, वेताला विघ्नवन्ति च ॥ १६ ॥
न गण्यास्ते तथासारा, आहारास्तत्र दुर्लभा ।
द्वौ यामौ निश्यपि स्याप, सर्वदाऽपि प्रयाणकम् ॥ १७ ॥
गच्छद्द्विरेवमश्रान्त-मटवी लङ्घयते वधु ।
प्राप्यते पुरमिष्टं च, तत्र चाऽऽसाद्यते सुखम् ॥ १८ ॥
तत्र केचित् सम तेन, प्रवृत्ता सरलाध्वना ।
इतरेण पुन केचित्, स प्रशस्तेऽहि निर्यथी ॥ १९ ॥
पृष्ठानुगामिलोकानां, शिलादौ बर्तम वेदितुम् ।
गतागताध्वमानं च, लिखन् वर्णान् जगाम स ॥ २० ॥
तन्निदेशकृतो येऽत्र, शिक्षितानुसृताश्च ये ।
ते सर्वेऽपि सम तेन, संप्राप्ताः पुरमीप्सितम् ॥ २१ ॥
निषिद्धकारिणो ये च, याता यास्यान्ति वा न ते ।
जिनेन्द्र सार्थवाहोऽत्र, घोषणा धर्मदेशना ॥ २२ ॥
पान्था ससारिणो जीवा, भवो जावाटवी पुन ।
ऋजुमार्गं साधुधर्मो, गृहिधर्मस्ततोऽपरः ।
सिंहव्याघ्रौ रागद्वयौ, वासनार्थानुगामिनौ ॥ २३ ॥
वसत्य रूपादिससक्ता, सद्वृक्षच्छायाया समा ।
जरद्वृक्षोपमानास्तु, निरवद्याः प्रतिभया ॥ २४ ॥
पार्श्वस्थायाः पुन पार्श्व-स्थाह्वात्पुरुषोपमाः ।
ज्वलद्वाधानश्च क्रोधो, मानो दुर्गमहीधरः ॥ २५ ॥
वशजालिः पुनर्माया, सोजो गर्तस्तु दुर्जरः ।
फलप्रायाश्च विषया, वेतालास्तु परीषदाः ॥ २६ ॥
दुर्लभं चैषणीयाश्च, ध्यानं द्वौ प्रहरौ निशि ।
प्रयाणे तूद्यमो नित्य, मोक्षक्षेपितपत्तनम् ॥ २७ ॥
शिलादौ वर्णलिखन, सिक्कान्तग्रन्थनिर्मितिः ।
पञ्चाङ्गाविमुनीन्द्राणां, गतगम्याश्चसंविदे ॥ २८ ॥
इष्टपू-प्राप्तिसाहाय्या-अम्यते सार्थपो यथा ।
एव मोक्षपुरावाप्यु-पकारी नम्यते जिनः ॥ २९ ॥ आ० क० ।

अडविजम्भण-अटविजम्भन्-न० । कान्तारजम्भसङ्घणे दुःखे,
प्रज्ञा० १ आश्र० डा० ।

अडविदेसदुग्गवासि(ण्)-अडविदेशदुर्गवासिन्-पुं०। अडवीदेशे जलस्थदुर्गरूपेषु दुर्गेषु घसति चौरादौ, प्रश्न० ३ शाश्व० द्वा०। अडवि (वी) वास-अडवि (वी) वास-पुं०। अरण्यवसने, " उद्विग्नाग्रप्या असरणं अरुवीवासं उच्येति " प्रश्न० ३ आश्व० द्वा० ।

अरुसट्टि-अष्ट (ष्टा) षट्-स्त्री०। अष्ट च षट्त्रिंश, अष्टाधिका वा षट्तिः । (अरुसठ) अष्टाधिकषट्संख्यायाम्, " विमलस्स ण अरुसठो अरुसठिं समणसामस्सोओ " स० ६९ सम०। अरुसठो-देशी-तथेत्यर्थं, दे० ना० १ वर्ग ।

अरुसिद्ध-अटिल-पुं०। चर्मपक्षिजेदे, प्रश्न० १ पद। जी० ।

अरुसि-देशी-कूपे, दे० ना० १ वर्ग ।

अरुसिद्धिका-अटोलिका-स्त्री०। यवनाम्नो राज्ञः पुत्र्यां गर्दभराजस्य जगिन्याम्, वृ० १ उ० ।

अरुसुख-द्विप-धा० प्रेरणे, तुदा०, उभ०, सक०, अनिद् "क्षिपे-र्गन्तथाङ्कस्" ॥ ८ । ४ । १४२ ॥ इति सूत्रेण अङ्कस्मादेशः । अङ्कस्मद्, क्षिपति । प्रा० ।

अरुडिया-अरुडिका-स्त्री०। उपदेशमात्ररूपे शास्त्रानिबद्धे मल्लानां करणविशेषे, विशेष० । आ० म० ।

अरुड-अर्धे-न०। अर्ध-घञ् । "अर्द्धर्द्धिर्धर्द्धेऽन्ते वा" ॥ ८ । २ । ४१ ॥ इति सूत्रेण संयुक्तस्य वा ढ० । प्रा० ।

आदय-त्रि०। आ-द्यै-क, पृथो०। युक्ते, विशिष्टे च । वाच० । ऋद्ध्या परिपूर्णे, नि० । औ० । धनधान्यादिभिः परिपूर्णे, म० २ श० ५ उ०। समृद्धे, ज० ९ श० ३२ उ० । स्था० । धनवति, स्था० ९ ग०। महति च । सथा० ।

अरुडकली-देशी-कट्यां हस्त (पाणि) निवेशे, दे० ना० १ वर्ग ।

अरुडवेत्त-अर्धेक्षेत्र-न०। अहोरात्रप्रमितस्य क्षेत्रस्य चन्द्रेण सह योगमश्नुवत्सु नक्षत्रेषु, च० प्र०। अर्द्धक्षेत्राणि नक्षत्राणि षट् । तद्यथा-वृत्तरात्राद्रपदा, उत्तराफाल्गुनी, वृत्तराऽऽषाढा, रोहिणी, पुनर्वसु, विशाखा चेति । च० प्र० १० पाहु० ।

अरुडग-आदय-त्रि०। युक्ते, परिपूर्णे च । पंचा० १२ विव०। "संजमतवद्गुगस्स उ, अविगप्पेण तहकारो" आ० म० द्वि० ।

अरुडरत्त-अर्धरात्र-पुं०। अर्द्धे रात्रे, अत्र समा० । निशीथे, "अरुडरत्ते आगतो दार मग्गइ" आ० म० द्वि० ।

अरुडज्ज-अर्द्धतृतीय-त्रि०। व० व०। अर्द्ध तृतीय येषां तेऽर्द्धतृतीयाः । अवयवेन विग्रहः, समुदाय समासार्थः । (अडाई) सार्द्धद्वयो, जी० १ प्रति० । प्रश्न० । "अरुडज्जगुत्तमगहणमुस्सेह" नं० । रा० । आ० म० ।

अरुडज्जदीव-अर्द्धतृतीयद्वीप-पुं०। अर्द्ध तृतीय येषां तेऽर्द्धतृतीयाः, ते च ते द्वीपाश्चेति समासः । अर्द्धतृतीयद्वीपाः । जम्बूद्वीपधातकीलएडुप्कराकलकेण सार्द्धद्वीपद्वये, म० ९ श० ३ उ० ।

अरुडज्जदीवसमुदतदेकदेशभाग-अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रतदेकदेशभाग-पुं०। जम्बूद्वीपधातकीलएडुप्कराकलकेण सार्द्धद्वीपलवणसमुद्रकालोदधिसमुद्राणां विवक्षिते भागे, "साहारण पकुञ्ज अरुडज्जदीवसमुदतदेकदेशभाग होज्जा" म० ९ श० ३ उ० ।

अरुडपकन्ति-अर्द्धपक्रान्ति-स्त्री० । अर्द्धस्याऽसमप्रविभागरू-

पस्य एकदेशस्य वा एकादिपदात्मकस्यापक्रमणमवस्थानं, शे षस्य तु द्वादिपदसङ्घातरूपस्यैकदेशस्योर्ध्वं गमन यस्यां रक्तायां सा समयपरिभाषयाऽर्द्धपक्रान्तिरुच्यते । इत्युक्तमिदं किम-त्यां तपोरचनायाम्, विशेष० ।

अरुडज्ज-आदय-न० । धनपतित्वे, तस्य सुखकारणत्वात् सुखभेदे च । स्था० १० ग० ।

आदयेज्या-स्त्री०। भाष्ये 'क्रियमाणा इज्या पूजा भाष्येज्या, प्राकृतत्वात् 'अहेज' ति । धनिकृतसत्कारे, स्था० १० ग० ।

अरुडरुग-अर्द्धोरुक-पुं० । अर्ध ऊरुकाद् विभज्यतीति निरुक्ताद-र्द्धोरुकः । साध्वीनामौषधिकोपधिविशेषे, ध० ३ अधि०। "अ-रुडरुगो उ दोरिह वि गिरिह उ गार्ह कनीभाग" अर्द्धोरुकोऽपि तौ द्वावपि अवग्रहानन्तरकपट्टाक्षुपरिहाद् गृहीत्वा सर्व कटीभागमासादयति । स च मल्लचक्षनाकृतिः केवलमुपरि ऊरुद्वये च कशाबद्धः । वृ० ३ उ० । नि० वृ० । पं० व० ।

अण-अव्य० । नञर्थे, "अण णाई नञर्थे" । उ । २ । १९० । एतौ नञर्थे प्रयोक्तव्यौ । "अण विरिचममुणति" प्रा० ।

अण-अण-न० । कुत्सिते, कुत्सितत्वाद् अणन्ति कुत्सितानि करणानि शब्दयन्ति, अणन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेर्घा । पापे, विशेष०। आ० म० । अण वणेति दण्डकधातुः । अणनि गच्छति तासु तासु यो निषु जीवोऽनेनेति । पापे आ० म० द्वि० । म० । शब्दकरणगाल्यादिप्रदाने, त०। अणन्त्यनेन जन्तुअनुर्गतिक ससारमित्यणम् । कर्मणि, आचा० १ ध्रु० २ अ० १ उ०। शब्दे, गतौ च । विशेष०। अण रणेत्यादि दण्डकधातुः । अणन्तीवाऽधिकलहेतुत्वेनासातवेद्यं नरकाद्यागुप्तं शब्दयन्तीत्यणाः । क्रोधादिषु चतुर्थे कपायेषु, विशेष० ।

अन-न० । एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वादनन्तानुबन्धिषु क्रोधादिषु चतुर्थे कपायेषु, विशेष० । "अण दस नपुसिन्धी-वेद्यं उक्क च पुरिसवेद्य च" विशेष० । आ० म० प्र० ।

अनस्-न०। शकटे, अन इव अनः। शरीरे, तस्याऽन्तरात्मसाराधिना प्रवर्तनीयत्वात् । जै० गा० ।

अण-न०। व्यवहारकदेयद्रव्ये, शा० १ ध्रु० १८ अ० । अष्टप्रकारे कर्मणि, वृत्त० १ अ० । आश्व० ।

अणइ-अनति-अव्य० । अतीति अव्ययमतिक्रमार्थे, न अति अनति । अनतिक्रान्ते, तं० ।

अणइकमणिज्ज-अनतिक्रमणीय-त्रि० । व्यञ्जिचारयितुमशक्ये, "अणइकमणिज्जाइ भागरणाइ" म० १५ श० १ उ० ।

अणइप्परु-अनतिप्रकट-त्रि० । अनतिप्रकाशे, ध० १ अधि०।

अणइवसिय-अनतिपत्य-अव्य० । अनतिक्रम्येत्यर्थे, "अणइवसिय सव्वेसि पाणाण" आचा० १ ध्रु० ६ अ० ५ उ० ।

अणइवर-अनतिवर-न० । प्रधाने, न विद्यतेऽतिवर यस्मात्तदनतिवरम् । सर्वभेदे, औ० ।

अणइवरसोमचाररूप-अनतिवरसोमचाररूप-त्रि० । अतीव अतिशयेन सोम इष्टिसुभग चारुरूप येषां ते तथा । यच्चा-अतीति अव्ययमतिक्रमार्थे, न अति अनति; सौम्य च तद्वारु च सौम्यचारु, सौम्यचारु च तद्रूप च सौम्यचारुरूपम्, वर च तत्सौ-

स्यचारुसुव च वरसौम्यचारुसुवम् । अनतीति अनतिक्रान्तं वर-
सौम्यचारुसुव येषां ते अनतिवरसौम्यचारुसुवः । देवमनुष्या-
दिभिः स्वलावण्यगुणादिभिरजितरूपेषु, तं० । “ तेन मण्डुया
अण्डवरसोमचारुसुवा भोगुत्तमा ” त०। औ० ।

अण्डवापमाण-अनतिपातयत्-त्रि० । प्राणाद्यतिपातमकुर्वति,

“ अण्डकंजमाणं अण्डवापमाणं ” आच्चा० १५०८३३३० ।

अण्डविलंबित-अनतिविलम्बितत्व-न० । अष्टाविंशे सत्य-
वचनातिशये, रा० ।

अण्डसंधाण-अनतिमन्धान-न० । न अतिसन्धानमनतिस-
न्धानम् । दर्श० । अवञ्चने, “ भियगाऽण्डसंधाणं सासयद्युद्धी य
जयणा य ” पञ्चा० ७ वि० ।

अण्ड-देशी-क्रमे, द्वे० ना० १ वगं ।

अण्डग-अनङ्ग-न० । नास्ति अङ्गमाकारो यस्य । आकाशे, चित्ते
च । वाच० । अङ्गानि मैथुनापेक्षया योनिर्मेहन च, तद् व्यतिरि-
कान्यनङ्गानि । कुचकक्षोरुवदनादिषु, पञ्चा० १ वि० । आहा-
र्ये सिद्धादौ, स्था० ५ ग० २ उ० । मोहोदयोद्भूततन्मैथुना-
ध्यवसायाख्ये कामे, आव० ६ अ० । स च पुस-स्त्रीपुनपुसक-
सेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा, वेदोदयात् । तथा-स्त्रियोऽपि पुरु-
षनपुसकस्त्रीसेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा । नपुसकस्यापि-नपु-
सकपुसकस्त्रीसेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा । प्रव० ६ द्वा० । ध० ।
कामदेवे, पु० । एका० कोश । आनन्दपुरे नगरे जितारिराजस्य
विश्वचनाया भाट्याया जाते पुत्रे, ग० २ अधि० । वृ० ।

अणंगकिङ्का (कीका) -अनङ्गकीका-स्त्री० । अनङ्गानि कु-
चकक्षोरुवदनादीनि तेषु कीकनमनङ्गकीका । योनिर्मेहनयोरन्यत्र
रमणे, पञ्चा० ३ वि० । आव० । अनङ्गो मोहोदयोद्भूतस्तीव्रो
मैथुनाध्यवसायाख्य कामो भग्यते, तेन तस्मिन् वा कीका
अनङ्गकीका । समाप्तप्रयाजनस्यापि स्थलिकेनाऽऽहार्ये. काष्ठ-
पुस्तफलमृत्तिकाचर्मादिघटितप्रयोजनैर्योषिदवाच्यप्रदेशासेच-
न, आव० ६ अ० । पञ्चा० । स्थलिकेन कृतकृत्योऽपि योषि-
तामवाच्यदेशं नूयो नूय कुश्रति । केशाकर्षणप्रहारदानदन्तन-
खकदर्थनादिप्रकारैश्च मोहनीयकर्मवशात्तया कीकति यथा
प्रवक्षे राग. समुज्जृम्भते इति तत्त्वम् । प्रव० ६ द्वा० । ध० ।
अनङ्ग. कामस्तत्प्रधाना कीका, परदारिषु अधरदशनाऽलिकृणा-
दिकरणे, वात्स्यायनाद्युच्यतुरशीतिकरणासेचने च । ध० २
अधि० । अनङ्गकीकनमप्यत्र । पञ्चा० १ वि० । अयं च स्वदार-
सतुष्टेस्तृतीयश्चतुर्थो वाऽतिचारः आवकेण न समाचरितव्यः ।
अतिचारताऽस्य स्वदारिण्योऽन्यत्र मैथुनपरिहारेणानुरागादा-
लिङ्गनादि व्रतमालिन्यादिति । उपा० १ अ० । ध० २० । आ० ।
अस्यादावर्थक्रियालक्षणे रुम्प्राप्तकामभेदे, प्रव० १६९ द्वा० ।
‘ अष्टावर्कं गा ह्यन्यस्ता यस्याः साऽनङ्गकीका ’ इत्युक्तलक्षणे
मात्रावृत्तिभेदे, वाच० ।

अणंगममिसेविणी-अनङ्गप्रतिसेविनी-स्त्री० । मैथुने प्रधान-
मङ्ग मेहन भगवत्, तत्प्रतिपेक्षोऽनङ्गम, तेनाऽनङ्गेनाहार्यलिकृ-
दिना, अनङ्गे वा मुखादौ, प्रतिसेवाऽस्ति यस्याः । अनङ्ग वा काम-
मपरापरपुरुषसंपर्कतोऽतिशयेन प्रतिसेवत इत्येवशीला अनङ्ग-
प्रतिसेविनी तथाविधवेद्याद्यत् आहार्यलिकृदिना, मुखादौ वा,
बहुपुरुषैर्वा मैथुनप्रतिसेवमानायाम्; एतादृशी स्त्री गर्भं न धार-
यति । स्था० ५ ग० २ उ० ।

अणंगपविट्ट-अनङ्गप्रविट्ट-न०। त०। स०। सविरैर्जन्मबाहुसामि-

प्रभृतिमिराचार्यैरुपनिबद्धे आचर्यकनिष्कृत्यादौ भुतविशेषे,
आ० म प्र० । न०। वृ०। विशेषः । (‘ अंगपविट्ट ’ शब्देऽत्रैव प्रागे
३७ पृष्ठेऽस्य विशेषस्वरूपमुक्तम्)

अणंगमंजरी-अनङ्गमंजरी-स्त्री० । पृथिवीचूर्नरत्नाथस्य
रेखायां सुनायाम्, दर्श० ।

अणंगमेण-अनङ्गमेन-पुं० । सुवर्णकामभेदे, ‘ कुमारनन्दी ’
इति तस्य नामान्तरम् । वृ० ४ त० । (तत्कथा ‘ दसन्नर ’ शब्दे
दर्शयिष्यते) ग० १ अधि० । नि० । त० ।

अणंगसेणा-अनङ्गमेना-स्त्री० । कृष्णवासुदेवसमये द्वारवतीजा-
तायां प्रधानगणिकायाम्, आ० चू० । नि०। अन्त०। आ० म० ।

अणंत-अनन्त-त्रि० । नाऽस्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः । निरन्वयनाश-
नानदयमाने, अपरिमिते, निरवधिके च । “ अणते णिदं लोप
सासप ण धिणस्सति ” नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः । न निरन्वयना-
शेन नश्यतीत्युक्तं प्रवतीति । सूत्र० १ भु० १ अ० ४ उ० । न० ।
अक्षये, प्रश्न० ३ आ० ४ द्वा० । अपर्यवसाने, दर्श० । सूत्र० ।
नाऽस्यान्तो विद्यत इत्यनन्तम् । केवलामनोऽनन्तत्वात् । वृ० ।
रा० । प्रश्न० । अनन्तार्थविषयत्वाद् वाऽनन्तमन्तरहितम्, अप-
र्यवसितत्वात् । दशा० १० अ० । स्था० । अनन्तार्थविषयज्ञान-
स्वरूपत्वात् । स० १ सम० । अविनाशित्वात् । ज० १ वक्त्र० ।
केवलज्ञाने, का० १ भु० ७ अ० । आकाशे च, (न०) तस्यान्तव-
र्जितत्वात् । भ० १२ श० १० उ० । भरतक्रेत्रजे अवसर्पिण्याभ्य-
तुर्दशे तीर्थकरे, अनन्तकर्मीशजयादनन्तः । अनन्तानि वा क्वा-
नादीनि अस्येति । “ सव्येहिं वि अणता कम्मसा जिया सव्येहिं
च अणताणि णाणादीणि वि रयणविचित्तमणत दामं सुमिणे
ततो अणतो ” रत्नविचित्ररत्नखचिनमनन्तमेति महाप्रमाणं दामं
स्वप्ने जनन्या दृष्टमतो मतोऽनन्त इति । आ० म० द्वि० । अन-
न्तान् कर्मीशान् जयति, अनन्तैर्वा ज्ञानादिभिर्जयति अनन्तजित् ।
तथा गर्भस्थे जनन्याऽनन्तरत्नदामिन् दृष्टे जयति च त्रिभुवनेऽप्य-
नन्तजित्, भीमो प्रीमसेन इतिवदनन्त इति । ध० २ अधि० ।
(अनन्तक्रियाऽन्तरादि ‘ तिथ्यर ’ शब्दे वक्ष्यते) साधार-
णजीवे, प्रश्न० १ आ० ४ द्वा० ।

अणतः-अनन्तजित्-पु० । अवसर्पिण्याभ्यतुर्दशे तीर्थकरे,
ध० २ अधि० ।

अणेतस-अनन्तांश-पु० । अनन्ततमोऽंशो भागोऽनन्तांशः । अ-
नन्ततमे भागे, विक्षे० ।

अणंतकर-अनन्तकर-त्रि० । ससारपारगमनाऽसमर्थे, “ तेनाति
सजोगमविष्पहाय, कायोवगा णतकरा प्रवति ” । कायोपगास्त-
दुपमदोरम्भप्रवृत्ताः ससारस्यानन्तकरा स्युः । ससारस्यान्त-
करा न भवन्तीत्यर्थः । सूत्र० २ भु० ७ अ० ।

अणंतकाय-अनन्तकायिक-पु० । अनन्ताः कायिका जीवा यत्र
तदनन्तकायिकम् । अनन्तजीवे घनस्पतिभेदे, ध० १ अधि० ।
प० व० । (लक्षणदि चास्य ‘ अणंतजीव ’ शब्दे वक्ष्यते)

अणंतकाय-अनन्तकाय-पु० । अनन्तजीवे घनस्पतौ, प० व० ४ द्वा० ।

अणंतकाल-अनन्तकाल-पु० । अपर्यवसितकाले, प्रश्न० ३
आ० ४ द्वा० ।

अणंतकिति-अनन्तकीर्ति-पु० । धर्मदासगरयपरनामके उपदे-
शमालाकृति आचार्ये, जै० ६० ।

अणंतखुत्तो-अनन्तकृत्वसू-अत्र०। अनन्तवारानित्यर्थः । “अ-
ह ए भते । जीवे णेरइयत्ताए उववण्णुवे हंता गोयमा ! असति
अहुवा अणतफ्फुत्तो ’ ज० १२ श० ६ उ० ।

अणंतग (य) अनन्तक-न० । गणनासख्याभेदे, स्था० ।

तच्च पञ्चधा—

पंचविहे अणंतए पणत्ते । तं जहा-णामाणंतए, ठवणाणं-
तए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए ॥ अहवा पंच-
विहे अणंतए पणत्ते । तं जहा-एगओणंतए, दुहओणंतए,
देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए ॥

पंचविहेत्यादिसुब्रह्म प्रतीतिार्थम्, नवर, नाम्ना अनन्तक नामा-
नन्तकम्, अनन्तकमिति यस्य नाम यथासमयज्ञापयामास्य-
मिति । स्थापनैव स्थापनया वा अनन्तक स्थापनाजनन्तकम्,
अनन्तकमिति कल्पनयाऽङ्गादिन्यासः कुशरीरादिव्यतिरिक्तम्,
द्रव्यालामेवादीनां गणनीयानामनन्तकं द्रव्यानन्तक, गणना
सख्यानं तल्लक्षणमनन्तकमविचक्षिताऽस्वादिसंख्येयविषयं स-
ख्याविशेषो गणनानन्तकम्, प्रदेशानां सख्येयानामनन्तकप्रदेशा-
नन्तकमिति । एकत एकेनांशेनायामलक्षणानन्तकमेकतोऽनन्त-
कम्-एकश्रेणीक क्षेत्रम्, द्विधा आयामविस्ताराभ्यामनन्तकं द्विधा-
ऽनन्तक-प्रतरक्षेत्रम्, क्षेत्रस्य यो रुचकापेक्षया पूर्वोऽन्यतरदिग्ग-
क्षणे देशस्तस्य विस्तारो विष्कम्भस्तस्य प्रदेशापेक्षयाऽनन्तक
देशविस्तारानन्तकम्, सर्वाकाशस्य तु चतुर्थम्, शाश्वतं च त-
दनन्तकं च शाश्वतानन्तकमनाद्यपर्ययमित यज्जीवादिक्रयम्,
अनन्तसमयस्थितिकत्वादिति । स्था० ५ भा० ३ उ० ।

दसविहे अणंतए पणत्ते । तं जहा-णामाणंतए, ठवणाणं-
तए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए, एगओ-
णंतए, दुहओणंतए, देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थारा-
णंतए, सासयाणंतए ।

नामानन्तकम्-अनन्तकमित्येषां नामभूता वर्णानुपूर्वी यस्य, वा
सञ्चैतनादेर्वस्तुनोऽनन्तकमिति नाम तन्नामानन्तकम् । स्थाप-
नानन्तक-यद्वादावनन्तकमिति स्थाप्यते । द्रव्यानन्तकं-जीवद्र-
व्याणां पुद्गलद्रव्याणां वा यदनन्तकम्, गणनाऽनन्तक-यदेको द्वौ
त्रय इत्येव सख्याना असख्याता अनन्ता इति संख्यामानव्य-
पेक्ष सख्यामात्रनया सख्यातमात्र व्यपदिश्यत इति । प्रदेशानन्त-
कम्-आकाशप्रदेशानां यदानन्त्यमिति । एकतोऽनन्तकम्, अती-
ताऽङ्गा अनागताऽङ्गा वा द्विधाऽनन्तकम्, सर्वाङ्गा देशविस्तारा-
नन्तकम्-एक आकाशप्रतर । सर्वविस्तारानन्तक सर्वाकाशा-
स्त्रिकाश्च इति । शाश्वतानन्तकमकृत्यं जीवादि द्रव्यमिति ।
स्था० १० भा० ।

से किं अणंतए ? । अणंतए तिविहे पणत्ते । तं जहा-
परिचाणंतए, जुत्ताणंतए, अणताणंतए । से किं परिचा-
णंतए ? । परिचाणंतए तिविहे पणत्ते । तं जहा-जहण-
ए, उक्कोमए, अजहणमणुकोसए । से किं जुत्ताणं-
तए ? । जुत्ताणंतए तिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए,
उक्कोसए, अजहणमणुकोसए । से किं अणताणंतए ? ।
अणताणंतए तिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए,
अजहणमणुकोसए ।

अनन्तकमपि-परीक्षानन्तकं, युक्तानन्तकम्, अनन्तानन्तकम् ।
अत्राद्यनन्तभेदद्वये जेघन्यादिभेदात् प्रत्येक त्रैविध्यम् । अनन्ता-
नन्तक तु-जघन्यमजघन्योत्कृष्टमेव प्रवर्ततेति । उत्कृष्टानन्तानन्त-
कस्य काप्यसंज्ञादिति सर्वमपीदमष्टविधम् । अनु० ।

जहण्यं परिचाणंतयं केवइअं होइ ? । जहण्यं असंसे-
ज्जासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अणमण्णभासो पण्णुसो
जहण्यं परिचाणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए असंसेज्जा-
संखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहण्यं परिचाणंतयं होइ,
तेण परं अजहणमणुकोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं प-
रिचाणंतयं ए पावइ । उक्कोसयं परिचाणंतयं केवइअं होइ ? ।
जहण्यं परिचाणंतयमेत्ताणं रासीणं अणमण्णभासो
रूणो उक्कोसयं परिचाणंतयं होइ, अहवा जहण्यं
जुत्ताणंतयं रूणं उक्कोसयं परिचाणंतयं होइ । जहण्यं
जुत्ताणंतयं केवइअं होइ ? । जहण्यं परिचाणंतयमेत्ताणं रा-
सीणं अणमण्णभासो पण्णुसो जहण्यं जुत्ताणंतयं होइ,
अहवा उक्कोमए परिचाणंतए रूवं पक्खित्तं जहण्यं जुत्ता-
णंतयं होइ, अभवसिद्धिआ वि तत्तिआ होइ, तेण परं अज-
हणमणुकोसयाइं जाव उक्कोसयं जुत्ताणंतयं ए पावइ ।
उक्कोसयं जुत्ताणंतयं केवइअं होइ ? । जहण्यं जुत्ताणंतए
अभवसिद्धिआ गुणिता अणमण्णभासो रूणो उक्कोसयं
जुत्ताणंतयं होइ, अहवा जहण्यं अणताणंतयं रूणं
उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ । जहण्यं अणताणंतयं केवइअं
होइ ? । जहण्यं जुत्ताणंतए अभवसिद्धिआ गुणिआ
अणमण्णभासो पण्णुसो जहण्यं अणताणंतयं होइ, अ-
हवा उक्कोसए जुत्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहण्यं अणता-
णंतयं होइ, तेण परं अजहणमणुकोसयाइं ठाणाइं ।

जघन्यपरीक्षानन्तके यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावत्संख्येयानां
राशीनां प्रत्येक जघन्यपरीक्षानन्तकप्रमाणानां पूर्ववद्व्याया-
न्यासरूपेणमुद्रूप परीक्षानन्तक भवति । ‘अहवा जहण्यं जु-
त्ताणंतयमित्यादि’ स्पष्टम् । ‘जहण्यं जुत्ताणंतयं केत्तियमित्यादि’
व्याख्यातार्थमेव । ‘अहवा उक्कोमय परिचाणंतयं’ इत्यादि
सुशोधम् । जघन्ये च युक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि प्रवर्तयन्त-
व्यतिरिक्ता अपि जीयाः कथंलिता तावन्त एव दृष्टान्तः । ‘जहण्यं
मित्यादि’ कण्ठपम् । ‘उक्कोमय जुत्ताणंतयं केत्तियमित्यादिः
जघन्येन युक्तानन्तकेनाभ्यरादिगुणिता रूपाणि मन्तुराहमुक्ता-
नन्तकं प्रवर्तते, तेन तु रूपेण सह जघन्यमनन्तानन्तकं, मन्तुराह-
मन्तकं प्रवर्तते, अहवा जहण्यं अणताणंतयमित्यादि’ इत्यादि ।
‘जहण्यं अणताणंतयं केत्तियमित्यादि’ जघन्यार्थमेव । ‘अहवा
उक्कोमय जुत्ताणंतयं इत्यादि’ प्रतीतिमेव । ‘तेन परं अजहणमणु-
कोसयाइं इत्यादि’ जघन्यादन्तानन्तकान्तरत्वं सर्वावयवि अज-
घन्यादन्तानन्तानन्तकस्य इत्यादिनां अन्तर्गतं, जहण्यमन्त-
नन्तकं नाभ्येवेत्यभिप्रायः । अन्ये रूपाण्योः प्रतीतिरूपमिति ।
अजघन्यमनन्तानन्तकं नाभ्येवेत्यभिप्रायः, मन्तुराहमन्तक-
प्रतीतिरिति । मन्तुराह-

“सिद्धा निगोयजीवा, वज्रसर्प काल पुमाला चैव ।
सध्वमहोगागास, उप्येतेऽण्तरं पञ्चसेवा” ॥ १ ॥

अयमर्थः—सर्वे सुहृन्मन्त्रादरनिगोदजीवाः प्रत्येकानन्ताः, सर्वे
धनरूपतिजन्तवः सर्वोऽप्यतीतानागतवर्तमानकालसमयराशिः,
सर्वपुद्गलव्यसमूहः, सर्वाल्लोकाकाशप्रदेशराशिः। एते च प्रत्ये-
कमनन्तस्वरूपाः बद् प्रक्षेप्याः, एतैश्च प्रक्षिप्तैर्यो राशिर्जायते, स
पुनरपि धारत्रय पूर्ववद्भवति, तथाऽप्युत्कृष्टमनन्तानन्तकं न भव-
ति; ततश्च केष्वज्ञानकेवलदर्शनपर्यायाः प्रक्षिप्यन्ते । एव च
सत्युत्कृष्टमनन्तानन्तकं सम्पद्यते, सर्वस्यैव वस्तुजातस्य संशु-
द्धीतत्वात् । अतः परं वस्तु सर्वस्यैव सत्याविषयस्याभावादि-
ति नावः । सूत्राभिप्रायस्तु—इत्थमप्यनन्तानन्तकमुत्कृष्टं न प्रा-
प्यते; अजघन्योत्कृष्टस्थानानामेव तत्र प्रतिपादितत्वात् इति । त-
त्त्व तु केवलिनो विदन्तीति नावः । सूत्रे च यत्र कुत्राऽपि अन-
न्तानन्तकं गृह्यते तत्र सर्वत्राजघन्योत्कृष्टं द्रष्टव्यम्, तदेव प्र-
पितमनन्तकम् । अनु० ।

इदानीं नवविधमसख्येयकं नवविधमेव चानन्तकं
निरूपयितुमिच्छुर्गाथायुगमाह—

रुवजुयं तु परिचा-संखं लहु अस्स रासि अन्नासे ।

जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलिथासमयपरिमाणं ॥ ७८ ॥

पूर्वोक्तमेवोत्कृष्टं सख्येयकं, रूपयुतं तु रूपैकैकं सर्वपेण पुन-
र्युक्तं सल्लुजु अजघन्य परीक्षासख्य परीक्षासख्येयकं भवति । इद-
मत्र हृदयम्—इह येनैकेन सर्वपरूपेण रहितोऽनन्तरोहिष्ठो राशि-
रुत्कृष्टसख्यातकमुक्तं तत्र राशौ तस्यैव रूपस्य निक्षेपो यदा क्रियते
तदा तदेवोत्कृष्टं सख्यातकं जघन्य परीक्षासख्यातकं भवतीति ।
इह च जघन्यपरीक्षासख्येयकेऽभिहिते यद्यपि तस्यैव मध्यमोत्कृ-
ष्टमेदप्ररूपणावसरस्तथापि परीक्षयुक्तनिजपद्मेदतस्त्रिजेदाना-
मप्यसख्येयकानां मध्यमोत्कृष्टमेदौ पञ्चादल्पवक्तव्यत्वात्प्ररूप-
यिष्येते । अतोऽधुना जघन्ययुक्तासख्यातकं तावदाह— (अस्स
रासि अन्नासे इत्यादि) अस्य राशेरजघन्यपरीक्षासख्येयकगत-
राशे, अजघनासे परस्परगुणने सति, लघु जघन्य, युक्तासख्येयकं भ-
वति, तच्चावलिकासमयपरिमाणम् । आवलिका—“असंखिज्जाण
समयाणं समुदयसमिद्धसमागमेण ” इत्यादिसिद्धान्तप्रसिद्धा,
तस्याः समया निर्विभागाः कालविभागाः, तत्परिमाणमावलि-
कासमयपरिमाणम्, जघन्ययुक्तासख्येयकतुल्यसमयराशिप्रमा-
णा आवलिका इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—जघन्यपरीक्षासख्येय-
कसङ्घीनि यावन्ति सर्वपलक्षणानिरूपाणि तायेकैकशः पृथ-
क् पृथक् सस्थाप्य तत एकैकस्मिन् रूपे जघन्यपरीक्षासख्यात-
कप्रमाणो राशिर्भवेत्स्थाप्यते । तेषां च राशीनां परस्परमज्यासो
विधीयते । इहैव नावना-असत्कल्पनया किञ्च जघन्यपरीक्षास-
ख्येयकराशिस्थाने पञ्च रूपाणि कल्प्यन्ते; तानि विभ्रियन्ते-जाताः
पञ्चैककाः १११११ एककानामधः प्रत्येकं पञ्चैव वाराः पञ्च व्य-
वस्थाप्यन्ते । तद्यथा— $\frac{१११११}{५५५५५}$ अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिता

जाता पञ्चविंशतिः । साऽपि पञ्चभिरभ्यासे जात पञ्चविंश-
शतम् । इत्यादिक्रमेणामीषां राशोनां परस्परमज्यासे जा-
तानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकविंशच्छतानि ३१२५ । एवं कल्प-
नया तावदेतावन्मात्रो राशिर्भवति, सद्भावतस्त्वसख्येयरूपो
जघन्ययुक्तासख्यातकतया मन्तव्य इति ॥ ७८ ॥

सम्प्रति शेषजघन्यासख्यातासख्यातकनेदस्य जघन्यपरीक्षा-

नन्तकादिसख्यातां त्रयाणां जघन्यानन्तकनेदानां च स्वरूपम-
तिदेशतः प्रतिपिपादयिषुराह—

त्रि ति चउ पंचम गुणणे, कमा मगासंख पढमचउसत्ता-
ऽणता ते रुवजुया, मज्झा रुवूण गुरु पञ्चा ॥ ७९ ॥

इह ‘संखिज्जेगमसंखमित्यादि’ गाथोपन्यस्तमुत्कृष्टं सख्यातकम् ।
उत्कृष्टसख्यातकादिमौलसप्तपदापेक्षया सख्यातकाद्यनेदधिक-

परी०सं० २	युकासं० ३	असख्यासं० ४	लानि यानि प-
परी०अ० ३	युक्तानं० ६	अनन्तानन्त० ७	रीक्षासख्यात-

कादीनि वदपदानि तानि परीक्षासख्यातकानन्तानन्तकमेदस्य-
विकल्पानि द्वित्रिचतुःपञ्चसख्यात्वेन प्रोक्तानि, ततो द्वित्रिचतुः-
पञ्चमगुणने द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमपदवाच्यराशेरन्योन्याज्या-
से सति, क्रमात् क्रमेण, (सगासख सि) प्राकृतत्वात् सप्तमास-
ख्यातम् । स्थापनापेक्षया जघन्यासख्यातासख्यातकम् । (पढम-
चउसत्ताऽणत सि) प्राकृतत्वात् प्रथमचतुर्थसप्तमान्यनन्तकानि,
तत्र प्रथमानन्तकं जघन्यपरीक्षानन्तकं चतुर्थानन्तकं जघन्ययु-
क्तानन्तकं सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं भवतीति । इह जघन्य

जघ० सं० १	मध्य० सं० २	उत्कृ० सं० ३	मध्यमोत्कृष्टनेद-
परी०अ०ज०१	परी०अ०म०२	प०अ०उ०३	तोऽसख्येयान-
यु० अ० ज०४	यु०अ० म०५	यु०अ० व०६	न्तकयोः प्रत्ये-
अ०अ०ज०७	अ०अ० म०८	अ०अ० उ०९	कनवविधत्वात्
प०अ०ज०१	प०अ० म०२	प०अ० उ०३	प्रदर्शितमेदानां
यु० अ० ज०४	यु०अ० म०५	यु०अ० उ०६	सप्तमप्रथमादि-
अ०अ०ज०७	अ०अ०म०८	अ०अ०उ०९	संख्यान सग—

चउत एव । इदमत्रैदपर्यम्—द्वितीये युक्तासख्यातकपदवाच्ये ज-
घन्ययुक्तासख्यातकतत्क्षणे राशौ विधृते सति यावन्ति रूपाणि
तावत्सु प्रत्येकं जघन्ययुक्तासख्यातकमाना राशयोऽन्यसनी-
यास्ततस्तेषां राशीनां परस्परतामने यो राशिर्भवति, तत्
सप्तमासख्येयकं मन्तव्यम् । तृतीये त्वसख्येयकासख्येयक-
पदवाच्ये जघन्यासख्येयकासख्येयकरूपे राशौ यावन्ति रू-
पाणि तावतामेव जघन्यासख्येयकासख्येयकराशीनामन्यो-
न्यगुणने सति यो राशिः सपद्यते तत्प्रथमानन्तकं जघ-
न्यपरीक्षानन्तकमथसेयम् । चतुर्थे तु परीक्षानन्तकपदवाच्ये
जघन्यपरीक्षानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावत्सख्यानां
जघन्यपरीक्षानन्तकराशीनां परस्परमज्यासे यावान् राशिर्भव-
ति तच्चतुर्थमनन्तकं जघन्ययुक्तानन्तकं भवति । पञ्चमे युक्तान-
न्तकपदवाच्ये जघन्ययुक्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि
तत्प्रमाणानामेव जघन्ययुक्तानन्तकराशीनां परस्परगुणने यावान्
राशिः सपद्यते तत्सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं भवति ।
आह—परीक्षासख्यातक १ युक्तासख्यातक २ असख्यातास-
ख्यातक ३ परीक्षानन्तक ४ युक्तानन्तक ५ अनन्तानन्तक - ६
लक्षणं। षरुपि राशयो जघन्यास्तावन्निर्दिष्टा, मध्यमा उत्कृष्टा-
श्चैते कथं मन्तव्या इत्याह—(ते रुवजुया इत्यादि) ते अनन्तरोहि-
ष्टा जघन्याः षरुपि राशयो रूपैककलक्षणैः युताः समन्वि-
ताः । रूपयुताः सन्तः किं भवन्तीत्याह—मध्या मध्यमाः, ज-
घन्योत्कृष्टा इति यावत् । तत्र यः प्राग्निर्दिष्टो जघन्यपरीक्षा-
सख्यातकराशिः स एकास्मिन् रूपे प्रक्षिप्ते मध्यमो भवति । उ-
पलक्षणं चैतत्—नैकरूपप्रक्षेप एव मध्यमज्ञानं, किन्त्वैकैक-
रूपनिक्षेपेऽयं तावन्मध्यमो मन्तव्यो यावदुत्कृष्टपरीक्षासख्येयक-
राशिर्न भवतीत्येवमनया दिशा जघन्ययुक्तासख्यातकादयोऽपि

राशय एकैकस्मिन् रूपे निक्षिप्ते मध्यमाः सपद्यन्ते, तदनु चैकैकरूपवृद्ध्या तावन्मध्यमा अवसेया यावत् स्वस्वमुत्कृष्टपदनासादयन्तीति । तर्हि ते षमपि किंस्वरूपाः सन्त उत्कृष्टा भवन्तीत्याह—(रूपेण गुरुपञ्च त्ति) रूपैकैककक्षणेनोना न्यूना रूपोना सन्तस्ते एव प्रागभिहिता जघन्या राशयः, तेशब्द आवृत्त्येहापि सवन्धनीयः । किं भवतीत्याह—गुरव उत्कृष्टाः, पाश्चात्याः पश्चिमराशय इत्यर्थः । इयमत्र प्रावना—जघन्ययुक्तासख्यातकराशिरेकेन रूपेण न्यूनः, स एव पाश्चात्य उत्कृष्टपरीक्षासख्येयकस्वरूपो भवति । जघन्यासख्यातासख्यातकराशिस्तु एकेन रूपेण न्यूनः सन् पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तासख्यातकस्वरूपो भवति । जघन्यपरीक्षानन्तरकराशि पुनरेकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उत्कृष्टसख्यातकस्वरूपो भवति । जघन्ययुक्तानन्तरकराशिस्त्वेक-रूपोऽनः पाश्चात्य उत्कृष्टपरीक्षानन्तरकस्वरूपो भवति । जघन्यान्तानन्तरकराशिरेकरूपरहितः पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तानन्तरकस्वरूपो भवतीति ॥ ७१ ॥

इदं च सख्येयकानन्तरकभेदानामित्थं प्रकरणमागमाभिप्रायत उक्तम् । कैश्चिदन्यथाऽपि चोच्यते, अत एवाह—

इयं सुत्तुतं अने, वगियमिकांसि चउत्थयमसंखं ।

दोइ असंखासंखं, लहु ख्वजुयं तु तं मज्जं ॥ ७० ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण यदसख्यातकानन्तरकस्वरूप प्रतिपादित, तत्सूत्रेऽनुयोगद्वारत्वाक्ये सिद्धान्ते उक्तं निगदितम् । कर्म०४कर्म (अत्र मतान्तरम् 'असखिज्ज' शब्दे व्याख्यास्यते) । मृताच्छादनसमर्थं वस्त्रे, आव०४अ० । नवप्रवचनप्रसिद्धे अनन्तरकाये, पचा०४ वि० । अनन्तरग—त्रि० । अन्त गच्छतीत्यन्तरगः, नाऽन्तगः अनन्तरगः । अविनाशिनि, “ चिञ्चा अणंतग सोय, निरवेकसो परिव्वए ” सुत्र० १ शु० १ अ० ।

अणंतगुणिय—अनन्तरगुणित—त्रि० । अनन्तरगुणिते, विज्ञे० ।

अणंतथाइ (ए)—अनन्तरघातिन—पु० । अनन्तरविषयतया अनन्ते ज्ञानदर्शने हन्तुं विनाशयितुं शीलं येषां तेऽनन्तरघातिनः । ज्ञानदर्शनविनाशशरीरेषु ज्ञानावरणीयादिकर्मपर्यवेष्टुं, “ पस-त्यजोगपमिवन्नं य णं अणगारे अणतघाइपज्जवे खवेइ ” उक्त० २१ अ० ।

अणंतचक्रवु—अनन्तरचक्रु—पुं० । अनन्तं ज्ञेयानन्तरतया नित्यतया वा चक्रुरिव चक्रुः केवलं ज्ञान यस्य, अनन्तरस्य वा लोकस्य पदार्थप्रकाशकतया वा चक्रुर्भूतो य स भवत्यनन्तरचक्रुः । सुत्र० १ शु० ६ अ० । अनन्तमपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तरत्वाद् वाऽनन्तं चक्रुरिव केवलज्ञान यस्य स तथा । केवलज्ञानिनि, “ तरिउ समुहं च महाभवोघ, अजयकरे वरि अणंतचक्रु ” सुत्र० १ शु० ६ अ० ।

अणंतजिण—अनन्तरजिन—पु० । अनन्तरआसौ ज्ञानात्मतया नित्यतया वा जिनश्च रागद्वेषजयनादनन्तरजिनः । अवसर्पिण्याश्चतुर्दशे तीर्थकरे, आचा० । कल्प० । प्रव० ।

अणंतजीव—अनन्तरजीव—पु० । अनन्तरकायिके वनस्पतिभेदे, स्था० ३ भा० १ उ० ।

अनन्तरजीवस्य भेदास्तद्वृत्तं चेत्थम्—

तणमूलकंदमूलो, वंसीमूळि त्ति याऽवरे उ ।

संखेज्जमसंखिज्जा, बोधव्वा एतंजीवा य ॥ १ ॥

सिंघाडगस्स गुच्छो, अणेगजीवो उ हीति णायव्वो ।

पत्ता पत्तेय जीवा, दोणि य जीवा फले भण्णिथा ॥ २ ॥

जस्स मूळस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अणंतजीवे उ से मूले, जे यावस्से तहाविहा ॥ १ ॥

जस्स कंदस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से कंदे, जे यावस्से तहाविहा ॥ २ ॥

जस्स खंदस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से खंदे, जे यावस्से तहाविहा ॥ ३ ॥

जस्स तथाए भग्गाए, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवा तथा सा उ, जे यावस्से तहाविहा ॥ ४ ॥

जस्स सालस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से साले, जे यावस्से तहाविहा ॥ ५ ॥

जस्स पवाडस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे पवाले से, जे यावस्से तहाविहा ॥ ६ ॥

जस्स पत्तस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से पत्ते, जे यावस्से तहाविहा ॥ ७ ॥

जस्स पुप्फस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से पुप्फे, जे यावस्से तहाविहा ॥ ८ ॥

जस्स फलस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे फले से उ, जे यावस्से तहाविहा ॥ ९ ॥

जस्स बीयस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।

अणंतजीवे उ से बीए, जे यावस्से तहाविहा ॥ १० ॥

तृणमूलं कन्दमूलं यच्चापरं वंशीमूलम्, एतेषां मध्ये क्वचिज्जातिभेदतो देशभेदतो वा सङ्ख्याता जीवा, क्वचिदसख्याताः, क्वचिदनन्ताश्च ज्ञातव्याः । (सिंघाडगस्सेत्यादि) शुक्लाटकस्य यो गुच्छः सोऽनेकजीवो प्रवर्ततेति ज्ञातव्यः, त्वक्शाखादीनामनेकजीवात्मकत्वात् । केवलं तत्रापि यानि पत्राणि तानि प्रत्येकजीवानि, फले पुनः प्रत्येकमेकैकस्मिन् द्वौ जीवौ भणितौ । (जस्स मूलस्सेत्यादि) यस्य मूलस्य जगस्य सत् सम एका-न्तरूपश्चक्राकारो भङ्गः प्रकर्षेण दृश्यते, तन्मूलमनन्तरजीवमव-सेयम् । (जे यावस्से तहा इति) यान्यपि चान्यानि भग्नानि तथाप्रकाराणि अधिकृतमूलभग्नसमप्रकाराणि नान्यप्यनन्तरजी-वानि ज्ञातव्यानि । एव कन्दस्कन्धत्वकृशाखाप्रवालपत्रपुष्पफल-बीजविषया अपि नव व्याख्येयाः ॥ १० ॥ प्रज्ञा० १ पद ।

अधुना मूलादिगतानां वल्कलरूपाणां छल्लीनामनन्त-जीवत्वपरिज्ञानार्थं लक्षणमाह—

जस्स मूलस्स कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी जवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवस्सा तहाविहा ॥ १ ॥

जस्स कंदस्स कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी भवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवस्सा तहाविहा ॥ २ ॥

जस्स खंधस्स कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी जवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवस्सा तहाविहा ॥ ३ ॥

जस्स सालाइ कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी भवे ।

अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवस्सा तहाविहा ॥ ४ ॥

यस्य मूलस्य काष्ठाद् मध्यसारात् छल्ली वल्कलरूपा बहलतरी

भवति, सा अनन्तजीवा ज्ञातव्या । (जा याऽवस्था नह इति) याऽपि चान्या, अधिकृतया अनन्तजीवत्वेन निश्चितया समानरूपा ब्रह्मी, साऽपि तथाविधा अनन्तजीवात्मका, ज्ञातव्या । एव कन्दस्कन्ध-शाखाविषया अपि तिस्रो गाथाः परिभाषनीया । प्रज्ञा० १ पद । यदुक्तं 'जस्स मूखस्स भगस्स समो भगो य दीसई' इत्यादि तदेव लक्षणं स्पष्ट प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

चक्रागं भजमाणस्स, गंठी चुम्बणो जवे ।

पुढवीसरिसभेदेण, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ १ ॥

चक्रक चक्राकारमेकान्तेन सम भङ्गस्थान यस्य भज्यमानस्य मूलकन्दस्कन्धत्वकशाखापत्रपुष्पादेर्भवति, तन्मूलादिकमनन्त-जीव विजानीहि इति सम्बन्धः । तथा 'गंठी चुम्बणो जवे' इति । ग्रन्थिः पर्व सामान्यतो भङ्गस्थान वा स यस्य भज्यमानस्य चूर्णेन रजसा घनो व्याप्तो भवति, अथवा यस्य पत्रादेर्मज्ज्यमानस्य चक्राकार प्रङ्गरजसा ग्रन्थिस्थाने व्याप्तिं च विना पृथिवीसदृशेन भेदेन भङ्गस्थान भवति, सूर्यकरनिकरप्रतप्तकेदारतरिकाप्रतरङ्ग-एकस्येव समो भङ्गो भवतीति ज्ञावः, तमनन्तकाय विजानीहि । १ ।

पुनरपि लक्षणान्तरमाह—

गूढसिरागं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं ।

जं पि य पण्डसंधिं, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ २ ॥

यत्पत्र सच्छीरं निःक्रीरं वा गूढसिराकमलद्वयमाणशिराविशेष, यदपि च प्रणष्टसन्धिः सर्वथाऽनुपलब्धयमाणपत्रार्कद्वयसन्धिः, तदनन्तजीव विजानीहि ॥ २ ॥

सम्प्रति पुष्पादिगत विशेषमभिधित्सुराह—

पुष्पा जलया थलया, विटवप्ता य णालिवप्ता य ।

संविज्जमसंखेज्जा, बोधव्वा णंतजीवा य ॥ ३ ॥

पुष्पाणि चतुर्विधानि, तद्यथा-जलजानि सहस्रपत्रादीनि, स्थल-जानि कौरण्डकादीनि, एतान्यपि च प्रत्येक द्विधा । तद्यथा-कानि चिद् वृन्तवृक्षानि-अतिमुक्तकप्रभृतीनि, कानिचित्पत्रादिगतजीवापेक्षया सङ्क्षेपेयजीवानि, कतिचिदसङ्क्षेपेयजीवानि, कानिचिदनन्तजीवानि यथागम बोधव्यानि ॥ ३ ॥

अत्रैव किञ्चिद्विशेषमाह—

जे केइ नालिया बद्धा, पुष्पा संखेज्जजीविया ।

णिहुया अणंतजीवा, जे याऽवसो तहाविहा ॥ ४ ॥

पञ्मुप्पलिणी कंदे, अंतरकंदे तदेव भिद्धी य ।

एते अणंतजीवा, एगो जीवो भिस मुणाले ॥ ५ ॥

यानि कानिचिद् नालिकाबद्धानि पुष्पाणि जात्यादिगतानि तानि सर्वाण्यपि सङ्ख्यातज्जीवकानि प्राणितानि तीर्थकरणधरैः । किंहु किंहुपुष्प पुनरनन्तजीवम्, यान्यपि चान्यानि किंहुपुष्पक-रूपानि तान्यपि तथाविधानि अनन्तजीवात्मकानि ज्ञातव्यानि । (पञ्मुप्पलिणी कंदेत्यादि) पक्षिनीकन्द, उत्पक्षिनीकन्द, अन्तरकन्दो जलजवनस्पतिविशेषः कन्दः, किंहुका वनस्पतिविशेषरूपा, एते सर्वेऽनन्तजीवा, नवर पक्षिन्यादीनां विशेष, मृणाले च; एकजीवात्मके विशमृणाले इति ज्ञावः ॥ ५ ॥ प्रज्ञा० १ पद ।

सप्पाए सज्जाए, उव्वेइलिया य कुहुणकुहुके ।

एए अणंतजीवा, कुहुके होइ जयणाओ ॥ ६ ॥

एते कुहनादिवनस्पतिविशेषा लोफत प्रत्येयः । एते च

अनन्तजीवात्मकाः, नवर कन्दुके प्रजना, स हि कोऽपि देशविशेषादनन्तोऽनन्तजीवो भवति, कोऽप्यसंख्येयजीवात्मक इति ॥ ६ ॥

किं बीजजीव एव मृदादिजीवो भवति, ततान्यस्तस्मिन्नपक्रान्ते उत्पद्यते इति परप्रश्नमाशङ्क्याह—

जोणिञ्जए बीए, जीवो वक्कमइ सो व अणो वा ।

जो वि अ मूले जीवो, सो वि हु पत्ते पढमयाए ॥ ७ ॥

बीजे योनिभूते योन्यवस्थां प्राप्ते, योनिपरिणाममुज्जहतीति भा-वः । बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था । तद्यथा-योन्यवस्था, अयोन्यवस्था च । तत्र यदा बीज योन्यवस्थान जहाति, अथ चोज्जितं जन्तुना तदा तत् योनिभूतमित्यभिधीयते । उज्जितं च जन्तुना निश्चय-तो नावगन्तुं शक्यते, ततोऽनतिशायिना सम्प्रति सचेतनमचे-तनं वा अविध्वस्तयोनि योनिभूतमिति व्यवहियते । विध्वस्त-योनि तु नियमादचेतनत्वादयोनिभूतमिति । अथ योनिरिति कि-मभिधीयते ? उच्यते-जन्तोरुत्पत्तिस्थानमविध्वस्तशक्तिकं तत्र-स्थजीवपरिणमनशक्तिसम्पन्नमिति भावः । तस्मिन् बीजे यो-निभूते जीवो व्युत्क्रामति उत्पद्यते, स एव पूर्वको बीजजीवोऽन्यो वा आगत्य तत्रोत्पद्यते । किमुक्तं भवति-तदा बीजनिवर्त्तकेन जीवेन स्वायुषः कयाद् बीजपरित्यागः कृतो भवति । तस्य च बीजस्य पुनरमुकात्ताऽवनिसंयोगरूपसामग्रीसम्भवस्तदा क-दाचित् स एव प्राक्तनो बीजजीवो मृदादिनामगोत्र नियज्य तत्रागत्य परिणमति, कदाचिदन्यः पृथिवीकायिकादिजीवः । 'योऽपि च मूले जीव इति' य एव मूलतया परिणमते जीवः 'सोऽपि पत्रे प्रथमतयेति' स एव प्रथमपत्रतयाऽपि च प-रिणमते, इत्येकजीवकर्तृके मूलप्रथमपत्रे इति । आह—यद्येवं " सव्वो वि किसलओ खडु, उगममाणो अणंतओ म-णिओ " इत्यादि वक्ष्यमाणं कथं न विरुध्यते ? उच्य-ते-इह बीजजीवोऽन्यो वा बीजमूलत्वेनोत्पद्य तदुच्चूनावस्थां करोति, ततस्तदनन्तरं भाविनीं किसलयवस्थां नियमतोऽनन्ता जीवा कुर्वन्ति । पुनश्च तेषु स्थितिक्रियात्परिणतेषु अ-सावेव मूलजीवोऽनन्तजीवतनु स्वशरीरतया परिणमय्य ताव-द्धर्त्ते यावत्प्रथमपत्रमिति न विरोधः । अन्ये तु व्याचक्षते-प्र-थमपत्रमिह याऽसौ बीजस्य संमुच्चूनावस्था, तेन एकजीवक-र्तृके मूलप्रथमपत्रे इति । किमुक्तं भवति-मूलसंमुच्चूनावस्थे एकजीवपरिणमते एव । शेषं तु किसलयादिनाऽवश्यं मूल-जीवपरिणामाविर्भावितमिति । तत्र 'सव्वो वि किसलओ खडु, उगममाणो अणंतओ मणिओ' इत्यादि वक्ष्यमाणमविरुद्धम् । मूलसंमुच्चूनावस्थानिर्वर्तनाऽरम्भकाले किसलयत्वाभावादिनि । आह-प्रत्येकशरीरे वनस्पतिकायिकानां सर्वकालशरीरावस्था-मधिकृत्य किं प्रत्येकशरीरत्वमुन कस्मिंश्चिदवस्थाविशेषेऽनन्त-जीवत्वमपि सम्भवति ? । तथा साधारणवनस्पतिकायिकाना-मपि किं सर्वकालमनन्तजीवत्वमुन कदाचिन्प्रत्येकशरीरत्वम-पि भवति ? ।

तत्र आह—

सव्वो वि किमलओ खडु, उगममाणो अणंतओ मणिओ ।

सो चेव विवट्ठो, होइ परीत्तो अणतो वा ॥ ८ ॥

इह मज्जेन्द्र परिणेतव्यं । सव्वोऽपि वनस्पतिवत् प्रत्ये-कशरीरः साधारण एव किमलयाऽवस्थानुपगतं सन् अनन्त

कायस्तीर्थकरणभरैर्भणितः । स एव किसलयरूपः अनन्तकायिकः प्रवृत्तिं गच्छन् अनन्तो वा भवति परीक्षो वा । कथम् ? । उच्यते-यदि साधारणं शरीरं निर्वर्त्यते तदसाधारण एव भवति, अथ प्रत्येकशरीरं ततः प्रत्येकं इति । कियतः कासादूर्ध्वं प्रत्येको भवति इति चेदुच्यते-अन्तर्मुहूर्त्ताः । तथाहि-निगोदानामुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् स्थितिरुक्ता, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तत्परतो विवर्त्तमानः प्रत्येको भवतीति । प्रज्ञा० १ पद ।

निगोदादिशब्दैः सहास्य साविषयत्वादनन्तजीवस्य च अनन्तजन्तुसन्ताननिपातननिमित्तत्वाद् भक्षणं वर्ज्यम् । यतः-“नृज्यो नैरयिकाः सुराश्च निखिलाः पञ्चाक्षतिर्यग्गणो, द्व्यक्षाद्या ज्वलनो यथोत्तरममी सख्यातिगा भाषिताः । तेज्यो नृजलवायवः समधिकाः प्रोक्ता यथाऽनुक्रम, सर्वेभ्यः शिवगा अनन्तगुणितास्तेज्योऽप्यनन्ता नगा ” ॥ १ ॥ तानि आर्यदेशप्रसिद्धानि द्वात्रिंशत् । तदाहुः-

सन्वा य कंदजाई, सूरणकंदो अ वज्जकंदो अ ।

अल्ल हलिदा य तहा, अल्लं तह अल्लकच्चूरो ॥ १ ॥

सत्तावरी विराली, कुंआरि तह योहरी गलोई अ ।

लसुणं वंसकरिल्ला, गज्जर लूणो अ तह लोढा ॥ २ ॥

गिरिकषि किसलिपत्ता, खरिसुआ येग अल्ल मुत्था य ।

तह लूणरुखवल्ली, खिल्लहमो अमयवल्ली य ॥ ३ ॥

मूला तह नूमिरुहा, विरुहा तह ढकवत्युढो पढमो ।

सूअरवल्लो अ तहा, पल्लंको कोपलंबिलिआ ॥ ४ ॥

आदू तह पिंढालू, हवति एए अणतनामेणं ।

अन्नमणंतं नेअं, लक्खणजुत्तीइ समयाओ ॥ ५ ॥

सर्वैव कन्दजातिरनन्तकायिका इति सम्बन्धः । कन्दो नाम भूमध्यगोवृक्षावयवः । ते चात्र कन्दा अशुष्का एव ग्राह्याः, शुष्काणां तु निर्जीवत्वादनन्तकायिकत्वं न सम्भवति । श्रीहेमसूरिरप्येवमेव ‘आर्द्रः कन्दः समग्रोऽपि, आर्द्रोऽशुष्कः कन्दः । शुष्कस्य तु निर्जीवत्वादनन्तकायिकत्वं न सम्भवति’ इति योगशास्त्रसूत्रवृत्त्योराह । अथ तानेव काश्चित्कन्दान् व्याप्रियमाणत्वात्प्रामात आह-सूरणकन्दोऽर्शोघ्नः कन्दविशेषः १, वज्जकन्दोऽपि कन्दविशेष एव २, आर्द्रा अशुष्का, हरिद्रा प्रतीतैव ३, आर्द्रकं शृङ्गवेरम् ४, आर्द्रकचक्षुरस्तिक्लृप्तविशेषः प्रतीत एव ५, शतावरी ६ वराहिके ७ वल्लीमेदौ । कुमारी मांससप्रणासाकारपत्रा प्रतीतैव ८, योहरी स्नुहीतरु ९, गुडूची वल्लीविशेषः प्रतीत एव १०, लघुनं कन्दविशेषः ११, वशकरिल्लानि कोमलातिनववंशावयवविशेषाः प्रसिद्धा एव १२, गर्जरकाणि सर्वजनविदिता न्येव १३, लवणको वनस्पतिविशेषः-येन दग्धेन सर्जिका निष्पद्यते १४, लोढक पश्चिमीकन्दः १५, गिरिकर्णिका वल्लीविशेषः १६, किशलयरूपाणि पत्राणि प्रौढपत्रादूर्वाकं बीजस्योक्तूनावस्थासकृणानि सर्वाप्यनन्तकायिकानि, न तु कानिचिदेव १७, खरिशुका कन्दभेदाः १८, येगोऽपि कन्दविशेष एव १९, आर्द्रा मुस्ता प्रतीता २०, लवणापरपर्यायस्य अमरनाम्नो वृक्षस्य छल्लिस्त्वक्, न त्वन्येऽवयवाः २१, खिल्लहडो लोकप्रसिद्धः कन्दः २२, अमृतवल्ली वल्लीविशेषः २३, मूलको लोकप्रतीतः २४, भूमिरुहाणि कुत्राकाराणि वर्षाकालभवानि भूमिस्फोटकानीति प्रसिद्धानि २५, विरुढान्यङ्कुरितानि द्विदलधान्यानि २६, ढङ्गवास्तुलं शाकविशेषः, स च प्रथमोद्भूत एवानन्त-

कायिको न तु छिन्नप्ररुद्धः २७, शूकरसंज्ञको वङ्गः, स एवानन्तकायिको न तु धान्यवङ्गः २८, पल्लवङ्गः शाकभेदः २९, कोमलात्मिका अवस्थास्थिका त्रिंश्रिणिका ३०, आलुक ३१, पिण्डालुकौ ३२ कन्दभेदौ । एते पूर्वोक्ताः पदार्था द्वात्रिंशत्संख्याका अनन्तकायनामभिर्भवन्तीत्यर्थः । न चैतावन्येवानन्तकायिकानि किन्त्वन्येऽपि, तथाऽऽह-‘अन्यदपि’ पूर्वोक्तातिरिक्तमनन्तकायिकम्, लक्षणयुक्त्या वक्ष्यमाणलक्षणविचारणया, समयात् सिद्धान्ततः ज्ञेयम् ।

तान्येवानन्तकायानि यथा-

घोसकरीरं कुर ति-कुयं अइकोमलं वगाईणि ।

वरुणवरुनिं वयाई-ए अंकुराई अणंताई ॥ १ ॥

घोषातकीकरीरयोरङ्कुराः, तथाऽतिकोमलान्यवस्थास्थिकानि तिन्दुकाप्रफलादीनि, तथा वरुणवटनिम्बादीनामङ्कुरा अनन्तकायिकाः । अनन्तकायलक्षणं चेदम्-“गूढासिरसधिपञ्च, स ममंगमहिरुहं च छिन्नरुहं । साहारण सरीर, तव्विवरीअ च पत्तेअं” ॥ १ ॥ एवं लक्षणयुक्ता अन्येऽपि अनन्तकायाः स्युः, ते हेयाः । यतश्च-“चत्वारो नरकद्वाराः, प्रथम रात्रिभोजनम् । परस्त्रीसंगमश्चैव, सधानानन्तकायिके ” ॥ १ ॥ उक्तमनन्तकायिकम् । ध० २ अधि० । (अनन्तकायिकस्यादाने प्रायश्चित्तं ‘पल्लव’ शब्दे प्रदर्शयिष्यते) ।

अहं जंते ! आहुए मूलए सिंगवेरे हरिली सिरिली सिसिरली किट्टिया निरिया ठीरविरालिया कण्हकंदे वज्जकंदे सूरणकंदे खेज्जुडे अहमुत्था पिंढालिहा लोहाणि हूयिहूविजागा अस्सकषी सीहकषी सादंभी मुसुंभी जे याऽवणणे तहप्पगारा सव्वे ते अणंतजीवा विविहसत्ता । हंता गोयमा ! आहुए मूलएण जाव अणंतजीवा विविहसत्ता ॥ ५० ७ श० २ उ० । प्रज्ञा० ।

जे भिक्खू अणंतकायसंमिस्सं जुत्तं आहारं आहारेइ, आहारंतं वा साइज्ज ५ ।

जे भिक्खू अणंतिकातो मूलकंदो अल्लगफनादि वा एवमादि समिस्सं जो भुजति तस्स चउगुरु ॥

जे भिक्खू असणादी, भुंजेज्ज अणंतकायसंजुत्तं ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्ताविराहणं पावे ॥ ५३ ॥

आणादिया दोसा हवति; इमे दोसा-

तं कायपरिव्वयओ, तेण य वत्तेण समं वयति ।

अतिखण्डं अणुचित्ते, ए य विसूतिकादीणि आयाए ॥ ५५ ॥

इमा आयविराहणा-तेण रसालेण अतिखण्डेण अणुत्तेण य विसूतिकादी भवेमरेज्ज वा अजीरतो वा अक्षतरो रोगातको भवेज्ज, एवं आयविराहणा, जम्हा एते दोसा तम्हा ए भोतव्व; कारणे तु छेजेज्जा ।

असिंवे ओमोयरिण, रायडुडे भए च गेलसि ।

अज्जाण रोहए वा, जयणा इमा तत्थ कायव्वा ॥ ५५ ॥

पूर्ववत् इमे वक्खमाणजयणा-

ओमं तिभागमेहे, तिभाग आयं विले चउत्थादी ।

निम्मिस्से मिस्सेया, परित्थणं ते य जा जतणा ॥ ५६ ॥

जहं णव सुत्ते वक्खमाणो जहा वा पेढे भणिया तहा वत्तव्वा ।

इमो से अक्खरत्थो-ओम एसणिज्ज जुजति, तिभागेण वा ऊण एसणिज्ज जुजति, अक्कं वा एसणिज्ज, तिभाग वा एसणिज्जं, आ-यं विलेण वा अत्थति । चउत्थ वा करेति, ण य अणतकाय तम्मि-स्स भुजति जाहे णिम्मिस्स लब्भति, जाहे णिम्मिस्स ण लब्भति ताहे परीचकायमिस्स गेहति, जाहे त पि न लब्भति ताहे अणंतकायमिस्स गेहति, जा य पणगादिजयणा सा दृष्ट्वा । नि० चू० १० उ० ।

अणंतजीविअ-अनन्तजीविक-पु० । अनन्तकायिकवनस्पतौ, भ० ८ श० ३ उ० ।

अणंतणाण-अनन्तज्ञान-न० । अनन्तं स्वपरपर्यायापेक्षया वस्तु ज्ञायते येन तदनन्तज्ञानम् । केवलज्ञाने, दश० १ अ० ।

अणंतणाणदंसि-(ण्)अनन्तज्ञानदर्शिन्-पु० । अनन्तं ज्ञान दर्श-न च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शी । केवलज्ञानिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतणाणि (ण) अनन्तज्ञानिन्-पु० । अनन्तमविनाश्य-नन्तपदार्थपरिच्छेदक वा ज्ञान विशेषग्राहक यस्यासावनन्त-ज्ञानी । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । उत्पन्नकेवलज्ञाने तीर्थकरे, ज्यो० ६ पाहु० । स० ।

अणंतदंसि (ण) अनन्तदर्शिन्-पु० । अनन्तमविनाश्यनन्त-पदार्थपरिच्छेदक दर्शन सामान्यार्थपरिच्छेदक यस्य स अनन्तदर्शी । उत्पन्नकेवलदर्शने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतपणसिय-अनन्तप्रदेशिक-पु० । अनन्तपरपवात्मके स्कन्धे, ज० ८ श० २ उ० ।

अणंतपार-अनन्तपार-स्त्री० । अनन्तः पारः पर्यन्तो यस्य कालस्य स अनन्तपारः । अन्तविरहितपर्यन्ते, “ केण अणत पारः ससार हिंरुई जीवो? ” आतु० । “ से पञ्चा अक्खयसा-गरेवा, महोदही वा वि अणतपारे ” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतपासि (ण) अनन्तदर्शिन्-पु० । परवते भविष्यति वि-हातितमे तीर्थकृति, ति० ।

अणंतमिस्सिया-अनन्तमिश्रिता-स्त्री० । मूलकादिकमनन्त-काय, तस्यैव सत्कैः परिपाणुपञ्चैरन्येन वा केनचित् प्रत्ये-कवनस्पतिना मिश्रमवबोध्य सर्वोऽप्येपोऽनन्तकायिक इति वदतः । सत्यमृषाभाषाभेदे, प्रज्ञा० ११ पद० ध० ।

अणंतमिस्सिय-अनन्तमिश्रक-न० । अनन्तविषयक मिश्रक-मनन्तमिश्रकम् । सत्यमृषाभेदे, यथा मूलकन्दादौ परीतपत्रा-दिमत्यनन्तकायोऽयमित्यभिदधतः । स्था० १० ग० ।

अणंतमोह-अनन्तमोह-त्रि० । अनन्तोऽपर्यवसितस्तद्भावा-पेक्षया प्रायस्तस्याऽनपगमाद् मुह्यते येनाऽसौ मोहो ज्ञा-नावरणदर्शनमोहनीयात्मकः । ततश्चानन्तो मोहोऽस्येत्यनन्त-मोहः । उक्त० ४ अ० । अविनाशिदर्शनावरणमोहनीयकर्मणि, ‘ दीवप्पण्णे व अणतमोहे, नेयात्थ दधुमदधुमेव ’ उक्त० ४ अ० ।

अणंतर-अनन्तर-त्रि० । न विद्यतेऽन्तर व्यवधान यस्य । ६ अ० । अव्यवहिते, न० । पञ्चा० । निर्व्यवधाने, “ अण-तर देवल्लोप अणतर मणुस्सप भवे किं परं ” । भ० १४ श० ७ उ० । कल्प० । “ अणतर चय चइत्ता ” अव्य-वहित व्यवधान कृत्वेत्यर्थः । (शा० ८ अ०) देवजवसम्बन्धिन देह त्यक्त्वेत्यर्थः । अथवाऽनन्तरम्-आयु कयाद्यनन्तर (चय ति) व्यवधान (चइत्ता सि) ज्युत्वा, महाविदेहे अनन्तर शरीरं

त्यक्त्वा, व्यवधानं वा कृत्वा । विपा० १ श्रु० १ अ० । न विद्यते-ऽन्तर व्यवधानमस्येत्यनन्तरः । वर्तमानसमये, स्था० १० ग० । अणंतरखेचोगाढ-अनन्तरक्षेत्रावगाढ-त्रि० । आत्मशरीरा-वगाढक्षेत्रापेक्षया यदनन्तर क्षेत्रं तत्रावगाढे, ‘ नो अणंतरखे-चोगाढे पोम्मात्रे अत्तमायाप आहारैति ’ । ज० ६ श० १० उ० । अणंतरखेदोववसग-अनन्तरखेदोपपन्नक-त्रि० । अनन्तरं स-मयाद्यव्यवहितं क्षेत्रेन दुःखेनोपपन्नमुत्पादक्षेत्रमासिलक्षणं ये-षां तेऽनन्तरक्षेदोपपन्नका । क्षेत्रप्रधानोत्पत्तिप्रथमसमयवर्तिषु नैरयिकादिषु, ज० १४ श० १ उ० । (अत्र दूरकस्तेषामायुर्वन्धश्च ‘ आठ ’ शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरगंठिय-अनन्तरग्रन्थित-त्रि० । ३ त० । प्रथमग्रन्थी-नामनन्तरव्यवस्थितैर्ग्रन्थिभिः सह ग्रन्थिते, ज० ५ श० ३ उ० । अणंतरच्छेय-अनन्तरच्छेद-पु० । स्वाक्षेणैव द्वैधीकरणे, “ णह-दंतादि अणतर णहेहिं दतेहिं वा जं छिदति तं अणतरच्छेयो प्रवृत्ति ” नि० चू० १ उ० ।

अणंतरणिगय-अनन्तरनिर्गत-त्रि० । निश्चितं स्थानान्तरप्राप्त्या गतं गमन निर्गतम् । अनन्तरं समयादिना निर्व्यवधानं निर्गतं येषां तेऽनन्तरनिर्गताः । प्रथमसमये नगरादेरुच्छिन्नेषु स्थानान्तर-प्राप्तेषु, भ० १४ श० १ उ० । (अत्र दूरकस्तेषामायुर्वन्धश्च ‘ आठ ’ शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरदिहंतय-अनन्तरदृष्टान्तक-पु० । यः स्वत्वनन्तरप्रयुक्तो-ऽपि परोक्तत्वादागमगम्यत्वाद् दार्ष्टान्तिकार्थसाधनायास्त न प्रवति तस्मिन् दृष्टान्तभेदे, दश० १ अ० ।

अणंतरपज्जत्त-अनन्तरपर्याप्त-पु० । न विद्यते पर्याप्तत्वेऽन्तर येषां तेऽनन्तराः, ते च ते पर्याप्तकाश्चेत्यनन्तरपर्याप्तकाः । प्रथ-मसमयपर्याप्तकेषु नैरयिकादिषु, स्था० १० ग० ।

अणंतरपञ्चाकम-अनन्तरपञ्चात्कृत-त्रि० । अनन्तर व्यवधाने-न पञ्चात्कृतोऽनन्तरपञ्चात्कृतः । व्यवधानेन पञ्चात्कृते, च० प्र० ८ पाहु० ।

अणंतरपरंपरअणिगय-अनन्तरपरम्परानिर्गत-पु० । प्रथमसम-याभिर्गतेषु, ये हि नरकादुद्बृत्ता सन्तो विग्रहगतौ वर्तन्ते न ताव-दुत्पादक्षेत्रमासादयन्ति, तेषामनन्तरजावेन परस्परजावेन चोत्पा-दक्षेत्रप्राप्तत्वेन निश्चयेनानिर्गतत्वात् । ज० १४ श० १ उ० । (अत्र दूरकस्तेषामायुर्वन्धश्च ‘ आठ ’ शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरपरंपरअणुववसग-अनन्तरपरम्परानुपपन्नक-पु० । अनन्तरमव्यवधान परम्परं च द्वित्रादिसमयरूपमविद्यमानमुप-पन्नमुत्पादो येषां ते तथा । विग्रहगतिकेषु, विग्रहगतौ हि द्विवि-धस्याप्युत्पादस्याविद्यमानत्वादिति । ज० १४ श० १ उ० ।

अणंतरपरंपरखेदानुववसग-अनन्तरपरम्परखेदानुपपन्नक-पु० । अनन्तर परम्परं क्षेत्रेन नास्ति उपपन्नकं येषां ते तथा । विग्रहगतिवर्तिषु, भ० १४ श० १ उ० ।

अणंतरपुरक्खद-अनन्तरपुरस्कृत-त्रि० । स्वाव्यवहितोत्तरव-र्तिनि, “ अणतरपुरक्खदे कालसमयसि ” अनन्तरमव्यवधानेन पुरस्कृतोऽग्रे कृतो यः सोऽनन्तरपुरस्कृतः । अनन्तर द्वितीय इ-त्यर्थः । सू० प्र० ८ पाहु० । च० प्र० ।

अणंतरसमुदाणकिरिया-अनन्तरसमुदानक्रिया-स्त्री० । ना-स्त्यन्तर व्यवधानं यस्याः सा अनन्तरा, अव्यवहिता । सा च

समुदानक्रिया च । क० स० । प्रथमसमयवर्तिसमुदानक्रियाया-
म, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अणंतरसिद्ध-अनन्तरसिद्ध-पुं० । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधान-
मर्थात् समयेन येषां तेऽनन्तरा, ते च सिद्धाश्चानन्तरासिद्धाः ।
सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमानेषु सिद्धेषु, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

अणंतरहिय-अनन्तरहित-त्रि० । अव्यवहिते, आचा० १ शु० १
अ० ३ उ० । सचिन्ते, आच० ३ अ० । “जे भिक्खू माउग्गामस्स
मेहुणवडियाए अणतरहियाए पुढवीए णिसियावेज्ज वा” अन-
न्तरहितया, अनन्तरहिया णाम सचिन्ता । नि० चू० ७ उ० ।

अणंतरागम-अनन्तरागम-पुं० । आगमभेदे, अर्थापेक्षया गण-
धराणामनन्तरागमः । सूत्रापेक्षया गणधरशिष्याणामनन्तरा-
गमः । सूत्र० १ शु० १ अ० १ उ० ।

अणंतराहारग-अनन्तराहारक-पुं० । अनन्तरानव्यवहितान्
जीवप्रदेशराक्रान्ततया स्पृष्टतया वा पुद्गलानाहारयन्तात्यन-
न्तराहारकाः । जीवप्रदेशैः स्पृष्टानां पुद्गलानामाहारकेषु नैर-
यिकादिषु, स्था० १० ठा० । अनन्तरमुपपातक्षेत्रप्राप्तिसमयमेव
आहारयन्ति इत्यनन्तराहाराः । प्रज्ञा० ३४ पद । प्रथमसमया-
हारकेषु, स्था० १० ठा० । (‘आहार’ शब्दे अनन्तराहारग्रहण
शरीरस्य निष्पत्तिरित्येवमादिक्रमो द्वि० भागे वक्ष्यते)

अणंतरिय-अनन्तरित-त्रि० । न० त० । अव्यवहिते, विशेषः ।

अणंतरोगाढग-अनन्तरावगाढक-पुं० । अनन्तर सप्रत्येव स-
मये कचिदाकाशदेशेऽवगाढा आश्रितास्त एवानन्तरावगा-
ढकाः । प्रथमसमयावगाढकेषु विवक्षितं क्षेत्रं द्रव्यं वाऽपेक्षया-
व्यवधानेनावगाढेषु नैरयिकादिजीवेषु, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अणंतरोपनिधा-अनन्तरोपनिधा-स्त्री० । उपनिधानमुपनिधा,
धातुनामनेकार्थत्वात्तन्मार्गमित्यर्थः । अनन्तरेणोपनिधाऽनन्त-
रोपनिधा । अनन्तरयोगस्थानमधिकृत्य उत्तरस्य योगस्थानस्य
मार्गणे, प० स० ५ द्वा० । क० प्र० ।

अणंतरोपपन्नग-अनन्तरोपपन्नक-पुं० । न विद्यतेऽन्तरं व्यव-
धानमस्येत्यनन्तरः वर्तमानः समयः । तत्रोपपन्नकाः, स्था०
१० ठा० । न विद्यतेऽन्तरं समयादिव्यवधानमुपपन्ने उपपाते
येषां ते अनन्तरोपपन्नकाः । प्रथमसमयोत्पन्नेषु, म० १३ श०
१ उ० । येषामुत्पन्नानामेकोऽपि समयो नातिक्रान्तस्ते एते ।
स्था० १० ठा० । एकस्मादनन्तरमुत्पन्नेषु नैरयिकादिषु वैमानि-
कपर्यन्तेषु, स्था० २ ठा० २ उ० ।

अणंतवग्गभइय-अनन्तवर्गजक्त-त्रि० । अनन्तवर्गापवर्तिते,
“सोऽणतवग्गभइओ सव्वागासेण मीपज्जा” औ० ।

अणंतवत्तियाणुप्पेहा-अनन्तवृत्तितानुपेक्षा-स्त्री० । अनन्ता
अत्यन्तं प्रभूता वृत्तिवर्तनं यस्यासावनन्तवृत्तिः, तस्या अनु-
पेक्षा अनन्तवृत्तितानुपेक्षा । भवसन्तानस्यानन्तवृत्तितानु-
चिन्तनरूपायां शुक्लध्यानस्य प्रथमानुपेक्षायाम्, यथा-‘एस अ-
णाई जीवो, ससारसागरो व्व दुत्तारो । नारयतिरियनरामर-
भवेसु परिहिंदए जीवो’ ॥१॥ स्था० ४ ठा० १ उ० । औ० । म० ।
अनन्तवर्तितानुपेक्षा-स्त्री० । अनन्ततया वर्तते इति अनन्तव-
र्त्ती, तद्भावस्तत्ता, भवसन्तानस्येति गम्यते, तस्या अनुपेक्षा ।
शुक्लध्यानभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अणंतविजय-अनन्तविजय-पुं० । भरतक्षेत्रे भविष्यति चतुर्विं-
शे तीर्थकरे, स० । ति० । युधिष्ठिरशङ्खे, वाच० ।

अणंतविष्ठाण-अनन्तविज्ञान-पुं० । अनन्तमप्रतिपाति, विशि-
ष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेनोत्कृष्ट, केवलाख्यविज्ञानं ततोऽनन्त
विज्ञानं यस्य सोऽनन्तः । केवलिनि, स्था० १ त्थो० ।

अणंतवीरिय-अनन्तवीर्य-पुं० । जमदग्निजार्ज्याया रेणुका-
याः स्वसुःपत्न्यौ कार्तवीर्यपितरि, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।
आ० क० । दर्श० । भरतक्षेत्रे भविष्यति त्रयोविंशे तीर्थ-
करे, ती० ७१ कल्प० ।

अणंतसंसारिय-अनन्तसंसारिक-पुं० । अनन्तआसौ संसार-
श्चानन्तसंसारः, सोऽस्यास्तीत्यनन्तसंसारिकः । ‘अतोऽनेकस्व-
रात्’ इतीकप्रत्ययः । अपरिमितसंसारे, रा० । प्रति० । नैर-
यिकादिवैमानिकपर्यन्तेषु, स्था० २ ठा० २ उ० ।

अथ केनार्जितमनन्तसंसारित्वम् ? इति प्रश्ने उत्तरमाह—
जे पुण्णं गुरुपणिणीया, बहुमोहा ससवला कुसीन्ना य ।
असमाहिणा मरंति उ, ते हुंति अणंतसंसारी ॥१६॥

(जे पुण्णं) ये पुनः, गृणात्यामिधत्ते तत्त्वमिति गुरुः, तं प्रति, ज्ञा-
नाद्यवर्णवाद्भाषणादिना प्रत्यनीकाः प्रतिकूलाः, तथा बहुमोहा-
स्त्रिंशन्मोहनीयस्थानवर्तिनः, सह शबलैरेकविंशत्या शबलस्था-
नैर्वर्तन्ते ये ते सशबला, कुत्सित शीलमाचारो येषां ते कुशी-
लाः । चः समुच्चये । एवंविधा येऽसमाधिनाऽऽतरोद्धजावै बर्ष-
माना म्रियन्ते, तेऽनन्तसंसारिणो भवन्तीति । आतु० ।

अणंतसमयसिद्ध-अनन्तसमयसिद्ध-पुं० । अनन्तेषु समयेषु
एकैकानिके, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अणंतसेण-अनन्तसेन-पुं० । तृतीयायामवसर्पिण्यां जाते च-
तुर्थकुलकरे, स० । भद्रिलपुरवास्तव्यस्य नागगृहपतेः सु-
रसानाभ्यां नार्यायां जाते पुत्रे, तत्कथा अन्तर्दृश्यास्तृती-
ये वर्गे द्वितीयाध्ययने सूचिता, तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्ताऽणीय-
स्येव ज्ञावनीया (अन्तः) । अस्य द्वाविंशद्भार्याः, द्वाविंशत्क एव
दानम्, विंशतिवर्षाणि पर्यायः, चतुर्दशपूर्वाणि क्षुत्तम, शत्रुञ्जये
सिद्धिः । वस्तुतस्तु अयं वसुदेवदेवकीसुतः । अन्तः ४ वर्गः ।

अणंतसो-अनन्तशस्-अव्य० । बहुवारमित्यर्थः, निरवाधिक-
काक्षमित्यर्थः च । सूत्र० १ शु० १ अ० ३ उ० । “गङ्गमेस्त-
ति णतसो” इति । अनन्तशो निर्विच्छेदमिति वृत्तिकारः ।
सूत्र० १ शु० १ अ० २ उ० ।

अणंतहियकामुय-अनन्तहितकामुक-त्रि० । मोक्षकामुके, दश०
६ अ० २ उ० ।

अणंतान्त-अनन्तानन्त-त्रि० । अनन्तेन गुणिता अनन्ताः ।
अनन्तगुणितेषु अनन्तेषु, म० १४ श० २ उ० ।

अणंताणुबंधि [ण]-अनन्तानुबन्धि-पुं० । अनन्तं ससार
प्रवमनुबन्धाति अविच्छिन्न करोतीत्येवशीलोऽनन्तानुबन्धी । अ-
नन्तो वाऽनुबन्धो यस्येत्यनन्तानुबन्धी । सम्यग्दर्शनसहभावि-
क्षमास्वरूपोपशमादिचरणलवनिबन्धिनि क्रोधादिकषाये, स्था०
४ ठा० १ उ० । यदवाचि-“यस्मादनन्तं ससार-मनुबन्धति देहि-
न । ततोऽनन्तानुबन्धीति, सद्भा तेषु निवेशिता” ॥१॥ ते च चत्वारः
क्रोधमानमायालोभा । यद्यपि चैतन्य शेषकषायेदयरहिताना-
मुदयो नास्ति, तथाऽप्यवश्यमनन्तससारमूलकारणमिध्यात्यो-

यथाऽऽपेक्षयापेक्षोपमिधानन्तानुबन्धित्वव्यपदेशः । शेषकपाया
ह्यपश्यं मिथ्यात्वोदयमाक्षेपत्यनस्तेषामुदययोगपक्षे सत्यपि
नाय व्यपदेश इत्यसाधारणमेवेतन्नामेति । कर्म० १ कर्म० ।
('कसाय' शब्देऽपि नृ०भा० ३६७ पृष्ठे भाषितमेतद् विस्तरतः)
अणुताणुबंधिविसेजोयणा-अनन्तानुबन्धिविसेजोयना-रु० ।
अनन्तानुबन्धिनो कपायाणां विषमयोत्तनायाम्, (विनाशे) । अन-
न्तानुबन्धिनो कपायाणामुपशमनास्थाने विसंयोजना भवति ।
क० प्र० । (तत्रकार 'उपसम' शब्दे द्वि० जा० १०२७ पृष्ठे यदयते)
अणुतिथि-अनन्तिक-न० । अन्तिकमासज्ञं तन्निषेधादनन्तिकम्,
नञोऽप्यार्यत्वात् । अनासत्ते, भ० ५ हा० ४ उ० ।

अणुदमाण-अनन्दमत्-प्रि० । सौख्यमनुभूजति, तं० ।

अणुदिय-अनन्दि-प्रि० । अधोलोकवासिन्यामपृथ्यां दिक्षु-
मात्र्याम्, आ० क० ।

अणुध-अनन्ध-पु० । अधपुरनगरेभ्यरे राक्षि, "अधपुर नगरं
तस्य धणधो राया" वृ० ४ उ० । नि० चू० ।

अणुविज्ञ-अनाम्न-प्रि० । न० त० । स्पष्टादावज्ञिते, आच्वा०
७ वृ० १ वृ० ७ उ० । अनाम्नीचूने जीयितविप्रसुक्ते पानकादौ,
नि० चू० १९ उ० ।

अणुसुनाइ [ण]-अनश्रुपातिन्-पु० । न अश्रु पातयतीति
मार्गादिन्नेदेव्यपि अनश्रुपातनशीते शुभाभ्यादौ, "ज अचरुपा-
दि अदरुपादि अणुसुनाइ" ज० ३ पक्ष० ।

अणुकम्प-अनःकर्मन्-न० । अन शकटम्, न कर्म मन कर्म । शकटश-
कटाङ्कयटनयेटनविक्रयादौ, भ० । एतच्च पापमृत्तीनां कारणमि-
ति ह्युवा भाषकेण त्यक्तव्यम् । यदाह-"शकटानां तद्वह्नानां, घट-
न येटन तथा । विक्रयश्चेति शकटा-जीयिका परिष्कारिता" ॥१॥
तत्र शकटानामिति चतुष्पदयाह्वाना याहनानां, तद्वह्नाना चक्रा-
दीनां घटन स्थय परेण वा निष्पादन, येटन वाहनं च शकटाना-
मेव सम्भवति, स्थय परेण वा विक्रयश्च । शकटादीनां तद्वह्ना-
नां चेद कर्मणि सकलचूतोपमर्दनन गवादीनां च यधयथा-
दिहेतुः । घ० २ अधि० ।

अणुकर-ऋणकर-पु० । ऋण पाप फलेतीति ऋणकरः । चतुर्विधो
गौणप्राणातिपाते, प्रश्न० १ आश्र० हा० ।

अणु [कख] अनस-पु० । स्तेच्छभेदे, प्रश्न० १ आश्र० हा० ।

अणुकञ्जिण-अनासाभिन्-प्रि० । अनस्तिते वलीयदादौ,
"अणिहृन्निषिर्हि अणुकभिन्नेहि गोणेहि तसपाणुविषज्जिपहि
विच्छेहि विच्छि कप्येमाणा विहरति" भ० ८ श० ५ उ० ।

अणुक्खरसुय-अनक्खरश्रुत-न० । ह्येकितशिर कम्पनादिनि-
मित्ते मामाह्वयति चारयति वेत्यादिरूपे अभिप्रायपरिज्ञान-
स्वरूपेऽक्षरश्रुतविपक्षचूते श्रुतभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

से किं तं अणुक्खरसुयं ? अणुक्खरसुयं अणुगविहं पसुत्तं ।
त जहा-"ऊससियं नीससिय, निच्छूढं खामियं च ज्ञीय
च । निस्सिधिय मणुसार, अणुक्खरं वेत्तियार्थं" ॥१॥ सेत्त
अणुक्खरसुय ॥

अथ किं तदनकरश्रुतम्-अनकरात्मक श्रुतमनकरश्रुतम् । आचा-
र्ये आह-अनकरश्रुतमनेकविधम्-अनेकप्रकार प्रकृतम् । तथा-
(ऊससियमित्यादि) उच्छ्वसनमुच्छ्वसितम्, भावे निष्ठाप्रत्य-

यः । तथा निःश्वसन निःश्वसितम्, निष्ठीयन निष्ठृतम्, काशनं
काशितम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । छिका क्षुतम्, पंगोऽपि ।
चशब्दः समुच्चयार्थः, परमस्य व्यवहितः प्रयोगः । सेटिकादिक
चेत्येव छप्रत्यम् । तथा निःसिंहितम् । अनुस्वारवत्-अनुस्वार-
मित्यर्थः । तथा सेटितादिक चानकर धुतम् : न० ।

अथ प्राप्यम्-

ऊससियार्थं दन्वसु-यमेत्तमद्वया मुञ्चोवत्तस्स ।

सन्वो वि य वावारो, सुयमिह तो किं न चेद्वा वि ? ॥

इहोच्छ्वसितादि अनक्खरश्रुतं, छव्यश्रुतमात्रमेवावगन्तव्यम्;
शब्दमात्रत्वात् । शब्दश्च प्राप्यश्रुतस्य कारणमेव; यद्य कारण
तद्रव्यमेव प्रयतीति प्रावः । प्रयति च तथाविधोच्छ्वसितनिःश्व-
सितादिश्रवणे शशकोऽयमित्यादि ज्ञानम् । एव विशिष्टाभि-
सन्धिपूर्वकनिष्ठपूतकासितश्रुतादिश्रवणेऽप्यात्मज्ञानादि ज्ञान
वाच्यमिति । अथवा श्रुतज्ञानोपयुक्तस्यात्मनः सर्वात्मनयोप-
योगात्सर्वोऽप्युच्छ्वसितादिको व्यापारः श्रुतमेवेह प्रतिपत्तव्य-
मित्युच्छ्वसितादयः श्रुत भवत्येवेति । आह-यद्येव ततो गमना-
गमनचलनस्पन्दनादिरूपाऽपि चेष्टा व्यापारपय, ततः श्रुतोपयुक्त-
सयन्निनी एषाऽपि किं श्रुतं न प्रयति ? । उच्यते-कः किमाह ? ।
प्रामोत्यनेन न्यायेन साऽपि श्रुत, किन्तु-

रूढी य तं सुयं सु-घइ चि चेद्वा न सुचइ कयाइ ।

आदिगमया वण्णा इव, जमणुस्सारादत्रो तेणं ॥

उक्तान्यायेन श्रुतत्वप्राप्तौ समानायामपि तदेवोच्छ्वसितादि श्रुतं,
न शिरोधूननकरचलनादिचेष्टा, यतः शास्त्रलोकप्रसिद्धा
रुदिरिय तत उच्छ्वसितादेव श्रुत रूढ, न चेष्टेत्यर्थः । श्रूयते
इति श्रुतमिति चान्वयवशात् । तदेवोच्छ्वसितादि श्रुतम्, न चेष्टे-
त्येव चशब्द पक्षान्तरसुचको भिन्नक्रमश्च । करादिचेष्टा तु
एवमप्यात्मिकापि न श्रूयत इति कथमसौ श्रुत स्यात् ? इत्यर्थः ।
अनुस्वारादयस्त्वफारीदिवर्णा इवार्थस्याधिगमका, प्येति तेन
कारणेन ते निर्विधादमेव श्रुतमिति गार्थाः । इत्यनकरश्रुतमि-
ति । विशेषः ।

टिट्ठि चि नंदगोव-स्स वालि वत्थे निवारैइ ।

टिट्ठि चि य मुच्छदण, सेसा लट्ठीनिवाण ॥

नन्दगोपस्य वालिका केत्रादिक रक्तांती वत्सकान् बालगोरू-
पान् टिट्ठि इत्यनुकरणानुरूपमनुकार्यमुपश्रन्ती निवारयति । तथा
ये मुग्धा हरिणादयस्तानपि टिट्ठि इत्येव निवारयति । शेषास्तु
साणुप्रभृतीन् यष्टिनिपातेन निवारयति । अत्र टिट्ठि इत्येतदन-
करमपि वत्सादीनां प्रतिपेक्षलक्षणार्थप्रतिपत्तिहेतुरूप जायते,
इत्यनकरश्रुतम् । वृ० १ उ० । कर्म० । विशेषः ।

अणुगारहिय-अगर्हित-प्रि० । परममुनिभिरपि महापुरुषैः सेवि-
तत्वात् सामायिके, आ० म० द्वि० ।

अणुगार-अनगार-पु० । अनगारशब्दो व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नश्च । अ-
व्युत्पन्न साधौ, "अनगारो मुनिमीनी, साधुः प्रप्रजितो वती ।
अमण क्खणश्चैय, यतिश्चैकार्थवाचकाः" ॥१॥ इति । उक्त० । व्यु-
त्पन्नोऽगारशब्दो द्विधा-छव्यज्ञावभेदात् । तत्र छव्यागारमनै-
र्दुर्महपदादिर्निर्वृत्तम्, भावागार पुनरगैर्विपाकफालेऽपि जीव-
विपाकितया शरीरपुद्गलादिषु बहिःप्रवृत्तिरहितैरसत्तामुब-
न्यादिर्निर्वृत्त कपायमोहनीयम् । तत्र छव्यागारपक्षे नञ्-
तु निषेधे । अविद्यमानगृहे, भावागारपक्षे त्वल्पकषायमोहनीये,

कषायमोहनीय हि कर्म । न च कर्मणः स्थित्यादिभूयस्त्वे विर-
तिसम्भवः । यत आगमः—“ सप्तएह पयनीयं, अभितरओ य
कोडकोनीय । काळण सागराणं, जइ लहइ चउएहमषयर” ॥१॥
इत्यादि । उक्त० १ अ० ।

(१) एतन्निकेयः—

अणगारे निक्खेवो, चउन्विहो दुविहो होइ द्रव्वमि ।
आगम नोआगमतो, आगमतो होइ सो तिविहो ॥
जाणगसरीरभविण, तव्वडरित्ते य णिएहवाईसु ।

जावे सम्मदिट्ठी, अणारवासा विणिम्मक्को ॥ उक्त० नि० ।

स्पष्टमिदं गाथाचयम्, नवर, तद्व्यतिरिक्तश्च निहवादिषु, आदि-
शब्दादन्येष्वपि चारित्रपरिणामं विना गृह्यजाववत् । निर्द्वारेण
सप्तमी । ततश्च यस्तेषु मध्ये अनगारत्वेन लोके रूढ इत्युपस्का-
रः । स तद्व्यतिरिक्तो ह्यन्यनगरो, भावे सम्यग् दृष्टिः सम्यग्-
ज्ञानवान्, निश्चयतो यत्सम्यक्त्वं तन्मौनमिति । चारित्री च अगा-
रवासेनानगरवासेन वा, प्राकृतत्वात् तृतीयायै पञ्चमी । विशेषे-
ण तत्प्रतिबन्धपरित्यागरूपेण, निर्मुक्तस्त्यक्तः, विनिर्मुक्तोऽन-
गार इति प्रक्रमः । उक्त० ३४ अ० । भ० । प्र० । स० । सूत्र० । नि०
चू० । द्वा० । सु० प्र० । रा० । ज० । आचा० । परित्यक्तद्रव्य-
जावगृहे, न० । सामान्यसाधौ, भ० १५ श० १ उ० । गृहरीहिते,
सूत्र० २ श्रु० १ अ० । त्यक्तगृहव्यापारे, आचा० २ श्रु० ६ अ०
२ उ० । द्वा० । पुत्रदुहितृस्तुपाक्षातिधान्यादिरहिते, आचा० १
श्रु० २ अ० ५ उ० । भिक्षौ, स्था० ६ ग० १० उ० ।

(२) अनगारत्वं वीरान्तेवासिनां वर्णकः—

ते णं काले णं ते णं समणं समणस्स जगवओ महावीरस्स
बहवे अणगारा जगवतो अप्पेगइआ आयारधरा जाव विवाग-
सुअधरा (तत्थ तत्थ) तहिं तहिं देसे देसे गच्छागच्छं गुम्मागुम्मं
फुड्डाफुड्डं अप्पेगइआ वायंति, अप्पेगइया पडिपुच्छंति, अप्पे-
गइया परियट्ठंति, अप्पेगइया आणुप्पेहंति, अप्पेगइआ अक्खे-
वणीओ विक्खेवणीओ संवेअणीओ णिव्वेअणीओ चउ-
न्विहाओ कहओ कहंति । अप्पेगइआ उहं जाणु अहो सिरा
जाणकोट्टेवगया संजमणं तवसा अप्पाणं जावेमाणा विहरं-
ति संसारजउन्विग्गा जीआ जम्मणजरमरणकरणं गंभीरउ-
क्खपक्खुजिअपउरसन्निलं संजोगविओगवीचीचिंतापसग-
पमरिअवहवंधमहद्धविउल्लकल्लोडकलुणाविलाविअलोजक-
ल्लकल्लंतवोलवहुड्डं अवमाणणफेणतिव्विक्खिसणपुलंपुल-
प्पज्जूअरोगवेअणपरिभवविणिवायफरुसधरिसणासमावडि-
अकट्ठिणकम्मपसत्थतरतरंगंतनिच्चमच्चुजयतो अपडं क-
सायपायालसंकुडं भवसयसहस्सकलुसजलसंचयं पतिजयं
अपरिमिअमहित्थकलुसमतिवाउवेगे उच्छुम्ममाणदगरयरयं-
धआरवरफेणपउरआसापिवासधवलं मोहमहावत्तजोगभम-
माणगुप्पमाणुच्छलतपच्चोणपत्तपाणियपमायचंरुवहुड्डसा-
वयसमाहयुच्चायमाणपन्नारघोरकंदियमहारवरवंतजेरवरवं
अण्णणभमंतमच्छपरिहत्थअणिहुतिंदितमहामगरतुरिअ-
चरियखोत्तुबभमाणनच्चंतचवलंचंचलचलतपुम्मंतजलसमूहं
अरतिचयविसायसोगमिच्छत्तसेलसंकर्म अणाइसंताणकम्म-

बंधणकिट्ठेसचिक्खिउत्तुत्तारं अमरासुरनरतिरियनिरयगइग-
मणकुडिलपरिवत्तविउल्लवेलां चउरंतमहंतमणवदगरुहसंसा-
रसागरं जीमदरिसणिज्जं तरंति, धीईधणिअनिप्पकंपेण तुरि-
यं चवडं संवरवेरगगतुरंगकूवयसुसंपउत्तेण णाणसितविमल-
मूसिएणं सम्मत्तविमुक्कल्लक्खणिज्जामएणं धीरा संजमपोएण
सील्लकलिआ पसत्थज्जाणतववायपणोद्धिअपहाविएण उ-
ज्जमववसायगहियणिज्जरणजयणउवओगणाणदंसणवि-
सुद्धवयभंरुजरिअसारा जिणवरवयणोवदिट्ठमग्गेण अकु-
मिलेण सिद्धमहापट्ठणाभिमुहा समणवरसत्थवाहा सुसुड-
सुसंभाससुपएहसासा गामे गामे एगरायं एगरे एगरे पंच-
रायं दूडज्जया जिईदिया णिब्भया गयजया सचित्ताचित्त-
मीसिएसु दव्वेसु विरागइंगया संजया विरया मुत्तां ब्रहुआ
णिरवकंखा साहू णिहुआ चरति धम्मं ॥

‘अप्पेगइया आयारधरेत्यादि’ प्रतीतम् । क्वचित् दृश्यते (तत्थ
तत्थ ति) उद्यानादौ (तहिं तहिं ति) तदशोकमेवाह-देशे
देशे अवग्रहभागी वीप्साकरणं वाऽऽधारबाहुल्येन साधुबाहु-
ल्यप्रतिपादनार्थम् (गच्छागच्छ ति) एकाचार्यपरिवारो गच्छः
गच्छे गच्छे गत्वा गच्छागच्छि, वाचयन्तीति योगः । दण्डा-
दण्ड्यादिवच्छब्दासिद्धिः । एव गुम्मागुम्मि फुड्डाफुड् च; न-
वरं, गुल्म गच्छैकदेशः उपाध्यायाधिष्ठितः, फुड्क लघुतरो
गच्छदेश एव गणावच्छेदिकाधिष्ठित इति । अथ प्राकृतवा-
चना- (वायति) सूत्रवाचनां ददति (पडिपुच्छति
ति) सूत्रार्थं पृच्छन्ति (परियट्ठति) परिवर्त्तयन्ति तावेव
(अणुप्पेहति ति) अनुप्रेक्षन्ते तावेव चिन्तयन्ति (अ-
क्खेवणीओ ति) आक्षिप्यते मोहात् तत्त्वं प्रत्याह्व्यते श्रोता
यकामिरित्याक्षेपणः (विक्खेवणीओ ति) विक्षिप्यते कुमा-
र्गविमुखो विधीयते श्रोता यकामिस्ता विक्षेपणः (सवेय-
णीओ ति) सवेद्यते मोक्षसुखाभिलाषी विधीयते श्रोता य-
कामिस्ता सवेदन्यः (निव्वेयणीओ ति) निर्वेद्यते ससारनि-
र्विणो विधीयते श्रोता यकामिस्ता निर्वेदन्यः । तथा (उह
जाणु अहो सिर ति) शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनि-
वधाय अभावाच्चोक्तदुकासनाः सन्तोऽपदिश्यन्ते ऊर्ध्वं जा-
नूनी येषां ते ऊर्ध्वं जानवः, अथ शिरसोऽधोमुखाः, नोर्ध्वं तिर्य-
ग्वा विक्षिप्तदृष्टय इत्यर्थः । (भाणकोट्टेवगय ति) ध्यानरूपो
यः कोष्ठस्तमुपगता ये ते तथा, ध्यानकोष्ठप्रवेशनेन सवृत्तेन्द्रिय-
मनोवृत्तिध्याना इत्यर्थः, सयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन्तो वि-
हरन्तीति । प्रकारान्तरेण स एवोच्यते—(ससारभउन्विग्ग ति)
प्रतीतम् । (जम्मणजरमरणेत्यादि) जन्मजरामरणान्येव करणा-
नि साधनानि यस्य तत्तथा तच्च तन्मभीरदुःखं च तदेव प्र-
क्षुभित प्रचुर सलिलं यत्र स तथा; त ससारसागर तरन्ती-
ति योगः । (सजोगविओगेत्यादि) सयोगवियोगा एव वी-
चयस्तरङ्गा यत्र स तथा, चिन्ताप्रसङ्गश्चिन्तासातत्यमित्यर्थः,
स एव प्रसृत प्रसरो यस्य स तथा, बधाः हननानि, धन्धाः
सयमनानि, तान्येव महान्तो दीर्घा विपुलाश्च विस्तीर्णाः क-
ल्लोला महोर्मयो यत्र स तथा, करुणानि विलापितानि यत्र स
तथा, स चासौ लोभश्च स एव कलकलायमानो यो बोहो
ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा—ततः सयोगादिपदानां कर्म-
धारयः । अतस्तत्तत्, (अवमाणेत्यादि) अपमानमेवापूजनमेव,

फेनो यत्र स तथा । तीव्रखिसन चात्यर्थनिन्दा, पुलुगुलप्रभूता अनवरतोद्धता या रोगवेदना । पाठान्तरे-तीव्रखिसनप्रलुम्पितानि च, प्रभूतरोगवेदनाश्च, परिभवाविनिपातश्च पराभिभवसम्पर्कः । परुषधर्षणाश्च निष्ठुरवचननिर्भत्सनानि, समापतितानि समापन्नानि वृद्धानि यानि कठिनानि कर्कशोदयानि, कर्माणि ज्ञानावरणादीनि, तानि चेति द्वन्द्वः ; ततः एतान्येव ये प्रस्तरा पापाणां, ते कृत्वा नरकैः रिक्तद्वीधिभिश्चलद्, नित्य ध्रुव, मृत्युभयमेव मरणभीतिरवे, तोयपृष्ठ जलोपरितनभागो यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः । अथवा अपमानफेनमिति तोयपृष्ठस्य विशेषणमतो बहुव्रीहिरेवास्तु, नमः, [कसायेत्यादि] कपाय एव पाताला पातालकपायास्तैः संकुलो य स तथा तम्, [मयसयसहस्तेत्यादि] भवशतसहस्राण्येव कलुषा जलानां सचयो यत्र स तथा तम्, पूर्वं जननादिजन्यदुःखस्य सलिलतोक्षा, इह तु भवानां जननादिधर्मवता जानिविशेषसमुदायतोक्तेति न पुनरुक्त्यमिति । [पदभयति] व्यक्तम्, [अपग्निमित्यादि] अपरिमिता अपरिमाणा या महच्छ्रावृद्धभिलाषा सा येषां ते लोकास्तेषां कलुषा मलिना या मनिः सैव वायुवेगस्तेन 'उद्गुम्भमाण उद्गुम्भमाण वा' उत्पाद्यमानं यदुदकरज उदकरेणुसमूहः, तस्य रयो वेगस्तेनान्धकारो य स तथा, वरफेनेनेव प्रचुगाशापिपासाभिः, तत्र प्रचुगा ग्रहण आशा अप्राप्तार्थानां प्रातिसम्भावना, पिपासास्तु तेषामेवाकाङ्क्षा, अतस्ताभिर्धवल इव धवलो य स तथा, ततः कर्मधारयः, अतस्तम्, [मोहमहावचेत्यादि] मोहरूपे महावर्से भोगरूप आम्बन्मण्डलेन भ्रमद् गुण्यभ्याकुलीभवत्, उच्छलत् उत्पतत्, प्रत्यवनिपतन्वाध पतत्, पानीय जल यत्र स तथा, प्रमादा मद्यादयस्त एव चण्डबहुदुष्टस्यापदाः रौद्रभूरिच्छुद्रव्यालास्तैर्यैः समाहता प्रहता उद्ध्वान्तश्च उत्तिष्ठन्तो वा विविध चेष्टमाना, समुद्रपक्षे मत्स्यादयः, ससारपक्षे पुरुषादयः, तेषां प्राग्भार पूरो वा समूहो यत्र स तथा, तथा घोरो य क्रन्दितमहारवः स एव रचन् प्रतिशब्दकरणेन शब्दायमानो भैरवरवो भीमघोरो यत्र स तथा, तत्पदत्रयस्य कर्मधारयः, ततस्तम्, [अण्णभमतेत्यादि] अज्ञानायेव भ्रमन्तो मत्स्या (परिहृत्य ति) दक्षा यत्र स तथा, अनिभृतान्यनुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि तान्येव महामकारास्तेषां यानि त्वरितानि शीघ्राणि चरितानि चेष्टितानि तैः (खो खुन्ममाणे नि) वृश कुच्यमाणो, नृत्यन्निव नृत्यश्च चपन्नाना मध्ये चञ्चलश्चास्थिरत्वेन चक्षश्च स्थानान्तरगमनेन, घूर्ण्यश्च घ्राभ्यन् जलसमूहो जलसघातः, अन्यत्र जरसमूहो यत्र स तथा, ततः कर्मधारयः, ततस्तम्, [अरतिजयेत्यादि] अरतिभयविपादशोकमिथ्यात्वानि प्रनीतानि, तान्येव शैलास्तैः सकटो य स तथा, तम् । (अण्णइसनायेत्यादि) अनादिसन्तानमनादिप्रवाह यत् कर्मबन्धन तच्च, क्लेशाश्च रागादयस्तल्लक्षण यश्चिक्खल्ल कर्दमस्तेन सुप्तु दुस्तारो य स तथा, तम्, [अमरासुरेत्यादि] अमरासुरतिथेः निरयगतिषु यक्रमन तदेव कुदिलपरिवर्त्तावर्तपरिवर्त्तना विपुला च विस्तीर्णा वेला जलवृक्ल्लिङ्गणा यत्र स तथा, तम्, (चरतरमहत चि) चतुर्विभाग दिग्भेदगतिभेदाज्या महान्त च महायामम्, [अणवदगति] अनवदप्रमनन्तमित्यर्थः, विस्तीर्णं ससारसागरमिति व्यक्तम् । (भीमठरिसाण्डेज्ज ति) भीमो दृश्यत इति-भीमदर्शनीयस्त, तरन्ति लहयन्ति सयमपोतेनोति योगः । किंभूतेन (धीर्ध्रणिअणिप्पकपेण चि) धृतिरज्जुबन्धनेन, धनिकमन्यर्थः, निष्प्रकम्पोऽविचलो यः स, मध्यमपदलोपाद् धृतिधनिक

निष्प्रकम्पस्तेन त्वरित, चपलमतित्वरित यथा ज्वलतीत्येवं तरन्ति । (संवरवेरगेत्यादि) संवर प्राणातिपातादिविरतिरूपः, वैराग्यं कपायनिग्रहः, एतल्लक्षणो यस्तुल्ल उच्चः । कृपकस्तम्भविशेषस्तेन, सुप्तु सप्रयुक्तो यः स तथा, तेन [णाणेत्यादि] ज्ञानमेव सितः सितपटः स विमल उच्छिन्नो यत्र स तथा तेन, णकारश्चेह प्राकृतशैलीप्रभवः । [सम्मत्तेत्यादि] सम्यक्स्वरूपो विशुद्धो निर्दोषो तन्मोऽवाप्तो निर्योमक कर्णधारो यत्र स तथा, तेन, धीराः अज्ञो-ज्ञा, सयमपोतेन शीघ्रकक्षिता इति च प्रतीतम् । (पस्त्येत्यादि) प्रशस्त ध्यान धर्मादि तदप यत्तपः स एव वातो वायुस्तेन यत् प्रणेदित प्रेरण तेन प्रधाविनो वेगेन चक्षितो य स तथा, तेन, सयमपोतेनिति प्रकृतम् । (उज्जमववसायेत्यादि) उज्जम अनालस्य, व्यवसायो वस्तुनिर्णयः, सद्वापारो वा, ताज्या मूत्रक-ट्याज्यां यद् गृहीत क्रीत निर्जरणयतनोपयोगज्ञानदर्शनविशुद्ध-व्रतरूप माणक्याणकं तस्य भरित सयमपोतभरणेन पिण्डनः सारो यैस्ते तथा; अमणवरसार्धवाहा इति योगः । तत्र निर्जरण तपः, यतना बहुदोषत्यागेनाल्पदोषाश्रयणम्, उपयोगः सावधानता, ज्ञानदर्शनाज्यां विशुद्धानि व्रतानि, अथवा ज्ञानदर्शने च विशुद्धव्रतानि चेति समासः । व्रतानि च महाव्रतानि । पाठान्तरे- (णाणदसणेत्यादि) तत्र ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव विशुद्धवरमाणम्, तेन भरितः सारो यैस्ते तथा । [जिणवरेत्यादि] व्यक्तम् । (सुसुद्ध इत्यादि) सुश्रुतयः सम्यक्भूतग्रन्थाः, सत्सिद्धान्ता वा, सुशुचयो वा, सुख सम्भाषो येषां, सुखेन वा सम्भाष्यन्ते इति सुसम्भाषाः, शोभना प्रश्नाः, सुखेन वा प्रश्न्यन्ते ये ते सुप्रश्नाः, शोभना आशा वाञ्छा येषां ते स्वाशा । अथवा सुखेन प्रश्न्यन्ते शास्यन्ते च शिष्यन्ते ये ते सुप्रश्नशास्याः, शोभनानि वा प्रश्नशास्यानि पृच्छाधान्यानि येषां ते तथा, अथवा सुप्रश्ना शस्याश्च प्रशसनीया, ततः कर्मधारय इति । (दूज्जय चि) ऊचन्तो वसन्तः, अनेकार्थत्वाका-तूनाम् । (णिम्भय चि) भयमोहनीयोदयनिषेधात् । (गयभय चि) उदयविक्रमताकारणात् । (शजय चि) सयमवन्तः । कुत इत्याह- (विरय चि) यतो निवृत्ताः हिंसादिभ्यः, तपसि वा विशेषेण रता विरताः 'विरया' वा निरौत्सुक्या विरजम्भो वा अपापाः । 'सचयाओ विरय चि' फक्खिद् दृश्यते, तत्र सन्निधे-न्निवृत्ता इत्यर्थः । (मुत्त चि) मुक्ता प्रयेन, (बहुअ चि) बहुका अलोपधित्वात्, (णिरवक चि) अप्राप्तार्थाकाङ्क्षाविरुक्ता (साहु) मोक्षसाधनात्, (णिहुआ) निवृत्ता प्रशान्तवृत्तयः, चरन्ति । [धम्म नि] व्यक्तम् । अत्र साधुवर्णके जितेन्द्रियत्वादीनि विशेषणानि बहुशोऽधीतानि, तानि च गमान्तरतया निरवधानि, यत् पुनरत्रैव गमे पुनरुक्तमवज्ञासते, तत् स्ववत्वाच्च दुष्टम् । यदाह- "सज्जायज्जाणनवओ-सहेसु उवपसथुक्पणामेसु । सतगुण-किच्चणासु य, न हुति पुनरुक्तोसाओ" ॥१॥ औ० । "तिहि णाणेहि सपणे अणुगारे अणुगार्य अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरंतससार-फनार विह्वपज्जा । त जहा-अणिदाणयाप दिठिसपणयाप जो-गवाहियाप " स्था० ३ भा० । (सर्वेषां पदानां व्याख्या स्वस्व-स्थाने द्रष्टव्या)

(३) पृथिवीकायिकादिहिंसकानामनगारत्वं न भवति-
पत्रयंति य अणुगारा, ए य तेसिं गुणेहि जेहि अणुगारा ।
पुढविं विहिंसमाणा, न होंति वायाड अणुगारा ॥८८॥
अणुगारवाइणो पुढ-विहिंसगा निग्गुणा अणारिसमा ।
निहोस चि य मइला, विरइ उगुंछाड मइलतरा ॥१००॥
आचा० नि० ।

इह हेके कुतीर्थिका यतिवेपमास्थाय एवञ्च प्रवदन्ति-वयम-
नगारा प्रवजिताः। न च तेषु गुणेषु निरवद्यानुष्ठानरूपेषु वर्तन्ते
येष्वनगराः । यथा चानगारगुणेषु न वर्तन्ते तद्वर्तयति-यतस्तेऽह-
र्निश पृथिवीजन्तुविपत्तिकारिणो वृद्धयन्ते गुदपाणिपादप्रकाश-
नार्थम्, अन्यथाऽपि निर्लेपनिर्गन्धत्व कर्तुं शक्यम् । अतश्च ते गुण
कलापशून्याः, न बाह्यात्रेण युक्तिनिरपेक्षेणानगारता प्रवतीत्यनेन
प्रयोगः सूचितः । तत्र गायार्पूर्वाधेन प्रतिज्ञा, पश्चाधेन हेतुः, उत्त-
रगाथाधेन साधर्म्यदृष्टान्तः । स चायं प्रयोगः-तीर्थिका यत्य-
भिधानवादिनोऽपि यतिगुणेषु न वर्तन्ते, पृथिवीहिंसाप्रवृत्तत्वा-
त्, इह ये ये पृथिवीहिंसाप्रवृत्तास्ते ते यतिगुणेषु न वर्तन्ते, गृ-
हस्थवत् । साम्प्रत दृष्टान्तगमैर्निगमनमाह-[अणेत्यादि] अनगा-
रवादिनः-वयं यतय इति वदन्शीलाः । पृथिवीकार्यविहिंसकाः
सन्तो निर्गुणाः, यतोऽगारिसमा गृहस्थतुल्या भवन्ति ।
अभ्युद्यममाह-'सचेतना पृथिवी' इत्येवं ज्ञानरहितत्वेन त-
त्समारम्भवर्तिनः सदोषा अपि सन्तो वयं निर्दोषा इत्येव
मन्यमानाः स्वदोषप्रेक्षाविमुखत्वान्मलिनाः क्लृपितहृदयाः,
पुनश्चातिप्रगल्भतया साधुजनाश्रिताया निरवद्यानुष्ठानात्मिका-
या विरते जुगुप्सया निन्दया मलिनतरा भवन्ति । अनया च
साधुनिन्दयाऽनन्तसंसारित्वं प्रदर्शितं भवतीति । आचा० १ भु०
१ अ० २ उ० । "अणगारे पासडी, चरगे तह बभणे चेव"
इति । दश० १० अ० । "बुद्धः प्रवजितो मुक्तो-ऽनगारश्चरकस्त-
था" । द्वा० २७ द्वा० ।

(४) क्रियाऽसंवृतोऽनगारो न सिध्यति, किन्तु संवृत इति
सावतारमाह-तनु सत्यपि ज्ञानदेमोक्षहेतुत्वे दर्शने एव यति-
तज्यम्, तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् । यदाह-"भट्टेण चरित्ताओ, सु-
दुयर दसण गहेयव्व । सिज्झति चरणरहिया, दसणरहिया ए
सिज्झति" ॥१॥ इति यो मन्येत तं शिक्षयितुं प्रश्नयन्माह-

असंवृमे एं जंते ! अणगारे सिज्झति बुज्झति मुच्चति
परिणिव्वाति सव्वज्झकखाणमंतं करेति ? ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरमाह-

गोयमा ! एो इणट्टे समट्टे । से केणट्टे एं जंते ! जाव
अंतं न करेति ? । गोयमा ! असंवृमे अणगारे आउयवज्जा-
ओ सत्तकम्मपगढीओ सिद्धिलवंधणवच्चाओ धणियवंध-
णवच्चाओ पकरेइ, हस्सकाह्मट्टितियाओ दीहकालट्टितियाओ
पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुजावाओ पकरेइ,
अप्पपदेसगाओ बहुपदेसगाओ पकरेइ । आउय च एं
कम्मं मिय वंधइ, सिय नो वंधइ, असायावेयणिज्जं च एं
कम्मं भुज्जो जुज्जो उवाचिणइ, अणाइयं च एं अणव-
यगं दीहमच्चं चाउरतसंसारकंतारं अणुपरियद्वि, से ते-
णट्टे एं गोयमा ! असंवृमे अणगारे एो सिज्झइ ॥

एतदपि कथ्यम् । नवर (नो इणट्टे समट्टे स्ति) नो नैव,
अयमनन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्षोऽर्थो भावः, समर्थो बलवान्, वक्ष्य-
माणदृषणमुक्तरप्रहारजर्जितत्वात् । [आउयवज्जाओ स्ति]
यस्मादेकत्र भवप्रहणे सकृदेव अन्नमुहूर्त्तमात्रकाल एव, आयुषो
बन्धः, तत उक्तम्-आर्युवर्जा इति । [सिद्धिलवंधणवच्चाओ स्ति]
रूपबन्धन स्पृष्टता वा, वरुता वा, निधत्तता वा, तेन वद्धा
आत्मप्रदेशेषु सम्यग्निताः, पूर्वावस्थायामशुभतरपरिणामस्य

कथञ्चिद्भावादिति शिथिलबन्धनवद्धाः । एताश्चाशुजा एव
द्रष्टव्याः, असंवृतभावस्य निन्दाप्रस्तावात् । ताः किमित्याह-
[धणियवंधणवच्चाओ पकरेइ स्ति] गाढतरबन्धनवच्चावस्था वा,
निधत्तावस्था वा, निकाचितावस्था वा प्रकरोति । प्रशब्दस्यादि-
कर्मार्थत्वात्कर्तुमारज्यते, असंवृतत्वस्य शुभयोगरूपत्वेन गाढ-
तरप्रकृतिबन्धहेतुत्वात् । आह च-'जो गायपडिपएस ति' पौनः-
पुन्यजावे त्वसंवृतत्वस्य ताः करोतीत्येवेति । तथा-ह्रस्वकाक्ष-
स्थितिका दीर्घकाक्षस्थितिकाः प्रकरोति, तत्र स्थितिरुपात्तस्य
कर्मणोऽवस्थानं, तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः, असंवृत-
त्वस्य कषायरूपत्वेन स्थितिबन्धहेतुत्वात् । आह च-'डिम्मणु-
जागं कसायओ कुणइ स्ति' । तथा [मंदाणुजावेत्यादि] इहानुभा-
वो विपाकः, रसविशेष इत्यर्थः, ततश्च मंदानुभावाः परिपेक्ष-
वरसाः सतीर्गाढरसाः प्रकरोति । असंवृतत्वस्य कषायरूपत्वा-
देवानुभागबन्धस्य च कषायप्रत्ययत्वादिति । [अप्पपदेसगा-
दि] अल्पं स्तोत्रं प्रदेशात् कर्मदक्षिणपरिमाणं यासां तास्तथा,
ताः बहुप्रदेशात् प्राः प्रकरोति प्रदेशबन्धस्यापि योगप्रत्ययत्वाद-
संवृतत्वस्य च योगरूपत्वादिति । [आउय चेत्यादि] आयुः,
पुनः, कर्म, स्यात् कदाचिद्, वज्जाति, स्यान्न वज्जाति । यस्मात्त्रि-
भागाद्यवशेषायुषः परजवायुः प्रकुर्वन्ति, तेन यदा त्रिभागादि-
स्तदा वज्जाति, अन्यदा न वज्जानतीति तथा । [असाय हस्यादि]
असातवेदनीयं च दुःखवेदनीयं कर्म पुनर्भूयोभूयः पुनरुपवि-
नोति उपचितं करोति । ननु कर्मसप्तकान्तवर्त्तित्वादसातवेद-
नीयस्य पूर्वोक्तविशेषणैभ्य एव तदुपचयप्रतिपक्षः किमेतद्-
ग्रहणेन ? । इत्यत्रोच्यते-असंवृतोऽत्यन्तदुःखितो भवतीति-
प्रतिपादत्वेन भयजननादसंवृतत्वपरिहारार्थमिदमित्युपपत्तिः ।
[अणाइय ति] अनादिक अविद्यमानादिकम्, अज्ञातिकं वा
अविद्यमानस्वजनम्, ऋणं वा अतीतम्, ऋणजन्यदुःखताऽति-
क्रान्तदुःखतानिमित्तयेति ऋणातीतम् । अण वा अणक
पापमतिशयेनेत गतम्-अणातीतम् [अणवयगं ति] 'अवय-
गं ति' देशीवचनोऽन्तवाचकस्ततस्तत्तन्निषेधात् 'अणवयगं'
अनन्तमित्यर्थः । अथवा अवनतमासन्नमग्रमन्तो यस्य तत्तथा,
तन्निषेधादनवनताग्रमेतदेवर्णनाशादनवताग्रमिति । अथवा अन-
वगतमपरिच्छिन्नमग्रं परिमाणं यस्य तत्तथा । अतएव [दीहम-
च्चं ति] दीर्घाद्धं दीर्घकाक्षं, दीर्घाच्च वा दीर्घमार्गम् । [चाउरत
स्ति] चतुर्गन्तदेवादिगीतेभेदात्पूर्वादिविभेदाच्च चतुर्विभागं तदेव
स्वार्थिकाण्यप्रत्ययोपादानाच्चातुरन्तम् । [संसारकतार ति]
जवारण्यम् [अणुपरियद्वि स्ति] पुन पुनर्भ्रमतीति ॥

असंवृतस्य तावदिदं फलं, संवृतस्य तु यत्स्यात्तदाह-
संवृदे एं जंते ! अणगारे सिज्झइ ? । इंता सिज्झइ
जाव अंतं करेइ । से केणट्टे एं भते ! एवं बुच्चइ ? । गोयमा !
संवृमे एं अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगढीओ
धणियवंधणवच्चाओ सिद्धिलवंधणवच्चाओ पकरेइ, दीह-
कालट्टितियाओ हस्सकाह्मट्टितियाओ पकरेइ, तिव्वाणुभा-
वाओ मंदाणुजावाओ पकरेइ, बहुपदेसगाओ अप्पपदेसगा-
ओ पकरेइ, आउयं च एं कम्मं न वंधइ, असायावेयणिज्जं
च एं कम्मं एो भुज्जो जुज्जो उवाचिणइ, अणादीयं च एं
अणवदगं दीहमच्चं चाउरतसंसारकतारं वीईवयइ । से तेण-
ट्टे एं गोयमा ! एव संवृदे अणगारे सिज्झइ जाव अंतं करेइ

(सबुमे णमित्यादि) व्यक्तम्, नवर, सवृतोऽनगारः प्रमत्तसय-
तादि, स च चरमशरीर स्यादचरमशरीरो वा, तत्र यश्चरम-
शरीरस्तदपेक्षयेद् सूत्रम्, यस्त्वेवचरमशरीरस्तदपेक्षया परम्परया
सूत्रार्थोऽवसेय । ननु पारम्पर्येणासवृतस्यापि सूत्रोक्तार्थस्या-
वश्यभावः, यतः शुद्धपात्रिकस्यापि मोक्षोऽवश्यजावी, तदेव
सवृतासवृतयोः फलतो ज्ञेयं प्राप्नोति । अत्रोच्यते-सत्यम्,
किन्तु यत्सवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतः सप्ताष्टनवप्रमाणम् ।
यतो वक्ष्यति-“जहन्निव चारित्ताराहण आराहिता सत्तज्जव-
गहणेहि सिज्झइत्ति” । यच्चाऽसवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतो-
ऽपार्द्धपुरुषपरवर्तमानमपि स्यात्, विराधनाफलत्वात् तस्येति ।
(वीर्यवइत्ति) व्यतिव्रजति, व्यतिक्रामतीत्यर्थः । म० १ श० १ उ० ।
(५) अनगारस्य भावितात्मनोऽलिधारादिष्ववगाहना—

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारे णं जंते ! जाविय-
प्पा असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ? । हंता ओगाहे-
ज्जा । से णं तत्थ जिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ? । एो इण्ठे
समठे, एो खलु तत्थ सत्थं कमइ । एवं जहा पंचमसए
परमाणुपोगले वत्तव्या जाव । अणगारे णं जंते ! भावि-
यप्पा उदावत्तं वा जाव । णो खलु तत्थ सत्थं कमइ ।

[रायगिहे इत्यादि] इह चानगारस्य कुरधारादिषु प्रवेशो
वैकियव्यवस्थामर्थ्यादवसेय । [एव जहा पंचमसए इत्यादि]
अनेन च यत्सचित्तं तदिदम्-“अणगारे ण भंते ! भावियप्पा अग-
णिकायस्स मज्ज मज्जेण वीर्यवइत्ता ? , हंता वीर्यवइत्ता , से
ण तत्थ जिज्जापज्जा ? । नो इण्ठे समठे, नो खलु तत्थ सत्थं
कमइ ” इत्यादि । म० १८ श० १० उ० ।

[६] अनगारस्य ज्ञप्तप्रत्याख्यातुराहार —

जत्तपच्चक्खायए णं भंते ! अणगारे मुच्छिए अज्जोव-
वखे आहारमाहारेइ, अहे णं वीससाए कालं करेइ, तओ
पच्छा अमुच्छिए अगिप्पे जाव अणज्जोववण्णे आहार-
महारेति ? । हंता गोयमा ! जत्तपच्चक्खायए णं अणगारं तं
चेव । से केण्ठे णं भंते ! एवं बुच्चइ जत्तपच्चक्खायए णं तं
चेव ? । गोयमा ! जत्तपच्चक्खायए णं अणगारे मुच्छिए जाव
अज्जोववण्णे आहारे भवइ, अहे णं वीससाए कालं करेइ,
तओ पच्छा अमुच्छिए जाव आहारे भवइ, से तेण्ठे णं जाव
आहारमाहारेइ ॥

(भवेत्यादि) तत्र (भत्तपच्चक्खाय ए णं ति) अनगानी मूर्च्छि-
तः सजातमूर्च्छः जाताहारसरक्षणानुबन्धस्तदोषविषये वा
मूढः ‘मुच्छो मोहसमुच्छाययो’ इति वचनात् । यावत्करणा-
दिद् दृश्यम्- (गदिए) ग्रथित आहारविषयस्नेहतन्तुभिः स-
न्धर्मितः, ‘ग्रन्थ ग्रन्थ सन्धर्मे’ इति वचनात् । (गिक्के) गृ-
ह्यः प्राप्ताहारः आसक्तः, अतृप्तत्वेन वा तद् काङ्क्षावान्, ‘गृधु’ अ-
भिकाङ्क्षायाम् इति वचनात् । (अज्जोववखे ति) अभ्युपगमोऽप्रा-
प्ताहारचित्तायामधिक्येनोपपन्नः । आहार वायुतैलाद्यङ्गादि-
कम्, ओदनादिकं वाऽन्यवहार्यं तीव्रजुष्टेदनीयकर्मोदयादसमाधौ
सति तदुपशमनाय प्रयुक्तमाहारयत्युपमुक्ते । (अहे णं ति) अथा-
हारानन्तरं विस्मयस्या स्वभावतः एव, (काटं ति) कालो मरणं,
कात्र इव कालो मारणान्तिकसमुद्घातः, त करोति यानि । (तओ
पच्छं ति) ततो मारणान्तिकसमुद्घातात्पश्चात् तस्माद्विपुल

इत्यर्थः । अमूर्च्छितादिविशेषणविशेषित आहारमाहारयति, प्र-
शान्तपरिणामसद्भावादिति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्- [हतागोयमेत्यादि]
अनेन तु प्रश्नार्थ एवाच्युपगतः, कस्यापि ज्ञप्तप्रत्याख्यातुरेव ज्ञप्त-
भावस्य सद्भावादिति । म० १४ श० ७ उ० ।

[७] शैलेशीप्रतिपक्षस्यानगारस्य एज्जना—

सेल्लेसिपमिवसए ण भंते ! अणगारे सया समियं ए-
यति वेयति जाव तं तं जावं परिणमइ ? । एो इण्ठे समठे, ए-
णत्थेगेणं परप्पओगेणं ॥

(नो इण्ठे समठे ति) योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्मात्परप्रयो-
गादेज्जनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैकैकेन शैलेश्यामेज्जनादि
प्रवति, न करणान्तरेणेति ज्ञावः । म० १७ श० ३ उ० ।

[८] अनगारो भावितात्माऽऽत्मनः कर्मवेद्याशरीरं जानाति—
अणगारे णं जंते ! भावियप्पा अप्पणो कम्मवेस्सं ण
जाणइ, ए पामइ, तं पुण जीवसरुविं सकम्मवेस्सं जाणइ,
पासइ ? । हंता गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा अप्पणो
जाव पासइ ।

(अणगारे णमित्यादि) अनगारो भावितात्मा सयमजावनया
वासितान्तःकरणः, आत्मनः सयन्धिनी कर्मणो योग्या वेद्या
कृष्णादिका, कर्मणो वा लेइया, “ लिश श्लेषणे ” इति वचना-
त् । सवन्धः कर्मलेइया, तां न जानाति विशेषणो न पश्यति च,
सामान्यतः कृष्णादिवेइयायाः, कर्मद्रव्यलक्षणेणस्य चातिसूक्ष्म-
त्वेन छास्थानागोचरत्वात् । (तं पुण जीव ति) । यो जीवः
कर्मलेइयावास्तं पुनर्जीवमात्मानं (सरुविं ति) सह रूपेण
रूपरूपवतोरज्जेदोपचाराच्छरीरेण वर्तते योऽसौ [समासान्तवि-
धि] सरूपी, तं सरूपिणम्-सशरीरमित्यर्थः । अत एव सक-
र्मलेइय कर्मलेइया सह वर्तमानं जानाति शरीरस्य चक्षुर्ग्राह्य-
त्वाद् जीवस्य च कथञ्चिच्छरीराव्यतिरेकादिति “ सरुविं सकम्म-
वेस्स ति ” । म० १४ श० ७ उ० । (अनगारस्य अनायुक्तं गच्छतः
क्रियाः ‘ किरिया ’ शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

(९) अनगारस्य भावितात्मनः क्रिया—

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारस्स णं जंते ! भा-
वियप्पणो पुरओ इहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स
पायस्स अहे कुक्कुमपोते वा वट्टापोते वा कुलिंगच्छाए वा
परियावज्जेज्जा, तस्स णं जंते ! किं इरियावहिया किरिया
कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! अणगारस्स
णं जावियप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया क-
ज्जइ, णो संपराइया किरिया कज्जइ । से केण्ठे णं भंते !
एवं बुच्चइ ? । जहा सत्तमसए सवुमुइसए जाव अट्टो शि-
क्खित्तो सेवं भंते ! जंतेति जाव विहरइ । तए णं समणे
जगवं महावीरे जाव विहरइ ॥

(पुरओ ति) अग्रतः । (इहओ ति) द्विधाऽन्तराऽन्तरा पार्श्वतः
पृष्ठतश्चेत्यर्थः । (जुगमायाए ति) शृणुमात्रया दृष्ट्या (पेहाए ति)
प्रेक्ष्य (रीयं ति) गतं गमनं, (रीयमाणस्स ति) कुर्वत इत्यर्थः ।
(कुक्कुमपो ति) कुक्कुटमिन्नं (वट्टापो ति) इह वर्तका
पक्षिविशेषः । (कुलिंगच्छाए ति) पिपीलिकादिसदृशः (प-
रियावज्जेज्ज ति) पर्यापद्येत क्रियेत, (एव जहा सत्तमसए इत्या-

दि) अनेन च यत्सुचित तस्यार्थेऽत्र पद्यम्-अथ केनाद्येन भ-
वन्मैवमुच्यते ? । गोतम ! यस्य मोधादयो व्यपदिष्टा भवन्ति
तस्यैवार्थधिक्येय क्रिया जपनीत्यादि । [जात्र अष्टो निविगतां
ति] "से केणट्टेणं जने ।" इत्यादिपद्यस्य निगमनयायादियर्थः ।
तद्य [से तेणट्टेण गोयमेत्यादि] इति प्रागमनमाधिन्य विचार-
कृतः । अथ तदेवाधित्या-ययधिक्यमतनिषेधतः स पद्योच्यते-
[तणमितीत्यादि] भ० १८ श० ८ उ० ।

अणगारस्म एणं जंते ! जाविपणो उट्टं उट्टेणं अणि-
विखत्ते एणं जाव आयावेमाणस्म तस्म एणं पुग्च्छिमेणं अ-
वहं विवस एणो कप्पइ, हत्थं वा पादं वा जाव ऊरु वा आऊं-
ट्टवेत्तए वा पसारिक्कए वा पशच्छिमेणं अरु दिवम कप्पइ,
हत्थं वा पादं वा जाव ऊरु वा आऊंटावेत्तए वा पसारिक्कए
वा तस्म य असिओ लंवइ त चेव विज्जे अदक्खु, इंसिं
पामेइ. पामेइत्ता अंसियाओ जिंदेज्जा, से एणं जंतं ! जे जिं-
देज्जा, तस्म कड किरिया कज्जइ ? , जम्म जिज्जइ एणं तस्म
किरिया कज्जइ ? , एणत्थेणं धम्मतराएणं ? । हंता
गोयमा ! जे जिंदइ जाव धम्मतराएणं से एणं भंते ! भंते ति ।

(पुरच्छिमेणं ति) प्रथमं पूर्वाह्न इत्यर्थः । (अथहु ति) अ-
पगताद्धर्मदिवस यावद् न कल्पने एस्मादाकुण्टयितु, का-
योत्सर्गव्यवस्थितत्वात् । (पशच्छिमेणं ति) पश्चिमभागे
(अवहु दिवस ति) विनाशं यावन् कल्पने एस्मादाकुण्टयि-
तु, कायोत्सर्गाभावात् । तदेतच्च चूर्णयन्नुत्सारितया व्याख्यातम् ।
[तस्स यं ति] तस्य पुनः साधोर्गव्यकायोत्सर्गाभिग्रहण
(असियाओ ति) । अशींसि, तानि च नामिकासत्कानीति
चूर्णिकारः । (त च ति) न चानगारं कृतकायोत्सर्गं लम्ब-
मानार्थसम्, (अदक्खु ति) अत्रात्तीन् । ततश्चाश्रमां छेदार्थम्
(इंसिं पाडेइ ति) मनागनगार भूम्या पातयति, नापातित-
स्याशच्छेदं कर्तुं शक्यं इति । (तस्स ति) धैर्यस्य, क्रिया
व्यापाररूपा, सा च शुभा धर्मवुद्ध्या । छिन्दानस्य लोभा-
दिना क्रियेत त्वशुभा भवति (जस्स जिज्जइ ति) यस्य सा-
धोर्शींसि छिद्यन्ते नो तस्य क्रिया भवति, निर्व्यापारत्वात् ।
किं सर्वथा क्रियाया अभवः ? , मैवम् । अत आह- (नत्तत्थेत्या-
दि) न इति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्माद्धर्मान्तरायाद्ध-
र्मान्तरायलक्षणा क्रिया, तस्यापि भवतीति भावः । धर्मा-
न्तरायश्च शुभध्यानविच्छेदादर्शश्छेदानुमोदनाद् वेति । भ०
१६ श० ३ उ० ।

(१०) संवृतस्यानगारस्य क्रिया-

रायगिहे जाव एवं वयासी-संवरुस्म एणं भंते ! अणगा-
रस्म वीइपंथे ठिच्चा पुरओ रुवाइं निज्झायमाणस्स मग-
ओ रुवाइं अवयक्खमाणस्स पासओ रुवाइं अवडोएमा-
णस्स उट्टं रुवाइं उडोएमाणस्म अहे रुवाइं आलोए-
माणस्स तस्स एणं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,
संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! संवरुस्स अणगा-
रस्स वीइपंथे ठिच्चा जाव तस्स एणं एो इरियावहिया कि-
रिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ । से केणट्टेणं भंते !
एवं वुच्चइ, संवरुमं जाव संपराइया किरिया कज्जइ ? । गो-

यमा ! जस्स एणं कोहमाणमायालोच्चा एवं जहा मत्तमसए
पदमुद्देमए जाव से एणं उस्सुत्तमेव रीयइ । से तेणट्टेणं जाव
संपराइया किरिया कज्जइ । संवरुस्म एणं भंते ! अणगा-
रस्म अवीइपंथे ठिच्चा पुरओ रुवाइं निज्झायमाणस्स
जाव तस्म एणं जंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,
पुच्चा । गोयमा ! संवरुमं जाव तस्म एणं इरियावहिया कि-
रिया कज्जइ, एणं संपराइया किरिया कज्जइ । से केणट्टेणं
जंते ! जहा मत्तमसए मत्तमुद्देमए जाव से एणं अहासुत्तमेव
रीयइ, से तेणट्टेणं जाव एो संपराइया किरिया कज्जइ ।

(रायगिहे इत्यादि) मत्र । संवरुस्म ति । संवृतस्य सामा-
न्येन प्राणानिपाताद्यास्त्रयद्वारस्वरूपेण तस्य (वीइपंथे ठिच्चा ति)
गीभिश्च सम्प्रयोगे । स च सम्प्रयोगो द्वयोर्ज्ञप्रति । ततश्चेह
कपायाणां जीवस्य च सम्यन्धो घांविशब्दयाच्य, ततश्च वी-
चिमन कपायगत, मनुप्रत्ययस्य पद्यवाच्य लोपस्य दर्शनात् ।
अथवा " विचिद पृथग्भावे " इति वचनाद् विविच्य पृथ-
ग्भूय यथाग्यातस्यमाक्यायोदयमनपचाय्येत्यर्थः । अथवा
विचिन्त्य रागाविकल्पावित्यर्थः । अथवा विरुगा कृति, कि-
या सरागन्वाद् यस्मिन्प्रवृत्ताने तद्विकृति यथा भवतीत्येवं
स्थित्या (पद्यं ति) नागं (अवयक्खमाणस्स ति) अव-
काहोऽपेक्षमाणस्य या, पथिग्रहणस्य चोपलक्षणत्वाद-
न्यत्राप्याधारे स्थित्वेति द्रष्टव्यम् । (नो इरियावहिया किरि-
या कज्जइ ति) न केवलयोगप्रत्यया कर्मबन्धक्रिया भव-
ति, सकपायतयात्तस्येति (जस्स एणं कोहमाणमायालोच्चा) इह-
एव जहेत्यादिनिशयादिदं दृश्यम्- (वोच्छिन्ना भवन्ति तस्स
ए इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स एणं कोहमाणमायालो-
च्चा अवोच्छिन्ना भवति तस्स ए संपराइया किरिया कज्जइ,
अहासुत्त रियं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उ-
स्सुत्त रीय रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ ति)
ज्याख्या चास्य प्राग्वदिति । (से ए उस्सुत्तमेव ति) स पुन-
रुत्तममेवागमातिक्रमणत एव (रीयइ ति) गच्छति ' संवुडस्से-
त्यादि ' इत्युक्ताविपर्ययसूत्रम्, तत्र च [अवीइ ति] अवीचिमतोऽ
कपायसम्यन्धवतोऽविचिन्त्य वा अपृथग्भूय यथाऽऽख्यातस्य-
मात् अविचिन्त्य वा रागाविकल्पाभावेनेत्यर्थः । अविकृतिर्वा
यथा भवतीति । भ० १० श० २ उ० ।

संवरुस्स एणं भंते ! अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स
जाव आउत्तं वत्थपमिगहं कवलं पायपुच्छणं गेएहमाण-
स्स वा निविखवमाणस्स वा तस्स एणं भंते ! किं इरिया-
वहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? ।
संवुडस्स एणं अणगारस्स जाव तस्स एणं इरियावहिया
किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ । से के-
णट्टेणं जंते ! एवं वुच्चइ संवरुस्स एणं जाव नो संप-
राइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! जस्स एणं कोह-
माणमायालोच्चा वोच्छिन्ना भवन्ति तस्स एणं इरियाव-
हिया किरिया कज्जइ, तदेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स
संपराइया किरिया कज्जइ, से एणं अहासुत्तमेव रीयइ, से

तेण्णे एं गोयमा ! जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ ।
ज० ७ श० ७ उ० ।

(११) अनगारस्य गत्युपपादौ-

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारे एं भते ! जावियप्पा चरम देवावासं वीइकते परम देवावासं असंपत्ते एत्थ एं अंतरालं काहं करेज्जा, तस्स एं जते ! कहिं गई कहिं उववाए पन्नत्ते ? । गोयमा ! जे से तत्थ परिस्सओ तल्लेस्मा देवावामा तहिं तस्स गई, तहिं तस्स उववाए पणत्ते । से य तत्थ गए विराहेज्जा, कम्मलेस्सामेव पणिवरुड, से य तत्थ गए नो विराहेज्जा, तामेव लेस्सं उवसंपजित्ताणं विहरइ ।

[चरम देवावासं वीइकते परम देवावासं असंपत्ते ति] चरममर्वाभागवर्तिनं स्थित्यादिनिर्देवावासं सौधर्मादिदेवश्लोकव्यतिक्रान्तो लक्षितस्तदुपपातहेतुभूतलेइयापरिणामापेक्षया परमं परजागवर्तिनं स्थित्यादिनिर्देवावासं सनत्कुमारादिदेवश्लोकमसंप्राप्तोऽप्राप्तस्तदुपपातहेतुभूतलेइयापरिणामापेक्षया चरमं । इदमुक्तं भवति-प्रशस्तेष्वप्ययसायस्यानेषुत्तरोत्तरेषु वर्तमानं आराङ्गागस्थितसौधर्मादिगतदेवस्थित्यादियन्धयोऽव्यतामतिक्रान्तं परमभागवर्तिसनत्कुमारादिगतदेवस्थित्यादियन्धयोग्यता चाप्राप्त । [एत्थ एं अतरत्ति] इहायसरे [काशं करेज्जत्ति] म्रियते यस्तस्य कोत्पाद इति प्रश्नः । उत्तरं तु- [जिसे तत्थत्ति] अथ ये तत्रेति तयोश्चरमदेवावासपरमदेवावासयोः परिपार्श्वतः समीपे सौधर्मादेरासन्ना सनत्कुमारादेर्वा आसन्नास्तयोर्मध्यभागे ईशानादौ इत्यर्थः । [तल्लेस्सा देवावासं ति] यस्यां हेइयाया वर्तमानं साधुमृतं सा लेइया येषु ते तल्लेइया देवावासाः । [तहिं ति] तेषु देवावासेषु तस्यानगारस्य गतिर्भवतीति, यत उच्यते- 'जल्लेस्से मरइ जिए, तल्लेस्से चैव उवघज्जे' इति । [से यत्ति] स पुनरनगारस्तत्र मध्यजागवर्तिनि देवावासे गत [विराहेज्जत्ति] येन हेइयापरिणामेन तत्रोत्पन्नस्तत् परिणाम यदि विराधयेत् तदा [कम्मल्लेस्सामेव ति] कर्मण सकाशात्ता हेइया जीवपरिणतिः सा कर्मल्लेइया, जावलेइयेत्यर्थः । तामेव प्रतिपत्तति-तस्या एव प्रतिपत्तति अशुभतरतां याति, न तु द्रव्यलेइयायाः प्रतिपत्तति । सा हि प्राक्तन्येवास्ते रूयतोऽयस्थितलेइयायादेवानामिति पक्कान्तरमाह- [से य तत्थेत्यादि] सोऽनगारस्तत्र मध्यमदेवावासे गतं सन्न यदि न विराधयेत् तं परिणाम, तदा तामेव हेइयां ययोत्पन्नं उपपत्त्याधित्य विहरत्यास्त इति । इदं सामान्यदेवावासमाश्रित्या कम् ।

अथ विशेषितं तमेवाश्रित्याह-

अणगारे एं जते ! जावियप्पा चरमं असुरकुमारावासं वीइकते, परम असुरं एव चैव० एवं जाव थणियकुमारावासं जोइसियावासं एव वेमाणियावासं जाव विहरति ॥

ननु यो भावितात्माऽनगारः स कथमसुरकुमारेषुत्पत्स्यते, विराधितसयमाना तत्रोत्पादादिति ? । उच्यते-पूर्वकालापेक्षया भावितात्मत्वमन्तकात्रे च सयमविराधनासन्नावाद्सुरकुमारादिनयोपपाद इति न दोषः । बाह्यतपस्वी चाऽयं भावितात्मा दृष्टव्य इति । भ० १४ श० १ उ० ।

(१२) असवृतस्यानगारस्य विकुर्वणा-

अमंनुमे एं जते ! अणगारे वाहिगए पोग्गल्ले अपरियाइत्ता पभू एगवण एगस्सं विउव्वित्तए ? । गोयमा ! एं इण्णहे समट्ठे । असंनुडे एं जते ! अणगारे वाहिगए पोग्गले परियाइत्ता पन्नू ! एगवणं एगस्सं जाव । इंता । पन्नू ! से भंते ! किं इह गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वड, तत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वड, अस्सत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वड ? । गोयमा ! इह गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वड, नो तत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वड, नो अस्सत्थ गए पोग्गले जाव विउव्वड, एव एगवणं अणेगस्सं चउज्जंगो जहा उट्टमए नवमे उट्टमए तदा इहावि भाणियव्वं, नवरं अणगारं इह गए य पोग्गले परियाइत्ता विउव्वड, सेसं त चेव जाव जुव्वपोग्गल एण्ड-पोग्गलत्ताए परिणामेत्ताए ? । इंता । पभू ! से जते ! किं इह गए पोग्गले परियाइत्ता जाव नो अस्सत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वड ।

असवृतं प्रमत्तः (इह गएत्ति) इह पुच्छको गौतमः, तदेपकया उहशब्दवाच्यो मनुष्यलोकस्ततश्च इहगतान् नरलोकव्यवस्थितान् (तत्थ गएत्ति) वैकियं कृत्वा तत्र याम्यति तत्र व्यवस्थितानित्यर्थः । (अस्सत्थ गएत्ति) उक्तस्थानद्वयव्यतिरिक्तस्थानाश्रितानित्यर्थः । (नवरं ति) अयं विशेषः- (इह इति) इह शते, अनगार इति, इहगतान् पुञ्जलानिति च वाच्यम् ; तत्र तु देवइति, तत्र गतमिति चोक्तमिति । भ० ७ श० ६ उ० ।

[१३] केयाघटिकावकणकृत्यादिविकुर्वणा-

रायगिहे जाव एवं वयासी-से जहाणामए केइ पुरिसे केयाघडियं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि जावियप्पा केयाघमिया किच्चहत्थगएणं अप्पाणेणं उहुं वेहामं उप्पएज्जा ? । इंता गोयमा ! जाव समुप्पएज्जा । अणगारे एं जते ! भावियप्पा केवइयाइं पन्नू ! केयाघमियं किच्चहत्थगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए ? । गोयमा ! से जहाणामए जुवत्तिं जुवाणे हत्थेणं हत्थं एवं जहा तइयसए पचमोहेमए जाव एं चेव एं संपत्तीए विउव्वित्तु वा विउव्वित्ति वा विउव्वित्तसति वा से जहाणामए केइ पुरिसे हिरस्सपेकिं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारं वि भावियप्पा हिरस्सपेकिं हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं मेसंत चेव । एवं सुवस्सपेकिं एवं रयणपेकिं वयरपेकिं वत्थपेकिं आजरणपेकिं, एवं वियन्नकिरुसुवाकिरु चम्मकिरुं कवलकिहं, एव अयजारं तवजारं तउयभारं सीसगजारं हिरस्सभारं सुवस्सजारं वडरजारं से जहाणामए वग्गुदी सिया दोवि पाए उलंविण उलविण उहुं पाया अहो सिरा चिहेज्जा, एवामेव अणगारे वि जावियप्पा वग्गुदी किच्चगएणं अप्पाणेणं उहुं वेहासं । एवं जसो वडयवत्तवया भाणियव्वा जाव विउव्वित्तसंति वा से जहाणामए जदोयासिया

उदगसि कायं वि उन्विहिय उन्विहिय गच्छेज्जा, एवामेव सेसं जहा वग्गुलीए से जहाणामए वीयं वियगसउणे सिया दोवि पाए समतुरंगेमाणे समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए पक्खिविरालए सिया रुक्खाओ रुक्खं मेवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए जीवं जीवगसउणे सिया, दो वि पाए समतुरंगेमाणे समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए हंसे, सिया तीराओ तीरं अजिरममाणे अभिरममाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे हंसकिच्चगणं अप्पाणेणं, सेसं तं चेव । से जहाणामए समुद्वायसए सिया वीईओ वीई मेवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव तहेव । से जहाणामए केइ पुरिसे चकं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे जावियप्पा चक्ककिच्चहत्थगणं अप्पाणेणं, सेसं जहा केयाघमियाए, एव उत्तं, एवं चम्मं, से जहा केइ पुरिसे रयणं गहाय गच्छेज्जा एवं चेव । एवं वइए वेरुलियं जाव रिठं एव उप्पलहत्थगं पणमहत्थगं कुमुदहत्थगं एवं जाव । से जहाणामए केइ पुरिसे सहस्मपत्तगं गहाय गच्छेज्जा, एवं चेव । से जहाणामए केइ पुरिसे जिसं अवदालिय अवदालिय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि जिसं किच्चगणं अप्पाणेणं तं चेव, से जहाणामए मुणाक्षिया सिया उदगंसि कायं उम्मज्जिअ उम्मज्जिअ चिडेज्जा, एवामेव सेसं जहा वग्गुलीए, से जहाणामए वणखंडे सिया किएहे किएहोभासे जाव निकुलंबूए पासादीए ४, एवामेव अणगारे भावियप्पा वणखंरुकिच्चगणं अप्पाणेणं उट्टं वेहासं उप्पएज्जा, सेसं तं चेव । से जहाणामए पुक्खरिणी मिया चउकोणा समतीरा अणुपुव्वसु जाय जाव सदुप्पइय महुरसरणादिया पासादीया ४ एवामेव अणगारे वि जावियप्पा पोक्खरिणी किच्चगणं अप्पाणेणं उट्टं वेहासं उप्पएज्जा ? । हंता उप्पएज्जा अणगारेणं भंते ! जावियप्पा केवयाइ पत्तु ! पोक्खरिणी किच्चगयाइं रुवाइं विउव्वित्तए ? । सेसं तं चेव जाव विउव्विस्सति वा । से जंते ! किं मायी विउव्वइ, अमायी विउव्वइ ? । गोयमा ! मायी विउव्वइ, एो अमायी विउव्वइ, मायीणं तस्स ठाणस्स अणालोइय एवं जहा तइयमए चउत्तुइसए जाव अत्थि तस्स आराहणा ॥

(रायगिहेत्यादि) (केयाघमिय ति) रज्जुप्रान्तबद्धघटिका केयाघडिया (किच्चहत्थगणं ति) केयाघटिकावक्कण यन्तुत्य कार्यं तस्स गन यस्य स तथा, तेनात्मना [वेहासं ति] विज्जकिविपरिणामाद्विहायस्याकाशे केयाघमिया [किच्च हत्थ गयाइ ति] केयाघटिकालक्षणं कृत्यं हस्ते गत येषां तानि तथा [हि-वक्ष्येति] हिरण्यमज्जयां (वियरुकिड ति) विदलाना व-शास्तीनां यः कटः स तथा त (संबुकिड ति) वीरणकटं [चम्मकिम ति] चर्मव्यूतं खट्वादिकं [कबलकिम ति] औष्णी-

मय कबल जीनादि [वग्गुली ति] चर्मपङ्कः पङ्क्तिविशेषः । [वग्गुद्विकिच्चगणं ति] वग्गुलीवक्कण कृत्यं कार्यं गत प्राप्तं येन स तथा, तद्रूपतां गत इत्यर्थः । [एव अणोवइयवत्तव्वया ज्ञाणीय-व्वा] इत्यनेनेदं सूचितम् । “हंता उप्पएज्जा, अणगारे ण भंते ! भावियप्पा केवयाइ पत्तु ! वग्गुद्विकिच्चगणं विउव्वित्तए ? । गोयमा ! से जहाणामए जुवार्ति जुवाणे हत्थेणं हत्थ गिरदेज्जेत्यादि ” [जलोय ति] जलीका जलजो द्वीन्द्रियजीव विशेषः । [उ-न्विहिय ति] उद्व्यूह्य २ उत्प्रेर्य २ इत्यर्थः । [वीय वीयग-सउणे ति] वीज वीजकामिधानः शकुनिः स्यात् [दोवि पाए ति] छावपि पादौ । [समतुरंगेमाणे ति] समौ तुल्यौ तुरङ्गस्या-श्वस्य समुत्केपणं कुर्वन् समतुरङ्गयमाणः समकमुत्पादयन्नित्यर्थः । (पक्खिविरालए ति) जीवविशेष [डेवेमाणे ति] अति-क्रामन्नित्यर्थः [वीईओ वीई ति] कल्लोवात्कल्लोत्तम्-वेरुलियम् । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-“लोहियक्ख मसारगल्ल हसगल्लं पुल्लग सोगंधिय जोईरस अंक अजण रयण जायरुव अजणपु-ल्लग फल्लिह ति” । ‘कुमुदहत्थगं’ इत्यत्र तु एव यावत्करणादिदं दृश्यम्-“नल्लिणहत्थगं सुजगहत्थगं सोगंधियहत्थगं पुरी-यहत्थगं महापुरीयहत्थगं सयवतहत्थगं ति” । [भिस ति] विशं मृणाल [अवदालिय ति] अवदार्य दारयित्वा [मुणा-लिय ति] नल्लिनीकाय [उम्मज्जिय ति] कायमुन्मज्ज्य उन्मज्ज कृत्वा [किएहे किएहो भासे ति] कृष्णः कृष्णवर्णो जनवत्स्वरूपेण कृष्ण एवावजासतेरुष्णं प्रतिभातीति कृष्णावभासः । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-“नील्ले नील्लोभासे हरिय हरिओभासे सीय सीओभासे निक्के निक्कोभासे तिक्के तिक्कोभासे किएहे कि-एहच्चाए नील्ले नील्लच्चाए हरिय हरियच्चाए सीये सीयच्चाए तिक्के तिक्कच्चाए घणकडिच्चाए रम्मे महामेहनिउरबच्चए ति” तत्र च [नील्ले नील्लोभासे ति] प्रदेशान्तरे, [हरिय हरिओभा-से ति] प्रदेशान्तर एव । नील्लश्च मयूरगलवत्, हरितस्तु शुक्-पिच्छवत्, हरितालाभ इति च वृत्ताः । [सीय सीओभासे ति] शीतः स्पर्शापेक्षया, वल्ल्याद्याकान्तत्वादिति च वृत्ताः । [निक्के नि-क्कोभासे ति] स्निग्धो रुक्त्ववर्जितः [तिक्के तिक्कोभासे ति] तीव्रो वर्ष्मादिगुणप्रकर्षवान् [किएहे किएहच्चाए ति] इह ह-ष्णशब्दः कृष्णच्चाय इत्यस्य विशेषणमिति न पुनरुक्तता । तथाहि-कृष्णः सन्न कृष्णच्चायः, जाया चादित्यावरणजन्यो वस्तुविशेषः । एवमुत्तरपदेवपि-‘घणकमियच्चाए ति’ अन्योन्य शास्त्रानुप्रवे-शाद्वहलनिरन्तरच्चाय इत्यर्थः । ‘अणुपुव्वसुजाय’ इत्यत्र याव-त्क रणादेवं दृश्यम्-“अणुपुव्वसुजायवप्यंगीरसीयलजला” आनुपूर्व्येण सुजाता वप्रा यत्र, गम्भीर शीतल च जलं यत्र सा तथा इत्यादि । [सहसुइय महुरसरणादिय ति] इदमेव दृश्यम्-“सुयवरहिणमयणसालूकोव्वल्लकोरुक्कणिगारककोडलकजीव-जीवकनवीमुदकविलपिगलक्खगकारं उच्चक्कायकल्लहससार-सअणेगसउणगणमिहुणविरइयसदुप्पइयमहुरसरणाइय ति” तत्र शुकादीनां सारसान्तानामनेकेषां शकुनगणानां मिथुनै-र्विरचितं शुब्दोक्तिक चोन्नतशब्दक मधुरस्वर च नादित द-पितं यस्याः सा तथेति । ज० १३ श० ६ उ० ।

[१४] अणगारस्य भावितात्मनो विकुर्यणा बाह्य पुद-

गलापर्यादानपूर्वक स्वीरूपस्य—

अणगारे णं जंते ! जावियप्पा बाहिरए पोगत्ते अपरि-याइत्ता प्रभू ! एगं महं इत्थिरुव वा जाय संदमाणियकं

वा विकुञ्चित्तए ?। गोयमा ! एणो इण्ठे समेट्ठे । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गत्ते परियाइत्ता पञ्चू ! एणं महं इत्थिरूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा विकुञ्चित्तए ?। हंता । पञ्चू ! अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पञ्चू ! इत्थिरूवाइं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइं जुवाणे हत्थेण हत्थे गेएणज्जा, चक्कस्स वा नाजी अर-गा उत्ता सिया, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वेउव्विय-समुग्घाएणं समोहणइ जाव पञ्चू ! णं ?। गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा केवलकप्पं जंबुदीवं दीवं वहुहिं इत्थिरूवे-हिं आयन्नं वित्तिकिएणं जाव एस णं गोयमा ! अणगा-रस्स जावियप्पाए अयमेयारूवं विसए विसयमेत्ते बुइए नो चेव णं संपत्तीए विकुञ्चित्तए वा ३ , एवं परिवारिए नेयव्वं जाव संमाणिया । से जहानामए केइ पुरिसे असि-चम्मपायं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भाविय-प्पा असिचम्मपायं हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उट्ठं वे-हासं उप्पएज्जा ?। हंता उप्पएज्जा । अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पञ्चू ! असिचम्महत्थकिच्चगयाइं रूवा-इ विउव्वित्तए ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइं जुवाणे हत्थेण हत्थे गेएणज्जा त चेव जाव विउव्वित्तए वा ३ , से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पढाग काउं गच्छेज्जा, ए-वामेव अणगारे जाविअप्पा एगओ पढागा हत्थकिच्च-गएणं अप्पाणेणं उट्ठं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता गोयमा !। अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पञ्चू ! एगओ प-ढागा हत्थकिच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए, एव जाव वि-कुञ्चित्तए वा ३ , एवं दुहओ पढागं पि से जहानामए केइ पुरिसे एगओ जणोवइ तं काउं गच्छेज्जा । एवामेव अ-णगारे वि भावियप्पा एगओ जणोवइ य किच्चगएण अप्पाणेणं उट्ठं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता उप्पएज्जा । अणगारे णं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पञ्चू ! एगओ जसो-वइयं किच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए, तं चेव जाव विकु-ञ्चित्तए वा ३ । एवं दुहओ जसोवइयं पि । से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पल्हत्थियं काउ चिठेज्जा, एवामेव अण-गारे भावियप्पा त चेव जाव विउव्वित्तए वा ३ । एवं दुहओ पल्हत्थियं पि, से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पत्थियं काउं चिठेज्जा, तं चेव विकुञ्चित्तए वा ३ । एवं दुहओ पत्थियं पि । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गत्ते अपरियाइत्ता पञ्चू ! एणं मह आसरूवं वा हत्थिरूवं वा सीहरूवं वा वग्घ-ग्घदीविअ अच्छतरच्छपरासररूवं वा अभिजुजित्तए ?। णो इण्ठे समेट्ठे । अणगारे णं एव बाहिरए पोग्गत्ते प-रियाइत्ता पञ्चू ! अणगारे णं भंते ! जावियप्पा एणं मह आसरूवं वा अजिउजित्ता अणोगाइ जोयणाइ

गमित्तए ?। हंता । पञ्चू ! से जंते ! किं आइट्ठीए गच्छइ, परि-ट्ठिए गच्छइ ?। गोयमा ! आयट्ठीए गच्छइ नो परिट्ठीए । एवं आयकम्मूणा परकम्मूणा आयप्पओगेणं परप्पयोगेणं उस्सि-ओदयं वा गच्छइ, पयोदयं वा गच्छइ । मे णं भंते ! किं अ-णगारे आसे ?। गोयमा ! अणगारे णं से नो खलु से आसे, एवं जाव परासररूवं वा । सं भंते ! किं मायी विकुञ्चइ, अमायी विकुञ्चइ ?। गोयमा ! मायी विकुञ्चइ, नो अमायी विकुञ्चइ । मायीणं जंते ! तस्स ठाणस्स अणालोइयपन्निकंते काइं करेइ कहिं उव्वज्जइ ?। गोयमा ! अणयरेसु आभियोगेसु देवओगेसु देवत्ताए उव्वज्जइ । अमायीणं तस्स ठाणस्स आलोइय प-दिकते काल करेइ, कहिं उव्वज्जइ ?। गोयमा ! अणयरेसु अ-णान्जियोगेसु देवओगेसु देवत्ताए उव्वज्जइ, सेवं भंते ! जंतेति । गाहा —“ इत्थी असिपढागा, जसोवइए य होइ बोधव्वो । पल्हत्थि य पलियके, अभियोगविकुञ्चणा मायी ॥१॥ ” तइयसए पंचमोहसो सम्मत्तो । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छदिट्ठी वीरियलप्पीए वेउव्वियलप्पी-ए विभंगनाएलप्पीए बाणारसिं नगरिं समोहए समोहणि-त्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पास-इ । से जंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अणहाजावं जा-णइ पासइ ?। गोयमा ! एणो तहाजावं जाणइ पासइ, अणहा-जावं जाणइ पासइ । से केण्ठे णं जंते ! एवं बुच्चइ—नो तहा-भावं जाणइ पासइ, अणहाजावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! तस्स ण एवं जवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता बाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेण्ठे णं जाव पासइ, अण-गारे णं जंते ! मायी मिच्छदिट्ठी जाव रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता बाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ, तं चेव जाव तस्स णं एवं होइ, एवं खलु अहं बा-णारसीए नयरीए समोहए समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेण्ठे णं जाव अणहाभावं जाणइ पासइ, अणगारे णं जंते ! भावि-यप्पा मायी मिच्छदिट्ठी वीरियलप्पीए वेउव्वि-लप्पीए वि-जंगलप्पीए बाणारसिं नगरिं रायगिहं च नग-अंतारए एणं महं जणवयवगं समोहए समोहएत्ता बाणारसिं नगरिं रायगिहं तं च अंतरा एणं महं जणवयवगं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । से जंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अणहाजावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! एणो तहाभाव जाणइ पासइ, अणहाजावं जाणइ पासइ । से केण्ठे णं जाव पा-मइ ?। गोयमा ! तस्म खलु एवं जवइ, एम खलु बाणारसीए नयरीए एम खलु रायगिहे नगरे एम खलु अंतग एणं महं

जणवयवगं नो खलु एस महं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी विभंगनाणलद्धी इही जुत्ती जसे बले वीरिए पुरिसकारपरकमे लद्धे पत्ते अभिसमणगए, सेसे दंसणे विवक्षासे भवइ, से तेण्डे णं जाव पामइ । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अमायी सम्मदिही वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रुवाइं जाणइ पासइ । हंता जाणइ पासइ । से भंते ! किं तहान्नावं जाणइ पासइ, अणहान्नावं जाणइ पासइ । गोयमा ! तहान्नावं जाणइ पासइ, नो अणहान्नावं जाणइ पासइ । से केण्डे णं भंते ! एवं वुच्चइ । गोयमा ! तस्स णं एवं जवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नगरीए रुवाइं जाणामि पासामि । सेसे दंसणे अविपच्चासे जवइ, से तेण्डे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ । वीओ वि आलावगो एवं चेव, एवरं वाणारसीए नयरीए समोहणा णेयव्वो । रायगिहे नयरे रुवाइं जाणइ पासइ अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अमायी सम्मदिही वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहे वाणारसीए नगरिं च अंतरा एगं महं जणवयवगं समोहए समोहणित्ता रायगिहं नगरं वाणारसीं च नगरिं तं च अंतरा एगं महं जणवयवगं जाणइ पासइ । हंता जाणइ पासइ । से भंते ! किं तहान्नावं जाणइ पासइ, अणहान्नावं जाणइ पासइ । गोयमा ! तहान्नावं जाणइ पासइ, नो अणहान्नावं जाणइ पासइ । मे केण्डे णं ? गोयमा ! तस्म ए एवं जवइ, नो खलु एस रायगिहे णो खलु एस वाणारसी नगरी नो खलु एस अंतरा एगे जणवयवगं एस खलु ममं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी ओहिनाणलद्धी इही जुत्ती जसे बले वीरिए पुरिसकारपरकमे लद्धे पत्ते अभिसमणगए सेसे दंसणे अविपच्चासे जवइ, से तेण्डे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ, तहान्नावं जाणइ पासइ, नो अणहान्नावं जाणइ पासइ । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गळे अपरियाइत्ता पजू ! एगं महं गामरूवं वा नगररूवं वा जाव सन्निवेशरूवं वा विकुञ्चित्तए ? गोयमा ! णो इण्डे समट्टे । एवं वित्तिओ वि आलावओ, नवरं बाहिरए पोग्गळे परियाइत्ता । पजू ! अणगारे णं भंते ! केवइयाइ पजू ! गामरूवाइं विकुञ्चित्तए ? गोयमा ! से जहानामए जुवइं जुवाणे हत्थेण हत्थे गेहहेज्जा तं चेव जाव विकुञ्चित्ति वा ३ । एवं जाव साधि वेसरूवं वा ३ ।

[असिचर्मपात्र गहाए सि] असिचर्मपात्र स्फुरक । अथवा असिञ्ज जङ्ग, चर्मपात्र च स्फुरक, जङ्गकोशको वा, असिचर्मपात्र तद् गृहीत्वा । [असिचर्मपात्रहत्थाकेव-

गएण अप्पाणेण ति] असिचर्मपात्र हस्ते यस्य स तथा कृत्य सधादिप्रयोजनं गत आश्रितः कृत्यगतः, ततः कर्मधारयः । अतस्तेन आत्मना । अथवा असिचर्मपात्र कृत्य हस्ते कृत येनासौ असिचर्मपात्रहस्तकृत्यकृतः, तेन, प्राकृतत्वाच्चैव समासः । अथवा असिचर्मपात्रस्य हस्तकृत्यं हस्तकरणं गतः प्राप्तो यः स तथा, तेन । [पलियक ति] आसनविशेषः प्रतीतञ्च [विग सि] वृकः । [दीविय सि] चतुष्पदविशेषः । [अञ्च सि] । अञ्च । [तरञ्च सि] व्याघ्रविशेषः । [परासर सि] शरभः । तथाऽन्यान्यपि शृगालादिपदानि वाचनान्तरे दृश्यन्ते । [अभिजुजिप्ताए सि] अभियोक्तुं विद्याऽऽदिसामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्यापारयितुं यच्च स्वस्यानुप्रवेशेनाभियोजनं तद्विद्यादिसामर्थ्योपात्तबाह्यपुद्गलान् विना न स्यादिति कृत्योच्यते [नो बाहिरए पोग्गळे अपरियाइत्ता सि] [अणगारेणं से ति] अनगार एवासौ तत्त्वतोऽनगारस्यैवाऽन्वाद्यनुप्रवेशेन व्याप्रियमाणत्वात् [मायी अभिजुजइ सि] कषायचानमियुक्त इत्यर्थः । अधिकृतवाचनायां 'मायीविउव्वइ सि' इत्यते । तत्र चाभियोगोऽपि विकुर्वणेति मन्तव्यम्, विक्रियारूपत्वात्तस्येति । [अणयरेसु सि] आभियोगिकदेवा अच्युतान्ता भवन्तीति कृत्वा अन्यतरेष्वित्युक्तम्, केपुचिदित्यर्थः । व्युत्पद्यते चाभियोगभावनायुक्तः साधुराभियोगिकदेवेषु करोति च विद्यादिलब्ध्युपजीवकोऽभियोगभावनाम् । यदाह- 'मता जोग काउ, भूईकम्मं तु जे पडजति । साहरसइहिहेउ, अभिओग जावणं कुणइ ॥ १ ॥ ' इत्येत्यादिसङ्ग्रहाद्या गतार्था (इति तृतीयशतके पञ्चमः) विकुर्वणाधिकारसम्बद्ध एव षष्ठ उद्देशकः, तस्य चाद्यसूत्रम् । (अणगारे णमित्यादि) अनगारो गृहवासस्यागाह्यावितात्मा स्वसमयानुसारिप्रज्ञामादिभिर्मोक्षीत्युपलक्षणत्वात् कषायवान् । सम्यग्दृष्टिरप्येव स्यादित्याह- मिथ्यादृष्टिरन्यतीर्थिक इत्यर्थः । वीर्यलब्ध्यादिभिः करणचूताभिर्घोरारणीं नगरीं (संमोहए सि) विकुर्वितवान् राजगृहे नगरे रूपाणि पशुपुरुषप्रासादप्रभृतीनि जानाति पश्यति विभङ्गज्ञानलब्ध्या (नो तदा भाव सि) यथा वस्तु तथा ज्ञावोऽनिसधिर्यत्र ज्ञाने तत्तथाभावम् । अथवा यथैव सवेद्यते तथैव भावो बाह्य वस्तु यत्र तत्तथाभावम्, अन्यथा भावो यत्र तदन्यथाभावम् । क्रियाविशेषणे चेमे । स हि मन्यतेऽहं राजगृहं नगरं समबहतो वाराणस्या रूपाणि जानामि पश्यामीत्येवम् । (से सि) तस्याऽनगारस्य [से सि] असौ दर्शने विपर्ययो विपर्ययो भवति; अन्यदीयरूपाणामन्यदीयतया विकल्पितत्वात् । दिङ्मोहादिव पूर्वमपि पश्चिमां मन्यमानस्येति क्वचित् [सेसे दंसणे विवरीए विवक्षासे सि] इत्यते तत्र च तस्य तद्दर्शनं विपरीतं केवत्यत्येनेति कृत्वा विपर्ययो मिष्येत्यर्थः । एव द्वितीयसूत्रमपि । तृतीये तु [वाणारसीं नगरीं रायगिहं नयरे अंतराए एगं महं जणवयवगं समोहए सि] वाराणसीं राजगृहं तयोरेव ज्ञान्तरालघटितं जनपदवर्गं देशसमूहं समबहतो विकुर्वितवान्, तथैव च मामि विभङ्गतो जानाति पश्यति केवलं नो तथाभावम्, यतोऽनौ वैक्रियाण्यपि तानि मन्यते स्वाभाविकानीति [जस्से ति] यशोदेतुत्वाद्यशः [नगररूव वा] इह यावत्करणादिद इत्यम्- " निगमरूव वा, रायहाणिरूव वा, खेडरूव वा, कवरूव वा, मरुवरूव वा, दोणमुडरूव वा, पट्टणरूव वा आगररूव वा, आसमरूव वा, सवाहरूव वसि" ज० ३ श० ६ उ० ।

[१५] अनगारस्य भावितात्मनो वृक्षमूलस्कन्धादिदर्शनम्—

अणगारे एं जंते ! जावियप्पा रुक्खस्स किं अतो पासइ, बाहिं पासइ चउजंगो ? एवं किं मूल पासइ, कंदं पामइ चउजंगो, मूळं पासइ, खधं पासइ चउजंगो । एवं मूलेण वीजे संजोएयव्वं । एवं कंदेण वि समं जोएयव्वं जाववीयं । एवं जाव पुप्फेण समं वीयं संजोएयव्वं । अणगारे एं जंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं फलं पासइ, वीयं पामइ चउभंगो ॥

[अतो छि] मध्य काष्ठसारादि, [बाहिं ति] बहिर्वर्तित्वकृप-
प्रसञ्जयादि । [एव मूत्रेणमित्यादि] एवमिति मूलकन्दसूत्राभि-
लापेन मूलेन सह कन्दादिपदानि वाच्यानि, यावद् बीजपदम् ।
तत्र च मूल १, कन्द २, स्कन्ध ३, त्वक् ४, शाखा ५, प्रबाल ६,
पत्र ७, पुष्प ८, फल ९, बीज १० चेति दश पदानि । पत्रं च प-
ञ्चत्वारिंशद्विकसयोगा । एतावन्येवेह चतुर्जङ्घीसु आणय-
ध्येयानीति । एतदेव दर्शयितुमाह—[एव कंदेण वीत्यादि] म०
३ श० ४ उ० ।

[१६] अनगारस्य भावितात्मनो बाह्यपुद्गलादानपूर्वके
उल्लङ्घनप्रलङ्घने—

अणगारे एं जंते ! जावियप्पा बाहिरए पोगगळे अप-
रियाइत्ता पञ्च ! वेजारपव्वयं उल्लंघेत्तए वा पलंघेत्तए वा ? ।
गोयमा ! एो इण्ठे सम्भे । अणगारे एं जंते ! जावियप्पा
बाहिरए पोगगळे परियाइत्ता पञ्च ! वेभारपव्वयं उल्लंघेत्तए वा
पलंघेत्तए वा ? । इत्ता । पञ्च ! अणगारे एं जंते ! भावियप्पा
बाहिरए पोगगळे अपरियाइत्ता जावइयाइं रायगिहे नगरे
रूवाइं एवइयाइं विउव्वित्ता वेजारपव्वयं अंतो अणुप्प-
विसित्ता पभू ! सम वा विसमं करेत्तए, विसम वा
समं करेत्तए ? । गोयमा ! नो इण्ठे सम्भे, एवं चेव
वित्तिओ वि अलावगो, एवरं परियाइत्ता । पञ्च ! से भंते !
किं मायी विकुव्वइ, अमायी विकुव्वइ ? । गोयमा ! मायी
विकुव्वइ, एो अमायी विकुव्वइ । से केण्ठे एं जंते !
एवं वुच्चइ जाव नो अमायी विकुव्वइ ? । गोयमा !
मायीणं पणीयं पाणजोयणं जोच्चा भोच्चा वामेइ, तस्स
एं तेणं पणीएणं पाणभोयणे णं अट्ठि अट्ठि मिंजा बहुली
जवंति, पयणुए मंससोणिए भवइ, जे वि य से अहा वायरा
पोगगळा ते वि य से परिणमति । सोइदियत्ताए जाव फा-
सिंदियत्ताए अट्ठि अट्ठि मिंजकेसमंसूरोमनहताए सुक्कत्ताए
सोणियत्ताए अमायीणं दूहं पाणजोयणं भोच्चा भोच्चा
एो वामेइ, तस्स एं तेणं दूहेणं पाणजोयणे एं अट्ठिअट्ठि-
मिंजापयणुजवंति बहुले मंससोणिए जे वि य से अहा वादरा
पोगगळा ते वि य से परिणमति । तं जहा—उच्चारत्ताए
जाव सोणियत्ताए से तेण्ठे एं जाव नो अमायी विकुव्वइ ।
मायीण तस्स ठाणस्स अणालोइय पम्भित्ते काळ करेइ,

नत्थि तस्स आराहणा, अमायीणं तस्स ठाणस्स आलो-
इय पम्भित्ते काळं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा, से वं
जंते ! जंते छि ।

[बाहिरए छि] औदारिकशरीरव्यतिरिक्तान् वैक्रियानित्यर्थः ।
[वेभार ति] वैभारभिधान राजगृहक्रीडापर्वत [उल्लङ्घित्ताए
वेत्त्यादि] नम्रोल्लङ्घन सकृत्, प्रलङ्घन पुन पुनरिति [नो इण्ठे
सम्भे छि] वैक्रियपुद्गलपर्यादान विना वैक्रियकरणस्यैवाभा-
वात् । बाह्यपुद्गलपर्यादाने तु सति पर्वतस्योल्लङ्घनादौ प्रभुः
स्यात्, महत्-पर्वतातिक्रामिण शरीरस्य सम्भवादिति ।
[जावइयाइ इत्यादि] यावान्ति रूपाणि पशुपुरुषादिरूपाणि
[एवइयाइ ति] एतावन्ति [विउव्वित्ता छि] वैक्रियाणि
कृत्या वैभार पर्वत सम सन्त विषम, विषम तु सम, कर्तुमिति
सम्बन्धः । किं कृत्वेत्याह—अन्तर्मध्ये वैभारस्यैवानुप्राविश्य [मायी
ति] मायावानुपलक्षणत्वादस्य सकपायप्रमत्त इति यावत् ।
प्रमत्तो हि न वैक्रिय कुरुत इति । [पणीय ति] प्रणीत गन्तस्नेह-
विदुक्कम् [भोच्चा २ वामेइ छि] वमन करोति विरेचन वा करो-
ति, वयं वलाद्यर्थं यथाप्रणीतभोजन तद्वमन च विक्रियास्वभाव
मायित्वाद् भवति, एव वैक्रियकरणमपीति तात्पर्यम् । [बहुली-
जवति छि] घनीजवन्ति, प्रणीतसामर्थ्यात् [पयणुए छि] अघ-
नम् [अहावायर छि] यथोचितबादरा आहारपुद्गला इत्यर्थः ।
'परिणमति' श्रोत्रेन्द्रियादित्वेन, अन्यथा शरीरदाह्याऽसंभवा-
त् । [लुह ति] रुक्मप्रणीतम् [जो वामेइ छि] अकषायितया
विक्रियायामनर्थित्वात् 'पासवणत्ताए' इह यावत्करणादिदं
दृश्यम्—“खेलत्ताए सिंघाणत्ताए वतत्ताए पित्तत्ताए पूयत्ताए
छि” रुक्मजोजिन उच्चारादित्यैवाहारादिपुद्गला परिणमन्ति,
अन्यथा शरीरस्यासारताऽनापत्तेरिति । माय्यमायिनो-फलमाह-
[मायीणमित्यादि] [तस्स ठाण छि] तस्मात् स्थानात् विकुर्वणा-
करणात्, प्रणीतभोजनलक्षणाद् वा [अमायीणमित्यादि] परम-
मायित्वाद्वैक्रिय प्रणीतभोजन वा कृतवान्, पश्चाद् जातानु-
तापोऽमायी सन् तस्मात् स्थानात् आलोचितप्रतिक्रान्त सन्
कालं करोति यस्तस्यास्त्याराधनेति । म० ३ श० ४ उ० ।
[१७] वैक्रियसमुद्घातेन कृतरूपमनगारो जानाति न वेति—

अणगारे एं भते ! जावियप्पा देवं वेउव्विय समुग्घाए ण
समोहय जाणरूवे एं जायमाण जाणइ पासइ ? । गोयमा !
अत्येगइए देव पासइ, नो जाणं पासइ ? । अत्येगइए ए
जाणं पासइ, नो देवं पासइ २ । अत्येगइए देवं पि जाणं पि
पामइ ३ । अत्येगइए नो देवं पासइ नो जाणं पासइ ४ ।
अणगारे एं भते ! जावियप्पा देवं विउव्विय समुग्घाए एं
समोहय जाणरूवे एं जायमाणं जाणइ पासइ ? । गोयमा !
एवं चेव । अणगारे एं भते ! जावियप्पा देवं सदेवियं
वेउव्विय समुग्घाए एं समोहय जाणरूवे एं जायमाणं जा-
णइ पासइ ? । गोयमा ! अत्येगइए देवं सदेविय पासइ, नो
जाण पासइ । एणं अजिह्वावेणं चत्तारि भंगा ॥

तत्र भावितात्मा सयमतपोऽन्यामेवविधानामनगाराणां हि प्रा-
योऽवधिज्ञानाधिष्ठयः भवन्तीति कृत्वा भावितात्मेत्युक्तम्,
विहितोत्तरवैक्रियशरीरमित्यर्थः । येन प्रकारेण शिबिकाद्याका-

रवता, वैक्रियविमर्शनेत्यर्थः । येन गच्छन्त, ज्ञानेन दर्शनेन ।
उत्तरमिह चतुर्भङ्गोविचित्रत्वाद्वाधिविज्ञानस्येति । म० ३ श० ३
उ० । [अणगारस्य भावितात्मनः केवलीसमुद्घातसमवहतस्य,
मारणान्तिकसमुद्घातसमवहतस्य वा चरमपुञ्जलाः सर्वलोक
स्पृष्टा तिष्ठन्ति इति 'केवलिसमुद्घात' शब्दे तृतीयनामे वक्ष्यते]

- (१) अनगारस्य निक्षेपः ।
- (२) अनगारस्य वीरान्तेषास्तिनां वर्णकः ।
- (३) पृथ्वीकायिकादिहिसकानामनगारत्वं न भवति ।
- (४) क्रियाऽसवृत्तौ अनगारो न सिद्ध्यति ।
- (५) अनगारस्य भावितात्मनोऽस्तिधारादिष्ववगाहना ।
- (६) अनगारस्य भक्तप्रत्याख्यातुराहारः ।
- (७) शैश्वेशीप्रतिपन्नस्थानगारस्य पञ्जना ।
- (८) अनगारो भावितात्माऽऽत्मनः कर्मलेश्याशरीरं जानाति ।
- (९) अनगारस्य भावितात्मनः क्रिया ।
- (१०) सवृत्तस्थानगारस्य क्रिया ।
- (११) अनगारस्य गत्युपपादौ ।
- (१२) असवृत्तस्थानगारस्य विकुर्वणा ।
- (१३) केयाघटिकालकणकृत्यादिविकुर्वणा ।
- (१४) अनगारस्य भावितात्मनः स्वीरूपस्य बाह्यपुञ्जलादा-
नपूर्वक विकुर्वणा ।
- (१५) अनगारस्य भावितात्मनो वृत्तमूलस्कन्धादिदर्शनम् ।
- (१६) अनगारस्य भावितात्मनो बाह्यपुञ्जलादानपूर्वकमुल-
ङ्घनप्रलङ्घने ।
- (१७) वैक्रियसमुद्घातेन कृत्तृरूपमनगारो जानाति न वेति ।
ऋणकार-पु० । ऋणमिव कालान्तरक्लेशानुभवहेतुतया ऋ-
णमष्टप्रकार कर्म, तत्करोतीति कोऽर्थः-तथा २ गुरुवचनविप-
र्योतप्रवृत्तिभिरुपचिनोतीति ऋणकार । दुःशिव्ये, उत्त० १ अ० ।
अणगारगुण-अनगारगुण-पु० । ६ त० । साधोः व्रतषट्के-
न्द्रियाभिग्रहादिषु सप्तविंशतिगुणेषु, उत्त० ३१ अ० ।

मत्तावीर्यं अणगारगुणा पराण्युक्ता । तं जहा-पाणाइवाया-
ओ वेरमणं मुसात्रायाओ वेरमणं अदिचादाणाओ वेरम-
णं मेहुणाओ वेरमणं परिमाहाओ वेरमणं मोइंदिय-
निग्गहे चक्रिंदियनिग्गहे धाणिंदियनिग्गहे जिब्बिंदियनि-
ग्गहे फासिंदियनिग्गहे कोहविवेगे माणविवेगे मायाविवेगे
होचविवेगे जावसच्चे करणसच्चे जोगसच्चे खमाविरा-
गया मणसमाहरणया वयसमाहरणया कायसमाहरणया
णाणसंपन्नया दंसणसंपन्नया चरित्तसंपन्नया वेयणअहिया-
सणया मारणंतियअहियासणया ॥

अनगाराणां साधूनां, गुणाश्चारित्र्यविशेषाः अनगारगुणाः,
तत्र महाव्रतानि पञ्च (५) पञ्चेन्द्रियाभिग्रहाश्च पञ्च (१०)
क्रोधादिविवेकाश्चत्वारः (१४) सत्यानि त्रीणि । तत्र भावसत्य-
श्रुदान्तरात्मना, करणसत्य-यत्प्रतिलेखनादिक्रिया, तां यथो-
क्त सम्यगुपयुक्तं कुरुते । योगसत्य-योगानां मन प्रभृतानाम-
विनयत्वम् [१७] कृमाऽनम्रिव्यक्तक्रोधमानस्वरूपस्य द्वेषस-
क्षितस्याप्रीतिमात्रस्याभावात् । अथवा क्रोधमानयोरुदयनिरो-
ध, क्रोधमानविवेकशब्दाभ्यां तदुदयप्राप्तयोर्निरोधः, प्रागेवा-
भिहित इति न पुनरुक्तताऽपीति (१८) विरागता-अभिष्वङ्ग-
मात्रस्य भावः । अथवा मायालोभयोर्नुदयो मायालोभविवे-

कशब्दाभ्यां तदुदयप्राप्तयोस्तयोर्निरोधः प्रागेभिहित इतीहापि
न पुनरुक्तेति (१९) मनोवाक्कायानां समाहरणना, पाठान्त-
रनः-समत्वाहरणता अकुशलानां निरोधाश्च यः (२२) ज्ञा-
नादिसंपन्नतास्तिस्रः (२५) वेदनाप्रतिसहनता शीताद्यतिस-
हनम् (२६) मारणान्तिकातिसहनता-कल्याणमित्रबुद्ध्या मा-
रणान्तिकोपसर्गसहनमिति (२७) स० २७ सम० उत्त० ।
प्रश्न० । जीत० । आ० चू० । सथा० ।

पुनरन्येन प्रकारेण साधुगुणान् दर्शयितुमाह-

से जहाणामए अणगारा भगवंतौ इरियासमिया जासा-
समिया एसणासमिया आयाणजंमत्तणिवसेवणासमिया
उच्चारपासवणखेलसिंघाणजह्वपरिह्वणियासमिया मण-
समिया वयसमिया कायसमिया मणगुत्ता वयगुत्ता काय-
गुत्ता गुत्ता गुत्तिदिया गुत्तवंचचारी अकोहा अमाणा अ-
माया अलोचा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुहा अणा-
सवा अमांथा निन्नसोया निरुवलेवा कंसपाइ व मुक्तसोया
संख इव णिरंजणा जीव इव अपमिहयगती गगणतमं
पि व निराखंवाणा वाडरिव अपमिहंथा सारदसलिल इव
मुक्कहियया पुक्खरपत्त इव निरुवलेवा कुम्भो इव गुत्तीदि-
या विहग इव विप्पमुक्का खगिविसाणं व एगजाया भारंढ-
पक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सोमीरा वसजो इव जातत्थि-
मा सीहो इव दुक्करसा मंदरो इव अप्पकंपा सागरो इव
गंजीरा चंदो इव सोमलोसा सूरु इव दिचतेया जच्चकंच-
णगच्च इव जातरूवा वसुधरा इव सव्वफासविसहा सुहु-
यहुयासणो विव तेयसा जहंता एत्थि ए ॥ ७० ॥ तेसिं
जगवंताणं कत्थवि पमिबधे भवइ, से पडिबधे चउन्निहे
पणणत्ते । तं जहा-अंडइ वा (चोरजेइ वा) पो-
यइ वा उम्माहेइ वा पग्गहेइ वा जन्नं जन्नं दिसं इच्छंति
तन्नं तन्नं दिसं अपडिबध्वा सुइज्जया अप्पन्नहुज्जया अप्प-
मांथा संजमेणं तवसा अप्पाणं जावेमाणे विहरंति ॥ ७१ ॥
तेसिं णं भगवंताणं इमा एतास्स जाया माया विची होत्था ।
तं जहा-चउत्थे भत्ते ठट्ठे जत्ते अट्ठे भत्ते दसमे जत्ते
दुवालसमे भत्ते चउदसमे जत्ते अप्पमासिए जत्ते मासिए भत्ते
दोमासिए तिमासिए चाउम्मासिए पंचमासिए उम्मासिए
अदुचरं च णं उक्खित्तचरया णिक्खित्तचरया उक्खि-
त्तण्णिक्खित्तचरया अंतचरया पंतचरया सुहचरया
समुदाणचरया संसट्ठचरया अससट्ठचरया तज्जातसंसट्ठच-
रया दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया पुट्ठलाभिया अपुट्ठला-
भिया निक्खुल्लाभिया अभिक्खुल्लाभिया अन्नायचरया
अन्नायजोगचरया उवनिहिया संखादत्तिया परिमितपिंक्वा-
इया सुद्धेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विर-
माहारा लुहाहारा तुच्छाहारा अंतजीवी पंतजीवी आ-
यंविहिया पुरिमड्डिया विगइया अमज्जमंसा ससिणो यो-
णियामरसजोइहाणाइया पमिमाणाइया उक्कइआस-

णिया ऐसजिया बीरामणिया दंभायतिया जगंरमाणो
अप्पाउमा अगत्तया अकहुया अणिदुहा धुतकेसमसरोमन-
हा मन्वगा य पढिकमविप्पमुया चिट्ठंति ॥ ७२ ॥ तेणं
एतेणं निहारेणं निहग्माणा बहुइं वासाइं सामसपरियागं
पाउणति बहु बहु आवाहसि ठप्पन्नसि वा अणुप्पन्नसि
वा बहुइं जत्ताइं पणक्खाइ, पणक्खाइत्ता बहुइं वासाइं अ-
णमणाइं ऐदित्ति. अणमणाइं ऐदित्ता जम्सट्टाए कीरति
नगजाये मुंभारे अण्हाणजाये अदत्तणगे अदत्तए अ-
णोवाहणए जूमिजेजा फलममेजा कट्ठसेजा केमन्नोए वंज-
चेन्वामे परपरपवेमे लक्का अलक्कमाणा अयाणणाओ ही-
लणाओ निदाणओ विमणाओ गरदाणओ तज्जणाओ ता-
लणाओ उवाचया गामट्टगा वाचीमं परीमदोवमग अटिया
सिज्जनि, तपइं आराहति, तपइं आरादिचा वग्गेहिं उस्सा-
सनिस्सामेहिं अणं अणत्तए निज्जापातं निरावरण कमिणं
पाभिपुणं केवल्लसणणाएदंमणममुप्पादनि, ममुप्पादंतिचा
तनी पन्ना सिज्जंति वुज्जंति मुञ्चति परिणिज्जायति मन्वा-
यंति मन्वत्तराणं अंनं करंति ॥ ७३ ॥

तपधा नाम केननेत्तममदमभूतिदक्षेपेता अनगारा मग-
न्तो जयन्तीति । ते पञ्चजिन्मिमिति निर्माता, पयमिन्पुपदं-
ने । लोपवातिवमाचाराङ्गसवधिप्रथममुपाङ्ग तत्र साधुगुणा
प्रपन्नेन व्यावर्तयेन्ने, तद्वहापि तेनैव प्रमेण द्रष्टव्यमित्यदि-
ष्टं । यापद्वयमपनीत वेदश्रमधुमेमनगादिक धैर्ये, तथा
सर्वग्राहपरिकर्मप्रमुता निष्पत्तिवर्माशरीरान्तिष्ठन्तीति ॥ ७० ॥
॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ते चाप्रविहारिणः प्रमत्त्यामनुपाय याधारणे
रोगातद्धे ममुपपदेऽनुगमे वा भक्तप्रयास्यान विवधति, किं बहु-
नोक्तं-यन्नेऽयमयागोक्तकयात्रिस्ताया कयाराधारामागं-
द दुरवयसायः भ्रमणभायोऽनुयायते, तमर्थं सम्यग्दर्शनज्ञान-
चारित्र्याम्यमाराध्य, इत्यादिसमन्त मोक्षकारण केयसहानमा-
प्नुयन्ति, केयलज्ञानावातेरुच्यं सर्वदुःखयिमोक्षलक्षण मोक्षम-
याप्नुयन्तीति । मृगं २ ध्रुवं २ अ० ।

अणगारचरित्रधम्म-अनगारचरित्रधर्म-पु० । अगार नास्ति
येनां तेऽनगारा साधय, तेषां चारित्रधर्मः । महायतादिपासनरूपे
चारित्रधर्मनिर्दे, “अणगारचरित्रधम्मं दुविहे पणसे । तज्जहा-
सरागमज्जे, योयगमज्जे” स्या० २ अ० १ उ० । [व्याख्या
चास्य स्वस्यस्थाने द्रष्टव्या]

अणगारधम्म-अनगारधर्म-पु० ६ त० । सर्वचरित्तिचारित्र्ये य-
तिधर्मे, श्री० ।

अणगारधम्मो ताव उह खलु मन्वओ सन्वयाए मुंमे
भविता आगाराओ अणगारियं पन्वस्स मन्वाओ पाणा-
वायाओ वेरमणं सुसावायअदिवादाणमेहुणपरिगह्दराइ-
भोअणाओ वेरमणं अयमाज्जमो ! अणगारसामडए धम्मो
पप्पत्ते । एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गये वा नि-
ग्गयी वा विहरेमाणे आणाए आराहए जयति ॥

अथाधिकृतवाचना-इह समु-इहैव, मर्त्यलोके, [मन्त्रो स-

व्याप सि] सर्वतः-द्रव्यतो जायतक्षेत्यर्थः । सर्वोत्तमा स-
र्वान् क्रोधादीनात्मपरिणामानाधित्वेत्यर्थः । एते च मुएहीभू-
त्येत्यस्य विशेषणे, अनगारिता प्रमाजितस्येत्यन्तस्य वा [अय-
माज्जसो सि] भयमायुष्मन् ! [अणगारसामडए सि] अनगाराणां
समये समाचारे, सिद्धान्ते वा प्रयोऽनगारसामयिको, अनगार-
सामयिके वा [सिक्खाए सि] शिक्षायामभ्यासे [आणाए सि]
आज्ञाया विहरन् गाराधको भवति ज्ञानादीनाम् । अथवा आ-
ज्ञाया जिनोपदेशस्थाराधको भवतीति । श्री० ।

साधुधर्ममाह—

खंती य महवज्जव, मुत्ती तवमंजमे अ बोधव्वे ।

सधं मोयं आकिं-चणं च वंजं च जइधम्मो ॥ १४ ॥

कान्तिश्च, मार्ग्यम्, आर्ज्यम्, मुक्ति, तपःसयमी च योऽस्यौ,
सत्य, शौचम्, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्यं च यतिधर्म इति गाथाक-
रायः ॥ १४ ॥ दश० नि० ६ अ० ।

सापेक्षो निरपेक्षश्च, यतिधर्मो द्विधा मतः ।

सापेक्षस्तत्र शिक्षाये, मुच्यन्तेवासिताऽन्वहम् ॥

यतिधर्म उक्तलक्षणः मुनिसमन्वयानुष्ठानविशेषः, द्विधा द्वान्या
प्रकाराभ्यां, मत प्ररूपितः, जिनैरिति शेषः । द्वैविध्यमेवाह-
सापेक्षो निरपेक्षश्चेति । तत्र गुणान्नादिसाहाय्यमपेक्षमाणो यः
प्रवर्ग्यं परिभाषयति स सापेक्षः । इतरस्तु निरपेक्षो यतिः, ग-
च्छाद्यपेक्षारहित इत्यर्थः । तयोर्धर्मोऽपि प्रमेण गच्छयासलक्षण
जिनकल्यादिप्रकरणे सापेक्षो निरपेक्षश्चेत्येते, धर्मधर्मिणो-
रभेदोपचारात् । तत्र तयोः सापेक्षनिरपेक्षयतिधर्मयोर्मभ्यात्
सय सापेक्षयतिधर्मो भवतीति क्रियासमन्वयः । पयमंऽपि यो-
ज्यम् । स च यथा शिक्षाया इत्यादि । तत्र शिक्षा अन्वयास ।
सा च द्विधा—ग्रहणशिक्षाऽऽसेयनाशिक्षा चेति । तत्र ग्रहण-
शिक्षा—प्रतिदिनमप्राथम्यग्रहणाभ्यासः । आसेयनाशिक्षा प्रति-
दिनक्रियाऽभ्यासः । तस्यैतदर्थं न तूदरपूर्याद्यर्थमिति भावः ।
ध० २ अधि० ।

अणगारमगगड-अनगारमार्गगति-श्री० । ६ त० । सम्यग्दृष्टे-
स्तत्प्रतिषेधपरित्यागरूपेण निमुक्तस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु,
सिद्धिर्गता च । उक्त० ।

एषा चोत्तराध्ययनानां पञ्चविंशेऽध्ययने दर्शितानि सूत्राणि-
सुणेह मेगगमणे, मग बुद्धेहि देसियं ।

जपायरतो जिक्खू य, पुक्खाणतकरो जवे ॥ १ ॥

अष्टशत आकर्णयत, मे मम, कथयत इति शेषः । एकाग्रमनस
कोऽर्थ-अनन्यगतचित्ता-सन्त, शिष्या इति शेषः । किं तद्वित्याह-
मार्गमुक्तरूप प्रक्रमानुसृत्यैरवगतयथास्थितयस्तुनस्वैरूप-
केवलैरर्हन्ति धुतकेवसिनिर्गणधरादिभिर्वैत्युक्तं भवति । देशि-
तं प्रतिपादितम् । अर्थतः सूत्रतश्च । तमेव विशेषयितुमाह-[ज-
मिति] मार्गमाचरन् आसेयमानो, भिज्जुनगारो, पु याना शा-
रीरमानसानामन्तः पश्यन्तः तत्करणशीलोऽतकरो, भवेत्
स्यात्, सकलकर्मनिर्मुलनत इति ज्ञाव । तदनेनानेव्यासेवक-
सयन्नेनाऽनगारसर्वान्धमार्गः, तत्फलं च मुक्तिगतिरिति
दर्शितम् । ततश्चानगारमार्गः, तज्जतिं च श्रुत इत्यर्थ उक्तं भव-
तीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

यथाप्रतिज्ञातमाह—

गिहवासं परिच्छज्ज, पन्वज्जामसिसओ सुणी ।

इमे संगे चियाणिज्जा, जेहिं सज्जंति माणवा ॥ २ ॥

गृहवास गृहावस्थान, यदि वा गृहमेव पारवश्यहेतुतया पा-
शो गृहपादास्त, परित्यज्य परिहृत्य, प्रव्रज्यां सर्वसङ्गपरि-
त्यागलक्षणां भागवतीं दीक्षाम्, आश्रितः प्रतिपन्नः, मुनिः, इमान्
प्रतिप्राणिप्रणीततया प्रत्यक्षान्, सङ्गान् पुनरुक्तत्रादींस्तत्प्रति-
बन्धान् वा, विजानीयाद् भवहेतवोऽमीति विशेषेणावबुध्येत,
निश्चयतो निष्फलस्याऽसत्त्वात् ज्ञानस्य च विरतिफलत्वात्
प्रत्याचक्षीतेत्युक्तं भवति । सगशब्दव्युत्पत्तिमाह [जेहिं ति]
सुव्यवस्थायाद् येषु, सज्जन्ते प्रतिवध्यन्ते, अथवा ये संगे, सज्जन्ते
सबध्यन्ते, ज्ञानावरणादिकर्मणेति गम्यते । के ते ? । मानवा
मनुष्याः, उपलक्षणत्वादप्येवऽपि जन्तवः ॥ २ ॥

तदेव हिंस अक्षिपं, चोज्ज अवज्जसेवणं ।

इच्छाकामं च लोहं च, संजओ परिवज्जए ॥ ३ ॥

तथेति समुच्चये । एवेति पुरणे । हिंसा प्राणव्यपरोपणम्,
अक्षीकमनृतभाषणम्, चौर्यमदत्तादानम्, अब्रह्मसेवनं मैथु-
नाचरणम्, इच्छारूपं कामं इच्छाकामस्तं चाप्राप्तवस्तुकाङ्क्षारूपं,
लोभं च लब्धवस्तुविषयगृह्यात्मकम्, अनेनोभयेनापि परिग्रह-
उक्तं । परिग्रहं च सयतो यति, परिवर्जयेत् परिहरेत् । अनेन
मृद्वगुणा उक्ताः । एतदवस्थितस्यापि च शरीरिणोऽवश्यमाश्र-
याहाराभ्यां प्रयोजनं, तयोश्च तदतिचारहेतुत्वमपि कयोश्चि-
त्स्यादिति मन्वानस्तत्परिहाराय सूत्रपदकेन तावदाश्रयचिन्तां
प्रतियतते ॥ ३ ॥

माणोहर चित्तधरं, मल्लधूवण वासियं ।

सकवारु पुरुल्लोयं, मणसा वि न पत्थए ॥ ४ ॥

[मनोहरति] चित्ताक्षेपकं, किं तत्, ? चित्रप्रधानं गृहाम् । तदपि
कीदृशम् ? , माल्येर्ग्रथितपुष्पैर्धूपनैश्च काञ्चागुरुतुरुकादिसम्ब-
न्धिभिर्वासितं सुरभीकृतं, माल्यधूपनवासितं, सह कपाटेन वर्तत
इति सकपाटम्, तदपि पाण्डुरोल्लोचं श्वेतवस्त्रविचूर्णितं, मनसा-
पि, आस्तां वचसा, न प्रार्थयेत् नाभिलषेत्, किं पुनस्तत्र
निष्ठेदिति भावः ॥ ४ ॥

किं पुनरेवमुपदिश्यत इत्याह—

इन्द्रियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्मए ।

दुक्कराड निवारे उ, कामरागविवरुणे ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि चक्रादीनि, तुरिति यस्माद्, जिह्वोरनगारस्य
तादृशे तथाभूते उपाश्रये, दुःखेन क्रियन्ते-करोते. सर्वधात्वर्थ-
त्वाच्छ्रुत्यन्ते दुक्कराणि, दुःशकानीत्यर्थः । तुरेवकार्थः । दुक्क-
राण्येव धारयितुमुन्मार्गप्रवृत्तिनिषेधनो मार्ग एव व्यवस्थापयि-
तुम् । पठ्यते च-‘दुक्कराणि निवारिउ ति’ । तत्रापि निवारयितुमि-
ति नियन्त्रितुं, स्वस्वविषये प्रवृत्तिरिति गम्यते । कीदृशीम् ? , काम्य-
मानन्वात् कामममनोक्षा इन्द्रियविषयास्तेषु रागोऽभिष्वङ्गस्त-
स्य विवरुणे विशेषणं वृद्धिहेतौ कामरागविवर्धने, तथाविध-
चित्तव्याक्षेपसंभवात् । कस्यचित्मूलगुणस्य कथंचिदतिचार-
सन्नेव दोष इत्येवमुपदिश्यत इति ज्ञातव्यः ॥ ५ ॥

एष तर्हि कः कीदृशः स्यात्तस्यम् ? —

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगए ।

पट्ठिके पक्कं वा, ताम तत्याभिरोयण ॥ ६ ॥

इमं गृहमेव प्रेतमृगं, शून्यागारे उड्डसितगृहे, वा चिकल्पे, वृक्षमूले

वा पादपसमीपे, एकदेत्येकस्मिन्स्थानविधकाले । पठ्यते चैवम-
पि-‘एगगोत्ति’ एकको रागद्वेषवियुक्तोऽसहायो वा, तथाविधयो-
म्यतायां, पारक्ये वा परसम्बन्धिनि तथाविधप्रतिबन्धेनास्वीकृते ।
पाठान्तरतः— “ पतिरिक्के ” देशीभाषयैकान्ते रूपाद्यसङ्कुले,
परकृते-परैरन्यैर्निष्पादितं, स्वार्थमिति गम्यते । वा समुच्चये ।
वासमवस्थानं, तत्र इमशानादौ, अभिरोचयेत् प्रतिज्ञासयेत् ।
अर्थादात्मनो निकुरित्युत्तरेण योगः ॥ ६ ॥

फासुयम्मि अणावाहे, इत्थीहिं अणजिहुए ।

तत्थ संकप्पए वामं, भिक्खू परमसंजए ॥ ७ ॥

प्रासुके अचिच्छीभूतभूजागरूपे, तथा-अविद्यमाना बाधा, आत्म-
नः परेषा वाऽऽगन्तुकसत्त्वानां गृहस्थानां च यस्मिन्स्थिता
तस्मिन्, तथा-स्त्रीजिरङ्गनाभिः, उपलक्षणत्वात् पण्डकादिजि-
ह्वानभिदुते, तदुपलक्ष्यवर्धित इत्यर्थः । एतानि हि मुक्तिपथप्रतिप-
न्थित्वेन तत्प्रवृत्तानामुपलक्ष्यहेतुभूतानीत्येवमभिधानम् । तत्रेति
प्रागुक्तविशेषणविशिष्ट इमशानादौ सम्यक्कल्पयेत् कुर्यात् । किम् ?
वासम्, भिक्षुणशीलो जिह्वुः । स च शाक्यादिरपि स्यादत आह-
परमः प्रधानः, स चेह मोक्षस्तदर्थं सम्यक् यतते परमसयतः,
जिनमार्गप्रतिपन्न इत्युक्तं भवति । तस्यैव मुक्तिमार्गं प्रति वस्तु-
तः सम्यग् यत्नसंभवात् । प्राग्वासं तत्राभिरोचयेदित्युक्ते, रुचि-
मात्रेणैव कश्चित्तुष्येदिति । तत्र सकल्पयेद्वासांस्त्रयभिधानम् ॥ ७ ॥

ननु किमिह परकृत इति विशेषणमुक्तमित्याशङ्क्याह—

न सयं गिहाड कुव्वेज्जा, नेव अजोहे कारण ।

गिहकम्मममारम्भे, जूयाणं दिस्सए वडो ॥ ८ ॥

न स्वयमात्मना, गृहाणि उपाश्रयरूपाणि, कुर्वीत विदधीत, नै-
वाऽन्यैर्गृहस्थादिभिः, कारयेद्विधापयेत्, उपलक्षणत्वात् अपि कुर्व-
न्तमनुमन्येत् । किमिति ? , यतो गृहनिष्पत्त्यर्थं कर्म गृहकर्म, इष्ट-
कामदानयनादि, तदेव समारम्भः, प्राणिनां परितापकरत्वात् ।
उक्तं हि—‘परिनावकरो भवे समारजोत्ति’ । यद्वा-तस्य समार-
म्भं प्रवर्तनं गृहकर्मसमारम्भं, तस्मिन्, जूतानामेकेन्द्रियादिप्रा-
णिनां, इदयते प्रत्यक्षत एवोपवृत्त्यते, कोऽसौ ? , वधो विनाशः ।

जूतानां वध इत्युक्तं तत्र मा भूत् केषां-

चिदेवासावित्याशङ्क्याह—

तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बायराण य ।

तम्हा गिहसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥ ९ ॥

असानां द्वीन्द्रियादीनां, स्थावराणां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणाम्,
च-‘समुच्चये’ । तेषामपि सूक्ष्माणामतिरूढाणां शरीरा-
पेक्षया, जीवप्रदेशापेक्षया तस्यामूर्ततयैव प्रायो व्यवहारायोगाद्,
बादराणां चैवमेव, स्थूलानाम् । यद्वा-सूक्ष्मनामकर्मोदयात्स-
ूक्ष्माणां, तेषामपि प्रमादता भावहिंसासंज्ञवात् । बादरनामक-
र्मोदयाच्च बादराणाम् । उपसहर्तुमाह-[तम्हा स्ति] यस्मादेवभूत-
बन्धस्तस्माद् गृहसमारम्भं सयतं सम्यग्गृहसादिन्य उपर-
तः, अनगार इत्यर्थः । परिवर्जयेत् परिहरेत् ॥ ९ ॥

इत्थमाश्रयचिन्तां विधायाहारचिन्तामाह—

तदेव जसपाणेसु, पयणे पयावणेसु य ।

पाणञ्चूयदयट्ठाए, न पए न पयावए ॥ १० ॥

तथैव तेनैव प्रकारेण, भक्तानि च शाल्योदनादीनि, पीयम्भ-
ति पानानि च पयं प्रजृतीनि, भक्तपानानि, तेषु पचनानि च
स्वयं यिद्विदापादनकथनानि, पाचनानि च तान्येवान्यै पचन-

अलोन्नः सरसाश्वे प्राप्ते लाम्पट्यवान् न, रसे स्निग्धमधुरादौ
 गृह्येऽप्रासावजिह्वाद्वावान्, कथं चैवविधः । यतो [जिह्वादते
 सि] प्राकृतत्वाद्वाता वशीकृता जिह्वा रमना येनासौ दान्त-
 जिह्व, अत्र एवामूर्च्छितः सन्निधेरकरणेन तत्काशे चानिष्वङ्गा-

भावेन । उक्त हि—“णो वामातो हणूयाओ, दाहिणदाहिणाउ वा । वाम सचालए” एवविधश्च सन् नैव [रसद्याप सि] रसार्थं सरसमिदमहमास्वादयामीति, धातुविशेषो वा रस । स च शेषधातूपलक्षण, ततस्तदुपचयः स्यादित्येतदर्थं न लुञ्जीत नाभ्य-
वहरेत् । किमर्थं तर्हि ? , यापना—निर्वाहः, स चार्थासय-
मस्य, तदर्थं महामुनिः प्रधानतपस्वी । अनेन पिण्णविशुक्कि-
रुक्ता । तदेवमादौ मूलगुणान् विधेयतयाऽभिधाय तत्प्रतिपा-
दनार्थमाश्रयाहारचिन्ताद्वारेण उत्तरगुणाश्च उक्ता ॥ १७ ॥

सप्रति तदवस्थितस्तत एवात्मन्युत्पन्नबहुमानः कश्चिद्वर्चना-
दि प्रार्थयेदिति तन्निषेधार्थमाह—

अचरणं सेवणं चैव, वंदणं पूयणं तथा ।

इच्छीसकारसम्माणं, मणमा वि न पत्थए ॥ १८ ॥

अर्चनां पुष्पादिभिः पूजाम्, सेवनां निषद्यादिविषयां, स्वस्ति-
कादिन्यासात्मिकां वा । च. समुच्चये; एवोऽन्यत्राणे, नेत्यनेन
समन्तस्यते । वन्दनं नमस्तुज्यमित्यादि वाचाऽभीष्टवचनम्, पू-
जनं विशिष्टवस्त्रादिभिः प्रतिष्ठाजननम् । तथेति समुच्चये । ऋ-
क्चिश्च आषकोपकरणादि सपदाऽमर्षौषध्यादिरूपा वा, सत्कार-
श्चार्थप्रदानादि, समानश्च अच्युत्थानादि, ऋक्सित्कार-
समानम्, ततो मनसाऽपि, आस्तां वाचा, नैव प्रार्थयेत् समैव
स्यादित्यजिज्ञषेत् ॥ १८ ॥

किं पुनः कुर्यादित्याह—

मुक्कज्झाणं जियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे ।

वोसड्ढकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥ १९ ॥

शुक्लध्यानमुक्तरूपं यथा भवत्येवं ध्यायच्चिन्तयेत् । अनिदानो-
ऽविद्यमाननिदानं, अकिञ्चनं प्राप्तत्, व्युत्सृष्ट इव व्युत्सृष्टः का-
यः शरीरं येन स तथा, विहरेत्, अप्रतिबद्धविदारतयेति गम्य-
ते । यावदिति मर्यादायाम्, कालस्येति मृत्योः, [पज्जओ सि]
पर्यायः परिपाटी, प्रस्ताव इति यावत् । यावन्मरणसमयः क्रम-
प्राप्तो भवतीति ज्ञातः ॥ १९ ॥

एवविधाऽनगारगुणस्थश्च यावदायुर्विहित्य मृत्युसमये

यत्कृत्वा यत्फलमवाप्नोति तदाह—

निज्जुहिऊण आहारं, कादधम्मो उवड्डिए ।

चइऊण माणुमं वोदि, पद्दु दुक्खे विमुच्चइ ॥ २० ॥

(निज्जुहिऊण सि) परित्यज्य, आहारमशनादि, तत्परित्याग-
श्च सलेखनाक्रमेणैव, जगिति तत्करणे बहुतरदोषसज्जवात् ।
तथा चागमः—“ देहम्मि असत्तिहिप, सहसा धातुहि निज्जमा-
रोहिं । आयइ अट्ठज्जाण, सरोरिणो चरिमकालम्मि” ॥ १॥ कदाऽ,
कालधर्मे आयुःकयलक्षणे मृत्युस्वजावे, उपस्थिते प्रत्यासर्षीभू-
ते, त्यक्त्वाऽपहाय, [माणुस ति] मानुषी मनुष्यसम्बन्धिनीम्,
वोन्दि शरीरम्, प्रभु—धीर्यन्तरायकृतो विशिष्टसामर्थ्यवान्,
[दुक्खे सि] दुःखैः शरीरमानसैः, विमुच्यते—विशेषेण मुच्यते,
तन्निबन्धनकर्मापगत इति ज्ञातः ॥ २० ॥

कीदृशः सन्नित्याह—

निम्ममो निरहंकारो, वीयरगो अणासवो ।

संपत्तो केवलं नाणं, मासए परिनिव्वुमे ॥ २१—ति वेपि ॥

निर्ममोऽपगतममकार, निरहंकारोऽहममुकजातीय इत्याद्यह-
काररहित, ईदृगुक्तः, शीतराग प्राग्वह्यितरागद्वेषः, तथाऽना-
भवः कर्माभयरहितः, मिथ्यात्वादित्येव भावात् । संप्राप्तः, केव-

लक्षानम-उत्तरूपम् । शाश्वतम्, कदाचिदव्यवच्छेदात् । परिनि-
वृत्तोऽस्वास्थ्यहेतुकर्मोन्नाहतः सर्वथा स्वस्थीभूतः, इत्येकविंश-
तिसूत्रभाषार्थः ॥ २१ ॥ उक्तं ३५ अ० । स० ।

अणगारमहोमि—अनगारमहर्षि—पु० । अनगाराश्च ते महर्षय-
श्चेति । अनगारगुणविशिष्टेषु महर्षिषु, स० ।

अणगारवाइ(ण्)अनगारवादिन्—पु० । यतिवेषमास्थितेषु अ-
नगारगुणरहितेषु अनगारमन्येषु शाक्यादिषु, आचा० १ भु० १
अ० २ उ० । [“अनगार” शब्देऽत्रैव भागे २७० पृष्ठे भावितं कैतद्
यत् शाक्यादयो नानगाराः]

अणगारसामाइय—अनगारसामायिक—त्रि० । अनगाराणां स-
मये भव इति । अनगाराणां समाचारे सिद्धान्ते वा भवे,
औ० । स्था० ।

अनगारसीह—अनगारमिह—पुं० । मुनिसिंहे, “एव धुणित्ताण
स रायसीह परमाइ जत्तीए” उक्तं २० अ० ।

अनगारसुय—अनगारश्रुत—न० । आचारश्रुतापरनामके सूत्रकृता-
ङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्चमाऽध्ययने, सुत्र० । (‘आयारसुय’
शब्दे द्वि० भा० ३६१ पृष्ठेऽस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्) ।

अणगारि (ण्)—अनगारिन्—पुं० । अगारी गृही असयतस्तत्र-
तिषेधादनगारी । सयते, प्रअ० ।

अणगारिय—अनगारिक—त्रि० । न विद्यते अगार यस्येत्यनगार-
साधुस्तस्येदमिति । अनगारसम्बन्धिनि सर्वविरतिसामायिका-
दौ, विशेषे० ।

अणगारिया—अनगारिता—स्त्री० । अगारी गृही असयतः, तत्र-
तिषेधादनगारी सयत, नद्भावस्तस्या । साधुतायाम्, स्था०
४ उ० १ उ० ।

अणगाल—अनगाद्य—पु० । दुष्काले, वृ० ३ उ० ।

अणगिण—अनग्न—पुं० । सुयमसुयमायां जरतवर्षे कर्मचूमिषु
च सदा भवति कल्पवृक्षमेदे, ति० । अनेषु कल्पपादपेषु
अत्यर्थं बहुप्रकाराणि वस्त्राणि विश्रसा त एवातिसूक्ष्मसुकुमा-
रदेवमुमानुकाराणि मनोहराणि निर्मलानि उपजायन्ते । त० ।
जी० । आदिगम्भरे, आच्छादनविशिष्टे च । वाच० ।

अणग्घ—अनर्घ्य—स्त्री० । सर्वोत्तमत्वादविद्यमानमूल्ये, भाव०
४ अ० । अर्धगोचरातीते, सथा० । “सर्वे वि य सिद्धताः
सादध्वरयणामया सतेल्लोका । जिणवयणस्स भगवओ, न तुल-
मियत अणग्घेय” ॥ १॥ यथाऽवस्थितार्थप्रकाशकत्वेन सकलप-
रमणेश्वरास्मार्थादविद्यमानमूल्यमनर्घ्यम् । अथवा अणग्घमिति,
तत्र अण् पूर्वजन्यपरम्परोपात्तमष्टप्रकारं कर्म, तद् इति यत्तत्
अणग्घम् । दर्श० ।

अणग्घरयणचूड—अनर्घरत्नचूड—पु० । भृगुपत्तने श्रीमुनिसुव्रते
देवे, भृगुपत्तने अनर्घरत्नचूडः श्रीमुनिसुव्रतः । ती० ४४ कल्प ।

अणग्घ—अनग्घ—त्रि० । नास्ति अघ पापं दुःखं व्यसनं कामुष्यं
चा यस्य । पापशून्ये, मलशून्ये, स्वच्छे, वाच० । शोभने, प० व०
१ द्वा० । दर्श० । व्यावृत्ततत्त्वप्रतिपत्तिबाधकमिथ्यात्वमालिन्ये,
“सविग्नस्तच्छूतेरेव, ज्ञाततत्त्वो नरानघः” अ० १ अधि० ।

अणग्घमय—अनग्घमत—त्रि० । ६ त० । अवदातवृक्षौ, प० व० ४ द्वा० ।

अणचउक—अनन्तानुबन्धितचतुष्क—न० । अनन्तानुबन्धिको-
धमानमायालोभाभ्ये कथाये, कर्म० २ कर्म ।

अणञ्चतिय-अनात्यन्तिक-पु० । सदायिम मुक्त्वाऽप्रतिनिवर्ति-
प्यति सदायमेवे, वृ० ४ उ० ।

अणञ्चक्वर-अनत्यक्वर-न० । एकादिभिरङ्करैरधिकमत्यक्वरं,
न तथा अनत्यक्वरम् । अनु० । एकेनाप्यङ्करेणानधिके, आ० म० प्र० ।

अणञ्चाविय-अनर्तित-न० । यत्प्रमात्मान वा न नर्तितं न नृत्य-
यदिव कृत यत्र तद्वर्तितं प्रायुपेक्षणम् । अग्रमादप्रत्युपेक्षणाभेदे,
स्था० । यत्प्र नर्तय-यात्मान चेत्येवमिह चत्वारो भङ्गाः-“ घट्ये
अप्याणमि य चउहं अणञ्चावियं ” स्था० ६ ठा० १ उ० । पं०
च० । भो० । “ णञ्चण सरीरे घट्ये या, सरीरे उङ्कपणं, घट्ये वि
विकारा करैते, ण णञ्चाविय अणञ्चावियं ” नि० पू० ८ उ० ।

अणञ्चासायणासील-अनत्याशातनाशील-पु० । अतीयाय
सम्यक्त्वादिलाभ शातयति विनाशयति इत्याशातना, तस्या-
शील तत्करणस्वभावात्मकमस्येत्याशातनाशील, न तथाऽ-
नत्याशातनाशील । गुरुपरिवारादिकृति । आचार्यादीनामभ-
क्तिनिन्दाहीलापर्ययादायाशातनानियारके, उक्त० २६ अ० ।

अणञ्चासायणाविणय-अनत्याशातनाविनय-पु० । अत्या-
शातनं शातना, तन्निघेधरूपो विनयोऽनत्याशातनाविनयः । भ०
२५ श० ७ उ० । वृजंनयिनयभेदे, श्री० ।

से किं तं अणञ्चासायणाविणय ॥ अणञ्चासायणा-
विणय पणयालीसविहे पणत्ते । तं जहा-अरहताण अण-
ञ्चासायणया अरहंतपणत्तस्म धम्मस्स अणञ्चासायणया
आयरियाणं अणञ्चासायणया उवज्जायाणं अणञ्चासा-
यणया धेराणं अणञ्चासायणया कुलस्म अणञ्चामाय-
णया गणस्स अणञ्चामायणया संगस्स अणञ्चासायणया
किरियाए अणञ्चासायणया संजोगस्स अणञ्चासाय-
णया आभिणिबोहियणाणस्स अणञ्चासायणया जाव
केवल्लणाणस्म अणञ्चासायणया एएमि चेव भत्तिबहु-
माणे एं एएमि चेव वल्लसंजलणया, सत्तं अणञ्चामाय-
णया विणए, सेत्त दंसणविणए ॥

(किरियाए अणञ्चासायणय चि) इह क्रिया-अस्ति परलो-
कोऽस्त्यात्माऽस्ति च सकलकेशाकलङ्कित मुक्तिपदमित्यादि
प्ररूपणमित्तका गृह्यते । (सभोगस्स अणञ्चासायणय चि)
सभोगस्य समानधार्मिकाणां परस्परं भक्त्यादिदानग्रहण-
रूपस्यानत्याशातनाविपर्यासवत्करणपरिचर्जनम् (भत्तिबहु-
माणे एं नि) इह णकारो वाक्यालङ्कारे, भक्त्या सह बहुमानो
भक्त्यहमानः, भक्तिभेद बाह्या परिच्छेदः, बहुमानश्चान्तर-
प्रीतियोग (वल्लसंजलणय चि) सद्वृत्तगुणघर्णेन यशोदी-
पनम् । म० २५ श० ७ उ० ।

अणञ्च-कृष्-धा० । आकर्षणे, धिलेखने च । तुदा०, आत्म०,
सक०, अनिदं । भ्यादि०, पर०, सक०, अनिदं । “ कृपेः कहुसा-
अङ्गाञ्चाणञ्चायञ्चाङ्गञ्चा ” ॥ ८ । ४ । १८७ ॥ इति कृपेरण-
ञ्चादेश । अणञ्चङ्-कृपते, कर्षति वा । प्रा० ।

अणञ्चिअरं-देशी-अच्छिन्ने, वे० ना० १ वर्ग ।

अणञ्च्ये-ऋणञ्चेद-पु० । उत्तमर्णाद् गृहीतद्रव्यस्योच्छेदे,
ध० । ऋणञ्च्ये च न विलम्बनीयम् । तदुक्तम्-“ धर्मारम्भे
ऋणञ्च्ये, कन्यादाने धनागमे । शत्रुघानेऽभिरोगे च, काल-

क्षेपन कारयेत् ” ॥ १ ॥ स्वनिर्वाहक्षमतया ऋणदानाशक्तेन तूत्त-
मर्णगृहे कर्मकरणादिनाऽपि ऋणमुच्छेद्यम्, अन्यथा भवान्तरे
तद्गृहे कर्मकरमाहिवृषभकम्परासभादित्वस्यापि सम्भवात् ।
उत्तमर्णेनाऽपि सर्वथा ऋणदानाशक्तो न याच्यः, मुधाऽऽस्तध्या-
नक्षेरापापवृक्षादिप्रादुर्भावात्, किन्तु यदा शक्तोऽपि तदा
दद्याः नो चेदिदं मे धर्मपदे भूयादिति वाच्यं, न तु ऋणसब-
न्धविर स्याज्यः, तथा सत्यायुः समाप्तौ भवान्तरे ह्ययमिष्ट-
सबन्धवैरमुच्छ्रयापत्ते । ध० २ अधि० ।

अणञ्ज-अनार्य-पु० । आराधात सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यम्,
न आर्यमनार्यम् । आक्ष० ४ अ० । आर्यंतरे, करे च । प्रश्न०
४ आक्ष० द्वा० । पापकर्मणि, प्रश्न० २ आक्ष० द्वा० । अनार्य इ-
यानार्यः । म्लेच्छचेष्टिते, वृश० १ चू० । अनार्यलोककरणात्,
प्रश्न० १ आक्ष० द्वा० । अनार्यप्रयुक्ते, प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।
अन्यार्य-त्रि० । अन्यायोपेते, प्रश्न० १ आक्ष० द्वा० ।

अणञ्जधम्म-अनार्यधर्म-पु० । अनार्य्याणामिध धर्मः स्वभा-
यो येषां ते तथा, अनार्यकर्मकारित्वात् । सूत्र० २ भु० ६ अ० ।
कृत्कर्मकारिणु, “ इच्छेयमादसु अणञ्जधम्म, अणारिया बाल-
रसेसु गिद्धा ” सूत्र० २ भु० ६ अ० ।

अणञ्जनाव-अनार्यनाव-पु० । क्रोधादिमति पुरुषजाते, स्था०
४ ठा० २ उ० ।

अणञ्जवसाय-अनध्यवसाय-पु० । आलोचनामात्रे अभ्यव-
सायाभावे, रत्ना० ।

अधानध्यवसायस्वरूप प्ररूपयन्ति-

किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः ॥ १३ ॥

अस्पृष्टविशिष्टविशेष किमित्युल्लेखनोत्पद्यमान ज्ञानमात्रमन-
ध्यवसाय । प्रोच्यते-समारोपरूपत्वं चास्त्यौपचारिकम्, अत-
स्मिन्तदध्यवसायस्य तद्वत्त्वस्याभावात् । समारोपनिमित्त
तु यथार्थापरिच्छेदकत्वम् । उदाहरन्ति-

यथा-गच्छतस्तृणस्पर्शज्ञानम् ॥ १४ ॥

गच्छतः प्रमानुत्पन्नस्पर्शविषय ज्ञानमन्यत्रासक्तचित्तत्वादेव
जातीयकमेवनामकमिदं वस्त्वित्यादिविशेषानुल्लेखि किमपि
मया स्पृष्टमित्यालोचनमात्रमित्यर्थः । प्रत्यक्षयोग्यविषयश्चाय-
मनध्यवसाय । एतदुदाहरणविज्ञा च परोक्षयोग्यविषयोऽप्यन-
ध्यवसायोऽवसेयः । यथा-कस्यचिदपरिज्ञातगोजातीयस्य पुस-
कचन वननिकुञ्जे सास्नामात्रदर्शनात् पिरुमात्रमनुमाय को नु
कस्य अत्र प्रवेशे प्राणी स्यादित्यादि । रत्ना० १ परि० ।

अणञ्जोवस-अनध्युपपन्न-त्रि० । अमूर्च्छिते, आचा० २
भु० १ अ० १ उ० ।

अणद्वकिञ्चि-अनर्तकीर्ति-त्रि० । अनर्ता कीर्तिर्यस्य । सकल-
क्षोपविगमतोऽवाधितकीर्तिके, “ तद्देव विजम्भो राया, अणद्व-
किसिपव्वए ” आर्पत्वादनार्त आर्तध्यानविकल । कीर्त्यादि-
नाऽनाथादिदानोच्छ्रया प्रसिद्धोपलक्षितः । उक्त० १८ अ० ।

अणद्व-अनर्थ-पु० । अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति
पर्याया । अर्थस्याभावोऽनर्थः । अ० । अप्रयोजने, आक्ष० ६ अ० ।
निष्प्रयोजने, नि० चू० १ उ० । सूत्र० । गुणदानौ, द्वा० ६ अ० ।
उपघाते, प्रश्न० २ आक्ष० द्वा० । स्था० ।

अणद्वग-अनर्थक-पु० । अर्थाविशेषे गौणपरिग्रहे, तस्य परमा-
र्थवृत्त्या निरर्थकत्वात् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अण्टकारग-अनर्थकारक-त्रि० । पुरुषार्थोपघातके. प्रश्न०
२ आश्र० द्वा० । अनार्ते, पुं० । आर्नध्यानरहिते, उक्त० २ अ० ।
अण्टपगड-अन्यार्थप्रकृत-त्रि० । साधुनिमित्ते निवर्तिते, "अ
नठं पंगड ह्रेणं, प्रज्जसयणासणं" दश० ८ अ० ।

अण्टादंड-अनर्थदण्ड-पु० । अर्थ प्रयोजन गृहस्थस्य क्षेत्र-
वास्तुधनधान्य शरीरपरिपालनादिविषय तदर्थ आरम्भो भू-
तोपमर्दोऽर्थदण्डः । दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः ।
अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्डः, स चैवभूत उपमर्दनलक्षणो
दण्डः क्षेत्रादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदण्ड उच्यते, तद्विपरीतोऽ-
नर्थदण्डः । आश्र० ४ अ० । निष्प्रयोजन हिंसाधिकरणे, आनु० ।
इहलोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनभूतोपमर्दोनात्मनो निग्रहे,
पञ्चा० १ विव० । स च रुच्यतः-यदकारणे राजकुले दण्डयते ।
प्रावतस्तु-निष्कारण ज्ञानादीनां हानिः । वृ० १ उ० । आश्र० ।
"जो पुण सरडाईण, थावरकाय च वणलयाईअ । मारेतु ठि-
दिक ण व, ठमे एसो अण्टाए" ॥ १ ॥ प्रब० २५४ द्वा० ।

अहावे दोच्चे दंसमादाणे अण्टादंडवत्ति ए चि आ-
हिज्ज, से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भ-
वति, ते णो अन्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सो-
णियाए एवं हिययाए पिताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए
बालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए एहाए एहा-
रुणिए अछीए अड्डिमंजाए णो हिंसंमुमेत्ति णो हिंसंति-
मेत्ति णो हिंसंतिमेत्ति णो पुत्तपोसणाए णो पसुपोस-
णयाए णो अगारपरिवृहणताए णो सपणमाहणवत्तणा-
हेउं णो तस्स सरीरगस्स किंचिविपरिया दित्ता भवति, से
हंता जेत्ता जेत्ता वृंप्पत्ता विलुंप्पत्ता उद्विप्पत्ता उज्जिउं
बाले वेरस्स आभागी भवति अण्टादंडमे ॥६॥ से जहा-
णामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवति, तं जहा-
इकडाइ वा कडिणाइ वा जंतुगाइ वा परगाइ वा मोक्खाइ
वा तणाइ वा कुसाइ वा कुच्छगाइ वा पप्पगाइ वा पज्जात्ताइ
वा ते णो पुत्तपोसणाए णो पसुपोसणाए णो आगारप-
मिवृहणयाए णो समणमाहणपोसणयाए णो तस्स सरीर-
गस्स किंचि विपरियाइत्ता जवति, से हता जेत्ता जेत्ता वृं-
प्पत्ता विलुंप्पत्ता उद्विप्पत्ता उज्जिउं बाले वेरस्स आ-
भागी अण्टादंडमे ॥७॥ से जहाणामए केइ पुरिसे क-
च्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा बलयंसि
वा खमंसि वा गहणंसि वा गहणविट्ठगंसि वा वणंसि
वा वणविट्ठगंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविट्ठगंसि वा
तणाइं ऊमविय सयमेव अगणिकायं णिसिरिंति, अस्से-
ए चि अगणिकायं णिसिरावति, अस्सं पि अगणिकायं णि-
सिरिंतं समणजाणइ अण्टादंडमे, एवं खलु तस्स तप्प-
त्तिय सावर्ज्जेति आहिज्जइ, दोच्चे दंसमादाणे अण्टादंड-
वत्ति ए चि आहि ए ॥८॥

अथापर द्वितीयं दण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्यभिधी-

यते । तदधुना व्याख्यायते । तद्यथा नाम-कश्चित्पुरुषो निर्नि-
मित्तमेव निर्विवेकतया प्राणिनो हिनस्ति । तदेव दर्शयितुमाह-
[जे इमे इत्यादि] ये केचनामी संसारान्तर्वर्तिन प्रत्यक्षा भ्रमण-
य-प्राणिनस्तांश्चासौ हिंसन्त्या शरीर, नो नैव, अर्चायै हिनस्ति,
तथाऽजिन चर्म, नापि तदर्थमेव, नैव मासशोणितद्वयपित्तवसा-
पिच्छपुच्छबालभृङ्गविषाणदन्तदण्डानखस्तरुखस्थिमज्जा इत्येवमा-
दिक कारणमुद्दिश्य, नैव हिंसिषुर्नापि हिंसयिष्यति मां मदीय चेति
कारणमुद्दिश्य, तथा नो पुत्रपोषणायेति-पुत्रादिक पोषयिष्यामीत्ये-
तदपि कारणमुद्दिश्य न व्यापादयति, तथा नापि पशूनां पोषणाय,
तथाऽगारगृह तस्य परिवृहणमुपचर्यस्तदर्थं वा न हिनस्ति, तथा
न भ्रमणब्राह्मणवर्तनाहेतु, तथा यत्नेन प्राप्तयितुमारब्धं नो तस्य
शरीरस्य किमपि परित्राणाय तत्प्राणव्यपरोपण भवानि, इत्ये-
वमादिकं कारणमनपेक्ष्यैवासौ क्रीडया तच्छीलतया, व्यसनेन
वा प्राणिनां हन्ता भवति दण्डादिभिः । तथा जेत्ता भवति क-
र्णनासिकाविकर्तनतः, तथा जेत्ता शूलादिना, तथा सुम्पयिताऽ-
न्यतराङ्गावयवविकर्तनतः, तथा विलुम्पयिता अक्षुत्पादनव-
र्मविकर्तनकरपादादिच्छेदनतः, परमाधार्मिकवत्प्राणिनां निर्नि-
मित्तमेव नानाविधोपायै पीडोत्पादको भवति, तथा जीविता-
दप्यपद्रावयिता भवति । स च सच्चिवेकमुज्जित्वा, आत्मानं वा
परित्यज्य, बालवद्बालोऽङ्गोऽसमीकितकारितया जन्मान्तरानुब-
न्धिनो वैरस्य भागी भवति ॥ ६ ॥ तदेव निर्निमित्तमेव पञ्च-
न्द्रियप्राणिपीडनतो यथाऽनर्थदण्डो भवति, तथा प्रतिपादितम् ।
अधुना स्थावरानधिकृत्योच्यते—(से जहेत्यादि) यथा कश्चि-
त्पुरुषो निर्विवेकः पथि गच्छन् वृक्षादेः पल्लवादिक दण्डादिना
प्रध्वंसयन् फलनिरपेक्षस्तच्छीघ्रतया व्रजति । एतदेव दर्शयति-
(जे इमे इत्यादि) ये केचनामी प्रत्यक्षाः स्थावरा वनस्पतिका-
या प्राणिनो भवन्ति । तद्यथा-इकमादयो वनस्पतिविशेषा उक्ता-
नार्थाः, तदिहेकमा ममानया प्रयोजनमित्येवमभिसंधाय न वि-
नष्टि, केवलं तत्पत्रपुष्पादिनिरपेक्षस्तच्छीघ्रतया जिनसांत्येतत्स-
र्वत्र योजनीयमिति । तथा न पुत्रपोषणाय, नो पशुपोषणाय,
नागारप्रतिवृहणाय, न भ्रमणब्राह्मणप्रवृत्तये, नापि शरीरस्य कि-
ञ्चित् त्राणं प्रविष्यतीति केवलमेवासौ वनस्पतिहन्ता जेहेत्यादि
यावद् जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्य भागी भवति । अयं वनस्प-
त्याश्रयोऽनर्थदण्डोऽजिहितः ॥ ७ ॥ सांप्रतमग्न्याधितमाह—
(से जहेत्यादि) तद्यथा नाम-कश्चित्पुरुष सद्सच्चिवेकविक-
लतया कच्छादिकेषु दशासु स्थानेषु वनदुर्गपर्वतेषु तृणानि कु-
शोषाकादीनि यौन पुन्येनोर्ध्वाध-स्थाने कृत्वाऽग्निकायं हुतमुज-
निसृजति प्रक्षेपयति, अन्येन वाऽग्निकायं बहुसत्त्वापकारी दवा-
र्थं निसर्जयति प्रक्षेपयति, अन्यं च निसृजन्तं समनुजानीते, त-
देव योगाग्निकेण कृतकारितानुमतिमिस्तस्य धार्मिकचनकारिण-
स्तत्प्रत्ययिकं दण्डदाननिमित्तं साधय कर्म महापातकमाख्यातं,
द्वितीयमनर्थदण्डसमादानमाख्यातामिति ॥ ८ ॥ सूत्र० १ पु०
२ अ० । आ० चू० ।

अण्टादंडवेरमण-अनर्थदण्डविरमण-म० । अर्थः प्रयोजनम,
तत्प्रतिषेधोऽनर्थः, दण्डयते आत्माऽनेनेति दण्डो निग्रहः, अनर्थ-
न दण्डोऽनर्थदण्डः । इह लोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनभू-
तोपमर्दोनात्मनो निग्रह इत्यर्थः । तस्मात्तस्य वा विरमण विर-
ति । तृतीये गुणव्रते, पञ्चा० १ विव० । उपा० "तया गुणर-
ण अण्त्थदंडे चउब्धिहे पण्णे । तं जहा-अवज्जाणायरिप
पमायायरिप हिंसप्पयाणे पावकस्मोवपसे । तस्स ए अण्टा-

इंइवेरमणस्त समणोवासगस्त एवं अदयारा जाणियन्वा,
न समापरियन्वा । तं जहा—“एहाणावट्ठणधम्म-विलेखणे सह-
कवरसगधे । धन्धासणआभरणे, पन्निफमणे देवस्सिय सव्व
॥१॥ कंठ्णे १ कुण्डल २, मोहारिण अस्तनुताहिकरणे ४ य । उ-
यभोगपरिभोगातिरिक्ते-” । उपा० १ अ० १ अस्याभयदण्डविरमण-
रूप भ्रमणोपासकेन समी पञ्चातीचारा हातस्या न समावरि-
तस्याः । भाष० ६ अ० १ (इयाण्या 'कदम्प' आदिशब्देषु छट्ठ्या)

अण्टाबांधि-अनर्थबन्धिन्-पु० । पक्षमप्ये अनर्थक निष्प्रयोजन-
मेकवारोपरि हां श्रीन् चतुरो धा चारान् कस्यासु पन्धान् ददाति,
चतुरपरि बहूनि महकानि वा धनाति, तथा च स्यान्नाययि-
धनपल्लिम-पादयो दोषा, यदि वैकाक्षिक सम्पकादिपदे लभ्य-
ते तदा तदेव ग्राह्यम्, बधनादिपल्लिमन्परिहारात् । कल्प० ।

अण्णमण-अनटन-न० । अण्णमणे, पचा० १३ वि० ।

अण्णमो-देगी । आरे, दे० ना० १ पर्व ।

अण्णणिपिप्तु-अनर्प्य-अन्य० । प्रतीपमनर्प्येत्यर्थे, “अपमिह-
दुमण्णिपिप्तु सव्वय्य” ‘अण्णणिपिप्तु’-न प्रतीप अपर्यतीत्य-
र्थः । नि० सू० २ उ० ।

अण्णुओग-अननुयोग-पु० । अनुयोगविपर्यस्ते अननुरूपे यो-
गे, विरो० ।

नामादिभेदात्मसविधमनुयोग व्याख्याय तद्विपक्षभूतमननु
योगं विमलियुक्तोपमहार प्रस्ताधना चह-

एसोऽण्णुओगो, गओऽण्णुओगो इओ विवज्जत्तं ।

जो सो अण्णुओगो, तत्थे-मे होंति दिहंता ॥१॥

तदेवं गतो भणित एयोऽनुरूपयोगोऽनुयोग ससविधोऽपि ।
अथ विपर्यस्तमेतद्विपर्ययेण योऽयमनुयोग, स उच्यते, तत्र
क्षेते यदयमानदृष्टान्ता भवन्तीति ॥ १ ॥

के पुनस्तेऽननुयोगदृष्टान्ता इत्याह-

वच्चगमोणी खुज्जा, सग्गाए नेव वाहिरुद्धावे ।

गाम्पण्य य वयणे, मत्ते य होंति भावस्मि ॥ २ ॥

सावगनज्जा सत्तव-इए य कौकणगदाए नउले ।

कपझामेला संव-स्म साहसं मेणिए कोवा ॥ ३ ॥

यथाऽनुयोगो नामादिभेदात्मसविधस्तथाऽननुयोगो यथास-
मवं वक्तव्य । तत्र नामस्थापने सुगमे, छव्यानुयोगस्तत्प्रसगत ।
द्रव्यानुयोगे च वत्सगौरुदाहरणम् । क्षेत्रे त्वननुयोगानुयोगयोः
कुम्भ उदाहरणम् । काले स्याप्याय । वचने पुनरुदाहरणमयम्,
तद्यथा ‘वधिरुद्धाए’, आमेयकश्च । प्राये तु सप्तोदाहरणानि जव-
न्ति, तद्यथा-आवकभार्या १ सासपदिक पुरुष २ कौकुणक-
दारक ३ नकुल ४, कमलामेला ५, शम्भस्य साहसम्, ६ श्रे-
णिककाप ७ अत्रेति निर्युक्तिगाथासङ्केपार्थ ॥ ३ ॥

अथ विस्तरतो वत्सगौरुदाहरण भाष्यकारः प्राह-

खीर न देड सम्मं, परवच्चनिओयओ जहा गावी ।

छेइज्ज व परपुष्, करेज्ज देहोवरोहं वा ॥

यथा काचिच्छयलादिका गौरव्यस्या बहुधादिकायाः संबन्धि-
नि गोदोहकेन वत्से निष्ठुके सत्यननुयोगोऽयमिति कृत्वा तस्मिन्ना-
गत कीरं दुग्धं सम्यग् न ददाति । अथवा न तावता तिष्ठेत् कि-
न्तु परदुग्धम्-अन्यस्या अपि गो सत्क दुग्धमग्रेऽपि गोदोहनि-
काया व्यवस्थितमुत्पलन्ती उर्वयंस्तु त्याजयेत्, यदि वा देहोपरो-

धत्तसाम्प्रदारादिभिर्जानुजद्वादिना देहयाधामपि कुर्यादित्यर्थः ।

तथा किमित्याशङ्क्य प्रस्तुत योजयन्नाह-

तह न चरण पगूते, परपज्जायाणिओगओ दव्वं ।

पुव्वचरणोवघाय, करेड देहोवरोहं वा ॥

जिणवयणसायणाओ, उम्मायानं कमणवमणाई ।

पावेज्ज सव्वदोवं, स वोहिताभोवघायं वा ॥

दव्वविज्जजासाओ, साहणभेओ तओ चरणभेओ ।

तत्तो मोक्खाजाओ, मोक्खाजावेऽफला टिक्खा ॥

तथाऽत्रापि व्याख्या-यदा जीवादिद्रव्यमजीवादिधर्मं प्ररू-
पयति, रज्जीवादिद्रव्यं वा जीवादिधर्मं प्ररूपयति, तदित्य
प्ररूप्यमाणं तद् द्रव्यमनुयोगतो दुग्धस्थानीयं चरणं चारिष्व
न प्रसृते । परपर्यायविनियोगतो विपर्यासात्तद्वेतुः, तत्र भव-
तीत्यर्थः । न चेतावता तिष्ठति, किन्चित्थमननुयोगं कुर्वत-
पूर्यप्राप्तचरणोपघातं च करोति, तथेत्थमवधिप्ररूपणप्रवृत्तस्य
रोगाधुत्पत्तेर्देहस्याप्युपगोधं बाधां विदधाति । किञ्चेत्थं जिन-
धननाशातनोत्पत्तेरुन्मादात्कुमरणस्य सनाय्यापि प्राप्तुयात्, तथा
सर्वप्रतलोपः, वोहिताभोवघातं च प्राप्तुयादिति । ननु कथं-
चित्पर्यायप्ररूपणामाश्रयेतावन्तो दोषा स्युरित्याह-“(द्व्यावि-
धज्जासत्यादि) विपरीतप्ररूपणे हि छव्यस्य विपर्यासो भव-
ति, तथा च सति साधनस्य सम्यग्ज्ञानादेर्ज्ञेयोऽन्यथाभावो
जायते, ततः साधनभेदाच्चरणभेदस्तद्वेदात् तत्साध्यस्य
मोक्षस्याजायप्रसङ्गः, उपायाभावे उपेयासिद्धेः । ततो मोक्षा-
भावे निष्कृतेष्वपीक्षा, मोक्षार्थमेव तत्प्रतिपत्तिस्तत्तदभावे
निरर्थक्यं सेति । तदेव छव्याननुयोगे निर्दिष्टा दोषा ।

अथ द्रव्यस्य सम्यगनुयोगे गुणमाह-

सम्मं पयं पयच्छइ, सवच्चविणिओगओ जहा धेणू ।

तह सयपज्जजोया, दव्वं चरण तओ मोक्खो ॥

यथा परवत्सपरिहारेण स्वयःसविनियोगतो गौ सम्यक् पयः
प्रयच्छति तथा स्वकपर्याययोगाद् द्रव्यं, ततश्चरणं, ततो मोक्षं प्रा-
प्यत इति । तदेव छव्याननुयोगे च दोषगुणयोर्वत्सगोदृष्टान्त उक्तः ।

अथ क्षेत्राद्यननुयोगे दोषास्तदनुयोगे तु

गुणास्तोदाहरणानतिदिशन्नाह-

एव खेत्ताईसु वि, सधम्मविणिओगओऽण्णुओगं ति ।

विवरीए विवरीओ, सोदाहरणोऽण्णुगंतव्वो ॥

पञ्चमुक्तानुसारेण, क्षेत्रकालवचनभावेष्वापि स्वधर्मविनियो-
गतः आत्मोचितधर्मयोजनात्, अनुयोगः । विपरीते तु-वि-
परीतधर्मयोजने तु, विपरीतोऽननुयोगः सोदाहरणः स्वधुल्या,
ग्रन्थान्तराह्वाऽनुगन्तव्यो ज्ञातव्यः ।

तत्रेत्थमतिदिष्टेऽपि सुग्धविनेयानुग्रहार्थं किञ्चिदुच्यते-तत्र
क्षेत्रतोऽननुयोगेऽनुयोगे च कुम्भोदाहरणमभिधीयते-प्रतिष्ठा-
ननगरे शालिवाहनो नाम राजा । स च प्रतिवर्षं समागत्य
भृगुकच्छे नजोवाहननृपं रुणञ्चि स्म । अतुषके च काले तत्र
स्थित्वा वर्षासु स्वनगरं गच्छति स्म । अन्यदा च रोहक
समागते तेन राज्ञा स्वनगरं जिगमिषुणा आस्थानसभाम-
एरुपिकायां पतङ्गहकमन्तरेणापि भूमौ निष्ठूतम् । तस्य च रा-
ज्ञः पतङ्गहधारिणी कुम्भा समस्ति स्म । तथा चातीवभावज्ञतया
लक्षितम्-नूनं परिजिह्वासुरिदं स्थानं नरपतिर्यास्यति प्रजाते
स्वनगरं, तेनेत्थमिह निष्ठीवतीति सचिन्त्य निगदितं कथ-

मध्यात्मपरिवित्तस्य यानशास्त्रिकस्य । ततस्तेन प्रगुणीकृत्य यानान्यगच्छत एव गङ्गा पुरतोऽपि प्रवर्तितानि, नत्पृष्ठतश्च सर्वोऽपि स्कन्धावार प्रवृत्तो गन्तुम् । व्यास च नजोमपूरुष कटकधूत्रिनिकरेण । तनश्चिन्तित विस्मितमनसा नराधिपेन-ननु कस्यापि प्रयाणक न कथिन धूरीभयात्किन्नाह स्वल्पपरिच्छन्नो भूत्वा सैन्यस्य पुरत एव यास्याम्येतच्च विपरीतमापन्नम्, तत्कथमिदं कटकयोकेन विज्ञानमिति । परम्परया शोधयता विज्ञानाकुञ्जा । पृष्ठया च तथा कथित सर्वमपि यथावत्तम् । तदत्र सज्जामपिकादिकेव्रेण निष्ठीवनस्य अननुयोग, निष्ठीवनादिरक्षणप्रमार्जनोपप्रेषणादिकस्त्वनुयोग । एवमेकान्तनित्यमेकमप्रदेशचाकाश प्ररूपयतोऽननुयोग, स्याद्वाद्वाञ्छित तु तदेव प्ररूपयतोऽनुयोग इति ।

कालाननुयोगानुयोगयोः स्वाध्यायदृष्टान्त-तद्यथा-एकः साधु प्रादोषिककालग्रहणानन्तर काविकभुनमर्तातामपि तदुपनवेनामजानान परावर्तयने स्म । ततः सम्यग्दृष्टिदेवतया चिन्तितम-बोधयाम्यमु, मा जून्मिध्याहृष्टिदेवताग्रमस्य, ततो मथितकारूपेण मथितभूतमेव घट मस्तके निधाय तस्यैव सा धोरनिके गतागतानि कुर्वती 'मथित वञ्चयते' इति महता शब्देन पुन पुनर्बोधयन्ती परिभ्रमति स्म । ततोऽन्युद्वेजितेन साधुना प्रोक्तम्-अहो 'जयन्यास्तक्रविक्रयचेला ? । ततो मथितकारिकयाऽयबोचि-अहो 'तवापि स्वाध्यायवेत्ता ? । ततो विस्मित साधुरूपमुप्य मिथ्यादुष्कृष्टद्वानि स्म । ततोऽकावस्वाध्यायविधानेन मिथ्यादृष्टिदेवताविहितचलानि भवन्त्यन पुनरप्येव मा कार्षीस्त्वमित्यादि साधुदेवतयाऽनुशासितः । इत्येव स्वाध्यायस्य कालाननुयोग, कालेऽनुपठतस्तदनुयोग, प्रस्तुतेऽपि कालधर्माणा वैपरीत्यावैपरीत्यप्ररूपणे अननुयोगाऽनुयोगौ वाच्याविति ।

अथ वचनविषयमनुयोगाननुयोगयोर्द्वारहरणद्वयमुच्यते-तत्र प्रथम बधिरोल्लाप । तत्र चैकस्मिन् ग्रामे बधिरकुटुम्ब परिवसति स्म । स्थविर, स्थविरा, पुत्रो, बधूश्च । अन्यथा च पुत्र केव्रे ह्यवाहयन् पथिकैर्मार्गे पृष्टो बधिरतया ब्रवीति-गृहजातौ मम बन्धुवर्धविमौ, न पुनरन्यस्य मत्कौ । ततो बधिरोऽयमिति विज्ञाय गता पथिका । ततो ज्ञात गृहीत्वा बधू समायाता । शृङ्गितौ पथिकैर्योगेन्द्रावित्यादि निवेदित तेन नस्था । तथा च प्रोक्तम्-कागमव्यवण वेति न जानाम्यहम्, एतत्स्वदीयजनन्यैव हि सस्कृतम् । ततो गृह गतया तथाऽपि क्षारादिभणनव्यतिकरो निवेदित । स्थविरया च कर्तयन्त्या प्रोक्तम्-स्थूय सूक्ष्म वा भवन्ति, स्थविरस्य परिधान भाविष्यतीति । निर्वादिन चैतत्सानुशयचित्तया स्थविरया गृहमागतस्य स्थविरस्य । तेनाऽपि चिन्त्यता प्रोक्तम्-तत्र जीविन पिबामि, यद्येकमपि तिलमहं भक्षयामीति । एवमेकवचनादिकमप्युक्तम् । द्विवचनादिनयाय शृणोति तथैव चान्यस्य प्ररूपयति, तन्म्याननुयोग, यथावच्छ्रवणनिरूपणे त्वनुयोग इति ॥ वचनानुयोगस्यैवेह प्राधान्यस्यापनार्थं वचनविषयमेव चिन्तय ग्रामेयकोदाहरणमुच्यते-तत्र चैकस्मिन्नगरे कस्याश्चिन्महिलाया जता मृत, तत्रेव नजलादिकरेण बाधिता निर्वहन्ती बधुना निजननयेन सह ग्राम गताऽसौ । ततो ब्रूहि गतेन पुत्रेण सा पुष्टा-मदीयपितु, का जीविका आसीत् ? । तथा प्रोक्तम्-राजसेवा । तेनोक्तम्-अहमपि तां करोमि ? । तथा प्रोक्तम्-पुत्र । दुष्कराऽसौ, महता यितयेन क्रियते । कीदृश. पुनरसौ श्रितय ? । तथा प्रोक्तम्-सर्वस्यापि दृष्टस्य प्रणामः कार्य, नीचैर्वृत्त्या सर्वस्यापि प्रवर्तितव्यम्, पूज्यन्दानुवृत्तिप्रदश्च सर्वत्र भवितव्यम् । एवं कल्पयामीत्य-

न्युपगम्य चालितोऽय राजधानीम् । सम्मुखे मार्गे च हरिलेष्मा-गच्छत्सु वृक्षमूलेष्वारुणधनुर्यष्टयो निलीना व्याधा दृष्टाः । तेषां च तेन महता शब्देन योत्कार कृतः, ततस्तस्ताः प्रपलाय्य गता हरिणाः । ततो व्याधौ कुट्टयित्वा बद्धोऽसौ । ततस्तेनोक्तम्-जनन्याऽहं शिक्षित-दृष्टस्य सर्वस्यापि योत्कार कर्तव्य इत्यादि । ततश्च अजुरयमिति ज्ञात्वा मुक्तस्तै, शिक्षितश्च-यथा-ईदृशो दृष्टे निर्वाणैरचनतै. शब्दमकुर्वन्नि शनैर्वा जल्पद्विनिर्जूनमागम्यते । तदनुपगम्य पुरतो गन्तु प्रवृत्तोऽसौ । दृष्टाश्च वस्त्राणि कालयन्तो राजकास्तेषां च वस्त्राणि तस्करैर्नित्यमपहियन्ते स्म, ततस्तत्र दिने लगुमादिव्यग्रपाणयो रजकाः प्रच्छन्नोपविष्टा हेरयन्तस्तिष्ठन्ति स्म । आगनश्चाजल्पभवनतमात्रो निर्वायमानः शनैः स' तत्र ग्रामेयकः । स एव चौर इति कृत्वा कुट्टयित्वा बद्धोऽसौ रजकैः । सद्भावे च कथिते मुक्तस्तै. शिक्षितश्च-यथेदं कस्मिन्निदं दृष्टे एवमुच्यते, यथा-ऊषकारोऽत्र पततु, शुरु च भवत्विति । इदं चाप्युपगम्य प्रवृत्त पुरतां गन्तुम् । ततो दृष्ट क्वचिद्ग्रामे बहुभिर्मङ्गलैः प्रथम हलवाहनस्य दिवसकरणं क्रियमाणम् । तत उक्तम्-उषेत्यादि । ततस्तैरपि कृषीबलैः पिष्टिनो बद्धश्च, सद्भावे ज्ञाते मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदं क्वचिद्विद्योगश्चेदं नोस्त्विति । एतच्चान्यत्र विवहे प्रोक्तम्-तत्रापि तथैव बद्धः, सद्भावे परिज्ञाते मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदं प्रोच्यते-सदैवं पश्यन्तीदृशानि भवन्त, शाश्वतश्च भवत्वेतत्संयत्, मा जृदिह वियोग इति । इदं चाप्यत्र क्वचिन्नगरबद्धराजानमवलोक्य घुवाणस्तथैव कदर्थयित्वा मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदं वियोग-शीघ्र भवत्वेतत्, एव च मा चूत्कदाचिदपीत्यभिधीयते । एतच्चान्यत्र क्वचिद्वाक्सा संधा जल्पमाने प्रोक्त, ततस्तत्रापि तथैव कदर्थित । एव स्थाने २ कदर्थमानोऽन्यदा कस्यापि विभवत प्रमुक्तस्य उक्कुरस्य सेवां विधातुमारब्धः, तत्र चान्यथा गृहे आसूख्यकार्यां सिद्ध्यां ग्रामसभाजनसमूहमध्ये उपविष्टस्य उक्कुरस्य शीतलीभूता एषा जोकुमयोग्या भविष्यतीति नार्थया तदाकारणाय प्रेषितो ग्रामेयकः । तेनापि तस्य जनसमूहस्य शृगवतो महता शब्देन प्रोक्तम्-भाग्य उक्कुर ! शोभमेव गृह, गृहद्वय, आसूख्यलिका शीतलीजवाति स्थिताऽसौ, ततो लज्जितउक्कुरो गृहं गतस्ततो वाद तादयित्वा शिक्षितोऽसौ, यथा नेत्यं कुर्वाणैर्गृहप्रयोजनानि भण्यते, किं तु धर्मेण मुख स्थगयित्वा कर्णाभ्यर्णे च स्थित्वा शनै कथ्यते । ततोऽन्यदा ब्रह्मदीप्ते गृहे गतो ग्रामसभायां, शनैरग्रतः स्थित्वा वस्त्र च मुखद्वारे दत्त्वा कथितं तस्य कर्णे । ततः सभ्रमाद् धावितो गृहाजिमुख उक्कुरो, दग्ध च सर्वस्व सर्वमपि गृह, तत कपितेन वाद तादितोऽसौ उक्कुरेण, जणितश्च निर्गृहः । प्रथमं धूम निर्गते जलाचाम्रभृक्षिमस्मादिकं किमिति त्वया न निक्षिप्त, महता च शब्देन किमिति त्वया न पृक्तम् ? । तेनोक्तम्-अन्यदा इत्थं करिष्यामीति । तत कदाचिद्विहितस्नानो धूपनायोपविष्ट उक्कुरः, निर्गतां च प्रच्छादनपटस्योपरि प्रगरध्माशिक्षां दृष्ट्वा च ग्रामेयकेन क्रिप्ता चोत्पादग नदुपयात्रामनृतमडास्याशी, जलशुद्धीजसादिक च; तथा च पृक्तं मरार्द्रशब्दैरिति । ततोऽन्योऽयमिति निष्कासितो गृहात् । एवं शिष्योऽपि यावन्मात्रं वचनं गुरु कथयति तावन्मात्रमेव स्वयं दृश्य

क्षेत्रकालपराभिप्रायौचित्यपरिज्ञानशून्यो यो वक्ति, तस्य वचना-
ननुयोग, यस्तु ज्ञानक्षेत्राद्यौचित्येन वक्ति तस्य तदनुयोग इति ।

भाषानुयोगानुयोगयोः सप्तोदाहरणानि—

तत्र भावकभार्योदाहरणमाह—एकेन गृहीताणुव्रतेन तरुण-
भावकेण भावकभार्याऽतीव रूपवती कृतोद्भूतरूपशृङ्गारा निजप-
त्न्या एव सखी कदाचिद् दृष्टा । गाढमध्यपञ्च तस्यां, परं व-
ज्रादिना किमपि वक्तुमशक्नुवस्तस्यासिञ्चितया च प्रतिदिनम-
तीव दुर्बलो भवन्निर्वन्धेन पृष्ट कारण स्वभार्याया, कथित च कथ
कथमपि तेन । तथा चातीवदृक्कृतया प्रोक्तम्—एनावन्मात्रेऽन्यथे
किं खिद्यसे? प्रथममेव ममैतत्किं न कथिनम्? स्वार्थानां हि मम सा,
अनयामि सन्धरमेवेति । ततोऽन्यादिने भणितो मर्ता-तया अज्यु-
पगत सहर्षया तथा युष्मत्समोहित, प्रदोष पवागमिष्यति, परं ल-
ज्जाभुतया वासभवनप्रविष्टमात्राऽपि प्रदीप विध्यापयिष्यति तैना-
कम्-एव जवतु, किमित्थं विनश्यति, ततो वयस्याया सकामार्त्तिक-
चिन्तिमिच्छमुद्गाह्य याचितानि तथा तदीयानि स्वजर्तृदृष्टपूर्वाणि
प्रधानवस्त्राण्याभरणानि च, ततो गुदिकादिप्रयोगतो विहितस-
त्रीसदृशस्वरदिस्वरूपा तथैव कृतशृङ्गारा तत्सदृशलितेन
विज्ञासैश्चान्विता तस्यैव धातुस्य भार्या सन्निहितवरकुसुमता-
म्बुश्रीखण्डागुरुकर्पूरकस्तूरिकादिसमस्तभोगाङ्गं विहितामल-
प्रदीपाश्लोके रमणीये वासभवने सयिलासमन्वयिष्यति । ततो दृष्टा
सौत्कण्ठ्यविस्फारितदृशा त्रिदशकल्लोहिनीपुलिनप्रतिस्पर्धिप-
त्यङ्कोपविष्टेन जगित्येव नयनमनसोऽमृतवृष्टिर्निवाधाना तैना-
पा । तथा च दृष्टमात्रया विध्यापितः प्रदीप । क्रीमित विविधगो-
ष्ठीप्रबन्धपूर्वकतया सह निर्भर तेन । गतायां च तस्यां प्रत्युपसि
‘चिन्तितमनेन—’सयलसुरासुरपणमिय-चलणेहि जिणेहि ज हि-
य प्रणियं । तपरजवसचलय, अहह ! मय हारिय सील ” ॥ १ ॥ इ-
त्यादिसवेगवशीत्पन्नपश्चात्तापमहानल्पमुष्यमानान्तःकरण प्र-
तिदिनमधिकतर दुर्बलीभवत्यसौ । ततो विर्वन्धेन भार्याया पृष्टो नि
श्वस्य सखेद वीर्यति स्म—प्रिये ! यता ईश्वरकालानुपार्जितस्वर्गाप-
वर्गनिबन्धवप्रतखणमनेनामुना कृत मया तदकर्तव्यं यद् बाह्यशा-
नामप्यविधेयम् । ततः कृशीभवाम्यहमनया चिन्तया । ततो भार्य-
या सवेगवशी भूतव्यावृच्च तच्चेतो विज्ञाय कथित, सर्वोऽपि यथा
वृत्त । सद्भावसानिज्ञानकथनादिनिश्च सनुत्पादिता प्रतीतिस्त-
स्य, ततः स्वस्थीरूढेऽयमिति । तदेव स्वकलत्रमापि परकलत्रा-
भिप्रायेण नृञ्चानस्य तस्य ज्ञानानुयोगः, यथाऽवस्थितावगमे
ज्ञानानुयोगः । एवमौदयिकादिमावान् स्वरूपवैरीत्येन प्ररूपय-
तो ज्ञानानुयोगः, यथावस्थिततत्परूपणे तु भावानुयोग इति ।

सप्तभिः पदैर्व्यवहरतीति साक्षपदिकस्तदुदाहरणमुच्यते—
एकस्मिन्प्रत्यन्तग्रामे कोऽपि सेवकपुरुषो वसति स्म । स च
साप्वादित्दर्शनिवा सखिन्धव धर्म कदाचिदापि न शृणोति स्म ।
न च तदन्तिके कदाचिदपि प्रजति स्म, न च कस्याप्युपाश्रयददा-
ति स्म । यतो दयालुतां वरधनपरकलत्रनिवृत्त्यादिगुणप्रतिपत्ति
चैने उपदेक्ष्यन्ति, न च शास्त्रयितुमह शक्नोमीति । अन्यथा च वर्षा-
सत्रसमायातास्तत्र कथमपि साधव, तेषां च तत्र वसतिमन्वेषय-
ता कौतुकदिदृष्टुभिः सेवकनरमित्रैर्यामीनैरकम्-अत्रैव नृतो भ-
वतामतीव भक्तोऽमुकगृहे भावकस्तेनैव, यस्यादिना न किञ्चि
रश्रुण करिष्यति; तत्रैव तत्रेति; कृत तस्यैव तैः । स च तेषां पुर-
तोऽपि स्थितानां समुल्लसन्ति नावशोकयति स्म । तत एकेन सा-
धुना शेषसाधूनामभिमुखमुकम्-स एव न भवति, प्रवञ्चिता वा
तैर्प्राप्तेयैर्कैर्यम् । ततस्तेन सन्त्रान्तेनोक्तम्—किं किं भणथ यूयम् ?

ततस्तेः कथिनं सर्वमपि भाषितम्, ततस्तेन चिन्तितम्-अहो !
मत्तोऽपि ते निकृष्टा यैरेतेऽपि प्रवञ्चिताः, तस्माद् मा नूचन्ममी अह
च तदुपहासपात्रम् । अतोऽनिष्टमपि कर्तव्यमेतदिति विचिन्त्योक्तम्-
तिष्ठत मम निराकुलशालाथामेतस्याम्, परं मम धर्माङ्गर न क-
थनीयम् । प्रतिपन्नमेतत्तैः । स्थिताश्च सुखेन तत्र चतुर्मासकाल्य
यावत् । ततो विजिहीर्षुजिस्तेरनुमज्जनार्थमागतस्य शय्यातरस्य
कल्पोऽयमिति दत्ताऽनुशास्तिः । ततो मयमासजीवघातादिवि-
रति कर्तुमशक्नुवतस्तस्यातिशयहानितयाऽप्रे प्रतिबोधगुण प-
श्यद्भिर्गुणनिः साक्षपदिक व्रत दत्तम् । किञ्चित्पञ्चेन्द्रियप्राणिन
जिघांसुना यावता कालेन सप्तपदान्यवप्वक्ष्यन्ते, नावन्त काल
प्रतीक्ष्य ह-तव्योऽसाविति । प्रतिपन्नमेतत्तेन । गताश्च साधवोऽन्य-
त्र । अन्यदा चासौ सेवकनरश्चौर्यार्थं गत कापि, ततोऽपशकु-
नादिकारणेन स्वल्पेनैव कालेन प्रतिनिवृत्तः । कीदृशो मत्परोक्ते
मदीयगृहे समाचार इति जिज्ञासुनिर्णीये प्रच्छन्न एव प्रविष्टो
निजगृहे, तस्मिन् दिने तदीयभगिनी प्रामान्तरादागता, तथा
च केनचिद् हेतुना विहितपुरुषनेपथ्यया नटा नृत्यन्तो निरीक्षि-
ताः । ततोऽसौ प्रचलनिष्ठावशीकृतपुरुषवैवैव भ्रातृजायायाः स-
मीपे प्रदीपाश्लोकादिरम्यवासभवनगतपत्यङ्ग एव निर्जर प्रसुता ।
तेनाऽपि च तद्वधुना अकस्मादेव गृहप्रविष्टेन दृष्ट तत्तादृशम् ।
ततश्चिन्तितमनेन-अहो ! विनष्ट मद्गृहम् । विष्ट कोऽप्यय मद्भा-
र्यासमीपे प्रसुमस्तिष्ठतीति कोपावेशादाचक्रपाण, तत स्मृत
व्रत, विलापित च सप्तपदापसरणकालम् । अत्रान्तरे तद्भगिनी-
बाहुलतिका निष्ठावशेन तद्भार्यया मस्तकेनाक्रान्ता, तत पी-
ड्यमानया तद्भगिन्या प्रोक्तम्-हस्ते ! मुञ्च मम बाहु, वृथेऽत्यर्थ-
महम् । तत स्वरविशेषेण ज्ञाताऽनेन स्वभगिनी । अहो ! निकृष्टोऽह,
मनगेव मया न कृतमिदमकार्यम् । तत उत्थिते ससन्नम भ-
गिनीभार्ये । कथितश्च सर्वे स्वव्यतिकरः परस्परम् । ततो य-
थोक्तानिग्रहमात्रस्याप्येवञ्च फलमुद्गीक्ष्य सखिन्ध प्रवञ्जितोऽ-
साविति । तदत्र स्वभगिनीमपि परपुरुषानिप्रायेण जिघांसोस्तस्य
ज्ञानानुयोगः, यथाऽवस्थितावगमे तु भावानुयोगः । प्रस्तुत-
योजना तु भावकभार्योदाहरणवदिति ।

कोङ्कणकदारकोदाहरणम्—

यथा कोङ्कणकविषये एकस्य पुरुषस्य सधुदारकोऽस्ति स्म । भार्या
तु मृता, अन्यां च परिणेतुमिच्छन्तोऽपि सपत्नीपुत्रोऽस्यास्तीति
न कोपि ददाति स्म । अन्यथा च सदैव तेन दारकेणासावरण्ये का-
ष्ठानां गतः, तत्र च कस्यापि पित्रा काण्डं मुक्त, तदानयनाय च
दारक प्रेषित, गतश्चायम्, अत्रान्तरे दुष्पितुस्तस्य चक्षित चित्त,
यस्य दारकस्य सत्कारणेनान्या भार्या मम न कोपि ददाति ।
ततोऽन्यत्काण्डं क्षिप्त्वा विष्टोऽसौ दारक, ततो महता स्वरे-
णोक्त बाह्यकेन-तात ! किमेतत्काण्डं त्वया मुक्तम्, विष्टो ह्यने-
नाहम् । ततो निर्धुणेन पित्राऽन्यत् काण्डं मुक्तम् । ततो ज्ञात दार-
केण-इन्त ! चुक्रो मारयत्येव मामिति विस्वर रटभिक्षुणेन तेन
मारितोऽसाविति । पूर्वमन्यस्य बाण मुञ्चताऽपिऽनाजोगत एवाह
विष्ट इत्येवमवबुध्यमानस्य ज्ञानानुयोगः, पश्चाद्यथावस्थिता-
वगमे तस्य ज्ञानानुयोगः । अथवा सरकाईमपि त बाह्यक मारया-
मीत्यध्यवस्यत पितुर्भाषामनुयोगः, तदुद्गाध्यवसाये तु ज्ञानानु-
योगः । एव विपरीतज्ञानप्ररूपणे भावानुयोगः, विपरीतभाव-
प्ररूपणे तु भावानुयोग इति ।

अथ नकुलोदाहरणम्—

यथा पदातेः कस्यचिद् भार्या गुर्विणी जाता, नकुलिका च

करिष्यतीति तस्याश्चित्तानि प्रायः, अयं चेत्पुनरुनया श्रेणिकनृप-
स्यान्यथापरिणतः-नूनमनया कस्यापि सङ्केतो दत्तस्तवन्तिके
च मयि सन्निहिते गन्तुमशक्ता, ततस्तवन्तिके चेतसि निधा-
य एतदुक्तम् । ततो महता खेदेन तस्य विभाता रजनी । चक्षितः
श्रीमन्महावीरस्यान्तिकम् । गच्छता चातिकोपावेशाश्रिरुपितोऽ-
भयकुमारः-सर्वाभिरैवान्त पुरिकाग्निः सह प्रदीपय सर्वाण्यन्त-
पुरगृहाणि । ततोऽभयकुमारेण चिन्तितम्-केनाप्याभिनवोत्पन्न-
कोपावेशेनैवमसौ वक्ति, प्रथमकोपे च यदुच्यते तत्क्रियमाण
न खलु परिणतौ सुखयति । अथवाऽनुवर्तनीय गुरुणा वचनमत-
शून्यां हस्तिशालामेकां प्रदीप्य प्रस्थितः सोऽपि भगवच्छन्दना-
र्थम् । इतश्च भगवान्पृष्ट श्रेणिकराजेन-प्रगवन् । चेष्टणा किमे-
कपत्नी, अनेकपत्नी वा ? । भगवता प्रोक्तम्-एकपत्नीति । ततो
निवृत्तः सत्वरमेव गृहामिमुखमभयकुमारनिवारणाय । मार्गे चा-
गच्छन्वीक्षितोऽसौ पृष्टश्च-किं दग्धमन्त पुरम् ? । तेनोक्तम्-दग्धम् ।
राज्ञा प्रकुपितेनाऽन्यथायि-त्वमपि तत्रैव प्रविश्य किं न दग्धोऽ-
सि ? । कुमारेणोक्तम्-किं ममाग्निप्रवेशेन ? , अतमेव प्रदीप्याम्यह-
म्, ततो मा नृदस्य महान् खेद इति कथितं यथावदेवेति । तदत्र
सुशीलामपि चेष्टणां कुशीलां मन्यमानस्य राज्ञो भावानुयोगः,
यथावदवगमने च तदनुयोगः । एवमौदयिकादिभावान् विपरीत-
स्वरूपान् प्ररूपयतो भावानुयोगः, यथाऽवस्थितस्वरूपान्स्तु
तान् प्ररूपयतो भावानुयोग इति । विशेषः । विषा० ।

अणुचिद्विषय-अननुचित-त्रि० । शास्त्रानुष्ठाने, “ जो तु अ-
कारणसेवा सा सञ्चा अणुचियातो हौति, जा अकारणतो प-
मिसेवा गुणदोसे अचित्तिरुण सा अणुचीनि ” नि० चू० १३० ।
अणुपालण-अननुपादन-न० । न० त० । अनासेवने, आच०
६ अ० । पचा० । “ पोसहोववासस्स सम्ममणुपालणया ”
पोषधोपवासातिचारः । उपा० १ अ० ।

अणुवाङ् (ण)-अननुपातिन्-त्रि० । सिद्धान्तेन सहाऽघट-
मानके, व्य० १ उ० ।

अणुवाय-अननुपात-पु० । अनासमने, पचा० ७ विव० ।

अणुसासणा-अतनुशासना-त्री० । शिक्वाया अभावे, का०
१ श्रु० १३ अ० ।

अणु-अनन्य-त्रि० । अभिक्षे, विशेषे । “ अणु अभिष ”
अपृथगित्यर्थः । नि० चू० १ उ० । मोक्षमार्गादन्योऽस्य म, ना-
न्योऽनन्यः । ज्ञानादौ, “ अणु चरमाणे से ण क्लेषे ण क्लृणा-
वप ” आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुण्येय-अनन्यनेय-त्रि० । अन्येन नेत्राऽनेतव्ये, “ नेतारो अ-
क्षेसि अणुण्येया बुद्धा दु ते अतकरा हवति ” न च स्वयं बुद्ध-
त्वादन्येन नीयन्ते तत्त्वावबोध कार्यन्ते इत्यनन्यनेया, हिता-
हितप्राप्तिपरिहार प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः ।
सुत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणुदंभि (ण) अनन्यदर्शिन्-पु० । अन्यद् रूपं शीलमस्ये-
त्यन्यदर्शी यस्तथा, नासावनन्यदर्शी । यथावस्थितपदार्थरूप-
दि, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुपरम-अनन्यपरम-पु० । न विद्यतेऽन्य परम प्रधानो य-
स्मादित्यनन्यपरम । सत्यमे, “ अणुपरम णाणी, णो पमाय
कयाइ वि ” । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुमण-अनन्यमनस्-त्रि० । न विद्यते अन्यद् धर्मध्यानल-

क्षणान्मनो यस्य सोऽनन्यमना । एकाग्रचित्ते, सथा० । भग-
वन्मनसि, औ० ।

अणुहावाङ् (ण) अनन्यथावादिन्-पु० । सत्यवक्ति, ‘ भ-
णुवक्यपराणुगह-परायणा ज जिणा जगप्पवरा । जिभराग-
दोसमोहा, अनहवावाङ्णो तेण ” ॥ १ ॥ आच० ४ अ० ।

अणुसाराम-अनन्याराम-त्रि० । मोक्षमार्गादन्यत्रारममाणे, आ-
चा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अणुहय-अनाश्रव-पु० । न० त० । नवकर्माऽनादाने, प्रश्न०
१ आश्र० द्वा० । स्था० ।

अणुहयकर-अनाश्रवक-पु० । प्राणातिपाताद्याश्रवकरणर-
हिते पञ्चमे प्रशस्तमनोविनयभेदे, न० १५ श० ७ उ० । स्था० ।

अणुहयत्त-अनहस्कत्व-न० । न विद्यते अहः पाप यस्मिन्
तत् अनहस्कम्, तस्य भावाऽनहस्कत्वम् । अविद्यमानकर्मत्वे,
“ सजमेण अणुहयत्त जणयत् ” उक्तं १ अ० ।

अणतिक्रमणिज्ज-अनतिक्रमणीय-त्रि० । न० त० । अचाल-
नीये, म० २ श० ५ उ० । दश० ।

अणतिक्रमणिज्जवयण-अनतिक्रमणीयवचन-त्रि० । अनतिक्र-
मणीय वचन येषां ते । वचनानतिक्रामकेषु, “ अम्मापिउण अ-
णइक्कमणिज्जवयणा ” अम्मापिउणो सत्कमनातिक्रमणीय वचन
येषां ते तथा । औ० ।

अणतियार-अनतिचार-त्रि० । न विद्यन्ते अतिचारा यस्मिन् ।
अतिचाररहिते, ध० ३ अधि० ।

अणतिवाङ् (ण)-अनतिपातिन्-पु० । अतिपतनमतिपात प्राप्स्यु-
पमर्दम्, तद्विद्यते यस्यासावतिपातिकस्तत्प्रतिषेधादनतिपा-
तिकः । अहिसके, सुत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अणतिविलंबियत्त-अनातिविलम्बितस्त्व-न० । अतिविलम्बरा-
हित्यरूपे वचनातिशये, औ० ।

अणत्त-अणार्त्त-पु० खो० । राजादीना हिङ्गणादिकधारके,
न० १ अधि० । ऋणपीकिते, स्था० ३ उ० ४ उ० । स न दी-
कणीयः । ध० ३ अधि० । प० भा० । प० चू० ।

अनात्त-अपरिगृहीते, ध० २ अधि० । स्था० ।

इयानि अणुत्ते-

सच्चित्तं अच्चित्तं, वा मोसगजोयणं तु धारंति ।

समणाण व समणीण व, च कप्पती तारिसं दिक्खा ४११

कठा । इमे दोसा-

अथ सो य अकिची या, तम्मूढा गंतहिं पवयणस्स ।

अणपोव्वरुमंभकिया, सव्वे एयारिसा मग्गा ४१२ ।

अण रिण पोव्वरु मइल, चक्कवरायपरिज्जवे अणणाणपोव्वडो,
(ऊज्जिण च्छि) ऊज्जिमिया रिणे आदंज्जति धम्मिर्पाहि अणे-
गप्पगारे रोड उव्वथणेहिं ऊज्जियाऊज्जियालत्तकसादिर्पाहिं
वा ऊज्जिता सव्वे एयारिसा । एत्ते गेरहणकट्टणादिया दोसा ।
इम वित्तिपद गाहा-

दाणेण से तोसितो, अहवा वीमज्जितो पडु णं ।

अट्ठाणपराविदेसे, दिक्खा से उत्तमाऽवदो ॥ ४१३ ॥

अट्ठपदके दाणेण तोसिपण धणिण चिसज्जितो (पभु च्छि)

धणितो सव्वम्मि अदिन्ने तेण विसज्जितो पव्वाविज्जति, सेस केणं अणत्ते गतमिति । नि० चू० ११ उ० ।

अणत्त-द्वैशी । निर्मात्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अणत्तद्विषय-अनात्मार्थिक-त्रि० । नात्मार्थ एव यस्यास्त्यसाव-
नात्मार्थिकः । परमार्थकारिणि, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अणत्तपण-अनात्मप्रज्ञ-त्रि० । नात्मने हिताय प्रज्ञा येषां ते
अनात्मप्रज्ञाः । व्यर्थवृत्तिषु, “ एगे विसीयमाणे अणत्तपणे ”
आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अणत्तव-अनात्मवत्-त्रि० । अकषायो ह्यात्मा भवति, स्वस्व-
रूपावस्थितत्वात्, तद्वन्न भवति यः सोऽनात्मवान् । सकषा-
ये, स्था० ६ उ० ।

अणत्तागमण-अनात्तागमन-न० । अनात्ता अपरिगृहीता-चेदया,
स्वैरिणी, प्रोषितजर्तुका, कुलाङ्गना वाऽनाथा, तस्यां गमनम् ।
अपरिगृहीतागमने स्वदारसन्तोषातिचारे, ध० २ अधि० ।

अणत्थ-अनर्थ-पु० । अनर्थहेतुत्वाद् गौणे एकविंशे परिग्रहे,
प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अणत्थक-अनर्थक-पु० । परमार्थवृत्त्या निरर्थके अष्टाविंशे
गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० । निष्प्रयोजने, पञ्चा० ६ वि० ।

अणत्थकारण-अनर्थकारक-त्रि० । पुरुषार्थोपघातकारके,
प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणत्थन्तर-अनर्थान्तर-न० । अन्योऽर्थोऽर्थान्तरम्, न विद्यतेऽ-
र्थान्तर यस्य पर्याये । एकार्थे शब्दे, “ योग्यमहमित्यनर्थान्तरम् ”
आ० म० द्वि० ।

अणत्थगंय-अनर्थग्रन्थ-पुं० । न० त० । जावधनयुक्ते, औ० ।

अणत्थचल-अनर्थचल-पु० । निजगुणोपाजितनामके रत्नव-
त्याः सुते, दर्श० ।

अणत्थदंडजभाण-अनर्थदण्डध्यान-न० । अनर्थदण्डो निष्प्र-
योजन हिंसादिकरणं तस्य ध्यानम् । छुर्दान्तमत्ततया द्वापायन
रुष्टीकुर्वतां शास्त्रादीनामिव, वक्रमण्डलीं सर्पविशेषरुपां धनतो
गङ्गदत्तस्येव, विष्णुश्रीदेवीस्वर्गसदेशकथननिपुणस्य वा बाल-
स्येव, ध्याने, आतु० ।

अणत्थफलद-अनर्थफलद-त्रि० । स्वपरयोरपकाररूपफलदा-
यके, पञ्चा० ३ वि० ।

अणत्थमियसंकप्प-अनस्तमितसंकल्प-पु० । अनस्तमिते सूर्ये
सकल्यो भोजनभिलाषो यस्य । अनिष्टरात्रिभोजने दिवाजो-
जिति, वृ० १ उ० ।

अणत्थवाय-अनर्थवाद-पुं० । निष्प्रयोजने जल्पे, प्रश्न०
२ सम्ब० द्वा० ।

अणत्थादरु-अनर्थदण्ड-पु० । निष्प्रयोजनहिंसाकरणे, आतु० ।
(‘ अणत्ताड्ड ’ शब्देऽत्रैव भागे ७८५ पृष्ठे चास्य विवृतिः)
अणत्थादण्डवरमण-अनर्थदण्डविरमण-न० । तृतीये गुणव्रते,
पञ्चा० १ वि० (‘ अणत्तादण्डवरमण ’ शब्देऽत्रैव जागे २८५
पृष्ठेऽस्य विस्तरः)

अणत्थाग-अणत्थाग-पु० । अण व्यवहारकदेय द्रव्य, तद्यो-
धारयति । अधमर्णे, आ० १७ अ० ।

अणत्तनोद-अनःप्रचोद-पु० । अनः शकटं प्रचोदयति प्रेर-

यति । विष्णौ, शैशवे हि विष्णुना चरत्वेन शकटं पर्यस्तमिति
श्रुतेः । “ धियो योऽनः प्रचोदयात् ” अ० गा० ।

अणत्त (प) उज्ज-अनात्मज्ञ-त्रि० । अनात्मवशे प्रहृष्टीते,
क्षिप्तचित्तादौ च । नि० चू० १ उ० ।

अणत्तधिकारि(ण)-अनधिकारिन्-पुं० । अधिकारिविरुद्धे, ल० ।

अणत्त-अनर्थ-त्रि० । न विद्यतेऽर्थं येषामित्यनर्थाः । निर्वि-
भागेषु, “ समयः प्रदेशः परमाणव एते अनर्थाः ” स्था० ३
ठा० २ उ० ।

अणत्तपणिय-अप्रज्ञासिक-पुं० । व्यन्तरनिकायोपरिवर्तिनिव्य-
न्तरभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । स्था० । औ० । ते च रत्नप्र-
भाया उपरितने रत्नकाण्डरूपे योजनसहस्रे अध उपरि च
दशयोजनशतरहिते वसन्ति । प्रब० १९४ द्वा० ।

अणत्तपण्य-अनर्थग्रन्थ-त्रि० । अनर्थग्रन्थोऽनर्थग्रन्थोऽनर्थग्रन्थ-
परेषामाध्यात्मिकत्वाद् ग्रन्थवद् द्रव्यवत् ग्रन्थो ज्ञानादिर्यस्य
सोऽनर्थग्रन्थ इति । परेभ्योऽदातव्यज्ञानादिके, स्था० ६ ठा० ।
अनल्पग्रन्थ-त्रि० । न० व० । बह्वागमे, औ० ।

अनात्मग्रन्थ-त्रि० । अविद्यमानो वा आत्मनः सम्बन्धी
ग्रन्थो हिरण्यादिर्यस्य । अपरिग्रहे, औ० । सूत्र० ।

अणत्तपिय-अनर्पित-न० । अविशेषिते, यथा जीवद्रव्य स-
सारी, ससार्थपि असरूपं, असरूपमपि पञ्चेन्द्रिय, तदपि नररू-
पमित्यादि तु अर्पितं विशेषितं विशेषः । स्था० १० ठा० ।

अणत्तपियण्य-अनर्पितनय-पु० । अनर्पितमविशेषितं सामा-
न्यमुच्यते, तद्वादी नयोऽनर्पितनयः । सामान्यमेवास्ति न वि-
शेष इत्येव वादिनि आगमप्रसिद्धे नयभेदे, विशेषः । आ० चू० ।

अणत्तबल-अणत्तबल-पुं० । अणो ग्रहीतव्ये बलं यस्येति । बलव-
त्युत्तमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणत्तबलनिय-अणत्तबलभणित-पुं० । उत्तमर्णेनास्मद् द्रव्य
देहीत्येवमभिहिते अधमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणत्तज-अनर्थ-त्रि० । अन्नरहिते, द्वा० २४ ठा० ।

अणत्तभय-अनर्थक-त्रि० । अन्नकरहिते, त० ।

अणत्तभयगय-अनर्थभयगत-त्रि० । श्रुतसपदानुपसपने अनि-
वेदितात्मनि, आ० म० प्र० ।

अणत्तभजग-अणत्तजजक-पु० । अण देय द्रव्य भजन्ति न ददन्ति
ये ते । उत्तमर्णेभ्यः अण गृहीत्वाऽदायकेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणत्तजिओग-अनर्थभियोग-पु० । न अभियोगोऽनर्थभियोगः ।
अनर्थभियोगव्ये, औ० ।

अणत्तजिक्त-अनर्थजिक्त-त्रि० । न अभिक्रान्तो जीविताद-
नर्थजिक्त इति । सचेतने, आचा० ७७० अ० १३० । अनर्तिल-
हिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४३० । अन्यैरनर्थजिक्तान्तायामपरिभु-
क्ताया दोषविशेषविशिष्टायां वसतौ, स्त्री० ग० । अत्रि० । आचा० ।

अणत्तजिक्तकिरिया-अनर्थजिक्तान्तक्रिया-स्त्री० । चरकादिजि-
नवसेवितपूर्वाया वसतौ, सा चानर्थजिक्तान्तस्वाङ्गनाऽकल्पनी-
या । आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणत्तजिक्तसंजोग-अनर्थजिक्तान्तसंयोग-पु० । अनर्थजिक्तोऽन-
तिज्ञान सयोगो धनधान्यहिरण्यपुत्रकयत्रादिद्रव्योऽस्यप्र-

संयोगो वा येनाऽसावनभिर्गन्तसंयोगः । परिग्रहग्रस्तेऽस्यते, आचा० १ भु० १ अ० ४ उ० ।

अणजिगम-अनभिगम-पु०। न० त०। विस्तरबोधाजवे, भ० २ श० १ उ० । सम्यगप्रतिपत्तौ, ध० ३ अधि० । पा० ।

अणभिग्राह्य-अनभिग्रहिक-न०। अभिग्रहः कुमतपरिग्रहः स यत्रास्ति तदभिग्रहिक, तद्विपरीतमनभिग्रहिकम् । मिथ्यात्व-जदे, स्था० २ ग० १ उ० । तच्च प्राकृतजनानां सर्वे देवा बन्धान निन्दनीया, एव सर्वे गुरुवः, सर्वे धर्मा इत्याद्यनेकविधम् । ध० २ अधि०। "अणभिग्राह्यमिच्छादसणे द्रुविदे पश्यते । तजहा-सप-ज्जवसिए चेव अपज्जवसिए चेव" अनजिग्रहिक भव्यस्य सपर्य-वसिनमितरस्यापर्यवसितमिति । स्था० २ ग० १ उ० ।

अनभिग्रहित-पु०। अभिग्रहिकमिथ्यात्वरहिते, वृ० १ उ० ।

अणभिग्राह्यकुदिष्टि-अनजिगृहीतकुदष्टि-पु० । अनजिगृहीता अनङ्गीकृता कुदष्टिवैदमतादेरूपा येन सोऽनभिगृहीतकुदष्टि । सङ्केपरुचौ, येन मिथ्यात्विनां कुमतमङ्गीकृत नास्तीत्यर्थः । उक्त० २५ अ० ।

अणभिग्राह्यसिज्जासाणिय-अनजिगृहीतशय्यासनिक-पु०। न अनजिगृहीते शय्यासने येन सोऽनजिगृहीतशय्यासनिक । स्वार्थे इकप्रत्ययः । शय्यासनविषयकाभिग्रहरहिते, "नो क-प्यइ निगंथाण वा निगंथीण वा अणभिग्राह्यसिज्जासाणिप-ण हुत्तए" कल्प० ।

अणभिग्राह्यपुष्पाप-अनजिगृहीतपुष्पाप-त्रि०। अनधिगतपुष्पापे, भविदितपुष्पापकर्महेतौ च । प्रश्न० २ आश्र० द्वा०। अणभिग्राह्या-अनभिगृहीता-स्त्री० । अर्थानभिग्रहेण नि-त्यादिवदुच्यमानायां भाषायाम्, "अणभिग्राह्या भासा, भासा य अभिग्रह निबोधवा" । भ० १० श० ३ उ० ।

अणनिणिवेम-अननिनिवेश-पु०। अतत्त्वेऽभिनिवेशाभावे, अ-नामोमे च । पचा० ११ विव०। अनिनिवेशराहित्ये, अभिनिवेश-श्च नीतिपयमनागतस्यापि पराभिभवपरिणामेन कार्यस्यार-म्भ । ध० १ अधि० ।

अणनिपेय-अननिप्रेत-पु०। अननिप्रेतार्थविषये संयोगे, उ-क्त० १ अ० । प० न० ।

अणजिन्तूय-अनभिन्तूत-त्रि०। नाभिन्तूतोऽनभिन्तूतः । अनुकू-लप्रतिकूलोपसर्गैः परतीर्थिकैर्वाऽजाताभिभवे, आचा० १ भु० २ अ० ।

अणभिलप्प-अनजिलाप्य-त्रि०। प्रह्लापनायोगे, आ० म० प्र० । 'पसवणिज्जा जावा, अणतमागो उ अणजिलप्पाण' सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० । आ० चू० ।

अणजिस्संग-अनभिज्ज-पु०। निष्प्रतिबन्धे, पचा० १५ वि०। अणभिय-अनजीत-पु०। अण वणति दणरुक्धातु, अणति गच्छति तासु तासु योनिषु जीवोऽनेनेत्यण पाप, तस्माद् जीत । असावद्ययोगे, आ० म० छि० ।

अणजिस्सगओ-अनभिज्जतस्-अव्य०। अजिज्जभाषादि-त्यर्थे, पचा० ४ विव० ।

अणभिद्विय-अनजिहित-न०। आत्मन एवेच्छयाऽभणितलक-ण, वृ० १ उ० । स्वसिद्धान्तानुपदिष्टरूपे सूत्रोपजेदे, यथा-मम 'पदार्थो वशेयिकस्य, प्रकृतिपुरुषान्त्यधिक वा साहस्य-

स्य, दुःख समुदायमार्गनिरोधलक्षण, चतुरार्यसत्यादानातिरि-क्त वा धौर्दस्येत्यादि । अनु० । आ० म० छि० । विशेष० ।

अणराय-अराजक-न०। राज्ञोऽभावे, प्राक्तनस्य राज्ञो मरणे संजाते सति यावदद्यापि राजा युवराजश्चैतौ द्वावपि नाभिषि-क्तौ तावदराजक भण्यते, वृ० १ उ० । ('विहार' शब्दे व्याख्या)

अणरिक्क-देशी-न०। दधिकीरादौ, नि० चू० १६ उ० ।

अणल-अनल-पु०। नास्ति अल पर्याप्तिर्यस्य, बहुदाहदहने-ऽपितृप्तेरभावात् । न० ब०। वन्हौ, अनलदैवतत्वात् कृत्सिकान-क्रे, चित्रकवृक्के, पु०। तस्य सर्वतः पर्याप्तत्वेऽपि पर्याप्ते स्त्री-माभावात्तत्त्वम् । भल्लतके वृक्के च । वाच० । प्रश्न० । स्था० । आष० । न अलोऽनलः । अप्रत्यक्षे अपर्याप्ते अयोग्ये, नि० चू० ११ उ० । असमर्थे, आ० म० छि० ।

अनलमित्यस्य—

कामं खलु अलसद्दो, तिनिहो पञ्जत्तहिं पगतं ।

अणलो अपचलो चिय, होंति अजोगो व एगट्ठा २२१ चोदक आह-ननु अलशब्दः त्रिष्वर्थेषु दृष्टः, तद्यथा-पर्याप्ते, भूषणे, वारणे च । आचार्य आह-यद्यपि त्रिष्वप्यर्थेषु दृष्टः तथापि अर्थवशाद् पर्याप्ते दृष्टव्यः, न अलोऽनलः, अपचल अचोम्यश्च एते एकार्याः । नि० चू० ११ उ० ।

अणलंकिय-अनलङ्कृत-त्रि०। न० त०। मुकुटादिभिर्विचूषिते, भ० २ श० १ उ० ।

अणलकियविचूषिय-अनलङ्कृतविचूषित-त्रि०। न० त०। अ-लङ्कृत मुकुटादिभिः, विचूषित वस्त्रादिभिः, तन्निषेधादनल-ङ्कृत विचूषितम् । मुकुटादिभिर्वस्त्रादिभिर्वा शोभामप्रापिते, प्र० २ श० १ उ० ।

अणलगिरि-अनलगिरि-पु०। चण्डप्रद्योतनूपतेर्हस्तिरत्ने, उ-क्त० ९ अ० । "स्त्रीरत्न च शिवा देवी, गजोऽनलगिरिः पुनः" । आ० क० ।

अणलस-अनलस-त्रि०। उत्साहवति, दश० १ अ०।

अणलाणिलतणवणस्सइगणणिस्मय-अनलानिलतणवणस्सप-तिगणनिःश्रित-त्रि०। अनलस्तेजस्कायोऽनिलो वायुकायस्त्वण-वनस्पतिगणो बादरवनस्पतीना समुदायः, एतन्नि श्रिताः । तेजस्कायाद्युपजीवकेषु व्रसेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणलिय-अनलीक-न०। सत्ये, वृ० १ उ०।

अणद्वियाणिज्ज-देशी-त्रि०। अनाश्रयणीये अयोग्ये, "वि-सवल्लीअणद्वियाणिज्जाओ" । स्त्रिय विषवल्लीवद् हाहाहह-विषवतावत् अनाश्रयणीयाः सर्वथा सङ्गादिकर्तुमयोग्याः, तत्काश्रयणप्रयाणहेतुत्वात् । पर्वतकस्य राज्ञो नन्दपुत्रीविषक-न्यावत् । त० ।

अणव-अणवत्-पु० । दिवसस्य षम्विंशे लोकोत्तरमुहूर्तेः कल्प० । च० प्र० ।

अणवकवमाण-अनवकाद्दत्-त्रि० । विहर्तुमिच्छति, क-ल्प० । स्था० ।

अणवकंखवत्तिया-अनवकाद्दप्रत्यया-स्त्री० । अनवकाद्वा स्वशरीराद्यनपेक्षत्वं सैव प्रत्ययोर्यस्याः साऽनवकाद्वाप्रत्यया इहलोकपरलोकापायानपेक्षस्य क्रियाभेदे, स्था० २ ग० १ उ०

अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा पणुता । आयशरीर-
अणवकंखवत्तिया चेव, परशरीरअणवकंखवत्तिया चेव ।
तत्रात्मशरीरानवकाङ्क्षप्रत्यया सा स्वशरीरक्षतिकारिकर्मा-
णि कुर्वत, तथा परशरीरक्षतिकराणि तु कुर्वतो द्वितीयेति ।
स्था० २ ठा० १ उ० । “अणवकखवत्तिया इहलोगे परलोगे य ।
इहलोगे अणवकखवत्तिया लोगविरुद्धाणि विचोरिकादीणि
करेति जेण वहवधादीणि इहेव पावति, परलोगे अणवकख-
वत्तिया अट्टरुद्धभाती इदियपराभूतो हिंसादिकम्माणि करे-
माणो परलोग नावकखति ” आ० चू० ४ अ० ।

अणवकंखा-अनवकाङ्क्षा-स्त्री० । अनाकाङ्क्षायां स्वशरीराद्य-
नपेक्षत्वे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अणवगय-अनवगत-त्रि० । अपरिज्ञाते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणवगल्ल-अनवकल्प-पु० । जरसा पीडिते, अनु० । अत्य-
न्तवृद्धे, प० व० १ द्वा० । ध० ।

अणवगुय-अनवयुत-त्रि० । न० त० । अपृथग्भूते, व्य० ७ उ० ।

अणवज्ज-अनवद्य(अणवज्ज्य)-न० । अवद्य पाप, नास्मिन्नव-
द्यमस्तीत्यनवद्यम् । सामागिके, विशेष० । आ० चू० । सावद्य-
योगप्रत्याख्यानानात्मकत्वात्तस्य । आ० म० द्वि० ।

पावमवज्जं सामा-इयं अपाव ति तो तदणवज्जं ।

पावमाणंति व जम्हा, वज्जिज्जतेण तदसेसं ॥

अणवद्वयस्य कुत्सितार्थत्वादणन्ति कुत्सितानि करणानि श-
ब्दयन्ति, अणन्त्यनेनन्ति व्युत्पत्तेर्वा, अणं पापमुच्यते । तदशेषं
सर्वमपि वर्ज्यते परिह्रियते यस्मात्तेन सामाधिकेन अणवज्ज-
यतीति वा, ततः सामाधिकमणवज्ज्यमुच्यते इति शेषः ।
विशे० ।

इदानीमनवद्यद्वारम् । तत्र कथानकम्-वसन्तपुरे नगरे जिय-
सत्तू राया । धारिणी देवी । तीसे पुत्तो धम्मरुई । सो य राया
थेरो । अण्णया तावसो पव्वइउकामो धम्मरुईस्स रज्ज वाउ-
मिच्छइ । सो मायर पुच्छइ-कीस तातो रज्ज परिव्वयइ ? ।
सो भणइ-रज्ज ससारवहुण । सो भणइ-मम वि न कज्जं ।
ततो सो वि सह पिथरेण तावसो जाओ । तत्थ अमावसा
होहि त्ति गडओ घोसेइ आसमसु-कल्ल अमावसा होहि इ-
तो पुप्फफलाण सगह करेइ । कल्ल नट्टइ छिदिउ । धम्मरुई
चिनेइ-जइ सब्बकाल न छिदिज्जा तो सुदर होज्जा । अण्णया
साहु अमावसाए तावसासमस्स अदूरेण बोलति । ते धम्म-
रुई पेच्छिऊण भणति-भयव ! किं तुम्हे अणाकुट्टी नरिथ तो
अरुवि जाह । ते भणति अरुह जावज्जीव अणाकुट्टी । सो
संभतो त्रित्तिउमारुद्धो-साहु वि गया जाईसभरिया पत्ते य-
वुद्धो जातां ।

अमुमेवार्धमभिधत्सुराह-

सोऊण अणाउट्ठि, अणजित्तो वज्जियाण अणगतुं ।

अणवज्जयं उवगतो, धम्मरुई नाम अणगारो ॥

श्रुत्वा आकर्ण्य, आकुट्टनमाकुट्टिः छेदनं हिंसेत्यर्थः । न
आकुट्टिरनाकुट्टि, ता सर्वकालिकीमाकर्ण्य अणभीतः अण-
वणेति दण्डकधानु, अणति गच्छन्ति तासु तासु योनिषु जीवो
अनेनेति अण पाप, परित्यज्य सावद्ययोगमित्यर्थः । अणस्य
वर्ज्य अणवज्ज्यन्तद्भावस्मानणवज्ज्यनामुपगतः प्राप्तः साधु
संवृत इति भावः । धर्मरुचिर्नाम अनगार । गतमनवद्यदा-

रम् । आ० म० द्वि० । निर्दोषे, म० ५ श० ६ उ० । उत्त० ।
पापाभावे कर्मोपचयाभावे, “अणवज्जमतह तेसि” कुतोऽपि
हेतोः केवलमनसः प्रदेवेऽपि अनवद्य पापाभावः, कर्मोपच-
याभावो वा जवतीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । कामादि-
पापव्यापाराप्ररूपके, विशेष० । गुणविशेषविशिष्टे सूत्रे, अनवद्य
मगह्यमहिंसाप्रतिपादकम् । वतः “वदशतानि नियुज्यन्ते, पशूनां
मध्यमेऽहनि । अश्वमैधस्य वचनान्धूनानि पशुमिस्त्रिमि” ॥१॥
इत्यादिवचनमिव न हिंसाप्रतिपादकम् । आ० म० द्वि० । अनु० ।
पीमानुत्पादके, अपापे वाक्ये “सत्थेसु वा अणवज्ज वयति”
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (‘सत्थे’ शब्देऽस्य विवृतिः)

अणवज्जगी-अनवद्याङ्गी-स्त्री० । सुदर्शनापरनामिकायां भगवतो
महावीरस्य दुहितरि जमाद्विगृह्णियाम, विशेष० । उत्त० ।
अणवज्जजोग-अनवद्ययोग-पु० । कुशलानुष्ठाने, “अणवज्जजो
गमेग” अनवद्यं योग कुशलानुष्ठानमेक सकलकुशलानुष्ठानानाम-
नवद्ययोगत्वाव्यभिचारात् । पा० ।

अणवज्जया-अणवज्ज्यता-स्त्री० । अणस्य पापस्य वर्ज्योऽणव-
ज्यस्तद्भावोऽणवज्ज्यता । संवरे, आ० म० द्वि० ।

अणवद्व-अनवस्थ-पु० । अनवस्थाय्ये, व्य० १ उ० ।

अणवद्वप-अनवस्थाय्य-न० । अवस्थाय्यत इत्यवस्थाय्यस्य, तस्मि-
न्नेधातवस्थाय्यम् । दुष्टतापरिणामस्याऽकृततपोविशेषस्य व्रता-
नामनारोपणे, ध० ३ अधि० । ग० । औ० । यो हि आसेविता-
त्तिचारविशेषः सन्नानाचरिततपोविशेषः, तद्वेषोपरतो महाव्र-
तेषु नावस्थाय्यते नाधिक्रियते इति; तदतिचारजाते तच्छुक्ति-
रूपे, नवमे प्रायश्चित्ते च । स्था० ३ ठा० ४ उ० । यत्र प्रति-
सेवते उत्थापनायामप्ययोग्यत्वेन यावदनाचीर्यतपाः पञ्चाशी-
र्यतपा पुनर्महाव्रतेषु स्थाप्यते तत् । जीत० । व्य० ।

अनवस्थापनीयाः-

ततो अणवद्वप्पा पन्नत्ता तं जहा-साहम्मियाणं तेसं करेमाणे ।
अन्नधम्मियाणं तेस करेमाणे, हत्थादासं दहेमाणे ॥

त्रयोऽनवस्थाप्यास्तत्क्रणादेव व्रतेष्वनवस्थापनीयाः प्रकृता ।
तद्यथा-साधर्मिकाः साधवस्तेषां सत्कस्योत्कृष्टोपधेः । शिष्या-
देर्वा स्तैन्य चौर्यं कुर्वाणः । अन्यधार्मिकाः शाक्यादयो गृहस्था-
वा, तेषां सत्कस्योपध्यादेः स्तैन्यं कुर्वन् । तथा हस्तेन तारुनह-
स्तात्ताव, सूत्रे च तकारस्य दकारधुतिः, आर्षत्वात्, तद्वत्तमाणा व-
दन् यष्टिमुष्टिलगुमादिभिः शस्त्रैः परस्य वा प्रहरन्निति भावः ।
अथवा हस्तावस्थेति पाठः । हस्तावस्थे इव हस्तावस्थोऽशिवादि-
प्रशमनार्थमजिचारकमन्त्रादिप्रयोगस्तद्वत्तमाणाः कुर्वन् । यद्वा-‘ह-
त्थादाण दत्तमाणे त्ति’ पाठः । सूत्रार्थादानमर्थोपादानकारणमष्टा-
ङ्गनिमित्तददत्प्रयुज्जान । एष सूत्रसंज्ञेपार्थः । वृ० ४ उ० । जीत० ।

अथ विस्तरार्थं विज्जिण्णुराह-

आसायणपमिसेवी, अणवद्वप्पो वि होति दुविहो तु ।

एवकेको वि य दुविहो, सचरित्तो चेव अचरित्तो ॥

आशातनाऽनवस्थाप्य, प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यमेत्यनवस्थाप्यो
द्विविधो भवति । न केवलं पाराजिक इत्यपि सार्धार्थः । पुन-
रेकेकोऽपि द्विविध-सचारित्रोऽचारित्रश्चेति । एतौ द्वावपि
जेदौ पाराजिकवद्वक्यौ ।

अथाशातनाऽनवस्थाप्यमाह-

तित्थयरपत्रयणसुत्ते, आयरिये गणहरे महिक्खीए ।

मूलं वा जणमज्जे, वोच्चेद पमज्जणा सेसे ॥

एव तेन साधुना स्तैन्येन वन्धेषु गृहीतेषु यद्यप्यसौ भ्रात्रोऽनुग्रहं मन्यते-यथापि तथापि ददामीति साधव इति, तथापि चतुर्लघवः । अथवाऽप्रीतिकं करोति, ततश्चतुर्गुरुवः प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् । अथासौ स्तेनोऽयमिति शब्दं जनमध्ये विस्तारयति, तदा मूलम् । यच्च शेषद्रव्याणां शेषसाधूनां वा व्यवच्छेदः (पसज्जणं सि) प्रसगतः करोति, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अथ सतीं ध्यामनां दर्शयति-

सुव्वत्तामिओऽवधि-पेसण गहिते य अंतरा लुद्धो ।

लहुगो अदेति गुरुगा, अणवदृष्यो व आदेसे ॥

अथ सुव्यक्तं सत्यमेव ध्यामितोपधिर्गुरुमिस्तथैव प्रेषणं कृतम्, प्रेषितश्च सन् येनाचार्या निमन्त्रितास्तस्मादन्यस्याद्वा आवकाद् वस्त्रादिकमुपधिं गृहीत्वा अन्तरालुद्धो लोभामिभूतो यदि गृह्णाति, तदा लघुको मासः । आगते यदि गुरुणां न प्रयच्छति, तदा चतुर्गुरुवः । तेऽश्वदेशा अनवस्थाप्या भवन्ति । गतं ध्यामनाद्वारम् ।

अथ प्रस्थापनाद्वारमाह-

उक्कोस सनिज्जोगो, पमिगहो अंतरा गहण लुद्धो ।

लहुगा अदेति गुरुगा, अणवदृष्यो व आदेसा ॥

केनाप्याचार्येण कस्यापि सयतस्य हस्ते अपराचार्यस्य दौ-कनहेतोः प्रतिग्रहं प्रेषितः । स चोत्कृष्ट उत्कृष्टोपधिरूप, यद्वा-वृत्तसमचतुरस्रवर्णाख्यनादिगुणोपेतः, तथा सह नियोगेन पात्रकवन्धादिना यः स सनियोगः । एवविधस्य प्रतिग्रहस्यान्तराल एवासौ लुद्धो ग्रहणं स्वीकरणं करोति, तत्र चतुर्लघु । तत्र गतस्तेषां सूरीणां तं प्रतिग्रहं न प्रयच्छति, तदा चतुर्गुरुवः । तत्रादेशेन वा अनवस्थाप्योऽसौ द्रष्टव्यः । गतं प्रस्थापनाद्वारम् ।

अथ शैलद्वारमाह-

पव्वावणिज्ज बाहिं, ठवेत्तु भिक्खुस्स अतिगते संते ।

सेहस्स आसियावण, अजिधारेते य पावयणी ॥

कोऽपि साधुः प्रवाजनीय सशिखाक शैलं गृहीत्वा प्रस्थितः, तं भिक्षाकाले कापि ग्रामं वहिं स्थापयित्वा भैक्षार्थमतिगतः-प्रविष्टः, प्रविष्टे च सति तस्मिन् परः साधुस्तु शैलं दृष्ट्वा विप्रतार्य च तस्य 'आसियावण' अपहरणं करोति, साधुविरहितो वा एकाकी कमपि साधुमभिधारयन् शैलो व्रजेत् तमपरं साधुर्विप्रतार्य प्रवाजयेत्, एतौ द्वावपि यदा प्रावचनिकौ जातौ, तदा द्वावपि शैलो स्वयमेवात्मनो दिक्परिच्छेदं कुरुत इति सग्रहाशान्ममासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति-

सप्पादिगओ अद्धा-णिओ व वणदणग पुच्छ से होमि ।

सो कत्थ मज्ज कज्जे, ठातपिवासिस्स वा अडति ॥

संज्ञाभूमिगत आदिशब्दाद्भक्तादिपरिष्ठापनिकार्थं निर्गतः कोऽपि साधु शैलं दृष्टवान्, अथवा अध्वनिकं पथिकोऽसौ साधुस्ततः पथि गच्छन् शैलं दृष्टवान् । तेन च वन्दनके कृते सति, साधु पृच्छति-कोऽस्मि त्वं, कुत आगतः, क्वा प्रस्थितः ? शैलं प्राह-अमुकेन साधुना सार्द्धं प्रस्थितं प्रव्रजितुकामः, शैलोऽस्म्यहम् । साधु पृच्छति-स साधुः सप्रति कं गतः ?

शैलो भणति-स मम कार्ये बुभुक्षितस्य पिपासितस्य वा भक्षणार्थं पर्यटति ।

मज्झं मिणमसपाणं, उवजीवऽणुक्कंपणा य सुप्पो व ।

पुट्टमपुट्टे कट्ठणा, एमेव य इहरहा दोसो ॥

ततः स साधुर्मदीयमिदमन्नपानमुपजीव नुक्ख्वेति कुर्वाणो यदि साधुर्मिकोऽयमित्यनुकम्पया ददाति, तदा शुद्धः । शैलेण पृष्ठो अपृष्ठो वा यद्ययमेवानुकम्पया धर्मकथां करोति, तदा शुद्धः । इतरथा अपहरणार्थं नक्तपानं दत्तो धर्मं च कथयतो दोषः, चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ।

अपहरणप्रयोगानेव दर्शयति-

नत्ते पाणवण निगू-हणा य वावार जंपणा चेव ।

पत्थावण सयहरणा, सेहे अव्वत्त वत्ते य ॥

अपहरणार्थं नक्तपानं ददाति, धर्मं वा तस्य पुरतः प्रज्ञापयति । तत्र स शैल आहतः सन् जणति-जघत एव सकाशेऽहं प्रव्रजामीति किन्तु न शक्नोमि येनानीतस्तत्पुरतः स्थातुं ततो मां गुपिते प्रदेशे निगूहतु । ततोऽसौ न व्यापारयति-अमुकत्र निवृत्तिं तिष्ठति । ततस्त तत्र निवृत्तिं साधु पलालादिना जम्पयति, स्थगयतीत्यर्थः । अन्यैः सार्धमन्य ग्रामं प्रस्थापयति, एकाकिन वा प्रेषयति, अमुकत्र ग्रामादौ व्रज, अहमग्रेऽमुष्मिन्निवसे तत्रागमिष्यामि । अथवा स्वयमेव गृहीत्वा तमपहरति, एतानि पदपदानि भवन्ति । तद्यथा-नक्तप्रदानं १, धर्मकथा २, निगूहना-वचन ३, व्यापारण ४, जम्पन ५, प्रस्थानं स्वयहरण ६ चेति । एतेषु षट्सु शैले व्यक्तेऽन्यके च प्रायश्चित्तमिदं भवति-

गुरु चउलहु चउगुरु उलहु उगुरुमेव ठेदो य ।

जिक्खुगणायरियाणं, मूळं अणवदृष्य पारंची ॥

मिच्छुर्यद्यव्यक्तशैलस्थापहरणार्थं भक्तं ददाति, तदा मासगुरुः धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघुः, निगूहनवचने चतुर्गुरुः व्यापारणे षडलघुः, जम्पने षडगुरुः, प्रस्थापने स्वयं हरणे वा ठेदः । एवमव्यक्तशैले भणितम् । अन्यको नाम-यस्याद्यापि श्मश्रु न सजातम् । यस्तु व्यक्तः सजातश्मश्रुः, तस्य चतुर्लघुकादारब्धं मूलं यावत् भिक्षोः प्रायश्चित्तम्, गणितं उपाध्यायस्य चतुर्लघुकादारब्धमनवस्थाप्य तिष्ठति । आचार्यस्य चतुर्गुरुकादारब्धं पाराक्षिकं पर्यवस्यति । एव सप्तहाये शैले भणितम् ।

यः पुनरसहायोऽभिधारयन् व्रजति तत्र विधिमाह-

अजिधारं पवयंतो, पुच्छो पव्वामहं अमुगकुलं ।

पाणवणजत्तदाणे, तहेव सेसा पदा एत्थं ॥

कोऽपि शैल एकाकी कमप्याचार्यमभिधारयन् प्रव्रज्यामिमुसो व्रजति, तेन क्वचिद् ग्रामे पथि वा साधु दृष्ट्वा वन्दनकं कृतम् । साधुना पृष्ठं-कं गच्छति ? स प्राह-अमुकस्याचार्यस्य पादमूले प्रव्रजनायं व्रजामि । एवमुक्ते यदि निकुरव्यक्तशैलकस्य नक्तपानं करोति, तदा मासगुरुः, धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघुः व्यक्तशैलकस्य नक्तपाने चतुर्लघुः, धर्मकथायां चतुर्गुरुः, उपाध्यायचार्ययोर्थथा-मं षडगुरुकं च भवति । अथस्तनमेकैकं पदं नृसतीति प्रावः । शेषाणां तु निगूहनव्यापारणजम्पनादीनि पदानि न सन्ति, असहायत्वात् । तदप्रावात्प्रायश्चित्तमपि नास्तीति ।

एते चाऽपने दोषा -

आणादणंतससा-रियत्तं बोहियदुल्लजत्तं वा ।

साहम्मियतेसम्मी, पमत्तं उल्लणाऽधिकरणं च ॥

शैकमपहरत आकाभङ्गादयो दोषा प्रवन्ति, अनन्तसंसारिक-
त्व च भगवतामाकाभङ्गादवति । बोधेभ्यः दुर्धमत्वं जायते,
साधर्मिकस्तैन्य च कुर्वाणः प्रमत्तो भवति, प्रमत्तस्य च प्रान्ते
वेद्यतया उन्नता प्रवति । यस्य च संबन्धी सोऽपहियते, तेन
सममधिकरणं कतह उपजायते । एव तावत्पुरुषविषयादयो
दोषा उक्ताः ।

अथ स्त्रीविषयांस्तानेवातिदिशति—

एमेव य इत्यीए. अजिधारेति ए तह वयंतीए ।

वत्तवत्ताए गम, जहेव पुरिसस्स नायन्वा ॥

एवमेव स्त्रिया अपि शैककाया अभिधान्त्या, तथा (वयंतीए
ति) ससहायाया. प्रव्रजितुं व्रजन्त्या, व्यकाया अव्यकायाश्च
गमः स एव कृतव्यो यथा पुरुषस्योक्तः ।

अथ प्रावचनिकपद व्यासष्टे—

एवं तु सो अवहिओ, जाहे जाओ सयं तु पावयणी ।

निष्कारणे य गहिओ, पवयति जाहे पुरिद्वानं ॥

एवमनन्तरौकै प्रकारैः स शैकोऽपहतः सन् यदा स्वयमेव
प्रावचनिको जातः, अन्यो वा निष्कारणे य केनापि गृहीतः,
स आत्मनो दिक्परिच्छेदं कृत्वा भूयोऽपि बोधिल्लाभाभावात्
पूर्वेषामेवाचार्याणामन्तिके प्रव्रजति ।

अन्नस्म व असतीए, गुरुम्मि अब्भुज्जएगतरज्जुतो ।

धारेति तमेव गणं, जाव हन्तो कारणज्जाते ॥

येन स शैको निष्कारणमपहतस्मन्त्यर्थे अपरः कोऽप्याचार्यः.
पदयोग्यो न विद्यते, ततोऽन्यस्याभावे, यद्वा-गुरवाचार्योऽ-
न्युद्यतस्यैकतरणं युक्त अन्युद्यतमरणमन्युद्यतविहार वा
प्रतिपन्न इत्यर्थः । ततो यदि कोऽपि शिष्यस्तेषां निष्पन्नो ना-
स्ति तदा तमेव गणमसौ धारयति, यावत्कोऽपि तत्र निष्पन्न
इति । यश्च कारणजाते केनाप्याचार्येण हतः, सोऽपि तमेव
गणं धारयति ।

किं पुनस्तत्कारणमित्याह—

नाऊण य वांछेद, पुव्वगते कावियाणुओगे एं ।

अज्जा कारणजाते, कप्पति सेहाऽवहारो उ ॥

कोऽप्याचार्यो बहुभूतः, तस्य पूर्वगते किञ्चिच्छ्रुतं प्राभूतं वा,
कालिकानुयोगेऽपि श्रुतस्कन्धोऽध्ययनं वा, विद्यते, तच्चान्यस्य
नास्ति, ततो यद्यन्यस्य न सक्राम्यते, तदा तद् व्यवच्छिद्येत । एव
पूर्वगते काविकानुयोगे च व्यवच्छेदं ज्ञात्वा तच्च सप्रस्थितं शैकं
ग्रहणधारणसमर्थं विज्ञाय भक्तादानधर्मकथादिभिर्विपरिणा-
मभ्रम्पनादीन्यपि कुर्वाणः शूद्रः । यद्वा-तस्याचार्यस्य नास्ति
कोऽप्यार्याणां प्रवर्नेकस्ततस्तासामपि कारणजाते शैकमपह-
रेत्, एव कल्प्यते शैकापहारं कर्तुम् ।

तस्य च कारणेऽपहतस्य को विधिरित्याह—

कारणजाए अवहिअ, गण धारेतो तु अवहरंतरस्म ।

जा एगां निफसो, पन्ना से अप्पणो इच्छा ॥

य कारणजातेऽपहतः स तदीयं गणं धारयन् अपहरत एव
विनेयो भवति । अथ येन कारणेनापहनस्तत्कारणं न पुरयति
तदा पूर्वपमेव भवति, नापहरत । स च कारणापहनस्तस्मि-
न्गणे तावदास्ते यावदेको गीनार्थो निष्पन्नः, पञ्चासत्स्यात्माया
द्वन्द्वा-तत्र वा तिष्ठति पूर्वेणा वा सकाशे गच्छति । यस्तु

निष्कारणे अपहतः स एकस्मिन्निष्पन्ने नियमात्पूर्वेषामन्तिके
गच्छति । स तस्यात्मीयेच्छेति भावः । गतं शैकद्वारम् ।

अथाहारविधिधारमाह—

ठवणाघरम्मि लहुगो, पायी गुरुगो अणुगहे लहुगा ।

अप्पित्थियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जणा सेसे ॥

दानभक्षादिकुलं स्थापनागृहं जणयते, तस्मिन् य आचार्यैरसं-
विष्टोऽनुज्ञातो वा प्रविशति, तस्य मासवधुः । अथवा प्राघूर्णक-
श्चानार्थमहमिहायात इति तेषां आकाशानां पुरतां मायां करोति,
ततो मायिनो मासगुरुकम्, एवमुक्ते यदि ते आश्वा अनुग्रहोऽ-
यमिति मन्यन्ते, तदा चतुर्लघुः । अथाप्रीतिकं कुर्वन्ति, ततश्चतु-
र्गुरुवः, यश्च तद्वदन्यव्यवच्छेदादि शेषदोषाणां प्रसज्जनाप्रसङ्गात्
तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

इदमेव व्यासष्टे—

अज्ज अहं निदिट्ठो, पुट्ठोऽपुट्ठो व साहई एवं ।

पाहुणगगिद्वानट्ठा, तं च पडोजेति तो वित्थियं ॥

कश्चिदाचार्यैरसदिष्टं स्थापनाकुलेषु प्रविश्य पृष्ठोऽपृष्ठो वा इदं
जणति-अद्याह गुरुजि. सदिष्टः प्रेषित इति, ततो मासवधुः ।
यदि च पूर्वं सदिष्टसंघाटकप्रविष्ट आसीत्, आर्यैश्च तस्यासदिष्ट-
स्याग्रे इदं भणितं भवेत्-सदिष्टसंघाटकस्य दत्तमिति । ततो यदि
भूयात्-प्राघूर्णकार्यं ग्लानार्थं वा साम्प्रतमहमागत इति, एव त
आश्वाजनं मायया यदि प्रज्ञोजयति, ततो द्वितीय मासगुरुः । ते
च आका विपरिणमेयुः, विपरिणताश्चाचार्यादीनां प्रायोग्य न
वधुः, ततः शूद्रः कुर्वेनाप्येतत्प्रायश्चित्तं भाव्यम् ।

आयगिगिलाण गुरुगा, लहुगा य हवन्ति खमणापाहुणए ।

गुरुगो य बालवुट्ठे, सेसे सव्वेसु मासलहु ॥

आचार्यस्य ग्लानस्य च प्रायोग्यमददानेषु आश्वाेषु चतुर्गुरुवः ।
क्षपणकस्य प्राघूर्णकस्य च प्रायोग्यमददानेषु चतुर्लघवः । बाल-
वृद्धानां प्रायोग्ये अलभ्यमाने गुरुमासः । शेषाणामेतद्व्यति-
रिक्तानां सर्वेषामपि प्रायोग्ये अलभ्यमाने मासवधुः । गतं साध-
र्मिकस्तैन्यम् ।

अथान्यधार्मिकस्तैन्यमाह—

परधम्मिया वि दुविहा, लिंगपविट्ठा तहा गिहत्था य ।

तोसिं तेणं तिविहं, आहारे उपधि मच्चिने ॥

परधार्मिका अन्यधार्मिका इत्येकोऽर्थः । ते च द्विविधा-विद्व-
प्रविष्टा, गृहस्थाश्च । विद्वप्रविष्टा शाक्यादयः, गृहस्था प्रती-
ताः, तेषामुज्जयेनामपि स्तैन्यं त्रिविधम्-आहारविषयमुपधि-
विषयं सांचित्तविषयं चेति ।

तत्राहारविषयं तावदाह—

जिक्खुण संखमीए, विकरणरूवेण जुजई वुट्ठे ।

आभोगणमुच्छंसण-पवयणहीला दुरप्पाओ ॥

मिक्षवो चाश्वास्तेषां सङ्खरूपां कविच्छल्लुग्धो विकरणरूपेण
विद्वविषयेकेन भुङ्क्ते, तदीयं लिङ्गं कृत्वेति भावः । एव लुञ्जान
यदि कोऽप्याभोगयति उपलब्धयति, तदा चतुर्लघवः । एवमुप-
लब्धय यद्यन्मातुर्धर्म्यं कोऽर्थं निर्मत्सर्गं करोति ततश्चतुर्गुरुकः ।
प्रवचनदीपां वा ते वृत्त्यु- यथा बुरात्मानोऽम् । भोजननिमि-
त्तमेव प्रव्रजिता इति ।

अपि च-

गिहवासे वि वरागा, धुवं कुरु एते अदिष्टकक्षाणा ।

गद्वणं पावरे ग वलितो, एएति सत्युणा चेव ॥

गृहवासेऽप्येते वराका ध्रुव निश्चितमेवादृष्टकल्याणाः, एतेषां च यां तीर्थकृता दुश्चरितामाहारशुध्याविचर्यामुपदिशता गद्वणः एव नवरं न वलितः, शेषं तु सधेमपि कृतमिति ज्ञावः । गतमाहारविषय स्तैन्यम् ।

अथोपधिविषयमाह-

उवस्सए उवहि उवे-सुं गतभिक्षुस्मि गिएहती लहुगा ।

गेएहणकट्टणववहा-रपच्छकददुड्डहणणिविसए ॥

उपाश्रये नवे, उपधिमुपकरण, स्थापयित्वा कश्चिद्विहृको बौद्धो भिक्षां गतस्तस्मिन् गते यदि तदीयमुपधिं गृह्णाति, तदा चतुर्वेधव । स भिक्षुकः समायातः स्वकीयमुपकरणे स्तेनित मत्वा तस्य सयतस्य ग्रहण करोति, तदा चतुर्गुरुवः । राजकुलान्निमुखमाकर्षणे षड् गुरुवः । व्यवहारं कारयितुमारब्धे षेवः । पश्चात्कृते सति सूक्ष्मः । उड्डहनेऽनवस्थाप्यम् । निर्विषयाज्ञापने पाराञ्चिकम् ।

अथ सचित्तविषय स्तैन्यमाह-

सचित्ते खुड्ढादी, चउरो गुरुगा य दोस अस्सादी ।

गेएहणकट्टणववहा-रपच्छकददुड्डहणणिविसए ॥

सचित्ते स्तैन्य चिन्त्यमाने भिक्षुकादेः सम्बन्धिन कुल्लकम्, आदि-शब्दादकुल्लक वा यद्यपहरति, तदा चत्वारो गुरुकाः, आह्लादयश्च दोषाः । ग्रहणकर्षणव्यवहारपश्चात्कृतोड्डहणनिर्विषयाज्ञापनादयश्च दोषाः प्राग्वन्मन्तव्या ।

अथ तेष्वेव प्रायश्चित्तमाह-

गहणे गुरुगा उमास, कट्टणे छेत्रो होइ ववहारे ।

पच्छा करम्मि मूलं, उड्डहणविरंगणे नवमं ॥ १ ॥

उदावणनिविसए, एगमणंगे य दोस पारंची ।

अणवदृष्टा दोसु य, दोसु उ पारचित्रो होइ ॥ २ ॥

गाथाद्वय गतार्थम् ।

खुड्डं व खुड्डियं वा, ऐति अवत्तं अपुच्छियं तेषं ।

वत्तम्मि णत्थि पुच्छा, खेत्तप्पाणं च नाज्जणं ॥

कुल्लको वा कुल्लिका वा योऽव्यक्तः, स यस्य शाक्यादेः सम्बन्धी, तमपृष्ट्वा यदि त कुल्लक कुल्लिका वा नयति, ततः स्तेनः । अन्यधार्मिकस्तैन्यकारी स मन्तव्यः, चतुर्गुरुक च तस्य प्रायश्चित्तम् । यस्तु व्यक्तस्तत्र नास्ति पृच्छा । तामन्तरेणापि स प्रव्रजनायः । किं सर्वथैवानेत्याशङ्क्याह-क्षेत्रस्थानं च ज्ञात्वा । किमुक्तं भवति-यदि चिचकित क्षेत्र शाक्यादिमावित राजवल्ल-जननादिक वा तेषां तत्र वृत्तं, तदा पृच्छामन्तरेण व्यक्तोऽपि प्रव्र-जयितु न कल्पते, अन्यथा तु कल्पत इति । एव तत्र लिङ्गप्रवि-ष्टाना स्तैन्यमुक्तम् ।

अथ गृहस्थानां तदेवाह-

एमेव होंति तेषं, निविहं गारत्थियाण जं वृत्तं ।

गहणादिगा य दोसा, सविमसतरा जवे तेषु ॥

एवमेवागारस्थानामपि त्रिविधम्-आहारादिभेदाभिप्रकारः, स्तैन्य भवति यदनन्तरमेव परतीर्थिकानामुक्तम् । तपु च गृहस्थे-

षु आहारादिक स्तेनयतां ग्रहणादयो दोषाः सविशेषतरा भवे-युः । ते हि राजकुले करादिकं प्रयच्छन्ति, ततस्तद्वलेन समधि-कतरान् ग्रहणाकर्षणादीन् कारयेयुः ।

कथ पुनरमीषामाहारादिक स्तेनयतीत्युच्यते-

आहारं पिडादी, तंतुण खुड्ढादियं भणितपुण्वं ।

पिडम्मि य कप्पट्ठा, संभण पणिग्गहे कुसट्ठा ॥

आहारे, पिडादिक बहिर्विरहितं दृष्ट्वा कुल्लकः स्तेनयति, उप-धौ, [ततु स्ति] सूत्राष्टिकास, उपशक्कणत्वाद्द्विआदिक वा, अपहर-ति, सचित्ते, कुल्लक वा स्तेनयति । एव यदेव पूर्वं परतीर्थिकानां भणित, तदेवात्रापि मन्तव्यम् । कथ पुनः पिडां स्तेनयति-पिड-म्मीत्यादि) काश्चित्कुल्लिका भिक्षामन्यः किंचिद् गृहं प्रविष्टास्त-त्र च बहिः पिष्टं विसारितमास्ते, तच्च दृष्ट्वा तासां मध्यादेका कल्प-स्थिका पिष्टपिष्टिकां गृहीत्वा पतद्ग्रहे प्रक्षिप्तवती । सा चा-विरतिकया दृष्टा । ततो भणितम्-एनां पिष्टपिष्टिकामत्रैव स्थापय, ततस्तया कुल्लिकया कुशलत्वेनान्यस्याः सघटिकाया अन्तरे प्रक्षिप्ता । एव सूत्राष्टिकामपि दृक्त्वेनापहरेत् ।

अथ सचित्तविषय विधिमाह-

नीएहिं अविट्ठिं, अप्पत्तवयं पुमं ए दिक्खिती ।

अपरिग्गहो उ कप्पति, विज्झो जो ससदोसेहिं ॥

निजकैर्मातृपितृप्रभृतिभिः स्वजनैरवितीर्णमथ तमप्राप्तवयस-मव्यक्तं पुमांसं न दीक्षयति । यदि पुनरपरिगृहीतोऽव्यक्तं स शे-षदोषैर्बालजन्मव्याधितादिनिर्विमुक्तस्तर्हि प्रव्रजयितुं कल्प्यते ।

अपरिग्गहा उ नारी, ए जवति तो सा ए कप्पति अदिप्पा ।

सा वि य हु काचि कप्पति, जह पउमा खुड्डमाता य ॥

नारी स्त्री सा प्रायेणापरिग्रहा नं जवति, पितृपतिप्रभृतीनाम-न्यतरेण परिगृहीता जवतीति भावः । ततो नामावदत्ता सती कल्पते प्रव्रजयितुम् । साऽपि च काचिददत्ताऽपि कल्पते । यथा पद्मावती देवी-करकण्डुमाता प्रव्रजिता . यथा वा ध्रुवकु-मारमाता योगसप्रहानिहिता यशोभञ्जा नाम्नी प्रव्रजिता ।

अथ द्वितीयपदमाह-

विइयपयं आहारे, अच्चाणे हंसमादिणे उवही ।

उवज्जिज्जण पुण्वि, होहिंति जुगप्पहाण ति ॥

द्वितीयपदमाहारादिषु त्रिष्वप्यभिधीयते । तत्राहारेऽन्धानं प्रवेष्टुकामास्ततो वा उत्तीर्णा उपलक्षणत्वादशिवादी वस्ते-माना असस्तरणे अदत्तमपि प्रकृपान गृहीयुः । आगा-दे कारणे उपधिमपि हसादेः सम्बन्धना प्रयोगेणात्पादयेत् । सचित्तविषयेऽपि भविष्यन्त्यमी युगप्रधाना इत्यादिक दृढा-लम्बनं पूर्वं प्रथममेवोपयुज्य परिभाव्य गृहस्थकुल्लकान् अन्य-तीर्थककुल्लकान् वा हरेत् ।

इदमेव भावयति-

असिचं ओम विहं वा, पविमिउकामो ततो व जतिष्सा ।

नियलिं गिअप्पतिथिग, जायइ अदिसे तु गेएहंति ॥

अशिवगृहीते विषये स्वयं वा साधवोऽशिवगृहीता भक्तपा-नलाभाभावाच्च सस्तरेयुः । अवमं दुर्भिक्षं तत्र वा भक्तपानं न लभेरन् । विहमध्वानं वा प्रवेष्टुकामास्ततो वा उत्तीर्णा न स-स्तरेयुः । ततः स्वलिङ्गिनो या स्थलिका-देवद्रोणिः, तस्यां याच-न्ते यदि ते न प्रयच्छन्ति तदा बलादपि गृहहन्ति । अथ बल-

वन्तस्ते, दारुणप्रकृतयो वा, ततोऽन्यतीर्थिकानामपि स्थलीषु याच्यते, यदि न प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेव प्रकट, प्रच्छन्न वा गृह्णीयुः । एव गृहस्थेष्वपि याचितमलभमाना स्वयमपि गृह्णन्ति । असस्तरणे उपधिरप्येवमेव स्तैन्यप्रयोगेण प्रहीतव्यः ।

नाऊण य वोच्चेद, पुंवगए काशियाणुओगे य ।

गिहि अस्सतिथियं वा, हरेज्ज एतेहिं हेतूहिं ॥

पूर्वगते कालिकानुयोगे वा व्यघच्छेदं ज्ञात्वा यो गृहस्थक्षुल्लकोऽन्यतीर्थिकक्षुल्लको वा ग्रहणधारणमेधावी, स याचितो यदा न लभ्यते तदा स्वयमपि गृह्णीयात् । एतैरेवमादिभिर्हेतुभिः कारणैर्गृहस्थमन्यतीर्थिक वा हरेत् । यतमन्यधार्मिक-स्तैन्यम् ।

अथ 'हत्यादाल दलमाणे' इत्यादिपदत्रय विचरीषुराह-

हत्याताले हत्था-लंवेऽत्यादाणे य बोधवो उ ।

एतेसिं णाणत्त, वोच्चापी आणुपुव्वीए ॥

हस्तातालो हस्तालम्बोऽर्थादान चेति त्रिधा पाठोऽत्र बोद्धव्यः । एतेषां त्रयाणामपि नानात्वं वक्ष्यामि यथानुपूर्व्याहम् ।

तत्र हस्ताताल तावद्विचरोति-

उक्खिम्मि य गुरुगो, ढंमो पडियम्मि होड जयणा उ ।

एव खु होइयाण, लोउत्तरियाण वोच्छामि ॥

इह हस्तेन, उपलक्षणत्वात् खड्गादिभिश्च यदा ताडन, स हस्तातालः । स च द्विधा-लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिके हस्ताताले पुरुषवधाय खड्गादावुत्कार्णे गुरुको रूपकाणाम-शीतिसहस्रलक्षणो दण्डो भवति । पतिते तु प्रहारे यदि कथमपि न मृतस्तदा भजना देशे देशे अपरापरदण्डलक्षणा भवति । अथ मृतस्तदेवाशीतिसहस्र दण्डः । एव खुरवधारणे, लौकिकानां दण्डो भवति । लांकोत्तरिकानां तु दण्डमतः पर वक्ष्यामि ।

हत्थेण व पादेण व, अणवद्वयो उ होति उग्गिस्सो ।

पमियम्मि होति जयणा, उदवणे होनि चरिमपदं ॥

हस्तेन वा पादेन वा उपलक्षणत्वाद् यष्टिमुष्ट्यादिभिर्वा य साधु स्वपक्षस्य परपक्षस्य च प्रहारमुक्तिरिति सोऽनवस्थाप्य भवति, पतिते तु प्रहारे भजना, यदि न मृतस्ततोऽनवस्थाप्य एव । अथापद्रावणे मृतस्तदा चरमपद पाराञ्चिकं भवति ।

अत्रेद द्वितीयपदम्-

आयरिय विणयगाहण, कारणजाते व बोधिकादीसु ।

करणं वा पडिमाए, तत्थ तु भेदोपममण वा ॥

आचार्य क्षुल्लकस्य विनयग्राहणं कुर्वन् हस्तातालमपि दद्यात् । कारणजाते वा गुरुगुरुप्रभृतीनामात्यन्तिके विनाशे प्राप्ते, बोधिकस्तेनादिवपि हस्तातालं प्रयुञ्जीत । पश्चाद्धेन हस्तालम्बमाह-(करणं वा इत्यादि) अशिवपुरावरोधादौ तदग्रशमनार्थं प्रतिमां पुत्तलिकां करोति, तत्र अमिचारिकमन्त्रं परिजपन् तत्रैव प्रतिमायां भेदं करोति, ततस्तस्योपद्रवस्य प्रशमनं भवति । एषा निर्युक्तिगाथा ।

अत एनां विवृणोति-

विणयस्स उ गाहणया, कष्णामोहणखड्गवचेमाहिं ।

सावेक्ख हत्थताल, दद्वाति मम्माणि फेमतो ॥

इह विनयशब्दं शिक्षायामपि वर्तते । यत उक्तम्-विनय

शिक्षाप्रणेत्योरिति । ततोऽयमर्थः-विनयस्य ग्रहणशिक्षायां आसेचनाशिक्षायां वा कर्णामांसेकेन खड्गकाभिश्चपदाभिर्वा सापेक्षो जीवनापेक्षां कुर्वन्, अत एव मर्माणि स्फोटयन्-येषु प्रदेशेष्ववाहना सन्तो म्रियन्ते तानि परिहरन् आचार्यः क्षुल्लकस्य हस्तातालं ददाति । अत्र परं ग्राह-ननु परस्य परितापे क्रियमाणे अशातवेदनीयकर्मवन्धो जवति तत्कथमसाधनुज्ञायते ? । उच्यते-

कामं परपरितापो, असायहेतू जिणेहिं पप्पत्तो ।

आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्ज इस्सले खलु उ ॥

काममनुमतमस्माकं परपरितापो जिनैरज्ञातहेतुः प्रज्ञप्तः, परं परपरितापो दुःशब्दे मारुचके शिक्षया दुर्ग्रहे दुर्विनीते शिष्ये खलु निश्चितमिष्यन् एव । कुन इत्याह-(आतपरहितकरोति) हेतौ प्रथमा, भावप्रधानश्च निर्देशः । ततोऽयमर्थः-आत्मनः परस्य च हितकरत्वात्, तत्रात्मनः शिष्यशिक्षा ग्राहयत कर्मनिर्जरा-ज्ञानः । परस्य तु सम्यग्गृहीतशिक्षस्य यथावच्छरणकरणानुपालनादयो भूयासो गुणाः । पुनः शब्दो विशेषणम् । स चैतद्विशिनष्टि-यो दुष्टाध्यवन्मायनया परपरितापं क्रियते स एवाशात-हेतुः प्रज्ञप्तः, यस्तु शुद्धाध्यवसायेन आत्मपरहितकरं क्रियते स नैवाशातहेतुरिति ।

अयुमेवार्थं दृष्टान्तेन उच्यते-

सिप्प णेउणियद्वा, घाते वि सहंति लोइया गुरुणो ।

ए य मधुरणिच्छया ते, ए होति एसेविहं उवमा ॥

शिष्यानि रथकारकर्मप्रभृतीनि, नैपुण्यानि च द्विपिगणिता-द्विकलाकौशलानि, तदर्थं लौकिका शिक्षका गुरोराचार्यस्य घातान् परिमृहन्ते, न च तथा ते, तत्रास्तीं दारुणा अपि मधुरानि-श्रया, ते सुन्दरा क्रियन्ते, नेनेवापरिणामा न जवन्ति, किन्तु शिष्यादिपरिज्ञाने वृत्तिव्यामजनप्रजनीयनादिना परिणामस्तेषां सुन्दरो जवतीति ज्ञातः । एवैवोपमा इह प्रस्तुतार्थं मन्यया, यथा तेषां ते घाता हितास्तथा प्रस्तुतस्यापि दुर्विनीतस्य शिष्यस्येति भावः ।

अत्राय बृहज्जाध्ये उक्तं सोपमेयोऽपरो दृष्टान्तः-

अइवा वि रोगियस्सा, ओसह विज्जेहिं दिज्जए पुट्ठि ।

पच्चा तावेतुमवी, वेहाहियछा पडिज्जहं से ॥

इय नवरोगिणस्म वि, अणुकूल ण तु सारणा पुट्ठि ।

पच्चा पमिकूलेण वि, परहोहियछा कायज्वा ॥

(ओसहति) विभक्तिलोपादौषधमिति मन्तव्यम् । अत एव साधुरेवविधो जवेत्-

संविग्गो मइविओ, अमुई अणुवत्तओ विसेसन्तु ।

उज्जुत्त अवहितंतो, इच्छियमत्थ दहइ साहू ॥

सविन्नो मोक्कामिवापी, मार्दविक स्वभावकोमल, अमोची गुरुणाममोचनशील, अनुवर्तकस्तेषामेव उन्दोऽनुवर्ती, विशेष-ज्ञो वस्त्ववस्तुविभागवेदी, उद्युक्त स्वाध्यायादौ, अपहृतान्तो धैर्यावृत्त्यादौ, एवविध साधुरीप्सितमर्थमिह परत्र च लभते ।

अथ कारखजाने ' बोहिगाइमुत्ति ' पदं व्याचष्टे-

बोहिकतेणजयादिसु, गणस्स गणिणो ष अच्चए पत्ते ।

इच्छति हत्थताल, कालातिचरं च सज्ज वा ॥

बोधिकस्तेनभये, आदिशब्दाद् भावपदादिभयेषु वा यदि

गणस्य गच्छस्य गणिनो वा आचार्यस्य अत्यय आत्यन्तिको विनाश प्राप्तः, तदा कालातिचारं वा कालातिक्रमेण, मद्यो वा तत्कालमेव, हस्तनाममिच्छन्ति, गीतार्था इति गम्यते ।

अथ हस्ताक्षरं व्याख्यानयति—

असिन्ने पुरोवरोधे, एमादी वडससेसु अजिन्नुता ।

संजायपवया खलु असेसु य एवमादीसु ॥

मरणभयेणऽभिन्नुते, ते षातं देवत बुवासंते ।

पमिमं काठं मज्जे, विंधति मने परिजवंतो ॥

अशिवेन लोको भूयान् ध्रियते, परवलेन वा पुरसमन्तादुपरुद्धः, तत्र वहि कटकयौधेराज्यन्तराणां कटकमर्दः क्रियते, अन्नक्याद्या कृधा ध्रियते, आदिशब्दाद् गलगणकादिभिर्वा रोगादित प्रभूतो जंबो मरणमश्नुते । एवमादिभिर्वैशसैर्दुःखैरभिन्नुतास्ते पौरजना सजातप्रत्यया योऽत्र पुरे आचार्यो बहुभुतो गुणवांस्तपस्वी स शक्तो वैशसमिद्ध निरोद्धु नान्य कश्चिदिति । (समिति) सम्यग् जातः प्रत्ययो येषां ते तथा, न केवलमत्रैव किन्तु अन्येष्वप्येवमादिषु सजातप्रत्ययास्ते ससृज्य तमाचार्यमुपासते-शरणमुपगता प्राञ्जलिपुट-पादपतितास्तिष्ठन्ति । ततः स एवाचार्यस्तान् पौरजनान् मरणजयेनाभिन्नुतान् देवतामिवात्मानं पर्युपासीतान् ज्ञात्वा तदनुकम्पापरीतचित्त-प्रतिमां कृत्वा तत् आभचारिकमन्त्रान् परिजपन् तां प्रतिमां मध्यजगे विधायति, ततो नष्टा सा कुबदेवता, प्रशमितः सर्वोऽयुपट्वः । एवंविधहस्ताक्षरं व्याख्यायित्वा, अष्टाश्रितिष्ठति तदा तत्कालमेव नोपस्थाप्यते किन्तु कियन्तमपि काष्ठ गच्छ एव वस्तु व्यमर्दनं कार्यते ।

अथार्थदानमाह—

अणुकंपणा निमित्तं, जायण पमिसेहणा सउणि मे वा ।

वाणिय पुच्छा य तहा, सारण उब्जावणविणसे ॥

कस्याप्याचार्यस्य भागिनेयो व्रत परित्यज्य मुत्कटापयति । तत्र आचार्यस्य अनुकम्पा-कथमय द्रव्यमन्तरेण गृहवाससम्भ्यासिष्यते इत्येवैवज्ञाया यज्ञः । स च निमित्तेऽतीवकुशल इति तेनैवावाजैतयोर्द्वयोर्वणिजोरन्तिके भागिनेय रूपकयाचनाय प्रेषितवान्, स च तत्रैकेन वणिजा-किं मम शकुनिका रूपकान् हृदते, एवमुक्त्वा निषिद्धः, द्वितीयेन तु रूपकनवलकानां दर्शना कृता । द्वितीये च वषं छाभ्यामपि वणिगज्यां पृच्छा कृता, तत आचार्येण सास्त्रा क्रयाणकग्रहणविषया शिक्षा दत्ता, ततो येन रूपका न दत्तास्तस्य सर्वस्वविनाश समजनि, येन तु दत्तास्तस्योद्भावन महार्थिकनासंपादन कृतवान् । एष निष्ठु-क्तिगायाऽहंरार्थः । वृ० ४ उ० ।

भाचार्यस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेदम्—

“वणिजानुजयिन्यां द्वौ, प्रायः पृष्ठा गुरु स्रग्वा ।

पणायमानौ पणौधे, परमासृद्धिमीयतु ॥ १ ॥

औज्ज्वल्यं गुरुणां जामेयो, जोगार्थो व्रनमन्यदा ।

ततस्तै रूपयोचे स, विनाऽर्थं किं करिष्यसि ? ॥ २ ॥

तथाहि वणिजा नौ त्व, भणाऽर्थं मे प्रयच्छन्तम् ।

गुरादेशात्तत् सोऽपि, गत्वा नौ भणति स्म तत् ॥ ३ ॥

अथैकः स्माह ज्ञोः । कस्मा-दस्माक द्रव्यसचयः ।

शकुनी रूपकान् भञ्ज, कुत्रापि हृदतेऽत्र किम् ? ॥ ४ ॥

अदो कयद् द्वितीयस्तु, तस्याग्रे ज्ञानेण बहु ।

ऊचे देव ! गृहाण त्व, यथेच्छं सोऽपि चाग्रहीत ॥ ५ ॥

द्वितीयेऽन्दे स तैर्द्रव्य-प्रद पृच्छन्नजणयत ।

क्रीणीहि तृणकाष्ठानि, स्थापयेश्च पुराद् बहिः ॥ ६ ॥

द्वितीयकस्तु तैरुक्तः क्रीत्वा स्नेहं गुड कणान् ।

वस्त्रकार्पासकाष्ठादीन्, पुरमध्ये निधेहि भो ! ॥ ७ ॥

वर्षारम्भे समस्नेषु, च्छादितेष्वथ वेश्मसु ।

दग्ध सर्वं पुर जज्ञे, तृणकाष्ठमहर्घता ॥ ८ ॥

प्राज्य तदाऽर्जयद्विचं, गुरुजामेयविसदः ।

दग्ध सर्वं द्वितीयस्य, सोऽथार्ज्येत्यावद्द गुरुम् ॥ ९ ॥

किं न ज्ञातमिदं पूज्या, गाढं प्लुष्टोऽहमेषम् ।

निमित्त्यूचे निमित्तं न शकुनी हृदतेऽत्र किम् ? ॥ १० ॥

तथाऽन्यथाऽपि वा किंचित्, स्यात्कथंचन मे घनम् ।

ततो रूपं गुरु ज्ञात्वाऽत्यर्थं कमयति स्म सः ॥ ११ ॥ जीतः ।

उज्जेणीओससं, दो वाणिया पुच्छिं ववहरंति ।

जोगाजिलासु तव्वक्, मुंचंति ए रुवण सउणी ॥ १ ॥

एगो व एउलढायण, वितिणं जत्तिणं तर्हि एको ।

असम्मि हायणम्मि य, गेएहामो किंति पुच्छंति ॥ २ ॥

तणकट्टेनेहधसे, गिएहह कप्पासदूसगुद्धमादी ।

अंतो बहिं च उवणा, हग्गी सउणी ण य निमित्तम् ॥ ३ ॥

इति तिस्रोऽपि व्याख्यातार्यः, नवर, मित्रकेण वणिजा भागिनेय उच्यते-[जत्तिणं तर्हि एको ति] यावन्तो युष्मज्य रोचन्ते तावतो नवलकान् गृहीत, एव द्वितीयेन वणिजा भणितम् ; तत्र तेषां मध्ये एको नवलको गृहीतः । अन्यस्मिन् हायने वषं इत्यर्थः । दूष्य वस्त्रमुच्यते, (सउणी न य निमित्तं ति) न च नैव मम शकुनिका निमित्तं हृदते ।

एयारिमो य पुरिसो, अणवद्वप्पो उ सो सुदेसम्मि ।

नेतूण अण्णदेसं, चिट्ठ उवणावणा तस्म ॥

एनादशोऽर्थो वानकारी यः पुरुषोऽभ्युत्तिष्ठत स स्वदेशेऽनन-स्थाप्यो न महाव्रतेषु स्थाप्यत, किं तु तमन्यदेश नीत्वा तस्य च तत्र तिष्ठत उपस्थापना कर्तव्या ।

कुत इति चेदुच्यते—

पुव्वज्जासा जासे-ज्ज किंवि गोरवसिणेहजयतो वा ।

न सहइ परीसहं पि य, पाणं कुरुव्व कच्छुद्धो ॥

त नैमित्तिक लोकः पूर्वज्जासाभिहितं पृच्छेत्, सोऽपि ऋक्-गौरवतः स्नेहाद्वा नयाद् वा किंचित्प्राज्ञादिकं तत्र स्थितो जायते । अपि च स ज्ञानविषय परीपह तत्र न सहते, सोऽहं न शक्नोतीत्यर्थः । यथा कच्छू पाया तद्वान् पुरुषः, कणू खार्जितं विनाशितुं न शक्नोति, एवमेवोऽपि तत्र निमित्तकथनमन्तरेण न स्थानुं शक्त इति भावः ।

अथ पूर्वोक्तमप्यर्थं विशेषज्ञापनार्थं भूयोऽप्याह—

तइयस्स दोम्मि मोत्तुं, दव्वे जावे य सेस जयणा उ ।

पमिसिद्धलिंगकरणं, करणा अमस्य तत्थेव ॥

इह ‘साधम्मियतेस्सिय करमाणे’ इत्यादिसूत्रक्रमप्रामाण्येन ह-त्यातावतस्तृतीय उच्यते । स च त्रिधा हस्तातालो हस्ताक्षरा-ऽर्थादान चेति । तत्राद्ये द्वे पदे मुक्त्वा यच्छेयमर्थादानाख्य तृतीय पदं तत्र उच्यते भावतश्च लिङ्गप्रदाने भजना भवति । कथमि-त्याह-(पमिसिद्ध इत्यादि) उत्तरत्र कारणे इत्यभिधायमानत्वा-दिह निष्कारणमिति मस्यते । ततो निष्कारणे प्रतिविचमर्थादा-

नकारिणो लिङ्गकरणं द्रव्यलिङ्गस्य भावलिङ्गस्य वा तत्र क्षेत्रे प्रदानम्, कारणं तु भक्तप्रत्याख्यानप्रतिपत्तिरूपेण अन्यत्र वा तत्र वा अनुकूलतमेव । एषा पुरातनी गाथा ॥

अत एनां विवरीषुराह—

हृत्पातालो जगिओ, तस्स उ दो आइमे पदे मोत्तुं ।

अत्यायाणे लिंगं न दिति तत्थेव विसयाम्मि ॥

हृत्पातालमूत्रक्रमप्रामाण्यात् तृतीयम्, अर्थात् तस्य द्वे आदिमे हस्तातालहस्तालिम्बवत्करणे पदे मुक्त्वा यदर्थोदानार्थं पदं तत्र वर्तमानस्य तत्रैव विषये देशे लिङ्गं न ददति । स च अर्थादानकारी गृही लिङ्गी वा । तत्र—

गिहिलिंगस्स उ दोष वि, आसन्ने न दिति जावलिङ्गं तु ।

दिज्जाति दोवि लिंगा, ओवत्ति य उत्तमद्वस्स ॥

यो गृहीलिङ्गी प्रवृत्त्यर्थमन्युत्तिष्ठति तस्य द्वे अपि-द्रव्यजाव-लिङ्गे तस्मिन्देशे न दीयते । यः पुनरवसन्नस्तस्य द्रव्यलिङ्गं विद्यत एव, परं भावलिङ्गं तत्र तस्यैव ददति । यदा पुनरस्तावुत्तमार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थमुपतिष्ठते तदा तस्मिन्नपि देशे द्वयोरपि गृहस्थावसन्नयोर्द्वे अपि लिङ्गे दीयते ।

अथवेदं करणम्—

ओमासिवमाईहि व, सप्पिस्सति तेण तस्म तत्थेव ।

न य असहाओ मुच्च, पुटो य भणिज्ज वीसरियं ॥

अथमाशिवराजद्विष्टादिषु वा समुपस्थितेषु गच्छस्य प्रतिस-र्विष्यति उपग्रहं करिष्यति, तेन कारणेन तत्रैव क्षेत्रे तस्य लिङ्गं प्रयच्छन्ति । तत्र चेयं यतना- [नय असहाओ इत्यादि] स तत्रा-रोपितमहाव्रतः सन्नसहाय एकाकी न मुच्यते, लोकेन च नि-मित्तं पृथो जगति-विस्मृतं मम सांप्रत तन्निमित्तमिति ।

अथ साधर्मिकादिस्तैन्येषु प्रायश्चित्तमुपदर्शयति—

साहम्मियअसुधम्मिय-तेणेषु उ तत्थ होति (६)मा जयणा ।

चउल्लुगा चउ गुरुगा, अणवद्वप्पो य आपसा ॥

साधर्मिकस्तैन्यान्यधार्मिकस्तैन्ययोस्तावदियं जज्जना प्रायश्चित्त-रचना भवति-आहारं स्तेनयतश्चतुर्लघु, सच्चित्तं स्तेनयतश्चतुर्गुरुव, आदेशेन वा अनवस्थाप्यम् ।

अहवा अणुवज्जाओ, एएसु पएसु पावती तिविहं ।

तेसुं चेव पएसुं, गणिसस आयरियाण एवमं तु ॥

अथवा अनुपाध्यायो य उपाध्यायो न भवति किं तु सामान्य-भिच्छुः स एतेषु आहारोपधिसच्चित्तरूपेषु यथाक्रमं त्रिविधं ल-घुमानं चतुर्थं चतुर्गुरुवत्त्वमात्रं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति । तेष्वेव चाहारादिषु पदेषु गणितं उपध्यायस्याचार्यस्य च नवममनव-स्थाप्यं भवति । अत्र परं प्राह-ननु सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्यं एव भणितं न पुनर्लघुमासादिकं त्रिविधं प्रायश्चित्तं, तत्कथ-मिदमर्थेनाभिधीयते ? । उच्यते-आर्हतामेकान्तवाद् कापि न प्रवर्तते । तथाहि—

तुल्लम्मि वि अवराहे, तुल्लमतुल्लं व दिज्जए दोएहं ।

पारांचिके पि नवमं, गणिसस गुरुगो उ तं चेव ॥

तुल्यं सदृशोऽपराधो द्वाज्यामपि आचार्योपाध्यायाज्यां से-चितं, तत्र द्वयोरपि तुल्यमतुल्यं वा प्रायश्चित्तं दीयते, तत्र तुल्य-दानं प्रतीतमेव । अतुल्यदानं पुनरिदम्-पाराञ्चिके पाराञ्चिकाप-त्तियोगेऽप्यपराधपदे सेविते गणितं उपाध्यायस्य नवममनव-

स्थाप्यमेव दीयते, न पाराञ्चिकम्, गुरोराचार्यस्य पुनस्तदेव पा-राञ्चिकं दीयते, ततो यद्यपि सूत्रे सामान्यनानवस्थाप्यमुक्तं त-थापि तत् पुरुषविशेषापेक्षं प्रतिपत्तव्यम्, यद्वा-अभीष्टसंवा-निष्पन्नम् । तथा चाह—

अहवा अजिक्खसेवी, अणुवरयं पावई गणी नवमं ।

पावंति मूलमेव उ, अजिक्खपमिसेविणो सेसा ॥

अथवा साधर्मिकस्तैन्यादेरभीष्टणसेवी पुनः २ प्रनिसेवां यः करोति स तत् स्थानादनुपरमम् अनिवर्तमानो गणी उपाध्या-यो नवमं प्राप्नोति । शेषास्तु ये उपाध्यायत्वमाचार्यत्वं वा न प्राप्तास्ते अभीष्टप्रतिसेविनोऽपि मूलमेव प्राप्नुवन्ति, नानव-स्थाप्यम् ।

अत्थादाणो ततिओ, अणवद्वो खेत्तओ समक्खाओ ।

गच्छे चेव वसतो, निज्जुह्जंति सेसाओ ॥

अष्टाङ्गनिमित्तप्रयोगेणार्थं द्रव्यमादत्ते इति अर्थादानाख्यो य-स्तुतीयाऽनवस्थाप्यः, स क्षेत्रतः समाख्यातः, तत्र क्षेत्रे नोपस्था-प्यत इत्यर्थः । शेषास्तु हस्तातालकारिप्रभृतयो गच्छ एव वसन्तो निर्वृहन्ते आलोचनादिभिः पदैर्बहिःक्रियन्ते इत्यर्थः । ४०४३० ।

उक्कोसं बहुसो वा, पउट्टचित्तो व तेणियं कुणए ।

पहरइ जो य सपक्खे, निरवेक्खो धोरपरिणामो ॥

अजिसेओ सव्वेसु वि, बहुसो पारंविआऽवराहेसु ।

अणवद्वप्पावत्तिषु, पसज्जमाणो अणोमासु ॥

उत्कृष्टं वस्तुविषयं बहुशो वा पौन पुन्येन प्रदुष्टचित्तो वा संक्लि-ष्टमना क्रोधद्वोभादिकलुषितमनसो यत् स्तैन्यं साधर्मिकस्तैन्य-मन्यधार्मिकस्तैन्यं वा करोति । जीत० । एवविधार्थोपादानकारी आचार्य स्वस्य महाव्रतान्यारोपयितुमभ्यर्थयमानो तद्दोषकरण-निवृत्तौऽपि तत्र क्षेत्रे न महाव्रतेषु स्थाप्यते, तथा हस्तालिम्ब इव हस्तालिम्बस्त ददान्, अशिवे पुरोधादौ तत्प्रशमनार्थमजिच्चा-रमन्नादीन्प्रयुज्जान इत्यर्थः । तथा हस्तेन ताम्रं हस्ततालस्त ददान् यष्टिमुष्टिग्रगुडादिजिरात्मन परस्य च भरणभयनिरपे-क्षं, स्वपक्षे, चशब्दात्परपक्षे च, धोरपरिणामो निर्दयो यः प्रहर-ति । एते त्रयोऽप्यनवस्थाप्याः क्रियन्ते । यदि चाऽऽचार्यादीन् कोऽपि हिनस्ति ततस्तन्मारणेनापि तान् रक्तेत् । यद्वाह-“आय-रियस्स विणसे, गच्छे अहवा वि कुल्लगणे सधे । पच्चिदियं-रमण, काठ नित्थारण कुज्जा ॥ १ ॥ एव तु करितेण, अ-च्छुच्छित्ती कया उ नित्थम्मि । जइ विसरीराघाओ, तह वि य आराहओ सो व ॥ २ ॥ ” यस्तु समर्थोऽप्यामाहेऽपि प्रयोजने न प्रगल्भते स विराधकः । इहाजिवेक उपाध्यायः स येषु येन-पराधेषु पाराञ्चिकमापद्यते तेषु बहुशः पाराञ्चिकापराधेषु स-र्वेष्वपि बुद्धिनिमित्तमनवस्थाप्यं क्रियते । यथा भिक्षोरनव-स्थाप्यपाराञ्चिकेऽपि प्राप्तस्य मूलमेव चरमं प्रायश्चित्तं भवति, एवमुपाध्यायस्याप्यनवस्थाप्यमेव परमं, तथा अनवस्थाप्याप-त्तिषु उपचारादनवस्थाप्याख्यप्रायश्चित्तापत्तिकारिणीष्वति-चारप्रतिसेवाष्वनेकासु प्रसज्जनं प्रसक्तिं कुर्वाणाऽनवस्थाप्यः क्रियते ।

स चानवस्थाप्यः क्रियमाणः कस्मिन्क—

स्मिन्विषये क्रियते इत्याह—

कीरइ अणवद्वप्पो, सो लिंगस्वित्तकालओ तवतो ।

लिगेण दव्वजावो, जणिओ एव्वावणाऽगरिहो ॥

क्रियते तथाविधापराधकारित्वान्महाव्रतेषु द्विज्ञे वा नाऽवस्था-
प्य इत्यनवस्थाप्य । स चतुर्थी-द्विज्ञतः, क्षेत्रतः, काक्षतः,
तपोविशेषतश्चेति । द्विज्ञ द्विधा-ऊव्ये च जावे च । तत्र ऊव्यद्वि-
ज्ञ रजोहरणादि, भावलिङ्ग महाव्रतादि । अत्र चतुर्भङ्गी-ऊव्य-
द्विज्ञेन भावद्विज्ञेन चानवस्थाप्य इत्येको भङ्गः । उव्यद्विज्ञेनाव-
वस्थाप्या न भावद्विज्ञेनेति द्वितीयः । भावलिङ्गानवस्थाप्यो
न उव्यद्विज्ञेनेति तृतीयः । उवाच्यमप्यनवस्थाप्य इति चतुर्थः ।
इह ऊव्यद्विज्ञेन भावलिङ्गेन चाऽनवस्थाप्यः । प्रथमभङ्गस्थः
प्रजाजनाऽनहो भणितः ।

लिङ्गानवस्थाप्यादिचातुर्विध्यमेव वितन्वन्नाह-

अप्यनिविरतोसन्नो, न भावलिङ्गारिहोऽण्वद्वयो ।

जो जत्थ जेण दूमइ, पडिसिप्पो तत्थ सो खित्तो ॥

अप्रतिविरतः साधर्मिकान्यधार्मिकस्तैरन्यात्प्रदुष्टचित्तत्वेना-
निवृत्त स्वपक्वपरपक्वप्रहरणोद्यतश्च निरपेक्षानुपशान्तवैरो यः
स उव्यभावलिङ्गाज्यामनवस्थाप्योऽनवस्थाप्यप्रथमभङ्गवर्ती
क्रियते । इस्ताद्व्यवदायी अर्थादानकरो वाऽवसन्नादिकश्च तत्त-
द्दोषानिवृत्तां न भावलिङ्गार्हः । अयं भाव-स ऊव्यद्विङ्गी भव-
ति न भावद्विङ्गमर्हति, भावद्विङ्गमपेक्षानवस्थाप्यतृतीयभङ्गवर्ती
भवतीत्यर्थः । द्वितीयचतुर्थभङ्गौ पुनर्न सम्भवतः, क्षेत्रतोऽनवस्था-
प्यो यो यत्र क्षेत्रे येन कर्मणा दूष्यते स तद्दोषकरानिवृत्तोऽपि
क्षेत्रे प्रतिषिद्धो महाव्रतेषु स्थापने निराकृतो यथार्थादानकारी
तत्रैव क्षेत्रे न महाव्रतेषु स्थाप्यते, यतः पूर्वोक्त्यासात् त लोको
निमित्तं पृच्छेत्, स च त निमित्तज्ञानजमृच्छिगौरव सोऽदुमजमः
कदाचित् कथयेत्, ततोऽन्यत्र नीत्वोपस्थाप्य उक्तमार्थप्रतिप-
न्नस्य पुनस्तत्रापि स्वस्थानेऽपि स्थितस्य महाव्रतारोपः कार्य-
एव । उक्तौ लिङ्गक्षेत्राऽनवस्थाप्यौ । जीत० ।

जत्थियमित्तं कालं, तवसा उ जहन्नएण छम्मासा ।

संवच्छरमुक्कोसं, आसायइ जो जिणार्इणं ॥ ९१ ॥

यो यावन्त काल दोषाभोपरमते तावन्त कालमनवस्थाप्यः
क्रियते । तपसा त्वनवस्थाप्यो द्विधा-आशातनाऽनवस्थाप्यः,
प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च । तत्र जिनादीनां तीर्थकरसङ्गुता-
चार्यमहर्द्धिकगणधराणामाशातनां यः कुर्यात् । यथा-तीर्थकरैः
सर्वोपायकृशब्दैरपि गृहवासत्यागादिकाऽतिकर्कशा देशना कृता;
यदि च गृहवासी न श्रेयान् ततः किमिति स्वयं गृहवासे वस-
न्ति स्म, जोगांश्च शुकवन्त इत्येव कृतोऽधिकेपः । सङ्गं च दृष्ट्वा
ऽपह्नया वदेत्-हु २ दृष्ट्वा मयाऽऽर्येऽपि सङ्गाः शृगालभ्रानवृक-
चित्रकादीनामिति । श्रुतं चैवमधिकिपति यथा-“कायाववाय
निच्चिय पुणो वि तिच्चिय पमायपया । मुखस्स वेसणाय,
जोइसजोणं हि किं कज्ज ॥ १॥ ” आचार्यं च जात्यादिभिराधिकि-
पति । महर्द्धिकाश्च गणभृतो गौतमादयः, ये वा यस्मिन् युगे प्रधान-
मूनाः, तान् भृष्टिरसा गौरवप्रसक्ताः कथका इव बोकावर्ज-
नीयता इत्यादिवाक्यैराधिकिपति । स आशातनाकारित्वादाशा-
तनतपाऽनवस्थाप्यः । स जघन्येन पणमासान् उत्कर्षतः सवत्स-
रं यावत् तपः कुर्वन् कर्तव्यः, तावता च तपसा कृपिताऽऽशा-
तनानितकर्मत्वादूर्ध्वं महाव्रतं स्थाप्यते, प्रतिसेवनाऽनव-
स्थाप्यश्चोत्तरगाथाया वक्ष्यते ।

सा चेयम्—

वास वारसवासा, पमिसेवी कारणाउ सव्वो वि ।

योवं योवतरं वा, वहिज्ज मुच्चिज्ज वा सव्वं ॥ ९२ ॥

प्रतिसेवी प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यः साधर्मिकान्यधार्मिकस्तेना-
ज्यां इस्तातालादिभिश्च भवति, स च जघन्यतो वर्षम्, वत्कृष्टो
छादश वर्षाणि, तदनन्तरं व्रतेषु स्थाप्यते । स चानवस्थाप्यः
सहननादिगुणयुक्त एव क्रियते, अन्यस्य तु मूलमेव दीयते ।

अथ कीदृशगुणयुक्तस्यानवस्थाप्य दीयत इत्याह—

“सहणणविरियआगम-सुत्तत्थविहीइ जो समग्गो य ।

तवसी निग्गहजुत्तो, पवयणसारेय गहिइत्थो ॥ १ ॥

तिलतुसमतिभागमित्तं, वि जस्स असुमो न विज्जई भावो ।

निज्जुहणारिहो सो, सेसे निज्जुहणा नत्थि ॥ २ ॥

एयगुणसपवत्तो, पावइ अणवच्छमुत्तमगुणोहो ।

एइयगुणविप्पहुणे, तारिसगम्मी भवे मूढ ॥ ३ ॥ ”

[तपसी] तपश्चरणवान् [निग्गहजुत्तो] जिनेन्द्रिय [नि-
ज्जुहणारिहो] गच्छात् पृथक्करणार्हः अपवादतस्त्वनन्यसाध्यकु-
लगणसङ्घकार्यकारी, बहुजनसाध्यं च कार्यं शृङ्गवादितमुच्य-
ते, तत्साधकश्चायमित्यतः कारणात्सर्वोऽपि द्विप्रकारोऽपि आ-
शातनेनावस्थाप्यते । प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च गुरुमुखात् सङ्गा-
देशात् स्तोक स्तोकतरं वा, मासद्वय मासैकमात्रं वा अनवस्था-
प्यतपो वहेत् । सङ्घो वा सार्थोपपृष्टमादिकेनैवायमनवस्था-
प्यशोधयमतीचारमत्तं कालयिष्यतीति सर्वं मुञ्चेत्, अनवस्था-
प्यतपो न कारयेदित्यर्थः । जीत० । वृ० ।

यस्त्वनवस्थाप्यतपः प्रतिपद्यते तद्विधिमाह-

आमायणा जह्से, ठम्मासुक्कोस वारस उ मासा ।

वासं वारसमासे, पमिसेवओ कारणे भाणिओ ॥

इत्तिरिय निक्खेवं, काउ वन्न गणं गमित्ताणं ।

दव्वाऽ सुहे वियरुण, निरुवस्सग्गइ उवस्सग्गो ॥

अपपच्चय निब्भयया, आणाभंगो य जंतणा सगणे ।

परगणे न होति एए, आणा थिरया जयं चेव ॥

गाथापट्क, यथा पाराश्रिके व्याख्यात तथैवात्र मन्तव्यम्, नवर,
[दव्वाऽसुहे वियरुण ति] ऊव्यक्षेत्रकालजावेषु शृङ्गेषु प्रशस्तेषु,
उव्यतो वटवृक्षादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रे इक्षुक्षेत्रादौ, काक्षतः पूर्वाह्ने,
जावतः प्रशस्तेषु चन्द्रतारादिचक्षेपु, गुरुणा विकटनामाहोचना
ददाति । तत आचार्यो भणन्ति-“ एय साहुस्स अणवद्वप्यतव-
स्स निरुवसग्गानिमित्तं णमि काउसग्ग ति । अणत्थूससिए-
ण ” इत्यादि बोसिरामीति यावत् । ततश्चतुर्विंशतिसुत्रमुच्चार्यो-
च्चार्यो भणन्ति-एव तपः प्रतिपद्यते, ततो न भवद्भिः सार्धमाहा-
पादिक विधास्यति, स्वयमप्येतेन सार्धमाहापादिक परिहरन्व-
मिति । वृ० ४ वृ० ।

वंदइ नइ वंदिज्जइ, परिहारतवं सुदुच्चरं चरइ ।

संवासो से कप्पइ, नाहवणाईणि सेसाणि ॥ ९३ ॥

अनवस्थाप्यतपश्चरणकरणकालं यावत् स्वर्गण गीतार्थं नि-
क्षिप्याचार्य उपाध्यायो वा प्रशस्तेषु ऊव्यक्षेत्रकालजावेषु,
तत्र ऊव्यतो वटादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रे इक्षुक्षेत्रादौ, काक्षतः पूर्वाह्ने,
जावतः प्रशस्तेषु चन्द्रतारावलेषु, सध्यागतादि-
नक्षत्रवर्जमालोचना प्रयुक्ते स्वातिचार प्रकाशयति । आहो-
च ऽनन्तरं जघन्येन मासमुत्कर्षतः पणमासादिकमनवस्था-
प्यतपः प्रपद्यमाने आलोचनादायकं कायोत्सर्गं करोति । “ ए-
यस्स आयरियस्स अणवद्वप्यतवस्स निरुवसग्गानिमित्तं णमि

काउस्सग्ग अन्नत्थ उस्ससिएणं, इत्यादि' बोसिरामि' इति यावत् चतुर्विंशतिस्तवमनुचिन्त्य पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवमुच्चार्या-
ऽऽचार्यो वक्ति—“एस तव पमिवज्जइ, न किंचि आत्तवइ माइ आत्तवइ । अत्तट्टचित्तगस्स उ, वायाओ भे न कायव्वो ।” एष युष्मानालपिष्यति, युष्माभिरपि नालाप्यः, एष सूत्रार्थे शरीर-
वार्ता वा न प्रक्ष्यति, युष्माभिरपि न पृच्छ्यः । खेत्तमल्लकमा-
त्रादिक वा नास्य ग्राह्यमर्पणीय वा, उपकरण परस्पर न प्रति-
क्षेप्य, भक्तपान परस्पर न ग्राह्यम् । सघाटकोऽस्य न मेलनीयः ।
अनेन सहैकमणकृत्यां न भोक्तव्यम्, किमप्यनेन सार्धं न
कार्यं कार्यमिति । अधुना गाथाऽङ्गरार्थः—प्रतिपक्षाऽनवस्थाप्यत-
पः शैक्षादीनपि वन्दते, न चासौ वन्द्यते । परिहारतपश्च पारि-
हारिकसाधूना तप ग्रीष्मे चतुर्थपष्टाष्टमानि, शिशिरे षष्ठाष्टमद-
शमानि, वर्षास्वष्टमदशमद्वादशानि जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि, पार-
णके च निर्लेप, भक्तमित्येव रूप सुदुश्चर चरति । सवासः स-
हवासो गच्छेनास्य एकक्षेत्रे एकोपाश्रये एकस्मिन् पाश्वे शेष
साधुपरिभोग्यप्रदेशे कल्पते, नालपनादीनि शेषाणि, इत्येव
सक्षेपतोऽनवस्थाप्यविधिः । उक्तमनवस्थाप्यार्हम् । जीत० ।

एवविध तपः प्रतिपद्य यदसौ विदधाति तदुपदर्शयति—

सेहार्इ वंदंतो, पग्गहियमहातवो जिणो चेव ।

विहरइ वारसवासे, अणवट्टप्पो गणे चेव ॥

शैक्षादीनपि वन्दमानो जिनकल्पिक इव प्रग्रहीतमहातपा-
पारणके निर्लेप भक्तपान ग्रहीतव्यमित्याद्यनेकान्निग्रहयुक्त
चतुर्थपष्टादिक विपुल परिहारतपः कुर्वन्मिति भावः । एववि-
धोऽनवस्थाप्यो गण एव गच्छान्तर्गत एवोत्कर्षतो द्वादश
वर्षाणि विहरति ।

इवमेव ज्ञावयति—

अणवट्टं वहमाणो, वंदइ सो सेहमायिणो सव्वे ।

संवासो से कप्पइ, सेसा उ पया न कप्पंति ॥

परगणेऽनवस्थाप्यं वहमान' स उपाध्यायादि' शैक्षादीनपि
सर्वान् साधून् वन्दते, तस्य च गच्छेन सार्धमेककोपाश्रये एक-
स्मिन् पाश्वे शेषसाधुजनापरिभोग्ये प्रदेशे संवासं कर्तुं क-
ल्पते । शेषाणि तु पदानि न कल्पन्ते ।

कानि पुनस्तानीत्याह—

आत्तावणपमिपुच्छण-परियछुछाणवंदणम मत्ते ।

परिलेहणसंघाडग-भत्तशणसंभुजणा चेव ॥ १०२ ॥

आत्तावन स साधुभि' सह न कार्यते, सर्वेषामपि स करो-
ति, तस्य पुन साधवो न कुर्वन्ति, (मत्ते सि) खेत्तमात्रादिप्रत्य-
र्पण तस्य न क्रियते, सोऽपि तेषां न करोति । उपकरण परस्पर-
न प्रत्यपेक्षन्ते, सघाटकेन परस्परं न भवन्ति । भक्तदानम-
न्योन्यं न कुर्वन्ति । एकत्र मणकृत्यां न समुज्जते । यच्चान्यत् किं-
चित्करणीयम्, तत्तेन सार्धं न कुर्वन्ति । 'सघो न लभइ कज्ज'
इत्यादिगाथाः पाराञ्चिकवद्व्यव्या' । वृ० ४ उ० । (अनवस्थाप्य-
स्य गृहिभूतस्यागृहिभूतस्य चोपस्थापना 'उवचावणा' शब्दे
द्वि० भा० ८७० पृष्ठे वक्ष्यते) तपोऽनवस्थाप्यश्च चतुर्दशपूर्वधरे
श्रीभक्त्याहुस्वामिनि व्युच्छिन्नः । “अणवट्टप्पो तवसा, तव
पारच्चिय दोवि बुद्धिआ । चउदसपुव्वधरम्मि, धरति सेसाउ
जा तित्थ ” ॥ १ ॥ जीत० ।

अणवट्टप्या-अनवस्थाप्यता-स्त्री० । येन पुन प्रतिसेषितेन
उत्थापनाया अप्ययोग्य सन् कश्चित्काह न व्रतेषु स्थाप्यते

तदनवस्थाप्यताऽर्हत्त्वानदवस्थाप्यता प्रायश्चित्तम् । यथा-यथो-
क्त तपो यावन्न कृतं तावन्न व्रतेषु लिङ्गे वाऽवस्थाप्यत इत्यनव-
स्थाप्यस्तस्य भावोऽनवस्थाप्यता । नवमप्रायश्चित्ते, प्रव० ९८
द्वा० । आव० । पंचा० ।

अणवट्टप्पारिह-अनवस्थाप्यार्ह-न० । नवमप्रायश्चित्ते, स्था० । य-
स्मिन्नासेविते कञ्चन काह व्रतेष्वनवस्थाप्य कृत्वा पश्चाच्छीर्णतया
तद्दोषोपरतो व्रतेषु स्थाप्यते तदनवस्थाप्यार्हम् । स्था० १० उ० ।
अणवट्टप्पावति-अनवस्थाप्यार्वा-स्त्री० । (उपचारात्)
अनवस्थाप्यास्यप्रायश्चित्तापत्तिकारिणीषु प्रतिसेवासु, जीत० ।
अणवट्टाण-अनवस्थान-न० । न० त० । सामायिककालावधे-
रपूरणे यथा कथञ्चिद्वाऽनादृतस्य करणे, एष सामायिकस्य
पञ्चमोऽतिचारः । उपा० १ अ० । धर्म० ।

अणवट्टिय-अनवस्थित-त्रि० । अनियतप्रमाणे, “अणवट्टि-
चाण तत्थ खलु राइदिया पणत्ता ” च० प्र० पाहु० । अस्थिरे
कल्पाजुयोगाश्रवणानर्हभेदे, वृ० ।

तत्रानवस्थित तावदाह-

दुविहो लिंगविहारो, एकेको चेव होइ दुविहो उ ।

चउरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणाणो दोसा ॥

अनवस्थितो द्विविधः । तद्यथा-लिङ्गानवस्थितो विहारान-
वस्थितश्च । एकैकः पुनरपि द्विविधो भवति । तदुभयमपि
द्वैविध्यमनन्तरगाथाया वक्ष्यते । चत्वारश्च मासा अनुद्धाता
गुरुवः, उपलक्षणत्वात्तन्मासादिक वा अत्र यत् प्रायश्चित्तं
भवति, तत्तु यथास्थानमेव भावयिष्यते । तत्राऽपि लिङ्गानव-
स्थितविहारानवस्थितयोरप्याह्लादयो दोषा द्रष्टव्याः ।

अथैनामेव गाथा व्याख्यानयति-

गिहिलिंग अन्नद्विगं, जो उ करेइ स द्विगओ दुविहो ।

चरणे गणे अ आधिरो, विहार अणवट्टिओ एसो ॥

गृहिलिङ्ग गृहस्थानां वेषम्, अन्यलिङ्गमतीर्थिकानां नेपथ्यम् ।
य साधु, तुशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि? । दर्पेण यो लि-
ङ्गद्वयं करोति, स एष लिङ्गतो द्विविधोऽनवस्थितः । अस्य च
द्विविधस्यापि मूलं यथा चोलपट्टकं बध्नेत एकत उभयतो वा
स्कन्धोपरि कल्पाञ्जलानामारोपणरूपं गरुडपात्तिकं प्रावृण-
त उत्तरासङ्करूपमर्द्धासन्यासं कुर्वतः । प्रत्येकं चत्वारो गुरु-
मासाः, द्वावपि बाह्वौ द्वादशमासाः सयती प्रावरणमातन्वानस्य
चत्वारो लघवः, कल्पेन शिरस्थगनरूपां शीर्षद्वारिकां कुर्वतो
मासलघु, चतुष्कलं मुत्कलं वा कल्पं स्कन्धोपरि कृत्वा गो-
पुच्छवदधोलम्बमानं कुर्वतो मासलघु । एतेऽपि लिङ्गाऽनव-
स्थितेऽन्तर्भवन्ति । तथा चरणे चारित्रे अस्थिरो यः पुनः पुनः
आरित्रात्प्रतिपतति, तस्य यदि सूत्रं 'ददाति तदा चतुर्लघु,
अर्थे ददाति तदा चतुर्गुरु, गणे गच्छे अस्थिरः पुनर्गणाज्ज
सकामति । एष द्विविधोऽपि विहारानवस्थितः । एतद्विपरीतस्य
स्थलिङ्गावस्थितस्य सविश्रवविहारावस्थितस्य च दातव्यं यदि
न ददाति, तदा तथैव सूत्रे चतुर्लघु, अर्थे चतुर्गुरु । गतमनव-
स्थितद्वारम् । वृ० १ उ० । स्था० । (आचेलक्यादयः षडनव-
स्थितकल्पा 'कप्प' शब्दे वृ० ज्ञा० ११६ पृष्ठे वक्ष्यन्ते) “अ-
णवट्टियस्स करणया ” अनवस्थितस्याल्पकालीनस्यानिय-
तस्य सामायिकस्य करणमनवस्थितकरणमल्पकालकरणम् ।

न्तरमेव त्यजति, यथाकथञ्चिद् वा करोतीति भावः । उपा० १ अ० । पेचा० । आ० । आव० ।

अणवद्विद्यचित्त-अनवस्थितचित्त-त्रि० । एकत्र स्थापितान्तःकरणत्वरहिते, नि० चू० १ उ० ।

अणवद्वि (त) यसंठाण-अनवस्थितसंस्थान-न० । सततचारप्रवृत्त्या सम्यगवस्थाने, जी० ३ प्रति० ।

अणवणीयत्त-अनपनीतत्व-न० । कारककालवचनलिङ्गादिव्यत्ययरूपवचनदोषापेततारूपे पञ्चविंशे सत्यवचनानि शये, स० ३५ स्वप्न० । रा० । औ० ।

अणवतप्पया-अनवत्राप्यता-स्त्री० । अपतापयितुं लङ्घयितुमर्हः शक्यो वा अपत्रायो लङ्घनीयः, न तथाऽनवत्राप्यस्तदभावोऽनवत्राप्यता । हीनसर्वाङ्गत्वे, उक्त० १ अ० । अलज्जनीयाङ्गतायाम्, स्था० ८ टा० ।

अणवतारण-अनवतारण-न० । न० त० । अनुपस्थापने, ध० २ अधि० ।

अणवत्या-अनवस्था-स्त्री० । अव-स्था-अङ् । अवस्थितिः । न० त० । अवस्थाभावे, तर्कदोषविशेषे च । उपपाद्यस्य समर्थनाय उपपादकस्यानुसरणं तर्कः, यत्र तर्क उपपाद्योपपादकयोर्विश्रान्तिर्नास्ति तादृशतर्कस्थानवस्थादोषः । तत्र स तर्को न ग्राह्यः । वाच० । अनवस्था तु पुनः पुनः पदद्वयावर्तनरूपा प्रसिद्धैव, इह तु अनवस्थाचक्रयोर्नामकृत एव विशेषो लभ्यते न पुनरर्थकृतः । कश्चिद् यद्वदति-सामान्यविशेषवादे चक्रकमनवस्थानिवृत्तेरिति । अत्र हि चक्रके साध्ये अनवस्थानिवृत्तिलक्षणो हेतुरुपन्यस्तः । अतो ज्ञायतेऽनवस्थैव चक्रवत् पुनः पुनर्भ्रमणा च चक्रकमित्युच्यते इति । अने० १ अधि० । कचिदप्यवस्थानाऽप्राप्तौ, विशेषः । अनाश्वासे, दर्श० । किञ्चिदकार्यं कुर्वन्त दृष्ट्वाऽन्येषामपि तथाकरणे, व्य० ७ उ० । यथा किमयमेवविध करोति किमहमेतन्न करिष्यामीत्येवरूपा । (तत्स्वरूपं च 'पलव' शब्दे वक्ष्यते ।)

अणवदग्र-अनवताग्र-त्रि० । अवनतमासन्नमग्रमन्तो यस्य तत्तथा । तन्निषेधादनवनताग्रम्, तदेव वर्णनाशादनवताग्रमिति । आसन्नाग्रे अनवगतमपरिणिन्नमग्र परिमाणं यस्य तत्तथा । अपरिणिन्नान्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अनवदग्र-त्रि० न विद्यतेऽवदग्र पर्यन्तो यस्य सोऽयमनवदग्र इति । अपर्यन्ते अनन्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सम० ज्ञा० । न० । प्रश्न० । अपर्यवसाने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । अपरिमिते, नि० चू० २ उ० । सूत्र० । प्रश्न० ।

अणवयक्खित्ता-अनवेद्वय-अव्य० । पश्चाद् जागमनवलोकयेत्यर्थः, "जेण नो पभू मग्गो रुवाइ अणवयक्खित्ताणं पासित्ताप" भ० ७ श० ७ उ० ।

अणवयग्गं-देशी-अवयग्ग इति देशीवचनोऽन्तवाचकः, ततस्तन्निषेधादणवयग्गः । अनन्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अणवयमाण-अनपवदत्-त्रि० । अपवदन् अन्यथैव व्यवस्थितं वस्त्वन्यथावदन्नपवदन् । न अपवदन् अनपवदत् । प्राकृतत्वादापत्त्वाद् वा पकारदोषः । मृपावादमकुर्वन्ति, व्य० ३ उ० ।

अणवरय-अनवरत्-त्रि० । अव-रम्-जावे क । अवरत विरामस्तन्नास्ति यस्य । ध० । निरन्तरे, विश्रामशून्ये च । वाच० ।

निरन्तरे, कटप० । सतते, भ० ६ श० ३३ उ० । पचा० । आचा० । जं० । सकलकाले, आ० म० छि० ।

अणववाइत्त-अनपवादित्व-न० । सर्वेषु जघन्योत्तममध्यमजघनेषु जन्तुषु अपवादमश्लाघां करोतीत्येव शीलोऽपवादी, नापवादी अनपवादीति । न० त० । तस्य भावस्तत्त्वम् । अपवादभाषणे, परापवादे हि बहुदोषः । यदाह वाचकचक्रवर्ती-"परपरिजवपरिवादा-दात्मोत्कर्षाच्च वक्ष्यते कर्म । नीचैर्गोत्र प्रतिजवमनेकजवकोटिदुर्मोचम्" ॥१॥ इति । तदेव सकलजनगोचरोऽप्यवर्णवादो न श्रेयान्, किं पुनर्नृपामात्यपुरोहितादिषु बहुजनमान्येषु । नृपाद्यवर्णवादात् प्राणनाशादिदोषादिति । ध० १ अधि० ।

अणवाय-अनपाय-त्रि० । अपायरहिते निर्दोषे, "आगमवचनपरिणति-भैवरोगसदौषध यदनपायम्" षो० ५ विव० ।

अणविक्रिया-अनपेक्षता-स्त्री० । शिक्कारहितत्वे, ग० १ अधि० ।

अणवेकस्वमाण-अनपेक्षमाण-त्रि० । शरीरनिरपेक्षे, "धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चिन्हा ए सोय अणवेकस्वमाणे" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अणवे (वि) क्खा-अनपेक्षा-स्त्री० । स्वपरविशेषाकरणे, व्य० ३ उ० ।

अणसण-अनशन-न० । अश्नयते भुज्यते इत्यनशनम् । अशेषाहारप्रत्याख्याने, उक्त० । एकस्मादुपवासादारभ्य षणमासिकपर्यन्ते, उक्त० ३० अ० । पा० । आहारत्यागरूपे बाह्यतपोभेदे, स्था० ६ टा० । ग० ।

से किं तं अणसणे ? अणसणे दुविहे पणत्ते । तं जहा-इत्तरिणं य, आवकाहिणं य । से किं तं इत्तरिणं ? इत्तरिणं अणोवविहे पणत्ते । तं जहा-चउत्थे भत्ते, ठट्ठे भत्ते, अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दुवाअसमे जत्ते, चउदममे भत्ते, अट्ठमासिणं भत्ते, मासिणं भत्ते, दोमासिणं जत्ते, तिमासिणं जत्ते, जाव ठम्मासिणं जत्ते, सेत्तं इत्तरिणं । से किं तं आवकाहिणं ? आवकाहिणं दुविहे पणत्ते । तं जहा-पाओवगमेण य, जत्तपच्चक्खणेण य । ज० २५ श० ७ उ० ।

अनशनं द्विधा-इत्तरं, यावत्कथिकं च । तत्रेत्तरं चतुर्थादि षणमासान्तमिदं तीर्थमाश्रित्येति, यावत् कथिकं त्वाजन्मजात्रिन्विधा-पादपोषणमन्नेद्वि तमरणभक्तपरिज्ञाभेदात् । एतच्च प्रायो व्याख्यातमिति । स्था० ६ टा० । तत्रेत्तरं परिमितकालम् । तत्पुनः श्रीमहावीरतीर्थे नमस्कारसहितादिषणमासान्तं, श्रीनाभेयतीर्थं, र्थङ्करतीर्थं सवत्सरपर्यन्तं, मध्यमतीर्थं करतीर्थं अष्टौ मासान्, यावत्कथिकं पुनराजन्ममात्रं । तत्पुनश्चेष्टाभेदोपधिविशेषतस्त्रिधा । यथा-पादपोषणमनम्, इक्षितमरणम्, भक्तपरिज्ञा चेति । प्रव० ६ द्वा० ।

इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा जवे ।

इत्तरिया सावकंखा, निरवकंखउ वेइजिया ॥ ए ॥

(इत्तरियं चित्) इत्तरमेव इत्तरकं स्वल्पकालं नियतकालावधिकमित्यर्थः, मरणावसानं काष्ठो यस्य तन्मरणकालम् । प्राग्बन्धमपदलोपी समासः । यावज्जीवमित्यर्थः । यद्वा मरणका-

होऽवसरो यस्य तन्मरणकालम् । चः समुच्चये । अश्यते लुज्यत इत्यशनम्, अशेषादाराभिधानमेतत् । उक्तं हि—“सर्वो वि य आहारो, असण सन्नो वि बुद्धय पाण । सन्नो वि खादम चिय, सर्वो वि य सादम होइ” ॥१॥ ततश्चाविद्यमान देशतः सर्वतो वाऽशन-मस्मिन्नित्यनशन, द्विविधं द्वि-प्रकारं भवेत्, तत्र [इत्तरिय चि] इत्तरक सहावकाङ्क्षया घटिकाद्वयाद्युत्तरकात् प्रोक्षणाभिलाष-रूपया वर्तते इति सावकाङ्क्षम्, निष्क्रान्तमाकाङ्क्षातो निराकाङ्क्ष-म्, तज्जन्मनि प्रोक्षणाशसाभावात्, तु शब्दस्य भिन्नकमत्वात् । द्वितीय पुनर्मरणकालम् । पागान्तरतश्च निरवकाङ्क्ष द्वितीयम् ।

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण ढव्विहो ।

सेदितवो पयस्तवो, घणो य तह होइ वगो य ॥ १० ॥

तत्तो य वगवगो, पंचम ढड्डओ पड्डतवो ।

मणइच्छियचित्तथो, नायवो होइ इत्तरियो ॥ ११ ॥

यथोद्देश निर्देश इति न्यायतः इत्तरकानशनस्य प्रेक्षानाह—यत्तदित्तरकं तपः इत्तरकानशनरूपमनन्तरमुक्तं तत्समासेन सङ्केपेण पङ्क्तिं विस्तरेण तु बहुतरभेदमिति भावः । पङ्क्ति-त्वमेवाह—(सेदितवो इत्यादि) अत्र च श्रेणिः पङ्क्तिस्तदुपल-क्षितं तपः श्रेणितपस्तत्तुर्थ्यादिक्रमेण क्रियमाणमिह परमासा-न्तं परिगृह्यते, तथा श्रेणिरैव श्रेण्या गुणिता प्रतर उच्यते, त-दुपलक्षितं तपः प्रतरतपः, इह चाव्यामोहार्थं चतुर्थपष्टाष्टमद-शमाख्यपदचतुष्टयात्मिका श्रेणिविवक्ष्यते । सा च चतुर्निर्गुणिता बोधशपदात्मक प्रतरो भवति । अयं च आयामतो विस्तरत-श्च तुल्य इति । अस्य स्थापनोपाय उच्यते—

“ एकाद्याद्या व्यवस्थाप्याः, पङ्क्तयोऽत्र यथाक्रमम् ।

एकादींश्च निवेद्यान्ते, क्रमात्पङ्क्तिं प्रपूरयेत् ” ॥

अस्यार्थ—एक आदिर्येषां ते एकादयः एककक्षिकत्रिकच-तुष्कास्ते आद्या यास्तु ता एकाद्याद्या, व्यवस्थाप्या न्यसनीया, पङ्क्तयः श्रेणयो, यथाक्रमं क्रमानतिक्रमेण, कोऽर्थः—प्रथमा एकाद्या एककादारज्यं सस्थाप्यते, द्वितीया द्विकाद्या द्विकादारज्यं, तृतीया त्रिकाद्या, त्रिकादारज्यं, चतुर्थी चतुष्काद्या चतुष्कादारज्यं । आह—एव सति प्रथमपङ्क्तिरैव परिपूर्णा भवति, द्वितीयाद्यास्तु न पूर्यन्ते एव, तत्कथं पूरणीयाः ? उच्यते—एकादींश्च निवेद्य व्यव-स्थाप्य, अन्त इत्यग्रे, क्रमादिति क्रममाभित्य, पङ्क्तिमपूर्यमाणं श्रेणीं, पूरयेत् परिपूर्णां कुर्यात् । तत्र च द्वितीयपङ्क्तौ द्विकात्रिकचतु-ष्कानामग्रे एकक, तृतीयपङ्क्तौ त्रिकचतुष्कयोः पर्यन्ते एकको द्विकश्च, चतुर्थपङ्क्तौ चतुष्कावसाने एकद्वित्रिका स्थाप्यन्ते ।

स्थापना चेयम्—

प्रक्रमाद् घन इति घनतपः, च पू-रणे, तथेति समुच्चये, भवतीति क्रिया प्रतितपोनेदं योजनीया । अत्र च बोधशपदात्मक प्रतर-पदचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गु-णितो घनो भवति आगतं चतु-षष्टि ६४, स्थापना तु पूर्विकैव, नवर, बाहुल्यतोऽपि पदचतुष्टया-त्मकत्वं विशेषः पतदुपलक्षितं तपो घनतप उच्यते । च समुच्च-ये । तथा भवति वर्गश्चेतीहापि प्रक्रमाद्वर्ग इति वर्गतपः, तत्र च घन एव घनेन गुणितो वर्गो भवति, ततश्चतुष्पष्टिश्चतुष्पष्ट्येव गुणिता जातानि षष्ठ्यव्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि, पतदु-

चतुर्थ०	पष्ठ०	अ०	द०
१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

पलक्षितं तपो वर्गतपः, ततश्च वर्गतपसाऽनन्तरं वर्ग २ इति वर्ग २ तपः, तु समुच्चये । पञ्चम पञ्चसंख्यापूरणम्, अत्र वर्ग एव यदा वर्गेण गुण्यते तदा वर्गे वर्गो भवति, तथाच चत्वारि सहस्राणि षष्ठ्यव्यधिकानि तावदेव गुणितानि जातैककोटिः, सप्तषष्टि-लक्षाः, सप्तसप्ततिसहस्राणि, द्वे शते षोडशाधिके । अङ्कतोऽपि १६७७७२१६ । एतदुपलक्षितं तपो वर्गवर्गतप इत्युच्यते । एव पदचतुष्टयमाधित्य श्रेण्यादितपो दर्शितम् । एतदनुसारेण पञ्चा-दिपदेव्यन्तत्परिज्ञावना कार्या । षष्ठक प्रकीर्णकतपो यत् श्रे-ण्यादिनियतरचनादिरहितं स्वशक्त्यपेक्षं यथा कथञ्चिद्विधीयते, तच्च नमस्कारसहितादि पूर्वपुरुषचरितं यवमध्यधनप्रतिमादि च । इत्थं भेदाननिधाय उपसंहारमाह—(मणइच्छियचित्तथो-त्ति) मनसश्चित्तस्य ईप्सितं दृष्टिश्चोऽनेकप्रकारोऽर्थः स्व-र्गापवर्गादिस्तेजोलेख्यादिर्वा यस्मात् तन्मन ईप्सितचित्तार्थं ज्ञातव्यं भवतीति त्वरक प्रक्रमादनशनख्यं तपः । उक्तं ३ अ० । (कियत्काङ्क्षिकेनाऽनशनेन कियती निर्जरा भवतीति 'अस-इलाय' शब्दे वक्ष्यते)

सप्रति मरणकालमनशनं वक्तुमाह—

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया ।

सवियारमवीयारा, कायचेहं पई भवे ॥ १२ ॥

(जा सा अणसणा इति) प्राकृतत्वाद्वा स्त्रीत्वम्, यदनशनं मरणे मरणावसरे द्विविधं, तद्विशेषेणाख्यातं कथितं व्याख्यातं, तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते । द्वैविध्यमेवाह—सह विचारेण चेष्टात्मकेन वर्तते यत्तत्सविचार, तद्विपरीतमविचारम् । विचा-रश्च कायवाङ्मनोभेदात् त्रिविधमिति । तद्विशेषपरिज्ञानार्थमाह-कायचेष्टाम्, उद्धर्तनपरिवर्तनादिकं कायप्रविचारं प्रतीतिमाश्रि-त्य, भवेत् स्यात् । तत्र सविचार भक्तप्रत्याख्यानमिद्विनीमरणं च । तथाहि—भक्तप्रत्याख्याने गच्छमध्यवर्ती गुरुदत्तालोचनो मरणाद्योद्यतो विधिना सलेखनां विधाय तत्तस्मिन्निधौ चतुर्विधं चाऽऽहार प्रत्याचष्टे, स च समास्तुतमृदुसतारकं समुत्सृज्य शरीराद्युपकरणममत्वं स्वयमेवोद्वाहितनमस्कारः समीपवर्ति-साधुदत्तनमस्कारो वा सत्यां शक्तौ स्वयमुद्धर्तते, परिवर्तते च, शक्तिष्विकलतायां चापरैरपि किञ्चित्कारयति । यत उक्तम् “वि-यमणमब्भुत्ताण, उच्चियं सलेहणं च काऊण । पञ्चकखति आ-हार, तिबिहं च चण्विहं वा वि ॥ उच्चत्तइ परियत्तइ, सयमसे-णावि कारणं किञ्चि । जत्थं समत्थो नवर, समाहिजणय अप-मिवद्धो ॥” इद्विनीमरणमप्युक्तन्यायतः प्रतिपद्य गुरुस्थिति-स्थानानामेकाक्ष्येव कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानस्तत्स्थिति-स्थानच्छायात उष्णमुष्णावस्थायां स्वयं सक्रामति । तथा चाह-“इंगियमरणविहाण, आपव्वज्जं तु वियरणं दाव । सलेहणं च काऊ, जहासमाही महाकाव ॥१॥ पञ्चकखति आहार, चण्विहं नियमओ गुरुसगासे । इंगियदेसम्मि तहा चिह्वपि इ इंगियं कुणइ ॥ उच्चत्तइ परियत्तइ, काइयमाईसु होइ उ विलासो । किञ्च पि अप्पणच्चिय, इज्जइ नियमेण धीवलिओ ” ॥ अविचारं तु पादपोषणमनं तत्र हि सव्याघाताव्याघातभेदतो द्विजेदेऽपि पादपक्षिश्चेष्टतयैव स्थीयते । तथा च तद्विधि—“अभिविद्विण देवे, जहाविहिं सेसयं य गुरुमाह । पञ्चकखाइत्तु तओ, तयंतिप सव्वसमाहार ॥ सव्भावम्मि ठियप्पा, सम्मं सिद्धतमणियमणेण । गिरिकदरं तु गतू, पायवगमणं अहं करोति ॥ सव्वत्थापकिवद्धो, दमो य पमायणमिह नाउ ।

जावज्जीव चिद्वह, निश्चिद्वो पायवसमाणो ॥ ”
पुनरपि द्वैविध्यं प्रकारान्तरेणाह—

अहवा सपारिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया ।

नीहारिमनीहारो, आहारच्छेओ य दोसु वि ॥ १३ ॥

अथवेति प्रकारान्तरसूचने, सह परिकर्मणा स्थाननिषदनत्वग्व-
तेनादिना विश्रामणादिना च वर्तते यत्तत्सपरिकर्म, अपरिकर्म च
तद्विपरीतमाख्यात कथितम् । तत्र सपरिकर्म प्रकृत्याख्यात-
मिङ्गिनीमरण चैकत्र स्वयमनेन वा कृतस्य अन्यत्र तु स्वयं विहि-
तस्य, उद्धर्तनादिचेष्टात्मकपरिकर्मणोऽनुष्ठानात् । तथ चाह—“आय
परपरिकम्म, भत्तपरिआइ दो अणुष्साया । परवज्जिया य इ-
गिणि, चउव्विहाहारविरती य ॥ आणनिसीय तुयद्वह, तिरि-
याहिं जहा समाहीय । सयमेव य सो कुणइ, उवसमा परीस-
हहिया से” । अपरिकर्म च पादपोपगमनम्, निष्प्रतिकर्मताया एव
तत्राभिधानात् । तथा चागमः—“समविसमम्मि य पडिओ, अ-
च्छइ जह पायवोय निक्कपो । निच्चजनिप्पडिक्कम्मो, निक्खिवइ
जं जाहिं अग ॥ त चिय होइ तहसिय, णवरं चत्तणं परप्पओ-
गाओ । वायाइहि तरुस्स व, पमिणीयाइहिं तहिं तरुस्स” ॥ यद्वा-
परिकर्म संवेक्षना सा यत्रास्ति तत्सपरिकर्म, तद्विपरीतमपरि-
कर्म । तत्र च व्याघाते त्रयमप्येतत्सूत्रार्थोभयनिष्ठितो निष्पा-
दितशिष्यः संलेखनापूर्वकमेव विधत्ते, अन्यथा अर्तध्यानसज-
वात् । उक्तं चा—“देहम्मि असत्तिहिं, सहसा धातुहिं खिज्जमाणोहिं ।
जायति अट्टज्झाण, सरीरिणो चरिमकालम्मि” । इति सपरिकर्मो-
च्यते । यत्पुनर्व्याघाते गिरिमिच्छिपतनाभिघातादिरूपे संलेख-
नामविधायैव प्रकृत्याख्यानादि क्रियते, तदपरिकर्म । उक्तं चा-
गमे—“अभिघाउ धा विज्जुगिरि-भिस्सिकोणगा य वा होज्जा ।
सबहत्थपाया, दायावापण होज्जाहि ॥ एप्पहि कारणेहिं, वा
घातिममरण होइ नायव्व । परिकम्ममकाळणं, पच्चक्ख्वाती
तओ भत्त” । तथा निर्हरण निर्हारो गिरिकन्दरादिगमनेन ग्रामादे-
र्वहिर्निर्गमन, तद्विघाते यत्र तन्निर्हारि, तदन्यदनिर्हारि, यदुत्था-
तुकामेन वृजिकादौ विधीयते, एतच्च प्रकारद्वयमपि पादपो-
पगमनविषयम्, तत्प्रस्ताव एवागमेऽस्याभिधानात् । तेषां चागमः
“पच्चक्ख्वाती काउ, णेयव्व जाव होइ वांच्छिती । पच्चतले ऊ-
णय सो, पाओवगम परिणओ य ॥ त डुविह नायव्वं, नीहारि चैव
तह अणीहारि । वहिया गामादीण, गिरिकदरमाइ नीहारि ॥
वइयाइसु जं अतो, उट्टेओ मणाणठाइ अणहारि । तम्हा पायव-
गमण, ज उवमा पायवेणेत्थ” । आहारोऽशनादिस्तच्छेदस्तन्नि-
राकरणमाहारच्छेदः । श्रुत्योरपि सपरिकर्मपरिकर्मणोर्नि-
र्हार्यनिर्हारिणोश्च सम इति शेषः । उभयत्र तद्व्यवच्छेदस्य
तुल्यत्वादिति सूत्रपञ्चकार्थः । उक्तमनशनम् । उक्तं ३० अ० ।
स्था० । औ० । (अनशनविधान, येन येनाऽनशन कृत तत्तच्छ-
ब्देऽपि दृश्यम्, यथा ‘खंदग’ शब्दे ‘मेघकुमार’ शब्दे ‘मरण’ शब्दे च
विशिष्टो विधिः) अपरिमौगे, सूत्रं १ श्रु० ७ अ० । तथा दाघ-
ज्वरी कश्चिदनशन कृत्वा रजन्यामपि जलपान विधत्ते । यद्वा-
हियाऽनशनमेव न करोतीत्यत्र रात्रौ सर्वथा जलत्यागाशक्तेन ते-
नाहारत्यागरूपमनशन तु विधेयमेवेति ज्ञातमस्ति । तथाऽनश-
निना आदेनाऽचित्तमेव जल पेय, तदप्युष्णमेवेति ही० १ प्रका० ।
“नदे जइ सुमहे य, वे पुजेऽणसण करे” (इति तन्मुहुर्तम्)
गणि० प्र० ।

अणसिय—अनशित—त्रि० । न अशितोऽनशितः । अचुके, “न-

यव पदीणमणसो, संवच्छरमणसिओ विहरमाणो” आ०
म० प्र० ।

अणसूआ—देशी—आसन्नप्रसवे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणह—अनघ—त्रि० । नाऽघमस्याऽस्तीति अनघः । निरवद्यानुष्ठा-
यिनि, सूत्रं १ श्रु० २ अ० २ उ० । अपापे, आव० ४ अ० । नि-
दोषे, औ० । प्रश्न० । अकृते, सू० प्र० २० पाहु० । व० प्र० ।

अणहप्पाण्यं—देशी—अनघे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणहवीय—अनघवीज—पुं० । अविनष्टबीजे, वृ० ४ उ० ।
नि० चू० ।

अणहसमग—अनघसमग्र—त्रि० । अनघमकृत न पुनरपान्त-
राले केनापि चोरादिना विवृणं समग्रं हव्य प्राणोपकरणादि
यस्य स तथा । तत्स्करादिनाऽलुण्ठितसर्वस्वे, चं० प्र० २० पाहु० ।
निर्दूषणे, अहीनपरिवारे, “द्वद्धे कयकज्जे अणहसमगे णि-
यगंघर हव्वमागए” अनघत्व निर्दूषणतया समग्रत्वमहीनघन-
परिवारतया । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

अणहारओ—देशी—खले, दे० ना० १ वर्ग ।

अणहिवत्तट्ट—अनघिखादनार्थ—पुं० । अविषमसमुद्देशनार्थं,
“तांसि पच्चयहेउं अणहिवत्तट्टा अ कलहो अ” वृ० १ उ० ।

अणहिय—अनघित—त्रि० । अगीतार्थं, व्य० १ उ० । अन-
न्तरभाविनि, विशेषः । अविज्ञाते, व्य० १ उ० ।

अणहियपुष्पाव—अनघितपुष्पाव—त्रि० । सूत्रार्थकथने-
ऽप्यविज्ञातपुष्पावपे, “अणहियपुष्पाव उवचावंतस्स चउ
गुरु होति” व्य० ४ उ० ।

अणहियमाण—अनधीयमान—त्रि० । अपठति; “ते विज्ज-
माणा अणहियमाणा, आहसु विज्जा परिमोक्खमेव” सूत्रं
१ श्रु० १२ अ० ।

अणहियविट्ट—अनजिनिविट्ट—त्रि० । अतत्त्वाभिनिवेशवर्जितं,
पचा० ३ विव० ।

अणहियास—अनधिसह—पुं० । असहिष्णौ, वृ० १ उ० ।

अणहिलपा (वा) मणय—अनहिलपाटकनगर—न० ।
गुर्जरधरिण्यां सरस्वतीनदीतीरे ‘पाटण’ इतीदानीं ख्याते
नगरे, यत्रारिष्टनेमिः पूज्यते । “पणमि अरिष्टनेमी, अणहिल-
पुरपट्टणावयसस्स । वंज्जाण गच्छणिस्सिय, अरिष्टनेमिस्स किं-
त्तिमो कप्प” ती० २६ कल्प । [‘अरिष्टनेमि’ शब्दे दर्शयि-
ष्यतेऽयं कल्पः] यत्र अजयदेवसूरिमिर्ग्रन्था विरचिता । यथोक्तं
पञ्चाशके—“चतुरधिकविंशतियुते, वर्षसहस्रे शते च सिंकेयम् ।
धवलकपुरे वसत्यां, धनपत्योर्वकुलचन्द्रिकयोः । अणहिलपा-
टकनगरे, सङ्घचरैर्वर्तमानबुधमुख्यैः । श्रीद्रोणाचार्याद्यैर्वि-
द्वद्भिः शोधिता चेति” पञ्चा० १६ विव० । मगवतीवृत्त्यन्ते-
“अष्टाविंशतियुते, वर्षसहस्रे शतेन चाज्यधिके । अणहिलपा-
टकनगरे, कृतेयमच्छुसधनिवसतौ” म० ४२ श० १ उ० ।

अणही—अनधी—स्त्री० । पाणिनानकनगरे कपदिनामधेयस्य
ग्राममहत्तरस्य भार्यायाम्, ती० ३३ कल्प ।

अणहीय—अनधीत—त्रि० । अनन्यस्ते, ग० १ अधि० ।

अणहीयपरमत्थ—अनधीतपरमार्थ—पुं० । अनधीता अनभ्यस्ता

परमार्था आगमरहस्यानि येस्तेऽनधीतपरमार्थाः । अणी-
तार्थे, " जे अणदीयपरमत्ये गोयमा ! सजए जवे "
 ग० १ अधि० ।

अणाइ-अनादि-त्रि० । न विद्यते आदिः प्राथम्यमस्येत्यनादि-
उक्त० १ अ० । अप्राथम्ये, हा० ३० अष्ट० । प० सं० । आदि-
विकले, उक्त० १ अ० । उक्त्या० आ० म० । नास्याऽऽदिरस्यना-
दिः । ससारे, सूत्र० २ शु० १ अ० । आदिरहिते, स्था० ३
वा० १ उ० ।

अणाइजणाम[ण]अनादेयनामन्-न० । नामकर्मभेदे, कर्म० १
कर्म० । प्रव० । आ० । यद्भूदयवशादपपन्नमपि भ्रूवाणो नोपादेयव-
चनो भवति, नाप्युपक्रियमाणोऽपि जनस्तस्याज्युत्थानादि समा-
चरति । प० सं० ३ हा० ।

अणाइ (ए) जवयणपद्याय-अनादेयवचनप्रत्याजात-
त्रि० । अनादेये वचनप्रत्याजाते येषां ते तथा । अनुपादेयवचन-
जन्मसु, ज० ७ श० ६ उ० ।

अणाइणिहण-अनादिनिधन-त्रि० । आदिः प्रथम निधनं प-
र्यन्तः, ततश्च ते आदिनिधने, न विद्येते आदिनिधने यस्य स
अनादिनिधनः । दर्श० । सम्म० । अनाद्यपर्यवसिते, अनुत्पन्न-
शाश्वते च । आव० ४ अ० ।

अणाइसु-अनाचीर्ण-त्रि० । अनासेविते, महापुरुषैरनाचीर्णम्
[नाऽऽचरणीयम्] वृ० १ उ० । तदेवाशङ्क्य परः ग्राह-यदि
यद्यत्प्राचीनगुरुमिराचीर्णं तत्प्राश्नात्यैरप्याचरितव्यं, तर्हि ती-
र्थकरैः प्राकारत्रयकृत्रत्रयप्रभृतिकाप्राभृतिका तेषामेवाधीय सु-
दैर्विरचिता यथा समुपजीविता, तद् वयमपि अस्मिन्नित्यहं
किं नोपजीवामः ? । सूरिराह-

कामं खलु अणुगुरुणो, धम्मा तद् वि हु न सञ्चसाहम्मा ।
गुरुणो ज तु अइसए, पाहुनियाई समुपजीवे ॥

काममनुमतं खल्वस्माकं यदनुगुरवो धर्मा, तथापि न सर्वथा-
साधर्म्याच्चिन्त्यन्ते किन्तु देशसाधर्म्यादेव । तथाहि-गुरव-
स्तीर्थकराः, यस्तु यत्पुनरतिशयान् प्राभृतिकादीन् कोऽर्थं प्रा-
भृतिका सूरैश्चादिकृता समवसरणरचना, आदिशब्दादवस्थि-
तनखरोमाधोमुखकण्टकादिसुरकुलातिशयपरिग्रहः, तान्, समु-
पजीवति, स तीर्थकरो जीतकल्प इति कृत्वा न तन्प्राधर्म-
ता चिन्तनीया, यत्र पुनस्तीर्थकृतमितरेषां च साधूनां सामा-
न्यधर्मस्य तत्रैवानुधर्मता चिन्त्यते, सा वेयमनाचीर्ण इत्यते ।

सगरुहसमभोमे, अवि अ विसेसण विरहियतरं से ।

तद् वि खलु अणाइजं, एसऽणुधम्मो पवयणस्स ॥

यदा स भगवान् धीमन्महाधीस्वामी राजगृहनगरादुदा-
यननरेन्द्रप्रमाजनार्थं सिधुसौपीरदेशायतस धीतभय नगर प्र-
स्थितस्तदा किलापान्तराले षडय साधव क्षुधासांस्तृणादिता
सङ्गावाधिताश्च यत्पु, यत्र च भगवानावासितस्तत्र तिलतृता-
नि शफटानि, पानीयपूर्णश्च हृद्, समजोम च गताविहादिप्रांति-
सं स्थण्डिलमनयत् । अपि च-विशेषेण तत्तिहोदकम्यतिरसजा-
त विरहिततरय, अतिशयेनाऽऽगन्तुर्हृद् जीर्णार्जितमिष्यर्थः ।
तथापि सन्तु भगवताऽनाचीर्णं, मानुइत च एवोऽमुधर्मं प्रवच-
स्य तीर्थस्य, सर्वेरापि वचनमभयमादासीने शस्त्रोपहतपरिहार-
सङ्गण एव च धम्मोऽनुग मय इति भाष ।

अथैतदेव विवृणोति-

वर्कंतजोणि यंमिल-अतसा दिन्ना ठिई अवि बुहाई ।

तद् वि न गेणहं सु जिणो, माहु पसंगो असत्यहए ॥

यत्र जगवानावासितस्तत्र बहूनि तिलशकटान्यावासितान्या-
सन्, तेषु च तिलान् व्युक्रान्तयोनिका अशस्त्रोपहता अप्यायु सङ्क-
येणाचिन्तीभूताः । ते च यद्यस्थण्डिले स्थिता भवेयुस्ततो न कल्पे-
रभित्यत आह-स्थण्डिले स्थिताः । एवविधा अपि व्रतैः सस-
का भविष्यन्तीत्याह-अत्रसास्नदुभयागन्तुकवसविरहिता, ति-
लशकटस्वामिभिरुच गृहस्थैर्दत्ता । एतेन चाऽऽस्तादानदोषोऽपि
तेषु नास्तीत्युक्तं भवति । अपि च-ते साधवः क्षुधापीकिता आयुष-
स्थितिक्रयमकार्षुः तथापि जिने वर्तमानस्वामी नामर्हीत, मा
भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः । तीर्थकरेणापि गृहीतमिति मदीयमालम्बन
कृत्वा मत्सन्तानवर्तिन शिष्या अशस्त्रोपहतमग्रहीपुरिति
भावः । युक्तियुक्तं चैतत् प्रमाणस्थपुरुषाणाम् । यत् उक्तम्-
"प्रमाणानि प्रमाणस्थैः, रक्षणीयानि यत्नतः । धिपीदन्ति प्रमा-
णानि प्रमाणस्थैर्विस्तरुते " ॥ १ ॥

एमेव य निज्जीवे, दहाम्मि तसवजिए दए दिन्ने ।

समजोमे अ अवि ठिती, जिमिताऽऽसन्ना न याणुन्ना ॥

एवमेव च हृदे निर्जीवे यथाऽऽयुष्कक्रयादचिन्तीभूते अचित्त-
पृथिव्यां च स्थिते प्रसवजिते च उदके पानीये दृढस्याग्निना च
दत्ते तृणादिना स्थितिक्रयकारणेऽपि जगवानानुजानीने स्म, मा
नृत्प्रसग इति, तथा स्वामी नृतीयपीरुप्या जिमितमात्रे सा-
धुनि सार्द्धमेकामटवीं प्रपन्न सन्नतिसङ्गाया प्राचाधा, यद्वा-
[आसन्न नि] प्राचासन्नता साधूनां समजनि । तत्र समभोमं गच्छ-
गोष्पदयिलादिचर्जितं यथा स्थितिक्रय व्युक्रान्तयोनिकपृथिव्यां
प्रमाणविरहितं स्थण्डिलं वर्तते, अपरं च शस्त्रोपहतं स्थण्डि-
लं नास्ति न प्राप्यते, अपि च ते साधवः सङ्गावाधिता स्थिति-
क्रयं कुर्वन्ति, तथापि भगवान् नानुक्ता व्रजति, यथाऽत्र व्युत्पन्न-
तेति, मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः, इत्येषोऽनुधर्मः प्रवचनस्येति स-
र्वत्र योज्यम् । वृ० १ उ० । नि० चू० । [फलविषयाऽऽर्वाणताऽऽ-
नाचीर्णता च 'पलम्ब' शब्दे चक्ष्यते]

अणाइवन्ध-अन दिवन्ध-पु० । यस्त्यनादिकास्त्रान् सन्नानत्रा-
वेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्न सोऽनादिवन्धः । कर्मद-
न्धजेदे, कर्म० ५ कर्म० ।

अणाइभव-अनादिभव-पु० । निष्पापन्यसंसारं, पचा० ३ त्रिय० ।

अणाइभवदन्वालिग-अनादिजवञ्ज्यलिङ्ग-न० । अनादिजवे नि-
ष्पापन्यसंसारं यानि कर्माणि द्वानि भारविफलत्वेनाप्रशानप्र-
जितादिनेपथ्यचरणसङ्गणानि तानि तथा । संसारे परार्थेष्ट-
प्रसजितेषु, " एतो उ विभागयो अणाइभवदन्वालिगमो खेय "
 पचा० ३ त्रिय० ।

अणाइय-प्रज्ञानिक-त्रि० । अविद्यमानम्यजने, भ० १ शु० १ उ० ।

अणातीन-त्रि० । अणमरुण पापमतिःपेनेन गामजानितम् ।
पाप प्राप्ते, भ० १ शु० १ उ० ।

अनादिक-त्रि० । अविद्यमानादिके, ज० १ शु० १ उ० ।

मान्यादिः प्रथमोत्पत्तिपिपत्ते इत्यनादि । अणुदशस्त्राग्न-
मोक्षे, धर्मोऽधर्मादिषु वा कल्पे, सूत्र० २ शु० ७ अ० ।

अणातीन त्रि० । अन्तर्गतम अणुज-दुःखद्वयानि निष्पन्ना
संसारं ज० १ शु० १ उ० ।

अणाइल-अनाविल-त्रि०। अकलुपे, “अणाइलेया अकसाइ मुके, सकेव देवाहिवर्जुईम ” यथा चासौ सागरोऽनाविलोऽकलुष-जल एव जगवानपि तथाविधकर्मद्वेशाज्जायादकलुषज्ञान इति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । “णीवाने वणलोपजा, छिन्नसोप अ-णाविले । अणाइले सया दते, सधि पत्ते अणेविस ” यथाऽना-विहोऽकलुषो रागद्वेषाऽसपृक्तनया महरहिनोऽनाकुलो वा, वि-पयाप्रवृत्तेः । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । वाभादिनिरपेक्षे, “णो तुच्छं णो य विकपइजा, अणाइलेया अकसाइ भिक्खू ” अ-नाविलो लोकादिनिरपेक्षः । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अणाऽसंजुत्तय-अनादिमंयुक्तक-पु०। न विद्यते आदिः प्राथम्य-सस्येत्यनादि । स चेह प्रक्रमात् सयोगमतेन समिते, “अणो-णाणुगयाण, इम च त च तिविभयणमजुत्त” इत्यागमादिभा-गाभावेन युक्तः श्लिष्टोऽनादिसयुक्तः स एवानादिसयुक्तकः । यद्वा-संयोगः सयुक्तस्ततोऽनादिसयुक्तमस्येत्यनादिसयुक्तकम् । कर्मणाऽनादिसंयोगसयुक्ते जीवे, उक्त० १ अ० ।

अणाइसंताण-अनादिमन्तान-पु०। अनादिप्रवाहके, औ० । “अणाइसंताणकम्मवधणकिंहेसचिक्खिहसुहुत्तर ” अनादि-सन्तानो यस्य कर्मवन्धनस्य तत्तथा । प्रश्न० ३ आश्र० ६० ।

अणाइसिध्दत-अनादिसिध्दान्त-पु०। अमनगन्तो वाच्यवाच-करूपतया परिच्छेदोऽनादिसिद्धश्चासावन्तश्चानादिसिद्धान्तः । अनादिकालादारभ्येदं वाचकमिदं तु वाच्यमित्येव सिद्धे प्रति-ष्ठिते परिच्छेदे, अनु० ।

अणाउ-अनायुप्-पु०। न विद्यते चतुर्विधमप्यायुर्यस्य स भवत्यानायुः । दग्धकर्मबीजत्वेन पुनरुत्पत्तिविरहे जिने, “अ-णुत्तरे सव्व जगसि विज्ज, गथा अतीते अजप अणाउ ” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अपगतायु कर्मणि सिद्धे, “त सहहाणा य जणा अणाऊ, इदा व देवाहिव आगमिस्स ” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । जीवनेदे, स्था० २ गा० १ उ० ।

अणाउट्टी-अनाकुट्टी-पु०। ‘कुट्ट च्छेदने’ आकुट्टनमाकुट्टः, स विद्यते यस्यासावाकुट्टी, नाकुट्टी अनाकुट्टी । अहिंसायाम्, आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ० । आ० म० द्वि० । “जाण काण्ण णाउट्टी, अनुहो ज च हिंसति । पुठो सवेदइ पर, अवियत्त क्खु सावज्ज” सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । (‘कम्म’ शब्दे चैतद् तृतीयभागे ३३० पृष्ठे स्पष्टीकृतमिति) ।

अणाउट्टिया-अनाकुट्टिका-स्त्री०। अनुपेत्य करणे, पचा० १६ विव० ।

अणाउत्त-अनायुक्त-त्रि०। न० त० । अनाभोगवति अनुपयुक्ते, स्था० २ गा० १ उ० । उक्त० । असावधाने, औ० । आलस्य-भाजि प्रत्युपेक्षाऽनुपयुक्ते, उक्त० १७ अ० ।

अणाउत्तआइणया-अनायुक्तादानता-स्त्री०। अनायुक्तोऽना-जोगवाननुपयुक्त इत्यर्थः । तस्यादानता अनायुक्तादानता । अनायुक्तस्य वस्त्रादिविषये ग्रहणनायाम्, अनाजोगप्रत्ययक्रिया-भेदे, स्था० २ गा० १ उ० ।

अणाउत्तपमज्जाणया-अनायुक्तप्रमार्जनता-स्त्री०। ६ त० । अनायुक्तस्य पात्रादिविषयप्रमार्जनतारूपे अनाजोगप्रत्ययक्रिया-भेदे, इह द्वयोः शब्दयोः ताप्रत्यय स्वार्थिकः । प्राकृतत्वेन अनादीनां भावविवक्षयेवेति । स्था० २ गा० १ उ० ।

अणाउल-अनाकुल-त्रि०। समुद्रवज्रकादिभिः परीषहोपसर्गै-

रकुच्यति, “जत्थत्थमिण अणाउले, समविसमाइ मुणी हिया सण ” सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । सूत्रार्थादनुत्तरति, “सव्वे अणठे परिवज्जयते, अणाउलेया अकसाइ भिक्खू ” सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । “गर्वपि अणाउलो सवच्छरखमणासि ” आ० म० प्र० । अन्त० । क्रोधादिरहिते, दश० १ अ० । औत्सुक्य-रहिते, वृ० १ उ० ।

अणाउलया-अनाकुलता-स्त्री०। निराकुलतायाम्, “सर्वता-नाकुलता-यतिजात्राऽययपरसमासेन ” षो० १३ विव० ।

अणाएस-अनादेश-पु०। आडिति मर्यादया विशेषरूपानतिक्र-मात्मिकया दिश्यते कथ्यते इत्यादेशो विशेषः, न आदेशोऽना-देशः । सामान्ये, उक्त० १ अ० । (सोदाहरणोऽयं ‘सजोग’ शब्दे एव प्रदर्शयिष्यते) ।

अणागइ-अनागति-स्त्री०। न० त० । अनागमने, अशेषकर्मच्यु-तिरूपायां लोकात्राऽऽकाशदेशस्थानरूपायां वा सिद्धौ, “गह च जो जाणइ णागइ च ” सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अणागंता-अनागत्य-अव्य०। आगमनमकृत्वेत्यर्थः, स्था० ३ गा० २ उ० ।

अणागत (य)-अनागत-त्रि०। न आगतोऽनागतः । वर्तमा-नत्वमप्राप्ते प्रविष्यति, स्था० ३ गा० ४ उ० । समयादौ पुनर-परावर्तान्ते काले भविष्यत्कालसम्बन्धिनि, सम्म० । सूत्र० । “अणागयमपस्सत्ता, पच्छुप्पन्नगवेसगा । ते पच्छा परितप्पति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ” अनागतमेत्यत्कामानिवृत्तानां नर-कादियातनास्थानेषु महादुःखमपश्यन्तोऽपर्यालोचयन्तः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । “नेतिय उप्पन्नमणागयाइ, लोगस्स जा-णति तहागयाइ ” अनागतानि च भवान्तरभावीनि सुखदुःखा-दीनि । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । “जे य बुद्धा अतिकता, जे य बुद्धा अणागया ” अनागता भविष्यदन्तकालभाविनः । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अणागत (य) काल-अनागतकाल-पु०। विवक्षित वर्तमानं समयमवधीकृत्य भाविनि समयराशौ, ज्यो० १ पाहु० ।

अणागतच्छा-अनागताच्छा-स्त्री०। आगामिपूतपन्नपुत्रपर-वर्तेशु, कर्म० ५ कर्म० ।

अणागत (य) कालगहण-अनागतकालग्रहण-न० । न-विष्यत्कालग्राह्यस्य वस्तुनः परिच्छेदात्मके विशेषदृष्टानुमान-भेदे, अनु० ।

से किं तं अणागयकालगहणं ? । अणागयकालगहणं-अंभस्स निम्मदत्त, कसिणायगिरी सविज्जुआ मेहा । थणियं वाउन्नामो, सज्जारत्तापण्णा य ॥१॥

वारुण वा महिदं वा अण्णयरं वा उप्पायं पसत्थं पा-मिच्छा तेण माहिज्जइ । जहा-सुवुद्धिं नविस्सइ । सेत्तं अणा-गयकालगहणं ॥

गाथा सुगमा, नवर, स्तनित मेघगजितं (वाउन्नामो चि) तथा-विधो दृष्टव्यभिचारी प्रदक्षिण दिक्षु भ्रमन् प्रशस्तो वात (वारु-ण ति) आर्द्धमूलादिनक्षत्रप्रभव, माहेन्द्रोर्द्विर्णज्येष्ठादिनक्षत्र-समवयम, अन्यतरमुत्पातमुत्कापातश्चिन्दाहादिक, प्रशस्त वृष्टि-व्यभिचारिण दृष्टानुमीयते, यथा-सुवुद्धिर्न भविष्यति, तद-व्यभिचारिणामभ्रनिर्मलत्वादीनां समुद्रितानामन्यतरस्य वादशी-

नाद्यथाऽन्यवदिति । विशिष्टा ह्यत्र निर्महात्वादयो घृष्टिन् व्यञ्जि-
चरन्ति, अतः प्रतिपन्नैव तत्र निपुणेन भाव्यमिति । अनु० ।

अणागम-अनागम-पु० अनागमने, आच्वा० १ शु० २ अ० ३ व०। अपौ-
रयेयादौ आगमे, आगमवृक्षणविहीनत्वात्तस्य । स्या० १० व०।
अणागमएधम्म-अनागमनधर्मन्-त्रि० अनागमन धर्मो येषां
ते यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभाख्यादित्वात् । न पुनर्गृहप्रत्यागमने-
प्सुषु, आच्वा० १ शु० ६ अ० २ व०।

अणागयपत्तचक्राण-अनागतप्रत्याख्यान-न० । प्रत्याख्यान-
भेदे भक्षिष्यति प्रत्याख्याने, अत्र० । अनागतकरणादनागतपर्यु-
पणाद्वावाच्यार्यादिवैयवृत्त्यकरणान्तरायसद्भावाहारत एव त-
त्तत्प करणे, स्या० ।

उक्त ३—

होही पञ्जोसवणा, ममयतया अंतराश्यं होज्जा ।
 गुरुवैयावचेणं, तवस्सिगेलक्षया एव ॥ ५ ॥
 सो दाड तवोक्कम्मं, पडिवज्जड तं अणागए काले ।
 एव पच्चक्खाणं, अणागयं होइ नायव्व ॥ ६ ॥

भविष्यति पशुपणा मम च तदाऽन्तराय भवेत् । केन हेतुनेत्यत
आह-गुरुवैयावृत्येन तपस्विग्नान्तया वेत्तुपलक्षणामिति गाथा-
समासार्थः । (सो दाहति) स इदानीं तप कर्म प्रतिपद्यते तदनागते
काले एतत्प्रत्याख्यानमेव भूतमनागतकरणादनागत ज्ञातव्य प्रव-
तीति गाथासमासार्थः ॥ ६ ॥ “इमो पुन एत्थ जावत्थो-अण्णा
गय पच्चक्खाण , जहा अणागय तव करेज्जा पज्जोसवणा
गहणेण एत्थ विगिट्ठ कौरइ, सब्वजहओ भठम, जहा पज्जोसव-
णाए तहा चाउम्मसिए णट्ठ पक्खिए अम्भत्ठ अम्भेसु य
एहाणाणुजाणादिसु तर्हि मम अतराइय होज्जा, गुरुआयरिया
तेसि कायव्व, ते कि ण करेति असहू होज्जा अहवा अन्ना काइ
आणत्तिया होज्जा कायच्चिया गमतरादि सेहस्स वा आणे-
यव्व सरीरवेयावन्निया वा ताहे सो उववास करेइ, गुरुवेया-
वच्च न सक्केइ जो अन्नो दोएहवि समत्थो सो करेउ, जो वा
अन्नो समत्थो उववासस्स सो करेउ नत्थि न वा लभेज्जा ण-
यणि० जाव विधि ताहे सो चेव पुव्व उववास काऊण पच्छा त-
द्विवस भुजेज्जा तवस्सी नाम खामओ तस्स कायव्व होज्जा
तो कि तदा न करेइ सो तीर पत्तो पज्जोसवणा ऊसारिया
(असहु ति) वा सय पाराविओ ताहे य सय हिंङ्गिमसमत्थो
जाणि अम्भासे ताणि वच्चओ नत्थि दमइ सेस जहा गुरुम्मि
विभासा गेद्वन्न जाणइ जहा तर्हि दिवसे असहू होइ विज्जेण
वा भणिय अमुग दिवस (कारहत्ति) अहवा सय चेव जाणाति
सगरोगादिहिं तेहिं दिवसेहिं असहू होइ (सामित्ति) सेसे वि-
भासा जहा गुरुम्मि कारणकुलगणसघआयरियगच्छे वा तहेव
विभासा पच्चा सो अणागते काले काऊण पच्चा छुजेज्जा
पज्जोसवणादिसु तस्स जा किर निज्जरा पज्जोसवणादिहिं त-
हेव सा अणागते काले भवति ॥ गतमनागतद्वारम् । आव०
६ अ० । आतु० । ध० । ल० प्र० ।

अणागलिय-अनर्गलित-त्रि० अनिवारिते, भ०१५ श०१ उ०।

अनाकलित-त्रि०। अप्रमेये, भ० १५ श० १ उ०। उपा०।

अणालियचंमतिव्वरोस-अनर्गलितचण्मतीव्वरोप-त्रि० ।

अनिवारितच्चएगतीप्रक्रोधे, भ० १५ श० १ च० ।

अनाकलितचण्टीप्ररोध-वि० । अनाकलिनाप्रभेयचण्टी-
वक्रोद्धे, “ अनागद्विचक्रप्रतिप्ररोध समूहचुरिय च धल धम्म

तं विधिविस सप्प सघट्टेति” । भ० १५ श० १ उ०। उपा०। झा०।
अणागाढ-अनागाढ-त्रि०। अनभिगृहीतदर्शनविशेषे, घृ० १
उ०। आगाढभिषे कारणे, व्य० ३ उ०। [‘आगाढ’ शब्दे द्विती-
यनागे ८६ पृष्ठे व्याख्यास्यते] अथ किमिदमागाढ किं वा अ-
नागाढम् ? । उच्यते-“अहिदद्विविसविसुख्य-सज्जस्सयसूलमा-
गाढ ।” अहिना सपेण दष्टः कश्चित्, विष वा केनचिद् भक्ता-
दिमिश्र दत्त, विसूचिका वा कस्यापि जाता, सद्यः क्यकारि
वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम्, एवमादिकमाशुधाति सर्वमप्यागा-
ढम् । एतद्विपरित तु चिरधाति कुञ्जादिरोगात्मकमनागाढम् ।
घृ० १ उ० । नि० चू० । अनागाढे योगे भवे उत्तराध्ययनादौ
श्रुते, नि० चू० ४ उ० ।

अणागार-अनाकार-न० । अविद्यमाना आकारा महत्तराका-
रादयो विच्छिन्नप्रयोजनत्वात् प्रतिपत्तुर्यसिस्तदनाकारम् ।
स्था० १० डा० । अविद्यमानमहत्तराद्याकारे, प्रव० २३ डा० ।
अविद्यमानाकारे प्रत्याख्यानभेदे, यच्चिष्टिप्रयोजनसम्भवा-
न्नावे कान्तारदुर्जिज्ञादौ महत्तराद्याकारमनुच्चार्यदुर्जिघ्रि-
यते तदनाकारमिति केवलमनाकारेऽपि अनाभोगसहसाकारा-
नुच्चारयितव्यावेव काष्ठाहुल्यादेर्युगे प्रक्षेपणतो जङ्घो मा चूडि-
ति । अतोऽनाभोगसहसाकारापेक्षया सर्वदा साकारमेव । भ०
७ डा० २ व० । द्वा० प्र० । अनाकार नाम तत् किन्तु केवलमि-
हानाकारेऽपि अनाभोगः सहसाकारश्च द्वावाकारौ भणितव्यौ,
येन कदाचिदनाभोगतोऽज्ञानतः सहसा वा रभसेन तृणादि
मुखे क्षिपेन्नपतेष्वा कुतोऽपि इति कृताकारचिकमापि शैषमहत्त-
राकारादिभिराकारै रहितमनाकारमभिधीयते । इदं चानाकारं
कदा विधीयते ? अत्राह-“दुग्भिष्वविस्तिकता-रगाढरोगाङ्ग
कुञ्जा ” दुर्भिक्षे वृष्ट्यभावे हि एरुमानैरपि भिक्षा न लज्ज्यते,
तत इदं प्रत्याख्यानं कृत्वा ध्रियते । वृत्तिकान्तारे वा, वर्त्तते
शरीरं यथा मा वृत्तिर्भिक्षादिका तद्विषये कान्तारमिव कान्तार
तत्र यथाऽऽव्या भिक्षा न लज्ज्यते तथा सिएवद्व्यादिषु स्वजा-
वाऽऽदातुर्भिक्षाकीर्णेषु शासनद्विष्टैर्वाऽधिष्ठितेषु भिक्षादि नाऽऽ-
साद्यते, तदेदं प्रत्याख्यानम् । तथा वैद्याद्यप्रतिविधौ गाढतर-
रोगे सति गृह्यते । आदिशब्दात् कान्तारे केशरिक्किशोगादिज-
न्यमानायामापदि कुर्यादिति । प्रव० ४ डा० । अविद्यमान आ-
कारो भेदो ग्राह्यस्यास्येत्यनाकारम् । सम्म० । अतिक्रान्तविशेषे
सामान्यालम्बानि दर्शने, “ साकारे सेनाणे अणागारे वसणे ”
सम्म० । “ मइसुयवहिमणकेवल-विहगमइसुयणाणसागारा ”
सह आकारेण जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण “ आ-
गारो उ विसेसा ” इति वचनाद् विशेषेण वर्तन्त इति साका-
राणि । अयमर्थ-वक्ष्यमाणानि चत्वारि दर्शनानि अनादा-
राणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि । तथाहि-सामान्यवि-
शेषात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु । कथमिति चेदुच्यते-दूरादेव
हि शास्त्रतमाद्यवकुलाशोकचम्पककदम्बजम्बूनिम्बादिविशिष्टव्य-
क्तिरूपतयाऽवधारितं तरुनिकरमवलोकोक्ततः सामान्येन वृक्ष
मात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति, तत्सामा-
न्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते, ‘ निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शन-
मुच्यते ’ इति वचनप्रामाण्यात् । यत्पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य
तादृशतमाद्यशालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं, तमेव महीरुहमुत्प-
श्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति, तच्छि-
ष्टरूपं साकारं ज्ञानमग्रमेवम् । प्रमा च पारमेश्वरप्रवचन-
प्रवीणचेतसं प्रणिपादयन्ति, सङ्गं विशिष्टाकारेण वर्तत इति

कृत्वा । तदेवं प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणावाधितप्रतीतिवशात्सर्वम-
पि वस्तुजातं सामान्यविशेषरूपद्वयात्मक भावनीयमिति । कर्म०
४ कर्म० । “चक्षु अचक्षु ओही केवलदसणअणागारा” दर्श-
नशब्दस्य प्रत्येक मन्त्रधातुदर्शना १ ऽचक्षुर्दर्शना २ ऽवाधिद-
र्शन ३ केवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि । तत्र चक्षुषा व-
स्तुसामान्यांशात्मकं ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम् १, अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशे-
वेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं सामान्यांशात्मकं ग्रहणं तद-
चक्षुर्दर्शनम् २, अवधिना रूपिष्यमयादया दर्शनं सामान्यांशा-
त्मकमवधिदर्शनम् ३, केवलेन सपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेष-
रूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशग्रहणं तत्केवलदर्शनमिति । किंरूपा-
ण्येतानि दर्शनान्यत आह—अनाकाराणि सामान्याकारयुक्त-
त्वे सत्यपि न विद्यते विशिष्टव्यक्त आकारो येषु तान्यनाकारा-
णि इति । कर्म० ४ कर्म० ।

अणाजीव--अनाजीविक--पु० । निःस्पृहे, दश० ३ अ० । “अणि-
लाह अणाजीवे नायव्वो सो तवायारो ” ग० १ अधि० ।

अणाजीवि (ण)--अनाजीविन्-त्रि० । न आजीवी अनाजीवी ।
अनाशसिनि, नि० चू० १ उ० ।

अणाओ--देशी-जारे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणाढायमाण--अनाडियमाण--त्रि० । अनादरयति, आचा० २
श्रु० १ अ० २ उ० ।

अणाडिय-अनादृत-न० । न० त० । आ-दृ-भावे-क्त । अनादरे सं-
भ्रमरहिते, आव० ३ अ० । “आयरकरण आढा, तत्त्विवरीयं अणा-
डिय होइ” । आदरः सज्जमस्तत्करणमादृतता, सा यत्र न प्रवति
तदनादृतमुच्यते । इत्येवरूपे वन्दनदोषाणां प्रथमे दोषे, वृ० ३
उ० । आव० । आ० चू० । ध० । आदरः सभ्रम', तत्करणमादृतम् ।
आर्षत्वादाडिय तद्विपरीतं तद्विहितमनादृतं प्रवति । प्रव० २ अ० ।
अनादरेण वन्दने, एष वन्दनकस्य प्रथमदोषः । आ० चू० ३ अ० ।
तिरस्कृते, त्रि० । काकन्दीनगरीवास्तव्ये गृहपतिजेदे, पु० । तत्क-
थानिरयावल्याः ३ वर्गे १० अध्ययने सूचिताऽस्ति । तत्रैव पञ्चमा-
ध्ययनोक्तपूर्णजन्मस्येव प्रावनीया । सारार्थस्तु--अणाडियगृहप-
तिः काकन्धा नगर्यां समवसूतानां स्थविराणामन्तिके प्रव्रज्यां
गृहीत्वा श्रुतमधीत्य तपः कृत्वा आमण्यमनुपाद्य अनशनेन का-
लं कृत्वा सौधर्मं कल्पे अणाडियविमाने द्विसागरोपमायुष्कत-
या देवत्वेनोपपन्नं, ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति । नि० ।
आदृता आदरक्रियाविषयीकृता, शेषा जम्बूद्वीपगता देवा येना-
त्मना इत्यद्भुतं महर्दिकन्वमीकृमाणेन सोऽनादृतः । जी० ३ प्रति० ।
अनर्दिक-पु० । जम्बूद्वीपाधिष्ठातृदेवे, उच० ११ अ० । “ज-
म्बूद्वीपादिचैव अणाडिओ” द्वि० । जी० । स्था० । (‘जम्बूद्वीपस्य’
शब्देऽस्य वक्तव्यता)

अणाडिया--अनादृता--स्त्री० । अनादृतादनादराद्या सा अनादृता,
नन्दिपेणस्येव अनादृतस्य वा शिथिलस्य या सा तथा । स्था०
१० ग० । “रोगनियप सदिक्खा अणाडिया रामकण्ठपुव्वजवे ”
प० ग० । प० चू० । अनादृतस्य जम्बूद्वीपाधिपते राजधान्याम्,
जी० ३ प्रति० ।

अणाणा--अनाज्ञा--स्त्री० । आज्ञाप्यते इत्याज्ञा हिताहितप्राप्तिप-
रिहारतया सर्वज्ञोपदेशस्तद्विपर्ययोऽनाज्ञा । तीर्थकरानुपदिष्टे
स्वमनीषिकया आचरितेऽनाचारे, आचा० ।

अणाणाए एगे सोवद्धाणा, अणाणाए एगे निरुवद्धाणा,

एवं ते मा होउ एयं कुसलस्स दंसणं ।

इह तीर्थङ्करगणधरादिनोपदेशगोचरीभूतो विनेयोऽभिधीयते-
यदि वा सर्वभावसंभित्वाद् भावस्य सामान्यतोऽभिधानम्, अ-
नाज्ञाऽनुपदेशः स्वमनीषिकाचरितोऽनाचारस्तयाऽनाज्ञया तस्यां
वा एकेन्द्रियवशगा दुर्गतिं जिगमिषवः स्वाभिमानग्रहप्रस्ताः ।
सह उपस्थानेन धर्मचरणान्नासोद्यमेन वर्तत इति सोपस्थानाः,
किल धयमपि प्रव्रजिताः सदसकर्मविशेषविवेकविकलाः साव-
धारम्मतया वर्तन्ते । एके तु न कुमार्गवासितान्तःकरणाः किन्तु
आज्ञस्यावर्णस्तम्भाद्युपवृद्धितबुद्ध्य आज्ञायां तीर्थकरोपदेशप्र-
णीते मदाचारे निर्गतमुपस्थानमुद्यमो येषां ते निरुपस्थानाः,
सर्वज्ञप्रणीतसदाचारानुष्ठानविकलाः । एतत्कुमार्गानुष्ठानं सम्मा-
र्गावसीदनं च धयमपि ते तव गुरुविनेयोपगतस्य दुर्गतिहेतु-
त्वान्मा भूदिति सुधर्मस्वामी स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह--(एव-
मित्यादि) । एतद्यत्पूर्वोक्तं यदि वा अनाज्ञायां निरुपस्थानत्वमा-
ज्ञायां च सोपस्थानत्वमित्येतत्कुशलस्य तीर्थकृतो दर्शनमभि-
प्रायः, यदि वैतद् वक्ष्यमाण कुशलस्य दर्शनम् । आचा० १
श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अणाणात्त--अनानात्त्व--न० । भेदवर्जिते, स्था० १ ग० ।

अणाणय--अनाङ्क--तीर्थकरोपदेशशून्ये स्वैरिति, आचा० १
श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणाणुगामिय--अनानुगामिक--त्रि० । न अनुगच्छति इति
कालान्तरमुपकारित्वेनानुयातरि, स्था० ५ डा० १ उ० । अशु-
जानुबन्धे, स्था० ६ ग० । न अनुगामिकमनानुगामिकम् । शृ-
ङ्गाप्रतिवक्रप्रदीपसदृशे गच्छन्तमननुगच्छति अवधिज्ञानविशे-
षे, न० । तच्च--

से किं तं अणाणुगामियं ओहिनाणं ? । अणाणुगामियं
ओहिनाणं से जहानामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइहाणं
काउं तस्सेव जोइहाणस्म परि पेरंतेहिं २ परिघोलेमाणे
परिघोलेमाणे तमेव जोइहाणं पासइ, अणत्थगए नो
पासइ, एवमेव अणाणुगामियं ओहिनाणं जत्थेव सुप्पज्जइ,
तत्थेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा संबच्छाणि वा
असंबच्छाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ अणत्थगए न
पासइ, सेत्तं अणाणुगामियं ओहिनाणं ।

अथ किं तत् अनानुगामिकमवधिज्ञानम् ? । सूरिराह--अनानुगा-
मिकमवधिज्ञानं स विवर्कितं, यथा नाम-कश्चित्पुरुषः पूर्णं सुख-
ं लब्धवानिति । पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुष एक महज्ज्योति स्नान-
मग्निस्थानं कुर्यात् कस्मिंश्चित्स्थाने, अनेकज्वालाशतसङ्कुलमग्नि-
प्रदीप वा स्थूलवर्तिज्वालाऽनुरूपमुत्पादयदित्यर्थः । ततस्तत्कृत्वा
तस्यैव ज्योतिःस्थापनस्य परि पर्यन्तेषु २ परितः सर्वोऽपि दिक्षु पर्य-
न्तेषु परिपूर्णं परिभ्रमद् इत्यर्थः । तदेव ज्योति स्नानं ज्योतिः-
स्थानप्रकाशितकेशं पश्यति, अन्यत्र गतो न पश्यति । एष
दृष्टान्तः । उपमयमाह--एवमेव अनेनैव प्रकारेणानुगामिकमव-
धिज्ञानं यत्रैव क्षेत्रे व्यवस्थितस्य सतः समुत्पद्यते तत्रैव व्य-
वस्थितः सन् सङ्ग्रेहयानि असङ्ग्रेहयानि वा योजनानि स्वावगा-
हक्षेत्रेण सह सबद्धानि असबद्धानि वा अवधिभ्रष्टाकिंऽपि जा-
यमानं स्वावगाहदेशादारभ्य निरन्तरं प्रकाशयति कोऽपि पुन-
रपान्तराद्ये अन्तरं कृत्वा परतः प्रकाशयति, तत उच्यते--सम्प-

कान्यसंपद्धानि धोति जानाति विदोषाकारेण परिच्छिन्नसि,
पश्यति सामान्याकारेणाबुध्यते, अन्यत्र देशान्तरगतो नैव पश्य-
ति; अयधिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य तत्क्षेत्रसापेक्षत्वात् । तदेव-
मुक्तमनानुगामिकम् । न० । कर्म० ।

अण्णाणुगिष्-अनानुगृह्-त्रि०। अनाशक्ते, 'से' एतन् जाण म-
णेसण च, अणस्स पाणस्स अण्णाणुगिष्' सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।
अण्णाणुतावि- (ए)-अनानुतापिन्-पु०। अपवादपदेन कायाना-
मुपद्रवेऽपि कृते पश्चादनुतापसहिते, व्य० २ उ० । हा । दुष्टु कृत-
मित्यादि पश्चात्तापमकुर्वति नि.शङ्क, निर्दये च प्रयत्नमाने,
पृ० ३ उ० ।

अण्णाणुताविसि दारम्-

वितियपदे जो तु परं, तावेत्ता ण्णाणुतप्पते पच्छा ।

सो होति अण्णाणुतावी, किं पुण दप्पेण सेविता ? ॥४७३॥

वितियं अववातपद्, तेण अववातपदेण जो साहु परा पुढिकाया
तेजोसघट्टणपरिताघणवद्वयेण वा तावण करेत्ता, पच्छा ण्णाणुत-
प्पति, जहा हा । दुष्टु कय, सो होति अण्णाणुतावी-अपच्छत्तावीत्य-
र्थः । कारणवितियपदेण जयणाए पमिसेविकुण अपच्छत्तावियाणो
अण्णाणुतावी पमिसेवा जयति, किं पुण जो दप्पेण पमिसेविता
नानुतप्पते इत्यर्थः । अण्णाणुतावि सि गतम् । नी० चू० १ उ० ।

अण्णाणुपुव्वी-अनानुपूर्वी-स्त्री०। न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी, आनुपू-
र्वीपश्चानुपूर्वीरूपप्रकारद्वयातिरिक्तस्वरूपायामपरिपाटी, अनु० ।
(अनानुपूर्वी आनुपूर्वी सह सम्मिश्रितो विषय 'आणुपुव्वी'
शब्दे द्वितीयनागे १३१ पृष्ठे वक्ष्यते, लोफालोकादीना पूर्वपश्चा-
द्भावोऽनानुपूर्वित्यादि च 'रोहा' शब्दे वक्ष्यते)

अण्णाणुवधि (ए)-अननुवन्धिन्-न०। नानुयन्धोऽननुयन्ध, सो-
ऽस्त्यस्मिन्निति । न विद्यतेऽनुयन्ध सातत्य प्रस्फोटकादीनां
यत्र तदनुयन्धि, इन् समासान्तोऽत्र दृश्य । नानुयन्धि अननुय-
न्धि । स्था० ६ ठा० । अप्रमादप्रत्युपेक्षणविधिभेदे, प्रत्युपेक्षण च
न निरन्तरमावोटादि, किं तर्हि, सान्तर सविच्छेदमिति तत्त्वम् ।
धर्म० ३ अधि० । औ० । नि० चू० । उ० ।

अण्णाणुवत्ति [ए]-अननुवत्तिन्-त्रि०। प्रवृत्तव निष्ठुरे, पृ० १ उ० ।

अण्णाणुवाइ [ए]-अननुवादिन्-पु०। वादिनोक्त साधनमनु-
वदितु शीघ्रमस्येत्यनुवादी, तत्प्रतिपेधादननुवादी । व्याकुलम-
नस्त्वेनानुवादमपि कर्तुमशक्ते, " से मुमुर्ह होइ अण्णाणुवाइ "
सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अण्णाणुवीडत्तु-अननुविचिन्त्य-अव्य० । पश्चादविचार्येत्यर्थः,
सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अण्णातावय-अनातापक-त्रि० । सस्तारकपात्रादीनामातपेऽ-
दातरि, [साधौ] कल्प० ।

अणातीय-अनातीत-पु० । आ समन्तादतीत इतो गतोऽनाद्यन-
न्तससरे आतीतः, न आतीतोऽनातीतः । ससारार्णवपारगामि-
नि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अणादि-अनादि-त्रि० । प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, उ० ४ अ० ।
आ० म० द्वि० । ज० ।

अणादिय-अनाहत-पु० । अम्बुद्धीपाधिपतौ व्यन्तरसुरे,
उ० १० अ० ।

अनादिक-पु०। नास्यादि' प्रथमोत्पत्तिर्दिद्यते इत्यनादिकः । चतु-
र्दशरज्ज्यात्मके धर्माधर्मादिके वा द्रव्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।
दोषविशेषे, वृ० ३ उ० [व्युत्पत्तिस्तु 'अणादिय' शब्दे निरूपिता]
प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, । त्रि० न० व० । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणादिक-त्रि० । अण पापकर्म आदिकारण यस्य सोऽणादि-
कः । पापकार्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अण्णातीत-त्रि०। अधर्मेन देयद्वयमतिक्रान्ते, " पचविहो पञ्चतो
जिणेहि इह अण्हवो अणादियो " प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अण्णाणुच्छिद्यचारि (ए)-अनापृच्छयचारिन्-पु० । गणमनापृ-
च्छय चरति क्षान्तरसकमादि करोतीत्येवंशीतोऽनापृच्छयचा-
री । नो आपृच्छय चारिणि पञ्चम विग्रहस्थान प्राप्ते, स्था०
१ ठा० १ उ० ।

अण्णावाह-अनावाध-पु० । अवगाहो, वृ० ३ उ० । वाधाव-
र्जिते, दश० ६ अ० । न विद्यते आवाधा जन्मजरामरणकृत्पिपा-
सादिका यत्र तदनावाधम् । स्वाभाविकवाधापगमतो मोक्षसुखे,
स्था० १० ठा० । स्याद्यायाद्यन्तरायकारणरहिते, उ० ३५ अ० ।
" हेइ अण्णावाहणिमित्त-मचेयणमणाउलो निहणो " अनावाधा-
निमित्तमनावाधाकार्यम्, निमित्तशब्द कार्यवाचक । तथा लो-
के घकारो भवन्ति-अनेन निमित्तेन अनेन कारणेन मयेद कार्य-
मारब्धमनेन कार्येणेत्यर्थः । आ० म० द्वि० ।

अण्णावाहमुहानिक्खि (ए)-अनावाधमुखानिक्काङ्गिन्-पु० ।
मोक्षसुखाभिज्ञापिणि, दश० १ अ० ।

अण्णाणिगह-अनभिग्रह-न० । न विद्यते अभिग्रह इदमेव
दर्शनं शोभन नान्यदित्येवंरूपो यत्र तदनभिग्रहम् । मिथ्या-
त्यभेदे, यदशात्सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानीत्येवमीपत्सा-
धर्म्यमवलम्ब्यते । प० स० १ द्वा० ।

अण्णाभोग-अनाभोग-पु० । आभोगनमाभोग, न आभोगोऽ-
नाभोगः । प० व० २ द्वा० । अत्यन्तविस्मृती, आनु० । पचा० ।
जीत० । नि० चू० । व्य० । एकान्तविस्मृती, आ० चू०
६ अ० । अज्ञाने, नि० चू० २ अ० । आभोगनमाभोगः, उपयो-
गविशेष इत्यर्थः । अनुपयोगे, आव० ४ अ० । असावधान-
तायाम्, ध० २ अधि० । न विद्यते आभोगः परिभावन यत्र
तदनाभोगम् । तच्चैकेन्द्रियादीनामिति । प० स० ३ द्वा० ।
विचारशून्यस्यैकेन्द्रियादेर्वा विशेषज्ञानविकलस्य भवति ।
इद सर्वाशविषयाव्यक्तबोधस्वरूप विवक्षित किञ्चिदशाव्यक्त-
बोधस्वरूप चेत्यनेकविधम् । ध० २ अधि० । दर्श० । कर्म० ।

अण्णाजोगक्काण-अनाभोगध्यान-न० । अनाभोगोऽत्यन्त-
विस्मृतिः, तस्य ध्यानम् । विस्मृतप्रतप्रसन्नचन्द्रस्येव ध्याने,
आनु० । [' पसण्चद ' शब्दे चैतत् कथानकम्]

अण्णाभोगकय-अनाभोगकृत-न० । अनाभोगेन कृत जनि-
तम् । अज्ञानकृते, कर्म० ५ कर्म० ।

अण्णाभोगकिरिया-अनाभोगक्रिया-स्त्री० । अनाभोगप्रत्यये
क्रियाभेदे, अनाभोगक्रिया द्विविधा-आदाननिक्षेपणाऽनाभोग-
क्रिया, उत्क्रमणानाभोगक्रिया च । तत्राऽऽदान रजोहरणपात्र-
चीवरादिकानामप्रत्युपेक्षिता, अप्रमाजितानामनाभोगेनाऽऽ-
दाननिक्षेप । उत्क्रमणानाभोगक्रिया-लहनक्षवनधावनासमी-
क्षागमनागमनादि । आ० चू० ४ अ० ।

अणानोगणिव्वत्तिय-अणानोगनिर्वर्तित-पुं० । अज्ञाननिर्वर्तिते, स्था० ।

अणानोगपणिसेवणा-अनाभोगप्रतिसेवना-स्त्री० । अनाभोगो विस्मृतिस्तत्र प्रतिसेवना । प्रतिसेवनाभेदे, स्था० १० ठा० । (अनाभोगप्रतिसेवनायाः स्वरूप ' पडिसेवणा ' शब्दे दर्शयिष्यते)

अणानोगभव-अनाभोगभव-पुं० । विस्मरणसद्भावे, " इय चरणम्मि ठियाणं, होइ अणानोगभावओ खलणो " पंचा० १७ विव० ।

अणानोगया-अनाजोगता-स्त्री० । आभोगराहिततायाम्, कर्म० ५ कर्म० ।

अणानोगव-अनाजोगवत्-त्रि० । अनाभोगोऽपरिज्ञानमात्रमेव केवलं ग्रन्थार्थादिषु सूक्ष्मबुद्धिगम्येषु, स विद्यते यस्य स तथा । श्रुतार्थापरिज्ञातरि, " यो निरनुबन्धदोषा-च्छास्त्रोऽनाभोगवान् वृजिनभीरुः " पौ० १२ विव० । समूर्च्छनजप्राये अज्ञानिनि, डा० १० डा० ।

अणानोगवत्तिया-अनाभोगप्रत्यया-स्त्री० । अनाभोगोऽज्ञानादि । अज्ञान प्रत्ययो निमित्त यस्याः सा तथा । स्था० २ डा० १ उ० । पात्राद्याददतो निक्षिपतो वा सम्भवति क्रियाभेदे, स्था० ५ डा० २ उ० । " अणानोगवत्तिया किरिया दुविहा पण्णा । न जहा-अणाउत्तआयणया चेव, अणाउत्तपमज्जणया चेव " स्था० ५ डा० २ उ० । आ० चू० । आव० ।

अणामंतिय-अनामन्त्य-अव्य० । अनापृच्छयेत्यर्थे, आच्वा० २ श्रु० १ अ० ए उ० ।

अणामियावाही-अनामिकव्याधि-पुं० । नामरहिते व्याधौ, अनामिको नामरहितो व्याधिरसाध्यरोगः । त० ।

अणायविल-अनाचामल्ल-त्रि० । आन्नामाल्लविरहिते, आव० ६ अ० ।

अणायग-अनायक-पुं० । न विद्यतेऽन्यो नायकोऽस्येत्यनायकः । स्वयंप्रभे चक्रवर्त्यादौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अज्ञातक-त्रि० । अस्वजने, नि० चू० ८ उ० । अप्रज्ञापने, नि० चू० ११ उ० ।

अणाययण-अनायतन-न० । न आयतनमनायतनम् । अस्थाने, वेश्यासामन्तादिरूपे दश० १ अ० । साधूनामनाश्रये, प्रश्न० ४ सम्ब० डा० । नाश्रयशालायाम्, अश्वपतितजन्तुगुणशालायाम्, प० चू० । पार्श्वस्थाधायतने, आव० ३ अ० । पशुपण्डकससक्ते वा स्थाने, ओ० ।

इदानीमनायतनस्यैव पर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—

सावज्जमणाययणं, असोहिठारणं कुसीलसंसगि ।

एगछा होंति पया, एए विवरीय आययणा ॥ १०८६ ॥

सावद्यमनायतनमशोधस्थानकुशीलससर्गि एतान्येकार्थिकानि पदानि भवन्ति । एतान्येव च विपरीतानि आयतन भवन्ति । कथम् ? असावद्यमनायतन शोधस्थान सुशीलससर्गीति । अत्र चानायतन वर्जयित्वा आयतन गवेषणीयम् ।

एतदेवाह—

वज्जित्तु अणाययणं, आययणगवेसणं मदा कुज्जा ।

तं तु पुण अणाययणं, नायव्वं दव्वजावेण ॥ १०८७ ॥

वर्जयित्वा अनायतनमायतनस्य गवेषण सदा सर्वकालं कुर्यात् । तत्पुनरनायतनं ख्यतो प्रायतश्च चिक्षेयम् ।

तत्र ख्यानायतन प्रतिपादयन्नाह—

दव्वे रुद्धाघरा, अणाययणं भावओ दुविहयेव ।

लोइय लोउत्तरियं, नत्थ पुण लोइयं इणमो ॥ १०८८ ॥

ख्ये ब्रव्यविषयमनायतन रुद्धादिगृहम् । इदानीं प्रायतोऽनायतनमुच्यते । तत्र प्रायतो द्विविधमेव-लौकिक, लोकोत्तर च । तत्रापि लौकिकमनायतनमिदं वर्तते—

खरिया तिरिक्खजोणी, तालायर समण माहण मुसाणे ।

वागुरिय बाह गुम्मिय-हरिणसपुल्लिदमच्छिबंधा या ॥ १०८९ ॥

खरिकेति ध्वकारिका यत्राऽस्ते तदनायतनम्, तथा तिर्यग्योनयश्च यत्र तदप्यनायतनम्, तालाचराश्चारास्ते यत्र तदनायतनम्, श्रमणा शाक्यादयस्ते यत्र, तथा ब्राह्मणा यत्र तदनायतन, श्मशान चानायतनम्, तथा वागुरिका व्याघ्रागुल्मिका व्युत्पन्निबालाः हरिणसा पुलिन्दा मत्स्यवन्ध्याश्च यत्र तदनायतनमिति ।

एतेष्वनायतनेषु कृणमपि न गन्तव्यम्, तथाचाह—

खणमवि न खमं गंतुं, अणाययणसेवणा सुविहियाणं ।

जं गंधं होइ वणं, तं गंधं मारुओ कइ ॥ १०९० ॥

कृणमपि न कृम न योग्यमनायतन गन्तुं, तथा सेवना च अनायतनस्य सुविहितानां कर्तुं न कृमा न युक्ता । यतोऽयं दोषो जवति—“ ज गंधं होइ वणं तं गंधं मारुओ वाइ ” । सुगमम् ।

जे अन्न एवमाई, लोगम्मि दुगंठिया गरहिया य ।

समणाण व समणीण व, न कप्पई तारिसो वासो ॥ १०९१ ॥

येऽन्ये एवमादयः लोके जुगुप्सिता गर्हिताश्च द्व्यकारिकाधनायतनविशेषा, तत्र श्रमणानां श्रमणीनां वा न कल्पते तादृशो वास इति । उक्तं लौकिक भावानायतनम् ।

इदानीं लोकोत्तर प्रायानायतन प्रतिपादयन्नाह—

अहं लोउत्तरियं पुण, अणाययणं भावओ मुण्येव्वं ।

जे सजमलोणाण, करिति हाणिं समत्था वि ॥ १०९२ ॥

अथ लोकोत्तर पुनरनायतन भावत इदं ज्ञातव्यम् । ये प्रव्रजिताः समययोगानां कुर्वन्ति हानिं समर्था अपि सन्ति, तल्लोकोत्तरमनायतनम् । तैश्च एवविध ससर्गो न कर्तव्यः । (कुशीलससर्गो दोषाः ' किइकम्म ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यन्ते)

नाणस्स दंसणस्स य, चरणस्स य जत्थ होइ उवघाओ ।

वाज्जिज्जवज्जभीरु, अणाययणवज्जओ खिप्पं ॥ १०९३ ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्रस्य च यत्रायतने भवति उपघातस्तत्र जयेदवघाभीरुः साधु, किंविशिष्ट ? अनायतन वर्जयतीति अनायतनवर्जकः । स एवविधः किंप्र अनायतनमुपघातरूप वर्जयेदिति ।

इदानीं विशेषतोऽनायतनप्रदर्शनायाह—

जत्थ साहम्मिया बहवे, जिन्नचित्ता अणारिया ।

भूदग्गुणप्पणिसेवी, अणाययणं तं वियाणाहि ॥ १०९४ ॥

सुगमा, नवर, मूलगुणाः प्राणातिपातादयस्ताप्रतिसेवन्ति इति मूलगुणप्रतिसेविनस्ते च निवसन्ति तदनायतनमिति ।

जत्थ साहम्मिया बहवे, जिन्नचित्ता अणारिया ।

उत्तग्गुणपणिसेवी, अणाययणं तं वियाणाहि ॥ १०९५ ॥

सुगमा, नवर, उत्तरगुणाः 'पिंडरस जा विसोदी' इत्यादि तत्प्रतिषेधिनो ये ।

जन्तु साधस्मिया वहवे, भिन्नविज्ञा अणारिया ।

लिंगवेसपटिच्छन्ना, अणाययण त वियाणाहि ॥ १० ॥

सुगमा, नवर, लिङ्गवेसमात्रेण प्रतिच्छन्ना याणत, साध्यन्तरत पुनर्मूलगुणसेधिन उत्तरगुणसेधिनश्च, ते यत्र तदनायतनमिति । उक्तं लोकोत्तर भावानायतन तत्प्रतिपादनायोक्तमनायतनस्वरूपम् । ओ० ।

अणाययणे चरंतस्त, संसर्गाय अभिक्खणं ।

होञ्ज वयाण पीळा, मापवम्मि य संसर्गो ॥ १० ॥

अनायतने अस्थाने घेद्यासामन्तादौ, चरतो गच्छत, मसर्गेण सम्यन्धेन, अभीक्ष्ण पुन शक्तिमित्याह-अवेद प्रताना प्राणातिपातविरयादीना पीळा, तदा क्षित्तवतसो भावविराधना, धाम-स्ये च धमनभावे च छव्यतो रजाहरणादिधारणरूपे चूयो भावमनप्रधानदेतौ सशय कदाचिदुत्तिष्कामत्येवैतयर्थ । तथा च पृच्छ्या-“येसादिगयभावस्म, मेहुण पीळिञ्ज, अणुच-भोगेण एमणाकरणे हिमा, पडुपायणे अणुपुच्छणययलयाणा-ऽमद्ययण, अणुगुणायेसादृष्टमणे अदृष्टाण, ममत्तकरणे परिगहो, एव सञ्चययपीळा । इ-धमामने पुण ससलो उणि-फ्तमणेण सि ” सूत्रार्थः । दन० ५ अ० १ उ० ।

अणाययणपरिहार-अनायतनपरिहार-पु० । आयतन पार्थ-स्थादिकुर्त्त। पिण्डेय्याविदग्गद्वादिपुस्थानधर्जने, दर्श० ।

अणाययणमेवण-अनायतनसेपन-न० । पार्थस्यापतनज-जने, आय० ३ अ० ।

अणायर-अनादर-पु० । तिरस्कारे, को० । अनुत्साहात्मिके सामाधिकप्रततिचारमेदे, स च प्रतिनियतयेलाया सामायि-कस्याकरण, यथाकथञ्चिच्च करणान्तरमेव पारणं च । यदा-ह-“काठण तफरणं चिय, पारेड फरेड चा जहिच्छाण । अणवठि-असामाद्व-अणायराओ न त सुद्ध” ॥ १॥ धर्म० ५ अधि० प्रथ० ।

अणायरंत-अनाचरत-त्रि० । विप्रजयति, “पाघमणायरते ” पापमागमनिषिक्त कर्म, अनाचरन् विप्रजयन् । पचा० ११ विप्र० । अणायरणजोग-अनाचरणयोग-त्रि० । आसंवेनाऽनेहं, “सिक्खावेड अणायरणजोगो ” पञ्चा० १० विप्र० ।

अणायरणया-अनाचरणता-खी० । गौणमोहनीयकर्मणि, सम्म० ।

अणायरिय-अनार्य-पु० । आराट् याता सर्वहेयधर्मैरन्य इ-त्यार्या, तद्विपर्ययादनार्याः । क्रूरकर्मसु, आचा० १ ध्रु० ४ अ० २ उ० । शकयचनादिदेशोद्भवेषु, सूत्र० २ ध्रु० १ अ० ।

अणायम-अनायस-त्रि० । अलोहमये, नि० चू० १ उ० ।

अणाय-अनात्मन्-पुं० । न आत्मा अनात्मा । घटादिपदार्थे, ‘एने अणाय’ सप्रदेशार्थतयाऽसत्येयानन्तप्रदेशोऽपि तथाविधैक-परिणामरूपव्यवर्थापेक्षया एक एव, सन्तानापेक्षयाऽपि, तुल्य-रूपापेक्षया तु अनुपयोगलक्षणैकस्वभावयुक्तत्वात्कथाञ्चिद्विश-स्वरूपाणामपि धर्मास्तिकायादीनामनात्मनामेकत्वमवसेयामि-ति । स० १ सम० । परस्मिन् “अणायान अवक्रम” भ० १ श० ४ उ० ।

अणायण-प्रनादान-न० । अकारणे, “अणायणमेव अभिग-दियसिञ्जासणियस्स ” कण्ठ० ।

अणायार-अनाचार-पु० । आचरणमाचारः, आधाकर्मादिप-रिहरणपरिष्ठापनरूपोऽनाचारोऽनाचारः । आधाकर्मादिप्रहणे, आतु० । साध्याचारस्य परिभोगतो ध्यसे, ध्य० १ उ० । आय० । ध० । (अनाचारव्याख्याऽऽधाकर्माऽऽश्रित्य ‘अहङ्ग’ शब्दे अत्रैव भागे २ पृष्ठे कृता) आचरणीयः श्रावकाणामाचारः, न आचा-रोऽनाचारः । अनाचरणीये “अणायारे प्राणिच्छियव्ये ” ध० २ अधि० । शास्त्रयिदितस्य व्यवहारस्याभावे, ग० ७ अधि० ।

अथ साधूना यदनाचरित तत्तत्तमामनेन व्यासेन च प्रदर्शयाम । तत्र दशैकालिके द्वितीयाध्ययने—

संजये मुष्टि अप्पाणं, निप्पमुक्काण ताङ्गं ।

तेसिमेयमणाङ्गणं, निगथाण महेसिणं ॥ १ ॥

इह सहितान्धिक्रम गुणान् । भावार्थस्वयम्-संयमे हुमपुष्पि-काव्यावर्जितस्वरूपे शोभनेन प्रकारेणाऽऽगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते सुस्थितात्मानः, तेषाम् । न पच विशेष्यन्ते-विविधमनेकै प्रकीर्त-प्रकरणेण भावसारेण मुक्ता परित्यक्ता बाह्याभ्यन्तरेण प्र-न्येनेति विप्रमुक्ता, तेषाम् । न पच विशेष्यन्ते-प्रायन्ते आत्मान प-रमुनय चेति प्रातार, आत्मान प्रत्येकमुक्ता, पर तीर्थकरा, स्व-तस्तीर्णत्वाद्भय स्थधिरा इति । तेषामिदं वक्ष्यमाणलक्षणमना-चरितमकटपम् । केषामित्याह-निर्ग्रन्थाना साधूनामभिधानमेत-त् । महान्तस्तते ऋषयश्च महर्षयो यतय इत्यर्थः । अथवा महान्त-मपि तु शीलं येषां ते महेयिणस्तेषाम् । इह च पूर्वपूर्वजाय पथो-त्तरानारभावो नियतो देतुदेतुमद्भावेन वेदितव्यः । यत एव सयमे सुस्थितात्मानः अत एव विप्रमुक्ता । सयमसुस्थिताऽऽ-त्मनिय धनत्वादिप्रमुक्ते । एव शेषेष्वपि भावनीयम् । अन्ये तु पथानुपूर्व्यां देतुदेतुमद्भावमिदं वर्णयन्ति-यत एव महर्षयः । अत एव निर्ग्रन्थाः । एव शेषेष्वपि छट्यमिति सूत्रार्थः ।

साम्प्रतं यदनाचरित तदाह—

उदेमियं कीयगमं, नियागमजिह्वाणि य ।

राज्जत्ते सिणाणे य, गंधमद्वे य वीयणे ॥ २ ॥

(उदेमियं ति) उद्देशान साध्याधाधित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः, तत्र भयमौद्देशिकम् (१), क्रयण क्रीत, भावे निष्ठाप्रत्ययः । साध्यादिनिमित्तमिति गम्यते । तेन कृतं निर्वर्तितं क्रीतकृतम् (२), नियागमित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य प्रदण नित्य तत्त्वनाम-न्त्रितस्य (३), (अजिह्वाणि यंति) स्वग्रामादेः साधुनिमित्त-मजिमुखमानीनमन्याहृतम्, बहुवचन स्वग्रामपरग्रामनिशान्ति-दिभेदव्यापनार्थम् (४), तथा रात्रिभक्त रात्रिजो जन दिवसगृही-तद्विचसनुक्ताद्विचनुर्भङ्गलक्षणम् (५), स्नानं च देशसर्वज्ञेद-न्नित्र देशस्नानमधिष्ठानशौचानिरेकेणाक्षिपद्मप्रक्षालनमपि । सर्वस्नानं तु प्रतीनम् (६), तथा गन्ध माख्यं च, गन्धग्रहणा-त्कोष्ठपुत्रादिपरिग्रहः, माख्यग्रहणाच्च प्रथितवेष्टितादेर्मौल्यस्य (७), वीजन व्यजनं ताम्रवृत्तादिना धर्म एव, इन्द्रमनाचरितम् (८), दोषाश्चोद्देशिकादिपवारम्भप्रवर्तनादयः स्वधियाऽवगन्त-व्या इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

संनिही गिहिमत्ते य, रायपिमे किमिच्छे ।

संवाहणं दंतपहावण य, संपुच्छणे देहपलोयणा य ॥ ३ ॥

इदं चानाचरितमित्याह—(संनिहिं स्ति) सनिधीयतेऽनेनाऽऽत्मा दुर्गताविति सनिधिः । घृतगुणादीनां संचयक्रिया (६), गृहमत्र गृहस्थभाजनं च (१०), तथा राजपिण्डा नृपाहारः (११), किमिच्छतीत्येव यो दीयते स किमिच्छकः राजपिण्डोऽन्यो वा सामान्येन (१२), तथा सवाधनमस्थिमांसत्वग्रोम-सुखतया चतुर्विधं मर्दनम् (१३), दन्तप्रधावनं चाहुल्यादिना कालनम् (१४), तथा सप्रश्नः सावधो गृहस्थविषयः, रन्ध्रा-र्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपः (१५), देहप्रलोकनं चादर्शादौ (१६), अनाचरितम् । दोषाश्च सन्निधिप्रभृतिषु परिग्रहप्राणाति-पातादयः स्वधियैव वाच्या इतिसूत्रार्थः ॥ ३॥

अष्टावणं य नालीए, वृत्तस्तं य धारणं द्वाए ।

तेगिच्छं पाहणा पाए, समारंभं च जोइणो ॥ ४ ॥

अष्टापदं घृतम्, अर्थपदं वा, गृहस्थमधिकृत्य निमित्तादिविषय-म् (१७), अनाचरितम् । तथा नाहिका चेति घृतविशेषलक्षणा, यत्र माऽभूत्कक्षयाऽन्यथापाशकपातनमिति नाहिकया पात्यन्त इति । इयं चानाचरिता अष्टापदेन सामान्यतः घृतग्रहणे सत्यभिनिवेश-निबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यव्यापनार्थं जेदत उपादानम् ; अर्थपदमेवोक्तार्थं तदित्यन्ये अभिदधते । अस्मिन् पक्षे सकलघृ-तोपलक्षणार्थं नाहिकाग्रहणमष्टापदघृतविशेषपक्षे चोन्नयोरिति (१८), तथा वृत्तस्य च लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं प्रति वाऽनर्थायेत्यागाढगलानाद्याहम्वनं मुक्त्वाऽनाचरितम् । प्रा-कृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपो च छट्ठ्यौ, तथा श्रुतिप्रामाण्यादिति (१९), तथा (तेगिच्छं ति) । चिकित्साया भा-वश्चैकित्यस्य व्याधिप्रतिक्रियारूपम् [२०], तथोपानहौ पाद-योर्नाचरिते । पादयोरिति साभिप्रायकम् । न त्वापत्कल्पप-रिहारार्थमुपग्रहधारणेन [२१], तथा समारम्भश्च समारम्भ-णं च ज्योतिषोऽग्रे [२२], तदनाचरितम् । दोषा अष्टापदा-दीनां कृष्णा एवेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

सिज्जायर पिंमं च, आसदी पलिअंकए ।

गिहतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ ५ ॥

किञ्च—शय्यातरपिण्डोऽप्यनाचरितः । शय्या वसतिस्तथा नरति ससारमिति शय्यातरः साधुवसतिदाता, तत्पिरुः [२३], तथा आसदकपर्यङ्कौ अनाचरितौ । एतौ च लोकप्रसिद्धावेव [२४], तथा गृहान्तरनिषद्याऽनाचरिता । गृहमेव गृहान्तरं गृहयो-र्वा अपान्तरालं, तत्रोपवेशनं, चशब्दात्पाटकादिपरिग्रहः [२५] तथा गात्रस्य कायस्योर्ध्वतनानि चानाचरितानि । उर्ध्वतनानि प-ङ्कापनयनशृङ्गणानि । चशब्दादन्यसंस्कारपरिग्रहः [२६], इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

गिहिणो वेआवमिअं, जा य आजीववत्तिया ।

तत्तानिबुमभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥ ६ ॥

तथा (गिहिणो स्ति) गृहिणो गृहस्थस्य वैयावृत्यं व्यावृत्तस्य भावो वैयावृत्यं, गृहस्थं प्रत्यक्षादिसपादनमित्यर्थः [२७], एत-दनाचरितमिति । तथा चाजीववृत्तिता जातिकुलगणकर्मशिल्पा-नामाजीवनमाजीवस्तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता । जात्या-द्याजीवनेनात्मपात्रनेत्यर्थः [२८], इयं चानाचरिता । तथा तस्मा-निर्हृतभोजित्वं तप्तं च तदनिर्हृतं च अत्रिदणमोद्धृतं चेति वि-ग्रहः । उदकमिति विशेषणमन्यथाऽनुपपत्त्या गम्यते । तज्जो-जित्वं मिश्रसचित्तोदकभोजित्वमित्यर्थः [२९], इदं चानाचरि-

तम् । तथाऽऽतुरस्मरणानि च कुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मर-णानि च अनाचरितानि । आतुरस्मरणानि वा दोषाऽऽतुराभ-यदानानि (३०), इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

मूलए सिंगेवेरे य, उच्चुरखंमे अनिच्चुदे ।

कदे मूले य सच्चित्ते, फले वीए य आमए ॥ ७ ॥

किञ्च (मूलए स्ति) मूलको लोकप्रतीतः (३१), शृङ्गवेर चार्द्धकम् (३२), तथेकुल्लाम् च लोकप्रतीतम् (३३), अनिर्वृ-तग्रहणं सर्वत्राजिसवध्यते । अनिर्वृतमपरिणतमनाचरितमिति, इकुल्लाम् चापरिणतं द्विपर्वान्तं यच्चर्तते; तथा कन्दो वज्रकन्दा-दिः (३४), मूलं च सद्रामूलादि सचित्तमनाचरितम् (३५), तथा फलं त्रपुण्यादि (३६), वीजं च तिलादि [३७], आमक सचित्तमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

सोवच्चदे सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए ।

सामुदे पंसुखारे य, काट्ठालोणे य आमए ॥ ८ ॥

किञ्च (सोवच्चले स्ति) सौवर्चलम् (३८), सैन्धवम् (३९), लवणं च सौमरलवणम् (४०), कमालवणं च (खानिलवणम्) (४१), आमकमिति सचित्तमनाचरितम् । सामुद्रं लवण-मेव (४२), पांसुक्षारश्चोपरलवणम् (४३), कृष्णलवणं च (४४), सैन्धवलवणं पर्वतैकदेशजम्, आमकमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

धूवणे स्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।

अंजणे दंतवसे य, गायान्जंग विचूसणे ॥ ९ ॥

किञ्च (धूवणे स्ति) धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम् । प्राकृ-तशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूपनमित्यन्ये व्याचक्षते (४५), वमनं मदनफलादिना (४६), वस्तिकर्मं पुटकैनाधि-ष्ठाने स्नेहदानम् (४७), विरेचनं दन्त्यादिना (४८), तथाऽब्जजं रसाब्जनादिना (४९), दन्तकाष्ठं च प्रतीतम् (५०), तथा गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना (५१), विचूषणं गात्राणामेवेति (५२), सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

क्रियासूत्रमाह—

सव्वमेयमणाइअं, निगंथाणं महेसिणं ।

संजमामि अ जुत्ताणं, लहुचूयविहारिणं ॥ १० ॥

(सव्वमेयं ति) सर्वमेतदौद्देशिकादि यदनन्तरमुक्तं तदना-चरितम् । केषामित्याह—निर्ग्रन्थानां महर्षीणां साधूनामित्याह । त एव विशेष्यन्ते—सयमे चशब्दात्तपसि युक्तानामभियुक्ता-नां, बहुभूतविहारिणां बहुभूतो वायुः, ततश्च वायुचूतोऽप्रतिब-द्धतया विहारो येषां ते लघुचूतविहारिणस्तेषाम् । निगमनक्रि-यापदमेनदिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

किमित्यनाचरितं यतस्त एवंब्रूता भवन्तीत्याह—

पंचासव परिष्साया, तिगुत्तां वसु संजया ।

पंचनिगहणा धीरा, निगंथा वज्जुदसिणो ॥ ११ ॥

(पंचासव स्ति) पञ्चाश्रवा हिंसादयः परिज्ञाता द्विविधया परिज्ञया—रूपपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च । परि समन्ताद् ज्ञा-ता येस्ते पञ्चाश्रवपरिज्ञाताः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्न निष्ठायाः पूर्वनिपात इति समासो युक्त एव । परिज्ञातपञ्चाश्रवा इति वा । यत एव चैवभूता अत एव त्रिगुता मनोवाकायगु-प्तिभिः । षट्सयताः षट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु साम-

स्त्येन यता. [पच निमाहणा इति] निगृह्णन्तीति निग्रहणाः, क-
र्त्तरि ल्युट् । पञ्चाना निग्रहणाः, पञ्चानामती-क्षयाणाम् । श्रीरा
युक्तिमन्त स्थिरा वा । निर्मं धाः साधय । ऋजुदक्षिण इति ।
ऋजुमोक्षं प्रति ऋजुन्याद् सयम, त पश्य-त्युपादेयतयेति ऋजु
दक्षिण. सयमप्रतिष्ठा इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

ते च ऋजुदक्षिण. काष्ठमधिष्ठय यथाशक्त्येतत्तुर्वन्ति—

आयावयति गिम्हेसु. हेमन्तेषु अवावभा ।

वासायु पदिसंलीणा. संजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥

(आयावयति ति) आतापयन्त्युर्गुस्थानादिना आनायना कुर्व-
न्ति, ग्रीष्मपूष्णकालेषु, तथा हेमन्तेषु शीतकालेष्वप्रापुता इति
प्राथम्येण रहितास्तिष्ठन्ति । तथा वर्षासु वर्षाकालेषु प्रतिसंलीना
कृत्यंकाधयस्या भवन्ति । सयता साधय, सुसमाहिता ज्ञाना.
दिषु यत्नपरा । ग्रीष्मादिषु बहुयत्न प्रतिपत्करणप्राप्त्यर्थ-
मिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

परीमहरिक्त दंता, धूमोद्वा निहंदिता ।

सन्वदुस्खयहीणहृता, पक्ष्मन्ति महोमिणो ॥ १३ ॥

(परीमह ति) मार्गाच्यघननिर्जराऽर्थं परिपोदव्या' कृत्विपा-
सादय, त एव रिपवस्तत्तुल्यधर्मत्वात्परीपदरिपय, ते, दान्ता
वपशम नीता येस्ते परीपहरिपुदान्ता. । समास पृथक् । तथा
धृतमोहा चिकित्समारा इत्यर्थ, मोहोऽज्ञानम् । तथा जितेन्द्रि-
या शब्दादिषु रागद्वेषरहिता इत्यर्थ । त पयजूता. सर्वदुःख-
प्रक्षयार्थं शारीरमानसाक्षेपदुःखप्रक्षयनिमित्त, प्रक्रामन्ति प्रय-
तन्ते । किंजुता ? ; महर्षय साधय इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

इदानीमेतेषा फलमाह—

दुकराडं करिच्छाण, दुम्महाडं सहितु य ।

केड त्य देवलोणमु, केड सिज्जाति नीरया ॥ १४ ॥

(दुकराडं ति) पत्र दुष्कराणि कृत्वादिशिकादित्यागादीनि,
तथा दुःसहानि सहित्या तापनादीनि, केचन तत्र देवलोणेषु
सौधर्म्यादिषु गच्छन्तीनि चाप्यशेष. । तथा केचन सिञ्चन्ति
तेनैव मयेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । घटमाननिर्देशं सूत्रस्य त्रिका-
लविषयत्वज्ञापनार्थः । नीरजस्का इत्यर्थविधकर्मविप्रमुक्ता न त्वे-
केन्द्रिया इव कर्मयुक्ता एवेति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

येऽपि त्रैविध्यानुष्ठानतो देवलोकेषु गच्छन्ति, तेऽपि ततश्च्यु-
ता आर्यदेशेषु सुकुल जन्मावाप्य शोभन्ति स्तुत्येवेत्याह—

खवित्ता पुव्वकम्माडं, संजमेण तवेण य ।

सिद्धिमगमणुप्पत्ता, ताण्णो परिणिव्वुमे । १५ ति वेमि ।

(खवित्ति ति) ते देवलोकेच्युता, क्षयित्वा पूर्वकर्माणि सा-
वशेषाणि । केनेत्याह—सयमेनैकवक्त्रेण, नपसा च, पच प्र-
वाहेण सिद्धिमार्गं सम्यग्दर्शनादिवक्त्रेणमनुप्राप्ता सन्तस्त्रानार-
आत्मादीनां परिनिर्वान्ति सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । अन्ये तु
पवन्ति- (परिनिव्वुड ति) तत्रापि प्राकृतशैल्या गन्दसत्त्वाद्याय-
मेव पात्रो ज्यायानिति । ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥
दश०३अ० उक्त समासतोऽनाचरितम् । अथ विशेषतस्तद्वच्यते-
" आसूणी मक्खिराग च, गिद्धुपग्यायकम्मग । उच्चोवण च
कक्क च, त विज्जं परिजाणिमा " ॥ १५ ॥ सूत्र० १ शु० ६ अ० ।
(अस्या व्याख्या ' धम्म ' शब्दे कृष्टव्या)

आदर्शादौ मुखदर्शनादि करोति—

जे निक्खु मंतए अप्पाण देहइ, देहंतं वा साज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खु अदाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खु असाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साज्जइ ॥ १८ ॥

जे निक्खु मणीए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खु उड्डयाणाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साज्जइ ॥ २० ॥

जे निक्खु तेणे अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साज्जइ ॥ २१ ॥

जे निक्खु फाणिए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साज्जइ ॥ २२ ॥

जे निक्खु वसाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साज्जइ ॥ २३ ॥

मत्तगो दप्पणम्म भरितो तत्थ अप्पणो मुह पत्तोयाति जां, त-
त्तस्स भाणादिया दोसा । चउल्लहु वा से पच्छित्त । एव पन्निग-
हादिषु विसेसपट्ठाण इमा सगहणी गाहा—

दप्पणं मणि आचरणे, सत्यु दए जायणऽनतरए य ।

तेद्वं महु सप्पि फाणित-मज्ज वसा मृत्तमाटीसु ॥ ५६ ॥

दपणमादर्श, स्फटिकादि मणि, स्थानकादि आभरण, स्वरुगा-
दि शस्त्रं, वफानीयम, तथा अन्यतरे कुराडादिभाजने स्थित, ति-
लादिज तैलं, मधु प्रमिद, सर्पिर्घृतं, फाणित विट्ठुगुनो, मज्ज
मत्वाहीण, घसा, सुत्त, मज्जे कज्जति इत्युत्तरं वा गुडिया सुत्त
सव्ये मुत्तेसु जडासभय अप्पणो अचप्पुयित्तयथा जयणादिया
देहावयवा पत्तोपइ कोऽर्थ-तत्थ स्वरुप पडवति । चोदक आह-
किं तत् पडयति ? । आचार्य आह—ग्राम्भन्दायां पडयति । पुन-
रप्याह चोदक—कथमादित्यादिनामध्वज्जयजितित्वायादिजोग
प्रमुक्त्वा अन्यतोऽपि दृश्यते ? । आचार्य आह—अत्रोच्यते यथा-
परागोऽस्तीति प्रदीपशिखानामात्मस्वरूपानुरूपा प्रभा जाया
स्वत एव सर्वतो भवति, तथा सर्वपुद्गलद्रव्याणामात्मप्रज्ञाऽनुरू-
पा छाया सर्वतो जयत्यनुगलका वा इत्यतोऽन्यतोऽपि दृश्यते ।
पुनरपि चोदक आह—जति अप्पणो च्छाया देहति, तो कइ अप्प-
णो सरीरसारस्म वरणरुप पिच्छति ? ।

सप्रोच्यते—

भासा तु दिवा जाया, अभासरगता णिसिं तु काट्ठाभा ।

से मव्वे भासरगत, सदेहवणा गुणयव्वा ॥ ६० ॥

आदित्येनावजासिनो दिवा अभास्वरे अदीप्तिमति चम्यादि-
के छव्ये वृक्षादीना निपतिना जाया जायैव दृश्यते । अनिर्व्यञ्जि-
ताऽवयवा वर्णत इयामाऽऽज्ञा तस्मिन्नेवाभास्वरे छव्ये भूम्या-
दिके रात्रौ निपतिना जाया वर्णत कृष्णा भवति । जया पुण स-
व्ये च छाया दीप्तिमति दर्पणादिके छव्ये निपतिता दिवा रा-
त्रौ वा तदा वर्णत शरीरवर्णत शरीरवर्णव्यञ्जितावयवा च
दृश्यते । सा च जाया सदृशी न भवति । चोदक आह—यदि
जाया सदृशी न भवति सा कथं न भवति, किं वा तत्पडयति ? ।
अत्रोच्यते—

उज्जोयफुमम्मि तु द-प्पणम्मि संजुज्जते जया देहो ।

होति तथा पडिविवं, जाया जइ जाससजोगो ॥ ६१ ॥

उज्जोयफुमो दर्पण निर्मल इयामादिविरहित तस्मि जडास-
रीर अण वा किंचि घभादि सयुज्यते तदा स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्र-
तिनिभ प्रवति घटादीनाम्, यदा पुण स दर्पणो सामय आवरितो,
गगण वा अन्नगादिहि आवरित तदा, तस्मि चेव आयरिसे
पगासद्विते देहादिसज्जते जायामात्र दिस्सइ । इदानीं सीसो
पुच्छति—त पविषिष जाय वा को पासति ? । तत्थ भवति—
समयपरसमयवत्तव्याप—

आदरिसपामिहयाओ-बलभंति रस्सी सरुवमन्नेसि ।

तं तु न जुज्जति जम्हा, पस्सति अत्ता ए रस्सीओ ॥६२॥

आत्मनः शरीरस्य या रश्मयः पद्मदिशं विनिर्गता तासां या आदर्शे अत्र-कृताः प्रतिहता रश्मयः, ता रश्मयो विम्बादिस्वरूपमुपलभन्ते । एषोऽभिप्रायोऽन्येषां परतन्त्राणाम् । जैनतन्त्रव्यवस्थिता आहुः-न युज्यते एतत्, यस्मात्सर्वप्रमाणानि आत्माधीनानि तस्मादात्मा पश्यति न रश्मयः । इदानीं पराभिप्रायेतिरस्कृते स्वपक्षः स्थाप्यते-‘उज्जोयफुरुस्मिंस्ति’ गाहा ।

एषोऽर्थस्तस्यार्थस्य स्थिरीकरणार्थं पुनरप्याह-

जुज्जति हु पगासफुमे, पमिविंवं दप्पणम्मि पस्संतो ।

जस्सेव जया चरणं, सो णया होति विंवं वा ॥ ६३ ॥

जुज्जते घटते फुडप्पगासे दप्पणे अप्पाण पलोएतो पमिविंवं प्रतिरूपं णिव्वजितावयव पस्सति । तच्च पस्सतस्स जया अभ्यादादि अप्पगासीचूत भवति तदा तमेव विंवं च्छाया दी-सति [विंवं] य वा पेक्खतस्स अभ्यादी आवरणावगमे तमेव च्छायं विंवं पस्सति णिव्वजितावयव प्रतिरूपमित्यर्थः ।

सीमो पुच्छति-कम्हा सव्वे देहावयवा आदरिसे ण पेच्छति अतो भन्नति-

जे आदरिसं वत्ता, देहावयवा इवंति एयणादी ।

तेमिं तत्थुवल्ल्ही, पगासजोगा ए इतरेसिं ॥ ६४ ॥

छद्मिं सरीरतेयरस्सिस्सु पधावितासु ज दिसि आदरिसो णितो ततो जे एयणहत्थादीं सरीरावयवादी । जे य आदरिसे ण वमिया तेसिं तस्मिं आदरिसे ण उवल्ल्ही भवति । जदिय आदरिसो अभ्यावगो सव्वागासेण संजुतो न अधकारव्यवस्थित इत्यर्थः । [इतरेसिं ति] जे आदरिसेण सह न संजुत्ता ते न तत्रोपलभ्यन्ते ।

एमेव य परविंवं, जं आदरिसे ए होइ मजुत्तं ।

तत्थ विहो उवल्ल्ही, पगासजोगा अदिट्ठे वि ॥ ६५ ॥

एवमित्यवधारणे । किम्हं अवधारयितव्यम्?, यदेतदुपलब्धिकारणमुक्तम् । अनेन उपलब्धिकारणेन यद् व्यज्यते घटादिरूपप्रतिविम्बमादर्शं सेयुज्यते । तत्रानुपलब्धिर्भवत्यात्मनोऽपश्यतोऽपि घटादिकम् । एव मणिमादिसु विभावयव्य, णवर, तेलुज्जादिसु जारिस विंवं आगासमतरेति नारिसमेव दीसते ।

एएसामणतरे, अप्पाणं जे उ देहते भिक्खू ।

मो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ६६ ॥

दप्पणमणिमादीयाण अण्वरे जो अप्पाण जोएति तस्स आणादिया य दोसा, चउल्लहुं वा से पच्छिच्छ । आयसजमं विराहणा य भवति, इमे य अण्वे य दोसा ।

गमणादीया रूवम-रूवं तु कुज्जा णिटाणमादीणि ।

वाउस-गारवकणं, खित्तादि निरत्थगुहाहो ॥ ६७ ॥

आदरिसादिसु अप्पाण रूववत् दद्दुं विस्सणं हजामिस्ति पमि-गमणं करोति, अस्सनिष्ठिप्पसु वा पविसति, सिद्धपुत्तो भवति, सिद्धपुत्तिं वा संवत्ति, सन्निगेण वा मज्जति पडिसेवति । विरूव वा अप्पाण दद्दुं णियाणं करोज्जा । आदिसहातो देवतारोहणादि वसीकरणजोगादि वा अधिजेज्ज, सरीरपाउसत्तं व करोज्जा । आदरिसे वा अप्पणो रूव दद्दुं सोभामिस्ति गारव करोज्जा

रूवेण हरिसिउं, विरूवो वा विसादेण खित्तादिवित्तो मवेज्ज, तं कम्मखणवेज्जिय निरत्थकं सागारियं दिट्ठे उद्धाहो ण एव तस्सी कामीए स अजिद्विउं स्ति उद्धाह करोज्जा । वितीयगाहा-वितियपदमणप्पज्जो, सेहो अवि कोवितो च अप्पज्जो ।

विस आयंका मज्जण-मोहातिगिच्छाए नाणमावि ॥ ६८ ॥

अणपज्जो परार्थीणत्तणं ते, सेहो अवि कोवितो अजाणत्तणतो जो पुण अप्पज्जो जाणगो से इमेहिं कारणेहिं अप्पाण आदरिसे देहति, सप्पादिविसेण अजिचूते जाहागहभलूतातके वा उवच्छिते आदरिसविज्जाए मज्झियव्व, तत्थ आदरिसे अप्पणो पमिविंवं गिज्जाणस्स चाउ मज्जति, ततो पप्पपति मोहातिगिच्छाए वा देह-ति । अहवा इमे कारणा-

पुप्फग गल्लगंडं वा, मंडलं दंतरोय जीह उट्ठे य ।

उच्चखुव्विसयट्ठिय वु-ट्ठिहाणि जाणट्ठ वा पेहो ॥६९॥

अप्पिस्मिं फुल्लग गळे वा गरु पसुत्ति ममल वा दत्ते वा को-तिघुणदतगादिरोगो अहवा जिज्जाए उट्ठे वा किंचि उट्ठिय पिलगादि एवमादि अच्चखुव्विसयट्ठिय अपिक्खतो तिगिच्छा-णिमिच्च वुट्ठिहाणि जाणनिमिच्च वा उद्धाए देहति अप्प-सागारिणं ण दोसो । नि० चू० १३ उ० ।

उपानहादिधारणम्-

“ पाणहाओ य ठत्तं च, णालीअ वालवीअण ।

परकिरियं अन्नमन्नं च, ते विज्ज परिजाणिआ ” ॥१॥
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (‘धम्म शब्देऽस्या व्याख्या ’)

कपाटोद्धाटनादिकरणम्-

“ णोप्पिहे ण यावपगुणे, दार सुएणघरस्स सज्जेय ।

पुट्ठेण उदाहरे वय, ण समुत्थे णो सथरे तण ” ॥१३॥
सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । (‘ ठाणठिय ’ शब्दे व्याख्याऽस्या वक्ष्यते) (अचित्तप्रतिष्ठितं सचित्तप्रतिष्ठितं वा गधं जिघ्रति इति ‘ गध ’ शब्दे वक्ष्यते)

गात्रप्रमार्जनम्-

जे जिक्खू लहुसयं सीओदगवियहेण वा उसिणोदगवि-यहेण वा हत्थाणि वा पायाणि वा कष्ठाणि वा अच्छी-णि दंताणि नहाणि मुहाणि वा उच्छोलेज्ज वा पधोले-ज्ज वा उच्छोदंतं वा साइज्ज ॥ २० ॥

लहुसं स्तोकं याव तिष्ठि य सती सीतोदकं सीनलं उसिणो-दगं उरहं वियमं पयगतजीव एत्थ सीतोदगवियमेहिं सपडि-वक्खेहिं चउभगेसु, ते य पढमततिया जगा गहिया, दो हत्था हत्थाणि वा, दो पादा पादाणि वा, यच्छीस दत्ता दत्ताणि वा, आ-सए पोसए य अण्वे य इदियमुहा मुहाणि वा, उच्छोदण धो-वण । त पुण दोसे सव्वे य णिज्जुत्तिवित्थारा इमो-

तिष्ठि य सती य लहुसं, वियम पुण होति विगतजीवं तु ।

उच्छोलणा तु तेणं, देसे सव्वे य णायव्वा ॥८०॥

गन्तार्था ।

आइसमणाइष्ठा, दुविधा देसम्मि होति णायव्वा ।

आयसं वि य दुविधा, णिकारणया य कारणया ॥ ८१॥

देसे उच्छोदणा दुविधा-आइष्ठा अणाइष्ठा य । साधुभिराच-र्यते या सा आचीर्णा, जनरा तद्विपरीता । अणाइष्ठा दुविहा-कारणे णिकारणे य । जा कारणे सा दुविधा-

भत्ता मासे लेवे, कारण णिकारणे य विवरीयं ।

मणिवंधादि करेसुं, जत्तियमित्तं ति लेवेणं ॥ ८२ ॥

तत्थ भत्ता मासे मणिवंधाओ करेसु ति असणाइणा वेवाडेण
इत्था लेवामिया ते मणिवंधातो जाव धोवति, एसा भत्ता, मा-
से इमा, लेवे-जत्तियमेत्त तु वेवेण तिअसज्जा तिय मुत्तपुरीसा-
दिणा जति संरीराऽव्वेवणादि गात लेवामित तस्स तत्तियमेत्तं
धोवे, एसा कारणओ भणिता । णिकारणे तव्विधरीय सि ।

एतं खट्ठु आइन्नं, तव्विवरीतं भवे अणाइसं ।

चलणादी जाव सिरं, सव्वं चिय धोतिऽणाइसं ॥ ८३ ॥

भत्ता मासे लेवे य इम आइरणं, तव्विवरीयं देसे सव्वे वा
सव्व अणाइसं ।

मुहणयणचलणदंता-णकसिरा वाहुवत्थिदेसो य ।

परियट्ठाह दुगुंओ, पत्तय उच्चोवणा देसे ॥ ८४ ॥

मुहणयणादिया ण केसिं वि डुगुवप्रत्यय वा देसे सव्वे वा
उच्चोवणं करोतीत्यर्थः । वच्च्यमाणषोरुशमङ्गमध्यावमी अष्टौ
घटमाना, शेपा अघटमाना ।

आइण लहुसएणं, कारण णिकारणे वऽणाइसो ।

देसे सव्वे य तहा, बहुएणेमेव अट्ट पदा ॥ ८५ ॥

आइसलहुसएण देसे एव प्रथमः । एव एव णिकारण-
सहितो द्वितीयः, अणाचीर्णग्रहणात् तृतीयचतुर्थौ गृहीतौ,
लहुसणिकारणदेसेत्यनुवर्तते । चतुर्थे विशेषः सर्वमिति वक्त-
व्यम्, जहा लहुस पदे चतुरो भगा तहा बहुएण वि चउरो
सव्वे अठ । एवशब्दग्रहणात् तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठमङ्गविपर्य-
यासः प्रदर्शितः । वच्च्यमाणषोरुशमङ्गक्रमेण घटमानाघटमान-
जङ्गप्रदर्शनार्थं लक्षणम् ।

जत्थाऽऽइसं सव्वं, जत्थ व करणे अणाइएणं ।

जंगाण सोत्तसएहं, ते वज्जा सेसगा गेज्जा ॥ ८६ ॥

यस्मिन् भङ्गे आचीर्णग्रहण दृश्यते तत्रैव यदि सर्वत्र ग्रहण दृश्यते
ततः पूर्वापरविरोधान्न दृश्यते घटते अमौ जङ्ग । यत्र वा का-
रणग्रहणे दृष्टे अनाचीर्ण दृश्यते असाद्यपि न घटते । एनान् व-
र्जयित्वा शेपा ग्राह्या ।

सोलसभंगरयण गाहा इमा-

आइस लहुस कारण, देसेतरे जग सोलस इवन्ति ।

एत्थं पुण जे गेज्जा, ते पुण वोच्च समासेणं ॥ ८७ ॥

इतरग्रहणात् आइसलहुसणिकारणसव्वमिति-एते पदा द-
ष्टव्या अमी ग्राह्या ।

पढमे तति एक्कारो, वारो तह पंचमो य सत्तमओ ।

पन्नर सोलसमो वि य, परिवामी होति अट्टएहं ॥ ८८ ॥

पढमो ततिओ एक्कारसो वारसो पंचमो सत्तमो य दो चरिमा
य यथोद्दिष्टक्रमेण स्थापयित्वा इम ग्रन्थमनुसरेज्जा ।

आइसलहुसएणं, कारण णिकारणे व तत्थेव ।

आइस देससव्वे, लहुसे तहिं कारणं एत्थि ॥ ८९ ॥

आइसलहुसएण कारणे इति प्रथमः । निकारणे तत्थेवेति
आइसलहुसे अनुवर्तमाने निकारण द्रष्टव्यं द्वितीयो भङ्गः ।
पढमवित्तीप्सु देसस्मि अर्थो द्रष्टव्यः । पञ्चार्धेन तृतीयचतुर्थ-
भङ्गौ गृहीतौ । अणाइस तृतीये देसे, चतुर्थे सर्वं बहुसमित्यनु-
वर्तते, तत्तियचउत्थेसु कारण एत्थि ।

इदानीं पञ्चमादिभङ्गप्रदर्शनार्थं गाथा—

आइसं बहुएणं, कारण णिकारणे वि तत्थेव ।

अणाइस देससव्वे, बहुणा तहिं कारणं एत्थि ॥ ९० ॥

पंचमे बहुएणं आइस कारण तत्थेव चि आइस बहु एस
अणुवट्टमाणेसु षट्ठे निकारण द्रष्टव्यमिति । पंचमषट्ठेसु देस-
मिति अर्थोद् द्रष्टव्यमिति । सत्तमाष्टमेषु अणाइस सत्तमे देशम्,
अष्टमे सर्वं बहुसमित्यनुवर्तते, कारण नास्त्येवेत्यर्थः ।

प्रथमभङ्गानुष्ठानार्थं शेषभङ्गप्रतिषेधार्थं चेदमाह—

आइस लहुसएणं, कारणतो देसतं अणुप्पातं ।

सेसाणाण्णाया, उवरिद्धा सत्त वि अदातुं ॥ ९१ ॥

आइसलहुसएणं कारणे देसे एस भङ्गो अणुप्पातो उवरिमा
सत्त वि पडिसिद्धा भगा ।

द्वितीयादिभङ्गप्रदर्शनार्थमिदमाह—

आइसलहुसएणं, णिकारणदेसओ जवे वित्तिउं ।

णाइसलहुसएणं, णिकारणदेसओ तइओ ॥ ९२ ॥

णाइसलहुसएणं, णिकारणसव्वतो चउत्थो उ ।

एवं बहुणा वि अष्टे, जंगा चत्तारि णायव्वा ॥ ९३ ॥

पढमं सुद्धो लहुगा, तिसु लहु उवज्जहू य अट्टमए ।

एत्थिचे परिवामी, अठसु भंगेसु एएसु ॥ ९४ ॥

दुग आइसलहुसे णिकारणे सव्वतो चउत्थभगो, एव बहुणा
वि अष्टे चउरो भगा णायव्वा । पढमभगो सुद्धो, सेसेसु
इम पच्छिउं—

सुत्तण्णिवातो वित्तिए, तत्तियपदम्मि पंचमे चेव ।

ढट्टे य सत्तमे वि य, तं सेवताणमाडीणि ॥

वित्तियतत्तियपंचमषष्ठसत्तमेसु भंगेसु सुत्तण्णिवातो मास-
लहु, चउत्थममेसु चउलहु तमिति । नि० चू० २ उ० । “पर-
मत्ते अन्नपाण, ण भुजिज्ज कयाइ वि । परवत्थमयेत्तो वि, त
धिज्ज परिजाणिआ” ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (अस्या
व्याख्या ‘धम्म’ शब्दे द्रष्टव्या)

मद्यमांसादिसेवनम्—

अमज्जमंसासि अपच्छरी य,

अभिकखणं निव्विगयं गया य ।

अज्जिक्खणं काउस्सगकारी,

सिज्जायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥

अमद्यमांसाशी भवेदिति योगः, अमद्यपोऽमांसाशी च स्थान्।
एते च मद्यमासे लोकागमप्रतीते एव । ततश्च यत् केचनाभि-
दधत्यारनालाऽरिष्टाद्यपि सधानादोदनाद्यपि प्राण्यङ्गत्वात्
त्याज्यमिति । तदसत् । अमीषा मद्यमांसत्वायोगात् । लोकशा-
स्त्रयोरप्रसिद्धत्वात्, सधानप्राण्यङ्गत्वतुल्यत्वचोदना त्वसाध्वी,
अतिप्रसङ्गदोषात्, द्रवत्वस्त्रीत्वतुल्यतया मूत्रपानमातृगम-
नादिप्रसङ्गात्, इत्यल प्रसङ्गेन । अक्षरगमनिकामात्रप्रक्रमात् ।
तथा अमत्सरी च न परसपदद्वये च स्यात् । तथा अभीक्ष्ण
पुन पुनः पुष्टकारणाभावे, निर्धिक्षुनिकश्च निर्गतविकृतिपरि-
भोगश्च भवेत् । अनेन परिभोगोचेतविकृतीनामप्यकारणे
प्रतिषेधमाह—तथा अभीक्ष्ण गमनागमनादिषु विकृतिपरिभो-
गेऽपि चान्ये । किमित्याह—कायोत्सर्गकारी भवेत् । इत्यर्थः

प्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत्कुर्यात्, तदशुद्धतापत्तेरिति ।
तथा स्वाध्याययोगे वाचनाद्युपचारव्यापारे आचामाम्लादौ
प्रयनोऽतिशयप्रयत्नपरो भवेत्, तथैव तस्य फलवत्त्वादिपर्यय-
चन्मादादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

किञ्च—

ए पदिन्निविज्जा सयणामणाई,
सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं ।

गामे कुट्टे वा नगरे व देसे,

ममत्तजावं न कहिं वि कुज्जा ॥ ८ ॥

[ए पडिष्णविज्जेत्ति] न प्रतिज्ञापयेन्मासादिकल्पपरिसमाप्तौ
गच्छन् भूयोऽप्यागतस्य ममैवैतानि दानव्यानीति न प्रतिज्ञां का-
रयेद् गृहस्थम् । किमाश्रित्येत्याह-शयनाशने शय्यां निपद्यां तथा
भक्षपानमिति । तत्र शयन सस्तारकादि, आसन पीठकादि, श-
य्या वसति, निषद्या स्वाध्यायादिभूमिः, तथा तेन प्रकारेण तत्-
कालावस्थौचित्येन भक्षपान खण्डखाद्यकद्राक्षपानकादि न प्र-
तिज्ञापयेत् । ममत्वदोषात् सर्वत्रैतन्निषेधमाह । ग्रामे शालिग्रा-
मादौ, कुले वा श्रावककुलादौ, नगरे साकेतादौ, देशे वा म-
ध्यदेशादौ, ममत्वभाव ममेदमिति स्नेह मोहं न कीचिदुपकर-
णादिष्वपि कुर्यात्, तन्मूलत्वाद् दुःखादीनामिति सूत्रार्थः ॥८॥
दश०रचू०॥ (रोमकृन्तनम् रोम' शब्दे निषेत्स्यते) "सीसे परो
दीहाइ बाहाइ दीहाइ रोमाइ दीहाइ भमुहाइ दीहाइ कक्खरोमा
इ दीहाइ वत्थिरोमाइ कप्पेज्ज वा सठवेज्ज वा णो त साइए णो त
नियमे" आचा० (वमनविरेचनादिकरण 'वमन'शब्दे वक्ष्यते)

वस्त्रधावनादिकरणम्—

" धोअण रयण चेव, वत्थीकम्म विरेयण ।

वमण जणपलीमथ, त विज्ज परिजाणिआ ॥ १२ ॥

गन्धमल्लसिणाण च, दत्तपक्खालण तहा ।

परिग्गहित्थिकम्म च, त विज्ज परिजाणिआ" ॥ १३ ॥

सूत्र० १ श्रु०६ अ० । (अनयोर्व्याख्या 'धम्म' शब्दे)

विपर्ययदर्शने—

आदाय वंजचेरं च, आसुपन्ने इमं वयं ।

अस्सि धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥ १ ॥

आदाय गृहीत्वा, किं तद् ? ब्रह्मचर्यं सत्यतपोभूतद्वयेन्द्रियनि-
रोधलक्षणम् । तच्चर्यते अनुष्ठीयते यस्मिन्मौनीन्द्रप्रवचनब्रह्म-
चर्यमित्युच्यते । तदादायाऽऽशुप्रज्ञं पटुप्रज्ञं, सदसद्विवेकज्ञञ्च ।
कृत्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासव्यपेक्षितत्वात् तामाह—इमां सम-
स्ताध्ययनेनाभिधीयमानां प्रत्यक्षासन्नभूतां वाचमिदं शाश्व-
तमेवेत्यादिका कदाचिदपि नाचरेद् नाभिध्यात्, तथाऽस्मिन्
धर्मे सर्वज्ञप्रणीति व्यवस्थितः सन् अनाचार सावधानुष्ठान-
रूप न समाचरेन्न विदध्यादिति सबन्धः । यदि वा ऽऽशुप्रज्ञः स-
र्वज्ञ प्रतिसमय केवलज्ञानदर्शनेपयोगित्वात् तत्सम्बन्धिनि-
धर्मे व्यवस्थित इमां वक्ष्यमाणा वाचमनाचार च कदाचि-
दपि नाचरेत् । इति श्लोकार्थः । तत्रानाचार नाचरेदित्युक्तम् ।
अनाचारश्च मौनीन्द्रप्रवचनात् अपरोऽभिधीयते । मौनीन्द्रप्र-
वचनं तु मोक्षमार्गहेतुतया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यात्मकम्, स-
म्यग्दर्शनेन तु तत्त्वार्थश्रद्धानुरूपं, तत्र तु जीवाजीवपुण्यपापा-
श्रवबन्धसंहरनिर्जरामोक्षात्मकम् । तथा धर्माधर्माकाशपुल-
जीवकालात्मक द्रव्य नित्यानित्यस्वभावः, सामान्यविशेषा-
त्मकोऽनाद्यपर्यवसानश्चतुर्दशरज्ज्वात्मको लोकस्तत्त्वमिति ।
ज्ञानं तु मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलस्वरूप पञ्चधा । चा-

रित्रं सामायिकं छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीयसूक्ष्मसप-
राययथाऽऽस्यातरूप पञ्चधैव । मूलोत्तरगुणभेदतो वाऽनेकधे-
त्येव व्यवस्थिते मौनीन्द्रप्रवचनेन कदाचिदनीदृश जगदिति
कृत्वाऽनाद्यपर्यवसाने लोके सति दर्शनाचारप्रतिपक्षभूतमना-
चार दर्शयितुकाम आचार्या यथावस्थितलोकस्वरूपोद्घाटन-
पूर्वकमाह—

अणादियं परिन्नाय, अणवदग्गेति वा पुणो ।

सासयमसासते वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ २ ॥

(अणादियमित्यादि) नास्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य
धर्माधर्मादिकस्य वा सूक्ष्मस्यादिः प्रथमोत्पत्तिर्विद्यते इत्य-
नादिकस्तमेवभूतं परिज्ञाय प्रमाणतः परिच्छिद्य, तथाऽनवदग्रम-
पर्यवसानं च परिज्ञायोभयात्मकव्युदासेनैकनयदृष्ट्याऽवधारणा-
त्मक प्रत्ययमनाचार दर्शयति—शश्वत्तज्जवतीति शाश्वत नित्यम्,
सांख्यानिप्रायेणाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावम् । स्वदर्शने चानु-
यायिनं सामान्यांशमवलम्ब्य धर्माधर्माकाशादिष्वनादित्वम-
पर्यवसानत्वं चोपलभ्य, सर्वमिदं शाश्वतमित्येवंज्ञतां दृष्टिं ना-
वधारयेदिति; एव पक्षं न समाश्रयेत् । तथा विशेषपक्षमाश्रि-
त्य वर्तमाननारकाः समुत्सेतस्यन्तीति एतच्च सूत्रमङ्गीकृत्य यत्त-
त्सर्वमनित्यमित्येवभूतयौक्तदर्शनाभिप्रायेण च सर्वमशाश्वतम-
नित्यमित्येवभूतां च दृष्टिं न धारयेदिति । किमित्येकान्तेन
शाश्वतमशाश्वत वाऽस्तीत्येवभूतां दृष्टिं न धारयेदित्याह—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ए विज्जानि ।

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ३ ॥

(एतेहिं दोहिमित्यादि) सर्वं नित्यमेवानित्यमेव चैतान्यां
द्वान्यां स्थानान्यामभ्युपगम्यमानाभ्यामनयोर्वा पक्षयोर्व्यव-
रणं व्यवहारो श्लोकस्यैहिकामुष्मिकयोः कार्ययो प्रवृत्तिनिवृत्ति-
लक्षणो न विद्यते । तथाहि अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव सर्वं
नित्यमित्येव न व्यवहियते । प्रत्यक्षेणैव नवपुराणादिज्ञावेन प्र-
ध्वसाभावेन वा दर्शनात्तथैव च लोकस्य प्रवृत्तेरामुष्मिकेऽपि
नित्यत्वान्मनोबन्धमोक्षाद्यज्ञावेन दीक्षायमनियमादिकमनर्थ-
कमिति न व्यवहियते, तथैकान्तानित्यत्वेनापि न लोको धनधा-
न्यघटपटादिकमनागतजोगार्थं सगृहीयात् । तथाऽमुष्मिके-
ऽपि कृष्णिकत्वादात्मन प्रवृत्तिर्न स्यात् । तथा च दीक्षाविहारा-
दिकमनर्थकम् तस्मादित्यानित्यात्मकस्याद्वादे सर्वव्यवहारप्रवृ-
त्तिः, अत एव तयोर्नित्यानित्ययोरेकान्तत्वेन समाश्रियमाणयोरैहिं
कामुष्मिककार्यविध्वंसरूपमनाचारमौनीन्द्रागमबाह्यरूप विजा-
नीयात् । तुशब्दो विशेषणार्थः । कथञ्चिन्नित्यानित्ये वस्तुनि स-
ति व्यवहारो शुज्यत इत्येतद्विशिनष्टि । तथाहि—सामान्यमन्वयि-
नमशमाश्रित्य 'स्यान्नित्यम्' इति प्रवति । तथा विशेषाश प्रति-
क्षणमन्यथा च नवपुराणादिदर्शनतः 'स्यादनित्यम्' इति भव-
ति । तयोत्पादव्ययघ्नौघ्याणि चार्हदर्शनाश्रितानि व्यवहाराणि
भवन्ति । तथा चोक्तम्—“घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिः
स्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ, जनो याति सहेतुकम् ॥ ” इ-
त्यादि । तदेव नित्यानित्यपक्षयोर्व्यवहारो न विद्यते, तथाऽनयो-
रेवानाचार विजानीयादिति स्थितमिति ।

तथाऽन्यमप्यनाचार प्रतिषेद्धुकाम आह—

समुच्छिहंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणोलिसा ।

गंठिगा वा जविस्संति, मासयंति य णो वदे ॥ ४ ॥

[समुच्छिद्दितीत्यादि] सम्यग्निरवशेषतयोच्छेत्स्यन्त्युच्छेद या-
स्यन्ति कृय प्राप्स्यन्ति, सामस्येनोत्प्राथम्येन सेत्स्यन्ति वासि-
कि यास्यन्ति । के नेः, शास्तरस्तार्थकृतः सर्वज्ञा, तच्छासनप्र-
तिपन्ना वा, सर्वे निरवशेषाः सिद्धिगमनयोग्याः, ततोत्सन्न-
भवं जगत्स्यादिति शुष्कतर्काभिमानग्रहगृहीतां युक्तिं चाभिदध-
ति । जीवसङ्गावे सत्यप्यपूर्वोत्पादाभावादज्ञव्यस्य च सिद्धिग-
मनसंभवात्, कावस्य चाऽऽनन्त्यादनाचारतासिद्धिगमनसंज्ञेन
तद्यथोपपत्तेरपूर्वाभावादज्ञव्योच्छेद इत्येव नो वदेत् । तथा
सर्वेऽपि प्राणिनो जन्तवोऽनीदृशा विसदृशाः सदा परस्पर-
विवक्षणा एव, न कथञ्चित्तेषां सादृश्यमस्तीत्येवमप्येकान्तेन नो
वदेत् । यदि वा सर्वेषां भव्यानां सिद्धिसङ्गावे विशिष्टा स-
चारोऽनीदृशा अभव्या एव भवेयुरित्येव च नो वदेत् । युक्तिं
चोत्तरत्र वक्ष्याति । तथा कर्मात्मको ग्रन्थो येषां विद्यते ते प्र-
न्थिका इति, ग्रन्थिका सर्वे प्राणिन कर्मग्रन्थोपेता एव भवि-
ष्यन्तीत्येवमपि नो वदेत् । इदमुक्तं भवति—सर्वेऽपि प्राणिन-
सेत्स्यन्त्येव, कर्मावृता वा सर्वे प्रविष्यन्तीत्येवमेकमपि पक्ष-
मेकान्तिक नो वदेत् । यदि वा ग्रन्थिका इति । ग्रन्थिकसत्त्वा भ-
विष्यन्तीति ग्रन्थिजेद कर्तुमसमर्था भविष्यन्तीत्येव च नो व-
देत् । तथा शाश्वता इति । शास्तरा सदा सर्वकाव स्थायि-
नस्तीर्थकरा प्रविष्यन्ति, न समुच्छेत्स्यन्ति नोच्छेद यास्य-
न्तीत्येव नो वदेदिति ।

तदेव दर्शनाचारवादनियेध बाह्यमात्रेण प्रदर्शयिष्युना युक्तिं
दर्शयितुकाम आह—

एषहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जति ।

एषहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ५ ॥

(एषहिं इत्यादि) एतयोरन-तरोचयोर्द्वयोः स्थानयोस्तद्यथा शा-
स्तरा कृय यास्यन्तीति शाश्वता वा भविष्यन्तीति । यदि वा सर्वे
शास्तरस्तद्दर्शनप्रतिपन्ना वा सेत्स्यन्ति शाश्वता वा भविष्यन्ति ।
यदि वा सर्वे प्राणिनो ह्यनीदृशा विसदृशा सदृशा वा, तथा प्र-
न्थिकसत्त्वान्तर्गृहिता वा प्रविष्यन्तीत्येवमनयो स्थानयोर्द्वयवह-
रण व्यवहारस्तद्वस्तित्वे युक्तेरभावाच्च विद्यते । तथाहि—यत्तावदु-
क्तं, सर्वे शास्तराः कृय यास्यन्त्येव इति । एतदयुक्तम् । कृयनिबन्ध-
नस्य कर्मणो भावात्सिद्धानां कृयाभावो न, भवस्थकेवल्यपेक्षयेद-
मभिधीयते । तदप्यनुपपन्नम् । यतोऽनाद्यनन्तानां कैवल्यिनां सङ्गा-
धात् प्रवाहापेक्षया तदजावाजाव । यदप्युक्तम्—अपूर्वाया भावे सि-
द्धिगमनसङ्गावेन च व्ययसङ्गावाद्भव्यशून्य जगत् स्यात्, इत्ये-
तदपि सिद्धान्तपरमार्थवेदिनो वचनम् । यतो भव्यराशे राङ्गान्ते
प्रविष्यत्कालस्य चाऽऽनन्त्यमुक्तम्, तच्चैवमुपपद्यते—यदि कृयो न
प्रवति, सति च तस्मिन्नानन्त्येन स्यात्, नापि चावश्य सर्वस्यापि
भव्यस्य सिद्धिगमनेन भाव्यमित्यानन्त्याद्भव्यानां तत्सामग्र्यमा-
द्याद् योग्यदलिकप्रतिमावत्तदनुपपत्तिरिति । तथा नाऽपि शाश्व-
ता एव, प्रवस्थकेवल्यिनां शास्त्राणां सिद्धिगमनसङ्गाधात्, प्रवा-
हापेक्षया शाश्वतत्वमेव । अतः कथञ्चित् शाश्वता, कथञ्चिदशा-
श्वता इति । तथा सर्वेऽपि प्राणिनो विवित्रकर्मसङ्गावान्नाग-
तिजातिशरीराङ्गेषाकादिसगन्वितत्वाद्नीदृशा विसदृशा, त-
थोपयोगासम्प्रेयप्रदेशत्वामूर्तत्वादिभिर्धर्मैः कथञ्चित्सदृशा इ-
ति । तथोल्लसितसद्गौर्यतया केचिद्भिन्नग्रन्थयोऽपरे च तथाविध-
परिणामाभावाद् ग्रन्थिकसत्त्वा एव भवन्तीत्येव व्यवस्थिते
नैकान्तेनैकान्तपक्षो भवतीति प्रतिपिक्तम् । तदेवमेतयोरेव च यो

स्थानयोरुक्तनीत्या नानाऽऽचार विज्ञानीयादिति स्थितम् । अपि
च । आगमेऽनन्तानन्तास्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु भव्यानामनन्त-
भाग एव सिध्यतीत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते । यदा चैवभूत तदाऽऽ-
नन्त्य, तत्कथ तेषां कृयः । युक्तिरप्यत्र सबन्धिशब्दावेतौ—मुक्ति-
ससार विना न भवति, ससारोऽपि न मुक्तिमन्तरेण, तनश्च
भव्योच्छेदे ससारस्याप्यभावः स्यादतोऽभिधीयते—नानयोर्द्वय-
वहारो युज्यत इति ।

अधुना चारित्राचारमङ्गीकृत्याह—

जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा संति महालया ।

सरिसं तोहिं ति वेरंति, असरिसं ती य एो वदे ॥ ६ ॥

(जे केइ इत्यादि) ये केचन कृच्छका सत्त्वाः प्राणिन एकेन्द्रिय-
हीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रिया । अथवा महालया महा-
काया सन्ति विद्यन्ते, तेषां कृच्छकाणामल्पकायानां कुन्वादीनां,
महानालय शरीर येषां ते महालयाः । हस्त्यादय तेषां च, व्या-
पादने सदृश वैरमिति वज्र कर्म, विरोधवृक्षण वा वैर, सदृश स-
मान तुल्यप्रदेशत्वात्सर्वजन्तुनामित्येवमेकान्तेन नो वदेत् । तथा
विसदृशमसदृश तद्व्यापत्तौ वैर कर्मबन्धो वा इन्द्रियविज्ञान-
कायानां विसदृशत्वात्सत्यपि प्रदेशतुल्यत्वे न सदृश वैरमित्ये-
वमपि नो वदेत् । यदिह वध्यापेक्ष एव कर्मबन्धः स्यात्तत-
तत्तद्वशात्कर्मणोऽपि सादृश्यमसादृश्य वा वक्तुं युज्यते, न च
तद्वशादेव वध, अपि त्वध्यवसायवशादपि । नतश्च तीव्राध्यव-
सायिनोऽल्पकायसत्त्वव्यापादनेऽपि महद्वैरम्, अकामस्य तु
महाकायसत्त्वव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति ।

एतदेव सूत्रेण दर्शयति—

एषहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जड ।

एषहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ७ ॥

(एषहिं इत्यादि) आभ्यामनन्तरोक्तार्थ्यां स्थानान्यामन-
योर्वा स्थानयोरल्पकायमहाकायसत्त्वव्यापादनापादितकर्मब-
न्धसदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहारण व्यवहारो नियुक्तिकत्वाच्च यु-
ज्यते । तथाहि—न वध्यम्य सदृशत्वमसदृशत्व चैकमेव कर्मबन्ध-
स्य कारणम्, अपि तु वधकस्य तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञानभा-
वोऽज्ञानभावो महावीर्यत्वमल्पवीर्यत्व चेत्येतदपि । तदेव
वध्यवधकयोर्विशेषात् कर्मबन्धविशेष इत्येव व्यवस्थिते व-
ध्यमेवाश्रित्य सदृशत्वासदृशत्वव्यवहारो न विद्यते इति । तथा
तयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्थानाचार जानीयादिति । तथाहि—य-
जीवसाभ्यात्कर्मबन्धसदृशत्वमुच्यते । तदयुक्तम् । यतो नहि जी-
वव्यापत्या हिंसाच्यते, तस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्य-
त्वात्, अपि त्विन्द्रियादिव्यापत्या । तथा चोक्तम्—“पञ्चेन्द्रिया-
णि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनि श्वासमथान्यदायु । प्राणा दशै-
ते भगवद्भिरुक्ता—स्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा ॥ ” इत्यादि । अ-
पि च—ज्ञावसव्यपेक्षस्यैव कर्मबन्धोऽप्युपेतुं युक्तः । तथाहि—चैद्य-
स्यागमसव्यपेक्षस्य क्रियां कुर्वतो यद्यप्यातुरविपत्तिर्भवति, त-
थापि न वैरातुपपन्नो प्रवेद, दोषाज्ञावात् । अपरस्य तु सर्पतुल्ला
रज्जुमपि प्रतो ज्ञावदोषात्कर्मबन्धः, तद्ग्रहितस्य तु न वध्य इति ।
उक्तं चागमे—“उच्छाहियस्मियाप” इत्यादि । तन्नुल्लसितस्याख्या-
नं तु सुप्रसिद्धमेव । तदेवविधवध्यवधकभावापेक्षया स्यात्
सदृशत्व, स्यादसदृशत्वमिति, अन्यथाऽनाचार इति ।

पुनरपि चारित्रमङ्गीकृत्याऽऽहारविषयानाचारचारौ प्रतिपाद-

यितुकाम आह—

आहाकम्माणि भुंजन्ति, अस्समणे सक्कम्मुणा ।

उवालिच्चेति जाणिज्जा, अणुवल्लिच्चेति वा पुणो ॥ ८ ॥

साधुप्रधानकारणमादायाऽऽश्रित्य कर्माण्याधाकर्माणि, तानि न व-
स्त्रभोजनवस्त्यादीन्युच्यन्ते । एतान्याधाकर्माणि ये भुञ्जते एतैरु-
पभोगे ये कुर्वन्ति, अन्योन्य परस्पर तान् स्वकीयेन कर्मणोपक्षिप्तान्
विजानीयादन्येव नो वदेत्, तथाऽनुपलिसानिति वा नो वदेत् ।
एतदुक्तं प्रवर्ति—आधाकर्माणि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा
भुञ्जानः कर्मणा नोपक्षिप्यते, तदाऽऽधाकर्मापभोगेनावश्यतया
कर्मबन्धो भवतीत्येव नो वदेत् । तथा श्रुतोपदेशमन्तरेणाहार-
शुद्ध्याऽऽधाकर्मभुञ्जानस्य तन्निमित्तकर्मबन्धसदृशत्वासदृशत्व-
योर्व्यवहरणं व्यवहारो निर्युक्तिकत्वात् युज्यते । तथाहि—
न वध्यस्य सदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहरणं व्यवहारो निर्युक्ति-
कत्वाच्च युक्त सदृशत्वम्, अतोऽनुपलिसानपि नो वदेत् । यथाऽव-
स्थितमौनीन्ध्यागमज्ञस्य त्वेव युज्यते वक्तुमाधाकर्मोपभोगेन
स्यात्कर्मबन्धः, स्यान्नेति । यत उक्तम्—“ किञ्चिच्चुद्धं कल्प-
म-कल्पं वा स्यादकल्पमपि कल्पम् । पिण्डं शय्या घञ्, पात्रं वा
जपजाद्य वा ॥ १ ॥ ” तथाऽन्यैरप्यभिहितम्—“ उत्पद्यत हि
साऽऽवस्था, देशकालमयान् प्राप्ति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्,
कर्म कार्यं च यजेयेत् ” ॥ २ ॥ इत्यादि ॥ ८ ॥

किमित्येव स्याद्वादः प्रतिपाद्यते इत्याह—

एण्हिं दोहिं ठाण्हिं, ववहारो ण विज्जई ।

एण्हिं दोहिं ठाण्हिं, अणायार तु जाणए ॥ ९ ॥

(एण्हिं दोहिमित्यादि) आन्या द्वाभ्या स्थानाज्यामाश्रिताज्या-
मनयोर्व्यवस्थानयोराभाकर्मोपभोगेन कर्मबन्धनाभावभावभूतयो-
र्व्यवहारो न विद्यते । तथाहि—यद्यवश्यमाधाकर्मोपभोगेनैका-
न्तेन कर्मबन्धोऽच्युपगम्येत, एव चाहारानावेनापि कचित्सुत-
रामनर्थोदयः स्यात् । तथाहि—क्षुत्प्रपीकृतो न सम्यगीर्या-
पथ शोधयेत्, ततश्च वज्रं प्राण्युपमर्दमपि कुर्यात् । मूर्च्छा-
दिसद्भावतया देहपाते सति अवश्यजावी त्रसादिव्याघातोऽ-
कालमरणे चाविरतिरङ्गीकृता भवति, आर्तध्यानापत्तौ च तिर्यग्-
तिरिति । आगमश्च—“ सव्वत्थं सज्जमं सज्जमाओ अप्पाणमेव र-
क्खेज्जा ” इत्यादिनाऽपि तदुपपन्नां कर्मबन्धाभाव इति । त-
थाहि—आधाकर्मण्यपि निष्पाद्यमाने पर्यजीवनिकायवधः, त-
द्वधे च प्रतीतं कर्मबन्ध इत्यतोऽनयोः स्थानयोरेकान्तेनाश्रिय-
माणयोर्व्यवहरणं व्यवहारो न युज्यते । तथाऽऽभ्यामेव स्थानाज्यां
समाश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादिति स्थितम् ।

पुनरप्यन्यथा दर्शनं प्रति चागमानाचारं दर्शयितुमाह—

यदि वा योऽयमनन्तरमाहारः प्रदर्शितः स सति शरीरे भव-
ति । शरीरं च पञ्चधा, तस्य चौदारिकादेः शरीरस्य भेदाभेद-
प्रतिपादयितुकामः पूर्वपक्षकारेणाह—

जमिदं ठारालमाहारं, कम्मणं च तद्देव य ।

सव्वत्थं वीरियं अत्थि, एत्थि सव्वत्थं वीरियं ॥ १० ॥

(जमिदमित्यादि) यदि सर्वजनप्रत्यक्षमुदारैः पुद्गलैर्निर्वृत्त-
मौदारिकमेतदेवोरात्र निस्सारत्वात् । एतच्च तिर्यग्मनुष्याणां
भवति । तथा चतुर्दशपूर्वविदा कचित्सशयादायान्हियत इ-
त्याहारकम् । एतद्वग्रहणाच्च वैक्रियोपादानमपि द्रष्टव्यम् । तथा क-
र्मणा निर्वृत्तं कर्मणम्, एतत् सहचरितं तैजसमपि ग्राह्यम् । औ-

दारिकवैक्रियाहारकाणां प्रत्येकं तैजसकर्मणार्यां सह युगप-
दुपलब्धेः कस्यचिदेकत्वाशङ्का स्यादनस्तदपनोदार्थं तदभि-
प्रायमाह—तदेव तद्यदेवौदारिकं शरीरं, त एव तैजसकर्मणं
शरीरं । एव वैक्रियाहारकयोरपि वाच्यम् । तदेवभूतां संज्ञां नो
निवेशयेदित्युत्तरश्लोके क्रिया । तथैतेषामात्यन्तिको भेद इत्ये-
वच्यतामपि संज्ञां नो निवेशयेत् । युक्तिश्चात्र—यद्येकान्तेनाभेद-
एव, तत इदमौदारिकमुदारपुद्गलानिष्पन्नं, तथैतत्कर्मणा निर्व-
र्तितं कर्मणं, सर्वस्यैतस्य संसारचक्रवालस्य भ्रमणस्य कारण-
भूतं तेजोद्वयैर्निष्पन्नं तेज एव तैजसम्, आहारपक्षिनिमित्तं तै-
जसत्वाभिनिमित्तं चेत्येव भेदेन संज्ञानिरुक्तं कार्यं च न स्यात् ।
अथात्यन्तिको भेद एव, ततो घटवद्विभयोर्देशकालयोरप्युप-
लब्धिः स्यात् । न नियता युगपदुपलब्धिरित्येव च व्यवस्थिते
कथाश्चिदेवोपलब्धेरभेदः, कथाश्चिच्च संज्ञाभेदाभेद इति स्थितम् ।
तदेवमौदारिकादीनां शरीराणां भेदाभेदौ प्रदर्शयितुकामः सर्व-
स्यैव व्यवस्थिते भेदाभेदौ प्रदर्शयितुकामः पूर्वपक्षं श्लोकपञ्चा-
र्येन दर्शयितुमाह—(सव्वत्थं वीरियमित्यादि) सर्वं सर्वत्र वि-
द्यत इति कृत्वा साहस्यभिप्रायेण सत्त्वरजस्तमोरूपस्य प्रधान-
स्यैकत्वात्तस्य च सर्वस्यैव कारणत्वात्, अतः सर्वं सर्वात्मक-
मित्येव व्यवस्थिते घटपटाद्यवयवस्य व्यक्तस्य वीर्यं शक्तिर्विद्य-
ते । सर्वस्यैव हि व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्कार्यकारणयोर्भेदत्वा-
दतः सर्वस्य सर्वत्र वीर्यमस्तीत्येव संज्ञां नो निवेशयेत् । (‘अणे-
गतवाय’ शब्देऽत्रैव भागे अप्रतनी साहस्यमतनिरासनपरा युक्तिः
वक्ष्यते) सूत्र ०२ श्रु ०५ अ० ॥ (‘एत्थिं ह्योप अहोए वा, ऽणेव सण-
णिवेसण’ इत्यादि सूत्राणि ‘अतिववाय’ शब्देऽप्रे प्रदर्शयिष्यन्ते)
आघतोऽभोगानाजोगसेवितार्थमाह—

से य जाणमजाणं वा, कट्टं आहम्मियं पयं ।

संचरे खिप्पमप्पाणे, वीर्यं तं न समायरे ॥ ११ ॥

स साधुर्जनज्ञानं वा अज्ञोऽनाभोगतश्चेत्यर्थः । कृत्वा
अधार्मिकं पदम्, कथञ्चिज्ज्ञागद्वेषाज्यां मूलोत्तरगुणविराधनाभि-
ति ज्ञात्रः । संचरेत्किंप्रमात्मानं भावतो निवर्त्यालोचनादिना प्रका-
रेण, तथा द्वितीयं पुनस्तन्न समाचरेदनुबन्धदोषादिति सूत्रार्थः ।
एतदेवाह—

अणायारं परक्कम् नेव गूहे न निह्वे ।

सुइ सया वियरुभावे, अससत्तो जिइदिण ॥ १२ ॥

अनाचारं सावद्ययोग पराक्रम्याऽऽसेव्यं गुरुसकाशे आलोयव-
नैव गूहयेत, न निह्वीत । तत्र गूहं किञ्चित्कथनम्, निह्वं
एकान्ताऽपवापः । किञ्चिदपि सन्नित्याह—शुचिरकलुषमतिः,
सदा विकटभावः प्रकटभावः, अससत्तोऽप्रतिबन्धः, क्वचिज्-
तेन्द्रियो जितेन्द्रियप्रमादः सन्निति । दश० ८ अ० ॥ (सिद्धान्तपा-
ठको न कदाचिदप्यनाचारीति ‘नदिसेण’ शब्दे उदाहरणरूपत-
या वर्णयिष्यते । तथा त्रिविधोऽनाचारः ‘सकिहेस’ शब्दे वक्ष्यते)
अणायारज्जाण-अनाचारध्यान-न० । न आचारोऽनाचारः ।

नञः कुत्सार्थत्वाद् दुष्टाचारस्य ध्यानमनाचारः । दुर्ध्याने,
वह्वरदाव ध्यायतः कोङ्कणसाधोरिव, देवानामनागमनादुत्प्र-
जितुकामस्यापाठसूरेरिव वा कुह्याने, आनु० ।

अणायवाइ (ण) अनात्मवादिन्—पु० । आत्मानं वदितुं शी-
लमस्येति । यः पुनरेवभूतमात्मानं नाभ्युपगच्छति सोऽनात्मवा-
दी । आत्मानमनन्युपगन्तरे नास्तिके, सर्वव्यापिनं नित्यं कृपि-
क वाऽऽमानमन्युपगन्तरे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणायवि (ण्)-अनातापिन्-पु० । न आतापयति । आता-
पनां शीतादिसहनरूपां करोतीत्यनातापी । मन्दश्रद्धत्वात्परीष-
हासहिणौ, स्था० ५ उ० २ उ० ।

अणारंज-अनारम्भ-पु० । जीवानुपघाते, भ० ८ श० १ उ० ।
जीवानुपद्रवे, "सत्तविहे अणारमे पणत्ते । त जहा-पुढविका-
इयअणारमे जाव अजीवकायभणारजे " स्था० ७ उ० । न
विद्यते सावद्य आरम्भो येषां ते तथा । सावद्ययोगरहितेषु,
"अपरिगहा अणारंजा, भिक्खु ताण परिज्वण " सूत्र० १
श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अणारभजीवि (ण्)-अनारम्भजीविन्-पुं० । आरम्भः सा-
वधानुष्ठान प्रमत्तयोगो वा, तद्विपर्ययेण त्वनारम्भः, तेन जी-
वितु शीलं येषां ते अनारम्भजीविनः । समस्तारम्भनिवृत्तेषु
यतिषु, आचा० ।

आवन्ति आनन्तिद्वोयांसि अणारंजजीविण तेसु चैव-
मणारंभजीवी एत्थोवरणं तं भोसमाणे ॥

यावन्तः केचन लोके मनुष्यलोके अनारम्भजीविनः, आरम्भः
सावधानुष्ठान प्रमत्तयोगो वा । उक्तं च-"आयाणे णिक्खेवे,
जासु सगोयणगमणादि । सच्चो पमत्तजोगो, समणस्स
वि होइ आरंभो " ॥ १ ॥ तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितु
शीलमेपामित्यनारम्भजीविनो यतयः । समस्तारम्भनिवृत्तास्ते
एव गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीराद्यर्थमारम्भप्रवृत्तेष्वनारम्भजी-
विनो भवन्ति । एतदुक्तं भवति-सावधानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थे-
षु देहसाधनार्थमनवधारम्भजीविनः साधवः पट्ठाधारपट्ठवन्नि-
र्लेपा एव भवन्ति । यद्येव ततः किमित्याह-(एत्थोवरणं इ-
त्यादि) अत्रास्मिन्सावधारम्भे कर्त्तव्ये उपरतः सकोचितगा-
त्रः । अत्र चार्हते धर्मे व्यवस्थितः उपरतः पापारम्भात् किं
कुर्यात् ? स तत्सावधानुष्ठानायान्तर्कमे जीपयन् कपयन् मुनि-
भाव भजत इति । आचा० ।

अणारंजट्टाण-अनारम्भस्थान-न० । असावधारम्भस्थाने,
"एतमिच्छे असाहू तत्थ ण जा सा सच्चतो विरई एसछा-
णे अणारभछाणे आरिण " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अणारब्ध-अनारब्ध-त्रि० । केवद्विजिर्विशिष्टमुनिभिर्वाऽना-
चीर्णं, "आरंभे ज चऽणारंभे अणारब्धं च ण आरंभे" आचा०
१ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणाराहय-अनाराधक-त्रि० । विराधके, "अणायवी
अस्समिण धम्मस्स अणाराहणं जवइ" । स्था० ४ उ० ३ उ० ।

अणारिय-अनार्य-पु० । न आर्योऽनार्यः । अज्ञानावृत्तत्वाद्-
सदनुष्ठायिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । पापात्मके, भ० ३
श० ६ उ० । सूत्र० । अकार्यकर्मकारिणि, नि० चू० १ उ० ३ उ० ।
धर्मसंज्ञारहिते, शिष्टसमतनिलव्यवहारे वा क्षेत्रे, सूत्र० १
श्रु० ५ अ० १ उ० । तच्च-

सग जवणं सवर बच्चर-कायमुरुंदुहुगोडुपकणया ।

अरवागहणरोमय-पारसखसखासिया चैव ॥ १ ॥

धुंवलिललकुमवोक्कस-जिह्वंधुपुलिंदकोचनमरुत्ता ।

काचोयचीणचुंचुय-मालवदविमा कुलत्था य ।

कैकयकिरायहयमुह-खरमुहगयतुरगमिदयमुहा य ।

हयकजा गयकजा, अन्ने वि अणारिया बहवे ॥ ३ ॥

शका, यवना, शबराः, बर्वराः, कायाः, मुरुगाः, चड्डाः, गोड्डाः,
पक्कणकाः, अरवागाः, हूणा, रोमकाः, पारसाः, खसाः, खासि-
काः, दुम्बिलकाः, लकुशाः, वोक्कसाः, मिह्नाः, आन्ध्रा, पुह्निन्दाः,
क्रौञ्चाः, ध्रमरुताः, कापोतकाः, चीनाः, चुंचुकाः, मालवा, रुवि-
डाः, कुवार्था, कैकेयाः, किराता, हयमुखाः, खरमुखाः, गज-
मुखाः, तुरङ्गमुखा, मिह्दकमुखा, हयकर्णा, गजकर्णाश्चेत्येते
देशा अनार्याः । अन्येऽपि देशा अनार्याः । प्रव० २ उ० ४ उ० । न
केवलमेत एव किन्त्वपरेऽप्येव प्रकारा बहवोऽनार्या देशाः प्रश-
व्याकरणादिग्रन्थोक्ता विज्ञेयाः ।

तथाच सूत्रम्--

बहवे मिलिक्खुजाई, किं ते ? सका जवणा सवरबच्चरगा
य मुरुंनोडुजडगमित्ति पक्कणिया कुलक्खा गौमसिंहल-
पारसकोचअंधदविलचिह्नलपुलिंदआरोसडोवपोक्काणगंध-
हारगवहलीयजह्वा रोसा मासा वडसमलया य चुंचुया य
चूलियकोकणगाभेयपल्लवमालवमहुरआजासिया अण-
क्कीणलासियखसखासियनेहरमरहड्डमुट्टियआरवर्णोविह-
गकुहणकैकयहूणरोमगरुमरुगचिह्नायविसयवासी य पाव
मण्णो ।

(इमे बहवे मिलिक्खुजाई ति) म्लेच्छजातीयाः । किं ते इति ? ।
तद्यथा-शका १, यवना २, शबरा ३, बर्वरा ४, काया ५, मुरु-
गा ६, चड्डा ७, भागा ८, जित्तिका ९, पक्कणिका १०, कुवाकाः
११, गौमा १२, सिंहला १३, पारसा १४, क्रौञ्चा १५, आन्ध्रा १६,
द्रविडा १७, चित्तवला १८, पुह्निन्दा १९, आरोषा २०, डोवाः
२१, पोक्काणा २२, गन्धहारका २३, बहलीका २४, जह्वाः २५,
रोसा २६, माया २७, बकुशा २८, मलयाश्च २९, चुंचुकाश्च ३०,
चूलिका ३१, कोङ्कणगा ३२, मेदा ३३, पल्लवा ३४, मालवा ३५,
महुरा ३६, आभायिका ३७, अणका ३८, चीना ३९, लासिकाः
४०, खसा ४१, खासिका ४२, नेहरा ४३, (मरहड्ड ति) महा-
राष्ट्राः ४४, (पाठान्तरे पामुट्टी ४५,) मौष्ट्रिका ४६, आरवाः ४७,
डोम्बिलिका ४८, कुहणा ४९, कैकया ५०, हूणा ५१, रोमकाः
५२, खरव ५३, मरुकाः ५४, इति । एतानि च प्रायो लुप्तप्रथ-
माबहुवचनानि पदानि, तथा चिलाताविषयवासिनश्च म्लेच्छ-
देशवासिनः । एते च पापमतयः । प्रश्न० १ आश्च० द्वा० ।

अथ सामान्यतोऽनार्यदेशस्वरूपमाह-

पावा य चंमकम्मा, अणारिया निग्घिणा शिरनुतावी ।

धम्मो चि अक्खराई, सुइणे वि न नज्जणं जेसु ॥

एते सर्वेऽप्यनार्यदेशा पापा । पापमपुण्यप्रकृतिरूपम, तद्वन्ध-
नत्वात् पापाः । तथा चण्ड कोपोत्कटतया रौद्राभिधानरस-
विशेषप्रवर्तितत्वादतिरौद्र कर्म समाचरणं येषां ते चण्डक-
र्माण, तथा न विद्यते घृणा पापजुगुप्सालक्षणा येषां ते नि-
घृणा, तथा निरनुतापिनः सेवितेऽप्यकृत्ये मनागपि न पश्चा-
त्तापभाज इति भावः । किञ्च-येषु 'धर्मः' इत्यक्षराणि स्व-
प्नेऽपि सर्वथा न ज्ञायन्ते केवलमपेयपानाभक्ष्यभक्षणगम्यग-
मनादिनिरता शास्त्राद्यप्रतीतवेषभाषादिसमाचाराः सर्वेऽ-
प्यमी अनार्या अनार्यदेशा इति । प्रव० २ उ० ४ उ० ।

आर्यानार्यक्षेत्रव्यवस्था चेत्थम्-

जत्थुप्पत्ति जिणाणं, चकीणं रामकरहाणं ।

यत्र तीर्थकरादीनामुत्पत्तिस्नदार्थः, शेषमनार्थमिति । आव-
श्यकचूर्णौ पुनरित्यनार्थानार्थव्यवस्था उक्ता-“ जेसु केसु वि
पयसेसु, मिहुणनाणि पइट्टिएसु हकाराइया नीई पारुढा ते
आयरिया, सेसा अनारिया ” इति । प्रव० २७५ द्वा० । (अनार्थ-
क्षेत्रे न विहर्तव्यमिति ‘ विहार ’ शब्दे वक्ष्यते) “ भयसि वा
महत्ता वा अणारिएहि ” विभक्तिव्यत्ययादनार्थैर्मुञ्छादि-
भिर्जीवितचारिप्रापहारिभिरभिभूतानामिति शेषः । स्था० ५
ठा० २ उ० । स० । अनार्या म्लेच्छास्ततश्च साधुनिन्दा-
दिना अनार्या इव अनार्याः । साधुप्रत्यनीकेषु, उत्त० ३ अ० ।
अणारियद्वाण-अनार्यस्थान-न० । सावद्याऽऽरम्भाश्रये,
सूत्र० २ शु० २ अ० ।

अणारोहण-अनारोहक-त्रि० । न० ब० । योधवर्जिते, “ अणा-
सप अणारहिण अणारोहण ” भ० ७ श० ९ उ० ।

अणां वण-अनालम्बन-न० । न विद्यते आलम्बन यस्य तद-
नालम्बनम् । स्वोपादानक्षणमात्रादुत्पद्यमाने कस्यापि विषय-
स्याऽनवगमके वुरुज्ज्ञाने, अने० ४ अधि० ।

अणां वणजोग-अनालम्बनयोग-पुं० । परतत्त्वविषये ध्यान-
विषये, षो० ।

कः पुनरनालम्बनयोग कियन्त कात्त भवतीत्याह-
सामर्थ्ययोगतो या, तत्र दिद्वेत्त्यसङ्गशक्त्याद्या ।

साऽनालम्बनयोगः, प्रोक्तस्तददर्शनं यावत् ॥ ८ ॥

(सामर्थ्येत्यादि) शास्त्रोक्तात् कृपकश्रेणीद्वितीयाऽपूर्वकरण-
भाविन सकाशात् । सामर्थ्ययोगस्वरूप चेदम्-“ शास्त्रसदृशि-
तोपाय-स्तदतिक्रान्तगोचर । सर्वोद्वेकाद्विशेषेण, सामर्थ्या-
वयोऽयमुत्तमः ” ॥ १ ॥ यातत्र परतत्त्वे द्रष्टुमिच्छा दिद्वक्ता इत्येवंस्व-
रूपा, असङ्गा चासौ शक्तिश्च निरभिस्वज्ञानवरतप्रवृत्तिस्तयाऽऽ-
ख्या परिपूर्णा, दिद्वक्ता, सा परमात्मविषये दर्शनेच्छा अनालम्बन-
योगः प्रोक्तः, तद्वेदिभिस्तस्य परतत्त्वस्यादर्शनमनुपलम्भः, तद् य-
थावत् परमात्मस्वरूपे दर्शने तु केवलज्ञानेन अनालम्बनयोगो
न भवति, तस्य तदालम्बनत्वात् ।

कथं पुनरनालम्बनोऽयमित्याह-

तत्राप्रतिष्ठितोऽयं, यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्तत्र ।

सर्वोत्तमानुजः खलु, तेनानालम्बनो गीतः ॥ ९ ॥

(तत्रेत्यादि) तत्र परतत्त्वेऽप्रतिष्ठितोऽलम्बनप्रतिष्ठितः अयम-
नालम्बनः, यतो यस्मात्प्रवृत्तश्च ध्यानरूपेण तत्त्वतो वस्तुतस्तत्र
परतत्त्वे सर्वोत्तमानुजः खलु सर्वोत्तमस्य योगस्यानुजः प्रागन-
न्तरवर्तिना कारणेनानालम्बनो गीतः कथितः ॥ ९ ॥

किं पुनरनालम्बनाद्भवतीत्याह-

द्रागस्मात्तदर्शन-मिषुपातज्ञानमात्रतो ज्ञेयम् ।

एतच्च केवलं तद्, ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ॥ १० ॥

(द्रागित्यादि) द्राक् शीघ्रमस्मात्प्रस्तुतादनालम्बनात्तदर्शनं
परतत्त्वदर्शनमिषो पातस्तेद्विषय ज्ञातमुदाहरण तन्मात्रादिषु
पातज्ञानमात्रतो ज्ञेयं तददर्शनम् । एतच्च परतत्त्वदर्शनं केवलं
सपूर्णम् । तदिति तत्प्रसिद्धं ज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । यत्तत्के-
वलज्ञानं परं प्रकृतं ज्योतिः प्रकाशरूपम्, इषुपातोदाह-
रणं च यथा-केनचिन्नुर्धरेण लक्ष्याभिमुखे वाये तद-
मिसत्रादिनिप्रकल्पिते यावत्तस्य वाणस्य न विमोचनं वाच-

त्तत्प्रगुणनामात्रेण तदविसर्वादित्वेन च समानोऽनालम्बनो
गः, यदा तु तस्य वाणस्य विमोचनं लक्ष्याविसर्वादिपतनमा-
त्रादेव लक्ष्यवेधक तदा आलम्बनोत्तरकालभावी तत्पातकल्पः
सालम्बन केवलज्ञानप्रकाश इत्यनयोः साधर्म्यमङ्गीकृत्य निद-
र्शनम् । षो० १५ विव० । अष्ट० ।

अणां वणपट्टाण-अनालम्बनप्रतिष्ठान-त्रि० । अविद्यमानमा
लम्बनप्रतिष्ठान आणकारणं यत्र स तथा । आलम्बनरक्करहिते,
प्रश्न० ३ आश्र० छा० ।

अणालोच-अनालोचित-त्रि० । अभाषिते, “ पुर्व्व अणावणेण
आलोचितं वा सल्लोचितं वा ” प्रति० । उपा० ।

अणां वण-अनालस्य-न० । अनुत्साहे, तं० । ब० स० । कृतो-
द्वये, ष्य० ७ उ० ।

अणां वणस्य-अनालस्यनिर्णय-पुं० । अनालस्यमुत्साह-
स्तस्य गृहम्, अकार्यार्थौ सादर प्रवृत्तिहेतुत्वाद् । योषिति, त० ।

अणं द्वाव-अनाद्वय-पुं० । नम्रः कुत्सार्थत्वाद्गीतेत्यादिवत्
कुत्सित आत्मापोऽनालाप इति । वचनाधिकल्पजदे, स्था० ७ ग० ।

अणालोच-अनालोचित-त्रि० । अकृताऽऽश्रये, प्रव० २ द्वा० ।
आव० ।

अणालोच-अनालोचित-त्रि० । न० त० । अनिवेदिते, न० ब० । गुरु-
णा समीपेऽकृतालोचने, औ० । सादरमवीक्षिते, “ मूर्तिः स्फूर्तिमती
सदा विजयते ज्ञेनेश्वर । विस्फुरन्मोहोन्मादघनप्रमादमदिराम
सैरनालोकिता ” अनालोकिता सादरमवीक्षितेत्यर्थः । अनालोकि-
तपदस्य सादरमनालोकिनचेऽर्थान्तरसक्रामिततया वाच्यत्वाद्,
अन्यथा चकुप्मतः पुरःस्थितवस्तुनोऽनालोकितात्वानुपपत्तेः, प्रति०
अणालोच-अनालोचित-अनालोचित-अनालोचित-त्रि० । अना-
लोचितश्चासौ अप्रतिक्रान्तश्च । गुरुणां समीपेऽकृतालोचने वा-
चाच्चानिवृत्ते, औ० ।

अणालोचभासि (ए)-अनालोचितजापिन्-पुं० । सम्य-
ज्ञानपूर्वकमपर्यालोच्य भाषके, प्रव० ७५ द्वा० ।

अणां वण-अनालोच-पुं० । न० त० । अहे, “ बुलिसीइजोणि-
सयसह-स्स गुविहं अणालोकमंघयार ति ” । (ससारसागर-
वर्णकः) अनालोको नामाज्ञानान्धकारो यस्य स तथा । प्रश्न० ४
आश्र० द्वा० ।

अणां वण-अनापात-न० । न अपातोऽन्यागमः परस्य अन्यस्य
स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थितिरुक्ते तदनापातम् । प्रव० ९१
द्वा० । अनसपातरहिते, वर्जिते, म० ८ श० ६ उ० । ध० । प० व० ।

विजने, आचा० २ अ० १ अ० ५ उ० । लोकानामुपागमनरहिते, उत्त०
२४ अ० । रुपाद्यापातरहिते स्थितिरुक्ते, आव० ४ अ० । ध० ।

अणां वण-अनाविद-त्रि० । न० त० । अकलुषे, रागद्वेषासपृक्-
तया मलरहिते, सूत्र० १ शु० १५ अ० ।

अणां विल-त्रि० । अण्येन कस्ये, आनु० ।

अणां विलज्जाण-अनाविलज्जाण-न० । अणमृणं तेनाऽऽविज-
कस्य अणां विल, तस्य ध्यानम् । तैश्चकर्षलाया यतिजगिन्या
इव दुर्धने, आनु० ।

अणां विलप (ए)-अनाविलात्मन्-पुं० । अनाविलो विषय-
कप्रायैरनाकुल आत्मा यस्यासायनाविलात्मा । निष्कषायिनि,

"अभयकरे भिक्षु अणविलक्षा " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।
अणावुष्टि-अनावुष्टि-स्त्री० । धर्मेणाऽभावे, स० ।

अणासंसि (ए)-अनाशसिन्-पु० । न० । म० । भोक्तृभ्यो वस्त्रा-
चनाकाङ्क्षिणि प्रवचनसारपरिकथनयोग्ये, घृ० १ उ० । आचा-
र्याचारधनाशंसारहिते, सांसारिकफलानपेक्षे वा, आशोचनाप्र-
दानयोग्ये, आशशिनो हि समप्रातिचारालोचनासज्जत् आश-
साया एवातिचारत्वात् । धर्म० २ अधि० । ग० । प्रय० । पञ्चा० ।
अणासग-अनश्वक-त्रि० । अभ्वरहिते, न० ७ श० ६ उ० ।

अणासच्छिन्न-अच्छिन्नानाम-त्रि० । अकृतघाणे, नि० चू० ४ उ० ।
अणासण-अनासन्न-त्रि० । अनिकटवर्तिनि, उक्त० २० अ० ।

अणासत्ति-अनासक्ति-स्त्री० । अप्रतिघटतायाम्, स्वजनादिषु
स्नेहाभावे, म० १ श० ६ उ० ।

अणासय-अनाशय-त्रि० । न विद्यते आशयः पूजाभिप्रायो
यस्यासायनाशयः । ह्येतो विद्यमानेऽपि ममवसरणादिके
प्रायतोऽनास्थादके तीर्थकृति, तद्गतगाढोन्मादात् । सूत्र० १
श्रु० १५ अ० ।

अणासव-अनाश्रव-पु० । न विद्यन्ते आश्रवा हि सादृश्ये यस्य ।
३४ पापकर्मवन्धरहिते हि साद्याश्रवद्वारविरते, क० प्र० ।
उक्त० । प्राणातिपातादिरहिते, स्त्री० । "अणासवे भ्रममे अकिं-
चने " स्त्री० । अविद्यमानपापकर्मवन्धे, स्त्री० । आश्रवति तान् र
शोन्नतत्वेन अशोभनत्वेन वा गृह्णातीत्याश्रवः, नाऽऽश्रवोऽना-
श्रवः । मध्यस्थे रागद्वेषरहिते, ६० ।

सदाणि सोऽत्र अद्रु नेरवाणि, अणासवे तेषु परिव्रज्या ।
शब्दान् वेणुवीणादिकान्मधुरान् ध्रुतिपेक्षालान्, ध्रुत्वा स-
माकर्ण्य, मथ भैरव्यान् मयावहान्, कर्णकट्टनाकार्यं, तेष्वनुकू-
लेषु प्रतिकूलेषु ध्वनयपथमुपागतेषु शब्दे-नाश्रवो मध्यस्थो
रागद्वेषरहितो नृत्त्या पणि ममन्ताद् वजेत्परिव्रजेत्, इति । घृ० ३
उ० । ननु कर्मानुपादाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अनाश्रवेणैव सर्वथा कर्मकृत्य इति यथाऽसौ भवति तथाह-
पाणवद् मुसावायं, अद्रुत्त मेहुण परिगहाविरआ ।
राईभोयण विरओ, जीवो होई अणासवो ॥
पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिईदिओ ।
आगारवो य निस्सहो, जीवो होई अणासवो ॥

सूत्रद्वयं प्रायः प्रतीनार्थमेव, नवर, विरत इति प्राणयथादिभिः
प्रत्येकमनिसम्बध्यते । तथा जघत्यनाश्रव इति अविद्यमानक-
र्मोपादानहेतुः । द्वितीयसूत्रेऽप्यनाश्रवः समित्यादिविपर्ययाणां
कर्मोपादानहेतुत्वेनाश्रवरूपत्वात्, तेषां चाविद्यमानत्वादिति
सूत्रद्वयार्थः । एवविधश्च तादृशं कर्म यथाऽसौ कृपयत्या-
राधनाय ।

पुनः शिष्याभिमुखीकरणपूर्वकं दृष्टान्तद्वारेण तदाह-
एएसिं तु विवचासे, रागदोसममज्जियं ।
खवई तवसा जिक्खु, मएगगमणो सुणो ॥
जहा महातलायस्स, सप्पिरुप्पे जलागमे ।
उत्तिचणाए तवणाए, कम्मण सोसणा नवे ॥
एव तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरस्सवा ।
नवकोमीसंचयं कम्मं, तवर्मा णिज्जरिज्जइ ॥

सूत्रत्रयम्-एतेषां प्राणिष्वधिरत्यादीनां समित्यादीनां चाना-
श्रवहेतूनां (विवक्षासे स्ति) विपर्ययासे प्राणिबधादावशमि-
तत्वादेौ च रागद्वेषाभ्यां समाजितमुपाजितरागद्वेषसमाजित,
कर्मैति गम्यते, तन्मे कथयतेति शेषः । एकमेकत्र घस्तुनि अभि-
निविष्टत्वेन मनो यस्याः सा एकमना, शृतिवृत्ति शिष्याभिमुखी-
करणम्, सन्निरुक्तेपाल्यादिना निषेद्धे, जलागमे जलप्रवेशे, (उ-
त्तिचणाए ति) सूत्रत्वाद्भासेचनेनारघट्यतीतिवहादिजिह्व-
श्चनेन (तवणाए स्ति) प्राग्वत्तपनेन रविकरनिकरसन्तापकूपेण
क्रमेण परिपाट्या शोषणा जलाभावरूपा भवेत् । पापकर्मनिरा-
श्रवे पापकर्मणामाश्रवाभावे, भावकोटीसञ्चितमित्यत्र कोटिप्र-
हणमृतिवहुत्वोपलक्षणम्, कोटिनियमासम्भवात्, कर्म तपसा नि-
र्जयते आधिक्येन कृत्य नीयते, शोषस्पर्शमिति सूत्रत्रयार्थः । उक्त०
३० अ० । पञ्चमिश्रे गौणप्राणातिपातविरमणे, तस्य कर्मवन्धनि-
रोधोपायत्वात् । प्रश्न० १ सम्य० द्वा० । आ समन्तात् शृण्वन्ति
गुरुवचनमाकर्णयन्तीति आश्रवा । न तथा प्रतिज्ञायाविषयस्य
तस्याश्रवणादनाश्रवः । गुरुवचनेऽस्थिते, "अणासवा ध्रुववया
कुसीशा, मिउपि चम पकरेनि सीसा" इति दुर्विनीतलक्षणम् ।
उक्त० १ अ० । आश्रवः व्रतविशेषे, आचा० ।

अणासाइज्जमाण-अनास्वाद्यमान-त्रि० । न० त० । केवलरस-
नेन्द्रियविषये, म० १ श० १ उ० ।

अणासाएमाण-अनाशयमान-त्रि० । आशाविषयमकुर्वाणे,
उक्त० २ ए अ० ।

अनास्वादयत्-त्रि० । अभुञ्जाने, उक्त० २६ अ० ।

अणासायणा-अनाशातना-स्त्री० । न० त० । तीर्थकरादीनां
सर्वथाऽह्रीलनायाम्, दश० ६ अ० १ उ० । द्वा० । मनोवाक्यायै-
प्रतीपवर्जने, उक्त० १ अ० ।

अणासायणाविणय-अनाशातनाविनय-पु० । अनुचितक्रिया-
निवृत्तिरूपे दर्शनविनयभेदे, अयं च पञ्चदशविधः । आह च-
" नित्यगरधम्मआयरिअ-चायगे थेरकुलगणे सधे । सभोगि-
अकिरियाए, मइनाणाईण य तहेव " सांभोगिका एकसमाचा-
रिका क्रिया आस्तिकता । अत्र भावना-तीर्थकराणामनाशात-
नायां तीर्थकरप्रहृतधर्मस्यानाशातनाया च वर्तितव्यमित्येव स-
र्वत्र दृश्यमिति । "कायव्वा पुण भत्ती, वहुमाणो तह य वण्णवा-
ओ य । अरहतमाइयाण, केवल्लणाणवसाणाण " ॥ १ ॥ स्या०
७ ग० ध० । ६० ।

अणासिय-अनाशित-त्रि० । बुभुक्षिते, "अणासिया णाम म-
हासियात्ता, या गम्भियो तत्थ सयासको वा " सूत्र० १ श्रु०
५ अ० २ उ० ।

अणासेवणा-अनासेवना-स्त्री० । आसेवनाविरहे, आचा०
१ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

अणाह-अनाथ-त्रि० । अशरणे, नि० चू० ३ उ० । निःस्वामिनि,
विपा० १ श्रु० ७ अ० । योगक्षेमकारिविरहिते, प्रश्न० १ आश्र०
द्वा० । रक्षे, ज्ञा० ८ अ० । आत्मनोऽनाथत्वपरिज्ञावधितरि मु-
निनेवे, पु० । यथा मुनिना श्रेणिक प्रति आत्मनोऽनाथता दर्शि-
ता-कोऽर्थः ? , अनाथत्वसनाथत्वे च विचारिते । तथोक्तम्-

मिच्छाण नमो किञ्चा, संजयाणं च भावओ ।

अत्यधम्मगइ तत्थ, अणुसट्ठि सुणेह मे ॥ १ ॥

नो शिष्याः । मे मम अनुशिष्टि शिष्यां यूय भुणुत । किं

कृत्वा ? सिद्धान् पञ्चदशप्रकारान् नमस्कृत्य, च पुनर्जावतो प्र-
क्तिः, सयतान् माधून् आचार्योपाध्यायादिसर्वसाधून् नमस्कृ-
त्य । कीदृशीं मे अनुशिष्टिम् ? । अर्थधर्मगताम् । अर्थयते प्रार्थ्यते
धर्मात्मनि पुरुषैरिति अर्थः, स चासौ धर्मश्च अर्थधर्मस्तस्य ग-
तिर्ज्ञानं यस्या सा अर्थधर्मगतिः, ताम्, ह्यव्यवहो दुष्प्राप्यो धर्म-
स्तस्य धर्मस्य प्राप्तिकारिकाम्, यथा मम शिक्षया दुर्लभधर्मस्य
प्राप्तिः स्यादिति ज्ञावः । पुनः कीदृशीं मेऽनुशिष्टिम् ? , तस्यां स-
त्याम् । अथवा 'तच्च' तत्त्वरूपां वा, इह चानुशिष्टिरभिधेया, अर्थ-
धर्मगतिः प्रयोजनम् । अनयोश्च परस्परमुपायोपेयजावलक्षणः
सम्बन्धः सामर्थ्यादुक्त इति सुप्रार्थ ॥ १ ॥

सम्प्रति धर्मकथाऽनुयागत्वादस्य धर्मकथाकथनव्याजेन

प्रतिज्ञातमुपक्रमितुमाह—

पत्न्यरयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो ।

विहारजत्तं निज्जाओ, मंरिक्कुच्छिसि चेइए ॥ २ ॥

श्रेणिको नाम राजा एकदा मणिरुतकुत्तिनाम्नि चैत्ये उद्याने
विहारयात्रया उद्यानक्रीरया निर्यातः, नगरात् क्रीरार्थं मणिरुत-
कुत्तिवने गत इत्यर्थः । कीदृशः श्रेणिको राजा ? , मगधाधिप म-
गधानां देशानमधिपो मगधाधिपः । पुनः कीदृशः ? , प्रभूतरत्नः
प्रचुरप्रधानगजाश्वमणिप्रमुखपदार्थधारी ॥ २ ॥

तदेव विशिनष्टि—

नाणापुमलगाऽष्णं, नाणापक्खिनिसेवियं ।

नाणाकुसुमसंजन्नं, उज्जाणं नन्दणोवमं ॥ ३ ॥

अथ मणिरुतकुत्तिनाम् उद्यान कीदृशं वर्त्तते तदाह । कीदृशं
तद्वनम् ? , नानाद्रुमवृक्षाकीर्णं विविधवृक्षवल्लीभिर्व्याप्तम् । पुनः
कीदृशम् ? , नानापक्विनिषेवितं विविधविहङ्गेरतिशयेनाश्रितम् ।
पुनः कीदृशम् ? , नानाकुसुमसंजन्नं बहुवर्णैरुपैष्यैर्याप्तम् । पुनः
कीदृशं तन् उद्यानम् ? , नागरिकजनानां क्रीरास्थानम् । नगर-
समीपस्थ वनमुद्यानमुच्यते । पुनः कीदृशम् ? , नन्दनोपम न-
न्दन देववनं तदुपमम् ॥ ३ ॥

तत्थ सो पस्सई साहुं, संजयं सुसमाहियं ।

निसन्नं खखमूलरिम, सुकुमालं सुहोइयं ॥ ४ ॥

तत्र यने स श्रेणिको राजा साधु पश्यति । कीदृशं साधुम् ? , सयतं
सम्यक्प्रकारेण यत यत्नं कुर्वन्तम् । पुनः कीदृशम् ? , सुसमापित
सुतरामतिशयेन समाधियुक्तम् । साधुः सर्वोऽपि शिष्ट उच्यते,
तद्व्यवच्छेदार्थं सयतमित्युक्तम्, सोऽपि च बहिः सयमवान् नि-
हवादिपरि स्यात् इति सुष्ठु समाहितो मनः समाधानवान् सु-
समाहितस्तमित्युक्तम् । पुनः कीदृशम् ? , वृक्षमूले निषण्ण स्थि-
तम् । पुनः कीदृशम् ? सुकुमालम् । पुनः कीदृशम् ? , सुखोचितं
सुखयोग्यम्, शुनोचितं वा ॥ ४ ॥

तस्स रुवं तु पासित्ता, राइणो तम्मि संजए ।

अच्चंतपरमो अस्सी, अउलो रुवविम्हिओ ॥ ५ ॥

राज्ञः श्रेणिकस्य तस्मिन् सयते साधौ अत्यन्तः परमोऽतिशय-
प्रशन्नोऽधिकोत्कृष्टः, अतुओ निरुपमोऽनन्यसदृशो रूपविस्मयो
रूपाश्चर्यमानीतः । किं कृत्वा ? , तस्य साधोः, रूपदृष्ट्वा । तुशब्दा-
वाक्यालङ्कारे ॥ ५ ॥

अहो ! वनो अहो ! रुवं, अहो ! अज्जस्स सोम्मया ।

अहो ! खंती अहो ! मुत्ती, अहो ! जोगे असंगया ॥ ६ ॥

तदा राजा मनासे निन्तयति स्म—अहो ! इत्याश्चर्यं आश्चर्यकारी

अस्य शरीरस्य वर्णो गौरत्वादिः । अहो ! आश्चर्यकृत, अस्य सा-
धो रूपं द्वावयसाहितम् । अहो ! आश्चर्यकारिणी अस्य आर्यस्व
सौम्यता चन्द्रवन्नेत्रप्रियता । अहो ! आश्चर्यकारिणी अस्य कानिः
कमा । अहो ! आश्चर्यकारिणी चास्य मुक्तिर्निर्लभता । अहो !
आश्चर्यकारिणी अस्य जोगे असङ्गता-विषये निस्पृहता ॥ ६ ॥

तस्स पाए उ वंदित्ता, काऊण य पयाहिणं ।

नाइदूरमणासन्ने, पंजली परिपुच्छइ ॥ ७ ॥

तस्य साधोः पादौ वन्दित्वा, पुनः प्रदक्षिणां कृत्वा, राजा ना-
तिदूरं नात्यासन्नः, कोऽर्थः ? , नातिदूरवर्ती, नातिनिकटवर्ती वा
सन्, प्राञ्जलिपुटो वक्ष्याञ्जलिं पृच्छति प्रश्नं करोति ॥ ७ ॥

तरुणोसि अज्जो ! पव्वइओ, जोगकालम्मि संजया ।।

उवाट्ठिओसि सामन्ने, पयमहं सुणामि ते ॥ ८ ॥

तदा श्रेणिकः किं पृच्छति-हे आर्य ! हे साधो ! , त्वं तरुणोऽसि युवा-
ऽसि । हे सयत ! हे साधो ! तस्माद् भोगकाले जोगसमये, प्रव्रजितो
गृहीतदीक्षाः तारुण्यं हि भोगस्य समयोऽस्ति न तु दीक्षायाः स-
मयः । हे सयत ! तारुण्ये भोगयोग्यकाले त्वं भ्रामण्ये दीक्षायाः
सुपस्थितोऽसि, आदरसाहितोऽसि । एतदर्थं एतन्निमित्तं, त्वत्-
शृणोमि, किं तव दीक्षायाः कारणम् ? , कस्मादभिमित्वा दीक्षा
त्वया गृहीता ? , तत्कारणं त्वन्मुखात् श्रोतुमिच्छामीत्यर्थः ।

(पाईटीका)

तरुणेत्यादिना प्रश्नस्वरूपमुक्तम् । इह च यन एव तरुणोऽत
एव प्रव्रजितो जोगकाले इत्युच्यते, तारुण्यस्य जोगकालत्वात् ।
यद्वा-तारुण्येऽपि रोगादिपीडयां न जोगकालः स्यात्, इत्येवमभि-
धानम् । सोऽपि कदाचित्समयेऽनुद्यत एव स्यात् । त्वं पुनरुपस्थि-
तश्च । पठन्ति च—[उवाट्ठिओसि ति] एतमर्थं निमित्तं येनार्थेन त्व-
मीदृश्यामप्यवस्थायां प्रव्रजितः, शृणोमि, 'ता' इति तावत्, प-
श्चात्तु यत्नं जणिष्यसि तदपि श्रोष्यामीति ज्ञावः । इति श्लो-
कसप्तकार्यः ॥ ८ ॥

इत्थं राज्ञोक्ते मुनिराह—

अण्णाहोमि महाराय !, नाहो मज्ज न विज्जइ ।

अण्णकपयं सुहिं वा वि, कंची एाहि तुमे महं ॥ ९ ॥

अनाथोऽभ्यामिकोऽस्मीत्यहं महाराज ! प्रशस्यनुपते । किमि-
त्येवम् । यन-नाथो योगक्रेमविधाता, मम न विद्यते । तथा
(अण्णकपय ति) आर्यत्वादनुकम्पकां वा मामनुकम्पते
(सुहिं ति) तत एव सुहृत् (कचि ति) कश्चिन्न विद्यते,
ममेति सम्बन्धः [नाहि ति] प्रक्रमादनन्तरोक्तमर्थं जानी-
हि [तुमे ति] त्वस् । पठ्यते—' किञ्ची नाभिसमे महं ' कि-
ञ्चिदनुकम्पकं सुहृद् वापि नाभिसमे नाभिसगच्छामि न केनचि-
दनुकम्पनेन, सुहृदा च सगतोऽहमित्यादिनाऽर्थेन तरुणोऽपि प्रव-
्रजित इति ज्ञावः । इति सुप्रार्थ ॥ ९ ॥ एवमुनिनोक्ते—

तओ पइसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो ।

एवं ते इद्विमतस्स, कहं नाहो न विज्जई ? ॥ १० ॥

होमि नाहो जयंताणं, भोगे जुंजाहि संजया ।।

मित्तनाईपरिवुमो, माणुस्सं खलु उद्धहं ॥ ११ ॥

[पाईटीका]

ततस्तदनन्तरं श्रेणिको मगधाधिपो राजा प्रहसितः । हे महा-
जाग ! एव तव श्रद्धामनं श्रद्धायुक्तस्य कथं नाथो न विज-
ते ? । नवरम्, एवमिति दृश्यमानप्रकारेण, श्रद्धामनो वि

स्मयतोऽप्यप्राप्तिमयसिमत, कथमिति केन प्रयोगेन, नाथो न विद्यते । तत्कथायेहप्राप्तयेन यत्प्रमाणमिदम् । "यथाकृतस्मय गुण" चमत्ति, तथा गुणयति धनम्, तत्र श्री, श्रीमत्प्राप्त, ततो राज्यम्" इति हि होषप्रदाह । तथा च सकर्माश्चिदनायत्नं भवत स्मयवतामिनाय यदिप्राप्तमायत्नेय भवत प्रत्ययानिपत्तिहस्तु, तत्र, हे पुत्रा ! इह (भवनाय इति) प्रत्ययानां पुण्यानां गुणाकं नाथे, जयामि, यत्प्रत्ययानां वीर्येण स्वामी नास्ति तदा इह भवतां स्वामी भवामि, यद्वा सनाथायाद् गुणानिर्दिष्टा गुह्यता तदाऽप्यप्राप्तमिति नाथ । हे स्वयन् ! इह नाथो ! भोगान् हृदय । कीदृश भवन्, मित्रहानिभिर्परिवृत भवन्, हे नाथो ! यन्तु इति निश्चयेन, मानुष्यं दुर्गन्धं घनं, तस्मिन्नुप्याय दुर्गन्धं मानुष्यं मोक्षान् हृदयः सकर्मावृत्तः ॥ १० ॥ ११ ॥

मुनिराट्—

अपराधं विष्णोरोमि, मेष्ठिया । महाद्विषा । ।

अपराधं सनाथो मेतो, कस्मिन्नाथो नविस्मयि ॥ १२ ॥

हे राजन् ! भोऽहम् ! ममपदेनाधिपत्यमनाम्नाऽपि सनाथोऽपि, कामेन अनाथस्य स्वयन्नाथो भवत्यसौ, तदा स्वयन्नाथस्य कथं नाथो भविष्यतीति ॥ १२ ॥

एवं च मुनिभ्यो—

एव पुनो नमिदो मो, नृपेभ्यो मुनिभ्यो ।

यथायं यस्मिन्पुत्रे, माहृणा सिद्धये निर्मा ॥ १३ ॥

स्व गते-ह्वा माधुना यन्मुनि भवन् विस्मयं यति इत्यर्थे प्रापितः । कीदृशो मेष्टः ! स्वयन्नाथोऽप्यपि यदाऽस्मना प्राप्तः पुन कीदृश ! मुनिभ्यो मम पूर्वमेव महर्षताम सनाथाभ्यं पुरापि लक्ष्यनभवात् विस्मयः न जायते, यतो हि महर्षयः सन्तुष्टाः, भोऽहम् यथाप्राप्तमिदं तामिति यत्नं पूर्वं केनापि मो भविष्यति ॥ १३ ॥

यदुक्तवान्नाह—

अस्मा दृष्टी मण्ड्या मे, पुर अनेहं न मे ।

शुंतामि माणुते भोए, प्राणा इस्मिन्यं न मे ॥ १४ ॥

परिते मय्यगमि, मय्यगममणिष ।

कह अणाहो नरः, मा तु भवे ! मुतं यए ॥ १५ ॥

हृदयां माधान्वा धेनिको राजा यदाति-हे नरन् ! पूज्य । कु- इति निश्चयेन, मुना मा माहृ अस्मय मा गद । यत्प्रत्ययं सपद- इये मति स्वयन्नाथये मति, यद्वा यथाप्राप्तं जयामि, कीदृशोऽहम् ? , नृपेभ्यो मय्यगमि-मय्यं न मे कामाभ्यं स्वय- कामाः, तेन्य स्वयंकामेन्य, स्वयंपितः शुलकर्मणा दीक्षितः । अथ राजा स्वयन्नाथस्य यन्नाथ-अभ्या घोडकाः महयो मम सन्ति, पुनर्हस्तिनोऽपि प्रचुरा सन्ति, तथा पुनर्म- गुण्या सुनटा मेयका महयो धिगते, तथा मम पुर न- गममप्यास्ति, च पुनर्म मम अन्त पुर राधीवृन्दं वर्तते । पुनर्ह मानुष्यान् भागान् मनुष्यसम्बन्धिनो विषयान् भुनक्ति । च पुनर्हमय्यं यत्नं आत्मा अप्रतिहतशान्तस्वरूप प्रभुत्वं वर्तते, यतो मम राज्ये कोऽपि मर्त्यामाप्ता न गण्यतीत्यर्थः ।

यतिस्तमुवाच—

न तुमं जाणे अणाहस्त, अत्य पोत्यं च पत्थिवा । ।

जहा अणाहो इह, सणाहो वा नराहिया ॥ १६ ॥

हे पार्थिव ! हे राजन् ! त्वम् । 'अणाहस्त' अनाथस्य अर्थे

अभिधेयम्, यथाहः पुनरपि, च पुनरनाथस्य प्रोथां न जाना- सि, प्रकथेणेत्थानं भूतेतपत्तिः प्रोथा, तां प्रोथाय, केनाभि- प्राथेणाप्यमनाथस्यः प्रोक्त इत्येकरूपां न जानासि । हे राजन् ! यथाऽनाथोऽप्यपि सनाथो भवति तथा न जानासि, कथम- नाथो भवति, कथं वा सनाथो भवति ? ॥ १६ ॥

सुणेह मे महाराय !, भवन्निवृत्तेण चेषमा ।

जहा अणाहो नरः, जहा मेय पवत्तियं ॥ १७ ॥

हे महाराज ! मे मम कथयत, सत त्वमव्यान्तिनेन स्थिरेण चेतसा शृणु । यथाऽनाथो नाथरहितो भवति, तथा मे ममा- नाथत्वं प्रवर्तितम् । अथवा (मे य इति) मे पतन्नाथत्वं प्रव- र्तितं तथा त्वं शृणु इत्यनेन स्पर्शकाया उद्देशः कृतः ॥ १७ ॥

कोमंवी नाम नयरी, पुराणपुरजेयणा । ।

तत्तय आमी पिपा मज्जं, पन्थपणसन्धो ॥ १८ ॥

हे राजन् ! कीदृश्या नयरी आसीत् । कीदृशो कीदृश्यासीत् ?, पुराणपुरजेजिनी जीर्णनगरभेदिनी, पाट्यानि जीर्णनगरानि नयरीति तेषां अधिकारोभायती । कीदृश्या हि जीर्णपुरी घसंते जीर्णपुरस्या हि लोकाः प्रायशश्चतुरा धनयन्त्रा बहुता विधे- कयन्तश्च भवन्तीति हार्दम् । तत्र तस्यां कीदृश्यां मम पिता- ऽसीत् । कीदृशो मम पिता, प्रभूतधनमश्रय । नाम्नाऽपि ध- नयन्त्रय, गुणेनाऽपि महत्तममश्रय इति वक्तुं प्रवृत्तः ॥ १८ ॥

पठये तए महाराय !, अउसा मेऽत्थियेयणा ।

अहोन्वा विरभो दाहो, सज्जगतेषु पत्थिवा ॥ १९ ॥

हे महाराज ! प्रथमे पयसि यौयने एकदा अनुमोदय, अ- भिधेयना भविष्यता, (सहाया इति) अहत् । अथवा " भविष्येयणा " इति पाठे अक्षिपेदना नेत्रपौडा भवतु । ततश्च हे पार्थिव ! हे राजन् ! स्वयं गाधेयु विपुलो दाहोऽहम् ॥ १९ ॥

मत्य जहा परमानिरत्वं, मरीरगिररतरे ।

पाणिभिज्ज अरी कुप्पो, एरं मे अत्थियेयणा ॥ २० ॥

हे राजन् ! यथा कश्चिद्वि- मृष्यन् दृक् सन्, शरीरविषयान्ते नामाकाशेषु प्रमुखाध्यानां माये परमतीक्ष्ण शक्त प्रपीडयेद् गाढमयगाहयेत्, यमे ममाक्षिपेदनाऽहम् । (शरीरविषयान्तेति)

(पार्थीका)

शरीरविषयानि कर्णरन्ध्रादिनि, तेवामन्तर मध्य शरीरविष- या तर नस्मिन् (पापिलिज्जति) प्रवेशयेत् प्रक्षिपेत् । शरी- रविषयप्रदणमतिशुक्रमारयादान्तरतय आगाढवेदनेपलक्षण- म् । पठयते च-शरीरर्यान्तरेण "आपिलिज्जति" पातान्तरं शरीरार्थं सत धानयस्तदन्तरे तन्मप्य आपीकयेद् गाढम- यगाहयेत् । एवमित्यापीक्ष्यमानस्य शस्त्रवद् मे ममाक्षिपेदना, कोऽर्थ ? , यथा नश्यन्तवाधाधिधाय तथैवाऽपीति ॥ २० ॥

तियं मे अंतरिज्जं च, उत्तमंगं च पीमई ।

इदासणिसमा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥ २१ ॥

हे राजन् ! सा परमदारुणा वेदना मे मम त्रिक कटिपृष्ठ- भागम् । च पुनरन्तरिज्जाम्-अन्तर्मेध्य इच्छा अन्तरिज्जं, ताम- न्तरिज्जाम् । भोजनपानरमणाभिलाषरूपाय । च पुनरुत्तमाह मस्त्रकं पीडयति । कीदृशी वेदना ? , इन्द्राशनिसमा घोरा, इन्द्रस्या शनिर्वज्र तत्समाऽऽनिदाहोत्पादकत्वात् तुल्या, घोरा जयदा ॥ २१ ॥

किं न कश्चित् प्रतिवृत्तवानित्याह—

उवाचिया मे आयरिया, विज्जामंतविगिच्छणा ।

अधीया सत्यकुसला, मन्मूलविसारया ॥ १५ ॥

हे राजम् ! तदेत्यध्याहारः । आचार्या वैद्यानां शास्त्राज्या-
सकारकाः मे उपस्थिताश्चिकित्सां कर्तुं लब्धाः, कीदृशा आचा-
र्याः ? विद्यामन्त्रचिकित्सकाः विद्यया मन्त्रेण च चिकित्सन्ति
चिकित्सा कुर्वन्तीति विद्यामन्त्रचिकित्सकाः, प्रतिक्रियाकर्तारः ।
पुनः कीदृशा आचार्याः ? अधीताः सम्यक् पठिता । 'अधी-
या' इति पठे न विद्यते अन्यो द्वितीयो येन्यस्तेऽद्वितीया ग-
साधारणाः । पुनः कीदृशास्ते ? शास्त्रकुशलाः शास्त्रेषु विचक्षण-
ाः । पुनः कीदृशास्ते ? मन्त्रमूलविशारदाः, मन्त्राणि देवाधि-
ष्ठितानि, मूलानि जटिकारूपाणि, तत्र विचक्षणाः मन्त्रमूलिका-
नां गुणज्ञाः ॥ १२ ॥

ते मे तिगिच्छं कुर्वन्ति, चातुष्पायं जहादियं ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एसा मज्ज अणाहया ॥ १३ ॥

ते वैद्याचार्या मम चिकित्सां रोगप्रतिक्रियां यथाहितं भवेत्त-
था कुर्वन्ति । कीदृश चिकित्सयम् ? चातुष्पाद चत्वारः पादाः
प्रकारा यस्य तच्चतुष्पदम्, तस्य भावः चातुष्पादम्, चातुर्विध्य-
मित्यर्थः । वैद्य १ औषध २ रोगि ३ प्रतिचारक ४ रूपम् ।
अथवा-वमन १ विरेचन २ मर्दन ३ स्वेदन ४ रूपम् । अथवा-
अञ्जन १ वन्धन २ लेपन ३ मर्दनरूपम् । शास्त्रोक्तं गुरुपारंपर्यागतम् ।
चक्ररिति स्थाने प्राकृतत्वात्कुर्वन्तीत्युक्तम्, ते वैद्या मां दुःखात्
विमोचयन्ति स्म । प्राकृतत्वान्नूतार्थं वर्तमानार्थः प्रत्ययः, एसा
ममानाथता वर्तते ॥ १३ ॥

अन्यथा—

पिया मे सन्वसारं पि, देज्जाहि समकारणा ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एसा मज्ज अणाहया ॥ १४ ॥

हे राजम् ! मम पिता मम कारणे सर्वमपि सारं गृहे यत्सार
सारवस्तु तत्सर्वमपि वैद्योऽन्योऽदात्, तथापि वैद्या मां दुःखाद्
न विमोचयन्ति स्म । एसा मम अनाथता ज्ञेयेति शेषः ॥ १४ ॥

माया वि मे महाराय !, पुत्तसोगडुहट्टिया ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एसा मज्ज अणाहया ॥ १५ ॥

[पार्श्वटीका]

तथा मानाऽपि पुत्रविषयः शोकः पुत्रशोकः, हा कथमित्थ
दुःखं मत्सुनो जात इत्यादिरूपः, ततो दुःखम्, तेन [अद्विष्ट]
आर्ता । अथवा [अद्विष्ट] अर्दिता, उभयत्र पीनितेत्यर्थः ।
ततः पुत्रशोकदुःखाच्चा पुत्रशोकदुःखादिता वा ज्ञेया ॥ १५ ॥

भायरा मे महाराय !, सगा जिह्वा कण्ठिहगा ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एसा मज्ज अणाहया ॥ १६ ॥

हे महाराज ! मे मम भ्रातरोऽपि स्वका आत्मीया, ज्येष्ठक-
निष्ठका वृक्षा लघवश्च मां न च दुःखाद्विमोचयन्ति स्म । एसा
ममानाथता ज्ञेया ।

(पार्श्वटीका)

[सग चि] लोकरूढित सौदर्याः स्वका वा आत्मीयाः ॥ १६ ॥

जइणीआं मे महाराय !, सगा जिह्वा कण्ठिहगा ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एसा मज्ज अणाहया ॥ १७ ॥

हे महाराज ! मे मम भगिन्योऽपि स्वका एकमातृजाः । ज्ये-
ष्ठाः कनिष्ठाश्च मां दुःखात् विमोचयन्ति स्म, एसा मम अनाथता
ज्ञेया ॥ १७ ॥

भारिया मे महाराय !, अणुरत्ता अणुव्वया ।

अंसुपुष्पेहि नयणेहि, उरं मे परिसिचइ ॥ २० ॥

अन्नं पाणं च एहाणं च, गंधमल्लविज्ञेवणं ।

मए नायमनायं वा, सा बाला नोवज्जइ ॥ २१ ॥

खणं पि मे महाराय !, पासाओ वि न फिट्ठइ ।

न य दुःखा विमोयन्ति, एसा मज्ज अणाहया ॥ २० ॥

हे महाराज ! मे मम भार्या कामिन्यऽपि दुःखमांन मोचय-
ति स्म । कथम्भूता भार्या ? अनुरक्ता अनुरागवती । पुनः क-
थम्भूता ? अनुव्रता पतिव्रता पतिमनुवर्त्तकृत्य व्रत यस्याः सा
अनुव्रता । एतादृशी भार्या मे ममोरो हृदयमशुपूर्णाभ्यां द्योच-
नाभ्यां सिञ्चति स्म ।

(पार्श्वटीका)

अपरञ्च भार्या पत्नी अनुरक्ताऽनुरागवती [अणुव्वय चि] भ-
ग्विति कुलानुरूपं व्रतमाचारोऽस्या अनुव्रता; पतिव्रताति याव-
त्, वयोऽनुरूपा वा । पठ्यते च—(अणुत्तरमणुव्वय चि) इह
च मकारोऽलाक्षणिकः । अनुत्तरा अति प्रधाना (उर ति)
उरो वक्त्रं, परिषिञ्चति समन्तात् स्थापयति ॥ २० ॥

पुनः सा बाला मत्कामिनी अन्नमशन मोदकादिकं भक्ष्यं,
पानं शर्करादकादिकं, पुनः स्नानं कुङ्कुमादिपानीयैरभितैलचो-
वकमेदजवाधिप्रमुखैर्गन्धार्चनं मया कृतं वा अज्ञानं स्वभावै-
व एतत्सर्वं भोगाङ्गं नोपचुक्के नानुभवति । मम दुःखात्सर्वा-
ण्यपि भोगाङ्गानि त्यक्तानि ।

(पार्श्वटीका)

स्नानं स्नात्यनेनेति स्नानम्-गन्धोदकादि, मया कृतमज्ञात वे-
त्यनेन सद्भावसारताम्राह । पठ्यते च "तारिस रोगमावसे चि"
तादृशमुक्तरूपं रोगमक्षिरोगादिकम्, 'आवसे' प्राप्ते मयीति
गम्यते । (से ति) भार्या बालेव बालाऽभिनवयौवना नोप-
चुक्के नासेवते ॥ २१ ॥

(खण वि चि) पुनर्हे महाराज ! सा बाला मम पार्श्व-
कट्यात् (न विफिट्ठति) न अपयातीत्यर्थः । परं दुःखान्ना
न मोचयति, एसा ममानाथता ज्ञेया ।

[पार्श्वटीका]

[पासाओ वि ण फिट्ठइ चि] अपिञ्चशब्दार्थः, ततः पार्श्व-
नापयाति सदा सन्निहितैवाऽऽस्ते ॥ २० ॥

अनेन तस्या अपि वत्सलत्वमाह—

तओ इं एवमाहंसु, दुःखमा दु पुणो पुणो ।

वेयणा अणुभविइं जे, संसारम्मि अणंतए ॥ २१ ॥

ततोऽनन्तरं प्रतीकारेषु विफलेषु जातेषु अहमेवमवादि-
षम् । एवमिति किम् ? इह इति निश्चयेन या वेदना अनुभवितुं
दुःखमा भोक्तुमसमर्थास्ता वेदनाः संसारे पुनः पुनर्मुक्ता इति
शेषः । वेद्यते दुःखमनयेति वेदना । दुःखेन क्षम्यते सख्यते
इति दुःखमा दुस्सहा, कीदृशे संसारे ? अनन्तकेऽपारे ॥

[पार्श्वटीका]

तत इति रोगाप्रतिकार्यतान्तरमहमेवं बह्यमाणप्रकारेण
[आहंसु चि] उक्तवान्, यथा [दुःखमा दु चि] दुरेवका-
रार्थः । ततो दुःखमैव दुःसहैव पुनः पुनर्वेदना उक्तरूपा
रोगव्यथा अनुभवितुम्, 'जे' इति निपातः पूरणे ॥ २१ ॥

सइं च जइ मुञ्जेजा, वेयणा विज्झा ल मे ।

खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइए अणगारियं ॥ २२ ॥

अहं किमवादिषम् ? तदाह—यदि सकृदप्येकवारमप्यहं वेद-

नाया विमुच्ये, तदाऽहं क्षान्तो भूत्वा, पुनर्दान्तो जितेन्द्रियो भूत्वा निरारम्भः सन् अनगारत्वं साधुत्वं, प्रव्रजामि दीक्षां गृह्णामीति भावः । कथम्भूताया वेदनायाः?, विपुलाया विस्तीर्णायाः।

[पार्श्वटीका]

यतश्चैवमतः [सइच स्ति] चशब्दोऽपिशब्दार्थः । ततः सकृदप्येकदाऽपि यदि मुच्येयाहमिति गम्यते । कुतः?, [वयणस्ति] वेदनाया [विडल स्ति] विपुलाया विस्तीर्णायाः । इत्यनुभूयमानाया । ततः किमित्याह - क्षान्तः क्षमावान्, दान्त इन्द्रियनो-इन्द्रियदमेन [पव्वण अणगारिय ति] प्रव्रजेय गृहाभिक्षामेयम् । ततश्चाऽनगारितां भावभिक्षतामङ्गीकुर्यामिति शेषः । यद्वा-प्रव्रजेय प्रतिपद्येयानगारितं म, येन ससारोच्छिन्नचित्तो मूलत एव न वेदनासम्भवः स्यादिति भावः ॥ ३२ ॥

एव च चिंतइत्ताणं, पसुत्तोमि नराहिवा ! ।

परियट्ठंति य राईए, वेयणा मे खय गया ॥ ३३ ॥

एव पूर्वोक्त चिन्तन चिन्तयित्वा हे नराधिप ! यावद्दह सुप्तोऽऽस्मि तावत्तस्यामेव रात्रौ प्रवर्त्तमानायाम्-अतिक्रामन्त्यां, मे मम, वेदना क्वय गता, वेदना उपशान्ता इत्यर्थः ॥

(पार्श्वटीका)

एवं च चिन्तयित्वा प्रणन्ति न केवलमुक्त्वा चिन्तयित्वा चैव (पसुत्तोमि स्ति) प्रसुप्तोऽस्मि (परियट्ठंति य स्ति) परिवर्त्तमानायामतिक्रामन्त्याम् ॥ ३३ ॥

तत्रो कट्ठे पभायम्मि, आपुच्छित्ताण वधवे ।

खतो दंतो निरारभो, पव्वइओ अणगारियं ॥ ३४ ॥

(पार्श्वटीका)

ततो वेदनोपशमनानन्तर (कट्ठ स्ति) कल्यो नीरोग सन् प्रभाते प्रातः । यद्वा- [कट्ठ स्ति] चिन्ताऽऽदिनाऽपेक्षया द्वितियदिने प्रकर्षेण व्रजितो गतः प्रव्रजितः, कोऽर्थः?, प्रतिपन्नवाननगारितामिति । ततो वेदनाया उपशान्तेरनन्तर (कट्ठे इति) नीरोगे जाते सति प्रभातसमये धान्धवान् स्वज्ञातीनापृच्छ्याहमनगारित्व साधुत्वं प्रव्रजितः, साधुधर्ममङ्गीकृतवान् । कीदृशोऽहम्?, क्रान्तः पुनर्दान्तः, पुनरहं निरारम्भः ॥ ३४ ॥

तत्रो ह नाहो जात्रो, अप्पणो य परस्स य ।

सव्वेमि चैव जूयाणं, तसाण थावराण म ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! ततो दीक्षाग्रहणानन्तरमात्मनश्च पुनः परस्य नाथो योगक्षेमकरत्वेन स्वामी जातः । आत्मनो हि नाथः, शुद्ध-प्ररूपणत्वात् । अपरस्य च, हितचिन्तनात् । एव निश्चयेन सर्वेषां भूतानाम्, व्रसानां च पुनः स्थावराणां नाथो जातः ॥ ३५ ॥ किमिति प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तर नाथस्त्व जातः, पुरा तु नेत्याह—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूरुसामद्धी ।

अप्पा कामडुघा धेणु, अप्पा मे नंदणं वण ॥ ३६ ॥

(आत्मेति) व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्यात्मैव नान्यः कश्चिदित्याह-नदी सरित् । चैतरणीति नरकनद्या नाम । ततो महानर्थहेतुतया नरकनदी वा । अत एव आत्मैव कूटमिव जन्तुयात-नाहेतुत्वाच्छाल्मली कूटशाल्मली नरकोद्धवा । तथा आत्मैव कामानभिलाषान् दोग्धि प्रापकतया प्रपूरयति कामडुघा, धेनु-रिव धेनु इय रुदित वक्ता । एतदुपमात्वमभिलषितस्वर्गापवर्गा-वाप्तिहेतुतया आत्मैव मे मम, नन्दन नन्दननामक वनमुद्यानम् । एतदौपम्य चास्य चित्तप्रवृत्तिहेतुतया ॥ ३६ ॥

यथा चैतदेव तथाऽऽह—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥ ३७ ॥

आत्मैव कर्त्ता विधायको दुःखानां सुखानां वेति योगः । प्रक-भाश्च आत्मन एव विकर्त्ता च विकल्पकश्चात्मैव तेषामेव । अतश्च आत्मैव मिश्रमुपकारितया सुदृढः, (अमिश्र चेति) अमि-श्रश्चापकारितया दुर्दृढः । कीदृक ? (दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठितो स्ति) दुष्टु प्रस्थितः सकलदुःखहेतुरिति विषादिकल्पः, सुष्ठु प्र-स्थितश्च सकलसुखहेतुरिति कामधेन्वादिकल्पः । तथा च प्रव्रज्याऽवस्थायामिवमुपस्थितत्वेन आत्मनोऽन्येषां च योगक्षे-मकरणे समर्थत्वाच्चायत्त्वमिति सूत्रगर्भार्थः ॥ ३७ ॥

पुनरन्यथा नाथत्वमाह—

इमा हु अन्नो वि अणाहया निवा !,

तमेकचित्तो निवृत्तो सुणेहि ।

निगड्ढम्मं लभियाण वी जहा ,

सीदंति एगे बहुकायरा नरा ॥ ३८ ॥

(पार्श्वटीका)

इयमनन्तरमेव वदयमाणा । इह पूरणे, अन्या परा, अपि समुच्ये । अनाथताऽस्वामिना, यदभावतोऽहं नाथो जात इत्याशयः । निवृत्तिरूपतामित्यनाथतामेकचित्त एकाग्रमना, निवृत्तः स्थिरः, शुणु । का पुनरसावित्याह-निर्ग्रन्थानां धर्म आचारो निर्ग्रन्थधर्मस्तम् [लभियाण वि स्ति] ब्रह्मवाऽपि । यथेत्युपदर्शने । सीदन्ति तदनुष्ठानं प्रति शिथिलीभवन्ति । एके केचन, ईषडपरिसमाप्ता कातरा नि सत्त्वा बहुकातरा । विभा-षा सुपो बहुल पुरस्तात् ॥ पाणि०-५ । ३ । ६७ ॥ इत्यनः प्रागु बहुचप्रत्यये हि सर्वथा नि सत्त्वा, ते मूलत एव न निर्ग्रन्थमार्गे प्रतिपद्यन्त इत्येवमुच्यते । यदि वा कातरा एव बहव सन्नव-न्तीति, बहुशब्दो विशेषणम् । नरा पुरुषाः । सीदन्तश्च नात्मान-मन्यांश्च रक्षयितुं क्रमाः । इतीय सीदनलक्षणा पराऽनाथ-तेति ज्ञाव ॥ ३८ ॥

जो पव्वइत्ताण महव्वयाई,

सम्मं च ना फासइ से पमाया ।

आणिगहप्पा य रसेणु गिण्ठे,

न मूलओ णिदइ वधण से ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! यो मनुष्यः प्रव्रज्य दीक्षां गृहीत्वा, महाव्रतानि प्र-मादात् सम्यग्विधिना न स्पृशति न सेवते, [से इति] स प्र-मादवशवर्ती बन्धन कर्मबन्धन रागद्वेषद्वक्त्रण ससारकारण मूलतो मूलाद् न ङिनत्ति मूलतो नोत्पादयति । सर्वथा राग-द्वेषो न निवारयतीत्यर्थः ।

[पार्श्वटीका]

नो स्पृशतीति नाऽऽसेवते प्रमादान्निष्ठादेरनिग्रहोऽविद्यमान-विषयनियन्त्रणे आत्मा यस्य सोऽनिग्रहात्मा । अत एव रसेणु मधुरादिषु गृह्यो गृह्यमान् । बध्यतेऽनेन कर्मेति बन्धनम् राग-द्वेषात्मक [से इति] सः ॥ ३९ ॥

आउत्तया जस्स य नात्थि काई,

इरियाइ भासाइ तहेसणाए ।

आयाण-निक्खेव-दुगंणणाए,

न धीरजाय अणुजाइ मगं ॥ ४० ॥

हे राजन् । स साधुर्धरयातं मार्गं नानुयाति , धीरैर्महापुरुषै-
स्तीर्थकरैर्गणैश्च यातं प्राप्तम् , अर्थान्मोक्षमार्गं न प्राप्नोति ।
स कः ? यस्य साधोरीर्यायां गमनागमनसमितौ , तथा ज्ञापायां,
तथा एषणायामाहारग्रहणसमितौ , पुनरादाननिकेपणसमितौ,
वस्तूनां ग्रहणमोचनविधौ , तथा [दुग्धगणाय इति] उच्चारप्रश्रव-
णश्लेष्मजलसिङ्घाणादीनां परिष्ठापनसमितावाऽऽयुक्तता का
चिन्नास्तीति ॥ ४० ॥

तथा च—

चिरं पि से भुमरुई जवित्ता,
अथिरव्वए तवनियमेहिं जट्टे ।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता,
न पारए होइ हु संपराए ॥ ४१ ॥

स पूर्वोक्तः पञ्चसमितिरहितो मुन्याभासश्चिरं मुण्डरुचिर्भू-
त्वाऽऽत्मानमपि चिरं क्लेशोपातयित्वा , हु इति निश्चयेन , स-
परपे ससारे पारगो न भवति । कीदृशः सः ? अस्थिरव्रतोऽ-
स्थिराणि व्रतानि यस्य सोऽस्थिरव्रतः । पुनः कीदृशः सः ? , त-
पो नियमदूष्टः । यः कदापि तपो न करोति , तथा पुनर्नियममभि-
ग्रहादिकं च न करोति , केवलं द्रव्यमुण्डो जवति , स ससार-
स्य पारं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

स चैवविध—

पोल्लरमुठी जह से असारो,
अयंतिए कूरुकाहावणे वा ।
रादामणी वेरुवियप्पगामे,
अमग्घए होइ हु जाणएसु ॥ ४२ ॥

स पूर्वोक्तो मुण्डरुचिरसारो जवति । अन्नःकरणे धर्माज्ञावात्
रिकोऽकिञ्चित्करो भवति । स क इव ? पोल्लो मुष्टिरिव । यथा-
रिको मुष्टिसारो मध्ये सुषिर एव , तथा स मुण्डरुचिः कूटका-
र्षापण इवासत्यनारणकमिषायन्त्रितो जवति , न यन्त्रितोऽयन्त्रितो-
ऽनादरणीयो निर्गुणत्वाद्भेदकणीयः स्यादित्यर्थः । उक्तमर्थमर्थ-
न्तरन्यासेन ब्रूयति—हु यस्मात्करणात् रादामणीः काचमणिः
[जाणएसु इति] ज्ञातृकेषु मणिपरीक्षकनरेषु वैकूर्यप्रकाशोऽ-
मर्षको भवति बहुमूल्यो न भवति । वैकूर्यमणिवत् प्रकाशो य-
स्य स वैकूर्यमणिप्रकाशः , वैकूर्यमणिसदृक्तेजाः । महान् अर्घो
यस्य स महार्घः , महार्घ एव महार्घकः । न महार्घकोऽम-
हार्घकः । अबहुमूल्य इत्यर्थः । यथा—मणिज्ञेषु वैकूर्यमणि-
र्बहुमूल्यः स्यात् , तथा काचमणिर्बहुमूल्यो न स्यादेव
धर्महीनो मुनिः साधुर्गुणज्ञेषु यथा सद्धर्माचारयुक्तः साधुर्व-
न्दनीयः स्यात्तथा स मुण्डरुचिर्वन्दनीयो न स्यादिति ज्ञावः ॥

(पार्श्वटीका)

“पोल्लरमुठी जह ति” पाठान्तरम् । इह “पोल्लरत्ति” सुबिरा,
असारत्वं चोभयोरपि सदर्थशून्यतया ॥ ४२ ॥

कुसीलवर्णिगं इह धारयित्ता,
इसिज्झयं जीविय ब्रूयित्ता ।
असंजये संजय दप्पमाणे,
विणिहायमागच्छइ से चिरं पि ॥ ४३ ॥

(से इति) स साध्याचाररहितः, इह संसारं चिरचिरकालं या-
वन्निघातमागच्छति पीडां प्राप्नोति । किंकृत्वा ? , कुशीलवर्णि-
गं पार्श्वस्थादीनां चिह्नं धारयित्वा । पुनर्जीविकायै आजीविकार्थ-
मृषिभोजं रजोहरणमुखपोस्तिकादिकं ब्रूयित्वा ब्रूहिं प्रापय्य,
विशेषेण निघातं विनिघातं विविधपीडाम् । स किं कुर्वाणः ? ,
असंजयः सन् अहं संजय इति ब्राल्प्यमानः— असाधुरपि
साधुरदमिति घृचाणः ॥ ४३ ॥

अत्रैव हेतुमाह—

विमं तु पीयं जह काळकूमं,
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।
एमेव धम्मो विसओवसएणो,
हणाइ वेयाइ इवाविवएणो ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! यथा कालकूटो महाविषः पीतः सन् [हणाइ ति]
हन्ति । पुनर्यथा कुग्गहीतं विपरीतघृत्त्या गृहीतं शास्त्रं हन्ति ।
एवमेव अनेनैव दृष्टान्तेन विषयैरिन्द्रियसुखैरुपपन्नो विषयसु-
खाभिदापयुक्तो धर्मोऽपि हन्ति । पुनः स विषयो धर्मोऽविषय-
वेताह इव हन्ति । मन्त्रादिभिरकीर्तितः । यथा स्फुरद्बलो
मन्त्रयन्त्रैरनिवारितबलो वेतालो महापिशाचो मारयाति , तथा
विषयसहितो धर्मोऽपि मारयतीत्यर्थः ॥

[पार्श्वटीका]

[वेयाल इवाविवधो ति] चस्य गम्यमानत्वाद्देताह इवाऽ-
विपन्नोऽप्राप्तविषयः, मन्त्रादिजिरनियन्त्रित इत्यर्थः । पठ्यते च—
[वेयाल इवाविवधणो ति] इह वा विबन्धनोऽविद्यमानमन्त्रा-
दिनियन्त्रणः । उभयत्र साधकमिति गम्यते ॥ ४४ ॥

जे लक्खणं सुविणं पडंजमाणे,
निमित्तकोज्जहलसंपगाढे ।
कुहेमविज्जासवदारजीवी,
न गच्छई सरणं तम्मि कढे ॥ ४५ ॥

यः साधुर्वर्णं प्रयुज्जानः सामुद्रोक्तं स्त्रीपुरुषशरीरचिह्नं शु-
जाशुजसूचकं प्रयुज्जे, गृहस्थानां पुरतो वक्ति । यः पुनः साधुः सु-
विणं स्वप्रविद्यो प्रयुज्जानो भवति—स्वप्नानां फलाफलं वक्ति ।
पुनर्यः साधुर्निमित्तकौतूहलसम्प्रगाढो जवति—निमित्तं च
कौतूहलं च निमित्तकौतूहले तयोः सम्प्रगाढोऽत्यन्ताशक्तः
स्यात् । तत्र निमित्तं भूकम्पोलकापातकेतूदयादि । कौतूहलं कौ-
तुकपुत्रादिप्राप्त्यर्थं ज्ञानजेषु जौपथादिप्रकाशनम् । उजयत्र सर-
णो जवति । पुनर्यः साधुः कुहेटविद्याऽऽभवद्वारजीवी भवति—कु-
हेटका विद्याः कुहेटकविद्या । अलीकाऽऽभ्यर्थविधायिमन्त्रतन्त्र-
यन्त्रज्ञानात्मिकास्ता एवाश्रवद्वाराणि , तैर्जीवितुमाजीविकां कर्तुं
शक्तिं यस्य स कुहेटकविद्याऽऽभवद्वारजीवी , पतादशो यो भव-
ति । हे राजन् ! परं तस्मिन् काले लक्षणस्वप्ननिमित्तकौतूहल-
कुहेटकविद्याश्रवद्वारोपाजितपातकफलोपजोगाढे स साधुः
शरणं न गच्छति , न प्राप्नोति । त साधुः कोऽपि दुःखान्नरकतिर्य-
ग्योन्यादौ न त्रायत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अमुमेवार्थं भावयितुमाह—

तमंतमेणेव उ से असीझे,
सया दुही विप्परिया समुवेइ ।
संधावइ नरयं तिरिक्खजोणी,

मोणं विराहितु असाहुरूवे ॥ ४६ ॥

न पुन' स द्रव्यमुण्डः साधुरूपो मौन विराध्य साधुधर्मं वृष-
यित्वा, नरकतिर्यगोनिं सधायति सतत गच्छति। पुनः अशी-
ठ' कुशीलो विपर्यासमुपैति-तत्प्रेषु वैपरीत्य प्राप्नोति, मिथ्या-
त्वमूढो भवतीति नाथः। कीदृश सः? तमस्तमसैव सदा दुःखी
मतिशयेन तमस्तमस्तम, तेन तमस्तनसैव अज्ञानमहान्धका
रेणैव संयमविराधनाजनितदु रासहितः ॥ ४६ ॥

कथ पुनर्मौन विराध्य कथ वा नरकतिर्यगती सन्धाचतीत्याह-

उद्देशियं कीयगम नियोगं,

न मुच्ये किंचि अणुसणिज्जं ।

अग्नीविवा सव्वभक्खी भविता,

इओ जुओ गच्छइ कट्टुपावं ॥ ४७ ॥

पुनर्यं साधुपाश उद्देशिक दर्शनिन उद्दिश्य कृत उद्देशिकमा-
हारम् । पुन साधुनिमित्तं धीत मौल्येन गृहीतम् । पुनराकृत
साधुसमुपपत्तीत साधुत्वन एव गृहस्थेन आनीत तदाकृतम् ।
पुनर्यदाहार नित्यक नित्यपिण्ड गृहस्थगृहे नियतपिण्डमतादृश
सद्योपमाहारमनेवर्णाय साधुना अप्राप्त न मुच्यति । जिह्वाभा-
स्पृष्टेन किमपि न त्यजति, सधमेव गृह्णाति । सोऽग्निरिव सर्व-
मग्नीनृय हरितगुष्कप्रज्वालको धैर्यान्तर इव चृत्वा प्रासुकाहार
मुक्त्वा घृतइच्छुनो मनुष्यनयाच्छुन कुमार्ति प्रजति। किं कृत्वा? ,
पाप कृत्या संयमविराधा विधाय ॥ ४७ ॥

न तं अग्नी कंठवेत्ता करेइ,

ज से करे अप्पणिय दुग्गय्या ।

से नाहंइ मच्चुमुहं ति पत्ते,

पच्छाऽणुतावेण दयाविदूणो ॥ ४८ ॥

(पार्श्वटीका)

यनश्चैव मुदुश्चरितैरेव दुर्गमिप्राप्ति, अतोऽनेनैव (तमिति)
प्रस्तावादनर्थकएवैच्छेत्ता प्राणहर्त्ता (से) तस्य (दुग्गय्येति) प्राकृ-
तत्वाद् दुरात्मतां दुष्टाचारप्रवृत्तिरूपां नचैनामाचरन्नापि जन्तु-
रत्यन्तमूढतया वेति । तत्किमुत्तरकालमपि न वेत्स्यतीत्याह-
स दुरात्मा कर्त्ता ज्ञास्यति । प्रक्रमाद् दुरात्मतां मृत्युमुखं तु मर-
णसमयम्, पुन प्राप्तः पश्चादनुतापेन हा दुष्ट मयाऽनुष्ठितमिति,
एवरूपेण दया मयमनत्यागुपपन्नकणमहिंसा वा तद्विहीन
सन । मरणसमये हि प्रायाऽतिमन्दधर्मस्यापि धर्माजिप्रायोत्प-
त्तिरेवमजिप्रानम् । यतश्चैव महानर्थहेतु पश्चात्तापहेतुश्च दुरा-
त्मता तदादिन एव मूढतामपहाय परिहर्तव्येयमिति भावः ॥ ४८ ॥

यस्तु मृत्युमुख प्राप्तोऽपि न त वेत्स्यतीति

तस्य का वाच्येत्याह-

निरट्ठिया निप्पसई उ तस्स,

जे उत्तमट्ठे विवज्जासमेइ ।

इमे वि से नत्थि परे वि लोए,

दुहओ वि से जिम्भज्झइ तत्थ लोणे ॥ ४९ ॥

(पार्श्वटीका)

निरर्थिका तुशन्दस्यैवकारार्थस्येह सम्प्रन्धाभिरर्थकैव नि-
ष्फलैव। नाग्न्ये श्रामण्ये रुचिरिच्छा नाग्न्यरुचिस्तस्य [जे उ-
त्तमट्ठ ति] सुख्यत्ययादपेश्व गम्यमानत्वाद् उत्तमार्थेऽपि
पर्यन्तसमयाराधनारूपे आरतां पूर्वमित्यापिश्रुद्धार्थः । वि-

पर्याप्त दुरात्मतायामपि सुन्दरात्मतापरिज्ञानरूपमेति गच्छति,
इतरस्य तु कथञ्चित्स्यादपि किञ्चित्फलमिति भावः । किमेवमु-
च्यते?, यतः [इमे वि सित्ति] अयमपि प्रत्यक्षो लोक इति सम्यन्ध ।
[से इति] तस्य नास्ति न विद्यते । न केवलमयमेव परोऽपि लो-
को जन्मान्तरलक्षणः । तत्रेह लोकाऽभावः शरीरकलेशहेतुलोच-
नादिसेवनात्, परलोकाभावश्च कुगतिगमनतः शरीरमानसदु-
रासम्प्रवात् । तथाच [दुहओ वि सित्ति] द्विधाऽप्यैहिकपारत्रिका-
र्थे भावेन [जिम्भज्झइ सित्ति] स ऐहिकपारत्रिकार्थसंपत्तिमनो ज-
नानघलोप्य धिग्मामपुण्यभाजनमुनयप्रवृत्तयेति चिन्तया क्षी-
यते । तत्रेदमुनयलोकाभावे सति लोके जगति ॥ ४९ ॥

यदुक्तं स ज्ञास्यति पश्चादनुतापेनेति तत्र यथाऽसौ परितप्यते
तथा दर्शयन्नुपसहारमाह-

एमेव हा उदकुसीलरूवे,

मग्गं विराहिच्च जिणुत्तमाणं ।

कुररीविवा भोगरसाणुगिद्धा,

निरुत्तोया परितावमेइ ॥ ५० ॥

(पार्श्वटीका)

एवमेवोक्तरूपेणैव महाप्रतस्पर्शादिना प्रकारेण यथावन्दा स्व-
रुचिविराचिताचारा कुशीला कुत्सिनशीलास्तद्वपास्तस्वभा-
वा, कुररीव पक्षिणीव [निरुत्तोय सित्ति] निरर्थो निष्प्रयोजन शो-
को यस्याः सा निरर्थशोका, परिताप पश्चात्तापरूपम्, एति गच्छ-
ति । यथा चैपाऽऽमिपगृह्णा पक्षान्तरेभ्यो विपत्प्राप्ता शोचनेन च
तत कश्चिद्विपरप्रतीकार इत्येवमसावपि भोगरसगृह्ण ऐहिका-
मुष्मिकानर्थप्राप्ती ततोऽस्य स्वपरपरित्राणासमर्थत्वेऽनाथत्व-
मिति ज्ञावः ॥ ५० ॥

एतच्छ्रुत्वा यत्कृत्य तदुपदेष्टुमाह-

सोच्चाण मेहावि ! सुजासिय इम,

अणुसासणं नाणगुणोववेयं ।

मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं ,

महानियद्धाण वए पहेणं ॥ ५१ ॥

हे मेधावि ! हे परिरुत ! हे राजन् ! इदं सुभाषितं सुष्ठु भाषि-
तं सुभाषितम्, अनुशासनम्-उपदेशवचन, श्रुत्वा सर्वं कुशीलानां
मार्गम् । [जहाय इति] त्यक्त्वा महानिग्रन्थानां महासाधूनां,
पथि मार्गे, चरेत् वजेत् । कीदृशमनुशासनम् ? ज्ञानगुणोपपेत
ज्ञानस्य गुणाः ज्ञानगुणाः तैरुपपेत ज्ञानगुणोपपेतम् ॥ ५१ ॥

ततः किं फलमित्याह-

चरित्तमायारगुणास्सिण तओ,

अणुत्तरं संजमपालियाणं ।

निरासवेसं खवियाण कम्मं,

उवेइ उणं विउलुत्तमधुव ॥ ५२ ॥

ततस्तस्मात्कारणान्महानिग्रन्थमार्गगमाभिराश्रयो मुनिर्महाप्र-
तपाशकः साधुर्विपुलमनन्तसिद्धानामवस्थानादसर्कार्णमुत्तम
सर्वोत्कृष्टं पुनर्धुव निश्चल शाश्वतमेतादृशं मोक्षस्थानमुपैति प्रा-
प्नोति । कीदृश साधु ? चारित्राचारगुणान्वितः चारित्रस्याचार-
आरित्राचारआरित्रसेवन, गुणा ज्ञानशीलादयः, चारित्राचारश्च
गुणाश्च चारित्राचारगुणास्तैरन्विताचारित्राचारगुणान्विताः । अत्र

मकारः प्राकृतत्वात् । किं कृत्वा साधुर्मोक्षं प्राप्नोति ? अनुत्तरं प्रधानं जगद्विद्यायुक्तं सयमं सप्तदशविधं पालयित्वा । पुनः किं कृत्वा ? कर्माण्यष्टावपि सक्तेष्वप्युक्तं नीतैतावता चारित्र्याचारज्ञानादिगुणयुक्तः, अत एव निरुद्धाश्रयः प्रधानसयमं प्रपादय, सर्वकर्माणि सक्त्य नीत्वा मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अथोपसहारमाह—

एवमुगदंते वि महातपोहणे,
महामुणी महापद्मे महायसे ।
महानियन्त्रिज्जमिणं महासुय,
से कहिए महया वित्तरेण ॥ ५३ ॥

एवमुना प्रकारेण, श्रेणिकेन राज्ञा, पृष्टः सन् स महामुनिर्महासाधुः, महता विस्तरेण बृहता व्याख्यानं, महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुतमकथयत्, महान्तश्च ते निर्ग्रन्थाश्च महानिर्ग्रन्थास्तेज्यो हित महानिर्ग्रन्थीय, महामुनीनां हितमित्यर्थः । कीदृशः सः ? उग्र कर्मशत्रुहने बलिष्ठः । पुन कीदृशः सः ? दान्तो जितेन्द्रियः । पुन कीदृशः ? महातपोधनः महश्च तत्पश्च महातपः महातपो धन यस्य स महातपोधनः । पुन कीदृशः ? महाप्रतिज्ञः व्रते दृढप्रतिज्ञाधारकः । पुन कीदृशः ? महायशः महाकीर्तिः ॥ ५३ ॥

ततश्च—

तुष्टो य सेणिओ राया, णमुदाहं कयजली ।
अणाहत्तं जहा जूयं, सुदुत्तु मे उवढंसियं ॥ ५४ ॥

श्रेणिको राजा तुष्टः । हु इति निश्चयेन । इदम्, 'उदाह' इदमवादीत् । कीदृशः श्रेणिकः ? कृताञ्जलि बद्धाञ्जलि । इदमिति किम् ? हे मुने ! यथाश्रुतं यथावस्थितमनाथत्वं, मे मम, सुधूपदर्शितं सम्यग्दर्शितम्, त्वयेति शेषः ॥ ५४ ॥

किं श्रेणिक आह—

तुज्जं सुलच्छं खु मणुस्सजम्भं,
लाजा सुलद्धा य तुमे महेसी ।
तुम्हे सणाहा य सबधवा य,
जं मे ढिया मग्गजिणुत्तमाणं ॥ ५५ ॥

हे महर्षे ! खु इति निश्चयेन सुलब्धं सफलं त्वदीयं मानुषं जन्म । हे महर्षे ! तवैव लाजा रूपवर्णविद्यादीनां लाजा सुख-जाः रूपलावण्यादिप्राप्तय सुप्राप्तयः । हे महर्षे ! यूयमेव सनाथा आत्मनो नाथत्वात् नाथसहिताः । च पुनर्युयमेव सबान्धवा ज्ञातिकुटुम्बसहिताः । यद् यस्मात्कारणात् (मे इति) जन्तः जिनात्समाना तीर्थकराणां मार्गे स्थिताः ॥ ५५ ॥

तं सि णाहो अणाहाण, सन्वज्जुधाण संजया !

खामेपि ते महानागा !, इच्छामि अणुसासिउं ॥ ५६ ॥

हे सयन ! त्वम्, अनाथानां सर्वज्ञानां असानां स्थावराणां च जीवानां नाथोऽसि । हे महामाग ! हे महाभाष्ययुक्त ! (ने इति) त्वामहं क्रामामि, मया पूर्वयस्तत्पराधः कृतः स कन्तव्य इत्यर्थः । अथ भवतोऽनुशासयितुं त्वत्तः शिक्षयितुमात्मानमिच्छामि । मदीय आत्मा तवाज्ञाऽनुवर्ती भवत्विति च्छामीत्यर्थः ।

(पार्श्वटीका)

(त सीति) पूर्वार्द्धेन रूपवृद्ध्या कृता, उत्तरार्द्धेन तु क्रमणोपसपन्नता दर्शिता । इह (तुज्जे सि) त्वम् (अणुसासयंति)

अनुशासयितुं शिक्षयितुमात्मानं जयतेति गम्यते ॥ ५६ ॥

पुनः क्रमणामेव विशेषत आह—

पुच्छिऊणं मए तुज्जं, उजाणविग्घो य जो कओ ।
निमांतियो य जोएहिं, तं सच्चं मरिसेहि मे ॥ ५७ ॥

हे महर्षिन् ! मया तुज्जं पृष्ट्वा प्रश्नं कृत्वा यस्तव ध्यानविज्ञः कृतः च पुनर्ज्ञेयः कृत्वा निमन्त्रित-भोः स्वामिन् । भोगान् हृदयेत्यादिप्रार्थना तव कृता त सर्वं मे ममापराधं कृतुमर्हसि, सर्वं ममापराधं क्रमस्वेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सकलाभ्ययनार्थोपसहारमाह—

एवं शुणित्ताणं स रायसीहो,
अणगारसीहं परमाइ नत्तिए ।
सावरोहो सपरियणो सबधवो,
धम्माणुरत्तो विमलेण चयसा ॥ ५८ ॥

राजसिंहः श्रेणिको राजा । एवमुना प्रकारेण, तमनगरसिंहं मुनिसिंहं परमया उत्कृष्टया भक्त्या स्तुत्वा, विमलेन निर्मलेन चेतसा धर्मानुरक्तोऽनूदिति शेषः । कीदृशः श्रेणिका ? सावरोधः अन्तःपुरेण सहितः । पुन कीदृशः ? नपरिजनः सहपरिजनैर्वर्तते इति सपरिजनो नृत्यादिवर्गसहितः । पुन कीदृशः ? सबान्धवः सह बान्धवैर्जातुप्रमुखैर्वर्तते इति सबान्धवः । पुराऽपि वनवाटिकायां सर्वान्तःपुरपरिजनबान्धवकुटुम्बसहित एव क्रीडां कर्तुमागात्, ततः मुनेर्वाक्यश्रवणात्सर्वपरिकरयुक्तो धर्मानुरक्तोऽनूदित्यर्थः ॥ ५८ ॥

उस्ससियरोमकूवो, काऊण य पयाहिणं ।

अभिवंदित्वा सरसा, अइयाओ नराहिओ ॥ ५९ ॥

नराधिपः श्रेणिकोऽतियातो गृहं गतः । किंकृत्वा ? शिरसा मस्तकेन, अभिवन्द्य मुनिं नमस्कृत्य । पुन किंकृत्वा ? प्रदक्षिणां कृत्वा प्रदक्षिणां दत्त्वा । कथमनूतो नराधिपः ? (उस्ससियरोमकूवो सि) उच्छ्वसितरोमकूपः साधोदर्शनाद्वाक्यश्रवणादुल्लसितरोमकूपः ॥

(पार्श्वटीका)

उच्छ्वसिता इवोच्छ्वसिता उद्भिन्ना रोमकूपा रोमरन्ध्राणि यस्य स उच्छ्वसितरोमकूपः । (अइयाओ सि) अतियातो गतः स्य स्थानमिति गम्यते ॥ ६० ॥

इयरो वि गुणसमिच्छो,

तिगुत्तिगुत्तो निदंरविरओ य ।

विहंग इव विप्पमुक्तो,

विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥ ६० ॥ ति वेयि ॥

अथेतरोऽपि श्रेणिकापेक्षयाऽपरोऽपि मुनिरपि वसुधां पृथिवीं विहरति विहारं करोति । कीदृशः सन् ? विमोहः सन् मोहरहितः सन्-अर्थात् केचन सन्, कीदृशो मुनिः ? गुणसमृद्धः सप्तविंशतिसाधुगुणसहितः । पुन कीदृशः ? त्रिगुत्तिगुत्तः गुतित्रयसहितः । पुन कीदृशः ? त्रिदण्डविरतः त्रिदण्डेभ्यो मनोवाक्कायानामशु-जव्यापारेभ्यो विरतः । पुन कीदृशः ? विहङ्ग इव विप्पमुक्तः पक्षीश्च कश्चिदपि प्रतिबन्धराहितो निष्परिग्रह इत्यर्थः । इति सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनः प्रतिपदति, अहमिति ब्रवीतीति ॥ ६० ॥ उक्तं २० अ० ।

अणहपञ्चजा-अनाथप्रव्रज्या-स्त्री० । विंशतितमे उत्तराध्या-
यने, स० ३६ सम० । तच्च महानिर्ग्रन्थीयमेति नाम्ना प्रसि-
द्धम् । उच्यते २० अ० ।

अणहरण-अनाधरण-न० । आध्रियतेऽनेनेत्याधरणमाधारः ।
तन्निग्रहोऽनाधरणम् । साधर्तुमकमे, ज० १८ श० ३ उ० ।

अणहसाला-अनाथशाला-स्त्री० । आरोग्यशालायाम्,
व्य० ४ उ० ।

अणहार-अनाहार-पु० । न० त० । आहारविपरीतेऽन्यध-
हार्ये, तत्तत्क्षणं चाऽऽहारनिवृत्त्यमित्याहारानाहारयोः स्वरूप-
मत्रैव प्रदर्शयते-

परिवासिअआहार-स्म मगणा को भवे अणहारो ? ।

एगगिओ चउविहो, जं वा असमझाइ तहिं ॥

परिवासितस्याहारस्य मार्गणा विचारणा कर्तव्या । तत्र
शिष्यः प्राह-धनं तावत् एतदेव न जानीम को नाम आहार
को वा अनाहारः ? इति । सुरिराह-एकाङ्गिकः बुद्ध एव य धुधां
शमयति स आहारो मन्तव्यः । स च अनशनादिकश्चतुर्विधः ।
यद्वा-तत्राहारेऽन्यद् लवणादिकमतिरिच्यति प्रविशति, तदप्या-
हारो मन्तव्यः ।

अधैकाङ्गिक चतुर्विधमाहार व्याचष्टे-

कूरो नासेइ रुह, एगंगि तफउदगमज्जाइ ।

खाइम फलससाइ, साइम महुफाणियाईणि ॥

अशने कूर एकाङ्गिकः गुरु एव क्षुध नाशयति । पाने तक्रोद-
मन्थादिकमेकाङ्गिकमपि तृप नाशयति, आहारकार्यं च करोति,
खादिमे फलमांसादिक, खादिमे मधुफाणितादीनि केवलान्य-
प्याऽऽहारकार्यं कुर्वन्ति ।

'ज वा भईइ तहिं ति' [मूत्रसूत्रस्थ] पद व्याख्यानयति-

जं पुण खुदापसमणे, असमत्थेगंगि होइ लोणाई ।

तं पि होइ आहारो, आहारजुयं व विज्जुतवा ॥

यत्पुनरेकाङ्गिक क्षुधाप्रशमनेऽसमर्थे परमाहारे उपयुज्यते तद-
प्याहारेण सयुक्तमसयुक्तं चाऽऽहारो भवति, तच्च लवणादि-
कम् । तत्राशनं लवणदिहृजीरकादिकमुपयुज्यते ।

उदए कपूराई, फलसुत्ताईणि सिंगवेर गुत्ते ।

न य ताणि खविति खुहं, उवगारित्ता उ आहारो ॥

उदके कर्पूरादिकमुपयुज्यते, आम्रादिफलेषु सूक्तादीनि ह-
व्याणि, वृङ्गवेरं च शुद्ध्या गुरु उपयुज्यते । न चैतानि कर्पूरा-
दीनि क्षुधां कृपयन्ति, परमुपकारित्वादाहार उच्यते, शेष-
सत्राऽप्यनाहारः ।

अहवा जं जुकडुत्तो, कदमलवमाइ पक्खवइ कोट्टे ।

सव्वो सो आहारो, ओसहमाई पुणो जइतो ॥

अथवा बुभुक्षया आर्त्ताय कर्दमोपमया गृहादिक कोष्ठे प्रक्षि-
पति । कर्दमोपमानामपि कर्दमपिण्डानां कुर्यात् कुर्किं निरन्तरं
स सर्वोऽप्याहार उच्यते । औषधादिक पुनर्नेक्त विकटिपत
किञ्चिदाहार किञ्चिद्वानाहार इत्यर्थः । तत्र शर्करादिकमौषध-
माहार, सर्पदण्डदेर्भृत्तकादि औषधमनाहार ।

जं वा जुकडुत्तस्स उ, संकममाणस्स देइ अस्सादं ।

सव्वो सो आहारो, अकामऽणिहं चऽणहारो ॥

यद्वा-अव्यवृत्तज्ञाऽऽर्तस्य सक्रमतो प्रसमानस्य कम्यलप्रक्षेप कु-
र्वत इत्यर्थः; आस्वाद्यं रसनाह्लादकं स्वाद्यं प्रयच्छति स सर्व आ-
हारः । यत्पुनरकाममन्यवहरामीत्येवमनभिलषणीयम्, अनिष्ट
च जिह्वाया अरुच्या, ईदृश सर्वमनाहारो भण्यते ।

तश्चानाहारिमभिषम-

अणहार मोय उल्ली, मूहं च फलं च होति ऽणहारो ।

सेस तयजूडतोयं, विंहुम्मि व चउगुरु आणा ॥

मोक्षं कायिकी, कृह्णी निम्बादित्वक्, मूत्रं च पञ्चमूलादिक, फलं
चाऽऽमलकहरीतकधिमतीतकादिकमेतत्सर्वमनाहारो भवतीति
चूर्णं । निशोधचूर्णो तु या निम्बादीनां गृहीत्वक् तच्च, तेषामेव
निम्बोलिकादिक फलं, यच्च तेषां मूलम्, पत्रमादिक सर्वम-
प्यनाहार इति व्याख्यातम् । वृ० ५ उ० । नि० सू० ।

चउदारे रयणीए, कपिज्जं जाणि माणि वट्ठूणि ।

समभागकया तिहला, जूनिवोसीरचदणय ॥ ५६ ॥

गोमुत्त कनु रोहिणि, वग्घी अभया य रोहिणी तुग्गा ।

मुग्गग्रवया करीरय, लिंघ पचगभासगणो ॥ ५७ ॥

नह आसगंधि वभी, चीड हलिहा य कुदरु कुट्टा ।

विसनाई य धमासो, घोलयवीया अरिट्टा य ॥ ५८ ॥

मिंमलमं जिठकके-खिफुमारिक धेर वेर कुट्टा य ।

कप्पास वीय पत्तय, अगुरुतुक्का य तनुवडा ॥ ५९ ॥

धवस्सयरपत्तासाई, कटकरुक्खाण उल्लिया साणा ।

ज कडुरसपरिगय, आहार पि हु अणहार ॥ ६० ॥

इद्धाइ ज अणिठ, पकुवम त भवे अणहार ।

ज इच्छाप जउजर, त सव्वं इवइ आहार ॥ ६१ ॥ " ल० प्र० ।

यथा पञ्चाङ्गनिम्बगुह्मचीकम् 'किरिआतु' 'अतिविसचीमि'-
'सुकमि'-रक्षा-हरिद्रा- रोहिणी 'ऊपश्रोढ' घञ-त्रिफला-
वाउजउल्लीत्यन्ये धमासो-नाहि-आसधिरिगणी-एलीओ-गुग्गु-
ल-हरमा-दन्न-चउणि-यदरी-कथेरि-करीर-मूत्र-पूवार-म-
जीठ घोलयवीया-कुआरि-चित्रक-कुन्दरुप्रभृतयोऽनिष्टाद्यानि
रोगाद्यापदि चतुर्विधाहारेऽप्येतानि कल्प्यानीति । ध० ३ अधि० ।
त्रिफलाद्यनाहारवस्तुष्वव्यमये गण्यते, न वा ? तत्रैव प्रतिज्ञाति-
यदनाहारवस्तु प्रायो द्रव्यमध्ये गण्यते, यदि च प्रत्याख्यानाव-
सरे तदगणनमव विवक्षितम्, तदा न गण्यतेऽपि । यथा सचित्त-
विकृत्योर्द्रव्यमध्ये ग्रन्थेऽगणनेऽभिहितेऽपि सप्रति बहवो जनाः
प्रायस्तयोर्द्रव्यमध्ये गणना कुर्वाणा उपलभ्यन्ते इति । ही० ३
प्रका० । न विद्यते आहारो यस्यत्यनाहारः । आचार० १ श्रु० ८
अ० ८ उ० । अविद्यमानाहारे, दश० १ अ० ।

अणुणाधार-पु० । ऋणधारके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अणुहारग-अनाहारक-पु० । न० त० । आहारमकुर्वति विग्र-
हगत्यापन्ने समुद्धानगतकेवलानि, अयोगिसिक्के च । ज० ६
श० ३ उ० । " ऐरइया दुविहा पप्पत्ता । त जहा-आहारगा
चेव अणुहारगा चेव, एव जाव वेमाणिया " स्था० २ ठा०
३ उ० । भ० ।

अनाहारकाश्चत्वार -

विग्रहगमावन्ना, केवलानि समुहया अजोगी य ।

सिक्का य अणुहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥

विग्रहगतिर्भवाद् जवान्तरे विभ्रेण्या गमनम्, तामापन्ना सर्व-
ऽपि जीवा, तथाकेवलिन समुहता कृतसमुद्घाताः, तथाऽ-

योगिनः शैलेश्यवस्थां प्राप्ताः, तथा सिरूः क्रीणकर्मष्टकाः । सर्वेऽप्येतेऽनाहाराः, एतद्व्यतिरिक्ता शेषाः सर्वेऽप्याहारकाः । इह परजवे गच्छतां जन्तूनां गतिर्द्वेधा-ऋजुगतिः, विग्रहगति-श्च । तत्र यदा जीवस्य मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं समभ्रेण्यां प्रा-ञ्जलमेव भवति तदा ऋजुगतिः । सा चैकसमया समभ्रेणिव्यव-स्थितत्वेनात्पत्तिदेशस्याद्यसमय एव प्राप्नोति नियमादाहारकस्या-स्या हेयग्राह्यशरीरमोक्षग्रहणान्तरात्वाभावेनाहाराद्यवच्छेदात् । यदा तु मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं वक्रं भवति तदा विग्रहगतिः, वक्रभ्रेण्यामन्तरारम्भरूपेण विग्रहेणोपलक्षिता गतिर्विग्रहगति-रिति कृत्वा तत्र विग्रहगत्यापन्ना उत्कर्षतस्त्रीन् समयान् याव-दनाहारकाः । तथाह्यस्यां वक्रगतौ स्थितो जन्तुरेकेन द्वान्यां त्रि-भिश्चतुर्भिर्वा वक्रैरुत्पत्तिदेशमायाति, तत्रैकवक्रायां चैव समयौ तयोश्च नियमादाहारकः । तथाह्यद्यसमये पूर्वशरीरमोक्षस्तस्मि-समये तच्छरीरयोग्याः केचित् पुञ्जलाः जीववीर्ययोगाल्लोमाहा-राः तत्सम्बन्धमायान्ति । औदारिकवैक्रियाहारकपुञ्जलादीनां आ-हारः, तत आद्यसमये आहारकः, द्वितीये च समये उत्पत्तिदेशे तद्भवयोग्यशरीरपुञ्जलादानादाहारकः, द्विवक्रायां गतौ त्रयः स-मयाः । तत्राद्येऽन्त्ये च प्राग्वदाहारको मध्यमे त्वनाहारकः । त्रि-वक्रायां चत्वारः समयाः, ते चैव त्रसनाढ्या बहिरधस्तनजागा-दूर्ध्वमुपरितनजागादधो वा जायमानो जन्तुर्विदिशो दिशि दिशो वा विदिशि यदोत्पद्यते तदैकेन समयेन विदिशो दिशि याति, द्वि-तीयेन त्रसनामीं प्रविशति, तृतीयेनोपर्यधो वा याति, चतुर्थेन बहिरुत्पद्यते । दिशो विदिशि उत्पादे त्रसनामीं प्रविशति, तृती-येनोपर्यधो वा याति, चतुर्थेन बहिरुत्पद्यते; दिशो विदिशि उ-त्पादे त्वाद्ये समये त्रसनामीं प्रविशति, द्वितीये उपर्यधो वा या-ति, तृतीये बहिरुत्पद्यते, चतुर्थे विदिशि उत्पद्यते । अत्राद्यन्तयोः प्राग्वदाहारको मध्यमयोस्त्वनाहारकः । चतुर्वक्रायां पञ्च समयाः, ते च त्रसनाढ्या बहिः, एव विदिशो दिश्युत्पादे प्राग्वद्भावनी-यः । अत्राप्याद्यन्तयोराहारस्त्रिषु त्वनाहारकः । प्रव० २३३ द्वा० । चतुःसमयोत्पत्तिश्चैव भवति-त्रसनाढ्या बहिरुपरिष्ठादधोऽध-स्ताद्वा पर्युत्पद्यमानो दिशो विदिशि विदिशो वा दिशि यदुत्पद्य-ते तदा लभ्यते । तत्रैकेन समयेन त्रसनामीं प्रवेशः, द्वितीयेनोप-र्यधो वा गमनम्, तृतीयेन च बहिर्निःसरणम्, चतुर्थेन तु विदिच्छू-त्पत्तिदेशप्राप्तिरिति । पञ्च समयास्त्रसनाढ्या बहिरेव विदिशो विदिगुत्पत्तौ लज्जन्ते । तत्र च मध्यवर्त्तिषु अनाहारक इत्यवग-न्तव्यम् । आद्यन्तसमययोस्त्वाहारक इति । सूत्र० २ शु० ३ अ० । तथा केवलिनः समुद्रातेऽष्टसामायिके तृतीयचतुर्थपञ्चमरू-पात् केवलकर्मणयोगयुतांस्त्रीन्समयान् अयोगिनः शैलेश्यव-स्थायां ह्रस्वपञ्चाकरोच्चारणमात्रम् । सिद्धास्तु सादिमपर्यवसित कालमनाहारका इति । प्रव० २३३ द्वा० । केवलसमुद्रातेऽपि कर्मणशरीरवर्त्तित्वात् तृतीयचतुःपञ्चमयेऽवनाहारको रूष्ट-व्यः । शेषेषु त्वौदारिकादितन्मिश्रशरीरवर्त्तित्वात् आहारक इति । (मुहुत्तमरू च त्ति) अन्तर्मुहुत्तं गृह्यते । तच्च केवली-स्यायुषः कृते सर्वयोगनिरोधे सति ह्रस्वपञ्चाकरोच्चारणमात्र-कालं यावदनाहारक इत्येवमवगन्तव्यम् । सिरूजीवास्तु शैले-श्यवस्थाया आदिसमयादारभ्यानन्तमपि कालमनाहारका इति ।

साम्प्रतमेतदेव स्वामिभिर्देशविशेषिततरमाह-

एकं च दो व ममए, केवलपरिवर्जितया अणाहारा ।

पंचमि दोषि दोए, य पूरिए त्तिभि समयो ॥ ७ ॥

केवलपरिवर्जिताः ससारस्था जीवा एको द्वौ वा अनाहारका भवन्ति । ते च द्विविग्रहत्रिविग्रहोत्पत्तौ त्रिचतुःसामयिकायां द्रष्टव्याः । चतुर्विग्रहपञ्चसमयोत्पत्तिस्तु स्वल्पसत्त्वाभितेति न साक्षादुपात्ता । तथाऽप्यत्राप्यभिहितम्-एको द्वौ वाऽनाहार-कः । वाशब्दाद्वीन् वा आनुपूर्व्यां अज्युद्ध उक्तुद्धतो विग्रहगतौ चत्वारः समया नाऽऽगमेऽभिहिताः । ते च पञ्च समयोत्पत्तौ न भ्यन्ते, नान्यत्रेति । भवस्थकेवलिनस्तु समुद्रातमप्येतत्करणोप-सहारावसरे तृतीयपञ्चमसमयौ द्वौ लोकपूरणचतुर्थसमयेन सहितास्त्रयः समया भवन्तीति ॥ ७ ॥

पुनरपि निर्युक्तिकारः सादिकमपर्यवसानं कालमनाहारकं दर्शयितुमाह-

अंतो मुहुत्तमरू, सेलेसीए जवे अणाहारा ।

सादीयमनिहणं पुण, सिद्धायणाहारगा होंति ॥ ८ ॥

शैलेश्यवस्थाया आरभ्य सर्वथाऽनाहारकः सिरूवस्थाप्राप्ता वनन्तमपि कालं यावदिति पूर्व तु कावत्तिकार्यव्यतिरेकेण प्रति-समयमाहारकः । कावत्तिकेन तु कदाचित्क इति । सूत्र० २ शु० ३ अ० । नि० । आ० । कर्म० । [क समयमनाहारकः " जीवे जते ! कं समयमणाहारय भवइ त्ति " 'आहार' शब्दे द्वि-तीयजगे ५०० पृष्ठे वक्ष्यते]

अणाहारिम-अनाहारिम-न० । अनाहार्ये, नि० सू० ११ व० ।

अणाहारिय-अनाहृत-त्रि० । अतीताहरणक्रिययाऽपरिणा-मिते, म० १ श० १ व० ।

अणाहिह-अनाष्ट-पु० । वसुदेवस्य धारण्यां जाते पुत्रे, त-द्वक्तव्यना गजसुकुमारस्येवेत्यन्तकृद्देशानां तृतीये वर्गे त्रयोद-शाध्ययने सूचिता । अन्त० ३ वर्ग० ।

अणिइय-अनितिक-पु० । इतिशब्दो नियतरूपोपदर्शनपरः, त-तश्च न त्रिचते इतिर्यत्रासावानितिकः । अविद्यमाननियतरूपे, ईश्वरादेरपि दारिद्र्यादिभावात् ससारे, म० ए श० ३३ व० ।

अणिइपत्त-अनीतिपत्र-त्रि० । इतिविरहितच्छदे, शा० १ शु० १ अ० ।

अणिजं (जं) तय-अतिमुक्तक-न० । सुचो-भावे-क । अ-तिशयेन मुक्तं बन्धनं यस्य । प्राकृते ' गर्जितातिमुक्तके ज. ' ८ । १ । २०७ । इति तस्य णः प्रा० । ' यमुनाचामुण्डाकामुकाति-मुक्तके मोऽनुनासिकश्च' १ । १ । १७८ ॥ इति मस्य लुक्, तत्स्था-ने चाऽनुनासिकः । प्रा० । ' वक्रादावन्त ' ८ । १ । १६६ ॥ इति तृतीयस्याऽनुस्वारः । प्रा० । तस्य णत्वेऽकृते- ' अहमुतय अहमु-त्तय ' इति रूपद्वयम् । तिन्डुकवृत्ते तादृशके च । प्रका० १ पद ।

अणिउण-अनिपुण-त्रि० । न निपुणोऽनिपुण । अकुशले, आव० ४ अ० । नि० सू० । दर्श० ।

अणिअचारे (ण)-अनियतचारिन्-पु० । अनियतमप्र-तिबद्ध परिग्रहायोगावृत्तिं शीघ्रमस्याऽसावनियतचारी । अप्र-तिबद्धविहारिणि, सूत्र० १ शु० ६ अ० । " स भूइपक्षे अणिअ-अचारी, ओहंनरे धीर अणंतचक्षू " सूत्र० १ शु० ६ अ० ५ व० । " अखिले अणिदे अणिअचारी, अमयकरे भिक्खु अणा-विद्वप्पा " सूत्र० १ शु० ७ अ० ।

अणिअवास-अनियतवास-पु० । मासकल्यादिनाऽनिकेत-वासे अगृहे उद्यानादौ वासे, " अणिअवाससमुयाण चरि-

या, अणाय उच्च पद् तिक्किया य " दश० २ चू० ।
 अणिओग-अनियोग-पु० । नियोगादन्योऽनियोग । विपर्य-
 याभियोगे, पं० सू० ४ सू० ।
 अणिगाल-अनङ्गार-त्रि० । रागपरिहारेणाङ्गारदोषरहिते, प्र-
 अ० १ सम्य० द्वा० ।
 अणिद-अनिन्द-त्रि० । नास्तीन्द्रो यस्मिन् सोऽनिन्दः । इ-
 न्द्विरहिते प्रजास्वामिके, ज० ३ श० १ उ० ।
 अनिन्द-त्रि० । अनुगुप्तिते, सामायिके च । आ० म० द्वि० ।
 आ० चू० ।
 अणिदणिज्ज-अनिन्दनीय-त्रि० । गीतार्थादिजनादूच्ये, जी०
 १ प्रति० ।
 अणिदिय-अनिन्दित-त्रि० । शुभानुयान्धितयाऽगर्हणीये, ध०
 १ अधि० । सप्तमकिञ्चरेषु, प्रज्ञा० १ पद ।
 अनिन्दिय-पु० । सिद्धे, अपर्याप्तके, उपयोगत केवलिनि,
 स्था० १० त्रि० । " णेरइया दुविहा पणत्ता । त जहा-सिइदिया
 चेव, अणिदिया चेव जाव वेमाणिया " स्था० २ त्रि० २३० ।
 अणिदिया-अनिन्दिता-स्त्री० । पष्ठममूर्ध्वलोकवास्तव्याया
 दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, स्था० ८ त्रि० आ० चू० । आ० म०
 प्र० । ति० ।
 अणिकित्त-अनिक्षिप्त-न० । अविधान्ते, औ० । म० ।
 अणिकप-अनिष्कम्प-त्रि० । अनिश्चले, आ० २ भु० २ अ० ३ उ० ।
 अणिकाम-अनिकाम-न० । परिमिते, घृ० १ उ० ।
 अणिकाय-अनिकाय-पु० । लघुमृगावादे, नि० चू० १ उ० ।
 (' मुस्तावाय ' शब्देऽस्य विवृतिः) ।
 अणिकेय-अनिकेत-पु० । न विद्यते निकेतो गृह यस्य । उक्त०
 २ अ० । अविद्यमानगृहे, अनेकत्र घट्टास्पदे, उक्त० १ अ० ।
 अणिकुट-अनिष्कृष्ट-त्रि० । न० त० । द्रव्यतोऽकृशशरीरे, जा-
 वतोऽवशीकृतकपाय, स्था० ४ त्रि० ४ उ० ।
 अणिकावाड (ण)-अनेकवादिन्-पु० । सत्यपि कथाञ्चिदेक-
 त्वे भावानां सर्वथाऽनेकत्व वदतीत्यनेकवादी । परस्परवि-
 शङ्कणा एव भावा, तथैव प्रतीयमानत्वात् । यथा रूप रूपत-
 येति । अमेदे तु भावानां जीवाजीवयस्समुक्तसुखितुःखिता-
 दीनामेकत्वप्रसङ्गाद् दीक्षादिवैयर्थ्यमिति । किञ्च-सामान्य-
 मङ्गीकृत्यैकत्व विवक्षित परै । सामान्य च भेदेन्यो जिज्ञाभि-
 क्षतया चिन्त्यमान न युज्यते । एवमवयवेन्योऽवयवी धर्मेन्यश्च
 धर्मी न्येवमेकवादी । इत्युपदर्शितस्वरूपे अक्रियावादिनि,
 स्था० ८ त्रि० ।
 अणिकित्त-अनिक्षिप्त-त्रि० । अनुज्झितेऽप्रत्याख्याते, ज०
 १७ श० २ उ० । अविधान्ते, औ० ।
 अणिगामसोक्ख-अनिकामसौख्य-त्रि० । अपकृष्टसुखे तुच्छ-
 सुखे, उक्त० १४ अ० ।
 अणिगण-अनग्न-पु० । न विद्यन्ते नग्नास्तत्कालीना जना
 येभ्यस्तेऽनग्ना । ज० २ वक्त्र० । सवस्त्वहेतुषु कल्पवृक्षेषु,
 स० १० सम० ।
 अणिगूहण-अनिगूहन-न० । अगोपने, पचा० १५ वि० ।
 अणिगूहियवलवीरिय-अनिगूहितवलवीर्य-पु० । अनिगू-

हितेऽगोपिते वज्रवीर्ये देहप्राणचित्तोत्साहरूपे येन स तथा ।
 पचा० १५ वि० । अनिगूहनप्राणान्यन्तरसामर्थ्ये, ग० १ अधि० ।
 दश० । आ० १० । पं० चू० । " अणिगूहियवलवीरिय, परिक्रमइ
 जो जहुत्तमाउत्तो । ज जइव जहा धाम, नायवो वीरियायारो "
 दश० ३ अ० । पं० चू० । पञ्चा० ।
 अणिगह-अनिग्रह-पु० । अविद्यमानो निग्रह इन्द्रियनो-
 इन्द्रियनियन्त्रणात्मकोऽस्येति । उक्त० १७ अ० । अवशीकृतोन्दि-
 ये, उक्त० ११ अ० । स्वैरे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । उच्चृद्वस्त्रे,
 दश० ८ अ० । एकादशे गौणऽग्रहाणि, तत्राऽनिग्रहोऽनिषेधो
 मनसो विषयेषु प्रवर्त्तमानस्येति गम्यते । एतत्प्रभवत्वाद्यास्या-
 ऽनिग्रह इत्युक्तम् । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।
 अणिच-अनित्य-त्रि० । न० त० । नित्यभिन्ने सर्वदा स्थायिनि, आ० १
 भु० १ अ० ५ उ० । प्रत्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थं
 नित्यत्वेन व्यवस्थित सन्नित्य नैव यत्तदनित्यम् । अत्युतानुत्पन्न-
 स्थिरैकस्वभाव हि नित्यमतोऽन्यत्रतिक्कणविशारक अनित्यम् ।
 आ० १ भु० ५ अ० ५ उ० । अनु० । उक्त० । अशाश्वते, उक्त० २
 अ० । अनित्यमस्थिरत्वात् । प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।
 अणिचजागरिया-अनित्यजागरिका-स्त्री० । अनित्यचिन्ता-
 याम्, " अणिचजागरिय जागरैति " म० १५ श० १ उ० ।
 अणिचभावणा-अनित्यभावना-स्त्री० । अनित्यत्वचिन्तना-
 त्मके प्रथमभावनाभेदे, प्रश्न० । तत्स्वरूप च—
 " अस्यन्ते वज्रसाराङ्गा-स्तेऽन्यनित्यत्वरक्तसा ।
 किं पुन कदलीगर्भे-नि सारा नेह देहिन् । १ ॥ १ ॥
 विषयसुख दुग्धमिव, स्वादयति जनो विमल इव मुदित ।
 नोत्पादितव्यगुणमिवो-त्पद्यति यममहह । किं कुर्म । १ ॥ २ ॥
 धराधरधुनीनीर-पूरपारिप्लव घपु ।
 जन्तूनां जीवित वात-धूतध्वजपटोपमम् ॥ ३ ॥
 लावण्य ललनालोक-लोचनाञ्चलचञ्चलम् ।
 यौवन मत्तमातङ्ग-कर्णताडनचलचलम् ॥ ४ ॥
 स्वाम्य स्वभावहीनास्य, चपलाचपला श्रिय ।
 प्रेम द्वित्रक्वणस्येव, स्थिरत्वविमुख सुखम् ॥ ५ ॥
 सर्वेषामपि भावानां, प्राचयन्नित्यनित्यताम् ।
 प्राणप्रियेऽपि पुत्रादौ, विषयेऽपि न शोचति ॥ ६ ॥
 सर्ववस्तुषु नित्यत्व-ग्रहप्रस्तुतु मूढधीः ।
 जीर्णतृणकुटीरेऽपि, जग्ने रोदित्यहर्निशम् ॥ ७ ॥
 तनस्तृणाविनाशेन, निर्ममत्वविधायिनीम् ।
 शुद्धीर्भावयेन्नित्यमित्यनित्यत्वप्रावणम् " ॥ ८ ॥ प्र० ६५ द्वा० ।
 तत्रानित्यत्वप्रावणैवम्—
 " यत्प्रातस्तन मध्याह्ने, यन्मध्याह्ने न तन्निशि ।
 निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हि, पदार्थानामनित्यता ॥ १ ॥
 शरीर देहिना सर्व-पुरुषार्थनिबन्धनम् ।
 प्रचरुपवनोद्धूत-घनाघनधिनश्वरम् ॥ २ ॥
 कल्लोश्चपला लक्ष्मीः, सगमाः स्वप्नसनिजा ।
 वात्यान्यतिकरोत्किञ्च-तुल्य च यौवनम् ॥ ३ ॥
 तथा ध्यायन्ननित्यत्वं, मृत पुत्र न शोचति ।
 नित्यता गृहमूढस्तु, कुड्यनङ्गेऽपि रोदिति ॥ ४ ॥
 एतच्छरीरधनयौवनधान्यवादि,
 तावन्न केवलमनित्यमिहाऽसुभाजम् ।

विश्वं सचेतनमचेतनमप्यशेष-
मृत्पचिधर्मकमनित्यमुशन्ति सन्तः ॥ ५ ॥
शयनित्यं जगद्भूत, स्थिरचित्त. प्रतिक्षणम् ।
मृणाकृष्णाहिमन्त्राय, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥ ६ ॥ अधि० ।
अणिच्चया-अनित्यता-स्त्री०। अनश्चरतायाम्, सूत्र० ।

अधुना सर्वस्यानाऽनित्यतां दर्शयितुमाह-
देवा गंधर्वरक्वसा, असुरा नृमिचरा सरीसिवा ।
राया नर सेट्टिमाहणा, ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया ॥ १ ॥
देवा ज्योतिष्कसौधर्माद्याः, गन्धर्वराक्सयोरुपब्रजणत्वादष्ट-
प्रकारा व्यन्तरा गृह्यन्ते । तथा-असुरा दशप्रकारा जवनपतयः ।
ये चाऽन्ये भूमिचराः सरीसृपाद्यास्तिर्यञ्चः । तथा-राजानश्च-
क्रवर्तिनो ब्रह्मदेववासुदेवप्रभृतयः । तथा-नराः सामान्यमनु-
ष्याः, श्रेष्ठिनः पुरमहत्तराः, ब्राह्मणाश्च, एते सर्वेऽपि स्वकीयानि
स्थानानि दुःखिताः सन्तस्त्यजन्ति । यत-सर्वेषामपि प्राणि-
ना प्राणपरित्यागे महद् दुःख समुत्पद्यत इति ॥ ५ ॥

किञ्च-

कामेहि य संशवेहि य,
गिष्ठा कम्मसहा कालेण जंतवो ।
ताले जह् वंधणच्छुण्ण,
एवं आउक्खयम्मि तुट्ठति ॥ ६ ॥

कामैरिच्छामदनरूपैः, तथा सस्तवैः पूर्वापरभूतैः, गृह्णा अष्ट्यु-
पपन्ना सन्तः (कम्मसहंति) कर्मविपाकसहिष्णवः । कावेन
कर्मविपाककालेन जन्तव प्राणिनो भवन्ति । इदमुक्तं भवति-
भोगेऽप्यसौविषयाऽऽसेचनेन तदुपशममिच्छत इहामुत्र क्लेश एव
केवलं न पुनरुपशमावाप्तिः । तथाहि- "उपभोगोपायपरो, वा-
ञ्छति य शमयितुं विषयतृष्णाम् । धावत्याऽक्रमितुमसौ पुरो-
ऽपराद्धे निजच्छायायाम्" ॥ ११ ॥ न च तस्य मुमुर्षोः कामे-सस्तवैश्च
प्राणमस्तीति दर्शयति-यथा तालफलं बन्धनाङ्गतात् व्युत्तम-
प्राणमवश्यं पतति, एवमसावपि स्वायुषः क्लेशे नश्यति जावि-
तात् ज्यवत इति ॥ ६ ॥

जे या वि बहुस्सुण सिया,
धम्मियमाहणजिक्खुण्ण सिया ।
अनि णूमकडेहिं मुच्छिण्ण,
तिव्व से कम्मोहिं किच्चती ॥ ७ ॥

ये चापि बहुश्रुता शास्त्रार्थपारगाः तथा धार्मिका धर्माचरण-
शीला । तथा ब्राह्मणा, तथा भिक्षुका भिक्षाटनशीला, स्युर्म-
चेयुः, तेऽप्याजिमुख्येन (णूम ति) कर्म माया वा तत्कृतैरसदनु-
ष्ठानैर्मच्छिता गृह्णास्तीत्यमत्यर्थम् । अत्र च आनन्दसत्त्वाद् बहुव-
चन उच्यते । एवमनृता कर्मभिरसद्वेद्यादिभिः कृत्यन्ते विद्य-
न्ते पीर्यन्ते इति यावत् ॥ ७ ॥

साम्प्रत ज्ञानदर्शनचारित्र्यमन्तरेण नाऽपरो मोक्षमार्गोऽस्तीति
त्रिकालविषयत्वात् सूत्रस्याऽगामितीर्थिकधर्मप्रतिषेधार्थमाह-

अह पास विवेगमुट्ठिए,
अविनिचे इह जासई धुवं ।
णाहिसि आरं कओ पर,
वेहासे कम्मोहिं किच्चती ॥ ८ ॥

अयेत्यधिकारान्तरे गृह्यदेशे एकादेश इति । अथेत्यनन्तरं ए-

तच्च पश्य यस्तीर्थिको विवेक परित्याग गृहस्य परिज्ञान
वा संसारस्याऽऽश्रित्योत्थितः प्रब्रज्योत्थानेन ? । स च सम्य-
क्परिज्ञानाभावाद्वितीर्णः संसारसमुद्रमतितीर्थुः केवलमिह
संसारे प्रस्तावे वा शाश्वतत्वाद् ध्रुवो मोक्षस्त तदुपाय वा
संयमं प्रापत एव न पुनर्विधत्ते, तत्परिज्ञानाभावादिति भावः ।
तन्मार्गे प्रपन्नस्त्वमपि कथं ज्ञास्यसि ? आरमिहं जघ, कुतो वा
परं परलोकम् ? । यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं, परमिति प्र-
ज्यापर्यायम् । अथवा आरमिति संसारं, परमिति मोक्षम्, एवभू-
तश्चाऽन्योऽप्युभयभ्रष्टः (वेहासिंति) अन्तराले उभयप्रापतः
स्वकृतैः कर्मभिः कृत्यते पीड्यत इति ॥ ८ ॥

ननु च तीर्थिका अपि केचन निष्परिग्रहास्तथा तपसा निष्ट-
सदेहाश्च तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदाशङ्क्याह-

जइ वि य णिगणे किसे चरे,
जइ वि य जुजिय माममंतसो ।

जे इह मायादि मिज्जइ,

आगता गब्जाय ऽणंतसो ॥ ९ ॥

यद्यपि तीर्थिकः कश्चित्तापसादिस्त्यक्त्वाद्यगृहवासाविपरिग्र-
हत्वाद् निष्किञ्चनतया नग्नस्त्वक्त्राणांजावाद्य कशश्चरेत् ;
स्वकीयप्रब्रज्याऽनुष्ठानं कुर्यात् । यद्यपि च पष्ठाष्टमदशमद्वादशा-
दितपोविशेष विधत्ते । यावदन्तश्चो मासं स्थित्वा भुङ्क्ते, तथा-
ऽपि आन्तरकषायाऽपरित्यागान्न मुच्यते इति दर्शयति-य-
स्तीर्थिक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणार्थत्वाद् कषायैर्मुक्त इ-
त्येव परिब्रियते असौ गर्भाय गर्जार्थमा समन्ताद् गन्ता यास्य-
त्यनन्तश्चो निरवधिक कालमिति । एतदुक्तं भवति-अकिञ्चनो-
ऽपि तपोनिष्ठसदेहोऽपि कषायाऽपरित्यागान्नरकादिस्थानात्
तिर्यगादिस्थानं गर्भाकर्ममनन्तमपि कालमग्निशर्मवत् संसारे
पर्यटतीति ॥ ९ ॥

यता मिथ्यादृष्ट्युपादेष्टतपसाऽपि न दुर्गतिमार्गनिरोधोऽतो

ममुक्त एव मार्गे स्थेयमेतर्कभसुपदेशं दातुमाह-

पुरिसोपरम पावकम्मणा, पलियंत मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंबुडा ॥ १० ॥

हे पुरुष ! येन पापेन कर्मणा असदनुष्ठानरूपेण त्वमुपलक्षि-
तस्तत्राऽसकृत् प्रवृत्तत्वात् तस्मादुपरमं नियतं स्य । यतः पुर-
पाणां जीवितं सुब्रह्मपि त्रिपल्योपमान्तं, सयमजांघितं वा पल्या-
पमस्यान्तर्मध्ये वर्त्तने, तदऽप्युनां पूर्वकोटिमिति यावत् । अथ
वा-परि समन्तात् अन्तोऽस्येति पर्यन्तं सान्तिमित्यर्थः । तथैव
तद्गतमेवाऽवगन्तव्यम् । तदेव मनुष्याणां स्तोत्रं जीवितमवग-
म्य यावत्तत्र पर्येति तावत्कर्मानुष्ठानेन सकृत् कर्तव्यम् । ये पु-
नर्भोगसंहपङ्केऽन्नसन्ना मग्ना इह मनुष्यमये न संसारे प्राकान्ति-
च्छामदनरूपेषु मूर्च्छिता अष्ट्युपपन्नास्ते नरा मोहं यान्ति, हि-
नाहितप्राप्तिपरिहारे मुह्यन्ति मोहनीयं वा कर्मोपाचिन्वन्तीति
समाव्यते । एतदसमृत्तानां हिंसादिस्थानेभ्यो निवृत्तानामव-
यतेन्द्रियाणां चेति ॥ १० ॥

एव च स्थिते यद्विधेयं तददर्शयितुमाह-

जयवं विहगाहि जोगवं, अगुयाणा पया कुत्तरा ।
आणुसासणमेव पक्कमं, वीरेहिं च समं पवेइयं ॥ ११ ॥
स्वल्प जीवितमवगम्य विषयाश्च क्लेशप्रायानयदुःखं हि
त्वा गृहपाशबन्धनं यतमानो यतनं कुर्यात् प्राणिनामनुपायं

विहर युक्विहारी प्रव। एतदेव दर्शयति-योगवानिति-सयम-
योगवान्, गुप्त. समितिगुप्त इत्यर्थः । किमित्येवम्? यतोऽणव-
सूत्रमा प्राणाः प्राणिनो येषु ते । तथा चैवजूताः पन्थानोऽनुपयु-
क्तैर्जीवानुपमर्देन दुस्तरा दुर्गमा इत्यनेन ईर्यासमिति रूपा कृता ।
अस्याभ्योपलक्षणार्थत्वात् अन्यस्वपि समितिषु सततोपयु-
क्तेन ज्ञवितव्यम् । अपि च-अनुशासनमेव यथाऽऽगममेव सूत्रा-
ऽनुसारेण सयम प्रक्रमेत् । एतच्च सर्वैरेव वीरैरर्हाद्भि स-
म्यक् प्रवेदित प्रकर्षेणाऽऽस्थातामिति ॥ ११ ॥

अथ क एते वीरा इत्याह—

विरया वीरा समुद्धि-या कोहकायरियाइपीसणा ।

पाणे ण हणंति सज्जसो, पावाओ विरिया अज्जिनिव्वुमा १२

हिंसाऽनृताऽऽदिपापेभ्यो ये विरताः, विशेषेण कर्म प्रेरयन्तीति
वीराः, सम्प्रसारणपरित्यागेनोत्थिता समुत्थिताः, ते, एवभूता-
श्च क्रोधकातरीकादिपीषणाः, तत्र क्रोधग्रहणाद् मानो गृहीतः,
कातरीका माया, तद्ग्रहणाद्वाभो गृहीतः । आदिग्रहणात् शेष-
मोहनीयपरिग्रहः । तत्पीषणास्तदपनेतारः, तथा प्राणिनो जी-
वान् सूक्ष्मतरमेदभिन्नान् सर्वशो मनोवाक्कायकर्मभिर्न घ्नन्ति न
व्यापादयन्ति । पापाच्च सर्वत सावधानुष्ठानरूपाद्विरता निवृ-
त्ता, ततश्चाऽज्जिनिवृत्ता क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूता । यदि
चाऽज्जिनिवृत्ता मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥ १२ ॥ सूत्र० १ श्रु०
२ अ० १ उ० ।

अणिच्चाणुपेहा-अनित्यानुपेक्षा-स्त्री० । “ कायः सन्निहिता-
पायः, सम्पदः पदमापदाम् । समागमाः सापगमाः, सर्वमुत्पा-
दि भङ्गुरम् ” ॥ १ ॥ इत्येव जीवितादेरनित्यस्यानुपेक्षा । धर्मरूपे
धर्मध्यानस्यानुपेक्षादे, स्था० ४ उ० १ उ० ।

अणिच्चा-अनिच्चा-स्त्री० । इच्छाभावलक्षणायामात्मपरिण-
तौ, “ अनिच्चा ह्यत्र ससारे, स्वेष्टालाभादनुत्कटा । ” द्वा० ६
द्वा० । प० सू० ।

अणिच्चियत्ता-अनीप्सितता-स्त्री० । प्राप्तुमवाञ्छितत्वे, भ०
६ श० ३ उ० ।

अणिच्चियव्व-अनेष्टव्य-त्रि० । मनागपि मनसाऽपि अप्रार्थ-
नीये, आव० ४ अ० । ध० । “ दुर्लभितो अणायारो अणि-
च्चियव्वो ” आव० ४ अ० ।

अणिजिष्-अनिजीर्ण-त्रि० । जीवप्रदेशेभ्यः परिशुद्धितप्रदे-
शे, औ० । कल्प० ।

अणि (सि) ज्जमाण-अन्वीयमान-त्रि० । अनुग-
म्यमानमार्गे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अणि (सि) ज्जमाणमग्ग-अन्वीयमानमार्ग-त्रि० । अनुग-
म्यमानमार्गे, “ मच्छिया चरुगरहपहकरेण अणिज्जमाणमग्गो
मियागामे शयरे ” इत्यादि । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अणिजुहिता-अपोह्य-अव्य० । अदत्तेत्यर्थे, “ वत्थ अणिजु-
हिता ” अपोह्य दत्त्वा हस्ताद्यावृत्तमुखस्य । प्रति० । ज० ।

अणिज्जाएत्ता-अनिर्धार्य-अव्य० । चक्रुरव्यापार्येत्यर्थे, भ०
९ श० ७ उ० ।

अणिज्जायत्तिया-अनिर्यापणात्मिका-स्त्री० । वाचनासपद-
भेदे, उच्य० १ अ० ।

अणिज्जूद-अनिर्युद-त्रि० । महतो प्रयात् सुखावबोधाय

सङ्क्षेपनिमित्तमनुग्रहपरगुरुभिरनुद्धृते, ज० १ श० ए उ० ।

अणिट्ठ-अनिट्ठ-त्रि० । इष्यते स्मेति प्रयोजनवशात् इष्टम्,
न इष्टमनिष्टम् । भ० १ श० ५ उ० । ‘ प्रस्यानुष्टेष्टासदष्टे ’ ॥ ७
। २ । ३४ ॥ इति सूत्रेण घृस्य छः । प्रा० । मनस इच्छामतिक्रा-
न्ते, जी० १ प्रति० । उपा० । स्था० । भ० । अवाञ्छिते, भ० १९
श० ३३ उ० । सतामनमिलषणीये, “ सदाहविसयसाहण-धण
सरक्खणपरायणमणिठ ” आव० ४ अ० । “ अणिछा, अकता,
अपिया, अमण्णमा, अमणामा, एते एकार्था । विपा० १ श्रु० १
अ० । “ अणिछा जवति णादिज्जे दुव्विणीया ” अनिष्टा जनस्ये-
ति गम्यते । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । इष्टस्य सुखादेर्विरोधिनि
प्रतिकूलवेदनीये दु खे, तत्साधने पापे, विपादौ, अपकारे च ।
नागवलायाम्, स्त्री० । यज-क । न० त० । अकृतयागे देवा-
दौ, वाच० । स्था० ।

अणिट्ठतर-अनिष्टतर-त्रि० । अतिशयेन कमनीये, जी० ३
प्रति० । विपा० ।

अणिष्ठफल-अनिष्टफल-न० । अशुभे कर्मणि, उपा० २ अ० ।
अनभिमतफले दुर्गतिप्रयोजने, पञ्चा० ११ विव० । अनभिमत-
प्रयोजनेऽनर्थफले, पञ्चा० ३ विव० ।

अणिट्ठवयण-अनिष्टवचन-न० । आक्रोशवाचि, “ अणिट्ठवय-
णेहि सण्णमाणा ” प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणिष्ठविय-अनिष्टापित-त्रि० । असमापिते, “ अणिठाविय-
सव्वकालसण्णप्य ” अनिष्टापिताऽसमापिता सर्वकाल सदा
सस्याप्यता तत्कृत्यकरण यस्य तत्तथा । भ० ए श० ३३ उ० ।

अणिट्ठस्सर-अनिष्टस्वर-पु० । प्रयोजनवशादपीच्छाऽविषये,
स्था० ८ उ० ।

अणिट्ठिउच्चाह-अनिष्टितोत्साह-पुं० । अहतोत्साहे, “ स
च सर्वसक्त्याऽनुष्ठानेषु यथाशक्त्योद्यम करोति ” दर्श० ।

अनिष्टुर-अनिष्टुर-त्रि० । प्रस्तरागमनवाक्कार्कश्यरहिते, ग० ९
अधि० ।

अणिट्ठह-अनिष्टीवक-त्रि० । मुखश्लेष्मणाऽपरिष्ठापके, प्रश्न० १
सम्ब० द्वा० । सूत्र० ।

अणिट्ठिपत्त-अनृद्धिमाप्त-पु० । आमर्षौषध्यादिसङ्कणामृत्ति
प्राप्ते, न० । प्रज्ञा० ।

अणिट्ठिमंत-अनृद्धिमात्-त्रि० । अनृद्धिप्राप्ते, “ उव्विहा अ-
णिट्ठिमता मणुस्सा पण्णत्ता । तं जहा-हेमघनगा हिरण्यवतगा
हरिवसगा रम्मगवंसगा कुरुवासिणो अंतरदीवगा ” स्था० ।
६ उ० ।

अणिट्ठिय-अनृद्धिक-पु० । अनीश्वरप्रयोजिते, आ० म० द्वि० ।

अणिहव-अनिहव-पु० । न० त० । अनपलापे, ग० १ अधि० ।
ध० । व्य० । दश० । (निहवशब्दे वक्ष्यमाणेन) निहवत्वेन र-
हिते, घृ० १ उ० ।

अणिहवण-अनिहवन-न० । निहवनमपलपनम्, न निह-
वनमनिहवनम् । यतोऽधीत तस्याऽनपलापे, एतद् ज्ञानाच्चा-
रस्य पञ्चमो विषयः । यतोऽनिहवेनैव पातादिसुप्रादेर्विधेयं, न
पुनर्मानादिवशादात्मनो साधवाचाशङ्क्या श्रुतगुरुणां श्रुतस्य
त्राऽपलापेनैते । प्रव० ६ द्वा० । ध० । द० । ग० ।

णिहवणं अवलावो,
कस्स सगासे अधितमस चउगुरुणा ।
एहावित विचुरघरए,
दाण तिदंहे ऽणिहवणं ॥ १६ ॥

को वि साहू विमुक्कखरपदम्मि दुमस्तादिण पढतो पक्यतो
अखेण साहुणा पुच्छिओ-कस्स सगासे अहीय १, सागारहि-
गाराण सधिप्पओगेण आगारो लभति, ततो अहीत भवति,
नेण य जस्स सगासे सिक्खियं सो गुण सुउतकसइसिद्धते-
सु पवीणो, जच्चादिसु वा हीणतरो अतो तेण लज्जति । अणं
जुगप्पहाण कह्यंति तगारणगाराण सधिप्पओगओ लभति,
नेण अणमिति भवति । एव णिहवण भवति । इत्थं से प-
च्छिउत्त । अहवा सुत्तेहू अत्थेहू वायणायरिय णिहवणं तस्स इह
परलोप य पत्थि कल्लण उपाहरण ” मि० चु० १ उ० ।

गृहीतधुतेनानिहव कार्यः । यद्यस्य सकाशेऽधीत तत्र स एव
कथनीयो नान्यः, खिसकालुप्पापत्तेरिति ।

अत्र दृष्टान्तः—

एगस्स एहावियस्स खुरभरुविज्जासामत्थेण आगासे अच्च-
ति । त च एगो परिवायगो बहूहि उवसपज्जणाहि उवसप-
ज्जिऊण, तेण सा विज्जा लळा, ताहे अन्नत्थं गतु तिदमेणा-
गासगणं महाज्जेण पूरज्जति ति । रत्ता य पुच्छिओ-भगव !
किं मे स विज्जातिसओ उय तवतिसओ ? सो भणति-वि-
ज्जातिसओ । कस्स सयासाओ गहिओ ? सो भणति-हिमवते
फलाहारस्स रिसिणो सयासे अधिज्जिओ । एव तु बुत्ते समा-
णे संकिळे सदुच्याप त तिव्वं खमस्ति पमितं । एव ओ अप्पा-
गम आयरिय निहवणं अणं कहति, तस्स चिससकिळे-
सदोसेण सा विज्जा परलोपण इवति ति, अणिहवणं ति
गत । दश० ३ अ० ।

अणिहवमाण-अनिहवान-त्रि० । अनपलपति, झा० १
श्रु० १ अ० ।

अणितिय-अनित्य-त्रि० । अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव-
तया कूटस्थनित्यत्वेनाऽव्यवस्थिते, आच्चा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अणित्यंथ-अनित्यंस्थ-त्रि० । अमु प्रकारमापन्नमित्यम, इत्थं
निष्ठतीति इत्थंस्थम, न इत्थंस्थमनित्यंस्थम । केनचिद्धौकिकेन
प्रकारेणास्थिते, औ० । आव० । प० सू० । परिमरुत्तादिसंस्था-
नरहिते, भ० २४ श० १२ उ० । अनियताकारे, जी० १ प्रति० ।

अणित्यंथसंज्ञाणसंज्ञिय-अनित्यंस्थसंस्थानसंस्थित-त्रि० ।
इत्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थम, न इत्थंस्थमनित्यंस्थम, अनियता-
कारमित्यर्थः । तच्च तत्संस्थानम्, तेन संस्थानं अनियत-
संस्थानसंस्थिते, जी० १ प्रति० ।

अणित्यंथसंज्ञाणा-अनित्यंस्थसंस्थाना-स्त्री० । अनित्यंस्थ
संस्थानं यस्या अरुपिण्या सत्तायाः सा । अनियताकारायां
सत्तायाम्, प० सू० ५ सू० ।

अणिदा (या)-अनिदा-स्त्री० । निदानं निदा, न निदाऽनिदा,
प्राणिर्हिंसा नरकादिषु बहेतुरिति परिज्ञानविकलेन सता क्रि-
यमाणे प्राणिनिर्वहणे, स्वप्नुआदिकमन्य वा विभागेनाऽवि-
विच्य सामान्येन विधीयमाने, अजानतो वा व्यापाद्यस्य स-
त्त्वस्य व्यापादने च । “जाण तु अजानतो, तदेव उहिसिंख उ
बहवो वा वि । जाणग अजानग वा, बहेद अणिपा निपा

एसा ” पि० । अनिर्द्धारणायाम्, “पुढधिकारया सव्वे, अस-
खिभूया अणिदाप वेयण वेदैति ” भ० १ श० २ उ० । खिस-
विकलायां सम्यग्निविकथिकलायाम्, प्रज्ञा० ३४ पद । अना-
भोगवत्यां हिंसायाम्, भ० १६ श० ५ उ० ।

अणिदा (या) ण-अनिदान-त्रि० । नाऽस्य स्वर्गावाप्सा-
दिनिदानमस्तीत्यनिदानम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । न
विद्यते निदानमस्येत्यनिदानः, निराकाङ्क्षं अशेषकर्मक्षयार्थिनि,
सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । निदानरहिते, झा० ५ झा० । निदानव-
र्जिते, आतु० । प्रार्थनारहिते, भ० २ श० १ उ० । पञ्चा० ।
आच्चा० । भाषिकलाशंसारहिते, “अणियाणे अकोउहले व
जे स भिक्खू ” दश० १० अ० । पञ्चा० । प्रभ० । घ० । स्व-
र्गावाप्सादिलक्षणनिदानरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।
न विद्यते निदानमारम्भरूप भूतेषु जन्तुषु यस्यासावनि-
दानः । सावद्यानुष्ठानरहिते अनाश्रवे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
भोगार्थिप्रार्थनास्यभावमार्तभ्यानम् । तद्वर्जितेऽनिदानेऽर्थे,
स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अणिदा (या) णजूय-अनिदानज्ज-त्रि० । सावद्यानु-
ष्ठानरहितेऽनाश्रवभूते कर्मोपादानरहिते अनिदानकल्पे ज्ञा-
नादौ, सूत्र० ।

अण्णमिण्णजिक्खू समाहिपसे अणियाणज्जते सुपरिव्वज्जा
न विद्यते निदानमारम्भरूप भूतेषु जन्तुषु यस्याऽसावनिदान ।
स एवमनूत सावद्यानुष्ठानरहितं परि समन्तात्सयमानुष्ठाने
प्रवेष्टुं चेदिति । यदि वा अनिदानज्जतोऽनाश्रवभूतः कर्मोपादान-
रहितः सुष्ठु परिज्जेत् सुपरिज्जेत् । यदि वा-अनिदानज्जाय-
निदानकल्पानि ज्ञानादीनि तेषु परिज्जेत् । अथवा-निदान
हेतु कारणं दुःखस्यान्तो निदानज्जतं कस्यचिद् दुःखमनु-
पादयन् सयमे पराक्रमेदिति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अणिदा (या) णया-अनिदानता-स्त्री० । निदायते कथ्यते
ज्ञानाद्याराधना लता आनन्दरसोपेतमोक्षफला येन परबुद्धेनैव
देवेन्द्रादिगुणधिप्रार्थनाऽध्यवसानेन तन्निदानमनिदानं तद्यस्य
सोऽनिदानः, तदुच्चावस्तत्ता । निरुसुकतायाम्, एतस्याश्च फलमा
गमिष्यद्भूततया कर्मप्रकरणम् । स्था० १० ठा० । निदान भो-
गार्थिप्रार्थनास्वभावमार्तभ्यानं, तद्वर्जितताऽनिदानता । भोग
त्रिप्रार्थनायाम्, एतस्या फलं ससारव्यतिमज्जनम् । स्था० ३
ठा० १ उ० । “सव्वत्थं भगवया अणिदाणता पसत्था ”
स्था० ६ ठा० ।

अणिदिद-अनिदिष्ट-त्रि० । प्रागकृतानिर्देशो, नि० चु० १ उ० ।

अणिहेस-अनिर्देश-पु० । अप्रमाणे, उक्त० १ अ० ।

अनिर्देश-त्रि० । केनाऽपि शब्देनाऽनभिप्रेत्ये, विशेषः ।

अणिहेसकर-अनिर्देशकर-पु० । अप्रमाणकर्त्तरि, “आणाणि-
हेसकरे, गुरुण्णवायकारण” उक्त० १ अ० ।

अणिप्पण-अनिष्पन्न-त्रि० । अतीतकाले निष्पातिते, औ० ।

अणिमतेमाण-अनिमन्त्रयन्-त्रि० । निमन्त्रणमददति, आच्चा०
२ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणिमा-अणिमन्-पु० । परमाणुरूपतापक्षरूपे सिद्धिभेदे,
झा० २६ झा० ।

अणिमिस-अनिमिष-पु० । न० व० । मत्स्ये, “बहु अट्टिअ पो-
गस, अणिमिस बहुकटय ” दश० १ अ० । निश्चसनयने,
आव० ५ अ० ।

अणिमिसणयण-अनिमिषनयन-पु० । न विद्यते निमेषोयेषां
तानि अनिमेषाणि, अनिमेषाणि नयनानि येषां तेऽनिमेषनयनाः ।
वेवेषु, “अमिज्ञानमसुद्धामा, अणिमिसणयणा य नीरजसरी-
रा । अररगुमेण चुमिं, न छिवति सुरा जिणो कहह ” व्य० १
उ० । आ० म० द्वि० । निर्निमेषलोचने, पञ्चा० १८ वि० ।

अणिय-अनीक-न० । सैन्ये, कल्प० ।

देवेन्द्राणां सानीका अनीकाधिपतयः—

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररखो सत्त अणिया,
सत्त अणियाहिर्वं पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए, पीढा-
णिए, कुंजराणिए, महिसाणिए, रहाणिए, नट्टाणिए, गं-
धव्वाणिए, दुमे पायत्ताणियाहिर्वं । एवं जहा पंचट्टाणे
जाव किन्नरे रहाणियाहिर्वं रिट्टे नट्टाणियाहिर्वं गीय-
रई गंधव्वाणियाहिर्वं । बलिस्स ण वड्ढोयण्णिंदस्स वड्ढो-
यणरखो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिर्वं पणत्ता । तं
जहा-पायत्ताणिय जाव गंधव्वाणियं । महदुमे पायत्ताणि-
याहिर्वं जाव किंपुरिसे रहाणियाहिर्वं महारिटे णट्टा-
णियाहिर्वं गीयजसे गंधव्वाणियाहिर्वं । धरणस्स णं
नागकुमारिंदस्स नागकुमाररखो सत्त अणिया, सत्त अणि-
याहिर्वं पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए ।
रुद्धमेणे पायत्ताणियाहिर्वं जाव आपण्दे रहाणियाहिर्वं
णट्टे णट्टाणियाहिर्वं तेतले गंधव्वाणियाहिर्वं । जूयाणं-
दस्स सत्त अणिया, सत्त अणियाहिर्वं पणत्ता । तं जहा-
पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए दक्खे पायत्ताणियाहि-
र्वं जाव णट्टत्तरे रहाणियाहिर्वं रई णट्टाणियाहिर्वं मा-
णसे गंधव्वाणियाहिर्वं । एव जाव घोसमहाघोसाणं णे-
यव्व । तक्कस्म ण देविंदस्स देवरखो सत्त अणिया, सत्त
अणियाहिर्वं पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंध-
व्वाणिए । हरिणेगमेसी पायत्ताणियाहिर्वं जाव माढरे
रहाणियाहिर्वं सेए णट्टाणियाहिर्वं तुंवरुगंधव्वाणिया-
हिर्वं । ईसाणस्स ण देविंदस्स देवरखो सत्त अणिया, सत्त
अणियाहिर्वं पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधव्वा-
णिए लहुपरकमे पायत्ताणियाहिर्वं जाव महासेए णट्टा-
णियाहिर्वं एारए गंधव्वाणियाहिर्वं । सेसं जहा-पंच-
ट्टाणे एवं जाव अरुचुअस्सेति नेयव्वं । स्था० ७ ठा० ।
अनृत-न० । वितथे, मिथ्यावितथमनृतमिति पर्याया । स्था०
१० ठा० । आ० म० द्वि० । विशेषे । आव० ।

अणियट्ट-अनिवर्त्त-पु० । मोक्षे, आचा० १ सु० ५ अ० १ उ० ।

अणियट्टमामिन्-अनिवर्त्तवग्गिन्-पु० । अनिवर्त्तो मोक्षस्तव

गन्तु शील यस्य स तथा । निर्वाणयायिनि, आचा० १
सु० ५ अ० ३ उ० ।

अणियट्टि (ण)-अनिवर्त्तिन्-न० । न निवर्त्तते न व्याघर्त्तते
इत्येवशीलमनिवर्त्ति । प्रवर्धमानतरपरिणामादव्यावर्त्तनशीले,
“सुहुमकिरिए अणियट्टी ” इति शुक्लध्यानस्य तृतीये भेदे,
स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । अशीतितमे महाप्रदे, च० प्र० १०
पाहु० । आगमिष्यन्त्यामुत्सपिण्यां नविष्यति विंशतितमे
तीर्थकरे, स० ।

अणियट्टिकरण-अनिवृत्तिकरण-न० । निवर्त्तनशीलं निवर्त्ति,
न निवर्त्ति अनिवर्त्ति, आसम्यदर्शनलाभात् निवर्त्तत इत्यर्थः ।
न निवर्त्तते नापैति मोक्षतरवदीजकल्प सम्यक्त्वमजासायेत्येव
शीलमनिवर्त्ति । पञ्चा० ३ वि० । अनिवृत्तिकरणमित्यन्योन्यं
नातिवर्त्तते परिणामा अस्मिन्नित्यनिवृत्तिकरणम् । आचा०
१ सु० ६ अ० १ उ० । तच्च तत्करणं च अनिवृत्तिकरणं सम्यक्त्वा-
द्यनुगुणे विशुद्धतराध्यवसायरूपे भव्यानां करणभेदे, “अणि-
यट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे” आ० म० द्वि० ।

अणियट्टिवायर-अनिवृत्तिवादर-पु० । न विद्यते अन्योऽन्य-
मध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिर्यस्यासावनिवृत्तिः । स चासौ
यादरश्चेति । कर्म० २ कर्म । नवमगुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे,
स च कथायाष्टकक्षपणारम्भात्पुसकवेदोपशमने यावद् भ-
वति निवृत्तिवादरसमयादूर्ध्वं लोभखण्डवेदना यावदनिवृत्ति-
वादरः । आव० ४ अ० । अवासाणिमादिभावे, प० व० १ ठा० ।

अणियट्टिवायरसंपरायगुणट्टाण-अनिवृत्तिवादरसंपरायगुण-
स्थान-न० । नवमगुणस्थाने, व्याख्या चैवम्-युगपदेतद्गुणस्था-
नक प्रतिपन्नाना बहुनामपि जीवानामन्योन्यमध्यवसायस्थान-
स्य व्यावृत्तिर्नास्त्यस्येति अनिवृत्तिः, समकालमेतद्गुणस्थान-
कमारूढस्यापरस्य यदध्यवसायस्थानं विवाक्षितंऽन्योऽपि क-
श्चित्तद्वत्येवेत्यर्थः । सपरैति पर्यटति ससारमनेनेति सपराय क-
पायोदयः वादर सुद्धमकिट्टीकृतसपरायापेक्षया स्थूलसपरायो
यस्य स वादरसपरायः । अनिवृत्तिश्चासौ वादरसपरायश्च त-
स्य गुणस्थानमनिवृत्तिवादरसपरायगुणस्थानम् । इदमध्यन्त-
मुहर्त्तप्रमाणमेव । तत्र चान्तमुहर्त्तं यावन्त समयास्तत्प्रविष्टा-
ना तावन्त्येवाध्यवसायस्थानानि नवन्ति । एकसमयप्रविष्टाना-
मेकस्यैवाध्यवसायस्थानस्यानुवर्तनादिति स्थापना००००० प्रथ-
मसमयादारभ्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्ध यथोत्तरमध्यव-
सायस्थानं भवतीति वेदितव्यम् । स चानिवृत्तिवादरगो द्विधा-
क्वपक उपशमकश्च । क्वपयति उपशमयति वा मोहनीयावि क-
मेति वा कृत्वा । कर्म० २ कर्म । प्रव० । आ० चू० ।

अणियण-अनग्न-पु० । विचित्रवस्त्रादायित्वान्न विद्यन्ते नम्ना
निनासिनो जना येज्यस्तेऽनग्नाः । सङ्गाशब्दो वाऽयमिति । वि-
शिष्टवस्त्रादायिषु कल्पद्रुमज्जेषु, स्था० ७ ठा० । प्रव० आव० ।

अणियत (य)-अनियत-त्रि० । अप्रतिबद्धे, सूत्र० १ सु० ६
अ० । उक्त० । अनिश्चिते, अष्ट० ८ अष्ट० । अनेकस्वरूपे, दशा०
१० अ० । न० त० । अनियमवति अनवस्थिने, प्रश्न० २ आ० ३ ठा० ।
ज्ञ० । अवश्यभावयुक्त्याऽप्रापिते आत्मपुरुषेश्वरस्वभावकर्मा-
विकृते सुखादिके, “नियथानियय सत, अयाण्ता अबुद्धिया”
सूत्र० १ सु० १ अ० २ उ० । “अशाब्दतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि

चेद च । देवासुरमनुष्याणां-मृद्वयश्च सुखानि च । " सूत्र० १
 सु० ८ अ० । इह शरीरमनियत सुरूपादेरपि कुरूपादिदर्शनाद् इ-
 रितिलकराजसुतविक्रमकुमारशरीरवत् । त० । " अणियत्रो
 वासो " अनियतो वासो नानादेशपरिभ्रमणम् । व्य० १ उ० ।
 अणियत (य) चारिण-अनियतचारिन्-पु० । अनियतमप्रतिषरू-
 परिग्रहयोगाश्चरितु शीलमस्यासावनियतचारी । अप्रतिषरू-
 विहारिणि, सूत्र० १ सु० ६ अ० ।
 अणियत (य) प (ण्)-अनियतात्मन्-पु० । असयते,
 अनिश्चितस्वरूपे च । अष्ट० ८ अष्ट० ।
 अणियत (य) वट्टि-अनियतवृत्ति-पु० । अनियतविहारे,
 उत्त० १ अ० ।
 अणियत (य) वास-अनियतवास-पु० । मासकल्पादिना-
 ऽनिकेतवासे गृहे, उद्यानादौ वासे, दश० २ सूत्रि० । "अणिय-
 त्रो वासो निष्पत्तियविहारो " अस्य गृहीतसूत्रार्थस्य शिष्य-
 स्यानियतो वासः क्रियते । ग्रामनगरसन्निवेशादिष्वनियतवासे-
 न । विशेषः । देशदर्शनं कार्यते ततः स आचार्यपदे स्थाप्यते ।
 सु० १ उ० ।
 अणियत (य) वित्ति-अनियतवृत्ति-पु० । अनियतचारिणि
 अनियतविहारे, स्था० ८ अ० । व्य० । अनियताऽनिश्चिता वृ-
 त्तिर्यवहरण विहारो वा यस्य सोऽनियतवृत्तिः । "गामे पगराह
 नगरे पच राह " इत्यादिप्रकारेण । दशा० ४ अ० ।
 अणियत्त-अनिवृत्त-त्रि० । अनिवृत्ते, उत्त० २ अ० ।
 अणियत्तकाम-अनिवृत्तकाम-त्रि० । अनुपरतेच्छौ, उत्त० १४ अ० ।
 अणियाहवह-अनीकाधिपति-पु० । ६ त० । गजादिसैन्यप्र-
 धाने पेरारवतादौ, स्था० ३ अ० १ उ० । रा० । (यस्य यावन्त्य-
 नीकानि अनीकाधिपतयश्च ते सर्वे ' अणिय ' शब्दे उक्ताः)
 अणिरिक्त्वा-अनिरीक्ष्य-अव्य० । चक्षुषाऽज्ञात्वेत्यर्थे, आ० ।
 अणिरुद्ध-अनिरुद्ध-त्रि० । कचिदप्यस्खलिते, सूत्र० १ सु० १२
 अ० । कृष्णवासुदेवपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य वैदर्ज्यामुत्पन्ने पुत्रे, स च
 अरिष्टनेमेरन्तिके प्रज्जय शत्रुञ्जये सिद्धः । अन्त० ४ वर्गः । प्रश्न० ।
 अणिरुद्धपाण-अनिरुद्धप्रज्ञ-त्रि० । अनिरुद्धा कचिदप्यस्ख-
 लिता प्रज्ञा, प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा ज्ञान, येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्ध-
 प्रज्ञाः । कचिदप्यस्खलितज्ञानेषु तीर्थकृत्सु, सूत्र० १ सु० १२ अ० ।
 अणिल-अनिल-पु० । वायौ, प्रश्न० १ भा० १० द्वा० । कर्म० ।
 दश० । आव० । एकोनविंशे भारतातीतजिने, चाविंश-
 जिनस्य प्रवर्तिन्यां च । स्त्री० । प्रश्न० ६ द्वा० । ति० ।
 अणिलामइ (ण्)-अनिलामयिन्-त्रि० । वातरोगिणि,
 सु० २ उ० ।
 अणिल्लं-देशी-प्रभाते, वे० ना० १ वर्गः ।
 अणिल्लंक्षिय-अनिल्लंक्षित-त्रि० । अवर्धितके अखण्डीकृते,
 अ० ८ श० ५ उ० ।
 अणिवारिय-अनिवारित-त्रि० । निषेधकरहिते, विपा० १
 सु० २ अ० ।
 अणिवारिया-अनिवारिका-स्त्री० । नास्ति निवारको मैव
 कार्यरित्येवं निषेधको यस्या साऽनिवारिका । प्रतिषेधकर-
 हितायाम्, स्था० १ सु० १६ अ० ।

अणिव्वत-अनिर्वृत-त्रि० । न० त० । कदाचिदनुपशान्ते, "अ-
 णिव्वते घातमुवेति घाले " सूत्र० १ सु० ४ अ० २ उ० । अप-
 रित्यते, दश० १ अ० ।
 अणिव्वाणमादि-अनिर्वाणादि-त्रि० । अनिवृत्त्यर्थेहान्यर्था-
 सिद्धिप्रभृतिषु दाषेषु, पञ्चा० ७ विव० ।
 अणिव्वाणि-अनिर्वाणि-पुं० । असुखे, व्य० १ उ० ।
 अणिव्वुइ-अनिर्वृति-स्त्री० । पीडायाम् आ० म० द्वि० ।
 अणिव्वुरु-अनिर्वृत-त्रि० । अपरित्यते, दश० ३ अ० ।
 अणिव्वेय-अनिर्वेद-पुं० । उद्योगाद्यनुपरमे, दश० ३ अ० ।
 (तद्विषया अर्थकथा ' अर्थकहा ' शब्देऽत्रैव भागे वक्तव्यते)
 अणिसिद्ध-अनिसृष्ट-त्रि० । न निसृष्ट सर्वैः स्वामिभिः साधु-
 दानार्थमनुज्ञातं यत् तदनिसृष्टम् । पिं० । एकैनेव दीयमाने
 बहुसाधारणे, "अणिसिद्ध सामञ्ज गोष्ठियमत्ताइ देइ पगस्स"
 प्रश्न० ५ सस्य० द्वा० । पञ्चा० । दशा० । स्था० । अनिसृष्ट स्ना-
 मिनाऽनुत्सकलित निष्पन्नमेवान्यतः समानीतम् । आचा० २
 सु० २ अ० १ उ० । यदा द्वित्राणां पुरुषाणां साधारणे आहारे
 एकोऽन्याननापृच्छथ साधवे ददाति तदा पञ्चदशोऽनिसृष्टो
 दोष उद्गमस्य । उत्त० २४ अ० ।

अथानिसृष्टद्वारमाह-

अणिसिद्धं पणिकुट्टं, ऽणुनायं कप्पण सुविहियाणं ।

लडुग चोद्धग जंते, संखमि खीराऽऽवणाईसु ॥

निसृष्टसुकमनुज्ञान, तद्विरीतमनिसृष्टमनुज्ञातमित्यर्थः । तत्र
 तिकुट्ट निराकृत तीर्थकरणधरैरनुज्ञातं पुन कल्पते सुविहि-
 तानाम् । तच्चानिसृष्टमनेधा । तद्यथा-लडुकविषय मोदकवि-
 षयं, तथा चुल्लकविभोजनविषयम् । (यन्त्र इति) कोट्टकादि-
 प्राणकविषय, तथा संस्कारविषय विवाहादिविषय, तथा स्त्री-
 रविषय दुग्धविषय, तथा आपणादिविषयम् । आदिशब्दास्तु
 गृहादिविषयमवसेयम् । इयमत्र भावना-इह सामान्येनानि-
 सृष्ट द्विधा । तद्यथा-साधारणानिसृष्ट, भोजनानिसृष्ट च । तत्र
 भोजनानिसृष्ट चुल्लकशब्देनोक्तम्, साधारणानिसृष्ट तु शे-
 षमेदैरिति ।

तत्र मोदकविषय साधारणानिसृष्टोदाहरण गद्याचतुष्टयेनो-
 पदर्शयति-

वत्तीसा सामजे, ते कहि एहाउं गय सि इइ वुच्चइ ।

परसत्तिण पुन्नं, न तरसि काउं ति पच्चाऽऽह ॥

अवि य हु वत्तीसाए, दिन्ने हि तवेगो मोयगो न भवे ।

अप्पवयं बहुआयं, जइ जाणसि देहि तो मज्झ ॥

लानिय नितो पुट्ठो, किं लुण्ठं पेच्छ मोदाए ।

इयरो वि अहो नाहं, देमि ति सहोदवोरसं ॥

गेहहणकडणववहा-रपच्छकुड्डाह तहय निव्विसए ।

आयमि भवे दोसा, पडुमि दिन्ने नउ गहणं ॥

रत्नपुरे माणिमछप्रमुखा द्वात्रिंशत्तयस्या, ते कदाचिदुद्यापना-
 निमित्त साधारणान् मोदकाश्च कारितवन्तः । कारयित्वा च
 समुदायेनोद्यापनिकायां गताः । तत्र चैको मोदकरक्को मुक्त-
 शेषास्त्वेकार्तिशतं नद्यां स्नातु गताः । अत्रान्तरे च कोऽपि लोभु-
 पसाधुर्भिक्षार्थमुपातिष्ठत, दृष्ट्वा च तेन मोदकाः, ततो जातलाभ्य-

स्यो धर्मं ज्ञानयित्वा तं पुरुषं मोदकान् याचितवान् । स प्राह—
भगवन् ! न ममैकाकिनोऽधीना एते मोदकाः किन्त्येतेषामप्ये-
कत्रिशज्जनानां, ततः कथमहं प्रयच्छामि ? एवमुक्ते साधुराह—
ते (कहिं ति) कुत्र गताः ? स प्राह—नद्यां स्नातुमिति । तत एव-
मुक्ते स्योऽपि साधुस्तं प्रत्याह—परसत्केन मोदकसमूहेन त्वं पु-
ण्यं कर्तुं न शक्नोषि ? यदेव याचितोऽपि न ददासि । महानुजा-
धमूदस्त्वं यः परसत्कानपि मोदकान् मया दत्त्वा पुण्यं नोपा-
र्जयसि । अपि च—द्वात्रिंशत्तमपि मोदकान् यदि मे प्रयच्छसि
तथापि तव ज्ञाने एक एव मोदको याच्यते । एवमल्पव्ययं व-
ह्नायं दानं यदि जानासि सम्यग् हृदयेन तर्हि देहि मे सर्वान-
पि मोदकानिति । एवमुक्ते दत्तास्तेन सर्वेऽपि मोदकाः, भृत-
साधुनाजनम्, ततः सजातहर्षः, साधुस्तस्मात् स्थानाद् धिनि-
र्गन्तुं प्रवृत्तः । अत्रान्तरे च सर्वे समागच्छन्ति स्म माणिभञ्जाव्ययः ।
पृष्टश्च तैः साधुः—नगवन् ! किमत्र स्वयां लब्धम् ? ततः साधु-
ना चिन्तितम्—यथा एते मोदकस्वामिनस्ततो यदि मोदका-
लब्धा इति वदये तर्हि भूयोऽपि प्रहीष्यन्ति । तस्मान्न किम-
पि लब्धमिति प्रचीमीति । तथैवोक्तवान् । ततस्तेर्माणभञ्ज-
मुखैर्माराकान्त साधुमवलोक्य संजातशङ्कैरभाणि-दर्शय निज-
ज्ञानं साधो ! येन प्रेक्षामहे । साधुश्च न दर्शयति । ततो यत्नात्प्र-
लोकितम् । एषा मोदकाः तनः कोपावृणोचनैः साधिक्षेपरक-
कपुरुषः पृष्टः—यथा किं मोदकाऽस्मै सर्वेऽपि मोदका दत्ताः ?
स ज्ञेयं कम्पमानोऽवदत्—न मया दत्ताः । एव चोक्ते माणिभ-
ञ्जाक्षिप्तिः साधुरुचे—चौरस्त्व पापः साधुषेवविश्वक ! सहोद-
इति इदानीं प्राप्तोऽसि, कुतस्ते मोदका इति गृहीतो घृष्टाञ्च-
हे कर्षितो बाहुना । ततः पश्चात् कुट्टित इति गृहीत्वा सकल-
मपि पात्ररजोहरणादिमुपकरणं गृहस्थीकृतं, तत उद्वाह इ-
ति । नीनो राजकुलम्, कथितो धर्माधिकरणिकानाम् । पृष्टश्च तैः ।
साधुश्च न किमपि लब्धया वक्तुं शक्नवान् ? ततः परिजावितम्-
नूनमेव चौर इति, पर साधुषेवधारीति कृत्वा प्राणैर्मुक्तो नि-
र्विषयश्चाऽऽज्ञापितः । एवमप्रजावनायके दातरि एतेऽनन्तरोक्ता-
ग्रहणकर्षणादयो दोषा भवन्ति । (पटुमिति) तृतीयार्थे सप्तमी ।
यथा—“तिसु अक्षकियपुढवी” इत्यत्र । ततोऽयमर्थः—तस्मात्प्र-
भुणा नायकेन दत्ते सति साधुना ग्रहणं प्रकादेः कर्त्तव्यम् ; न-
त्राप्याच्छेदादिकं सम्यक् परिहर्त्तव्यमिति । उक्तं सोदाहरण-
मोदकद्वारम् ।

अधुना शेषाण्यपि द्वाराण्यतिदेशेन व्याख्यानयति—

एमेव यं जंतुमि वि, सखामि खीरआवणाईसु ।

सामन्न पन्तिकुट्ट, कप्पइ धेत्तु आणुनायं ॥

एवमेव मोदकोदाहरणप्रकारेण यन्त्रेऽपि सखड्यामपि क्षीरे-
च आपणादिषु च यत् सामान्यं साधारणं तत् स्वामिभि-
सर्वैरप्यनिसृष्टं, तत् प्रतिपुष्टं तीर्थकरणधरैः अनुज्ञातम्, पुन-
सर्वैरप्यस्वामिभिः कल्पते ग्रहीतुम्, तत्र दोषाभावात् ।

सप्रति शुल्लकद्वारस्य प्रस्तावनां शुल्लकस्य भेदं च
प्रतिपादयति—

शुल्लं त्ति दारमहुणा, बहुवत्तन्वं ति तं कय पच्छा ।

वन्नेई गुरु सो पुण, सामिय हत्याण विन्नेओ ॥

अधुना शुल्लकद्वार व्याख्येयम् । अथोच्यते मूलगाथायां द्वि-
तीये स्थाने निर्दिष्टमपि कस्माद् व्याख्यावेलायां पश्चात्कृतम् ?
तत आह—यद्बहुवक्तव्यमिदं द्वारम्, अतः व्याख्यावेलायां पश्चा-

त्कृतम् । तत्र गुरुस्तीर्थकरादिवर्णयति प्ररूपयति यथा स
शुल्लको द्विधा । तद्यथा—स्वामिनो हस्तिनश्च ।

तत्र प्रथमतः स्वाम्यनिर्दिष्टं शुल्लकमाह—

छिन्नमछिन्नो दुविहो, दोड अठिन्नो निसिद्ध अणिसिद्धो ।

छिन्नमि शुल्लगमि य, कप्पइ धेत्तुं निसिद्धमि ॥

इह द्विधा शुल्लकः । तद्यथा—छिन्नोऽछिन्नश्च । इयमत्र भावना-
इह कोऽपि कौटुम्बिकः क्षेत्रगतहालिकानां कस्यापि पार्श्वे
कृत्वा भोजनं प्रस्थापयति । स यदा एकैकहालिकयोग्यं पृथक्
पृथक् भाजने कृत्वा प्रस्थापयति, तदा स शुल्लकमिच्छति, यदा तु
सर्वेषामपि हालिकानां योग्यमेकस्यामेव स्थाल्यां कृत्वा प्रेष-
यति, तदा सोऽछिन्नः । एवमन्यत्राप्युदापनिकादौ छिन्नाऽछि-
न्नात्वं शुल्लकस्य भावनीयम् । अन्विच्छन्नोऽपि द्विधा । तद्यथा—नि-
सृष्टोऽनिसृष्टश्च । तत्र निसृष्टः कौटुम्बिकेन येषां च हालिकानां
योग्यः स शुल्लकस्तैश्च साधुभ्यो दानाय मुक्तकलितः । इतरस्तु
मुक्तकलितोऽनिसृष्टः । तत्र यस्य निमित्तं छिन्नः स एव चेत्त-
स्यात्मीयस्य छिन्नस्य दाता तर्हि तस्मिन् छिन्ने शुल्लके तत्स्वा-
मिना दीयमाने साधूनां ग्रहीतुं कल्पते, दोषाभावात्, तत्तथा
छिन्नेऽपि सर्वैरपि तत्स्वामिभिरनुज्ञाते तं ग्रहीतुं कल्पते, त-
त्रापि दोषाभावात् ।

एनमेवार्थं सविशेषितमाह—

छिन्नो दिट्ठमदिट्ठो, याय निसिद्धो इ छिन्नो य ।

सो कप्पइ इयरो उण, अदिट्ठदिट्ठो अणुनाओ ।

यश्चुल्लको यस्य निमित्तं छिन्नः स तेन दीयमानो मूलस्वा-
मिना कुटुम्बिकेनादृष्टो दृष्टो वा कल्पते । तथा यश्चाछिन्न-
योऽपि च यस्य निमित्तं छिन्नः स स्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽन्येन
दीयमानः स्वस्वामिभिरदृष्टो दृष्टो वा कल्पते (इयरो उण-
त्ति) इतर एतदव्यतिरिक्तं, तु पुनरर्थः । छिन्नोऽछिन्नो वा
स्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽदृष्टो दृष्टो वा न कल्पते, प्राशुक्रग्रहणा-
दिदोषसम्भवात् । अयं च विधिः साधारणाऽऽदिष्टेऽपि
वेदितव्यः ।

तथा चैतदेव गाथाद्धेन प्रतिपादयति—

आणुसिद्धमणुनायं, कप्पइ धेत्तु तहेव अदिट्ठे ।

गजयस्स य आनसिद्ध, न कप्पइ कप्पइ अदिट्ठं ॥

अनिसृष्टं पूर्वं स्वस्वामिभिः सर्वैरनुज्ञातमपि यदि पश्चादनुज्ञा-
तं प्रवति तर्हि कल्पते तद् ग्रहीतुं, तेषामनुज्ञातं सर्वैः स्वामिभि-
रन्यत्र गन्तवादिना कारणेनादृष्टमपि ग्रहीतुं कल्पते, तद्दोषाभा-
वात् । सप्रति हस्तिनशुल्लकानिसृष्टे गाथोत्तराद्धेन प्राचयति—
(गजयस्स त्ति) हस्तिनो प्रकं मिण्डेनानुज्ञातमपि राज्ञा गजेन
घाऽनिसृष्टमज्ञातं न कल्पते, वक्ष्यमाणादिदोषसम्भवात् । तथा-
मिण्डेन स्वलज्जं भक्तं दीयमानं गजेनादृष्टं कल्पते, गजदृष्ट-
ग्रहणे तु वक्ष्यमाणोपाश्रयमज्ञादिदोषसङ्गः ।

अस्यैव विधेरन्यथाकरणे दोषानाह—

निर्वपिओ गजजत्तं, गहणाईयतराडयमदिट्ठं ।

कुंवस्स संतिण वि हु, अभिक्ख वसहीई फेडणया ॥

इह यद् गजस्य प्रकं तत् राज्ञः पिण्डो राज्ञो भक्तं ततो
राज्ञा अननुज्ञातस्य ग्रहणे ग्रहणादयो ग्रहणाकर्षणादयो दोषा-
भवेयुः, तथा—अन्तरायिकम् अन्तरायनिमित्तं पापं साधो
प्रसज्यते । राजा हि मदीयाज्ञामन्तरेणैव साधवे पिण्ड-

ददातीति रुष्टः सन् कदाचिद् मिष्टं स्वाधिकाराद् भ्रंशयति, ततो मिष्टस्य वृत्तिच्छेदः साधुनिमित्त इति साधोरान्तराधिकं कल्पते । तथा (अदिभ्रंति) अदत्तादानदोषः, राक्षाऽनुज्ञातत्वात् । तथा कुम्भस्य मिष्टेन स्वयं दीयमानेऽभीष्टं प्रातिदिवस यदि साधुस्त पिष्टं गजस्य पश्यतो गृह्णाति, तदा मदीयकवसमभ्यादनेन मुष्टेन पिष्टो गृह्यते इत्येव कदाचित् रुष्टः सन् यथायोगं मार्गं परिभ्रमन् उपाभये साधुं दृष्ट्वा तस्यैव प्रसार्य स्फोटितं साधु च कथमपि प्राप्य मारयेत्, तस्मान्न गजस्य पश्यतो मिष्टस्यापि सत्कं गृह्णीयात्, तदेवमुक्तमनिसृष्टद्वारम् । पि० । प्रव० । आचा० । जीत० । पि० व० । 'अणिसिद्धे च उ वहु' प० चू० । वृ० । सूत्र० । (अनिसृष्ट रजोहरणादि शब्देभ्येव दृश्यम्) " अणिसिद्धं न कल्पति अणुरणायं " नि० चू० १४ उ० । शय्यातरेणानुज्ञातप्रवेशे, निसृष्टो नाम यस्य शय्यातरेण प्रवेशोऽनुज्ञातः, तदितरोऽनिसृष्टः । वृ० २ उ० ।

अणिमिष्ट-अनिषिद्ध-त्रि० । अनुमते, कल्प० । सावधानुष्ठानानिवृत्ते, पञ्चा० १२ विव० ।

अणिशीह-अनिशीथ-न० । प्रकाशपाठात्प्रकाशोपदेशाद् वा निशीथमिति ध्रुतमेवे, आ० म० ।

सांप्रतमनिशीथनिशीथयोरेव स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

नृआपरिणयविगमं, सदकरणं तदेव मनीसीहं ।

पच्छन्नं तु निसीहं, निसीहनामं जयज्जयणं ॥

नृतमुत्पन्नम्, अपरिणतं नित्यं, विगतं विनष्टं, नृतापरिणतविगतम्, समाहारत्वादेकवचनम् । किमुक्तं भवति ?—'उत्पण्णे वा विगमे वा ध्रुवे वा' इत्यादि । किंविशिष्टम् ?—शब्दकरणं—शब्दं क्रियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम् । उक्तं च—'उत्तीर्णं सदकरणं, पगासपाठं व सरविसेसो वा' स निशीथो भवति । इयमत्र भावना-यदुत्पादाद्यर्थप्रतिपादकः, तथा महताऽपि शब्देन प्रतिपाद्य, तत् प्रकाशपाठात् प्रकाशोपदेशाद्वा निशीथ इति । आ० म० द्वि० ।

अणिसकम्-अनिश्रुत-न० । सर्वगच्छसाधारणे चैत्ये, "णि-स्सकम् ज गच्छ, संति अ तदिअर अणिससकम् । सिद्धाययणं च इमं, चेइयपणं विणिहिं ॥" ध० २ अधि० । ये रजोहरणादिवेषधारिणो मत्पितृतुल्यास्तेभ्यो दास्यामीति संकल्पं विनैवाऽवदौकनाय, वलिनिष्पादने, स्वापिन्नादिजकिमात्रकृते भक्ते च । पि० ।

अणिसिद्धोवस्मिय-अनिश्रितोपाश्रित-पु० । निश्रितं रागः, उपाश्रितं द्वेषः । अथवा-निश्रितमाहाराद्विनिष्ठा, उपाश्रितं शिष्यकुलाद्यपेक्षा, तद्वर्जितो य सोऽनिश्रितोपाश्रितः । रागद्वेषजनेन, आहारशिष्यकुलाद्यपेक्षाराहित्येन च मध्यस्थजाव गते, "साहम्मियाणं अहिगरणसि उत्पण्णसि तत्थ अणिसिद्धोवस्सिओ अ पक्खगाही" स्था० ७ उ० ।

अणिसिद्धोवस्सियं, सम्मं ववहरमाणे समणे णिग्गंथे, आणाए आराहए जवइ ।

अनिश्रितैः सर्वांशसारहितैरुपाश्रितोऽङ्गीकृतोऽनिश्रितोपाश्रितस्तम् । अथवा-निश्रितश्च शिष्यत्वादिप्रतिपन्नः, उपाश्रितश्च स एव धैर्यावृत्यकरत्वादिना प्रत्यासन्नतरस्तौ । अथवा-निश्रितं रागः, उपाश्रितश्च द्वेषस्तम् । अथवा-निश्रितश्चाहारादिलिप्ता, उपाश्रितश्च शिष्यप्रतीच्छककुलाद्यपेक्षा, ते न स्तो यत्र

तत्तथेति क्रियाविशेषणम् । सर्वथा पक्वपातरहितत्वेन यथावादीत्यर्थः । इह पूज्यव्याख्या—'रागो य होइ निस्सा, उवस्सिओ दोससंजुतो । अइव ण आहाराई, दाही मज्ज तु एस निस्साओ ॥१॥ सो सो पडिच्छए वा, होइ उवस्साकुलादी य सि ।' म० ८ श० ७ उ० ।

अणिसिद्धोवहाण-अनिश्रितोपाधान-न० । न निश्रितमनिश्रितं रुक्षोपाधानम्-उपाधानकमेव, भावोपाधानं तपः । आ० ४ अ० । आ० चू० । भुजयोगसङ्ग्रहाय परसाहाय्याऽनपेक्षे तपसि, स० ३२ सम० । ऐहिकफलाऽनपेक्षतपःकारितायाम्, एष चतुर्थो योगसङ्ग्रहः ।

इह परत्र च केन कृत इत्यत्रोदाहरणम्—

"पामलिपुत्त महागिरि, अज्जसुहत्थी अ सेट्ठि वसुधूई । चइ दिसि उज्जेणीए, जिणपडिमा एलकच्छ च" ॥ १ ॥ शिष्यौ द्वौ स्थूलजलस्य, महागिरिसुहस्तिनौ । महागिरिर्महासत्त्वो, गणं दत्त्वा सुहस्तिनः ॥ १ ॥ जिनकल्पे व्यवच्छिन्नेऽप्यभ्यासे तस्य वर्तते । विहारेणान्यदाऽगातां, पाटलीपुत्रपत्तनम् ॥ २ ॥ तत्र श्रेष्ठी वसुधूतिः, सुहस्तिप्रतिबोधितः । आवकोऽनूदयावादी-द्वौघ्यन्तां स्वजना मम ॥ ३ ॥ ततः सुहस्ती तत्रेहे, गत्वा धर्ममुपादिशत् । महागिरिस्तदा तत्रा-यासीन्निकाकृतेऽथ तात् ॥ ४ ॥ दृष्ट्वा तस्थौ सुहस्ती द्राग्, वसुधूतिरयावधीत् । गुरवो वोऽप्यमी तेऽथ, चक्रुस्तद्गुणसस्तवम् ॥ ५ ॥ एवमावेद्य तेषां ते, प्रदायागुव्रतान्यगु । वसुधूतिर्द्वितीयेऽह्नि, स्वजनानूचिवानिति ॥ ६ ॥ तदेज्जका भवेतामे, दृष्ट्वाऽस्यान्तं महागिरिम् । दृष्ट्वा तमुज्जनारम्भं, महागिरिरथागतः ॥ ७ ॥ तदद्भुतमिति ज्ञात्वा, वदित्वोचे सुहस्तिनम् । अच्युत्थानगुणाख्यानै-रद्भुद्विर्विदधे त्वया ॥ ८ ॥ अथ द्वावपि वैदेशी, सगच्छौ जग्मतुर्गुरुम् । तत्राजितप्रतिनिधिं, वन्दित्वा श्रीमहागिरिः ॥ ९ ॥ गजाग्रपदवन्दारु-रेलकच्छपुरे ययौ । तद्दर्शार्णपुरं पूर्वं-मासीत् त्वस्मिन्नुपासिका ॥ १० ॥ चक्रे वैकाशिकं नित्यं, प्रत्याख्याति स्म चाथ सा । जपादमत्पातिस्तस्या, सायं लुक्कपरोऽपि किम् ? ॥ ११ ॥ निश्चयात् सोऽपि लुक्त्वाऽऽह, प्रत्याख्याम्यहमप्यत । भद्व्यसि त्वं तयेत्यूचे, न जड्दयामीति सोऽवदत् ॥ १२ ॥ देवताऽचिन्तयच्छास्त्रा-मसाधुपदसत्यदः । निशीथे स्वस्वरूपेणाऽऽन्यागादादाय लाभनम् ॥ १३ ॥ स्त्रादक्षिषिष्ठं पत्न्योचे, किमेतैर्बालजालकैः ? । देवता तं प्रहृत्याथ, ह्मोहौ च व्यपातयत् ॥ १४ ॥ मा जून्ममायशः श्राद्धाः, कायोत्सर्गेऽथ सा स्थिता । देवता स्माह तां श्राद्धाऽप्युवाचैव ममायशः ॥ १५ ॥ साऽथानीयादधौ सद्यो, मारितैर्मस्य चक्रुयी । एडकाक्कस्तत् ख्यातः, स आरुः प्रत्यादत्त ॥ १६ ॥ लोकं समेति तं छु-मेरुकाक्षं कुतूहलात् । एरुकाक्षं पुरमपि, तन्नाम्ना तदद्भुतं ततः ॥ १७ ॥ गजाग्रपदतोत्पात्ति, शैलस्यैवमनूत् पुन । गर्वं दर्शार्णजलस्य, दत्तुं शक्रः समागतः ॥ १८ ॥

गजेन्द्रारूढ एवाथ, त्रिः प्रादक्षिण्यत् प्रभुम् ।
 ततो दशार्णकुटाख्ये, तत्पदान्युत्थितान्यगे ॥ १९ ॥
 देवानुज्ञावात् ख्यातोऽथ, गजेन्द्रपद इत्यसौ ।
 तस्मिन् महागिरिर्मत्तं, प्रत्याख्याय द्विव ययौ ॥ २० ॥
 सुहस्तिसूरयोऽन्येद्युर्जमुकुलार्थिनी पुरीम् ।
 सुमन्ना यानशालायां, विशालायां च ते स्थिताः ॥ २१ ॥
 एकदा नखिनीगुल्माऽध्ययन पर्यवर्त्तयन् ।
 सुनन्नाचुस्तदाऽवन्तिमुकुमालो महर्किकः ॥ २२ ॥
 पत्नीद्वविंशता सार्द्धं, सौधे सप्ततलेऽललत् ।
 सुसबुद्धः स तच्छ्रुत्वा, जातजातिस्मृतिः क्षणात् ॥ २३ ॥
 आगत्याऽवोचतावन्ति-मुकुमाद्वोऽस्यह प्रभो ! ।
 अभूव नखिनीगुल्मे, देवः प्राच्यतमे भवे ॥ २४ ॥
 कथं तद्विधं यूय किं, यूयमप्यागतास्ततः ? ।
 गुरवोऽप्यन्यद्युर्जद्र ' तद्विभो वयमागमात् ॥ २५ ॥
 तत्कथं व्रज्यते स्वमिन्नुचुस्ते भद्र ! सयमात् ।
 सोऽवक्व न सयम कर्तुं, विर शकोऽस्मि किं पुनः ? ॥ २६ ॥
 तदर्थो व्रतमादाय, करिष्यामीक्षिनीमृतिम् ।
 अपृच्छज्जननीं, नैच्छ-क्षोच सोऽथाकृत स्वयम् ॥ २७ ॥
 द्विङ्ग गुरुर्ददौ सोऽगात्, ततः कन्धारिकावने ।
 तस्यौ प्रतिमया तत्र, इमशानेऽनशनी मुनिः ॥ २८ ॥
 स्फुटत्पादास्वगन्धेना-कृष्टा तत्र शिवाऽभ्यगात् ।
 एकतः सा शिवाऽस्नादत्, तदपत्यानि चान्यतः ॥ २९ ॥
 प्रथमे प्रहरे जानू, ऊरुस्तम्भौ द्वितीयके ।
 तृतीये जठरे तुयै, मृत्वा स्थानेऽजनीप्सिते ॥ ३० ॥
 गन्धाम्बपुष्पवर्षाणि, तस्योपरि सुरा व्यधुः ।
 आचार्यास्तज्जैनैः पृष्टास्तमिष्टगतिग जगुः ॥ ३१ ॥
 सुनन्ना सस्नुषा तत्र, वीक्ष्य त कृतकुष्करम् ।
 प्रवन्नाज स्थितेका तु, गुर्विणी तत्सुता ततः ॥ ३२ ॥
 अचीकरदेवकुल इमशानेऽद्भुतमुद्धितम् ।
 तदिवानी महाकाय, जात लोकपरिग्रहात् ॥ ३३ ॥
 आर्यमहागिरीणामनिश्रित तपः । आ० क० ।

अणिस्सिय-अनिश्रित-त्रि० । निश्चयेनाऽऽधिक्येन च श्रितो-
 निश्रित । न निश्रितोऽनिश्रित । कविच्छरीरादावप्रतिबद्धे, "ए-
 त्थ वि समणो अणिस्सिय अणियाणे " सूत्र० १ श्रु० १६
 अ० । " अगिद्धे सहपासेसु, आरज्जेसु अणिस्सिय " आर-
 ज्जेसु सावद्यानुष्ठानरूपेण निश्रितोऽसम्बद्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः ।
 सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आत्मा० कुलादिष्वप्रतिबद्धे, दश० १ अ०
 १६ परलोकाऽऽशसाविप्रमुक्ते, " जाव जीवाए अणिस्सिओ-
 ह नेव सय पाणे अइवापज्जा " पा० । ध० । ज० । रुन्वभाव-
 निश्चया रहिते प्रतिबन्धविप्रमुक्ते, दश० ९ अ० १ उ० । कीर्त्या-
 दिनिरपेक्षे वैयावृत्त्यादौ, प्रश्न० १ सम्य० ६० ।
 अलिङ्गे अवग्रहे, " अणिस्सियमोगिगहह " निश्रितो लिङ्ग-
 प्रमितोऽभिधीयते-यथा यूथिकाकुसुमानामत्यन्तशीतमृदु-
 स्निग्धादिरूपः प्राक् स्पर्शोऽनुभूतस्तेनाऽनुमानेन लिङ्गेन त
 विषयमपरिच्छिन्दत् यदा ज्ञान प्रवर्तते तदाऽनिश्रितमलिङ्ग-
 मवगृह्णातोऽभिधीयते । स्था० ६ उ० । अनिश्रित नाम पुस्त-
 कादिनिरपेक्षेवावगृह्णाति च । अथवा-एकवार भुन पुन-
 र्यथा कश्चिदनूय ववति तदैव वक्तुं समर्थो नाऽन्यदा । एवं
 विधाने किन्तु स्मरणनिरपेक्ष एव भवतीति । दश० ४ अ० ।

निश्चारहिते, कस्याऽपि साहाय्यमवाञ्छति, उक्त० १९ अ० ।
 अणिस्सियकर-अनिश्रितकर-त्रि० । रागद्वेषपरिहारतो य-
 थाऽवस्थितव्यवहारकारिणि, व्य० ३ उ० ।
 अणिस्सियप्प (ण)-अनिश्रितात्मन्-पु० । अनिदाने, "अ-
 णिस्सियप्पा अपडिवद्धा " आवा० ६ अ० ।
 अणिस्सियवयण-अनिश्रितवचन-त्रि० । रागादिना वाक्य-
 कालुष्यवर्जिते, दश० ४ अ० ।
 अणिस्सियवयणया-अनिश्रितवचनता-स्त्री० । निश्रित क्रोधा-
 दीनाम, अथवा रागद्वेषाणां निधामुपगतम् । न निश्रितमनि-
 श्रितम् । व्य० ३ उ० । मध्यस्य वचनतायाम्, स्था० ८ उ० ।
 रागाद्यकलुषवचनतायाम्, उक्त० १ अ० ।
 अणिस्सियववहारि (ण)-अनिश्रितव्यवहारिन्-पु० । नि-
 श्रा रागः, निश्चा सजाता अस्येति निश्रित । न निश्रितोऽ-
 निश्रितः । स चाऽसौ व्यवहारश्चाऽनिश्रितव्यवहारः, तत्क-
 रणशीला अनिश्रितव्यवहारिणः । अरागेण व्यवहारका-
 रिणि, व्य० १ उ० ।
 अणिह-अनिह-पु० । निहन्यत इति निह । न निहोऽनिह ।
 क्रोधादिभिरपीडिते, तपःसयमसहने वा, निगूहितबलवीर्ये
 च । "अणिहे से पुठे अहियासए" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।
 परीसहोपसर्गे, निहन्यत इति निह । न निहोऽनिह । उपस-
 र्गैरपराजिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । " अणिए सहिए
 सुसबुद्धे, धम्मठी उवहाणवीरिए " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २
 उ० । निहन्यन्ते प्राणिन ससारे यथा सा निहा माया । न
 विद्यते सा यस्याऽसावनिह । मायाप्रपञ्चरहिते, सूत्र० १ श्रु०
 ८ अ० । दश० । " अस्सि सुविच्चा अणिहे चरेज्जा " सूत्र० २
 श्रु० ६ अ० ।
 अनिहत्-पु० । निश्चयेन निहन्यत इति निहत । न निहि-
 तोऽनिहत । भावरिपुभिरिन्द्रियकपायकर्मभिरनिहिते, " अ-
 णिहे पगमप्पाण सपेहाए धुरो सिरीर " आवा० १ श्रु० ४
 अ० ४ उ० । सर्वत्र ममत्वरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणिहण-अनिधन-त्रि० । अन्तरहिते, अष्ट० ७ अष्ट० ।

अणिहतय-अनिहतक-त्रि० । निरुपक्रमायुष्कत्वात् उरो
 युद्धे च, भूस्यामपातित्वाद् घातमप्रापिते, स० ।

अणिहयरिउ-अनिहतरिपु-पु० । भदिलपुरवास्तव्यनागगृह-
 पते. सुलसानाम्नां नार्यायां जातेऽन्यतमे पुत्रे, तत्कथाऽन्त-
 रुद्दशासु ३ वर्गे ४ अन्ययेन सूचिता । तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्ताऽ-
 णीयसकुमारस्यैव भावनीया । यथा-द्वात्रिंशद् नार्याः द्वात्रिंश-
 त्क एव दानम, विंशतिवर्षाणि पन्थाय, चतुर्दशपूर्वाणि श्रुतम्,
 शत्रुञ्जये सिद्धि, तत्त्वतस्त्वय वसुदेवदेवकोसुनः । अन्त०
 ३ वर्गे ४ अ० ।

अणिहुत (य)-अनिहृत-त्रि० । अनुपशान्ते, प्रश्न० ३ आ-
 श्र० ६० । औ० । त्रिदण्डिनि, वृ० ३ उ० । " अणिहुत्ता य
 सलावा " अतिवृत्ताश्च संज्ञापा गुर्वादिनाऽपि निष्ठुरवक्रो-
 क्त्यादयः । प० व० ४ द्वा० । प्रज्ञा० । वृ० ।

अणिहुत (य) परिणाम-अनिहृतपरिणाम-त्रि० । अनि-
 भृतोऽनुपशमपर परिणामो येषां ते, अनुपशमपरपरिणामेषु,
 प्रश्न० १ आश्र० ६० ।

अणिहुतिदिय-अनिचृतेन्द्रिय-त्रि० । अनुपशान्तेन्द्रियेषु दे-
हेषु, ष० स० । प्रश्न० ५ सस्य० द्वा० ।

अणीइपत्त-अनीतिपत्र-त्रि० । न विद्यते इतिगंडुरिकादिकृपा
येषु तान्यनीतीनि । अनीतीनि पत्राणि येषां ते तथा । इतिवि-
रहितच्छेदेषु, जं० १ वक्र० ।

अणीय-अनीक-न० । इत्यभ्यर्थपदातिवृषभनर्त्तकगायकजन-
रूपे सैन्ये, औ० । न० ।

अणीयस-अणीयस-पुं० । भद्रिपुरवास्तव्यनागगृहपतेः सु-
लसानाम्यां भार्यायां जातेऽन्यतमे पुत्रे, अन्त० ।

एवं खलु जंवू ! तेषां कालेण तेषां समणं भद्रिपुरे
णामं एगरे होत्था । वषओ । तस्स एं भद्रिपुरस्स उत्तर-
पुरच्छिमेणं दिसिभाए सिरिवणे णाम उज्जाणे होत्था । व-
षओ । जियसत्तू राया, तत्थ एं भद्रिपुरे एयरं नागे नामं
गाहावती होत्था । अट्टे जाव अपरिचूए तस्स एं णागस्स
गाहावतिस्स सुलसा णामं भारिया होत्था । सुकुमाला
जाव मुरुवा, तस्स एं णागस्स गाहावतिस्स सुलसाए
जारियाए अत्तए अणीयसे नामं कुमारे होत्था । सुकुमाद्वे
जाव मुरुवे पंचधातिपरिक्खत्ते । तं जहा-खीरधाती जहा
दढपइमे जाव० [गिरिकंदरमल्लीणे व्व चंपगवरपायवे सुहं सु-
हेण परवट्ठते । तते एं से अणीयसं कुमारं] सातिरेगा अ-
ट्टवासजायं अम्मा पियरो कट्ठायरियाओ जाव भोगस-
मत्थे जाते यावि होत्था । तते एं ते अणीयसं कुमारं उ-
म्भूकवालजावं जाणिता अम्मापियरो सरिसयाणं० जाव
वत्तीसा य रायवरकसुगाणं एगदिवसेणं पाणी गिहहावति ।
तते एं से नग्गे गाहावती अणीयस्स कुमारस्स इमे एया-
रुवे पीइदाणं टलयति । तं जहा-वत्तीसं हिरिक्कोकीता
जहा महव्वलस्स जाव उप्पि पासा फुनं बिहरति । तेषां
काद्वेणं तेषां समणं अरहा अरिद्धनेमी जाव समोमदे सि-
रीवणे उज्जाणे अरहा जाव बिहरति, परिसाणिग्गया ।
तते एं तस्स अणीयस्स कुमारस्स । तं जहा-गोयमा ।
तहा एवरं सामाइयमाइयाति चोइसपुव्वाइं अहिमज्जति ।
वीसं वासाणि परियाओ सेसं तद्देव । जाव सत्तुजए पटवए
मासियाते संवेहणते जाव सिद्धि एव खलु जम्भ समणेणं
भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं ।

यथा (दढपइसि) दढप्रतिज्ञो राजप्रश्नकृते यथा वर्णित-
स्तथाऽयं वर्णनीयो यावत् 'गिरिकंदरमल्लीणो व्व चंपगवरपाय-
वे सुहं सुहेण परिवट्ठइ, तएण तमणीयस कुमार' इत्यादि सर्व-
मज्झिमवक्कव्यम् ; अभिज्ञानमात्ररूपत्वात् । पुस्तकस्य सरि-
सियाणमित्यादौ यावत्करणात् 'सरिसयाण सरिसलावस-
रुवजोव्वणुणाववेयाण सरिसेहितो कुत्तेहितो अणिपल्लियाण-
मिति इत्यम् । 'जहा-महव्वलस्स सि' भगवत्यामिहितस्य तथा
तस्यापि दानं सर्वं वाच्यम् । 'उप्पि पासावरगए फुट्टमाणेहिं
सुइममच्छणीं भोगभोगाहं मृजमाणे बिहरइ सि' । 'सत्तुजयप-

व्वए मासियाए सवेहणाए सिद्धे एव अल्लिति सुगमम् । अ-
न्त० ३ वर्ग० ४ अ० ।

अणीसक-अनिसृष्ट-त्रि० । इस्तप्रमाणादवग्रहादस्फोटिते, वृ०
३ उ० ।

अणीसाकद-अनिश्राकृत-न० । सर्वगच्छसाधारणे चेत्ये, वृ०
२ अधि० ।

अणीहट-अनिर्हृत-त्रि० । अनिष्कासिते, वृ० १ उ० । अवि-
निर्गते, अनात्मीकृते च । आचा० १ अ० १ अ० १ उ० ।

अणीहारिम-अनिर्हारिम-न० । गिरिकन्दरादौ विधीयमाने पा-
दोपगमनप्रकरणे, कलेवरस्यानिर्हरणीयत्वात् तत्त्वम् । न० १३
श० ८ उ० । स्था० ।

अणु-आणु-त्रि० । प्रमाणतः स्तोके, प्रश्न० ३ सस्य० द्वा० ।
पं० ष० आ० म० द्वि० सूत्र० सूत्रे लघौ, विशेषेण आणु० स्था०

लघीयसि, आचा० १ अ० १ अ० १ उ० । परमाणौ, आव० ४ अ०
अणुः परमाणुर्निरक्षो निरवयवो निष्प्रदेशोऽप्रदेश इति । विशेषेण

अनु-अव्य० । पञ्चाच्छब्दार्थे, आचा० १ अ० ५ अ० ५ उ० । पञ्चा-
ज्जाते, त्रि० स्था० १ उ० । अनुरूपे, उक्त० १२ अ० समीपे, वृ०

३ उ० । अवधारणे, वृ० १ उ० ।

अणुअ-अणुक-त्रि० । तनुके, "अणुअसुकुमात्रलोमणिश्चार्त्ति"

अणुकानां तनुकानामति सूक्ष्माणां सुकुमालानां लोमांस्तिष्ठा
वविर्यत्र तत्तथा । ज० ३ वक्र० । त्रिणववाक्ये धान्यभेदे, इति हे-

मचाभ्यवृत्तिः । युगन्धर्याम, स्त्री० । ध० २ अधि० । वृ० ।

अणुअतंत-अनुवर्त्तमान-त्रि० । उत्तरदेशाकालमागते, त्रि०
चू० ५ उ० ।

अणुअल्ल-देशो-क्षणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणुआ-देशी-यष्टौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुइओ-देशी-चणके, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुइस-अनुचीर्य-त्रि० । आगते, "कायसफासमणुविष्ठाए"

काय शरीर तत्सस्पर्शमनुचीर्याः कायसगमागताः । आचा० २
वृ० ३ चू० ।

अणुउद-अनृत-पु० । अस्यकाले, "विसमपवादिणो परिण-

मनि अणुइसुदैति पुष्पफल" स्था० ५ अ० ३ उ० ।

अणुओइय-अनुयोजित-त्रि० । प्रवर्तिते, न० ।

अणुओग-अणु(नु)योग-पु० । अणु सूत्रमदानर्थस्ततो महतोऽ-

र्थस्याणुना सूत्रेण योगोऽणुयोग । अनुयोजनमनुयोगः । अनु-
रूपो योगोऽनुयोग । अनुकूलो वा योगोऽनुयोग । औ० ।

व्याख्याने विधिप्रतिषेधाज्यामर्थप्रकरणे, विशेषेण द्वा० । निजेना-
भिधेयेन सार्धमनुरूपे सम्बन्धे, स० । जी० । स्था० ।

अनु० । आ० म० प्र० । आव० ।

(१) अनुयोगाधिकारे द्वारनामनिर्द्शनम् ।
(२) निक्षेपद्वारम् ।
(३) सप्तविधानुयोगे नामस्थापनानुयोगौ ।
(४) द्रव्यानुयोगः ।
(५) द्रव्यानुयोगभेदस्वरूपनिरूपणम् ।
(६) क्षेत्रानुयोगनिरूपणम् ।
(७) कालानुयोगप्रकरणम् ।
(८) वचनाऽनुयोगकथनम् ।
(९) भावानुयोगस्य वृक्षां प्रकाराणां प्रदर्शनम् ।

- (१०) एषां चानुयोगविषयाणां द्रव्यादीनां परस्परं यस्य यत्र समावेशो भजना वा तत्तिरूपणम् ।
 (११) एकार्थिकानां वक्तव्यता ।
 (१२) अनुयोगशब्दार्थनिर्वचनम् ।
 (१३) अनुयोगविधिः ।
 (१४) प्रवृत्तिद्वारम् ।
 (१५) गुरुशिष्ययोश्चतुर्भङ्गीनिरूपणम् ।
 (१६) केनानुयोगः कर्तव्यः ।
 (१७) कस्य शास्त्रस्यानुयोगः कर्तव्यः ।
 (१८) पञ्चज्ञानेषु श्रुतज्ञानस्यानुयोगः ।
 (१९) तद्द्वारे ऽनुयोगलक्षणम् ।
 (२०) यथोक्तगुणयुक्तस्य कोऽहं इत्यनेन सबन्धेन तदर्हद्वारम् ।
 (२१) कथाधिकारः ।
 (२२) चरणकरणाद्यनुयोगचानुविध्यनिरूपणम् ।
 (२३) अनुयोगानां पृथक्त्वमार्यरक्षितात् ।

(१) अथाऽनुयोगाधिकारः, स चैतैर्दर्शैरनुगन्तव्यः—

निकलेवेगच्छा पिरुत्त-विहि पविर्त्ती य केण वा कस्स ? ।

तद्धारनेयलक्खण-तदरिह परिता य सुत्तयो ॥

अनुयोगस्य निक्षेपो नामादिन्यासो वक्तव्यः, तदनन्तरं तस्यैकार्थिकानि, तदनु निरुक्त वक्तव्यम् । ततः को विधिरनुयोगे कर्तव्य इति विधिर्वक्तव्यः । तथा प्रवृत्तिः प्रसवोऽनुयोगस्य वक्तव्यः । तदनन्तरं केनानुयोगः कर्तव्य इति वक्तव्यम् । ततः पर कस्य शास्त्रस्य कर्तव्य इति । तदनन्तरं तस्यानुयोगस्य द्वाराण्युक्रमादीनि वक्तव्यानि । तत्र तेषामेव भेदः, ततः पर सूत्रस्य लक्षणम्, तदनन्तरं सूत्रस्यार्हा योग्या, ततः पर परिपत्, तत सुत्रार्थः । एष द्वारागाथासंक्षेपार्थः । व्यासायंस्तु प्रति द्वार वक्ष्यते । वृ० १ उ० । स्था० । अनु० । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

(२) तत्र प्रथमतो निक्षेपद्वारमाह—

निकलेवो नासो चि य, एगहं सो उ कस्स निकलेवो ? ।

अणुश्रीगस्स जगवओ, तस्स इमे वानिया जेया ॥

निक्षेपो न्यास इत्येकार्थः । पर आह—स निक्षेप कस्य कर्तव्यः ? । सुरिराह—अनुयोगस्य भगवतः, तस्य च निक्षेपस्य इमे वक्ष्यमाणा वर्णिता भेदाः । वृ० १ उ० ।

अथानुयोगस्यैव सम्भवन्त नामादिनिक्षेपमाह—

नामं ठवणा दविए, खेत्ते कात्ते य वयणजावे य ।

एसो अणुश्रीगस्स उ, निकलेवो होइ सत्तविहो ॥३८॥

नामानुयोगः, स्थापनानुयोगः, छ्व्यानुयोगः, क्षेत्रानुयोगः, काक्षानुयोगः, वचनानुयोगः, भावानुयोगः । एषोऽनुयोगस्य सप्तविधो निक्षेपः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

(३) विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्जाप्यकारो नामस्थापनानुयोग-स्वरूप तावदाह—

नामस्स जोऽणुश्रीगो, अहवा जस्साभिहाणमणुश्रीगो ।

नामेण व जो जोओ, जोगो नामाणुओगो सो ॥

ठवणाए जोऽणुश्रीगो-ऽणुश्रीग इति वा ठविजए जं च ।

जावेह जस्स ठवणा, जोग ठवणाणुश्रीगो सो ॥

नाम्न इच्छादेर्योऽनुयोगो व्याख्यानमसौ नामानुयोगः । अथवा यस्य वस्तुनोऽनुयोग इति नाम क्रियते तन्नाममात्रेणानुयोगो नामानुयोग इत्युच्यते । यदि वा नाम्ना सह य कश्चिद्योगोऽनुरू-

पो योगः संबन्धः स नामानुयोगः, नाम्ना सहानुरूपोऽनुरूपो योगो नामानुयोग इति व्युत्पत्तेः । यथा—दीपस्य दीपनाम्ना सह, तपनस्य तपननाम्ना सह, ज्वलनस्य ज्वलननाम्ना सह इत्यादि । एवं स्थापनाया अनुयोगो व्याख्यान स्थापनानुयोगः । अथवा अनुयोगं कुर्वन्नाचार्यादिर्यत्र काष्ठादौ स्थाप्यते तत्स्थापनानुयोगः । यावद्विहानुयोगकर्तुराचार्यादेस्तदाकारवति क्षेत्र्यकर्मादौ योग्याऽनुरूपा स्थापनाक्रियते, स स्थापनानुयोगः । स्थापनाया अनुरूपोऽनुरूपो योगः सबन्धः स्थापनानुयोग इति व्युत्पत्तेः । इति निक्षेपद्वारम् । विशेषः ।

(४) अथ द्रव्यानुयोगमाह—

सामिच्च करण अट्ठिगरण, एहिं एगत्ते य बहुत्ते य ।

नामं ठवणा मोत्तुं, इति दव्वादीण ठव्मेया ॥

स्वामित्व सबन्धः, करण साधकतमम्, अधिकृतम्, अधिकरणमाधारः, एतैः प्रत्येकमेकत्वेन बहुत्वेन च पञ्चानां द्रव्यादीनामनुयोगो वक्तव्य इति । एव नामस्थापनां मुक्त्वा द्रव्यादीनामनुयोगस्य प्रत्येक परमेदा भवन्ति । वृ० १ उ० ।

तथाहि—

दव्वस्स जोऽणुश्रीगो, दव्वे दव्वेण दव्वहेउस्स ।

दव्वस्स पज्जेण व, जोगो दव्वेण वा जोगो ॥

बहुवयणुओ वि एवं, नेओ जो वा कहेव अणुवउत्तो ।

दव्वाणुओग एसो, एव खेत्ताइयाणं पि ॥

द्रव्यस्य योगो व्याख्यानमेव छ्व्यानुयोग इति द्वितीयगाथायां सबन्धः । तथा छ्व्ये निषद्यादावाधिकरणभूते स्थितस्यानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्येण वा क्षीरपापाण्यकलादिना करणभूतेनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्यहेतोर्वा शिष्य-छ्व्यप्रतिबोधनादिनिमित्तमनुयोगो द्रव्यानुयोगः । अथवा छ्व्यस्य वस्त्रादे कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह य इह योगोऽनुरूपो योगः सबन्धः, स द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्येणाम्लीकादिना कृत्वा यस्यैव वस्त्रादेस्तैव कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह योगोऽनुरूपो योगः सबन्धः स द्रव्यानुयोगः । एव बहुवचनतोऽपि द्वयो द्रव्यानुयोगः । तद्यथा—द्रव्याणां द्रव्येषु द्रव्यैर्वाऽनुयोगो द्रव्यानुयोगः, तथा द्रव्याणां हेतोरनुयांगो छ्व्यानुयोगः, द्रव्याणां पर्याये सह छ्व्यैर्वाकरणभूतैरनुरूपो योगो द्रव्यानुयोग इति ॥ यो वाऽनुपयुक्त कथयत्यनुपयुक्तोऽनुयोग करोति, स छ्व्यानुयोगः । एव क्षेत्रादीनामपि क्षेत्रकालवचनभावेऽपि यथासमवमित्येवायोज्य इत्यर्थः । तद्यथा—क्षेत्रस्य क्षेत्रेण क्षेत्रे क्षेत्राणां क्षेत्रे क्षेत्रेष्वनुयोगः क्षेत्रानुयोगः, तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा हेतोरनुयोगः क्षेत्रानुस्थापनाय देवेन्द्रचक्रवर्त्यादीनामनुयोगो व्याख्यान यत्क्रियते इत्यर्थः । तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा क्षेत्रेण क्षेत्रैर्वा करणभूतैः पर्यायेण पर्यायैर्वा सहानुरूपोऽनुरूपो योगः क्षेत्रानुयोगः । एवं कालवचनभावविषयेऽप्येकवचनबहुवचनाभ्यां सुधिया यथासमव वाच्यम्, नवर, कालादिष्वभिलापः कार्य इति द्रव्यस्यानुयोगो व्याख्यान द्रव्यानुयोग इत्यादावभिहितम् । विशेषः ।

(५) तत्र कतिभेदः तद्व्यं किञ्चरूपस्य तस्यानुयोग

इत्यादावमाह—

दव्वस्म उ अणुश्रीगो, जीवदव्वस्म वा अजीवदव्वस्म ।

एकेहम्मि य भेया, हवन्ति दव्वाइया चउरो ॥

द्रव्यस्यानुयोगो द्विधा-जीवद्रव्यस्य वा अजीवद्रव्यस्य वा, एकैकस्मिन् योगे द्रव्यादिकाश्चत्वारो भेदा भवन्ति । किमुक्तं भवति ?-जीवद्रव्यानुयोगोऽजीवद्रव्यानुयोगो वा प्रत्येकं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च भवति ।

तत्र जीवद्रव्यानुयोगं द्रव्यादित आह-

दब्बेणैकं खेत्ते, संखातीतप्पदेसभोगादं ।

काक्षे अनादिऽनिहणं, जावे नाणाइया ऽणंता ॥

छव्यतो जीवद्रव्यमेक, क्षेत्रतोऽसख्येयप्रदेशावगाढ, कालतोऽनाद्यनिधनं, भावतो ज्ञानादिकाः पर्याया अनन्ता । तथा अनन्ता ज्ञानपर्याया अनन्ताश्चारित्रपर्याया अनन्ता दर्शनपर्याया अनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

अधुना द्रव्यादिभिरजीवद्रव्यस्यानुयोगमाह-

एमेव अजीवस्स वि, परमाणू दब्बमेगदब्बं तु ।

खेत्ते एगपपमे, ओगाढो सो जवे नियमा ॥

समयाइ ठिति असंखा, ओसप्पिणिओ हुवंति कालम्मि ।

वस्सादि जावऽणंता, एवं दुपदेसमादी वि ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, अजीवद्रव्यस्याप्यनुयोगो वक्तव्यः, तथा-परमाणुर्द्रव्यत एक छव्यम्, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढम् कालतो जघन्यतः स्थितिः समयादिरेको ह्येव त्रयो वा । समथानुकर्षतोऽसंख्यावगाढम् । असंख्येया उत्सर्पिण्योऽवसर्पिण्यश्च भवन्ति । जावतो अनन्त वर्णादिपर्यायाः । तद्यथा-अनन्ता वर्णपर्यवा, अनन्ता गन्धपर्यवा, यावदनन्ताः स्पर्शपर्यवा इति । एव द्विप्रदेशादेरपि । द्विप्रदेशकस्य यावदनन्तप्रदेशिकस्योपयुज्य वक्तव्यम् । तद्यथा-द्विप्रदेशकः स्कन्धो छव्यत एक छव्य, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढ, द्विप्रदेशावगाढो वा । कालतो जघन्यतः स्थितिः, समयादिरुक्तरत असंख्या उत्सर्पिण्योऽवसर्पिण्य एव इत्यादि ।

अथ छव्याणामनुयोग इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

दब्बाणं अणुओगो, जीवमजीवाण पज्जवा नेया ।

तत्तय वि य मग्गणाओ, ऽणंगा सट्ठाणपरत्ताणे ।

द्रव्याणामनुयोगो द्विधा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च । किं रूपोऽसावित्याह ?-पर्यायाः प्ररूप्यमाणा ज्ञेयाः । तथाहिकतिविधा भदन्त ! पर्याया प्रज्ञप्ताः । गौतम ! द्विविधाः । तद्यथा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च । तत्राप्यनेकाः स्वस्थाने च परस्थाने च मार्गणाः । ताश्चैवम्-नैरयिकाणामसुरकुमाराणां च कति पर्याया प्रज्ञप्ताः । गौतम ! अनन्ता । अथ केनार्थेनेदमुच्यते ? गौतम ! नैरयिकोऽसुरकुमारस्य छव्यार्थतया तुल्य, प्रत्येकमेकद्रव्यत्वात्, प्रदेशार्थतयाऽपि तुल्य, प्रत्येकं लोकाकाशप्रदेशत्वात् । स्थित्या चतु स्थानपतित, भावत षट्स्थानपतितः, ततो भवन्ति नैरयिकाणामसुरकुमाराणां प्रत्येक पर्याया अनन्ता । एवमजीवद्रव्याणां पर्याया अपि, एव स्वस्थाने परस्थाने च मार्गणाः । ('परमाणु रोगग्राण जेत !' इत्यादि 'पज्जव' शब्देऽभिधास्यते) ततो भवन्ति द्रव्यानामपि प्रत्येकमनन्ता पर्यायाः । एवमनेकधा जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां चाऽनुयोगः, सूत्रे तत्र तत्र प्रदेशेऽभिहितो जायनीयस्तदेव छव्याणां चेति स्वामित्व गतम् ।

इदानीं करणे एकत्वबहुत्यान्यामनुयोगमाह-

वतीए अक्खेण व, करंणुलादीण वा वि दब्बेण ।

अक्खेहिं तु दब्बेहिं, आहिगरणे बहुसु कप्पेसु ॥

वर्तिनाम खटिका, तत्र या कृता शलाका तथा, अक्खेण वा, कण्डूव्या वा, आदिशष्ठाप्रत्येकदिनाचा यः क्रियतेऽनुयोगः स छव्येणानुयोगः । द्रव्यैरनुयोगो यद् बहुजिरकैः क्रियतेऽनुयोगः । अधिकरणे एकस्मिन् द्रव्येऽनुयोगो यदा एकस्मिन् कल्पे स्थितोऽनुयोग करोति, यदा तु बहुषु कल्पेषु स्थितस्तदा छव्येषु अनुयोगः । उक्तो छव्यानुयोगः पञ्चभेदः । १० १ ३० । वि० १० । स्था० । ('दशविहे दवियाणुभागे' इति 'द्वानुयोग' शब्दे व्याख्यासहितं सूत्रम्)

(६) सम्प्रति क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वाऽनुयोगमाह-

पणणति-जंबूदीवे, खेत्तस्सेमाइ होइ अणुओगो ।

खेत्ताणं अणुओगो, दीवसमुद्दाण पप्पती ॥

क्षेत्रस्याऽनुयोग क्षेत्रानुयोग एवमधिको भवति । क इत्याह ?- [पणणतिजम्बूदीवे चि] जम्बूदीपप्रज्ञप्तिरित्यर्थः । जम्बूदीपक्षेत्रकक्षेत्रव्याख्यानरूपत्वात्तस्याः । बहूनां तु क्षेत्राणामनुयोगो द्वीपसागरप्रज्ञप्तिर्भवति । बहूनां द्वीपसमुद्रक्षेत्राणां तत्र व्याख्यानादिति । तदेवं क्षेत्रस्य क्षेत्राणामनुयोग इत्युक्तम् ।

अथ क्षेत्रेण क्षेत्रैरनुयोग इत्येतदाह-

जंबूदीवपमाणं, पुढविजिवाणं तु पत्थयं काठं ।

एवमसंखिज्जमाणा, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥

खेत्तेहिं बहुदीवे, पुढविजिवाणं तु पत्थयं काठं ।

एवमसंखिज्जमाणा, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥

इह जम्बूदीपप्रमाणं प्रस्थक पत्थ कृत्वा पुनस्तद्भरणविरेचनक्रमेण यदा सर्वेऽपि मूत्रमवादरपृथ्वीकायिका जीवा मीयन्ते तदा असंख्येलोकाकाशप्रदेशसंख्योपेता जम्बूदीपप्रमाणाः प्रस्था भवन्तीत्येष क्षेत्रेण जम्बूदीपक्षेत्रेणानुयोगोऽभिधीयत इति । क्षेत्रैस्त्वनुयोगोऽयं द्रष्टव्यः । तद्यथा-बहुदीपप्रस्थक कृत्वाऽजीव तद्भरणविरेचनक्रमेण समस्तपृथ्वीकायिकजीवा मीयमाना असंख्येलोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणा बहुदीपमानप्रस्था भवन्ति । एतदसंख्येयकं पूर्वस्माल्लघुतर छव्यम् । प्रस्थस्यैव इह उत्तरत्वादेव बहुदीपप्रस्थकैः क्षेत्रैरनुयोग इति ।

अथ क्षेत्रे क्षेत्रेषु चानुयोगमाह-

खेत्तम्मि उ अणुओगो, तिरियं लोमम्मि जम्मि वा खेत्ते ।

अह्माइयदीवेसुं, अप्पत्तवीसाइ खेत्तेसुं ॥

क्षेत्रे पुनरयमनुयोगः, तथा तिर्यग्भोकक्षेत्रे योऽनुयोगः प्रवर्तते यत्र वा ग्रामनगरादौ व्याख्यानसमादौ वा क्षेत्रे स्थितोऽनुयोगकर्त्ताऽनुयोग करोत्येष क्षेत्रेऽनुयोग क्षेत्राऽनुयोग उच्यते । क्षेत्रेष्वनुयोगः क इत्याह-योऽर्कतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्गतक्षेत्रेषु वर्तते, सार्द्धषड्विंशतिजनपदरूपेषु वा आर्यक्षेत्रेष्विति । उक्तः पक्षिणः क्षेत्रानुयोगः ।

(७) अधुना कालस्य कालानां चानुयोगमाह-

कालस्स समयरूवण, कालाण तदाऽ जाव सव्वप्पा ।

कालेण ऽनिलऽवहारो, कालेहिं उ सेसकायाणं ॥

कालस्यानुयोगः, क इत्याह ?-(समयरूपेण चि) उपलपत्रशतनेदपदशटिकापाटनादिदृष्टान्तै समयस्य प्ररूपणेत्यर्थः । कालानां त्वनुयोगः-(तदाऽ जाव सव्वप्पा चि) समयमादौ इत्या यावत् सर्वाद्यायाः प्ररूपणेत्यर्थः । कालेणानुयोगोऽनिरूपहारः । इदमुक्तं भवति-यादरपर्यायतयायुकायिका वैक्रियशरीरे प्रसमा-

ना अर्धपल्योपमस्यासख्येयभागेनापहियन्त इत्येव प्ररूपणा, स कावेनानुयोग इति कोट्याचार्यटीकायां विवृतम् । अन्यत्र त्व-
नुयोगद्वारादिषु वैक्रियशरीरिणो वायवः क्षेत्रपल्योपमासख्येय-
भागप्रदेशपरिमाणा दृश्यन्ते । तत्त्व तु केवलिनो विदन्ति । शेषा-
णां तु पृथिव्यादिकायानां यथासन्नव कालैरनुयोग । तद्यथा—

“ पञ्चतवायुरानल-असखया हौति आवलियवगं चि ” ।

आवलिकाया यावन्तः समयास्तेषां वर्गः क्रियते-तथाविधेषु
चासख्यातेषु वर्गेषु यावन्तः समयास्तत्प्रमाणा वादरपर्याप्ततेज-
स्कायिका भवन्ति, तथा प्रत्युत्पन्नप्रसकायिका असख्येयाभिरु-
त्सर्पिण्यवमर्पिणीभिरपहियन्ते । एव पृथिव्यादिष्वपि यथास-
भव वाच्यमिति ।

अथ कावे कालेषु चानुयोगमाह—

कालमि वीयपोरिसि, समासु तिस्रु दोसु वा वि कालेसु ।

प्रथमपौरुष्यां किल सूत्रमध्येतव्यम्, द्वितीयपौरुष्यां तु तस्यानु-
योग प्रवर्तते, अत इह कालस्य प्राधान्येन विवक्षणात्काले
द्वितीयपौरुषीलक्षणेऽनुयोग कालानुयोग इत्युच्यते । तथाऽ-
वसर्पिण्यां सुषमडु पमाडु पमसुषमाडु पमारूपासु तिस्रुषु
(समासु चि) भिष्वरकेषु अनुयोग प्रवर्तते नान्यत्र । वत्सर्पिण्या
तु दुःषमसुषमासुषमडु पमारूपयोर्द्वयोः समययोर्द्वयोरेक्योर-
नुयोग प्रवर्तते नान्यत्र । अथ च कावेऽनुयोग कालानुयोगो-
ऽभिधीयते । तदेव जणितः षड्विधः कालानुयोगः ।

(८) सप्रति वचनस्य वचनानां चाऽनुयोगमाह—

वयणस्तेगवयाई, वयणार्ण सोल्लसहं तु ।

(वयणस्तेत्यादि) इत्यनूनमेकवचन भवत्येवमूत वा द्वि-
चनमीदृश वा बहुवचनमेवस्वरूप एकवचनाद्यन्यतरवचनस्य
योऽनुयोगः, स च वचनस्यानुयोग उच्यते । वचनानां त्वनुयोगः
बोमशवचनानुयोग [बोमशवचनानि 'वयण' शब्दे वक्ष्यन्ते]
वचनानामनुयोग -प्रथमैकवचनादीनामेकविंशतिवचनानां व्या-
ख्येति वचनानामित्युक्तम् ।

अथ वचनेन वचनैवचनेऽनुयोग इत्येतद्वाह—

वयणेणायरियाई, एकेणुत्ते वहीई वयणेहि ।

वयणे खओवसमिए, वयणे पुण नत्थि अणुश्रोगो ॥

वचनेनानुयोगो यथा-कश्चिदाचार्यादि साध्यादिना सरुदेके-
नापि वचनेनाज्यर्थितोऽनुयोगं करोति । वचनैस्त्वनुयोगो-यदा स
एवासरुद् बहुभिर्वचनैरभ्यर्थितस्तं करोति । कायोपशमिके व-
चने स्थितस्यानुयोगो वचनानुयोग । वचनेषु पुनर्नास्त्यनुयोगः,
वचनस्य कायोपशमिकत्वेनैकत्वासन्नवात् । अन्ये तु मन्यन्ते-व्य-
क्तिविवक्षया तेष्वेव कायोपशमिकेषु बहुषु वचनेष्वनुयोग इत्य-
प्यविरुद्धमेवेति । तदेव पञ्चविध पक्षिधो वा निर्दिष्टो वचनानु-
योग । वृ० । १० उ०

शुरूचागनुयोगः—

दमाविहे सुष्वावायाणुजोगे पक्षत्ते । तं जहा-चंकारे मं-
कारे पिकारे सेयकारे सायंकारे एगत्ते बहुत्ते मंजूहे मं-
कामिए भिन्ने ॥

शुरूचा अनपेक्षितवाक्यार्था, या वाक् वचन, सूत्रमित्यर्थः, तस्या अ-
नुयोगो चिन्तार शुरुचागनुयोग । सूत्रे चाऽपुम्यद्वाच-प्राकृतत्वा-
त्, तत्र चकारादिकाया शुरुचाचो योऽनुयोग स चकारादिरेय
व्यपदेश्य । (तत्र चकारादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने यज्यते) (नि-
प्रमिति) कमकालभेदादिनिर्भिन्न विमदशम् । तदनुयोगो यथा-

‘तिविह तिविहेणमिति’ सप्रहमुक्त्वा पुनर्मणेणमित्यादिना ति वि
हेण चि विवृतमिति क्रमजिन्नम्, क्रमेण हि ति विहमित्येतन्न करो-
मीत्यादिना विवृत्य ततस्त्रिविधेनेति विवरणीयं भवतीति । अस्य
च क्रमभिन्नस्यानुयोगोऽयम्, यथा-क्रमाविवरणे हि यथासत्य
दोष स्यादिति तत्परिहारार्थं क्रमो भेदः । तथाहि-न करोमि मन-
सा न कारयामि वाचा कुर्वन्त नानुजानामि, कायेनेति प्रसज्यते,
अनिष्ट चैतत्, प्रत्येकपक्षस्यैवेष्टत्वात् । तथाहि-मनःप्रभृतिभिर्न क-
रोमि, तैरेव न कारयामि, तैरेव नानुजानामीति । तथा कालतो
जेटोऽतितादिनिर्देशे प्राप्ते वर्तमानादिनिर्देशः । यथा-जम्बूद्वी-
पप्रकृत्यादिषु ऋषमस्वामिनमाश्रित्य ‘सक्रे देविदे देवराया
वदइ नमसइ चि’ सूत्रे । तदनुयोगश्चायं वर्तमाननिर्देशः, त्रि-
कालजाविष्वपि तीर्थकरेष्वेतन्न्यायप्रदर्शनार्थं इति । इदं च
दोषादिसूत्रत्रयमन्यथापि विमर्शनीय, गम्भीरत्वादस्येति वाग-
नुयोगतत्त्वर्थानुयोग प्रवर्तते इति । स्था० १० ग० ।

[९] सम्प्रति भावानुयोगं पदप्रकारमाह—

जावेण संगहार्ड-ए ऽन्नयरेणं दुगाङ्गावेहि ।

जावे खओवसमिए, जावेसु उ नत्थि अणुश्रोगो ॥

अहवा आयाराइसु, भावेसु वि एस होइ अणुश्रोगो ।

सामितं आमज्ज व, परिणामेसुं बहुविहेसुं वा ॥

सप्रहादीनां पञ्चानामध्यवसायानामन्यतरेण चित्ताध्यवसा-
येन योऽनुयोग क्रियते स भावेनानुयोग । ते चामी पञ्चाजि-
प्राया । यदाह स्थानाङ्गे—

“ पचहिं ठाणेहिं सुय वापज्जा । तजहा-सगहद्वयाप उवग-
हठ्याप निज्जरद्वयाप सुयपज्जवजाण्ण अव्वोच्छिस्तीप ” ॥

अयमर्थः-कथं नु नामैते शिष्या सूत्रार्थसप्रहका सपत्स्य-
न्ते?, तथा कथं नु नाम गीतार्थानुत्वाऽमी वस्त्राद्युत्पादनेन ग-
च्छस्योपग्रहकरा जविष्यन्ति?, प्रमाप्येतां वाचयन् कर्मनिर्जरा
भविष्यति?, तथा धनपर्यवजात श्रुतपर्यायराशिर्ममाऽपि वृद्धिं या-
स्यति?, श्रुतस्य वाऽव्यवच्छिन्नचित्तजविष्यतीत्येव पञ्चभिरभिप्रायः
श्रुतं सूत्रार्थतो वाचयेदिति । एषामेव सप्रहादिभावानां मध्याद्
छिन्नादिभिर्मवैः सर्वैर्वाऽनुयोग कुर्वतो भावैरनुयोगः । काया-
पशमिके भावे स्थितस्य व्याख्या कुर्वतो भावानुयोगः । जावेसु
पुनर्नास्त्यनुयोगः, कायोपशमिकत्वेन तस्यैकत्वात् । अथवा प-
कोऽपि कायोपशमिको जाव आचारादिशास्त्रलक्षणविषयभेदा-
द्विद्यते, ततश्च आचारादिशास्त्रविषयजेटमिष्येण कायोपशमि-
कमवेपु अप्येषु जवत्यनुयोगो न कश्चिद्विरोधः । वा इत्यथवा
स्वामित्वमासाधानुयोगकर्तुं स्वामिनो यद्वत् प्रतः । तस्य कायोपश-
मिकपरिणामेषु बहुष्वनुयोगप्रवृत्तेर्जावेप्यनुयोगो न विहन्यते ।
इत्युक्तं पक्षिधो भावानुयोग इति ।

[१०] एषा चाऽनुयोगविषयाणां व्याख्यादीनां परस्पर यस्य

यत्र समावेशो भजना या तदेवाह—

टव्वे नियमा भावो, न विणा नेयावि खेनकात्रेहि ।

खेत्ते तिण वि भयणा, काज्ञो जयणाऽ नीमुं पि ॥

टव्वे नावजियमाद् भाव पर्यायोऽस्ति, पर्यायविहितस्य टव्व-
स्य कापि कदाचिदप्यभावात् । न चापि टव्वे नावार्थं क्षेत्रकालाभ्यां
पिना न मन्यन्तः । अव्यवजायार्थं नियमवान् सहजावो द-
र्शिन एव, कस्य चाऽप्यत्र क्वचि जेटेऽगतादमन्यनार्थं न्यतिमदे-
य जवति, अतः मिजमिदऽव्यवजायपि क्षेत्रकालाभ्यां विना

काऽपि न भवतः । क्षेत्रे तु त्रयाणामपि द्रव्यकाशजावानां भजना विकल्पना, काऽपि तत्र ते प्राप्यन्ते काऽपि नेत्यर्थः । लोकक्षेत्रे त्रयाणामपि भावात्, अलोकक्षेत्रेऽभावादिति । आह—अलोकक्षेत्रेऽप्याकाशवृक्षेण द्रव्यमस्ति, वर्तनादिरूपस्तु कालोऽगुरुलघववृक्षान्ता पर्यायाः सन्त्येव, तत्कथं तत्र द्रव्यकालजावानामभावः ? । सत्यम्, किन्त्वाकाशवृक्षेण द्रव्यं यत् तत्रोच्यते । तदयुक्तम्, तस्य क्षेत्रग्रहणेनैव गृहीतत्वात्, काशस्यापीदं समयादिरूपस्य चिन्तायितुं प्रस्तुतत्वात्, तस्य च समयक्षेत्रादत्रात्राजावावर्तनादिरूपस्य त्वत्राविवक्षितग्रहणेनैव तत्र तस्य गृहीतत्वाच्च । पर्यायाश्चेह धर्माधर्मपुरुषलजीवास्तिकायद्रव्यसम्बन्धिनो विवक्षिता, ते चालोके न सन्ति । एवमाकाशसम्बन्धिनस्त्वगुरुलघुपर्यायाः क्षेत्रग्रहणेनैव गृहीतत्वाच्चेह विवक्षिता इत्यतो लोकत्रयाणामपि द्रव्यकाशभावाणामभावः । (काशो ज्ञयाणां तीक्ष्णं पितृ) द्रव्यक्षेत्रभावेषु त्रिष्वपि कालो भजनया विकल्पनया प्रवति, समयक्षेत्रान्तवर्तिषु तेषु तस्य भावात्, तद्वहिस्त्वभावादिति । एव च स्थितानाममीषां द्रव्यादीनां यथासंभवमनुयोगः प्रवर्तते इति ।

अपरमपि द्रव्यादिगण किञ्चित् स्वरूपं प्रसङ्गतः प्राह—

आहारो आहेयं, च होइ द्रव्यं तदेव जावो य ।
खेत्तं पुण आहारो, कालो नियमात्त आहेओ ॥

द्रव्यमाधारो भवति पर्यायाणाम्, आधेयं च भवति क्षेत्रे; तथा जावध्याधारो भवति, काशस्य काशवर्णादीनां समयादिस्थितित्वादिनि आधेयश्च भवति द्रव्ये; क्षेत्रमाकाश पुनः सर्वेषामपि धर्माधर्मपुरुषलजीवकालद्रव्याणामगुरुलघुपर्यायाणां वाऽऽधार एव नत्वाधेयम्, सर्वस्यापि वस्तुनस्तत्रैवावगाढत्वात्, नस्य च स्वप्रतिष्ठितत्वेनान्यत्राऽऽधेयत्वायोगादिति । (काशो नियमात्त आहेओ) काशो नियमादाधेय एव भवति, नत्वाधारः, तस्य द्रव्यपर्यायेष्ववस्थितत्वात्, तत्र चान्यस्यास्थितत्वादिति । तदेवं व्याख्यातो नामादिभेदतः सप्तविधोऽप्यनुयोगः । विशेषः । ('व-उगगोणीत्यादि' गायानिर्यान्यनुयोगाऽननुयोगसाधारणान्युदाहरणानि दत्तानि तानि अत्रैव भागे २८५ पृष्ठे 'अणुश्रोग' शब्देऽस्माभिर्दर्शितानि)

[११] सप्रत्येकार्थिकानि वक्तव्यानि—तानि द्विधा सूत्रस्याऽर्थस्य च । (तत्र सूत्रस्य 'सुय' शब्दे वक्ष्यन्ते)

साम्प्रतमर्थकार्थिकान्याह—

अणुयोगो य नियोगो, जास विभासा य वत्तियं चेव ।

एए अणुश्रोगस्स उ, नामा एगड्डिया पंच ॥

अनुयोगो, नियोगो, जापा, विभासा, वार्तिकं च, एतानि पञ्चानुयोगस्त्येकार्थिकानि । तत्रानुकूलः सूत्रस्यार्थेन योगोऽनुयोगः, निश्चितो योगो नियोगः, अर्थस्य भाषा, विविधप्रकारेण जापण विभासा, वृत्तौ भववार्तिकम् । यदेकस्मिन् पदे यदर्थपञ्च तस्य सर्वस्यापि जापणम् । उक्तान्येकार्थिकानि । वृ० १३ उ० । विशेषः । अनु० । आ० म० द्वि० । आ० सू० ।

[१२] अनुयोग इति कः शब्दार्थः ? । इत्याह—

अणुश्रोगमणुश्रोगो, सुयस्स नियएण जमजिहेएण ।

वावारो वा जोगो, जो अणुरूवोऽणुकूलो वा ॥

अहवा जमत्थओ थो—व पच्छ जावेहिं सुयमणुं तस्स ।

अजिधेये वावारो, जोगो तेणं च संवंधो ॥

यत् सूत्रस्य निजेनाऽभिधेयेनाऽनुयोजनमनुसंबन्धनमसावनु-

योग इत्यर्थः । अथवा—योऽनुरूपोऽनुकूलो वा घटमानः सबायमानो व्यापारः प्रणिपादनलक्षण सूत्रस्य निजार्थविषयेऽयमनुयोगः । अथवा—यद्यस्मादर्थतोऽर्थात् सकाशादणुसूत्रं तद्यु सूत्रकाश्यामित्याह । स्तोके पञ्चाङ्गावाभ्यामेकस्यापि सूत्रस्यानन्तोऽर्थ इत्यर्थास्तोक्तव्यम् । तथा प्रथममुत्पादव्ययधौव्यलक्षणतीर्थकरोक्तमर्थं चेतसि व्यवस्थाप्य पञ्चादेव सूत्रं रचयन्ति गणधराः इत्येवमर्थोत्पञ्चाङ्गावाच्च सूत्रमएवेति भावः । तस्मात्तस्याणोः सूत्रस्य यः स्वकीयस्याऽभिधेये योगो व्यापारस्तेन वाऽणुना सूत्रेण सह यः संबन्धो योगोऽसावनुयोग इति । विशेषः ।

तत्र सामान्येन प्रागुक्तमपि विशेषोपदर्शनार्थमाह—

अणुणा योगोऽणुयोगो, अणु पच्छाभावओ य थोवे य ।

जम्हा पच्छाऽभिहितं, सुत्तं थोवं च तेणाणु ॥

इह अणुयोग इति वा शब्दसंस्कारः, तत्र अनुना पञ्चादृचूतेन योगोऽनुयोगः, अथवा अणुना स्तोकेन योगोऽणुयोगः । तथा चाह—अणु इति पञ्चाङ्गावे, स्तोके च । यस्मात्पञ्चादभिहितं कृतं सूत्रं स्तोके च, तेन 'अणु' इति भण्यते । अर्थः पुनरनु, पूर्वमुक्तत्वात्, बादरश्च, बहुत्वात् । एवमाचार्येणोक्ते शिष्यः प्राह—पुर्वं सुत्तं पच्छा—य पगासो लोइया वि इच्छंति ।

पेलासरिसे सुत्ते, अत्थपया हुंति बहुया वि ॥

अनु पूर्वं सूत्रं पञ्चात्प्रकाशोऽर्थः, तान् तान् भावान् प्रकाशयतीति प्रकाश इति व्युत्पत्तेः । सूत्रभावे तु स कस्य स्यात् ? अपि च—लौकिका अप्येवमेवेच्छन्ति । तथा चोक्तं तैरेव—“पूर्वं सूत्रं ततो वृत्ति-वृत्तेरपि च वार्तिकम् । सूत्रवार्तिकयोर्मध्ये, ततो भाष्यं प्रवर्तते” ॥१॥ ततो यद्वदयं यूय-पूर्वमर्थः पञ्चात् सूत्रमिति तत्र घटां प्राञ्चति । यदपि च सूत्र-सूत्रमणु अर्थो बादर इति । तदपि न सम्यक् । यन एकस्यां पेदायां बहूनि वस्त्राणि सन्ति, तत्र पेदाया एव बादरत्वं युज्यते, तद्वदशाद् बहूनि वस्त्राणि मान्ति स्म । एवमत्रापि पेदासदृशे पेदास्थानीये सूत्रे बहून्वर्थपदानि वर्तन्ते, तत्र सूत्रमेव बादरीजवितुमर्हति नार्थ इति ।

न च महत्त्वमेकान्तेनार्थस्य; कस्मादित्याह—

इकं वा अत्थपयं, सुत्ता बहुगा वि संपयसंति ।

उक्खित्तनाइमाइसु, अयमावे तम्हा अणेगंतो ॥

एकमर्थपदं, बहूनि सूत्राणि सप्रदर्शयन्ति । यथा—उत्क्रियते अनुकम्पा कर्त्तव्येत्यर्थे बहुभिः सूत्रैर्वर्णितं, प्रादिशब्दात् सघटादिषु कालेषु न बलहेतोरादारयितव्यमित्यादिपरिग्रहः । तस्मादयमेकान्तं यदर्थो महानिति ।

आचार्यः प्राह—यस्त्वयोक्तं पूर्वं सूत्रं पञ्चादर्थं इति, तत्र भवति, कथमित्याह—

अत्थं भासइ अरिहा, तमेव सुत्तीकरेति गणधारी ।

अत्थं च विणा सुत्तं, अणिस्सियं केरिसं होइ ? ॥

अर्थं भाषेतर्हन्, तमेवार्हन्नापितमर्थं सूत्राकुर्वन्ति गणधारिणः । अर्थं च विना सूत्रमिति अनिश्चितं निश्चारहितकीदृशं भ्यात् ? । असंबद्धं दश टाकिमेत्यादि वाक्यवदिति प्राव । अपि च—लौकिका अपि शास्त्रार प्रथमतोऽर्थं दृष्ट्वा सूत्रं कुर्वन्ति, अर्थमन्तरं सूत्रस्यानिष्पत्तेः । यदप्युक्तं पेदावद् बादरं सूत्रमयोऽणुरिति तदप्युक्तीत्यम् । यतस्तस्या एव पेदाया एकं यस्मादायं तनानेकं पेदा बध्यन्ते, तथैकस्मादर्थोद् बहूनि सूत्राण्यथाक् तनैव बध्यन्ते । एव वस्तुस्थानीयस्यार्थस्यामहत्त्वम्, पेदास्थानीयस्य तु

सूत्रस्याणुत्वमेव । यदप्युक्तम्-न च महत्वमेकान्तेनार्थस्येत्यादि, तदप्यपरिभाषितपरिज्ञापितम् । यदुक्तिक्रियादिषु सत्त्वानुकम्पादिकोऽर्थस्तावन्मात्रस्य सूत्रस्य, अशेषस्य तु शेषोऽर्थः । उक्तोऽनुयोगः । ३०१ उ० । स्वाभिधायकसूत्रेण सहार्थस्यानुगीयते-ऽनुकूलो वा योगोऽस्येदमभिधेयमित्येव सयोज्य शिष्येभ्यः प्रतिपादनमनुयोगः, सूत्रार्थकथनमित्यर्थः । अथवा एकस्याऽपि सूत्रस्यानन्तोऽर्थ इत्यर्थो महान्, सूत्र त्वणु, ततश्चाणुना सूत्रेण सहार्थस्य योगोऽनुयोगः । तदुक्तम्-“ निययाणुकूलजोगो, सुत्तस्सऽथेण जो य अणुश्रोगो । सुत्त च अणु तेन, जोगो अत्यस्स अणुश्रोगो ” अनु० । दश० । न० । आ० म० प्र० । ज० । आ० ।

(१३) अधुना विधिद्वारावसरः, तत्र येन विधिना-

ऽनुयोगः कर्त्तव्यस्तमाह-

सुत्तत्थो खलु पढो, विद्मो निज्जुत्तिमीमिओ भणिओ ।

तद्मो य निरवसेसो, एस विही भणिय अणुश्रोगे ॥

प्रथमस्य श्रोतुः प्रथमं तावत् सूत्रार्थं कथनीयम् —

यथा नो कप्पइ निगंथाणं वा निगंथीणं वा आमे तालपलंवे अजिन्ने, पमिगाहिच्चाए ॥

अस्यार्थः-नो इति प्रतिषेधे, न कल्पते न वर्त्तते इत्यर्थः । नैपां ग्रन्थो विद्यते इति निर्ग्रन्था, तेषां वा विभाषायाम्, निर्ग्रन्थीना वा, आममपक्क, तादो वृक्कस्तालजव ताल, तालफलमित्यर्थः । प्रलम्बं मूलं, तदपि तस्यैव तालवृक्कस्य प्रतिपत्तव्यम् । ततः समाहारः । अभिज्ञमव्यपगतजीव, प्रतिग्रहीतुमिति । एव तावत् कथयितव्यं यावदध्ययनपरिसमाप्तिस्ततो द्वितीयस्या परिपाठ्या निर्युक्तिमिश्रिनः पठिकया सूत्रस्पर्शकनिर्युक्त्या च समन्वितः, सोऽपि यावदध्ययनपरिसमाप्तिस्तावत्कथनीयः । तृतीयस्यां परिपाठ्यामनुयोगो निरवशेषो वक्तव्यः, पदपदार्थचाक्षनाप्रत्यवस्थानादिभिः सप्रपञ्च समस्त कथयितव्यमिति ज्ञाव । एष चिधिरनुयोगे ग्रहणधारणादिसमर्थान् शिष्यान् प्रति वेदितव्यः ।

मन्दमतीन्द्रप्रति प्रकारान्तरेणानुयोगविधिमाह-

मूयं हुंकारं वा, वाढ्कार पडिपुच्छ मीमंसा ।

तत्तो पसंग पारा-यणं च परिणिट्ठ सत्तमए ॥

प्रथमतः शृणुयात् । किमुक्तं भवति-प्रथमश्रवणे सयतगात्र-स्तूणीमासात्, ततो द्वितीये श्रवणे हुंकारं दद्यात्, वन्दनं कुर्यादित्यर्थः । तृतीये वाढ्कारं कुर्यात्, वाढमेवमेतद् नान्ययेति प्रश-सेदित्यर्थः । चतुर्थे गृहीतपूर्वापरसञ्ज्ञानिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छां कुर्यात्, यथा कथमेतदिति ? पञ्चमे मीमांसां प्रमाणजिज्ञासां कुर्यात् । पष्ठे तदुत्तरोत्तरगुणे प्रसङ्गं, पारगमनं चाऽस्य भवति । ततः सप्तमे परिनिष्ठां गुरुवदनुज्ञाप्य इत्यर्थः । यत एव मन्दमेधसां श्रवणपरिपाठ्या विवक्षिताऽध्ययनार्थावगमः, ततः स्तान् प्रति सप्त वारान् अनुयोगो यथाप्रतिपत्तिं कर्त्तव्यः ।

अत्र परावकाशमाह-

चोडए रागदोमा, समत्थ परिणामो परूवणया ।

एएमि नाणत्तं, वोच्चाभि अट्ठाणुण्वीए ॥

शिष्ये नोदयति प्रश्नयति समर्थं ग्रहणधारणासमर्थं, तथा परिणामके । उपलक्षणमेतत्-ग्रहणधारणासमर्थेतिपरिणामके च या प्ररूपणा तथा युष्माकं रागद्वयौ प्रमज्ज्यत । तथाहि-तिष्ठन्नि परिपाटीनिरेकान् ग्राहयतो रागोऽपरान् सप्तभिः परिपाटीभिर्ग्राहयतो द्वेपः । तथा परिणामकान् ग्राहयतो रागः, इत-

रानतिपरिणामकान् परिहरतश्च द्वेपः । एतेषां ग्रहणधारणा-समर्थसमर्थानां परिणामकादीनां च यथानुपूर्व्या क्रमेण नानात्वं वक्ष्ये, तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयेत् ।

प्रथमतो ग्रहणधारणासमर्थसमर्थान्प्रति रागद्वेपावाह-

मच्छरया अविमुत्ती, पूया सक्कार गच्छड अ खिन्नो ।

दोसा गहणसमत्थे, इयरे रागो उ बुच्छेयो ॥

ग्रहणधारणासमर्थं शिष्यं तिसृभिः परिपाटीभिर्ग्राहयत एतावन्ति कारणानि स्युः-एष बहुशिक्षितो मम प्रसन्नो भविष्यति ततो मत्सरतया परिवारत्वेन वर्त्तत इत्यविमुक्तिकारणम् । अथवा-गृहीतसूत्रार्थस्यास्य पूजा सत्कारो भविष्यति । खिन्नो वा परिधान्तोऽन्यगणं गमिष्यति । (बुच्छेयं चि) मष्टसत्तो वाऽनुयोगस्य व्यवच्छेदो भविष्यति, अन्यस्य तथाविधशिष्यस्याज्ञावात् । एवं कारणानि सञ्जाव्य ग्रहणधारणासमर्थं तिष्ठन्नि परिपाटी-निरनुयोगं वदतो द्वेपः । इतरस्मिन् जडे रागः, यथा-तदवयो-धमनुयोगस्य प्रवर्त्तनात् । अत्राचार्य आह-

निरवयवो नहुं सक्को, समं पयासो उ संपयंसेउं ।

कुंजजले विहुं तुरि उ-ज्जियामि नहुं तिष्ठ पमिद्वप्पू ॥

नहुं नैव सूत्रस्य प्रकाशोऽर्थः, सकृदेकया परिपाठ्या निरवयवः समस्त संप्रदर्शयितुं शक्यः, तस्य ग्रहणधारणासमर्थो नैकया परिपाठ्याऽवधारयितुमीश इति तिसृभिः परिपाटीभिरनुयोग-कथनमित्यदोषः ।

साप्रतमतिपरिणामकानपरिणामकान् परिहरतो द्वेपाज्ञावमाह-

सुत्तत्थे कहयंतो, पारोक्खी सिस्सजावमुवज्जई ।

अणुकंपाइ अपत्ते, निज्जुहड मा विणिसिज्जा ॥

पारोक्षी परोक्षज्ञानोपेतः शिष्येभ्यः सूत्रार्थं कथयन् विनयाविनयकरणादिनातेषां शिष्याणां ज्ञावमाभिप्रायमुपलभ्य, अपात्राणि अपात्रभूतान् शिष्यान् अनुकम्पया निर्यूहयति अपवदति । न तेभ्यः सूत्रार्थं कथयति । श्रुताज्ञातनादिना मा विनयेयुरिति कृत्वा ।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह-

दारु धाउं वाही-वीए कंकुय लक्खणं सुविणं ।

एगंतेण अजोगे, एवमाई उ उदाहरणा ॥

एकान्तेनायोग्ये अपरिणामके च दारु धातुर्व्याधिजीजानि कां-ककुको लक्षणं स्वप्न इत्येवमादीनि उदाहरणानि दृष्टान्ताः ।

तत्र दारुदृष्टान्तमाह-

को दोमो एरंमे, ज रदुदरं न कीए तत्तो ।

को वा तिणिमे रागो, उवज्जुज्जडं जं रदुंगेसु ॥

एरण्णे एरण्डहुमे को द्वेपः ? यत्तस्मात् रथयोग्यं दारु न कि-यते ? को वा तिनिशे रागो यदुपयुज्यते स रथाद्वेपु ? ।

जं पिय दारं जोगं, जस्स उ वन्युम्म तं पि ह न सक्का ।

जोएउमणिम्मविउं, तच्छाण्डलवेहउम्मोहि ॥

यदपि वस्तुनोऽङ्गादेर्योग्यं दारु नदीपि तत्क्षणान्तरेण कुटीरं निर्माण्य योजयितुमशक्यम्, किं तु निर्माण्य, एवमिहापि योग्यो-ऽपि यावद्वर्त्तते मूर्धे न पक्वमिन्नस्तावन्न परं व्यग्रहं वाऽ-ध्यापयितुं योग्यः । तत्र तत्क्षणं प्रतीतम्, दृष्टान्ति द्विधा त्रिधा वा पाठस्य पाठनं, वेधं प्रतीतं, कुतो यो वेधे प्रोक्तं प्रवेष्टयते ।

सप्रति धनुदृष्टान्तमाह-

एमेव अथाउं उ-ज्जिक्कणं कुण्डं भाज्जं आराणं ।

न य अक्रमेण सका, धाजम्बि वि इच्छिय कां ॥
एवमेव रागद्वेषौ विना अधातु त्यक्त्वा धातूनामादान करोति ।
न च धातावप्यक्रमेणैप्सित कर्तुं शक्यम्, किन्तु क्रमेण । एव-
मिहाप्ययोग्यानपि क्रमेण ग्राह्यतो न द्वेषः ।

अधुना व्याधिदृष्टान्तमाह—

सुहसज्जो जत्तेणं, जन्नासज्जो असज्जवाही उ ।
जह रोगे पारिच्छा, सिस्ससज्जावाण वि तहेव ॥
यथा रोगे वैद्येन परीक्षा क्रियते, यथा-एष सुखसाध्यः, एष य-
त्नेन साध्यः, एष वाऽसाध्यव्याधिर्यत्नेनाप्यसाध्यः । परीक्षाप्रत-
रं च रागद्वेषौ विना तदनुकूपा प्रवृत्तिः । एव शिष्यस्वज्ञावानामपि
तथैव रागद्वेषाभावेन परीक्षा क्रियते, तदनुकूपा च प्रवृत्तिः ।

अधुना बीजदृष्टान्तमाह—

वीयमवीयं नाउं, मोचुमबीए उ करिसओ सारिं ।
ववइ विरोहणजोगो, न यावि से पक्खवाओ उ ॥
यथा कर्षको बीजमबीजं च ज्ञात्वा अबीजानि मुक्त्वा शार्दि
शाक्षिवीजानि वपति, न च तस्मिन् विरोहणयोग्ये बीजे (से)
तस्य कर्षकस्य पक्षपातो रागः । एवमत्रापि भावनीयम् ।

संप्रति काककुक्कुदृष्टान्तमाह—

को कंकडुए दोसो, जं अग्गी तं न पाययइ दित्तो ।
को वा इयरे रागो, एमेव य अत्थ जाविज्जा ॥
को द्वेषोऽनेः कांकमुके (' कोरम् ' इति ख्याते) यदग्निर्दी-
प्तोऽपि तं न पचति, को वा इतरस्मिन् रागो यत्पाचयति?, नैव
कश्चित् । एवमत्रापि भावनीयम् ।

अधुना लक्ष्णदृष्टान्तमाह—

जे उ अलक्खणजुत्ता, कुमारगा ते निसिहिउं इयरे ।
रज्जरिहे अणुमनइ, सामुदो नेय विममो उ ॥
यथा सामुद्रलक्ष्णपरिज्ञाता राज्ञो व्यपगते नस्य ये कुमार
अलक्ष्णयुक्तास्तान् निषिध्य इतरान् लक्षणोपेतान् राज्याहान-
नुमन्यते । न च स तथाऽनुमन्यमानो विममो रागद्वेषवान् ।
एवमत्रापि दृष्टव्यम् ।

स्वप्नदृष्टान्तमाह—

जे जह कहेइ सुमिणं, तस्स तह फलं कहेइ तन्नाणी ।
रत्तो वा दुडो वा, नया वि वत्तव्वयमुवेड ॥
यो यथा स्वप्न कथयति तस्य तथा तज्ज्ञानी स्वप्नफल
कथयति, न च स तथा कथयन् रक्त इति वा द्विष्ट इति वा
वक्तव्यतामुपैति । एवमत्रापि एकान्तेनायोग्या ये शिष्याः । तेषां
परिहारं रागद्वेषाभावे दृष्टान्ता अभिहिताः ।

संप्रति कालान्तरयोग्यानपरिणतान् क्रमेण परिणामयतो-

रागद्वेषाभावे दृष्टान्तमाह—

अग्गी वाल गिलाणे, सीहे रुक्खे करीलमाईया ।
अपरिणए जह एए, सप्पमिवक्खा उदाहरणा ॥
अपरिणते जातकालान्तरयोग्यै, एतानि संप्रतिपक्षाणि, पूर्व-
सयोग्यतायां पश्चाद्योग्यतायामित्यर्थः । उदाहरणानि, तद्यथा-
अग्निर्वाहो गान् । सिंहो वृकः । करीलं वशकरीलम् । आदि-
शब्दाद् वक्ष्यमाणहस्त्यादिदृष्टान्तपरिग्रहः ।

तत्र प्रथममग्निदृष्टान्तमाह—

जह अरणीनिम्मविओ, थोवो विउत्तिथणं नवा दहिउं ।

सकइ सो पज्जलिओ, सव्वस्स वि पच्चलो पच्चा ॥
यथा अरणिनिर्मापितः स्तोको वह्निर्विपुलमिन्धनं न दग्धुं श-
क्नोति, स एव पश्चात्प्रज्वलितः सर्वस्यापीन्धनजातस्य दहने
प्रत्यक्षः समर्थः ।

एवं खु थूलबुद्धी, निउणं अत्थं अपच्चलो घेत्तुं ।

सो चेव जणियबुद्धी, सव्वस्स वि पच्चलो पच्चा ॥

एवमग्निदृष्टान्तेन प्रथमतः शिष्यः स्थूलबुद्धिः सन् निपुणम-
र्थं ग्रहीतुमप्रत्यक्षः, पश्चात् स एव शास्त्रान्तरैर्जनितबुद्धिरुत्पा-
दितबुद्धिः सर्वस्यापि शास्त्रस्य ग्रहणे प्रत्यक्षो जवति ।

बालदृष्टान्तमाह—

देहे अभिवहंते, बाइस्स उ पीहगस्स अजिबुद्धी ।

अइवहुएण विणस्सइ, एमेव हु णुडियगिलाणे ॥

बालस्य देहे अजिवहमाने तदनुसारेण दातव्यस्य पीथक-
स्याहारस्यापि बुद्धिर्भवति । देहवृद्ध्यनुसारतः पीथकमपि
क्रमशो वर्द्धमानं दीयत इति ज्ञातः । यदि पुनरतिबहुं दीयते
तदा स विनश्यति । ग्लानदृष्टान्तमाह—एवमेव बालगतेन प्रकारे-
ण अधुनोत्थितेऽपि ग्लाने वक्तव्यम्, यथा-ग्लानोऽप्यधुनोत्थितः
क्रमेणाभिवर्द्धमानमाहारं गृह्णाति, एकवारमतिप्रचूतग्रहणे विना-
शप्रसङ्गात् । एवं शिष्योऽपि क्रमेण योग्यताऽनुरूपं शास्त्रमावचे,
प्रथमत एवातिनिपुणार्थशास्त्रग्रहणे बुद्धिर्जगत्प्रसक्तः ।

सिंहादिदृष्टान्तानाह—

खीरमिउपोग्गेहिं, सीहो पुडो उ खाइ अट्ठी वि ।

रुक्खो दुपत्तओ खलु, वंसकरिद्धो य नहाज्जिओ ॥

तं चेव विवहंता, हुंति अब्बेज्जा कुहाममाईहिं ।

तह कोमलानिबुद्धी, जज्जइ गहणेसु अत्थेसु ॥

सिंहः प्रथमतः खीरमृदुपुद्गलैः स्वमात्रां पोष्यते, ततः पुष्टं सन्न
अस्थीन्यपि स खादति । तथा वृको द्विपर्णो, वंशकरीलम्, एतौ
ह्यपि प्रथमतो नखच्छेद्यौ, ततः पश्चादभिवर्द्धमानौ यतस्ततः
कुठारादिभिरच्छेद्यौ भवतः । प्रथमतः कोमला बुद्धिर्भवति, ततः
सा गहने प्वर्थेषु जज्यते जङ्गमुपयाति ; क्रमेण तु शास्त्रान्तर-
दर्शनतोऽभिवर्द्धमाना कठोरात्कठोरतरोपजायते इति न क्वचिदपि
भङ्गमुपयाति ।

एतदेवोपदिशन्नाह—

निउणे निउणं अत्थं, थूलत्थं थूलबुद्धिणो कहए ।

बुद्धीविवहणकरं, होहिइ कालेण सो निउणो ।

निपुणे निपुणमर्थं कथयेत्, कथभूतमित्याह बुद्धिर्बुद्धिर्जनकम् ।
एव सति स कालेन निपुणो जवति । अन्यथा बुद्धिर्जगत्प्रस-
क्तो न स्यात् ।

साप्रतमादिशब्दसूचितान् हस्त्यादीन् दृष्टान्तानाह—

सिद्धत्थए वि गिएइइ, हत्थी थूलगहणे सुनिम्माओ ।

सरवेहपत्तच्छिज्ज—एव धमपडच्चित्तं तह धमए ॥

हस्ती स्थूलग्रहणे सुनिर्मातः सन् पश्चात्सिद्धार्थकानपि गृह्णाति
तथाहि-नवको हस्ती शिष्यमाणः प्रथमं काष्ठानि ग्राहते, तदनंतरं
कुल्लकान् पाषाणान्, ततो गोलीकाः, ततो बदराणि, तदनंतरं
सिद्धार्थकानपि, यदि पुनः प्रथमत एव सिद्धार्थकान् ग्राहते, ततो
न शक्नोति ग्रहीतुमिति । एवं स्वरवेधपत्रेद्यध्वकघटकारकप-
टकारकचित्रकारकधमकाश्च दृष्टान्ता ज्ञानीयाः । ते चैवम-प्रथमं

धानुष्कः स्थूल इव्य व्यङ्ग्य शिक्तिः, पश्चात् सचाव पटुत्वाद्-
तिसुनिपुणमतिः स्वरणाऽपि विध्यति । तथा पत्रच्छेद्यकार्यं
प्रथममकिञ्चित्करैः पत्रैः शिध्यते, ततो यदा निर्मातो भवति तदा
ईप्सितं पत्रच्छेद्य कार्यते, तथा प्लवकोऽपि प्रथम वशे लगयित्वा
प्राव्यते, ततः पश्चादप्यसन् आकाशेऽपि तानि तानि करणानि
करोति । घटकारोऽपि प्रथमतः शरावादीनि कार्यते, पश्चाच्चिकि-
तो घटानापि करोति । पटकारोऽपि प्रथमतः स्थूलानि चीत्रा-
णि शिध्यते, ततः सुशिक्षित शोभनानापि पटान् वयति । चित्र-
कारोऽपि प्रथम मूलक चित्रयितुं शिध्यते, ततः शेषानवयवा-
न्, पश्चात् सुशिक्षितः सर्व चित्रकर्म सम्यक् करोति । धमको-
ऽपि पूर्वं शृङ्गादीन् धमयते, पश्चात् शङ्खम् ।

अत्रैवोपनयमाह-

जत्थ मई ओगाहइ, जोगं जं जस्स तस्स तं कहए ।

परिणामागमसरिसं, संवेगकरं सनिव्वेयं ॥

यथैते हस्त्यादयः क्रमेण निर्माप्यन्ते, एव शिष्यस्यापि यत्र म-
तिरवगाहते, यस्य च यद्योन्य शास्त्रं तस्य तत्कथयति । कथम्
तमित्याह-परिणामागमसदृश यस्य यादृशः परिणामो यस्य च
यावानागमस्तत्सदृश यथेदृशपरिणामस्येदमेतावदागमस्य पु-
नरिदमिति । पुनः किंविशिष्ट कथयितव्यमत आह-संवेगकर-
सिद्धिर्देवलोके, सुकुलोत्पत्तिरित्यादेरभिज्ञापः संवेगः, तत्कर-
णशील संवेगकरः, तथा नरकस्तिर्यग्योनिः कुमानुपत्यमित्यादेर्वि-
रक्तता निर्वेदः, तत्करणशील निर्वेदकरम् । तदेवं योग्येऽपि
क्रमेण दाने रागद्वेषाभाव उक्तः । सप्रति शिष्येष्वप्याचार्येण परि-
णामकत्वं परीक्ष्यानुयोगः कर्त्तव्यः, शिष्यैरप्याचार्यं परीक्ष्य
तस्य सकाशे श्रोतव्यमिति ।

शिष्याचार्ययोः परस्परविधिमतिदेशत आह-

गेहत गाहगाणं, आइसूएसु विहिं समक्खाओ ।

सा चेव य होइ इयं, उज्जोगो वन्निओ नवरं ॥

गृह्णतां शिष्याणां ग्राहकस्याचार्यस्य आदिस्वप्नेषु सामायिका-
दिषु यो विधिः समाख्यातो गोणीचन्दनेत्यादिवक्त्रेण स एवेह
निरवशेषो वक्तव्यः । यस्तु-शिष्याणामनुयोगकथने उद्योग उद्य-
मो यथा-तिसुभि परिपाटीभिरथवाससज्जि-कर्त्तव्यं सः, नवरः,
सप्रपञ्चमुपवर्णितः । वृ० १ उ० ।

इदानीमनुयोगविधिरुच्यते-तत्रानुयोगो घट्यमाणशब्दार्थः, स
यदाऽर्थात्सूत्रस्याचार्यप्रस्थापनयोग्यस्य शिष्यस्यानुज्ञायते, तदा-
ऽयं विधिः, प्रशस्तेषु तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्तैषु, प्रशस्ते च जिना-
यतनादौ क्षेत्रे शुचि प्रमाण्य एका गुरुणामेका शिष्याणामिति नि-
पद्याद्वयं क्रियते, ततः प्राभातिककाले प्रवेदिते निपद्यानिपण्यस्य
गुरोश्चोत्पट्टकरजोहरणमुखयत्निकामात्रोपकरणो विनेयः पु-
रतोऽवतिष्ठते, नतो ह्यावपि गुरुशिष्यौ मुखयत्निका प्रत्युपेक्षयतः,
पुनस्तथा च समग्र शरीरं प्रत्युपेक्षयतः, ततो विनेयो गुरुणा
सह द्वादशावर्तवन्दनकृत्वा वदति-इच्छाकारेण सदिशत
स्वाध्याय प्रस्थापयामि । ततश्च ह्यावपि स्वाध्याय प्रस्थापयतः,
ततः प्रस्थापिते स्वाध्याये गुरुर्निर्णीदति । ततः शिष्यो द्वादशा-
वर्तवन्दनकृत्वा ददाति । ततो गुरुस्वाध्याय शिष्येण सहानुयोगप्र-
स्थापननिमित्तं कार्यात्सर्गं करोति, ततो गुरुर्निर्णीदति, ततः स
शिष्यो द्वादशावर्तवन्दनकेन वन्दते, ततो गुरुरक्षानजिमन्त्रो-
त्तिष्ठत्युत्थाय च निपद्यां पुरतः हत्वा वामपार्श्वीकृतशिष्यस्य-
वन्दनं करोति, ततः समाप्ते चैत्यवन्दने त्रिगुरुर्बद्धस्थितः

एव नमस्कारपूर्वं नन्दिमुच्चारयति, तदन्ते चानिधत्ते-मां
साधोरनुयोगमनुजानीत, कृमाश्रमणानां हस्तेन इव्यगुण-
पर्यायैरनुज्ञातस्ततो विनयस्थो वन्दनकेन वन्दते । उत्थित-
श्च व्रवीति-सदिशनं किं भणामि ? ततो गुरुराह-वन्दित्वा प्रवे-
दय । ततो वन्दते शिष्यः । उत्थितस्तु व्रवीति-नवकिर्ममानुयो-
गोऽनुज्ञात इच्छाम्यनुज्ञास्तिम् । ततो गुरुर्वदति-सम्यगवधा-
रय, अन्येषां च प्रवेदय, अन्येषामपि व्याख्यानं कुर्वित्यर्थः ।
ततो वन्दते अस्मै, वन्दित्वा च गुरुं प्रदक्षिणयति, प्रदक्षिणान्ते
च भवद्भिर्ममानुयोगोऽनुज्ञात इत्याद्युक्तिप्रत्युक्तीः करोति । द्विती-
यप्रदक्षिणा च तथैव, पुनस्तृतीयाऽपि तथैव, ततस्तृतीयप्रदक्षि-
णान्ते गुरुर्निर्णीदति । तत्पुरःस्थितश्च विनेयो वदति-युष्माकं
प्रवेदितं सदिशत, साधूनां प्रवेदयामीत्यादिशेषमुद्देशविधिव-
द्वकव्यम्, यावदनुयोगानुष्ठाननिमित्तं कार्यात्सर्गं करोति । त-
दन्ते च सनिपद्य शिष्यो गुरुं प्रदक्षिणयति । तदन्ते च वन्द-
न्ते, पुनः प्रदक्षिणयति, एव त्रीन् वारान्, ततो गुरोर्दक्षिणजुजा-
ऽऽसन्ने निर्णीदति । ततो गुरुरपर्यं एतानि मन्त्रपदानि गुरु-
त्रीन् वारान् शिष्यस्य कथयति, तदनन्तरं प्रवर्द्धमानाः प्रवरसु-
गन्धमिश्रास्तिस्रोऽङ्गमुष्टीस्तस्मै ददाति । ततो निपद्याया गुरु-
रुत्थाय शिष्यं तत्रैव प्रवेदय यथासन्निहितसाधुभिः सह तस्मै
वन्दनकृत्वा ददाति । ततो विनेयो निपद्यास्थित एव “नाण एव-
विह पण्यत्त” इत्यादि सूत्रमुच्चार्य यथाशक्ति व्याख्यानं क-
रोति । तदन्ते च साधुभ्यो वन्दनकृत्वा ददाति, ततः शिष्यो निप-
द्यानं उत्तिष्ठति । गुरुरेव पुनस्तत्र निर्णीदति । ततो द्वावप्यनुयो-
गविसर्गार्थं कालप्रतिक्रमणार्थं च प्रत्येकं कार्यात्सर्गं कुरुतः ।
ततः शिष्यो निरुद्धं प्रवेदयति, निरुद्धं करोतीत्यर्थः । अनु० ।

शिष्यं प्रति आचार्येण-

एवं वएसु ठवणा, समणाण वन्निओ ममासेणं ।

अणुओगणाणुन्नं, अओ परं सपवक्खामि ॥ ३१ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण व्रतेषु स्थापना श्रमणानां साधूनां वर्णिता
समासेन सङ्क्षेपेण अनुयोगगणानुज्ञां प्रागुद्दिष्टामतः परम्; कि-
मित्याह-सप्रवक्ष्यामि सूत्रानुसारतो ब्रवीमीति गार्थात् ॥३१॥

किमित्ययं प्रस्ताव इत्याह-

जम्हा वयमंपन्ना, काहोचिअगहिअमयलसुत्तत्था ।

अणुओगाणुन्नाए, जोगा जणिआ जिणिदेहिं ॥ ३२ ॥

यस्माद् व्रतसंपन्ना साधवः कालोचिनगृहीतसकलसूत्रार्था-
स्तदनुयोगवन्त इत्यर्थः । अनुयोगानुज्ञाया आचार्यस्थापना-
पाया यंतया भणिता जिनैर्देवान्य इति गार्थात् ॥३२॥

कस्मादित्याह-

इहराओ मुमावाओ, पवयणविंसा य होइ लोगम्मि ।

मिस्माण वि गुणहाणी, निन्युच्छेओ अजावेण ॥ ३३ ॥

इतरथा अनौदशानुयोगानुज्ञाया मृयावादः, गुरोस्त्वमनुजानत
प्रवचनाविंसा च नयति लोकं, तथातनप्ररूपगतं ततः जि-
प्याणामपि गुणहानि, मन्त्रावधामागतं । तयोर्दोषोऽप्यत्र नयेत्
ततः, सम्यग्ज्ञानाद्यप्रवृत्तिरिति द्वाग्यार्थात् ॥३३॥

प्यामार्थं न्वाह-

अणुओगो वक्खाण, जिणवररयणम्म नम्मऽणुजा उ ।

कायवसिमां जववा, विहिंसा सर अप्पमनेणं ॥ ३४ ॥

अनुयोगो व्याख्यानमुच्यते जिन्वयत्यनन्दगमस्य, नन्दानु-

ज्ञा पुनरियम्, यदुत कर्तव्यमिदं व्याख्यानं भवता विधिना,
न यथाकथञ्चित्, सदाऽप्रमत्तेन, सर्वत्र समवसरणादिति
गाथार्थः ॥ ३४ ॥

कालोचित्रतयभावे, वयणं निर्व्विसयमेवमेयं ति ।

दुग्गयसुअम्मि जहिमं, दिज्जइ इमाई रयणाइं ॥ ३५ ॥

कालोचिततदभावे अनुयोगाभावे, वचन निर्व्विषयमेवैतदिति ।
तदनुशासकचनदृष्टान्तमाह-दुर्गतसुते दरिद्रपुत्रे यथेदं वचनम्-
'यदुत दद्यास्त्वमेतानि रत्नानि' रत्नाभावाच्चिर्विषयं, तथेद-
मप्यनुयोगाभावादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

असत्प्रवृत्तिनिमित्तापोहायाह-

किं पि अ अहिअं पि इमं, आलं वण नो गुणेहिं गुरुआणं ।

एत्थं कुसाइतुहं, अइप्पसंगा मुसावाओ ॥ ३६ ॥

किमपि यावत्तावदधीतमित्येतदालम्बनं न तत्त्वतो भवति
गुणैर्गुरुणाम् । अत्र व्यतिकरे कुशादितुल्यमनालम्बनमित्यर्थः ।
कस्मात् ? अनिप्रसङ्गात् । स्वल्पस्य आवकादिभिरप्यधीतत्वा-
दतो मृषावादो गुरोस्तदनुज्ञानत इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अणुओगी लोगाणं, किल संसयणासओ दढं होइ ।

तं अल्लिअंति तो ते, पायं कुसलाहिगमहेओ ॥ ३७ ॥

अनुयोगी आचार्यः लोकानां किल संशयनाशको दृढमत्यर्थं
भवति । तम्, 'अल्लियति' उपयान्ति ततस्ते लोकाः प्रायः । किमर्थ-
मित्याह-कुशलाधिगमहेतो धर्मपरिज्ञानायेति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

ततः किमित्याह-

सो थोवो अ वराओ, गंभीरपयत्थजणिइमगम्मि ।

एगनेणाकुसलो, किं तेसिं कहेइ सुहुमपयं ? ॥ ३८ ॥

स स्तोको वराकश्चाल्पश्रुत इत्यर्थः । गम्भीरपदार्थमणिति-
मार्गे बन्धमोक्षतत्त्ववचनलक्षणे एकान्तेनाऽकुशलोऽनभिज्ञः ।
किं तेभ्यः कथयति लोकेभ्य तस्य सुद्धमपद बन्धादिगो-
चरमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

ततश्च-

जं किंचि भासगं तं, दइण वुहाण होइ अवण चि ।

पवयणधरो उ तम्मी, इअ पवयणखिमणा नेआ ॥ ३९ ॥

यत्किञ्चिद्भाषक तमसवद्धप्रलापिनमित्यर्थः, दइण वुधानां वि-
दुषां भवत्यवज्ञेति । कथं केत्यत्राह-प्रवचनधरोऽयमिति कृत्वा
तस्मिन् प्रवचने य एव, प्रवचनस्त्रिसना अवज्ञा ज्ञातव्या-
अहो ! असारोऽयमतश्चेदयमेतदभिज्ञः सन्नेवमाहेति गाथार्थः ।

सीसाण कुणइ कह सो, तहाविहो इंदि ! नाणमाईणं ।

अहिआहिअसंपत्तिं, संमारुच्छेअण परमं ॥ ४० ॥

शिष्याणामिति-शिष्येषु करोति । कथमसौ ? तथाविधोऽङ्ग-
सन् हृदीत्युपदर्शने, ज्ञानादीनां गुणानां ज्ञानादिगुणानामधि-
काधिकसंप्राप्तिं वृद्धिमित्यर्थः । किंभूतामित्याह-ससारोच्छे-
दिनीं संप्राप्तिं, परमां प्रधानामिति गाथार्थः ॥ ४० ॥

तथा-

अप्पत्तणओ पायं, हेआइविवेगविरट्ठिओ वा वि ।

नहु अन्नओ वि सो तं, कुणइ अ भिच्छाऽज्जिमाणाओ ॥ ४१ ॥

अल्पत्वात् तुच्छत्वात्कारणान्न प्रायो बाहुल्येन, न हि तु-
च्छोऽसती गुणसंपदमारोपयति । तथा-हेयादिविवेकविर-
हितो वाऽपि । हेयोपादेयपरिज्ञानाभावत इत्यर्थः । न ह्यन्य-

तोऽपि बहुश्रुतादसावज्ञस्तां प्राप्तिं करोति तेषु । कुत इत्याह-मि-
थ्याऽभिमानादहमप्याचार्य एव, कथं मच्छिष्या अन्यसमीपे
श्रृण्वन्तीत्येवरूपादिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

तो ते वि तहाजुआ, काळेण वि होंति नियमओ चेव ।

सीसाण वि गुणहाणी, इअ संताणेण विन्नेआ ॥ ४२ ॥

ततस्तेऽपि शिष्यास्तथाभूता मूर्खा एव कालेन बहुनाऽपि
भवन्ति नियमत एव, विशिष्टसंपर्काभावाच्छिष्याणामप्यगीता-
र्थशिष्यसत्त्वानां गुणहानिरियम्, एव सन्तानेन प्रवाहेण वि-
क्षेयेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

नाणईणमजावे, होइ विसिद्धाणऽणत्थगं सव्वं ।

सिरतुंममुंमणाइ वि, विवज्जयाओ जहऽन्नेसिं ॥ ४३ ॥

ज्ञानादीनामभावे सति भवति विशिष्टानाम् । किमित्याह अन-
र्थक सर्वं निरवशेषम् । शिरस्तुण्डमुण्डनाद्यपि, आदिशब्दा-
द्विसाऽटनादिपरिग्रहः । कथमनर्थकमित्याह-विपर्ययात्कारणा-
द् यथाऽन्येषां वराकादीनामिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

ए य समइविगप्पेणं, जहा तहा कयमिणं फलं देइ ।

अवि आगमाणुवाया, रोगतिगिच्छाविहाणं व ॥ ४४ ॥

न च स्वमतिविकल्पेनागमशून्येन यथा तथा कृतमिदं शिरस्तु-
ण्डमुण्डनादि फलं ददाति स्वर्गापवर्गलक्षणम् । अपि चागमानु-
पातादागमानुसारेण कृतं ददाति । किमिवेत्याह-रोगचिकित्सा
विधानवत्, तदेकप्रमाणत्वात् परलोकस्येति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

इय दव्वल्लिगमित्तं, पायमगीआउ जं अणत्थफलं ।

जायइ ता विन्नेओ, तित्थच्छेओ य भावेणं ॥ ४५ ॥

(इय) एवं द्रव्यलिङ्गमात्र भिदाटनादिकल प्रायोऽजीतार्थाद्
गुरो सकाशाद् यद्यस्मादनर्थफल विपाकौ जायते, तच्चस्मा-
द्विज्ञेयस्तीर्थोच्छेद एव, भावेन परमार्थेन, मोक्षलक्षणतीर्थ
फलाभावादिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

कालोचित्रसुत्तये, तम्हा सुविणिच्चियस्स अणुओगी ।

निअमाऽणुजाणिअव्वो, न सवणओ चेव जह भणिअं ॥ ४६ ॥

कालोचितसूत्रार्थे असिन्विषये तस्मात्सुविनिश्चितस्य ज्ञात-
तत्त्वस्यानुयोग उक्तलक्षणः नियमादेकान्तेनानुज्ञातव्यः, गुरुणा
न श्रवणत एव श्रवणमात्रेणैव । कथमित्याह-यतो भणित स-
मत्या सिद्धसेनाचार्येणेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

किमित्याह-

जह जह बहुस्सुओ सं-मओ अ सीसगणसंपरिवुडो अ ।

अविणिच्चिओ अ समये, तह तह सिच्छंनपडणीओ ॥ ४७ ॥

यथा यथा बहुश्रुतः श्रवणमात्रेण समतश्च तथाविधलोकस्य,
शिष्यगणसंपरिवृतश्च बहुसूदपरिवारश्च, असूदानां तथाविधप-
रिग्रहणात्, अविनिश्चितज्ञाततत्त्वश्च समये सिद्धान्ते तथा
तथाऽसौ वस्तुस्थित्या सिद्धान्तप्रत्यनीकः सिद्धान्तविनाशकः,
तद्वाघवापादनादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

एतदेव भावयति-

सव्वसूहिं पणियं, सो उत्तममइसणण गंभीरं ।

तुच्छकहणाइ हिट्ठा, सेसाण वि कुणइ मिच्छंत्त ॥ ४८ ॥

सर्वज्ञे प्रणीतसोऽविनिश्चित उत्तम प्रधानमतिशयेन गम्भीरज्ञा-
वार्थसार, तुच्छकथनयाऽपरिणतदेशनयाऽधः शृणाणामपि सिद्धा-
न्तानां करोति, तथाविधलोक प्रति सिद्धान्तमिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

तथा—

अविणिच्छिओ ण संमं, उस्सगाववायजाणओ होइ ।

अविसयपओगओ सिं, सो सपरविणासओ नियमा ॥४६॥

अविनिश्चितः समये न सम्यगुत्सर्गापवादो भवति सर्वत्रैव, ततश्चाविषयप्रयोगतोऽनयोरुत्सर्गापवादयोः, तथाविधः स्वपरविनाशको नियमात्, कूटवैद्यवदिति गाथार्थः ॥४६॥

ता तस्सेव हिअट्ठा, तस्सीसाणमणुमोअगाण च ।

तह अप्पणो अ धीरो, जोगस्सऽणुजाणई एवं ॥ ५० ॥

तत्तस्मात् तस्यैवाधिकृतानुयोगधारिण हितार्थं परदोके, तथा तच्छिष्याणां भाविनामनुमोदकानां च तथाविधाऽष्टप्राणिनां, तथाऽऽत्मनश्च हितार्थमाह्वाराधनेन धारो गुरुयोग्याय विनैयाय अनुजानाति एवं वक्ष्यमाणेन विधिनाऽनुयोगमिति गाथार्थः ॥५०॥

तिहिजोगम्मि पसत्थे, गहिण काले निवेइए चैव ।

ओसरणमह णिसिज्जा—रणं संघट्टणं चैव ॥ ५१ ॥

तिथियोगे प्रशस्ते सक्रान्तिपूर्णमादौ, गृहीते काले, विधिना निवेदिते चैव गुरोः समवसरणम् । अयं निषद्याचनमुचितभूमावपि गुरुनिषद्याकरणमित्यर्थः । संघट्टनं चैवाऽनिक्रंष इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥

ततो पवेइआए, उवविसइ गुरुओ णिअनिसिज्जाए ।

पुरओ चिट्ठइ सीसो, सम्म जहाजायउवकरणो ॥ ५२ ॥

ततस्तदनन्तरं रचकेन साधुना प्रवेदियां कथिताया सत्यामुप-विशति गुरुराचार्य एव, न शेषसाधवः । केत्याह ?—निजनिषद्याया या तदर्थमेव रचितेति । पुरतश्च शिष्यस्तिष्ठति प्रक्रान्तः, सम्यगस-भ्रान्तः, यथाजातोपकरणो रजोहरणमुखवस्त्रिकादिधरः, इति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

पेहिंति तओ पोत्तिं, तीए अ स सीसगं पुणो कायं ।

वारसवदण संदिस, सज्झायं पट्टवामो त्ति ॥ ५३ ॥

प्रत्यवेक्षते तदनन्तरं मुखवस्त्रिका द्वावपि, तथा च मुखव-स्त्रिकया स शिर पुनः कायं प्रत्यवेक्षते इति । ततः शिष्यो द्वादशावर्तवन्दनपुरस्सरमाह—सदिशत यूयं स्वाभ्यायं प्रस्था-पयामः, प्रकर्षेण वर्तयाम इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

पट्टवणाऽणुणाए, ततो दुअगा वि पट्टवेइ ति ।

ततो गुरू निसीअइ, इअरो वि णिवेअई तं ति ॥ ५४ ॥

प्रस्थापयेत्यनुज्ञाते सति गुरुणा, ततो द्वावपि गुरुशिष्यौ प्रस्था-यत इति । ततस्तदनन्तरं गुरुर्निषीदति स्वनिषद्यायाम्, इतरोऽपि शिष्यो निवेदयति त स्वाभ्यामिति गाथार्थः ॥५४॥

ततो वि दोवि विहिणा, अणुओगं पट्टविति उवउत्ता ।

वदिंत्तु तओ सीसो, अणुजाणावेइ अणुओगं ॥ ५५ ॥

ततश्च द्वावपि गुरुशिष्यौ विधिना प्रवचनोक्तानुयोगप्रस्था-पयत उपयुक्तौ सन्तौ घन्दित्वा ततस्तदनन्तरं शिष्यः । किमि-त्याह ?—अनुज्ञापयत्यनुयोगः, गुरुणेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

अभिमंतिक्कण अक्खे, वंदइ देवं तओ गुरू विहिणा ।

त्रिअ एव नमोकार, कहइ नटि च संपुण ॥ ५६ ॥

अभिमतिक्रण अक्खे, वंदइ देवं तओ गुरू विहिणा । त्रिअ एव नमोकार, कहइ नटि च संपुण । अजिमन्त्र्य स्नाचार्यमन्त्रेणाह्वानन्दनकान् घन्दते देवांश्चैत्यानि ततो गुरुर्विधिना प्रवचनोक्तेन । ततः किमित्याह—स्थित एयो-र्यस्थानेन नमस्कार पञ्चमङ्गलप्रकारंयति, त्रिं पठति नन्दी

च संपूर्णग्रन्थपद्धतिमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

इअरो वि त्रिओ संतो, मुण्णइ पोत्तीइ उअमुहकमलो ।

संविगो उवउत्तो, अक्खंतं मुद्धपरिणामो ॥ ५७ ॥

इतरोऽपि शिष्यः स्थितः सन्नुर्ध्वस्थानेन शृणोति मुखवस्त्रि-कया विधिगृहीतया स्थगितमुखकमलं सन्निवि । स एव विशेष-प्यते—संविगो मोक्षार्थो उपयुक्तः सूत्रैकाग्रतया, अनेन प्रकारेणा-त्यन्तं शुरुपरिणामं बुद्धाशय इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

तो कट्ठिक्कण नदिं, जणइ गुरू अहमिस्स साहुस्स ।

अणुओगं अणुजाणे, खमासमणाण इत्थेणं ॥ ५८ ॥

तत आहूय्य पठित्वा नन्दी भणति गुरुराचार्य—अहमस्य साधोरुपस्थितस्यानुयोगमुक्तलक्षणमनुजानामि क्रमाश्रमणानां प्राकृतक्रमोपयोग इत्यनेन, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ॥ ५८ ॥

कथमित्याह—

द्वगुणपज्जवेहिं अ, एम अणुनाउ वंदिउं सीसो ।

संदिसह किं जणामो, वदणमिह जहेव सामण ॥ ५९ ॥

द्वगुणपर्यायैर्व्याख्याद्वयैरेपोऽनुज्ञात इत्यवान्तरे वन्दित्वा शिष्यः—सदिशत यूयं किं भणामित्यादि वन्दनं जातं यथैव सा-माधिके तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

यदत्र नानात्वं तदभिधानुमाह—

नवरं सम्मं धारय, अत्रेसिं तह पवेयह भणाइ ।

इच्छामणुसट्ठीए, सीमेण कयाइ आयरिओ ॥ ६० ॥

नवरम्, अत्र सम्यग्धारय, आचारसेयनेनेत्यर्थः । अन्येन्यस्त-था प्रवेदय सम्यगेवेति ज्ञपति । कदेत्याह—इच्छाम्यनुशास्नौ शिष्येण कृतायां सत्यामाचार्य इति गाथार्थः ॥ ६० ॥

तिपयक्खणीकए तो, उवविमए गुरू कए अनुस्सगो ।

सणिसज्जे तिययक्खिण, वदण सीसस्म वावारो ॥ ६१ ॥

त्रिं प्रदक्षिणीकृते सति शिष्येण तत उपविशति गुरू, कृत्वा तरे ऽनुज्ञाकायोत्सर्गः । कृते च कायोत्सर्गे तदनु सनिषद्ये गुरो त्रिं प्रद-क्षिण वन्दनं जावसारं शिष्यस्य व्यापारोऽयमिति गाथार्थः ॥६१॥

उवविसइ गुरूमयीवे, सो साहइ तस्स तिक्खि वाराओ ।

आयारियपरंपरए—ण आगए तत्थ मतपए ॥ ६२ ॥

उपविशति गुरुसमीपे तद्विषद्यायामेव दक्षिणपार्श्वे शिष्यः स गुरू कथयति । तस्य श्रान् वरान् । किमित्याह—आचार्यपारम्प-र्येणागतानि पुस्तकादिष्वभिहितानि तत्र मन्त्रपदानि विधिना सर्वार्थसाधकानीति गाथार्थः ॥६२॥

तथा—

देइ तओ मुट्ठीओ, अक्खणं सुरभिगंधमहिआणं ।

वहुंत मो विमीसो, उवउत्तो गिएइइ विहिणा ॥ ६३ ॥

ददाति तत् श्रान् मुष्टीनाऽऽचार्योऽह्वाना चन्दनकानां सुरभि-गन्धमहितानां, वहुंमानान् प्रतिमुष्टिं सोऽपि च शिष्य उपयुक्तः सन् गृह्णाति विधिनेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

एव व्याख्याद्वयपदान् श्रान्—

उट्ठेति निमिज्जाओ, आयारिओ तन्त्र उवविसइ सीसो ।

तो वंदइ गुरू तं, माहिओ मेनेहिं माहहिं ॥ ६४ ॥

उत्तिष्ठति निरघाया स्नाचार्योऽग्रान्तरे तत्रोपविशति शिष्योऽ

न्योगी, ततो वन्दते गुरुस्त शिष्यसहितैः शेषसाधुभिः सन्नि-
हितैरिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥

जणइ अ कुरु वक्खाणं, तत्थ ठिओ चेव सो तओ कुणइ ।
एण्दाइ जहासत्ती, परिसं नाऊण वा जोगे ॥ ६५ ॥

भणति च-कुरु व्याख्यानमिति तमजिनवाचार्ये, तत्र स्थित एव
ततोऽसौ करोति तद्व्याख्यानमिति नन्द्यादि यथाशक्येति
तद्विषयमित्यर्थः । पर्वद च ज्ञात्वा योग्यमन्यदपीति गाथार्थः ।

आयरिअनिमज्जाए, उवाचिसणं वंदणं च तह गुरुणो ।
तुह्मगुणखावण्हा, न तथा छुट्ट दुविएहं पि ॥ ६६ ॥

आचार्यनिषद्यायामुपवेशनम्, अजिनवाचार्यस्य वन्दनं च तथा
गुरो, प्रथममेवाचार्यस्य तुल्यगुणस्यापनार्थं श्लोकानां, न तदा
दुष्ट द्वयोरपि शिष्याचार्ययोर्धर्मयोर्वातमेतदिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

वंदति तओ साहू, उच्छिट्टइ अ तओ पुणो णिसिज्जाओ ।
तत्थ निसीअइ अ गुरु, उववूहण पदमपन्नं उ ॥ ६७ ॥

वन्दन्ते ततः साधवः, व्याख्यानसमनन्तरमुच्छिष्टति च ततः
पुनर्निषद्याया अभिनवाचार्यः, तत्र निषद्यायां निषीदति च गुरु-
र्मौलः, उपवृद्धमन्त्रान्तरे प्रथमम् । अन्ये तु व्याख्यानादिति
गाथार्थः ॥ ६७ ॥

धम्मोऽमि तुमं णायं, जिणवयणं जेण सव्वदुक्खहरं ।

तं सम्ममियं भवया, पओजिअव्वं सयाकावं ॥ ६८ ॥

धन्योऽसि त्वं सम्यग्ज्ञातं जिनवचनं येन भवता सर्वदुःख-
हरं मोक्षहेतुस्तत्सम्यग्निदं प्रवक्तुं प्रवचननीत्या प्रयोक्तव्यं
सदा सर्वकालमनवरतमिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

इहरा उ रिणं परमं, असंमजोगे अजोगओ अवरो ।

ता तह इह जइअव्वं, जह एत्तो केवलं होइ ॥ ६९ ॥

इतरथा तु रिणं परममेतदसम्यग्योगे सुखशीलतया । असम्य-
योगश्च अयोगतोऽप्यपरः पापीयान् कष्टव्यः । तत्तथेह यतितव्यमु-
पयोगतो यथाऽत केवलं प्रवर्तते, परमज्ञानमिति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

परमो अ एस हेऊ, केवलनाणस्स अन्नपाणीणं ।

मोहावणयणओ तह, संवेगाऽसयभावेणं ॥ ७० ॥

परमश्चैव जिनवचनप्रयोगहेतुः केवलज्ञानस्य, अवन्ध्य इत्यर्थः ।
कुत इत्याह-अन्यप्राणिनां मोहापनयनान्मोहपसरणकारणात्,
तथा संवेगातिशयभावेनोन्नयोरपीति गाथार्थः ॥ ७० ॥

एवं उव्वहेत्तं, अणुभोगविसज्जणद्वमुत्सगो ।

कावस्स पडिक्कमणं पवेअणं संघविहिदाण ॥ ७१ ॥

एवमुपबृहत् तमाचार्यमनुयोगविसर्जनार्थमुत्सर्गः क्रियते ।
कावस्य प्रतिक्रमण, तदात्वे प्रवेदन, निरुद्धस्य सधविधिज्ञान
यथाशक्तिं नियोगन इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

पञ्चा य सोऽणुओगी, पवयणकज्जम्मि निच्चमुज्जुत्तो ।

जोगाणं वक्खाणं, करिज्ज सिच्छंतविहिणा उ ॥ ७२ ॥

पञ्चाश्च सोऽनुयोगी आचार्यः प्रवचनकार्यं नित्यमुद्युक्तः सन्
योगेभ्यो विनेयेभ्य व्याख्यानं कुर्याद् गुर्वदेशाज्ञासिद्धान्त-
विधिर्नैवेति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

योग्यानाह-

मज्झत्था बुद्धिजुआ, धम्मत्थी ओघओ इमो जोगा ।

तह चेव पमत्ताई, मुत्तविसेमं समासज्ज ॥ ७३ ॥

मध्यस्थाः सर्वत्रारकाद्विष्टाः, बुद्धियुक्ताः प्राज्ञाः, धर्म्मार्थिनः
परलोकभीरवः, ओघतः सामान्येनैते योग्याः सिद्धान्तभवत्स्य ।
तथैव प्रशस्तादयो योग्याः आदिशब्दात्परिणामकादिपरिग्रहः,
सूत्रविशेषमङ्गचूनादिरूपं समाश्रित्येति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

मध्यस्थादिपदानां गुणानाह-

मज्झत्थाऽऽसग्गाहं, एत्तो वि अ कत्थइ न कुव्वंति ।

मुप्पासया य पायं, होति तहाऽऽसन्नज्जवा य ॥ ७४ ॥

मध्यस्थाः प्राणिनः असद्व्याहं तत्त्वावबोधशत्रुम्, अत एव क-
चिद् वस्तुनि न कुर्वन्ति, अपि तु मार्गानुसारिमतय एव प्रवर्तन्ति,
तथा श्रुताशयाश्च मायादिदोषरहिताः प्रायो प्रवर्तन्ति मध्यस्थाः,
तथाऽऽसन्नज्जवाश्च, तेषु सफलः परिश्रमः, इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

बुद्धिजुआ गुणदोसे, मुहुमे तह वायरे य सव्वत्थ ।

संमत्तकांमिसुप्पे, तत्तट्ठिइए पवज्जंति ॥ ७५ ॥

बुद्धियुक्ताः प्राज्ञा गुणदोषान् वर्तुगतान् सूक्ष्मांस्तथा धादरांश्च
सर्वत्र विषये सम्यक्त्वकोटिबुद्धान् कषच्छेदतापबुद्धांस्तत्प-
स्थित्याऽतिगम्भीरतया प्रपद्यन्ते सात्विति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

धम्मत्थी दिट्ठत्थे, दढां व्व पंकाम्मि अपमिंवाओ ।

उत्तारिज्जति मुहं, धन्ना अन्नाणससिद्धाओ ॥ ७६ ॥

धर्म्मार्थिनः प्राणिनः दृष्टार्थे ऐहिके दृढ इव पट्टेऽप्रतिबन्धा-
त्कारणादुत्तार्यन्ते पृथक् क्रियन्ते सुखं, धन्याः पुण्यभाजः ।
कुतः ? अज्ञानसल्लिखान्मोहादिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

पत्तो अ कप्पिओ इह, सो पुण आवस्समाइसुत्तस ।

जा सूअगणं ता जं, जेणा ऽधीअं ति तस्सेव ॥ ७७ ॥

प्राप्तश्च कल्पिकोऽत्र प्रपद्यते, स पुनरावश्यकादिसुखस्यावाप्त-
सुखकृतं द्वितीयमङ्गं तावद्येनाधीतमिति पठितमित्यर्थः । त-
स्यैव तान्यस्येति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

वेअमुआइएसु अ, ससमयजावे वि भावजुत्तो जो ।

पिअधम्मऽवज्जनीरु, सो पुण परिणामगो णेओ ॥ ७८ ॥

वेदसूत्रादिषु च निशीथादिषु स्वसमयभावेऽपि स्वकायभावे-
ऽपि भावयुक्तो यः विशिष्टान्तःकरणवान् प्रियधर्मस्तीव्रचि-
रवद्यभीरुः पापभीरुः स पुनरयमेवभूतः परिणामको ज्ञेयः ; उ-
त्सर्गापवादविषयप्रतिपत्तेरिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

एतदेवाह-

सो लस्मग्गाईणं, विषयविभागं जहट्ठिअं चेव ।

परिणामेइ हियं ता, तस्स इमं होइ वक्खाणं ॥ ७९ ॥

स परिणामकः, उत्सर्गापवादयोर्विषयविभागमौचित्येन यथाऽ-
वस्थितमेव सम्यक् परिणमयत्येवमेव दितं तत्तस्मात्कारणात्-
स्येदं भवति व्याख्यानं सम्यग्गोप्रादिहेतुत्वेनेति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

अऽपरिणामगऽपरिणा-मगाण पुण चित्तकम्पदोत्तेणं ।

उदियं विषेयं दो-मुदए ओमहममाणं उ ॥ ८० ॥

अतिपरिणामकापरिणामकयोः पुनः शिष्ययोश्चित्रकर्मदोषेण
हेतुनोदितमेव चिक्रेय व्याख्यानं, दोषोदये श्रौण्यसमान विषय-
यकारति गाथार्थः ॥ ८० ॥

तेसिं तच्चिय जायइ, जओ अणत्थो तओ ण मयं ।

तेसिं चेव हियहा, करिज्ज पुज्जा तहा चाहु ॥ ८१ ॥

तयोरतिपरिणामकाऽपरिणामकयोः तत एव व्याख्यानान्नायते

यतोऽन्यो विपर्यययोगात्, ततो न तद्व्याख्यान मतिमान् गुरुस्त-
योरेयातिपरिणामकापरिणामकयोर्द्वितीयानर्थप्रतीक्षातेन कुर्यात् ।
नेति वर्तते, पूज्या पूर्वगुरव तथा चाहुतेति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

आमे घटे निहित, जहा जलं तं घमं विणासेऽ ।

इअ सिद्धतरहस्तं, अप्पाहारं विणासेऽ ॥ ८२ ॥

आमे घटे निहित सद् यथा जल त घटमाम विनाशयति, इत्येव
सिद्धान्तरहस्यमप्यल्पाहार प्राणिन विनाशयतीति गाथार्थः ॥

न परंपरया वि तओ, मिच्छाभिनिवेशजाविअमऽओ ।

अन्नेसिं पि अ जायइ. पुरिसत्थो भुद्धरूओ अ ॥ ८३ ॥

न परम्परयाऽपि ततोऽतिपरिणामकादेर्मिष्याऽभिनिवेशजावि-
तमते सकाशादन्येयामपि धोतृणा जायते पुरुषार्थः, गुरुरूपो
या, मिष्याप्ररूपणादेति गाथार्थः ॥ ८३ ॥

एतदेवाह—

अविचत्तओ वि पायं, तज्जावोऽणाइमं ति जीवाणं ।

इअ मुणिकण तपत्थ, नोगाण करिज्ज ववखाणं ॥ ८४ ॥

अविचर्तक एव अतिपरिणामादिक एव, प्रायो मिष्याऽभिनि-
वेशमाधितमने सकाशात् तस्य च भाव तज्जावो मिष्याऽभिनि-
वेशभावोऽनादिमानिति कृत्या जीवानां भावनासदकारि-
क्षेपादियमेवं मन्या तदर्थं तद्विनाशार्थं योगेभ्यो विनेयेभ्य
कृपांद् व्याख्यान विधिनेति गाथार्थः ॥ ८४ ॥

उवसंपण्णाण जहा-विहाणओ एव गुणजुआणं पि ।

मुत्तयाऽकमेणं, मुविणिच्छिअमपण्णा सम्मं ॥ ८५ ॥

उपमपण्णाना सता यथाविधानत सूत्रनीत्या, एव गुणयुक्ताना-
मपि नान्यथा तदपरिणत्यादिदोषात् । कथ कर्तव्यमित्याह-सू-
त्रार्थादिभ्रमेण यथावोध मुविनिश्चितमात्मना सम्यक्, न शुक्रप्र-
हापमायमिति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ १० य० ४ द्वा० । (अद्वाप्यनुयो-
गविधि. ' जोगविदि ' शब्दे वक्ष्यते)

(१४) अधुना प्रवृत्तिद्वार वक्तव्यम्—

प्रवृत्ति, प्रवाह, प्रवृत्तिरित्येकार्थः । प्रथममनुयोगः प्रवर्तते इति ।
सा च प्रवृत्तिर्दिधा-द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यत प्रवृत्तिमाह—
अणिउत्तो अणिउत्ता, अणिउत्तो चेव होइ उ निउत्ता ।

नीउत्तो अणिउत्ता, निउत्तो चेव उ निउत्ता ॥

निउत्तोऽणिउत्ताणं, पवचइ अहव ते वि उ निउत्तो ।

दव्वम्मि होइ गोणी, जावम्मि जिणादयो हुंति ॥

द्रव्यत प्रसवे गार्हपन्तो भवति, भावे जिनादय, तत्र गवि गो.
दोहकेन सह चत्वारो भद्रा, तद्यथा-दोहकोऽनियुक्तो गौरप्य-
नियुक्ता १। दोहकोऽनियुक्तो गौरनियुक्ता २। दोहको नियुक्तो गौर-
नियुक्ता ३। दोहको नियुक्तो गौरपि नियुक्ता ४। एवमाचार्यशिष्ये-
भ्यपि प्रवृत्तपुण्य योजनाय, तथाप्रे योक्ष्यते । तत्र तृतीये भङ्गे
नियुक्त आचार्यो वहादप्यनियुक्ताना शिष्याणामनुयोग प्रवर्त्तय-
ति । अथवा द्वितीये भङ्गे तेऽपि शिष्या नियुक्ता अनियुक्तमाचा-
र्यमनुयोग प्रवर्त्तयन्ति, एव हि तृतीये द्वितीये च भङ्गेऽनुयोगस्य
प्रवृत्तिः । प्रथमे तु सर्वथा न प्रवर्तते । चतुर्थे प्रवृत्तिर्निष्पत्तिपक्षेव ।

तत्र गोदृष्टान्तविषय प्रवृत्तपुण्य व्याख्यानयति—

अप्पएहुया य गोणी, नेव य दोष्ठा समुज्जओ दोक्कुं ।

खीरस्त कुओ पसवो, जइ वि य सा खीरदा धेणू ॥

वीए वि नत्थि खीर, थोवं च हविज्ज एव तइए वि ।

अत्थि चतुत्थे खीरं, एसुवमा आयरियसीसे ॥

गौरप्रस्तुता नैव च दोग्धा वा दोग्धु समुच्यत, ततो यद्यपि सा
क्षीरदा धेनुस्तथाऽप्यस्मिन् प्रथमभङ्गे कुतः क्षीरस्य प्रसवः?, नैव
कुतश्चित् । द्वितीयेऽपि भङ्गे दोहकोऽनियुक्तो गौरनियुक्तेत्येव रूपे ना-
स्ति क्षीरम, दोहकस्यानियुक्तत्वात्; अथवा गौ प्रस्तुतेति स्तनेषु
गलत्सु स्तोफ क्षीर भवेत् । एव तृतीयेऽपि भङ्गे दोहको नियु-
क्तो गौरनियुक्तेत्येव लक्षणे नास्ति क्षीरप्रसवः, स्तोफ वा
स्यादोहकगुणेन । चतुर्थे पुनर्भङ्गे गौरपि प्रस्तुता दोहकोऽपि
नियुक्त इत्यस्ति क्षीरप्रसवः ॥ एषा उपमा प्रवृत्तपुण्यात्मिका आ-
चार्यशिष्ययोरप्यनुयोगस्य प्रसवे वेदितव्या । तथाहि-आचा-
र्योऽप्यनियुक्त, शिष्या अपि अनियुक्ता इति प्रथमभङ्गे नास्त्य-
नुयोगस्य प्रवृत्तिः । अनियुक्त आचार्यः शिष्या नियुक्ता इति
द्वितीयेऽपि भङ्गे नानुयोगः, आचार्यस्यानियुक्तत्वात् ।

अहवा अणिउत्तमाणं, अवि किंचि उज्जोगिणो पवत्तंति ।

तइए सारिते वा, होज्ज पविच्छी गुणिते वा ॥

अथवा अनियुक्तमाचार्यमनिच्छन्तमपि उद्योगिनः शिष्याः
किञ्चिन्प्रवृत्तिपृच्छादिनिरनुयोगं कर्तुं प्रवर्तयन्ति, ततो भवति
द्वितीयेऽपि भङ्गेऽनुयोगस्य प्रवृत्तिः । तृतीये-आचार्यो नियुक्तः,
शिष्या अनियुक्ता इत्येवरूपे नास्त्यनुयोगस्य संभवः, अथवा
पुन पुन सारयत्याचार्यं, अथवा धोतुमनिच्छन्तमपि शैलस-
मान किञ्चित् धोतार पुरतो विन्यस्यमानस्य त्वनुयोग इति शु-
ण्ययनि गुणननिमित्तमनुयोग कुर्वन्ति भवेदनुयोगः ।

अत्र दृष्टान्तः कालिकाचार्यः, तमेवाह—

सागारियमप्पाहण-सुवन्नसुयसिस्सखंतलवखेण ।

कहणा सिस्सागमण, धृलीपुंजोवमाणं च ॥ १ ॥

उज्जयणीए नयरीए अज्जकादगा नाम आय-
रिया सुत्तत्थोववेया बहुपरिवारा विहरंति, तेसिं अ-
ज्जकादगाणं सीसस्स सीसो सुत्तत्थोववेओ सागरो
नाम सुवन्नज्मीए विहरइ, ताहे अज्जकादगा चिंनेति-एए
मम सीमा अणुओगं न सुणंति, तओ किमेएसिं मज्जे चि-
द्धामि, तत्थ जामि जत्थ अणुओगं पवत्तेमि, अविय एए वि
सिस्सा पच्छा लाज्जिआ सोच्चिहिति, एवं चित्तिक्खण सेज्जा-
यरमापुच्छंति-कहं अन्नतथ जामि, तओ मे सिस्सा सुणेहिं-
ति, तुमं पुण मा तेसिं कहेज्जा, जइ पुण गाढतरं निव्वंधं
करिज्जा, तो खरंटेउं साहेज्जा, जहा सुवन्नज्मीए सागराणं
सगासं गया, एव अप्पाहिता (संदिश्य) रत्तिं चेव पसुत्ताणं
गया सुवप्पभूमिं, तत्थ गंतुं खंतलवखेण पविद्धा सागराणं
गच्छं, तओ सागरायरिया खंतं चि काउं तं नाढाइआ अ-
ब्बुद्धाईणि, तओ अत्थ पोरिसं विद्धाए सागरायरिएणं भणि-
या-खता तुब्भं एय गमइ ? । आयरिया भणंति-आमं तो
खाइं सुणेहत्ति एकाहिया गव्वायंता य कहंति । इयरे वि मी-
साए पजाए संते मंभता आयरिय अपस्सता सव्वत्थ मग्गि-
ओ, सिज्जायरं पुच्छंति, न कहेइ, जणइ य तुब्भं अप्पणो
आयरिओ न कहेइ, मम कह कहेइ ? , तओ आउरीज्ज-

हिं मादनिवन्धकए कहिय-जहा-तुम्ह निव्वेएण सुवन्न-
ज्मीए सागराणां सगासं गया, एवं कहित्ता ते खरिट्टिया ।
तओ ते तह चेव उच्चलिया सुवन्नचूर्मिं गतुं, पथे लोगो
पुच्छइ एस कयरो आयरिओ जाइ । ते कहिति-अज्जकाल-
गा, तओ सुवन्नज्मीए सागराणं दोगेण कहियं-जहा
अज्जकालगा नाम आयरिया बहुस्सुया बहुपरिवारा इहा-
गंतुकामा पंथे वट्ठंते- ताहे सागरो सिस्साणं पुरओ भण-
ति-मम अज्जया इति, तेसिं सगासे पयत्थे पुच्छीहामि चि ।
अचिरेणं ते सीसा आगया, नत्थ अगिल्लेहिं पुच्छिज्जति-
किं इत्थ आयरिया आगया चिट्ठाति, नत्थि, नवरं अन्ने
खता आगया, केरिसा वट्टिए नायं एए आयरिया?, ताहे साग-
रो दज्जिओ बहुं, मए इत्थं पद्दावियं-खमासमणा य वदाविया,
ताहे अवराएहवेत्ताए मिच्छाडुकमं करेइ, आसाइय चि ।
भणियं चाणेण-केरिसं खमासमणो अहं वागरेमि? । आय-
रिया जणंति-सुंदरं, मा पुण गव्वं करिज्जासि । ताहे धूली-
पुंजदिट्ठं करेति, धूली हत्थेण धेतुं तिसहाणेषु उयारिंति,
जहा-एस धूली ठविज्जमाणी ओखिप्पमाणी ५ सव्वत्थ
परिसरइ एवं अत्थो वि तित्थगरोहिं तो गणहराणं गणह-
रेहिं तो जाव अम्हं आयरियं उवज्जायाणं परंपरण
आगयं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गड्डिया?, तो मा
गव्वं काहिसि, ताहे मिच्छाडुकमं करित्ता आढत्ता अज्ज-
कालिया सीसपसीसाणं अणुओगं कहेउं ।

सप्रत्यक्करगमनिका-सागारिका शय्यानरस्तस्य 'अप्पाहण'स-
देशकथनं, स्वयमाचार्याणां सुवर्णभूमौ श्रुतशिष्यस्यापि शिष्य-
स्य सागराभिधानस्य 'क्षतवक्त्रेण' वृक्षव्याजेन गमनं, पश्चात्
शिष्याणां सागरिकेण कथना-यथाऽऽचार्याः सुवर्णभूमौ सा-
गरस्यान्तिक गताः, ततः शिष्याणां तत्राऽऽगमनं, सागरं गर्वमु-
द्वहन्तं प्रति धूलीपुञ्जोपमानमिति ।

चतुर्थभङ्गमधिकृत्याह-

निउत्तो उज्जयकालं, भयवं कहणाइ वप्पमाणाओ ।
गोयममाई विसया. सोयव्वे हुंति उ निउत्ता ॥ १ ॥

नियुक्त उभयकालमनुयोगं करोति, नियुक्ता उभयकालं
शृण्वन्ति । अत्र कथनायां दृष्टान्तो-जगवान् घर्षमानस्वा-
मी, श्रोतव्ये सदा नियुक्ता दृष्टान्तां प्रवृत्तिं गौतमादयः ।
('वायणा' शब्दे चैतद् विस्तरतो वक्ष्यते) गत प्रवृ-
त्तिद्वारम् । वृ० १ उ० । अनु० ।

(१५) उद्यमी सूरिरुद्यमिन शिष्याः, उद्यमी सूरिरनुद्यमिन
शिष्या, अनुद्यमी सूरिरुद्यमिन शिष्या, अनुद्यमी सूरिरनुद्य-
मिनः शिष्याः, इति चतुर्भङ्गाः ।

अत्र प्रथमभङ्ग अनुयोगस्य प्रवृत्तिर्भवति, चतुर्थे तु न भव-
ति, द्वितीयतृतीययोस्तु कदाचिन्कथञ्चिद्व्यत्यपि । अनु० ।

"एत्थ पुण अहिगारो, सुयणारेण जओ सुयण तु ।

सेसाणमण्णो वि य, अणुओगपईवदिट्ठो ॥

भुतस्य ओदेशादय प्रवृत्तंति इति । उक्तं च- 'सुयणारेणस्स उदे-

सो समुद्देशो अणुष्ठा अणुभोगो पवत्तइ' तत्रादावेवोद्दिश्य
समुद्दिष्टस्य समनुज्ञातस्य च सतोऽनुयोगो भवतीति । प्रतो
निर्युक्तिकारेणाज्यघायि श्रुतज्ञाने अनुयोगेनाधिकृतमिति ।

(१६) इदानीं केनाऽनुयोगः कर्त्तव्य इति द्वारमाह-

देसकुलजाइरूवी, संहणणी धिइजुओ अणाससी ।

आविकत्थणो अमाई, धिरपरिवामी गहियवक्को ॥

जियपरिसो जियनिदो, मज्झत्थो देसकालजावन्नू ।

आसन्नद्वपज्जो, नाणाविहदेसजासन्नू ॥

पंचविहे आयारे, जुत्तो सुत्तत्थ-तज्जयविहिन्नू ।

आहरण हेउ उवयण-नयनिउणो गाहणाकुसलो ॥

ससमयपरसमयविओ गंजीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।

गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ॥

युतशब्दः प्रत्येकमाभिसंबध्यते । देशयुतः कुलयुत इत्यादि । तत्र
यो मध्यदेशे जातो यावददर्शपक्षिंशतिषु जनपदेषु न देशयुतः,
स ह्यार्यदेशजणित जानाति, ततः सुखेन तस्य समीपे शिष्या
अधीयते इति । तदुपादानम्, कुल पैतृक, तथाच लोके व्यवहारः,
इदंवाकुलजोऽयं, नाग (ज्ञात) कुलजोऽयमित्यादि । तेन युतः प्र-
तिपक्षार्थनिर्वाहको भवति । जातिर्मातृकी तथा युतो विनयादिशु
णवान् भवति । रूपयुतो लोकानां गुणविषयबहुमानभावं जायते,
" यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति " इति प्रवादात् । सहनयुतो
व्याख्यायां न भ्राम्यति । धृतियुतो नाऽतिगहनेष्वर्थेषु भ्रममुपया-
ति, अनाशसी श्रोतृभ्यो वस्त्राद्यनाकाङ्क्षी । आविकत्थनो नाति-
बहुभाषी । स्थिरोऽतिशयेन निरन्तराज्यासतः स्थैर्यमापन्नो
अनुयोगपरिपाठ्यो यस्य स स्थिरपरिपाटी, तस्य हि सूत्रमर्थो
घा न मनागपि गलति । गृहीतवाक्य उपदेयवचनं, तस्य ह्य-
ल्पमपि वचनं महार्थमिव प्रतिप्राति । जितपरिपत्तं महत्यामपि
पर्षदि न क्रोममुपयाति । जितनिद्रो रात्रौ सूत्रमर्थं वाचयन् प
रिज्ञावयन् घा न निद्रया वाच्यते । मध्यस्थः सर्वेषु शिष्येषु सम-
चित्तः । देश काल भाव च जानातीति देशकालभावज्ञः । स
हि देशं कालं भावं च लोकानां ज्ञात्वा सुखेन विहरति, शि-
ष्याणां वाऽभिप्रायान् ज्ञात्वा तान् सुखेनानुवर्त्तयति । आसन्न-
द्वन्द्वप्रतिभः परवादिना समाक्षिप्तः शीघ्रमुत्तरदायी । नाना-
विधानां देशानां जाषां जानातीति नानाविधदेशज्ञापात्रः, स
हि नानादेशीयान् शिष्यान् सुखेन शास्त्राणि प्राहयति । पञ्चवि-
ध आचारो ज्ञानाचारादिरूपस्तस्मिन् युक्तः स्वयमाचारेण स्थि-
तस्यान्यानाचारेषु प्रवर्त्तयितुमशक्यत्वात् । सूत्रार्थग्रहणेन च-
तुर्भङ्गी सूचिता । एकस्य सूत्रं नार्थः १ । द्वितीयस्यार्थो न सूत्रमर्थः
२ । तृतीयस्य सूत्रमप्यर्थोऽपि ३ । चतुर्थस्य न सूत्रं नार्थः
४ । तत्र तृतीयभङ्गग्रहणार्थं तदुभयग्रहणं सूत्रार्थं तदुभयविधीन्
जानातीति सूत्रार्थतज्जयविधिज्ञः । आहरणं दृष्टान्तः । हेतुभ-
तुर्विधो ज्ञापकादियथा-दशवैकालिकनिर्युक्तौ, यदि वा द्विविधो
हेतु-कारको ज्ञापकश्च । तत्र कारको-घटस्य कर्त्ता कुम्भकारः ।
ज्ञापको यथा-तमसि घटादीनामज्जिज्जक प्रदीपः ।
उपनय उपसहारः, नया नैगमादयः, एतेषु निपुण माहरणो-
त्पन्नयनिपुणः, स हि श्रोतारमपेक्ष्य तत्प्रतिपत्त्यनुगद्यत इ-
चित् दृष्टान्तोपन्यास कञ्चिदुपन्यासं करोति । उपसहारानु-
गतया सम्यग्गधिकृतमुपसहरति । नयनिपुणतया नयप्रत्ययना-
ज्वसरे सम्यक् प्रपञ्चं ध्विक्त्वेन नयानभिधत्तं । प्राहणादुक्तं

प्रतिपादमहाकृत्युपेतः, स्वसमय परसमयं वेत्तीति स्वसमय-
परसमयविदः; स च परेणाक्षितः सुखेन स्वपक्षं परपक्षं च
निर्वाहयति । गम्भीरोऽतुच्छस्वजावः। दीप्तिमान् परधादिनाम-
नुद्धर्षणीयः । शिवोऽकोपनः। यदि वा यत्र तत्र वा विहरन् क-
ल्याणकरः । सोमः शान्तदाष्टिः । गुणा मूलगुणा उत्तरगुणाश्च,
तेषां शतानि तैः कथितो गुणशतकथितः । युक्तः समीचीनप्रवच-
नस्य द्वादशाङ्गस्य सारमर्थं कथयितुम् ।

कस्माद् गुणशतकथित इष्यते इति चेदत आह—

गुणसुद्विग्यस्स वयणं, धयपरिसिक्तुं च पावओ भाइ ।

गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविदूणो जइ पईवो ॥

यो मूलगुणादिषु गुणेषु सुस्थितस्तस्य ध्वनं घृतपरिसिक्तपा-
वक इव ज्ञाति दीप्यते । गुणहीनस्य तु न शोभते ध्वनम्,
यथा स्नेहेन विहीनः प्रदीपः । उक्तं च—“आयारे घट्टतो, आया-
रपरवणाअसंकतो । आयारपरिमट्टो, सुद्धचरणदेसणे भइ-
ओ ॥” गतं केन चेति द्वारम् ।

(१७) अधुना कस्येति द्वारमाह—

जइ पवयणस्स सारो, अत्थो सो तेण कस्स कायव्वो ।

एवं गुणनिर्णयं, सव्वसुयस्सा उ देसस्सा ? ॥

यदि प्रवचनस्य सारोऽर्थस्तर्हि स तेनैवगुणान्वितेन कस्य क-
ल्यः ? किं सर्वश्रुतस्य, नत देशस्य श्रुतस्कन्धादेरिति ।

अत्र सुरिराह—

को कट्ठाणं नेच्छइ, सव्वस्स वि एरिसेण वत्तव्वो ।

कप्पव्ववहारेण उ, पगयं सिस्साण थिज्जत्थं ॥

को नाम जगति कल्याण नेच्छति । ततः सर्वस्यापि श्रुतस्या-
नुयोग ईदृशेन वक्तव्यः, केवलं कल्पो व्यवहारस्यापवादबहुल-
स्तेन तयोरनुयोगे विशेषत एतादृशेन प्रकृतमधिकारः, एव गुण-
शुक्तेनैव कल्पव्यवहारयोरनुयोग कर्त्तव्य इत्यर्थः । कस्मादेवमु-
च्यते ?—शिष्याणां स्थिरीकरणार्थम् ।

तदेवं स्थिरीकरणं भावयति—

एसुस्सगगठियप्पा, जयणाऽणुन्ना ता दरिसंयतो वि ।

तासु न वट्टइ नूणं, निच्छयओ ता वि अकरिज्जा ॥

यदा नाम यथोक्तगुणशतकथितः कल्पव्यवहारयोरनुयोग क-
रोति तदा शिष्या एवमेव बुध्यन्ते—एष स्वयमुत्सर्गस्थितात्मा,
अथ च कल्पे व्यवहारे च यतनया पञ्चकादिपरिहाणिरूपया
प्रतिषेधना अनुज्ञाता प्रदर्शयति । ततः प्रतिषेधनायतनया अनु-
ज्ञाता अपि प्रदर्शयन् स्वयं तासु न वर्तते, किंतु केवलमुत्सर्ग-
माचरति, तदेवं ज्ञायते नूनम्, निश्चयेनैता यतनया अनुज्ञाता अपि
प्रतिषेधना अकरणीया न समाचरितव्या ।

किञ्च—

जो उच्चमेहिं पहओ, मग्गो सो दुग्गमो न सेसाणं ।

आयरियम्मि जयंते, तदणुचरा केण सीइज्जा ? ॥

य उच्चमैर्गुणैः प्रहतः क्लृप्तो मार्गः पन्थाः स शेषाणां दुर्गमो
न भवति, किं तु सुगमः, तत्र आचार्येयतमाने यथोक्तसूत्रनीत्या
प्रयत्नवति, तदनुचरास्तदाश्रिताः शिष्याः केन हेतुना सीद्वेषु ?
नैव सीद्वेषुरिति भावः । तत एतेन कारणेन कल्पव्यवहारयो-
रनुयोगे विशेषत एतादृशेन प्रकृतम् ।

अणुश्रोगमि य पुच्छा, अंगाइ अ कप्पच्छकनिक्खेवो ।

सुयखंधे निक्खेवो, इक्के चउविहो होई ॥

अनुयोगे अङ्गादेः पृच्छा वक्तव्या, तदनन्तरं कल्पस्य षट्के निक्षे-
पः, ततः श्रुतस्कन्धे च एकैकस्मिन् निक्षेपश्चतुर्विधो प्रवर्ततेति
वक्तव्यः । एष द्वारगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरिषुः प्रथमतोऽनुयोगे अङ्गादेः पृच्छामाह—
जइ कप्पाइऽणुश्रोगो, किं सो अंगं उयाहु सुयखंधो ।

अज्जयणं उहेसो, पडिक्खत्तंगादिणो बहवो ॥

यदि कल्पादेरादिशब्दाद् व्यवहारस्य ग्रहणमनुयोगस्ततः
किं सोऽङ्गमुताहो श्रुतस्कन्धोऽध्ययनमुद्देशो वा । अमीषां चाङ्गा-
नां प्रतिपत्त्या बहवोऽङ्गावयो छेदव्याः । इयमत्र भावना—यदि
नामैतादृशेनाऽऽचार्येणानुयोगः कल्पस्य व्यवहारस्य च कर्त्त-
व्यः, स कल्पो व्यवहारो वा किमङ्गमङ्गानि, श्रुतस्कन्धः श्रुत-
स्कन्धाः, अध्ययनमध्ययनानि, उद्देश उद्देशाः ।

अत्र सुरिराह—

सुयखंधो अज्जयणा, उद्देशा चेव हुंति निक्खिप्पा ।

सेसाणं पडिसेहो, पंचएह वि अंगमाईणं ॥

श्रुतस्कन्धोऽध्ययनानि उद्देशा एते त्रयः पक्षा प्रवर्तन्ति निक्षेप्याः
स्थाप्या आदरणीया इत्यर्थः । शेषाणां पञ्चानामप्यङ्गादीनां प्र-
तिषेधः । तद्यथा—कल्पो व्यवहारो वा—नाङ्गं नाङ्गानि, श्रुतस्क-
न्धो नो श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनं नाध्ययनानि, नो उद्देश उद्देशाः ।

तम्हा उ निक्खिक्खिस्सं, कप्प व्ववहार सो सुयखंधं ।

अज्जयणं उद्देशं, निक्खिक्खिक्खं तु जं जत्थ ॥

यस्मादेव तस्मात्कल्प निक्षेप्यामि, व्यवहारं निक्षेप्यामि, स्क-
न्ध निक्षेप्यामि, अध्ययनं निक्षेप्यामि, उद्देशं निक्षेप्यामि, यच्च
यन्त्र निक्षेप्य नामादिचतुःप्रकार षट्प्रकारं च तत्र वक्ष्यामि, तत्र
कल्पस्य षड्विधो नामादिको निक्षेपः । यत उक्तं प्राग्द्वारगाथायाम्—
'कप्पच्छकनिक्खेवो' व्यवहारस्य चतुर्विधो नामादिनिक्षेपः ।

एतयोः स्वस्थानमाह—

आइह्वाणं दुएह वि, सट्ठाणं होइ नामनिप्फन्ने ।

अज्जयणस्स चउविहे, उद्देशस्सऽणुगमे भणिओ ॥

आरायोर्द्वयोः कल्पव्यवहारयोर्यथाक्रमं षट्स्य चतुष्कस्य नि-
क्षेपस्य स्थानं भवति नामनिष्पन्ने निक्षेपे, ततः स तत्र वक्तव्यः
तत्र कल्पस्य पञ्चकल्पे, व्यवहारस्य पीठिकाया अध्ययनस्य
चतुष्पकारो निक्षेप ओघनिष्पन्ने निक्षेपेऽभिधास्यते । उद्दे-
शस्य चानुगमे उपोद्घाते निर्युक्त्यनुगमे भणितः ।

सम्प्रति 'सुयखंधे निक्खेवो' इत्यादिव्याख्यानार्थमाह—

नामसुय उवणसुयं, दव्वसुयं चेव होइ जावसुयं ।

एमेव होइ खंधे, पञ्चवणा तेसिं पुव्वुत्ता ॥

श्रुतस्य चतुष्पकारो नामादिको निक्षेपः । तद्यथा—नामश्रुतं
स्थापनाश्रुतं छव्यश्रुतं भावश्रुतं च । एवमेव अनेनैव प्रकारेण,
स्कन्धेऽपि चतुष्पकारो निक्षेपः । तद्यथा—नामस्कन्धः, स्थापनास्क-
न्धः, छव्यस्कन्धः, भावस्कन्धश्च । एतेषां प्रज्ञापना पूर्वमाव-
श्यके उक्ताऽवधारणीया ॥ गतं कस्येति द्वारम् ॥ शृ० १ उ० ।

(१८) इदमेव सप्तमं द्वारं चेत्तसि निधाय सूत्ररुदाह—

नारं पंचविहं पाणत्तं । तं जहा—आजिणिवाहियनारं,
सुयनारं, ओहियणारं, मणपज्जवणारं, केवलनारं ॥

यदि नाम ज्ञानं पञ्चविधं प्रज्ञं तत किमित्याह—

तस्य चत्वारि नाण्डां ठप्पां ठविण्ज्जां णो उद्दिस्सं-
ति, णो समुद्दिस्संति, णो अणुणाविज्जंति । सुयनाणस्स
उद्देसो समुद्देसो अणुणा अणुश्रोगो य पवत्तइ ॥

(तथेत्यादि) तत्र तस्मिन् ज्ञानपञ्चके आभिनिर्वाधिकाधिमनः-
पर्यायकेयलाख्यानि चत्वारि ज्ञानानि (ठप्पा इति) स्थाप्याम्य-
सम्बन्धहार्याणि । व्यवहारनये हि यदेव लोकस्योपकारे पचंते
तदेव संन्यस्यहार्ये मन्यन्ते । लोकस्य च हेयोपादेयेष्वप्येषु निगृ-
हिप्रवृत्तिद्वारेण प्रायः भुतमेव साक्षात्पन्नोपकारि । यद्यपि के-
पलादिदृष्टमर्थं भुतमभिधरो तथापि गौणगुण्ये तानि शेषोप-
कारीणीति प्रायः । यद्युक्तन्यायेनासम्बन्धपदार्थाणि तानि ततः कि-
मित्याह-(उपणिज्जांति) ततः स्थापनीयानि पदानि तथापि चो-
पकाराभावात्तदसम्बन्धपदार्थाणां निवृत्तिरिति तदसम्बन्धपदार्था-
वसरे अधिकार इत्यर्थः । अथवा स्थप्याम्यमुत्तराणि स्वस्वरूपप्रति-
पादनेऽप्यसमर्थानि, नहि शुभ्रमन्तरेण स्वस्वरूपमपि केपलादी-
नि प्रतिपादयितुं समर्थानि । शब्दज्ञानतरमेव भुतमेवोक्तः इ-
ति स्वपरस्वरूपप्रतिपादने भुतमेव समर्थम्, स्वस्वरूपकथनं चेत्, अतः
स्थाप्यानि अमुत्तराणि यानि चाप्यारि ज्ञानानि तानीदानु-
योगादविचारप्रक्रमे । किमित्याह—अनुपयोगितात्प्राप्तपदार्था-
न्यनधिष्ठानानि; यथैव ह पुद्देशसमुद्देशानुशादयः किपन्ते तदेवाऽ
सुयोगस्तद्वाराणि चोपपन्नादानि प्रयतन्ते । यद्यनृत त्याचा—
रादिभुतज्ञानमेवेत्यत उद्देशाद्यधिपययादनुपयोगीनि शेष-
ज्ञानानि इत्यतःऽज्ञानधिष्ठानानि । अत्राह—अनुपयोगो व्याख्यातम्,
तच्च शेषज्ञानचतुष्टयस्यापि प्रयत्नत एवेति कथमनुपयो-
गितयम् ? । ननु समयचर्याभिज्ञानाच्चकमेवेदं पचः, यत-
स्तत्राऽपि तदज्ञानप्रतिपादकसु त्रसदर्थे एव व्याख्यायते, स
भुतमेवेति, भुतस्यैवानुयोगप्रवृत्तिरिति । अथवा स्थाप्यानि गुण-
नधीतत्वेनोद्देशाद्यधिपययन्तानि । एतदेव विगृह्णोति—स्थापनी-
यानीत्येकार्थी व्यापि । इदमुक्तं भवति—अनेकार्थात्प्राप्तिगम्भी-
रत्वाद् विविधमन्त्राद्यतिशयसम्पन्नत्वाच्च प्रायो गुरुपद्देशापेक्ष
भुतज्ञानम्, तच्च गुरोरन्तिके गृह्यमाणं परमकस्याणकोशत्वाद् उद्दे-
शादिविधिना गृह्यत इति । तस्योद्देशादयः प्रयतन्ते, शेषाणि तु
चत्वारि ज्ञानानि तदावरणकर्मकरोपशमार्थं स्यत एव आप-
मानानि नोद्देशादिप्रक्रममपेक्षन्ते । यतश्चेदमत आह—‘नो उद्दि-
सिज्जंतीत्यादि’ । नो उद्दिश्यन्ते नो समुद्दिश्यन्ते नो अनुज्ञाय-
न्ते । अनु० एवं भुतस्यैव उद्देशादयः प्रयत्नं ते न शेषज्ञानानाम् ।
अत्र चाऽनुपयोगेनैवाधिकारो न शेषः, अनुयोगादविचारस्यैव
ह प्रक्रान्तत्वात् । अत्र यथाऽभिहितमुपजीव्याह शिष्य —

जइ सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुणा अणुश्रोगो य
पवत्तइ, किं अंगपविट्ठस्स उद्देसो अणुणा अणुश्रोगो य प-
वत्तइ, किं अंगवाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुणा अणुश्रोगो
य पवत्तइ ? अंगपविट्ठस्स वि उद्देसो जात्र पवत्तइ, अणंगप-
विट्ठस्स वि उद्देसो जात्र पवत्तइ । इमं पुण पट्ठवणं पट्ठव अ-
णंगपविट्ठस्स अणुश्रोगो । जइ अणंगपविट्ठस्स अणुश्रोगो,
किं कालिअस्स अणुश्रोगो, उकालिअस्स अणुश्रोगो ? का-
लिअस्स वि अणुश्रोगो, उकालिअस्स वि अणुश्रोगो । इमं
पुण पट्ठवणं पट्ठव उकालिअस्स अणुश्रोगो । जइ उका-
लिअस्स अणुश्रोगो, किं आवस्सगस्स अणुश्रोगो, आव-

स्सगवित्तिरिचस्स अणुश्रोगो ? आवस्सगस्स वि अणुश्रो-
गो, आवस्सगवित्तिरिचस्स वि अणुश्रोगो ॥

(यदीत्यादि) यद्युक्तकमेव भुतज्ञानस्योद्देशः समुद्देशोऽप्यु-
पयोगश्च प्रयतन्ते तर्हि किमिवावश्यकप्रविट्ठस्य प्रयत्नते, उका-
लवाहस्येति ? । तत्राङ्गेषु प्रविट्ठमन्तर्गतमङ्गप्रविट्ठं भुतमाचारि,
तद्वाहामुत्तराण्ययनादि । अत्र गुरुमिदं ब्रवीतमाह—(अंगपविट्ठ-
स्स यीत्यादि) अपिदाहो परम्परसमुच्चयादी । अङ्गप्रविट्ठस्या-
प्युद्देशादि प्रयत्नते, तद्वाहस्यपि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापन
प्रारम्भ प्रतीत्याध्यात्मवाङ्मयस्य प्रयत्नते नेतरस्य; आवाहकस्य च
व्याख्यामये तच्च वाङ्मयमेवेति भावः । अत्राङ्गवाहस्येति सा-
मान्योक्तौ सत्यां संशयानो विनये आह—[जइ अंगवाहिरस्से-
त्यादि] यद्यङ्गवाहस्योद्देशादि, किमसौ कालिकस्य प्रयत्नते उ-
त्कालिकस्य वा ? द्विषाऽप्यङ्गवाहस्य संन्यादिनि प्राक् तत्र
दियमनिताप्रथमपरमपौरोषीकज्ञे कालेऽधीयते नाम्यत्रेति
‘कालिकमुत्तराण्ययनादि । यद्यु कालवेत्तामात्रवर्जं शेषकालानि-
यमेव पठ्यते तदुत्कालिकमात्रवर्जकवादि । अत्र गुरु प्रतिब्रवीत-
माह—(कालियस्स यीत्यादि) कालिकस्याप्यसौ प्रयत्नते, उ-
त्कालिकस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भं प्रतीत्य
उत्कालिकस्य मन्त्रायम् । आवाहकमेव तत्र व्याख्यास्यते, उ-
त्कालिकमेवेति ह्ययम् । उत्कालिकस्येति सामान्यवचने वि-
शेषाजिहासु पृच्छन्ति—[जइ उत्कालियस्सेत्यादि] यद्युत्कालिस्यो-
द्देशादिसात्त्विकमावश्यकमप्ययं प्रयत्नते, अथवाऽऽवश्यकव्यति-
रिक्तस्य ? ; त्वमयथाऽप्युत्कालिकस्य संन्यादिति । परमार्थस्तत्र
अमले. आवाहकानयसंन्ययमयव्यकरवादावश्यकं सामान्य-
कादियमव्ययनकमाप । तस्मात्तु व्यतिरिक्तं निम्नं दशवैकालि-
कादि । गुरुराह—[आवस्सगस्स यीत्यादि] द्वयोरप्येतयोः सा-
मान्येनोद्देशादिः प्रयत्नते किन्विद् प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भ
प्रतीत्यावश्यकस्यानुयोगो नेतरस्य, सकलसामाचारीभूतत्वाद्-
स्यैवेदं शेषपरिहारेण व्याख्यानादिति भावनीयम् । उद्दे-
समुद्देशानुशास्यापश्यके प्रयत्नमाना अप्यत्र नाधिष्ठानाः, अनुयो-
गावसरत्वात् । अतस्तत्परिहारेणोक्तम्—(अणुश्रोगो ति) अनु०

इमं पुण पट्ठवणं पट्ठव आवस्सगस्स अणुश्रोगो । जइ आ-
वस्सगस्स अणुश्रोगो, किं अंगं अंगां सुअखंधो सुअखंधो
अज्जयणं अज्जयणां उद्देसो उद्देसा ? आवस्सयस्स णं नो
अंगं नो अंगां नो सुअखंधो नो सुअखंधो नो अज्जयणं
नो अज्जयणां नो उद्देसो नो उद्देसा ।

इदं पुनः प्रस्थापनं प्रतीत्यावश्यकस्यानुयोग इति पुनरपि आह—
(जइ आवस्सगस्सेत्यादि) यद्यावश्यकस्य प्रस्तुतोऽनुयोगस्तर्हि,
किम् ? । नमिति वाक्यालङ्कारे, किमिति परिग्रहे, किमेकं चादशा-
ज्ञान्तगतमङ्गमिदमुत्त बहुन्यङ्गानि । अथैकं भुतस्कन्धो बहुषो
वा भुतस्कन्धाः, अध्ययनं चैकं बहुनि वाऽप्ययनानि, उद्देशको
वा एको बहुषो वा उद्देशका ? , इत्यद्यै प्रश्नाः । तत्र भुतस्कन्धोऽप्य-
यनानि चेदमिति प्रतिपत्तव्यम् । परम्ययनात्मकभुतस्कन्धरूप-
त्वादस्य । शेषास्तु यद् प्रश्नाभ्यामादेया, अनङ्गादिकपत्वात् । इत्ये-
तदेवाह—(आवस्सयस्स णमित्यादि) अत्राह—नन्वावश्यकं किम्
ङ्गमङ्गानीत्येतत् प्रश्नद्वयमत्रानवकाशमेव, नन्वाध्ययनं पवाहान-
ङ्गप्रविट्ठत्वेन निर्णीतत्वात् । तथाचाऽप्यङ्गवाहोत्कालिककमेवान-
न्तरमेवोक्तत्वादिति । अत्रोच्यते—यथायदुक्तं नन्वाध्ययनं पवे-

त्यादि । तदयुक्तम् । यतो नावश्यकन्यध्ययनं व्याख्याय तद्विदं व्याख्येयमिति नियमोऽस्ति , कदाचिदनुयोगादव्याख्यानस्यैव प्रथमं प्रवृत्तेः । अनियमज्ञापकश्चायमेव सूत्रोपन्यासः , अन्यथा ह्यज्ञावाह्यत्वेऽस्य तत्रैव निश्चिन , किमिहाज्ञानप्रविष्टचित्तासूत्रोपन्यासेनेति ? ।

अधुना तद्व्याख्यानं वक्तव्यम् । यदाह—

तस्स एं इमे चत्तारे अणुश्रोगदारा भवंति । वं जहा उवकमे ? एिकखेवे २ अणुगमे ३ एए ४ ॥ अनु० ।
इदानीं भेदद्वारं तेषामेव द्वाराणामानुपूर्वी नाम प्रमाणादिकोऽत्रैवोक्तस्वरूपो भेदो वक्तव्यः ।

(१६) तथाऽनुयोगस्य लक्षणं वाच्यम्—

यदाह—

“ सधियायपदं चेव, पयथो पयविमाहो ।
चाल्लणा य पसिक्खी य, उव्विहं विद्धि लक्खणं ” ॥
प्रश्ने कृते सति (पसिद्धिं चि) चाल्लनायां सत्यां प्रासिद्धिः समाधानम्, (विद्धिं चि) जानीहि । व्याख्येयसूत्रस्य च “अलि-
यमुग्घायजणयमित्यादि ” द्वाविंशदोपरहितत्वादिकं वक्तव्यं व-
क्तव्यम् । अनु० ।

(२०) यथोक्तगुणयुक्तस्य सूत्रस्य कोऽहं इत्यनेन सधन्वेन तदहंकारमापतितम् । तत्र सोऽहं उरिमुकादिदृष्टान्त—

स्योपनयभूतस्तत आह—

उंढियं जूमी पेढिय, पुरिसगहणं तु पढप्रओ काउं ।

एवं परिविखपम्मी, दायव्वं वा न वा पुरिसे ॥

नवे नगरे निवेद्यमाने प्रथमत उरिमकापातस्य योग्या भूमि-
स्तस्य तत्प्रदानार्थमुक्ता पात्यते, ततो जूमिशोधनं, तदनन्तर पी-
ठिका; एवमत्रापि प्रथमतः पुरुषग्रहणं कृत्वा तदनन्तरं परीक्षा
कर्त्तव्या-किमयमपरिणामकोऽतिपरिणामकः, परिणामको वेति ?
एव पुरुषे परीक्षिते दातव्यं, न वा अपरिणामके अतिपरिणाम
के वा न दातव्यम्, परिणामके दातव्यमिति गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव वियरीपुराह—

अग्निवननगरनिवेसे, समजूमिविरेयणऽक्खरविहिन्नु ।

पाडेइ उंमियाओ, जा जस्स चाणसोहणया ॥

खण्णं कुट्टणं ठवणं, पीढं पासाय रयणं सुहवासो ।

इअ संजमनगरंमिय-लिंगं मिच्छसोहणं ॥

वरि इहगठवणनिजा, पेढं पुणं होइ जाव सूर्यगढं ।

पासाय जहिं पगयं, रयणनिजा हुंति अत्थपया ॥

अग्निनवे नगरे निवेद्यमाने प्रथमतो जूमिः परीक्ष्यते, परीक्ष्य
च तस्याः समजूमिविरेचनं विधीयते । तदनन्तरमक्षरविधिज्ञो
या यस्य योग्या जूमिस्तस्य तस्याः प्रदानार्थमुपिमुक्ता अक्षरस-
हिता मुद्रिकाः पात्यति । ततः स्वस्थानस्य शोधनता-शोधनम् ।
ततः स्वस्था. २ भूमे स्नानं, तदनन्तरं मुग्घयोरिष्टकाशकलानि
प्रक्षिप्य तेषां कुट्टनं, ततस्तस्योपरि इष्टकानां स्थापनं, तदनन्तरं
यावन्तं सूत्रं तावत् पीठं, ततस्तस्य पीठकस्योपरि प्रासादकरणं,
तदनन्तरं तेषां प्रासादानां रत्नैरापूरणं, ततः सुखेन वास परि-
वसनम् । एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनय-जूमिग्रहणस्थानीयं पुरुष-
ग्रहणं, शुरु पुरुष परीक्ष्य तस्य प्रज्ञादानमित्यर्थः । ततः ‘इति’
एवमुक्तप्रकारेण नगरस्थानीये सयमे स्थाप्यते, ततः उरिमका-

स्थानीयं रजोहरणादि लिङ्गं दीयते, तदनन्तरं मिथ्यात्वस्य
ज्ञानस्य च कचवरस्थानीयस्य शोधनं, ततः शोधयित्वा मि-
थ्यात्वं समूलमुत्खन्य स्थिरीकरणनिमित्तं सम्यक्त्वमुद्घर्षैर्यच्छे-
षमवतिष्ठते मिथ्यात्वपुञ्जात्मकवत् कुट्टयित्वा भस्मच्छन्नाग्नि-
मिव कृत्वा । ततः उपरि इष्टकास्थापननिमित्तं प्रतानि दीयन्ते, ततः
आवश्यकमार्गं कृत्वा यावत् सूत्रकृतं तावत्पीठं प्रवति, ततो
यकाभ्यां प्रकृतं तौ कल्पव्यवहारौ प्रासादस्थानीयौ दीयेते, तत्रा-
र्थपदानि यानि तानि रत्ननिजानि । गतं तदहंकारम् । वृ० १ उ० ।
तथा तस्यैवानुयोगस्य परिषद् वक्तव्या । (सा च ‘सेलघणकुड-
ग’ इत्यादिदृष्टान्तैः परीक्षितव्येति ‘सीस’ शब्दे, ज्ञापिकादिका
च त्रिविधा पर्यन्तं ‘परिसां’ शब्दे वक्ष्यते)

(२१) सप्रति कयाऽधिकार इति प्रतिपादयति—

उत्तंतिआए पगयं, जइ पुण सा होज्जिमेहिं उवेवया ।

तो देंति जेहिं पगयं, तदभावे ठाणमादीणि ॥

अत्र उन्नान्तिकया पर्वदा प्रकृतमधिकारः, शेषाः पर्वद उच्छरि-
तसदृशा इति प्रकृतिताः । तत्र यदि सा उन्नान्तिका पर्वद एजि-
र्वक्ष्यमाणैर्गुणैरुपेता भवति तदा यकाभ्यामत्र प्रकृतं तवकौ
व्यवहारौ सूरयो ददति, तदभावे वक्ष्यमाणगुणाभावे स्थानादी-
नि, आदिग्रहणेन प्रकीर्णकानां परिग्रहः ।

अथ के ते गुणा इत्यत आह—

बहुस्सुए चिरपव्वइए, कप्पिए य अचंचलो ।

अवट्टिए य मेहावी, अपरिजाविओ विड ॥

पत्ते य अणुष्ठाते, भावतो परिणामगे ।

एयारिसे महाभागे, अणुश्रोगं सोउमरिहइ ॥

बहुभुतश्चिरप्रवृजितः, कल्पिकोऽचञ्चलः, अवस्थितो, मेधावी,
अपरिभावी, यश्च विद्विद्वान् प्रभूताशेषशास्त्रपरिमलितबुद्धिः,
(पत्ते य स्ति) पात्रं प्राप्तो वा तथाऽनुज्ञातः सन् भावतश्च परि-
णामकः, एतादृशो महाभागोऽनुयोगं श्रोतुमर्हति, सामर्थ्यात्
कल्पव्यवहारयोः । एष चारणायाद्वयसंक्षेपार्थः । वृ० १ उ० ।
(बहुभुतादीनां तित्तिणिकादीनां च व्याख्या स्वस्थाने
दृष्टव्या) एतत्सर्वमभिधाय ततः सूत्रार्थो वक्तव्यः ।

(२२) सोऽनुयोगश्चतुर्विधोभवति—

सुयनाणे अणुश्रोगे-एऽहियं सो चउव्विहो होइ ।

चरणकरणानुयोगे, धम्मं काले य दविष य ॥

कथम्? चरणकरणानुयोगः, चर्यत इति चरणव्रतादि, यथोक्तम्—
“ वयं समणधम्मं सज्जम, वेयावच्च च वनं गुत्तीओ । णाणादि-
तियं तवको-इनिग्गहादी चरणमेयं ” ॥१॥ क्रियत इति करणं-
पिएमविशुद्ध्यादि । उक्तं च—“पिएमविसोहो समिहं, भावणपडि-
माह इदियनिरोहो ॥ पमिहेहणगुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं
तु ” ॥ १ ॥ चरणकरणयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः । अनुरूपो
योगोऽनुयोगः—सूत्रस्यार्थेन सार्वभौमरूपः सधन्वो व्याख्यान-
मित्यर्थः । एकारान्तः शब्दः प्राकृतशैल्या प्रथमाद्वितीयान्तोऽपि
दृष्टव्यः । यथा “कयरे आगच्छइ दिक्करुवे” इत्यादि । धर्मे इति
धर्मकथानुयोगः । काले चेति कालाऽनुयोगश्च गणितानुयोग-
श्चेत्यर्थः । द्रव्यं चेति द्रव्यानुयोगश्च । तत्र कालिकश्रुतं चरणकर-
णानुयोगः, ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि धर्मकथानु-
योगः, सूर्यप्रज्ञायादिगणितानुयोगः, दृष्टिवादस्तु द्रव्यानुयोगः

इति । उक्तं च—“ कावियसुयं च इसिमा-सियाई तश्यो य सूरपञ्च-
सी । सव्वो य विट्ठिवाओ, चउत्थओ होइ अणुश्रोगो ” इति
गाथार्थः । इह चौघतोऽनुयोगो द्विधा-अपृथक्त्वानुयोगः पृथ-
क्त्वानुयोगश्च । तत्रापृथक्त्वानुयोगो यत्तैकस्मिन्नेव सूत्रे सर्वे एव
चरणादयः प्रकृत्यन्ते, अनन्तागमपर्यायत्वात्सूत्रस्य । पृथक्त्वानु-
योगश्च यत्र क्वचित् सूत्रे चरणकरणमेव, क्वचित्पुनर्धर्मकथा वे-
त्यादि । दश० १ अ० । चरणकरणानुयोगाः “ ओहेण ण णि-
ज्जुत्ति, चोच्छं चरणकरणानुओगाओ ” इति निर्युक्तिगाथाया-
श्चरणकरणस्येति वक्तव्ये शैलीं त्यक्त्वा पञ्चम्या निर्देशं कुर्वन्ना-
चार्य एतज्ज्ञापयति-सन्त्यन्येऽप्यनुयोगा इति । तदत्राह-“ चरण-
करणानुयोगाद्वद्वये नान्यानुयोगेभ्यः ” इति । तथा षष्ठी द्विविधा
दृष्टा-भेदषष्ठी, अमेदषष्ठी च । तत्र भेदषष्ठी यथा-देवदत्तस्य
गृहम् । अमेदषष्ठी यथा-तैवस्य धारा, शिवापुत्रकस्य शरीरक-
मिति । तद् यदि षष्ठ्या उपन्यासः क्रियते ततो न ज्ञायते, किं च-
रणकरणानुयोगस्य भिन्नमोघनिर्युक्तिं वद्वये, यथा-देवदत्तस्य
गृहमिति, आहोस्विदभिन्नां वद्वये, यथा तैवस्य धारेत्यस्य संमो-
हस्य निवृत्त्यर्थं पञ्चम्या उपन्यासः कृत इति । एवं व्याख्याते स-
त्यपरस्त्वाद्-अस्तीत्येकचनम्, अनुयोगा बहुवचः, तत्कथं बहु-
त्वं प्रतिपादयति ? उच्यते-अस्तीति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम् ।
अव्यय च-“ सहस्रं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु । वच-
नेषु च सर्वेषु, यत्र व्येति तदव्ययम् ” । ततो बहुत्व प्रतिपादयत्ये-
वेत्यदोषः । अथ वा-न्यवहित संबन्धोऽस्तिशब्दस्य, कथमिदम् ?
चोदकवचनम् । षष्ठी सम्बन्धे किमिति न भवति विभक्तिः ? आ-
चार्य आह-अस्ति षष्ठीविभक्तिः । पुनरप्याह-यद्यस्ति ततः प-
ञ्चमी भणिता किम् ? आचार्य आह-अन्येऽप्यनुयोगाश्चत्वारः,
अतः षष्ठी विद्यमानाऽपि नोक्तेति भावना पूर्ववत् ।

अन्येऽपि अनुयोगाः सन्तीत्युक्तम्, न च ज्ञायन्ते

क्रियन्तोऽपि इत्यत्र प्रतिपादयन्नाह—

चत्वारि उ अणुश्रोगा, चरणे धम्मगणियाणुओगे य ।

दवियऽणुओगे य तहा, जहकमं ते महद्दीया ॥ ७ ॥

चत्वार इति सख्यावचनः शब्दः, अनुकूला अनुरूपा वा योगा
अनुयोगा । तुशब्द एवकारार्थः । चत्वार एव ते । अन्ये तु तु-
शब्द विशेषणार्थं व्याख्यानयन्ति । किं विशेषयन्तीति चत्वा-
रोऽनुयोगाः, तुशब्दाद् द्वौ च, पृथक् २ जेदात् । कथं चत्वारोऽ-
नुयोगा इत्याह—(चरणे धम्मगणियाणुओगे य) चर्यत इति च-
रण, तद्विषयोऽनुयोगश्चरणानुयोगस्तस्मिन् चरणानुयोगे । अत्र
चोत्तरपदलोपादित्यमुपन्यास, अन्यथा चरणकरणानुयोग इत्येवं
वक्तव्यम् । स च एकादशाङ्गरूपः । (धम्मे ति) धारयतीति धर्मः
दुर्गतौ प्रपन्नन्तं सत्त्वमिति, तस्मिन् धर्मे, धर्मविषयो द्वितीयोऽनु-
योगो भवति । स चोत्तराध्ययनप्रकीर्णकरूपः । (गणियाणुयो-
गे य) गणयन् इति गणितम्, तस्यानुयोगो गणितानुयोगः, त-
स्मिन्, गणितानुयोगविषयस्तृतीयो भवति । स च सूर्यप्रज्ञप्त्या-
दिरूपः । चशब्दः प्रत्येकमनुयोगपदसमुच्चायकः । (दवियाणुयो-
गे य) द्रवतीति द्रव्यम्-तस्यानुयोगो द्रव्यानुयोग, सदसत्पर्या-
यालोचनारूपः, स च दृष्टिवादः । चशब्दादनार्थः सम्मत्यादिरूपश्च
तथेति क्रमप्रतिपादकः, आगमैकेन प्रकारेण यथाक्रमं यथापरि-
पाद्येति चरणकरणानुयोगाद्या महार्द्धिकाः प्रधाना इति यदुक्तं भ-
वति । एव व्याख्याते सत्याह—(चरणे धम्मगणियाणुओगे य) दवि-
यऽणुओगे य) यद्येतेषां भेदेनोपन्यासः क्रियते तत्किमर्थं च-
त्वार इत्युच्यते?, विशिष्टपदोपन्यासादेवायमर्थोऽवगम्यत इति ।

तथा चरणपदं भिन्नया विभक्त्या किमर्थमुपन्यस्तम् ? धर्मगणि-
तानुयोगौ तु एकयैव विजक्तव्या, पुनर्द्रव्यानुयोगो भिन्नया विभ-
क्त्येति, तथाऽनुयोगशब्दश्च एक एवोपन्यसनीयः, किमर्थं द्रव्या-
नुयोग इति भेदेनोपन्यस्त इति ? अत्रोच्यते-यत्तावदुक्तं चतु-
र्ग्रहणं न कर्तव्यं, विशिष्टपदोपन्यासात् । तदसत् । यतो न विशि-
ष्टपदोपन्यासे विशिष्टसङ्ख्याऽवगमो ज्ञवति, विशिष्टपदोपन्यासे-
ऽपि कुतश्चरणधर्मगणितद्रव्यपदानि सन्तीति, अन्यान्यपि स-
न्तीति सहायो मा भूत्कस्याचिदित्यतश्चतुर्ग्रहणं क्रियत इति । तथा
यद्युक्तम्-भिन्नया विजक्तव्या चरणपदं केन कारणेनोपन्यस्तं,
तत्रैतत् प्रयोजनम्, चरणकरणानुयोग एवाऽऽधिष्ठितप्रधा-
न्यस्यापनार्थं भिन्नया विजक्तव्या उपन्यास इति । तथा धर्मग-
णितानुयोगौ एकविभक्त्योपन्यस्तौ, अत्र प्रक्रमे अग्रधानावे-
तावति । तथा द्रव्यानुयोगे च भिन्नविजक्तव्योपन्यासे प्रयोजनम् ।
अयं हि एकैकानुयोगे मीलनीयः, न पुनर्लौकिकशास्त्रवृत्तिभि-
र्विचारणीय इति । तथाऽनुयोगे शब्दद्वयोपन्यासे प्रयोजनमुच्य-
ते । यत् त्रयाणां पदानामन्तेऽनुयोगपदमुपन्यस्तं तदपृथक्काऽनु-
योगप्रतिपादनार्थम् ; यच्च द्रव्यानुयोग इति तत्पृथक्त्वानुयोग-
प्रतिपादनार्थमिति । एव व्याख्याते सत्याह परः इह गाथाः, तत्र
पर्यायत इदमुक्तम्-“ यथाक्रमं ते महर्द्धिकाः ” इति । एव तर्हि चरण-
करणानुयोगस्य सङ्घुत्वं, तत्किमर्थं तस्य निर्युक्तिः क्रियते ? अपि
तु द्रव्यानुयोगस्य युज्यते कर्तुम्, सर्वेषामेव प्रधानत्वात् । एवं
चोदकेनाक्षेपे कृते सत्युच्यते—

सविसयबलवत्तं पुण, जुज्जइ तह वि य महर्द्धियं चरणं ।

चारिचरक्खणट्ठा, जेणियरे तिसि अणुश्रोगा ॥ ८ ॥

स्वस्मात्सौ विषयश्च स्वविषयः, तस्मिन् स्वविषये, बलवत्तं पुन-
र्युज्यते घटते । एतदुक्तं ज्ञवति-आत्माऽऽत्मीयविषये सर्वे एव
बलवन्तो वर्तन्ते इति । एव व्याख्याते सत्यपरस्त्वाद्-यद्येव सर्वेषा-
मेव निर्युक्तिकरणं प्राप्तम्, आत्मात्मीयविषये सर्वेषामेव बलवत्ता-
त्; तथापि चरणकरणानुयोगस्य न कर्तव्येति । एव चोदकेनाऽऽ-
शङ्किते सत्याह गुरुः—(तह वि य महर्द्धियं चरणं) तथाऽप्येव
मपि स्वविषये बलवत्त्वेऽपि सति महर्द्धिकं चरणमेव, शेषानुयो-
गानां चरणकरणानुयोगार्थमेवोपादानतः पूर्वोऽत्यन्तसंरक्षणा-
र्थं पूर्वप्रतिपत्त्यर्थं च । शेषाऽनुयोगा अन्यैववृत्तिभूताः । यथा हि
कर्पूरस्वामार्थं वृत्तिरूपादीयते, तत्र हि कर्पूरस्वाम् प्रधानं न पुन-
वृत्तिः । एवमत्रापि चारित्ररक्षणार्थं शेषाऽनुयोगानामुपन्यासः ।
तथा चाह—[चारिचरक्खणट्ठा जेणियरे तिसि अणुश्रोगा]
चरित्रमेव चारित्र, तस्य रक्षण, तदर्थं चारित्ररक्षणार्थं, येन
कारणेन इतर इति धर्मानुयोगादयस्त्रयोऽनुयोगा इति ॥
एव व्याख्याते सत्याह-कथं चारित्ररक्षणमिति चेत् तदाह—

चरणपमिवत्तिहेऊ, धम्मकहा कालदिकलमार्इया ।

दविण दंसणमुच्छी, दंसणमुच्छी अ चरणं तु ॥ ९ ॥

चर्यते इति चरणं व्रतादि, तस्य प्रतिपत्तिः चरणप्रतिपत्तिः ।
चरणप्रतिपत्तिः हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः । किं तदा
ह-धम्मकथा, दुर्गतौ प्रपन्नं सर्वसंघातं धारयतीति धर्मः, त-
स्य कथा कथनं, कथाचरणप्रतिपत्तिहेतुः धर्मकथा । तथाहि-
आक्षेपपथादिधर्मकथाऽऽदिताः सन्तो भव्यप्राणिनश्चारित्रानु-
वन्ति (काक्षे दिक्खमादी यं) कलनं कालं, कलासमूहो वा
कालः, तस्मिन् काक्षे, दीक्षादयः दीक्षा दीक्षा प्रव्रज्याप्रदानम्, आ-
दिशब्दादुपस्थानादिपरिग्रहः । तथा च शोभनतथियनकप्रसूत-

योगादौ प्रव्रज्याप्रदानं कर्तव्यम् । अतः कालानुयोगोऽप्यस्यैव परिकरभूत इति (दविय चि) छव्ये द्रव्यानुयोगे किं भवतीत्यत आह—(दसणसुचि चि) दर्शनं सम्यग्दर्शनमभिधीयते, तस्य शुक्तिर्निर्मलता दर्शनशुद्धिः । एतदुक्तं प्रवृत्ति-द्रव्यानुयोगे सति दर्शनशुक्तिर्भवति, युक्तिर्भिर्यथावस्थितार्थपरिच्छेदात् । तदत्र चरणमपि युक्त्यनुगममेव प्रदीतव्यं न पुनरागमादेव केवलादित्याह-दर्शनशुद्धैव । किं तदाह ?-दर्शनशुद्धस्य-दर्शनं शुक्तं यस्याऽसौ दर्शनशुद्धस्तस्य, चरणं चारित्रं भवतीत्यर्थः । तु-शब्दो विशेषणे । चारित्रशुद्धस्य दर्शनमिति । अथवा-प्रकारान्तरेण चरणकरणानुयोगस्यैव प्राधान्यं प्रतिपद्यते । आदिसूतस्याऽपीति ।

तस्य दृष्टान्तबलेनाचलं भवति नान्यथेत्यतो दृष्टान्तद्वारेणाह-

जह रन्नो विसपसुं, वरकणगरययलोहे य ।

चत्तारि आगरा खलु, चणह पुत्ताण ते दिन्ना ॥ १० ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासे, राज्ञो विषयेषु जनपदेषु (वरश्चि) व-आकरो प्रवृत्ति, वज्राणि रत्नानि तेषामाकरः सन्निर्वज्राकरः । 'चि-तालोहागरिप' इत्यतः सिंहावलोकितन्यायेनाऽऽकरग्रहणं संबध्यते । एतेन कारणेन 'होह इति' स्याद् भवति क्रिया सर्वत्र मीलनीयेति । कनकं सुवर्णं तस्याऽऽकरो भवति तथा द्वितीयः । रजतं रूप्यं तद्विषयश्च तृतीय आकरो भवति । चशब्दः समुच्चयः । अनेकभेदभिन्नरूपानाकरान् समुच्चिनोति (लोहे य चि) लोहम्-अयं, तस्मिन् लोहे, लोहविषयश्चतुर्थ आकरो प्रवृत्ति । चशब्दो मृदुकविनमयलोहसमुच्चायकः 'चत्तारि' इति सख्या । आक्रियन्ते एतेष्वित्याकरा, तथा च मर्यादया अभिविधिना वा क्रियन्ते वज्रादीनि येष्विति । खलुशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि ?-सविषयाः सहस्रादयश्चात पुत्रेभ्यो दत्तश्चतुर्णां पुत्राणां सुहानां त इत्याकराः, दत्ता विनका इत्यर्थः ॥ १० ॥

अधुना प्रधानोत्तरकालं यत्तेषां तदुच्यते—

चिंता लोहागरिप, पमिसेहं कुणइ सो उ लोहस्स ।

वरदादीहिं य गहणं, करेति लोहस्स ने इतरे ॥ ११ ॥

लोहाऽऽकरोऽस्यास्तीति लोहाकरिकः तस्मिन् लोहाकरिके चिन्ता भवति—'राज्ञा परिभूतोऽहं येन ममाप्रधान आकरो दत्तः । एवं चिन्तायां सत्यां सुबुद्ध्याभिधानेन मन्त्रिणाऽभिहितः-देव ! मा चिन्तां कुरु, भवदीय एव प्रधान आकरो न शेषा आकरा इति । कुत एतद्वचसीयते ? यदि प्रवत्सवन्धिर्लोहाकरो न प्रवृत्ति तदानीं शेषाकराप्रवृत्तिः-लोहोपकरणाभावात् प्रवृत्तिरिति । ततो निर्वाह भवान् कारयतु कतिचिद्दिनानि, यावदुपपन्नं प्रतिपद्यते तेषूपकरणजातं, पुनः सुमहार्घमपि ते लोहं प्रदीप्यन्ते इत्यत आह—[पमिसेहमित्यादि] प्रतिषेधोदाहरणात् प्रतिषेधं करो-न्यसौ, लोहं प्रतीतमेव, तस्य लोहस्य । तुशब्दो विशेषणेन केवलमनिर्वाहं करोति, अपूर्वोत्पादानिरोधं च । ततश्चैवकृते शेषाकरेषूपस्करः कृत्यं प्रतिपन्नः, ततस्तेऽवज्ञादिभिः ग्रहणं कुर्वन्ति । कस्येत्यत आह-लोहस्य । के कुर्वन्ति ? । इतरे वज्रा-करिकादयश्चशब्दात् केवलं वज्रादिभिर्हस्त्यादिभिश्च । अत्र कथानकं स्पष्टत्वात् सिद्धितम् । अयं दृष्टान्तः । सांप्रत दार्ष्टान्तिक-योजना क्रियते-यथाऽसौ लोहाकर आधारात् शेषाकराणाम्, तत्प्रवृत्तौ शेषाणामपि प्रवृत्ते । एवमन्यत्रापि, चरणकरणानु-योगे सति शेषानुयोगसद्भावः । तथाहि-चरणव्यवस्थितः शेषानुयोगग्रहणे समर्थो भवति, नान्यथेत्यस्यार्थस्य प्रतिपाद-

नार्थं गायामाह-

एवं चरणमि त्तिओ, करेइ गहणं विहिय इयरेसिं ।

एएण कारणेणं, चरणानुओगो महद्दीओ ॥ १२ ॥

एवमित्युपनयग्रन्थः (चरणमिति) चर्यत इति चरणं, तस्मिन् व्यवस्थितं करोति विधिना ग्रहणमितिरेषामिति द्रव्यानुयो-गादीनां, तदनेन कारणेन भवति चरणं महत्किंम, तुशब्दादन्ये-षां च गुणानां समर्थो भवतीति । ओ० । दश० ।

(२३) कियन्तं कात्र यावत्पुनरिदमपृथक्त्वमासीत्, कुतो वा पुरुषविशेषादारज्यं पृथक्त्वमनूदित्याह-

जावंति अज्जवइरा, अपुहत्तं कालियाणुओगस्स ।

तेणारेण पुहत्तं, कालियमुयदिद्विवाए य ॥ २७७ ॥

यावदार्यवैरा गुरुवो महामतयस्तावत्कादिकभुतानुयोगस्यापृ-थक्त्वमासीत्, तदा व्याख्यातृणां श्रोतृणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात् । कादिकग्रहणं च प्राधान्यस्थापनार्थम्, अन्यथेत्कादिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्रं चत्वारोऽपि अनुयोगास्तदानीमासन्न वेति तदाऽऽरत-स्त्वार्यरक्तितेज्यः समारज्यं कालिकश्चेत् दृष्टिवादे वाऽनुयोगानां पृथक्त्वमनूदिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २७७ ॥

भाष्यम्—

अपुहत्तमासि वइरा, जावंति पुहत्तमारओऽजिहिण ।

के ते आसि कया वा, पसंगओ तेसिमुप्पत्ती ॥ २७८ ॥

आर्यवैराद्यावदपृथक्त्वमासीत्, तदाऽऽरतस्तु पृथक्त्वमुक्तम् । एतस्मिन्नाभिहिते क एते आर्यवैराः कदा च ते आसन्निति विनेयपृच्छायां प्रसङ्गं आर्यवैराणामुत्पत्तिरुच्यते । इति गाथा-र्थः ॥ २७८ ॥ (एतच्चरितं तु ' अज्जवइरा ' शब्देऽत्रैव भागे ३१६ पृष्ठे दृश्यम्)

सविशेषमाह-

अपुहत्ते अणुओगो, चत्तारि डुवार जासई एगो ।

पुहत्तऽणुओगकरणे, ते य तओ वावि वोच्चिन्ना ॥ २७९ ॥

आर्यवैराद्यावदपृथक्त्वे सति सूत्रव्याख्यारूप एकोऽप्यनुयोगः क्रियमाणः प्रतिसूत्रं चत्वारि द्वाराणि प्राप्ते, चरणकरणादींश्च-तुरोऽप्यर्थान् प्रतिपादयतीत्यर्थः । पृथक्त्वानुयोगकरणे तु ते चरणकरणादयोऽर्था ततोऽपि पृथक्त्वानुयोगकरणदेव, व्यव-च्छिन्ना, तत्प्रवृत्त्येक एव चरणकरणादीनामन्यतरोऽर्थः । प्रतिसूत्रं व्याख्यायते, न तु चत्वारोऽपीत्यर्थः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २७९ ॥

अथ यैरनुयोगाः पार्थक्येन व्यवस्थापितास्तेषामार्यरक्तितसूरी-णामुत्पत्तिमभिधित्सुर्माप्यकारः सम्बन्धगाथामाह-

किं वइरेहिं पुहत्तं, कयमह तदन्तरेहिं जणियमि ।

तदन्तरेहिं तदजिहि-यगहियसुत्तत्थसारोहिं ॥ २८० ॥

विनेयः पृच्छति-नन्वर्थवैराद्यावदपृथक्त्वमित्युक्तं ततः किमर्थ-वैरेव कृतं तव, किं वा तदनन्तरैरार्यरक्तितसूरिभिरित्येवमुच्य-थाऽपि यावच्छब्दार्थोपपत्तेः । इति शिष्येण भणिते गुरुराह-तदन-न्तरैरार्यरक्तितसूरिभिरनुयोगानां पृथक्त्वमकारि । कथञ्चतैस्तैः ? आर्यवैरेणाऽजिहितं प्रतिपादितो गृहीतः स्वार्थसारो यैस्ते त-था, तैरार्यवैरसमीपेऽधीतसूत्रोभयैरित्यर्थः । इति गाथाार्थः ॥ २८० ॥

पुनरपि कथञ्चतैः किनामैकश्च तैरित्याह-

देविद्वंद्विपहिं, महाणुभावेहिं रक्खियजोहिं ।

जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥ २८१ ॥

देवेन्द्रवन्दितैर्महानुभावैरार्यरक्षितैः दुर्बलिकपुष्पमित्रं प्राङ्म-
प्यतिगुणितयाऽनुयोगस्य विस्मृतसूत्रार्थमवलोक्य वर्तमानका-
लवृत्तकण युग चाऽऽसाद्य प्रवचनादितायानुयोगो विभक्तः-पृथक् २
व्यवस्थापितः । ततश्चतुर्धाकृतश्चतुर्थकादिकमुतादिज्ञानेषु नियु-
क्तम् । इति निर्युक्तिगार्थः ॥ ३८१ ॥

“माया य रुहसोमा ” इत्यादि पूर्वे सूत्रावश्यकटीकास्थवेखादा-
र्यरक्षितकथानकमवसेयमिति । (एतच्च ‘ अञ्जरविस्त्रय ’ शब्दे-
ऽत्रैव ज्ञागे २१२ पृष्ठे विन्यस्तं द्रष्टव्यम्)

भाष्यकारोऽपि “देविद्वद्विहमित्यादि” गाथाभाषार्थमाह-
नाऊण रक्खियज्जो, मइमेहाधारणासममं पि ।

किञ्चेषेण धरेमाणं, सुयस्यं पूसमित्तं पि ॥

अइसयकयज्वओगो, मइमेहाधारणाइपरिहीणो ।

नाऊण-मेसपुरिसे, खेत्तंकाळाणुरुवं च ॥

साण्णगहोऽणुओगे, वीसुं कासी य सुयविभागेण ।

सुहगहणाइनिमित्तं, नए वि सुनिगूहिय विजागो ॥

स देवेन्द्रवन्दितः श्रीमानार्यरक्षितसूरिर्निजशिष्य दुर्बलिका-
पुष्पमित्रमपि कृच्छ्रेण श्रुतार्णव धारयन्तं ज्ञात्वा विनियवर्गे सा-
नुग्रहो वक्ष्यमाणकादिकादिश्रुतविभागेन विष्वक् पृथक् चरण-
करणाद्यनुयोगानकार्षादिति सम्बन्धः । कथंभूतं दुर्बलिकापु-
ष्पमित्रम् ? मतिमेधाधारणासमग्रमपि । तत्र ‘मनु बोधने’मनन म-
तिरेव, बोधशक्ति मेधा, धारणा अवधारणाशक्ति, ताभिः समग्रं
युक्तमपि, तथा प्रतिशयज्ञानकृतोपयोगतया एष्यान् भविष्यतः पु-
रुषांश्च ज्ञात्वा, कथंभूतान् ? मतिमेधाधारणादिपरिहीणान्, तथा
केचनकावानुरूपं च ज्ञात्वा, न केवलमनुयोगान् पृथगकार्यात्, तथा
नयांश्च नैगमादीन्, अकार्षादिति वर्तते । कथंभूतान् ? सुष्ठुति-
शयेन निगूहितो व्याख्यानिरोधेन वञ्चीकृतो विभागो व्यक्ततापा-
दानरूपो येषां ते निगूहितविभागास्तांस्तथाज्ञातान् । किमर्थम् ?
सुखग्रहणादिनिमित्तम् । आदिशब्दाच्चारणादिपरिग्रहः । वि-
शे० । (चरणकरणाद्यनुयोगमेवेनानुयोगाद्यनुविध्यमार्त्यरक्षित-
सूरिभिः कृतमिति ‘ अञ्जरविस्त्रय ’ शब्देऽत्रैव ज्ञागे २१४
पृष्ठे दर्शितम्, इहापि उपयुक्तो ज्ञागो दर्शितः) अनुरूपो-
ऽनुकृत्यो वा योगोऽनुयोगः । सूत्रस्य स्वेनाभिधेयेन सा-
हचर्यमनुपस्यन्धे तद्वेषे दृष्टिवादान्तर्गतेऽधिकारे, स० । स्था० ।

स च द्विधा-

मे किं तं अणुओगे ? । अणुओगे दुविहे पणत्ते ।

तं जहा-मृदपढमाणुओगे, गंमियाणुओगे य ॥

स च द्विधा-मृदप्रथमानुयोग, गणिकानुयोगश्च । इह मृद धर्मप्र-
णयनात्तीर्थकरास्तेषां प्रथमं सम्यक्त्वावाप्तिवृत्तपूर्वजवादिगो-
चरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः । इदवाकादीनां पूर्वोपरपरिच्छि-
न्ना मध्यमागो गरिमका, गरिमकेव गरिमका, एकाधाधिकारा अ-
न्यिपकृतिरित्यर्थः । तस्यानुयोगो गरिमकानुयोगः । न० । स०
(प्रथमानुयोगगणिकानुयोगयोर्व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)
अणुश्रोगग्र-अनुयोगगत-पु० । अनुयोगः प्रथमानुयोग-ती-
र्थकगदिपूर्वजवादिन्याख्यानग्रन्थ, गणिकानुयोगश्च भरनन-
रपतिवशजानाना निर्वाणमनानुत्तरविमानगमनवक्तव्यताव्या-
ख्यानग्रन्थ इति द्विरूपेऽनुयोगे गतोऽनुयोगगतः । दृष्टिवादांशमे-
दे दृष्टिवादान्तर्गतेऽधिकारे, अथयवे समुदायोपचाराद् दृष्टि-
वादे च । स्था० १० उ० ।

अणुश्रोगगणानुष्ठा-अनुयोगगणानुष्ठा-सी० । अनुयोगोऽर्थ-
व्याख्यानस्य, गणो गच्छः, तयोरनुष्ठाऽनुमतिः । ध० ३ अधि० । अ-
नुयोगगणयोः प्रवचनोक्तेन विधिना स्वतन्त्रानुष्ठाने, प० व० १ द्वा० ।
अणुश्रोगतत्तिष्ठ-अनुयोगतृप्त-त्रि० । अनुयोगग्रहणैकानिष्ठे,
वृ० १ उ० ।

अणुश्रोगग्र-अनुयोगार्थ-पु० । व्याख्याननूतेऽर्थे, आचा० १
श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुश्रोगदायय-अनुयोगदायक-पु० सी० । सुधर्मस्वामि-
प्रभृतावनुयोगदायिनि, “ वदितुं स्वस्वसिद्धे, त्रिष्वेव अणुश्रो-
गदायय सव्वे । आचारस्स जगवओ, निज्जुत्तिं किंत्तरसामि”
॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुश्रोगदार-अनुयोगदार-न० । व० व० । अभ्ययनार्थकयन-
विधिरनुयोगः । द्वाराणीव द्वाराणि, महापुरस्थेव सामायिकस्या-
ऽनुयोगार्थं व्याख्यानार्थं द्वाराण्यनुयोगद्वाराणि । उपक्रमार्थेषु
व्याख्यानप्रकारेषु, अत्र नगरदृष्टान्तं वर्णयन्त्याचार्याः । अनु० ।
उत्त० । यथा हि अकृतद्वारं नगरं नगरमेव न भवति; कृतैकद्वार-
मपि हस्त्यश्वरथजनसकुलत्वाद् दुःस्वसंचार कार्यातिपत्तये च
जायते; कृतचतुर्भूलप्रतोलीद्वारं तु सप्रतिद्वारं सुखनिर्गमप्रवेशं
कार्यनितिपत्तये च । सामायिकपुरमप्यर्थाधिगमोपायद्वारशून्य-
मशक्याधिगम भवति; कृतैकानुयोगद्वारमपि कृच्छ्रेण द्वाध्य-
सा च कालेनाधिगम्यते; विहितसप्रमेदोपक्रमादिद्वारचतुष्टयं
सुखाधिगममलपीयसा च कालेनाधिगम्यते, ततः फलवान-
नुयोगद्वारोपन्यासः । उक्तं च-

“अणुश्रोगद्वाराह, महापुरस्सेव तस्स चत्तारि ।
अणुश्रोगो चि तदर्थे, दाराह तस्स उ मुहाह ॥
अकयदारमनगर, कयेगदारं पि दुक्खसंचार ।
चउमूलदार पुण, सण्णद्विदारं मुहाहिगमं ॥
सामाज्यपुरमेवं, अकयदारं तहेगदार वा ॥
दुरहिगमं चउदारं, सण्णद्विदारं मुहाहिगमं” ॥
आ० म० प्र० । विशेष० । स्था० । आचा० ।

(चत्वारि अनुयोगद्वाराणि ‘अणुश्रोग’ शब्दे
३५५ पृष्ठेऽनुपदमेवोक्तानि)

नन्वादौ उपक्रमः, तदनन्तरं निक्षेपः, तदनन्तरं चानुगमः,
ततोऽप्यनन्तरं नय इत्यमीषामनुयोगद्वाराणामित्यक्रमोपन्यासे
किं प्रयोजनमित्याशङ्क्य ‘क्रमप्यप्रोभणाह च वच्चा’ इत्यष्टम
क्रमप्रयोजनद्वारमभिधित्सुराह-

दारक्रमेऽयमेव उ, निक्खिप्पइ जेण नामपीवत्थं ।

अणुगम्मइ नाणत्थं, नाणुगमो नयमयविहणो ॥

संबंधोवक्रमओ, समीवमाणीय नत्थनिकखेवं ।

सत्थं तओऽणुगम्मइ, नएहि नाणाविहाणोहि ॥

एषामनुयोगद्वाराणामयमेवोपन्यासक्रमः, येन नासमीपस्थ-
मनुपक्रान्तं निक्षिप्यते, न च नामादिनिरनिक्रिसमर्थतोऽनुगम्यते,
नापि नयमनविकलोऽनुगमनियतश्च सबन्धरूप उपक्रमः सब-
न्धोपक्रमस्तेन सबन्धकर्त्रोपक्रमेण समीपमानीय न्यासयोग्य
विधाय न्यस्तनिक्षेप विहितनामस्थापनादिनिक्षेप सच्छास्त्र
ततोऽर्थतोऽनुगम्यते व्याख्यायते नानाविधानिर्नानाभेदेनैवेष्ट-
स्मादयमेवानुयोगद्वारक्रम इति क्रमप्रयोजनद्वार समाप्तिमिति ।
ओ० । न० । वृ० । नि० श्रु० । व्य० । आ० म० द्वि० । स्था०

अणुओगदार

कर्म० । सत्पदप्ररूपणतादिषु, विशेष० । ' सतपथपरूवणया दव्वपमाण च ' इत्याद्यनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोग-
द्वारमुच्यते । कर्म० १ कर्म० । तत्स्वरूपप्रतिपादकाध्ययनवि-
शेषोऽभेदोपचारादनुयोगद्वाराणीत्युच्यते । पा० । उत्कालिक-
श्रुतविशेषे, न० ।

अस्यादावेतटीकाकृत—

“ सम्यक्सुरेन्द्रकृतसस्तुतिपादपत्र—

मुहामकामकरिराजकठोरसिंहम् ।

सद्धर्मदेशकवर वरद नतोऽस्मि,

वीर विद्वत्तरबोधनिधि सुधीरम् ॥ १ ॥

अनुयोगभृतां पादान्, वन्दे श्रीगौतमादिसूरीणाम् ।

निष्कारणबन्धूनां, विशेषतो धर्मदानूणाम् ॥ २ ॥

यस्याः प्रसादमतुल, सप्राप्य भवन्ति भव्यजननिबहाः ।

अनुयोगवेदिनस्तां, प्रयतः श्रुतदेवतां वन्दे ॥ ३ ॥ ”

इहातिगम्भीरमहानीरधिमध्यनिपतितानर्घ्यरत्नमिधातिदु-
र्लभं प्राप्य मानुष जन्म ततोऽपि लब्ध्वा त्रिभुवनैकहितश्री-
मज्जिनप्रणीतबोधिलाभ समासाद्य विरत्यनुगुणपरिणाम प्र-
तिपद्य चरणधर्ममधीत्य विधिवत् सूत्र समधिगम्य तत्पर-
मार्थं विज्ञाय स्वपरसमयरहस्य तथाविधकर्मल्योपशमस-
भाविनीं चावाप्य विशदप्रज्ञां जिनवचनानुयोगकरणे यतित-
व्यम्, तस्यैव सकलमनोऽभिलषितार्थसार्थससाधकत्वेन य-
थोक्तसमप्रसामग्रीफलत्वात् । स चाऽनुयोगो यद्यप्यनेकग्रन्थ-
विषयः सम्भवति, तथाऽपि प्रतिशास्त्र प्रत्यध्ययन प्रत्युद्देशक
प्रतिवाक्य प्रतिपद चोपकारित्वात्प्रथममनुयोगद्वाराणामसौ
विधेयः । जिनवचने ह्याचारादिश्रुत प्रायः सर्वमप्युपक्रमनिज्ञे-
पानुगमनयद्वारैर्विचार्यते । प्रस्तुतशास्त्रे च तान्येवोपक्रमादि-
द्वाराण्यभिधास्यन्ते, अतोऽस्यानुयोगकरणे वस्तुतो जिनव-
चनस्य सर्वस्याप्यसौ कृतो भवतीत्यतिशयोपकारित्वात्प्रकृ-
तशास्त्रस्यैव प्रथममनुयोगो विधेयः । स च यद्यपि चूर्णिटी-
काद्वारेण वृद्धैरपि विहितस्तथापि तद्वचसामतिगम्भीरत्वेन
'दुरधिगमत्वाद्' मन्दमतिनाऽपि मयाऽसाधारणश्रुतभक्तिज-
नितौत्सुक्यभावतोऽविचारितस्वशक्तित्वादल्पधियामनुग्रहार्थ-
त्वाच्च कर्तुमारभ्यते । अनु० ।

“ सोलससयाणि चतुर-सराणि ह्येति च इममिगाहाणं ।

दुसहस्समणुचुमड-दविस्सपमाणमो भणिमो ॥ १ ॥

णगरमहादाराह, चउवक्कमाणुओगवरदारा ।

अक्खराव्वेमत्ता, विहिआ पुक्खक्खयछाप ॥ २ ॥

गाहा १६०४, अनुष्टुप्बन्दसा ग्रन्थसख्या ३००४ ।

ग्रन्थान्ते च टीकाकृत—

प्रायोऽन्यशास्त्रदृष्ट, सर्वोऽप्यर्थो मयाऽत्र सकलितः ।

न पुनः स्वमनीषिकया, तथापि यत्किञ्चिद्विद्वितथम् ॥ १ ॥

सुत्रमतिलङ्घ्य लिखित, तच्चोध्य मय्यनुग्रह कृत्वा ।

परकीयश्रेष्ठगुणयो स्यागोपादानविधिकुशले ॥ २ ॥

वदस्थस्य हि बुद्धिः, स्वद्वीति न कस्येह कर्मवशगस्य ? ।

सद्बुद्धिविरहितानां, विशेषतो मद्धिधासुमताम् ॥ ३ ॥

कृत्वा यद्वृत्तिमिमा, पुण्य समुपाजित मया तेन ।

मुक्तिमन्त्रिणं व्रमता, कपिनरजा सर्वजव्यजनः ॥ ४ ॥

श्रीप्रश्नवाहनकुलाम्बुनिधिप्रसूतः,

क्षोणांतसप्रथितकीर्तिरुदीर्णशास्त्रः ।

विश्वप्रसाधितविकल्पितवस्तुरुच्चै-

म्ब्याशतप्रचुरनिर्वृतप्रव्यजन्तुः ॥ ५ ॥

ज्ञानादिकुसुमनिचितः, फलितः श्रीमन्मुनीन्द्रफलवृन्दैः ।

कल्पदुम इव गच्छ, श्रीहर्षपुरीयनामाऽस्ति ॥ ६ ॥

एतस्मिन् गुणरत्नरोहणगिरिर्गाम्भीर्यपाथोनिधि—

स्तुक्त्वानुकृतक्रमाधरपतिः सौम्यत्वतारापतिः ।

सम्यग्ज्ञानविशुद्धसयमतप स्वाचारचर्यानिधि,

शान्तः श्रीजयसिंहसूरिरभवन्ति सङ्गच्छामाणि ॥ ७ ॥

रत्नाकरादिवैतस्मा-च्छिष्यरत्नं वज्रव तत् ।

स वागीशोऽपि नामाऽन्यो, यद्गुणग्रहणे प्रभुः ॥ ८ ॥

श्रीवीरदेवविबुधैः, सम्मन्त्राद्यतिशयप्रवरतोयैः ।

दुम इव यः ससिक्तः, कस्तद्गुणवर्णने त्रिबुधः ? ॥ ९ ॥

तथाहि-आज्ञा यस्य नरेश्वरैरपि शिरस्यारोप्यते सादर,

य दृष्ट्वाऽपि मुदं व्रजन्ति परमा प्रायोऽपि दुष्टा अपि ।

यद्वेकाम्बुधिनिर्यदुज्ज्वलवच पीयूषपानोद्यतै-

र्गीर्वाणैरिव दुरधासिन्धुमयने तृप्तिर्न वेजे जने ॥ १० ॥

कृत्वा येन तपः सुदुष्करतर विश्व प्रबोध्य प्रभो -

स्तीर्थं सर्वविद्ः प्रभावितमिदं, तैस्तैः स्वकीयैर्गुणैः ।

शुक्लीकुर्वदशेषविश्वकुहर भव्यैर्निर्वहस्वपृष्ठै-

र्यस्याऽऽशास्वनिवारित विचरते इवेतांशुगौर यशः ॥ ११ ॥

यमुनाप्रवाहविमल-श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिसपकात् ।

अमरसरितेव सकल, पवित्रित येन भुवनतलम् ॥ १२ ॥

विस्फूर्जत्कलिकास्रदुस्तरतम'सतानलुप्तस्थिति,

सूर्यणेव विवेकिचुधरशिरस्यासाद्य येनोदयम् ।

सम्यग्ज्ञानकरैश्चिरन्तनमुनिश्रुषः समुद्योतितो,

मार्गं सोऽभयदेवसूरिरजवसेन्यः प्रसिद्धो ब्रुवि ॥ १३ ॥

तच्छिष्यलवप्रायै-रवगीतार्थाऽपि शिष्यजनतृष्ट्यै ।

श्रीहेमचन्द्रसूरिजि-रियमनुरचिता प्रकृतवृत्ति ॥ १४ ॥ अनु० ।

अणुओगदारसमास-अनुयोगद्वारसमास-पु० । अनुयोगद्वाराणां
आदिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

अणुओगधर-अनुयोगधर-पु० । अनुयोगिके, व्य० ३ उ० । “अ-

णुओगधरो अप्पणो गारवाणि रिहरणत्थ सो ताराण य ल-

जाणि रिहरणत्थ” आह अनुयोगकथाम् । नि० चू० २० उ० ।

अणुओगपर-अनुयोगपर-त्रि० । सिद्धान्तव्याख्याननिष्ठे, जी०
१ प्रति० ।

अणुओगाणुष्ठा-अनुयोगानुष्ठा-स्त्री० । आचार्य्यपदस्थापना-

याम्, पं० व० ४ ब्रा० । (‘ अणुओगः ’ शब्देऽत्रैव जागे ३४७

पृष्ठे चैतद्रूप व्याख्यातम्)

अणुओगि (ण)-अनुयोगिन्-पु० । अनुयोगो व्याख्यान

प्ररूपणेति यावत्, स यत्राऽस्ति । व्याख्यानार्थं क्रियमाणे प्रश्न-

भेदे, यथा-“ चउहिं समणहिं लोगो ” इत्यादिप्ररूपणाय ‘क-

इहिं समणहिं ’ इत्यादि । स्था० ६ डा० । आचार्य्ये, “ अणुओ-

गी लोगाण, किल ससयणासओ दद होइ ” पं० व० ४ ब्रा० ।

अणुओगिय-अनुयोगिक-त्रि० । प्रव्रजिते, न० । “ अणुओ-

गियवरवसमे, नाइलकुलवसनदिकरे ” न० ।

अणुधरी-अणुधरी-स्त्री० । द्वारवतीवास्तव्यस्याहन्मित्रस्य

भार्यायाम्, यस्याः पुत्रस्य जिनदेवस्य आत्मदोषोपसहारे

कथा । आव० ४ अ० । आ० चू० ।

अणुकंप-अनुकम्प-त्रि० । अनुशब्दोऽनुरूपार्थे, ततश्चानुरूप

कम्पते चेष्टत इत्यनुकम्पः । अनुरूपक्रियाप्रवृत्तौ, उक्त० १२ अ० ।

अनुकम्प्य-त्रि० । अनुकम्पनीये, वृ० ६ उ० ।

अणुकंपण-अनुकम्पन-न० । दुःखार्तानां बालवृद्धाऽसहायानां यथादेशकालमनुकम्पाकरणे, व्य० ३ उ० ।

अणुकंपधम्मसवणादिया-अनुकम्पाधर्मश्रवणादिका-स्त्री० ।

जीवदयाधर्मशास्त्राकर्णनप्रभृतिकायाम्, पञ्चा० १० विव० ।

अणुकंपय-अनुकम्पक-त्रि० । भगवतो भक्ते, अनुकम्पायाश्च भक्तिवाचित्वम्, “ प्रायरियऽणुकपाय, गच्छो अणुकपिओ महाभागो ” इति वचनात् । कल्प० । आत्महिते प्रवृत्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणुकंपा-अनुकम्पा-स्त्री० । अनुकम्पनमनुकम्पा । दयायाम्, नि० चू० १ उ० । अनुकम्पा, कृपा, दयेत्येकार्थाः । ओ० । अनुकम्पा कृपा । यथा-सर्व एव सत्त्वाः सुखार्थिनो दुःखप्रहाणार्थिनश्च, ततो नैषामल्पाऽपि पीडा मया कार्य्येति । ध० २ अधि० । अनुकम्पा दुःखितेष्वपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा सम्यक्त्वलिङ्गम् । पक्षपातेन तु करुणा पुत्रादौ व्याघ्रादीनामप्यस्त्येवेति न तादृश्याः कृपायास्तत्त्वम् । सा चानुकम्पा द्रव्यतो भावतश्चेति द्विधा । द्रव्यतः सत्यां शक्तौ दुःखप्रतीकारेण । भावतश्चाद्रहदयत्वेन । यदाह-“ दृष्ट्वा पाणिनिवहं, भीमे भवसागरमि दुक्लक्ष । अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्थओ कुणह् ” ॥ १ ॥ ध० २ अधि० । आ० । प्रव० । दर्श० । संथा० । अज्ञादिदानरूपायाम्, ध० २ अधि० । भक्तौ, आ० क० । (अनुकम्पया श्रुतसामायिकलामे उदाहरणानि ‘ धक्षतरि’ शब्दे वक्ष्यन्ते) भक्त्यानादिभिरुपष्टम्भे च, भ० ८ श० ८ उ० । ‘ अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्यात् ’ अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, द्वा० १ द्वा० । स्था० ।

अणुकंपं पमुच्च तओ पमिणीया पसुत्ता । तं जहा-तव-स्सिपमिणीए गिलाणपडिणीए सेहपडिणीए ॥

अनुकम्पामुपष्टम्भ प्रतीत्याश्रित्य तपस्वी क्षपकः, ग्लानो रोगादिभिरसमर्थः, शैक्षोऽभिनवप्रव्रजितः, एते ह्यनुकम्पनीया भवन्ति, तत्करणाकरणाभ्यां च प्रत्यनीकतेति । अनुकम्पातो यद्दानं तदनुकम्पैवोपचाराद् । दानमेवे, उक्तं च वाचकमुत्थैरुमास्वातिपूज्यपादै-“ कृपयेऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते । यद्दीयते कृपार्था-दनुकम्पात् तद्मवेदानम् ” स्था० १० ठा० ।

अणुकंपादाण-अनुकम्पादान-न० । अनुकम्पया कृपया दानं दीवानां प्रविषयमनुकम्पादानम् । स्था० १० ठा० । रङ्गदाने, प्रति० । अनुकम्पादानं जिनैरप्रतिकृष्टम्-

अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्या-जक्तिः पात्रे तु संगता ।

अन्यथाधीस्तु दातृणा-मतिचारप्रसज्जिका ॥ २ ॥

(अनुकम्पोति) अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, भक्तिस्तु पात्रे साध्यादौ संगता स्यात् समुचितफलदा स्यात् । अन्यथाधीस्तु-अनुकम्प्ये सुपात्रत्वस्य, सुपात्रे चानुकम्प्यत्वस्य भुक्तिस्तु दातृणामतिचारप्रसज्जिकाऽतिचारापादिका । अत्र यद्यपि सुपात्रत्वधियोऽनुकम्प्ये संयतादौ मिथ्यारूपतयाऽतिचारापादकत्वं युज्यते । सुपात्रेऽनुकम्प्यत्वधियस्तु न कथञ्चित्, तत्र ग्लानत्वादिदशायामन्यदाऽपि च स्वेष्टेन्द्रारप्रतियोगिदुःखाश्रयत्वरूपाऽनुकम्प्यत्वाधियः प्रमात्वात् । तथगपि स्वापेक्षयाऽहीनत्वे सति

स्वेष्टेन्द्रारप्रतियोगिदुःखाश्रयत्वरूपमनुकम्प्यत्वं तत्राप्रामाणिकमेवेति न दोषः । अपरे त्वादुः-तत्र प्रागुक्तं निर्दिशेषणमनुकम्प्यत्वं प्रतीयमानं साहचर्यादिदोषेण यदा हीनत्वमुक्तिं जनयति तदैवातिचारापादाक नान्यदा, अन्यथाधियोर्हीनैर्दृष्टयोक्तर्का-कर्षणद्वयाधानद्वारैव दोषत्वात् । अत एव न चानुकम्पादानं साधुषु न संभवति । “ आयरियऽणुकपाय, गच्छो अणुकपिओ महाभागो ” इति वचनादित्यष्टकवृत्त्यनुसारेणाचार्यादिष्वप्युक्तव्यधियोऽप्रतिरोधेऽनुकम्पाऽध्याहतेति । एतन्मये च सुपात्रदानमपि ग्रहीतृदुःखोच्चारोपायत्वेनेष्यमाणमनुकम्पादाः नमेव, साक्षात्स्वेष्टोपायत्वेनेष्यमाणं चान्यथेति बोध्यम् ॥ २ ॥

तत्राद्या दुःखिनां दुःखो-दिधीर्षाऽल्पासुखभ्रमात् ।

पृथिव्यादौ जिनाऽर्चादौ, यथा तदनुकम्पिनाम् ॥ ३ ॥

(तत्रेति) तत्र भक्तधनुकम्पयोर्मध्ये आद्याऽनुकम्पा दुःखिनां दुःखार्तानां पुंसां दुःखोद्दिधीर्षां दुःखोच्चारोच्छ्वा अल्पानामसुखं यस्मादेतादृशो यः भ्रमस्तस्मात् । इत्थं च वस्तुगत्या बलवदनिष्ठाननुबन्धी यो दुःखिदुःखोच्चारस्ताद्विपयिणी स्वस्येच्छाऽनुकम्पेति फलितम् । उदाहरति, यथा-जिनार्चादौ कार्यं पृथिव्यादौ विषये तदनुकम्पिनामित्यन्तु भगवत्पूजाप्रदर्शनादिना प्रतिबुद्धाः सन्तः षट्कायान् रक्षन्तिविति परिणामवतामित्यर्थः । यद्यपि जिनार्चादिकं भक्त्यनुष्ठानमेव, तथापि तस्य सम्यक्त्वशुद्ध्यर्थत्वात्तस्य चानुकम्पालिङ्गकत्वात्तदर्थकत्वमप्यविरुद्धमेवेति पञ्चलिङ्गधादावित्थं व्यवस्थितैरस्माभिरप्येवमुक्तम् ॥ ३ ॥

अल्पासुखभ्रमादित्यस्य कृत्यमाह-

स्तोकानामुपकारः स्या-दारम्भाद्यत्र नृयसाम् ।

तत्रानुकम्पा न मता, यथेष्टापूर्तकर्मसु ॥ ४ ॥

(स्तोकानामिति) स्पष्टम्, नवरम्, इष्टापूर्तस्वरूपमेतद्-“ श्रुति-गिर्मन्त्रसस्कारै-र्ब्राह्मणानां समकृतः । अन्तर्वेद्यां हि यद्वत्-मिष्टं तदभिधीयते ॥ १ ॥ वापिकूपतरागानि, देवताऽप्यतमानि च । भक्तप्रदानमेतत्, पूर्तं तत्त्वचिदो विदुः ” ॥ २ ॥

नन्वेवं कारुणिकदानशालादिकर्मणोऽप्युक्तेदापसित्वत आह-

पुष्टालम्बनमाश्रित्य, दानशालादि कर्म यत् ।

तत्तु प्रवचनोभत्या बीजाधानादिजावतः ॥ ५ ॥

(पुष्टालम्बनमिति) पुष्टालम्बनं सञ्ज्ञावकारणमाश्रित्य यद्दानशालादि कर्म प्रदेशिसप्रतिराजादीनां, तत्तु प्रवचनस्य प्रशंसादिनोभत्या बीजाऽऽधानादीनां भावतः सिद्धेर्लोकानाम् ॥ ५ ॥

बहूनामुपकारेण, नानुकम्पा निमित्तताम् ।

अतिक्रामति तेनाऽत्र, मुख्यो हेतुः शुभाशयः ॥ ६ ॥

(बहूनामिति) ततो निर्वृत्तिसिद्धेर्बहूनामुपकारेणानुकम्पा निमित्ततां नातिक्रामति, तेन कारणेनात्रानुकम्पोचितफले, मुख्यशुभाशयो हेतुः । दानं तु गौणमेव, वेद्यसवेद्यपदस्य एव तादृगाशयपात्रं, तादृगाशयानुगम एव च निश्चयतोऽनुकम्पेति फलितम् ॥ ६ ॥

एतदेव नयप्रदर्शनपूर्वं विवेचयति-

क्षेत्रादिव्यवहारेण, हृष्यते फलसाधनम् ।

निश्चयेन पुनर्जावः, केवलः फलजेदकृत् ॥ ७ ॥

व्यवहारेण पात्रादिभेदात्फलभेदो, निश्चयेन तु प्रावधैक्षिण्या-वेवेति तत्त्वम् ॥ ७ ॥

कालावम्बनस्य पुष्टत्व स्पष्टयितुमाह-
कावेऽल्पमपि लाजाय, नाकाले कर्म वह्निपि ।
वृष्टौ वृद्धिः कणस्यापि, कणकोटिर्वृथाऽन्यथा ॥ ८ ॥
(काल इति) स्पष्टम् ॥ ८ ॥

अवसरानुगुण्येनानुकम्पादानस्य प्राधान्यं जगद्द्रष्टान्तेन स-
मर्थयितुमाह-

धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं, दानस्य जगवानपि ।
अत एव व्रतं गृह्णन्, ददौ संवत्सरं वसु ॥ ९ ॥

(धर्माङ्गत्वमिति) अत एव कावेऽल्पस्यापि लामार्थत्वादेव,
दानस्यानुकम्पादानस्य, धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं जगवानपि व्रतं गृ-
ह्णन् संवत्सरं वसु ददौ । ततश्च महता धर्मावसरे तुष्टित् सर्व-
स्याप्यवस्थौचित्ययोगेन धर्माङ्गमिति स्पष्टीभवतीति भावः ।
तदाह-“ धर्माङ्गव्यापनार्थं च, दानस्यापि महामतिः । अवस्थौ-
चित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया ” इति ॥ ९ ॥

नन्वेव साधोरप्येतदापत्तिरित्यत आह-

साधुनाऽपि दशानेदं, प्राप्यैतदनुकम्पया ।
दत्तं ज्ञानाजगवतो, रङ्गस्येव सुहस्तिना ॥ १० ॥

साधुनाऽपि महाव्रतधारिणाऽपि दशानेदं प्राप्य पुष्टालम्बन-
नमाश्रित्यैतद्वानमनुकम्पया दत्तं सुहस्तिनेव रङ्गस्य तदाऽऽह ।
श्रूयते चागमे-आर्यसुहस्ताचार्यस्य रङ्गदानमिति । कुत इत्याह-
भगवतः श्रीवर्द्धमानस्वामिनो ज्ञानात् । तदुक्तम्-“ज्ञापक चात्र-
जगवान्, निष्कान्तोऽपि द्विजन्मने । देवदृष्यं ददौ मा ननुकम्पावि-
शेषतः ” ॥ ११ ॥ इति । प्रयोगश्चात्र-दशाविशेषे यतैरस्यताय दानम-
दुष्टम्, अनुकम्पानिमित्तत्वाद्, भगवद्द्विजन्मदानवदित्याहुः १० ॥

न चाधिकरणं ह्येत-द्विशुद्धाशयतो मतम् ।

अपि त्वन्यद् गुणस्थानं, गुणान्तरनिबन्धनम् ॥ ११ ॥
(न चेति) न चैतत्कारणिक यतिदानमधिकरण मतम् । अधिक-
र्यते आत्माज्ञेनास्यतसामर्थ्यपोषणत इत्यधिकरणम् । कुत इ-
त्याह-विशुद्धाशयतोऽवस्थौचित्येनाऽऽशयविशुद्धे, भावभेदेन
कर्मभेदात् । अनर्थासन्नवसुकार्यप्राप्तिमप्याह-अपि त्विति अच्यु-
ष्यते । अन्यदधिकृतगुणस्थानकाद् मिथ्यादृष्टत्वादेरपरमविर-
तसम्यग्दृष्ट्यादिक गुणानां ज्ञानादीनां स्थानं मत, गुणान्तरस्य
सर्वविरत्यादेर्निबन्धनम् ॥ ११ ॥ द्वा० १ द्वा० ।

नेव दार पिहावेऽ, भुञ्जमाणो सुसावओ ।
अणुकंपा जिणिदेहिं, सच्छाणं न निवारिआ ॥ १ ॥

दहूण पाणिनिवहं, भीमे जवसायरम्मि दुक्खत्तं ।
अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्थओ कुणई ॥ २ ॥

(दुहा विस्ति) छव्यभावाभ्यां द्विधा । छव्यतो यथा-अ-
आदिदानेन, भावतस्तु धर्ममार्गप्रवर्त्तनेन, श्रीपञ्चमाङ्गादावपि
आहवर्णनाधिकारे ‘अचगुदुवारा’ इत्युक्तम् । श्रीजिनेनापि सांव-
त्सरिकदानेन दीनोच्चारं कृत एव, न तु केनापि प्रतिषिद्धे ॥ २ ॥

सन्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जयति यरागदोसमोहेहिं ।

अणुकंपादाणं स-हयाणं न कहिं वि पमिसिच्छं ॥ ३ ॥
न कस्मिन् सुत्रे प्रतिषिद्धं, प्रत्युत देशनाद्वारेण राजप्रश्नीयो-
पाङ्के केशिनोपदेशितम् । तथाहि-“ माणं तुम पपसी पुण्वि
रमणिज्जे भविता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि ” इत्यादि । ध०
२ अधि० ।

दाणं अणुकंपाए, ढीणाणाहाण सत्तिओ णेयं ।
तित्थंकरणातेणं, साहूणं य पत्तवुच्चीए ॥ ६ ॥

दानं वितरणमज्ञादेरनुकम्पया दयया दीनानाथेभ्यः, तत्र दी-
नाः क्षीणविज्रवत्त्वाद् दैन्यप्राप्तास्त एव सानाथ्यकारिगहिता अ-
नाथाः, अतस्तेभ्यः शक्तितो वित्तगत सामर्थ्यमाश्रित्येत्यर्थः,
क्षेयं ज्ञातव्यम् । अथ दीनादीनामसयतत्वात् तद्दानस्य दोष-
पोषकत्वादसगतं तद्दानमित्याशङ्क्याह-तीर्थंकरज्ञातेन जि-
नोदाहरणेन । तथाहि-सगतं दीनादिदानं, प्रभावनाङ्गत्वाद् जि-
नस्यैव । अथवा तीर्थंकरन्यायेन निर्विशेषतयेत्यर्थः, तीर्थंकरप्रमा-
णतो वा । तथाहि-न दीनादिदानमविधेयं, जिनाचरितत्वाद्, म-
हावनानुपादनवदिति । दीनादीनामनुकम्पया तावद्दानम् । अथ
साधुनामपि किं तथैवेत्याशङ्क्यामाह-साधूनां च सयतेभ्यः पुनः
पात्रबुद्ध्या ज्ञानादिगुणरत्नजाजनमेतदिति धिया भक्त्येति गाथा-
र्थः ॥ ६ ॥ पञ्चा० ६ वि० ।

अणुकंपासय-अनुकम्पाशय-पु० । अनुकम्पाप्रधानमाशयोऽनु-
कम्पाशयः । अनुक्रोशप्रधाने चित्ते, स० । “अणुकंपासयप्यश्रोग-
तिकावमश्चिसुद्धजत्तपाणाह ” अनुकम्पा अनुक्रोशस्तत्प्रधान
आशयश्चित्तं तस्य प्रयोगोऽव्यावृत्तिरनुकम्पाशयप्रयोगस्तेन स० ॥
अणुकंपि (ण)-अनुकम्पिन्-स्त्री० । अनुकम्पयमाने तच्छीले,
सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । कृपावति, प्रति० ।

अणुकम्पि-अनुकम्पि-स्त्री० । अनुकम्पणमनुकम्पि । अनुवर्त्तने, प०
स० ५ द्वा० । (अनुभागवन्धाव्यवसायस्थानानां तीव्रमन्दता-
परिज्ञानार्थमनुभागवन्धाव्यवसायस्थानानामनुकम्पि । ‘बन्ध’
शब्दे वक्ष्यते)

अणुकम्पेमाण-अनुकम्पेत्-त्रि० । अनु पश्चात् कर्षन् अनुकम्पेत् ।
पृष्ठतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षति, न० ।

अणुकम्प-अनुकम्प-पु० । ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोवृद्धानां पूर्वा-
चार्याणां ज्ञानग्रहणेन च तपोविधानेषु च अनुकृतिकरणे,
प० चू० ।

एत्तो वोढं अणुकम्पं ।

अणुसदो जूतद्धियं, पच्छाभावे मुणेयव्वो ।

णाणचरणहृगाणं, पुव्वायरियाण अणुकम्पं ॥

कुणई अणुगच्छइ गुण-धारी अणुकम्पं तं विद्याणाहि ।

गुणसयसहस्सकलिय, गुणंतरं च अनिलसंताणं ॥

जे खेत्तकालजावा, आसज्जा जोगहाणिजवे ।

गुणसतकालिअसंजमो, मोक्खो य गुणंतरो मुणेयव्वो ।

नाणास्स परिहाणी, तुजोगहाणी मुणेयव्वो ॥

खेत्ताण संति अच्चा-ए उच्चक्खेत्ताम्मि काव दुग्धिक्खे ।

भावे गेलएहादी, मुच्चाजावे उ जदसुच्छं ॥

गेएहेज्जाऽऽहारादी, णाणादिस्स उज्जमण कुज्जा ।

अणसणमादी य तवं, अकरेमाणस्स साहुस्स ॥

एगताणज्जरा से, जह जणिता सासणे जिणवराणं ।

जोगानियुत्तमतीणं, सुहसीलाणं तवोच्चेदो ॥

सुहसीलउहसीला, तेसिं अफासु गेएहमाणाणं ।

जे आवज्जे तहिय, तव च वेदं च तं पावे ॥ प० ज्ञा० ।

इयाणि अणुकम्पो- (गाहा) (नाणचरणहृत्ति) जो नाणद-
रिसणचरित्तवऽऽह्मगाण पुच्चायरियाण नाणमाहणेण य त-
वोविहाणेसु य अणुकिं करेह, सो अणुकम्पो । (गाहा) (गु-
णसयत्ति) जा पुण गुणसयसहस्सकवियाण, अलङ्कनानामि-
त्यर्थः । गुणतर चेव अमिहसताण नाणाइसु परिहाणी होज्जा,
खेत्ते अङ्गाणाइसु, काले ओमाइसु, जावे गिलाणाइसु । (गाहा)
एगंतनिज्जरा तहेव तेसि एगंतनिज्जरा चेव । यथा- जगवन्निरुप-
दिष्ट प्रणीतमित्यर्थः । जो पुण संजमजोगनियतमई चट्ठासि-
या सिरी सुहसीलो डुहसीलो त्ति भणइ तेसि तवोच्छेत्तो वा ।
एस अणुकम्पो ॥

अणुकरण-अनुकरण-न० । सीवनलेपनादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा धृते-इच्छा-
कारेण तवेदमहं करिष्यामीत्युक्त्वा तथाकरणे, व्य० १ उ० ।

अणुकरणकारावणाणिसग-अनुकरणकारापणनिसर्ग-पु० । अ-
नुकरण नाम यत्सीवनलेपादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा धृते-इच्छाकारेण त-
वेदमहं करिष्यामि, कुरुते च, कारापणं तद् यत्स्वय करणे कु-
शलोऽन्यानपीच्छाकरेण कारापयति, तस्मिन् निसर्ग स्व-
भावो यस्य सोऽनुकरणकारापणनिसर्ग, इत्यभूतस्तस्य स्व-
भावो यदि अनभ्यर्थित एव करोति कारयतीति ज्ञाव । अनन्य-
र्थनैव कुर्वन्ति कारयन्ति च । ज्ञावसद्ब्रह्मविशेषे, व्य० ३ उ० ।

अणुकदन-अनुकथन-न० । आचार्यप्ररूपणातः पश्चात् कथ-
ने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अणुकारि [ण्]-अनुकारिन्-त्रि० । अनुकरोति । अनु+कृ-
णिनि । स्त्रिया ङीप् । गुणक्रियाऽऽदिभिः सदृशीकारके, वाच० ।
विवक्षितवस्तुन सदृशे, अष्ट० ७ अष्ट० ।

अणुकुड्य-अनुकुचित-त्रि० । अनुक्षिप्ते, नि० चू० ८ उ० ।

अणुकुड-अनुकुड्य-अव्य० । अनुशब्दस्य समीपार्थद्योतकत्वा-
त्, अनुकुड्यमुपकुड्यम् । वृ० ३ उ० । कुड्यसमीपवर्तिनि प्रदे-
शे, वृ० ३ उ० ।

अणुकूल-अनुकूल-त्रि० । अनुलोभे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।
स्था० । नि० । अनुरूपे, आ० म० प्र० । “अणुकूलेण धर्मे कुमार-
बभचारी” आवा० ४ अ० । अप्रतिकूले, प्रअ० ४ सम्भ० द्वा० ।
आचार्याणामन्येषां वा पूज्यानां वैयावृत्यादिना हितकारिणि
उत्सारकल्पिकयोग्यतावति, वृ० १ उ० ।

अणुकूलवयण-अनुकूलवचन-न० । अप्रतिकूलवचने, यथा
हे महाजाग ! नेदं तवोचिन वक्तुं कर्तुं वेति । दर्श० ।

अणुकूलवाय-अनुकूलवात-पु० । आघ्रातकविवक्षिते पुरुषाणां
पवनं, जी० १ प्रति० ।

अणुकन-अनुक्रान्त-त्रि० । अनुष्ठिते आसेवनापरिक्रिया सेविने,
आचा० । “एस विही अणुकने माहणेण मई मया बहुसो” ।
आचा० १ श्रु० ए अ० ४ उ० ।

अन्नाक्रान्त-त्रि० । अनुचीर्णे, आचा० १ श्रु० ए अ० ३ उ० ।

अणुकम-अनुक्रम-पु० । अनुपरिपाठ्याम, आ० चू० । आनुपूर्वी
अनुक्रमोऽनुपरिपाटीति पर्याया । अनु० । आचा० । “अणु-
परिवामित्ति वा अणुकमेति वा एगट्टा” । आ० चू० १० अ० ।

अणुकसाइ (ण्)-अनुत्कषायिन्-पु० । उत्क उत्काण्डित स-
त्कारादिषु शेते इत्येवशाब्ज उत्कषायी, न तथा अनुत्कषायी ।
प्राकृतत्वाद्वाऽनुत्कषायी । सर्वधनादित्वादिनि । सत्कारादिकम-
कुर्वते कुप्यति, तत्सपत्तौ वाऽनहंकारवति, उक्त० ३ अ० ।

अणुकषायिन्-त्रि० । अणवः स्वल्पाः संज्वलननामान इति
यावत् । कषायाः क्रीधादयोऽस्येति सर्वधनत्वादिनिप्रत्ययेऽणु-
कषायी । प्राकृतत्वात् ककारस्य द्वित्वम् । सज्वलनकषायवि-
शिष्टे, उक्त० १५ अ० ।

अनुत्कषायिन्-त्रि० । उत्कषायी प्रबलकषायी, न तथा अनु-
त्कषायी । अप्रयत्नकषाये, उक्त० १५ अ० । सत्कारादिना इषे-
रहिते, “अणुकसाई अप्पिच्छे अन्नाए सीअलोलुए” उक्त० २ अ० ।

अणुकस्स-अनुत्कर्षवत्-पुं० । अष्टमदस्थानानामन्यतमेनाऽप्युत्से-
कमकुर्वति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । “अणुकस्से अप्पहीणे,
मज्जेण मुणिजावए” सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुकोस-अनुत्कर्ष-पु० । आत्मनः परेभ्यः सकाशाद् गुणैर-
त्कर्षणमुत्कृष्टतान्निधानम् । गौणमोहनीयकर्मणि, अ० १२ श० ५
उ० । स० । आत्मगुणान्निमाने, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अनुक्रोश-पुं० । दयायाम, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणुकिवत्त-अनुक्षिप्त-त्रि० । पश्चादुत्पादिते, “अणुक्खिप्तंसि
धूरंसि” हा० = अ० ।

अणुगंतव-अनुगन्तव्य-त्रि० । अनुसंसंख्ये, स्था० ५ ठा० १
उ० ।

अणुगच्छण-अनुगमन-न० । आगच्छतः प्रत्युद्गमनरूपे काय-
विनयभेदे, दश० १ अ० ।

अणुगच्छमाण-अनुगच्छत्-त्रि० । अनुवर्त्तमाने, “अणुगच्छ-
माणे वि तह विजाणे, तहा तहा साहु अककसेण” सूत्र० १
श्रु० १४ अ० । आचा० ।

अणुगम-अनु (ण्) गम-पुं० । अनुगमनमनुगमः, अनुगम्य-
तेऽनेनास्मिन्नस्मादिति वाऽनुगमः । सूत्रानुकूले परिच्छेदे,
स्था० १ ठा० । निक्षिप्तसूत्रस्य अनुकूले परिच्छेदे, अर्थे, कथने च ।
ज० १ वृत्त० । सूत्रस्यानुकूपेऽर्थाख्याने, व्य० १ उ० । आ० म०
प्र० । आचा० । सहितादिव्याख्यानप्रकारप्ररूपे, उद्देशनिर्देशानिर्ग-
मादिद्वारकक्षापके वा । स० । अनुयोगद्वारे, अनु० ।

अथाऽनुगमननिरुक्तिमाह-

अनुगम्यते तेण तद्धि, तत्रो व अणुगमणमेव वाऽणुगमो ।

अणुणोऽणुखवओ वा, जं मुत्तत्थाणमणुसरणं ॥

अनुगम्यते व्याख्यायते सूत्रमनेनाऽस्मिन्नस्मात् इत्यनुगमः,
वाच्यार्थविवक्षा तथैव । अथवा अनुगमनमेवानुगमः । अणुनो वा
सूत्रस्य गमो व्याख्यानमित्यनुगमः । यदि वा अनुरूपस्य घट-
मानस्यार्थस्य गमन व्याख्यानमनुगमः । सर्वत्र किमुक्त भवती-
त्याह-यत्सूत्रार्थयोरनुकूल सम्बन्धकारणमित्यनुगम इति ।
विशे० ।

अनुगमभेदाः-

से किं तं अणुगमे ? । अणुगमे दुविहे पणत्ते ।

तं जहा-सुत्ताणुगमे अ निज्जुत्तिअणुगमे अ ॥

(से किं तं अणुगमे इत्यादि) अनुगमः पूर्वोक्तशब्दार्थः । स
च द्विधा-सूत्रानुगम सूत्रव्याख्यानमित्यर्थः । निर्युक्तचतुर्गमप्र-
नितरा युक्ता सूत्रेण सह लोलीभावेन सबद्धा निर्युक्ता अर्थास्ते-
षां युक्तिः स्फुटरूपताऽऽपादमम्, एकस्य युक्तशब्दस्य बोधार्थि-
यु-

किन्नामस्थापनादिप्रकारैः । सूत्रविभजनेत्यर्थः । तद्रूपोऽनुगमस्तस्या
वा अनुगमो व्याख्यानं निर्युक्त्यनुगमः । अनु० । (सूत्रानुगमनि-
र्युक्त्यनुगमयोर्व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) व्याख्याने, सगृहीते,
सर्वव्यक्तिषु अनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादने च । विशेष० । यत्र
साधनं तत्र साध्यमित्येवब्रह्मणो साध्यस्य साधनेन सदान्वये,
विशे० । पश्चाज्जने, सहायीज्जवने च । वाच० ।

अणुगम्य-अनुगम्य-अव्य० । बुद्धेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आणुगय-अनुगत-त्रि० । पूर्वमवगते, विशेष० । अव्यवच्छिन्न-
याऽनुवृत्ते, प्रश्न० ३ आश्न० द्वा० । 'मत्तिसहितति वा मत्तिमणु-
गतंति वा पगघा' । आ० चू० १ अ० । पितृविज्ञत्याऽनुयाते । पितृ-
समे पुत्रे, पु० । स्या० ८ ग० ३ उ० । आनुकूल्ये, न० । स० ।

अणुगवेसेमाण-अनुगवेषयत्-त्रि० । सामार्थिकपरिसमाप्त्य-
नन्तर गवेषयति, “ त भइ अणुगवेसेमाणै किं सय भइ अ-
णुगवेसइ ? ” भ० = श० ५ उ० ।

अणुगा (गा) म-अनुग्राम-पुं० । अनुकूलो ग्रामोऽनुग्रामः ।
व्य० २ उ० । विवक्षितग्राममार्गानुकूले ग्रामे लघुग्रामे, एक-
स्माद् ग्रामादन्यस्मिन् ग्रामे, उत्त० ३ अ० । एकग्रामाह्लघुप-
ञ्चाद्भावाभ्या स्थिते ग्रामे, स्था० ५ टा० २ उ० । विवक्षित-
ग्रामादनन्तरे ग्रामे, “ गामाणुगा (गा) म दूइजमाणे ”
श्रौ० । ध० ।

अणुगामि (ए)-अनुगामिन-त्रि० । साध्यमसाध्यमग्न्या-
दिकमनुगच्छति, साध्याभावे न भवति यो धूमादिहेतु सौऽनु-
गामी । अदुष्टहेतौ, स्था० ३ ठा० ३ उ० । अनुयातरि, आव०
५ अ० । मोक्षायानुगच्छति, व्य० १० उ० ।

अणुगामिय-अनुगामिक-त्रि० । उपकारितत्कालान्तरमनु-
याति तदनुगामिकम् । स्था० ५ डा० १ उ० । अनुगमनशीले
भवपरम्परानुबन्धिसुखजनके, पा० । स्था० । अनुगमनशीलेऽ-
बन्धिहाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । गच्छन्तमनुगच्छतीति
अनुगामिकः । अनुचरे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । अकर्त-
व्यहेतुभूतेषु चतुर्दशस्वसदनुष्ठानेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुमाभियन्त-अनुगामिकत्व-न० । भवपरम्परासु सानुबन्ध-
सुखे, औ० ।

अणुगिद्ध-अनुगृह्य-त्रि० । प्रत्याशक्ते, सूत्र० १ ध्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुगिद्धि-अनुगृहि-स्त्री० । अभिकाव्यायाम्, उत्त० ३ अ० ।

अणुगिलङ्ता-अनुगीर्य-अव्य० । भक्षयित्वेत्यर्थे, शा० ७ अ० ।

अणुगीय-अनुगीत-त्रि० । मूलाचार्यात्पाश्चात्याशिष्यं. कृते
ग्रन्थे, “ महत्पुरुषा वयणप्पभूया, गाहाणुगीया नरम्मघमज्जे”
अन्विति तीर्थकृद्गणधरादिभ्य पश्चाद् गांता अनुगांता ।
कोऽर्थ १-तीर्थकरादिभ्य श्रुत्वा प्रतिपादिता , स्थविरैरिति
शेष । प्रनुलोम वा गांताप्तेन श्रोत्रानुकूलैव देशना क्रियते
इति ख्यापितं भवति । उत्त० १३ अ० ।

अणुगुरु-अनुगुरु-प्रि० । यद्यथा पूर्वगुरुभिराचरित तत्तथैव
पाश्चात्त्यैरपि आचरणीयमिति गुरुपारम्पर्ये व्यस्यस्या व्यस-
हरणीये, सू० १ उ० ।

अणुगह-अनब्रह्म-पुः। उपकारे, औ०। शान्तानुपकारे, सधा०

तिविहे अण्गहे पष्ठत्ते । तं जहा-आयाण्गहे, पराण्-
गहे, तदुभयाण्गहे य ॥

तत्र आत्मानुग्रहोऽध्ययनादिप्रवृत्तस्य, परानुग्रहो वाचनादि-
प्रवृत्तस्य, तदुभयानुग्रहः शास्त्रव्याख्यानशिष्यसङ्घहादिप्रवृ-
त्तस्येति । स्या० ३ ठा० ३ उ० । पञ्चा० । “सर्वज्ञोक्तोपदेशेन,
यः सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत्यच्चि-
राच्छिवम् ” आ० म० प्र० । प्रह्ला० । यो० वि० । अनुपधाते,
उज्जालने, नि० चू० १ उ० । देहस्य स्रक्चन्दनाङ्गनावसना-
दिभिर्भोगैरुपष्टम्भे, घ० १ अधि० ।

अणुगदह-अनुग्रहार्थ-पु० । अनुग्रह उपकारस्तल्लक्षणो यो-
 र्थ पदार्थ प्रयोजन वा । अनुग्रहप्रयोजने, " सपरोसिमणु-
 गहद्वय " स्वरयोरामतदन्वयोरनुग्रह उपकारस्तल्लक्षणो
 योऽर्थ पदार्थ प्रयोजन वा सोऽनुग्रहार्थ, तस्मै अनुग्रहा-
 र्थाय । तत्र स्वानुग्रह प्रावचनिकार्थानुवादे निर्मलयोधभावात्
 परोपकारद्वारा यैलकर्मक्षयावाप्तेश्च । परानुग्रहस्तु परेषां
 निर्मलयोधतत्पूर्वकक्रियासंपादनात्परम्परया निर्वाणसंपाद-
 नात् । पञ्चा० ६ विव० ।

अणुग्रहता-अनुग्रहता-स्त्री० । अनुग्रहात् इति, अनुग्रह । क-
र्मण्यनद् । तस्य भावोऽनुग्रहता । अनुग्रहणे, व्य० १ उ० ।

अष्टगृहापरिहार-अनुग्रहापरिहार-पु० । अनुग्रहतया
परिहारोऽनुग्रहापरिहार । खोटादिभङ्गरूपे परिहारभेदे,
व्य० १ उ० ।

अणुघाटम-अनुधातिम-न० । उद्घातो जागपानस्तेन नि-
र्वृत्तमुधातिम वक्ष्यतिर्य । यत उक्तम्-“ भद्रेण विभ्रसेस, पु-
व्वक्षेण तु सज्जय कामो । दिङ्नाह बह्वयदाण, गुरुदाण तत्तिय
चेव ” इति । (‘उग्धाऽत्र’ शब्देऽस्या व्याख्या द्वि० भा० ७३०
पृष्ठे द्रष्टव्या) एतन्निषेधादनुधातिमम् । तत्रोगुरुणि प्रायश्चित्ते,
तद्योगात् नदहैषु साधुषु च । स्था० ३ वा० ४ उ० ।

अणुग्याडय-अनुद्घातिक-पु० । न विद्यते उद्घातो सघुकर
णक्षकृणो यस्य तपोविशेषस्य तदनुद्घातम्, यथाश्रुतदानमित्र-
र्थं, तद्येषां प्रतिसेवाविशेषतो ऽस्ति तेऽनुद्घातिका । स्या० ४
गो ३ उ० । उद्घातो नाम भागपात, सान्तरदान वा, स वि-
द्यते येषु ते उद्घातिका, तद्विपरीता अनुद्घातिका । तपोगुह्य-
यश्चिन्ताहेतुः, व० ४ उ० ।

त्रयोऽनुदूधातिष्ठा —

तथो अण्णपाइया (मा) पामुत्ता । त जहा-इत्थकम्मं क-
रेमाणे, मेहुण सेवमाणे, राइनोयण जुंजमाणे । म्या० ३
ग० ४ उ० ।

प्रयत्निसंख्यायाः अनुदघातिका । उदातो नाम- 'अदेन च्छि-
प्रमेम' इत्यादिविधिना ज्ञानपान, मान्तरदान याः न विद्यते
येषु ते उदघातिका, तद्विपरीता अनुदघातिका । प्रसक्तान्तिक-
यादिनि प्ररूपिना, नद्योपदर्शनार्थं । इति इत्यतिथिमा मुग्धाना-
त्यानेनेति हस्त शर्मादिपट्टेसो निषेधादानादिममं, नेनयकम
क्रियते तद्व्यवहर्तुः, तत् कुर्वन् ; तथा ग्रीष्मसमुत्पन्निसुत्पन्न-
तस्य जाय वमं या नैषुन, न प्रसिन्नेयमानः ; तथा गर्भा भोज-
नमगनादिव मुञ्चान । यद्व्यवहार्यः । ५० ४ ८० । निरेषपुर-
स्वर पिरेषणाप्यानम् ।

अथानुद्धातिपद व्याख्यातुमाह-

उग्यातमणुग्याते, निक्खेवो ष्विविहो उ कायवो ।

नाम ठवणा दविण, खेत्ते काळे य जावेय ॥

इह ह्रस्वत्वदीर्घत्वमहत्वादिकादनुद्धातिकस्य प्रसिद्धिरिति कृत्वा द्वयोरुद्धातिकानुद्धातिकयोः षष्ठिधो निक्षेपः कर्त्तव्यः । तद्यथा-नामनि स्थापनाया ऋग्ये क्षेत्रे काळे भावे चेति । तत्र नामस्थापने गतार्ये ।

रुद्धादिविषयमुद्धातिकमनुद्धातिकं च दर्शयति-

उग्यायमणुग्याया, दव्वम्मि हल्लिराग किमिरागा ।

खेत्तम्मि काहजूमि, पत्थरजूमि य हल्लमादी ॥

ऋग्ये ऋग्यत उद्धातिको हरिहराग, सुखेनैवापनेतुं शक्यत्वात् । अनुद्धातिकः कृमिरागः, अपनेतुमशक्यत्वात् । क्षेत्रत उद्धा-
तिका कृष्णभूमिः अनुद्धातिका प्रस्तरभूमिः । कुत इत्याह-(हल्ल-
मादि स्ति) हल्लकुलिकादिभिः कृष्णभूमिरुद्धातयितुं क्रोदयितुं
शक्या, प्रस्तरभूमिरशक्या ।

तथा-

कालम्मि संतर णिरं-तरं तु समयो व होतऽणुग्यातो ।

जव्वस्म अह पयमी, उग्याति पत्तरा इयरे ॥

काव्यत उद्धातिक सान्तरप्रायश्चित्तस्य दानम्, अनुद्धातिक निर-
न्तरदान, तुशब्दात् बहुमासादिकमुद्धातिकं, गुरुमासादिकमनु-
द्धातिकम् । अथवा-कालत समयोऽनुद्धातिको भवति, साणमश-
कर्तुमशक्यत्वात् । आवृत्तिकादय उद्धातिका, खणितु शक्य-
त्वात् । जावत उद्धातिका भव्यस्याष्टौ कर्मप्रकृतयः, उद्धातयितु
शक्यत्वात्, इतरस्याजव्यस्य प्रकास्ता पदेतरा अनुद्धातिका ।

कुत ? इति चेदुच्यते-

जेण खवणं करिस्मति, कम्माणं तारिसो अजव्वस्स ।

ण य उप्पज्जइ जावो, एति भावो तस्सऽणुग्यातो ॥

येन शुभाध्यवसायेन कर्मणां ज्ञानावरणादीनां कृपणमसौ क-
रिष्यति स तादृशो भावोऽभव्यस्य कदाचिदपि नोत्पद्यते, इ-
त्यतस्तस्य जावोऽनुद्धानः कर्मणाऽनुद्धानं कर्तुमसमर्थः । अत
एव तस्य कर्माणि अनुद्धातिकानि ज्ञायन्ते ।

अत्र च प्रायश्चित्तानुद्धातिकेनाधिकारः । तच्च कुत्र प्रवर्ती-
त्याह-

हत्थे य कम्म मेहुण, रत्तीभत्ते य होतऽणुग्याता ।

एतेसि तु पहाणं, पत्तेय परवणं वोच्चं ॥

हस्ते हस्तकर्मकरणे, मैथुनसेवने, रात्रिभक्ते पतेषु त्रिषु सूत्रो-
क्तपदेषु अनुद्धातिकानि गुरुकाणि प्रायश्चित्तानि प्रवर्तन्ते । तत्र
हस्तकर्मणि मासगुरुक मैथुनरात्रिजक्त्योश्चतुर्गुणाः । पतश्च
प्रायश्चित्तं यदा यत्र स्थाने भवति तत्पुरस्ताद् व्यक्तीकरिष्यते ।
शु० ४ उ० । (अथैतेषां हस्तकर्ममैथुनरात्रिमौजनानां व्याख्या-
न्यत्र स्वस्थस्थान एव कृष्या) ।

उपसहरन्नाह-

अत्थं पुण अधिकारो-ऽणुग्याता जेसु जेसु ठाणेषु ।

उच्चारियसरिसाई, सेसाइ निकोवण्णाय ॥

अत्र पुनः प्रस्तुतसूत्रे हस्तकर्ममैथुनरात्रिजक्त्यप्यै स्थानैराधि-
कार प्रयोजनम् । कैरित्याह-येषु येषु स्थानेषु अनुद्धानि गु-

रुकाणि प्रायश्चित्तानि भणितानि तैरेवाधिकारः । शेषाणि पुनरु-
च्चारितार्थसदृशानि शिष्याणां विकोपनार्थमुक्तानि । ४० ४
उ० । उद्धातिके अनुद्धातिकमनुद्धातिके वा उद्धातिक पञ्चानु-
द्धातिकाः । “पंच अणुग्याइमा पणत्ता । तं जहा-हत्थकम्म क-
रेमाणे मेहुणं पमिसेवमाणे राईभोयण भुजमाणे सागारियिपि
भुजमाणे रायपिड भुजमाणे” स्था० ५ भा० २ र० । उद्धातिके अ-
नुद्धातिकमनुद्धातिके उद्धातिक ददतः प्रायश्चित्तम् ।

जे भिक्खू उग्याइयं सोच्चा णच्चा संजुजइ संजुजंतं वा
साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे निक्खू उग्याइयहेउं सोच्चा णच्चा
संजुजइ संजुजंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे निक्खू उग्याइय-
संकपं सोच्चा णच्चा संजुजइ संजुजंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥
जे निक्खू उग्याइयं वा उग्याइयहेउं वा उग्याइयसंकपं
वा सोच्चा णच्चा संजुजइ संजुजंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥
जे निक्खू अणुग्याइयं सोच्चा णच्चा संजुजइ संजुजंतं वा
साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे निक्खू अणुग्यातियहेउं सोच्चा
णच्चा संजुजइ संजुजंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू
अणुग्याइयसंकपं सोच्चा णच्चा संजुजइ संजुजंतं वा
साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू उग्यातियं वा अणुग्याइयं
वा सोच्चा णच्चा संजुजइ संजुजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥
जे भिक्खू उग्यातियहेउं अणुग्याइयहेउं वा सोच्चा णच्चा
संजुजइ संजुजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे निक्खू उग्या-
तियसंकपं वा अणुग्याइयसंकपं वा सोच्चा णच्चा
संजुजइ संजुजंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे निक्खू
उग्याइयं वा अणुग्याइयं वा उग्याइयहेउं वा अणुग्या-
इयहेउं वा उग्याइयसंकपं वा अणुग्याइयसंकपं वा सोच्चा
णच्चा संजुजइ संजुजंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे निक्खू
अणुग्याइयं वा उग्याइयं वा सोच्चा णच्चा संजुजइ
संजुजंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे भिक्खू अणुग्याइयहेउं
वा उग्याइयहेउं वा सोच्चा णच्चा संजुजइ संजुजंतं वा
साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू अणुग्याइयसंकपं वा
उग्याइयसंकपं वा सोच्चा णच्चा संजुजइ संजुजंतं वा
साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे निक्खू अणुग्याइयं वा अणुग्याइ-
यहेउं वा अणुग्याइयसंकपं वा उग्याइयं वा उ-
ग्याइय हेउं वा उग्याइयसंकपं वा सोच्चा णच्चा संजुजइ
संजुजंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

एव अणुग्यातिप वि सुत्ता । उग्याताणुग्यायहेउप वि दो
सुत्ता । उग्यायाणुग्यायसकप्पे वि दो सुत्ता ।

एते छ सुत्ता-

उग्यातियं वट्ठे, आवसुग्यायहेउगे होति ।

उग्यातियसंकप्पिय-मुच्चे परिहारियं तहेव ॥ २६० ॥

उग्यातिय णाम जं सतर वहति, लघुमित्यर्थः । अणुग्यातियं
णाम जं गिरतर वहति, गुरुमित्यर्थः । सोच्चं ति अणुसगा-

साओ, एव ति सयमेव जाणिता, संभुजेति एगओ भोजनमः
उग्यायहेउ सकप्पाण अणुग्यातियाण तिरिह वि इमं वक्खाणं ।
उग्यातिय पायच्छित्तं वहतस्स पायच्छित्तमावणस्स जाव
मणालोइयं ताव हेउ भणति, आलोइए अ सुखविणे तुज्जे य
पच्छित्तं विच्छिद्विहिति सि संकप्पिय भणति, एय पुण दुविध पि
दुविह वहति-सुखतवेण वा परिहारतवेण वा हत्तविमुख-
स्स तवस्स वा परिहारतवस्स वा सकप्पियं पि सुखतवेण वा
परिहारतवेण अणुग्यायहेयहेउ सकप्पाण अणुग्यातियाण
तिरिह इमं वक्खाणं ।

अणुग्यातियं वहुंते, आवसुग्यातहेउगे होति ।

अणुग्यातियसंकप्पिय-सुखे परिहारियं तहेव ॥२६१॥

पूर्ववत्, एवरं, अणुग्यातिय चि वत्तव्वं, जे सगच्छे सुखपरि-
हारतवा ए अरुह तेणज्जति चेव । जे परगच्छातो आगता ते
पुच्छिज्जति ।

को भंते ! परियाओ, सुत्तयअजिगहो तवो कम्मा ।

कक्खममक्खमएसु य, मुत्तवे मढवादो चि ॥२६२॥

इमा पदमा पुच्छा ।

गीयमीओ गीओ, महत्तिफं वन्नु कस्स वसि जोगो ? ।

अग्गीउ चि य भणिते, थिरमथिरतवे प कयजोगो ॥२६३॥

सो पुच्छिज्जति-किं तुमं गीयतो अगीयतो ? । जदि सो
भणति-गीतोऽहमिति, तो पुणो पुच्छिज्जति-किं आयरिओ ?
उवज्जाओ ? पव्वसो ? थेरो ? गणवच्छेओ ? नेता ? वसभो ? ।
एतेसि एगतेरे अक्खाप पुच्छिज्जति-कयमस्स तवजोगा सु-
खस्स परिहारस्स, अह सो अगीतोऽहमिति भणिज्जति, तओ
पुच्छिज्जति-थिरो अधिरो चि । थिरो ददो तवकरणे वलवा-
नित्यर्थ । अधिरो अन्तर एव भज्जते, नान्त नयतीत्यर्थ ।
पुण थिरो अधिरो वा पुच्छिज्जति-ताव कयजोगो तव-
कारणेनाभ्यस्ततयो ।

सगणम्मि नत्थि पुच्छा, अस्सगणादागयं च जं जाणे ।

परियायजम्मदिव्वा, उणतीसा वीसकोमी वा ॥२६४॥

सगणे एया उ णत्थि पुच्छा उ, अओ सगणवासिणी सव्वे
णज्जति । जो आरिसो अप्रगणागतं पि जं जाणे तं नो पुच्छेम
भंते ! आमंतणवयण परियाप चि । परियाओ दुविहो-जम्मप-
रियाओ, पव्वज्जापरियाओ य । जम्मपरियाओ जहणेण जस्स
एगुणतीस वीसा कह ? जम्मववरिसो पव्वति । तो एवमव-
रिसो पव्वति, तो एवमवरिसे पव्वति, तो ते एवमवरिसे प-
व्वतीओ विसतिवरिस्स वरिसेण सम्मओ । एव वरिसेण स-
म्मओ । एयं वरिसेण समसी । एते अ उणतीस वीसो उक्कोसेण
वेसूणा पुव्वकोडी पव्वज्जा उणवीसस्स दिट्ठिवातो उदिघो
वरिसेण सम्मओ । एते वीस उक्कोसेण वेसूणा पुव्वकोडी ।

इदंणि सुतत्थमिति—

नवमस्स ततियवत्थू, जहणउकोसनूणग दसचं ।

सुत्तयअजिगहे पुण, दव्वादितवो रयणमादी ॥२६५॥

एवमस्स पुव्वजहणेण सतिआयारवत्थूकाले णाण वणि-
ज्जति, जाहे त अधीय उक्कोसेण जाहे कणगा दसपुव्वा अ-
भीता समसदसपुव्विणो परिहारतवो ण दिज्जति, सुत्तयस्स

एयं पमाणं (अभिगगहेति) अभिगगहा दव्वपक्खेसे कालभावे
हि तवो तवोकम्मं पुण (रयणमादि चि) रयणावली आविस-
हातो फणगावली, सीहविकीलिय जवमज्ज वहरमज्ज वदा-
णय' फण्णहेसु य पच्छुद्धं । अस्य व्याख्या-सुखपरिहारत-
वाण कतमो फण्णडो, कयमो वा अफण्णडो ? , एत्थ सेलए
मड्ढेडि दिट्ठतो फज्जति ।

जं मायति तं ह्मुभति, सेलमए मंमवे ण परंढे ।

उभयपलियम्मि एवं, परिहारो दुव्वले सुप्पो ॥२६६॥

सेलमड्ढे जं मायइ त ह्मुभति ण सो भज्जति, परंढमए
पुण आवतिय ह्मुभति, एव उभयवलिय तिविधे संघय णो-
वजुसो ज आवज्जति इमेरिसाण सव्वकाल सुखतवो तं परि-
हारतवेण दिज्जति, सो पुण वित्तिसंघयणे हि दुग्घलोऽति-
हीणो तस्स सुखतवो वा हां ।तरं पि दिज्जति । सीसो पुच्छ-
ति-किं सुखपरिहारतवाण एगावली उत मिष्ठा ? ।

उच्यते—

अविसिद्धा आवत्ती, सुखतवे संहयणपरिहारे ।

वत्थु पुण आसज्जा, दिज्जते तत्थ एगतरो ॥२६७॥

सुखपरिहारतवाण अविसेसी आवत्ती आरियादिवत्ती ।
संघयणोयजुत्त जाणिऊण परिहारतवो दिज्जति, इतरो वा
सुखतवो एग एगतरो दिज्जति, इमेरिसाण सव्वकाल सुख-
तवो दिज्जति ।

सुखतवो अज्जाणं, अगियत्थे दुव्वहे असंघयणे ।

धितियवलिय समत्ता-गए य सव्वेसिं परिहारो ॥२६८॥

अज्जाण गीयत्थस्स वित्तीयदुव्वलस्स संघयणहीणे एतेसि
सुखतवो दिज्जति, धितवलजुत्तो संघयणसमक्षिप य पुरिसे
परिहारे तव पडिवज्जते । इमो विही-

विउसगो जाणद्धा, ववणाजीए य दोमु वी तेसु ।

आगम य दीयराया, दिट्ठतो नीय आसत्थे ॥२६९॥

परिहारतव पडिवज्जते दव्वादि अप्पसत्थवज्जेसा पस-
त्थेसु दव्वादिसु काउस्सगो कीरइ, सेससाह जाणणछा आ-
लावणाविपदाण पट्टवणा ठविज्जति, तेसु अ ठविपसु जदि
भीता तो आसासो कीरइ ति, इमेहि से वीहे पायच्छित्त सु-
ज्जति महती य णिज्जरा भवति, कप्पट्टियअणुपरिहारिया
य दो सहाया ठविता इमेहि अगडितिराइदिट्ठतेहि भीतस्स
आसासो कीरइ, अगडे पडियस्स आसासो कीरति, एस
जणो धावति, रज्जआ णिज्जति अधिराउसारेज्जसि, मा वि-
साद गेणहसु, एव जतिणा सासिज्जति, तो कयातिभाएण
तत्थ चेव मारेज्ज, णदीपूरगेण हीरमाणो भणति-तड अवल-
वाहिप सत्तारगो वतिगादि धेचुमतारिओ मुचारेहिस्सि, मा वि-
साद गेणहसु । रायगहिओ वि भणति-एस राया जदि वि दुट्ठो
तहवि विषविज्जतो पुरिमादिपसु आयार पस्सति, अइरुडं
न करेति, एव आसासिज्जतो आससात्ति, ददवेचो न
भवति ।

काउस्सगो य किं कारण कीरइ ? , उच्यते—

नीरुवसगाणिमिचं, भयजणणद्धा य सेसगाणं तु ।

तस्स-प्पणो य गुरुणो, पमाहए होति पमिवत्ती २७०

साहुस्स णिरुवसग्गणिमित्त सेससाहुण य मयाजणणठा का-
उस्सग्गो कीरह, सो य दब्बेओ वडमावि खीरुखेसओ जिण-
घरादिसु कावओ पुव्वसूरे पसत्थादिदिणेषु य भावतो चदता-
रावत्तेसु तस्सप्पणो य गुरुणो य साहएसु पणिवत्ती भवति । सो
य जहन्नेण मासो, उक्कोसेण ढम्मासा, तम्मि परिहारतव पणिव-
ज्जति । आयरियो भणति-एय साहुस्स णिरुवसग्गणिमित्त गा-
मि काउम्सग्गं जाव वोसिरामि, दोगस्सज्जोयगर अणुपेहेत्ता
णमोऽरिहताणं ति पारेत्ता लोगुस्सवं कर कट्ठित्ता आयरि-
यो भणति-

कप्पट्ठिओ अहं ते, अणुपरिहारी य एस ते गीओ ।

पुव्वि कयपरिहारो, तस्म य सयणो विदद्वेहो ॥ २७१ ॥

आयरियो आयरिया णिउत्तो वा णियमगीयत्थो तस्स आ-
यरियाण पदाणुपाल्लो कप्पट्ठितो भवति । सो जणति-अहं
ते कप्पट्ठि परिहारिय गच्छंत सव्वत्थ अणुगच्छन्ति जो सो
अणुपरिहारितो सो वि णियमागीयत्थो । सो से विज्जति एस ते
अणुपरिहारी, सो पुण पुव्वकयपरिहारियस्स अस्सति अणो वि
अकषपरिहाराविति सधयणज्जुत्तो दद्वेहो गीयत्थो अणुपरि-
हारितो उविज्जति । एवं दोसु उविएसु इम भवति-

एस तवं पडिवज्जति, ण किंचि आलवति मा हु आलवह ।

आत्तट्ठित्तगस्सा, वाघाओ ने न कायव्वो ॥ २७२ ॥

एस आयविसुक्कारओ परिहारतवं पडिवज्जति । एस तुज्जे
ण किंचि आलवति, तुज्जे वि एयं मा आलवह । एस तुज्जे
सुत्तत्थेसु सरारं वट्ठमाणी वा ण पुच्छति, तुज्जे वि एय मा पु-
च्छह । एवं परियट्ठणादिपदा सव्वे ज्ञाणियव्वा । एव आलव-
णादिपदे आत्मार्य चिन्तकस्य ध्यानपरिहारक्रियाव्याघातो न
कर्तव्यः । इमा ते आलवणादिपदा-

आलावणपडिपुच्छण-परियट्ठणाणवदणगमत्तो ।

पणिलेहणसंधामग-भत्तदाणसंभुजणे चैव ॥ २७३ ॥

आलावो देववक्कादिपुच्छादिपसु पुव्वा वीतसुतस्स परियट्ठ-
ण कालजिक्खादियाण उठाव । सओ सुतुत्तिहेत्ति खमणमादी-
य वा वदर्णं खलकायसखासंसत्तो मत्तगो वा ण सौहिति तस्स
तिओ वा ण घेप्पति उवकरण, परोप्पर ण पणिवेहेति सधामगा
परोप्पर ण जवति, जसदाण परोप्पर ण करेति । एवं मडलीए
ण ज्जति । यच्चान्यत्किञ्चित्करणीयं तत्तेन सार्द्धं न कुर्वन्तीत्य-
र्थः । इम गच्छवासीण पच्छिन्त-

संधाडगतो जो वा, लहुगो मासो दमएह तु पदाणे ।

लहुगा य जत्तदाणे, सभुजणे होतऽणुग्याया ॥ २७४ ॥

जदि गच्छिण्णा परिहारिय आलवति तो ताण मासअहु ।
एव जाव सधामगपद अछम सव्वेसु मासअहु । जदि गच्छि-
या जत्त गेएहसु तो चउअहु, एगछ ज्जताण चउगुरुं, परि-
हारियस्स अछसु पएसु मासगुरु, जत्तदाणसभुजणेषु चउगुरु,
कप्पट्ठियस्स अणुपरिहारियस्स दोएह वि एगसभोगो, एते दो-
वि गच्छिण्णएहिं समाण आलाव करेति । वदामोत्ति य भणति
सेस ण करेति । कप्पट्ठियपरिहारियाण इम परोप्पर करणं-

कितिकम्मं च पडिच्छति, परिस्स पडिपुच्छं पि से देति ।

सो वि य गुरुमुवचिद्धति, उदंतमवि पुच्छितो कहति ॥ २७५ ॥

कप्पट्ठि परिहारियवदण पणिवज्जति, परिस्सति पक्खस्सा-
णं देति । सुत्तत्थेसु पडिपुच्छं दित्ति, सो वि परिहारियओ

कप्पट्ठियं अणुचिच्छति अणुट्ठणति किरिय सुत्तम करेति ।
सखादिगच्छतो अयेह पुच्छितो कप्पट्ठियेण ओदत इति सरीर-
ट्ठमाणी कहेति-

उट्ठिज्ज णिसीएजा, भिक्खं गेएहज्ज भंरुगं पेहे ।

कुविए पि वंधयस्स व, करेति इनरो च तुसिणीओ ॥ २७६ ॥

परिहारितो तवकिलामितो अह बुव्वसयाए उट्ठेउ ण सकेह,
ताहे अणुपरिहारियस्स अमानो ज्जनि । उट्ठेज्जामि णिसीएजा-
मि जिक्खं हिंढिउ ण सकेमि, तोऽणुपरिहारियो परिहारियजाय
णेहिं हिंमिनु देति । जह ण सकेह जरुग पडिसेहेउ ताहेअणु-
परिहारितो से पणिवेहसिय करेह, जह ण सकेति सखाका-
इयज्जमि गतु, तत्थ परिहारिओ भणति-कायसखा ज्जमि ग-
च्छेज्जामि, ताहे अंसे अणुपरिहारिओ करेति ।

सुत्ताणवाओ इत्थं, परिहारतवम्मि होति दुविधम्मि ।

सोवा वा णवा वा, संजुंजतस्स आणादी ॥ २७७ ॥

एत्थ सुत्त निवाओ, जो परिहारतव दुविध उगधायं अणुग्यायव-
इह त सोखा णवा वा जो संजुंजति तस्स आणादिदोसा जवति ।

वितियपदे साहुवद-ए उभओ गेलखधेरअसती य ।

आलोयणादि तु पए, जयणाए समायरे जिक्ख ॥ २७८ ॥

साधुवदणति अणत्थ साधुसठिना अणो साधू ते दहु भ-
णति-अमुगसाहुस्स वदण करेज्जा, सो परिहारतव पडिवज्जो
जस्स परिज्जाति यं हत्थो ते आयाणतो वदिउ वदणकय कथेति
तस्स णं दोसो, उभओ गेलखं वि कप्पट्ठिय अणुपरिहारिय परि-
हारिओ य एते जदि तिणिण वि गिलाणा, ताहे गच्छेज्जया सव्व
जयणाए करेति । का जयणा भणति ? गच्छिण्णया परिहारि-
यमाणेहिं हिंढित्ता कप्पट्ठियस्स पणामेति । सो अणुपरिहारि-
यस्स पणामेति, सोवि परियस्स पणामेति । सो वि परिहारियक
प्पट्ठिय अणुपरिहारिया पणामेत्ति पि ण वपति । सोयमेव गच्छि-
ण्णया सव्वे गिलाणा तो ते कप्पट्ठिया दिया तिणि जयणाए
सव्वं पि करेज्जा, परिहारिव गच्छिण्णयभायणेषु आभिओ अणु-
परिहारियस्स पणावेति, सो कप्पट्ठियस्स, सो वि गच्छिण्णया
धेरअसतीए धेरा आयरिया तोसि वेयावच्चकरस्स असना
वेयावच्चकरवाघाए वा अणो य सलद्धीओ णत्थि, ताहे परि-
हारिओ वि करेज्ज जयणा, एसो भायणेषु हिंढिउ अणुपरिहा-
रियस्स पणावति । कप्पट्ठियस्स वासो आयरियाण देति, एवमा-
दिकज्जेसु आलावणादिपदे जयणाए भिक्खु समाचरेदित्थं ।
सुत्ताणि हु इदाणि एतेसि चैव उएह सुत्ताण दुगादित्तगसुत्ता
वत्तव्वा । तत्थ दुगसजोगे पन्नरस सुत्ता जवति । तत्थ पढमं
दसमं च एते तिणि दुगं सजोगसुत्ता सुत्त णेव गहिया ।
सेसा वारसऽत्थतो वत्तव्वा । तिगसजोगेण वीस सुत्ता भ-
वति । तत्थ छुछ पन्नरसम च होति सुत्ता सुत्तेणैव गहिया ।
सेसा अट्ठारस अत्थेणैव वत्तव्वा । चउसजोगेण पन्नरस, ते
अत्थेण वत्तव्वा । छुक्कसजोगे एके तं सुत्तेणैव भणिय । एव
एते सत्तावण संजोगसुत्ता भवति । एतेसि अत्थो पुव्वसमो
दुगसजोगेण उग्यातिय अणुग्यातिय वा कह समवति ? अ
उग्यातिय अणुग्यायसभवो । अहवा तवेण अणुग्यातकालतो
उग्यातिय एव वज्जिक्कण भावेतव्व । नि० चू० १० उ० ।

अणुग्याय-अनुद्घात-पु० । न विद्यते उद्घातो लघूकरण-
लक्षणो यस्य तदनुद्घातम् । यथाश्रुतदाने, स्था० ५ ठा० २
उ० । आचारप्रकल्पभेदे, आचा० १ ध्रु० ८ अ० २ उ० ।

अणुग्यायण-अणोद्घातन-न० । अणुत्पन्नेन जन्तुगणश्चतु-
र्गतिरससारमित्यण कर्म, तस्योत्प्रावर्त्येन घातनमपनयनम-
णोद्घातनम् । कर्मण उद्घातने, " से मेहावी जे अणुग्याय-
णस्स सेयणे जे य वंधप मोक्कमणोसी कुमले पुण णो वद्धे
णो मुक्के " आचा० १ ध्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणुग्रासत-अनुग्रासयत्-त्रि० । आत्मना गृहीत्वा पश्चाद् ग्रास
वदति, " जं भिक्खु मा उग्गामस्स मेहुणवहियाप अणुग्या-
सेज्ज वा अणुपापज्ज वा अणुग्यासत वा अणुपायत वा सा-
इज्ज " नि० चू० ७ उ० । (' मेहुण ' शब्दे ऽस्य व्याख्या)

अणुच (य) १-अनुचर-त्रि० । अनुचरन्ति । अनु-चर-ट ।
स्त्रियां ङीप् । सहचरे, पश्चात्तामिनि च । वाच० । अनुपरिहा-
रिकपदस्थितानां यावत् पाण्मासकत्पस्थितानां सेवाकारके,
उक्त० २८ अ० ।

अणुचरित्ता-अनुचर्य-त्रि० । आनेत्ये, स० ।

अणुचित्तण-अनुचिन्तन-न० । पर्यालोचने, आच० ४ अ० ।

अणुचिता-अनुचिन्ता-स्त्री० । अनुचिन्तनमनुचिन्ता, मनसै-
वाविस्तरणमिच्छेत् सूत्रानुस्मरणे, आच० ४ अ० ।

अणुचिक्कण-अनुच्युत्ता-अभ्य० । पश्चाच्च्युत्वेत्यर्थे, " अणु-
चिक्कणेहागमो तिरियपक्कीसु " महा० ६ अ० ।

अणुचिक्कण-अनुचोर्णवत्-त्रि० । अनुष्ठितवति, आचा० १ ध्रु०
८ अ० ६ उ० ।

अणुचिय-अनुचित-त्रि० । अज्ञाधितशंके, ध्रु० १ उ० । अयो-
ग्ये, पो० ७ चि० ।

अणुची-अनुचिन्त्य-अभ्य० । शौत्पत्तिकयादिनेदभिज्ञया बुद्ध्या
पर्यालोच्येत्यर्थे, आच० ४ अ० । जी० । सूत्र० । " अणुचीइ
मासए सयाणमज्जे लहइ पससण " अनुविचिन्त्य पर्यालोच्य
भाषमाणः । सतां साधूना मध्ये लभते प्रशसनम् । दश० ७
अ० । सूत्र० ।

अणुचीइभामि (ण)-अनुविचिन्त्यभाषिन्-त्रि० । अनुवि-
चिन्त्य पर्यालोच्य भाषते इत्येव शीलोऽनुविचिन्त्यभाषी । अभ्य०
१ उ० । आलोचितवत्कृति, दश० ६ अ० ।

अणुचरिय-अनुचरित-त्रि० । अशब्दिते, महा० १ चू० ।

अणुचर्य-अभ्य० । निन्द्यत्वाद्वाचयितुमयोग्ये, " अभिग्गहि-
यमिच्छदिष्ठी अणुचरियणामधेजे सुज्जसिवे " महा० १ चू० ।

अणुचसइ-अनुचशब्द पु० । अनुचस्वरे, " त पुण अणुचसइ
वोच्छिन्नमिय पभासेइ " न विद्यते उच्च शब्द स्वरो यस्य तद-
नुचशब्द, तदन्यवच्छिन्न शब्द विधिकममिधित्ताकरमित्यर्थः,
तस्मिन् । अभ्य० १ उ० ।

अणुचाकुइय-अनुचाकुचिक पु० । उच्चा हस्तादि यावत् येन
पिपीलिकादेर्वधो न स्यात् सर्पादेर्वा दशो न स्यात्, अकु-
चाकुचपरिस्पन्द इति वचनात् । परिस्पन्दरहिता निश्चलेति
यावत्, तन कर्मधारये उच्चा कुचा शब्दा कम्बादिमयी सा

नो विद्यते यस्य स अनुचाकुचिकः । नीचमपरिस्पन्दशब्दाके,
कल्प० ।

अणुजाइ (ण)-अनुयायिन् पु० । सेवके, को० ।

अणुजाण-अनुयान-न० । रथयात्रायाम्, ध्रु० १ उ० ।

तद्विधिधैवम्-

नमिक्कण वद्धमाणं, सम्मं संखेवओ पवक्खामि ।

जिणजत्ताए विहाण, सिद्धिफलं सुत्तणीतीए ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, वर्धमानं महावीरं, सम्यग्भाषतः, सक्षेपतः स-
मासन, प्रवक्ष्यामि मणिष्यामि, जिनयात्राया अहदुत्सवस्य वि-
धान विधि, सिद्धिफलं मोक्षप्रयोजन, सूत्रनीत्या आगमन्याये-
नाति गाथार्थ ॥१॥

जिनयात्राविधिं प्रवक्ष्यामीत्युक्तम्, अथ तत्प्रस्तावनायैवाह-

दंसणमिह मोक्खंगं, परमं एयस्स अट्ठाहाऽऽयारे ।

णिस्संकादा जणितो, पजावणंतो जिणदेहि ॥ २ ॥

दर्शनं सम्यक्त्वम्, इह प्रवचने, मोक्षाङ्ग सिद्धिकारण, परम प्र-
धानम्, आदिकाग्नत्वात्, तस्यानन्तरकारणतया तु परम चा-
रित्रमेव, 'सारो चरणस्स निव्वाणमिति' वचनादिति । एतस्य
दर्शनस्य, पुनरुद्घाऽष्टाभिः प्रकारैः, आचारो व्यवहारे यः स-
म्यग्दर्शनिनामाचारः स दर्शनस्याचार उच्यते, गुणगुणिनोरभेदा-
त् । तमेवाह-शङ्का सशय, तदभावो नि शङ्को नि शङ्कितव, त-
दादियस्य स नि शङ्कावि, जणिनोऽभिहित, प्रभावान्तो जिन-
शासनोद्भावनाऽवसानं, जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः । तथाहि-"निस्स-
कियनिकायिय, निज्जितिगिच्छा अमूढादिद्वी य । उववूहथिरी-
करणे वच्छल्लपभावणा अट्ठा" इति गाथार्थः ॥२॥

ततः किम् ?, अत आह-

पवरा पभावणा इह, असेसभावम्मि तीए सव्वावा ।

जिणजत्ता य तयंग, जं पवरं ता पयामोऽयं ॥ ३ ॥

प्रवरा प्रधाना, प्रभावना जिनशासनोद्भावना, इहाष्टप्रकारे स-
म्यग्दर्शनाचारे । कुत एवमित्याह- अशेषाणां समस्तानां निः-
शङ्कितादिसम्यग्दर्शनाचाराणां भाव सत्ता अशेषभावस्तस्मिन्
सति, तस्या प्रभावनाया, सद्भावात् सभवाभि शङ्कितादि-
गुणयुक्त एव हि प्रजावको प्रवर्तते । ततोऽपि किमित्याह-
जिनयात्रा च जिनोद्देशमह, पुनस्तद्वद् जिनप्रवचनप्रभावना-
कारण, यद्यस्माहेनो, प्रवर प्रधान, तत्तस्माहेतो, प्रयास प्रय-
तोऽयमेव वक्ष्यमाणस्वरूपो जिनयात्राविषय इति गाथार्थः । ३।

अथ जिनयात्रेति कोऽर्थ इत्यस्या जिज्ञासायामाह-

जत्ता महूसवो खलु, उद्विस्स जिणे स कीरई जो उ ।

सो जिणजत्ता जणई, तिण विहाणं तु दाणाइ ॥ ४ ॥

यात्रा केत्याह-महोत्सवः खलु महामह एव, नतु देशान्तरगम-
नम् । ततः किमत आह-उद्विष्यामि जिनानर्हतं स इति म-
होत्सव 'जिणे उ' इत्यत्र तु पाठान्तरे जिनांस्तु जिनामेवेति व्या-
ख्येयम्, क्रियते विधीयते । यस्तु य एव स इत्यसावेव महोत्सवो
जिनयात्रेति भ्रूयते अभिधीयते, तस्या जिनयात्राया विधानं
तु कल्प पुनर्दानादिविधानप्रवृत्तिः । आदिशब्दात्तत्प्रावृत्तिप्रवृ-
त्ति गाथार्थः ॥४॥

एतदेवाह-

दाणं तवोवहाणं, सरीरसकारमो जहासत्ति ।

उचितं च गीतवाइय, युतियोत्तापेच्छणादीय ॥ ५ ॥

दान वितरण, तथा तपउपधान तप.कर्म, तथा शरीरसत्कारो देहभूषा, मशब्दः प्राकृतशैलीप्रभवः, यथाशक्ति सामर्थ्यान्तिक्रमेण, इदं च क्रियाविशेषणम्, प्रत्येक दानादिषु संबध्यते । उचितं योग्यम् । चशब्दः समुच्चये । गीतं च गेय, वादितं च पटहादिनादित, गीतवादितम् । अनुस्वारलोपभाऽत्र छुप्य, प्राकृतत्वात् । तथा स्तुतिस्तोत्राणि एकानेकश्लोकरूपाणि, प्रेक्षणदि च प्रेक्षणकप्रवृत्ति च । आदिशब्दात्काव्यकथारथभ्रमणादिपरिग्रहो जिनयात्राविधानं च भवतीति प्रक्रमः, इति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ॥ ५ ॥ पञ्चा० ए विव० । (यात्राविषय दानद्वारम् 'अणुकंपा' शब्देऽत्रैव भागे ३६० पृष्ठे उक्तम्) ।

अथ तपोद्वारमाह-

एकासणाइ णियमा, तवोवहाणं पि एत्थ कायव्वं ।

तत्तो जावविमुच्ची, णियमा विहिसेवणा चेव ॥ ७ ॥

एकाशनादि एकभक्तप्रवृत्ति, आदिशब्दाच्चतुर्थादिपरिग्रहः, नियमादवश्यतया, उपधीयते अनेनेत्युपधानं चरित्रोपष्टम्भनहेतु, तप एवोपधानं तपउपधानं, तदपि न केवलं दानमेव । अत्र जिनयात्रायां कर्तव्य विधेय भवति । कस्मादिदं कर्तव्यमित्याह-ततस्तपउपधानाद् भावविशुद्धिरध्यवसायनैर्मनस्य नियमादवश्यतया जवति, भावविशुद्धिरेव धर्मार्थिनामुपादेयेति, तथा विधिसेवना जिनयात्रा नीत्यनुपासना चैवेति समुच्चयार्थः । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उक्त तपोद्वारम् ।

अथ शरीरसत्कारद्वारमाह-

वत्थविलेवणमद्धा-दिण्हिं विविहो सरीरसकारो ।

कायव्वो जहासत्ति, पवरो देविदणएण ॥ ८ ॥

वत्थविलेपनमाल्यादिनिर्वासोऽनुलेपनपुष्पप्रवृत्तिजिरादिशब्दादलङ्कारपरिग्रहः । विविधो बहुविध, शरीरसत्कारो देहभूषा, कर्तव्यो विधेयो, यथाशक्ति शक्यनतिक्रमेण, प्रवरः सर्वोत्तमः । कथम् ? देवेन्द्रजातेन सुरराजोदाहरणेन, यथादि-जगवतामर्हतां जन्ममहादिषु सुरेन्द्र सर्वविचूत्या सर्वादरेण च शरीरसत्कार विधत्ते, तद्वदन्यैरप्यसौ विधेय इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तः शरीरसत्कारः ।

अथोचितं गीत्याद्याह-

उचियमिह गीयवाइय-मुचियाण वयाइपामिहि जं रम्मं ।

जिणगुणविसयं सच्छ-म्मनुह्जिणगं आणवहासं ॥ ९ ॥

उचितं योग्यमिह जिनयात्रायां, गीतवादिनं गेयवाद्यम् । किं-विधमित्याह-उचितानां योग्यानां स्वचूम्निकपेक्षया धय आदिकै कालकृतावस्थाप्रवृत्तिभिर्विद्योवैज्ञक्यरूपसौजाग्यैर्दार्थ्यैर्भार्या-दिभिर्जीवैर्यस्य रमणीय जिनगुणविषय वीतरागत्वादितीर्थ-करणगुणोच्चरं न राजादिगुणविषय, तदपि सचूर्मवृद्धिजनक सुन्दरधर्ममत्युत्पादक, तदप्यनुपहासमविद्यमानोपहासमनुपहासमिति गाथार्थः ॥ ९ ॥

स्तुतिस्तोत्रद्वाराभिधानायाह-

थुडयोत्ता पुण ओचिय, गंजीरपयत्थविरइया जे उ ।

सवेगवुद्धिजणगा, समा य पाएण सव्वेसिं ॥ १० ॥

स्तुतिस्तोत्राणि प्रतीतानि, पुनः शब्दो विशेषद्योतनार्थः । उचि-

तानि योग्यानि । किंविधानीत्याह-गम्भीरैरनुच्यत्वात्सुमशुद्धि-गम्यैः पदार्थैः । शब्दाजिधेयैर्विचिन्तानि विहितानि गम्भीरपदार्थविरचितानि, यानि तु यान्येव तान्यपि सवेगवृद्धिजनकानि भोक्ताभिलाषातिशयकारीणि, समानि च तुल्यानि च आविष-माणि वा सुबोधानीत्याह-प्रायेण बाहुल्येन सर्वेषां स्तोत्रा-मनुल्यादिस्तोत्रादिपाठे हि कोलाहल एवेति न पुनस्तप्तोत्रा-भावोत्कर्ष इति गाथार्थः ॥ १० ॥ उक्त स्तुत्यादिद्वारम् ।

अथ प्रेक्षणाकादिद्वारमाह-

पेच्छणागावि एमादी, धम्मियणाभयजुआइं इह उचिया ।

पत्थावो पुण ऐओ, इमेसिमारंभमादीओ ॥ ११ ॥

प्रेक्षणकान्यपि प्रेक्षाविधयः । अपिशब्दः स्तुत्याद्यपेक्षया समु-च्चये । किं स्वरूपाणि; 'नमा' इति नटः शैलूषः तत्प्रवर्तित यत्प्रे-क्षणकं तन्नट एवोच्यते-नटप्रेक्षणकमित्यर्थः, तदादि येषां प्रे-क्षणकाणां तानि नटादीनि । आदिशब्दाच्चदितरपरिग्रहः । तानि चेह किंविधान्युचितानीत्याह-धार्मिकनाटकयुतानि जिन-म्माच्युदयभरतनिष्क्रमणादिधर्मसंबन्धनाटकोपेतानि, इह जिन-यात्रायामुचितानि योग्यानि, भव्यश्रोतृणां सेवगोत्यादकत्वात् । प्रस्तावोऽत्रसरः । पुनः शब्दो विशेषणार्थः । केयो ज्ञातव्यः, एषां प्रेक्षणकानामारम्भादियत्रारम्भादिरादिशब्दाद्यात्रामभ्यादि-ति गाथार्थः ॥ ११ ॥ प्रेक्षणकानामारम्भादिप्रस्ताव उक्तः ।

अथ दानस्य कः प्रस्ताव इत्याशङ्क्यामाह-

आरंजे चिय दाणं, दीणादीणमणुहुजिणएणत्थं ।

रक्षाऽमाघायकारण-मणहं गुरुणा स सत्तीए ॥ १२ ॥

(आरंजे चिय) यात्रारम्भकाल एव, दान वितरण विधेय भवति । किमर्थमित्याह-दीणादीनां रक्षप्रवृत्तीनां मनस्तुष्टि-दिनानाथचित्ततोषविधानाय तथा राज्ञा नृपेण मा लक्ष्मीः । सा च द्वेधा-धनलक्ष्मीः, प्राणलक्ष्मीश्च, अतस्तस्या घातो हननतया-ज्ञातोऽमाघातोऽमारिरक्ष्यापहारश्चेत्यर्थः । तस्य करण वि-धानममाघातकरणमनघ निदोष बध्नृत्तमोजनवृत्तिमात्रसपा-दनेन, अन्यथा तदुत्पुच्छेदापत्तेर्गुरुणा प्रावचनिकेन स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येनेति गाथार्थः ॥ १२ ॥

प्रस्तुतविधिसमर्थनायागमविधिमाह-

विसयपवेसे राणो, उ दंसणमोगाहादिकहणा य ।

अणुजाणावणविहिणा, तेणाणुणायसंवामो ॥ १३ ॥

विषयप्रवेशे मण्डलप्रवेशने, राज्ञो नृपतेः, तुशब्दः समुच्चयार्थः । तेन तद्भावे तन्मान्ययुवराजमहामात्यादेः दर्शने मीलका-कार्ये, दर्शने च सति 'किमागमनकारणम् ?' इति च तेन पृष्ठे अवग्रहस्य 'देविदरायगहवइ-सागरसाहम्मिओ गहो जेव' इत्येवविधस्य, आदिशब्दाद्राजराकितास्तपस्विनो भवन्तीत्यादे-श्च । यदाह-"कुद्रोकोकाकुले लोके, धर्मं कुर्युः कथं हि ते? कान्त-दान्ताऽरिहन्तारस्तांश्चेद्राजा न रक्षतीति" कथना प्रकृणा अ-ग्रहादिकथना, चशब्दः समुच्चये, कार्येति बोधः । तत्रा-नुज्ञापनमुत्कथनकार्यम्, अवग्रहस्य विधिनाऽऽगमनीत्या, ततस्तेन राज्ञा राजसंमतेन वा अनुज्ञाते मुक्तस्तिऽवग्रहे सवासो निवा-सः, तद्देशे विधेय इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

कस्मादेव विधीयते इत्याह-

एमा पवयणणीती, पवसंताण.णिज्जरा बिज्जला ।

इहलोयम्मि वि दोसा, ण होति णियमा गुणा होति ॥ १४ ॥

अणुजाण

एषाऽनन्तरोक्ता प्रवचननीतिरागमन्यायो वर्तते । अथानया को गुण इत्याह-एवमनन्तरोक्तनीत्या वसतां तद्देशे निवसतां निर्जरा कर्मज्ञः, विपुला बह्वी, अदत्तादानव्रतस्य निरतिचार-स्यानुपादनादाक्षाराधनाच्च । नचैतावदेवात्र फलमित्याह-इह लोकेऽप्यत्रापि जन्मनि, आस्तां परलोके, दोषा प्रत्यनीककृतो-पद्रवज्ञाणाः, न प्रवन्ति न जायन्ते । नियमादवश्यभावेन गुणाः पुना राजपरिग्रहालोके मान्यतादयो, भवन्ति जायन्ते । यदाह-“ गन्तव्य राजकुले, द्रष्टव्या राजपूजिता लोकाः । यद्यपि न प्रवन्त्यर्था, नवन्त्यनर्थप्रतीघाता ” ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ १४॥

ये गुणा भवन्ति तानेवाह-

दिद्वो पवयणगुरुणा राया अणुसासिञ्चो य विहिणा उ ।

तं नत्थिजं ए विररु, किञ्चित्तिमिह आमघाओ ति ॥ १५ ॥

दृष्टोऽवलोकित, प्रवचनगुरुणा प्रधानाचार्येण, राजा नृपति, अनुशासितोऽनुशिष्टश्च, विधिना तु प्रवचननीत्यैव तत्प्रकृत्यनुवर्तना-दिलक्षणया । यदाह-“ बाह्यादिभावमेव, सम्यग्बिज्ञाय देहिना गुरु-णा । सद्धर्मदेशनाऽपि हि, कर्त्तव्या तदनुसारेण ” ॥ १॥ एव चासौ प्रमुदितमना तद्वस्तु नास्ति न विद्यते यच्च धितरति न ददाति, सर्वमेव ददातीत्यर्थः । कियत् किंपरिमाणम्?, अल्पमिति कृत्वा ददात्येवेत्यर्थः । इह यात्राऽवसरे अमाघात प्राणिघातनिवारण-म्, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः । इति गाथार्थः ॥ १५ ॥

अनुशासित इत्युक्तमतस्तदनुशासनविधिं प्रस्तावयन्नाह-

एत्थमणुसासणविही, जणिञ्चो सामएणगुणपसंसाए ।

गंभीराहरणेहिं, उत्तीहिं य जावसाराहिं ॥ १६ ॥

अत्र राजविषये, अनुशासनविधिरनुशास्तिविधान, भणित वक्तुं, सुरिति । कथम्?, सामान्यगुणप्रशंसया लोके लोकोत्तरा-विरुद्धविनयदाकियसौजन्यादिगुणस्तुत्या, तथा गम्भीरोदा-हरणैरनुकूलज्ञाति, महापुरुषगतैरुक्तिभिश्च जणितिजिञ्च, भाव-साराभिर्भावगर्भाभिर्नतु तद्विकलाभिरिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

अनुशासनाधिमेवाह-

सामएणे मणुजत्ते, धम्माओ णरीसरत्तणं रोयं ।

इय मुणिज्जण सुंदर !, जत्ता एयम्मि कायव्वो ॥ १७ ॥

सामान्ये बहूनां प्राणिनां साधारणे मनुजत्वे नरत्वे धर्माद् कुशलकर्मणो नरेश्वरत्व नृपत्व भवतीति ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । इति एतद् ज्ञात्वाऽवगम्य, सुन्दर ! नरप्रधान ! यत्न उद्यमाऽत्र धर्मे कर्त्तव्यो विधेयो भवतीति गाथार्थः ॥ १७ ॥

इच्छीण मूलमेमो, सव्वासिं जणमणोहराणं ति ।

एसो य जाणवत्तं, ऐओ संसारजलहिम्मि ॥ १८ ॥

श्रद्धीनां सपदा भूशमिव मूल कारणम्, एष धर्मः । सर्वासां नरामरसंश्रद्धिनीनां जनमनोहरणा लोके चेतोहारिणानाम् । इति श्रद्धां लोकप्रसिद्धस्य सपदा जनमनोहरणस्योपदर्शनार्थः । अनेन च सांसारिकफलसाधुत्वमस्योपदर्शितम् । अथ निर्वाण-फलसाधकत्वमित्याह-एष चायमेव यानपात्रं बोधिस्थ इव ज्ञे-यो ज्ञातव्यः, संसारजलधौ जवोदधौ तरोतव्य इति गाथार्थः ।

कथं पुनरेव भवतीत्याह-

जायइ य मुहो एसो, उच्चियत्तापायणेण सव्वस्म ।

जत्ताए वीयरागा-ए विसयसारत्तओ पवरो ॥ १९ ॥

जायते सपद्यते, चशब्दः पुनरर्थः, शुभं कुशलानुपपन्नं, शुभ-

निमित्तत्वादेश धर्मः, उचितार्थापादनेनानुरूपवस्तुसंपादनेन, स-र्वस्य समस्तजनस्य । इहैव विशेषमाह-‘जत्ताए’ इत्यादि । का-का चेदमवधेयम्-यात्रयोत्सवेन, पुनर्यात्रायां वा उचितार्थापाद-नेनेति प्रकृतम् । केषाम्?, वीतरागाणां जिनानां, विषयसारत्वतः प्रधानगोचरत्वात् । वीतरागा एव हि निखिलवृत्तजननातिशा-यिगुणत्वेन यात्रागोचरोऽनुपवरितो जवतीति प्रवर प्रधानतर-क्षेपजनोचितार्थसंपादनोद्भवधर्मापेक्षया एष जायत इति प्रकृ-तमिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

अधिकतराजानुशासनविधौ यो जावस्तं प्रकटयन्नाह-

एतीए सव्वसत्ता, सुहिया खु अहिंसि तम्मि कालम्मि ।

एहिह पि आमघाए-ए कुणसु तं चेव एतेसिं ॥ २० ॥

एतया वीतरागयात्रया एतस्या वा, सर्वसत्त्वा समस्तदेहिन, सुखिता एवानन्दवन्त एव, ‘खु’ शब्दोऽवधारणार्थः । (अहि-सि सि) अचूच, तस्मिन् काले तदा यदा, जिनानां जन्माद्य-जन्तु । ततश्चेदानीमप्यधुनाऽपि, यथाऽतीतकाल इत्यपिशब्दार्थः । [आमघाएण ति] प्राकृतत्वादमाघातेन, अमारिप्रदानेन, कुरुष्व विधेहि, त्व महाराज ‘देव’ सुखितत्वमेव । एतेषा सर्वसत्त्वाना-नामिति गाथार्थः ॥ २० ॥

अथाचार्यो न भवेत्तत्र तदा को विधिरित्याह-

तम्मि असंते राया, दद्वच्चा सावगेहिं वि कमेण ।

कारेयव्वो य तद्दा, दाणेण वि आमघाओ ति ॥ २१ ॥

तस्मिन् प्रवचनगुरावसत्यविद्यमाने, उपलक्षणत्वाद्वाजदशना-द्यसमर्थे वा, राजा नरपतिर्द्रष्टव्यो दर्शनीय, भावकैरपि श्रमणोपासकैरपि, न तु न द्रष्टव्य इत्येतदर्थससूचनार्थोऽपि-शब्दः । क्रमेण नीत्या तद्वाजकुलप्रसिद्धया, कारयितव्यो विधा-पयितव्यो राज्ञा । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योपक्रम-प्रार्थः । तथा कारयितव्यश्चेत्येव चास्य प्रयोगः । इति नेच्छति चेद्वाजा त कारयितु तदा दानेनापि द्रव्यवितरणोऽपि न केवलं वचनेनेत्यपिशब्दार्थः । (आमघाओ ति) अमाघात प्राणिनाम-मारिः, इतिशब्द समाप्त्यर्थ इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

किं चान्यत्-

तेसिं पि धायगाणं, दायव्व सामपुव्वगं दाणं ।

तत्तियदिणाण उच्चिय, कायव्वो देसणा य मुहो ॥ २२ ॥

तेषामपि न केवलममाघात एव कारयितव्य इत्यपिशब्दार्थः । घातकानां प्राणिवधोपजायिता मत्स्यवन्धादीनां, दानव्य देय, सामपूर्वक प्रेमोत्पादकवचनपुरस्सर, दानमन्त्रादिवितरणं, ता-दृशानां यात्रापरिणामदिवसानामुन्नितं योग्यम्, कर्त्तव्या विधेया, देशना च धर्मदेशना च शुभाऽनवघा । यथा-भयतामप्येव धर्मा-घातिर्भविष्यतीत्यादिरूपा, अन्येन च परोपनापपरिहारो धर्मा-धिना श्रेयानित्युक्तमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥

एव क्रियमाणे को गुण इत्याह-

तित्थस्स वसुवाओ, एवं लोगाम्मि वोहिलाओ य ।

केसिं वि होइ पग्गो, अमोसिं वीयलाओ ति ॥ २३ ॥

तीर्थस्य जितप्रवचनस्य, घणंयाद अद्याद्या, पचममुना प्रकारेण दानपूर्वकाऽमाघातकारणलक्षणैः, लोके जने, भवति । ननश्च किमित्याह-बोधिलान् सम्यग्दर्शनप्राप्ति, चण्ड- पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च । केषांविष्टपुत्रकर्मणा प्राणिनां, जयति जायते, परम प्रधानोऽङ्गेण मोक्षसाधकयादित्येवं पुनरपरेणां, पुनर्दोजलान् सम्यग्दर्शनरीजस्य जिनशासनपदं पातकशुभाप्ययमायन-

णस्य प्राप्तिः । इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

कथ तीर्थवर्णवाद् एव बोधिबीजं प्रवत्यत आह-

जच्चिय गुणपमिवत्ती, सञ्जाणुमयम्मि होइ पमिसुद्धा ।

सा वि य जायति बोही-ए तेण एणएण चौराणं ॥ २४ ॥

चियशब्द एवकारार्थः, स चापिशब्दार्थः । ततश्च यापिकाचि-
द्वत्पाऽप्येत्यर्थः । गुणप्रतिपत्तिगुणाज्युपगतिः, सर्वकृमते जिन-
शासनविषये, भवति जायते, परिशुद्धा भावगर्भा, साऽपि गुण-
प्रतिपत्ति, जायते सपद्यते, बीजहेतुबोधये, सम्यग्दर्शनप्रतिप-
त्ते, तेन ज्ञातेन, चौरादाहरणेन तच्च प्रागुक्तमिति गाथार्थः ॥ २४ ॥

यदि श्रावका अपि राजदर्शनासमर्थस्तदा को विधिरित्याह-

इय सामत्थाभावे, ढोहि वि बमोहिं पुब्बपुरिसाणं ।

इयसामत्थजुआणं, बहुमाणो होति कायव्वो ॥ २५ ॥

इत्युक्तरूपे राजदर्शनद्वारेणामाघातकारणे यत्सामर्थ्यं बलं
तस्य योऽज्ञाव. स तथा तस्मिन्, द्वाच्यामपि, आस्तामेकेन,
वर्गाज्यां समुदायाज्यां, प्रवचनगुरुश्रावकलक्षणभ्यां पूर्वपुरुषा-
णामतीतमानवानाम्, इति सामर्थ्ययुतानाममाघातकारणवद्वयु-
क्तानां, बहुमानः प्रीतिविशेषो, भवति वर्त्तते, कर्त्तव्यो विधेय इति
गाथार्थः ॥ २५ ॥

बहुमानमेव स्वरूपत आह-

ते धम्मा सप्पुरिसा, जे एयं एवमेव णीसेसं ।

पुब्ब करिमु किच्चं, जिणजत्ताए विहाणेणं ॥ २६ ॥

ते पूर्वपुरुषः, धन्याः श्लाघ्याः, सत्पुरुषा महापुरुषा, वर्त्तन्ते ये,
एतदनन्तरोक्तकृत्यमिति योगः । एवमेवोक्तन्यायेनैव, निःशेषं सर्वं,
पूर्वकाले (करिमु स्ति) भ्रूयुः कृत्य करणीय, ज्ञानपूर्वामाघात-
लक्षणं, जिनयात्रायां जिनोत्तमे, विधानेन विधिनेति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अम्हेउ तह अधम्मा, धम्मा उए एतिएण जं तेसिं ।

बहु मष्साभो चरियं, सुहावहं धम्मपुरिसाणं ॥ २७ ॥

वयं तु वय पुनस्तथा तेन प्रकारेण जिनयात्रादिसमयविधान-
संपादनसामर्थ्याभाववत्तत्वेनाऽधन्या अश्लाघ्याः, धन्याः पुनः
श्लाघ्या, पुनरित्यता एतावता, यत्तेषां पूर्वपुरुषाणां, बहु मन्यामहे
पक्षपातविषयः । कुर्मः, चरित चेष्टिन सुखावह सुखकारण शुभाव-
ह वा, धर्मपुरुषाणां धर्मप्रधाननराणाम् । वीरपुरुषाणामिति च
पात्रान्तरमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

एतद्बहुमानस्य फलमाह-

इय बहुमाणा तेसिं, गुणाणमणुमोयणा णिआगेण ।

तत्तो तज्जुहं वि य, होइ फलं आसयविसेसा ॥ २८ ॥

इत्यादिबहुमानादनन्तरोक्तपक्षपाताकृतोत्तेषां पूर्वपुरुषाणां
सत्त्वानां गुणानां धर्मचरणादीनामनुमोदनाऽनुमतिर्नियोगेनाव-
श्यनया भवति (तत्तो स्ति) ततश्च गुणानुमोदनात्, तत्तुल्यमेव
पूर्वपुरुषानुष्ठानफलसममेव प्रवति । जायते । फल कर्मकथादिको
गुणः । यदाह-"अपडियमायरतो, अणुमोयतो य सग्गइ वड्ड ।
रहकाराणअणुमो यगो मिगो जइ य वड्डेवो" ॥ १ ॥ अथ कथं
कलानुष्ठानवता सकलानुष्ठानवद्विस्तृत्य फलं भवतीत्याह-
आशयविशेषादध्यवसायनेनात् । अध्यवसाय एव हि पर का-
रणं शुभाशुनकर्मबन्धादिं प्रति । यदाह-"परमरहस्समिसीण,
सम्मनगणिपिमगजरियमाराण । परिणामिय पमाणं, निच्चयम-
वययमाणेण" ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ २८ ॥

'भारंभेधिय दाण' इत्यादि संज्ञकं तदुपसहरन्नाह-

कयमेत्थ पसंगेणं, तवोवहाणादिया वि णियसमए ।

अणुरुवं कायव्वा, जिणाण कद्धाणदियहेसुं ॥ २९ ॥

कृतमद्यमत्र दानाभाघातप्रसङ्गेन प्रसक्त्या तप उपधानादिका
अपि तपःकर्मशरीरसत्कारप्रभृतिका अपि प्राया न केवलं दान-
मित्यपिशब्दार्थः । निजसमये स्वकीयावसरे रुढिगम्ये अनुकूलम्
औचित्येन कर्त्तव्या विधेया । कदेत्याह-जिनानामर्हतां कल्याण-
दिवसेषु पञ्चमहाकल्याणीप्रतिबद्धदिनोष्विति गाथार्थः ॥ २९ ॥

कल्याणान्येव स्वरूपतः फलतश्चाह-

पंच महाकद्धाणा, सच्चैसिं जिणाण होति णियमेण ।

जुवणच्छेरयजूया, कद्धाणफला ये जीवाणं ॥ ३० ॥

गन्ने जम्मे य तहा, णिक्खमणे चेव एणणिक्खाने ।

जुवणगुरुण जिणाणं, कद्धाणा होति णायव्वा ॥ ३१ ॥

पञ्चेति पञ्च महाकल्याणानि परमश्रेयांसि सर्वेषां सकलकाल
निस्त्रिन्नरलोकभाविनां जिनानामर्हतां भवन्ति नियमेनावश्यभा-
वेन, तथावस्तुस्थभावत्वात् । भुवनाश्चर्यभूतानि निस्त्रिन्नवना-
द्भुतभूतानि, त्रिभुवनजनानन्दहेतुत्वात् । तथा कल्याणफलानि च
नि श्रेयससाधनानि । च. समुच्चये । जीवानां प्राणिनामिति । गर्भे
गर्भाधाने, जन्मन्युत्पत्तौ । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योप-
क्षेपे । निष्क्रमणे अगारवासाभिर्गमे, चैवेति समुच्चयावधारणा-
र्थवित्युत्तरत्र संज्ञत्येते । ज्ञाननिर्वाणे समाहारद्वन्द्वत्वात्केवल-
ज्ञाननिर्धृत्योरेव च । केषां गर्भादिष्वित्याह-जुवणगुरुणां जगज्जे
ष्ठानां जिनानामर्हताम् । किमित्याह-कल्याणानि श्रेयससामि,
भवन्ति वर्त्तन्ते, ज्ञातव्यानि ज्ञेयानीति माथाद्वयार्थः ॥ ३०-३१ ॥

ततश्च-

तेसु य दिणेषु धम्मा, देविंदाई करिति जत्तिणया ।

जिणजत्तादि विहाणा, कद्धाणं अण्णो चेव ॥ ३२ ॥

(तेसु यत्ति) तेषु च दिनेषु दिवसेषु, येषु गर्भादयो बन्तुर्ध-
न्या धर्मधनं लब्ध्वा, पुण्यभाज इत्यर्थः । देवेन्द्रादयः सुरेन्द्र-
प्रभृतयः, कुर्वन्ति विदधाति, भक्तिनता बहुमाननम्राः । किमित्या-
ह?-जिनयात्राऽप्रदे-अर्हद्वत्सवपूजास्त्राप्रभृतितम् । कुन इत्याह-
विधानाद्विधिना । अथवा जिनयात्रादिविधानानि । किञ्च जिन-
यात्रादीत्याह-कल्याण श्रेयससम् । कस्येत्याह-आत्मनः स्वस्य,
चैवशब्दस्य समुच्चयार्थत्वेन परेषां वेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

यत एवम्-

इय ते दिणा पसत्था, ता सेसेहिं पि तेसु कायव्वं ।

जिणजत्तादि सहरिसं, ते य ड्मे वक्कमाणस्स ॥ ३३ ॥

इत्यतो हेतोः पूर्वोक्तजीवानां कल्याणफलत्वादिलक्षणात् इति,
येषु जिनगर्जाधानादयो भवन्ति, दिना दिवसा, दिनशब्दं पुंल्लिङ्गं
होऽप्यस्ति । प्रशस्ता श्रेयांसि । तनः किमित्याह-(ता इति) य-
स्मादेव तस्मात् श्रेयसपि देवे-कादिव्यतिरिक्तमनुष्यैरपि, न क-
वलमिन्द्रादिभिरेवेत्यपिशब्दार्थः । तेषु गर्भादिकल्याणदिनेषु,
कर्त्तव्यं विधेयं, जिनयात्रादि वीतरागोत्सवपूजाप्रभृतिकं दम्भ-
सहर्षं सप्रमोदं ययाभवति । कानि च तानि दिनानीत्येषां
जिज्ञासायां सर्वजिनसंबन्धिनानां तेषां च यत्तुमशक्यं यादृशं मान-
तीर्थाधिपतित्वेन प्रत्यासन्नपात्रे कर्त्तव्यं महारीरम्यं, तानि दि-
वसुराह-(ते यत्ति) तानि पुनर्गर्भादिदिनानि इमानि यद्वयम्

माणां चर्कमानस्य महावीरजिनस्य भवन्तीति गाथार्थः ॥३३॥
तान्येषाह-

आसादसुद्धदृष्टी, चेत्त तह सुष्ठतेरसी चैव ।

मगसिरकिणहदसमी, वड्माहे सुष्ठदसमी य ॥ ३४ ॥

कच्चियकिणहे चरिमा, गवभाइदिणा जहकमं एते ।

हत्थुत्तरजोएणं, चउरो तह सातिणा चरमो ॥ ३५ ॥

आपादशुद्धदृष्टी आपादमासे शुक्लपक्वस्य पृथी तिथिरित्येक दिनम् । एव चैत्रमासे । तथेति समुच्चये । शुद्धयोदशयेवेति द्वितीयम् । चैत्रेत्यवधारणे । तथा मार्गशीर्षकृष्णदशमीति तृतीयम् । वैशाख शुद्धदशमीति चतुर्थम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । कार्तिककृष्णे चरमा पञ्चदशीति पञ्चमम् । एतानि किमित्याह-गर्भादिदिनानि गर्भजन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसाः, यथाक्रम क्रमेणैव, एतान्यनन्तरोक्तानि, एषां च मध्ये हस्तोत्तरयोगेन हस्त उत्तरो यासां हस्तोपलक्षिता वा उत्तरा हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्यः । तामिर्योग सवन्धश्चन्द्रस्येति हस्तोत्तरायोगः, तेन करणभूतेन, चत्वार्याद्यानि दिनानि भवन्ति । तथेति समुच्चये । स्वातिना स्वातिनक्षत्रेण युक्तः । (चरमो चि) चरमकल्याणक-दिनमिति, प्रकृतत्वादिति गाथाद्वयार्थः ॥ ३४-३५ ॥

अथ किमिति महावीरस्यैवैतानि दर्शितानीत्यत्राह-

अधिगयतित्यविहाया, भगवं ति णिदंसिया इमे तस्स ।

सेसाण वि एवं वि य, णियणियतित्येषु विसेया ॥ ३६ ॥

अधिकृततीर्थविधाता वर्त्तमानप्रवचनकर्ता, भगवान्महावीर इति, हेतोर्निर्दिष्टान्युक्तानि, इमानि कल्याणकदिनानि, तस्य चर्कमानजिनस्य, अथ शेषाणां तान्यतिदिशन्नाह-शेषाणामपि, न चर्कमानस्यैव । रूपभादीनामपि, वर्त्तमानावसर्पिणीभरतकेशा-पेक्षया एवमेवेह तीर्थं चर्कमानस्यैव, निजनिजतीर्थेषु स्वकी-यप्रवचनावसरेषु, विज्ञेयानि ज्ञातव्यानि, मुख्यवृत्त्या विधेयतयेति । इह च यान्येव गर्भादिदिनानि जम्बूद्वीपजरतानामृषजादिजिनानां तान्येव सर्वभरतानां सर्वैरावतानां च, यान्येव एतेषामस्यामवस-र्पिण्या तान्येव च व्यत्ययेनोत्सर्पिण्यामपीति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अथ किमेव कल्याणकेषु जिनयात्रा विधीयत इत्याह-

तित्यगरे बहुमाणो, अञ्जासो तह य जीतिकप्पस्स ।

देविदाद्यणुकिची, गंभीरपखवणा ठोए ॥ ३७ ॥

वसो य पवयणस्सा, इय जत्ताए जिणाण णियमेण ।

मग्गाणुसारिभावो, जायइ एत्तो न्वि य विसुद्धो ॥ ३८ ॥

तीर्थकरे जिनविषये, बहुमानः पक्वपातः तदिदं दिनं यत्र भग-वान् अजनीरथादि विकल्पितः कृतो भवतीति सर्वत्र गम्य-मिति । यात्रयेत्यनेन योगः । तथेति वाक्योपक्रमार्थोऽत्र द्रष्ट-व्यः । अज्जासोऽन्यसनम् । चशब्दः समुच्चये । जितकल्पस्य पूर्वपुरुषाचरितलक्षणाचारस्येति । तथा देवेन्द्राद्यनुकृतिः दे-वाधिपदेन्द्रानवप्रज्जत्याचाराणुकरणम् । तथा गम्भीरप्ररूपणा गम्भीर साभिप्रायमिदं यात्राविधानं न यादृच्छिकमित्यस्य प्ररू-पणा प्रकाशना गम्भीरप्ररूपणा कृता प्रवर्तते, तथा ठोके जनमध्ये; वर्णः प्रसिद्धिर्जायत इति योगः । चशब्दः समुच्चये । कस्य ? प्रवचनस्य जिनशासनस्य, शीर्षत्य प्राकृतत्वादिनि । या-त्रया अनन्तरोक्तविधानोत्सवेन, क्रियमाणयेति गम्यम् । केयाम् ? जिनानां वीतरागाणां, नियमेन नियोगेन, (एत्तो न्वि य चि) यत

एव कल्याणकयात्रया तीर्थकरबहुमानादिकं कृतं भवत्यत एव हेतोर्मानुसारिभावो मोक्षपथानुकूलाध्यवसायः प्रागमानुसारी वा, जायते प्रवर्तते । असौ किंभूतः ? विशुद्धोऽनवधः । स्वतो विशु-द्धोऽसौ जायते, विशुद्धवर्तीत्यर्थ इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३७-३८ ॥

यद्यसौ जायते तत किमित्याह-

तत्तो सयलसमीहिय-सिच्छी णियमेण अविकलं जं से ।

कारणमितीएँ भणिओ, जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥ ३९ ॥

ततो विशुद्धमार्गानुसारभावास्तिकलसमीहितासिद्धिर्निश्चि-त्तमित्यर्थनिष्पत्तिर्नियमेन नियोगेन, कृतं पुनरेतदित्याह-अ-विकलमवन्ध्य यद् यस्मात्कारणं हेतुः, अस्याः सकल-समीहितसिद्धेर्भणितोऽनिहितो, जिनैरर्हद्भिः । जिनाश्च नाम-जिनादयोऽपि भवन्तीत्यत आह-जितरागद्वेषैर्विगतासत्यवा-क्कारणैरित्यर्थ इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

अथ कथमसौ मार्गानुसाराभावः सकलसमीहितसिद्धेः का-रणं भणित इत्यत्रोच्यते, शुभचेष्टानिमित्तत्वेन, एतदेव दर्श-यन्नाह-

मग्गाणुसारिणो खलु, तत्तामिणिवेसओ मुत्ता चैव ।

होइ समत्ता चेडा, अमुभा वि य णिरणुवंधत्ति ॥ ४० ॥

मार्गानुसारिणो मोक्षपथानुकूलभावस्य जीवस्य, खलुर्वाक्या-लङ्कारे, शुभं चेष्टेति सवन्धः । कुन एवमित्याह-तत्त्वाभिनिवे-शतो वस्तुस्वरूपनिर्णीपातिशयात्, शुभैव प्रशस्तैव, नेतरा । चैवशब्दोऽवधारणार्थः । भवति जायते, समस्ता निःशेषा, चे-ष्टा क्रियाऽशुभा । किं सर्वथा न भवतीत्यस्यामाशङ्क्यामाह-अशुभाऽपि चाप्रशस्ताऽपि च । चेष्टेति वर्त्तते । अपि चेति समुच्चये । भवति केवलं निरनुबन्धा अनुबन्धनराहिता-पुन पुनरभाविनीत्यर्थः । इतिशब्दः समाप्तार्थिति गाथार्थः ॥ ४० ॥

कुतो निरनुबन्धा सेत्याह-

सो कम्मपारतंता, वट्ठइ तीए ण जावओ जम्हा ।

इय जत्ता इय वीयं, एवंभूयस्स जावस्स ॥ ४१ ॥

स मार्गानुसारी जीवः कर्मपारतन्त्र्याच्चारित्रमोहनीयक-मेषशादेव, वर्त्तते प्रवर्त्तते, तस्यामशुभचेष्टायां, न भावतो न पुनर्भावेनान्त करणेन तत्त्वाभिनिवेशादेव यस्मात्कारणात्त-स्माद् निरनुबन्धेति प्रकृतमिति । कल्याणकयात्राफलनिगम-नायाह-इति यात्राऽनन्तरोक्तकल्याणकजिनोत्सव इत्युक्तन्या-येन शुभचेष्टाहेतुलक्षणेन बीजं कारणम्, एवभूतस्यानन्तरो-क्तस्य सकलसमीहितसिद्धिकारणस्य, भावस्य मार्गानुसारि-परिणामस्य, पूर्वोक्तस्येति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

उत्सवविशेषस्यान्यस्यापि कल्याणकदिनेष्वेव वि-

धेयता दर्शयन्नाह-

ता रहुणिकखमणादि वि, एतेसु दिणे पमुच्च कायव्व ।

जं एसो न्वि य विसओ, पहाणमो तीएँ किरियाए ॥ ४२ ॥

तदिति यस्मात्तीर्थकरबहुमानादयोऽनन्तराभिहितशुणा क-ल्याणकदिनेषु जिनयात्रायां भवन्ति, तस्माद्रथस्य जिनवि-म्वाधिष्ठितस्य स्यन्दनस्य, जिनगृहान्निष्क्रमण निर्गमो नगरप-रिभ्रमार्थं रथनिष्क्रमणं तदाद्यपि तत्प्रभृतिकर्म, आदिश-

द्वाचिकविकाचित्रपटनिष्क्रमणादिग्रहः । न केवलं यात्रेत्यपि शब्दार्थः । एतेषु च तान्येव कल्याणकरुपाणि दिवसान् प्रतीत्याश्रित्य, कर्तव्य विधेयं भवति । कस्मादेवमित्याह—यद्यस्मात्कारणादेव एव कल्याणदिनलक्षणो विषयो गोचरः प्रधानः शोभनः । मकारस्तु प्राकृतशैलीप्रभवः । तस्या रथनिष्क्रमणादिकायाः क्रियायाः चेष्टायाः, इदं चावधारणमनागमोक्तदिनव्यवच्छेदार्थमेव द्रष्टव्यम्, आगमोक्तदिनानां त्वागमप्रामाण्यादेव प्रधानत्वात् । अभिधीयते चागमे—“सवच्छुरचा-उम्मा—सएसु अछाहियासु य तिहीसु । सन्वायरेण लग्गाइ, जिणवरपूया तवगुणेषु” ॥ १ ॥ तथा प्रतिष्ठानन्तरमष्टाहिकाया इहैव विधेयतयोपदिष्टत्वादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

ननु कल्याणकदिनेष्वेव यात्रायाः कथं प्राधान्यम् ? बहुफलत्वादिति श्रूमः, एतदेवाह—

विसयप्पगारिसभावे, किरियामेत्तं पि बहुफलं होई ।

सक्किरिया विहु एण तहा, इयरम्मि अब्बीयरानि व्व ॥ ४३ ॥

विषयस्य क्रियाविशेषगोचरस्य प्रकर्षभाव उत्कृष्टताविषय-प्रकर्षभावः तत्र, क्रियामात्रमपि अविशेषवत् क्रियाऽपि, आस्तां विशिष्टा, बहुफलं प्रभूतेष्टफलं भवति जायते । एतस्यैव व्यतिरेकमाह—सत्क्रिया विशिष्टचेष्टाऽपि आस्तां क्रियामात्रम् । इशब्दोऽलङ्कृतौ । न तथा न तत्प्रकारा, न बहुफला जवति । इतरस्मिन् विषयस्य प्रकर्षभावे, उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह—अब्बीतरागे इव पुरुषमात्रवत् । यथाऽस्य वीतरागे गुणोत्कर्षभावेन विषयप्रकर्षभावेन महत्यपि पूजादिका चेष्टा बहुफला न भवति, तथा कल्याणकदिनेष्वन्येऽन्यत्रेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अथ कल्याणकयात्रामेव पुरस्कुर्वन्नुपदेशमाह—

लब्धूणं दुब्बह ता, माणुयत्तं तह य पवयणं जइणं ।

उत्तमणिदंसणेसुं, बहुमाणो होऽ कायव्वो ॥ ४४ ॥

लब्धा प्राप्य, दुर्लभमसुब्बज (ता इति) यस्मादिन्द्रादिभिः कृता बहुफला च कल्याणकयात्रा तस्मात्कारणान्मनुजत्वं नरत्वम् । तथाचेति समुच्चयार्थः । प्रवचनं शासनं, जैन सर्वज्ञरचितं, जिनमतप्राप्तियुक्तस्यैव विशिष्टोपदेशयोग्यता तत्सफलताकरणे सामर्थ्यं च भवतीति कृत्वा मनुजत्वमित्याद्युक्तम् । उत्तमनिदर्शनेषु प्रधानसत्त्वज्ञातेष्विन्द्रादिलक्षणेभ्यः । तद्यथा कल्याणकयात्रा विधेया देवप्रभृत्प्रभृतिप्रवर्तितेय, यत इति बहुमानः पक्कातो, भवति जायते, कर्त्तव्यो विधेयो, न तु मोहोपहतसत्त्वनिदर्शनेषु यथा यथाऽमुनाऽमुना वाऽस्मत्पितृपितामहादिनाऽन्येन चेद विहितमिति विधेयमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

अधिकृतयात्रागममेवोपदेशान्तरमाह—

एसा उत्तमजत्ता, उत्तमसुयवणिण्णा सइ बुहेहिं ।

सेसा य उत्तमा खल्लु, उत्तमरिच्छीए कायव्वो ॥ ४५ ॥

एषाऽनन्तरोक्ता कल्याणकयात्रा उत्तमयात्रा प्रधानयात्रा, तदन्वया का वाच्येत्याह—उत्तमश्रुतवर्णिता प्रधानागमाभिहिता या सा, शेषा च कल्याणकव्यतिरिक्ताऽपि, उत्तमा खल्लु प्रधानैवाऽऽत्तमश्रुतवर्णिता तु, लोकरुढिकृता तु नेति । अतश्चोत्तमत्वात्सदा बुधैर्विद्वद्भिर्बुद्धमूर्त्त्या प्रधानविज्ञेयं, न यथाकथञ्चित्कर्त्तव्या विधेयेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

उक्तव्यतिरेके यदापद्यते तदाह—

इयग वाऽबहुमाणो ऽवस्सा य इमीए णिण्णबुद्धीए ।

एयं विचित्तियव्वं, गुणदोसविहावणं परमं ॥ ४६ ॥

इतरथाऽन्यथा उत्तममूर्त्त्या तदकरणे । अथवोत्तमयात्रायाः प्रकरणे तत्र यात्राविशेषाजिघासके उत्तमश्रुते उत्तमनिदर्शनेषु वा बहुमानः प्रीतिस्तद्वहुमानस्तत्प्रतिषेधोऽतद्वहुमानः स भवति । तदुक्तयात्राविशेषस्याकरणात् तथाऽवज्ञा आवधीरणा च कृता भवति । अस्यामुत्तमयात्रायामिति निपुणबुद्ध्या सूक्ष्मधिया । एतदनन्तरोक्तमनर्थद्वयं विचिन्तयितव्यं परिज्ञावनियमं, यतो गुणदोषविज्ञावनमर्थानर्थोचनं सर्वस्यानुष्ठानस्य परमं प्रधानम्, ततः प्रवृत्तिनिवृत्तिभावादिति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

उत्तमश्रुतोक्तयात्राऽवज्ञानेन लोकदुर्देयात्ताकरणमयुक्तमिति-दर्शयन्नाह—

जेट्ठम्मि विज्जमाणे, उच्चिय अणुजेट्ठपूयणमजुत्तं ।

लोगाहरणं च तहा, पयमे जगवन्तवयणम्मि ॥ ४७ ॥

ज्येष्ठे वृद्धतरे पुत्राद्यपेक्षया पित्रादौ विद्यमाने सति चचिते निर्दोषत्वेन पूजायोग्ये, अनुज्येष्ठस्य सद्यः पुत्रादेः, पूजनं सत्कारोऽयुक्तमसंगतम्, यथेति शेष इति दृष्टान्तः । दार्ष्टान्तिकमाह—(लोगाहरणं च) लोकोदाहरणमपि पित्राद्युद्देशेनामुष्मिन्वा मासादौ अमुना च क्रियते यात्राऽतस्तथैव सा नो विधेयेत्येव लक्षणं, तथा तद्वदयुक्तमेवानुज्येष्ठपूजनवत्, प्रकटे स्पष्टे भगवद्वचने जिनागमे सकलजगज्जनज्येष्ठे सतीति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

अयुक्तत्वमेव लोकोदाहरणस्य भावयन्नाह—

द्वोगो गुरुतरुगो खल्लु, एवं सति जगवतो विइहो चि ।

मिच्छत्तमो य एयं, एसा आसायणा परमा ॥ ४८ ॥

लोक एव सामान्यजन एव, गुरुतरुको गरीयान् । खल्लुखधारेणे, तस्य च दर्शित एव प्रयोगः । एवमुक्तनीत्या, जगद्वचनसद्भावेऽपि लोकप्रमाणीकरणलक्षणे वस्तुनि सति, भगवतोऽपि सकलजगज्ज्येष्ठजिनादपि सकाशाद्दिष्टोऽभिमतः । जतिः समाप्तौ । ततः किमित्याह—मिथ्यात्व मिथ्यादृष्टित्वम् । ओकारो निपातः पूरणार्थः चङाब्दः पुनरर्थकः । एतद्भगवदपेक्षया लोकस्य गुरुतरत्वाभिगमन विपरीतबोधत्वात्, तथा एषा लोकस्य गुरुतरत्वाभिगमनलक्षणा, आशातना सर्वज्ञावमानना, परमा प्रकृष्टा, अनन्तससारावेहत्यर्थः । सर्वज्ञवचनमेव प्रमाणतयाऽङ्गीकर्त्तव्यम् । लोकस्तु तद्विरुद्धानुष्ठान एवेति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

अथ सर्वज्ञमुपदेशमाह—

इय अस्सत्थ वि सम्मं, णाउं गुरुत्ताघवं विसेसेण ।

इष्टे पयट्टियव्वं, एसा खल्लु जगवतो आणा ॥ ४९ ॥

इत्येव कल्याणकयात्रावत्, अन्यत्रापि यात्राव्यतिरिक्ते दानादावपि, सम्यगवैपरीत्येन, ज्ञात्वा विज्ञाय, गुरुत्ताघवं सार्वतन्त्र्यं, विशेषेण परस्परपेक्षयाऽधिक्येन, इष्टेऽभिमतं वैयावृत्त्यादौ, प्रवर्तितव्यं यतितव्यं, यत एषा खल्लु इयमेवानन्तरोक्तभगवतो जि-नस्याज्ञा आदेश इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

अथोपसहरन्नाह—

जत्ताविहाणमेयं, णाऊणं गुरुमुहाउ धीरेहिं ।

एवं वि य कायव्वं, अविरहियं भत्तिमंतोहिं ॥ ५० ॥

यात्राविधानमेयं, णाऊणं गुरुमुहाउ धीरेहिं, एतदनन्तरोक्तं ज्ञात्वा विज्ञाय, गुरुमुखात् सूरिचदनाद्, धीरैर्धर्मिभिः, (एव वि य नि) एवमेवोक्तविधिनैव, कर्त्तव्यं विधेयम्, अविरहितं सततं भक्तिमार्गबहुमान

वहिरिति गार्थः ॥ ५० ॥ इति यात्राविधिप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् । पञ्चा०६ वि०० । (अथानुयाने यथा साधवोऽकल्प प-
रिहरन्ति तथा 'एसणा' शब्दे तृतीयज्ञाने ७० पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अथानुयानविषयो विधिरुच्यते—

आणाइयो य दोसा, विराहया होइ संजमप्पाए ।

एवं ता वच्चेते, दोसा पत्ते अणेगविहा ।

निष्कारणेऽनुयानं गच्छत आह्लादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मनो प्रवर्ति । एव तावद् व्रजतो मार्गे दोषाः, तत्र प्रा-
प्ताना पुनरनेकविधा दोषाः ।

तत्र संयमात्मविराधनां भावयति—

महिमा उस्तुयन्नूप, इरियादी न य विसोहए तत्थ ।

अप्पा वा काया वा, न सुत्त नेव पमिलेहणा ॥

महिमा नाम प्रगवतः प्रतिमायाः पुष्पारोपणादिपूजात्मक-
सातिशय उत्सव, तस्य दर्शनार्थमुत्सुकनूत ईर्यादिसमितिर्न
विशोधयति । आदिशब्दादेपणादिपरिग्रहः । तत्र चेर्यादिनामशो-
धने आत्मा च कायाश्च विराध्यन्ते । आत्मविराधना कण्टक-
स्याणवाद्युपघातेन, संयमविराधना पक्षां कायानामुपमर्दादिना,
तथा त्वरमाणत्वादेव न सूत्र गुणयति, उपलक्षणत्वादर्थं च ना-
नुपेक्षते, नैव प्रतिलेखना वस्त्रपात्रादेः करोति, अथवा अकाले-
ऽविधिना स करोति । एवमेव मार्गे गच्छतां दोषा अभिहिता ।

अथ न तत्र प्राप्तानां ये दोषास्तानभिधित्सुद्वारगाथामाह—

चेइय आहाकम्मं, उग्गमदोमा य सेह इत्थीओ ।

नामगसफासण्तं—तुलुहनिष्कम्मकज्जा य ॥

चैत्यानां स्वरूपं प्रथमतो वक्तव्यं, तत आधाकर्म, तत उद्गम-
दोषाः, तत शैक्वाणा पार्श्वस्थेषु गमनं, तत स्त्रीदर्शनसमुत्था
दोषा, ततो नाटकावलोकनप्रभवः, ततः सस्पर्शनसमुत्था,
तदनन्तरं तन्तवः कोलिकजाल तद्विषया, तदनु (खुडु चि) पा-
र्श्वस्थादिबुल्लकदर्शनसमुत्था, ततो निर्धर्मणा लिङ्गिनां यानि
कार्याणि तद्वृत्तिताश्च दोषा वक्तव्याः । इति द्वारगाथासमा-
सार्थः । ७० १ ७० । (चैत्यव्याख्या 'चेइय' शब्दे द्रष्टव्या)
(वसतिविषयनाधाकर्म 'आधाकम्म' शब्दे चि० भागे ३३०
पृष्ठे छल्यम्)

अथोद्गमदोषशैक्वाणद्वयमाह—

ठविए संखोच्चादी, दुसोहया होंति उग्गमे दोसा ।

वंदिज्जंते दड्डु, इयरे सेहा तहिं गच्छे ।

वहव संयता समायाता इति कृत्वा धर्मश्रद्धावान् लोक-
सयतार्थं स्थापित भक्तपानादे स्थापनां कुर्यात् । गृहमाग-
तानामक्षेपेणैव दास्याम इति कृत्वा (सङ्गोभ चि) यानि गृहाणि
साधुनिरूपणीयदाने अशङ्कनीयानि तेषु शाल्योदनतण्डुल-
भावनादिक भक्तपान, मोदकशोकावर्त्तिप्रभृतीनि वा स्वाद्यक-
विधानानि निक्षेपेयुः, साधूनामागतानां दातव्यानीति । आदि-
शब्दात् क्रीतकृतप्राप्तिकादिपरिग्रहः । एते उद्गमदोषा, तत्र
दुःशोभ्या वृत्तिपरिहार्या भवन्ति, तथा इतरान् पार्श्वस्थादीन् व-
हुजनेन बन्धमानान् पूज्यमानान् दृष्ट्वा शैक्वास्तत्र पार्श्वस्था-
दिषु गच्छेयुः ।

स्त्रीनाटकद्वारद्वयमाह—

इत्थी विठन्विया वि हु, चुत्ताणं दड्डु दोसाओ ।

एमेव नाटईया, सविग्गमा नव्विगीयाए ।

स्त्रीः विकुर्विता वस्त्रविधेपनादिनिरलङ्घिता दृष्ट्वा भुक्तानां दोषाः
स्मृतिकौतुकप्रज्वाः प्रवन्ति । एवमेव नाटकीया नाट्ययोपितः,
सविज्जमाः सविज्ञासाः, नर्तितगीतयोः प्रवृत्ता विलोक्य, भुत्वा
च भुक्ताभुक्तसमुत्था दोषा विज्ञेयाः ।

सस्पर्शनद्वारमाह—

इत्थिपुरिसाण फासे, गुरुगा दहगा सई य संघटे ।

अप्पासंजमदोसा—ऽणुभावरणं पच्छकम्मादी ।

समवसरणे पुष्पारोपणादिकौतुकेन भूयांस स्त्रीपुरुषा समा-
यान्ति, तेषां समर्पणं स्पर्शो प्रवर्ति, ततः स्त्रीणां स्पर्शं चत्वारो
गुरुवः, पुरुषाणां स्पर्शं चत्वारो लघवः, स्मृतिश्च सघट्टे लुक्तभो-
गिनां भवति, चशब्दादनुक्तभोगिना कौतुकम् । आत्मसंयमवि-
राधनादोषाश्च प्रवन्ति । आत्मविराधना समर्पणं सति हस्तपा-
दाद्युपघातः । संयमविराधना समर्पणं पृथिव्यां प्रतिष्ठिता षट्काया
नावलोच्यन्ते, न च परिहर्तुं शक्यन्ते) अनुजावणपच्छकम्मा-
दी चि) साधुना कोऽपि शौचवादी पुरुषः स्पृष्ट सस्नायात्,
सस्नान निरीक्ष्यापरः पृच्छति-किमर्थं स्नासीति ? स ग्राह-स-
यतेन स्पृष्ट इति । एव परम्परया साधूनां जुगुप्सोपजायते—यथा
'अहो ! मन्त्रिणा एते' एवमनुभावना, पश्चात्कर्म च भवति । आ-
दिशब्दादसस्पर्शमादयो दोषाः ।

अथ तन्तुद्वारमाह—

धूयाकोलिगजाद्वग—कोत्थलकारीए उवरि गेहे य ।

सामितमसामिते, लहुगा गुरुगा अजत्तीए ॥

असमाज्यमाणे चैत्ये भगवत्प्रतिमाया उपरिष्ठादेता नाम भ-
चेयुः, धूता नाम कोलिकपुटकानि । कोलिकजालकानि तु जा-
लकाकाराः कोलिकाना बालातन्तुसताना, कोत्थलकारी ज्रम-
री, तस्या सयन्धि गृहोपरि प्रवेत् । यद्येतानि धूतादीनि शाट्य-
ति तदा चत्वारो लघवः । अथ न शाट्यति ततो भगवतां ज-
कि कृता न प्रवर्ति, तस्यां चाजक्तयां चत्वारो गुरुकाः ॥

अथ कुल्लकद्वार, निर्धर्मकायचार च व्याख्यानयति—

घट्टाइ इयरखुडे, दड्डु ओगुठिया तहिं गच्छे ।

उक्कुधरधणाइ, ववहारा चेव ति लिंगीणं ॥

विदंतस्स अणुमई, अमिदंत अडिंद उक्खिखणा ।

विद्वाणि य पेहंती, नेव य कज्जेसु साहिज्ज ॥

इतरे पार्श्वस्थास्तेषां ये कुल्लका घृष्टा, आदिग्रहणाद् 'मछामु-
प्पेट्टा पसुरपमवाचरण' इत्यादि, तानित्थभूतान् दृष्ट्वा सविग्ग-
कुल्लका अवगुणित्वा मलद्विग्गदेहाः परिजग्नाः सन्तः, तत्र तेषां
विक्षिन्नामन्तिके गच्छेयुः, तेषां च तत्र मिलिताना परस्परमुत्कृष्ट-
गृहधनादिविषया व्यवहारा विवादा उपद्वैकन्ते, ते च व्यवहार-
च्छेदनाय तत्र सविग्गान् आकारयन्ति, ततो यदि तेषां व्यवहा-
रश्चिद्यते तदा भवति स्फुटस्तेषां गृहधनादिक ददतः साधो-
रनुमतिदोषः । उपलक्षणमिदम्, तेन येषां यद् गृहधनादिक न
दीयते तेषामप्रीतिकप्रद्वेधगमनादयो दोषाः । अथ विक्षिन्नामे-
तद्वेधोपजयात् प्रथमत एव न मिलन्ति, न वा व्यवहारपरिच्छे-
द कुर्वन्ति, तन उत्केषणा उद्घाटना साधूनां भवति, सघाटाद्-
हिष्करणमित्यर्थः । विद्वाणि च दूषणानि, ते आकारिताः सन्तः
साधूनां प्रेक्षन्ते, नैव च ते कार्येषु राजद्विष्टलान्त्वादिषु साहाय्यं

तन्निस्तरणकृममुपष्टम्भं कुर्वते, यत एते दोषाः, अतो निष्कारणे न प्रवेष्टव्यमनुयानमिति स्थितम्, कारणेषु च समुत्पन्नेषु प्रवेष्टव्यं, यदि न प्रविशति तदा चत्वारो लघवः ।

कानि पुनस्तानीत्युच्यते-

चैश्यपूया राया-निर्मतणं सन्नि वाइ धम्मकहा ।

संकिंय पत्त पभावण, पविचि कजाइ उहाहो ॥

अनुयानं गच्छता चैत्यपूजा स्थिरीकृता भवति, राजा वा कश्चिदनुयानमहोत्सवकारकः सप्रतिनरेन्द्रादिवत् तस्य निमन्त्रणं भवति, सङ्गी श्रावकः, स जिनप्रतिष्ठायाः प्रतिष्ठापनां चिकीर्षति, तथा वादी कृपको, धर्मकथा च तत्र प्रजावनाऽर्थे गच्छति, शङ्कितयोश्च सुत्रार्थयोस्तत्र निर्णयं करोति, पात्र वा तत्राव्यवाच्छित्तिकारकं प्राप्नोति, प्रभावना वा राजप्रव्रजितादिभिस्तत्र गतैर्भवति, प्रवृत्तिश्चाचार्यादीनां कुशलवार्त्सारूपा तत्र प्राप्यते, कार्याणि च कुलादिविषयाणि साधयिष्यन्ते । उडाहश्च तत्रगतैर्निवारयिष्यते । इत्येतैः कारणैर्गन्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथ विस्तरार्थं विज्रणेषुश्चैत्यपूजाराजनिमन्त्रणद्वारे विवृणोति-

समहावुद्धी राणो, पूयाए थिरत्तणं पभावण्यं ।

पमिघातो य अणत्थे, अत्था य करावई तित्थे ॥

कोऽपि राजा रथयात्रामहोत्सव कारयितुमनास्तन्निमन्त्रणे गच्छतिः तस्य राज्ञः श्रद्धावृत्तिः कृता भवति, चैत्यपूजायां स्थिरत्व, प्रभावना च तीर्थस्थ संपादिता भवति, ये च जैनप्रवचनप्रत्यनीकाः शासनावर्णवादमहिमोपघातादिकमनर्थं कुर्वन्ति, तस्य प्रतिघातः कृतो भवति, तीर्थे च आस्था स्वपरपक्षयोरादरबुद्धिरुत्पादिता भवतीति ।

अथ संक्षिप्तं चाह-

एमेव य सन्नीए वि, जिणाए पमिमासु पढमपडवणे ।

मा परवाई विगणं, करिज्ज वाई अओ विसई ॥

संज्ञितः श्रावकः केचित् जिनानां प्रतिमासु प्रथमतः (पठवणं चि) प्रतिष्ठापनं कर्तुं कामा, तेषामप्येवमेव, राज इव श्रद्धावृत्त्यादिकं कृतं भवति, तथा मा परवादी प्रस्तुतोत्सवस्य विघ्नं कार्षीदतो वादी प्रविशति ।

परवादिनिग्रहे च क्रियमाणे गुणानुपदर्शयति-

नवधम्माण थिरत्तं, पभावणा सासणे य बहुमाणो ।

अभिगच्छंति य विदुसा, अविग्यपूया य सेयाए ॥

नवधर्मिणामभिनवश्रावकाणां स्थिरत्व स्थिरीकरण, शासनस्य च प्रभावना भवति । यथा आह-"प्रतिपत्तिपारमेश्वरं प्रवचनं यत्रेहशा वादद्वन्धसंपन्ना" इति । बहुमानश्चान्येषामपि शासने भवति, तथा च वादिनमभिगच्छन्ति अभ्यायान्ति विद्वांसः सहृदयाः तद्वादिनः कौतुकाकृष्टचिन्ता, तेषां च सर्वविरत्यादिप्रतिपत्त्या महान् क्षान्तिर्भवति, परवादिना च निगृहीतेन अविघ्नं निष्पत्त्यैह पूजा कृता सती स्वपक्षपरपक्षयोरिह परत्र च श्रेयसे भवति ।

अथ कृपकद्वारमाह-

आयावेंति तवस्सी, ओभावना गया परपवाईण ।

जइ एरसा वि महिमं, उर्विति कारिति सद्धा य ॥

तत्र तपस्विनः षष्ठाष्टमादिकपक्षा आतापयन्ति, ततश्चापमा-

धना बाधवं परप्रवादिनां परतीर्थिकानां भवति, तेषां मध्ये ईशानां तपस्विनामप्राधान्यं । आश्चास्मिन्त्यन्ति-यदि तावदीदृशा अपि जगवन्तोऽस्मानिः क्रियमाणां महिमां चैत्यपूजां बहुमानयन्ति, तत इत ऊर्ध्वं विशेषत एतस्यां यत्न विधास्याम इति प्रवर्त्तमानश्रद्धाका महिमां कुर्वन्ति कारयन्ति च ।

अथ काथिकद्वारमाह-

आयपरसमुत्तारो, तित्थविवद्धी य होइ कहयते ।

अन्नाभाभिगमणे य, पूयाथिरया य बहुमाणो ॥

क्षीराश्रवादिलब्धसंपन्न आक्षेपणीविक्षेपणीसवेगजनीनिर्वेदनीनेदाश्चतुर्विधां धर्मकथां कथयन् धर्मकथेत्युच्यते । तस्मिन् धर्मे कथयति आत्मनः परस्य च ससारसागरात् समुत्तारो निस्तरणं भवति, तीर्थेयवृत्तिश्च भवति, प्रभूते लोकस्य प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः । तथा देशनाचारेण पूजाफलमुपवर्णयान्यान्नाभिगमने अन्यान्यश्रावकबोधने च पूजायां स्थिरता बहुमानक कृतो भवति ।

अथ शङ्कितपात्रद्वारे व्याख्याति-

निस्संकिंयं च काहिइ, उजए जं संकिंयं सुयहरे वि ।

अह वोच्छिचित्ति करं वा, लब्धिमात्ति पत्तं दुपक्ताओ ॥

उजये सूत्रे अर्थे च, यस्यस्य शङ्कितं तत्तत्र भूतधरेण्यः पार्श्वोऽभिःशङ्कितं करिष्यति । अथ व्यवच्छिन्नचित्ति करं वा पात्र द्विपक्तात् लप्स्यते । द्वौ पक्षौ समाहृतौ द्विपक्षम्, गृहस्थपक्षः सत्यतपक्षश्चेत्यर्थः ।

अथ प्रभावनाद्वारमाह-

जाऽकुलरुवधणवल-संपन्ना इह्मिंत निक्खंदा ।

जयणजुत्तो य जई, समेव तित्थं पभाविंति ॥

जातिर्मातृकपक्षः, कुलं पैतृकपक्षः, रूपमाकृतिः, धनं गणितमधरिममेयपारिच्छेद्यनेदाश्चतुर्धा भवति । प्रभूतं गृहस्थावस्थाया-मासीत्, बलं सहस्रयोधिप्रभृतीनामिव सातिशयं शारीरवीर्यम्, एतैर्जात्यादिभिर्गुणैः संपन्ना, ये च ऋक्षिमन्तः निष्कान्ता राजप्रव्रजितादयो, ये च यतनायुक्ता यथोक्तसमययोगक्षिता यतयः, ते समेत्य तत्रागत्य तीर्थे प्रजावयन्ति ।

अपि च-

जो जेण गुणेण हिओ, जेण विणा वा न सिज्जए जंतु ।

सो तेण तंमि कज्जे, सव्वत्थाणं न हावेइ ॥

य आचार्यादियेन प्रावचनिकत्वादिना गुणेनाधिकः सातिशयः, येन वा विद्यासिद्ध्यादिना विना यत्प्रवचनं प्रत्यनीकशिक्षणादिकार्यं न सिद्ध्यति, स तेन गुणेन तस्मिन् कार्ये सर्वस्वान सकलमपि वीर्यं न हापयति, किं तु सर्वया शक्त्या तत्र गत्वा प्रवचनं प्रजावयतीति ज्ञावः । उक्तं च-"प्रावचनी धर्मकथा, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च । जिनवचनज्ञश्च कविः, प्रवचनमुद्गाढयन्ते" ॥

प्रवृत्तिद्वारमाह-

साहम्मिवायगाणं, खेमसिवाणं च लब्धिं पविंति ।

गच्छिहिति जहिं तीई, होहिति न वा वि पुच्छति सो ॥

तत्रान्येषां साधर्मिकाणां चिरदेशान्तरगतानां वाचकानां वा आचार्याणां तत्र प्राप्तं प्रवृत्तिं लप्स्यते, तथा केम परवक्ता-दुपप्लवाभावः, शिव व्यन्तरकृतोपप्लवाभावः, तयोरुपलक्षणत्वात् सुभिक्षदुर्भिक्षादीनां चागामिसवत्सरमाविना प्रवृत्तिं

तत्र नैमित्तिकसाधूनां सकाशात्प्रस्यते । यदि वा यत्र देशे स्वयं गमिष्यति तत्र तानि क्लेमादीनि भविष्यन्ति नवेति साधार्मिकादीन् पृच्छति ।

कार्योद्वाहद्वारद्वयमाह-

कुलमाई कज्जाई, साहिस्सं हिंणिणो य सासिस्स ।
जे लोगविरुद्धाई, करिंति लोगुत्तराई च ॥

कुलमादीनि कुलगणसघसत्काणि, कार्याणि तत्र गतः शाधयिष्यामि लिङ्गिनश्च तत्र गतः शासिष्यामि हितोपदेशदानादिना शिक्षयिष्यामि । ये लिङ्गिनो लोकविरुद्धानि लोकोत्तरविरुद्धानि च प्रवचनोद्वाहकराणि कार्याणि कुर्वन्तीति ।

आह-यद्येतानि कारणानि भवन्ति ततः किं कर्त्तव्यमित्याह-
एणहिं कारणेहिं, पुब्बं पडिदोदिऊण अङ्गमण ।

अद्धाणनिगयादी, दग्गा सुद्धा जहा खपओ ॥

पतैश्चैत्यपूजादिभिः कारणैरनुयान प्रवेष्टव्यमिति निश्चित्य पूर्वप्रत्युपेक्ष्य ततोऽतिगमन कार्यम् । अथाप्यनिर्गतास्ते अश्वानमतिलङ्घ्य सहस्रैव तत्र प्राप्ताः । आदिशब्दादपूर्वोत्सवादिवक्ष्यमाणकारणपरिग्रहः । एवञ्चैतैः कारणैः प्रत्युपेक्षितेऽपि क्षेत्रे गताः सन्तो यथोक्ता यतनां कुर्वाणा अपि यदि दग्गा अशुद्धभक्तादिग्रहदोषमापन्नास्तथापि शुद्धा, यथा कृपकः पिण्डनिर्युक्तौ प्रतिपादिनचरितः शुद्ध गवेषयन्नपि निगूढबाह्याकारया तथाविधभ्राष्ट्रिकया दक्षितः सन्नाधाकर्मेत्यपि गृहीते शुद्धोऽशठपरिणामत्वादिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैतदेव भाव्यते-

नाऊण य अङ्गमणं, गीए पेसिंति पेहिंणं कज्जे ।
उवसय जिक्खाचरिया, वाहिं उब्भामरादीया ॥
सम्भाविक इयरे वि य, जाणंती मंवाइणो गीया ।
सेहादीण य थेरा, वेदणजुत्तिं वहिं कहए ॥

चैत्यपूजादिके कार्ये समुत्पन्ने अनुयानक्षेत्रे प्रत्युपेक्षितु गीतार्थाद् प्रेषयति, ततो ज्ञात्वा सम्यग् क्षेत्रस्वरूपमतिगमन कर्त्तव्यम् । किं पुनस्तत्र प्रत्युपेक्ष्यमित्याह-मौलप्राप्ते उपाश्रयो बहिर्बाह्यप्राप्तेषु च उद्ग्रामकाक्षा भिक्षाचर्या । आदिशब्दात्तस्यां गच्छतामपामन्तराले विश्रामस्थान, मौलप्राप्ते च भिक्षाविचारभूमिप्रभृतिक प्रत्युपेक्ष्यम्, तथा सद्भाषिका नितरांश्च मरणपादीन् गीतार्था जानन्ति । यथा अमी सद्भावतः स्वार्थं मण्डपा कृता, अमी तु सयनार्थं पर कैतवप्रयोगेणास्मानित्य प्रत्याययन्ति, आदिग्रहणात् पीठिकादिपरिग्रहः । इत्थं तैः प्रत्युपेक्षिते सूर्यसबाधवृक्षगच्छसहिता अनुयानक्षेत्रे प्रविशन्ति । स्थविराश्च बहिरेव वर्त्तमाना शैकादीनां वन्दनयुक्तिं पार्श्वस्थादिवन्दनविधिं कथयन्ति, मा भूदन्यथा तद्वन्दने तेषां विपरिणाम इति ।

अथ चैत्यवन्दनाविधिमाह-

निस्सकममनिस्सकमे, वि चेइए सव्वेहिं शुई तिन्नि ।
वेत्तं व चेइयाणि य, नाउं इक्किक्किया वा वि ॥

निश्चाकृते गच्छप्रतिषेधे, अनिश्चाकृते च तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिष्ठ स्तुतयो दीयन्ते । अथ प्रतिचैत्य स्तुतित्रये दीयमाने वेदाया अतिक्रमो भवति चर्यासि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेदां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति ।

अथ समवसरणाविषय विधिमाह-

निरसकमे चेइए गुरु, कइवयसाहिए य एयरावसहिं ।
जत्थ पुण अनिस्सकडं, पूरिति तहिं समोसरणं ॥

निश्चाकृते चैत्ये गुरुराचार्यः कतिपयैः परिणतसाधुभिः सहितैश्चैत्यमहिमावलोकनाय तिष्ठति । इतरे शैकादयस्ते मा पार्श्वस्थादीन् ज्ञेयसा लोकेन पूज्यमानान् दृष्ट्वा तत्र गमन कार्थुरिति कृत्वा गुरुभिरनुज्ञाता वसतिं व्रजेयुः । यत्र पुन क्षेत्रे अनिश्चाकृत चैत्य तत्राऽऽचार्यः समवसरणं पूरयन्ति, सन्नामापूर्य धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

आह-किं संविज्ञैस्तत्र धर्मकथा, आहो-
शिवदसविज्ञैरपि ?, उच्यते-

संविगोहिं य कहणा, इयरेहिं अपवओ न ओवसमो ।
पव्वज्जानिमुहा वि य, तेषु वए सेहमादीया ॥

सविज्ञैरुद्यतविद्धारिभिः कथना धर्मस्य कर्त्तव्या । कुत इत्याह-इतरे असविज्ञास्तैर्धर्मकथायां क्रियमाणायां श्रोतृणामप्रत्ययो भवति, नैते यथा वादिनस्तथा कारण इति । नच तेषामुपशमः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिर्भवति । अपि च । प्रवज्जानिमुहा शैकादयो वा अध्याप्यपरिणतजिनवचनाः तेऽपि तेषु व्रजेयुः, शोभनं स्वस्वेतेऽपि धर्मं कथयन्तीति ।

आह-निश्चाकृतचैत्ये यदि तदानीमसविज्ञानं भवन्ति तत को-विधिरित्याह-

पूरिति समोसरणं, अन्नासइनिस्सवेइएसुं पि ।

इहारा लोगविरुद्ध, सद्धाज्जगो य सद्धाणं ॥

अन्येषामसविज्ञानानामसतिनिश्चाकृतेष्वपि चैत्येषु समवसरणं पूरयन्ति, इतरथा लोकविरुद्धं लोकपवादो भवति-अहो ! अमी मत्सरिणो यदेवमन्यदीय चैत्यमिति कृत्वा नात्रोपविश्य धर्मकथां कुर्वन्ति, भ्रष्टानङ्गश्च भ्राष्ट्रानां भवति, तेषामन्यार्थमन्यर्थयमानानामपि तत्र धर्मकथायां अकरणात् ।

अथ भिक्षाचर्यायां यतनामाह-

पुब्बपविडेहिं समं, हिंमती तत्थ ते पमाणं तु ।

साभाविकजिक्खाओ, विदंतऽपुब्बा य उवियादी ॥

पूर्वप्रविष्टानामपूर्वं ये क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रदितास्तैः सम भिक्षां हिरमन्ते, तत्र च भिक्षामटतां त एव प्रमाणं गन्तुं कैस्तत्र शुद्धाशुक्लवेषणा कर्त्तव्या, ते च पूर्वप्रविष्टा इदं विदन्ति-यदेताः स्वाभाविकभिक्षाः स्वार्थनिष्पादिता, एतास्तु अपूर्वाः सयतार्थं स्थापिता निक्कितादयः ।

स्त्रीसकुलनाटकशीतयोर्यतनामाह-

वंदे ण इति तंति य, जुवमज्जे थेर इत्थिओ तेणं ।

चिद्धंति न नामएसु, अहं तंति न पेह रागादी ॥

स्त्रीसकुलवृन्दे नायान्ति निर्गच्छन्ति च, ये च युवानस्ते मध्ये क्रियन्ते, यतः स्त्रियस्तेन पार्श्वेन स्थविरा वृद्धा भवन्ति, मा भूचन् हृक्काभुक्तसमुत्था दोषा इति । यत्र नाटकानि निरीक्ष्यन्ते तत्र न तिष्ठन्ति । अथ कारणतस्तिष्ठन्ति, ततो (न पेहं त्ति) न-संख्यादिरूपाणि न प्रेक्षन्ते, सहसा दृष्टिगोचरागतेषु रागादीन् न कुर्वन्ति, तेन्यश्च प्राग् दृष्टिं निवर्तयन्ति ।

तन्तुजालादिषु विधिमाह-

सीलेह मंखफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु ।

अभिजोयंति तिसु य, आणिच्छिं फेहंतऽदीसंता ॥

इतरे असविष्ठा देवकुलिका इत्यर्थः, तान् तन्तुजालद्वृताकोलि-
कादिषु सत्सु, ते साधवो नोदयन्ति-यथा शीलयत परिकर्मयत
महफलकानीव महफलकानि । महो नाम चित्रफलकव्यग्रहस्त-
स्तस्य च यदि फलकमुज्ज्वल भवति, ततो लोकः सर्वोऽपि तं
पूजयति । एव यदि यूयमपि देवकुलानि जूयो भूयः समार्जना-
दिना सम्यगुज्ज्वलयत, ततो जूयान् लोको जवतां पूजासत्कारं
कुर्यात् । अथ ते देवकुलिकाः सवृत्तिकाश्चेत्यप्रतिषेधगृहकेशा-
दिवृत्तिभोगिनस्ततस्तान्निजयोजयन्ति निर्भर्त्सयन्ति-यथा एक
तावदेवकुलानां वृत्तिमुपजीवय द्वितीयमेतेषां समार्जनादिसारा-
मपि न कुरुथ । इत्थ युक्ता अपि यदि तन्तुजावादीन्यपनेतु नेच्छ-
न्ति ततो अदृश्यमानाः स्वयमेव स्फोटयन्ति, अपनयन्तीत्यर्थः ।

कुल्लकविपरिणामसमवे यतनामाह-

उज्जलवेसे खुडे, करिंति उव्वट्टणाइ चोक्खे य ।

नो मुचंतऽसहाए, दिति मण्णे य आहारं ॥

कुल्लकान् उज्ज्वलवेषान् पाएरुरपट्टचोलपट्टधारिणः उद्धर्त्तन-
प्रज्ञाद्वनादिना च चोक्कान् बुचिशरीरान् कुर्वन्ति । न च ते कु-
ल्लका असहाया एकाकिनो मुच्यन्ते, वृषभाश्च तेषां मनोज्ञान्
स्निग्धमधुरानाहारानानीय ददति । उरभ्रदृष्टान्तेन च प्रज्ञाप-
यन्ति । वृ० १ उ० । (स च दृष्टान्तः ' उरम्भ ' शब्दे द्वि० जा०
८५१ पृष्ठे वक्ष्यते)

अथ निर्द्धर्मकार्येषु यतनामाह-

न मिद्वंति दिगिकज्जे, अत्यंति च मेद्विया उदासीणा ।

विंति य निव्वंधम्मि, करेसु तिक्वं खु जे दंमं ॥

यत्र विहिनामाकृष्टगृहधनादिकार्याण्युपढौकन्ते तत्र प्रथमत
एव न मिलन्ति । अथ तैर्बलाद् मोटिकया मील्यन्ते ततो मेलिता
अप्युदासीना आसते । अथ ते ध्रुवीरन्-कुरुतास्मदीयस्य व्यव-
हारस्य परिच्छेदम् । तत एव निर्बन्धे तैः क्रियमाणे साधवो ब्रूते-
यद्यस्माक पाश्वे व्यवहारपरिच्छेद कारयिष्यथ तत उभयेषा-
पामपि भवतां तीव्रदण्डमागमोक्तप्रायश्चित्तवक्षणं कुर्मः क-
रिष्याम इति ।

' अस्त्राणनिगयादी ' इति पदं व्याख्यानयति-

अस्त्राणनिगयादी, ठाण्ण्पाइयमहसवो कुण्णो ।

गेलन्नसत्थवसगा, महानई तत्तिया वा वि ॥

अध्वनिर्गता अध्वानमतिलङ्घ्य सहसैव तत्र प्राप्ता । आदिश-
ब्दादन्यदप्येवविधं कारणं गृह्यते, स्थानोत्पातिकमहोत्सव
नाम तत्रापूर्वं कोऽप्युत्सवविशेषः, सहसैव आश्व कर्तुमारब्ध-
तं वा श्रुत्वा, यदि वा क्षेत्र प्रत्युपेक्षितुं प्रेष्यन्ते, तदानीं ग्लाना-
ग्लानप्रतिचरणव्यापृता वा । अथवा सार्धवशागास्ते तत्र सार्ध-
मन्तरेण गन्तुं न शक्यन्ते । महानदी वा काचिद्वान्तराले, ताम-
भीक्ष्णमुत्तरता बहवो दोषाः, तावन्मात्रा एव वा ते साधवो
यावतां मध्यादेकस्याप्यन्यत्र प्रेषणं न सगच्छते, अत एतैः कार-
णैरप्रत्युपेक्षितेऽपि प्रविशता न कश्चिदोषः ।

अत्र यतनामाह-

समणुन्ना सह अन्ने, वि दड्डिउं दाणमाइ वज्जंति ।

दन्वाई पेहंता, जइ दग्गती तहवि सुच्छा ॥

यदि समनोक्षा सांभोगिका पूर्वप्रविष्टा सन्ति ततस्तैः सह
निकामदन्ति । अथ न सन्ति समनोक्षास्ततोऽन्यानप्यन्यसांभो-
गिकानपि दृष्ट्वा दानआश्रकादिकुत्रानि वर्जयन्ति ते, आधाकर्मा-

दिवोषसंज्ञवात् । शेषेषु कुक्षेषु पर्यटन्तो (इत्यादी पेहतंति)
अन्यतः क्षेत्रतः काष्ठतो जावतश्च द्युक्रमन्वेष्टयन्तो, यद्यपि कि-
मपि स्थापनादिकं दोषं दृग्गन्ति प्राप्नुवन्ति, तथा द्युक्षाः रूप
कवदशतपरिणामतया श्रुतज्ञानोपयोगप्रवृत्तत्वादिति । गत परि
हरणानुयानद्वारम् । वृ० १ उ० ।

अणुजाण-अनुज्ञापन-न० । अनुमोदने, सूत्र० १ श्रु० ५
अ० । स्था० ।

अणुजाणावणा-अनुज्ञापना-ली० । मुक्तावने, पञ्चा० ६ वि० ।

अणुजाणाहिगार-अनुयानाधिकार-पु० । रथस्य पृष्ठतोऽनु-
व्रजनेन प्रतिष्ठाधिकारे, जी० १ प्रति० ।

अणुजाणित्तप-अनुज्ञातुम्-अन्य० । तथैव सम्यगेतद्वारयाऽ-
न्येषां च प्रवेदयेत्येवमभिधातुमित्यर्थः, स्था० २ जा० १ उ० ।

अणुजात (य)-अनुधात-त्रि० । अनुगते, प्रश्न० २ आश्र०

द्वा० । " सरिसे वसभाणुजाए " अनुजातशब्दः सदृशवचनः ।

वृषभस्य अनुजातः सदृशो वृषभानुजातः । सू० प्र० १२ पादु० ।

अनुरूपः सम्पदा पितृस्तुल्यो जातोऽनुयातः, अनुगतो वा

पितृविभूत्याऽनुयातः । पितृसमे सुतजैदे, यथा महायशाः, आदि-

त्ययशसा पिता तुल्यत्वात् । स्था० ४ जा० १ उ० ।

अणुजुत्ति-अनुयुक्ति-ली० । अनुगतयुक्तौ, "सव्वार्हि अणु-

जुत्तीहिं, अचयता जवित्तप" सर्वाभिरर्थानुगताभिर्दुक्तिभिः

सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैरशक्नुवन्तः । सूत्र० १ श्रु० ३

अ० ३ उ० । "सव्वार्हि अणुजुत्तीहिं, मतिम पमिलेद्विया"

सर्वायाः काश्चनानुरूपाः पृथिव्यादिविधनिकायसाधनत्वेनानु-

कृता युक्तयः साधनानि, यदि वा सिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहा-

रेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसगता

युक्तयस्ताभिर्मतिमान् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुजेट्ट-अनुज्येष्ट-त्रि० । अनुगतो ज्येष्ठम् । प्रा० १ स० ।

ज्येष्ठानुरूपे ज्येष्ठानतिक्रमे च । वाच० । पञ्चा० । ज्येष्ठमर्षि

वर्तमाने यथा एको द्विकस्य ज्येष्ठः । त्रिकस्यानुज्येष्टः, चतुष्का-

दीनां तु ज्येष्ठानुज्येष्टः । आ० म० प्र० । अनु० ।

अणुज्जया-अनूयता-ली० । उद्देश्यतारूपे विषयताविशेषे,

ध० १ अधि० ।

अणुज्जित्त-अनूर्जितत्व-न० । वराकत्वे, वृ० ३ उ० ।

अणुज्जुय-अनृजुक-त्रि० । असरले कथञ्चित् सरलं कर्तुम्-

शक्ते, उक्त० ३४ अ० । वक्त्रे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणुज्झाण-अनुध्यान-न० । चिन्तने, अष्ट० २४ अष्ट० ।

अणुज्झाविता-अनुध्याय-अन्य० । चिन्तयित्वेत्यर्थः, "कम्म

गरसालाप अणुज्झाविता पमिमाविच्छो" आ० म० द्वि० ।

अणुज्झाण-अनुष्ठान-न० । आचारे, स्था० ७ जा० १ अग्र्यवद्वान्-

दिके आचरणे, पञ्चा० ३ वि० । आन्त्रा० । क्रियायाम्, पञ्चा०

१६ वि० । क्रियाकलापे, ग० १ अधि० । कात्तापयनार्थः,

म० २ श० १ उ० ।

फलवदुमसद्दीज-प्ररोहसदृशं तथा ।

साध्वनुष्ठानमित्युक्तं, सानुबन्धं महर्षिभिः ॥ २४३ ॥

फलवतः फलप्राप्ताभ्यां दुमस्य न्यग्रोधादेः मद्वत्

यद्दीज, तस्य यः प्ररोहोऽङ्कुरोद्गैरूपस्तेन सदृशं समं वद-

तथा, तथेति वक्तव्यान्तरसमुच्चये, एतेषां योगाधिकारिणां, साधु सुन्दरमनुष्ठानं यमनियमादिरूपमित्यनेन प्रकारेणोक्तं, शास्त्रेषु सानुबन्धमुत्तरोत्तरानुबन्धवद् महर्षिभिः परममुनिभिः, शुद्धाधिकारिसमारब्धत्वात्तस्य ॥ २४३ ॥

अत एव—

अन्तर्विवेकसंचूतं, शान्तदान्तमविप्लुतम् ।

नाग्रोद्धवद्वलताप्रायं, बहिःश्रेष्ठाधिमुक्तिकम् ॥ २४४ ॥

अन्तर्विवेकसंभूतम्, अन्तर्विवेकेन तत्त्वसंवेदननाम्ना संभूतं प्रवृत्तं, शान्तदान्तं, शान्तदान्तपुरुषारब्धत्वाद्, अत एवाविप्लुतं सर्वथा विमलवराहितम् । व्यवच्छेद्यमाह—न नैव, अग्रोद्धवद्वलताप्रायम्—अग्रोद्धवप्रान्तादुद्धवो यस्याः, सा चासौ वृता च तत्रायम् । सा हि तदा अग्रोद्धवत्वेन न ततान्तरमनुबद्धं क्रमात् । इदं चानुष्ठानमनुत्तरोत्तरानुबन्धप्रधानमित्यत उक्तं नाग्रोद्धवद्वलताप्रायमिति । तथा बहिःश्रेष्ठायां चैत्यवन्दनादिरूपायामधिमुक्तिः शुद्धा यत्र तत्तथा ॥ २४४ ॥

इत्थं विषयस्वरूपानुबन्धशुक्तिप्रधानमनुष्ठानत्रयमभिधाय साम्प्रतं त्रयस्याप्यवस्थानेदेन समतत्त्वमाविष्मिकीर्तुराह—

इष्यते चैतदप्यत्र, विषयोपाधि संगतम् ।

निर्दिशितमिदं तावत् पूर्वमत्रै । द्वेशतः ॥ २४५ ॥

इष्यते मन्यते मतिमद्भिः । च. समुच्चये । एतदपि प्रागुक्तमत्र योगचिन्तायां, विषयोपाधिर्विषयशुद्धमनुष्ठानं, किंपुनः स्वरूपशुद्धानुबन्धशुद्धे इत्यपिशब्दार्थः । कीदृशमित्याह—संगतं युक्तमेव, निर्दिशितं निरूपितमिदं सगन्तव्यम्, तावच्छब्दः कमार्थः, पूर्वं प्रागत्रैव शास्त्रे द्वेशतः । सङ्क्षेपेण “मुक्ताविच्छाऽपि या नृणां, तमन्त्यकरी मता” इत्यादिना ग्रन्थेन । विस्तरतस्तु विशेषमन्यादवस्येयमिति ॥ २४५ ॥

अथ प्रस्तुतमनुष्ठानं यस्य भवति तमधिहृत्याह—

अपुनर्वन्धकस्यैवं, सम्यग्रीत्योपपद्यते ।

तत्तत्तन्त्रोक्तमखिलं—भवस्थानेदसंश्रयात् ॥ २४६ ॥

कापिलसौगतादिशास्त्रप्रणीतं सुमुक्तुजनयोग्यमनुष्ठानमखिलं समस्तम् । कुत इत्याह—अवस्थानेदसंश्रयात् । अपुनर्वन्धकस्यानेकस्वरूपाङ्गीकरणात् । अनेकस्वरूपाभ्युपगमे हि अपुनर्वन्धकस्य किमप्यनुष्ठानं कस्यामप्यवस्थायामवतरतीति ॥ २४६ ॥ यो० वि० ।

प्रीतिजक्तानुष्ठानादिभेदाः—

सूक्ष्माश्च विरलाश्चैवा—तिचारा वचनोदये ।

स्थूलाश्चैव घनाश्चैव, ततः पूर्वममी पुनः ॥ ए ॥

(सूक्ष्माश्चेति) सूक्ष्माश्च लघवः, प्रायशः कादाचित्कत्वात् । विरलाश्चैव सन्तानाभावात् । अतिचारा अपराधा वचनोदये भवन्ति; ततो वचनोदयात् । पूर्वममी अतिचारा पुनः स्थूलाश्च वादराश्च, घनाश्च निरन्तराश्च भवन्ति । तदुक्तम्—“चरमाद्याया सूक्ष्माः, अतिचाराः प्रायशोऽतिविरलाश्च । आद्यत्रये त्वमी स्युः, स्थूलाश्च तथा घनाश्चैव” ॥ ६ ॥ ब्रा० २८ ब्रा० ।

सदनुष्ठानमनः खलु, बीजन्यासात् प्रशान्तवाहितया ।

संजायते नियोगात्, पुंसां पुण्योदयसहायम् ॥ १ ॥

तत्प्रीतिभक्तिवचना—संगोपपदं चतुर्विधं गीतम् ।

तत्त्वाभिज्ञैः परमं, पदसाधनं सर्वमेवैतत् ॥ २ ॥

यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।

शेषत्यागेन करो—ति यच्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ ३ ॥

गौरवविशेषयोगाद्, बुद्धिमतो यद्विशुद्धितरयोगम् ।

क्रिययेतरतुल्यमपि, ज्ञेयं तद् भक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

(सदनुष्ठानमित्यादि) सदनुष्ठानं प्रागुक्तमतः खलु बीजन्यासादस्मात् पुण्यानुबन्धिपुण्यनिकृषात्, प्रशान्तवाहितया प्रशान्तवाहितोऽस्ति यस्य तत् प्रशान्तवाहि, तद्भावस्तया चित्तसंस्काररूपया, संजायते निष्पद्यते । नियोगादियमेन, पुंसां मनुष्याणां, पुण्योदयसहाय पुण्यानुभावसहितम् ॥ १ ॥ तदेव जैदृक्कारेणाह—(तदित्यादि) तत् सदनुष्ठानं प्रीतिश्च भक्तिश्च वचनं चासङ्गश्चेति शब्दा उपपदमुपोद्धारिपदं यस्य सदनुष्ठानस्य तत्तथा, चतुर्विधं चतुर्जैदृ, गीतं शब्दितं, प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ २ ॥ आदरः प्रयत्नातिशयोऽस्ति परमः, प्रीतिश्चाऽभिरुचिररूपा, हितोदया हित उद्यो यस्याः सा तथा भवति । कर्तुंरनुष्ठानं, शेषत्यागेन शेषप्रयोजनपरित्यागेन, तत्काले करोति यच्छातीव धर्मादरात् । तदेवं ज्ञातं प्रीत्यनुष्ठानं विज्ञेयम् ॥ ३ ॥ द्वितीयस्वरूपमाह—गौरवैत्यादि । गौरवविशेषयोगात्, गौरवं गुरुत्वं पूजनीयत्वं तद्विशेषयोगात् तदधिकसम्बन्धात्, बुद्धिमतः पुंसो यदनुष्ठानं विशुद्धितरयोगं विशुद्धितरव्यापारं, क्रियया करणेन, इतरतुल्यमपि प्रीत्यनुष्ठानतुल्यमपि, ज्ञेयं तदेवविधं भक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

आह—क पुनः प्रीतिजक्तयोर्विशेषः ? उच्यते—

अत्यन्तवल्लभा खलु, पत्नी तद्विष्टिता च जननीति ।

तुल्यमपि कृत्यमनयो—ज्ञातं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम् ॥ ५ ॥

[अत्यन्तैत्यादि] अत्यन्तवल्लभा खलु अत्यन्तवल्लभैव, पत्नी भार्या, तच्छब्दः पत्नीवद्व्यत्यन्तैव हिता च हिनकारिणीति कृत्वा जननी प्रसिद्धा, तुल्यमपि सदृशमपि, कृत्यं प्रयोजनाच्छादनादि, अनयोर्जननीपत्न्योर्ज्ञातमुदाहरणं स्यात्, प्रीतिजक्तिगतं प्रीतिजक्तिविषयमिदमुक्तं भवति, प्रीत्या पत्न्या क्रियते, भक्त्या मातुरितीत्याह प्रीतिभक्त्योर्विशेषः ॥ ५ ॥

तृतीयस्वरूपमाह—

वचनात्मिका भवति; सर्वत्रौचित्ययोगतो या तु ।

वचनानुष्ठानमिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ६ ॥

(वचनेत्यादि) वचनात्मिका आगमात्मिका, प्रवृत्ति क्रियारूपा मन्त्रं सर्वस्मिन् धर्मव्यापारे कान्तिप्रत्युपेक्षादौ, औचित्ययोगानो या तु देशकालपुरुषव्यवहाराद्यौचित्येन वचनानुष्ठानमिदमेवं प्रवृत्तिरूपं चारित्रवत् साधोर्नियोगेन नियमनं नान्यस्य भवतीति ॥ ६ ॥

तुर्यस्वरूपमाह—

यच्चर्यामातिशयात्, सात्मीभूतमिव चेष्टयते सङ्गिः ।

तदसङ्गानुष्ठानं, भवति त्वेतत्तदा वैधात् ॥ ७ ॥

(यच्चर्यादि) यच्चर्यात् पुनरभ्यासानि शयादभ्यासप्रकर्षाद्भूयो भूयस्तदासैवनेन, सात्मीभूतमिवात्मसाद्भूतमिव, चन्दनगन्धन्यायेन चेष्टयते क्रियते, सङ्गि, सत्पुरुषैर्जनकादिपक्षादिभिस्तदेवविधमसङ्गानुष्ठानं भवति त्वेतज्जायते, पुनरेतत्तदा वैधाद् वचनवैधादागमसंस्कारात् ॥ ७ ॥

वचनासङ्गानुष्ठानयोर्विशेषमाह—

चक्रब्रमणं दण्डा-तज्ज्ञावे चैव यत् परं भवति ।

वचनासद्धानुष्ठा-नयोस्तु तद्भाषकं ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

(चक्रेत्यादि)चक्रभ्रमण कुम्भकारचक्रपरावर्त्तनं, दण्डादण्डस-
योगात्, तदभावे चैव दण्डसयोगाज्जाये चैव, यत्परमन्यद्भवति,
वचनासङ्गानुष्ठानयोस्तु तयोस्तु, ज्ञापकमुदाहरणं हेयम् । यथा
चक्रभ्रमणमेकं दण्डसयोगाज्जायते प्रयत्नपूर्वकमेव वचनानुष्ठान-
अन्यागमसङ्गात् प्रवर्त्तते । तथा चान्यश्चक्रभ्रमणं दण्डसयोगा-
ज्जाये केदद्यादेव संस्कारापरिक्षयात् सज्जवाति । एवमागमस-
ंस्कारमात्रेण वस्तुतो वचननिरपेक्षमेव स्वाज्ञाविकत्वेन यत् प्रव-
र्तते तद्वत्सङ्गानुष्ठानमितीयान् नेद इति प्राव. ॥ ८ ॥

एषामेव चतुर्णामनुष्ठानानां फलविज्ञागमाह—

अच्युदयफले चाद्ये, निःश्रेयससाधने तथा चरमे ।

एतदनुष्ठानानां, विज्ञेये इह गतापाये ॥ ए ॥

अन्युदयफले चान्युदयनिर्वर्त्तके च, आद्ये प्रीतिभक्त्यनुष्ठाने,
निःश्रेयससाधने मोक्षसाधने, तथा चरमे वचनासङ्गानुष्ठाने,
एतेषामनुष्ठानानां मध्ये, विक्रये, इह प्रक्रमे, गतापाये अपायर-
हिते निरुपाये ॥ ए ॥

एतेष्वेव चतुर्ष्वगुह्यानेषु पञ्चविधक्लान्तियोजनमाह-

उपकार्यप्रकारिविषय-रुदचनधर्मोत्तरा मता क्षान्तिः ।

आद्यद्वये त्रिलेदा, चरमाद्वितये द्विभेदेति ॥ १० ॥

(उपेत्यादि) उपकारी उपकारवान्, अपकारी अपकारप्रवृत्तिः। विपाकः कर्मफलानुभवनमनर्थपरम्परा वा, वचनमागमः, धर्मः प्रहमादिरूपः, तदुत्तरा तत्प्रधाना मता संमता पञ्चविधा, क्षान्तिः क्षमा, आद्यद्वये आद्यानुष्ठानद्वये, त्रिनेदा त्रिप्रकारा। चरमद्वितये चरमानुष्ठानद्वितये, द्विमेदेति द्विविधा, तत्रोपकारिणि क्षान्तिरुपकारिक्षान्ति, नष्टकदुर्वचनाद्यपि सहमानस्य, तथा अपकारिणि क्षान्तिरुपकारिक्षान्तिः, मर्मदुर्वचनाद्यसहमानस्यायमपकारी न्नविष्यति इत्यभिप्रायेण क्षमां कुर्वत। तथा विषाके क्षान्तिः त्रिपाकक्षान्तिः, कर्मफलविपाक नरकादिगतमनुपश्यतो दुःखज्ञीकृतया मनुष्यन्नावमेव वा अनर्थपरम्परामाहोचयतो विपाकदर्शनपुर सरा समवति। तथा वचनक्षान्तिरागमेवावलम्बनीकृत्य या प्रवर्त्तते न पुनरुपकारित्वापकारित्वविपाकाख्यमाहम्बनत्रयं सा वचनपूर्वकत्वादप्यनिरपेक्षत्वात्तथोच्यते। धर्मोत्तरा तु क्षान्तिभेदनस्येव शरीरस्य वेददाहादिषु सौरमादिस्वधर्मकल्पा परोपकारिणी न क्रियते, सहजत्वेनावस्थिता सा तथोच्यते ॥ १० ॥ षो० १० विष०। अष्ट०। देवपूजनादिके, द्वा० १३ द्वा०। कर्मणि, आ० म० द्वि०।

अणुद्विष्ट-अनुष्ठित-वि० । अनुकान्ते, आचा० १ श्रु० ए अ० ४
च० । आ० म० प्र० । आसेविते, पञ्चा० ६ विव० । “अहवा अ-
वितह णो अणुद्विष्ट” सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अनुत्थित-त्रि० । द्रव्यतो निपण्णे, भावतो ज्ञानदर्शनचरित्रो-
द्योगरहिते, आचा० १ अ० ४ अ० १ उ० ।

अणुणत-अनुनयत-त्रि०। स्वाभिप्रायेण ज्ञाने २ प्रज्ञापयति,
“पुरोहितं त कमसोऽणुणतं, णिमतयत च सुप धणेण”
उक्त० १४ अ०।

अणुषाड्(ण)--अनुनादिन्-त्रि० । अनुनदति । अनु-नद-णिनि ।

प्रतिरूपशब्दकारके, “गम्भीरेणानुनादिना” वाच० । “गञ्जि-
सहस्स अणुणाङ्गणा” अनुनादिना सहशेन । कथ्य० ।

अणुणाइत्त-अनुनादित्व-न० । प्रतिरवोपेततारूपे सत्यवचना-
तिशये, स० ३५ सम० । रा० ।

अणुणाय--अनुनाद-पु०। मेघस्वनादौ, "अणुणादे पयादिजउत्ते
जिणघरे वा" आ० म० द्वि०।

अणुणास-अनुनाश-पुं० अनु-नश-घञ् । अनुकरणे, प्रदूरेषा-
दाचर्ये । संकाशादित्वात् एयः । वाच० ।

आनुनाश्य—त्रि० । तद्दूरदेशादौ, वाच० । अनुनासिके नासा-
कृतस्वरे, स्था०७ उा० । नासा विनिर्गतस्वरानुगते गेयदोषप्रेदे,
ज० ७ वक्त्र० । अनु० । जी० ।

अणुणिज्जमाण-अनुनीयमान-त्रि० । प्रार्थ्यमाने, “अह एव
पि अणुणिज्जमाणे शेच्छति ” नि० चू० १ व० ।

अणुसुत ("थ) अनुसुत-त्रि० । अनुसुते मदरहिते, "एष
वि भिक्खु अणुसुत विणीय" न उन्नतोऽनुसुतः । शरीरेषोऽनुसुतः,
भावोन्नतस्त्वभिमानप्रदग्रस्तः, तत्प्रतिषेधाद्यपोनिर्जराप्रदमपि
न विधत्ते । सूत्र० १. अ० १६ अ० । "अणुसुत नावण्य अमहि-
ते अणागते" अनुसुतो ह्यव्यतो भावतश्च । ह्यव्यतो नाकाश-
शी, भावतो न जात्याद्यभिमानवान् । दश० ५ अ० १ व० ।

अणुस्रवणा-अनुज्ञापना-स्त्री० । अनुमोदने, "आवच्छमाश्रमि-
तो, चउदिसिं दोह उमाहो गुरुणो । अणुसायस्स समा, न
कम्पई तत्थ पविसेढ" इदानीमनुज्ञापना, साऽपि नामादिभिः
पद्मेदैव । नामस्थापने सुगमे । अव्याऽनुज्ञापना त्रिधा-लौकिकी,
लोकोत्तरा, कुप्रावचनिकी च । तत्र लौकिकी सचिन्ताविचारम-
भेदेद्विधा-अश्वाद्यनुज्ञापना प्रथमा । मुक्ताफलवैदूर्याद्यनु-
ज्ञापना द्वितीया । विविधभरणविनूषितवनिताद्यनुज्ञापना तृती-
या । लोकोत्तराऽपि सचिन्ताविज्ञेदात् त्रिधा-शिष्याद्यनुज्ञा
प्रथमा । वस्त्राद्यनुज्ञा द्वितीया । परिहितवस्त्रादिशिष्याद्यनुज्ञा
तृतीया । एव कुप्रावचनिक्यपि त्रेधाऽवगन्तव्या । क्षेत्रानुज्ञापना
यावतो क्षेत्रस्यानुज्ञापनं विधीयते, यस्मिन्वा क्षेत्रेऽनुज्ञा व्याख्याय-
ते वा । एवं काद्यानुज्ञापि । नावानुज्ञा आचाराद्यनुज्ञा, एषा चात्र
ग्राह्या । प्रव० २ द्वा० । (अवग्रहविषयाऽनुज्ञापना 'उमाह' शब्दे
द्वि० जा० ६६८ पृष्ठे, वसतिविषया च 'वसह' शब्दे द्रष्टव्या)
अणुस्रवणी-अनुज्ञापनी-स्त्री० । अवग्रहस्यानुज्ञापनीयायां
भाषायाम्, स्था० ४ जा० ३ उ० ।

आणुस्रवित्ता-अनुज्ञाप्य-अव्य० । अनुमोद्येत्यर्थे, "जिणवर
मणुस्रवित्ता, अजणघणरुयगविमलसकासा" भा० म० द्वि० ।

अणुस्रवित्ता, अजणघणरुयगाविमवसकासा
अणुस्रवियपाणजोयणभोइ(ण्)-अनुहाप्यपानभोजननोनिन्-
पुं० । आचार्यादीननुज्ञाप्य पानभोजनादिविघातदि, अष्टाशा-
नविरतेद्विंशत्यां प्राघनां प्रतिपक्षे, आच्चा० २ श्रु० २ अ० ६ उ० ।
आव० ।

आव० ।
अणुष्वेमाण-अनुज्ञापयत्-त्रि० । अनुज्ञां ददति, स्थजनाङ्गम्
तत्कालगतसाधर्मिकपरिष्ठापनायामनुज्ञापयतो नातिक्रम-
न्ति" स्या० ६ वा० । अधिकारदाते,

अणुष्मा-अनुज्ञा-स्त्री० । अनुज्ञानमनुज्ञा । अधिकारदाने,

अणुष्ठा

स्था० ३ उ० ३ उ० । अनुमोदने, सूत्र० २ अ० २ अ० । का० ।
नित्येपोऽस्य—

से किं तं अणुष्ठा ? अणुष्ठा ष्विहा पञ्चत्ता । तं जहा-
नामाणुष्ठा १, ठवणाणुष्ठा २, दन्वाणुष्ठा ३, खेत्ताणुष्ठा ४,
कालाणुष्ठा ५, ज्ञाताणुष्ठा ६ । से किं तं नामाणुष्ठा ? ।
नामाणुष्ठा जस्स एं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं
वा अजीवाणं वा तदुभयस्स वा तदुज्जयाणं वा अणुएण
स्ति नामं कीरइ, सेत्तं नामाणुष्ठा । से किं तं ठवणाणुष्ठा
? । ठवणाणुष्ठा जेणं कट्टकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चि-
त्तकम्मे वा गठिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अ-
क्खए वा वरामए वा एगओ वा अणेगओ वा, सन्ना-
वट्टवणाए वा असन्भावठवणाए वा अणुएणत्ति ठवण-
विज्जइ, सेत्तं ठवणाणुष्ठा । नामद्ववणाणं को पइविसेसो ? ।
नामं आवकहियं, ठवणा इत्तिरिया वा हुज्जा आवकहिया
वा, सेत्तं ठवणाणुष्ठा । से किं तं दन्वाणुष्ठा ? । द-
न्वाणुष्ठा दुविहा पणत्ता । तं जहा-आगमओ य, नो आ-
गमओ य । से किं तं आगमओ य दन्वाणुष्ठा ? । आगमओ द-
न्वाणुष्ठा जस्स एं अणुएणत्ति पय सिक्खियं त्रिय जियं
मियं परिजिय नामसमं घोससमं अहीणक्खरं अणक्खक्खरं
अन्वाइडक्खरं अक्खलियं अमिलियं अविच्चाभेसियं पमि-
पुत्तं पडिपुन्नघोसं कंठोद्विप्पमुक्कगुरुवायणोवगयं से एं
तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्ठणाए धम्मकट्ठाए नो अणु-
प्पेहाए कम्हाए अणुवउत्तो दन्वमिति कट्टु नेगमस्स एगे
अणुवउत्ते आगमओ य इका दन्वाणुष्ठा हुन्नि अणुवउत्ता
आगमओ दुन्नि दन्वाणुष्ठाओ तिस्सि अणुवउत्ता आगम-
ओ तिणिण दन्वाणुष्ठाओ, एवं जावइया अणुवउत्ताओ
तावइयाओ दन्वाणुष्ठाओ । एवामेव ववहारस्स वि संग-
हस्स एगे वा अणेगे वा उवउत्ता वा अणुवउत्ता वा द-
न्वाणुष्ठा वा मा एगा दन्वाणुष्ठा उज्जुसुयस्स एगे अणु-
वउत्ते आगमओ एगा दन्वाणुष्ठा पुहत्तं नत्थि इति एहं
सइनयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थकम्हा जइ जाणए
अणुवउत्ते न भवइ, जइ अणुवउत्ते जाणए या भवइ, सेत्तं
आगमओ दन्वाणुष्ठा । से किं तं नो आगमओ दन्वाणुष्ठा
? । नो आगमओ दन्वाणुष्ठा तिविहा पणत्ता । तं जहा-जा-
णगमरीरदन्वाणुष्ठा, भवियसरीरदन्वाणुष्ठा, जाण-
गमरीरभवियसरीरवडरित्ता दन्वाणुष्ठा । से किं तं जाणग-
सरीरदन्वाणुष्ठा ? । जाणगसरीरदन्वाणुष्ठा अणुएण
त्ति पयत्थाहिगार जाणगस्स ज सरीर ववगयचुयचाविय-
चत्तदेहं जीवविप्पज्जह सिज्जागय वासंथारगय वा निसी-
हियागय वा सिद्धिसिज्जागयं वा अहोणं इमेण सरीर-
समुत्सएणं अणुएणत्ति य पय आघविय पन्नविय पळविय

दंसियं निदंसिय उवदंसियं जहा । को दिट्ठतो ? । अयं घय-
कुंभे आसी, अयं महुकुंभे आसी, सेत्तं जाणगसरीरदन्वा-
णुष्ठा । से किं तं भवियसरीरदन्वाणुष्ठा ? । जे जीवजोणी-
जम्मनिक्खत्ते इमेणं चेव सरीरसमुत्सएणं आइत्तेणं
जिणदिट्ठो ण भावो एं अणुएणाति पयसियकाले सि-
क्खस्सइ, न ताव सिक्खइ जहा । को दिट्ठतो ? । अयं घयकुंभे
भविस्सइ, अयं महुकुंभे जविस्सइ, सेत्तं भवियसरीरदन्वा-
णुष्ठा । से किं तं जाणगसरीरभवियसरीरवडरित्ता द-
न्वाणुष्ठा ? । जाणगसरीरभवियसरीरवडरित्ता दन्वाणु-
ष्ठा तिविहा पणत्ता । तं जहा-लोइया, कुप्पावणिया य, लो-
उत्तरिया । से किं तं लोइया दन्वाणुष्ठा ? । लोइया दन्वाणु-
ष्ठा तिविहा पणत्ता । तं जहा-सचित्ता अचित्ता मीसिया ।
से किं तं सचित्ता ? । सचित्ता से जहा णामए रायाइ वा
जुवरायाइ वा ईसरे वा तलवरे वा मामद्विएइ वा कोडविएइ
वा सेट्टीइ वा इब्भेइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ
कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसं वा इत्थि वा उट्ठं वा
गोणं वा खरं वा घोडय वा एलयं वा चलयं वा ठासं वा
ठासिं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सचित्ता । से किं तं अ-
चित्ता ? । से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ
वा तलवरेइ वा कोडविएइ वा माडलिएइ वा इब्भेइ वा सेट्टीइ
वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे स-
माणे आसण वा सयण वा उत्तं वा चामरं वा पड वा
मउमं वा हिरणं वा सुवएणं वा कंसं वा मणिमुत्तियसंख-
सिलप्पवाट्ठरत्तरयणमाइयं संतसारसावज्जं अणुजाणिज्जा,
सेत्तं अचित्ता दन्वाणुष्ठा । से किं तं मीसिया दन्वाणु-
ष्ठा ? । मीसिया दन्वाणुष्ठा मे जहा नामए रायाइ वा
जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तलवरेइ वा मामद्विएइ वा कोड-
विएइ वा इब्भेइ वा सेट्टीइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा
कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे इत्थिं वा मुहमनणम-
मियं आसं वा घासग वा मरममिय सकमिय दास
वा दासिं वा मन्वाहंकारविज्जूसियं अणुजाणेज्जा, सेत्तं मी-
सिया दन्वाणुष्ठा । सेत्तं लोइया दन्वाणुष्ठा । से किं तं कु-
प्पावणिया दन्वाणुष्ठा ? । कुप्पावणिया दन्वाणुष्ठा तिविहा
पणत्ता । जे जहा-सचित्ता अचित्ता मीसिया । से किं तं
सचित्ता ? । मे जहा नामए आयरियाए वा उवज्झाए
वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आस वा
इत्थि वा उट्ठिं वा णाणं वा खर वा घोमं वा अयं वा एल-
गे वा चलयं वा ठामं वा ठासिं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं
सचित्ता कुप्पावणिया दन्वाणुष्ठा । से किं तं अचित्ता ? ।
अचित्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्झाएइ वा
कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसण वा सयणं वा

छत्तं वा चामरं वा पटं वा मण्डपं वा हिरण्यं वा सुवर्णं वा कंसं वा दूतं वा मणिमुत्तियसंखसिलपवालरत्तरयणमाश्रयं संतधारसावज्जं अणुजाणिज्जा, सेत्तं आचिन्ता कुप्पावणि-या दन्वाणुणा । से किं तं मीसिया ? । मीसिया से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्जाएइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुहे समाणे हत्थि वा मुहजंदगमंडियं वा आसं वा घासगं वा चाम-रमंभियं वा सकंभियं वा दासं वा दासिं वा सन्वालंकारविनू-सियं अणुजाणिज्जा, सेत्तं मीसिया कुप्पावणि-या दन्वाणुणा । सेत्तं कुप्पावणि-या दन्वाणुणा । से किं तं द्योउत्तरिया दन्वा-णुणा ? । द्योउत्तरिया दन्वाणुणा तिविहा पसत्ता । त जहा-सच्चिन्ता आचिन्ता मीसिया । से किं तं सच्चिन्ता ? । सच्चिन्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्जाएइ वा पवत्तएइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेयएइ वा सीसस्स वा सीस्सिणीएइ वा कम्मि कारणे तुहे समाणे मीसं वा सि-स्सिणीयं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सच्चिन्ता । से किं तं अ-चिन्ता ? । अचिन्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्जा-एइ वा पवत्तएइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणाव-च्छेयए वा सीसस्स वा सिस्सिणीए वा कम्मि य कारणे तुहे समाणे वत्थ वा पायं वा पमिग्गहं वा कंवत्त वा पायपुच्छ-णं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं अचिन्ता । से किं तं मीसि-या ? । मीसिया से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्जाएइ वा पवत्तएइ वा थेरे वा गणावच्छेयएइ वा सिस्सस्स वा सिस्सिणीए वा कम्मि कारणे तुहे समाणे सिस्सं वा सि-स्सिणीयं वा सजंमत्तोवगरं अणुजाणिज्जा, सेत्तं मीसिया । सेत्तं लोउत्तरिया । सेत्तं जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दन्वाणुणा । सेत्तं नो आगमओ दन्वाणुणा । सेत्तं दन्वाणु-णा । से किं तं खेत्ताणुणा ? । खेत्ताणुणा जो णं जस्स खेत्तं अणुजाणइ जत्तियं वा खेत्तं जम्मि वा खेत्ते, सेत्तं खेत्ता-णुणा । से किं तं कात्ताणुणा ? । कात्ताणुणा जो णं ज-स्स कालं अणुजाणइ जत्तिया वा कात्तं अणुजाणइ जम्मि वा काले अणुजाणइ, तं तीतं पमुप्पन्नं वा अणागतं वा व-सतहेमंतपाउमं वा अवत्थणहेउं, मेत्तं कालाणुणा । से किं तं जावाणुणा ? । जावाणुणा तिविहा पसत्ता । तं जहा-द्योग-इया, कुप्पावणि-या, द्योउत्तरिया । से किं तं द्योगइया भावाणु-णा ? । से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा जाव रुहे स-माणे कस्मइ कोहाइभाव अणुजाणिज्जा, सेत्तं द्योइया भावा-णुणा । से किं तं कुप्पावणि-या जावाणुणा ? । कुप्पावणि-या से जहा नामए केइ आयरिए वा जाव कस्म वि कोहाइभावं अणुजाणिज्जा, सेत्तं कुप्पावणि-या । से किं तं लोउत्तरिया भावाणुणा ? । द्योउत्तरिया जावाणुणा से जहा नामए

आयरिए वा जाव कम्मि कारणे तुहे समाणे कात्तोचियं नाणाइ गुणजोगिणो विणयस्स खमाइप्पहाणस्स सुसीस-स्स सीसस्स तिविहेणं तिगरणविसुप्पेणं भावेणं आयारं वा सूयगमं वा ठाणं वा समवायं वा विवाहप्पसत्ती वा णायाधम्मकहा णं वा उवासगदसा उ वा अंतगदसा उ वा अणुत्तरोववाइदसा उ वा पएहा वा गरणं वा विवागसुयं वा दिट्ठिवाय वा सव्वदन्वगुणपज्जवेहिं सव्वानुओगं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं द्योउत्तरिया भावाणुणा ॥

किमणुष कस्सऽणुणा, केवइ कात्तं पवित्रिआऽणुणा ।

आइगरपुरिमतात्ते, पवत्तिया उसहसेणस्स ॥ १ ॥

अणुण उणमणी एमणी, नामणि उवणा पजावो य ।

पभवण पयर तंउजयं, मज्जाया नाउ मगो कप्पो य ॥ २ ॥

संगहसंवरनिज्जर, ठिइकारणं चेव जीवुडिपयं ।

पय पवरं चेव तहा, वीसमणुम्माइ नामाइ ॥ ३ ॥ नंण

अणुणव्वइत्तऽणुणा, उणामि य जस्सियं वि उस्समणी ।

गिहिसाधूहिं एमिज्जति, तम्हा जा होति एमण ति ॥

सुतधम्मचरणधम्मो, एमयती जेण एमती तम्हा ।

उविओ य आरियत्ते, जम्हा तो तेण उवण ति ॥

उवितो गणाधिवत्ते, होति पचूतेण पजवो य ।

सव्वेसिं एमादी-ण होति पजवो पसूइ ति ॥

एगहा आयरिया-दीणं रूपं पजावित्ते ।

जेण विणा णो सिज्जति, तेण वियारो तु जिज्जति गणो से ।

तदुभयदियंति जसति, इह परदोमो य जेण हितं ॥

गणधरमेव वरेती, जम्हा जत्तेण होति मज्जादा ।

करणेज्जी कप्पो ति य, कप्पो गणकप्पकरणेणं ॥

णाणादिमोक्खमगो, सो तम्मि ठितो ति तो जवति मगो ।

जम्हा तु णायकारी, णाओ वा एस तो णातो ।

दव्वे जावे सग्गह, दव्वे आहारवत्थमादीहिं ॥

जावे णाणादीहिं, संगेएहति संगहो तेणं ।

दुविहेण संवरेण, इंदिय-णोइंदिएसु जम्हा उ ॥

अप्पाण गणं व तहा, संवरयति संवरो तम्हा ॥

गणवारणमगिद्धाए, कुणमाणे णिज्जरेति कम्माइ ।

अन्ने य णिज्जरावे, तम्हा तो णिज्जरा होति ॥

वातेरिता णई इव, एक पमाणण तरुणमादीणं ।

होति थिरा वद्धतो, तरुव थिरकरणतेणं तु ॥

जम्हा तु अन्नोच्छिन्ती, सो कुणती णाणचरणमादीणं ।

तम्हा खलु अच्चेदं, गुणप्पसिद्धं हवति एमं तु ॥

तित्थकरेहिं कयमिणं, गणधारीणं तु तेहिं सीसाणं ।

तत्तो परंपरेणं, आयमिणं तेण जीयं तु ॥

वच्छइ य णाणचरणं, गणं तु तम्हा उ तेण बुद्धिपदं ।

पवरं पहाणमेत्तं, सव्वेसिं रायदेवाणं ॥

एस अणुसाकम्पो, जहाविही वणिणतो समासेणं । पं० भा० ।

तिविहाऽणुसा पसत्ता । तं जहा-आयरियत्ताए, उव-
ज्जायत्ताए, गणित्ताए । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

परं प्रति सूत्रार्थदानानुमतौ, जी० १ प्रति० । सूत्रार्थयोरन्यप्र-
दान प्रत्यनुगमेन, व्य० १ उ० । गुरोर्निवेदिते, सम्यगिद धारया-
ऽन्यांश्चाऽप्यपयेति गुरुवचनविशेषे, अनु० । अन्त० । अनुज्ञावि-
धिस्तु योगोत्केपकायोत्सर्गवर्जः । सर्वोऽप्युद्देशविधिवद्वक्तव्यः,
नवर, प्रवेदिते गुरुवदति-सम्यग् धारयान्येषां च प्रवेदय, अन्या-
नपि पाठयेत्यर्थः । आवश्यकादिषु तदनुलविचारणादिप्रकी-
र्णकेष्वपि चैव एव विधिः, नवर, स्वाध्यायप्रस्थापनयोगोत्केप-
कायोत्सर्गश्च न क्रियते । एव सामायिकाद्यध्ययनेषुद्देशकेषु च
चैत्यवन्दनप्रदक्षिणाप्रयादिविशेषक्रियारहितसप्तवन्दनकप्रदा-
नादिकः स एव विधिरिति तावदियं चूर्णिकारक्षिस्तासामा-
चारी । सांप्रत पुनरन्यथाऽपि ताः समुपलभ्यन्ते, न च तथो-
पलभ्य समोहः कर्त्तव्यः, विचित्रत्वात्सामाचारीणामिति । अ-
नु० । अन्त० । आ० म० छि० । (इत्यतिरुष्टदेशकालादौ उद्देश-
निषेध द्वि० भा० ८११ पृष्ठे 'उद्देश' शब्दे, पञ्चाना ज्ञानानां
मध्ये धृतस्यैवाऽनुज्ञा प्रवर्तत इति 'अणुगण' शब्देऽत्रैव भागे
३५३ पृष्ठे समुक्तम्) धनिष्ठाशतभिषकस्वातीभवणपुनर्वसुषु
अनुज्ञा कार्य्या । द० प० ।

अणुगणकम्प-अनुज्ञात-त्रि० । जिनानुमते, स्था० ३ ठा० ४

उ० । दत्ताज्ञे, उत्त० २३ अ० । आ० क० ।

अणुगणकम्प-अनुज्ञाकम्प-पु० । कस्मिन् काले वत्साद्यनु-
ज्ञातमित्येवविधौ, प० भा० ।

.. अहुणा वोच्चं अणुसकम्पं तु ।

काही काञ्जे गहण, वत्थाईणं अणुसातं ॥

वत्थप्पायगहणे, वासावासामुणिगमो सरदे ।

तिण पणग सत्त तदुगा, उयम्मि कम्पोदगं जाणो ॥

वत्थादीणं गहणं, एऽणुगणातं होति वासासु ।

वासादीणं परेणं, दुमास अणुसेसु गिरहंति ॥

तेसिं पुण ऐताणं, सरदे जदि दोण्हगा उयाणंतो ।

दगसंघट्टजहम्मे, ए तिरिह यं चेव मज्झिमगा ॥

सत्ते चञ्च उक्कोसा, गिम्हम्मि तिरिण पंच हम्मते ॥

वासासु य सत्तन्नवे, परेण खेत्त णऽणुगणातं ।

अप्पोदगं चि मगा, जं तीरीयासु वणिणतं पुच्चि ॥

त अच्चजोयणे, दगघट्टा जाव सत्ते वा ।

वत्थप्पायगहणे, ए व संथरणम्मि पदमठाणम्मि ॥

एत्तोऽवतिकमम्मि तु, सट्ठाणा सेवणा मुच्छी ।

पदमं ताऽणुस्सग्गो, तेणं तू णवम होति खेत्तेसु ॥

वत्थादीण गहणं, तत्थेव य होति उ विहारो ।

एवठाणातिकमे पुण, हवई सट्ठाणतो विसुद्धो तु ॥

किं पुण त सट्ठाणं, अपवादो असति ते होति ।

अधवा एणं गहणं, उस्सग्गो चेव होइ सो ताहे ॥

गेहंतस्स तु करणे, मुच्छी तह चेव वोधन्वा ।

जह गेहदुवसग्गो, मुच्छीओ बहिस्स एव वितिणं ।

गेहंतस्स विसच्छी, सट्ठाण एवमक्खात्रं ।

अधवा वि इमे अणो, एव तु ट्ठाणा वियाहिता ॥

दब्बादीया इणमो, वोच्छामी आणुपुच्छी सो ।

दब्बे खेत्ते काले, वसही भिक्खमंतरे ऐयं ॥

सेज्जाई गुरुजोगी, एते ठाणा णिवोहिता ।

दब्बाणाहारादी-णि जाति सुलजाई तम्मि खेत्तम्मि ॥

खेत्त वित्थिणहं खट्ठु, वत्तत मुणंत गगणस्स ।

वत्तणपरियट्ठंती, मुणेंति अत्थ गणो तु बालादी ॥

तस्स पहुचति खेत्त, आहारादीहिं संथरणं ।

तत्थिकाद्धे चेलो, वसही जाग्गा तु तिकखुसु लजंति ।

न विगिट्ठमंतरेती, मज्जाउ मुज्झ जहिं च सुलभं च ।

आयरिआण जागं, विण्णेयं चेव णियमेणं ।

एते ते एव ठाणा, जहिं उस्सग्गेण गहण तु ॥

उस्सग्गेण विहारो, संथरमाणेण शवसु खेत्तेसु ।

ते सं वृधदुवहीणं, विपेल्लिया वि दगघट्टे य ॥

एवि दूरं गच्छंती, एवमस्स असंजवे वितियठाणं ।

दगघट्टे वट्ठुए वी, पेद्धे दूरं पि गच्छेज्जा ॥

दुलहम्मि वत्थपादे, ऊण वि एसु वि एवसु गच्छेज्जा ।

एमेव विहारो वि ह, खेत्ताण सती मुण्यन्वो ॥

आलवणे विसुद्धे, उगुणं तिगुण चट्ठगुणं वा वि ।

खेत्तं कालातीयं, समणुण्णात पकप्पम्मि ॥

एस अणुगणकम्पो ॥ पं० जा० ॥

इयार्णि अणुगणकम्पो (गाहा)(वत्थे पाप)अणुगणायम्मि काले
वत्थपायाणि घेत्तव्वाणि वासरत्ते गय तेसु घेत्तव्वाणि, पञ्चा-
गयाण नाणनायाणि निग्गायाणं पुण सरप अत्तेसु केत्तेसु, जत्थ
गीयत्थसविग्गेसु वासो न कम्मो तत्थ गोहति, जत्थ वा गीय-
त्थेहिं सविग्गेहिं कम्मो तेहिं गपहिं धीरे पट्ठा गेहति, तेसिं
पुण निगच्छत्ताण जइ अद्ध जोयणस्स अंतो तिरिह पच सत्त
दगसंघट्टा, दगसंघट्टो नाम जाणहेट्टा तहवि अणुगणाय परेण
नाणुगणाय जाति अप्पोदगा मग्गतिरियाए न्नाणिय जाव सत्तसंघ-
ट्टा, एव अरुद्धे जोयणे (गाहा)(वत्थे पाप) एव वत्थपायगहणे
वा तणसथारप य पदमठाण तु जसग्गेण गहणं नवसु ठाणेसु
पदमठाणाति उस्सग्गेण वुत्त होइ नवठाणवइक्कमे पुण सट्ठाण-
विसीही भवइ उवहिमाइ । किंच । तं सट्ठाण आवाप गइ
उस्सग्गो ताहे अवचायमो गहण । काणि पुण ताणि नव ठाणा-
णि ?-तत्थ (गाहा)(दब्बे खेत्ते) दब्बाणि जइ आहारोवकरणा-
णि लम्भति तम्मि खेत्ते उग्गमाइ सुज्जाणि (खेत्तं चि) खेत्तं विच्छि-
त्त महाजणपाउग्गं अन्नं च तारिस नत्थि खेत्त (काले चि) तह-
याप पोरिसीए भिक्खवेत्ता (वसिहि चि) वसहिंया उग्गा हेमत्त-
गिम्हवासपाउग्गा नत्थि नपुंसगाइ दोसरहिंया भिक्खा सुख-

भा, शुक्रमाश्रया उग्मा भिक्षुता गामंतराणि अविकिच्छाणि अणु-
त्थ असज्जमाश्रयं गुरुण सुव्रजं पात्रगं जोगीणं च अगादेतराण
सुव्रजं पात्रगं, एषाणि णव सुणैति, अर्थं सुणाति, साहवो अ-
भिणवं गुणैति वा साहैति वा कृञ्जुयारिति वा सुत्त गेयहंति
परियट्टेति चञ्जुयारैति वा सबाधसुहावलस्स वा गच्छस्स न-
त्थि तारिस्स अणु खेत्त कारग बहुवृत्तिसंघरताण चैव विसो-
दिच्छाण पेह्वति वा न दूर गच्छति मासकप्य करता चैव चवहिं
चप्पायंयति अह पुण दव्व वत्थ पाय डुल्लज्ज, खेत्त वा न पबुच्चइ,
ताहे बहुप वि दगसघट्टे पेह्वइ, दूर पि गच्छइ, अरुजोयणपरेण
वि(गाहा)(आसंवणे)ते च आलवणे विसुत्ते सव्व पि अणुणाय
डुगण खेत्तकालं दुगुणतिगुणचउगुणयहुगुणे वा खेत्तकालाश-
कमाणुष्ठाया पकप्पम्मि । एस्स अणुष्ठाकप्यो । प० चू० ।

अणुएहसंवट्टियककसंग-अणुणसंवर्त्तितकर्कशाङ्ग-त्रि० । मि-
क्षापरिभ्रमणाभावादुष्णलगनाभावेन सवर्त्तितानि धर्तुलीभू-
तानि अत एवाऽकर्कशानि अङ्गानि पाणिपादपृष्ठोदरप्रभृती-
नियेषां ते अणुणसंवर्त्तितकर्कशाङ्गाः । मिक्षाणामभावादुष्णस-
वन्धाभावेन शीतीभूताङ्गेषु, “अणुएहसंवट्टियककसंगा, गि-
एहति ज अभि न तं सहामो ” वृ० ३ उ० ।

अणुतमनेद-अनुतटनेद-पु० । वशस्येव द्रव्यभेदे, स्था०
१० ठा० ।

अणुतदियाजेय-अनुतटिकाभेद-पुं० । इच्छुत्वगादिवद् द्रव्य-
भेदे, प्रज्ञा० ११ पद । (तद्भेदाः ‘सद्द्रव्यभेय’ शब्दे वक्ष्यन्ते)

अणुतप्पि (ण्)-अनुतापिन्-त्रि० । अकल्पं किमपि प्रति-
सेव्य अणु पश्चाद् हा ! डुप्पु कारितमित्यादिरूपेण तपति स-
न्तापमनुभवति, इत्येवशीलोऽनुतापी । अकल्पप्रतिसेवनाज्ज-
न्तर पश्चात्तापविशिष्ट, व्य० १ उ० ।

अणुताव-अनुताप-पु० । पश्चात्तापे, आव० ४ अ० । ज्ञा० ।

अणुतावि (ण्)-अनुतापिन्-पुं० । पुर. कर्मादिदोषदुष्टाहा-
रग्रहणात् पश्चाद् ‘हा ! डुप्पु कृत मया’ इत्यादिमानसिकता-
पधारणशीले, वृ० ३ उ० ।

अणुताविया-अनुतापिका-स्त्री० । अनुतापयतीति अनुता-
पिका । परस्यानुतापकारिकायां भाषायाम्, “अणुताविय
खलु ते मास भासति ” सूत्र० २ भु० ७ अ० ।

अणुतप्पया-अनुत्त्रिप्यता-स्त्री० । ‘अपूपलज्जायाम्’ उत्प्राणल्येन
त्रप्यते लज्जयते येन तत् उत्त्रप्य, न उत्त्रप्यमनुत्त्रप्यमलज्जनीयं
यथा च शरीरशरीरमतोरभेदमधिकृत्य । अहीनसर्वाङ्गे शरीर-
सपद्भेदे, “वपुलज्जाप धाऊ, अलज्जणीओ अहीणस-
व्वगो । होई अणुतप्पे सो, अविगलइदियपडिप्पुष्पो”ति । व्य०
२ उ० । उत्त० । वृ० ।

अणुत्त-अनुत्त-त्रि० । अकथिते, ध० ३ अधि० । अभाषिते,
प० स० ५ ज्ञा० ।

अणुत्तर-अनुत्तर-त्रि० । उत्तर. प्रधानो नास्योत्तरो विद्यते
इत्यनुत्तरः । स्था० १० ठा० । सूत्र० । अविद्यमानप्रधानतरे,
भ० ६ श० ३३ उ० । अनन्यसदृशे, आ० म० द्वि० । आचा० ।
ध० । अनुप्रधाने, विशेषे । सर्वोत्कृष्टे, अष्ट० १४ अष्ट० । प्रअ० ।
कल्प० । आ० म० प्र० । दशा० । उत्त० । औ० ।

केवलिनो दशानुत्तराणि—

केवलस्स णं दस अणुत्तरा पप्पत्ता । तं जहा-अणुत्तरे
नाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे,
अणुत्तरे वीरिए, अणुत्तरा खंती, अणुत्तरा मुत्ती, अणु-
त्तरे अज्जवे, अणुत्तरे मद्दवे, अणुत्तरे लाघवे ॥

तत्र ज्ञानावरणक्षयाद् ज्ञानमनुत्तरम्, एव दर्शनावरणक्षयाद् दर्-
शनम्, मोहनीयक्षयाद् मोहदर्शनं, चारित्रमोहनीयक्षयाच्चारित्र, चा-
रित्रमोहक्षयादनन्तवीर्यम्, अनन्तवीर्यत्वाच्च तप शुक्लध्याना-
दिरूप, वीर्यान्तरायक्षयाद्धीर्यम्, इह च तपाज्ञान्तिमुक्त्यार्जव-
मार्दवलाघवानि चारित्रभेदा एवेति चारित्रमोहनीयक्षयादेव
भवन्ति । सामान्यविशेषयोश्च कथंचिद्भेदाद्भेदेनोपात्तानीति ।
स्था० १० ठा० । वृद्धिरहिते च । आचा० १ भु० १ अ० १ उ० ।
नास्त्यस्योत्तर सिद्धान्त इत्यनुत्तरम् । यथाऽवस्थितसमस्त-
वस्तुप्रतिपादकत्वादुत्तमे, आव० ४ अ० । सूत्र० । सर्वोत्कृष्टे
भोजिनधर्मे, सूत्र० १ भु० ५ अ० १ उ० ।

अणुत्तरगह-अनुत्तरगति-त्रि० । सिद्धिगतिप्राप्ते, “एस क-
रेमि पणामं, तिथयराण अणुत्तरगईण ” । द० प० ४ प० ।

अणुत्तरगा-अनुत्तराद्या-स्त्री० । अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तम-
त्वादस्याच्च लोकाग्रव्यवस्थितत्वादनुत्तराद्या । ईषत्प्राग्भाराणां
पृथिव्याम्, सूत्र० १ भु० ६ अ० ।

अणुत्तरण-अनुत्तरण-न० । न विद्यते उत्तरण पारगमन य-
स्मिन् सति इत्यनुत्तरणः । पारगमनप्रतिबन्धके, उत्त० १ अ० ।

अणुत्तरणवास-अनुत्तरणवास (पाश)-पु० । न विद्यते उत्त-
रण पारगमनमस्मिन् सतीत्यनुत्तरणः । स चाऽसौ वासश्चा-
वस्थानमनुत्तरणवासः । अनुत्तरणवासहेतुत्वाद् आयुर्धृत-
मित्यादिवदनुत्तरणवासः । यद्वा-आत्मनः पारतन्त्र्यहेतुतया
पाशयतीति पाशः, ततोऽनुत्तरणश्चासौ पाशश्चाऽनुत्तरणपाशः ।
उभयत्र च सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । ससारावलितौ,
पारवश्ये वा । एतच्च सम्बन्धनसंयोगस्यार्थतः । कृतम् ।
उत्त० १ अ० ।

अणुत्तरणाणदंसणधर-अनुत्तरज्ञानदर्शनधर-त्रि० । कथञ्चिद्
मिश्रज्ञानदर्शनाधारे, “एव से उदाहु अणुत्तरदंसी अणुत्तर-
नाणदंसणधरे ” सूत्र० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

अणुत्तरणाणि (ण्)-अनुत्तरज्ञानिन्-त्रि० । नास्योत्तर प्र-
धानमस्तीत्यनुत्तरम्, तच्च तज्ज्ञानं च अनुत्तरज्ञानम्, तद-
स्यास्तीत्यनुत्तरज्ञानी । केवलिनि, सूत्र० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

अणुत्तरधम्म-अनुत्तरधर्म-पु० । नास्योत्तरः प्रधानो धर्मो
विद्यते इति अनुत्तर । सूत्र० १ भु० ६ अ० । सुतचारित्राख्ये
धर्मे, सूत्र० १ भु० २ अ० २ उ० ।

अणुत्तरपरक्रम-अनुत्तरपराक्रम-पु० । परे शत्रवः । ते च द्वि-
धा-द्व्यतो मत्सरिण, भावतः क्रोधादयः । इह भावशत्रुभि-
प्रयोजन, तेषामेवोच्छेदतो मुक्तिभावात् । आक्रमणमाक्रमः, प-
राक्रम इति यावत् । परेयामाक्रम पराक्रम । सोऽणु-
त्तरोऽनन्यसदृशो यस्येति, “जिने नित्थयरे भगवने अणुत्तर-
परक्रमे अमियणाणी” । अत्र आह-ये खल्वैश्वर्यादिमगयन्त ने

ऽनुत्तरपराक्रमा एव, तमन्तरेण विवक्षितभगासभवात्, ततोऽनुत्तरपराक्रमानित्येतदतिरिच्यते । नैव दोष - अस्य अनादिसिद्धैश्वर्यादिसमन्वितपरमपुरुषप्रतिपादनपरनयवादिनिषेधपरत्वात् । तथाहि - कैश्चिदनुत्तरपराक्रमत्वमन्तरेणैव हिरण्यगर्भादीनामनादिविवक्षितभगयोगोऽभ्युपगम्यते । उक्तं च - "ज्ञानमप्रतिष यस्य, वैराग्य च जगत्पते । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम्" ॥ १ ॥ इत्यादि । अ० म० प्र० ।

अणुत्तरपुष्पसंज्ञार-अणुत्तरपुण्यसंज्ञार-पु० । अनुत्तर. सर्वोत्तमहेतुत्वात् तत्कार्यात्पुण्यसंज्ञार तीर्थकरनामकर्मलक्षणो येषां ते तथा । तीर्थकृतसु, प० सू० ४ सूत्र ।

अणुत्तरविमाणा अनुत्तरविमान-न० । नैवामन्यानुत्तराणि विमानानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि । चतुर्दशदेवलोकवास्तव्यानुत्तरोपपातिकदेवविमानेषु, अनु० (अत्र वक्तव्य 'विमान' शब्दे वक्ष्यते) "कइ ण जंते ! अणुत्तरविमाणा पणत्ता ? । गोयमा ! पच मणुत्तरविमाणा पणत्ता । ते ण जंते ! किं सखेज्जवित्थमा असखेज्जवित्थमा य ? । गोयमा ! सखेज्जवित्थमा य असखेज्जवित्थमा य" । म० १३ श० ३ उ० । "कइ ण भते ! मणुत्तरविमाणा पणत्ता ? । गोयमा ! पच मणुत्तरविमाणा पणत्ता । त जहा-विजय, वेजयते, जयते, अपराजिय, सव्वट्ठसिद्धे य" । म० ६ श० ६ उ० ।

अणुत्तरोववाइय-अनुत्तरोपपातिक-पु० । अनुत्तरेषु सर्वोत्तमेषु विमानविशेषेषु उपपातो जन्मानुत्तरोपपात, स विद्यते येषां तेऽनुत्तरोपपातिका । अ० । उत्तर' प्रधान । नास्त्योत्तरो विद्यते इत्यनुत्तर । उपपन्नमुपपातो जन्मैत्यर्थः, अनुत्तरश्चास्युपपन्नश्चेत्यनुत्तरोपपात ; सोऽस्ति येषां तेऽनुत्तरोपपातिका । सर्वार्थसिद्धादिविमानपञ्चकोपपातिषु, । स्या० १० वा० । विजयाद्यनुत्तरविमानवासिनि, स० १ सम० ।

अनुत्तरोपपातिकानामनुत्तरोपपातिकत्वम्-

अत्थि णं जंते ! अणुत्तरोववाइया देवा । हंता ! अत्थि । से केणट्ठे णं जंते ! एव वुच्चइ अणुत्तरोववाइया देवा ? । गोयमा ! अणुत्तरोववाइयाणं अणुत्तरा सदा अणुत्तरा रूवा जाव अणुत्तरा फासा, मे तेणट्ठे ण गोयमा ! एव वुच्चइ जाव अणुत्तरोववाइया देवा ॥

(अत्थि णमित्यादि) (अणुत्तरोववाइय ति) अनुत्तर सर्वप्रधानोऽनुत्तरशब्दादिविषययोगादुपपातो जन्मानुत्तरोपपात, सोऽस्ति येषां ते अनुत्तरोपपातिका । म० १४ श० ७ उ० ।

भेदा अनुत्तरोपपातिकस्य-

से किं त अणुत्तरोववाइया ? । अणुत्तरोववाइया पच-विहा पणत्ता । तं जहा-विजया, वैजयता, जयता, अपराजिया, सव्वट्ठसिद्धा । ते समामओ दुविहा पणत्ता । त जहा-पज्जत्ता य अपज्जत्ता य । प्रज्ञा० १ पद ।

(अन्तक्रियादयोऽस्य स्वस्थान एव दृश्या)

उच्यत्वम्-

अणुत्तरोववाइयाण देवाण एगा रयणी उहु उच्यते-ए पणत्ता ।

(एगा रयणि ति) हस्त पायत्र, क्रोश कौटिल्येन नदी इति-दिह द्विति । (उहु उच्यते ति) यस्तुनोऽपनेकयोश्चन्मर्ष-

स्थितस्यैकम्, अपरतिर्यक्स्थितस्य, अयद्गुणोन्नतिरूपम् । स्या० १ वा० । विजयादिविमानेषूपपात्तिमत्सु साधुषु, स्था० द्वा० ।

अणुत्तरोववाइया णं जंते ! देवा केवइएणं कम्मावमेसेणं अणुत्तरोववाइयदेवताए उववणा ? । गोयमा ! जावइयं उट्ठत्तिए समणे णिगंथे कम्मं णिज्जरेऽ, एवइएणं कम्मावमेसेणं अणुत्तरोववाइयदेवताए उववणा ॥

(जावइय उट्ठत्तिए इत्यादि) किल पट्टभक्तिक. सुमाधु-योवत्कर्म कृपयति, एतावता कर्मावशेषेणानिर्जीर्णोऽनुत्तरोपपातिका देवा उत्पन्ना इति । म० १४ श० ७ उ० ।

अणुत्तरोववाइयदसा-अनुत्तरोपपातिकदशा-खी० । न० व० ।

अनुत्तरोपपातिकवक्ष्यताप्रतिवक्षा दशा दशाऽध्ययनोपलक्षिता दशाध्ययनप्रतिषद्प्रथमवर्गयोगाद्दशा अन्यविशेषोऽनुत्तरोपपातिकदशा । स्या० १० वा० । अनु० । नवमेऽङ्के, न० पा० । स० ।

से किं तं अणुत्तरोववाइयदमाओ ? । अणुत्तरोववाइयद-सासु ण अणुत्तरोववाइयाणं नगराड उज्जाणाइं चेइयाइं वणखंडाइ रायाणो अम्मापियरो समोसरणाऽ धम्मायरि-या धम्मकहाओ इहलोगपरदोइया इट्ठिविसेसा भोगपरिच्चा-या पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाड परियागो प-मिमाओ संदेहणाओ जत्तपाणपच्चखाणाऽ पाओवगम-णाइं अणुत्तरोववाओ सुकुलपच्चाओ पुण वोट्ठिहाओ अ-तकिरियाओ आघविज्जंति अणुत्तरोववाइयदसासु णं ति-त्यकरममोसरणाऽ परममंगलजगहियाइ जिणातिसेसा य व-हुविसेसा जिणसीसाणं चेव समणगणपवरगधहत्थीणं यि-रजसाणं परिसहसेस्सरिउवद्वपमइणाणं तवदित्तचरित्ता-ण सम्पत्तसारविविहप्पगारपसत्थगुणसंजुयाण अणगारम-हरिसीणं अणगारगुणाण वणओ उत्तमवगत्तवविमिच्छणाण जोगजुत्ताणं जह य जगहियं भगवओ जारिसा इट्ठिविसे-सा देवासुरमाणसाणं परिसाणं पाउज्जाओ य जिणसमीवं जह य उवासरति जिणवरं, जह य परिकटंति धम्म, दोगगु-रु अमरनरसुरगणाण सोऊण य तस्स नामियं अवमेमकम्म-विसयविरत्ता नरा जहा अणुत्तरेति, धम्ममुदाल संजम तव वा विवहुविहप्पगार जह वहाणि वासाणि अणुचरित्ता आराहि-यनाणदंसणचारत्तिजोगा जिणवयणमाणगयमहियसुभानिय-त्ता जिणवगण हिययेण मणुत्तेत्ता जे य जट्ठि जत्तिया-णि जत्ताणि त्रेअत्ता द्रुण य ममाट्ठिमुत्तमज्जाणजो-गजुत्ता उववन्ना मुणिवगेत्तमा, जह अणुत्तरएसु पावनि जह अणुत्तर तन्थ विसयसोक्ख तओ य चुट्ठा कमेण का-हिति संजया जहा य अंतकिरिय एए अन्ने य एवमाइत्था विन्धरेण ॥

अनुत्तरोपपातिकदशामु त्रीदंकरममवमग्गानि । किं नानि ? परममाह्वयजगत्तानि, जिनानिशेषाश्च यद्विशेषाश्च " देह विमलमुय इत्यादयश्चतुर्विंशदधिकनरा वा, तथा जिगादि-

ध्याणां चैव गणधरादीनाम् । किंभूतानामत आह-भ्रमणगणप्रव-
रगन्धहस्तिनां, भ्रमणोत्तमानामित्यर्थः । तथा स्थिरयक्ष्मां, तथा
परीषहसैन्यमेव परीषहवृन्दमेव, रिपुबल परचक्रं, तत्प्रमर्दनानां,
तथा द्रववावाग्निरिव, दीप्तान्युज्ज्वलानि, पाठान्तरेण 'तपोदीप्ता-
नि' यानि चारित्र्यज्ञानसम्यक्त्वानि, तैः साराः सफला, विविध-
प्रकारविस्तारा अनेकविधप्रपञ्चाः । प्रशस्ताश्च ये क्षमाद्यो गु-
णा' तैः सयुतानाम् । कचिद् 'गुणध्वजानामिति' पाठः । तथा अ-
नगराश्च ते महर्षयश्चेत्यनगारमहर्षयः, तेषामनगरगुणानां वर्ण-
कः श्लाघा, आख्यायत इति योगः । पुनः किंभूतानां जिनशि-
ष्याणाम् ? उत्तमाश्च ते जात्यादिनिर्वरतपसश्च ते च नै विशिष्ट-
ज्ञानयोगयुक्ताश्चेत्यतस्तेषामुत्तमवरतपोविशिष्टज्ञानयोगयुक्ता-
नाम् । किंच । अपरे यथा च जगत्त भगवत इत्यत्र जिनस्य शा-
सनमिति गम्यते । यादृशाश्च ऋद्धिविशेषा देवासुरमानुषाणां,
रत्नोज्ज्वलक्षक्योजनमानविमानरचन सामानिकाद्यनेकदेवदेवी-
कोटिसमवायन, मणिस्ररम्भरिमतदण्डपटुप्रचलत्पताकिकाश-
तोपशोभितमहाध्वजपुरःप्रवर्तिनः । विविधाऽऽतोचनादृगगनाभो-
गपूरण, चैवमादित्यक्षणाः, प्रतिकल्पितगन्धसिन्धुरस्कन्धारोहण
चतुरङ्गसैन्यपरिवारण कृत्रचामरमहाध्वजादिमहाराजचिह्न-
प्रकाशन, चैवमादयश्च सम्यग्विशेषाः समवसरणगमनप्रवृ-
त्तानां, वैमानिकज्योतिष्काणां भवनपतिव्यन्तराणां, राजादि-
मनुजानां च । अथवा अनुत्तरोपपातिकसाधूनाम्, ऋक्वि-
शेषा देवादिसम्बन्धिनस्तादृशा 'आख्यायन्ते', इति क्रियायो-
गः । तथा पर्षदां 'सजयवेमाणित्थी सजह्पुव्वेण पविसिओ
वीर' इत्यादिनोक्तस्वरूपाणां प्राप्नुर्भावाश्च आगमनानि, क ?-
(जिनवरसमीपे ति) जिनसमीपे, यथा च येन प्रकारेण, पञ्च-
विधाभिगमादिना (उपासमीवति) उपासते सेवन्ते राजा-
दय, जिनवर तथा 'ख्यायते' इति योगः । यथा च परिकथय-
ति धर्मे, लोकगुरुरिति जिनवर', अमरनरासुरगणानां श्रुत्वा च
'नस्येति' जिनवरस्य भाषित, अवशेषाणि क्षीणप्रायाणि, कर्मा-
णि येषां ते तथा । ते च ते विषयविरक्ताश्चेति, अवशेषकर्मवि-
षयविरक्ताः । के ? नरा । किम् ? यथा अभ्युपयन्ति धर्ममुदारम् ।
किंस्वरूपमत आह-सजम तपश्चापि । किंभूतमित्याह-बहुविध-
प्रकार तथा, यथा बहूनि वर्षाणि (अणुचरिय ति) अनुचर्य
आसेव्य, सयम तपश्चेति वर्त्तते । तन आराधितज्ञानदर्शनचा-
रित्रयोगा' । तथा (जिनवयणमणुगयमहियभासिय ति) जिनव-
चनमाचारादि, अनुगत सब्र नार्दवितर्दमित्यर्थः ; महिन पू-
जितम्, अधिक वा भाषित यैरध्यापनादिना ते तथा । पाठान्तरे-
जिनवचनमनुगत्याऽऽनुकूल्येन सुपुभापिन यैस्ते जिनवचनानुगा-
निश्रुभाषिताः । तथा [जिनवराण हियण मणुएणेन ति] इति
षष्ठी द्वितीयाधे । तेन जिनवरान् हृदयेन मनसा अनुनीय प्राप्य
ध्यात्वेति यावत् । ये च यत्र यावन्ति च भक्तानि ज्येदयित्वा ल-
ब्ध्वा च समाधिमुत्तमध्यानयोगयुक्ता उपपन्ना मुनिवरोत्तमा-
यथा अनुत्तरेषु, तथा 'ख्यायते' इति प्रक्रम । तथा प्राप्नुव-
न्ति यथाऽनुत्तर (तत्थ ति) अनुत्तरविमानेषु विषयसुख, तथा
ख्यायन्ते (तत्तो य ति) अनुत्तरविमानेऽप्यभ्युताः । क्रमेण करि-
ष्यन्ति, संयता यथा चान्तः कियन्ते तथा ख्यायन्ते । स० ॥

से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? । अणुत्तरवेवाइयद-
साएसु एं अणुत्तरोववाइयाण नगरां उज्जाणां चैइयां
वणखंमां समोसरणां रायाणो अम्मापियरो धम्मायि-

या धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इहिविसेसा भोग-
रिखाया पव्वज्जाओ परियागा सुयपकिगहा तवोवहाणां
पमिमाओ उवसगसंलेहणाओ भत्तपञ्चखाणां पाओवग-
मणां अणुत्तरोववाइ ति उवक्तीसु कुलपञ्चायाइओ पुण बो-
हिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति अणुत्तरोववाइयद-
सां परिता वायणा संखिज्जा अणुभोगदारा संखिज्जा वेहा
संखिज्जा मिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ
संगहणीओ संखिज्जाओ पमिवक्तीओ से एं अंगदयाए न-
वमे अंगे एगे सुयखंथे तिन्नि वगे तिन्नि उदेसणकाला तिन्नि
समुदेसणकाला संखिज्जां पयसहस्सां पयगेणं संखि-
ज्जा अक्खरा अणंताऽऽगमा अणंता पज्जवा परिता तसा
अणंता यावरा सासयकमनिबद्धनिकाइया जिणपसत्ता
नावा आघविज्जंति पञ्चविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति
निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं
विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, सेत्तं अणु-
त्तरोववाइयदसाओ ॥

(अणुत्तरोववाइयदसासु णमित्यादि) पाठसिद्ध यावन्निगमनम्,
नवरम्, अध्ययनसमूहो वर्गः । वर्गे च वर्गे च द्वा दशाध्ययनानि,
वर्गश्च युगपदेवोद्दिश्यते इति । त्रय एव उद्देशनकाला, त्रय एव
समुद्देशनकालाः, सस्येयानि च पदसहस्राणि, सहस्राद्याधिक-
षट्चत्वारिंशल्लक्षप्रमाणानि वेदितव्यानि ॥ न० ।

अणुदत्त-अनुदत्त-पु० । न उदात्तः, विरोधे नञ् । 'नीचैरु-
दात्तः' पा० ॥ १२३० ॥ इति लक्षिते तात्त्वादिषु समागेषु स्थानेषु
भागे निष्पक्षे स्वरभेदे, यथा नीचैः शब्देन 'जे निक्खू इत्यकम्
करेइ' इत्यादि । ४० १ ३० ।

अणुदय-अनुदय-पु० । वेलाप्राकाले, द्वा० ७ द्वा० ।

अणुदयवधुकिद्धा-अनुदयवन्धोत्कृष्टा-स्त्री० । यासां विपाको
दयामाघे बन्धादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मवासि, तासु कर्मप्रकृति-
षु, प० स० ३ द्वा० । ताश्च 'नारयतिरिउरलदुगु' इत्यादि-
गाथया 'कम्म' शब्दे तृ० भा० २७६ पृष्ठे दर्शिताः ।

अणुदयवर्इ-अनुदयवती-स्त्री० । "चरिमसमयमि दसिये,
जासिं अन्नत्थ सकमे ताओ । अणुदयवर्इ" यासां प्रकृतीनां
दलिक चरमसमयेऽन्त्यसमये, अन्यत्राऽन्यप्रकृतिषु, स्तिबुक्क-
क्रमेण सकमयेत्, सकमय्य चान्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभावत
स्वोदयेन तावत्पुदय' बोऽनुदयवती सन्ना । इत्युक्ततत्त्वानु-
क्रमप्रकृतिषु, प० स० ३ द्वा० ।

अणुदयसंकमुकिद्धा-अनुदयसंकमोत्कृष्टा-स्त्री० । यासामनु-
दयसंकमत उत्कृष्टस्थितिलान् । तासु कर्मप्रकृतिषु, प० स० ३
द्वा० । ('कम्म' शब्दे तृ० भा० ३३० पृष्ठे चासा स्वरूपमात्रेण विप्यते)
अणुदरंभरि-अनुदरभरि-पु० । अनात्मस्मरौ, द्वा० ६ द्वा० ।

अणुदबि-देशी-कणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १६१ ।

अणुदहमाण-अनुदहत्-त्रि० । निसर्गान्तरमुपतापयति,
स्था० १० द्वा० ।

अणुपा (वा) य ए-अनुपातन-न० । अनु-पत-णिच्-ल्युट् ।
अवतारणे, ध० २ अधि० ।

अणुपालत-अनुपालयत्-त्रि० । अनुभवति, “ साया सोक्ख-
मणुपालतेण ” शातं सुखमनुपालयताऽनुभवता । सुखात्-
कामनसेत्यर्थः । पा० । प्रतिपालयति, आचा० १ ध्रु० ५ अ० २ उ० ।

अणुपा (वा) लण-अनुपालन-न० । शिष्यगुरुरक्षणे, तत्राकु-
र्वतो दोषः । ध० ३ अधि० । अनुपालने तु शासनप्रत्यनीकत्वादि-
दोषा एव । यतः पञ्चस्तुप्रकरणे-“ इत्थं पमायसालिया, पु-
व्ववमासेण कस्स वणं होति । जो तेण वेदस्समं, गुरुत्तणं तस्स
सफलं ति ॥१॥ को णाम सारहीणं, सहोज्ज जो भद्वाऽणो
दमण । दुट्ठे वि अ जे आसे, दमेइ तं आसिअं विंति ॥२॥ जो
आयरेण पदमं, पुव्वा वेऊण नाणुपालेइ । सेहे सुखाविदीय,
खो पक्खणपच्चणीओ सि ॥३॥ अवि को वि अपरमत्था, विरु-
द्धमिह परमवे असेव वा । जं पाविंति अणत्थ, सो ल्लुत्तप-
व्वओ सव्वो ” ति ॥४॥ ध० ३ अधि० ।

अणुपा (वा) लणाकप-अनुपालनाकप-पुं० । आचार्यं
कथञ्चिद् विपक्षे गुरुरक्षणविधौ, प० भा० ६

स चैवम-

..... अणुणा अणुपालणाकपं ।

संखेवसद्बुद्धिं, बोद्धामि अहं समासेणं ॥
मोहतिगिच्छाएँ गते, एट्ठे खेत्तादि अहं व कालगते ।
आयरिणं तम्मि गणे, पालादीस्खण्णहाए ॥
कोवि गणी उवणिज्जो, सन्नति जंति तस्स कोवि सीसो तु ।
सुत्तत्थतदुभएहिं, णिम्माओ सो उवेयव्वो ॥
असती य तस्स ताहे, उवेयव्वा कमेण मेणं तु ।
पव्वज्ज कुले णाणे, खेत्ते सुहदुक्खसुतसीसो ॥
गुरु गुरुणं तं तू वा, गुरुसज्जिअउ व्व तस्स सीसो तु ।
पव्वज्ज एगपक्खी, एमादी होति णायव्वो ॥
असतीएँ कुल्लो बी, तस्स सतीएसु एगपक्खीओ ।
खेत्ते उवसंपन्ने, तस्स सतीए उवेयव्वो ॥
सुहदुक्खियस्स असती, तस्स सतीए सुतोवसंपन्नो ।
एवं त्रियाण तेहिं, सीसम्मि तु मग्गणा एत्थि ॥
पामिच्च गणधरे पुण, उविण तदियं तु मग्गणा इणमो ।
सुत्तत्थमहिज्जंते, अणहिज्जंते इमे जागा ॥
साहारणं तु पढमे, वितिए खेतम्मि ततिएँ सुहदुक्खे ।
अणहिज्जंते सीसे, सेसे एकारम विजागा ॥
पुव्वुद्धिगणस्स तु, एत्थुद्धिं पवाइयंतस्स ।
पुव्वं पच्छुद्धिं, सीसम्मि तु जं तु होति सच्चित्तं ॥
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वगणस्स आहवति ।
पुव्वुद्धिगणस्मा, पच्छुद्धिं पवाइयंतस्स ॥
संवच्छरम्मि वितिए, सीसम्मि तु जं तु सच्चित्तं ।
पुव्वं पच्छुद्धिं, सीसम्मि तु जं तु होति सच्चित्तं ॥
सवच्छरम्मि ततिए, एतं सव्वं पवाइयंतस्स ।

पुव्वुद्धिं गच्छे, पच्छुद्धिं पवाइयंतस्स ॥

संवच्छरम्मि पढमे, सिस्सिणिए जं तु सच्चित्तं ।

संवच्छरम्मि वितिए, तं सव्वपवाइयंतस्स ॥

पुव्वं पच्छुद्धिं, पामिच्चियाए उ जं तु सच्चित्तं ।

संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वपवाइयंतस्स ॥

खेत्तुवसंपायरिओ, सुहदुक्खी चैव जति तु सो उव्विओ ।

कुल्लगणसधिवो वा, तस्स वि सइ होति उ विवेगो ॥

संवच्छराणि तिणिए उ, सीसम्मि पढिच्चियम्मि तदिवसं ।

एककुल्लगणिवे, संवच्छर संघ उम्मासो ॥

तत्थेव य णिम्माए, अणिम्माए णिम्माए इमा मेरा ।

सकुले तिणिए तियाइं, गणे दुगं वच्छरं संघे ॥

ओमादिकारणेहिं, पुम्मेहत्तेण वा ए णिम्मातो ।

काउण कुलसम्मायं, कुलधेरे वा उव्वेति ॥

एव हायणाई ताहे, कुलं तु सिक्खावए पयत्तेणं ।

ण य किंचि तेसिं गेएहति, गणो दुगं एगसंघो तु ॥

एवं तु दुवाअसहिं, समाहिं जदि तत्थ कोवि णिम्मातो ।

तो णिति अणिम्माए, पुण वि कुल्लादी उव्वडाणा ॥

तेणेव कमेणं तु, पुणो समाओ हवांति वारस तु ।

णिम्माए विहरंती, इहरकुल्लादी पुणोवडा ॥

तद् वि य वारसमासो, सीसस्स वि गणधरो होइ ।

तेण परमनिम्माए, इमा विही होइ तेसिं तु ॥

अत्तीसातिकंते, पंचविहु व्व संपदा पत्तो ।

पच्छा पत्तं तुवसं-पदे पव्वज्जएसु एगपक्खम्मि ॥

पव्वज्जाएँसु तेण य, चउभंगो होति एगपक्खम्मि ।

पुव्ववहित बीसरिए, पढमा सति ततियजंणेण ॥

सव्वस्स वि कायव्वं, णिच्चयओ कंकुलं व अकुलं वा ।

काअसजावमत्ते, गारव्वज्जाएँ काहिंति ॥

एसउणपाअणकप्पो । पं० भा० ।

आयरियाणहावए, आयरिए नट्ठे वा, मोहतिगिच्छाए वा, प-
क्खिअचिसे वा, कालगए वा, तस्स य सबालवुद्धाओ तस्स ग-
च्छस्स को गणधारी कायव्वो?, तत्थ(गाहा)(पव्वज्जा)ओ जस्स
सीसो निम्माएअओ तस्स सइ जो पव्वज्जेगपक्खिओ पित्तिय-
ओ पित्तियपुत्तो वा तस्स सइ कुल्लव्वओ तस्स सइ नाणेगप-
क्खिओ एगवायणिओ तस्स जो तम्मि खेत्ते उवसपन्नओ मा-
यरिओ सुहदुक्खिओ वा सुयनिमित्त वा जो तत्थ एगज्जा
पमिच्चओ एपसि उवियाण अहिज्जताण कस्स किंवा जव्वर,
सीसे ताव उविपल्लए का कहा?, सेसेसु अणहिज्जतेसु पमि-
च्छए उविए आयरिएण निम्माविपल्लए कुल्लगणसघत्तिए वा जो
सो आयरिओ उविओ नाऊण य वोच्चेय सो कुल्लव्व पाइत्तम्मि
अत्थ ते चैव आयरिया कालगया ते वि आयरियेण त निमित्त
चैव सीसवक्कावर तम्मि ममत्त करता एस अम्ह सज्जतिओ सो
वि एए मम सज्जति एत्ति कारुण ममत्त करेइ, एवं सो निम्मा-

मित्त ओसड वा दाउ वच्चेज्जा, अगणिकाए वा उद्धिओ सजईण उवस्सओ मा उज्झिहइ, उज्जे वा अन्न—उवस्सयं काठं वच्चेज्जा, आउक्काए वा नईपरिण उद्धिणसु जय—ण उवकरण सजइओ वा मा उज्जेज्जा, आउक्काएण बालभाए वसहिं सठवेउ अन्न वा दाउ वच्चेज्जा, वियारभूमिं वा एण—भग्गा उद्धा वा सठवेउ अन्न वा दाउ वच्चेज्जा, सुतो भाया वा अज्जाए पव्वइओ, सो य अज्जदेस गतूण पुव्वगए कालि—याणुओगे व निम्माओ आगओ त गणधरो घेत्तुं वच्चेज्जा, स—हेह वा कजेउकामो तथेव एस दाउ सदीदाए वा घोसिरणे घोसठाए वा अणुसिंहि दाउ वच्चेज्जा, एसा विही, तव्विव—गीया अविही । प० चू० ।

अणुपा (वा) लणामुक्क—अनुपालनामुक्क—न० । प्रत्याख्या—ननेदे, आव० ।

कतारे दुब्बिक्खे, आयंके वा महइ समुप्पणे ।

जं पालिअं न जग्ग, तं जाणऽणुपालणासुअं ॥ ३२ ॥

कान्तारे अरराये, दुमिंजे कावविभ्रमे, आतङ्गे महति समुत्पन्ने सति यत्पावितं न भन्नं तज्जानीह्यनुपालनामुक्कमिति । “ एतथ उग्गमदोसा सोलस, उप्पायणाए वि दोसा सोलस, एसणाए दोसा वस, एए सव्वे वायालीस दोसा निच्चपमिसिद्धा, एए कतारदुब्बिक्खाऽसु न जजइमि ” इति गाथार्य ॥ ३२ ॥ आव० ६ अ० । स्था० । आ० चू० ।

अणुपाणिता—अनुपाल्य—अव्य० । यथा पूर्वैः पालित तथा पश्चात्परिपाल्येत्यर्थे, कल्प० ।

अणुपालिय—अनुपालित—त्रि० । आत्मसयमानुकूलतया पालिते, स्था० ८ ठा० । दशा० ।

अणुपासमाण—अनुपश्यत्—त्रि० । भूयः पश्यति, “ किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किं वा हु खलिय न विवज्जयामि । इच्चेव सम्म अणुपासमाणा, अणागय नो पमिबध कुज्जा ” दश० २ च० ।

अणुपिड्ड—अनुपृष्ठ—न० । आनुपूर्व्याम, ‘अणुपिड्डसिक्काइ’ सम० ।

अणुपुव्व—अनुपूर्व—न० । क्रमे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ च० । स्था० ।

आनुपूर्व्य—न० । मूलादिपरिपाठ्याम्, औ० । “अणुपुव्वसुजा—यदीहलगूले ” अनुपूर्वेण परिपाठ्या सुष्ठु जान उत्पन्नो यः सोऽनुपूर्वसुजात । स्वजात्युचितकावकमजातो हि बलरूपादिगुणयुक्तो भवति, स चासौ दीर्घज्ञाङ्गूलो दीर्घनुच्छेति स तथा, अनुपूर्वेण वा स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मनगलकणेन सुजान दीर्घज्ञाङ्गूल यस्य स तथा । “मधुगुहियपिगलक्खो, अणुपुव्वसुजाय—दीहलगूलो ” स्था० ४ ठा० ४ च० । “अणुपुव्वसुजाय—दीहलव—दृमावपरिणया” आनुपूर्व्या मूलादिपरिपाठ्या सुष्ठु जाना आनुपूर्वीमुजाता, रुचिरा स्निग्धतया देदीप्यमानच्छविमन्, तथा वृत्तजात्रपरिगुना । किमुक्तं भवति—एव नाम सर्वा—सु दिक्षु च शास्त्राभिश्च प्रयुता यथा वर्तुलाः सजाना इति । आनुपूर्वीमुजानाश्च ते रुचिराश्च आनुपूर्वीसुजानरुचिरा वृत्तभावपरिणता । ग० । ज्ञा० । जी० । “अणुपुव्वसुजायवप्प—गम्भीरगम्भीरजलाओ ” आनुपूर्व्येण क्रमेण नीचस्तरां भावरूपेण सुष्ठु अनिशयेन यो जानवप्र केदारो जलस्थान तत्र गम्भीरमलम्बनल शीतल जल यासु ना आनुपूर्व्यसुजान—वप्रगम्भीरशीतलजला । रा० । ज्ञा० । जी० । “अणुपुव्वसु—

सहयगुलीए ” आनुपूर्व्येण क्रमेण वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते । औ० जी० । पूर्वस्या अनु, लघव इति गम्यते, अनुपूर्वा० । किमुक्तं भवति—पूर्वस्या उत्तरोत्तरा नन्न नन्नेन हीना, ‘णह एहेण हीणाउ’ इति सामुद्रिकशास्त्रवचनात् । अथवा—आनुपूर्व्येण परिपाठ्या वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते, सुसंहता अविरला अद्भुतः पादाप्रावयवा येषां ते तथा । अत्रानुपूर्वेति विशेषणात्पादाङ्गुलीग्रहण, तासामेव नन्न, नन्नेन हीनत्वात् । ज० २ वक्ष० ।

अणुपुव्वसो—अनुपूर्वशस्—अव्य० । अनुक्रमेणेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अणुप्पइय—अनुत्पत्तित—त्रि० । उद्भिने, “आगासेऽणुप्पइओ ललियचवलकुडलतिरीडी ” उत्त० ६ अ० ।

अणुप्पगंय—अनु (णु) प्रग्रन्थ—पुं० । अनुरूपतयौचित्येन विरतेः न त्वपुण्योदयाद्, अणुरपिवा सूक्ष्मोऽप्यल्पोऽपि प्रगतो ग्रन्थो धनादिर्यस्य यस्माद् वाऽसावनुप्रग्रन्थः । अपेक्षित्यन्तर्गतत्वादणुप्रग्रन्थो वा । परिग्रहविरते, स्था० ६ ठा० ।

अणुप्पसु—अनुत्पन्न—त्रि० । वर्त्तमानसमयेऽविद्यमाने, नि० चू० ५ उ० । अलब्धे, ग० १ अधि० । (‘नमोकार’ शब्दे तदुत्पन्नानुत्पन्नत्व दर्शयिष्यते)

अणुप्पदाजं—अनुप्रदानम्—अव्य० । पुनः पुनर्दानमित्यर्थे, प्र—ति० । उपा० ।

अणुप्पदा (या) ण—अनुप्रदान—न० । पुनः पुनर्दाने, आव० ६ अ० । आचा० । परम्परकेण प्रदाने, व्य० २ उ० । गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूच्यानां वा सयमोपघातके दाने, जेणेह णिव्वहे भिक्खु, अस्सपाणं तद्दाविहं ।

अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परियाणिया ॥ आचा० १ श्रु० ९ अ० ।

(‘धम्म’ शब्दे अस्या व्याख्या)

अणुप्पज्जु—अनुप्रभृ—पुं० । युवराजे, सेनापत्यादौ च । नि० चू० २ उ० ।

अणुप्पवाएत्ता—अनुप्रवाचयितृ—त्रि० । पाठयितरि, ग० १ अधि० । स्था० । “आयरियउवज्झाए गणसि सम्म अणुप्पवाएत्ता जवइ” तृतीय सप्रहस्थानम् । ग० १ अधि० ।

अणुप्पवाएमाण—अनुप्रवाचयत्—त्रि० । वर्णानुपूर्व्याक्रमेण पठति, ज० ३ वक्ष० ।

अणुप्पवाय—अनुप्रवाद—पुं० । अनुप्रवदति साधनानुकूल्येन निदिप्रकरणेण प्रवदतीति । न० । नवमपूर्वे, स्था० ९ ठा० । विशेष० । ज्ञा० म० द्वि० । ‘विद्याऽनुप्रवादम्’ इत्यपर नाम । न० ।

अणुप्पवेसण—अनुप्रवेशन—न० । मनसि लब्धाऽऽस्पृहीभवने, वक्ष० ३ अ० ।

अणुप्पवेसेत्ता—अनुप्रवेश्य—अव्य० । “अन्नयरसि भवितसि सोयगसि अणुप्पवेसेत्ता” नि० चू० १ उ० ।

अणुप्पसूय—अनुप्रसूत—त्रि० । जाते, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ च० ।

अणुप्पाइ (ण)—अनुपातिन्—पुं० । अनुपततीत्यनुपाती । घटमाने युज्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

अणुपिप्य-अनुप्रिय-त्रि० । प्रियानुकूले, "अन्नस्स पाणस्सि-
हलोइयस्स, अणुपिप्यं भासति सेवमाणे" अनुप्रियं प्रापते
यद्यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनुपपन्नाद् भापते अनुप्रापते ।
सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अणुपेहा-अनुपेक्षा-स्त्री० । अनुपेक्षणमनुपेक्षा । चिन्तनि-
कायाम्, स्था० ५ वा० ३ उ० । अर्धचिन्तने, ध० ३ अधि० ।
ग्रन्थार्थानुचिन्तने, ग० २ अधि० । सूत्रानुचिन्तनिकायाम्
उक्त० २ अ० । दश० । अनुपेक्षा स्वाध्यायविशेषः । स तु
मनसस्तत्रैव नियोजनाद् जयति । उक्त० २९ अ० । प्रव० ।
अवधाने, प्रति० । तद् विधिरसौ- "जिणवरपवयणपायरु-
णयउण गुरुवयणओ सुणियपुव्वे । एगम्मणो धणिय, चित्ते
चिनेइ सुयवियारे" ॥ १ ॥ ध० २० ।

एतस्याः फलम्-

अणुपेहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अणुपेहाएणं
आजयवज्जाओ सत्त कम्मप्पयडीओ धारियवंधणवच्चा-
ओ सिद्धिबंधणवच्चाओ पकरेइ, दीहकालडिइयाओ
हस्सकाज्जडिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुजा-
वाओ पकरेइ बहुप्पसगाओ अप्पप्पसगाओ पकरेइ, आ-
उयं च एणं कम्मं सिय वंधइ, सिय नो वंधइ, असायावेयणिज्जं च
णं कम्मं नो भुज्जो जुज्जो उवचिणाइ, अणाइयं च एणं अण-
वदग्गं दीहमच्च चाउरंतसंसारकतारं खिप्पामेव वीईवयइ ॥

हे जदन्त ! स्वामिन् ! अनुपेक्षया सूत्रार्थचिन्तनिकया, जीव-
किं जनयति ? । गुरुराह-हे शिष्य ! अनुपेक्षया कृत्वा जीवः
सप्त कर्मप्रकृतीर्हानावरणदशनावरणवेदनीयमोहनीयनामगोत्रा-
न्तरायरूपाणां सप्तानां कर्मणां प्रकृतय एकशतचतु पञ्चाशत्प्र-
माणा सप्तकर्मप्रकृतयस्ताः सप्तकर्मप्रकृतीर्धर्णियबन्धनवद्धा-
गाढबन्धनबद्धा, निकाचितयद्धा, शिथिलबन्धनयद्धा प्रकरोति ।
यतो हि अनुपेक्षा स्वाध्यायविशेषः, स तु मनसस्तत्रैव नियोज-
नाद्भवति, स चानुपेक्षा । स्वाध्यायो हि आच्यन्तर तपः, तप-
स्तु निकाचितकर्माणि शिथिलीकर्तुं समर्थं प्रवत्येव । कथंभूताः
सप्त कर्मप्रकृतीः, आयुर्वर्जाः, प्रकृष्टभावहेतुत्वेन आयुर्वर्जयन्ती-
त्यायुर्वर्जाः । पुनर्हे शिष्य ! अनुपेक्षया कृत्वा, जीवस्ता एव कर्मप्र-
कृतीर्दीर्घकालस्थितिकाः शुभाध्यवसाययोगात् स्थितिरात्मान-
नामपहारेण ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति । प्रचुरकालभोग्यानि
कर्माणि स्वल्पकालभोग्यानि करोतीत्यर्थः । पुनस्तीव्रानुभावा
कर्मप्रकृतीर्मन्दानुभावाः प्रकरोति, तीव्रः उत्कटोऽनुभावो रसो
यासां तास्तीव्रानुभावाः, ईदृशीः कर्मप्रकृतीर्मन्दो निर्बलोऽनुजा-
वो यासां ता मन्दानुभावाः प्रकरोति, तादृशीः प्रकर्षेण विदधा-
ति, पुनर्बहुप्रदेशाग्रा अल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति । बहुप्रदेशाग्रं कर्म
सुबलिकप्रमाणं यासां ता बहुप्रदेशाग्रा, एतादृशीः कर्मप्रकृती-
रल्पप्रदेशाग्रा प्रकरोति । इत्यनेन अनुपेक्षयाऽशुभश्चतुर्विधोऽपि
बन्ध-प्रकृतिबन्धः स्थितिवन्धोऽनुभागबन्धः प्रदेशबन्धः, शुभत्वे-
न परिणमतीत्यर्थः । अत्र च आयुर्वर्जमित्युक्तम् । तत्तु-एकस्मिन्
भवे सङ्गदेव अन्तर्मुहूर्त्तकाले एव आयुर्वर्जो बध्नाति । च पुनः
आयुःकर्माऽपि स्याद् बध्नाति, स्यान्न बध्नाति, संसारमप्येति-
ष्टति चेत्तर्हि अशुभमायुर्न बध्नाति । जीवेन तृतीयभागादिशेषा-
युक्तेन आयुः कर्म बध्यते, अन्यथा न बध्यते । तेन आयुः कर्मबन्धे
निश्चयो नोक्तः, इत्यनेन मुक्तिं व्रजति तदा आयुर्न बध्नातीत्युक्तम् ।

पुनरनुपेक्षया कृत्वा जीवोऽसातावेदनीय कर्म शरीरादिदुःख-
हेतु च कर्म । चशब्दादन्याश्चाशुभप्रकृतीर्नो भूयो ज्ञेय उपचि-
नोति । अत्र भूयोऽन्योऽग्रहणेन एव ज्ञेयम्-कश्चिद्यतिः प्रमाद-
स्थानके प्रमाद भजेत् तदा बध्नात्यपि इति हार्दम् । पुनरनुपेक्ष-
या कृत्वा जीवश्चानुरन्तसंसारकान्तारं किंप्रमेव (दीर्घवयइ
इति) व्यतिव्रजति । चत्वारश्चतुर्गंतिलक्षणा अन्ता अवयवा यस्य
तत् चानुरन्त, तदेव संसारकान्तारं संसारारण्यं, तत् शीघ्र-
मुल्लङ्घयति । कीदृशं संसारारण्यम् ? अनादिकम्-आदेरभावा-
द् आदिरहितम् । पुनः कीदृशं संसारकान्तारम् ? अनवदग्रम-
नागच्छत् अग्रं परिमाणं यस्य तद् अनवदग्रम्, अनन्तमि-
त्यर्थः । प्रवाहापेक्षया अनाद्यनन्तम् । पुनः कीदृशम् ? दीर्घा-
च्च दीर्घकाल, 'दीर्घमरुम्' इत्यत्र मकारो लाक्षणिकः, प्राकृत-
त्वात् ॥ उक्त० ७ अ० । तत्रानुपेक्षा चिन्तनिका, तथा
प्रकृष्टजन्मभावोत्पत्तिनिवन्धनतया आयुष्कवर्जाः सप्त कर्मप्रकृ-
ती, (धर्णिय ति) यादृ यन्धन श्लेषण, तेन यद्धा, निकाचिता
इत्यर्थः । शिथिलबन्धनयद्धाः किञ्चिन्मुक्ताः । कोऽर्थः ? अपवर्त्त-
नादिकरणयोग्याः प्रकरोति, तपोरूपत्वाद् इत्यादि । तपसश्च निका-
चितकर्मप्रकरणेऽपि क्रमत्वात् । उक्तं हि-"तवसा च निकाइ-
याण व च्छि" दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरो-
ति, शुभाध्यवसायवशात् । स्थितिरमकापहारेणेति भावः । ए-
तन्मैव, सर्वकर्मणामपि स्थितेरशुभत्वात् । यत उक्तम्-"स-
व्वासि पि डितीओ, सुमासुभाण पि होति असुभाओ । माणुस-
तेरिच्छदेवा-उय च मोत्तूण सेसाओ" ॥ १ ॥ तीव्रानुभावाश्चतु-
स्थानिकरसत्वेन, मन्दानुभावास्त्रिस्थानिकरसत्वाद्यापादनेन
प्रकरोति । इह चाशुभप्रकृतय एव शृण्वन्ते । शुभभावस्य
शुभासु तीव्रानुभावहेतुत्वात् । उक्तं हि-"सुभपयमीण विसो-
हिपे तिव्वमसुभाण सकिन्नेस ति" अत्र हि-"विसोहिपस्मि" शु-
भजावेन तीव्रमित्यनुज्ञां ब्रज्जातीति प्रक्रमः । कश्चिदिदमपि इ-
दयते-"बहुप्पसगाओ पकरेति" ननु केनाभिप्रायेणायुष्कवर्जाः
सप्तैवभिधानम्, शुजायुष्क एव सप्तैव सप्तैव चानुपे-
क्षा तात्त्विकी । न च शुभजावेन शुभप्रकृतीनां शिथिलतादिकरणं,
सफलेषु हेतुकत्वात् तस्य । आह-शुजायुर्वर्जोऽप्यस्या किं न फ-
लमुक्तम् । इत्यते-आयुष्क च कर्म स्याद्बध्नाति, स्यान्न बध्नाति ।
तस्य त्रिभागादिशेषायुष्कतायामेव बन्धसंज्ञात् । उक्तं हि-
"सिय तिभागतिजागे" इत्यादि । ततस्तस्य कादाचित्कत्वेन
चिदाकृतत्वात् । तद्वत्तश्च कस्यचिद् मुक्तिप्राप्ते तद्बन्धाननिधान-
मिति भावः । अपरं चासातावेदनीय शरीरादिदुःखहेतु कर्म ।
चशब्दादन्याश्चाशुभप्रकृतीर्नो नैव ज्ञेयोऽन्य उपचिनोति । भूयो-
भूयोऽग्रहणं त्वन्यतमप्रमादतः, प्रमत्तसयतशुणस्थानवर्त्तितयां
तद्बन्धस्याऽपि समवात् । अन्ये त्वेव पठन्ति-"सायावेयणि-
ज्जं च ण कम्म जुज्जो भुज्जो उवचिणोति" इह च शुभप्रकृति-
समुच्चयार्थश्चशब्दः, शेष स्पष्टम् । अनादिकर्मादेरसम-
वात् । च. समुच्चयार्थो योज्यते । (अणवदग्गं च्छि) अन-
वगच्छद्ग्रं परिमाणं यस्य सदाऽवस्थितानन्तपरिमाण-
त्वेन सोऽयमनवदग्रोऽनन्त इत्यर्थः, तम् । प्रवाहापेक्षं चैतत् ।
अत एव (दीर्घमरु ति) मकारो लाक्षणिकः । दीर्घाच्च दीर्घ-
काल, दीर्घो वाऽऽच्चा तत्परिभ्रमणहेतुकर्मरूपो मार्गो यास्मिंस्त-
सथा । चत्वारः चतुर्गंतिलक्षणा अन्ता अवयवा यास्मिंस्तच्च-
तुरन्तम्, संसारकान्तारं किंप्रमेव (दीर्घवयइ च्छि) व्यतिव्रजति,

विशेषेणातिक्रामति । किमुक्तं भवति-मुक्तिमवाप्नोति । उक्तं २६ अ० । अनु पश्चात्-प्रेक्षणमनुप्रेक्षा । धर्मध्यानादेः पश्चात्पर्यालोचने, भ० २५ श० ८ उ० । स्था० । आव० । उक्तं । (" धर्मस्तस्य भाणस्तस्य चत्वारि अणुपेहाओ " इत्यादि धर्मध्यानादिशब्देष्वेव दृश्यम्) अर्हद्गुणानां सुहृद्गुरुनुस्मरणे च । " अणुपेहाप वट्टमाणीप गमि काउस्सग्ग " ध० २ अधि० । आचू० । तत्त्वार्थानुचिन्तायाम्, ल० ।

अणुपेहियच्च-अनुपेक्षितव्य-त्रि० । अन्वाख्यानविधिना परिभाषनीये, प० सू० १ सू० ।

अणुफाम-अनुस्पर्श-पु० । अनुभावे, " लोहस्सेवणुफासो, मञ्जे अन्नयरामवि " दश० ६ अ० ।

अणुबंध-अनुबन्ध-पुं० । सातत्ये, स्था० ६ ठा० । अनुबन्धः सतानः प्रवाहोऽविच्छेद इत्यनर्थान्तरम् । यो० १ विव० । अव्ययच्छिन्नसुखपरम्परया देवमनुजजन्मसु कल्याणपरम्परारूपे सन्ताने, यो० १३ विव० । तत्परिणामाविच्छेदतः प्रकर्षयापितायाम्, पञ्चा० १६ विव० ।

अणुबंधचक्र-अनुबन्धचक्र-न० । प्रयोजनादिकारिसंयन्त्राभिधेयचतुष्टये, तच्च ग्रन्थादावभिधातव्यम् । आव० १ अ० । अत्र कश्चिदाह-नन्वधिगतशास्त्रार्थानां स्वयमेव प्रयोजनादिपरिज्ञान भविष्यतीति निरर्थक एव शास्त्रादौ प्रयोजनाद्युपन्यास इति चेद् । न । अनधिगतशास्त्रार्थानां प्रवृत्तिहेतुनया सफलत्वात् । अथ प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निश्चयपूर्विका भवति । न च प्रयोजनादावुक्तेऽपि अनधिगतशास्त्रार्थानां तन्निश्चयोपपत्तिः, वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्याभावात् । न च संशयत प्रवृत्तिरुपपन्ना, प्रेक्षावतां क्षतिप्रसङ्गात्, ततः कथं सार्थकता अधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य ? तदेतदपरिणोदितमाश्रितम् । वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्याभावात्, अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गे । विजृम्भित चात्र प्रपञ्चतो धर्मसङ्ग्रहणीटीकादाविति ततः परिभाषनीयम् । अथ यदि वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्यं तर्ह्यन एव सम्यग्भिधेयादिपरिज्ञावभावान्निरर्थिका शास्त्रे प्रेक्षावता प्रवृत्तिः, फलाभावात् । प्रवृत्तौ हि फलमभिधेयादिपरिज्ञानं, तच्चाधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासत एव सिद्धमिति । तदेतद्वालिशविजृम्भितम् । अधिकृतेन हि प्रयोजनाद्युपन्यासेन प्रयोजनादीनामधिगतिर्भवति, सामान्येन नाशेषविशेषपरिज्ञानपुरस्सरा, अधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य सामान्येन प्रवृत्तत्वात् । सामान्यनिष्ठ हि वचः सामान्यं प्रतिपादयति, विशेषनिष्ठ विशेषम् । अतो वचन-प्रामाण्यादधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासचापयत सामान्येन प्रयोजनादिकेऽधिगते कथं नु नामास्माकं सविशेष सामायिकादिपरिज्ञान स्यादिति विशेषपरिज्ञानाय भवति प्रेक्षावतां शास्त्रे प्रवृत्तिः । अन्यच्च यदि वचनस्य न प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तथापि न काचिद्विवक्तिरार्थकानि । आ० म० प्र० ।

अणुबंधच्छेयणाऽ-अनुबन्धच्छेदनादि-पुं० । अनुबन्धं विनष्टीति अनुबन्धच्छेदनं, तदादिः । निरनुबन्धनाऽऽपादनादौ कर्मकपणोपाये, " त्रिस्ताणं कम्माणं, चित्तोच्चिय होह खवणुवाओ वि । अणुबन्धच्छेयणाइं, सो उण एव ति णायव्वो " ॥१॥ पञ्चा० १८ विव० ।

अणुबंधभाव-अनुबन्धभाव-पुं० । अनुभावस्य सत्तायाम्, पञ्चा० ५ विव० ।

अणुबंधभावनिहि-अनुबन्धभावविधि-पुं० । प्रस्थाप्यतत्परिणामाविच्छेदभावस्य विधाने, पञ्चा० ५ विव० ।

अणुबंधवचनेद-अनुबन्धवचनेद-पुं० । भवान्तरारम्भकणामितरेषां च कर्मणां वन्ध्यभावकरणे, छा० १८ ठा० ।

अणुबंधमुच्छिजाव-अनुबन्धमुच्छिजाव-पुं० । सातत्येन कर्मकयोपशमेनात्मनो निर्मलत्वसद्भावे, पञ्चा० ८ विव० ।

अणुबंधावणयण-अनुबन्धावणयण-न० । अणुजनावजातकर्मानुबन्धव्यवच्छेदे, पञ्चा० १५ विव० ।

अणुबन्धिअं-देशी-द्विकायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुबंधि (न)-अनुबन्धिन्-त्रि० । अनु-बन्ध-णिनि । हेतौ, ध० २ अधि० । प्रस्फोटकादीनां सप्तत्यविशिष्टे अननुबन्धोपरहिते प्रतिलेखने, स्था० ६ ठा० ।

अणुवद्ध-अनुवद्ध-त्रि० । सदानुगते, जी० ३ प्रति० । आ० म० । गृहीते, नि० चू० १ उ० । निरन्तरमुपचिते, जी० ३ प्रति० । सतते, प्रश्न० १ सम्ब० छा० । स्था० । अव्यवच्छिन्ने, प्रश्न० १ आश्र० छा० । प्रतिबद्धे, छा० २ अ० । न्याते, छा० २ अ० । पूर्वोपाजितद्वेषबन्धनवद्धे, उक्तं ४ अ० ।

अणुवद्धरुद्धा-अनुवद्धरुद्ध-स्त्री० । सततबुद्धकायाम्, " अणुवद्धरुद्धापररुद्धसीत्तएहतएहवेयणादुग्घट्टघट्टियविवणमुहविच्छविआ " प्रश्न० ३ आश्र० छा० ।

अणुवद्धनिरन्तर-अनुवद्धनिरन्तर-त्रि० । अन्यन्तनिरन्तरे, " अणुवद्धनिरन्तरवेयणासु " अनुवद्धनिरन्तराः अन्यन्तनिरन्तरावेदना येषु ते तथा । प्रश्न० १ आश्र० छा० ।

अणुवद्धतिव्वेव-अनुवद्धतीव्वेव-त्रि० । अव्यवच्छिन्नोक्तद्वेवभावे, " अणुवद्धतिव्वेवरा, परोप्पर वेयणं उदीरोते " प्रश्न० १ आश्र० छा० ।

अणुवद्धधम्मज्जाण-अनुवद्धधर्मध्यान-त्रि० । अनुवद्धं सततधर्मध्यानमाज्ञाधिनयादिलक्षणं येषां तेऽनुवद्धधर्मध्यानाः । सततप्रवृत्तधर्मध्याने, प्रश्न० १ सम्ब० छा० ।

अणुवद्धरोसप्पसर-अनुवद्धरोषपसर-त्रि० । अनुवद्धः सततमव्यवच्छिन्नो रोपस्य प्रसरो विस्तारो यस्य सोऽनुवद्धरोषपसरः । निरन्तरकृते, ग० २ अधि० ।

अणुवद्धविग्गाह-अनुवद्धविग्रह-त्रि० । सदा कलहशीले, प० व० ३ छा० ।

नित्यं विग्रहशीलो, काऊण य नाणुतप्पए पच्चा ।

न य खामिउं पसीयइ, सपक्खपरपक्खओ वा वि ॥

नित्यं सतत विग्रहशीलः कलहकरणस्वभावः, कृत्वा च कलहं नानुनप्यते पश्चात् । यथाह-किं कृतं मया पापेनेति । तथा क्षमितोऽपि, क्षम्यतां ममायमपराध इति मणितोऽपि स्वपक्षपरपक्षयोरपि, न च नैव, प्रसीदति प्रसन्नतां जजति, तीव्रकषायोदयत्वात् । अत्र च स्वपक्षे साधुसाध्वीवर्गः, परपक्षे गृहस्थवर्गः । एषोऽनुवद्धविग्रह उच्यते । वृ० १ उ० ।

अणुवेलांघर-अनुवेदान्धर-पुं० । महतां वेलांघराणामादेशप्रती-

कृतयाऽनुयायिनो वेद्वन्धरा अनुबेलंधरा । स्वनामव्या-
तेषु नागराजेषु, जी० ३ प्रति० ।

तद्देश, तदावासपर्वताश्च यथा—

कहिं एं भंते ! अणुबेलंधरणागरायाणो पणत्ता ! गो-
यमा ! चत्तारे अणुबेलंधरणागरायाणो पणत्ता । तं जहा-
ककोडए, कदमए, कडलासे, अरुणप्पजे । एतेसिं एं भंते !
चउएहं अणुबेलंधरणागराईणं कति आवासपव्वया प-
एणता ! गोयमा ! चत्तारि आवासपव्वया पएणत्ता । तं
जहा—ककोडए, कदमए, कडलासे, अरुणप्पजे । कहिं एं भंते !
ककोमगस्स अणुबेलंधराराडस्स ककोडएणामं आवासप-
व्वते पणत्ते ! गोयमा ! जवुदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स
उत्तरपुरच्छिमेणं लवणसमुदं वायालीसं जोयणसयाइं उ-
ग्गाहिता एत्थ ण ककोडयस्स णागरायस्स ककोडए णाम
आवासो पएणत्ते, सत्तरसएकवीसाइं जोयणसयाइ, त चेव
पमाणं गोयूजस्स, णवरिं सव्वरयणामए अच्चे जाव निर-
वसेसं जाव मीहासणं सपरिवारं अट्ठो स वहुइं उप्पझाइ
ककोमगपभाइं, सेसं तं चेव, णवरिं ककोमगपव्वतस्स
उत्तरपुरच्छिमेणं, एव चेव सव्वं कदमगस्स वि सो चेव ग-
मओ अपरिमेसिओ, एवरिं दाहिणपुरच्छिमेणं आवासो
विज्जुजिज्झावी रायहाणी, दाहिणपुरच्छिमेणं कति जा
से वि एवं चेव, एवरिं दाहिणपव्वच्छिमेणं कडलासा वि
रायहाणी, ताए चेव दिमाए अरुणप्पजे वि उत्तरपुरच्छि-
मेण रायहाणी वि, ताए चेव दिसाए चत्तारि वि एगपमा-
णा सव्वरयणामया य ॥

(कहिं एमित्यादि) कति भदन्त ! अनुबेलंधरराजा प्रज्ञता ।
भगवानाह—गौतम ! चत्वारोऽनुबेलंधरराजा प्रज्ञता । तद्यथा-
ककोटक, कर्दमक, कैलास, अरुणप्रभञ्ज । (एतसिं णमित्यादि)
एतेषां भदन्त ! चतुर्णामनुबेलंधरराजानां कति आवासपर्व-
ता प्रज्ञता ! भगवानाह—गौतम ! एकैकस्य एकैकभावेन च-
त्वारोऽनुबेलंधरराजानामावासपर्वता प्रज्ञता । तद्यथा—कको-
टक, विद्युत्प्रभ, कैलास, अरुणप्रभञ्ज । ककोटकस्य कको-
टक, कर्दमस्य विद्युत्प्रभ, कैलासस्य कैलास, अरुणप्रभञ्जस्या-
रुणप्रभ इत्यर्थः । ' कहिं एं भंते ! ' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम् ।
भगवानाह—गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरपु-
र्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशत् योजनसहस्राण्यवगाह्य,
अत्र एतस्मिन्भवकाशे ककोटकस्य छज्जगेन्द्रस्य छज्जगराजस्य क-
कोटको नाम आवासपर्वतः प्रज्ञतः । (सत्तरसएकवीसाइं जोयण-
सयाइ) इत्यादिका गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य या वक्तव्यतो-
का, संवेदापि अहीनातिरिक्ता ज्ञितव्या । नरर सर्वरत्नमय इति
वक्तव्यं नामानिमित्तचिन्तायामपि, यस्माच्च नृत्तासु कुलिकासु
घापीसु, यावद् विलपङ्क्तिषु, बहूनि उत्पलानि यावत् शतसहस्रप-
त्राणि ककोटप्रभाणि ककोटकाकाराणि ततस्तानि ककोटका-
नीति द्रव्यह्वयन्ते । तत्रोगात्पर्वतौऽपि ककोटक । तथा कको-
टकनामा देवस्तत्र पत्त्योपमस्थितिकं परिवसति । नत ककोट-
कस्त्रामित्वान् ककोटक राजधान्यपि । ककोटकस्यावासपर्वत-

स्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि तिर्यगसख्येयान् द्वीपसमुद्धान् व्यति-
व्रज्यान्वास्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य कको-
टकाभिधाना राजधानी, विजया राजधानीव प्रतिपत्तव्या । एव
कर्दमककैलासारुणप्रभवक्तव्यताऽपि भावनीया, नवर जम्बूद्वीपे
द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुद्रे दक्षिणपूर्वस्यां कर्दमकः,
दक्षिणापरस्यां कैलाशः, अपरोत्तरस्यामरुणप्रभः । नामनिमि-
त्तचिन्तायामपि यस्मात् कर्दमके आवासपर्वते उत्पलादीनि क-
र्दमप्रजाणि ततः कर्दमकः । भावना प्रागिव । अन्यत्त्वकर्दमके वि-
द्युत्प्रभो नाम देवः पत्त्योपमस्थितिकं परिवसति, स च स्व-
भावाद् यत्कर्दमप्रियः । यत्कर्दमो नाम कुङ्कुमागुरुकर्पूरक-
स्तूरिकाचन्दनमेलापकः । उक्तं च—“ कुङ्कुमागुरुकर्पूर कस्तूरी-
चन्दनानि च । महासुगन्धमिष्युक्त-नामको यत्कर्दमः ” ॥ १ ॥
ततः प्राचुर्येण यत्कर्दमसज्जवाद्सौ पूर्वपदद्वयोपेत्य नामेतिवत्
कर्दम इत्युच्यते । कैलाशे कैलाशप्रभाणि उत्पलादीनि, कै-
लाशनामा च तत्र देवः पत्त्योपमस्थितिकं परिवसति, ततः कै-
लाशः । एवमरुणप्रभेऽपि वक्तव्यम् । कर्दमका राजधानी कर्द-
मकस्याऽऽवासपर्वतस्य दक्षिणपूर्व्यां कैलाशा, कैलाशस्यावा-
सपर्वतस्य दक्षिणापरया अरुणप्रभा, अरुणप्रभस्यावासपर्व-
तस्यापरोत्तरायां तिर्यगसख्येयान् द्वीपसमुद्धान् व्यतिव्रज्यान्-
वास्मिन् लवणसमुद्रे विजया राजधानीव वक्तव्या । जी० ३ प्रति० ।
अणुब्जम—अनुद्भट—त्रि० । अनुत्त्वणे, जी० ३ प्रति० । अमि-
मानरहिते, उक्त० २ अ० ।

अणुब्जमपसत्यकुविरव—अनुद्भटप्रशस्तकुक्ति—त्रि० । अनुद्भ-
टोऽनुत्त्वणः प्रशस्तः प्रशस्तलक्षणं पीतः कुक्तिर्यासा ता
अनुद्भटप्रशस्तपीनकुक्तिः । जी० ३ प्रति० ।

अणुब्जडवेस—अनुद्भटवेस—पु० । धिग्जनोचितनेपथ्यवर्जिते
स च तृतीयश्रावकगुणविशिष्ट इति ।

सप्रत्यनुद्भटवेस इति तृतीय जेद प्रचिकटयिषुर्गाथापूर्वा-
रूमाह—

सहइ पसंतो धम्मी, उब्भमवेसो न सुंदरो तस्स ।

(सहइति) राजते शोभते, प्रशान्तः प्रशान्तवेषो, धर्मी धर्म-
वान् धार्मिको, जावश्रावक इत्यर्थः । अतः कारणानुद्भटवेस वि-
रूग्जनोचितनेपथ्यः । “ लखस्स व परिहाण, गसइ व अगे त-
हगिया गाढा । सिरवेढो दमरेण, वेसो एसो सिङ्गाण ॥ १ ॥
सिहिणेण मग्गदेसो, उग्गाओ नाहिभरुलं तह य । पासाय भक्-
पिहिया, कच्चुयओ एस वेसाण ” ॥ २ ॥ इत्यादिरूपो न सुन्दरा
नैव शोभाकारी तस्य धार्मिकस्य । स हि तेन सुनरामुपहास-
स्थान स्यात् । “ नाकामी मण्डनप्रिय ” इति लोकोकेरिह लोके-
ऽपि कदाचिदनर्थं प्राप्नुयाद्, बन्धुमतीवत् । अन्ये पुनराहु-
—“ सतलय परिठाण, जल च चोवाइय च मज्झिमय । सुसि-
लिष्ठमुत्तरीय, धम्म लळिळु जस कुणइ ॥ १ ॥ परिहाणमणु-
ब्भरचल—एकोडिमज्झाय मणुसरत तु । परिहाणमज्झमत्तो,
कच्चुयओ होइ सुसिलिष्ठो ” ॥ २ ॥ इत्यादि । एतदपि सगतमेव ।
किन्तु कचिदेव देशे कुले वा घटते, श्रावकास्तु नानादेशेषु च
समवन्ति, तस्मादेशकुलाविरुद्धौ वर्षोऽनुद्भट इति व्याख्यानं
व्यापकमिह सगतमिति ।

बन्धुमतीज्ञानं त्वेवम्—

अत्थि इह नामलित्ती, नयरी न अरीहिं कहवि परिभूया ।

अइगरुयविहवभारो, सिद्धी तत्थासि ररसारो ॥ १ ॥
सारयससिनिम्मलसी-लबधुला बधुला पिया तस्स ।
ताण धूया रूया-इगुणजुया बधुमइ नाम ॥ २ ॥
सा पुण कंचणचूमय-मंदियबाहा अलकियसरीरा ।
पगईए उम्मडवे-सपरिगया चिछइ सया वि ॥ ३ ॥
अन्नदिणे सा पिउया, भणिया वयणेहिं पणयपवणेहिं ।
एव उम्ममवेसो, वच्चे ! पच्चे न सच्चाए ॥ ४ ॥

बहुकम्—

“कुलदेसाए विरुद्धो, वेसो रओ वि कुणइ नहु सोहं ।
वणियाण विसेसेणं, विसेसओ ताण इत्थीण ॥ ५ ॥
अइरोसो अइतोसो, अइहासो दुज्जेणेहिं सवासो ।
अइउम्ममो य वेसो, पंच वि गरुय पि बहुरयति” ॥ ६ ॥
इष्ठाइजुचिजुत्तं, बुत्ता वि न मअए इमा किंपि ।
चिछइ तहेव निब्ब, पिउपायपसायदुल्लविया ॥ ७ ॥
प्ररुयववासिणा वि-मलसिद्धिपुत्तेण बहुदत्तेण ।
सा गतु तामव्विप्पि, महाविजूरई परिणीया ॥ ८ ॥
मुत्तूण जणयजवणे, बंधुमइ बहुपरियणसमेआं ।
जलहिमि बंधुदत्तो, सच्चव्विओ जाणवत्तेण ॥ ९ ॥
जा किंचि तूमिजागं, गच्छइ ता असुहकम्मउदएण ।
पमिकूलपवप्पहरी-पणुल्लिय जलहिमज्जमि ॥ १० ॥
सत्थ व विणयदीणे, धियलियसीले विसुद्धाण व ।
तं पवहणं विणट्ठ, धणधणहरिणपमिपुण ॥ ११ ॥
सो कहकहमवि फलहे-ण दुत्तर उत्तरिचु नीरनिहिं ।
जा पिच्छइ दिसिचक्कं, ता त निच्छेइ ससुरपुर ॥ १२ ॥
तो अप्प जाणावइ, केण वि पुरिसेण निययससुरस्स ।
तं सुणिय हा, किमेयं ति, जपिरो उट्ठिओ सो वि ॥ १३ ॥
अइउम्ममवेसविसे-सरयणत्तकारसारभूसाए ।
बधुमईए सहिओ, जा से पासे स मल्लिपइ ॥ १४ ॥
वररयणकणयचूमय-विचूसियं ताव रुहरकरजुयत्त ।
बधुमईए छिन्न, केण वि जूयारचोरेण ॥ १५ ॥
तत्तो सो आरक्खिय-जीओ नासिचु णसि संपत्तो ।
पहपरिसमवससुत्त-स्स बहुदत्तस्स पासमि ॥ १६ ॥
तेण च धुत्तयाए, चित्तिय मिणमेव पत्तकादं मे ।
इय मुत्तु तस्स पासे, करजुयत्तं तक्करो नओ ॥ १७ ॥
पच्चा गयतव्वरतुमु-वसवणबुद्धो सल्लुइओ ग्लो ।
चोरु ति काउ तेहिं, सूवाए भासि पक्खित्तो ॥ १८ ॥
अह रइसारो सिछी, नियपुत्तिए निज्जु तमवत्थं ।
बहु कूरिण पत्तो, जा जामाउयसमीयं पि ॥ १९ ॥
ता त सूलाजिन्न, सहसा पिच्छित्ति बहु च पल्लवित्ता ।
असुभरपुन्नयणो, दुहियो से कुणइ मथकिच्चं ॥ २० ॥
इत्तो य सुजसनामा, चउनाणी तत्थ आगओ त च ।
नमिउ पत्तौ सिछी, गुक्क वि इय कहइ से धम्म ॥ २१ ॥
ओ भविवा ! उम्ममवे-सवज्जण कुणइ चयइ परुसगिइ ।
चित्तइ जवस्स रुव, जेण न पावेइ वुक्खाइ ॥ २२ ॥
तो सोअं सविगो, सिछी पणमित्तं पुच्छए जययं ।
मह जामाउयदुहिया-हिं किं कय द्दुक्कय पुत्ति ? ॥ २३ ॥
भणइ गुरु अभिरामे, सां गाम पि इत्थिया प्पा ।
आसि अडवि व्व बहूमय-बावसुया दुग्गया विहवा ॥ २४ ॥
सा उयरकदरापू-रणत्थमीसरगिहेसु निच्च पि ।
कम्म करेइ पुत्तो, उ चारए वच्चरुवाइ ॥ २५ ॥

सा ठविय भोयण सि-कगम्मि पुतट्ठमअथा पत्ता ।
कस्सइ गेहे कम्म-त्थमागओ तम्मि जामाऊ ॥ २६ ॥
सा तस्स तप्पणएहा-एमाइकम्मसु मिउत्तया पढमं ।
पच्चा खंमणपीसण-रणदलणाइ कारविया ॥ २७ ॥
जाया मइई वेला, तेण गिहत्थेण वाउलत्तणओ ।
नहु सा जिमाविया तो, नुक्खियतिसिया गया सगिइ ॥ २८ ॥
त वट्ठु सुएण बुहा-इएण जणिया सनिहुर एसा ।
किं तत्थ तुम विसा-सूवाए ज न बहु पत्ता ॥ २९ ॥
तीइ वि अणत्थभरिया-इ जपिय किंकरा तुह जिआ ।
ज सिक्कगाव गहिऊ-ण ज्ञोयण नेव नुत्तोसि ॥ ३० ॥
इय परुसवयणजाणियं, कम्म दोहिं वि निकाइय तेहिं ।
अइनिविमजमिमभावे-ण नेव आलोइय तं च ॥ ३१ ॥
तेसि दाणरयाण, सजमरहियाण मज्जिमगुणाण ।
किंचि सुहजावणाए, वट्ठताण गलियमाउं ॥ ३२ ॥
तो सो बाहो जाओ. जामाऊ तुज्ज बधुदत्त ति ।
सा पुण दुग्गयनारी, बधुमई तुह सुया जाया ॥ ३३ ॥
भवियव्वया निओगा, विचित्तयाए य कम्मपगईए ।
माया जाया जाया, पुत्तो भत्ता य संजाओ ॥ ३४ ॥
तक्कम्मविवागेण, बधुमई पाविया करच्छेय ।
पत्तो य वंधुदत्तो, सूलापक्खिवणवसणमिण ॥ ३५ ॥
इय सोअं रइसारो, सिछी सजयगरुयसवेओ ।
गिण्हिय गुरुण पासे, दिक्ख सुहमायण जाओ ॥ ३६ ॥

इत्युद्धट वेपमतिश्रयन्त्या,

श्रुत्वा विपाक खलु बन्धुमत्याः ।

भव्या जना निर्मलशीलजाज-

स्तद्धत्त देशाद्यविरुद्धमेनम् ॥ ३७ ॥ अ० २० ।

अणुभामग-अनुद्भामक-पु० । मौलप्रामे भिक्षापरिमाणशी-
ले, वृ० १ उ० ।

अणुजव-अनुभव-पु० । अनु-भू-अप् । स्मृतिभिन्ने ज्ञाने, वि-
पयानुरूपमवनाच्च बुद्धिवृत्तेरनुभवत्वम् । अनुभवश्च-प्रत्यक्षानु-
मानोपमानशब्दभेदेन चतुर्विध इति नैयायिकादयः । वेदान्ति-
नो मीमांसकाश्च अर्थापत्त्युपलब्धिरूपमधिक ज्ञेयव्यमुत्तरी-
कुः । वैशेषिकाः सौगताश्च प्रत्यक्षानुमानरूपमेवानुभवद्वय स्वी-
चक्रुः । अन्येषां सर्वेषामनयोरन्तर्भावत्वात् । सांख्यादयः प्रत्यक्षा-
नुमानशब्दा एवेति ज्ञेयव्ययीमङ्गीचक्रुः । चार्वाका प्रत्यक्षमात्र-
मिति भेदः । वाच० । स्वसवेदने, पञ्चा० ५ विध० । भा० ।
आच० । प्रश्न० ।

अनुभवलक्षणं च योगदृष्टिसमुच्चयानुसारेण लिख्यते-
यथार्थवस्तुस्वरूपोपलब्धिपरभावारमणस्वरूपपरमणतदास्वा-
दनैकत्वमनुभवः ।

तदप्रकम्—

संध्येव दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।
बुधैरनुजवो दृष्टः, केवलार्कारणोदयः ॥ १ ॥
व्यापारः सर्वशास्त्राणां, दिक्प्रदर्शनमेव हि ।
पारं तु प्रापयत्येकोऽनुजवो जववारिधेः ॥ २ ॥
अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धानुजवं त्रिना ।
शास्त्रयुक्तिशतेनापि, न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥ ३ ॥
ज्ञायेरन् देतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।

कालेनैतावता माह्वैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥
 केच न कल्पनादर्श्या, शास्त्रक्रीराचगाहिनी ।
 विरलास्तज्जसास्वाद-विदोऽनुजवाजिदया ॥ ५ ॥
 पश्यन्तु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभवं विना ।
 कथं लिपिपयी दृष्टि-वर्द्धमयी वा मनोमयी ॥ ६ ॥
 न सुषुप्तिरमोहत्वा-आपि च स्वापजागरा ।
 कल्पनाशिल्पविश्रान्ते-स्तुर्यो वाऽनुभवो दृशा ॥ ७ ॥
 अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शास्त्रदृशा मुनिः ।
 स्वमन्त्रेण पर ब्रह्माऽनुभवेनाधिगच्छति ॥ ८ ॥

अष्ट० २६ अष्ट० ।

स्येन स्येन रूपेण प्रकृतीनां विपाकनो वेदने, विज्ञे० ।

अणुभवन-अनुभव-न० । कर्मविपाकवेदनेऽनुभावे, भाव०
 ४ अ० ।

अणुभविउ-अणुलवितुम्-अव्य० । लोक्तमित्यर्थे, " येयणा
 अणुभविउ जे समागम्य वणतप " उक्त० १७ अ० ।

अणुभविता-अनुभूय-अव्य० । अनुभव एत्येत्यर्थे, प्रश्न १
 भाष० शा० ।

अणुनाग (व)-अनुनाग(व)-पु० । ध्वनिकरणादिकायामधि-
 न्यशर्का, स्या० ७ शा० ३ उ० । शा० । आप० । च० प्र० । माहात्म्ये,
 सूत्र० १ ५० ५ अ० १ उ० । वर्णगन्धादिगुणे, विज्ञे० । शापाच-
 नुग्रहविषये सामर्थ्ये, प्रसा० ७ पद । अनु पश्चाद् यथास्तर-
 काह प्रजन लेयनमनुजनम् अनुभाग । कर्म० ६ कर्म० । कर्मणा
 विपाके, सूत्र० १ ५० ४ अ० १ उ० । उदये, रमे च । स्या० ७
 शा० । दृश्य० । तीव्रादिभेदे रसे, स० । " अनुभागो रसः प्रोक्तः,
 प्रवेदो हलमचय " कर्म० ५ कर्म० । अनुभाग, रस, अनुभाव
 इति पर्याया ।

अनुनागस्य किञ्चित्तावत् स्वरूपमुच्यते-

इह गम्भीरापारससारसरित्पतिमभ्यविपरिषर्ती, रागादिसचि-
 धो जन्तुः । पृथक्मिद्वानामनन्तजागर्तिभिरज्येन्योऽनन
 गुणे परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमर्थं गृह्णाति ।
 तत्र च प्रतिपरमाणुकपायविशेषान् सर्वजीधानन्तगुणान् अनुजा-
 गम्याविजागपति (रि) च्छेदन् करोति । कैवल्यप्रज्ञया विद्यमानो
 य परमानुष्ठेऽनुनागांशोऽतिसूक्ष्मतयाऽर्द्धं न दृष्टाति सोऽविजा-
 गपक्षिच्छेद उच्यते । उक्तं च-"बुद्धीश्च विज्जमाणो, अणुभागो सो
 न देहो जो अद्ध । अधिभागपक्षिच्छेदो, सो इह अणुभागवधम्म" ।
 तत्र चैकैककर्मस्कन्धे य सर्वजघन्यरसः परमाणु सोऽपि के-
 वलप्रज्ञया विद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसजागान्
 प्रयच्छति, अन्यस्तु परमाणु तानधिभागपक्षिच्छेदानेकाधिका-
 म्प्रयच्छति, अपरस्तु तानपि ह्यधिकांन्; अन्यस्तु तानपि चतुर-
 धिकमित्यादिवृद्ध्या तावन्नेय यावदन्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्मा-
 रादोरनन्तगुणानपि रसमागान् प्रयच्छति । अत्र च जघन्यरसा-
 ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीधानन्तगुणरसजागयुक्तेष्वप्य-
 सत्कल्पनया शनरसाशानां परिकल्प्यते । एतेषां च समुदायः
 समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्यभिधीयते । अन्येषां त्वेकोत्त-
 रशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा । अपरे-
 पा तु द्रष्टुच्छातरसाशयुक्तानामणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा ।

अन्येषां तु प्रशुभरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी
 वर्गणा । एवमनया दिशा एकैकरसभागयुक्तानामणूनां समुदा-
 यरूपा वर्गणा मिकानामनन्तभागेऽन्येभ्योऽनन्तगुणा धा-
 र्या । एतासां धितायतीनां वर्गणानां समुदायः स्पर्शकमित्य-
 भिधीयते । स्पर्शन्त इवोत्तरोत्तरसवृद्ध्या परमाणुवर्गणा । अ-
 त्रेति कृत्या एताध्यानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणाः । अथ सत्कल्पनया
 पद स्थाप्यन्ते-
 निरन्तररस- १०४ द्दमेक स्पर्शकम् । इत ऊर्द्धमेकोत्तरया
 मयजीधानन्त- १०३ वृद्ध्या, वृद्धो रसो न लक्ष्यते, किं तर्हि
 १०२ गुणैरेव रसजागैर्गुणो लभ्यते । इति तेनैव
 १०१ क्रमेण तृतीयमित्यादि यावद-
 नन्तानि रस- १०० स्पर्शकानि उत्तिष्ठन्ते ।

तीप्रमन्दनया विविधोऽनुभाग -

अयं चानुभागः शुभाशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीनां ती-
 प्रम दुरुपनया विविधो भवति ।

अतोऽशुभशुभप्रकृतीनां येन प्रत्ययेनासौ तीप्रो

वर्ण्यते, येन च मन्दः तन्निरूपणार्थमाह-

तिप्रो अणुहसुदाणं, संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।

मंदरमो गिरिमहिरय-जलरेहासरिकसाएहि ॥६३॥

तत्र प्रथमं तावत्ताममद्वयमुच्यते पश्चाद्वैकार्यं । इह घो-
 वातकीपिचुमदाद्यशुभवनरूपतीनां सम्यग्धी सहजोऽर्थावर्त्तो
 द्विजागायर्त्तो भागत्रयावर्त्तश्च यथाक्रमं कटुक कटुकतरः कटु-
 कनमोऽतिशयकटुकममश्च; तथेधुर्कीरादिद्रव्याणां सम्यग्धी
 सहजोऽर्थावर्त्तो द्विजागायर्त्तो भागत्रयावर्त्तश्च यथासंख्य
 मधुरो मधुरतरः मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो जज्ञाद्यसम्य-
 ग्धाद्यथा तीप्रो भवति तथेतेषामेव पिचुमन्दादीनां वीरादीनां
 च द्रव्याणां सम्यग्धी सहजो रसो जललवविच्छेदचुलुकचुलु-
 कप्रत्ययऽजधिकरककुम्भद्रोणादिसम्यग्धाद्यथा बहुनेद मन्द-
 तरादित्थं प्रतिपद्यते तथा अर्थावर्त्तादयोऽपि रसाः । यथा ज-
 ललवादिसम्यग्धातमन्वमन्दतरमदतमादित्थं प्रतिपद्यन्ते तथै-
 वाशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां च रसास्तादृशतादृशकपायचशा-
 र्त्ताग्रत्व मन्दत्व चानुविदधतीति । अक्षरार्थोऽधुना विधियते-
 तीप्रो रसो जयति । कासामित्याह-(अणुहसुदाणं ति) अणुभाश्च
 शुभाश्चाशुभशुभा, तासामशुभशुभानाम्, अशुभप्रकृतीनां शुभ-
 प्रकृतीनां चेत्यर्थः । कथमित्याह-(संकेसविसोहिओ ति) संकेश-
 च त्रिशुक्तिश्च सक्तेशविशुक्ती, ताभ्यां सक्तेशविशुक्तिः, आद्यादे-
 राकृतिगणत्वात् तत्प्रत्ययः । यथासंख्यमशुभप्रकृतीनां सक्ते-
 शेन शुभप्रकृतीनां विशुक्तेत्यर्थः । इदमत्र दृश्यम् अशुभप्रकृतीनां
 ह्यर्थावर्त्तिसंख्यानां सफलेशेन तीप्रकपायोदयेन तीप्र उक्तो रसो
 प्रवर्त्तते । सर्वाशुभप्रकृतीनां तद्वन्धाविधायिनां जन्तूनां मध्ये यो य
 उत्कृष्टसफलेशो जन्तुः स स तीप्ररसं वज्जातीत्यर्थः । शुभप्रकृती-
 नां विशुद्ध्या कपायविशुद्ध्या तीप्रोऽनुभागो भवति । शुभप्रकृति-
 बन्धकानां मध्ये यो यो विशुद्ध्यमानपरिणामः स स तासां
 तीप्रमनुभागं वज्जातीत्यर्थः । उक्तस्तीप्ररसस्य बन्धप्रत्ययः ।
 सम्प्रति स एव मन्दरसस्याभिधीयते-(विवज्जयओ । मंदरसो
 ति) विपर्ययेण विपर्ययत उक्तवैपरीत्येन मन्दोऽनुक्तो रसो
 प्रवर्त्तते । अयमर्थः-सर्वप्रकृतीनामशुभानां विशुद्ध्या मन्दो रसो
 जायते, शुभानां तु मन्दः सफलेशेनेति । उक्तः सक्तेशविशुक्ति-
 वशादशुभशुभप्रकृतीनां तीप्रो मन्दश्चानुभागः । (एकस्यावि-
 कादिकश्चतुर्विधोऽनुभावः) अयं चैकद्वित्रिचतुःस्थानिकभेदा-

चतुर्धा भवत्यन एकस्थानिकादिरसो यैः प्रत्ययैर्यासां प्रकृती-
नां जवति तदाह—(गिरिमहिरय इत्यादि) गिरिश्च पर्वतः, मही
च पृथिवी, रजश्च वायुका, जल च पानीय, गिरिमहीरजोजला-
नि, तेषु रेखा राजयस्ताभिः सहशास्तुल्यगिरिमहीरजोरेखासह-
शास्ते च ते कषायाश्च सम्परायास्तै रसो भवतीति प्रक्रमः । ६३।
कोहमित्याह—

चठणाऽऽ अमुहसुह—बहा विगदेसधाऽआवरणा ।

पुमसंजघाणिगदुतिचठ—ठाणरसा सेसदुगमाई ॥ ६४ ॥

चतु स्थानिक आदिर्यस्य रसस्य, त्रिस्थानिकद्विस्थानिकपञ्च-
स्थानिकपरिग्रहः । स चतुःस्थानादिः । कासामित्याह—(अमुभ-
क्ति) इह पृष्ठधेयं प्रथमा । ततः शुभानामशुभप्रकृतीनाम् । इयम-
त्र भावना—इह रेखाशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् गिरिरेखाशब्देन
प्रभूतकालव्यपदेशादतितीव्रत्व कषायाणां प्रतिपाद्यते। ततश्च गि-
रिरेखासदृशै कषायै, अनन्तानुबन्धभिरित्यर्थः । सर्वासामशुभ-
प्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसबन्धो भवति । आतपशोषिततमागम-
हीरेखासदृशैः कषायैरप्रत्याख्यानावरणैर्मनागमन्दोदयैरशुभ-
प्रकृतीनां त्रिस्थानिकरसबन्धो भवति । वायुकारेखासदृशैः क-
षायैः प्रत्याख्यानावरणैरशुभप्रकृतीनां द्विस्थानिकरसबन्धः ।
जलरेखासदृशैः कषायैरतिमन्दोदयैः संज्वलनाभिधौर्विजपञ्च-
कादिबह्यमाणसप्तदशाऽशुभप्रकृतीनामेवैकस्थानिकरसबन्धो
जवति, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनामिति हि वक्ष्यामः।
उक्तोऽशुभानां रसस्य बन्धप्रत्ययः । इदानीं शुभानां रसप्रत्यय-
विभागमाह—(सुहस्रह स्ति) शुभप्रकृतीनाम्—अन्यथांक्तवैपरीत्ये-
न हेतुविपर्ययाच्चतुःस्थानिकादिरसस्य बन्धो भवति । तत्र वा-
युकाजलरेखासदृशैः कषायैश्चतुःस्थानिको रसबन्धो जवति ।
महीरेखासदृशैः कषायैश्चिस्थानिको रसबन्धो जवति । गिरि-
रेखासदृशैः कषायैश्चिस्थानिको रसबन्धः शुभप्रकृतीनां जवति ।
शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिको रस एव नास्तीति पूर्वमेवोक्तम् ।
अथ यासां प्रकृतीनामेकद्वित्रिचतुःस्थानिकजघाच्चतुर्विधोऽपि
रसबन्धः सम्भवति, यासां चैकस्थानिकवर्जश्चिद्विध एवेत्येतच्चि-
न्त्यज्ञाह—(विगदेसधाऽआवरणा इत्यादि) विघ्नानि दानज्ञा-
भोगोपभोगवीर्यान्तरायजघादन्तरायाणि पञ्च । देशघात्यावरणा
देशघात्यावारिकाः सप्त प्रकृतयः । तद्यथा—मतिज्ञानश्रुदज्ञा-
नावधिज्ञानमन पर्यायज्ञानावरणाश्चतस्रः । चक्षुर्दर्शनाच्चक्षुर्दर्श-
नावधिदर्शनावरणास्तिस्रः, इत्येताः (पुम स्ति) पुषेद । सज्वल-
नाश्चत्वारः क्रोधमानमायाहोभा, इत्येताः सप्तदश प्रकृतयः । कि-
मित्याह—(इगदुतिचठठाणरस स्ति) स्थानशब्दस्य प्रत्येक
सम्बन्धात् एकस्थानद्विस्थानत्रिस्थानचतुस्थाना रसा यासां
ता एकद्वित्रिचतु स्थानरसा । एताः सप्तदशापि प्रकृतयः ए-
कद्वित्रिचतुःस्थानिकरूपेण चतुर्विधेनापि रसेन संयुक्ता बध्य-
न्त इति तात्पर्यम् । तत्रानिवृत्तिबादरे गुणस्थाने सख्येयेषु
भागेषु गतेष्वासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनामेकस्थानिको रसः
प्राप्यते, शेषस्थानिकास्तु रसास्त्रयोऽप्यासां संसारस्थान् जीवा-
नाश्रित्य प्राप्यन्त इति । शेषाः प्रकृतयस्तर्हि किंरूपा भवन्ती-
त्याह—(सेसदुगमाई स्ति) शेषा जणितसप्तदशप्रकृतिच्य उच्चरि-
ता, सर्वाः शुभा अशुभाश्च प्रकृतयो बध्यन्ते । 'दुगमाई स्ति' सूच-
नात्सूत्रमिति न्यायाद् द्विस्थानादिरसाः, आदिशब्दात् त्रिस्था-
नरसाश्चतु स्थानरसाश्च । शेषा प्रकृतयो द्विस्थानिकत्रिस्था-
निकचतुःस्थानिकरसयुक्ता भवन्ति, न त्वेकस्थानिकरसयुक्ता
इति ज्ञावः । अयमत्राशयः—सप्तदशप्रकृतिष्वेकस्थानिको रसो

बध्यते, न तु शेषास्तु, यतोऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिको रसो
यदि लभ्यते तदाऽनिवृत्तिबादरसख्येयजागेभ्यः परत एव । तत्र
च सप्तदश प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामशुभप्रकृतीनां बन्ध एव
नास्त्यतः शेषाणामशुभानामेकस्थानिको रसो न जवति । ये-
ऽपि केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणलक्षणे द्वे अपि प्रकृती तत्र
बध्यन्ते तयोरपि सर्वघातित्वाद् द्विस्थानिक एव रसो निर्वर्त्यते,
नैकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वासामप्येकस्थानिको रसो
न भवति, यत इहासख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि सक्ले-
षस्थानानि जवन्ति । विशुद्धिस्थानान्यप्येतावन्येव, यथा यान्ये-
व संक्लेशस्थानान्यारोहति तेष्वेव विशुद्धिमानोऽवतरति,
ततश्च यथा प्रासादमारोहतां यावन्ति सोपानस्थानान्यवतर-
तामपि तावन्येव तथाऽअपीति ज्ञावः । केवल विशुद्धिस्थाना-
नि विशेषाधिकानि । कथमिति चेदुच्यते—क्षपको येष्वध्यवसाय-
स्थानकेषु क्षपकभ्रेणिकामारोहति न तेषु पुनरपि निर्वर्तते, तस्य
संक्लेशभावात्, अतस्तानि विशुद्धिस्थानान्येव जवन्ति न संक्ले-
षस्थानानीति, तैरध्यवसायस्थानैर्विशुद्धिस्थानान्यधिकानि ।
एवं च स्थितेऽत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानः शुभप्रकृतीनां चतुः-
स्थानिक रसमभिनिर्वर्तयति । अत्यन्तसक्लेशेऽनुवर्तमान-
स्य शुभप्रकृतयो बन्ध एव नागच्छन्ति । या अपि वैक्रियतैज
सकार्मणाद्याः शुभा नरकप्रायोग्याः सक्लिष्टोऽपि बध्नाति
तासामपि स्वभावात्सर्वसक्लिष्टोऽपि द्विस्थानिकमेव रस वि-
दधाति । येषु तु मध्यमाध्यवसायस्थानेषु शुभप्रकृतयो बध्यन्ते
तेषु तासां द्विस्थानिकपर्यन्त एव रसो बध्यते नैकस्थानिक,
मध्यमपरिणामत्वादेवेति न कापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानिक-
रससम्भव इति कृता चतुर्विधस्यापि रसस्य प्रत्ययरूपणा ॥ ६४ ॥
सम्प्रति शुभाऽशुभरसस्यैव विशेषतः किञ्चित् स्वरूपमाह—
निबुच्छुरसो सहजो, द्रुतिचठभागकद्विद्विभागतो ।

इगठाणाई अमुहो, अमुहाणं सुहो सुहाणं तु ॥ ६५ ॥

इहैवमक्षरघटना—अशुभानामशुभप्रकृतीनां रसोऽशुभः, अशु-
भाध्यवसायानिष्पन्नत्वात् । क इवेत्याह—निम्बवत्पिचुमन्दवत् ।
चतुश्चदस्य लुप्तस्येह प्रयोगो द्रष्टव्यः । तथा शुभानां शुभप्रकृ-
तीनां रसा शुभाः, शुभाध्यवसायानिष्पन्नत्वात् । क इवेत्याह—
लुवत् इक्षुयष्टिवत् । तथा डमरुकमणिन्यायाभिन्नेचुरसशब्द
एवमप्यावर्त्यते, यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव सहजः स्वभा-
वस्य एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकस्थानिकरसो द्वित्रि-
चतुर्भागाश्च ते पृथग्विभिन्नेष्वाभ्येयु कथितैकभागान्तो द्वि-
स्थानिकादिर्भवति । कोऽर्थः ।—द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वित्रिच-
त्वारस्ते च ते भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागाः, द्वित्रिचतुर्भागाश्च
ते पृथग्विभिन्नेष्वाभ्येयु कथिताश्च द्वित्रिचतुर्भागकथिता-
स्तेषामेक एकसख्यो भागोऽन्तेऽवसाने यस्य सहजरसस्य
स द्वित्रिचतुर्भागकथितैकभागान्तः । स किमित्याह—एकसा-
निकादिः । आदिशब्दाद् द्विकस्थानिकत्रिस्थानिकचतुःस्थानि-
करसपरिग्रहः । इत्यक्षरायः । भावार्थस्त्वयम्—इह यथा निम्ब
घोषातकीप्रभृतीनां कटुकद्रव्याणां सहजोऽकथितः कटुको
रस एकस्थानिक उच्यते, स एव भागद्वयप्रमाणः स्थाल्यां
कथितोऽर्द्धावृत्तितः कटुकतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्र-
यप्रमाण स्थाल्या कथितस्त्रिभागान्तः कटुकतमस्त्रिस्थानिकः,
स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभिन्नस्थाने कथितश्चतुर्भा-
गान्तोऽतिकटुकतमश्चतुःस्थानिकः । तथा इक्षुकीरादीनां स-
हजो मधुररस एकस्थानिक उच्यते, स एव सहजो भागद्व-

यप्रमाणं पृथग्भाजने कथितोऽन्तर्वासितो मधुरतरो द्विस्था-
निकः, स एव भागत्रयप्रमाणं पृथक्स्थान्यां कथितस्त्रिभा-
गान्तो मधुरतमन्विस्थानिकः, स एव भागश्चतुष्कप्रमाणो वि-
भक्तस्थाने कथितश्चतुर्धभागान्तोऽतिमधुरतमश्चतुःस्थानिकः ।
एवमशुभानां प्रकृतीनां तादृशतादृशकपायनिष्पाद्यः कटुक-
कटुकतरः कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च । शुभप्रकृतीनां मधुरो
मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो यथासंख्यमेकाद्वि-
त्रिचतुःस्थानिको भवति । एव च रसोऽशुभप्रकृतीनामशुभः,
शुभप्रकृतीनां शुभ इति । तुल्यश्रेयो विशेषणम् । स चैव विशिन-
ष्टि-यथा सप्तदशाशुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरसस्पर्शकान्य-
मन्येयव्यक्लियत्वात्तदसंख्येयानि भवन्ति । तत्र च सर्वजघ-
न्यस्पर्शकरसस्यैव निष्पाद्युपमा । तदनु चानन्तेषु रसपलि-
च्छेदेऽप्यतिशान्तेषु तदुत्तरं द्वितीयस्पर्शकं भवति । एवमुत्त-
रोत्तरयमेव प्रवृत्तवृत्ततरसोपेतानि शेषस्पर्शकान्यपि भ-
वन्ति । एव येषां शुभप्रकृतीनामपि द्वित्रिचतुःस्थानिकरस-
स्पर्शकान्यमन्येयव्यक्लियत्वात्तानि प्रत्येकमन्येयानि भवन्ति ।
तान्यपि यथोत्तरमनन्तरसपलिच्छेदं नृनिष्पन्नत्वात् परस्परम-
नन्तगुणरसानि । अतः उत्तरोत्तरस्पर्शकान्यप्यनन्तगुणरसा-
नि, किं पुनरशुभानां द्वित्रिचतुःस्थानिका रसा इति । तथाहि-
अशुभानां निरसोपमर्द्या य एवकस्थानिको रसस्तस्मादनन्तगु-
णर्द्यायो द्विस्थानिकस्तनोऽप्यनन्तगुणर्द्योऽप्यन्येयव्यक्लियत्वात्तानि प्रत्येकमन्येयानि भवन्ति । शुभप्रकृतीनां पुनरेकस्थानिको रस एव
नास्ति । यश्च शुभानामिच्छामो रसोऽभिहितः स द्विस्थानिकर-
सस्य सर्वजघन्यस्पर्शकः एव एवम् । तदुत्तरस्पर्शकेषु चानन्तगु-
णा रसा भवन्ति । एतत्सर्वं पञ्चसंग्रहानिप्रायतो व्याख्यातम् ।
किञ्च-कैयप्रज्ञानावरणादिरूपणा सर्वघातिनीनां विघातिस-
ंशानां प्रकृतीनां सर्वोपपत्ति रसस्पर्शकानि सर्वघातीयेषु ।
देशघातिनीनां पुनर्मनश्शानावरणप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां र-
सस्पर्शकानि कानिचित्सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनि । तत्र
यानि चतुःस्थानिकरमानि द्विस्थानिकरमानि वा रसस्पर्श-
कानि तानि नियमतं सर्वघातीनि, द्विस्थानिकरमानि पुनः
कानिचिद्देशघातीनि कानिचित्सर्वघातीनि, एकस्थानिकानि
तु सर्वोपपत्तिं देशघातीयेषु । उक्तं च-रसस्पर्शकानि सकलम-
पि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं घ्नन्ति । तानि च स्वरूपेण ताम्रभा-
जनयप्रिस्त्रिष्टाणि घृन्मिधातिशयेन स्निग्धानि, ज्ञात्तावत्
तनुप्रदेशोपचितानि, स्फटिकः स्रष्टुह्यघातीव निर्मलानि । उक्तं
च-"जो घापइ नियगुण, सयस सो होइ सव्यघातरसो । सो
निच्छिहो निहो, तणुओ फलिहस्रभएरधिमहो " ॥ १ ॥
यानि च देशघातीनि रसस्पर्शकानि तानि स्वघात्यं ज्ञानादिगु-
णं घ्नन्ति, तदुद्वेगऽयद्वयं कायोपशमसंभवात् । तानि
च स्वरूपेणानेकविधयिवरसकुशानि । तथाहि-कानिचित्कट-
इरातिरूपूरन्निशुतसकुलानि, कानिचित्कम्यस्रं ह्य मध्यमवि-
धरशतसकुलानि, कानिचित्पुनर्गतिमुद्धमविधरनिकरसकुलानि,
यथा वासानि । तथा तानि देशघातीनि रसस्पर्शकानि स्तो-
कस्नेहानि भवन्ति, धैर्यरहितानि च । उक्तं च-"देसाविधा-
उत्तणओ, इयरो कमकवल सुसकामो । धिविहवहुविहुरिओ,
अण्णसिणेहो अ विमलो य " ॥ १ ॥ इति प्रकृतिपतः सप्रपञ्च-
मनुजागबन्ध इति । कर्म० ५ कर्म० । (अघातिरसस्वरूपमत्रैव
प्रागे १८० पृष्ठे 'अघातरस' शब्देऽभिहितम्)

इदानीं तु अनुभाग कस्य कर्मणं कतिविध इत्यभि-

धिसुराह-तन्नादौ ज्ञानावरणीयस्य-

नाणावरणिज्जस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स
पुट्टस्स वद्धफासपुट्टस्स संचियस्स चियस्स उवचियस्स
आवागपत्तस्स विवागपत्तस्स फलपत्तस्स उदयपत्तस्स जी-
वेण कयस्स जीवेणं निव्वत्तियस्स जीवेणं परिणामि-
यस्स सयं वा उदिरस्स परेण वा उदीरियस्स तदुभएण
वा उदीरिज्जमाणस्स गतिं पप्प ठिइं पप्प जव पप्प पो-
गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पणत्ते ? गोयमा !
नाणावरणिज्जस्स ण कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग-
लपरिणामं पप्प दसविहे अणुभावे पणत्ते । तं जहा-सोता-
वरणे सोयविज्जाणावरणे नेत्तावरणे नेत्तविज्जाणावरणे घा-
णावरणे घाणविज्जाणावरणे रसावरणे रसविज्जाणावरणे
फासावरणे फामविज्जाणावरणे जं वेटेति पोगलं वा पो-
गले वा पोगलपरिणामं वा वीससा पोगलाणं परिणामं
तेसिं वा उदएणं जाणियवं न जाणइ, जाणिउ कामे न
जाणइ, जाणिता विन जाणइ, उच्चन्ननाणीया वि जवति
नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, एम एं गोयमा !
नाणावरणिज्जे कम्मे, एस णं गोयमा ! नाणावरणिज्जस्स
कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव पोगलपरिणामं पप्प दस-
विहे अणुभावे पणत्ते ॥

ज्ञानावरणीयस्य । एमिति धाक्यालङ्कारे । भदन्त ! जीवेन
बद्धस्य रागद्वेषपरिणामयशतं कर्मरूपतया परिणमितस्य
स्पष्टस्यात्मप्रदेशे सह सङ्गेशमुपगतस्य (बद्धफासपुट्टस्सेति)
पुनरपि गाढतरं बद्धस्यातीव स्पर्शेन स्पृष्टस्य च । किमुक्तं भ-
वति-आवेष्टनपरिवेष्टनरूपतयाऽतीव सोपचयगाढतरं च ब-
द्धस्येति सचित्तस्य आबाधाकालातिक्रमेणोत्तरकालवेदनयो-
ग्यतया निषिक्तस्य चित्तस्य उत्तरोत्तरस्थितिषु प्रदेशहान्या र-
सवृक्ष्याऽयस्थापितस्य उपाचितस्य समानजातीयप्रकृत्यन्तर-
दलिकर्मणोपचय नीतस्य आपाकप्राप्तस्य ईषत्पाकाभिमु-
क्षीभूतस्य विपाकप्राप्तस्य विशिष्टपाकमुपगतस्य, अत एव
फलप्राप्तस्य फल दातुमभिमुखीभूतस्य । ततः सामग्रीवशादु-
दयप्राप्तत्वाद्यः कर्मधर्मा, यथा आम्रफलस्य । तथाहि-आम्र-
फलं प्रथमतः ईषत्पाकाभिमुखं भवति, ततो विशिष्टं पाकमु-
पागतं, तदनन्तरं तृप्तिप्रसोदादि फलं दातुमुचितम्, ततः सा-
मग्रीवशादुपयोगप्राप्तं भवति । एव कर्मोऽपीति । ततः पुनर्जी-
वेन कथं बद्धमित्यत आह-(जीवेण कयस्स) जीवेन कर्मब-
न्धनबद्धेनेति गम्यते । कृतस्य निष्पादितस्य जीवो ह्युपयोग-
स्वभावस्ततोऽसौ रागादिपरिणतो भवति, न शेषः, रागादिपरि-
णतश्च सन् कर्म करोति । सा च रागादिपरिणति कर्मबन्धनब-
द्धस्य भवति, न तद्वियोगे, अन्यथा मुक्तानामप्यर्वातरागत्यप्रस-
क्तेः । ततः कर्मबन्धनबद्धेन सता जीवेन कृतस्येति छलव्यग्रः । उक्तं
च-"जीवस्तु कर्मबन्धन-बद्धो वीरस्य भगवतः कर्त्ता । सतत्या-
नाय च, तदिष्टकर्मोन्मनः कर्तुः " ॥ १ ॥ तथा जीवेन निर्वाचितस्य
बद्ध बन्धसमये जीवः प्रथमतो विशिष्टान् कर्मवर्गणाऽन्तः पातितः

पुङ्गवान् गृह्णन् अनाजोणिकेन वीर्येण तस्मिन्नेव बन्धसमये ज्ञानावरणीयादितया व्यवस्थापनं तन्निर्वर्तनमित्युच्यते । तथा, जीवेन परिणामितस्य विशेषप्रत्ययैः प्रद्वेषनिहवादिजिस्ततस्तमुत्तरोत्तर परिणामं प्रापितस्य स्वयं वा विपाकप्राप्ततया पर- निरपेक्षमुदीर्णस्य उदयप्राप्तस्य, परेण वा उदीरितस्य उदयमुपनीतस्य, तदुजयेन स्वपररूपेणोजयेन उदीर्यमाणस्य उदयमुपनीयमानस्य गतिं प्राप्य किञ्चिद्विकर्म काञ्चिद् गतिं प्राप्य तीव्रानुभाव भवति । यथा नरकगतिं प्राप्याऽऽसातवेदनीयम् । असातोदयो हि यथा नारकाणां तीव्रो भवति, न तथा तिर्यगादीनामिति । तथा स्थितिं प्राप्य सर्वोत्कृष्टानुभावमिति शेषः । सर्वोत्कृष्टां हि स्थितिमुपगतमद्भुतं कर्म तीव्रानुभावं भवति । यथा मिथ्यात्व भवं प्राप्य इह किमपि किञ्चिद्भवमाश्रित्य स्वविपाकप्रदर्शनसमर्थम् । यथा निद्रा मनुष्यजवतिर्यग्भव प्राप्येत्युक्तम् । एतावता किल स्वत उदयस्य कारणानि दर्शितानि । कर्म हि तां तां गतिं स्थितिं जव वा प्राप्य स्वयमुदयमागच्छतीति । सम्प्रति परत उदयमाह-पुङ्गव काष्ठलेपुखड्गादिलक्षणं प्राप्य । तथा- हि-परेण क्लिप्त काष्ठलेपुखड्गादिकमासाद्य भवत्यसातवेदनीयम् । क्रोधादीनामुदयस्तथा पुङ्गलपरिणाम प्राप्य इह किञ्चित्कर्म कमपि पुङ्गलमाश्रित्य विपाकमायाति । यथाऽऽज्यवहृतस्याऽऽहारस्याजीर्णत्वपरिणाम्बुधमाश्रित्य असातवेदनीयम् ; ज्ञानावरणीयं तु सुरापानमिति । ततः पुङ्गलपरिणाम प्राप्येत्युक्तम् । कतिविधोऽनुभावः प्रकृतः, इत्येष प्रश्नः । अत्र निर्वचनम्-दशविधोऽनुभावः प्रकृतः । तदेव दशविधमनुभाव दर्शयति-(सोयावरणे इत्यादि) इह श्रोत्रशब्देन श्रोत्रेन्द्रियाविषयः कयोपशमः परिगृह्यते (सोयविघ्नाणावरणे इति) श्रोत्रविज्ञानशब्देन श्रोत्रेन्द्रियोपयोगः, यत्तु निर्वृत्युपलक्षणं ह्येन्द्रियं यदङ्गोपाङ्गं नाम नामकर्म निर्वर्त्य न ज्ञानावरणाविषय इति, न श्रोत्रशब्देन गृह्यते । एव नेत्रावरणे इत्याद्यपि भावनीयम् । तत्रैकेन्द्रियाणां रसनघ्राणचक्षुः श्रोत्रविषयाणां दृश्युपयोगानां प्राय आवरणम् । प्रायोग्रहणं च वकुलादिव्यवच्छेदार्थम् । वकुलादीनां हि यथायोग पञ्चानामपीन्द्रियाणां दृश्युपयोगाः फलतः स्पष्टा उपलब्ध्यन्ते । आगमे पि च प्रोच्यन्ते-“पंचिन्द्रियो व्व बडलो, नरो व्व पंचिन्द्रिओवओगाश्रो । तह वि न जगह पंचि-दिओ ति दंविदिया ज्ञावा” ॥ १॥ तथा-“जह सुहुम भावेदिय-नाण दंविदियावराहे वि । दव्वस्सु य भावम्मि वि, भावसुय पत्तिवार्डेण ” ॥ १ । इति । ततः प्राय इत्युक्तम् । द्वीन्द्रियाणां घ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियाविषयाणां दृश्युपयोगानां त्रीन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रविषयाणां चतुरिन्द्रियाणां श्रोत्रेन्द्रियलब्धुपयोगावरणं स्पर्शनेन्द्रियलब्धुपयोगावरणं कुप्रादिव्याधिन्निरुपहतदेहस्य ह्यष्टव्यम् । पञ्चेन्द्रियाणामपि जात्यन्धादीनां पञ्चाङ्गा अन्धबधिरादितानां चक्षुरादीन्द्रियलब्धुपयोगावरणं भावनीयम् । कथमेवमिन्द्रियाणां च दृश्युपयोगावरणमिति चेत् ? उच्यते-स्वयमुदीर्णस्य परेण वा उदीरितस्य ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयेन । तथा चाह- (ज वेपइ इति) यद्वेदयते परेण क्लिप्त काष्ठलेपुखड्गादिलक्षणं पुङ्गलं तेनाभिघातजननसमर्थं (पुग्ले वा इति) यावद् बहु- न पुङ्गलान् काष्ठादिलक्षणान् परेण क्लिप्तान् वेदयते, तैरभिघातजननसमर्थं पुङ्गलपरिणाममभ्यवहताहारपरिणामरूप पानीयरसादिकमतिदुःखजनकं वेदयते ; नेन वा ज्ञानपरिणत्युपहननात् । तथा (वीससा वा पोग्लण परिणाममिति) विस्ससा यत्पुङ्गलानां परिणाम शीतोष्णातपादिरूपत्वं वेदयते

यदा तदा तत्रेन्द्रियोपघातजननद्वारेण ज्ञानपरिणताद्युपहतायां ज्ञातव्यम् । एकेन्द्रियः किमपि सद्रस्तु न जानाति, ज्ञानपरिण- तेरुपहतत्वात् । अयं सापेक्ष उदय उक्तः । निरपेक्षस्य तु विषये सूत्रमिदम्-(तेसिं वा उदएणं ति) ज्ञानावरणीयकर्मपुङ्गलानां विपाकप्राप्तानामुदयेन ज्ञातव्यं न जानाति । (जाणिउकामे न जाणइ चि) ज्ञानपरिणामेन परिणामितुमिच्छन्नापि ज्ञानपरिण- त्युपघातात् न जानाति । (जाणिता चि न जाणइ चि) प्राग् ज्ञात्वाऽपि पञ्चाङ्गं जानीते, तेषामेव ज्ञानावरणीयकर्मपुङ्गलानामुदयात् (उच्छन्ननार्णीया वि जवइ इत्यादि) ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छन्नज्ञान्यापि भवति । उच्छन्नं च तज्ज्ञानं च उच्छन्नज्ञानं, तदस्यास्तीति उच्छन्नज्ञानी, सर्वधनादिषा ग्राभ्युपगमादिनि । यावत् शक्तिप्रच्छादितज्ञान्यापि भवतीत्यर्थः । “ एस णं गोयमा ! नाणावरणिजे कम्मे ” इत्याद्युपसहारवाक्यं कथ्यम् । प्रज्ञा० । प्र० ।

दर्शनावरणीयस्य—

दरिसणावरणिज्जस्स णं जंते ! कम्मस्स जीवेणं वद्धस्स जाव पोग्लपरिणामं पप्प कतिविहे अणुजावे पसुत्ते ? गोयमा ! नवविहे अणुजावे पसुत्ते । तं जहा- निहा निहानिहा पयला पयलापयला थिणप्पी चक्खुदसणावरणे अचक्खुदंसणावरणे ओहिदंसणावरणे केवलदंसणावरणे जं वेदेइ पोग्लं वा पोग्ले वा पुग्लपरिणामं वा वीससा वा पोग्लपरिणामं तेसिं वा उदएणं पासियव्वं वा न पासइ, पासिउकामे न पासइ, पासिता वि न पासइ, उच्छन्नदंसणीया वि जवइ दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदए णं, एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिजे कम्मे, एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं वद्धस्स जाव पोग्लपरिणामं पप्प नवविहे अणुजावे पसुत्ते । प्रश्नसूत्र पूर्ववत् । निर्वचनमाह-गौतम ! नवाविधं प्रकृतं । तदेव नवाविधत्वं दर्शयति-‘निहा’ इत्यादि । निहाशब्दार्थमग्रेव- ह्यामः । ज्ञावार्थस्त्वयम्-“सुहपमिबोहा निहा, दुहपमिबोहा य निहनिहा य । पयला होइ तियस्सा, पयलापयला य चकमओ ॥ १ ॥ थिणप्पी पुण अइस्स, किल्लिकम्मण वेयणे होइ । मह- निहादि ण चितिय-वावारपसाहणी पाय ” ॥ २ ॥ चक्षुर्दर्शना- वरणं चक्षुःसामान्योपयोगावरणम् । एव शेषेष्वपि ज्ञावनीयम् । (ज वयइ इत्यादि) य वेदयते पुङ्गलमृदुशयनीयादिकं (पुग्ले वा इति) यान् पुङ्गलान् बहून् मृदुशयनीयादीन् वेदयते पुङ्गलपरिणाम माहिषदध्याद्यभ्यवहताहारपरिणाममित्यर्थः, (वीससा वा पोग्लण परिणाममिति) वर्षास्वप्नसूतनजोरूप, धाराम्बुनिपातरूप वा यं वेदयते तेन निद्राद्युदयाङ्गेपतो दर्श- नपरिणत्युपघाते । एतावता परत उक्तः । सम्प्रति स्वत उदय- माह-(तेसिं वा उदएणं चि) तेषां वा दर्शनावरणीयकर्मपुङ्गलानामुदयेन परिणतिविघातेन द्रष्टव्यं न पश्यति । तथा कश्चिदर्श- नपरिणामेन परिणामितुमिच्छन्नापि जात्यन्धत्वादिना दर्शनपरिण- त्युपघातात् न पश्यति-प्राग् दृष्ट्वाऽपि पञ्चाङ्गं पश्यति, दर्शना- वरणीयकर्मपुङ्गलानामुदयात् । किं बहुना ? दर्शनावरणीयस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छन्नदर्शन्यापि यावच्छक्तिप्रच्छादित- दर्शन्यापि जवति । “ एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिजे कम्मे ” इत्याद्युपसहारवाक्यम् ।

सातावेदनीयस्य—

सातावेयणिज्जस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वप्पस्स जाव पोगलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुजावे पप्पत्ते । गोयमा ! सायावेयणिज्जस्स कम्मस्स जीवेण वप्पस्स जाव अट्ट विहे अणुजावे पप्पत्ते । तं जहा—मणुन्ना सदा, मणुन्ना रूवा, मणुन्ना गंधा, मणुन्ना रसा, मणुन्ना फासा, मणुन्ना सुहता, वयसुहता, कायसुहता । जं वेदेइ पोगलं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा वीससा वा पोगलपरिणामं ते सिं वा उदएणं सातावेदणिज्जं कम्मं वेदेइ । एस एं गोयमा ! सातावेयणिज्जे कम्मे, एस एं गोयमा ! सायावेयणिज्जस्स जाव अट्टविहे अणुजावे पप्पत्ते । असायावेयणिज्जस्स एं जंते ! कम्मस्स जीवेणं तंहेव पुच्छा, उत्तरं च, नवरं अमणुन्ना सदा जाव वयसुहता एस एं गोयमा ! असायावेयणिज्जस्स जाव अट्टविहे अणुजावे ॥

प्रश्नसूत्र प्राग्वत् । निर्वचनमाह—गौतम ! अष्टविधोऽनुभावः प्रकृतः । अष्टविधत्वमेव दर्शयति—(मणुन्ना सदा इत्यादि) मनोज्ञा शब्दा आगन्तुका वेष्टुधीणादिसवन्धिन । अन्ये 'आत्मीया' इत्याहु । नदयुक्तम् । आत्म।यशब्दानां वाक्सुखेनेत्यनेनैव गृहीतत्वात् । मनोज्ञा रसा इक्षुरसप्रभृतयः, मनोज्ञा गन्धा कर्पूरादिसम्बन्धिनः, मनोज्ञानि रूपाणि स्वगतस्वस्त्रीचित्रादिगतानि, मनोज्ञा स्पर्शा हसतूल्यादिगता, (मणुसुहता इति) मनसि सुखं यस्यासौ मनः सुखस्तस्य भावो मनः सुखिता, सुखित मन इत्यर्थः । वाचि सुखं यस्यासौ वाक्सुखस्तस्य भावो वाक्सुखिता । सर्वेषां श्रेष्ठमनः प्रह्लादकारिणः वागिति तात्पर्यार्थः । काये सुखं यस्यासौ कायसुखस्तद्भावः कायसुखिता, सुखित काय इत्यर्थः । एते चाष्टौ पदार्थाः सातावेदनीयस्योदयेन प्राणिनामुपतिष्ठन्ते ।

मोहनीयस्य—

मोहणिज्जस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वप्पस्स जाव कडविहे अणुजावे पप्पत्ते । गोयमा ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं वप्पस्स जाव पंचविहे अणुभावे पप्पत्ते । तं जहा—मम्मत्तवेयणिज्जे मिच्छत्तवेयणिज्जे सम्मापिच्छत्तवेयणिज्जे कसायवेयणिज्जे नो कसायवेयणिज्जे जं वेदेइ पोगले वा पोगलपरिणामं वा वीससा वा पोगलपरिणामं ते सिं वा उदएणं मोहणिज्जं कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! मोहणिज्जकम्मे, एस एं गोयमा ! मोहणिज्जस्स जाव पंचविहे अणुजावे पप्पत्ते ।

प्रश्नसूत्र प्राग्वत् । निर्वचनम्—पञ्चविधोऽनुभावः प्रकृतः । तदेव पञ्चविधत्वं दर्शयति—सम्यक्त्ववेदनीयमित्यादि । सम्यक्त्वरूपेण यद्वेद्यं तत्सम्यक्त्ववेदनीयम् । एव शेषपदेष्वपि शब्दार्थो ज्ञावनीयः । ज्ञावार्थस्त्वयम्—यदिह वेद्यमानः प्रशमादिपरिणामं करोति तत्सम्यक्त्ववेदनीयं, यत् पुनरवेद्यादिबुद्धिहेतुस्तन्मिथ्यात्ववेदनीयं मिथ्यपरिणामहेतु । सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयं क्रोधादिपरिणामकारणम् । कषायवेदनीयं हास्यादिपरिणामकारणम् । नो कषायवेदनीयम् । (जं वेदेइ पोगलमि-

त्यादि) यं वेद्यते पुञ्जं विषयप्रतिमादिकं पुञ्जलान् वा यान् वेद्यते बहून् प्रतिमादीन् यं पुञ्जपरिणामं देशाद्यनुरूपाहारपरिणामं कर्म पुञ्जविशेषोपादानसमर्थं भवति, आहारपरिणामविशेषादपि कदाचित्कर्मपुञ्जविशेषो यथा—आहारोपाध्याहारपरिणामात् ज्ञानावरणीयकर्मपुञ्जज्ञानां प्रतिविशिष्टः क्षयोपशमः । उक्तञ्च—“उद्यक्स्वयस्ववसमो-वसमाविजय च कम्मणो प्रणिया । दव्वं केत्तं कालं, भव च भाव च सपप्पे” ॥१॥ विस्ससया वा यत् पुञ्जलानां परिणाममभिविकारादिकं यद्दर्शनादेव विवेक उपजायते—“आयु” शरज्जघरप्रतिमं नराणां, सपत्तयं कुसुमिततुल्यसारतुल्या । स्वप्नोपजोगसदृशा विषयोपजोगा, सकल्पमात्ररमणीयमिदं हि सर्वम्” ॥१॥ इत्यादि । अन्यं वा प्रशमादिपरिणामनिबन्धनं यं वेद्यते नत्सामर्थ्योन्मोहनीयं सम्यक्त्ववेदनीयादिकं वेद्यते, सम्यक्त्ववेदनीयादिकर्मफलं प्रशमादि वेद्यते इति ज्ञावः । एतावता परत उद्य उक्तः । सम्प्रति स्वतस्तमाह—(ते सिं वा उदएणं ति) तेषां च सम्यक्त्ववेदनीयादिकर्मपुञ्जलानामुदयेन प्रशमादि वेद्यते ‘एस एं’ इत्याद्युपसहारवाक्यम् ।

आयुप—

आजयस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं तंहेव पुच्छा । गोयमा ! आजयस्स एं कम्मस्स जीवेणं वप्पस्स जाव चउ-व्विहे अणुजावे पप्पत्ते । तं जहा—नेरइयाउए तिरियाउए मणुयाउए देवाउए जं वेदेइ, पोगलं वा पोगले पोगलपरिणामं वा वीससा वा पोगलपरिणामं वा, ते सिं वा उदएणं आजय कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! आजयस्स कम्मस्स जाव चउविहे अणुभावे पप्पत्ते ॥

प्रश्नसूत्र प्राग्वत् । निर्वचनम्—चतुर्विधोऽनुभावः प्रकृतः । तदेव चतुर्विधत्वं दर्शयति—(नेरइयाउए इत्यादि) सुगमम् । ‘जं वेदेइ पोगलं वा’ इत्यादि, यं वेद्यते पुञ्जं शस्त्रादिकमायुरपवर्त्तनसमर्थं बहून् पुञ्जलान् शस्त्रादिरूपान् यान् वेद्यते यं वा पुद्गलपरिणामं विपान्नादिपरिणामरूपं विस्ससया वा यं पुद्गलपरिणामं शीतादिकमेवायुरपवर्त्तनकामं तेनोपयुज्यमानं ज्ञायुपोपवर्त्तनाभारकाद्यायु कर्म वेद्यते । एतावता परत उद्योऽभिहितः । स्वतः उद्यस्य सुत्रमिदम्—[ते सिं वा उदएणं ति] तेषां वा नारकायु पुञ्जलानामुदयेन नारकाद्यायुर्वेद्यते, ‘एस एं’ इत्याद्युपसहारवाक्यम् ।

तत्र नामकर्म द्विधा—शुभनामकर्म, अशुभनामकर्म च । तत्र शुभनामकर्मोधिकृत्य सूत्रमाह—

सुभणामस्स एं जंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गोयमा ! सुभणामस्स एं कम्मस्स जीवेणं वप्पस्स जाव चउइसविहे अणुजावे पप्पत्ते । तं जहा—इहा सदा इहा रूवा इहा गंधा इहा रसा इहा फासा इहा गर्ह इहा ठिई इहं लावन्नं इहा जसोकित्ती इहे उट्टाणकम्मवलवीरियपुरिसकारपरकमे इहस्सरता कंनस्सरता पियस्सरता मणुन्नस्सरता जं वेदेइ पोगलं वा पोगले वा पुगलपरिणामं वा वीससा वा पोगलपरिणामं ते सिं वा उदएणं सुजनामं कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! सुजनामकम्मे, एस एं गोयमा ! सुभणामस्स कम्मस्स जाव चउइसविहे अणुभावे पप्पत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनसूत्रं चतुर्दशविधोऽनुभावः । तदेव च-
तुर्दशविधत्वं दर्शयति—(इष्टा सहा इत्यादि) एते शब्दादय
आत्मीया एव परिगृह्यन्ते, नामकर्मविपाकस्य चिन्त्यमानत्वात् ।
तत्र वादित्राद्युत्पादिता इत्येके । तदयुक्तम् । तेषामन्यकर्मोद्भूतनि-
ष्पाद्यत्वात् । इष्टा गतिर्मत्तवारणायनुकारिणी शिविकाधारोहण-
तश्चेति एके, इष्टा स्थितिः सहजा सिंहासनादी च अन्ये, इष्ट ला-
घण्यं गायविशेषलक्षणं कुङ्कुमाद्यनुलेपनजमिति अपरे, इष्टा य-
शःकीर्तियशसा युक्ता कीर्तिः । यशःकीर्त्योद्देशाय विशेष-
दानपुण्यवृत्ता कीर्तिः, पराक्रमकृत यशः, (इष्टे उद्घाणकम्म-
यववीर्यपुरिसक्कारपरिक्रमे इति) उत्थानं देहचेष्टाविशेषः,
कर्म रेचनज्रमणादि, बल शारीरसामर्थ्यादिविशेषः, धैर्यं जी-
वप्रजवः, स एव पुरुषाकारोऽभिमानविशेषः, स एव निष्पा-
दितस्वविषयपराक्रमः । इष्टस्वरता वल्लभस्वरता । तत्र इष्टा
शब्दाः इति सामान्योक्ताविव्य विशेषोक्तिस्तदन्यवहुमतत्वापेक्षा-
ऽवगन्तव्या । कान्तस्वरतेति । कान्तः क्रमनीयः सामान्यतो-
ऽभिव्यक्तव्य इत्यर्थः । कान्तः स्वरो यस्य स तथा तद्भावः
कान्तस्वरता । प्रियस्वरतेति । प्रियो भूयोऽभिव्यक्तव्यः ; प्रियः
स्वरो यस्य स तथा तद्भावः प्रियस्वरता (मणुस्वरता
इति) उपरतभावोऽपि स्वात्म्यनप्रीतिजनको मनोज्ञः स स्व-
रो यस्य स मनोज्ञस्वरता (ज-वेपथु इत्यादि) य वेदयते पुद्ग-
लं वीणाप्रणयकगन्धताम्रद्वयपट्टादिविक्रसिंहासनकुङ्कुमदानराज-
योगगुलिकादिवल्लक्षणम् । तथा च वीणादिसम्बन्धाद् भवन्तीष्टाः
शब्दादय इति परिभाषनीयमेतत् सूक्ष्मधिया मार्गानुमाग्न्या ।
(पुग्गले वा इति) यतो बहुन् पुद्गलान् वेगुवीणादिकान् वेदय-
तो य पुद्गलपरिणामं ब्राह्मणाद्याहारपरिणामं विस्त्रसया वा य
पुद्गलानां परिणामं शुभजलदादिकं तथा चोन्नतान् कञ्जजसम-
प्रज्ञान्मेघानवलोफ्य प्रहर्षमनसो गायन्ति भक्तयुवनयो रेल्लुका-
निष्ठस्वरानित्यादि, तत्प्रभावात् शुभनामकर्म वेदयते शुभना-
मकर्मफलमिष्टस्वरतादिकमनुभवति । तज्जाव । एतावता परत
उक्तः । इदानीं स्वतस्तमाह—[तेसिं वा उदणं ति] तेषां वा
शुभानां कर्मपुद्गलानामुदयेन इष्टशब्दादिकं वेदयते “ एस ण
गोयमा ! ” इत्याद्युपसहारवाक्यम् । उक्तोऽष्टविधसातवेदनीय-
स्यानुभावः । परतः सातवेदनीयस्योदयमुपदर्शयति—[ज वेपथु
पुग्गलमित्यादि] यद् वेदयते पुद्गलं स्रक्चन्दनादि यान् वा
वेदयते पुद्गलान् बहुन् स्रक्चन्दनादीन् य वा वेदयते पुद्गल-
परिणामं देशकालत्रयोवस्थाऽनुरूपधारपरिणामम् [वीससा वा
पुग्गलान् परिणामं] विस्त्रसया वा य पुद्गलानां परिणामकामेऽ
भिव्यक्तिं शीतोष्णादिवेदनाप्रतीकाररूपं तेन मनसः समान-
सम्पादनात् सातवेदनीयं कर्मानुभवति । सातवेदनीयकर्मफलं
सात वेदयते इत्यर्थः । उक्तः परत उदयः । सम्प्रति स्वत उदय-
माह—[तेसिं वा उदणं ति] तेषां वा सातवेदनीयपुद्गलानामुद-
येन मनोज्ञशब्दादिव्यतिरेकेणापि कदाचित्सुखं वेदयते, यया नेर-
यिकास्तीर्थकरजन्मादिकाः । “ एस ण गोयमा ! ” इत्याद्युपसहा-
रवाक्यम् । प्रश्नसूत्रं सुगमं, निर्वचनं पूर्ववत् । तथा चाह—“ तदेव
पुग्गलं, उत्तरं च, नवरं ” इत्यादिना पूर्वसूत्रादस्य विशेषमुपदर्शय-
ति—[अमणुज्जा सहा इत्यादि] अमनोज्ञाः शब्दाः खरोप्राश्वा-
दिसम्बन्धिन आगन्तुका, अमनोज्ञा रसाः स्वस्याप्रतिभासिनो
दुःखजनका, अमनोज्ञा गन्धा गोमहिषादिमृत्कलेवरादिगन्धा,
अमनोज्ञानि रूपाणि स्वगतस्त्रीगनादीनि, अमनोज्ञाः स्पर्शाः क-
र्कशादयः [मणोदुहया इति] दुःखिन मन इति [वयदुहिया

इति] अजव्या यागिति प्रावार्थः । [कायदुहिया इति] काये
दुःखं यस्यासौ कायदुःखस्तद्भावः कायदुःखिता, दुःखितकाय
इत्यर्थः [ज वेपथु इत्यादि] य वेदयते पुद्गलं विपश्चकण्ट
कादि [पुग्गले वा इति] यान् वा पुद्गलान् बहुन् विपश्चक-
ण्टकादीन् वेदयते य वा वेदयते पुद्गलपरिणाममन्याहारलक्षणं
विस्त्रसया वा यं वेदयते पुद्गलपरिणाममकाशेऽभिव्यक्तिं
शीतोष्णादिपरिणामं तेन मनसोऽसमाधानसम्पादनात् असा-
तवेदनीयं कर्मानुभवति । असातवेदनीयकर्मफलमसातं वेदय-
त इति भावः । एतेन परत उदय उक्तः । सम्प्रति स्वत उदय-
माह—[तेसिं वा उदणं ति] तेषां वा असातवेदनीयकर्म-
पुद्गलानामुदयेनासातं वेदयते “ एस ण गोयमा ! ” इत्याद्यु-
पसहारवाक्यम् ।

अणुजनाम्नः—

दुहनामस्स एं भंते ! पुच्चा । गोयमा ! एवं चेव, नवरं अ-
णिह्ठा सहा जाव हीणस्सरता दीणस्सरता अणिह्ठस्सरता
अकंतस्सरता जं वेदेइ. सेसं त चेव जाव चउहसविहे अ-
णुजावे पएणत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनसूत्रं प्रागुक्तार्थवैपरीत्येन भावनीयम् ।
गोत्रं द्विधा—उच्चैर्गोत्रं वा नीचैर्गोत्रं वा । तत्रोच्चैर्गोत्रविषय
सूत्रमाह—

उच्चागोयस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्चा । गोयमा !
उच्चागोयस्स कम्मस्स जीवेणं बप्पस्स जाव अट्ठविहे अ-
णुजावे पप्पत्ते । त जहा—जातिविसिद्धता कुलविसिद्धता
बलविसिद्धता रूवविसिद्धता तवविसिद्धता सुयविसिद्धता
लान्नविसिद्धता इस्सरियविसिद्धता जं वेदेइ पौग्गलं वा
पौग्गले वा पौग्गलपरिणामं वा वीससा वा पौग्गलाणं
परिणामं तेसिं वा उदणं जाव अट्ठविहे अणुभावे
पएणत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—अष्टविधोऽनुभावः प्रकृतः ।
तदेवाष्टविधत्वं दर्शयति—[जावविसिद्धता इत्यादि] जात्या-
दयः सुप्रतीताः । शब्दार्थस्त्वैवम्—जात्या विशिष्टो जाति-
विशिष्टस्तद्भावा जातिविशिष्टता इत्यादिकम् । वेदयते पुद्गलं
बाह्यद्रव्यादिलक्षणम् । तथाहि—द्रव्यसम्बन्धाद्वाजादिविशि-
ष्टपुरुषसम्परिग्रहाद्वा नीचजातिकुलोत्पन्नोऽपि जात्यादिस-
म्बन्ध इव जनस्य मान्य उपजायते । बलविशिष्टताऽपि म-
हानामिव लकुटिजमणवशाद् । रूपाविशिष्टता प्रतिविशिष्टव-
त्खालङ्कारसम्बन्धात् । तपोविशिष्टता गिरिकूटाधारोहणेनाताप-
नां कुर्वतः । शुभविशिष्टता मनोज्ञभूदेशसम्बन्धात् स्वाध्याय कु-
र्वतः । लाजविशिष्टता प्रतिविशिष्टरत्नादियोगात् । देशव्यवि-
श्टता धनकनकादिसम्बन्धादिति । (पुग्गले वा इति) यान्
शुभानां कर्मपुद्गलानामुदयेन इष्टशब्दादिकं वेदयते “ एस ण
गोयमा ! ” इत्याद्युपसहारवाक्यम् । उक्तोऽष्टविधसातवेदनीय-
स्यानुभावः । परतः सातवेदनीयस्योदयमुपदर्शयति—[ज वेपथु
पुग्गलमित्यादि] यद् वेदयते पुद्गलं स्रक्चन्दनादि यान् वा
वेदयते पुद्गलान् बहुन् स्रक्चन्दनादीन् य वा वेदयते पुद्गल-
परिणामं देशकालत्रयोवस्थाऽनुरूपधारपरिणामम् [वीससा वा
पुग्गलान् परिणामं] विस्त्रसया वा य पुद्गलानां परिणामकामेऽ
भिव्यक्तिं शीतोष्णादिवेदनाप्रतीकाररूपं तेन मनसः समान-
सम्पादनात् सातवेदनीयं कर्मानुभवति । सातवेदनीयकर्मफलं
सात वेदयते इत्यर्थः । उक्तः परत उदयः । सम्प्रति स्वत उदय-
माह—[तेसिं वा उदणं ति] तेषां वा सातवेदनीयपुद्गलानामुद-
येन मनोज्ञशब्दादिव्यतिरेकेणापि कदाचित्सुखं वेदयते, यया नेर-
यिकास्तीर्थकरजन्मादिकाः । “ एस ण गोयमा ! ” इत्याद्युपसहा-
रवाक्यम् । प्रश्नसूत्रं सुगमं, निर्वचनं पूर्ववत् । तथा चाह—“ तदेव
पुग्गलं, उत्तरं च, नवरं ” इत्यादिना पूर्वसूत्रादस्य विशेषमुपदर्शय-
ति—[अमणुज्जा सहा इत्यादि] अमनोज्ञाः शब्दाः खरोप्राश्वा-
दिसम्बन्धिन आगन्तुका, अमनोज्ञा रसाः स्वस्याप्रतिभासिनो
दुःखजनका, अमनोज्ञा गन्धा गोमहिषादिमृत्कलेवरादिगन्धा,
अमनोज्ञानि रूपाणि स्वगतस्त्रीगनादीनि, अमनोज्ञाः स्पर्शाः क-
र्कशादयः [मणोदुहया इति] दुःखिन मन इति [वयदुहिया

नीचैर्गोत्रस्य-

नीयागोयस्स एं भंते ! पुच्छा । गोयमा ! एवं चेव, नवरं जातिविहीणता जाव इस्सरियविहीणता जं वेदेइ पो-
गलं वा पोगले वा पोगलपरिणामं वा वीससा वा पोग-
लाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं जाव अट्टविहे अणुभा-
वे पणत्ते ॥

प्रश्नसूत्र प्राग्वत् । निर्वचनम्-अष्टविधोऽनुभाव । तमेवाष्टविधम-
नुभाव दर्शयति-[जातिविहीणया इत्यादि] सुप्रतीतम् । [ज
वेदेइ पुगलमिति] य वेदयते पुगलं नीचकर्मसंवनरूप, नीच-
पुरुषसम्बन्धलक्षण वा । तथाहि-उत्तमजातिसम्पन्नोऽपि उ-
त्तमकुलोत्पन्नोऽपि यदि नीचैः कर्मवशाद् यथा जीविकारूपमा-
सेवते, चाणमार्त्ता वा गच्छति तदा भवति चाणमालादिरिव जनस्य
निन्द्य । बलहीनता, सुखशून्यतादिसम्बन्धात् । तपोविहीनता
पार्श्वस्थादिससर्गात्, श्रुतविहीनता विकथाऽपरसाध्वामासादि-
ससर्गात्, लाजविहीनता देशकालानुचितकुक्रियाणां सम्पर्कत,
ऐश्वर्यविहीनता कुप्रहकुलत्रादिसम्पर्कत इति । [पुगले
वा इति] यान् बहून् पुगलान् वेदयते, यथा-पुद्गलपरिणाम
धृत्वाकीफलं ह्यन्यवहतकणसूत्युत्पादनेन रूपविहीनतामापाद-
यतीत्यादि । विस्त्रसया वा पुगलानां परिणाममभिहितजलदाग-
मविसवादलक्षण वेदयते, तत्प्रभावाद् नीचैः कर्म वेदयते, नी-
चैः कर्मफल जात्यादिविहीनतारूप वेदयते इत्यर्थः । एतावता
परत उदय उक्तः । सम्प्रति स्वत उदयमाह-(तेसिं वा उद-
एण ति) तेषां वा नीचैर्गात्रकर्मपुगलानामुदयेन जात्यादिवि-
हीनतामनुभवति । "एस ण गोयमा ! " इत्याद्युपसहारवाक्यम् ।

अन्तरायस्य-

अंतरायस्स एं जंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गो-
यमा ! अंतरायस्स कम्मस्स जीवेणं वण्णस्म जाव
पंचविहे अणुजावे पणत्ते । तं जहा-टाणतराए लाभत-
राए भोगंतराए उवजोगतराए वीरियंतराए जं वेदेति पो-
गलं वा जाव वीससा वा तेसिं वा उदएणं अंतरायं
कम्मं वेदेइ, एस णं गोयमा ! अंतराऽए कम्मे, एस णं गोय-
मा ! जाव पंचविहे अणुभावे पणत्ते ।

प्रश्नसूत्र प्राग्वत् । निर्वचनम्-पञ्चविधोऽनुभावः प्रकृतः । तदेव
पञ्चविधत्वं दर्शयति-(दाणतराए इत्यादि) दानस्यान्तरा-
यो विज्ञः दानान्तरायः । एष सर्वत्र भावनीयम् । तत्र दानान्त-
रायो दानान्तरायस्य कर्मणः फलम् । तन्नामान्तरायो ह्यमान्तरा-
यादिकर्मणामिति । (ज वेदेइ पुगल वा इत्यादि) य वेदयते पु-
गलं विविधविशिष्टरत्नादिसम्बन्धाद् दृश्यते तच्छिष्ये एष दाना-
न्तरायोदयः सन्धिच्छेदनाद्युपकरणसम्बन्धाद् दानान्तरायकर्मो-
दयः, प्रतिविशिष्टाहारसम्बन्धादनर्थार्थसम्बन्धाद्वा द्योमतो भो-
गान्तरायोदयः । एवमुपभोगान्तरायकर्मोदयोऽपि प्रावनीयः ।
तथा लकुटाद्यभिघाताद् वीर्यान्तरायकर्मोदय इति । पुद्गलान्
वा बहून् तथाविधान् यान् पुद्गलान् वेदयते य वा पुद्गलपरि-
णामं तथाविधाहारौषधादिपरिणामरूपम् । तथाहि-दृश्यते
तथाविधाऽऽहारौषधपरिणामाद्दीर्घान्तरायकर्मोदयः । मन्त्रो-
पलिकवासादिगन्धपुद्गलपरिणामाद् भोगान्तरायोदयः । यथा
सुबन्धुमाचिवस्य विस्त्रसया वा पुद्गलानां परिणामं चित्रं शी-
तादिलक्षणम् । तथाहि-दृश्यन्ते वस्त्रादिक दानुकामा अपि

शीतादिनिपतन्तमाद्योक्त्य दानान्तरायोदयात् तस्यादातारः,
इति तत्प्रभावात् एष परत उदय उक्तः । स्वतस्तमाह-(तेसिं
वा एण ति) तेषां वा अन्तरायकर्मपुद्गलानामुदयेन अन्तरायक-
र्मफल दानान्तरायादिक वेदयते "एस ण" इत्याद्युपसहारवा-
क्यम् । प्रश्ना० ३३ पद । "तम्हा एणसिं कम्माण, अणुजागे
वियादिप । एणसिं सवरे चेव, खवणे य जणं बुहे" ॥१॥ उत्त०
३३ म० । कर्मणः स्वभावे, तदुक्त कर्मप्रकृतिचूर्णौ-"अणुभागो-
सि सहाओ" क० प्र० । (कर्मणा करणानां बन्धनसक्रमादीनाम-
नुभागबन्धादिभेदा बन्धादिशब्देषु दृश्याः) ।

अणुजागअप्पावहुय-अनुभागाल्पवहुत्व-न० । अनुभागं प्रत्य-
ल्पवहुत्वे . यथा "सव्वत्थोवाइ अणतगुणवुद्धिठाणाणि असं-
खेज्जगुणवुद्धिठाणाणि असखिज्जगुणाणि सखिज्जगुणवुद्धिठा-
णाणि असखिज्जगुणाइ जाव अणतभागवुद्धिठाणाणि असखि-
ज्जगुणाणि" प्रदेशाद्युपवहुत्व यथा-"अठविहबंधगस्स य आठ-
यभागो योवो नामगोयाण तुल्लो विसेसाहिओ नाणदसणावर-
णतरायाण तुल्लो विसेसाहिओ मोहस्स विसेसाहिओ वेय-
णिज्जस्स विसेसाहिओ सि " । स्था० ४ टा० २ उ० ।

अणुभागउदीरणोवकम-अनुजागोदीरणोपक्रम-पु० । प्राप्तोदयेन
रसेन सहाऽप्राप्तोदयस्य रसस्य वेदनाऽऽरम्भे, स्था० ५ टा० १ उ० ।
अणुजागकम्म-अनुजागकर्मन् -न० । अनुभागरूप कर्मोभा-
गकर्म । रसात्मके कर्मजदे, म० १ टा० ४ उ० ।

अणुजागणामनिहत्ताउय-अनुभागनामनिधत्तायुष् - न० ।
अनुजाग आयुष्कर्मद्रव्याणां तीव्रादिभेदो रसः, स एव तस्य वा
नाम परिणामोऽनुभागनाम, अथवा गत्यादीनां नामकर्मणामनु-
जागबन्धरूपो भेदोऽनुजागनाम, तेन सह निधत्तामायुरनुभाग-
नामनिधत्तायुरिति । आयुर्बन्धजदे, स० । ज० । स्था० ।

अणुभाग (व) बंध-अनुजाग (व) बन्ध-पु० । अनुभागो
विपाकस्तीव्रादिभेदो रस इत्यर्थः, तस्य बन्धोऽनुजागबन्धः । ब-
न्धजदे, स्था० ४ टा० २ उ० । ('बंध' शब्देऽस्य व्याख्या)

अणुभागबंधज्जवसायट्टाण-अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान-
न० । कृष्णादिलेह्यापरिणामविशेषे, कर्म० १ कर्म० । सकपा-
योदया हि कृष्णादिलेह्यापरिणामविशेषा अनुजागबन्धहेतेव
इतिवचनात् । क० प्र० ।

अणुजाग (व) बंधट्टाण-अनुजाग (व) बन्धस्थान-न० । तिष्ठ-
त्यस्मिन् जीव इति स्थानम्, अनुभागबन्धस्य स्थानमनुजागब-
न्धस्थानम् । एकेन काषायिकेणाध्यवसायेन शृङ्गीतानां कर्मपुद्ग-
लानां विवर्जितकसमयचन्द्रमसमुदायपरिणामे तान्निष्पादकेषु
कमायोदयरूपेषु अध्यवसायविशेषेषु, प्रव० १६२ टा० ।

एगसमयस्मि टोए, सुहुमगाणिजिया उ जे उ पविसंति ।

ते हुतऽसखलोय-प्पएसतुह्वा असखेज्जा ॥

ततो असंखगुणिया, अगणिकाया उ तेसिं कायतिई ।

ततो संजमअणुभा-गबंधट्टाणसखाणि वा ॥

लोकं इह जगति एकस्मिन् समये पृथिवीकायिकादयो जीवा
(सुहुमगाणिजिया उ च्छि) सप्तम्यर्थत्वात्प्रथमाया, लक्ष्माणिजि

अणुभागबंधद्वारा

वेषु सूक्ष्मनामकमौदयवर्तिषु तेजस्कायिकजीवेषु प्रविशन्ति च
 त्यन्ते । सख्येत्यत्वमेवाह—असख्यलोके प्रदेशतुल्या अस-
 ख्येत्यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः । इह च विजातीयजीवानां
 जात्यन्तरतयोत्पत्तिः प्रदेशं वच्यते । इत्थमेव प्रकृतौ प्रवेशनक-
 शब्दार्थस्य व्याख्यातत्वात् । ततस्ते जीवा पृथिव्यादिज्योऽष्का-
 येभ्यो बाह्यतेजस्कायेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायतयोत्पद्यन्ते, इह गृह्य-
 न्ते, ये पुनः पूर्वमुत्पन्नाः तेजस्कायिकाः पुनर्मृत्वा तेनैव पर्यायेणो-
 त्यन्ते न गृह्यन्ते, तेषां पूर्वमेव प्रविष्टत्वात् । ततः सर्वस्तोका
 एकसमये समुत्पन्नसूक्ष्माग्निकायिकाः । (ततो ति) ततस्तेज्य
 एकसमयोत्पन्नसूक्ष्माऽग्निकायिकेभ्योऽसख्येयगुणिता असख्ये-
 यगुणा अग्निकायाः पूर्वोत्पन्नाः सर्वेऽपि सूक्ष्माग्निकायिकजी-
 वाः । कथमिति चेत् ? उच्यते—एकः सूक्ष्माग्निकायिको जीवः स-
 मुत्पन्नोऽन्तर्मुहूर्ते जीवति, एतावन्मात्रायुष्कत्वात् । तेषां तस्मि-
 न्चान्तर्मुहूर्ते ये समयास्तेषु प्रत्येकमसख्येत्यलोकाकाशप्रमा-
 णाः सूक्ष्माग्निकायिका समुत्पद्यन्ते, अतः सिद्धमेकसमयोत्पन्न-
 सूक्ष्माग्निकायिकेभ्यः सर्वेषां पूर्वोत्पन्नसूक्ष्माग्निकायिकानामस-
 ख्येयगुणत्वम् । तेभ्योऽपि सर्वसूक्ष्माग्निकायिकेभ्यस्तेषामेव प्र-
 त्येक कायस्थितिः पुनः पुनस्तत्रैव काये समुत्पत्तिरुक्ता स-
 ख्यातगुणा एकैकस्यापि सूक्ष्माग्निकायिकस्य सख्येयोत्सर्पिणी-
 प्रमाणायाः कायस्थितेरुत्कर्षतः प्रतिपादितत्वादिति । तस्या
 अपि कायस्थिते सकाशात् सयमस्थानान्यनुभागबन्धस्था-
 नानि च प्रत्येकमसख्येयगुणानि कायस्थितावसख्येयानां
 स्थितिवन्धानां भावादेकैकस्मिन् च स्थितिष्वपि असख्येयाना-
 मनुभागबन्धस्थानानां सद्भावादिति । सयमस्थानान्यनु-
 भागबन्धस्थानैस्तुल्यान्येवेति । तेषामुपादानं तत्स्वरूपं चाग्रे
 वक्ष्याम । अथाऽनुभागबन्धस्थानानीति कः शब्दार्थः ? ।
 उच्यते । तिष्ठत्यस्मिन् जीव इति स्थानम् । अनुभागबन्ध-
 स्थानमनुभागबन्धस्थानम् । एकेन काषायिकेणाध्यवसा-
 येन गृहीतानां कर्मपुद्गलानां विवर्जितैकसमयवचरसमु-
 दायपरिमाणमित्यर्थः । तानि चानुभागबन्धस्थानान्यसख्येय-
 लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तेषां चाऽनुभागबन्धस्थानानां नि-
 ष्पादकाः कषायोदयरूपाः अध्यवसायविशेषास्तेऽप्यनुभाग-
 बन्धस्थानानीत्युच्यन्ते, कारणे कार्योपचारात् । तेऽपि चानु-
 भागबन्धाध्यवसाया असख्येत्यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा इति ।
 प्रव० १६२ द्वा० । क० प्र० । प० स० । “ अणुभागब-
 धद्वारा अज्जवसायद्वारा व पगडा ’ प० स० ५ द्वा० ।

अणुभाग (व) संक्रम-अनुभाग (व) संक्रम-पुं० । अनुभा-
 गविषये संक्रममेवे, क० प्र० ।

तत्स्वरूपं च—

“ तत्पटुपय उच्च-द्विधा व ओवद्विधा व अविजागा ।
 अणुभागसकमो प-स अन्नपगई निया वा वि ” ॥ १ ॥ चि ।

(अद्यपि ति) अनुभागसक्रमस्वरूपनिकीरणम् (अ-
 विभाग चि) अनुभागा (निय चि) नीता इति । क० प्र० ।
 प० स० । (‘सकम’ शब्दे चास्य विस्तृता व्याख्या)

अणुजागसंतकम्प-अनुजागसंतकर्मन्-न० । अनुजागविषयायां
 कर्मण सत्तायाम्, क० प्र० । प० स० । (‘सत्ता’ प्रकरणे व्या-
 ख्यास्यामि)

अणुजागदीरणा-अनुभागोदीरणा-स्त्री० । प्राप्तेदयेन रसेन
 सहाप्राप्तेदये वेद्यमाने रसे, स्या० ४ ग० २ उ० । क० प्र० । प०

स० । (‘ उदीरणा ’ शब्दे द्वि० भा० ६५६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अणुभागोदय-अनुजागोदय-पुं० । अनुभागविषये कर्मणाभु-
 वये, प० स० ५ द्वा० । क० प्र० । (‘ उदय ’ शब्दे द्वि० भा०
 ७७६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अणुभाव-अनुभाव-पुं० । गुणानां कर्मप्रकृतीनां प्रयोगकर्मणो-
 पात्तानां प्रकृतिस्थितिप्रदेशरूपाणां तीव्रमन्दानुभावतयाऽनुभ-
 वने, आचा० १५०२ अ० १ उ० । स० । अचिन्त्यायां वैकियकरणा
 दिकायां शक्ती च । स्या० ३ ग० ३ उ० । प्रभावे च । म्य० ३३० ।

अणुजावकम्प-अनुजागकर्मन्-न० । अनुभागतो वेद्यमाने क-
 र्मणि, यस्य हि अनुभावो यथा वचरसा वेद्यते । स्या० २
 ग० ३ उ० ।

अणुजावग-अनुभावक-त्रि० । चिन्तापके, आ० म० द्वि० ।

अणुजासण-अनुभाषण-न० । आचार्यभाषणात्पश्चाद् प्रा-
 पणे, आचार्येण प्रापिते पश्चात् प्रापणं न पुनः प्रधानीयुषा-
 चार्यभाषणादग्नं प्रापते । “ साहूण अणुजासह, आचरिण तु
 जासिप सते । ” इय० ३ उ० । आ० चू० ।

अणुभासण (णा) सुख-अनुभाषण (णा) सुख-न० ।
 गुरुच्चारितस्य शनैः शुद्धोच्चारणरूपे भावविशुद्धिप्रदे, आ०
 चू० ६ अ० । अनुभाषणाशुद्ध यथा—

“ अनुभासह गुरुवयण, अक्खरपयवजणेहिं परिसुख ।

पजवित्तडो अभिमुहो, त जाणऽणुभासणासुख ” ॥ १ ॥

नवर गुरुभणति—(वोसिरत्त चि) शिष्यस्तु—(वोसि
 रामि चि) स्या० ५ ग० ३ उ० । कृतकृतिकर्मप्रत्या-
 ख्यानं कुर्वन् अनुभाषते गुरुवचनं लघुतरेण शब्देन भण
 तीत्यर्थः । कथमनुभाषते ? अक्षरपदव्यञ्जनैः परिशुद्धप्रवना-
 नुभाषणायत्नमाह । नवर गुरुभणति—(वोसिरत्त चि) ‘ इमो विभ
 णति—(वोसिरामि चि) सेस गुरुभणियसरिस माणियव्व ’ । किं-
 भूत सन् ? कृतप्राञ्जसिरिजिमुखस्तज्जानीहि अनुभाषणाशुक्-
 मिति । भाव० ६ अ० ।

अणुचूड-अनुचूति-स्त्री० । अनुचवनमनुचूतिः । अनुचवे, विशेषे
 आ० म० प्र० । दश० ।

अणुमइ-अनुमति-स्त्री० । अनुमोदने, भाव० ४ अ० । सूत्र० ।
 तत्स्वरूपं च—“ काव सय परिणतै, अणुवारणअनुमती होति
 एव भणति तुम अप्पणो य अणुस्स वा इत्थं कम्म करे-
 हिति ” । आत्मन्यातिरिक्तस्य परस्यैवम्—“ इच्छस्स वा अणि-
 च्छस्स वा बह्वाजिओगा इत्थं कम्म कारावयतो कारयणा
 प्रणति ” नि० चू० १ उ० । आनुकूल्ये, प्रव० ६ द्वा० ।

अणुमइया-अनुमतिका-स्त्री० । उज्जयिन्यां देवलासुतस्य
 राज्ञो प्रार्याया अनुरकलोचनाया दास्याम्, आ० चू० ११ उ० ।
 भाव० ।

अणुमणण-अनुमनन-न० अनुमोदने, प्रति० । (प्रत्यस्तवा-
 नुमोदनं साधो कल्पत इति ‘ चेइय ’ शब्दे वक्ष्यते)

अणुमत (य)-अणुमत-त्रि० । अणोरपि मन्तरि, “ अणुम-
 याइ कुवाइ जवति ” अणुरपि कुल्लकोऽपि मतो येषु सर्वसा-
 युसाधारणत्वात् नु मुखं दृष्ट्वा तिलकं कुर्वन्तीति । कल्प० ।

अणुमत-त्रि० । अत्रीष्टे , आ० म० द्वि० । दानमनुस्मृते, क-
त्य० । अनु पश्चादपि मतोऽनुमतः । ज्ञा० १ अ० । विप्रियकरण-
स्यापि (ज्ञा० १ अ०) वैशुण्यदर्शनस्याऽपि (औ०) कार्यविधा-
तस्य (ज्ञा० १ अ०) पश्चादपि मते, भ० २ श० १ उ० । अ-
भिप्रेते, वृ० १ उ० । अजिरुचिते, पश्ये च । औ० । आनुकूल्येन
सम्मते, जी० १ प्रति० । यहुमते, पञ्चा० ६ विष० ।

अणुमहत्तर-अनुमहत्तर-पु० । मूलमहत्तराभावे तत्कार्यका-
रिणि, " मूलमहत्तरे असंविद्विद्वे ज्ञो पुच्छाण्यज्ञो धुरे ताय-
ति सो अणुमहत्तर । नि० चू० ६ उ० । मूलमहत्तरे असंविद्विद्वे
यस्तत्र सर्वरूपि प्रचूर्णाय, धुरि च प्रथम तिष्ठति सोऽनु-
महत्तर । वृ० २ उ० ।

अणुमाण-अणुमान-पु० । अणुश्चासौ मानः । स्तोकाद्द्वारे,
सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । " अणुमाणं च माय च त पमिषाय पं-
मिष " चक्रवर्त्यादिना सत्कारादिना पूज्यमानेनाणुरपि स्तोको-
ऽपि मानोऽहङ्करो न विधेयः, किमुत महान् ! यदि वोक्तममर-
णोपस्थितेनोपगतपोनिष्ठसदेहेन वा, 'अहो ! अहमित्येवरूपः'
स्तोकोऽपि गर्वो न विधेयः । सूत्र० २ श्रु० ८ अ० ।

अनुमान-न० । अनु इति लिङ्गदर्शनसमन्धानुस्मरणयो प-
श्चात्मानं ज्ञानमनुमानम् । स्या० ४ उ० ३ उ० । अविनाभाव-
निश्चयासिद्धासिद्धिज्ञाने, आ० चू० १ अ० । न० । अनु
पश्चाद् लिङ्गलिङ्गिसमन्धग्रहणस्मरणानन्तर मीयते परिच्छिद्य-
ते देशकालस्थजावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम् ।
स्या० । प्र० । अनु० । "साध्याविनामृतसिद्धात्, साध्यनिश्चायक
स्मृतम् । अनुमानं तदप्रान्त, प्रमाणत्वात् समकथत् ।" ॥१॥ इति
लक्षणलक्षिते प्रमाणभेदे, स्या० ४ उ० ३ उ० । अनुमानस्य
प्रामाण्यम्- (अनुमानं न प्रमाणमिति सिद्धाधियपया प्रत्यक्षस्यैव-
कस्य प्रामाण्यमङ्गीकृत्याह चार्वाक इति 'आता' शब्दे द्वितीय-
भागे १८१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

साम्प्रतमक्रियावादिनां लौकायतिकानां मतस्यार्थमत्वाद्भेदे
उपन्यस्यन् तन्मतमूलस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादि-
प्रमाणान्तरानङ्गीकारे अकिञ्चित्करत्वप्रदर्शनेन
तेषां प्रज्ञाया प्रमादमादर्शयति—

विनाऽनुमानेन परान्विसधि-

मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।

न साम्प्रतं वक्तुमपि क चेष्टा,

क दृष्टमात्रं च हृदा ! प्रमादः ॥ २० ॥

प्रत्यक्षमेवैक प्रमाणमिति मन्यते चार्वाकः । तत्र संनहते-अनु ग-
श्चासिद्धिलक्षिसमन्धग्रहणस्मरणानन्तर मीयते परिच्छिद्यते दे-
शकालस्थजावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम् । प्रस्ता-
वात् स्वार्थानुमानम्, तेनानुमानेन द्वैकिकप्रमाणेन विना परामिस-
धि परान्विसधिमसंविदानस्य सम्यग्ज्ञानानस्य, तुराब्दः पूर्वचादि-
भ्यो भेदद्योतनार्थः । पूर्वेषां वादिनामास्तिकतया विप्रतिपत्तिस्थाने-
षु कोदं क्व । नास्तिकस्य तु वक्तुमपि नीचिती, कुत एव तेन सह
कोदः, इति तु शब्दार्थः । नास्ति परलोक पुण्य पापमिति वा म-
तिरस्य "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्" ॥ ६॥ ६॥ इति हैमख्येण निपा-
तनास्ति । तस्य लौकायतिकस्य वक्तुमपि न साम्प्रतं, ध्वनम-

प्युच्चारयितुं नोचितम् । ततः तूष्णींभाव एवास्य श्रेयान्, दूरे प्रामा-
णिकपरिवर्धे प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोष्ठौ । ध्वनं हि परप्रत्यायना-
य प्रतिपाद्यते, परेण चाप्रतिपत्तिनमर्थं प्रतिपादयन्नसौ सताम-
घधेयवचनो न भवतीत्युक्तमस्य । ननु कथमिव तूष्णीं कर्तव्यं वाऽस्य
श्रेयसी, यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याऽभिप्रायमनुमाय
सुकरमेवानेन वचनोच्चारणमित्याशङ्क्याह—"क चेष्टा क दृष्टमात्रं
च" इति । केति बृहदन्तरे, चेष्टा इङ्गित परान्विसधिरूपस्यानुमेयस्य
लिङ्गम् । क च दृष्टमात्रम्-दर्शनं दृष्टं, ज्ञावे के, दृष्टमेव दृष्टमात्रम्, प्रत्य-
क्षमात्रम्, तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात् । अत एव दूरमन्तरमे-
तयोः । न हि प्रत्यक्षेणातीन्द्रियाः परचेतोवृत्तयः परिज्ञातु शक्याः,
तस्यैन्द्रियकत्वात् । मुखप्रसादादिचेष्टया तु लिङ्गभूतया पराऽ-
भिप्रायस्य निश्चयेऽनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापत्ति-
तम् । तथाहि-मरुचनश्रवणाऽभिप्रायधानयः पुरुषस्तादृशमुखप्र-
सादादिचेष्टाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति । अतश्च 'हृदा प्रमाद' हृदा
इति सेदे, अहो ! तस्य प्रमादः प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं
प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारेणापहृते । अत्र च संपूर्णस्य वैसरकर्मकत्वे ए-
वात्मनेपदम्, अत्र तु कर्माऽस्ति । तत्कथमत्रानुशङ्कः ! अत्रोच्यते-अत्र
संवेदितुं शक्तं सविदान इति कार्यम्, 'वयं शक्तिशीले' ॥ १२॥ २४॥
इति शक्तौ ज्ञानविधानात् । ततश्चायमर्थोऽनुमानेन विना परामि-
सहितं सम्यग्भेदितुं शक्तस्येति । एवं परबुद्धिज्ञानाऽन्यथाऽनुपप-
त्याऽयमनुमानं हृदावङ्गीकारित । तथा प्रकारान्तरेणाप्ययम-
ङ्गीकारयितव्यः । तथाहि-चार्वाकः 'काश्चिज्ज्ञानव्यक्ती' सवादि-
त्वेनाव्यभिचारिणीरूपत्वस्याऽन्याश्च विसर्वादित्वेन व्यभिचा-
रिणी, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं
प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत् । न च सहितार्थबलेनोत्पद्यमानं
पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालजाविनीनां ज्ञानव्यक्ती-
नां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुत्पन्नकथितुं क्षमते ।
न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति
प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति । तस्माद्
यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणोदानीं तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामा-
ण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमा-
नरूपमुपासीत, परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यं
कर्तुम्, सनिदिनमात्रविषयत्वात्तस्य । परलोकादिकं चाप्रतिपिच्य
नाऽयं सुखमास्ते, प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति मिस्मदेवाक ।
किञ्च-प्रत्यक्षस्याप्यर्थव्यभिचारादेव प्रामाण्यम् । कथमितरथा
स्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियासमर्थं मरुमरीचिकानिचयानुमिनि
जलज्ञाने न प्रामाण्यम् ! तच्चार्थप्रतिषेधकलिङ्गशब्दद्वारा समु-
न्मज्जतोऽनुमानागमयोरप्यर्थव्यभिचारादेव किं नेष्यते ! व्य-
भिचारिणोरप्यनयोर्दर्शनादप्रामाण्यमिति चेत्, प्रत्यक्षस्याऽपि
तिमिरादिदोषोन्निहीयिनीनाथयुगलावगाहिनोऽप्रमाणस्य दर्श-
नात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गः । प्रत्यक्षाप्राप्तं तदिति चेत्,
इतरत्रापि तुल्यम्, एतदन्यत्र पक्षपातात् । स्या० ।
ये तु तथागताः प्रामाण्यमूलस्य नोहाञ्चकिरे, तेषामश-
यशून्यत्वपातकाऽऽपत्तिः । आः किमिदमकारुण्यकूप्याण्डा-
ङ्गमरोडुममभिधीयते ? । कथं हि तर्कप्रामाण्यानुपगमे-
मात्रेणोद्देशमसमञ्जसमापनीयेत ? । शृणु, श्रावयामि
किल, तर्काप्रामाण्ये तावन्नानुमानस्य प्राणाः, प्रतियन्ध्रप्र-
तिपत्त्युपायापायात् । तदभावे न प्रत्यक्षस्यापि । प्रत्यक्षेण हि
पदार्थान् प्रतिपद्य प्रमाता प्रवर्तमानः कचन सवादादिदं प्रमा-

द्यापेक्षयाऽत्रोक्तमतिव्युत्पन्नम् । अतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु धूमोऽत्र दृश्यते इत्यादि हेतुवचनमात्रात्मकमपि तद्वति । बाहुल्येन तत्प्रयोगाभावात् तु नैतत्साक्षात्सूत्रे सूत्रितम्, उपलक्षितं तु द्रष्टव्यम्, मन्दमतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु दृष्टान्तादिवचनात्मकमपि तद्वति । यद्वद्वन्ति—“ मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानि ” इति । पक्षहेतुवचनस्य च जडरूपतया मुख्यतः प्रामाण्यायोगे सत्युपचारादित्युक्तम्, कारणे कार्योपचारादित्यर्थः । प्रतिपाद्यगतं हि यत् ज्ञानं तस्य कारणं पक्षादिवचनम्, कार्यं कारणोपचाराद्वा । प्रतिपाद्यगतं हि यत्स्वार्थानुमानं तस्य कार्यं तद्वचनमिति ॥ २३ ॥

सप्रति व्याप्तिपुरस्सरं पक्षधर्मतोपसंहारं तत्पूर्विका वा व्याप्तिमात्राणां भिन्नपक्षप्रयोगमङ्गीकारयितुमाहुः—

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसंबन्धिताप्रसिद्धये हेतोरूपसं-
हारवचनवत्पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २४ ॥

यथा यत्र धूमस्तत्र धूमध्वज इति हेतोः सामान्येनाऽधारप्रतिपत्तावपि, पर्वतादिविशिष्टधर्मधर्मताऽधिगतये धूमश्चात्रेत्येवरूपमुपसंहारवचनमवश्यमाश्रयिते सौगतैः । तथा साध्यधर्मस्य नियतधर्मधर्मतासिद्धये पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्य इति ॥ २४ ॥

अमुमेवार्थं सोपालम्भं समर्थयन्ते—

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः

कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥ २५ ॥

त्रिविधं कार्यस्वभावानुपलम्भभेदात् । तस्य साधनस्य समर्थनमसिद्धतादिव्युदासनेन स्वसाध्यसाधनसामर्थ्योपदर्शनम् । नह्यसमर्थितो हेतुः साध्यसिद्धाङ्गम्, अतिप्रसङ्गात् । तत् पक्षप्रयोगमनङ्गीकुर्वता तत्समर्थनरूपं हेतुमनभिधायैव तत्समर्थनविधेयम्—“ हन्त हेतुरिह जल्प्यते न चे-दस्तु कुत्र स समर्थनाविधिः ? । तर्हि पक्ष इह जल्प्यते न चे-दस्तु कुत्र स समर्थनाविधिः ? ॥ १ ॥ प्राप्यते ननु विवादतः स्फुटं, पक्ष एव किमनस्तदाख्यया । तर्हि हेतुरपि लभ्यते ततोऽनुक्त एव तदसौ समर्थताम् ॥ २ ॥ मन्दमतिप्रतिपत्तिनिमित्तं, सौगतं । हेतुमथाभिधीयात् । मन्दमतिप्रतिपत्तिनिमित्तं, तर्हि न किं परिजल्पसि पक्षम् ? ॥ ३ ॥ ” ॥ २५ ॥ रत्ना० ३ परि० । तच्चानुमानत्रिविधम्—पूर्ववत्, शेषवत्, अदृष्टसाध्यवच्छेति—

से किं तं पुञ्चवं ? । पुञ्चवं—माया पुञ्चं जहा नष्टं, जुवाणं पुणरागय । काई पञ्चाजिजाणेज्जा, पुञ्चविगेण केणइ ॥ १ ॥ तं जहा—खत्तेण वा वणेण वा झंझणेण वा भसेण वा तिझणं वा, सेत्त पुञ्चवं ॥

विशिष्टं पूर्वोपलब्धं चिह्नमिह पूर्वमुच्यते, तदेव निमित्तरूपतया यस्यास्ति तत्पूर्ववत्, तद्वद्वारेण गमकमनुमानं पूर्ववद्विति भावः । तथा चाह—‘मायापुञ्च’ इत्यादिश्लोकः । यथा माता स्वकीयं पुत्रं बाल्यावस्थायां नष्टं युवानं सन्तं कालान्तरेण पुनः कथमप्यागतं काचित्पुत्राविधस्मृतिपाटववती न सर्वा पूर्वदृष्टेन लिङ्गेन केनचित् क्षतादिना प्रत्यभिजानीयाद्, मत्पुत्रोऽयमिति अनुमिनुरादित्यर्थः । केन पुनर्लिङ्गेनेत्याह—(खत्तेण वेत्यादि) । खदेहोद्भवमेव कृतम्, आगन्तुकस्तु-इवर्द्धप्रादिक्षुनो व्रणः, लाञ्छनमक्षतिलकास्तु प्रतीता । तद्यमत्र प्रयोगः—

मत्पुत्रोऽयम्, अनन्यसाधारणकृतादिलक्षणाविशिष्टलिङ्गोपलब्धे, इति साध्यमर्थवैधर्म्यदृष्टान्तयोः सत्त्वेन राभावादयमहेतुरिति चेत् । नैवम् । हेतोः परमार्थनैकलक्षणत्वात्तद्वेनैव गमकत्वोपलब्धे । उक्तं च न्यायवादिना पुरुषचन्द्रेण—अन्यथाऽनुपपन्नत्वमात्रं हेतोः स्वव्यकरणम्, सत्त्वाऽसत्त्वे हि तदधर्मौ । दृष्टान्तद्वयव्यकरणे । न च धर्मिसत्तायां धर्माः सर्वेऽपि सर्वदा भवन्त्येव, पटादेः शुक्लत्वादधर्मैर्व्यभिचारात् । ततो दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वधर्मो यद्यपि कचिद् हेतौ न दृश्यते तथापि धर्मिस्वरूपमन्यथाऽनुपपन्नमविष्यतीति न काश्चिद्विरोध इति भावः । यत्राऽपि धूमादौ दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्व हेतोर्दृश्यते, तत्रापि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वस्यैव प्राधान्यात्, तस्यैवैकस्य हेतुव्यवहृताऽवसेया । तथा चाह—“ धूमादेर्यद्यपि स्यातां, सत्त्वाऽसत्त्वे च लक्षणे । अन्यथाऽनुपपन्नत्व-प्राधान्यात्तद्वैकता ” ॥ १ ॥ किं च—यदि दृष्टान्ते सत्त्वाऽसत्त्वदर्शनाहेतुर्गमक इष्यते, तदा होहलेख्यं वज्रं, पार्थिवत्वात्काष्ठादिवदित्यादेरपि गमकत्वं स्यात् । अभ्यधायि च—“ दृष्टान्ते सदसत्त्वान्यां, हेतुः सम्यग्यदीप्यते । लोहलेख्यं प्रवेद्वज्रं, पार्थिवत्वाद् दूमादिवत् ” ॥ २ ॥ इति । यदि च पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविगताऽसत्त्वव्यवहृता हेतांस्त्रैरूप्यमन्युपगम्याप्यथोक्तदोषप्रज्ञात्साध्येन सहान्यथाऽनुपपन्नत्वमन्वेषणीयं, तर्हि तदेवैकं लक्षणतया वक्तुमुचितम्, किं रूपत्रयेणेति । आह च—“ अन्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? । नाऽन्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥ १ ॥ ” इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते प्रत्यगहननाप्रसङ्गात्, अन्यत्र यत्नेनोक्तवाचेति । आह—प्रत्यक्विषयत्वादेवात्रानुमानप्रवृत्तिरयुक्ता । नैवम् । पुरुषपि एवमात्रप्रत्यक्तायामपि मत्पुत्रो न वेति ? सदेहाद् युक्त एवानुमानोपन्यास इति कृतं प्रसङ्गेन ।

से किं तं सेसवं ? । सेसवं पञ्चविहं पणत्त । तं जहा—कज्जेण कारणेण गुणेण अवयवेण आसएणं ॥

‘से किं तं सेसवमित्यादि’ पुरुषार्थोपयोगिनः परिजिज्ञासितात् तुरगादेरर्थादन्यो हेतितादिरर्थः शेष इहोच्यते । स गमकत्वेन यस्याऽस्ति तच्छेषवदनुमानम् ।

तच्च पञ्चविधम्, तद्यथा—

से किं तं कज्जेण ? । कज्जेण संखे सदेण जेरिं ताडिएणं वसजं ढक्किएणं मोरं किंकाडएणं हयं होसिएणं गयं गुग्गुलाएणं रहं घणघणाइएणं, सेत्त कज्जेण ॥

(कज्जेणेत्यादि) तत्र कार्येणाऽनुमानम् । यथा इयमद्वं हेषितेन, अनुमिनुने इत्यध्याहारः । हेषितस्य तत्कार्यत्वात्, तदाऽऽकर्ण्य हयोऽनेति या प्रतीतिरुत्पद्यते तदिह कार्येण कार्यकारणोत्पन्नं शेषवदनुमानमुच्यते इति भावः । क्वचित्तु प्रथमतः साहचर्येनेत्यादि दृश्यते, तत्रोक्तानुसारतः सर्वोदाहरणेषु भावना कार्या ॥

से किं तं कारणेण ? । कारणेण तंतवो पमस्स कारणं, ण पमो तंतुकारणं, वीरणा कमस्स कारणं, ण कमो वीरणाकारणं, मिप्पिमो घमस्स कारणं, ण घमो मिप्पिमकारणं, सेत्त कारणेण ॥

(से किं तं कारणेणमित्यादि) इह कारणेन कार्यमनुमीयते । यथा विशिष्टमेघोन्नतिदर्शनात् काश्चित् वृष्ट्यनुमानं करोति । यदाह—“ रोम्बगवल्ल्याल-तमालमलिनवित्प । वृष्टि

व्यभिचरन्तीह नैव प्रायाः पयोमुचः” ॥ १ ॥ इति । एव चन्द्रो-
दयाञ्जलधेर्वृद्धिरनुमीयते, कुमुदविकासश्च । मित्रोदयाञ्जलरुह-
प्रबोधः, धूमसदमोक्तश्च । तथाविधवर्णणात्सस्यनिष्पत्तिः, क-
बीबलमन-प्रमोदश्चेत्यादि । तदेव कारणमेवेहानुमापक साध्य-
स्य नाकारणम् । तत्र कार्यकारणभाव एव केषांचिद्विप्रतिपत्तिं
पश्यैस्तमेव तावन्नियत दर्शयन्नाह-तन्तवः पटस्य कारणम् न तु
पटस्तन्तूनां कारणम् । पूर्वमनुपलब्धस्य तस्यैव तद्भावे उपल-
म्भात् । इतरेषां तु पटभावेऽप्युपलम्भात् । अत्राह-ननु यदा
कश्चिन्नपुणः पटजावेन सयुक्तानपि तन्तून् क्रमेण वियोजयति,
तदा पटोऽपि तन्तूनां कारणं ज्ञवत्येव । नैवम् । सत्त्वेनोपयोगाभा-
वात् । यदेव हि बन्धसत्ताक सत् स्वस्थितिभावेन कार्यमुपकुरुते
तदेव तस्य कारणत्वेनोपदिश्यते । यथा मृत्पिण्डो घटस्य । ये तु
तन्तुवियोगिनोऽभावीजवता पटेन तन्तवः समुत्पद्यन्ते, तेषां कथं
पटः कारणं निर्दिश्यते, न हि ज्वराऽजावेन भवत आरोगिता-
सुखस्य ज्वरः कारणमिति शक्यते वक्तुम् । यथैव पटेऽप्युत्पद्य-
माने तन्तवोऽजावीजवन्तीति तेऽपि तत्कारणं न स्थिरिति चेत् ।
नैवम् । तन्तुपरिणामरूप एव हि पटः, यदि च तन्तवः सर्वथाऽ
भावीजवेयुस्तथा मृद्भावे घटस्यैव पटस्य सर्वधैवोपलब्धिर्न
स्यात्, तस्मात्पटकालेऽपि तन्तवः सन्तीति सत्त्वेनोपयोगात्
ते पटस्य कारणमुच्यन्ते । पटवियोजनकाले त्वेकैकतन्तववस्थायां
पटो नोपपद्यते । अतस्तत्र सत्त्वेनोपयोगाभावाच्चासौ तेषां का-
रणम् । एव वीरणकटादिष्वपि भावना कार्या । तदेव यद्यस्य
कार्यस्य कारणत्वेन निश्चितं तत्तस्य यथासम्भवं गमकत्वेन
वक्तव्यमिति ।

से किं तं गुणेणं ? । गुणेणं-सुवर्णं निकसेणं, पुष्पं गंधेण, ल-
वणं रसेणं, मङ्गरं आसायणं, वत्थं फासेण, सेतं गुणेणं ॥

(से किं तं गुणेणमित्यादि) निकषः कपपट्टगता कथितसुव-
र्णरेखा, तेन सुवर्णमनुमीयते । यथा पञ्चदशादिवर्णकोपेतमिदं
सुवर्णं, तथाविधनिकषोपलम्भात्, पूर्वोपलब्धोऽन्यसमतसुवर्णव-
त् । एव शतपत्रिकादिपुष्पमत्र, तथाविधगन्धोपलम्भात्, पूर्वो-
पलब्धवस्तुवत् । एववक्त्रेण मदिरावस्त्रादयोऽनेकज्येदसभवतो-
ऽनियतस्वरूपा अपि प्रतिनियततथाविधरसास्वादस्पर्शादिगु-
णोपलब्धे, इति नियतस्वरूपा साधयितव्या ।

से किं तं अवयवेणं ? । अवयवेणं-महिसं सिंगेणं, कुकुमं
सिहाणं, हृत्थि विसाणेणं, वाराहं दाढाण, मोरं पिच्छे-
णं, आसं खुरेणं, वग्धं नहेणं, चवरिं बाह्यगेणं, कु-
पयं मणुस्सादि, चउप्पय गवमादि, बहुपयं गोमिआमादि,
सीहं केसरेणं, वसहं कुक्कुहेणं, महिला वलयवाहाण । परि-
अरवधेण भर्तं, जाणिज्जा महिद्धिअं निवमणेणं । सित्थेण-
दोणपागं, कविं च एक्काए गाहाण ॥१॥ सेतं अवयवेणं ॥

(से किं तं अवयवेणमित्यादि) अवयवदर्शनेनावयवी अ-
नुमीयते । यथा महिषोऽत्र, तदधिनाभूतशृङ्गोपलब्धेः, पूर्वोप-
लब्धोऽन्यसमतप्रदेशवत् । अथ च प्रयोगो वृत्तिवरणकाद्य-
न्तरितत्वादप्रत्यक्ष एवावयविनि रूढस्य, तत्प्रत्यक्षतायामध्य-
क्षत एव तत्सिद्धे, अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । एव शेषां दाह-
रणान्यपि भावनीयानि, नवर द्विपद मनुष्यादीत्यादि । मनुष्यो-
ऽयम्, तदधिनाभूतपदद्वयोपलम्भात्, पूर्वदृष्टमनुष्यवत् । एवं

चतुष्पदबहुपदेष्वपि गोम्ही, कर्णशृगाली । “परियरवधे
भट्ट” इत्यादिगाथा पूर्वं व्याख्यातैव । तदनुसारेण भावा-
र्थोऽप्युक्त इति ।

मे किं तं आसणं ? । आसणं-अग्निं धूमेणं, सन्निहं
वज्रागेणं, बुद्धिं अम्भविकारेणं, कुक्षपुचं सीलमायारेणं,
सेतं आसणं, सेतं सेसवं ॥

(से किं तं आसणमित्यादि) आश्रयतीत्याश्रयो धूमबला-
कादिस्तत्र धूमादन्यनुमानं प्रतीतमेव । आकारेकतादिभि-
श्चाप्यनुमानं भवति । तथा चोक्तम्-“आकारैरिदं तैर्गता, चे
ष्टया भाषणेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च, लस्यतेऽन्तर्गतमनः” ॥१॥
अत्राह-ननु धूमस्याभिकार्यत्वात् पूर्वोक्तकार्यानुमान एव गत-
त्वात्किमिहोपन्यासः ? । सत्यम् । किन्त्वग्न्याश्रयत्वेनापि लोके
तस्य रुढत्वाद्वाप्युपन्यासः कृत इत्यदोषः । तदेतद् दृष्टव-
दनुमानम् ।

से किं तं दिट्साहम्मवं ? । दिट्साहम्मवं दुविहं पञ्चत्तं ।
तं जहा-सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च ॥

[से किं तं दिट्साहम्मवमित्यादि] दृष्टेन पूर्वोपलब्धेनार्थेन
सह साधर्म्यं दृष्टसाधर्म्यम्, तद्गमकत्वेन विद्यते यत्र तद् दृष्टसा-
धर्म्यवत् । पूर्वदृष्टार्थः, कश्चित्सामान्यतः कश्चित् विशेषतो
दृष्टः स्यादतस्तद्देदादिद्विविधम्-सामान्यतो दृष्टार्थयोगात्सा-
मान्यदृष्टम्, विशेषतो दृष्टार्थयोगाद्विशेषदृष्टम् ॥

से किं तं सामणणदिट्ठं ? । सामन्नदिट्ठं-जहा एगो पुरिसो
तहा बहवे पुरिसा, जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो,
जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा, जहा बहवे
करिसावणा तहा एगो करिसावणो, सेतं सामणणदिट्ठं ॥

[से किं तं सामन्नदिट्ठमित्यादि] तत्र सामान्यदृष्टं यथा
एकः पुरुषस्तथा बहवः पुरुषा इत्यादि । इदमुक्तं भवति-ना-
लिकेरद्धीपादायातः कश्चित् तत्प्रथमतया सामान्यत एक कश्चि-
न पुरुष दृष्ट्वाऽनुमानं करोति । यथा-अयमेकः परिदृश्यमानः
पुरुष एतदाकारविशिष्टस्तथा बहवोऽत्रापरिदृश्यमाना अपि
पुरुषा एतदाकारसम्पन्ना एव, पुरुषत्वाविशेषात्, अन्याकारत्वे
पुरुषत्वहानिप्रसङ्गाद्, गवादिवत् । बहुषु तु पुरुषेषु तत्प्रथमतो
वीक्षितेष्वेवमनुमिनोति-यथाऽमी परिदृश्यमाना पुरुषा एत-
दाकारवन्तस्तथाऽपरोऽप्येकः कश्चित्पुरुषः एतदाकारवानेव,
पुरुषत्वाद्, अपराकारत्वे तद्वानिप्रसङ्गाद्, अश्वादिवत् । इत्येवं
कार्षापणादिष्वपि वाच्यम् ।

विशेषतो दृष्टमाह-

से किं तं विसेसदिट्ठं ? । विसेसदिट्ठं से जहा एगो के
पुरसे, बहूणं पुरिसाण मज्जे पुच्चादिट्ठं पञ्चजिजाणेज्जा-
अयं से पुरिसे बहूणं करिसावणाणं मज्जे पुच्चादिट्ठं करि-
सावणं पञ्चभिजाणिज्जा-अयं से करिसावणे ॥

(से जहा नाम इत्यादि) अत्र पुरुषा सामान्येन प्रतीता एव के
वत्त यदा कश्चित् कश्चित् कश्चित् पुरुषविशेष दृष्ट्वा तद्दर्शनादि-
तसस्कारोऽसंज्ञाततत्प्रमेयः समयान्तरे बहुपुरुषसमाजमध्ये त-
मेव पुरुषविशेषमासीनमुपलभ्यानुमानयति-यः पूर्वमयोपलब्ध-
स एवायं पुरुषः, तथैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद्, उभयान्वितपु-

रूपवत् । ज्ञेयतत् तदा विशेषदृष्टमनुमानमुच्यते, पुरुषविशेषवि-
षयत्वात् । एव कार्यापणादिविषयि वाच्यम् ।

तदेवमनुमानस्य त्रिविध्यमुपदर्श्य सांप्रत तस्यैव कालत्रय-
विषयता दर्शयामाह—

तस्स समासत्रो तिविहं गृहणं नवइ । तं जहा—अतीय-
कालगृहणं, पमुप्पसुकाद्वगृहणं, अणागयकालगृहणं ॥

(तस्मेति) सामान्येनानुवर्तमानमनुमानमात्रं सवच्यते, तस्या-
नुमानस्य त्रिविधं ग्रहणं भवति । तद्यथा—अतीतकालविषयग्र-
हणं ग्राह्यस्य वस्तुन परिच्छेदोऽतीतकालग्रहणम् । प्रत्युत्पन्नो व-
र्तमानः कालस्तद्विषयं ग्रहणं प्रत्युत्पन्नकालग्रहणम् । अनागतो
भविष्यत्कालस्तद्विषयग्रहणमनागतकालग्रहणम् । कालत्रयव-
र्तिनोऽपि विषयस्यानुमानात्परिच्छेदो नवतीत्यर्थः ।

से किं तं अतीयकालगृहणं ? अतीयकालगृहणं उत्त-
राणि वणाणि निष्पणं सव्वं वा मेइणिं पुष्पाणि अ कुं-
भसरणइदीहिआतडागाई पासित्ता तेण साहिज्जइ, जहा
सुबुद्धी आसी, मेत्तं अतीयकालगृहणं ॥

तत्र (उत्तिणाइ ति) उक्तानि तृणानि येषु वनेषु तानि तथा ।
अत्र प्रयोग—सुवृष्टिरिहाऽऽसीइ, तृणवननिष्पन्नसस्यपृ-
थ्वीतत्रजलपरिपूर्णकुण्डादिजलाशयप्रभृतितत्कार्यदर्शनाद्, अ-
ग्निमतदेशवन्, इत्यतीतस्य वृष्टिजनकविषयस्य परिच्छेदः ।

से किं तं पमुप्पसुकाद्वगृहणं ? पमुप्पसुकाद्वगृहणं सा-
हूगोअरगगय विच्छरियपन्नरभत्तपाण पामित्ता, तेण सा-
हिज्जइ, जहा सुभिक्षे वट्टइ । सेत्तं पमुप्पसुकाद्वगृहणं ॥

साधु च गोचराग्रगत भिक्षाप्रविष्ट विशेषेण उर्द्धितानि गृह-
स्थैर्दत्तानि प्रचुरभक्तपानानि यस्य स तथा त तादृशं दृष्ट्वा क-
श्चित् साधयति । सुभिक्षमिदं वर्तते, साधूनां तदेतुकप्रचुरभ-
क्तपानलाभदर्शनात्, पूर्वदृष्टप्रदेशवदिति ।

से किं तं अणागयकालगृहणं ? अणागयकालगृहणम्-अ-
ग्नास्स निम्मवत्त, कसिणाय गिरी सविज्जुआमेहा । याणि-
अ वाज्जामो, सभारत्ता पणिछा य ॥ १ ॥ वारुणं वा
महिंइ वा अण्णयर वा पसत्तं उप्पायं पासित्ता तेण साहि-
ज्जइ, जहा सुबुद्धी भविससइ । सेत्तं अणागयकालगृहणं ॥

(अग्नास्स निम्मवत्त ति) गाथा सुगमा, नवर स्तनित मेघ-
गर्जितं (वाज्जामो ति) तथाविधो दृष्टव्यभिचारी प्रद-
क्षिण दिक्षु भ्रमन् प्रशस्तो धानं (वारुणं ति) आर्द्धामृतादिन-
क्षप्रभव माहेन्द्रोद्दिष्टादिनक्षत्रसम्भवसः । अन्यतरमु-
त्पातमुल्कापातदिग्दाहादिक प्रशस्तं वृष्ट्यव्यभिचारिणं दृष्ट्वा अनु-
मीयते—यथा—सुवृष्टिरत्र भविष्यति, तदव्यभिचारिणामनुनिर्म-
लत्वादीनां समुदितानामन्यतरस्य वा दर्शनाद्, यथाऽन्यव-
दिति । विशिष्टा ह्यत्र निर्मलत्वादयो वृष्टिं न व्यभिचरन्त्यन
प्रतिपत्तैव तत्र निपुणेन भाव्यमिति ।

एएसि चैव विवज्जामे तिविहं गृहणं नवइ । तं जहा अती-
यकालगृहणं, पमुप्पसुकाद्वगृहणं, अणागयकालगृहणं ।
से किं तं अतीयकालगृहणं ? अतीयकालगृहणं निष्पणाऽ

अनिष्पणं वा सव्वं वा मेइणीसुकाणि अ कुंडमरनइदीहिआ-
तडागाई पामित्ता तेण साहिज्जइ, जहा सुबुद्धी आसी । सेत्तं
अतीयकालगृहणं । से किं तं पमुप्पसुकाद्वगृहणं ? पमुप्प-
सुकाद्वगृहणं साहूगोअरगगय निक्खं अन्नभमाणं पासित्ता
तेण साहिज्जइ, जहा सुभिक्षे वट्टइ । सेत्तं पमुप्पसुकाद्वगृ-
हणं । से किं तं अणागयकालगृहणं ? अणागयकालगृ-
हणम्—धूमायंति दिसाओ, सविअमेइणीअपरिवद्धा । वा-
या नेरइआ खल्लु, कुवुद्धिमेवं निवेयति ॥ १ ॥ अगंय
वा वायव्वं वा अण्णयर वा अपसत्तं उप्पायं पासित्ता तेण
साहिज्जइ, जहा सुबुद्धी भविस्सइ । सेत्तं अणागयकालगृह-
णं, सेत्तं विसेसदिट्ठ, सेत्तं तिट्ठसाहम्मव, सेत्तमाणुमाणे ।

(एएसि चैव विवज्जामे इत्यादि) एतेषामेवोत्पन्नवनादीनाम-
तीतवृष्ट्यादिनाधक्येनोपन्यस्तानां हेतूनां व्यत्यासे व्यत्यये सा-
ध्यस्यापि व्यत्यय साधयितव्यः । यथा कुवृष्टिरिहासीन्नितृणवन-
दिदर्शनादित्यादिव्यत्यय मृत्रमिच्छ । नवरम्—अनागतकाल-
ग्रहणं माहेन्द्रवारुणपरिहारेणाग्नेयवायव्योन्पाता उपन्यस्ता, ते-
षां वृष्टिविधातरुत्वात्, इतरेषां सुवृष्टिहेतुत्वादिति । ' सत्तं वि-
सेसदिट्ठ, मेत्तं तिट्ठसाहम्मव ' इत्येवमिदमनन्तरं दृष्ट्वा धर्म्यस-
ङ्गानुमानगतभेदत्रयस्य समर्थनानन्तरं युज्यते । यद्वि नृ सव्वं-
वाचनास्वत्रैव स्थाने दृश्यते तदा दृष्टमाधर्म्यवतोऽपि सम-
स्यानुमानमविशेषवान् कालत्रयविषयतां योजनार्थैव । अनस्ता-
मप्यभिधाय ततो निगमनद्वयमिदमकाराति प्रतिपत्तव्यम् । तदे-
तदनुमानमिति । अनु० ।

तच्च क्वचित्पञ्चावयवेन वाक्येन, क्वचिद्वाऽवयवेन वाक्येन
परं प्रति दर्शयते—तत्र पञ्चावयवा—“प्रतिष्ठाहन्ताहरणापन-
यनिगमनानि” । अत्र च—‘यस्मा मगलमुक्तिं अहिंसा सज्जमा
तत्रो । देवा वि त णममनि, जस्स धम्मो सया मणो ’ ॥१॥
इति इत्यमरमधिकृत्य निदर्शयते—

कत्थं पचावयव. दसहा या सव्वं न पमिसिद्धं ।

न य पुणं मव्वं लन्नइ, हदी मवियारमक्खाय ॥ ५१ ॥

धोनाग्मेवाह्नीकृत्य क्वचित्पञ्चावयव, इत्यादि चेति—क्वचिह-
शाक्यवचम् । सर्वथा गुणश्रोत्रपक्ष्या न प्रतिषिद्धमुदाहरणाद्यभि-
धानमिति वाक्यशेषः । यद्यपि च न प्रतिषिद्धं तथाऽप्यभिज्ञेय-
णैव च न पुन सर्वं गगयते उदाहरणादि । किमन्यत आह-
(हदी मवियारमक्खाय ति) इदं त्वुपप्रदर्शने । किमुपदर्शय-
ति ? यस्मादिहान्यत्र शास्त्रान्तरे सविचार मप्रतिपक्षमाख्यात-
म्, साकल्येन उदाहरणाद्यभिधानमिति गगयते । पञ्चावयवाश्च
प्रतिज्ञादयः । यथोक्तम्—‘प्रतिज्ञादेतदाहरणोपनयनिगमना दय-
यवा ।’ इति पुन प्रतिज्ञाविभक्त्यादयः । यद्यपि च—‘ने उ
पक्षययिमत । हेतुं वसत्तं ।’ इत्यादिप्रयोगाद्वैतैवा लाघवा-
द्यभिदैव स्वस्थाने दर्शयिष्याम इति गार्थात् । इत्यु० १ अ० ।

इत्यावयवा पुनारि-भय-

प्रतिज्ञा : विवज्जि २ हेतु ३ विवज्जि ४ विवज्जि ५ प्रतिज्ञेय-
६ दृष्टान्त ७ आगच्छा ८ न-प्रतिज्ञेय ९ निगमनम् १० । इति च
इत्यावयवा प्रतिज्ञादेवद्विरुद्धिना भवति । अयययय च

तच्छुद्धीनामधिकृतवाक्यार्थोपकारकत्वेन प्रतिज्ञादीनामिव भा-
वनीयमित्यत्र बहु वक्तव्य, तच्च नोच्यते, गमनिकामाश्रितत्वात्-
रञ्जस्येति । दश० १ अ० । (प्रतिज्ञादीनां स्वरूपं सोदाहरण
स्वस्वस्थाने दृश्यम्)

इदानीं श्रूयोऽपि भङ्गयन्तराजा दशावयवेनैव वाक्येन
सर्वमध्ययन व्याचष्टे निर्युक्तिकारः—

ते उ पञ्चविभक्ती, हेउविभक्ती विवक्ख पम्सिसेहो ।

दिट्ठतो आसंका, तप्पडिसेहो निगमणं च ॥ ४२ ॥

(त इति) अवयवाः । तु पुनःशब्दार्थः । ते पुनरमी प्रतिज्ञादयः ।
तत्र प्रतिज्ञान प्रतिज्ञा, वक्ष्यमाणस्वरूपेत्येकोऽवयवः । तथा
विभजन विभक्तिः, तस्या एव विषयविभागकथनमिति द्वितीयः ।
तथा द्वितीया गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुस्त्व-
तीयः । तथा विभजन विभक्तिरिति पूर्ववच्चतुर्थकः । तथा विसद-
शः पक्षो विपक्ष, साध्यादिविपर्यय इति पञ्चमः । तथा प्रतिषेधन
प्रतिषेध, विपक्षस्येति गम्यत इत्ययं षष्ठः । तथा दृष्टमर्थमन्त
नयतीति दृष्टान्त इति सप्तमः । तथा आशङ्कनमाशङ्का, प्रक्रमाद्
दृष्टान्तस्यैव इत्यष्टमः । तथा तत्प्रतिषेधः अधिकृताशङ्काप्रति-
षेध इति नवमः । तथा निश्चिन गमन निगमनम्, निश्चितोऽव-
साय इति दशमः । चशब्द उक्तसमुच्चयार्थ इति गाथासमासा-
र्थः । व्यासार्थं तु प्रत्ययवर्धं वक्ष्यति ग्रन्थकार एव ॥ १४२ ॥

तथा चाह—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं—ति पड्ना अत्तवयणनिदेसो ।

सो य इहेव जिणमण, नऽन्नत्य पङ्क पविज्जत्ती ॥ १४३ ॥

धर्मो मङ्गलमुक्तमिति पूर्ववदिय प्रतिज्ञा । आह—केय प्रतिज्ञे-
त्युच्यते १, आसवचननिर्देश इति । तत्रास अप्रतारक । अप्रतार-
क आशेषरागादिक्रियाज्जवतीति । उक्तं च—“आगमो आसवच-
न-मास दोषकयाद्विडु । वीतरागोऽनृत वाक्ये, न ग्रन्थकेत्वस-
नवात्” ॥ १ ॥ तस्य वचनमासवचनम्, तस्य निर्देश आसवचननि-
र्देश । आह—‘अयमागम’ इति । उच्यते—विप्रतिपन्नसप्रतिपत्ति-
निबन्धनत्वैवैष एव प्रतिज्ञेति नैष दोषः । पाठान्तरं वा—‘साध्यव-
चननिर्देश, इति । साध्यत इति साध्यम्, उच्यते इति वचनमर्थः
यस्मात्स एवोच्यते । साध्य च तद्वचनं च साध्यवचनम्, साध्या-
र्थ इत्यर्थः । तस्य निर्देशः प्रतिज्ञेत्युक्तं प्रथमोऽवयवः । अधुना
द्वितीय उच्यते—स चाधिकृतो धर्मः किमिहैव जिनशासने अ-
स्मिन्नेव मौनीन्द्रे प्रवचने नान्यत्र कपिलादिमतेषु ? । तथाहि-
प्रत्यक्त एवोपलभ्यन्ते वस्त्राद्यपूनप्रभूतोदकाद्युपजोगेपु परिवा-
त्प्रभृतयः प्राण्युपमर्द्धं कुर्वाणा, ततश्च कुतस्तेषु धर्मः १, इ-
त्याद्यत्र बहु वक्तव्यम्, तच्च नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयान्नावि-
तत्वाच्चेति । प्रतिज्ञा प्रविभक्तिरियम्—प्रतिज्ञाविषयविभाग-
कथनेति गाथार्थः । उक्तो द्वितीयोऽवयवः ॥ १४३ ॥

अधुना तृतीय उच्यते । तत्र—

सुरपूओ चि हेऊ, धम्मट्ठाणे ठिया उ जं परमे ।

हेउविजत्ती निरुवहि—जिवाण अवहेण य जियंति ॥ १४४ ॥

सुरा देवास्तैः पूजितः सुरपूजितः । सुरग्रहणमिन्द्राद्युपलक्ष-
णम् । इति शब्द उपदर्शने । कोऽयम् १, हेतुः । पूर्ववद् हेत्वर्थसू-
चक चेद वाक्यम् । हेतुस्तु सुरेन्द्रादिपूजितत्वादिति द्रष्टव्यः ।
अस्यैव सिद्धतां दर्शयति—धर्मः पूर्ववद् । तिष्ठत्यास्मिन्निति स्था-
नं, धर्मश्वासौ स्थानं च धर्मस्थानम्, स्थानमालयः, तस्मिन्

स्थिता । तुरयमेवकारार्थः, स चावधारणे, अयं चोपरिष्टात क्रिये
या सह योदयते । यद् अस्मात्, किंभूते धर्मस्थाने, परमे प्रधाने,
किम् १, सुरादिभिः पूज्यन्ते एवेति वाक्यशेषः । इति तृतीयोऽव-
यवः । अधुना चतुर्थ उच्यते—हेतुविभक्तिरियं हेतुविषयविभाग-
कथनम् । अथ क एते धर्मस्थाने स्थिता इत्यत्राह—निरुपधम्
उपधिद्वयमाया इत्यनर्थान्तरम् । अयं च क्रोधाद्युपलक्षणम् ।
ततश्च निर्गता उपध्यादय सर्व एव कषाया येभ्यस्ते निरुपध-
यो निष्कषाया, जीवानां पृथिवीकायिकादीनामवधेनापीडया,
चशब्दात्तपश्चरणादिना च हेतुभूतेन जीवन्ति प्राणान् धार-
यन्ति ये त एव धर्मस्थाने स्थिता नान्य इति गाथार्थः ॥ १४४ ॥

उक्तश्चतुर्थोऽवयवः । अधुना पञ्चममभिधिसुराह—

जिणवयणपदुट्ठे वि ड्ढ, ससुराईए अधम्मरुड्ढो वि ।

मंगलबुद्धीइ जणो, पणमइ आइहुयविवक्खो ॥ १४५ ॥

इह विपक्षः पञ्चम इत्युक्तम् । स चायम्—प्रतिज्ञाविभक्त्योरिति ।
जिनास्तीर्थकरास्तेषां वचनमागमलक्षणं तस्मिन् प्रदिष्टा अ-
प्रीता इति समासः, तान् । अपिशब्दादप्रदिष्टानपि । इ इत्ययं
निपातोऽवधारणार्थः । अस्थानप्रयुक्तश्च स्थानं च दर्शयिष्वा-
मः । श्वशुरादीन् । श्वशुरो लोकप्रासिद्ध—आदिशब्दादिप्रावि-
परिग्रहः । न विद्यते धर्मे रुचिर्यथा ते अधर्मरुचयस्तात् । अपि
शब्दादधर्मरुचिर्नपि । किम् १, मङ्गलबुद्ध्या मङ्गलप्रधानया धि-
या । मङ्गलबुद्ध्यैव नामङ्गलबुद्ध्येत्येवकारोऽवधारणार्थः । किम्
जनो लोकः । प्रकर्षेण नमति प्रणमति । आद्यद्वयविपक्ष इति ।
अत्राद्यद्वयं प्रतिज्ञा नच्छुद्धिश्च । तस्य विपक्षः साध्यादेर्विपर्यय
इत्याद्यद्वयविपक्षः । तत्राधर्मरुचिर्नपि मङ्गलबुद्ध्या जनः प्रणम-
तीत्यनेन प्रतिज्ञाविपक्षमाह—नेयामधर्माव्यतिरेकाद्, जिनव-
चनप्रदिष्टानपीत्यनेन तु तच्छुद्धेस्तत्राऽपि हेतुप्रयोगप्रवृत्त्या
धर्मसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ १४५ ॥

विश्यद्वयस्स विवक्खो, सुरेहिं पुज्जंति जणणजार्ई वि ।

बुद्धाई वि सुरनया, वुच्चते णायपमिवक्खो ॥ १४६ ॥

द्वयोः पूरणं द्वितीयम्, द्वितीयं च तद्वयं च द्वितीयद्वयम् हेतुस्त-
च्छुद्धिः, इदं च प्रागुक्तद्वयोपेक्षया द्वितीयमुच्यते । तस्यार्थं विप-
क्ष इह सुरे पूज्यन्ते यक्षयाजिनोऽपि । इयमत्र भावना—यक्ष-
याजिनो हि मङ्गलरूपान् भवन्ति, अथ च सुरे पूज्यन्ते, ततश्च
सुरपूजितत्वमकारणमित्येष हेतुविपक्षः । तथा—अजितेन्द्रिया
सोपधयश्च यतस्ते वर्तन्ते, अतोऽनेनैव ग्रन्थेन धर्मस्थाने रिध-
ता परम इत्यादिकाया हेतुविभक्तेरपि विपक्ष उक्तो वेदितव्य-
इति । उदाहरणे विपक्षमाधिकृत्याह—बुद्धादयोऽप्यादिशब्दात् का-
पिलादिपरिग्रहः । ते किम् १, सुरनता देवपूजिता उच्यन्ते प्राणयते,
तच्चासनप्रतिपक्षीरिति ज्ञातप्रतिपक्ष इति गाथार्थः । आह—ननु
छान्तमुपरिष्टाद्व्यत्येव ततश्च तत्स्वरूपे उक्ते च तत्रैव विपक्ष-
स्तत्प्रतिषेधश्च वक्तुं युक्तः, तत् किमर्थमिह विपक्षस्तत्प्रतिषेध
आभिधीयते ? उच्यते—विपक्षस्याव्याधिकृत एव विपक्षद्वारेणा
घवार्थमभिधीयते, अन्यथेदमपि पृथग्द्वार स्यात् । तथैव तत्प्रति-
षेधोऽपि द्वागन्तरं प्राप्नोति, तथा च सति ग्रन्थगौरव जायते । त-
स्मात्तत्रावधार्यमत्रैवोच्यत इत्यदोषः । आह—‘दिट्ठतो आसंका, तप-
पम्सिसेहो’ इति वचनात् उत्तरत्र दृष्टान्तमभिधाय पुनराशङ्कातत्प्र-
तिषेधं च वक्तव्यम् । तदाशङ्का च तद्विपक्ष एव । तत्किमर्थमिह
पुनर्विपक्षप्रतिषेधावभिधीयते ? । उच्यते—अनन्तरपरम्परानेदं

न दृष्टान्तैर्विध्यव्यापनार्थम्, य खल्वनन्तरप्रयुक्तोऽपि परोक्तत्वादागमगम्यत्वाद्वादीन्तिकार्थसाधनायाऽल न भवति, तत्प्रसिद्धये विपक्षसिद्धौ योऽय उच्यते, स परम्परादृष्टान्तः । तथा च तीर्थकरास्तथा साधवश्च द्वावपि भिन्नावेतावुत्तरत्र दृष्टान्तावभिधास्येते । तत्र तीर्थकृद्गण दृष्टान्तमङ्गीकृत्येह विपक्षप्रतिषेधालुक्तौ । सार्धैस्त्वधिकृत्य तत्रैवाऽऽशङ्कातत्प्रतिषेधौ दर्शयिष्येते इत्यहोषः । स्यान्मत प्रागुक्तेन विधिना साधवार्थमनुक्त एव दृष्टान्तः, उच्यतां काममिदं दृष्टान्तविपक्षस्तत्प्रतिषेधश्च स एव दृष्टान्तः, किमित्युत्तरत्रोपदिश्यते, येन हेतुविभक्तेरनन्तरमिदं न चलयते ? । तथाह्यत्र दृष्टान्ते भण्यमाने प्रतिज्ञादीनामिव द्विरूपस्यापि दृष्टान्तस्याहेतुनाधुनकृणस्यैतादेव विपक्षतत्प्रतिषेधालुपपद्येते । ततश्च साधुवृत्तणस्य दृष्टान्तस्याशङ्का तत्प्रतिषेधालुत्तरत्र न पृथग्वक्तव्यौ भवत । तथा च सति ग्रन्थलाघव जायते । तथा प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः सविशुद्धिकाश्रयोऽप्यवयवाः क्रमेणोक्ता भवन्तीत्यत्रोच्यते-इहाऽभिधीयमाने दृष्टान्तस्यैव प्रतिज्ञादीनामपि प्रत्येकमाशङ्कातत्प्रतिषेधौ वक्तव्यौ स्त । तथा च सत्यवयवबहुत्वे दृष्टान्तस्य वा प्रतिज्ञादीनामिव विपक्षतत्प्रतिषेधान्यां पृथगाशङ्कातत्प्रतिषेधौ न वक्तव्यौ स्याताम् । एव सति दशावयवा न प्राप्नुवन्ति । दशावयवं चेद् वाक्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपिपादायि पितमस्याऽपि न्यायस्य प्रदर्शनार्थमत एव यदुक्त साधुलक्षण दृष्टान्तस्याशङ्कातत्प्रतिषेधालुत्तरत्र न पृथग्वक्तव्यौ स्यातामि-
त्यादि, तदपाकृत वेदितव्यमित्यलप्रसङ्गेन । एव प्रतिज्ञादीना प्रत्येक विपक्षोऽभिहित ॥१४६॥

अधुनाऽयमेव प्रतिज्ञादिविपक्ष पञ्चमोऽवयवो वर्तत इत्येतदर्थमभिदमाह—

एवं तु अवयवाण्यं, चण्डाह पमिवक्खु पचमोऽवयवो ।

एत्तो ङ्होऽवयवो, विपक्खपमिसेह त वोच्चं ॥ १४७ ॥

एवमित्ययमेवकार उपप्रदर्शने । तुरवधारणे । अयमेवाऽवयवाना प्रमाणाङ्गलक्षणानां चतुर्णां प्रतिज्ञादीना प्रतिपक्षो विपक्ष पञ्चमोऽवयव इति । आह दृष्टान्तस्याप्यत्र विपक्ष उक्त एव, तत्किमर्थं चतुर्णामित्युक्तम् ? । उच्यते । हेतो सपक्षविपक्षभ्यामनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपत्वेन दृष्टान्तधर्मत्वात्तद्विपक्ष एव चास्यान्तर्मावाददोष इत्युक्त पञ्चमोऽवयव । अधुना षष्ठ उच्यते-
तथा चाह-इत उत्तरत्र षष्ठोऽवयवो विपक्षप्रतिषेधस्त वदयेऽभिधास्य इति गाथाय ॥ १४७ ॥

इत्थ सामान्येनाभिधायेदानीमाद्यद्वयविपक्षप्रतिषेधमभिधातुकाम आह—

सायं सम्मत्त पुमं, हासरई आउनामगोयसुहं ।

धम्मफलं आइहुगे, विपक्खपमिसेह मो पसो ॥१४८॥

(सायति) सातवेदनीय कर्म (सम्मत्तति) सम्यक्त्वं सम्यग्भावं सम्यक्त्वं मोहनीय कर्मैव (पुमति) पुवेदमोहनीयम् । (हासति) हस्यतेऽनेनेति हासस्तद्भावो हास्यम्, हास्यमोहनीयम् । रम्यतेऽनयेति रति, क्रीडाहेतु रतिमोहनीय कर्मैव । (आउनामगोयसुहति) अथ शुभशब्द प्रत्येकमभिसंबध्यते, अन्ते च-
चनात् । ततश्च आयु शुभ, नामशुभ, गोत्रशुभ, तत्रायु शुभ तीर्थकरादिसंबन्धि, नामगोत्रे अपि कर्मणीशुभे तेषामेव भवत । तथाहि-यशोनामादि शुभ तीर्थकरादीनामेव भवति । तथो-
क्तैर्गोत्र तदपि शुभ तेषामेवेति । (धम्मफलति) धर्मस्य फल

धर्मफलम्, धर्मेण वा फल धर्मफलम्, एतदहिंसादेर्जिनोक्तस्यैव धर्मस्य फलम् । अहिंसादिना जिनोक्तेनैव च धर्मेणैव फलमवाप्यते । सर्वमेव चैतत् सुखहेतुत्वाद् हितम् । अतः स एव धर्मो मङ्गल, न भवशुभादयः । तथाहि-मङ्गल्यते हितमनेनेति मङ्गलम् । तच्च यथोक्तधर्मणैव मङ्गल्यते नान्येन, तस्मादसावेव मङ्गल, न जिनवचनबाह्या भवशुभादय इति स्थितम् । आह-मङ्गलबुद्ध्यैव जनः प्रणमतीत्युक्तं, तत्कथमित्युच्यते मङ्गलबुद्ध्याऽपि गोपादाऽङ्गनाऽऽदिमोहतिमिरोपप्लुतबुद्धिबोचनो जनः प्रणमन्नपि न मङ्गलत्वनिश्चयायावत् । तथाहि न तैमित्तिद्विचन्द्रोपदर्शन सचेतसां चक्षुष्मता द्विचन्द्राऽऽकारायाः प्रतीते प्रत्ययतां प्रतिपद्यते । अतद्रूप एव तद्रूपाध्यारोपद्वारेण तत्प्रवृत्तेरिति । (आइहुगेति) आद्यद्वय प्रागुक्त, तस्मिन्माद्यद्वयविषये विपक्षप्रतिषेधः । मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः । एव इति यथा धर्मो-
त इति गाथार्थः । इत्थमाद्यद्वयविपक्षप्रतिषेधः प्रतिपादितः ॥१४८॥
सप्रति हेतुतत्त्वबुद्ध्योर्विपक्षप्रतिषेधप्रतिपिपादयिषयेदमाह—

अजिइंदिय सोवहिया, वहगा जइ ते वि नाम पुज्जांति ।

अग्गी वि होज्ज सीओ, हेउविज्जत्तीण पमिसेहो ॥१४९॥

न जितानि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि यैस्ते तथोच्यन्ते । उपधि-
शब्द मायेत्यनर्थान्तरम् । उपधिना सह वर्तन्ते इति सोपधयो मायात्रिन, परव्यसका इति यावत् । अथवा उपपद्यतांतिरुपधि-
र्वत्त्वाद्यनेकरूप परिग्रह, तेन सह वर्तन्ते ये ते तथाविधा, महा परिग्रहा इत्यर्थः । (वहगा इति) वधन्तीति वधकाः प्रयुपम-
र्दकर्तार (जइ ते वि नाम पुज्जांति चि) यदीति पराभ्युपगम-
ससूचक, त इति याज्ञिका । अपि, सत्प्रावने । नाम इति निपा-
तो वाक्यालङ्कारार्थः । येऽजिनेन्द्रियत्वाद्विषोषद्वया यज्ञयाजिनो वर्तन्ते, यदि तेऽपि नाम पूज्यन्ते, एव तर्हीन्निरपि भवेच्छीतः । न च कदाचिदप्यसौ शीतो जवति । तथा यदीन्दीवरस्त्रज्ञोऽपि बान्धे-
योर स्वयंशोभामावधीरन्, न चैतद्भवति । यथैवमादिरत्यन्तोऽ-
नावस्तयेदमपीति मन्यते । अथापि कालदौर्गुण्यात् कथंचिद्विवेकिना जनेन पूज्यन्ते, तथाऽपि तेषां न मङ्गलत्वसप्रसिद्धिरे-
कावतामतद्रूपेऽपि वस्तुनि तद्रूपाध्यारोपेण प्रवृत्ते, तथाह्यलङ्का-
धियामेव प्रवृत्तिर्वस्तुनस्तद्वत्ता गमयति । अतथाभूते वस्तुनि तद्वृत्त्या तेषामप्रवृत्ते । सुविशुक्कुरुयश्च दैत्याऽमरन्दादयः, ते चाहिंसादिलक्षण धर्ममेव पूजयन्ति, न यज्ञयाजिन । तस्मा-
दैत्यामरन्दादिवृत्तितत्त्वाद्धर्म एवांनृष्ट मङ्गलं, न याज्ञिका इति स्थितम् । (हेउविज्जत्तीण ति) एव हेतुतत्त्वभक्त्यो (पमिसेहो-
चि) विपक्षप्रतिषेध । विपक्षशब्द इहानुक्तेऽपि प्रकरणाद् ज्ञात-
व्य इति गाथार्थः । एव हेतुतत्त्वबुद्ध्योर्विपक्षप्रतिषेधो दर्शितः ।

सांप्रत दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेध दर्शयन्नाह—

बुद्धाई उवयारे, पूयाठाण जिणा उ सज्जावं ।

दिट्ठे पमिसेहो, ङ्हो एमो अवयवो उ ॥१५०॥

बुद्धादयः, आदिशब्दात्कापिद्वादपरिग्रह । उपचार इति सुपां सुपो भवन्तीति न्यायादुपचारेण किञ्चिदतीन्द्रिय कथय-
न्तीति कृत्वा न वस्तुस्थित्या पूजाया स्थान पूजास्थानम् । जिनास्तु सद्भाव परमार्थमधिकृत्येति वाक्यशेषः । सर्वज्ञत्वा-
द्यसाधारणगुणयुक्तत्वादिति भावना । दृष्टान्तप्रतिषेध इति । वि-
पक्षशब्दोपाद् दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधः । किम् ? षष्ठ एवोऽवयव ।
तुर्विशेषणार्थः । किं विशिनष्टि ? सर्वोऽप्ययमनन्तरोक्तिः प्रति-

कादिविपक्षप्रतिषेधः पञ्चप्रकारोऽप्येक एवेति गाथार्थः ॥१५०॥

पष्ठमवयवमभिधायेदानीं सप्तमं दृष्टान्तनामानमभि-
धातुकाम आह—

अरहंत मग्गगामी, दिहंतो साहुणो वि समाचित्ता ।

पागरएसु गिहं।सु उ, एसंते अवहमाणा उ ॥ १५१ ॥

पूजामर्हन्तीति अर्हन्त । न रुहन्तीति वा अरुहन्तः । किम् ? दृष्टा-
न्त इति सम्बन्धः । तथा मार्गगामिन इति । प्रक्रमात्तदुपदिष्टेन
मार्गेण गन्तुं शीलं येषां त एव गृह्यन्ते । के च ते ? इत्यत आह—
साधवः । साधयन्ति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधवः, ते-
ऽपि दृष्टान्त इति योगः । किं भूताः ? समाचित्ता रागद्वेषादित-
चित्ता इत्यर्थः । किमिति तेऽपि दृष्टान्त इति ? अहिंसादिगुण-
युक्तत्वात् । आह च—पाकरतेष्वात्मार्यमेव पाकसत्केषु गृहेष्व-
गारेष्वेवन्ते गवेपयन्ति पिण्डरूपात्मित्यध्याहारः । किं कुर्वाणा
इत्यत आह—(अवहमाणा उ चित्) न घ्नन्तीऽघ्नन्तः । तुरवधा-
रणार्थः । ततश्चाप्नन्त एत, आरम्भाकरणेन पीमामकुर्वाणा
इत्यर्थः । एव द्विविधोऽपि दृष्टान्त उक्तः । दृष्टान्तवाक्य चेदम् ।
स तु सम्स्कृत्य कर्त्तव्योऽर्हदादिवदिति गाथार्थः ॥ १५१ ॥ उक्तं
सप्तमोऽवयवः ।

सांप्रतमष्टममभिधित्तुराह—

तत्थ जवे आसंका, उदिस्स जई वि कीरए पागो ।

तेण र विसमं नाय, वासतणा तस्स पमिसेहे ॥ १५२ ॥

तत्र तस्मिन् दृष्टान्ते मधेदाशङ्का भवत्याक्षेपः । यथोद्दिष्ट्याऽङ्गीकृ-
त्य यतीनपि सयतानपि । अपिशब्दादप्रत्याऽऽदीन्यपि । क्रियते
निर्वर्त्यते पाकः । के ? गृहिभिर्मिति गम्यते । तत्र किमित्यत
आह—तेन कारणेन । र इति निपातः किलशब्दार्थः । विषमम-
तुल्यम्, ज्ञानमुदाहरण वस्तुतः पाकोपजीवित्वेन साधूनामनव-
द्युत्यभावादिति नावितमेवैतत् पूर्वमित्यष्टमोऽवयवः । इदानीं
नवममधिकृत्याह—वर्षादृणानि तस्य प्रतिषेध इत्येतच्च भाष्य-
कृता प्राक्प्रपञ्चिनमेवेति न प्रतन्यत इति गाथार्थः ॥ १५२ ॥ उक्तो
नवमोऽवयवः ।

साम्प्रत चरममभिधित्तुराह—

तम्हा उ सुरनराण, पुज्जत्तं मंगलं सया धम्मो ।

दसमो एस अवयवो. पञ्चहेतु पुणो वयणं ॥ १५३ ॥

यस्मादेव तस्मात् सुरनराणां देवमनुष्याणां पूज्यस्तद्भाव-
स्तस्मात् पूज्यत्वान्मङ्गलं प्रागिरूपितशब्दार्थं सदा सर्वकालं
धर्मः प्रागुक्तः । दशम एवोऽवयव इति सख्याकथनम् । किं-
विशिष्टोऽयमित्यत आह—प्रतिज्ञाहेत्वो पुनर्वचनं पुनर्हेतुप्रति-
ज्ञावचनमिति गाथार्थः । उक्तं द्वितीय दशावयवम् । साधना-
ऽङ्गता चावयवानां विनेयाऽपेक्षया विशिष्टप्रतिपत्तिजनकत्वेन
भावनोपेत्युक्तोऽनुगमः ॥ १५३ ॥ दश० नि० १ अ० ।

प्रासाङ्गिकमभिधाय पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमिति
प्रागुक्तं समर्थयन्ते—

पक्षहेतुवचनलक्षणमयवद्वयमव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टा-
न्तादिवचनम् ॥ १५४ ॥

आदिशब्देनोपनयनिगमनादिग्रहः । एव च यद् व्याप्युपेत
पक्षधर्मनोपमहारूपं सौगते, पक्षहेतुदृष्टान्तस्वरूपं भाट्टप्रा-
भाकरकापिष्ठै, पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनलक्षणं नैयायि-
कवैशेषिकाज्यामनुमानमात्राणि । तदपास्तम् । व्युत्पन्नमतीति

पक्षहेतुवचनोरेवोपयोगात् ॥ १५४ ॥

पक्षप्रयोग प्रतिष्ठाप्य हेतुप्रयोगप्रकारं दर्शयन्ति—

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥ १५५ ॥

तथैव साध्यसम्भवप्रकारेणैवोपपत्तिस्तथोपपत्तिः । अन्यथा सा-
ध्याभावप्रकारेणानुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ १५५ ॥

अमू एव स्वरूपतो निरूपयन्ति—

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये
हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ १५६ ॥

निगदव्याख्यानम् ॥ १५७ ॥

प्रयोगतोऽपि प्रकटयन्ति—

यथा कुशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कुशानुमत्वे धूम-
वत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥ १५८ ॥

एतदपि तथैव ॥ १५९ ॥

अमुयो प्रयोगौ नियमयन्ति—

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यै-
कत्राऽनुपयोगः ॥ १६० ॥

अयमर्थः—प्रयोगयुग्मेऽपि वाक्यविन्यास एव विशिष्यते, नार्थः । स
चान्यतरप्रयोगेणैव प्रकटीयन्तीति किमपरप्रयोगेण ? इति ॥ १६१ ॥

अथ यदुक्तं “ न दृष्टान्तादिवचनं परप्रतिपत्तेरङ्गम् ” इति
तत्र दृष्टान्तवचनं तावन्निराचिकीर्ष्यस्तत् किं किं परप्रतिपत्त्यर्थं
परैरङ्गीक्रियते ? किं वा हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये ? यद्वा
विनाभावस्मृतये ? इति विकल्पेषु प्रथमं विकल्पं तावद्वर्णयन्ति

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतुवच-
नयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ १६२ ॥

प्रतिपत्ता अविस्मृतसम्बन्धस्य हि प्रमातुरभिमानय देशो धूमव
त्त्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्येतावन्तैव भवत्येव साध्यप्रतीतिरिति ॥ १६३ ॥

द्वितीयं विकल्पं परास्यन्ति—

नच हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये यथोक्ततर्कप्रमाणदे-
व तदुपपत्तेः ॥ १६४ ॥

दृष्टान्तवचनं प्रभवतीति योगः ॥ १६५ ॥

अत्रैवोपपत्त्यन्तरमुपवर्णयन्ति—

नियतैकविशेषस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्याप्तेरयो-
गतो विप्रतिपत्तौ तदन्तराऽपेक्षायामनवास्थितेर्दुर्निवारः स-
म्भवतारः ॥ १६६ ॥

प्रतिनियतव्यक्तौ हि व्याप्तिनिश्चयः कर्तुमशक्यः । ततो व्य-
क्त्यन्तरेषु व्याप्त्यर्थं पुनर्दृष्टान्तान्तरं मृश्यम् । तस्याऽपि व्यक्ति-
रूपत्वेनाऽपरदृष्टान्तापेक्षायामनवस्था स्यात् ॥ १६७ ॥

तृतीयविकल्पं पराकुर्वन्ति—

नाऽप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य व्युत्पन्नमतेः
पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः ॥ १६८ ॥

दृष्टान्तवचनं प्रभवतीति योगः ॥ १६९ ॥

अमुमेवार्थं समर्थयन्ते—

अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च व-
द्विर्याप्तैरुद्भावनं व्यर्थम् ॥ १७० ॥

अयमर्थः—“अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशक्तौ, बाह्यव्याप्तेर्बर्कनं

बन्धमेव । अन्तर्व्याप्तेः साध्यससिद्धशक्तौ, बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं बन्धमेव ॥१॥ मत्पुत्रोऽयं बहिर्वर्तिकः, पथरूपस्वरान्यथानुपपत्तेः, इत्यत्र बहिर्व्याप्त्यज्ञावेऽपि गमकत्वस्य 'स इयामः, तत्पुत्रत्वात्, इतरतत्पुत्रवत्, इत्यत्र तु तज्ज्ञावेऽप्यगमकत्वस्योपलब्धेरिति ॥ ३७॥ रत्ना० ३ परि०। (धर्मिण साधयन्नेकान्तवादी साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च न शक्नोतीति 'अणेगतवाय' शब्देऽत्रैव भोगवक्ष्यते) अनुमिते साध्याविनाभूतहेतुजन्यत्वेनाऽप्युपचाराद् हेतुविशेषे, स्था. ४७० ३ उ०। ननु सिद्धग्रहण संबन्धस्मरणान्यामनुपपन्नान्मानमनुमानम्, सिद्धज ज्ञानमुच्यते । कथं लिङ्गमेवानुमानमिति चेत् ? सत्यम्, किन्तु कारणे कार्योपचारादप्यनुमानम् । यथा-प्रत्यक्षज्ञानजनको घटोऽपि प्रत्यक्ष इति । विशेषेण दृष्टान्ते, आकाशपटानुमानादत्राऽनुमानशब्दो दृष्टान्तवचनः । दशा० १ अ० ।

अणुमाणइत्ता-अनुमान्य-अव्य० । अनुमान कृत्येयं, व्य० १ उ० । सधुतरापराधनिवेदनेन मृदुदण्डादित्वमाचार्यस्याकल-व्येत्यर्थे, घ० २ अधि० । भ० ।

अणुमाणणिरांकिय-अनुमाननिराकृत-त्रि० । अनुमानबाह्ये, यथा नित्यः शब्दः । वस्तुदोषविषये विशेषे, स्था० १० ग० । अणुमाणाजास-अनुमानाभास-पु० । पक्वाजासादिसमुत्थे ज्ञानेऽयथार्थानुमाने, रत्ना० ६ परि० ।

अणुमाय-अणुमात्र-त्रि० । स्तोकमात्रे, दश० ५ अ० २ उ० ।

अणुमिद्-अनुमिति-स्त्री० । अनु-मा-क्तिन् । अनुमाने व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षधर्मताज्ञानाधीनेऽनुजवभेदे, अनुमोदने च । प्रति० ।

अणुमु (म्मु) क-अनुमुक्त-त्रि० । अविमुक्ते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अणुमोदय-अनुमोदित-त्रि० । अनु-मुद्-णिच् । कर्मणि कः । कृताऽनुमोदने स्वानुमतत्वज्ञापनेन प्रोत्साहिते, "भवता यद् व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् । प्रार्थ्यमानोऽर्थिना यत्र, ह्यर्था नैव विधातिताः ॥ १ ॥ दानकालेऽथवा तूर्णी, स्थितः सोऽर्थानुमोदितः ।" इति । उक्तेऽर्थे च, वाच० । यत् त्वया शत्रुहननादिकार्यं भव्यं कृतमित्यादिष्वदने, आनु० ।

अणुमोयग-अणुमोदक-त्रि० । दानस्य ग्रहणपरिमोगाज्यां प्रशस्यके सप्रदाने, विशेषे ।

अणुमोयण (णा)-अनुमोदन (ना)-न०-स्त्री० । अनुमतौ, पञ्चा० ए विव० । आव० । अनुज्ञाने, सूत्र० १ शु० ८ अ० । प्रहन० । आधाकर्मप्रभृतिर्कर्तृप्रशंसायाम्, अप्रतिषेधने च । अप्रतिषिद्धमनुमतमिति विद्वत्प्रवादः । पि० । "इत्यत आणुजाणइ" नन्तं मानुजानाति । अनुमोदनेन तस्य वा दीयमानस्याप्रतिषेधनेनाप्रतिषिद्धमनुमतमिति ध्वनारुननप्रसङ्गजननाच्च । आह च-"काम सय न कुव्वइ, जाणतो पुण तहा वितग्गाही । वट्ठई तप्पसग, अगिरइमाणो उचारइ" ॥१॥ स्था० ७७० । जिनपुजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशसादिलक्षणायामनुमतौ, पञ्चा० ६ विव० ।

अणुमोयणकस्मजोयगप्यसंसा-अनुमोदनकर्मजोयगप्रशंसा-स्त्री० । अनुमोदनादाधाकर्मजोयगप्रशंसायाम्, अकृतपुण्या सुखधिका पते, ये इत्यस्यैव लभन्ते यतेत्येवरूपा । पि० । अणुयत्तणा-अनुवर्तना-स्त्री० । आनुकूल्याऽनुपघाते, जी० १ प्रति० । श्वानोपचारे, वृ० १ उ० । (ग्लानस्याऽनुवर्तना 'ग्लानाण' शब्दे दृष्ट्या)

अणुयत्तणाऽनुत्त-अनुवर्तनादियुक्त-त्रि० । आनुकूल्याऽनुपघातसहिते, "अणुयत्तणाऽनुत्तो, पासथाईसु ता खित्ते" जी० १ प्रति० ।

अणुयत्तमाण-अनुवर्तमान-त्रि० । अनुगच्छति, विशेषेण "सह-इह समत्येह य, कुर्याह करावेह गुरुजणाभिमत । इंदमणुयत्तमाणो, गुरुजनाराहण कुणई ॥ १ ॥ आ० म० प्र० ।

अणुयरिय-अनुचरित-न० । आसेविते, ज्ञा० १ शु० १ अ० ।

अणुया-अनुज्ञा-स्त्री० । अनुमोदने, सूत्र० २ शु० १ अ० ।

अणुयास-अनुकाश-पु० । विकाशप्रसरे, ज्ञा० १ शु० १ अ० ।

अणुरंगा-अनुरङ्गा-स्त्री० । गन्ध्याम्, घांसिकायां च । "अणुरगाइ जाणे" वृ० १ उ० ।

अणुरंजिएल्लय-अनुरञ्जित-त्रि० । अनु-रञ्ज-क्त । प्राकृते स्वार्थिक इल्लकप्रत्ययः । सप्रदायक्रमरक्षिते, ज० ३ वक्ता० ।

अणुरत्त-अनुरक्त-त्रि० । अनुरज्ये, औ० । आनु० । अत्यन्त-स्नेहजाजि, उक्त० १४ अ० । ज्ञा० । अनुरागवत्याम्, भ० १३ श० ३ उ० । पतिरकायां भर्तार प्रति रागवत्याम्, ज्ञा० १६ अ० । स्त्रियाम्, "अणुरत्ता अविरत्ता, इष्टे सहपरिसरसख-गधे पचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुज्जवमाणी विहर-ति" अनुरक्ताऽविरक्ता अनुरज्या भर्तारि प्रतिकृते सत्यपि, न विप्रियेऽपि विरक्ता गतेत्यर्थः । औ० । वर्णवादिनि प्रतीच्छके, "अणुयत्ततो विसेसएह उज्जुत्तमपरिततो, इच्छति मत्थ लज्जति साधु । ओ तु अवाइज्जतो, ण रूसती जह मम ण वा एति ॥ सो होति अणुरत्तो" प० ज्ञा० ।

अणुरत्तलोयणा-अनुरत्तलोचना-स्त्री० । उज्जयिनीपुरीश्वरस्य देवद्यासुतस्य राज्ञोऽग्रमहिष्याम्, आ० क० । आव० ।

अणुरसिय-अनुरसित-न० । शब्दायिते, ज्ञा० ६ अ० ।

अणुराग-अनुराग-पु० । अनु-रञ्ज-घञ् । प्रीतिविशेषे, आ० । परस्परस्यात्यन्तिक्यां प्रीतिमत्याम्, वृ० १ उ० । (त्रिविधोऽभिष्वङ्गरूपः, तद्यथा-दृष्ट्यनुरागो, विषयाऽनुरागः, स्नेहानुरागश्चेति 'राग' शब्दे वक्ष्यते) विशेषेण । यथावस्थितगुणोत्कीर्तने तदनु रूपोपचारलक्षणे तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणे, प्रव० १० द्वा० ।

अणुरागय-अन्वागत-त्रि० । अनु आ-गम्-क्त । रेफ आ-गमिकः । अनुरूपे आगमने, भ० २ श० १ उ० ।

अणुराहा-अनुराधा-स्त्री० । अनुगता राधा विशास्त्राम् । वाच० । मित्रदेवताके नक्षत्रभेदे, अनु० । जं० । स्था० । "अणुराहाणक्खत्ते चउनारे" प० स० । सू० प्र० । ज्यो० । ('एक्खत्त' शब्देऽस्यास्तत्त्व व्याख्यास्यामः)

अणुरुज्झंत-अनुरुध्यमान-त्रि० । अनु-रुध्-यक्-शानच् । प्राकृते "समनुपाद् रुधे." ॥८॥ २४८ ॥ इति अनोः परस्व रुधे. कर्मभावे ज्झो वा । अपेक्ष्यमाणे, प्रा० ।

अणुरंधिज्जंत-अनुरुध्यमान-त्रि० । अनु-रुध्-यक्-शानच् । अपेक्ष्यमाणे, प्रा० ।

अणुरूप-अनुरूप-त्रि० । अविपमे, स्था० ६ ठा० । अनुकूले, आ० म० प्र० । घटमानेऽर्थे, विशेष० । सदृशे, उत्त० १ अ० । उचिने, ज्ञा० १६ अ० । अनुरिति सादृश्यरूपमिति अव्ययी-भावः । स्वभावसदृशे, सम्म० ।

अणुलाव-अनुलाप-पुं० । पौनःपुन्यभाषणे, “अनुलापो मुहुर्भाषा” इति वचनात् । स्था० ७ ठा० । ज्ञा० ।

अणुलिपण-अनुलेपन-न० । सकृल्लिप्ताया भूमेः पुनर्लेपने, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अणुद्वित-अनुद्विप्त-त्रि० । चन्दनादिना कृतानुलेपे, औ० ।

अणुलित्तगत्-अनुद्विप्तगत्-त्रि० । अन्विति अतिशयेन लिप्त विलेपनरूपकृत गात्र शरीर यस्य स तथा । कृतानुरूपशरीरे, त० ।

अणुलिहंत-अनुलिखत्-त्रि० । अभिलहयति, “गगणनलमणुलिहतसिहरे” सू० प्र० १८ पाहु० । रा० । त० । स० । जी० । च० प्र० ।

अणुलेवण-अनुलेपन-न० । श्रीखण्डादिविलेपने, स्था० ८ ठा० । ज्ञा० । प्रव० । सकृल्लिप्तस्य पुनः पुनरुपलेपने, प्रश्ना० २ पद ।

अणुलेवणतत्त्व-अनुलेपनतत्त्व-न० । अनुलेपनप्रधाने तले, सूत्र० २ शु० २ अ० । पुनरुपलितभूमिकायाम्, “मेयवसापु-यधिरमसचिक्खिल्लित्ताणुलेवणतत्त्वा” प्रश्ना० २ पद ।

अणुलोम-अनुलोम-त्रि० । अविपरीते, प० चू० । अनुकूले, औ० । सूत्र० । आचा० । ज्ञा० । अनुकूलतया वेद्यमाने, ज० २ धत्त० । मनोहारिणि, दश० १ अ० । अनुलोमनार्थद्रव्यानुयोगोऽनुलोमः । अनुलोमे, अनुकूलकरणाय परस्य यो विधीयते यथा क्षेम भवतामित्यादिरूपे द्रव्यानुयोगभेदे, स्था० ६ ठा० ।

अणुलोमइत्ता-अनुलोम्य-अव्य० । विवादाऽध्यक्षान् सामनीत्यानुलोमान् कृत्वा प्रतिपन्थिनमेव वा पूर्वं तत्पक्षाभ्युपगमेन अनुलोमे कृत्वेत्यर्थे, “अणुलोमइत्ता पठे” स्था० ६ ठा० । अणुलोमवाउवेग-अनुलोमवायुवेग-त्रि० । अनुलोमोऽनुकूलो वायुवेगः । शरीरान्तर्वर्ती वातजवो येषां तेऽनुलोमवायुवेगा । वायुगुल्मरहितोदरमध्यप्रदेशेषु, त० । जी० । युगलमनुप्यादिषु । आह च टीकाकारः- उदरमध्यप्रदेशे वायुगुल्मो येषां ते तथा, तदभावाच्च तेषामनुलोमो भवति, वायुवेगो मिथुनानाम् इति । जी० १ प्रति० ।

अणुलोमविलोम-अनुलोमविलोम-पुं० । गतेप्रत्यागतौ, पञ्चा० १६ विव० ।

अणुद्वग-अनुद्वक्-पु० । कन्दविशेषे, द्वीन्द्रियजीवभेदे च । उत्त० ३ अ० ।

अणुद्वण-अनुद्वण-त्रि० । अगर्विते, वृ० ३ उ० ।

अणुद्वार-अनुद्वार-पुं० । कुत्सिते काका वर्णने, स्था० ३ ठा० ।

अणुद्वोय-अनुद्वक्-पुं० । द्वीन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

अणुवद्व-अनुपदिष्ट-त्रि० । आचार्यपरम्पराज्ञागते, “उ-स्तुत्तमणुवद्वं नाम ज नो आयरियपरपरागय मुकल्याक-रणवत्” । नि० चू० ११ उ० । व्य० ।

अणुवत्त-अनुपयुक्त-त्रि० । हेयोपादेयपरीक्षाविकले, अष्ट० १४ अष्ट० । उपयोगशून्ये, नि० ।

अणुवत्त-अनुपदेश-पु० । स्वभावे, निसर्गः स्वभावोऽनुपदेश इत्यनर्थान्तरम् । स्था० २ ठा० १ उ० । नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितोपदेशे, आगमवाधितार्थानुशासने, पञ्चा० १२ विव० ।

अणुवत्त-अनुपयोग-पु० । अनर्थे, अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । आच० ६ अ० । शक्रेरनुपयोगे अव्यापारणे, पञ्चा० १४ विव० । उपयोजनमुपयोगो जीवस्य बोधरूपो व्यापारः । स चेह विवक्षिताऽर्थे चित्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते, न विद्यते स यत्र सोऽनुपयोगः पदार्थः । उपयोगाविषये, “अणुवत्तगो दत्तं” ज्ञानवृत्तयतार्या च । अनु० ।

अणुवत्त-अनुपकृत-त्रि० । उपकृतमुपकारो न विद्यते उपकृतं येषां ते । अकृतोपकारिषु, षो० ए विव० । परैरवर्तितेषु, आच० ४ अ० ।

अणुवत्तपरहित-अनुपकृतपरहित-त्रि० । उपकृतमुपकारः, न विद्यते उपकृतं येषां ते इमेऽनुपकृताः, अकृतोपकारा इत्यर्थः । ते च ते पराभ्य, नेच्यो हित तस्मिन् रतोऽभिरतः प्रवृत्तोऽनुपकृतपरहितरतः । निष्कारणवत्सत्ते, षो० ६ विव० ।

अणुवत्त-अनुपक्रान्त-त्रि० । अनिराकृते, औ० ।

अणुवत्त-अनुपाख्य-त्रि० । गताऽऽख्यातिके, वृ० १ उ० ।

अणुवत्त-अनुपस्कृत-त्रि० । अकृतोपस्कृते, “उपस्कृतमा-ख्यीरदहिमादिः । अणुवत्तमा सन्वेसु परिविष्टसु” नि० चू० १ उ० ।

अणुवत्त-अनुपकरण-न० । उपधेरज्ञावे, व्य० ७ उ० ।

अणुवत्त-अनुपचय-पु० । अनुपचीयमानतायाम्, अनुपादने च । उत्त० १ अ० ।

अणुवत्त-अनुव्रजत्-त्रि० । अनु-व्रज-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० । अणुव्रजि (ण)-अनुपजीविन्-त्रि० । अनाजीविके, पञ्चा० १५ विव० ।

अणुव्रज-गम्-धा० । यतौ, ज्वा० प० अनिट् । “गमेरर्ह अहज्जा-ऽणुव्रज्जावज्जसोत्त-॥ ७ । ४ । १६३ ॥ इत्यादिसूत्रेण गम्धातोरे-णुव्रजादेशः । अणुव्रज-गच्छति । प्रा० ।

अणुव्रजि-देशी-प्रतिजागरिते, वे० बा० १ वर्ग ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । द्वितीयवार प्रवृत्ते जीतव्यवहारादौ, “अणुवत्तो जो पुणो वित्तीयवारे” व्य० २ उ० ।

अणुवत्त-अनुवर्तक-त्रि० । सर्वमनोऽनुवृत्तिकर्तारि, षो० १ आधि० । भावानुकूल्येन सम्बन्धपरिपालके, प० व० १ द्वा० । शिष्याणां हृन्दोऽनुवर्तिनि, वृ० ४ उ० । चित्रस्वप्नावानां प्राणिनां गुणान्तराधानधियाऽनुवृत्तिशीले, शिष्याणामनुवर्तनया प्रप्राजनायोग्ये गुरौ, ध० ३ आधि० । “आगारवर्गितेहि, जातु दिव्य-स्थित उवविहेति । गुरुवयं अनुलोमे, एतो अणुवत्तमा नाम” प० व० २ द्वा० । अनुलोममविपरीतमित्यर्थः । पं० चू० । (अनुवर्तकस्य व्याख्या द्वि० भा० ३०५ पृष्ठे ‘आयरिय’ शब्दे वदयते) अणुवत्त-अनुवर्तना-स्त्री० । शिष्यानुपालनायाम्, प० व० १ द्वा० ।

अणुवत्ति-अनुवृत्ति-स्त्री० । इक्षितादिना गुरुचित्त विज्ञाय त-
दाऽऽनुकूल्येन प्रवृत्तौ, विशेष० । आ० म० द्वि० ।

अणुवचोज्ज-अनुपभोज्य-त्रि० । साधूनामुपभोक्तुमयोग्ये, वृ०
३ उ० ।

अणुवम-अनुपम-त्रि० । उपमारहिते, आव० ५ अ० । न विद्यते
उपमा शरीरसन्निवेशसौन्दर्यादिजिर्णैर्यस्य तदनुपमम् । षो०
१५ विव० ।

अणुवमसिरिय-अनुपमश्रीक-त्रि० । निरुपमदेहकान्तिकल्पिते,
आ० म० प्र० ।

अणुवमा-अनुपमा-स्त्री० । साद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

अणुवयमाण-अनुवदत्-त्रि० । पश्चाद् वदति, " आरंभद्वी
अणुवयमाणे हणपाणे घायमाणे " (आचा० १ शु० ६ अ०
४ उ०) " असीद्वा अणुवयमाणस्स वितिया " अनुवदतोऽनु-
पश्चाद्दत्तः पृष्ठतोऽपृष्ठतोऽपवदतोऽन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना
कुशीला इत्येवमुक्तेऽनुवदत्. पार्श्वस्थादेः । आचा० १ शु० ६
अ० ४ उ० ।

अणुवरय अनुपरत-त्रि० । अविरते, स्था० २ डा० १ उ० ।
पापानुष्ठानेभ्योऽनिवृत्ते, आचा० १ शु० ५ अ० १ उ० । अवि-
च्छिन्ने, स० ।

अणुवरयकायकिरिया-अनुपरतकायक्रिया-स्त्री० । अनुपरत-
स्याविरतस्य सावद्याद् मिथ्यादृष्टे सम्यग्दृष्टेर्वा कायक्रियोत्के-
षादिलक्षणा कर्मवन्धनमनुपरतकायक्रिया । कायिक्या. क्रिया-
या भेदे, प्र० ३ शु० ३ उ० ।

अणुवरयदण्ड-अनुपरतदण्ड-पु० । मनोवाक्कायलक्षणदण्डा-
द् विरते, आचा० १ शु० ४ अ० १ उ० ।

अणुवरोह-अनुपरोध-पु० । अव्यापादने, " प्रायोऽन्याऽनुपरोधेन
हव्यस्तान तदुच्यते " । अप्रतिषेधे च, घ० ७ अधि० ।

अणुवलङ्घि-अनुपलङ्घि-स्त्री० । उप-लङ्घ-क्तिन् । न० त० ।
क्षामाऽभावे, प्रत्यक्षाऽभावे च । वाच० ।

सा च—

दुर्विहा अणुवलङ्घीश्रो । सश्रो असश्रो य ।

खरसंगस्स वितीया, सश्रो वि दूराइजावश्रोऽजिहिया ।

सुहमा सुत्तत्तणश्रो, कम्माणुगयस्स जीवस्स ॥ १ ॥-

सा च अनुपलङ्घिरेका असतो प्रवर्ति, यथा—खरशृङ्गस्य ।
द्वितीया तु सतोऽप्यर्थस्य भवति । कुत इत्याह—(दूरादिभा-
वादिति) दूरात् सन्नप्यर्थो न दृश्यते, यथा—स्वर्गादिः १ । आ-
दिशब्दादतिसनिकर्षादतिसौहृद्व्यान्मनोऽनवस्थानादिन्द्रियापा-
टव्यान्मत्तिमान्वाद्दशक्यत्वादावरणादभिभवात्सामान्यादनुपयो-
गादनुपायाद्विस्मृतेर्दुरागमान्मोहाद् विदर्शनाद्विकारादक्रियानोऽ
नधिगमात्कालविप्रकर्षात्स्वभावविप्रकर्षाच्चेति । तच्चाऽतिसन्नि-
कर्षात्सन्नप्यर्थो नोपलभ्यते । यथा—नेत्रदूषिकापक्वमादिः २ । अति-
सौहृद्व्यात्परमाणादि ३ । मनोऽनवस्थानात्सतोऽप्यनुपलङ्घि,
यथा नष्टचेतसाम्प्रदाहन्ध्यापाटवात् किंचिद् बाधिरादीनाम् ५ ।
मतिमान्वादनूपलङ्घिः, सनामपि सूक्ष्मशास्त्रार्थविशेषाणाम्

६ । अशक्यत्वात्स्वकर्णकृकाटिकामस्नकपृष्ठादीनाम् ७ । आवर-
णाद् वस्त्रादिस्थगितलोचनायाः, कटुकट्यावृतानां च ८ । अजिघ्र-
वात्प्रसृतसुरतेजसि दिवसे तारकाणाम् ९ । सामान्यात्सुपल-
ङ्घिनस्यापि माषादेः समानजातीयमाषादिराशिपतितस्याऽप्र-
त्यभिज्ञानात्सतोऽप्यनुपलङ्घिः १० । अनुपयोगाद्भूगोपयुक्तस्य
शेषविषयाणाम् ११ । अनुपायाच्छायादिभ्यो गोमहिष्यादिपय-
परिमाणजिज्ञासो १२ । विस्मृते पूर्वोपलङ्घस्य १३ । दुरागमाद्
दुरुपदेशात्तत्प्रतिरूपकरीतिकादिविप्रलम्भितमते कनकादीनां
सतामप्यनुपलङ्घि १४ । मोहात्सतामपि जीवादिदत्त्वानाम् १५ ।
विदर्शनात्सर्वथाऽन्धादीनाम् १६ । बार्हक्यादिविकाराद्बहुशः
पूर्वोपलङ्घस्य सतोऽप्यनुपलङ्घिः १७ । अक्रियातो भूखनना-
दिक्रियाऽज्ञावाद् वृक्षमूलादीनामनुपलङ्घिः १८ । अनधिगमा-
च्छास्त्राश्रयणात्तदर्थस्य सतोऽप्यनुपलङ्घिः १९ । काव्यविप्रकर्षा-
द् जूतमविष्यदृषमदेवपक्षनामतीर्थकरादीनामनुपलङ्घिः २० ।
स्वभावविप्रकर्षाज्ज पिशाचादीनामनुपलङ्घिः २१ । तदेवं
सतामप्यर्थानामेकविंशतिविधाऽनुपलङ्घिः । विशेष० आ० न्यु० ।

त्रिविधा वा, अन्यन्तात् सामान्याद्विस्मृतेश्च—

अचंता सामन्ना, य विस्सुत्ती होइ अणुवलङ्घी तु ।

अनुपलङ्घिरेव त्रिधा भवति । तद्यथा-अत्यन्तादकोन्तनोप-
लङ्घिः । सामान्याद्विस्मृतेश्च ।

तत्र प्रथमतोऽत्यन्तानुपलङ्घिमाह—

अत्यस्स दरिसणम्मि वि, लङ्घी एगंततो न संभवइ ।

दहुं पि न जाणंतो, वोहियपंन फणससत्तू ॥

अर्थस्य दर्शनेऽपि कस्यचित्तदर्थत्रिषया लङ्घिरेकान्ततो न
संभवति । तथा च बोधिकाः पदिचमदिगर्वितिनो म्लेच्छा पन-
स हद्वाऽपि ' पनस ' इत्येव न जानते, तेषां पनसस्याऽत्यन्त-
परोक्षत्वात् । न हि तद्देशे पनस संभवति । तथा पण्डाः मथु-
रावासिनः सकृन् हद्वाऽपि ' सकवोऽभी ' इति न जानते, तेषां हि
सकवोऽत्यन्तपरोक्षाः । ततो न तद्देशेऽपि तदङ्गत्वात् ॥

सप्रति सामान्यतदनुपलङ्घिमाह—

अत्यस्सुवगहम्मि वि, लङ्घी एगंततो न संभवइ ।

सामन्ना बहुमज्जे, मासं पमियं जहा दहु ॥

अर्थस्यावग्रहेऽपि तदन्येनाऽर्थेन सामान्यात् सादृश्यादेका-
न्ततो लङ्घिरक्षरलङ्घिर्न संभवति । यथा बहुमध्ये पतितं
माषं हद्वाऽपि तदन्येन सामान्यात् तदक्षरं लभत ।

विस्मृतेरनुपलङ्घिमाह—

अत्यस्सऽपि उवदंभे, अक्खरलङ्घी न होइ सव्वस्स ।

पुण्वोवदंभपत्थे, जस्स उ नामं न संसरइ ॥

अर्थस्य पूर्वं पश्चाच्चोपलम्भेऽपि सर्वस्याऽक्षरलङ्घिस्तद्विष-
याऽक्षरलङ्घिर्न संभवति । कस्य न भवतीत्यत आह यस्यार्थे
विषयार्थविषयं पूर्वोपलङ्घं नाम न संसरति । तदेवमुक्ता
त्रिविधाऽप्यनुपलङ्घिः । वृ० १ उ० । विशेष० ।

सम्प्रत्यनुपलङ्घि प्रकारत प्राहुः—

अनुपलङ्घेरपि द्वैरूप्यम्, अविरुद्धानुपलङ्घिर्विरुद्धाऽनुप-
लङ्घिश्च ॥ ६३ ॥

अविरुद्धस्य प्रतिषेधेनार्थेन सह विरोधमप्राप्तस्थानुपल-
ङ्घिरविरुद्धाऽनुपलङ्घिः । एव विरुद्धाऽनुपलङ्घिरपि । ६३ ॥

सम्प्रत्यविरुद्धानुपलब्धेर्निबन्धसिद्धौ प्रकारसंख्यामाख्यान्ति-
तत्राऽविरुद्धानुपलब्धिप्रतिषेधाऽवबोधे सप्त प्रकाराः ॥६४॥

अमूनेव प्रकारान् प्रकटयन्ति-

प्रतिषेध्येनाऽविरुद्धानां स्वजावव्यापककार्यकारणपूर्वचरो-
त्तरचरसहचराणामनुपलब्धिः ॥६५॥

एव च स्वभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः,
कारणानुपलब्धिः, पूर्वचरानुपलब्धिः, उत्तरचरानुपलब्धिः,
सहचरानुपलब्धिश्चेति ॥ ६५ ॥

क्रमेणामूदाहरन्ति-

स्वजावाऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र नूतले कुम्भ उपल-
ब्धिरक्षणाग्रासस्य तत्स्वभावस्याऽनुपलम्भात् ॥६६॥

(उपलब्धिलक्षणग्रासस्येति) उपलब्धिर्ज्ञानम्; तस्य लक्षणानि
कारणानि चक्षुरादीनि, तैर्दृश्यलब्धिर्लक्ष्यते जन्यत इति या-
वत् । तानि प्राप्तः ; जनकत्वेनोपलब्धिकारणान्तर्भावात्स तथा
दृश्य इत्यर्थस्तस्याऽनुपलम्भात् ॥ ६६ ॥

व्यापकाऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः, पादपाऽनु-
पलब्धेः ॥६७॥ कार्याऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्राऽप्रतिहनश-
क्तिकं बीजमङ्कुराऽनवलोकनात् ॥६८॥

अप्रतिहतशक्तित्व हि कार्यं प्रति अप्रतिबद्धसामर्थ्यत्व
कथ्यते । तेन बीजमात्रेण न व्यभिचारः ॥ ६८ ॥

कारणानुपलब्धिर्यथा-न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावा-
स्तत्त्वार्थश्रद्धानाऽज्ञावात् ॥६९॥

(प्रशमप्रभृतयो भावा इति) प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्ति-
क्यलक्षणजीवपरिणामविशेषाः । तत्त्वार्थश्रद्धानां सम्यग्दर्शन
तस्याऽभावः । कुतोऽपि देवद्वयज्ज्ञानाद् पापकर्मणः सका-
शात्मिज्ज्ञैस्तत्त्वार्थश्रद्धानकार्यचूतानां प्रशमादीनामभाव गम-
यति ॥ ६९ ॥

पूर्वचराऽनुपलब्धिर्यथा-नोद्गमिष्यति मृहूर्तान्ते स्वातिन-
क्षत्र, चित्रोदयादर्शनात् ॥ ७० ॥ उत्तरचराऽनुपलब्धिर्य-
था-नोद्गमत्पूर्वजघ्नपदामृहूर्तात्पूर्वमुत्तरजघ्नपदोद्गमाऽनवग-
मात् ॥ ७१ ॥ सहचराऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यस्य सम्य-
ग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ ७२ ॥

इयं च सप्तधाऽप्यनुपलब्धिः साक्षादनुपलम्भकारेण परम्पर-
या पुनरेषा सज्जवन्त्यत्रैवान्तर्जावनीया । तथाहि-नास्त्येका-
न्तनिरन्वयं तत्त्वम्, तत्र क्रमाऽक्रमाऽनुपलब्धेरिति या कार्यव्याप-
कानुपलब्धिः, निरन्वयतत्त्वकार्यमर्थक्रियारूपस्य यद् व्यापक
क्रमाऽक्रमरूप तस्यानुपलम्भसद्भावात्, सा व्यापकानुपलब्ध्याधेव
प्रवेशनीया । एवमन्या इ पे यथासज्जवमास्वेव विशन्ति ॥७२॥
विरुद्धानुपलब्धिं विधिसिद्धौ भेदतो ज्ञावन्ते-

विरुद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पञ्चधा ॥ ७३ ॥

तानेव भेदानाहुः-

विरुद्धकार्यकारणस्वजावव्यापकसहचरानुपलम्भभेदा-
त् ॥ ७४ ॥

विधेयेनाऽर्थेन विरुद्धानां कार्यकारणस्वभावव्यापकसहचरा-
णामनुपलम्भा अनुपलब्ध्यस्तैर्भेदो विशेषस्तस्मात् । ततश्च वि-

रुद्धकार्यानुपलब्धिः, विरुद्धकारणानुपलब्धिः, विरुद्धस्वजावाऽनु-
पलब्धिः, विरुद्धव्यापकाऽनुपलब्धिः, विरुद्धसहचराऽनुपलब्धि-
श्चेति ॥७४॥

क्रमेणैतासामुदाहरणान्याहुः-

विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथाऽत्र शरीरिणि रोगातिशयः
समस्ति, नीरोव्यापाराऽनुपलब्धेः ॥ ७५ ॥

विधेयस्य हि रोगातिशयस्य विरुद्धमारोग्यम्, तस्य कार्यं वि-
शिष्टो व्यापारः । तस्यानुपलब्धिरियम् ॥७५॥

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा-विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्टमिष्ट-
संयोगाऽज्ञावात् ॥ ७६ ॥

अत्र विधेयं कष्टम्, तच्चिरुद्धं सुखम्, तस्य कारणमिष्टसंयोगः,
तस्यानुपलब्धिरेषा ॥७६॥

विरुद्धस्वजावाऽनुपलब्धिर्यथा-वस्तुजातमनेकान्तात्मक-
मेकान्तस्वभावाऽनुपलम्भात् ॥ ७७ ॥

वस्तुजातमन्तरङ्गो बहिरङ्गश्च विश्ववर्त्तिपदार्थसार्थः । अयं
ते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः, न एकोऽनेकः अनेकश्चासा
वन्तश्चानेकान्तः, स आत्मा स्वजावो यस्य वस्तुजातस्य तदन-
कान्तात्मकम्; सदसदाद्यनेकधर्मात्मकमित्यर्थः । अत्र हेतु एका-
न्तस्वभावस्य सदसदाद्यन्यतरधर्मावधारणस्वरूपस्यानुपल-
म्भादिति । अत्र विधेयेनानेकान्तात्मकत्वेन सह विरुद्धः सदाद्ये-
कान्तस्वभावः, तस्यानुपलब्धिरेषा ॥७७॥

विरुद्धव्यापकाऽनुपलब्धिर्यथा-अस्त्यत्र णाया औण्या-
ऽनुपलब्धेः ॥ ७८ ॥

विधेयया छायाया विरुद्धस्तापः तद्व्यापकमौण्यम्, तस्या-
ऽनुपलब्धिरियम् ॥ ७८ ॥

विरुद्धसहचरानुपलब्धिर्यथा-अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, स-
म्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ ७९ ॥

विधेयेन मिथ्याज्ञानेन विरुद्ध सम्यग्ज्ञानं, तत्सहचर सम्यग्-
दर्शनं, तस्याऽनुपलब्धिरेषा ॥७९॥ रत्ना० ३ परि० ।

अथाऽनुपलब्धेः प्रामाण्यविचारः-

यदपि- " प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।
साऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञान वाऽन्यवस्तुनि " ॥ १ ॥
(सेति) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्ति आत्मनो घटादिग्राहकतया
परिणामाभाव प्रसज्यपक्षे । पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घट-
विविक्तताऽऽख्ये वस्तुन्यभावे घटो नास्तीति विज्ञानमित्यभाव-
प्रमाणमभिधीयते । तदपि यथासम्यक् प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव ।
तथाहि- " गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानस नास्तिताज्ञानं, जायतेऽज्ञानपेक्षया ॥१॥ " इतीयमज्ञा-
वप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतत्वादिक वस्तु प्रत्यक्षेण
घटादिभिः प्रतियोगिभिः ससृष्टमसृष्ट वा गृह्येत । नाप्य. पक्षः ।
प्रतियोगिसंसृष्टस्य चूतलादिवस्तुनः प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रति-
योग्यजावग्राहकत्वेनाऽभावप्रमाणस्य प्रवृत्तिविरोधात् । प्रवृत्तौ
वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगिन सत्त्वेऽपि तत्प्रवृत्तेः । द्वितीयपक्षे-
त्वभावप्रमाणवैयर्थ्यम्, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामभा-
वप्रतिपत्तेः । अथ न ससृष्ट नाऽन्यससृष्ट प्रतियोगिमिभूतला-
दिवस्तु प्रत्यक्षेण गृह्यते, वस्तुमात्रस्य तेन ग्रहणाज्युपगमा-
दिति चेत् ? तदपि दुष्टम् । ससृष्टत्वाऽससृष्टत्वयोः परस्परप-
रिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिषेधे अपरविधानस्य परिहर्तुमशक्य-

त्वादिति । सदसद्रूपवस्तुग्रहणप्रवर्णेन प्रत्यक्षेणैवायं वेद्यते । क्वचित् तु तदघट नूतनमिति स्मरणेन, तदेवेदमघटं भूतत्वमिति प्रत्यागिज्ञानेन, योऽग्निमान् न भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमोऽनग्नैरित्यनुमानेन, गृहे गर्गो नास्ति इत्यागमेनाभावस्य प्रतीतिः, क्वाऽभावप्रमाणं प्रवर्तताम् ॥ १ ॥ रत्ना०२ परि० । अर्थस्यासन्निकृष्टस्य सिद्ध्यर्थं प्रमाणान्तराप्रमाणाभावमभावार्थं वर्णयन्ति । तथाऽपरे-अभावोऽपि प्रमाणाऽभावो नास्तीति, अर्थस्यासन्निकृष्टस्येति वचनात् । अन्ये-पुनरभावार्थं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति । प्रमाणपञ्चकाऽभाववृत्तकणोऽनन्तरोक्तो जाव । प्रतिविध्यमानाद्, तदन्यज्ञानमात्मा वा, विषयरूपेण तन्निवृत्तस्वभाव इत्यनेन च भावप्रमाणेन, प्रदेशादौ घटादीनामभावो गम्यते । तदुक्तम्-

“प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपेण जायते ।

वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं, तत्राऽजावप्रमाणा ॥ १ ॥

प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।

सात्मनोऽपरिणामौ वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि” ॥ २ ॥

न च प्रत्यक्षेणैवाभावोऽवसीयते, तस्याजावविषयत्वविरोधात् । भावांशैर्नैवेन्द्रियाणां संयोगात् । तदुक्तम्-“न तावदिन्द्रियेणैषा, नास्तीत्युपपद्यते मतिः । जावाशैर्नैव सवेद्या, योन्यत्वादिन्द्रियस्य हि” ॥ १ ॥ नाऽप्यनुमानेनासौ साध्यते, हेत्वभावात् । न च प्रदेश एव हेतु, तस्य साध्यधर्मित्वेनाभ्युपगमात् । न चैवमपि हेतुप्रतिज्ञा, अर्थकदेशात्प्राप्तेः । न च प्रदेशविशेषो धर्मस्तत्सामान्यहेतुः, तस्य घटाऽजावन्निचारात् । न हि सर्वत्र प्रदेशघटाजावः शक्यः साध्ययितुम्, सघटस्यापि प्रदेशस्य संज्ञात् । अथ घटाऽनुपपन्नस्या प्रदेशे धर्मिणि घटाऽभावः साध्यते । असदेतत् । साध्यसाधनयोः कस्यचित् संबंधस्याभावात् । तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेव । न चाऽभावस्य तद्विषयस्याभावाद्जावप्रमाणान्तरवैयर्थ्यम् । प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधस्य वस्तुरूपस्याऽजावस्य भावात् । अन्यथा कारणादिविभागतो व्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात् । “न च स्याद् व्यवहारोऽयं, कारणादिविभागतः । प्रागभावादिभेदेन, नाऽजावो यदि ज्ञियते” ॥ १ ॥ अजावस्य च प्रागभावादिभेदाऽन्यथानुपपत्तेरपत्त्या वस्तुरूपताऽवसीयते । तदुक्तम्-“न चावस्तुन पते स्युः, सदा तेनाऽस्य वस्तुता । कार्यादनामभावः स्यादित्येव कारणं घिना” ॥ १ ॥ इति । अनुमानप्रमाणाऽवसेया चाऽभावस्य वस्तुरूपता । यदाह “यद्वाऽनुवृत्तिव्यावृत्ति-धुक्तिप्राप्तौ यतस्त्वयम् । तस्माद् गवादिष्वद वस्तु, प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्” ॥ १ ॥ अभावस्य चतुर्धा व्यवस्था-प्रागभावः, प्रवृत्ताभावः, इतरेतरभावः, अत्यन्ताभावश्चेति । तत्र-

“क्षीरे दृष्ट्यादि यन्नास्ति, प्रागभावः स उच्यते ।

नास्तिता पयसो दक्षि, प्रवृत्ताभाववत्क्षणम् ॥ १ ॥

गवि योऽश्वाद्यभावस्तु, सोऽन्योऽन्याभाव उच्यते ।

शिरसोऽवयवा निम्ना, वृद्धिकाठिन्यवर्जिता ॥ २ ॥

शशे शृङ्गादिरूपेण, सोऽत्यन्ताभाव उच्यते” ।

यदि चेतद् व्यवस्थापकमभावार्थं प्रमाणं न भवेत्, तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्था दूरोत्सारितैव स्यात् । तदुक्तम्-

“क्षीरे दधि प्रवेदेवं, दक्षि क्षीरं घटे पटः ।

शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ, चैत्यन्यं स्मृतिरात्मनि ॥ १ ॥

अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ, वायौ रूपेण तौ सह ।

व्योम्नि तु स्पर्शता तै च, न चेदस्य प्रमाणाता” ॥ २ ॥

निरंशभावैकरूपत्वाद् वस्तुनस्तत्स्वरूपप्राप्तिनाऽप्यक्षेण तस्य सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य चापरस्यासदंशस्य तत्राभावात् कथं तद्व्यवस्थापनाय प्रवर्तमानमजावार्थं प्रमाणं प्रामाण्यं श्रुतमस्तु इति वक्तव्यम्, यतः सदसदात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदशग्रहणेऽप्यगृहीतस्यासदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमाणाभावस्य प्रवर्तमानस्य न प्रामाण्यव्यावृत्तिः । तदुक्तम्-

“स्वरूपपररूपाभ्यां, नित्यं सदसदात्मके ।

वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित्, रूपं कैश्चित् कदाचन ॥ १ ॥

यस्य यत्र यदेदं नूति-जिघ्रिक्वा चोपजायते ।

वेद्यतेऽनुभवस्तस्य, तेन च व्यपदिश्यते ॥ २ ॥

तस्योपकारकत्वेन, वर्ततेऽशस्तदेतर” ।

उभयोरपि सचिन्त्यो-रभयानुगमोऽस्ति तु ॥ ३ ॥

प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु, भावांशौ गृह्यते यदा ।

व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघ्रिक्वित” ॥ ४ ॥

न च भावांशादभिन्नत्वादभावांशस्य तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह इति; सदसदशयोर्धर्म्येनेऽपि भेदाऽभ्युपगमात् । उक्तं च-

“ननु भावादभिन्नत्वात्, संप्रयोगोऽस्ति तेन च ।

नह्यन्यत्वमभेदोऽस्ति, रूपादिवदिहापि न ॥ १ ॥

धर्मयोर्भेद इष्टोऽपि, धर्मं जेदेऽपि न स्थिते ।

उद्भवाभिन्नवात्सत्वात्, ग्रहणं चावतिष्ठते” ॥ २ ॥ इत्यादि ।

नदेवमगृहीतप्रमेयाऽभावप्राहकत्वात् प्रमाणभावस्य प्रमाणत्वम्, प्रत्यक्षादिप्यनन्तर्जावात् । प्रमाणान्तरत्वं च व्यवस्थितम् । सम्म० । (सम्मतितर्के ग्रन्थेऽस्मिन् विषये विशेषोऽन्वेष्टव्यः)

अणुवल्धमाणा-अनुपलज्यमान-त्रि० । अदृश्यमाने, “अणुवल्धमभावाणो वि सुहृदुक्स्वमाहर्हि” दश० १ अ० ।

अणुववायकारक-अनुपपातकारक-त्रि० । उप समीपे पतनं स्थानमुपपातो दृग्विषयदेशावस्थानम्, तत्कारकस्तदनुगता तदभिन्नो गुर्वादेशादिभीत्या तदव्यवहितदेशस्थायिभिन्न गुरुणां दृग्विषये स्थित्यकारकः, तस्मिन्, उक्तं १ अ० आदेशभयाद् दूरं तिष्ठति । उक्तं १ अ० ।

अणुवसंत-अनुपशान्त-त्रि० । उपशान्तो जितकषायः, न उपशान्तोऽनुपशान्तः । सकषाये, उक्तं १ ए० अ० । उपशमप्रधाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । निर्विकारे, स्था० ।

अणुवसमंत-अनुपशमयत्-त्रि० । अनुपशमं कुर्वति, व्य० १ उ० ।

अणुवसु-अनुवसु-पु० । वसु इत्य तद्भूतः कषायकालिकादिमलापगमाद् वीतराग इत्यर्थः । तद्विषय्येणाऽनुवसु । सरागे, वसु साधु, अनुवसु श्रावकस्तमिन्, “वीतरागो वसुधैवो, जिने वा सयनोऽथवा । सरागोऽहानुवसु प्रोक्तः, स्थाविर श्रावकोऽथवा” ॥ १ ॥ “वसु वा अणुवसु वा जाणिषु धम्मं जहा तदा” आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अणुवस्तिव्यवहारकारि(ण)-अनुपश्रितव्यवहारकारिन्-त्रि० । निश्चा रागः, निश्चा संज्ञाता अस्येति निश्चिन्, न निश्चितोऽनिश्चितः, स चासौ व्यवहारश्च अनिश्चितव्यवहारः, तत्करणशीला अनिश्चितव्यवहारकारिणः । रागेण व्यवहारकारिणि, व्य० १ उ० ।

अणुवह-अनुपय-अव्य० । पथ समीपे, । अनुपयमेवास्मद्वसयो भवतां वर्तते । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

अनुपध-त्रि० । प्रावत उपधाऽयुक्ते, प० स० २ द्वा० ।

अणुवहय-अनुपहत-त्रि० । न० त० । अग्न्यादिभिरविध्व-
स्ते, पि० ।

अणुवहयविहि-अनुपहतविधि-पुं० । अनुत्पन्नमुत्पाद्य दाने,
गुरुभिर्दत्तस्य अन्यस्य गुरुननुज्ञाप्य दाने वा । अनुपहतविधि-
येदनुत्पन्नमुत्पाद्य ददाति । अन्ये तु व्याचक्रते-यत्पुनस्तस्य गुरुभि-
र्दत्त तत्सोऽन्यस्य गुरुननुज्ञाप्य ददाति “अणुवहिय ज तस्स
उ, दिन्नं त देह सो उ अन्नस्स” यत्तस्य दत्त सोऽन्यस्मै गुरुन-
नुज्ञाप्य ददाति । क्रमाश्रमणैस्तु न्यमिद दत्तमित्येषोऽनुपहतवि-
धिः । व्य० १ उ० ।

अणुवहास-अनुपहास-त्रि० । अविद्यमानोपहासे, पञ्चा० ६
विव० ।

अणुवहुआ-देशी०-नववध्वाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुवाह(ण)-अनुपातिन्-त्रि० । अनुपतत्यनुसरतीत्येवंशीलः ।
स्था० ६ उ० । योग्ये, “अणुवाह नव्वसुत्तस्स” पं० व० २
द्वा० । अनुवादितु शीलमस्येत्यनुवादी । अनुवादशीले, सूत्र० १
श्रु० १२ अ० ।

अणुवाएज्ज-अनुपादेय-त्रि० । हेये अग्रहीतव्ये, आ० म० द्वि० ।

अणुवाणहय-अनुपानत्क-त्रि० । न विद्येते उपानहौ यस्य
सोऽयमनुपानत्कः । उपानहोरधारके, यो० १ विव० ।

अणुवाय-अनुताप-पु० । सयोगे, म० १२ श० ४ उ० ।

अनुपात-पु० । अनुसरणे, प्रज्ञा० १७ पद । अनुपतनमनु-
पातः । शब्दोच्चारणरूपानुदर्शनादौ, उपा० १ अ० ।

अनुवात-पु० । आघायकविवक्षितपुरुषाणामनुकूले वाते,
जं० १ वत्त० । रा० । अनुकूलो वातो यत्र देशे सोऽनुवातः ।
यस्माद् देशाद् वायुरागच्छति तत्र, म० १६ श० ६ उ० ।

अनुवाद-पु० । विधिप्राप्तस्य वाक्याऽन्तरेण कथने, वाच० ।
“द्वादश मासाः संवत्सरोऽग्निरुष्णोऽग्निर्हिमस्य भेषजम्” इत्या-
दीनि तु वेदवाक्यान् अनुवाक्यभयानानि, लोकप्रसिद्धस्यैवार्थ-
स्यैतेष्वनुवादात् । विशे० ।

अणुवायवाय-अनुपायवाद-पु० । पृष्ठे मिथ्यात्ववादे, नयो० ।

अणुवालय-अनुपालक-पुं० । आजीविकोपासकभेदे, म० २४
श० २० उ० ।

अणुवास-अनुवास-पु० । वर्षावासे ऋतुवद्धे वा उपित्वा पुन-
स्तत्रैव पश्चाद् वसने, अशिवादिकारणेषु वृद्धादिवासे वा
वसने च । तत्र कल्प —

अहुणा अणुवासणाकप्पं तु ।

वोच्छामि गुरुवदेमा, अणुगहटा सुविहियाणं ॥

अणुवासम्मि तु कप्पो, पन्नवग पुरुच्च बहुविहा अत्था ।

अणुवासणए पगतं, सुद्धा य तद्वा असुद्धा य ॥

अणुवासत्थो बहुहा, उडवासे वण अहव असिवादि ।

बुद्धादी वासो वा, अहवा अणुवासणमणुवासो ॥

वमितं पुणो वि वसती, अणुवासिगवसाहिसमदगीसण्हा ।

तीयहिगारो एत्थं, सा होज्जा सुद्धऽमुद्धो वा ॥

पट्ठीवंसादीहिं, वंसगकरणादिपरिहं तद्वा चेव ।

होति अमुद्धा वसही, मूझगुण उत्तरगुणे य तद्वा ॥

कालप्फुयातिरित्तं, अविमुद्धासु च तासु वसमाणो ।

पावाति पायच्छित्तं, मोत्तूयं कारणमिमोहिं ॥

अमिवे ओमोयरिण, रायदुद्धे भए व आगादे ।

गेझएह उत्तमडे, चरित्तसज्जातिए असती ॥

वाहिं सव्वत्थ सिचं, तेण सया काळदुयगम्मि ।

पुणो वि य एहु णिगुच्छे, अणुपच्छा जाव अणुवासी ॥

आझंवरणे विसुद्धे, सुच्छदुत्तं परिहरे पयचेणं ।

आसज्ज तु परिभोगं, भयणा पडिसेवसंकमणे ॥

असिवादीहिं वसतो, सुद्धाए वसहीए वसे साहू ।

सुद्धासतीए जतती, विसोहिकोदीए पुव्वं ति ॥

जयणत्ती जं जणितं, पुव्वत्ताए तु जेतु जे दोसा ।

ते ते पुव्वं सेवे, कम्मणो वी इमा जयणा ॥

अप्पावहं तु छेजं, जत्थ गुणा तू भवेज्ज बहुतरगा ।

गच्छं गच्छंताण व, तं चेव तहिं करेज्जा तु ॥

असिवादिनिष्ठिए पुण, अव्वक्खेवेण संकमे ततो ।

सत्थं तु पमिच्छंतो, जइ अत्थे तत्थ सुद्धो तु ॥

एतं एयरविहूणं, अणुवासियं जेतु अणिवसे कप्पं ।

कालप्फुयावराहे, संवद्धितमोऽवराहाणं ॥

संवद्धितावराहे, नवोवडेदो तद्देव मूलं वा ।

आयारपकप्पे जं-पमाणेमाण चरमम्मि ॥

अणुवासियाए कप्पो, एमे सो वसितो समासेणं । पं० ना० ।

इयणि अणुवासकप्पो-तत्थ(गाहा)[अणुवासम्मि उ]अणुवासो
नाम वासावासो उवद्धे वा वसितो तत्थेव अणुवसह, उवद्धे
मासवहु, वासे चवत्तहु । तत्थ पुण बहुविहा सुत्तथा । जहा पथे
व कप्पे विप मासकप्पसुत्ते पथ पुण अहिगारो अणुवासिज्ज
तीति । अणुवासिया का पुण सा?, वसही सुद्धा य, असुद्धा य ।
असुद्धा पट्ठीव सोवसगकरणो वठणादि (गाहा) [असिवे] अ-
सिवास्स कारणेसु असुद्धाए वि वसति रायदुद्धे कोप्परपट्ठीया
सोयाणि वा तत्थ तत्थि जाणि बाहिरपरिहं खेत्तोहिं सज्जाणि
दोसकरणाणि जए व बोधिगादिसु गेलखउत्तिमठे चरित्त इत्थि-
दोसएसणा दोसा असज्जाए वा असह वा गुणाण जे तम्मि
वसहीए (गाहा) [आलवणे]एव आलवणविसुद्धे सत्तदुए परि-
हरेज्जा जुत्तेण परिभोग पुण मासज्ज गुणपरियट्ठिसि जणिय हेव
जाणिया पडिसेहसकमणे गुणवुद्धिनिमित्त अच्चेज्जा न सक्केज्जा
अस वसहिं खेत्त वा पपसु पुण कारणेसु विण्णसो अणुवालि-
य परिवसह तस्स सघट्टियावराहे, एस अणुवासणाकप्पो ॥
पं० चू० ।

अहुणा वोच्छं अणुवासणाकप्पं ।

अणुवासमासकप्पो, वामासासो इमेधं तु ॥

जिण्णथेर अहालदे, परिहारितअज्जमासकप्पो तु ।

खेत्ते कालमुवस्सय-पिंडगहणे य एणत्तं ॥
एएसिं पंचएह वि, अणोणस्स चउपदेहिं तु ।
खेत्तादीहिं विसेसो, जह तह वोच्छ समासेणं ॥
एत्थि उ खेत्तं जिणक-पियाण उउवद्धमासकालो तु ।
वासासुं चउमासो, वमही अममत्त अपरिकम्मा ॥
पिमो तु अलेवकडो, गहणं तु एमणा उवरिमादि ।
तत्थ वि काउमभिगह, पंचएहं अष्टतरियाए ॥
थेराण अत्थि खेत्तं, तु उगहो जाव जोयणसकोसं ।
णगरं पुण वसहीए, विकालउउवद्धमासो तु ॥
उस्सग्गेणं जाणिओ, अववाएणं तु होज्ज अहिओ वि ।
एमेव य वासासु वि, चउमानो होज्ज अहिओ वि ॥
अममत्त अपरिकम्मा, उवस्सओ एत्थ जंगचउरो तु ।
उस्सग्गेणं पढमो, तिण्हि उ सेसाउवादेणं ॥
जत्त द्वेवकरं वा, अद्वेवरुमं वा वि ते तु गेएहंति ।
सत्तहिं वि एसणाहिं, सावेवलो गच्छवासो ति ॥
अहलदियाण गच्छे, अप्पमिवच्छाण जह जिणाणं तु ।
एवरं कालविसेसो, उउवामे पणगचउमासो ॥
गच्छे पडिवच्छाणं, अहलंदिणं तु अह पुण विसेसो ।
उगहो जो तेसिं तु, सो आयरियाण आनवति ॥
एगवसहीए पणगं, उच्चिउ ववगाम कुव्वंति ।
दिवसे दिवसे अणुं, अहंति विही य णियमेणं ॥
परिहारविसुच्छिणं, जहेव जिणकपियाण एवरं तु ।
आयविन्नं तु जत्तं, गेएहंति य वासकप्पं च ॥
अज्जाण परिगाहियाण, उगहो लोतु सोतु आयरिए ।
कात्ते दो दो मासा, उउवद्धे तासि कप्पो तु ॥
सेसं जह थेराणं, पिमो य उवस्सओ य तह तासिं ।
सो सव्वो वि य छुविहो, जिणकप्पो थेरकप्पो य ॥
जिणकप्पि अहाद्वी, परिहारविसुच्छियाण जिणकप्पो ।
थेराणं अज्जाण य, वोधव्वो थेरकप्पो तु ॥
छुविहो य मासकप्पो, जिणकप्पो चेव थेरकप्पो य ।
णिरणुगहो जिणाणं, थेराण अणुगहपवत्तो ।
उउवासकालउतीते, जिणकप्पीणं तु गुरुगा य ॥
होति दिणम्मि दिणम्मि वि, थेराणं तेविय लहू तु ।
तीसं पदाउवराहे, पुट्टो अणुवासियं अणुवसतो ॥
जे तत्थ पदे दोसा, ते तत्थ तगो समावसो ।
पक्खरमुग्गमदोसा, दस एसणा एए पुण वीसं ॥
संयोजणादि पंचय, एते तीसं तु अवराहा ॥
एतेहिं दोसेहिं, जदि असंपत्ति लग्गती तह वि ।
दिवसे दिवसे सो खल्लु, कात्तातीते वसंतो तु ॥
वासावासपमाण, आयारे उप्पमाणितं कप्पं ।
एय अणुमायतो, जाणसु अणुवासकप्प तु ॥

आयारपकप्पम्मी, जह जणियं तीत संवसंतो वि ।
होति अणुवासकप्पो, तह संवसमाणदोसा तु ॥
दुविहे विहारकाले, वासावासे तहेव उउवद्धे ।
मासातीते अणुवादि, वासातीते जवे उवही ॥
उउवद्धिएसु अट्टसु, तीतेसुं वास तत्थ ए तु कप्पो ।
धेत्तूणं उवही खल्लु, वासातीतेसु कप्पति तु ॥
वास उउ अहालंदे, इत्तिरिसाहणे पुहत्ते य ।
उगहसंकमणं वा, अणोणसकासहिज्जंतो ॥
वासासु चउम्मासो, उउवद्धे मासलंद पंचहिणा ।
इत्तिरिउ रुक्खमूले, वीसमणद्धा वि ताणं तु ॥
साहारणा तु एते, समट्टिताण वहुण गच्छाणं ।
एकेण परिगाहिता, सव्वे पोहत्तिया होति ॥
संकमणमन्नसण-स्स सकासे जदि तु ते अहीयंते ।
सुत्तत्थ तदुजयाई, संघे अहवा वि पडिपुच्छे ॥
ते पुण मंमलियाए, आवलियाए व त तु गेएहेज्जा ।
मंमद्वियमहिज्जते, सच्चित्तादी तु जो लाजो ॥
सो तु परपरएणं, सकमती ताव जाव संठाणं ।
जहियं पुण आवलिया, तहियं पुण अंतए ठाति ॥
त पुण ठितएकाए, वसहीए अहव पुप्फकिष्साओ ।
अहवा वि तु सकमणो, दव्वस्सिणमो विही अणो ॥
सुत्तत्थ तदुजयविसा-रयाण थोवे असंतती भोए ।
सकमणदव्वमरुलि-आवद्वियाकप्पअणुवासे ॥
पुव्वट्टिताण खेत्ते, जदि आगच्छेज्ज अणुआयरिओ ।
वहुसु य बहु आगमिओ, तस्स सगासम्मि जदि खेत्तो ॥
किंचि अहिजेज्जाही, थोवं खेत्त च त जदि हवेज्जा ।
ता ते असथरंता, दोषि वि साहू विभज्जेति ॥
अणोणस्स सगासे, तेसिं पि य तत्थ धिज्जमाणेणं ।
आभवणा तह चेव य, जह जणियमाणंतरे सुत्ते ॥
एव णिव्वाधाते, मासचउमासतो उ थेराणं ।
कप्पो कारणतो पुण, अणुवासो कारणं जाव ॥
एम-अणुवासणकप्पो । पं० जा० ।

इयाणि अणुवासकप्पो-(गाहा)[जिणथेर]सो पुण अणुवास-
कप्पो जिणथेरअहाद्वी य परिहारविसुच्छिं य अज्जाणति एगे-
गाओ एगस्स वहु ठाणेहिं खेत्तकात्तउउस्सयपिंडगहणे य
नाणत्त जिणस्स ताव खेत्त नत्थि काले उउवद्ध मासो वासा-
रत्ते चाउमासो उवस्सओ अममत्तो अपरिकम्मा भिक्षा अ-
द्वेवाडा खेत्तोग्गहो थेराण अत्थि सक्कोस जोयण नगरे वस-
हि उगहो तेसिं कात्तओ मास वा मासाइय वा उउम्मि कारण-
मकारणे वासासु चाउमास वा निक्कारणे कारणे पुण कणाहिय
उवस्स उ उस्सग्गेण अममत्तो अपरिकम्मा य अववाएण सस-
मत्तो सपरिकम्मा य पिमो द्वेवामो अलेवामो य अहाद्वीदियाण
गच्छे अप्पमिवच्छाण जहा जिणाण नवरि काले उज्जागे गामो
कीरइ एगेगो जागे पचदिवस जिक्ख हिमति, तत्थेव वसति

वासासु पगत्थ चउम्मासो एव परिहारियाण वि जहा जिणाण
णवरि आयविणेण मासो सव्वो वि डुविहो जिणकप्पो थेरक-
प्पो य, जिणअहावदिपरिहारविसुक्कियाण जिणकप्पो अज्जाणं
थेराण य थेरकप्पो गच्छपमिवरुअहालंदियाण आयरि-
याण चेव सो क्वित्तोगहो सजयणगीयत्थपरिगहियाण
अत्थि खेत्त सो आयरियाण चेव जिणकप्पो निरणुगहो
असिवादो कारणे नत्थि थेरकप्पो साणुगहो असिवाइसु
कारणेसु कात्ताइए उउम्मि जिणाण गुरुओ मासो दिणे दिणे
थेराण बहुओ मासो दिणे दिणे तम्मि खेत्ते अत्थताण चउम्मा-
साइय जिणाण तम्मि चेव खेत्ते दिणे दिणे चउगुरु थेराण दि-
णे दिणे चउलहुं (गाहा) [तीसपयाऽवराहेति] सोलस उग्ग-
मदोसा, सजोयणाइ पचदस एसणा दोसा, वारुपरिवारीय
पन्नरस उग्गमदोसा पच सजोयणमाइ तत्थ द्ढा एसा वीसा
दस एसणा दोसा एए तीसपयावराहेति तैसि अहवा दिवसे
दिवसे अवराहो तीस दिणा मासो जग्गिमा अज्जइ जयमाणो वि
अत्थतो निक्कारणे तेण वग्गइ (गाहा) [वासावासपमाण] वासावा-
सपमाण च पय आयारकप्पे भणिय तम्मि अइक्कतो उग्गहकाले
अणुवसतस्स अणुवासिया जवइ (गाहा) [दुविहे विहारकाले]
अइक्कते अट्ठाहिं मासेहिं अइएहिं वास पमिवज्जइ तत्थोवही न
वेप्पइ वास्से अइए वेप्पइ (गाहा) [वास उउ] एएसिं त्रियाण जइ
बहुया पक्कम्मि खेत्ते त्रिया होज्जा वासासु उउम्मि वा अहाव-
दिं पच दिवसा जाव साहरणा पुहुत्ते वा इरित्ति ए वा रुक्खदेठा
सकमण एगो एगस्स मूले दस वेयाविय उज्जुयारेइ तस्स पुण
दस वेयाविय उज्जुयारेइ तस्स मूले अन्हो उत्तरज्जयणाणि
पढइ ज उत्तरज्जयणाइत्तो सचित्ताइ वग्गइ त दसवे-
यावियाइ तस्स देइ दोसो उत्तरज्जयण उज्जुयारेइ तस्स
मूले अन्नो वमचेरे उज्जुयारेइ जाव विवागसुय जहो-
त्तरापविया सछाण चेव एइ दसवेयावियइत्तस्स अत्थे पुण एगो
एगस्स मूले आवासगाहाओ पढइ अन्नो पुण आवम्मसस्स
अत्थ कहेइ अत्थइत्तो वल्लिओ वा एगो दसवेयालियस्स सुत्ते
वाएइ एगो अत्थ कहेइ अत्थइत्तो वल्लिओ एगो उत्तरज्जयणा
वाएइ एगो अत्थ कहेइ अत्थइत्तो वल्लिओ एव जाव विवाग-
सुय सन्नत्थ अत्थो वल्लिओ एगो पक्कत्ति वाएइ एगो दसवेया-
लियाइण जाव कप्पव्ववहाराण अत्थ कहेइ अत्थइत्तो वल्लिओ-
एव जाव विवागसुय एगो कप्पव्ववहारे कहेइ एगो दिठ्ठिवाइसु-
त्ते वाएइ सुत्तइत्तो वल्लिओ सन्नत्थ पुव्वगयइत्तो वल्लिओ जत्थ
वा मरुली ठिज्जइ हेड्डिवाण तत्थ पावइ सच्चित्ताइ ते पुण
एगो वसहीए त्रिया पुक्कावाकिंजा वा (गाहा) [सुत्तत्थ] अहवा
एगम्पि गामे एगो खारिओ सुत्तत्थिसारओ पुव्वठिओ तस्स
अन्ने पासे पढति, त च खेत्त थोव अपज्जत्ते भत्तपाणे दा वि
जणा पढतएओ वेऊण सजए विसज्जेति अरण खेत्त माहे तैसिं
अन्नगाम गयाणं परोप्परस्स पढताण तदेव सकमणछाण सचि-
त्ताइ दव्वे जाव आवालिया सछाणगयति (गाहा) [एसो उ] काव-
कप्पो निव्वाघाएण वासासु चउम्मासे उउम्मि अट्ठमासे कार-
णे पुण थेराण जाहे अणुवासो जवइ जाव त कारणं समत्त
असिवाइ ताव अणुवास ता वि जयता सुद्धा, एस अणुवास-
कप्पो । प० चू० ।

अणुवामग-अनुपासक-पुं० । न उपासक आवकोऽनुपासकः ।
मिथ्यादृष्टौ, स च ज्ञातकोऽज्ञातकश्च, नायकोऽनायकश्चेति द्वि-

धा । “अणुवासगो वि नायगमनायगौ य” एतस्य द्विविधस्या
ऽपि प्रजाजने चतुर्गुरु, आह्लादयश्च दोषाः । नि० चू० ११ उ० ।
उपासकः आवक इतरोऽनुपासकः । अभावके, नि० चू० ८ उ० ।

अणुवासणा-अनुवासना-स्त्री० । चर्मयन्त्रप्रयोगेणाऽपानेन ज-
उरे तैलविशेषप्रवेशने, क्ता० १३ अ० । विपा० । व्यवस्थापना-
याम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अणुवि(न्वि)ग-अनुद्विग-त्रि० । न० त० । प्रशान्ते, “चरे मंद-
मणुव्विगे, अविक्खित्तेण चैयसा” दश० ५ अ० १ उ० । अनु-
द्विगः क्षुधादिजयात् प्रशान्त इति । वृ० १ उ० ।

अणुविरइ-अनुविरति-स्त्री० । देशविरतौ, कर्म० १ कर्म० ।

अणुवीइ-अनुविचिन्त्य-अव्य० । अनु-वि-चिति-इयप् । पर्या-
लोच्येत्यर्थे, प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० । आलोच्येत्यर्थे, दश० ७ अ० ।
केवलज्ञानेन ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अनुवाच्य-अव्य० । आनुकूल्य वाचयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४
अ० १ उ० ।

अणुवीइजासि(ण)-अनुविचिन्त्यजाषिन्-पु० । अनुविचि-
न्त्य पर्यालोच्य भाषते इत्येवशील्योऽनुविचिन्त्यजाषिन् । व्य० १
उ० । स्वाहोचितवक्तृरूपे वाचिकविनयभेदे, दश० १ अ० ।

अणुवीइसमिजोग-अनुविचिन्त्यसमितियोग-पु० । अनुवि-
चिन्त्य पर्यालोच्य जाषणरूपा या समितिः सम्यक्प्रवृत्तिः सा-
ऽनुविचिन्त्यसमितिस्तयोयोगं संबन्धस्तद्वृत्तौ वा व्यापारो वाऽ-
नुविचिन्त्य समितियोगः । भाषासमितियोगे, प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।

अणुवूहण-अनुव्यूहन-न० । प्रशंसने, कल्प० ।

अणुवेदयंत-अनुवेदयत्-त्रि० । अनुभवति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अनुवेहमाण-अनुप्रेक्षमाण-त्रि० । अनुप्रेक्षां कुर्वति, “घुणे व
रालं अणुवेहमाणे, विज्जाण सोय अणवेक्खमाणे” सूत्र० १० अ० ।

अणुवो-देशी-तथेत्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुव्वय(अ)-अणुव्रत-न० । अणुनि लघूनि व्रतानि अणुव्र-
तानि । लघुत्वं च महाव्रतापेक्षयाऽल्पविषयत्वादिनेति प्रतीत-
मेवेति । उक्तं च- “सव्वगय सम्मत्तं, सुए चरित्तेन पज्जवा
सव्वे । देसविरइ पुरुब्ब, दोणह वि पमिसेवण कुज्जा” ॥१॥ इति ।
अथवा सर्वविरताऽपेक्षयाऽणोर्लघोर्युगिनो व्रतान्यणुव्रतानि ।
स्था० ५ ग० १ उ० ।

अनुव्रत-न० । अनु महाव्रतस्य पश्चादप्रतिपत्तौ यानि व्रतानि
कथ्यन्ते तान्यनुव्रतानि इति । उक्तं च- “जइ धम्मस्स समत्थे,
जुज्जइ तदेसण पि साहूण । तददिगदोसनिवत्ती, फन्नति का-
याणकपट्ट ” ॥१॥ इति । स्था० ५ ग० १ उ० । भा० । आनु० ।
ध० । आवकयोग्येषु देशविरतिरूपेषु स्थूलप्राणातिपातविर-
मणादिषु ,

तानि च-

पंचाणुव्वया पसुत्ता ? । त जहा-धूलाओ पाणाइवायाओ
वेरमाणं, धूलाओ मुसावायाओ वेरमाणं, धूलाओ अदिमा-
दाणाओ वेरमाणं, सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे ।

स्थूला द्विन्द्रियादयः सत्त्वाः, स्थूलत्वे चैतेषां सकललौकिकानां जीवत्वाप्रसिद्धेः, स्थूलविषयत्वात् स्थूल, तस्मात् प्राणातिपातात् । तथा स्थूलः परित्यूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टो विवक्षासमुद्भवः, तस्मात् मृषावादाद् । तथा परित्यूलवस्तुविषयं चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमतिदुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्थूल, तस्माददत्तादानात् । तथा स्वदारसन्तोषः, आत्मीयकलत्रादन्येच्छानिवृत्तिरित्युपलक्षणात्परदारवर्जनमपि ग्राह्यम् । तथा इच्छाया धनादिविषयस्याभिलाषस्य परिमाणनियमनमिच्छापरिमाणम् ; देशतः परिग्रहविरतिरित्यर्थः । स्था० ५ त्रा० १ व० । आध० । उपा० ।

(सातिचाराणां प्राणातिपातादीनां ध्यास्या स्वस्थाने)

अस्य ग्रहणविधिः —

तस्मादभ्यासेन तत्परिणामदाक्यं यथाशक्ति द्वादशव्रतस्वीकारः, तथासीति सर्वाङ्गीणविरते समवाहिरितेश्च महाफलत्वात्, अन्येऽपि च नियमाः सम्यक्त्वयुक्तद्वादशान्यतरव्रतसंबन्धा एव देशविरतित्वाभिव्यञ्जकाः । अन्यथा तु प्रत्युत पार्श्वस्थत्वादिभावाविर्भावकाः, यत् 'उपदेशरक्षाकरे' सम्यक्त्वाऽणुव्रतादिश्राद्धधर्मरहिता नमस्कारगुणनजिनार्चनवन्दनाद्यनिग्रहभृतः श्रावकाभासा श्राद्धधर्मस्य पार्श्वस्था इति ।

इत्थं च विधिग्रहणस्यैव कर्त्तव्यत्वात् सग्रहेऽस्य प्रवर्तत इत्यत्र धर्मस्य सम्यग्विधिना प्रतिपत्तौ प्रवर्तत इत्येव पूर्वं प्रतिज्ञातत्वाच्च तद्ग्रहणविधिमेव दर्शयति—

योगवन्दननिमित्त-दिगाकारविशुद्ध्यः ।

योग्योपचर्येति विधि-रणुव्रतमुखग्रहे ॥ ३३ ॥

इह विशुद्धिर्वाद् प्रत्येकमभिसम्बध्यते, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् । ततो योगशुद्धिर्वन्दनशुद्धिर्निमित्तशुद्धिर्दिक्शुद्धिराकारशुद्धिश्चेत्यर्थः । तत्र योगाः कायवाङ्मनोव्यापारलक्षणा, तेषां शुद्धिः सोपयोगान्तरगमननिरवद्यजापणशुभचिन्तनादिरूपा, वन्दनशुद्धिस्त्वलितप्रणिपातादिदण्डकसमुच्चारणासन्नान्तका-योत्सर्गादिकरणलक्षणा, निमित्तशुद्धिस्तत्कालोच्छलितशङ्खपण-वादिनिनादश्रवणपूर्णजन्मजृम्भारचन्द्रध्वजचामराद्यवलोकनगु-जगन्धाम्राणादिस्वभावा, दिक्शुद्धिः प्राच्युदीचीजिनचैत्याद्यधिष्ठिनाऽऽशासमाश्रयणस्वरूपा, आकारशुद्धिस्तु राजाभियोगादिप्रत्याख्यानापवादमुत्कलीकरणात्मिकेति । तथा योग्यानां देव-गुरुसार्धमिकसज्जनदीनानाथादीनामुचिता उपचर्या धूपपुष्प-वस्त्रविलेपनाऽऽसनदानादिगौरवात्मिका चेति विधिः । स च कुत्र भवतीत्याह—(अणुव्रतेति) अणुव्रतानि मुखे आदौ येषां तानि अणुव्रतमुखानि साधुश्रावकविशेषधर्माचरणानि, तेषां ग्रहे प्रतिपत्तौ भवतीति सद्धर्मग्रहणविधिः । विशेष-विधिस्तु सामाचारीतोऽवसेयः । तत्पाठश्चायम्—“पसत्ये खित्ते जिणभवणाइए पसत्येसु तिहिकरणनक्खत्तमुहुत्तचदयलेसु परिक्खियगुण सीस सूरि अगगओ काउ खमासमणदाण-पुव्व भणवेइ-इच्छकारि भगवन् । तुम्हे अह्म सम्यक्त्व-सामायिक श्रुतसामायिक देशविरतिसामायिकम् आरोवाव-णीय नदिकरावणीय देव वदावेह । तओ सूरि सेह वामपासे ठवित्ता वद्धितियाहिं थुरेहिं सधेण सम देवे वदेइ जाव भम दिसतु । तत, श्रीशान्तिनागाराधनार्थं करेमि काउस्सग्ग, 'वदणवत्तियाए' इत्यादि सत्तावीसुस्सास काउस्सग्ग करेइ, 'श्रीशान्ति' इत्यादिस्तुतिं च भणति । नतो द्वादशाङ्गारा-भनार्थं करेमि काउस्सग्ग 'वदणवत्तिआए' इत्यादि कायोत्सर्गे नमस्कारचिन्तनम्, तत स्तुति, तओ सुयदेवयाए करेमि

काउस्सग्ग, अन्नत्थ ऊससिएणमिच्छाइ, ततः स्तुतिः, एव शास-नदेवयाए करेमि काउस्सग्ग, अन्नत्थ ऊ०' या पाति शासनं जैनं, सद्यः प्रत्युहनाशिनी । साऽभिप्रेतसमृद्धर्थं, भूयाच्छाशनदे-वता" ॥१॥ इति स्तुतिः । समस्तवैयावृत्यकराणां कायोत्सर्गः, ततः स्तुति, नमस्कार पणित्वोपविश्य च शक्रस्तवपाठ । परमेष्ठिस्तवः 'जय वीरयाय' इत्यादि । इयं प्रक्रिया सर्वविधिषु तुल्या, तत्तन्नामो-च्चारकृतो विशेषः । ततो वदणपुव्व सीसो जणइ-इच्छकारि भ-गवन् । तुम्हे अह्म सम्यक्त्वसामायिक श्रुतसामायिक देशविरति-सामायिकम्, आरोवावणीय नदिकरावणीयं काउस्सग्ग करेह । तओ सीससाहिओ गुरु सम्यक्त्वसामायिक श्रुतसामायिक देश-विरतिसामायिक आरोवावणीय नदिकरावणीय करेमि काउ-स्सग्गमिच्छाइ जणइ । सत्तावीसुस्सासचित्तण चउवीसत्थयभणनं कमा० नमस्कारत्रयरूपनान्दिश्रावण, तत पृथक् नमस्कारपूर्वकं वारत्रय सम्यक्त्वदण्डकपाठ । स चायम्—

“अहन्न भते । तुम्हाणं समीवे मिच्छत्ताओ पणिकमामि समत्तं उपसपज्जामि । त जहा-दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ, दव्वओ ण मिच्छत्तकारणाइ पणक्खामि, सम्मत्तकारणाइ उवसपज्जामि, नो मे कप्पइ अज्जप्पज्जिई अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवया-णि वा अन्नउत्थियपरिगाहियाणि वा अरिहतत्थेइयाणि वदित्तए वा नमसित्तए वा पुर्विं अणालत्तए वा आहवित्तए वा सलवित्तए वा तेसिं अरण वा पाण वा खाइम वा साइम वा दाउ वा अणुप्प-याउ वा खित्तओ ण इत्थ वा अन्नत्थ वा कालओ ण जावज्जीवाए जावओ ण जाव गहेण न गहिज्जामि, जाव उद्वेण न छुहिज्जामि, जाव सनियापण नाजिभविज्जामि, जाव अन्नेण वा केणउ रोगा-यकाइणाइ एस परिणामो न परिवरुइ, ताव मे एअ सम्मइसण नन्नत्थ रायभियोगेण गणाभिओगेण बलाभिओगेण देवयाभि-योगेण गुरुनिग्गहेण वित्तिकतारैण वोसिरामि, ततश्च “अरिह-तो महदेवो जाव” इत्यादिगाथाया वारत्रय पाठ । यस्तु सम्य-क्त्वप्रतिपत्त्यनन्तर देशविरतिं प्रतिपद्यते, तस्यात्रैव व्रतोच्चार । तओ वदित्ता सीसो भणइ-इच्छकारि भगवन् । तुम्हे अह्म स-म्यक्त्वसामायिक श्रुतसामायिक, देशविरतिसामायिकम्, आरो-वो । गुरुराह-आरोवेमि । पुणो वदित्ता भणइ-सदिस किं भणा-मि? गुरु भणइ-वदित्ता पव्वेह । पुणो वदित्ता भणइ तुम्हे अरहं समत्तसमाइय सुयसामाइय देसविरइसामाइय आरोविय इच्छा मि अणुसट्ठिगुरु भणइ आरोविय रत्तमासमणाण हत्थेणु सुत्तेण अत्थेण तदुज्जणं सम्म धारिज्जाहिं गुरुगुणेहिं वुह्माहिं नित्यारग-पारगा होह । सीसो भणइ-इच्छ ३ । तओ वदित्ता भणइ-तुम्हाणं पवेइय सदिसह साहण पवेपमि । गुरु भणइ-पवेपह ४ । तओ वदित्ता एगनमुक्कारमुच्चरतो समोसरण गुरु च पयक्खिण्णेइ, एव तिभि वेला । तओ गुरु निसिज्जाए उवविसइ । खमासमण-पुर्विं सीसो भणइ-तुम्हाण पवेइय साहण पवेइय सदिसह काउस्सग्ग करेमि । गुरु भणइ-करेह ६ । तओ वदित्ता भणइ-स-म्यक्त्वसामायिक ३ स्थिरीकरणार्थं करेमि काउस्सग्गमि-त्यादि, सत्तावीसुस्सासचित्तण चउवीसत्थयभणन । तत सू-रिस्तस्य पञ्चोदुम्बर्यादि ३ यथायोग्यमभिग्रहान् ददाति । तद्-एडकश्चैवम्—“अहन्न भते । तुम्हाणं समीवे इमे अभिग्गहे गि-एहामि । त जहा-दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ ण इमे अभिग्गहे गिएहामि, खित्तओ ण इत्थ वा अन्नत्थ वा, का-लओ ण जावज्जीवाए, भावओ ण अहागहियभगएण अरिहं त-स-क्खिय सिरुसाक्खिय साहु० देव० अप्प० अन्नत्थ ऽणाभोगेण सह ।

स्सागारेणं महत्तरागारेणं मव्वसमाहिवत्तिभागारेण वोसिरा-
मि ” तत एकाशनादिविशेषतपः कारयति, सम्यक्त्वादिदुर्व-
भताविषयां च देशानां विधत्ते । देशविरत्यारोपणविधिरप्येवमेव ।
व्रतानिलापस्त्वेवम्—“अहन्नं जते ! तुम्हाणं समीवे थूलग पाणा-
इवायं सकप्पओ निरवराह पच्चक्खामि जावज्जीवाए दु-
विहं तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि,
तस्स जते ! पमिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरा-
मि १ । अहन्नं जते ! तुम्हाणं समीवे थूलगं मुसावाय जीहा ठे-
आइहेव कन्ताऽलीयाइ पचाविहं पच्चक्खामि दक्खिन्नाइ अवि-
सए जावज्जीवाए दुविहमित्यादि २ । अहन्नं जते ! तुम्हाणं समी-
वे थूलग अदत्तादाए खेत्तखण्णाइ चोरकारकर रायनिग्गहक-
रं साधित्ताचित्तवत्थुविसयं पच्चक्खामि जावज्जीवाए दुविह-
मित्यादि ३ । अहन्नं भते ! तुम्हाणं समीवे ओरालियवेउव्वियमे-
य थूलग मेहुण पच्चक्खामि, तत्थ दिव्व दुविहं तिविहेण तेरिच्छ
एगविहं तिविहेण मणुअअहागहियभंगएणं, तस्स जते ! पमि-
क्कमामि निंदामीत्यादि ४ । अहन्नं जते ! तुम्हाणं समीवे अपरिमि-
यपरिगहं पच्चक्खामि धणधन्नाइनवविहवत्थुविसय इच्छाप-
रिमाण उवसपज्जामि जावज्जीवाए अहागहियजगएण, तस्स
जते ! पमिक्कमामीत्यादि ” ५ । एतानि प्रत्येक नमस्कारपूर्वं वा
रत्रयमुच्चारणीयानि ।

“अहन्नं भते ! तुम्हाणं समीवे गुणव्वयति ए उड्डाहो तिरि-
थगमणविसय दिसिपरिमाणं परिवज्जामि । उवमोगपरिमोग-
वए भोयणओ अणतकायबहुवीयराइभोयणाइ परिहरामि ।
कम्मओ ए पन्नरसकम्मादाणाइ इंगलकम्माइयाइ बहुसाव-
उजाइ खरकम्माइ रायनियोगं च परिहरामि । अणत्थदडे अव-
उक्काणाइअं चउव्विहं अणत्थदडे जहासत्तीए परिहरामि ।
जावज्जीवाए अहागहियभंगएणं तस्स भते इत्यादि ” ८
श्रीण्यपि समुदितानि वारत्रयम् ।

“अहन्नं भते ! तुम्हाणं समीवे सामाइयं देसावगासियं
पोसहोववासं अतिहिसविभागवय विभागवय च जहासत्तीए
पडिवज्जामि जावज्जीवाए अहागहियभंगएणं, तस्स भते ।
इत्यादि ” १२ चत्वार्यपि समुदितानि वारत्रयम् ।

“इच्चेइय समत्तमूल पचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइय दुवा-
लसविह सावगधम्म उवसपज्जित्ताए विहरामि ” वा-
रत्रयमिति ।

अथाणुव्रतादीन्येव क्रमेण दर्शयन्नाह-

स्थूलहिंसादिविरति-व्रतभङ्गेन केनचित् ।

अणुव्रतानि पञ्चाहु-रहिंसादीनि शंजवः ॥२४॥

इह हिंसा प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपणरूपा । सा च-स्थूला
सूक्ष्मा च । तत्र सूक्ष्मा-पृथिव्यादिविषया । स्थूला-मिथ्यादृष्टी-
नामपि हिंसात्वेन प्रसिद्धा या सा । स्थूलानां वा प्रसानां हिंसा
स्थूलहिंसा । आदिशब्दात् स्थूलमृषावादाऽदत्तादानाऽब्रह्मपरि-
ग्रहाणां पणिग्रहः । एच्य-स्थूलरहिंसादिज्यो या विरतिर्निवृत्ति-
स्ताम् ॥ (अहिंसादीनीति) “अहिंसासुनृताऽस्तेय-ब्रह्मचर्याप-
रिग्रहान् ” अणूनि साधुवनेच्य-सकाशालुघूनि, व्रतानि नि-
यमरूपाणि अणुव्रतानि, अणोर्वा यत्यपेक्षया लघुगुणस्थानि-
नो व्रतान्यणुव्रतानि । अथवा-अनु पञ्चान्महाव्रतप्ररूपणापे-
क्षया प्ररूपणीयत्वाद् व्रतानि अनुव्रतानि । पूर्वं हि महाव्रतानि
प्ररूप्यन्ते ततस्तत्प्रतिपत्यसमर्थस्यानुव्रतानि । यदाह- “जह-

धम्मे असमत्थो, जुज्जइ तइसणं पि साहु ति ” । तानि किय-
न्तीत्याह-(पञ्चेति) पञ्चसंख्यानि, पञ्चाणुव्रतानीति बहुवचन-
निर्देशेऽपि यद्विरतिमित्येकवचननिर्देशः । स सर्वत्र विरतिसामा-
न्याऽपेक्षयति । शंजवस्तार्थकराः, आहुः प्रतिपादितवन्तः । किमवि-
शेषेण विरतिः ? नेत्याह-व्रतभङ्गेनेत्यादि । केनचिद् द्विविधत्रिवि-
धादीनामन्यतमेन व्रतभङ्गेन व्रतप्रकारेण बाहुल्येन हि भावकाणां
द्विविधत्रिविधादयः धमेव भङ्गाः सम्भवन्तीति तदादिजङ्गला-
ग्रहणमुचितमिति ज्ञाव । ते च जङ्गा एवम्-आका विरताः, अ-
विरताश्च । ते सामान्येन द्विविधा अपि विशेषतोऽष्टविधा भव-
न्ति । यत आचर्यके-“साभिग्गहा य णिरज्जि-ग्गहा य ओहेण सा-
वया डुविहा । ते पुण विमज्जमाणा, अट्टविहा हुति णायव्वा” ॥१॥
साभिग्रहा विरता आनन्दादयः, अनभिग्रहा अविरता । कृष्णसा-
त्यकिभ्रेणिकादय इति । अष्टविधास्तु द्विविधत्रिविधादिभङ्गेन-
देन भवन्ति । तथाहि-

“डुविह तिविहेण पढमो, दुविहं डुविहेण वीअओ होइ ।

डुविह एगविहेणं, एगविहं चेव तिविहेणं ॥ १ ॥

एगविहं डुविहेण, एगोविहेण णट्टओ होइ ।

उत्तरगुणसत्तमओ, अविरओ वि चेव अट्टमओ ” ॥२॥

द्विविधम-कृतं कारितं च । त्रिविधेन-मनसा वचसा कायेन, यथा
स्थूलहिंसादिक न करोत्यात्मना, न कारयत्यन्यैर्मनसा वचसा
कायेनेत्यभिग्रहवान् प्रथमः । अस्य चानुमतिः प्रतिष्ठा, अपत्या-
दिपरिग्रहसङ्गत्वात्, तैर्हिंसादिकरणे तस्यानुमतिप्राप्तेः । अन्यथा
परिग्रहापरिग्रहशोरविशेषेण प्रव्रजिताऽप्रव्रजितयोरभेदापत्तेः ।
त्रिविधत्रिविधादयस्तु भङ्गा गृहिणामाश्रित्य प्रगवत्पुत्रा अपि
क्याचित्कत्वाच्चेह । धिक्कृताः, बाहुल्येन वञ्चिरेव विकल्पैस्तेषां प्र-
त्याख्यानग्रहणात् ; बाहुल्यापेक्षया चास्य सूत्रस्य प्रवृत्तेः । क्वाचि-
त्कत्वं तु तेषां विशेषविषयत्वात् । तथाहि-यः किल प्रविब्रजि-
षु पुत्रादिसन्ततिपाठनाय प्रतिमा प्रतिपद्यते, यो वा विशेष
स्वयचरमणादिगतं मत्स्यादिमांसं दन्तिदन्ताचिन्नकचर्मादिकं
स्थूलहिंसादिकं वा कञ्चिदवस्थाविशेषे प्रत्याख्याति, स एव त्रि-
विधत्रिविधादिना करोतीत्यल्पविषयत्वाच्चोच्यते ॥ तथा द्विवि-
ध द्विविधेनेति द्वितीयो भङ्गः । अत्र चोत्तरभङ्गाख्यः, तत्र द्वि-
विध स्थूलहिंसादिकं न करोति न कारयति द्विविधेन म-
नसा वचसा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वाचा कायेनेति ३ ।
तत्र यदा मनसा वचसा न करोति न कारयति तदा मनसा-
मिसधिरहित एव वाचाऽपि हिंसादिकमधुवञ्चैव कायेन दुष्प्र-
थितादि असङ्गिवत्करोति १ । यदा तु मनसा कायेन न करोति न
कारयति तदा मनसाऽनिसधिरहित एव कायेन दुष्प्रथितादि
परिहरञ्चेवानामोगाच्चावैव हन्मि घातयामि चेति श्रूते २ ।
यदा तु वाचा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसै-
वामिसन्धिमाधिकृत्य करोति कारयति ३ । अनुमतिस्तु त्रिनि-
सर्वत्रैवास्ति । एव शेषविकल्पा अपि भावनीयाः ॥ द्विविधं करण
धमेकविधेनेति तृतीयः । अत्राप्युत्तरभङ्गाख्यः । द्विविधं करण
कारणं च, एकविधेन मनसा, यद्वा-वचसा, यद्वा-कायेन ॥
एकविध त्रिविधेनेति चतुर्थः । अत्र च द्वौ भङ्गौ, एकविधं कर-
णम्, यद्वा-करण, त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन ॥ एकविध
द्विविधेनेति पञ्चमः । अत्रोत्तरभेदाः षट्, एकविधं करणं, यद्वा-
कारणम् द्विविधेन मनसा वाचा, यद्वा मनसा कायेन, यद्वा वाचा
कायेन ॥ एकविधमेकविधेनेति षष्ठः । अत्रापि प्रतिजङ्गा- षट्, ५

कन्निधं करणं, यद्वा-कारण, एकविधेन मनसा, यद्वा-वाचा, यद्वा-कायेन । तदेव मूलमङ्गाः षट् । षष्णामपि च मूलमङ्गानामुत्तर-जङ्गाः सर्वसंख्यैकविंशतिः । तथा चोक्तम्—“ ड्रुविह तिविहा य कृच्चिभ, तेसिं भेआ कमेणिमे हुति । पढमिक्को दुधि तिआ, दुगेग दोङ्क इगवीस ” ॥१॥ स्थापना चेत्यम्—

३७	३२	११	११
३२	११	३२	११
११	३२	३२	३६

एव च षड्भिर्जङ्गैः कृताभिग्रहः षड्विध आरुः, सप्त-मञ्चोत्तरगुणः प्रतिपञ्चगुणव्रतशिक्षाव्रताद्युत्तरगु-
ण । अत्र च सामान्येनोत्तरगुणानां श्रित्यैक एव भेदो विवक्षितः । अविरतश्चाष्टमः । तथा पञ्चस्वप्यणुव्रतेषु प्रत्येक षड्जङ्गीस-भवेन उत्तरगुणाऽविरतमीक्षनेन च चारित्रशिक्षा अपि आरुणानां भवन्ति । यदुक्तम्—“ ड्रुविहा विरयाऽविरया, दुविहतिविहाइ-णऽदुहा हुति । वयमेगेगं उच्चिभ, गुणिभ दुगमिद्विअवत्तीसं ” इति ॥१॥ अत्र च द्विविधत्रिविधादिना भङ्गनिकुरखेन धावका-हं पञ्चाणुव्रतादिव्रतसंहतिजङ्गकदेवकुलिकाः सूचिताः । तस्मैकै-कव्रत प्रत्यजिहितया पञ्चङ्गया निष्पद्यन्ते, तासु च प्रत्येक त्रयो राशयो भवन्ति । तद्यथा—आर्द्री गुण्यराशिर्मध्ये गुणकराशिरन्ते चागनराशिरिति । तत्र पूर्वमेतासामेव देवकुलिकानां पञ्चङ्गया विवक्षितव्रतजङ्गकसर्वसंख्यारूपा एवकारराशयश्चैवम्—

“ एगवप उग्मंगा, निहिछा सावयाण जे सुत्ते । तिच्चिअ पयवुद्धीए, सत्त गुणा उज्जुआ कमसो ” ॥ १ ॥ सर्वमङ्ग-राशिं जनयन्तीति शेषः । कथं पुनः षड् मङ्गाः सप्तभिर्गुण्य-न्ते इत्याह—पदवृद्ध्या मृषावादाद्येकैकव्रतवृद्ध्या एकव्रतजङ्ग-राशेरवधौ व्ययस्थापितत्वाद्विवक्षितव्रतत्रयः एकेन हीनाचारा इत्यर्थः । तथाहि—एकव्रते पञ्चङ्गाः सप्तभिर्गुणिता जाता द्विवत्त्वा-रिंशत्, तत्र षट् क्षिप्यन्ते, जाता अष्टचत्वारिंशत् । एषोऽपि स-प्तभिर्गुण्यते, षट् च क्षिप्यन्ते, जाताः ३४३ । एव सप्तगुणनषट्प्रक्षे-पक्रमेण तावद् यावदेकादश्या वेद्यायामागतम् १३८४१३७७२०२ एते च षड्चत्वारिंशदादयो द्वादशाप्यागतराशयोऽधोभागेन व्यवस्थाप्यमाना अर्द्धदेवकुलिकाकारां भूमिमावृण्वन्तीति अ-रुदेवकुलिकेत्युच्यते । स्थापना—

१२	६	६
६६	३६	४८
२२०	२१६	३४२
४६४	१२६६	२४००
७६२	७७७६	१६८०६
६२४	४६६४	११७६४७
७६२	२७६६३६	८२३४४२
४६४	१६७९६१६	४७६४८००
२२०	१००७७६६६	४०३४३६०६
६६	६०४६६१७६	२७२४७४३४७
१२	३६२७९७०४६	१६७७३२६७४२
१	२१७६७८२३३६	१३८४१३७७२०२

सपूर्णदेवकुलि-कास्तु प्रतिव्रत-मैकैकदेवकुलि-कासङ्गावेन ष-ञ्चङ्गया द्वाद-श देवकुलि-का समव-न्ति । तत्र द्वा-दश्या देवकु-लिकायामेक-द्विकादिसंयो-गा गुणकरू-पाश्चैवम् । तत्र

च गुण्यराशयस्त्वमी । एतेषां च पूर्वस्य पूर्वस्य षड्गुणनेऽग्रेत-नो गुण्यराशिरायातीत्यानयने बीजम् । एते च षट्-षट्त्रिंशदा-दयो द्वादशऽपि गुण्यराशयः क्रमशो द्वादश-षट्षष्टिप्रवृत्तिभि-र्गुणकराशिभिर्गुणिता आगतराशयः ७२ आदयो भवन्ति, ते दे-वकुलिकागननृतीयराशितो हेत्याः । स्थापना चाग्रे—(षड्मङ्ग्यां द्वादशव्रतदेवकुलिकायाः) अत्राप्युत्तरगुणा अविरतसंयुक्ताः १३७४१२८७२०२ भवन्ति । उत्तरगुणाश्चात्र प्रतिमादयोऽभिग्र-हविशेषा हेत्याः । यदुक्तम्—“ तेरसकोडिसया, दुव्वसीरुव्वआई वारस यल्लक्का । सत्तासी अ सहस्सा, दो अ सया तह दुरग्गा

य’ ॥ १ ॥ (दुरग्गा स्ति) प्रतिमाद्युत्तरगुणाऽविरतरूपभेदद्वया-धिका एतावन्तश्च द्वादशव्रतान्यश्रित्य प्रोक्ताः । पञ्चाणुव्रतान्या-श्रित्य तु १६७०६ भवन्ति । तत्राप्युत्तरगुणाऽविरतमीक्षने १६८०८ भवन्ति । अत्र चैकाद्विकादिसंयोगा गुणकाः षट् षट्-त्रिंशदयो गुण्यारिंशदादयश्चागतराशयो यन्त्रकादवसेयाः । इयमत्र भावना—कश्चित्पञ्चात्पञ्चाणुव्रतानि प्रतिपद्यते । तथा कित् पञ्चैकसंयोगाः एकैकस्मिन् संयोगे द्विविधत्रिविधा-दय षड् मङ्गाः स्युः । तेन षट् पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाताः ३० । एतावन्तः पञ्चानां व्रतानामेकसंयोगे मङ्गाः । तथा एकैक-स्मिन् द्विकसंयोगे ३६ मङ्गाः । तथाहि—आद्यव्रतसंबन्धाद् यो मङ्गकोऽवस्थितो मृषावादासत्कान् षड् मङ्गान् व्रमते । एव-माद्यव्रतसंबन्धी द्वितीयेऽपि यावत्षष्ठोऽपि मङ्गोऽवस्थित एव मृषावादासत्कान् षड् मङ्गान् व्रमते । ततश्च षड्, षड्भिर्गुणि-ताः ३६, दश चात्र द्विकसंयोगाः । अतः ३६ दशगुणिताः ३६० । ए-तावन्तः पञ्चानां व्रतानां द्विकसंयोगे मङ्गाः । एव त्रिकसंयोगादि-ष्वपि मङ्गसंख्याभावना कार्या । पञ्चमदेवकुलिकास्थापना—

६	५	३०
३६	१०	३६०
२१६	१०	२१६०
१२६६	५	६४८०
७७७६	१	७७७६

एव सर्वासामपि (पूर्वोत्तराणां) देवकु-लिकानां निष्पत्तिः स्वयमेवावसेया । इयं च प्ररूपणाऽऽवश्यकरिर्गुण्यकण-प्रायेण कृता, भगवत्याभिप्रायेण तु न-वजङ्गी । साऽपि प्रसङ्गतः प्रदश्यते । तथाहि—हिंसां न करोति—मनसा

१, वाचा २, कायेन ३, मनसा वाचा ४, मनसा कायेन ५, वाचा कायेन ६, मनसा वाचा कायेन ७, एतत्करणेन सप्त मङ्गी । एव कारणेन २ अनुमत्या ३ करणकारणाभ्यां ४ करणानुमतिर्न्यां ५ कारणानुमतिर्न्यां ६ करणकारणानुमतिर्न्यां ७ । एव सर्वमिद्विंशता एकोनपञ्चाशद्वन्ति । एते च त्रिकालविषयत्वात् प्रत्याख्यान-स्य कालत्रयेण गुणिताः सप्तचत्वारिंशच्चत भवन्ति । यदाह—

“ मणवयकाइयजोगे, करणे कारावणे अणुमई अ ।

इङ्गगुगातिगजोगे, सत्तासत्ते व गुणवन्ना ॥ १ ॥

पढमिक्को तिञ्चि तिआ, दुधि नवा तिञ्चि दो नवा चेव ।

कालतिगेण य सहिआ, सीआल होइ भगसय ॥ २ ॥

सीआल भगसय, पच्चक्खाणमि जस्स उवल्लक ।

सो खलु पच्चक्खाणे, कुसंबो सेसा अकुसलाओ ” ॥३॥ स्ति ।

त्रिकालविषयता चातीतस्य निन्द्या, सांप्रतिकस्य सवरेण, अनागतस्य प्रत्याख्याननेति । यदाह—“ अइयं निंदामि पकुप्पन्नं सवरेमि अणागय पच्चक्खामि स्ति ” । एते च मङ्गा अहिसामाश्रि-स्य प्रदर्शिताः

३	३	३	२	२	२	१	१
३	२	१	३	२	१	३	२
१	३	३	६	६	३	६	६

व्रतान्तरे-ष्वपि हेत्याः । तत्र पञ्चा-णुव्रतेषु प्रत्येक ७२५ जे-

वा भावकाणां भवन्ति । उक्तं च—“ ड्रुविहा अट्टविहा वा, वत्तीसवि-हा व सत्त पणतीसा । सोल सय सहस्स जवे, अट्टसयऽट्टसरा वइणो ” ॥१॥ इदं तु ज्ञेयम्—षड्मङ्गीवत्तुत्तरजङ्गस्यैकविंशतिज-ङ्गया, तथा नवमङ्गया ३, तथैकोनपञ्चाशदमङ्गया ४, द्वादश द्वादश देवकुलिका निष्पद्यन्ते । यदुक्तम्—

“ इगवीस खलु जगा, निहिछा सावयाण जे सुत्ते ।

ते चिअ वावीस गुणा, इगवीस पक्खेवअग्गा ॥ १ ॥

एगवप नव मगा, निहिछा सावयाण जे सुत्ते ।

ते चिअ दसगुण काउं, नव पक्खेवअग्गि कायव्वा ॥ २ ॥

पगुणवन्न जंगा, दिट्ठा खलु सावयाण जे सुत्ते ।
ते चिअ पंथासगुणा, णगुणवन्न पंक्खिवेअव्वा ॥ ३ ॥
सीआव भगसय, ते चि अडयालसयगुण काउं ।
सीयालसएण जुअं, सब्बगा जाण जगाण ” ॥ ४ ॥

एकादश्यां वेलायां द्वादशव्रतभङ्गकर्मवसंख्यायामागतं क्रमेण
अणुदेवकुलिकातो ज्ञेयम् । तत्स्थापनाश्रेया- (* द्वादशव्रतदेव-
कुलियां परं न च भङ्गा यन्त्रतोऽवसेया) एव संपूर्णा देवकुलि-
का अपि एकविंशत्यादजङ्गलादिषु द्वादश द्वादश जावनीया । स्था-
पना क्रमेण यथा- (* द्वादशव्रतदेवकुलिकायामेकविंशत्येकोन-
पञ्चाशत्सप्तचत्वारिंशच्चतुर्भङ्गा यन्त्रतोऽवसेया) इति प्रसङ्गत-
प्रदर्शिता भङ्गप्ररूपणाः । बालेन च द्विविधत्रिविधादिपरं जङ्ग-
म्येवोपयोगिनीत्युक्तमेवावसेयमित्यलं विस्तरेण । धर्मो २
अधि० । पचा० । प्रव० ।

अणुव्वजंत-अनुव्रजत्-त्रि० । अनुकूलं साध्वभिमुखं व्रजति,
सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुव्वयपण्ण-अनुव्रतपञ्चक-न० । अणुव्रतानां पञ्चकं यत्र
सोऽनुव्रतपञ्चकः । प्राकृतवशाच्चान्यथा निर्देशः । पञ्चानुव्रतिके,
दर्श० ।

अणुव्वयमुह-अणुव्रतमुख-त्रि० । अणुव्रतानि मुखे आदौ येषां
तानि । साधुश्रावकविशेषधर्माचरणेषु, ध० २ अधि० ।

अणुव्वया-अनुव्रता-स्त्री० । अन्विति कुलाऽनुरूप व्रतमाचारो-
ऽस्या अनुव्रता । पतिव्रतायाम्, उक्त० २० अ० ।

अणुव्वस-अनुव्रश-त्रि० । व्रशमुपागते, “एव तुब्भे सरागत्था,
अन्नमन्नमणुव्वसा ” । अन्योऽन्य परस्परतो व्रशमुपागताः पर-
स्परायत्ता । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुव्विवाग-अनुव्रिपाक-पु० । अनुरूपे विपाके, “एवं तिरि-
कवे मण्णयासुरेसु, चतुरत्तणत तयणुव्विवाग ” सूत्र० १ श्रु० ५
अ० २ उ० ।

अणुसंगई-अणुसङ्गति-स्त्री० । आकाशादिरूपस्य परमाणुस-
योगे, उक्त्या० १२ अध्या० ।

अणुसंचरंत-अनुसञ्चरत्-त्रि० । वस्त्रम्यमाणे, सूत्र० १ श्रु०
१० अ० । पश्चात् सञ्चरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुसंधाण-अनुसन्धान-न० । बुद्धोपादाने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।
विस्मृतस्य ग्रहणे उपादाने, ‘तस्सेव पपसंतरणणुत्तसऽणुसंधाणघ-
डणा’ तस्यैव पूर्वगृहीतसूत्रादेः प्रदेशान्तरनष्टस्य कचिद्देशे विस्मृ-
तस्य च या घटना साऽनुसन्धाना अनुसन्धानमित्युच्यते । पञ्चा०
१२ त्रिव० ।

अणुसंधियं-देशी-अविरते, हिक्काया च । दे० ना० १ षर्गे ।

अणुसवेयण-अनुसंवेदन-न० । पश्चात्संवेदने, अनुभवने च ।
आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

अणुसंभरण-अनुसंसरण-न० । दिग्विदिशां गमनस्य जावदि-
गागमनस्य वा स्मरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुसज्जणा-अनुसज्जना-स्त्री० । अनुव्रतौ, व्य० १ उ० ।
(‘तित्थाणुसज्जणा’ शब्दे तीर्थस्थानुसज्जनां व्याख्यास्यामः)

अणुसज्जित्था-अनुषक्तवत्-त्रि० । पूर्वकाद्यात्कान्तान्तरमनु-
वृत्तवति, अ० ६ श० ७ उ० ।

अणुसङ्घी-अनुशिष्टि-स्त्री० । अनुशासनमनुशिष्टिः । उपदेशप्र-
दानरूपे स्तुतिकरणे, लक्षणे वा वैयावृत्यज्ज्ञेद, व्य० १ उ० ।
नि० चू० । प० व० । शिक्षणे, दर्श० । इहल्लोकाऽपायप्रदर्शने,
वृ० १ उ० । ‘निविहा अणुसङ्घी पञ्चत्ता । तज्जहा-अयाणुसङ्घी
पराणुसङ्घी तदुभयाणुसङ्घी’ स्था० ३ गा० ३ उ० । तत्र यद्
आत्मानमात्मना अनुशास्ति सा आत्मानुशिष्टिः, यत्पुन परस्व
परेण वाऽनुशासन सा पराऽनुशिष्टिः, एव तदुभयस्मिन् तदुभय-
विषयानुशिष्टिः । व्य० १ उ० । तन्नाऽऽत्मनो यथा-“ धायात्तीसे-
सण्णं, कम्ममि गहणम्मि जीवणं हु छविओ । इरिह जइ ण हु
उद्विज्जसि, छुजतो रागसंहिति ” ॥ १ ॥ तथा विधेयमिति शेष
इति । स्था० ३ गा० ३ उ० । व्य० ।

दंरुसुलजम्मि दोए, मा अमति कुणह दंढितो मिति ।

एस उव्वहो उ दंभो, जवदहनिवारओ जीव ! ॥

अवि य हु विसोहिओत्ते, अप्पाणायारमइत्तिओ जीव ! ॥

अप्पपरे उजए अनु-सङ्घी य थुइ चि एगट्ठा ॥

दण्णः सुलजो यत्रासौ दण्डसुलभस्तस्मिन् लोके, हे जीव !
मा एवरूपाममतिं कुमतिं कुर्या । यथाऽहमाचार्येण प्रायश्चित्तदा-
नतो दण्डितोऽस्मीति, यत एष प्रायश्चित्तदानरूपो दण्डो उ-
र्ध्वजः । कस्माद् दुर्लभः ? इत्याह-भवदण्डनिवारकः । “निमित्तप-
र्यायप्रयोगे सर्वासां विभक्तानां प्रायो दर्शनम् ” इति वार्तिके-
न हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यत एष दण्डो नृव एव ससार
एव दुःसहदुःखात्मकत्वाद् दण्डस्तस्य निवारको भवदण्ड-
निवारकस्तस्माद् दुर्लभः । अपि च । हु निश्चित हे जीव ! ते आत्मा
अनाचारमलिन प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशोध्यितो नृवति, तस्मा
द् न दण्डितोऽस्मीति बुद्धिरात्मनि परिभावयितव्या । किन्तु-
पकृतोऽहमनुपपन्नपरहितकारिभिराचार्यैरिति चित्तीयमि-
ति । एवममुना उल्लेखेन आत्मनि परस्मिन् उभयस्मिन्श्चा-
नुशिष्टिरवगन्तव्या । आत्मनि साक्षादियमुक्ता, एतदनुसारण प-
रस्मिन्नुभयस्मिन्नपि च सा प्रतिपत्तयेति ज्ञावः । अनु-
शिष्टिः स्तुतिरित्येकार्थः । अत्रापिशब्दः सामर्थ्याद् गम्यते, ए-
तावपिशब्दावेकार्थः । किमुक्तं नृवति-अनुशिष्टिः स्तुतिरित्य-
पि द्रष्टव्यमिति । व्य० १ उ० । परानुशिष्टिर्यथा-“ ना तसि भा-
ववेज्जो, भवदुक्खनिपीमिया नुह एते । हदि सरण पवन्नामो
एयव्वा पयत्तेण ” ॥ १ ॥ तदुभयाऽनुशिष्टिर्यथा-“ कइ कह वि मा-
णुसत्ता-इ पाविय चरणपवररणं च । ता मो ! इत्थ पमाओ,
कइया वि न हुज्जए अम्ह ” ॥ १ ॥ स्था० ४ गा० १ उ० । नि० चू० ।
हितोपदेशरूपायां शिक्षायाम्, “सिक्खाण णमो किब्बा, सजया-
ण च भावओ । अत्थ धम्मगइ तच्च, अणुसङ्घि सुणेह मे ” ॥ १ ॥
इत्याद्यताथमुनिता श्रेणिक प्रत्यनुशिष्टिः कृता । उक्त० १० अ० ।
व्य० । सद्गुणोत्कीर्तनेनोपबृहणे साऽविधेयेति यत्रोपदिश्यते
साऽनुशास्तिः (“ जियकप्प ” शब्दे जिनकल्प प्रतिपद्यमानेन
साधूनामनुशिष्टिर्बुध्यते) आहरणतद्देशभेदे च, यथा गुणवन्तो-
ऽनुशासनीया नृवन्ति । यथा साधुलोचनपतितरज कणापनयनेन
लोकसम्भावितशीलकलङ्का, तत्कालनायाराधितदेवताकृतप्रा-
तिहार्याचालनिव्यवस्थापितोदकाच्छोटमतोद्घाटितचम्पागोपु-
रत्रया सुजङ्घा अहो ! शीलवतीति महाजनेनानुशासितेति । इह
च तथाविधवैयावृत्याकरणदिनाऽप्युपनय सम्भवति, तस्या-
नेन च महाजनानुशास्तिमात्रेणोपनय कृत इत्याहरणतद्देशभे-
देति । परममनजिमताशत्यागादभिमताशोपनयमुत्तरेष्वपि ज्ञावः ।

नीयमिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । ' धर्मकथां कुर्वन्ति ' इत्य-
स्यार्थे, वृ० १ उ० ।

अणुसमय-अनुसमय-अव्य० । समय समयमनुवृत्तीकृत्येत्य-
नुसमयम् । वीप्सायामव्ययीजावः । कर्म० ५ कर्म० । सततमि-
त्यर्थे, उक्त० ५ अ० । प्रतिसमयमित्यर्थे, क० प्र० । प्रति० । प्र-
तिक्षणमित्यर्थे, च० प्र० ६ पाहु० । "अणुसमय अविराहिय गिर-
तर वषवज्जाति" । अनुसमयमित्यादिपदत्रयमेकार्थम् । म० ४१
श० १ उ० ।

अणुसमवयवोववत्तिअ-अनुसमवदनोपपातिक-त्रि० । अ-
नुरूपा समाऽविप्रमा वदनोपपत्तिर्द्वारघटना येषां ते तथा । अ-
नुलोमाऽविप्रमद्वारघटनाके, " ससिसूरचक्रलक्षण-अणुसम-
वयवोववत्तिज्ञा " ज० ३ वक्र० ।

अणुसय-अनुशय-पुं० । गर्वे, पश्चात्तापे च । अनु० । प्रअ० ।

अणुसरण-अनुस्मरण-न० । सदसत्कर्तव्यप्रवृत्तिहेतुभूतेऽ-
नुचिन्तने, पञ्चा० १ विव० । " णाणानयाणुसरण, पुव्वगय-
मुयाणुसारेण " आ० ४ अ० । स्मृतौ, विशेष० ।

अणुसरियव्व-अनुसर्तव्य-त्रि० । अनुगन्तव्ये, स्था० ५ ठा० १ उ० ।
अनुस्मर्तव्य-त्रि० । अनुचिन्तनीये, " अणुसरियव्वो सुहेण
चित्तेण एसेव नमोक्कारा कयन्नुय मज्झमाणेण " आ० म० द्वि० ।

अणुसरिस-अनुसदृश-त्रि० । अनुरूपे, "अणुसरिसो तस्स हो-
उवज्झाओ" व्य० २ उ० ।

अणुमार-अनुसार-पुं० । अनु-सृ-भावे घञ् । अनुगमने, सह-
शीकरणे च । वाच० । " विवसासु अ लक्षणाणुसारेण " इ-
त्यादि । प्रा० । पारतन्त्र्ये, विशेष० ।

अनुस्वार-पु० । स्वराश्रयेण उच्चार्यमाणे विन्दुरेखया व्यज्य-
माने अनुनासिके वर्णभेदे, वाच० । अनुस्वारो विद्यतेऽस्येति अ-
त्रादिन्य इति मत्वर्थीयोऽन् प्रत्ययः । अनुस्वारवत्त्वेनोच्चार्यमा-
णेऽनर्हरश्रुतविशेषे, आ० म० द्वि० । न० । " अणुस्वार णाम
पम्हुट्टे अच्चे सच्च वा समरिते अत्रेण वा समारिते ज अक्ख-
रविरहितं सहकरण तमणुस्सार ज्ञाति " । आ० चू० १ अ० ।

अणुसासंत-अनुशासत्-त्रि० । शिक्षयति-शिक्षा प्रयच्छति,
उक्त० ४ अ० ।

अणुसासण-अनुशासन-न० । अनुशास्यन्ते सन्मार्गेऽवतार्य-
न्ते सदसद्विवेकनः प्राणिनो येन तदनुशासनम् । धर्मदेशनस-
न्मार्गेऽवतारणे, " अणुसासण पुढो पाणी, वसुम पुयणासु ते "
सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । जगवदाकारूपे-आगमे च । " सोच्चा
जगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेज्जुयक्रमे " सूत्र० १ श्रु० २
अ० ३ उ० । शासनमनु-अव्ययीजाव । यथागममित्यर्थे । सूत्रानु-
सारेणेति यावत् । "अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं सम पवेइ
य" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । शिक्षायाम्, ज्ञा० १३ अ० ।
उक्त० । जी० । राजद्विष्टराज्ञोऽनुशासनं वक्ष्यामि । पञ्चा० १
विव० । दुःस्थस्य सुस्थतासपादने, स० । अनुकम्पायाम्, "अ-
णुकप चि वा अणुसासणति वा एगछा " प० वृ० । अनुशास-
नं ज्ञयमाने वा दृष्टे वा, किमुक्तं प्रवर्ति ?-सामाचारीत-प्रतिज-
ज्यमानान् कथञ्चिद् कृत्वाऽनुशास्ति तदनुशासनम् । यदि वा
या यथांकार्येऽपि सन् कथञ्चिन्न कुरुते, तत्कस्यचिच्छिक्कणम्,

'एतच्च कृत्यमिति' कृत्वाऽनुशास्ति एतदनुशासनम् । सप्रह-
नेदे, व्य० ३ उ० । ' अणुसासइ'-अनुशास्ते । वृ० १ उ० ।

अणुसासणविहि-अनुशासनविधि-पु० । अनुशास्तिविधाने,
पञ्चा० ६ विव० ।

अणुसासिज्जंत-अनुशास्यमान-त्रि० । तत्र तत्र चोद्यमाने,
" अणुसासिज्जतो सुस्सइ " । दश० १ अ० ४ उ० । सूत्र० ।

अणुसासिय-अनुशासित-त्रि० । युक्तानि शिक्ष्यमाणे कथञ्चि-
त् स्खालिताविषु गुरुभिः परुषोक्त्या शिक्षिते-गुरुभिः कठोरव-
चनैस्तर्जिते, उक्त० १ अ० । अभिहिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अणुसिद्ध-अनुशिष्ट-त्रि० । शिक्षां गृहीते, " तत्तेण अणुसि-
द्धाते, अपडिभेण जाणया " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुमिट्ठी-अनुशिष्टि-स्त्री० । तद्भावकथनपुरस्सरं प्रज्ञाप-
नायाम्, वृ० १ उ० । ('अणुसिष्टी' शब्दप्रकरणे दर्शितार्थे,)
शिक्षायाम्, उक्त० १० अ० ।

अणुमुत्ती-देशी-अनुकूले, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुसूयग-अनुसूचक-पु० । नगराभ्यन्तरे चारमुपलभमाने,
सूचककथितं श्रुतं दृष्टं वा, स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकैभ्यः
कथयति, सामन्तराज्येषु वसतिकृतवृत्तिके अमात्यपुरुषे,
तादृश्यां कृतवृत्तिकायां चैव महिलायाम्, "सूयग तहाऽणुसू-
यग-पडिसूयग सव्वसूयगा चेव । पुरिसा कयविच्चीया, वसति
सामतनगरेसु ॥१॥ महिला कयविच्चीया वसति सामतणग-
रेसु " व्य० १ उ० ।

अणुसू (स्तु) यत्ता-अनुस्यूतत्व-न० । अपरशरीराश्रितता-
यां परनिश्रायाम्, " अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताय वि उट्ठति "
सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अणुसोय-अनुश्रोतस्-न० । प्रवाहे, "अणुसोयपटिप बहु, ज-
णम्मि पडिसोयलद्धलक्खेण । पडिसोयमेव अण्णा, दायव्वो
होउ कामेणं ॥१॥ अणुसोयसुहो लोगो, पडिसोओ आसमो
सुविहियाणे । अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उच्चा-
रो " ॥२॥ अष्ट० २३ अष्ट० । प० सू० ।

अणुमोयचारि (ण)-अनुश्रोतश्चारिन्-त्रि० । अनुश्रोतसा
चरतीति अनुश्रोतश्चारी । नद्यादिप्रवाहगामिनि मत्स्ये, एव
भिन्नाके च । यो हि अभिग्रहविशेषादुपाश्रयसमीपात् क्रमेण
कुलेषु भिक्षते सोऽनुश्रोतश्चारी । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणुसोयपट्टिय-अनुश्रोतःप्रस्थित-त्रि० । नदीपूरप्रवाहपतित-
काष्ठवद् विषयकुमार्यद्रव्यक्रियानुकूल्येन प्रवृत्ते, "अणुसोय-
पट्टिप बहु, जणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेण । पडिसोयमेव अ-
ण्णा, दायव्वो होउ कामेणं " ॥१॥ दश० २ चू० ।

अणुसोयसुह-अनुश्रोतःसुख-त्रि० । उदकमिन्नाभिसर्पणवत्
प्रवृत्त्याऽनुकूलविषयादिमुखे, दश० १ अ० । "अणुसोयसुहो
लोगो " दश० २ चू० ।

अणुस्सग-अनुत्सर्ग-पु० । अपरित्यागे, दर्श० ।

अणुस्सरिचा-अनुसृत्य-अव्य० । अनुसारं कृत्वेत्यर्थे, "अथं व

अणुस्सरित्ता

शेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चैव विणिहति मदा " सूत्र० १
श्रु० ७ अ० ।

आणुस्सव-अनुश्रव-पुं० । अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवः । वे-
दे, द्वा० ऽ द्वा० ।

अणुस्सुय-अनुश्रुत-त्रि० । अवधारिते गुरुजिह्वयमाने, उत्त० ४
अ० । भ्रवणपथमायाते. सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । भारतादौ
पुराणे श्रुते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । न उत्सकोऽनुत्सुक ।
सूत्र० १ श्रु० ए अ० । औत्सुक्यरहिते, प० सू० ४ सू० ।

अणुस्सुयत्त-अनुत्सुकत्व-न० । विषयसुखेऽनुत्तालत्वे, "सुह-
सायण अणुस्सुयत्त जणयइ । उत्त० २ए अ० ।

अणुहवसिद्ध-अनुजवसिद्ध-त्रि० । स्वसवेदनप्रतीते, पञ्चा०
३ वि० ।

अणुहविर्भं-अनुज्ज्व-अव्य० । सवेद्येत्यर्थे, पञ्चा० २ विव० ।

अणुहियासण-अन्वध्यासन-न० । अविचलकायनया सहने,
ज० २ वक्त्र० ।

अणुहूअ-अनुजूत-त्रि० अनु-भू-क्त । प्राकृते “ केहुः ” ॥ ७
४ । ६४ ॥ भुव. के प्रत्यये ह्रस्वदेश । अनुजवविषयीकृते, प्रा० ।

अणु-देशी-शास्त्रिजेदे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणूव-अनूप-त्रि० । अनुगता आपो यत्र । व० स० । अच्-
मा० । अत उत्त्वम् । जलप्राये स्थाने , वाच० । नद्यादिपानीयव-
हुले , वृ० १ उ० । विशेष० । व्य० ।

अण्वदेस-अनूपदेश-पु० । जलदेशे , व्य० ४ उ० ।

अणेक(ग)-अनेक-त्रि० । बहुवे, सूत्र०१ शु० १२ अ० । अनेक-
शब्दघटितप्रयोगा यथा- “अणेगगणनायकदमनायकराईसर-
तलवरमामंविअकोमंविअमतिमहामंतिगणकदोवारिअममच्च-
चेमपिठमहनगरनिगमसेट्टिमेणावस्सथवायदूतसधिवालसद्धि
स्सपरिवुमे ” अनेके ये गणनायकादयस्तेषा द्वन्द्वस्तनस्तैरिह
तृतीयाबहुवचनद्वयोपो ऋष्टव्यः । (सद्धि ति) सार्द्धं सहेत्यर्थः ।
न केवलं तत्सहितत्वमेव, अपि तु तैः सामिनि समन्तात् परि-
धृतः परिवारित इति । औ० । “अणेगजाज्जरामरणजोणिवेय-
ण ” अनेकजानिजरामरणप्रधानयोनिषु वेदना यत्र स तथा ।
(ससार इति विशेष्यम्) औ० । “अणेगजातिजरामरणजोणि-
ससारकलकलिभावपुण्यम्भयगम्भवासवसहपवचसमश्कता-
सासयमणागयसिद्ध ” अनेकैर्जातिजरामरणैर्जन्मजरामृत्यु-
भिर्यश्च तासु योनिषु ससार ससरण तेन च यः कलङ्कली-
भावः कदर्थ्यमानता यश्च दिव्यसुखमनुप्राप्तानामपि पुनर्भवे
ससारं गर्भवसतिप्रपञ्चः, तौ समनिक्रान्तौ, अत एव शाश्वत-
मनागत कात्वं तिष्ठन्ति । (सिद्धा इति विशेष्यम्) प्रज्ञा० २ पद ।
अनेकजातिसश्रयाद् विचित्रत्वम् । सर्वभावानुव्यापितचित्ररू-
पता । रा० । इह जातयो वर्णनीयवस्तुरुपवर्णनानि । स० ।
“ अणेगणमकमगवियरउज्झरपवायपञ्जारसिहरपलरे ’ अ-
नेकानि नटानि कटकाश्च गरमशैला यत्र स तथा । विवराणि,
अवभ्राराश्च निर्जरविशेषाः, प्रपानाश्च भृगवः, प्राग्भाराश्च ईष-
टचनता गिरिद्वेशाः, शिखराणि च कूटानि, प्रचुराणि यत्र स
तथा । ततः कर्मधारयः (पर्वत इति विशेष्यम्) ज्ञा० ४ अ० ।

"अणेगणरवामसुप्पसारियअग्निज्झघनविपुल्लवृत्तस्काधो " ४-
नेकैर्नरव्यामै पुरुषव्यामै. सुप्रसारितैरआहोऽप्रमेयो घनो नि
विभो विपुत्रो विस्तीर्णो वृत्त. स्कन्धो येषां ते-अनेकरव्याम-
सुप्रसारिताग्राह्यघनविपुल्लवृत्तस्कन्धा. ।रा० । झा० । "अणेग
चूयभावभवविण्विअह" अनेके भूता अतीता भावा सत्त्वा प-
रिणामा वा ज्ञव्याश्च भाविनो यस्य स तथा । इति श्रुक प्रति-
स्थापत्यापुत्र. । स्था० १ ठा० १ उ० । "अणेगमणिरयणविधि-
हणिज्जुत्तविचित्तच्चिधगा"अनेकानि बहुनि मणिरत्नानि प्रती-
तानि विविधानि बहुप्रकाराणि नियुक्तानि नियोजितानि येषु
तानि तथा, तानि विचित्राणि चिह्नानि गता प्राप्ताः ये ते तथा।
(सुपुरुषवर्णक) औ० । प्रश्न० । "अनेगमणिरयणविधि-
हसुविग्ध्यनामचिध " अनेकैर्मणिरत्नैर्विविध नानाप्रकार
सुविरचित नाम चिह्न निजनामवर्णं पङ्क्तिरूप यत्र स तथा ।
ज० ३ वक्त्र० । "अणेगमणिकरणगरयणपहकरपरिमन्निय-
भागभत्तिचित्तविण्डित्तगमणगुणजणियपेखोलभाणवरललि-
यकुम्बहुज्जज्ञियअहियआजरणजणियसोमे " अनेकमणिरत्नक-
नकनिकरपरिमणितभागे ज्ञातिचित्रे विच्छित्तिविचित्रे विनिय-
क्ते कर्णयोर्निवेशिते गमनगुणेन गतिसामर्थ्येन जानिते कृते प्रेक्ष्य-
माने चञ्चले ये वर्गललिनकुण्डले ताच्यामुज्ज्वलितेनोदीपनेनाधि-
काच्यामाजरणाभ्यामुज्ज्वलितेनाधिकैर्वाऽऽजरणैश्च कुण्डलयति-
रितैर्जनिता शोभा यस्य स तथा । झा० १ अ० । "अणगरदसगर-
जाणजुग्गगिल्लिथिल्लिनिवियपदिमोयणा " अनेकेषां रथशकटा-
दीनामधोविस्तीर्णत्वात् प्रतिमोचन येषु ते तथा । रा० । "अणेग-
रायवरसहस्ताणुआयमगे"अनेकेषा राजवरणा बद्धमुकुटाराङ्गा
सहस्रैरनुयातोऽनुगतो मार्ग. पृष्ठ यस्य स तथा । ज० ३ वक्त्र० ।
"अणेगवदाए " अनेकानि वृन्दानि परीवारो यस्या. सा तथा
तस्या.(पर्यद.)रा० । "अणेगवरतुरगमत्तकुजररदपहकर(सहकर)
सीयसद्माणीयाञ्छजाणजुग्गा" अनेकैर्वरतुरगैर्मत्तकुजरै (रह-
पहकरेत्ति)रथानिकरै.(रहसहकरेत्ति वा)रथानां सहकारै.सहा-
तै. शिविकाभिः स्यन्दमानीजिराकीर्णा व्याप्ता यानैर्युग्मैश्च यासा
तथा । आकीर्णशब्दस्य मध्यनिपात प्राकृतत्वात् । अथवा अने-
के वरतुरगाद्यो यस्यामाकीर्णानि च गुणवन्ति यानादीनि यस्यां
सा। औ० । "अणेगवरदक्षल्लुत्तमपसत्थसुइरइयपाणिवेहे"अने-
कैर्वरलक्षणैरुत्तमा प्रशस्ता बृचयो रतिदाश्च रम्या पाणिश्रेष्ठा
यस्य स तथा । औ० । "अणेगयायामजोगवगणवामहणमज्जु
रकरणेहि " अनेकानि यानि व्यायामनिमित्तयोग्यादीनि तानि
तथा तै तत्र योग्या गुणानिका चलनमुल्लङ्घन व्यामर्दन परस्पर
स्याङ्गमोटन मल्वयुद्ध प्रतीत करणानि चाङ्गमङ्गविरोधा गल्ल-
शास्त्रप्रसिद्धा । औ० । झा० । "अणेगवाससयमाउयतो "
अनेकवर्षशतायुष्मन्त । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । "अणेगसव-
णिगणमिहुणपवियारिए " अनेकशकुनिमिथुनकाना प्रविचरित-
मितस्ततो गमन यत्र तत्तथा (प्रयातकुलम्) ज० ४ वक्त्र० ।
रा० । "अणेगसकुकीन्नगसहस्सचितते " अनेकै शङ्खप्रमाणै
कीलकसहस्रैर्महद्भिर्हि कीलकैस्तामितप्राया मध्यक्षा. समव-
न्ति । तथारूपताडाऽसमवादत शङ्खग्रहेण, वितत धितानीहृत
ताडितमिति भाव. । रा० । जी० । "अणेगसयाए " अनेकानि
पुरुषाणा शतानि सख्यया यस्या सा अनेकशता, तस्या. । रा० ।
"अणेगसाहप्पसाहविदिमा"अनेकशाखाप्रशाखाविटपयस्तम-
ध्यानागो वक्रविस्तारो वा येषां ते (वृक्षाः) । औ० । झा० ।

अणोक्तांतरसिद्धकेवलनाण-अनेकान्तरसिद्धकेवलज्ञान-
न० । आभिनिवोधिकज्ञानभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अणोक्तगण्य-अनेकाङ्किक-पु० । अनेकपट्टकते, नि० चू० १ उ० ।
कान्तिकाप्रस्तारान्तके सन्तारभेदे च । व्य० ३ उ० ।

अणोक्त-अनेकान्त-त्रि० । न एकांतो नियमोऽन्यत्रिचारी यत्र ।
अनियमे, अनिश्चितफलके च । चाच० । अनिश्चये, विशेषे । एकाग्र्ये,
प्रथ० ३८ द्वा० ।

अणोक्तजयपमागा-अनेकान्तजयपताका-खी० । हस्तिचसूरि-
विरचिते न्यनामस्थाने ग्रन्थभेदे, यद्वृत्तिविधरण मुनिचन्द्रेणा-
कारि । तदुपक्रमे "शेषमतानि शयाना, यस्यानेकान्तजयपताके-
द । हर्तुमशक्या केनाऽपि वादिना नांमि तर्हीम ॥१॥ कतिपयवि-
पमपदगत, घट्टयेऽनेकान्तजयपताकाया । वृत्तेर्विचरणमहम-
वपुष्टिबुद्धये समासेन" ॥२॥ अनेकान्तजयपताकावृत्तिविध० ।

अणोक्तपग-अनेकान्तात्मक-न० । अग्नये गम्यते निश्चीयते
इत्यन्तो धर्म । न एकोऽनेक । अनेकश्चाऽसाच-तश्चानेकान्त ।
स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदनेकान्तात्मकम् । स
दमदाद्यनेकधर्माऽऽत्मके, रत्ना० ३ परि० ।

अणोक्तवाय-अनेकान्तवाद-पु० । स्याद्वादे, स च यथा युक्त-
तामञ्जति, तथा स्याद्वादमञ्जरीदिप्र-येज्य, सगृह्यते ।

(१) एकांतवाददूषणपुरस्सरमनेकान्तवादिमतम् ।

(२) प्रत्यक्षोपलब्ध्यमाणमप्यनेकान्तवाद येऽवमन्यन्ते
तेषामुन्मत्तताऽऽभिर्भायनम् ।

(३) उत्पादविनाशयोरेकान्तिकताऽन्युपगमनिषेध ।

(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम् ।

(५) वस्तुन एकांतसदृशत्व स्वीकुर्वत साध्यमतस्य
परासने युक्तिः ।

(६) कादाद्येकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेव ।

(७) साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च साध्यसिद्धिः ।

(८) अनेकान्तवाद एव सन्मार्गः ।

(९) एकांतवादिनोऽज्ञा ।

(१०) अनेकान्तवादस्वीकाराऽस्वीकारयो सम्यग्मिथ्यात्वम् ।

(१) तत्रैकान्तवाददूषणपुरस्सरमनेकान्तवाद्याह—

आद्रीपमाव्योम समस्वजावं,

स्याद्वादमुक्ताऽनतिभेदि वस्तु ।

तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-

दिति त्वदाऽऽज्ञाद्विषतां प्रहापाः ॥ ५ ॥

आदीप दीपादारभ्य, आव्योम व्योममर्यादीकृत्य, सर्वं वस्तु प-
दार्थस्वरूप, समस्वभावम्-समस्तुल्य स्वभाव स्वरूप यस्य त-
त्तथा । किञ्च-वस्तुन, स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति श्रुम् ।
तथा च वाचकमुख्य-“ उत्पादव्ययधैर्ययुक्तसत् ” इति ।
समस्वभावत्वकुत ? इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह-(स्याद्वाद-
मुद्राभतिभेदि) स्यादित्यव्ययमनेकान्तघातकम् । तत् स्याद्वा-
दोऽनेकान्तवादे । नित्यानित्याद्यनेकधर्मशब्दैकवस्त्वभ्युपगम
इति यावत् । तस्य मुद्रा मर्यादा ता नातिभिन्नति नातिक्रामतीति
स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि । यथाहि-न्यायिकनिष्ठे राजान राज्य-
श्रिय शासति सति सर्वा प्रजास्तन्मुद्रा नातिवर्तिनो मोक्षेन,
तदतिक्रमे तासा सर्वार्थहानिभावात् । एव विजयिनि निष्क-

एतके स्याद्वादमहानरेन्द्रे तदीयमुद्रा सर्वेऽपि पदार्था नाति-
क्रामन्ति, तदुल्लङ्घने तेषा स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसङ्गे । सर्वव-
स्तुना समस्वभावत्वकथनं च पराभीष्टसैक वस्तु व्योमादि
नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपादि अनित्यमेवेति वादस्य प्रतिपे-
षीजम् । सर्वं हि मावा द्रव्याधिकनयापेक्षया नित्या, पर्या-
याधिकनयादेशात् पुनर्नित्या । तत्रैकान्ताऽनित्यनया पर-
रङ्गाकृतस्य प्रदीपस्य नावधित्याऽनित्यत्वव्यवस्थापनं द्विहान्न-
मुच्यते । तथाहि-प्रदीपपर्यायाऽऽपभ्रान्तजसा परमाणव स्व-
सनस्तैलक्षयाद्वाताभिघाताद्वा, ज्योति पर्याय परित्यज्य न्मा-
रूप पर्यायान्तरमासादयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्या पुञ्जलद्रव्य-
रूपनयाऽवस्थितत्वात् तेषाम् । न ह्येतावतैवाऽनित्यत्व यावता
पूर्वपर्यायस्य विनाश, उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः । न खलु मृद-
द्रव्य स्थायककाशकुशलाशिवकघटाद्यवस्थाऽन्नगण्यपद्यमा-
नमप्येकान्ततो विनष्टम्, तेषु मृद्व्यानुगमस्याऽऽवालगापाल
प्रतीतत्वात् । न च तमस पौञ्जलिकत्वमसिद्धम्, चाक्षुषत्वाऽ-
न्यथाऽनुपपत्ते, प्रदीपालोकवत् । अथ यच्चाक्षुषं तन् सर्वं
स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते, न चैव तम् । तत् कथं चाक्षुषम् ?
नैवम् । उल्कादीनामालोकमन्तरेणापि तद्व्यतिभासात् । यैस्त्व-
स्मदादिभिरन्यच्चाक्षुष घटादिकमालोक विना नोपलभ्यते,
तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते विचित्रत्वाद्वाचानाम् । कथम-
न्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकपेक्षदशं
ना । प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षा । इति सिद्धं तम-
श्चाक्षुष, रूपवत्त्वाच्च स्पष्टवत्त्वमपि प्रतीयते, शीतत्पशं प्रत्ययज-
नकत्वात् । यानि त्वनिविमाषयवन्वमप्रतिघातिन्वमदुद्भूतरूप-
श्विशेषत्वमप्रनायमानखण्डमावयविरुध्यप्रविजागत्वमित्यादीनि
तमस पौञ्जलिकत्वनिषेधाय परं साधनान्युपन्यस्तानि तानि
प्रदीपप्रभादृष्टान्नैव प्रतिषेध्यानि तुल्ययोगक्षेमत्वात् । न च
वाच्यं तैजसा परमाणव कथं तमस्त्वेन परिणमन्त इति ? पुञ्ज-
ज्ञाना तत्तत्सामग्रीसहकृताना विमदशकायेन्पादकत्वस्याऽपि
दर्शनात् । दृष्टो ह्याद्रेन्धनसयोगवशाङ्गास्वरूपस्याऽपि बहिर-
भास्वरूपधर्मरूपकार्योत्पादः, इति सिद्धो नित्याऽनित्य प्रदीपः ।
यदाऽपि निर्वाणावर्गो ढेदीप्यमानो दीपस्तदाऽपि नवनवपर्या-
योत्पादविनाशनाफत्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्याऽनित्य एव ।
एव व्योमापि उत्पादव्ययधैर्यात्मकत्वान्नित्याऽनित्यमेव ।
तथाहि-अवगाहकाना जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह एव
तल्लक्षणम्, “ अवकाशदमाकाशमिति ” वचनात् । यदा
चावगाहका जीवपुद्गला प्रयोगतो विस्त्रसतो वा एक-
स्माज्जगद्वेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति, तदा तस्य व्योमस्तै-
रवगाहकै सममेकस्मिन् प्रदेशे विजाग, उत्तरस्मिन् च प्रदेशे
सयोग । सयोगविजागौ च परस्पर विरुद्धौ धर्मौ । तद्वेदे चा-
वश्यं धर्मिणो जेद । तथा चाह-“अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा,
यद्विरुद्धधर्माभ्याम् कारणजद्वैतः ” । तत्र च नदाकाश पूर्वस-
योगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्, उत्तरसयोगोत्पादा-
ख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम् । उन्नयत्राऽऽकाशद्रव्यस्यानुगमत्वा-
च्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम् । तथा च “ यदप्रच्युतानुपपन्न
स्यैकरूपं नित्यम् ” इति नित्यलक्षणमाचक्षते । तदपास्तम् । एव-
ावचस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात् । ‘तद्भावाव्ययं नित्यम्’ इति तु
सत्यं नित्यलक्षणम् । उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावादव्य-
यिरूपाद्यन्न व्येति तन्नित्यम्, इति तदर्थस्य घटमानत्वात् । यदि हि
अप्रच्युताऽऽदि लक्षणं नित्यमिष्यते, तदोत्पादव्यययोर्निराकारत्व-

प्रसङ्गः । न च तयोर्थो नित्यत्वहानिः । “रूपं पर्यायवियुतं, पर्याया रूपवर्जिताः । क्व कदा केन किरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ?” ॥१॥ इति वचनात् । न चाकाशं न रूपं, लौकिकानामपि घटाऽऽकाशपटाऽऽकाशमिति व्यवहारप्राप्तेरेकाकाशस्य नित्याऽनित्यत्वम् । घटाऽऽकाशमपि हि यदा घटापगमे पटेनाक्रान्तः, तदा पटाऽऽकाशमिति व्यवहारः । न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव ? उपचारस्याऽपि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । न प्रसो हि यत्किञ्च सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं, तत्तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिणामवशात्कल्पितभेदः सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवहियमाणं घटाकाशपटाकाशादि तत्तद्व्यपदेशनिबन्धनं भवति । तत्तद्घटादिसंबन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तरापत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदः, तासां ततोऽविष्वग्जायात् । इति सिद्धं नित्याऽनित्यत्वव्योम्नः । स्वायम्भुवा अपि हि नित्यानित्यमेव वस्तु प्रपञ्चाः । तथा चाहुस्ते-त्रिविधः स्रष्टव्य धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणावस्थारूपः । सुवर्णं धर्मि, तस्य धर्मपरिणामो वर्द्धमानरुचकादिः, धर्मस्य तु वर्द्धमानपरिणामोऽनागतत्वादिः । यदा स्रष्टव्ये देवकारौ वर्द्धमानकं मङ्गत्वा रुचकमारचयति, तदा वर्द्धमानको वर्द्धमानतालक्षणं हित्वाऽतीततालक्षणमापद्यते, रुचकस्तु-अनागततालक्षणं हित्वा वर्द्धमानतामापद्यते । वर्द्धमानताऽऽपन्न एव रुचको नवपुराणजावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति । सोऽयं त्रिविधः परिणामो धर्मिणः । धर्मलक्षणावस्थाश्च धर्मिणो भिन्नाभ्यामिजाश्च । तथा च ते धर्म्यभेदात्तन्नित्यत्वेन नित्याऽभेदाद्योत्पत्तिविनाशविषयत्वमित्युभयमुपपन्नमिति ॥ अथोत्तरार्द्धं विध्रियते एवं चोत्पादव्ययग्राव्यात्मकत्वे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तच्छब्दो एकमाकाशाऽऽत्मादिकं नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपघटादिकमनित्यमेवेति । एवकारोऽत्रापि संबध्यते । इत्येहि दुर्नयबादापासि, अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादि धर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मातिरस्कारेण प्रवर्त्तमाना दुर्नया इति लघुज्ञायात् । इत्यनेनोल्लेखेन त्वदाज्ञाद्विषयतां प्रवर्त्तयतीति तशासनविरोधिना, ब्रह्माणां प्रज्ञापिताऽन्यसंबन्धवाक्यानीति याचत । अत्र च प्रथममादिपिमिति परप्रसिद्धा अनित्यपक्षोल्लेखेऽपि यदुत्तरत्र यथासंख्यपरिहारेण पूर्वतरं नित्यमेवैकमित्युक्तं तदेव ज्ञापयति-यदनित्यं तदपि नित्यमेव कथञ्चित्, यच्च नित्यं तदप्यनित्यमेव कथञ्चित् । प्रक्रान्तवादिजिरप्येकस्यामेव पृथिव्यां नित्याऽनित्यत्वाऽभ्युपगमात् । तथा च प्रशस्तकार-सा तु द्विविधा नित्याऽनित्या च । परमाणुलक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा त्वनित्येति । न चात्र परमाणुरूप्यकार्यलक्षणविषयद्वयभेदादौपचारिकपरिणाम नित्याऽनित्यत्वमिति वाच्यम् ? पृथिवीत्वस्योभयत्राव्यभिचारात् । एवमवादिष्वपीति । आकाशेऽपि सयोगविभागाङ्गीकाराच्चैरनित्यत्वमुक्त्या प्रतिपन्नमेव । तथा च स एवाह-“शब्दकारणत्ववचनात्संयोगविभागौ ” इति नित्याऽनित्यपक्षयोः संवलितत्वम् । एतच्च लेशमो जाचितमेवेति । प्रलापप्रायत्वं च परवचनानामित्यं समर्थनीयम्, वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम्, तच्चैकान्तनित्याऽनित्यपक्षयोर्न घटते । अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्यैकरूपो हि नित्यः । स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीत ? अक्रमेण वा ? अम्योऽन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तराऽसम्भवात् । तत्र न तावत् क्रमेण । स हि कालान्तरभाविनी क्रिया प्रथमक्रियाकाल एव प्रसङ्गं कुर्यात्, समर्थस्य कालक्षेपायोगात्, कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसम्बन्धाने तं तमर्थं करोतीति चेत्, न

तर्हि तस्य सामर्थ्यम्, अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् । “सापेक्षमसमर्थम्” इति न्यायात् । न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते, अपितु कार्यमेव सहकारिण्वसत्त्वमवत् तानपेक्षत इति चेत्, तर्हि स जावोऽसमर्थः ? समर्थो वा ? समर्थश्चेत्किं सहकारिमुक्तं णदीनानि तान्युपेक्षते, न पुनर्जटिति घटयति ? ननु समर्थमपि बीजमिवाजवाऽनिवादिमहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति, नान्यथा । तर्हि तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत ? न वा ? यदि नोपक्रियेत तदा सहकारिसंभिधानात् प्रागेव किं न तदाऽप्यर्थक्रियायामुदास्ते ? उपक्रियेत चेत्, स तर्हि तैरुपकारो भिन्नोऽजिन्तो वा ? क्रियत इति वाच्यम् । अभेदे स एव क्रियत, इति द्वाजमिच्छतो मूलक्षतिरायाता, कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वाऽपत्तेः । भेदे तु स कथं तस्योपकारः, किं न सहाविन्ध्याद्वेरेपि ? तत्संबन्धात् तस्यायमिति चेत्, उपकार्योपकारयोः कं सम्बन्धः ? न तावत्संयोगः, रूपयोरेव तस्य भावात् । अत्र तु उपकार्यं द्रव्यम्, उपकारश्च क्रियेति न संयोगः । नाऽपि समवायः, तस्यैकत्वाद्, व्यापकत्वाच्च । प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाज्जावेन सर्वत्र तुल्यत्वाच्च नियतैः संबन्धिभिः संबन्धो युक्तः । नियतसंबन्धिसंबन्धे बाह्यी क्रियमाणे तत्कृत उपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः । तथा च सत्युपकारस्य भेदाऽभेदकल्पना तदवश्यम् । उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात् । भेदे तु पुनरपि समवायस्य न नियतसंबन्धिसंबन्धत्वम् । तच्चैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते । नाप्यक्रमेण । नह्येको जावः सकलकालकलाकलाप्राप्तिरीर्युगपत्सर्वा क्रिया करोतीति प्रातीतिकम् । कुरुतां वा, तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात् ? करणे वा क्रमपक्षजावी दीवः । अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाऽभावादवस्तुत्वप्रसङ्गः । इत्येकान्तनित्यात् क्रमाऽक्रमाज्यां व्याप्ताऽर्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलाद् व्यापकनिवृत्तौ निवर्त्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्त्तयति । अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्त्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्त्तयतीति । इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्रमः । एकान्तनित्यपक्षोऽपि न कङ्कीकरणार्हः । अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी । स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थः, देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात् । क्रमोऽहि पौर्वापर्यम्, तच्च क्षणिकस्यासंभवि । अवशिष्टतस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिदेशक्रमः, कालक्रमश्चाभिधीयते । न चैकान्ताविनाशिनि साऽस्ति । यदाहु-“यो यत्रैव स तत्रैव, यो यदैव तदैव स । न देशकालयोर्व्याप्ति-र्जावानामिह विद्यते ॥१॥ न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति ? स तानस्यावस्तुत्वात् । वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वम् ? न तर्हि क्षणेभ्यः काश्चिद्विशेषः । अथाऽक्षणिकत्वम् ? तर्हि समाप्तं क्षणं भङ्गवादः । नाप्यक्रमेणार्थक्रियाक्षणिके सम्भवति, स हि एको बीजपूरादिक्षणो युगपदनेकान्तरसादिकणात् जनयन् एकमन्यभावेन जनयेत् ? नानास्वभावैर्वा ? यद्येकेन, तदा तेषां रसाक्षणानामेकत्वं स्यात्, एकस्वभावजन्यत्वात् । अथ नानास्वभावैर्जनयति किञ्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन, किञ्चिद्रूपादिकमदकारित्वेनेति चेत्, तर्हि ते स्वभावास्तस्यात्मनूताः ? अनात्मनूता वा ? अनात्मनूताश्चेत्, स्वभावत्वहानिः । यथात्मनूतास्तर्हि नान्यत्वेकत्वम्, अनेकस्वभावत्वात् । स्वभावता वा एकत्वप्रसज्येत, तदव्यतिरिक्तत्वात् तेषाम्, तस्यैकत्वात् । अथ य एव एवत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इच्छते, तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिण्यभावभेदः, कार्यसाङ्ग्यं च कथमिष्यते क्षणिकयादिना ? अथ नित्यमेक-

पत्वादकमम्, अक्रमाच्च क्रमिणा नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिः ? इति चेत्, भद्रे ! स्वपक्षपाती देवानां प्रिय, यः यत्तु स्वयमेकस्मात्-भिरशास्त्रादिक्लृप्तकारणपद्वनेककारणसाध्यान्वयेककार्या-ण्यङ्गोक्त्याणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि घन्तुनि क्रमेण नानाकार्य-करणेऽपि विरोधमुद्गाधयति । तस्मात् कृणिकस्यापि भावस्या-क्रमेणार्थक्रिया युज्यते । इत्यनित्यकान्ताद्यपि क्रमाक्रमयोर्व्यापक-योर्निवृत्त्येव व्याप्यार्थक्रियाऽपि व्यावर्तते । तद्व्यावृत्तं च सत्त्व-मपि व्यापकाऽनुपपन्नप्रवृत्तेर्नैव निवर्तते, इत्येकान्तानित्यवादोऽपि न रमणीयः । स्याद्वादे तु-पूर्वात्तराकारपरिहारस्योकार-स्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरित्युक्ता । न चैकत्र घन्तुनि परस्परविरोधप्रमाणसायोगादसन् स्या-द्वाद इति वाच्यम् ? । नित्यानित्यपक्षयिलक्षणस्य पक्षान्तर-स्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, तथैव च सर्वैरनुभवात् । तथा च पञ्चति-“ नामे सिंहे नरो भागे, योऽर्थो प्रागृह्यात्मकः । तमभाग विज्ञागेन, नरमिदं प्रचक्षते ” ॥ १ ॥ इति । वेशेपि-कैरपि चित्ररूपस्थैकस्याऽवयविनोऽभ्युपगमात् । एकस्यैव पदा-देशस्य अचलरक्षाऽऽरकाऽऽवृत्ताऽनाद्युत्तरादिचिररूपप्रमाणमुपल-ब्धे, सागतैरप्येकप्रचित्रपटीऽङ्गाने नीलानीलयोर्विरोधान्नाका-रात् । अत्र च यद्यप्यधिष्ठितघाटिनः प्रदीपादिक कालान्तराऽव-स्थापितत्वात् कृणिक न मन्यते, तन्मते पूर्वापरान्तावच्छिन्नाया-सत्ताया एवाऽनित्यतालक्षणात् । तथाऽपि युक्तिसुरादिक तेऽपि कृणिकतयैव प्रतिपन्ना । इति तदधिकारेऽपि कृणिकयाद्वयं ना-ऽनुपपन्ना । यदाऽपि च काशान्तरावस्थायि घन्तु, तदाऽपि नि-त्यानित्यमेव । कृणोऽपि न यत्तु नोऽस्ति, यत्र घन्तुत्पादव्ययध्या-त्मक नास्तीति काव्यार्थः ॥ ५ ॥ स्यात् ॥ (अनेकान्तज्ञानस्य यथार्थत्व ' मोक्ष ' शब्दे यज्यते)

(२) सामान्यमनाद्यविद्यायासनाप्रधासितसन्मतयः प्रत्यक्षोप-लब्धमाणमन्यनेकान्तवादः येऽन्यमन्यन्ते तेषामुन्मत्ततामाविर्जा-ययन्नाह—

प्रतिकृणोत्पादविनाशयोगि,

स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।

जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः,

स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ? ॥ २१ ॥

प्रतिकृणं प्रतिममयमुत्पादेनोत्तराकारस्थीकाररूपेण, विनाशेन च पूर्वोऽऽकारपरिहारलक्षणेन, युज्यत इत्येवशीघ्रं प्रतिकृणोत्पाद-विनाशयोगि । किं तत् ? स्थिरैक कर्मताऽऽपन्नम्, स्थिरमुत्पादविना-शयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेक इत्येव स्थिरैकम् । एक-शब्दोऽत्र साधारणवाच्यः । उत्पादे विनाशे च तत्साधारणम-न्वायिष्यत्वात् । यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः । इत्यमेव हि तयोरेकाऽधिकरणता, पर्यायाणां कथञ्चिदनेकत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदेकत्वात् । एव प्रयात्मक वस्तु अध्यक्षमपीक्ष-माणः प्रत्यक्षमवलोकयन्नापि, हे जिन ! रागादिजैत्रं त्वदाज्ञाम, आ सामस्त्येनाऽनन्तधर्मविशिष्टनया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवाद्य-पदार्थो यथा सा आज्ञा, आगमः, शासनम्, तदाज्ञा त्वदाज्ञा, ता त्व-दाज्ञा जवत्प्रणीतस्याद्वा मुद्गा, यः कश्चिद्विश्वेकी अवमन्यतेऽव-जानाति । जात्यपेक्षमेकवचनम्, अवज्ञा वा । स पुरुषपशुर्वा-तिकी, पिशाचकी वा । वानो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वानकी, वान-कीव वातकी, वातश्च इत्यर्थः । एव पिशाचकीव पिशाचकी, भूतावि-ष्ट इत्यर्थः । अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थ उपमानार्थो वा । स पुरुषा-पसदो वातकिपिशाचकिच्यामधिरोहति, तुल्यमित्यर्थः । “वा-

तार्तासारपिशाचात् कक्षान्तः” (७। २। ६१) इत्यनेन [हैमसूत्रेण] मत्त्वर्थीयं कक्षान्तः । एव पिशाचकीत्यपि । यथा कित्वातेन पिशाचेन वाऽऽक्रान्तवपुर्वस्तुतत्त्व साक्षात् कुर्वन्नपि तदावेश-वशादयथा प्रतिपद्यते, एवमयमप्येकान्तवादापस्मार्परवश इति । अत्र च जिनेति साभिप्रायम्, रागादिजैतृत्वाद्धि जिनः । ततश्च यः कित्वा विगलितदोषकासुप्यतयाऽवधेयवचनस्यापि तत्र-भयतः शासनमवमन्यते तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः । नाथ ! हे स्वामिन् ! अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादेर्लभ्यकृतया लब्धस्य च तस्यैव निरातिचारपरिपालनोपदेशादयितया च योगक्षेमकर-त्वोपपत्तेर्नाथः, तस्यामन्त्रणम् । वस्तुतत्त्व च-उत्पादव्ययध्या-त्मकम् । तथाहि-सर्वे घन्तु इत्यात्मना नोत्पद्यते, विपद्यते वा, परिस्फुटमन्त्रव्यदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन वाध्यमानस्यान्वयस्यापरि-स्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽवयवः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञा-नसिद्धत्वात् । सर्वव्यक्तिषु नियतं कृणे कृणोऽन्यत्वमथ च न विद्वेष्टे । “सत्योश्चित्यपचित्योरा-कृतिजानिव्यवस्थानात्” इति चचनात् । ततो इत्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य घन्तुनः, पर्यायात्म-ना तु सर्वं घन्तुत्पद्यते, विपद्यते च, अस्त्वद्विषयपर्यायानुभवसङ्गा-धात् । न चैव शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, त-स्य स्ववद्वपत्वात् । न यत्तु सोऽस्त्वलक्ष्मणो येन पूर्वोऽऽकारविना-शाजहदभूतोत्तराकारोत्पादाऽविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ घन्तुनि हर्षमर्षादासीन्यादिपर्यायपरम्पराऽनुभवः स्ववद्वप, कस्यचिद्वाधकस्याज्ञावात् । ननुत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते ? , न वा ? । यदि भिद्यन्ते, कथमेकं घन्तुं ज्ञात्मकम् ? । न भिद्यन्ते चे-त्तथापि कथमेकं ज्ञात्मकम् ? । तथा च-“यद्युत्पादादयो जिज्ञाः, कथमेकं प्रयात्मकम् ? । अथोत्पादादयोऽजिज्ञाः, कथमेकं प्रयात्म-कम् ? ” ॥ १ ॥ इति चेत् । तदयुक्तम् । कथञ्चिद्विभक्तकृणत्वेन तेषां कथञ्चिद् भेदाभ्युपगमात् । तथाहि-उत्पादविनाशप्रवृत्त्याणि स्याद् जिज्ञानि जिज्ञातकृणत्वाद् रूपादिवदिति । न च जिज्ञातकृण-त्वमसिद्धम्, असत् आत्मज्ञातः, सत् सत्तावियोगः, इत्यव्ययतया-ऽनुवर्तनं च यत्तुत्पादादीनां परस्परमसङ्कीर्णानि लक्षणानि सक-ललोकसाक्षिकाण्येव । न चामी जिज्ञातकृणा अपि परस्परान्-पेक्षा यत्तुत्पदमस्वापत्तेः । तथाहि-उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिप्रिगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो ना-स्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तच्छत् । एव स्थितिः केवलानास्ति, विनाशोत्पादगुण्यत्वात्, तद्वदेव । इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादी-नां वस्तुनि सर्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा चोक्तम्-“घटमैहिसुवर्णा-र्थी, नाशोत्पादस्थितिः स्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थः, जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥ पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽस्ति दधि-वनः । अगोरसन्नो नोत्रे, तस्माद् वस्तु प्रयात्मकम् ” ॥ २ ॥ इति काव्यार्थः ॥ २१ ॥

अथाऽन्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वाद्, आस्ता तावत्साक्षा-द्भवान्, जयदीयप्रवचनावयवा अपि परतीर्थिकतिरस्कारवृ-कक्षा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वाद्यवस्थापनाय प्रयोग-मुपन्यस्यन् स्तुतिमाह—

अनन्तार्थात्मकमेव तत्त्व-मतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।

इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि-कुरङ्गसन्नासनसिंहनादाः ॥ २२ ॥

तत्त्व परमार्थभूतं वस्तु, जीवाऽजीवलक्षणम्, अनन्तधर्मात्मकमेव, अनन्तास्त्रिकावधिपयत्वात्परिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रम-

य आक्रुञ्चनकालोऽहुल्यादेर्द्रव्यस्य, स एव तत्प्रसारणस्य न यु-
क्तः, भिन्नकायतयाऽऽक्रुञ्चनप्रसारणयोः प्रतीतस्तयोर्भेदः । अन्य-
था तयोः स्वरूपाभावापत्तेरित्युक्तं तत्तत्पर्यायाभिन्नस्याहुल्यादि-
ह्रव्यस्यापि तथाविधत्वात्, नदपि भिन्नमन्युपगतव्यम् । अन्यथा
तदनुपलम्भात् । अभिन्नं च, तदवस्थयोस्तस्यैव प्रत्यजिज्ञायमा-
नत्वात् । तयोः पुनरुपादविनाशयोः । प्रतिपत्तिश्च प्रादुर्भावो, विग-
मश्च विपत्तिः । प्रतिपत्तिविगमश्च, तत्र; कालान्तर जिज्ञाकालत्वमङ्गु-
लिह्रव्यस्य च नास्ति पूर्वपर्यायविनाशोत्तरपर्यायोत्पत्त्यङ्गुलिद्र-
व्योत्पत्तिस्थितीनामभिन्नकायनाऽभिन्नरूपता च प्रतीयते । एक-
स्यैव तथाविधवर्तात्मकस्याध्यक्षेण प्रतीते । अथवा कालान्तरमा-
स्तीत्यत्राऽऽकारप्रभेदेयाच्चतस्रोपादानात् प्रनिषेधद्वयेन प्रकृता-
र्थगते कालान्तरकायनेष्ट उत्पादादेर्द्रव्यस्य चाऽस्तीति कथ-
ञ्चिद्भेद इत्यर्थः । कथञ्चिद्भेदेनापि प्रतिपत्तेस्तोनोत्पत्तिवि-
नाशस्थितीनां परस्पररूपपरित्यागप्रवृत्तप्रत्येकज्वात्मैकरूपत्वे-
नापि वर्तमानपर्यायात्मकस्यैवातीतानागतकाययोः सत्त्वम, य-

स्तुनरुयात्मकत्वाऽभ्युपगमात्। अतः। तानागतकावयोरपि तद्वैषेण सत्त्वे उत्पादविनाशयोरभावेन कथं व्यात्मकत्वं तस्य? अतीतानागतकावयोरभावे कथं नित्यत्वमिति वाच्यम् । कथञ्चित्तस्याभ्युपगमात्, त्यक्तोपादित्स्यमानपूर्वोत्तरपर्यायस्यान्यान्यवैशेषपरित्यागोपादानैकनष्टपुरुषवद् द्रव्यस्य व्यावर्तात्मकत्वात्, सर्वथाऽनित्यत्वे पूर्वोत्तरव्यपदेशाभावाप्रसक्तेः । सर्वथा नित्यत्वेऽप्युभयत्रैकप्रतिज्ञासम्यपदेशादिव्यवहारान्नावश्यं स्यात् । नचैकत्वप्रतिभासो मिथ्या, ततो यदेव विनष्टं शिवकरूपतया तदेवोत्पन्नं मृदुर्द्रव्य घटादिरूपतया, अवस्थितं च मृत्वेनेति व्यात्मकं तत् सर्वदा द्रव्यमवस्थितं यथोत्पादव्यवस्थितम् । यथोत्पादव्यवस्थिततीना प्रत्येकमेकैकरूपं व्यात्मकं, तथा मृतवर्तमानमवि-
ष्यद्विरप्येकैकं रूपं त्रिकालतामासादयति ।

इत्येतदेवाह—

उपपज्जमाणं कालं, उपपन्नं ति विगयं विगच्छन्तं ।

दविषं पणवयंतो, त्रिकालविसयं विसेसेऽ ॥ १३४ ॥

उत्पद्यमानसमय एव किञ्चित्पटद्रव्यं तावदुत्पन्नं यद्येक-
तन्तुप्रवेशक्रियासमये न द्रव्यं तेन रूपेणोत्पन्नं तद्वैषेणानपि त-
त्रोत्पन्नमित्यत्यन्तानुपपत्तिप्रसक्तस्तस्य स्यात् । न चोत्पत्तिप्रस-
क्तिः, तत्तरोत्तरक्रियाक्षणस्य तावन्मात्रफलोत्पादन एव प्रज्ञायादप-
रस्य फलान्तरस्यानुपपत्तिप्रसक्तेः । यदि च विद्यमाना एकतन्-
तुप्रवेशक्रिया न फलोत्पादिका, विनष्टा शुतारानं भवेत्, असत्त्वा-
त्, उत्पत्त्यवस्थावत् । न ह्यनुपपन्नविनष्टयोरसत्त्वे कश्चिद्विशेषः । ततः
प्रथमक्रियाक्षण-केनचिद् रूपेण तमनुत्पादयति, द्वितीयस्त्वसौ
तदेवांशान्तरेणोत्पादयति । अन्यथा क्रियाक्षणान्तरस्य वैफल्यप्र-
सक्तेः । एकेनाशेनोत्पन्नं सत्तत्तत्क्रियाक्षणफलान्तेन यद्यपूर्वम-
पूर्वं तदुत्पद्यते तदोत्पन्नं भवेद्, नाऽन्यथेति । प्रथमतस्तुप्रवेशा-
द्वारभ्यान्त्यतन्तुसयोगावधिं यावदुत्पद्यमानं प्रबन्धेन तद्वत्तयो-
त्पन्नमभिप्रेतानिष्टरूपतया चोत्पत्त्यत इत्युत्पद्यमानमुत्पत्त्यमा-
नं च भवति । एवमुत्पन्नमभ्युपगम्यमानमुत्पत्त्यमानं च भवति ।
तथोत्पत्त्यमानमप्युत्पद्यमानमुत्पन्नं चेत्येकैकमुत्पन्नादिकालत्र-
येण यथा त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते, तथा विगच्छदादिकालत्रयेणान्यु-
त्पादादिरैकैकः त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते । तथाहि—यथा यदैवोत्प-
द्यते न तत्तदैवोत्पन्नमुत्पत्त्यते । यद्यदैवोत्पन्नं न तत्तदैवोत्प-
द्यते उत्पत्त्यते च । यद्यदैवोत्पत्त्यते तत्तदैवोत्पद्यते उत्पन्नं च ।
तथा तदेव तदैव यदुत्पद्यते तत्तदैव विगतं विगच्छद्विगमिष्यच्च ।
तथा यदेव यदैवोत्पन्नं तदेव तदैव विगतं विगच्छद्विगमिष्यच्च ।
तथा यदेव यदैवोत्पत्त्यते तदेव तदैव विगतं विगच्छद्विगमिष्यच्च ।
एव विगमोऽपि त्रिकालमुत्पादादिना दर्शनीयः । तथा स्थित्याऽपि
त्रिकाल एव सप्रपञ्च दर्शनीयः ; एव स्थितिरप्युत्पादविनाशाभ्यां
प्रपञ्चाभ्यामेकैकान्या त्रिकालदर्शनीयेति । द्रव्यमन्योन्यात्मकत-
याभूतकावयव्यात्मकोत्पादविनाशस्थित्यात्मकप्रज्ञापयैत्रिकाव-
विषयप्रादुर्भावधर्माधारतया तद्विशिनष्टि । अनेन प्रकारेण त्रि-
कालविषय द्रव्यस्वरूपं प्रतिपादिनं भवति । अन्यथा द्रव्यस्याऽ-
भावात् त्रैकाल्यं दूरोत्सारितमेवेति; तद्वचनस्य मिथ्यात्वप्र-
सक्तिरिति ज्ञातं । सर्वथाऽन्तर्गमनलक्षणस्य विनाशस्यासज-
घादु विजागजस्य चोत्पादस्य तत्तद्व्यवभावे स्थितेरप्यभावात् ।

तत् त्रैकाल्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानत्वाद्वादिनः प्रति-
तदभ्युपगमदर्शनपूर्वकमाह—

द्वन्तरसंजोगा—हिं केऽवि दविग्यस्स विति उप्पायं ।

उप्पायत्था कुशला, विजागजायं न इच्छति ॥ १३५ ॥

समानजातीयद्रव्यान्तरादेव समवायिकारणात् तत्संयोगास-
मवायिकारणात्, तत्संयोगासमवायिकारणनिमित्तकारणादिस-
ध्यपेक्षादवयवि कार्यद्रव्यं भिन्न कारणद्रव्येभ्यः उत्पद्यत इति
द्रव्यस्योत्पाद केचन ब्रुवते । ते चोत्पादार्थानभिज्ञा विभाग-
जोत्पादं नेच्छन्ति ।

कुतः पुनर्विजागजोत्पादानभ्युपगमवादिनः उत्पादा-
र्थानभिज्ञाः ? । यतः—

अणु अणुएहिं दन्वे, आरब्धे ति अणुयं ति ववएसो ।

तत्तो य पुण विभत्तो, अणु ति जाओ अणु होई ॥ १३६ ॥

ह्याभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आरब्धेऽणुरिति व्यपदेशः, परमाणु-
द्व्यारब्धस्य अणुकस्याणुपरिमाणत्वात् । त्रिभिर्ह्यणुकैश्चतुर्भि-
र्वाऽरब्धेऽणुकमिति व्यपदेशः । अन्यथोत्पन्नानुपपत्तिनिमित्तस्य
महत्त्वस्याभावप्रसक्तेः । अत्र किञ्च त्रिभिश्चतुर्भिर्वा प्रत्येकं परमा-
णुभिरारब्धमणुपरिमाणमेव कार्यमिति । आदिपरमाणुनाऽरब्ध-
कत्वे आरम्भवैषम्यप्रसक्तिरिति ह्यत्राद्या तु परमाणुभ्यां अणुक-
मारज्यते । अणुकमपि न ह्याभ्यामणुभ्यामारज्यते, कारणविशेषप-
रिमाणतोऽनुपपन्नोत्पत्त्यप्रसक्तेः, यतो महत्त्वपरिमाणयुक्तं तदुप-
पत्तियोग्यं स्यात् । तथा चोपपन्नोत्पत्त्यकारणवहुत्वमहत्त्वप्रचयजन्यं च
महत्त्वमानं च द्वित्रिपरमाणवारब्धे कार्यं महत्त्व, तत्र महत्त्वपरिमाणा
भावात्तेषामणुपरिमाणात्तदुपलब्धियोग्यं स्यात्, तथा चोपपन्नोत्प-
त्त्यकारणत्वात् प्रचयोऽप्यवयवान्नावाप्तं सज्जति, तेषामपि ह्यत्राद्या-
मणुभ्यां कारणवहुत्वाभावात् । न च त्रयोऽपि, प्रशिथिलावयवस-
योगाभावात् । उपलभ्यते च समानपरिमाणौ द्विभिः । पिएरब्धे
कार्यं महत्त्व, न ह्याभ्यामिति महत्त्वपरिमाणाभ्यां ताभ्यामेवार्ब्ध-
महत्त्व, न त्रिजिररूपपरिमाणैरारब्ध इति । समानसंख्यातुष्टाप-
रिमाणाभ्यां तन्तुपिण्मात्राभ्यामारब्धे पटादिकार्यं प्रशिथिलावय-
वतन्तुसयोगकृतं महत्त्वमुपलभ्यते, न तदितरत्रोति । नन्वेव यदि
कार्यारब्धस्तदा द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारज्यन्ते, द्विवहूनि वा स-
मानजातीयानीत्यभ्युपगमः परित्यज्यताम्; यतो न परमाणु द्रव्य-
णुकादिनामपि त्यक्तजनकावस्थानामनङ्गीकृतस्वकार्यजननस्व-
भावानां च द्रव्यणुकद्रव्यणुकादिकार्यनिर्वर्तकत्वम्; अन्यथा प्राग-
पि तत्कार्यप्रसङ्गात् । अथ न तेषामजनकावस्थानागतो जनकस्व-
भावान्तरोत्पत्तौ कार्यजनकत्वम्, किन्तु पूर्वस्वभावव्यवस्थिताना-
मेव संयोगलक्षणसहकारिशक्तिसङ्घावात् तदा कार्यनिर्वर्तकत्व-
प्राप्तनतदभावाच्च कार्योत्पात्तिः । कारणानामविचक्षितस्वरूपत्वेऽपि
न च संयोगेन तेषामनतिशयो व्याचर्त्तते, अतिशयो वा कश्चिदुत्पा-
द्यते, अजिज्ञो भिक्षो वा, संयोगस्येति शयित्वात् । न च कथमन्य-
संयोगस्तेषामतिशयो इति, वाच्यस्याप्यतिशयत्वायोगात् । न ह
स एव तस्यातिशय इत्युपपन्नं, तस्मात्तत्संयोगे सति कार्यमु-
पपन्नमिति, तदभावे तु नोपलभ्यत इति संयोग एव कार्योत्पादने
तेषामतिशय इति, न तदुत्पत्तौ तेषां स्वभावान्तरोत्पत्तिः, संयो-
गतिशयस्य तेज्यो जिज्ञत्वादिति । असद्वेतत् । यतः कार्योत्पत्तौ
तेषां संयोगाऽतिशयो ज्ञवतु, संयोगोत्पत्तौ तु तेषां कोऽतिशयो?
इति वाच्यम् । न तावत्स्व एव संयोगः, तस्याद्यानुत्पत्तिः । नापि स-
योगान्तरं तदनभ्युपगमात् । अभ्युपगमेऽपि तदुत्पत्तावप्यपरस्या-
गातिशयप्रकटपनायामनवस्थाप्रसक्तेः । न च क्रियातिशयः, तद्व्य-
त्तावपि पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । किं चादृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगात्पर-

माणुषु क्रियोत्पद्यत इति अभ्युपगमादन्तर्माणास्योगाज्ञावे-
ऽप्यपरोऽतिशयो वाच्य । तदेव च तत्र दृष्टम् । किञ्चासौ
संयोगो ह्यणुकादिनिवृत्तं किं परमावाद्याश्रित, उत तदन्या-
श्रितः, आहोस्विदनाश्रित इति । यद्याद्य पक्ष, तदा नदुत्पत्तावाश्रय
उत्पद्यते, न वेति । यद्युत्पद्यते, तदा परमाणुनामपि कार्यत्वप्रसक्तिः,
तत्सयोगवत् । अथ नोत्पद्यते, तदा संयोगस्तदाश्रितो न स्यात्,
समवायस्याभावात् । तेषां च न प्रत्यकारकत्वात् । नदकारकत्वे तु
तत्र तस्य प्रागभावानिवृत्ते, तदन्यगुणान्तरवत् । न तस्तेषां कार्य-
रूपतया परिणतिरन्युपगन्तव्या । अन्यथा तदाश्रितत्व संयोगस्य
तस्मादन्याश्रितत्वेऽपि पूर्वोक्तप्रसङ्गः । अनाश्रितत्वपक्षे तु निर्हेतु-
कोत्पत्तिप्रसक्तिः । अथ संयोगो नोत्पद्यत इत्यभ्युपगमः, तदा
वक्तव्य किमसौ सन्वाऽसन् । यदि सस्तदा तन्नित्यत्वप्रसक्तिः,
सदकारणवन्नित्यमिति ज्वनाऽभ्युपगमात् । तथा चासौ गुणो न
भवेद् नित्यत्वेनानाश्रितत्वात्, अनाश्रितस्य पारतन्त्र्यायोगात्, अ-
परतन्त्रस्य चागुणत्वान् । अथासन्निति पक्षः, तदा कार्यानुत्पत्तिप्र-
सङ्गः, तदभावे प्रागवादिशिष्टपरिमाणोपेतकार्यद्रव्योत्पत्त्यभा-
वात् । तथा च जगनोऽदृश्यताप्रसक्तिरिति संयोगैकत्वस-
त्त्वापरिमाणमहत्त्वाद्यनेकगुणानां तत्रोत्पत्तिरन्युपेया, कार-
णगुणपूर्वप्रक्रमेण कार्यान्पत्त्यभ्युपगमादिष्टमेवेति चेत्, ननु
तेषां क आश्रयः ? इति वक्तव्यम् । न तावन् कार्यम्, नदुत्पत्तेः
प्राकस्यामत्त्वात्, सत्त्वे चोत्पत्तिविरोधान् । न च प्रथमकृणे निर्गु-
णमेव कार्यगुणोत्पत्तेः प्रागस्त । इति वक्तव्यम् । गुणसंबन्धवत् स-
त्तासंबन्धस्याप्यङ्गणे अभावः, तत्सत्त्वासंज्ञात् । न चोत्पत्ति-
सत्तासंबन्धयोरेककालतयाऽऽद्यकृण एव सत्त्वम्, तदा रूपादिगु-
णसमवायाभावतोऽनुपलभ्यते ततस्तत्सत्तासंबन्धव्यवस्थापना-
समवात्, न हि सदित्युपलभ्यमानतरेण तदा तस्य सत्तासंबन्धः,
सत्त्ववा व्यवस्थापयितुं शक्यम् । न च महत्त्वादेर्गुणद्रव्येण स-
होत्पादतद्द्रव्याधेयता, नदृष्टव्यस्य वा तदाऽऽधारता, अकारण-
स्याश्रयत्वायोगात् । न चैककालयोः कार्यकारणभावः सव्येतर-
गोविपाणयोरिव भवत्पक्षे युक्तः, नन् न कार्यं तदाश्रयः । अथाण-
वस्तदाश्रया, तर्हि कार्यद्रव्यस्यापि त एवाश्रय इत्येकाश्रयौ का-
र्यगुणौ प्राप्ताः । तदच्युपगमेऽपि तावद्युनसिद्धयोस्तयोः कुण्ठव-
दरवदाश्रयाश्रयिभावः, अकार्यकारणप्रसङ्गात् । नायुनसिद्धयोः,
अयुनसिद्ध्याश्रयाश्रयिभावविरोधात् । तथा ह्यपृथक्सिद्ध इत्यने-
न भेदनिषेधः प्रतिपाद्यते, समवायाभावेऽन्यस्यार्थस्यात्रासंभवा-
त् । आधाराधेयभाव इत्यनेन चैकत्वनिषेधः क्रियत इति कथम-
नयोरेकत्र सद्भावः । अयान्यत्राधाराधेयभावः, तर्हि तेषां सत्त्व-
मुतासत्त्वमिति वक्तव्यम् । यद्याद्यः पक्षः, तदा संयोगादिगुणा-
कारपरमाणव एव तथाचूतकार्यमिति जैनपक्षः एव समा-
श्रितः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु, सर्वानुपलब्धिप्रसक्तिः । यदि च
परमाणवः स्वरूपापरित्यागतः कार्यद्रव्यमागमते स्वात्मनो
व्यतिरिक्तम्, तदा कार्यद्रव्यानुत्पत्तिप्रसक्तिः । न हि कार्यद्रव्य-
परमाणुस्वरूपापरित्यागे स्थूलत्वस्य सद्भावः, तस्य तद्भावात्म-
कत्वात् । तस्मात्परमाणुरूपतापरित्यागेन मृद्द्रव्यः स्थूल-
कायस्वरूपमासादयतीति वच्यवन् पुद्गलद्रव्यपरिणत आदि-
रन्तो वा न विद्यते, इति न कार्यद्रव्य कारणेभ्यो भिन्नम् । न चार्था-
न्तरज्ञावगमनं विनाशोऽयुक्तः, इति न रूपपरित्यागोपादानात्म-
कस्थितिस्वभावस्य द्रव्यस्य वैकाल्यं नानुपपन्नम् । यथा च
एकसंख्याविभागालपरिमाणपरत्वात्मकत्वेन प्रादुर्भावात्परमा-
णवः कार्यद्रव्यवत् तथोत्पत्ताद्यान्युपगन्तव्या । कारणान्व-

यव्यतिरेकानुविधानोपलम्भात् कार्यताव्यवस्थानिवन्धनस्यात्रा-
पि सद्भावात्, इत्ययमर्थः । (तत्तो य) इत्यादिना गाथापभावेन प्रद-
र्शितः, तस्मादेकपरिमाणाद् द्रव्याद्विभक्तः विज्ञागात्मकत्वेनो-
त्पन्नः (अणुरिति) अणुर्जातो भवति, एतद्व्यवस्थायाः प्राक्-
दसत्त्वात् । सत्त्वे वा इदानीमिव प्रागपि स्थूलरूपकार्यभावं
प्रसङ्गात् । इदानीं वा तद्रूपाऽविशेषात् प्राक्तनावस्थानमिव स्या-
त् । एव चतुर्विधकार्यद्रव्यान्युपगमे सगतः । न च य एव का-
र्यद्रव्यारम्भका, परैकत्वविरोधात्, घटद्रव्यप्रागभावप्रवृत्ता-
भावमृत्पिण्डकपालवत् । न च प्रागभावप्रध्वसाज्ञावोत्थरूपत-
या मृत्पिण्डकपालरूपत्वमसिद्धम्, तुच्छरूपस्याभावस्याप्र-
माणत्वात्तज्जनकत्वेन तद्विपर्ययत्वतो व्यवस्थापयितुमशक्य-
त्वादिति प्रतिपादनात् । न च कपालसंयोगाद् घटद्रव्यमु-
पजायते, तद्विभागाच्च विनश्यतीति मृत्पिण्डस्य घटद्रव्य-
समवायिकारणत्वानुमानमध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्त-
त्वेन कात्वात्ययापदिष्टम् । न चालपरिमाणतन्तुप्रज्ञं महत्त्वं
रिमाणं पटकार्यमुपलभ्यमिति घटादिकमपि तदल्पपरिमाणा-
नेककारणप्रज्ञं कल्पयितुं युक्तम्, विपर्ययेणापि कल्पनायाः
प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । अर्धक्षबाधस्तु तदितरत्रापि समानः । किञ्च ।
परमाणूनां सर्वदैक रूपमन्युपगच्छन्नभावमेव तेषामन्युपगच्छे-
त्, अकारकत्वप्रसङ्गात् । तच्च प्रागज्ञावप्रध्वसामावाविकल्प-
त्वेनानाधेयतातिशयत्वात्, वियत्कुसुमवत् । तदसत्त्वे च का-
र्यद्रव्यस्याप्यज्ञावः, तस्यासत्त्वात् । तदज्ञावे च परापरत्वादिप्र-
त्ययादेरयोगात् कात्वादेरप्यमूर्तद्रव्यस्याभाव इति सर्वाभाव-
प्रसक्तिः । तथाहि-न तावदध्यक्षं तत् प्रतिपादने व्याप्रियते, क-
पालपर्यन्तघटाविनाशोपलभ्यते तस्य व्यापारोपलब्धेः । नानुमा-
नमपि, प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः, अर्धक्षपूर्वकस्य
तस्य व्यावर्णनात् । आगमस्य चात्रार्थे अनुपयोगात् । परमा-
णुपर्यन्ते च विनाशे घटादिध्वसे त किञ्चिदप्युपलभ्यते, पर-
माणूनामदृश्यत्वेनाभ्युपगमात् । किञ्च घटेन पाकनिकितेन वा
तेनानेकान्त इति चेत् । न । सर्वस्य पक्वितत्वात् । अवयविनि
च द्विद्रव्योत्पन्नत्वात् तस्य च निगवयवत्वाभावावयवतदुत्पत्तिः;
परमाणुषु तदसंज्ञात् । पाकान्यथाऽनुपपत्त्या परमाणुपर्यन्तो
विनाशः परिकल्पत इति चेत् । न । विशिष्टसामग्रीविनाश-
द्विशिष्टवर्णस्य घटादेर्द्रव्यस्य कथञ्चिद् विनाशोऽप्युत्पत्तिस-
ंभवात् । परमाणुपर्यन्तविनाशोऽन्युपगमे च तद्देशत्वत-
त्सत्त्वात्वनन्तरपरिमाणत्वोपर्यवस्थापितकर्पराद्यपातप्रत्यक्षोप-
भ्यत्वादीनि पच्यमाने घटे न स्युः । सूक्ष्मप्रविद्धघटेनाने-
कान्तः परिहृत एव ।

न च कपालार्थो घट भिद्यादापरमाणवन्ते विनाशे ततः
प्रतीतिविरुद्धत्वात्तासावभ्युपगन्तव्य इति प्रस्तुत-
मेवाङ्गोपद्वारेणोपसहरत्याचार्यः-

बहुयाण एगसदे, जइ संयोगाहिं होइ उप्पाओ ।
एणु एगविभागम्मि वि, जुज्झइ बहुयाण उप्पाओ । १३१

ह्यणुकादीनां सति संयोगे यद्येकस्य व्यणुकादे कार्यद्रव्यो-
त्पादो भवति, अन्यथैकमभिधानप्रत्ययव्यवहारायोगात् नहि व-
हुष्वेको घट उन्पन्न इत्यादिव्यवहारो युक्तः । नन्विह क्षमायाम-
कस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशोऽपि युज्यत एव बहुना समानज्ञा-
नानां तत्कार्यद्रव्यविनाशात्मकानां प्रभूततया विभक्त्यात्मना-
मुत्पाद इति । तथाहि-घटविनाशाद् बहूनि कपालानि उत्प-

ज्ञानीत्यनेकाभिधानप्रत्ययव्यवहारो युक्तः, अन्यथा तदसम्भवात् । ततः प्रत्येकं ज्ञात्मकास्तिकाशोत्पादादयो व्यवस्थिता इत्यनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम्, तत्त्वन्तरे काले भवत्वन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम् । एकसमये तु कथं तत्तदात्मकमवसीयते ? । प्रदर्शितदिशा तदात्मकं तदवसीयत इत्यादि—

एगसमयमि एगद-वियस्स बहुया वि होति उप्पाया ।

उप्पायसमा विगमा, ठिई उ उस्सग्गओ णियमा ॥१३८॥

एकस्मिन्समये एकद्रव्यस्य बहव उत्पादा भवन्ति, उत्पादसमानसंख्या विगमा अपि तस्यैव तदैवोत्पद्यन्ते, विनाशमन्तरेणोत्पादस्यासम्भवात् । न हि पूर्वपर्यायाविनाशो उत्तरपर्यायः प्रादुर्भवितुमर्हति । प्रादुर्भावे वा सर्वस्य सर्वकार्यताप्रसङ्गः, तदकार्यत्वं वा कार्यान्तरस्य च स्यात् । स्थितिरपि सामान्यरूपतया तथैव नियता, स्थितिरहितस्योत्पादस्याभावात् । भावे वा शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ॥ १३८ ॥

एतदेव दृष्टान्तद्वारेण समर्थयन्नाह—

कायमणवयणकिरिया-रूवाइ गई विरोसओ वा वि ।

संजोगजेयओ जा-णणा य दवियस्स उप्पाओ ॥१३९॥

यदैवानन्तानन्तप्रदेशिका हावभावपरिणतपुद्गलोपयोगोपजातशशशृङ्गादिपरिणतवशाविर्भूतशिशोऽहल्याद्यङ्गोपाङ्गभावपरिणतस्यूरसूक्ष्मतरादिभेदभिन्नावयवात्मकस्य कार्योत्पत्तिः, तदैवानन्तानन्तपरमाणूपचितमनोवर्गणापरिणतिलभ्यमान उत्पादोऽपि, तदैव वचनस्यापि कायोत्कृष्टनरवर्गणोत्पत्तिप्रतिलब्धप्रवृत्तिरुत्पादः, तदैव च कायात्मनोरन्योन्यानुप्रवेशाद्विषयीकृतासंख्यातात्मप्रदेशे कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च रूपादीनामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिविनश्वराणामुत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वाऽविगतिप्रमादकषायादिपरणतिसमुत्पादितकर्मबन्धनिमित्तागामिगतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः । तदैव चोत्सृज्यमानोपादीयमानानन्तपरमाण्वाद्यनन्तपरमाणुसंयोगविप्राणानामुत्पत्तिः । यद्वा-यदैव शरीरादेर्द्रव्यस्योत्पत्तिः, तदैव तत्रैकान्तगनसमस्तद्रव्यं सह साक्षात् पारस्पर्येण वा सवन्धानामुत्पत्तिः, सर्वव्याप्तिव्यवस्थिताकाशं धर्माधर्मादिद्रव्यसवन्धात्, तदैव च भाविस्वपर्यायपरज्ञानविषयत्वादीनां चोत्पादनशक्तीनामप्युत्पादः, शिशोऽप्रीवाचञ्चुनेत्रपिच्छोदरचरणाद्यनेकावयवान्तर्भावमयूरा-शरकरणशक्तीनामिव, अन्यथा तत्र तेषामुत्तरकालमप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । उत्पादविनाशस्थित्यात्मकाश्च प्रतिकृण भावाः शीतोष्णसपर्कादिभेदेन । न च पुराणतया क्रमेणोपलब्धिप्रतिक्षणतथोत्पत्तिमन्तरेण सम्भवति । न चास्मदाद्यध्यक्क निरवशेषधर्मात्मकवस्तुग्राहकः, येनानन्तधर्माणामेकदा वस्तुन्यप्रतिपत्तेरभाव इत्युच्येत, अनुमानतः प्रतिकृणमनन्तधर्मात्मकस्य तस्य प्रदर्शितन्यायेन प्रतिपत्ते । सकलत्रैलोक्यव्यावृत्तस्य वस्तुनोऽध्यक्षेण ग्रहणे तद्व्यावृत्तीनां पारमार्थिकनिरूपणरूपतया । अन्यथा तस्य तद्व्यावृत्त्ययोगात्, कथं नानन्तधर्माणां वस्तुन्यध्यक्षेण ग्रहणम् ? । (सम्म०)

अन्योन्यनिरपेक्षतयाऽऽश्रितस्य मिथ्यात्वा—

विनाभूतमेव दर्शयन्नाह—

जे संतवाएँ दोसे, सकोद्वया वयंति संखाणं ।

संखाय असब्बाए, तेहिं सव्वेऽपि ते सव्वा ॥ १४६ ॥

१०८

येऽनेकान्तसद्वादपक्षे द्रव्यास्तिकायाऽन्यपगमपदार्थान्युपगमे शाक्यौद्वक्या दोषान् वदन्ति, सांख्यानं क्रियागुणव्यपदेशोपलब्धादिप्रसङ्गादिलक्षणा, ते सर्वेऽपि तेषां सत्या इत्येव संबन्धः कार्यः । ते च दोषा एव सत्या स्युः यद्यन्यनिरपेक्षक्याऽन्युपगतपदार्थप्रतिपादकं तच्छास्त्रं न मिथ्या स्यात्, नाऽन्यथा । प्रागपि कार्यावस्थान्तरे एकान्तेन तत्सत्त्वनिबन्धनत्वात्तेषाम् । अन्यथा कथञ्चित्सत्त्वेऽनेकान्तवादापत्तेर्दोषाज्ञाव एव स्यात् । सम्म० ।

(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम्—

अनन्तरं जगद्वर्णितस्यानेकान्तात्मना वस्तुनो बुद्ध्युपवेद्यत्वमुक्तम् । अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गीप्ररूपणेन सुखोन्नेय स्यादिति साऽपि निरूपिता, तस्या च विरुद्धधर्माध्यासितवस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽबुद्ध्युपविरोधमुद्गाधयन्ति । तेषां प्रमाणमार्गाच्छयवनमाह—

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं,

नार्येष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।

इत्यप्रबुद्धैव विरोधजीताः,

जगस्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥ १४७ ॥

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाऽचेतनेष्वसत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न विरोधावच्छेदम्, अस्तित्वेन सह विरोधो नानुभवतीत्यर्थः । न केवलमसत्त्वं न विरुद्धम्, किन्तु सदवाच्यते च । सच्चाऽवाच्यं च सऽवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्यते, अस्तित्वावच्छेदव्यत्ये इत्यर्थः । ते अपि न विरुद्धे । तथाहि—अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुद्धते । अवच्छेदव्यत्येन विधिनिषेधात्मकमन्योन्यं न विरुद्धते । अथवाऽवच्छेदव्यत्येन वक्तव्यत्वेन साकं न विरोधमुद्गाहति । अनेन च नास्तित्वाऽस्तित्वावच्छेदव्यत्येन लक्षणभङ्गत्रयेण सकलसत्तज्ज्ञाया निर्विरोधतोपलक्षिता, अमीयामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्चेदपज्ञाना च सयोगजत्वेनामीष्वेवान्तर्जावादिति । नन्वेते धर्मा परस्परं विरुद्धाः, तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः सम्भवति ? इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—(उपाधिभेदोपहितमिति) उपाधयोऽवच्छेदका अशङ्करा, तेषां भेदो नानात्वः, तेनोपहितमपि तम् । असत्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेदो कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभेदोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे । अयमभिप्रायः परस्परपरिहारेण ये वचन्ते, तयोः शीतोष्णवत्सहाऽनवस्थानलक्षणो विरोधः । नचात्रैवम्, सत्त्वासत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्नाचेन वर्तनात् । न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तने, पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च तद्व्यातिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यम्, तेनैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणां सिद्धे । न चासत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तने स्यरूपेणाप्यसत्त्वप्राप्ते । तथा च निरुपाख्यत्वात्संवशूयतेति; तदा हि विरोधः स्याद्यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात् । न चैवम्, यतो न हि येनैवाशेन सत्त्वं तेनैवामसत्त्वमपि । किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वम् अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम् । स्वरूपेण हि सत्त्वं, पररूपेण चासत्त्वम् । दृष्टं हि एकस्मिन्नेव चित्रपटाद्यविनि अन्योपाधिकं तु नीलत्वमन्योपाधिकाद्येनैव वर्णा । नीलत्वं हि नीलीरागाद्युपाधिकम्, वर्णान्तराणि च न चक्षुज्जनऽन्योपाधिकानि । एवमेव करक्तेऽपि न चक्षुज्जगत्पुद्गलोपाधिकं यच्चिद्रम्यमवश्यम् । न च निर्दिष्टान्तं सत्त्वासत्त्वयोजनदेशत्वप्राप्तिः, चित्रपटाद्यवयविन

एकत्वात् तत्रापि भिन्नदेशत्वासिद्धेः । कथञ्चि-पक्षस्तु दृष्टान्ते
दार्ष्टान्तिके च स्याद्वादिनां न दुर्लभः । एवमप्यपरितोषश्चेदायुष्म-
तः, तर्ह्येकस्यैव पुनस्तत्र तत्तदुपाधिभेदात्पितृव्यपुत्रत्वमातुल्य-
भागेनेयवपितृव्यत्वमातृव्यत्वादिधर्माणां परस्परविरुद्धानाम-
पि प्रसिद्धिदर्शनात् किं वाच्यम् ? । एवमवक्तव्यनादयोऽपि वा-
च्याः । उत्पत्तिक्रमकारणोपाधिभेदेन वास्तवं विरोधाभावमप्रवृ-
ध्वैवाज्ञात्वैव, एवकारोऽवधारणे । स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्या-
भाव एव, न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति । तनस्ते
विरोधभीताः—सत्त्वासत्त्वादधर्माणां बहिर्मुखशमुप्या सभा-
वितो यो विरोध सहानवस्थानादि, तस्मान्नीतास्त्वस्तमा-
नसाः । अत एव जडास्तात्त्विकभयहेतोरभावेऽपि तथाविधप-
शुवद्भौतत्वाभूत्वाः परवादिनस्तदेकान्तहता, तेषां सत्त्वादि-
धर्माणां य एकान्त इतरधर्मनिषेधेन स्वाभिप्रेतधर्मव्यवस्थाप-
ननिश्चयः, तेन हता इव हता. पतन्ति स्खलन्ति । पतिनाश्च
सन्तस्ते न्यायमार्गाक्रमेणानसमर्था न्यायमार्गाध्वनीनानां च
सर्वेषामप्याक्रमणीयतां यान्तीति भावः । यद्वा—पतन्तीति प्र-
माणमार्गतश्च्यवन्ने । लोके हि सन्मार्गच्युत. पतित इति
परिभाष्यते । अथवा—यथा वज्रादिप्रहारेण हत पतितो
मूर्च्छामनुच्छामासाद्य निरुद्धवाक्प्रसरो भवति, एव तेऽपि
वादिन स्वाभिमतैकान्तवादेन युक्तिसरणमननुसरता वज्रा-
शनिप्रायेण निहता सन्तः स्याद्वादिनां पुरतोऽकिञ्चित्करा
वाद्वात्रमपि नोच्चारयितुमीशत इति । अत्र च विरोधस्योप-
लक्षणत्वाद्द्वैयधिकरणमनवस्था सङ्करो व्यतिकर. सशयोऽप्र-
तिपत्तिर्विषयव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि परोद्भाविना दोषा अ-
भ्युह्याः । तथाहि—सामान्यविशेषात्मक वस्त्वित्युपन्यस्ते परे
उपालब्धारो भवन्ति । यथा सामान्यार्थशेषयोर्विधिप्रतिषेध-
रूपयोर्विरुद्धधर्मवोरेकत्राऽभिन्ने वस्तुन्यसंभवाच्छातोऽप्यव-
दिति विरोधः । न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेध-
स्याधिकरणं भवितुमर्हति, एकरूपतापत्तेः । ततो द्वैयधिकरण्य-
मपि भवति । अपर च—येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन
च विशेषस्य, तावप्यात्मानौ एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति,
द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्याम् ? । एकेनैव चेत्, तत्र पूर्ववाद्बिरोधः ।
द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां सामान्यविशेषाख्य स्वभावद्वयमाधि-
करोति, तदाऽनवस्था—तावपि स्वभावान्तराभ्यां, तावपि
स्वभावान्तराभ्यामिति । येनाऽऽत्मना सामान्यस्याधिकरणं
तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन
विशेषस्य सामान्यस्य चेति सङ्करदोषः । येन स्वभावेन सा-
मान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः ।
ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चिनुमशक्तेः सशयः । तत-
श्चाप्रतिपत्तिः, ततश्च प्रमाणविषयव्यवस्थाहानिरिति । एते च
दायाः स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वाग्निरवकाशा एव । अतः स्या-
द्वादमर्मवेदिभिरुद्धरणीयास्तत्तदुपपत्तिभिरिति, स्वतन्त्रतया
निरपेक्षयोरेव सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोस्तेषामव-
काशात् । अथवा विरोधशब्दोऽत्र प्रदोषवाची । यथा
विरुद्धमाचरन्तीति दुर्घामत्यर्थः । ततश्च विरोधेन्यो विरोध-
वैयधिकरण्यादिदोषेन्यो भीता इति व्याख्येयम् । एव च
सामान्यशब्देन सर्वा अपि दोषव्यक्त्यः सगृहीता भवन्तीति
काव्यार्थः ॥२४॥

अथानेकान्तवाद्स्य सर्वव्यवर्थायव्यापित्वेऽपि मूलभेदाऽ-
पेक्षया चानुविध्यानिधानद्वारेण भगवतस्तत्त्वामृतरसास्वादि-

सौहित्यमुपवर्णयन्माह—

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥२५॥

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमपि पदेषु योज्यम्, तदेवात्रि-
कृतमेवैक वस्तु स्यात्कथञ्चिन्नाशि, विनशानशीलमनित्यमित्यर्थः ।
स्यान्नित्यमविनाशधर्मात्यर्थः । एतावता नित्यानित्यव्यवहारमेकं
विधानम् । तथा स्यात्सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम् । स्याद्विरूप
विविधरूपं विसदृशपारिणामात्मक, व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्य-
र्थः । अनेन सामान्यविशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः । तथा स्याद्वाच्य
वक्तव्यम् । स्याद् न वाच्यमवक्तव्यमित्यर्थः । अत्र च समासेऽवाच्य-
मिति युक्तम्, तथाप्यवाच्यपदं योन्यादौ रुढमित्यसन्धतापरि-
हारार्थं न वाच्यमित्यसम्भस्त चकार स्तुतिकार । बतेनाभि-
लाप्यानिभ्राप्यस्वरूपस्तृतीयो भेदः । तथा स्यात्सद्विद्यमान-
मस्तिरूपमित्यर्थः । स्यादसत्तद्विज्ञप्तिरूपमिति । अनेन सदसदा-
ख्या चतुर्थी विधा । हे विपश्चिता नाथ ! सस्यावता मुष्य । इयम-
नन्तरोक्ता निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा, तवेति प्रकरणात्सा-
माध्यांद्वा गम्यते । तत्त्व यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः, तदेव
जरामरणापहारीत्वाद्द्विधोपभोग्यत्वात्निश्चयात्विषोर्मीनिरा-
करिष्णुत्वादान्तराद्वाक्कारित्वाच्च पीयूष तत्त्वसुधा । नितरामनन्य-
सामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा तस्या उन्नता
प्राङ्मूर्त्ता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा उद्गारेणैविरिवेत्यर्थः ।
यथाहि—कश्चिदाकण्ठ पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्ग-
रपरम्परां मुञ्चति, तथा जगवानपि जरामरणापहारी तस्मात्त-
स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदवस्तु-
दृष्टीवत्तणामुद्गारपरम्परां देशनामुत्तेजोर्जीर्णवानित्याशयः ।
अथवा—यैरेकान्तवादिभिः मिथ्यात्वगरजजोजनमातृतिं प्रक्षित,
तेषां तत्तद्वचनरूपा उद्गारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः । येस्तु पञ्चभि-
मप्राचीनपुण्यप्राग्जगत्तत्त्वगृहीतैर्जगद्गुरुवदनेन्दुनिःस्यन्ति तत्त्वा-
मृत मनोहृत्य पीत तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे
नाथ ! इयं पूर्वैदसदृशितोद्देशेखशेखरा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम् ।
एते च चत्वारोऽपि वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिता । तथा-
हि—‘आदीपमव्योमोर्ते’ वृत्ते नित्याऽनित्यवादः । ‘अनेकमेकात्मक-
मिति’ काव्ये सामान्यविशेषवादः । सप्तभङ्गयामभिलाप्यानजिज्ञा-
प्यवादः, सदसद्वादश्च, इति न भूयः प्रयासः । इति काव्यार्थः ॥२५॥

इदानीं नित्यानित्यपक्षयोः परस्परदूषणप्रकाशनबलकृततया
वैरायमाणयोरितरेतरोद्गीरितविधिहेतुदेतिसनिपातसजात-
विनिपातयोरयत्नसिरूपप्रतिपक्षप्रतिकोपस्य जगवच्छासनसाम्रा-
ज्यस्य सर्वोत्कर्षमाह—

य एव दोषाः किं नित्यवादे,

विनाशवादेऽपि समास्त एव ।

परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु,

जयत्यधृष्य जिन ! शासन ते ॥ २६ ॥

किञ्चेति निश्चये । य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अ-
नित्यैकान्तवादिभिः प्रसजिताः । क्रमयौगपद्यान्यामर्थक्रियाऽनु-
पपत्त्यादयस्त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि समा-
स्तुत्या नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना अन्यूनान्तिका । तथाहि-
नित्यवादी प्रमाणयति सर्वं नित्यं, सत्त्वात् । क्षणिके सदसत्का-
योरर्थक्रियाविरोधात्तल्लक्षणं सर्वं नावस्था बध्नातीति । ततो

निवर्तमानमनन्यशस्त्रनया नित्यत्वेऽद्यतिष्ठते । तथाहि-क्षणिको-
ऽपि सन् वा कार्यं कुर्याद्वन् या? अन्यन्तराभावात् । न ताद्यदाद्य-
पक्ष, समसमयवर्तिनि व्यापानयोगात्, सफलजायानां पर-
स्पर कार्यकारणभाषाप्रप्त्याऽतिप्रसङ्गात् । नापि द्वितीय पक्ष
कोदे क्षमते । अस्मत् कार्यकरणशक्तिविकारत्वात् । अन्यथा शश-
विषाणादयोऽपि कार्यकरणायोत्पद्यन्ते, विशेषानायादिति । अ-
नित्यवादी नित्यवादिन प्रति पुनरेव प्रमाणयति-‘सर्वे क्षणिक,
सत्त्वात् अक्षणिके कर्मयोगपञ्चायामर्थक्रियाविरोधात्, अर्थक्रि-
याकारित्वस्य च भायलक्षणत्वात् । ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना
स्वक्रोडोद्भूता सत्ता व्यावर्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः । न हि नि-
त्योऽर्थोऽर्थक्रिया क्रमेण प्रवर्तयितुमुत्सहते, पूर्वार्थक्रियाकरण-
स्वभावापमर्दद्वारेणोत्तर्गद्वयायां क्रमेण प्रवृत्ते’, अन्यथा पूर्वक्रि-
याकरणाविरोधप्रसङ्गात् । तस्य भावप्रच्यवे च नित्यता प्रयानि,
अनाद्यव्ययस्यानित्यतासङ्गत्वात् । अथ नित्योऽपि क्रमवर्ति-
न सहकारि कारणमर्थमुनीक्रमणस्त्वावदानीत्, पञ्चासमासाद्य
क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत् । न । सहकारिकारणस्य नित्ये-
ऽकिञ्चित्कत्वात्, प्रक्रियित्वरस्याऽपि प्रतिक्रियेऽनवस्थाप्रस-
ङ्गात् । नापि योगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रिया कुरुते, सत्प्रक्रिय-
रोधात् । नहोक्तकाल सकलाः क्रियाः प्रारब्धमाणः कश्चि-
दुपलभ्यते, करोतु या, नयाऽप्याद्यक्षण एव सकलक्रियाप-
रिसमातेर्द्वितीयादिक्षणेऽप्युत्पादस्यानित्यता बलादादीकते ;
कारणाकरणयोरेकस्मिन् विरोधात् इति । तदेवमेकान्तव्ये-
ऽपि ये हेतवस्ते युक्तिसाम्याद् विरुद्धं न व्यञ्जितवन्तीत्यविचा-
रितमणीयमया मुग्धजनस्य स्यान्व्य चोत्पादयन्तीति विरुद्धा
व्यभिचारिणी नैकान्तिका इति । अत्र च नित्यानित्यकान्तपक्ष-
प्रतिषेधे पक्षोक्त । उपलक्षणत्वाच्च सामान्यविशेषाद्येकात्तवादा
अपि मिश्रस्तुल्यवर्तनया विरुद्धा व्यभिचारिणी एव हेतुपस्पृ-
शन्तीति परिभाषनीयम् । अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते- (परस्पर-
त्वादि) एवं च कण्टकेषु कृच्छ्रशुष्पुष्पकान्तवादिषु परस्परव्य-
सिषु सत्त्वात् परस्परस्मात् भवन्ते, पिनाशमुपयातीत्येवशीला,
सुन्दोपसुन्दयदिनि परस्परव्यसिन, तेपु, हे जिन ! ते तव, शासन
स्याद्वाद्प्ररूपणनिरूपण द्वाद्वाद्वादीकं प्रयत्नं पराभिजातुकाना
कण्टकानां स्यमुच्छ्रित्येनैवाभावाद्भृष्यमपराभवनीयम् । ‘श-
काहं हृत्वाश्च’ (४।४।३४) इति (हैमसू) कृत्यविधानाद् धार्पणमुप-
कथयितुमर्हं वा, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यथा कश्चिन्महा-
राजः पीडयन्पुण्यपरीपाक परस्परविगृह्य सयमेव कृत्यमुपेयि-
त्सु द्विषन्तु अयत्ननिष्कानिष्कण्टकस्य समूह राज्यमुपलुब्धजान्,
सर्वोत्कृष्टो जयत्येव त्वच्छासनमपीति काव्यार्थः ॥ २६ ॥

अनन्तराख्ये नित्यानित्यात्रेकान्तवादे दोषसामान्यमभिहित-
म् । इदानीं कतिपयतद्विशेषाग्रामग्राह दृश्यस्तत्प्ररूपका-
रणमसङ्गतेन्द्रावकतयोद्भूततथाविधिरिपुजनजनितोपक्षयमिव
परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पते पुरतो ह्यवनत्रय प्रत्युपकारका-
रितामाविष्करोति—

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ,
न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।

दुर्नातिवादव्यसनासिनैवं,
परैर्विदुस्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

एकान्तवादे नित्याऽनित्यैकान्तपक्षान्युपगमे, न सुखदुःखभो-

गौ घटेने, न च पुण्यपापे घटेने, न च बन्धमोक्षौ घटेने । पुन-
पुनर्नञः प्रयोगोऽत्यन्ताघटमानतादर्शनार्थः । तथाहि-एकान्त-
नित्ये आत्मानि तावन् सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते । नित्यस्य हि लक्ष-
णम्-‘अप्रच्युतानुपपन्नस्थिरैकरूपत्वम्’ । ततो यदाऽऽत्मा सुखम-
नुज्य स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपलुब्धे, तदा स्वजा-
यभेदादनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः, एव दुःखम-
नुभूय सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् । अथावस्थाभेदादय-
व्यवहारः । न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः,
सर्गस्येव कुणममार्जवाद्यवस्थासु इति चेत् । ननु तास्ततो
व्यतिरिक्ता अन्यतिरिक्ता वा ? व्यतिरेके तास्तस्यति संबन्धा-
भावः, अतिप्रसङ्गात् । अन्यतिरेके तु तद्वानेवेति तद्वस्थितैव
स्थिरैकरूपताहानि । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थाने-
दोऽपि नवेदिति । किञ्च । सुखदुःखभोगौ पुण्यपापनिर्वर्त्या,
तस्मिन्नेव चार्थक्रिया, सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेणाक-
मेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्राम्यम् । अत एवोक्तम्- (न पुण्य-
पापे इति) पुण्य दानादिक्रियोपार्जनीयं शुद्धं कर्म । पाप हिंसा-
दिक्रियासाध्यमव्युत्तं कर्म । ते अपि न घटेने, प्रागुक्तनीते । तथा
न बन्धमोक्षौ । बन्ध कर्मपुञ्जैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो बह्व्य-
य (पापवद्व्योन्यसन्धेयः । मोक्ष कृत्स्नकर्मकथः । तावप्येकान्त-
नित्ये न स्याताम् । बन्धो हि सयोगविशेषः, स चाप्राप्तानां प्राप्ति-
रिति लक्षणं । प्राक्कालभाविनि अप्राप्तिरन्याऽवस्था । उत्तरका-
लभाविनी प्राप्तिश्चान्या । तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः । कथं
वैकरूपत्वे मति तस्याकस्मिको बन्धनसयोगः ? बन्धनसयो-
गाद्य प्राक् किं नायमुक्तोऽभवत् ? किञ्च । तेन बन्धनेनासौ वि-
कृतिमनुभवति, न वा ? अनुभवति चेन्नर्मादिवदनित्यः । नानु-
जयति चेन्निर्येकारत्वे सता असता वा तेन गगनस्येव न को-
ऽप्यस्य विशेषः । इति बन्धवैकल्यानित्यमुक्त एव स्यात् । त-
तश्च विशेषाणां जगति बन्धमोक्षव्यवस्था । तथा च पठन्ति-‘ब-
न्धतपाभ्यां किं व्योम्न-इक्ष्मण्यस्ति तयोः फलम् । चमापमश्चे-
त्सोऽनित्य, खनुस्यश्चेदसफलः’ ॥ १ ॥ बन्धानुपपत्तौ मोक्ष-
स्याऽप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तिश्चन्द्रेत्येति । एव-
मनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः । अनित्यं हि अत्य-
न्तोच्छेदधर्मकम् । तथाहते चात्मानि पुण्योपादानक्रियाकारि-
णो निरन्वय विनष्टत्वात् कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः ? ।
एव पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःख-
सवेदनमस्तु ? । एव चान्य क्रियाकारी, अन्यश्च तत्फलभोक्ते-
त्यसमञ्जसमापद्यते । अथ “ यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता
कर्मवासना । फलं तत्रैव सद्यते, कर्पोसे रक्तता यथा ” ॥ १ ॥ इति
पचनान्नासमञ्जसमित्यापेयादमात्रम्, सन्तानवामनयोरैवास्त-
वत्त्वेन प्रागेव निर्दोषितत्वात् । तथा पुण्यपापे अपि न घटेने । त-
योर्हार्थक्रिया सुखदुःखोपभोगः । तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता,
ततोऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्तयोरप्यघटमानत्वम् । किञ्च ।
अनित्यः क्षणमात्रस्थायी, तस्मिन्नेव क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात्
तस्य कुत पुण्यपापोपादानक्रियाऽर्जनम् ? । द्वितीयादिक्रियेषु
चावस्थानुमेव न लभते, पुण्यपापोपादानक्रियाजावे च
पुण्यपापे कुतः ? । निर्मूलत्वात्, तदस्ये च कुतस्तन् सुख-
दुःखभोगः । आस्तां वा कथञ्चिदेतत्, तथाऽपि पूर्वक्षणस-
दृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यम्, उपादानाऽनुरूपत्वाद्दुःपादेयस्य ।
तत् पूर्वक्षणाद्दुःखितादुत्तरक्षणं कथं सुखित उपपद्यते ? कथं
च सुखितात्तत् स दुःखित स्यात् ? , विसदृशजागताऽऽपत्तेः ।

एव पुण्यपापादावपि । तस्माद् यत्किञ्चिदेतत् । एव बन्धमोक्षयो-
रप्यसंभवः । लोकेऽपि हि य एव धर्मः स एव मुच्यते । निरन्व-
यनाशाभ्युपगमे चैकाधिकरणत्वाज्जायन्तानस्य चावास्तव-
त्वात् कुतस्तयो सभावनामात्रमपीति ? परिणामिनि चात्मनि
स्वीक्रियमाणे सर्वे निर्बाधमुपपद्यन्ते । “परिणामोऽवस्थान्तर-भ-
वन न च सर्वथा ह्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः, परिणाम-
स्तद्धिदामिष्टः” ॥१॥ इति वचनात् । पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह-
“अवस्थितस्य ह्यवस्थ पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परि-
णामः” इति । एव सामान्यविशेषसदसदभिवाच्याऽनन्ति-
लाप्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यजाव स्वयमनियुक्तेरभ्युहाः ।
अथोत्तरार्द्धव्याख्या—एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखमोक्षा-
दिव्यवहारे परे परतीर्थिकैः, अथ च परमार्थतः शत्रुभिः, पर-
शब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति । दुर्नीतिवादव्यसनासिना) नी-
यते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो न-
था, दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नया; तेषां चदन परेभ्यः
प्रतिपादनं दुर्नीतिवादः । तत्र यद् व्यसनमत्यासक्तिरौचि-
त्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत्, दुर्नीतिवादव्यसनम् । त-
देव सदबोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वादसिद्धिर्वासे. कृपाणः,
दुर्नीतिवादव्यसनासि. तेन दुर्नीतियादव्यसनासिना करणजू-
तेन दुर्नयप्रकरणहेवाकलद्वेन । एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह ।
अपि शब्दस्य भिन्नकमत्वादशेषमपि जगन्निखिलमपि त्रैलो-
क्यम्, तात्त्वात्तद्व्यपदेश इति । त्रैलोक्यगतजन्तुजात विलु-
प्तसु; सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपेण व्यापादितम् । तत् त्रा-
यस्वेत्याशयः । सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणा प्रावचनिकैर्गी-
यन्ते । अत एव सिद्धेऽपि जीवव्यपदेशः । अन्यथा हि
जीवधातुः प्राणधारणार्थेऽभिधीयते । तेषां च दशविधप्राण-
धारणाऽभावाद्जीवत्वप्राप्तिः । सा च विरुद्धा । तस्मात्ससा-
रिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाज्जीवा, सिद्धाश्च ज्ञानादिभा-
वप्राणधारणादिति सिद्धम् । दुर्नयस्वरूप चोत्तरकाव्ये व्याख्या-
स्याम् । इति काव्यार्थः ॥ २७ ॥ स्या० ।

वस्तुनोऽनियतसदसद्रूपत्वमनेकान्तजयपताकायां न्यक्षेण प्र-
त्यपादि पर तल्लेखस्यातिसक्तिस्त्वेन दुरवबोधत्वात्सम्प्रतिप्रभु-
तिप्रत्यैर्गन्तार्थत्वाच्चास्मान्निरोपेक्षितम् । अनेकान्तजयपता का-
वृत्तिविद० ।

(५) एकान्तेन सर्वे वस्तु सदिति साङ्ख्यमतं तु न युक्तम् ।
युक्तिश्चात्र यत्तावदुच्यते सांख्याऽभिप्रायेण—सर्वे सर्वात्मकम्, दे-
शकालाकारप्रतिबन्धात् न समानकाव्योपपन्नविरिति । तदयुक्तम् ।
यतो जेदेन सुखदुःखजीवितमरणदूरासन्नसूक्ष्मथाद्रसुरूपकुरूपा-
दिक ससारवैविध्यमध्यक्षेणऽनुच्यते । न च दृष्टेऽनुपपन्न नाम ।
न च सर्वे सिध्येत्यभ्युपगम युज्यते, यतो दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च
पापीयसी । किञ्च । सर्वधैक्येऽभ्युपगम्यमाने ससारमोक्षाजाव-
तया कृतनाशोऽरुनाज्यागमश्च ब्रह्मापतति । यच्चैतत्सत्त्वरज-
स्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानमित्येतत्सर्वस्य जगन् कार-
ण तन्निरन्तरा सहृद् प्रत्येप्यन्ति, निर्युक्तिकत्वात् । अपि च ।
सर्वथा सर्वस्य वस्तुन एकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वरजस्तमसा-
मत्येकत्व स्यात् । तद्भेदे च सर्वस्य भेद इति । तथा यदप्युच्यते-
सत्त्वस्य व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्मन्कार्यत्वात्तच्च मयूराणम-
कण्ठे चञ्चुपिच्छादीना सनामोत्पादाभ्युपगमादसद्रूपत्वादे-
वाप्रकृतादीनामप्युत्पत्तिप्रसङ्गादित्येतद्वाङ्मात्रम् । तथाहि—यदि
सर्वथा कारणे कार्यमस्ति न तर्ह्युत्पाद निष्पन्नघटस्येवः अपि

च । मृत्पिण्डावस्थायामेव घटगताः कर्मगुणव्यपदेशा भवेयुः । न
च भवन्ति, ततो नास्ति कारणे कार्यम् । अथाऽनभिव्यक्तमस्ती-
ति चेत् । न । तर्हि सर्वात्मना विद्यते नाऽप्येकान्तेनासत्कार्यत्वाद्
पक्षः । तद्भावे हि व्योमाव-दानामप्येकान्तेनासतो मृत्पिण्डा-
देर्घटादेरिवोत्पत्तिः स्यात् । न चैतद् दृष्टमिष्ट वा । अपि चैवं
सर्वस्य सर्वस्मादुत्पत्तेः कार्यकारणजावानियमः स्यात् । एवं
च न शाल्यद्वुरार्थी शालिबीजमेवाऽऽद्यादपि तु यत्किञ्चिदेवेति
नियमेन च प्रेक्षापूर्वकारिणामुपादानकारणादौ प्रवृत्तितो ना-
सत्कार्यत्वाद इति । तदेवं सर्वपदार्थानां सर्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिभि-
र्धर्मैः कथञ्चिदेकत्वम्, तथा प्रतिनियतार्थकार्यतया यदेवार्थकि-
याकारि तदेव परमार्थतः सदिति कृत्वा कथञ्चिद्भेद इति सा-
मान्यविशेषात्मक वस्तुवति स्थितम् । अनेन च स्यादस्ति, स्या-
न्नास्तीति भङ्गकद्वयेन शेषभङ्गा अपि द्रष्टव्याः । ततश्च सर्वे
वस्तु सप्तभङ्गीस्वजावम् । ते चामी—स्वह्यव्यक्तेप्रकाशजावपेक्ष-
या स्यादस्ति, परद्रव्यापेक्षया स्यान्नास्ति । अन्ययोरेष धर्मयोर्गो-
गपद्येनाजिघातुमशक्यत्वात् स्यादवक्तव्यम् । तथा कस्यचिदशस्य
स्वह्यव्याघपेक्षया विवक्षितत्वात्, कस्यचिच्चान्द्रास्य परद्रव्याघ-
पेक्षया स्यात्ता, नास्ति वा, वक्तव्यं चेति । तथैकस्यांशस्य स्वह्यव्या-
घपेक्षया परस्य तु सामस्त्येन स्वह्यव्याघपेक्षया विवक्षितत्वा-
त् । स्यादस्ति चावक्तव्यं चेति । तथैकांशस्य परद्रव्याघपेक्षया
स्यान्नास्ति चावक्तव्यं चेति । तथैकस्यांशस्य स्वह्यव्याघपेक्ष-
या, परस्य तु परद्रव्याघपेक्षया, अन्यस्य तु यौगपद्येन स्वपरद्र-
व्याघपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक-
व्यम् । इयं च सप्तभङ्गी यथायोगमुत्तराऽपि योजनीयेति ।
सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

(६) कालाद्येकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह—

कालो सहावर्णियर्, पुव्वकयं पुरिसकारणेगता ।

मिच्छन्तं तो चेवा, समासत्रो ह्योति सम्मतं ॥ १४६ ॥

कालस्वभावनियतिपूर्वकतपुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽपि
एकका मिथ्यात्वम्; त एव समुदिताः परस्परजहद्वृत्तयः स-
म्यक्स्वरूपतां प्रतिपद्यन्त इति तात्पर्यार्थः ॥ १४६ ॥ (सम्म) ५०७०।

तत्र कालाद्येकान्ताः प्रमाणतः सभवन्तीति तद्वादो मिथ्यात्व-
वाद् इति स्थिते त एवाऽन्योन्यसव्यपेक्षा नित्याद्येकान्तव्यपौदे-
नैकानेकस्वभावाः कार्यनिर्वर्तनपटव प्रमाणविषयतया परमा-
र्थतः सन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति
तद्वादः सम्यग्वादतया व्यथितः । यद्येते कालाद्येकान्ताः मि-
थ्यात्वमनुभवन्ति, स्याद्वादोपग्रहानु त एव सम्यक्त्वं प्रति-
पद्यन्ते, तथाऽऽत्माऽप्येकान्तनित्यानित्यत्वादिधर्मोपस्थासितो
मिथ्यात्वम्, अनेकान्तरूपतया त्वन्युपगम्यमानः सम्यक्त्वं
प्रतिपद्यत इत्याह—

एतिय ए शिचो ए कुण्ड,

कयं ए वेणु एतिय णिन्वाणं ।

एतिय य मोक्खोवाओ,

छं मिच्छत्तस्स ठाणां ॥ १५० ॥

नास्यात्मा एकान्त इति सांख्या । अत एव प्राहुः—य. कर्मा, म
न भोक्ता, प्रकृतिवत्, कर्तुर्भोक्तृत्वानुपपत्तेः । यद्वा—वेन इयं
कर्म, नाऽसौ तद् भुङ्क्ते, कणिकत्वात्, त्रिभवनैर्नास्ति बीज ।
क्षणिकत्वाच्च तत्तन्मन्त इत् न वेदयत इति बौद्ध एवाह—कर्मा

तु प्रवृत्त्यानिश्चयादाहोचनस्वभावतो भवति । स एव तन्नि-
श्चयार्थं प्रयुक्तः प्रकरणसमः, पक्षद्वयेऽपि तस्य समानत्वात् ।
उभयत्रान्वयादिसद्भावात् । तथाहि तस्योदाहरणम्-अनित्यः
शब्दः, नित्यधर्मानुपलब्धे, अनुपपन्नान्यमाननित्यधर्मकं घटाद्य-
नित्यं दृष्टम्, यत्पुनर्नानित्यं न तदनुपपन्नान्यमाननित्यधर्मकं यथा-
ऽऽत्मादि । एव चिन्तासबन्धिपुरुषेण तत्त्वाऽनुपपन्नध्वरेकदेश-
भूताया अन्यतरानुपपन्नध्वरेनित्यत्वसिद्धौ साधनत्वेनोपन्यासे
सति द्वितीयश्चिन्तासबन्धिपुरुष आह-यद्यनेन प्रकारेणानित्य-
त्वसाध्यते तर्हि नित्यतासिद्धिरपि, अन्यतरानुपलब्धेस्तत्रापि स-
द्भावात् । तथाहि-नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपपन्नध्वरे, अनुपल-
भ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमात्मादि । पुनर्यत् न नित्यं तन्नानु-
पपन्नान्यमानानित्यधर्मकं, यथा घटादि । एवमन्यतरानुपपन्नध्वरेक-
पक्षे साधारणत्वात् प्रकरणानतिवृत्तेर्हेत्वाभासत्वम् । न च नि-
श्चितयोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेऽधिकारात् कथं चिन्तायुक्त एवं सा-
धनोपन्यासं विदध्यादिति वक्तव्यम्, यतोऽन्यदा सदेहेऽपि चिन्ता-
सबन्धिपुरुषोऽन्यतरानुपपन्नध्वरे, पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकानवगच्छ-
स्तद्बलात्स्वसाध्यं यदा निश्चिनोति, तदा द्वितीयस्तामेव स्वसा-
ध्यसाधनाय हेतुत्वेनाभिधत्ते । यद्यनस्त्वत्पक्षासिद्धिरत एव मत्प-
क्षासिद्धिः किं न भवेत् ? , त्रैरूप्यस्य पक्षद्वयेऽप्यत्र तुल्यत्वात् । अथ
नित्यत्वानित्यत्वैकान्ताविपर्ययेणाऽप्यस्याः प्रवृत्तेरनैकान्तिकता ।
उत्तरयवृत्तिर्नैकान्तिको न प्रकरणसमः । न यत्र पक्षसपक्षविपक्षा-
णां तुल्यो धर्मो हेतुत्वेनोपादीयते तत्र सशयहेतुता, साधारणत्वेन
तस्य विरुद्धविशेषानुस्मारकत्वात् । नतु प्रकृत एवविधः । यतो नित्य-
धर्मानुपपन्नध्वरेनित्य एव भावो न नित्ये, एवमनित्यधर्मानुपपन्नध्वरे-
नित्य एव भावो नानित्ये । एवं चात्र साध्ये विपक्षव्यावृत्तिः प्रकर-
णसमता, नैकान्तिकता पक्षद्वयवृत्तित्वेन तस्या भावात् । न यद्यं
पक्षद्वये तदा साधारणाऽनैकान्तिक । अथ न वर्तते कथमयं पक्ष-
द्वयसाधकः स्यात्, अतद्वृत्तेरतत्साधकत्वात् । न पक्षद्वये प्रकृत-
स्य वृत्त्यभ्युपगमात् । तथाहि-कथं साधनकालेऽनित्यधर्मानुपल-
ब्धिर्वर्तते न नित्ये । यदाऽपि नित्यत्वसाध्यं तदाऽपि नित्यपक्ष-
एवानित्यधर्मानुपपन्नध्वरेवर्तते नाऽनित्ये । ततश्च सपक्ष एव
प्रकरणसमस्य वृत्तिः, सपक्षविपक्षयोश्चानैकान्तिकस्य साध्या-
पेक्षसपक्षविपक्षव्यवहारः, नाऽन्यथा, तेन साध्यद्वयवृत्तिरुत्तर-
साध्यसपक्षवृत्तिश्च प्रकरणसमो, न तु कदाचित्साध्यापेक्षया
विपक्षवृत्तिः । अनैकान्तिकस्तु-विपक्षवृत्तिरपीत्यस्यादस्य प्रेक्षः ।
न च रूपत्रययोगेऽप्यस्य हेतुत्वम्, सप्रतिपक्षत्वात् । यस्य तु क-
दाचित्साध्यापेक्षया विपक्षवृत्तिरनेकप्रतिबन्धपरिसमाप्तिरूपत्र-
ययोगे, तेन प्रकरणसमस्य नाहेतुत्वमुपदर्शयितुं शक्यम् । न
च्चाऽस्य कालात्ययापादिदृष्टत्वमबाधितविषयम् । ययोर्हि प्रकर-
णचिन्ता तयोरयं हेतुः । न च ततश्च सद्विग्रहत्वाद् बाधामस्यो-
पदर्शयितुं कम् । न च हेतुद्वयसन्निपातादेकत्र धर्मिणि
सशयोत्पत्तेस्तज्जनत्वेनास्यानैकान्तिकतया तेन संशयहेतुताऽनै-
कान्तिकत्वम्, इन्द्रियसन्निकर्षादेरपि तथात्वप्रसक्तं । न च त-
त्त्वानुपपन्नध्वरेविशेषस्मृत्यादिश्चान्या सशयकारणम् न च तत्स-
हिताया अस्या हेतुत्वम् केवलाया एव तत्त्वेनोपन्यासात् । न च
संदिग्धविषयज्ञान्तपुरुषेण निश्चयार्थमुपादीयमानाया अस्याः
सदेहेतुता युक्ता । नयतु वा कथञ्चित् सशयोत्पत्तिः, तथाऽप्य-
नैकान्तिकादस्य विशेषः । स हि सपक्षविपक्षयोः समानः, अथ तु
तद्विपरीतः, साध्यद्वयवृत्तित्वात् प्रकरणसमः । न चासम्भवः,
अस्यैवविधसाधनप्रयोगस्य ज्ञान्तेः सद्भावात् । अथास्यासिद्धे-

रन्तर्भावः । अनित्यत्वादिनो नित्यधर्मानुपपन्नध्वरेतरस्य चेतरेष-
मनुपपन्नध्वरेऽसिद्धत्वात् । असदेतत् । यदा हि चिन्तासबन्धिपुरु-
षेण समस्य हेतुत्वेनोपन्यासस्तस्य च तत्सबन्धिना वा कथ-
मितरेणासिद्धतोद्भावनं विधातुं शक्यम् । यस्य हानुपपन्नध्वरे-
मित्सशयोत्पत्तौ शब्दे नित्यत्वजिज्ञासा, स कथमन्यतरानुपप-
न्ने हेतुप्रयोगेऽसिद्धतां श्रूयात् ? अत एव सूत्रकारेण 'यस्याप्रकरण-
चिन्ता, इत्यासिद्धतादोषपरिहारार्थमुपासम् । एवमनित्यः शब्दः'
सपक्षपक्षयोरन्यतरत्वाद् घटवदिति चिन्तासबन्धिना पुरुषेणो-
क्तेऽपरस्तत्सबन्धादित्यः शब्दः, पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादाकला-
वत् यदाह । तथा प्रकरणसम एव अत्र प्रेरयन्ति पक्षसपक्षयोरन्य-
तरः पक्षः ? , सपक्षो वा ? । यदि पक्षः, तदा न हेतोः सपक्षवृत्तिः
न हि शब्दस्य धर्मान्तरे वृत्तिः सज्जीवित्वासाधारणतैवास्व हेतोः
स्यात् । अथ पक्षोऽन्यतरशब्दवाच्यस्तदा हेतोरसिद्धता ।
सपक्षयोर्घटाकाशयोः शब्दाख्यधर्मिण्यप्रवृत्तिरसिद्धेऽनुभूत-
स्यास्य न प्रकरणसमता न च पक्षसपक्षयोर्व्यतिरिक्तः कश्चि-
दन्यतरशब्दवाच्यः, यस्य पक्षधर्मताऽन्वयश्च भवेत्, तत्रापि हेतुः ।
अत्र प्रतिविदधति-भवेदेष दोषो यदि पक्षयोर्विशेषशब्दवाच्य-
योर्हेतुत्वं विवक्षितं भवेत्, तच्च नः अन्यतरशब्दाभिधत्तैव
हेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । स च पक्षसपक्षयोः साधारणः, तस्यैव
साधारणशब्दाभिधत्तत्वात् । यदि वाऽनुगतो द्वयोर्धर्मः कश्चि-
द्व्याच्यो न प्रवेत्तदा विशेषशब्दवदन्यतरशब्दोऽपि न तत्र
प्रवर्तते; नाऽपि तच्छब्दादुभयत्र प्रतीतिर्भवेत् । इत्यते, तस्मा-
त्पक्षानां सपक्षानां चासाधारणरूपत्वेन कल्पितां परित्यज्यान्त्यत-
रशब्दो द्वयोरपि वाचकत्वेन योग्यः । ततो वा विशेषप्रतीतिः सा
पुरुषविवक्षानिबधना । यदा हि साधनप्रयोक्ता पक्षधर्मत्वमस्य
विवक्षति तदाऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्षः सपक्षेऽनुगमविशेषा-
भिधायी स्यात् । यतोऽश्लोकज्यवहाराच्छब्दार्थसबन्धन्युत्पत्ति-
स्तत्र च पक्षशब्दस्य न सपक्षे प्रवृत्तिः । नाऽपि सपक्षशब्दस्य
पक्षे । यथा वाऽनयोः सङ्केतादपि नान्यत्र प्रवृत्तिरेवमन्यतरशब्द-
स्य सामान्ये सङ्केतितस्य न विशेष एव वृत्तिः । उभयाभिधायकत्वे
तु विवक्षावसानाऽन्यतरनियमः । न चैवमपि विशेषे तस्य दूषो
दूषणम्, न दवस्थायामेव दोषोद्भावेन कस्यचित् सम्यग्हेतूपपत्तेः ।
कृतकत्वादेरपि पक्षधर्मत्वविवक्षायां विशेषरूपत्वादनुगमाभा-
वात् । सपक्षविशेषितस्य पक्षधर्मत्वायोगात् । अथ कृतकत्वमात्र-
स्य हेतुत्वेन विवक्षातो न दोषः, तर्हि तत्प्रकृतेऽपि तुल्यम्; अन्य-
तरशब्दस्याभ्यनङ्गीकृतविशेषस्य द्वयाऽभिधाने सामर्थ्योप-
पत्तेः । एतेन यदुक्तं न्यायविदं अनर्थः कस्यपि कल्पनासमाशेषितो
न लिङ्गात् तथा पक्ष एवायं पक्षसपक्षयोरन्यतर इत्यादि । तद-
पि निरस्तम् । त्रैरूप्यसद्भावेऽपि प्रकरणसमत्वेनास्यागमकत्वात् ।
प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापादिदोषोऽपि
हेतुत्वाज्जासोऽपरोऽभ्युपगतः । यथा-पक्षान्येतान्याप्रफसन्नि, पक्ष-
शास्त्राप्रजघत्वात्, उपयुक्तफलवत् । अस्य हि रूपत्रययोगिनोऽपि
प्रत्ययबाधितकर्मानन्तरप्रयोगात् । अपदिदृष्टागमकत्वे निबध्न
हेतोः कालाद्दुष्टकर्मनन्तर प्रयोगः । प्रत्यक्षाविचिरकस्य गुणक-
र्मनन्तर प्रयोगादेतुकाव्यतिक्रमेण प्रयोगः । तस्माच्च काला-
त्ययापादिदोषशब्दाभिधेयता हेत्वाभासता च । तदुक्तं न्यायमाध्य-
ता-“यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायमासः सः” इति ।
तदेव पञ्चसङ्ख्ययोगिनि हेतावगिनाज्ञावपरिसमाप्ते । तत्पुत्रावा-
दौ तु त्रैलोक्येऽपि कालात्ययापादिदृष्टत्वाज्जागमकत्वमिति नैयायि-
का । असदेतत् । असिद्धादिव्यतिरेकेण परस्य प्रकरणसमादेहे-

त्वाज्ञासस्याऽयोगात् । यच्च प्रकरणसमस्यानित्यः शब्दोऽनुपलब्ध-
माननित्यधर्मकत्वादित्युदाहरणं प्रदर्शितम् । तदसंगतमेव । यतो-
ऽनुपलब्धमाननित्यधर्मकत्वं यदि न तत् सिद्धं तदा पक्षवृत्तितया-
ऽस्यासिद्धेः कथं नासिद्धः । अथ तत्र सिद्धं तदा किं साध्यधर्मि-
त्वेन धर्मिणि तत्सिद्धम्, उत तद्विकृत इति वक्तव्यम् । यदि तदन्विते
तदा साध्यवत्येव धर्मिणि तस्य सद्भावसिद्धेः कथं गमकता । न
हि साध्यधर्ममन्तरेणाधर्मिजनघनविहायापरहेतोरविनाभावित्वं
भवेत् । तथैव समस्तं कथं न गमकता । विनाज्ञावनिबन्धनत्वात्
तस्या । अथ तद्धि कालात्तत्सिद्धं तदा तत्र वर्तमानो हेतु क-
थं न सिद्धः । विपक्ष एव वर्तमानस्य विरुद्धत्वात् । प्रवृत्ति च
धर्मविकृत एव धर्मिणि वर्तमानो विपक्षवृत्तिः । अथ सदिग्ध-
साध्यधर्मवति तत्र वर्तते तदा सदिग्धविपक्षवृत्तिवृत्तिकत्वा-
दनैकान्तिकः । अथ साध्यव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे यस्य साध्या-
भाव एव दर्शनं स विरुद्धः । यस्य च तदभावेऽप्यसाधनैका-
न्तिकः । न धर्मिण एव विपक्षता; तस्य हि विपक्षत्वे सर्वस्य
हेतोरहेतुत्वप्रसक्तेः । यतः साध्यधर्मासाध्यधर्मसदसत्त्वाभ्य-
त्वेन सर्वदा सदिग्ध एव साध्यसिद्धेः प्रागन्यथा साध्याभावे
निश्चिते साध्याभावाभिप्रायेण प्रमाणेन बाधितत्वात्तत्तत्प्रवृ-
त्तिरेव स्यात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणेन च साध्यधर्मयुक्ततया धर्मिणा
निश्चये हेतोर्वैयर्थ्यप्रसक्तिः, प्रत्यक्षादित एव हेतुसाध्यस्य सिद्धेः,
तस्मात्सदिग्धसाध्यधर्मो धर्मो हेतोरभ्यवत्येवैव दृष्टव्य इति ।
यद्यनैकान्तिकस्तत्र वर्तमानो हेतु, धर्मादिरपि तर्हि तथाविध
एव स्यात् । तस्याप्येव सदिग्धव्यतिरिक्तत्वात् । यद्विहि विपक्ष-
वृत्तित्वेन निश्चितो यथा गमकस्तथा सदिग्धव्यतिरेक्यप्यनुमान-
प्रामाण्यं परित्यक्तमेव भवेत् । ततोऽनुमेयव्यतिरिक्ते साध्यधर्म-
वति वर्तमान साध्याभावे चानैकान्तिको हेतु, साध्याभाववत्ये
वानुवर्तमानः पक्षधर्मस्य सति विरुद्ध इत्यप्युपगम्यम् ।
यच्च विपक्षाद्यावृत्त सपक्षे वाऽनुगतः पक्षधर्मो निश्चितः स
स्वसाध्य गमयति । प्रकृतस्तु यद्यपि विपक्षाद्यावृत्तस्तथाऽपि
न स्वसाध्यसाधकः, प्रतिबन्धस्य स्वसाध्येनानिश्चयात् । तद-
निश्चयश्च न विपक्षवृत्तित्वेन, किन्तु प्रकरणसमत्वेन, एकशाखा-
प्रभवत्वादेस्तु कालात्ययापदिष्टत्वेनेति । असदेतत् । यतो यदि
धर्मिण्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतोः स्वसाध्येन प्रतिबन्धोऽप्युपगम्य-
ते, तदा धर्मिण्युपादीयमानोऽपि हेतुः साध्यस्योपस्थापको न
स्यात् । साध्यधर्मिणि साध्यधर्ममन्तरेणापि हेतोः सद्भावभ्युप-
गमात्, तद्वातिरिक्त एव धर्म्यन्तरे तस्य साध्येन प्रतिबन्धग्रह-
णात् । नचान्यत्र स्वसाध्याविनाभावित्वेन निश्चितोऽन्यत्र सा-
ध्य गमयेत् । अतिप्रसङ्गात् । अथ यदि साध्यधर्मान्यनत्वेन सा-
ध्यधर्मिण्यपि हेतुरन्वयप्रदर्शनकाल एव निश्चितस्तदा पूर्वमेव
साध्यधर्मस्य धर्मिणो निश्चयात् पक्षधर्मताग्रहणस्य वैयर्थ्यम् ।
असदेतत् । यतः प्रतिबन्धप्रसाधकेन प्रमाणेन सर्वोपसहारेण
साधनधर्मसाध्यधर्माभावे क्वचिदपि न भवतीति सामान्ये-
न प्रतिबन्धनिश्चये पक्षधर्मताग्रहणकाले यत्रैव धर्मिण्युपल-
भ्यते हेतुः, तत्रैव स्वसाध्यं निश्चाययतीति पक्षधर्मताग्रहण-
स्य विशेषविषयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वाद्वा अनुमानस्य वैयर्थ्यम् ।
नहि विशिष्टधर्मिण्युपलब्धमानो हेतुस्तदगतसाध्यमन्तरे-
णोपपत्तिमान् अस्य । अन्यथा तस्य स्वसाध्यव्याप्तत्वायो-
गात् । नचैव तत्र हेतुपक्षमेऽपि साध्यविषयसदसत्तानिश्चयः,
येन सदिग्धव्यतिरेकिता हेतोः सर्वत्र भवेत्, निश्चितस्वसा-
ध्याविनाशहेतुपक्षमन्त्यैव साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तिरूप-

त्वात् । नहि तत्र तथाचूतहेतुनिश्चयादपरस्तस्यासाध्यप्रतिपादन-
व्यापारः । अत एव निश्चितप्रतिबन्धैकहेतुसद्भावे धर्मिणि न
विपरीतसाध्योपस्थापकस्य तल्लक्षणयोगिनो हेत्वन्तरस्य स-
द्भावः । तयोर्द्वयोरपि स्वसाध्याविनाशतत्त्वान्नित्यत्वयोश्चै-
कत्रैकान्तवादिमतेन विरोधादसंभवात्, तद्व्यवस्थापकहेत्वो-
पसम्भवस्य न्यायप्राप्तत्वात् । समवे वा तयोः स्वसाध्याविना-
नित्यत्वधर्मयुक्तत्वं धर्मतः स्यादिति कुतः प्रकरणसमस्याऽ-
गमकता । अन्यतरस्यात्र स्वसाध्याविनाभावविकलता तर्हि तत
एव तस्याऽगमकतेति किमसत्प्रतिपक्षतारूपप्रतिपादनप्रयासे-
न । किञ्च नित्यधर्मानुपलब्धिं प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पर्युदात्मरू-
पा वा शब्दानित्यत्वे हेतुः । न तावदाद्य पक्षः । अनुपलब्धिमात्रस्य
तुल्यस्य साध्यासाधकत्वात् । अथ द्वितीयः, तदाऽपि स धर्मो
पलब्धिरेव हेतुरिति । यद्यसौ शब्दे सिद्धः, कथं नानित्यता सिद्धिः ।
अथ चिन्तासवन्धिना पुरुषेणासौ प्रयुज्यते इति न तत्र निश्चिता,
तर्हि कथं सदिग्धासिद्धो हेतुर्वादिन प्रति प्रतिवादिनस्वसौ
स्वरूपासिद्ध एव । नित्यधर्मोपलब्धः । तत्र तस्य सिद्धेः ।
यदप्यनुमानपलब्धिनिबन्धना यदा द्वयोरपि चिन्ता, तदैकदेशो-
पलब्धेरन्यतरेण हेतुत्वेनोपादने कथं चिन्तासवन्धयेव द्वितीयः
तस्यासिद्धता वक्तुं पारयवीत्याद्यभिधानम् । तदप्यसङ्गतम् ।
यतो यदि द्वितीयः सशयपक्षत्वात्तत्रासिद्धता नोद्भावयितु
समर्थः प्रथमोऽपि तर्हि कथं सशयित्वादेव तस्य हेतुतामभिधानु
सशयितोऽपि तत्र हेतुतामभिधेयात्, तल्लिखिततामप्यभिधेया-
त्, त्रान्तेकमयत्राविशेषात् । यद्यपि साधनकाले नित्यधर्मानुपल-
ब्धिरनित्यपक्ष एव वर्तते न विपक्ष इत्याद्यभिधानम् तदसङ्गतम् ।
विपक्षदेकान्ततोऽस्य व्यावृत्तौ पक्षधर्मत्वे च स्वसाध्यसाधक-
त्वमेव अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकव्यवच्छेदेनापरत्र वृत्तिनिश्च-
ये गत्यन्तराभावात् । नहि योऽनित्यपक्ष एव वर्तमानो निश्चितो
वस्तुधर्मः स तत्र साध्ययतीति वक्तुं युक्तम् । अथ द्वितीयोऽपि
वस्तुधर्मस्तत्र तावन्निश्चितो न; परस्परविरुद्धधर्मद्वयोस्तदविना-
शतयोर्वा एकत्र धर्मिण्ययोगात् । योगे वा नित्यत्वयोः शब्दा-
व्ये धर्मिण्येकदा सद्भावादेकान्तरूपयस्तुसद्भावोऽप्युपगतः
स्यात् । तन्मन्तरेण तदेतोः स्वसाध्याविनाशतयोस्तत्रायोगात् ।
धर्मिणि तयोरुपलब्धिरेव स्वसाध्यसाधकत्वमिति कुतस्तत्स-
द्भावे परस्परविषयप्रतिबन्धः । तत् प्रतिबन्धो हि तयोस्तथा-
नूतयोस्तत्राप्रवृत्तिः सा चैकस्याभ्युपगमे विरोधादयुक्ता,
भावाभावयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया एकत्रायोगात् ।
अथ द्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरेकत्रायोगादनित्यधर्मानुप-
लब्धेर्नित्यधर्मानुपलब्धेर्वा बाधा । न । अनुमानस्याऽनुमाना-
न्तरेण बाधायोगात् । तथाहि-तुल्यबलयोर्वा तयोर्वाधक-
भावोऽनुल्यबलयोर्वा । न तावदाद्य पक्षः । द्वयोस्तुल्यत्वे ए-
कस्य बाधकत्वमपरस्य च बाध्यत्वमिति विशेषानुपपत्तेः ।
न च पक्षधर्मत्वाद्यभावादिरेकस्य विशेषः, तस्यानन्युपगमात् ।
अन्युपगमे वा तत एवैकस्य दुष्टत्वाच्च किञ्चिदनुमानबाधया ।
तत्र पूर्वं पक्षः । नापि द्वितीयः । यतोऽनुल्यबलत्व तयो पक्ष-
धर्मत्वादिभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा । न तावदाद्यः
पक्षः । तस्यानन्युपगमात् । अभ्युपगमे वाऽनुमानबाधावैयर्थ्य-
प्रसक्तेः । नापि द्वितीयः । तस्याद्यापि विचाराऽऽस्पदत्वात् ।
न हि द्वयोर्लैकस्याऽनुल्यत्वे एकस्य बाध्यत्वमपरस्य च बाध-
कत्वमिति व्यवस्थापायितुं शक्यम् । तल्लानुमातवाधकृतमप्य-
तुल्यबलत्वम्; इतरेतराभ्युपगमापत्तेः परित्युक्तत्वात् । एतेन ए-

क्षसपक्षान्यतरत्वादेरपि प्रकरणसमस्य व्युदासः कुनो दृष्टव्यः ;
न्यायस्य समानत्वात् । यदप्यत्रासाधारणत्वासिद्धत्वदोषद्वय-
निरासार्थमन्यतरशब्दाभिधेयत्वं पक्षसपक्षयोः साधारण हेतु-
त्वेन विवक्षितम्, अन्यतरशब्दान् तथाविधार्थप्रतिपत्तेस्तस्य
तत्र योग्यत्वादित्यभिधानम् । तदप्यसङ्गतम् । यतो यत्रानियमेन
फलसङ्गो विवक्षितो भवति तत्रैव लोकेऽन्यतरशब्दप्र-
योगो दृष्टः । यथा-देवदत्तयज्ञदत्तयोग्यतर जोजयेत्यत्रानिय-
मेन देवदत्तो यज्ञदत्तो वा भोजनक्रियया संबध्यते, इत्यन्यत-
रशब्दप्रयोगः । नचैव शब्दः पक्षसपक्षयोग्यतर, तस्य पक्ष-
त्वेनान्यतरशब्दवाच्यत्वायोगात् । यदपि यदा पक्षधर्मत्व प्र-
योक्ता-विवक्षति, तदाऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्ष इत्याद्यभिधानम् ।
तदप्यसङ्गतम् । एव विवक्षायामस्य कल्पनाममारोपितत्वेऽन-
र्थरूपतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः । नहि कल्पनाविरतम्यार्थत्व, त्रै-
रूप्य बोधपक्षमत्, अतिप्रसङ्गात् । तत्त्वे वाऽन्यस्य गमकता-
निबन्धनस्याऽभावात् समग्रहेतुत्व स्यादित्युक्तं प्राक् काला-
त्ययापदिष्टस्य तुल्यलक्षणमसङ्गतमेव । नहि प्रमाणप्रसिद्धै-
रूप्यसङ्गावे हेतोर्विषयबाधा सभाविनी, तयोर्विरोधात् । सा-
ध्यसद्भाव एव हेतोर्धर्मिणि सङ्गावच्छेदरूप्यम्, नद्भाव एव
च तत्र तत्सङ्गावो बाधा, भावाभावयोश्चैकत्रैकस्य विरोधः । किं
चाध्यज्ञागमयो कुनो हेतुविषयबाधकत्वमिति वक्तव्यम् । सा-
र्थासभवे तयोर्भावादिति चेत् हेतावपि सति त्रैरूप्ये तत्समान-
मित्यसावपि तयोर्विषयो बाधकः स्यात् । दृश्यते हि चन्द्रा-
र्कादिस्थैर्यग्राह्यक्षेत्र देशान्तरप्रासिलिङ्गप्रभवतइत्यनुमानेन
बाध्यमानम् । अथ तन्स्थैर्यग्राह्यक्षेत्रस्यानन्तत्वाभासत्वाद् बाध्यत्वं
तद्वैकशाखाप्रभवत्वानुमानस्यापि तद्वैकशाखात् बाध्यत्वमित्य-
भ्युपगन्तव्यम् । नचैवमस्त्विति वक्तव्यम्, यतस्तस्य तदाभासत्व
किमध्यक्षबाध्यत्वादुन त्रैरूप्यैकल्यात् । न तावदाद्यः पक्षः ।
इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तदाभासत्वेऽध्यक्षबाध्यत्वम्, तन्त्र
तदाभासत्वमित्येकासिद्धाव्यन्यतराप्रसिद्धेः । नापि द्वितीयः ।
त्रैरूप्यसङ्गावस्य तत्र परेणाभ्युपगमात् । अनभ्युपगमे वा तत
एव तस्यागमकत्वोपपत्तेरभ्यक्षबाधाऽभ्युपगमवैयर्थ्यात् । नचा-
बाधितविषयत्व हेतुलक्षणमुपपन्नम्, त्रैरूप्यवन्निश्चितस्यैव तस्य
गमकाङ्गत्वोपपत्तेः । न च तस्य निश्चयः सम्भवति, स्वसबन्धि-
नोऽबाधितत्वनिश्चयस्य तत्कालज्ञाविनोऽसम्यगनुमानेऽपि स-
साध्यवन्निश्चितस्यैव तस्य गमकाङ्गत्वोपपत्तेः । न च तस्य निश्चयः
सम्भवति, स्वसबन्धिनोऽबाधितत्वनिश्चयस्य तत्कालज्ञाविनो-
ऽसम्यग्भावादुत्तरकालभाविनोऽसिद्धत्वात् । सर्वसबन्धिनस्ता-
दात्विकस्योत्तरकालभाविनश्चासिद्धत्वात्तद्वैकशाखात् सर्वत्र स-
र्वदा सर्वेषामत्र बाधकस्याज्ञाव इति निश्चेतुं शक्यम् । तन्निश्चय-
निबन्धनस्याभावाच्चानुपपन्नस्तद्वैकबन्धन, सर्वसबन्धिनस्तस्य
सिद्धत्वात् । आत्मसबन्धिनोऽनैकान्तिकत्वाच्च सत्त्वादस्तद्वैकबन्धन,
प्रागनुमानप्रवृत्तेः । तस्यासिद्धेरनुमानोत्तरकाल तत्सिद्धाभ्यु-
पगमे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गे । तथाहि-अनुमानप्रवृत्तौ सत्त्वादा-
निश्चयः, ततश्चाबाधितत्वावगमे अनुमाने प्रवृत्तिरिति परि-
स्फुटमितरेतराश्रयत्वम् । न चाविनाभावे निश्चयादप्यबाधित-
विषयित्वनिश्चयः, यतो वक्ष्ययोग्यविनाभावपरिसमाप्तिवादि-
नामबाधितविषयत्वनिश्चये अधिनाभावनिश्चयस्यैवासम्भवात् ।
यदि च प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तस्यैव कालात्य-
यापदिष्टत्वं, तर्हि मूर्खोऽयं देवदत्तः, त्वत्पुत्रत्वादुभयाभिमनान्य
पुत्रवत्, इत्यस्यापि गमकता स्यात् । न हि सकलशास्त्रव्याख्या-

तृन्वलिङ्गजनितानुमानबाधितविषयत्वमन्तरेणान्यदध्यक्षबाधि-
तविषयत्व वा गमकतानिबन्धनमस्यास्ति । न चानुमानस्य तुल्य-
लत्वानुमानं प्रति बाधकता सभाविनीति वक्तव्यम्, निश्चितप्र-
तिबन्धनिङ्गसमुत्थस्यानुमानस्यानिश्चितप्रतिबन्धनिङ्गसमुत्थे-
नानुल्यवत्त्वात् । अत एव न साध्यम्यमात्राहेतुर्गमकः, अपि वा-
क्षित्यनितरेकात् साध्यम्यविशेषात् । नापि व्यतिरेकमात्रात् किं
न्वङ्गीकृतान्वयान् । तद्विशेषान्वये च परम्परानुविद्धोऽयमात्रात् ।
अपि तु परम्परस्वरूपज्ञाहदवृत्तसाध्यम्यवैधर्म्यरूपत्वात् । न
च प्रकृतहेतौ प्रतिबन्धनिश्चयप्रमाणनिबन्धनत्वरूप्य निश्चित-
मिति । तदज्ञावादेवास्य हेत्वाज्ञासत्त्वं, न पुनरसत्प्रतिपक्षत्वाभा-
धितविषयत्वापररूपविरहात् । यदा च पक्षधर्मत्वाद्यनेकवास्तव-
रूपात्मकमेक लिङ्गमभ्युपगमविषयः, तदा तत्तथाभूतमेव वस्तु
प्रसाध्यताति कथं न विपर्ययसिद्धिः । न च साध्यसाधनयोः प-
रस्परतो धर्मिणश्चैकान्तभेदे पक्षधर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमा-
नः, सबन्धासिद्धेः । न च समवायादेः सवन्धस्य निषेधे एकार्थ-
समवायादिः साध्यसाधनयोर्धर्मिणश्च सबन्धः सम्भवी । एका-
न्तपक्षे तादात्म्यादेतदुत्पत्तिवृत्तानोऽप्यसावयुक्तपक्षेति पक्षधर्म-
स्य सपक्ष एव सत्त्वम्, तदेव विपक्षात् सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति
वाच्यम् ? ; अन्वयव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा
तादात्म्यायोगात् । तत्त्वे वा केवलान्वयः केवलव्यतिरे-
केकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न त्रिरूपवान् । व्यतिरेकस्य चाभा-
वाज्ञावरूपत्वाहेतोस्तद्वैकत्वेऽभावरूपो हेतुः स्यात् । न चाभा-
वस्य तुच्छरूपत्वात् स्वसाध्येन धर्मिणा वा सबन्ध उपपत्तिमा-
नः । एव विपक्षे सर्वत्रासत्त्वमेव हेतोः । स्वकीय व्यतिरेकेण प्र-
तिनियतस्य तत्राभ्युपगमात् । अतस्तदन्यधर्मान्तरं तद्वैकत्वस्यैका-
ननुत्तुञ्जाज्ञावामत्रमिति वक्तव्यम्, यतो यदि सपक्ष एव सत्त्वं वि-
पक्षादव्यावृत्तत्वं न ततो भिन्नमस्ति, तदा तस्य तदेव सावधारण-
नोपपत्तिमत्, वस्तुनूतान्याभावमन्तरेण प्रतिनियतस्य तत्रासम्-
वात् । अथ ततस्तदन्यधर्मान्तरं, तद्वैकत्वस्यानेकधर्मात्मकस्य हेतो-
तथाज्ञानस्य साध्याविनाच्युतत्वेन निश्चितस्यानेकान्तात्मकवस्तुप्र-
तिपादनात् कथं न परोपन्यस्तहेतुना सर्वेषां विरुद्धाज्ञैकान्तेन
व्याप्तत्वम् । किञ्च । हेतुः सामान्यरूपो बोधादीयेन परैः, विशेष-
रूपो वा ? यदि सामान्यरूपः, तदा तद्वैकित्यो जिह्वमभिन्नं वा ।
न तावज्जिह्वम् । इदं सामान्यम्, अथ विशेषः अथ तद्वैकित्यं वस्तुत्र-
योपपन्नमानुपलक्षणात् । तथा च सामान्यस्य भेदेनान्युपगन्तुम-
शक्यत्वात् । न च समवायवशात् परस्परतेषां भेदेनानुपलक्षणम्,
यतः समवायस्येह बुद्धिहेतुत्वमुपगीयते । न च भेदग्रहणमन्त-
रेणेहेदमवस्थितमिति बुद्ध्युत्पत्तिसम्भवः । किञ्च । नागृहीतविदो-
पणा विशेष्ये बुद्धिरिति कारणादानात्सिद्धान्तः । न च सामान्य-
निश्चयः सत्स्थानभेदावसायमन्तरेणोपपद्यते यतो दूरे पदार्थ-
स्वरूपमुपलभमानो नागृहीतसत्स्थानजैव-अश्वत्थादिसामान्य-
मुपलब्धुं शक्नोति, न च सत्स्थानजैवावगमस्तदाधरोपल-
म्भमन्तरेण सज्जतीति कथं नेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः ? । तथा-
हि-पदार्थग्रहणे सति सत्स्थानजैवावगमः, तत्र च सामान्यवि-
शेषावबोध्यः, तस्मिन् सति पदार्थस्वरूपावगतिरिति व्यक्तमित-
रेतराश्रयत्वम्, चक्रकप्रसङ्गात् । किञ्च । अश्वत्थादेः समग्रभेद-
स्य म्याश्रयसर्वगतत्वैककल्याणिकशून्ये देशे प्रथमनमुपजायमा-
नाया व्यक्तेरश्वत्थादिसामान्येन बोधो न भवेत् । व्यक्तशून्ये देशे
सामान्यभेदस्य स्वाश्रयसर्वगतस्यानुरस्थानात्, व्यावृत्ता-

इत्यादिवाच्यतायाः । ततः सर्वगतमनुपगन्तव्यम्, एवं न कर्मा-
दिभिरेव शास्त्रादिभिरेव तदभिप्रेयते । तत्र कर्माणां तमेव
तर्कमभ्यसित्वा मर्त्ये, न शास्त्रेयादीनामिति वाच्यम् । यतो यथा
प्रत्यासत्त्या ता एव महत्तमस्य स्थापयन्ति तथैव ता एवाभ्योऽभ्य
इत्येकाकारपरामर्शमुपगमनमिष्यन्तीति किमपरतदुभि-
रसमान्यप्रकल्पनया । न च व्याधयेऽयमयोगात् प्राक् स्व-
ज्ञानजनने स्वसमर्थे सामर्थ्यं तदा परैरनाधेयानि तथैव तमपेक्ष्य
स्यावधारितज्ञान जनयति, प्रागनाममर्थस्यावापरिस्थानस्य ना
वान्तरादुत्पादे च तदयोगात् । तथाऽऽनुपगमे च शक्तिताप्रस-
क्तेः । न च व्याधयेन तस्योपज्ञापमानस्य ततो मेदः, स्वध्यामिति-
तत्तदापेक्षेऽपि प्राग्वत्स्य स्यादनाभिज्ञानजननायोगात् प्रति-
प्राप्त्य स्यात् । तथा च सामान्यस्य स्वीकृत्यो नेदेनाप्रति-
भासमानस्याभिप्रेत्यार्थहेतुत्वम् । किञ्च । प्रतिभ्यक्तिसामा-
न्यस्य स्वार्थमना परित्यज्य तदनुपगमनात् एकस्मात् व्यनक्ति-
यः, यन्मन्यस्य तथैव व्यनक्तिरते नृस्यनुपपत्तेस्तदनुपपत्त-
स्यस्य तत्रात्मन्याद् स्वसाधारण्यं हेतुः स्यात् । यदि
छात्ताधाररूपा एव न च, स्वरूपतस्तदा परमासाधारणा-
दपि न साधारण्यं प्रतिपद्यन्ति इति व्यथा सामान्यप्र-
कल्पनाः स्वतोऽसाधारण्यसामान्ययोगात्पि साधारण्यस्याद्
व्यनक्तिः, स्वरूपतस्तदा परमासाधारण्ययोगादपि न साधारण्य-
ता, मनुपगमे । स्वतस्तदुपपत्तेऽपि निष्कृता सामान्यप्रकल्पनेति
व्यनक्तिरिति किञ्च सामान्यस्यासाधारण्यस्य निरूपणं हे-
तुरिति कथं ततः साध्यमिति । अथ व्याधित्यतिरिक्त
सामान्य हेतुः । तदप्यसङ्गमेव । व्याधित्यतिरिक्तस्य व्याधि-
स्वरूपपदप्रकल्पनाननुपगमनात् सामान्यरूपताऽनुपपत्तेः ।
व्यनक्तिरते साधारण्यस्यैव यन्तुन, सामान्यमित्यभिधानात् ।
तस्यासाधारण्ये वा न तस्य व्याधित्यस्याप्यतिरिक्त्यमान-
मूर्तिता, सामान्यरूपतया मेदाव्यतिरिक्त्यमानस्वरूपस्य विरो-
धान् । तत्र व्यनक्तिरपि सामान्यहेतुः, व्यनक्तिरूपपदसा-
धारण्येन गमकत्वायोगात् । अत एव न व्यनक्तिरूपमपि हेतुः ।
मनोभय परस्पराननुयियं हेतुः, उभयदोषप्रसगात् । नाप्यनुभ-
यम्, अन्योन्यव्यपक्षेदरूपाणामेकामये द्वितीयविधानादनु-
भयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात् । बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्य-
स्वरूपतयात् साध्यानाप्रतिबद्धत्वात्सिद्धत्वाच्च, न हेतुः । त-
स्याप्यप्यन्तरानुवृत्तव्यावृत्तरूपमात्मानं विप्रदेकमेव पदार्थ-
स्वरूपं प्रतिपत्तुं मेदाभेदप्रत्ययप्रवृत्तिनिवन्धन हेतुत्वेनोपा-
दीयमानं तथाभूतसाध्यसिद्धिनिवन्धनमनुपगन्तव्यम् । न च
यदेव रूपरूपान्तराद्व्यवर्तते तदेव कथमनुवृत्तिमात्मादयति ?
तच्चानुवर्तते, तत्कथं व्यावृत्तिरूपतामात्मसात्करोतीति यत्प्र-
थमम् ? मेदाभेदरूपतयाऽप्युत्तमं प्रतीयमाने घस्तुस्वरूपे विरो-
धासिद्धेरित्यसङ्गदायेदित्वात् । किञ्च । एकान्तवाद्युपन्यस्त-
हेतोः किं सामान्य साध्यम् ? आहोस्त्रिद्विशेषः, उतोभय
परस्परविरुद्धम्, उतस्त्रिद्वयमिति विकल्पाः ? । तत्र न
तायत्सामान्यम्, केवलस्यासमवात्, अर्थक्रियाकारि-व्यविक-
सत्वाच्च । नापि विशेषः, तस्यामनुयायित्वेन साधयितुमशक्य-
त्वात् । नाप्युभयम्, उभयदोषानतिवृत्तेः । नाप्यनुभयम्, तस्या-
सतो हेत्वप्यपकत्वेन साध्यत्वायोगात् । एतदेवाह गाथापश्चाद्धे-
न, अन्योन्यप्रतिकुष्टं प्रतिकर्तुं ह्यावप्येतां सामान्यविशेषकान्ता-
वसद्वादाधिति, इतरविनिर्मुक्तस्यैकस्य शशशृङ्गादेरिव सा-
धयितुमशक्यत्वात् ।

सामान्यविशेषयोः स्वरूप परस्परविरुद्धमनुपगमनात् निराकुर्वन्नाह-
दन्वद्विषय-वचनं, मामत्रं पञ्जवस्स य विसेसो ।

एष ममोवणीया, विज्जवायं विसेमेति ॥ १५३ ॥

इत्यादिस्विकल्पयन्तव्यं वाच्यं विशेषेण निरपेक्ष्य सामान्यमात्रम्,
पर्यायात्मिकस्य पुनरनुस्यूताकारविधितो विशेषेण पञ्च वाच्यः ।
पतां च सामान्यविशेषाद्यन्योन्यानिरपेक्षौ, एकैकरूपतया पर-
स्परप्रधानेन एकत्रोपनीतां प्रदर्शितौ, विज्जवादादमनेकान्तवाद्
मन्यवादस्य रूपमतिशयाने, असत्यरूपतया ततस्तावतिशयं ह्यभेदे
इति वाच्यम् । विशेषेण साध्येऽनुगमाभावतः, सामान्ये साध्ये सिद्ध-
ताधनैकान्त्यन प्रधानोभयरूपे साध्ये उभयदोषापत्तिः, अनु-
भयरूपे साध्ये उभयभावात्, साध्यत्वायोगात् । तस्माद्विवा-
दास्पदाभूतसामान्यविशेषोभयान्मकसाध्यधर्माधारसाध्यधर्मि-
ण्यन्योन्यानुविद्धसाध्यधर्म्यैधर्म्यमभावव्यात्मकैकहेतुप्रदर्शन-
तो नैकान्तवादपक्षोक्तदोषावकाशः सन्नवति । अत एव गाथा-
पश्चाद्धेनं सामान्यविशेषा मनुपनीतो परस्परसव्यपेक्षतया
स्याद्वाद्प्रयोगतो धर्मिण्यवस्थापितौ विज्जवादादमेकान्तवाद्
विशेषयतो निराकृतः, अत एव तथोक्तमज्ञात् । अन्यथाऽनुमा-
नपि न पस्योक्तन्यायेनासत्यादित्यपि दर्शयति ।

यत्रानुमानं विषयतयाऽनुपगन्तव्यमिति दर्शयन्नाह—

हेउविसत्रोवणीय, जह वयणिज्जं परो नियत्तेऽ ।

जडं तं जहा पुग्गिहो, दाडं तो केण जिघंति ? ॥ १५३ ॥

हेतुविषयतयोपनीतमुपदर्शित साध्यधर्मिण्येकत्र वस्तु पृथक्प-
क्षवादिना 'अनित्यं शब्द' इत्येव यथा वचनीयं परो दूषण-
वादी नियतंयति, निरुसाध्यताऽननुगमदोषानुपन्यासेनैकान्त-
पञ्चनीयस्य तदिदं धर्माऽननुपकस्यानेकदोषदुष्टतया निवर्तयि-
तुं शक्यत्वात् । यदि तत्तथा द्वितीयधर्माकान्त स्यात् शब्दयो-
जनेन 'पुग्गिहो' पृथक्पक्षवादी अदर्शयिष्यत्, ततोऽसौ नैव केनचि-
द्विज्ञेयतः । ततश्चासौ तथाचूतस्य साध्यधर्मिणं प्रदर्शनात् प्र-
दर्शितस्य वैकान्तरूपस्यासत्त्वात्, तत्प्रदर्शकोऽसत्यवादितया नि-
प्रदाह इति ।

एतदेव दर्शयन्नाह—

एगंतामन्नुयं, सन्नूयमणिच्चियं च वयमाणो ।

लोइयपरिच्छयाणं, वयणिज्जपदे पमइ वाई ॥ १५४ ॥

आस्तां तावदैकान्तेनासद्भूतमसत्यं, सद्भूतमप्यनिश्चितं घटन-
वादी लौकिकानां परीक्षकाणां वचनीयमर्थं पतति । ततोऽनेका-
न्तात्मकाहेतो तथाचूतमेव साध्यधर्मिणं साध्यन्वादी सद्वादी
स्यादिति तथैव साध्याविनाभूतो हेतुधर्मिणि तेन प्रदर्शनीयः ।
तत्प्रदर्शने हेतोः सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वमवश्यं प्रदर्शनीयमिति
यदुच्यते परैः । तदुपास्तं नवति । तावन्मात्रादेव साध्यप्रतिपत्तेः ।
न च तनस्तत्प्रतिपत्तावपि विद्यमानत्वाद् रूपान्तरमपि तत्रावश्यं
प्रदर्शनीयम्, ज्ञानत्वादेरपि तत्र प्रदर्शनप्रसक्तेः । अथ सामर्थ्यात्
तत्प्रतीयत इति न वचनेन प्रदर्श्यते तद्वन्वयव्यतिरेकावपि तत ए-
वावश्यं प्रदर्शनीयोः अत एव दृष्टान्तोऽपि नावश्यं वाच्यः । साध-
र्म्यैधर्म्यप्रदर्शनेपरत्वात्त्वस्योपनयनिगमनवचनयोस्तु दूरापा-
स्तता, तदन्तरेणापि साध्याविनाचूतहेतुप्रदर्शनमात्रात् साध्यप्र-
तिपत्त्युत्पत्तेरन्यथा तदयोगात् । विज्ञेयहेतुप्रदर्शनवादिनस्तु-
निरश्वस्त्वनुपगमविरोधः, निरश्वं त्रैलोक्यविरोधात् । परि-

कल्पितस्वरूपत्रैरूप्याभ्युपगमोऽप्यसंगतः। परिकल्पितस्य परमार्थसत्त्वे तद्दोषानतिक्रमात्, अपरमार्थसत्त्वे तल्लक्षणत्वायोगादसत्-सल्लक्षणत्वविरोधात् । न च कल्पनाव्यवस्थापितल्लक्षणजेदाल्लक्ष्यजेद उपपत्तिमानिति त्रिकस्य निरशस्वजावस्य किञ्चिद्रूप वा-स्यम् । न च साधर्म्यादिव्यतिरेकेण तस्य स्वरूप प्रदर्शयितुं शक्यत इति तस्य निःस्वभावनाप्रसक्तिः । न चैकलक्षणहेतुवादिनोऽप्यनैकान्तात्मकवस्त्वभ्युपगमाद् दर्शनव्याघात इति वाच्यम् । प्रयोगनै-गम एवैकलक्षणो हेतुरिति व्यवस्थापितत्वात् । नचैकान्तवादिनां प्रतिबन्धग्रहणमपि युक्तिसङ्गतम् । अविचलितरूपे आत्मनि ज्ञानपौर्वापर्याजावात् प्रतिक्षणध्वसिन्यप्युजयग्रहणानुवृत्तैकचैतन्याजा-वात् । कारणस्वरूपग्राहिणा ज्ञानेन कार्यस्य तत्स्वरूपग्राहिणा कार्य-कारणजावादेर्ग्रहः, एकसंबन्धस्वरूपग्रहणेऽपि तदुग्रहणप्रसक्तेः । न च तदग्रहेऽपि निश्चयाऽनुत्पत्तेरदोषः, सविकल्पकत्वेन प्रथमा-क्षिसनिपातजस्याध्यक्षस्य व्यवस्थापनात् । न च कार्यानुजवानन्तरभाविना स्मरणेन कार्यकारणभावोऽनुसंधीयत इति वक्तव्यम् ; अनुभूत एव स्मरणप्रादुर्भावात् । न च प्रतिबन्ध केनचिदनुभूतः, स्तस्योभयनिष्ठत्वात् ; उजयस्य च पूर्वापरकावजाविन एकेनाग्र-हणात् । न च कार्यानुजवानन्तरभाविन स्मरणस्य कार्यानुभवो जनकः, तदनन्तर स्मरणस्याभावात् । न च कृणिकैकान्तवादे कार-यकारणभाव उपपत्तिमानित्युक्तम् । न च सन्तानादिकल्पनाऽप्य-त्रोपयोगिनी । न च स्मरणकालेऽनीततद्विषयमात्रं प्रतीयते, अपि तु तत्राऽनुभविताऽपि ग्रहमेवमिदमनुभूतवानित्यनुजयिषा धाराऽ-नुभूतविषयस्मृत्यध्यवसायादेकाधारे अनुभवस्मरणे अभ्युपग-न्तव्ये, तदभावे तथाऽध्यवसायानुपपत्तेः । नचानुभवस्मरणयोर-नुगतचैतन्याजावे तद्धर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तदा प्रतिपत्ति-र्युक्ता । नहि यत्प्रतिपत्तिकाले यन्नास्ति, तत्तद्धर्मतया प्रतिपत्तुं यु-क्तम्, बोधाभावे ग्राह्यग्राह्यसवित्तिप्रतियोगिप्रतिपत्तिवत्, अस्ति च तद्धर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तदा प्रतिपत्तिरिति कथं कृणिकैका-न्तवादः, तत्र वा प्रतिबन्धनिश्चय इति ? । नचैकान्तवादिनः सामा-न्यादिकं साध्यं संजयीति प्रतिपादितम् ; तस्मादनेकान्तात्मकं व-स्त्वभ्युपगन्तव्यम्, अथवादेः प्रमाणस्य तत्प्रतिपादकत्वेन प्रवृत्तेः ।

(८) स एव च सन्मार्गः (अनेकान्त एव सन्मार्गः)

इत्युपसहरन्नाह—

दृवं खितं कालं, जावं पञ्जायदेससंजोगे ।

भेदं च पमुच्च समा, भावाणं पक्षवणपञ्जा ॥ १५५ ॥

छव्यक्षेत्रकावजावपर्यायदेशसयोगान् भेदं चेत्यष्टौ जावाना-श्रित्य वस्तुनो भेदे सति समा सर्ववस्तुविषयायाः प्रतिज्ञाप्यरू-पाया स्याद्वाद्दरूपायाः पर्याय पन्था मार्ग इति यावत् । तत्र छव्य पृथिव्यादि, क्षेत्र तदवयवरूपं तदाश्रय वा आकाश, काव यु-गपदक्षिप्रत्ययशिक्षलक्षण वर्तमानात्मक वा, नवपुराणादिलक्ष-ण भावम्, मूलाङ्कुरादिलक्षण पर्यायम्, रूपादिस्वभाव देशम्, मू-लाङ्कुरपत्रकायमादिक्रमजावि विभाग संयोग जूझ्यादि प्रत्येक स-मुदाय छव्यपर्यायलक्षण भेदः, प्रतिक्षणव्यावर्तनात्मक वा, जीवा जीवादिभावानां प्रतीत्य समानतया तदतदात्मकत्वेन प्रज्ञापना-निरूपणा या सा सत्पथ इति नहि तदतदात्मकैकछव्यत्वादिभेदा-जावे स्मरविषाणादेर्जीवादिद्रव्यस्य विशेषः, यतो न द्रव्यक्षेत्रका-लभावपर्यायदेशसयोगभेदरहितं वस्तु केनचित् प्रत्यक्षाद्यन्य-तमप्रमाणेनावगन्तुं शक्यम् । न च प्रमाणानुचरस्य सद्व्यवहा-

रणोचरता सभविनीति तदनदात्मक तदभ्युपगन्तव्यम् । नक्षे-कान्ततोऽतदात्मकं छव्यादिभेदभिन्न व्यतिरिक्तरूपं च प्रमाणं तन्निरूपयितुं शक्यम्, द्रव्यादिव्यतिरिक्तस्य शशशङ्खवत् कुत-श्चित्प्रमाणाप्रतीतिः । नहि ततो छव्यादीनां भेदेऽपि समवायस-बन्धवशात् तत्संबद्धताप्रसङ्गः । संबन्धजेदेन तदभेदाभेदकल्पन-ठयानतिवृत्तेः । प्रथमविकल्पे समवायानेकत्वप्रसक्तिः । सवन्धि-भेदतो भेदः सयोगवदनित्यत्वप्रसक्तिश्च । द्वितीयकल्पनाया-मपि सवन्धिसङ्करप्रसक्तिः । नचैव छत्रदण्डरुक्मलादिसंब-न्धविशेषविशिष्टदेवदत्तादेरिव समवायिनो जातिगुणत्वादेर्भेदे-नोपलब्धेः । नहि य एव दण्डदेवदत्तयोः संबन्धः स एव छत्रादिभिरपि, तत्संबन्धविशेषणाविशेषवैफल्यप्रसक्तेः । न विशेष-पण विशेष्य धर्मान्तराद्भावच्छिद्यात्मन्यनवस्थापयद् विशेष-णरूपतां प्रतिपद्यते । एव समवायसंबन्धस्याविशेषे छव्यत्वादी-नामपि विशेषणानामविशेषात्त आवाजीवादिद्रव्यव्यवच्छेदक-ता स्यादिति समवायिसङ्करप्रसक्तिः कथं नासज्येत ? । न च समवायस्तदग्राहकप्रमाणाजावात् सज्जति, तदभावे न वस्तुनो वस्तुत्वयोगो भवेदिति तदनेकान्तात्मकैकरूपमभ्युपगन्तव्यम् । नचैकानेकात्मकं वस्तुनो विरुद्धम्, प्रमाणप्रतिपक्षे वस्तुनिवि-रोधायोगात् । तथाहि—एकानेकात्मकमात्मादि वस्तु, प्रमेयत्वा-त्, चित्रपटरूपवत्, ग्राह्यग्राहकाकारसवित्तिरूपैकविज्ञानस्य प्रत्य-त्मसवेदनीयत्वात् । न च वैशेषिकं प्रति चित्रपटरूपस्यैकानेक-त्वमसिद्धम्, प्राक् प्रसाधितत्वात् । नापि ग्राह्यग्राहकसवित्तिर-क्षणरूपप्रयात्मकमेक विज्ञानं बौद्ध प्रत्यसिद्धम्, तथाभूतविज्ञा-नस्य प्रत्यात्मसवेदनीयस्य प्रतिपक्षप्रसक्तेः । स्वार्थाकार्योर्वि-ज्ञानमभिन्नस्वरूपम्, विज्ञानस्य च वेद्यवेदकाकारौ भिन्नात्मनौ, कथञ्चिदनुभवगोचरापन्नौ । एतच्च प्रतिक्षणस्वभावभेदमनुभव-दपि न सर्वथा भेदवत् सवेद्यत इति सविदात्मनः स्वयमेकस्य क्रमवर्त्यनेकात्मकत्वं न विरोधमनुभवतीति कथमध्यक्षादिवि-रुद्ध निरन्वयविनाशित्वमभ्युपगन्तुं युक्तम् ? । नहि कदाचित् क्वचि-त् कृणिकत्वमन्तर्बहिर्वाऽध्यक्षतोऽनुभूयते ; तथैव निर्णयानुपपत्ते-र्भेदात्मन एवान्तर्विज्ञानस्य बहिर्घटादेर्वाभिन्नस्य निश्चयात् । तथा भूतस्यानुभवस्य भ्रान्तिकल्पनायां न किञ्चिदध्यक्षक्रमान्तर्ग-णमायं भवेत् । न हि ज्ञानवेद्यवेदकाकारस्थं स्पृहाकारव्यक्तप-रमाणुरूपं वा घटादिकमेक निरीक्षामहे, यतो बाह्याख्यात्मिक भेदाभेदरूपतयाऽनुभूयमानं ज्ञानविज्ञानविषयतया व्यवस्थये-त । अतो यथादर्शनमेवेयमनुमेयव्यवस्थितिः, न पुनर्यथातत्त्वमि-त्येतदनिश्चितार्थाभिधानम् । नहि क्वचित् केनचित् प्रमाणेनै-कान्तरूपं वस्तु तत्त्वमय प्रतिपन्नवान्, यत एव वदद् शोभेत । कान्तरूपं वस्तु तत्त्वमय प्रतिपन्नवान्, यत एव वदद् शोभेत । यदा वाऽध्यक्षविरुद्धो निरक्षणाधिकैकान्तस्ततो नानुमानमप्यत्र प्रवर्तितुमुत्सहते, अध्यक्षाबाधितविषयत्वात् । तस्य तेन निरन्व-यविनम्बरं वस्तु प्रतिक्षणमवेकमात्रोऽपि नावधारयतीति । ए-तदप्यसदभिधानम् । प्रतिक्षण विशराकनया कुतश्चिद्व्यनीक-णात् । अत एव कृणिकत्वैकान्ते च सत्त्वादिहेतुरुपादीयमानः । यतो यास्मिन् सत्येव यद्भवति तत्तस्य कारणमितरत्र कार्यमिति कार्यकारणलक्षणम् । कृणिके च कारणे सति यदि कार्योत्पत्तिर्न वेत्तु तदा कार्यकारणयोः सहोत्पत्तेः किं कस्य कारणं किं वा कस्य कार्यं व्यवस्थाप्येत ? । त्रैलोक्यस्यैककृणवर्तिता प्रसज्येत । न-दनन्तरं यद्भवति तत्तस्य कार्यम्, इतरन् कारणमिति व्यवहा-

कांकारणमिमेने वस्तुभ्यमने च भवतस्तत्तन्तन्मागियस्य दुर्घ-
टस्यादितरदिनहादपि च तस्य प्रायो जयेत्, तदभावादिशेषात् । न
चातरस्यापि कार्योत्पत्तिकाममप्राप्य विनाशमनुनपगमिगती-
तस्येय कारणात् । यतोऽर्थक्रिया कृणुते न चिरुदेन । प्राक्तकाल-
प्राप्तयेन कारणमे सति सत्यस्य कारणता प्रसज्येन, सत्य-
वस्तुप्राप्त्यां विवक्षितकार्यं प्रति भाविः प्राप्तेमेवात् । तथा च-
स्यपरस्मान्नान्यपरस्याऽप्यनुपपन्नं स्यात् । न च सादृश्यात् तदा-
वत्त्वा, सर्वथा सादृश्ये कार्यस्य कारणरूपताप्रसज्येरेककृणुमात्र
सन्तानः प्रसज्येत । कथांश्चासादृश्येनैकातयादप्रसक्तिः । न च
सादृश्यं जयदाभिप्रायेणास्ति, सर्वत्र येन शृणुयादियेषात् । अन्य-
था भवतान्तप्रकीर्णयथेष्टाणि कैसांनपादिनेऽन्यपर्यामिरेक
प्रतिपत्तिं सनयनीति साध्यसः प्रनायास्ति कालविषयाया साक-
लेन ध्यातेरुत्तरे । यममनस्यैव ज्ञानक यथा शब्दशब्द इत्याद्य-
नुमानप्रवृत्तिं कार्यं न जयेत् ? अकारणस्य च प्रमाणाविनयम-
भ्युपगममत्तरसाधनयोस्मिन्नामिदयाप्राप्तिप्रदणस्य दूरोत्सा-
रित्त्यात् । "नानुदृताधयर्पानरेक कारण विषयः" इति व-
चनमनुमानोद्देशकप्रसज्येन प्राप्यादकाकारज्ञानेकययत्, प्राप्ता-
कारणापि पुनपदेनैकार्यभावेनैकैकरूपता एकानपादं प्र-
तिक्षिपति । एव ज्ञानवाऽऽमनस्यैव सद्गुणस्यान्तर्बहिः सा ता
अकल्पं कथञ्चिदप्युपगम्यम् । अथवा कथं स्यस्येदना-
पकता तस्य भवेत् ? । तदभावे च कथं तस्मात्प्राप्तिसिद्धि-
शुक्ल ? । कथं च ज्ञानज्ञानं ज्ञानिरूपतयाऽऽमनस्यैव सद्गुण-
ज्ञानरूपतया प्राप्यमप्युपगम्यम् । नापगम्येत् । यतो
ज्ञातेकातरूपताऽऽप्यनुनदतां भवेत्, कथं च ज्ञानविक-
ल्पकृतयो स्यस्येदनामज्ञानमपिकल्पक याऽन्युपगम्यप्रने-
कान्तं नानुपगम्येत् ? । प्राप्ताप्रादृश्यात्कारणविकल्पसिद्धे स्य-
स्येदनेनास्येदयत् न चिरुदेन याऽनुनयत् कथं क्रमभाविनो-
विकल्पेतरामनोऽनुनयत् स्येदनामनमनुनयप्रसिद्धं प्रतिक्षिपेत् ।
ततः क्रमप्रदज्ञातित् परस्परविपक्षणास्यानायान्याऽन्यथा-
वस्थितरूपतया ध्यान्नुपतः भक्तलोकप्रतीतिं स्यस्येदनात्,
अनेकान्ततत्त्वस्यैवप्राप्तिकेकान्ततत्त्वप्रतिक्षेपि प्रतिष्ठितमिति ।
निराश्रयविकल्पनकृणुमन्तर्बहिःशानिधिनमापि स्वयिचिधिपयी-
करोतीति कल्पनाऽपुनिसर्गतिथः, अथमनस्यैवकल्पनायाः
सर्वत्र विरुद्धस्यात् । सकलसर्गतादृशप्रसक्तैर्नेहोक्तस्य
संविधिः परस्वाम्यविधिः । नहि यास्तयमबन्धाभावे परिकल्पि-
तस्य नियामक्ययुक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । न च यास्तव. सबन्ध-
परस्य सिद्ध इति तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् साध्यसाधनयो
प्रतिबन्धनियमाज्ञायेऽनुमानप्रवृत्तिर्दूरोत्सारितैव । अथ कृणि-
काद् निवर्तमानमप्यर्थक्रियालक्षणं सत्यमक्षणिके च स्यास्यतीति
अततोनेऽकान्तात्मकवस्तुसिद्धिः । नाक्षणिकेऽपि, क्रमयोगप्राप्त्या
नस्य विरोधात् । तथाहि-न तादृशक्षणिकस्य क्रमयत्कार्यकारण
प्राक्तकरणसमर्थस्याभिमतकृणुयत् तदकरणविरोधात्प्राक्तद-
न्मास्यै पश्चादपि न तत्सामर्थ्यमपेरिणामिनोऽनाधेयातिशय-
त्वात् । स्वभावोत्पत्तिविनाशाद्युपगमेऽपि नित्यैकान्तवादिरो-
धात् । ततो व्यतिरिक्तस्यातिशयस्य कारणेऽनतिशयस्य प्रागिव
पश्चादपि तत्करणसंभवात् । सहकारिणोऽपेक्षाऽपि तस्याऽयुक्तै-
व, यतोऽनहायस्य प्रागकरणसंभावस्य पुन सश्रीसहायस्य कार्य-
करण जयेत्, नहि सहकारिकृतमातिशयमनङ्गीकुर्वतस्तदा
पक्षोपपत्तिमति तत्र क्रमेणापरिणामी भाव कार्यं नियतंयति,
नापि योगपदेन कालान्तरे, तस्याकिञ्चित्करयेनावस्तुत्वापरोः

क्षणमात्रायस्थायित्वप्रसक्तं । न च क्रमयोगपक्षव्यतिरिक्त प्रकांरा-
न्तर समयतीत्यर्थक्रिया व्यापिका निवर्तमाना व्याप्या सत्यां
नित्यादप्यादाय नियतं इति । यत् सत्तत् सर्वमनेकान्तात्मक
सिद्धम्, अन्यथा प्रसक्त्यादिविरोधप्रसक्तं । न हि भेदमन्तरेण
कदाचित् कस्यचिदनेदोपलब्धिः, हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्ता-
त्मकस्यान्तर्बहिःस्य स्ववेदनाध्यक्तो घर्णमस्यानसदाद्यनेका-
कारस्य स्थूलस्य पुर्यापरस्वभावपरित्यागोपादानात्मकस्य घ-
टादेर्बहिरेकस्येन्द्रियजाध्यक्तः सवेदनात् । सुखादिरूपादिने-
दयिकक्षणया चैतन्मप्यष्टादे कदाचिदप्युपगमनागोचरत्वान्म-
दासामान्यस्याप्राप्तिसामान्यस्य वा सयंगतासर्धगतधर्मात्म-
कता समवायस्य चानरस्यादोषत संयधेतराभावात् अ-
प्युपगमसामान्यविशेषाणामन्योन्य तादात्म्यानिष्ठौ तेवष्टुते
सर्वपदार्थस्वरूपाप्रसक्तिः स्यात् । स्वतः पव समवायस्य
अप्यादिषु पृच्छी समवायमन्तरेणापि द्रव्यादावपि स्वाधारेषु
वृत्तिं स्यत एव तस्मात्कारिष्यन्तीति समवायकल्पनाव-
यर्थप्रसक्तियद्वेदमसक्तियद्वेदप्रतिपत्ते । अगृहीतस्वभावाद्
गृहीतस्य नापस्य अवस्थ चातद्वता सामस्येन प्रदृष्टासज-
घात् कथं तदप्रते नदप्रदण भवेत् ? , अधाराप्रतिपत्तौ तदा-
धेयस्य तत्वेनाप्रतिपत्ते । सामान्याद्येषु गृहीतेष्वपि सामा-
न्यादेः वृत्तिविकल्पादिदोषस्तेऽपि पूर्ववत् समान, तदाधे-
यस्य तत्वेनाप्रतिपत्ते । तदशप्रदणेऽपि च सामान्यस्य व्यापित
कदाचिदप्यप्रतिपत्ते सद् द्रव्यमित्यादिप्रतिपत्तिस्तद्वस्तु न कदा-
चिद्वेत्, तदशाना सामान्यादेरन्यन्तभेदात् । एव द्रव्यादि-
पदपदार्थरूपस्याऽप्यनुपपन्ना भवेत्, प्रतिभासगोचरवारिणां
सामान्यादशानां पदार्थान्तरताप्रसक्तं । अथ निरश सामान्य-
मभ्युपगम्यते इति नाय दोष तर्हि सकलस्यैवप्रतिपत्त्यभा-
पतो मनागपि न सामान्यप्रतिपत्तिरिति सद् द्रव्य पृथिवी-
त्यादिप्रतिपत्तेर्लितरामजायः स्यात् । तदशाना सामान्याद्
नेदाभेदकल्पनाया द्रव्यादय एव नेदाभेदात्मका किं नाभ्यु-
पगम्यन्ते ? इति सामान्यादिकल्पना दूरोत्सारितैवेति कुत-
स्तद्भेदैकान्तकल्पना ? । ततः सामान्यविशेषात्मक सर्वं वस्तु,
सत्त्वात् । नहि विशेषरहित सामान्यमात्र सामान्यरहित
या विशेषमात्र समवति तादृश. क्वचिदपि, वृत्तिविरोधात् ।
वृत्त्या हि सत्त्व व्याप्त स्थलक्षणात्सामान्यलक्षणाद् वा
तादृशावृत्तिनिवृत्त्या निवर्तत एव, यत क्वचिद् वृत्तिमतोऽपि
स्थलक्षणस्य न देशान्तरवृत्ति, नान्येन सयोगः, तत्ससर्गव्येव-
च्छिन्नस्वभाधान्तरविरहाद्विशेषविकलः, सामान्यवत् । एकस्य
प्रतिसयन्धस्वभावविशेषाभ्युपगमविशेषाणां तत्स्ववक्ष्ये सा-
मान्यलक्षणमेव स्यात् । न च विशेषैरन्यदेशस्थितै असंयुक्त-
स्यैकत्र तन्म वृत्ति, अन्यवधानाविशेषात् । एव च स्वभाव-
विशेषाणां सामान्यरूपा. सर्व एव भावा विशेषरूपाश्च तत्र
देशकालावस्थाविशेषनियताना सर्वेषामपि सत्त्व सामान्यमेक-
रूपस्य, अन्यवधानात् । तस्य च ते विशेषा एव, अनेक रूपस्य, यत-
स्तदेव सत्त्व परिणामविशेषापेक्षया गोत्वब्राह्मणत्वादिलक्षणा
जातिः, परिणामविशेषाश्च तदात्मका व्यक्त्य इति । परस्पर-
व्यावृत्तानेकपरिणामयोगादेकस्यैकानेकपरिणामरूपता संश-
यज्ञानस्येवाविरुद्धा व्यक्त्यव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योपलब्धि-
लक्षणाप्राप्तस्यानुपलब्धिः, शशशृङ्गवदसत्त्वात् । सत्त्वरूपादि-
प्रत्यय सामान्यविशेषात्मकवस्त्वभावेऽबाधितरूपो न स्यात् ।
न च चक्षुरादिः बुद्धौ वर्णाकृत्यक्षराकारशून्य सामान्यपर-

था 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि' इति न प्रतन्यम् । तत्त्व-
भेदरूपतयाऽभिधानेऽपि न दोषः, जात्यन्तररूपतया पया-
घटमानत्वात्, रागिहयेन सकलस्य जगतो व्याप्तत्वात्,
तद्व्याप्तस्य शब्दशून्यत्वात्, शब्दप्रसादेकान्तस्य च
प्राक् प्रतिपिबन्त्वात् । अथाधिनस्पोभयप्रतिभासस्य नगाभू-
तवस्तुव्यपस्पापस्य प्रसाधितत्वादिप्राऽनियोगभेदात्-
द्वैतकल्पनायामपि त्रिप्रसक्तये । यागानाम्यनभूतभावापेक्षया
विद्यान्वेषणे । न यथा विपिप्रयत्नेनोभयोर्गोचरोपात्त तत्प्रति-
भासत्वात्प्रमाणं वा । न हि तदोक्तिरप्रसक्तये विपयस्तावि-
पयस्त्वानयोरेव विद्याद्विद्यात्वे । ततो नाह्य पस्तुः नापि
तद्वैतित्तिरिति । तदाध्यादीनामप्यनुपपत्तिः, राशिहयेन सक-
लस्य व्याप्तत्वात् । ततस्तेषां कथं द्विभेदप्रतिपादनायं न्यात् ।
अनयोरेव तेषां पितृत्वयोः सकारणसमाप्तिमुक्तिप्रतिपादन-
परत्वात् । नगाप्रतिधामन्यानेन वा प्रमेण गजानस्य मुक्तिहेतुत्व-
प्रदर्शनायं न्यात्, विपयत्वेति निगतायं न्यात्, तद्वैतमिधानस्यादु-
ष्टत्वात् । तथाहि-भाष्येति कर्म यत् न आशयः, फायवादनतो-
भ्यापार । न च जीयाज्जीवायाः कथं द्विभिन्नं, तथैव प्रतीतिवि-
षयत्वात् । अथ यथाज्ञाने कथं तस्योपपत्तिः ? प्राक्तनज्ञाने वा
न तस्य प्रमेहेतुता । न हि यथाहेतुकं, न तदभावेऽपि भवति,
अतिप्रसक्तम् । अस्मैतम् । पूर्वोक्तमपेक्षया गोन्यकार्यकारण-
भाजनियमात् । नचेनरेतराभ्यन्तेषु, प्रसादापेक्षयाऽनादित्वात् ।
पुण्यापुण्यहेतुवन्धहेतुत्वात् चार्था द्विविधः । उत्कर्षोपकर्षभेदे-
नानेव प्रकारोऽपि । दृक्मनुष्यादिवि-यादिसम्यग्भेदमासाद्यन्
फालानुबन्धननुपपत्तिहेतुऽनेकशब्दविशेषात्प्राप्तमनुपपत्तिः ।
एकान्तवादिना तस्य नामसम्भवतीति । 'कम्मजोगनिमित्तं'
गाधार्यं प्रदर्शयन् प्राक् प्रतिपादितत्वात् । सम्म० ।

(१०) अनेकान्तवाऽप्यकाराऽप्यकारो सम्यग्भिरन्याये-
"इत्येव गणिपिस्तु, निश्च द्वात्रिंशत् नयस्य ।
पञ्चाप्य अणिच्य, निश्चानिच्य च नियमादौ ॥ ६२ ॥
जो सियवाय भासात्, पमाणनयपेमत गुणापार ।
भावेह से ए जसस्य, सो हि पमाण पयसस्य ॥ ६३ ॥
जा सियवाय निदत्ति, पमाणनयपेमत गुणापार ।
भावेण द्वाभयो, न सो पमाण पयसस्य ॥ ६४ ॥ ति० अ० ॥ १० ॥

अणोगकोमि-अनेककोटि-त्रि० । अनेका कोटयो ज्यसङ्ख्या-
यां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेऽनेककोटयः । कोटिरन्यस्याके-
षु कौटुम्ब्यादिषु, ता० । "अणोगकोमीकुटुम्ब्याद्विषयसुहा"
अनेका कोटयो ज्यसङ्ख्यायां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां ते-
ऽनेककोटयः, तं कौटुम्ब्यैः कुटुम्ब्यभिः, आकीर्णं मङ्गलाया
सा तथा, सा चासीं निर्वृता च तनुएजनयोगात्सतोपवतीति
कर्मधारय । अत एव सा चासीं सुन्ना च सुन्ना च वेति कर्म-
धारयः ॥ ६५ ॥ १० ॥ १० ॥ १० ॥

अणोगस्वरिय-अनेकाक्षरिक-न० । अनेकानि च तानि अक्ष-
राणि तैर्निर्वृत्तमनेकाक्षरिकम् । पञ्चरादिनिर्वृते द्विनामजेदे,
अनु० । "ते किं त अणोगस्वरिय ? अणोगस्वरिय कक्षा वीणा
लता माला । सेच अणोगस्वरिय" । अनु० ।

अणोगखडी-अनेकखण्डी-त्री० । अनेकेषां नक्षत्रां नराणां
मार्गज्ञता खण्डयोऽप्यद्वाराणि यस्यां साऽनेकखण्डी । विपा० १
शु० ३ अ० । अनेकनक्षत्रनिर्गमापद्वारायां पुर्याम्, ६० १८ अ० ।
१११

अणोगवभसयसिषिविद्व-अनेकस्तम्भशतसाक्षिविद्व-त्रि० । ७
त० । अनेकेषु स्तम्भशतेषु सक्षिविद्वे । ७ व० । यत्र वा अने-
कानि स्तम्भशतानि सक्षिविद्वानि । भ० १ शु० ३३ उ० । रा० ।
विपा० । "एग च ए मह प्रवण करोति अणोगवभसयसिषि-
विद्व लीलचित्तिसाक्षभजियाम" ॥ १ अ० । १० ॥ १० ॥

अणोगगुणजाणय-अनेकगुणज्ञायक-त्रि० । अनेकेषां गुणाना-
मुपलक्षणत्वाद् दोषाणां च ज्ञायकः । बहुदोषाणां ज्ञायके, "अ-
णोगगुणजाणय पमिष विद्विष्ट" ज० ३ व० ।

अणोगचित्त-अनेकचित्त-त्रि० । अनेकानि चित्तानि कृषिवाणि-
त्याद्यत्तनादीनि यस्य सोऽनेकचित्तः । कृष्यादिषु व्यापृत-
चित्ते, पाचा० १ शु० ३ अ० २ उ० ।

अणोगजम्भ-अनेकजम्भ-न० । अनन्तभवे, पञ्चा० ८ विच० ।

अणोगजीव-अनेकजीव-त्रि० । अनेके जीवा यस्येति । बहुजीवा-
जीवात्मके कित्यादी, "पुढवीचित्तमतमपत्ताया अणोगजीवा पु-
ढोमत्ता" दश० ४ उ० ।

अणोगजोगधर-अनेकयोगधर-पुं० । योगः क्षीराश्रवादिसन्धि-
कलापसन्धः, तं धारयन्तीति अनेकयोगधरा । सन्धिसपक्षेषु,
सूत्र० १ शु० १ अ० १ उ० ।

अणोगभक्त-अनेकभक्त-त्रि० । विविधमत्त्वेषु सुद्धममत्त्व-
रत्नमत्त्वादेषु, प्रश्न० १ आध० ६० ।

अणोगणरपरच्युऽगेज्ज-अनेकनरपरच्युजाग्राह्य-त्रि० ।
अनेकस्य मनुष्यस्य ये प्रवराः प्रलम्बा वृजा घादवस्तेऽग्राहो-
ऽपरिमेयोऽनकनरपरच्युजाग्राह्यः । अनेकपुरुषव्यामैरप्रतिमे-
यस्थौल्ये वृक्षादौ, रा० ।

अणोगणाम-अनेकनामन्-न० । अनेकपर्यायेषु, "अणोगपरि-
यति वा अणोगपञ्जायति वा अणोगनामजेदति वा एगता"
आ० चू० १ अ० ।

अणोगणिगमदुवार-अनैकनिर्गमद्वार-त्रि० । न विद्यन्ते नै-
कानि बहूनि निर्गमद्वाराणि निःसरणमार्गाः यत्र, ध० १ अधि० ।

अणोगतालायराणुचरिय-अनेकतालाचरानुचरित-त्रि० । अ-
नेके च ये तालाचराः तालादानेन प्रेक्षाकारिण तैरनुचरित आ-
सेवितो यः स तथा । औ० । नानाविधप्रेक्षाकारिसेविते, भ० ११
श० ४ उ० । विपा० । पुरादौ, ६० १ अ० । ज० ।

अणोगदन्त-अनेकदन्त-त्रि० । अनेके दन्ता येषां ते अनेकद-
न्ता । ह्यत्रिशदन्तेषु, त० । प्रश्न० । अनेके दन्ता येषां ते अनेक-
दन्ता । अनेकदन्तयुक्तेषु, त० ।

अणोगदन्तवत्त्व-अनेकदन्तवत्त्व-पुं० । अनेकैः सचित्ताऽ-
चित्तलक्षणैर्द्वयैर्निष्पन्न स्कन्धः अनेकदन्तवत्त्वः । विशिष्टै-
कपरिणामपरिणतसत्त्वेतनाऽचेतनदेशसमुदायत्वात्मेक ह्यादि-
स्कन्धे, विशेष० ।

अणोगपुस्तता-अनेकप्रदेशता-त्री० । निम्नप्रदेशतायाम्, "भि-
न्नप्रदेशता सैवाऽनेकप्रदेशता हि या" । भिन्नप्रदेशता सैव अनेक-
प्रदेशस्वभावता भिन्नप्रदेशयोगेन तथा निम्नप्रदेशकल्पनयाऽने-
कप्रदेशयोग्यत्वमुच्यते, द्रव्या० १३ अध्या० ।

अणोगपासंमपरिग्राह्य-अनेकपाखण्डपरिगृहीत-त्रि० । ३ त० । नानाविधवृत्तिभिरङ्गीकृते, प्रश्न० २ सव० द्वा० ।

अणोगबहुविविधवीससापरिणय-अनेकबहुविविधविश्रमाप-
रिणत-त्रि० । न एकोऽनेकः, अनेक एकजातीयोऽपि व्यक्तिमे-
दाद् प्रवति । तत आह-बहु प्रभूत विविधो जानिभेदाभानाप्र-
कारः बहुविधः, प्रचूतजातिजैदतो नानाविध इति भावः । स
च केनाऽपि निष्पादितोऽपि समाव्येत । तत आह-विधसया स्व-
भावेन तथाविधेभ्योऽसामग्रीविशेषजनितेन परिणतो न पुन-
रीश्वरादिना निष्पादितो विधसापरिणतः । ततः पदत्रयस्य पदद्व-
यमीलनेन कर्मधारयः । नानाविधस्वभावोद्भूते, जी० ३ प्रति० ।

अणोगजागत्य-अनेकजागस्य-त्रि० । द्विप्रादिजागस्ये, नि०
चू० २० उ० ।

अणोगजाव-अनेकभाव-त्रि० । बहुपर्याययुक्ते, ज० १४ श०
४ उ० ।

अणोगजून-अनेकजून-त्रि० । अनेकरूपे, भ० १४ श० ४ उ० ।

अणोगभेद-अनेकभेद-पुं० । अनेकपर्याये, "अणोगपरिरय ति वा
अणोगपञ्जय ति वा अणोग [णाम] भेद ति वा एगच्छा" । आ०
चू० १ अ० ।

अणोगरूव-अनेकरूप-त्रि० । ६ ब० । नानाप्रकारे, " इह हो-
इयाइ भीमाइ अणोगरूवाइ अवि सुम्निदुम्निगधाइ सदाइ अणे-
गरूवाइ" । आचा० १ सु० ६ अ० ५ उ० । "मुहुं मुहुं मोहगणे जयंतं,
अणोगरूवा समण चरत । फासा फुसती असमंजसं च, न ते
सुनिक्ख मणसा पञ्जोगे" ॥१॥ उ० १ अ० । अनेकमित्यनेकविध
परव्यविधमसंस्थानादिभेदं रूपं स्वरूपमेषामिति अनेकरूपः ।
त्रयोविंशतिविधाः । उ० ४ अ० ।

अणोगरूवधुणा-अनेकरूपधुणा-स्त्री० । अनेकरूपा संस्थात्रयाद्
अधिका धुना कम्पना यस्यां सा अनेकरूपधुणा । उ० २६ अ० ।
अनेकरूपधूनना-अनेकरूपा चासौ सस्थात्रयातिश्रमणतो यु-
गपदनेकवस्त्रग्रहणतो वा धूनना कम्पनात्मिका या साऽनेकरू-
पधूनना । उ० २६ अ० ।

अनेकरूपधूना-अत्र च धून कम्पनमन्यत् प्राग्वत् । उ० २६
अ० । अनेकप्रकारं त्रयाणां पुरिमाणामुपरिष्ठाद्धननात्मके, अने-
कवस्त्राण्येकत्र गृहीत्वा युगपद् धूननात्मके वा प्रमादप्रत्यये
प्रत्युपेक्षणभेदे, ध० ३ अधि० । " एगा मोसा अणोगरूवधुणा "
उ० २६ अ० । " अणोगमपकारं कपेति, अथवा अणोगाणि
एगाओ काऊण धुणइ पमाणे पमायति " पुरिमेसु खोटकेषु
यत्प्रमाणमुक्तं भवति तत् पुरिमादीन् न्यूनाधिकान् वा
करोति । ओ० ।

अणोगवयणपट्टाण-अनेकवचनप्रधाण-पुं० । नानाविधवाग्-
व्यवहाराभिज्ञे, अनेकेषु विविधप्रकारेषु वचनेषु वक्तव्येषु प्रधानो
मुख्यः । अनेकधा वचनप्रकारेभ्य निजशासनप्रवर्तगादौ-
"आदौ तावन्मधुरं, मध्ये रुक्क ततः परं कटुकम् । भोजनविधिमिव
विबुधा, स्वकार्यसिद्धौ चदन्ति वचः" ॥ १ ॥ अथवा-" सत्य
मित्रैः प्रियं स्त्रीभि-रद्वीकमधुरं द्विषा । अनुकूलं च सत्यं च,
वक्तव्यं स्वामिना सह " ॥ २ ॥ इति । ज० ३ वृत्त० ।

अणोगवायामजोग-अनेकव्यायामयोग-पुं० । परिश्रमविशेषे,
" अणोगवायामजोगवगगणवामहणमल्लयुद्धकरणैर्हि संते परि-
स्सते" अनेकानि यानि व्यायामयोग्यानि परिश्रमयोग्यानि वलान-
व्यामर्दनमल्लयुद्धकरणानि, तत्र वलानं उल्लङ्घनं, व्यामर्दनं पर-
स्परं बाह्याद्यङ्गमोदनम्, मल्लयुद्धानि प्रतीतानि । एतैः कृत्वा
शान्तः सामान्येन श्रममुपगतः परिश्रान्तः सर्वाङ्गीणं श्रमं प्राप्तिः,
एवविधः सन् । क० ५० ।

अणोगवालसयसंकणिज्ज-अनेकव्यालशतशङ्कुनीय-त्रि० । ३
त० । अनेकैः श्वापदशतैर्भयजनकैः, " अणोगवालसयसंकणिजे
या र्धि होत्था " ज्ञा० २ अ० ।

अणोगविसय-अनेकविषय-त्रि० । अनेके भूयांसो विषया गो-
चरा अर्था वा येषां ते अनेकविषयाः । प्रचूतविषयतानिरूपित-
प्रकारतावत्सु, द्रव्या० ए अ० ५० ।

अणोगविहारि (ए)-अनेकविहारिन्-त्रि० । स्वविरकल्पि-
के, वृ० ५ उ० ।

अणोगसाहुपूइय-अनेकसाधुपूजित-त्रि० । अनेकसाध्वाचरिते,
दश० ५ अ० २ उ० ।

अणोगसिद्ध-अनेकसिद्ध-पुं० । एकस्मिन् समये अनेके सिद्धाः
अनेकसिद्धाः । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । एकसमये द्वाविष्वदशता-
न्तेषु, स्वा० १ ज० १ उ० । न० । अनेके च एकस्मिन् समये
सिद्धन्त उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्याः ।

यस्याऽनुक्तम्-

बत्तीसा अमयाला, सङ्गी वावचरी य बोधव्वा ।

चुलसीइ बभ्रज्ज, धुरहियमद्दुत्तरसयं च ॥ १ ॥

अस्या विनेयजनानुप्रदाय व्याख्या-अष्टौ समयान् यावन्निर-
न्तरमेकादयो द्वात्रिंशत्पर्यन्ताः सिद्ध्यन्तः प्राप्यन्ते । किमुक्तं भव-
ति ?-प्रथमे समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्सि-
द्ध्यन्तः प्राप्यन्ते, द्वितीयेऽपि समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्-
षतो द्वात्रिंशत्, एव यावदष्टमेऽपि समये एको द्वात्रिंशत्कर्षतो द्वा-
त्रिंशत्, तत परमवश्यमन्तरम्, तथा त्रयस्त्रिंशदादयोऽष्टचत्वारिं-
शत्पर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः सप्त समयान् यावत्प्राप्यन्ते परतो
नियमादन्तरम्, तथा एकोनपञ्चाशदादयः षष्टिपर्यन्ता निरन्तरं
सिद्ध्यन्तः षट् समयान् यावदवाप्यन्ते, परतोऽवश्यमन्तरम्, तथा
एकषष्ट्यादयो त्रिसप्ततिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतः
पञ्च समयान् यावदवाप्यन्ते, ततः परमन्तरम्, त्रिसप्तत्यादयः
अनुरशीतिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतः अतुर-
यान् यावत्, तत ऊर्ध्वमन्तरम् । प्रश्न० १ पद । अन्ये तु व्याख-
यन्ते-अष्टौ समयान् यदा नैरन्तर्येण सिद्धस्तदा प्रथमसमये
जघन्येनैकः सिद्ध्यति, उत्कृष्टतो द्वात्रिंशदिति । द्वितीयसमये
जघन्येनैकः, उत्कृष्टतोऽष्टचत्वारिंशत् । तदेव सर्वत्र जघन्येनैकः
समयः, उत्कृष्टतो गाथार्थोऽयं ज्ञावनीयः 'वत्तीसेत्यादि' । स्या०
१ ज० १ उ० । पा० । आ० । न० । ध० ।

अणोगाहगमणिज्ज-अनेकाहगमनीय-ज० । अनेकैरहोभिः
अनेकाहैर्वा गम्यत इति अनेकाहगमनीयम् । बहुविधसै-
गन्तव्येऽध्वनि, नि० चू० १६ उ० । आचा० ।
अणोज-अनेज-त्रि० । निष्क्रम्ये, " अणोजकमुद्वे " आ० क० ।

अणोयाउय-अनैयायिक-त्रि० । न्यायेन चरति मैयाधिक, न मैयाधिक अनैयायिक । असन्त्यायधुत्तिके, "अपमिपुणे अणोयाउय समसुदे" । सूत्र० १ ध्रु० २ अ० ।

अणोलिस-अनीदश-त्रि० । नाऽन्यत्र ईदशमस्तीति अनीदशम् ।

आचा० १ ध्रु० ६ अ० १ उ० । अन यसदयो अक्षितोये, सूत्र० । "जे धम्मं सुकमप्पति, पमिपुणमणोलिस" । सूत्र० १ ध्रु० ११ अ० । सतुले, सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० ।

अणोवंचूय-अनेवंचूय-त्रि० । एवप्रकारमनापन्ने, "अणोवंचूय पि घेयण वेदति" यथा यद्द कर्म नैव जूनाऽनेव जूता अतस्नाम, ध्यन्ते हागमे-कर्मण स्थितिघातादय इति । ज० ५ अ० ५ उ० ।

अणोसणा-अनेषणा-स्त्री० । ईषदर्थे नञ् । न एषणा अनेषणा । प्रमादादेषणायाम्, ध० ३ अधि० । "अणोसणाप पाणेसणाप पाणजोयणाप वीथभोयणाप अणोसणाप" । इदमुक्त प्रवृत्ति- "अणोसणाप अण नरेण दोसेण सकिता अणोसणाप तुट्टा मदस्स सणारेण गदिता" आ० चू० ४ स० । "से एसण जाणमणेसण च" एषणां गवेयणप्रदं गणदिकां जानन् सम्यगपगच्छन्नेषणां चोदगमदोषादिका तत्परिहार विपाक च सम्यगवगच्छन् । सूत्र० १ ध्रु० १३ अ० ।

अणोसणिज्ज-अनेषणीय-त्रि० । एष्यत इत्येषणीयं कल्प्यम्, तन्निषेधादनेषणीयम् । ज० ५ अ० ५ उ० । केनचिदोषेणाऽशु-क्ते, सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० । आचा० । उक्त० । साधुनाऽप्राप्ते, उक्त० २० अ० । एष्यते गयेष्यते उद्गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत् तदेषणीयं कल्प्य, तन्निषेधादनेषणीयम् । स्या० ३ अ० १ उ० । पि० । "पूय अणोसणिज्ज च, त विज्ज परिजा-निया" । सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० ।

अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याह-

नूयाइं च सहारज्ज, तमुद्दिस्सा य ज करं ।

तारिस तु ण गिएहेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥ १ ॥

अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि जृतानि प्राणिनः समारज्यं सरम्भमभारम्भमारम्भरुपतापयित्वा त साधुमुद्दिश्य माध्वर्थं यत्कृतं तदकल्पितमाहारोपकरणादिकं तादृशमाधा-कर्मदोषदुष्टं सुमयत सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत । तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाच्चैवाभ्यवहरेदेव तेन मार्गोऽनुपाहितो भवति । सूत्र० १ ध्रु० ८ अ० ।

अणोह-अनेहस्-पु० । काष्ठद्रव्ये, द्रव्या० १२ अध्या० ।

अणोउया-अनृतुका-स्त्री० । न विद्यते ऋतू रक्तरूपः, शास्त्र-प्रसिद्धो वा यस्याः सा अनृतुका । अरजस्काया स्त्रियाम्, यस्या अनृतुकाहे मासि मासि रक्तं न प्रस्रवति एतादृशी स्त्री पुरुषेण सार्द्धं गर्जे न धरते । स्या० ५ अ० ।

अणोर्कत-अनुपक्रान्त-त्रि० । अनिराकृते, औ० ।

अणोग्यसिय-अनवघर्षित-न० । अव्य० स० । अवघर्षणम-वघर्षित, भावे क प्रत्ययः, तस्याऽभावोऽनवघर्षितम् । भृत्यादि-नाऽनिर्माजने, जी० ३ प्रति० । रा० । "अणोग्य (ह) सियणि-भ्रमहाप छायाप स ततो चेव समणुयद्धा" । अनवघर्षितेन निर्मला तथा छायाया समनुवद्धा युक्ता । (आदर्शका) जी० ३ प्रति० ।

अणोज्ज-अनवद्य-त्रि० । निर्दोषे, ज्ञा० ८ अ० ।

अणोज्जंगी-अनवद्याङ्गी-स्त्री० । मगवतो महावीरस्वामिनो दुहितरि जमालिगृहिणायाम्, आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अणोज्जा-अनवद्या-स्त्री० । महावीरस्य दुहितरि, कल्प० । आ० क० । आचा० ।

अणोत्तप्प-अनवत्राप्य-त्रि० । अविद्यमानमत्राप्यमवत्रापणं सज्जन गस्य सोऽयमनवत्राप्योऽशज्जनीय । अहीनसर्वाङ्गत्वे-नालज्जाकरे, प्रथ० ६४ द्वा० । दशा० ।

अणोत्तप्पया-अनवत्रप्यता-स्त्री० । अवज्जनीयशरीरतायाम्, व्य० ६ उ० । (विशेषार्थस्तु 'अणवतप्पया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३०२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

अणोक्कमिज्जमाण-अनुपध्वस्यमान-त्रि० । माहात्म्यादपात्य-माने, औ० ।

अणोम-अनवप-त्रि० । मिथ्यादर्शनाऽविरत्यादिविपर्यस्ते, आचा० १ ध्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोमाणतर-अनवमानतर-त्रि० । अतिशयेनासङ्कीर्णं, ज० १३ श० ४ उ० ।

अणोरपार-अनर्वाक्पार-त्रि० । अर्वाग्भागपरभागवर्जिते, पञ्चा० १५ विव० । अन्नघ्राऽपरपर्यन्ते, सचा० । विस्तीर्ण-स्वरूपे, प्रथ० ३ आध० द्वा० । "अणोरपार आगास चेव निरालस" महत्त्वादनर्वाक्पारम् । प्रथ० ३ आध० द्वा० । 'जहं समिहा पभट्टा, सागरसल्लिखे अणोरपारमि सि' अणोर-पारमिनि देशीयवचनं प्रचुरार्थे, उपचाराद् आराद् भागपरभाग-रहिते, आ० म० द्वि० ।

अणोहय-देशी-कणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणोवणिहिया-अनौपनिधिकी-स्त्री० । न विद्यते वक्ष्यमा-णपूर्वानुपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण विरचनं प्रयोजनं यस्य इत्यनौप-निधिकी । अन्यानुपूर्व्येदे, यस्यां वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादि-क्रमेण विरचनं न क्रियते साध्यादिपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धविष-या आनुपूर्व्या अनौपनिधिकीत्युच्यते । अनु० ।

अणोवम-अनुपम-त्रि० । न विद्यते उपमा यस्यासावनुपम । अनुत्वे, "अनुलसुहसागरगया अवाधाह अणोवम पत्ता" औ० । स० ।

अणोवमदंसि (ण)-अनवमदर्शिन्-पु० । अवमहीन मि-थ्यादर्शनाऽविरत्यादि, तद्विपर्यस्तमनवमं तद् दृष्टुं शीलमस्ये-त्यनवमदर्शी । सम्पत्कानदर्शनचारित्र्यवति, आचा० १ ध्रु० ३ अ० २ उ० । "अरतेपयासु अणोवमदसी णिस्सखो पावेहि कम्महिं कोहाग्माणं हाणिया य वीरे" आचा० १ ध्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोवमसरीअ-अनुपमश्रीक-त्रि० । न० व० । निरुपमानशो-जे, "अणोवमसरीआ दासीदासपरिखुडा" ज्ञा० ८ अ० ।

अणोवमसुह-अनुपमसुख-न० । न विद्यते उपमा स्वाभावि-कात्यन्तिकत्वेन सकलव्याबाधारहितत्वेन सर्वसुखातिशायि-त्वाद्यस्य तत्सुखमानन्दस्वरूपं यस्मिन्सुखे । मोक्षसुखे, "ठाण-मणोवमसुहमुवगयाण" इति । सम्म० १ काणम ।

अणोवयमाण-अनवपतत्-त्रि० । अनवतरति, "अणोवयमा-

गेहिं चयति " आचा० १ अ० २ अ० १ उ० ।

अणोवलेवय-अनुपलेपक-त्रि० । कर्मबन्धनरहिते, प्रश्न० २ अ० ४० ।

अणोवसंस्वा-अनुपसङ्ख्या-स्त्री० । सख्याय सख्या, परिच्छेदः । उप सामीप्येन सख्या उपसख्या । सम्यग्यथाऽवस्थिता-ऽर्थपरिज्ञानम् । नोपसख्या अनुपसख्या । अपरिज्ञाने, " अणो-वसखा इति ते उवाच, अद्वे लभो जासइ अरह एव " सूत्र० २ अ० १२ अ० ।

अणोवहिय-अनुपधिक-त्रि० । छव्यतो हिरण्यादिकैर्भावतो मायया रहिते, आचा० १ अ० ४ अ० २ उ० ।

अणोसहिपत्त-अनौपधिमास-त्रि० । औपधिवलरहिते, आचा० ४ अ० ।

अणोसिय-अनुपित-त्रि० । अव्यनसिते, सूत्र० १ अ० १४ अ० ।
" अणोसिएण न करेति णया " ध० ३ अधि० ।

अणोहंतर-अनोघन्तर-पु० । न ओघतरः । संसारोत्तरणं प्रत्यनक्षे, " अणोहंतरा एण, ए य ओहतस्सिए " आचा० १ अ० २ अ० ३ उ० ।

अणोहट्टय-अनपघट्टक-त्रि० । अविद्यमानोऽपघट्टको यद्वच्चया प्रवर्तमानस्य हस्तप्रहादिना निवर्तको यस्य स तथा । ज्ञा० ८ अ० । बद्धाद्धस्तादौ गृहीत्वा निवारकेणाऽनिवारिते स्वच्छन्दप्रवृत्ते, विपा० १ अ० १ अ० । " तवेण सा सुभदा अज्जा अणोहट्टिया अणिवारिता लच्छदमती " नि० ३ वर्गे ।

अणोहारेमाण-अनवधारयत्-त्रि० । अनवपुष्यमाने, हा० २६ अ० ।

अणोहिया-अनोधिका-स्त्री० । अविद्यमानजलौधिकायाम्, भ० १५ अ० १ उ० ।

अणूहा-स्त्री० । अतिगहवत्वेनाविद्यमानोहायाम्, " एगं मह अगामियं अणोहियं निष्ठावाय दीहमद्धं " भ० १५ अ० १ उ० ।

अण्ण (ज)-अन्न-न० । अनित्येन अन्न-नन् अद्यते इति अद-के वा । " अण्णएण " ॥४॥२॥ इति सूत्रनिर्देशाद् अन्वर्थनयान् उच्यते । वाच० । अण्णमण्णकादिके, उत्त० १९ अ० । अशने भोदकादिके भक्ष्ये, उत्त० २० अ० । ओदनादिके, सूत्र० १ अ० ४ अ० २ उ० । भोजने, सूत्र० १ अ० २ अ० । उत्त० । औ० ।

अण्य-त्रि० । निज्ञे, लक्षणे च । याच० । ' अण्य ' पृथ-गित्यर्थः । नि० सू० १ उ० । प्रश्न० । प्रश्ना० । स्वाति-ग्निके, हा० २५ अ० । प्रश्न० । सर्वनामता चास्य, प्र० २ अ० ५ उ० । " नो अण्णदेवे नो अण्णेहि देवाण देवीओ अण्णिज्जुजिय अभिज्जुजिय परियारेइ " भ० २ अ० ५ उ० । " अण्णेहि बहवे एवमादणे " औ० । रा० । ध० । सूत्र० । अन्यनिकेयः- " अण्णे अण्णसं पुण, तदण्णमादेशओ चैव " अन्यस्य नामादिप्रविधो निकेयस्य नामस्थापने ह्युण्णे, ह्युण्णान्यत् त्रिधा-तदन्यत्, अन्यान्यत्, आदेशाऽन्यच्चेति, ह्यण्णपरवच्चैवमिति । स० ।

अण्ण-अ-न । अकारादौ वर्णे, गमनस्वभावे, त्रि० । ज्ञे, न० । उत्त० ५ अ० ।

आण्य-त्रि० । अण्यते कृतार्थ्यत इति आण्यम् । प्रणिघ्ने, " तत्सवितुर्वरेण्यम् " इति । वयम्वा वाक्यावृत्तौ ज्ञेयः, रे आण्ये इत्याकारद्वयोः । जट्टमतेन गायत्रीव्याख्या-ज्ञे० गा० ।

असङ्ग (गि) लाय-असङ्गलायक-पु० । अन्नं भोजनं विना ग्लायतीति असङ्गलायकः । अग्निप्रहाविशेषात् प्रातरेव दोषाक्षजि, औ० । प्रश्न० । सूत्र० ।

रायगिहे जाव एवं वयासी-जावइयं णं जंते ! असङ्ग-लायए समणे निमांथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं एण-एसु ऐरइयाण दासेणं वासेहिं वा वाससएण वा खवयंति । एणो इण्डे समडे । जावइयं णं जंते ! चउत्थभत्तिए समणे णिमांथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं णरएसु ऐ-रइया वाससएण वा वाससतेहिं वा वाससहस्सेण वा ख-वयंति । एणो इण्डे समडे । जावइयं णं भंते ! उड्ढजत्तिए समणे णिमांथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं णरएसु ऐ-रइया वाससहस्सेण वा वाससहस्सेहिं वा वाससयसह-स्सेण वा खवयंति । एणो इण्डे समडे । जावइयं णं भंते ! अट्टमभत्तिए समणे णिमांथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं णरएसु ऐ-रइया वाससहस्सेण वा वाससहस्सेहिं वा वाससयसह-स्सेहिं वा वासकोणीए वा खवयंति । एणो इण्डे समडे । जावइयं भंते ! दसमजत्तिए समणे णिमांथे कम्मं णिज्जेरति, एव-इयं कम्मं णरएसु ऐरइया वासकोणीए वा वासकोणीहिं वा वासकोडाकोडीए वा खवयंति । एणो इण्डे समडे । से केण्डे णं जंते ! एवं वुच्चइ ! जावइयं असङ्गलायए समणे णिमांथे कम्मं णिज्जेरति, एवइयं कम्मं णरएसु ऐरइया वासेण वा वासेहिं वा वाससएण वा णो खवयंति, जाव-इयं चउत्थभत्तिए एवं तं चैव पुच्चभणिय उच्चारयन्वं जाव वासकोडाकोडीए वा एणो खवयंति । गोयमा ! से जहा णामए केइ पुरिसे जुल्ले जराजज्जरियदेहे मिदिलतया वलितरंगसंणिण्णए पविरट्ठपरिसकियदंतसेदी उएहा-जिहए तएहाजिहए आतुरे कुंजिते पिवासिए पुच्चले कि-लंते एगं महं कोसंबगडियं मुक्कं जकिलं गंठिद्वं चिकणं वाइद्धं अपत्तिय मुक्केण परसुणा अक्कमेज्जा तए णं से पुरिसे महंताइं सहाइं करेइं, एणो महंताइं महंताइं दलारं अवदावेइं, एवामेव गोयमा ! ऐरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं चिकणीकयाइं एवं जहा उड्ढसए जाव णो महपज्जवसाणा भवंति । से जहाणामए केइ पुरिसे अ-हिगरणे आउकेमाणे महता जाव एणो पज्जवसाणा भवंति । से जहा णामए केइ पुरिसे तरुणे बलव जाव मेहावी णि-पुणसिप्पोवगए एगं महं सामद्विगंठियं उक्क अज्जिद्वं अगंठिद्वं अचिकणं अवाइद्धं संपत्तियं अतितिकेण पर-सुणा अक्कमेज्जा, तए णं से पुरिसे एणो महंताइं महंताइं

वागयाणं सखिविद्वाणं सनिसएणाणं अयमेयारूवे मिहो-
कहासमुद्वावे समुप्पज्जित्था । एवं खलु समणे नायपुत्ते
पंचअत्थिकाए पएणवेइ धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थि-
कायं । तत्थ एं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अजी-
वकाए पएणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अहम्मत्थिकायं
आगासत्थिकायं पोगलत्थिकायं एग च एं समणे नाय-
पुत्ते जीवत्थिकायं अरूविकायं जीवकायं पएणवेइ । तत्थ
एं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अरूविकाए पए-
वेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिका-
यं जीवत्थिकायं एगं च एं समणे नायपुत्ते पोगलत्थिका-
यं रूवीकायं अजीवकायं पएणवेइ । से कहमेयं ? मने एवं ते-
ए काले एं ते एं समणे एं समणे जगवं महावीरे जाव० गुण-
सिद्धए चेइए समोसहे जाव परिसा पमिगया । ते एं काले एं
ते एं समणे एं समणस्स जगवओ महावीरस्स जेहे अंते-
वासी इंदच्छूनामं अणगारे गोयमगोत्तेणं एवं जहा वित्ति-
ए सए नियंतुदेसए जाव जिकखायरियाए अममाणे अ-
हापज्जत्तं भत्तपाणं पमिल्लाजेमाणे ५ रायगिद्धाओ जाव-
अतुरियमचवलं जाव चरियं मोहेमाणे ५ तेसिं आस्रउत्थि-
याणं अदूरसामतेणं वीईययड, तए णं ते आस्रउत्थिया
भगवं गोयमं अदूरसामतेण वीईयमाणं पासंति, पासइत्ता
अस्रमस्र सदावेत्ति, सदावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु दे-
वाणुप्पिया ! अम्हं इमा कहा अविप्पकडा, अयं च णं
गोयमे अदूरसामतेण वीईययड, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया !
अम्हं गोयम एयमहं पुच्छित्तए निकट्टु अस्रमस्रस्स अंतिए
एयमहं पमिसुणंति, परिसुणंतित्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव
उवागच्छति, उवागच्छतित्ता भगवं गोयमं एव वयासी-एवं
खलु गोयमा ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे नायपुत्ते
पंचअत्थिकाए पएणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव आ-
गासत्थिकायं तं चेव जाव रूविकायं अजीवकायं पएण-
वेइ । से कहमेयं गोयमा ! एवं ? तए एं से भगवं गोयमे
ते आस्रउत्थियं एवं वयासी-नो खलु देवाणुप्पिया ! अ-
न्यिन्नाव नत्थि त्ति वयामो, नत्थिन्नाव अत्थि त्ति वयामो,
अहो एं देवाणुप्पिया ! सव्वं अत्थिन्नावं अत्थि त्ति वया-
मो, सव्वं नत्थिन्नावं नत्थि त्ति वयामो, तं चेयमा खलु तु-
क्खे देवाणुप्पिया ! एयमहं सयमेव पच्छुवेक्खह तिकट्टु ते
अएणउत्थिया एव वयासी-जेणेव गुणमिलए चेइए जे-
णेव समणे भगवं महावीरे एवं जहा नियंतुदेसए जाव ज-
त्तपाण पमिदसेइ, पमिदसेइत्ता समणं भगव महावीरं वदइ
नमसइ नच्चासएणे जाव पज्जुवासेइ ॥

(तेणमित्थादि) (एगओ समुवागयाण ति) स्थानान्तरेइय एकत्र

स्थाने समागतानामागत्य च (सखिविद्वाणं ति) । उपविष्टानाम्,
उपवेशन चोत्कुटुकत्वादिनाऽपि स्यादत आह-(सन्निसख्खान ति)
सङ्गततया मिषएणां सुखासीनानामिति यावत् । (अत्थिकाए
त्ति) प्रदेशराशीन् (अजीवकाए त्ति) अजीवाश्च तेऽचेतनाः, का
याश्च राशयो अजीवकायास्ताम् । 'जीवत्थिकायं' इत्येतस्य स्वरूपविशेषणायह-(अरूवकाय ति) अमूर्तमित्यर्थः । (जीवकाय ति)
जीवनं जीवो ज्ञानाद्युपयोगः, तत्प्रधानः कायो जीवकायोऽस्त
कैश्चिज्जीवास्तिकायो जडतयाऽभ्युपगम्यते, अतस्तन्मतव्युदासा-
येदमुक्तामिति । (से कहमेय मने एव ति) अथ कथमेतदस्ति कायव-
स्तु, मन्ये इति वितर्कार्थः । एवममुनाऽचेतनादिविज्ञानेन भवतीति
तेषां समुल्लापः । (इमा कहा अविप्पकम त्ति) इय कथा एवाऽस्ति-
कायवक्तव्यताऽप्यानुकूल्येन प्रकृता प्रकान्ता । अथवा न विशेषेण
प्रकटा प्रतीता अविप्रकटा । "अविप्रकम त्ति" पाठान्तरम् ।
तत्र अघिद्वत्प्रकृता अविप्रकृता, अथवा न विशेषत उवाह-
त्यतश्च प्रकटा अव्युत्प्रकटा । (अय च त्ति) । अय पुन (त चेयसा-
इ त्ति) । यस्माद्वयं सर्वमस्ति जावमेवास्तीति वदामः, तथाविध-
सवाद्दर्शनेन प्रवतामपि प्रसिद्धमिदं तस्माच्चेतना मनसा
"वेदस त्ति" पाठान्तरे-ज्ञानेन प्रमाणाबाधितत्वज्ञेनेन (एयम-
हं ति) अमुमस्ति कायस्वरूपलक्षणमर्थं स्वयमेव प्रत्युपेक्ष्य
पर्यालोचयतेति ।

ते णं काले एं ते णं समणे एं समणे भगवं महावीरे महा
कहापमिचएणे या वि होत्था । कालोदाई य त देसं हव्व-
मागए कालोदाइ त्ति समणे भगवं महावीरे कालोदाई एव
वयासी-से नूणं ते कालोदाई अएणया कयाइ एगयओ
सहियाणं समुवागयाणं तहेव जाव से कहमेयं माणे एवं
से नूणं कालोदाई अहे समहे । हुंता ! अत्थि । तं सव्वं
एवमहे कालोदाई ! अहं पंच अत्थिकाए पएणवेमि, तं जहा-
धम्मत्थिकायं जाव पोगलत्थिकायं तत्थ णं अह चत्तारि
अत्थिकाए अजीवकाए अजीवत्ताए पएणवेमि, तहेव जाव
एगं च एं अह पोगलत्थिकायं रूवीकायं पएणवेमि, त
एणं से कालोदाई समणं जगवं महावीरं एवं वयासी-
एएसि एं जंते ! धम्मत्थिकायंसि अधमत्थिकायंसि
आगासत्थिकायंसि अरूवीकायंसि अजीवकायंसि चकि-
या केइ आसइत्तए वा चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा मई-
त्तए वा जाव तुयट्ठित्तए वा ? नो इण्णे समहे । कालोदाइ !
एयसि एं पोगलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि
चकिया केइ आसइत्तए वा जाव तुयट्ठित्तए वा । एयमि णं
जंते ! पोगलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि
जीवाणं पावाणं कम्माणं पावफलविवागसंजुत्ता कज्जति ?
एणो इण्णे समहे । कालोदाइ ! एयसि एं जीवत्थिकायंसि
अरूविकायंसि जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता
कज्जति ? हुंता ! कज्जंति । एत्थ णं से कालोदाई संबुदे
समणं जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ । नमसइत्ता एव वयासी-
इच्छामि ण जंते ! तुज्जं अंतियं धम्मं निसामेत्तए एवं जहा

खंदए तहेव पव्वइए तहेव एकारस अंगाणि० जाव विहरइ, तएणं समणे जगवं महावीरे अणया कयाइ रायगिहाओ णय-राओ गुणसिद्धाओ चेइयाओ पमिनिक्खमइ । पडिनिक्खा-मइत्ता वहिया जणवयविहार विहरइ । ते णं काले णं ते णं स-मए णं रायगिहे नाम नगरे गुणसिलए नाम चेइए होत्था । तएणं समणे जगवं महावीरे अणया कयाइ जाव समोसहे जाव पमिगया, तए णं से काढोदाई अणगारे अणया कयाइ जेणेव समणे जगवं महावीर तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ । नमसइत्ता एवं वयासी—

(महाकहापमियेत्ति) महाफयाप्रयन्धेन महाजनस्य त-त्त्वदेशना (एयसि ण ति) एतस्मिन्नुक्तस्वरूपे (चकि-या केइ ति) शक्युयात्काश्चित् । (एयसि ण जते । पोगलत्थिकायसीत्यादि) अयमस्य भावार्थ — जीवसंयन्धी-नि पापकर्मणि अशुभस्वरूपफलक्षणविपाकदायीनि पु-द्गलास्तिकायेन भवन्ति, अचेतनत्वेनानुभववर्जितत्वात्तस्य, जीवास्तिकाये एव च तानि तथा ज्वान्ति । अनुभवयुक्तत्वा-त्तस्येति प्राकालोदायिप्रभद्वारेण कर्मयुक्त्यतोक्ता । अधुना तु तत्प्रभद्वारेणैव ता-येव यथा पापफलविपाकादिनि ज्वान्ति । तयोपदर्शयिषु —

अत्थि णं जंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवाग-सजुत्ता कज्जंति ? । हंता ! अत्थि । कहं ण जंते ! जीवाणं पा-वा कम्मा पावफलविवागसजुत्ता कज्जंति ? । कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुषं थालीपागसुद्धं अट्टारस-वज्जणउलं विसमिस्सं जोयणं भुंजेज्जा, तस्स जोयणस्स आवाए जइए जवइ, तओ पच्छा परिणममाणे २ दुरू-वत्ताए दुग्धत्ताए जहा महस्सवए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पावा कम्मा जाव कज्जति । अत्थि णं जंते ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा कट्ठाणफलविवागसजुत्ता कज्जति ? । हंता अत्थि । कहं णं जंते ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा० जाव कज्जंति ? । कालो-दाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुषं थालीपागसुद्धं अट्टारसवज्जणउलं ओसहमिस्सं जोयणं भुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाए नो भइए जवइ, तओ पच्छा परिणम-माणे परिणममाणे सुखत्ताए सुवपत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे जाव परिणमद्वेरेमणे कोह-विवेगे जाव मिच्छादसणमद्विवेगे तस्स णं आवाए नो जइए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुख-

वत्ताए० जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ । एवं खलु कालोदाई ! जीवाण कट्ठाणकम्मा० जाव कज्जंति । दो जंते ! पुरिसा सरिसया जाव सरिसजंढमत्तोवगरणा अणमणेणं सद्धिं अगणिकायं समारंभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, एगे पुरिसे अगणिकाय नि-व्वावेइ । एएसिं ण जते ! दोएहं पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव महासवतराए चेव महावेयणतराए चेव?, कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव, जे वा से पुरिसे अगणि-कायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से ण पुरिसे महाकम्मतराए चेव जाव महावेयणतराए चेव, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से ण पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव० जाव अप्पवेयणतराए चेव । से केण्ढे णं जंते ! एवंदुब्बइ; तत्थ णं जे से पुरिसे जाव अप्पवेयणतराए चेव ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से ण पुरिसे बहुतरायं पुढवी-कायं समारंभइ, बहुतरायं आठकायं समारंभइ, अप्पतरायं तेउकायं समारंभइ, बहुतरायं वाउकायं समारंभइ, बहुत-रायं वणस्सइकायं समारंभइ, बहुतरायं तसकायं समारंभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से ण पुरिसे अप्पतरायं पुढविकायं समारंभइ, अप्पतरायं आठकायं स-मारंभइ, बहुतरायं तेउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वाउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वणस्सइकायं समारंभइ, अप्पतरायं तसकायं समारंभइ, से तेण्ढे णं कालोदाई ! जाव अप्प-वेयणतराए चेव ॥

(अत्थि णमित्थादि) अस्तीव वस्तु यदुत जीवानां पापानि कर्माणि, पापो यः फलरूपो विपाकः, तत्तस्युक्तानि भवन्ती-त्यर्थः । (थालीपागसुद्धं ति) स्थाल्याम्-उद्याया, पाको यस्य नत् स्थालीपाकम्, अन्यत्र हि पक्कमपक वा, न तथाविधस्यादितीद् विशेषणं शुद्धं भक्तदोषवर्जितं तत्, कर्मधारयः । स्थालीपाके-न वा शुद्धमिति विग्रहः । (अट्टारसवज्जणउलं ति) अष्टादशभि-र्लोकप्रतीतैर्ध्वज्जनैः शालनकैः तक्रादिभिर्वा; आकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवाऽष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलं चेति । अत्र भेदपदलोपेन समासः । अष्टादश भेदाश्चेते—“सूओ १ दणो २ जवण ३, तिणि य मसाई ६ गोरसो ७ जूतो ८ । भक्खा ९ गुल लावणिया १०, मूलफल ११ हरियग १२ मागो १३ ॥ १ ॥ होय रसाळूय १४ तहा, पाण १५ पाणीय १६ पाणग चेव १७ । अट्टारसमो सागो १८, निक्खहओ लोइओ पिंमो” ॥ २ ॥ तत्र मासत्रयं जलचरादिसन्क, जूषो मुद्गतन्दुलजीरककटुभाएरा-क्षिरस, भक्ष्याणि खणमखाद्यादीनि, गुललावणिया गुलपण्ये-टिका लोकप्रसिद्धा, शुभधाना वा । मूलफलान्येकमवे पद, हरितक जीरकादि, डाको वास्तुकादिभर्जिका, रसाळू मज्जिका,

समुत्पन्नं चेद-“दो घयपला महु पलं, दहिस्सप्पादयं मिरियवी-
सा । दस जडगुहपलाइ, एस रसाळू निचइजोगो” ॥१॥ पान सुरा-
दि, पानीय जल, पानकं छात्रापानकादि, शाफस्तत्रासेरु इति ।
(भावाय ति) आपातस्तत्प्रथमतया संसर्गं (भद्रप ति) मधुर-
त्वान्मनोहरः (दुरुवत्ताप ति) दुरुपतया हेतुचततया (जडा
महासवप ति) पष्ठशतस्य नृनीयोदेशको महाध्रुवस्तत्र यथेदं
सूत्रं तथेहाप्यवधेयम् । (एवामेव ति) विषमिभ्रभोजनयत्, “जो-
षाण पाणाइवाए” इत्यादौ भवतीति शेषः । (तस्स णं ति) तस्य
प्राणातिपातादेः (तत्रो पच्छा विपरिणममाणे ति) ततः पश्चा-
दापातानन्तरं विपरिणमत् परिणामान्तराणि गच्छत् प्राणाति-
पातादि, कार्ये कारणोपचारात् प्राणातिपानादिहेतुकं कर्म (दुरु-
वत्ताप ति) दुरुपताहेतुतया परिणमनि, दुरुपनां करोतीत्यर्थः ।
(भोसइमिस्सं ति) औपधं महगतिककघृतादि । (एवामेव ति)
औपधमिभ्रभोजनयत् । (तस्स णं ति) प्राणातिपातविरमणयेः
(आवाए नो भद्रप जवइ ति) इन्द्रियप्रतिकूलत्वान् (परिण-
ममाणे ति) प्राणातिपानविरमणादिप्रत्यय पुण्यकर्म, परिणा-
मान्तराणि गच्छत् अनन्तरं कर्माणि फलतो निरूपितानि । अथ
क्रियाविशेषमाश्रित्य तत्कर्तृपुरुषद्वयद्वारेण कर्मादीनामल्पत्वबहु-
त्वे निरूपयति-“दो जंते ! इत्यादि” (अगणिकाय समारभति ति)
तेजस्काय समारभेते, उपरुचयत. तथैक उज्ज्वालनेन, अन्यस्तु
विध्यापनेन । तत्रोज्ज्वालने बहुतरतेजसामुत्पादेऽप्यल्पतराणां
विनाशोऽप्यस्ति, तथैव दर्शनाद् । अत उक्तम्-“तत्थ ण एगे” इत्या-
दि (महाकम्मतराप चेव ति) अतिशयेन मदत् कर्म ज्ञानावरणा-
दिक यस्य स तथा, चैवशब्दः समुच्चये । एव (महाकिरियतराप
चेव ति) नवर, क्रिया दाहरूपा (महासवतराप चेव ति) गृहक-
र्मबन्धहेतुकः । (महावेयणतराप चेव ति) महती वेदना जीवानां
यस्मात्स तथा । अनन्तरमग्निवक्तव्यतोका ।

अत्थि णं जंते ! अचित्ता वि पोग्गळा ओजासंति,
उज्जोवेति, तवेति, पभासंति ? इता । अत्थि । कयेरे णं जंते !
अचित्ता वि पोग्गळा ओजासंति, जाव पजासंति ? कालो-
दाई ! कुच्छस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसइहा समाणी दूरं
गता दूरं निवतइ, देसं गता देसं निवतइ, जहिं ५ च णं
सा निवतइ तहिं ५ च णं ते अचित्ता वि पोग्गळा ओजास-
ति जाव पजासंति । एए णं काओदाई ! ते अचित्ता वि पो-
ग्गळा ओभासंति । तए णं से काओदाई अणगारे समणं
भगव महावीरं वंदइ नमंसइ बहुहिं चउत्थउहउमण जाव
अप्पाणं जावेमाणे जहा पढमए कालासवेसियणुत्ते जाव
सव्वपुक्खप्पहीणे सेव भंते ! जंते ! ति ।

अग्निश्च सचेतनं सन्नवभासते, एवमचित्ता अपि पुद्गलाः किम-
वभासन्त इति प्रश्नयन्नाह- [अत्थि णमित्यादि] (अचित्ता वि ति)
सचेतनास्तेजस्कायिकादयः तावदवभासन्त एवेत्यपिशब्दार्थः ।
(ओभासति ति) प्रकाशा भवन्ति (उज्जोवति ति) वस्तु-
द्योनयन्ति । (तवति ति) तापं कुर्वन्ति । पजासति ति) तथा-
विधवस्तुदाहकत्वेन प्रभाषंते (कुच्छस्स ति) विभक्तिविपरि-
णामात् कुच्छेन दूरं गता (दूरं निवयइ ति) दूरगामिनीति दूरे
निपततीत्यर्थः । अथवा दूरे गत्वा दूरे निपततीत्यर्थः । (देसं गता
देसं निवयइ ति) अग्निप्रेतस्य गन्तव्यस्य क्रमज्ञताद्देशे तद-

र्कादौ गमनस्यजावेऽतिदेशे तदर्कादौ निपततीत्यर्थः । क्वा-
प्रत्ययपक्षोऽप्येवमेव । (जहिं जहिं च ति) यत्र यत्र दूरे वा
तदशे वा, सा तेजोक्षेत्र्या निपतति (तहिं तहिं) तत्र तत्र
दूरे नदेशे वा [तेति] । तेजोक्षेत्र्या सम्बन्धिनः । भ० उ०
१० व० ।

(२) अथान्ययुधिक् सह विप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते, [आहुः]
तत्र इह प्रतिकस्य परप्रतिकस्य वाऽऽयुधः समयं विप्रतिपत्तिः-

असुखतियया णं भंते ! एवमाइक्खंति, एवं भासति, एवं
पएणवेति, एवं परूवेति-एवं खलु एगे जीवे एगे णं सम-
ए णं दो आउयाइं पकरेइ । तं जहा-इहभविआउयं च परम-
विआउयं च; जं समयं इहभविआउयं पकरेइ तं समयं परज-
विआउयं पकरेइ, जं समयं परजविआउयं पकरेइ तं समयं
इहजविआउयं पकरेइ । इहभविआउयस्स पकरणयाए पर-
भविआउयं पकरेइ, परभविआउयस्स पकरणयाए इहजवि-
आउयं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगे णं समए णं दो आ-
उयाइं पकरेइ । तं जहा-इहजविआउयं च परभविआउयं च ।
से कहमेयं भंते ? । एवं गोयमा ! जं णं ते असुखतियया
एवमाइक्खंति णं जाव परजविआउयं च जे ते एवमाइं, मि-
च्छं ते एवमाइं । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामिं
जाव परूवेमि-एवं खलु एगे जीवे एगे णं समए णं एण
आउयं पकरेइ । तं जहा-इहजविआउयं वा परभविआ-
उयं वा । जं समयं इहजविआउयं पकरेइ, एगे तं समयं
परजविआउयं पकरेइ, जं समयं परभविआउयं पकरेइ, एगे
तं समयं इहभविआउयं पकरेइ । इहजविआउयस्स पकरण-
याए एगे परभविआउयं पकरेइ, परभविआउयस्स एगे इह-
जविआउयं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगे णं समए णं
एणं आउयं पकरेइ । तं जहा-इहजविआउयं वा, परभविआ-
उयं वा । सेवं भंते ! भंते ! ति; जगवं गोयमे जाव विहरइ ॥

दर्शनान्तरस्य विपर्यस्ततां दर्शयन्नाह- (अणत्थिय-
त्यादि) अन्ययुध विवक्तिस्तद्वापरं सह, तदस्ति
येषां ते अन्ययुधिकास्तीर्थान्तरीया इत्यर्थः । एवमिति
चक्ष्यमाण (आहकजति ति) आहयान्ति सामान्यत । (प-
सति ति) विशेषतः । (पएणवति ति) उपपत्तिमि । (पर-
वति ति) भेदकथनतो द्वयोर्जीवयोरेकस्य वा समयभेदेनायु-
धं करणे नास्ति विरोध इत्युक्तम् । (एगे जीवे इत्यादि) (दो
आउयाइ पकरेइ ति) जीवो हि स्वपर्यायसमूहात्मकः, स च
यदैकमायुःपर्याय करोति तदाऽन्यमपि करोति, स्वपर्यायानुग-
ज्ज्ञानसम्यक्त्वपर्यायवत्, स्वपर्यायकर्तृत्वं च जीवस्यान्युपग-
म्यमेव । अन्यथा स्मिन्त्वाविपर्यायानामनुत्पादप्रसङ्ग इति प्रा-
व । उक्तार्थस्यैव ज्ञावनाऽर्थमाह- [जमित्यादि] विभक्तिविपरिणा-
माद्यास्मिन्समये, इहभवो वर्तमानप्रवो यत्राऽऽयुमि विद्यते कल-
तथा तदिहजवायुरेव परभवायुरपि । अनेन चेहजवायुकरणसमये
परजवायुकरणं नियमितम् । अथ परजवायुकरणसमये इह
जवायुकरणं नियमितम्- (जं समयं परभविआउयमित्यादि)

एवमेकसमयकार्यतां द्वयोरप्यभिधायैकक्रियाकार्यतामाह—[इह-
भविष्याउयस्सेत्यादि] (पकरणयाप चि) करणेन, एव ख-
ल्वित्यादि निगमनम् । (जएण ते अएणउत्थिया एवमाइक्ख-
नि) इत्याद्यनुवाङ्वाक्यस्यान्ते तत्प्रतीत, न केवलमित्यय चा-
क्यशेषो दृश्यः । (जे ते एवमाहसु मिच्छं ते एवमाहसु चि) नत्र
(आहसु चि) उक्तवन्तः, यथाय वर्तमाननिर्देशेऽधिकृतेऽतीत-
निर्देशः स सर्वो वर्तमानः कालोऽतीतो भवतीत्यस्यार्थस्य
ज्ञापनार्थः, मिथ्यात्वञ्चास्यैवम्, एकेनाध्यवसायेन विरुद्धयोरा-
युषोर्बन्धायोगात् । यच्चोच्यते-पर्यायान्तरकरणे पर्यायान्तर
करोति, स्वपर्यायत्वादिति । तदनैकान्तिकम् । सिद्धत्व-
करणे संसारित्वाकरणादिति । टीकाकारव्याख्यानं तु—इह
भवायुर्बन्धा प्रकरोति वेदयत इत्यर्थः, परभवायुस्तदा प्रक-
रोति प्रबध्नातीत्यर्थः, इहभवायुरपभोगेन परभवायुर्बध्नाती-
त्यर्थः । मिथ्या चैतत्परमतम् । यस्माज्जातमात्रो जीव इहभवायुर्वे-
दयते, तदैव तेन यदि परभवायुर्बन्धं, तदा दानाध्ययनादीनां
वैयर्थ्यं स्यादिति । एतद्व्यायुर्बन्धकालादन्यथावसेयम् । अन्य-
थाऽऽयुर्बन्धकाले इहभवायुर्वेदयते, परभवायुस्तु प्रकरोत्ये-
वेति । म० १ श० ६ उ० ।

(३) एको जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोतीत्यत्र
अन्ययुधिके सह विवादः—

अनन्तरोक्त लक्षणसमुदाहिकं सत्य सम्यग्ज्ञानिप्रतिपादि-
तत्त्वान्मिथ्याज्ञानिप्रतिपादितं त्वसत्यमपि स्यादिति दर्शय-
स्वृतीयोद्देशकस्यादिसूत्रमिदमाह—

अस्रउत्थिया एणं भंते ! एवमाइक्खंति, एवं जासेति, एवं
पक्खति, एवं परूवेति । से जहानामए जालगंठियाइ वा आणु-
पुव्विगंठिया अणतरगठिया परपरगंठिया अस्रमस्रगंठिया
अस्रमस्रगुरुयत्ताए अस्रमस्रचारियत्ताए अस्रमस्रगुरुसजा-
रियत्ताए अस्रमस्रधमत्ताए चिद्धंति; एवमेव बहूण जीवाण
बहुसु आजाइसहस्सेसु बहूँ आउयसहस्साइ आणुपुव्वि-
गंठियाइ जाव चिद्धंति, एगे वि य एणं जीवे एगेणं समएणं
दो आउयाइ पमिसंवेदयइ । तं जहा—इहजविआउय च पर-
जविआउयं च । जं समयं इहजविआउयं पमिसंवेदेइ, त स-
मयं परजविआउयं पमिसंवेदेइ, जाव से कहमेयं भंते !
एवं ? । गोयमा ! जं एणं ते अस्रउत्थिया तं चैव जाव परभवि-
याउयं च जे ते एवमाहसु तं मिच्छा ? । अहं पुण गोयमा !
एवमाइक्खामि-जाव अस्रमस्रधमत्ताए चिद्धंति, एवमेव एग-
मेगस्स जीवस्स बहूँ आजाइसहस्सेहि बहूँ आउसहस्सा-
इ आणुपुव्विगंठियाइ जाव चिद्धंति, एगे वि य एणं जीवे एगे-
णं समएण एणं आउयं पमिसंवेदेइ । तं जहा—इहभविआउय
वा परभविआउयं वा, जं समयं इहजविआउयं पमिसवे-
देइ नो तं समयं परजविआउयं पमिसवेदेइ, जं समयं पर-
जविआउयं पमिसंवेदेइ णो तं समयं इहजविआउयं पमिसं-
वेदेइ, इहजविआउयस्स पमिसंवेदणयाए णो परजविआउ-
यस्स पमिसंवेदणा, परभविआउयस्स पमिसंवेदणाए णो इह-

भविआउयस्स पमिसंवेदणा । एवं खलु जीवे एगेणं सम-
एणं एणं आउयं पमिसंवेदेइ । तं जहा—इहभविआउयं वा
परभविआउयं वा ।

[अस्रउत्थियाणमित्यादि][जालगठिय चि] जाल मत्स्यबन्धनं,
तस्यैव ग्रन्थयो यस्यां सा जालग्रन्थिका । किंस्वरूपा सेत्याह-
[आणुपुव्विगठिय चि] आनुपूर्व्या परिपाठ्या ग्रथिता गुम्फिता
आधुचितग्रन्थीनामादौ विधानादन्तोचितानां च क्रमेणान्त एव
करणात् । एतदेव प्रपञ्चयन्नाह—[अणतरगठिय चि] प्रथमग्र-
न्थीनामनन्तरव्यवस्थापितैर्ग्रन्थिभिः सह ग्रथिता अनन्तरग्र-
थिता । एव परम्परैर्व्यवहितै सह ग्रथिता परम्परग्रथिता ।
किमुक्तं भवति—[अस्रमस्रगठिय चि] अन्योऽन्य परस्परेण ए-
केन ग्रन्थिना सहान्यो ग्रन्थिरन्येन च सहान्य इत्येव ग्रथिता
अन्योऽन्यग्रथिता । एव च [अस्रमस्रगुरुयत्ताए चि] अन्योऽन्येन
ग्रन्थनाद् गुरुकता विस्तीर्णता, अन्योऽन्यगुरुकता, तथा, [अस्र-
मस्रभारियत्ताए चि] अन्योऽन्यस्य यो भारः स विद्यते यत्र तद-
न्योऽन्यभारिक तद्भावस्तत्ता, तथा, एतस्यैव प्रत्येकोक्तार्थद्व-
यस्य संयोजनेन तयोरेव प्रकर्षमभिधातुमाह—[अस्रमस्र-
गुरुयत्ताए चि] अन्योऽन्येन गुरुक यत्सभारिक च
सत्तथा, तद्भावस्तत्ता, तथा [अस्रमस्रधमत्ताए चि] अन्योऽ-
न्य घटा समुदायरचना यत्र तदन्योऽन्यघट तद्भावस्तत्ता तथा,
[चिद्धंति चि] आस्ते, इति दृष्टान्तः । अथ दार्ष्टान्तिक उच्यते-
[एवमेव चि] अनेनैव न्यायेन बहूनां जीवानां सबन्धीनि
[बहुसु आजाइसहस्सेसु चि] अनेकेषु देवादिजन्मसु प्र-
तिजीव क्रमप्रवृत्तेष्वधिकरणभूतेषु बहून्यायुष्कसहस्राणि त-
त्स्वामिजीवानामाजातीनां च बहुसहस्रसंस्थानत्वात् । आनु-
पूर्वीग्रथितानीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् । नवरमिह भारिक-
त्व कर्मपुल्लापेक्षया वाच्यम् । अथैतेषामायुषां को वेदन-
विधिरित्याह—[एगे वि येत्यादि] एकोऽपि जीव आ-
स्नामनेक एकेन समयेनेत्यादि प्रथमशतवत् । अत्रोत्तरम्—
[जे ते एवमाहसु इत्यादि] मिथ्यात्व चैषामेवम्—या—
नि हि बहूना जीवानां बहून्यायुषि जालग्रथिकावत्तिष्ठन्ति तानि
यथास्व जीवप्रदेशेषु सबद्धानि स्युरसबद्धानि वा । यदि संब-
द्धानि, तदा कथं भिन्नभिन्नजीवस्थितानां तेषां जालग्रन्थिका
कल्पना कल्पयेतु शक्या, तथापि तत्कल्पने जीवानामपि जाल-
ग्रन्थिकाकल्पत्व स्यात्, तत्संबन्धत्वात् । तथा च सर्वजीवानां सर्वा
युःसवेदनेन सर्वजवजवनप्रसङ्ग इति । अथ जीवानामसबद्धा-
न्यायुषि तदा तच्छादेवादिजन्मेति न स्यादसबन्धादेवेति । यच्चो-
क्तम्—एको जीव एकेन समयेन द्वे आयुषी वेदयति । तदपि
मिथ्या । आयुर्द्वयसवेदने युगपद्भवद्वयप्रसङ्गादिति । [अह पुण
गोयमेत्यादि] इह पक्षे जालग्रन्थिकासक्तिकामात्रम् ।
[एगमेगस्सेत्यादि] एकैकस्य जीवस्य न तु बहूनां, बहुष्वजा-
तिसहस्रेषु क्रमवृत्तेष्वतीतकालकेषु तत्कालापेक्षया सन्तु
बहून्यायुस्सहस्राणि अतीतानि, वर्तमानजवान्तान्यभाविकम-
न्यभधिकेन प्रतिबद्धमित्येव सर्वाणि परस्परं प्रतिबद्धानि भव-
न्ति, न पुनरेकमेव एव बहूनि [इहभविआउयं च चि] वर्तमानभवायु
[परभविआउयं च चि] परभवप्रायोग्य यद्वर्त-
मानमवे निबद्ध तच्च परजवे गतो यदा वेदयति, तदा व्यपदि-
श्यते [परभविआउयं च चि] ॥ म० ४ श० ३ उ० ।

[४] [कर्म] चलच्चलितमित्यादिकर्मादिषु कुदीर्थिकैः
सह विप्रतिपत्तिः—

अथ उल्लिख्य एणं जने ! एवमाइक्खंति०, जाव परव्वेति । एवं खलु चलमाणे अचलिये० जाव निज्जरिज्जमाणे अनिज्जि-
स्से दो परमाणुपोगला एगयओ न साहणंति, कम्हा दो
परमाणुपोगलाणं अत्थि सिणेहकाए०, दो परमाणुपोगला
एगयओ न साहणंति, तिस्सि परमाणुपोगला एगयओ साह-
णंति, कम्हा तिस्सि परमाणुपोगला एगयओ साहणंति ।
तिस्सि परमाणुपोगलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिस्सि-
परमाणुपोगला एगयओ साहणंति । ते भिज्जमाणा दुहा वि
तिहा वि कज्जंति, दुहा किज्जमाणा एगयओ दिवहे परमा-
णुपोगले भवइ, एवयओ दिवहे परमाणुपोगले जवइ, तिहा
कज्जमाणा तिस्सि परमाणुपोगला इवंति, एव जाव
चत्तारि पंच परमाणुपोगला ए यओ साहणंति, एगय-
ओ साहणित्ता दुक्खत्ताए कज्जति, दुक्खे वि य एणं से ।
सए सय पियं उवचिज्जइयं अवचिज्जइयं पुब्बि जासा-
जासा जासिज्जमाणी जासा अजासा भासा यं विति-
कंतं च एणं जासिय भासा जा सा पुब्बं जासाजासा जा-
सिज्जमाणी भासा अभासा भासासमयं वितिकंतं च एणं
जा सयाजासा सा किं जासओ भाभा अजासओ भासा ।
अजासओ खं सा जासा, एणं खलु सा जासओ भासा, पु-
ब्बि किरिया दुक्खा कज्जमाणी किरिया अदुक्खा किरि-
या समयं वितिकंतं च एणं कमा किरिया दुक्खा जा सा
पुब्बं किरिया दुक्खा कज्जमाणा किरिया अदुक्खा कि-
रिया समयं विइकंतं च एणं कमा किरिया दुक्खा सा किं क-
रणओ दुक्खा अकरणओ दुक्खा, अकरणओ ए सा दुक्खा,
एणं खलु सा करणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्व सिआ, अकिअं
दुक्खं अफुसं दुक्खं अकज्जमाणकमं दुक्खं अकहु अकहु-
पाणज्जं जीवमत्तावेदणं वेदति ति वत्तव्वं सिया, स कह-
मेय भते ! एव ? गोयमा ! जं नं ते अथ उल्लिख्य एवमा-
इक्खंति० जाव वेदणं वेदंति वत्तव्वं सिया, जे ते एवं
आहंसु मिच्छंते एवं आहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइ-
क्खामि० ४, एव खलु चलमाणे अचलिये जाव निज्जरिज्जमाणे
निज्जिज्जणे दो परमाणुपोगला एगयओ साहणंति, क-
म्हा दो परमाणुपोगला एगयओ साहणंति, दोएहं पर-
माणुपोगलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग-
ला एगयओ साहणंति, ते भिज्जमाणा दुहा कज्जंति, दुहा
कज्जमाणा एगयओ वि परमाणुपोगले एगयओ पर-
माणुपोगले जवइ । तिस्सि परमाणुपोगला एगयओ साह-
णंति, कम्हा तिस्सि परमाणुपोगला एगयओ साहणं-
ति ? तिस्सि परमाणुपोगलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा

तिस्सि परमाणुपोगला एगयओ साहणंति, ते जिज्जमाणा
दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ पर-
माणुपोगले एगयओ दुपदेसिए खंवे भवइ, तिहा कज्ज-
माणा तिस्सि परमाणुपोगला भवन्ति, एकं जाव चत्तारि
पंच परमाणुपोगला एगयओ साहणंति, साहणित्ता
खंधत्ताए कज्जंति, खंधे वि य एणं से असासए सया सपियं
उवचिज्जइयं अवचिज्जइयं पुब्बि भासा अभासा भासि-
ज्जमाणी जासाभासा भासासमयं वितिकंतं च एणं भा-
सिया भासा अजासा, जा सा पुब्बि जासा अजासा
भासिज्जमाणी भासाभासा जासासमयं वितिकंतं च एणं
जासिया भासा अभासा, सा किं जासओ जासा, अजा-
सओ भासा । भासओ एणं जासा सा, एणं खलु सा अभा-
सओ जासा । पुब्बि किरिया अदुक्खा जहा जासा ता
भाणियव्वा, किरिया वि जाव करणओ नं सा दुक्खा नो
खलु सा अकरणओ दुक्खा सेवं वत्तव्व सिया, किअं दु-
क्खं पुसं दुक्खं कज्जमाणकमं दुक्खं कहु कहु पाणज्ज-
जीवमत्तावेदणं वेदति ति वत्तव्वं सिया ।

(चलमाणे अचलिये) चलकर्मचलित, चलता तेन चलित-
कार्यकरणाद् वर्तमानस्य चार्तांततया व्यपदेशुमशक्यत्वादेवम-
न्यत्रापि वाच्यमिति । (एगयओ न साहणंति) एकं एककेन
एकस्कात्तयेत्यर्थः । न संद्वेयेते न संद्वेयौ भित्तौ स्याताम् ।
(नत्थि सिणेहकाए) नोपपत्त्यवधारिणीति सूत्रमात्रात्, ज्य-
वियोगे तु स्थूलत्वात्सोऽस्ति । (दुक्खत्ताए कज्जति) पञ्चा-
तुज्जवाः संद्वेत्य दुःखतया कर्मतया क्रियन्ते जवन्तीत्यर्थः । (दु-
क्खे वि य एणं) कर्माणि च । (से) तत् शब्दतन्मादित्वा-
त् । (सय) सत् । (सर्वदा) समिव ति । सम्यक्संपरिमाणं वा,
चीयते च य याति, अपचीयते अपचय याति, तथा पुण्वि
भाषणात्प्राग् जासति वाग्व्यसंहतिः । [भास] सत्त्वादि-
भाषा स्यात्तत्कारणत्वात् विभक्त्या नित्येन वा, तथा मतमात्रमे-
तन्निरूपयति कमुन्मत्तवचनवत् । अतो नेहोपपत्तिरित्यर्थः गवेष्णी-
या । एवं सर्वत्रापीति । तथा [भासिज्जमाणी भासा अजास] सत्ति
निस्त्यज्यमानवाग्द्रव्याण्यभाषा, घटमात्रसमयस्य तिसृष्वमन्त्रेण
वहारान्नत्वादिति । [जासासमयवितिकंतं च एणं] इह क-
प्रत्ययस्य भावार्थत्वात् विज्ञाते विपरिणामाभावात्समयवति-
कमे च । [भासिय] सत्ति निस्त्यज्य सती जाया भवति, प्रतिपाद्य-
स्याभिधेये प्रत्ययोत्पादकत्वादिति । [अभासओ नं भास] सत्ति
अभाषमाणस्य भाषा, भाषणात्पूर्वं पञ्चाशत् तदनुपगमात् । [नो
अभाषमाणस्य भाषा, भाषणात्पूर्वं पञ्चाशत् तदनुपगमात्] इति ।
तथा [पुब्बि किरियेत्यादि] क्रिया कारिकायादिका सा वा-
च्य क्रियते तावत् । [दुक्ख] सत्ति । [दु] कहेतुः । [कज्जमाणा] सत्ति
क्रियमाणा क्रिया न दुःखा न दुःखहेतुः । क्रियासमयवति-
कान्तं च क्रियाया क्रियमाणता, व्यतिक्रमे च कृता मती
क्रिया दुःखेति । इदमपि तन्मतमात्रमेव निरूपयति । अथवा
पूर्वं क्रिया दुःखान्भ्यासात् क्रियमाणा क्रिया न दुःखा अ-
भ्यासात् कृता क्रिया दुःखानुपतापभवादेः । [करणओ दु-
क्ख] सत्ति । करणमाभित्य करणकाले कुर्वत इत्यर्थः । [अक-

स्तस्यो दुष्कृति] अकरणमाश्रित्य अकुर्वन् इति यावत् [नो
मनु सा करणस्यो दुष्कृति] अश्रित्यमाणस्ये दुःकृतया तस्या
स्वप्नपगमात् । [सेच वस्तुमं सिया] अथ एष पूर्वोक्त पस्तु
यत्कस्य स्यादुपपत्त्यादस्येति । अथान्ययुधिफान्तगमताह-
अहन्मनागतकालायेतया अनिर्यन्तनाय जीधैरिति गम्भ,
दुःखमसात गत्कारणं वा कर्म, तथा अहन्त्यत्तादेवास्पृश्यम-
बन्धनीय तथा क्रियमाणं वर्तमानकाले कृत, चार्त्तकाले
तद्विषेधादश्रियमाणकृत कालप्रयेऽपि कर्मणो बन्धनिषेधाद्-
हताऽहता । आनीत्येवे द्विषन्ने, दुःखमिति प्रकृतमेव । के
इत्याह-प्राप्तभूतजीवमत्वाः । प्रागादित्येव चैवम्-“ प्रागा
द्विषन्नु भोक्ता, भूतास्तु तस्य भूता । जीवाः पञ्चन्द्रिया
ब्रूया, शेषाः सत्या ईर्ष्याताः ” ॥१॥ [येयगति] युमायुमक-
मेवेदना पौदाया येयमन्यनुभवति । इत्येतद्व्यस्य स्यादस्यै-
योपपद्यमानत्वात् । यादचित्क हि सत्यतोके सुगदुःखमिति ।
यदाह-“ अतर्कितोपास्तमेव सपे, चित्र जनानां सुगदुःख-
ज्ञानम् । वाक्यं नामेन यथाऽनिपातो, न पुनिरुप्योऽत्र वृ-
थाऽभिमान ” ॥१॥ [ये कहमेव नि] अथ कथमेतत् भदन्त !
यद्यन्ययुधिफोन्त्यायेनेति प्रश्न ? । [जग ने अणुउत्थिय]
इत्यापुनम् । ध्यान्वा सारय प्राप्यम् । मिथ्या धनदेय यदि
वस्तुदेय प्रथमसमये वसित न भवेत्तदा द्वितीयादिष्वपि तद-
वसितमेवेति न कदाचनपि वस्तुदेय एव धर्ममानस्यापि पि
पक्षया अनीक्यं न विरुद्धम् । एतच्च प्रागेव निर्णयमिति न
पुनरुच्यते । यद्योच्यते-नास्ति कार्यकारणव्यवसितमेवेति । त-
दपुनम् । यत् प्रतिज्ञागुपयमानेषु ध्यान्कोशादियन्तुप्य-
न्यस्यनापिपस्तु आप्तपाने स्वभावे न करोत्येव, अमत्याद्,
अतो यदन्त्यमयवर्तितकार्यं विपक्षित परेण तदापमय-
वर्तित यदि न करोति तदा क इव दोषोऽत्र कारणाणां स्व-
भ्यकार्यकर्मस्वभावात्वादिनि । यद्यनो न-गो परमाणु न स-
हन्त्येते, मूरमनया ज्ञेयाभावात् । तदपुनम् । एकस्यापि परमाणो
जेदमभावात् । सार्द्धपुनस्तस्य सहतत्वेन भेदेयाभ्युपगमाच्च ।
यत् उच्यते-मिथि परमाणुयोगला एग्यस्यो माहणति, ते भि-
ज्जमाणा दुदा पि तिदा पि कज्जनि, दुदा कज्जमाणा एग्यस्यो
दियद्वेत्ति] अनेन हि सार्द्धपुनस्तस्य सहतत्वाभ्युपगमेन तस्य
ज्ञेयाभ्युपगमं पश्येत्यतः कथं परमाणयोः ज्ञेयाभावेन सहा-
तामाय इति । यच्चोक्तम्-एकत सार्द्ध एकतः सार्द्ध इति । एत-
दप्यन्वाह । परमाणोर्द्वीकरणे परमाणुत्वाभावाप्रसङ्गात् ।
तथा यदुक्तम्-पञ्च पुनलाः सहताः कर्मतया भवन्ति । तद-
प्यन्वतम् । कर्मणोऽनन्तपरमाणुतयाऽनन्तस्कन्धरूपत्वात्प-
ञ्चाणुकस्य च स्कन्धमात्रत्वात् । तथा कर्मजीवापरणस्यभा-
वमिष्यते, तच्च कथं पञ्चपरमाणुस्कन्धमात्ररूपं सदसङ्गता-
प्रदेशात्मक जीवमात्रुपयादिति । तथा यदुक्तम्-कर्म च शा-
श्वतम् । तदप्यसमीचीनम् । कर्मणः शाश्वतत्वे क्षयोपशमाद्य-
भावेन ज्ञानादीनां हानेरुत्कर्षस्य चाभावाप्रसङ्गात् । इत्येते च
ज्ञानादिहानिपृच्छी । तथा यदुक्तम्-कर्म सदा चीयते अपची-
यते चेति । तदप्येकान्तशाश्वतत्वे नोपपद्यत इति । यच्चोक्तम्-
प्रापणात्पूर्वं भावा, तदेतुत्यात् । तदपुनमेव । औपचारिकत्वात् ।
उपचारस्य च तत्त्वतोऽवस्तुत्वात् । किञ्च । उपचारस्तात्त्विके
वस्तुनि सति भवतीति तात्त्विकी भावाऽस्तौति सिद्धम् ।
यच्चोक्तम्-भाष्यमाणा अभावा, वर्तमानसमयस्याव्यावहा-
निकत्वात् । तदप्यन्वयम् । वर्तमानसमयस्यैवास्तित्वेन व्यव-

हाराहस्यादनीतानागतयोश्च विनष्टानुत्पन्नतया सत्त्वेन व्यव-
हारानहस्यादिति । यच्चोक्तम्-भावासमयेत्यादि । तदप्यन्वाधु ।
भाष्यमाणजायाया अभावे भावानमय इत्यस्याप्यनिलापस्या-
भावाप्रसङ्गात् । यच्च प्रतिपाद्यमाभिधेये प्रत्ययोत्पादकत्वा-
दिति हेतुः । सोऽनेकान्तिकः । करादिचेष्टानामभिधेयप्रतिपाद-
कत्वे सायपि भावात्तामिके । तथा यदुक्तम्-अनायकस्य जायेति ।
तदसङ्गतम् । एव हि मिरुस्याचेतनस्य वा ज्ञावाप्राप्तिप्रसङ्ग
इति । एव क्रियाऽपि वर्तमानकाल एव युक्ता, तस्यैव सत्या-
दिति । यद्यनन्यासाऽऽद्यात्मादिक कारणमुक्तम् । तच्च निरु-
क्तिकम् । अनन्यामाद्यापि यत् काचित्सुखादिरूपं । तथा यदु-
क्तम्-सकरणतः क्रिया दु चेति । तदपि प्रतीतिपाधितम् । यत्न-
करणकाल एव क्रिया दु गा वा सुखा वा दृश्यते, न पुनः पूर्वं
पञ्चाङ्गाः तदस्येति । तथा यदुक्तम्-अकिञ्च'मित्यादि, यद-
जगतादिमताभ्यणान् । तदप्यन्वाधीय । यतो यद्यकरणादेव कर्म
दुःखं सुखं वा स्यात्तादा विविधैर्दिकपरारंभिकानुष्ठानाभा-
वाप्रसङ्गात् स्यात् । अन्युपगतं च किञ्चित्पारंभिकानुष्ठान
तपि चेति । एवमेतत्सर्वमज्ञानविज्ञानमितम् । उक्तं च वृत्ते-
“ वरतिः धयवस्तस्य य, पदमस्य दसमयस्मि उद्देसे । विज्ञ-
नीणा देसा, मद्भेया या वि सा सत्या ॥ १ ॥ सन्द-
यमनानुप, जगा वस्तारि हानि विभगे । उमस्तयायसरिस,
तो सणाण मि निदिठ ॥ २ ॥ ” सन्दूते परमाणौ असङ्गतमर्का-
दि, असङ्गते सर्वगात्रमनि सङ्गतं चेतन्य, सङ्गते परमाणौ सङ्ग-
त निषेधेक्ष्य, असङ्गते सर्वगात्रमनि असङ्गतमर्कं वयमिति ।
[अहं पुन गोयमा । एवमाहक्यामि] इषादि तु प्रतीतार्थमेवे-
ति, नपर । दोह परमाणुयोगला अथि सिण्डकाप सि]
एकस्यापि परमाणो ज्ञातोप्यस्तिप्रधकृष्णशानामन्यतरद्विर-
रुस्वश्रयमेकदेवास्ति । ततो ज्योरपि तयो स्तन्यत्वजनावात्
सोदकायोऽस्येव । ततश्च तौ विषमस्तेहास्तस्येते । इह च
गमतानुवृत्तौकम् । अन्यथा रुक्मापि रुक्म्यर्थेयस्ये सहन्त्येते ।
एव यदाह-“ सममिदयाह यधो, न दोह समसुखययाह वि न
दोह । येमायहुदमिक्म-सणेण यधो उ सधाण ” ॥१॥ ति ।
[मधे यिय ण से असासप सि] उपचयापचयिकत्वाद् । अत
एयाह-[सया समियमित्यादि] [पुण्य भासा अभास सि] भा-
ष्यत इति भाषा, भाषणाद्य पूर्व न भाष्यत इति न भाषेति ।
[भासिज्जमाणी भास सि] शब्दार्थोपपत्तं [भासिया अ-
भास सि] शब्दार्थवियोगात् । [पुण्य किरिया अदुक्का सि]
करणात्पूर्वं क्रियैव नास्तीत्यसत्त्वादेव च न दुःखा, सुखाऽपि
नासायसत्त्वादेव, केवल परमतानुवृत्त्या दु येत्युक्तम्, जहा भासे
सि' वचनात् । [कज्जमाणी किरिया दुक्का] सत्त्वादिहापि
यत्क्रियमाणा क्रिया दु क्षेत्र्युक्तम्, तत्परमतानुवृत्त्यैव । अन्यथा
सुखाऽपि क्रियमाणेय क्रिया । तथा [किरिया समयवित्तकतं च
णमित्यादि] इत्यम् । [किञ्च दुक्कमित्यादि] अनेन च कर्मस-
त्ता वेदिता, प्रमाणसिद्धत्वात् । तथाहि-इह, यदु द्वयोरिहा श-
ब्दादिविषयसुखसाधनसमेतयोरेकस्य दुःखसङ्गण फलमन्यस्ये-
तरत्, न तद्विशिष्टहेतुमन्तरेण सज्जात्यते, कार्यत्वात्, घटयत् ।
यच्चासौ विशिष्टो हेतु स कर्मेति । आह च-“ जो तुल्लासाहणाण,
फले विनेसो ण सो विणा हेउ । कज्जसणओ गोयम !, घमे
व्व हेउ य से कम्म ” ॥ १ ॥ भ० १ श० १० उ० ।

[५] [क्रिया] एकस्य जीवस्य एकेन समयेन क्रियाद्वयकरणे-

पुनरप्यन्ययूथिकान्तरमतमुपदर्शयन्नाह-

अणउत्थिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव एवं खलु एगे जीवे एगेण समएण दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहिं च, संपराइयं च । जं समयं इरियावहिं पकरेइ त समयं संपराइयं पकरेइ, जं समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहिं पकरेइ । इरियावहियपकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेण समएण दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । से कहमेयं जंते ! एव ? गोयमा ! जणं ते अणउत्थिया एवमाइक्खंति तं चव जाव० । जे ते एवमाइसु मिच्छा ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४-एवं खलु एगे जीवे एगसमए एकं किरियं पकरेइ, ससमयवत्तव्याए नेयक्खं० जाव इरियावहियं संपराइयं वा ॥

[अणउत्थिया णमित्यादि] तत्र च [इरियावहियं ति] ईर्या गमन, तद्विषयः पन्था मार्गे ईर्यापथस्तत्र भवा पर्यापथिकी, केवलकाययोगप्रत्ययः कर्मबन्ध इत्यर्थः । [संपराइं च ति] संपरैति परिजूमति प्राणां । जं पभिरिति संपरायाः कवायाः, तत्प्रत्यया या सा साम्परायिकी, कवायहेतुकः कर्मबन्ध इत्यर्थः । [परउत्थिय वत्तव्यं नेयक्खंति] इह सूत्रेऽन्ययूथिकवत्तव्यं स्वयमुच्चारणीय, ग्रन्थगौरवभयेनालिखितत्वात्तस्य । तथेदम्-“जं समयं संपराइयं पकरेइ, तं समयं इरियावहियं पकरेइ, इरियावहिया-पकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेण समएण दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च संपराइयं चेति ससमयवत्तव्याए नेयक्खंति” सूत्रमिति गम्यम् । सा चैवम्-“से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जणं ते अणउत्थिया एवमाइक्खंति ४ जाव । संपराइयं च जे ते एवमाइसु, मिच्छा ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४-एवं खलु एगे जीवे एगेण समएण एगं किरियं पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियापकरणयाए मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेण समएण दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं, मिच्छत्तकिरियं च । से कहमेयं जंते ! एव ? गोयमा ! जणं ते अणउत्थिया एवमाइक्खंति, एवं जासंति, एवं पजवि-

ति, एव परुर्विति-एवं खलु एगेण समएण दो किरियाओ पकरेइ, तदेव जाव सम्मत्तकिरियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जे ते एवमाइसु तएणं मिच्छा । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परुर्वेमि-एवं खलु एगे जीवे एगेण समएण एगं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं वा, मिच्छत्तकिरियं वा । जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ नो तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ नो तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियापकरणयाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए नो सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेण समएण एगं किरियं पकरेइ । तं जहा सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा । सेतं तिरिक्खजोणीत उदेसओ वीओ ॥

[अणउत्थिया णं जंते ! इत्यादि] अन्ययूथिका अन्यतीर्थिकाः, म-दन्त । चरकादय एवमाचकृते सामान्येन एवं भाषन्ते, स्वशिर्याद् भवणं प्रत्यभिमुखानवबुध्य विस्तरेण व्यक्तं कथयन्ति, एव प्रज्ञापयन्ति प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति । यथा स्वात्मनि व्यवस्थितं ज्ञानं तथा परे-भ्यस्तुत्पादयन्तीति, एवं प्रकृतयन्ति तत्त्वचिन्तायामसद्विषयेति-ति निरूपयन्ति-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन युगपद् द्वे क्रिये प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्क्रिया च सुन्दराच्यवसायात्मिकाम्, मिथ्यात्वक्रियां चासुन्दराच्यवसायात्मिकाम् । [जं समयमिति] प्रा-कृतत्वात् सप्तम्यर्थे द्वितीया, यस्मिन् समये सम्यक् क्रिया प्रकरो-ति [तं समयमिति] तस्मिन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरोति । अन्योऽन्यसत्त्वज्ञोभयनियमप्रदर्शनार्थमाह-सम्यक्त्वप्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्व-क्रिया प्रकरोति । तदुज्जयकरणस्वभावस्य तत्त्वक्रियाकरणात्, सर्वात्मना प्रवृत्ते । अन्यथा ऽक्रियायोगादिति । एव कश्चिन्त्यादि निगमनं प्रतीतार्थम् । [से कहमेयं जंते ! इत्यादि] तत्कथमेतद् भदन् ! एवम् ? तदेव गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह-गौतम ! यत् ‘एणं इति’ वाक्यालङ्कारे । ते अन्ययूथिका अन्यतीर्थिका एव-माचकृते इत्यादि प्राग्वत् यावत् । तस्मिन्पि त एवमाच्यतव-न्तः । अहं पुनर्गौतम ! एवमाचक्रे, एव जाणे, एव प्रज्ञापयामि, एव प्रकृतयामि-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन एकां क्रियां प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्त्वक्रियां वा, मिथ्यात्वक्रियां वा । अत एव यस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रिया प्रकरोति न तस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रिया प्रकरोति, यस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रिया प्रकरोति न तस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रिया प्रकरोति । परस्परवै-चित्त्यनियमप्रदर्शनार्थमाह-सम्यक्त्वक्रियाप्रकरणेन मिथ्या-त्वक्रिया प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्वक्रिया प्रकरोति; सम्यक्त्वमिथ्यात्वक्रियायोः परस्परपरिहारावस्थाना-त्मकतया जीवस्य तदुभयकरणस्वभावत्वायोगात् । अन्यथा सर्वथा मोक्षाभावप्रसक्तः कदाचिदपि मिथ्यात्वानिवर्तनात् । जी० ३ प्रति० ।

(६) भदसादानादिक्रियाविषयेऽन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तिः-

ते एणं काहे एणं ते णं समये णं रायगिहे नयरे वाणओ ।

गुणसिलय चेइए वसुओ० जाव पुढ ीसिद्धावहओ तस्म
ए गुणसिलयस्त ए चेइयस्त अदूरसामते वहवे अणउत्थिया
परिवसंति । ते एं समये णं समणे जगव महावीरे आदिगरे
चाव समवसदे जाव परिसा पमिगया । ते ण कात्ते एं ते एं
समए एं समणस्त भगवओ महावीरस्त वहवे अंतेवासी
थेरा जगवंतो जाइसंपवा कुलसंपवा जहा विइयसए० जाव
जीवियासा मरणजयविप्पमुक्का समणस्त जगवओ महा-
वीरस्त अदूरसामते उहुजाण अहो सिरा भाणकोटोव
वगया संजमेणं तवसा अप्पाण भावेमाणा जाव विहरांत ।
तए एं ते अणउत्थिया जेएव थेरा भगवंतो तेएव उवा-
गच्छंति । उवागच्छंतित्ता ते थेरे भगवते एवं वयासी-तुज्जे
एं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजयअविरयअप्पमिहय
जहा सत्तमसए विइओ उदेसओ० जाव एगतवालाया-
वि जवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अणउत्थिए
एव वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं ति-
विहेणं असंजय अविरय० जाव एगतवालाया वि भवामो ।
तए णं ते अणउत्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-
तुज्जे एं अज्जो ! अदिणं गिएहह , अदिणं जुंजह,
अदिणं साइज्जह, तए एं ते तुज्जे अदिणं गेएहमाणा,
अदिणं भुजमाणा, अदिणं माइज्जमाणा, तिविहं तिवि-
हेणं असंजय अविरय० जाव एगतवालाया वि जवह । त-
ए एं ते थेरा जगवंतो ते अणउत्थिए एव वयासी-केणं
कारणेणं अज्जो ! अम्हं अदिणं गेएहामो , अदिणं
भुंजामो, अदिणं साइज्जामो, तए एं अम्हे अदिणं
गेएहमाणा० जाव अदिणं साइज्जमाणा, तिविहं तिविहेण
असंजय० जाव एगतवालाया वि जवामो ! तए एं ते अण-
उत्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-तुज्जे णं अज्जो !
दिणमाणे अदिणो पमिगाहिज्जमाणे अपमिगाहि
निसिरिज्जमाणे आणिसिडे, तुज्जे एं अज्जो ! दिणमा-
णं पडिग्गहणं असंपत्तं एत्थ एं अंतरा केइ अवहरिज्जा
गाहावइस्त एं तं भंते ! णो खलु तं तुज्जे तए एं तु-
ज्जे अदिणं गिएहह० जाव अदिणं साइज्जह, तए एं
तुज्जे अदिणं गिएहमाणा० जाव एगतवालाया वि जवह ।
तए एं ते थेरा जगवंतो ते अणउत्थिए एवं वयासी-नो
खलु अज्जो ! अम्हे अदिणं गिएहामो, अदिणं भुं-
जामो , अदिणं साइज्जामो । अम्हे एं अज्जो ! दिणं
गिएहामो, दिणं भुंजामो, दिणं साइज्जामो । तए एं अ-
म्हे दिणं गिएहमाणा, दिणं जुंजमाणा, दिणं साइज्ज-
माणा तिविहं तिविहेण संजयविरयपडिहय जहा सत्तम-
सए० जाव एगतपमियाया वि जवामो । तए णं ते अणउ-

त्थिया ते थेरे जगवंतं एवं वयामी-केणं कारणेणं अज्जो !
तुज्जे दिणं गिएहह० जाव दिणं साइज्जह । तए एं तु-
ज्ज दिणं गिएहमाणा० जाव दिणं साइज्जमाणा, एगतपं-
मियाया वि भवह । तए एं ते थेरा जगवंतो ते अणउ-
त्थिए एवं वयासी-अम्हे एं अज्जो ! दिज्जमाणे दिसे
पमिगाहेज्जमाणे पडिग्गहिणं निसिरिज्जमाणे निसिडे अ-
म्हे एं अज्जो ! दिज्जमाणं पमिग्गहणं असंपत्तं, एत्थ
ण अंतरा केइ अवहरिज्जा अम्हे एं तं नो खलु गाहाव-
इस्त तए एं अम्हे दिणं गिएहामो , दिणं जुंजामो ,
दिणं साइज्जामो । तए एं अम्हे दिणं गिएहमाणा०
जाव दिणं साइज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजय० जाव
एगतपमियाया वि भवामो; तुज्जे एं अज्जो ! अप्पाण चेव
तिविहं तिविहेण असंजय० जाव एगतवालाया वि भवह । तए
एं ते अणउत्थिया ते थेरे जगवंते एवं वयासी-केणं कार-
णेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं० जाव एगतवालाया वि भ-
वामो ! तए एं ते थेरा जगवंतो ते अणउत्थिए एवं व-
यासी-तुज्जे एं अज्जो ! अदिणं गिएहह ३ , तए एं
तुज्जे अदिणं गेएहमाणा० जाव एगतवालाया वि भवह ।
तए एं ते अणउत्थिया ते थेरे भगवंते एव वयासी-केणं
कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिणं गिएहामो० जाव एगत-
वालाया वि भवामो ! तए एं ते थेरा भगवंतो ते अणउ-
त्थिए एवं वयामी-तुज्जे एं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिसे
तं चेव० जाव गाहावइस्त णं तं नो खलु तं तुज्जे तए
एं तुज्जे अदिणं गिएहह । तं चेव० जाव एगतवालाया
वि जवह । तए एं ते अणउत्थिया थेरे भगवंते एवं वयासी-
तुज्जे णं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगत-
वालाया वि भवह । तए एं ते थेरा भगवंतो ते अणउत्थिए
एवं वयासी-केणं कारणेणं अम्हे तिविहं तिविहेणं० जाव
एगतवालाया वि जवामो ! तए एं ते अणउत्थिया ते थेरे
भगवंते एवं वयासी-तुज्जे एं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पुढवीं
पेचेह, अभिहणह, वत्तेह, लेसेह, सघाएह, संघटेह, परितावेह,
किटामेह, उवहवेह, तए णं तुज्जे पुढवीं पेचेमाणा अजिह-
णमाणा० जाव उवहवेमाणा तिविहं तिविहेणं असंजयअ-
विरय० जाव एगतवालाया वि भवह । तए एं ते थेरा
जगवंतो ! ते अणउत्थिए एव वयासी-नो खलु अज्जो !
अम्हे रीयं रीयमाणा पुढवीं पेचेमो अभिहणामो० जाव उव-
हवेमो ; अम्हे एं अज्जो ! रीयं रीयमाणा काय वा जोग वा
रीय वा पडुच्च देस देसेणं वयामो, पदेस पदेसेणं वयामो,
तेणं अम्हे देस देसेणं वयमाणा पदेसं पदेसेणं वयमाणा,
नो पुढवीं पेचेमो अजिहणामो० जाव उवहवेमो, तए एं

हणइत्ता जेणेव समणे जगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ ।
उवागच्छइत्ता समणे भगव महावीरं वदइ एमंसइ णच्चा-
सणे जाव पज्जुवासइ गोयमादि समणे भगवं महावीरे
भगव गोयमं एवं वयासी—सुद्ध ण तुम्ह गोयमा ! ते अणउ-
त्थिए एवं वयासी—आत्थिए गोयमा ! मयं बहवे अंतेवासी
समणा णिगंथा उडमत्था जे एं णो पज्जु एय वागरणं वा-
गरेत्तए जहा ए तुमं तं सुद्धं तुमं गोयमा ! ते अणउ-
त्थिए एव वयासी—साहु एं तुमं गोयमा ! ते अणउत्थिए
एवं वयासी ॥

[पेवेदं सि] आक्रामथ (कायं च सि) देह प्रतीत्य व्रजाम
इति योग । देहश्चेन्नमनश्चो भवति, तदा व्रजामो नान्यथा, अ-
श्वशकटादिनेत्यर्थः । योगं च संयमव्यापार ज्ञानाद्युपपन्नकम्,
प्रयोजनं जिज्ञासुनादि न त विनेत्यर्थः । [रीय च सि] गमनं च
अन्तरितादिकं गमनविशेषं प्रतीत्याभित्यक्तमित्याह—[दिस्सा
दिस्सं सि] इद्वा इद्वा । [पदिस्सा पदिस्सं सि] प्रकर्षेण इद्वा
इद्वा । ज० १८ श० ८ उ० ।

(७) अमणानां कृता क्रिया क्रियेत—
न वा ? इत्यत्र विवादः —

अणउत्थिया ण जंते ! एवमाइक्खइ, एवं भासेइ, एवं
परुवेइ—कहं समणा एं निगथा एं किरिया कज्जति ?
तत्थ जा सा कमा कज्जइ णो तं पुच्छंति ? । तत्थ जा सा
कडा णो कज्जइ णो तं पुच्छंति ? । तत्थ जा सा अकमा
कज्जइ तं पुच्छंति ? । तत्थ जा सा अकडा णो कज्जइ णो
तं पुच्छंति ? । से एवं वत्तवं सिया अक्खिं दुक्खं अफुत्तं
दुक्खं अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणा जूया
जीवा सत्तावेयणं वेयंति, वत्तवं जे ते एवमाइंसु । ते मिच्छा ।
अहं पुण एवमाइक्खामि, एवं जासामि, एवं पबवेमि, एव
परुवेमि—किञ्च दुक्खं किज्जमाणं कडं दुक्खं अकट्टु कट्टु पाणा
जूया जीवा सत्तावेयणं वेयंति सि वत्तवं सिया ॥

“अणउत्थियेत्यादि” प्रायः स्पष्टम्, किन्त्वन्यतीर्थिका इह ताप-
सा भिन्नज्ञानवन्त एव वक्ष्यमाणप्रकारमास्थान्ति सामान्यतो
भाषन्ते, विशेषतः क्रमेणैतदेव प्रज्ञापयन्ति प्ररूपयन्तीति
पर्यायरूपपदद्वयेनोक्तमिति । अथवाऽऽस्थान्तीषद्भाषन्ते, व्यक्-
भाषया प्रज्ञापयन्ति, उपपत्तिभिर्बोधयन्ति प्ररूपयन्ति प्रज्ञेदा-
दिकथनत इति । किं तदित्याह—कथं केन प्रकारेण अमणानां
निर्ग्रन्थानां मत इति शेषः । क्रियते इति क्रिया कर्म, सा
क्रियते भवति वृत्त्यायेति विवक्षेति प्रश्नः । इह चत्वारो भङ्गाः ।
तद्यथा—कृता क्रियते विहितं सत्कर्म दुःखाय भवतीत्यर्थः १ ।
एव कृता न क्रियते २, अकृता क्रियते ३, अकृता न क्रियते
इति ४ । एतेष्वनेन प्रश्नेन यो भङ्गः प्रष्टुमिष्टस्तं शेषमङ्गनि-
राकरणपूर्वकमभिधातुमाह—[तत्थं सि] तेषु चतुर्षु भङ्गकेषु म-
ध्ये प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं च न पृच्छन्ति । एतन्नयस्यात्यन्तरवेरवि-

षयतया तत्प्रश्नस्याप्यप्रवृत्तेरिति । तथाहि—याऽसौ कृता क्रि-
यते यत्तत्कर्म कृतं न भवति नो तत् पृच्छन्ति, अत्यन्तविरोधे-
नासम्भवात् । तथाहि—कृतं चेत्कर्म कथं न भवतीति ? । उच्यते ।
न प्रवर्तते चेत्कथं कृतं तदिति, कृतस्य कर्मणोऽन्यथाभावात् ।
तत्र तेषु याऽसावकृता यत्तदकृतं कर्म नो क्रियते न भवति
नो तां पृच्छन्ति अकृतश्चासतश्च कर्मणः स्वरविषाणकल्पत्वा-
दिति । अमुमेव च भङ्गत्रयं निषेधमाभित्यास्य सूत्रस्य त्रिस्था-
नकावतार इति सज्जायते । तृतीयभङ्गकस्तु तत्सम्मतं इति
त पृच्छन्ति । अत एवाह—तत्र यासावकृता क्रियते यत्तदकृतं पू-
र्वमविहितं कर्म भवति दुःखाय सम्पद्यते, तां पृच्छन्ति पूर्वका-
वकृतत्वस्याप्रत्यक्षतयाऽसत्त्वेन दुःखानुभूतेः प्रत्यक्षतया स-
त्त्वेनाकृतकर्मभवनपक्षस्यासम्मतत्वादिति । पृच्छतां चायमभि-
प्रायः—यदि निर्ग्रन्था अपि अकृतमेव कर्म दुःखाय देहिनां भव-
तीति प्रतिपद्यन्ते, ततः सृष्टुं शोभनं अस्मत्समानबोधत्वादिति ।
शेषात्र पृच्छन्तस्तृतीयमेव पृच्छन्तीति भावः । [सेसि] अथ
तेषामकृतकर्मभ्युपगमवतामेव वक्ष्यमाणप्रकारं वक्तव्यमुद्धापः
स्यात् । त एव वा एवमास्थान्ति परान् प्रति यदुत अथैव व-
क्तव्यं प्ररूपणीयं तत्त्ववादिनां स्याद्भवेत्, अकृते सति कर्म-
णि दुःखानावात् । अकृत्यमकरणीयमवधनीयमप्राप्तव्यमना-
गते काले जीवानामित्यर्थः । किं दुःखं ? दुःखदेहत्वात्कर्म [अ-
फुत्तं सि] अस्पृश्यं कर्मकृतत्वादेव, तथा क्रियमाणं च वर्तमा-
नकाले वध्यमानकृतं वाऽतीतकाले बहू क्रियमाणम् । इद्वैकत्व-
कर्मधारयो वा । न क्रियमाणकृतमक्रियमाणकृतम् । किं तद्, दुःख-
म् ? “अकिञ्च दुक्खमित्यादि” पदत्रयं [तत्थं जा सा अकमा
कज्जइ] त पृच्छतीत्यन्यतीर्थिकमताश्रितं कालत्रयात्म्यमभा-
सित्य त्रिस्थानकावतारोऽस्य द्रष्टव्यः । किमुक्तं प्रवर्ततीत्याह—
अकृत्वा अकृत्वा कर्म । प्राणा इन्द्रियादयः, चृतास्तरवः, जीवाः
पञ्चेन्द्रियाः, सत्त्वाः पृथिव्यादयः । यथोक्तम्—“प्राणा इन्द्रि-
चतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः,
शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ” ॥ १ ॥ वेदना पीडां वेदयन्तीति व-
क्तव्यमित्ययं तेषामुद्धापः । एतद्वा ते अज्ञानोपहतबुद्धयो ज्ञाव-
न्ते परान् प्रति यदुत एवं वक्तव्यं स्यादिति प्रश्नः । एवमन्यती-
र्थिकमतमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह—[जे ते इत्यादि] य एते अ-
न्यतीर्थिका एवमुक्तप्रकारमाहुः [सुत्ति] उक्तवन्तो मिथ्या अस-
म्यक्तेऽन्यतीर्थिका एवमुक्तवन्तः, अकृतायाः क्रियात्वनुपपत्तेः ।
क्रियते इति क्रिया यस्यास्तु कथञ्चनापि करणं नास्ति सा कथं
क्रियेति ? । अकृतकर्मानुभवने हि बद्धमुक्तसुखिनोऽपि स्वित्तादिनि-
यतव्यवहारानावप्रसङ्ग इति स्वमतमाविष्कुर्वन्नाह—[अहं-
मित्यादि] अहमित्यहमेव नान्यतीर्थिका, पुनः शब्दो विशेष-
णार्थः । स च पूर्ववाक्यार्थादुत्तरवाक्यार्थस्य विलक्षणतामाह—
[एवमाइक्खामीत्यादि] पूर्ववत् । कृत्यं करणीयमनागतकाले
दुःखं तत्केतुत्वात्, कर्म स्पृश्यं स्पृष्टलक्षणबन्धावस्थायोग्यम्, क्रि-
यमाणं वर्तमानकाले कृतमतीते अकरणं नास्ति कर्मणः कथञ्च-
नापीति भावः । स्वमतसर्वस्वमाह—इत्त्वा कृत्वा, कर्मैति गम्यते ।
प्राणादयो वेदनां कर्मकृतशुभाशुभानुभूतिं वेदयन्त्यनुभवन्तीति
वक्तव्यं स्यात्सम्यग्वादिनाम् । स्था० ३ डा० २ उ० ।

[जीवजोवात्मानौ] (तत्र अतीन्द्रियस्य जीवस्य सिद्धिं ‘ममुक’
शब्दे मरुक्कं करिष्यते)

(८) प्राणातिपातादौ तद्विरमणादौ च वर्तमानस्यान्यो जी-
वोऽन्यो जीवात्मेति विप्रतिपत्तिः —

अणउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव पक्खति-
एवं खलु पाणाइवाए मुसावाए० जाव मिच्छादंसणसं-
वट्टमाणस्स अस्से जीवे अस्से जीवाया पाणाइवायवेरमणे०
जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे० जाव मिच्छादंसणसं-
विवेगे वट्टमाणस्स अस्से जीवे अस्से जीवाया उप्पत्तियाए०
जाव पारणामियाए वट्टमाणस्स अस्से जीवे अस्से जीवाया
लग्गहे ईहा अवाए वट्टमाणस्स० जाव जीवाया उट्ठाणे०
जाव परकमे वट्टमाणस्स० जाव जीवाया खेरइयत्ते तिरि-
क्खमाणस्स देवत्ते वट्टमाणस्स० जाव जीवाया णाणा-
वरणिज्जे० जाव अंतराइये वट्टमाणस्स० जाव जीवाया,
एवं काइल्लेस्साए० जाव सुक्खेस्साए सम्मादिट्ठीए ३,
एवं चक्खुइसणे ४ आभिणिवोहियणाणे ५ मइअएणा-
णे ३ आहारसएणाए ४ एवं ओरात्थियसरीरे ५, एवं
मणजोए ३, सागरोवओगे अणागारोवओगे वट्टमाणस्स
अएणे जीवे अएणे जीवाया, से कहमेयं जंते ! एवं ? ।
गोयमा ! जएणं ते अणउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव
मिच्छं ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि०
जाव पक्खेमि-एवं खलु पाणाइवाए० जाव मिच्छादंसणस-
ं वट्टमाणस्स सत्थेव जीवे सत्थेव जीवाया० जाव अणा-
गारोवओगे वट्टमाणस्स सत्थेव जीवे सत्थेव जीवाया ।

अन्ययुथिकप्रक्रमादेवेदमाह—(अणउत्थिया णमित्थादि)
प्राणातिपातादिषु वर्तमानस्य देहिनः (अस्से जीवत्ति) जी-
वति प्राणान् धारयतीति जीवः, शरीरं प्रकृतिरित्यर्थः । स-
न्धान्यो व्यतिरिक्त अन्यो जीवस्य देहस्य सम्बन्धी अभिष्ठा-
वृत्तादात्मा जीवात्मा, पुरुष इत्यर्थः । अन्यत्वं च तयोः पुरुषा-
पुरुषस्वभावत्वात् । ततश्च शरीरस्य प्राणातिपातविषु वर्तमा-
नस्य दृश्यमानत्वात् । शरीरमेव तत्कर्तृ, न पुनरात्मैत्येके । अ-
न्ये त्वाहुः-जीवतीति जीवो नाकरादिपर्यायः, जीवात्मा तु स-
र्वभेदानुगामि जीवरूप्य द्रव्यपर्याययोश्चान्यत्वम्, तथाविधप्र-
तिभासभेदनिबन्धनत्वात्, घटपटादिवत् । तथाहि-छन्न्यनुग-
ताकारां बुद्धिं जनयति, पर्यायास्त्वननुगताकारामिति । अन्ये
त्वाहुः-अन्यो-जीवोऽन्यश्च जीवात्मा जीवस्यैव स्वरूपमिति ।
प्राणातिपातादिविचित्रक्रियाभिधानं चिह्नं सर्वावस्थासु जीवजी-
वात्मनोभेदव्यापनार्थमिति परमतम् । स्वमतं तु—(सत्थेव जीवे
सत्थेव जीवायत्ति) स एव जीवः शरीरं स एव जीवात्मा जीव
इत्यर्थः, कथञ्चिदिदि गम्यम् । नह्यनयोस्त्यन्तं भेदः, अत्यन्तभेदे
वेहेन स्पृष्टस्यासवेदनप्रसङ्गा देहकृतस्य च कर्मणो जन्मान्तरे
वेदनाभावप्रसङ्गः । अन्यकृतस्यान्यसवेदने चाकृताज्यागमप्रस-
ङ्गोत्पन्नम्, अनेदे च परलोकान्नाव इति । छन्न्यपर्यायव्याख्या-
नेऽपि न छन्न्यपर्याययोस्त्यन्तभेदस्तथानुपपन्नः । यश्च प्रति-
भासभेदो नासावात्यान्तिकनन्दकृतः, किन्तु पदार्थानामेव तुल्या-
तुल्यरूपकृत इति जीवात्मा जीवस्वरूपम् । इह तु व्याख्याने
स्वरूपवतो न स्वरूपमत्यन्तं भिन्नं, भेदे हि नि स्वरूपता तस्य
प्राप्नोति । नच शब्दभेदे वस्तुना भेदोऽस्ति, शिलापुत्र-
कस्य घपुरित्यादाविवेति ॥ भ० १७ श० २ उ० ।

(९) [परिचारणा] परिचारणा कालगतस्य निर्ग्रन्थस्य—

अणउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, पप्पवेति, पक्खेति
एवं खलु नियंतकालगए समाणे देवञ्जएणं अप्पाणेणं
से ण तत्थ नो अणदेवे नो अणोसिं देवाणं देवीओ अ-
भिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, एणे अप्पणिबियाओ
देवीओ अजिजुंजिय अजिजुंजिय परियारेइ, अप्पणामेव
अप्पाणं विउब्बिय ५ परियात्रेइ; एगे वि य णं जीवे एग-
णं समएणं दो वेदे वेदेइ । त जहा—इत्थिवेयं च पुरिसवेयं
च । एवं अणउत्थियवत्तव्या गेयव्वा० जाव इत्थिवेयं च
पुरिसवेयं च स कहमेयं जंते ! एवं ? । गोयमा ! जणं ते अण-
उत्थिया एवमाइक्खंति० जाव इत्थिवेयं च पुरिसवेयं च ।
जे ते एवमाइसु, मिच्छा ते एवमाइसु । अहं पुण गोयमा !
एवमाइक्खामि० जाव पक्खेमि-एवं खलु नियंते कालगए
समाणे अणयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो जंति,
महिहिएसु० जाव म णुभागेसु दूरंगतीसु चिरट्ठीसु से जं
तत्थ देवे जवइ महिहिएसु० जाव दस दिसाओ उज्जोवोणे
पजासेमाणे० जाव पडिह्वे, से णं तत्थ अएणे देवे अणोसिं
देवाणं देवीओ अजिजुंजिय २ परियारेइ, अप्पणिबि-
याओ देवीओ अजिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, नो
अप्पणामेव अप्पाणं वेउब्बियं परियारेइ, एगे वि य णं जीवे
एगेणं समएण एगं वेदं वेदेइ । तं जहा—इत्थिवेदं वा पुरि-
सवेदं वा । जं समय इत्थिवेदं वेदेइ एणे तं समयं पुरिसवेदं
वेदेइ, जं समयं पुरिसवेदं वेदेइ एणे तं समयं इत्थिवेयं
वेदेइ । इत्थिवेयस्स उदएणं नो पुरिसवेदं वेदेइ, पुरिसवेयस्स
उदएणं नो इत्थिवेयं वेदेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं सम-
एण एगं वेदं वेदेइ । तं जहा—इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा ।
इत्थी इत्थिवेएणं उदिसेणं पुरिसं पत्थेइ, पुरिसो पुरिस-
वेदेण उदिसेणं इत्थिं पत्थेइ । दो वेए अणमयं पत्थेइ ।
तं जहा—इत्थी वा पुरिसं, पुरिसो वा इत्थिं ॥

(अणउत्थिय इत्यादि) (देवञ्जएणं इति) देवतूतेन आत्मना का-
रणतूतेन नो परिचारयतीति योगः (सेणं इति) असौ निर्ग्रन्थदेवत्त-
वदेवतोके नो नैव (अणत्ति) अन्यात् आत्मव्यतिरिक्ता देवान्
सुरान्, तथा नो अन्येषां देवानां सबन्धिनीर्देवी (अभिजुंजिय
इति) अभियुज्य वशीकृत्य आत्मिण्य वा परिचारयति परिमुक्ते
(जो अप्पणिबियाओ इति) आत्मीया (अप्पणामेव अप्पाणं विउ-
ब्बिय इति) स्त्रीपुरुषरूपनवा विकृत्य । एव च स्थिते (एगे वि य
णमित्थादि परउत्थियवत्तव्या गेयव्व इति) एव वेयं ज्ञातव्या-
“जं समय इत्थिवेयं वेदेइ तं समयं पुरिसवेयं वेदेइ, जं समयं
पुरिसवेयं वेदेइ तं समयं इत्थिवेयं वेदेइ, इत्थिवेयस्स वे-
यणयाप पुरिसवेयं वेदेइ पुरिसवेयस्स वेयणयाप इत्थिवेयं
वेदेइ, एव खलु एगे वि य णमित्थादि” मित्यात्वं चैवामेवम्-स्त्री-
रूपकरणेऽपि तस्य देवस्य पुरुषत्वात्पुरुषवेदन्यैवैकत्र समये
उदयो न स्त्रीवेदस्य, वेदपरिमुक्त्या वा स्त्रीवेदस्यैव न पुरुषवेद-
स्यादयः, परस्परविरुद्धत्वादि । [देवलोएसु इति] देवजनेसु

मध्ये [उववत्ताते जवति चि] प्राकृतशैल्या उपपत्ता भवती-
ति दृश्यम् । “महिद्विप” इत्यत्र यावत् करणादिदृश्यम्-“मह-
ज्जुर्प महामले महाजसे महासोफले महाणुभागे हारविराह-
यवत्ये कृत्यतुमियथभियभूय ” । श्रुटिका बाहुरक्तिका [अग-
यकुरुलमहगमकषपीठभारी] अद्भुतानि बाह्यभरणविशेषान्,
कुण्डलानि कर्णाभरणविशेषान्, मृष्टगणमानि चोलिखितकपो-
लानि, कर्णपीठानि कर्णाभरणविशेषान्, धारयतीत्येव शीलो य-
स तथा । [विचित्रहत्याजरणे विचित्रमाहात्मविभ्रमके] वि-
चित्रमाला च कुसुमज्ज्वल मौहो मस्तके मुकुट च यस्य स त-
था, इत्यादि यावत् । [रिक्तीप लुईप पञ्जाप गायप अथीप ते-
प ए तेस्साप दस दिस्साओ उज्जोपमाणे चि] तत्र ऋद्धिः परि-
धारादिका, युतिरिद्यार्थसयोग, प्रभा यानादिदीप्ति, गाय शोभा,
अर्चि शरीरस्पर्शरत्नदितेजोव्याहारा, तेज शरीररोचि, लेख्यादे-
हवर्णः, एकार्थावेते । उद्घोतयन्प्रकाशकरणेन [पञ्जासेमाणे
चि] प्रजासयन् शोभयन् इह यावत्करणादिदृश्यम्- [पा-
साइय] ऊष्णा चित्तप्रसादजनक [दरसणिज्जे य] पश्यन्नु-
र्गं श्राम्यति [अभिरुवे] मनोद्वेष [पभिरुवे चि] छटार द्र-
ष्टारप्रतिरूप यस्य स तथेति । एकैकैकदा एक एव वेदो वेद्यत ।
इह कारणमाह- [इत्थी इत्थीवेणमित्यादि] भ० २ श० ५ उ० ।

(१०) याज्ञपिण्यतते—

अणुतथिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवे-
ति-एवं खलु समणा पंडिया समणोग्रसगा बालपभिया ।
जस्स ए एगपाणाए वि दंमे अणिकिखत्ते, से णं एगत्वा-
हे चि वत्तव्वं सिया, से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जणं
ते अणुतथिया एवमाइक्खंति० जाव वत्तव्वं सिया, जे ते
एवमाहसु, मिच्छं ते एवमाहसु । अहं पुण गोयमा !० जाव
परूवेमि-एवं खलु समणा पभिया समणोवामगा बाल-
पभिया, जस्स ए एगपाणे वि दंमे णिकिखत्ते, से णं णो
एगत्वाले चि वत्तव्वं सिया ॥

परात्किञ्च पञ्चद्वय जिनाजिममतमेवानुवादपरतयोक्त्वा त्रितीयप-
क्षं दूषयन्तस्ते इदं प्रहापयन्ति- (जस्स ण एगपाणाए वि दंम-
इत्यादि) [जस्स चि] येन दोहेना एकप्राणिन्यप्येकत्रापि जीवे
सापराधादौ, पृथिवीकायिकादौ वा किं पुनर्बहुषु दण्णो वधः ।
[अणिकिखत्ते चि] अनिकिक्षितोऽनुज्जितोऽप्रत्याख्यातो भवति ।
स एकान्तबाल इति शक्यं स्यात् । एवञ्च अमणोपासका एका-
न्तबाला एव न बालपण्यमता, एकान्तबालव्यपदेशनिबन्धनस्यासर्व-
प्राणिद्रष्टव्यतायाः भावादिति परमतम् । स्वमतं तु-एकप्राणिन्य-
पि येन दण्णपरिदारः कृतोऽसौ नैकान्तेन बालः, किं तर्हि ? बाल-
पण्यतः, विरत्यशसङ्गावेन मिश्रत्वात्तस्य । एतदेवाह- (जस्स ण-
मित्यादि) एतदेव बालत्वादिजीवादिषु निरूपयन्नाह- (जीवाण-
मित्यादि) प्राणुकानां संयतादीनामिहीकानां च परिगृह्यतादीनां
यद्यपि शब्दत एव भेदो नार्थतस्तथापि संयतत्वादिव्यपदेशः
क्रियाव्यपेक्षः, पण्डितत्वादिव्यपदेशस्तु बोधविशेषापेक्ष इति ।
प्र० १७ श० २ उ० ।

(११) ज्ञाणा—

रायगिहे० जाव एवं वयामी-अणुतथिया णं भंते ! एव-
माइक्खंति० जाव परूवेति-ए० खलु केवली जक्खाएसेणं
११५

आइस्सति । एवं खलु केवली जक्खाएसेणं आइहे समाणे
आह्व दो भासाओ भासइ । तं जहा-मोसं वा, सच्चामोसं
वा, से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा ! जं णं ते अणुत-
थिया० जाव जं णं एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण
गोयमा ! एवमाइक्खामि०-णो खलु केवली जक्खाएसेणं
आदिस्सइ, णो खलु केवली जक्खाएसेणं आइहे समाणे
आह्व दो भासाओ भासइ । तं जहा-मोसं वा, सच्चामोसं
वा; केवली ण असावज्जाओ अपरोवघाइयाओ आह्व दो
भासाओ भासइ । तं जहा-सच्चं वा असच्चामोसं वा ॥

(जक्खाएसेणं आइस्सइ चि) देवावेशेनाविश्यतेऽधिष्ठीयत
इति [नो खलु इत्यादि] नो खलु केवली यद्वावेशेनाविश्यते
ऽनन्तधीर्यत्वात्तस्य । (अणुतथि चि) अन्याविष्ट परवशीकृतः स-
त्यादिभावाद्द्वयं च ज्ञापमाणः । केवली उपधिप्रग्रहप्राणिधानादिकं
विचित्रं वस्तु ज्ञापत इति । भ० १८ श० ७ उ० ।

(१२) [मनुष्यलोकः] पञ्चयोजनशतानि मनुष्यलोको
मनुष्यैर्बहुसमाकीर्णः—

अणुतथिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति-से
जहा नामए जुवई जुवाणे हत्थेण हत्थं गेहज्जा, चक्खस्स वा
नाभी अरगात्तासिया, एवामेव चत्तारि पच जोयणसयाइ
बहुसमाइएणे मणुयलोए माणुस्सेहिं, रे-इहेमेयं भंते ! एवं ?
गोयमा ! जणं ते अणुतथिया जाव माणुस्सेहिं जे एवमाहंसु,
मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव-
एवामेव चत्तारि पच जोयणसयाइ बहुसमाइएणे नेरइएहिं ।

(अणुतथियेत्यादि) (बहुसमाइहे ति) अत्यन्तमाकीर्णम्,
मिथ्यात्व च तद्वचनस्य विजङ्गमानपूर्वकत्वादवसेयमिति ॥ प्र०
५ श० ६ उ० ।

(१३) [वेदना] सर्वे जीवा अनेवभूतां वेदनां वेदयन्ते
इत्यत्र विवादः—

अणुतथिया णं जंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति-सन्वे
पाणा सन्वे जूया सन्वे जीवा सन्वे सत्ता एवज्जुयं वेयणं
वेदंति, से कहमेय भंते ! एवं ? गोयमा ! जणं ते अणुत-
थिया एवमाइक्खंति० जाव वेदंति; जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते
एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परू-
वेमि-अत्येगइया पाणा जूया जीवा सत्ता एवज्जुयं वेयणं
वेदंति, अत्येगइया पाणा जूया जीवा सत्ता अणेवज्जुयं वेय-
णं वेदंति । से केणहे णं अत्येगइया त चेव उच्चारयेव्वं ?
गोयमा ! जणए पाणा जूया जीवा सत्ता जहा कमा कम्मा
तहा वेयणं वेदंति, तेण पाणा जूया जीवा सत्ता एवज्जुयं
वेयणं वेदंति, जेण पाणा जूया जीवा सत्ता जहा कमा
कम्मा नो तहा वेयणं वेदंति, तेण पाणा जूया जीवा सत्ता
अणेवज्जुयं वेयणं वेदंति, से तेणहे णं तहेव ॥

(एवंभूय वेयण नि) यथाविध कर्म निवर्तमेवभूतामेवप्रका-
रतयोत्पन्ना वेदनामसातादिकर्मोदय वेदयन्त्यनुभवन्ति । मि-
थ्यात्व त्रैतद्यादिनामेवमन हि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्माऽनुभू-
यते, आयुः कर्मणो व्यभिचारात् । तथाहि-दीर्घकालानुभवनी-
यस्याप्यायु कर्मणोऽद्वयीयसाऽपि कालेनानुभवो भवति, कथम-
न्यथाऽल्पमृत्युव्यपदेशः सर्वजनप्रसिद्धः स्यात् । कथं वा महा-
सयुगादौ जीवन्मृणाणामप्येकदैवमृत्युरूपपद्येतेति । [अण्वचूय
पि त्ति] यथा बद्ध कर्म नैवमभूताऽनेवमभूता, अतस्ताम् । श्रूयन्ते
ह्यागमे-कर्मणः स्थितिघातरसघातादय इति ॥ म० ५ श० ५ उ० ।

अणउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेति-
एवं खलु सन्वे पाणा जूया जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वे-
यणं वेयंति, से कहमेयं भंते ! एवं ! गोयमा ! जएणं ते
अणउत्थिया० जाव मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा !
एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-अत्थेगइया पाणाजूया
जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति । आहच्च सायं अत्थे-
गइया पाणा जूया जीवा सत्ता एगंतं सायं वेयणं वेयंति,
आहच्च असायं वेयणं वेयंति, अत्थेगइया पाणा ४ वेमायाए
वेयणं वेयंति, आहच्च सायमसायं से केणडे णं ? गोयमा !
नेरइया णं एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति, आहच्च सायं भवणवइ-
बाणमंतरजोइसवेमाणिया एगंतं सायं वेयंति, आहच्च असा-
यं पुढविकाइया० जाव मणुस्ता वेपायाए वेयंति, आहच्च
सायमसायं, से तेणडे णं ॥

(सअउत्थियेत्यादि) (आहच्च सायं ति) कदाचित्सातां वे-
दनाम् । कथमिति ? उच्यते-“उववाएण च साय, नेरइओ देवक-
म्मुणा वा वि” । (आहच्च असायं ति) देवा आदननप्रियविप्रयो-
गादिष्वसातां वेदनां वेदयन्तीति । (वेमाया य सि) विविधया
मात्रया कदाचित्सातां, कदाचिदसातामित्यर्थः । ज० ६
श० १० उ० ।

(१४) [शीलम] शीलं श्रेयः, श्रुतं श्रेय इत्यत्रान्ययूथिकै-
सह विवादः—

सयगिहे० जाव एवं वयासी-अणउत्थिया णं भंते ! एव-
माइक्खंति० जाव परूवेति-एवं खलु शीलं सेयं, सुयं सेयं,
सुयं शीलं सेयं, से कहमेयं जंते ! एवं ! गोयमा ! जं णं ते
अणउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव-जे ते एवमाहंसु, मिच्छा
ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि०
जाव परूवेमि-एवं खलु मए चत्तारि पुरिसजाया पणत्ता ।
तं जहा-शीलसंपखे नामं एगे नो सुयसंपखे ? । सुयसंपणे
नामं एगे नो शीलसंपखे ? । एगे शीलसंपखे वि सुयसंपणे
वि ? । एगे नो शीलसंपखे नो सुयसंपखे ५ । तत्थ णं जं से
पढे पुरिसजाए, से णं पुरिसे सीलव अमुयवं उवरए
अविणायधम्मे । एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पण-
चे ? । तत्थ णं जे से बोचे पुरिसजाए, से णं पुरिसे असी-

दव सुतवं अणवरए विणायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए
पुरिसे देसविराहए पणत्ते ? । तत्थ णं जे से तवे पुरिसे-
जाए से णं पुरिसे सीलव सुतवं उवरए विणायधम्मे, एस
णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पणत्ते ? । तत्थ णं
जे से चउत्थे पुरिसजाए, से णं पुरिसे असीलवं असु-
तवं अणवरए अविणायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए-
पुरिसे सव्वविराहए पणत्ते ।

अस्य चूर्णनसारेण व्याख्या-एवं लोकसिद्धान्त्येन बंधु
निश्चयेन इहऽन्ययूथिकाः केचित्क्रियामात्रादेवाऽमीहाऽर्थसि-
द्धिमिच्छन्ति । न च किञ्चिदपि ज्ञानेन प्रयोजन, निश्चेष्टत्वाद्,
घटादिकरणप्रवृत्तावाकाशादिपदार्थवत् । वञ्चते च-“क्रियैव
फलदा पुसां, न ज्ञान फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगो, न
ज्ञानात्सुखितो भवेत् ” । १ । तथा-“अहा खरो चदणजारवाही,
भारस्स जागी न हु चंदणस्स । एवं खु नाणी चरणेण हीणो,
माणस्स जागी न हु सर्गइय” । १ । अतस्ते प्ररूपयन्ति-शीलं श्रे-
यः, प्राणातिपातादिविरमणध्यानाभ्ययनादिरूपा क्रियैव श्रेयोऽति-
शयेन प्रशस्यं, श्लाघ्यपुरुषार्थसाधकत्वाच्चैयं वा समाभ्ययनीयं
पुरुषार्थविशेषार्थिना । अन्ये तु ज्ञानादेवेष्टार्थसिद्धिमिच्छन्ति, न
क्रियातः, ज्ञानविकलस्य क्रियावतोऽपि फलसिद्धदर्शनात् । अ-
धीयते च-“विद्वत्ति-फलदा पुसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्या-
ज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ” ॥ १ ॥ तथा-“पढं नाकं
तवोदया, एव चिच्छ सव्वसंजय । अखाणी किं काहं किं वा, नाही
जेयपावयं ” ॥ १ ॥ अतस्ते प्ररूपयन्ति-श्रुतं श्रेयः, श्रुतं श्रुतज्ञा-
नं तदेव श्रेयोऽतिप्रशस्यमाभ्ययनीयं वा, पुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वा-
त् ; न तु शीलमिति । अन्ये तु ज्ञानक्रियाभ्यामन्योन्यनिपेक्षा-
न्या फलमिच्छन्ति । ज्ञानं क्रियाविकलमेवोपसर्जनीभूतक्रिय वा
फलदम् । क्रियाऽपि ज्ञानविकला उपसर्जनीभूतज्ञाना वा फलदे-
ति भावः । मणुगति च-“किञ्चिद्वेदमथ पात्रं, किञ्चित्पात्रं तपोमि-
यम् । आगमिष्यति यत्पात्रं, तत्पात्रं तारयिष्यति ” ॥ १ ॥ अत-
स्ते प्ररूपयन्ति-श्रुतं श्रेयः, तथा शीलं श्रेयः, द्वयोरपि प्रत्येकं पु-
षस्य पवित्रतानिबन्धनत्वादिति । अन्ये तु व्याचक्षते-शीलं श्रे-
यस्तावन्मुष्यवृत्त्या, तथा श्रुतं श्रेयः, श्रुतमपि श्रेयो, गौणवृत्त्या
तदुपकारित्वादित्यर्थः, इत्येकीय मतम् । अन्यदीयमतं तु श्रुतं
तदुपकारित्वादित्यर्थः, इत्येकीय मतम् । अन्यदीयमतं तु श्रुतं
श्रेयस्तावत् । तथा शीलमपि श्रेयो, गौणवृत्त्या तदुपकारित्वादि-
त्यर्थः । अयं चार्थ इह सूत्रे काकुपागल्लभ्यते । पतस्य च ग्रंथ-
मन्याख्यानेऽन्ययूथिकमतस्य मिथ्यात्व, पूर्वोक्तपक्षत्रयस्यापि फ-
लसिद्धावनङ्गत्वात्, समुदायपक्षस्यैव च फलासिद्धिकारणत्वात् ।
आह च-“ नाण पयासयसो, इओ तवो सज्जमो य गुत्तिकरो ।
तिथहं पि समाओगो, मोक्खो जिणसासणे मणिमो ” ॥ १ ॥
तप संयमो च शीलमेव । तथा-“संजोगसिद्धोयं फल व-
यति, न हु एगचकेण रहो पयाइ । अथो य पणू य वने स-
मिद्धा, ते संपउत्ता नगर पविट्ठा ” ॥ १ ॥ सि । द्वितीयव्याख्यान-
पक्षेऽपि मिथ्यात्व, संयोगतः फलसिद्धहेतुत्वादेकैस्य प्रधाने-
रविचक्षाया असङ्गतत्वादिति । मह पुनर्गौतम ! एवमास्यामि,
यावत्प्ररूपयामीत्यत्र श्रुतयुक्तं शीलं श्रेय इत्येतावान् वाक्यशेषो
दृश्यः । अथ कस्मादेवमत्रोच्यते-[एवमित्यादि] एव वदयमा-
णन्यायेन [पुरिसजाय सि] पुरुषप्रकारः [सीलव अमुयव ति]
कोऽर्थः । [उवरए अविणायधम्मे सि] उपरतो विदुः, सज्जमा

पापात् अविज्ञानधर्माभावतोऽनधिगतश्रुतज्ञानो बाधतपस्वी-
त्यर्थः । गीतार्थानिश्रिततपश्चरणनिरतो गीतार्थ इत्यन्ये । [देसा
राहयत्ति] देशं स्तोकमशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः । सम्य-
ग्बोधरीहसत्त्वात्क्रियापरत्वाच्चेति । [असौलव सुयव ति] कोऽर्थः ?
[अणुवरण विषयधर्मे स्ति] पापादनिवृत्तो ज्ञानधर्मा च अ-
विरतसम्यग्दृष्टिरिति ज्ञाव । [देसविराहयत्ति] देशं स्तोकम-
शं ज्ञानादित्रयरूपस्य मोक्षमार्गस्य तृतीयभागरूप, चारित्र वि-
राधयतीत्यर्थः ; प्राप्तस्य तस्यापादनादप्राप्तेर्वा [सञ्चाराहय-
त्ति] सर्वे त्रिप्रकारमपि मोक्षमार्गमाराधयतीत्यर्थः ; अतश्च न
ज्ञानदर्शनयोः सगृहीतत्वात् । नहि मिथ्यादृष्टिर्विज्ञातधर्मा तत्त्व-
तो भवतीति । एतेन समुदितयोः शीघ्रश्रुतयोः श्रेयस्त्वमुक्तमि-
ति (सञ्चाराहय) इत्युक्तम् । भ० ८ श० १० उ० ।

(१५) [सुखम्] सर्वजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः-

अणुतथिया एं जंते ! एवमाङ्कस्वति० जाव परूवेति-जा-
वइया गयगिहे एगरे जीवा, एवइयाण जीवाण नो च-
क्रिया केइ सुहं वा उहं वा० जाव कोलडिगमायमावि निप्पा-
वमायमावे कलममायमावे मासमायमावे मुग्गमायमावे जुयमा-
यमावे विसमायमावे अज्जिनिव्वट्टेत्ता उवदंसित्तए से कहमेयं
जंते ! एवं ! गोयमा ! जसं ते अणुतथिया एवमाङ्कस्वति०
जाव मिच्छं ते एवमाहसु. अहं पुण गोयमा ! एवमाङ्कस्वामि०
जाव परूवेमि-सव्वलोए वि य एं सव्वजीवाणं नो चाक्रिया
केइ सुहं वा तं चेव० जाव उवदंसित्तए से केणहे एं ? गोयमा !
अयणं जंबुद्वीवे दीवे० जाव विसेसाहिए परिकखेवेण पण-
से । देवेण महिहिए० जाव महाणुजागे एगं महं सखिदेवण-
गंथसमुग्गमंगहाय तं अवहालेइ । अवहालेत्ता० जाव इणामेव
कहु केवलकप्पं जंबुद्वीवं दीवं तिहिं अच्चरानेवाएहिं तिस-
त्तुत्तो अणुपरियट्ठित्ता णं इव्वमागच्छेज्जा, से नूण गो-
यमा ! से केवलकप्पे जंबुद्वीवे दीवे तिहिं घाणपोगद्धोहिं
कुन्ने ? इत्ता ! कुन्ने, चाक्रियाणं गोयमा ! केइ तोसं घाणपो-
गद्धाणं कौलडिमायमावे० जाव उवदंसित्तए एो इणहं सम-
हे । से तेणहे एं जाव उवदंसित्तए जीवेणं जंते ! जीवे जी-
वे ! गोयमा ! जीवे ताव नियमा, जीवे ज.वे वि नियमा जीवे ।

(अणुतथीत्यादि) (नो चाक्रिय स्ति) न शक्नुयात् ।
(जाव कोलडिगमायमावे स्ति) आस्तां बहुबहुतरं वा या-
वत्, कुवत्तास्थिकमात्रमपि, तत्र कुवत्तास्थिकं बदरकुवत्ता, (नि-
प्याव स्ति) वल्ल, (फल स्ति) कलाय, (जूय स्ति) यूका;
“अयस्समित्थादि” दृष्टान्तोपनय । एव यथा गन्धपुद्गलाना-
मिति सुक्लत्वेनामूर्त्तकल्पत्वात्कुवत्तास्थिकमात्रादिकं न दर्शयितुं
शक्यते ! एव सर्वजीवानां सुखस्य दुःखस्य चेति । भ० ६ श०
१० उ० ।

(१६) [इदं] राजगृहनगरस्य बहिर्वैजारापर्वतस्याऽध-
स्थस्य हृदस्य विषये विप्रतिपत्तयः-

अणुतथिया ए भंते ! एवमाङ्कस्वति, जासंति, पाण-
वंमि, परूवेति-एव खलु रायगिहस्स नयरस्स वहिया वे-

जारस्स पव्वयस्स अहे एत्थ एं महं एगे हरए अघे पण्णत्ते ।
अणोगाइ जोयणाइं आयामविकखंजेणं नाणादुमखंरुमंम-
उहेसे सस्सिरीए० जाव परिरूवे, तत्थ एं वहवे उदारा
वलाहया संसेयंति, समुच्चियंति, वासंति, तव्वतिरित्ते वि य
एं सया समिउं उसिणे आउकाए अभिनिस्सवइ, से कह-
मेयं भंते ! एवं ! गोयमा ! जसं ते अणुतथिया एवमाङ्क-
स्वति० जाव जे ते एवमाङ्कस्वति, मिच्छं ते एवमाङ्कस्वति ।
अहं पुण गोयमा ! एवमाङ्कस्वामि, जासेमि, पण्वेमि, परूवेमि-
एव खलु रायगिहस्स एयरस्स वहिया वेभारपव्वयस्स अदूर-
सामंते एत्थ ए महातवोवतीरपणवे नामं पासवणे पण्णत्ते ।
पंच धणुसयाइं आयामविकखंजेणं नाणादुमखंरुमंमिउहेसे
सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अज्जिरूवे पडिरूवे, त-
त्थ णं नहवे उसिणजोणिया जीवा य पोगेगला य उदगत्ताए
वक्कमंति, विउक्कमति, चयति, उवचयंति, तव्वतिरित्ते वि य
एं सया समियं उसिणे उसिणे आउआए अज्जिनिस्सवइ,
एस एं गोयमा ! महातवोवतीरपणवे पासवणे, एस णं
गोयमा ! महातवोवतीरपणवे पासवणस्स अहे पण्णत्ते ।
सेवं जंते ! भंते स्ति जगवं गोयमे समणं जगवं महावीरं
वंदइ नमंसइ ॥

(अणुतथियेत्यादि) [पव्वयस्स अहे स्ति] अथस्तात्तस्योपरि प-
र्वत इत्यर्थः । (हरए स्ति) हृद्. [अघे स्ति] अघाभिधानः । क्वचित्तु
(हरए स्ति) न दृश्यते, अघे इत्यस्य च स्थाने अप्ये स्ति दृश्यते, तत्र
च आप्य. अपां प्रजव., हृद् एव वेति (ओराल स्ति) विस्तीर्णा,
(वलाहय स्ति) मेघा., (ससेयति स्ति) सखिद्यन्ति, उत्पादाजि-
मुखीजवन्ति (समुच्चयति स्ति) समुच्चयन्त्युत्पद्यन्ते (तव्वतिरित्ते य
स्ति) हृद्पूरणादतिरिक्त्वा उत्कलित इत्यर्थः । (आउयाए स्ति)
अप्याय. [अभिनिस्सवइ स्ति] अभिनिश्रवति क्वरति [मिच्छं ते
एवमाङ्कस्वति स्ति] मिथ्यात्वं चैतदाख्यानस्य विजङ्गज्ञानपूर्वक-
त्वात्प्रायः सर्वज्ञवचनविकृत्त्वाद् व्यावहारिकप्रत्यक्षेण प्रायोऽन्य-
थोपलम्भाच्चावगन्तव्यम् । [अदूरसामंते स्ति] नातिदूरे नाप्यति-
समीपे इत्यर्थः । (एत्थ ण ति) प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमाने (महात-
वोवतीरपणवे नाम पासवणे स्ति) आतप इव आतप उष्णता,
महाभ्रासावातपञ्चेति महातपो, महाऽऽतपस्य उपतीर तरिस-
मीपे प्रभव उत्पादो यस्यासी महातपोपतीरप्रभवः । प्रभवति
क्वरीति प्रभवण, प्रस्यन्दन इत्यर्थः । (वक्कम ति) उत्पद्यन्ते,
(विउक्कम ति) विनश्यन्ति । एतदेव व्यत्ययेनाह—उपद्यन्ते
उत्पद्यन्ते चेति । उक्तमेवार्थं निगमयन्नाह—(एस एमित्यादि)
एवोऽनन्तरोक्तरूपः, एष वा अन्ययूधिकपरिकल्पिताप्यस-
क्तो महातपोपतीरप्रभवः प्रभवण उच्यते । तथा एव यो-
ऽयमनन्तरोक्त (उसिणजोणिए इत्यादि) स महातपोपती-
रप्रभवस्य प्रभवणस्यार्थोऽभिधानान्वर्थः प्रकृतः । भ० २
श० ५ उ० ।

इति दर्शिता अन्ययूधिकै सह विप्रतिपत्तयः । (अन्ययूधि-
कविशेषे कापिलादिभिः सह विवादास्तु तच्चङ्छन्देषु, 'समो-
सरण' शब्दे च दर्शयिष्यन्ते.)

(१७) ससर्गस्तु तैः [कापिवादिभिः] सह न समाचरणीय एव [आगाढवचनम्] यथा-

अन्ययूथिक वा गृहस्थ वा आगाढ वा वदति-

जे नित्खू अणुत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । ए ।

आगाढ इत्यादि ।

जे भिक्खू अणुत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । १० । जे नित्खू अणुत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं फरुसं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । ११ । जे नित्खू अणुत्थियं वा गारत्थियं वा अणुत्थियं अच्चासायणाए अच्चासादइ, अच्चासायंतं वा साइज्जइ । १२ ।

आगाढगाहासुत्त-

आगाढफरुसमीसग-दसमुद्देसम्मि वसितं पुव्वं ।

गिहिअसुत्तिथिएहिं, ते चेव य होति तेरसमे ॥ १५ ॥

जहा दसमुद्देसे भद्वन प्रति आगाढफरुसमीसगसुत्ता भ-
षिता, तहा इह गिहत्थअसुत्तिथियं प्रति वक्तव्या । इमेहिं जा-
तिमातिपहिं गिहत्थ अणुत्थियं वा ऊणतरं परिभवतो
आगाढ फरुसं वा भणति-

जातिकुलरुवभासा-धणवलपाहणदाणपरिभोगे ।

सत्तवयबुद्धिनागर-तकरभयकेयकम्मकरे ॥ १६ ॥

जादे ताव मम्मपरिघ-द्वितस्स मुणियो वि जायते ममुं ।

किं पुण गिह्ठीण ममुं, न जविस्सति मम्मविच्छो एं ॥ १७ ॥

जातिकुलरुवभासा धणेण बलेण पाहसुत्तणेण य एतेहिं दा-
ण प्रति अदाता सति वि धणे, किमत्तणेण अपरिजोगी हीनस-
त्थो वयसा अपडिप्पन्नो मदबुद्धिः स्वतो नागरस्त आस्यं परि-
भवति । तं वा गिहत्थं अणुत्तिथियं वा तस्सुप्रभृतककर्मकर-
जावे हि णिय परिभवति ॥ जदि ताव कोहाणिमाहपरा वि
जदि णो जातिमातिममेण घट्टिया कप्पति, किं पुण गिह्ठीणो
सुतरां कोप करिष्यन्तीत्यर्थः ।

सो य उप्पन्नमत इमं कुज्जा-

खिप्पं मरेज्ज मारे-ज्ज वि कुज्जा-अवगेहणा दाणिं ।

देसच्चा वंचकरे, संता-असंतेण पभिसिस्से ॥ २८ ॥

अपणा वा मसुप्पणो मरेज्ज, कुचितो वा साहुं मारेज्जा, रुद्धो
वा साहु रायकुत्तादिणे नेहवावेज्जा, साधुणा वासेहिओ देस-
घाग करेज्ज, सतेण असतेण वा प्रत्यभिस्सो एव कुर्यात् । नि०
चू० १३ व० ।

(१८) उदकवीणिका-

जे नित्खू दगवीणियं अणुत्थियं वा गारत्थियं वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

पाणी त दग वीणिया वासोदगस्स वीणिया वि
कोवणानिमित्तं निज्जुत्तिकारो भवति-

वासामुदगवीणिय, वसहीसंबद्ध एतरे चेव ।

वसहीसंबद्धा पुण, बहिया अंतो वरि तिथा णिव ॥ १३३ ॥

वासामुदगवीणिया कज्जति । सा दुविहा-वसहीए सबद्धा,
इतरा असंबद्धा । वसहीसंबद्धा तिविहा विहिता-बहिया, अतो,
उवरि च । इमं तिविहाए वि विक्खाण णिव-

परिगट्ठ विहिता उम्मि-ज्जण अंतो व ओदए वा वि ।

हम्मियतलमाले वा, पणालादिं व उवरिचू ॥ १३४ ॥

जा सा वसहीसंबद्धा सा निच्च परिगट्ठो, जा सा अते
सबद्धा सा जूमी उम्मिज्जति, खिरा वा उप्पट्ठिगा वा-
सोदगं वा विदेहिं पविट्ठं, जा सा उवरि सबद्धा सा हम्मियतले
हम्मतले भायालो वा मरुधिगाच्छादितमाले वा वासोदग पविट्ठ
जायाले वा पणावच्छिद ।

वसही य असंबद्धा, उदगागमगाणकदमे चेव ।

पदमा वसहिणिमित्तं, मग्गणिमित्तं दुवे इतरा ॥ १३५ ॥

वसही असंबद्धा तिविहा-उदगस्स आगमो उदगागमो, व-
सहिं तेण आगच्छति पविसति सि, अगणे वा जत्य साहुणो
अच्छति त नाणउदग एति, णिमामणपहे वा उदग एति, तत्थ
कहमो जवति, तत्थ पदमा जा वसही तेण पविसति सि, ते अ-
सतो दगवाहो कज्जति, मा वसहीविणासो जविस्सति, इयसु
दुसु जा अणु एति, जा य णिमामणपहे, एता असतो दगवीणिया क-
ज्जति, मा उदग ठाहि सि, च च ससज्जति, तत्थ अति तण ताण
तस्स पाणविराहणा कज्जमो वा होहि सि मग्गणिमित्तं णाम
मा मग्गो रुज्झिहि सि, उदगेण कहमेण वा वसहिसंबद्धासु वि
दगवीणिया कज्जति ।

एते सामसुतरं, दगवीणिय जो उ कारवे नित्खू ।

गिहिअसुत्तिथिएण व, अयगोलसमेण आणादी ॥ १३६ ॥

अय होइ, तस्स गोहो पिमो, सो उत्तो समता वहति । एव
गिहिअसुत्तिथिओ वा समततो जीवोवघाती, तम्हा एतेहिं न
कारवे ।

दगवीणियपगट्ठिया इमे-

दगवीणिय दगवाहो, दगएरिगालो य होति एगट्ठा ।

विणयति जम्हा तु दगं, दगवीणिय भसुते तम्हा ॥ १३७ ॥

पुव्वके पगट्ठिया, पच्छके दगवीणिय शिरस ॥ १३७ ॥

गिहिअसुत्तिथिएहिं दगवीणियं कारवैतस्स इमे दोसा-

आया तु हत्थपादं, इंदियजायं च पच्छकम्मं वा ।

फासुममफासुदेसे, सव्वसिणाणे य लहुगाय ॥ १३८ ॥

[आय इति] आयविराहणा-तत्थ हत्थं पादं वा लुसेज्जा, इदि-
याण अणुतरं वा लुसेज्जा, अहवा इदियजायमिति वेदियादिया,
ते विराहेज्जा, पच्छाकम्मं वा करेज्जा, तत्थ फासुपण देसे मास-
सहु, सव्वे चउलहु, अफासुपण देसे, सव्वे वा चउलहु, मय्यो
करैतस्स एते चेव दोसा ।

दगवीणियाए अकरणे इमे दोसा-

पणगादिहरितमुच्छण-संजमआताअजीरगेहसे ।

वहिता वि आयसंजम-उवधाणासे दुगंठा य ॥ १३९ ॥

कारणेण करेज्ज वि दगवीणिय । किं कारणं, इम-

वसहीए दुलभाए, वाघातजुयाए अहव सुलभाए ।

एतेहिँ कारणेहिँ, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१४०॥

पणगे उट्ठी समुच्चह, आदिग्रहणतो वैदियादि समुच्चति,
हरियक्काओ उट्ठेति, एसा सजमविराहणा । आयविराहणा
सीतवसहीए भत्त ण जीरति, ततो गेहस्य जायति, एते
वसहिसवद्धाए दगवीणियाए अकज्जमाणीए दोसा, वसहिअ-
सवद्धाए बहिया एमे दोसा-उदगागमे ठाणे अनादरे चिह्निच-
त्ते लुतिआयविहारणा सजमे पणगा हरिता वैदिया वा उवहि-
विणासो कदमेण मद्विणवासा उगुच्छिज्जति । कारणे गिहिअ-
स्यतिथियहिँ वि कारयिज्जति ।

वितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा केणई भवे असहू ॥

वाधातो व साहुस्म, णरिकरणं कप्पती ताहे ॥ १४१ ॥

पच्छाकडसाजिगह—णिरजिगहज्जहए य असणी वा ।

गिहिअस्यतिथिए वा, गिहिपुव्वं एतरे पच्छा ॥१४२॥

दो वि पूर्ववत् कएतातो । नि० चू० १ उ० ।

(१९) [उपकरणरचना] अन्ययूधिकै. चिह्नि-

मिलिकादि कारयति-

जे निक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिह्नमिहं वा अणउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥१४३॥

सुत्ते सुत्ते भवा सोत्तिया, वत्तकवद्धादिका इत्यर्थ । रज्जुए
भवा रज्जुआ, दोरकि स्ति वुत्त णवति ।

असवहणउमरणे, वासे उज्जकखणी जओ एति ।

उल्लवहिँ विरद्धेति व, अंतो बहि कसिए इतरं वा ॥१४४॥

जाव मतओ ण परिद्विज्जति ताव पच्छमे धरिज्जति, अच्चाणे
वा जाव थमिह न दग्गति ताव आदितो गतो वुज्जति, जओ
उज्जकखणी एति, ततो कमगन्निमिली दिज्जति, वासासु वा
उल्लवहिँ विरद्धेति दोरे जहासख अत बहि कसिए इतर वा ।

पंचविधचिलमिलीए, जो पुव्वं कप्पती गहणं ।

असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१४५॥

वितियपदमणिउणे वा, निउणे वा होज्ज केणई असहू ।

वाधातो व साहुस्म, नरिकरणं कप्पती ताहे ॥ १४६ ॥

गाहा पूर्ववत् कएता । नि० चू० १ उ० ।

(२०) सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्ययूधिकेन वा गृहस्थेन

वा कारयति-

जे निक्खू सूचियस्स उत्तरकरणं अणउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

सूयीमादीयाणं, उत्तरकरणं तु जो तु कारेज्जा ।

गिहिअस्यतिथिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥१४६॥

उज्जगाहिता सूया-दिया तु एकेकए गुरुस्सेव ।

गच्छं व समासज्जा, अणायसेकेक सेसेसु ॥१४७॥

सूची पिप्पलओ णहच्चेयण कएणसोहण उवगाहितोव-
करणं, एते य एकेका गुरुस्स भवति । सेसा तेहिँ चेव कज्ज
कारेति, महल्लगच्छ वा समासज्ज अणायसा अलोहमया सवस-
सिगमयी वा सेससाहुण एकेका भवति । किं पुण उत्तर-
करणं ? । इमं—

११६

पासग मट्टिणिसीयण—पज्जण रिउकरण ओत्तरणं ।

सुहुमं पि ज तु कीरति, तदुत्तरं मूलणिव्वत्ते १६८ ॥

पासग विलव छिज्जति, वयहकरण मट्टिणिसीयण णिसाणे पज्ज-
णं होहकारागारे रिउ उज्जकरण एय सव्व उत्तरकरण । अहवा
मूलनिव्वत्ते उवरिँ सुहुममवि ज कज्जति त सव्व उत्तरकरण ॥

सूयीमादीयाणं, णिप्पमिकरणं तु कप्पती गहणं ।

असती णिप्पमिकम्मे, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १६९ ॥
नि० चू० १ उ० ॥

(२१) शिक्खादिकोपकरणकारणम्—

जे भिक्खू सिक्कंग वा सिक्कगणंतगं वा अणउत्थिएण

वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥१७॥

जे भिक्खू सिक्करोप्पादि सिक्कग एसि जारिस वा परिध्वायग-
स्स सिक्क अणतओ उपाणओ उच्छाकरण भवति, जारिसं का-
वद्विस्स भोग्यगज्जुलियाण, एस सुत्तथो । इदाणि निज्जुत्ति-
विथरो—

सिक्ककरणं दुविधं, तसथावरजीवदेहणिप्पएणं ।

अंडगबाहग कीरज—होरूवव्नादिगतेरस ॥ १४३ ॥

जे निक्खू पिप्पलगस्स उत्तरकरणं अणउत्थिएण वा

गारत्थिए वा कारेइ, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

पिप्पलगणहच्चेदण—सोधणए चेव होति एवं तु ।

णवरं पुण णाणत्त, परिजोगे होति णायव्वं ॥ १८३ ॥

एव पिप्पलगणहच्चेयणसोहणे य एक्केके चउरो सुत्ता, अत्थो
पूर्ववत् । परिजोगे विसेसो इमो—

वत्थ बिंदिस्सामिति, जाइ उ पादब्धिदणं कुणति ।

अधवा वि पादब्धिदण, काहिँतो बिंदी वत्थं ॥१८४॥

एक्खं बिंदिस्सामिति, जाइ उ कुणति सल्लमुद्धरणं ॥

अहवा सल्लुद्धरण, काहिँतो बिंदी एक्खे ॥ १८५ ॥

पिप्पलगणहच्चेयणाण अप्पणे इमा विधी-

मज्जे वा गेहिइत्ता, हत्थे उच्चाणयम्भि वा काउं ।

चूमीए व ठवेत्तुं, एस विधी होति अप्पणणे ॥१८६॥

उभयतो धारणसमवा मज्जे गेहिइकण अप्पेति । सेस कंठं ॥

कएणं सोधिस्सामिति, जाइ तु दत्तसोधणं कुणति ।

अहवा वि दंतसोधण, काहिँतो सोहती कएणे ॥१८७॥

लाजादाजपरिच्छा, दुल्लभअचियत्तसइसअप्पणणे ।

वारससु वि सुत्तेसु अ, अवरपदा होति णायव्वा ॥१८८॥

जे भिक्खू दाउयपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा

चउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्टीवेति वा, संठवेइ

वा, जम्माइति वा, अल्लमप्पणो कारणयाए सुहुममवि णो

कप्पइ, जाणमाणे सरमाणे अन्नमन्नस्स वि सरमाणे वियर-

ति, वियरंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

(जे भिक्खू दाउयपाद वा इत्यादि) दो द्वियकघुघादितं मृ-

न्मय कपालकादि परिघट्टणं णिमोभण सव्वणं मुदादीणं

जम्माचण विसमाण समीकरण अत पज्जत सक्केति, अप्पणो

काउति दुत्त णवति, जाणइ जहा ण वट्ठति, अणउत्थियगारत्थि-

एहिँ कारावेउ जाणति वा, सुत्त सरति, एस अम्हओवदेसो प-

च्छिन्नं वा सरद्, असम्मसा गिहत्थऽसत्तियया, ताण वितरति पय-
च्छति, कारयतीत्यर्थः । अहवा गुरुः पृष्ठः साधुभिर्यथा-गृहस्था-
न्यतीर्थिकैर्वा कारयामः । ततः प्रयच्छते, अनुज्ञां ददातीत्यर्थः ।
जणिओ सुत्तथो ॥ नि० चू० ५ उ० ।

पदमवितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारव भिक्खू ।
गिहिअणत्तियण व, सो पावति आणमादीणि । १९९॥
पदमं बहु परिकम्म, वितिय अप्पपरिकम्मं, सेसं कंठं । ज-
म्हा एते दोसा तम्हा—

घटितसंठविते वा, पुव्वं जमिते य होति गहणं तु ।
असती पुव्वकमाए, कप्पति ताहे सय करणं ॥ १९०॥
नि० चू० ५ उ० ।

जे निक्खू दंरुयं वा लट्ठियं वा अवलेहणियं वा विणु-
सूयं वा अणत्तियण वा गारत्तियण वा परिघट्टवे-
इ वा, जम्माइवेइ वा, अलमप्पणो कारणयाए सुहुममवि-
णो कप्पह, जाणमाणे सरमाणे अन्नमन्नस्स वि सरमाणे
वियरति, वियरंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

पदमवितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारवे भिक्खू ।
गिहिअणत्तियण व, सो पावति आणमादीणि । १९६॥
घटितसंठविते वा, पुव्वं जमिते य होति गहणं तु ।
असती पुव्वकमाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १९७ ॥
वेळुमयी गवलमयी, दुविधा सूयी समासतो होति ।
चउरंगुलप्पमाणा, सामिच्चणसंधण्डाए ॥ १९८ ॥
एकेका सा तिविधा, बहुपरिकम्मा य अपरिकम्माए ।
अपरीकम्मा य तहा, णातच्चा आणुपुव्वीए ॥ १९९ ॥
अच्छंगुलप्पमाणं, थिज्जंतो होति सपरिकम्मा तु ।
अच्छंगुलमेगं तु, उज्जंती अप्पपरिकम्मं ॥ २०० ॥
जा पुव्ववट्ठिता वा, पुव्वं संठवित तत्थ सा वा वि ।
लज्जति पमाणजुत्ता, सा णायन्वा अधाकरुगा । २०१॥
पदमवितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारवे भिक्खू ।
गिहिअणत्तियण व, सो पावति आणमादीणि ५२२
घटितसंठविते वा, पुव्वं जमिते य होति गहणं तु ।
असती पुव्वकमाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ २०३ ॥

गाहा सन्वाओ पूर्ववत् । नि० चू० १ उ० ।

(२२) अन्ययुथिकादिभिः सह गोचरचर्यायै न प्रविशेत्-
जे भिक्खू गिहत्थाण वा अणत्तियण वा सीओदग-
परिभोयणा वा हत्थेण वा मत्तेण वा दन्विण वा जाय-
णेण वा असण वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गा-
हेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

इमो सुत्तथो-

गिहिअणत्तियण व, सूयीमादीहितं तु मत्तसे ।
जे निक्खू असणादी, पमिच्छते आणमादीणि ॥ १९५॥

गिहत्था सोत्तियवभणादि, अन्नत्तियया परिव्यायगादि, उदक-
परिभोगी मत्तओ सूरु, अहवा कोइ सूरुवादी तेण दहेजा, सोय
सीओदगपरिजोगी मत्तओ उल्लुककमादि तेण गेएहत्तस्स आ-
णादिया दोसा, चउल्लहु च से पच्छिन्न । इमे सीतोदगपरिजो-
इणो मत्ता-

दगवारगवट्ठणिया, उल्लुकाऽऽयमाणिवल्लभा उ एड्ढा ।
मयवारवट्ठुगमत्ता, सीओदयभोगिणो एते ॥ १९७॥
दगवारगो गट्ठुअवं आयमणी लोद्धिया कट्टमओ उल्लुकाओ
कट्टमओ वारओ वट्ठुयं कप्पयंतं पि कट्टमय । एतेसु गेएहत्तस्स
इमे दोसा-

नियमा पच्छाकम्मं, धोतो वि पुणो दगस्स सो वत्थं ।
तं पि य सत्थं असणो-दगस्स संसज्जते वएण ॥ १९८॥
भिक्खप्पयाणोवलिप्त पच्छा धुवतस्स पच्छाकम्मं स मत्तणो
असणादिरसमाविओस्ति उदगस्स सत्थं भवति, तमुदगमवी-
यचूत संसेव्यते य ॥ १९९ ॥

सीओदगजोईणं, पमिसिद्धं मा हु पच्छकम्मं ति ।
किं होति पच्छकम्मं, किं व न होतित्ति ते सुणसु ॥ २००॥
जेण मत्तेण सच्चिओदगं परिभुंजति, तेण भिक्खमाहणं पमि-
सिद्धं । सीसो पुच्छति-कहं पच्छाकम्मं भवति, णो प्रवति वा ।
आचार्य आह-सुणसु-

संसद्धमसंसद्धे, भावे सेते य निरवसेसे य ।
हत्थे मत्ते दब्बे, सुद्ध-मसुद्धे तिगट्ठाए ॥ २०० ॥
संसद्धे हत्थे संसद्धे मत्ते सावसेसे दब्बे एएसु तिसु पवेसु मह-
जंगा कायव्वाविसमा सुद्धा, समा असुद्धा जणेषु इमा गहणविभी-
पदमे गहणं सेसे-सु वि जत्थ सा सुहं वसु सेसं तु ।
असेसु तहा गहणं, असव्वसुक्खे वि वा गहणं ॥ २०१॥
(असेसु चि) सेसेसु जणेषु जदि देय दब्ब सुक्खं अवलेकन
सुक्खं ममगकुम्मादितो गजं पच्छाकम्मस्स अभावात् विति-
यप ॥ २०१ ॥

असिवे ओमोयरिए, रायइडे जए व गेलएहे ।
अच्छाण रोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्था ॥ २०२॥
पूर्ववत् अनुसरणीया । नि० चू० १ उ० ।
जे निक्खू अणत्तियण वा गारत्तियण वा असणं
वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ, देयंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ १८ ॥

जे निक्खू असणादी, देजा गिहि अहव अस्सत्तियणं ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराणं पावे ॥ २०३ ॥
तेसि अन्नत्तिययगिहत्थाणं वितो आणादी पावति, चउल्लहु
च ॥ २०४ ॥

सव्वे वि य खसु गिहिया, परप्पवादी य देसविरता य ।
पडिसिद्धाणकरणे, जेण परालोगकंलीण ॥ २०५ ॥
एतेसु दानं शरीरयुष्माकरणं अथवा दान एव करणं अ-

परलोककाङ्क्षी भ्रमण तस्यैतत् प्रतिबिम्ब, अहवा एतेषु
दाण करण किं पमिसिद्ध जेण समणो परलोककङ्क्षी ?। चाद-
क आह—

जुत्तमदाणमसीले, कससामइओ उ होति समण इव ।

तस्स मजुत्तमदाणं चोदग ! सुण, कारणं तत्थ ॥१७०॥

जुत्तं अणउत्थियगिहेत्थेसु अविरतेसु चि काउ दाण य दि-
ज्जति, जो पुण देसविरतो सामास्यकमो तस्स ज दाणं पमि-
सिज्जति, एयमजुत्त, जेण सो समणजुतो वज्जति । आचार्य
आह—हे चोदक ! एत्थ कारण सुणसु—

रंघण-किमि-वाणिज्जं, पावति तस्स पुंन विणिज्जं सो ।

कयसामास्यजोगि वि, मूयस्स अपच्छमाणस्स ॥

जदि वि सो कयसामइओ उवस्सप अत्थति, तदा वि तस्स पु-
विज्जुत्ता अहिकरणजोगा पावति चि रंघणजोगो कृषिकरणजोगो
वाणिज्जजोगो य, एतेण कारणेण तस्स दाणमजुत्त । चोदक-
णणु मणियं समणो इव सावओ । उच्यते-ओवस्मेण तु समणे ते
जेण सव्वविरतो ण वज्जति । जओ भण्णति—

सामास्य पारेउं, ए णिगगतो साधुवसहीए ।

अहिकरणं सातिज्जति, उता हु तं वोसरति सव्वं ॥१७२॥

आयरियो सीस पुच्छति-सामास्य करेमि चि । साधुवसही वि
तो पत्ततो आरम्भ जाव सामास्य पारेऊण न णिगगतो साधु-
वसहीए पोसहसालाओ वा एयम्मि साइयकालो तस्स अ-
धिकरणजोगा पुंनपवचा कज्जति, तो सा किं सातिज्जति,
उताहु ते वोसरति सव्वे । उच्यते-ए वोसरति साइज्जति,
जदि साइज्जति एव भणतस्स सव्वविरतो लम्भति ॥ १७२॥

दुविहतिविहे ण रुज्जति, अणुमत्ता तेण सा ए पमिरुद्धा ।

अणुओ ए सव्वविरतो, स समामति सव्वविरओ या ॥१७३॥

पाणादिवायादियाण पचहं अणुवताणं सो विरति क-
रेति । (दुविध ति विधेय चि) दुविधेय करेति, ए कारवेति,
तिविध भणेण वायाए काएण ति । एत्थ तेण अणुमती ए णि-
रुद्धा, तेण कारणेण वडसामाति ता वि सो सव्वविरतो ए
लम्भति, किं चाऽन्यत् ॥ १७३॥

कामी सधरं-गणतो, मूलपइसा स होइ दड्ढवा ।

जेयणभेयणकरणे, उद्विहकमं च सो जुंजे ॥ १७४॥

एद्वेहितविस्सरिते, जिस्से वा मइलि ए व वोच्चे य ।

पच्छाकम्मपवहणा, धुयावणं वा तदहस्स ॥ १७५॥

पच विसया-कामेति चि कामी सगृहेण सगृह, अङ्गना
स्त्री, सह अङ्गनया साङ्गन, मूलपइसा, देसविरति चि बुत्तं भ-
वति । साधूण सव्वविरतो वृत्तादिच्छेदेन पृथिव्यादिभेदेन
प्रवृत्त सामायिकभावादन्त्यत्र ज च उद्विहकड तं कडसा-
माइओ वि भुजति; एव सो सव्व ए भवति, एतेण कारणेण
तस्स ए कण्णति दाउं इमो । अहवा—

विवियपदे परङ्गिगे, सेहट्टाणे य वेज्जसाहारे ।

अच्छाण देसगलणे, असती पडिहारिते गहणं ॥ १७६॥

एयस्स इमा विभासा कारणे । परतिथियाण मज्जे अ-
च्छन्नेवेज्ज, सेहो उहो एणत्तणा वेज्ज, गिही अणुतिथ्या वा णिज्ज-

धेण मग्गेज्ज, तदा से दिज्जति, सेहे वा गिहिवेसठितो
भावतो पव्वइओ तस्स वेज्जा, सत्थेण वा पव्वसा मद्दाणं साधु-
तिथ्यागिहिय तत्तत्कारणेहि गिहीण अच्छिण्ण त साधू गिहीण
पव्वज्जिणेज्जा, अधवा अद्दाणे भतिपतियमादियाण वेज्जा,
वेज्जस्स वा गिह्याण्णा आणियस्स वेज्जा, तं च जहा वि-
ज्जति तदा पुंनभाणिय जत्थ गिहीण अणुतिथियाण य
साधूण य अंचियका जे इल्लजे भत्तपाणमडियमादिणा साहारं
ण दिस्स तत्थ ते गिही अणुतिथिया विमज्जापयव्वा, अह
ते अणिच्छा साधु मग्गेज्जा, अह वा ते पता, ताहे साधू विमज्ज-
ति, साधुणा विभयतेण सव्वेसि वि हु समग्गेव विज्जइयव्वं,
एसव्वेसो ॥ १७६॥ नि० चू० १५ उ० ।

से जिकखु वा जिकखुणी वा गाहावतिकुलं जाव पवि-
सितुकामे णो अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परि-
हारिउ वा अपरिहारिएण सक्कि गाहावइकुलं पिंमवायपमि-
याए पविसिज्ज वा, एिक्खमेज्ज वा ।

(से भिक्खु वा इत्यादि) स भिक्षुर्यावद् गृहपतिकुल प्रवेष्टु-
काम एभिर्वेद्यमायै सार्द्धं न प्रविशेत्, प्राक् प्रविष्टो वा नाति-
कामेदिति सबन्धः । यै सह न प्रवेष्टव्यं ताद् स्वनामग्राह-
माह-तत्रान्यतीर्थकाः सरजस्कादयो गृहस्थाः, पियमोपजीविनो
धिग्जातिप्रभृतयस्तैः सह प्रविशताममी दोषाः । तद्यथा-ते पृष्ठतो
वा गच्छेयुरप्रतो वा, तेऽप्राप्तो गच्छन्तो यदि साध्वनुवृत्त्या गच्छे-
युस्तवस्तत्कृतं ईर्याप्रत्ययः कर्मबन्धः, प्रवचनबाधवच्च, तेषां वा
स्वजात्याद्युत्कर्ष इति । अथ पृष्ठनस्तनस्तत्रादौ, दातुर्वा अजड-
कस्य ह्यम च, दाता सविभज्य दद्यात्तेनाधमोदर्यादौ दुर्मिका-
दौ प्राणवृत्तिर्न स्यात्, इत्येवमादयो दोषाः । तथा परिहारस्तेन
चरति परिहारिकः, पिण्डदोषपरिहरणादुद्युक्तविहारी, साधुरि-
त्यर्थः । स एवगुणकलितः साधुरपरिहारिकेण पाश्वर्यस्थावस-
न्न कुशीलससकयथाच्छन्दरूपेण न प्रविशेत्, तेन सह प्रविष्टा-
नामनेषणीयजिक्काग्रहणाग्रहणकृता दोषाः । तथाहि-अनेषणीयग्र-
हणे तत्प्रवृत्तिरनुज्ञाता भवत्यग्रहणे तैः सहाऽसन्नडादयो दोषाः ।
तत एतान् दोषान् ज्ञात्वा साधुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञा-
या तैः सह न प्रविशेन्नपि निष्कामेदिति । आचा० २ श्रु० १
अ० १ उ० ॥

(२३) [दानम्] अन्ययुधिकेच्योऽशनादि न देयम्—

से जिकखु वा भिक्खुणी वा० जाव पावेहे समाणे णो अण-
उत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहा-
रियस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देज्ज
वा, अणुपदेज्ज वा ॥

नाम्प्रतं तद्दानार्थप्रतिषेधमाह—

(से भिक्खु इत्यादि) स भिक्षुर्यावद् गृहपतिकुल प्रविष्टः सन्नु-
पवृत्तगत्वाऽदुपाश्रयस्यो वा तेज्योऽन्यतीर्थिकादिज्यो दोषस-
म्भवादशनादिकं न दद्यात्, स्वतो नाप्यनुग्रहापदेदपरेण गृहस्था-
दिनेति । तथाहि-तेज्यो दीयमान इष्टा लोकोऽभिभ्रम्येत, यते
शेषविधानामपि दक्षिणार्हा । अपि च । तदुपपन्नदत्तसंयमप्रवर्त-
नादयो दोषा जायन्ते इति । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जे जिकखु अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारि-
ओ वा अपरिहारिएण वा गाहावइकुल पिंमवायपडियाए

अणुपविसंज्ज वा, निक्खमइज्ज वा, अणुपविसंतं वा नि-
क्खमतं वा साइज्जइ ॥ ३ए ॥

अन्यतीर्थिकाश्चरकपरिवाजकशाक्याजीवकवृक्षआवकप्रभृतयः,
गृहस्था मरुगादिभिक्षायाया, परिहारिओ मूलुत्तरदोसे परिह-
रति, अहवा मूलुत्तरगुट्टो धरेति, आचरतीत्यर्थः । तत्प्रतिपक्क-
भूतो अपरिहारी । ते य अणुउत्थिया गिहत्था ।

सूत्रम्-

एणो कप्पति निक्खुस्सा, गिहिणा अधवा वि अणुउत्थीणं ।

परिहारियस्स परिहा-रिएण गंतुं वियाराए ॥ ३०० ॥

सर्हि समान युगपत् एकत्र आहाकम्म गाहापमिवक्षिकाए सा-
धज्जमनादियोगत्रय करणत्रय च गाहावतिकुल । अस्य व्याख्या-
गाहागिह गाहा गेहं ति वा गिहं ति वा एगच्छ, तस्येति गृहस्य पतिः
प्रभुः स्वामी, गृहपतिरित्यर्थः । दारमत्याविसमुदायो कुल पिण्ण
वा य पमियाए सि। अस्य व्याख्या-पिमो असणादी गिहिणा दीय-
मानस्य पिण्णस्य पात्रे पात, अनया प्रक्षया पथ दिठतो जहा-बाह
जुअवणिउबल ज चेत्तुं गामं पविठो । अण्णेण पुच्छिय-किं णिमित्त
गामं पविठोसि ? भणाति-सुत्तपायपमियाए धरणपायपमियाए
सि, तदेव पिरुवायपडियाए सि । किंच-इद सूत्र लोगोत्तरउभ-
यसङ्गाप्रतिबद्ध किंचित् स्वयमयं सङ्गाप्रतिबद्ध भवति, अणुप-
विसति । अस्य व्याख्या चरगादि गाहा । अनु पश्चाद्भावे चरगादि-
सु णियठेसु पच्छा पागकरणकालतो वा पच्छा, एव अनुशब्द-
पश्चाद् योगे सिद्धः ।

एत्तो एगतरेणं, सहितो जो गच्छती वियाराए ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ३०१ ॥

एत्तो एगतरेण गिहत्थेण वा अणुउत्थियेण वा समं पविस-
तस्स आणादिया दोसा । आयसंजमविगाहणाओ जावणा । गाहा
पमरगादिपसु सर्हि हिंइतस्स पवयणो भावणा भवति, लोगो
वयति-पडरगादिपसायओ लभति, सयं न लभति, असारवचन-
प्रयत्नत्वात् । अधवा लोगो वदति-अलक्षिता य परदोगे वा अ-
दिक्षणा आत्मानं न विदति, शूद्रा इति । एते पमरगादि शिष्य-
स्त्वमज्युपगन्ता वसति, यत एभिः सार्द्धं पर्यटते, किंचान्यत् ।
अधिकरणगाहा, गिही अयगोलसमाणो ए वदति भणितुं, एहिं
णिसीइतु वदवयार्हि वा भणतो अधिकरण गिहत्थो अलक्षी
साहू लक्षी उव दणति, साहुस्स अतगय अह संजतो अलक्षीतो
गिहत्थस्स अतराय जेण सम हिंइति, दातारस्स वा अचित्त
किं मया समं हिंससि सि, अधिकरण च भवे, अस्समेज्जण पड्डो
अवस्सयं अगाण्णा डहेज्ज, पंता वणादि वा करेज्ज, एगस्स वा
गिहिणा गिहिणीणि उ दाएह वि तेज्ज त चेव अतराय अवि-
यताए सखडा तीया य साहुस्स करेज्ज, दातारस्स वा करेज्ज,
उयस्स वा कुज्जा, दोएहता अट्टाणीणि य एगस्स देज्ज, साहुस्स
गिहत्थस्स वा, तं चेव अतरादी दोसा । जतो भणति-संजयप-
दोसगाहा । संजयगिही उभयदोस इति गतार्था । एव अण्णेगाहा
च सि । अस्य व्याख्या-एट्टे दुपदे चउपदे एवपए च, एतेसु चेव
इडेसु वत्थादिपसु वा वि सुमतिपसु साधुगिहं वा एगतर स-
केज्ज, उभय वा किह पुणाति संकेज्ज, एते समणमाहणा प-
रोप्पर विरुद्धा वि एगतो अडंति, ए एते जे वा ते वा एण एते
घोरा चोरिया वा, कामो वा दुपयादि वा अवहडामएहिं ज-
म्हा एते दोसा, तम्हा गिहत्थस्यतिथ्योहिं सम भिक्षाए ए प

विसियव्व, वितियपदेण कारणे पविसेज्जा वि । जतो वितिय-
पदगाहा । अचिय दुब्भिकख, एतेसु अचियादिसु एतोहिं गिह-
त्थस्यतिथ्योहिं सम भिक्षा लभति, अन्नदान लभति, अतो
तेहिं समाण अडे, सो य जदि अहा भदो णिमनेइ वा, अहा भ-
इएण पुण समाणं दो तिप्पि घरा, अण्णहा ते चेवासखडाही ।
रायदुट्टे सो रायवल्लभो गिलाणस्स सह एत्थ भोयणादि, सो
दव्वावेति, अण्णहा ए दव्वजति, भिक्षायायिय वा वच्चतस्स उवि
सरीर तेण रक्खति, पडिणीयसाणे वावारेति । आदिसइतो गो-
णसूयरातीए विपविसतो पुण इमा विही पुव्वगते गाहा गिहत्थ-
स्यतिथ्येसु पुव्वपविट्टे पस वा पुव्वपविट्टो अण्णभावे ति, परि-
स ताप दरिसेति जेण णज्जति, जहा एतेण समाण हिंइति, अ-
डतस्स य इमो विही पुव्व पच्छा कममरुपसु तओ पच्छा क-
रुअणलिङ्गीसु, तओ अहाजइमरुपसु तओ अहाभइमणलिं-
णा अहाजइए वि, एस चेव कमो । नि० चू० २ उ० ।

जे निक्खू आगतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकु-
लेसु वा परियावसहेसु वा अणुउत्थियं वा गारत्थियं वा
असणं वा पाण वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय
जायात, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥ जे निक्खू आ-
गतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकुलेसु वा परियाव-
सहेसु वा अणुउत्थीणं वा असणं वा पाणं वा खाइमं
वा साइमं वा ओजासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ २ ॥ जे निक्खू आगतारेसु वा आरामागारेसु
वा गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा अणुउत्थियाणि
वा गारत्थियाणि वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा ओजासिय ओजासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे निक्खू पूर्ववत् आगतारे-जत्थ आगारा आगतु विहरति,
त आगतागार, गामपरिसंघाणं तिबुक्क भवति । आगतुगार्णं वा
कय अगार आगतागार, बहिया वासो सि, आरामे अगार आग-
मागारं, गिहस्स पती गिहपती, तस्स कुल गिहपतिकुल, अण्ण-
गृहमित्यर्थः । गिहपज्जाय मोत्तु पुव्वज्जा परियाएजिता, तसि
आवसदो परियावसदो, एतेसु गणेसु चित्त अणुउत्थिय वा
गारत्थिय वा असणाइ ओभासति, साइज्जति वा, तस्स मास-
लहु । एस सुत्तथो । इमा सुत्तफासिया-

आगंतारादीसुं, असणादी जासती तु जो भिक्खू ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ २ ॥

आगतारादिसु गिहत्थमअतिथियं वा जो भिक्खू अराणादि
ओभासति सो पावति आणा, अणवत्थमिच्छत्तविराहणं च ॥ २ ॥

आगमकयमागारं, आगतुं जत्थ चिद्धति अगारा ।

परिगमणं पज्जाओ, सो चरगादी तु एगेविहो ॥ ३ ॥

आगमा रुक्खा, तोहिं कय अगारं आगतु जत्थ चिद्धति, अ-
गार त आगतागार परि समता गारण गिहभाव गतेत्यर्थं पज्जा-
योपवज्जा, सो य चरगपरिवायगसकआजीवागमादि जेगविहो
भहेतरा ॥ ३ ॥

जहेतरा तु दोसा, इवेज्ज ओभासिते अण्णमि ।

अचियसा भावणता, पंते जदे इमे होति ॥ ४ ॥

अट्टाणद्धितो ज्ञासिते पतज्जदोसा ; पतस्स अचियत्त भवति,
ओभासणता-अहो । इमे महदोसा ।

जह आतरोसि दीमइ, जह य विमग्गंति मं अट्टाणम्मि ।
दंतैदिया तवस्सी, तं देमि ण भारितं कज्जं ॥५॥

जहा एय साहुस्सातरो दीसति, जहा-अय अट्टाणद्धिय विम-
ग्गति-दंतैदिया तवस्सी तो देमि अह एतेसि णूण से भारित
कज्ज, आपत्कल्पमित्यर्थ ॥ ५ ॥

सट्ठिगिहिं अण्णत्तिर्या, करिज्ज ओजासिए तु सो असते ।
उग्गमदोसेगतं, खिप्पं से संजतट्टाए ॥ ६ ॥

अद्यास्यास्तीति आत्मी, सो य गिही, असुत्तियमो वा, ओभा-
सिए समाणसे इति । स गिही असुत्तियमो वा खिप्पतुरिय
सएह उग्गमदोसाणं असुत्तर करेज्जा सज्जयाए ॥ ६ ॥

एवं खलु जिणकप्पे, गच्छो णिकारणम्मि तह चेव ।
कप्पति य कारणम्मी, जतणा ओजासितुं गच्छे ॥ ७ ॥

एवं ता जिणकप्पे जणियं गच्छयासिणो वि णिकारणे एव
चेव कारणजाते पुण कप्पति । धेरकप्पियाण ओभासित किं
चित्कारण इमं-

गेहएह रायदुडे, रोहग अट्टाण अंचिते ओमे ॥
एतेहि कारणोहिं, असती हंभंति ओजासे ॥ ८ ॥

गिहाणट्टाण य दुडे वा रोहगे वा अतो अपघ्नता अंचिते वा, अ-
त्रियण णाम दायसधी, तथ भवणी उ खधिआ उ ण वा णिप्फसु,
खिप्फसे वा ण हंभति, ओम दुर्भिकं, एव अचिय ओमे, दीर्घ
दुर्भिकमित्यर्थ । एतेहि कारणोहिं अशब्धते ओजासेज्जा-

जिणं समतिक्रतो, पुत्रं जतिकण पणगपणोहिं ॥
तो मासिएसु पच्छ वि, ओजासणमादिसु असदो ॥ ९ ॥

इमा जयणा-पदम पणगदोसेण गेहइति पच्छ दस पसरस
वीस भिषमासदोसेण य एव पणगभेदहिं जोहे निष्णं समति-
क्रतो ताहे मासि अट्टाणेषु ओभासणादिसु जनति, असदो । तथ
तु ओभासणे इमा जयणा-

तिगुणगतेहिं ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेह ।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करेति जं सुत्तपक्कित्ठं ॥ १० ॥

पदम घरे ओजासिज्जति अदिठे, एवं तयो वा रायघरे गवेसि-
यव्वो, तथ भज्जा ति णीया वत्तन्ना, तस्स आगयस्स कहेज्जह-
साधू तव सगारं आगया, कज्जेणं घरे अदिठे पच्छ आगतारा-
दिसु दिठस्स घरगमणादि सव्व कहेतु, तेण वदिने अवदिने वा
तेणैव पुट्ठ अपुट्ठा वा ज सुत्ते पमिसिरू त कुव्वति, ओजासति
इत्यर्थ ।

जे निक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कु-
लेसु वा परियावसहेसु वा अन्नत्तियं वा गारत्तियं वा को-
उहद्वपडियाए पमियागयं समाण असण वा पाणं वा खा-
इम वा साइमं वा ओजासिय ओभासिय जायति, जायतं वा
साइज्जइ ॥ ४ ॥

एव असुत्तिया वा गारत्तिया वा, एव अण्णत्तिणीओ
वा गारत्तिणीओ वा ।

पदममी जो तु गमो, सुत्ते वितिए वि होति सो चेव ।
ततिय चउत्थे वि तहा, एगत्तपुहत्तसंजुत्ते ॥ ११ ॥

पदमे सुत्ते जो गमो, वितिए वि पुरिसपोहत्तियसुत्ते सो चेव
गमो । ततियचउत्थेसु वि इत्थिसुत्तेसु सो चेव गमो ॥ ४ ॥

जे निक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कु-
लेसु वा परियावसहेसु वा अण्णत्तियाण वा गारत्तियाण
वा कोउहद्वपडियागयं समाण असणं वा पाण वा खाइमं
वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ५ ॥ जे निक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा
गाहावड्कुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णत्तियाण वा
गारत्तियाण वा कोउहद्वपडियाए पमियागय समाण अ-
सणं वा पाण वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय
जायति, जायतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा
आरामागारेसु वा गाहावड्कुलेसु वा परियावसहेसु वा
अण्णत्तियाण वा गारत्तियाण वा कोउहद्वपडि-
याए पडियागयं समाण असणं वा पाणं वा खाइमं वा
साइमं वा ओजासिय ओजासिय जायति, जायतं वा
साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू आगंतारेसु वा इत्यादि कोउहलंति यावत्, कौतु-
केनेत्यर्थः ।

गाहासुत्ताणि-

आगंतारेसु, आरामगारे तह गिहा वसही ।
पुच्चट्टिताण पच्छा, एज्ज गिही असुत्तिय वा केई ॥ १२ ॥

तमागत जे असणातीतो भासति, तस्स मासलेहु, धम्म
सावगधम्मं वा पेच्छामो । एत्तो गाहा-

अहजावेण कोऊ-हल केई वंदणणिमित्तं ।

पुच्छिस्सामो केई, धम्मं लुविधं व पेच्छामो ॥ १३ ॥

एगो एगतरेणं, कारणजातेण आगतं संतं ॥

जो निक्खू ओभासति, असणादी तस्सिमा दोसा १४ ॥

तस्सिमे भइपतदोसा-

आतपरोजासणता, अदिषदिषो व तस्स अचियत्तं ।

पुरिसो जासणदोसा, सविसेसतरा य इत्थीसु ॥ १४ ॥

अलखे अप्पणो ओभासणा सुद्धा लभति तिमि अदिषे परस्स
ओभासणा किवणे चि, अदिषे वा अचियत्त भवति, माहायण-
मज्जे वा पणइ, ते देमि चि, पच्छा अचियत्त भवति, दाओ पुरि-
से ओभासणदोसा एव केवला, इत्थिआसु ओभासणदोसा,
सकादोसा य, आयपरसमुत्था य दोसा ।

जहो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छम अभिहमादीणि ।

पंता पेलवगहणं, पुणरावत्तिं तहा लुविधं ॥ १५ ॥

अहो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छम अभिहमादीणि ।
पंता पेलवगहणं, पुणरावत्तिं तहा लुविधं ॥ १५ ॥
अहो उग्गमेगतरदोसं कुज्जा, पच्छमामिहं पागाइमि-
हइ वा अण्णत्तपंता साहुसु पेलवगहणं करेज्ज-अहो इमे
अदिषदाणा, जो आगच्छति तमोभासति, साहुसावगधम्मं

वा पडिवज्जामि स्ति, ओजासिओ उदुदुरुद्धो पमिणियत्तो जाहे सावगो होहामि ताहे ण सुइहिंति, जइ पव्वज्ज घेप्पामो स्ति पगो विपरिणमति, तो मूय दोसु णवम तिसु चरिम, ज च ते विपरिणया असजम काहिंति तमावज्जति, अधवा णिएहएसु वच्चति जम्हा एते दोसा नम्हा ण ओभासियव्वो आगमो, एव वि पच्छित्त परिहरिय आणा अणुपालिया, अणवत्था, मिच्छत्त च परिहरियं, दुविहविराहणा परिहरियत्ता कारणे पुण ओभासति । इमे य कारणा-

असिवे ओमोदरिए, रायदुडे जए व गेदएहे ।

अद्धाण रोहए वा, जतणा ओजासितुं कप्पे ॥१६॥

तिगुणगतेहि ण दिट्ठो, एयीया बुत्ता तु तस्स तु कहेह ।

पुट्ठापुट्ठा व तनो, करेति जं सुत्तपडिकुट्टं ॥ १७ ॥

एगंते जो तु गमो, णियमा पोहत्ति धम्मि सो चेव ।

एगता तो दोसा, सविसेसतरा पुहत्तम्मि ॥ १८ ॥

असिवे जदा मासं पत्तो ताहे घर गतु ओजासिज्जति, अदिठे महिला से ज्जति-अक्खेज्जासि सावगस्स साधुणो द्दुमा-गता, ते आसितो अविरहे य सप्पेवे सोड महभावेण वा आगतो सव्वं से घरगमण कदिज्जति, कारणं च से द्वाविज्जति, ततो जयणाए ओजासिज्जति, जइ सो भणति, घर पज्जह, ताहे तेणेव सम गतव्व, मा अभिहड काहिंति, असुख वाएव राय-ड्ढादिसु वि पणितियसुत्ता तो पोहतिपसु सविसेसतरा दोसा ॥

पुरिसाणं जो उ गमो, णियमा सो चेव होइ इत्थीसु ।

आहारे जो उ गमो, णियमा सो चेव उवधिम्मि ॥ १९ ॥

जो पुरिसाणं गमो दोसु सुत्तेसु इत्थीण वि मो च्चेव दोसु सुत्तेसु वत्तव्वो, जो आहारे गमो सो चेव अविसेसिओ उवकरण द्दव्वो ॥ १९ ॥

सुवाणि चउरो-

जे निक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थिएण वा गारित्थिएण वा असण वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहिंता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेदिय २ परिजविय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाउ वा गारित्थियाउ वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहिंता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेदिय २ परिजविय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे निक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाणी वा गारित्थियाणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहिंता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेदिय २ परिजविय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे निक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु

वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाउणी वा गारित्थियाउणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहिंता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेदिय २ परिजविय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

आगंतारासु द्वियाण साहण अन्नउत्थियाओ गारित्थियाओ वा अभिहड-आभिमुख्येन इतं अभिहट्टं, पारणादिसु कोइ सप्पे सयमेव आहट्टु दलपज्जति, पडिसेहेत्ता तमेव चित्तं दायार अणुवित्तिय चित्तं, सत्त पदाइ गता परिवेदिय चित्तं, पुरतो पिट्ठतो पसतो ठिच्चा परिजविय चित्तं परिजल्य २ तुज्जेहे राय अम्हट्टा आणियं मा तुज्ज अफलो परिस्समो भवतु, मा वा अधिति करेस्सह, तो गेएहामो । एव ओभासंतस्स मासलडु । सुदे वि असुदे पुण जेण असुद तमावज्जो ॥

अगंतारासु, आरामागारे तह गिहा वसही ।

गिहअसत्तियए वा, आणिज्जा अभिहडं असत्तियमा २ ॥

ओलज्जणमणुवयणं, परिवेदण पासि पुरउ ठातुं वा ।

परिजवणं पुण जंपइ, गेएहामो मा तुमं रस्स ॥ २१ ॥

अणुवइय चित्तं ओलगिउ अदव्वलिसुं परिवेदण पुरतो पास-ओ वाउ परिजवण परिजवणः ; इम जपइ-गेएहामो, मा तुमं रुसिहिसि ॥ २१ ॥

तं पमिसेवे नूणं, दोबं अणुवतिय गेएहती जो उ ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्ताविराधणं पावे ॥ २२ ॥

एतेण उ वा तमापहडमेव पडिसेहेउ एकप्रतिषेधं, द्वितीयो प्रहा जो एव गेएहति, तस्स आणादी दोसा, भइपतदोसा व । आणाए भक्को अणवत्था कता, अस्सहाकार तेण मिच्छत्त जणियं, इमे संजमधिराहणा दोसा, भइपतदोसो य ।

तेणं गेएहति भइउ, करे पसंगं अहासियाउजिरता ।

माई कवढायारा, घेत्तव्वं जएणती पंता ॥ २३ ॥

भइो चित्तेइ-एतेण उवाएण गेएहति, आहने पुणो पसग करेति, पतो पेववग्गहण करे, भणेज्ज वा आसिय अनृत, तम्मि अभिअजिरया अश्रियाजिरया ण गेएहमो स्ति जणिया पच्छा गेएहं-ति मायाविणो, तत्थ वसहीएण गेएहंति, इह पमिणियतस्स गेएहति, कवरु कृतकाचारो कवरुण सव्व पवज्ज आयरति; ज पतोसिं कोइ सव्वजावो अत्थि, सव्वमावेण माई किरियाजुत्तो कव-मायारमादिं भरणति । एव पत्तो वदति-जम्हा एते दोसा तम्हा ण एव घेत्तव्वं, कारणे पुण सगहण कुज्जति ॥ २३ ॥

असिवे ओमोयरिए रायदुडे जए व गेलए ।

अद्धाण रोहए वा, जतणा पमिसेवणा गहणं । २४ ।

पमिसेहे उ जतणाए गेएहति । कायजयणा, इमा-

जदि सव्वे गीतत्था, गहणं तत्थि व होति तु अलंजो वि ।

मीमे पुण वाइजणं, माय पुणो तत्थ आणइ ॥ २५ ॥

जाहे पणगाइजयणाए मासलडु पत्तो, ताहे जइ सव्वे साधू गीयत्था, ताहे तत्थेव वसहीए गेएहति, एस गणिवारणाय वा मसति-अम्हं घरगयाण च्चेव दिज्जति, तज्जाणिज्जति, तानि जस-ति-अज्जेक गेएहइ, ण पुणो अ येमो ताहे जयेति असज्जोत, मया-

अस्यउत्थिय

वता अगीयमीसे पुण अगीयतथपुरतो पमिसेधेउं पच्छतो त-
स्स अणुवतिकण भणति-मा पुण आणेह, नत्थव अम्हे हिमता
पहामो, गिमतेज्जा । अहवा जह अस्सदोसवज्जित नहुपतदोसा
वा ण नवति, ताहे गेएहति, इम च नणति—

तुमे दूराहणं एतं, आदरेण सुमंमितं ।

मुहवणो य ते आसी, विवणो तेण गेएहमो । १२६ ।

तुमे दूराओ आणिय वेमवाराइयाण सुसमिषिय कयं तुज्ज
पमिसेधिते मुहवणो विवणो वि आसी, तेण गेएहामो, एव
जयणाए गेएहति, पसंगो गिवारितो अगीया य वचिया आहड प्र-
निनिवृत्तजावात्मीकृतत्वात्, एव इत्थियासु वि, एव बुद्धत्त सुत्ते
वि १२६ ॥ नि० चू० ३ उ० ॥

(१४) धातुप्रवेदनम्—

जे जिकवू अएणउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा गारत्थि-
याणिहिं वा धाउं पावेदइ, पावेयंतं वा साइज्जइ । १२७ ।

जे जिकवू अस्सउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा गार-
त्थियाणिहिं वा धाउं पवेइ, पवेयंतं वा साइज्जइ । १२८ ।

यस्मिन् धम्ममाने सुवर्णं पति, स धातुः ।

अएणयरागं धातुं, निहिं व आइक्खत्ते तु जे भिक्खू ।

गिहिअस्सत्तिथियाण व, सो पावति आणमादीणि । १२९ ।

अस्सयरगहणातो बहुजेदा धातुणिआणणिधीणिहित स्थापित,
अविणजातमित्यर्थः । त जो महाकासमतादिणा णाउ अस्सत्ति,
तस्स आणादिया दोसा । इम धातुजेदा—

तिविहो य होति धातू, पासाण रसो य मट्टिया चेव ।

सो पुण सुवण वुत्त, वरतरकालायसादीणं ॥ १३० ॥

सपरिगहेतरो वि य, होइनिही जलगओ य थलगो य ।

कयाऽकय होति सन्वो, अहिकतरं कायवहो धातुम्मि । १३१ ।

जत्थ पासाणे जुत्तिणो जुत्ते वा धम्ममाणे सुवणादि पमति,
सो पासाणधातु, जेण धातुपाणिण तंवगादि आसत सुवणा-
दि भवति, सो रसो जसति । जा मट्टिया जोगजुत्ता अजुत्ता वा
धम्ममाणा सुवणादि भवति, सो धातुमट्टिया, कालायस लोह
आदिगहणाओ मणिरयणमोत्तियप्पवालगरादिणिहाणे इमो
विगणो । (सपरि)गाहा । सो णिही मण्यदेवतेहिं परिगहितो वा
दिज्ज, अपरे जतो वा सो जले वा होज्ज, थले वा, जो स थले,
सो दुविधो-णिक्खतो वा अनिक्खतो वा, सन्वो चेव णिसी-
हकवेण दुविधो-कयरुवो अकयरुवो वा, रुवगाभरणादि कय-
रुवो, चक्कपिण्डितो अकयरुवो । से परिगहे अधिकतरा दोसा,
कहेतस्स णिहाणगसामिसमीवातो धातुणिहिंसय साधु धा-
तुआय कारवेति, एसो धातुदसणे दोसा । इमो णिधाणे मयू-
रकदिष्ठतो—

अहिकरणं जा करणं, निहिम्मि मक्कोमगहणादी ।

मोरणिवऽकिपदीणा-रपिहियणिहिजाणएण ते कहिया ।

दिछा ववहग्माणा, कओ तए परंपरागहणं ॥ १३२ ॥

मयूरको णामराया, तेण मयूरकेण अकिता दीणारा, आहरणा-
दिया, नेहि दीणारोहिं णिहाण उविय, तस्मि उविते घट्टकालो

गतो, त केणइ नेमिस्सिणा णिहितक्खणेण णाय, त तेहिं उक्खा-
य, ते दीणारा ववहरता रायपुरिसेहिं दिछा । सो वणिओ, तेहिं
रायपुरिसेहिं रायसमीवणीतो । रसा पुच्छिओ-कतो एते तुभं
दीणारा । तेण कहिय-अमुगसमीवातो । एव परपरेण ताव णीय,
आव जेहिं उक्खत, तेहिं सो गहितो, दमियो य, असजयाणिगहणे
अधिकरण णिट्ठिओ, क्खणेण य निसि जागरण कायव, अहवा
णिहिदसणे अधिकरण जागरण णाम यजनकरण उवाचवन-
धुवपुष्पावक्षिमादिकरणे अधिकरणमित्यर्थः । णिहिक्खणे य
विभीसिगा-मक्कोमगादि वि सतुमा भवति, तत्थ आयविराड-
णादि रायपुरिसेहिं य गहणं, तत्थ गेएहणकट्टणादिया दोसा,
एत्थ इम वितियपद—

अमिवे ओमोयरिए, रायदुठे भए व गेलसे ।

अप्पाण रोहकज्ज-हजातवादी पजावणादीसु ॥ १३३ ॥

असिवे वेज्जो आणितो, तस्स दंसिज्जति, धातुणिहाणग वा,
ओमे अस्सथरता गिहिअणतिथिए सहाए वेत्तु धातु करोति, णि-
हिं वा गेएहति, रायदुठे रएणो उवसमणछा सयमेव, जो वा त
उवसमेति, तस्स वा धाउ णिधाण वा दसेति, बोधिगादिजयतो
जो तापेति, तस्स दसेति, गिहाणकज्जे सय गिएहति, वेज्जस्स
वा दसेति, अद्धाणे जो णित्थारेति, रोहगे अस्सथरता सहायस-
हिता गेएहति, अहवा जो रोहगे आधारचूतो, तस्स दसेति, कु-
लाइकज्जे वा सजतिमादिणिमित्तं वा अक्काजे वादी वा उदा-
सीणगहणद्वा पवयणपमावणद्वा पूयादिकारणणिमित्तं सहाय-
सहितो गिहिअणतिथिएहिं धातुं णिहाण वा गेएहेज्ज ।
नि० चू० १३ उ० ।

(२५) पादानामार्जनप्रमार्जनम्—

जे जिकवू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पायं आ-
मज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ
। १३४ । जे भिक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पाए
संवाहेज्ज वा, पझिमहेज्ज वा, सवाहंतं वा पलिमहंतं वा
साइज्जइ ॥ १३५ ॥ जे जिकवू अएणउत्थियस्स वा गार-
त्थियस्स वा पाए तेह्णेण वा घएण वा वसाएण वा एवणी-
एण वा पंत्वेज्ज वा, भिल्लिगेज्ज वा, मंखंतं वा जिल्लिगंतं वा
साइज्जइ ॥ १३६ ॥ जे जिकवू अएणउत्थियस्स वा गारत्थि-
यस्स वा पायं लोद्धेण वा ककेण वा पोउमजुप्पेण वा उद्धोले-
ज्ज वा, उव्वहेज्ज वा, उद्धोझंतं वा उव्वट्ठंतं वा साइज्जइ । १३७ ।
जे भिक्खू अस्सउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पायं सी-
ओदगवियनेण वा उसिणोदगवियनेण वा उच्छोलेज्ज वा,
पथोएज्ज वा, उच्छोझंतं वा पथोयंतं वा साइज्जइ ॥ १३८ ॥
जे जिकवू अस्सउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा काय आ-
मज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ १३९ ॥ जे जिकवू अस्सउत्थियस्स वा गारत्थि-
यस्स वा काय फूमेज्ज वा रएज्ज वा, जाव माइज्जइ
॥ १४० ॥ जे जिकवू अस्सउत्थियस्स वा गारत्थियस्स
वा कायं सगहेज्ज वा, पझिमहेज्ज वा, मंवाहंतं वा पलिमहंतं

वा साइज्जइ ॥ १२१ ॥ जे भिक्खू असुत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं तेह्णेण वा घण्ण वा वण्णेण वा वसाण्ण वा मंखेज्ज वा, जिर्लिंगेज्ज वा, मंखंतं वा जिर्लिंगंतं वा साइज्जइ ॥ १२२ ॥ जे जिक्खू असुत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं लोद्धेण वा कक्केण वा पोत्तमचुल्लेण वा उद्धोलिज्ज वा, उव्वहेज्ज वा उद्धोलंतं वा उव्वहुंतं वा साइज्जइ ॥ १२३ ॥ जे भिक्खू अणत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं सीओदगवियेण वा लसिणोदगवियेणेण वा उच्छोद्धेज्ज वा, पथोयेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पथोयंतं वा साइज्जइ ॥ १२४ ॥ जे जिक्खू अणत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं फूमेज्ज वा, रयेज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ १२५ ॥ जे जिक्खू अणत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं सिबणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ १२६ ॥

एव जाव तइयो उहेसो गमो णेयव्वो, णवर असुत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा अभिलावो जाव ।

जे भिक्खू गामाणुगामं दूइज्जमाणे असुत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारिमं करेइ, करंतं वा साइज्जइ १६६ तुतीयोद्देशकगमनिका चत्वारिंशत्तिस्सुत्रवक्तव्या यावत् । जे भिक्खू असुत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारिय क्करीत्थादि ॥

पायए मज्जणादी, सीसदुवारादि जे करेज्जाहिं ।

गिह्मिअसुत्थिययाण व, सो पावति आणमादीणि । ३५ ।

असुत्थिय पायच्छिन्नं, आणादिया य दोसा भवति । मिच्छे धिरीकारेण सेहादियाण य तत्थ गमणं पचयणस्स ओभाषणं; जम्हा एते दोसा तम्हा एतेसि वेयावच्च णो कायव्व । कारणे पुण कायव्व-

वितियपदमणज्जे, करेज्ज अवि को वि ते व अप्पज्जे ।

जाणंते वा वि पुणो, परलिंगे सेहमादीसु ॥ ३६ ॥

कारणे परलिंगपवणो करेज्जा, सेहो वा अणलो विर्णिज्जिव्वो, किमिति करेतो सुद्धो, तस्सगतो वा पच्चत्तण करेतो सुद्धो ॥ नि० सू० ११ उ० ।

(२६) पदमार्गादि-

जे जिक्खू पदमार्गं वा संकमं वा अवलंबणं वा असुत्थिय-एण वा गारत्थियएण वा कारेति, करंतं वा साइज्जइ । ११ ।

जे जिक्खू पूर्ववत् । पदं पदानि, नेसिं ममो पदमार्गो, सो माणा सकमिज्जति, जेण सो सकमो काष्ठचारेत्यर्थः । अवलंबिज्जति चि । ज त अवलंब सो पुण वेति, ता मत्तावलंबो वा, चगारो समुच्चय-वाची । एते असुत्थियएण वा गिहत्थेण वा कारावेति, तस्स मासुगुरु, आणादिणा य । इदानीं निज्जुती-

पदमार्गसकमाद-वण वसहिंसंबद्धमेतरो चेव ।

विसमे कइमओ दएँ, हरिते तसपाणजातिसु वा ॥ १२२ ॥

अस्य व्याख्या-

पदमार्गो सोवाणा, ते ते तज्जा व होज्ज इतरे वा ।

तज्जाता पुढवीए, इहगमादी अतज्जा य ॥ १२३ ॥

पदानां मार्गः पदमार्गः, सो पुण मग्गो सोवाणा । ते दुविहा-तज्जाया, इतरे अतज्जाया । तस्मि जाता तज्जाता, पुढवि चेव अणिऊण कता, न तस्मि अजाया अतज्जाया, इहगपासाणादिहिं कता, एकेका वसहीए सब्बा, पतरा असब्बा, वसहीए लमा विता, असब्बा अगणए अगपेवसदारे वा, त पुण विसमे कइमे वा उदरे वा हरिपसु वा जातेसु तसपाणेसु वा घणा-संसत्तेसु करोति । इदानीं सकमो चि ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

अस्य व्याख्या-

दुविधो य संकमो खलु, अणंतरपइठितो य वेहासो ।

दव्वे एगमणेगो, बलाबलो चेव णायव्वो ॥ १२४ ॥

संकमिज्जति, जेण सो संकमो, सो दुविहो । खलु अवधारणे । अणतरपइठितो-जो भूमीए चेव पइठितो, वेहासो-जो कमासु वा घेदीसु वा पइठितो । एकेको दुविहो-एगमिओ य अणेगमिओ य; एकानेकपइठितेत्यर्थः । पुनरप्येकेको बलस्थिरविकल्पेन नेयः, तदपि विषमकर्तृमादिषु कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अस्य व्याख्या-

आलंबणं तु दुविहं, भूमीए संकमे व णायव्वं ।

दुहतो व एगतो वा, वि वेदिया सा तु णायव्व ॥ १२५ ॥

एतस्स चेव सकमस्स अवलंबणं कज्जति, त अवलंबणं दु-विहं भूमीए वा संकमे वा भवति । भूमि ए विसमे लमाव्वि-मिच्छ कज्जति, सकमे वि लंगणणिमिच्छ कज्जति, सो पुण दुहओ एगओ वा भवति, सा पुण वेदिय चि भवति, मत्ताव-लवो वा ॥ १२५ ॥

एतेसामसुतरं, पदमार्गं जो तु कारणं जिक्खू ।

गिह्मिअसुत्थियएण व, सो पावति आणमादीणि । १२६ ॥

एतेसि पयमग्गसंकमावलंबणमसुतरं जो जिक्खू गिह-त्थेण वा असुत्थियएण वा कारावेति, सो आणादीणि पावेति, इमे दोसा ॥ १२६ ॥

खणमाणे कायव्वो, अविते वि य वणस्सतितसाण ।

खणणेण तच्छणेण व, अहिदुहरमादिआयाए ॥ १२७ ॥

तस्मि गिहत्थे असुत्थियए वा, खणंते छन्न जीविकायाण विराहणा भवति, अहं वि पुढवी अज्जिमा भवति, तहा वि वणस्सतितसाणं विराहणा । अहं वा पुढवीअणणे अहिं दुहरं वा घाएज्जा, कं वा तच्छित्तोअतरेअहिं उंदुरं वा घाएज्जा, एसा संजमविराहणा, आयाए हत्य वा पाद वा वसेज्जा, अहिमादिणा वा सज्जेज्जा, जम्हा एते दोसा तम्हा य तेहिं कारावेज्जा, अववाएण कारावेज्जा वि ॥ १२७ ॥

बमहीउद्धभताए, वाघातज्जाए अपव सुलभाए ।

एतेहिं कारणेहिं, कप्पति ताहे सयं कारणं ॥ १२८ ॥

उद्धमा वसही, मग्गतेहिं वि ल लप्पति, अहं वा सुद्धमा

વસહી, કિં તુ વાઘાતજ્ઞતા લભ્મતિ, તે ચ વાઘાયદશ્વપઙ્કિ-
ચક્ષા, ભાવપઙ્કિચક્ષા, જોતિપઙ્કિચક્ષા इत्यादि । પચ્છુચ્ચ કઠ ।

સયં કરણે તાવ હમેરિસો સાદૂ કરતિ—

જિતિદિઓ ધિણી દક્ષે, પુન્વ તક્કમ્મભાવિતો ।

ઠવજ્જો જતી કુજ્ઞા, ગીયત્થો વા અસાગરે ॥૧૨૬॥

શ્વિયજપમાણો જિદિઓ, જીવદયાલુ ધિણી. અષ્ઠોષ્ઠકિરિ-
યાકરણે દક્ષજો, (પુન્વમિતિ) ગિહત્યકાલે તક્કમ્મભાવિતો ચામ
તત્કર્માભિશ્ચ । સ ચ રહકારધરાણિપુત્રેત્યાદિ, યતી પ્રઘજિત,
સ ચ ઉપયુક્ત કુર્યાવ, મા જીવોપઘાતો ભવિષ્યતિ, એવ તાવત
કમ્મભાવિતો ગીયત્થો, તસ્સ અભાવે અગીયત્થો, તક્કમ્મભા-
વિતો નસ્સ ભાવે, તત્કર્માભિભાવિતો તસ્ય અભાવે ગીયત્થો અ-
ગીયત્થો ય અપતે સન્ને વિ અસાગરે કરેતિ । જદા તેહિ પ-
દમગ્ગસકમાલબણેહિ કજ્જ સમ્મત્ત તદા હમા સામાયારો-

કતકજ્જે તુ મા હોજ્ઞા, તથો જીવિરાધણા ।

મોત્તું તજ્ઞાયસામાણે, સેસે વિ કરણં કરે ॥ ૧૨૭ ॥

કતિ પરિસમસે કજ્જે મા જીવિરાધણા પ્રવેત્, તથો તસ્માત્
સાધુપ્રયોગાદ્ અત તજ્ઞાતો સામાણે મોત્તુ સેસે વિ કરણ
વિણાસણ કુજ્ઞા, તજ્ઞાણ વિણાસે સ્તિ, મા પુદવિકાદય-
વિરાધણા ભવિસ્સતિ અવવાયં । ઇત્સંગે પસે અવવાઓ
મશ્ચતિ—

વિતિયપદમણિગ્ગે વા, ણિગ્ગે વા કેણઈ ભવે અસહૂ ।

વાઘાઓ ડવહિસ્સા, પક્કવરણં કપ્પતી તાહે ॥ ૧૨૮ ॥

વિતિયપદં અવધાતો, તેણ સય કરેતિ, ગિહિણા કારવેતિ, કદઈ,
જઘ્ચતિ-સય અણિગ્ગે ણિગ્ગે વા કેણઈય રોગાતંકેણ અસહૂ
સહુણો વા વાઘાતો વિગ્ધત ચ આયરિયગિલાણો તિ પમોઅણ
પરો ગિહત્યો જતો અપ્પણા પુન્વાજિદિયકારણાતો અસમત્યો,
તાહે તેણ કારાવઞ્ચ કપ્પતે, તેસિ ગિહિત્યાણ ક્કરાયણે હમો
કમો-

પચ્છાકમ્મ સાજિગ્ગહ, ણિરાજિગ્ગહ જદ્દણ વ અસણી ।

ગિહિઅણતિતિય વા, ગિહિપુન્વં પત્તરે પચ્છા ॥ ૧૨૯ ॥

પચ્છાકમો પુરાણો પદમ તાઘ તેણ કારવિજ્જતિ, તસ્સ
અભાવે સાજિગ્ગહો ગિહીયાણુવ્વતો સાવગો, તતો નિરાજિગ્ગહો
દક્ષણસાવગો, તમો અધા મહ્દણ અસણિગિહિણા મિથ્યાદ-
ધિના પચ્છાકમાદિ પરતિતિયા વિચરો દ્વચ્ચા । પતેસિ પુણ
પુન્વં ગિહિણા કારવેયવ્વ, પચ્છા પરતિતિયા અપ્પતરપચ્છાકમ્મ-
કોસાતો ॥ ૧૩૦ ॥ નિ ૦ ચૂ ૦ ૧ ૩૦ ।

જે નિકલ્લ અસહતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો
પાણ આમજ્જેજ્જ વા, પમજ્જેજ્જ વા, આમજ્જંતં વા પમજ્જંતં
વામાહજ્જઈ ॥ ૧૩૧ ॥ જે નિકલ્લ અણતિયણ વા ગાર-
તિયણ વા અપ્પણો પાણ સંવાહેજ્જ વા, પલિમજ્જેજ્જ વા,
સંવાહંતં વા પલિમદંતં વા સાહજ્જઈ ॥ ૧૩૨ ॥ જે નિકલ્લ
અણતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો પાણ તેલ્લેણ
વા ઘણ વા વણેણ વા વસાણ વા ણવણીણ વા મંલેજ્જ
વા, નિલિંગેજ્જ વા, મંલંતં વા નિલિંગંતં વા સાહજ્જઈ ॥ ૧૩૩ ॥

જે નિકલ્લ અણતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો
પાણ લોલ્લેણ વા કકેણ વા અહાણેણ વા પોઝમચ્ચુણેણ વા
સિણહાણેણ વા ડવ્વટ્ટેજ્જ વા, પરિયટ્ટેજ્જ વા, ડવ્વટ્ટંતં વા
પરિયટ્ટંતં વા સાહજ્જઈ ॥ ૧૩૪ ॥ જે નિકલ્લ અણતિયણ વા
ગારતિયણ વા અપ્પણો પાણ સીઝોદગવિયમેણ વા ડસિ-
ણોદગવિયમેણ વા ડચ્છોલેજ્જ વા, પધાવેજ્જ વા, ડચ્છાલંતં
વા પધોવંતં વા સાહજ્જઈ ॥ ૧૩૫ ॥ જે નિકલ્લ અણતિયણ
વા ગારતિયણ વા અપ્પણા પાણ પૂજ્જ વા, રણજ્જ વા,
મંલેજ્જ વા, પૂમંતં વા રયંતં વા મંલંતં વા સાહજ્જઈ ॥ ૧૩૬ ॥ જે
નિકલ્લ અણતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો પાણ
આમજ્જેજ્જ વા, પમજ્જેજ્જ વા, આમજ્જંતં વા પમજ્જંતં વા
સાહજ્જઈ ॥ ૧૩૭ ॥ જે નિકલ્લ અણતિયણ વા ગારતિયણ
વા અપ્પણો કાર્યં સંવાહેજ્જ વા, પલિમદેજ્જ વા, સંવાહંતં વા
પલિમદંતં વા સાહજ્જઈ ॥ ૧૩૮ ॥ જે નિકલ્લ અણતિયણ વા
ગારતિયણ વા અપ્પણો કાર્યં તેલ્લેણ વા ઘણ વા વણેણ
વા વસાણ વા ણવણીણ વા મંલેજ્જ વા, નિલિંગેજ્જ વા,
મંલંતં વા નિલિંગંતં વા સાહજ્જઈ ॥ ૧૩૯ ॥ જે નિકલ્લ અણ-
તિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો કાર્યં લોલ્લેણ વા
કકેણ વા અહાણેણ વા પોઝમચ્ચુણેણ વા વણેણ વા સિણ-
હાણેણ વા ડવ્વટ્ટેજ્જ વા, પરિયટ્ટેજ્જ વા, ડવ્વટ્ટંતં પરિયટ્ટંતં વા
સાહજ્જઈ ॥ ૧૪૦ ॥ જે નિકલ્લ અણતિયણ વા ગારતિયણ વા
અપ્પણો કાર્યં સીઝોદગવિયમેણ વા ડસિણોદગવિયમેણ
વા ડચ્છોલેજ્જ વા, પધોવેજ્જ વા, ડચ્છોલંતં વા પધોવંતં વા
સાહજ્જઈ ॥ ૧૪૧ ॥ જે નિકલ્લ અણતિયણ વા ગારતિય-
ણ વા અપ્પણો કાર્યં પૂમેજ્જ વા, રણજ્જ વા, મંલેજ્જ વા,
પૂમંતં વા રયંતં વા મંલંતં વા સાહજ્જઈ ॥ ૧૪૨ ॥ જે નિકલ્લ અણ-
તિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો કાર્યંસિ વણં આ-
મજ્જેજ્જ વા, પમજ્જેજ્જ વા, આમજ્જંતં વા પમજ્જંતં વા સાહજ્જઈ
॥ ૧૪૩ ॥ જે નિકલ્લ અણતિયણ વા ગારતિયણ વા અ-
પ્પણો કાર્યંસિ વણં સંવાહેજ્જ વા, પલિમદેજ્જ વા, સંવાહંતં વા
પલિમદંતં વા સાહજ્જઈ ॥ ૧૪૪ ॥ જે નિકલ્લ અણતિયણ
વા ગારતિયણ વા અપ્પણો કાર્યંસિ વણં તેલ્લેણ વા ઘણ
વા વણેણ વા વસાણ વા ણવણીણ વા મંલેજ્જ વા,
નિલિંગેજ્જ વા, મંલંતં વા નિલિંગંતં વા સાહજ્જઈ ॥ ૧૪૫ ॥ જે
નિકલ્લ અણતિયણ વા ગારતિયણ વા અપ્પણો કાર્યંસિ વણં
સીઝો-
દગવિયમેણ વા ડસિણોદગવિયમેણ વા ડચ્છોલેજ્જ વા,

पलिमदावेज्ज वा, संवाहावतं वा पञ्चिमदावतं वा साइज्जइ । ५३ । जे भिक्खू अस्रउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा अप्पणो ओट्टे तेह्णेण वा घणण वा वसण
वा वसाएण वा णवणीएण वा मखावेज्ज वा, भिल्लिगा-
वेज्ज वा, मंखावत वा भिल्लिगावतं वा साइज्जइ । ५४ । जे
भिक्खू अस्रउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्टे
लोप्पेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउमसुप्पेण वा वसो-
ण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उट्ठोलावतं वा
उव्वट्टावतं वा साइज्जइ । ५५ । जे भिक्खू अस्रउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्टे सीओदगवियमेण वा उमि-
णोदगवियमेण वा उट्ठोलावेज्ज वा, पथोवाएज्ज वा, उच्छो-
लावतं वा पथोवावतं वा साइज्जइ । ५६ । जे भिक्खू अस्र-
उत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्टे फूमावेज्ज वा,
रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावतं वा रयावतं वा मंखा-
वत वा साइज्जइ । ५७ । जे भिक्खू अस्रउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा अप्पणो अच्चिणि आमज्जावेज्ज वा, पमज्जा-
वेज्ज वा, आमज्जावतं वा पमज्जावतं वा साइज्जइ । ५८ । जे
भिक्खू अस्रउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अ-
च्चिणि संवाहावेज्ज वा, परिमहावेज्ज वा, संवाहावतं वा
पलिमदावतं वा साइज्जइ । ५९ । जे भिक्खू अस्रउत्थिएण
वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्चिणि तेह्णेण वा घणण
वा वसण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज
वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखावतं वा जिल्लिगावतं
वा साइज्जइ । ६० । जे भिक्खू अस्रउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा अप्पणो अच्चिणि लोप्पेण वा ककेण
वा एहाणेण वा पउमसुप्पेण वा वसोण वा उट्ठो-
लावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उट्ठोलावतं वा उव्वट्टावतं
वा साइज्जइ । ६१ । जे भिक्खू अएणउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा अप्पणो अच्चिणि सीओदगवियमेण वा
उसिणोदगवियमेण वा उट्ठोलावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा,
उट्ठोलावतं वा पथोवावतं वा साइज्जइ । ६२ । जे भिक्खू
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्चिणि
फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावतं वा रया-
वतं वा मंखावतं वा साइज्जइ । ६३ । जे भिक्खू
अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्चिमज्जं
वा कएणमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज,
णीहरावतं वा साइज्जइ । ६४ । जे भिक्खू अएणउत्थिए-
ण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायाउसेयं वा जलं वा प-
कं वा मल्लं वा णीहरावेज्ज वा, विमोहावेज्ज वा, णीहराव-
तं वा विसोहावतं वा साइज्जइ । ६५ । जे भिक्खू गामाणु-

गामं दुइज्जमाण अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा
अप्पणो सीसदुवारिय करेइ, करतं वा साइज्जइ । ६६ ।
सुत्तथो जहा ततिउहेसगे, तहा भणियव्व, णवर अएणउत्थिएण
कारवेइ त्ति वत्तव्व । एव प्रलम्भाधिकारः समाप्तः ।

पादप्पमज्जणादी, सीसदुवारादि जो करेज्जाहि ।

गिहिअस्रतिथिएहिं व, सो पावति आणमादीणि । ५८ ।
तेहिं अएणउत्थिएहिं गारत्थिएण वा कारवेतस्स खु किं
कज्जं ?, उच्यते-

कुज्जा व पच्छकम्मे, से य मलादीहिं होज्ज व अवणो ।
सपातमेव होज्जा, उट्ठोलाणकावणे कुज्जा । २५६ ।

ते साहुस्स पादे पमज्जिता पच्छाकम्म करेइ, ताहुस्स प्रस्वेद
मल वा ददु घाण वा तेसिं अघाइऊण असुइ इति अवस्य भासे-
ज्ज, अजयणाए वा पमज्जता सपातमेव होज्ज, यहुणा वा दव्वे
अजयणाए धोवता उट्ठोलाणदोस करेज्जा, चूमि ठिए वा
पाणी आवेज्ज, इमो अवधादो ॥ २५६ ॥

वितियपदमणप्पन्नो, कारेज्जवि कोवि ते वि अप्पन्नं ।
जाणते वा वि पुणो, परल्लिगे सेहमादीसु ॥ २६० ॥

अणुप्पन्नो कारवेज्जा, सेहो वा अजाणतो कारवेज्जा, कारणेण
वा परल्लिगे गहिते परल्लिगिभज्जहिओ कारवेज्जा, सेहो वा उव-
चित्तो जाव ण विक्खिज्जति तेण कारवेज्जा । २६० । किंचान्यत्-

पच्छाकम्मादीहिं, विस्सामावेड वादि उज्जातो ।

पणविज्ज भाविताणं, सति देइ हत्थकप्पं तु ॥ २६१ ॥

साहुण अभावे पच्छाकम्मेण, आदिसद्दातो गिहीयाणुव्वण
दसण, सावणेण वा एनेहिं विस्सामए, को विस्सामाविज्जा ?, वा-
दी वा अजाणतो वा उज्जातो आन्तः । जे भाविता ते पणवि-
ज्जति । साधूनां पादरज श्रेष्ठमाङ्गल्यं शिरसि धार्यते न दोषः ।
जे पुणअभाविता तेसिं सति मधुरपवणविज्जमानेन हत्थकप्पो
तेसिं विज्जति, मा पच्छाकम्म करिस्स । नि० चू० १५ उ० ॥

('अणमणकिरिया' शब्दे सवाधनपरिमर्दनसूत्राणि वक्ष्यन्ते)

(२७) भूतिकर्मादि-

जे भिक्खू अस्रउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा चूइकम्मं
करेइ, करतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू अस्रउत्थि-
याण वा गारत्थियाणं वा पसिणं करेइ, करत वा साइज्जइ
॥ १५ ॥ जे भिक्खू अस्रउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा
पसिणापसिणं करेइ, करत वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भि-
क्खू अस्रउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं कहेइ,
कहतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खू अस्रउत्थियाणं वा
गारत्थियाण वा पसिणापसिण कहेइ, काहंतं वा साइज्जइ
॥ १८ ॥ जे भिक्खू अस्रउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा
तीतनिमित्तं करेइ, करतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिक्खू
अस्रउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पमिपुस निमित्तं करेइ,
करतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिक्खू अस्रउत्थियाणं

वा गारत्थियाणं वा आगमी संनिमित्तं करेइ, करंतं वा सा-
इज्जइ ॥ २१ ॥ जे भिक्खू असुउत्थियाणं वा गारत्थिया-
णं वा लक्खणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे
भिक्खू असुउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मूमिणं करेइ,
करंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू असुउत्थियाणं वा
गारत्थियाणं वा विज्जं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥
जे भिक्खू असुउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मंतं पउंजइ,
पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू असुउत्थियाणं
वा गारत्थियाणं वा जोगं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ
॥ २६ ॥ नि० चू० १३७० ।

मार्गप्रवेदनम्—

जे भिक्खू असुउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा णट्ठाणं
विपरियासियाणं मगं वा पवेदेइ, मंथिं वा पवेदेइ, मग्गाणं
वा संधिं पवेदेइ, संधिओ वा मगं पवेदेइ, पवेदंतं वा सा-
इज्जइ ॥ २७ ॥

इमो सुत्तथो—

नट्ठा पथि फिट्ठिता, मूढा उ दिसाविजाग मयुणंता ।

तं वि य दिसं पढं वा, पव्वेति विवज्जिया वन्नं ॥ ४७ ॥

पथि प्रनट्ठानां पन्थानं कथयति, अरुचीए वा मूढाणं दिसिभाग
अमुणंताणं वि दिसि विभागेण पढं कहेति । जतो चेव आगता
तं चेव दिसि गच्छताण विवज्जिता वयणं सम्भावं कहेति ॥ ४७ ॥

मग्गो खट्ठु सगमपट्ठो, पंथो वा तच्चिवज्जिता संधी ।

सो खट्ठु दिसाविजागो, पवेयणा तस्स कइणाओ ॥ ४८ ॥

संधी सखेमयगो जतो गमिस्सत्ति सो दिसाभागो, तं तेसि
मूढाणं पवेदेति, कथयतीत्यर्थः । सगममग्गा उजुसंधिसंखे-
इय पवेदेति, उजुसंधिसखेमया वा सगडमगं पवेदेति, कहय-
ति चि वुत्त भवति । अहवा सज्जो चेव पट्ठो मग्गो भण्णति, संधी
पथयोधयन्त्र । अहवा पंयुगमो चेव संधी, पंथस्स वा संधी
अतरे कहेति, संधी उ वा जो वामदक्खिणो पट्ठो, नं कहेति ४८

गिहिअसुउत्थियाण व, मगं संधी उ जो पवेदेति ।

मग्गातो वा संधिं, संधीतो वा पुणो मगं ॥ ४९ ॥

गतार्था । तंस्ति गिहिअणत्थियाण मग्गादि कहंतो इमं
पावति—

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तद्वा दुविहं ।

पावति जम्हा तेणं, एते उ वए विवज्जेज्जा ॥ ५० ॥

दुविहा आयपरसंजमविराधणा, तेसि साधुविधि तेणपहेण
गच्छताण इमे अमे दोसा—

उक्कायाण विराहण, सावय तेणोवहिं वि छुविहेहिं ।

ज पावति जाता वा, पदोम तेमिं तदिंओसिं ॥ ५१ ॥

ज ते गच्छता उक्काय विराहेति, स विराधतो तं निप्पणं पाव-
ति, तेण वा पहेण गठनानं ते सावयोधहय सरीरोवहितेणोवहवं
पावति, (जं पावेति चि) जया ते गच्छता अओसिं उवहवं करेति,

जतो वा ते अणिछिदिट्ठतो स्मय पावति, ततो ते तस्स पथवि-
हंगस्स साधुस्स अणस्स वा साधुस्स पदोसमावज्जेति, अमे
पडिणियत्तणेण परिसपथ बूढा, इमेण पतावणादि करेज्ज ।
अथवा दातो विधेज्ज ॥

वितियपदमणप्पज्जे, पावे आवि को वि ते व अप्पज्जे ।

अप्पाण असिं अहिओ—गआतुरादीसु जाणमवि ५३ ॥

खिसादिगो अप्पज्जो सेहो वा, अवि कोवि नो विधेज्ज, अ-
प्पज्जे वि अप्पाणे वा सत्थस्स पढं भज्जाणतस्स विधेज्ज । अ-
सिंवे गिलाणकज्जे वा वेज्जस्स कप्पियारिस्स वा आभिज्ज-
तस्स पंथमुवदिसति । अभियोगो सि बहारातिणा देसितो गहि-
ते एवमादिकरणोहिं जाणतो वि कहितो सुद्धो ॥ नि० चू०
१३७० ॥

(२८) [वाचना] अन्ययुधिकाः पास्त्राणि नो गृह्णिः सुक-
शीला वा न प्रमाजनीयाः—

जे भिक्खू अणणत्थियं वा गारत्थियं वा वाएइ,
वायंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे भिक्खू अणणत्थियं वा
गारत्थियं वा पडिच्छइ, पमिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥
जे भिक्खू पासत्थं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥
जे भिक्खू पासत्थं पमिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥
जे भिक्खू उसणं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥
जे भिक्खू उसणं पमिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥
जे भिक्खू कुसीलियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥
जे भिक्खू कुसीलियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥
जे भिक्खू णितियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥
जे भिक्खू णितियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥
जे भिक्खू संसत्तं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥
जे भिक्खू संसत्तं पमिच्छइ, पमिच्छंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ४० ॥

एवं पासत्थे दो सुत्ता, उसणे दो, कुसीले दो, ससत्ते दो, णि-
तिये दो, एतेसिं वायणं देति, पमिच्छति, प्रावयेण वा सज्जे-
अट्ठाच्छदवज्जिपसु चरलहु, अहवा अत्थे व अट्ठाच्छे चरलहु,
सुत्तं अत्थेसु—

आसुपासंमिय गिही, सुहसीलं वा वि जो उ पव्वज्जे ।

अट्ठव पडिच्छति तेमिं, चाओस्स य साति पोरिसिं ॥ ५२ ॥

(पोरिसिं चि) सुत्तपोरिसिं अत्थपोरिसिं वा दंतस्स, तेसिं
वा समीधातो पोरिसिं करंतस्स, अहवा एको पोरिसिं वापत-
स्स, अणोगासु इमं—

मत्तरत्तं तवो होति, ततो ठेदो पहावति ।

ठेदेण तिमपरिया, एतो मूलं ततो दुगं ॥ ५३ ॥

सत्तदिवसे चरलहुं तयो, ततो एक्के दिवसे चरलहुं ठेदो,
ततो एक्केकादिवसे मूलं उणवट्ठा पारचिया, अहवा तवो, तदेव व
चरलहुं, ठेदो, सत्तदिवसे सेसा, एक्केका दिवसे अहवा तवो
तदेव । गुरुच्छेदो, सत्तदिवसे, सेसा एक्केका, अहवा चरलहुं

वा सत्तदिवसे, ततो चउगुरु, ततो सत्तदिवसे, ततो ब्रह्म
सत्तदिवसे, ततो उगुरु सत्तदिवसे, ततो एते चैव, वेदो
सत्त सत्त दिवसे, ततो मृगऽणनष्टपपारत्रिया एकै-
कदिन, अहवा ते चैव चउलहगादिगा सत्तसत्तदिवसिगा, ततो
वेदो, धहुपणगादिगा सत्तसत्तदिवसिगा सत्तसत्तदिवसे जेयवा,
जाव उगुरु, ततो मूलगुणऽणनष्टपपारत्रिया एकैकदिवस;
गिहिअष्टतिथिपसु इमे दोसा ।

मिच्छत्तथिरीकरणं, तित्यस्सोत्तावणा य गेएहं तु ।

देति पवंचणकरणं, तेणोवक्खेवकरणं च ॥ २६ ॥

कह मिच्छत्त थिरतर? उच्यते-त द्दुंतेसि समीये गच्छ मिच्छ-
दिष्टी चिंतेति-इमे चैव पहाणतरा जाता, एते पि एतेसि समीये
सिक्खवति, लोगो द्दु भणाति, एतेसि अप्पणो आगमो णत्थि,
परे सवि, ताणि मिक्खति, गिस्सार पययण नि ओभावणा, अह
तेसि देति, ता ते सहइत्थादिज्जाविता महाजणमये चट्ट चोर
खुज्जा विलियासणए करीसण पिलुअण सि । एवमादि पवचण
करेति उइह च, अहवा तेणोवासिक्खिकरण अक्खेवेति, चोयण
करेज्जा, वूसेज्ज वा २२६ ॥

गिहिअष्टतिथियाणं, एए दोसाव देंत गेएहंते ।

गहणपमिच्छण दोसा, पासत्थादीणि पृच्छता ॥ २७ ॥

कत्ता, णवर पासत्थादिसु गहणपमिच्छणदोसा जे ते एणेरस-
मे उद्देसणे बुत्ता, ते द्दच्छवा, द्दणपससणादिया वा तेरसमे
जम्हा एते दोसा तम्हा गिहिअष्टतिथिया वा ण वापयवा,
परपासमिलक्खणे जो अण्णण मिच्छत्त कुब्बतो कुत्तिथिए
वा एति, जिणवयण वा णाज्जिगच्छति, सो परपासमी, जो पुण
गिही अणत्तिथिओ वा इमेरिसो-

नाणचरणे परुवण, कुण्णति गिही अहव अणण पासंमी ।

पयएहिं सपउत्तो, जिणवयमएणासगती जाति ॥ २७ ॥

णाणदंसणचरिणाणि परुवेति । जिणवयणचोरो एति सो स.
पासमी चैव सो वाइज्जइ, ज तस्स जोग्ग ॥ २२८ ॥

एते व विपमुक्को, गच्छति गति अणत्तिथीण ।

पव्वज्जाए अजिमुह, एति गिही अहव अणपासंमी ॥

उववायविहारं वा, पासत्था ओवगतुकाम वा ॥ २२९ ॥

जो अष्टतिथियाणुरूपा गती, तं गच्छति, सेस कउ, अये कार-
ण वा एज्जा वि(पव्वज्जाए) गाहा । गिही अणपासंमी वा पव्व-
ज्जानिमुह सावग वा उज्जीवणियत्ति जाय सुत्तयो, अत्थतो जाव
पिंडेसणा, एस गिहत्थादिसु अववादो, इमो पासत्थादिसु अववा-
दो ति ति उवसपदा उज्जपविहारीण उवसपणो जो पासत्था-
दी सो उववादविहारद्वितो त वा वापज्ज, अहवा पासत्था दि-
साणजो सविगगविहार उवगतुकामो, अमुच्छिकाम इत्यर्थ ।
त वा पासत्थादिभावचित्त चैव वापज्जा जाव अमुच्छेति, एव
वायणा दिट्ठा, तेसि समीवातो गहण कह होज्जा? उच्यते-

वितियपदसमुच्चेदो, दसाहि ते तद्वा पक्कपंति ।

अष्टस्स व असती, पमिकमंते व जयणाए ॥ २३० ॥

जस्स भिक्खुस्स णिरूपरिया उवट्ठिति, णिरूपरियागो एवम
११९

जस्स तिथि धरिसाणि पगियायस्स सपूराणि, तस्स य आया-
रपगणो अधिज्जियव्वो, आयरियाय कालगते एसेव समुच्चेदो ।
अट्ठा कस्सइ साहुस्स आयायरपगणस्स देसेण अणधीते स-
मुच्चेदो य जाओ, एतेसि सव्वो आयायरपगणो पढमस्स वितिय-
स्स य देसो य अवस्सं अहिज्जियव्वो, सा कस्स पासे अदि-
ज्जियव्वो । उच्यते-

संविगपच्छाकममि-पुत्तसारुवि पमिकंते ।

अव्वुद्धिते अ असती, अणिच्चेसु तत्थ वतिदेसा वीति ॥ ३१ ॥

सगच्छे चैव जो गीयत्था, तेसि असति परगच्छे सविगम-
णुअसगास, तस्स असति परगच्छे सविगमणुअस्स, नाहे अ-
अस्स वि असति पत्ति पत्ति, अन्नसभोइयस्स वि असति एति,
अन्नसभोइयस्स वि असावणिआदि उक्कमेण असविगमेसु तेसु
वि गितियादिगाणाओ सावकहाए पमिकमाविता, अणिच्छि
जाव अहिज्जइ, ताव पमिकमाविता, तद्वा वि अणिच्चे तस्सेव
सगासे अहिज्जइ, सव्वत्थ द्दणादीनि न हावेइ । पसेवजयणा
तेसि असतीए पच्छाकमादिसु पच्छाकमो ति, जेण चारित्त प-
च्छाकउ उभिकसतो भिक्ख हिमइ वा, न वा सारुविगो पुण
मुक्किलयत्थपरिहिओ मुरुमसिह धरेइ । अभज्जगो अप-
सादिसु निक्ख हिमइ । अणणे भणति-पच्छाकमसिक्खपुत्ता
चैव जे असिहा ते सारुविगा, एएसि सगासे सारुविगाए प-
च्छाणुलोमण अधिज्जति, तेसु सारुविगादिसु पडिक्कते अण्ण-
ट्ठिप सि सामातियपडिक्कता प्रतारोपितो अण्णट्ठिओ, अहवा प-
च्छाकमादिसु पमिकतेसु एते सव्वे पासत्थादि पच्छाकमा-
दिया य अण्ण खेत्त एउ पमिकमाविज्जति, (अणिच्चेसु तत्थ व-
तिदेसा वीति सि) । अस्य व्याख्या-

देसो सुत्तमहीयं, न तु अत्था अत्थितो व असमत्ती ।

असति मणुअमणुअ, इयरेतरपक्खीयमपक्खीयं ॥ ३२ ॥

पुव्वद कउ । (असति मणुअमणुअे सि) पय गच्छति (इतरे-
तर सि) असति गितियाण इतरा ससत्ता, तेसि असति इतरा
कुशीला पय णायव्व, एसो वि अत्थो गट्ठो चैव तेसु वि पुव्व
जेसि विगपरिकपसु इमेरिसा, जे पच्छाकमादिया मुम वा
गा ते पच्छाकमादिया । जावज्जीवाए पमिकमाविज्जति
जावज्जीवमणिच्चेसु जाव महिज्जति, तद्वा वि अणिच्चेसु जदि ।

मुंमं व धरेमाणे, सिहं च फट्ठिताणत्थासिस्साह ।

लिंगेण मसागरिण, ए वंदणादीणि होवेति ॥ ३३ ॥

(मुम धरे सि) तारयोहरणादि दव्वलिं ग दिज्जति, जाव उद्दे-
सादी करेइ, सा सहस्सावेसिह फेमेतु । एमेव दव्वलिं ग दिज्जति,
अणिच्छिसु दव्वलिं ग वा णो इच्छति फेमेतु, तो स सिहस्सेव
पासे अधिज्जत सविंगे ठिओ चैव असागरिण पपसेसु य
पूयत्तिकाओ वदणाइ सव्व ण हावेइ, तेण वि धरेयव्व पच्छा-
कमयस्स पासत्थादिसुयस्स वा जस्स पासे अधिज्जति, तत्थ
वेयावच्च ण करे । इमो विही-

आहार उवहि सेज्जा-एमणमादीसु होति जतियव्वं ।

अणुमोयणकारावण, सिक्खति य पदाम्मि सो मुक्को ॥ ३४ ॥

जदि तस्स आहारादिया अत्थितो, पहाणं अह एत्थि, ताहे
सव्व अप्पणा एसणिज्ज आहारादि उप्पाएयव्व, अप्पणा
असमत्तो-

चोदति से परिवारं, अकरेमाणे मणादिवासहे ।
अव्वो.च्छित्तिकरस्स उ, सुयज्जत्तीए कुणह पूयं ॥३५॥
दुविहाऽसति एतेसि, आहारादी करेति सव्वं तो ।
पणिहाणी व जयंते, अत्तहा एवमेव गेएहंतो ॥ ३६ ॥

जो तस्स परिवारो पासत्थावियाणवामी स परिवारो सहावि
सताण करेति, असता वा णत्थि सहा, एव असती एसो सि-
क्खगो आहारादि सव्वं पणं परिहाणीते जयणा, ते तस्स
विसोहिकोमीहिं सयं करेतो सुज्झति, अप्पणो वि एमेव पुव्वं
सुद्धं गेएहति । असति सुद्धस्स पच्छा विसोहिकोमीहिं गेएहतो
सिक्खति, अववादपदेण विसुज्झइ । नि० चू० १९ उ० ।

(९) विचारभूमेविहारभूमेर्वा निष्क्रमणम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहिया वियारजूमि वा विहा-
रजूमि वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा णो अण्णउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा परिहारियो वा अपरिहारिएणं
सद्धिं बहिया वियारजूमि वा विहारजूमि वा णिक्खमेज्ज
वा, पविसेज्ज वा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स निज्जुर्बहिर्विचारभूमिं सङ्गाव्युत्सर्ग-
भूमिं तथा विहारजूमिं स्वाध्यायजूमिं तैरन्यतीर्थिकादिभिः सह
दोषसंज्ञवाचकं प्रविशेदिति सङ्गन्धः । तथाहि-विचारभूमौ प्राप्ति-
कोदकस्वच्छबहलपनिर्बोद्धतोपघातसङ्गावाहिविहारभूमौ वा सि-
द्धान्तालापकविकथनजयात्, सेहाद्यसहिष्णुकलहसङ्गावाच्च
साधुस्तु तैः सह न प्रविशेत्, नापि ततो निष्क्रामेदिति । आचा० २
श्रु० १ अ० १ उ० ।

जे निक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ
वा अपरिहारिएण वा सद्धिं बहिया विहारजूमि वा वियार-
जूमि वा निक्खमज्ज वा, पविसज्ज वा, निक्खमंत वा प-
विसंत वा साज्जइ ॥ ४० ॥

(जे भिक्खू अण्णउत्थियेत्यादि) सम्भावोत्थिरणं वियारजूमि,
असज्जप सज्जायजूमि जा सा विहारभूमि, सा उज्जमागपोरि-
सी वि भण्णति णो कप्पति । " एत्तो एगतरेण " गाहा कमा ।

वीयारजूमिदोसा-संका अपवत्तणं कुरुकुरा वा ।
दव्वअप्पकजुसगंभे, असती व करेज्ज उट्ठाहं ॥३०२॥
वीयारजूमि असती, पमिणीए तेण सावए वा वि ।
रायहुठे रोधग, जयणाए कप्पते गुंतुं ॥ ३०३ ॥

वियारजूमिप पुरीसा वा, तसलोप अ दोसासंका (अपव-
त्तण ति) अपवत्तने य मुत्तणिरहे त्रीणि सदयादिए मट्ठि-
याए बहुदवेण य कुरुकुरा करेयव्वा, एत्थ उच्छोलणे ओप्पील-
णादी दोसा । अइ कुरुकुरा ए करेति, उट्ठाहो अप्पेण वा दवेण
कलुसेण वा दवेण णिह्वेवनं दट्ठ चउत्थरसियादिणा वा गाधि-
क्षेण अभावे वा दवस्स अण्णिह्वेविने जणपुरओ उट्ठाहं करेज्ज,
जम्हा पत्ते दोसा तम्हा तेहिं सारिं ण गतव्व, अववादपप जे
वज्जेज्ज । (वियार) गाहा । अण्णओ वियारजूमिप असति जदि ते
गिहत्थअण्णउत्थिया यदंनि, ततो वपज्ज, जतो मणावानमस
लोअ तमो इमे पडिणीतएण सावयवोअित्तदोसा । अतेर

तत्थ वा थंमिले गतस्स, अतो गिहत्थेहिं समं गमे, ते निवारैति,
रायहुठे रायवज्जमेण समाणं गम्मइ, राइपपगा वेव सणा-
भूमी पारिसोहिं कारणोहिं जयणाए गम्मति, सा य इमा जयणा-
पच्छाकडत्तदंसण, अससिगिहिप तओ कुडिगीसु ।

पुव्वमसोयवादिसु, पउरदवेमट्ठिया य कुर्या य ॥३०४॥
पुव्वं पच्छाकमेसु गिहीयाणुव्वएसु तेसु चेव दसनसावएसु
ततो एसु चेव कुत्तिथिएसु ततो अससिगिहत्थेसु ततो कुत्ति-
गिएसु अससणीसु सव्वमासु सव्वेसु पुव्वं असोयवादिसु पच्छा
सोयवादिसु दूरदूरेण पर मुहो डुवे लववज्जितो पउरदवेण म
ट्ठियाए य कुरुकुरा करेतो म दोसो ।

एमेव विहारम्मी, दोसा उट्ठं चगादिया बहुधा ।

असती पमिणीयादिसु, वितियं आगाढजोगिस्स ॥३०५॥

विहारजूमिप वि. प्रायशः एत एव दोषाः । उज्जमादवम अ
धिकतरा बहवः । अन्ये उज्जमा कुट्टिदा उडुति वा वदनादिसु
प्रत्यनीकादिक्रितीयपदं पूर्ववत् । चोदको भणति-अत्येसिया
दोसा तत्थ तेहिं सामखं गतु वितियपदेण विसज्जाओ मा की-
रउ । आयरिओ भणति-आगाढजोगिस्स उहेससमुहेसादम्भे
अवस्स कायव्वा, उवस्सए य असम्भावोहिं पमिणीयादि, अतो
तेण समाण गतुं करेतो सुद्धो । नि० चू० २ उ० ।

(३०) विहारः-

से निक्खू वा निक्खुणी वा गामाणुगामं दूज्जमाणेणो
अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ अपरिहा-
रिएण वा सद्धिं गामाणुगामं दूज्जेज्जा ॥ ४१ ॥

तथा (से भिक्खू वेत्यादि) स निज्जुर्ग्रामाद् ग्रामान्तरम्, उप-
लक्षणार्थेवाग्ररादिकमपि (दूज्जमाणे सि) गच्छेमित्य-
तीर्थिकादिभिः सह दोषसंज्ञवाचकं गच्छेत् । तथाहि-काविकादि
निरोधे सत्यात्मविराधना, व्युत्सर्गे च प्रासुकाप्रासुकप्रहणादिव-
पघातसयमविराधने भवतः । एवं भोज्येभ्यो दोषसंज्ञो जाव-
नीयः, सेहादिविप्रतारणादिदोषभोते । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जे निक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ
वा अपरिहारिएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूज्जइ, दूज्जंत वा
साज्जइ ॥ ४१ ॥

ग्रामादन्यो ग्रामो ग्रामानुग्रामम् । शेषः पूर्ववत्प्रार्थयत् ॥४१॥
णो कप्पति निक्खुस्सा, परिहारस्सा उ अपरिहारिणं ।
गिह्मिअसतिथिएण व, गामाणुगामं तु विहरित्ता ॥३०६॥
एत्तो एगतरेणं, सहितो दूज्जती तु जे निक्खू ।
सो आणाअणवत्तं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ३०७ ॥
" डुगुतौ " दूज्जइ ति रीयति, गच्छतीत्यर्थः । रीयमाणो ति-
त्यगराण आण आणम्मि जे अणुवत्तं करेति, मिच्छत्त अर्क्षेति
जणयति, आयरियसजमविराहण पावति । इम च पुरिसवि-
भागेण पच्छिचं-

मासादीया गुरुगा, मासो अवितेसियं चउएहं पि ।
एवं मुत्ते पत्था-ए होति सट्ठाण पच्छिचं ॥ ३०८ ॥
अगीयत्थनिक्खुणो गीयत्थभिक्खुणो उवज्जयस्स आयरि-

स्स एतेसि चउणह वि मासादी चउगुरु मत, अहवा मासवहु
चेव तयकालविसेसिय। अहवा अविसेसिय चेव मासवहु। चोद-
ग-आह-किं णिमित्तमिह सुत्ते पुरिसविभागेण पच्छित्त दिष्ण ?।
आचार्य आह-सर्वसूत्रप्रदर्शनार्थम्। एव सुत्ते २ पत्थाण सट्ठाण
पच्छित्त दट्ठम्। इमा सजमविराहणा-

संजतगतीं गमणं, ठाण्णितीयण उ अट्ठणं वा वि ।
वीसमणादि पनेस्सुय-उच्चारदी अवीमत्था ॥ ३०॥
मासादीया गुरुगा, जिक्खू व समाजिसेगआयरिण ।
मासो विसेमिओ वा, चउणहवी चउसु सुत्तेसु ॥ ३१०॥

जदा सजओ सिग्घगतीण वा वच्चति, तदा गिहत्थो वि-
तितो अधिकरण भवति, तण्हा छुहाए व परिताविज्जति,
तमिप्पय वीसमतो य सच्चित्तपुढविकाए उद्धाण निसी-
यणे तु अट्ठण वा करेति, भत्तपाणादियाण उच्चारपासवणेसु
य सागारिओ भिकाउ अवीसत्थो साहुणिस्साए वा गच्छति।
तो फलादि खाएज्जा, अहिकरण साहू वा तस्स पूरओ विति-
यपदेण गेएहेज्जा। परितावणाणिप्पय पादपमज्जणादि वा
ए करेज्जा, तत्थ वि सट्ठाण अह करेति, उड्ढाहो।

भाप्यकारेणैवायमर्थ उच्यते-

अर्थमिलमेगत्तरे, ठाणादी खच्छवहि उड्ढाहो ।
धरणणिसग्गे वा तो-जयस्स दोसा पमज्जणए ॥ ३११॥
साहुणिस्सए वा साहू अथडिले ठाएज्ज, खद्धोवहिणा भार
हुंदुअत्त उड्ढाह करेति, धरणणिसग्गे वा वायकाहयसखाए
उभयहा दोसो पमज्जतस्स उड्ढाहो, अपमज्जणे य विराहणा
जम्हा ए गच्छे ॥ ३११॥

वितियपदं अच्चाणे, मूढमयाणं दुड्ढण्डे वा ।
उवहीसररीरतेणग-सावयजयदुल्लभप्पवेसे य ॥ ३१२॥

अच्चाणे सत्थियहिं सम वच्चति पथाउ वा मूढोदिसातो वा
मूढो, साहू जाव पथे उच्चरेति पथमयाणतो वा जाणा गिहिं
सम गच्छेज्ज, रायदुट्ठे वा रायपुरिसेहिं सम गच्छे, बोधिगा-
दिभया ण्णो वा तेहिं समाण णिहोसो हवेज्ज, तेणगमए वा
गच्छे, सावयमए वा अममि वा णगरदेसरज्जे दुल्लभप्पवेसे
तेहिं सम पविसेज्ज। अखहा ए लम्भति। तत्थ पुण णगरा-
दिषु विहरतो तत्थ अर्थतो णितितो भवति, तेहिं समाण
गच्छतो इमा जयणा-

णिन्नए पिड्ड गमणं, वीसमणादी पदा तु अस्सत्थ ।
सावयसररीरतेणग-जणुतिट्ठाण जयणा तु ॥ ३१३॥

णिन्नए पिड्डओ गच्छति, पिड्डतो ठिता सव्वपमज्जणादि सा-
मायारिं पज्जति, वीसमणस्ति पदा जदि असजतो थडिले करे-
ति, तो सजया अणयमिहे गयति, तेण सावयभय जह पिड्ड-
तो, तो मज्जनो पुरतो वा गच्छति, मज्जे तए पुरतो पिड्डओ वा ग-
च्छति ॥ ३१३॥ नि० चू० २ उ० ।

(३१) [शिक्षा] अन्ययुधिक वा गृहस्थं वा शिल्पादि
शिक्षयति-

जे जिक्खू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा सिप्पं वा मि-
लोगं वा अट्ठापदं वा कक्करयं वा वुगाहं वा सलाहं वा

सलाहत्थय वा सिक्खावेड, सिक्खावतं वा साइज्ज ॥ ८ ।

(जे भिक्खू अणउत्थिय वा इत्यादि) सिप्प तुष्मादि, सि-
न्नो गो वरणणा, अट्ठापद भूत, कक्कडगहेउ वुगाहा कव्वहो,
सलाहा कव्वकरुणप्पओगो। एस सुत्तथो। इमा शिज्जुती-

सिप्पासिलोगादीहिं, सेसकलाओ विमूडया होनि ।

गिहिअणत्थिय वा, सिक्खावेते तमाणादी ॥ २० ॥

सेसा उ गणियलक्खणसठणकयादिसुचिया ण गिही अण-
तित्थी वा सिक्खावेयव्वा। जो सिक्खावेति, तस्स आणादिया
य दोसा, चउलहु च से पच्छित्त ॥ २० ॥

मिप्पसिलोगे अट्ठा-वए य कक्कडगवुगाहसलाहा ।

तुंनाग वण जृतो, हेतू कलहुचरा कव्वो ॥ २१ ॥

पुव्वकेण सुपसिका गाहा, पच्छकेण जहासखं तत्थ उदाहरणं ।
सिप्प ज आयरिओवदेसेण सिक्खिज्जति, जहा तुष्मा तुष्मा-
दि, सिन्नो गो गुणयणेहिं वणणा, अट्ठापदं चउरगेहिं जृत,
अहवा इम अट्ठापद-

अमहेण वि जाणामो, पुट्ठो अट्ठापयं इम वेति ।

सुणगाविमालकूरं, नेच्छति पक्कप्पजातम्मि । २२ ।

पुच्छितो अपुच्छितो वा भवति-अमहे णिमित्तं ण सुट्ठु जाणामो,
एत्थिय पुण जाणामो, परपरभावकाले दधि कूर सुणगादिजावो
ण जवति, अणिच्चो वा भणितो विणासी घटवत् कृतविप्र-
णासादयश्च दोषा भवन्ति । अहवा कर्कटदेतुमवज्ञावैक्यप्रति-
पत्ति । अत्राह-यथा दोषो मूर्च्छिमदमूर्च्छसदु खमेदतो ज्ञानका-
लभेदाच्च कारकजुतविशेषाच्च विरुद्ध सर्वज्ञावैक्यम् । अथ नैव,
तत प्रतिज्ञाहानि । वुग्गहो रायादीण अमुककाले कव्वहो भवि-
स्सति । रणो वा जुद्ध सगरुमादिएण कव्वहे जयमादिसति । दो-
एह वा कलह ताण उक्कस्स उत्तर कहेति ? सलाह चि, कथा-
सम्भाव कहेति । कव्वेहिं वा वारितो कथ करेति ? सलाहकहत्थे-
ण ति, सव्वकाओ तो सूचितातो भवति, ताणि अणत्थियमादीणि
सिक्खावेति, चउलहु, आणादी य मज्जे दोसा । अधिकरण
वस्सग्गावदेसे य इम वितियपद-

असिवे ओमोयरिण, रायदुट्ठे जण व गेलाएणे ।

अट्ठाण रोहए वा, सिक्खावणया उ जयणाए ॥ २३॥

रायादिमणं वा ईसर सिक्खावेतो असिग्घादितो तप्पभावा
ओट्ठागादि लज्जति, ओमे वा पुच्छति सोच्चा रायदुट्ठे ताण करेति ।
बोहिगादिजये ताण करेति । गिह्वाणस्स वा उस्सहातिरहिं उव-
ग्गाह करिस्सति । अट्ठाण रोहगेसु वा उवग्गाहकारी जघिस्सति ।
एवमादिकारणे अवेक्खिऊण इमापजयणाए सिक्खावेति । २३।

संविग्गमसंविग्गो, धावियं तु साहेज्ज पढमतोगीयं ।

विचरीयमगीए पुण, अणभिग्गहमाड तेण परं ॥ २४ ॥

एणपरदाणीए जाहे चउलहु पत्ता तेसु जतिउं ते से विअ-
संतरतो ताहे संविग्गो धाविअ गीयत्थ सिक्खावेति, पच्चा
असविग्गो धावितं गीयत्थ, अगीपसु विचरीय कज्जति, ततो अ-
सविग्गो धावित अगीतं, ततो सविग्गं अगीय, अन्यविपरीतक-
रणाद् देतुमद्भावनां करिष्यति । संविग्ग अर्गात्तार्थ । पच्चा ग-
हियणुच्चय, ततो पच्चा दमणसावगे, ततो पच्चा अहामदय

ततो मिच्छ अणभिग्गाहिमि । नि० चू० १३ उ० ॥

(३२) [सघाटीसीवनम्] अन्ययूथिकादिभिः सघाटीं
सावयति—

जे भिक्खू अप्पणो सघामियं असुउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा सीवावेइ, सीवावतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

अप्पणो अप्पणिज्ज सघाटीं णाम सवमी सरहसति ति काक-
ण दोहिं अतेहिं मज्जे य जदि असुउत्थिएण स भरक्खादिणा
गिहत्थेण तुष्ठागादिणा ससिद्धावेइ अप्पणेण ॥ १२ ॥

णिक्कारणम्मि अप्पण, कारणे गिहि अधव असुउत्थितीहिं ।
संघाडिं सीवावे, सो पावति आणमादीणि २५ ॥

जदि णिक्कारणे अप्पणा सीवेति, कारणे वा अणउत्थियगार-
त्थिएहिं सिव्वावेति, तस्स मासलहु, आणादिना इमे दोसा-
णिक्कारणम्मि लहुगो, गिलाण आरोवणा पवेइम्मि ।

अप्पकाइसंजमे, कारणसुद्धो खलु विधीए ॥ २६ ॥

विद्धे आयविराहणा छप्पतियवाधअसजमविराहणा, कारणे
विधीए सय सिव्वतो सुद्धो । चोदग आह-पढमुद्देसगे परकरणे
मासगुरु वक्षिय, इह कह मासलहु भवति । आयरिय आह-

कामं खलु परकरणे, गुरुमासो तु वक्षिओ पुण्वे ।

कारणिय पुण सुत्त, सयं वऽणुणायते लहुओ ॥ २७ ॥

योगधुणममुंचंते, पलिमंथो उग्गमो तु पभियत्थो ।

एगस्स वि अक्खंवे, अवहारो होति सव्वेसिं ॥ २८ ॥

काम अणुमयत्थे, खलु पूरणे, पुण्व पढमुद्देसए, इह तु कार-
णिए सुत्ते अप्पणो अणुमाते परेण सीवावतस्स मासलहु,
सवडिण इमे दोसा । (योगधुणे) गाहा । जदि बद्ध पडिलेहैति
अणुगुरुवधूणदोसा, अह वधी मोत्तु पडिलहति पुणो व-
धति, सुत्तत्थपलिमथो भवति, पडियत्थो उग्गमो णेणेण,
अक्खित्ते एगे वि सव्वेसिं अपहारो भवति, अकारणे सि-
व्वणे य इमा दोसा-

सयसिक्खणम्मि चिद्धं, गिलाण आरोवणा तु सविसेसा ।

जिज्जति य संजमम्मी, सुत्तादी अकरणे इमं च ॥ २९ ॥

अप्पणो सिक्खतो सूर्यपविद्धो ताहे गिलाणारोवणा सवि-
सेसा सपरिनावमहादुक्खा छप्पतियवाधे असजमो भवति,
तत्थ लहुगो सुत्तत्थपोरसि ए करेति, जहासख सुत्तणासे इह
अत्थ नासेइ, काइम व परकारवणे दोसदसण ।

अविमुद्धाण काया, पप्फोमण अप्पया य वा तीय ।

पच्छाकम्मं वसिया, अप्पति वेधो य हरण च ॥ ३० ॥

अविमुद्धाण अपुद्धवीकायादियाण उवारिं ठवेति, कायवि-
राहणा, पप्फोडणे अप्पया पडति वाउसघट्टणा य घाणावडि-
यवज्जिएण डेमन्ववाहण करेज्ज, छप्पया उवाविधेति,
अप्पणां वा ऊरुय विधानं, हरेज्ज वा त सघाडि । इदाणि
अप्पणा सिक्खणकारण भण्णि-

गितियं तु चट्टमुट्टोरगा, य गेलणविमवत्थे य ।

एनेहिं काण्णेहिं, ससिक्खणमप्पणा कुज्जा ॥ ३१ ॥

बुद्धी तस्स हत्था वा पाया वा कपति, ण तराने पुणो रस उवेउ,

अधवा उट्टोरगा गिलाणो वा ण तराने, पुणो २ सव्वेउ विस-
मवत्थाणि वा एगठ सीविज्जति, एनेहिं सयं सीवेतो सुद्धो, उ
इधेण निरिण वधा, एको दसते, वितीओ पासने, ततियो सज्ज
वि । तिभि उक्कोमेण उ भवति, कारण अणउत्थिएण सि
व्वावेति ।

वितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा होज्ज केण धी अमह ।

वाघातो व सहस्सा, परकरण कप्पती ताहे ॥ ३२ ॥

अप्पणा अणिउणो वा असह गिलाणवाघातो गिलाणाति, पओ-
यणेण वा वनी एव पओए कारवेउ कप्पति, इमाए जयणाए-
पच्छाकमसाभिग्गाह-णिउजिगाह जइएण व असएणी ।

गिहिअएणतित्थिएहिं. असोयसोए गिही पुण्वं ॥ ३३ ॥

पच्छाकमो पुराणो पढम तेण ततो अणुवयसपणो सावआ
साभिग्गाओ, ततो सरणी भइओ, असएणी भइओ, एते चउरा
गिहिजेदा । अणउत्थिए एए चउरो जेदा एक्के अमोयसोय
जया कायव्वा, पुण्वं गिहीसु, पच्छा सोयवादिषु, पच्छा अण-
तित्थिएसु । नि० चू० ५ उ० ।

जे भिक्खू निगंथीणं सघामी अणउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा सिव्वावेइ, सिव्वावतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

अणउत्थिएण गिहत्थेण सिव्वावेति, तस्स चउसहु, आणादि-
या य दोसा ।

सघामीओ चतुरो, तिपमाणा ता जवे दुविदा ।

एगमणेगं छम्मी, अहिकारोऽणोगखनीए ॥ ५१ ॥

प्रायेण (सघाडिज्जति ति) सघामी गुणसघायकारिणी वा, सं-
घामी देसीभासातो वा पाउरणे सघामी, ततो सखा, पमा-
णेण चउरो प्रमाणेन तिपमाणगा एगा इहत्था दीहा, उ-
हत्थविन्धारा मा उ उवस्सए अत्थमाणीए भवति, इतिहत्थ-
दीहा, तिहत्थविन्धारा, तन्धेगा भिक्खायरियाए, वितिया वियाए
गच्छन्ती पाडणाति, चउहत्थ चउहत्था दीहा, चउहत्थविन्धारा,
एया सव्वा वि पासगलका पुणो एक्केक्का दुविदा । पच्छ
कउ ॥

त जो उ सजतीणं, गिहीण अहवा वि अणउत्थिणीं ।
सिक्खावेती भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ ५२ ॥

त सजती सजनेयं सघाडिं जो आयरितो गिहत्थेण अणउत्थि-
त्थिएण वा सिक्खावेति, तस्स आणादिणो दोसा ।

कुज्जा वा अजियोगं, परेण पुट्टे व संकि उड्ढाहो ।
ही. ए. हिं व कुज्जा, छप्पणा सहरेज्जा उ ॥ ५३ ॥

सो गिही अणउत्थिणी वा तत्थ घसीकरणप्ययोग करेज्ज, अ-
णेण वा पुट्टो-कस्स सतिय वत्थ । सो कधिज्ज सजती-सज-
तिय, ताहे तस्स सको भवति, उड्ढाह वा करेज्ज, नून को विस-
बधो अत्थिनेण एसो सिक्खेति, पमाणेण हीणमहीण वा करेज्ज,
छप्पयातो उज्ज, मारेज्ज वा, त वा सघामिं करेज्ज, सिक्खणा
वा चिद्धो तत्थ परितावणादिनिष्कमं उप्पासणादि वा पच्छा-
कम्म कुज्जा, जम्हा एत दोसा तम्हा इमो विधी-

छिप्पपार्कम्मितं खलु, अणुज्जउवाहिं तु गणहरो देति ।
गुज्जोवाहिं तु गणिणी, सिक्खेति जहारिह मिय तुपधा

ज अतिप्पमाण त जिदति, उ कुत्तिमादिणा परिकम्मय अ-

गुज्जोवही तिक्कि कप्पा चउरो सघाडीतो पात पायणिज्जोगो य,
एव गणहरो परिकम्मितवेति, सेसो गुज्जोवही त गणिणी सरी-
रपमाण मिणित सिन्वेति, कारणे गिहि अन्नतिथीण वा सिन्वा-
मेति ॥ ४४ ॥

वितियपदमणिणणे वा, निउणे वा होज्ज केणवी असहू ।
गणिगणहर गच्छे वा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ४५ ॥

गणी उवज्जाओ गणहरो आयरिओ, अओ वा गच्छे बुद्धो तरुणो
वा बुद्धसीओ, ते सिन्वेज्जा, अह ते असहू होज्जा, गच्छे वा नत्थि
कुसलो, ताहे गिहिअन्नतिथिणा वा सिन्वावेति ।

तत्थ इमो कप्पो—

पच्छाककसाजिगह—निरजिगहज्जए य व अमएणी ।
गिहिअन्नतिथिएण व, गिहि पुवं एतरे पच्छा । ५६ ।

पूर्ववत् सिन्वावणे इमो विही—

आगातेणं असती, संठाणं गंतु सिन्वावे ।

पासट्टिय अवसितो, तो दोसे वंजणा ण जायंति । ५७ ।

सो गिहत्थो अन्नतिथिओ वा साहुसमीव अह पवसीए आ-
गतो सिन्वाविज्जति । जदि अन्नासागतो ण वज्जति, तो तस्स
ज संठाणं त गंतु सिन्वाविज्जति, जयथाए अण्णदातो पुवं अन्नत्थ
सकामिज्जति, तस्स समीवे अन्नविज्जतो वि तो णिवसो चात्ता
व चिट्ठति, जाव सिन्विय, एव पुव्वुत्ता दोसा ण जवति ।

(३३) समोग.—

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उ-
वहासे णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ । ३८ । जे
भिक्खू अण्णवत्थिएण वा गारत्थिएण वा सद्धिं जुंजइ,
भुजंतं वा साइज्जइ । ३९ । जे भिक्खू अण्णवत्थिएहिं वा
गारत्थिएहिं वा सद्धिं आवट्टिय परिवेदिय जुंजइ, जुजंतं
वा साइज्जइ । ४० ।

असत्तियया तव्वप्पिया दि बभणा खेप्पिया गारत्था, तेहिं सद्धिं
एगभायणे ज्ञेयणं एगवुतिविसिद्धिपसु आवेदिओ, सव्वदिसि
ठितेसु परिवेदिओ । अहवा आह मर्यादया वेष्टितं, दिसि विदिसा-
सु विच्छिन्नद्वितेसु परिवेष्टितं । अहवा एगपतीएसु आवेष्टितं,
दुगादिसु पंतीसु समता परिवेष्टियासु परिवेष्टितो ।

गिहिअन्नतिथिएहिं व, सद्धिं परिवेष्टितो व तं मज्जे ।

जे भिक्खू असणादी, भुंजेज्जा आणमादीणि ॥ ६७३ ॥

असत्तियएहिं सद्धिं भुजनि, अन्नवत्थिएण वा मज्जे ठितो
परिवेष्टितो वा जुजति, तस्स आणादिया दोसा । ओहओ चउ-
रहुं पच्छिन्न । विभागतो इम—

पुवं पच्छा संशुय, असोयसोयवार्ह य ज्जहुगा वा ।

चउरो वा जमलपदा, चरिमपदे दोहि वी गुरुगा ॥ ६७४ ॥

पुवं संशुया असोयवादी य पच्छा संशुया । (असोय सि) एतेसु
चउसु पप्पसु लहुगा (चउरो सि) (जमलपद ति) कालतवेहिं
विसेसिज्जति जाव चरिमपद पच्छा संशुनो सोयवादी, तत्थ
चउसहुगं त कालतवेहिं वि गुरुग भवति ।

सुत्थीसु चउ गुरुगा, उहहुगा अण्णतिथीसु ।

१२०

परत्तियणि उगुरुगा, पुव्वावरसमणसचं ॥ ६७५ ॥

एयासु चेव सुत्थीसु पुर पच्छा असोयसोयासु चउगुरुगा काल-
तवेहिं विसेसिता, एतेसु चेव अन्नतिथियपुरिसेसु चउसु उह-
हुगा कालतवविसिद्धा, एयासु चेव परत्तियणि । सु उगुरुगा, पु-
व्वसंशुयासु समणीसु वेदो, (अवर सि) पच्छा संशुनासु सम-
णीसु अट्टम नि मूढ । अयमपर. कल्प—

अहवा वि णालवद्धे, अण्णवत्थोवासए व चउलहुगा ।

एसु वि य दोसु इत्थी—सु णालवद्धे चउ गुरुगा ॥ ६७६ ॥

णालवद्धेण पुरिसेण अणालवद्धेण य गहिताणुव्वओवासणेण
एतेसु दोसु चउलहुगा, एयासु वि य दोसु इत्थीसु णालवद्धे य अ-
विरयसम्मदिद्धिम्मि एतेसु वि चउगुरुगा ।

अणालदंसणित्तियसु, उहहु पुरिसे य दिद्ध—आभट्टे ।

दिद्धित्थि पुम अदिद्धे, मेहुणचोई य उगुरुगा ॥ ६७७ ॥

इत्थीसु अणालवद्धासु अविरयसम्मदिद्धिसु, दिद्धाजट्टेसु पुरि-
सेसु, एतेसु दोसु वि उहहुगा, इत्थिसु दिद्धाभट्टासु, पुरिसेसु अ-
दिद्धाभट्टेसु, (मेहुणि सि) माचलपिच्छियधाता (जोइय सि) पु-
व्वमज्जा, एतेसु चउसु वि उगुरुगा ।

अदिद्धज्जासु थीसु, संजोइयसंजतीण वेदो य ।

अमणुससंजतीए, मूलं थी फाससंबंधा ॥ ६७८ ॥

इत्थीसु अदिद्धाजट्टासु संजोइयसंजतीसु य एयासु दोसु वि
वेओ (अमणुस सि) असंभोइयसंजतीसु मूढ, इत्थीहिं सह
भुजतस्स फासे सबधो, आयपरोज्जयदोसा, देहे सकाइया य
दोसा, जदि संजति सति तो समुदेसो, तो चउलहु, अधिकरण व ।

पुवं पच्छाकम्मे, एगतरदुगुंछउहहुगाहो ।

अस्मांमयगहणं, खप्पगहणे य अवित्तं ॥ ६७९ ॥

पुरे कम्म संजतेण सह भोत्तव्व हत्थपादादिसु करेइ, संजतो
भुजिस्सइ । अधिकतर रधावेति, पच्छाकम्मं कोवि एत्तोति
सवेल गहाण करेज्ज । पच्छिन्न वा पद्धिवज्जे, संजतेण वा नृत्ते
अण्णपते अण्ण पि रंघेज्जा, संजतो गिही वा एगतरो दुगुंउ
करेज्जा, विंलिगभावेण वा उहहु करेज्जा, अक्षेण दिष्टे उहहुहो
भवति, कासादिरोगा वा सकमेज्ज । अधिकतर अक्षेण वा
अचियत्त भवेज्ज ।

एवं तु भुजमाणे, तेहिं सद्धिं तु वसिता दोसा ।

परिवरितो जदि भुंजइ, तो चउ लहु इमे दोसा ॥ ६८० ॥

परिवारितमज्जगते, सन्नपयारेण होति चउ लहुगा ।

कुरुकुरकरणे दोसा, एमादिसु उगमा होति ॥ ६८१ ॥

मज्जे ठितो जणस्स परिवारिओ जइ भुजइ, अहवा समता
परिवारितो दोहंति एह वा जइ मज्जगओ भुंजति, सव्वप्प-
गारेहिं चउलहु गिहिभायणे य ण भुजियव्व । तत्थ भुजंतो
आयाराओ मस्सति । कंसेसु कसपाएसु सिलो गो वा एवमुमा-
मादिसु भुजतस्स उहहुहो भवति, क चिय दवेण य उहहुहो,
इयरेण आउक्कायविराहणा, बहुदवेण कुरुकुरकरणे उप्पि-
लावणादि दोसा, जम्हा एवमादो दोसा तम्हा एतेहिं सद्धिं
पग्गिवेदिपसु वा न भुजियव्व ।

विनियपदसेहसाहा-रणा य गेलस रायडुठे य ।

आहार तेण अच्चा-ण सेहए दंज तत्थेव ॥ ६८५ ॥

पुव्व सथुओ पच्छा सथुओ वा पुव्व पगभायणो आसी, स तस्स येहेण आगतो जदि ए भुजनि तो परिणमति, अतो सेहेण समं भुजति, परिवेद्धितो वि तेसागएसु मा तेसि संका भविस्सति-किं एस अप्पसागारियं समुद्दिस्सति सि, अम्हे वा वि करेति मा बाहिरभाव गच्छपरिवेद्धितो भुजति । साहारणं वा लब्धं, त ए चेव भुंजियव्व । अह कक्खमडिओ ताहे घेत्तुं तीरं भुंजति । अह दाया भदेनि ताहे तोहिं चेव सदिं परिवुडो वा भुंजति, गिलाणो वा वेज्जस्स पुरतो समुद्दिसेज्जा, जयणाए कुरुकुरं करेज्जा, रायडुठे रायपुरिमेहिं शिज्जंतो तेहिं परिवेद्धितो भुंजेज्ज । आहारतेणोसु तेसि पुरओ भुजेज्ज, अद्धान तेण सावयभया सत्थस्स मज्जे चेव भुंजति । सेहाग सव्वेसि एक्कावसही होज्जा, बाहिग्गादिमए जणेण सह कदराइसु अत्थति । तत्थ तेसि पुरतो समुद्दिसेज्ज, ओमे कहिं वि सत्ताकरे तत्थेव भुजता ए लब्भति, भायणेसु ए लब्भति । तत्थेव भुंजेज्जा सागारिण एको परिवेसण करे, वहुमाइसु संतरं समुज्जति, णाड दुविहेण दवेण कुरुकुरं करेइ । सव्वेसु जहासभवं एसा जयणा । नि० चू० १६ उ० ।

अण्णत्थियदेवय-अन्यपूयिकदैवत-न० । ६ त० । परतीर्थिक-पूज्येषु हरिहरादिषु देवेषु, उपा० १ अ० । औ० । आ० चू० । प्रति०

अण्णत्थियपरिगाहिय-अन्यपूयिकपरिगृहीत-त्रि० । तीर्थान्तरीयैः पूज्यत्वादिनाऽङ्गीकृतेऽर्हचैत्यादौ, उपा० १ अ० ।

अन्यपूयिकास्तदैवतानि, तत्परिगृहीतानि वा अर्हचैत्यानि, भावको न वन्देत् । तदुक्तं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यमानेनाऽऽनन्देन-“ णो खलु जंते ! कप्पइ अज्जप्पान्निइ अण्णत्थिया वा अण्णत्थिय-देवयाणि वा अण्णत्थियपरिगाहियाणि वा अरिहतचेइयाइं वादिस्सए वा णमसिस्सए वा ” उपा० १ अ० । औ० । अन्यपूयिकपरिगृहीतानि वा अर्हचैत्यानि अर्हत्प्रतिमालक्षणानि यथा भौतपरिगृहीतानि वीरमरुमहाकावादीनि । उपा० १ अ० । आ० चू० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थकाण-अण्णत्थकाण-पु० । सुत्रार्थपौरुष्युत्तरकाणं भिक्षाकाले, “ अण्ण अण्णत्थकाणं, पाण पाणत्थकाणं ” सूत्र० २ अ० १ अ० ।

अण्णत्थकाण-अण्णत्थकाण-पु० । सुत्रार्थपौरुष्युत्तरकाणं भिक्षाकाले, “ अण्ण अण्णत्थकाणं, पाण पाणत्थकाणं ” सूत्र० २ अ० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

अण्णत्थो (तो) (दो)-अन्यतस्-अव्य० । अन्य-तसिह । “ तो दो तसो वा ” ॥ पा२ । १६० ॥ इति सूत्रेण तस स्थाने सो षो इत्यादेशौ, पक्षे दशोपश्च । प्रा० । “ नहु दाहामि ते जिक्खं, जिक्खू जायाहि अण्णत्थो ” । न हु नैव दास्यामि ते तुज्य मितां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तान् । उक्त० १ अ० ।

से भिक्खू वा जिक्खुणी वा आसमत्ताकिरियं अज्झ-
त्थियं संसेइयं एणं तं सातिष णो तं णियमे, से आएणमएणो-

पाये आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, एणो तं सातिण्ण एणो तं
णियमे, सेसं तं चेव, एवं खलु तस्स जिकखुस्स वा जिकखु-
णीए वा सामग्गियं सत्तमओ सत्तिकओ सम्मत्तो ॥

क्रिया रजःप्रमार्जनादिकास्ता अन्योन्यं परस्परतः साधुना
कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येव नेतव्योऽन्योन्यक्रियास-
त्सैकक इति । आच्चा० २ श्रु० १३ अ० ।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णत्थिएण
वा गारत्थिएण वा आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं
वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥१६॥ जे जिकखू णिग्गंथे णि-
ग्गंथस्स पाए अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवा-
हेज्ज वा, पल्लिमहेज्ज वा, संवाहंतं वा पल्लिमहंतं वा सा-
इज्जइ ॥१७॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्ण-
त्थिएण वा गारत्थिएण वा तेह्णेण वा घएण वा बण्णेण
वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा,
मंखावंतं वा भिल्लिगावंतं वा साइज्जइ ॥१८॥ जे जिकखू णि-
ग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-
हेण वा ककेण वा एहाणेण वा पडमचुखेण वा वखेण
वा उल्लोलेज्ज वा, उल्लोलेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उल्लोहंतं वा साइ-
ज्जइ ॥१९॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियेण वा उसि-
णोदगवियेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोपज्ज वा, उच्छो-
लंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥२०॥ जे जिकखू णिग्गंथे
णिग्गंथस्स पाये अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण वा फू-
मेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं
वा साइज्जइ ॥२१॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं
अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पम-
ज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥२२॥
जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णत्थिएण वा
गारत्थिएण वा संवाहवेज्ज वा, पल्लिमहावेज्ज वा, संवा-
हवेज्जावंतं वा पल्लिमहावेज्जावंतं वा साइज्जइ ॥२३॥ जे भिक्खू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण
वा तेह्णेण वा घएण वा बण्णेण वा वसाएण वा णवणी-
एण वा मंखावेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा
जिल्लिगावंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे जिकखू णिग्गंथे
णिग्गंथस्स कायं अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-
हेण वा ककेण वा एहाणेण वा पडमचुखेण वा बण्णेण
वा सिहाणेण वा उल्लोलेज्ज वा, परिवट्ठावेज्ज वा,
उल्लोलेज्ज वा, परिवट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥२५॥ जे जिकखू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण
वा सीओदगवियेण वा उसिणोदगवियेण वा उच्छो-
लावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा

साइज्जइ ॥२६॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अ-
ण्णत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज
वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा सा-
इज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं सि वणं
अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पम-
ज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥२८॥
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं सि वणं अण्णत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा संवाहिवेज्ज वा, पल्लिमहावेज्ज
वा संवाहिवेज्जावंतं वा पल्लिमहावंतं वा साइज्जइ ॥२९॥
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं सि वणं अण्णत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा तेह्णेण वा घएण वा वखेण वा
वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिल्लिगावेज्ज वा,
मंखावंतं वा जिल्लिगावंतं वा साइज्जइ ॥३०॥ जे भिक्खू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं सि वणं अण्णत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा लोहेण वा ककेण वा एहाणेण वा पडमचुखेण
वा वखेण वा सिहाणेण वा उल्लोलेज्ज वा, परिवट्ठावेज्ज
वा, उल्लोलेज्ज वा, परिवट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं सि वणं अण्णत्थिएण वा
गारत्थिएण वा सीओदगवियेण वा उसिणोदगवियेण
वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवा-
वंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स का-
यं सि वणं अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा,
रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं
वा साइज्जइ ॥३३॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं सि
अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंभं वा पल्लियं वा
अरियं वा आसियं वा जंगदलं वा अण्णत्थिएण वा तीसे-
ण वा सत्थजाएण वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज
वा अच्छिदावंतं वा विच्छिदावंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं सि अण्णत्थिएण
वा गारत्थिएण वा गंभं वा पल्लियं वा अरियं वा आसियं
वा जंगदलं वा अण्णत्थिएण वा तिकखेण वा सत्थजाएण
वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं
वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियाएज्ज वा, जिहरावंतं वा
विसोहियावंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे जिकखू णिग्गंथे
णिग्गंथस्स कायं सि अण्णत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंभं
वा पल्लियं वा अरियं वा आसियं वा जंगदलं वा अण्णत्थि-
एण वा तिकखेण वा सत्थजाएण अच्छिदावेज्ज वा, विच्छि-
दावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहिया-
वेज्ज वा, सीओदगवियेण वा उसिणोदगवियेण वा
उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवा-

जिक्खू णिगंथे णिगंथस्म अच्चिणि अणु० गारत्थि०
आमज्जावेज्ज वा , पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा
पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥६३॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
थस्स अच्चिणि अणु० वा गारत्थिण वा संवाहिया-
वेज्ज वा, पक्षिमहावेज्ज वा, संवाहियावंतं वा पक्षिमहावंतं वा
साइज्जइ ॥६४॥ जे जिक्खू णिगंथे णिगंथस्स अच्चिणि अ-
णु० गारत्थि० तेज्जेण वा घण्ण वा वसाण्ण वा एव-
ण्ण वा मंखावेज्ज वा, जिलिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा
भिलिगावंतं वा साइज्जइ ॥६५॥ जे जिक्खू णिगंथे णिगंथ-
स्म अच्चिणि लोप्पेण वा कक्केण वा एहाण्णेण वा पडमचुप्पे-
ण वा वप्पेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वहावेज्ज वा, उल्लोलावंतं
वा उव्वहावंतं वा साइज्जइ ॥६६॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
थस्म अच्चिणि अणु० गारत्थि० सीओदगवियडेण वा
उसिणोदगवियडेण वा उच्चोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा,
उच्चोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥६७॥ जे जिक्खू णि-
गंथे णिगंथस्स अच्चिणि अणु० गारत्थि० फूमावा-
एज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावाएज्ज वा, फूमावावंतं वा रयावंतं
वा मंखावावंतं वा साइज्जइ ॥६८॥ जे जिक्खू णिगंथे णिगं-
थस्स अणु० गारत्थि० अच्चिमलं वा कण्णमलं वा दतमलं
वा एहमलं वा एहीह्रावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ॥६९॥ जे
भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स कायाउसेयं वा जलं वा पकं
वा मल्लं वा अणु० गारत्थि० णीहरावेज्ज वा, तिमो-
हावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ॥७०॥ जे भिक्खू णिगंथे णि-
गंथस्स गामाणुगामं दुज्जमाणे अणु० गारत्थिण वा गार-
त्थिण वा सीमदुवारियं करावेइ, करावंतं वा साइज्जइ ॥७१॥

आमज्जन सवुत्त, पुन.२ प्रमार्जनम, (जा समणि) गाहा । आदिस-
हाओ बंधणादिसुत्ता पत्र, कायसुत्ता उ, वणसुत्ता छ, गुरुसुत्ता
उ, वाहुकिमिसुत्त एहसिहारोमराईमसुत्त च, पत्ताणि उत्तरो-
ट्टणासिगासुत्त च अच्चिणामज्जणसुत्ता तिप्पि मुहसुत्त सय-
सुत्त भट्ठिमज्जा सुत्त, सीसडुवारियसुत्त च । एते चत्ताहीसं
सुत्ता तनिश्रांहेसगगमेण भाणियन्वा । तथ्य सयंकरणे इह पुण
णिगंथेण समणस्स अणु० गारत्थिण वा गारत्थिण वा कारवेति
त्ति; संसा इमं अधिकयसुत्ते भरणनि-

ममण्ण मंजतीहिं, अमंजतीओ गिहत्थेहिं ।

गुरुगा लहुगा चउ वा, तत्थ वि आणादिणां दोसा ॥११॥

सज्जतीओ जदि समणस्स पायपमज्जणादि करेति, तो चउगु-
रुगा (असज्जतीओ ति) गिहत्थिओ जइ करेति, तत्थ वि चउगुरुगा,
गिहत्थपुरिसा जदि करेति, तो चउलहुगा, आणादिथा य दोसा
भवति ॥११॥

मिच्छते उडाहो, विराट्टणा फासजावसंधे ।

पमिमणादी दोसा, चुत्ताजोगी य णायन्वा ॥ १२ ॥

इत्थियाहिं कोरत पासिता कोइ मिच्छत गच्छेज्जा-एते-
काव.रिय ति, सज्जमविराहणा य, इत्थिफासे मोहोदया, परो-

परओ वा फासेण भावसबधो इवेज्ज, ताहे पडिमण अण-
नित्थियादी दोसा, अहवा फासउज्जो चुत्ताजोगी सा पुत्तरयादि
संभरिज्जा, अहवा चित्तिज्ज-परिसो मम भोइयाए फासो परि-
सी वा मम भोइया आसी, अणुत्तमोइस्स इत्थिफासेण कोह-
यादि विजासा-

ढीहं व णीमसेज्जा, पुच्छा कहि एरिसेण कहि एणं ।

ममजाइया एरिसी, सा वा चलणे बदे एवं ॥ १३ ॥

यो वा मज्जओ सज्जतीयाए पमज्जमाणीए दीह णीससिज्जा,
जाहे सो पुच्छाति-किमेय दीहं ते नीससिय ? । सो भणाति-किं
परिसेण भणाति कहि एण ति, निज्जधे कहेइ, मम भाइया एरिसी
तुम वी सा या चउणे पमज्जती दीह णीससेज्जा, पुच्छा कहं व
च एव चेव एते संजतिहिं दोसा ॥ १३ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिं पच्छकम्मं च ।

आतपरमोहुदीरउ, पाउसत्त हु सुत्तथपरिहाणी ॥१४॥

गिहत्थीसु अतिरिक्तदोसा पच्छकम्मं इत्ये सीतोदकेण व
क्खालेज्जा, पाइआमज्जणादीहिं य उल्ललवेसस्स अणु० मोहो
उदिज्जेज्जा-सोज्जामि वा अह, को मे परिसकामो ति सि गज्जो इ-
वेज्ज, त वा उज्जलवेस इहु अणु० इत्थियाण मोहो उदिज्जेज्ज,
सरीरपाउसत्त च कत जवति, आव त करेति ताव सुत्तथप-
लिमथो ॥ १४ ॥

संपातिमादिथो, विवज्जिओ जे च भोगपरिवाओ ।

गिहिण्हिं पच्छकम्मं, तम्हा समणेहिं कायन्वं ॥१५॥

पमज्जमाण संपातिमे अभिघाएज्ज अजयत्तणेण (विवज्जितो
ति) साधुणा विभूसापरिवज्जिण होयन्व । भणिय च-"विज्जा
इत्थिससणी,, नि सिलोमा । एयस्स विवरीयकरणे मं भवे
भोगपरिवादी य, आरिस सवेज्जमाहण परिसेण अणु० सेन भवि-
तव्यम, एवमादि इत्थिसु दोसा । गिहत्थपुरिसेसु वि इत्थिफा-
सादिया मोत्तु एते चेव दोसा, पच्छकम्मं च । इमे य दोसा-

अजयंते पप्फोडे, ते पाएग उप्पीलणं च संपादी ।

अतिपेज्जणाम्म आता, फोडणं खय अट्ठिजंगादी ॥ १६ ॥

संजओ अजयणाए पप्फोदेतो पाणे अभिहवेज्ज, बहुम वा इ-
वेण धोवनो पाणे उप्पीलावेज्ज वा, जिम्बुबधे वा संपातिमा यने-
ज्जहा । एस सज्जमविराहणा । आयविराहणा इमा-तेण गिहिना
अनीव पेष्ठिओ पादो, ताहे सधी वि करेज्ज, फोडण ति तिब-
हलेज्जा, णहादिणा वा खय करेज्ज, भट्ठि वा जेज्ज ॥ १६ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिं पच्छकम्मं च ।

गिहिण्हिं पच्छकम्म, पच्छा तम्हा तु समणेहिं ॥ १७ ॥

गतार्था, किंचि विसेसो । पुच्छकेण गिहत्थी भजिता, पच्छकेव
गिहत्थी, दो वि पाए पप्फोदेते कुत्तं करेज्ज, पुच्छतो पच्छ-
कम्मसज्जवो, जम्हा एते दोसा तम्हा समणाय समणेहिं काव
व, जो गिहत्थी अणु० नित्थिया वा उदयन्वा ॥ १७ ॥

वित्थियपदमणप्पज्जे, अणु० उवात अप्पणो उ करे ।

पमज्जणादी तु पदे, जयणाए समयोरिहे भिक्खू ॥१८॥

अणु० पज्जे कारवेज्जा, अणु० पज्जे वा कारवेज्जति, अणु०
पमिवणो वा अर्ताव उवा उणमज्जणादी पदे इत्थो क

जयणा पकरेज्ज, अप्पणो अससो सजयहिं कारवेज्जा ॥ १८ ॥

असती य सजयाण, पच्चाकरुमादिएहिं कारेज्जा ।

गिहिअमनित्तिएहिं, गिहत्थि-परत्तिथि-तिविहाहिं ॥ १९ ॥

असती संजयाण पच्चाकरोहिं कारवेति, तस्यो सान्निगपदि, ततो निराभिगहोहिं, ततो अदाभइपदि, ततो गियल्लपदि मिच्छ-हिट्ठीहिं, ततो अज्जिगाहिपमिच्छहिट्ठीहिं, ततो अमत्तिथिपदि मि-च्छहिट्ठीमादिपदि, पुव्व असायवादीहिं, पच्चा सांयवादीहिं, ततो पच्चा गिहत्थिपगित्तिथिपतिविहाहिं ति, ततो गिहत्थीहिं णालव-काहिं अणालवकाहिं ति विधाहिं घेरमज्जिमतरुणीहिं, एव पर-त्तिथिपणहिं वि, सजतीहिं वि, एवं वेध, एसो चेव अथो वित्थ-रतो भससि, तस्यो पच्चा गिहत्थिपरत्तिथिनिविदाहिं ति । गिह-त्थी दुविदा-णालयद्धा अणालयद्धा । ततो इमेहिं गिहत्थीहिं णालवकाहिं-

माताजगिणीधूया-अज्जिणी आयिद्धियाण असतीए ।

आयिद्धिय थेरेहिं, मज्जिमतरुणीहिं अमत्तिथीहिं ॥ २० ॥

माता भगिणी धूया अज्जियाणुत्तरी य, एतेसि असतीए, एयाहिं चेव अणनित्तिथीहिं, एतेसि असतीए अणालवकाहिं गिहत्थीहिं ति विधाहिं कमेण थेरमज्जिमतरुणीहिं, तस्यो एयाहिं चेव अणनित्तिथीहिं ति ॥ २० ॥

तिविहाण वि एयाणं, असतीए संजतिमादिजगिणीहिं ।

अत्थि य जगिणी ण सती, तप्पच्चा जससतिविहाहिं ॥ २१ ॥

माताजगिणीधूया-अज्जियाण वि य सेसतिविहा तु ।

एतासि अमतीए, ति विहा वि करोति जयणा तु ॥ २२ ॥

अणालवकाण थेरमज्जिमतरुणीहिं असति सजतीतो माता जगिणी धूया य अज्जियाण एवमादि ततो करोति, ततो पच्चा भव-सेसाओ अणालवकाओ ति विहाओ थेरमज्जिमतरुणीओ करा-वेति वा, एवमि चेव अथे अणायत्थिक इमा गाथा-(माता-भगिणी) । (एतासि असतीए ति) मायभगिणिनादिघाणं ति, सेसं ति विहाउ ति अणालवकाओ संजानिओ ति विधाओ थेरम-ज्जिमतरुणी य जयणा जहा फानसबकादि ण जवति, तहा कारवेति, करति वा ॥ २१ ॥ २२ ॥

जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमजा-वंत वा पमज्जावंत वा साइज्ज ॥ १९ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अमज्जउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवा-हावेज्ज वा, पल्लिमहावेज्ज वा, मंखाहावंत वा पल्लिमहावंत वा साइज्ज ॥ २० ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेद्वेण वा घएण वा वणएण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज वा, जि-ल्लिगेज्ज वा, मंखंत वा जिल्लिगत वा साइज्ज ॥ २१ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोप्पेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउम-चुएणेण वा वणएण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परिवट्टेज्ज वा, उव्वट्टंत वा परिवट्टत वा साइज्ज ॥ २२ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गारत्थि-

एण वा सीओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छो-द्वेज्ज वा, पथोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पथोवंत वा साइज्ज ॥ २३ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अणउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा फूमेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंत वा रयावंत वा मंखंत वा साइज्ज ॥ २४ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गं-थीए काये अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जा-वेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंत वा पमज्जावंत वा साइज्ज ॥ २५ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अण-उत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पल्लिमहावेज्ज वा, संवाहावंत वा पारिमहावंत वा साइज्ज ॥ २६ ॥ जे भिक्खु णि-ग्गंथे णिग्गंथीए कायं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेद्वेण वा घएण वा वणएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंत वा जिल्लिगावंत वा साइज्ज ॥ २७ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोप्पेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउम-चुएणेण वा वणएण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टावंत वा परिवट्टावंत वा साइज्ज ॥ २८ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छोलावंत वा पथोवावंत वा साइज्ज ॥ २९ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमा-वंत वा रयावंत वा मंखावंत वा साइज्ज ॥ ३० ॥ जे जि-क्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए कायसि वणं अमज्जउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आम-ज्जावंत वा पमज्जावंत वा साइज्ज ॥ ३१ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अमज्जउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा तेद्वेण वा घएण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंत वा जिल्लि-गावंत वा साइज्ज ॥ ३२ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अमज्जउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोप्पेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउमचुएणेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टावंत वा परिव-ट्टावंत वा साइज्ज ॥ ३३ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अमज्जउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छोला-वेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छोलावंत वा पथोवावंत वा साइज्ज ॥ ३४ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए कायसि वणं अमज्जउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रया-वेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंत वा रयावंत वा मंखावंत वा

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं जंघारोमाइं अस्सउ-
त्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा,
कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १९८ । जे भिक्खू णि-
ग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं सीसकेसाइं अएणउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेज्ज वा,
संठावेइ वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १९९ । जे
भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं कएणरोमाइं अस्सउ-
त्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा,
कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १०० । जे भिक्खू णि-
ग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं जूमहरोमाइं अस्सउत्थिएण वा
गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा सं-
ठावंतं वा साइज्जइ । १०१ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए
दीहाइं चक्खरोमाइं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा
कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइ-
ज्जइ । १०२ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं अच्चि-
पसाइं अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा,
संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १०३ । जे
भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं णक्करोमाइं अस्सउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, क-
प्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १०४ । जे भिक्खू णिग्गंथे
णिग्गंथीए दीहाइं कक्खरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा,
कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १०५ । जे भिक्खू णिग्गंथे
णिग्गंथीए दीहाइं पासरोमाइं अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण
वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा
साइज्जइ । १०६ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं
उत्तरउद्धाइं अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा,
संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । १०७ । जे भि-
क्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दत्ते अस्सउत्थिएण वा गारत्थिएण
वा अघसाएज्ज वा, पयसावेज्ज वा, अघमावंतं वा पयसा-
वंतं वा साइज्जइ । १०८ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए
दंते अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा मीओदगवियवेण
वा उसिणोदगवियवेण वा उच्चोद्गावेज्ज वा, पथोवाएज्ज
वा, उच्चोद्गावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ । १०९ । जे
भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अस्सउ० गारत्थि० दत्ते कप्पावेज्ज
वा, रयावेज्ज वा० जाव माइज्जइ । ११० । जे भिक्खू णि-
ग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अएणउत्थिएण० गारत्थिएण वा आ-
मावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा
साइज्जइ । १११ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अ-
एणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा मंवाहुवेज्ज वा, पलि-
महावेज्ज वा, संमाहंतं वा पलिमहावंतं वा साइज्जइ । ११२ ।

जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए उट्ठे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेद्वेण वा घण्ण वा वण्णेण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखाएज्ज वा, भिन्निगाएज्ज वा, मंखा-
वंतं वा जिह्मिगावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३ ॥ जे भिक्खू णि-
गंथे णिगंथीए उट्ठे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-
प्पेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुप्पेण वा व-
प्पेण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा
उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥ ११४ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
थीए उट्ठे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवि-
येण वा उसिणोदगवियेण वा उच्छोलावेज्ज वा, प-
थोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा साइज्जइ ॥
११५ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए उट्ठे अण्णउत्थि-
एण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखा-
वेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥
११६ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए अच्चिणि अण्णउ-
त्थिएण वा गारत्थिएण वा आमवेज्ज वा, पमावेज्ज वा,
अमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ११७ ॥ जे भिक्खू
णिगंथे णिगंथीए अच्चिणि अण्णउत्थिएण वा गार-
त्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पलिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं
वा पलिमहावंतं वा साइज्जइ ॥ ११८ ॥ जे भिक्खू णिगं-
थे णिगंथीए अच्चिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेद्वेण वा घण्ण वा वण्णेण वा वसाएण वा एवणी-
एण वा मंखावेज्ज वा, भिन्निगावेज्ज वा, मंखावंतं वा जि-
ह्मिगावंतं वा साइज्जइ ॥ ११९ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
थीए अच्चिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-
प्पेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुप्पेण वा वण्णे-
ण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा
उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ ॥ १२० ॥ जे भिक्खू णिगंथे णि-
गंथीए अच्चिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवि-
येण वा उसिणोदगवियेण वा उच्छोला-
वेज्ज वा, पथोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पथोवावंतं वा
साइज्जइ ॥ १२१ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए अ-
च्चिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा,
रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखा-
वंतं वा साइज्जइ ॥ १२२ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए
कायाउ अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सेय वा जहं
वा प्रकं वा मद्धं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, णि-
हरावंतं वा विसोहावंतं वा साइज्जइ ॥ १२३ ॥ जे भिक्खू
णिगंथे णिगंथीए गामाणुगामं दुइज्जमाणे अण्णउत्थिए-
ण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करेइ, करंतं वा
साइज्जइ ॥ १२४ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथस्स

पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमवेज्ज
वा, पमावेज्ज वा, आमवेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ १२५ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगंथीए का-
याउ अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अच्चिमद्धं वा
कसमल वा दंतमद्धं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज वा० जाव
साइज्जइ ॥ १२६ ॥ एवं सव्वं गिह्मगमगिह्मगमप्पसरिसं णे-
यव्वं जाव जे णिगंथीए णिगंथस्स गामाणुगामं दुइज्जमाणे
अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ,
करावंतं वा साइज्जइ ॥ १२७ ॥ जे भिक्खू णिगंथे णिगं-
थीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज
वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ १२८ ॥ एवं तं एतेण वा मएण सरिसा णेयव्वा
जाव जे णिगंथी णिगंथीए गामाणुगामं दुइज्जमाणे
अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ,
करावंतं वा साइज्जइ ॥ १२९ ॥

सुत्ता एकचत्तालीस ततिउदेसगगमा जाव सीसदुवारे सि
सुत्त; अत्थो पूर्ववत् ।

एसेव गमो नियमा, णिगंथीणं पि होइ णायव्वो ।

कारवण सज्जेहिं, पुव्व अवरम्मि य पदम्मी तु ॥ १३० ॥

सज्जमो गारत्थमादिपहिं सज्जतीणं पदे पमज्जणादि कारवेति,
उत्तरोच्छु ण सज्जवति, अलक्षणाए वा संभवति । नि० चू०
१७ व० ।

असमसगुणंठिय-अन्योन्यग्रथित-वि० । परस्परैकेन ग्रन्थिना
सहाऽन्यो ग्रन्थिरन्येन च सहाऽन्य इत्येव ग्रथिते, अ० ५ श०
३ व० ।

असमसगुरुयत्ता-अन्योन्यगुरुकता-ली० । अन्योन्येन ग्रन्थ-
नाद् विस्तीर्णतायाम्, अ० ५ श० ३ व० ।

असमसगुरुयसंज्ञारियत्ता-अन्योन्यगुरुकसंभारिकता-ली० ।
अन्योन्येन गुरुक यत्संज्ञारिक च तत्तथा, तद्भावस्तत्ता । अन्यो-
न्येन ग्रन्थनाद् विस्तारसंभारवत्त्वे, अ० ५ श० ३ व० ।

असमसघटता-अन्योन्यघटता-ली० । अन्योन्य घटन्ते सं-
बध्नन्तीति अन्योन्यघटाः । जी० ३ प्रति० । अन्योन्य घटाः
समुदायरचना यत्र तदन्योन्यघटम् । अन्योन्यं घटाः समु-
दायो येषां तेऽन्योन्यघटाः । परस्परसंबध्नायाम्, अ० ५
श० ३ व० ।

अण्णमएणपुट्ठ-अन्योन्यस्पृष्ट-वि० । स्पर्शनमात्रेण मिथः
स्पृष्टे, अ० १ श० ६ व० । जी० ।

अण्णमएणवच्छ-अन्योन्यवच्छ-वि० । अन्योन्य जीवाः पु-
त्रलानां, पुत्रलाश्च जीवानामित्येवमादिरूपेण गाढतरसंबन्धे,
अ० १ श० ६ व० ।

असमएणवेह-अन्योन्यवेध-पु० । अन्यस्याऽन्यस्यां सवन्धे, नि०
चू० १० व० । "अण्णमएणवेहो मत्ति सि" अन्योन्यस्य वेधः स-

बन्धोऽन्येभ्यस्तस्मात् पञ्चदशाद्यारोप एकैकस्मिन् स्थापने
सयुज्यते इत्यर्थः । नि० सू० २० उ० ।

असमसंज्ञास-अन्योन्याभ्यास-पु० । अन्योन्यं परस्परम-
न्यासः । परस्परं गुणने, अनु० ।

अणमण एकारियत्ता-अन्योन्यनारिकता-स्त्री० । अन्यो-
न्यस्य या यो भारः स त्रिद्यते यत्र तदन्योन्यनारिक, तद्भाव-
स्तत्ता । परस्परं नारवत्त्वे, प्र० ५ श० ३ उ० ।

अणमण गणमणय-अन्योन्यानुगत-त्रि० । परस्परानुबन्धे, न० ।

असमसमसंपत्त-अन्योन्यासंप्राप्त-त्रि० । परस्परमसलभे,
जी० ३ प्रति० ।

अणमण एसवाम-अन्योन्यसंवाम-पुं० । परस्परमेकत्र सं-
वासे, व्य० ३ उ० ।

असमससिणहपकिन्न-अन्योन्यस्तेहप्रतिबन्ध-त्रि० । प-
रस्परं स्नेहेन प्रतिबन्धे, म० १ श० ५ उ० । येनैकस्मिन् चा-
ल्यमाने गृह्यमाणे वा परमपि चलनादिधर्मोपेत भवति ।
जी० ३ प्रति० ।

असमयं-देशी-पुनरुक्तेऽर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

असलिंग-अन्यलिङ्ग-न० । अन्यतीर्थिकानां नेपथ्ये, वृ० १ उ० ।

अणगणिगसिद्ध-अन्यलिङ्गमिच्छ-पु० । परिव्राजकादिसंब-
न्धिनि वल्कलकषायादिवत्त्वादिरूपे द्रव्यलिङ्गे व्यवस्थिताः
सन्तो ये सिद्धास्तेऽन्यलिङ्गसिद्धाः । न० । परिव्राजकादिलि-
ङ्गसिद्धेषु, ल० । आ० । ध० ।

अणव-अर्णव-पु० । अर्णोऽसि सन्त्यस्मिन् । अर्णस्-व । स-
लोपः । समुद्रे, उदकयुक्ते, जलदातरि, सूर्ये, इन्द्रे च । वाच० ।
अर्णो जलं विद्यते यत्रासावर्णवः । “ अर्णसो लोपश्च ” ॥ इति
(वार्तिकेन) वप्रत्ययः सकारलोपश्च । द्रव्यतो जलधौ,
भावतश्च भवे. उत्त० ५ अ० ।

अणवंसि महोषंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरे ।

तस्य एगे महाएने, एमं पणहमुदाहरे ॥

एतस्मिन् कीदृशि ? (महोषसि च्छि) महानोषः प्रवाहो द्रव्य-
तो जलसबन्धी, भावतस्तु भवपरम्परात्मकः प्राणिनामत्यन्त-
माकुलीकरणहेतु, चरकादिसमूहो वा यस्मिन् स महोषस्त-
स्मिन् । महत्त्वं चोभयत्रागाधतयाऽदृष्टपरपारतया च मन्तव्य-
म् । तत्र किम् ? इत्याह- (एक इति) असहायो रागद्वेषादिसह-
भावनिरहितो गौतमादिरित्यर्थः । तरति पर पारमामोति, त-
त्कालापेक्षया वर्तमाननिर्देशः (दुरुत्तरे इति) विभक्तिव्यत्ययाद्
दुरुत्तरे दु स्वेनोत्तरीतु शक्ये । दुरुत्तरमिति क्रियाविशेषणं वा ।
नहि यथाऽसौ तरति तथा परैर्गुरुकर्मभि सुखेनैव तीर्यते, अत
एव एक इति सत्यावचनो वा । एक एव जिनमतप्रतिपक्षः,
न तु चरकादिमताकुलितचेतसोऽन्ये तथा तरीतुमीशत इति ।
(तत्रेति) गौतमादौ नरणप्रवृत्ते (एक इति) । तथाविधतीर्थक-
रनामकर्मोद्यादनुत्तरावाप्तविभूतिरद्वितीय । किमुक्तं भवति ?-
तीर्थकर सलोक एव भरने समवतीति । महती निरावरण-
तया अपरिमाणा प्रज्ञा केवलज्ञानात्मिका सविदस्येति महाप्र-
ज्ञा । स किमित्याह-इममनन्तरवद्यमाण हृदि विपरिवर्तमान-

प्रत्यक्षं प्रक्रमात्तरणोपाय पठति । स्पष्टमसदिग्धम् । पठ्यते च-
(पणह ति) पृच्छयते इति प्रश्नः । त प्रष्टव्यार्थरूपमुदाहरेदिति भूते
लिङ् । तत उदाहरेदुदाहृतवान् । पठ्यते च- “असवासि महो-
षसि एगे तिण्णे दुरुत्तरे ” इति । अत्र तु प्रत्यये विशेषः-त-
त आर्णवान्महोषाद् दुरुत्तरात् तीर्थे इव तीर्थस्तीरप्राप्त इति
योगः । एको धानिकर्मसाहित्यरहितः, (तत्रेति) स देवमनु-
जयोः परिषदि एकोऽद्वितीयः, स च तीर्थकृदेव । शेष प्राप्ति-
दिति सूत्रार्थः । उत्त० ५ अ० ।

अणव-अणवत्-त्रि० । सप्तविंशतितमे लोकोत्तरमुद्धते, न०
७ वक्ष० ।

अणववएस-अन्यव्यपदेश-पुं० । परस्य व्यपदेशे, इदं हि
शर्करादिगुडखण्डघृतपूरादिक यद्दत्तसबन्धीति प्रतिन-
भावयन् ढौकयत्यदेयबुद्ध्या, न च प्रतिनः स्वामिनाऽनुवृत्त-
गृह्णीतीति नियमोऽपि तेन भ्रमः, शर्करादिक च रक्षितमिति
तृतीयोपपत्तिवार । प्रव० ७ ब्रा० ।

असवाल-अणपालक-पुं० । कालोदाय्यादिके अन्ययूयिके,
म० ७ श० १० उ० ।

अणविहि-अणविधि-पुं० । सूफकारकलायाम्, ज० ३
वक्ष० । स० । ब्रा० । औ० ।

अणह-अणह-अव्य० । अहि आहि वीप्सायेंऽव्ययी० । अण-
समा० । प्रत्यहमित्यर्थे, वाच० । निरन्तरमित्यर्थे, ध० १ अधि० ।

अण (अ) (ह) हा-अन्यथा-अव्य० । अन्येन प्रकारेणैव-
र्थे, आचा० १ भु० ५ अ० ३ उ० । आ० म० । प० व० ।

अणहाकाम-अन्यथाकाम-पु० । पारदार्ये, हा० १ अ० १ उ० ।

अणहाऽणुववत्ति-अन्यथाऽणुपपत्ति-स्त्री० । अयथा अ-
न्यभावेन अनुपपत्तिः असंज्ञकः । स्थाभावाप्रयोज्यसमवे, अर्था-
पत्तिप्रमाणे च । तथाहि-पीनो देवदत्तो दिवा न लुक्ते, इत्यादौ
दिवाऽभोक्तुर्देवदत्तस्य पीनत्व रात्रिभोजन विनाऽणुपपन्नम्, इति
ज्ञानाद् रात्रिभोजनकर्तृवृत्तिपीनत्वेन रात्रिभोजनं कल्प्यते ।
वाच० । साध्याऽभाषप्रकारेणानुपपत्तौ, असति साधे हेतोरु-
पपत्तिरेवान्यथाऽणुपपत्तिः । रत्ना० । “अन्यथाऽणुपपन्नम्, यत्र
तत्र त्रयेण किम् ? । नान्यथाऽणुपपन्नम्, यत्र तत्र त्रयेण किम् ?”
॥ १ ॥ सूत्र० १ भु० १२ अ० ।

असहाभाव-अन्यथाभाव-पुं० । अन्यथा अन्यरूपेण प्राप्ति-
यस्य । यथारूपमुचितं ततोऽन्यथारूपेण भवने, वाच० । विपरि-
मने, वृ० ४ उ० ।

असहावाइ (ण्)-अन्यथावादिन्-त्रि० । अनृतवादिनि,
“अणुवकयपराणुमहपरायणा ज जिना जगत्पवग जिमराण-
दोससंमोहा य नऽसहावाइणो तेण ” भाव० ४ अ० ।
अणहि-अन्यथा-अव्य० । अन्यत्र “त्रयो दिदृथाः ” ॥ ११ ।
६१ । इति त्रयप्रत्ययस्थाने हि इ तथा आदेशाः । अन्यस्मिन्
स्थाने इत्यर्थे, प्रा० ।

अणहिभाव-अन्यथाभाव-पुं० । विपरिणमने, वृ० ४ उ० ।

अणगाइह-अणवाविष्ट-त्रि० । अभिप्राये, प्र० १५ श० १ उ० ।
परवशीकृते, म० १८ श० ६ उ० ।

असा (आ) इ-अन्यादृश-त्रि०। अन्यादृशशब्दस्य "अन्या दृशोऽसावरा इति" । ७ । ४ । १३ । इति अर्पणश्रे असाइसे-त्यादेशः । प्रकारान्तरतामापन्ने, प्रा० ।

अएणाएसि (ए)-अज्ञातैषिन्-पु० । जातिकुलसद्व्यनि-रुच्यतादिनाऽपरीक्षितोऽज्ञातः, तादृश गृहस्थमाहाराद्यर्थमे-षयतीत्येवशीलोऽज्ञातैषी । उक्त० २ अ० । अज्ञातो जातिभुता-दिभिरेष्यत्युच्यते अर्थात् पिण्डादीनि इत्यज्ञातैषी । उक्त० ३ अ० । अज्ञातस्तपस्वितादिर्निर्गुणैरनवगत एषयते प्रासादिक गवेषय-तीत्येवशीलोऽज्ञातैषी । उक्त० १५ अ० । यत्र कुले नस्य साधो-स्तपोनियमादिगुणो न ज्ञातस्तत्र एषयते प्रासादिक गृहीतु-वाञ्छत इत्येवशीलोऽज्ञातैषी । उक्त० १५ अ० । विशिष्टगुणैर-ज्ञात एव भिन्नगते, " अकामकामी असा (आ) एसी परि-व्यय स भिन्नम् " उक्त० १५ उ० ।

असाण-अज्ञान-न० । न ज्ञानमज्ञानम् । सम्यग्ज्ञानादितर-स्मिन् ज्ञाने, आव० ।

असाणं परियाणामि, नाणं उवसंपज्जामि । आव० ४ अ० ।

(नाणे चि) ज्ञानिन सम्यग्गृह्य, अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः । आह च-"अविसेसिया मश्विय, सम्महिट्टिस्स ता मश्वान् । मश्वान् मिच्छा-दिट्टिस्स सुय पि एमेव" ॥ १ ॥ इति । अज्ञानता च मिथ्यादृष्टिबोधस्य, सदसतोर्विशेषात् । तथा-हि-सन्त्यर्था इह, तत्सत्त्व कथंचिदिति विशेषितव्यं भवति, स्वरूपेणेत्यर्थः । मिथ्यादृष्टिस्तु मन्यते-सन्त्येवेति, ततश्चा-पररूपेणापि तेषां सत्त्वप्रसङ्गः । तथा न सन्त्यर्था इह, तदस-त्त्व कथञ्चिदिति विशेषितव्यं भवति, पररूपेणेत्यर्थः । स तु-न सन्त्येवेति मन्यते, तथा च नत्प्रतिषेधकवचनस्याप्यज्ञाव-प्रसङ्गतीति । अथवा शशविषाणादयो न सन्तीत्येतत्कथ-ञ्चिदिति विशेषणीयम्, यतस्ते शशमस्तकादिसमवेततथैव न सन्ति; न तु शशश्च विषाण च, शशस्य वा विषाण, शृङ्गि-पूर्वजवग्रहणापेक्षया शशविषाणम्, तद्रूपतयाऽपि न सन्तीति, तदेव सदसतोः कथञ्चिदित्येतस्य विशेषणस्यानन्युपगमात् । तस्य ज्ञानमप्ययथार्थत्वेन कुत्सितत्वाद्ज्ञानमेव । आह च-"अहं दुग्धयणमवयण, कुत्सियसीलमसीलमसईय । जगह त-ज्ञान पि दु, मिच्छादिट्टिस्स अन्नाण" ॥ १ ॥ इति । तथा मिथ्यादृष्टे-रभ्यवसायो न ज्ञानम्, नवहेतुत्वात्, मिथ्यात्वादिवत् । तथा यहच्छोपलधेरुभयवचनप्रकाशफलस्य सत्क्रियालक्षणाभावा-दन्वस्य स्वहस्तगतदीपप्रकाशवदिति । आह च-"सदसद-विसेसणाओ, भवहेतु जइत्थिओवलमाओ । नाणफल्लजा-वाओ, मिच्छादिट्टिस्स अन्नाण" ॥ ८ ॥ इति । स्या० २ उ० ४ उ० । अ० । आव० । "असाणजमतमच्छपरिदत्थअणिहुतीदि-यमहामगरतुरियचरियसोखुभमाणनत्तचवत्तचवत्तचवत्तपु-म्मतजत्तसमूह" अज्ञानान्येव भ्रमतो मत्स्याः (परिदत्थ ति) दक्षा यत्र स तथा । अनिभृतान्यनुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि सान्येष महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि शीघ्राणि चरितानि चेष्टितानि तैः (सोखुभमाणे ति) भृशं क्रुम्यमाणो मृत्यञ्चिव नृत्यञ्च चपलानां मध्य चञ्चलश्चास्थिरत्वेन चञ्चल स्थाना-न्तरगमनेन घूर्णञ्च भ्राम्यन् अज्ञसमूहो जलसंघातः, अन्यत्र जरुसमूहो यत्र स तथा त, ससारमिति भावः । औ० । नञ् कुत्सार्थत्वात् कुत्सितं ज्ञानमज्ञानमिति । अनु० । ज्ञाना-वरणकर्मोदयजनिते, आव० ४ अ० । आत्मपरिणामे, दर्श० ।

मिथ्यात्वमिरोपप्लुतदृष्टेर्जीवस्य विपर्ययस्ते बोधे, विशेष० । उक्त० । अज्ञानमनवबोधः । उक्त० ३ अ० । मूढतारूपे, आतु० । ज्ञाना-भावे, मिथ्यादृष्टिकृतीर्थिकपार्थक्यस्थादिसंबन्धशास्त्रावगाहना-त्मके, दर्श० । उक्त० । स० । सशयविपर्ययादिरूपे मिथ्याज्ञाने, द्वा० २१ द्वा० । जीवाजीवविवेकरहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० । सदबोधा-भावे, दर्श० । कुशास्त्रसंस्कारे, औ० । कुत्सितत्व च मिथ्यात्व-सबलितत्वात् । उक्त च-"अविसेसिया मश्विय, सम्महिट्टिस्स ता मश्वान् । मश्वान् मिच्छा-दिट्टिस्स सुय पि एमेव" ज० ८ श० २ उ० ।

तच्च अज्ञान मिथ्यात्वमिति उच्यते—

असाणे तिविहे पणत्ते । तं जहा-देस-एणाणे, सव्व-एणाणे, जाव-एणाणे ।

(असाणेत्यादि) ज्ञानं हि रुच्यपर्यायविषयो बोधः, तन्निषेधोऽ-ज्ञानं, तत्र विवक्षितरुच्य देशतो यदा न जानाति तदा देशज्ञा-नम्, अकारप्रत्ययेणात् । यदा च सर्वतो न जानाति तदा सर्वा-ज्ञानम् । यदा विवक्षितपर्यायतो न जानाति तदा भावाज्ञानमि-ति । अथवा देशादिज्ञानमपि मिथ्यात्वविशिष्टमज्ञानमेवेति । अकारप्रत्यये विनाऽपि न दोष इति । स्या० ३ उ० ३ उ० ।

अएणाणे एं भंते ! कइविहे पणत्ते ! गोयमा ! तिविहे पणत्ते । तं जहा-मइअएणाणे सुयअएणाणे विजंगनाणे । से किं तं मइअएणाणे ! मइअएणाणे चउत्तिहे पणत्ते । तं जहा-उगगहे० जाव धारणा । से किं तं उगगहे ! उगगहे छुविहे पणत्ते । तं जहा-अत्थोगगहे य वंजणोगगहे य । एवं जहेव आभिणिबोहियनानं तहेव, एवरं एगडियवज्जं० जाव नोइंदियधारणा, सेच धारणा । सेचं मइअएणाणे । से किं तं सुयअएणाणे ! सुयअएणाणे जं इमं असाणिण्हि मिच्छादि-ट्टिण्हि जहा नंदिए जाव चत्तारि य वेदा संगोवंगा । सेचं सुयअएणाणे । से किं तं विभंगनाणे ! विभंगनाणे अणे-गविहे पणत्ते । तं जहा-गामसंठिए नगरसंठिए जाव सप्पि-वेससंठिए दीवसंठिए समुदसंठिए वाससंठिए वामहरसं-ठिए पव्वयसंठिए रुक्खसंठिए थूनसंठिए हयसंठिए गय-संठिए नरसंठिए किंनरसंठिए किंपुरिससंठिए महोरग-संठिए गंधव्वसंठिए उसभसंठिए पमुपसयविहगवानरणा-णासंठाणसंठिए पणत्ते । ज० ८ श० ५ उ० ।

मोहविजृम्भणे, सूत्र० १ सु० १ अ० ३ उ० । आचा० । ज्ञायते सुतत्त्वमनेनेति ज्ञान भुताख्यम्, तदभावोऽज्ञानम् । प्रव० ७६ द्वा० । अज्ञान-प्रकर्षे गर्वे प्रज्ञाऽभावे दैन्यचिन्तनमित्युभयथा । उक्त० २ अ० । अज्ञानमार्वाऽभावाच्यां द्विधा सोढव्ये एकवि-शे परीपहमेदे । अज्ञानपरीपहश्च सोढव्य एव, न तु कर्मविपाक-जादज्ञानादुद्धिजेत । आव० ४ अ० । तदुक्तम्-"विरतस्तपसो-पेत, कुशस्योऽहं तथापि च । धर्म्मोदि साक्षान्नैवहे, नैव स्यात् क्रमकालवित्" ॥ १ ॥ आव० १ अ० ।

पतदेव सूत्रकृत प्रपञ्चयिषुस्तावदभावपक्षमङ्गीकृत्याह—
निरट्ठगमि विरओ, मेहुणाओ सुसवुडो ।

बन्धोऽन्येनवेधस्तस्मात् पञ्चदशाचारोप एकैकस्मिन् स्थापने
सयुज्यते इत्यर्थः । नि० सू० २० उ० ।

अणमसवज्ञास-अन्योन्याभ्यास-पु० । अन्योन्यं परस्परम-
न्यासः । परस्परं गुणने, अनु० ।

अणमण एनारियत्ता-अन्योन्यनारिकता-स्त्री० । अन्यो-
न्यस्य या यो भार स विद्यते यत्र तदन्योन्यनारिक, तद्भाव-
स्तत्ता । परस्पर नारवत्त्वे, न० ५ श० ३ उ० ।

अणमण एमणुगय-अन्योन्यानुगत-त्रि० । परस्परानुबन्धे, न० ।

अणनसमसंपत्त-अन्योन्यासंप्राप्त-त्रि० । परस्परमसलभे,
जी० ३ प्रति० ।

अणमण एसवाम-अन्योन्यसंवाम-पुं० । परस्परमेकत्र सं-
वासे, व्य० ३ उ० ।

अणमणसिण्णहपक्विच्छ-अन्योन्यस्नेहप्रतिवच्छ-त्रि० । प-
रस्पर स्नेहेन प्रतिवच्छे, म० १ श० ५ उ० । येनैकस्मिन् चा-
त्यमाने गृह्यमाणे वा परमपि चलनादिधर्मोपेत भवति ।
जी० ३ प्रति० ।

अणमयं-देशी-पुनरुक्तेऽर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणलिङ्ग-अन्यलिङ्ग-न० । अन्यतीर्थेकानां नेपथ्ये, वृ० १ उ० ।

अणगङ्गिसिद्ध-अन्यद्विङ्गमिच्छ-पु० । परिव्राजकादिसंब-
न्धिनि वल्कलकषायादिवस्त्रादिरूपे द्रव्यलिङ्गे व्यवस्थिताः
सन्तो ये सिद्धास्तेऽन्यलिङ्गसिद्धाः । न० । परिव्राजकादिलि-
ङ्गसिद्धेषु, ल० । आ० । ध० ।

अणव-अर्णव-पु० । अर्णासि सन्त्यस्मिन् । अर्णस्-व । स-
लोपः । समुद्रे, उदकयुक्ते, जलदातरि, सूर्ये, इन्द्रे च । वाच० ।
अर्णो जलं विद्यते यत्रासावर्णवः । “ अर्णसो लोपश्च ” इति
(वार्तिकेन) वप्रत्ययः सकारलोपश्च । द्रव्यतो जलधौ,
भावतश्च भवे. उत्त० ५ अ० ।

अणवसि महोघंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरे ।

तस्य एगे महाएने, स्मं पणमुदाहरे ॥

एतस्मिन् क्रीडशि ? (महोघसि) महानोघः प्रवाहो द्रव्य-
तो जलसबन्धी, भावतस्तु भवपरम्परात्मकः प्राणिनामत्यन्त-
माकुलीकरणहेतुः, चरकादिसमूहो वा यस्मिन् स महौघस्त-
स्मिन् । महत्त्वं चोभयत्रागाधतयाऽदृष्टपरपारतया च मन्तव्य-
म् । तत्र किम् ? इत्याह- (एक इति) असहायो रागद्वेषादिसह-
भावनिरहितो गौतमादिरित्यर्थः । तरति पर पारमार्थेति, त-
त्कालापेक्षया वर्तमाननिर्देशः (दुरुत्तरे इति) विभक्तिव्यत्ययाद्
दुरुत्तरे दुःखेनोत्तरीतु शक्ये । दुरुत्तरमिति क्रियाविशेषणं वा ।
नहि यथाऽसौ तरति तथा परैशुरुकर्मभिः सुखेनैव तीर्यते, अत
एव एक इति सख्यावचनो वा । एक एव जिनमतप्रतिपक्षः,
न तु चरकादिमताकुलितचेतसोऽन्ये तथा तरीतुमीशत इति ।
(तत्रेति) गौतमादौ तरणप्रवृत्ते (एक इति) । तथाविधतीर्थक-
रनामकर्मोदयादनुत्तरावाप्तविभूतिरद्वितीय । किमुक्तं भवति ?
तीर्थकरः सलोक एव भरते संभवतीति । महती निरावरण-
तया अपरिमाणा प्रज्ञा केवलज्ञानात्मिका सविदस्येति महाप्र-
ज्ञा । स किमित्याह- इममनन्तरवद्यमाणं हृदि विपरिवर्तमान-

प्रत्यक्षं प्रक्रमोत्तरणोपायं पठति । स्पष्टमसदिग्धम् । पठ्यते च-
(पण इति) पृच्छयते इति प्रश्नः । त प्रष्टव्यार्थरूपमुदाहरेदिति भूते
लिङ् । तत उदाहरेदुदाहृतवान् । पठ्यते च- “ अणवसि महो-
घसि एगे तिण्णे दुरुत्तरे ” इति । अत्र तु प्रत्यये विशेषः- त-
त्तत्कार्यवान्महोघाद् दुरुत्तरात् तीर्णं इव तीर्णस्तीरप्राप्त इति
योगः । एको घातिकर्मसाहित्यरहितः, (तत्रेति) स देवमनु-
जयोः परिषदि एकोऽद्वितीयः, स च तीर्थरुदेव । शेष प्राप्ति-
दिति सूत्रार्थः । उत्त० ५ अ० ।

अणव-अणवत्-त्रि० । सप्तविंशतितमे लोकोत्तरमुद्धर्ते, ज०
७ वक्ष० ।

अणववएस-अन्यव्यपदेश-पुं० । परस्य व्यपदेशे, इदं हि
शर्करादिगुडलण्डघृतपूरादिकं यद्गदत्तसबन्धीति व्रतिनः
भावयन् दौक्यत्यदेयबुद्ध्या, न च व्रतिनः स्वामिनाऽनुज्ञात
गृह्णीतीति नियमोऽपि तेन भग्नः, शर्करादिकं च रक्षितमिति
वृत्तान्तातिचारः । प्रव० ७ द्वा० ।

अणवाल-अणपालक-पुं० । कालोदाय्यादिके अन्ययुक्तिके,
म० ७ श० १० उ० ।

अणविहि-अणविधि-पुं० । सूपाकारकलायाम्, ज० २
वक्ष० । स० । द्वा० । औ० ।

अणह-अणह-अव्य० । अहि आहि वीप्सार्थेऽन्यथी० । अण-
समा० । प्रत्यहमित्यर्थे, वाच० । निरन्तरमित्यर्थे, ध० १ अधि० ।

अण (च) (ह) हा-अन्यथा-अन्य० । अन्येन प्रकारेण-
र्थे, भावा० १ सु० ५ अ० ३ उ० । आ० म० । प० व० ।

अणहाकाम-अन्यथाकाम-पुं० । पारवार्थ्ये, हा० १३ अ० । द्वा० ।

अणहाऽणुववत्ति-अन्यथाऽणुपपत्ति-स्त्री० । अन्यथा अ-
न्यभावेन अनुपपत्तिः असंभवः । स्वाभावाप्रयोज्यसम्भवे, अर्था-
पत्तिप्रमाणे च । तथाहि-पीनो देवदत्तो दिवा न वृद्धे, इत्यादौ
दिवाऽभोक्तुर्देवदत्तस्य पीनत्व रात्रिभोजन विनाऽणुपपन्नम्, इति
ज्ञानाद् रात्रिभोजनकर्तृवृत्तिपीनत्वेन रात्रिभोजनं कस्यते ।
वाच० । साध्याऽभावप्रकारेणानुपपत्तौ, असति साध्वे हेतोरनु-
पपत्तिरेवान्यथाऽणुपपत्तिः । रत्ना० । “ अन्यथाऽणुपपन्नत्वं, यत्र
तत्र त्रयेण किम् ? । नान्यथाऽणुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ”
॥ १ ॥ सूत्र० १ सु० १२ अ० ।

अणहाभाव-अन्यथाभाव-पुं० । अन्यथा अन्यरूपेण प्राप्ति-
यस्य । यथारूपमुचितं ततोऽन्यथारूपेण भवने, वाच० । विपरिण-
मने, वृ० ४ उ० ।

अणहावाइ (ण)-अन्यथावादिन्-त्रि० । अनृतवादिनि,
“ अणुवकयपराणुगदपरायणा जं जिणा जगप्पवगा जिमराग-
दोससंमोहा य नऽणहावाइणो तेण ” भाव० ४ अ० ।

अणहि-अन्यथा-अव्य० । अन्यत्र “ त्रपो दिहत्था. ” ८ । १ ।
६१ । इति त्रप्प्रत्ययस्थाने दि ह तथा आदेशः । अन्यस्मिन्
स्थाने इत्यर्थे, प्रा० ।

अणहिभाव-अन्यथाभाव-पुं० । विपरिणमने, वृ० ४ उ० ।

अणगाइष्ट-अणवाविष्ट-त्रि० । अभिव्याप्ते, न० १५ श० १ उ० ।
परवशीकृते, म० १८ श० ६ उ० ।

अष्टा (आ) इ-अन्यादृश-त्रि० अन्यादृशशब्दस्य “अन्यादृशोऽन्यादृशावरा इति” । ७ । ४ । १३ । इति अर्पणश्रे अष्टादृशेत्यादेशः । प्रकारान्तरतामापन्ने, प्रा० ।

अष्टाष्टसि (ए)-अज्ञातैषिन्-पु० । जातिकुलसद्व्यनिर्जन्यतादिनाऽपरीक्षितोऽज्ञातः, तादृश गृहस्थमादाराद्यर्थमेव यतीत्येवशीलोऽज्ञातैषी । उक्त० २ अ० । अज्ञातो जातिभुतादिभिरेष्युञ्जति अर्थात् पिण्णादीनि इत्यज्ञातैषी । उक्त० ३ अ० । अज्ञातस्तपस्वितादिभिर्गुणैरनवगत पश्यते प्रासादिक गवेषयतीत्येवशीलोऽज्ञातैषी । उक्त० १५ अ० । यत्र कुले नस्य साधोस्तपोनियमादिगुणो न ज्ञातस्तत्र पश्यते प्रासादिक गृहीतुवाञ्छत इत्येवशीलोऽज्ञातैषी । उक्त० १५ अ० । विशिष्टगुणैरज्ञात एव भिक्षणरते, “अकामकामी अष्टा (आ) पत्नी परिष्यस्य स भिक्षुः” उक्त० १५ उ० ।

अष्टाष्ट-अज्ञान-न० । न ज्ञानमज्ञानम् । सम्यग्ज्ञानादितरस्मिन् ज्ञाने, आव० ।

अष्टाष्टं परियाणामि, नाष्टं लवसंपज्जामि । आव० ४ अ० ।

(नाणे चि) ज्ञानिनः सम्यग्गृह्य, अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः । आह च-“अविसेसिया मश्चिय, सम्महिट्टिस्स ता मञ्जाण । मइअण्ण मिच्छा-दिट्ठिस्स सुय पि एमेव” ॥ १ ॥ इति । अज्ञानता च मिथ्यादृष्टिबोधस्य, सदसतोऽविशेषात् । तथा हि-सन्त्यर्था इह, तत्सत्त्व कथंचिदिति विशेषितव्यं भवति, स्वरूपेणेत्यर्थः । मिथ्यादृष्टिस्तु मन्यते-सन्त्येवेति, तत्तत्पारुषेण्यपि तेषां सत्त्वप्रसङ्गः । तथा न सन्त्यर्था इह, तदसत्त्व कथंचिदिति विशेषितव्यं भवति, पररूपेणेत्यर्थः । स तु न सन्त्येवेति मन्यते, तथा च न तत्प्रतिषेधकवचनस्याप्यज्ञातः प्रसज्यतीति । अथवा शशविषाणादयो न सन्तीत्येतत्कथंचिदिति विशेषणीयम्, यतस्ते शशमस्तकादिसमवेततयैव न सन्ति; न तु शशश्च विषाण च, शशस्य वा विषाण, शृङ्गिपूर्वजवप्रदणपेक्षया शशविषाणम्, तद्रूपतयाऽपि न सन्तीति, तदेव सदसतोः कथंचिदित्येतस्य विशेषणस्यानङ्गुपगमात् । तस्य ज्ञानमप्ययथार्थत्वेन कुत्सितत्वाद्ज्ञानमेव । आह च-“अहं दुव्वयणमवयण, कुत्थियसीलमसीलमसईय । जणइ त-आण पि दु, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाण” ॥ १ ॥ इति । तथा मिथ्यादृष्टेरव्यवसायो न ज्ञानम्, प्रवहेतुत्वात्, मिथ्यात्वादिवत् । तथा यद्व्यपन्नधेरुभयस्य सत्ताज्ञानफलस्य सत्क्रियालक्षणाभावादन्यस्य स्वहस्तगतदीपप्रकाशवदिति । आह च-“सदसद्विसेसणाओ, भवहेऊ जइत्थिओवलमाओ । नाणफल्लज्जावामो, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाण” ॥ ८ ॥ इति । स्था० २ ग० ४ उ० । ध० । आव० । “अष्टाष्टमममच्छपरिदत्थअणिगुत्तेदियमहामगरतुरियचरियसोखुभमाणनञ्चतचवन्नचवन्नचवन्नतधु-ममजलसमूहं” अज्ञानान्येव भ्रमंतो मत्स्याः (परिदत्थं ति) इति यत्र स तथा । अनिभृतान्यनुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि तान्येव महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि शीघ्राणि चरितानि चेष्टितानि तैः (सोखुभमाणे ति) गृहा कुम्भमाणो नृत्यन्निव नृत्यश्च चपलानां मध्य चञ्चलश्चास्थिरत्वेन चञ्चल स्थानान्तरगमनेन घूर्णश्च आस्यन् जलसमूहो जलसघातः, अन्यत्र जलसमूहो यत्र स तथा त, ससारमिति भावः । औ० । नञ् कुत्सार्थत्वात् कुत्सितं ज्ञानमज्ञानमिति । अनु० । ज्ञानावरणकर्मादयजनेति, आव० ४ अ० । आत्मपरिणामे, दर्श० ।

मिथ्यात्वविरोधोपप्लुतदृष्टैर्जीवस्य विपर्ययस्ते बोधे, विशेष० । उक्त० । अज्ञानमनवबोधः । उक्त० ३ अ० । मूढतारूपे, आतु० । ज्ञानाभावे, मिथ्यादृष्टिकुतीर्थिकपार्श्वस्थादिसबन्धिशास्त्रावगाहनात्मके, दर्श० । उक्त० । स० । सशयविपर्ययादिरूपे मिथ्याज्ञाने, द्वा० २१ द्वा० । जीवाजीवविवेकरहिते, अष्ट० २२ अष्ट० । सदबोधाभावे, दर्श० । कुशास्त्रसंस्कारे, औ० । कुत्सितत्व च मिथ्यात्वसंबलितत्वात् । उक्त च-“अविसेसिया मश्चिय, सम्महिट्टिस्स ता मञ्जाणं । मइअण्ण मिच्छा-दिट्ठिस्स सुय पि एमेव” ज० ८ श० २ उ० ।

तच्च अज्ञानं मिथ्यात्वमिति उच्यते—

अष्टाष्टे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-देस-अण्णत्ते, सव्व-अण्णत्ते, जाव-अण्णत्ते ।

(अष्टाष्टेत्यादि) ज्ञानं हि व्यवपर्यायविषयो बोधः, तन्निषेधोऽज्ञानं, तत्र विवक्षितव्यं देशतो यदा न जानाति तदा देशाज्ञानम्, अकारप्रत्येयात् । यदा च सर्वतो न जानाति तदा सर्वाज्ञानम् । यदा विवक्षितपर्यायतो न जानाति तदा भावाज्ञानमिति । अथवा देशादिज्ञानमपि मिथ्यात्वविशिष्टमज्ञानमेवेति । अकारप्रत्येयं विनाऽपि न दोष इति । स्था० ३ ग० ३ उ० ।

अष्टाष्टे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-मइअण्णत्ते सुयअण्णत्ते विजंगनात्ते । से किं तं मइअण्णत्ते ? । मइअण्णत्ते चउन्विहे पण्णत्ते । तं जहा-उगगहे० जाव धारणा । से किं तं उगगहे ? । उगगहे उविहे पण्णत्ते । तं जहा-अत्थोगगहे य वंजणोगगहे य । एवं जहेव आभिणिवोदियनाणं तदेव, एवरं एगडियवज्जं० जाव नोइंदियधारणा, सेच धारणा । सेत्तं मइअण्णत्ते । से किं तं सुयअण्णत्ते ? । सुयअण्णत्ते जं इमं अष्टाष्टिणं हि मिच्छादिट्ठिणं हि जहा नंदिणं जाव चत्तारि य वेदा संगोवंगा । सेत्तं सुयअण्णत्ते । से किं तं विभंगनात्ते ? । विभंगनात्ते अणे-गविहे पण्णत्ते । तं जहा-गामसंठिणं नगरसंठिणं जाव सप्पि-वेससंठिणं दीवसंठिणं समुदसंठिणं वाससंठिणं वामहरसंठिणं पव्वयसंठिणं रुक्खसंठिणं थूनसंठिणं हयसंठिणं गय-संठिणं नरसंठिणं किंनरसंठिणं किंपुरिससंठिणं महोरग-संठिणं गंधव्वसंठिणं उसभसंठिणं पमुपसयविहगवानरणाणांसंठाणसंठिणं पण्णत्ते । ज० ८ श० ५ उ० ।

मोहविजृम्भणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । आचा० । ज्ञायते सुतत्त्वमनेनेति ज्ञानं भुताख्यम्, तदभावाऽज्ञानम् । प्रव० ८६ द्वा० । अज्ञान-प्रकर्षे गर्वः प्रज्ञाऽभावे दैन्यचिन्तनमित्युभयथा । उक्त० २ अ० । अज्ञानमार्वाऽभावान्यां द्विधा सोढव्ये एकवि-शे परीहद्भेदे । अज्ञानपरीहश्च सोढव्य एव, न तु कर्मविपाक-जादृशानादुद्दिजेत । आव० ४ अ० । तदुक्तम्-“विरतस्तपसो-पेत, दृष्टस्योऽहं तथापि च । धर्मादि साक्षात्तैवेकै, नैवं स्यात् क्रमकालविव” ॥ १ ॥ आव० १ अ० ।

यतदेव सूत्रकृत् प्रपञ्चयिषुस्तावदभावपक्षमङ्गीकृत्याह—

निरङ्गामि विरओ, मेहुणाओ सुसवुडो ।

जो सखं नाभिजाणामि, धर्मं कल्लाण पावणं ॥

अर्थः प्रयोजन, तदभावो निरर्थः, तदेव निरर्थकं, तस्मिन् सति विरतो निवृत्तः, कस्मात् ? , मिथुनस्य भावः कर्म वा मैथुनमग्रहः, तस्मात् , आश्वान्तरविरतावपि यदस्योपादानं तस्यैवातिगृ-
हिहेतुतया दुस्त्यजत्वात् । उक्तं हि—“ दुष्परिचया कामा इमे ”
इत्यादि । सुष्ठु सवृत सुसवृत । इन्द्रियसवरणेन, यः साक्षादिति
परिस्फुटं नाभिजानामि, धर्मं वस्तुस्वभावः (कल्लाणं चि) वि-
न्दुलोपात्कल्याणं शुभं, पापकं वा तद्विपरीतं चेत्यस्यां गम्यमा-
नत्वात् । यद्वा-धर्ममाचारः, कल्याणं तन्तनीरुक्ततया मोक्षः । तमा-
नयति प्रापयतीति कल्याणो मुक्तिहेतुः, तः पापकं वा नरकादि-
हेतुः । अयमाशयः—यदि विरतौ कश्चिदर्थः सिद्धोऽनैवं ममाज्ञा-
नं प्रवेत् । उक्तं ३ अ० । “ अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधादिभ्योऽपि
सर्वपापेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनावृतो लोकः ” ॥ १ ॥
उक्तं २ अ० । आवा० आचा० । दर्श० । “ नात परमं मन्ये, जगतो
दुःखकारणम् । यथाऽज्ञानमहारोगो, दुरन्तः सर्वदेहिनाम् ” ॥ १ ॥
आचा० १ अ० ३ अ० १ उ० । “ अज्ञानं वस्तु जिज्ञासु-र्न मु-
ह्येत् कर्मदोषिवत् । ज्ञानिनां ज्ञानमन्वीक्ष्य, तथैवेत्यन्यथा न तु ”
॥ १ ॥ आ० म० द्वि० । रा० । “ अस्माणो रिपुं अस्मो, पाणिणं णेव
विज्जति । पत्तो सक्किरियातीप, अणत्था विस्सतो मुहा ” ॥ १ ॥
प० सू० ५ सू० ।

कदाचित्साभान्यचर्ययैय न फलावाप्तिरत आह—

तवोवहाणमादाय, पमिमं पमिवज्ज उ ।

एवं पि विहरओ मे, उउमं न नियट्ठइ ॥

(पार्श्वटीका)

तपो नम्रमहामुखादि, उपधानमागमोपचाररूपमाचारग्लादि, आ-
दाय स्त्रीकृत्य, चरित्वेति यावत् । प्रतिमां मासिक्यादिजिह्वाप्रति-
मा, (पमिवज्ज उ चि) इति प्रतिपद्याङ्गीकृत्य । पठ्यते च—“ पडिम
पडिवज्जितो चि ” प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्यान्युपगच्छति । एवम-
पि विशेषचर्ययाऽपि, आस्तां सामान्यचर्ययेत्यपिशब्दार्थः । विह-
रतो निष्प्रतिश्रुत्वेनानियतं विचरतः, ग्राहयतीति कृष्णं ज्ञाना-
चरणादिकर्म, न निवर्तते नपैतीति भिक्षुभिर्न चिन्तयेदित्युत्त-
रेण सवन्धः । अज्ञानाभावपक्षे तु समस्तशास्त्रार्थनिकषोपल-
क्षतायामपि न दर्पाऽऽध्यातमानसो भवेत्, किन्तु पूर्वपुरुषसि-
द्धानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यं भुत्वा साम्प्रतं पुरुषः कथं
स्वबुद्ध्या मन्दयन्तीति परिज्ञायन् विगलितावलेपः सन्नेवं
भावयेत्—“ निरट्ठय ” सूत्रद्वयम् । अक्षरगमनिका सैव, मवरं (नि-
रट्ठयस्मि चि) निरर्थकेऽपि प्रक्रमात्प्रज्ञावलेपे रतो, मैथुनात्सुसं-
वृतं सन्निरुद्धात्मा, सत्योऽहं यः साक्षात्समं नाभिजानामि,
धर्मं कल्याणं पापकं वा । अयमभिप्रायः—“ जे एग जाणति, से
सव्व जाणति, जे सव्व जाणइ, से एग जाणइ ” इत्याऽऽगमात् ।
उक्तोऽहमेकमपि धर्मं वस्तुस्वरूपं न तत्त्वतो वेत्ति, ततः सा
क्षान्दावस्वभावावज्ञासि चेत् न विज्ञानमस्ति, किमतोऽपि मुकु-
लितवस्तुस्वरूपपरिज्ञानतोऽवलेपेनेति भावः । तथा तप उपधा-
नादिभिरप्युपक्रमणहेतुभिरुपक्रमितुमशक्ये उक्तानि दारुणे वैरि-
णि निष्प्रतिपत्तिकं किल ममाहङ्कारावसर इति सूत्रद्वयार्थः ।

साम्प्रतमावृत्त्या पुनः सूत्राचारमङ्गीकृत्य प्रकृतसूत्रोपक्षिप्त-
मज्ञानसङ्गावे उदाहरणमाह—

परित्तो वायणाए, गंगाकूलेऽपि धयसगमयाए ।

संवचरेहिं हिज्जइ, वारसयं असंखयज्जयणं ॥

(पार्श्वटीका)

परितान्तं खिन्नो वाचनया गङ्गाकूलेऽपि तां अशक्यतां याः सवत्स-
रैरधीते द्वादशभिरसंस्कृताध्ययनमिति गाथाकारार्थः । भावार्थ-
स्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः । स चायम्-गङ्गातीरे द्वौ भ्रातरौ वैरा-
कादीकां गृहीतवन्तौ, तत्रैको विद्वान् जातः, द्वितीयस्तु मूर्खः । यो
विद्वान् सोऽनेकशिष्याध्यापनादिना खिन्न एव चिन्तयति स्म—
अहो ! धन्याऽयं मे भ्राता यः सुखेन तिष्ठति, निद्रादिकमवसरे
कुर्वन्नस्ति । अहं तु शिष्याध्यापनादिकष्टे पतितोऽस्मीति चि-
न्तयन् काव्यमिदं चकार—

“ मूर्खत्वं हि सखे ! ममापि क्वचितं तस्मिन् यदष्टौ गुणाः,
निश्चिन्तोऽबहुभोजनो २ऽन्नपमाना ३ नक्तं दिवा शायकः ४ ॥
कार्याकार्यविचारणान्धधरो ५ मानापमाने समः ६,
प्रायेणाऽऽमयवर्जितो ७ दृढवपुः ८ मूर्खः सुखं जीवति ” ॥ १ ॥

परं नैवं चिन्तयति स्म—

“ नानाशास्त्रसुभाषितामृतनरसैः श्रोत्रोत्सवं कुर्वतां,
येषां यान्ति दिनानि परिभूतजनव्यायामखिन्नात्मनाम् ।
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं तैरेव भूर्भुविता,
शेषैः किं पशुवद्विवेकरहितैर्भूभारभूतैर्नरैः ” ॥ २ ॥

एव पण्डितगुणान् अचिन्तयन् मूर्खगुणांश्चासतोऽपि चिन्त-
यन् ज्ञानावरणीयं कर्म बद्धा दिव गतः । ततश्च युतो भरतक्षेत्रे
आभीरपुत्रो जातः । क्रमेण परिणीतः । तस्य पुत्रिका जाता ।
सा रूपवती । अन्यदा अनेक आभीरा घृतभृतशकटाः कञ्चिन्न-
गरं प्रति गच्छन्ति स्म, असावपि तत्सार्थं घृतभृतशकटं गृ-
हीत्वा चलितः । मार्गे सा पुत्री शकटखेटनं करोति स्म । ततस्त-
द्रूपव्यामोहितैराभीरपुत्रैः अपथे खेटितानि शकटानि तानि
सर्वाणि भग्नानि । तादृशं संसारस्वरूपं दृष्ट्वा सजातवैराग्यः स
आभीरः । तां पुत्रीमुद्धाह्य दीक्षां जग्राह । उत्तराध्ययनयोगोद्ध-
नावसरे असंख्ययाऽध्ययनोद्देशे कृते तस्य आभीरभिर्दोर्ज्ञाना-
चरणोदयो जातः, न तदध्ययनमायाति स्म, आचाम्प्रान्येव क-
रोति, उच्चैःस्वरेण तदध्ययननिर्घोषं करोति स्म । एवञ्च कुर्वत-
स्तस्य द्वादशवर्षप्रान्ते अज्ञानपरीषदः सस्यगधिसहमानस्य
केवलज्ञानं समुत्पन्नम् । एवमज्ञानपरीषदे आभीरसाधुकथा ।
प्रतिपक्षे च भौमद्वारम् । तत्राऽप्येतत्सूत्रसूचितमुदाहरणम्—

इमं च एरिसं तं च, तारिसं पेच्छ केरिसं जायं ? ।

इयं भणइ थूलजहो, समायधरं गतो संतो ॥

(पार्श्वटीका)

इदं चेति द्रव्यम्, ईदृशमिति स्तम्भमूलस्थितमतिप्रभूतं
च, अतिशयज्ञानित्वेन तस्य इदं विपरिवर्तमानतया द्रव्यस्ये-
वमानिर्देशः, (तच्चेति) तस्याज्ञानतः परिभ्रमणं, तादृशमिति
विप्रकृष्टदुर्गदेशान्तरविषयं यस्य, कीदृशं केन सदृशं जातम् ? ।
न केनापि, नहि कश्चिद् गृहे सति खण्डे द्रव्यार्थो बहि-
र्भ्राम्यतीति भावः । इतीत्येव भणति स्थूलभद्रः स्वजातिरिव
स्वजातिरत्यन्तसुहृद्गृहं गतः सन्निति गाथार्थः ।

संप्रदायश्चात्र—यस्य च ज्ञानाजीर्णं स्यात् तेनापि ज्ञानपरी-
षदो न सोढः । तत्रार्थे स्थूलभद्रकथा—
स्थूलभद्रस्वामी विहरन् बालमिन्द्रजित्गृहं गतः, तत्र तमदृष्ट्वा

तद्गार्थी पृष्टवान्-कते पतिर्गतः । सा प्राह-परदेवो धनार्जनार्थं गतोऽस्ति । ततः स्वामी तद्वृहस्तम्भमूलस्थितं निधिं पश्यन् स्तम्भाभिमुखं हस्तं कृत्वा "इदमीदृशम्, स च तादृशः" इति भणित्वा गतः । ततः कालान्तरे गृहागतस्य विप्रस्य तद्गार्थया स्थूलभद्रस्वामिबचो ज्ञापितम् । तेन परिदृष्टेन तातम्-अथा-वश्यं किञ्चिदस्ति । ततः शानितः स्तम्भः । तम्भो निधिः । एवं स्थूलभद्रेण ज्ञानपरोपदो न सोढः । मेपम्भाभिरर्पीरुशं न कार्यम् । उक्तः ३ अ० । (विप्रपान्तर 'परीमह' शब्दे वक्ष्यते) भारतकाव्यनाटकादिलौकिकधृतरूपे पापधृतप्रसङ्गे, स्या० ८ उ० । मायशुद्धप्रतिसेवाविशेषे, स्य० । तत्त्व च-

अजपरपमाणं, अगंपञ्चस्स नो पञ्चस्स ।

इरियाऽसु भूयत्ये, अवृत्ते एयमएणाणं ॥

पञ्चानां प्रमादामन्यतरेणापि प्रमादेनासंप्रयुक्तस्याश्रेमीकृत-स्यात एव ईयादिषु समतिषु ज्ञातार्थे न तत्त्वतो वर्तमानस्य यद्-धनमेतदज्ञानम् । स्य० १० उ० । कुशालसस्कारे च, सौ० । निर्ज्ञाने (ज्ञानरहिते), त्रि० । अ० १ श० ६ उ० ।

अएणाणओ-अज्ञानतम्-अव्य० । ज्ञानावरणोत्कटतयेत्यर्थे, दश० १ चू० ।

अएणाणकिरिया-अज्ञानक्रिया-स्त्री० । ५ त० । अज्ञानान् क्रियमाणयोर्वेष्टाकर्मणो, स्या० ३ उ० ३ उ० । (अएणाण-किरिया विविहा 'किरिया' शब्दे वक्ष्यते)

अएणाणिव्वत्ति-अज्ञाननिर्वृत्ति-स्त्री० । अज्ञानस्य निर्वृत्तौ, अ० । "कहविहा ए भते । अएणाणिव्वत्ती पणत्ता । गोयमा ! तिथिहा अएणाणिव्वत्ती पणत्ता । त जहा-महअएणाणिव्वत्ती, सुयअ-एणाणिव्वत्ती, विजगणाणिव्वत्ती । एय जस्स जह आव पेमा-णिया" । ज० १६ श० ८ उ० ।

अएणाणतिग-अज्ञानत्रिक-न० । नशब्दः कुत्सायां, मित्या-ज्ञानानामित्यर्थः । तेषां त्रिकं अज्ञानत्रिकम् । मित्याज्ञानादित्रये, यं स० १ उ० ।

अएणाणदोम-अज्ञानदोष-पुं० । अज्ञानात्कुशास्त्रसंस्काराद् हिंसादिष्वधर्मस्वरूपेषु नरकादिकारणेषु धर्मशुद्ध्याऽप्युदयार्थं या प्रवृत्तिस्तत्तत्कृणो दोषोऽज्ञानदोषः । अथवा सकलक्षणमज्ञानमेव दोषोऽज्ञानदोष इति । स्या० ४ उ० १ उ० । रौद्रस्यानस्य लक्षणभेदे, अ० २५ श० ७ उ० । औ० । प्रमाददोषे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ग० ।

अएणाणपरीसह-अज्ञानपरीषह-पुं० । "ज्ञानचारित्र्युक्तोऽस्मि, उअस्योऽह तथापि हि । इत्यज्ञानं विग्रहेन, ज्ञानस्य क्रमलो प्रवेत्" ॥१॥ इति सोढव्ये परीषहभेदे, ध० ३ अधि० । प्रव० ("अएणाण" शब्देऽत्रैव भागे ४८८ पृष्ठेऽस्य तत्त्वमावेदितम्)

अएणाणपरीसहविजय-अज्ञानपरीषहविजय-पुं० । अज्ञोऽयं पशुसमो नवेति किञ्चिदित्येयमधिकेपवचनं सम्यक् सहमानस्य परमदुस्करतपोऽनुष्ठाननिरतस्य नित्यमप्रमत्तचेतसो न मेऽद्यापि ज्ञानातिशयः समुत्पद्यते इति चिन्तने, पञ्चा० १३ विव० ।

अएणाणफल-अज्ञानफल-त्रि० । अज्ञानमनवबोधस्तत्फलानि, ज्ञानावरणरूपाणीत्यर्थः । धर्माचार्यशुक्लतनिन्दारूपेषु ज्ञानावरणकर्मसु, उक्त० २ अ० ।

अएणाणया-अज्ञानता-स्त्री० । अज्ञानो निर्ज्ञानस्तस्य भावो-ज्ञानता । स्वरूपेणानुपपद्यते, अ० १ श० ६ उ० ।

अएणाणव्वत्ति-अज्ञानवृत्ति-स्त्री० । आत्मनोऽज्ञानस्य ज्ञाना-ऽऽवर्णायोदयनो लाने, "अएणाणव्वत्ती ण भते । कहविहा पणत्ता । गोयमा ! तिथिहा पणत्ता । त जहा-महअएणाणलक्की, सुयअएणा-णलक्की, विजगणाणलक्की" अ० ८ श० २ उ० ।

अएणाणवाड (ण)-अज्ञानवादिन्-त्रि० । सति मत्यादिके देवोपादेयप्रदर्शके ज्ञानपञ्चके अज्ञानमेव श्रेय इत्येव वदति अज्ञानिके, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अएणाणसत्य-अज्ञानशास्त्र-न० । भारतकाव्यनाटकादौ लौकिकधृते, स्या० ९ उ० ।

अएणाणि (ण)-अज्ञानिन्-त्रि० । न ज्ञानमज्ञान, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः । अज्ञानमेव श्रेय इति वदत्तु वादिभेदेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । ज्ञाननिवृत्तधादिषु, "अएणाणी अएणाण वि-णत्ता येणइयथादी" । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । न ज्ञानिनोऽ-ज्ञानिनः । नशब्दः कुत्सायाम् । मित्याज्ञानेषु, प० स० १ उ० । "अएणाणी कम्म मयेति धहुयाहि वासकोमीहि, तज्जाणी तिहि गुत्तो मयेह ऊसासमिसेण" उक्त० १ अ० । अएणाणी किं काही, किंवाणाही नेयपावण" इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अएणा(जा)णिय-अज्ञानिन्-पुं० । न ज्ञानमज्ञान, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः । अज्ञानशब्दस्योत्तरपदत्वाद् वा मत्वर्थीयः । यथा-नौ-रत्नरत्नद्वयमिति । प्राप्ते स्वाधिकः कः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अज्ञानिक-पुं० । अज्ञानेन चरन्तीति आज्ञानिकाः । अज्ञानं वा प्रयोजनं येषां ते आज्ञानिकाः । आव० ६ अ० । सम्यग्ज्ञान-रहितेषु अज्ञानमेव श्रेय इत्येव वादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

तन्मतं चोद्यमुपन्यस्यन्नाह सूत्रकृत्-

अएणाणिया ता कुसदा वि संता ,

असंयुया णो वितिगिच्च तिन्ना ।

अकोविया आहु अकोविण्हि ,

अएणाणवीड्छु मुसं वयंति ॥ २ ॥

ते चाज्ञानिकाः किल वयः कुशलाः, इत्येवं वादिनोऽपि सन्तोऽसस्तुता अज्ञानमेव श्रेय इत्येववादितया असवका । असं-स्तुतत्वादेव विचिकित्सा चित्तचिप्पुतिश्चित्तज्ञान्तिः सशीति-स्तां न तीर्णा नातिक्रान्ताः । तथाहि-ते ऊज्जु ये ण्ते ज्ञानिनस्ते परस्परविरुद्धवादितया असवका असस्तुतत्वादेव विचिकित्सा, न यथार्थवादिनो जयन्ति । तथाहि-एके सर्वगतमात्मानं वदन्ति । तथाऽन्ये असर्वगतम् । अपरे अद्भुतपर्वमात्रम् । केचन इयामाक-तन्दुलमात्रम् । अन्ये मूर्तमूर्तं हृदयमध्यवर्तिनं ललाटस्थवस्थि-तमित्याद्यात्मपदार्थं एव सर्वपदार्थपुरःसरे तेषां नैकवाक्यता । नचातिशयज्ञानी कश्चिदस्तीति यद्वाक्यं प्रमाणीक्रियेत । नचासौ विद्यमानोऽप्युपलब्धयतेऽर्वागदर्शना । "नासर्वज्ञं सर्वं जानाति" इति वचनात् । तथाचोक्तम्-"सर्वज्ञोऽसावितिह्येत सत्कालेऽपि बुभुत्सुनि । तज्ज्ञानज्ञेयाविज्ञान-शून्यैर्विज्ञायते कथम् ?" । १ । त च तस्य सम्यक् तदुपायपरिज्ञानाभावात्संज्ञव, संभवाभावश्चे-तरेतराश्रयत्वात् । तथाहि-न विशिष्टपरिज्ञानमृते तदवाक्युपा-

यपरिज्ञानम्, उपायमन्तरेण न चोपेयस्य विशिष्टपरिज्ञानस्यावा-
प्तिरिति । न च ज्ञान क्षेत्रस्य स्वरूप परिच्छेत्तुमलम् । तथाहि-
यत्किमप्युपलभ्यते, तस्यार्वाग्भाष्यपरजगैर्मोक्षम् । तत्रार्वाग्भा-
गस्य चोपलब्धेर्नतरयो, तेनैव व्यवहितत्वात् । अर्वाग्भागस्यापि
भागत्रयकल्पनात् तत्सर्वारतीयभागपरिकल्पनया परमाणुपर्य-
वसानता, परमाणोश्च स्वानाविकविप्रकृष्टत्वादर्वाग्दर्शनिनां नो-
पलब्धिरिति । तदेव सर्वज्ञस्याभावादसर्वज्ञस्य च यथावस्थि-
तवस्तुस्वरूपापरिच्छेदात्सर्ववादिना च परस्परविरोधेन पदार्थ-
स्वरूपाभ्युपगमात् यथोत्तरपरिज्ञानिना प्रमादवता बहुतरदा-
पसंभवादज्ञानमेव श्रेय । तथाहि-यद्यज्ञानवान् कथञ्चित्पादेन
शिरसि हन्यात्, तथापि चित्तशुद्धेर्न तथाविधदोषानुषङ्गी स्या-
दित्येवमज्ञानिन एवंवादिन सन्तोऽसबन्धा नचैवंविधा चित्त-
विप्लुतिरिति वितर्णा इति । तत्रैववादिनस्ते अज्ञानिका अकोविदा
अनिपुणा सम्यक्परिज्ञानविकला इत्यवगन्तव्याः । तथाहि-यत्तै-
रभिहितम्-ज्ञानवादिन परस्परविरुद्धार्थवादितयान यथार्थवा-
दिन इति तद्भवतु असर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामयथा-
र्थवादित्वम् । न चाभ्युपगमवादा एव बाधायै प्रकल्प्यन्ते, सर्व-
ज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनां तु न क्वचित्परस्परतो विरोधः, स-
र्वज्ञत्वाभ्युपगमाभ्युपपत्तेरिति । तथाहि-प्रकीर्णाशेषाऽऽवरणतया
रागद्वेषभेदानामनुनकारणानामज्ञावाञ्छा तद्वाक्यमयथार्थमित्येव
तत्प्रणीतागमवतां न विरोधवादित्वमिति । ननु च स्यादेतत्,
यदि सर्वज्ञ कश्चित्स्यात्, नचासौ समवतीत्युक्तं प्राक् ।
सत्यमुक्तम्, अयुक्तं तूक्तम् । तथाहि-यत्तावदुक्तम्-न चासौ
विद्यमानोऽप्युपलभ्यतेऽर्वाग्दर्शिभिः । तदयुक्तम् । यतो यद्यपि
परचेतोवृत्तीनां दुरन्त्यत्वात्सरागा वीतरागा इव चेष्टन्ते,
वीतरागाः सारागा इव, इत्यतः प्रत्यक्षेणानुपलब्धिः, तथापि
सन्नवानुमानस्य सद्भावात्तद्वाधकप्रमाणाभावाच्च तदस्तित्व-
मनिवार्यम् । सन्नवानुमान त्विदम्-व्याकरणादिना शास्त्राभ्या-
सेन सक्रियमाणाया प्रज्ञाया ज्ञानातिशयो क्षेत्रावगम प्रत्यु-
पलब्धः, तदत्र कश्चित्तथाभूताभ्यासवशात्सर्वज्ञोऽपि स्या-
दिति । न च तदज्ञावसाधक प्रमाणमस्ति । तथाहि-न ता-
वद्वर्वाग्दर्शिभिः प्रत्यक्षेण सर्वज्ञाभावः साध्ययितुं शक्यः । तस्य
हि तज्ज्ञानक्षेत्रविज्ञानशून्यत्वात् । अशून्यत्वाभ्युपगमे च सर्व-
ज्ञत्वाऽऽपत्तिरिति । नाप्यनुमानेन, तदव्यभिचारिलिङ्गाभावा-
दिति । नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः साध्यते, तस्य सादृश्यबलेन
प्रवृत्तेः । न च सर्वज्ञाभावे साध्ये तादृग्विषय सादृश्यमस्ति,
येनासौ सिद्ध्यतीति । ज्ञाप्यर्थापत्त्या, तस्याः प्रत्यक्षादिप्रमा-
णपूर्वकत्वेन प्रवृत्तेः । प्रत्यक्षादीनां च तत्साधकत्वेनाप्रवर्तमा-
नान् तस्याप्यप्रवृत्तिः । नाप्यागमेन, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि
दर्शनात् । न प्रमाणपञ्चकाभावरूपेणाभावेन सर्वज्ञाभावः
सिद्ध्यति । तथाहि-सर्वत्र सर्वदा न सम्भवाति, तदग्राहकप्र-
माणमिदमेतद्वर्वाग्दर्शिनो वक्तुं न युज्यते, तेन हि देशकालविप्र-
कृतानां पुरुषाणां यद्विज्ञानं तस्य प्रहीतुमशक्यत्वात्, तदग्रहणे
या तस्यैव सर्वज्ञत्वाऽऽपत्तेः । न चार्वाग्दर्शिनां ज्ञाननिवर्तमान
सर्वज्ञाभावः भावयति, तस्याऽभ्यापकत्वात् । न चाभ्यापकव्या-
वृत्त्या पदार्थव्यावृत्तिर्युक्तेति । न च वस्त्वन्तर्गविज्ञानरूपो भावः
न सर्वज्ञाभावाधनायालम्, वस्त्वन्तरसर्वज्ञयोरेकज्ञानससर्गप्र-
तिपन्नाभावात् । नदेव सर्वज्ञावाधकप्रमाणाभावान्नसन्नवानुमा-
नस्य च प्रतिपादितत्वात्स्ति सर्वज्ञः, तत्प्रणीतागमाभ्युपगमा-
च्च मतभेददोषो दृग्गपाम्न इति । तथाहि-तत्प्रणीतागमाभ्यु-

पगमवादिनामेकवाक्यतया शरीरमात्रव्यापी संसार्यात्माऽस्ति,
तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः । इति इतरेतराश्रयदोषश्चात्र नावतरत्येव ।
यतोऽन्यस्यमानायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयः स्वात्मन्यपि दृष्टो, न
च दृष्टेऽनुपपन्नः नामेति । यदप्यभिहितम्-तद्यथा न च ज्ञान क्षेत्र-
स्य स्वरूप परिच्छेत्तुमलम्, सर्वत्रार्वाग्भावेनेत्यवधानात्सर्व-
ऽऽरातीयभागस्य च परमाणुरूपतयाऽतीन्द्रियत्वादित्येतदपि
वाह्यमात्रमेव । यतः सर्वज्ञज्ञानस्य देशकालस्वभावव्यवहिताना-
मपि ग्रहणाश्रयस्ति व्यवधानसम्भवः । अर्वाग्दर्शिज्ञानस्याप्यवय-
वद्वारेणाऽत्रयविनि प्रवृत्तेर्नास्ति व्यवधानम् । न ह्यवयवी
स्वावयवैर्व्यवधीयत इति युक्तिसंगतम् । अपि च-अज्ञान-
मेव श्रेय इत्यत्राऽज्ञानमिति किमर्थं पर्युदासः ? आदोस्वे-
त्प्रसज्यप्रतिषेधः ? । तत्र यदि ज्ञानादन्यदज्ञानमिति, ततः
पर्युदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव समाश्रितं स्यात्, नाज्ञानवादः
इति । अथ ज्ञानं न प्रवर्तयज्ञानं, तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः,
स च सर्वसामर्थ्यरहित इति कथं श्रेयमिति ? अपि च-अज्ञान-
श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधे न ज्ञानं श्रेयो प्रवर्तयति क्रियाप्रतिषेध-
एव कृतं स्यात् । एतच्चाध्यक्षवाधितम्, यतः सम्यग्ज्ञानादर्थ-
परिच्छेद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियार्थी न विस्वाद्यत इति । किञ्च-
अज्ञानप्रमादवद्भिः पादेन शिरःस्पर्शनेऽपि स्वल्पदोषवता प-
रिज्ञायैवाज्ञानं श्रेय इत्यभ्युपगम्यते । एव च सति प्रत्यक्ष एव
स्यादभ्युपगमविरोधो नानुमान प्रमाणमिति । तथा तदेव
सर्वथा तेऽज्ञानवादिनोऽकोविदा धर्मोपदेशे प्रत्यनिपुणा, स्व-
तोऽकोविदेभ्य एव स्वाश्रित्येभ्यः, आहुः कथितवन्तः । आहु-
सत्वाच्चैकवचनं सूत्रे कृतमिति । शक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः
अविज्ञोपचितं कर्म बन्धं न यातीत्येव यतस्तेऽभ्युपगमयन्ति ।
तथा ये च बाह्यमत्तसुखादयोऽस्पृष्टविज्ञाना अव्यवका इत्येव-
मभ्युपगमं कुर्वन्ति, ते सर्वेऽप्यकोविदा रूढव्या इति । तथाऽज्ञा-
नपक्षसमाश्रयणाच्चाननुविचिन्त्य ज्ञापणान्मृषा ते सदा वदन्ति,
अनुविचिन्त्य भाषणं यतो ज्ञाने सति भवति, तत्पूर्वकत्वाच्च
सत्यवादस्यातो ज्ञानाभ्युपगमादनुविचिन्त्य भाषणाज्ञावः, त-
दभावाच्च तेषां मृषावादित्वमिति ॥ ३ ॥ सूत्रं १ श्रुं १२ अ०
इति दर्शितं सदूषणमज्ञानिनां मतम् । अथ कियन्तस्ते इति
दर्शयति निरुक्तिरुक्त-

आष्टाध्याय सत्तद्धी

साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विवक्षितकार्यसिद्धिमिच्छतां
ज्ञानं तु सदापि निष्फलम्, बहुदोषत्वाद्येत्येवमभ्युपगमवतां
सप्तषष्टिरनेनोपायेनावगन्तव्याः-जीवाजीवादीन् नव पदार्थान्
परिपाठ्या व्यवस्थाप्य तदधोऽग्नी सप्त भङ्गकाः सस्थाप्याः-सत्,
असत्, सदसत्, अवक्तव्यम्, सदवक्तव्यम्, असदवक्तव्यम्,
सदसदवक्तव्यमिति । अत्रिलापस्त्वयम्-सन् जीवः, को वेत्ति ?
किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥१॥ असन् जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन
ज्ञातेन ? ॥२॥ सदसन् जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ?
॥३॥ अवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥४॥
सदवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥५॥ असद-
वक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥६॥ सदसदवक्त-
व्यो जीवः, को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥७॥ एवमजीवादिष्वपि
सप्त भङ्गकाः । सर्वेऽपि मिलितास्त्रिषष्टिः । तथाऽपरंऽग्नी चत्वारः
भङ्गकाः । तद्यथा-सती जावांत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तया ज्ञात-
या ? १। असती भावात्पत्तिः, को वेत्ति ? किं वा तया ज्ञातया ? २।
सदसती भावात्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया ? ३। अवक्तव्या

भावोत्पत्तिः, को वेत्ति?, किं वा तथा ज्ञातया? ॥४॥ सर्वेऽपि सप-
षष्टिरित्युत्तरं भङ्गकप्रयमुत्पन्नजावाचयवोपेक्षमिह भावोत्पत्तौ न
सम्भवतीति नोपन्यस्तम् । उक्तं च-“अज्ञानिकवादिमतं, नव जी-
वादीन् सदादिसप्तविधान् ॥ भावोत्पत्तिं सदसद्, द्वेधा वाच्या-
च को वेत्ति?” ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । एतच्चनुष्ठयप्रकृपात्सप्तष-
ष्टिर्नवाति । तत्र सन् जीव इति को वेत्तीत्यस्यायमर्थः-न कस्यचि-
द्विशिष्टज्ञानमस्ति, योऽन्तीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते । न च
तैर्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति । तथाहि-यदि नित्यं सर्वगतोऽ-
मूर्तो ज्ञानादिगुणोपेतः, एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा, नतः कतमस्य
पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति, तस्मादज्ञानमेव श्रेय इति । सू० १
श्रु० १ अ० २ उ० । प्रव० । आचा० । सा० । आच० । न० ।

साम्प्रतमज्ञानमतं दूषयितुं दृष्टान्तमाह-

जविणो मिगा जहा संता, परिच्छाणेण वज्जिआ ।
असंकिआइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ ६ ॥
परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।
अण्णाणजयसविग्गा, संपलिति तहिं तहिं ॥७॥
अहं तं पवेज्ज वज्जं, अहे वज्जस्म वा वए ।
मुचेज्ज पयपासाओ, तं तु मदे ए देहई ॥ ८ ॥

(जविणो इत्यादि) यथा जविनो वेगवन्तः सन्तो मृगा आ-
रण्याः पशवः, परि समन्तात् प्रायते रक्षतीति परित्राण, तेन
वर्जिता रहिताः, परित्राणविकला इत्यर्थः । यदि वा परित्राण
वागुरादिवन्धन, तेन तर्जिता भयं गृहीताः सन्तो भयोद्भ्रा-
न्तलोचनाः समाकुलीभूतान्तं करुणा सम्यक् विवेकविकल्पा,
अशङ्कनीयानि कूटपाशादिरहितानि स्थानान्यशङ्काहानि, ता-
न्येव शङ्कन्ते, अनर्थोत्पादकत्वेन गृह्णन्ति । यानि पुनः शङ्का-
हानि, शङ्का सजाता येषु योग्यत्वात्तानि शङ्कितानि, शङ्कायो-
ग्यानि वागुरादीनि, तान्यशङ्किनस्तेषु शङ्कामकुर्वाणास्तत्र
तत्र पाशादिके संपर्ययन्त इत्युत्तरेण सबन्धः ॥ ६ ॥

पुनरप्येतदेवाऽतिमोहाविष्करणयाह- [परियाणीत्यादि]
परिप्रायते इति परित्राणं तज्ज्ञातं येषु तानि, यथा परित्राणयु-
क्तान्येव शङ्कमाना अतिमूढत्वाद्भिर्पर्यस्तबुद्धयस्त्रातर्यपि भय-
मुत्प्रेक्षमाणा, पाशितानि पाशोपेतान्यनर्थोपादकानि, अशङ्कि-
न, तेषु शङ्कामकुर्वाणाः सन्तोऽज्ञानेन भयेन च [सविग्गा ति]
सम्यक् व्याप्ता वशीभूताः शङ्कनीयमशङ्कनीयं वा तत्रापरित्रा-
णोपेत, पाशाद्यनर्थोपेतं वा, सम्यक्विवेकेनाऽज्ञानानां, तत्र त-
त्राऽनर्थबहुले पाशवागुरादिके बन्धने, संपर्ययन्ते समेकीभावे-
न, परि समन्तात्, अयन्ते यान्ति वा, गच्छन्तीत्युक्तं भवति । तदेव
दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवादाद्येकान्ताऽज्ञानवादिनो दार्ष्टान्ति-
कत्वेनाऽऽयोज्याः । यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानकाल्पाणभूता-
नेकान्तवादवर्जिताः सर्वदोषविनिर्मुक्तकालेश्वरादिकारणवा-
दाभ्युपगमेनाऽनाशङ्कनीयमनेकान्तवादमाशङ्कन्ते । शङ्कनीयं
च नियत्यज्ञानवादमेकान्तं न शङ्कन्ते । ते एवभूता परित्रा-
णाहोऽप्यनेकान्तवादे शङ्का कुर्वाणा युक्त्या घटमानकमनर्थ-
बहुलमेकान्तवादमशङ्कनीयत्वेन गृह्णन्तोऽज्ञानावृतास्तेषु तेषु
कर्मबन्धस्थानेषु संपर्ययन्त इति ॥ ७ ॥

पूर्वदोषैरनुष्ठयन्नाचार्यो दोषान्तरादित्सया पुनरपि प्राक्तनद-
ष्टान्तमधिकृत्याह- [अहं तं पवेज्ज इत्यादि] अथानन्तरमसौ
मृगस्तत्र [वज्जमिति] बद्ध बन्धनाकारेण व्यवस्थितम् ।

वागुरादिकं वा बन्धनं, बन्धकत्वाद्बन्धमिन्युच्यते । तदेवभूतं
कूटपाशादिकं बन्धनं यद्यसावुपरि प्लवेत्-तदधस्तादनिक-
म्योपरि गच्छेत्, तस्य बध्यादेर्वन्धनस्याधो गच्छेत्तत्र एव
क्रियमाणेऽसौ मृगः, पदे पाशः पदपाशो वागुरादिवन्धनं,
तस्मान्मुच्यते । यदि वा पदं कूटं, पाशः प्रतीतः, ताज्या मुच्यते ।
कचित् पदपाशादीति पठ्यते । आदिग्रहणादधनाडनमारणा-
दिका क्रिया गृह्यन्ते । एव सन्तमपि तमनर्थोत्पादकं परिहर-
णोपायं मन्दो जमोऽज्ञानावृतो न देहनीति न पश्यतीति ॥
कूटपाशादिकं चापश्यन् यामवस्थामाप्नोति, तां दर्शयितुमाह-

अहिअप्पाऽहियपण्णाणे, विममंतेणुवागते ।

स बप्पे पयपासेणं, तत्थ घायं नियच्छइ ॥ ९ ॥

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिआ ।

असंकिआइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ १० ॥

धम्मपण्णवणा जा सा, तं तु संकति मूढगा ।

आरजाइ न संकंति, अविअत्ता अकोविआ ॥ ११ ॥

सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं ण्णं विहूणिआ ।

अप्पत्तिअं अकम्मंसे, एयमइ मिगे जुए ॥ १२ ॥

(अहीत्यादि) स मृगोऽहितात्मा । तथाऽहितं प्रज्ञानं बोधो
यस्य सोऽहिनप्रज्ञानः । स चाहिनप्रज्ञानं सन् विषमान्तेन
कूटपाशादियुक्तप्रदेशेनोपागतः । यदि वा विषमान्ते कूटपाशा-
दिके आत्मानमनुपातयेत् । तत्र चासौ पतितो बद्धश्च तेन
कूटादिना पदपाशादीननर्थबहुलानवस्थाविशेषान् प्राप्तं, तत्र ब-
न्धने, घातं विनाशं, नियच्छति प्राप्नोतीति ॥ ९ ॥

एव दृष्टान्तं प्रदर्श्य सूत्रकार एव दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं
दर्शयितुमाह- (एव तु इत्यादि) एवमिति यथा मृगा अ-
ज्ञानावृता अनर्थमनेकशः प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे । एव-
मेव, भ्रमणाः केचित्, पाखण्डविशेषाभिरुक्ताः । एके, न सर्वे ।
किं भूतास्ते इति दर्शयति-मिथ्या विपरिता दृष्टिर्येषामज्ञानवा-
दिना, नियतिवादिना वा ते मिथ्यादृष्टयः । तथा अनार्या
आराजजाताः सर्वदेयधर्मेण्य इति आर्याः, न आर्या अनार्या
अज्ञानावृतत्वादसदनुष्ठायिन इति यावत् । अज्ञानावृतत्वं
च दर्शयति-अशङ्कितान्यशङ्कनीयानि सुधर्मानुष्ठानादीनि,
शङ्कमाना, तथा शङ्कनीयान्यपायबहुलान्येकान्तपक्षसमाश्रय-
णानि, अशङ्किनो मृगा इव मूढचेतसस्तत्तदारभन्ते, यद्य-
दनर्थाय सपद्यन्त इति ॥ १० ॥

शङ्कनीयाशङ्कनीयत्रिपर्यासमाह- (धम्मपण्णवणेत्यादि) धर्मस्य
ज्ञान्यादिदशवृत्तानोपेतस्य या प्रज्ञापना प्ररूपणा । तत्त्विति ।
तामेव शङ्कन्ते । असद्धर्मप्ररूपणेयमित्येवमध्यवस्यन्ति । ये पुनः
पापोपादानभूता समारम्भास्नास्माशङ्कन्ते किमिति । यतोऽन्यक्ता
मुग्धाः सहजसद्विवेकविकल्पा, तथा अकोविदा अप्रमिता
सच्चास्त्रयोधरहिता इति ॥ ११ ॥

ते च अज्ञानावृता यन्प्राप्नुवन्ति, तद्दर्शनायाह- (सव्वप्पग-
मित्यादि) सर्वत्राप्यात्मा यस्यासौ सर्वात्मको लोभः, तं विधूये-
ति सबन्धः । तथा विविधं उत्कर्षो गवो व्युत्कर्षो मान इत्यर्थः ।
तथा (ण्णं मि) माया, ता विधूय । तथा (अप्पत्तिअति) क्रोध
विधूय । कपायविधूनेन च मोहनीयविधूनेनमावेदितं भवति ।

तदपगमाच्च शेषकर्माभावः प्रतिपादितो भवतीत्याह—[अकर्मा-
श इति] न विद्यते कर्माशोऽस्येत्यकर्माशः । स च कर्माशो
विशिष्टज्ञानाद् भवति, नाज्ञानादित्येव दर्शयति । एतमर्थं कर्मा-
भावलक्षणं, मृग-अज्ञानी (सुप्ति) त्यजेत् । विनक्तिविपरिणा-
मेन वा अस्मादेवमूतादथात् व्यवेद् भ्रष्टयेदिति ॥ १२ ॥

चूयोऽप्यज्ञानवादिनां दोषाभिहितस्याऽऽह—
जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिद्वी अणारिया ।
मिगा वा पासवच्चा ते, घायमेसंतिऽणंतसो ॥ १३ ॥
माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सय वए ।
सव्वक्षोगे वि जे पाणा, न ते जाणंति किंचण ॥ १४ ॥
मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताऽणुभामए ।
ए हेउ से विजाणाइ, नाभिअ अणुभासए ॥ १५ ॥
एनामन्नाणिया नाणं, वयंता वि सयं सयं ।

निच्छयत्थं न जाणंति, मिच्छक्खु व्व अबोहिया ॥ १६ ॥
(जे एयमित्यादि) ये अज्ञानपक्ष समाश्रिता एन कर्मकृपणोपाय
न जानन्ति । आत्मीयाऽसद्व्याहाराऽऽग्रहप्रस्ता मित्यादयोऽनार्या-
स्ते मृगा इव पाशवच्चा घात विनाशमेव्यन्ति यास्यन्त्यन्वेषयन्ति
वा, तद्योग्यक्रियाऽनुष्ठानात् । अनन्तशो विच्छेदेनेत्यज्ञानवादिनो
गताः ॥ १३ ॥ इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोद्धिजावयिषया स्ववाग्य-
न्विता वादिनो न चलिष्यन्तीति तन्मताविष्करणायाऽऽह—(मा-
हणा इत्यादि) एके केचन, ब्राह्मणविशेषाः, तथा भ्रमणाः परिब्रा-
जकविशेषाः, सर्वेऽप्येते, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् । हेयोपादेयार्था-
ऽऽविर्भावक परस्परविरोधेन व्यवस्थित, स्वकमात्मीय, वदन्ति ।
न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात्स्त्यानि । तस्मा-
दज्ञानमेव श्रेयः, किं ज्ञानपरिकल्पनया इत्येतद्दर्शयति—सर्वस्मि-
न्नपि लोके, ये प्राणा प्राणिन, न ते किंचनापि सम्यगुपेतवाच
जानन्तीति विदन्तीति ॥ १४ ॥ यदपि तेषां गुरुपारम्पर्येण ज्ञानमा-
यात, तदपि क्षिप्तमूत्रत्वादवितथ न भवतीति दृष्टान्तद्वारेण दर्-
शयितुमाह—(मिलक्खू अमिलक्खुस्सेत्यादि) यथा म्लेच्छ आर्य-
जावाऽनजिह्व, अम्लेच्छस्यार्यस्य म्लेच्छभाषाऽनजिह्वस्य, यद्वा-
षित, नदनुज्ञाषते अनुवदति, केवल न सम्यक् तदभिप्राय वेत्ति-
यथाऽनया विवक्षयाऽनेन भाषितमिति । न च हेतु निमित्त,
निश्चयेनासौ म्लेच्छस्तद्भाषितस्य जानाति, केवल परमार्थशून्यं
तद्भाषितमेवानुभाषत इति ॥ १५ ॥ एव दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्ट-
ान्तिक योजयितुमाह—(एवमित्यादि) यथा म्लेच्छः, अम्लेच्छ-
स्य परमार्थमजानानः केवल तद्भाषितानुभाषते, तथा अज्ञा-
नकाः सम्यग्ज्ञानरहिता भ्रमणा ब्राह्मणा वदन्तोऽपि स्वीय स्वी-
य ज्ञानं प्रमाणत्वेन परस्परविरुद्धार्थं ज्ञापयन्त, निश्चयार्थं न जान-
न्ति । तथाहि—ते स्वकीय तीर्थं सर्वज्ञत्वेन निर्धार्य तदुपदे-
शेन क्रियासु प्रवर्तन्, न च सर्वज्ञविवक्षा अर्वाग्दर्शनिना ग्रहीतु
शक्यते, “ नासर्वज्ञ सर्वं जानातीति ” न्यायात् । तथाचोक्त-
म्—“ सर्वज्ञोऽसाविति ह्येत-त्तत्कार्त्तऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञान-
ज्ञेयविज्ञान-रहितैर्गम्यते कथम् ? ” ॥ १ ॥ एव परचेतोवृत्तीनां
दुरन्वयत्वादुपदेष्टुरपि यथावस्थितविवक्षया ग्रहणाऽसमवाप्ति-
यार्थमजानानां म्लेच्छवदपरोक्तमनुभाषन्त एव । अबोधिका बो-
धरहिताः, केवलमित्यतोऽज्ञानमेव श्रेय इति । एव यावद्यावज्ज्ञा-
नाभ्युपगमस्तावत्तावद्दुरन्वयोपसन्नव । तथाहि—योऽवगच्छन्
पादेन कस्यचित् शिर स्पृशति, तस्य महानपराधो भवति । य-

स्वनाभोगेन स्पृशति तस्मै न कश्चिदपराध्यतीत्येवं चाज्ञानमेव
प्रधानभावमनुभवति, न तु ज्ञानमिति ॥ १६ ॥

एवमज्ञानवादिमतमनूद्येदानीं तद्दूषणायाह—

अन्नाणियाणं वीमंसा, नाणे ए विनियच्छइ ।
अप्पणो य परं नाहं, कुतो अन्नाणुसासिडं ? ॥ १७ ॥
वणे मूढे जहा जंतू, मूढे एयाणुगामिए ।
दो वि एए अकोविया, तिब्बं सोयं नियच्छइ ॥ १८ ॥
अंधो अंधं पहं णितो, दूरमच्चाणु गच्छइ ।
आवज्जे उप्पहं जंतू, अदुवा पंथाणुगामिए ॥ १९ ॥
एवमेगे णियायइ, धम्ममाराहगा वयं ।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ए ते सव्वज्जुयं वए ॥ २० ॥

(अज्ञाणियाणमित्यादि) न ज्ञानमज्ञान, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञा-
निन । अज्ञानशब्दस्योत्तरपदत्वाद् वा मत्वर्थीयः । यथा गौर-
क्षरवदरक्षणमिति । यथा तेषामज्ञानिनामज्ञानमेव श्रेयः, इत्ये-
ववादिनां योऽयं विमर्शः पर्यालोचनात्मकः, मीमांसा वा
मातु परिच्छेत्तुमिच्छा सा, अज्ञानेऽज्ञानविषये (ण णियच्छइ)
न निश्चयेन यच्छति नावतरति, न युज्यत इति यावत् ।
तथाहि—यैवभूता मीमांसा, विमर्शो वा, किमेतज्ज्ञान सत्य-
मुताऽसत्यमिति ? । यथा अज्ञानमेव श्रेयो, यथा यथा च ज्ञा-
नातिशयस्तथा तथा च दोषातिरेक इति, सोऽयमेवभूतो
विमर्शस्तेषां न बुध्यते । एवचूतस्य पर्यालोचनस्य ज्ञानरूप-
त्वादिति । अपि च—तेऽज्ञानवादिन आत्मनोऽपि, परप्रधानमज्ञा-
नवादमिति, शासितुमुपदेष्टु, नाल न समर्थाः । तेषामज्ञानपक्ष-
माश्रयेणाऽज्ञत्वादिति, कुत पुनस्ते स्वयमज्ञाः सन्तोऽप्येषां
शिष्यत्वेनोपगतानामज्ञानवादमुपदेष्टुमल समर्था भवेयुरिति ? ।
यदप्युक्तम्—क्षिप्तमूलत्वात् म्लेच्छानुभाषणवत् सर्वमुपदेशादि-
कम् । तदप्युक्तम् । यतोऽनुभाषणमपि न ज्ञानमूले कर्तुं शक्यते ।
तथा यदप्युक्तम्—परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादज्ञानमेव श्रेय इ-
ति । तदप्यसत् । यतो भवतैवाज्ञानमेव श्रेय इत्येव परोपदेशदा-
नाभ्युद्यतेन परचेतोवृत्तिज्ञानस्याभ्युपगम कृत इति । तथाऽ-
न्यैरप्यन्यथायि—“ आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्राधिकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ” ॥ १७ ॥ तदेव ते त-
पस्विनोऽज्ञानिन आत्मन परेषां च शासने कर्त्तव्ये यथा
न समर्थास्तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—(वणे इत्या-
दि) । वनेऽप्ययां, यथा कश्चिन्मूढो जन्तु प्राणी, दिक्परिच्छेद
कर्तुमसमर्थः, स एवचूतो यदा पर मूढमेव नेतारमनुगच्छति,
तदा ज्ञाप्यकोविदौ सम्यग्ज्ञानानिपुणौ सन्तौ, तीव्रमसह्य,
स्रोतो गहनं, शोकं वा, नियच्छतो निश्चयेन गच्छतः प्राप्नुतः,
अज्ञानावृत्तत्वात् । एव तेऽप्यज्ञानवादिन आत्मीय मार्गं शोभन-
त्वेन निर्धारयन्तः परकीय वाऽशोभनत्वेन जानानाः स्व-
मूढाः सन्तः परानपि मोहयन्तीति ॥ १८ ॥ अस्मिन्नेवार्थे इ-
ष्टान्तान्तरमाह—(अंधो अधमित्यादि) यथा अन्धः स्व-
यमपरमन्ध पन्थानं नयन्, दूरमच्चान विवक्षितादध्वनः पर-
तर गच्छति, तथोत्पथमापद्यते जन्तुरन्धः । अथवा—पर ए-
न्यानमनुगच्छेन्न विवक्षितमेवाध्वानमनुयायादिति ॥ १९ ॥ एवं
दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह—(एवमेगे नियाय-
ति) । एवमिति पूर्वोक्तोऽर्थोपप्रदर्शने । एव भावसूहा भा-
वान्धाक्षैके आजीविकादयः, (नियायति) । नयो मोक्षः, सइ

धर्मो वा, तदर्थिनस्ते किल वयं सत्कर्माधका इत्येव सधाय प्रज्ज्यायामुद्यताः सन्त पृथिव्यम्बुवनस्पत्यादिकायोपमर्देन । पचनपाचनादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तत्तत् स्वयमनुतिष्ठन्ति, अन्येषां चोपदिशन्ति, येनाभिप्रेतावा मोक्षातेर्ज्ञेयन्ति । अथ-
वा तावन्मोक्षाभावस्तमेव प्रवर्तमाना अधर्मे पापमापद्येरन् ।

पुनरपि तद्वृत्त्याजिघ्रितसयाऽऽह-

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया ।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजू हि दुम्मई । २१ ।
एवं तक्काइ साहिंता, धम्माधम्मे अकोविया ।
दुक्खं ते नास्तुदंति, सज्जणी पंजरं जहा ॥ २२ ॥
सयं सयं पसंसता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्सति, संसारं ते विउस्सिया ॥ २३ ॥

(एवमित्यादि) एवमनन्तरोक्तया नीत्या एके केचनाऽज्ञानिका वितर्काजिर्मीमांसाभिः स्वोत्प्रेक्षिताभिरसत्कल्पनाभिः, परमन्यमार्हतादिकं ज्ञानवादिन न पर्युपासते न सेवन्ते । स्वा-
चलेपग्रहप्रस्ता वयमेव तत्त्वज्ञानानिज्ञानपराः केचिदित्येवं नान्यं पर्युपासते इति । तथाऽऽत्मीयैर्विकल्पैरेवमभ्युपगतवन्तो यथाऽयमेवासदीयोऽज्ञानमेव श्रेय इत्येवमोक्तमो मार्गः । (अज्ज-
रिति) निर्दोषत्वाद् व्यक्तं स्पष्टं परैस्तिरस्कर्तुमशक्यं, ऋजुर्वा प्रगुणोऽकुटिलः, यथावस्थितार्थाभिधायित्वात् । किमिति एवम-
जिघ्रति ?-दिर्यसादर्थं । यस्मात्ते दुर्मतयो विपर्यस्तबुद्ध्य इत्यर्थः ॥ २१ ॥

साम्प्रतमज्ञानवादिनां स्पष्टमेवाऽनर्थान्निघित्सयाऽऽह-(एव त-
क्काइ इत्यादि) एव पूर्वोक्तन्यायेन तर्कया स्वकीयविकल्प-
नया साधयन्तः प्रतिपादयन्तो धर्मे ज्ञान्यादिकोऽधर्मे च जी-
वोपमर्दापादिते पापेऽकोविदा अनिपुणा दुःखमसानोदयवृत्त-
ण तद्धेतु वा, मिथ्यात्वाद्युपचितकर्मबन्धन नातित्रोटयन्ति, अति-
शयेनैतद्व्यवस्थितम् । तथा ते न त्रोटयन्त्यपनयन्तीति । अत्र दृष्टान्त-
माह-न्यथा पञ्जरस्य शकुनिः पञ्जरं त्रोटयितुं पञ्जरबन्धनादात्मानं
मोचयितुं नाशम्, एवमसावपि संसारपञ्जरादात्मानं मोचयितुं
नाशमिति ॥ २२ ॥

अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह-(सयं सयमि-
त्यादि) स्वकं स्वकमात्मीयं च दर्शनमभ्युपगतं प्रशस्यन्तो
वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा, तथा गर्हमाणा निन्दन्तः परकीयां
वाच्यम् । तथाहि-सांख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिन सर्व-
वस्तु कृषिक निरन्वय निरीश्वर धेत्यादिवादिनो बौद्धान् दूष-
यन्ति । तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्यान्यामर्थक्रियाविरहात् सां-
ख्यान् । एवमन्येऽपि छष्ट्या इति । तदेव य एकान्तवादिनः ।
सुरवधारणे जिज्ञासकश्च । तत्रैव तेष्वेवाऽऽत्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु
प्रशंसा कुर्वाणाः परत्राच च विगर्हमाणा विद्वस्यन्ते विद्वान्
इवाऽऽचरन्ति । तेषु वा विशेषेणोशन्ति स्वशास्त्रविषये त्रिशिष्ट-
शुक्तिमात्रं वदन्ति । ते चैव वादिनः संसारचतुर्गतिज्ज्ञेदेन ससु-
तिरूप विविधमनेकप्रकारमुत्प्रावक्ष्येन भिताः सखद्धाः तत्र वा
संसारे उचिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा ज्वन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥
सूत्रं १ श्रु० १ अ० २ उ० ॥

अणायियवाङ् (ण)-अज्ञानिकवादिन-पु० । अज्ञानमन्यु-
पगमद्वारेण येषामास्ति तेऽज्ञानिकास्त एव वादिनोऽज्ञानिकवा-
दिनः । अज्ञानमेव श्रेय इत्येव प्रतिषेधे, स्था० ४ ग० ४ उ० सूत्रं १
१२४

अणाय (य)-अज्ञात-त्रि० । अनभिगते सम्यगनवधारिते,
ध० ३ अधि० । अनुमानेनाऽविषयीकृते, । ज० ३ श० ६ उ० ।
स्वयं स्वजनादिसंबन्धाऽकथनेन गृहस्थैरपरिज्ञातस्वभावादि-
भावे भिक्षौ, प्रश्न० १ सम्ब० ६० । यत्र ग्रामादौ प्रतिमा
प्रतिपन्ना, तथाऽविदिते, प्रव० ६७ द्वा० । जातिकुलसद्रव्या-
दिनाऽपरीक्षिते, उक्त० २ अ० । राजादिप्रव्रजितत्वेनाविदित-
स्य भैक्ष्ये, पञ्चा० १७ विव० । “अस्माय णाम जहा, अचित्तकरो
चित्तं काकणं ण जाणति” अज्ञत्वात् अल्पविज्ञानत्वादित्यर्थः ।
नि० चू० १५ उ० ।

अणाय (य) उच्छ-अज्ञातोच्छ-न० । विशुद्धोपकरणग्रहणे,
दश० ३ चू० । परिचयाकरणे, दश० ९ अ० ३ उ० ।

अणायोऽं दुविहं, दब्बे भावे य होइ नायव्वं ।

दब्बुं रोगविहं, लोगरिमीणं मुणेयव्वं ॥

अज्ञातोच्छं द्विविधम् । तद्यथा-दब्बे भावे च । तत्र द्रव्योच्छम-
नेकविधं लोकमृषीणां तापसानां ज्ञातव्यम् ।

तदेवानेकविधं द्रव्योच्छमाह-

उक्खल खलए दब्बी, दंमे संमासए य पोत्ती य ।

आमे पक्के य तहा, दब्बोछे होइ निक्खेवो ॥

तापसा उच्छवृत्तयः, उद्धूस्तेषु तद्वृत्तेषु परिशदिताः
शालितन्दुलादयस्तान् उच्चित्य रन्धन्ति । (खलपत्ति)
खले धान्ये मर्दिते सव्यूहे च यत् परिशदितं तत् उच्चिन्वन्ति ।
(दब्बी ति) धान्यराशेर्यदेकया दब्ब्या उत्पाद्यते तद्
गृहन्ति । एवमन्यत्रापि प्रतिदिवस (दमस्ति) स्वामिनम-
नुज्ञाप्य यद् धान्यराशेर्येकया यद्यथा उत्पाद्यते तद् गृहन्ति,
एतदेवमन्यत्रापि प्रतिदिवस (संमासए स्ति) अह्नुष्टप्रदे-
शिनीभ्यां यद् गृह्यते शाल्यादिकं तावन्मात्रं प्रतिगृहं गृहन्ति ।
यद्यपि बहुकं पश्यन्ति शाल्यादि, तथापि न मुष्टिं भृत्वा गृ-
हन्ति [पोत्ती य स्ति] स्वामिनमनुज्ञाप्य धान्यराशौ पोत्तिं
क्षिपन्ति, तत्र यत् पोत्ती लगति तद् गृहन्ति । एवमन्यत्रापि ।
तथा आमः, पक्कं वा यश्चरकादयो भिक्षाप्रविष्टा मृगयन्ते, एव
भवति द्रव्योच्छे निक्षेपः ।

सम्प्रति भावोच्छमाह-

पमिमापमिवसे ए-स जयवमज्ज किर एत्तिया दत्ती ।

आदियति त्ति न नज्जइ, अन्नाओं तवो जणितो ॥

प्रतिमाप्रतिपन्न एव भगवान् अथ किल एतावद् दत्तीरा-
दत्ते इति न ज्ञायते, तेन तस्य भगवतस्तपोऽज्ञातोच्छं भवति ।
व्य० १० उ० ।

अणाय (य) चरय-अज्ञातचरक-पु० । अज्ञातोऽनुपदर्शित-
सौजन्यादिभावः संश्ररति यः स तथा । औ० । अज्ञातेषु वा
गृहेषु चरतीति अज्ञात । अज्ञातगृहे वा चरामीत्यभिग्रहवति,
सूत्रं २ श्रु० २ अ० ।

अणायपिण्ड-अज्ञातपिण्ड-पु० । अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाज्ञात-
पिण्डः । अन्तर्प्रान्तरूपे पिण्डे, अज्ञातेभ्यः पिण्डोऽज्ञातपिण्डः ।
अज्ञातेभ्यः पूर्वाऽपरस्तुतेभ्यः उच्छवृत्त्या लब्धे पिण्डे, “अ-
णायपिण्डेण हि पासएज्जा, णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ”
सूत्रं १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणायदत्तहर-अन्यादत्तहर-त्रि० । अन्यैरदत्तमनिष्ठैरहरत्या-

दत्ते इत्यन्यादत्तहरः । ग्रामनगरादिषु चौर्यकृति, उक्त०७ अ० ।
अण्णा (आ) दि (रि) स-अन्यादृश-त्रि० । अन्येव दृ-
श्यते । अन्य-दृश्-कश्, आत्वम् । “ दृशे. किष्टकृसकः ”
८१।४२। इति ऋतो रि । अन्यसदृशे, प्रा० ।

अण्णाय-अन्याय्य-त्रि० । न्यायादपेते, सूत्र० १ भु० १३ अ० ।

अण्णायजासि(ण्)-अन्याय्यजासिन्-त्रि० । अन्याय्य भा-
षितु शीलमस्य सोऽन्याय्यजासो । यत्किञ्चन भाषिणि, अस्थान-
नापिणि, गुर्वाद्यधिकेपकरे च । “जे विग्गहीय अण्णायभासी,
न से समे होइ अऊपणे” सूत्र० १ भु० १३ अ० ।

अण्णायया-अज्ञातता-स्त्री० । तपसो यशःपूजाऽऽद्यर्थित्वेना-
प्रकाशयान्नि करणे, स० ३२ सम० । कोऽर्थः ? पूर्व परीपह-
समर्थानां यदुपधानं कियते, तद्यथा लोको न जानाति
तथा कर्तव्यम्, विज्ञात वा कृतं न नयेत्, प्रच्छन्नं वा कृतं न-
येत् । आव० ४ अ० ।

अज्ञातद्वारमाह-

कोसंबि अजिअसेणो, धम्मवसू धम्मघोस-धम्मजसो ।

विगयजया विणयवर्द्ध, इट्ठिविज्जसाइ परिकम्मे ॥ १ ॥

कौशाम्बीत्यस्ति पुस्तका-जितसेनो महीपति ।

धारिणीत्यभिधा देवी, तत्र धर्मवसुगुरु ॥ १ ॥

धर्मघोषो धर्मयशा-स्तस्यान्तेवासिनावुभौ ।

आसीद्विनयवत्याख्या, तत्र तेषां महत्तरा ॥ २ ॥

तच्छिष्या विगतभया, विदधेऽनशन तपः ।

महाप्रभावनापूर्वं, सङ्गस्ता निरयामयत् ॥ ३ ॥

तौ च धर्मवसोः शिष्यौ, कुरुतः परिकर्मणाम् ।

इतश्च-

उज्जेणिऽवतिवच्छण, पाण्य सुसुवद्धणो चैव ।

धारिणीऽवतिसेणे, मणिप्पजो वच्छगातीरे ॥ १ ॥

उज्जयिन्यस्ति पूर्वभृत्, प्रद्योतस्तत्सुतावुभौ ।

आयः पालकनामाऽभू-ल्लघुगोपालकः पुनः ॥ ४ ॥

गोपालकः प्रवव्राज, पालको राज्यमासदत् ।

अवन्तिवर्धनो राष्ट्र-वर्द्धनश्चेति तत्सुतौ ॥ ५ ॥

तौ राज-युवराजौ च, कृत्वाऽभूत्पालको व्रती ।

धारिणीकुक्षिजोऽवन्ति-सेनोऽभूद् युवराजसू ॥ ६ ॥

भूभुजाऽन्येद्युख्याने, स्वेच्छस्थाऽदर्शि धारिणी ।

कचे दूत्याऽनुरक्तानां, सा नैच्छद्गशमीलिता ॥ ७ ॥

यथा भावेन साऽवोच-न्न भ्रातुरपि लज्जसे ? ।

ततोऽसौ मारितस्तेन, स्वशील साऽथ रक्षितुम् ॥ ८ ॥

ययौ सार्थेन कौशाम्बी-मात्तस्वाभरणोच्चया ।

भूभुजो यानशालायां, स्थिता साध्वीर्निरीक्ष्य सा ॥ ९ ॥

घन्दित्वा भ्राविका साऽभूत्, क्रमाच्च व्रतमग्रहीत् ।

गर्भे न सन्तमप्याख्यद्, व्रतलोभमयात्पुनः ॥ १० ॥

ज्ञातो महत्तरायाः स्व, सङ्गवोऽथ निवेदितः ।

सुगुप्तं स्थापिता साऽथ, रात्रौ पुत्रमजीजनत् ॥ ११ ॥

हवमुज्जजरणाद्यैस्त, तदैवाभूष्य चूपने ।

सौधाङ्गणे स्थापयित्वा, प्रच्छन्ना स्वयमास्थित ॥ १२ ॥

पार्थिवोऽजितसेनस्त, दृष्ट्वाऽऽकाशतलस्थितः ।

गृहीत्वाऽदात्पट्टराङ्ग्या, असुतायाः सुतं जवात् ॥ १३ ॥

पृष्टा साध्वीभिराख्यत्सा, मृतोऽजन्युज्जितस्तत् ।

पट्टराङ्ग्या सम चक्रे, साऽथ सख्य गताऽऽगतैः ॥ १४ ॥

मणिप्रभाख्यस्तत्सुनुर्मृते राङ्ग्यभवन्नृपः ।

साध्व्या स चातिजक्तोऽस्या, राजा चावन्निवर्धनः ॥ १५ ॥

प्राताऽमारि न साऽथाऽभूत्, पश्चान्नापेन पीडितः ।

राज्यं प्रातृसुतेऽवन्ति-सेने न्यस्याग्रहीद् व्रतम् ॥ १६ ॥

सा कौशाम्बीनृपाद्वरु-मयाचक्ष स दत्तवान् ।

धर्मघोषस्तयोरेकः, प्रपेदेऽनशन यतिः ॥ १७ ॥

भूयान्ममापि विगत-भयाया इव सत्कृतिः ।

द्वैतीयीकस्तु कौशाम्बी-मवन्ती चान्तरा गिरौ ॥ १८ ॥

गुहाया वत्सकातीरे निरीहोऽनशन व्यधात् ।

इतश्चागत्य कौशाम्बी, रुरोधावन्तिसेनराद् ॥ १९ ॥

धर्मघोषान्तिके नागाद्, भयत्रस्तस्ततो जनः ।

स च चिन्तितमप्राप्तो, मृतो द्वारेण निगतः ॥ २० ॥

न लज्यते ततः क्षिप्तो, द्वारोपरितलेन सः ।

साऽथ प्रव्रजिता दधौ, मा च्युच्छे जनक्षयः ॥ २१ ॥

ततश्चान्तपुरे गत्वाऽ-घोचन्मणिप्रज्ञं रदः ।

प्रात्रा सह कथं योक्त्ये, सोऽवक्क कथमिदं ततः ॥ २२ ॥

सर्वं प्रबन्धमाचख्यौ, पृच्छाभ्यां प्रत्ययो न चेत् ।

पृष्ट्वाऽम्बाऽऽख्यत्कथावृत्तं, नाममुद्रामदर्शयत् ॥ २३ ॥

राष्ट्रवर्द्धनसत्कानि, सर्वाण्याभरणानि च ।

अथोचे प्रसरद्वलज्जे, सोचे त सोऽपि भोक्त्यते ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा सा विनिर्गत्या-ऽवन्तिसेनद्वेषेऽगमत् ।

उपलब्धं जनाः सर्वेऽ-वन्तिसेननृपस्य ताम् ॥ २५ ॥

आख्यन्निहागताऽभ्या ते, दृष्टोऽपश्यन्ननाम ताम् ।

मातः । कथमिदं चक्रे, सर्वं तस्याप्यचीकथत् ॥ २६ ॥

तेदृशं तव सोव्यो, मिलितौ तावथो मिथः ।

स्थित्वैकमास कौशाम्ब्यां, द्वावप्युज्जयिनीं गतौ ॥ २७ ॥

नित्ये सगुरुकाऽभ्याऽपि, वत्सकातीरपर्वते ।

तन्नारोहावरोहांस्ते, कुर्वन्तो वीक्ष्य सयतान् ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा तेऽप्यगमन्नन्तुं, नृपौ नत्वा मुनिं मुदा ।

चक्रतुर्द्वावपि स्थित्वा, महिमानं जनैः सह ॥ २९ ॥

एव तस्याजनि श्रेष्ठा-अनिच्छतोऽपि हि सत्कृतिः ।

द्वितीयस्येच्छतोऽप्यासी-न्न सत्कारस्ववोऽपि हि ॥ ३० ॥

ततो धर्मयशोऽवधिरिहं तपः कार्यम् । आ० क० ।

अण्णायवइविवेग-अज्ञातवाग्विवेक-पु० । शुक्लाशुक्रयोग्याऽ-
योग्यविषयत्वादिरूपो यैस्ते । वाग्विवेकमज्ञातवत्सु, ज्ञा० ।

“ अज्ञातवाग्विवेकानां, परिमत्तत्वाभिमानिनाम् ।

विषयं वर्तते वाचि, मुखेनाशीविषस्य तव ” ॥ ज्ञा० १ ज्ञा० ।

अण्णायसील-अज्ञातशील-त्रि० । परिमत्तैरप्यज्ञातस्वभावे,
अग्रहणीये च । “ ताण अण्णायसीलाण (नारीणं) ” तासा ना-

रीणामज्ञातशीलानां परिमत्तैरप्यज्ञातस्वभावानाम् । यद्वा-न ज्ञा-
तं नाङ्गीकृतं शीलं ब्रह्मस्वरूपं याभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम् ।

यद्वा-नञ् । कुत्सार्थत्वाद् कुत्सितं ज्ञातं शीलं साध्वीनां याभिः
परिवाजिकायोगिन्यादिभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम्, त० ।

अण्णारंजणिवित्ति-अन्यारम्भनिवृत्ति-स्त्री० । कृपाचार-
म्भत्यागे, “ अण्णारंजणिवित्तीयं, अप्पणा दिट्ठणं चैव ” ।

पञ्चा० ७ विव० ।

अण्णावएस-अन्यापदेश-पु० । अन्यस्य परस्य सबन्धीक
शुभंश्रृङ्गादीत्यपदेशो व्याजोऽन्यापदेशः । परकीयमेतत्तेन
साधुन्यो न दीयते इति साधुसमङ्ग भणने जानन्तु साधवो
यद्यस्मै तद् भक्तादिकं जघेत्तदा कथमस्मज्ज्य न दद्यादिति
साधुसप्रत्ययार्थम् । अथ वा अस्माद्वानात् ममाभादे पुण्यम-
स्त्विति प्रणने च , एष अतिथिसविनागस्य पञ्चमोऽतिचारः ।
ध० २ अधि० ।

अण्णिय-अन्वित-त्रि० युक्ते, सूत्र० १ शु० १० अ० १० उत्त० १

अण्णियाउत्त-अचिकापुत्र-पु० । जयसिंहनाम्नो घणिकपुत्रस्य
जामे' अचिकाया पुत्रे , ती० । कतम' स महामुनि ? । तदनु
जगाद नैमिषिक-भूयना, देव ! उत्तरमपुरायां वास्तव्यो देवदत्ता-
भ्यो घणिक पुत्रो दिन्यात्रार्थं दक्षिणमथुरामगमत्, तत्र तस्य ज-
यसिंहनाम्ना घणिकपुत्रेण सह सौहार्दमभवत् । अन्यदा तद्गृहे
ह्युज्जानोऽचिकानाम्नीं तस्मां स्थाने भोजन परिवेष्य वातव्य-
जन कुर्वतो रम्यरूपामालोक्य तस्यामनुरक्तः । द्वितीयेऽह्नि वरकान्
प्रोष्य जयसिंहो देवदत्तमनयाऽऽविष्टसौहृदमन्यधाद-अद तस्मा
एव ददे स्वसारम्, यो मद्गृहाद् दूरे न भवति, प्रत्यह तां त च
यथा पश्यामि, यावदपत्यजन्म तावदादि मद्गृहे स्थाता, तस्मै
जामि दास्यामीति । देवदत्तोऽप्यामित्युक्त्वा शुभेऽह्नि तां पर्यणै-
षीत् । तथा सह जोगान् भुञ्जैस्तस्यान्यदा पितृभ्या लेखः प्रेषितः,
वाचयतस्तस्य नेत्रे त्रिपितुमशु प्रवृत्ते, ततस्तया हेतुः पृष्टो
यावन्नाम्रवीत् तावत्तयाऽऽप्य लेख स्वयं वाचितः । पत्रं चेद
लिखितमासीद् गुरुभ्याम्-“यद् वत्स ! आवां वृक्षौ निकटनि-
धनौ, यदि नौ जीवन्तौ दिदृक्षसे तदा द्रागागन्तव्यमिति” तदनु
सा पतिमाश्वस्य स्मातर इवादप्यजिह्वपद्मार्त्रा सह प्रतस्थे
चोत्तरमथुरां प्रति । सगर्भा क्रमान्मार्गे सन्तुमसूत, नामास्य
पितरौ करिष्यत इति देवदत्तोऽपि स्वपुरीं प्राप्य पितरौ प्रण-
म्य च शिष्टं तयोरार्पयत् । सधीरयेत्याख्यं तौ नप्नुञ्चक्रते । तथा
ऽप्यचिकापुत्र इत्येव पश्ये । असौ वर्द्धमानश्च प्राप्ततारुण्योऽपि
जोगांस्तृणवद्विधूय जयसिंहाचार्यपाशे वै दीक्षामग्रहीत् । गीता-
र्थीचूतः । प्रापदाचार्यकम् । अन्यदा विहरन् सगच्छोऽद्धर्के पुष्प-
भरुपुरं गङ्गातटस्थं प्राप्त । तत्र पुष्पकेतुर्नृपः । तदेवी पुष्पवती ।
तयोर्युग्मजौ पुष्पचूड पुष्पचूड चेति पुत्र पुत्री चाभूताम् । तौ
च सह वर्द्धमानौ श्रीमन्तौ परस्पर प्रीतिमन्तौ जातौ । राजा
दध्यौ-यद्येतौ वियुज्येत, तदा नूनं न जीवत । अहमप्यनयोर्विरद
सोढुमनीशः, तस्माद्वनयोरेव विवाह करोमीति ध्यात्वा मन्त्रिभि-
रपौराश्वक्षेनाऽपृच्छद्-जो ! यन्ममाऽन्त पुर उत्पद्यते, तस्य क-
प्रतु ! तैर्विहसतम्-देव ! अन्त पुरोत्पद्यस्य किं वाक्यम्, यदेशम-
ध्येऽप्युत्पद्यते रत्न, तदाजा यथेच्छ विनियुक्ते, कोऽत्र बाधः ? । त-
च्छ्रुत्वा स्वामिप्राय निवेद्य देव्या धारयन्त्यामपि तयोरेव सबन्ध-
मघटयन्तुप । तौ वरपती भोगान् ह्युक्ल स्म । राज्ञी तु पत्युपमान-
वैराग्याद् व्रतमादाय स्वर्गे देवोऽभूत् । अन्यदा पुष्पकेतौ कथाशेवे
पुष्पचूलो राजाऽभूत् । स च देवप्रयुक्तावधिस्तयोरकृत्य ज्ञात्वा
स्वप्नेषु पुष्पचूडायै नरकान्दर्शयत्, तद्दुःखानि च । सा च प्रभु-
क्ष्मीता च पत्यु सर्वमावेदयत् । सोऽपि शान्तिमचीकरोत् । स
च देव प्रतिनिश नरकांस्तस्या अर्क्षयत् । राजा तु सर्वोस्ती-
र्थिकानाह्वय पप्रच्छ-कीदृशा नरका स्थितिः ? । कैश्चिर्जनवासम्,
कैरपि वारिद्धम्, अपरै पारतन्त्र्यमिति तैर्नरका आवचकिरे,

राज्ञी तु मुख मोटयित्वा तान् विसर्वादिबदसौ व्यभ्राकीत् । अथ
नृपोऽञ्जिकापुत्राचार्यमाकार्यं तदेवाप्राकीत् । तेन तु यादृशान्
देव्यपश्यत् । तदृशा एवोक्ता नरकाः । राज्ञी प्रोचे-भगवन् ! प्रव-
द्विरपि किं स्वप्ने दृष्टं ? । कथमन्यथेत्थं वित्तं । सूरिरवदद्-भद्रे !
जिनागमात्सर्वमवगम्यते । पुष्पचूडाऽवोचद्-भगवन् ! केन कर्मणा
ते प्राप्यन्ते ? । गुरुगृणाद्-भद्रे ! महारम्भपरिग्रहेर्गुरुप्रत्यनीकतया
पञ्चेन्द्रियबधान्मांसादाराध तेष्वङ्गिनः पतन्ति । क्रमेण स सूरि-
स्तस्यै स्वर्गानदर्शयत् स्वप्ने । राज्ञ्या तथैव पाशपिडनं पृष्ठानपि
व्यभिचारिवाचो विमृश्य नृपस्तमेवाचार्यं स्वर्गस्वरूपमप्राकीत् ।
तेनापि यथावत्तत्रोदिते स्वर्गावाप्तिकारणमपृच्छद् राज्ञी । ततः
सम्यक्त्वमूलौ गृह्यतिधर्मावादिशद् मुनीशः । प्रतिबुद्धा च सा
नृपकर्मो नृपमनुज्ञापयति स्म प्रवज्यायै । सोऽप्युचे-यदि मद्गृह
भव भिक्षामादत्से तदा प्रवजातयोरीकृते नृपवचसि सा सांत्सव-
मभूत्तस्याचार्यस्य शिष्या, गीतार्था च । अन्यदा च दुर्मिक्क श-
तोपयोगाद् ज्ञात्वा सूरिर्गच्छ देशान्तरे प्रैषीत् । स्वयं तु परीक-
णजङ्गाबलस्तत्रैवास्थात्, प्रक्तपान च पुष्पचूडाऽन्तःपुरादानीय
गुरवेऽदात् । क्रमात्तस्या गुरुशुश्रूषाभावनाप्रकर्षात् रूपकभ्रेष्या-
रोडात्केवलज्ञानमुत्पेदे । तथाऽपि गुरुवैद्यावृत्त्याश्च निवृत्ता, या-
वद्वि गुरुणा न ज्ञायते केवलीति तावत्पूर्वप्रयुक्त विनय केवल्यपि
नात्येति । साऽपि यद् यद् गुरोर्दक्षित, रुचिर च तत्तदकादिम-
पादितवती । अन्यदा तु वर्षत्यन्दे सा पिण्डमाहरद् । गुरुभि-
रभिहितम्-वत्से ! श्रुतज्ञाऽसि, किमिति वृष्टौ त्वया नीताः पिण्डा
इति ? । साऽभाषीद्-भगवन् ! यथाध्वनि अप्कायोऽचित्त एवा-
सीत्तेनैवायासिषमहम् । कुतः प्रायश्चित्ताऽऽपत्तिः ? । गुरोर्द-अश-
ष्णं, कथमेतद्वेद ? । तयोचे-केवलं ममास्ति । ततो मिथ्या मे दुष्कृत
केवल्यशासनैति भुवन्नपृच्छतां गच्छाधिपः-किमहं सेत्स्यामि
नवेति ? । केवल्यूचे-मा हृध्वमधृतिम्, गङ्गामुत्तरता वो जविष्यति
केवलम् । ततो गङ्गामुत्तरीतु लोकैः सह नावमारोढत् सूरिः ।
यत्र यत्र स न्यषीदत्तत्र नौर्मङ्गुमारैरे, तदनु मध्यदेशास्तीने
मुनौ सर्वोऽपि नौर्मङ्गु दग्ना । ततो लोकैः सूरिर्जज्ञे किम् । दु-
र्भगीकरणविराडया प्राग्भवपत्न्या व्यन्तरीभूतयाऽन्तर्जज्ञं शूत्रे
निहितः । शूलप्रोतोऽथमण्णायजीवविराधनामेव शोचयन्नाऽऽम-
पीनां, रूपकभ्रेष्यां रुद्धोऽन्तर्कृतकेवलीभूयसिक् । आसन्नै सूरै-
स्तस्य निर्वाणमहिमा चक्रे । त एव तत्तीर्थं प्रयाग इति जगति पप्र-
थे । प्रकृष्टो याग-पूजाऽत्रेति प्रयाग । ती० ३६ कल्प० सथा० ।
आध० । ग० ।

असी-देशी-देवरभार्यायां, ननान्दायां, पितृव्वसरि च । दे०
ना० १ धर्मा ।

अण्ण-अज्ञ-त्रि० । स्वभावविभागाविवेचके , “ मज्झत्यङ्गः
किंवाज्ञाने , विद्यायामिव सूकर । ज्ञानीनि मज्जति ज्ञाने , मराह
इव मानसे ” ॥ १ ॥ बो० १६ धि० ।

अण्ण(न्तु) ष (न्न)-अन्योन्य-त्रि० । अन्यशब्दस्य कर्मव्यति-
हारे द्वित्वम्, पूर्वपदे सुअ । “ओतोऽद्याऽन्योऽन्य०” ॥ ८ । १ । ५६ ।
इत्यादिसूत्रस्य वैकल्पिकत्वेनौत् स्थानेऽद्भावे सयोगाद्वित्वेन
ह्रस्वे तथारूपम् । प्रा० । ह्रस्वाभावे ‘अक्षोष्’ । ओय० । पि० । च० ।

अण्णोसणा-अन्वेषणा-स्त्री० , मार्गणायाम्, आ० म० द्वि० ।
प्रार्थनाया च, आचा० १ शु० ५ अ० ८ उ० । सूत्र० । आ० म० ।

“मनोवचोवपुर्योगा”, कर्म येनाशुभं शुभम् ।
भविनामाश्रवन्त्येते, प्रोक्तास्तेनाश्रवा जिनै ॥ १ ॥
मैत्र्या सर्वेषु सत्त्वेषु, प्रमोदेन गुणाधिके ।
मध्यस्थेष्वविनीतेषु, रूपया दुःक्षितेषु च ॥ २ ॥
त तथा वासित स्वान्त, कस्यचित्पुण्यशालिन ।
विदधाति शुभं कर्म, द्विचत्वारिंशदात्मकम् ॥ ३ ॥
रौद्रार्तघ्नानमिथ्यात्व-कषायविषयैर्मन ।
आक्रान्तमशुभं कर्म, विदधाति द्व्यशीतिधा ॥ ४ ॥
सर्वज्ञगुरुसिद्धान्त-सद्यसद्गुणवर्णनम् ।
कृत हित च वचन, कर्म सचिनुते शुभम् ॥ ५ ॥
भीसद्गुरुसर्वज्ञ-धर्मधार्मिकदूषकम् ।
उन्मागदेशवचन-मशुभं कर्म चेप्यति ॥ ६ ॥
देवार्चनगुरुपास्ति-साधुविश्रामणादिकम् ।
वितन्वता सुगुप्ता च, तनुर्वितनुते शुभम् ॥ ७ ॥

मांसाशनसुरापान-जन्तुघातनचौरिकाः ।
 पारदार्यादि कुर्वाण-मशुभ कुरुते वपु ॥८॥
 यतामाश्रवभावनामविरत यो भावयेद्भावत-
 स्तस्यानर्थपरम्परैकजनकाद् दुष्टाऽऽश्रवौघात्मनः ।
 व्यावृत्त्याऽखिलदुःखदावजलदे नि शेषशर्मावली-
 निर्माणप्रवणे शुभाश्रवणै नित्यं रति पुष्यति ॥ १४ ॥
 प्रव० ६७ द्वा० ।

आह्लाणग-अस्नानक-न० । शरीरमज्जनाकरणे, भ० १ श० १
 उ० । औ० । स्था० ।

अत-अत्-पु० । अत्ति भक्षते जगदिति सृष्टिसंहारकृत्वात् । अ-
 क्षपादसम्भते शिवे, उक्तं च-“अक्षपादमते देव, सृष्टिसंहारकृ-
 च्छिवः । विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो, नित्यबुद्धिसमाश्रयः” ॥ १ ॥
 “धियो यो न प्रचोदयाऽत्” अतति सातत्येन गच्छति ‘ग-
 त्थर्था ज्ञानार्थाः’ इति वचनात् अवगच्छतीति अत् स-
 र्वज्ञ, धियो यो नः प्रचोदयाऽत्-इत्यत्र बौद्धैस्तथा व्याख्या-
 नात् । जै० गा० । (परमेतादृक् शब्दः प्राकृते न प्रयोक्तव्यः)

अतंत-अतन्त्र-त्रि० । न तन्त्र कारण, तदधीना विवक्षा वा
 यस्य । कारणानधीने अनायत्ते, अने० वृत्ति० विव० ।

अतक्किण्ज-अतर्कणीय-त्रि० । अनभिलषणीये, वृ० १ उ० ।

अतक्किओवद्धि-अतर्कितोपस्थित-न० । अनभिसन्धिपूर्वि-
 कायामर्थप्राप्तौ यदृच्छायाम्, यथा-काकतालीयम्, अजाकृ-
 पाणीयम्, आतुरभेषजीयम्, अन्धकण्टकीयमित्यादि ।
 आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

“अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्र जनानां सुखदुःखजात-
 कम् । काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽ-
 भिमानः ॥ १ ॥” भ० १ श० १० उ० ।

अतक्किओवद्धि-अतर्कितोपधि-पु० । अतर्कणीये उपधौ, यमु-
 पधिं न कोऽपि तर्कयति विशेषतः परिभावयति । व्य० ८ उ० ।

अतज्जाय-अतज्जात-त्रि० । अतुल्यजातीये, आव० ४ अ० ।

अतज्जाया-अतज्जाता-स्त्री० । अतुल्यजातीये क्रियमाणायां
 परिष्ठापनिकायाम्, आव० ४ अ० ।

अतह-अतट-पु० । अदीर्घे तटे, “अतकुववातो सो चेव मग्नो” ।
 वृ० १ उ० ।

अतणु-अतनु-त्रि० । न विद्यते तनु शरीर येषां तेऽतनवः ।
 सिद्धेषु, प्रव० २१४ द्वा० ।

अतत्तवेद-अतत्तवेदित्व-न० । साक्षादेव वस्तुतत्त्वमज्ञातं
 शीघ्रमस्य पुरुषविशेषस्य । अर्वाग्दर्शिनि, ध० १ अधि० ।

अतत्तवेद-अतत्तवेदिवाद-पु० । अतत्त्ववेदिन साक्षादेव
 वस्तुतत्त्वमज्ञातं शीघ्रमस्य पुरुषविशेषस्यार्वाग्दर्शिनि इत्यर्थः ।
 वादो वस्तुप्रणयनमत्तत्त्ववेदिवादः । साक्षादवीक्षमाणेन हि
 प्रमात्रा प्रोक्ते वस्तुप्रणयनेनातत्त्ववेदिवादः सम्यग्वाद् इति ।
 अ० १ अधि० ।

अतत्तिय-अतात्त्विक-त्रि० । अवास्तवे तात्त्विकानावे, द्वा०
 ११ द्वा० ।

अतत्तुचुक-पु० । अणहिल्लपाटनदुर्गभञ्जके हरिवल्लीग्रामचै-
 १२५

त्यत्रोदके चौलुक्यवशीयभीमदेवनरेन्द्रसमकाक्षीने तुरुक्कमल्लारे
 राक्षि, ती० ४१ कल्प ।

अतर-अतर-पु० । न तरीतु शक्यते इत्यतरः । रत्नाकरे, वृ० १
 उ० । सागरे, प्रव० १ द्वा० । अनिमहत्त्वादुदधिचसरीतुमचिरात्पारं
 नेतु न शक्यत इत्यतराणि । सागरोपमकाक्षेषु, कर्म० ५ कर्म० ।
 असमर्थे, नि० चू० १ उ० । श्वाने, वृ० १ उ० ।

अतरंत-अतरत्-त्रि० । असहे, नि० चू० १ उ० । व्य० । ग्ला-
 ने, ध० ३ अधि० ।

अतव-अतपस्-त्रि० । ६ व० । तपसा विहीने, “अतवो न होति
 भोगो” वृ० ४ उ० । न० त० । तपसामजावे, लक्ष० २३ अ० ।

अतसी-अतसी-स्त्री० । (अतसी-नीसी) क्षुमायाम्, ग० २
 अधि० । अतसी वल्कलप्रधानो घनस्पतिः, यत्सूत्रं मातृवादिदेशे
 प्रसिद्धम् । अनु० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।

अतह-अतथ-नञ्-तत्-कथ च । मिथ्याचूतेऽर्थं, सूत्र० १
 श्रु० १ अ० २ उ० ।

अतथ्य-न० । असदर्थमभिधायित्वे, “अणवज्जमतहं तेसि,
 ण ते सवुरुचारिणो” सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आविद्य-
 माने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । वितथेऽसद्वृत्ते,
 आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अतहणाण-अतथाज्ञान-न० । न विद्यते यथा वस्तु तथा ज्ञान
 यस्य तत्तथा । मिथ्यादृष्टिजीवद्रव्ये, तस्य वितथज्ञानत्वात् ।
 नास्ति यथैव ज्ञानमवबोधः प्रतीतिर्यस्मिंस्तत्तथा । अज्ञातव्ये
 वा, वक्तृतयाऽवभासमाने एकान्तवाच्यच्युपगते वा वस्तुनि,
 तथाहि-एकान्तेन नित्यमनित्यं वा वस्तु नैरभ्युपगतं, प्रतिभाति च
 तत् परिणामितयेति तदतथाज्ञानमिति । एष दशमो व्याख्यान-
 योगः । स्था० १० द्वा० । यथा प्रच्छन्नीयार्थं प्रष्टव्यस्य ज्ञानं तथैव
 प्रच्छकस्यापि ज्ञानं यत्र प्रश्ने स तथाज्ञानो जानत्प्रश्न इत्यर्थः ।
 एतदाविपरीतस्त्वनथाज्ञान । अजानत्प्रश्ने, भ० ६ श० ८ उ० ।

अतार-अतार-त्रि० । ६ व० । तरीतुमशक्ये, नदीप्रवाहादौ
 यस्य हि तरण नास्ति । “अथाहमतारमपोरिसीय सीओद-
 गमि अण्याण मुयति” । ज्ञा० १४ अ० ।

अतारिम-अतारिम-त्रि० । अनतिवृद्धनीये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०
 २ उ० ।

अतारि(लि)स-अतादृश-त्रि० । न० स० । अतत्सदृशे, “अता
 रिसे मुणी ओहतरे” । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । उत्त० ।

अतिउट्ट-अतिवृत्त-त्रि० । अतिक्रान्तो वृत्तादतिवृत्तः । वृत्तम-
 जानति, सूत्र० । “जसी गुहाय जलणेऽतिउट्टे, अविजाणओ रुज्जह,
 लुत्तपणो” ज्वलनेऽभातिवृत्तो वेदनानिचूतत्वात् स्वकृत-
 दुःखरितमजानन्न सुप्तप्रज्ञागतप्रज्ञाविबेको दन्दह्यते । सूत्र० १
 श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अनित्तिण-अतिन्तिन-त्रि० । न० त० । अलाभेऽपि ईषद्यत्
 किञ्चनाभाषिणि, दश० १ अ० । सकृत्किञ्चिदुक्ते, चूयो-
 नूयोऽसुययाऽवचरि च । दश० १ अ० ।

अतिवस्तुम-अतीक्ष्णतुल्य-त्रि० । अनन्यन्तभेदकमुखे, प-
 ज्ञा० १६ विव० ।

अतिक्रववेयरणी-अतीक्ष्ण(नैऋ) (दृश्य) वैतरणी-स्त्री० ।
परमाधार्मिकविकुर्वितनरकनद्याम्, त० ।

अतिष्ठपुरव-अदृष्टपूर्व-त्रि० । पूर्वमदृष्टमदृष्टपूर्वम्, पैशाच्यां त-
थारूपनिष्पत्तिः । प्रथममेव दृष्टे, "परिस् अतिष्ठपुरव" । प्रा० ।

अतिष्ठ-अतृप्त-त्रि० । न० त० । असन्तुष्टे, उक्त० "एव मद-
च्छाणि समायपतो, भावे अतिसो दुहिभो अणिस्सो" उक्त० १५
अ० । "अतिष्ठा कामाण" । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अतिष्ठप्प-अतृप्तात्मन्-त्रि० । सान्जिलाये, बो० ४ विव० ।

अतिष्ठद्वाज-अतृप्तलाज-पु० । ६ त० । तर्पणं तृप्त, तृप्तिरिति
यावत् । तस्य लाभस्तृप्तलाजः, न तथाऽतृप्तलाभः । सन्तोषाऽप्रा-
प्तौ, उक्त० ३२ अ० ।

अतिष्ठि-अतृप्ति-स्त्री० । असन्तुष्टौ, उक्त० ३४ अ० । सा च वि-
तीय अद्यालक्षणम् ।

संग्रत्यतृप्तिस्वरूपं द्वितीयमभिधित्सुराह-

तिष्ठि न चेव विदइ, सद्धाजोगेण नाणचरणेसु ।

वेयावयतवाइसु, जहविरियं जावओ जयइ ॥ ६४ ॥

तृप्ति संतोष कृतकृत्योऽहमेतावनैवेत्येवं रूपं, (नैवेति) चशब्दस्य
पूरणत्वाच्चैव विन्दति प्राप्नोति । अद्धाया योगेन संबन्धेन ज्ञान-
चरणयोर्विषये ज्ञाने पठित यावता सयमानुष्ठान निर्वहतीति
संचिन्त्य न तद्विषये प्रमाद्यति, किं तर्हि नवनवभृतसपदुपाजने
विशेषतः सोत्साहो भवति । तथा चोक्तम्-

"जह जह सुयमवगाहइ, अइसरसपसरसंजुयमउज्वं ।
तह तह पल्हाइ सुणी, नवनवसवेगसकाए" ॥ १ ॥

तथा-

"अत्यो जस्स जिणुसमेहिं भणिओ जायम्मि मोहकसए,
बद्ध गोयममाइणहि सुमहाबुद्धीहि ज सुत्तओ ।
सवेगाइगुणाणं बुद्धिजणं नित्येसनामावहं,
कायव विहिणा सया नवनव नाणस्स संपज्जण" ॥ १ ॥

तथा चारित्रविषये विश्वरूपविश्वरूपसंयमस्थानावाप्तये सज्जाव-
नासार सर्वमनुष्ठानमुपयुक्तमेवानुतिष्ठति, यस्मादप्रमादकृताः स-
र्वेऽपि साधुव्यापारा उत्तरोत्तरसयमकरणाकारोहणेन केवलज्ञा-
नलाभाय भवन्ति । तथा चागम-

"जोगे जोगे जिणसा-सणम्मि दुक्खकसया पउजंते ।
इक्कम्मि अणता, वट्टना केवली जाया" ॥ १ ॥

तथा वैयवृत्यतपसीं प्रतिते, आदिशब्दात्प्रत्युपेक्षणाप्रमाज-
नादिपरिग्रहः । तेषु यथा धीर्यं सामर्थ्यान्तरूपं जावत् । सद्धाव-
सार यतते प्रयत्नवान् नवन्ति । ध० २० ।

अतिचिलाभ-अतृप्तिलाज-पु० । ६ त० । तृप्तिप्राप्त्यभावे,
"स तोगकाळे य अतिचिलाभे" उक्त० ३४ अ० ।

अतिथ-अतीर्थ-अव्य० । तीर्थस्याऽभावोऽतीर्थम् । तीर्थस्या-
नुत्पादे, (अपान्तराले) व्यवच्छेदे च । प्रश्न० १ पद ।

अतिथ्यगरसिद्ध-अतीर्थकरमिच्छ-पु० । न तीर्थकराः सन्तः
सिद्धाः । सामान्यकेवलेषु सत्सु गौतमादिवत् सिद्धेषु, प्रश्न० १
पद । ल० । पा० । आ० । स्था० । न० ।

अतिथ्यसिद्ध-अतीर्थसिद्ध-पुं० । तीर्थस्याभावोऽतीर्थम्, ती-
र्थस्याभावानुत्पादोऽपान्तराले व्यवच्छेदो वा, तस्मिन्नेव सि-
द्धास्तेऽतीर्थसिद्धाः । न० । तीर्थान्तरसिद्धेषु, आ० । तीर्थान्तरे
साधुव्यवच्छेदे आतिस्मरणादिना प्राप्तापवर्गमार्गा मध्येवी-
चन् सिद्धाः । स्था० १ उ० १ उ० । नहि मध्येव्यादिसिद्धिगम-
नकाले तीर्थमुत्पन्नमासीत् । न० । ध० । तथा तीर्थस्य व्यव-
च्छेदश्च प्रभवस्वामिसुविधिस्वाम्यपान्तराले । तत्र ये आति-
स्मरणादिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धास्ते तीर्थव्यवच्छेदसिद्धाः ।
प्रश्न० १ पद । स्था० ।

अतित्यावणा-अतिस्थापना-स्त्री० । उल्लङ्घनायाम्, पं० सं०
५ द्वा० ।

अतिदुक्ख-अतिदुःख-न० । अतिदुःसहे, आचा० १ भु० १
अ० २ उ० ।

अतिदुक्खधम्म-अतिदुःखधर्म-त्रि० । अतीव दुःखमशातावेद-
नीयं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा । अकिनिमेषमात्रमपि कालं
न यत्र दुःखस्य विभ्रामः । तादृशे नरकादिस्थाने, सूत्र० । "सया
य कलुण पुण धम्मगणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं" ।
सूत्र० १ भु० ५ अ० १ उ० ।

अतिधुत्त-अतिधूत-त्रि० । अतीव सूतमष्टप्रकारं कर्म यस्य
सोऽतिधूतः । प्रचूतकर्मणि, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अतिधूर्त्त-त्रि० । बहुलकर्मणि, "अयं पुरिसे अतिधुत्ते अ-
यारक्खे" सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अतिपास-अतिपार्श्व-पुं० । पेरवते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां
जाते सप्तदशे तीर्थकरे, स० ८४ सम० ।

अतिप्पणया-अतेपनना-स्त्री० । स्वेदलासाभुजलहरणकारण-
परिवर्जने, पा० । ध० ।

अतिमुच्छिय-अतिमूर्च्छित-त्रि० । अत्यन्तमूर्च्छितोऽतिमूर्च्छितः ।
विषयदोषदर्शनं प्रत्यज्जिम्बूतामुपगते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अतिद्विय-अतैल-न० । सर्वथा तैलांशरहिते, त० ।

अतिवचंत-अतिव्रजत्-त्रि० । अतिशयेन व्रजति गच्छतीति,
अति-वज्-शतृ । बाहुल्येन गच्छति, जी० ३ प्रति० ।

अतिविज्ज-अतिविद्य-पु० । जातिवृत्तसुखदुःखदर्शनादतीव वि-
द्या तत्त्वपरिच्छेत्री यस्याऽसावतिविद्यः । जातनिर्वेदे तत्त्वज्ञे,
"तमहाप्रतिविज्ज परमंति ण्णा, आर्यकदसी ज करेइ पाव" ।
आचा० १ भु० १ अ० २ उ० ।

अतिविद्दस्-पुं० । विशिष्टप्रज्ञे, आचा० १ भु० ३ अ० २ उ० ।

अतीरंगम-अतीरङ्गम-त्रि० । तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमाः
(स्वच्छप्रत्ययः) । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः । तीरं गन्तुमसमर्थेषु,
आचा० ।

अतीरंगमा एए, णा य तीरंगमिणए ।

अपारंगमा एए, णा य पारगमिणए ॥ १॥

(अतीरंगमा इत्यादि) तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमा, पूर्व-
वत् स्वच्छप्रत्ययादिकम् । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमा (एते
इति) तान् प्रत्यङ्गनामपञ्चान् कुनीर्थिकादीन् दर्शयति । न च

ते तीरङ्गमनायोद्यता अपि तीर गन्तुमद्यम, सर्वज्ञोपदिष्टसन्मार्गा-
भावादिति भावः । तथा (अपारगमा इत्यादि) पारस्तदः, परकुल,
तच्छ्रुन्तीति पारगमा, न पारङ्गमा अपारङ्गमा । (एत इति) पू-
र्वोक्ताः, पारगतोपदेशाज्ञावादापारंगता इति भावनीयम् । न
च ते पारगतोपदेशमृते पारङ्गमनायोद्यता अपि पार गन्तुमद्यम ।
अथवा गमनं गम, पारस्य पारे वा गमः पारगम ।
सूत्रे त्वनुस्वारोऽत्राक्षणिकः । न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपा-
रगमनाय । असमर्थसमासोऽयम् । तेनायमर्थः-पारगमनाय ते
न भवन्तीत्युक्तं प्रवति । ननश्चान्तमपि ससार ससारान्तर्वर्तिन
एवासते, यद्यपि पारगमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वज्ञोपदे-
शविकल्पाः स्वरुचिचिरचितशास्त्रवृत्तयो नैव ससारपारे गन्तु-
मद्यम । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अतुच्छनाव-अतुच्छनाव-त्रि० । अकार्पण्ये, प० व० ४ द्वा० ।
उदराशये, पञ्चा० ६ विव० ।

अतुरिय-अत्वरित-त्रि० । स्तिमिते, ध० ३ अधि० । उच० ।
धिपा० । “अतुरियमचचलमसमंतात् अविद्यवियाप रायहसस-
रितीय गर्ह्य” । अत्वरितया मानसौत्सुक्यरहितया । कल्प० ।
देहमनश्चापत्यरहितं यथाभवत्येवम् । भ० ११ श० ११ उ० । रा० ।

अतुरियगङ्-अत्वरितगति-त्रि० । मायया लोकावर्जनाय
मन्दगामिनि, वृ० १ उ० ।

अतुरियभासि [ण]-अत्वरितजाषिन्-त्रि० । विवेकभाषि-
णि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अतुल-अतुल-त्रि० । तुलामतिक्रान्ते, संथा० । असाधारणे,
स० ३० सम० । निरुपमे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अत्त-आत्त-त्रि० । आ-दा-क्त । गृहीते, उच० १७ उ० । क-
रत्तपरिगृहीते, ज्ञा० १ अ० । भीमो भीमसेन इति न्यायात्
आत्तो गृहीतः । सूत्रार्थो यैस्ते आत्ताः । गीतार्थेषु, वृ० १
उ० । स्था० ।

आत्मन्-पुं० । स्वस्मिन्, उच० ३२ अ० । जीवे, आचा० १ श्रु०
६ अ० १ उ० । पञ्चा० । स्वजावे, न० ।

आत्र-वि० । आ अजिविधिना त्रायते ऽ वात्संरक्ताति सुख चो-
त्पादयतीति आत्रः । ऽ खप्ते सुखसाधके, “णेरइआण जते । किं
अत्तापोगला अणत्तापोगला वा ?” प्र० १४ श० ७ उ० । स्था० ।

आप्त-त्रि० । आप्ते, उच० १२ अ० । अतीव सुष्टुपरिकर्मिते, सू०
प्र० २० वाहु० । च० प्र० । स्था० । आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैका-
न्तिक आत्यन्तिकश्च क्रयः, सा यस्याऽस्ति स आप्तः । अन्नादि-
स्वान्मत्वर्थोऽप्रत्यय । स्या० । यथार्थदर्शनादिगुणयुक्ते पु-
रुषे, न० । दशा० । रागादिविप्रमुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।
जी० । अप्रतारके, अप्रतारकश्च (प्रकीणदोषः सर्वज्ञः) अशेषदो-
षक्याद् भवतीति । उक्तं च-“आगमोऽह्यासवचन-मास दोषक्या-
द् विदुः । धीतरागोऽनृत वाक्य, न ब्रूयाच्चेत्वसमवात् ” ॥ १ ॥
दशा० १ अ० । व्य० ।

नाणमादीणि अत्ताणि, जेण अत्तो उ सो जवे ।

रागद्वेषपद्मीणो वा, जे न इहा व सोधिण ॥ ५ ॥

ज्ञानादीनि ज्ञानदर्शनचारित्र्याणि येनाप्तानि स भवत्याप्तः ।
ज्ञानादिभिराप्यते स आप्त इति व्युत्पत्त्यन्तरम् । यो वा रागद्वे-

षप्रहीणः स आप्तः । यदि वा (इहा) इष्टाः, शोधौ शोधिविषये
आप्ताः ॥ ५ ॥ व्य० १० उ० ।

आप्तस्वरूप प्रकल्पयन्ति-

अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चा-
जिघत्से स आप्तः ॥ ४ ॥

आप्यते प्राप्यते अर्थोऽस्मादिन्यासः । यद्वा-आप्ति रागादिदो-
षक्षयः, सा विद्यते यस्येत्यर्थः आदित्वादचि आप्तः । जानन्नपि
हि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थान् कथयेत्, तद्व्यवच्छि-
न्त्ये यथाज्ञानमिति । तदुक्तम्-“आगमो ह्यासवचन-माप्ति
दोषक्य विदुः । कीणदोषोऽनृत वाक्य, न ब्रूयाच्चेत्वसमवात् ”
॥ १ ॥ अभिधानं च ध्वनेः परम्परयाऽप्यत्र दृष्टव्यम् । तेनाक्षर-
विलेखनद्वारेण, अङ्कोपदर्शनमुखेन, करपल्लव्यादिचेष्टाविशे-
षवशेन वा शब्दस्मरणाद्य परोक्षविषय विज्ञान परस्यो-
त्पादयति । सोऽप्याप्त इत्युक्तं प्रवति । स च स्मर्यमाणः शब्दः
आगम इति ॥ ४ ॥

कस्मादमूढशस्यैवाप्तत्वमित्याहुः-

तस्य हि वचनमविसंवादि प्रवति ॥ ५ ॥

यो हि यथावस्थितमभिधेयवादी परिज्ञानानुसारेण तदुपदेश-
कुशलश्च भवति, तस्यैव यस्माद्वचन विसंवादशून्यं सजायते ।
मूढवञ्चकवचने विसंवादसदृशनात् । ततो यो यस्यावञ्चकः
स तस्याप्त इति श्रुत्यर्थम्लेच्छसाधारण वृद्धानामाप्तलक्षणम-
नूदितं प्रवति ॥ ५ ॥

आप्तमेदौ दर्शयन्ति-

स च द्वेषा-लौकिको, लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

लोके सामान्यजनरूपे भवो लौकिकः । लोकादुत्तरः प्रधान-
मोक्षमार्गोपदेशकत्वाद्लोकोत्तरः ॥ ६ ॥

तावेव वदन्ति-

लौकिको जनकादिलोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः ॥ ७ ॥

प्रथमाऽऽदिशब्देन जनन्यादिग्रहः । द्वितीयाऽऽदिशब्देन तु
गणधरादिग्रहणम् ॥ ७ ॥ रत्ना० ४ परि० ।

न च वाच्यमाम कीणसर्वदोषः, तथाविध चाप्तत्व कस्यापि
नास्तीति । यतो रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते, अस्मदा-
दिषु तदुच्छेदप्रकर्षोपकर्षोपलम्भात्, सूर्याद्यावारकजलदपट-
लवत् । तथा चाहुः-“देशतो नाशिनो भावाः, दृष्टा निखिलनश्व-
रा । मेघपङ्कगादयो यद्देव रागादयो मताः” ॥ १ ॥ इति । यस्य च
निरवयवतयैते विद्वांसः स एवाप्तो जगवाद् सर्वज्ञः । अथाना-
दित्वाद्वागादिना कथं प्रकथ्य इति चेत् ? न । उपायतस्तद्भावा-
त्, अनादेरपि सुषर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपल-
म्भात् । तद्वद्देवानादीनामपि रागादिदोषाणां प्रतिपक्षतत्त्वज्ञ-
यान्यासेन विवक्ष्योपपत्तेः, कीणदोषस्य च केवलज्ञानाव्यभि-
चारात् सर्वज्ञत्वम् । तत्सिद्धिस्तु-ज्ञानतारतम्यं कचिद्विश्रान्त, ता-
रतम्यत्वात्, आकाशपरिमाणतारतम्यवत् । तथा-सूक्ष्मान्तरि-
तदूरार्थाः, कस्यचित्त्व्यक्ता, अनुमेयत्वात्, क्वितिधरकन्धरा-
धिकरणधूमध्वजवत् । एव चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकज्येतिर्ज्ञा-
नाविसंवादान्यथाऽनुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वा । स्या० । स्या० ।
सूत्र० साधूनां शोधिविषये दृष्टे प्रायश्चित्ते, व्य० १० उ० । मोक्षे,
सूत्र० १ श्रु० १० अ० । एकान्तहिते, त्रि० । भ० १४ श० ६ उ० ।

आर्त्त-वि० । ग्लानीभूते, भ० ३५ श० १ उ० । दुःखार्त्तं, स्था० ७ उ० । " कम्मत्ता दुग्भगा चेव, इच्छाहं सुपुढो जणा " पूर्व-चरितैः कर्मभिरार्त्ताः पूर्वस्वरूपकर्मणः । फलमनुभवन्ति, यदि वा कर्मभिः कृष्यादिभिरार्त्तास्तत्कर्तुमसमर्थाः । सुत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अत्तउवप्पास-आत्मोपन्यास-पु० । आत्मान एव उपन्यासो निवेदन यस्मिन्स्तदात्मोपन्यासम् । उदाहरणे, दोषे, उपन्यास-भेदे च । दश० ।

इदानीमात्मोपन्यासद्वारं विवृण्वन्नाह-

अत्तउवप्पासमि य, तलागजेयमि पिगद्धो थवई ।

आत्मन एवोपन्यासो निवेदन यस्मिन् नदात्मोपन्यासम्, तत्र च तलागभेदे पिङ्गलः स्थपतिरुदाहरणमित्युक्तार्थः । प्राचार्थ कथानकगम्यः । स चायम्-"इह एगस्स रओ तलाग सव्वरज्ज-स्स सारचुअ, त च तलाग वरिसे वरिसे भग्गिय जिज्झइ । ताहे राओ जणइ-को सो उवाओ होज्जा, जेण तं न भिज्जेज्जा ? । तत्थ एगो कविअओ मण्णुओ जणति-जदि नवर महाराय ! अच्चिपि-गओ, कविलियाओ से दादियाओ, सिर से कविलिय, सो जीव-तो चेव जम्मि ठाणे भिज्जति तम्मि ठाणे णिक्खमति, तो जवरं ए भिज्जति । पच्छा कुमारामब्बेण भणिय-महाराय ! एसो चेव एरिसो, जारिसय जणति, एरिसो नत्थि अओ । पच्छा सो तत्थेव मारेत्ता निक्खित्तो । एव एरिस णो भाणियच्चं ज अप्पव-डाए भवइ " । इद लौकिकम् । अनेन लोकोत्तरमपि सूचि-तम् । एकग्रहणेन तज्जातीयग्रहणात्तत्र चरणकरणानुयोगेनैव ब्रूयाद् यदुत-"लोइयधम्माओ वि हु. जे पम्भट्टा णराहमा ते उ । कह दव्वसोयरहिया, धम्मस्साराहया होति " ॥ १ ॥ इत्यादि । द्रव्यानुयोगे पुनरेकेन्द्रिया जीवाः, व्यकोच्छ्वास-नि इवासादिजीवलिङ्गसद्भावात्, घटयत्, इह ये जीवा न भव-न्ति न तेषु व्यकोच्छ्वासनि भ्वासादिजीवलिङ्गसद्भावः, यथा घटे, न च तथैतेष्वसद्भाव इति तस्माज्जीवा एवैने इत्यत्रात्म-नोऽपि तद्रूपापत्त्याऽऽत्मोपन्यासत्व भावनीयमिति । उदाहर-णदोषता चास्याऽऽत्मोपघातजनकत्वेन प्रकटार्थेवति न प्राव्यते । गतमात्मोपन्यासद्वारम् । दश० १ अ० ।

अत्तकम्म-आत्मकृत-त्रि० । आत्मार्यं कृते स्वगृहार्थमेव स्था-पिते, श्रु० १ उ० ।

अत्तकम्म-आत्मकर्मन्-न० । ६ त० । स्वदुश्चरिते, " निच्छु-ध्विगो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई " दश० ५ अ० २ उ० । आत्मा अष्टप्रकारकर्मणाऽऽयतकरणकारणामोदनादिनिर्दिष्यते तदात्मकम् । दर्श० । यत्पाचकादिसम्बन्धि कर्म पाकादिलक्षण, ज्ञानावरणीयादिलक्षण वा, तदात्मन सम्बन्धि क्रियतेऽनेनेत्या-त्मकम् । इ० ४ उ० । आधाकर्मशब्दार्थे, पि० । निक्षेपोऽस्य-तदेवमु-क्तमात्मन् नाम । सम्प्रत्यात्मकर्मनाम्नोऽवसरः । तदपि चात्मक-मं चतुर्धा । तद्यथा-नामात्मकर्म, स्थापनाऽऽत्मकर्म, छव्यात्म-कर्म, भावात्मकर्म वा । इद चाधाकर्मैव तावद्भावनियम्, याव-ओआगमतो प्रव्यशरीर छव्यात्मकर्म ।

इशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त तु छव्यात्मकर्म प्रणिपादयति-

दव्वमि अत्तकम्मं, जं जो उ ममायए भवे दव्वं ।

य. पुरुषो यद्द्रव्यादिक छव्य ममायते-ममेति प्रतिपद्यते । तन्म-

मेति प्रतिपादन, तस्य पुरुषस्य (दव्वमि अत्तकम्म ति) इश-रीरजव्यशरीरव्यतिरिक्तम् । द्रव्ये द्रव्यवियये, आत्मकर्म भवति । आत्मसम्बन्धित्वेन कर्मकरणमात्मकर्म, इति व्युत्पत्त्याऽऽत्मश्रयणात् । ज्ञावात्मकर्म च द्विधा । तद्यथा-आगमतः, नो-आगमतश्च । तत्रागमत आत्मकर्मशब्दार्थज्ञाना चोपयुक्तः । नो आगमत. पुनराह-

भावे असुहपरिणओ, परकम्म अत्तणे कुणइ ।

अशुभपरिणतोऽशुभेन प्रस्तावाढाधाकर्मग्रहणरूपेण भावेन परिणत. परस्परपाचकादे. सम्बन्धे यत्कर्म पचनपाचनादिजनित ज्ञानावरणीयादि, तदात्मन. सम्बन्धि करोति । तच्च परसम्बन्धिन. कर्मण आत्मीयत्वेन करण, प्राये भावत आत्मकर्म, नो आगमतो भावात्मकर्मैत्यर्थः । भावेन परिणामविशेषेण परकीयस्यात्मसं-बन्धित्वेन कर्मकरण भावात्मकर्मैति व्युत्पत्तेः ।

एतदेव सार्द्धया गायथा भावयति-

आहाकम्मपरिणओ, फासुयमवि संकिद्धिपरिणामो ।

आयपमाणो वज्जइ, तं जाणसु अत्तकम्मे ति ॥ १ ॥

परकम्म अत्तकम्मा, करेइ तं जो गिणिहत्तुं जुंजे ॥

प्राप्तुकमचेतनशृङ्गणेतदेवणीय च स्वरूपेण भक्तादिकम् । आस्नामाधाकर्मैत्यपिशब्दार्थः । सङ्किष्टपरिणाम. सप्ताधाकर्म ग्रहणपरिणतः सप्तादत्ते गृहणन् यथाऽऽहमतिशयेन व्याख्यान-लब्धमान्, मदगुणाश्चासाधारणविद्वत्तादिरूपा, सूर्यस्य भाव-नमिव कुत्र कुत्र न वा प्रसरमधिरोहन्ति ? । ततो मदगुणावर्जित एव सर्वोऽपि लोक पक्त्वा पाचयित्वा च महाभिष्टमिदम्भेद-नादिक प्रयच्छतीत्यादि, स छत्थमाददान. साक्षादारम्भकर्तृव ज्ञानावरणीयादिकर्मणा बध्यते । ततस्तज्ज्ञानावरणीयादिकर्म बन्धनमात्मकर्म जानीहि । इयमत्र भावना-आधाकर्म, यद्वा-स्वरूपेण अनाधाकर्मापि क्रतुवशातो मद्ध्येमेतान्निष्पादितमित्या-धाकर्मग्रहणपरिणतो यदा गृह्णाति तदा स साक्षादारम्भक-तैव स्वपरिणामविशेषतो ज्ञानावरणीयादिकर्मणा बध्यते, यदि पुनर्न गृह्णीयात्तर्हि न बध्येत । तत आधाकर्मप्राहिणा यत्पर-स्य पाचकादे. कर्म तदाऽऽत्मनोऽपि क्रियत इति परकर्म आ-त्मकर्म करोतीति बध्यते । एतदेव स्पष्ट व्यनक्ति- (परकम्मे-त्यादि) तत आधाकर्म यदा साधुगृहीत्वा भुङ्क्ते स परस्पर पाचकादेर्यत्कर्म तदात्मकर्म करोति, आत्मनोऽपि सम्बन्धि करोतीति भावार्थः ।

अमु च भावार्थमस्य वाक्यस्याजानानः परो जात-सहायः प्रश्रयति-

तत्थ जेष परकिरिया, कहं तु अअत्थ संकमइ ।

तत्र परकर्म आत्मकर्म करोतीत्यत्र वाक्ये जवेत् परस्य वक्त-व्यम् । यथा-कथ परक्रिया परस्य सत्कं ज्ञानावरणीयादि कर्म, अन्यत्र आधाकर्मभोजके साधौ सक्रामतीति भावः । न ललु जा-तुचिदपि परकृतं कर्म अन्यत्र सक्रामति । यदि पुनरन्यत्रापि सक्र-मेतर्हि कृपकभ्रेणिमधिरूढ. कृपापरीतचेताः सकलजगज्जन्तु-कर्मनिर्मुक्षनापादनसमर्थ सर्वेषामपि जन्तूनां कर्म ज्ञानात्मनि सक्र-मय्य कृपयेत् । तथा च सति सर्वेषामेककाल मुक्तिरूप जायेत ? । न जायते, तस्मान्नैव परकृतकर्मणामन्यत्र सक्रम । उक्तं च-कृपकभ्रे-णिपरिणतः समर्थ सर्वकर्मिणां कर्म कृपयित्वा भवेत् कृपापरी-तात्मको यदि कर्मसक्रम स्यात्परकृतस्व । परकृतकर्मणि यस्मा-

आक्रामति सक्रमो विज्रागो वा, तस्मात् सत्त्वानां कर्म यस्य सपन्न तेन तद्वेद्यते । तत्कथमुच्यते परकर्म आत्मकर्माकरो-
तीति ? इदं च वाक्यं पूर्वान्तर्गतम् । अन्यथाऽपि केचित्परमा-
र्थमजानानां व्याख्यानयन्ति । तनस्तन्मतमपाकर्तुमुपन्यसन्नाह-
कूमजवमाँ केई, परप्पउत्ते वि विंति वधो चि ।

केचित् स्वपूज्या एव प्रवचनरहस्यमजानानां कूटोपमाया-
कूटदृष्टान्तेन, ब्रुवते-परप्रयुक्तेऽपि परेण पाचकादिना निष्पा-
दितेऽप्योदनादौ साधोस्तद्गाहकस्य भवति बन्ध । एतदुक्तं
प्रवति-यथा व्याधेन कूटे स्थापिते मृगस्यैव बन्धो, न व्या-
धस्य, तथा गृहस्थेन पाकादौ कृते तद्गाहकस्य साधोर्बन्ध, न
पाककर्तुः । ततः परस्य यत्कर्म ज्ञानावरणीयादि सन्नवति,
तदाधाकर्मग्राही स्वस्यैव सवन्धि करोतीत्युच्यते । तदेतद-
सदुक्तम् । जिनवचनविरुद्धत्वात् । तथाहि-परस्यापि साक्षा-
दारम्भकर्तृत्वेन नियमतं कर्मबन्धसन्नवस्ततः कथमुच्यते
तद्गाहकस्य साधोर्बन्धो, न पाककर्तुः ? । न च मृगस्यापि प-
रप्रयुक्तिमात्राद्वन्धः, किन्तु स्वस्मादेव प्रमादादिदोषात्, एव
साधोरपि ।

तथा चैतदेव निर्युक्तिकृदाह-

जणइ य गुरू पमत्तो, वज्जइ कूडे अदक्खो य ।

एमेव जावकूमे, वज्जइ जो असुभजावपरिणामो ॥१॥

तम्हा उ असुजजावो, वज्जेयव्वो ।

भणति प्रतिपादयति, च पुनरर्थः । पुनरर्थश्चायम् - एके केचन
सम्यग् गुरुचरणपर्युपासनाविकलतया यथाऽवरिधत तत्त्वमवे-
दिनारोऽनन्तरोक्तं ब्रुवते-गुरु पुनर्भगवान् श्रीयशोमद्रसूरिरेव-
माह । एतेनैतदावेयति-जिनवचनमवितथ, जिज्ञासुना नियमतं
प्रज्ञावताऽपि सम्यग्गुरुचरणकमलपर्युपासनमास्थेयम्, अन्यथा
प्रज्ञाया अवैतथ्यानुपपत्तेः । तदुक्तं च-“तत्तदुत्प्रेक्ष्यमाणानां,
पुराणैरागमैर्विना । अनुपासितवृद्धानां, प्रज्ञा नातिप्रसीदति” ॥१॥
गुरुवचनमेव दर्शयति-मृगोऽपि खलु कूटे, स बध्यते य प्रम-
त्तोऽदक्ख अयति । यस्त्वप्रमत्तो दक्षश्च स कदाचनापि न
बध्यते । तथाहि-अप्रमत्तो मृग प्रथमतः एव कूटदेशं परिहरति ।
अथ कथमपि प्रमादवशात् कूटदेशमपि प्राप्तां भवति तथाऽपि
थावन्नाद्यापि बन्ध पतति, तावद्दक्षतया ऋगिति तद्विषयादपसर्प-
ति । यस्तु प्रमत्तो दक्षतराहितश्च, स बध्यत एव । तस्मान् मृगोऽपि
बध्यते । परमार्थेन स्वप्रमादक्रियावशतो, न परप्रयुक्तिमात्रात् ।
(एवमेव) अनेनैव मृगदृष्टान्तोक्तप्रकारेण (जावकूटे) समयमरूप-
भावबन्धनाय कूटमिव कूटमाधाकर्म, तत्र स बध्यते, ज्ञानावर-
णीयादिकर्मणा युज्यते, योऽशुभभावपरिणाम आहारमापद्यते,
आधाकर्मग्रहणात्मकाशुभभावपरिणामो, न शेषः । न खल्वआधा-
कर्मणि कृतेऽपि यो न तद् गृहहानि, नापि भुङ्क्ते, स ज्ञानावरणी-
याऽऽदिना पापेन बध्यते । नहि कूटे स्थापिते यो मृगस्तद्देशं एव
नायाति, आयातोऽपि यन्ततस्तद्देशं परिहरति, स कूटे बन्धमा-
प्नोति । तत्र परयुक्तिमात्राद् बन्धो येन परोक्तनीत्या परकृतकर्मण
आत्मकर्माकरणमुपपद्यते, किन्त्वगुभाध्यवसायजावत । तस्मा-
दशुभो भाव आधाकर्मग्रहणरूप साधुना प्रयत्नेन वर्जयित-
व्यः । परकर्म करोतीत्यत्र वाक्ये जावार्थं प्रागेव दर्शितः ।
यथा परस्य पाचकादर्थकर्म तदात्मकर्माकरोति, किमुक्तं ज-
वाति ?-तदात्मन्यापि कर्म करोतीति, ततो न कश्चिदोप । परक-

मणश्चात्मकर्माकरणमाधाकर्मणो ग्रहणे प्रोजने वा सति भवति
यथा, तन उपचारादाधाकर्म आत्मकर्मेत्युच्यते । न नु तदाऽऽधा-
कर्म, यदा स्वयं करोति, अन्येन वा कारयति, कृतं वाऽनुमोदने,
तदा भवेद् दोषः । यदा तु स्वयं न करोति, नापि कारयति, ना-
प्यनुमोदते, तदा कस्तस्य ग्रहणे दोष इति ?

अत्राह-

कामं सयं न कुण्ड, जाणतो पुण तद्वा वि तग्गाही ।
वट्ठे तप्पसंगं, अगिण्हमाणो उ वारेइ ॥ १ ॥

कामं सम्मतमेतत्, यद्यपि स्वयं न करोत्याधाकर्म, उपलक्षण-
मेतत्, न कारयति, तथापि मदर्थमेतन्निष्पादितमिति जानानो यदि
आधाकर्म गृहहानिं नहि तद्ग्राही तत्प्रसंगम्-आधाकर्मग्रहणप्र-
सङ्गं वर्कयति । तथाहि-यदा स साधुराधाकर्म जानानो गृहहानिं,
तदाऽन्येना साधुनां टायकानां च पञ्चबुद्धिरुपजायते-नाधाकर्म
प्रोजने कश्चनापि दोषः, कथमन्यथा स साधुर्जानानोऽपि गृही-
तवान् ? इति । तत एव तेषां बुद्ध्युत्पादे सतत्या साधुनामाधाक-
र्मभोजने दीर्घकालं पट्टजीवनिकायविधातः, स परमार्थतस्ते-
न प्रवर्त्यते । यस्तु न गृहहानिं स तथाभूतप्रसङ्गबुद्धिं निवारयति,
प्रवृत्तेरेव भावात् । तथा चाह-(अगिण्हमाणो उ वारेइ) ततोऽ
तिप्रसङ्गदोषमयात्कृतकचित्तदोषगहितमपि नाधाकर्मं भुञ्जीत ।
अन्यच्च तदाधाकर्म जानानोऽपि जुञ्जानो नियमतोऽनुमोदते ।
अनुमोदना हि नाम-अप्रतिषेधनम् । अप्रतिषेधमनुमोदनमिति
विद्यतवादात् । तत आधाकर्मभोजने नियमतोऽनुमोदनदोषोऽ-
निवारितप्रसरः । अपि च-एवमाधाकर्मभोजने कदाचिन्मनाज्ञा-
हारप्रोजनभिन्नदृष्टनया स्वयमपि पचेत् पाचयेद्वा । तस्मान्न
सर्वथा आधाकर्मं प्रोक्तव्यमिति स्थितम् । तदेवमुक्तमात्मकर्मे-
ति नाम ॥ पि० । नि० चू० ।

अत्तग-आत्मग-त्रि० । आत्मनि गच्छतीति आत्मग । अन्तरे,
“चिञ्चा ण अत्तग सोय ” सूत्र० १ श्रु० ए अ० ।

अत्तगवेमण-आर्त्तगवेमण-न० । इव्याद्यापत्सु, आर्त्तस्य, उप-
लक्षणमेतत् । अनार्त्तस्य वा, गवेपणं दुर्लभद्रव्यसंपादनादिरू-
पमार्त्तगवेमणम् । औपचारिकविनयज्ञेदे, व्य० १ उ० ।

अत्तगवेमण्या-आर्त्तगवेमणता-स्त्री० । आर्त्तं गतानीभूतं गवे-
पयति भैषज्यादिना योऽसाधार्त्तगवेमणः । तद्भाव आर्त्तगवेमण-
ता । भ० २५ श० ५ उ० । आर्त्तस्य दुःखार्त्तस्य गवेपणमौप-
धादेरित्यार्त्तगवेमणम्; तदेवार्त्तगवेमणतेति । पीकितस्योपकार
इत्यर्थः । स्या० ७ ग० ।

आत्म (म) गवेमणता-स्त्री० । आत्मना, आप्तेन वा चृत्वा गवे-
पणं सुस्थदुःस्थतयोरन्वेषणं कार्यमिति । लोकोपचारविनय-
ज्ञेदे, म्या० ७ ग० । औ० ।

साम्प्रतमार्त्तगवेमणरूपविनयप्रतिपादनार्थमाह-

दव्वावड्माईपुं, अत्तमणत्ते गवेमणं कुण्ड ।

इत्यादि दुर्लभद्रव्यसंपत्तां च । तथा च भवति केषुचिद्
देशेष्ववन्त्यादिषु दुर्लभं घृतादिद्रव्यमिति । आदिशब्दात् के-
चापदादिपरिग्रहः । तत्र केचापदि कान्तागादिपत्तने, काचापदि
दुर्भिक्ते, भावापदि गाढग्नान्वे । आर्त्तस्य पीकितस्य अयन्तस-
हिष्णुतया, अनार्त्तस्य वा यथाशक्ति यद् गवेमणं करोति दुर्ल-
भद्रव्यादिमपादयति, स आर्त्तगवेमणविनयः । व्य० १ उ० ।

अत्तगवेसय-आत्मगवेषक-पु० । आत्मान चारित्रात्मान गवे-
षयतीति आत्मगवेषकः । कथमय मम स्यादिति सयमजीवमा-
र्गयितरि, " निगिच्छु नाभिनदेज्जा, सचिक्खेऽत्तगवेसए । एव
खु तस्स सामण, जन्न कुज्जा न कारवे " ॥१॥ उत्त० २ उ० ।

नो ताहिं विहन्नेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए ।

आत्मान गवेषयेत्, कथं मयाऽऽत्मा भवाग्निस्तारणीय इत्य-
न्वेषयेत् । " आत्मगवेषकसिद्धिः स्वरूपापत्तिः " इति वचना-
त् । सिद्धिर्वाऽऽत्मा । ततः कथं ममाऽसौ स्यादित्यन्वेषक आ-
त्मगवेषकः । यद्वा आत्मानमेव गवेषयन् इत्यात्मगवेषकः । किमु-
क्तं भवति? चित्रालङ्कारशालिनीरपि स्त्रियोऽवशोक्य तदुदाष्टि-
न्यासस्य दुष्टाऽवगमात् ऊटिति ताभ्यो दृगुपसहारत आत्मा-
न्वेष्टेव जवति । उत्त० ३ अ० ।

अत्तगामि (ए)-आप्त (त्प) गामिन्-पु० । आप्त(मोक्ष) ग-
च्छति तच्छब्दः । मोक्षगमनशीले आत्महितगामिनि, सर्वज्ञो-
पदिष्टमार्गगामिनि वा मुनौ, " मुस न वूया मुणि अत्तगामी "
सूत्र० १ ध्रु० १० अ० ।

अत्तगुण-आत्मगुण-पुं० । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मा-
धर्मसंस्कारेषु जीवगुणेषु, सूत्र० १ ध्रु० १२ अ० ।

अत्तचित्त-आत्मचिन्तक-पु० । आत्मानमेव चिन्तयतीति । प-
रकार्थमनपेक्षैवात्मानं चिन्तयन्ति गणधारणायोग्ये, ज्य० ।

अभ्युज्जयमेगयरं, पन्निवज्जिस्स नि अत्तचित्तो उ ।

जो वि गणे वि वसंतो, न वहति तत्ती तु अन्नैसि ॥१॥

य आत्मानमेव केवलं चिन्तयन्त्यते-यथाऽहमन्युद्यतं जिन-
कल्पं यथा लन्दकल्पानामेकतरं प्रतिपत्स्ये इति आत्मचिन्तकः ।
योऽपि गणेऽपि गच्छेत्प्रपि, वसन् तिष्ठन्, न वहति न करोति, तृप्ति-
मन्येषां साधूनां सोऽप्यात्मचिन्तकः । एतौ चावप्यात्मचिन्तकाव-
नर्हौ । ज्य० ३ उ० ।

अत्तह-आत्मषष्ठ-पु० । आत्मा षष्ठ इति । पञ्चानां जूताना-
मात्मा षष्ठ प्रतिपाद्यत इत्ययं षष्ठम सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमोद्देश-
कस्य अर्थाधिकारे, सूत्र० ।

साप्रतमात्मषष्ठवादिमन् पुर्वपक्कयितुमाह-
संति पंच महब्बूया, इह मेगेसिं आहिया ।

आयउहो पुणो आहु, आया होगे य सासए ॥१॥

(सनीत्यादि) सन्ति विद्यन्ते, पञ्च महान्नानि पृथिव्यादीनि, इहा-
स्मिन्ससारे, एकेषां वेदवादिना सांख्यानां शैवाधिकारिणां च, एत-
दाख्यातम् । आख्यातानि च जूतानि ते च वादिन एवमाहुरेवमाख्या-
तवन्तः-यथा आत्मषष्ठानि आत्मा षष्ठो येषां नानि आत्मषष्ठानि, जू-
तानि, विद्यन्त इति । एतानि चात्मषष्ठानि जूतानि यथाऽन्येषां वादि-
नामनित्यानि तथा नामीषामिति दर्शयति-आत्मा, लोकश्च पृथि-
व्यादिरूपं शाश्वतोऽविनाशी । तत्रान्मन सर्वव्यापित्वादमूर्त-
त्वाच्चाकाशस्येव शाश्वतत्वम्, पृथिव्यादीनां च तद्रूपाप्रच्युनेरपि
नश्वरत्वमिति ॥ १५ ॥

शाश्वतत्वमेव नूय प्रतिपादयितुमाह-

दुहओ ण विणस्संति, नो य उपज्जए अमं ।

मव्वे वि मव्वहा भावा, नियतीभावमागया ॥ १६ ॥

(दुहओ ण विणस्सनीत्यादि) ने आत्मषष्ठा पृथिव्यादयः

पदार्थाः (उज्जयत इति) निर्हेतुकसहेतुकविनाशघ्नेन न विनश्य-
न्ति । यथा बौद्धानां स्वत एव निर्हेतुको विनाशः । तथा च ते
उच्युः-" जातिरेव हि भ्रान्तानां, विनाशो हेतुरित्यते । यो आ-
तश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च? " ॥ १ ॥ तथा च वै-
शेषिकाणां लकुटादिकारणसांनिध्ये विनाशः सहेतुकः । तेनो-
परूपेणापि विनाशेन लोकात्मनोर्न विनाश इति तात्पर्यार्थः ।
यदि वा (दुहओ ण) द्विरूपादात्मन स्वभावाच्चेतनाचेतनरूपाश्च
विनश्यतीति । तथा हि-पृथिव्येतेजोवाय्वाकाशानि रूपापरि-
त्यागतया नित्यानि ; न कदाचिदनीदृशं जगदिति कृत्वा आ-
त्माऽपि नित्य एव, कृतकत्वादिभ्यो हेतुभ्यः । तथा चोक्तम्-
" नैनं विन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदय-
न्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥१॥ अच्चेद्योऽयमदाहोऽय-मवि-
कार्योऽयमुच्यते । नित्यं सर्वगतः स्थाणु-रचलोऽयं सनातनः "
॥ २ ॥ एव च कृत्वा नासदुत्पद्यते, सर्वस्य सर्वज्ञ सद्भावात् ।
असति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवादः । यदि वा अस-
दुत्पद्येत, स्वरूपाणादेरप्युत्पत्तिः स्यादिति । तथा चोक्तम्-"अ-
सदकरणादुपादानप्रवृत्त्यात्सर्वसमवाजाभावात् । शक्तस्य शक्यकर-
णात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् " ॥ ६ ॥ एव च कृत्वा मृत्पिण्डेषु
घटोऽस्ति, तदर्थिनां मृत्पिण्डोपादानात् । यदि वा असदुत्पद्येत,
ततो यतः कुतश्चिदेव स्यान्नावश्यमेतदर्थिनां मृत्पिण्डोपादान-
मेव क्रियते, इत्यतः सदेव कारणे कार्यमुत्पद्यत इति । एव च
कृत्वा सर्वेऽपि ज्ञावा पृथिव्यादय आत्मषष्ठा नियतिभाव नित्य-
त्वमागता, नाभावरूपताम् । अभूत्वा च भावरूपताप्रतिपद्यते ।
आविर्भावतिरोजावमात्रत्वादुत्पत्तिविनाशयोरिति । तथा चाग्नि-
हितम्-" नासतो जायते भावो, नाजावो जायते सतः " ।
इत्यादि । अस्योत्तरं निर्युक्तिरुदाह-" को वेप " इत्यादि प्राक्-
न्येव गाथा । सर्वपदार्थनित्यत्वाच्च्युपगमे कर्तृत्वपरिणामो न
स्यात्, ततश्चात्मनोऽकर्तृत्वे कर्मबन्धाभावात् । तद्भावाच्च को वेद-
यति, न कश्चित्सुखदुःखादिकमनुभवतीत्यर्थः । एव च सति
कृत्वा नाशः स्यात् । तथा असत्तत्त्वात्पादाभावे येयं मया आत्मन
पूर्वभावपरित्यागेनापरजावोत्पत्तिरङ्गणा पञ्चधा गतिरुच्यते, सा
न स्यात् । ततश्च मोक्षगतेरजावादीकादिक्रियाऽनुष्ठानमनर्थकमाप-
द्यते । तथाऽप्रच्युताऽनुत्पत्तिरित्येकस्वजावत्त्वेन त्वात्मनो देवमनु-
ष्यगत्यागती, तथा विस्मृतेरजावाद् जातिस्मरणादिक वा न
प्राप्तेति । यच्चोक्तम्-सदेवोत्पद्यते । तदप्यसत् । यतो यदि सर्वथा
सदेव, कथमुत्पादः ? । उत्पादश्चेत्, तर्हि सर्वदाऽसदिति । तथा चोक्त-
म्-"कर्मगुणव्यपदेशाः, प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात् । कार्यमस-
द्विक्रिये, क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तृणाम् " । १ । तस्मात्सर्वपदार्थानां कथ-
चिन्नित्यत्व सत्सत्कार्यवादश्चेत्यवधार्यम् । तथा चाभिहितम्-
" सर्वव्याक्तिषु नियतं, कृणे कृणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्यश्चित्यपचित्यो-राकृतिजातिव्यवस्थानात् " ॥ १ ॥ इति । तथा-
" नान्वयः स हि भेदत्वा-अ भेदोऽन्वयवृत्तितः । मृदेद्वयसस-
र्ग-वृत्तिजात्यन्तरं घटः " ॥ १ ॥ सूत्र० १ ध्रु० १ उ० ।

अत्तह-आत्मस्थ-त्रि० । आत्मानि तिष्ठतीति आत्मस्थः । जी-
वस्ये, "आत्मस्य त्रैलोक्य-प्रकाशक निष्क्रिय परानन्दमातीतादि-
परिच्छेदक-महं ध्रुवं चेति समयज्ञाः " ॥ १ ॥ पौ० १५ वि० ।
आत्मार्थ-त्रि० । आत्मजोगार्थं स्वभोगार्थं, घ० २ अधि० ।
आत्मनोऽर्थः आत्मार्थः । अर्धमानतया स्वर्गादौ, आत्मैवार्थः
आत्मार्थः । आत्मव्यतिरिक्तो, मोक्षो च । उत्त० । " इह कामनिय-
त्तस्म, अत्तह नाऽवगच्छह " उत्त० ८ अ० । हा० ।

अत्तद्वकरणजुत्त-आत्मार्थकरणयुक्त-त्रि० । आत्महितार्थकर-
रणयुक्ते, प० चू० ।

अत्तद्वगुरु-आत्मार्थगुरु-त्रि० । आत्मन स्वस्य अर्थः प्रयोजन
गुरुर्यस्य स आत्मार्थगुरु । उक्त० ३२ अ० । आत्मार्थ एव
जघन्यो गुरु पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरु । दश० १
अ० । स्वप्रयोजननिष्ठे, " चित्तेहि ते परितावेह बाले, पीलेह
अत्तद्वगुरु किलते " उक्त० ३२ अ० ।

अत्तद्वचित्तग-आत्मार्थचिन्तक-पु० । आत्मन एव केवलस्यार्थ
भक्तादिलक्षण चिन्तयति, न आत्मादीनाम्, तथाकल्पसामाचा-
रादित्यात्मार्थचिन्तकः । यद्वा-आत्मार्थो नाम भतीचारमलि-
नस्यात्मनो यथोक्तेन प्रायश्चित्तविधिना निरतिचारकरण वि-
शोधनमित्यर्थः । चिन्तयतीत्यात्मार्थचिन्तकः । परिदारतप प्र-
तिपन्नत्वेनाऽऽत्मार्थमात्रचिन्तके, व्य १ ७० ।

अत्तद्विय-आत्मार्थिक-त्रि० । आत्मार्थे भवमात्मार्थिकम् । आत्म-
नोऽर्थ आत्मार्थस्तस्मिन् प्रवमात्मार्थिकम् । आत्मन एवार्थः, " उ-
द्यक्त्वा नोयण मादणान, अत्तद्विय सिरुमदेगपक्ख " ॥ ब्राह्म-
णानामात्मनोऽर्थ आत्मार्थस्तस्मिन् प्रवमात्मार्थिकम्, ब्राह्मणैर-
प्यात्मनैव प्रोज्यम्, नचाऽन्यस्मै देयम् । उक्त० १२ अ० ।

अत्तता-आत्मता-स्त्री० । आत्मनो नाव आत्मता । जीवास्ति-
तायाम्, स्वकृतकर्मपरिणता च । " इह ह्यसु भत्तताए तेहि
तेहि कुलोहि भनिसेएण संभूता " आवा० १ शु० ६ अ० १ उ० ।

अत्तताण-आत्मत्राण-न० । ६ त० । आत्मरक्षायाम्, सूत्र० १
शु० ११ अ० ।

अत्ततासवुम-आत्मात्मसंवृत-त्रि० । आत्मन्यात्मना संवृतस्य
प्रतिसिद्धीने, ज० ३ श० ३ उ० ।

अत्तद्वककारि(ण्)-आत्मदुष्कृतकारिन्-त्रि० । स्वपापवि-
धायिनि, " सपराश्य णियच्छन्ति, अत्तद्वकडकारिणो " सूत्र०
१ शु० ८ अ० ।

अत्तदोस-आत्मदोष-पुं० । ६ त० । आत्मापराधे, स्था० ८ अ० ।

अत्तदोसोवसंहार-आत्मदोषोपसंहार-पु० । ६ त० । स्वकी-
यदोषस्य निरोधलक्षणे एकविंशे योगसंग्रहे, स० ३२ सम० ।

अत्रांशहरणम्-

वारवड अरिहमित्ते, अणुप्फरी चेव तह य जिणदेवे ।

रोगस्स य ठप्पत्ती, पमिसेहो अप्पसंहारे ॥१॥

ह्यत्यत्या महापुर्या-महन्मित्रो घणिग्वरः ।

अनुदरी प्रिया तस्य, जिनदेवश्च तत्सुत ॥ १ ॥

रोगस्तस्यान्यदोषश्च, शक्यते न चिकित्सितुम् ।

आहुर्वैद्या रुजोऽमुष्य, निवृत्तिर्मासभक्षणात् ॥ २ ॥

स्वजनाः पितरौ चाप्य, सर्वे प्रेम्णा भणन्ति तम् ।

सोऽब्रूत नैव भोदयेऽहं, सुचिरं रक्षितं व्रतम् ॥ ३ ॥

मृत्युं स्वीकृत्य सावयं, प्रत्याचक्ष्यौ विचक्षणः ।

बुधेनाप्यवसायेन, स्वात्मदोषोपसंहृतेः ॥ ४ ॥

अवाप्य केवलज्ञानं, सिद्धिसौधं जगाम सः ।

आ० क० । आवा० । आ० चू० ।

अत्तपणह(ण्)-आत्त(प्त) प्रज्ञाहन्-पु० । आत्तां सिद्धा-

न्तादिअवणनो गृहीतामात्तां वा इदलोकपग्नोक्तयोः सद्यो-
धकृतया दितां प्रज्ञामात्मनोऽन्येषां वा बुद्धिकुतर्कव्याकुलीक-
रणतो दन्ति य स आत्तप्रज्ञाहा, आत्तप्रज्ञाहा वा । स्वस्य परेषां च
तत्त्वबुद्धिहन्तरि पापभ्रमणे, उक्त० १७ अ० ।

अत्तपण्णसि(ण्)-आत्मप्रज्ञान्वेषिन्-पु० । आत्मनः प्रज्ञा
ज्ञानभात्मप्रज्ञा, तामन्वेष्टुं शील यस्य स आत्मप्रज्ञान्वेषी । आ-
त्मज्ञानाऽन्वेषिणि आत्महितान्वेषिणि, सूत्र० १ शु० ६ अ० ।

आत्तप्रज्ञान्वेषिन्-पु० । आत्तो रागादिदोषविप्रमुक्तः, तस्य प्रज्ञा
केवलज्ञानाख्या, तामन्वेष्टुं शील यस्य स आत्तप्रज्ञान्वेषी ।
सर्वज्ञोक्तान्वेषिणि, " धीराजे अत्तपण्णसि, धीतिमता जिह-
दिआ " । सूत्र० १ शु० ९ अ० ।

अत्तपणह(ण्)-आत्मप्रज्ञान्वेषिन्-पु० । आत्मनि प्रज्ञा आत्मप्र-
ज्ञस्त हन्त्यात्मप्रज्ञा । केनचित्कृतस्य प्रज्ञस्य वञ्चके पापभ्र-
मणे, यथा-यदि कश्चित्परः पृच्छेत्, किं भवान्तरयायी अयमा-
त्मा, उत नेति ? । ततस्तमेव प्रज्ञमातिवाचावतया हन्ति, यथा-
नास्त्यात्मा, प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनुपपन्नभ्यत्वात्; ततोऽयुक्तोऽयं
प्रज्ञः; साति हि धर्माणि धर्माश्चित्यन्त इति । उक्त० १७ अ० ।

अत्तपणह(ण्)-आत्मप्रज्ञान्वेषिन्-त्रि० । आत्मनो जीवस्य
प्रज्ञा मनागप्यकबुधा पीताद्यन्यतरा लेश्या यस्मिस्तदात्मप्र-
ज्ञान्वेष्यम् । उक्त० १२ अ० ।

आत्तप्रज्ञान्वेषिन्-त्रि० । आत्ता प्राणिनामिदं परत्र च हिता प्राप्ता
वा तैरेव प्रज्ञा लेश्योक्तरूपा यस्मिस्तदात्मप्रज्ञान्वेष्यम् ।
आत्मनिर्मलत्वकारणेन तेजःपद्मशुक्लादिलेश्यात्रयेण सहिते,
" धम्मो हरणं वभे, सति तित्थे अणाविले । अत्तप्पसण-
लेस्से, " उक्त० १२ अ० ।

अत्तजाव-आत्मजाव-पु० । स्वाभिप्राये, सूत्र० १ शु० १३ अ० ।

अत्तमद्-आर्त्तमति-त्रि० । आर्त्तं आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्त-
मतय । आर्त्तध्यानोपयुक्तेषु, आतु० ।

अत्तमाण-आवर्त्तमान-त्रि० । आ-वृत्त-शानच् । " यावत्ता-
वज्जीविताऽऽवर्त्तमानावटप्रानारकदेवकुलैवमेवेव " ॥ ८२॥ १७१ ॥
इति वस्य बुक् । सयोगादित्वाद् ह्रस्व । अभ्यस्यमाने, प्रा० ।

अत्तमुख-आत्ममुख-पु० । आत्तेषु मध्ये मुखमिव सर्वाङ्ग-
ताप्रधानत्वेन मुखे " शास्त्रादेर्य " ॥ ७१॥ ११४ ॥ इति [हैम-
ख्येण] तुल्ये य प्रत्यय । आत्मप्रधाने केवलज्ञानिनि, त० ।

अत्तय-आत्मज-पु०-स्त्री० । आत्मन पितृशरीराज्जात इत्या-
त्मज । अङ्गजे पुत्रे, तादृश्या पुत्र्यां च । यथा भरतस्याऽऽदि-
त्यशः । स्था० १० अ० । ज्ञा० । विपा० ।

अत्तलब्धिय-आत्मलब्धिक-पु० । यः आत्मन एव स-
त्का लब्धिर्मत्कादिलाभो यस्याऽऽसावात्मलब्धिकः । स्वल-
ब्धिके, पचा० १२ विव० ।

अत्तव-आर्त्तव-त्रि० । ऋतुरस्य प्राप्तः, अण् । ऋतुभवे पुष्पा-
दौ, " आर्त्तवान्युपभुञ्जाना, पुष्पाणि च फलाणि च " रजसि
च, वाच० । नि० चू० । (अस्य व्याख्या 'गम्भ' शब्दे वक्ष्यते)

अत्तवयणणिदेस-आत्मवचननिर्देश-पु० । आत्मस्य अप्रतार-

कस्य वचनमाप्तवचनं, तस्य निर्देश आप्तवचननिर्देश । सर्व-
ज्ञोकागमे, “धम्मो मगलमुक्खिं तं पइसा अत्तवयणनिर्देशो” ।
दश० १ अ० ।

अत्त (पप) संजोग-आत्मसंयोग-पुं० । आत्मन संयोगे औ-
पशमिकादिभिर्भावैर्जाविस्य सम्बन्धरूपे संयोगमेदे, अत्त० १
अ० । (“संजोग” शब्दे चैव विशेषतो दर्शयिष्यते)

अत्तसंपरिगहिय-आत्मसंपरिगृहीत-त्रि० । आत्मैव संप-
गृहीत-सम्यक् प्रकर्षेण गृहीतो येनाह विनीतः सुसाधुरित्ये-
वमादिना स तथा । आत्मोत्कर्षप्रधाने, दश० १ अ० ४ अ० ।

अत्तसक्खिय-आत्मसाक्षिक-त्रि० । आत्मा एव साक्षिको
यस्येति आत्मसाक्षिकः । स्वसाक्षिके, “आत्मसाक्षिकसद्-
म-सिद्धौ किं लोकयात्रया ?” अष्ट० २३ अष्ट० ।

अत्तसम-आत्मसम-त्रि० । आत्मतुल्ये, दश० १० अ० ।

अत्तसमाहि-आत्मसमाधि-पुं० । ६ त० । स्वपक्षसिद्धौ, मा-
ध्यस्थ्यवचनादिना पराऽनुपधाते च । सूत्र० १ शु० ३ उ० ३ अ० ।

अत्तसमाहिय-आत्मसमाधिक-पुं० । चित्तस्वास्थ्यवति, सू-
त्र० १ शु० ३ अ० ३ उ० ।

आत्मसमाहित-त्रि० । आत्मना समाहित आत्मसमाहितः । ज्ञा-
नदर्शनचारित्र्योपयोगे सदापेयुक्ते, आचा० १ शु० ४ अ० ३ उ० ।
आत्मा समाहितोऽस्येत्यात्मसमाहितः । आहिताग्न्यादिदर्श-
नादार्थत्वाद् वा निष्ठाऽस्तस्य परनिपातः । यद्वा-प्राकृते पूर्वोत्त-
रनिपातोऽस्तत्र । समाहितात्मेत्यर्थः । शुभव्यापारवति, आचा०
१ शु० ४ अ० ३ उ० ।

अत्तसुन्न-आप्तशून्य-त्रि० । आप्तो वीतरागस्तस्य वाक्य
सिद्धान्तस्तेन शून्य वर्जितमाप्तशून्यमिति मध्यपदलोपी समा-
सः । आप्तवाक्येन शून्यमाप्तशून्य स्वमत्या असमावित विर-
चय्य लोके ग्रन्थगौरवाद्दर्शिते, (देवसेन पतप्रपञ्चनमचीकरत्)
द्रव्या० १ अध्या० ।

अत्त (आय) हिय-आत्महित-न० । ६ त० । आत्मोपका-
रके, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । विशेष० । आत्महितं दुःखेनाऽसुमता
ससारे पर्यटताऽकृतधर्मानुष्ठानेन दृश्यते अवाप्यत इति । त-
थाहि-“ न पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजलधिविघ्नष्टम् ।
मानुष्यं व्यथोतक-तन्निष्ठताविलसितप्रतिमम् ” ॥१॥ सूत्र०
१ शु० २ अ० २ उ० ।

अत्ता-देशी-जनन्याम, पितृवसरि, भ्रष्ट्राम्, वयस्यायां च ।
दे०ना० १ वर्गः ।

अत्तागम-आत्मागम-पुं० । अपौरुषेये आगमे, “ वयणेण का-
चजोगा, भावेण य सो अणादिसुखस्स । गहणाम्मि य नो हेऊ,
सत्थ अत्तागमो कह णु ” ॥१॥ उत्त० २ अ० ।

अत्ताण-अत्राण-त्रि० । ६ ब० स० । अनर्थप्रतिघातकवर्जिते,
प्रश्न० १ आभ० द्वा० । शरणविरहिते, आ० म० द्वि० ।
स्कन्धन्यस्तलगुरुद्वितीये देशान्तरे गच्छति, कार्पाटिके च । शु० ।
विरुद्धराज्येऽयं विहरणविधिः—

अत्ताण चोर भेया, वगुर सोनिय पलाङ्गो रहिका ।
पदिचरगा य सहाया, गमणागमणम्मि नायन्वा ॥

(अत्ताण सि) सयता आत्मनैव चौरादिसहायविरहिता ग-
च्छन्ति । एष चूर्ण्यभिप्रायः । निशीथचूर्ण्यभिप्रायस्तु—(अत्ता-
ण सि) अत्राणो नाम स्कन्धन्यस्तलगुरुद्वितीया ये देशान्तर
गच्छन्ति, कार्पाटिका वा । शु० १ उ० । आत्मशब्दस्य तृतीयैक-
वचनेऽपि ‘अत्ताण सि’ रूपं भवति । “ अत्ताण अणिग्गाहिया
करेति ” आत्मना अनिगृहीता, अनिगृहीतात्मन इत्यर्थः । भ-
श्न० ५ आभ० द्वा० ।

अत्ताहिद्धिअ-आत्माधिक-त्रि० । आत्मलब्धिके, ध० ३ अधि० ।

अत्ति-आप्ति-स्त्री० । उपलब्धौ, द्वा० १० द्वा० । रागद्वेषमोहा-
नामैकान्तिके आत्यन्तिके च कृते, स्या० ।

अत्तिज्ज [य]-आत्रेय-पुं० । अत्रिवश्ये ऋषौ, “ जीर्णे प्रो-
जनमात्रेयः ” आ० क० । (‘ सखेव ’ शब्दे कथा छष्ट्या)

अत्तीकरण-आत्मीकरण-न० । अनात्मन आत्मत्वेन करण आ-
त्मीकरणम् । आत्मसात् करणे, पि० । स्ववशीकरणे, नि०चू० ।
तच्च राजादीनां सयतैर्न करणीयम् । तदुक्तम्—

जे भिक्खू रायं अत्तीकरेइ, अत्तीकरणं वा साऽज्जइ । नि०चू० ।
अत्तीकरणं रप्पो, साज्जावियं कडतवं च णायन्वं ।

पुन्नावरसंवप्पं, पच्चक्ख परोक्खमेक्केक ॥ २ ॥

त पुन अत्तीकरणं दुविध-साज्जावियं, कडतवियं च । सामा-
वियं सतं सच्च चेतसो, तस्स सयणिज्जउ, केतव पुण अलियं ।
ते पुणो एक्केक दुविध-पुव्व सनुता वा (अवरमिति) पच्चा सनुत ।
पुणो दुविध-पच्चक्ख, परोक्ख च । पच्चक्ख सयमेव करेति,
परोक्ख अक्षेण कारवेति । अद्वा राइ” समकं प्रत्यक्षम्, अ-
न्यथा परोक्तं भवति । सते पच्चक्खपरोक्खे इमं भवति—

रायमरणम्मि कुलधर-गताए जातो मि अवहियाए वा ।

निव्वामियपुत्तोवमि, असुगच्छगण जातो वा ॥३॥

रायाणं मते देवी आवससत्ता कुलधर गया, तांसे अइ पुत्तो,
जहा-खुड्गकुमारो । अवधेयाए य जहा-पठमावतीए करकं-
कोरियरायपुत्तो णिच्छूदो । अणत्थ गतेणं तेणाह जातो, जहा-
अभयकुमारो । असुगच्छगण रण्णा अइ जातो, यथा-वसुदे-
धेण जरकुमारो, उत्तरमहुरवणिण वा अण्ण णियपुत्तो सत प-
रकरण कह सजवति ।

दुद्धभपवेसलज्जा-लुगो व एमेवऽमच्चमादीहि ।

पच्चक्खपरोक्खं वा, करेज्ज वा संथवं को वि ॥ ४ ॥

तत्थ रायकुले दुद्धभो पवेसो, लज्जालुओ वा, सो साधू अण-
णो अससो, असत्तीकरणं काओ, तद्दे अमच्चमादीहि कारवेति,
एमेव गहणाओ असत्तं संवज्जति । एते चेव कुलधरादिकारणा
जडावज्जाणतो पच्चक्ख परोक्ख सथव करेज्ज, अमच्चमा-
दीहि वा कारवेज्ज ।

एत्तो एगतरेणं, अत्तीकरणं तु संतऽसंतेणं ।

अत्तीकरोति रायं, लहुगा वा आणमादीणि ॥ ५ ॥

सते पच्चक्खे परोक्खे वा मासहडु, असते पच्चक्खे परो-
क्खे वा चववहु, आणादिणो य दोसा, अण्णलोमे पडिभोमे वा
उवसग्गे करेज्ज ।

राया रायसुद्धी वा, रायामित्ता अमित्तसुद्धिणो वा ।

निकुलुस्स व संबंधी, संबंधिमुही व तं सोच्चा ॥ ६ ॥

सयमेव राया; राज्ञ सुहृद्, ते पुन स्वजना मित्राणि वा, राक्षो अमित्रा, ते स्वजना दायादा, अस्वजना केनचित्कारणेन निरुद्धा । अमित्राण वा जे सुहिणो, साधुस्स वा जे सर्वाधियो, ताण वा सबधीण जे सुही, तत् सोच्चा दुविहे उवसग्गे करेज्ज । संजमविग्घकरे वा, सरीरवाहाकरे व भिक्खुस्स ।

अणुलोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवसग्गो ॥ ७ ॥
सजमविग्घकरे वा उवसग्गे सरीरवाहाकारके वा करेज्ज, जे सजमविग्घकरा ते अणुकूला इतरे पडिकूला । एते दुविहे उवसग्ग करेज्ज ॥ ७ ॥

तत्थिमे अणुकूला-

साइज्जमु रज्जसिरिं, जुवरायत्त व गेएहसु व भोगे ।
इति राय तस्सुहीसु वि, उच्चेज्जितरे व तं घेतुं ॥ ८ ॥
राया भणति-रज्जसिरिं साइज्जसु, अय ते पयच्छामि जुवरायत्त, विसिद्धे वा भोगे गेएहसु । इति उपप्रदर्शने । राया एव । तस्य सुहृद्, तेऽप्येवमेवाहु । (इतरे त्ति) जे राणो पडिणीया, पडिणीयाण वा जे सुहिणो, ते त उप्पव्वावेउ घेतु वि उ-
त्थाणं करेज्जा, उडुमर करेतीत्यर्थ ॥ ८ ॥

सुहिणो व तस्स विरिय-परक्कमे णाउ साहते रसो ।
तो मेही एस णिवं, अम्हे तु ण सुहु पगणेइ ॥ ९ ॥
जे पुण भिक्खू, ते तस्स साहुस्स विरियवलपरिक्कमा णाउ उप्पव्वावेति, साहेति वा, रसो सो त उप्पव्वावेइ, ते पुण किं उप्पव्वावेति, एस रायाण तो सेहिति ति । अम्हे राया ण सुहु पगणेइ ॥ ९ ॥

इमे सरीरवाहाकरा पडिकूला उवसग्गा-

ओनासिउ धिम्मुं-मिएण कुज्जा व रज्जविगं मे ।
एमेव सुहिं दरिसिते, णियप्पदोसितरे मारे ॥ १० ॥
राया भणति-अहो ! इमेण समणेण महापणमज्जे ओभासिओ धिग् मुहिंतेन दुरात्मना य एव भाषते, अहवा एष भागा-
मिलापी मम परिस भिंदिउ रज्जविग्घ करेज्ज, त सो राया हणेज्ज वा, बधेज्ज वा, मारेज्ज वा, रसो जे सुही, तेहि आणेओ रसो दरिसिते, राया तहेव पडिकूल उवसग्ग करेज्ज । इतरे णाम जे रसो अमित्रा, अमित्रसुहिणो वा, ते रसो पडिणीयातए त मारेज्ज, भिक्खुस्स णिया वा पडिलोमे उवसग्गे करेज्ज ॥ १० ॥

उद्धंसिणमो लोगं-मि भागहारी व होहि वा माणे ।
इति दायिगादिणीता, करेज्ज पमिलोमधुवसग्गे ॥ ११ ॥
उद्धंसिय त्ति ओभासिया-अम्हे एतेण लोमे मज्जे ओभा-
सिआ वा एस अम्ह भागहारी होहि त्ति, मा वा अम्ह अधि-
कतरो एत्थ रायकुले होहि त्ति, दुव्वयणयाप वधाइपहिं उता-
वेति वा, जम्हा एते दोसा तम्हा ण कप्पति राणो अत्तीकरण
क्राउ, कारणे पुण कप्पति ॥ ११ ॥

गेलएण रायउट्टे, अवरज्जविरुद्धोहगऽप्पाणे ।
ओमुब्बावण सासण-णिकखमणुवदेसकज्जेसु ॥ १२ ॥
गिलाणस्स वेज्जेण उवदिट्ठं-हसतेल्ल कल्लाणयय तित्तग, महा-
तित्तग वा, कलमसालिओयणो वा, ताणि पर राणो हवेज्ज,
ताहे जयणाए अत्तीकरण करेति ॥ १२ ॥

इमा जयणा-

पणगादिमतिकंतो, परोक्खं ताहे संतऽसंतेण ।

एमेव य पच्चक्खं, जावे णाणं तु चउयजुओ ॥ १३ ॥

पणगपरिहाणीए जाहे मासलहु पत्तो ताहे सत परोक्खं
रसो य भावो जाणियव्वो, प्रियाप्रियेति, जो य रयणउज्जुत्तो
यो दर्शनीय तेजस्वी वा स अत्तीकरण करेति, रायउट्टे
वा उवसमण्णा वेरज्जे वा आत्मसरत्तणार्थे विरुद्धरज्जे वा
सकमण्णा रोहगे वा णिग्गमण्णा अवमता वा भत्तट्ठा
रसो वा सिद्धि अरुण गच्छता बहुसु उप्पात्तपसु कारणेसु
एवमेव अपुञ्जती जत्तट्ठा, वादकावे वा पयणउज्जावण्णा,
पडिणीयस्स वा सासणट्ठा अत्तीकतो वा जो णिक्खमेज्ज, तव-
ट्ठा धम्म वा पडिवज्जिउकामस्स धम्मोवदेसदाण्णा कुलगणा-
दिकज्जेसु वा अणेगेसु ।

एतेहिं कारणेहिं, अत्तीकरणं तु होति कायव्वं ।

रायारक्खियनागर-णोगम सव्वे वि एस गमो ॥

एतेहिं उत्तकारणेहिं वा रसो अत्तीकरण करेज्ज, रायाणं जो रक्ख-
ति सो रायारक्खिओ-राजशरीररक्कक । तत्थ वि सो चेव णगरं
रक्खति जो सो णगररक्खिओ-कोट्टपात्तओ । सव्वपगईओ जो
रक्खति सो णियमारक्खिओ-सो सेछ । देसो विसओ, त जो र-
क्खति सो देसारक्खिओ-चोरोद्धरणिक । एताणि सव्वाणि जो
रक्खति सो सज्जारक्खिओ । एतेसु सर्वकार्येष्वापृच्छनीयः स च,
महायत्ताधिकतयेत्यर्थ । एतेसिं पचएह सुत्ताण इम पच्छुक्क अ-
इदेस करेति, रायारक्खियनागरणोगमे सव्वे । अपिहाद्वादेशा-
रक्किको द्रष्टव्य । एतेसु वि एसेव उवसग्गाऽववायगमो दृष्टव्यो ।
नि० च० ४ उ० ।

सुत्रपाठस्त्वेवम्-

जे भिक्खू रायारक्खिय अत्तीकरेऽ, अत्तीकरंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू णगररक्खियं वा अत्तीकरेऽ,
अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खू णिग्गमर-
क्खियं वा अत्तीकरेऽ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥
जे भिक्खू सज्जारक्खियं अत्तीकरेऽ, अत्तीकरंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू गामरक्खियं अत्तीकरेऽ, अत्ती-
करंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू देसारक्खियं अ-
त्तीकरेऽ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खू
सीमरक्खियं अत्तीकरेऽ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥
जे भिक्खू रसो रक्खियं अत्तीकरेऽ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ
॥ १५ ॥ नि० च० ४ उ० ।

अत्तुकरिस-आत्मोत्कर्ष-पु० । पञ्चमे गाणमोहनीयकर्मणि, स०
५२ सम० । अहमेव सिद्धान्तार्थवेदी नापरः कश्चिन्मत्तुष्ट्योऽ-
स्नीत्येवरूपेऽभिमाने, “ण करेति दुक्खमोक्ख, उज्जममाणो वि
सज्जमतवेसु । तम्हा अत्तुकरिसो, वज्जेयव्वो जतिजणेण ” ॥ १ ॥
सूत्र० १ अ० १३ अ० ।

अत्तुकोसिय-आत्मोत्कर्षिक-पु० । आत्मोत्कर्षोऽस्ति येषां ते
आत्मोत्कर्षिका । गर्वप्रधानेषु वानप्रस्थेषु, औ० ।

अत्तोवणीय-आत्मोपनीत-न० । आत्मैवोपनीतस्तथा निवेदि-
तो नियोजितो यस्मिंस्तथा । परमनृपणायोपात्ते सति आत्म-

मतस्यैव दृष्टनयोपनायके ज्ञाने, यथा पिङ्गलेनाऽऽत्मा । तथाहि-
कथमिदं तमागमभेदं भविष्यतीति राज्ञा पृष्ट । पिङ्गलाग्निज्ञान-
स्थपतिरबोचत्-भेदस्थाने कपिलादिगुणे पुरुषे निष्ठाते सतीति ।
अमात्येन तु स एव तत्र तद्रूपत्वाभिज्ञात इति । तेन आत्मैव नि-
युक्तं स्ववचनदोषात् । तदेवविद्य आत्मोपनीतमिति । अत्रोदाहरण
यथा-“ सर्वे सत्त्वा न हन्तव्याः ” इत्यस्य पक्षस्य दूषणाय क-
श्चिदाह-अन्यधर्मस्थिता हन्तव्या विष्णुनेव दानवाः । इत्ये-
वंवादिनामात्मा हन्तव्यनयोपनीतो धर्मान्तरस्थितपुरुषाणामिति,
तदोपता तु प्रतीतैवास्तेति । स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अथ-अर्थ-पु० । अर्थनमर्थः । अदृष्टेऽपि बलयादौ श्रुत्वा तद-
भिप्रायमात्रे, दश० १ अ० । विद्यापूर्वे धनार्जने, आ० म० द्वि० ।
अर्थतेऽधिगम्यतेऽर्थ्यते वा याच्यते बुद्धुस्तुजिरित्यर्थः । व्याख्या-
ने, “जो सुत्ताभिप्पाओ, सो अर्थो अज्जपय जम्ह सि” । स्था० २
ग० १ उ० । विशेष० । औ० । “अत्यस्म इमे अणुओगो सि वा
निओगो सि वा भासति वा विभासति वा वसियति वा एगछा”
आ० चू० १ अ० । अर्थस्त्रिविधः-सुखाधिगमः, दुरधिगमः, अन-
धिगमश्च श्रोतार प्रति मिद्यते । नत्र सुखाधिगमो यथा-चक्षुष्म-
तश्चित्रकर्मनिपुणस्य रूपसिद्धिः । दुरधिगमस्तु-अनिपुणस्य । अन-
धिगमस्तु-अन्धस्य । तत्रानधिगमरूपोऽवस्त्वेव । सुखाधिगम-
स्तु-विचिकित्साविषय एव न प्रवति । दुरधिगमस्तु-देशका-
लस्वभावविप्रकृष्टविचिकित्सागोचरीभवति । आचा० १ शु० ५
अ० ५ उ० । ऋ-गतौ, अर्थते गम्यते, ज्ञायत इत्यर्थः । विशेष० । सूत्रा-
जिधेये, उत्त० १ अ० । प्रव० नि० चू० । आ० म० प्र० । प० व० ।
दशा० न० । ज्ञानाचारविषयभेदे यथार्थ एवार्थः, करणीयः, न-
त्वर्थभेदः । दश० १ अ० । (‘णाणाथार’ शब्दे विशेषो वक्ष्यते) प०
व० नि० चू० । सूत्रनात्पर्यं, ध० ४ अधि० । अर्थ्यते प्राध्यत इत्यर्थः ।
स्वर्गापवर्गप्राप्तिकारणचूने, उत्त० १ अ० । छव्ये, आव० ४ अ० ।
मणिकनकादौ, कल्प० । शब्दादिविषयभावेन परिणने छव्यस-
मूहे, विशेष० । राजलक्ष्म्यादौ, स्था० ३ ग० ३ उ० । आचू० ।
“स्थानचतुर्थार्थे वा” ॥ ८ । ३ । ३३॥ इति सयुक्तस्यार्थज्ञास्य
उभय प्रयोजने एव प्रवति । धने तु ‘अर्थो’ प्रा० । अर्थते गम्यते,
साध्यत इत्यर्थः । सूत्रस्याभिप्राये, “जो सुत्ताभिप्पाओ, सो अ-
र्थो अज्जपय जम्हा” विशेष० । आ० म० प्र० । सूत्र० ध० । आचा० ।

अधुना त्वर्थावसरस्तत्रेदमाह-

(धम्मो एसुवडडो), अत्यस्त चउव्विहो उ निक्खेवो ।

ओहेण उव्विहउत्यो, चउसडडिविहो विजागेण ॥ १५॥

अर्थस्य चतुर्विधस्तु निक्केपो नामादिभेदात् । तत्रौघेन सामा-
न्यतः षड्विधोऽर्थः । आगमनोऽगमन्यतिरिक्तो ह्यर्थः चतु-
षष्टिविधो विभागेन विशेषेणेति गाथासमुदायार्थः ।

अवयवार्थं त्वाह-

धन्नाणि रयण थावर-उपय चउप्पय तहेव कुविअं च ।

ओहेण उव्विहउत्यो, एसो धीरेहिं पन्नत्तो ॥ १६ ॥

धान्यानि यवादीनि, रत्न सुवर्णम्, स्थावर ऋमिगृहादि, द्विप-
द गन्ध्यादि, चतुष्पद गवादि, तथैव कुप्य च ताम्रकलशाद्यने-
कविधम् । ओघेन षड्विधोऽर्थः, एषोऽनन्तरोदित, धीरैस्तीर्थ-
करगणधरैः, प्रहसं प्ररूपित इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

एनमेव विभागतोऽभिधित्सुराह-

चउवीसा चउवीसा, तिग दुग दसहा अणेगविह एव ।

सच्चेसिं पि इमेमिं, विभागमहयं पक्खामि ॥ १७ ॥

(चतुर्विंशतिचतुर्विंशतीति) चतुर्विंशतिविधो धान्यार्थो, र-
त्नार्थश्च (त्रिद्विदशधेति) त्रिविधः स्थावरार्थः, द्विविधो
द्विपदार्थः, दशविधश्चतुष्पदार्थः । अनेकविध एवेत्यनेकविधः
कुप्यार्थः । सर्वेषामप्यमीनां चतुर्विंशतिचतुर्विंशत्यादिसस्याग्नि-
हितानां धान्यादीनां विभाग विशेषम्, अधानन्तर प्रवक्ष्यामी-
त्यर्थः ॥ १७ ॥ दश० ६ अ० । (धान्यादीनां व्याख्या स्वस्था-
ने दर्शयिष्यते) “ अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःख व्यये दुःख, धिगर्थं दुःखकारणम् ” ॥ १ ॥ स्था०
३ ग० ३ उ० । ‘धिग्व्यं दुःखवर्द्धनम्’ । दश० १ अ० । ‘धिगर्थो-
ऽनर्थमाजनम्’ इति वा पाठान्तरम् । ध० ३ अधि० ।

इदानीमर्थ इति तृतीय भेद प्रकटयिषुराह-

सयज्ञाणत्यनिमित्तं, आयासकिंझेसकारणमसारं ।

नाऊण धणं धीमं नहु लुञ्जउ तम्मि तणुयम्मि ॥ १८ ॥

इह धन ज्ञात्वा तत्र न लुञ्ज्यतीति योगः । किं विशिष्ट धनम्-
सकलानर्थनिमित्तं समस्तदुःखनिवन्धनम् । आयासाश्चित्तभेदः ।

यथा-

“राजा रोत्यति किं नु मे हुतवहो दग्धा किमेतद्धने,
किं वाऽमी प्रजविण्णवः कृत्तनिज लास्यन्त्यदो गोत्रिकाः ।
मोषिष्यन्ति च दस्यवः किमु तथा नष्टा निष्ठात हवि,
ध्यायन्नेवमहर्दिव धनयुतोऽप्यास्तेतरां दुस्सितः” ॥ १ ॥
तथा क्लेश शरीरपरिश्रमस्तयोः कारण निवन्धनम् । तथाहि-
“ अर्थार्थं नक्रचक्राकुलजलनिवस्य केचिदुच्चैस्तरन्ति,
प्रोथच्छ्रुत्वाग्निघातोत्थितशिक्षिकणक जन्यमन्ये विशन्ति ।
शीतोष्णाभ्म-समीरग्लपिततनुवताः क्लेशिकां कुर्वन्नेज्ये,
शिष्टप चानल्पभेद विदधति च परे नाटकाद्य च केचित्” ॥ २ ॥

तथा असार, सारफलासपानाद् । यदाह-

“व्याधौश्रो निरुणद्धि मृत्युजननज्यानि-कयेन कर्म,
नेष्टाऽनिष्टविशोगयोगहृत्कृत्स्नस्यह न च प्रेत्य च ।
चिन्ताबन्धुविरोधवन्धनवधधनासाऽऽस्पद प्रायशो,
चित्त चित्तविचक्षण क्षणमपि क्षेमावह नेक्षते” ॥ ३ ॥

इत्थं भूत धन ज्ञात्वा, न लुञ्ज्यति नैव गृह्यति, धीमान् बुद्धि-
मान्, तस्मिन् द्रव्ये, चारुदत्तवत् तनुकमपि स्तोकमपि आस्तां
बह्मित्यपेक्ष्यः । भावश्रावको हि नान्यायेन तदुपाजनाय
प्रवर्तते, नाप्युपाजिते तृष्णावान् भवति, किं तर्हि-

“आयादद्धं नियुञ्जीत, धर्मे समाधिकं तत्” ।

शेषेण शेष कुर्वीत, यत्ततस्तुच्छमैहिकम्” ॥ १ ॥

इति विमृशन् यथायोगं तत्सप्तज्ञेयां व्ययतीति । ध० २० ।
अर्थ्यते परिच्छिद्यते इति अर्थः । पदार्थः, “सदेव सत् स्यात्स-
दिति त्रिधाऽर्थो, मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः” । स्था० । अर्थ्यत
इत्यर्थः । द्रव्ये, गुणे च, “अर्थो द्रव्ये गुणे वाचि” उत्त० १ अ० ।
पुरुषार्थभेदे, यतो हि सर्वप्रयोजनसिद्धिः । ध० १ अधि० । प्रयो-
जने, “स्थानचतुर्थार्थे वा” ॥ ८ । ३३॥ इति [हैमसूत्रेण] उक्तमर्थं
कदाचिन्न भवति । “अणुगहत्थ सुविधियाण” इत्यत्र प्रयोज-
नार्थकत्वेनैवाऽर्थशब्दस्य व्याख्यानात् । ओघ० । आव० ध० ।
“अत्यो सि वा हेउ सि वा कारण सि वा एगछा” नि० चू० २० उ० ।

साम्प्रत धर्मादीनामेव सपन्नतासपन्नते अभिधित्सुगह-
धर्मो अत्यो कामो, भिन्ने ते पिडिया पडिसवत्ता ।

जिणवयणं उत्तिन्ना, अवसत्ता हँति नायव्वा ॥५॥

धर्मोऽर्थः कामः, त्रय एते पिण्डता युगपत्संपातेन प्रति-
सपन्नाः परस्परविरोधिनाः, लोके कुमवचनेषु च । यथो-
क्तम्—“अर्थस्य मूलं निरुक्तिः क्षमा च, कामस्य चित्तं च अपूर्व-
यश्च । धर्मस्य दानं च दया दमश्च, मोक्षस्य सर्वोपरम-
क्रियास्तु” ॥ १ ॥ इत्यादि । एते च परस्परविरोधिनाऽपि सन्तो
जिनप्रवचनमवतीर्णाः, ततः कुशलाशययोगतो व्यवहारेण
धर्मादितत्त्वस्वरूपतो वा निश्चयेन असपन्नाः परस्परविरोधि-
नो न भवन्ति, ज्ञातव्या इति गार्थार्थः ॥ २६ ॥

तत्र व्यवहारेणाविरोधमाह—

जिणवयणम्मि परिणए, अवत्थविहिआणुठाणओ धम्मो ।

सच्छाऽऽसयप्पयोगा, अत्यो वीसंभओ कामो ॥ ३० ॥

जिनवचने यथावत् परिणते सति अवस्थोचितविहितानुष्ठा-
नात् स्वयोग्यतामपेक्ष्य दर्शनादिश्रावकप्रतिमाङ्गीकरणे नि-
रतिचारपालनाद्भवति धर्मः । स्वच्छाऽऽशयप्रयोगाद्विशि-
ष्टलोकतः पुण्यबलाच्चायं विश्रम्भत उचितकलत्राङ्गीकर-
णताऽपेक्षो विश्रम्भेण काम इति गार्थार्थः ॥ ३० ॥

अधुना निश्चयेनाविरोधमाह—

धम्मस्स फलं मोक्खो, सामयमउलं सिवं अणावाहं ।

तमभिप्पेया माहू, तम्हा धम्मऽत्यकामं चि ॥ ३१ ॥

धर्मस्य निरनिचारस्य, फलं मोक्षो निर्वाणम्, किं विशिष्टम् ?
इत्याह—शाश्वतं नित्यम्, अतुलमनन्यतुलम्, शिवं पवित्रम्, अ-
नाबाधं बाधावर्जितमेतदेवार्थः । तं धर्मार्थं मोक्षमभिप्रेताः काम-
यन्तः साधवो यन्मात्समाद्धर्मार्थकामा इति गार्थार्थः ॥ ३१ ॥

एतदेव दृढयन्माह—

परल्लोगमुत्तिमगो, नत्थिहु मोक्खो चि विंति अविहिन्तू ।

सो अत्थि अवितहो जिण—मयम्मि पवरो न अन्नत्थ ॥ ३२ ॥

परल्लोको जन्मान्तरलक्षणो, मुक्तिमार्गो, ज्ञानदर्शनचान्निग्राणि
नास्त्येव मोक्षं सर्वकर्मक्षयलक्षणं इत्येवं श्रुते अविधिज्ञा-
न्यायमार्गप्रवेदिनः । अत्रोत्तरम्—स परल्लोकादि अस्त्येवा-
वितथः सत्यो, जिनमते वीतरागवचने प्रवरं पूर्वापराविरो-
धेनः नान्यत्रैकान्तानित्यादौ, हिंसादिविरोधादिति गार्थार्थः
॥ ३२ ॥ दश० ६ अ० ।

अस्त—पु० । मेरौ, यतस्तेनान्तरितो रविरस्तं गत इति व्यपदि-
श्यते । स० ३५ सम० । निरस्ते अविद्यमाने, त्रि० ज्ञा० १३ अ० ।
अस्त्रं—न० । अस्यते क्षिप्यते । अस्—छ्न् । क्षेप्ये शरादौ,
वाच० । धनुरादिषु, ध० २ अधि० । रिपुक्षेपणमात्रे साधने,
प्रहरणमात्रे स्रग्गादावपि, वाच० ।

अत्यवगम—अर्थावगम—पु० । ६ त० । अर्थपरिच्छेदे, दश० १ अ० ।

अत्यंगय—अस्तंगत—त्रि० । अस्तपर्वतं प्राप्ते, दश० ५ अ० ।

अत्यंतर—अर्थान्तर—न० । वस्त्वन्तरे, पो० १६ विव० । पृथग्भूते,
दर्श० । गामश्वमभिधत्ततोऽसत्यभेदे, ध० २ अधि० । न्यायमते
वदेयसिद्ध्यर्थं प्रयुक्तशब्दसामर्थ्यादनुदेयसिद्ध्यनुकूले दुष्ट-
साधनवाक्ये, वाच० ।

अत्यंतरूपावणा—अर्थान्तरोद्भावना—स्त्री० । अलीकवचन-
भेदे, यथेश्वरादि कर्त्ता सम्प्रतस्यास्य जगतः श्रोधादिक-
वायाऽऽध्यातचेतसः प्रच्छन्नपाप्स्य । दर्श० ।

अत्यकखिय अर्थकाङ्क्षित—त्रि० । काङ्क्षा गृद्धिः, आसक्तिरित्य-
र्थः । अर्थे द्रव्ये काङ्क्षा अर्थकङ्क्षा, सा सजाता अस्येति अर्थका-
ङ्क्षित । म० १ श० ७ उ० । प्राप्तेऽप्यर्थे अविच्छिन्नेच्छे, म० १३
श० ६ उ० ।

अत्यकप्पिय अर्थकटिपक—पु० । आवश्यकतादिश्रुतमधीतवति, वृ०
अर्थकटिपकमाह—

अत्यस्स कप्पिओ खलु, आवस्सगमादि जाव मयगमं ।

मोत्तुणं छेयसुयं, जेण अहीय तदत्यस्स ॥

आवश्यकमार्थं कृत्वा यावत् सूत्रकृतमङ्गं तावत्, यद् येना-
धीतं स तस्यार्थस्य कल्पिको भवति । सूत्रकृताङ्गस्योपर्यपि वे-
दश्रुतं मुक्त्वा यद् येनार्धीतं सूत्रं स तस्य सूत्रस्य सम्प्रतस्या-
प्यर्थस्य कल्पिको भवति । वेदसूत्राणि पुनः पठिताऽपि थाव-
दपरिणतं, तावन्न आन्यते, यदा तु परिणतं भवति तदा क-
ल्पिकः ॥ ७ ॥ वृ० १ उ० ।

अत्यकय—अर्थकृत—स्त्री० । अर्थार्थे, “आसणदानं च अत्यकय”
दर्श० ६ अ० ।

अत्यकर—अर्थकर—पु० । अर्थस्य कर्त्तृत्वरूपशीलोऽर्थकरः ।
प्रशस्तविचित्रकर्मकृत्योपशमाविर्भावतो विद्यापूर्वं धनार्जनकर-
णशीले, आ० म० द्वि० ।

अत्यकहा—अर्थकथा—स्त्री० । अर्थस्य कथा लक्ष्म्या उपायप्रति-
पादनपरे वाक्यप्रबन्धात्मके कथाभेदे, उक्तं च—“सामादि-
धातुवादादि—कृत्यादिप्रतिपादिका । अर्थोपादानपरमा, कथाऽर्थ-
स्य प्रकीर्तिता” ॥ १ ॥ तथा—“अर्थस्य पुरुषार्थोऽयं, प्रधानः
प्रतिभासते । तृणादपि लघुं लोके, धिगर्थराहितं नरम्” ॥ १ ॥ इति
एतदेव विस्तरत उक्तम् ।

अधुनाऽर्थकथामाह—

विज्जासिप्पमुवाओ, अणिवेओ संचओ य दक्खत्तं ।

सामं दंदो भेओ, उवणयणं च अत्यकहा ॥ १६५ ॥

विद्या शिल्पमुपायोऽनिर्वेदः सचयश्च दक्षत्वं सामं दण्डो
भेद उपप्रदानं चार्थकथा, अर्थप्रधानत्वादित्यकार्थः । ज्ञावा-
र्थस्तु वृत्तविवरणादवसेयः । तच्चेदम्—“विज्जं पमुच्चऽत्यक-
हा, जो विज्जाए अत्य उवज्जयति । जहा—एणेण विज्जा सा-
हिया, सा तस्स पचय पइप्पजाय देह । जहा वा—सव्वहस्स
विज्जाहरचक्खवट्ठिस्स विज्जापजाघेण जोगा उवणया । सव्वह-
स्स उपत्ती जहा य सक्कुल्ले वत्थितो, जहा य महेसरो नाम
कय । एव निरवसेस जहाऽऽवस्सए जोगसगहेसु, तहा भाणिय-
व्व । विज्जं चि गय ॥ इयाणि सिप्पे चि । सिप्पेणऽत्यो उवज्जि-
णह चि । एत्थ उदाहरणं कोक्कासो जहाऽऽवस्सए । सिप्पे चि
गय ॥ इयाणि उवाए चि । एत्थ दिट्ठतो चाणक्को । जहा—चाण-
क्केण बहुविहोहिं अत्यो उवज्जिओ । कदं, दो मज्झाउरत्ताओ ।
एयं पि अक्खमाणय जहाऽऽवस्सए तहा भाणियव्व । उवाए चि
गय ॥ इयाणि अणिवेए सचएयं पक्खमेव उदाहरणं—मम्मणवा-
णिओ । सो वि जहाऽऽवस्सए, तहा भाणियव्वो” (अग्रतनं तु
‘दक्ख’ शब्दे वक्ष्यते) दश० ३ अ० । विद्यादिभिरर्थैस्तत्प्रधाना
कथा अर्थकथा । सदसद्रूपात्मकं वस्तुस्वरूपमिति पदार्थ-
संबन्धिन्या वार्तायाम्, स्या० ॥

‘ काउ पणाम च अन्धदायिस्स पज्जुसुखमासमणस्स ’
नि० चू० १ उ० ।

अन्धधम्मज्जामाणवयेत्त-अर्थधर्माज्यासानपेतन्व-न० । अ-
र्थधर्मप्रतिबद्धनारूपे सत्यवचनातिशये, आ० । रा० ।

अन्धधर-अर्थधर-पु० । अर्थवोहरि, स्था० ४ ग० १ उ० ।

‘ सुहत्तरा अन्धधरो, अन्धधगओ होइ तज्जनधरो ’
आ० म० प्र० ।

अन्धपज्जय-अर्थपर्याय-पु० । अर्थकदेशप्रतिपादकेषु पर्या-
येषु, अर्थरूपेषु पर्यायेषु च । विशेष० । अर्थविषय पर्येत्यवगच्छ-
ति यः सोऽर्थपर्यायः । ईदृजनार्थप्राहकत्वे सम्म० ।

अन्धपाडिवात्ति-अर्थप्रतिपत्ति-स्त्री० । अर्थावबोधे, “ नि-
यमासाए जणने, समाणसीलमि अन्धपमिचत्ती ” । विशेष० ।

अन्धपय-अर्थपद-न० । उत्पादव्ययधौव्ययुक्त सदित्यादिवद-
र्थप्रधाने पदे, विशेष० ।

अन्धपिवासिय-अर्थपिपासित-त्रि० । पिपासेव पिपासा- प्रा-
प्तेऽन्येऽनृति । अर्थे अर्थस्य वा पिपासा सज्जाना अस्येति
अर्थपिपासित । त० । अप्राप्तार्थविषयसज्जानतृष्णे, म० १५
श० १ उ० ।

अन्धपुरिस-अर्थपुरुष-पु० । अर्थार्जनव्यापारपरे पुरुषभेदे, यथा-
मम्मणवारिकु । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अन्धपुहुत्त-अर्थपृथक्त्व-न० । “ अन्धो सुयस्स विसमो, तत्तो
निबं सुय पुहुत्त ति’ अर्थ किमुच्यते? इत्याह-श्रुतस्य विषयो
विधेयः, तस्मान्चार्थात्कथञ्चिद् भिन्नत्वात्पुनः पृथगुच्यते । प्रा-
कृतत्वात्तदेव पृथक्त्वम् । सुत्रार्थलक्षणोभयरूपे श्रुतज्ञाने अ-
र्थस्य पृथक्त्वम् । श्रुतज्ञाने तस्य अर्थपृथक्त्वसङ्गितत्वात् ।
“ अथाओ य पुहुत्त, जस्स तओ वा पुहुत्तओ जस्स ” अर्था-
त्पृथक्त्व कथञ्चिद् भेदो यस्य तदर्थपृथक्त्वम् । स चार्थ पृ-
थक्त्वतः पार्थक्येन भेदेन वर्तते यस्य तदर्थपृथक्त्वम् । श्रुत-
ज्ञाने “ ते वदिरुण सिरसा, अन्धपुहुत्तस्स तेहि कहियस्स ।
सुयणाणस्स भगवओ, णिज्जुनि कित्तस्सामि ” विशेष० ।
आ० म० ।

अन्धपुहुत्त-अर्थपृथक्त्व-न० । “ अन्धस्स व पिहुभावो, पुहुत्त-
मथस्स वित्थरत ति ” पृथु सामान्येन विस्तीर्णमुच्यते, तस्य
भावः पृथक्त्वम् । अर्थस्य पृथक्त्वमर्थपृथक्त्वम् । जीवाद्यर्थविस्त-
रात्मके श्रुतज्ञाने, श्रुतज्ञानमात्रे च । तस्यार्थपृथक्त्वसङ्गितत्वात् ।
“ ज वा अन्धेण पुहु, अन्धपुहुत्त ति तम्भावो ” अर्थेन पृथु
विस्तीर्णमर्थपृथु । तद्भावोऽर्थपृथोर्भाव-अर्थपृथक्त्वम्, ध-
र्मधर्मिणोरभेदोपचारात् । श्रुतज्ञाने, “ अन्धपुहुत्तस्स तेहि
कहियस्स ” । विशेष० ।

अन्धपोरिमी-अर्थपौरुषी-स्त्री० । अर्थप्रतिबद्धाया पौ-
रुष्याम्, ध० ३ अधि० । “ अन्धपोरिसि ण करेति, मासलहु ”
नि० चू० १ उ० ।

अन्धप्पवर-अर्थप्रवर-त्रि० । अर्थ प्रवरो यत्र तदर्थप्रवरम् ।
मुख्यार्थके वस्तुनि, यस्य हि वस्तुनोऽर्थ एव प्रधानचूनः । विशेष० ।
अन्धवहुल-अर्थवहुल-त्रि० । अर्थो बहुल्यो यस्मिन्स्तदर्थवहु-

लम् ‘ कच्चिप्रवृत्तिः कच्चिदप्रवृत्तिः, कच्चिद् विज्ञाया कच्चिदन्यदे-
व । विधेर्विधान बहु या समीदृश, चतुर्विध बाहुलक वदन्ति ” ॥५॥

“ अन्धवहुल मदथ, हेतुनिवाश्रावसमगमगमि ” दृश० २ अ० ।
अन्धभेय-अर्थभेद-पु० । आगमपदार्थस्याऽन्यथापरिकल्पन,
जीन० । ‘ आवतीके यावती लोगमि विप्पगमुसति ” इ-
त्यत्र आचारसूत्रे यावन्तः केचन लोकेऽस्मिन् पाल्पिण्डोके वि-
पगमृशन्तीत्येवविधार्थाभिधाने, अवन्तीजनपदे केयां रज्जु
वातात् कृपे पतितां लोकाः स्पृशन्तीत्यन्यथयित्वाऽऽह । व्य०
१ उ० । ध० । दश० । ग० ।

अन्धेति दार-

वज्रणमजिदमाणे. अन्धतिमादीण अन्धगुरुगो तु ।

जो अणोऽणणुवाइ, णाणादिविराहणा णवरि ॥६॥

वज्रण सुत्त, अणणहाकरण भेदो, ण जिदमाणो अजिदमाणा,
अविणासनो ति भणिन होनि । तेषु चैव वज्रणेषु अभिणसु
अण अन्ध विकल्पयति । कह १, जहा-(अवनिमादीण नि) अवनिक
यावती लोग, समणा य माहणा य (विप्पगमुसति ति) अवती
णाम जणवओ, केय ति रज्जुव ति णाम, पमिया कूवे लोयसि
णाया । जहा-कूवे केया पमिता, ततो धावति समणा भिक्खुणा
माहणा धिज्जाइया । ते समणमाहणा कूवे उयरिउ पाणियमज्जे
विविध परामुमति । आदिसहातो अण पि सुत्त एव कप्पति ।
अणति अणहा अन्ध कल्पयति एव अन्धे अणहा कप्पि ए सो ह ।
अन्धे गुरुग उ । अन्धस्स अणणाणि वज्रणाणि कर्तस्स मास-
गुरु । अह अण अन्ध करेति, तो चउगुरुग । (जो अणो ति) भणि-
तो अमणिनो अणो सो य अणिहिट्टसरुवा, (अणणु-
पाति ति) अनुपतनीत्यनुपाती, घटमानो युज्यमान इत्यर्थः ।
न अनुपाती अननुपाती, अघटमान इत्यर्थः । तमघरमाणमथ
सुत्ते जोजयतो (णाणादिविराहण ति) णाण आदी जेसि ता-
णिमाणि णाणादीणि । आदिसहातो दसनचरिसा, ते य विराहे-
ति, विराहणा खमणा भज्जणा य एगहा । (णवरि ति) इह पर-
लोगगुणपावणवुदासत्थ णवरिसहो पवत्तो, विराहणाए केव-
लेत्यर्थः । अन्धेति दार गयम् । नि० चू० १ उ० ।

अन्धजोगपरिवज्जिय-अर्थभागपरिवर्जित-स्त्री० । द्रव्येण
जागैर्भवरहिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अन्धमंमली-अर्थमण्डली-स्त्री० । द्वितीयायां पौरुष्याम्, आचा-
र्याः सूत्रार्थे प्रज्ञापयन्ति, शिष्याश्च गृह्यन्तीत्येवरूपायामर्थपौ-
रुष्याम्, ध० ३ अधि० १० । (एतद्विधिः ‘ उवसपया ’ शब्दे
द्वितीयभागे ९८४ पृष्ठे सप्रपञ्च छप्यः)

अन्धमय-अन्धमय-न० । सूर्याद्रेर्दृश्यस्य सतोऽदृश्यीभवने,
म० २ श० १० उ० ।

अन्धमहत्थखाणि-अर्थमहार्थखानि-पुं० । जाषाजिधेया अर्थाः,
विज्ञाया-(वार्तिक)ऽभिधेया महार्था, तेषामर्थमहार्थानां खानि-
रिव अर्थमहार्थखानि । माषावार्तिकरूपानुयोगविधावतिपटी-
यसि, “ अन्धमहत्थखाणि सुसमणवक्खानकहणाणिखाणि ” न० ।

अन्धमहुर-अर्थमधुर-त्रि० । परलोकाणुगुणार्थे, “ वयणाइ
अन्धमहुराइ ” प० व० ४ द्वा० ।

अन्धमाण-आसीन-त्रि० । इमशानादावास्थीयमाने, “ तत्थ से
अन्धमाणस्स, उवसग्गाजिधारप ” वत्त० २ अ० ।

अथमित्र-अस्तमित-त्रि० । अत्यन्तास्तगते, शा० ४ अ० ।

अथमित्रोदित-अस्तमितोदित-त्रि० । अस्तमितश्चासौ हीन-
कुत्रोत्पत्तिदुर्गत्वदुर्गतत्वादिना, उदितश्च समृद्धिकीर्तिसुग-
तिव्याप्तिनेति अस्तमितोदित । प्रथमावस्थायां हीने पश्चात्
सिद्धिं प्राप्ते पुरुषजाने, स्था० । यथा हरिकेशबलाभिधानोऽनगार ।
स हि जन्मान्तरोपपन्ननात्रैर्गोत्रकर्मवशाद्वातहरिकेशाभिधान-
चाण्डकूलनया, दुर्भगतया दरिद्रतया च पूर्वमस्तमितादित्य
इवानन्युदयवत्त्वादस्तमिति, पश्चात्प्रतिपन्नप्रवृत्त्यो निष्कम्प-
चरणगुणावर्जितदवकृतसाम्प्रिध्यतया प्राप्तसिद्धिनया सुगति-
गततया च उदित इति । स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अथमित्रमिय-अस्तमितास्तमित-पु० । अस्तमितश्चासौ सूर्य
इव दुष्कुलतया, दुष्कर्मकारितया च कीर्तिसमृद्धिद्वक्त्रणनेजो-
विर्वाजितत्वात्, अस्तमितश्च दुर्गतिगमनादित्यस्तमितास्तमित ।
पौर्वापर्येण दुर्गते, स्था० । यथा कात्याभिधानं सौकरिकं । स हि
सुकैश्चरति मृगया करोतीति यथार्थं सौकरिक एव दुष्कुलो-
त्पन्नं प्रतिदिनं महिषपञ्चशतीव्यापादक इति पूर्वमस्तमित,
पश्चादपि मृत्वा सप्तमनरकपृथिवीं गत इति अस्तमित एवेति ।
स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अथयारिया-देशी-सख्यायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अथरय-आस्तरक-न० । आच्छादके, आ० म० प्र० । जी० रा० ।

अस्तरजस्-त्रि० । निर्मले, " अथरयमिउमसूरगोत्थय "
आस्तरकेण प्रतीतेन मृदुमसूरकेण वा, अथवास्तरजसा निर्म-
लेन मृदुमसूरकेण अवस्तृतमाच्छादित यत्तत्तथा । न० ११
श० ११ उ० ।

अथलुब्ध-अर्थलुब्ध-त्रि० । लुब्धवत्त्वात्, म० १५ श० १ उ० ।

अथर्व-अर्थवत्-त्रि० । पञ्चविंशे मुहूर्ते, कल्प० ।

अथवति-अर्थपति-पु० । धनपतौ, व्य० ७ उ० ।

अथवाय-अर्थवाद-पु० । अर्थस्य लक्षणया स्तुत्यर्थस्य नि-
न्दार्थस्य वा वादः । वद्-करणे घञ् । प्रशसनीयगुणवाचके,
निन्दनीयदोषवाचके च शब्दविशेषे । भावे वाञ्छा तत्कथने,
वाच० । अर्थवादस्तु द्विधा- स्तुत्यर्थवादो निन्दार्थवादश्च । तत्र
"पुरुष एवेद सर्वम्" इत्यादिकस्तुत्यर्थवादः । तथा तत्र "स स-
र्वोवद्यस्यैषा महिमा तु दिव्ये ब्रह्मपुरे शेषव्योऽस्यात्मा सुप्रतिष्ठि-
तस्तमक्कर वेदयतेऽथ यस्तु स सर्वज्ञ सर्ववित्सर्वमेवाविवे-
श" इति । तथा- "एकया पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति"
इत्यादिकश्च सर्वोऽपि स्तुत्यर्थवादः । "एकया पूर्णया" इत्यादि
विधिविदोऽपि कस्मान्न भवन्तीति चेत् । उच्यते । शेषस्याग्निहो-
त्राद्यनुष्ठानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । "एष वाव प्रथमो यज्ञो योऽ-
ग्निष्टोम योऽनेनानिष्टाऽयेन यजते स गर्तमन्यतत" अत्र पशु-
मेधादानां प्रथमकरणं निन्द्यत इत्ययं निन्दार्थवादः । " द्वादश
मासाः सद्यस्तरोऽग्निरुष्णोऽग्निर्हिमस्य मेघजम् " इत्यादीनि तु
वेदवाक्यान्नुवादप्रधानानि, शोकप्रसिद्धस्यैवार्थस्यैतेऽनुवा-
दादेति । विशेष० । आ० म० ।

अथविगप्पणा-अर्थविकल्पना-स्त्री० । अर्थनेदोपदर्शने, आ०
म० द्वि० ।

अथविणय-अर्थविनय-पु० । विनयशब्दे वक्ष्यमाणार्थके
विनयभेदे, दश० ७ अ० ।

अथविणिच्छय-अर्थविनिश्चय-पु० । अपापरकृके कल्याणावहे
च अर्थावितथभावे, "पुर्वच्छयविणिच्छय" । दश० ८ अ० ।

अथविण्ण-अर्थविज्ञान-न० । ६ त० । ऊहापोहयोगा-
न्मोहसन्देहविपर्ययासव्युदासेन ज्ञानरूपे बुद्धिगुणे, ध० १ अधि० ।

अथविहूण-अर्थविहीन-त्रि० । अगीतार्थे, व्य० ३ उ० ।

अथसंपयाण-अर्थसंप्रदान-न० । अर्थदाने, " अथसंपयाण
दलयइत्ति" । अर्थदानं करोतीत्यर्थः । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अथसत्थ-अर्थशास्त्र-न० । अर्थागमनिमित्तं शास्त्रमर्थशास्त्रम् ।
आ० म० प्र० । अर्थोपायव्युत्पादनग्रन्थे कौटिल्यराजनीत्यादौ,
ज्ञा० १ अ० । प्रश्न० । न० । "अथसत्थकोसल्लयमादी तदा उव
वप्पा" आ० चू० १ अ० । आ० म० द्वि० । (उदाहरणमस्य "वेण-
इया" शब्दे वक्ष्यते)

अथमत्थकुमट्ट-अर्थशास्त्रकुशल-त्रि० । ७ त० । नीतिशास्त्रा-
दिषु कुशले, ज ३ वक्त्र० ।

अथसार-अर्थसार-पु० । द्रव्यतत्त्वे, आ० म० द्वि० ।

अथसिद्ध-अर्थसिद्ध-पु० । अर्थो धनं स इतराऽसाधारणो
यस्य सोऽर्थसिद्धः । मम्मणवणिग्वत् सिद्धिभेदे, ध० २ अधि० ।
"पठरथो अथपरो-एव मम्मणा अथसिद्धो उ " प्रचुरार्थः
प्रभूतार्थः, अर्थपरोऽर्थनिष्ठः, अर्थसिद्धोऽतिशययोगान्मम्मणव-
णिग्वदिति गाथादलार्थः । आ० म० द्वि० । भावार्थस्तु कथा-
नकादवसेयः (स च 'मम्मण' शब्दे वक्ष्यते) लोकोत्तरीत्या दशमे
अर्थसिद्धे, ज० ७ वक्त्र० । ऐरवने जविष्यति पञ्चमे तीर्थकरे, ति० ।

अथसुएण-अर्थसून्य-न० । मित्यादिकेऽर्थहीने पदे, स्था० १
ग० १ उ० ।

अथा-आस्था-स्त्री० । स्वपक्षाणामर्हत्तवे तीर्थे बहुमानत्वे,
जीवा० १ अधि० ।

अथाण-अस्थान-न० । अविषये, द्वा० १४ द्वा० ।

अथादा(या)ण-अर्थादान-न० । द्रव्योपादानकरणे अष्टाङ्ग-
निमित्ते, स्था० ३ ग० ४ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ३६८ पृष्ठे 'अणव-
दृप्प' शब्दे व्याख्यातमेतत्)

अथाम-अस्थामन्-त्रि० । सामान्यतः शक्तिविकले, ज० ७ श०
ए उ० । शारीरिकबलविकले, ज्ञा० १ अ० । विपा० ।

अथारिय-अस्तारिक-पु० । मूल्यप्रदानेन शालिलवनाय
क्तेने किप्यमाणे कर्मकरे, व्य० ६ उ० ।

अथारो-देशी-साहाय्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अथालवण-अर्थालम्बन-न०-पु० । अर्थो वाक्यस्य भावा-
र्थः । आलम्बनं वाच्ये पदार्थे अर्हत्तम्वरूपे उपयोगस्यैकत्वम् ।
अर्थश्च आलम्बनं चार्थालम्बने । अर्थे, आलम्बने च । अर्थाल-
म्बनयोश्चैतत्त्ववन्नादौ विज्ञावनम् । अष्ट० २७ अष्ट० ।

अथालिय-अर्थालीक-न० । लव्यायमसत्त्वे, प्रश्न० ७ आ-
श्र० द्वा० ।

अत्यालोयण-अर्थालोचन-न० । अर्थस्य सामान्येन ग्रहणे,
आ० चू० १ अ० ।

अत्यावगह-अर्थावगह-पु० । अवग्रहणमवग्रह, अर्थस्यावग्रहो-
ऽर्थावग्रह । अनिर्देशसामान्यमात्ररूपाद्यर्थग्रहणे, आह च न-
न्ध्ययनचूर्णिकृत्-“सामन्त्रवाहविसेसनरहियस्स अवग्रह
ति” । प्रज्ञा० ५ पद । आचा० ।

अत्यावत्ति-अर्थापत्ति-स्त्री० । अर्थस्य अनुक्तार्थस्य, आपत्ति सि-
क्कि । वाच० । “प्रमाणपट्टविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् । अदृष्ट
कल्पयेदन्य, साऽर्थापत्तिरुदाहृता” ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे प्रमाणभेदे,
रत्ना० २ परि० सूत्र० । अदृष्ट श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा, नोपपद्यत इति अदृष्टा-
र्थकल्पने, सम्म० । तं प्रमाणचतुष्कवादिनोऽनुमानेऽन्तर्भावयन्ति, त-
स्या प्रमाणत्वेऽनुमानेऽन्तर्भूतत्वात् । तथाहि-अदृष्ट श्रुतो वाऽर्थोऽ-
न्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्ति । न चासावर्थोऽन्यथाऽ-
नुपपद्यमानत्वावगमे अदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तम् । अन्यथा स
येन विनोपपद्यमानत्वेन निश्चिनस्तमपि परिकल्पयेत्, येन विना
नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्, अनवगतस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वेना-
र्थापत्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थप-
रिकल्पकत्वासम्भवात् । सम्भवे वा द्विहस्याप्यनिश्चितनियमस्य
परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यादिति, तदपि नार्थापत्युत्थापकादर्थो-
द्भिद्येन । स चान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगम, नस्यार्थस्य न भूयो-
दर्शननिमित्तः सपक्षे । अन्यथा लोहद्वेष्टस्य वज्र, पार्थिवत्वात्,
काष्ठवदित्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात् । नापि विपक्षे तस्यानुपल-
म्भनिमित्तोऽसौ । व्यतिरेकनिश्चायकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमे-
व निषिद्धत्वात्, किं तु विपर्यये तद्वाधकप्रमाणनिमित्तः ।
तच्च वाधक प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्ते, प्रागेवानुपपद्यमानस्यार्थ-
स्य तत्र प्रवृत्तिमदभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथाऽर्थापत्त्या तस्याऽ-
न्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽभ्युपगम्यमाने यावत्तस्याऽन्यथा-
ऽनुपपद्यमानत्वं नावगतम्, न तावदर्थोपत्तिप्रवृत्ति, यावच्च
न तत्प्रवृत्ति, न तावदर्थोपत्युत्थापकस्यार्थस्याऽन्यथानुपप-
द्यमानत्वावगम इतीतरेतराश्रयत्वान्नार्थापत्तिप्रवृत्तिः ।

अत एव यदुक्तम्-

“अविनाभाविना चात्र, तदैव परिगृह्यते ।

न प्रागवगतेत्येव, सत्यप्येवा न कारणम् ॥ १ ॥

तेन सप्रत्यवेलायां, सवन्धन्यतरो ध्रुवम् ।

अर्थापत्यैव मन्तव्य, पश्चादस्त्वनुमानता” ॥ २ ॥ इत्यादि ।

नञिगस्तम् । एवमभ्युपगमे अर्थापत्तेरनुत्थानस्य प्रतिपा-
दितत्वात् । स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः । किं
दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसपाद्यः ? , आहोस्वित्स्वसाध्यधर्मि-
प्रवृत्तप्रमाणसपाद्यः ? , इति । तत्र यद्याद्य पक्षः । तदाऽत्रापि
वक्तव्यम् । किं नद् दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्त प्रमाण साध्यधर्मि-
गप्यपि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चाययति, आहो-
स्विद् दृष्टान्तधर्मिण्येव । तत्र यद्याद्य पक्षः, तदाऽर्थापत्युत्था-
पकस्यार्थस्य, लिङ्गस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापार प्रति न
कश्चिद्विशेषः । अथ द्वितीय । स न युक्तः । न हि दृष्टान्तधर्मिणि
निश्चिनस्त्वसाध्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि
तथा ज्ञवति । न च तथात्वनानिश्चिन स साध्यधर्मिणि स्वसा-
ध्य परिकल्पयतीति युक्तम्, अनिप्रसङ्गात् । अथ द्विहस्य दृष्टान-
तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणत्ववशान् सर्वोपसहारेण स्वसाध्यनियतत्व-
निश्चयः । अर्थापत्युत्थापकस्य त्वयस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्ता-

त्प्रमाणात्सर्वोपसहारेणादृष्टार्थाऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चय इ-
ति द्विहार्थापत्युत्थापकभोभेदः । नास्मान्नादार्थापत्तेरनुमान
भेदमासादयति । अनुमानेऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव विपर्यया-
हेतुव्यावर्तकत्वेन प्रवृत्त प्रमाण सर्वोपसहारेण स्वसाध्यनिय-
तत्वनिश्चायकमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा सर्वमनेकान्तात्मक, स-
त्त्वादित्यस्य हेतोः । पक्षीकृतवस्तुव्यतिरेकेण दृष्टान्तधर्मिणोऽभा-
वात्कथं तत्र प्रवर्तमानं वाधक प्रमाणमनेकान्तात्मकत्वनियत-
त्वमवगमयेत् सत्त्वस्य ? । न च साध्यधर्मिणि दृष्टान्तधर्मिणि च
प्रवर्तमानेन प्रमाणेनार्थापत्युत्थापकस्यार्थस्य द्विहस्य च यथा
क्रम प्रतिबन्धो गृह्यत इत्येतावन्मात्रेणार्थापत्यनुमानयोर्भेदोऽ-
भ्युपगन्तुं युक्तः । अन्यथा पक्षधर्मत्वसाहितहेतुसमुत्थादनुमा-
नात्तद्वहितहेतुसमुत्थमनुमान प्रमाणान्तर स्यादिति प्रमाणव-
दकवादो विग्रीयेत । नियमवतो द्विहोत्परोक्षार्थप्रतिपत्तेरवि-
शेषात् ततस्तद्विधमित्यभ्युपगमे, स्वसाध्याविनाभूतादार्थादर्थ-
प्रतिपत्तेरविशेषादनुमानादार्थापत्तेः कथं नाभेदः ? । सम्म० ।

अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम्, यतस्तस्या लक्षणम्-अदृष्टः श्रुतो
वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनम् ।

कुमारिहोऽप्येतदेव ज्ञाप्यवचनं विभजन्नाह-

“प्रमाणपट्टविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।

अदृष्ट कल्पयत्यन्य, साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥ १ ॥

दृष्टा पञ्चजिरप्यस्माद्, भेदेनोक्ता श्रुतोऽहं वा ।

प्रमाणप्राहिणीत्वेन, यस्मात्पूर्वविलक्षणा” ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादिभिः वस्तिभिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योऽर्थः स येन विना
नोत्पद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनमर्थापत्तिः । यथाऽनेदाहकत्वम्,
तत्र प्रत्यक्षपूर्विकाऽर्थापत्तिः । यथाऽग्नेः प्रत्यक्षेणोष्णस्पर्शमुपल-
भ्य दाहकशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्पयते । न हि शक्तिरव्यक्तपरि-
च्छेद्या, नाप्यनुमानादिसमधिगम्या, प्रत्यक्षेणार्थेन शक्तिरूपेण
कस्यचिदर्थस्य सवन्धासिद्धेः । अनुमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्य-
थाऽऽदित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या देवदत्तस्येव गत्यनुमानम् । ततो
गमनशक्तियोगोऽर्थापत्त्याऽवसीयते । उपमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्य-
था-गवयवद् गौरित्युक्तेरर्थाद्दाहदोहादिशक्तियोगस्तस्याः प्रती-
यते, अन्यथा गोत्वस्यैवायोगात् । शब्दपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथा-श-
ब्दार्थप्रतीतेः शब्दस्यार्थेन सवन्धासिद्धिः । अर्थापत्तिपूर्विकाऽ-
र्थापत्तिर्यथोक्तप्रकारेण शब्दस्यार्थेन सवन्धासिद्धावर्थनित्यत्व-
सिद्धिः, पौरुषेयत्वे शब्दस्य सवन्धायोगात् । अभावपूर्विकाऽ-
र्थापत्तिर्यथा-जीवनो देवदत्तस्य गृहेऽदर्शनादार्थाद्बहिर्भावः ।
अत्र चतसृमिरर्थापत्तिभिः शक्ति साध्यते । पञ्चम्या नि-
त्यता । षष्ठ्या गृहाद् बहिर्चूर्तो देवदत्त एव साध्यते । इत्येव
षट्प्रकाराऽर्थापत्तिः । अन्ये तु-श्रुतार्थापत्तिमन्यथोदाहरति-
‘पीनो देवदत्तो दिवा न लुङ्के’ इति वाक्यश्रवणाद् रात्रिभो-
जनवाक्यप्रतिपत्तिः श्रुतार्थापत्तिः । गवयोपमिताया गोस्तज्ज्ञा-
नप्राप्तनाशक्तिरुपमानपूर्विकाऽर्थापत्तिः ।

तदुक्तम्-

तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञानात्, तदा दहनशक्तिता ।

वह्नेरनुमिता सूर्ये, यानात्तच्छक्तियोगिता ॥ १ ॥

पीनो दिवा न लुङ्के इत्येव प्रतिवच श्रुतौ ।

रात्रिभोजनविज्ञान, श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥ २ ॥

गवयोपमिताया गो-स्तज्ज्ञानप्राप्तशक्तिता ।

अभिधानप्रामिरुधर्य-मर्थापत्त्याऽवबोधितात् ॥ ३ ॥

शब्दे घानकसामर्थ्यात्, तन्निवन्त्यप्रमेयता ।
प्रमाणभाष्यनिर्णीत-चैत्राभाष्यविशेषितात् ॥ ४ ॥
नेहाचैत्रविदिनां वसिष्ठिर्यो विह दक्षिता ।
तामनाचोत्थिताम-या-मर्धापत्तिमुदाहरेत् ॥ ५ ॥ इत्यादि ।

इयं च पदप्रकाराऽप्यर्थापत्तिर्नाम, अतोऽन्यथाशक्त्यर्थ-
विषयत्वात् । अत एव मानुमानम् । प्रत्यक्षावगमप्रतिषेधप्रम-
त्वेन तस्योपर्यणनात् । अर्थापत्तिगोचरस्यार्थस्य कदाचिदप्य-
व्याप्यत्वविषयत्वात् । तेन सहार्थापत्त्युपापकस्यार्थस्य सत्त्व-
तिपत्तेः, तदैवार्थापत्त्या तनस्तस्य प्रकल्पना । सम्म० ।

अत्यावन्तिद्रोम-अर्थापत्तिद्रोम-पु० । सूत्रद्रोमभेदे, यथा-
पत्त्याऽनिरुद्धाप्रति तत्राऽर्थापत्तिद्रोम । यथा-‘गृहकुण्डो न
हन्तव्य’ इत्युक्ते अर्थापत्त्या शेषघातोऽदृष्ट इत्यापनति । विशेषः ।
अनु० । यथा-‘ब्राह्मणो न हन्तव्य’ इत्यर्थापत्त्या ब्राह्मणघाताय । आ०
म० द्वि० । ३० ।

अत्याह-अस्ताध-(य) द्वि० । अग्राधे, अस्तं निरस्तमधि-
यमानमधस्तं प्रतिष्ठान यस्य तदस्ताध । स्ताधो वा प्रति-
ष्ठान, तदभाषादस्ताधम् । इयं १४ अ० । द्वि० । यत्र नास्ति-
का न भवति तत्र स्ताधम्, यत्र तु नास्तिका भवति तदस्ता-
धम् । पु० ४ उ० । पञ्चदशे प्रारतामिति जमे, प्रय० ६ टा० ।

अत्यादिगम-अर्थाधिगम-पु० । अभिधेयायगमे, पञ्चा० अधि० ।

अत्यादिगार-अर्थाधिकार-पु० । १ त० । यो यस्य सामायिका-
प्ययनस्यात्मीयोऽप्यस्तुत्कीर्तनविषयके उपाक्रमभेदे, ‘सं किं
त अत्यादिगारे ?’ अ-धादिगारे ज्ञो जम्न अग्रायणस्त एतथा-
दिगारे । त जरा । ‘सायज्जोगादिर्ह, उज्जिज्जगुणपद्योपमिष-
र्त्ता । अतिपस्त निज्जगुण-निज्जगुणधारणा सेव ॥ १ ॥
सेत्तं अ-धादिगारे’ । अनु० । आ० १० ।

अतिथि-अस्ति-अप्य० । ‘‘स्वस्य धोऽस्तमस्तस्मिन्’’ ॥ १०१५५ ॥

इतिरूपेण स्वमागस्य य । प्रा० । अस्तीति तिङन्तक्रियापचनप्र-
तिरूपको निपात । आ० । जी० । यदुपे, सूत्र० १ ध्रु० १ त० १ उ० ।
निपातस्याऽप्यप्येन, मध्यमस्य च ‘‘स्वस्य त्रिषु सिङ्गेपु, सयामु
च विभक्तिषु । यन्नेषु च सर्वेषु, यत्र ध्येति तदप्यर्थाभिप्रायः’’ ॥ १ ॥
बहुव्यप्रतिपादनात् । आ० । ‘‘अधेगद्या दृष्टान्ता ।’’ सन्त्येक-
का द्वाद्वागति । जी० ३ प्रणि० अस्तिशब्दभाष्य निपातस्त्रिकास-
वियय । आ० १ ध्रु० ४ अ० ४ अ० त्रिकालवर्तिषु विद्यमानेषु
अर्थेषु, अन्वयं नयन्ति अधिप्यन्ति च इति प्रत्ययवस्तु,
स्था० ३ टा० १ उ० । ‘‘अतिथिं जं नत ! जीयाणं पाणायापण
किरिया कज्जह’’ । अ० १ त० १ उ० । आ० १ ‘‘अतिथि य १ निष्ठा
२ कुण्ड, ३ कय च वेदे ४ अतिथि निध्यातुं ५ । अतिथि य मोक्षो-
न्नायो, ६ उ सम्मत्तस्म तणा ६’’ ॥ १८॥ प्रय० १४ टा० । येन येन
यदा यदा प्रयोजनं तत् तत्तदा तदाऽस्ति भवति जायते इति ।
अस्य आनन्दहेतुत्वात् सुखभेदे च, स्था० १० त० । प्रवेशे,
स्था० १० त० । अनु० । उक्त० । अस्तीति निपात सर्व-
सिद्धयचन । यदाह शाकटायनन्यामकृत-अस्तीति निपात
सर्वसिद्धयचनेभ्य इति । अनु० ।

अतिथि(ण)-अर्थाधिगम-पु० । अर्थशब्दात् अस्त्यर्थे ‘‘अर्थाभास-
त्रिदिने’’ इति धातुिकेन इति । याचके, याच० । य परस्मान्मयेद-
त्तम्यमिति याचते । य० १ उ० । अर्थवति ईदृशे, पञ्चा० १०
१२५

विष० । स्थामिनि, विशेष० ।

अतिथि-अस्थिक-पु० । बहुव्रीजकवृद्धविशेषे, प्रहा० १
पद । तत्फले, न० । आ० १ ध्रु० १ अ० ५ उ० ।

अर्थाधिगम-पु० । याचके, स्थामिनि च । ‘‘धनी अर्थाधिगमो’’ प्रा० ।

अस्ति-पु० । अस्तीति अनिरस्येति आस्तिक । तत्त्वान्तर-
भवेऽपि जिनोक्ततत्त्वविषये निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिमति, ध० ।

यदाह—

‘‘मण्डि तमेव सच्च, निश्चक ज जिणेहि’’ पञ्चत्त ।

सुदपरिणामो सम्म, कथाइ वि मुत्ति मागदिआं ॥ ५ ॥

यथाप्यस्य मोदयशास्त्रचन मशयो नधानं, तत्राप्यप्रतिदनेय-
मंगला धीजिनमरुगणिकमाधमणोदिता—

‘‘कथं य मद्दुप्यलेण, नद्विचय भायनिधियहो वा वि ।

भेकगदणतणेण य, नाणावरणोदण च ॥ १ ॥

देकदाहरणास-नये अ मद् सुदु ज न बुक्केजा ।

सव्यममयमयिहं, तदा वि त वित्तं म इम ॥ २ ॥

अण्वकयपरगुणद-परायणा ज जिणा जगप्यवरा ।

जिभरागदोममोहा, यऽनप्रदा यादयो तेण ॥ ३ ॥

यथा या सुप्रेतस्यैकस्याप्यरोचनादकरस्य प्रवति नरो मि-
र्याष्टिः । सूत्रं हि न प्रमाणं जिनानिहितमिति । ध० २ अधि० ।

‘‘आस्तिकमतमाग्या, नित्यानित्यात्मकं नय पदार्था । काल-
नियतिस्थनाये-श्वरात्मकतका’ स्वपरसस्था ॥ १ ॥ कासयद-
प्यानियतेष्वरस्यभाषातमनश्चतुरशीति ॥ स्था० ४ टा० ४
उ० । आ० १ । जी० १ । चार्थाकादिभिन्नदर्शनस्यैकतरे
च । न० । त० ॥

अतिकाय-अस्तिकाय-पु० । अस्तिकाय त्रिकालवचनो नि-
पात । अभूयन् भवन्ति नविप्यन्ति चेति प्राधाना । अतो-
ऽस्ति च ते प्रदेशाना कायाश्च राशय इति अस्तिकायेन प्र-
देशप्रदेशाः कचिदुच्यन्ते, ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः ।
स्था० ४ टा० १ उ० । अत्रयविद्वेषेषु धर्मास्तिकायादिषु,
अ० २ श० १० उ० । दसं० आ० चू० ।

ते च—

चत्वारि अतिकाया अजीवकाया पञ्चत्ता । तं जहा-
धम्मत्तिकाए अधम्मत्तिकाए आगासत्तिकाए पोगल-
त्तिकाए । चत्वारि अतिकाया अरुविकाया पञ्चत्ता । तं
जहा-धम्मत्तिकाए, अधम्मत्तिकाए, आगासत्तिकाए,
जीवत्तिकाए ।

अजीवकाया अचेतनत्वादिनि अस्तिकाया मूर्त्ताऽमूर्ता प्रवन्ती-
त्यमूर्त्तप्रतिपादनाय अरुप्यस्तिकायसूत्रम् । रूप मूर्त्तिवर्णा-
दिमन्त्र, तदस्ति येषां ते रूपिण, तत्पर्युदासादरूपिणोऽमूर्त्ता
इति । स्था० ४ टा० ४ उ० । जी० । अन्वा० ।

एते प्रदेशाग्रेण तुल्या —

चत्वारि पपसग्रेण तुल्या पञ्चत्ता । तं जहा-धम्मत्तिका-
ए, अधम्मत्तिकाए, आगासगमे, एगे जीवे ।

प्रदेशाग्रेण प्रदेशप्रमाणेनेति तुल्या समाना । सर्वेषामेषामस-
स्यात्प्रदेशत्वात् । स्था० ४ टा० ३ उ० ।

साम्प्रतमस्तिकायद्वारमाह -

एएसि एं भंते ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय आगास-
त्थिकाय जीवत्थिकाय पोग्गलत्थिकाय अच्चासमया ए दब्ब-
ट्टयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसा-
हिया वा ? गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगास-
त्थिकाए, एएसि तिन्नि वि तुह्वा दब्बट्टयाए सव्वत्थोवा, जीव-
त्थिकाए दब्बट्टयाए अणंतगुणे, पोग्गलत्थिकाए दब्बट्टयाए
अणंतगुणे, अच्चासमए दब्बट्टयाए अणंतगुणे ॥

(एएसि ण जंते ! धम्मत्थिकायेत्यादि) धर्मास्तिकायोऽधर्मा-
स्तिकाय आकाशास्तिकायः । एते त्रयोऽपि छव्यार्थतया छव्यमे-
वाथो छव्यार्थस्तस्य भावो छव्यार्थता, तथा छव्यरूपतया इत्य-
र्थः । तुव्या समाना, प्रत्येकमेकसङ्ख्याकत्वात् । अत एव सर्वे
स्तोकाः, तेभ्यो जीवास्तिकायो छव्यार्थतयाऽनन्तगुणः । जीवानां
प्रत्येक तद्व्यवत्वात्, तेषां च जीवास्तिकायेऽनन्तत्वात् । तस्मादपि
पुञ्जलास्तिकायो छव्यार्थतयाऽनन्तगुणः । कथम् ? इति चेत् ।
उच्यते-इह परमाणुद्विप्रदेशकादीनि पृथक् २ द्रव्याणि, तानि
च सामान्यतस्मिन् । तद्यथा-प्रयोगपरिणतानि मिश्रपरिणता-
नि, विश्रसापरिणतानि च । तत्र प्रयोगपरिणतान्यपि तावज्जीवे-
भ्योऽनन्तगुणानि, एकैकस्य जीवस्यानन्तैः प्रत्येक ज्ञानावरणी-
यादिकर्मसु पुञ्जलस्कन्धैरावेष्टितत्वात् । किं पुन शेषाणि ? ततः
प्रयोगपरिणतेभ्यो मिश्रपरिणतान्यनन्तगुणानि । तेभ्योऽपि विश्र-
सापरिणतान्यनन्तगुणानि । तथा चोक्तं प्रज्ञप्तौ- " सव्वत्थोवा
पुग्गला पओगपरिणया मीसपरिणया अनन्तगुणा, वीससापरि-
णया अनन्तगुणा " इति । ततो ज्ञवति जीवास्तिकायात् पुञ्जलास्ति-
कायो छव्यार्थतया अनन्तगुणः । तस्मादप्यच्चासमयो द्रव्यार्थ-
तया अनन्तगुणः । कथम् ? इति चेत् । उच्यते-इहैकस्यैव परमा-
णोरनागते काले तत्तद्विप्रदेशकविप्रदेशकयावद्दशप्रदेशकसंख्या-
तप्रदेशकाऽसंख्यातप्रदेशकाऽनन्तप्रदेशकस्कन्धान्त परिणामित-
या अनन्ता भाविन सयोगा' पृथक् पृथक् कालाः केवलदशोप-
लब्धा । यथा चैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां प्रत्येक द्विप्रदेश-
कादिस्कन्धानां च अनन्ता' सयोगा पुस्कृता पृथक् पृथक्
काला उपलब्धा । सर्वेषामपि मनुष्यक्षेत्रान्तर्गततया परिणा-
मसमत्वात् । तथा क्षेत्रतोऽप्यय परमाणुरमुष्मिन् आकाशप्रदेशे
अमुष्मिन् काले अवगाहिष्यते, इत्येवमनन्ता एकस्य परमाणो-
र्जाविन सयोगा यथैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां परमाणूनां,
तथा द्विप्रदेशकादीनामपि स्कन्धानामनन्तप्रदेशस्कन्धपर्यन्तानां
प्रत्येक तत्तदेकप्रदेशाद्यवगाहमेततोभिन्नभिन्नकाला अनन्ता भा-
विन सयोगा । तथा कालतोऽप्यय परमाणुरमुष्मिन् आकाशप्रदे-
शे एकसमयस्थितिक', इत्येवमेकस्यापि परमाणोरेकस्मिन् आका-
शप्रदेशेऽसंख्येया भाविन सयोगा । एव सर्वेष्वप्याका-
शप्रदेशेषु प्रत्येकमसंख्येया भाविन सयोगा । ततो भूयो
भूयस्तथाऽऽकाशप्रदेशेषु परावृत्तौ कालस्यानन्तत्वादेनाना
कालतो भाविन सयोगा । यथा चैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां
परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येक द्विप्रदेशकादीनां स्कन्धानां, तथा
भावतोऽप्यय परमाणुरमुष्मिन् काले एकगुणकालको भवती-
त्येवमेकस्यापि परमाणोर्निम्नभिन्नकाला अनन्ताः सयोगा ।
यथा चैकस्य परमाणोस्तथा परमाणूनां च सर्वेषां च द्विप्रदे-
शकादीनां स्कन्धानां पृथक् पृथक् अनन्ता भाविन पुस्कृता.

सयोगा' । न देवमेकस्यापि परमाणोर्छव्यक्षेत्रकालभावविशेष-
सवन्धवशादनन्ता जाविन सयोगा उपलब्धाः, यथैकस्य
परमाणोस्तथा सर्वेषां परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येक द्वि-
प्रदेशकानां स्कन्धानाम् । न चैतत्परिणामकादवस्तुव्यतिरेक-
परिणामिपुञ्जलास्तिकायादिव्यतिरेके चोपपद्यते । तत सर्वमिदं
च तात्त्विकमवसेयम् । उक्तं च- " सयोगपुरस्कृताश्च, नाम
भाविनि हि युज्यते काले । न हि सयोगपुरस्कृतारो, ह्यसतां केषां
चिदुपपन्नः " ॥१॥ इति यथा च सर्वेषां परमाणूनां च द्विप्रदेशका-
दीनां स्कन्धानां प्रत्येक छव्यक्षेत्रकालभावविशेषसम्बन्धवशादन-
न्ता जाविनोऽच्चासमया', तथा अतीता अपीति, सिद्ध पुञ्जलास्ति-
कायादनन्तगुणोऽच्चासमयो छव्यार्थतयेति । उक्तं छव्यार्थतया
परस्परमलप्यद्वैतत्वमिति ।

इदानीमेतेषामेव प्रदेशार्थतया तदाह-

एएसि एं भंते ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगास-
त्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अच्चासमया एं पदे-
सट्टयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा
विसेसाहिया वा ? गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थि-
याए, एएसि एं दो वि तुह्वा पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा,
जीवत्थिकाए पदेसट्टयाए अणंतगुणा, पोग्गलत्थिकाए प-
देसट्टयाए अणंतगुणा, अच्चासमए पदेसट्टयाए अणंतगुणा,
आगासत्थिकाए पदेसट्टयाए अणंतगुणा ।

(एएसि एं भंते ! धम्मत्थिकायेत्यादि) धर्मास्तिकायोऽध-
र्मास्तिकाय, एतौ द्वावपि परस्पर प्रदेशार्थतया तुल्यौ, उभयो-
रपि लोकाकाशप्रदेशत्वात् । शेषास्तिकायाऽवकाशसम्योपेक्षया
च सर्वस्तोको । ततो जीवास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः,
जीवास्तिकाये जीवानामनन्तत्वात् । एकैकस्य च जीवस्य क्षो-
काकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेशत्वात् । तस्मादपि पुञ्जलास्तिकायः
प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः । कथमिति ? उच्यते-इह कर्मस्कन्ध-
प्रदेशा अपि तावत्सर्वजीवप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणा, एकैकस्य च जी-
वप्रदेशस्यानन्तानन्तैः कर्मपरमाणुभिरावेष्टितपरिवेष्टितत्वात् ।
किं पुन सकलपुञ्जलास्तिकायप्रदेशस्ततो भवति ? जीवास्ति-
कायात्पुञ्जलास्तिकाय' प्रदेशार्थतया अनन्तगुण, तस्मादप्यच्चास-
मय प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, एकैकस्य पुञ्जलास्तिकायप्रदेशस्य
प्रागुक्तक्रमेण तत्तद्व्यतिरेककालभावविशेषसम्बन्धभावतोऽन-
न्तानामतीताकाशसमयानामनन्तानामनागतसमयानां भावात् ।
तस्मादाकाशास्तिकायप्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, अलोकास्य
सर्वतोऽप्यनन्तताभावात् । गत प्रदेशार्थतयाऽप्यलप्यद्वैतत्वम् ।

इदानीं प्रत्येक छव्यार्थप्रदेशार्थतयाऽलप्यद्वैतत्वमाह-

एएसि एं जंते ! धम्मत्थिकायस्स दब्बट्टयाए पदेसट्टयाए
कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिं-
या वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा एमे धम्मत्थिकाए दब्बट्टयाए,
सो चेव पदेसट्टयाए असखिज्जगुणा । एएसि एं भंते ! अध-
म्मत्थिकायस्स दब्बट्टयपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिं तो अप्पा
वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवे
एमे अधम्मत्थिकाए दब्बट्टयाए, सो चेव पदेसट्टयाए असं-
खिज्जगुणे । एतस्स णं जंते ! आगासत्थिकायस्स दब्बट्टपदे-

अधिकाय

सद्व्याप कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवे एगे आगासत्थिकाए दव्वड्डयाए, सो चेव पदेसद्व्याप अणं-तगुणा । एतस्म एं जंते ! जीवत्थिकायस्स दव्वड्डपदेसद्व्याप कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थो-वे जीवत्थिकाए दव्वड्डयाए, सो चेव पदेसद्व्याप असंखि-ज्जगुणा । एतस्स एं जंते ! पोग्गलत्थिकायस्स दव्वड्डपदे-सद्व्याप कयरे कयरेहितो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थो-वा पोग्गलत्थिकाए दव्वड्डयाए, सो चेव पदेसद्व्याप अ-संखिज्जगुणा, अक्कासमए ण पुच्छिज्जइ, पदेसान्नावा ।

सर्वस्तोको धर्मास्तिकायो द्रव्यार्थतया, एकत्वात् । प्रदेशार्थ-तया असंख्येयगुण, श्लोकाकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेशात्मकत्वात् । एवमधर्मास्तिकायसूत्रमपि भावनीयम् । आकाशास्तिकायो ह्यव्यर्थतया सर्वस्तोक, एकत्वात् । प्रदेशार्थतया अनन्तगुण, अपरिमितत्वात् । जीवास्तिकायो द्रव्यार्थतया सर्वस्तोक, प्रदे-शार्थतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीव श्लोकाकाशप्रदेशभावात् । तथा-सर्वस्तोक पुद्गलास्तिकायो ह्यव्यर्थतया, ह्यव्याणा सर्वता-पि स्तोक्तत्वात् । स एव पुद्गलास्तिकायस्तद्द्रव्यापेक्षया प्रदेश-ार्थतया चिन्त्यमानोऽसंख्येयगुणः । ननु बहुव खलु जगत्पनन्तप्रदे-शका अपि स्कन्धा विद्यन्ते, ततोऽनन्तगुणाः कस्मान्न भवन्ति ? तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह हि स्वल्पा अनन्तप्रदेशकाः स्कन्धाः, परमाण्वाद्यस्त्वतिग्रहवः । तथा वक्ष्यति सूत्रम् “स-व्वत्थोवा अणनपपसिया खधा दव्वड्डयाए, परमाणुपोग्गला द-व्वड्डयाए अनन्तगुणा, सखेज्जपपसिया खधा दव्वड्डयाए स-खेज्जगुणा, असखेज्जपपसियाए खन्धा दव्वड्डयाए असखेज्ज-गुणा” इति । ततो यदा सर्वे एव पुद्गलास्तिकायाः प्रदेशार्थतया चिन्त्यन्ते तदा अनन्तप्रदेशकानां स्कन्धानामतिस्तोक्तत्वात्पर-माणूनां चानिग्रहत्वाच्चेष्टा च पृथक् २ ह्यव्यत्वात् असंख्येयप्रदे-शकानां च स्कन्धानां परमाण्वपेक्षया असंख्येयगुणत्वादसंख्येय-गुण एवोपपद्यते, नानन्तगुण । (अक्कासमए ण पुच्छिज्जइ इति) अक्कासमयो ह्यव्यर्थप्रदेशार्थतया न पृच्छ्यते । कुत ? इ-त्याह-प्रदेशाभावात् । आह-कोऽयमक्कासमयानां ह्यव्यर्थनानि-यमः, यावता प्रदेशार्थताऽपि तेषां विद्यते एव ? तथाहि-यथा अ-नन्तानां परमाणूनां समुदायस्कन्धो भण्यते, स च ह्यव्य, तद्व-यवाश्च प्रदेशा । तथेहापि सकलः कालो ह्यव्यम्, तद्वयवाश्च स-मया प्रदेशा इति । तदयुक्तम् । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवैषम्यात्, परमा-णूनां समुदाय तदा स्कन्धो भवति, यदा ते परस्परसापेक्षतया परिणमन्ते, परस्परनिरपेक्षाणां केवलपरमाणूनामिव स्कन्धत्वा-योगात् । अक्कासमयास्तु परस्पर निरपेक्षा एव, वर्तमानसमय-भावे पूर्वापरसमययोरभावात् । ततो न स्कन्धत्वपरिणामः । तदभावाच्च नाक्कासमया प्रदेशाः, किं तु पृथक् द्रव्याण्येवेति ।

सम्प्रत्यमीषां धर्मास्तिकायादीनां सर्वेषां युगपद् ह्यव्यर्थप्र-देशार्थतयाऽल्पबहुत्वमाह-

एएसि एं जंते ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय आगासत्थि-काय जीवत्थिकाय पोग्गलत्थिकाय अक्कासमया एं दव्वड्डयाए पदेसद्व्याप कयरे कयरेहितो अप्पा वा वड्डया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए

आगासत्थिकाए य, एए णं तिनि वि तुल्ला, दव्वड्डयाए म-व्वत्थोवा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए य, एए एं दोसि वि तुल्ला पदेसद्व्याप असंखेज्जगुणा, जीवत्थिकाए दव्व-ड्डयाए अणंतगुणे, सो चेव पदेसद्व्याप असंखिज्जगुणे, पोग्गलत्थिकाए दव्वड्डयाए अणंतगुणे, सो चेव पपसद्व्या-याए असंखेज्जगुणे, अक्कासमए दव्वड्डपदेसद्व्याए अणं-तगुणे, आगासत्थिकाए पदेसद्व्याए अणंतगुणा ॥

(एएसि ण जंते ! इत्यादि) धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, एते त्रयोऽपि ह्यव्यर्थतया तुल्या, सर्वस्तो-काश्च प्रत्येकमेकसख्याकत्वात् ३ । तेभ्यो धर्मास्तिकायोऽधर्मा-स्तिकायः, एतौ द्वावपि प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणौ, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यौ ४ । ताभ्यां जीवास्तिकायो द्रव्यार्थतया अनन्तगु-णः, अनन्तानां जीवह्यव्याणां भावात् ६ । स एव जीवा-स्तिकायः, प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवमसंख्येयानां प्र-देशानां भावात् ७ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया जीवास्तिकाया-त्पुद्गलास्तिकायो ह्यव्यर्थतया अनन्तगुणः, प्रतिजीवप्रदेशं ज्ञा-नावरणीयादिकर्मपुद्गलस्कन्धानामप्यनन्तानां भावात् ८ । स एव पुद्गलास्तिकायः, प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, अत्र भावना प्रागिव ९ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया पुद्गलास्तिकायात् अक्कासमयो ह्यव्यर्थतया अनन्तगुणः, अत्रापि भावना प्रागिव १० । तस्मादप्या-काशास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, सर्वास्वपि विद्वु वि-दिषु तस्यान्तर्भावात्, अक्कासमयस्य च मनुष्यक्षेत्रमात्रभावात् ११ । गतमस्तिकायम् । प्रज्ञा० ३ पद । “वडाहि अधिकायहिं बोणे कुमे पणसे । त जहा-धम्मत्थिकाएणं अधम्मत्थिकाएणं जीवत्थिकाएण पोग्गलत्थिकाएण” स्वा० ४ वा० ३ उ० ।

अथवा-

कइ णं भंते ! अधिकाया पणत्ता ? गोयमा ! पंच अधिकाया पणत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थि-काए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए ।

धर्मास्तिकायादीनां चोपन्यासेऽयमेव क्रमः । तथाहि-धर्मा-स्तिकायादिपदस्य माहलिकत्वाद् धर्मास्तिकाय आदावुक्तः, तदनन्तरं च तद्विपक्षत्वादधर्मास्तिकायः । ततश्च तदाधारत्वादा-काशास्तिकायः । ततोऽनन्तत्वाऽसूचित्वसाधर्म्याज्जीवास्तिका-यः, तनस्तदुपलम्भकत्वात् पुद्गलास्तिकाय इति ॥ भ० २ श० १० उ० । तेषामस्तित्वम् । अत्र च जीवपुद्गलानां गत्यन्यथाऽनुपपत्ते-र्धर्मास्तिकायस्य तेषामेव स्थित्यन्यथानुपपत्तेरधर्मास्तिकायस्य सत्त्व प्रतिपत्तव्यम् । न च वक्तव्यं तत्रतिस्थिनी च भविष्यतः, धर्माधर्मास्तिकाये च न भविष्यत इति । प्रतिबन्धाभावाद्ने-कान्तिकतेति । तावन्तरेणापि तद्वर्णनेऽलोकेऽपि तत्प्रसङ्गात् । यदि त्वलोकेऽपि तद्गतिस्यिती स्यातां, तदाऽलोकास्त्यनन्त-त्वाल्लोकाभिर्गत्य जीवपुद्गलानां तत्र प्रवेशादेकत्रिंशद्विजिवपु-द्गलयुक्तः सर्वथा तच्छून्यो वा कदाचिल्लोकः स्यात्, नैतद् दृष्टमिष्ट चेत्याद्यन्यदपि दूषणजाह्नमप्यस्ति, नोच्यते ग्रन्थविस्तरमया-दिति । आकाश तु जीवादिपदार्थानामाधारः, अन्यथाऽनुपपत्ते-रस्तीति श्रुत्यम् । न च धर्माधर्मास्तिकायावेव तदाधारौ नविष्यन् इति वक्तव्यम् । तयोस्तत्रतिस्थितिसाधकत्वेनोक्तत्वात् । न चान्यसाध्य कार्यमन्यः प्रसाधयति, अप्रसङ्गात् । इति घटादि-

ज्ञानगुणस्य प्रतिप्राणिस्वसवेदनसिद्धत्वात् क्लृप्त्वास्तित्वमव-
गन्तव्यम् । न च गुणिनमन्तरेण गुणसत्ता युक्ता, अतिप्रसङ्गात् ।
न च देह एवास्य गुणी युज्यते, यतो ज्ञानममूर्तं चिद्रूप सदेव, इ-
न्द्रियगोचरातीतत्वादधिधर्मापेतम्, भतः तस्यानुरूप एव कश्चिद्
गुणी समन्वेषणीयः । स च जीव एव, न तु देहः, विपरीतत्वात् ।
यदि पुनरनुरूपोऽपि गुणानां गुणी कल्प्यते, न ह्यनवस्था । रूपादि-
गुणानामप्याकाशादेर्गुणित्वकल्पनाप्रसङ्गादिति । पुरुषास्तिका-
मस्य तु घटादिकार्यान्वयाऽनुपपत्तेः, प्रत्यक्षत्वाच्च सत्त्व प्रती-
तमेवेति । अनु० ।

अस्थिकायानामस्थिकायत्वम्—

एगे जंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसे धम्मत्थिकाए त्ति वत्त-
व्व सिया ? । गोयमा ! एगे इण्णहे समट्ठे, एव दोन्नि वि तिन्नि
वि चत्तारि पंच ठ सत्त अट्ठ नव दम संखेज्जा असंखेज्जा
जंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसा धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सि-
या ? । गोयमा ! एगे इण्णहे समट्ठे, एगपदेसूणे वि य एं
धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ? । एगे इण्णहे समट्ठे,
से केण्णहेणं भते ! एवं बुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायप्पदेसे नो
धम्मत्थिकाये त्ति वत्तव्वं सिया, जाव एगपदेसूणे वि य एं
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया । से एण्णं
गोयमा ! खमे च्छे मगले च्छे ? । जगव ! नो खमे च्छे स-
गले च्छे । एवं ठत्ते धम्मे दंमे दूसे आउहे मोयए । से
तेण्णहेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायप्पदेसे एगे
धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया० जाव एगपदेसूणे वि य एं
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया । से किं
खाइए ए जंते ! धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया । गोयमा !
असंखेज्जा धम्मत्थिकायप्पएसा, ते सव्वे कसिण्ण पडि-
पुष्सा निरवसेसा एकगहणगहिया । एस एं गोयमा !
धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया । एवं अहम्मत्थिकाए वि ।
आगामत्थिकायजीवत्थिकायपोगलत्थिकाए वि एवं चेव,
नवरं तियह पि एसा अणंता जाणियव्वा, ससं तं चेव ।

(खडे च्छे इत्यादि) यथा खण्ड चक्र चक्रं न भवति, खण्ड-
चक्रमित्येव तस्य व्यपदिश्यमानत्वात्, अपि तु सकलमेव चक्र
चक्रं भवति । एव धर्मास्तिकाय प्रवेशेनाप्यूनो न धर्मास्तिकाय
इति वक्तव्यं स्यात् । एतच्च निश्चयनयदर्शनम् । व्यवहारनयम-
ते तु एकदेशानोनमपि वस्तु वस्त्वैव । यथा खण्डोऽपि घटो घट
एव, छिन्नकर्मोऽपि श्वा श्वैव । भणति च—“एकदेशविकृतमन-
न्यवदिनि” । (से किं खाइए त्ति) अथ किं पुनरित्यर्थः । (सव्वे
त्ति) समस्तास्ते च देशापेक्षयाऽपि भवन्ति, प्रकारकात्स्न्येऽपि
सर्वशब्दप्रवृत्तेः । इत्यत आह—(कसिण्ण त्ति) कृत्वा न तु
तदेकदेशापेक्षया सर्वं इत्यर्थः । ते च स्वस्वजावरहिता अपि भव-
न्तीत्यत आह—प्रतिपूर्णा आत्मस्वरूपेणाविकल्पा, ते च प्रदेशा-
न्तरापेक्षया स्वस्वजावन्यना अपि तथोच्यन्ते इत्याह—(गिरव-
सेस त्ति) प्रदेशान्तरतोऽपि स्वस्वभावेनान्यना । तथा—(एगगह-
णगहिया त्ति) एकग्रहणेनैकशब्देन धर्मास्तिकाय इत्येव वक्त-
णेन गृहीता ये ते तथा, एकशब्दाजिधेया इत्यर्थः । एकार्थास्ते-

ते शब्दाः । (एसा अणंता जाणियव्व त्ति) धर्माधर्मयोर-
सख्येयाः प्रदेशा उक्ताः । आकाशादीनां पुनः प्रदेशा अनन्ता वा-
क्याः अनन्तप्रदेशकत्वाव्यापामपीति । उपयोगगुणो जीवा-
स्तिकायः प्राम्दशितः । ज० २ श० १० उ० ।

प्रदेशनिषूदनम्—

एयंसि एं भंते ! धम्मत्थिकायअहम्मत्थिकायआगा-
सत्थिकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा सुइत्तए वा चि-
ट्ठित्तए वा णिसीयत्तए वा, तुयट्ठित्तए वा ? । एगे इण्णहे समट्ठे,
अणंता पुण तत्थ जीवा ओगाढा । से केण्णहेणं भंते ! एव
बुच्चइ—एयंसि ए धम्मत्थिकाय० जाव आगासत्थिकायसि नो च-
क्किया केइ आसइत्तए वा० जाव ओगाढा । गोयमा ! से जट्ठा
णामए कूमागारसाला सिया दुहओ वित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा
जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव दुवारवयाणाइं पिहंति । दुवार०
तीसे य कूमागारसालाए बहुमज्जदेसजाए जट्ठेणं एको
वा दो वा तिप्पि वा । उकोमेणं पदीवसेहस्सं पदीवेज्जा,
से एणं गोयमा ! ताओ पदीवसेहस्साओ अणमसंख-
आओ अणमसपुट्ठाओ० जाव अणमसधरुत्ताए चिट्ठंति,
हंता चक्किया एं गोयमा ! केइ तामु पदीवसेहस्सामु आसइ
त्तए वा० जाव तुयट्ठित्तए वा । जगवं ! एगे इण्णहे समट्ठे ।
अणंता पुण तत्थ जीवा ओगाढा । से तेण्णहेणं गोयमा !
एवं बुच्चइ० जाव ओगाढा ॥

एतस्मिन् णामिति वाक्यालङ्कारे (चक्किय त्ति) शक्त्युपात् ।
कश्चित्पुरुषः । ज० १३ श० ४ उ० ।

प्रमाणम्—

धम्मत्थिकाए णं जंते ! केमहालए पणत्ते ? । गोयमा !
लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता
ए चिट्ठइ । एवं अहम्मत्थिकाए लोयाकासे जीवत्थिकाए
पोगलत्थिकाएकाजिहवावा ॥

(केमहालए त्ति) सुसजावप्रत्ययत्वाभिर्देशस्य, किं महत्त्वं
यस्यासौ किमदत्त्वं । (लोए त्ति) लोको लोकप्रमितत्वात्,
लोकव्यपदेशाद्वा, उच्यते च—“पञ्चत्थिकायमहं लोयमित्यादि”
लोके चासौ वर्तते । इदं चाप्रश्रिततमप्युक्तम्, शिष्यहितत्वादा-
चार्यस्येति । लोकमात्रो लोकपरिमाणं, स च किञ्चिन्न्यूनोऽपि
व्यवहारतः स्यादित्यत आह—(लोयप्पमाणे त्ति) लोकप्रमाणो
लोकप्रदेशप्रमाणत्वात्तत्प्रदेशानाम् । स चान्योन्यानुबन्धेन स्थित
इत्येतदेवाह—(लोयफुडे त्ति) लोकेन लोकाकाशेन सकलस्व-
प्रदेशैः स्पृष्टो लोकस्पृष्टः । तथा लोकमेव च सकलस्वप्रदेशैः
स्पृष्टा तिष्ठतीति पुद्गलास्तिकायो लोकस्पृष्टा तिष्ठतीत्यनन्तरमु-
क्तमिति । भ० २ श० १० उ० ।

वर्णगन्धरसादि—

धम्मत्थिकाए एं कति वस्से, कति गंधे, कति रसे, कति
फासे ? । गोयमा ! अवस्से अगंधे अरसे अफासे अरुवी
अजीवे सासए अवट्ठिए लोणदव्वे, ते समासओ पंचविहे
पणत्ते । तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ गु-

णओ । दव्वओ णं धम्मत्थिकाए एगे दव्वे, खेत्तओ ढोग-
प्पमाणमेत्ते, कालओ न कयाइ न आसि न कयाइ न-
त्थि जाव निच्चे, भावओ अवन्ने अंगधे अरसे अफासे,
गुणओ गमणगुणे । अधम्मत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं गु-
णओ ठाणगुणे । आगामत्थिकाए वि एव चेव, नवरं खे-
त्तओ णं आगासत्थिकाए लोयाढोयप्पमाणमेत्ते अणंते
चेव जाव गुणओ अवगाहगुणे । जीवत्थिकाए णं भंते !
कइ वप्पे, कइ गंधे, कइ रसे, कइ फासे ! गोयमा ! अवन्ने
जाव अरूवी जीवे सासए अवट्टिए लोगदव्वे, से समासओ
पंचविहे पएणत्ते । तं जहा-दव्वओ० जाव गुणओ । दव्व-
ओ णं जीवत्थिकाए अणंताइ जीवदव्वाइ, खेत्तओ ढो-
गप्पमाणमेत्ते, कालओ न कयाइ न आसि० जाव निच्चे,
जावओ पुण अवन्ने अंगधे अरसफासे, गुणओ उव-
ओगगुणे । पोग्गलत्थिकाए णं भंते ! कइ वएणे, कइ गं-
धरसफासे ! गोयमा ! पंचवन्ने पंचरसे दुगधे अट्टफासे
रूवी अजीवे सासए अवट्टिए लोगदव्वे । से समामओ पं-
चविहे पएणत्ते । तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भाव-
ओ गुणओ । दव्वओ णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइ दव्वाइ,
खेत्तओ लोयप्पमाणमेत्ते, कालओ न कयाइ न आसि०
जाव निच्चे, जावओ वप्पमंते गंधरसफासमंते, गुणओ ग-
हणगुणे ॥

(अवच्छे इत्यादि) यत एवावर्णादिरत एवारूपी अमूर्त्तं, न तु
नि स्वभाव, नञ. पर्युदासवृत्तित्वात् । शाश्वतो ह्यव्यतोऽव-
स्थितः प्रदेशतः (लोगदव्वे चि) लोकस्य पञ्चास्तिकायात्म-
कस्यांशचूत ह्यव्य लोकद्रव्यम् । भावत इति पर्यायतः । (गुण-
ओ चि) कार्यतः । [गमणगुणे चि] जीवपुञ्जलाना गतिपरिण-
तानां गत्युपष्टम्भहेतु, मत्स्याना जलमिवेति । [ठाणगुणे चि] जी-
वपुञ्जलाना स्थितिपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भहेतु, मत्स्यानां स्थल-
मिवेति । [अवगाहणागुणे चि] जीवादीनामवकाशहेतु, वदराणां
कुपुरुमिव । [उवओगगुणे चि] उपयोगश्चैतन्य साकारानाका-
रमेदम् । [गहणगुणे चि] ग्रहण परस्परणेन सम्बन्धन जीवेन
वा, औदारिकादिभिः प्रकारैरिति । भ० २ श० १० उ० ।

अवगाहनादयः-

धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहात्तए पएणत्ते ! गोयमा !
लोए ढोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुमे लोयं चेव उग्गाहि-
त्ताणं चिट्ठति, एव जाव पोग्गलत्थिकाए । अहे ढोए णं
जंते ! धम्मत्थिकायस्स केवइयं ओगादे ! गोयमा ! साइरेग
अप्प ओगादे, एवं एएणं अनिल्लावेणं जहा वियइस्सए०
जाव ईसिप्पन्नारणं । जंते ! पुढवीढोयागासस्स किं सं-
खेज्जइजाग ओगाढा पुच्छा ! गोयमा ! एो सखेज्जइजागं
ओगाढा, असंखेज्जइजाग ओगाढा, एो सखेज्जइजागे
ओगाढा, जो असखेज्जइजागे ओगाढा, एो सन्न लो-
यं ओगाढा, सेसं तं चेव ।

“धम्मत्थिकाएण भंते !” इत्यादिद्वारापक, तत्र च नवरं
केवल “लोयं चयं कुम्भित्ताणं चिट्ठं ति” । एतस्य स्थान-
“लोयं चेव ओगाहित्ताणं चिट्ठं” इत्ययमभिलाषो दृश्य इति ।
ज० १० श० २ उ० ॥

(अस्तिकायानां विषयेऽन्ययुक्तिकं सहविप्रतिपत्तय ‘अणुउ-
त्थिय’ शब्देऽस्मिन्नेव ज्ञाने ४४६ पृष्ठे दर्शिताः)

मध्यप्रदेशाः-

कइ ए जंते ! धम्मन्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता !
गोयमा ! अट्ट धम्मन्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता ।
कइ ए जंते ! अधम्मन्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता ?
गोयमा ! एव चेव । कइ ए जंते ! आगामत्थिकायस्स मज्झ-
प्पदेसा पएणत्ता ? गोयमा ! एव चेव । कइ ए जंते ! जीवन्थि-
कायस्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता ? गोयमा ! अट्ट जीवन्थिकाय-
स्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता । एएसि ए जंते ! अट्ट जीव-
त्थिकायस्स मज्झप्पदेसा कइसु आगासपदेमेसु ओगाढा
होति ? गोयमा ! जहएणेण एकासि वा दोहि वा तिहि
वा चउहिं वा पचहिं वा छहिं वा उक्कोसेणं अट्टमु णो
चेव णं मत्तसु । सेव भंते ! भंते ! चि ॥

प्रत्येक जीवानामित्यर्थः । ते च सर्वस्यामवगाहनायां मध्य-
प्राग एव जवन्तीति मध्यप्रदेशा उच्यन्ते । (जहएणेण एकासि वे-
त्यादि) सङ्कोचविकाशधर्मत्वात्तेषाम् । (उक्कोसेण अट्टसु
चि) एकैकस्मिन्नेव तेषामवगाहनात् । (नो चेव ए सत्तसु चि)
वस्तुस्वभावादिनि । भ० २५ श० ४ उ० । इथा० । (अस्तिका-
यविषये काहोदायिसवाद ‘अणुउत्थिय’ शब्देऽस्मिन्नेव भा-
गे ४४६ पृष्ठे दर्शितः)

अतिथिकायधम्म-अस्तिकायधर्म-पु० । अस्तयः प्रदेशास्तेषां
कायो राशिरस्तिकायः । स एव (सङ्ख्या) धर्मो गतिपर्याये जीव-
पुञ्जयोर्धारणादित्यस्तिकायधर्मः । स्था० १० उ० । गत्युप-
ष्टम्भलक्षणधर्मास्तिकायनामक ह्यव्यधर्मे, स्था० ३ उ० ३ उ० ॥

अतिथि-अस्तिक्य-न० । अस्तीति मतिरस्येत्यास्तिक ।
तस्य ज्ञाव कर्म वा आस्तिक्यम् । तत्त्वान्तरव्यवस्थेऽऽपि जिनो-
क्तनित्यविषये निराकाङ्क्षायां प्रतिपत्तो, ध० २ अधि० । अस्तिका-
यादिविषयास्तिक्यव्याधायाम्, दर्श० । सन्ति खलु जिनन्तो-
पदिष्टा अतीन्द्रिया जीवपरलोकादयो ज्ञावा इति । परिणामे,
ध० २ अधि० । सथा० ।

अतिथि (न) तिथिपवाय-अस्तित्वास्तित्प्रवाद-न० । यल्लो-
के यथाऽस्ति यथा वा नास्ति. अथवा स्याच्चाद्वानिप्रायत-
स्तदेवास्ति, तदेव नास्तीत्येव प्रवदतीति । स० । यद्वस्तु लो-
केऽस्ति धर्मास्तिकायादि, यच्च नास्ति खरभृद्गादि, नत्प्रवदती-
ति । अथवा सर्ववस्तु स्वरूपेणास्ति पररूपेण नास्तीति प्रव-
दतीति, अस्तित्वास्तित्प्रवादम् । चतुर्थे पूर्वश्रुते न० । तस्य पदपरि-
माणं षष्टिपदशतसहस्राणि । स० । “अतिथिपवायपुव्व-
स्स ण अछारस वरधुदस् चूलिया वप्पु पम्पत्ता” । न० ।

अतिथि-अस्तित्व-न० । अस्ति-भावे त्व । विद्यमानत्वे दर्श०
१ अ० । अर्थक्रियाकारिन्वे. “यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थं

सत् " इति वचनात् । आ०म० द्वि० । ['स्रणियवाह' शब्देऽस्य उपपत्तिर्दृष्ट्या] गुणभेदे, "तत्राऽस्तित्व परिज्ञेय, सद्भूतत्व-
गुणः पुनः" । तत्र इदं परिज्ञेयम्-सत्तया यो ज्ञवति यस्मा-
त्सद्भूततया व्यवहारो जायते, स चास्तित्वगुणः । द्रव्या० ११
अध्या० । धर्मधर्मिणोरभेदात् सद्भवस्तुनि, भ० ।

यस्य वस्तुनो यथैवास्तित्वं तथैव जगवता तीर्थकरेण प्रकृत-
मिति दिदर्शयिष्येथावद् वस्तुपरिणाम दर्शयन्नाह—

से एणं जंते ! अत्यिच्छं अत्यिच्छे परिणमइ, एत्यिच्छं
एत्यिच्छे परिणमइ ? । हुंता गोयमा !० जाव परिणमइ ॥

(से एणमित्यादि) [अत्यिच्छ अत्यिच्छे परिणमइ चि]
अस्तित्वमङ्गुल्यादेरङ्गुल्यादिजावेन सत्त्वम् । उक्तं च— " स-
र्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च । अन्यथा सर्वभावाना-
मेकत्वं सप्रसज्यते " ॥ १ ॥ तच्चेह ऋजुत्वादिपर्यायरूपमव-
सेयम्, अङ्गुल्यादिद्रव्यास्तित्वस्य कथं चिदङ्गुत्वादिपर्यायाव्य-
तिरिक्तत्वात् । अस्तित्वेऽङ्गुल्यादेरेवाङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वे
वक्रत्वादिपर्याय इत्यर्थः । परिणमति-तथा भवति । इदमुक्तं
भवति-द्रव्यस्य प्रकारान्तरेण सत्ता प्रकारान्तरसत्तायां व-
र्तते । यथा-सूक्ष्मस्य पिण्डप्रकारेण सत्ता घटप्रकारसत्ताया-
मिति । (नत्यिच्छ नत्यिच्छे परिणमइ चि) नास्तित्वमङ्गु-
ल्यादेरङ्गुल्यादिजावेनास्तित्वम्, तच्चाङ्गुल्यादिजाव एव । तत-
श्चाङ्गुल्यादेर्नास्तित्वमङ्गुल्यादिजावेनास्तित्वमङ्गुल्यादेर्नास्तित्वेऽङ्गु-
ल्यादेः पर्यायान्तरेणास्तित्वरूपे परिणमति । यथा-सूक्ष्मो नास्तित्व
तत्त्वादिरूपं सूक्ष्मास्तित्वरूपे पटे इति, अथवा अस्तित्वमिति
धर्मधर्मिणोरभेदात्सत्त्वस्त्वस्ति त्वे सत्त्वे परिणमति । सत्सदेव
भवति, नात्यन्तं विनाशि स्यात् । विनाशस्य पर्यायान्तरग-
मनमात्ररूपत्वात् । दीपादिविनाशस्यापि तमिष्ठादिरूपतया
परिणामात् । तथा नास्तित्वमत्यन्ताजावरूपं यत् स्रविषा-
णादि, तच्चास्तित्वेऽत्यन्ताजाव एव वर्तते । नात्यन्तमसत्
सत्त्वमस्ति, स्रविषाणस्येवति । उक्तं च— " नासतो जायते
भावो, नाजावो जायते सत् " । अथवा अस्तित्वमिति धर्म-
भेदात्सदास्तित्वे सत्त्वे वर्तते । यथा-पट पटत्वं एव । नास्तित्व
श्चाह-नास्तित्वे सत्त्वे वर्तते, यथाऽपटोऽपटत्वं एवेति ।

अथ परिणामहेतुदर्शनायाह—

जं तं भते ! अत्यिच्छं अत्यिच्छे परिणमइ, एत्यिच्छं एत्यि-
च्छे परिणमइ, तं किं पओगसा, वीससा ? । गोयमा ! प-
ओगसा वि तं वीससा वि तं ॥

(ज तमित्यादि) (अत्यिच्छ अत्यिच्छे परिणमइ चि) पर्याय-
पर्यायान्तरता यानीत्यर्थः । (एत्यिच्छ एत्यिच्छे परिणमइ चि) व-
स्त्वन्तरस्य पर्याय-तत्पर्यायान्तरता यानीत्यर्थः । (पओगस चि)
सकारस्याऽऽगमिकत्वात्प्रयोगेण जीवव्यापारेण । (वीसस चि)
यद्यपि लोके विज्ञानशब्दो जरापर्यायतया रुढस्तथापीह स्वभा-
वार्थो दृश्यः । इह प्राकृतत्वाद् 'वीससाप' इति वाच्यं वीससेत्युक्त-
मिति । अत्रोत्तरम्—(पओगसा वि न ति) प्रयोगेणापि तदस्ति-
त्वादि, यथा-कुलालव्यापाराद् मृत्पिण्डो घटतया परिणमति,
अङ्गुलिः ऋजुना वा वक्रनयेति । अपि समुच्चये । (वीससा वि-
त ति) यथा-शुभ्राभ्रमशुभ्राभ्रतया । नास्तित्वस्यापि नास्तित्व-
परिणामे प्रयोगविज्ञस्योरेतान्येवोदाहरणानि । वस्त्वन्तरापेक्ष-

या मृत्पिण्डादेरस्तित्वस्य नास्तित्वात् । सत्सदेव स्यादिति व्या-
ख्यानान्तरेऽप्येतान्येवोदाहरणानि, पूर्वोत्तरावस्थयोः सद्रूपत्वा-
दिति । यदप्यजावोऽजाव एव स्यादिति व्याख्यातम्, तत्रापि प्र-
योगेणापि तथा विज्ञस्योऽपि अजावो भाव एव स्यात्, न प्र-
योगादेः साफल्यमिति व्याख्येयमिति । ज० ।

अथांक्तस्वरूपस्यैवार्थस्य सत्यत्वेन प्रज्ञापनीयतां दर्शयितुमाह—
से एणं जंते ! अत्यिच्छं अत्यिच्छे गमणिज्जं जहा परि-
णमइ दो आलावगा, तहा गमणिज्जेण वि दो आलावगा
जाणियवा, जाव तहा मे अत्यिच्छं अत्यिच्छे गमणिज्जं, जहा
ते जंते ! एत्थं गमणिज्जं, तहा ते इह गमणिज्जं, जहा
ते इह गमणिज्जं तहा ते इत्थं गमणिज्जं ? । हुंता गोयमा !
जहा मे इत्थं गमणिज्जं तहा मे इह गमणिज्जं ॥

अस्तित्वमस्तित्वे गमनीयं सद्भवस्तु सत्त्वेनैव प्रज्ञापनीयमित्य-
र्थः । (दो आलावगा चि) (से एणं जंते ! अत्यिच्छ अत्यिच्छे गमणि-
ज्जमित्यादि) 'पओगसा वि त वीससा वि त' इत्येतदन्त एक,
परिणामभेदाभिधानात् । 'जहा ते जंते ! अत्यिच्छ अत्यिच्छे
गमणिज्जमित्यादि' तदा 'मे अत्यिच्छ अत्यिच्छे गमणिज्जं'
इत्येतदन्तस्तु द्वितीयोऽस्तित्वनास्तित्वपरिणामयोः समता-
भिधायीति । एव वस्तुप्रज्ञापनाविषयां समभावनां जगवतोऽ-
भिधायीति शिष्याविषयां तां दर्शयन्नाह—'जहा ते इत्यादि' यथा
स्वकीयपरकीयताऽनपेक्षतया समत्वेन विहितमिति प्रवृत्त्या उप-
पकारयुक्त्या वा ते तव भदन्त ! [एत्थं चि] एतस्मिन्म-
यि सन्निहिते स्वशिष्ये गमनीयं वस्तुप्रज्ञापनीयम् । तथा तेनैव
समताद्वयप्रकारेण उपकारधिया वा [इह ति] इहास्मि-
न् गृहिपात्रपिमकादौ जने गमनीयं वस्तुप्रकाशनीयमिति प्रश्नः ।
अथवा [एत्थं चि] स्वात्मानि यथा गमनीयं सुखामित्यादि, तथा
इह परात्मानि । अथवा यथा प्रत्यक्षाधिकारस्थार्थतया एत्थमि-
त्येतच्छब्दरूपमिति गमनीयम्, तथा इह इत्यमित्येतच्छब्दरू-
पमिति, समानार्थत्वाच्चयोरपीति । ज० १ श० ३ व० ॥

अत्यिभाव-अस्तिजाव-पु० । विद्यमानभावे, "अत्यिभावो चि
वा विज्जमाणभावो चि वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

अत्यि (थि) २-अस्थिर-त्रि० । न० त० । प्राकृते—" सद्यध-
भाम् " ८ । १ । ७७ । इति थस्य प्राप्तमपि इत्थं प्रायिकत्वात्
जवति । प्रा० । अहदे, ओघ० । अतरे, नि० चू० १० व० । धृति
सहननहीनत्वेन बलहीने, व्य० १ उ० । चत्ते च, उक्त० २० अ० ।
अपरिचिन्ने, " अत्यिरस्स पुव्वगहियस्स वत्तणा ज इह थि-
रीकरण " पञ्चा० १२ विव० । जीर्णे, आचा० २ शु० ३ अ० २ व० ।
अस्थास्नुद्रव्ये, ज० ।

अस्थिर प्रक्षोटति स्थिरं वा प्रक्षोटति इति चिन्तयन्नाह—

से एणं जंते ! अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ, अ-
थिरे जज्जइ, नो थिरे जज्जइ, सासए बावण वालियत्तं
असासय सामए पंडिण पंथियत्त असासय ? । हुंता गोयमा !
अथिरे पलोट्टइ० जाव पंथियत्त असासय, सेव जंते !
जंते ! चि० जाव विहरइ ।

(अथिरे चि) अस्थास्नु द्रव्य लोप्रादि, प्रक्षोटति परिवर्तते, अ-

च्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वात् कायाकारपरिणतेऽन्युपगम । नापि प्रागविद्यमानस्य चैतन्यमुत्पद्यते, आहोस्त्रिद्विद्यमान तावदविद्यमानम्, अतिप्रसङ्गात्, अन्युपेतागमलोपाद्वा । अथ विद्यमानमेव सिद्धं तर्हि जीवत्व तथाऽऽत्माऽज्ञैतवाद्यपि वाच्यः । यदि पुरुषमात्रमेवेदं सर्वम्, कथं घटपटादिषु चैतन्यं नोपलभ्यते ? । तथा तदैक्यजदनिबन्धनानां पक्षहेतुदृष्टान्तानामभावात्साध्यसाधनाभावः तस्मान्नैकान्तेन जीवाजीवयोरज्ञाव, अपि तु सर्वपदार्थानां स्याद्वादाश्रयणाज्जीवः स्यादजीवः, अजीवोऽपि च स्याज्जीवः । इत्येतेष्व स्यादाश्रयण जीवपुद्गलयोरन्योन्यानुगतयोः शरीरस्य प्रत्यक्षनयाऽध्यक्षेणैवोपलब्धत्वाद्ब्रह्ममिति ॥ १३ ॥

जीवास्ति त्वे च भिन्ने नन्निबन्धनयोः सदसत्क्रियाद्वाराऽऽयातयोर्धर्माधर्मयोरस्तित्वप्रतिपादनायाह—

णत्थि धम्मे अधम्मे वा, एव सन्नं निवेसए ।

अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १४ ॥

(णत्थि धम्मे अधम्मे वेत्यादि) धर्मः श्रुतचारित्र्यात्मको जीवस्यान्मपरिणामः कर्मकृत्यकारणमात्मपरिणामः, एवमधर्मोऽपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकपाययोगरूपः कर्मबन्धकारणमात्मपरिणाम एव । तावेवचूतौ धर्मोऽधर्मौ काव्यस्वजावनियतोऽश्वरादिमतेन न विद्येते इत्येव सङ्गा नो निवेशयेत् । कावाद्य एवास्य सर्वस्य जगद्वैचित्र्यस्य धर्माधर्माव्यतिरेकेणैकान्तत कारणमित्येवमभिप्रायं कुर्यात्, यतः त एवैकका न करणम्, अपि तु समुदिता एवेति । तथा चोक्तम्—“न हि कालादीर्हितो, केवज्ञेर्हितो जायए किञ्चि । इह भुगर्धं धणां वि, ता सन्ने समुदिया हेऊ ” ॥१॥ इत्यादि । यतो धर्माधर्ममन्तरेण ससारवैचित्र्यं न घटामियति, इत्यतोऽस्ति धर्मः सम्यग्दर्शनादिक, अधर्मश्च मिथ्यात्वादिक इत्येव सङ्गा नो निवेशयेदिति ॥१४॥

सतोश्च धर्माधर्मयोर्बन्धमोक्षसदभाव इत्येतद्दर्शयितुमाह—

णत्थि वंघे व मोक्खे वा, एव सन्नं निवेसए ।

अत्थि वंघे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १५ ॥

[णत्थि वंघे व मोक्खे वा इत्यादि] बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मकनया कर्मपुद्गलानां जीवेन स्वव्यापारन स्वीकरणम् । स चामूर्त्तस्यात्मनो गगनस्येव न विद्यत इत्येव नो सङ्गा निवेशयेत् । तथा तदभावाच्च मोक्षस्याप्यभाव इत्येवमपि सङ्गा नो निवेशयेत् । कथं तर्हि सङ्गा निवेशयेत् ? इत्युत्तरार्द्धेन दर्शयति— अस्ति बन्धः कर्मपुद्गलैर्जावस्य, इत्येव सङ्गा निवेशयेदिति । यत्सूच्यते—मूर्त्तस्यामूर्त्तिमता सबन्धो न युज्यत इति । तदयुक्तम् । आकाशस्य सर्वव्यापितया पुद्गलैः सबन्धो दुर्निवार्यः, तदभावे तद्व्यापित्वमेव न स्यात् । अन्यथास्य विज्ञानस्य हृत्पूरमदिरादिना विकारः समुपलभ्यते, न चासौ सबन्धमृते । अतो यत्किञ्चिदेतत् । अपि च—ससारिणामसुमतां सदा तैजसकर्मणशरीरसद्भावादात्यन्तिकममूर्त्तत्वं न भवतीति । तथा तत् प्रतिपक्षचूतो मोक्षोऽप्यस्ति, तद्भावे बन्धस्याप्यज्ञावः स्यात्, इत्यतोऽशेषबन्धनापगमस्वभावो मोक्षोऽस्तीत्येव सङ्गा निवेशयेदिति ॥१५॥

बन्धसद्भावे चावश्यभावी पुण्यपापसद्भाव इत्यतस्तद्भाव निवेधद्वारेणाह—

णत्थि पुष्से व पावे वा, एव सन्नं निवेसए ।

अत्थि पुण्ये व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १६ ॥

नास्ति न विद्यते पुण्यं शुभकर्मप्रकृतितत्त्वक्षणम्, तथा पापं तद्विपर्ययलक्षणं नास्ति न विद्यते इत्येव नो सङ्गा निवेशयेत् । तदभावप्रतिपत्तिनिबन्धनं त्विदम्—तत्र केषां चिन्नास्ति पुण्यं, पापमेव ह्युत्कर्षावस्थं सत्सुखदुःखनिबन्धनम् । तथा—परेषां पापं नास्ति, पुण्यमेव ह्यपचीयमानं पापं कार्यं कुर्यादिति । अन्येषां तूभयमपि नास्ति । ससारवैचित्र्यं तु नियतिस्वभावादिकृतम् । तदेतदयुक्तम् । यतः पुण्यपापशब्दौ सबन्धिशब्दौ, सबन्धिशब्दानामेकस्य सत्ता परसत्तानान्तरीयकतो, नेतव्यं सत्तेति । नाप्युज्याभावः शक्यते वक्तुम्, निबन्धनस्य जगद्वैचित्र्यस्याभावात् । न हि कारणमन्तरेण कश्चित्कार्यस्योत्पत्तिर्दृष्टा । नियतिस्वभावादिविदस्तु नष्टोत्तराणां पादप्रसारिकाणां पादप्रसारिकाणां । अपि च—तद्भावेऽन्युपगम्यमाने सकलक्रियावैयर्थ्यम्, तत एव सकलकार्योत्पत्तिः । इत्यतोऽस्ति पुण्यं पापं चेत्येव सङ्गा निवेशयेत् । पुण्यपापे चैव रूपे; तद्यथा—“पुद्गलकर्मशुभं यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् । यदशुभमथ तत्पाप—मिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ” इति ॥ १६ ॥

न कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पत्तिरतः पुण्यपापयोः प्रागुक्तयोः कारणभूतावाश्रवसवरौ तत्प्रतिषेधद्वारेण दर्शयितुं काम आह—

णत्थि आसवे सवरे वा, एव सन्नं निवेसए ।

अत्थि आसवे सवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१७॥

(णत्थि आसवे सवरे वेत्यादि) आश्रवति प्रविशति कर्मयेन स प्राणातिपातादिरूप आश्रवः कर्मोपादानकारणम् । तथा—तन्निरोधः सवरः । एतौ द्वावपि न स्त इत्येव सङ्गा नो निवेशयेत् । तदभावप्रतिपत्त्या शङ्काकारणं त्विदम्, कायवाङ्मनःकर्मयोगः स आश्रव इति यथेदमुक्तं तथेदमप्युक्तमेव—“उच्चा-लियम्मि पाए इत्यादि ” ततश्च कार्यादिव्यापारेण कर्मबन्धो न भवतीति । युक्तिरपि—किमयमाश्रव आत्मनो भिन्नः, उताऽभिन्नः । यदि भिन्नो नामासावाश्रवो घटादिवदभेदेऽपि नाश्रवत्वम्, सिद्धात्मनामपि आश्रवप्रसङ्गात् । तदभावे च तन्निरोधवत्क्षणस्य सवरस्याप्यभावः सिद्ध एव । इत्येवमात्मकमध्यवसायं न कुर्यात् । यतो यत्तदनैकान्तिकत्वं कायव्यापारस्य “उच्चा-लियम्मि पाए ” इत्यादिनोक्तं, तदस्माकमपि सम्मतमेव । यतोऽयमस्माभिरप्युपयुक्तकर्मबन्धोऽन्युपगम्यते । निरुपयुक्तस्य कर्मबन्धः, तथा भेदाभेदोभयपक्षसमाश्रयणात्तदेकपक्षाभि-तदोपाभावः । इत्यस्याश्रवसद्भावः, तन्निरोधश्च सवर इति । उक्तं च—“योग शुद्धः पुण्या-श्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः । वाक्कायमनोगुप्ति-भिराश्रवः सवरस्तूक्तः ” ॥१॥ इत्यतोऽस्याश्रवस्तथा सवरश्चेत्येव सङ्गा निवेशयेदिति ॥१७॥

आश्रवसवरसदभावे चावश्यभावी वेदनानिर्जरासदभाव इत्यतस्तत् प्रतिषेधद्वारेणाह—

णत्थि वेयणा णिज्जरा वा, एव सन्नं निवेसए ।

अत्थि वेयणा णिज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१८॥

(णत्थि वेयणेत्यादि) वेदना कर्मानुभवलक्षणा, तथा—निर्जरा कर्मपुद्गलशाटनलक्षणा । एते द्वे अपि न विद्येते, इत्येव नो सङ्गा निवेशयेत् । तदभावः प्रत्याशङ्काकारणमिदम् । तद्यथा—“पल्योपम-सागरोपमशतानुभवनीय कर्मान्तर्मुहूर्तेनैव क्षयमुपयाति ” इत्यन्युपगमात् । तदुक्तम्—“ज अस्साणीं कम्म, खवेइ बहुयाईं वास-

दीर्घि । तद्धाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसाममित्तेण ” ॥ १ ॥
यादि । तथा क्षपकभ्रेयां च भट्टित्येव कर्मणो भस्मीकर-
त्, यथाक्रमबद्धस्य चानुभवनाभावे वेदनाया अभावस्तद-
वाच्च निर्जराया अपीत्येव नो सङ्गां निवेशयेत् । किमिति ?
१: कस्यचिदेव कर्मण एवमनन्तो रक्तया नीत्या क्षपणात्त-
ना प्रदेशानुभवेन चापरस्य तूदयोदीरणभ्यामनुभवनमि-
तोऽस्ति वेदना । यत आगमोऽप्येवभूत एव । तद्यथा—“ पु-
। दुष्पिष्ठाण, दुष्पडिकनाण कम्माण । वेइत्ता मोक्खो एत्थि
इइत्ता ” इत्यादि वेदनासिद्धौ च निर्जराऽपि सिद्धैवेत्य-
स्ति वेदना निर्जरा वेत्येव सङ्गां निवेशयेदिति ॥ १८ ॥
दनानिर्जरे च क्रियाऽक्रियत्वे ततस्तद्भावप्रातिषेधानिषेधपू-
ः दर्शयितुमाह—

एत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ।
प्रत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१ए॥
एत्थि किरिया अकिरिया वा इत्यादि) क्रिया परिस्पन्द-
णा, तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया, ते द्वे अपि न स्तो न विद्येते ।
‘हि-साध्यानां सर्वव्यापित्वादात्मन आकाशस्येव परि-
पन्दिका क्रिया न विद्यते । शाक्यानां तु क्षणिकत्वा-
पदार्थानां प्रतिसमयमन्यथा वाऽन्यथोत्पत्तेः पदार्थस-
, न तद्व्यतिरिक्ता काचित्क्रियाऽस्ति । तथा चोक्तम्-‘ भू-
षा क्रिया सैव, कारकस्यैव चोच्यते । ” इत्यादि । तथा
पदार्थानां प्रतिक्षणभवस्थान्तरगमनात्सक्रियात्वम्, अतो
क्रिया विद्यते इत्येव सङ्गां नो निवेशयेत् । किं तर्हि-अ-
क्रिया अक्रिया वेत्येव सङ्गां निवेशयेत् । तथाहि-शरी-
रानोर्देशदेशान्तरावासिनिमित्ता परिस्पन्दात्मिकाक्रिया प्र-
णैवोपलभ्यन्ते, सर्वथा निष्क्रियत्वे चात्मनोऽन्युपगम्यमा-
गनस्येव बन्धमोक्षाद्यभावः, स च दृष्टेष्टवाधित । तथा
त्यानामपि प्रत्यक्षेणोत्पत्तिरेव क्रियेत्यतः कथं क्रियाया अजा-
अपिच-एकात्मेन क्रियाऽभावे ससारमोक्षाभावः स्यात् ।
नोऽस्ति क्रिया, तद्विपक्वच्युता चाक्रिया, इत्येव सङ्गां
शयेदिति ॥ १६ ॥

३ सक्रियात्मनि सति क्रोधादिसद्भाव इत्येतद्दर्शयितुमाह-

।त्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्न निवेसए ।

गतिं कोहे व माणे वा, एवं सक्त निवेसण ॥ ५० ॥

परमनोरप्रतीलक्षणं क्रोधः, स चानन्तानुबन्धप्रत्याख्या-
रणसज्ज्वलनभेदेन चतुर्धाऽऽगमं पठ्यते । तथैतावद्भेद एव
। गर्वः । पतौ द्वावपि, न स्तो न विद्येते । तथाहि—क्रोध के-
वेन्मतेन मानाश एव, अभिमानग्रहगृहीतस्य तत्कृतावत्यन्त-
रोदयदर्शनात् । कृपकश्रेण्यां च भेदेन क्षपणानञ्जुपगमात् ।
। किमयमात्मधर्मः, आहोस्वित्कर्मण, उतान्यस्येति ? तत्रा-
र्मित्वे सिद्धानामपि क्रोधोदयप्रसङ्गः । अथ कर्मण, ततस्तद-
त्पायोदयेऽपि न दुदयप्रसङ्गात् । मूर्तत्वाच्च कर्मणो हि घटस्ये-
दाकारोपलब्धिः स्यात् । अन्यधर्मत्वे त्वकिञ्चित्करत्वम् । अतो
न क्रोध इत्येवं मानाभावोऽपि वाच्य इत्येव सङ्गां नो निवे-
त् । यतः कषाय कर्मोदयवर्ती दृष्टेः प्रकृतभ्रुकुटीजङ्गो रक्तवद-
पलत्स्येदवि दृप्तमाकुल क्रोधाध्मान समुपलक्ष्यते । न चा
मानांशः, तत्कार्याकरणात्, तथा परनिमित्तोत्थापितत्वाच्चे-
तया जीवधर्मकर्मणोरुभयोरप्यय धर्मस्तद्धर्मत्वेन च प्रत्ये-
१३१

कविबाल्यदोषानुपपत्तिः , अनभ्युपगमात् । ससार्वात्मनां कर्म-
णा सार्कं पृथग्भवनाभावात्तदुभयस्य च न नरसिंहवद्वस्त्वन्तर-
त्वात् । इत्यनोऽस्ति क्रोधो मानश्चेत्येव सङ्गा निवेशयेत् ॥१०॥

साम्प्रत मागान्नोभयोरस्तित्व दर्शयितुमाह-

एत्थि माया न ह्योने वा, एवमन्नं निवेमए ।

अङ्घ्रि माया व लोले वा, एवं मन्त्रं निवेस्य ॥ २१ ॥

(णत्थि माया व लोभेन्यादि) अत्रापि प्राप्त्यन्मायात्रोभयोरजा-
घादीना निराकृत्यास्तिन्व प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥

साम्प्रत तेषां च क्रोधादीनां समासेनास्तित्वं प्रतिपादयन्नाह-

एत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेव मन्नं निवेमए ।

अतिय पेजे व दोसे वा, एवं मन्न निवेसए ॥ २२ ॥

(णात्थि वेज्जेत्यादि) प्रीतिलक्षण प्रेम पुत्रकनधनधान्याद्या-
त्मीयेषु राग , तद्विपरीतस्त्वात्मीयोपघातकारिणि द्वेष , तावैतौ
द्वावपि न विद्येते । तथाहि-केषांचिदभिप्रायः । यदुक्त—मा-
याहोभावेवावययौ विद्येते , न तत्समुदायरूपोऽवयव्यस्ति ।
तथा क्रोधमानावेव स्त , न तत्समुदायरूपोऽवयवी द्वेष इति ।
तथा ह्यवयवेभ्यो यद्यभिन्नोऽवयवी तर्हि तद्वेदेनात्त एव
नासौ । अथ त्रिन्न , पृथगुपनम्भ स्यात् , घटपटवत् । इती-
त्येवमसिद्धिकल्पमूढतया नो सङ्गां निवेशयेत् । यतोऽवयवा-
वयविनो कथंचिद्देह इत्येव वेदेनेदारूप्यनृतीयपक्षसमाश्रय-
णात्प्रत्येकपक्षाश्रितदोषानुपपत्तिः । इम्येव चास्ति प्रीतिलक्षण
प्रेम, अप्रीतिलक्षणश्च द्वेष इत्येव सङ्गां निवेशयेत् ॥ ७२ ॥

साम्प्रत कपायसद्भावे सिद्धे सति तत्कार्यजनोऽवश्यभावी
ससारसद्भाव इत्येतत्प्रतिषेधनिषेधद्वारेण प्रतिपादयितुमाह—

एतस्य चाञ्छरंते मंसारे, एते मन्त्र निवेसए ।

अतिथि चाउरते ससागे, एवं सन्न निवेमए ॥ ५३ ॥

णत्थि देवो व देवी वा, एव सन्नं निवेसए ।

अत्थि देवो व देवी वा. एव सन्न निवेमए ॥ २४ ॥

(श्रुतिश्च उच्यते इत्यादि) चत्वारोऽन्ता गतिभेदाः नरकतिर्यङ्म-
रामरत्नकणा यस्य ससारस्यासौ चतुरन्तः ससार एव कान्ता-
रः, भयैकहेतुत्वात् । स च चतुर्विधोऽपि न विद्यते; अपि तु सर्वेषां
संस्तिरूपत्वात्कर्मबन्धात्मकतया च दुःखैकहेतुत्वात् । अथवा
नारकदेवयोरनुपलब्ध्यमानत्वात्तिर्यङ्मनुष्ययोरप्यसदुःखो-
र्षतया तद्व्यवस्थानाद् द्विविधः ससारः, पर्यायनयाश्रयणान्त्यने-
कविधः, अतश्चातुर्विध्यः न कथंचिद् घटन इत्येव सङ्गा नो निवेदाये-
त् । अपित्वस्ति चतुरन्तः ससार इत्येव सङ्गा निवेदायेत् । यत्तु-
मप्येकविधः ससारः, तन्नोपपद्यते । यतोऽध्यक्षेण तिर्यङ्मनुष्ययो-
र्भेदः समुपलब्ध्यते । न चासावेकविधत्वे ससारस्य घटने । तथा
सभवानुमानेन नारकदेवानामप्यस्तित्वाभ्युपगमाद् द्वैविध्यमपि
न विद्यते । सभवानुमानः तु पुण्यपापयोः प्रहृष्टफलभुजस्तन्म-
ध्यफलभुजा तिर्यङ्मनुष्याणां दर्शनात् । अतः सभाज्यने प्रहृ-
ष्टफलभुजोऽप्योतिषा च प्रत्यक्षेणैव दर्शनात् । अथ तद्विमाना-
नामुपलम्भः, एवमपि तदधिष्ठातृभिः कैश्चिद्व्यतिव्यमित्यनुपमा-
नेन गम्यते । प्रहृष्टहीनवरप्रदानादिना च तदस्तिन्यानुमान-
मिति । तदस्तिन्ये तु प्रहृष्टपुण्यफलभुज इव प्रहृष्टपापफलभु-
जिरपि ज्ञाव्यमित्यतोऽस्ति चातुर्विध्यम् । ससारस्य पर्याय-
नयाश्रयणे तु यदनेकविधत्वमुच्यते । तदनुक्तम् । यतः भूत

पृथिव्याश्रिता अपि नारकाः समानजातीयाश्रयणादेकप्रकारा एव । तथा तिर्यञ्चोऽपि पृथिव्यादयः स्यावरा, तथा द्वित्रिचतु-
पञ्चेन्द्रियाश्च द्विपट्टियोनिन्नकप्रमाणा सर्वेऽप्येकविधा एव ।
तथा मनुष्या अपि कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजान्तरद्वीपकसमृच्छ-
नजात्मकजेदमनादित्येकविधत्वेनैवाश्रिता । तथा देवा अपि ज-
घनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकजेदेन भिन्ना एकविधत्वेनैव गृ-
हीता । तदेव सामान्यविशेषाश्रयणाश्चातुर्विध्यं ससारस्य व्यव-
स्थितम्, नैकविधत्वम्, ससारवैचित्र्यदर्शनात् । नाप्यनेकविध-
त्वम्, सर्वेषां नारकादीनां स्वजात्यनतिक्रमादिति ॥ २३ ॥ २४ ॥
सर्वभावानां सप्रतिपक्षत्वात्ससारसद्भावे सति अथवा त-
द्विमुक्तिलक्षणया सिद्ध्याऽपि जघितव्यमित्यतोऽधुना सप्रति-
पक्षा सिद्धिं दर्शयितुमाह—

णत्थि सिद्धी असिद्धी वा, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २५ ॥

(णत्थि सिद्धीत्यादि) सिद्धिरशेषकर्मच्युतिवृत्तकणा, तद्विपर्यस्ता
आसिद्धिर्नोस्तीत्येव नो सङ्गा निवेशयेत्, अपि त्वसिद्धेः संसार-
विवृत्तकणायाश्चातुर्विधेनानन्तरमेव प्रसाधिताया अविगाने नास्ति
त्वप्रसिद्धम्, तद्विपर्ययेण सिद्धेरप्यस्तित्वमनिवारितमित्यतोऽ-
स्तिसिद्धिरसिद्धित्वेव सङ्गा निवेशयेदिति स्थितम् । इदमुक्तं
जघति—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य सदावार्क-
र्मकस्य च, पीनोपशमादिनाऽध्यक्षेण दर्शनात् । अतः कस्यचि-
त्यन्तिककर्महानिसिद्धेरस्ति सिद्धिरिति । तथा चोक्तम्—“दोषा-
वरणयोर्हानिर्निषेधाऽस्त्यतिशायिनी । क्वचिद्यथा स्वहेतुन्यो,
बहिरन्तर्गन्धक्य” ॥ १ ॥ इत्यादि । सर्वज्ञसद्भावोऽपि सज्जवानुमा-
नाद् दृष्टव्यः । तथा हि—अभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया व्याकरणादिना
शास्त्रसंस्कारेणोत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्ञातिशयो दृष्टव्यः । तत्र क-
स्यन्त्रिदत्यन्तातिशयप्राप्ते सर्वज्ञत्वस्यादिति सभावानुमानेन चैत-
दाशङ्कनीयम् । तद्यथा—ताप्यमानमुदकमत्यन्तेष्णतामियाभ्रमि-
साङ्गवेत् । तथा—“दशहस्तेनान्तरं व्योमिन्, यो नामोत्प्लुत्य गच्छ-
ति । न योजनमसौ गन्तुं, शक्तोऽज्यासशतैरपि” ॥ १ ॥ इति दृष्टान्त-
वार्ष्टान्तिकयोरसाम्यात् । तथाहि—ताप्यमान जल प्रतिक्षणं स्यं
गच्छेत्, प्रज्ञा तु विवर्धते । यदि वा प्लोषोपलब्धेरव्याहतमभि-
त्वम् । तथा पत्रवनविषयेऽपि पूर्वमर्यादाया अनतिक्रमाद्योज-
जनोत्पन्नवनानावस्तत्परित्यागे चोत्तरोत्तर वृद्ध्या प्रज्ञाप्रकर्षगम-
नवद्योजनशनमपि गच्छेत्, इत्यतो दृष्टान्तवार्ष्टान्तिकयोरसा-
म्यात्तदेव नाशङ्कनीयमिति स्थितम् । प्रज्ञावृद्धेः बाधकप्रमा-
माणाभावादस्ति सर्वज्ञत्वप्राप्तिरिति । यदि वाऽज्जननृतसमुद्रक-
दृष्टान्तेन जीवाकुलत्वाज्जगतो हिंसाया दुर्निवारत्वात्सिद्धभाव-
ः । तथा चोक्तम्—“जले जीवा स्थले जीवा, आकाशे जीवमा-
सिनि । जीवमाशाऽऽकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ?” ॥ १ ॥
इत्यादि । तदेव सर्वस्यैव हिंसकत्वात्सिद्धभाव इति । तदेतद-
युक्तम् । तथाहि—सदोषयुक्तस्य पिहिताश्रवद्वारस्य पञ्चसमिति-
समितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य सर्वथा निरवाद्यानुप्रायिनो द्विचत्वा-
रिंशद्दोषरहितभिक्षाभुज ईर्यासमितस्य कदाचिद्भव्यतः प्राणि-
व्यपगोपणेऽपि तत्कृतवन्नाभावः, सर्वथा तस्यानवद्यत्वात् ।
तथा चोक्तम्—“उच्चाक्षियमि पाप” इत्यपि प्रतीतम्, तदेव कर्म-
वन्नाभावात्सिद्धे सद्भावोऽव्यादतः ; सामर्थ्यभावादसिद्धि-
सद्भावोऽपीति ॥ २५ ॥

साम्प्रत सिद्धानां स्थाननिरूपणायाह—

एत्थि सिद्धी नियं ठाणं, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥ २६ ॥

सिद्धेशेषकर्मच्युतिवृत्तकणाया निज स्थानमीपत्प्राग्भावाय व्य-
वहारतः, निश्चयतस्तु तदुपरि योजनक्रोशपरुभागस्तत्प्रतिपाद-
कप्रमाणाभावात्स नास्तीत्येव सङ्गा नो निवेशयेत्, यतो बाधक-
प्रमाणाभावात्साधकस्य चागमस्य सद्भावात् तत्सत्ता दुर्निवार-
ति । अपि च—अपगताशेषकल्मषाणां सिद्धानां केनचिद्विशिष्टेन
स्थानेन भाव्यम्, तच्चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्याप्रचूर्तं द्रष्ट-
व्यम् । न च शक्यते वक्तुमाकाशवत्सर्वव्यापिनः सिद्धा इति ।
यतो लोकालोकव्याप्याकाशम् । नचालोके परव्याप्याकाशमा-
त्ररूपत्वात् लोकमात्रव्यापित्वमपि नास्ति, विकल्पानुपपत्तेः । त-
थाहि—सिद्धावस्थायां तेषां व्यापित्वमन्युपगतम् ; उत प्रागपि न
तावत्सिद्धावस्थायाम्, तद्व्यापित्वमव्यवस्थितमिति भावात् । ना-
पि प्रागवस्थायाम्, तद्भावे सर्वससारिण प्रति नियतसुखदुःखानु-
जघो न स्यात् । न च शरीराद्वहिरवस्थितमवस्थानमस्ति, तत्स-
त्तानिबन्धनप्रमाणस्याभावात् । अतः सर्वव्यापित्वं विचार्यमाणं
न कथञ्चिद् घटते । तदभावे च लोकप्रमेव सिद्धानां स्थानम् । त-
द्वृत्तिश्च कर्मविमुक्तस्योर्ध्वं गतिरिति । तथा चोक्तम्—“लाभो गर-
रुफलं, भग्नी धूमे तसू धण्डुविमुक्ते । गर पुत्रपभोगेण, एवं सि-
द्धाणं वि गर्ह्यो” ॥ १ ॥ इत्यादि । तदेवमस्ति सिद्धिः, तस्याऽऽ-
निज स्थानमित्येव सङ्गा निवेशयेदिति ॥ २६ ॥

साम्प्रत सिद्धेः साधकानां तत्प्रतिपक्षभूतानामसाधूनां चास्ति-
त्व प्रतिपिपादयिषु पूर्वपक्षमाह—

एत्थि साहू असाहू वा, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २७ ॥

नास्ति न विद्यते ज्ञानदर्शनचारित्रक्रियोपेनो मोक्षमार्गव्यवस्थि-
तः साधु, संपूर्णस्य रत्नत्रयानुष्ठानस्याभावात्, तदभावाच्च तत्प्र-
तिपक्षभूतस्यासाधोरप्यभावः, परस्परापेक्षितत्वात् । एतद्व्यव-
स्थानस्यैकतराभावे द्वितीयस्याप्यभाव इत्येव सङ्गा नो निवेशये-
त्, अपि त्वस्ति साधु, सिद्धेः प्राक्संसाधितत्वात् । सिद्धिसत्ता च न
साधुमन्तरेण । अतः साधुसिद्धिस्तत्प्रतिपक्षभूतस्य वाऽसाधेरि-
ति । यश्च संपूर्णरत्नत्रयानुष्ठानाभाव प्रागाशङ्कितः, स सिद्धात्ता-
भिप्रायमधुनैव । तथाहि—सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्यारकाद्विषय स-
त्सयमवतः श्रुतानुसारेणाऽऽहारादिक बुद्धबुद्ध्या गृह्यतः क-
चिदज्ञानादनेषण्यग्रहणसन्नवेऽपि सततोपयुक्ततया संपूर्णमेव
रत्नत्रयानुष्ठानमिति । यश्च प्रज्ञमिदं चाभक्ष्यम्, गम्यमिदं चा-
गम्यम्, प्रासुकमेवणीयमिदमिदं च विपरीतमित्येव रागद्वेषसभ-
वेन समभावरूपस्य सामायिकस्याभावः कैश्चिच्चोद्यते, तत्तेषां
चोदनमज्ञानविजृम्भणात् । तथाहि—न तेषां सामायिकवतां
साधूनां रागद्वेषतया प्रज्ञाप्रज्ञादिविवेकोऽपि तु प्रधानमो-
क्षाङ्गस्य सञ्चाग्रिणस्य साधनार्थमपि चोपकारापकारयोः सम-
भावतया सामायिकम्, न पुनर्भक्ष्यान्नद्ययोः समभाववृत्त्ये-
ति ॥ २७ ॥

तदेव मुक्तिमार्गप्रवृत्तस्य साधुत्वम्, इतरस्य चासाधुत्वं, प्रव-
र्श्याधुना च सामान्येन कल्याणपापवतोः सद्भाव प्रतिषेधनिषे-
धद्वारेणाह—

णत्थि कद्धाणपावे वा, ऐवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि कद्धाणपावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २८ ॥

(णत्थि कल्याणपावे वेत्यादि) यथेष्टार्थफलसम्प्राप्ति कल्याणः, तत्र विद्यते, सर्वोद्बुधितया निरात्मकत्वात् । सर्वपदार्थानां बौद्धाभिप्रायेण, तथा तदभाव कल्याणवाञ्छा न कश्चिद्विद्यते, तथाऽऽत्मचूतवाद्यभिप्रायेण पुरुष एवेद सर्वमिति कृत्वा पाप पापवान् वा न कश्चिद्विद्यते, तदेवमुभयोरप्यज्ञावः । तथा चोक्तम्- " विद्याविनयसपत्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च, परिमता समदर्शिनः " ॥ १ ॥ इत्येवमेव कल्याणपापकाजारूपां सज्ञां नो निवेशयेत् । अपि त्वस्ति कल्याण, कल्याणवाञ्छा विद्यते, तद्विपर्यस्त पापं तद्विपर्यस्त विद्यते, इत्येवं सज्ञां निवेशयेत् । तथाहि-नैकान्तेन कल्याणाज्ञावो यो बौद्धैरभिहित, सर्वपदार्थानामुचित्वासम्भवात्, सर्वोद्बुधित्वे च बुद्ध्याप्युचित्वाप्राप्ते । नापि निरात्मनः स्वस्वव्यक्तेरकाज्ञावापेक्षया सर्वपदार्थानां विद्यमानत्वात्परस्वव्यादिजिस्तु न विद्यन्ते, सदस-त्वात्मकत्वाद्वास्तुनः । तदुक्तम्-स्वपरसत्ताव्युदासोपादानात्पाद्य हि वस्तुनो वस्तुत्वमिति । तथाऽऽत्माद्वैतभावाज्ञावात्पापाभावोऽपि नास्ति, अद्वैतभावे हि सुखी दुःखी सरोगो नीराग गुरुपः कुरुपः दुर्भग सुनगोऽर्थवान् दरिद्र, तथाऽयमन्तिकोऽयं तु दवीयान् इत्येवमादिको जगद्वैविध्यभावोऽप्यकसिद्धोऽपि न स्यात् । यच्च समदर्शित्वमुच्यते ब्राह्मणचारुडालादिषु, तदपि समानपीमोत्पादनतो द्रष्टव्यम्, न पुन कर्मोत्पादितवैविध्यजा-वोऽपि तेषां ब्राह्मणचारुडालादीनामस्तीति । तदेव कथञ्चित्कल्याणमस्ति, तद्विपर्यस्त तु पापकमिति । न चैकान्तेन कल्याणमेव, यतः केवलानां प्रकीर्णघनघातिकर्मचतुष्टयानां सातासातोदय सज्ञावात् । तथा नारकाणामपि पञ्चेन्द्रियत्वविशिष्टज्ञानादिस-ज्ञावानैकान्तेन तेऽपि पापवन्त इति । तस्मात्कथञ्चित्कल्याण कथं चित्पापमिति स्थितम् ॥ ३८ ॥

तदेव कल्याणपापयोरनेकान्तरूपत्व प्रसाधैकान्तं

दूषयितुमाह—

कल्याणे पावप् वा वि, व्यवहारो ण विज्झइ ।

जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥२९॥

(कल्याणे पावप् इत्यादि) कल्यं सुखमारोग्यं शोभनत्वं वा, तदणतीति कल्याणम्, तदस्यास्तीति कल्याणः " अर्थ आ-दिभ्योऽच् " ५ । २ । १२७ ॥ इत्यनेन पाणिनीयसूत्रेण मत्वर्थी-याऽऽप्रत्ययान्तः, कल्याणवानिति यावत् । पापकशब्दोऽपि मत्वर्थीयाऽऽप्रत्ययान्तो द्रष्टव्यः, तदेव सर्वथा कल्याणवा-नेवायम्, तथा पापवानेवायमित्येवभूतो व्यवहारो न विद्यते । तदेकान्तचूतस्यार्थस्यैवाज्ञावात् । तदभावस्य च सर्ववस्तूनामने-कान्ताश्रयणेन प्राक्प्रसाधितत्वादिति । एतच्च व्यवहाराभावा-श्रयण सर्वत्र प्रागपि योजनीयम् । तद्यथा-सर्वत्र वीर्यमस्ति नास्ति वा सर्वत्र वीर्यमित्येवभूत एकान्तिको व्यवहारो न विद्यते । तथा नास्ति लोकोऽलोको वा, तथा सन्ति जीवा अजी-वा इति वेत्येवभूतो व्यवहारो न विद्यते इति सर्वत्र सयन्धनी-यम् । तथा वैर वज्र तद्वत्कर्म वैर, विरोधो वा वैरम्, तथेन परोपतापादिनैकान्तपक्षसमाश्रयणेन वा भवति, तत्ते भ्रमणा-स्तीर्थिका बाला इव घाता रागद्वेषकक्षिता परिमृताभिमानित श्चकतर्कदर्पाधमाता न जानन्ति, परमार्थचूतस्याहिसालक्षणस्य धर्मस्यानेकान्तपक्षस्य वाऽनाश्रयणादिति । यदि वा यदैरं तत्ते भ्रमणा घाता परिमृता वा न जानन्तीत्येव वाच न निस्सृजेदित्यु-चरेण संबन्धः । किमिति न निस्सृजेत् ? यतस्ते किञ्चिज्ज्ञान-

न्येव । अपि च-तेषां तन्निमित्तकोपोत्पत्तेर्यच्चैवभूत यच्चस्तत्र वाच्यम् । यत उक्तम्-"अप्यस्य जेण सिया, भाधु कुप्पिज्ज वा परो । सव्वसो त ण भासेज्जा, ज्ञास आहियगामिणि " ॥१॥ इत्यादि ॥ २९ ॥

अपरमपि वाक्सयममधिकृत्याऽऽह—

असेसं अक्खयं वा वि, सव्वदुक्खे ति वा पुणो ।

वज्झा पाणा न वज्झन्ति, इति वायं न नीसरे ॥३०॥

(असेसमित्यादि)अशेषं कृत्स्नं तत्साहचर्याभिप्रायेण कृत नित्यमि-त्येव न ध्यात्, प्रत्यर्थं प्रतिसमय चान्यथान्यथाभावदर्शनात् । स एवायमित्येवभूतस्यैकत्वसाधकस्य प्रत्यभिज्ञानस्य लून पुन-र्जातेषु केशनखादिष्वपि प्रदर्शनात् । तथापि शब्दादेकान्तेन कृणिकमित्येवमपि वाच न निस्सृजेत्, सर्वथा कृणिकत्वे पूर्वस्य सर्वथा विनष्टत्वाद्भूतस्य निर्दोषक उत्पादः स्यात् । तथा च सति "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्" इति । तथा सर्वं जगद् दुःखात्मकमित्येवमपि न ध्यात्, सुखात्मकस्या-पि सम्यग्दर्शनादिभावेन दर्शनात् । तथा चोक्तम्-"तणसथार-निस्सखो, वि मुणिवरो णट्ठरागमयमोहो । ज पावइ मुत्तिमुद, कसो त चक्खवट्ठी वि" ॥ १ ॥ तथा-वध्याश्चौरपारदारिकादयः, अवध्या वा, तत्कर्मानुमतिप्रसगान्, इत्येवभूतां वाच खानुष्ठानप-रायणः साधु परव्यापारनिरपेक्षो न निस्सृजेत् । तथाहि-सिद्ध-व्याघ्रमार्जारीदीन् परस्वव्यापादनपरायणान् दृष्ट्वा माध्यस्थ्यम-वलम्बयेत् । तथा चोक्तम्-"मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यादीनि सत्त्वगुणाधिककिलिहयमानविनयेषु " इति । एवमयोऽपि वा-क्सयमो द्रष्टव्यः । तद्यथा-अमी गवाद्यो बाह्या न बाह्या, त-थाऽमी वृक्षादयश्छेद्या न छेद्या वेत्यादिक वचो न वाच्यं साधु-नेति ॥ ३० ॥

अयमपरो वाक्सयमप्रकारोऽन्तःकरणबुद्धि—

समाश्रितः प्रदर्श्यते—

दीसंति समियाचारा, जिकखुणा सादुजीविणो ।

एए मिच्छोवजीवंति, इति दिट्ठि न धारए ॥ ३१ ॥

दृश्यन्ते समुपलज्यन्ते स्वशास्त्रोक्तेन विधिना निभृत संयत आत्मा येषां ते निजनात्मान । क्वचित्पाठः-(समियाचारं स्ति) । सम्यक् स्वशास्त्रविहितानुष्ठानादविपरीत आचारोऽनुष्ठान येषां ते सम्यगाचाराः, सम्यग्वा इतो व्यवस्थित आचारो येषां ते समिताचाराः । के ते ? भिक्षुणशिला जिकामाप्रवृत्तय । तथा साधुना विधिना जीवितुं शीलं येषां ते साधुजीविन । तथाहि-ते न कस्यचिदुपरोधाधिधानेन जीवन्ति । तथा कान्ता दान्ता जितक्रोधा सत्यसन्धा दृढमता युगान्तरमाप्रवृत्तयः परिपुनोद-कपायिनो मौनिनः सदा तायिनो विविधैकान्तप्यानाप्यामि-नोऽकौकुल्या, तानेवभूतानुपधायी अपि सरागा अपि धीनरा-गा इव चेष्टन्ते, इति मयैते मिथ्यात्वोपजीविन इत्येव दृष्टि न धारयेन्नैव चूतमध्यवसायं कुर्यात्, नाप्येवभूतां याचं निस्सृजेत-यथैते मिथ्योपचारप्रवृत्ता मायाविन इति, दृष्टस्येन शार्ङ्गभृ-नेवभूतस्य निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वादित्यभिप्रायः । ते च स्व-युष्या वा भवेयुस्तीर्थानरीया वाः साधुनापि न पचर्या सा-धुना । यत उक्तम्-" यावत्परगुणपरदो-पकीर्तने व्यापूनमनो भवति । तावद्धरं विदुः के ध्याने एवमनं कर्तुम् " ॥ १ ॥ इत्यादि ॥ ३१ ॥

किञ्चाऽन्यत्—

दक्षिणाए पमीलंभो, अथि वा एथि वा पुणो ॥
ए वियागरेज्ज मेहावी, संति मग्ग च बूहए ॥ ३२ ॥

(दक्षिणाए इत्यादि) दान दक्षिणा, तस्याः प्रतिलम्भः प्राप्तिः, स दानज्ञानोऽस्माद्गृहस्थादेः सकाशादस्ति नास्ति वेत्येव न व्यागृणीयात्, मेधावी मर्यादाव्यवस्थित । यदि वा स्वयूथस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दान ग्रहण वा प्रतिलाभः । स एकान्तेनास्ति सभवति, नास्ति वेत्येव न भूयान्, एकान्तेन तद्दानग्रहणनिषेधे केषोत्पात्तसन्वात् । तथाहि—तद्दाननिषेधेऽन्तरायसन्वात्, तद्वचित्र्य च तद्दानानुमतावप्यधिकरणोद्भूय इत्यतोऽस्ति दान न वेत्येवमकान्तेन न भूयात् । कथं तर्हि भूयात् ? इति दर्शयति—शान्तिमोक्षं, तस्य मार्गं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः, तमुपयुहयेद्धर्धयेत् । यथा मोक्षमार्गाजिवृत्तिर्भवति तथा भूयादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—पृष्ठं केनचिद्विधिप्रतिषेधमन्तरेण देयप्रतिग्राहकविषय निरवद्यमेव भूयादित्येवमादिकमन्यदापि ॥ ३२ ॥

साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसजिघृक्षुराह—

इच्छेएहिं ठाणेहिं, जिणदिहेहिं संजए ।

धारयंते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिव्वएज्ज । ३३ । ति वेमि ।

इत्येतैरेकान्तनिषेधद्वारेणानेकान्तविधायिभिः स्थानैर्वाक्सयमप्रधाने समस्ताध्ययनोक्तैः रागद्वेषरहितैर्जिज्ञैर्दृष्टैरुपलब्धैर्न समतिविकल्पोत्थापिनैः, सयतः सन् सयमवानात्मान धारयन्त्रैभिर्विबिधधर्मदेगनावसरे वाच्यम् । तथा चोक्तम्—“सावज्जऽणवज्जाण, वयणाण जो ण जाणऽ विसेस ” इत्यादिस्थानैरात्मानवर्तयन्नामोक्तायाशेषकर्मक्यार्थं भोक्तृयायत्परि समन्तात्सयमानुष्ठाने ब्रजे, गच्छेत्स्वमिति विधेयस्योपदेशः । इतिः परिसमाप्त्यर्थः । ब्रवीमोनि पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

अर्थीकरण—अर्थीकरण—न० । अर्थयते अर्थी वा करोति अर्थं जनयते इत्यर्थीकरणम् । राजादीनां प्रार्थने, तैर्वाऽऽत्मनः प्रार्थनाकारणे, नि० चू० ।

जे जिकखू रायं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥
जे भिकखू रायरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरत वा साइज्जइ ॥ २ ॥
जे जिकखू एगररक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंत वा साइज्जइ ॥ ३ ॥
जे जिकखू गामरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंत वा माऽज्जइ ॥ ४ ॥
जे जिकखू देसरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥
जे जिकखू सीमागक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥
जे जिकखू णिगपरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंत वा साइज्जइ ॥ ७ ॥
जे भिकखू सव्वारक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

अत्ययते अर्थी वा, करेइ अत्थ व जणयते जम्हा ।

अर्थीकरणं तम्हा, विज्जादिणिमित्तमादीहिं ॥ ३३ ॥

साहू रायाण अन्थेनि प्रार्थयते, साधू वा तदा करोति जहा सो राया तस्स साहूस्स अर्थीभवति, प्रार्थयतीत्यर्थः । साधुर्या

तस्य राहूः अर्थं जनयति । जम्हा एव करोति तम्हा अर्थीकरणं जणयति । साधू रायाण जणयति—मम अर्थि विज्जा, णिमित्तं वा तीताणामन । ताहे सो राया अर्थीभवति । आदिसहातो रसायणादिजोगा । इम अर्थीकरण ।

धातुनिधाणदरिसणे, जणयंतं तत्थ होति सट्ठाणं ।

अत्थी अर्थी अत्थे—ए संतऽसंतेण लहु लहुया ॥ २१ ॥

धातुवादेण वा से अत्थ करोति, महाकालमतेण वा से णिहिं दरिसेति । एव अत्थ जणयतो सट्ठाणपच्छिन्न, उक्ताया चउसु लहुया । सीहावलोयणेण गतोऽप्यर्थं पुनरुच्यते—अत्थी, अर्थी, अर्थी, एतेसु सतेसु मासवहु, अमते चउलहुं ।

एके एगतरेण, अर्थीकरणेण जो तु रायाणं ।

अर्थीकरेति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ २४ ॥

राया भिक्खुस्स सजम अणुगेलस एतेहिं राया चत्तारि गाहाओ जाव एतेहिं । नि० चू० ४ उ० ।

अत्यु (त्योव) गह—अर्थीवग्रह—पु० । अर्थयते इत्यर्थः । अर्थस्यावग्रहणमर्थीवग्रहः । सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षाऽनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणलक्षणे मतिज्ञानभेदाऽवग्रहभेदे, न० । स० । कर्म० । म० । स्था० । प्रज्ञा० । “सामभरूवाद् विसेसणरहिं यस्स अनिहेसस्स” अवग्रहणमवग्रह इति । न० । प्रव० । अर्थीतेऽधिगम्यते, अर्थयते वाऽन्विष्यत इति अर्थः । तस्य सामान्यरूपस्याशेषनिरपेक्षानिर्देश्यस्य रूपादेरवग्रहणं प्रथमपरिच्छेदनमर्थीवग्रह इति निर्विकल्पकं ज्ञानं दर्शनमिति यदुच्यते इत्यर्थः । स नैश्चयिको यः स सामायिकः । यस्तु व्यावहारिकः शब्दोऽयमित्याद्युल्लेखवान् सोऽन्तर्माहूर्तिक इति । अयं पञ्चेन्द्रियमनस्यवन्धात् पोढा इति । स्था० २ वा० १ उ० । (अर्थीवग्रहस्य सोपपत्तिकं स्वरूपविवेकः ‘उगह’ शब्दे द्वितीयभागे ६६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः) स च मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात्पोढा । प्रव० २१६ वा० ।

तथा च सूत्रम्—

अत्योवगगहे णं जंते ! कतिविहे पसुत्ते ? । गोयमा ! छविहे पसुत्ते । त जहा—सोऽदीयअत्योवगगहे १, चर्क्सदियअत्योवगगहे २, घाणिंदियअत्योवगगहे ३, जिंनिंदियअत्योवगगहे ४, फासिंदियअत्योवगगहे ५, नोइदिअत्योवगगहे ६ ॥ प्रज्ञा० १५ पद । स्था० ।

अथ कोऽयमर्थीवग्रहः ? । सूरिराह—अर्थीवग्रहः षड्विधः प्रज्ञासः । तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियार्थीवग्रह इत्यादि । श्रोत्रेन्द्रियेणार्थीवग्रहो व्यञ्जनावग्रहानन्तरकालमेकसामायिकमनिर्देश्यसामान्यरूपार्थीवग्रहणं श्रोत्रेन्द्रियार्थीवग्रहः । एवमणजिह्वास्पर्शेन्द्रियार्थीवग्रहेष्वपि वाच्यम् । चक्षुर्मनसोऽस्तु व्यञ्जनावग्रहो न भवति । नतस्तयो प्रथममेवरूपद्रव्यगुणक्रियाविकल्पनाऽतीतमनिर्देश्य सामान्यमात्ररूपार्थीवग्रहणं मर्थीवग्रहोऽवसेयः । तत्र—(नोइदिअत्योवगगहे ति) नोइन्द्रियमनः । तच्च द्विधा—द्रव्यरूप, भावरूप च । तत्र मनःपर्यासिनामकममोदयतो यन्मनःप्रायोग्यवर्गणादलिकानादावमनस्त्वेन परिणमति, तद्रव्यरूपमनः । तथाचाह चूर्णिकत्

"मणपञ्च सि भामकम्मोदयन्तो जोगो मणोदन्ने चेत्तु मणत्ते-
ण परिणामिया द्रव्यमणो भण्णइ ' तथा द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन
जीवस्य यो मननपरिणाम स भावमन । तथा चाह चूर्णि-
कार एव- " जीवा पुण मणणपरिणामकिरियापणो भावमणो ।
किं भणिय होइ ?-मणव्यालयणो जीवस्स मणवाचरो भा-
वमणो भण्णइ" । तत्रेह भावमनसा प्रयोजनम्, तदग्रहणं हावश्य
द्रव्यमनसोऽपि ग्रहणं भवति, द्रव्यमनोऽन्तरेण भावमनसो-
ऽसम्भवात् । भावमनो विनाऽपि च द्रव्यमनो भवति, यथा
भवस्थकेवलिनः ; तत् उच्यते भावमनसाह प्रयोजनम् । तत्र
नोहन्त्रियेण भावमनसोऽर्थावग्रहो ह्येन्द्रियव्यापारनिरपेक्षो
घटाद्यर्थस्वरूपपरिभाषनाभिमुखः प्रथममेकसामायिको रूपा-
द्यर्थाकारादिविशेषचिन्ताविकलो निर्देश्यसामान्यमात्रचि-
न्ताऽऽत्मको बोधो नाहन्त्रियार्थावग्रहः । म० । अथ च नैश्चयिक
एकसामायिक । व्यापहारिकस्त्वान्तर्मीहर्तिक । स्था० ६ ठा० ।
अत्यु (त्यो) गहण-अर्थावग्रहण-म० । फलनिश्चये, म०
११ श० ११ उ० ।

अत्युमं-देशी-सघी, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्युत्पत्ति-अर्थोत्पत्ति-त्वा० । उत्पद्यते यस्मादिति उत्पत्ति ।
अर्थस्योत्पत्तिव्यवहार उच्यते अर्थोत्पत्तिः । करणव्यवहारे,
व्य० १ उ० ।

अत्येर-अस्थैर्य-न० । अस्थिरत्वे, अष्ट० ४ अष्ट० ।

अत्योत्पायण-अर्थोत्पादन-न० । ज्योऽऽरजने, प्रथ० ७ ६ठा० ।

अत्योभय-अस्तोजक-न० । न० प० । स्तोत्रकरहिते शुणवत्सूत्रे,
अनु० । "उय ष इकारो ह सि अ-फारगुडिय थोनया हुनि" उत
वै हाऽऽदिप्रभृतीनामकारणप्रश्ने, पा. स्तोत्रका. । तद्वद्विस्तमस्तोभ-
कम् । वृ० १ उ० । विशेषः ।

अयव्वण-अर्थवण-पु० । अतुर्थवेदे, " जाव प्रथयणकुसलेया
वि होत्या" विपा० १ शु० ५ अ० ।

अद्-अद्-अ० । आश्चर्यं, " धियो यो न प्रचोदयाऽत् " अदिति
आश्चर्यरूपस्त-कारणेऽनिवृत्तत्वात्, ततश्च हे अत् । " विगमे
या" ॥ १ । ३ । ५१ ॥ इति द्रव्य त । साहचर्याभिप्रायेण गा० व्या-
ख्या । जे० गा० । पताएश प्रयोगः प्राकृते न प्रयुज्यते ।

अदंम-अदंम-पु० । प्रशस्तयोगप्रये, अहिसामात्रे च । " पयो
अदमे " स० १ सम० ।

अदमकु (को) दंमिप-अदंमकुदंमिप-त्रि० । दंमलज्य द्रव्य
दम एव । कुदंमेन निर्वृत्त द्रव्य कुदंमिपम्, तत्रास्ति यत्र
तत्तथा । दंमकुदंमिपमगृह्यमाणद्वये नगरादौ, तत्र दंमो-
ऽपराधानुसारेण राजग्राह्य द्रव्यम्, कुदंमस्तु-कारणिकाना
प्रजापराधान्महत्यपराधिनोऽपराधेऽल्प राजग्राह्य द्रव्यमिति ।
" उम्मुक उकर वकेच अदिज्ज अमेज्ज अभमरूपवेस अदंमको-
इदिम अभरिम गणिवावरनारुज्जलिय " (पुरीवर्णकः) न०
११ श० ११ उ० । ज्ञा० । ज० । कल्प० ।

अदंतवण-अदन्तवन-त्रि० । दन्तधावनरहिते, अदन्तधावनो
धर्मो धीरमहापद्मयोस्तीर्थेऽनुज्ञानः । स्था० ९ गा० ।

अदंभग-अदंभक-त्रि० । वञ्चनाऽनुगतवचनविरहिते, व्य० ३ उ० ।
१३२

अदं (ह) साण-अदंशान-न० । न० न० । प्राकृते- " समासे या " ॥ ७ । २ ।
ए० ॥ इति द्रव्य वा द्वित्रय । प्रा० । चाकृपज्ञानाभावेन विद्यते
दर्शन इह यस्म्यन्यदर्शन । अन्ये, स्त्यानकिन्निहोदयवति च । ग०
१ अधि० । न विद्यते दर्शन सम्यक्त्वमस्येति व्युत्पत्तेः । अथ च
दीक्षितः सन् विरुलतया यत्र तत्र वा सचरन् षट्पायान् विरा-
धयेतिपमकोवकफाटकादिषु च पतेत् । स्त्यानकिन्निहोदयप्रविष्टो
गृहिणा साधना च मारणादि कुर्यात् । प्रथ० १०७ द्वा० । ध० ।

" उदिहो अदमणो म्भु, जाति उवघाततो य णायव्वो ।

उवघातो पुण तिनियो, वादीउवघातमज्जणत्ताए ॥ १ ॥

सणेण निय अत्रो, यीणकीओ मुणेयव्वो ।

एतेसि सो हि इमा, जहकमेण मुणेयव्वो ॥ २ ॥

उचियणयणे तह मे-सणसु यीणदिनो तु कमसो तु ।

उगुरु चउगुरु चरिम दोसा तदि दिक्खिने इणमो ॥ ३ ॥

उगायविउगमणता, आचरण खाणुकटमाठीसु ।

यमिल्लपगिगेहा, अधस्स ण कप्पती दिक्खता ॥ ४ ॥

पवहति य महादोम, दमणकम्मोदण यीणद्धी ।

एगमणेगय उ से, ज काही त तु आवज्जे ॥ ५ ॥ प० भा० ।

चोरे, दे० ना० १ वर्ग ।

अदक्खु-अदृष्ट-त्रि० । न० ब० । अर्वागदर्शने, सूत्र० १ शु० २
अ० ३ उ० ।

अदक्खु-त्रि० । अनिपुणे, सूत्र० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अपश्य-त्रि० । पश्यतीति पश्य, न पश्योऽपश्यः । अन्ये,
सूत्र० १ शु० २ अ० ३ उ० । आडाहीन् इत्यस्यापि ' अदक्खु'
इति रूपम् । प्रति० । म० ।

अदक्खुदंसण-अदक्षदर्शन-त्रि० । असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिनि,
सूत्र० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अदृष्टदर्शन-त्रि० । असर्वज्ञोक्तशासनाऽनुयायिनि, सूत्र० १ शु०
२ अ० ३ उ० ।

अपश्यकदर्शन-त्रि० । अपश्यकस्यापि सर्वज्ञस्यान्युपगत दर्-
शन येनाऽस्तानपश्यकदर्शन । स्वतोऽर्वागदर्शिनि, सूत्र० ।

अदक्खुव दक्खुवाहियं, महहसु अदक्खुदंसणा ।

इदि हु सुनिरुद्धसणे, गोहणिज्जेण कमेण कम्मुणा १ ?

(अदक्खुवेत्यादि) पश्यतीति पश्य, न पश्योऽपश्यो-

ऽन्ध, तेन तुल्य कार्याकार्याविवेचित्यादपश्यवत् । तस्याऽऽ-

मन्त्रण हे अपश्यवत् । अन्धसदृश । प्रत्यक्षस्यैवैकस्या-

ऽन्युपगमेन कार्याकार्यान्निर्णयः !, पश्येन सर्वज्ञेन, व्यावृत्तमु-

क्त सर्वज्ञागम, अद्वैत प्रमाणिकुरु, प्रत्यक्षस्यैवैकस्याऽऽभ्युप-

गमेन समस्तव्यवहारविलोपेन हत ! हतोऽसि, पितृनिवन्धनस्या-

ऽपि व्यवहारस्याऽसिरेरिति । तथाऽपश्यकस्याऽपि असर्वज्ञस्याऽ-

न्युपगत दर्शन येनासावपश्यकदर्शन, तस्याऽऽमन्त्रण वा हे

अपश्यकदर्शन ! स्वतोऽर्वागदर्शी भूतास्तथाविधदर्शनप्रमाणश्च

सन् कार्याकार्याविवेचितयाऽन्धवदभविष्यत् यदि सर्वज्ञान्यु-

पगम नाऽकरिष्यत् । यदि चाऽदृष्टो वा अनिपुणो वा यादृश-

स्तादृशो वाऽचक्षुर्दर्शनमस्याऽसावचक्षुर्दर्शनः केवलदर्शनः

सर्वज्ञस्तस्मादवाप्यते हितं तन् अद्वैत । इदमुक्तं भवति-

अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनोक्तं हितं अज्ञातव्यम् । यदि

वा हे अदृष्ट ! हे अर्वागदर्शन ! दृष्टाऽतीताऽनागतव्यवहितसु-

हमरदार्थदर्शना यद्वाहनमनिहितमागमः, त अक्षस्व । हे अक्ष-
ददर्शन !, अदक्षदर्शन ! इति वा, असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिन् ।
तमात्मीयमाग्रहं परित्यज्य सर्वज्ञोक्ते मार्गे अद्धानं कुर्विति ता-
त्पर्यार्थः । किमिति सर्वज्ञोक्ते मार्गे अद्धानमनुमानं करोति ये-
नैवमुपदिश्यते । तन्निमित्तमाह-हृदीत्येव गृहाण । हृद्देशो वा-
क्यालङ्कारे, सुष्ठु अतिशयेन निरुद्धमात्रुन दर्शनं सम्यक् अव-
बोधरूप यस्य स । केनेत्याह-मोहयतीति मोहनायम्, मिथ्या-
दर्शनादि, ज्ञानावरणीयादिकं वा, तेन कृतेन कर्मणा निरुद्धदर्शनं
प्राणी सर्वज्ञोक्तमार्गं न अरुते । अतस्त-मार्गअद्धानं प्रति चोद्यत
इति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अदक्षुव-अपश्यवत्-त्रि० । अपश्योऽव, तेन तुल्य कार्या-
कार्याविवेचित्वादपश्यवत् । अन्धसदृशे कार्याकार्याननिहे,
सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदद-अदद-त्रि० । दुर्बले, व्य० ४ उ० । आचा० ।

अददधिर्-अददधृति-त्रि० धृतिरहिते, नि० चू० १ उ० । असम-
र्थे, नि० चू० १ उ० ।

अदण-अदन-न० । अद-त्युद् । नोजने, रू० १ उ० ।

अदक्ष-अदक्ष त्रि० । आकुलीभूते, वृ० १ उ० । विषादीकृते, "तेण
वि य गिलाणेण ते अदक्षा " नि० चू० १ उ० ।

अदत्त(दिष्)-अदत्त-त्रि० । न० त० । अवितीर्णे, प्रश्न० ३ आ-
श्र० द्वा० ध० । अदत्तद्रव्यग्रहणरूपे तृतीये आश्रयभेदे, प्रश्न० १
आश्र० द्वा० । " हिंसामोसमादिष्वभपरिगृहे " प्रव० १ द्वा० ।

अदत्त(दिष्) हारि(ण्)-अदत्तहारि-त्रि० । अदत्तमप-
हर्तुं शीलमस्याऽऽसावदत्तहारी । परद्रव्यापहारके, "जे लूसए
होइ अदत्तहारी, ए सिक्खती से य वियस्स किंचि" सूत्र० १
श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अदत्ता (दिष्) दाण-अदत्तादान-न० । अदत्तस्य स्वा-
मिजीवनीधरगुरुभिरवितीर्णस्थाननुज्ञातस्य सचित्ताचि-
तमिभ्रमेदस्य वस्तुन आदानं ग्रहणमदत्तादानम् । तच्च वि-
विधोपाधिवशादनेकविधम् । " एगे अदिष्णादाणे " स्था० १
उ० । सूत्र० । चोर इति व्यपदेशनिबन्धने, उपा० १
अ० । परस्वापहारे, आव० ६ अ० । आ० चू० ।

यथा च तददत्तादानं प्रश्न० ३ अधर्मद्वारे यादृक् १ यन्नाम
२ यथा च कृतं ३ यत्फलं ददाति ४ ये च कुर्वन्ति ५ इति प-
ञ्चभिर्द्वारैः क्रमेण प्ररूपितं, तथैवेह प्रदर्शयते-

- (१) यादृशमदत्तादानस्वरूपं तत्प्रतिपादनम् ।
- (२) अदत्तादानस्य नामानि ।
- (३) (यथा च कृतं) ये चादत्तादानं कुर्वन्ति तन्निरूपणम् ।
- (४) अदत्तादानं यत्फलं ददाति तन्निरूपणम् ।
- (५) आचार्योपाध्यायादिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम् ।
- (६) लघुस्वकमदत्तं गृह्णाति ।
- (७) तपस्तैर्न्यादि न कुर्वीत ।

(१) तत्र यादृशमदत्तादानस्वरूपं तत्प्रतिपाद-
यैस्तावदाह-

जंबू ! तत्तियं च अदिष्णादाणं हृद्दहमरणजयकलुसता-
मणपरमनिगमिज्जल्लोचमूलकालाविममससियं अहोऽच्छि-
म्वनगहपत्ताणपत्थोइमइय अकित्तिकरं अणज्जं विह

मतरविधुरवसणमगणउत्सवमत्तपमत्तपसुत्तवचणाऽऽखि-
वणघायणपगणिहुयपरिणा।मतकरजणवहुमयं अकलुण रा-
यपुरिसरन्वियं मया साहुगरहणज्ज पियजणपित्तजणभे-
दविप्पीतिकारक रागदोमवहुत्वं पुणा य उप्परसमरसंगाम-
दमरकलिकलहवहकरणं दुग्गतिविणिवायवहुणं जवपुनज्ज-
वरं चिरपरिचियं अणुगयं दुरंतं तउयं अधम्मदार ॥

हे जम्बू ! तृतीयं पुनराश्रयद्वाराणां किमदत्तस्य धनादेरा-
दानं ग्रहणमदत्तादानम् ? । 'हर दह' इत्येतौ हरणदाहयो पर-
प्रवर्तनार्थौ शब्दा, हरणदहनपर्यायौ वा छान्दसाविति । तौ च
मरणं च मृत्युः, भयं च भीतिरेता एव कलुषपातकं, तेन त्रा-
सनं त्रासजनकं च रूपं यत्तत्तथा । तच्च तत् तथा (परसत-
गति) परसत्के धने यो गृह्णीतौ रौद्रध्यानान्विता मूर्च्छा,
स मूलनिबन्धनस्यादत्तादानस्य तत्तथा । तथेति कर्मधार-
यः । कालक्षार्धरात्रिविषयः, विषमश्च पर्वतादिदुर्गं, तैः सञ्चित-
माश्रितं यत्तत्तथा । ते हि प्रायः तत्कारिभिराश्रीयत इति । (अ-
होच्छिन्नान्तराध्यायपरिधोइमइय इति) अथ अश्रोगतौ, अ-
च्छिन्नप्रतृप्पणानां अश्रुतिनवाच्छ्रानां, यन् प्रस्थानं यात्रा, तत्र प्र-
स्तोत्री प्रस्ताविका प्रवर्तिका मनिर्बुद्धिर्यस्मिन्स्तत्तथा । अकी-
र्तिकरणमनार्यम्, एते व्यक्ते । तथा छिद्रं प्रवेशद्वारम्, अन्तर-
मचसरं, विधुरमपायः, व्यसनं राजादिदत्ततापः, एतेषां
मार्गणम्, उत्सवेषु मत्तानां च प्रमत्तानां च प्रसुप्तानां च वञ्चनं
च प्रतारणम्, आक्षेपणं च चित्तव्यग्रताऽऽपादनम्, घातनं च
मारणम्, इति छन्दः । तत् एतत्परत एतन्निष्ठोऽनिभृतोऽनुप-
शान्तं परिणामो यस्यासौ छिद्रान्तर्गविधुरव्यसनमार्गणोत्स-
वमत्तप्रमत्तप्रसुप्तवञ्चनाक्षेपणघातनपरानिभृतपरिणामः । स
चासौ तत्स्वरजनः, तस्य बहुमतं यत्तत्तथा । याचनान्तरे त्विदमे-
व पठ्यते- ' विहविसमपावगेत्यादि ' छिद्रविषमपापकं च नित्यं
विहविषमयोः सवन्धोऽद पापमित्यर्थः । अन्यदाऽऽहितन्याय
प्रायः कर्तुमशक्यमिति भावः । अनिभृतपरिणामसाक्षिणस्तत्स्वर-
जनबहुमतं चेति । अकरुण निर्दयः, राजपुरुषरक्षितम्, तैर्निवारित-
मित्यर्थः । सदा साधुगर्हणीयः, प्रतीतम् । प्रियजनमित्रजनानां
भेदं वियोजनं विप्राति विप्रियं करोति यत्तत्तथा । रागद्वेषबहु-
लः, प्रतीतम् । पुनश्च पुनरपि (उप्परं) उत्पूरेण प्राचुर्येण
समग्रे जनमरकयुक्तो यः समग्रो रणः स उत्पूरसमरसंग्रामः,
स च ममरं भीत्यापलायनं, कलिकदहश्च राटीकलहो, न तु
रनिकलहः । बधश्चातुशयः, एतेषां कारणं कारणं यत्तत्तथा ।
दुर्गतिविनिपातवर्द्धनः, प्रतीतम् । भवे ससारे, पुनर्भवान् पुनरु-
त्पादान् करोतीत्येव शीलं यत्तत्तथा । चिरं परिचितम्, अनुगत-
मन्युच्छिन्नतयाऽनुवृत्तं, दुष्टं दुष्टावसानं विपाकदारुणत्वात्
तृतीयमधर्मद्वारं पापोपाय इति ॥

(२) अथ यन्नामेत्यभिधातुमाह-

तस्स य नामाणि गोणाणि हुंति तीस । तं जहा-चोरिकं
१ परहड २ अदत्तं ३ कूरिकम् ४ परलाभो ५ असंजमो
६ परधणम्मि मेही ७ झोलिका ८ तत्करत्तण ९ ति य
अवहारो १० हत्थलहुत्तणं ११ पावकम्मकरणं १२ ते-
णिको १३ हरणविप्पणासो १४ आदियणा १५ सुपणा
धणाणं १६ अप्पच्चओ १७ ओवीहो १८ अक्खेवो १९

खेवो १० विखेवो ११ कूया १२ कुत्रमसी य २३ कंखा
२४ लालपणपथणा २५ (असासणाय) वसणं २६ उच्छा
मुच्छाय २७ तएहा गेही य २८ नियःकम्म २९ अवरो-
च्छति विय ३० । तस्स एयाणि एवमाईणि नामधेज्जाणि
हुंति तीस अदिएणादाणस्स पावकञ्चिकलुमकम्मवहुञ्जस्स
अणेगाइ ।

"तस्सेत्यादि" सुगममा तथ्येत्युपदर्शनार्थं । (चोरिकं ति) चोर
ण चोरिका, सैव चैरिचयम् १, परस्मात् सकाशात् ह्यन परहृतम्
२, अदत्तम्-अविनीर्गम् ३, (चुरिकं ति) कुर चित्त, कुरो वा
परिजतो येनामास्ति ते कुरिणरतैः कृतमनुष्ठितं यत्तत्तथा । क्वचित्तु
'कुरुकुरुनमिति' दृश्यते । तत्र कुरुकुरुका काफटुकर्थाजपाया
अयोग्याः सदगुणानामिति ४, परलाभ परस्माद् छव्यागम् ५,
असयम् ६, परधने गृहि ७, (लौञ्जिहं ति) त्रौत्यम् ८, तस्कर-
त्वमिति ९, अपहार १०, (हृथलक्षणं ति) परधनहरणकुत्सितो
हस्तो यस्यस्ति स हस्तत्र, तद्वागो हस्तलत्वम् । पाठान्तरेण-
'हस्तलघुत्वमिति' ११, पापकर्मकरण १२, (नेणिहं ति) स्तौने-
कस्तेयम् १३, हरणेन मोषणेन विप्रणाश परद्वयम्, हरण
च तद् विप्रणाश १४, (आदियणं ति) आदान, परधनस्थेति
गम्यते १५, लोपेन अत्रन्नेदन धनानां व्रथाणां, परस्थेति ग-
म्यते १६, अपत्यप्रकारणत्वादपत्यम् १७, अपधीमन परेषामि-
त्यपधीम १८, आदोष, परद्वयस्थेति गम्यते १९, केष परह-
स्ताद् छव्यस्य प्रेणम् २०, एव विरेपोऽपि २१, फूटना तुला-
वीनामन्यथात्वम् २२, कुलमयी वा कुलमालिन्येतुगिति हन्वा
२३, काटका, परद्वय इति गम्यते २४, (वात्रपणपथणं ति)
लालपनस्य गार्हत्तलालपनस्य प्रार्थनेन प्रार्थना लालपनप्रार्थना,
चौर्ये हि कुर्यन् गार्हत्तलपनानि तदपलापरूपाणि, दीनधनरूपा-
णि वा प्रार्थयति च, तत्र हि कृते तावद्यवयव यत्त यानि जयन्ती-
ति भावः २५, व्यसन व्यसनहेतुत्वात् । पाठान्तरेण-"असा-
सणाय वसणं" आशमनाय विनाशाय व्यसनमिति २६,
उच्छा च परधन प्रत्यभिलाषा, मूर्च्छा तथैव गाढानिष्वङ्गरूपा,
तदेतुक्त्वाददत्तग्रहणस्थेति उच्छा मूर्च्छा तदुच्यते २७, तृ-
ष्णा च प्राप्तद्वयस्याव्ययेच्छा, गृद्धिश्चाप्राप्तस्य प्राप्तिवाञ्छा,
तत्केतुक चादत्तादानमिति तृष्णा गृद्धिश्चोच्यते इति २८,
निवृत्तेर्मायाया कर्म निवृत्तिकर्म २९, अविद्यमानानि परे-
षामङ्गीणि छुप्यतया यत्र नदपरोक्षम्, असमकृत्यर्थः । इति
रूपप्रदर्शने, अपिचेति समुच्चये ३० । इह च कानिचित्पदानि
सुगमत्वाच्च व्याख्यातानि । (तस्म स्ति) यस्य स्वरूप प्राग्वणित
तस्यादत्तादानस्थेति सवन्धः । एतान्यनन्तरोदितानि त्रिशदिति
योगः । एवमादिकानि एचप्रकाराणि वाऽनेकानीति सम्बन्धः ।
अनेकानीति क्वचिद् दृश्यते । नामधेयानि नामानि जयन्ति । किं
चूतस्य अदत्तादानस्य १, गोपेनापुण्यकर्मरूपेण कलिना च युक्तेन
कलुषाणि मलीमसानि यानि कर्माणि मित्रहोदादिव्यापाररूपा-
णि, तर्बहुल प्रचुर यत्तानि वा बहुलानि बहूनि यत्र तत्तथा, तस्य ।

(३) अथ येऽदत्तादानं कुर्वन्ति तानाह—

त पुण करेति चोरिय तकरा परदच्चवरा ज्ञेया कथकरणद्व-
च्छकखा साहमिया बहुस्सगा अतिमहिच्छलो जगत्था दह-
रओवीलका य गिच्छिया अहिमरा अणभंजका जगसंधि-
या रायउच्छकारी य विसयनिच्छद्वोक्कवज्झा उहदकगाम-

घायकपुरघायकपयघायकआदीवकनित्थजेया लहुहत्थस-
पउत्ता जूयकरा खडरक्खत्थीचोरपुरिमचोरमधिच्छेया य गं-
विजेदका परधणहरणलोमावहारअक्खेवी हरकारकनि-
म्मदगगूढचोरगोचोरअस्सचोरकदासिचोरा य एकचोरा य
ओकट्टकमपदायकओब्धिपकसत्यघायकविलकोट्टीकारका य
निग्गाहविप्लुं पगा बहुविदं तेणिकहरणवुच्छी, एते अस्से य
एवमादी परस्म दव्वाहिं जे अविरया ॥

विपुलवज्रपरिगहा य बहवो रायाणो परधणम्म गिच्छा
मए दव्वे असंतुट्ठा परविसए अहिहणति लुप्पा परधणस्स
कज्जे, चउरगंममत्तवलममगा निच्छियवरजोहलुप्पसप्पा
य अहमहमिति दप्पिएहिं सेनेहिं मंपरिबुका पउमसगमसू
इचकसागरगल्लवूहादिएहिं अणीएहिं उच्छरता अभिचूय
हरति परधणाइ । अवरे रणमीसलल्लक्खवा संगामं अति-
वयति, सएणअव्वपगियरउप्पामियविधपट्टगहिया आ-
उहवहरणा माद्विरवम्मगुंमिया आविष्जालिका कवयक-
डइया उरसिरमुहवद्धकंउतोणा, पाइयवरफलकराचियपह-
करसरजसखरचावकरकरचियगुनिमित्तमरवरिसवरुकरकमु-
यतयणचमवेग्गागनिवायमग्गे अणेगधणुमदल्लगसंधि-
तउच्छलियसत्तिकणगवामकरगहियखेडगानिम्मद्वानिक्किड्डव-
ग्गपहरंतकुततोमरचक्कगयापरमुमुसललगल्लललउमभि—
भिपालसवज्रपट्टिमचम्मेड्डयणमोड्डियमोगरवरफडिहजंतप-
त्यरउहणतोणकुवेणीपीडाकलिए इलीपहरणमिड्डिमि-
लितखिप्पंतविज्जुज्जलविरचिनसमप्पहनहतत्ते फुमपहर-
णो महारणसखभेरिवरत्तपउरपमुपडहाइयनिनायगंभीरणं-
दितपक्खुभियविपुलघोसे इयगयरहजोहतुरियपसरियर-
गुच्छततमधकारबहुद्धे कायरनरनयणहिययवाउलकरे विलु-
लियउक्कडवरमज्जमकिरिक्कोमहोउदामाऽऽमोवियपगमप-
दागउच्छियधयवेजयतिचामरचउंतउत्तअधकारगंभीरे इय-
हेसियहत्थिगुलगुलाइयरदधणधणाइयपाऽक्कहरहराइयअ-
फोमियसीहनायक्खिलियविघुडुकुडुकंउकयमइजीमग, जेजए
सयरयाहसंतरुसतकल्लकडवरवे असूणियवयणरुदजीमदस-
णाधरोड्डगाढदहसप्पहारकरणजयकरे अमरिसवस तव्वर-
त्तनिहारितऽच्छिवेदिड्डिकुद्धचेडियतिवलीकुडिड्डभिगुडिक-
यज्जद्वामे वधपरिणयनरसहस्सविक्रम्मवियंजियवले वगगतु-
रगरहपहावियसमरभडावामियक्खेयद्वोधवपहारसाधितस-
मूरसवियबाहुजुयलमुक्कट्टासपुक्कंतवोड्डबहुद्धे कलक-
लगाफलफलगावरणगहियगयरपत्यंतदरियजरुखलपरा-
प्परपज्जग्गजुप्पगवियनिउसितवरामिरोसतुरियअजिमुहप-
हरंतविण्णकरिकरविगियकरे अवइड्डनिमुप्पजिक्कफा-
द्वियपगलियरुहिरकयचूमिकइमचिक्खेवद्वपहे कुडिदालि-

यगलितनिज्जेलितंतफुरफुरंतविगलमम्महयविगयगाददिष्—
 पहारमुच्चित्तलतविज्जलविज्ञावकलुणे हयजोहजमंततु—
 रगडहाममचकुंजरपारिसंक्रियजणणिम्मुकुत्तिणदयभ—
 गरहवरनट्टसिरकरिकलेवराकिरणपामियपहरणविकिन्ना—
 जरणजूमिजागे नच्चतकबंधपत्तरे भयंकरवायसपरिलित्त—
 गिष्ममलभमंतगायंऽधकारगंभीरे, वसुवसुहविकंपितव्व पच्च—
 कखपिजवणं परमरुद्धवीहणं दुप्पवेसतरं अजिवाभि—
 ति संगामसंकमं पणधणमहंता, अवरे पाइक्कचोरसंघा—
 सेणावड्चोरवंदपागाहिका य अरुविदेसदुग्गवासी कावह—
 रितरत्तपीतसुक्किद्धअणेगसयचिंधपट्टवंधा परविसए आभि—
 हणति दुष्सा धणस्म कज्जे, रयणागरसागरं च उम्मीसहस्स—
 मालाऽऽकुलविगयपोतकलकलतकलितं पातालकलसह—
 स्सवायवसवेगसद्विल्लउच्छरममाणदगरयरयंऽकारं वरफेण—
 पउरधवलपुलंपुलममुट्टियाट्टहासं मास्याविरसुज्जमाणपा—
 णियजलमालुप्पलहुलियं तं पिय समंतओ कलुजियहुलि—
 तखोलुम्भमाणपक्खलियचलियविपुलजलचक्खालमहान—
 दीवेगतुरियआपूरमाणा गभीरविपुलआवत्तचंचलजममाण—
 गुप्पमाणव्वद्वंतपच्चोणियतपाणियपधावितखरफरुसपयंढवा—
 डलियसद्विल्लफुट्टवीचिकल्लोडसंकुलं महामगरमच्छकच्छ—
 भोहारगाहतिमिंसमारमावयसमाहत्तसमुच्चायमाणयपूरघो—
 रपउरं कायरजणहिययकंपण घोरमारसंतं महव्जयं भ—
 यंकरं पतिजयं उत्तामणग अणोरपार अगामं चैव निरवद्वं—
 लप्पाइयपवणधणियणोद्धियउवरवरितरगदरियअतिवेगच—
 कलुपहमोच्छरंतं कत्थं गंभीरविज्जलगज्जियगुंजियनिग्घायग—
 रुयनिवतितसुदीहनीहारिदूरसुवत्तगंजीरधुगधुगंतिमदं पामि—
 पहरंभंतजक्खरक्खसकुहंमपिसायरुसियतज्जायउवसग —
 सहस्ससंकुल वट्टपाइयत्तयं विरचित्तालिहोमधूमउवचारदि—
 ष्ठरुहिरऽच्चणकरणपयतजोगपयतचरियं परियंतजुगंजका—
 लकप्पोवम दुगंतमहानइनइवऽमहाज्जीमदरिसणिज्जं दुरणचरं
 विसमप्पवेमं दुक्खुत्तारं वुरामयं लवणसाल्लिपुएणं
 असितासियसमुच्चियगोहिं हत्थतरेकेहिं वाहणेहिं अतिवड्—
 ता समुदमज्जे हणंति, गंतुण जणस्स पोत्ते परद—
 व्वहरा नरा निरखुंका, निरवेक्खा गामागरनगरखे—
 डकव्वडमंमवदोणपहपहणासमणिगमजणवयं ते य धणस—
 मिष्से हणंति, थिरहिययच्चिअलज्जा वंदिगगह गोगगा य
 गेएहति, दारुणमतिनिक्किवा णिअ हणति छिंदिति गेहसधि—
 निक्खित्ताणि य हरंति, धणधणदव्वजायाणि जणवयकु—
 लाणं निग्घणमदी परदव्वहिं जे आविरया, तद्देव केई
 अदिष्ठादाणं गवेसमाणा कात्ताकालेसु सचरंता चित्तग—
 पज्जलियसरमदरट्टकट्टियकळेवरे रुहिरदिधवदणअक्खय—
 खादियपीतमाइणिजमंतजयकरं जंबुयखिक्खियते धूयकय—

घोरसहे -वेयालुट्टियविमुच्चकहकहैतपहामितवीहणग—
 निरजिरामे अतिवीजच्छदुच्चिभगधदरिसणिज्जे सुसाणे
 वणे सुप्पघरलेणअंतरावणगिरिकदरविसमसावयसमाकुलेसु
 वमाहेसु किलिस्मंता सीतातवसोसियसरीरा दहृच्छविनि—
 रयातिरियजवसंकमदुक्खसंजारवेदणिज्जाणि पावकम्माणि
 संचिणंता बुद्धजज्जखणपाणभोयणपिवासिया सुंफिया
 किट्ठंता मंसकुणिमकंदमूले जं किंचि कयाहारा उव्विगग—
 लप्पुया असरणा अभवीवासं उव्वेति, वाट्सतसंकणीयं
 अयसकरा तकरा जयंकरा कस्स हरामोत्ति अज्ज दव्वं इति
 समामंतं करेति, गुज्ज वहुयस्स जणस्स कज्जकरणेसु
 विग्घकरा मत्तप्पमत्तपसुत्तवीसत्थद्विदधाती वसणम्मूदपसु
 हरणवुच्ची विगव्व रुहिरमहिया परितत्ति नरवतिमज्जायम—
 तिकता सज्जणजणदुग्गाहिया सकम्मेहिं पावकम्मकारी अ—
 सुजपरिणया य दुक्खभागी निच्चाउडदुहमनिव्वुडमणा इह
 लोकेचैव किलिस्सता परदव्वहरा नरा वसणसयमावसा ।

(त पुणेत्यादि) तत्र पुन कुर्वन्ति चौर्यं तत्कराः, तदेव चौर्यं कुर्वन्तीत्येवशीला तत्कराः परद्रव्यहरा, प्रतीतम, तेषां निपुणा, कृतकरणा बहुशो विहितचौरानुष्ठानाः, ते च तत्फलकाश्च अवसरज्ञाः कृतकरणव्यवस्थाकाः, सादृशिका धैर्यवन्त, लघुसकाश्च तुच्छात्मानः, अतिमहेच्छाश्च होनप्रस्ताश्चेति समास । [दहरओवीत्तगा य स्ति] दर्दरेण गलदर्दरेण, वचनाटोपेनेत्यर्थः । अप्रमीमयन्ति गोपायन्तमात्मस्वरूप पर धिलज्जीकुर्वन्ति ये ते दर्दरापमीमिका, मुष्णन्ति हि शतात्मान -तथाविधवचनाक्ते-पप्रकटितस्वभाव मुग्धजनमिति । अथवा-दर्दरेणोपपीनयन्ति जातमनोयाध कुर्वन्तीति दर्दरोपपीमिकाः, ते च शक्ति कुर्वन्तीति श्रुटिका । अभिमुष्णाः पर मारयन्ति ये तेऽजिमराः । श्रूण देय छव्य भज्जन्ति न ददति ये ते श्रूणजज्जकाः । भग्नाः होपिता सन्धयः विप्रतिपत्ती संस्था येस्ते भन्नसन्धिकाः, ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । राजद्रुष्ट कोशहरणादिक कुर्वन्ति ये ते तथा । विषयान्मण्डलात् (निच्छुदति) निर्द्धारिता ये ते, तथा लोकबाह्या जनयहिष्कृताः, ततः कर्मधारयः । उद्धोहकाश्च घातका, उद्धोहकाश्च वा अटव्याविवाहका, ग्रामघातकाश्च पुरघातकाश्च पथि घातकाश्च गृहादिप्रदीपनककारिणः तीर्थभेदाश्च तीर्थमोचका इति द्वन्द्वः । लघुहस्तेन हस्तस्राघवेन सम्युक्ता ये ते । तथा (जूयकरे स्ति) दूतकराः, खण्डरक्षा, शुल्कपाला, कोटपाला वा, स्त्रियाः सकाशात् स्त्रीमेव चोरयन्ति, स्त्रीरूपा वा ये चौरास्ते स्त्रीचौरा, एव पुष्पचौरका अपि । सन्धिच्छेदाः स्वात्रस्त्रानका, पतेषां द्वन्द्वः । ततस्ते च ग्रन्थिभेदका इति यत्कथ्यम् । परधन हरन्ति ये ते तथा परधनहारिण । सोमान्यघहरन्ति ये ते होमाघहराः । नि शूकतया भयेन परप्रणान्विनाशैव मुष्णन्ति ये ते होमाघहरा उच्यन्ते । आक्रिपन्ति वशीकरणादिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्रोपिणः । पतेषा द्वन्द्वः । [इरुकारग स्ति] हठेन कुर्वन्ति ये ते हठकारकाः । पातालरेण -“परधनहारलोहावहारवक्खेवहिंरुकारक स्ति” सर्वेऽप्येते चौरविशेषाः । निरन्तर मर्दयन्ति ये ते निर्मर्दकाः । गृहचौराः प्रच्छन्नचौराः, गोचौरा, अश्वचौरका, बासीचौराश्च प्रतीताः ।

एतेषां दृष्ट । अतस्ते च एकचौरा ये एकाकिन सन्नो हरन्ती-
ति । [ओम्हृत्ति] अपकर्षका ये गेहाद् ग्रहण निष्कामय-
न्ति चौराण्यकार्य परगृहाणि मोपयन्ति, चौरपृष्ठवहा ॥ १ ॥ मप्र-
दायकाधौराणा नक्तकादि प्रयच्छन्ति । (ओम्हृत्ति) अव-
च्छिन्नकाधौरविशेषा एव । सार्धव्रतका प्रतीता । विलकोली-
कारका. परव्यामोहनाय विसर्धरयचनवादिनो, विसर्धरयच-
नकारिणो वा । एतेषां दृष्ट । ते च निग्रहाद्ग्रहणादिप्राप्त रा-
जादिना गृहीता इत्यर्थः । ने चैते विप्रशोपकाश्चेति समासः ।
बहुविधेन (तेणेक सति) स्तेयेन हरणे बुद्धिर्येषां ते-बहुविह-
तेणेकहरणबुद्धीप' । पाठान्तरेण-(यद्विधतद्वाऽवहरणबुद्धि
सि) बहुविधा तथा नेन प्रकारेणापहरणे बुद्धिर्येषां ते तथा ।
एते चक्ररूपा, अन्ये चैतेन्य' एवप्रकारा अदत्तादादीनि प्रक-
म । कथंतास्ते ? इत्याह-परस्य छव्याद्ये भविरता अनिष्टता ॥
इति ये अदत्तादानं कुर्वन्ति ते उच्चा ॥

अधुना त एव यथा तत् कुर्वन्ति तदुच्यते-विपुल यल सा-
मर्थ्य परिग्रहश्च परिवारो येषां ते तथा । ते च यद्वहो रा-
जान परधने गृह्णा । इदमधिक याचनान्तरे पदग्रथम् । तथा
स्वके छव्ये असत्तुष्टाः परविषयान् परदेशानभिमान्ति ह्युन्धाः,
धनस्य कृते इत्यर्थः । चतुर्भिर्हर्षिज्जक समास या यद्वल सै-
न्य तेन ममप्रा युक्ता ये ते तथा । निश्चिन्तैर्निश्चयवद्भिर्वरयोधै'
सह यद्युक्त सप्रामस्तत्र थव्य सजाता येषां ते तथा, ते च ने
अहमित्येव दर्पिताश्च दर्पयन्त इति समासः । तैरेवविधै' भृत्यैः
पदातिभि । कश्चिन्सैन्यैरिति पठ्यते । सपरिवृता समेता, तथा
पद्मशाकटसूचीचक्रसागरगरुडगृहानि, तैः । इह व्युदशब्द प्र-
त्येक सवध्यते । तत्र पद्माकारो व्युदः पद्मव्यूहः, परेषामनभि-
भवनीयसैन्यविन्यासविशेषः । एवमन्येऽपि पञ्च । एतै रचि-
तानि यानि तानि तथा तैः । कै ? अनाकै सैन्यै । अथवा-पद्मा-
दिर्व्यूहा आदिर्येषां गोमूधिकाव्यूहादीनां ते तथा । तैरुपलक्षितै',
कैः?, अनाकै । (उच्छ्रितं ति) आस्तुएवन्त आच्छादयन्त, परा-
नीकानिति गम्यम् । अभिभूय जित्वा, तान्येव हरन्ति, परध-
नानीति व्यक्रमः । अपरे सैन्योद्धृतेभ्यो नृपेभ्योऽन्य स्वय यो-
द्धारो राजानो रणार्थे सप्रामशिरासि प्रकृष्टरणे लब्धं लब्ध
यस्ते तथा । 'सगामं ति' द्वितीया सप्तम्यर्थेति कृत्वा सग्रामे
रणे अतिपतन्ति स्वयमेव प्रविशन्ति, न सैन्यमेव योध-
यन्ति । किंभूता? सन्नद्धा-सन्नहनादिना कृतसन्नाहा, यद्ध प-
रिकर कवचो यैस्ते तथा । उत्पाटितो गाढवद्धश्चिह्नपटो ने-
आदिचीवरात्मको मस्तके यैस्ते तथा । गृहीतान्यायुधानि श-
स्त्राणि अहरणानि यैस्ते तथा । अथवा-आयुधप्रहरणानां से-
प्यालेप्येन कृतो विशेषः । ततः सन्नद्धादीनां कर्मधारयः । पूर्वो-
क्तमेव विशेषण प्रपञ्चयन्नाह-'माढी' तनुत्राणविशेष', तेन वरव-
र्मणा च प्रधानतनुत्राणविशेषेणैव गुरिडता. प्रेरिता ये ते
माढीवरवर्मगुरिडताः । पाठान्तरेण-(वम्मटिवम्मगुरिडता)
तत्र 'गुडा' तनुत्राणविशेष एव; अन्यत् तथैव । आविद्धा परि-
हिता जालिका लोहकञ्चुको यैस्ते तथा । कवचेन तनुत्राण-
विशेषेणैव कण्टकिता. कृतकवचा ये ते तथा । उरसा वक्षसा
सह शिरोमुखा ऊर्ध्वमुखा वद्धा यन्त्रिता. कण्ठे गले तोणा-
स्तूणीग शरधयो यैस्ते उर.शिरोमुखवद्धकण्ठतोणाः ।
तथा [पासिय सि] हस्तप्राशितानि धरफलकानि प्रधानफ-
लकानि यैस्ते तथा । तेषां सत्को रचितो रणोचितरचनाविशेषे-
ण परप्रयुक्तप्रहरणप्रहारप्रतिघाताय कृत [पहक' सि] समु-

दायो येस्ते तथा । तन' पूर्वपदेन सह कर्मधारय । अतस्तै-
सगमनै सहैव गच्छापकरै. निष्ठुरकोट्टरट्टहस्तै, धानुष्कैरि-
त्यर्थः । ये कगाडिचना करारुष्टा. मुनिशिना अर्निनिशनाः
शरा वाणास्तेषां यो वर्षवटकरको वृष्टिचिन्तागे (मुयन सि)
मुच्यमान स एव घनस्य मेघस्य चण्डवेगानां धागणां नि-
पान. तस्य मार्गो य स तथा । तत्र 'मने' सि' पाठान्तरं च । तत्र
मत्प्रत्ययान्तत्वान्निपानवर्ति सप्रामेऽतिपतन्तीति प्रक्रमः ।
तथा अनेकानि धनूषि च मण्डलाप्राणि च खड्गविशेषा, तथा
सन्धिता क्षेपणायोक्षाणां उच्छ्वलिता ऊर्ध्वगता शक्यश्च त्रि-
शूलरूपा, कनकाश्च वाणाः, तथा वामकरगृहीतानि खट-
कानि च फलकानि, निर्मला निकृष्टा. खड्गाश्च उज्ज्वलवि-
कोशीरुनकरवाला. । तथा प्रहरन्ति प्रहारप्रवृत्तानि कुन्तानि
च शस्त्रविशेषा, तोमराश्च वाणविशेषा, चक्राणि च अराणि,
गदाश्च दण्डविशेषा, परशवश्च कुटारा, मुशलानि च प्रती-
तानि, लाङ्गलानि च हस्तानि, शयानि च, लगुडाश्च प्रतीता । भि-
न्दिपालाश्च शस्त्रविशेषा । शवलाश्च भस्त्राः । पट्टिशास्त्राश्च-
विशेषा, चर्मप्राश्च चर्मनद्धपापाणा, घनाश्च मुज्जराविशेषा, मौ-
ष्टिकाश्च मुष्टिप्रमाणपापाणा मुक्ताश्च प्रतीता, वरपरिधाश्च
प्रवलार्गला, यन्त्रप्रस्तराश्च गोफणादिपापाणा, दृष्टणाश्च दृ-
करा, तोणाश्च शरधयः, कुवेण्यश्च रुद्धिगम्या, पीठानि च
आसनानीति दृष्ट । एभि प्रतीताप्रतीतै प्रहरणविशेषै कलि-
तो युक्तो य स तथा । तत्र इलीभि करवालविशेषै प्रहरणैश्च
(मिलिमिश्रित सि) धिकचिकायमानै' (खिप्यत सि) क्षिप्य-
माणैः विद्युत कृणप्रभाया उज्ज्वलाया निर्मलाया विरचिता वि-
हिता समा सदृशी प्रभा दीप्तिर्यत्र तत् तथा । तदेवविधं न-
भम्तल यत्र स तथा, तत्र सप्रामे तथा स्फुटप्रहरणे स्फुटानि
व्यक्तानि प्रहरणानि यत्र स तथा तत्र सप्रामे, तथा महारणस्य
सवन्धीनि यानि शस्त्रा, जेरी च दुन्दुभि, वरतूर्ये च लोकप्रती-
तम्, तेषां प्रचुराणा पदना स्पष्टध्वनं नाना पटहानां च पटहकानामा-
हतानामास्फालिताना निनादेन ध्वनिना गम्भीरेण बहलेन ये न-
न्दिता दृष्टा, अञ्जुभिताश्च जीतास्तेषां विपुशो विस्तीर्णो घोषो
यत्र स तथा तत्र । हयगजरथयोधेभ्यः सकाशान् त्वरित शी-
घ्र प्रसृत प्रसरमुपगत यद्भजो धूली तदेवोद्धततमान्धका-
रमतिशय प्रवल तमिन्न तेन बहुलो य स तथा तत्र, तथा का-
तरनराणा नयनयोर्दृश्यस्य च (वाउक्षि सि) व्याकुलत्व क्लोन्न
करोतीत्येवशीलो य स तथा तत्र । विलुप्तितानि शि-
थिलतया चञ्चलानि यान्युत्कटवराण्युन्नतप्रवराणि मुकुटानि
मस्तकाभरणविशेषाणि किरीटानि च तान्येव शिखरत्रयोपेता-
नि, कुण्डलानि च कर्णाभरणानि उकुदामानि च नक्षत्रमाहाऽभि-
धानाभरणविशेषा तेषामाटोप. स्फारता सा विद्यते यत्र स
विलुलितोऽकटवरमुकुटाकिरीटकुण्डलोडुडामाटोपित इति । तथा
प्रकटा या. पनाका, उच्छ्रिताश्च ऊर्ध्वरुक्ता ये गजगरुमादिध्वजा,
वैजयन्त्यश्च विजयसूचिका पनाका एव चामराणि चञ्चन्ति उ-
त्राणि च तेषां सम्बन्धि यदन्धकार तेन गम्भीरोऽलब्धमध्यो
य स तथा कर्मधारय, नतस्तत्र. हयानां यद् देपित शब्दविशे-
ष, हस्तिनां यद् गुलुगुलायित शब्दविशेष एव, तथा रथानां यद्
(घणघणाय सि) घणघणेत्येवरूपस्य शब्दस्य करणम्, तथा (पा-
दक सि) पदातीना यत् (हरहराहय सि) हरहरेतिशब्द-
करणम्, आस्फोटित च करास्फोटरूप सिंहनादश्च सिंहस्यैव
शब्दकरणम्, (त्रिलिय सि) सण्डित सौत्कारकरणम्, विधुष्ट च

विरूपघोषकरणं, उत्कृष्टउत्कृष्टनादं, आनन्दमहाध्वनिरित्यर्थः ।
 कण्ठकृतशब्दश्च, तथाविधो गलरवः, त एव भीमगर्जित
 मेघध्वनिर्यत्र स तथा तत्र । एकहेलया हसनां कृतां वा कल-
 लकृणो रवो यत्र स तथा तत्र । तथा अशूनितेनेपत्शुद्धीकृतेन व-
 दनेन ये रौद्रा जीवणास्ते तथा । तथा जीम यथा जवनीत्येव दश-
 नैरधरोष्ठौ गाढ दृष्टौ ये, ते तथा । ततः कर्मधारयः । ततस्तेषां जटानां
 सत्प्रहरणे सुष्ठु प्रहारकरणे उद्यता प्रयत्नप्रवृत्ताः करा यत्र स
 तथा तत्र । तथा अमर्षवशेन कोपवशेन तीव्रमत्यर्थं रक्त लाहिते
 निर्दारिते विस्फारिते अक्षिणी ब्रुवने यत्र स तथा । वैरप्रधाना
 दृष्टिवैरदृष्टिः, तथा वैरदृष्ट्या वैरबुद्ध्या वैरजावेन ये क्रुद्धाश्च-
 ष्टिताश्च ते । त्रिवली कुटिला वलित्रया वक्रा भ्रुकुटिनयनल-
 लाटविकारविशेषकृता ललाटे यत्र स तथा तत्र । तथा वध-
 परिणानां मारणाध्यवसाययता नरसहस्राणां विक्रमेण पुरु-
 षाकारविशेषेण विजृम्भित विस्फुरित बल शरीरसामर्थ्यं यत्र
 स तथा तत्र । तथा वज्रगत्तुरङ्गै रथैश्च प्रधाविता वेगेन प्रवृत्ता
 ये समरभटाः सग्रामयोधास्ते तथा । आपतिता योद्धुमुद्यता,
 वेका दक्षा लाघवप्रहारेण दक्षताप्रयुक्तघातेन साधिता निर्मिता
 यैस्ते तथा (समूरमन्त्रिय स्ति) समुच्चिन्नं दर्वातिरेकादृद्धीकृत
 बाहुयुगल यत्र तत्तथा, तद्यथा भवतीत्येव मुक्तादृहासाः कृत-
 महाहासध्वनयः । (पुष्कन स्ति) पूरुर्वन्तः प्रत्कार कुर्वाणाः,
 ततः कर्मधारयः । ततस्तेषां यो बोलः कलकल स बहुशो
 यत्र स तथा तत्र । तथा (फलगावरणगह्विय स्ति) स्फाराश्च
 फलकानि च आवरणानि च सन्नादा गृहीतानि यैस्त तथा
 [गयवरपत्थन स्ति] गजवगन् रिपुमतङ्गजान् प्रार्थयमाना
 हन्तुमारोढु वाऽभिलषमाणास्तत्र शकास्तच्छीला वा ये ते त-
 था । ततः कर्मधारयः । ततस्ते च ते हस्तभटखलाश्च दर्पितयो-
 धदृष्टा इति समासः । ते च ते परस्परप्रलम्बाश्च, अन्योन्य यो-
 कुमारब्धा इत्यर्थः । ते च ते युद्धगर्विणाश्च योधनकलाविज्ञान-
 गर्विणाः, ते च ते विकोशितघणालिभिः निष्कर्षितवरकरवात्रैः, रो-
 वेण कोपेन त्वरित शीघ्रम्, अभिमुखमात्रिमुख्येन प्रहराद्भिश्चिन्ना-
 करिकरा यैस्ते तथा । ते चेति समासः । तेषां [त्रिगिय स्ति]
 व्यङ्गिता खण्डिता करा यत्र स तथा तत्र । तथा [भवदृष्ट
 स्ति] अश्वविष्ठास्त्रोमरादिना सम्यग्भिष्ठाः । नेबुद्धभिष्ठा स्फाटि-
 ताश्च विदारिता यैः, तेन्यो यत्प्रगलित रुधिर तेन कृतो जूमौ
 यः कर्दमस्तेन विस्फुल्लित विर्वाणाः पन्थानो यत्र स तथा
 तत्र । तथा कुक्षौ दारिता कुक्षिदारिता गलित रुधिर स्रवन्ति
 रुन्ति वा जूमौ लुगन्ति, निम्नेलितानि कुक्षिनो बहिष्कृतानि अ-
 न्त्राणि उदरमध्यावयवविशेषा येषां ते तथा । [फुरफुरताविगल
 स्ति] फुरफुरायमाणाश्च विकलाश्च विरुकेन्द्रियवृत्तया ये ते ।
 तथा मर्मणि हता मर्महता, विकृतो गाढो यत्र दत्त प्रहारो येषां
 ते तथा । अन एव मूर्छिना सन्नो जूमौ लुगन्त विह्वलाश्च नि-
 स्सदाङ्गाः ये ते तथा । तथा कुक्षिदारितादिपदानां कर्मधारयः ।
 ततस्तेषां विज्ञापः शब्दविशेषः करुणा दयाऽऽस्पद यत्र स तथा
 तत्र, तथा हता विनाशिना योधा अहवारोहादयो येषां ते तथा ।
 तत्र ने बहव्यया सध्रमन्सुरगाश्च उद्दाममत्तकुञ्जराश्च परि-
 शङ्कितजनाश्च भीतजनाः (निम्मुक्कञ्जिन्नध्वय स्ति) निर्मूला विज्ञाः
 केनत्रो भग्ना दक्षिता रथवराश्च यत्र स तथा । नष्टशिरोभि-
 श्चिन्नप्रसक्तैः करिकवेवैः दन्तिशरीरैराकीर्णो व्याप्ता । पतित-
 प्रहरणा ध्वस्तायुधाः, विकिर्णजगणा विक्षिन्नाङ्गाः, तूमेर्भोगा

देशा यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः; तत्र । तथा नृत्यन्ति क-
 ष्णधानि शिरोरहितकक्षेधराणि प्रचुराणि यत्र स तथा । त्रयकर-
 वायसानां [परिविक्षिगिगि स्ति] परिवीथमानगृद्धानां यन्मार्गसं-
 चक्रवाहं त्राम्यतः सचरतस्तस्य या त्राया तथा यदन्धकार तेन ग-
 म्भीरो यः स तथा । तत्र सग्रामे, अपरे राजान परधनशृङ्गाः, अ-
 तिपतन्तीति प्रकृतम् । अथ पूर्वोक्तमेवार्थं सक्षिप्ततरेण वाक्येनाह-
 वसवो देवाः, वसुधा च पृथिवी, विकम्पिता यैस्ते तथा । ते इवरा-
 जान इति प्रकृतम् । प्रत्यक्मिव साक्षादिद्य तद्धर्मयोगात् पितृवर्गं
 श्मशान प्रत्यक्पितृवर्गम् (परमरुक्चर्वाहण गति) अत्यर्थादरुणं अ-
 यानक दुष्प्रवेशतरकं प्रवेष्टुमशक्यं, सामान्यजनस्येति गम्यम् । अ-
 तिपतन्ति प्रविशन्ति सग्रामसकटं सग्रामसगहनं, परधन पररुक्चं
 (महत् स्ति) इच्छन्त इति । तथा अपरे राजन्या अन्ये (पाङ्कचो-
 रसधा) पदातिरूपचौरसमूहाः, तथा सेनापतयः । किं स्वरूपाः,
 चौरवृन्दप्रकर्षकाश्च, तत्प्रवर्तका इत्यर्थः । अटवीदेशे यानि दुर्गा-
 णि जलस्थलदुर्गरूपाणि तेषु वसन्ति ये ते तथा । कालहरितर-
 कपीतशुक्लाः, पञ्चवर्णा इति यावत् । अनेकशतसस्याभिष्टु-
 ष्टा बद्धा यैस्ते तथा । परविषयानभिघ्नन्ति, सुब्धा इति व्यक्तम् ।
 धनस्य कार्ये धनकृते इत्यर्थः । तथा रत्नाकरभूतो यः सागरः,
 तथा त चातिपत्याभिघ्नन्ति, अनस्यापातानिति सम्बन्धः ।
 ऊर्मयो वीचयस्तत्सहस्राणां मालाः पङ्क्त्यस्तामिराकुलो यः स
 तथा । आकुला जलाभावेन व्याकुलिताविष्ठा ये च तोयपाताः
 विगतजलयानपात्राः सांयात्रिका (कलकलत स्ति) कलक-
 लायमाना इत्येव कुर्वाणास्तैः कलितो यः स तथा । अनेना-
 स्यापेयजलत्वमुक्तम् । अथवा-ऊर्मिसहस्रमालाजिराकुलोऽति-
 व्याकुलो यः स तथा । तथा विगतपोतैर्विगतसंबन्धनावोद्भिदैः
 कलकल कुर्वन्निः कलितो यः स तथा । ततः कर्मधारयः । तथा-
 तम् । तथा पाताला पातालकलशास्तेषां यानि सहस्राणि तैर्वात-
 वशाद्देगेन यत्सहित जलभिजलम् (उद्धममाणं ति) उत्पाद्यमानं
 तस्य यद्भुदकरजस्तोयरेणुस्तदेव रजोऽन्धकार धूलीनमो यत्र स
 तथा तम् । वगं फेनो मिमीर । प्रचुरो धवजः (पुल्लुल स्ति) अन-
 चरत यः समुत्थितो जातः स एवाद्दृष्टासो यत्र । वरफेन एव वा
 प्रचुरादिविशेषणोऽद्दृष्टासो यत्र स तथा तम् । मारुतेन विक्रोन्त्य-
 माण पानीय यत्र स तथा, जलमात्रानां जलकलोलानामुत्पलाः
 समूहः (हुल्लिय स्ति) शीघ्रो यत्र स तथा, ततः कर्मधार-
 योऽतस्तम् । अपिचेति समुच्चये । तथा समन्तत सर्वत सुभितवा-
 युप्रभृतिभिर्व्याकुलित सुभित तीरभुवि लुभित (कोक्खुम्भमाण-
 स्ति) महामत्स्यादिभिर्भृशं व्याकुलीक्रियमाणः, प्रस्फुलित निर्ग-
 ष्यत्वर्चतादिस्फुलित, चक्षितं स्वस्थानगमनप्रपन्न, विपुल विस्ती-
 र्णः, जलचक्रवाह तोयमण्डल यत्र स तथा । तथा महानदीधैर्ग-
 ङ्गाऽऽदिनिम्नगाजवै त्वरितं यथा जवतीत्येवमापूर्यमाणो यः स
 तथा । गम्भीरा अश्वन्धमध्याः, विपुला विस्तीर्णाश्च ये आवर्त्ता
 जलप्रमाणस्थानरूपास्तेषु चञ्चल यथा भवन्तीत्येव भ्रमन्ति
 सचरन्ति, गुप्यन्ति व्याकुशीजवन्ति, (उप्पतति) उच्छलन्ति वा
 ऊर्द्धमुखानि चञ्चन्ति प्रत्यवनिवृत्तानि वाऽथ पतितानि पार्श्या-
 नि प्राणिनां वा यत्र स तथा । अथवा जलचक्रवालानि नदीनां
 विशेषणमापूर्यमाणेति आवर्त्तानामिति । तथा प्रधाविता विग-
 तगतयः स्वररूपा आतिकर्कशाः प्रचण्डाः रौद्रा व्याकुलितस-
 लिहा विह्वलितजला स्फुटन्तो विदार्यमाणा ये वीचिरूपाः
 कल्लोडाः, न तु वायुकापाः कल्लोडा तैः सङ्कुलो यः स तथा । न-
 न कर्मधारयोऽनस्तम् । तथा महामकर्मस्य कच्छपाइच (उहा-

र ति] जलजन्तुविशेषाः, ते च प्रादितिमिश्रं गुमाराश्च ते । द्वन्द्वः ।
 तेषां समाहताश्च परस्परेणोपहताः [समुदायमाण य चि]
 समुदायान्तश्च प्रहाराय समुत्तिष्ठन्तो ये पुराः सघा घोरा रौ
 द्रास्ते च प्रचुग यत्र स तथा तम् । कातरनरहृदयकम्पनमिति
 प्रतीतम् । घोर रौद्र यथा भवतीत्येवमारसन शब्दायमान, महाम-
 यादीन्येकार्थानि । [अणोरपार ति] अनर्वाकपारमिव महत्त्वा-
 इनर्वाकपारम्, आकाशमिव निरालम्बम्, न हि तत्र पततद्भि-
 किञ्चिदालम्बनमवाप्यत इति भावः । औत्पातिकपचनेनोत्पा-
 तजनितवायुना [धणिय चि] अत्यर्थं, येन [णोक्षिय चि] नोदिता
 प्रेरिता उपर्युपरि निरन्तर तरङ्गा कल्लोलास्ते, दृष्ट इव अति-
 वेगोऽतिक्रान्तः शेषवेगो यो वेगस्तेन, लुप्तवृत्तैकवचनदर्शना-
 त् । चक्षु पथे दृष्टे मार्गे [मोच्छरत कथय चि] क्वचिदेशे गम्भी-
 र विपुलगर्जित मेघस्येव ध्वनिर्मुञ्जित च, गुञ्जालक्षणा-
 तोय च निर्घातश्च गगने व्यन्तरकृतो महाध्वनिः, गुरुकनि-
 पतित च विषुदादिगुरुकद्रव्यनिपातजनितध्वनिर्यत्र स तथा ।
 सुतीर्धनिर्हादी शब्दस्वप्रतिरवो [दूरसुच्चत चि] दूरे भूय-
 माणो गम्भीरो धुगधुगित्येवंरूपश्च शब्दो यत्र स तथा कर्म-
 धारय । ततस्तम् । पथि मार्गे [रुभत चि] रुन्धानाः सच-
 रिष्णूनां मार्गं स्खलयन्तो ये यक्षराक्षसकूष्माण्डपिशाचव्य-
 न्तरविशेषाः, तेषां यत्प्रगर्जितं, उपसर्गसहस्राणि च । पाठा-
 न्तरेण- [कसियत्तज्जायउवसगसहस्स चि] तत्र यक्षादयश्च
 रुषिणा, तज्जातोपसर्गसहस्राणि, तैः सङ्कुलो य स तथा तम् ।
 बहूनि च औत्पातिकानि उत्पातान् भूत प्राप्तो य स तथा । घा-
 तनान्तरे-उपद्रवेणामिभूतो यः स उपद्रवामिभूतः । ततः प्र-
 तिपथेत्यादिना कर्मधारयः । अतस्तम् । तथा विरचितो बलिना
 उपहारेण ह्येनामिकारिकया धूमेन उपचारो देवतापूजा यै-
 स्ते तथा । दत्त त्रितीये कथिरं यत्र तत्तथा, तच्च तद्वर्त्तनाक-
 रणं च देवतापूजनं च तत्र प्रयता ये ते तथा । योगेषु प्रवह-
 णोचितव्यापारेषु प्रयता ये ते तथा । ततो विरचितेत्यादीनां
 कर्मधारयः । अतस्तैः सांयात्रिकैरिति गम्यते । चरितः सेवि-
 तो यः स तथा तम् । पर्यन्तयुगस्य सकलयुगान्तिमयुगस्य यो-
 ऽन्तकालः क्षयकालस्तेन कल्पा कल्पनीया उपमा रौद्रत्वा-
 दस्य स तथा । दुरन्त दुरवसान महानदीनां गङ्गादी-
 नां चेतरासां पनि प्रभुर्यः स तथा । महाभीमो दृश्यते य स
 तथा । कर्मधारयः । अतस्तम् । दुःक्षेनानुवर्त्यते सेव्यते य स
 तथा तम् । विषमप्रवेश दुष्प्रवेश, दुःखोत्तारमिति च प्रतीतम् ।
 दुःखेनाभीयत इति दुराश्रयस्त, सवणसलिलपूर्णमिति व्यक्रमम् ।
 असिता कृष्णा, सिताः सितपट्टाः, समुच्छिन्ना उद्धाकृता येषु
 तान्यसितसितसमुच्छिन्नानि तैः, चौरप्रवहणेषु कृष्णा एव
 सितपट्टाः क्रियन्ते, दूरादनुपलक्षणेहेतोरित्यसितेत्युक्तम् ।
 [हत्थतरेर्केहि ति] सांयात्रिकयानपात्रेभ्यः सकाशाद्गत-
 रैवेगवद्भिरित्यर्थः । वाहनैः प्रवहणैरतिपत्य पूर्वोक्तविशेष-
 षु सागर प्रविश्य समुद्रमध्ये घ्नन्ति, गत्वा जनस्य सांया-
 त्रिकलोकस्य, पोतान् यानपात्राणि, परद्रव्यहरणे ये निरनु-
 कम्पा नि शुकास्ते तथा । वाचनान्तरे-परद्रव्यहरा नरा निर-
 नुकम्पा [निरवेक चि] परलोक प्रति निरवकाङ्क्षा निर-
 पेक्षा । ग्रामो जनपदाश्रित सन्निवेशविशेषः, आकरो लवणाद्यु-
 त्पत्तिस्थानम्, नकर अकरदायिलोक, खेट धूलीप्राकारः, कर्वट
 कुनगर, मण्डप सर्वतोऽनामन्नसन्निवेशान्तरः, द्रोणपथ जल-
 स्थलपथोपेत, पत्तन जलपथयुक्त, स्थलपथयुक्त वा दन्मभूमि-

रित्यन्ये। आश्रमस्थापसविनिवासः, निगमो वणिग्जननिवासः,
 जनपदो देशः । इति द्वन्द्वः । अतस्तांश्च धनसमृद्धान् घ्नन्ति । तथा
 स्थिरहृदयाः तत्रार्थे निश्चलचित्ताभिरुन्नतज्जाश्च ये ते तथा ।
 बन्दिप्रहणोऽर्द्धांश्च गृह्णन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा-दारुणमतयः
 निष्कृपा निघ्नन्ति, बिन्दन्ति गेहसन्धिमिति तम् । निक्षिप्तानि
 स्वस्थानन्यस्तानि हरन्ति, धनधान्यद्रव्यजातानि धनधान्यरूप्य-
 प्रकारान् । केषाम् ? इत्याह-जनपदकुलानां लोकगृहाणां, निर्घृणम-
 तयः परस्य द्रव्याद्यैरविरताः, तथा । तथैव पूर्वोक्तप्रकारेण के-
 चिददत्तादानमवतीर्णं ह्यव्य गवेषयन्त काष्ठाकालयोः सञ्चर-
 णस्योचिनानुचितरूपयोः सञ्चरन्तो घ्नन्तः, (वियग चि)
 चिनिषु प्रतीतासु प्रज्ज्वलितानि वह्निदीप्तानि सरसानि इन्ध-
 नादियुक्तानि दग्धधानि ईषद्गस्मीकृतानि कृष्टान्याकृष्टानि तथा-
 विधप्रयोजनानि कक्षेवराणि मृतशरीराणि यत्र तत्तथा, तत्र
 श्मशाने । क्लिश्यमाना अटवीवासमुपयन्तीति सबन्धः । पुनः किं
 चूते ?, खिरहिसवदनानि अक्रान्तानि समग्राणि, मृतकानि इति
 गम्यते । खादितानि जकितानि, पीतानि च शोणितपेक्षया, यका-
 भिस्तास्तथा, नाभिश्च माकिनीभिः शाकिनीभिः भ्रमन्तीभिः तत्र
 सञ्चरन्तीभिः भयङ्कर यत्र त कथिरलिसवदनाकृतखादितपीत-
 माकिनीभ्रमन्त्यङ्गरम् । क्वचिदकृत इत्येतस्य स्थाने-“ अद्वरन्तः”
 इति पठ्यते । तत्र चाभिर्निर्भयभिर्भिरिति व्याख्येयम् । (जनुयस्मि-
 फ्लियते चि) स्मिन्स्तीति शब्दायमान, शृगाह, ततः कर्मधारयः ।
 अतस्तत्र । तथा धूकृतघोरशब्दे कौशिकविहितरौद्रध्वाने, वेता-
 ह्येभ्यः विकृतपिशाचेभ्यः उत्थितं समुपजातं विशुक् शब्दान्त-
 रामिभ (कहकहेति चि) कहकहायमानं यत्प्रवहसित तेन (धी-
 हणग ति) भयानकम् । अत एव निरञ्जिराम वा रमणीय यत्र
 तत्तथा । तथा तत्र, अतिबीजत्सदुरजिगन्धे इति व्यक्तम् । पाठा-
 न्तरेण-अतिदुरभिगन्धबीभत्सदर्शनीये इति । कस्मिन्नेवंभूते ? इ-
 त्याह-श्मशाने पितृवने, तथा वने कानने यानि शून्यगृहाणि प्रतीता-
 नि, वनानि शिवायगृहाणि, अन्तरे ग्रामादीनामर्द्धपथे, आपणा
 हट्टाः, गिरिकन्दराश्च गिरिगुहाः इति द्वन्द्वः । ताश्च ता विषमव्या-
 पदसमाकुलान्नेति कर्मधारयः, अतस्तासु । कासु एवविधास्मि-
 त्याह-वसतिषु वा स्थानेषु वा क्लिश्यन्तः, शीतानपशोषितश-
 रीरा इति व्यक्तम् । तथा दग्धच्छवयः शीतादिभिरुपहतत्वच्च,
 तथा निरयतिर्यग्नश्च एव यत्सङ्कट गहनं तत्र यानि दुःस्थानि
 निरन्तरदुःस्थानि तेषां यः सम्भारो बाहुल्यं, तेन वेद्यन्ते अनुचू-
 यन्ते यानि तानि तथा । तानि पापकर्माणि सचिन्वन्तो बध्नन्तः दु-
 र्धम दुराप भक्ष्याणां मोदकादीनामशनम्, ओदनादीनां पानानां
 च मद्यजन्मादीनां भोजनं प्राशनं येषां ते तथा । अत एव पिपा-
 सिता जातनृपः, (मुभिय चि) बुभुक्षिताः क्लान्ना स्थानी-
 चूता, मांस प्रतीतम् (कुणिम नि) कुणपः शवः, कन्दमूत्रानि
 प्रतीतानि, यत्किञ्चिच्च यथावाप्तवस्तु । इति द्वन्द्वः । एतैः कृतो वि-
 हित आहारो भोजनं यैस्ते तथा । उद्विग्ना उद्वेगवन्त उत्स्रुता द-
 त्सुका, अशरणा अत्राणा । किम् ? इत्याह-अटवीवासमरण्यव-
 सनमुपयन्ति । किं चूनम् ? व्यालशनशङ्कनीय भुजगादिभिर्मेष-
 ङ्गरमित्यर्थः । तथा अयशस्कराः तस्करा मयङ्करा, एतानि पदानि
 व्यक्तानि । कस्य हरामश्चोरयामः, इति इदं, विवक्षितम् । अद्या-
 स्मिन्नहनि, ह्यव्य रिक्थम्, इति एवरूपं, समामन्त्रणं कुर्वन्ति, गुहा
 रहस्यम्, तथा बहुकस्य जनस्य, कार्यकरणेषु प्रयोजनविधानेषु,
 विघ्नकरा अन्तरायकारका, मत्तप्रमत्तप्रसुप्तविश्वस्तान् विदे
 अवसरे घ्नन्तीत्येवशीला ये ते तथा । व्यसनान्युदयेषु हरणवृत्त्य

इति व्यक्तम् । किञ्च—(विगञ्जति) वृका इव नाखरविशेषा इव,
(सहिरमहियति) शोहिनेच्छवः (परिणति) परियन्ति सर्वतो प्र-
मन्ति । पुनः कथंभूताः, नरपनिमर्यादामतिक्रान्ता इति प्रतीतम् ।
सज्जनजनेन विशिष्टलोकेन, जुगुप्सिता निन्दिता ये ते तथा, स्व-
कर्मनिर्हेतुभूतैः, पापकर्मकारिणः पापानुष्ठायिनः, अशुजपरिण-
ताश्चाशुजपरिणामाः, दुःखजागिन इति प्रतीतम् । (निष्ठाविल
[उल] दुहमनिष्ठुहमणः) नित्यं सदा आविलगः सकाक्षुष्यमा-
कुलः वा दुःखप्राणिना दुःखहेतुः, अनिर्वृतः स्वास्थ्यरहितः मनो
येषां ते तथा । इह शोक एव क्लिश्यमाना व्यसनशतसमापन्नाः,
पतानि पदानि व्यक्तानि ।

(४) अथ तद्देवत्यादिना परधनहरणे फलद्वारमुच्यते—

तद्देव केइ परस्म दब्बं गवेममाणा गहिया य हता य च्छा
रुद्धा य तुरियं अतिधामिया पुरवरं ममप्पिया चोरगह-
चारभट्टासुकरणा तेहिं य कप्पभप्पहारनिदयाऽऽरक्खिय-
खरफरुसवयणतज्जणगलत्थद्वउत्थलणाहिं विमणा चारग-
वमहिं पविसिया निरयवसहिसरिसं तत्थ वि गोम्मिकप-
हारदुम्मणा निवज्जणकमुयवयणभेमणाग(जय)आभिज्जूया
अक्खित्तणिवसणा मज्झिणहंमिखंभवसणा, उक्कोमाद्वंचन-
पासुमगणपरायणेहिं गोम्मिगजमेहिं विविहेहिं वंधणेहिं,
किं ते ढडिनियमवालरज्जुयकुमडगवरत्तद्वोहमंकद्वहत्थंढ-
यवज्जपट्टदामकणिकोडणेहिं अस्सेहिं य एवमादिएहिं गो-
म्मिकभंकोवगणोहिं दुक्खममुद्वीरणेहिं मंकोरुणमोरुणेहिं
वज्जंति मंदपुष्पा मंपुरुकवारुद्वोहपंजरत्तमिधरनिरोद्वक-
चारगकीलग्नपचक्रवितनबंधणएवज्जालेणउच्छलणबंधण-
विहमणाहिं य विहेडियता अह्कोरुगगाढउरसुरवच्छउच्छू-
रिय(यन)फुरंतउरकरुगमोरुणेहिं संवच्चा य नीससंता मीसा-
वेदऊरुयाद्ववप्पदमंधिवंधणतत्तसलागमूडआकोरुणाणि त-
ज्जणविमाणणाणि य ग्वागकुडुयतित्तनावणजायणकारण-
सयाणि बहुयाणि पावियंता, उरयोर्माडिस्सगाढपट्टणअ-
ट्टिकमज्जगमपंसुलिया गल्लाद्वकलोहडडउरउदरवत्थिपि-
ट्टिपरिपीलिया मच्चंतहियसच्चुस्सियंगुपंगा आणत्तिकिकरे-
हिं, केय अविराहियवरिणहिं जमपुरिससंनिभेहिं पढया ते तत्थ
मंदपुष्पा चडवेला वज्जपट्टपोरा इति वा कसद्वत्तवग्गत्तवेत्तप-
हारमतनाद्वियगुपंगा किवणा लवंतवम्मवणवेयणविमुहियम-
णा घणकोट्टिमनियद्वज्जुयलसंकोमियमोहिया य कीरति, निरु-
च्चारया अस्सा य एवमादीओ वेयणाओ पावा पावंति, अदंति
दिया वमट्टा बहुमोहमोहिया परणयम्मि बुद्धा फासिंदियविम-
र्यातव्वगिच्छा इत्थिगयरुवसद्वरसगधइट्टरतिमहियजोगतएहा-
इया य धणतामगा गहिया य जे नग्गणा पुणगवि ते कम्म-
दुब्बियट्टा उवणीया गयकिंकराणं तेमिं वधमन्थगपाढयाणं
विलउड्डीकारकाणं लंचमयंगएहयाणं कूरुक्कवडमायाणिय-
मिआयरणपणिद्विवचणविमारयाणं बहुविहआद्वियसयजंप-

काणं परलोकपरमुहाणं निरयगतिगामियाणं तेहिं य आणत्त-
जा(जी) यदंढा तुरियं उग्घाडिया पुरवरंहिं सिंघाडगनियचउ-
क्कचत्तरमहापहपहेसु वेत्तदंरुद्धउरुक्कलेट्टपत्थरपणालियप-
णोद्विमुद्विद्वत्तपादपीएहजाणकोप्परप्पहारसज्जगमधितगत्ता
अट्टारसकम्मकारिणा पायियंगुपंगा कलुणा सुक्कोट्टकंठग-
लताद्वुजिञ्जा जायंता पाणियं विगयजीवियासा तएहाइत्ता
वरागा तं पिय न लहति, वज्जपुरिसेहिं धामियंता तत्थ य
खरफरसपढहधट्टितकूरुगगहगाढरुद्धानिसद्वपरामद्ववज्जकर-
कुम्भियनिवासिया सुरत्तकणवीरगहियविमुकुलकंठेगुण-
वज्जदूतआविच्छमल्लदाममरणजयुप्पसुसंयमायतणेहउन्नु-
प्पियाकलिस्सगत्ता चुस्सगुंमियसरीररयरेणभरियकेसा कुसं-
जगुकिस्समुच्छया डिस्सर्जावियासा घुणता वज्जपाणपीया
तिलं तिद्वं चेव डिज्जमाणा मरीरविकत्तलोहिओलित्तका-
गणिमंसाणि खायियंता पावा खरकरसएहिं ताद्विज्जमाण-
देहा वातिकनरनारिसंपरिवुडा पिच्छिज्जंता य नागरज-
णं वज्जमनेवत्थिया पणिज्जांति एगमज्जेण किवणक-
दुणा अत्ताणा असरणा अणाहा अबधवा बंधुविप्पही-
णा विपिक्खंता दिसो दिंसि मरणजयुव्विग्गा आधा-
यणपरिदुवारसंपाविषा अधएणा सुलगाविलगजिणादेहा
ते य तत्थ कीरंति, परिकप्पियंगुपंगा उद्वंविज्जांति रुक्खसा-
देहिं केइ कलुणाऽ विद्ववमाणा। अवरे चउरंगधणियवद्धा प-
व्वयकडगा पमुच्चंते दूरपातवहुविसमपत्थरसहा। अस्सेय ग-
यचलणमद्वणनिम्महिया कीरंति, पावकारी अट्टारसखंमिया
य कीरंति मुरुपरिसुहिं । केइ उक्खित्तकणोड्डनासा उप्पादि-
यनयणदसणवमणा जिंजिदियांचिया डिणकणसिरा प-
णिज्जांति डिज्जति य अमिणा निव्विसया डिस्सहत्थपाया य
पमुच्चंति, जाव जीवबंधणाय कीरंति । केइ परदव्वहरणबुद्धा
कारगलनियलजुयलरुद्धा चारगाए हतमारा सयणविप्प-
मुक्का मित्तजणनिरकया निरासा बहुजणधिकारसद्वलज्जा-
इया अलज्जा अणुवच्छुद्धापरच्छसिज्जएहताएहवेयणदु-
घट्टघट्टियविवणमुहविद्विया विहलमद्वलदुव्वला किलंता
कामंता वाहिया य आमजिच्छुयगत्ता परुद्धनहकेमममंमु-
रोमा मलमुत्तम्मिणियगम्मि खुत्ता तत्थेव मया अकामुका
बंधिज्जणपाए सुकट्टिया खाडयाए छुद्धा, तत्थ य वगसुणय-
सियाद्वकोद्वमंजारवंदसंढामतुंरुपक्खिगणविविहमुहसय-
विद्वत्तगत्ता कयविद्वंगा । केइ किमिणाऽ कुथितदेहा अणि-
द्वयणंहि मप्पमाणा सुट्टु कयं जं मत्तो त्ति पावो तुट्टेण ज-
णेण हणमाणा दव्वजावणका य हुंति सयणस्स वि ये दी-
हकालं मया संता पुणो परलोगसमावणा नरगे गच्छंति ।
निर्भिरामे अगारपद्वित्तककप्पअच्चत्तसीयवेयणाऽऽसा-

यणोदिस्सततदुक्खसयसमजिज्ञूए ततो वि उव्वट्ठिया सभा-
णा पुणो वि पवज्जति तिरियजोणिं, तहिं पि निरओवमं अ-
णुजवन्ति वेयणं ते, अणंतकादेण जति एणम कहिं वि मणुय-
जावं लीहिति लोगेहिं एिरियगतिगमणनिरियजवसयसहस्स-
परियट्ठएहिं तत्थ वि य जवंताऽणारिया नीचकुलसमुपप्पा-
लोयवज्जा तिरिक्खजूया य अकुसला कामभोगतिसिया
जहिं निवंधंति निरयवत्तणि जवप्पवंचकरणपणोद्धि पुणो वि
संसारवत्तेणममूढे धम्ममुडविज्जिया अणज्जा कूरा मिच्छ-
त्तमुतिपवणा य हुंति, एगंतदंरुडणो वेदंता कोसिकारकीमो
व्व अप्पगं अट्ठकम्मतंतुघणवंधणेणं, एवं नरगातिरियनरअ-
मरगमणपेरंतचक्काज्जं जम्मजरामरणकरणंजीरदुक्खप-
बलुभियपउरसन्नित्तं संजोगवियोगवीचिचिंतापसंगपसारिय
बहवंधमद्वेद्विपुलरुद्धोलकडुणविज्जवित्तो जकलकलत-
बोलवहुत्तं अवमाणफेणतिव्वखिसणपुलंपुडप्पनूयरोगवे-
यणपरभवविणिवायफरुमभरिसणसमावभियकठिणकम्म-
पत्थरतरंगरिंतगंतनिच्चमच्चुभयतोयपट्ट कसायपायाज्जमं-
कुल भवसयसहस्सज्जमंचयं अणंतं उव्वेजणयं अणोर-
पारं महन्नयं जयंकरं पडजं अपरिमियमहिच्छकडुसमति-
वाउवेगउच्चममाणोऽऽसापिवासापायाज्जकामरतिरागदो-
सबंधणवहुविहसंकप्पविज्जदगरयरयऽधकारमोहमहावत्त-
भोगजममाणगुप्पमाणुच्चलंतवहुगन्नवासपच्चोणियत्तपा-
णिपथावियवत्तणसमावणरुणचंरुमासमाहयमणुसुवी-
चीवाकुलितजंगफुटंतनिट्ठकडुलमंकुडज्जं पमादवहुचंमट्ट-
ट्टसावयसमाहयउच्चायमाणगूरयोरविज्जंसणत्यऽणत्थवहु-
त्तं अस्साणजमनमच्छपरिदक्खअनिहुतिंदिममहामगरतुरिय-
चरियखोक्खुम्भमाणसंताव निच्चयचलतचवत्तचंचत्तअत्ता-
णासरणपुव्वकम्मसंचयोदिस्सवज्जवेदिज्जमाणदुहसयावि --
वागघुणंतजज्जसमूहं इट्ठिमसायगारवोहारगहियकम्मपट्टि-
बद्धसत्तकाट्ठिज्जमाणनिरयत्तदुत्तसणविससवहुत्तअरति-
रतिभयविमायसोगमिच्छत्तमेलमंकमं अणाइमंताणकम्मवं-
धणत्तेसचिक्खिद्वदुत्तारं अमरनरतिरियगतिगमणकुमि-
लपरियत्तविपुलवेत्तं हिंसाऽद्वियअदत्तादाणमेहुणपरिग-
हारंभकरणकारावणाणुभोयणअट्ठविहअणिट्ठकम्मपिभित्तगु-
रुजाराकतडुग्गजलोधदूरनिचोलिज्जमाणउम्मगानिमग्गदु-
द्धतत्तं सरीरमाणोमयाणि दुक्खाणि उप्पियता सातासा-
यपरितावणमयं उव्वट्ठनिव्वुड्ढयं करेति । चउतंतमहंतमणवय
गं रुदं संसारमागरं आट्ठियअणालंवणपनिट्ठाणमप्पमेयं
चुलसीइजोणिसयसहस्सगुविज्जं अणादोक्रमंधकारं अणंत-
कालं जाव एिच्च उत्तत्थमुष्साभयसणसंपज्जता संसारसा-
गरं वसंति उन्निमग्गवासवसट्ठि, जहिं जहिं आउयं निवंधंति
पावकम्मकारिणो बध्वजणमयणमिच्चपरिवज्जिया अणि-

हा जघंति । अणादिज्जदुव्विणीया कुट्टाणामणसेज्जाकु-
भोयणा असुयणो कुसंहयणकुप्पमाणकुसंठिया कुरुवा
बहुकोहमाणमायादोभा बहुमोहा धम्ममस्यसम्मत्तपन्नट्टा
दारिद्रोवद्वानिज्जया निव्वं परकम्मकारिणो जीवणत्थरहि-
या किवणा परिपिंरुताक्किा दुक्खलद्धाहारा अरसविरस-
तुच्छकयकुक्खिपूरा परस्स पच्छंता रिद्धिसक्कारभोयणविसेस-
समुदयविहिं निर्दंता अप्पकं, कयंतं च परिवयंता, इह य पुरे
कडाइं कम्माइं पावगाइं विमणसो सोएण रुज्जमाणो परि-
ज्जया हुंति, सत्तपरिवज्जिया य दोभा सिप्पकट्टासमयसत्थप-
रिवज्जिया जहाजायपसुज्जया अवियत्ता निच्चं नीयकम्मोव-
जीविणोद्वोयकुच्छणिज्जा मोहमणोरहनिरामबहुत्ता आसा-
पासपमिवक्खपाणा अत्थोप्पायणकामसोक्खे य द्वोयसारे
हुतिं । अफलवंतगा य सुट्ठु अवि अ उज्जच्चता तदिवसुज्जु-
त्तकम्मकयदुक्खसंठवियासित्थपिहसंचयपरा खीणदव्वसा-
रा णिच्चं अधुवधणधएणकोमपरिजोगविज्जिया रहिय-
कामभोगपरिभोगसव्वसोक्खा परसिरिभोगोवभोगनिस्सा-
णमग्गणापगयणा वरागा अकामिकाए विणियति दुक्खं,
एव सुहं, एव एिच्चुति, उवलजति, अच्चतविपुलदुक्खस-
यसंपलित्ता परदव्वेहिं जे अविरया । एसो सो अदिस्सादाण-
स्स फलविवागो इहलोए परद्वोए अ अप्पसुहो बहुदुक्खो
महन्नयो बहुरयप्पगाहो दारुणो कक्कसो अमाओ वास-
सहस्सेहिं मुच्चति न य अवेदयित्ता अत्थि दु मोक्खो त्ति प-
वमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उव्वीरनामधेयो क-
हेसीयं अदिस्सादाणस्म फलविवागं, एव त ततियं पि अ-
दिणादाण हरदहमरणजयकट्टुसतासणपरसत्तिकागि-
ज्जद्वोचमूत्तं, एवं जाव चिरपरिगयमाणुगयं उरंत ततियं
अहम्मदार सम्मत्त त्ति वेमि ।

(तहेवेत्यादि) तथैव यथापूर्वमभिहिताः, केचित्केचन, परस्य
द्रव्य गवेषयन्त इति प्रतीतम् । शृङ्गताश्च राजपुरुषैः, इताश्च य-
ष्ट्यादिभिः, वक्षा रुद्धाश्च रज्ज्वादिभिः सयमि ।, चारकादिनि-
रुद्धाश्च (तुरिय ति) त्वरित शीघ्रं, अतिघ्राटिता भ्रामिता अ-
तिवर्णिता वा, भ्रामिता एव पुरुवर नगर समर्पिता दौकित्या, चौर-
ग्राहाश्च चारभट्टाश्च चाटुकाराश्च ये ते तथा । तैश्च चौरग्राह-
चारभट्टचाटुकारैः, चारकवसार्ति प्रवेशिना इति सम्बन्धः । कर्प-
टप्रहाराश्च लकुटाकारवलितचीवरैस्तामना, निर्दया निष्करुणा
ये आरक्त्रिक्काम्नेया सवन्धीनि यानि खरपरुषवचनानि अतिक-
र्कशभगिनानि, तर्जनानि च वचनविशेषा (गलत्थल त्ति)
गलप्रहण, तथा (उत्थलण त्ति) अपवर्तना, अपभ्रेरणा इत्य-
र्थः । तास्त्वथा, नानि चेति पदचतुष्टयस्य द्वन्द्वः । तामि विमनसो
विषमचेतस सन्त चारकवसार्ति गुप्तिगृह प्रवेशिता । किं भू-
ताम् ? निरयवसतिसदृशमिति व्यक्तम् । तत्रापि चारकवसनौ,
(गोम्मिक त्ति) गोम्मिकस्य गुप्तिपात्रस्य सचन्विनो ये प्र-
हारा घाता (डुम्मण त्ति) दचनानि उपतापानि, निर्भर्त्सनानि

आक्रोशविशेषा कटुकवचनानि च कटुकवचनैर्वा भीषणकानि च भयजनना न, तरमिज्जना ये ते तथा । पाठान्तरेण-पञ्चो यद् भय तेनाभिज्जना ये ते तथा । आक्षिप्तनिवसना आकृष्टपरिधानवस्त्रा, मलिन दगिरुखापरूप वसन वस्त्र येषां ते तथा । च-त्कोचालञ्चयोर्द्वयवदुत्वेतरत्वादिभिलोके प्रतीतज्जदयो पार्श्वो-द् गुप्तिगतनरसमीपाद्, उन्मोर्गण याचन, तत्परायणास्तस्मिन्ना ये त तथा, तैः, गौलिमकभटे कर्तुमि, विविधैर्बन्धनैः करणभूतैर्बन्ध-न्त इति सवन्धः । [किंते स्ति] तद्यथा- [हडि स्ति] काष्ठविशेषः, निगमानि होहमयानि, बालरज्जुका गवादिचालमयी रज्जु, कुद-रुमक काष्ठमय प्रान्ते रज्जु, पाश, धरत्रा चर्ममयी महारज्जु, हो-हसङ्कला प्रतीता, हस्ताण्डक होहादिमय हस्तयन्त्रण, वध्यपट-श्चर्मपट्टिका, दामक रज्जुमयपादसयमन, निष्कोटन च बन्धनवि-शेषः । इति द्वन्द्वः । ततस्तैरन्यैश्चाक्तव्यतिरिक्तैरेवमादिकैरेवप्रका-रैर्गौलिमकजाणभोपकरणैर्गौलिमकपरिच्छदविशेषैः दुःखसमुदो-रणैरसुखप्रवर्तकैः । तथा सकोचना गात्रसङ्कोचनम्, मोटना च गात्रभञ्जना, ताभ्याम्, किम् ? इत्याह-वध्यन्ते । के ? इत्याह-मन्दपुण्याः । तथा सपुट काष्ठयन्त्र, कपाट प्रतीतम् । लोहपञ्जरे भूमिगृहे च यो निराधः प्रवेशन स तथा । कूपोऽन्धकूपोपादिः, चारको गुप्तिगृह, कीदृका प्रतीता, यूपो युग, चक्र रथाङ्ग, बिनतबन्धन प्रतर्दितबाहुजङ्घाशिरसः सयन्त्रणम्, [खमाले-ण ति] स्तम्भागलन, स्तम्भालगनमित्यर्थः । उर्ध्वं चरणस्य यद्बन्धः । तत्तथा । एतेषां द्वन्द्वः । तत एभिर्वा विधर्मणा कदर्थनास्तास्तथा, ताभिश्च [विहेनियत ति] विहेन्यमना वध्यमाना, सकोटिना मोटिता क्रियन्त इति सम्बन्धः । अधः कोटकेन कोटया ग्रीवायाः अधोनयनेन, गाढ बाढ, उरसि हृदये, शिरसि च मस्तके, ये बद्धास्ते तथा । ते च ऊर्ध्वं पूरिताः श्वासपूरिताङ्कुकायाः, उर्ध्वो वा स्थिता, धूल्या पूरिताः । पाठान्तरे- [उरूपूरित्यति] ऊर्ध्वपूरितान्ना उर्ध्वगताम्ना, स्फुरदुरः-कण्टकाश्च, कम्पमानवक्षस्थलाः, इति द्वन्द्वः । तेषां सतां यन्मोदन मर्दन, आम्नेना वा, विपर्यस्तकरण वा, ते तथा । ताभ्या विहेन्य-माना इति प्रकृतम् । अथवा-स्फुरदुरः कण्टका इह प्रथमाबहुव-चनलोपो द्वयः । ततश्चाभ्युदनाभ्रमनाच्यामित्येतदुत्तरत्र योज्य-न्ते । तथा च बद्धाः सन्त निःश्वसन्तो नि श्वासान्विमुञ्चन्तः, शीर्षावेष्टन च वरत्रादिना शिरोवेष्टन, [उरयाव ति] ऊर्वाज-ङ्घयोर्दोरो दारण, ज्वालो वा उन्नयन, यः स तथा स च । पाठान्तरेण- [उरयावल ति] ऊरुकयोरावलन ऊरुकावलः । वपरु-कानां काष्ठयन्त्रविशेषाणां, सन्धिषु जानुकूर्परादिषु, बन्धनवप-रुकसन्धिबन्धन, तच्च तप्तानां शलाकानां कीलरूपाणां, सूचीनां श्लक्ष्णताङ्गणां, यान्याकुटनानि कुटनेनङ्के प्रवेशनानि, तानि तथा, तानि चेति द्वन्द्वः । तानि प्राप्यमाणा इति सवन्धः । न-वृणानि च वास्या काष्ठस्येव, विमाननानि च कदर्थनानि, तानि च तथा, कारणानि निलकाराणि, कटुकानि मरीचादौ, नि, निकानि निम्बादिनि, तैर्यत् [नावण स्ति] तस्य दान तदादि यातना-कारणशानानि कदर्थनादेतुशानानि, तानि बहुकानि प्राप्यमाणाः । तथा उरमि वक्रसि, (घाति स्ति) महाकाष्ठ, तस्या दत्ताया विनार्णया, निवेशिताया इत्यर्थः । यन्नाढप्रेरण तेनास्थिकानि हड्डानि समग्नानि [सपासुलग स्ति] सपाश्वरस्थानि यथा ते तथा । गत्र इव वभिश्मिन् घातकत्वेन यः स गत्र, स चाभौ कालकलोददण्डश्च कालायस्यष्टि, तेन उरमि वक्रमि, उदरे च जठरे च, वस्तौ च गुह्यदेशे, पृष्ठौ च पृष्ठे, परिधीकृता ये ते

तथा । (मत्थत स्ति) मथ्यमान हृदय येषां ते तथा । इह थकारस्य लुकारादेशश्चान्दसत्वात् । तथा सचूर्णिताङ्को-पाङ्गाश्चेति समासः । आक्षिप्तिकिङ्करैः यथाऽऽदेशकारिभिः, कि-कुर्वाणैः ? । केचित् केचन, आविराधिता एवाऽनपराद्धा एव, वै-रिका ये ते तथा तैः, यमपुरुषसन्निभैः, प्रहता इति प्रकटम् । ते अदत्तहारिणः । तत्र चरकगतं मन्दपुण्या निर्भाग्याः, चर्मवेष्टा चपेटा, चर्मपट्ट चर्मविशेषपट्टिका, पोरा इति होहकुशी-विशेषः, कपश्चर्मयष्टिका, हस्ताक च, वरत्रा चर्ममयी महारज्जुः, वेत्रो जलवशः, एभिर्घे प्रहारास्तेषां यानि शतानि तैस्ता-डितान्यङ्कोपाङ्गानि येषां ते तथा, कृपणा दुस्थाः, हम्बमान-चर्मणि यानि व्रणानि कृतानि, तेषु या वेदना पीडा, तथा विमु-खीकृत चौर्याद्विराजित मनो येषां ते तथा । घनकुट्टनेन घन-तामनेन निर्वृत्त घनकुट्टिमम्, तेन निगरुयुगलेन प्रतीतेन, सको-टिता सङ्कोचिता, मोटिताश्च जन्नाङ्गाः, ये ते तथा । ते च क्रिय-न्ते विधीयन्ते, आक्षिप्तिकिङ्करैरिति प्रकृतम् । किं भूता ? निरु-धारा निरुधुरीयोत्सर्गाः, अविद्यमानसम्बरेणा नष्टवचनोच्चा-रणा वा, एता अन्याश्च एवमादिका एवप्रकाराः वेदनाः पापाः पापफलचूताः, पापकारिणो वा प्राप्नुवन्ति । अदान्तेन्दियाः, वृत्तिवशेन विषयपारतन्त्येण श्रुता पीडिता वशार्ताः, बहुमो-हमोहिताः, परधने लुब्धा इति प्रतीतम् । स्पर्शनेन्द्रियविष-य स्त्रीकलेवरादौ, तावमस्यर्थः, गृह्य अच्युपपन्ना ये ते तथा । स्त्रीगता ये रूपशब्दरसगन्धास्तेषु इष्टाङ्गिमता या रतिः, तथा स्त्रीगता एव महितो वाञ्छितो यः स्त्रीमोगो निधुवन, तेन या तृष्णा आकाङ्क्षा, तथा अर्दिता बाधिता ये ते तथा । ते च धनेन तृष्यन्तीति धनतोषकाः, गृहीताश्च राजपुरुषैरिति गम्यम् । ये केचन नरगणा चौरनरसमूहाः, (पुनरवि स्ति) एकदा ते गौ-लिमकनराणां समर्पिता तैश्च विविधबन्धनबद्धा क्रियन्त इत्युक्त-म्, ततः तेभ्यः सकाशात् पुनरपि ते कर्मदुर्विदग्धा, कर्मपापकि-यासु विषये फलपरिज्ञानं प्रति विज्ञाः, उपनीता दौकित्याः राज-किङ्कराणां, किंविधानाम् ? (तैस्ति स्ति) ये निर्दयादिधर्मयुक्तास्ते-षाम्, तथा वधशालकपाठकानां इति व्यक्तम् । विद्यउद्गीकार-काणां तिविद्वदोक्तकर्तृणां विलोकनाकारकाणां वा, लज्जाशतप्रा-दकाणां, तत्र लज्जा उक्तोच्चाविशेषः । तथा कूट मानादीनामन्यथा-करण, कपटवेषभाषावैपरीत्यकरण, माया प्रतारणवृत्तिः, निहृति-वञ्चनक्रिया, तयोर्वा प्रच्छेदनाथमाया क्रियैव, एतासा यदाचर-ण प्रणिधिला एकाग्रचित्तप्रधानेन यदञ्जन, प्रणिधीना वा गूढपुरु-षाणां यदञ्जनतश्च, तत्र विशारदा पण्डिता ये ते तथा । तेषा बहु-विधाऽऽतीकशनजल्पकानां, परलोकापर इमुखानां, निरयगतिगा-मिकानामिति व्यक्तम् । तैश्च राजकिङ्करैः, आक्षिप्तमादिष्ट, जानेतु-ष्टानग्रहविषयमाचरित, दण्डश्च प्रतीतः, जीतदण्डो वा रूपदण्डो, जीवदण्डो वा जीवितनिग्रहलक्षणो, येषां ते तथा । त्वरित शीघ्रमुद्रादिता प्रकाशिता, परचर शृङ्गाटिकादिषु, तत्र गृह्णाटक मिह्णाटकाकार त्रिकोणस्थानमित्यर्थः । त्रिक रथ्यात्रयमूलन-नस्थानम्, चतुष्क रथ्यात्रयचतुष्कमीलनस्थानम्, चतुरमनकरथ्या-पननस्थानम्, चतुर्मुख देवकुञ्जिकादि, महापथो गजमार्गः, पन्था सामान्यमार्गः, किंविधाः सन्त प्रकाशिता ? इत्याह-वेत्तदण्डा लब्धः, काष्ठ, द्वेष्ट, प्रस्तरश्च, प्रसिद्धा । (पणालि स्ति) प्रहृष्ट नाली शरीरप्रमाणा दार्धनग याष्ट, (पणोस्ति स्ति) प्रणोदितो जा-तदण्डः, मुष्टिदत्ता पादपाणिर्वा जानुकूपर चेतान्यपि प्रसिद्धा-नि । एभिर्घे प्रहारास्तैः समग्रान्यामर्दिनानि मयितानि विभोकिता-

नि गात्राणि येषां ते तथा । अष्टादश कर्मकारणाः-अष्टादश चौरप्र-
सूतिहेतवः । तत्र चौरस्य, तत्प्रसूतीनां च लक्षणमिदम्

“चौरः १ चौराणको २ मन्त्री, ३ जेदङ्ग ४ काणककयी ५ ।

अष्टद ६ स्थानदक्षैव, चौर सप्तविध स्मृतः” ॥ १ ॥

अत्र काणककयी बहुमूल्यमपि अल्पमूल्येन चौरादृत काणक
हीन कृत्वा क्रीणातीत्यवशील ।

“मलन १ कुशले २ तर्जा ३, राजजागो ४ ऽधशोकनम् ५ ।

अमार्गदर्शन ६ शय्या ७, पदभङ्गस्तथैव च ॥ १ ॥

विश्रामः १ पादपतन २-मासन ११ गोपन तथा १२ ।

खण्डस्य खादन चैव १३, तथाऽन्यन्मोहराजिकम् १४ ॥ २ ॥

पद्या १५-न्यु १६-दक १७ रज्जुनां, १८ प्रदान ज्ञानपूर्वकम् ।

एता प्रसूतयो ज्ञेयाः, अष्टादश मनीषिभिः” ॥ ३ ॥

तत्र मलनम्-न भेत्तव्यं प्रवृत्ताऽहमेव त्वद्विषये जालिण्यामीत्या-
दिवाक्यैश्चौर्याविषयं प्रोत्साहनम् १। कुशलम्-मिलिनानां सुख-
दुःखतत्तातोप्रश्नः २। तर्जा-हस्तादिना चौर्ये प्रति प्रेषणादिसङ्का-
करणम् ३। राजजागो-राजभाज्यद्रव्यापहव ४। अवशोकनम्-हरतां
चौराणामुपेक्षाबुद्ध्या दर्शनम् ५। अमार्गदर्शनम्-चौरमार्गप्रच्छे-
कानां मार्गान्तरकथनेन तदपज्ञानम् ६। शय्या-शयनीयसमर्पणा-
दि ७। पदभङ्ग-पश्चाच्चतुष्पदप्रचारादिद्वारेण ८। विश्राम-स्वगृ-
ह एव वासकाद्यनुज्ञा ९। पादपतनम्-प्रणामादिगौरवम् १०। आ-
सनम्-विष्टप्रदानम् ११। गोपनम्-चौरापहवम् १२। खण्डखाद-
नम्-मण्डकादिनक्षत्रयोग १३। मोहराजिकं लोकप्रसिद्धम् १४।
पद्याऽन्युदकरज्जुनां प्रदानमिति प्रज्ञासनाभ्यङ्गाभ्यां दूरमार्गाग-
मजनितभ्रमापनोदितत्वेन पादभ्यो हित पद्यमुष्णजलैस्तादि त-
स्य १५, पाकाद्यर्थे चाग्न १६, पानाद्यर्थे च शीतोदकस्य १७, चौर-
राहनचतुष्पदादिवन्धनार्थं च रज्ज्वाश्च १८, प्रदान वितरणम् १९।
नपूर्वकं चति सर्वत्र योग्यम्, अज्ञानपूर्वकस्य निरपराधत्वादिनि ।

तथा पातिनाङ्गोपाङ्गा कदर्थिताङ्गोपाङ्गा, तै राङ्ग किङ्करि-
ति प्रकृतम् । करुणा, शुष्कोष्ठकण्ठगन्धतालुजिह्वा, याचमाना-
पानीयम्, विगतजीविताशा, नृष्णादिता, चराका इति स्फुटम् ।
(तपिय चि) तदपि पानीयमपि न दत्तन्ते, वध्येषु नियुक्ता ये
पुरुषा-ते वध्यपुरुषा, तैर्वाध्यमानाः प्रेर्यमाणाः । तत्र च धारुणे,
खरपक्षयोऽर्थकृत्विनो यः पटहको मिष्टिमक, तेन प्रचलनार्थं
पृष्ठदेशे घट्टिताः प्रेरिता ये ते तथा । कुरग्रहः कटिग्रहः, तेन च
गाढरुष्टिर्निस्पृष्टमर्थं परासृष्टा गृहीता ये ते तथा । ततः कर्म-
धारय । वध्यानां सम्बन्धि यत् करकुट्टीयुग वस्त्रविशेषयुगल
तच्चथा, तन्निवसिता परिदिता । पात्रान्तर वधाश्च करकुट्ट्यो-
हस्तलक्षणः, तयोः युग युगत्र, निनसिताश्च ये ते तथा । सुर-
क्तै कण्ठवैरैः कुसुमविशेषैः, अथित गुम्फिन, विमुकुल विकसि-
त, कण्ठे गुण इव कण्ठे गुण, कण्ठसूत्रसदृशमित्यर्थः । वध्यदूत
इव वध्यदूत, वद्धचिह्नमित्यर्थः । आविद्ध परिहिन, माध्यदा-
मकुसुममात्रा, येषां ते तथा, मरणभयादुत्पन्नो य स्वदः तेनायत-
मायामत्रदू यथा मयनीत्येव ज्ञेहेन उन्नुपितानीव स्नापितानीव
क्लिन्नानि चार्द्राङ्गानि गात्राणि येषां ते तथा । चूर्णेनाङ्गरादी-
ना गुणैरुन शरीर, कुसुमजसा वातोत्खातेन रेणुना च धूवी-
रूपेण भरिताश्च नृता केशा येषां त तथा । कुसुमकेन राग-
विशेषेण उत्कीर्णा गुणैरुता मूर्च्छजा येषां ते तथा । विघ्नजीवि-
ताशा इति प्रतीतम् । घूर्णमाना, जयविक्रयत्वात् । वध्याश्च ह-
न्तव्या, प्राणप्रीताश्च उच्छ्वासादिप्राणप्रिया, प्राणपीता वा जङ्कि-
तप्राणा ये ते तथा । पात्रान्तरण- (वेङ्गायणमीय चि) वध-

केच्यो प्रीता इत्यर्थः । 'तिन्न तिन्नं चैव छिज्जमाणा' इति व्यक्तम् ।
शरीराद्विकृतानि छिन्नानि लोहितावद्विस्तानि यानि काकणीमां-
सानि श्लक्ष्णखण्डपिशितानि तानि तथा, खाद्यमाना, पापाः
पापिन, खरकरशतैः श्लक्ष्णपाषाणभृते, चर्मकोशकविशेषशतैः,
स्फुटितवशाशतैः ताड्यमानदेहाः, वातिकनरनारीसपरिवृताः
वातो येषामस्ति ते वातिकाः, वातिका इव वातिका, अयन्विता
इत्यर्थः । तैर्नरैर्नारीभिश्च समन्तात्परिवृता ये ते तथा । प्रेक्ष्यमा-
णाश्च, नागरजनेनेति व्यक्तम् । वध्यनेपथ्य संजातं येषां ते वध्य-
नेपथ्यता । प्रणीयन्ते नीयन्ते नगरमध्येन सन्निवेशमध्यभागेन,
कृपणानां मध्ये करुणा, कृपणकरुणा, अत्यन्तकरुणा इत्यर्थः । अ-
प्राणा, अनर्थप्रतिधानकाज्ञावात् । अशरणा, अर्थप्रापकाज्ञावात् ।
अनाथा, योगक्रेमकारिविरहितत्वात् । अवान्धवा, बान्धवानाम-
नर्थकत्वात् । वन्धुविप्रहीणा, बान्धवै परित्यक्तत्वात् । विप्रेक्षमा-
णाः पश्यन्तेः (दिसो दिस ति) एकस्या दिशोऽन्यां दिशः, पुनस्त-
स्या अन्यां दिशमित्यर्थः । मरणभयेनोद्विग्ना ये ते तथा । (आ-
घायण चि) आघातन च वध्यचूर्णमिष्टमण्डलस्य प्रतिद्वारम् । द्वार-
मेव नप्रापिता नीता ये ते तथा । अप्रन्या, शूलनाशे शूलका-
न्ते विघ्नशोऽवस्थितो जिज्ञो विदारितो देहा येषां ते तथा ।
ते च तत्र आघातने, क्रियन्ते विधीयन्ते । तथा परिकल्पिता-
ङ्गोपाङ्गा छिन्नावयवाः, उल्लभ्यन्ते घृत्तशाखाभिः । केचि-
त् करुणानि, वचनानीति गम्यन्ते, विलपन्त इति । तथा
अपरे चतुर्ष्वङ्गेषु हस्तपादद्वयकेषु (धणिय) गाढ बद्धा ये
ते तथा । पर्वतकटकपाद् नृगो, प्रमुच्यन्ते क्रियन्ते, दूरात्पातः
पतनं च, बहुविषमप्रस्तरेषु अत्यन्तासमपाषाणेषु, सहन्ते ये ते
तथा । तथाऽन्ये वाऽपरे गजचरणमलनेन निर्मदिता दलिता ये
ते तथा । ते क्रियन्ते । कै ? इत्याह-मुण्णपरशुभिः कुण्ठकुण्ठैः ।
तीक्ष्णैर्हि तैर्नात्यन्त वेदनोत्पद्यत इति विशेषणमिति । तथा
केचित् अन्ये, उत्किञ्चकणोष्णतासांभिक्षन्नध्वणदशनच्छद्वा-
णा, उत्पादितनयनदशनवृषणा इति प्रतीतम् । जिह्वा रसना,
आञ्चिता आकृष्टा, विघ्नौ कर्णौ, शिरश्च, नयनाद्या येषां ते
तथा । प्रणीयन्ते, आघातस्थानमिति गम्यते । विद्यन्ते च खण्ड्य-
न्ते, असिना खण्डेन, तथा निर्विषया देशाद् निष्कासिता, विघ्न-
हस्तपादाश्च, प्रमुच्यन्ते राजकिङ्कुरैस्त्यज्यन्ते, विघ्नहस्तपादा
देशान्निष्कास्यन्त इति भावः । तथा यावज्जीवबन्धनाश्च क्रि-
यन्ते, केचिदपरे, कै ? इत्याह-परच्छयहरणबुद्ध्या इति प्रती-
तम् । कारार्गव्या चारकपरिधेन, निगमयुगवैश्च रुद्धा नियन्त्रिता
ये ते तथा । ते क ? इत्याह-[चारगाय चि] चारके गुप्तौ, किं
विधाः सन्तः ? इत्याह-हतसारा अपहृतछव्या, स्वजनविप्रमुका
मित्रजननिराकृता निराशाश्चेति प्रतीतम् । बहुजनाधिकारश-
ब्देन वज्जायिता प्राप्तवज्जा ये ते तथा । अल्लज्जा विगतलज्जा,
अनुबद्धुद्धा सततबुद्धुद्धा, प्रारब्धाभिज्ञता अपराद्धा वा ये ते
तथा । शीतोष्णनृष्णावेदनया दुर्घटया दुराच्छादनया, घट्टिताः
स्पृष्टा ये ते तथा । विषर्णं मुख, विरूपा च त्रिवि शरीरत्वक्, येषां
ते विषर्णमुखविच्छाविकाः । ततोऽनुबद्धेत्यादिपदानां कर्मधार-
यः । तथा विफला अप्राप्तेच्छितार्थाः, मन्त्रिना मन्त्रीमसाः, पुर्व्व-
श्चासमर्था ये ते तथा । ज्ञान्ता ग्नाना, तथा कासमाना रोगवि-
शेषात्कुत्सितशब्द कुर्वाणा, व्याधिताश्च सज्जातकुष्ठादिरोगाः,
आमनापकरसनानिज्जनानि गात्राण्यङ्गानि येषां ते तथा । प्ररु-
ढानि वृद्धिमुपगतानि, वृद्धत्वेनासस्काराद् नखकेशश्मश्रुमाणि

वेषां ते तथा । तत्र केशाः शिरोजाः, श्मश्रूणि कूर्चरोमाणि, शेषा-
णि तु रोमाणीति । (मलमुत्तस्मिं सि) पुरीषमूत्र निजके, (खुत्त सि)
निमग्नाः, तत्रैव चारकबन्धने मृता, अकामुका मरणेऽनजिह्वापाः,
ततश्च वद्धा पादयोरारुह्य, स्वातिकायां [बृहत् सि] कृता,
तत्र तु स्वातिकायां, वृकशुनकलृप्तक्रीमार्जवृन्दस्य सदृश-
कतुण्डैः पक्षिगणस्य च विविधमुख्यशतैर्विबुधैः गात्राणि येषां
ते तथा । कृता विहिता वृकादिभिरेव [विहग सि] विभागाः,
खण्डशः कृता इत्यर्थः । केचिन्व्ये- [किमिच्छा सि] कृमिव-
न्तश्च, कुथितदेहा इति प्रतीतम् । अनिष्टवचनैः शप्यमाना
आक्रोश्यमानाः । कथम् ? इत्याह-सुष्ठु कृत, ततः कदर्थनमि-
ति गम्यते । यदिति यस्मात्कदर्थनान्मृतः पाप इति । अथवा
सुष्ठु कृतं सुष्ठु सम्पन्न, यन्मृत एव पाप इति । तथा तुष्टेन जने-
न हन्यमाना, लज्जामापयन्ति प्रापयन्तीति लज्जापनास्त एव
कुत्सिता लज्जापनकाः, लज्जावहा इत्यर्थः । ते च प्रवन्ति जा-
यन्ते, न केवलमन्येषां, स्वजन्मस्यापि च दीर्घकालं यावदिति त-
था मृताः सन्त, पुनर्मरणानन्तर, परलोकसमापन्ना जन्मान्तर-
समापन्नाः, निरये गच्छन्ति, कथञ्चने ? निरभिरामे । अङ्गाराश्च
प्रतीताः । प्रदीप्तकं च प्रदीपनकं च तत्कल्पस्तदुपमो योऽत्यर्थं शी-
तवेदनेनामातनेन कर्मणा उदीर्णानि उदीरितानि, सततानि अ-
विच्छिन्नानि यानि दुःखशतानि तैः समभिजृता यः स तथा तत्र ।
ततस्ततोऽपि नरकादुद्धृता सन्त पुनः प्रपद्यन्ते तिर्यग्योनि-
म्, तत्रापि निरयोपमानामनुभवन्ति वेदनाम्, ते अनन्तरोदिता-
दक्षप्राहिण, अनन्तकालेन यदि नाम कथञ्चिन्मनुजभाव ल-
भन्ते इति व्यक्तम् । कथम् ? इत्याह-नैकेषु बहुषु, निरयगतौ यानि
गमनानि तिरश्चा च ये भवस्तेषां ये शतसहस्रसंख्यापरिव-
र्तास्ते तथा तेषु, अतिक्रान्तेषु सतिस्विति गम्यते । तत्रापि च म-
नुजत्वलाभे प्रवन्ति जायन्तेऽनार्या शक्यवन्तवन्वरादयः । किं
जृता ? नीचकुलसमुत्पन्ना, तथा आर्यजनेऽपि मगधादौ समु-
त्पन्ना इति शेषः । लोकबाह्या जनवर्जनीया, भवन्तीति गम्यस्ति-
र्यग्भूताश्च, पशुकल्पा इत्यर्थः । कथम् ? इत्याह-अकुशलास्तत्त्वेभ्य-
निपुणा, कामभोगे तृषिता इति व्यक्तम् । [जर्हि ति] यत्र नरकादि-
प्रवृत्तौ, न तु मनुजत्वं लभन्ते, यत्र निबध्नन्ति (निरयवत्तणि सि)
निरयवर्तिन्या नरकमार्गे, प्रवप्रपञ्चकरणेन जन्मप्राप्त्यर्थकरणेन,
[पणोस्ति सि] प्रणोदीनि तत्प्रवर्तकानि, तेषां जीवानामिति हृदयमा
यानि तानि तथा । अत्र द्वितीयावहुवचनलोपो द्रष्टव्यः । पुन-
रपि आवृत्त्या संसारो जवो (नेम सि) मूलं येषां तथा, दुःखा-
नाति प्रावः । तेषां यानि मूलानि तानि तथा, कर्माणीत्यर्थः ।
तानि निबध्नन्तीति प्रकृतम् । इह च मूला इति वाच्ये मूल इ-
त्युक्त प्राकृतत्वेन विज्ञेयमप्ययादिति । किं भूतास्ते मनुजत्वे वर्त-
माना भवन्ति ? इत्याह-धर्मश्रुतिविवर्जिताः धर्मशास्त्रविकल्पा
इत्यर्थः । अनार्या आर्येतरा, क्रूरा, जीवोपघातोपदेशकत्वात् ।
कुद्राः, तथा मिथ्यात्वप्रधाना विपरीतनस्वोपदेशकाः श्रुतिसि-
द्धान्तता प्रपन्ना अच्युपगताः, तथा ते च भवन्तीति । एकान्त-
दण्डरुचयः, सर्वथा हिंसनश्रद्धा इत्यर्थः । वेष्टयन्ते कोशिकाकार-
कीट इव, आत्मानमिति प्रतीतम् । अष्टकर्मलक्षणैस्तनुभिर्यद्गन
बन्धनम् । तथा एवमनेन आत्मनः कर्मभिर्वन्धनलक्षणप्रकारेण
नरकतिर्यङ्गरामरेषु यद्गमन तदेव पर्यन्तचक्रवाल बाह्यपरि-
धेयस्य स तथा तम्, ससारसागर वसन्तीति सम्बन्धः । किं जू-
तम् ? इत्याह-जन्मजगमरणान्येव करणानि साधनानि यस्य
तत्तथा, तच्च गम्भीरदुःखं च, तदेव प्रकृमिन सञ्चलित प्रचुर

सखिलं यत्र स तथा तम् । संयोगवियोगा एव बीचयस्तरङ्गा
यत्र स तथा । चिन्ताप्रसङ्ग चिन्तासातत्य, तदेव प्रसृत प्रसरो
यस्य स तथा । वधा हननानि, बन्धाः संयमनानि, तान्येव म-
हान्तो दीर्घतया, विपुलाश्च निस्तीर्णतया, कल्लोसा महोर्म-
यो यत्र स तथा; करुणविलपिते लोभ एव कलकलायमानो यो
बोलो ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा । ततः संयोगादियद्वानां
कर्मधारयः अतस्तत् । अवमाननमेवापूजनमेव, फेनो यत्र स तथा ।
तीव्रस्त्रिसनं वाऽत्यर्थं निन्दा पुष्टपुष्टप्रचृता अनवरतोद्धृता या
रोगवेदनास्ताश्च परिभवविनिपातश्च पराजिनवसम्पर्कः, पर-
वधर्षणानि च निष्ठुरवचननिर्भत्सितानि, समापातितानि समाप-
न्नानि, येन्यस्तानि तथा तानि च तानि कठिनानि कर्कशानि,
दुर्ज्ञेदानीत्यर्थः । कर्माणि च ज्ञानावरणादीनि, क्रिया वा, ये प्रस्त-
राः पाषाणाः, तैः कृत्वा तरङ्गरिङ्गद् बीचिभिश्चलन्, नित्य भुव,
मृत्युश्च भय चेति त एव वा तोयपृष्ठ जलोपरितनभागो यत्र
स तथा । ततः कर्मधारयः । अथवा-अपमानेन फेनेन, फेनमिति
तोयपृष्ठस्य विशेषणम् । अतो बहुव्रीहिरेव अतस्तत् । कषाया एव
पातालाः पातालकलशास्तैः सकुलो य स तथा तम् । प्रवसदस्त्रा-
ण्येव जलसञ्चयस्तोयसमूहो यत्र स तथा तम् । पूर्व जननादि-
जन्यदुःखस्य सखिलतोका, इह तु जवानां जननादिधर्मवतां
जलविशेषसमुदायनोकेति न पुनरुक्तत्वम् । अनन्तमक्षय, उद्वेज-
नकमुद्वेगकरम्, अनर्वाक्पार-विस्तीर्णस्वरूपम्, महाजपादिभि-
शेषणत्रयमेकाधर्मम् । अपरिमिता अपरिमाणा ये महेच्छा बृह-
दजिलाषा लोकास्तेषां कलुषाऽविशुद्धा या मतिः सा एव
वायुवेगस्तेन (उद्धममाण सि) उत्पाद्यमान यत्तथा । तस्य
आशा अप्राप्तार्थसम्भावना, पिपासाश्च प्राप्ताधकाङ्क्षा, त एव
पातालाः पातालकलशा, पाताल वा समुद्रजलतलं, तेभ्यस्तस्मा-
द्वा कामरतिः शब्दादिष्वभिरतिः, रागद्वेषबन्धनेन च बहुविधस-
कल्पाश्चेति द्वन्द्वः । तल्लक्षणस्य विपुलस्योदकरजस उदकरेणो-
र्यो रयो वेगस्तेनान्धकारो यः स तथा तम् । कलुषमतिवातेनाऽऽ-
शादिपातालाद्युत्पाद्यमानकामगत्याद्युदकरजोरयोऽन्धकारमि-
त्यर्थः । मोह एव महावर्तो मोहमहावर्तः, तत्र भोगा एव कामा
एव, भ्राम्यन्तो मण्डलेन सञ्चरन्तो, गुप्यन्तो व्याकुलीभवन्त
उद्धलन्त उच्छलन्तो, बहव प्रचुराः, गर्जवासे मध्यप्रागविस्तरे,
प्रत्यवानिवृत्ताश्च उत्पत्त्य निपातिता, प्राणिनो यत्र जले तत्र तथा ।
तथा प्राधावितानि इतस्ततः प्रकर्षेण गतानि यानि व्यसनानि तानि
समापन्ना प्राप्ता ये ते । पाठान्तरेण-आधिताः पीडिता ये व्यसन-
समापन्ना व्यसनिन, तेषां हृदि यत् प्रलपित तदेव खण्डमारुत-
स्तेन समाहतमनोर्हं वीचिव्याकुलित जङ्गैस्तरङ्गैः, स्फुटद् वि-
दलद्, अनिष्टैस्तैः कल्लोलैर्महोर्मिभिः, सकुलं च जलं तोयं यत्र स
तथा तम् । मोहावर्तभोगरूपजाम्यदादिविशेषणप्राणिकव्यस-
नमापन्नरुदितलक्षणदण्डमारुतसमाहतादिविशेषण जलं यत्रेत्य-
र्थः । प्रमादा मद्यादयः, न एव बहवश्चण्डा रौद्रा, दुष्टाः कुक्षाः, आ-
पदा व्याघ्रादयः, तैः समाहता अभिजृता ये (उद्धायमाण सि)
उत्तिष्ठन्तो (विविधचेष्टासु) समुद्रपक्षे मत्स्यादयः, ससारपक्षे
पुरुषादयः, तेषां यः पूर समूहस्तस्य ये घोरा रौद्रा विध्वंसनार्था
विनाशलक्षणा, अनर्था अपायाः, तैर्बहुषो यत्र स तथा । अ-
ज्ञानान्येव जूमन्तो मत्स्या (परिदक्ष सि) दक्षा यत्र स तथा ते ।
अनिभृतान्युपशान्तानि यानीन्द्रियाणि, अनिभृतेन्द्रिया वा ये
देहिनस्तान्येव, त एव वा, महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि
शीघ्राणि, चरितानि चेष्टानि, तैरेव (लोक्पुञ्जमाण सि) भृशकुन्य-

भाषो य स तथा । मन्ताप, एकत्र शोकादिभ्यः, अन्यत्र याम-
 धासिद्धौ नित्य यत्र स मन्तापनित्यक । तथा चलन् चपप्रभञ्ज-
 सञ्च य स तथा, भविष्यत्सत्यर्थः । स च सप्राणानामशरणानां
 पूर्णकर्मसञ्चयानां, प्राणिनामिति गम्यम् । यदुद्दीण यत्र
 पाप तस्य यो येषमानो दुःखदातृरूपो विपाकः स एव पूर्णैश्च
 मूत्रजलसमूहो यत्र स तथा । ततोऽज्ञानाद्विपदानां कर्मधार-
 यः । अतस्तम् । आदिरसमागसृष्ट्यानि यागि गौरवाण्यशुभाय
 बसावविशेषः, त एवापहारा जलचरविशेषो, तैर्गृहीता ये क-
 र्मसंनिबद्धाः सन्ता, ससारपक्षे ज्ञानापरणादियत्ता, समुद्रपक्षे
 विचित्रचेष्टाप्रसक्ताः । (कष्टिज्जमाणे सि) साकृत्प्रमाणा नरक
 एव तत्तं पाताल (दुःखं नि) तद्भिमुग मन्ता इति मन्तका
 जिज्ञा, विपण्यादयः शोकिता, नैर्बहुतो य स तथा । भवभिरनि-
 भयानि प्रतीतानि । विपाको र्दम्प, लोकस्त्रयेष प्रकर्षाण्यम् । मि-
 श्र्यात्वविपर्ययः, एता येव शोभा पर्यवर्तन्ते मूढो य स तथा ।
 अनादिसन्तानो यस्य कर्मबन्धनस्य तत्तथा, तथ ज्ञेयाश्च रा-
 गादयस्तन्मूढा यत् विविक्तं कर्ममन्तेन दुष्ट दुःखारो य स
 तथा । तत् स आसीत्यादिपदानां कर्मधारय, अतस्तम् । अमर-
 नरतिर्यगात्तौ यक्रमन मेव कर्तृत्वपरिचयार्ता चपपरिचयार्ता, विपु-
 ला विस्तीर्णा, वेसा जलपृच्छितकृणा, यत्र स तथा तम् । हिंसाऽसी-
 कादसादानमैपुनपरिमदसङ्कणा ये भारज्जा स्यापाराः, तेषां यानि
 करणकारणानुमोदनानि तैरपिधमनि एव कर्मणि कृतं साश्च-
 सं, तदेव गुदमारम्भेवाक्रान्ता ये ते तथा, तैर्गुणावेषे स्यसनाभ्येष
 यो ज्ञोषस्तेन दूरमत्यर्थ, निचोत्पमनैः निमज्जमानैः, (उम्मगानि-
 मगं सि) उन्मग्ननिगमैरुद्गुं धोजलगमनानि कुर्याणः, दु-
 र्लभं तत् प्रतिष्ठान यस्य स तथा तम् । शरीरमनोमयानि दु-
 खानि उत्पिबन्त आमादयन्त, मानं च सुखम्, धमातपरिता-
 पन च दुःखजनितोपतापः, यत् मयमेतदात्मकम्, (उन्पुट्तिप्यु-
 ड्य ति) उन्मग्ननिमग्नत्वं कुर्यन्त । तत्र मातमुन्मग्नत्वंमिय,
 असातपरितापनं निमग्नत्वंमियेति । चतुरन्त चतुर्विंशति दि-
 ग्भेदगतिभेदाभ्या महान्तं प्रतीतम्, कर्मधारयोऽत्र दृश्य । अन-
 वदप्रमनन्तं, दह विस्तीर्णं, ससारसागरमिति प्रतीतम् । किं-
 भूतम् ? इत्याह-अस्थितानां मयमाव्ययस्थितानामविधमान-
 मासम्भनं प्रतिष्ठान च प्राणकारणं यत्र स तथा तम्, अग्रमय-
 मसर्ववेदिनाऽपन्निच्छेयं, चतुरग्नानियोनितसदृशगुणिलम्,
 तत्र योनयो जीवानामुत्पत्तिस्थानानि, तेषां धामरयतत्वेऽपि
 समवर्णगन्धरसस्पर्शानामेकत्ववियक्षणानुक्तसन्त्याया अवि-
 रोधित्य द्रष्टव्यम् । तत्र गाथा-“ पुटवि ७ दग ७ अगणि ७
 माख्य ७, एकेके सप्त जोगिलकगाश्रो । यणुपसेय १० अणु-
 ते १४, दस चोदस जोगिलकगाश्रो ॥१॥ विगलिदिपसु दो दो,
 चउरो चउरो नारयसुरेसु । तिरिपसु इति चउरो, चोदस ल-
 क्कायमणुपसु ” ॥ २ ॥ इति । अनालोकानामज्ञानमन्धकारो
 यः स तथा तम् । अनन्तकालमपर्यवसितकाल यावत्, नित्य
 सर्वदा, उत्तस्ता उद्गतत्रासा, शून्या इतिकर्तव्यतामूढा,
 भयेन सन्नामिभ्य आहारमैधुनपरिग्रहादिभिः, सप्रयुक्ता युक्ता ।
 ततः कर्मधारयः । घसन्ति अध्यासते, ससारसागरमिति प्रकृ-
 तम् । इह च वसेर्निरुपसर्गस्यापि कर्मत्व ससारस्य, छान्दमत्वा-
 दिति । किं भूत ससारम् ? उन्मिग्नानां यासस्य घसनस्य घस-
 तिस्थान य स तथा तम् । तथा यत्र यत्र ग्रामकुलादीं आयुर्निव-
 ष्णन्ति पापकारिणश्चौर्यविधायिनः, तत्र तत्रेति गम्यते । बा-
 ष्पवजनादिवर्जिता भवन्तीति क्रियासम्बन्ध । बान्धवजनेन

आप्रादिना, स्वजनेन पुत्रादिना, मित्रैश्च मुहूर्ति परिवर्जिता
 ये ते तथा । अनिष्टा, जनस्येति गम्यते, भवन्ति जायन्ते । अना-
 द्यदुर्विनीता इति प्रतीतम् । कुस्थानामनशय्याश्च ते, कुभोजि-
 नश्चेति समासः । (अमुद्रणो सि) अशुचयोऽशुचयः, कुम्हननाः
 छेदयः सदननयुक्ता, कुप्रमाणा आतिदीर्घा अनिहत्वा या,
 कुम्हन्तिना हृतादिस्थाना । इति पटत्रयस्य कर्मधारयः । कु-
 र्णा कुम्हन्तिनयर्णा, यदुक्रोधमानमायालोभा इति प्रतीतम् ।
 यदुमोहा अनिकामा अत्यथाज्ञाना वा, धर्मसङ्गाया धर्मबुद्धेः,
 सम्यक्चायं ये पणिप्रदास्ते तथा । दारिद्र्योपद्रवाभिभूता,
 नित्य परकर्मकारिण इति प्रतीतम् । जीव्यते येनाथेन ह्येण
 तद्रूप्यरहिता ये ते तथा । कृपणा गृहा, परपिण्डनर्कका पर-
 दत्तभोजनगवेयका, दुःखलब्धाहारा इति व्यक्तम् । अरसेन
 हिङ्गवादिभिरससृतेन विरसेन पुराणादिना तुच्छेन अल्पेन,
 भोजनेनेति गम्यते । एतर्कानिपूरा यस्ते तथा । तथा परस्य स-
 यन्धिन प्रदयमाणा । पश्यन्ति किम् ? इत्याह-ऋद्धि सम्पत्,
 सत्कार पूजा, भोजनमशनम्, एतेषां ये विशेषा प्रकाराः, तेषां
 यः समुदायः, उद्यवर्तिन्य वा, तस्य यो विधिविधानमनुष्ठान,
 स तथा तम् । ततश्च निन्दन्ता जुगुप्समाना, (अप्यक ति) आ-
 त्मान, एतान्त च देव, तथा परिवर्तन्तो निन्दन्त, कानि ? इत्याह-
 [इह य पुं कडाह कम्माई पायगाह ति] इह यमत्तरघटना-
 पुराणानि च जन्मान्तरकृतानि कर्माणि इह जन्मनि पाप-
 कान्यशुभानि । कचित्पापकारिण इति पाठ । विमनसां
 शीना, शोकेन दह्यमाना, परिभूता भवन्तीति सर्वत्र सवन्ध-
 नीयम् । तथा सत्त्वपरिचयिनाश्च [छोभ सि] निस्सहाया
 सोभणीया वा, शिल्पचित्रादिकला धनुर्धेदादिः, समयशास्त्र-
 म-जैनयोरादिसिद्धान्तशास्त्रम्, एभिः परिवर्जिता ये ते
 तथा । यथाजातपञ्चभूताः शिक्षाऽऽमरणाद्विजिन्वन्तीवर्द्धादि-
 सटशा, निर्धिष्ठानत्वदिसाधर्म्यात् । (अवियक् सि) अग्रतीत्यु-
 त्पादका, नित्य सदा, नाचान्यधमजनोचितानि, कर्माण्युपजीव-
 न्ति तैर्पुंसि कुर्यन्ति ये ते तथा । लोककुत्सनीया इति प्रतीतम् ।
 मोदादये मनोरथा अनिष्टापास्तेषां ये निरासाः केषास्तेर्बहुला
 ये ते तथा । अथवा-मोघमनोरथा निष्फलमनोरथा, निराशब्द-
 हुलाश्च आशाऽज्ञाघप्रचुरा ये ते तथा । आशा इच्छाविशेषः, सैव
 पाशा बन्धन तेन प्रतिधक्ता । सरुद्धा, निर्यान्त इति गम्यम् । प्राणा
 येपा ते तथा । अर्थोत्पादानं ह्यव्यज्जनं, कामसौख्यं प्रतीतम्, तत्र
 च लोकसारे लोकप्रधाने, भवन्ति जायन्त, (अफलवतगा य सि)
 अफलवन्तः अप्राप्तका इत्यर्थः । लाकसारता च तयो प्र-
 तीता । यथाहु-“ यस्यार्थस्तस्य मित्राणि, यस्यार्थस्तस्य बा-
 ष्पवा । यस्यार्थं स पुर्मोहोके, यस्यार्थं स च पणिरुत ” ॥१॥
 इति । तथा-“ राज्ये सार वसुधा, वसुन्धरायां पुर पुरे सौधम् ।
 सौधे तल्प तल्पे, वराहनाऽनरु सस्यस्वम् ” ॥१॥ इति । किं ज्ञानाः,
 अर्थात्त्याह-सुष्टुपि च (वज्रघत ति) अत्यर्थमपि च प्रयतमानाः ।
 उक्तं च-“यद्यदारजते कर्म, नरो दुष्कर्मसचयात् । तत्तद्विफल-
 तां यानि, यथा बीजं महोदरे ” ॥ १ ॥ तद्विषयं प्रतिदिनमु-
 च्यते-“सद्भिः कर्मणो व्यापारेण कृतेन यो वृत्तेन कष्टेन स-
 स्थापितो मीलित सिक्थाना पिण्डस्तस्यापि सच्चये परा प्र-
 धाना ये ते तथा । क्लीणुर्व्यसारा इति व्यक्तम् । नित्य सदा
 अभूवा अस्थिरा, धनानामणिमादीनां, धान्यानां शाख्यादीनां,
 कौशा आश्रया येषा स्थिरत्वेऽपि तत्परिभागेन वर्जिताश्च ये ते
 तथा । रहितं त्यक्तं कामयोः शब्दरूपयो जोगानां च गन्धर-

संस्पर्शोर्ना परिजो आसेवने यत्तत् सर्वसौख्यमानन्दो यैस्ते
तथा । परेषां यथा भोगोपजोगौ तयोर्थमिधाय निश्चा,
तस्य मार्गपरं यथा भवेणपरा, ये ते तथागतत्र भोगोपजो-
गयोरर्थविशेषः "सङ्गुज्जइ सि भोगो, सो पुण आहारपु-
ष्कमाईओ उवभोगो उ पुणो पुण, उवज्जइ चन्धनिहयाइ"
॥ १ ॥ इति । वराकास्त्रपस्विन अकामिकया अनिच्छया, चिन्-
यन्ति प्रेरयन्ति, अनिवाहयन्तीत्यर्थः । किं तत् ? इत्याह-दु-
खमेसुखं, नैव सुखं, नैव निवृत्तिं स्वास्थ्यमुपपन्नं प्राप्नुवन्ति,
अत्यन्तविपुलदुःखशतसंप्रदांसा परस्य दुःखेपु ये अविरता भव-
न्ति, ते नैव सुखं लभन्ते इति प्रस्तुतम्, तदेव यादृशं फलं ददा-
नि तादृशमिदितम् । अधुनाऽप्ययनोपसहारार्थमाह-(एसो सो)
इत्यादि सर्वं पूर्ववत् । प्रश्नः ३ आश्रमं द्वा० । पञ्चमये च
कुर्वन्तीति द्वारं । तृतीयद्वारेण सहैवोक्तमिति न पृथगुक्तम् ।

(अदत्तादानस्य दुर्व्यक्तकालभावभेदाः "अदत्तादाणवरमण"
शब्दोऽनुपदमेव वक्ष्यते)

(५) आचार्यापध्यायादिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम्-

जे भिक्षु आयरियजउभाएहिं अवादिणं गिरं आइ-
यति, आइयंतं वा माइज्जइ ॥ १४ ॥

गिरं सि वाणी वयणं, न पुण सुत्ते चरणे वा ज्ञानं आयरियउव-
ज्जाएहिं अदत्तं गेएइति, तत्थ सुत्ते एकं, अत्थे दो, चरणमुत्त-
रणेसु अणुगविहं पच्छिंत ।

दुविहमदत्ता उ गिरा, सुत्ते अत्थे तदेव चारित्ते ।

सुत्तयेसु सुयम्मी, भासा दोसे चरित्तिम्मि ॥ ११६ ॥

एति णियगारवेणं, बहुसुत्तमतेण अस्सतो वा न ।

गंतुं अपुत्तमाणो, उज्जयं अस्सावदेसेणं ॥ ११७ ॥

ज्ञां सुत्ते गिरा, सा दुविधा-सुत्ते, अत्थे वा । चरणे सा सावज्ज-
दोसंजुत्ता ज्ञासा । कहं पुणं सोऽदिषं आइयसि ? उच्यते-एति
णियं गाहा । तस्स किंचि सुत्तत्थं सदिदं, सो संव्वं एति णिउहेति
गारवेणं इमे ण पुच्छति, सीसत्ते वा न करेइ, बहुसुत्तो
वोइहं प्रणामि कहं मणं पुच्छिस्सं ? एवमादिगारवद्वितो अस्सतो
विणं गच्छति, गतो वा ण पुच्छति, ताहे जत्थ सुत्त अत्थाणि वा
इज्जनि तत्थं त्रिलिमिलिकुम्कडनरिओ वा वि अणवसेसेणं
वा गतागंतं करेत्तो सुणेति, उभये पि अस्सावदसेणं ।

एसो सुत्तं अदत्ता, हाति चरित्तिम्मि जां स सावज्जा ।

गारत्थियजासा वा, दइर पलिओ वि सा वा वि ॥ ११८ ॥

। चारित्ते दइर ससर करेति, आलोयणकाले पलिओ, सेतिक-
ताकने वा अस्थि पलिओ वि चित्ति, सेस करं ॥

वित्तिओ वि यि आएसो, तवतेणदीणि पच तु पदाणि ।

जे जिकव आदियती, सो खमओ आम माणं वा ॥ ११९ ॥

तवतेणे वयतेणे, रूपतेणे य जे नरे आचारभावनेणे, य कुवइ
देवकिव्विम्म, एतेस्मि इमा विभासा, (खमओ) गाहा-से प्रावदुव्व-
त्तो भिक्षुगओ, अस्सत्थं वा पुच्छिओ सो-तुमं खमओ वत्ति
भेने, ताहे सो भणाति-आम, मोणेण वा अत्थानि । अहवा भणा-
ति-को जनीसु खमण पुच्छवइ ? नेणे चित्ति तुम, सो धम्मकहीओ
दीणि मिच्छिओ गुणी वायगो वा ।

पच्छ वि जणाति आमं, तुएहीको वा वि पुच्छति जतीणि ॥

धम्मं कहिवादिक्खणे, रुवे जीयइ पमिमाए ॥ १२० ॥
भणाति रुवे-तुमं अहं सयणोऽसि, अहवा तुमं सो पडिस्सु
पडिक्खमासी, एत्थेव तदेव तुएहकादि अत्थति ।

वाहिरउवाणवलिओ, परपच्चयकारणा उ आयारे ।

माहुइदाहरणं तहिं, सावे गोविदपव्वज्जा ॥ १२१ ॥

आचारतेणे महुइकोमेइत्ता उदाहरणं, ते भावसुखो पक्ख-
त्तिणिमित्तं वाहिरकिरिया सुहुउज्जुत्ता जे, ते आचारतेणां भोव-
तेणो जहा-गोविदवायगो वादं णिज्जिओ, सिक्खतहरणं चये
पव्वयमं सुवगतो पव्वज्जा संम्मत्तं पडिक्खणो । एवमादि गिराणं
अदित्ताणं णो गहणं कायव्वं, पक्खता वयणं भसो कतो
भवति । मुसावादिनां य वरणं भसदोसा-

एतेसामस्सतरे, गिरि अदत्तं तु आदिया जे तु ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १२२ ॥

कथा । आवससट्टाणं पच्छिंतं, ते अदत्तं पि आदिएज्ज ।

वित्तिपदमणप्पज्जे, आदिपे अवि को वित्तेव अप्पज्जे ।

उदाइ संजमहा, दुल्लजदव्वेण ज्ञाणंता ॥ १२३ ॥

वेत्तादिचित्तो वा आइपज्ज, सेहो वा अजाणतो (उदाइ चि)
उवसपप्पाणं वि न देइ, तस्स उवसपप्पा अणुवसपप्पा वा
जत्थ गुणइ, वक्खणाणइ वा, कस्स-वि तत्थं कुत्तारिओ सुणति,
गयागय वा करेत्तो सज्जं हेउ वत्ति । अत्थितो कश्मियादिह-
नि, पुच्छिओ दिट्ठो वि न दिट्ठति, भणेज्जा जत्थ वा सज्जयज्जासा तं
जासिज्जमाणां सागारिणा सज्जयमासाओ गेएइज्जा, तत्थं भवि-
दिष्सा ते गारत्थिगमासाप भासेज्जा । आयरियस्स गिहाणस्स
वा, सयपाणेण वा, सहस्सपाणेण वा दुल्लभदव्वेण कज्जं तदहा-
णिमित्तं पउजेज्ज । अस्स वा किंचि सत्थववयणं भणेज्ज । तदहाव-
तेणादि वा पचपदे भणेज्जा । नि० च० १६ उ० । अदिक्कादाणं
सुहुम, वादरं च । तत्थं सुहुमं तणरुगलगरमलगादीणं गहणं ।
वादरं हिरिक्खसुवप्पादि । महा० ३ अ० ।

स्वाम्यदत्तादि-

स्वामिजीवतीर्थकरे गुर्वदत्तं भेदेनादत्तं चतुर्विधम् । तत्र स्वाम्य-
दत्तं तृणोपलकाष्टादिकम्, तत्र स्वामिना दत्तम् १ । जीवादत्तं
यत्स्वामिना दत्तमपि जीवनादत्तम्, यथा प्रमज्ज्यापरिणासविक-
लो मातापितृभ्यां पुत्रादिगुरुभ्यां दीयते २ । तीर्थकरादत्तं यत्ती-
र्थकरैः प्रतिपिठमाधकमोदि गृह्यते ३ । गुर्वदत्तं नाम स्वामिना
दत्तमाधकमोदिदोषरहितं गुरुनननुदाप्य यद गृह्यते ४ । इति
चतुर्विधस्याप्यत्र परिहारः । इत्युक्तं तृतीयं व्रतम् । ध० ३ अधि०

चित्तमंतमाचेत्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहु ।

दंतसोहणमित्तं पि, उगहं सि अजाइया ॥ १२४ ॥

चित्तंवदं द्विपदादि, अचित्तवदिरिप्यदि, अल्पं वा मूल्यतः प्रमा-
णतश्च । यदि वा बहु-मूल्यप्रमाणान्यामत्र । किं बहुना ? इति श-
धनेमात्रमपि तथाविधं तृणादि अवग्रहं यस्य तत्तमयोचितं
न गृह्यन्ति साधवः, कदाचनेति सूत्रार्थः । दहा० ६ अ० ।

(६) लघुस्वकमदत्तं गृह्यानि-

जे भिक्षु लहुसयं अदत्तं आदियाति, आदियंतं वा
साइज्जइ ॥ १२५ ॥

लहु, थोव, अदत्त, तेण, आदियण, गहण, साइज्जणा - अ-
णुमोयणा, मासबहु पण्डित ।

त अदत्त दब्बादि चउव्विह-

दब्बे खेत्ते काले, भावे लहुसगं अदत्तं तु ।

एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाऽऽणुपुव्वीए ॥ ७१ ॥

दब्बे खेतकालाण गहण, साइज्जणा अणुमोयणा, मासलहु
पण्डित, त अदत्त दब्बादिहि चउव्विह ।

दब्बे खेतकालाण इम वक्खाण-

दब्बे, करुणादिणसु, खेत्ते उच्चारचूमिमादीसु ।

काळे इत्तरियमवी, अच्चाइ तु चिद्धमादीसु ॥ ७२ ॥

अणुसंतिभेओ इक्कमालादीणं पसिक्खो, कटणो वंसो, आदि-
गहणाओ अवलेहणिया, वारुवडपादपुण्णमादि, एते अण-
णुसंति गेएहति । केत्तओ अदित्तं गेएहति उच्चारभूमि, आदि-
गहणाओ पासवणत्ताओ अणिह्वेवणचूमिअ अणुअविता उ-
च्चारादी आर्यरइ । खिस्सओ अदित्तं गतं । काले इत्तर स्तोक
अणुअचिद्धति । मिक्ख्वादि हिमंतो जाव वासं वसति वितिक्ख
वा, पमिक्खति, अच्चाणे वा अणुअवेत्ता, रुक्खहेट्ठासु चिद्धति
निसीयति, तुयट्ठति वा, दब्बाइसु वि मासबहु ॥

इदानीं भावे अदत्त-

भावे पाओगस्सा, अणुअववणा तु तप्पदमताए ।

ठायेते उरुवब्बे, वासाणं वुहुवासे य ॥ ७३ ॥

उरुवब्बे वासासु वा, वुहुवासे वा, तप्पदमयाए पाओगाऽ-
णुअववणावेण परिणयस्स दब्बादिसु चेव भावओ लहु अद-
त्तं, अदुवा साहु वुहेसु जं जेसु जं जोगा पाउगा नप्पति ।

लहुसमदत्तं गेएहत्तस्स को दोसो, इमो-

एतेमापत्तरं, लहुसमदत्तं तु जो तु आदियइ ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ७४ ॥

कारणतो गेएहतो अपण्डितो, अदोसो य ।

अच्चाण गेलणे ओ-मऽसिवे गामाणुगामिमतिवेत्ता ।

तेणासावयममगा, सीतं वासं दुरहियासं ॥ ७५ ॥

अच्चाणाओ णिगता परिसंता गाम वियाले पत्ता, ताहे अ-
णुअवित इक्कमादि, गेएहेज्ज । वसहीए वि अणुअवियाए
वापज्ज, आगाढगेलसे, तुरियकज्जे खिप्पमेव अणुअवित-
गेएहेज्ज, ओमंदरियाए भत्तादि अदिअ सयमेव गेएहेज्ज । अ-
सिवगाहिताण ए को वि देइ, ताहे अदिअ सथारगादि गे-
एहेज्ज । गामाणुगाम दूइज्जमाणा वियाले गाम पत्ता । जइ य
वसही ण वप्पति, ताहे बाहि वसतु, मा अदत्त गेएहतु । अह
बाही दुविहा-तेणासिधातिवासावायामसगेहि वा खिज्जिज्ज-
ति, सीय-वा दुरहियास, जहा उत्तरावहे अणवरत्तं वा सं
परति ।

एतेहिं कारणेहिं, पुव्वउ धेत्तु पच्चऽणुअवणा ।

अच्चाण णिगतादी, दिद्धमदिद्धे इमं होति ॥ ७६ ॥

एतेहिं-तेणादिकारणेहिं वसहिसामीए दिद्धे अणुअवणां, अ-
दिद्धे अच्चाण णिगायादी, सयणसमोसिगाइ अणुअवेत्तु घरसा-

मिणा अदिण- धेत्तु, घरसामियमणुअवेति इमेण वि-
हाणेण-

पडिद्धेइएऽणुअवणा, अणुअवोमणफरुसणा य अहियामो ।

अतिरिच्चमिदायणणि-गमणे वा दुविधेज्जेदो य ॥ ७७ ॥

पडिद्धेहिं सि । अस्य व्याख्या-

अब्जासत्थं गंतू-ए पुच्छणा दूरपत्तिमा जेतणा ।

तदिसमेत्तपमिच्छण-पत्तम्मिं कहिति सज्जावं ॥ ७८ ॥

सो घरसामी जदि खेत्तं खलगं वा गते जदि अब्भासतो
गतु अणुअवविज्जति । अह दूर गतो ताहे सधामओ गाम विधे-
ज्जाहिं । आगमेउ त दिस अदूर गतु पमिक्खति जाहे साहु समी-
व पत्तो ताहे अणुलोमवयणेहिं पणविज्जति ॥

अणुसासणं सजाती, म जाति मणुअ चि तह वि-तु अट्ठते ।

अजिउगणिमिच्छं वा, वंधणगा से य ववहारो ॥ ७९ ॥

जहा गोजातिमरुल्लुओ गोजातिमेव जाति, आससे वि णो
महिस्सादिसु ठिति करेति । एव वय पि माणुसा माणुसमेव जा-
मो । जदि तह वि ण देति, फरुसाणि वा भणति, ताहे सो फरुसं-
ण भणति, अधियासिज्जइ । जइ तह वि णिच्छमेज्ज, ततो विज्जाए,
चुखेहिं वा वसी कज्जति, णिमिच्छण वा आउटाविज्जति । तस्स
असति रुक्खमादिसु बाहि वसतु, मा य तेण समाण कइहेतु । अ-
ह बाहि दुविहभंओ-आयसजमाण उ करणसरीराण वा सज्ज-
मचरित्ताण वा पणवण व अतिरिच्छते, लहयत इत्यर्थ । ताहे भ-
णति-अम्हे सहामो, ज एस आगतिम सो एस रायपुत्तो ण-
सहिस्सति, एस वा सहस्सजोधी, सो वि कयकरणो किंचि कर-
ण दपति, जहाति । जहा-विस्सत्तूतिणा पुट्ठिप्पहारेण सधम्मि
कविट्ठा पामिया एस दायणा, तह वि अघायमाणे वधिउं उवेति,
जाव पजाय सो य जइ रायकुल गच्छति, तथ तेण समाण व-
वहारो कज्जति, कारणयाण आगतो भणति-अम्हेहिं रायदिय
आचिच्छतेहिं मुसित्ता सावर्णहिं वा खज्ज वा, तो रणो अभिहिय-
अयसो य भवतो परकृतनिगयाश्च तपस्विन, रायसंक्खियाणि
य तपोवणाणि, ण दोसे सि । नि० चू० २ उ० । लघुकादत्तं-
पुनः-अननुहापिततृणक्षेपुकारमुल्लकालिकवृक्षादिच्छायविश्रम-
णादिविषयम् । जीत० ।

(७) गृहादौ तपस्तैल्यादि न कुर्वीत-

तवतेणे वयतेणे, रुवतेणे अ जे नरे ।

आयारभावतेणे अ, कुर्वः देवकिव्विसं ॥ ८६ ॥

तपस्तेन, वाकस्तेन, रूपस्तेनस्तु यो नरः कश्चिद्, आचारभा-
वस्तेनश्च पात्रयन्नपि क्रियां तथा भावदोषात्किंविषयं करोति
किंविषयिकं कर्म निवर्तयतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम कृपककृपक-
तुल्य-कश्चित्केनचित् पृष्टस्त्वमसौ कृपक इति ? स पूजाधर्मभा-
ह-अहम् । अथवा वक्ति-साधव एव कृपका । तूष्णीं वाऽऽस्ते ।
एव वाकस्तेनो धर्मकथकादितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति ।
एव रूपस्तेनो राजपुत्रादितुल्यरूपः । एवमाचारस्तेनो विशिष्टा-
चारवस्तुल्यरूप इति । भावस्तेनस्तु-परोक्षेक्षितं कथञ्चित् कि-
ञ्चित् श्रुत्वा स्वयमनुप्रेक्षितमपि मयैतेत्यपश्येन चंचितमित्यादेति
सुत्रार्थः ।

अयं चेत्यंजन-

अच्छूण वि देवत्तं, उवउओ देवकिव्विमे ।

तथा वि मे न जाणइ, किम्मे किच्चा इमं फलं ॥४७॥
लब्ध्वाऽपि देवत्व तथाविधक्रियापात्रनवशेन उपपन्नो देवकि-
ल्विषे देवकिल्विषकाये तत्राप्यसौ न जानात्यविशुक्ताविधना
किं मम कृत्वा इदं फलं किल्विषिकदेवत्वमिति सूत्रार्थः ।

अत्रैव दोषान्तरमाह-

ततो वि से चत्ता णं, लब्धिही एलमूअयं ।

नगं तिरक्खजोणिं वा, वोही जत्य सुदुल्लहा ॥ ४८ ॥

ततोऽपि दिवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यत एवमूकतामजमा-
षाऽनुकारित्व मानुषत्वे, तथा नरक, तिर्यग्योनिं वा, पारम्पर्येण
लप्स्यते । बोधिर्यत्र सुदुर्लभः । सकलसम्पन्नबन्धना यत्र जिन-
धर्मप्राप्तिर्दुरापा । इह च प्राप्नोत्येवमूकतामिति वाच्ये अस-
कृद्भावप्राप्तिस्थापनाय लप्स्यत इति प्रविष्यत्कावनिर्देशः । इति
सूत्रार्थः । दश० ५ अ० २ उ० । (अदत्तादानस्य दर्पिका क-
ल्पिका च प्रतिसेवा स्वस्थान एव वक्ष्यते) (शब्दादिविषयगृह्यौ
अदत्तादानमापत्तिमिति उक्त० ३२ अध्यायने दर्शिनमन्यत्र
वक्ष्यते) (साधर्मिकादिस्तैन्यं " अणवच्छप " शब्देऽस्मिन्नेव
भागे २९९ पृष्ठे दर्शितम्)

अदत्ता (दिष्ठा) दाणकिरिया-अदत्तादानक्रिया-स्त्री० ।
आत्माद्यर्थमदत्तग्रहणे, स्था० ५ उ० २ उ० । स्वामिजीवगुह्यती-
र्थकरादत्तग्रहणे, ध० ३ अधि० ।

अदत्ता (दिष्ठा) दाणवत्तिय-अदत्तादानप्रत्ययिक-पु० ।
न० । अदत्तस्य परकीयस्यादान स्वीकरणमदत्तादान स्तेय,
तत्प्रत्ययिको दण्डः । एतच्च सप्तमे क्रियास्थाने, सूत्र० ।

अहावरे सत्तमे किरियाठाणे अदिन्नादाणवत्तिए त्ति आ-
हिज्जइ, मे जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा० (एाइहेउं
वा अगारहेउं वा) जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिन्नं आदि-
यइ, अन्नेणं वि अदिन्नं आदियावेति, अदिन्नं आदियतं अन्नं
ममणुजाणइ, एवं खलु तस्म तप्पत्तिय सावज्जं ति आहिज्जइ,
सत्तमे किरियागणे अदिन्नादाणवत्तिए त्ति आहिण् ।

एतदपि प्राग्वद् ज्ञेयम् । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुष आत्मनिमित्तं
(कृतिनिमित्तम्, अगारनिमित्तम्) यावत्परिवारनिमित्तं परद्रव्य-
मदत्तमेव गृह्णीयात्, अपरं च ग्राहयेद्, गृह्णन्तमप्यपरं समनु-
जानीयादित्येव तस्यादत्तादानप्रत्ययिकं कर्म सबध्यते । इति
सप्तमं क्रियास्थानमाख्यातमिति । सूत्र० २ अ० २ उ० । आ०
चू० । प्र० व० । स्था० ।

अदत्ता (दिष्ठा) दाणविरइ-अदत्तादानविरति-स्त्री० । प-
रद्रव्यहरणविरतौ, महा० ७ अ० ।

अदत्ता (दिष्ठा) दाणवेरमाण-अदत्तादानविरमाण-न० ।
अदत्तादानाद् विरमाणमदत्तादानविरमाणम् । स्वाम्याद्यनु-
ज्ञानं प्रत्याख्यामीति स्नेयविरतिरूपे व्रतभेदे, प्रअ० ३ सम्म०
द्वा० । तत्र स्थूलकाऽदत्तप्रत्याख्यानं तृतीयमणुव्रतं, सर्वाऽद-
त्तप्रत्याख्यानं तृतीयं महाव्रतमिति ।

तत्र स्थूलकादत्तविरमाणमिदम्—

" नदाऽणनरं च णं धूलगं अदिष्ठादाणं पक्खस्वामिं दुविहं ति-
विहेणं णं करेमि, णं कारवेमि मणमा वयसा कायसा " ।
स्थूलकमदत्तादानं चौर इति व्यपदेशनिबन्धनम् । उपा० १ अ० ।

धूलगमदत्तादाणं समणोवासत्रो पक्खस्वाइ, से अदिष्ठादा-
णे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सचित्तादत्तादाणे, अचित्ता-
दत्तादाणे अ ॥

अदत्तादानं द्विविधम्—स्थूलं, सूक्ष्मं च । तत्र परिस्पृष्ट-
विषयं चौर्यागोपणहेतुत्वेन प्रमिद्धमिति दुष्टाध्यवसायपूर्वकं
स्थूलम्, विपरीतमितरत्, स्थूलमेव स्थूलकं, स्थूलकं च तत्
अदत्तादानं चेति समासः । तच्छ्रमणोपासकः प्रत्याख्यातीति
पूर्ववत् । 'से' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तच्छब्दार्थः ।
तस्यादत्तादानं द्विविधं प्रकृतम्, तीर्थङ्करगणधर्मप्रकारप्रकृत-
मित्यर्थः । तद्यथेति पूर्ववत् । सह चित्तेन मचित्त-द्विपदादिव-
क्षणं वस्तु, तस्य क्षेत्रादौ सुन्यस्तदुन्यस्तविस्मृतस्य स्वामिना
अदत्तस्य चौर्यबुद्ध्या आदानं सचित्तादत्तादानम् । आदानमिति
प्रकृतम् । अचित्तं वस्त्रकनकरत्नादि, तस्यापि क्षेत्रादौ सुन्यस्त-
दुन्यस्तविस्मृतस्य स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽऽदानमचित्ता-
दत्तादानमिति ।

अदत्तादाणे को दोसो ?, अकज्जंते वा के गुणा ?, एत्थ
इमं एगं चेव उदाहरणं । जहा-एगा गोह्ठी सावगो जतीए
गोह्ठीए एगत्थपगरणं वट्टइ, जाणगते गोह्ठिह्मएहिं घरं पेक्खि-
यं धेरीए एकेको मोरपुत्तेण पाए परंतीए अंकिओपजाए
य रओ निवेडय । राया जणइ-कहं ते जाणियव्वा ? । धेरी
जणइ-एते पादेसु अंकिया नगरसमागमे दिष्ठा, दो वि
तिभि चत्तारि सव्वा गोह्ठिगहिया । एगो सावगो जणइ-न
हरामि, न हंभिओ । तेहिं वि जणियं-न एस हरइ । तेहिं वि-
मुको । इयरे सामिया अवि य सावगेण गोह्ठी न पविसि-
यव्वं । जइ कहं वि पओयणेण पविसइ, ताओ हारगं हिं-
सादि न देइ, न य तेसिं आओगहाणेसु ठाइ । आव० ६ अ० ।
तस्यानिचाराः-

तयाऽणंतरं च णं धूलगं अदिष्ठादाणस्स पंच अइयारा
जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा-तेनाहं, तकरण-
ओगे, विरुद्धरज्जाइकमे, कूमतुल्लाकुममाणे, तप्पभिरुवग-
ववहारे । उपा० १ अ० ।

एतानि समाचरन्ति चरति, तृतीयानुव्रत इति । " दोसा पुण-
तेनाहरुगहिय राया वि जाणेज्जा, सामी वा पक्खमिजाणेज्जा,
ततो मारेज्ज वा, दमेज्ज वा " इत्यादयः शेषेष्वपि वक्तव्याः ।
उक्तं सातिचारं तृतीयाणुव्रतम् । भाष० ६ अ० । पा० । ध०
२० । ध० ।

सर्वस्माददत्तादानाद् विरमाणं त्वित्थम्—

अहावरे तच्चे जंते ! महव्वए अदिष्ठादाणाओ वेरमाणं ।
सव्वं भते ! अदिष्ठादाणं पक्खस्वामि । से गामे वा नगरे वा रभे
वा अप्पं वा बहु वा अणु वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्त-
मंतं वा नेव सयं आदिन्नं गिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गि-
एहाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि जाव-
ज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि,
न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते !

पणिकमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोमिरामि, तच्चे
जंते ! महव्वण उवच्छिओ मि सव्वाओ अदिआदाणाओ
वेरमणं ॥ ३ ॥

अथापरस्मिंस्तृतीये भदन्त ! महाव्रते अदत्तादानाद्विरमणम् । सर्वे
भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत् । तद्यथा—ग्रामं वा नग-
रे वा अरण्ये चेत्यनेन क्षेत्रपरिमहः । तत्र प्रसति बुद्ध्यादीन् गुणा-
न् इति ग्रामं, तस्मिन् । नास्मिन् करो विद्यत इति न करम् । अर-
ण्यं काननादि । अरण्यं वा बहु वा अणु वा स्थूल वा चित्तवद्वा अ-
चित्तवद्वैत्येन तु ह्यव्यपारिमहः । तत्राल्पं मूल्यत पराणुकाद्यादि,
बहु-बज्रादि । अणु प्रमाणतो बज्रादि । स्थूलमेरणुकाद्यादि ।
यतश्च चित्तवद्वाऽचित्तवद्वैति, चेतनावेन नमित्यर्थः । (णेव सयं
अदिणं गिएहंजा सि) नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवान्यैरदत्तं
ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णोऽप्यन्यान् न समनुजानामीत्येतद्यावज्जी-
वमित्यादि च जावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । विशेषस्त्वयम्—अद-
त्तादानं चतुर्विधम्—ह्यव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । ह्यव्य-
तोऽस्पादौ, क्षेत्रतो ग्रामादौ, कालतो राज्यादौ, भावतो रागद्वे-
षाद्याम् । ह्यव्यादिचतुर्जङ्गी त्वियम्—“द्व्वओ नामेगे अदिआदा-
णेणो भावओ १ । भावओ नामेगे नो द्व्वओ २ । एगे द्व्वओ वि
भावओ वि ३ । एगे णो द्व्वओ नो जावओ ४ । तत्थ अरत्तऽड्ड-
हस्स साहुणो कर्हि वि अणणुसवेकण तणाइ गेण्हओ द्व्वओ
अदिआदाण नो जावओ, हरामीति अणुजयस्स तदसपत्तीय
भावओ नो द्व्वओ । एव चेव सपत्तीय जावओ द्व्वओ वि ।
अरिममगो पुण सुओ । ” दश० ४ अ० ।

अहावरां तच्चं महव्वयं पच्चाइक्खामि सव्वं अदिआदा-
णं, से गामे वा एगरे वा अरण्ये वा अप्पं वा नहुं वा अ-
णुं वा धूहं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एव सयं अदि-
णं गिएहंजा, एव-ऽस्येहिं अदिणं गिएहंजा, अस्स पि
अदिणं गिएहंतं ए समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए जाव
वोसिरामि । तस्सिमाओ पंच जावणाओ जवंति—तत्थिमा
पढमा जावणा—अणुवीडमि उग्गहं जाइ से णिगंथे ए
अणणुवीडमि उग्गहं जाइ से णिगंथे । केवली बूया—अण-
णुवीडमितोगहं जाति, से णिगंथे अदिणं गिएहंजा,
अणुवीडमि उग्गहं जाति से णिगंथे ए अणुवीडमितो-
ग्गहंजाइति पढमा जावणा ॥ १ ॥ अहावरा दोच्चा जा-
वणा—अणुएणविय पाणजोयणभोई से णिगंथे ए अ-
णुएणविय पाणजोयणभोई । केवली बूया—अणुएणवि-
य पाणभोई से णिगंथे अदिणं जुंजेज्जा । तम्हा अणु-
एणविय पाणजोयणभोई से णिगंथे ए अणुएणविय
पाणजोयणभोई ति दोच्चा जावणा ॥ २ ॥ अहा-
वरा तच्चा जावणा—णिगंथेणं उग्गहंसि उग्गहंतंसि ए-
त्तावता व उग्गहणसीलए सिया । केवली बूया—णिगंथे-
णं उग्गहंसि उग्गहियंसि एत्तावता व अणोगहणसीले
अदिणं उग्गहंजा णिगंथेणं उग्गहंसि एत्ता-
वता व उग्गहणसीलए सि ति तच्चा जावणा ॥ ३ ॥

अहावरा चउत्था जावणा—णिगंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि
अभिवरणं २ उग्गहणसीलए सिया । केवली बूया—णिगंथेणं
उग्गहंसि उग्गहियंसि अजिक्खणं २ अणोगहणसीले
अदिणं गिएहंजा, णिगंथे उग्गहंसि उग्गहियंसि
अजिक्खणं २ उग्गहणसीलए ति चउत्था भावणा ॥ ४ ॥
अहावरा पंचमा जावणा—अणुवीडमितोगहं जाइ से णि-
गंथे साहम्मिएसु णो अणणुवीडमि उग्गहं जाति । केवली
बूया—अणुवीडमि उग्गहं जाति से णिगंथे साहम्मिएसु
अदिणं उग्गहंजा । से अणुवीडमि उग्गहं जाति से
णिगंथे साहम्मिएसु एणो अणणुवीडमि उग्गहं ति पंचमा
भावणा ॥ ५ ॥ एत्तावता महव्वण मम्मं जाव आणाए
आराहिते आविजवइ तच्चं जंते ! महव्वण । आचा० २
श्रु० १ अ० ॥

तस्य चेमे अनीचाराः—

एवं तृतीयेऽदत्तस्य, तृणादेर्ग्रहणादणुः ।

क्रोधादिभिर्वादगेऽन्य—सचित्ताद्यपहारतः ॥ ५० ॥

एव पूर्वोक्तरीत्या सूत्रमवादरेजेदेन द्विविध इत्यर्थः । तृतीये-
ऽस्तेयव्रते प्रक्रमादितिचारो भवतीति शेषः । तत्र अणु. सूत्रम्,
अदत्तस्य स्वान्यादिनाऽननुज्ञानस्य तृणादेर्ग्रहणादनाभोगे-
नाङ्गीकरणाद्व्रति, तत्र नृणु प्रसिद्धम् । आदिशब्दाद् रुगल-
च्छारमल्लकादेरुपादानम् । अनाभोगेन तृणादि गृह्णनाऽतिचारो
जयति, आभोगेन त्वनाचार इति जावः । तथा—क्रोधादिजिः
कषायैरन्येषां सार्थमिकणा चरकादीनां गृहस्थानां वा सवन्धि
सचित्तादि सचित्ताचित्तमिध्वस्तु, तस्याऽपहारतोऽपहरण-
परिणामाद् बादरोऽतिचारो भवतीति सवन्धः । यतः “तदस्मि
वि एमेव य, दुविहो खमु एम होइ विसेओ । नणरुगलत्ताम-
हग, अविदिण गिएहओ पढम” ॥ १ ॥ अनाभोगेनेति तदृत्ति-
लेशः । “साहम्मि अन्नसाह—म्मि आणगिहि आणकोहमा-
ईहि । सचित्ताइ अवहरओ, परिणामो होइ वीओ व” ॥ २ ॥
साधर्मिकाणां साधुसाध्वीनाम्, अन्यसधर्माणां चरकादीनामि-
ति तदृत्तिरित्युक्ता । तृतीयव्रतातिचारा । ध० ३ अधि० । एतदेव
सर्वस्माददत्तादानविरमण दत्ताऽनुज्ञातसवरनाम्ना स्वरूपोप-
दर्शनपूर्वकं समाधनाक प्रख्याकरणेषु तृतीयसंवरद्वारेऽभि-
हितम् । तस्य चेदमादिम सूत्रम्—

जंजू ! दत्तमणुएणायमंवरो नाम होइ ततियं, सुव्वय ! महव्वयं
गुणव्वयं परदव्वहरणपमिविरइकरणजुत्तं अपरिमियमणंत-
तएहामणुगयमाहिउमणवयणकयुसआयाणसुनिग्गहियं सु-
संजमियमणहत्थपायनिहुयं निगंथं निडिक निरुत्तं निरासवं
निज्जयं विमुत्तं उत्तमनरवमभपवरवलवगसुविहितजणसम्मतं
परमसाहुधम्मचरणं जत्थ य गामागरनगरनिगमखेरुक्कव्वरु-
मंरुवदोणमुहंसवाहपट्टणासमगयं च किंचिद्व्व-मणिमुत्तसि-
द्वप्पवात्तकसदूमरययवरकणगरयणमादि पमियं पम्हट्टं विप्प-
णट्टन कप्पति कस्स ति कहेउं वा, गेएहेतु वा, अहिरस्स सुव-

एणकेण समलेहुकंचणाणं अपरिग्गहसंबुद्धेण लोमम्मि विहरियव्व, जं पि य होज्जाहि दव्वजातं खलगतं खत्तगतं रत्नमतरगयं च किंचि, पुप्फफलतयप्पवात्तकंदमूलतणकट्टसकराई अप्पं च बहु च अणु वा थूळगं वा न कप्पाति। उग्गहे अदिहणम्मि गेएहेज्ज, जे हणि हणि उग्गहे अणुमाविंय गेएहयव्वं वज्जेयव्वो य सव्वकात्तं अविद्यत्तघरप्पवेसो अविद्यत्तजत्तपाणं अविद्यत्तपीढफलगसेज्जासंधारगवत्थपायकंबलदंरुगरयोहरणनिमेज्जचोत्तपट्टमुहपोत्तिपपादपुंछणादि भायणजंमोवहिज्वरण परपरिवाओ परस्स दोसो परववणसेण ज च गिहहेति परस्स नासेइ जं च सुकयं दाणस्स य अंतराईयं दाणस्स विप्पआसे पेसुएणं चेव मच्चरित्त च। जे वि य पीढफलगमेज्जासंधारगवत्थपायकंबलदंरुगरओहरणनिसेज्जचोत्तपट्टमुहपोत्तिपपादपुंछणादि भायणजंमोवहिज्वरण असविज्जागी असंगहरई तववयतेणे य रुवतेणे य आयारे चेव भावतेणे य सहकरे जंजकरे कलहकरे वेरकरे विकहकरे असमाहिकारके सया अप्पमाणभोई सततं अणुवद्धेरे य निच्चरोसी, से तारिसए नाराहए वयमिणं ॥

(जबू इत्यादि) तत्र जम्बूरित्यामन्त्रणम् । (दक्षमणुआयसंबरोनाम चि) दत्त च वितीर्णमन्त्रादिकम्, अनुज्ञात च प्रातिहारिकपीढफलकादिग्राह्यमिति गम्यते । इत्येवरूप सबरो दत्तानुज्ञातसम्बर इत्येव नामक भवति तृतीय, सम्बरद्वारमिति गम्यते । हे सुवन ! जम्बूनामन् महाव्रतमिदं, तथा गुणानामहिकामुष्मिकोपकाराणा कारणभूत व्रत गुणव्रतम् । किं स्वरूपमिदम् ? इत्याह-परलब्धहरणप्रतिविरतिकरणयुक्तम्, तथा अपरिमिता अपरिमाणलब्धविषया, अनन्ता वाङ्मया, या तृणा विद्यमानद्रव्याव्ययञ्जा, तथा यदनुगत महेच्छ वा अविद्यमानलब्धविषये महाभिलाष यन्मनो मानस, वचन च वाक्, ताभ्यां यत्कृषुष परधनविषयत्वेन पापरूपमादान ग्रहण तत्सुष्ठु निगृहीत नियमित यत्र तत्तथा । तथा सुसयमितमनसा सवृत्तन चेतसा हेतुना हस्तौ च पादौ च निवृत्तौ परधनादानव्यापारादुपरतौ यत्र तत् सुसयमितमनोहस्तपादनिवृत्तम् । अनेन च विशेषणद्वयेन मनोवाङ्मायनिरोधः परधनं प्रति दर्शितः । तथा निर्ग्रन्थ निर्गन्धबाह्याज्यन्तरग्रन्थम्, नैष्ठिक सर्वधर्मप्रकर्षपर्यन्तवर्त्ति, नितरामुक्त सर्वज्ञैरुपादेयतयेति निरुक्तम्, अव्यभिचारित वा; निराश्रय कर्मादानराहितम्, निर्भयमविद्यमानराजादिभयम्, विमुक्तं क्षोभदोषत्यक्तम्; उत्तमनरवृषभाणां (पवरवत्त्वग चि) प्रधानबलवता च सुविहितजनस्य च सुसाधुलोकास्य सम्मतमजिमत यत्तथा । परमसाधूना धर्मचरण धर्मानुष्ठान यत्ततथा । यत्र च तृतीये सम्बरे, ग्रामाकरणगरानिगमलेट्कर्तव्यमण्डपद्रोणमुखसवाहपत्तनाश्रमगत च, ग्रामादिव्याख्या पूर्ववत् । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूप लब्ध रिक्थम् । तदेवाह-मणिमौक्तिकशिलाप्रवाञ्जकास्यदूष्यरजनघरकनकरत्नाटिकमित्याह । पति-त भ्रष्ट (पण्डित्ति) विस्मृत, विप्रणष्ट स्वामिकैर्गवेषयद्भिरपि न प्राप्त, न कल्पनेन युज्यते, कस्यचित् असयनस्य सयनस्य वा, कथयितु वा प्रतिपादयितुम्, अर्थग्रहणप्रवर्त्तने मा चूदितिकृत्वा,

गृहीतुं वाऽऽशुतुं, तन्निवृत्तत्वात् साधोः । यतः साधुर्नैव ज्ञतेन विहर्तव्यमित्यत आह-हिरण्य रजतं, सुवर्णं च हेम, ते विद्येते यस्य हिरण्यसुवर्णिकः, तन्निषेधेनाहिरण्यसुवर्णिकं, तेन, समे तुल्ये उपेक्षणीयतया लेष्टुकाञ्चने यस्य स तथा । तेन अपरिग्रहो धर्मादिरहितः सवृत्तश्चेन्द्रियसंबरेण यः सोऽपरिग्रहसवृत्तः । तेन लोके विहर्तव्यमासितव्य संचरितव्यं वा, साधुनेति गम्यते । यदपि च प्रवेष्टुं लब्धजात लब्धप्रकारं, कलगत धान्यमलनस्थानाभितं, क्षेत्रगतं कर्षणचूमिसंभितं, (रत्नमतरगय च चि) अरण्यामन्यगतम् । वाचानान्तरे-‘अलथललय सेतमतरगय च चि’ इत्यते । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूप, पुष्पफलत्वकृप्रवासकन्दमूलतृणकाष्ठशर्करादि प्रतीतम् । अल्पं वा मूल्यतो, बहु वा तथैव; अणु वा स्तोके प्रमाणतः, स्थूलक वा तथैव, न कल्पते न युज्यते । अथग्रहे ग्रहस्थितिरुसादिरूपे, अदत्ते स्वामिनाऽनुज्ञातः, ग्रहीतुमादातुं, ‘जे’ इति निपातग्रहणे निषेध उक्तः । अधुना तद्विधिमाह-(हणि हणि चि) अहम्यहनि, प्रतिदिनमित्यर्थः । अथग्रहमनुज्ञाप्य, यथेह भवदीयेऽग्रहे इदम्, इदं च साधुप्रयोग्यं लब्ध ग्रहीष्यामि इति पृष्टेन तत्स्वामिना एवं कुरुते इत्यनुमते सतीत्यर्थो गृहीतव्यमादातव्य, वर्जयितव्यश्च सर्वकाल (अवियत्त चि) साधुन् प्रति अभीतिमतो यद् गृह तत्र यः प्रवेश स तथा । (अवियत्त चि) अभीतिकारिण सन्निधि यज्ञकपान तत्तथा, तद्वर्जयितव्यमिति प्रक्रमः । तथा-अवियत्तपीढफलकशय्यासस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डकरजोहरणनिषद्या-शोऽपट्टमुक्तपोत्तिकापादप्रोञ्जनादि प्रतीतमेव । किंनवविध-जैदम् ? इत्याह-जाजन पात्र, जाणरु च तदेव मृगमव, उपधि-इव चरु इति, एते एवोपकरणमिति समासतस्तद्वर्जयितव्यमिति प्रक्रमः । अदत्तमेतत् स्वामिनाऽनुज्ञातमिति कृत्वा । तथा-परपरिवाओ विकन्थनं वर्जयितव्यमिति । तथा-परस्य दोषो दूषणं, द्वेषो वा वर्जयितव्यः, परिवर्त्तनीयेन दूषणीयेन च तीर्थकरगुरुभ्यां तयोऽनुज्ञानत्वेनादत्तकृत्वादिनि । अदत्तसङ्कर्ष इदम्, ‘सामीजीवादत्तं, तिन्ययणं तदेव य गुरुई’ इति । तथा-परस्याचार्यग्लानादेर्व्यपदेशेन व्याजेन च यच्च गृह्णाति आदत्तं वैयाकृत्यकरादिस्नसेनायेन च वर्जयितव्यम्, आचार्यदेरेव दायकेन दत्तत्वादिति । तथा-परस्य परसन्निधानशयति मत्सरादपहृते, यच्च सुकृत संचरितमुपकारं वा तत् सुकृतं तस्य नाशनं वर्जयितव्यम् । तथा-दानस्य आन्तरायिकं विप्रः, दानविप्रखाशो दत्तापसाप, तथा पैशुन्यं चैव पिशुनकर्म मत्सरित्वं च परगुणानामसहन, तीर्थकराद्यननुज्ञातत्वाद्दर्जनीयमिति । तथा-(जे वि येत्ता दि) योऽपि च पीढफलकशय्यासस्तारकवस्त्रपात्रकम्बल दण्डकरजोहरणनिषद्या-शोऽपट्टमुक्तपोत्तिकापादप्रोञ्जनादि जाजनभाणोपधुपकरणप्रतीत्येति गम्यते । असंविभागी आचार्यग्लानादीनामेव गुणाविशुद्धिः सच्च विजजते, असौ नाराधयति व्रतमिति सबन्धः । तथा [असंगहरइ चि] गन्धोपग्रहकरस्य पीढादिकस्योपकरणस्यैवणादोषविमुक्तस्य सज्यमानस्यात्मस्मरित्वेन न विद्यते संग्रहं रुचिर्यस्यासावसंग्रहाचि । (तववयतेणय चि) तपश्च वाक् च तपोवाचौ, तयोः स्तेनश्चौर-तपोवाकस्तेन । ततः स्वभावतो दुर्बलाङ्गमनगरमवलोच्य कोऽपि किञ्चन व्याकरोति । तथा प्रोः साधो ! सत्यम् ? यः श्रूयते तत्र गच्छे मासकूपकम् । एवं पृष्टे यो विवक्षितकूपकोऽसन्नप्याह-एवमेतत् । अथवा धूर्त्ततया भूते-भोः श्रावकाः ! साधवः कूपका एव भवन्ति । श्रावकस्तु मन्यन्ते-कथं स्वयमात्मानमयं प्रहृष्टकः कूपकतया निस्पृहत्वात् प्रकाशयति ? ।

इतिहृष्यैवविभ्रमात्कृत्यपरिहारपर सकलसाधुसाधारण व-
चनमाविकरोति, इत्यतः स एवाय यो मया विवक्षितः । इत्येव
परसंबन्धि नप आत्मनि परप्रतिपत्तिन सम्पादयैस्तपस्तेन उच्य-
ते । एव प्रगवन् ! स त्व वाग्मी ? इत्यादिभावनया परसंबन्धिनीं
वाचमात्मानि तथैव सम्पादयन् वाकस्तेन उच्यते । तथा (कथते-
णे य स्ति) एव कथयन्तमुपपन्नस्य स त्व रूपवानित्यादि भावन-
या रूपस्तेन । रूप च द्विधा-शारीरसुन्दरता, सुविहितसाधुने-
पथ्य च । तत्र साधुनेपथ्य यथा-“दहोरुगाउ-मन्ने, जेसि जल्ल ण
फासिय भग । मखिणा य चोलपट्टा, दोखि य पाया समक्खाया”
॥१॥ तत्र सुविहिताकाररञ्जनीय जनमुपजीवितुकाम सुविहित,
सुविहिताकारभारी रूपस्तेन । (मायारे खेव स्ति) आचारे साधु-
सामाचार्यादिविषये स्तेनो यथा-स त्व यः क्रियारुचिः भूयते ?
इत्यादिभावन । तथैव [भावतेणे य स्ति] ज्ञानस्य भुतज्ञानादि-
विशेषस्य स्तेनो जावस्तेन । यथा-कमपि कस्यापि भुतविशेषस्य
व्याख्यानविशेषमन्यतो बहुभुतावुपभुत्य प्रतिपादयति, यथाऽय
मया पूर्वभुतपर्यायोऽन्यूहितो नान्य एवमन्यूहितु प्रचुरिति ।
तथा-शब्दकरो रात्रौ महता शब्देनोद्भापः स्वाध्यायादिकारको-
गृहस्थजापाभाषको वा । तथा-शब्दकरो येन येन गणस्य भेदो
जवति तत्तत्कारी, येन गणस्य मनोदुःखमुत्पद्यते तद्भाषी ।
तथा-कलहकरः कलहहेतुचूतकर्तव्यकारी । तथा-वैरकरः, प्र-
वीत । विकथाकारी-स्यादिकथाकारी । असमाधिकारकश्चि-
त्तास्वास्थ्यकर्ता स्वस्य, परस्य वा । तथा-सदा भ्रममाणभोजी-
द्वाग्निशक्तवलाभिकाहारजोक्ता । सततमनुबद्धवैरश्च सततम-
नुबद्ध प्रारब्धमित्यर्थः, वैर वैरिकर्म येन स तथा । नित्य-
रोषी सदाकोपः (से तारिसे स्ति) स नादृशः पूर्वोक्तस्वरूपः ।
(नाराहण वयमिण ति) नाराधयति न निरतिचारं करोति, व्रत
महाव्रतम्, इदम्-अदत्तादानविरतिस्वरूप, स्वाम्यादिजिरननु-
ज्ञातकारित्यास्त्येति ।

अहं केरिसण पुणाई आराहण वयमिणं, जे से उवाहिं
भक्तपाणादाणसंगहणकुसले अचंचंतवालदुव्वल्लगिद्याण-
वुद्धमासखण्णे पवत्तिआयरियउव्वज्झाए सेहे साहम्मिए
तवस्सि कुल्लगणसंघचेइयठे य निज्जरट्ठी वेयावच्चं अणि-
स्सियं दसविहं बहुविहं करेइ, न य अवियत्तस्स घरं पवि-
सइ, न य अवियत्तस्स भक्तपाणं गिएहइ, न य अवियत्त-
स्स सेवइ पीढफल्लगसेज्जासंधारगवत्यपायकंबलदंडगरओ-
हरणनिसेज्जचोद्वपट्टमुहपोत्तियपायपुंउणाइ भायणभमोव-
हिउवगरणं, न य परिवायं परस्स जंपति, न यावि दोसे प-
रस्स गेएहति, परववएसेण वि न किंचि गेएहति, ए य वि-
परिणामेति कंचि जणं, ए यावि एासेति दिएणमुकयं
दाऊण य काऊण य ए होइ पच्छाताविते, संविभाग-
सीद्धे संगहोवगहकुसले, से तारिमए आराहेति वयमिणं ॥

अथ प्रश्नार्थः । कीदृश पुनः, ‘आई’ इति अशङ्करे, आराधयति
व्रतमिदम् ? इह प्रश्नोत्तरमाह- (जे मे इत्यादि) य साधुरूप-
धिभक्तपानादान च सग्रहण च तयो कुशलो विधिज्ञो य स
तथा । बाणश्चेत्यादि समाहारद्वन्द्व । ततोऽप्यन्त यद्वाञ्छुद्धं ब्रह्मा-
नवृत्तमासङ्गक तत्तथा । तत्र विषये वेयावृत्त्य करोतीति योगः ।
तथा-प्रवृत्त्याचार्योपाध्याये, इह द्वन्द्वैकत्वात् प्रवृत्त्यादिषु । तत्र

प्रवर्तितलक्षणमिदम्-“तवसजमजोगेसु, जो जोगो जत्थ त
पवचेइ । असहु व नियत्तेई, गणनत्तिहो पवचेई” ॥१॥ इतरौ प्र-
तीतौ । तथा-(सेहे स्ति) शैक्वे अग्निवप्रवर्जिते, माधर्मिके समा-
नधर्मिके, लिङ्गप्रवचनाभ्यां तपस्विनि चतुर्थजन्तादिकारिणि,
तथा कुलं गच्छसमुदायरूप चन्द्रादिक, गण कुलसमुदाय-
कोटिकादिकः, सङ्गस्तत्समुदायरूप, चैत्यानि जिनप्रतिमा, ए-
तासा योऽर्थः प्रयोजन स तथा । तत्र च निर्जरार्थः कर्मकृत्यकाम,
वेयावृत्त्य व्यावृत्तकर्मरूपमुपपृष्ठमभनमित्यर्थः । अनिश्रित कर्त्या-
दिनिरपेक्ष, दशाविध दशप्रकारम् । आह च-

“वेयावच्च वावरु-भावो इह भ्रमसाहणणिमित्त ।

अन्नाद्याण विहिणा, सपायणमेस भावत्यो ॥ १ ॥

आयरिय १ उवज्जाए २, थेर ३ तवस्सो ४ गिद्याण ५ सेहाण ६
साहम्मिय ७ कुल ८ गण ९ स-घ १० सगय नमिह कायव्व” ॥२॥

इति । बहुविध जन्तुपानादिदानभेदेननेकप्रकार, करोतीति ।
तथा-न च नैव च (अवियत्तस्स स्ति) अप्रीतिकारिणो
गृहं प्रविशति । न च नैव च [अवियत्तस्स स्ति] अप्रीति-
कारिणः सत्क गृह्णाति यद् जन्तुपानम् । न वा [अवियत्तस्स स्ति]
अप्रीतिकर्तुः सत्क सेवने भजने, पीठफलकशय्यासस्तारकचक्र-
पात्रकम्बुअद्वन्द्वकरजोहरणनिषद्याचोलेपट्टकमुखपोत्तिकापाद-
प्रोम्भनादि प्राजनभाणोपधुपकगणम् । तथा-न च परिवाद-
परस्य जल्पति, न चापि दोषान् परस्य गृह्णाति । तथा-परव्य-
पदेशेनापि ग्लानादिव्याजेनापि, न किञ्चिद् गृह्णाति, न च विपणि-
णमयति दानादिधर्माद्विमुखीकरोति, किञ्चिदपि जनम् । न
चापि नाशयति अपहवद्वारण दत्तसुकृत विनरणरूप सुचस्ति
परसंबन्धि, तथा-दत्त्वा च देय, कृत्वा वेयावृत्त्यादिकार्यं, न
भवति पश्चात्तापवान् । तथा-सविभागशील लब्धभक्तादिस-
विभागकारी । तथा सग्रहे शिष्यादिसग्रहे, उपग्रहे च तेषामेव
जन्तुनादिदानेनोपपृष्ठमने य कुशलः स तथा । (से तारिसे
स्ति) स तादृश आराधयति व्रतमिदमदत्तादानविरतिलक्षणम् ।

इमं च परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्टयाए पवयणं
जगवया सुकाहिय अत्तहियं पेच्चाजाविकं आगमंसिं भइ
सुच्छं नेयाउयं अकुडिहं अनुत्तर मव्वडुक्खपावाण विउ-
समाणं ॥

(इमं चेत्यादि) इमं च प्रत्यङ्ग प्रवचनमिति सर्वत्र । परद-
व्वहरणवेरमणस्य परिरक्षण पालन स एवार्थः, तद्भावस्तत् ।
तस्यैव प्रवचन शासनमित्यादि व्यक्तम् ।

अस्य पञ्च भावना-

तस्स इमा पंच जावणाओ ततियस्म वयस्स हुनि परदव्व-
हरणवेरमणपरिरक्खणट्टयाए । पढम देवकुल्लसभापवाऽऽवस-
हरुक्खमूलआरामकदगऽऽगरागिरिगुहकम्मंतुजाणजाण -
साहकुवियमालमंडवसुसुधरसुगाणलेणआवणे अस्समि य
एवमादियमिं दगपट्टियवीजहरिततसपाणअममंत्ते अट्टा-
कमे फासुए विविन्त पसत्ते उवस्सए होइ विहरियव्वं ।
आहाकम्मवद्धे य जे से आभियसम्पिज्जओमित्तसोहिय-
छाणदुमण्डिपणअणुडिपणजलणजंरुचालणं अतोवाहिं-
मज्जे च असजमो जत्थ वट्ठति संजयाण अट्टा वज्जेयव्वे हु

उवस्सए से तारिसए सुत्तपरिकुट्टे । एवं विवित्तवासवसहि-
समितिजोगेण जावितो भवति अंतरप्पा निबं अहिकरण-
करणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुष्सायउग्गहरूपी ॥ १ ॥

(पठम ति) प्रथम भावनावस्तु विवित्तवसतिवासो नाम ।
तत्राऽऽह-देवकुल प्रतीतम्, सभा महाजनस्थानम्, प्रपा जल-
दानस्थानम्, आवसथ परिमाजकस्थानम्, वृक्षमूख प्रतीतम्,
आरामो माधवीलताद्युपेतो दम्पतिरमणाभयो वनविशेषः,
कन्दरा दरी आकरो शोहाद्युत्पत्तिस्थानम्, गिरिगुहा प्रतीता ।
कर्मान्तो यत्र सुधादि परिकर्यते, उद्यान पुष्पादिमृकसकुल-
मुत्सवाद्यौ बहुजनजोम्यम्, यानशाखा रथादिगृहम्, कुपितशाखा
तूल्यादिगृहोपम्करशाला, भरणपो यक्षादिभरणम्, शून्यगृहं,
श्मशान च प्रतीतम् । इयन् शैलगृहम्, आपण पण्यस्थानम्,
एतेषां समाहारश्च । ततस्तत्र, अन्यस्मिंश्चैवमादिके एवप्रकारे,
उपाश्रये, नवति विहर्त्तव्यमिति सम्बन्धः । किंचूते^१, दकमुदकम्,
मृत्तिका पृथिवीकाय, बीजानि शाखादीनि, हरित दूर्वादिवन-
रूपानि, त्रसप्राणा द्वीन्ध्यादयः, नैरससक्तो यः स तथा, नत्र । त-
थाकृते गृहस्येन स्वार्थे निर्वर्तिते, (फासुए सि) पूर्वोक्तगुणयोगादेव
प्राप्तुके निर्जोषे, विवित्ते रथादिदोषरहिते, अत एव प्रशस्ते, उपा-
श्रये वसतौ, भवति विहर्त्तव्यमासितव्यम् । यादृशे पुनर्नासितव्यं
तथाऽऽतावुच्यते- (आहाकम्मबहुत्वे य सि) आध्या साधूनां स-
त्कस्याधानेन साधूनाभित्येत्यर्थः, यत्कर्म पृथिव्याधारम्भक्रिया,
तदाधाकर्म । आह च- " हिययमि समाहेउ, एगमणेग च गाहग
ज तु । वडण करेइ दाया, कायाण तमाहकम्म तु " ॥ १ ॥ तेन बहुलः
प्रचुर, नद् वा बहुल यत्र स तथा । [जे से सि] य एवविधः स व-
र्जयितव्य एवोपाश्रय इति सम्बन्धः । अनेन मूलगुणाः शुक्रस्य
परिहार उपदिष्टा । स तथा [आसिय सि] आसितमासवन-
मीयदुदकच्छटक इत्यर्थः । [सम्मज्जिय सि] सम्मार्जन शलाका-
हस्तेन कचवरशोधनम्, उत्सिकमत्यर्थं जलाभिषेचनम्, [सोहिय
सि] शोभन वन्दनमालाचतुष्कपूरणादिना शोभाकरणम्, [छुद-
ण सि] ज्ञान दर्जादिपटलकरणम्, [दुमण सि] सेढिकया धव-
लनम्, [झिपण सि] उगणादिना जूमे, प्रथमतो लेपनम्, [अणु-
झिपण सि] सकलक्षिप्ताया जूमे पुनर्लेपनम्, [जलण सि]
शैल्यापनोदाय वैश्वानरस्य ज्वलनम्, शोधनार्थं वा प्रकाशकरणा-
य वा दीपप्रबोधनम् । (भरणचालण सि) भरणवादीनां पित्र-
कादीनां, पत्न्यादीनां वा तत्र गृहस्थस्थापितानां साध्वर्थं चालन
स्थानान्तरस्थापनम् । एतेषां समाहारश्च, विजक्रियोपपन्न इत्यर्थः ।
नन आभित्तादिरूप अन्तर्बहिश्च उपाश्रयस्य, मध्ये मध्ये च,
अमयमो जीवविराधना, यत्र यस्मिन्नुपाश्रये, वर्त्तने प्रवति,
मयताना साधूनाम्, अर्थाय हेतवे, [वज्जेयव्वे हु सि] वर्जयित-
व्य एव उपाश्रयो वन्मनि, स तादृश, मूत्रप्रतिकुष्ट-भरणनिषि-
द्धः । प्रथमभावनानिगमनायाऽऽह-एवमुक्तेनानुष्ठानप्रकारेण, विवि-
क्तो लोकद्वयाभित्तादोषवर्जितः, विवित्तानां वा निर्दोषाणां वा-
मो निवामो यस्यां सा विवित्तवासवसति, तद्विषया या स-
मिति सम्यक्प्रवृत्ति, तथा यो योग सम्बन्धः, तेन जावितो जय-
त्यन्तगन्ता । किंचिद^२, इत्याह- नित्यं मदा, अधिक्रियतेऽधि-
काङ्गिक्रियते, दुर्गतावात्मा येन नद् दुर्गधिकरणं दुरुनुष्ठान, तस्य
यत्करण कारावण च तदेव पापकर्म पापोपादानक्रिया, ततो वि-
रतो य स तथा । इतोऽनुष्ठानश्च योऽयग्रहोऽवग्रहणीय वस्तु
तत्र रुचिर्यस्य स तथेति ।

वित्तियं आरामुज्जाणकाणवणप्पदंसजागे जं किंचि इ-
कमं वा कटिणं वा जंतुं वा परमेरकुच्चकुसडन्नप्यला-
लसूयगवक्ष्यपुष्पफलतयपवालकंदमूलतणकट्टसकराइं गे-
एहति सेज्जावहिस्स अछा न कप्पए, उग्गहे अदिष्मि
गेएिहउं जे हणि हणि उग्गहं अणुएणविय गेएिहउं तव्व ।
एवं उग्गहसमितिजोगेण जावितो जवति अंतरप्पा णिबं
अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुष्सायउग्गह-
रूपी ॥ २ ॥

(वित्तिय ति) द्वितीयं भावनावस्तु अनुज्ञातसस्तारकग्रहणं नाम ।
तच्चैवम्-आरामो दम्पतिरमणस्थानभूतमाधवीलताद्युहादियुक्तः,
उद्यान पुष्पमृकसंकुलमुत्सवाद्यौ बहुजनमोग्यम्, कानन सा-
मान्यवृक्षोपेत, नगरासन्नं च; वन नगरविप्रकृष्टस्य, एतेषां प्र-
देशरूपो यो प्रागः स तथा तत्र । यत्किञ्चिदिति सामान्येनाव-
ग्रहणीय वस्तु । तदेव विशेषेणाह- 'इकमं वा' इदमस्य तृण-
विशेष एव । कठिनक जन्तुकं च जलाशयज विशेषतृणमेव, प-
र्णमित्यर्थः । तथा परा तृणविशेष, मेरा तु मुञ्जसिंहिका, कूर्वा येन
तृणविशेषेण कुविन्दा, कूत कुर्वन्ति, कुशदन्त्रयोराकारकृतो विशे-
यः, पल्लवं कङ्कवादीनाम्, सूयको मेदपाटप्रसिद्धतृणविशेषः ।
वल्बजः तृणविशेषः, पुष्पफलत्वकप्रवालकन्दमूलतृणकाष्ठ-
शर्कराः प्रतीताः ; ततः परादीनां द्वन्द्वः ; पुनस्ता आदिर्यस्य तस्य
था । तद् गृह्णाति आदत्ते । किमर्थम् ? शब्दोपधेः सस्तारकरूप-
स्योपधेः, अथवा सस्तारकस्योपधेः आर्थाय हेतव इह तदिति शेषो
इत्यर्थः, नतस्तं, न कल्प्यते न युज्यते । अवग्रहे उपाश्रयान्तर्वर्ति-
नि अवग्रहो वस्तुनि, अदत्तेऽननुज्ञाते शब्दादायिना [गिरिहउं
जे सि] गृहीतमादातु, 'जे' इति निपातः । अयमभिप्रायः-उपा-
श्रयमनुज्ञाप्य तन्माध्यगत तृणाद्यपि तु ज्ञापनीयम्, अन्व-
या तदग्राह्य स्यादिति । एतदेवाह-[इणि हणि सि] अह-
नि अहनि प्रतिदिष्यसम् । अयमभिप्रायः-उपाश्रयानुज्ञापना-
दिने उपगृह्णन्ति अवग्रहामिकडादिः अनुज्ञाप्य प्रहीतव्यमिति ।
एवमित्यादिनिगमन प्रथमभावनावदवसेयम्, नवरमवग्रह-
समितियोगेन अवग्रहणीयतृणादिविषयसम्यक्प्रवृत्तिसम्ब-
न्धिनेत्यर्थः ।

तत्तियं पीठफलगसेज्जासंधारगट्टयाए रुक्खा न च्छिदि-
यव्वा, न य छेयणजेयणेण य सेज्जा कारियव्वा, जस्सेव
उवस्सए वसेज्जा, सेज्जं तत्थेव गवेसेज्जा, नय विसमं क-
रेज्जा, न य निवायपवायउस्सुगत्तं, न संसमसगेसुक्खुभि-
यव्वं, अग्गिधुमो य न कायव्वो, एवं संजमबहुत्वे संवरव-
हुत्वे संवुक्कबहुत्वे समाहिबहुत्वे धीरो काएण फासयंते सययं
अज्जप्पज्जाणजुत्ते समीए, एवं एगे चरेज्ज धम्मं, एवं सि-
ज्जासमितिजोगेण जावितो भवइ अंतरप्पा णिबं अहिके-
रणकरणकारावणपावकम्मविरइदत्तमणुष्सायउग्गहरूपी । ३ ।

इदं तु तृतीयभावनावस्तु शय्यापरिकर्मवर्जनं नाम । तच्चैवम्-
पीठफलकशय्यासस्तारकार्यतायै वृक्षा न छेत्तव्या, न च वै-
वनेन नद्भूम्याभितवृक्षादीनां कर्त्तनेन, भेदनेन च, तेषां पाया-
णादीनां वा शय्या शयनीय कारयितव्या । तथा-यस्यैव गृह-

पतेरुपाश्रये निलये वसेत-निवास करोति, शय्यां शयनीय तत्र गवेषयेन्मृगयेत् । न च विषमां सर्तां समां कुर्यात् । न निर्वातप्रधानोत्सुकत्वं, कुर्यादिति वर्तते । न च दशमशकेषु विषयेषु क्षुभितव्यम-क्षोभ कार्यं । अतश्च दशाद्यपनयनार्थमग्निर्धूमो वा न कर्त्तव्यः । एवमुक्तप्रकारेण सयमबहुलं पृथिव्यादिसंरक्षणप्रचुरं, संवरबहुलः प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारनिरोधप्रचुरः, संवृतबहुलः कषायेन्द्रियसंवृतप्रचुरः, समाधिबहुलश्चित्तसास्थ्यप्रचुरः, धीरो बुद्धिमानक्षोभो वा, परीपहेषु कायेन स्पृशन् न मनोरथमात्रेण तृतीयसवरमिति प्रक्रमगम्यम् । सततमध्यात्मनि आत्मानमधिकृत्य आत्मात्मन्वन, ध्यान चित्तनिरोधस्तेन युक्तो यः स तथा । तत्रात्मध्यान 'अमुगगेहे, अमुगकुले, अमुगमिस्ते, अमुगरम्मछाण्टिए, न मतव्विराहणे' इत्यादिरूपम् । (समीए ति) समितः समितिभिः, एक ससहायोऽपि रागाद्यभावात् चरेदनुतिष्ठेत्, धर्म चारित्र्यम् । अथ तृतीयभावनानिगमनार्थाह-एवमन्तरोदितन्यायेन शय्यासमिति योगेन शयनीयविषयसम्यक्प्रवृत्तियोगेन, शेष पूर्ववत् ।

चउत्थं साहारणपिंडवायलाजे सड भोत्तव्वं मंजएण समितं, न सायसूपादिकं, न ऋषु घनं, न वेगिय, न तुरिय, न चवलं, न साहसं, न य परस्स पीलाकरं मावज्ज, तह भोत्तव्वं जह से ततियं वयं न सीयति साहारणपिंडवायलाजे सुहुमे अदिष्ठादाणवयनियमवेरमणे, एव साहारणपिंडवायलाभे समितिजोगेण जाविओ जवति अंतरप्पा णिच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुप्पायउग्गहूरुयी ॥४॥

इह चतुर्थं भावनावस्तु अनुज्ञातभक्तादिभोजनलक्षणम् । तच्चैवम-साधारणं सङ्गादिसाधर्मिकस्य सामान्यो यः पिएड, त-स्य भक्तादेः, पात्रस्य पतदुग्रहलक्षणस्य, उपलक्षणत्वाद्दुपध्यन्तरस्य च, पात्रे वाऽधिकरणे, लाभो दायकात्सकाशात् प्राप्तिः सा साधारणपिएडपात्रलाभः, तत्र सति, भोक्तव्यमभ्यवहर्तव्यम् । परिभोक्तव्यं च केन कथम्? इत्याह-सयतेन साधुना, (समित्यति) सम्यक्, यथाऽदत्तादानं भवतीत्यर्थः । सम्यक्त्वमेवाऽऽह-न शाकसूपादिकम्, साधारणस्य पिएडस्य शाकसूपाधिकं भागे भुज्यमाने सङ्गादिके साधोरप्रीतिरूपयते । ततस्तददत्तं भवति । तथा-न खलु घनं प्रचुरं, प्रचुरभोजनेऽप्यप्रीतिरेव, प्रचुरभोजनता च साधारणे पिएडे भोजकान्तरापेक्षया वेगेन भुज्यमाने भवतीति । तर्हिपंधायाह-न वेगिनः, प्रासस्य गिलने वेगवत् । न स्वरितमुखकेपे, न चपल हस्तप्रीवादिरूपकायचलनवत् । न साहसमचिन्तितम्, अत एव न च परस्य पीलाकरं च तत्सावधं चेति परस्य पीलाकरसावधम्, किं बहुनोक्तेन? तथा भोक्तव्यसयतेन नित्यं यथा (से) तस्य सयतस्य, तद्वा, तृतीयमत्र न सी-दति ब्रूयति । डुरीक्क चेद, सूक्ष्मत्वात् । इत्यत्र आह-साधारणपिएडपात्रे ज्ञाने विषयभूते सूक्ष्मं सुनिपुणमनिरक्षणयत्वा-दणुकमपि तदित्याह-अदत्तादानविरमणवृत्तकेन वनेन यन्नियमनात्मनो नियन्त्रणं तत्तथा । पात्रान्तरेण-अदत्तादानाद् अत-मिति बुद्ध्या नियमेनावश्यतया यद्विरमणं निवृत्तिस्तत्तथा । एतन्नियमनाह-एवमुक्तन्यायेन साधारणपिएडपात्रज्ञाने विषयभूते समितियोगेन सम्यक्प्रवृत्तिसवधनेन भाविनो जव-त्यन्तरात्मा । किंभूतः? इत्याह-'निष्कमित्यादि' तथैव ।

पंचमं साहम्मिएसु विणओ पडंजियव्वो । उवयरण-पारणासु विणओ पडंजियव्वो, वायणपरियट्टणासु विणओ पडंजियव्वो, दाणमहणपुच्छणासु विणओ पडंजियव्वो, निक्खमणपवेसणासु विणओ पडंजियव्वो, अणेषु य एवमाइसु बहुसु कारणमतेसु विणओ पडंजियव्वो, विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो, तम्हा विणओ पडंजियव्वो गुरुसु साहसु तवस्सीसु य, एवं विणएण जाविओ जवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुप्पायउग्गहूरुयी ॥५॥

[पंचमगति] पञ्चमं प्राधवस्तु । किं तदित्याह-साधर्मिकेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । एतदेव विषयभेदेनाह-(उवयरणपारणासु चित्ति) आत्मनोऽन्यस्य वा उपकरणं ज्ञानाद्यवस्थायामन्येनोपकारकरणम्, तच्च पारणे तपसः क्षुतस्कन्धादिश्रुतस्य पारगमनम्, उपकरणपारणे, तयो विनयः प्रयोक्तव्यो, विनयश्चेच्छाकारादिदानेन वस्त्राकारपरिहारादिलक्षणं एकत्र, अन्यत्र च गुर्वनुज्ञायां भोजनादिकृत्यकणलक्षणं । तथा-वाचना सूत्रग्रहण, परिवर्त्तना तस्यैव गुणनम्, तयोर्विनयः प्रयोक्तव्यो वन्दनादिदानलक्षणः । तथा-दानव्यवस्थापनादेर्ज्ञानादिन्यो वितरण, ग्रहणं तु तस्यैव परेण दीयमानस्यादानम्, प्रच्छन्ना विस्मृतसूत्रार्थप्रश्नः, एतासु विनयः प्रयोक्तव्यः ; तत्र दानग्रहणयोर्गुर्वनुज्ञालक्षणः । प्रच्छन्नायां तु वन्दनादिविनयः । तथा-निष्क्रमणप्रवेशनायास्तु आवश्यकानैषध्यादिकरणम् । अथवा हस्तप्रसारणपूर्वकं प्रमार्जनानन्तरं पाददिकेपलक्षणः । किं बहुना प्रत्येक विषयभणनेनेत्यत आह-अन्येषु चैवमादिकेषु कारणशतेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । कस्मादेवमित्याह-(विनयोऽपि) न केवलमनशनादितपः, अपि तु विनयोऽपि तपो वर्तते, आन्यन्तरतपोभेदेषु पठितत्वात्तस्य । यद्येव ततः किम्? अत आह-तपोऽपि धर्मः, न केवलं सयमो धर्मः, तपोऽपि धर्मो वर्तते, चारित्र्यांशत्वात्तस्य । यत एव तस्माद्विनयः प्रयोक्तव्यः । केषु? इत्याह-गुरुषु साधुषु नपस्विषु च अष्टमादिकारिषु ; विनयप्रयोगे हि तीर्थकराद्यनुज्ञास्वरूपादत्तादानविरमणपरिपालितं प्रवर्त्तति पञ्चमभावनानिगमनार्थमाह-एवमुक्तन्यायेन जावितो जवत्यन्तरात्मा । किंभूतः?-'नित्यमित्यादि' पूर्ववत् ॥

एवमिणं संवरस्म दारं सम्मं चरियं होड सुपणिहियं ड-मोहं पचहिं वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरिक्खएहिं निच्चं आमरणंतं च एम जोगो नेयव्वो धिडमया मडमया अणासवो अकटुसो अच्चिहो अपरिस्साई असकिद्धिहो सुप्पो सव्वजिणमणुप्पाओ, एवं तइयं सवरदारं फासियं पाडियं सोहियं तिरियं किट्टियं सम्मं आराहियं आणाए अणुपाडियं भवति, एव नायमुण्णा भगवया पणवियं परुवियं पसिच्छं सिद्धिवरसासणमिणं आणवियं सुदेसियं पसत्तं ततियं संवरदारं सम्मतं चि वेमि ।

इदं च निगमनसूत्रं पुस्तकेषु किञ्चित् साक्षादेव यावत्करणेन च दर्शितम् । व्याख्या चास्य प्रथमसम्भवाध्ययनवद्वसेयेति समाप्तमष्टमाध्ययनविवरणम् । प्रश्न०३ सम्भ० द्वा० ।

अदत्ता (दिष्ठा) लोयण-अदत्तालोचन-३० । अदत्ता

गुरुपुरतोऽप्रकटिवा, आलोचना-आलोचनार्हं पाप येन सोऽ-
दत्तालोचन । अदत्तालोचने, ग० १ अधि० ।

अदत्ताहार-अदत्ताहार-पु० । चौरै, "अदत्ताहारा वा से अव-
हरति रायाणो वा से विमुपति " आचा० १ शु० २ अ० ३ उ० ।

अदत्त-अदत्त-त्रि० । न० त० । दम्भ-रक् । दम्भमल्पम्, न
दम्भमदम्भम् । भूर्यर्थे (अनल्पे), ज० ३ वक्त्र० ।

अदत्तवाह-अदत्तवाह-त्रि० । अदत्त वहतीति अदत्तवाह ।
चूरिवाहकेऽश्वादौ, "अदत्तवाह अमेलनयण कोकासिय बहस-
पत्तलऽञ्ज " ज० ३ वक्त्र० ।

अदत्त-अदत्त-त्रि० । निर्दये, नि० चू० २ उ० ।

अदत्त-अदत्त-त्रि० । अदत्ताने, व्य० २ उ० ।

अदत्त-अदत्त-त्रि० । दशारहिते, दश० ७ अ० ।

अदत्त-अदत्त-त्रि० । काष्ठादिरहिते, त० ।

अदत्त-अदत्त-त्रि० । न० ब० । क्रयविक्रयनिषेधेन अविद्यमा-
नदातव्ये नगरादौ, भ० ११ श० ११ उ० । यत्र हि न केनापि
कस्यापि देयमिति । ज० ३ वक्त्र० । कल्प० ।

अदत्त-अदत्त-त्रि० । न० त० । अनुपलब्धे, ज्ञा० १६ अ० ।

" तेसिमवि वरायाणमादिद्वकृत्पाणमहमिदमभ्युय किपि
सपादयामीति " आ० चू० १ अ० । प्राग्जन्मकर्मणि, न० ।
ज्ञा० । आ० म० । विशेष० । आच० । भ० । (अदत्तसिद्धिः 'कम्म'
शब्दे तृतीयजागे २५३ पृष्ठे दृष्ट्या) नैयायिकसम्मतं गुण-
जेट्ते, 'कर्तृफलदाय्यात्मगुण आत्ममनःसंयोगजः स्वकार्यविधि-
धर्माऽधर्मरूपतया जेट्तात्-अदत्ताद्यो गुणः' इति वैशेषिकैः प-
राङ्गा दृष्टस्वरूपमुपवर्णितम् । कर्तुं प्रियहितमोक्तदेतुर्धर्मः, अध-
र्मस्तु-अप्रियप्रत्यवायहेतुरिति । एतच्च तत्समवायिकारणस्या-
त्मनो मनस आत्ममनःसंयोगस्य च निमित्तासमवायिकारण-
त्वेनाप्युपगतस्य निषेधात् कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात्
सर्वमनुपपन्नम् । सम्म० । अदत्तधर्मेणि पुरुषे, व्य० १० उ० ।

अदत्तदेस-अदत्तदेश-पु० । अदत्तपूर्वदेशान्तरे, व्य० १० उ० ।

अदत्तधर्म (ए)-अदत्तधर्म-त्रि० । न० ब० । सम्यगनुपल-
ब्धश्रुतादिधर्मिण, दश० १ अ० । दशा० ।

अदत्तभाव-अदत्तभाव-पु० । आवश्यकतादिश्रुतमदत्तवति, ज्ञ० १ उ० ।

अथादिमादृष्टजावद्वार विवृणोति-

आवागममाईया, सूयगमा जाव आइमा जावा ।

ते उ ए दिड्ठा जेण, अदिड्ठभावो इव ए एसो ॥ १ ॥

आवश्यकदयः सूत्रकृताङ्ग यावत् ये आगमग्रन्थास्तेषु के
पदार्था अनिधेयास्ते आदिमा भावा उच्यन्ते, (ते उ) ते पुनर्जावा
येन न दृष्टा नावगताः स एषोऽदृष्टभाव इति । उपलक्षणत्वादा-
दिमादृष्टभावो प्रवर्तते । ज० १ उ० ।

प्रदिष्टलाभिय-अदृष्टलाभिक-पु० । अदृष्टस्यापि अपवागका-
दिमध्याग्निरनस्य श्रोत्रादिभिः कृतोपयोगस्य जकात्रेदृष्टाद् वा
पूर्वमनुपपन्नव्यादायकात्ताभो यस्यास्ति स तथा । औ० । तेन वा
चरतीति अदृष्टलाभिक । अभिग्रहविशेषभागे भिक्षाचरके,
सूत्र० २ शु० २ अ० ।

अदिद्वसार-अदृष्टमार-त्रि० । अगीतार्थे, प० चू० ।

अदिद्वद्व-अदृष्ट-त्रि० । अदृष्टेत्केपनिकेपपदमानीते, ध०
२ अधि० । आच० ।

अदिद्वानुजाव-अदृष्टानुजाव-पु० । क० स० । अदृष्टफलविपा-
के, विशेष० ।

अदिष्ट-अदत्त-त्रि० । स्वामिजीवतीर्थकरगुरुभिरविनीर्णे, स्था०
१ ज्ञा० १ उ० । " अदिष्टे से वि भ पिबिष्टप " औ० । परकी-
ये ज्ञेये, आचा० ८ अ० १ उ० ।

अदैन्य-न० । अदीनभावे, ज्ञा० १२ ज्ञा० ।

अदिष्टविचार-अदत्तविचार-त्रि० । न दत्तो विचारः प्रवेशो
यत्र तान्यदत्तविचाराणि । अननुज्ञातप्रवेशेषु कोष्ठिकादीनां गृहेषु,
व्य० ८ उ० ।

अदित्त-अदत्त-त्रि० । न० त० । दर्पारहिते शान्ते, वृ० १ उ० ।

अदिस्म-अदृष्ट-त्रि० । न० त० । चक्षुषोऽविषये, उच० २३
अ० । " पञ्चमे आहारनीहारे आदिस्ते मसचक्षुणा " स०
३४ सम० ।

अदिस्समाण-अदृष्टयमान-त्रि० । अनुपलभ्यमाने, आच० ५
अ० । अनुपदिश्यमाने, आचा० १ शु० ३ अ० २ उ० ।

अदीण-अदीन-त्रि० । अङ्गुलिते दीनाकाररहिते, प्रश्न० १
सम्ब० ज्ञा० । शोकान्नावात् । अन्त० ७ वर्ग । प्रसन्नमनसि
स्वजावस्थे, नि० चू० ३ उ० ।

अदीणचित्त-अदीनचित्त-त्रि० । अदैन्यवन्मानसे, पञ्चा०
१८ विव० ।

अदीणमणस-अदीनमनस्-त्रि० । अदीनं मनो यस्य स अदी-
नमना । सूत्रत्वाद्दीनमनाः अदीनमानसो वा । उच० २ अ० ।
अनिष्पकम्पचित्ते, भा० म० प्र० ।

अदीण्या-अदीनता-स्त्री० । अशानाद्यलाभेऽपि वैकल्याणावे,
ज्ञा० २७ ज्ञा० । तद्वपे जिह्मिद्धे, दश० १० अ० ।

अदीणवित्ति-अदीनवृत्ति-त्रि० । आहाराद्यज्ञेऽपि शुरुवृ-
त्तौ, दश० ९ अ० ।

अदीणसत्तु-अदीनशत्रु-पु० । कुरुदेशनाथे हस्तिनागपुरवा-
स्तव्ये स्वन मर्याने राजनि, स्था० ५ ज्ञा० १ उ० । ज्ञा० । "अ-
दीणसत्तुस्स रम्भो धारणीपामोक्त्वाण देवीसहस्स उ रोहेया
वि होत्था " विपा० २ शु० १ अ० ।

अनु-अथ-अन्य० । अथशब्दो निपातः । निपातानामनेकार्थ-
त्वाद् अत इत्यस्यार्थे, सूत्र० १ शु० २ अ० २ उ० । आनन्त-
र्ये, आचा० ९ अ० १ उ० ।

अदुक्खणया-अदुःखनता-स्त्री० । दुःखस्य करण दुःखन-
तद्विद्यमान यस्यासावदुःखनः, तद्भावस्तत्ता । अदुःखकरण,
भ० ७ श० ६ उ० । दुःखोत्पादने मानसिकाऽसातानुदीरण-
पा० । ध० ।

अदुगुण्डिय-अनुगुण्डित-त्रि० । अगर्हिते, "अदुगुण्डियमणग-

रहियमणवज्जमिम वि एगछा " आ० म० द्वि० । सामायिके,
'अनिह च अदुगुहितमणगहित अणवज्ज चेव एगछा " आ०
चू० १ अ० । अनिहित, आ० ।

अदुट्ट-अदुट्ट-त्रि० । न० त० । दोपरहिते, प्रश्न० १ सम्प्र० द्वा० ।
अद्विष्ट-त्रि० । द्वेपरहिते, प्रश्न० १ सम्प्र० द्वा० ।

अदुट्टचेत (स्) अदुट्टचेतस्-त्रि० । ६ ब० । मकलुपान्त क-
ग्ने, ' नितिष्कण्ण भाणि अदुट्टचेयसा " भाचा० १ भु०
४ अ० ४ उ० ।

अदुत्तर-अथापर-अव्य० । अतोऽनन्तरमित्यर्थे, " अदुत्तर च
ण गोयमा ' पत्तण चमरे असुगिटे " अथापर चेद च साम-
थ्यातिशयसर्जनम् । भ० ३ श० १ उ० । " अदुत्तर च ण मम
ममणा णिग्गया " ज्ञा० १ अ० । जो० ।

अदुय-अदुत-न० । अशीघ्रे, भ० ७ श० ए उ० ।

अदुयत्त-अदुनत्त-न० । सर्वादिशे सत्यवचनातिशये, स०
३५ सम्प्र० ।

अदुयवधन-अदुतवन्धन-न० । दीर्घकालिकबन्धने, सूत्र०
७ भु० २ अ० ।

अदुवा-अथवा-अव्य० । पक्षान्तरोपन्यासद्वारेणाऽन्युच्चयोपद-
र्शने, भाचा० १ भु० १ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

अदूर-अदूर-त्रि० । न० त० । अधिप्रकृष्टे, भ० १ श० १ उ० ।

अदूरग (य) अदूरग-त्रि० । शरीराऽनतिमेदके शल्ये क-
ष्टकादौ, पञ्चा० १६ विध० । परस्परसमीपवर्तिनि, सूत्र० १
भु० ४ भ० २ उ० ।

अदूरगेह-अदूरगेह-न० । प्रत्यासन्नप्रातिवेष्टिमकगृहे, वृ० २ उ० ।

अदूरसामत-अदूरसामन्त-पु० । दूर विप्रकृष्ट, सामन्त च सान्नि-
कृष्ट, तन्निषेधाददूरसामन्तम् । नातिदूरे नातिसमीपे, भ० १ श०
१ उ० । अनिकटाऽऽसन्ने वचितदेशे, औ० । ज्ञा० । " अज्जसुह-
म्मस्स अणगरस्स अदूरसामत उरु जाणु जाव विहरति " नि० १ धर्मे ।

अदूरागय-अदूरागत-त्रि० । समीपदेश प्राप्ते, " अदूरागय बहु-
सपत्ते अज्जाण पक्खिण्णे अतरापढे वट्ठ " भ० २ श० १ उ० ।

अदूसिय-अदुषित-त्रि० । अग्निष्वक्केणाकसुषिते, पञ्चा० ६ विध० ।

अदेशकालपलावि (ए)-अदेशकालपलापिन्-पु० । अदे-
शकाहे अनवसरप्रलपनशीलोऽनवसरप्रलापी । ('चञ्चल' शब्दे
दर्शिते) भाषाचपलजेदे, वृ० १ उ० ।

अदेशाकाशायरण-अदेशाकाशाचरण-न० । प्रतिषिद्धो देशो-
ऽदेशः, प्रतिषिद्ध कालोऽकाशः । तयोरदेशकालयोरचरण
चरणान्नाव-अदेशाऽकालाचरणम् । प्रतिषिद्धदेशकालयोश्चर-
णभावरूपे गृहिधर्मजेदे, अदेशाकाशाचारी हि-चौरादिभ्योऽ-
वश्यमुपपद्यमान्नाति, अदेशाकालाचरण ब्रह्मब्रह्मविचारणम् ।
ध० १ अधि० ।

अदोम-अदोष-पु० । तत्त्वविषयेऽप्रीतिपरिहारे, शो० १६ विध० ।

अद-अद-पु० अपो ददाति । अण्-दा-क । ६ त० । " सर्वत्र
लवणमचन्दे " ॥ ८ । १ । ७ ए॥ इति सूत्रेण वलोप । प्रा० । मेघे ।

मुस्तायां च, नस्याश्चाऽत्यन्तशीनधीर्यन्वेन वैद्यकोक्तेर्जलमयमूत्र-
त्वाच्च तथात्वम्, आप्यन्ते व्याप्यन्ते ऋजुमासपक्षतिथिनक्षत्र-
योगकरणवारादयो येन । आप-ठन् ह्रस्वश्च । वत्तरे, वाच० ।
अर्द-पु० । अदर्षते गम्यतेऽनेनेति अर्दः । आकाशे, ज० २०
श० २ उ० ।

आर्ज-त्रि० । अर्द-रक्-दीर्घश्च । क्लिप्ते सरसे सजले व-
स्तुनि, सूत्र० ।

अस्य निक्षेपार्थे सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तिः कदाह—

नामं ठवणा अद, दव्वदं चेव होइ जावद ॥

एमो खवु अदभओ, निक्खेवो चउविहो होइ ॥ १ ॥

[नाम ठवणा अहमित्यादि] नामस्थापनाद्रव्यभावेनेडाच्च-
तुर्धाऽऽर्द्रकस्य निक्षेपो द्रष्टव्यः ।

तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यार्द्रप्रतिपादनार्थमाह—

उदगइ सारदं, ठविअइ खवु तहा सिणेहइ ॥

एयं दव्वइ खवु, भावेण होइ रागइ ॥ २ ॥

(उदगइमित्यादि) तत्र छव्यार्द्रं छिन्धा-आगमतो नो आग-
मतश्च । आगमतो ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तोऽनुपयोगो छव्यमि-
तिकृत्वा । नो आगमतस्तु कृशरीरजव्यशरीरव्यतिरिक्तम् । यदुद-
केन मृत्तिकादिक द्रव्यमार्द्रं कृतं तदुदकार्द्रम् । सारार्द्रं तु-य-
द्वदि शुष्कार्द्रमप्यन्तर्मध्ये सार्द्रमास्ते, यथा-अपिणसौवर्चल-
दिकम् । 'छविअइ' तु-यत् स्निग्धत्वगुण्य मुक्ताफलरक्ताशो-
कादिक तदभिधीयते, वसयोपलित वासार्द्रम् । तथा-अपेष्मा-
र्द्रं चकलेपाद्युपलित स्तम्भकुण्डलिक यद्वयं तस्मिन्धाकार-
तया अपेष्मार्द्रमभिधीयते । एतत्सर्वमप्युदकार्द्रादिक छव्यार्द्रमे-
वाभिधीयते, खवुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । जावार्द्रं तु पुन राग
स्नेहामिष्वङ्गं, तेनार्द्रं यज्जीवछव्यं तद्भावाद्द्रमित्याभिधीयते ।

साम्प्रतमार्द्रककुमारमधिदृत्यान्यथा

द्रव्यार्द्रं प्रतिपादयितुमाह—

एगजविय वच्चाळ, जो अभिमुहओ नामगोए य ।

एते तिन्नाऽऽदेसा, दव्वम्मि अदगे होति ॥ ३ ॥

[एगजविय इत्यादि] एकेन भवेन यो जीवः स्वर्गादेरागत्या-
र्द्रककुमारत्वानोत्पत्स्यते । तथा-ततोऽप्यासन्नतरो वच्चायुष्क ।
तथा ततोऽप्यासन्नतमोऽभिमुहनामगोत्रं, योऽनन्तरसमयमेवा-
र्द्रकत्वेन समुत्पत्स्यते । एते त्रयोऽपि प्रकारा द्रव्यार्द्रके द्रष्टव्या
इति । भावार्द्रकं तु-आर्द्रककुमार इति नगरजेदे, तदधिपतौ
राजमेदे, तत्सुते, तद्वशजेषु च । सूत्र० २ भु० ६ अ० । काठि-
न्ययुक्ते, आनुगुण्ययुक्ते च । अश्विन्यादिके षष्ठे नक्षत्रे, खी० ।
वाच० । आर्द्राया रुद्रो देवता । ज्यो० ६ पाहु० ।

अद्विज्ज-आर्द्रकीय-न० । आर्द्रकान्समुत्थितमध्ययनमार्द्रकी-
यम् । आर्द्रककुमारवक्तव्यताप्रतिबद्धे सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयभु-
तस्कन्धस्य षष्ठेऽत्ययने, सूत्र० ।

निरुक्तं तु विस्तरतो निर्युक्तिः नैवेन्धमुक्तम्—

अदपुरा अदमुतो, नामेण अदगो य अणगागे ।

ततो समुद्वियमिण, अज्जयण अद्विज्जं ति ॥ ४ ॥

[अदपुरा इत्यादि] आर्द्रकायुष्कनामगोत्राण्यनुभवन् भावा-
ज्ज्ञानवति । यद्यपि शूद्रवेरादीनामप्यार्द्रकसंज्ञाव्यवहाराऽस्ति

तथापि नेदमध्ययन तेज्यः समुत्थितमनो न तैर्गिहाधिकारः । कि-
न्वार्द्धककुमारान्निधानगागसमुत्थितमनस्तेनैवेहाधिकार इ-
तिकृत्या तद्वक्तव्यनाऽभिधीयते । एतदेव निर्युक्तिरुदाह-[अ-
दपुरा इत्यादि] अस्या समासेनायमर्थः -आर्द्धकपुरे नगरे आ-
र्द्धको नाम राजा, तन्मुनोऽर्द्धकान्निधान कुमारः, तद्वशाज्जा-
किल सर्वेऽप्यार्द्धकाभिधाना एव जयन्तीति कृत्या । स चानगर-
मन्वृतः । तस्य च श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिसमवसरणे गो-
शालकेन सार्द्धं हस्तिनापसे इव वादोऽभूत् । तेन च ते एत-
दध्ययनार्थोपन्यासेन पराजिता, अत इदमभिधीयते । ततस्त-
स्मादार्द्धकात्समुत्थितमिदमध्ययनमार्द्धकायामिति गाथासमा-
सार्थः । व्यासार्थं तु स्वत एव निर्युक्तिरुदाहार्द्धकपूर्वभवोपन्यासे-
नोत्तरत्र कथयिष्यतीति ।

ननु च शाश्वतमिदं द्वादशाङ्गं, गाणिपितृकमाद्र्द्धककथानकं तु
श्रीवर्द्धमाननीर्यावसर, तत्कथमस्य शाश्वतत्वमित्याशङ्क्याह-
कामं दुवालसंगं, जिणवयणं मामयं महाजागं ।

मन्वज्जयणां तदा, सन्वस्वरसाम्प्रदायो य ॥ ५ ॥

(काममित्यादि) काममित्येतदच्युपगमे, इष्टमेवैतदस्माकम् ।
तद्यथा-द्वादशाङ्गमपि जिनवचन शाश्वत नित्य महाभाग महा-
नुभावमामर्षौष्यादिभूद्धिसमान्वितत्वात् केवलमिदं, मर्षाण्य-
प्यध्ययनायेव नृतानि, तथा सर्वाङ्गरसन्निपाताश्च मेलापका
द्रव्यार्थादेशा नित्या एवेति ॥ ५ ॥

ननु च मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थान भवत इत्याशङ्क्याह-

तह वि य कोर्ड अत्थो, उप्पज्जति तस्मि समयस्मि ।

पुव्वभणिओ अणुमतो, इति एसिजासिए य जहा । ६ ।

(तह वि ये इत्यादि) यद्यपि सर्वमपीदं उच्यार्थः । शाश्वत, तथा-
पि कोऽप्यर्थस्तस्मिन्समये तथा क्षेत्रं च कुतश्चिदार्द्धकादं-सका-
शादाविर्भावमास्कन्दति, स तेन व्यपदिश्यते । तथा-पूर्वमप्य-
सावर्थोऽन्यमुद्दिश्योक्तोऽनुमतश्च जयति, आभिभाषितेषूत्तरा-
ध्ययनादिषु यथेति ।

साम्प्रत विशिष्टतरमध्ययनोन्धानमाह-

अज्जइएण गोसा-लजिक्खुबंजवतितिदमीणं ।

जह हत्थितावसाणं, कहियं इण्णो नहा वोच्छं ॥ ७ ॥

(अज्जइएणेत्यादि) आयात्रिकेण समवसरणाभिमुखमुच्चलि-
नेन गोशालकजिक्रोस्तथा ब्रह्मवतिनां त्रिदिक्रिनां यथा ह-
स्तिनापसना च कथितमिदमध्ययनार्थज्ञान तथा वक्ष्ये सूत्रेण-
ति । सूत्रं २ श्रुं ६ अं ।

अद्भु-आर्द्धक-न० । अर्द्धयति रोगान् । अर्द्धं अन्नर्जनार्थं रक्त्वं,
दीर्घं च, सङ्गाया कन् । आर्द्धायां नृमौ जात वा बुद्ध । आर्द्धय-
ति जिह्म, आर्द्ध-णिच्-बुन् वा । मूलप्रधाने वृद्धजेदे, आर्द्धि-
काऽप्यत्र । स्त्री० । वाच० । गृह्ये, आचा० २ श्रुं १ अ० ७ उ० ।
(आर्द्धकशब्दार्थो नगरभेदादिक च 'अद्' शब्दे समुक्तम्) ।

अद्भु (य) कुमार-आर्द्धककुमार-पु० । आर्द्धकनामधेये कु-
मारे, स्था० २ श्रुं ६ अं ।

अथाऽर्द्धककुमारस्य निरवशेषा वक्तव्यता-

(१) निर्युक्तिरुन्मताभिप्रायेण सक्षिप्तमार्द्धककुमारकथानकम् ।

(२) आर्द्धककुमारेण सह विवदमानस्य गोशालकस्य तीर्थ-
रुद्विषयेऽसूयाऽऽविष्करणम् ।

(३) तत्रार्द्धककुमारस्य समाधानम् ।

(४) अपगतरागद्वेषस्य प्रजापमाणस्यापि दोषाभावः ।

(५) बीजाद्युपजोगिनो न श्रमणव्यपदेशभाजः ।

(६) समवसरणाद्युपजोगवतोऽपि भगवतो न कर्मबन्धः ।

(७) केवला भावशुद्धिमेव मन्यमानस्य बौद्धस्य स्थापनम् ।

(८) हिंसामन्तराऽपि मांसो न जङ्गणीयः ।

(९) आर्द्धककुमारेण सह ब्राह्मणानां विवादः ।

(१०) एकदशिकसि सहार्द्धककुमारस्योत्तरप्रत्युत्सगणि ।

(११) तथा हस्तिनापसे सहोक्तिप्रत्युत्तयः ।

(१) तत्र तावत्पूर्वभवमन्वन्धि आर्द्धककथानक
गाथाभिरेव निर्युक्तिरुदाह-

गामे वमंतपुरये, सामयिओ थरणिसहिओ निक्खंतो ।

जिक्खाऽऽयरिया दिहा, ओहामिय जत्तवेहामं ॥७॥

संवेगममावन्ने, माड जत्त चड्णु दिगलोए ।

चउज्जण अद्भुपुरे, अद्भुओ अद्भुओ जाओ ॥८॥

पीती य ढोएहि दतो, पुच्छणमजयस्स पच्छ वेसो उ ।

तेणावि सम्मादिट्ठे-त्ति ढोज्ज पमिमाऽरहम्मि गओ ॥९॥

दट्ठं सवुद्धो र-क्खिओ य रायाण वाहणपलाओ ।

पव्वावंतो धांतो, रज्ज न करंति को अओ ॥११॥

अगणितो निक्खंतो, विहरऽ पमिमाऽ दारिगा चओ ।

सुवरणवमृहाराओ, रओ कहणं च देवीए ॥१२॥

वरआड पिता तीस, पुच्छण कहणं च वरण ढोवारे ।

जाणाऽ पायविंव, आगमणं कहण निग्गमणं ॥१३॥

परियागए समीवे, सपरीवारा वि निक्खुपरिवयणं ।

जोग सुतो पुच्छण सु-त्तवध पुत्ते य निग्गमणं ॥१४॥

रायगिहागम चोरा, रायजया कहण तेसि दिक्खाया ।

गोसालजिक्खुवर्भा-त्तिदंभियातावसेहिं महवाढा ॥१५॥

वादे पराडयत्ते, सव्वे वि य समणमज्जुवगताओ ।

अद्भुसहिया मव्वे, जिणवीरमामिनिक्खंतो ॥१६॥

(गामे इत्यादि गाथाष्टकम्) आसा चार्ध कथानकादवसेय ।
तद्यदस-मगधजनपदे वसन्तपुरग्रामं, तत्र मामाधिको नाम कुटु-
म्बी प्रतियवसति स्म । स च ससारभयोद्दिष्टो धर्मघोषाचार्यातिके-
धर्मे भ्रुत्वा सपत्नीक प्रव्रजितः । स च सदाचारतः सविप्रै-
साधुभिः सार्द्धं विहरति स्म, इतरा साध्वाभिः सहति । कदाचि-
च्छासावेकस्मिन्नगरे निक्कार्थमदन्तीं दृष्ट्वा तामसौ तथाविधक-
मौदयान्पूर्वतरानुस्मरणेन तस्यामध्युपपन्नः, तेन चात्मीयोऽजि-
प्रायो छिनीयस्य साधोर्निवेदितः तेनापि चैतत् प्रवर्तित्या, त-
याऽपि चाजिहिनम्-न मम देशान्तरे एकाकिन्या गमनमुच्यते । न
चासौ तत्राप्यनुबन्धं त्यज्यतीत्यनो ममास्मिन्नवसरे भक्तप्रत्या-
ख्यानमेव श्रेयः, न पुनर्जनविलोपनम् । इत्यनस्तथा भक्तप्रत्या-
ख्यानपूर्वकमात्माद्वन्द्वनमकारि, मृता साऽगान्च द्रवलाकम् ।
भ्रुत्वा चैनं व्यतिकरमसौ संवेगमुपगतः । चिन्तितं च तेन-तथा
प्रतभङ्गभयादिदमनुष्ठितम्, मम न्वसौ सजात एवेत्यनोऽहम्
पि भक्तप्रत्याख्यानं करोमीत्याचार्यस्यानिवद्यैव मायात्री, पर-
मसवगापक्षाऽसावपि जक्त प्रत्याख्याय दिव गतः । तनाऽपि च

प्रत्यागत्याऽऽर्द्रपुरे नगरे आर्द्रकसुत आर्द्रकामिधानो जात । सा-
ऽपि च देवलोकाच्चयुता वसन्तपुरे नगरे श्रेष्ठिकुत्रे दारिका जा-
ता । इतरोऽपि च परमरूपसंपन्नो यौवनस्थः सवृत्तः । अन्यदाऽ-
सावार्द्रकपिता राजगृह्ननगरे श्रेष्ठिकस्य राज्ञः स्नेहाविष्करणार्थं
परमप्राभृतोपेतं महत्तमं प्रेषयति स्म । आर्द्रककुमारंणासौ पृष्ट-
वथा-कस्यैतानि महार्हाण्यन्युप्राणि प्राभृतानि मन्त्रिणा प्रेषितानि
यास्यन्तीति । असावकथयत्-यथा-आर्यदेशे तव पितुः परममित्रं
श्रेष्ठिको महाराजः, तस्यैतानीति । आर्द्रककुमारंणाप्यभाणि-र्किं
तस्यास्ति कश्चिद्योग्यः पुत्रः ? । अस्तीत्याह । यद्येवं, मत्प्रहितानि
प्राभृतानि जवता तस्य समपणीयानीति जगित्वा, महार्हाणि प्राभृ-
तानि समर्प्यानिदितम्-वक्तव्योऽसौ महत्तमो यथाऽऽर्द्रककुमार-
स्त्वयि स्निह्यतीति । स च महत्तमो गृहीतो जयप्राभृतो राजगृह-
मगात् । गत्वा च राजद्वारपालनिवेदितो राजकुलं प्रविष्टः । दृष्ट्वा
श्रेष्ठिकः । प्रणामपूर्वं निवेदितानि प्राभृतानि । कथितं च यथा
वादिष्टम् । तेनाप्यासनाशनताम्बूलादिना यथार्हं प्रतिपत्त्या स-
मानितः । द्वितीये चाह्वपार्द्रककुमारसत्कानि प्राभृतान्यभयकुमार-
स्य समर्पितानि, कथितानि च तत्प्रीत्युत्पादकानि तत्सदिष्ट-
वचनानि । अजयकुमारेणापि परिणामिक्यनुद्धा परिणामिनम्-
नूनमसौ जयः । समासन्नमुक्तिगमनश्च, तेन मया सार्द्धं प्रीति-
मिच्छतीति । तदिदमत्र प्राप्तकालम्-यदादिनोर्ध्वकरप्रतिकरप्र-
निमासं दर्शनेन तस्यानुग्रहः क्रियते, इति मत्वा तथैव कृतम् ।
महार्हाणि च प्रेषितानि प्राभृतानीति । उक्तञ्च महत्तम-यथा-
मत्प्रदितप्राभृतमेतदेकान्ते निरूपणीयम् । तेनापि तथैव प्रति-
पन्नम् । गनश्चासावार्द्रकपुरम् । समर्पितं च प्राभृतं राज्ञः, द्विती-
ये चाह्वपार्द्रककुमारस्येति । कथितं च यथासांदिष्टम् । तेनाप्ये-
कान्ते स्थित्वा निरूपिता प्रतिमा । तां च निरूपयत ऊहाऽ-
पोदविमर्शनेन समुत्पन्नं जातिस्मरणम् । त्रिनिमित्तं च तेन-यथा-
ममभयकुमारेण महानुपकारोऽकारि स चर्मप्रतिषोध्यत इति । त-
तोऽसावार्द्रकः संजातजातिस्मरणोऽचिन्तयत्-यस्य मम देवलो-
कमोगैर्यथेष्टित स पद्यमानैस्तृप्तिर्नाञ्जस्यामीभिस्तुच्छैर्मानुषै-
स्वल्पकाङ्क्षानैः काममोगैस्तृप्तिर्नानिष्यतीति कुतस्त्यम् ? । इत्येत-
त्परिगणय्य निर्दिष्टकाममोगो यथोचितनोगमकुर्वन् राज्ञा सजा-
तभयेन मा क्वचिद्यादादित्यतः पञ्चभिः शतैः राजपुत्राणां रक्षयि-
तुमारेणै । आर्द्रककुमारोऽप्यश्ववादनिकया विनिर्गतः, प्रधाना-
श्वेन प्रपलायितः । ततश्च प्रव्रज्यां गृह्णन् देवनया सोपसर्गं जव-
तोऽद्यापि भाणित्वा निवारितोऽप्यसावार्द्रको राज्यं तावन्न क-
रोति स्म । कोऽन्यो मां विदाय प्रव्रज्यां प्रहृष्यतीत्यजिसधा यः तां
देवतामवगणय्य प्रव्रजितः । विहरन्न्यदाऽन्यतरप्रतिमाप्रातिपन्न-
कायोत्सर्गन्यवस्थितो वसन्तपुरे तया देवलोकाच्चयुतया श्रेष्ठि-
कुत्रे परदारिकामध्यगतया 'आरमत्येष मम भर्ता' इत्येवमुक्ते स-
त्यन्तरमेव तत्सन्निहितदेवतयाऽर्द्धत्रयोदशकोटिपरिमाणं 'शो-
भनं व्रतमनयेति' भाणित्वा हिरण्यवृष्टिमुक्ता । तां च हिरण्यवृष्टिं
गजा गृह्णन् देवनया सर्पाद्युत्थानतो विधृतः । अभिहितं च तया-
यथैतद् हिरण्यं जातमस्या दारिकाया, नान्यस्य कस्यचिदित्य-
तस्तत्पित्रा सर्वं सगोपितम् । आर्द्रककुमारोऽप्यनुकूलोपसर्गं इति
मत्वाऽश्वेनान्यत्र गतः । गच्छति च काले दारिकाया वरकाः समा-
गच्छन्ति स्म । पृष्टौ च पिनरौ तया-किमेवामागमनप्रयोजनम् ? । क-
थितं च ताज्याम्-यथैने तव वरका इति । ततस्तथोक्तम्-नात ।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते नानेकशः, दत्ता चाहं तस्मै यत्नबन्धि हि-
रण्यं जातं प्रव्रजिर्गृहीतम् । ततः सा पित्राऽज्ञाणि-र्कित्वा तं जानी-

वे?। तयोक्तम्-तत्पादगताजिज्ञानदर्शनतो जानामीति । तदेवमसौ तत्परिज्ञानार्थं सर्वस्य भिक्षार्थिनो जिज्ञां दापयितुं निरूपिता । ततो द्वादशजिर्वर्षगैः कदाचिद्वासां प्रवितव्यतानियोगेन तत्रैव विहरन्समायात , प्रत्यभिज्ञातश्च नया तत्पादचिह्नदर्शनत । ततोऽसौ क्षारिका सपरिवारा तत्पृष्ठो जगाम । आर्क्षककुमारोऽपि देवनाचचन स्मरंस्तथाविधकर्मोदयादवश्यं प्रवितव्यतानियोगेन च प्रतिभन्नस्तया सार्द्धं ह्यनक्ति स्म प्रोगान् । पुत्रश्चोत्पन्नः । पुनरार्क्षककुमारेणासावभिहिता-सांप्रत ने पुत्रो द्वितीयः, अहं स्वकार्यमनुतिष्ठामि । तथा सुतव्युत्पादनार्थं कार्पासकसंनमारब्धम् । पृष्ठा चासौ बालकेन-किमम्भ ' एतद्भवत्या प्रारब्धमितरत्ननाचरितम् ? । ततोऽसावबोचद्-यथा तव पिता प्रधजितुकाम , त्वं चाद्यापि शिशुरसमर्थोऽर्थार्जने , ततोऽहमनाया स्त्रीजनोचितेनानिन्देन विधिनाऽऽत्मानं प्रचन्त च किल पादयिष्यामीत्येतदाद्योच्येदमारब्धमिति । तेनापि घ्रातकेनोत्पन्नप्रतिभया तत्कर्तितसूत्रेणैव 'कायं मद्बद्धो यास्यतीति' तन्मनोऽनुकूलभाषिणोपविष्ट एवासौ पिता परिवेष्टित । तेनापि चिन्तितम् याचन्तोऽमी बालककृतवेष्टनतन्तवस्तावन्त्येव वर्षाणि मया गृहे स्थातव्यमिति । निरूपिताश्च तन्तवो यावद्वादश तावन्त्येव वर्षाण्यसौ गृहवासे व्यवस्थित । पूर्णपुद्गादशसु सवत्सरेषु गृहाभिर्गत , प्रव्रजितश्चेति । ततोऽसौ सुत्रार्थनिष्पन्न एकाकिविहारेण विहरन् राजगृहाभिमुखं प्रस्थितः । तदन्तराले च तद्रक्षणार्थं यानि प्राक् पित्रा निरूपितानि पञ्च राजपुत्रशतानि, तस्मिन्नश्वे नष्टे राजभयाद्वैलक्ष्याच्च न राजान्तिकं जग्मु । तत्राटवीदुर्गेण चौर्येण धृष्टिं कल्पितवन्त । तैश्चासौ दृष्ट्वा प्रत्यभिज्ञातश्च । ते च तेन पृष्ठा-किमिति प्रवद्विरेवव्रत कर्माश्रितम् ? तैश्च सर्वे राजभयादिकं कथितम् । आर्क्षककुमारवचनाच्च सवुक्ताः प्रव्रजिताश्च । तथा राजगृहनगरप्रवेशे गोशालको, हस्तिनापसा, ब्राह्मणाश्च वादे पराजिताः । तथाऽर्क्षककुमारदर्शनादेव हस्ती बन्धनाद्धिमुक्ताः । ते च हस्तिनापसादय आर्क्षककुमारधर्मकथाकिता जिनवीरसमचसरणे निष्क्रान्ता । राज्ञा च विदिनवृत्तान्नेन महाकुतूहलापूरितहृदयेन पृष्ट-भगवन् । कथं त्वद्दर्शनतो हस्ती निरर्गलः सवृत्तः ? , इति महान् जगवत प्रभाव इति । एवमभिहित स-आर्क्षककुमारोऽब्रवीन्नयमगाथयोत्तरम्-

ए दुक्कर वारणपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणम्मि राय ! ।

जहा उ तत्यावलिण तलुणा, सुदुकरं मे पमिहाड मोयण । १७।

(ण डुक्करमित्यादि) न डुक्करमेतन्नरपाशैर्बन्धमत्तत्वारणस्य वि-
मोचन वने, राजन् । एतन्नु मे प्रतिभानि डुक्करम्-यश्च तत्रावलि-
तेन तन्नुना बध्नुष्य मम प्रतिमोचनमिति । स्नेहतन्त्रो हि जन्तू-
नां डुरुच्छेदा भवन्तीति भावः । गतमार्द्रककथानकम् । छति
दर्शित समासतो निर्युक्तिकृताऽऽर्द्रककथानकम् । अथ तदेव
सुत्रकृद् व्यासेन दर्शयन्नाह—

(२) यथा च गोशालकेन सार्वं घादोऽनूद्दार्धिककुमारस्य
तथाऽनेनाध्ययनेनोपदिश्यते—

पुरा कर्म अह ! इम सुणेह-

मेगंत्तयारी समणें पुराऽऽसी ।

से भिक्षुणो उवणेतता अण्णगे,

आइक्खाति एहं पुढो वित्थरेण ॥ १ ॥

सा जीवियां पट्टविताऽथिरेणं ,

सज्ञागओ गणओ निक्खुमज्जे ।

आइक्खमाणो बहुज्जन्मत्थं ,

न सधयाती अवरेण पुवं ॥ २ ॥

त च राजपुत्रकमार्ककुमार प्रत्येकबुद्ध भगवत्सर्मापमागच्छन्त गोशालकोऽवतीत-यथा हे आर्द्रक । यद्दह ब्रवीमि तच्छृणु । पुरा प्रव, यदनेन जवत्तीर्थकृता कृत तद्धेदमिति दर्शयति-एकान्ते जनरहिने प्रदेशे चरितु शीलमस्येत्येकान्तचारी, तथा आस्यतीति श्रमण, पुराऽऽनीतपञ्चरणोद्युक्त, सांप्रत तृप्तेन पञ्चरणविशेषैर्निर्मित्सिनो मां विहाय देवादिमध्यगतोऽसौ धर्म किल कथयति, तथा भिक्षुन् बहुनुपनीय प्रवृत्तशिष्यपरिकर कृत्वा भवद्विधाना मुग्धजनानामिदानीं पृथक् पृथक्, विस्तरेणाच्छेधर्ममिति शेषः ॥ १५ पुनरपि गोशालक एव 'सा जीविया' इत्याद्याह-येय बहुजनमध्यगतेन धर्मदेशना युष्मद्गुणाऽऽरब्धा सा जीविका प्रकर्षेण स्थापिता प्रस्थापिता, एकाकी विहरन् बौक्तिकैः परिचूयत इति मत्वा श्लोकपङ्क्तिनिमित्तं महान् परिकर कृतः । तथा चोच्यते- " छत्रं गच्छ पात्रं, वस्त्रं यष्टिं च चर्चयति जिह्व । चेणेण परिकरेण च, कियताऽपि विना न जिह्वाऽपि " ॥१॥ नदनेन दम्भप्रदानेन जीविकार्थमिदमारब्धम् । किंचूतेन?, अस्थिरेण, पूर्वं ह्यय मया सार्कमेकाग्र्यन्तप्रान्ताशनेन शून्यारामदेवकुलादौ वृत्ति कल्पितवान् ; नच तथाभूतमनुष्ठान सिकताकवयवभिगस्वाह यावज्जीव कर्तुं लभ, अतो मा विहायाय बहून् शिष्यान् प्रनार्थैवभूतेन स्फुटाटोपेन विहरतीत्यत कर्त्तव्येऽस्तिरक्षपल, पूर्वचर्यापरित्यागेनापरकल्पसमाभयात् । एतदेव दर्शयति-सभायां गतः सदेवमनुजपर्यदि व्यचस्थितो (गणओ नि) गणशो बहुश, अनेकश इति यावत् । भिक्षूणां मध्ये गतो व्यवस्थितः, आचक्राणो बहुजनेभ्यो हिनो बहुजन्योऽर्थस्तमर्थं बहुजनहितं कथयन् विहरति । एतच्चास्यानुष्ठानपूर्वापरेण न सधत्ते । तथाहि-यदि सांप्रतीय वृत्त प्रकारत्रय सिंहासनाशोकवृक्षनामएकलचामरादिक मोक्षाङ्गमभविष्यत्ततो या प्राक्तन्येकचर्या क्लेशबहुला तथा कृता सा क्लशाय केवलमस्येति, अथ कर्मनिर्जेरणहेतुका परमार्थचूता तत साम्प्रतावस्था परप्रनारकत्वाद् दम्भकल्पेत्यत पूर्वोत्तरयोरनुष्ठानयोर्मौनव्रतिकधर्मदेशनारूपयोः परस्परतो विरोध इति ॥ २ ॥

अपि च—

एगंतमेवं अट्ठवा वि ङ्गिह,

दोवग्गमन्नं न समेति जम्हा ।

(एगतमित्यादि) यद्येकान्तचारित्रमेव शोभन, पूर्वमाश्रितत्वात्त सर्वदाऽन्यनिरपेक्षैस्तदेव कर्त्तव्यम् । अथ चेद् साम्प्रत महा-परिवारवृत्त साधु मन्यते, नतस्तत्रेवादावप्याचरणीयमासीत् । अपि च-हे अप्येते गयाऽऽतपवदत्यन्तविरोधनी वृत्ते नैकत्र समवाय गच्छतः । तथाहि-यदि मौनेन धर्मस्तत किमियं महता प्रश्न्येन धर्मदेशना ? अथ नैव धर्मस्ततः किमिति पूर्वं मौनव्रतमाललाप ? । यस्मादेव तस्मात्पूर्वोत्तरव्याहति ।

(३) तदेवं गोशालकेन पर्यनुयुक्त आर्ककुमारः श्लोकपञ्चार्कनोत्तरदानायाह—

पुंवि च ङ्गि च अणगतं वा,

एगंतमेवं पमिसधयाति ॥ ३ ॥

(पुंवि चेत्यादि) पूर्वं पूर्वस्मिन्काले, यन्मौनव्रतिकत्व, या चैकचर्या, तच्छब्दस्थत्वाद् घातिकर्मचतुष्टयक्यार्थम् । सांप्रत यन्महाजनपरिवृतस्य धर्मदेशनाविधान, तत् प्राग्वद्भवोपप्रादिकर्मचतुष्टयकृपणोद्यतस्य विशेषतस्तीर्थकरनाम्नो वेदनार्थम्, अपरासां चाश्चिर्गोत्रशुभायुर्नामादीनां शुभप्रकृतानामिति । यदि वा पूर्वं साम्प्रतमनागते च काले रागद्वेषरहितत्वादेकत्वज्ञावनाऽनतिक्रमणाच्चैकत्वमेवानुपचरितं भगवानशयजनहित धर्म कथयन् प्रतिसदधानि । न तस्य पूर्वोत्तरयोरवस्थयोरशशराहितत्वाद्देवोऽस्ति, अतो यदुच्यते भयना पूर्वोत्तरयोरवस्थयोरसाङ्गत्य, तत् प्लयन इति ॥ ३ ॥

एतद्धर्मदेशनया प्राणिना कश्चिदुपकारो

भवत्युत नेति ? , भवतीत्याह—

समिच्च लोगं तसथावराणं,

खेमकर समणे माहणे वा ।

आइक्खमाणो वि सहस्समज्जे,

एगंतयं सारयती तहच्चे ॥ ४ ॥

सम्यग्वाचस्थित लोक पद्व्यव्यात्मक मत्वाऽवगम्य केवहा-श्लोकेन परिच्छिद्य, त्रस्यन्तीति त्रसास्त्रसनामकर्मोदयात्, द्वीन्द्रियादय, तथा तिष्ठन्तीति स्थावरा-स्थावरनामकर्मोदयात्, स्थावराः पृथिव्यादय, नेषामुभयेषामपि जन्तूनां, केम शान्ति-रक्ता, तत्कर-णशील-केमकर । आस्यतीति श्रमण-छादशप्रकारतपोनिष्ठ-देव । तथा- ' मा हण ' इति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहन्, ब्राह्मणो-वा, स एवभूतो निर्ममो रागद्वेषरहितः, प्राणिहितार्थं न लाभपूजाख्यात्यर्थं धर्ममाचक्ष्णाणोऽपि, प्राग्वत् क्षुद्रावस्थायां मौनव्रतिक इव वाक्सयन उत्पन्नदिव्यज्ञानत्वान्नाशागुण-दोषविवेकज्ञतया भाषणेनैव गुणावाते, अनुत्पन्नदिव्यज्ञानस्य तु मौनव्रतिकत्वेनेति । तथा-देवासुरनरनिर्यक्सहस्रमध्येऽपि व्यवस्थितः, पङ्काधारपङ्कजवत, तद्दोषव्यासङ्गाभावात् । ममत्ववि-रहादाशंसादोषविकलत्वादेकान्तमेवासौ सारयति-प्रस्थाति नयति, साधयतीति यावत् । ननु चैकाकिपरिकरोपेतावस्थारस्ति विशेषः, प्रत्यक्षैरौषोपलभ्यमानत्वात् । सत्यमस्ति । विशेषो बाह्यतो, नत्वान्तरतोऽपीति दर्शयति-तथा प्राग्वत्, अर्चां लेख्या शुक्लध्यानाख्या यस्य स तथार्चः । यदि वाऽर्चा शरीर, तच्च प्राग्व-द्यस्य स तथार्च । तथाहि-असावशोकाद्यष्टप्रातिहार्योपेतोऽपि नो-त्सेकं याति, नापि शरीर संस्कारायत्त विदधाति । स हि भगवा-नात्यन्तिकरागद्वेषप्रहाणादेकाग्र्यपि जनपरिवृतो, जनपरिवृ-तोऽप्येकाकी, न तस्य तयोरवस्थयोः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । तथा चो-क्तम्- " रागद्वेषौ विनिर्जित्य, किमरणये करिष्यसि ? अथ नो नि-र्जनावेतौ, किमरणये करिष्यसि ? " ॥१॥ इत्यतो बाह्यतन गम-नान्तरमेव कषायजयादिक प्रधान कारणमिति स्थितम् ॥४॥

(४) अपगतारागद्वेषस्य प्रभाषमाणस्यापि दोषाभाव

दर्शयितुमाह—

धम्मं कइतस्म उ णत्थि दोसा,

खंतस्स दंतस्स जित्तिदिपस्स ।

भासाय दोसे य विवज्जगस्स,

गुणे य भामाय णिसेवगस्स ॥ ५ ॥

तस्य भगवतोऽपगतधनघातिकलङ्कस्योत्पन्नसकलपदार्था-

विर्भावज्ञानस्य जगदभ्युदयरूपवृत्तस्यैकान्तपरहितप्रवृत्तस्य
स्वकार्यनिरपेक्षस्य धर्मं कथयतोऽपि, तु शब्दस्य अपिशब्दार्थत्वा-
त्, नास्ति कश्चिदोषः । किंभूतस्य ? इत्याह- क्षान्तिसपन्नस्य, अनेन
क्रोधनिरासमाह । तथा दान्तस्योपशान्तस्य, अनेन मानव्युदा-
समाह । तथा-जितानि स्वविषयप्रवृत्तिनिषेधेनेन्द्रियाणि येन
स जिनेन्द्रिय, अनेन तु लोभनिरासमाचष्टे । मायायास्तु लोभ-
निरासादेव निरासो दृष्टव्यः, तन्मूलत्वात्तस्याः । भाषादोषा -
असत्यसत्यामृतकर्मकाशाऽसभ्यशब्दोच्चारणादयः ; तद्विवर्जकस्य
तत्परिहर्तुः । तथा-भाषाया ये गुणा-हितमितदेशकालासदि-
ग्धभाषणादयः । तन्निषेधकस्य सतो भुवतोऽपि नास्ति दोषः ।
असत्यस्य हि बाहुल्येन मौनवतमेव भवेत्, समुत्पन्नकेवलस्य तु
भाषणमपि गुणायेति ॥ ५ ॥

किंभूत धर्ममसौ कथयति ? इत्याह-

महन्वए पंच अणुव्वए य,

तदेव पचासव संवरे य ।

विरतिं इह सामणियम्मि पजे,

लवावसप्पी समणे त्ति वेमि ॥ ६ ॥

महान्ति च तानि मतानि प्राणातिपातविरमणादीनि, तानि च
साधूनां प्रज्ञापितवान् पञ्चापि । तदपेक्षयाऽणुनि लघूनि मतानि
पञ्चैव, तानि श्रावकानुद्दिश्य प्रज्ञापितवान् । तथैव पञ्चाभवान्
प्राणातिपातादिरूपान् कर्मणः प्रवेशद्वारभूतान् ; तत्सवर च स-
प्तदशप्रकारं सयम प्रतिपादितवान् । सवरवतो हि विरतिर्भव-
त्यतो विरतिं च प्रतिपादितवान् । चशब्दात्तत्फलभूतौ निर्जराभो-
क्तौ च । इहास्मिन् प्रवचने, लोके वा, भ्रमणस्य नाव भ्रमण्य-स-
पूर्ण संयम, नस्मिन् वा विधेये मूलगुणान् महावताणुव्वतरूपान्,
तथा-उत्तरगुणान् महावताणुव्वतरूपान्, कृत्स्ने सयमे विधानव्ये ।
प्राज्ञ इति क्वचित्पाठः । प्रज्ञाने तत्प्रतिपादितवानिति । किञ्चूता-
ऽसौ ? त्वं कर्म, तस्मात् (अवसप्पी ति) अवसर्पणशीलोऽवस-
र्पी, भ्रम्यतीति भ्रमण तपश्चरणयुक्त, इत्येतद्दहं ब्रवीमि । स्वय-
मेव च भगवान्पञ्चमहावतोपपन्न इन्द्रियनोऽन्द्रियगुप्तो विरत-
श्चासौ लवावसर्पी सन् स्वतोऽन्येषामपि तथानूतमुपदेश दत्त-
वान्, इत्येतद् ब्रवीमि । यदि वाऽऽककुमारवचनमाकर्ण्यो-
ऽसौ गोशालकस्तत्प्रतिपक्कृत धक्तुकाम इदमाह-इत्येतद्दृश्य-
माद्य ददहं ब्रवीमि तन्वृणु त्वम्, इति ॥ ६ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेवाह गोशालकः-

सीओदगं मेवञ् वीयकायं,

आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।

एगतचारिस्सिह अम्ह धम्मे,

तवस्सिणो णाजिसमेति पावं ॥ ७ ॥

भवतेदमुद्ग्राहितम्-परार्थं प्रवृत्तस्याशोकादिप्रातिहार्यपरि-
ग्रहः, तथा शिक्षादिपरिकरो, धर्मदेशना च, न बोधायोति यथा,
तथाऽस्माकमपि सिद्धान्ते यदेतद्दृश्यमाण, तन्न दोषायेति ।
शीतं च तद्गदकं च शीतोदकमप्राशुकोदकम् ; तत्सेवन परि-
भोगं करोतु, तथा-बीजकायोपजोगम्, आधाकर्माभ्ययण, स्त्रीप्र-
सङ्गं च विदधातु, अनेन च स्वपरोपकारं कृतो जवतीति ।
अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्य एकान्तचारिण आरामोद्यानादि-
भेकाकिविहागेद्यनस्य तपस्विनो नाभिसमेति-नाभिसन्धु-

पयाति, पापमशुभकर्मोति । इदमुक्तं जवति-एतानि शीतोदकादी-
नि यद्यपीपत्कर्मबन्धाय, तथापि धर्माधार शरीरं प्रतिपादयत
एकान्तचारिणस्तपस्विनो बन्धाय न भवन्तीति ॥ ७ ॥

(५) बीजाद्युपभोगिनो न भ्रमणव्यपदेशभाजः-

सीतोदगं वा तह वीयकायं,

आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।

एयाई जाण पडिमेवमाणा,

अगारिणो अस्समणा भवंति ॥ ८ ॥

एतत्परिहर्तुकाम आह-एतानि प्रागुपन्यस्तानि अप्राशुकोद-
कपरिभोगादीनि प्रतिसेवन्तोऽगारिणा गृहस्थास्ते भवन्त्यभ्र-
मणाश्चाप्रवृत्तिताश्चैव जानीहि । यतः-“ अहिंसा सत्यमस्ते-
यं, अहंकार्यमलुब्धता ” इत्येतच्छ्रमणव्रतत्रयं तेषां शीतोदक-
बीजाधाकर्मस्त्रीपरिभोगवतां नास्तीत्यतस्ते नामाकारान्ध्यां
भ्रमणा, न परमार्थानुष्ठानत इति ॥ ८ ॥

पुनरप्याद्रक एवैतद्गृहस्थायाह-

सिया य बीओदगइत्थियाओ,

पमिसेवमाणा समणा भवंतु ।

अगारिणो वि य समणा जवंतु,

सेवंति ऊते वि तहप्पगारं ॥ ९ ॥

स्यादेतच्छ्रवणीयं मत, यथा ते एकान्तचारिण क्षुत्पिपासादिप्र-
धानतपश्चरणपीकितान् तत्कथंते न तपस्विनः ? इत्येतदाश-
ङ्क्ययाऽऽद्रकं आह-(बीमादगं ति) यदि बीजाद्युपभोगिनो-
ऽपि भ्रमणा इत्येव जवताऽभ्युपगम्यते, एव तर्ह्यगारिणोऽपि
गृहस्थाः भ्रमणा भवन्तु, तेषामपि देशिकावस्थायामाशस्तावता-
मपि निष्किञ्चनतयैकाकिविहारित्वं, क्षुत्पिपासादिपीमनं च
सभाव्यते । अत आह-(सेवति ऊ) तुरवधारणे, सेवन्त्येव, ते-
ऽपि गृहस्थाः । तथाप्रकारमेकाकिविहारिदिकमिति ॥ ९ ॥

पुनरप्याद्रको बीजोदकादिभोजिना दोषान्निधित्सयाऽऽह-

जे यावि बीओदगजोत्ति निक्खु,

भिवखं वि हिंढंति य जीवियङ्गी ।

ते णातिसंजोगमविप्पहाय,

कायोवगाऽणंतकरा भवंति ॥ १० ॥

ये चापि भिक्षवः प्रवृत्तिता, बीजोदकभोजिन सन्तो दृश्यतोऽभ्र-
चारिणोऽपि भिक्षा वाऽटन्ति जीवितार्थिनः, ते तथाज्ञता, क्रातिस
योग स्वजनसन्ध, विप्रहाय त्यक्त्वा कायात्कायेषु चोपगच्छ-
न्तीति कायोपगा, तद्गुणमईकारम्भप्रवृत्तत्वात्, ससारस्यानन्त-
करा भवन्तीति । इदमुक्तं भवति-केवलं स्त्रीपरिभोग एव तैः परि-
त्यक्तोऽसावपि दृश्यतः । शेषेण तु बीजोदकाद्युपभोगेन गृहस्थ-
कटपा एव ते । यत्तु जिक्राऽदनादिकमुपन्यस्त तेषां, तद् गृह-
स्थानामपि केषांचित्सभाव्यते, नैतावता भ्रमणभाज इति ॥ १० ॥

अधुनैतदाकर्ण्य गोशालकोऽपरमुत्तरं दातुमसमर्थोऽन्यतीर्थि-
कान्सहायान् विधाय सोल्लुएवमसारं वक्तुकाम आह-

इमं वयं तुं तुम पाउकुव्वं,

पानाइणो गरिहसि सव्व एव ।

पावाङ्गो पुढो किट्टयता,
सयं सयं दिट्ठि करंति पाज ॥ ११ ॥

इमां पूर्वोक्ता, वाचम । तुशब्दो विशेषणार्थः, त्व प्रादुर्भूत-
प्रकाशयन्, सर्वानपि प्रावादुकान्, गर्हासि जुगुप्ससे, यस्मात्सर्वेऽ-
पि तीर्थिका बीजोदकादिभोजिनोऽपि ससारोच्छिन्नये प्रवर्तन्ते,
ते तु भवता नाज्युपगम्यन्ते । त्रे तु प्रावादुका. पृथक् २ स्त्रीया
स्त्रीयां दृष्टिं प्रत्येक स्वदर्शन कीर्तयन्त, प्रादुर्भूवन्ति प्रकाश-
यन्ति । यदि वा श्लोकपञ्चाङ्गमार्द्रककुमार आद्-सर्वे प्रावादुका य-
थावस्थित स्वदर्शनं प्रादुर्भूवन्ति, तत्प्रामाण्याच्च वयमपि स्वद-
र्शनाविर्भावनं कुर्मः । तद्यथा-अप्राशुक्येन बीजोदकादिपरिभोजि-
न कर्मवन्त्र एव केवल, न ससारोच्छेद इतीदमस्मदीय दर्शनम् ।
एव व्यवस्थिते काऽय परनिन्दाः, को वाऽऽत्मेत्कर्षः ? इति ॥ ११ ॥

किञ्च—

ते अन्नमन्नस्स विगरहमाणा,
अकखंति उ समणा माहणा य ।
सतो य अत्थी असतो य एत्थी,
गरहाम दिट्ठि ण गरहाम किञ्चि ॥ १२ ॥

ते प्रावादुका, अन्योन्यस्य परस्परं तु, स्वदर्शनप्रतिष्ठाऽऽशया पर-
दर्शनं गर्हमाणा स्वदर्शनगुणानाचक्रते । तुशब्दात्परस्परतो व्या-
हतमनुष्ठानं चानुतिष्ठन्ति । ते च भ्रमणा निर्भ्रम्यादयो, ब्राह्मणा द्वि-
जातयः, सर्वेऽप्येते स्वकं पक्कं समर्थयन्ति, परकीयं च दूषयन्ति ।
तदेव पञ्चाङ्गेन दर्शयति- (सतो सि) स्वत इति स्वकीये पक्के
स्वाज्युपगमेऽस्ति पुण्य, तत्कार्यं च स्वर्गापवर्गादिकमस्ति । अस्व-
त पराज्युपगमाच्च नास्ति पुण्यादिकमित्येव सर्वेऽपि तीर्थिकाः
परस्परव्याघातेन प्रवृत्ताः ; अतो वयमपि यथावस्थिततत्त्वप्रकृ-
णतो युक्तिविकलत्वादेकान्तदृष्टिं गर्हामो जुगुप्साम, न ह्यसावे-
कान्तो यथावस्थिततत्त्वाविर्भावको भवतीत्येव व्यवस्थिते त-
त्त्वस्वरूप वयमाचक्रामा न किञ्चिन्नर्हामः, काणकुण्ठोदघट्टनादि-
प्रकारेण केवलं स्वपरस्वरूपाविर्भावनं कुर्मः, न च वस्तुस्वरूपा-
विर्भावने परापवादः । तथा चोक्तम्—

“ नेत्रैर्निरीक्ष्य विवर्तकएट्ककोटसर्पान्,
सम्यक् पथा ब्रजत तात्परिदृश्य सर्वान् ।
कुङ्कानकुश्रुतिकुमार्गकुट्टिदोषान्,
सम्यग्विचारयति कोऽत्र परापवादः ? ” ॥ १ ॥ इत्यादि ।

यदि चैकान्तवादिनामेवास्त्येव नास्त्येव वाऽभ्युपगमकतामय प-
रस्परगर्हाण्यो दोषो नास्माकमनेकान्तवादिनां, सर्वस्यापि
सदादे कथञ्चिदभ्युपगमात् । एतदेव श्लोकपञ्चाङ्गेन दर्श-
यति- (स्वत इति) स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्ति । तथा- (परत
इति) परद्रव्यादिभिर्नास्त्येव पराभ्युपगमं दूषयन्तो गर्हा-
मोऽन्यानेकान्तवादिनः । तत्स्वरूपनिरूपणतस्तु रागद्वेषवि-
रहाश्च किञ्चिन्नर्हाम इति स्थितम् ॥ १२ ॥

एतदेव स्पष्टतरमाह—

ए किञ्चि रुवेणऽनिधारयामो,
सदिट्ठिगमं तु करेमि पाजं ।
मग्गे इमे किट्ठिं आरिण्हिं,
अणुत्तरे सप्पुरिमेहिं अंजू ॥ १३ ॥

न कञ्चन भ्रमण, ब्राह्मण वा, स्वरूपेण जुगुप्सिताङ्गावयवो-

दघट्टनेन जात्या तस्मिन्प्रहणोदघट्टनेन वाऽभिधारयामो गर्ह-
णादुच्छेदोदघट्टयामः, केवलं स्वदृष्टिमार्गं तदभ्युपगत दर्शनं
प्रादुर्भूतम् प्रकाशयामः । तद्यथा—

“ ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दंशि सरुग् व्यालुप्तशिभो हरः,
सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुषसोमः कलङ्काङ्कितः ।
स्वर्नाथोऽपि विसस्थलः खलु धपुःसस्यैरुपस्थैः कृतः,
सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि ” ॥ १ ॥

इत्यादि । एतच्च तैरेव स्वागमे पठ्यते, वयं तु भ्रोतार केव-
लमिति । आर्द्रककुमार एव परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षसाध-
नार्थं श्लोकपञ्चाङ्गेनाह- (मग्गे सि) अयं मार्गं पन्थाः सम्य-
ग्दर्शनादिक कीर्तितो व्यावर्णितः । कैः ? आर्यैः, सर्वैरस्त्या-
द्यधर्मदूरवर्तिभिः । किंभूतो धर्मः ? नास्मादुत्तरः प्रधानो वि-
द्यत इत्यनुत्तरः, पूर्वापरव्याहतत्वाद्, यथावस्थितजीवादिप-
दार्थस्वरूपनिरूपणाच्च । किंभूतैरार्यैः ? सन्तश्च ते पुरुषाश्च
सत्पुरुषास्तैश्चतुर्भिश्चदतिशयोपेतैराविर्भूतसमस्तपदार्थावि-
र्भावकदिव्यङ्ग्यैः । किंभूतो मार्गः ? अञ्जु व्यक्त-निर्दोषत्वा-
त्मकः, अञ्जुर्वा; वक्रैकान्तपरित्यागादकुटिल इति ॥ १३ ॥

पुनरपि स्वसद्धर्मस्वरूपनिरूपणायाऽऽह—

उहं अहेवं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
ज्याहिसंकाजिदुगुंळमाणा,
णो गरहती बुसिमं किञ्चि लोए ॥ १४ ॥

उर्ध्वमधस्तिर्यद्वेवं सर्वोऽपि दिक्षु प्रकारापेक्षया, भाववि-
गपेक्षया वा, तासु ये असा, ये च स्थावराः प्राणिनः । अश्व्यौ
स्वगतानेकमेदसंख्यकौ । भूत सद्भूत नश्य, तन्नामिशङ्कया
तथ्यनिर्णयेन प्राणातिपातादिकं पातकं जुगुप्समानो गर्हमाणः,
यदि वा भूतामिशङ्कया सर्वसावधमनुष्ठानं जुगुप्समानो नैव प-
रलोकं कञ्चन गर्हति निन्दति (बुसिमं ति) संयमवानिति । तदेव
रागद्वेषवियुक्तस्य वस्तुस्वरूपाविर्भावने, न काचिन्नर्हति । अथ
तत्रापि गर्हा भवति, तर्हि न शृणोऽग्निः, शीतमुदकं, विषं मारणा-
त्मकमित्येवमादि किञ्चिद्वस्तुस्वरूपमाविर्भावनीयमिति ॥ १४ ॥

स एवं गोशालकमतानुसारी वैराशिको निराकृतोऽपि

पुनरन्येन प्रकारेणाऽऽह—

आगंतगारे आरामगारे,
समणे उ जीते ए जवेति वासं ।
दक्खा हु संते बह्वो मणुस्सा,
ऊणाऽतिरिचा य लवाऽहवा य ॥ १५ ॥

स विप्रतिपन्नः सन्नार्द्रकमेवाह—योऽसौ भवत्सबन्धी तीर्थ-
करः स रागद्वेषमययुक्तः । तथाहि-असावागन्तुकानां कार्यदि-
कार्दीनामगारमागन्तागार, तथाऽऽरामेऽगारमारामागार त-
त्राऽसौ भ्रमणो भवत्तीर्थकरः । तुशब्द एवकारार्थः । भीत एवासौ
तर्पापसंनयनात्तत्रागन्तागारादौ न वासमुपैति, न तत्रासनस्था-
नशयनादिका क्रिया कुरुते । किं तत्र प्रयकारणम् ? इति चेत्त-
दाह—दक्का निपुणा प्रभूतशास्त्रविशारदाः । दुशब्दो यस्माद्-
र्थः । यस्माद्बहव सन्ति मनुष्याः, तस्मादसौ तद्भीतो न वास त-
त्र समुपैति न तत्र समानिष्ठते । किञ्चूता, न्यूना स्वतोऽवमा

होना, जात्याद्यतिरिक्ता वा, ताज्यां पराजितस्य महोष्ठायाश्च
इति । तानेव विशिनष्टि-लपन्तीति लपा वाचाज्ञा, धोपिताने-
कनर्कविचित्रदाहकाः । तथा-न लपा मौनव्रतिका निष्ठितयोगा,
गुटिकादियुक्ता वा, यद्वशादभिधेयविषया त्रागेव न प्रवर्तते । त-
तस्तद्भयेनासौ युष्मत्तीर्थकृदागन्तागारादौ नैव व्रजतीति ॥१५॥

पुनरपि गोशालक एवाऽऽह-

मेधाविणो सिक्खिय बुद्धिमता,
सुत्तेहिं अत्थेहिं य णिच्छयन्ता ।
पुच्छिसुमाणे अणगार अभे,
इति संकमाणो ए उवेति तत्थ ॥ १६ ॥

मेधा विद्यते येषां ते मेधाविनो ब्रह्मधारणसमर्थाः, तथाऽऽचा-
र्यादेः समीपे शिक्षां ग्राहिता शिक्षिता, नद्यौतपसिकयादिचतुर्वि-
धबुधुपेता बुद्धिमन्तः, तथा-सूत्रेऽपि सूत्रविषयेऽर्थं विनिश्चयज्ञाः,
यथावस्थितसूत्रार्थवेदिन इत्यर्थः । ते चैवभूताः सूत्रार्थविषय मा
प्रश्नमकार्षुः, अन्येऽनगरा एके केचन, इत्येवमसौ शङ्कमानस्तेषां
विषयं तत्र तन्मध्ये उपैत्युपगच्छतीति । ततश्च न ऋजुमार्ग
इति, भययुक्तत्वाच्चस्य । तथा-स्लेच्छविषय गत्वा न कदाचि-
रुर्मदेशनां च करोति, आर्यं देशेऽपि न सर्वत्र । अपि तु कुत्र-
चिदेवेत्यतो विषमदृष्टिवाद्वागद्वेषवर्त्यसाधिति ॥ १६ ॥

एतद् गोशालकमत परिहर्तुकाम आर्द्रक आह-

णोऽकामकिच्चा ए य बालकिच्चा,
रायाभिओगेण कुओ जएणं ? ।
वियागरेज्जा पसिणं न वा वि,
सकामकिचं णिह आरियाणं ॥ १७ ॥

स हि भगवान्प्रेक्षापूर्वकारितया नाकामकृत्यो भवति, कमन
काम इच्छा; न कामोऽकामस्तेन कृत्य कर्त्तव्यं यस्यासावकामकृ-
त्यः, स एवभूतो न भवति, अनिच्छाकारी न भवतीत्यर्थः ॥ यो ह पु-
न्रेक्षापूर्वकारितया वर्तते, सोऽनिष्टमपि स्वपरात्मनो निरर्थक-
मपि कृत्य कुर्वति । भगवांस्तु-सर्वज्ञः सर्वदर्शी परहितैकरत कथं
स्वपरात्मनो निरुपकारकमेव कुर्यात् ? । तथा च-बालस्येव कृत्य
यस्य स बालकृत्यः, न चासौ बालवदनालोचितकारी, न परानु-
रोधभापि गौरवारुर्मदेशनादिक विधत्ते । अपि तु यदि कस्यचि-
द्भयसत्त्वस्योपकाराय तद्भाषितं भवति, ततः प्रवृत्तिर्भवति, नान्य-
था । न राजाभियोगेनासौ धर्मदेशनादौ कथञ्चिन्प्रवर्तते, ततः
कुतस्तस्य प्रयेन प्रवृत्तिः स्यादित्येव व्यवस्थिते केनचित्कचित्सश-
यकृत प्रश्न व्यागृणीयाद्, यदि तस्योपकारो भवत्युपकारमन्तरेण
न च नैव व्यागृणीयाद्, यदि वाऽनुत्तरसुराणां मनः पर्यायज्ञानिनां
च छयमनसैव तन्निर्णयसमावादतो न व्यागृणीयादित्युच्यते ।
यदप्युच्यते भवता-यदि वीतरागोऽसौ किमिति धर्मकथां क-
रोतीति चेदित्याशङ्क्याह-स्वकामकृत्येन स्वेच्छाचारितयाऽसा-
वपि तीर्थकृद्भ्रामकर्मण कृपणाय न यथाकथञ्चिदतोऽसावगान,
इहास्मिन्सारे आर्यक्रेत्रे चोपकारयोग्ये आर्याणां हि सर्वदेय-
धर्मदूरवीक्षणां तदुपकाराय धर्मदेशनां व्यागृणीयादसाविति ।

किञ्चाऽन्यत्-

गंता च तत्था अदुवा अगंता,
वियागरेज्जा समियाऽऽसुपन्ने ।
१३ए

अणारिया दंसणओ परिचा,

इति संकमाणा ए उवेति तत्थ ॥ १८ ॥

स हि भगवान् परहितैकरतो गत्वाऽपि विनेयासधम, अथवा-
ऽप्यगत्वा यथा भव्यसत्त्वोपकारो भवति तथा भगवान् सोऽहन्तो
धर्मदेशनां विदधति । उपकारे सति गत्वाऽपि कथयन्ति, असति
तु स्थिता अपि न कथयन्ति । अतो न तेषां रागद्वेषसंज्ञ इति ।
केवलमाशुप्रज्ञः सर्वज्ञः समनया समदृष्टितया चक्रवर्त्तिद्रमका-
दिषु पृष्टे वा धर्मे व्यागृणीयात्, "जहा पुष्पस्स कथं तहा
तुच्छस्स कथं" इति वचनात् । इत्यतो न रागद्वेषसंज्ञावस्तस्ये-
ति । यत्पुनर्गनार्यदेशमसौ न व्रजति तत्रेदमाह-भानार्थाः क्रेत्रभा-
पाकर्मजिर्धेहिष्कृता, दर्शनतोऽपि परि समन्तादिना गता, प्रपृष्टा
इति यावत् । तत्रेवमसौ भगवानित्येनत् तेषु सम्यग्दर्शनमात्रमपि
कथयिष्यति इत्याशङ्कमानस्तत्र न व्रजतीति । यदि वा विप-
रीतदर्शनो भवन्त्यनार्याः शक्यवनादयः, ते हि वर्गमानसु-
खमेवैकमङ्गीकृत्य प्रवर्तन्ते न पारलौकिकमङ्गीकुर्वन्त्यतः स-
कर्मपराङ्मुखेषु तेषु भगवान्न यति, न पुनस्तद्वेषादिवुद्ध्यति । य-
दप्युच्यते त्वया-यथाऽनेकशास्त्रविशारदगुटिकासिद्धविद्यासि-
द्धादितीर्थिकपराभवभयेन न तत्समाजे गच्छतीति । एतदपि बाह्य-
प्रलपितप्रायम् । यतः सर्वज्ञस्य भगवतः समस्तैरपि प्रावाङ्मू-
र्मुखमप्यवज्ञाकथितुं न शक्यते, वादस्तु दूरेतसारित एवेत्यतः
कुनस्तस्य पराभवः ? । भगवांस्तु केवलज्ञाकोऽयं यत्रैव स्वपरोपका-
रं पश्यति तत्रैव गत्वाऽपि धर्मदेशनां विधत्ते इति ॥ १८ ॥

पुनरन्येन प्रकारेण गोशालक आह-

पन्नं जहा वणिण उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेति संगं ।
तओवमे समणे नायपुत्ते, इच्चेव मे होति मत्ती वियक्को ॥ १९ ॥

यथा वणिक् कश्चिदुदयाधीं पण्य व्यवहारयोग्यं ज्ञातुं कर्तुं-
रागरुक्स्तुरिकाभ्यरादिक देशान्तरं गत्वा विक्रीणानि, तथा
आयस्य लाजस्य हेतोः कारणान्महाजनसङ्गं विधत्ते, तदुपमोऽय-
मपि भवत्तीर्थेकरः श्रमणो ज्ञातपुत्र इत्येव मे मम मतिर्भवति,
वितर्को मीमांसा वेति ॥ १९ ॥

एवमुक्तो गोशालकेनार्द्रक आह-

नवं न कुज्जा विहुणे पुराण,
चिच्चाऽमईं तईं स आह एव ।
पन्नावया वंजवत्तं ति बुत्ता,
तस्मोदयट्ठी समणे चि बेमि ॥ २० ॥

योऽयं प्रवृत्ता दृष्टान्तः प्रदर्शितः, स किं सर्वसाधर्म्येण, उत दे-
शतः ? यदि देशतस्ततो न न क्वातिमावहति । यतो वणिम्यद्
यत्रैवोपचयं पश्यति तत्रैव क्रिया व्यापारयति, न यथाकथञ्चि-
दित्येतावता साधर्म्यमस्त्येव । अथ सर्वसाधर्म्येणेति । तत्र
युज्यते । यतो भगवान् विदितवेद्यतया सावधानुष्ठानरहितो नवं
प्रत्यग्रं कर्म न कुर्यात् । तथा-विधूतयत्पनयति पुरातनं यज्ञ-
वोपप्रादिकर्म बद्धम् । तथा-त्यक्त्वा श्रमंति विमतिं, त्रायी प्रय-
वान् सर्वस्य परित्राणशीलः, विमतिपरित्यागेन चैवभूत एव प्र-
वर्ततीति भावः । तायी वा मोक्षप्रति । अय-वय-मय पय-वय-नय-
णय गतावित्यस्य रूपम् । स एव भगवानेवाऽऽह-यथा विमति-
परित्यागेन चैवभूत एव भवतीत्येतावता च सदनेन प्रणो-
मोक्षस्य, अथ प्रणयनमिन्वेतदुक्तम् । तस्मिन्धोते तदर्थं वाऽनु-

अद्भुतकुमार

छाने क्रियमाणे तस्योदयार्थं भ्रमण इति ब्रवीम्यहमिति ॥२०॥

नचैवचूता वणिज इत्येतदार्कककुमारो दर्शयितुमाह—

समारजंते वणिजा जूयगामं,

परिग्रहं चैव ममायमाणा ।

ते एतिसजोगमविष्पहाय,

आयस्स हेउ पगरंति संगं ॥ २१ ॥

ते हि वणिज, चतुर्दशप्रकारमपि जूतग्राम जन्तुसमूह, समार-
भगते तदुपमार्दिका. क्रिया प्रवर्तयन्ति, कयविक्रयार्थं शकटया-
नवाहनोष्टमण्डलिकादिभिरनुष्ठानैरिति । तथा-परिग्रहं छिपद-
चतुष्पदधनधान्यादिकं समीकुर्वन्ति ममेदमित्येव व्यवस्था-
पयन्ति । ते हि वणिजा ज्ञातार्ज स्वजनैः सह य सयोगस्तम-
विप्रदायापरिव्यज्य, आयस्य लाभस्य हेतोर्निमित्तादपरेण सार्क-
नङ्गमबन्धं प्रकुर्वन्ति । भगवास्तु परुजीवरक्षापरोऽपरिग्रहस्त्य-
क्तस्वजनपक्व. सर्वत्राप्रतिबद्धो धर्मार्थमन्वेषयन् गत्वाऽपि धर्म-
देशना विधत्ते, अतो भगवतो वणिग्भिः सार्कं न सर्वसाध-
र्म्यमस्तीति ॥२१॥

पुनरपि वणिजां दोषमुद्गावयन्नाह—

वित्तैसिणो मे, एमं पगाढा ,

ते ज्ञोयण्ठा वणिजा वयंति ।

वयं तु कामेसु अज्जोववन्ना ,

अणारिया पेपरमेसु गिच्छे ॥ २२ ॥

वित्तं द्रव्यं तदन्वेष्टुं शीघ्रं येषां ते वित्तैषिणः । तथा-मैथुने स्त्री-
सपक्वैः, सप्रगाढा अच्युपपन्ना । तथा-ते भोजनार्थमाहारार्थं, व-
णिज इत्येतद्वचनं प्रजन्ति, वदन्ति वा । तास्तु वणिजा वयमेव भूम-
यथैते कामेभ्योपपन्ना गृह्णा, अनार्यकर्मकारित्वादनार्या रसेषु
च सातानौरवादिषु गृह्णा मूर्च्छिता, नत्वेवभूता भगवन्तोऽहं-
न्ति, कथं तेषां तैः सह साधर्म्यमिति ? दूरत एव निरस्तैषां
कथेति ॥ २२ ॥

किञ्चान्यत्—

आरंभगं चैव परिग्रहं च ,

अविउस्मिया णिस्सिय आयदंढा ।

तेसिं च से उदए ज वयासी ,

चउरंतऽणंताय उहाय एह ॥ २३ ॥

आरम्भं सावधानुष्ठानं च, तथा-परिग्रहं चाऽन्युत्सृज्यापरित्यज्य,
नस्मिन्नेवारम्भे कयविक्रयपचनपाचनादिके, तथा-परिग्रहे च
धनधान्यद्विरण्यसुवर्णद्विपदचतुष्पदादिके, निश्चयेन श्रिता बद्धा
नि श्रिताः, वणिजा भवन्ति, तथाऽऽत्मैव दण्डो, दण्डयतीति
ब्रह्मो, येषां ते जगन्त्यात्मदण्डा, असदाचारप्रवृत्तेरिति । जावो-
ऽपि चैषां वणिजां परिग्रहारम्भवता स उदयो लाभो यदर्थं ते
प्रवृत्ताः, यच्च त्वं लाभं वदसि, स तेषां चतुरन्तश्चतुर्गणिको य-
ससारोऽनन्तस्त्वस्मै तदर्थं जवतीति । न चेहासावेकान्तेन तत्प्र-
वृत्तस्यापि जवतीति ॥ २३ ॥

एतदेव दर्शयितुमाह—

ऐगंत एऽचंतिय उदएणं, वयंति ते दो वि गुणोदयम्मि ।

मे उदए सुदि मणन पत्ते, तमुदयं माहयइ ताइ एाई ॥ २४ ॥

एकान्तेन जवतीत्यैकान्तिकं, तथा न, तद्धाभार्थं प्रवृत्तस्य विपर्य-
यस्यापि दर्शनात् । तथा-नाप्यात्यन्तिकं. सर्वकालजावी, तत्कथं-
शनात्, स तेषामुदयो लाभो नैकान्तिको नात्यन्तिकश्चेत्येव तद्विदो
वदन्ति । तौ च छात्रपि जावौ विगतगुणादयो भवतः । एतदुक्तं
भवति-किं तेनोदयेन लाभरूपेण यो नैकान्तिकः, नात्यन्तिकश्च,
पश्चादनर्थायेति । यश्च भगवतः (से) तस्य दिव्यज्ञानप्राप्तिल-
क्षणं उदयो लाभो यो वा धर्मदेशनाऽवासनिर्जरावृत्तः, स च
सादिरनन्तश्च । तमेवभूतमुदय प्राप्तो भगवानन्येषामपि तथा-
चूतमेवोदय साधयति कथयति, स्थाघने वा । किंभूतो भगवा-
न् ? तावो । अय-वय-मय-पय-चय-नय-णय-गतावित्यस्य
दण्डकधातोर्णिनिप्रत्यये रूपम्, मोक्षं प्रति गमनशील इत्यर्थः ।
आयी वा, आसन्नजगत्याना प्राणकरणात् । तथा-ज्ञाती, ज्ञाना कृत्रि-
या, ज्ञात वा वस्तुजात विद्यते यस्य स ज्ञाती; विदितसमस्तवेद्य
इत्यर्थः । तदेवचूतेन भगवता तेषां वणिजां निर्विवेकिनां कथं
सर्वसाधर्म्यमिति ? ॥ २४ ॥

(६) सांप्रत कृतदेवसमवसरणपश्चात्तद्देवचन्द्रकसिंहासनाद्यु-
पभोगं कुर्वन्नप्याधाकर्मकृगवसतिनियेधकसाधुवत्कथं तदनुम-
विकृतेन कर्मणाऽसौ न क्षिप्यते?, इत्येतन्नोशाक्षकमतमाशङ्क्याऽह-

अहिंसर्यं सन्वपयाणुकपी,

धम्मे त्रियं कम्मविवेगहेउ ।

तमायदंकोहं समायरंता,

अवोहिण-ते पडिरूवमेयं ॥ २५ ॥

असौ भगवान् समवसरणाद्युपभोगं कुर्वन्नप्याहिंसकः सन्नुप-
भोगं करोति । एतदुक्तं भवति-नहि तत्र भगवतो मनागप्या-
शस्ता, प्रतिबन्धो वा विद्यते, समतृणमणिमुक्तालोपकाञ्चनतया
तदुपभोगं प्रति प्रवृत्तेर्देवानामपि प्रवचनोद्दिभावयिषूणां कथं
तु नाम जगत्यानां धर्माभिमुखं प्रवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थमात्म-
लाभार्थं च प्रवर्तनात्, अतो जगद्यानांहिंसकः । तथा-सर्वेषां
प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवः, तदनुकम्पी च, तान्ससारे पर्यट-
नोऽनुकम्पयते तच्छ्रीलक्ष्म । तमेवरूपं धर्मपरमार्थरूपे व्यव-
स्थितं कर्मविवेकहेतुभूतं जवद्विधा आत्मदण्डैः समाचरन्त
आत्मकल्पं कुर्वन्ति, वणिगादिभिरुदाहरणैः । एतन्नाबोधेरज्ञान-
स्य प्रतिकरूपं वर्तते । एकं तावदिदमज्ञानं यत्स्वतः कुमारप्रवर्तनम् ।
द्वितीयं चैतत्प्रतिकरूपमज्ञानं यद्भगवत्तामपि जगद्वन्द्यानां सर्वाति-
शयनिधानज्ज्ञानानामितरैः समत्वापादनमिति ॥ २५ ॥

साम्प्रतमार्कककुमारमपहस्तितगोशालकं ततोभगवदभिमुखं
गच्छन्तं दृष्ट्वाऽथान्तरात्रे शाक्यपुत्रीया जिह्वं हृदमूर्चुर्यदेन द्रष्टु-
मिच्छन्तदूषणेन बाह्यमनुष्ठानं दूषितं, तच्छोभनं कृतं जवता; यतो-
ऽतिफलप्रायं बाह्यमनुष्ठानम्, आन्तरमेव त्वनुष्ठानं ससारमोक्षयो-
प्रधानाङ्गम्, अस्मत्सिद्धान्ते चैतदेव व्याख्ययते । इत्येतदार्कककु-
मार ! ज्ञो राजपुत्र ! त्वमवाहितः शृणु, श्रुत्वा चावधारयेति भणि-
त्वा ते जिह्मुका आन्तरानुष्ठानसमर्थकमात्मीयसिद्धान्ताऽऽविर्गा-
वनायेदमाहुः—

पिक्कागपिंभीमवि विच्छसूले,

केई पएज्जा पुरिमे इमे ति ।

अत्राउयं वा वि कुमारए ति,

स क्षिपती पाणिवहेण अम्हं ॥ २६ ॥

पिण्याकः क्षल, तस्य पिण्डार्जितक, तदचेतनमपि सत् कस्मि-
न्धिसन्धमे स्नेहादिविषये केनचिन्नयता प्रावरणं खडोपरि क्लिप्त,
तच्च स्नेहेनान्वेषु प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति मत्वा, क्षत्रपिण्डया सह
गृहीतम्, ततोऽसौ स्नेच्छो वस्त्रवेष्टितां ता क्षत्रपिणीं पुरुषबु-
द्ध्या शूले प्रोतां पावकेऽपचत् । तथा-अत्राबुक् तुम्बक कुमारोऽ-
यमिति मत्वाऽप्रावेव पपाच, स चैव चित्तस्य दृष्टत्वात्प्राणिव-
धजनितेन पातकेन युज्यते, अहमस्मिन्नान्ते चित्तमूलत्वाच्चुभा-
शुजबन्धस्य, इत्येव तावदकुशलचित्तप्राप्तायादकुर्वन्नपि प्राणा-
तिपातप्रतिघातफलेन युज्यते ॥ २६ ॥

अमुमेव दृष्टान्तं वैपरित्येनाऽऽह-

अहं वा विच्छूण मिलकषु सूदे,

पिशागबुद्धीं नरं पण्जा ।

कुमारं वा वि अलाबुयं नि ,

न लिप्ये पाणिवहेण अमहं ॥ २७ ॥

अथवाऽपि सत्यपुरुष क्षलबुद्ध्या कश्चिन्स्नेच्छ शूलप्रोतमग्नौ
पचेत्, तथा-कुमारं क्षल, तुम्बकबुद्ध्याऽप्रावेव पचेत् । नवमे-
वासौ प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यतेऽस्माकमिति ॥ २७ ॥

किञ्चाऽन्यत्-

पुरिमं च विच्छूण कुमारं वा,

सूक्ष्मि केई पण्जायते ।

पिशागपिमीं सतीमारुहेत्ता,

बुद्ध्या तं कपति पारणाए ॥ २८ ॥

पुरुष वा, कुमार वा, विद्धा शूले कश्चित्पचेज्जाततेजस्यशावा-
रुक्षक्षलपिण्डायमिति मत्वा सतीं शोभनां तदेतद्बुद्धानामपि
पारणाय भोजनाय कल्पते योग्यं भवति, किमुतापरेषाम् ? ।
एव सर्वास्वस्वास्वचित्तित मनसाऽसकलित कर्मचय नाग-
च्छत्यस्मिन्नान्ते । तदुक्तम्-“अविज्ञानोपचित विपरिज्ञानोप-
चितमीर्यापथिक स्वप्नान्तिक चेति कर्मोपचय न याति” ॥ २८ ॥

पुनरपि शाक्य एव दानफलमधिकृत्याऽऽह-

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से,

जे ज्ञोए णिति भिक्खुयाणं ।

ते पुत्रत्वं सुमह जिणिता ,

जवति आरोप महंतसत्ता ॥ २९ ॥

स्नातका बोधिसत्त्वा । तुशब्दात्पञ्चशिखापदिकादिपरिग्रह ।
तेषां भिक्षुकाणां सहस्रद्वय, ये निजे शाक्यपुत्रीये धर्मे व्यवस्थिता
केचिदुपासकाः पचनपाचनाद्यपि कृत्वा भोजयेयुः सर्वासगुह-
दाडिमेनेष्टेन भोजनेन, ते पुरुषा महासत्त्वाः अद्भालव पुण्य-
स्कन्ध महान्त समावर्ज्य, तेन च पुण्यस्कन्धेनारोप्याख्या देवा
भवन्त्याकाशोपगाः, सर्वोत्तमां देवगतिं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

(७) तदेव बुद्धेन दानमूल, शीलमूलश्च धर्मं प्रवेदित, त-
द्वेहागच्छ, बौद्धसिद्धान्तं प्रतिपद्यस्वेत्येव भिक्षुकैरभिहित-
सम्भार्ककोऽनाकुलया दृष्ट्या तान्बीक्ष्योवाचेद् वक्ष्यमाण-
मित्याह-

अजोगरुवं इह संजयाणं,

पावं तु पाणाण पसज्ज कानं ।

आवोहिण दोएह वि तं असाहु,

वयति जे यावि पडिस्सुणनि ॥ ३० ॥

इहासिन्भवदीये शाक्यमने, मनाना भिक्षुणां, यदुक्तं प्राक्,
तदत्यन्तेनायोग्यरूपमद्यमानकमात्थाहि-अहिंसार्यमुत्थिनस्य
त्रिगुप्तिगुप्तस्य पञ्चममितिस्मितस्य सत प्रव्रजितस्य सम्यग्-
ज्ञानपूर्विकां क्रिया कुर्वतो भावशुद्धिं फलवती भवति, तद्विपर्य-
स्तमनेस्त्वज्ञानावृतस्य महामोहाकुलीकृतान्नरात्मनया खत्रु-
रुषयोर्विवेकमजानत कुतस्त्या भावशुद्धिः । अत्यन्तमस्मात्प्रतमे-
तद् बुद्धमतानुसारिणाम्, यत्क्षलबुद्ध्या पुरुषस्य शूले प्रोतनप-
चनादिकम् । तथा बुद्धस्येवात्र बुद्ध्या पिशितभक्षणांनुमत्यादिक-
मिति । एतदेव दर्शयति-प्राणानामेन्द्रियाणामपगमेन तुशब्द-
स्यैवकारार्थत्वात् पापमेव कृत्वा रससातागौरवादिगृह्णास्तद-
भाव व्यावर्णयान्ति । एतच्च तेषां पापाभावव्यावर्णेन मर्षाद्यै अवा-
धिज्ञाभार्थं तयोर्द्वयोरपि सपद्यते, अतोऽसाध्वेनत् । कयोर्द्वयो ?
इत्याह-ये वदन्ति पिण्याकबुद्ध्या पुरुषपाकेऽपि पातकानां, ये
च तेज्यः शृण्वन्त्येतयोर्द्वयोरपि वर्गयोरसाध्वेतदिति । अपि च
नाज्ञानावृतमूढजनजावशुद्ध्या शुद्धिर्भवति । यदि च स्यात्, नसा-
रमोचकार्दनामपि तर्हि कर्मविमोक्तं स्यात् । तथा-भावशुद्धिमेव
केवलमप्युपगच्छता भवना शिरस्तुष्टुमुष्टुमपि रमपातादिक,
चैत्यकर्मोदिक चानुष्ठानमनर्थकमापद्यते, तस्मान्नैर्वाधया ज्ञा-
वशुद्ध्या शुद्धिरुपजायत इति स्थितम् ॥ ३० ॥

परपक्व दृषयित्वाऽऽर्द्रकं स्वपक्वाऽचिर्ज्ञावनायाऽऽह-

उष्टं अहेयं तिरियं दिसामु,

विन्नाय दिगं तसयावगाण ।

नूयानिसंकाइ दुगंच्छमाणा,

वदे करेज्जाव कुओ विहऽत्थि ? ॥ ३१ ॥

ऊर्ध्वमधस्तिर्यंश्च या दिशः प्रज्ञापनादिकास्तासु सर्वास्वपि
दिक्षु, त्रसाना, स्थावराणां च जन्तूना यत्रसंस्थावरत्वेन जीव-
श्चिह्नं चरनस्पन्दनादुराङ्गवच्छेदमज्ञानादिक, तद्विज्ञाय चूनाभि-
शङ्कया जीवोपमर्दोऽत्र भविष्यतीत्येवबुद्ध्या सर्वमनुष्ठानं जुगु-
प्समानस्तदुपमर्दं परिहरन् वदेत् । (कुतोऽपि)अन कुतोऽस्तीहा-
स्मिन्नेवचूतेऽनुष्ठाने क्रियमाणे प्रोच्यमाने वाऽस्मत्पक्वे शुष्मदापा-
दितो द्रोण इति ? ॥ ३१ ॥

अधुना पिण्याके पुरुषबुद्ध्यसम्भवमेव दर्शयितुमाह-

पुरिसे त्ति विन्नत्ति न एवमत्थि ,

अणारिण से ऽपुरिसे तहा हु ।

को संजवो पिशागपिमियाए ? ,

वाया वि एसा बुडया असच्चा ॥ ३२ ॥

तस्यां पिण्याकबुद्ध्यां पुरुषोऽयमित्येवमन्यन्नजडन्यापि विज्ञप्ति-
र्येव नास्ति, नसाद्य एव वक्ति सोऽन्यन्तोऽपुरुष । तयाऽभ्युपगमेन,
तुशब्दस्यैवकारार्थत्वेऽनार्य एवासौ यः पुरुषमेव अतोऽयमिति
मत्वा इतोऽपि नास्ति द्रोण इत्येव वदेत् । तथाहि-फ सम्भव-
पिण्डया पुरुषबुद्धेः ? इत्यतो वागपीयसीदृगमन्येति, मत्तोपपा-
तकत्वात् । तनश्च नि शङ्कप्रदायनालोचको निर्विषेकतया वक्ष्यते,
तस्मात् पिण्याककाष्ठादावपि प्रवर्तमानेन जीवोपमर्दोऽनार्या
साशङ्केन प्रवर्तितव्यमिति ॥ ३२ ॥

किञ्चान्यत्-

वायान्नियोगेण जमावहेज्जा,
णो तारिमं वायमुदाहरिज्जा ।
अट्टाणमेयं वयणं गुणारणं,
णो दिक्खिए वूयऽनुदालमेयं ॥ ३३ ॥

वाचाऽभियोगो वागन्नियोगः, तेनापि यद्यस्मात्, आवहेत् पाप कर्म, ततो विवेकी ज्ञावागुणदोषज्ञो, न तादृशीं ज्ञावामुदाहरेन्नाभिदध्यात् । यत एव ततोऽस्थानमेतद्वचनं गुणानाम्, नहि प्रव्रजितो यथावस्थितार्थान्निधायेतदनुदारमसुष्ठु परिस्पूरति सार निरुपपत्तिक वचनं द्रूयात् । तद्यथा-पिण्याकोऽपि पुरुषः, पुरुषोऽपि पिण्याकः । तथाऽलावुकमेव बालकः, बालक एवाऽलावुकमिति ॥ ३३ ॥

साम्प्रतमार्कककुमार एव तं भिक्षुकं युक्तिपराजितं सन्त

सोऽसुएव विभणिपुराह-

लब्धे अट्टे अट्टो एव तुब्धे,
जीवाणुभागे सुविचितिए य ।
पुवं ममुदं अवरं च पुट्टे,
ओलोए पाणितले ठिए वा ॥ ३४ ॥

अट्टो ! युष्माज्जि, अथानन्तर्यं वा, एवचूतान्युपगमे सति लब्धा-र्थो विज्ञानं यथावस्थितं तत्त्वमिति तथावगतं सुविचिन्तितो भव-न्निर्जीवानामनुभागं कर्मविपाकस्तत्पीमेति, तथैव नृतेन विज्ञानेन भवतां यशः पृथक्समुद्रमपरं च पृष्ठं गतमित्यर्थः । तथा भवन्निरेव विधिविज्ञानावज्ञोक्तेनावज्ञोक्तिः पाणितलस्थ इवायं लोक इति, अट्टो ! जवता विज्ञानातिशयः, यदुन जवन्तः पिण्याक-पुरुषयोर्बालाऽलावुकयोर्वा विशेषानभिज्ञया पापस्य कर्मणो यथेनद्रावाभावः प्राकल्पितवन्त इति ॥ ३४ ॥

नदेव परपक्कं दूयित्वा स्वपक्कस्थापनायाऽऽह-

जीवाणुजागं सुविचितयंता,
आहारिया अन्नविहे य सोहिं ।
न वियागरे वन्नपओपजीवी,
एमोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ३५ ॥

मौनीन्द्रशासनप्रतिपन्ना सर्वज्ञोक्तमार्गाऽनुसारिणो जीवाना-मनुज्ञागमवस्थाविशेषः, तदुपमर्देन पीकां वा, सुष्ठु विचिन्तयन्तः पर्यालोचयन्तोऽन्नविधौ शुक्तिमाहृतवन्त स्वीकृतवन्तः, द्विचत्वारिंशद्वोपरहितेन, शुक्रेनाहारेणाहारं कृतवन्तो न तु यथा भवतां पिशिताद्यपि पात्रपनिनं न दोषायेति । तथा-उद्यपदोपजीवी मा-तृष्णानोपजीवी मन् न व्यावृणीयान् । एयोऽन्ननरोको, अन् पञ्चा-द्धर्मोऽनुधर्मस्तीर्थकरानुष्ठानादनन्तरं जवतीत्यमुना विशिष्यते । उहास्मिन् जगति, प्रवचने वा, सम्यग्यतानां सन्साधूनां न तु पुन-रेवविधमिच्छामिति । यच्च भवन्निरेदनादेरपि प्राणयक्कस-माननया हेतुनृननया मांसादिसादृश्यं चोद्यते, तद्विज्ञाय लोक-तीर्थान्नगीयमनम् । तथाहि-प्राणयक्कस्त्वेन तुल्येऽपि किञ्चिन्मास-किञ्चिच्चामासमित्येव व्यवहियते । तद्यथा-गोर्वाऽरुधिरादेर्ज-त्र्याजत्रयव्यवस्थितिः, तथा-ममानेऽपि स्त्रीत्वे जार्या इव दमादौ ग-त्यागम्यव्यवस्थितिर्गतिः । तथा-शुष्कनर्कदृष्ट्या यो प्राण्याऽन्वा-दिति हेतुर्भवनोपन्यस्यते । तद्यथा-“जक्कणीयं भवेन्मासः, प्रा-

णयक्कत्वेन हेतुना । ओदनादिवदित्येव, कश्चिदाहेति तार्किकः ॥ १ ॥ सोऽसिद्धानैकान्तिकाविरुद्धोपदुष्टत्वादपकर्णनीयः । तथाहि-निरशत्वाद् घस्तुनस्तदेव मांसं, तदेव च प्राण्याक-मिति प्रतिज्ञार्थकदेशादसिद्धः । तद्यथा-नित्यं शब्दो नित्यत्वा-त् । अथ भिन्नं प्राणयक्कं, ततः सुतरामासिद्धं, व्यधिकरणत्वात् । यथा-देवदत्तस्य गृहं, काकस्य कार्ण्यम् । तथा-नैकान्तिकाऽपि, भवादिमांसस्याभक्ष्यत्वात् । अथ तदपि क्वचित्कर्तृकत्वेपां चि-द्भक्ष्यमिति चेत् ? एव च सत्यन्यादेरभक्ष्यत्वादनैकान्तिकत्वम् । तथा-विरुद्धव्याभिचार्यपि, यथा-ऽयं हेतुर्मांसस्य भक्ष्यत्वसाधय-ति, एवं बुद्धानामपूजत्वमपि । तथा-लोकाविरोधिनी चेयं प्रति-ज्ञा । मासोदनयोरसाम्याद् दृष्टान्ताविरोधश्चेत्येव व्यवस्थिते यदुक्तं प्राग्-यथा बुद्धानामपि पारणाय कल्पत एतदिति, तदसाध्विति स्थितम् ॥ ३५ ॥

अन्यदपि निष्कुकोक्तमार्कककुमारोऽनूय दूयितुमाह-

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से,
जे जोयए णितिए जिकखुयाणं ।
असंजए लोहिथपाणि से ऊ,
णियच्छते गरिहम्मिहेव लोए ॥ ३६ ॥

स्नानकानां बोधिसत्त्वकल्पानां निष्कणां नित्यं यः सहस्रद्वयं प्रोजयेदित्युक्तं प्राक् । तद् दूययति-असयतः सन् रुधिरक्लिषपा-णिरनार्य इव गर्दो निन्दां जुगुप्सापदवीं साधुजनानामिह लोकं एव निश्चयेन गच्छति, परल्लोके वाऽनार्यगम्यां गतिं यातीति । एव तावत्सावद्याऽनुष्ठानानुमन्तृणामपात्रभूतानां यद्वा न तत्क-र्मबन्धायेत्युक्तम् ॥ ३६ ॥

किञ्चान्यत्-

धूदं उरञ्जं इह मारिया णं,
उदिट्ठभत्तं च पणप्पइत्ता ।
तं ह्योणतेल्लेण उवक्खडेत्ता,
सपिप्पल्लीयं पगरंति मंसं ॥ ३७ ॥

मार्कककुमार एव तन्मतमाविष्कुर्वन्निदमाह-स्थूलं बृहत्काय-मुपचितमांसशोणितम्, उरञ्जमुरणकम्, इह शाक्यशासने, भिक्षुकसंघोद्देशेन व्यापाद्य घातयित्वा, तथोद्दिष्टभक्तं च प्रक-ल्पयित्वा, तद्वरभ्रमांसं लवणतैलाभ्यामुपसंस्कृत्य पाच-यित्वा, सपिप्पल्लीकमपररुच्यसमन्वितं प्रकर्षेण भक्षणयोग्यं मांसं कुर्वन्तीति ॥ ३७ ॥

संस्कृत्य च यत्कुर्वन्ति तर्ह्ययितुमाह-

तं जुंजमाणा-पिसितं पचूतं,
ण ओवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चैवमाहसु अणज्जधम्मं,
अणारिया वाट्ठ रसेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥

तन्निपशितं शुक्रशोणितसंभूतमनार्या इव भुञ्जाना अपि प्र-भूतं तद्वजसा पापेन कर्मणा न वयमुपलिप्यामः, इत्येव धा-एषोपेता प्रोक्तुः । अनार्याणामिव धर्मः स्वभावो येषां ते तथाऽ-नार्यकर्मकारित्वादनार्याः, बाला इव बाला विवेकरहितत्वाद्-मपु च मांसादिकेषु गृह्णा अण्युपपन्ना ॥ ३८ ॥

एतच्च तेषां महतेऽनर्थावेति दशंपति—

जे यावि भुंजन्ति नहृण्णगारं ,
सेवन्ति वे पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करेती ,
बाया वि एसा बुइयाउ भिच्छा ॥ ३९ ॥

ये चापि रसगौरवगृह्णाद्याक्योपदेशयन्ति, तथाप्रकार
स्थूलोत्तरं समूहत् घृतलयणमरिचादिमसूत पिणितं च, भुञ्ज-
तेऽन्ति, तेऽनार्थाः, पाप कर्मण्य, अजानाना निर्दिष्टेकिन,
सेवन्ते आदत्ते । तथा चोक्तम्—

“हिंसामूलनमेभ्यमास्पदमल प्यानस्य रीद्रस्य यद् ,
बीभत्स कथिराधितं रुमिगृह दुर्गन्धपूयादिकम् ।
शुकाक्षप्रभय नितान्तमामिन साङ्गे मदा निर्दिष्टं ,
को भुङ्के नरकाय राक्षसस्यमो मास तदात्मदृष्टः” ॥ १ ॥

सपि च—

“मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहादम्यहम् ।
एतन्मांसस्य मासत्वं, प्रयदति मनोविशु” ॥ २ ॥

तथा—

“योऽस्ति यस्य च नन्मांस-भुञ्जो पश्यन्तान्म ।
एकस्य दण्डिका वृत्ति-स्य प्राणैर्धिगुन्ते” ॥ ३ ॥
तदेवं महादोष मांसादनमिति मया यद्विधेयं तददशंपति-
एतदेवभूतं मांसादनाभिलाषकं मनोऽन्त कर्णं, बुद्ध्या नि-
पुला मासागिरिपाकयेदिनस्तत्रिगुणिगुणाभिजातः, न कु-
र्वन्ति, तदभिलाषादात्मनो नियतं धर्मात्यर्थः । चास्ता ताप-
स्य, पागप्येषा यथा मांसभक्षणेऽक्षेय इत्यादिषा भाग्यभि-
हितोक्ता मिष्या । नृगृह्णात्मनोऽपि ननुमम्यादौ न विधेय-
मिति । तस्मिन्पृथी वेदेवानुपमा भगवा, अमुग च स्वर्गापयग-
गमनमिति । तथा चोक्तम्—

“भुत्वा दुःखपरम्परामतिपूणां मांसानिनां दुर्गतिं,
ये कुर्वन्ति शुभोदयेन विरतिं मांसादनम्यादरात् ।
उद्दोषायुरदयित गदरुजा मगाप्य याम्यन्ति ते,
मल्लपूङ्गवमोगधर्ममनियु स्वर्गापयगेषु च” ॥ ३१ ॥ इत्यादि ।
न केवल मांसादनमेव परिहार्यमन्यदपि मुमुक्षुणां परि-
हर्ष्यमिति दर्शयितुमाह—

सन्वेमि जीवाण दयदृयाप ,
सावज्जदोमं परिवज्जयन्ता ।
तस्मंकिणो इमिणो नागपुत्ता ,
उदिद्वज्जचं परिवज्जयन्ति ॥ ४० ॥

सर्वेषा जीवानां प्राणार्थिनां, न केवल पञ्चेन्द्रियाणामेवेति स-
र्वग्रहणम् । दयार्थतया दयानिमित्त सायद्यमागम् महानय क्षोप
इत्येव मया तत्परिचययन्तः साधय । तच्छब्दिनो दोषशब्दिन
अप्ययो महामुनयो ज्ञातपुत्रीयाः श्रीमन्महावीर्यरूमानशिष्याः,
उदिद्वदनाय परिकल्पित यज्ञत, पानादिक, तत्परिचययन्ति ॥ ४० ॥

किञ्च—

शृयानिसंकापं दुर्गन्धमाणा ,
सन्वेसि पाणाण विहाय दमं ॥
तम्हा ए भुंजन्ति नहृण्णगारं ,
१४०

एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ४१ ॥

भूतानां जीवानाम्, उपमर्शद्वया सायद्यमनुष्ठानं जुगुप्समाना
परिहरन्त, तथा-मर्षेषां प्राणिनां दण्डयतीति दण्ड समुपता-
पस्तं, विहाय परित्यज्य, स्वयगुद्विधता सत्साधयो यतस्ततो न
पृञ्जते, तथाप्रकारमाहारमशुक्रजातीयमेषोऽनुधर्म, इहास्मिन्प्रव-
चने, मयतानां यतीनां तर्धकगचरणात् अनुपस्थाप्यत इत्यनुना
विशेष्यते । यदि चाणुरिति स्तोकेनाप्यतिचारेण वा बाध्यते
शिरीषपुष्पमिध सुकुमार इत्यतोऽणुना विशेष्यत इति ॥ ४१ ॥

किञ्चाऽयत्—

निगंघधम्ममि इमं समाहिं ,
अस्मिं सुठिवा अणिहो चरेज्जा ।
बुद्धे मुणो मीलगुणोव्वेण ,
अघन्यत पाउण्णीसि दोगे ॥ ४२ ॥

अस्मिन्मीनी-उधर्मे पाणाभ्यन्तरूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति नि-
ग्रन्थः, स नामो धर्मो निग्रन्थधर्मः, स च श्रुतचारित्रास्य,
ज्ञात्यादिको या सर्वश्रेष्ठः, तस्मिन्प्रयभूतधर्मव्यवस्थिते, इमपूर्वो-
क्त, समाधिमनुप्राप्त, अस्मिन्काश्चिदाहारपरिहाररूपे समाधौ, सुष्ठु
अतिशयेन स्थित्वा, सनीहोऽमाय । अथवा-निहन्त्यत इति निह,
न निहोऽनिहः, परीरहर्णाऽनितः । यदि चा-स्निह यन्धने, स्निह
इति स्नेहरूपधनरहितं स्वयममनुष्ठानं चरेत् । तथा-बु-
द्धोऽयगतनस्यो, मुनि कालत्रयवेदी, शीलेन क्रोधाद्युपशमक-
वेण, गुणैश्च मूषोत्तरगुणवृत्तेरपतो युक्त इत्येवगुणकलि-
तोऽप्यर्धगा सर्वगुणातिशायिनी सर्वहन्त्रोपरमरूपा सतोपारिम-
कां भगवा प्रशसा लोके लोकात्तरे वाऽऽप्नोति ।

तथा चोक्तम्—

“राजान नृणनुत्यमेव मनुते शक्रेऽपि नैवादरो ,
यित्तोपाजंनरकृणव्ययवृता प्राप्नोति नो वेदना ।
समागन्तरयार्थपीड लभने समुक्तवाञ्छिनेय ,
सतोपात्पुण्योऽमृतममचिरायात्सुरेन्द्रार्चितः” ॥ १ ॥ इत्यादि ।

(६) तदेवमार्ककुमार निराहृतगोशालकाजीवकधोक्तमतम-
भिसर्गदय साम्प्रत द्विजातय प्रोचु । तद्यथा-नो मार्ककुमार !
शोभनमकारि भयता, यदेते वेदयाहो हे अपि मते निरस्ते,
तस्मात्प्रतमप्याहृत वेदयाहमेव, अतस्तदपि नाश्रयणार्हं भवद्वि-
धानाम् । तथादि-जयान् कृत्रियवर, कृत्रियाणां च सर्ववर्णोत्तमा
प्राप्त्या पयोपाम्या, न शूद्राः, अतोऽयागादिविधिना ब्राह्मणसे-
वेय युक्तिमनोत्येतत्प्रतिपादनायाऽऽह—

सिणायगाण तु दुवे सहस्से ,
जे जोयण् णितिप् माहणाणं ।
ते पुत्रखेप्पे सुमहज्जणिता ,
जवंति देवा इति वेयवाओ ॥ ४३ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः । पट्कर्माभिरता वेदाध्यापकाः शौचाचा-
रपरतया नित्य स्नायिनो ब्रह्मचारिणः स्नातकाः, तेषां सहस्रव्य
नित्य ये भोजयेयुः कामिकाहारेण ते समुपार्जितपुण्यस्कन्धाः
सन्तो देवा स्वर्गनिवासिनो जवन्तीत्येवभूतो वेदवाद इति ॥ ४३ ॥

अधुनाऽऽर्ककुमार एतद् दूषयितुमाह—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से ,

जे जोयए णितिए कुलावयाणं ।

से गच्छती द्योलुवमपगाढे,

तिव्वाभितावी एणगाजिसेवी ॥ ४४ ॥

आतकाना सहस्रद्वयमपि नित्य ये भोजयन्ति । किंचूतानाम् ? कुलानि गृहाणि, आमिषान्वेषणार्थिनो नित्य येऽटन्ति ते कुलाटा मार्जाग, कुलाटा इव कुलाटा घ्राहणा । यदि पा-कुलानि कृत्रि-यादिगृहाणि तानि नित्य पिण्मपातान्वेषिणां परतर्कुकाणामाश-यो येषां ते कुलालयास्ते । निन्द्यजीविकोपगतानामेव नूतानां यो सहस्रद्वय भोजयेत्स सत्पात्रनिक्रिसदानो गच्छति बह्वेदनाशु गनिषु । किंचूतः सन् ? द्योलुपैरामिषपरं गृहैः रससानागारघातु पपक्षं जिह्वेन्द्रियवशमे सप्रगाढो ज्यात । यदि चा-किंचूते नरके याति, द्योलुपैरामिषगृधुभिरसुमद्भिर्व्याप्तो यो नरकस्तस्मिन्नि-नि । किंचूतश्चासौ दाता ? नरकाभिसेवी जयति । तदर्थयति-तीम्रोऽसह्यो योऽभितापः कृकचपाटनकुम्भीपाकनक्षत्रपुपानशा-न्मलगाग्निङ्गनादिरूप, न विद्यते यस्यासौ तीमाभितापी । इत्येव नू-तवेदनाभिनमन्त्रयस्त्रिशारसागरोपमानि यावदप्रतिष्ठाननरकाधि-वासो जयतीति ॥ ४४ ॥

दयावरं धम्म दुगंउमाणा,

वहावहं धम्म पससमाणा ।

एणं वि जे जोययती असीलं,

णिओ णिसं जाति कुओऽसुरेहि ? ॥ ४५ ॥

दया प्राणिषु कृपा, नया वर प्रधानो यो धर्मस्तमेव धर्मः, जुगुप्स-मानो निन्दन्, तथा-वध प्राणयुग्ममर्द्धमाघटनीं बधायहस्त त था नूत धर्मः, प्रशसन् स्तुवन्, एकमप्यशील निर्वृत्त, परजीवका-योपमर्दनं यो जोजयेत्, किं पुन प्रनूतान् ? नृपो राजन्यो वा य कश्चिन्मूढमतिधार्मिकमात्मान मन्यमानः स वराको निशेच नि-त्यान्धकारत्रात्रिशा नरकज्जमिस्तां याति, कुतस्नस्यासुरेष्वप्य-धमदेवेष्वपि प्राप्तिरिति ? तथा-कर्मवशादसुमतां चित्रजजाति-गमनाज्जानेरशाश्वतत्वम्, अतो न जातिमदो विधेय इति । यदपि कैश्चिदुच्यते यथा-ब्राह्मणा ब्राह्मणो मुखाद्विनिर्गता, बाहुभ्यां कृत्रि-या, ऊरुभ्या वैश्या, पद्भ्यां शूद्रा, इति । एतदप्यप्रमाणान्वाटति-फलप्रायम् । तदप्युत्तरगमे च न विद्येयो वर्णाना स्यात् । एकस्मात्प्र-सूतेर्बुधशास्त्राप्रतिशास्त्राप्रनूतपनसोऽन्यथा दफलवद् ब्राह्मणो वा मुखादेरययाना चातुर्वर्ण्यावाप्ति स्यात्, न चैतदिष्यते भवद्भि । तथा-यदि ब्राह्मणादीना ब्राह्मणो मुखादेरुद्भवः, साम्प्रत किं न जायते ? अथ युगादावेतदित्येव मनि, दृष्टानिरदृष्टफलना स्या-दिनि । तथा यदि कैश्चिदभ्यधायि सर्वज्ञनिक्रैपावमरे, तद्यथा-सर्वज्ञरहितोऽनीतः कालः, कालत्राहर्तमानकालवत् । एव च मत्ये-तदपि शक्यते वक्तुम्-यथा नानीतः कालो ब्रह्ममुखादिविनिर्गत-चातुर्वर्ण्यममन्वितः, कालत्वाद्धर्तमानकालवत् । भवति च विद्येये पक्कीकृते सामान्यदेतुरित्यत प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्धता नाशङ्क-नीयेति । जानेश्चानित्यत्वं युष्मत्सिद्धान्त एवाभिहितम् । तद्यथा-‘शूरादो वा एष जायते य स पुरीषो दह्यते’ इत्यादिना । तथा-“सद्य पतनि मांसनः ब्राह्मणा ववणेन च । ज्यहण शूद्राजव-नि, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी ” ॥ १ ॥ इत्यादिलोके चावश्यभावी जातिपातः । यन उक्तम्-“कायिकैः कर्मेणां ढोपै-यांति स्था-वरानां नर । वाचिकैः पक्किमृगना, मानसैरन्त्यजातिताम् ” ॥ १ ॥ इत्यादिगुणैरप्येवविधेर्न ब्राह्मणत्व युज्यते । तद्यथा—

दशतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । श्रम्यमेधस्य व-चनात्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिणि । ” ॥ १ ॥ इत्यादि वेदाक्त्याश्रयं दाय इति चेत् । नन्विदमभिहितमेव-“न हि स्यात्सर्वा घृ-तानि ” इत्यतः पूर्वांतरविरोधः । तथा-“मातनायिनमाया-स्त-मपि वेदा-तग रण । जिघांसन्त जिघांसीया-प्र तेन ब्रह्मा भवेत्” ॥ १ ॥ तथा-“शूद्र इत्या प्राणायाम जपेत्, अपदसित वा कुर्यात्, यत्किञ्चिदपि दद्यात्, तथा-“नास्थिजन्तूनां शकटभग मागित्या ब्राह्मण जोजयेत् ” इत्येवमादिका देशना चिद्वजन-मनांसि न रज्जयतीत्यतोऽत्यर्थमसमसज्जसमिन् लक्ष्येन युष्म-दशनमिति ॥ ४५ ॥

(१०) तदेवमाहंकुमार निराहृतब्राह्मणाधिवान् भगवदन्ति-कं गच्छन्त दृष्ट्वा एकदागिरुनोऽतराक्षे पवमुचुः । तद्यथा-जो आहंकुमार ! शोभन एत भवता यदेते सर्वास्मप्रवृत्ता गृहस्था शम्भ्रादिविषयपरायणा पिशिताशनन राक्षसकला ठिजानयो निराहृता ; नर्माप्रतमस्मत्सिद्धान्त शृणु, भुत्वा चाव चारय । तद्यथा सत्परजस्नमसा साम्यावस्था प्रकृतिः, “प्रकृतेर्म-होस्ततोऽहद्वार-स्तस्माज्जगद्य पौरुषाक । तस्मादपि पौरुषका-त्यञ्ज- (नन्माप्राणि ते-) ज्य पञ्च नूतानि” ॥ १ ॥ तथा चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपमिति । एतत्तत्त्वाहंतीरप्याश्रितमत पञ्चविंशतितत्त्व-परिकानादेव मोक्षायाप्तिरित्यतोऽस्मत्सिद्धान्त एव श्रेयान्नापर इति । तथा न युष्मांसिद्धान्तोऽतिदूरेण भिद्ये इति ।

एतदशयितुमाह—

दुहग्रो वि धम्ममि समुट्ठियापो,

अस्मि सुठिच्चा तह एसकालं ।

आयारसीत्ते बुद्धएऽह नाणं,

ए मंपरायमि विसेसमत्थि ॥ ४६ ॥

योऽयमस्मरुमो, भवदीयश्चाहं, स उन्नयरूपोऽपि कथंचित्स-मान । तथाहि-युष्माकमपि जीवास्तित्वे सति पुण्यपापबन्ध-मोक्षसद्भावः, न लोकायतिकानामिध तदजाये प्रवर्ति, नापि बौ-द्धानामिध सर्वाधारभूतस्यान्तरात्मन एवाभाव । तथाऽस्माकम-पि पञ्च यमा अहिसादय, जयतां च त एव पञ्च महाव्रतरूपा । तथेन्द्रियनोऽन्द्रियनियमोऽप्याद्योस्तुल्य एव । तदेवमुन्नयासि-अपि धर्मे बहुसमाने सम्यगुत्थानोत्थिता युय, यय च, तस्मादसि-नू धर्मे सुष्ठु स्थिता, पूर्वस्मिन् काले, वर्तमाने, एष्ये च, यथागृहीत-प्रतिज्ञानिर्वाहः । न पुनरप्ये यथा व्रतेश्वरयागविधानेन प्रज्या मुक्तवन्तो, मुञ्चन्ति, मोहयन्ति चेति । तथाऽऽचारप्रधान शालमुक्त यमनियमलक्षण न फलपुत्र कुटकाजघनरूपम्, अथानन्तर-ज्ञान च मोक्षाहृतयाऽभिहित, तथ श्रुतज्ञान, केवलाल्प च, यथा-स्वमावयोर्दर्शने प्रसिद्धम् । तथा-सपर्येन्ते म्यकर्मजिज्ञास्यन्ते प्राणिनो यस्मिन्स सपराय ससारः, तस्मिन्नावयोर्न विशेषोऽस्ति । तथाहि-यथा जयता कारणे कार्यं नैकान्तेनासदुत्पद्यते, अस्मा-कमपि तथैव, ज्ञानात्मतया नित्यत्व भवद्भिरप्याश्रितमेव । तयो-त्पादविनाशाद्यपि युष्मदजिज्ञेतो, आविर्भावतिरोज्ञावाश्रयणा-दस्माकमपीति ॥ ४६ ॥

पुनरपि तथैकदहमन मासारिकजी—

वपठार्थसाम्यापादनयाऽऽहु —

अध्वनरूपं पुणिसं महंतं,

अद्भुतकुमार

सखातणं अत्रत्यमव्ययं च ।

सन्नेसु जूतेसु वि सन्वतो मे ,

चंदो न्व ताराहिं समत्यरूढे ॥ ४७ ॥

पुरि शयनात्पुरुषो जीय , त यथा भवतोऽन्युपगतचन्तस्तथा
व्यमपि । तमेव विचिनष्टि-अमूर्तत्वाव्ययक रूपमस्यासापत्य-
कल्प , तथा करचरराशिरोप्रीयाचययतया स्यतोऽवस्थाना-
द् । तथा-महात्म लोकःपि न तथा सनातनं शाश्वत , कस्याप्यत-
था नित्य, नानाविधगतिभ्योऽपि क्षेत्र-यस्तद्वणा-मस्वरूपस्याप्र-
वृत्ते । तथा-प्रकृत्य केनचि-प्रदेशानां सागरता- कर्तुमशक्यत्वा-
त् । तथा-भयवत्, धन-तेनचि-कारेणैकस्यापि तःप्रदेशस्य व्यथा-
भावात् । तथा-सर्वेष्वपि जूनेषु कायाकारपरिणतेषु प्रतिशरीर
सर्वेन सामान्योद्विग्नान्वाहमाया-मा भवति । कष्टाः, धातु इव
शरीरं नाराभिरादिपन्थादिनिर्गन्तव्येषा समस्तारूप सपूर्णं स-
र्वधुपयात्येवमसापि आ-मा प्रत्ये- शरीरे- सद् सपूर्णं स-
न्वतुपयानि, तदेवमेकद्विष्टनिर्गन्तव्यस्यापादनेन सामयादपु-
र्वक स्वदर्शनारोपणार्थमात्रं कर्तुमारोऽभिहितं , यथैतानि सपूर्णा-
नि निरुचरितानि पुनोनानि विशेषणानि धर्मसमाख्योपनिषत्ते,
स एव पञ्च सधर्माकेन समाधितस्यो जयानि । एतानि चास्म-
दीय एव दर्शने यथोक्तानि सन्ति नादृते, अतो जयताऽप्यस्म-
दर्शनमेवाभ्युपगम्यत्वमिति ॥ ४७ ॥

तदेवमभिहितं सद्भाद्रककुमारस्तदुत्तरदानायाऽऽह—

एवं ण मिज्जंति ए संसंति ,

न माहणा ग्वत्ति य देमपेस्सा ।

कीमा य पक्खी य मरीमिवा य,

नरा य मत्वे नद देवलो ॥ ४८ ॥

यदि या प्राक्तनश्लोकः "अत्रत्यमव्ययं" इत्यादिको वेदान्तवाचा-
त्माह्वनमतेन व्याख्यातः । तथाहि-ते पक्षमेवाव्ययत्वं पुरुषमात्मा-
न महात्माकाशमपि सर्वेष्वपि सनातनमन-तमव्ययमव्यय
सर्वेष्वपि भूतेषु चेतनाचेतनेषु सर्वेन सर्वात्मतयाऽपी व्यय-
हेतु इत्येवमभ्युपगततया । यथा सर्वात्म्येन ताराभ्येक एव च-
न्द्र सन्धमुपयात्येवं चास्मादपि, इत्यस्य चोत्तरदानायाह-(एव-
मित्यादि) एवमिति । तथा-भयतां दर्शने पक्षान्तेनैव नित्योऽधि-
कार्यमाऽन्युपगम्यते इत्येव पदार्था सर्वेऽपि नित्या । तथा च
मति कुतो बध्मोक्तमद्वा ? । पन्थाजायाश्च न नारकतिर्यङ्नरा-
मरलक्षणभ्रतुर्गनिक समार । मोक्षानायाश्च निर्धक प्रतग्रहण
नयतां , पञ्चगव्योपदिष्टयमनियमप्रतिपत्तिश्चेत्येव च यदुच्यते
प्रवता यथाऽऽयोऽस्तुन्धो धर्म इति । तदयुक्तमुक्तम् । तथा स-
सारान्तर्गतानां च पदार्थानां न साम्यम् । तथाहि-भयतां द्रव्य-
कल्पनादिनां सर्वस्य प्रधानादनिर्घातकारणमेवास्ति, कार्यं च
कारणानिर्घातसर्वात्मना न विद्यते । अस्माकं च द्रव्यपर्यायो-
नययादिनां कारणे कार्यं द्रव्यात्मतया विद्यते, न पर्यायात्मकत-
या । अपि च-अस्माकमुपपादययध्रौव्ययुक्तमेव सद्रित्युच्यते,
नयतां तु ध्रौव्य युक्तमेव सद्रिति । यावत्प्राविर्भावतिरोभावौ
भयतोच्यते, तावपि नोत्पादयनाशावन्तरेण सधितुमुत्सहेते ।
तद्वर्मेहिकामुष्मिकचिन्तायामाद्योर्न कथञ्चित्ताम्यम् । किंच-
सर्वव्यापिते सर्वात्मनामधिकारित्वे चात्माद्वैते चाभ्युपगम्य-
माने नारकतिर्यङ्नराऽमरनेदेन वालकुमारकसुभगकुम्भाऽऽ-
कृष्टिनादिनेदेन वा न मीयेरत्न पञ्चदेहेरन्, नापि स्वकर्मचो-

दिता नानागतिषु ससरान्ति, सर्वव्यापित्वादेकत्वाद्वा । तथा-नब्रा-
ह्मणा, न कृत्रिया , न वैश्य्या, न प्रेष्या न शुद्रा, नापि कीटपक्षि-
सरीसृपाश्च भवेयुः । तथा-नराश्च सर्वेऽपि देवलोकाश्चेत्येव नाना-
गतिभेदे नोभिधेरन् । अतो न सर्वव्यापी आत्मा, नाप्यात्माद्वैतवा-
दोऽप्यायाति, अतः प्रत्येक सुखदुःखानुभवः समुपलभ्यते । तथा-
शरीरवक्रपर्यन्तमात्र एवात्मा, तत्रैव तद्गुणविज्ञानोपलब्धेरिति
स्थितम् ॥ ४८ ॥

तदेव व्ययस्थिते शुष्मदागमो यथार्थाभिधायी न भवति, अ-
सर्वरूपणीतत्वात्, असर्वरूपणीतत्वं चैकान्तपक्षसमाधयणादि-
त्येवमसर्वरूपस्य मार्गोद्भावन दोषमाविर्भावयन्नाह—

लोयं अयाणित्तिह केवद्वेणं ,

कहंति जे धम्ममजाणमाणा ।

णासंति अप्पाण परं च एट्ठा ,

संसारपोरम्मि अणोरपारे ॥ ४९ ॥

लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मक, चराचर वा लोकम्, अज्ञात्वा केवलेन
द्विष्यज्ञानाभ्यासेनेहास्मिन् जगति, ये तीर्थिका अजानाना अवि-
ष्टांसो धर्म दुर्गतिगमनमार्गस्याग्नौ ज्ञातु, कथयन्ति प्रतिपादयन्ति,
ते स्वतो नष्टा अपगमन्ति नो प्रायन्ते । क, घोरे जयानके संसार-
मागरे(अणोरपारे स्ति) अर्वाग्नभागपरभागवज्जितेऽनाद्यनन्त इत्ये-
व जूने समारण्ये आत्मानं प्रक्षिपन्तीति यावत् ॥ ४९ ॥

साम्प्रत सम्यग्ज्ञानधत्तामुपदेष्टुणा गुणानाविर्भावयन्नाह—

लोयं विजाणंतिह केवद्वेणं ,

पुणेण नाणेण समाहिजुत्ता ।

धम्मं समत्तं च कहंति जे ऊ,

तारंति अप्पाण परं च तित्ता ॥ ५० ॥

लोक चतुर्दशरज्ज्वात्मक केवलालोकेन केवलिनो विविध-
मनेकप्रकार जानन्ति विद्वन्तीहास्मिन् जगति प्रकर्षेण जाना-
ति प्रज्ञ , पुण्यहेतुत्वात् पुण्यम् । तेन तथाज्ञानेन ज्ञानेन समा-
धिना च युक्ता, समस्त धर्म धुनचारित्ररूप, ये तु परहितैषिणः,
कथयन्ति प्रतिपादयन्ति, ते महापुरुषास्ततः संसारसागरतीर्णा ,
पर च तारयन्ति सदुपदेशदानत इति केवलिनो लोक जानन्ती-
त्युक्त यत्पुनर्ज्ञानेनेत्युक्त तद् बौद्धमतोच्छेदेन ज्ञानाधार आत्मा
अस्तीति प्रतिपादनार्थमिति । एतदुक्तं नवति-यथाऽऽदेशिक.
सम्यग्दमार्गज्ञ आत्मानं परं च तदुपदेशवर्तिन महाकान्तारादि-
यकितदेशप्रापणेन निस्तारयत्येव केवलिनोऽप्यात्मान परं च
संसारकान्ताराभिस्तारयन्तीति ॥ ५० ॥

पुनरप्यार्द्धककुमार एवाह—

जे गरहियं ठाणमिहावसति ,

जे यावि ठोए चरणोववेया ।

उदाहमंतं तु सप मईए ,

अहाउसो ! विप्परियासमेवे ॥ ५१ ॥

असर्वरूपरूपणमेव जूत भवति । तद्यथा-ये केचित्ससारान्त-
र्धर्तिनोऽशुभकर्मणोपेता समन्वितास्तद्विपाकसहाया, गहितनि-
न्दित जुगुप्सित निर्विधेकिजनाचरित, स्थान पद कर्मानुष्ठानरूप-
मिहास्मिन् जगति, आसेवन्ते जीविकाहेतुमाश्रयन्ति, तथा च-ये
सदुपदेशवर्तिनो लोकऽस्मिन् चरणेन विरतिपारिणामरूपेणोपेक्षा-
समन्विता, नेपामुनयेयामपि, यदनुष्ठानं शोभनाशोभनस्वरूप-

पि सत् तदसर्वैरर्वाद्दर्शजिः सम सदृश तुल्यमुदाहृतमुपन्य-
स्न, स्वमत्या स्वाभिप्रायेण, न पुनर्यथावस्थितपदार्थनिरूपणेन ।
अथवा-आयुष्मन् ! हे एकदण्डिन् ! विपर्यासमेव विपर्ययमेवो-
दाहरेदसर्वज्ञो यदशोभन तच्छोभनत्वेन; इतरत्तितरथेति ।
यदि वा(विपर्यास इति)मत्तोन्मत्तप्रज्ञापवदित्युक्तं ज्ञवतीति ॥५१॥

(११) तदेवमेकदण्डिकुमारो निगृह्यत्पार्श्वककुमारो यावद् भ-
गवदन्तिकं व्रजति तावद् हस्तितापसा परिवृत्य तस्पुरिदं च
प्रोचुरित्याह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
बाणेण मारेण महागयं तु ।
सेसाण जीवाण दयद्वयाप,
वासं वयं विचि पकप्पयामो ॥ ५२ ॥

हस्तिन व्यापाद्यात्मनो वृत्तिं कल्पयन्तीति हस्तितापसाः, तेषां
मध्ये कश्चिद्बद्धतम एतदुवाच । तद्यथा-भो मार्द्रककुमार ! सशु-
तिकेन सदाऽऽवबुद्धत्वमालोचनीयम्, तत्र ये अमी तापसाः
कन्दमूलफलाशिनस्ते बहूनां सत्त्वानां स्थावराणां तदाश्रितानां
बोद्धुम्बरादिषु जङ्गमानामुपघाते वर्तन्ते । येऽपि च भैक्ष्येणात्मानं
वर्तयन्ति तेऽप्याशसादोषद्विना इतश्चेतश्चाट्यमानाः पिपी-
लिकादिजन्तूना उपघाते वर्तन्ते । वयं तु सवत्सरेणापि, अपि-
शब्दात् षण्मासेन चैकैकं हस्तिनं महाकायं बाणप्रहारेण
व्यापाद्य शेषसत्त्वानां दयार्थमात्मनो वृत्तिं वर्तनं तदामिषेण वर्ष-
मेकं यावत्कल्पयामः । तदेव वयमेकसत्त्वोपघातेन प्रवृत्ततर-
सत्त्वानां रक्षा कुर्म इति ॥ ५२ ॥

साम्प्रतमेतदेवाऽऽर्द्रककुमारो हस्तितापसमतं

दृषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
पाणं हणंता अणियत्तदोसा ।
सेसाण जीवाण वहेऽन्नगा य,
सिया य थोत्र गिहिणो वि तम्हा ॥ ५३ ॥

सवत्सरेणैकैकं प्राणिनं प्रतोऽपि प्राणातिपातादनिवृत्तदोषा-
स्ते भवन्ति । आशसादोषश्च भवता पञ्चेन्द्रियमहाकायसत्त्व-
वधपरायणानामनिदुष्टो भवति । साधूनां तु-सूर्य्यरश्मिप्रका-
शितवीथिषु युगमात्रदृष्ट्या गच्छतामीर्यासमिति समितानां
द्विचत्वारिंशदोषरहितमाहारमन्वेपयता लाभालाभसमवृ-
त्तीनां कुतस्तस्य आशसादोषः ? । पिपीलिकादिसत्त्वोपघातो
धेत्यर्थः । स्तोकसत्त्वोपघातेनैवभूतेन दोषाभावो भवताऽभ्युप-
गम्यते, तथा च सति गृहस्था अपि स्वारम्भदेशवर्तिन एव प्रा-
णिनो भवन्तीति शेषाणां च जन्तूनां क्षेत्रकालव्यवहितानां भव-
दभिप्रायेण वधेन प्रवृत्ता यत एव तस्मात्कारणात्स्यादेव स्तो-
कमतिस्वरूपं यस्माद् भवन्ति ततस्तेऽपि दोषरहिता इति ॥५३॥

साम्प्रतमार्द्रककुमारो हस्तितापसान्दृषयित्वा

तदुपदेष्टारं दृषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
पाणं हणंता समणव्वयेसु ।
आयाऽहिं ते पुरिमे अणजे,
ए तारिसे केवलिणो जवन्ति ॥ ५४ ॥

अमणानां यतीनां व्रतानि भ्रमणव्रतानि, तेष्वपि व्यवस्थि-
ताः सन्त एकैकं सवत्सरेणापि ये भवन्ति, ये चोपदिशन्ति,
तेऽनार्याः, असत्कर्मानुष्ठायित्वात् । तथा-आत्मानं परेषां चा-
हितास्ते पुरुषाः । बहुवचनमार्थत्वात् । न तादृशाः केवलिनो भ-
वन्ति । तथाहि-एकस्य प्राणिनः सवत्सरेणापि घाते येऽन्ये पि-
शिताश्रितास्तत्संस्कारे च क्रियमाणे स्थावरजङ्गमा विनाश-
मुपयान्ति, ते तैः प्राणिवधोपदेष्टृभिर्न दृष्टाः । न च तैर्निरव-
धोपायो माधुर्य्या वृत्त्या यो भवति स दृष्ट, अतस्तेन केवल-
मकेवलिनो विशिष्टविवेकरहिताभ्येति ।

तदेव हस्तितापसाभिराहृत्य भगवदन्तिकं गच्छन्तमार्द्र-
ककुमारं महता कलकलेन लोकेनाभिप्रेयमानं तं समुप-
लभ्य अभिनवगृहीतः सपूर्णलक्षणसंपूर्णो हस्ती समु-
त्पन्नस्तथाविधविवेकोचितं यद् यथाऽऽर्द्रककुमारोऽयमपह-
ताशेषतीर्थिको निष्पत्यूह सर्वज्ञपादपञ्चान्तिकं वन्दनाय
व्रजति, तथाऽहमपि यद्यप्यपगतशेषबन्धनः स्यां तत एव
महापुरुषमार्द्रककुमारं प्रतिबुद्धतस्करपञ्चशतोपेतं, तथा-
प्रतिबोधितानेकवादिगणसमन्वितं परमया भक्त्यैतदन्तिकं
गत्वा वन्दामीत्येव यावदसौ हस्ती कृतसकलपस्तावन्न-
दृष्टदिति शुद्धिसमस्तबन्धनः सन्नार्द्रककुमाराभिमुखं प्रद-
त्तकर्णतालस्तथोर्ध्वप्रसारितदीर्घकरं प्रधावितः, तदनन्तरं
लोकेन कृतहाहारवर्गमकलकलेन पूकृतम् । यथा- ' धिक्
कष्टं हतोऽयमार्द्रककुमारो महर्षिर्महापुरुषः ' तदेव प्रलप-
न्तो लोका इतश्चेतश्च प्रपलायमानाः, असावपि वनहस्ती स-
मागत्याऽऽर्द्रककुमारसमीपं भक्तिसन्मत्तमावनाप्रभागोत्तमाङ्गो
निवृत्तकर्णतालः त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य निहितधरणीतलदन्ताप्र-
भागः स्पृष्टकराग्रतश्चरणयुगलं सुप्रणिहतमनाः प्रणिपत्य म-
हर्षियनाभिमुखं ययाविति । तदेवमार्द्रककुमारतपोनुभावा-
बन्धनोन्मुखं महागजमुपलभ्य स पौरजनपदः श्रेणिकराजस्त-
मार्द्रककुमारं महर्षिं तत्तपःप्रभावं चाभिनन्द्यान्निवन्द्य च प्रो-
वाच-भगवन् ! आश्चर्यमिदं, यदसौ वनहस्ती तादृग्विधाच्छ-
स्त्रोच्छेद्याच्छृङ्खलाबन्धनाद्युपसप्तः प्रप्रावान्मुखं इत्येतदतिदुष्क-
रमित्येवमभिहिते, मार्द्रककुमारं प्रत्याह-भो श्रेणिक महाराज !
नैतदुष्करं यदसौ वनहस्ती बन्धनान्मुक्तः । अपि त्वेतदुष्करं य-
त्त्वेहपाशमोचनं, एतच्च प्राङ्गिर्युक्तिगाथया प्रदर्शितम् । सा चेयम्
“ए दुक्करं वारणपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणम्मि राय ॥ जह
उ तत्थाऽऽवलिणं ततुणा, सुदुक्करं मे पणिहाइ मोयण ॥ १॥
एवमार्द्रककुमारेण राजानं प्रतिबोध्य तीर्थकरान्तिकं गत्वाऽ-
न्निवन्द्य च जगवन्तं भक्तिभरानिर्भरं आसाञ्चके । भगवानपि
तानि पञ्चापि शतानि प्रवाज्य तच्छिष्यत्वेनोपनिन्य इति ॥५४॥

साम्प्रतं समस्ताभ्ययनार्थोपसहारार्थमाह—

बुद्धस्स आणापे इमं समाहिं,
आस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई ।
तरिउं समुहं च महाभवोणं,
आयाणवंतं समुदाहरेज्जा ॥ ५५ ॥ ति वेमि ।

बुद्धोऽवगततत्त्व सर्वज्ञो वीरवर्द्धमानस्वामी, तस्य आहूया तदा
ऽऽगमेन, इमं समाधिं सत्कर्मावासिलक्षणमवाप्यास्मिन् समार्थां
सुष्ठु स्थित्वा मनोवाक्कायैश्च प्रणिहतेन्द्रियो न मिथ्यादृष्टिभ्रम-
न्यतः, केवलं तदाचरणजुगुप्सां त्रिविधेनापि करणेन न विधत्त ।
स पञ्चभूतमात्मनः परेषां च प्राणशीलः । तायां वा गमनशीलो

मोक्षं प्रति, स एव भूतस्त्रीतुमतिवह्म्य समुद्रमिव तुस्तर म-
हाभयौघं मोक्षार्थमादीयत इत्यादान सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यरू-
प तच्छिद्यते यस्यासावादानवान् साधुः । स च सम्यग्दर्शनेन स-
ता परमार्थिकतपःसमृद्ध्यादिदर्शनेन मौनीन्द्रादर्शनाच्च प्रच्य-
वते; सम्यग्ज्ञानेन तु यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतः समस्तप्रावा-
दकथादिनिराकरणेनापरेषां यथावस्थितमोक्षमार्गमाविर्भावय-
तीति; सम्यक्चारित्र्येण तु समस्तजृतग्रामद्विदैपया निरुद्धाश्रव-
द्भारः सन् तपोविशेषाद्यानेकभावोपाज्जितं कर्म निर्जरयति । स्व-
तोऽन्येषां चैवप्रकारमेवधर्ममुपाहरेद्भ्यागृणीयादित्यर्थः । इति-
परिसाम्पत्यर्थं, प्रवीमाति ॥ ५५ ॥ सूत्रं २ श्रु० ७ अ० ॥

अद्वाग (य) पुर-आर्चकपुर-न० । नगरजेदे, यत्र आर्चककु-
मार उत्पन्न । सूत्रं २ श्रु० ६ अ० ।

अद्वाचदण-आर्चचन्दन-न० । सरसचन्दने , औ० । " अ-
द्वाचदणलिलितगता इतिसिलिधपुष्पगगासाद् सुहृमाई
असकिलिछाई वन्याद् यथरपरिहिया " इति । आर्चन सरसे-
न चन्दनेनाऽनुवृत्तिगता येषां ते आर्चचन्दनानुवृत्तिगताः ।
(सुपुरुषवर्णक.) औ० ।

अद्वाण-अर्दन-पु० । अर्द-व्युद्गता, पीनायां, वधे, याचने
च । वाच० । स्वनामख्याते राजनि च, येन पञ्चावर्तो प्रार्थयित्वा
माणिस्यदेवप्रतिमाऽऽनीता । ती० ५ कल्प ।

अद्वाणो (एणो)-देशी-आकुशे , दे० ना० १ वर्ग ।

अद्वाव-अर्दव-त्रि० । निगालिते, आघ० ६ अ० ।

अद्वाव-अर्दव्य-न० । कृप्याशुचित्तव्याभावे, पञ्चा० ३ विच० ।

अद्वाग-आर्चदण-न० । आ-रुह-भावे व्युद् । उत्कायने, करणे
व्युद् । द्रव्यपाकायान्वासाप्यमाने उदकनैर्वाद्यै, उपा० ३ अ ।

अद्वा-अर्द्रा-त्री० । उद्वतताकं नक्षत्रजेदे, अनु० । " दो अ-
द्वाओ " स्था० २ ठा० ३ उ० । " अद्वा खलु नक्षत्रजे " सू०
प्र० १० पादु० । ' अद्वा नक्षत्रजे पगतारे ' प० स० १ द्वार ।

अद्वाश्च-आदर्शित-न० । आदर्शनेन पवित्रीकृते, श्रु० १ उ० ।

अद्वाओ-दशी-दर्पणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्वाग-आदर्श-पु० । दर्पणे, स० ।

अद्वायं पेहमाणे माणुस्ते किं अद्वायं पेहति, अत्ताणं
पेहति, पलिजागं पेहति ? गोयमा ! एणो अद्वायं पेहति,
एणो अत्ताणं, पलिजागं पेहति । एधं एतेण अजिलावेणं
अत्तिं माणिं दुद्धं पाणं तेह्ण फाणियरस ।

(अद्वायमिति) आदर्शं (पेहमाणे स्ति) प्रेक्ष्यमाणो मनुष्य
किमादर्शं प्रेक्षते? आर्द्रास्त्वित्तामानम्? अस्मात्प्रत्ययेन शरीरम-
भिगृह्यते । उत पलिजागमिति ? प्रतिजागप्रतिविम्बम् । मगवा-
नाह-आदर्शं तावत्प्रेक्षन् एव, तस्य स्फुटस्वरूपस्य यथावस्थि-
ततया तेनोपलभ्यमानम् । आत्मान आत्मशरीरं पुनर्न पश्यति, त-
स्य तत्राभावात् । स्वशरीरं हि आत्मानि व्यवस्थित नादर्यं,
ततः कथमात्मशरीरं तत्र च पश्येत् इति ? प्रतिजाग स्वशरीर-
स्य प्रतिविम्बं पश्यति । अयं किमात्मक प्रतिविम्बः ? उच्यते-छा-
यापुद्गलात्मकम् । तथाहि-सर्वमैन्द्रियक वस्तु स्थूलं चयापचय

धर्मक, रश्मिवच्च, रश्मय इति छायापुद्गला व्यवस्थियन्ते । ते च
छायापुद्गलाः प्रत्यक्त एव सिद्धाः, सर्वस्यापि स्थूलवस्तुन-
श्चायाया अव्यक्ता प्रतिप्राप्तिप्रतीतेः । अन्यच्च-यदि स्थूलव-
स्तु व्यवहिततया, दूरस्थिततया वा नादर्शादिष्ववगाढरश्मिर्भ-
वति, ततो न तस्मात्तद् दृश्यते, तस्मादवसीयते-सन्ति छा-
यापुद्गला इति । ते च छायापुद्गलास्तत्तत्सामग्रीवशाद्विचित्र-
परिणमनस्वभावाः । तथाहि-ते छायापुद्गला दिवा वस्तुन्य-
न्नास्वरप्रतिगताः सन्तः स्वसवन्धिद्रव्याकारमा विज्जाणाः इया-
मरूपतया परिणमन्ते, निशि तु कृष्णाणां, एतच्च प्रसरति
दिवसे सूर्यकरनिकरम्, निशि तु चन्द्रोद्योते प्रत्यक्त एव
सिद्धम् । त एव छायापरमाणव आदर्शादिभास्वरद्रव्यप्रतिग-
ताः सन्तः स्वसवन्धिद्रव्याकारमाध्याना यादृग्वर्णाः स्वसंश-
न्धिनि छव्ये कृष्णो, नीलः, सितः, पीतो वा, तदाभाः परिणमन्ते ।
एतदप्यादर्शादिष्वव्यक्तं सिद्धम् । ततोऽधिरुतसूत्रेऽपि ये म-
नुष्यस्य छायापरमाणव आदर्शादिकमुपसकम्य स्वदेहवर्णा-
मतया, स्वदेहाकारतया च परिणमन्ते, तेषां तत्रोपलब्धिर्न श-
रीरस्य, ते च प्रतिविम्बशब्दाच्चा । अत उक्तं न शरीरपश्य-
ति, किन्तु प्रतिभागमिति । नैत्रैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितम् ।

यत उक्त आगमे-

" भासा च दिवा छाया, अभासुरगता निशि तु कालामा ।

सा चैव भासुरगता . सदेहवन्ना मुण्येव्या ॥ १ ॥

जे आदरिस्स तत्तो , देहावयवा हवति सकता ।

तोस्सि तत्थऽवलक्खी , पगासयोगा न इयरेस्सि " ॥ २ ॥

एतन्मूलटीकाकारोऽप्याह-यस्मान्स्वमेव हि ऐन्द्रियकं स्थू-
लं छव्यं चयापचयधर्मक, रश्मिवच्च भवति, यत आदर्शादिषु
छाया स्थूलस्य दृश्यतेऽवगाढरश्मिनः । न चादर्शं अनवगाढर-
श्मिनः स्थूलस्य कस्यचिद्दर्शनं भवति । नचान्तरितं दृश्यते
किञ्चित्, अतिदूरस्थं वा इति ।

पलिभाग प्रतिभाग (पेहति) पश्यति । एवमसिमण्णाद्विष-
याण्यपि पद् सूत्राण्यपि भावनीयानि । सूत्रपाठोऽप्येवम्-" अ-
स्मिं देहमाण मणुस्ते किं अस्मिं देहह, अत्ताण देहह, पलिजाग
देहह " इत्यादि । प्रज्ञा० १५ पद । स्था० । स्फटिकादिमणौ ,
नि० चू० १३ उ० । ' अणायार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे
आदर्शं मुखप्रद्वोकनप्रस्तावेऽप्येतदुक्तम्)

अद्वागपासेण (न)-आदर्शप्रश्न-पु० । प्रश्नविद्याभेदे, यथा आ-
दर्शं देवताऽव्यन्तं क्रियते । एतद्वक्तव्यताप्रतिषेधे प्रश्नव्याकर-
णानामष्टमेऽध्ययने च । परमिदानीं प्रश्नव्याकरणेषु एतदध्ययनं
न दृश्यते । स्था० १० अ० ।

अद्वागविज्जा-आदर्शं वच्चा-खी० । विद्याविशेष, यथाऽऽनुर
आदर्शं प्रतिविम्बितोपमृज्यमानः प्रगुणो जायते । व्य० ५ उ० ।

अद्वागसमाण-आदर्शसमान-पु० । आदर्शेन समानस्तुल्य इति
अमणोपासकजेटे, स्था० । यो हि माधुभिः प्रज्ञाप्यमानानुष्मर्गाप-
चादादीनागमिकान् भावान् यथावत्प्रतिपद्यते सन्निहितार्थानाद-
र्शकवत्, स आदर्शसमानः । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अद्वामलग-आर्द्रामलग-न० । पीडुवृक्षसवन्धिनि मधुरे, (इति
सप्रदाय) ध० २ अधि० । पञ्चा० । " अद्वामलगपमाण स-
चित्तपुद्गलिकाय गेहति " नि० चू० १ उ० । शण्डुकसवन्धिनि
मुकुरे प्रव० ४ द्वा० ।

अहारिष्ट-आर्द्राणिष्ट-पु० । कोमलकाके, आ० म० प्र० ।

अदिय-अदित-त्रि० । पीमिते, ४५० १० उ० ।

अदोहि (ए)-अद्रोहिन्-त्रि० । कस्याऽन्यवञ्चके, ध० ३ अधि० ।

अद्ध-अर्द्ध-न० । "अर्द्धमूर्धाऽर्धेऽन्ते वा" । ७ । २ । ४१ । इति सूत्रेण सयुक्तस्य दत्तविकल्पनाच्चात्र ढ प्रा० । समप्रविज्ञाने, एक-देशे च । विशेष० । "अर्द्धऽगुलसोणिको जेद्वपमाणो असी भणि-ओ" । ज० ३ वक्क० ।

अद्धतो-दशी-पर्यन्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्ध (द्दा) ण-अध्वन्-पु० । प्राकृते-"पुस्यन् आणो राज-वच्च" ७ । ३ । ५६ । इति सूत्रेण अन स्थाने वा आण इत्यादेशः । प्रा० । पणि, को० । मार्गे, ज्ञा० १४ अ० । नि० चू० ।

अद्धाणं पि य दुविहं, पथो मगो य होइ नायव्वो ॥

अध्वा द्विविधः, तद्यथा-पन्था, मार्गश्च । पन्था नाम यत्र प्रामन-गरपल्लीवजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नास्ति । यत्र पुनर्ग्रामानुग्रामपरम्परयाऽवसित भवति स ग्रामे मार्ग उच्यते । वृ० १ उ० । प्रयाणके, विपा० १ भु० ३ अ० ।

अद्ध (द्धाण) कप्प-अध्वकट्प-पु० । अध्वनि गृह्यमाणे कट्टे कमनीये आहारे, वृ० १ उ० । ('विहार' शब्दे एतद्वि-धिर्द्रष्टव्यः)

अद्धकरिस-अर्द्धकप-पु० । पक्षस्याऽष्टमांशे, अनु० ।

अद्धकविट्ठ-अर्द्धकपित्थ-पु० । अर्द्धकपित्थाकारवति, "अ-र्द्धकविट्ठसंज्ञाणसत्थिय" उक्तानीकृतमर्द्धमात्र कपित्थस्यैव यत् सस्यान तेन सस्थितमर्द्धकपित्थसस्थानसास्थितम् । सू० प्र० १० पाहु० ।

अद्धकुल (म) व-अर्द्धकुल (ढ) व-पुं० । मगधदेशप्रसिद्धे धान्यमानविशेषे, रा० ।

अद्धकोस-अर्द्धकोश-पु० । धनुःसहस्रे, ज० ४ वक्क० ।

अद्धक्खणं-देशी-प्रतीकणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धक्खिअं-देशी-सेज्ञाकरणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धक्खि (निउ) कमक्ख-अर्द्धाक्षिकटाक्ष-न० । अर्द्धे तिर्यग्-वृत्तमक्षि येषु कटाक्षरूपेषु चेष्टितेषु ते । अर्द्धकटाक्षेषु, "अर्द्ध-ऽच्छिन्नकृष्णचिह्निपार्दि लूनेमाणा उवेति" जी० ३ प्रति ।

अद्धक्खिय-अर्द्धाक्षिक-त्रि० । अर्द्धविकृतलोचने, महा० ३ अ० ।

अद्धखट्वा-अर्द्धखट्वा-स्त्री० । अर्धजङ्घां गदयन्त्यामुपानदि, वृ० ३ उ० ।

अद्धचंद-अर्द्धचन्द्र-पु० । अर्द्धचन्द्राकारे सोपाने, ज्ञा० १ अ० । ख० । सौधर्मकलोऽर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थित । रा० ।

अद्धचक्रवाल-अर्द्धचक्रवाल-न० । गतिविशेषे, स्था० ७ ग० ।

अद्धचक्रवाहा-अर्द्धचक्रवाहा-स्त्री० । अर्द्धवलयाकारायां अ-णौ, स्था० ७ ग० ।

अद्धद्ध-अर्द्धपट्ट-त्रि० । सार्द्धे पञ्चसु, भा० म० प्र० ।

अद्धज्या-देशी-मोचकाख्यपादत्राणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धजिष्ण-अर्द्धजीर्ण-त्रि० । जीर्णाऽर्जीर्णे, आ० म० द्वि० ।

अद्धजोयण-अर्द्धयोजन-न० । योजनस्यार्द्धमर्द्धयोजनम् । गन्यूतौ, वृ० ४ उ० ।

अद्धद्धम-अर्द्धाष्टम-त्रि० । अर्द्धमष्टम येषां तान्यर्द्धाष्टमानि । सा-र्द्धसप्तसु, ज्ञा० १ अ० । "अर्द्धमष्टम य राशदियाण य विइक्कण" स्था० ६ ग० । सार्द्धसप्ताहोगत्राधिकेषु-अर्ततेषु, कर्म० १ कर्म० ।

अद्धणाराय-अर्द्धनाराच-न० । अर्द्धे नाराचमुजयतो मर्कटव-न्धो यत्र तदध्वनाराचम् । मर्कटकैकदेशवन्धनद्वितीयपार्श्वकी-ल्लिकामवन्धरूपे चतुर्थसङ्गने, स० । यत्र हि एकपार्श्वे मर्कट-वन्धो द्वितीये च पार्श्वे कील्लिका भवति । जी० १ प्रति० । कल्प० । प० स० । कर्म० । त० । स्थ० ।

अद्धतुला-अर्द्धतुला-स्त्री० । तुलाप्रमाणस्यार्द्धं, अनु० ।

अद्धद्ध-अर्द्धार्द्ध-न० । चतुर्नागे, वृ० ३ उ० ।

अद्धद्धा-अर्द्धाद्धा-स्त्री० । अर्द्धाया अर्द्धाद्धा । दिव-सस्य रजन्या वा एकदेशे प्रहरादौ । स्था० १० ग० ।

अर्द्धदामीसय-अर्द्धदामिश्रक-न० । अर्द्धदामिविषय मिश्रक स-त्याऽसत्यमर्द्धदामिश्रकम् । सत्यमृषाभेदे, यथा कश्चिन्किम्-श्चित्प्रयोजने प्रहरमात्र एव मध्याह्नमित्याह । स्था० १० ग० ।

अर्द्धपचममुहुत्त-अर्द्धपञ्चममुहुत्त-पु० । अर्द्धपञ्चमाश्च ते मु-हुर्ताश्च अर्द्धपञ्चममुहुर्ता । नवसु घटिकासु अर्द्धपञ्चमा मुहुर्ता यस्य । ६ व० । नवघटिकापरिमिते, "जया ण भने ! उक्को-सिया अर्द्धपचममुहुत्ता दिवसस्स रार्द्धे वा पोरिसी जवइ" म० ११ श० ११ उ० ।

अर्द्धपल-अर्धपल-न० । कर्षद्वये, अनु० ।

अर्द्धपञ्चिअंका-अर्धपर्य्य (स्य) ङ्ग-स्त्री० । ऊरावेकपादनिवे-शनलक्षणया लक्षणायाम्, स्था० ५ ग० १ उ० ।

अर्द्धपेढा-अर्द्धपेटा-स्त्री० । पेटाया अर्द्धमर्द्धपेटा । पेटायाः समस्तपेटे । अर्द्धपेटेवार्द्धपेटा । पेटार्द्धसमानगमनलक्षणं गोचर-पेटे, पञ्चा० १७ विध० । दशा० । "अर्द्धपेढा इमीए चेव अर्द्ध-सत्थिया घरपरिवाही" प० व० २ ग० । अर्द्धपेटाऽप्येवमेव, नव-रमर्द्धपेटासदृश स्थानयोर्दिग्वय संबन्धोर्गृहश्रेणोरेव पर्यट-ति, वृ० १ उ० । स्था० । उक्त० । ध० । ग० ।

अर्द्धभरद्-अर्द्धभरत-पु० । भरतस्यार्द्धमर्द्धभरतम् । भरतार्द्धे, "अर्द्धभरद्स्स सामिका धीरकिसि पुरिसा" प्रश्न० ४ आश्र० ग० ।

अर्द्धभरद्दण्ड-अर्द्धभरतप्रमाणमात्र-त्रि० । अर्द्धभरत-स्य यत्प्रमाण तदेव मात्रा प्रमाण यस्य स तथा । सातिरेकत्रि-षष्ट्याधिकयोजनशतद्वयमिते, "अर्द्धभरद्दण्डप्रमाणमेत वादि विसेण विसपरिणय विसट्ठमार्णि करेत्तए" (वृश्चिक आशी-विषो वा) स्था० ४ ग० ४ उ० ॥

अर्द्धमागद्-अर्द्धमागध-न० । मगधार्द्धविषयभाषानिबन्धे, अ-ष्टादशदेशांजापानियते च । नि० चू० ११ उ० ।

अर्द्धमागही-अर्धमागधी-स्त्री० । "रसोलंशौ" (७ । ४ । २८७) भागध्यामित्यादिमागधीभाषान्नकणेनापरिपूर्णायां प्राकृतभाषा-

लक्षणबहुधायां भाषायाम्, श्री० । प्राकृतादीनां पण्णां भाषाविशेषाणां मध्ये या मागधी नाम भाषा "रमोर्लेशा" मागध्यामित्यादिलक्षणघनी, सा असमाश्रितस्वकीयसमग्रलक्षणाऽर्द्धमागधीत्युच्यते । "भगव च ए अद्भागहीप भाषाए भम्ममाइक्खइ" इति टावैशो घुत्तातिशयः । स० ३४ सम० । विपा० प्रका० । रा० । आचा० । आ० म० । "अद्भागही भासा मासिज्जमाणी विसिञ्जइ" भाषा किल षट्पधा भवति, यदाह-"प्राकृतसंस्कृतमागध-पिशाचभाषा च शौरसेनी च । यद्योऽत्र भूरिभेदो, देशविशेषादप्यन्यः" ॥१॥ भ० ५ ज० ४३० ।

अद्भास-अर्द्धभास-पु० । अर्धभासस्य । एकदे० त० स० । पञ्चदशात्मके भासस्थानरूपे पतात्मके काले, प्रद० १० न्य० टा० । अर्धभासमि-अर्धभासिक-त्रि० । पाक्षिके, "अर्धभासमि कस्तरिमुदे सि" यदि कर्तव्यां कारयति तदा पक्षे पक्षे गुप्तकारणायम, पुरकर्तव्योश्च लोच्ये प्रायश्चित्तम् । पल्प० ।

अर्धरत्नकालमय-अर्धगतकालमय-पु० । समय समाचारोऽपि भवतीति कालेन विशेषित । कालरूप समयकालसमय । स चाऽनर्द्धरात्ररूपोऽपि भवतीत्यनोऽर्द्धरात्रकालसमयः । निर्गम्ये रात्रेर्मध्यकाले, "अर्धरत्नकालसमयसि सुसज्जगता ओर्द्धरमाणी आर्द्धरमाणी" इत्यादि । भ० ११ श० ११ उ० ।

अर्धवन्न-अर्धलन-पु० । लघ्नस्य समेऽप्ये, ज्यो० १ पादु० ।

अर्धवन्निरारं-दद्या-मण्डने, दे० ना० १ वर्ग ।

अर्धवेयाली-अर्धवेताली-श्री० । धताल्या विद्याया उपशामकविद्यायाम्, सूत्र० २ धु० २ अ० ।

अर्धमंकासिया-अर्धमाङ्गाश्रिका-श्री० । देवलसुतराजस्य प्रयोजितस्य प्रयजितायामेष देव्यामुत्पन्नाया पुत्रायाम्, प्राय० ४ अ० । आ० चू० ('सव्यकामाविरतया' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अर्धसप्त-अर्धसप्त-न० । एकतरसमे चूत्ते, यत्र पादा अक्षराणि वा समानि, अथवा यत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च समत्वम् । (न सर्वत्र) स्या० ७ टा० ।

अर्धहार-अर्धहार-पु० । नवसारिके कण्ठाभरणभेदे, रा० । आ० । जी० । वि० । ज० । जीवा० । आचा० । भ० । श्री० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । जी० ३ प्रति० । तत्रार्द्धहारद्वीपे, अर्द्धहारमद्वार्द्धहारमहाभद्री देवौ अर्द्धहारसमुद्रे अर्द्धहारवरार्द्धहारमहावरौ " जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारजद-अर्धहारजद-पु० । अर्द्धहारद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारमहाभद-अर्धहारमहाभद-पु० । अर्द्धहारद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारमहावर-अर्धहारमहावर-पु० । अर्द्धहारसमुद्राधिपता देवे, अर्द्धहारवरसमुद्राधिपतौ देवे च । जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारवर-अर्धहारवर-पु० । स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समुद्रभेदे च । तत्र अर्द्धहारवरार्द्धहारवरमहावरौ च देवौ वसतः । जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारवरभद-अर्धहारवरभद-पु० । अर्द्धहारवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारवरमहावर-अर्धहारवरमहावर-पु० । अर्द्धहारसमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारवरवर-अर्धहारवरवर-पु० । अर्द्धहारवरसमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारोभाम-अर्धहारोभास-पु० । स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समुद्रभेदे च । तत्र अर्द्धहारावभासे द्वीपे अर्द्धहारावभासभद्रार्द्धहारावभासमहाभद्री, अर्द्धहारावभासे समुद्रे अर्द्धहारावभासवरार्द्धहारावभासमहावरौ देवौ वसतः । जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारोभामजद-अर्धहारोभासजद-पु० । अर्द्धहारावभासद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारोभाममहाभद-अर्धहारोभासमहाभद-पु० । अर्द्धहारावभासद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारोभाममहावर-अर्धहारोभासमहावर-पु० । अर्द्धहारावभाससमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अर्धहारोभासवर-अर्धहारोभासवर-पु० । अर्द्धहारावभाससमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अर्धधा-अर्धधा-श्री० । समयविषु कालभेदेऽपि, सकेतादिधाचकोऽप्यस्ति । ज० ११ श० ११ उ० । अनु० । अवधिज्ञानाऽऽवरणकृत्योपशमलाभरूपायां लब्धौ, विशेषे । अर्द्धा त्रिविधा-अतीताका, वर्तमानाका, अनागतका च । कर्म० ५ वर्म० ।

अर्धधानुय-अर्धधानुय-न० । अद्भा कालस्तत्प्रधानमायु कर्मविशेषोऽस्मायु । भवात्ययेऽपि काश्रान्त्ययेऽपि कालान्तरानुशामिनि, स्या० १ टा० ३ उ० । कायस्थितिरूपे आयुस्कर्मभेदे, स्या० १ टा० ४ उ० । यथा-मनुष्याय कस्याऽपि प्रचान्यय एव नागच्छति । "दोष अद्भाउए पण्त्त । त जहा-मणुस्साण चेव पण्त्तियतिरिक्खजोणियाण चेव" स्या० २ टा० ३ उ० ।

अर्धकाकाल अर्धकाकाल-पु० । अद्भासमयादयो विशेषा, तद्वत्काकोऽद्भाकाल । चन्द्रमूर्यादिक्रियाविशिष्टेऽर्द्धतृतीयसमुद्रान्तर्वर्तिनि समयादौ कालभेदे, ज० ११ श० ११ उ० । विशेषे । आ० म० । आ चू० ।

अद्भाकालस्वरूपोपदर्शनार्थं विशेषावश्यकभाष्ये

आह—

सूरकिरिया विसिद्धो, गोदोहाइकिरियासु निरवेक्खो ।

अर्धकाकालो भण्णई, समयक्खेत्तम्मि समयाई ॥ ४ ॥

सूतो भास्कर, तस्य क्रिया मेरोक्षतसृज्यपि दिक्षु प्रदक्षिणतोऽजस्र त्रमणलक्षणा, सूरस्योपलक्षणत्वाच्चन्द्रग्रहणक्षताराणामपीत्यनुता क्रिया गृह्यते, तथा सूर्यादिक्रिया विशिष्टो विशेषिनो व्यक्ताकृतोऽर्द्धतृतीयसमुद्रलक्षणे समयज्ञेय समयावधिकादिरर्थं प्रवर्त्तने, न परन्तु, सूर्यादिक्रियाऽभावात्, सोऽद्भाकालो ज्ञेयते । क्रियैव परिणामवती काको नान्य शान ये कालमप्युच्यते, तन्मतस्य च्छेदार्थमाह गोदोहादिक्रियासु निर-

पेक्षा, न खलु यथोक्ताद्धाकाल क्रियां गोदोहाद्यात्मिकामपेक्ष्य प्रवर्तते, किं तु सूर्यादिगतिम् । तथाहि-यावद्यावत्त्रैत्रस्वकिर-
शैर्दिनकरश्चन्द्रोद्योतयते तद् दिवस उच्यते, परतस्तु रात्रिः ।
तस्य च दिवसस्य परमनिकृष्टोऽसंख्यतमो जाग समय । ने
चासंख्येया आवलिका इत्यादि । एव च प्रवृत्तस्यास्य कालस्य
सूर्यादिगतिक्रिया विहाय काऽन्या गोदोहादिक्रियापेक्षेति ? के
पुनस्ते समयादयोऽद्धाकालभेदा इत्याह निर्युक्तिकार-“सम-
यावलियमुद्भूता, दिवसमहोरत्तपक्षमासा य । सवच्चरयुगप-
लिया, सागरउत्सर्पिपरिगृह्य ॥” विशेषः ।

एतदेव सूत्रमुदाह—

से किं तं अद्धाकाले ? अद्धाकाले अणोगविहे पाणत्ते । तं
जहा-समयद्वयाए आवलियद्वयाए जाव उत्सर्पिणीयठ-
याए । एस एं सुदसणा अद्धादोहारच्छेयणेण विज्जमा-
णा जाहे विभागं एो इव्वमागच्छुं, मेत्तं समए । समयद्व-
याए असंखेज्जाण मयाणं समुदयसमिति समागमेण एगा
आवलिय ति वुच्चइ, संखेज्जाओ आवलियाओ जहा सा-
द्विज्जइसए जाव तं सागरोवमस्स एगस्स भवे परीमाणं ॥

(से किं त अद्धाकाले इत्यादि) अद्धाकाशोऽनेकविध प्रकृत ।
तद् यथा- (समयद्वयाए ति) समयरूपोऽर्थ समयार्थस्त्वद्भाव-
स्त्वत्ता तथा, समयजायेन इत्यर्थ । एवमन्यत्रापि । यावत् कर-
णात् ‘मुद्भूतद्वयाए’ इत्यादि दृश्यमिति । अधानन्तरोक्तस्य स-
यादिकाग्रस्य स्वरूपमभिधातुमाह- (एस णमित्यादि) एषाऽ-
नन्तरोक्तोत्सर्पिण्यादिका (अद्धादोहारच्छेयणेण ति) द्वौ हा-
रौ भागौ यत्र च्छेदने, द्विधा वा कारः करण यत्र तद्, द्विहार द्वि-
धाकार वा, तेन । (जाहे ति) । यदा, समय इति शेष । “संख-
मित्यादि” निगमनम् । (असंखेज्जाणमित्यादि) असंख्यातानां
समयानां सन्धिनां ये समुदया वृन्दानि तेषां या समितयो
मालिनानि तासां यः समागम सयांगः समुदयममिति समागम-
स्तेन, यत्कालमान भवतीति गम्यते; भेदावलिकेति प्रोच्यते ।
(साद्विज्जइसए ति) षष्ठ्यतस्य सप्तमोद्देशके । भ० ११ श० ११ उ० ।

अद्धाखिएण-अध्वरिक्क-वि० । पथि बहुचलनेन परिभ्रान्ते,

“ जो पुण अद्धाखिन्न, अतिहिं पूणइ त दाण । ” पि० ।

अद्धाडेय-अद्धाच्छेद-पु० । आवलिकाद्विके, क० प्र० १ प० सं० ।

अद्धादय-अद्धादक-पु० । मगधदेशसन्धिनि मानविशेषे, औ० ।

अद्धाण-अध्वन्-पु० । पथि, “ पुस्यन आणो राजवच्च ”
॥ ८ । ३ । ५६ । इत्यन स्थाने आणेत्यादेशः । प्रा० ।

अध्वान-न० । प्रयाणके, “ अद्धाणेहिं सुहेहिं पातरासेहिं जेणेव
मालारुवी चोरपल्ली तेणेव उवागच्छइ ” विपा० १ अ० ३ अ० ।

अद्धाणकप्प-अध्वकटप-पु० । मार्गविहरणविधौ, (स च यथा
वद् ‘विहार’ शब्दे दर्शयिष्यते) लेशतस्त्वत्र-

अहुणा अद्धाणकप्प वोच्चापि ।

जेहिं च काणोहिं, अद्धा एो गम्म ते इणमो ॥ १ ॥

असिवे ओमोदरिए, रायइडे जए व आगाडे ।

देसुहाणे अपर-कप्पे य अद्धाणो पाणे ॥ २ ॥

उहदरे सुभिक्षे, अद्धाण पवज्जण च दप्पेणं ।
दिवमादी चउ लहुगा, चउ गुरुगा कालगा होंति ॥ ३ ॥

उगमउप्पादएण-सणाए जे खलु विराहिते ठाणे ।

तं जिप्पएण तस्स उ, पायच्छित्तं तु दायव्वं ॥ ४ ॥

पुढवी आऊ तेऊ, वाउ वणस्सति तसा य आणता ।

इयरेसु परित्तसु य, जं जीहिं आरोवणा जणिता ॥ ५ ॥

लहुओ गुरुओ इहु गुरु, चत्तारि उच्च लहुया य ।

छगुरु ठेदो मूलं, अणवट्टप्पोघपारंछी ॥ ६ ॥

असिवे ओमोदरिए, रायइडे जए व आगाडे ।

गीयत्था मज्झत्था, मत्थस्स गवेसणं कुज्जा ॥ ७ ॥

कालमकालं जोती, एातूण य अट्ठिवति अणुएणवणा ।

जिच्छू मिच्छादिट्ठी, धम्मकहा एणमेत्ते य ॥ ८ ॥

सत्थयसमिए खंभी-परिच्छणे खलु तहेव पोमलिए ।

धम्मकहणिमित्तेणं, वसही पुण दव्वल्लिगेणं ॥ ९ ॥

संथे पंथे तेणे, पंचविहो उगहो य दव्वाणं ।

सुसुग्गामे दव्व-गहण जयणाए गीयत्था ॥ १० ॥

तुवरे फले य पत्ते, गो महिसे सुत्तरा य दत्थी य ।

आणवमणातवे वि य, जयणाए जाणगे गहणं ॥ ११ ॥

पिप्पन्नगसूति आरिग-एक्खव्वणतद्वियपुमगपत्ते य ।

कत्तिय कत्तरि सिक्कग-मंविदूए लाउ चेव वात्तीय ॥ १२ ॥

पेत्तिय सेत्तिय गुत्तिगा-एणं अगदमत्थकोसे य ।

जं चएहु व गूढकरं, गेएहुइ अद्धाणकप्पम्मि ॥ १३ ॥

सीहाणुगा य पुरतो, वसज्जाणुमगतो समएणैति ।

पंथे तं पि य जता, धरेंति जा अरूपज्जत्ती ॥ १४ ॥

दंभिय मिच्छदिट्ठी, समुदाण णिवारणं चणिविसए ।

सारुविसएण जइग-वसज्जा पुण दव्वल्लिगेणं ॥ १५ ॥

उवकरणचरित्ताणं, विहोयणा सरीरहोयणागडे ।

धम्मकहणिमित्तेणं, पुद्वागकज्जेण आगाडे ॥ १६ ॥

अमिवादिकारणेहिं, अद्धाण पवज्जण अणुएणातं ।

उवकरणपुव्वपमिले-दिएण सत्थेण गंतव्वं ॥ १७ ॥

वच्चताणं अमहू, को तीण तरेज्ज गंदपादेहिं ? ।

अपरकमो तु ताडे, ताहिय तु डमे वि मग्गेज्जा ॥ १८ ॥

एगखुरए दुक्खरे, दुपिए अणुवंधि तह य अणुरंगा ।

अह जइया वि जायति, असती अणुसट्ठिमादीहिं ॥ १९ ॥

एगखुरा आसादी, दुगुरा उहादि दुपिय जइदी ।

अणुवंधी मकमादी, अणुरंगपिप्पी तु बोधव्वा ॥ २० ॥

एणसु पुव्ववट्ट-क्खुगादिजातित्तु सिक्खुत्तादी ।

अमती य खुडुओ वा, जिगविवेगेण कण्ठति तु ॥ २१ ॥

आवासियम्मि सत्थे, तस्मेव तगं पि अण्णित्ति पुणो ।

अह जणति गता संता, अण्णेज्जाह वि मयं एयं ॥ २२ ॥

ताहे य इक्कमादी, चानेद। तेसि अमनिए सुडो ।

लिंगविवेगं काडं, चारेती जा गताच्चणं ॥ २३ ॥
 एवं कुबुरादीसु वि, जयणा जा जत्थ सा तुकायन्वा ।
 मुत्तत्थजाणएणं, अप्पावहुयं तु णायन्व ॥ २४ ॥
 एतेसामएणतरं, अवगाढा णो णिमेवेज्जा ।
 तट्टाणगावराहे, सवट्ठियमोऽवराहाणं ॥ २५ ॥
 सवट्ठियाऽवराहे, तवोवत्थ ढो तहेव मूळ वा ।
 आयारपकप्पे जं, पमाणणिम्माणचरिमम्मि ॥ २६ ॥
 अद्वाणकप्प एसो, " । पं० जा० ।

अस्य चूर्णः—अद्वाणकप्पामि निष्पि परिसाओ कीरनि, सीह-
 परिसा पुरओ, वसजपरिसा मज्जओ मिगा य मज्जे, वसजा भ-
 ने । जाहे उत्तिग्गा अद्वाण ताव न परिउवैति, अद्वाणकप्प० जाव
 अद्वाणज्जत्ती, सो पुण सत्थवाहो मिच्छादिछी समुदाण वा नि-
 दारेज्जा धम्मकहाइ पञ्चवणा, सारुवियसन्नभइएहिं वा पञ्च-
 वैति । अह वसभा दव्वलिग काऊण पण्णैति वा ण । गाहा-
 (उवकरणत्ति)सो पुण मिच्छादिछीओ उवधारण वा विओवेज्जा,
 चरित्तसरीरमाइ वा पच्छा धम्मकहाइ पुलागकज्जा करैति, आ-
 गाढे कह पुण गतव्व सव्वेहिं वि । अह कोइ न तरइ बहिउ अत-
 रंता । गाहा-(एगक्खुरत्ति) पच्छा वसुखुर मग्गनि, सिरुपुत्तसा-
 चओ वा ण कहुइ, असई खुहुओ लिंगविवेगेण आवासिएपञ्च-
 प्पिण्णि । अह भणेज्जा—तथ गया पच्चपिणेज्जाह, ताहे लिंग-
 विवेगेण खुहे उव्वारेइ । एव गोणोऽवि दुप्पिओ नाम चत्थी-
 अणुरगी, सकमअणुवधी, पयसा, एव अप्पावहुय नाऊण ।
 गाहा सिद्धं जाव पमाणणिम्माणचरिमम्मि । एस अद्वाण-
 कप्पो । पं० चू० ॥

अद्वाणगमण—अध्वगमन—न० । पथि विहरणे, "णस्य अ-
 ध्वगमणे णो कप्पइ, सगर वा जाव सद्मानिय वा डुरुहि-
 साणं गच्छिस्तए " औ० । स्था० ।

अद्वाणणिगय—अध्वनिर्गत—त्रि० । मार्गनिर्गते, व्य० ८ उ० ।

अद्वाणपमिवन्न—अध्वप्रतिपन्न—त्रि० । मार्गप्रतिपन्ने, ज० २ श०
 १ उ० । (अन्तरापथे वर्तमाने) विहारवा कुर्वति, वृ० । अस्य त्रयो
 भेदा । तद्यथा—“ दूताहिमविहारी, ते वि य होती सपडि-
 वक्खा " वृ० ५ उ० ।

अद्वाणवायणा—अध्ववाचना—स्त्री० । अध्वनि मार्गे सूत्रार्थ-
 प्रदाने, व्य० १ उ० ।

अद्वाणसीसय—अध्वशीर्षक—न० । कान्तारादिनिर्गमरूपे प्र-
 वेशरूपे, पि० । तत पर समुदायेन सार्थकेन सह गन्तव्यम् ।
 तस्मिन्, व्य० ४ उ० । निर्भयमार्गान्ते, वृ० ३ उ० ।

अद्वाणिय—आध्वनिक—त्रि० । पथिके, वृ० ४ उ० ।

अद्वापच्चक्खाण—अद्वाप्रत्याख्यान—न० । कालाख्यामका-
 माभित्य पौरुष्यादिकालमाने, आव० ६ अ० ।

एतच्च दशम प्रायश्चित्तमित्थ प्रतिपादितम्—

अद्वापच्चक्खाणं, जं तं कालप्पमाणेएणं ।
 पुरिमक्कोरिसीए, मुहूत्तमासऽद्धमासेहिं ॥ १० ॥

अकाकाले प्रत्याख्यान यद्, तत्कालप्रमाणच्छेदेन भवति पुरि-
 १४२

मर्द्धिपौरुषीण्यां मुहूर्त्तमासार्कमासैरिति गाथासक्केपार्थ ॥ १० ॥
 आ० चू० ६ अ० ।

अवयवार्थ पुन —

अद्वा कालो तस्म य, पमाणमद्धं तु जं जवे तमिह ।
 अद्वापच्चक्खाणं, दसम त पुण इम जणियं ॥ १ ॥

अकाशन्देन कावस्तावदभिधीयते, तस्य च कालस्य मुहूर्त्तपौ-
 रुष्यादिक प्रमाणमप्युपचारात् । (अरु ति) अद्वा वदन्तीति
 शेष । तुशब्दो अप्यर्थो भिन्नक्रमश्च यथास्थान योजित एव ।
 ततो ऽद्वापरिमाणपरिच्छिन्न यन्प्रत्याख्यान जवेत् तदिह अद्वा-
 प्रत्याख्यान दशम पूर्वोक्तजाव्यनान्प्रत्याख्यानादीना चरममि-
 त्यर्थ । तत्पुनरिदं वक्ष्यमाण भणित गणधरैरिति ॥ १ ॥

तदेवाह—

नवकारपोरिसीए, पुरिमट्टेगासणेगडाणे च ।

आयबिलऽजत्तडे, चरिमे य अभिगहे विगडं ॥ २ ॥

अत्र भीमसेनन्यायेन नमस्कारशब्दात् परत सहितशब्दो
 छप्यः । ततो नमस्कारश्च, कोऽर्थे ?—नमस्कारसहित च पौरुषी
 च नमस्कारपौरुषी, तस्मिन्, नमस्कारविषये, पौरुषीविषये चेत्य-
 र्थः । पूर्वार्थं न, एकासन च, एकस्थान चेति समाहारे सप्तम्ये-
 कवचने, पूर्वार्द्धविषये एकासनविषये एकस्थानविषये च । तथा-
 आचामास्य च अभक्तार्थश्च आचामास्ताभक्तार्थं तत्र, आचामा-
 स्तविषये उपवासविषये च । तथा—चरिमे चरमविषये । तथा-
 अजिग्रहे अजिग्रहविषये । तथा—(विगडं त्ति) विहृतिविषये, सप्त-
 म्येकवचनं ह्यममत्र छप्यमिति । दशभेदमिदमकाप्रत्याख्यानम् ।
 नन्वेकासनादिप्रत्याख्यानं कथमकाप्रत्याख्यानम्, नह्यत्र का-
 लनियमं श्रूयते ? सत्यम् । अद्वाप्रत्याख्यानपूर्वाणि प्रायेणैका-
 सनादीनि क्रियन्ते इत्यद्वाप्रत्याख्यानत्वेन भण्यन्त इति ॥ २ ॥
 प्रथ० ४ डा० ।

अद्वापज्जाय—अद्वापर्याय—पु० । कालवृत्तधर्मे, स्या० ७ डा० ।

अद्वापरिविच्छि—अद्वापरिवृत्ति—स्त्री० । कालपरावृत्तौ, "अ-

द्वापरिविच्छिओ, पमत्त इयरे सहस्ससो किच्चा । " क० प्र० ।
 अद्वाभीमय—अद्वाभिश्चक—न० । कालविषये सत्यमृषाभेदे,
 यथा कस्मिंश्चित्प्रयोजने सहाय्योत्स्वरयन् परिणतप्राये वासर
 एव रजनी वर्तते इति ब्रवीतीति । स्था० १० डा० ।

अद्वाभीमिया—अद्वाभिश्चिना—स्त्री० । अद्वा कालः, स चेह
 प्रस्तावाद् दिवसो रात्रिर्वा परिगृह्यते, समिश्रितो यथा साऽका-
 मिश्चिना । सत्यमृषाजापानेदे, यथा—दिवसे वर्तमान एव वदति-
 त्तिष्ठ रात्रिर्जातेति, रात्रौ वा वर्तमानायामुत्तिष्ठोद्गत सूर्य
 इति । प्रज्ञा० ११ पक्ष ।

अद्वास्व—अद्वास्वरूप—त्रि० । अद्वा कालः, सैव रूप स्वजावो
 यस्य तदकारूपम् । काव्यस्वभावे, पञ्चा० ५ विव० ।

अद्वावक्कति—अर्धापक्रान्ति—स्त्री० । अर्द्धस्य समप्रविज्ञागरूप-
 स्य एकदेशस्य वा एकादिपदान्मकस्यापक्रमणमवस्थानं, शेष-
 स्य तु ह्यादिपदसंघानस्यैकदेशस्योर्द्धं गमनं यस्यां रचनायां
 साऽर्धापक्रान्तिः । (समयपरिज्ञापया) पदत्रयमध्यादेकदेशाऽ-
 पक्रान्तौ, विशेषः ।

अध्यासमय—अध्यासमय—पु० । अद्वा कालः, नल्लक्षणं समयः
 कणोऽध्यासमयः । भ० २ श० १० उ० । अकाया समयो निर्विमाणो

भाग, समय सकेनादिवाचकोऽप्यास्ति, ततो विशिष्यतेऽकारूप समय (अनु०) पट्टसाटिकादृष्टान्तसिद्धे सर्वसूक्ष्मो पूर्वापरकोटिविप्रमुक्ते वर्तमाने एकस्मिन् कालांशे, अनु० जी० पञ्चद्रव्याणि, तत्र पञ्च धर्मास्तिकायादयोऽस्तिकायाः, षष्ठोऽष्टासमय । अस्य अस्तिकायाज्जाय, वर्तमानकृणत्कृणत्वनेकत्वात्, अतीताऽगागतयोरसत्त्वात् । भ० २ श० १० उ० । अनु० । बहुप्रदेशस्य एव हि अस्तिकायात्वम् । अत्र त्वनीतानागतयोर्विनष्टोत्पन्नत्वेन वर्तमानस्येव कालप्रदेशस्य सद्भावाद् नत्वेवमावृत्ति-कादिकालाज्जाय । समयबहुत्व एव तदुपपत्तेरिति चेद्, भवतु तर्हि, को निवारयिता ? । “समयावस्थियमुहुत्ता दिवसमहो-रत्तपक्षमासा य” इत्याद्यागमविरोध इति चेत् । नैवम् । अग्निप्रायापरिज्ञानात् । व्यवहारनयमतेनैव तत्र त्वयुपगमात्, अत्र तु निश्चयनयमतेन तदसत्त्वप्रतिपादनात् । नहि पुञ्जस्कन्धे परमाणुसघान इवावत्रिकादिगतसमयसघान कश्चिदवस्थित समस्तीति तदसत्त्वमसौ प्रतिपद्यते, अन्यत्र विस्तरेण । अनु० । (‘समय’ शब्दे एतत्प्ररूपणा वक्ष्यते)

अदधि-अब्धि-पु० । आपो धावन्ते ऽस्मिन् । धा-आधारे कि । सरोवरे, ममुद्रे च । वाच० । ऊर्मा, अष्ट० १ अष्ट० । सागरोपमे (कालविशेषे), द्वा० २६ द्वा० ।

अदधिऽ(ति) करण-अधृतिकरण-न० । अधिकरणे [कलहे], नि० चू० १० उ० ।

अध्वीकारग-अर्द्धीकारक-त्रि० । अर्द्धमह करोमि, अर्द्धं पुन-स्त्वया कर्तव्यमित्येवकारके, धृ० ३ उ० ।

अधुङ्-अर्धवपुष्क-त्रि० । अर्द्धाधिकत्रिषु, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । कर्म० ।

अधुत्त-अर्धोक्त-त्रि० । अर्द्धमाधिते, “अधुत्तेण उ पञ्चाला” इय० १० उ० ।

अधु(धु)व-अधुव-त्रि० । अवश्यमावि त्रियामान्ते सूर्योदयवद् ध्रुवम् । न तथा यत्तदध्रुवम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । अनियत-सत्त्वे, “अधुवा अणियता अनासया सटणपटणविद्धसणधम्मा कामभोगा” ज्ञा० १ श्रु० । अन्धिरे, “अधुवधण वरणकोसपरिभो-गविवज्जिया” । अधुवा अस्थिरा धनाना गणिमादीनां, धान्यानां शाक्यादीनां, कोशा आश्रया येषां स्थिरत्वेऽपि नत्परिजोगेन वर्जिताश्च ये ते तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । प्रव० । जले, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । दशा० ।

अधु(धु)ववधिणी-अधुववन्धिनी-स्त्री० । न० त० । ध्रुववन्धिनीप्रकृतिप्रतिपक्षासु कर्मप्रकृतिषु, यासां च निजहेतुमद्भावेना-वश्य बन्धस्ताः । क० प्र० । (नाश्च त्रिसप्ततिसङ्ख्याकाः “कम्म” शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे दर्शयिष्यन्ते)

अधु(धु)वसंनकम्म-अधुवसत्कर्मन्-न० । सत्कर्मजदे, यत्पु-नरनवाप्तगुणानामपि कदाचिद् भवति कदाचिन्न तदधुवस-त्कर्म । प० स० ३ द्वा० ।

अधु(धु)वसकम्मिया-अधुवसत्कर्मिका-स्त्री० । ध्रुवसत्क-र्मिकाप्रतिपक्षज्ञासु कर्मप्रकृतिषु, क० प्र० ।

अधु(धु)वसत्तागा-अधुवसत्ताका-स्त्री० । अधुवा कदाचिद् भवन्ति कदाचिन्न जवन्तीत्येवमनियता सत्ता यासां ता अधु-

वसत्ताकाः । प० स० ३ द्वा० । कदाचित्कभाविनीषु कर्मप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म० । प० स० । (‘कम्म’ शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे तासां स्वरूपं दृष्ट-यम्)

अधु(धु)वसाहण-अधुवसाधन-न० । अधुवाणि नभ्वरानि साधनानि मानुष्येकैवजात्यादीनि यस्य तदधुवसाधनम् । अनित्यहेतौ, पञ्चा० १६ विव० ।

अधु(धु)वोदया-अधुवोदया-स्त्री० । ध्रुवोदयप्रतिपक्षासु क-र्मप्रकृतिषु, कर्म० । यासां तु व्यवच्छिन्नोऽप्युदयो न्योऽपि प्रादु-र्भवति तथाविधद्वयैकैवकावभवमावस्थरूप पञ्चाविध हेतुसङ्-न्ध प्राप्य ता अधुवोदया । “अव्युच्छिन्नो उदयो, जाण पगं-ण ता ध्रुवोदया ” कर्म० ५ कर्म० । ‘कम्म’ शब्दे द्वितीयभागे २७१ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते चैनत् ।

अध्वोवमिय-अध्वौपम्य-न० । औषम्यमुपमा पत्यसागररूपा तत्प्रधाना अद्या कालोऽध्वौपम्यम् । राजदन्तादिदर्शनादौपम्य-शब्दस्य परनिर्णय । पत्योपमादौ उपमाकाले, स्था० ८ ग० । उपमानमन्तरेण यत्कालप्रमाणमनानिर्णयिता गृहीतु न शक्यते तदध्वौपमिकमिति भाव । बुद्धिहे अध्वोवमि ए पन्नते । न जहा-पलिओवमे चेव, सागरोवमे चेव ’ स्था० ५ द्वा० ४ उ० ।

स च जेदप्रभेदाज्या समासतोऽष्टविधः—

अद्विहे अध्वोवमि ए पन्नते । तं जहा-पलिओवमे १ सा-गरोवमे २ ओसप्पिणिए ३ उस्सप्पिणी ४ पोमगलपरि-यट्टे ५ अतीतद्धा ६ अणाययद्धा ७ सव्वद्धा ८ ।

पत्योवमसङ्गोपमयोरुपमाकालना स्पष्टा, अवसर्णिणयादी-नां तु सागरोपमनिष्पन्नत्वादुपमाकालत्वं ज्ञावनीयम् । समया-दिशीर्षप्रहेलिकान्त काहोऽनुपमाकालः । स्था० ८ ग० ।

अध-अध-अव्य० । आनन्तर्ये, “अध ससरीरो जगव मकर-व्वजो ” (पैशाचीप्रयोग) प्रा० । नि० चू० ।

अधसु-अधन्य-त्रि० । न० त० । निन्दे, “अधसा सूलगगि-सुदेहा ” प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । “नरगा उवट्टिया अधसा ते वि य दीसति ” प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अध (ह) म-अधम-त्रि० । जघन्ये, “निग्घिममणसोऽहम-विवागं ” [अधमविपाकमिति] अधमो जघन्यो नरकादिप्राप्ति-लक्षणो विपाक परिणामो यस्य तत्तथाविधम् । [आर्भक्ष्यानम्] आच० ४ अ० । “अहो वयं कोडेण माणेण अहमा गर्ह” मानेन अधमा गतिर्भवति । गर्हमोहप्राहपसूकरादिगतिः स्यात् । उक्तं ए अ० ।

अध (ह) म्म-अधर्म-पु० । गतिपरिणतानां तत्त्वजायाध-रणाधर्मः । अनु० । न धर्मोऽधर्मः । अधर्मास्तिकाये जीवपुत्र-लानां स्थित्युपग्रम्भकारिणि, स्था० १ ग० १ उ० । “एगे अधर्मे” एकोऽधर्मोऽनन्तप्रदेशोऽपि द्रव्यार्थतया । स० १ सम० । आ० । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपे कर्मबन्धकारणे आत्मप-रिणामे, ‘णत्थि धम्मे अधम्मे वः, जेव सन्न णिवेसए ” सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । (यतिनां गृहिणां चाधर्मपक्षप्रदर्शनं “पुरि-सविजयविभग ” शब्दे करिष्यते) सावधानुष्ठानरूपे पापे, “अधर्मेण चेव विस्ति कप्पेमाणे विहर” अधर्मेण पापेन

सावग्रानुष्ठाननैव दहनाङ्गननिर्लाङ्गनादिना कर्मणा वृत्तिर्वेतन
कल्पयन् कुर्वाणो विहरति, ज्ञा० १७ अ० । रा० । विपा० ।
अ० । आव० । भोमशे गौणाब्रह्मणि च, तस्याऽचारित्ररूप
त्वात् । प्रअ० ४ आअ० द्वा० ।

अध (इ) म्मक्खाड-अधर्मख्याति-त्रि० । अधर्मेण ख्याति-
र्यस्य । रा० । न धर्माद् ख्यानिर्यस्येति च । अ० १२ श० २ उ० ।
अविद्यमानधर्मोऽयमित्येव प्रसिद्धिके, विपा० १ अ० १ अ० ।

अध (इ) म्मक्खाड (ए)-अधर्माऽऽख्यायिन्-त्रि० । अ
धर्ममाख्यातु शील यस्य स तथा । ज्ञा० १८ अ० । न धर्ममाख्या-
तीत्येवशोलो वा । ज० ३ श० ७ उ० । अधर्मप्रतिपादके, विपा०
१ अ० १ अ० ।

अध (इ) म्मनुत्त-अधर्मयुक्त-न० । ३ त० । पापसंबन्धे तद्दोषोदाह-
रणजेदे, स्था० । यच्च उदाहरण कस्यचिदर्थस्य साधनायोपादी-
यते केवल पापाजिधानरूपेण चोक्तेन प्रतिपाद्यस्याधर्मबुद्धिरु-
पजायते, तदधर्मयुक्तमात्राया-उपायेन कार्याणि कुर्यात्, कोलि-
कनलदामवत् । तथाहि पुत्रस्त्रादकम-कोटकमार्गेणोपलब्धविह-
षामानामदोषमत्कोटकानां तत्तजलस्य विद्ये प्रक्षेपणतो मारणद-
र्शनेन रञ्जितचित्तचाणक्यावस्थापितेन चौरग्राहे नलदामा-
भिधानकुविन्देन चौर्यसहकारितालक्ष्णोपायेन विद्यासिता
मिलिताञ्चौरा विषमिश्रभोजनदानतः सर्वे व्यापादिना इति ।
आहरणतद्दोषता चास्याधर्मयुक्तत्वात्तथाविधभूतुरधर्मबुद्धिज-
नकत्वाच्चेति, अत एव नैवविधमुदाहर्तव्यं यन्निनेति । व्या० ७ उ०
३ उ० । इदं च नलदामकुविन्दोदाहरण लौकिकम्, । तथैव-
" चाणक्येण जदे उच्छ्राय चन्द्रगुप्ते रायाण्य उविष एव स-
म्ब वणिक्ता जहा सिक्खाप, तत्थ जंदमतिएहि मणुस्सेहि
सह चोरग्गाहो मिलिभो नगर मुसइ । चाणको वि अन्न चो-
रग्गाह च उविउकामो तिदम गदेऊण परिवायगवेसेण णयर
पविट्ठो, गओ णलदामकोलियनगास, उवविट्ठो वणणमालाए
अत्थइ, तम्स दारओ मक्कोमएहि ज्जाओ, तेण कालएण
विह ज्जणित्ता दट्ठा । ताहे चाणक्येण जसइ-कि एए महसि ?,
कोलिओ भणइ-जइ एए समूलजाहा ण उच्छ्राइज्जति, तो
पुणो वि ज्जाइस्सति । ताहे चाणक्येण चिनिअ-एस मए लढे
चोरग्गाहो, एस जट्ठेणया समूअया उरुरिसिहिइ । चोर-
ग्गाहो कओ, तेण तिद्धिणा विस्समिया-अम्हे सम्मिलिया
सुसामो सि । तेहि अन्ने वि अक्खाया-जे तत्थ मुसगा बहुया,
सुहतराग मुसामो सि । तेहि अन्ने वि अक्खाया । ताहे ते तेण
चोरग्गाहेण मिलिकण सम्ब वि मारिया । एव अहम्मनुत्त ण
भाणियव्व, एय कायव्व ति । इदं तावल्लौकिकम् । अनेन लोको-
त्तरमपि चरणकरणानुयोग छ्व्यानुयोग चाधिकृत्य सूचितम-
वगतव्यम्, एकग्रहणात्तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात् । तत्र च-
रणकरणानुयोगेन-“ एव अहम्मनुत्त, कायव्व किं वि जाणिय-
व्व वा । थोवगुण बहुदेस, विसेसओ ठाणपत्तेण ॥ १ ॥ त-
म्हा सो अर्हेसि पि आल्लंभण होइ ” छ्व्यानुयोगे तु-“ वाद-
म्मि तहा रुवे, विज्जाय बरेण पवयणछाप । कुज्जा सावज्ज पि
हु, जह मोरीण उलिमादीसु ॥ १ ॥ सो परिवायगो विलक्खी-
कओ सि” ॥ औदाहरणदोषता चास्याधर्मयुक्तत्वादेव भावनी-
येति । गतमधर्मयुक्तद्वारम् । दश० १ अ० ।

अध (इ) म्मत्थिकाय-अधर्मास्तिकाय-पु० । न धारयति

गतिपरिणतावपि जीवपुद्गलौस्तत्स्वभावतया नाऽवस्थ पय
ति, स्थित्युपपन्नकत्वात्स्येति अधर्मः, स चासौ अस्तिकाय-
श्च । उक्त० ३५ अ० । कर्म० । जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणामप-
रिणतानां तत्परिणामोपपन्नकेऽमूर्तेऽसङ्ख्यातप्रदेशसङ्घा-
तात्मके द्रव्यविशेषे, प्रज्ञा० पद । अनु० । स्था । आव० ।
द्रव्या० । (सिद्धिरस्य 'अत्थिकाय' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे
५१३ पृष्ठे दर्शिता)

तत्त्व च-

अहम्मत्थिकाए णं जते ! जीवाणं किं पवत्तइ ? गो-
यमा ! अहम्मत्थिकाए णं जीवाणं ठाणणिसीयणुत्तयट्ठण,
मणस्स य एगत्तीभावकरणय जे यावस्से तहप्पगारा थि-
रसजावा मव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तति ठाणलक्ख-
णेण अहम्मत्थिकाए ।

(ठाणनिमीयणुत्तयट्ठण ति) कायोत्सगासनशयनानि, प्रथ-
मावहुवचनलोपदेशनात् । तथा मनसश्च अनेकत्वस्यैकत्वस्य
भवनमकत्वोपायस्तस्य य-करण तत्तथा । ज० १३ श० ४ उ० ।

अस्येमान्यभिचचनानि-

अहम्मत्थिकायस्स णं जते ! केव या अजिबयणा पप्प-
त्ता ? गोयमा ! अणोगा अजिबयणा पप्पत्ता । त जहा-
अधम्मेति वा अधम्मत्थिकाएति वा, पाणातित्राय० जाव
मिच्छादसमद्वेति वा इरियाअममि त वा० जाव उच्चरपा-
सवण० जाव पारिडावणिआ असमिचीति वा मणअगुत्ती-
ति वा वइअगुत्तीति वा कायअगुत्तीति वा, जे यावस्से तह-
प्पगारा सव्वे ते अहम्मत्थिकायस्स अजिबयणा । ज०
२० श० २ उ० ।

'अह् अहम्मत्थिकायमज्झप्पपसा पप्पत्ता' । ते च रुचकरुपा
इति । स्था० ७ उ० ।

अधर्मास्तिकायसिद्धि-अधर्मोऽधर्मास्तिकाय, स्थिति स्थान
गतिनिवृत्तिरित्यर्थः । तल्लक्षणमस्यति स्थानलक्षण । स हि स्थि-
तिपरिणताना जीवपुद्गलानां स्थितिलक्षणकार्यप्रत्येक्षाकारण-
त्वेन व्याप्रियत इति, तेनैव हृदयन इत्युच्यते । अनेनाप्यनुमान-
मेव सूचितम् । तच्चेदम्-यद्यत्कार्यं तत्तदपेक्षाकारणवत्, यथा-व-
दादि कार्यम् । तथा चासौ स्थिति, यच्च तदपेक्षाकारण तदधर्मा-
स्तिकाय इति । अत्र च नैयायिकादि सौगतो वा घदेत-नास्त्य-
धर्मास्तिकाय, अनुपलभ्यमानात्, शशविषाणवत् । तत्र यदि
नैयायिक, तदाऽसौ वाच्य -कथं जवतोऽपि दिगादय सन्ति ?,
अथ दिगादिप्रत्ययलक्षणकार्यदर्शनाद्भवति हि कार्यात्कारण-नु-
मानम्, एव सति स्थितिलक्षणकार्यदर्शनादयमप्यस्तीति किं न
गम्यते ? । अथ तत्र दिगादिप्रत्ययकार्यस्यान्यतोऽसंभवात्तत्का-
रणभूतान् दिगादीन् अनुमिमीमहे इति मार्तरिहाप्याकाशादीना-
मवगाहनादिस्वस्वकार्यव्यापृतत्वेन ततोऽसंभवात्, अधर्मा-
स्तिकायस्यैव स्थितिलक्षण कार्यमिति किं नानुमीयते ? । अथा-
सौ न कदाचिद् दृष्ट, एनदिगादिष्वपि समानम् । अथ सौगतः,
साऽप्येव वक्तव्य, यथा-भवत कथं बाह्यार्थसंसिद्धि ? नहि
कदाचिदसौ प्रत्यक्षगोचर, साकारज्ञानवादिन सः । तदाकार-
स्यैव सवेदनात् । तथा च तस्याप्यनुलभ्यमानत्वादजाव एव ।
अथाकारसवेदनेऽपि तत्कारिणमथ परिकल्पने, धूमद्वयन इवा

मि । एव स्विनिदर्शनेऽपि किं न तत्कारणस्याधर्मास्तिकाय-
स्य निश्चयः । अधायमध्यमिदधीन-न कदाचिदमौ तत्कारण-
त्वेनेकित इति । ननु बाह्यार्थेऽपि तुल्यमेतत् । न हि सोऽपि त-
दाकारतया कदाचिदवलोकितः । अथ मनस्कारस्य चिद्रूपता-
यामेव व्यापारः, न तु नियताकारत्वे, अतस्तत्रार्थः कारण क-
स्यते, एव तर्हि जीवपुरुषपरिणाममात्र एव कारण, स्थितिप-
रिणतौ पुनरधर्मास्तिकायापेक्षकारणत्वेन व्याप्रियत इति किं
न कल्पते ? । अथासौ सर्वदा सर्वस्य सन्निहित इत्यनियमेन
स्थितिकारण भवेत् । ननु एवमर्थोऽपि किं न सन्निहित इत्येव
स्याकारमर्पयति ? । अथ चक्रादिव्यापारमयमपेक्षते, अधर्मा-
स्तिकायोऽपि तर्हि स्वपरगतौ विश्रसाप्रयोगानपेक्षन इति नान-
योर्विशेषमुत्पश्याम । तथा-ज्ञातनमाधार सर्वव्यापारो जीवादी-
ना नभ आकाशम्, अवगाहोऽवकाशमनुकूलमस्येव्यवगाहलक्ष-
णम्, तद्वत् उगाढ प्रवृत्तानामस्मिन्मयी भवति, अनेनावगाहकारण-
त्वमाकाशस्योक्तम् । न चास्य तत्कारणत्वमसिद्धम्, यतो यद्य-
दन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत् कार्यम्, यथा-चक्राद्य-व्यव-
तिरेकानुविधायि रूपादिविज्ञानम्, आकाशान्वयव्यतिरेकानुवि-
धायी चावगाहः । तथाहि-सुपिरूपमाकाशः, तत्रैव चावगा-
हः, न तु तद्विपरीते पुरुषादौ । अथैवमलोकाकाशेऽपि कथं
नावगाहः, उच्यते-स्यादेव यद्धि कश्चिदवगाहिना भवेत् ।
तत्र तु धर्मास्तिकायस्य जीवादीनां चासत्त्वेन तस्यैवाभाव
इति कस्यासौ समस्तु ? । नन्वेवमपि न तस्मिन्, हेतोरसिद्धत्वात्,
तदसिद्धिश्चान्वयाज्ञात्वात् ; सति हि तस्मिन् भवत्यन्वयः । न च
तत्सत्त्वसिद्धिरस्ति, अन्वयाज्ञावे च व्यतिरेकस्याप्यसिद्धिरस्ती-
ति । उक्तं २७ अ० ।

अथ (ह) म्मदाणा-अधर्मदान-न० । अधर्मकारणधम्मौ दानं च,
अधर्मपोषकं वा दानमधर्मदानम् । दानभेदे, यथा-“हिंसाऽनृत-
चौर्योद्यत-परपरिग्रहप्रसक्तैन्यः । यद्दीयते हि तेषां, तज्जानी-
यादधर्माय” ॥१॥ इति । स्था० १० उ० ।

अथ (ह) म्मदार-अधर्मदार-न० । आश्रवद्वारे, “पदम अहम्म-
दार सम्मत्तं ति वेमि” प्रश्न० १ आश्र० छा० ।

अथ [ह] म्मपक्ख-अधर्मपक्ख-पु० । अनुपशान्तस्थाने, “अध-
म्मपक्खस्स विजगे एवमाहिणः, तस्स णं इमाहं तिभि तेव छाह
पावदुयसयाहं जवतीति माक्खाहं । नं जहा-किरियावाहणं,
अकिरियावाहणं, अन्नाणियवाहणं, वेणुइयवाहणं,” सूत्र० २
श्रु० २ अ० ।

अथ (ह) म्मपजण-अधर्मपजन-त्रि० । अधर्मे जनयतीति अ-
धर्मपजननः । लोकानामप्यधर्मोत्पादके, रा० ।

अथ (ह) म्मपमिमा-अधर्मप्रतिमा-ली० । अधर्मविषया प्रतिमा ।
अश्रुतचारित्रविषयायां प्रतिज्ञायाम्, अधर्मप्रधाना वा प्रतिमा
अधर्मप्रतिमा । अधर्मप्रधानं शरीरे, “एगा अध (ह) म्मपडि-
मा, ज सि (से) आया परिकिलेस ति” एका अधर्मप्रतिमा,
सर्वस्य परिक्लेशकारणनयैकरूपत्वात् । अत एवाह- (ज से इत्या-
दि) यद्यस्मात्, से तस्या । स्वाम्यात्मा जीवः । अथवा- (सि ति)
पात्रान्नरम् । सोऽधर्मप्रतिमावानान्मा परिक्रियने । ततश्च
प्राकृतत्वेन लिङ्गवन्वयाद् यस्यामधर्मप्रतिमायां सत्यामात्मा
परिक्रियने सा एकैवेति । स्था० १ उ० १ उ० ।

अथ [इ] म्मपलज्जण-अधर्मप्ररजन-त्रि० । न धर्मे प्ररज्यन्ते
आमज्जन्ति येते । अ० १२ श० २ उ० । अधर्मप्रयेषु कर्मसु प्रक-

षेण रज्यते इत्यधर्मप्ररजनः । रज्योरैक्यमिति कृत्वा रेफस्थाने
सकारः । ज्ञा० १७ अ० । अधर्मरागिणि, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्मपटोइ (ए)-अधर्मप्रलोकिन्-त्रि० । न धर्ममुपादे-
यतया प्रलोकयति यः सोऽधर्मप्रलोकी । अ० १२ श० २ उ० । अध-
र्ममेव प्रलोकयितुं शीलं यस्यासावधर्मप्रलोकी । ज्ञा० १८ अ० ।
अधर्मस्यैव उपादेयतया प्रेक्षके [परिजापके], विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्मराइ [ण]-अधर्मरागिन्-त्रि० । अधर्मे एव रागो
यस्य सोऽधर्मरागी । दशा० ६ अ० ।

अथ (ह) म्मरुइ-अधर्मरुचि-त्रि० । न विद्यते धर्मे रुचियेषां ते
अधर्मरुचयः । दश० १ अ० ।

अथ (ह) म्मसमुदायार-अधर्मसमुदाचार-त्रि० । न धर्मरूपश्चा-
रित्रात्मकः समुदाचारः समाचारः सप्रभोदो वाऽऽचारो यस्य
स तथा । अ० १५ श० २ उ० । चारित्रविकले दुराचारे, विपा०
१ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्मसीलसमुदायार-अधर्मशीलसमुदाचार-त्रि० ।
अधर्मे एव शीलं स्वभावः समुदाचारश्च यत्किञ्चनानुष्ठानं यस्य
स तथा । स्वभावतश्चेष्टया चाऽधर्मिके, ज्ञा० १८ अ० । विपा० ।
अथ [ह] म्माणुय-अधर्मानुग-त्रि० । धर्मे श्रुतरूपमनुगच्छती-
ति धर्मानुगः, न धर्मानुगोऽधर्मानुगः । अ० १२ श० २ उ० ।
श्रुतचारित्राज्ञावमनुगते, विपा० १ श्रु० १ अ० । अधर्मे कर्तव्ये-
ऽनुज्ञाऽनुमोदनं यस्यासावधर्मानुगः । ज्ञा० १८ अ० । अधर्मानु-
ज्ञायके, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

अथ (ह) म्मिजोय-अधर्मियोग-पु० । निमित्तवशीकर-
णादिप्रयोगे, स० ३० सम० ।

अथ [ह] म्मिह-अधर्मिह-त्रि० । अतिशयेन धर्मा धर्मिहः ।
न धर्मिहोऽधर्मिहः । अ० १२ श० २ उ० । अतिशयेन नि-
धर्मे निस्त्रिशकर्मकारित्वादिशयेन धर्मवर्जिते, ज्ञा० १७ अ० ।
विपा० । रा० । सूत्र० ।

अधर्मीह-त्रि० । अधर्मिणामिहः । अधर्मिणां वल्लभे, अ० १२
श० २ उ० ।

अधर्मेह-त्रि० । धर्मे श्रुतचारित्ररूपः एवेहः पूजितो वा यस्य
स धर्मेहः । न धर्मेहोऽधर्मेहः । अधर्मे एव इहो वल्लभः पू-
जितो वा यस्य स तथा । अधर्मेयके, अधर्मसमाजके वा ।
अ० १२ श० २ उ० ।

अथ [ह] म्मिय-अधार्मिक-त्रि० । न धार्मिकोऽधार्मिकः । धर्मे-
ण श्रुतचारित्रात्मकेन चरतीति धार्मिकः (तथान) अ० १५ श० २
उ० । अधर्मेण चरतीति अधार्मिकः । ज्ञा० १७ अ० । पापिनि, विपा०
१ श्रु० ३ अ० । असयते, स्था० । धर्मे भव, धर्मा वा प्रयोजनमस्येति
धार्मिकम्, (तथान) न० त० । धार्मिकविपर्ययस्ते, स्था० ४ उ० १ उ० ।
अथ (ह) १-अधर-पु० । न ध्रियते । धृह-अधृ । न० त० ।
वाच० । अधस्तनदशनच्छदे, ज० २ व० । न० । उपा० । प्रश्न० ।
आत्यन्तिके कारणे, श्रु० ३ उ० ।

अथ (ह) रगमण-अधरगमन-न० । अधोगतिगमनकारके,
“तहा गवालीकं च गुरुय भणति अध (ह) रगमण”
प्रश्न० ३ आश्र० छा० ।

अध [ह] रिम-अधरिम-त्रि० । अविद्यमान धरिममृण-
द्रव्य यस्मिंस्तत्तथा । ज्ञा० १ अ० । विपा० उत्तमर्थाधमर्णाभ्यां
परस्पर तद्वर्था न विद्यनीय, किन्तु अस्मत्पाश्वे शुभ गृ-
हीत्वा ऋणमुत्कलनीयमिति राजाज्ञाविशिष्टे नगरादौ, ज० ३
वृत्त० । विपा० ।

अध [ह] री-अधरी-स्त्री० । पेणशिलायाम्, " अध-
(ह) रीसटाणसठिया दो धि तस्स पाया " उपा० १ अ० ।

अध [ह] रीलोह-अधरीलोह-पु० । शिलापुत्रके, " अध-
रीलोहसटाणसठिआओ पाणसु अगुलीओ " उपा० १ अ० ।

अध (ह) रुह-अधरोह-न० । उ० स० । हस्य सयोगे दी-
र्घस्य " । ८ । १ । ८४ । इति सूत्रेण स्रोतो हस्य । प्रा० । उपरि-
स्थाप स्तोत्रयुग्मे, प्रअ० ३ आध० ज्ञा० । अधस्तनवन्तच्छ-
दे, " ओयवियसिलणयालयियफलसखिआधरुहा " न० ।

अध [ह] व [या]-अधवा-अव्य० । विकल्पे, नि० चू०
१० उ० ।

अधारणिज-अधारणीय-त्रि० । अविद्यमानो धारणीयोऽध-
मर्णो यस्मिंस्तत्तथा । ज्ञा० १ अ० । अविद्यमानाधमर्णे पुरादौ,
विपा० १ धु० ३ अ० । आत्मनो धारयितुमशक्ये, अ० ७
ज० ६ उ० । अयापनीयं, यापना कर्तुमात्मनोऽशक्ये च । ज्ञा०
८ अ० । विपा० । ज० ।

अधि [हि]-अधि-अव्य० । आधिक्ये, अ० १ शृ० १ उ० ।

अधि [हि] इ-अधृति-स्त्री० । धृतेरभावे, " तो तुमे पिया पय
यसग पायिओ तस्स अधिइ जाया सुणिसओ चेय उद्धाय-
लोहदंडगदा य वियडाणि भजामि " आय० ४ अ० ।

अधि [हि] ग-अधिक-त्रि० । अत्यर्थे, वृ० १ उ० ।

अधि (हि) गय-अधिगम-पु० । अधिगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते
पदार्था येन सोऽधिगम । आय० ३ अ० । गुरुपदेशजे यथा-
ऽपम्यितपदार्थपरिच्छेदे, एव सम्यक्प्रत्यय्य हेतुविशेष । नि-
र्मगंष्ट्वाऽधिगमतो जायते । तद्य पञ्चा-अधिगमिक १ सायि-
क २ क्षायोपशमिक ३ वेदक ४ साम्यादन च ५ ॥ ध० २ अधि० ।
' जगय पि नमुपपन्न, सम्मत्त अधिगम पिमोदेइ " आय० ३ अ० ।
" गुरुपदेशमालम्ब्य, सर्वेगमपि देहिनाम् । यत् सम्यक् भद-
भान तत्, स्यादधिगमज परम् " ॥ १ ॥ " जीयादीणमधि-
गमो, मिच्छत्तस्स गओधनमभावे । अधिगमसम्म जीयो,
पावेइ पिमुरूपणिमो " ॥ ध० २ अधि० ।

अधि [भि] [हि] गमरुह-अधि [भि] गमरुचि-पु० स्त्री० ।
अधिगमो विशिष्टं परिज्ञानं, तेन रुचिः जिनप्रणीततत्त्वानिज्ञापरुपा
यस्यान्नाधधिगमरुचि । प्रय० १४६ ज्ञा० । सरागदर्शनार्थभेदे,
प्रज्ञा० १ पद ।

तत्पर्यय च-

सो होइ अभिगमरुई, सुअनाणं जस्म अत्यओ दिट्ठ ।

एकारस अंगाई, पइअगा दिट्ठिवाओ य ॥

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्ट, किमुक्तं भवति?, येन श्रुतज्ञानस्या-
र्थोऽधिगतो प्रयतोति । किं पुनस्तच्छ्रुतज्ञानम् ? इत्याह- (एका-
रस अगात्ति) एकादशाङ्गानि आचाराङ्गादीनि, प्रकीर्णकान्यु
१४३

सराच्ययननन्धधनादीनि, दृष्टिवादः परिफर्मसूत्राद्यङ्गत्वेऽपि
पृथगुपादानमस्य प्राधान्यख्यापनायम् । चशब्दादुपाङ्गानि चौ-
पपातिकादीनि, स प्रत्ययधिगमरुचिः । प्रय० १४९ ज्ञा० स्था० ।
अर्हतः सकलसूत्रविषयिण्यां रुचौ, ध० २ अधि० ।

अधि [भि] गमसम्मदंमण-अधिगमसम्मदंमण-न० ३ ने० ।
गुरुपदेशादिजन्ये सम्यग्दर्शनभेदे, यथा भरतस्य । " अभिगम-
सम्मदसणे, उविहे पणत्ते । पमियाई नेव, अपमियाई चेव । "।
प्रतिपत्तन शील प्रतिपाति, सम्यग्दर्शनमौपशमिक, क्षायोपशमि-
क वा । अप्रतिपाति क्षायिकम् । स्था० २ ज्ञा० १ उ० ।

अधि (हि) गय-अधिकृत-न० । अधि-ह-जवे-क । अधि-
कारे, दश० १ अ० ।

अधिगत-त्रि० । प्राप्ते, उक्त० १० अ० । विज्ञाते, व्य०
२ उ० । पञ्चा० ।

अधि (हि) गरण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽस्मिन्नि-
ति अधिकरणम् । साधारे, यथा चक्रमस्तके घट । नि० चू०
१ उ० । अधिक्रियते नरकगतियोग्यतां प्राप्यते आत्माऽनेनेत्य-
धिकरणम् । कलहे, प्राभृते च । वृ० १ उ० । स० ।

(१) अधिकरणनिरुक्तानि समानार्थकानि च ।

(२) अधिकरणनिकष ।

(३) अधिकरण न करणीयम् ।

(४) कृत्वा तु व्युपशमनीयम् ।

(५) अधिकरणात्पत्तिकारणानि ।

(६) उत्पन्ने च व्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम् ।

(७) नावनिकष ।

(८) अधिकरण कृत्वाऽन्यगणसक्रान्तिर्न कर्तव्या ।

(९) गच्छादनिर्गतस्याधिकरणे समुपपन्ने विधि ।

(१०) गरपरुपाणि भणित्वा गच्छादनिर्गतो विधिः ।

(११) गृहस्थे, सहाधिकरण कृत्वाऽन्यपशमस्य पिण्डग्रह-
णादि न कार्यम् ।

(१२) अनुत्पन्नमधिकरणमुत्पादयति ।

(१३) कारणे सत्युत्पादयेत् ।

(१४) पुराणा-यधिकरणानि क्षान्तव्युपशमितानि पुनरुदी-
रणम् ।

(१५) निर्मन्धैर्व्यतिकृष्टमधिकरण नोपशमनीयम् ।

(१६) निर्मन्धीर्व्यतिकृष्टमधिकरण व्युपशमनीयम् ।

(१७) साधिकरणेनाकृतप्राथम्येन सह न सम्भोगः कार्यः ।

(१८) अधिकरणयधिकरणनिरूपणम् ।

(१) इमे अधिकरणनिरुक्ता, पण्डित्या य-

अधिकरणमहोकरण, अहरगतीगाहगं अहोतरणं ।

अक्रितिकरणं च तद्वा, अहीकरणं च अहिकरणं ॥ १६५ ॥

आधाधिकरणं कर्म बन्धकारणमित्यर्थः । अथवा-अधिक अति-
रिक्त उत्सृज्य करण अधिकरणम् । अधो अधस्तात् आत्मन क-
रणम् । अधरा अधमा जघन्या गतिस्तामात्मानं ग्राहयतीति । अ-
धो अधस्ताद्वतारचूर्मि गृहनिक्षेपयानि वा । न धृतिरतिरित्यथ,
अस्याः करणम् । अधीरस्य असत्त्ववतः, करण अधिकरणम् ।
अथवा-अधीः अद्युकिमान् पुरुष स त करोति, इत्यधिकरणम् ।

सो अधिकरणो दुविधो, सपक्खपरपक्खतो य नापच्चो ।

एकेको वि य दुविहो, गच्छगतो गिगतो चैव ॥ १६६ ॥

साधिकरणे साधु दुविधेन अधिकरणेन जवति, न चिम दुविध-
ध-सपक्खाधिकरण, परपक्खाधिकरण च । सपक्खाधिकरण-
कारी गच्छगतो, गच्छगिगतो वा, एव परपक्खाधिकरणे
वि दुविध । नि० चू० १० व० ।

(२) अस्य निक्षेपस्त्वित्यं निर्युक्तिरुदाह-

नामं उवणा दविण, भावे य चउव्विह तु अधिगणं ।

दव्वम्मि जंतमादी, जावे उदओ कसायाण ॥

नामाधिकरण, स्थापनाधिकरण, छव्याधिकरण, जावाधिकरण
चेति चतुर्विधमधिकरणम् । तत्र नामस्थापने गताये, छव्याधिक-
रणम्-आगमतो, नो आगमतश्च । आगमतो-अधिकरणशब्दार्थं
निरूपयन्नतु प्रयुङ्क्ते चत्ता, नो भागमतो क्षरीरजव्यक्षरीरव्यतिरि-
क्तम् । छव्याधिकरणे यन्त्रादिक छव्यम्, यन्त्र नाम दलनयन्त्रा-
दि । भावे जावाधिकरणे कपायाणां को यादीनां उदयो विक्षेपः ।

तत्र छव्याधिकरण व्याख्यानयति-

दव्वम्मि उ अधिकरणं, चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए ।

निव्वत्तण निक्खवणे, संजोयण निसिरणे य तहा ॥

छव्ये छव्यविषयमधिकरण चतुर्विधं जवत्वानुपूर्व्यां परिपा-
दया । तद्यथा-निर्वर्तनाधिकरण, निक्षेपणाधिकरण, सयोजना-
धिकरण, निसर्जनाधिकरण च । वृ० १ उ० ।

गिण्वत्तणे अधिकरण दुविध-मूलकरण, उत्तरकरणं च ।
तत्थ मूलगिण्वत्तणाधिकरण अछविह भवति-

पदमे पच सरीरा, मंघारणसामणे य उच्चए वा ।

पमिद्वेहणा पमज्जण, अकरण अविधी य णिक्खिववणा ५३५

(पदमे चि) गिण्वत्तणाधिकरणे पच सरीरा ओरावियादि,
सञ्चानकरण साडनकरण च । एव अट्टविह मूलकरण ॥ ५३५ ॥

पुन गिण्वत्तणाधिकरणसरूच जवति-

णिण्वत्तणा य दुविहा, मूलगुणे वा वि उत्तरगुणे य ।

मूले पंच सरीरा, दोसु ते संघातणा णत्थि ॥ ५३७ ॥

गिण्वत्तणाधिकरण दुविध-मूलगुणगिण्वत्तणाधिकरण, उत्त-
रगुणगिण्वत्तणाधिकरण च । मूले ओरावियादि पच सरीरा
दछवा । दोसु य तेयकम्मपसु सव्वे काले सञ्चानणा णत्थि,
अनाद्यत्वात् ॥ ५३७ ॥

संघातणा य परिसा-डणा य उच्चयं व जाव आहारं ।

उच्चयस्स आणियततिनी, आदी अंते य समओ तु ॥ ५३८ ॥

त्रिक त्रिण्वपि सभवति. उभय संघातपरिसामौ, तस्स त्रिती
अणियता, द्विकादिसमयसमवात् । संघातो आयाता ए सर्व-
परिसामो, अंत एगे एगसमयता ॥ ५३८ ॥

सर्वसञ्चानप्रदर्शनार्थमाह-

हविपूओ कम्मगारे, दिट्ठता होति तिसु सरीरेसु ।

करणे य खधकरणे, उत्तरकरणं तु संघडणा ॥ ५३९ ॥

हवि धित, तत्थ जो पुनो पव्वति सो हविपूओ सो य घयपुणो ज-
वति । सथायसथने पक्खित्ते पदमसमए एगतेण घयगहण क-
रेति, विनिआदिसमएसु गहण मुचति य, कम्मकारो होडकारो,

तेण जहा तपितमायस जले पक्खित्तं, पदमसमए एगतेण जा-
लातए करोति, विनिआदिसमएसु गहण मुचति य । एव तिसु
ओरालियादिसरीरेसु पदमसमए गहणमेव करोति, विनिआदि-
समएसु संघातपरिसामो, तेयकम्मए सव्वकाल न संघातप-
रिसामो, अनाद्यत्वात् । पचएह विज्जते सव्वसामो । अहवा ति-
एह ओरालियविउव्विआहारगाण मूलगकरणा अछ-सिरो, उर,
उदर, पुष्ठी, दो वाहाओ, ढोणि य ऊरु, सेस उत्तरकरण । अहवा
तिसु आइहेसु ओरालादी, उत्तरकरण डेजेण, खधकरणं त्रिफ-
लादिघृतादिना वन्नकरण । अथवा इम चउव्विह सव्वकरण
संघायकरण परिसाडणाकरण ॥ ५३९ ॥

संघाय परिसामणा, य मीसे तहे व पमिसेहे ।

परसंखणधूणादी, उट्ठति रित्थाणुकरणं तु ॥ ५४० ॥

परिसामणाकरण, तत्थ ओराविय एगिदियादि पचविध, त-
ज्जोणी पाहुमादिणा । जहा सिक्खसेणारिण अस्सए कता,
जहा वा एगेण आयरिण सीमस्स उवदिट्ठो जोगो जहा महि-
सो भवति, तच्च सुय आयरियस्स भाणिज्जेण, सो य णिक्खमो
उ णिक्खंतो महिस्स उप्पादेउ सोयरियाण हत्थे धिक्खिणइ । आय-
रिण सुय, तत्थ गतो भणाति-किं ते एएण ? अह ते रयणजोग
पयच्छामि । दव्वे आहरादि । ते य आहारित्ता आयरिण सजो-
तिता, एगते णिक्खित्ता भणितो-एत्ति एण कालेण ओक्खणेज्जाहि,
अह गच्छामि । तेण उक्खित्तो दिट्ठिविसो सप्पो जातो । सो तेण
मारितो, अधिकरणच्छेओ, सो वि सप्पो अतो मुहुत्तेण मओ ।
एव जो गिण्वत्तेइ सरीर त अधिकरणकह, जतो सुत्ते भणिय-
'जावणं जते' ओरालियसरीर गिण्वत्तेमाणे किं अधिकरण ? अ-
धिकरणी जीवो, अधिकरणी सरीर, अधिकरण गिण्वत्तणाधिक-
रण ॥ गिण्वत्तणाधिकरण गत ॥ नि० चू० ४ व० ।

निक्षेपणाधिकरण द्विधा-लौकिक, लोकोत्तरिक च । तत्र यन्म-
त्स्यग्रहणार्थं गलनामा होडकएट्ठो कुएट्ठ वा मृगादीनां ग्रह-
णाय जाल वा, लावकादीनामर्थाय निक्षिप्यते शनइयादीनि घर-
घट्टादीनि वा यन्त्राणि स्थाप्यन्ते, तदेतल्लौकिक निक्षेपणाधिकर-
णम् । यस्तु लोकोत्तरिक तत् षड्विधम्-यत्र पाद्याशुपकरण
निक्षिपति तत्र न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति १, न प्रत्युपेक्षते प्रमार्ज-
यति २, प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ३, यत्तु प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति
तद् प्रत्युपेक्षित ४, उ प्रत्युपेक्षित सुप्रमार्जितम् ५, सुप्रत्युपे-
क्षित सुप्रमार्जित ६ करोति । एवमेते षडङ्गा निक्षेपणाधिकर-
णम् । यस्तु सप्तमो भङ्ग सुप्रत्युपेक्षित सुप्रमार्जित करोतीति
लक्षणः, स नाधिकरण, शुद्धत्वात् । यद्वा-यद् मुक्त पानक वा
अपावृत स्थापयति तन्निक्षेपणाधिकरणम् । वृ० १ उ० ।

इयानि सजोयणा, सा दुविहा-होइया, होउत्तरिया य ।

होइया अनेकविहा-

विसगरमादी लोए, लोउत्तरं भत्तोवधिमादिमि ।

अंतो वहि आहारे, विहियविधा सिच्चणा उवधी ॥ ५४१ ॥

कंमादिलोअणिसिरण-ओत्तरणा पमादणा जोगे ।

मूलादि जाव चरिमं, अधवा वी जं जहि कपति ॥ ५४२ ॥

नि० चू० १ उ० ।

सयोजनाधिकरणमपि द्विविधम्-लौकिकलोकोत्तरिकभे-
दात् । तत्र लौकिक रोगानुत्पासिकारण, विषगरादिनि-
ष्पत्तिनिवन्धन वा छव्य सयोजनम् । लोकोत्तरिक तु

भक्तोपधिग्याविषयसयोजनम् । वृ० १ उ० ।

इयाणि णिसिरणा छुविधा-दोइया, छोउत्तरिया, (लोइया)
णिसिरणे निविधा-सहसा पमापण, अणजोगेण य, पुच्चाइ-
ट्टेण जोगण । किञ्चि सहसा णिसरणि पचविधपमायत्तरेण
पमत्तो णिसरति, एगन विस्सति अणाभोगो तेण णिसरति ।
नि० चू० ४ उ० ।

निसर्जनाधिकरणमपि लौकिकम्-शरशक्तिचक्रपाषाणादीनां
निसर्जनम् । लोकोत्तरिक तु सहसाकारादिना यत्कण्टककङ्क-
रादीनां भक्तपानान्त पणितानां निसर्जनम् । वृ० १ उ० ।

इयाणि णिव्वत्तणादिसु पच्छित्तं, तत्थ णिव्वत्तणे मूलादि
पच्छत्तं । एगिंदियादी णिव्वत्तय तस्स अभिक्खमेव दुक्ख पढमवा-
राए मूल, वितियवाराए अणवठ, ततियवाराए पागच्चिय, अथवा
ज जहि कमति सघट्टणादिक आयविराहणादिणिप्पण वा ।

एगिंदियमादीसु तु, मूलं अथवा वि होति मट्टाणं ।

कुसिरेतरनिप्पण, उचरकरणम्मि पुव्वुत्तं ॥ २४४ ॥

एगिंदिय जाव पच्चिय णिव्वत्ते, तस्स मूल, अहवा वि होति
सट्टाण ति "उक्कायचउसु" गाहा । परित्त णिव्वत्तेति चउलहु,
अणंते चउगुद, वेइदिणहिं उ लहु, तेइदिण अगुगु, चउरिदिणहिं
उदो, पवेदिण मूल, उचरकरणे कुसिराकुसिरणिप्पण पुव्वुत्त,
इहय पढमुहेसए पढमसुत्ते णिक्खिवसजोगणिणिसिरणेसु इम
पच्छित्तं-

तिय मासिय तिग पणए, एकिखवसंजोगगुरुगलहुगा वा ।

कुसिरेतरसतरणिर-तरे य वुत्तं णिसरणम्मि ॥ २४५ ॥

सत्तनगीए पढमवितियततिपसु भगेसु मासलहु, चउत्थपच-
मठेसु पणग, चरिमो सुद्धो तवकावसेसितो कायव्वो । आ-
हारे उचकरणे वा एगे चउगुरुग, दोसु चउलहुगा । अइवा-सा-
मणणेण आहारे चउगुरुग, उचकरणे लहुगो, णिसिरणे कुसिरा
अज्जुसिरे य सतरणिरतरेसु वुत्त पच्छित्त पढमसुत्ते । दव्वाहि-
करणे गय । नि० चू० ४ उ० ।

अथ भावाधिकरणमाह-

अह तिरीय उट्टकरणे, वंधण निव्वत्तणा य निक्खिवणं ।

उवसमखएण उट्ट, उदएण भवे अहीगरण ॥

इह श्रोधादीनामुदयो भावाधिकरणमित्युक्तम् । अनस्तेषामेवा-
धस्तिर्यगूर्द्धकरणे अधोगतिनयने तिर्यगतिनयने ऊर्द्धगतिनयने
च स्वरूप वक्तव्यम् । वृ० १ उ० ।

(३) अधिकरणं च न करणीयम्-

अहिगरणकडस्म जिकखुणो, वयमाणस्स पसज्ज दारुणं ।

अट्टे परिहायती वह, अहिगरण न करिज्ज पमिए ॥ १९॥

आधिकरण कडह, तत्करोति तच्छीलश्चेत्यधिकरणकर । त-
स्यैव जूतस्य मित्रो, तथाऽधिकरणकर्ता दारुणा प्रयानकां वा प्र-
सह्य प्रकटमेव, वाच ब्रुवन. मनोऽर्थोऽमोक्ता, तत्कारणज्ञानो वा स-
यम, स बहु परिहीयते ध्वसमुपयाति । इदमुक्तं भवति-बहुना
कालेन यदाजितं विप्रकृष्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कलहं कुर्वत प-
रोपघातिनीं च वाच ब्रुवनस्तत्क्षणमेव ध्वसमुपयाति । तथाहि
" ज अज्जिय समीख-ल्लपहिं तवनियमबममइहिं । माहुनय
कनहता, छुट्ठे अह सागपत्तेहिं " इत्येव मत्वा मनागप्यधिकरण
न कुर्यात् परिमत्तं सदसद्विवेकीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

(४) कृत्वा तु व्युपशमनीयम्-

जिकखू य अहिगरणं कडत्तं अहिगरणं विवसमिच्चा वि
ओसइयपाहुमे; इच्छाए परो आढाइज्जा, [इच्छाए परो नो
आढाइज्जा,] इच्छाए परो अब्बुडेज्जा, [इच्छाए परो नो अब्बुडेज्जा,]
इच्छाए परो वंदिज्जा, इच्छाए परो नो वंदि-
ज्जा, इच्छाए परो सज्जुंजेज्जा, इच्छाए परो नो सज्जुंजेज्जा,
इच्छाए परो संवसिज्जा, इच्छाए परो नो संवसिज्जा,
इच्छाए परो उवसमिज्जा; जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा,
जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा । तम्हा अप्पणा चेव
उवसमियव्वं स किमाहु-जंते ! ; उवसमसारं सामन्नं ॥
भिक्षु सामान्य साधुः, चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादाचार्यो-
पाध्यायावपि गृह्यते । अधिक्रियते नरकगतिगमनयोग्यतां प्रा-
प्यते आत्मा अनेनेत्यधिकरणम्, कलहः प्राज्ञतमित्येकार्थः । त-
त्कृत्वा तथाविधद्वयकैत्रादिसाविध्योपबृंहितकपाय मोहनी-
योदयो द्वितीयसाधुना सह विधाय; तत स्वयमन्योपदेशेन वा
परिभिद्येत तस्यैहिकामुष्मिकापायबहुलं ता तदधिकरणं विवि-
धमनेकै प्रकारे स्वापराधप्रतिपत्तिपुरस्सरं मिथ्यादुष्कृतप्रदानेन
न ता व्युपशमय्य उपशमं नीत्वा ततो विशेषेणावसायितम-
वसानं नीतं प्राज्ञत कलहो येनाध्यवसायितप्राभृतो व्युत्पन्नक-
लहो प्रवेत् । किमुक्तं भवति? गुरुमकाशे स्वदुश्चरितमालोच्य,
तत्प्रदत्तप्रायश्चित्तं च यथावत्प्रतिपद्य, चूयस्तदकरणायाज्यु-
त्तिष्ठेत् । आह-येन सह तदधिकरणमुत्पन्नं स यद्युपशम्यमानो-
ऽपि नोपशमयति तत को विधिः?, इत्याह-"इच्छाए परो आढा-
इज्जा" इत्यादि सूत्रम् । इच्छाया यथा स्वरूपव्यापारमाश्रियेत,
प्रागेव सभाषणादिभिरादरं कुर्याद्वा न वेति भावः । एवमिच्छ-
या परस्तमज्युत्तिष्ठेत् । इच्छया परो न साधुना सह सज्जुंजीत,
एकमणमल्या भोजनं दानप्रहणसमो गवा कुर्यात् । इच्छया परो
न सज्जुंजीत । इच्छया परस्तेन साधुना सह सवसेत्, समेकी
सूयैकत्रोपाश्रये वसेत्, इच्छया परो न सवसेत् । इच्छया पर
उपशम्येत् । परं य उपशमयति कवायनापापगमेन निवृत्तो
भवति तस्यास्ति सस्यदर्शनादीनामागधना, यस्तु नोपशमय-
ति तस्य नास्ति तेषामाराधना, तस्मादेव विचिन्त्यात्मनैवोप-
शान्तव्यमुपशमं कर्त्तव्यं । शिष्यः प्राह-[स किमाहु-भते]
अथ किमत्र कारणमाहुर्भदन्त ' परमकल्याणयोगिनस्तीर्थक-
रादयः ? । सूरिराह-उपशमसारं आमण्य, तद्विहीनस्य निष्फ-
लनयाऽभिधानात् । उक्तं च दशवैकालिकनिर्युक्तौ-"सामन्नम-
शुचरत-स्स कसाया जस्स उक्कडा होति । मन्नामि उच्छुपुप्फ,
च निष्फलं तस्स सामन्नं " ॥ १ ॥ इति सूत्रार्थः ।

अथ विषमपदानि भाष्यकृद् विवृणोति-

वेप्पति चसहेणं, आयरिया जिकखुणीओ अ ।

अहवा जिकखुग्गहणा, गहणं खलु होइ सव्वेसिं ॥

इह सूत्रे भिक्षुश्चेति यश्चशब्दः, तेन गणी, उपाध्यायः, तथा
आचार्यो, भिक्षुश्च गृह्यन्ते । अथवा भिक्षुपदोपादानात् सर्व-
वामप्याचार्यादीनां ग्रहणे तज्जातीयानां सर्वेषां ग्रहणमिति
वचनात् ।

खामिय विनामिय विणा-सियं च खवियं च होइ एगट्ठा ।

पाहुण पहेण पणयण, एगट्ठा ने उ निरयस्सा ॥

क्षामित विनाशमित, विनाशित क्षपितमिति च एकार्थानि पदानि भवन्ति । तथा-प्राभृत प्रहेणक प्रणयनमिति वा त्रीण्यप्येकार्थानि । तानि तु प्राभृतादीनि नरकस्य मन्तव्यानि । यन एतदधिकरण नरकस्य सामन्तकादेशप्राभृतमुच्यते । एव प्रहेणकप्रणयनपदे अभिज्ञावनीये ।

इच्छा न जिणादेमो, आढा उ ए आदरो जहा पुर्व्वि ।

जुंजण वास मणुबे, सेस मणुसे च इतरे वा ॥

इच्छा नाम जिनादेशस्तीर्थकृतमुपदेशोऽयमिति कृत्वा नादरादीनि पदानि करोति, किं त्वसच्छब्देन । तथा आढा नाम आदरस्तं यथा पूर्व्वमुचितालापादिभिः कृतघास्तथा कुर्याद्वा न वा; शेषाणि त्वभ्युत्थानादीनि सुगमानीति कृत्वा भाष्यकृता न व्याख्यातानि । अत्र च सभोजनसवासनपदे मनोबोधेषु सांभोगिकेषु भवतः, शेषाणि त्वादराभ्युत्थानवन्दनोपशमनपदानि मनोबोधेषु वा सांभोगिकेषु, इतरेषु वा असांभोगिकेषु भवेयुः । कृता भाष्यकृता विषमपदव्याख्या । ३० १ उ० ।

(५) अधिकरणोत्पत्तिकारणानि—

अथ कथं तदुत्पद्यते ? इत्याशङ्कावकाशमवलोक्य तदुत्थानकारणानि दर्शयति—

सच्चित्ते य अचित्ते, भीमवओगयपरिहारदेसकहा ।

सम्मं एणउट्टत्ते, अहिगरणमओ समुप्पज्जे ॥

सच्चित्ते शैक्षादौ, अचित्ते वरुणाप्रादौ, मिश्रके स्वभाण्डमात्रकोपकरणैः शिखादौ, अनासेव्ये अपरेण गृह्यमाणे, तथा वचोगत व्यत्याग्रेडितादि । तत्र चाविधीयमाने परिहार स्थापना, तदुपलक्षितानि यानि कुलानि तेषु प्रवेशे क्रियमाणे देशकथायां वा विधीयमानाया एतेषु स्थानेषु प्रतिनोदितो यदि सम्यङ् नावर्तते न प्रतिपद्यते, अतोऽधिकरणमुत्पद्यत इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

आज्जव्वमदेमाणे, गिएहंतं तहव मगमाणे य ।

सच्चित्तेतरमीसे, वितहपणिवत्तिओ कलहो ॥

आभाव्य नाम शैक्ष, शैक्षः कस्याप्याचार्यस्योपतस्ये, प्रब्रज्यां गृह्णामीति । तमुपस्थित मत्वा विपरिणमय्य परः कश्चिदाचार्यो गृह्णाति । ततो मूलाचार्यो ब्रवीति—किमिति मदीयमाभाव्य गृह्णासि ? पूर्व्वगृहीतं वा शैक्षादिकं याचितो मदीयमाभाव्य किं न प्रयच्छसीति ? एवमाभाव्य सचित्तमचित्त मिश्रं वा तत्कालगृह्यमाणं पूर्व्वगृहीतं वा मार्ग्यमाणमपि यदा वितथप्रतिपत्तितो न ददाति तदा सकलहो भवति । वितथप्रतिपत्तिर्नाम परस्याभाव्यमपि शैक्षादिकमनाभाव्यतया प्रतिपद्यते ।

वचोगतद्वारमाह—

वेच्चापेलण सुत्ते, देमीभासा पवंचणे चेव ।

अन्नम्मि य वत्तवे, हीणाहियअक्खरे चेव ॥

सूत्रे सूत्रविषये, व्यत्याग्रेरुना अपरापरोद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धेषु घट्टनाऽऽज्ञापकश्लोकादीनां योजना । यथा—“सव्वे जीवा वि ङ्छन्ति, जीविउ न मरिज्झिउ ” इत्यत्रेदमालापकपदं घट्टते—“सव्वे पाणपिया उ ” इत्यादि । तथाभूतं सूत्रं परावर्तयन् किमेव सूत्रं व्यत्याग्रेरुयसीति प्रतिनोदितो यदि न प्रतिपद्यते तदाऽधिकरणं भवति । देशीभाषा नाम मरुमाखमहाराष्ट्रादिदे-

शानां प्रापातोऽन्यत्र देशान्तरे भाषमाण उपहस्यते, उपहस्यमानश्च सखम करोति । यद्वा-प्रपञ्चनं वचनानुकारेण वा करोति, ततः प्रपञ्च्यमानः साधुना सहाधिकरणमुत्पद्यते । अन्यस्मिन् वा वक्तव्ये कोऽप्यन्यद्वक्ति । यद्वा-हीनाकरमधिकाकर वा पदं वक्ति । तत्र हीनाकर भास्कर इति वक्तव्ये भास्कर इति वक्ति । अधिकाकर सुवर्णमिति वक्तव्ये सुसुवर्णमिति ब्रवीति ।

परिहारकद्वारमाह—

परिहारियमउचिते, उवियमणद्धाएँ णिव्विसंते वा ।

कुच्छियकुले य पविसइ, वा जऽणउट्टणे कलहो ।

गुरुग्लानवाद्यादीनां यत्र प्रायोग्यं लभ्यते तानि कुलानि पारिहारिकाण्युच्यन्ते, एकं गीतार्थसंघाटकं मुकुत्वा शेषसंघाटकानां परिहारमर्हन्तीति व्युत्पत्तेः । तानि यदि न स्थापयति, स्थापितानि वा अनर्थं निष्कारणं निर्विशतिः, प्रविशतीत्यर्थः । यद्वा-पारिहारिकाणि नाम कुत्सितानि जात्यादिजुगुप्सितानीति भावः । तेषु कुट्टेषु प्रविशति । एतेषु स्थानेषु यदि नावर्तते न वा तेषु प्रवेशादुपरमते ततः कलहो भवति ।

देशकथा—

देसकहा परिकहणे, एके एके व देसरागम्मि ।

सोरहदेस एगे, दाहिण वीयम्मि अहिगरणं ।

न वर्तते साधूनामीदृशी कथां कथयितुम् । स प्राह—कोप्रसि त्वं ? येनैव मां वारयसि । तथाऽप्यस्थिते अनुपरते सत्यधिकरणं भवति । यद्वा—(एकेके व देसरागम्मि स्ति) एकं साधुः सुराष्ट्रं वर्णयति, यथा रमणीयः सुराष्ट्रो विषयः । द्वितीयः प्राह—कपमएकूक ! त्वं किं जानासि ? दक्षिणापथ एव प्रभानो देशः । एवमेकैकदेशरागेणोत्तरप्रत्युत्तरिकं कुर्वाणयोरधिकरणं भवति । ३० १ उ० । नि० चू० ।

(६) उत्पन्ने च व्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम्

एवमुत्पन्ने अधिकरणे किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह—

जो जस्स उ उवसमई, विज्झवणं तस्स तेण कायव्वं ।

जो उ उवेहं कुज्जा, आवज्जइ मासियं लहुगं ॥

यः साधुर्यस्य साधोः प्रज्ञापनया उपशाम्यति तस्य तेन साधुना विघ्नापनं क्रोधाग्निनिर्वापणं कर्त्तव्यम् । य पुनः साधुर्येण वा कुर्यात् स आपद्यते मासिकं लघुकम् ।

लहुओ उ उवेहाए, गुरुओ सो चेव उवहसंतस्स ।

उच्चुयमाणा लहुगा, सहायगत्ते सरिसदोसा ॥

उपेक्षां कुर्वाणस्य लघुको मासः, उपहसत एव मासो गुरुकः । अथ उत्प्राबल्येन तुदति अधिकरणं करोति, विशेषत उच्यते जयनीत्यर्थः । ततश्चत्वारो लघुकाः । अथ कलहं कुर्वत सहायकत्वं साहाय्यं करोति, ततोऽसावधिकरणकृता सह सदृशदोष इति कृत्वा सदृशं प्रायश्चित्तमापद्यते, चतुर्गुरुकमित्यर्थः ।

तथा चाऽऽह—

चउरो चउगुरु अहवा, विसेसिया होंति भिक्खुमाईणं ।

अहवा चउगुरुगादी, हवंति उरुद्धेदनिद्ववणा ॥

जिह्ववृषभोपाध्यायाचार्याणामधिकरणं कुर्वतां प्रत्येकं चतुर्गुरुकम्, ततश्चत्वारश्चतुर्गुरुका भवन्ति । अथवा त एव चतुर्गुरुकाः,

तपःकालविशेषिता भवन्ति । तद्यथा-जिह्वोश्चतुर्गुरुक तपसा, कालेन च लघुकम् । वृषभस्य तदेव कालगुरुकम् । उपाध्यायस्य तपोगुरुकम् । आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरुकम् । अथवा चतुर्गुरुकादारभ्य षेदे निष्ठापना कर्तव्या । तद्यथा-जिह्वोश्चतुर्गुरुक करोति चेत् चतुर्गुरुकम् । वृषभस्य षड्गुरुकम् । उपाध्यायस्य षड्गुरुकम् । आचार्यस्याधिकरणं पुर्वाणस्य षेद इति । यथा वाऽधिकरणकरणे आदेशस्येण प्रायश्चित्तमुक्तम्, तथा साहाय्यकरणेऽपि छद्म्यम्; समानदोषत्वात् ।

अथोपेक्षाव्याख्यानमाह-

परपत्तिया न किरिया, मोत्तु परट्ट च जयसु आयट्टे ।
आवि य उवेहा बुत्ता, गुणो वि दोसो हवइ एवं ॥

इहाधिकरणं कुर्वतो दृष्ट्वा मध्यस्थभावेन निष्ठति, नान्येषामप्युपदेशप्रयच्छति । यत् परप्रत्यया या क्रिया कर्मसंबन्धः सा अस्माकं न प्रवति, परकृतस्य कर्मण भात्मनि सक्रमाभावात् । तथा यद्येतावाधिकरणादुपशम्येते, तत् परार्थकृतो न प्रवति । तच्च परार्थं मुक्ता यदि मोक्षार्थिनस्तत आत्मार्थ एव स्वाध्यायादिके यतश्च यत्नं कुरुत । अपि चेत्त्यज्युच्यते । ओघनिर्मुक्तिशास्त्रेऽप्युपेक्षा सयमाङ्गतया प्रोक्ता-“ उवेहा सजमो बुत्तो ” इति वचनात् । यद्वा-मैत्रीप्रमोदकारण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकाङ्क्षित्यमानाविनेषेषु मध्ये स्थापयन् या उपेक्षा प्रोक्ता तत्. सैव साधूनां कर्तुमुचितेति ज्ञाव । अत्र सूत्राह-“ गुणो वि दोसो हवइ ” यदिदमविनेषेषु माध्यस्थ्यमुपदिष्टं तत् संयतापेक्षया, न पुनः संयतानङ्गोक्त्यः यस्मादसंयतेष्वियमुपेक्षा क्रियमाणा गुणः, संयतेषु क्रियमाणा महान् दोषो न प्रवति । उक्तं चौघनिर्मुक्तावपि-“ सजयगिहचोयणाचोयणे य वावार उवेहा ।

अथ ‘परपत्तिया न किरिय स्ति’ पदं भावयति-

नइ परो पमिसेविका, पावियं पमिसेवणं ।

मज्ज मोणं चरंतस्म, के अट्टे परिहायई ? ॥

यदि पर आत्मव्यतिरिक्तः पापिकामकुशलकर्मोपाधिकरणादिकां प्रतिसेवनां प्रतिनेवते ततो मम मौलमाचरत को नाम ज्ञानादीनां मध्यादर्थः परिहीयते ? न कोऽपीत्यर्थः ॥

अथ ‘मोत्तु परट्ट च जयसु आयट्टे’ इति पदं व्याचष्टे-

आयट्टे उवउत्ता, मा परमट्ट वावरा होइ ।

इदि परट्टाउत्ता, आयट्टविणागगा होंति ॥

आत्मार्थो नाम ज्ञानदर्शनचारित्र्यरूप पारमार्थिकं स्वकार्यम्, तत्रोपयुक्ता न प्रवति । मा परकार्ये अधिकरणोपशमनादौ व्यापृता न प्रवति । इदीति हेतूपप्रदर्शने, यस्मात्परार्थायुक्ता आत्मार्थविनाशकाः स्वाध्यायध्यानाद्यात्मकार्यपरिमन्थकारिणो भवन्ति ।

अथोपहसनोत्तेजनाद्वारे युगपद् व्याचष्टे-

एमो वि ताव दमयतु, हसइ व तस्सोमयाएँ ओहसणा ।

उत्तरदाणं तह मो-सराहि अह होइ उत्तअणा ॥

द्वयोरधिकरणं कुर्वतोरेकस्मिन् सीदति सति आचार्योऽन्यो वा प्रवति-एषोऽपि तावददानपूर्व, दम्यतामिदानीमनेन, यदि वा तस्मावमतया, पश्चात्करणे इत्यर्थः ; स्वयमदृष्टासेरुपहसति, यतुपहसनमुच्यते । तथा तयोर्मध्याह्नं सीदति तस्योत्तरदा-

नम-अमुकममुक च ब्रूहि इत्येव शिक्षापणम्, यद्वा-मा अमुष्माद-पसर त्व, इदीचुय तथा लग यथा न तेन पराजीयसे । अथैषा उत्तेजनाऽजिघीयते ॥

अथ साहाय्यकरणं व्याख्यानयति-

वायाए हत्थेहिं, पाणीहं व दंतलउरुमादीहिं ।

जो-कुणइ सहायत्तं, समाणदोसं तयं विति ॥

द्वयोः कलहायमानयोर्मध्यादेकस्य पक्षे कृत्वा यः कोऽपि वाचा हस्तान्यां वा पद्भ्यां वा दन्तैर्वा लग्नादिभिर्वा साहाय्यं कराति, तं तेनाधिकरणकारिणा सह समानदोषं तीर्थकरादयो मुच्यते ।

अथाचार्याणामुपेक्षां कुर्वाणानां सामान्येन वा अधिकरणे

अनुपशम्यमाने दांशदर्शनार्थमिदमुदाहरणमुच्यते-

अरत्तमज्जे एग सव्वतां वणमहमहिय महंतं सरं अत्थि ।
तत्थ य वहुणि जलचरथल्लचरखल्लचरसत्ताणि अत्थति ।
तत्थ एग महत्तं हत्थिज्जुहं परिवसइ, अन्नया य गिएहकाले
तं हत्थिज्जुहं पाणियं पाठं एहाउत्तिन्न मज्जएहदेसकाले
सीयल्लखल्लवायाए सुहं सुहेण चिट्ठइ । तत्थ य अदूरदेसे
दो सरमा भन्निउमारप्पा । वणदेवयाए अंते दट्ठु सव्वेसिं
सज्जासाए आघोसियं-

“नागा! वा जलवासीया!, सुणेह तसथावरा ! ।

सरमा जत्थ भंरति, अज्जावो परियत्तइ” ॥ १ ॥

ता मा एते सरदे उवेक्खह, वारेह तुम्हे । एव जणिया वि ते जलचरा णो चिंतेति-किं अम्ह एते सरमा जंढंता काहिंति? तत्थ य एगो मरहो तो पिद्धितो सो धामिज्जतो सुहपसुत्तम्म एमस्स जूहाहिवस्स विल ति वाउ नासापुहं पयिहो । विड्ढो खितस्स पिट्ठो चैव पयिहो; तं सिरकपाले जुंक्कं सपलगा । तस्स हत्थिस्स महती अरइ जाया । तओ वंणएहे मेहइए असमाहोए वट्ठमाणो उट्ठेत्ता तं वणसंरं चूरइ । बहवे तत्थ विस्संता घाइया, जलं च आहोहिंतेण जलचरा घाइया, तद्वागपाली य जेइया, तद्वाग विणट्ठ, ताहे जलचरा मन्वे वि णट्ठा ।

जो नागा हस्तिन ! जलवासिनो मत्स्यकच्छपादय ! अपरे च ये अस्मा मृगपशुपक्षिप्रभृतय ! स्थावराश्च सहकारादयो वृक्षा, एते सर्वेऽपि यूयं शृणुत मदीयं वचनम्-यत्र सरसि सरदौ भाकृत-कलहं कुरुतः, तस्याज्ञाव परिवर्तते, विनाशः सम्भाव्यत इति भावः ।

अमुमेवार्थमाह-

वणसंहमरे जलथल-खहचरवीममाण देवयाकहणं ।

वारेह सरदुवेक्खण, धारण गयनास चूरणया ॥

वनखल्लरुमिते सरसि जलथल्लखल्लराणां विश्रमणं, तत्र सरट्टनल्ल-न दृष्ट्वा वनदेवतया, नागा वा जलवासीया इत्यादि श्लोककथनं कृत्वा वारयन् सरदौ कलहायमानावित्युपदिष्टम् । ततश्च तैर्नागादिभिः सरट्टयोरुपेक्षणं कृतम्, एकस्य च सरट्टस्य द्वितीयेन घाटनं कृतं, ततोऽसौ घाट्यमानो गजनासापुटं प्रविष्टवान् । तत्पृष्ट्वा इति याऽ-

पि प्रविष्टः, तयोश्च युक्ते लब्धेऽसहयेदनात्तेन हस्तिना वनक्षरमस्य
चूर्णं कृतमिति, एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः—यथा तेषामुपेक्ष-
माणानां तत्पक्षसरः सर्वेषामप्याश्रयभूतं विनष्टं, तस्मिँश्च विन-
श्यमाने तेऽपि विनष्टाः, एवमत्राप्याचार्यादीनामुपेक्षमाणानां
महान् दोष उपजायते । कयमिति चेत् ? उच्यते—इह तावधि-
करणकारिणां बुद्धितौ परस्परं मुष्टामुष्टिं वा दण्डादपि वा
युध्येता, ततश्च परस्परया राजकुले ज्ञाते सति महान् दोषः, यतः
स राजादिस्तेषां साधूनां बन्धनं वा, ग्रामनगरादेर्महत्कासनं
वा, कण्टकमर्दनं वा कुर्यात् ।

किञ्चान्यत्—

तापो भेदो अयसो, हाणी दंसणच रित्तनाणाणं ।

साहुपदोसो संमा-रवहुणां साहिकरणस्स ॥

तापो, भेदो, अयसो, हानिर्दर्शनज्ञानचारित्राणां, तथा-साधुप्र-
द्वेषं संसारवर्जनो जवति, एते साधिकरणस्य दोषा भवन्तीति
समासार्थः ।

अथैनामेव गार्थां विवृणोति—

अइजणिय अजणिए वा, तावो जेदो उ जीवचरणणं ।

रुद्धमरिस न सीलं, जिम्हं मण्णे अयस एवं ॥

तापो द्विधा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । तत्रानिभणिते सति चिन्तय-
ति-धिरु मां येन तदानीं स साधुर्बहुनिर्विधैरसद्व्याख्यानैरभ्या-
स्यत-इत्यभिप्रेत्य चाक्रुष्टः, एष प्रशस्तस्ताप उच्यते । अथाभणितं
न तथाविधं तस्य मुखे जणितं, ततश्चिन्तयति-हा ! मन्दजाग्यो
विस्मरणशीलोऽहं यन्मया तदीयं जात्यादिमर्मनिकुरम्येन प्रका-
शितं, एष अप्रशस्तस्तापो मन्तव्यः । तथा कलहं कृत्वा जीवि-
तजेदं चरणजेदं वा कुर्यात्, पश्चात्तापात्तमचेतसो विहायसादि-
मरणमभ्युपगच्छत्यु, उन्निष्कमणं वा कुर्यादिति ज्ञात्वा । लोकोऽपि
ब्रूयात् अहो ! अमीषां श्रमणानां रूपसदृशं बहिः-प्रशान्ताकारं रूप-
मवबोध्यते, तादृशं शीघ्रं मनःप्रणिधानं नास्ति । यद्वा-किम् ?
मन्ये जिह्वा लज्जनीयं किमप्यनेन कृतं, येनैव प्रमत्तानवदनो ह-
स्यते, एवमादिकमयं समुच्छति ।

आकुट्ट तालिए वा, पक्खापक्खि कल्लहम्मि गणभेदो ।

एगयर स्यएहिं व, रायादि सिद्धे गहणादी ॥

जकारमकारादिर्जिर्वचनैराकृष्टे, ताभिते वा चपेटादण्णादि-
भिराहते सति, पक्षापक्षि परस्परपक्षपरिग्रहेण साधूनां कलहो
जाते सति गणजदो जवति, तथा तयोः पक्षयोर्मध्यादेकतरपक्षेण
राजकुलं गत्वा शिष्टे कथिते सति, सूचकैर्दो राजपुरुषविशेषैः
राजादीनां ज्ञापिते ग्रहाणां कर्षणादयो दोषा जवन्ति ।

वत्तकलहो वि न पढइ-ज्ज वच्छलत्ते यदंमणे हाणी ।

जह कोहाइविवह्णी, तह हाणी होइ चरणे वि ॥

वृत्तकलहोऽपि कलहकरणोत्तरकालमपि कषायकबुधितः प-
श्चात्तापनसमानसो वा यत्र पठति, तेन ज्ञानपरिहाणिः, साधौ प्रद्वे-
षिते साधर्मिकवात्सल्यं विराधितं भवति, अत्रात्सल्ये च दर्शन-
परिहाणि, यथा च क्रोधादीनां कषायाणां वृद्धिस्तथा चरणे-
ऽपि चारित्रस्य परिहाणिर्भवति, विद्युरस्यमस्थानप्रति-
घातेनाविद्युरस्यमस्थानेषु गमनं भवतीत्यर्थः । एतच्च व्यव-
हारमाश्रित्योक्तम् ।

निश्चयतस्तु—

अकसायं खु चरित्तं, कसायसहितो न संजओ होइ ।

साहूण पदेसेण य, संसार सो विवहेइ ।

खुशब्दस्यैवकारार्थत्वादकषायमेव कषायविरहितमेव चारित्रं
भगवद्भिः प्रकृतम्, अतो निश्चयनयान्निप्रायेण कषायसहितः सयत
एव न भवति, चारित्रशून्यत्वात् । तथा साधूनामुपरि यं प्रद्वे-
षस्तेनासौ संसारं वर्जयति, दीर्घतरं करोति । यत एते दोषा-
स्तत उपेक्षा न विधेया ।

किं पुनस्तर्हि कर्तव्यम् ? इत्याह—

आगाढे अहिगण्णे, उवसम अवकट्टणा य गुरुवयणं ।

उवममह कुणह जायं, ङ्कणया सायपत्तेहिं ॥

आगाढे कर्कशे, अधिकरणे उत्पन्ने द्वयोरप्युपशमं कर्तव्यम् ।
कथमित्याह-कलहायमानयोस्तयोः पार्श्वस्थितैः साधुनिरप-
कर्षणमपसारणं कर्तव्यम्, गुरुभिश्चोपशमनार्थमिदं वचनमभि-
धातव्यम्-आर्याः । उपशम्यतां पशम्यन् । अनुपशान्तानां कुतः
संयमः ? कुतो वा स्वाध्यायः ? तस्मादुपशमं कृत्वा स्वाध्यायं
कुरु । किमेव छमकवत् कनकरसस्य शाकपत्रैः छर्दनां परित्यागं
कुरु ? कः पुनरयं छमकः ? उच्यते—

जहा-एगो परिव्वायगो दमगपुरिमं चिंतासोगसागराव-
गाढं पासति । पुच्छति य-किमेवं चिंतापरो ? तेण से सञ्जा-
वो कहितो, दारिदाजिज्जतो मिंत्ति । तेण जण्ह सो-इस्सरं
तुमं करेमि, जतो सीतातववातपरिस्समं अगणंतेहिं
तिमाखुथावेयणं सहंतेहिं वंजचारीहिं अचित्तकट्ठमूलपच-
पुप्फफलाहारीहिं समीपत्तपुट्ठएहिं जावतो अरुसमाणे-
हिं धंत्तव्वो । एस से उवचारो । तेण दमगेण सो कणगरसो
उवचारेण गहितो, तुंय भरितं । ततो णिग्गतो तेण परि-
व्वायगेण भणियं-सुरुत्तेण वि तुमे एस सागपत्तेण ण छड्ढि-
यव्वो । ततो सो परिव्वायगो गच्छंतो दमगपुरिसं पुणो २
भणति-मम पजावेण ईमरो जविस्ससि । सो य पुणो २
वज्जमाणो रुट्ठो भणति-जं तुंय पसाएण इस्सरत्तणं, तेण
मे न कज्जं । तं कणगरसं सागपत्तेण ठड्ढेति । ताहे परिव्वा-
यगेण जणियं-हा हा दुरात्मन् ! किमेयं तुमे कयं ?

जं अज्जियं समीख-एएहिं तव नियमवज्जमइएहिं ।

तं दाणि पच्छ नाहिह, ठड्ढतो सागपत्तेहिं ॥

यदर्जितं शमोसबन्धिभिः खल्लकैः पत्रपुटैस्तपोनियमग्रह-
युक्तैः तदिदानीं शाकपत्रैः परित्यजन् पश्चात्परित्यागकाला-
दूर्द्धमुपरि तं ज्ञास्यासि, यथा-दुष्टं मया कृतं, यच्चिरसचित-
कनकरसं शाकपत्रैरुत्तिसृज्य परित्यक्तम् । एव परिव्राजकेषु
द्रमक उपालब्धम् । अथाचार्यस्तावधिकरणकारिणां बुधालभते ।
अर्चां यच्चारित्रं कनकरसस्थानीयं तपोनियमग्रहचर्यमयैः श-
मीखल्लकैरर्जितं परोपहोपसर्गादिश्रमं न गणयसि, चिरात्कथं
कथमपि मीलितं तदिदानीं शाकपत्रसदृशैः कषायाः परित्यजन्त-
पश्चात्परित्यक्तमानमनाः स्वयमेव ज्ञास्यासि । यथा-हा ! बहुका-
त्रोपार्जितेन समयमकनकरसेन तुम्भ्यकस्थानीयं स्वजीवबहुबुद्धं

कृत्वा पश्चात्कलहायमानैः शाकवृत्तपत्रस्थानीयैः कषायैरु-
स्तिञ्च्योरुस्तिञ्च्यायमसारीकृत , शिरस्तुण्डमुण्डनादिभ्यः प्र-
व्याप्रयासो मुधैव विहित इति ।

आह-कथमेकमुद्धर्तभाविनाऽपि क्रोधादिना चिरसचित
चारित्र क्षयमुपनीयते ? , उच्यते—

जं अज्जियं चारित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोमीए ।

तं पि य कसायमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥

यद्वर्जित चारित्र देशोनयाऽप्यष्टवर्षाद्यनयाऽपि पूर्वकोट्या तद-
पि स्लोकमल्पतरकालोपाजितमित्यपिशब्दार्थः । तदपि कषायि-
तमात्रं, उदीर्णमात्रक्रोधादिकषाय इत्यर्थः । नाशयति हारयति,
नरः पुरुषो, मुहुत्तेन, अन्तर्मुहुत्तेनेति भावः । यथा-प्रभूतकाल-
सचितोऽपि महान् दृष्टराशिः सकृत्प्रज्वालितेनापि अग्निना
सकलोऽपि भस्मसाद्भवति, एवं क्रोधानलेनापि सकृदुदीरितेन
चिरसचित चारित्रमपि भस्मीभवतीति हृदयम् । एवमाचा-
र्येण सामान्यतस्तथोरनुशिष्टिर्दातव्या, नत्वेकमेव कश्चन वि-
शिष्य भणनीयम् ।

यत आह—

आयरिए न जणे अह, एग निवारेइ मासियं लहुगं ।

रागदोसविमुक्को, सीयवरसमो उ आयरिओ ॥

आचार्यो नैकमधिकरणकारिणं भणति अनुशास्ति । अथा-
चार्य एकमेव निवारयति अनुशास्ति न द्वितीयम्, ततो मा-
सिक लघुकमापद्यते, असामाचारीनिष्पन्नमिति भावः । त-
स्मादाचार्यो रागद्वेषविमुक्तः शीतगृहसमो भवेत् । शीतगृहं
नाम वर्द्धकिरत्ननिर्मितं चक्रवर्तिगृहम्; तच्च वर्षास्वनिघातप्र-
घातम्; शीतकाले सोष्मम्, ग्रीष्मकाले शीतलम्; यथा च तच्च-
क्रवर्तिनं सर्वतुल्यम् तथा छमकादेरपि प्राकृतपुरुषस्य तत्सर्व-
तुल्यमेव भवति । एवमाचार्यैरपि निर्विशेषैर्भवेत्तद्व्यम् ।

अथ विशेष करोति, तत इमे दोषाः—

वारेइ एस एवं, मपं न वारेइ पक्खरागेणं ।

बाहिरभाव गाढतर-गं तुपं च पेक्खसी एकं ॥

एष आचार्य आत्मीयोऽयमिति बुद्ध्या अमु चारयति; एवं प-
क्खरागेण क्रियमाणेन अननुशिष्यमाणे साधुर्वाह्यभाव गच्छ-
ति । यद्वा-स अननुशिष्यमाणो गाढतरमधिकरणं कुर्यात् । अ-
थवा-तमाचार्यं परिस्फुटमेव ध्यात्-त्वं मामेवैकं बाह्यतया
प्रेक्षसे, तत आत्मानमुद्धृष्य यदि मारयति, तत आचार्यस्य पा-
गाञ्चिकम्, अयो निष्कामाति ततो मूलम् । तस्माद् बाह्यप्यनुशा-
सनीयौ, अनुशिष्टौ च यद्युपशान्तौ तत सुन्दरम् । अथैक
उपशान्तो न द्वितीयः, तेन चोपशान्तेन गत्वा स स्वापराधप्र-
निपत्तिपुरस्सरं ज्ञामित, परमसौ नोपशाम्यति । आह-कथ-
मनदसौ जानाति यथाऽयं नोपशान्तः ? , उच्यते-यद्वा वन्द्यमा-
नोऽपि न वन्दनं प्रतीच्छति । यदि वाऽवमरत्नकोऽसौ ततस्त-
स्मादधिकं न वन्दते, आद्विषयमाणोऽपि वा नाजियते ।

एव तमनुपशान्तमुपलक्ष्य ततोऽसौ किं करोतीत्याह—

उवसतोऽणुवसंतं, पासिज्जा विण्णवेइ आयारियं ।

तस्स उ पन्नवण्णटा, निक्खेवो परो इमो होइ ॥

उपशान्तः साधुरनुपशान्तमपरं दृष्ट्वा आचार्यं विज्ञापयति—

कृमाभ्रमणा ! उपशान्तोऽह, परमेय ज्येष्ठार्योऽमुको वा नोप-
शाम्यति । तत आचार्यस्तस्य प्रज्ञापनार्थं परनिक्षेपं कुर्वन्ति ।
वृ० १ उ० । (स च परनिक्षेपः ' पर ' शब्द एव करिष्यते)

(७) अथ भावपरो व्याख्यायते, प्रावः क्योपशमादि, तद-
पेक्षया परो प्रावान्तरवर्त्ती, प्रावान्तरः स वेदोदयिकप्राववृ-
त्तिर्गृह्यते । तथा चाऽऽह—

आदणमञ्जुद्वाणं, वंदण संजुजणा य संवासो ।

एयाइं जो कुणई, आगाहण अकुणओ नत्थि ।

अकसायं निव्वाणं, सव्वेहिं वि जिणवरेहिं पन्नत्तं ।

सो लब्भइ भावपरो, जो लवमते अणुवसतो ॥

आदरः, अभ्युत्थान, वन्दन, सम्भोजन, सवासश्चेत्येतानि पदानि
य उपशान्तो कृत्वा करोति तस्याऽऽराधना अस्ति, यस्त्वेतानि
न करोति तस्याऽऽराधना नास्ति । एतेन "जो उवसमइ तस्स
अत्थि आराहणा" इत्यादिकं सूत्रावयवो व्याख्यातः । अयं
किमर्थमादरादिपदानामकरणे आराधना नास्ति ? , इत्याह-अ-
कषाय कषायाभावसमवि निर्वाण सकलकर्मक्षयलक्षणं सर्वैरपि
जिनवरैः प्रकृतम् । अतो य कश्चिदुपशान्तेऽपि साधवानुपशान्त
आदरादिपदानामकरणेन सकषायः स भावपरो लभ्यते, औद्-
यिकभाववर्तित्वात् ।

अथाचार्यस्तमुपशान्तं साधु प्रज्ञापयन् प्रस्तुतयोजनां कुर्वन्नाह—

सो वट्ठ उदर्इए, भावे तुं पुण खओवमामियम्मि ।

जह सो तुह जावपरो, एमेव य संजमतवाण ॥

नो भट्ट ! द्वितीयः साधुरद्याप्यौदयिके भावे वर्तते; त्वं पुनः
ह्यायोपशमिके प्रावे वर्त्तसे । अतो यथाऽसौ त्वदपेक्षया
भावपरस्तथा सयमतपोभ्यामप्येव परः पृथग्भूत इत्यतस्त्वया
न काचित् दीया चिन्ता विधेया । वृ० १ उ० । नि० चू० ।

(८) अधिकरणं कृत्वाऽन्यगणसङ्क्रान्तिर्न कर्तव्या—

जिक्खु य अहिगरण अवि ओसमित्ता इच्छिज्जा अब्बं गणं
उवसंपजित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ तस्स पचराइंदियं ठेय
कमुं, परिनिव्वविय २ दोब्बं पि तमेव गणं पभिनेअब्बं
सिया, जहा वा तस्स गणस्स तहा सिया ॥

भिक्खु, चशब्दादाचार्योपाध्यायौ वा, अधिकरणं कृत्वा तदधि-
करणमप्यवशमर्थ, इच्छेदन्यगणमुपसपद्य विहर्तुम् तत कल्पने
तस्य अन्यगणसङ्क्रान्तस्य पञ्चरात्रिदिव छेदं कर्तुम्, तत परि-
निर्वाप्य २ कोमलवचःसलिलसेकेन कषायाभिसतसं सर्वं
शीतलीकृत्य, द्वितीयमपि वारं तमेव गणं संघं प्रतिनेतव्यः
स्यात् । यथा वा तस्य गणस्य, तथा कर्त्तव्यमेवेति सूत्रार्थः ।
वृ० १ उ० ॥

(९) गच्छादनिर्गतस्याऽधिकरणे उत्पन्ने विधिः—

गच्छा अणिगयस्सा, अणुवममंतस्सिमो विधी होइ ।

सज्जायज्जिक्खच्च-इ पाओसए व चउर एकेके ।

गच्छादनिर्गतस्यानुपशाम्यतोऽयं विधिर्भवति-सूर्योदयकाले यः
स्वाध्यायः क्रियते तदवसरे प्रथममसौ नोद्यते, द्वितीय मि-
त्रावतरणवेलायां, तृतीय भकार्यनाकाले, चतुर्थं प्रादोषिका-

वश्यकवेद्यायाम् । एव चतुरो वारानेकैकस्मिन् दिने नोद्यते, तच्चाधिकरण प्रभाते प्रतिक्रान्तानां स्वाध्याये अप्रस्थापिते ।

एवमादौ कारणे तदुत्पद्यते-

दुष्प्रद्विद्वेहियमादिसु, नोदिर्ऍ मम्म अपमिवज्जते ।

ए वि पट्टवैति उवसम-कादो ए सुद्धोजियं वाऽसी ॥

दुष्प्रत्युपेक्षित कुर्वन्; आदिशब्दादत्युपेक्षमाण, असामाचार्या वा प्रत्युपेक्षमाणो नोदिन सम्यग् यदि न प्रतिपद्यते, ततो अधिकरण भवेत् । उत्पन्ने चाधिकरणे यदि स्वाध्यायेऽप्रस्थापिते स्वयमेवोपशान्तस्ततः सुन्दरम् । अथ नोपशान्तस्ततो य प्रस्थापनार्थमुपतिष्ठते स चारणीयः । यथा-निष्ठतु तावद् यावत् सर्वे पि नो मिलिता, तत आगतेषु सर्वेषु सूर्यो ग्रहे-आर्या ! पश्यत इमे साधवः स्वाध्याय न प्रस्थापयन्ति । ते चेष्टोत्तर प्रयच्छन्त्यवश्य-कालो न शुद्ध, पराजित तेषां साधूनां सूत्र-भूत, ततो न स्थापयन्ति । एव भणतो मामगुरु, साधवश्च सर्वेऽपि प्रस्थापयन्ति स्वाध्याय च कुर्वन्ति ।

काले प्रतिक्रान्ते भिक्षावेलायां जातायामिदमाचार्या ज्ञायन्ते-

णोतरण अजत्तट्ठी, ण च वेद्या अजुंजणाऽजिष्ठं ।

ण य पमिकमंति उवसम, गिरतीयारा तु पच्छाऽऽह ॥

आर्य ! साधवश्चर्चयन्तानुपशमनेन भिक्षां नावचगन्ति, तत उपशम गुरु । स चेष्टोत्तर प्राह-यूयमभक्तार्थिनो, न वा भिक्षा-वेद्या, एवमुक्ते सर्वेऽप्यवतरन्ति, तस्याभुपशान्तस्य द्वितीय मास-गुरु । भिक्षानिवृत्तेषु साधुषु गुरवो ज्ञान्ति-आर्य ! साधवो न ब्रुज्जन्ते । स प्राह-तून साधूना न जीर्णम् । एवमुक्ते सर्वेऽपि समु-दिता वृज्जन्त, तस्य पुनस्तृतीय मासगुरु । चर्योऽपि प्रतिक्रमणवे-लाया भणन्ति-आर्य ! साधवो न प्रतिक्रामन्ति, उपशम कुरु । स चेष्टोत्तर प्रत्याह-तुग्निं जितके, सभावयाम्यह निगतीचाराः भ्रमणास्तेन न प्रतिक्रामन्ति, एवमुक्ते सर्वेऽपि प्रतिक्रामन्ति । तस्य पुनश्चतुर्गुरुकम् । एव प्रभातकाक्षे अधिकरण उत्पन्ने विधिरुक्तः ।

अन्नम्मि वि कादम्मी, पढंत हिंदत मंडलाऽवस्से ।

तिन्नि व दोषि व मासा, होंति पडिकंत गुरुणा उ ॥

अथान्यास्मिन् काले अधिकरणमुत्पन्नम्, कदेत्याह-पठनां दीना-धिकादिपठने, भिक्षा हिणममानाना, मणमत्या वा समुद्दिशतामा-वश्यके वा । तत्र यदि द्विनायवेलायामधिकरणमुत्पन्नं तदा त्रयो गुरुमासा, चतुर्थवेलायामुत्पन्ने अनुपशान्तस्य द्वौ गुरुमा-सौ, एव विज्ञाया कर्त्तव्या । अथ प्रतिक्रान्ते प्रतिक्रमणे वृत्ते-ऽपि नोपशा-तस्तनश्चतुर्गुरुकाः ।

एव दिवसे दिवसे, चाउकाले तु सागणा तस्स ।

जति वारे ए सारेति, गुरुण गुरुगो तु तति वारे ॥

एवमनुपशान्तस्य दिवसे दिवसे चतुष्काले स्वाध्यायप्रस्था-पनादिसमयरूपे, तस्य सागणा कर्त्तव्या । यदि यावतो वारान् आचार्यो न सारयति तावतो वारान् मासगुरुकाणि भवन्ति ।

एव तु अगीतत्ये, गीतत्ये सारिए गुरु सुद्धो ।

जति तं गुरु ए सारे, आवत्ती होइ दोएह पि ।

एव दिने दिने सारणाविधिरगीतार्थस्य कर्त्तव्य, यस्तु गीतार्थ-स यद्येक दिन स्वाध्यायभिक्षाजकार्यनावश्यकवृत्तयेषु चतुर्षु स्थानेषु सारितस्तदा परतस्तमसारयन्नपि गुरु शुद्ध, यदि पुन-

स्तमगीतार्थगीतार्थे वा गुरुं सारयति ततो द्वयोर्ग्याचार्य-स्यानुपशाम्यतश्च प्रायश्चित्तस्यापत्तिः । अन्ये ब्रह्मे-अगीतार्थ-स्यानुपशाम्यतोऽपि नास्ति प्रायश्चित्त, यस्तु गुरुगीतार्थं न नोदयति, तस्य प्रायश्चित्तम् ।

गच्छो य दोषि मासे, पक्खे पक्खे इमं परिद्वदइ ।

जत्तछणसज्जायं, वंदण लावं ततो परेण ॥

एवमनुपशाम्यन्त गच्छो द्वौ मासौ सारयति, इदं पुनः पक्खे पक्खे परिहापयति । तद्यथा-अनुपशान्तस्य पक्खे गते गच्छे तेन सार्द्धं भक्तार्थं न करोति, न गृह्णाति वा, न वा किमपि तस्व ददातीत्यर्थः । द्वितीये पक्खे गते स्वाध्याय तेन सम न करोति, तृतीये पक्खे गते घन्दन न करोति, चतुर्थोऽपि पक्खो यदा गतो भ-वति ततः परमाहापमपि तेन सार्द्धं वर्जयति ।

आयरिय चउर मासे, संजुजति चउर टेइ सज्जायं ।

वंदणदाये चउरो, तेण पर मूळनिच्छुजणा ॥

आचार्य पुनश्चतुर्गे मामान् सर्वैरपि प्रकारैस्तेन सम सङ्ग-क्ते, ततः पर चतुरो मासान् जकार्थं वर्जयति, स्वाध्याय तु ददाति । ततश्चतुर्गे मासान् स्वाध्याय परिहृत्य वन्दनालापो द-दाति, ततः पर वर्षे पूर्णे सावत्सरिके प्रतिक्रान्तेऽनुपशान्तस्य गणान्त्रिकासन कर्त्तव्यम् ।

एवं वारसमासे, दोसु तवो सेसए जवे ठेदो ।

परिहीयमाण तद्वि-से तव मूळ पडिकते ॥

एव द्वादशमास्यामप्यनुपशाम्यतोर्द्वयोरादिममासयोर्भाव-च्छेन विसर्जितस्तावत्तपः प्रायश्चित्तमेव, शेषेषु दशसु मासेषु पञ्चरात्रिदिव ठेदो यावत्सावत्सरिकम्, एव प्राप्त प्रवति-पर्यु-पणारात्रौ प्रतिक्रान्तानामधिकरण उत्पन्ने एव विधिरुक्तः । (प-रिहायमाण तद्विस्तृति) पर्युपणापारणकदिनादेकैकदिवसेन परिहीयता, तावन्नेय यावत्तद्विस्तृति, पर्युपणादिवस एवाधिकरण उत्पन्ने तत्र तपो मूलं वा भवति नच्छेद । अथ प्रतिक्रमण कु-र्वतामुत्पन्नं ततः सावत्सरिके कायोत्सर्गे कृते मूलं च केवलं भवति ।

एतदेव सुव्यक्तमाह-

एवं एकैकदिणे, हवेतु ठवणादिणे वि एसेव ।

चेइयवंदणसारे, तम्मि वि काद्वे तिमासगुरू ॥

भाद्रपदशुद्धपञ्चम्यामनुदिते आदित्ये यद्यधिकरणमुत्पद्यते ततः पर्युपणायामप्यनुपशान्ते सवत्सरो प्रवति । षष्ठ्यामुत्पन्ने एकदिवसो न सवत्सर । सप्तम्यां दिवसद्वयम् । एवमेकैक दिन द्वापयित्वा तावन्नेय यावत् प्रस्थापनादिन पर्युपणादिवस । तत्र वाऽनुदिते रवौ कलदे उत्पन्ने एवमेव नोदना कर्त्तव्या । प्रथम स्वाध्यायप्रस्थापन कर्तुकामे सारणीयम्, ततश्चैत्यवन्दनार्थं गन्तुकामा सारयेयुः । तत्राप्यनुपशान्ते प्रतिक्रमणवेलाया सार-यन्ति । एव तस्मिन्नपि पर्युपणाकालदिवसे त्रिषु स्वाध्यायप्रस्था-पनादिषु स्थानेषु नोदितस्यानुपशान्तस्य त्रीणि मासगुरु-काणि भवन्ति ।

पमिकंते पुण मूळं, पमिकमंते व होज्ज अधिकरणं ।

संवच्छरमुस्सग्गो, कयम्मि मूळं न सेसाइं ॥

पर्युपणादिने सर्वेषामधिकरणानां न्यवाच्छिन्ति. कर्त्तव्येति-

त्वा प्रतिक्रान्ते समाप्ते आवाश्यके यदि नोपशान्त , ततो मूढम् ।
(पत्रिक्रमते व सति)अथ प्रतिक्रमणे प्रारब्धे यावत् सांवत्सरिको
महाकायोत्सर्गः , तावदधिकरणे कृते मूढमेव केवल , न शेषाणि
प्रायश्चित्तानि ।

संवच्छरं च रुद्धं, आयरिओ रक्खए पयनेणं ।

जदि एणम उवसमेज्जा, पव्वयराईसरिसरोसो ॥

एवमाचार्यस्तं कष्टं सवत्सरं यावत् प्रयत्नेन रक्षति । किमर्थम् ?
इत्याह-यदि नाम कथञ्चिदुपशान्तयेत् । अथ सवत्सरेणापि
नोपशान्तयेत्, ततः पर्वतराजोत्सवशरीरं स मन्तव्यः ।

तस्य वर्षादूर्ध्वं को विधिः ? , इत्याह-

अस्से दो आयरिया, एकेकं वरिसमुवेयस्स ।

तेण परं गिहिणं सो, वितियपदे रायपव्वइए ॥

तं वर्षादूर्ध्वं मूढाचार्यसमीपान्निगतमन्यौ द्वात्राचार्यौ क्रमेणैकै
क वर्षमेतेनैव विधिना प्रयत्नेन सरक्तः, तन्मध्याद्येनोपशमित-
स्तस्यैवासौ शिष्यः । ततः परं वर्षत्रयादूर्ध्वमेव गृहीक्रियते, सङ्घ-
स्तदीय लिङ्गमपाकरोतीत्यर्थः । द्वितीयपदे राजप्रव्रजितस्य
लिङ्गं प्रस्तारदोपनयानं द्वियते । एवं निष्कोरुकम् ।

एमेव गणायरिए , गच्छम्मि तवो उ तिन्नि पक्खाई ।

दो पक्खा आयरिए , पुच्छा य कुमारदिट्ठेतो ॥

एवमेव गणिन आचार्यस्य च मन्तव्यम् । नवरमुपाध्यायस्या-
नुपशान्तयेतो गच्छे वस्ततस्त्रिपञ्चदशस्तपः प्रायश्चित्तम् , परतश्चे-
द्दः । आचार्यस्यानुपशान्तयेतो सौ पक्षौ तपः, परतश्चेद्दः । शिष्यः
पृच्छति-किं सदृशापराधे विषम प्रायश्चित्तं प्रयच्छथ ? , रागद्वे-
षिणो यूयम् । आचार्यः प्राह-कुमारदृष्टान्तोऽत्र प्रवर्तते । स
चोत्तरत्राभिधास्यते । उपाध्यायस्य त्रयः पक्षास्ते दिवसीकृताः
पञ्चचत्वारिंशदिवसा जवन्ति ॥

ततः -

पणयालदिणे गणिणो, चउहा काऊण साहिएकारो ।

जचउण-सज्जाए, वदणलावे य हावेति ।

गणिनः सवन्निधनं पञ्चचत्वारिंशदिवसा चतुर्कां क्रियन्ते । च-
तुर्भागे च, साधिका सपादा एकादश दिवसा जवन्ति । तत्र
गच्छ उपाध्यायेन सममेकादश दिनानि भक्तार्थं करोति । एवं
स्वाध्यायवन्दनाद्यापानपि प्रत्येकमेकादश दिनानि यथाक्रमं क-
रोति, परतस्तु परिहापयति । पञ्चचत्वारिंशदिवसानन्तरं
चोपाध्यायस्य दशकच्छेदः । आचार्यस्तथैवोपाध्यायमपि चतु-
र्भिश्चतुर्भिर्मसैर्मकार्थनादीनि परिहापयन् सवत्सरं सारयति ।
आचार्यस्य द्वौ पक्षौ दिवसीकृतौ त्रिंशदिवसा जवन्ति ।

ततः--

तीसदिणा आयरिए, अद्धदिणा तु हावणा तत्थ ।

गच्छेण चउपदेहिं , णिच्छूढे लग्गती छेदे ॥

त्रिंशदिवसाश्चतुर्थभागेन विप्रक्ता अर्धपञ्चदिवसा भवन्ति ।
तत्र गच्छे आचार्येण सहाचर्याणामपि दिवसानि भक्तार्थं करोति ।
एव स्वाध्यायवन्दनाद्यापनमपि यथाक्रममर्धपञ्चदिवसैः प्रत्येकं
हापयति । ततः परं गच्छेन चतुर्भिरेव प्रकार्यनादिभिः पदैर्नि-
ष्कासित आचार्यः पञ्चदशके भेदे लगति ।

ततः--

संकंतो अणणगणं, सगणेण पवजितो चउपदेहिं ।

आयरिओ पुण वरिस, वंदणलावेहिं सारेइ ॥

स्वगणेन प्रकार्यनादिभिश्चतुर्भिः पदैर्दद्या व्रजितः, तदा अन्य-
गणं सक्रान्तः, पुनरन्यगणस्याचार्यो केवलं वन्दनालापाज्यां
द्वाभ्यां पदाभ्यां सच्छुद्धानः सारयति यावद्वर्षम् ।

सज्जायमाइएहिं, दिणे दिणे सारणा परगणे वि ।

नवरं पुण नाणत्त, तवो गुरुस्सेयरे भेदो ॥

परगणेऽपि सक्रान्तस्य आचार्यस्य स्वाध्यायादिभिः पदैर्दिने
दिने सारणा क्रियते । नवरं परगणोपसक्रान्तस्येदं नानात्वं विरो-
धः । अन्यगणसक्तस्य गुरोरसारयतस्तपः प्रायश्चित्तम् , इतरस्य
पुनरधिकरणकारिण आचार्यस्यानुपशान्तस्य भेदः । अत्र परः
प्राह-रागद्वेषिणो यूयम्-आचार्यं शीघ्रं भेदं प्रापयथः, उपाध्याय
बहुनरेण, मिश्रु ततोऽपि चिरनरेण । एव निष्प्राध्याययोर्भवतां
रागः, आचार्ये ढेषः । अत्र सूरिः प्रागुद्दिष्टं कुमारदृष्टान्तमाह-

सरिसावराधमंडो, जुवरणो भोगहरणवधादी ।

मज्झिम वधवहादी, अव्वत्ते कन्नखिसंति ॥

"एगस्स रओ तिन्नि पुत्ता-जेओ, मज्झिमो, कणिमो । तेहिं य
तिहिं वि समत्थिय-पितरं मरित्ता रज्जं तिहा विजयामो, तं च
रक्षाणाय, तत्थ जेओ जुवराया, तुम पमाणचूओ कीस एव करे-
सिंति ? , तस्स भोगहरणवधवतामणादिया सब्बे दहूपगारा
कया । मज्झिमो रायप्पहाणोत्ति काउ तस्स भोगहरणं न कयं,
वधवहादिया कया । अव्वत्तो कणेओ एतेहिं वियारिओत्ति काउं
तस्स कम्मविमोहणदमो खिसा दडो य कओ, न जोगहरणाइया"
अक्षरगमनिका-सदृशेऽप्यपराधे युवराजस्य भोगहरणवधना-
दिको महाददणं कृतः । मध्यमस्य वन्धवधादिको, न भोगह-
रणम्, अशक्तं कनिष्ठस्तस्य कर्णामोहनादिकं, खिसा च कृता ।
अयमर्थोपनयः । यथा-लोकैर्लोकोत्तरंऽप्युत्कृष्टमध्यमजघन्येषु
पुरुषवस्तुषु बृहत्तमो लघुर्बुधुतरश्च यथाक्रमं दणः क्रियते ।

प्रमाणभूते च पुरुषे अक्रियासु वर्तमाने एते दोषाः-

अप्पच्चय वीसत्थ-तण च होगे गरहा दुरहिगमो ।

आणाए य परिभवो, एव भयं तो तिहा दडो ॥

एत एवाचार्या जगन्ति, अकषाय चारित्र्यं भवति, स्वयं पुनरि-
त्थं रुष्यन्ति । एव सर्वेषु देशेषु प्रत्ययो भवति । शेषसाधूनाम-
पि कषायकरणे विश्वस्तता भवति, लोको वा गर्हो कुर्यात् । प्र-
धानं एवामीषा कञ्चहं करोतीति, रोषणश्च गुरुः शिष्याणां प्रती-
च्छकानां च दुरधिगमो भवति, रोषणस्य चाज्ञां शिष्याः परिज-
वन्ति, न च भयं तेषां भवति, अतो वस्तुविशेषेण त्रिधा
दणः कृतः ।

गच्छम्मि उ पट्टवए, जम्मि पदे निग्गतो वितियं ।

जिक्खुगणायरियाणं, मूलं अणवड्ड-पारंची ॥

गच्छे यस्मिन् पदे प्रस्थापिते निर्गतस्ततो द्वितीयं पदं परगणे
सक्रान्तं प्राप्नोति, तद् यथा-तपसि प्रस्थापिते यदि निर्गतस्त-
श्चेद्दं प्राप्नोति, भेदे प्रस्थापिते निर्गतस्ततो मूढम्, एव निष्कोरुक-
गणावच्छेदकस्यानवस्थाप्ये आचार्यस्य पारंश्विके पर्यवस्यति ।

अथवा येन प्रकार्यनादिना पदेन गच्छाभिर्गतं, ततो द्वितीयपद-
मन्यगणे गतस्य प्रारब्धते । यथा-गच्छाभिर्कार्येन पदेन निर्गतं,
ततोऽन्य गण गतेन तेन सम गणो न हृङ्गे, स्वाध्याय पुन करो-
ति । एव स्वाध्यायपदेन निर्गतस्य वन्दन करोति । वन्दनपदेन
निर्गतस्यालाप करोति । आलापपदेन निर्गतस्य परगच्छ-
भ्रतुभिरपि पदैः परिहार करोति । ' भिक्षुगणायरियाण '
इत्यादिना तु त्रयाणामप्यन्यप्रायश्चित्तानि गृहीतानि । वृ० ५
च० । नि० चू० । (द्वितीयपद कारणे सत्युत्पादयेदित्यधि-
कारेऽनुपदमेव वक्ष्यते)

(१०) खरपरुषाणि भणित्वा गच्छाभिर्गच्छतो विधिः—

यद्यधिकरणं कृत्वा प्रज्ञापितोऽपि नोपशम्यति,
स किं करोति ? इत्याह—

खरपरुषानिदुगाइं, अह सो भणित्वा अजाणियव्वाइं ।

निगमणं कटुसहियए, सगणे अट्टा परगणे य ॥

अथासौ खरपरुषनिष्ठुराणि अभणितव्यानि वचनानि भ-
णित्वा कटुपितृद्वय स्वगच्छाभिर्गमनं करोति, ततो निर्गतस्य
तस्य स्वगणे परगणे च प्रत्येकमष्टौ स्पर्शकानि वक्ष्यमाणा-
नि भवन्ति ।

खरपरुषनिष्ठुरपदानि व्याख्याति—

उट्ठं सरोस भणियं, हिंसग-मम्मवयण खरं तं तु ।

अक्कोसणिरुवचारिं, तमसच्चं णिडुरं होति ॥

ऊर्ध्वं महता स्वरेण सरोप यद्गणित-हिंसक मर्मघट्टनवचन
वा, तत्तु खर मन्तव्यम् । जकारमकारादिक यदाक्रोशवचनं यच्च
निरुपचारि विनयोपचाररहितं तत्परुषम् । यदसत्यं सभाया अ-
योग्यं, कस्त्वमित्यादिकं तद् निष्ठुरं भण्यते ।

इदृशानि भणित्वा गच्छाभिर्गमनस्याचार्यं प्रायश्चित्तवि-
भागं दर्शयितुकाम इदमाह—

अट्टाऽट्टअच्छमासा, मासा हौतऽट्टअट्टसु पयारो ।

वासासु अ संचरणं, ण चेव इयरे वि पेसंति ॥

स्वे गणे यान्याचार्यसत्क्रान्त्यष्टौ स्पर्शकानि, तेषु पक्षे अपरा-
परस्मिन् स्पर्शके संचरतो अष्टावर्द्धमासा भवन्ति । परगण-
मध्येऽप्यष्टसु स्पर्शकेषु पक्षे पक्षे संचरतो अष्टावर्द्धमासा ।
एवमुभयेऽपि मीलित्वा अष्टौ मासा भवन्ति, अष्टसु च ऋतु-
बद्धमासेषु साधूना प्रचारो विहारो भवतीति कृत्वा अष्टग्रहणं
कृतम् । वर्षासु चतुरो मासान् तस्याधिकरणकारिणः साधो
मचरणं नास्ति वर्षाकाल इति कृत्वा इतरेऽपि येषां स्पर्शकेषु
सक्रान्तस्तेऽपि तं प्रज्ञाप्य वर्षावास इति कृत्वा यतो गणादाग-
तस्तत्र न प्रेषयन्ति, तत्र यानि स्वगणे अष्टौ स्पर्शकानि, तेषु
सक्रान्तस्य नै स्वाध्यायभिक्षाभोजनप्रतिक्रमणवेलासु प्रत्येक
सारणा कर्तव्या । 'आर्य ! उपशमं कुरु' यद्येवमसाधयन्ति
ततो मासगुरुकम् ।

तस्य पुनरनुपशम्यत इदं प्रायश्चित्तम्—

सगणम्मि पंच गइ-दियाणि दस परगणे माण्णसु ।

अण्णसु होइ पणरम, वीसा तु गयस्म ओसणो ॥

स्वगणे स्पर्शकेषु सक्रान्तस्यानुपशम्यतो दिवसे दिवसे प-
ञ्चरात्रिदिवश्छेदः, परगणे मनोवृत्तेषु सांभोगिकेषु सक्रान्तस्य
दशरात्रिदिवः, अन्यसांभोगिकेषु सक्रान्तस्य दशरात्रिदिवः,
अन्यसांभोगेषु पञ्चदशरात्रिदिवः । अवसन्नेषु गतस्य विंश-
तिरात्रिदिवश्छेदः । एव भिक्षोरुक्तम् ।

अथोपाध्यायाचार्ययोरुच्यते—

एमेव य होइ गणी, दसदिवसादी भिक्षुमासंते ।

पणरसादी तु गुरु, चणसु वि णण्णसु मासते ॥

एवमेव गणिन उपाध्यायस्यापि अधिकरणं कृत्वा परगण-
सक्रान्तस्य मन्तव्यम् । नवरं दशरात्रिदिवमादौ कृत्वा भिक्षु-
मासान्तस्तस्य छेदः । एवमेव गुरोरुपाध्यायस्य चतुर्षु स्वय-
णपरगणे सांभोगिकान्यसांभोगिकावसन्नेषु पञ्चदशरात्रिदि-
वादिषु मासिकान्तश्छेदः । एतत्पुरुषाणां स्वगणादिस्थान-
विभागेन प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

अथ तथैव स्थानेषु पुरुषविभागेन प्रायश्चित्तमाह—

सगणम्मि पंचराइं-दियाइ भिक्षुस्स तादिवसं ठेदो ।

दस होइ अहोरत्ता, गणिआयरिए व पणरसा ॥

स्वगणे सक्रान्तस्य भिक्षोस्तदिवसादारभ्य दिने दिने पञ्च-
रात्रिदिवश्छेदः । गणिन उपाध्यायस्य दशरात्रिदिवः । आचा-
र्यस्य पञ्चदशरात्रिदिवः ।

अण्णगणे भिक्षुस्स य, दस राइदिया जवे ठेदो ।

पणरस अहोरत्ता, गणिआयरिए भवे वीसा ॥

अन्यगणे सांभोगिकेषु सक्रान्तस्य भिक्षोर्दशरात्रिदिवश्छेदः ।
उपाध्यायस्य पञ्चदशरात्रिदिवः । आचार्यस्य विंशतिरात्रिदिवः ।
एवमन्यसांभोगिकेषु अवसन्नेषु च प्रागुक्तानुसारेण नेयम् ।
वृ० ५ उ० ।

एवं एकैकदिणं, हवेतु ठवणा दिणे वि एमेव ।

चेइयवदणसारिए, तम्मि व काले तिमासगुरु ॥२१॥

पासत्यादिगयस्स य, वीसं राइंदियाइं भिक्षुस्स ।

पणवीस उवज्झाए, गणिआयरिए जवे मासो ॥२१॥

गणस्य गणे वा आचार्य, अथवा-गणित्वमाचार्यत्व च
यस्यास्त्यसौ गणिआयरिओ । नि० चू० १० उ० ।

अथैव प्रतिदिनं छिद्यमाने पर्याये पक्षेण कियन्तो मासा अ-
मीषां छिद्यन्ते ? इति जिज्ञासाया छेदसकल्पनामाह—

अट्टाऽज्जा मासा, अट्टहि मासा हवति वीसं तु ।

पंच उ मासा पक्खे, अट्टहि चत्ताउ भिक्षुस्स ॥

स्वगणासक्रान्तस्य भिक्षो प्रतिदिनं पञ्चकच्छेदेन छि-
द्यमानस्य पर्यायस्य पक्षेणार्द्धवर्तमाना मासा छिद्यन्ते ।
तथाहि-पक्षे पञ्चदश दिनानि भवन्ति, तै पञ्च गुणयन्ते,
जाता पञ्चसप्तति । तस्या मासानयनाय त्रिंशता भागे
हृते अर्धतृतीयमासा लभ्यन्ते, स्वगणे चाष्टौ स्पर्शकानि, तेषु
पक्षे पक्षे संचरन् पञ्चकच्छेदेन विंशतिर्मासाश्छिद्यन्ते । तथाहि-
पञ्चदशाष्टत्रिंशद्वर्णितं जातं विंशोत्तरं शतम्, तदपि पञ्चमि-
गुणितं जातानि पदशतानि । तेषां त्रिंशता भागे हृते विंशतिर्मासा

लज्यन्ते । एवमुत्तरत्रापि गुणकारमागाधारप्रयोगेण स्वबुद्धोप-
युज्य मासा आनेतव्याः । परगणे सक्रान्तस्य त्रिकोर्दशकेन वे-
देन विद्यमानस्य पर्यायस्य पक्षेण पञ्च मासाभिद्यन्ते, दशकेनै-
व वेदेनाष्टमि पक्षेष्टवारिश्मासाभिद्यन्ते, एव भिक्षोरुक्तम् ।

उपाध्यायस्य पुनरिदम्—

पंच ठ मासा पक्खे, अट्ठहिं मासा हवन्ति चत्ताउ ।

अष्टऽष्टमास पक्खे, अट्ठहिं सट्ठी नवे गणिणो ॥

उपाध्यायस्यापि स्वगणे दशकेन वेदेन पक्षेण पञ्च मासा,
अष्टमि पक्षेर्गुणिताष्टवारिश्मासा विद्यन्ते, तस्यैव परगणे प-
ञ्चदशकेन वेदेनार्द्धमासा पक्षेण विद्यन्ते । परगणे त-
ववाष्टमिः पक्षेर्गुणिताः षष्टिर्मासा गणितविद्यन्ते ।

अष्टऽष्टमास पक्खे, अट्ठहिं मासा हवन्ति सट्ठी तु ।

दस मासा पक्खेण, अट्ठहिंऽसीती उ आयरिए ॥

आचार्यस्य स्वगणे सक्रान्तस्य पञ्चदशकेन वेदेन विद्यमाने प-
र्याये पक्षेणार्द्धमासा अष्टमि पक्षेर्गुणिता षष्टिर्मासाभिद्य-
न्ते । तस्यैव परगणसक्रान्तस्य त्रिशेन वेदेन पक्षेण दश मासा
अष्टमि पक्षेर्गुणिताष्टवारिश्मासाभिद्यन्ते । एव स्वगणे परगणे च सा-
न्नो गिकेषु सक्रान्तस्य वेदसबलनाशमहिता । अन्यसान्नो गिकेषु
अवसन्नेषु च सक्रान्तस्य त्रिकोरुपाध्यायस्याचार्यस्य वाऽन्येव
दिशा वेदसकलना कर्तव्या ।

एसा विही ठ निगाएँ, सगणे चत्तारि माम उकोसा ।

चत्तारि परगणम्मी, तेण परं मूल निच्छुजणं ॥

एष विधिर्गच्छाभिर्गतस्योक्तः । अथ च स्वगणे अथस्तु स्पर्ध-
केषु पक्षे पक्षे सचरतश्चत्वारो मासा उत्कर्षतो भवन्ति । परग-
णेऽप्येव चत्वारो मासा । एवमप्येवचि चत्वारो मासा । ततः
पर यद्युपशान्तस्ततो मूलम् । अथ नोपशान्तस्तदा निष्कासन
कर्तव्यम्, लिङ्गमपहरणीयमित्यर्थः ।

चोएइ रागदोसे, सगणे थोत्र डमं तु नाणत्तं ।

पतावण निच्छुजण, परकुलघरघोमिए ए गया ॥

शिर्य प्रेरयति-रागद्वेषिणो यूय, यत् स्वगणे स्तोक छेदमा-
श्रित दत्तम्, परगणे तु प्रभृतम् । एव स्वगणे जवता राग, पर-
गणे द्वेषः । गुरुराह-इदं वेदनानात्वं कुर्वतो वयं न रागद्वेषिण ।

तथा चात्र दृष्टान्तः—

एगस्म गिहिणो चउरो भज्जाओ । ततो य तेण कम्हि एगे
सरिसे अवराहे कते पनवेताणीह मम गिहाओ त्ति निच्छू-
ढा, तत्थेगा कम्हि इयरघरम्मि गया, विडया कुलघरं, ततिया
नत्तुणो एगसरीरो घोमिओ त्ति वयसो, तस्स घर गया,
चउत्थी निच्छुभती वि वारसहाए दग्गा हसमाणी वि न
गच्छइ, जणइ य-कतो एं वच्चापि ?, नत्थि मे अन्नो
गइम्मिओ, जइ वि मारेहि तदा वि तुमं चेव गती सरण
त्ति तत्थेव त्रिया ।

केनापि शृङ्गिणा चतसृणां भार्याणां प्रतापन कुट्टन कृत्या
शृङ्गाभिकासन कृत तत्रैकापरगणम् विधीयते—

तृतीया घोटिको मित्र, तद्गृह गता, चतुर्थी तु न कापि गता

तत्रो तृष्टेण चउत्थी घरसामिणी कया । तइयाए घोमि
पर जंतीए सो चेव आणुवाचितो विगतगोसेण खरटिता, अ
णीताय । वितियाए कुलघर जतीए जं पिउगिहवत्तं गहि
गाढतर रुष्टेण अनेहिं जणिएहिं वि गतरोसेण खरटिता,
मिया य । पढमा दूरे एष्टेत्ति न ताए किंवि पम्भोगणं, महं
ए वा पच्छित्तद्वेए दहिउ आणिज्जइ । एवं परसंझाणि
ओसन्ना, कुलघरसंझाणिया अन्नसंजोइया, घोडियमा
सजोइया, आनिग्गमे सघरसमा गच्छे जाव दूरंतरं त
महत्तरो मंमो जवइ । वृ० ५३० ।

(११) गृहस्थैः सहाधिकरणं कृत्वाऽन्यवशमन्य पिण्ड-

प्रहणादि न कार्यम्—

भिक्षु य अधिकरणं कदुत्तं अदिगणं अविओस
मिक्ता ना से कप्पइ गाढावडकुलं जत्ताए वा पाणाए
निक्खमिक्ताए वा पविसिक्ताए वा, वहिया विचारज्जमिं
विहारज्जमिं वा निक्खमिक्ताए वा, पविसिक्ताए वा, गामाण
गामं वा दूज्जत्ताए गणातो वा गणं संकमिक्ताए वा, वामा
वाम वा वत्थुं, जत्थे व अप्पणाऽऽयरियउवज्झायं
सेज्जा, बहुस्सुयं वज्जागमं तस्संतिए आलोइज्जा, पम्कि
ज्जा, निदिज्जा, गरहिज्जा, विगुडेज्जा, विमोहेज्जा, अकरण्या
अव्भुडेज्जा, अठारिह तत्रोक्कम्म पायच्छित्तं पम्बिज्जेज्जा,
य सुएण पडविए आदिइतव्वे सिया, से य सुएण नो प
विए नो आदिइतव्वे सिया, से य सुएण पडवेज्जमा
नो आईया स निच्छुहियव्वं सिया ॥

अस्य सवन्धमाह—

केण कय कीस कयं, निच्छुजओ एम किं इहाणेति ? ।

एसो वि गिही तुट्ठितो, करेज्ज कलहं असहमाणो ॥

केनेदं बहन काष्ठानयनं कृतं, कस्मादेतत् कृतं, निष्कासितो
प्येष किमर्थमिहानयति, एवमादिभिर्वचोभिर्गृहिणा तुदि
व्यथितं कश्चिदसहमानं कलहं कुर्यात् । अत इदमधिकरणस्य
प्रमारम्यते । अनेन सवन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-भिस्तु प्रा-
क्तं, चशब्दादुपाध्यायादिपरिग्रहः । अधिकरणं कलहं कृतं
नो कल्पते तस्य तदधिकरणमन्यवशमन्य गृहपतिकुलं भ-
क्ताय वा पानाय वा निष्कसितुं वा, प्रवेष्टुं वा, श्रामानुश्रामं
गन्तुं विहर्तुं, गणाद्वया गणं संकमिक्ता, वर्षावासं वा वस्तु, किं
यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायं पश्येत् कथंभूतम्, बहुभुतं छेद-
न्यादिकुशलम् । बह्नागमं अर्थतः प्रभृतागमम्, तत्र तस्यान्ति-
आलोचयत् स्वापराधं वचसा प्रकटयेत् । प्रतिक्रमेत् भि-
ष्यादु-फूटनं तद्विषये दद्यात् । निन्धाद् आत्मसाक्षिकं जुगु-
प्सेत, गर्हेत गुरुसाक्षिकं निन्धात् । इह च निन्दनं गर्हणं च
तात्त्विकं तदा भवति यदा तत्करणः प्रतिनिवर्तने ।

त्पापात्तदा मुच्यते, यदात्मनो विशोधिर्भवति । तत आह-आ-
त्मान विशोधयेत् पापमलस्फोटनतो निर्मलीकुर्यात् । विशुद्धि-
पुन पुन करणतायामुपगच्छते । ततस्तामेवाऽऽह-अकरणता
अकरणीयता, तथा अभ्युत्तिष्ठेत् । पुनरकरणतया अभ्युत्था-
नेऽपि विशोधि. प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या भवति । तत आह-य-
थाहं यथायोग्य तप कर्म प्रायश्चित्त प्रतिपद्यते । तच्च प्रायश्चि-
तमाचार्येण श्रुतेन श्रुतानुसारेण यदि प्रस्थापित प्रदत्त तदा
नादातव्य स्यात् । स चाऽऽलोचको यदि श्रुतेन प्रस्थाप्यमान-
मपि तत्प्रायश्चित्त नाददाति न प्रतिपद्यते ततः स निच्छूहि-
तव्यः, अन्यत्र शोधि कुरुष्वेति निषेधनीयः स्यात् । इति
सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः—

अत्रियत्त कुत्रपत्रेसे, अङ्गुलिमि अणेसणिज्जपडिसेहे ।

अवहारमंगलुत्तर-मजावअत्रियत्तमिच्छते ॥

अविदितभूमिस्थाने कथमधिकरणमुत्पन्नम् ? इत्यस्यां जिज्ञा-
सायामभिधीयते-कस्मिंश्चित् कुत्रे साधव प्रपिश्यन्तोऽप्रीतिक-
रास्त्राजानतामनाजोगाढा प्रवेशे गृहपतिराक्रोशेद्, वा हन्याद्,
वा साधुरप्यसदमान प्रत्याक्रोशेत्, ततोऽधिकरणमुत्पद्यते । ए-
वमतिभूमि प्रविष्टे अनेपणीयमिज्ञाया वा प्रतिषेधे, शैक्यस्य वा
सज्ञानकस्यापहारे, यात्राप्रस्थितस्य वा गृहिण साधु दृष्ट्वा
अमङ्गलमिति प्रतिपत्तौ समयविचारेण वा प्रत्युत्तर दातुमस-
मर्थो गृहस्थस्यभावेन वा क्वापि साधौ (अत्रियत्ते) अनिष्टे
दृष्टे अभिग्रहमिथ्यादृष्टेर्वा सामान्यत साधाववलोकिते अधि-
करणमुत्पद्यते ।

पडिसेधे पडिसेधो, भिक्खुवियारे विहार गामे व ।

दोसा मा होज्ज बहू, तम्हा आलोयणा मोधी ॥

भगवद्भिः प्रतिषिद्ध न वर्तते साधूनामधिकरण कर्तुम्, एव
विधिप्रातर्षेधे भूयः प्रतिषेध क्रियते । कदाचित्तदधिकरण
गृहिणा सम कृत भवेत्, कृत्वा च तस्मिन्नुपशमिने भिक्षायां न
हिण्डनीयम्, विचारचूरो विहारभूमौ वा न गन्तव्यम्, ग्रामानु-
ग्राम न विहर्त्तव्यम् । कुतः ? इत्याह-मा बहवो बन्धनकण्टक-
मर्दनादयो दोषा भवेयुः । तस्मात्त गृहस्थमुपशमस्य गुरुणाम-
न्तिके आलोचना दातव्या । ततः शोधि. प्रतीक्षनीया ।

इदमेव भावयति—

अहिकरण गिहत्येहिं, ओसारण कट्टणा य आगमणं ।

आलोयण पत्यवणं, अपेसणे होति चउ लहुगा ॥

गृहस्थैः सममधिकरणे उत्पन्ने द्वितीयेन साधुना तस्य साधोरप-
सारण कर्त्तव्यम् । अथ नापसरति ततो बाहौ गृहीत्वा आक-
र्षणीयः । इदं च वक्तव्यम्-न वर्तते मम त्वया साधिकरणेन
सम भिक्षामर्दितुम् । अतिप्रतिश्रये परिनिवर्तमहे । एषमुक्त्वा
प्रतिश्रयमागत्य गुरुणामालोचनीयम् । ततो गुरुभिरुपशमार्थं
वृषभास्तस्य गृहस्थस्य मूले प्रेषणीया । यदि न प्रेषयन्ति त-
दा चतुर्लघु ।

आणादिणो य दोसा, वंधणणिच्छुभणकरुगमादाय ।

वुगाहण सत्येणं, अगणुवकरणं विसं वारे ॥

आज्ञादयश्च दोषाः । स च गृहस्थो येन साधुना सहाधिक-
रण ज्ञात तस्यानेकेषां वा साधूना बन्धन निष्कासन वा कुर्यात् ।
कटकमादाय सर्वानपि साधून् कोऽपि व्यपरोपयेत् । व्युद्ग्राह-
ण वा लोकस्य कुर्यात् । नास्त्यमीषां दत्ते परलोकफलम्, य-
द्वाऽमी सज्ञां ध्युत्सृज्य विकिरन्ति, न च निर्दोषयन्ति, स्रग्गादिना
वा शस्त्रेण साधुना हन्यात् । अग्निकायेन वा प्रतिश्रय ददेत् ।
उपकरण वा अपहरेत्, धिष गरादिक वा दद्यात्, भिक्षां वा
वारयेत् ।

तच्च वारणमेतेषु स्थानेषु कारयेत्—

रज्जे देसे गामे, णिवेसणे गिहे निवारणं कुणाति ।

जा तेण विणा हाणी, कुलगणसथे य पच्छारो ॥

राज्ये सकलेऽपि निवारण कारयेत् । पतेषां भक्तमुपधि वस-
ति वा मा दद्यात् । एव देशे, ग्रामे, निवेशने, गृहे वा, निवारण
करोति । ततो या तेन भक्तादिना विना परिहाणिस्तां वृषजानप्रे-
षयन् गुरुः प्राप्नोति । अथवा य प्रभवति स कुलस्य गणस्य सह-
स्य वा प्रस्तार विस्तरेण विनाश कुर्यात् ।

एयस्स णत्थि दोसो, अपरिक्खियं टिक्खगस्स अह दोसो ।

पत्तु कुज्जा पच्छार, अपचू वा कारणे पभुणा ॥

गृहस्थ चिन्तयति-एतस्य साधोर्नास्ति दोषः, किं तु य एन-
मपरीक्ष्य दीक्षितवान् तस्याऽयं दोषः । अतस्तमेव घातयामी-
ति विचिन्त्य प्रभृत् स्वयमेव, प्रस्तार कुर्यात् । अप्रभुरपि क-
व्य राजकुले दत्त्वा प्रभृणा कारयेत् ।

यत एते दोषा -

तम्हा खलु पट्टवणं, पुर्व्वि वसजा समं च वसजेहिं ।

अधुलोमण पेच्छामो, णिति अणिच्छपि त वसजा ॥

तस्मा वृषभाणां तत्र स्थापन कर्त्तव्यम् । (पुर्व्विति) येन साधुना
अधिकरण कृत तावन्न प्रेषयन्ति यावद्वृषजान् पूर्व्वं प्रज्ञापयन्ति ।
किं कारणम् ? उच्यते-स गृहस्थः त दृष्ट्वा कदाचिदाहन्यात् ।
अथ ज्ञायते न हनिष्यति ततो वृषभैः सम तमपि प्रेषयन्ति । तत्र
गताश्चानुकूलवचोमिरनुलोम प्रगुणीकरण तस्य कुर्वन्ति । अ-
थासौ गृहस्थो ब्रूयात्-आनयत तावच्च कलहकारिण येनैकवार
पश्याम, पश्चात् क्षामये । नच ततो वृषभास्तदभिप्रायं ब्रूत्वा
त साधु गृहिणः समीपमानयन्ति । अथासौ साधुनेच्छति ततो
बलादपि वृषजास्त तत्र नयन्ति ।

ते च वृषभा ईदृशगुणयुक्ताः प्रस्थाप्यन्ते—

तस्संवंधि सुही वा, पगया ओयस्सिणो गहियवक्का ।

तस्मेव सुहीसहिया, गर्मेति वसभा तगं पुव्वं ॥

तस्य गृहिणः, सयतस्य वा संबन्धित सुहृदो वा ते भवेयुः प्र-
गता लोकप्रसिद्धाः, ओजस्विनो वलीयांसः, गृहीतवाक्या आ-
देयवचसः, ईदृशा वृषजाः, तस्यैव गृहिणः सुहृद्भिः सहिता तत्र
गृहस्थः पूर्वं गमयन्ति ।

कथम् ? इत्याह—

सो निच्छुम्भति साहू, आयरिए तं च जुज्जसि गमेत्तुं ।

नाऊण वत्थुजाव, तस्स जदी णिति गिहिसहिया ।

येन साधुना त्वया सह कदाचित् स साधुराचार्यैः साम्प्रत

अधिगण

निष्कास्यते, अस्मदीय च वचो गुरवो न सुष्ठु शृण्वन्ति ; अत आचार्यान् गमयितुं त्व युज्यसे-युक्तो भवसि । एवमुक्ते यथा-
चार्यं गमयति-ज्ञामयति ततो नष्टम् । अथ ब्रूते-पश्यामस्तावत्त
कलहकारिणम् । ततो ज्ञात्वा वस्तुतो गृहस्थस्य भाव किमय
हन्तुकामस्तमानाययति, उत ज्ञामयितुकामः ? , एवमभिप्राय
ज्ञात्वा तस्याय सुष्ठु, अतस्ते असहिता एव त साधुं
तत्र नयन्ति ।

अथानौ गृही तीव्रकषायतया नोपशाम्यति ततस्तस्य
साधोर्गच्छस्य च रक्षणार्थमय विधिः-

वीसुं उवस्सए वा, ठ्वेति पेसेंति फडुपतिणो वा ।
तेति सहाए सव्वे, वि णेति गिहिणे अपुवसंते ॥

विष्वगन्यस्मिन्नुपाश्रये त साधु स्थापयन्ति, अन्यग्रामे वा य-
स्पर्कपतिस्तस्यास्तिके प्रेषयन्ति, निर्गच्छतश्च तस्य सहायान्
ददन्ति । अथ मासकल्प पूर्णस्ततः सर्वेऽपि निर्यान्ति निर्गच्छ-
न्ति । एव गृहस्थेऽनुपशान्ते विधि ।

अथ गृहस्थ उपशाम्यति न साधुस्तदा तस्येदं प्रायश्चित्तम्-
अविओसियम्मि लहुगा, भिक्खवियारे य वसहिगामे य ।
गणसंकमणे भएणति, इहं पि तत्थेव वच्चाहि ॥

अधिकरणे अव्यवशमिते यदि भिक्षा हि एरुते, विचारजृम्भि वा
गच्छति, वसते निर्गत्यापरसाधुवर्म्मति गच्छति, ग्रामानुग्राम विद-
रति, सर्वेषु चतुर्लघु । अथापरं गण सक्रामति, ततस्तैग्न्यगण-
साधुभिर्भेष्यते-इहापि गृहिण क्रोधना सर्वा-त, ततस्तत्रैव व्रज ।

इदमेव सुव्यक्तमाह-

इह वि गिही अविसहणा, ए य वोच्चिष्ठा इह तुह कसाया।
अमेसिं आयासं, जणस्ससि वच्च तत्थेव ॥

इहापि ग्रामे गृहिणो अविवदणा' क्रोधना, न चेह समागत-
स्य तव कषाया व्यवच्छिन्ना' । अतोऽन्येषामप्यस्मदादीनामायास
जनयिष्यसि, तस्मात्तत्रैव व्रज ।

सिद्धम्मि न संगिज्जति, संकतम्मि उ अपेसणे लहुगा ।
गुरुगा अजयणकट्ठणे, एगतरदोसतो ज वा ॥

अनुपशान्ते साधौ गणान्तर सक्रान्ते मूलाचार्येण साधुसघाट-
कस्तत्र प्रेषणीय, तेन च सघाटकेन शिष्टे कथिते सति द्विती-
याचार्यो न सगृहीयात्, अथ मूलाचार्यं सघाटकं न प्रेषय-
ति, तदा चतुर्लघु । सघाटको यद्ययतनया कथयति ततश्चतु-
र्गुरु । अयतनकथन नाम-बहुजनमध्ये गच्छे गत्वा भणति-
एष निर्धर्मा गृहिभिः सममधिकरणं कृत्वा समायातः, सक-
लेनापि गच्छेन नोपशान्तः । एवमयतनया कथितेन साधुरे-
कतरस्य गृहिण साधुसघाटकस्य मूलाचार्यस्य वा प्रद्वेषतो
यत्करिष्यति तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तम् ।

तस्मादयं विधिः-

उवसामितो गिहत्यो, तुमं पि खामेहि एहि वच्चापो ।

दोसा हु अपुवसंते, ए य मुज्झइ तुज्ज सामइयं ॥

पूर्वं गुरुणामेकान्ते कथयित्वा ततः स्वमेकान्तेन भण्यते,
उपशामितं स गृहस्थः, एहि व्रजाम, न्वमपि त गृहस्थ चा-
१४६

मय, अनुपशान्तस्येह परत्र च बहवो दोषा', समभाव सामा-
यिकम् । तच्चैव सकषायस्य भवतो न शुद्ध्यति न शुद्ध भवति ।
एवमेकान्ते भणितो यदि नोपशाम्यति ततो गणमध्येऽप्येव-
मेव भणनीयः । ततोऽपि चेन्नोपशाम्यति प्रत्युत चेतसि
चिन्तयेत्-तस्य गृहिणो निमित्तेनेहाप्यवकाशः न लभे ।

तत -

तमनिमिरपमलज्जतो, पावं चित्तेहं टीहसंसारी ।

पावं वसिउकामो, पच्छित्ते मग्गणा होति ॥

कृष्णचतुर्दशीरजन्या द्रव्याभावस्तम उच्यते । तस्यामेव
च रात्रौ यदा रजो धूमधूमिका भवति तदा तमस्तिमिर भ-
ण्यते । यदा पुनस्तस्यामेव रजन्यां रज प्रभृतयो मेघदुर्दिन च
भवति तदा तमस्तिमिरपटलमभिधीयते । यथा तत्रैवान्ध-
कारे पुरुष किञ्चिदपि न पश्यति, एव यस्त्रीवर्णावतरतमेन
कषायोदयेनाभिभूतो भण्यते, तम शब्दस्येहोपमार्थवाचक-
त्वान् । एव भूतश्चेदपरादे हि तमपश्यन् दीर्घसन्मारी तस्य गृह-
स्थस्योपरि पापमैश्वर्याज्जीविताद्वा अशयिष्यामीति रूपं चिन्त-
यति । एव च पापं कर्तुं व्यवसिते तस्मिन्नियं प्रायश्चित्ते मा-
र्गणा भवति ।

वच्चांमि वच्चमाणे, चउरो लहुगा य होति गुरुगा य ।

उग्गिणम्मि य छेदो, पहरण मूलं च ज तत्थ ॥

व्रजामि न गृहस्थ व्यपरोपयामीति सकल्पे चतुर्लघव । पद-
भेदादारभ्य पथि व्रजनश्चतुर्गुरुव । यदि यष्टिलोष्टादिकं प्रहरण
मार्गयति तदा पमूलघव । प्रहरणे लब्धे गृहीते च पमूलघव ।
उर्जाणो प्रहारे छेदः । प्रहारे पतिते यदि न म्रियते ततः छेद
एव । अथ मृगस्ततो मूलम् । यत् स्वयं परितापनादिकं सम्भव-
ति तत्तत्र वक्तव्यम् ।

एते चापरे दोषा -

तं चेव णिड्वेनी, वंधणणिच्छुज्जणकरुगमहो य ।

आयरिए गच्छम्मि य, कुलगणसंधे य पत्थारे ॥

स गृहस्थस्त सयत वधार्थमागतं दृष्ट्वा कदाचित्तत्रैव निष्ठाप-
यति-व्यापादयति, तं ग्रामनगरादेर्वा निर्दोषयति, कटकमर्दे-
न वा गृह्णाति । अथवा कटकमर्दो रुष्ट एतस्य सर्वमपि गच्छं
व्यापादयति, यथा-पालकस्कन्धकाचार्यगच्छम् । अथवा
बन्धननिष्कासनादिकमाचार्यस्य अपरगच्छस्य वा करोति ।
तथा कुलसमवायं कृत्वा कुलस्य बन्धादिकं कुर्यात् । एव
गणस्य वा, सघस्य वा एव प्रस्तारः । एवमेकाकिनो व्रजत
आरोपणा दोषाश्च भणिताः ।

अथ सहायसहितस्याऽऽरोपणमाह-

संजतगणो गिहगणो, गामे नगरे व देमरज्जे य ।

अहिवतिरायकुलम्मि य, जा जहिं आरोवणा जणिया ॥

बहवः संयताः सयतगणः, त सहाय गृह्णाति, एव गृहगणं वा
सहाय गृह्णाति । स च गृहगणो ग्रामं वा नगरं वा देशं वा रा-
ज्यं वा भवेद्, ग्रामादिवास्तव्यजनसमुदाय इत्यर्थः । एतेषां
चासयतादीनां, येऽधिपतयः तां वा सहायत्वेन गृह्णा-
ति । अन्यद्वा राजकुल गृहीत्वा गच्छति । यथा-कालिकाचार्येण
त्रिकराजवृन्दम्, तत्र चैकाकिनो या यत्र सकल्पादेवारोपणा
भणिता सा चेहापि द्रष्टव्या ।

एतदेव व्याचष्टे-

संजयगणो तदधिवा, गिही तु गामपुरदेसरज्जे वा ।

एतोसिं चिय अदिवा, एगतरज्जुओ उभयतो वा ॥

सयतगण प्रतीत, तेषा सयनानामधिपस्तदधिप, आचार्य इत्यर्थः । ये गृहिण स्वग्रामपुरदेशराजवास्तव्या, एतेषामधिपतयो वा भवेयुः, तत्र ग्रामाधिपति, जोगिकाधिपति, पुराधिपति, भ्रष्टा, कोट्टपातो, देशाधिपतिदेशरक्तको देशव्यापृतको वा, राज्याधिपतिर्महामन्त्री, राजा वा, एतेषामेकतरेणोजयेन वा युक्तो व्रजति, तत्रेय प्रायश्चित्तमार्गणा-

तहि वचंते गुरुगा, दोसु तु उद्धहुग गहण उगुरुगा ।

उगिणपहरण ठेदो, मूलं जं जत्य वा पये ॥

सयतगणेन तदधिपेन वा उजयेन वा सहाह व्रजामीति सकल्पे चतुर्गुणः । पदजेदमादौ कृत्वा तत्र व्रजनश्चतुर्गुणः, प्रहरणस्य मार्गणार्थं दर्शने च द्वयोरपि षड्गुणः, प्रहरणस्य ग्रहणे षड्गुणः । उज्जीणे प्रहरणे ठेदः । प्रहारे वृत्ते मूलम् । यद्वा-परितापनादिक पृथिग्यादिविनाशनं यत्र पथि ग्रामे वा करोति तन्निष्फलमपि मन्तव्यम् । तथा गृहस्थवर्गोऽपि ग्रामेण वा, ग्रामाधिपतिना वापद् राजयेन वा, राज्याधिपतिना वा, उभयेन वा, सह व्रजामीति सकल्पे चतुर्गुणः । पथि गच्छन् प्रहरणं च गृह्णन् षड्गुणः, गृहीते षड्गुणः, शय प्रावत् । एव भिक्षो प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

एसेव गमो नियमा, गणियायरिये य होइ णायव्वो ।

एवरं पुण णाणत्तं, अण्वण्डुप्पो य पारंवी ॥

एष एव गमो नियमाङ्गिण उपध्यायस्याचार्यस्य, चण्डाक-णावच्छेदिकस्य वा मन्तव्यः । नवर पुनरत्र नानात्वमधस्तादेवैकपदहासेन यत्र भिक्षोर्मूलं, तत्रोपाध्यायस्याऽनवस्थाप्यम्, आचार्यस्य पाराश्चिक्कम् ।

तपोऽहं च प्रायश्चित्तमित्य विशेषयितव्यम्-

जिक्खुस्स दोहि लहुगा, गणवन्ते गुरुग एगमेगेण ।

वज्जाण आयरिण, दोहि च गुरुगं च णाणत्तं ॥

भिक्षोरेतानि प्रायश्चित्तानि द्वाभ्यामपि तप कालाज्यां लघुका-नि, गणावच्छेदिकस्यैकतरेण-तपसा कालेन वा गुरुकाणि, उपाध्यायस्याचार्यस्य च द्वाभ्यामपि-तप कालाज्यां गुरुकाणि, एत-ज्ज्ञानात्वं विशेषः ।

काज्जण अकाज्जण व, उवमंन उवट्टियस्स पच्छित्तं ।

सुत्तेण उ पट्टवणा. अमुत्त गमो व दोसो वा ॥

गृहस्थस्य प्रहारादिकमपकार कृत्वाऽऽकृत्वा वा यद्युपशान्तो निवृत्त प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यर्थं वाऽऽलोचनाधिधानपूर्वकमपुन करणे-नोर्पास्थितस्तदा प्रायश्चित्तदानव्यम् । कथम्? इत्याह-सूत्रेण प्रायश्चित्तं प्रस्थापनीयम्, असूत्रोपदेशेन तु प्रस्थापयतो रागो वा द्वेषो वा भवति । प्रचूतमापन्नस्य स्वदण्डाने रागः । स्तोकापन्नस्य प्रभूतदाने द्वेषः ।

एव रागद्वेषाभ्यां प्रायश्चित्तदाने दोषमाह-

थोवं जति आवणो, अतिरेगे देनि तस्म तं द्दोति ।

सुत्तेण उ पट्टवणा, मुत्तमणिच्चति निज्जुहणा ॥

स्तोक् प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य यावद व्यतिरिक्त ददानि, ततो

यावता अधिक तावत्तस्य प्रायश्चित्तदातुः प्रायश्चित्तस्य, आका-दयश्च दोषाः । अधोन ददाति ततो यावता न पूर्यते तावदात्म-ना प्राप्नोति । अतः सूत्रेण प्रस्थापना कर्त्तव्या । यस्तु सूत्रोक्त प्रायश्चित्तं नेच्छति, स-चकव्यः-अन्यत्र शोधि कुरुष्व । एषा नि-र्यहणा प्रग्यते ।

अस्या एव पूर्वार्द्धे व्याचष्टे-

जेणऽहियं ऊणं वा, ददाति तावतियमप्पणो पावे ।

अहवा सुत्तादेसा, पावति चउरो अणुग्घाया ॥

यत् यावता अधिकमून ददाति तावदात्मना प्राप्नोति । अथवा सूत्रादेशादनातिरिक्त ददानश्चतुरोऽनुद्घातान्मासान् प्राप्नोति ।

तच्छेद निश।यदशमोदेशकान्तर्गतसूत्रम्-

जे जिक्खू उग्घाइए अणुग्घाइयं देइ, अणुग्घाइए उग्घाइयं वा देइ, दैतं वा साइज्जइ ॥१६॥

(तस्य चतुर्गुणकं प्रायश्चित्तमित्यर्थः)

अथ द्वितीयपदमाह-

वितियं उप्पाएजं, सासणपंते असज्ज पंच पया ।

आगादे कारणम्मी, रायस्संसारिए जतणा ॥

द्वितीयपदं नाम अधिकरणमुत्पादयेदपि शासनप्राप्तः प्रवचन-प्रत्यनीकोऽसाध्यश्च न यथा, तथा शासितुं शक्यते, ततस्तेन सम-मधिकरणमुत्पाद्य शिक्षणं कर्त्तव्यम् । तत्र च स्वयमसमर्थं सं-यतग्रामनगरदेशराज्यलक्षणानि पञ्चापि पदानि सहायतया गृह्णीयात् । आगादे कारणं राजसंसारिका राजान्तरस्थापना, तामपि यतनया कुर्यात् । तथाहि-यदि राजा भ्रतीव प्रवचनप्रा-प्तोऽनुशिष्यादिभिरनुकूलोपायैर्न उपशम्यति, ततस्त राजान स्फोटयित्वा तद्वशजमन्यवशज वा भद्रक राजानं स्थापयेत् ।

यश्च त स्फोटयति स ईदग्गुणयुक्तो व्रजति-

विज्जाओरस्सवली, तेयसलच्छी सहायलद्धी वा ।

उप्पादेजं सासति, अतिपंतं काळगज्जो ज्व ॥

यो विद्यावत्तेन युक्तः, यथा-आर्यस्सपुटः।ओरसेन वा बसेन युक्तः, यथा-बाहुवल्ली। तेजोवत्त्वा वा सलाधिकः, यथा-ब्रह्मदत्त । स-सूतमवे सहायव्यधियुक्तः, यथा-हरिकेशबलः । ईदग्गोऽधिकरण-मुत्पाद्यातिप्रान्तमतीवप्रवचनप्रत्यनीकं शास्ति, काशिकाचार्य इव । यथा कालिकाचार्यो गदंभिल्लराजानं शासितवान् । ३०५ उ० ।

कथानक चेत्यम्-

को उ गदंभिल्लो? को वा काळगज्जो? कस्मिं कासे सासितो? जणपति-उज्जेणी णाम खगरी, तन्थ य गदंभिल्लो णाम राया, तन्थ काळगज्जो णाम आयरिया जोतिसणिमिलवडिया, ताण जणिणी रुपवती पढमे वयस्सि वट्टमाणा गदंभिल्लेण गहिंया, मतेपुरे वृद्धा, अज्जकालगो विषयेति, सघेण य विषत्तो ण मुचति । ता-हे रुद्धो अज्जकालगो पइस करोति-जइ गदंभिल्ल रायाण र-ज्जाओ ण उम्मुलेमि तो पवयणसज्जमोवधायगाण तमुवेक्खगा-ण य गतिं गच्छामि । ताहे काळगज्जो कथणेण उम्मसलीचूतो तिगच्चउक्कच्चरमहाजणघाणेसु इम पइसवतो हिमति-जइ गदंभि-ल्लो राया, तो किमत परम्? जइ वा अंतपुरग्गम्, तो किमत परम्? त्रिसयो जइ वा गम्मो, तो किमत परम्? सुणिवेछा पुरी जइ, तो किमत परम्? जइ वा जणो सुवेमो, तो किमत परम्? जइ वा दि-मानि वो भिक्ख, तो किमत परम्? जइ सुणे देवकसे वसामि, तो

अधिगण

किमन परम् ?। एव जामेउ सो कासगज्जा पारमकज्ज गनो, तत्थ
बगो साहि सि राया जण्णति, न समत्तीणो णिमित्तादिपिदि दिय
आउट्टेति, अस्सया तस्स माहाणुमाहिणा परमसामिणा कम्मि वि
कारणे भट्टेण कछारिणा सदेउ पेसिया, सीस डिदाहि सि । त
आकोप्पमाण आयाते पेच्छिज्जण सो य विमणो सजातो, अप्पा-
ण मारिउं ववसिओ । ताहे कासगज्जेण भणितो-मा अप्पाण
मारोहि । साहिणा जणिय-परमसामिणा रुट्टेण पत्थ अत्थिउ ण
तीरह । कालगज्जेण जणिय-एहि हिंदुगदेस वच्चाओ । राणा
पमिसुय । तत्तुल्लाण य अण्णेमिं पि पच्चाण उनीए साहिणा
सुभ, केण कछारियाओ सदेउ पेसियाओ । तेण पुच्चिल्लेण
इया पेसिया, मा अप्पाणं मारोह । एहि वच्चाओ हिंदुगदेस । ते
उत्तओ पि सुरठमागया, काओ य एवपाउसा वट्टह । तारिसे
काले ए तीरह गतुं तत्थ मडडाइ कथा वि विभात्तिज्जण ज कासग-
ज्जो समत्तीणो सो तत्थ अधियो राया उचितो, ताहे सगवसो
उप्पण्णो, वत्ते य वरिसाकाले कासगज्जेण जणिओ-गदनिह्व रा-
माण रोहो, ताहे लामा रायाणो ज गदनिह्वेण अवमाणिता
ते मेलिआ अण्णे य, ततो उज्जेणी रोहितो। तस्स य गदभिह्वस्स प-
क्का विज्जा गदहिक्कधारिणी अत्थि, सा य एगम्मि अट्टावगे पर-
पलाभिसुहा उविया, ताहे परमे अरकप्पे गदभिह्वो राया अछम-
जत्तोववासी त भययारेइ, ताहे सा गदभीमदनेण सदेण णा-
इति । तिरिओ मनुओ वा जो परवत्तिओ सइ सुणेति स सवो
कहरे वमतो भयविभलो णउसेणो धराणिनत्त णियरुइ । कालग-
ज्जो य गदनिह्वं भट्टमजत्तोववामिण सवविधाणुदक्खाण
अछसन जोहाण णिकुयेति, जाहे एस गदनी मुह विमसेति
जाव य सइ ण करोति ताव जमगसमगण मुह पुरेज्जा ।
तेहि पुरिसोहि तहेव कय, ताहे सा घाणमतरी तरस गद-
भिह्वस्स उवरि हगिउं मुसेउ बसदीण कय, ताहे सो वि गद-
भिह्वो अबहो उम्मुसिओ, गदिया उज्जेणी, भणिणी पुणरवि स
जमे उविया । नि० चू० १० उ० ॥

(१२) अनुत्पन्नमधिकरणमुत्पादयति -

जे चिकखु णवाइं अणुण्णसाइं अहिगण्णसाइं उप्पाएइ,
उप्पायंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

नवं यत्पुरातन न भवति, अणुण्णसा सपयकास्ते अविज्जमाणा
अधिक करण, सयमयोगातिरिक्तमित्यर्थ । नि० चू० ५ उ० ।

(१३) कारणे सत्युत्पादयेत्—

वितियपदमणप्पज्जो, उप्पादे वि कोविते व अप्पज्जो ।
नाणं ते वा वि पुणो, विगिचणट्ठा य उप्पाए ॥ २८ ॥
अणप्पज्जो अकोवितो वा रोहो वा अणरिहो कारणे पच्चा-
वितो कतो, कारणे सो अधिकरण काउ विगिचियव्वो ॥ नि०
चू० ५ उ० ।

कारणान्तरमाह—

सेत्तादिउकोविओ वा, अनलविवेगट्टया व जाणं पि ।
अहिगणं तु करेत्ता, करेज्ज सव्वाणि वि पयाणि ॥
किंतावेत्त, आदिशब्दाद् दमचित्तो, यक्काविष्टो वा, अनात्म
वशात्वादधिकरण कुर्यात् । अकोविदो वा अद्याप्यपरिणतजिन-
वचन शैक्ष, स अकृत्यादधिकरण विवेकध्यात् । यक्का-जानत्र-
पि गीतार्थोऽपीत्यर्थः । अनलस्य-प्रयज्याया अयोम्यस्य नपुस-

कादे. कारणे दीक्षितस्य तत्कारणपरिसमाप्तौ विवेचनार्थं
परिग्राहनाय तेन सहाधिकरण करोति, कृत्वा चाधिकरण
सर्वाण्यप्यनादरादीनि पशानि कुर्यात् ।

स्पष्टतर भावयानि—

कारणे अनले दिक्खा, मम्मत्ते उणुसट्ठि तेण कलहो वि ।
कारणे सद्धित्ता णं, कलहो असोष्ण तेणं वा ॥

कारणे अनलस्यायोग्यस्य दीक्षा दत्ता, समामे च तस्मिन्
कारणे तस्यानुशिष्टि क्रियते । तथाऽप्यनिर्गच्छता तेन सम
कलहोऽपि कर्तव्य । कारणे वा शब्दप्रतिवक्षायां वमनी स्थिता,
ततोऽन्योन्य तेन शब्दकारिणा सम कलह क्रियते येन श-
ब्दो न भ्रूयते । वृ० ५ उ० ।

(१४) पुराणान्यधिकरणानि कान्तव्युपशमितानि—

पुनरुदीरयति—

जे चिकखु पोराणाइं अहिगण्णसाइं खामियविउसमियाइं
पुणो उदीरेइ, उदीरंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

पोराणा एषं उप्पणा, अधिकरण पूर्ववत् । दोमावगमो समा,
त च खामिय भणाने । विधिअ ओसमिय विउसमिय मिच्छा-
उत्तमपट्ठाण । अहवा-खामिय घायाप, मणसा विउसमिय, इयु-
त्त्व, ताणि जो पुणो उदीरेइ उपादयति तस्स मासलहु ।

खामियविउसमियाइं, अधिकरणसाइं तु जे य उप्पाए ।

पावाणा तत्थ तिसि, तुज्जणजुत्त पखुवणा ऽणमो ॥ २५ ॥

पावाणा, साधुधर्मे व्यवस्थना इत्यर्थः । कइ उप्पाएति ? कति
साहुणो पुण्य कलहिना, तस्मि य खामियविउसमिने तन्धेगो भ-
णाति-अह णाम तुमे तदा एव भणितो, आसी ण जुत्त तुज्जः इयरो
पमिज्जणति-अह पि ते कि जणितो ? इतरा जणाति-इयानि
किं ते सुयामि, एव उप्पाएति ।

स उप्पायगो—

उप्पादगमुप्पणं, सव्वज्जो कवत्तमे य पाहुयं ।

आविट्टणा य पुच्छण, समुग्यतोऽति घायणे चेव ॥ २५ ॥

पुणो नेवि कलुसिया उप्पायगा, जोहि उप्पण, सव्वज्ज णाम-वा-
याप परोप्पर सामउमारजा कक्खम णाम, पामडिनेहि वि ओ-
समिज्जमाणा विणोवसमति (पाहुअति) रोसवसेण वसेवले
जुज्ज लगा, आविट्टणा-एगो णिहओ, जो सो णिहितो सो पु-
च्छितो । मारणानियसमुग्घाएण समोहतां, अतिघायणा मारण ।

एतेसु णवसु ठाणेसु उप्पायगस्स इम पच्छित्त-

लहुओ लहुगा गुरुगा, उम्मासा होति लहुगगुरुगा य ।

बेदो मूल च तहा, अणवट्टप्पो य पारची ॥ २५ ॥

विनियादिसु चउलहुगादी पच्छित्ता, उप्पादगपइ ण मवीत
त्ति काच ।

तावो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तणाणाणं ।

साधुपदोमो संसा-रवक्खणादी उदीरते ॥ २५ ॥

वितियपदमणप्पज्जो, ओदीरे वि कोविते व अपज्जे ।

नाणं ते वा वि पुणो, विगिचणट्ठा उदीरेज्जा ॥ २५ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० ५ उ० ।

(१५) निर्गन्धैर्व्यतिकृष्टमधिकरण नोपशमनीयम्-
नो कप्पड निगन्धाणं वित्तिगिद्धाई पाहुडाई विउसपि-
त्तए ॥ १० ॥

अस्य सवधमाह-

वित्तिगिद्धा समणाणं, अन्वित्तिगिद्धा य होइ समणीणं ।
मा पाहुडं पि एवं. भवेज्ज सुत्तस्स आरजो ॥

व्यतिकृष्टा श्रमणानां दिग्भवति, अव्यतिकृष्टा श्रमणीनामित्यन-
न्तरसूत्रद्वयेऽभिहितमेव । तच्चाकर्ण्य मा प्राभूतमप्येव भवे-
दित्येतदधिकृतसूत्रस्यास्मिन् । अस्य व्याख्यानं कल्पते निर्ग-
न्धानां व्यतिकृष्टानि क्षेत्रविकृष्टानि, प्राज्ञतानि कलहानित्य-
र्थः । विउसमितुमुपशमयितुम्, किं तु यत्रोत्पन्नं तत्रोपशम-
यितुं कल्पते । इत्येष सूत्राकारार्थः ।

अत्र जाप्यप्रपञ्च-

सेज्जासणातिरिक्ते, इत्यादी घट्ट भायणाभेदे ।

वदंतमवदंते, उप्पज्जइ पाहुमं एव ॥

शय्यासनातिरिक्ते, किमुक्तं प्रवर्ति? अतिरिक्तां शय्यामतिरिक्ता-
नि वाऽऽसनानि, परिग्रहे कुर्वन्ति वार्थमाणे, यदि वा इत्यादि ह-
स्तपादादिक पादेन सघट्ट्याऽऽक्रम्य क्लमयित्वा प्रजति, यद्वा-
कथमप्यनुपयोगतो नाजननेदे, अथवा पूर्वं वन्दमाने पश्चाद-
वन्दने प्राभूतं नाम कलहस्तदेवमुत्पद्यते ।

अधिगणसमुपपत्ती, जा बुत्ता पारिहारियकुलम्मि ।

सम्ममणाउट्टते, अधिकरणं तओ समुपपज्जो ॥

उत्पत्तिसमवे सति तन. सम्यगनावर्त्तमाने अधिकरणं समु-
त्पद्यते ।

अधिगणे उप्पन्ने, अवितोसवियम्मि निगगं समणं ।

जेऽऽसाइज्जइ जुंजइ, मासा चत्तारि जारीया ॥

अधिकरणे उत्पन्ने सति यै. सहाधिकरणमुदपादि, तस्मिन्-
वितोषिते निर्गन्धं धमणं य आसादयति प्रतिगृह्णाति स्वसत्ता-
मात्रेण, यश्च तेन सह छुङ्क्ते तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासाः
भारिका गुरवः ।

सगणं परगणं वा वि, संकतमवितोसिते ।

वेदादि वक्षिया सोही, नाणत्त तु इमं भवे ॥

येन सहाधिकरणमुपजातं तस्मिन्नावितोषिते स्वगणं परगणं वा,
सकान्तमधिकृत्य या वेदादिका शोधि पूर्वं कल्पाध्ययने व-
र्णिता साऽत्रापि तथैव वक्तव्या, नवरमत्र यस्मान्नात्वं तदेव व-
क्ष्यमाणं प्रवर्ति ।

तदेवाऽऽह-

मा देह द्वाणमेयस्स, पेसणे जइ तो गुरू ।

चऊगुरू ततो तस्स, कहंते वि चऊद्वइ ॥

अन्यत्र गतस्य यद्याचार्यः साधुसंघाट, संदेशं वा प्रेषयति, य-
देपोऽधिकरणं कृत्वा समागतो वर्तते, तस्मादेतस्य स्थानं मा
देहि इति, तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुणं । नतः प्रेषणानन्तरं
यस्य पार्श्वे सोऽन्यत्र गतस्तस्य स प्रेषितो यदि कथयति तदा
तस्मिन्नावि प्रायश्चित्तं चतुर्गुणं ।

यनस्तत्रेमे दोषाः-

ओहावणं व वेहासं, पदोसा जं तु काहिति ।

मूलं ओहावणे होइ, वेहामे चरमं जवे ॥

यद् यस्मात्प्रेषणे, कथने वा; प्रह्वेपादवधावनं करिष्यति । वेहा-
यस वा, वेहायस नामोत्कलं वनम् । तत्रावधावने तेन कृते
सति प्रेषयितुं कथयितुं वा मूलं प्रायश्चित्तम्; वेहायसे चरमं
पाराश्रिकमिति ।

अन्यथा-

तत्थऽन्नत्थं न वा सं-वदेति मे न वि य नंदमाणेणं ।

नंदंति ते खनु मए, इति कलुसऽपा करे पावं ॥

मम तत्रात्मीयसमीपे अन्यदेवेहागनस्य जन्मान्तरैराद्या स
न सवदति, नापि च मयि नन्दति ते नन्दन्ति, महाप्रह्वेतोऽमुल-
भावात् । ततो न जन्मान्तरैरिणः । ते मम पृष्ठं मुञ्चन्तीति वि-
चिन्त्य कलुपात्मा पापं कुर्यात् ।

किं तत् ? इत्याह-

आदीवेज्ज व वसहिं, गुरुणो अन्नस्स घाय मरणं वा ।

कंमच्छारिउ लूसय-सहितो सयमुरस्स वल्लवं तु ॥

कण्ठच्छारिओ नाम ग्रामो, ग्रामाधिपतिर्वा; लूपका वा सहाया-
स्तेन सहितः, स्वयं वा औरसो बलवान्, वसतिमादीपयेत्;
गुरोरन्यस्य वा घातः, मारणं वा कुर्यात् ।

किं तत् ? इत्याह-

जइ नासइ गणमज्जे, अवप्पयोगा व तत्थं गंतूण ।

अवितोसमिण एत्था-गतो चि ते चेव ते दोसा ॥

य प्रेषितो, यद्वा-अवप्रयोगाद् अन्येन कार्येण तत्र गत्वा गण-
मध्ये सकलगणसमकं यदि ज्ञाप्यते, यथा-एषोऽधिकरणं कृत्वा
येन सहाधिकरणमनुत्तस्मिन्नतोषिते अत्रागत इति, (ते इति) त-
स्यापि त एव प्रागुक्ता दोषाः ।

जम्हा एए दोसा, अविही पेसणे य कहणे य ।

तम्हा इमेण विहिणा, पेसणं कहणं तु कायचं ॥

यस्यादविधिना प्रेषणे, कथने च एतेऽनन्तरोदिता दोषा, तस्मा-
दनेन वक्ष्यमाणेन विधिना प्रेषणं कथनं च कर्त्तव्यम् ।

तमेव विधिमाह-

गणिणो अत्थि निब्बजेयं, रहिते निब्बपेसितो ।

गमेति तं रहे चेव, नेच्छे सहमहं खु तो ॥

अन्येन प्रयोजनेन प्रेषितं सत्त्वरहितं विविक्ते प्रदेशे, अथ
निर्भेदं तदधिकरणरहस्यं गणिन आचार्यस्य गमयति कथयति
क्रमेणाचार्यस्तं कृताधिकरणं रहस्येव गमयति । यथा-स्वमित्थ-
मित्थमधिकरणं कृत्वाऽत्र समागतो, न च स उपशमित इति ।
पवमुके यदि स नेच्छेद् यथा-अहं नाधिकरणं कृत्वा समागतः,
यस्त्विदं ब्रूते तेन सहाहं (खु) निश्चितमिति ।

गुरूसमकवं गमितो, तहावि जइ नेच्छइ ।

ताहे वि गणमज्जम्मि, नासते नातिनिट्ठर ॥

एव तस्यानिच्छायां स प्रयोजनान्तरव्याजेन प्रेषितो रहसि
गुरूसमकमधिकरणं कथञ्चनापि तस्मिन्मनुप्रविश्य कथय-
ति, यथा दोषं न विदधाति । तथा-गमितोऽपि यदि नेच्छति

ततः प्रहरदिवसाद्यतिक्रमेण प्रस्ताधान्तरमारभ्य गणमध्ये त
भाषते, पर नातिनिष्ठुरम् ।

कथं तं प्राप्ते !, इत्याह—

गणस्त गणिणो चेत्, तुम्भी निगते तथा ।

आधती महती आसी, सो विवक्खो य तज्जितो ॥

तदा तस्मिन्कावे त्वयि अधिकरणं कृत्वा निर्गते समस्तस्यापि
गणस्य, गणिनश्चाचार्यस्य महती अभूतिरासीत् । येन च सह
तथाधिकरणमभूत् सोऽपि विपक्षो गणिना गणेन च तज्जितः ।

गणेण गणिणा चेत्, सारेज्ज तमज्जपिणो ।

ताहे अन्नावदेसेण, विवेगो से विहिज्जइ ॥

प्रवमुक्तानन्तर तत्रत्येन गणेन गणिना च स सम्यक् सारणी-
कः शिक्त्वाय, येन स्वदोष प्रतिपद्य तत्र गत्वा विपक्षं क्रमय-
ति । अथ स तथा सार्यमाणोऽस्मिन्नो नोपशम नीतो ह स्वना-
चत्वास्ततोऽन्यापदेशेन तस्य विवेकं परित्यागो विधीयते ।

केनोपदेशेन !, इत्याह—

महाजणो इमो अम्ह, खेत्तं पि न पडुप्पति ।

वसही सन्निरुद्धा वा, वत्थपत्ता वि नत्थि णो ॥

अयं माधुसाध्वीलक्षणो महान् जनोऽस्माकमेताधनां न चैतत्
क्षेत्रं प्रभवति, सर्काण्णत्वात् । यदि वा यसतिः सन्निरुद्धा स-
कटा वर्तते, तत एतावन्त साधयोऽत्र न सन्ति, अथवा वत्थ-
पात्राण्यस्माकं संप्रति न सन्ति । अगिशादात्रवात्र तथाविध
शमोऽप्यस्ति, साधयोऽप्येतेऽस्तीवासदना, तस्मात् युयमयत्र
कापि गच्छत । यदि पुनः स सार्यमाण उपशममधिगच्छति, ततः
स वक्ष्यमाणेन विधिनोपशमयितव्यः ।

तत्र प्रथमतोऽधिकरणोपशमनस्थानमाह—

सगणिपरगणिणा, समणुत्थेयरेण वा ।

रहस्सादि व उप्पस, जं जहिं तं तहिं खवे ॥

खगणसकेन परगणसकेन वा तेनापि समनोक्तेन सांभोगिकेने-
तरेण वा सह रहसि वा, आदिशब्दादरहासि वा; यतो यत्राधि-
करणमुत्पन्नं तच्चैव रूपयेऽपशमयेत् ।

तत्रोपशमनविधिमाह—

एको व दो व निगम, उप्पसं जत्थ तत्थ वोसमण ।

गामे गच्छ दु गच्छे, कुल्लगणसत्थे य विश्यपयं ॥

एको वा, दो वा, वः शब्दाच्चो वा, चत्वारो वा, येऽधिकरण कृ-
त्वा निर्गतास्ते यत्र ग्रामं नगरे वाऽधिकरणमुत्पन्नं तत्रानीयन्ते,
आनीय ये सदाधिकरणमचूचैः सह व्युपशमनं काम्यं कार्य-
म् । तत्पुनरधिकरणमेकस्मिन् गच्छे, यदि वा चयोर्गच्छयोः, अ-
थवा कुले, यदि वा गणे, यदि वा मये, समुत्पन्नं स्यात्, (वि-
श्यपयमिति) अत्रापि द्वितीयपदमपवादपदम् । ततो वक्ष्यमा-
णकारणविच्छेदमपि प्राज्ञैः वितापयेत् । ततश्च वितोषणमग्रे
प्रावक्ष्यन्ते ।

सारप्रथमधिकरणमुत्पन्नं यथोपशमयितव्यं तथा चाऽऽह—

त जेत्तिएहिं दिट्ठं, तेत्तियमेत्ताण मेलणं कावं ।

निद्वियाण व साहूण वः पुरतोऽज्जिय दोवि ग्वांमंति ॥

तदधिकरणमुत्पन्नं यावन्निरुद्धस्यै न्यतैर्वा दृष्टं नावन्मात्रा-

णां गृहस्थानां साधूनां च मीलनं कृत्वा तेषां पुरतो द्वावपि पर-
स्परं क्रमयत । कुत्रादिसमवाये यद्युत्पन्नं तत् कुलादिसमवाये
कृत्वा क्रमयत । किं कारणम् ? यावन्मात्रैर्गृहिभिः सयनैर्वा दृष्टं
तावतां मीलनं कृत्वा परस्परं क्रमयन्, तत्राऽऽह—

नवणीयनुद्वाहियया, साहू एरं गिहिणो उ नाहिंति ।

न य दंमनया साहू, काहिंती तत्थ वोसमणं ॥

नवनीतनुद्वाहयया साधवः, एव गृहिणः, तुशब्दादभिनवशै-
कादयश्च ज्ञास्यन्ति । न च दण्डमजयात्साधयोऽधिकरणे स-
मुत्पन्ने व्युपशमनं करिष्यन्ति, किं तु कर्मक्षपणाय, एव ज्ञास्य-
न्ति, एवरूपा च प्रतिपत्तिः शुभोदयपरम्परादेतुः, अतस्नाचता
मीलनं कृत्वा परस्परं तौ क्रमयन् ।

सप्रति चतुष्क 'विश्यपयमिति' तद्व्याख्यानार्थमाह—

वितियपदे नितिगिट्ठे, वितोमवेज्जा उवड्ठिते बहुसो ।

विड्ठो जइ न उवसमे, गतो य सो अन्नदेसेसु ॥

द्वितीयपदे व्यतिकृष्टान्यपि प्राभूतानि वितोपयेदुपशमयेत् ।
कथम् ? इत्याह—येन सदाधिकरणं यदृशो बहुन्धारान् कृतं, त-
स्योपस्थितस्तत् क्रमयति, स च क्रम्यमाणो द्वितीय उपशमयति ।
यदि नोपशमत् अनुपशान्तश्च गतोऽन्य देशं नतः—

काठेण च उवसतो, वज्जिज्जतो व अन्नमन्नेहि ।

खीरादिमल्लर्णीणं व, देवय गेहान्न पुटो वा ॥

तस्यान्यदेशं गतस्य बहुना कावेन गतेन तस्य कषायः प्रत-
न्योऽभवन्, तत् उपशान्तः । अथवा अन्योन्ये माधुनि कृता-
धिकरणं एव इति स्थानविषय्यमान एव सन्नेतसि सफलयति-
यथा कषायदोषेणाहं स्थाने स्थाने विषय्यमान, तस्मादत्र कषा-
यैरिति पुनरावृत्तिः, अथवा क्षीरादिसल्लर्णीनां क्षीराश्चवादि-
ल्लर्णीनामुपदेशेन सममुपगतवान् देवयया शिक्त्वा, यदि वा
इलानत्वेन पृष्टस्तन्निन्तयति—यदि कथमपि साधिकरणोऽग्नि-
योऽहं तत् सापराधिको भवामि, तस्मात्तत् गत्वोपशमयामि ।

एव जातपुनरावृत्तिना यत्कर्मण्यं तदाह—

गंतुं खामेयव्वो, अहय न गच्छेज्जिमेहिं दोसेहिं ।

नीयहग उवसगो, तहियं वा तस्स होज्जं ॥

तेन जातपुनरावृत्तिना यत्रोत्पन्नमधिकरणं तत्र गत्वा शमयि-
तव्यं । अथवा—पतैर्घटयमाणैर्घटैस्त्रयं न गच्छेद्यत्रोत्पन्नमधि-
करणम् । कैर्दोषैः ? इत्यत्र आह—निजकाः स्वजनाः तस्य तत्र
विद्यन्ते, ततस्तत्र गतस्य तैरुपसर्गं क्रियते ।

तथा—

गामो उट्ठिउ हुज्जा, अंतरं वा जणवो निरहवगणं ।

अन्नं गता न तरई, अहवा गेलन्नं पभिरई ॥

यत्र ग्रामेऽधिकरणमुत्पन्नं स ग्रामं उत्थित उद्यशीभूतः, अथवा
अन्तराज्जनादुत्थितो, यदि वा येन सममधिकरणमजायत स
निहवगणं प्रविष्टवान् । अन्यत्र गत इतरे वा ग्यानो जातस्त-
तो गन्तुं न शक्नोति । अथवा ग्लानं प्रतिचरति ।

अनुज्जय पभिवज्जे, भिक्खादि अल्लं अंतरं तहिं वा ।

रायदुष्ट ओमं, आसव वा अंतर् नहि वा ॥

अथवा सोऽधिकृत क्षमयितुमना भङ्ग्युद्यन विहार प्रतिपक्षु-
कामो लग्न प्रत्यासन्न ततो गन्तु न शक्नोति । अथवा-अन्त-
राले तत्र वा यत्राधिकरणमुत्पन्न, भिक्षाया अन्नानो, यदि वाऽन्त-
रस्तत्र वा राजाद्विष्टमवमोदयमार्शिव वा ।

सवरपुलिंदादिजनं, अतर तहियं च अइव बुज्जाहि ।

एएण कारणेण, वचतं कापे अप्पाहे ॥

अन्तरा तत्र वा शवरभयं पुलिन्द मयम, आदिशब्दात् स्तनम्भे-
कादिजनपरिग्रह । भवेत्, न एत कारणस्तत्र गन्तुमशक्नुवन्
यः कोऽयन्य श्रावको वा, मिरूपुत्रो वा, मिथ्यादृष्टिर्वा, तत्र नृ-
को व्रजति, न सदेशयति । यथाऽहमधुनोपशान्त पतैश्च कारणै-
रागन्तुमशक्, तस्मात्त्वमत्रागत्य मया सह क्षमण कुरु ।

तत सदेशे कथितेऽनेन यत्कर्त्तव्यं तदाह—

गतूण सो वि तहिय, सपक्खपरपक्खमेव मेलित्ता ।

खामेइ सो वि कज्ज, व दीहए आगतो जेण ॥

यस्य सदेशः कथापित स तत्र गत्वा यैस्तदधिकरणं ज्ञातं
सपक्व परपक्व च मेलयित्वा त क्षमयति; सोऽपि च क्षम्यमाणो
येन कारणनागतस्तत्त्वारण तस्य साक्षाद्विज्ञयति कथयति ।

अह नत्थिको वि वचंतो, ताहे उवसमति अप्पणा ।

खामेइ जत्थ मिलती, अदिहे गुरुणतियं कांडं ।

अथ नास्ति कोऽपि तत्र व्रजन् यस्य सदेशः कथ्यते तर्हि आ-
त्मना स्वयमुपशमयति, सर्वथा मनसोऽधिकरणमुपशमपरायण-
नया स्फेद्यति, ततो यत्र मिलति तत्र क्षमयति । इयं न का-
पि मिलति, ततस्तास्मिन्नदृष्टे गुरुणामन्तिकं कृत्वा त मनसि
कृत्य क्षमण करोति । न्य० १ उ० । ('वसह') शब्दे साधुसा-
ध्वीकलहे यतना 'एकवर्गता' प्रस्तावे द्रष्टव्या)

(१६) निर्ग्रन्थीभिर्व्यतिकृष्टमप्यधिकरणं—

व्युपशमनीयम्—

कप्पड निर्गमंयीणं वितिगिट्ठाडं पाहुकाडं वितोसइत्तए ॥

कल्पने निर्ग्रन्थीनां व्यतिकृष्टानि कलहान् वितोपयितुमुपशम-
यितुमित्येष सूत्राकारार्थः ।

सप्रति भाष्यप्रपञ्च —

निर्गमंयीणं पाहुड, वितोसवियव्वं वितिगिट्ठं ।

किह पुण होज्ज उप्पणं ?, चेइयधरवदमाणीणं ॥

चेइययुतीण जणणे, उाहे उ अभातो बहि अच्चति ।

परितावियाम धणियं, कोडलसहाहिं तुम्भाहिं ॥

निर्ग्रन्थीनां प्रातृतं वितोपयितव्यमुपशमयितव्यं भवति व्यतिकृ-
ष्टम् । शिष्यः प्राह—कथं केन प्रकारेण पुनस्तात्मानमधिकरणमुत्पन्न
स्यात् ? । सूरिराह—काश्चनाऽऽर्थिकाश्चेत्यवन्दनाय चैत्यगृहं ग-
ताः, तस्मिंश्च चैत्यगृहे बहिर्मुखमरुपादिकं न समस्ति; तनश्चै-
त्यगृहमध्यस्थिताश्चेत्यानि वन्दन्ते, तासां च वन्दमानानां प्र-
थमस्तुतेरारब्धाऽन्याः काश्चन सयत्यः समागताः, ताश्च मध्ये
अवकाशां नास्तीति बहिरुक्ते स्थिताः । ततो विस्तरं चै-
त्यस्तुतीनां मरणं ता बहिः स्थिताः उज्ज्वलं पक्षिप्यमाना वद-

न्ति—युष्मानि कोकिलाशब्दाभिर्धेणियमनिशयेन वयं परिता-
पिताः । तथा—

नग्घति नाडनाडं, कल्लंऽपि कलभाणणीण तुम्हाण ।

विप्पगते जवतीणं, जायंते जयं नरवतीतो ॥

युष्माकं कलभाननानां तु स्वरमनोऽज्ञानानां पुरतः कक्षार्मापि
मनागपि नाटकानि नार्हन्ति, ततो भवनीनां विप्रकृते कारणम-
ज्ञानानानामस्माकं जयनरपतितो यद् यूयं नाटकं प्रक्षेप्यध्वे ।

इति असद्वृणउत्तेजित-मज्झत्था तो समंति तत्येव ।

असुगुणं सव्वगणं न-रुणे व गुरुसिद्धिमा मेरा ॥

इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेणासदनाभिर्यो उच्छेजिताः कोपं प्रा-
हितानां मध्यस्थाः सयत्यस्तत्रैव शमयन्ति । न च तास्तद् भ-
एरुन कस्यापि आवितवत्यः । अथ मध्यस्थानां सयतीनामज्ञा-
वनो विलावशाद्वा सर्वगणस्य भएरुनमभूत् ताहि सर्वगणभएरु-
ने स्वस्वगुरुशिष्टं कर्त्तव्यम् । ततस्तावुपशमयतः । अथ लज्जातो
जयतो वा न स्वस्वगुरोर्निवेदितं तर्हि तत्रैव मर्यादा ।

एतदेवाऽऽह—

गणहरगमणं एगा-ऽऽयरियस्स दोब्बि वा वग्गा ।

आसन्नगमं दूरे, च पेसणं तं च वितियय ॥

समस्तस्यापि गणस्य जएरुने गते आन्मीयस्य समीपे गमनम्,
अथवा एकस्याचार्यस्य सबन्धिनौ तौ द्वावपि सयतवर्गौ, तत
एकस्य समीपे गच्छन्तः, ततः स एकस्तौ वा द्वौ गणधरो तदधि-
करणं यत्र चैत्यगृहेऽन्यत्र चोत्पन्नं तत्र द्वावपि वर्गौ नीत्वा उप-
शमयतः । अथ लज्जादिना स्वस्वगुरोर्निवेदितमेकतरश्च पक्षो
निर्गतः, तत आह—(आसन्नत्वादि) यद्यासन्नं गतोऽपान्तराले
च निर्गतं ततः स आनाय्यते, अथ सापायं तर्हि तास्तौ
गणधर आगच्छति, आगत्य क्षमण करोति । अथ दूरे गतस्तर्हि
वृषजानां प्रेषणं कर्त्तव्यम्, ततो वृषभाः समेत्य ताः सयतीः
क्षमयन्ति । अथ द्वितीयपक्षो नोपशान्तस्ततः पुनरावृत्तौ जाता-
यां पूर्वोक्तवदेव प्रागुक्त द्वितीय पदमवसातव्यम्; यत्र मिश्रन्ति
तत्रैव क्षमयन्ति । भमिलने गुरुणामन्तिके इति ।

एतदेव सूत्रं सविस्तरं विज्ञापयिषुरिदमाह—

चेइयधरं नइत्ता, जत्थुप्पन्नं च तत्थं दिज्झवणं ।

हज्ज भया व असिडे, दुवेगतरनिगमं इमं तु ॥

स्वस्वगुरुनिवेदने कृते तौ द्वावपि गुरुसयतीवर्गद्वयमपि चै-
त्यगृहं नीत्वा, अथवा यत्रान्यत्रोत्पन्नमधिकरणं तत्र नीत्वाऽधि-
करणस्य विध्यापनं कुरुत । अथ लज्जायां जयाडा गुरुणामशि-
ष्टमजवत् । द्वयोश्च पक्षयोर्मध्ये एकतरस्य पक्षस्य निर्गम-
स्तत इदं कर्त्तव्यम्—

आसन्नमणायाए, अणवाए वा से गणहरा गम्म ।

जगुणाय अजिक्खामण, आणाविज्जअहिं वा वि ॥

यद्यासन्नं निर्भयं च ततस्ता निर्गताः सयत्यः स्वगणेन सह
आनाय्यन्ते । अथ सापायं ततस्तासां गणधर आगच्छति, तत-
स्ता सयत्य आनीताः, गणधरो वा एकक आगतो यत्र जनज्ञात
जएरुनमभूत्, तत्रानाय्यन्ते । अन्यत्र वा आनाय्य परस्परम-
जिक्खमणं कार्यम् । अथ दूरे गतास्तर्हि वृषजाः समागत्य सयतीः
क्षमयन्ति । न्य० ७ उ० ।

सुखम्—

साहिगरणं निगयं निगये गिएहमाणं वा अगिएहमाणं वा नातिक्रमः ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् ।

अथ भाष्यम्—

उपरमे अहिगरणे, ओममाणं दुविहऽनिकम् ददु ।

अगुसासणभासनिहं—जणा य जो तां पं पक्खिक्खो ॥

सयत्या गृहस्थेन सममधिकरणे उत्पन्नं द्विविधमतिक्रमं दृष्ट्वा तस्याधिकरणस्य व्यवशमनं कर्तव्यम् । किमुक्तं जयति ?—स गृहस्थोऽनुपशान्तः सन् तस्याः सयत्या सयमभेदः, जीविन-भेदं चेति द्विविधमतिक्रमं कुर्यात् । तत उपशमिन्यमधिकरण-म् । कथम् ? इत्याह—यस्तस्याः सयत्या प्रतिपक्षो गृहस्थस्तस्य प्रयमनं कोमलवचनैर्गुणासनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिष्ठति प्रापणं नापनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यभिभवो निरुम्भणं, यस्य या स्मिन्नेन तथा निगारणं कर्तव्यम् । वृ० ६ उ० ।

(१९) साधिकरणेनाऽकृतप्रायश्चित्तेन सद न सभोगः कार्यं -

जे भिक्खु साहिगरणं अविओसमियपाहुनं अकटप-
च्छित्तं पर तिरायाओ विष्फात्तिप अविष्फात्तिपं सभुज्जं,
सज्जुजंत वा साज्जइ । १५ ।

अति निहंने, निक्खु पुग्गमिणे महाधिकरणं कयायभा-
वशुभभावाधिकरणसाधिन इत्यर्थः । विविध विविधेहि वा पगा-
रेहि विउसमिय उयन्नामिय । किं तं, पाहुनं, कलहमित्यर्थः । न
विओसमियं अविओसमियं, पाहुनं, तस्मि पाहुनकरणे ज प-
किउत्तं जेण सा कम्पच्छत्ते । " अमानेना प्रतिपेधे " न
कृतं प्रायश्चित्तं भवत्तप्रायश्चित्तं, जं त सभुज्जसभोपण स-
ज्जति, एगममज्ज, सभुज्जं चि वुत्तं भयात्, अहयादाणगादेण
सभोपण भुजात् तस्म चउगुग्गा भाणादिणा य वंसा । नि०
वृ० ४ उ० ।

(१७) अथ दणकक्रमेणाऽधिकरण्यधिकरणद्वयनिरूप-
णायाऽऽह—

जीवे एं जंते ! अहिगरणी, अहिगरणं ? । गोयमा ! जीवे
अधिगणं वि, अधिगणं वि । ने केणट्टेणं भंते ! एवं वु-
च्चं—जीवे अधिगणी वि, अधिगणं वि ? । गोयमा ! अ-
विरतिं पकुच्च मे तेणट्टेणं जाव अधिगणी वि अधिगणं
पि । एरइएण भंते ! किं अधिगणं, अधिगणं ? । गोयमा !
अधिगणी वि, अधिगणं पि । एव जदेव जावं तहेव
एरइए वि, एव एरतरं जाव वेमाणेण ।

(जीयणमित्यादि) । (अहिगरणी वि चि) अधिकरण
द्वर्गतिनिमित्तं वस्तु, तच्च विवक्षया शरीरमिन्द्रियाणि च, त-
था बाह्यो हलगन्धादिपदग्रहः, तदस्यास्तीत्याधिकरणी जीवः ।
(अधिगणं पि चि) शरीराधिकरणेभ्यः कथञ्चिद्व्यतिरि-
क्त्वाधिकरणं जीवः । एतच्च द्वयं जीवस्याविरतिं प्रती-
त्याच्यते, तत यो विरतिमानसः शरीरादिभावेऽपि नाधिकर-
णः, नाप्यधिकरणम्, अविरतिमुक्तस्यैव शरीरादधिकरणत्वा-
दिति । एतदेव चतुर्थशतिदणके दर्शयति—(नेरइए इत्यादि)
अधिकरणी जीव इति प्रागुक्तम् । स च दूरवर्तिनाऽप्यधिकर-
णेन स्यात्, यथा—गोमात्रं । इत्यनं पृच्छति—

जीवे एं भंते ! किं साहिगरणी, एरिहगरणी ? । गोयमा !
साहिगरणी, एणो एरिहगरणी । मे केणट्टेणं पुच्छा ? । गोय-
मा ! अविरतिं पकुच्च मे तेणट्टेणं जाव एणो एरिह-
गरणी । एवं जाव वेमाणेण ॥

(साहिगरणी चि) महः सहभाषिनाऽधिकरणेन शरीरादिना
वर्तनं इति समामान्तद्विधेः साधिकरणी । ससाहिजीवस्य
शरीरमिन्द्रियरूपाधिकरणस्य सर्वदेव सहचरितत्वात्साधिकरण-
त्वमुपदिश्यते । शरीराधिकरणापेक्षया तु स्वस्वामिभावस्य
तद्विरातरूपस्य महः वर्तताञ्जावि साधिकरणीत्युच्यते । अतः
एव वदयति—(अविरतिं पकुच्च चि) अत एव संयतानां शरीरा-
दिसद्भावेऽप्यविरतेरनायासं साधिकरणित्वम् । (एरिहगरणि
चि) निर्गतमधिकरणमस्माद्भिर्निरधिकरणी । समासान्तद्विधे-
रधिकरणद्वयत्वेत्यर्थः । स च न भवति, अविरतेरधिकरण-
ज्ञानाया अद्वयवर्तितादिनि । अथवा—सहाधिकरणिणि पुत्रमि-
त्रादिभिर्यत्तं इति साधिकरणी । कस्यापि जीवस्य पुत्रादीनाम-
भावेऽपि तद्विरत्यविरतनायात्साधिकरणित्वमवश्यम् । अतः
एव नो निराधिकरणात्प्राप्य मन्तव्यामिति ।

अधिकरणाधिकारादेवेदमाह—

जीवे एं भंते ! किं आयाहिगरणी, पराहिगरणी, तदु-
जयाहिगरणी ? । गोयमा ! आयाहिगरणी वि, पराहिगरणी
वि, तदुभयाधिकरणी वि । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चं
जाव तदुजयाहिगरणी वि ? । गोयमा ! अविरतिं पकुच्च
मे तेणट्टेणं जाव तदुजयाहिगरणी वि । एव जाव वेमा-
णेण ।

(आयाहिगरणी चि) अधिकरणी कृप्यादिमान्, आत्मनाऽधि-
करणी आत्माधिकरणी । ननु यस्य कृप्यादि नास्ति स कथमाधि-
करणी ? इत्यत्रोच्यते—अधिरूपपेक्षया, इत्यत एवाऽविरतिं प्रतीत्ये-
ति वदयति । (पराहिगरणी चि) परतः परेषामधिकरणे प्रवर्तने-
नाधिकरणी पराधिकरणी, (तदुभयाहिगरणी चि) तयोरात्म-
परत्योरभयं तदुजयः, ततोऽधिकरणी यः स तथेति ।

अथाधिकरणस्यैव हेतुप्ररूपणायाऽऽह—

जीवे एं जंते ! अधिगणे किं आयप्पओगणिव्वत्तिए,
परप्पओगणिव्वत्तिए, तदुजयप्पओगणिव्वत्तिए ? । गोयमा !
आयप्पओगणिव्वत्तिए वि, परप्पओगणिव्वत्तिए वि, तदु-
जयप्पओगणिव्वत्तिए वि । मे केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चं ? ।
गोयमा ! अविरतिं पकुच्च मे तेणट्टेणं जाव तदुजयप्पओ-
गणिव्वत्तिए वि । एव जाव वेमाणियाणं ।

(आयप्पओगणिव्वत्तिए चि) आत्मनः प्रयोगेण मनः प्रभृति-
व्यापारेण निर्वर्तितं निष्पादितं यत्तत्तथा । एवमन्यदपि द्वयम् । न
ननु यस्य घटनादिपरप्रवर्तनं यत्तु नास्ति तस्य कथं परप्रयोगनि-
र्वर्तनादि भविष्यति ? इत्याशङ्कामुपदिश्य परिहरन्नाह—(से केण-
मित्यादि) अविरत्यपेक्षया त्रावधमप्यस्तानि भावनीयमिति ।
अथ शरीराणामिन्द्रियाणां योगानां च निर्वर्तनायां जीवादे—
रधिकरणित्यादिप्ररूपयन्निदमाह—

जीवे एं भंते ! ओगालियसरीरं णिव्वत्तिएमाणे किं अधि-

करणं, अधिगणं? गोयमा! अधिगणं वि, अधिगणं पि।
से केणट्टेणं भंते! एवं पुच्छ-अधिगणं वि, अधिगणं पि?।
गोयमा! अविरतिं पमुच्च से तेणट्टेणं जाव अधिगणं वि, अधिगणं पि। पुढवीकाइए ण जंते! ओरादियसरीर णिव्वत्तिपमाणे किं अधिगणं, अधिगणं?। एव चेव, एवं जाव मणुस्से। एव वेउव्वियसरीरं पि, णवरं जस्स अत्थि। जीवे णं भंते! आहारगसरीरं णिव्वत्तिपमाणे किं अधिगणं पुच्छा?। गोयमा! अधिगणं वि, अधिगणं पि। से केणट्टेणं जाव अधिगणं पि?। गोयमा! पमाद पमुच्च से तेणट्टेणं जाव अधिगणं पि। एव मणुस्से वि। तेपा सरीरं नहा ओरालियं; एवरं सव्वजीवाण जाणियव्व। एवं कम्मगसरीरं पि॥

(अधिगणं वि अधिगणं पि त्ति) पूर्ववत् । (एवं चेव त्ति) अनेन जीवसुत्राजिलाप' पृथिवीकायिकसूत्रे समस्तो वाच्य इति दर्शितम् । (एव वेउव्वीत्यादि) व्यक्तम् । (नवर जस्स अत्थि त्ति) इह तस्य जीवपदस्य वाच्यमिति शेषः । तत्र नारकदेवानां वायोः पञ्चेन्द्रियतियं द्रव्यगुणानां च तदस्तीति ज्ञेयम् । (पमाय पमुच्च त्ति) इहाहारकशरीर संयमवनामेव भवति । तत्र चाविरतेरभावेऽपि प्रमादादधिकरणत्वमवसेयम् । दण्डकचिन्तायां चाहारक मनुष्यस्यैव भवतीत्यत उक्तम्- (एव मणुस्से वि त्ति) ।

जीवे ण भंते! सोइदियं णिव्वत्तिपमाणे किं अधिगणं, अधिगणं। एव जहेव ओरालियमरीर तहेव सांइदियं पि जाणियव्व, एवर जम्म अत्थि सोइदियं। एवं सोइदियं चर्खिदियं धाणियजिन्निदियपांसिदियाणि वि जाणियव्व; जस्स जं अत्थि। जीवे णं भंते! मणजोगे णिव्वत्तेमाणे किं अधिगणं, अधिगणं?। एवं जहेव सोइदियं तहेव णिव्वत्तेसं। वज्जोगं एव चेव, एवरं एगिंदियवज्जाणं। एवं कायजोगे वि, एवर सव्वजीवाणं जाव वेमाणे। सेवं जंते! भंते! त्ति। ज० १६ श० १ उ०॥

अधिक्रियते प्राणिदुर्गतावननेति अधिकरणम् । दानेनाऽस्यतस्य सामर्थ्ययोगात् पापारम्भप्रवर्तने, हा० २७ अष्ट० । आधारे, व्याकरणशास्त्रे- "कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्धारयेत् क्रियाम् । उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ, शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्" ॥ १ ॥ इति हरिपरिभाषिते अधिकरणसङ्गके कर्तृकर्मद्वाराक्रियाश्रये कारके, यथा-गेहे स्थाल्यामन्न पचतीत्यादौ गृहस्य कर्तृद्वारा, स्थाल्याश्च कर्मद्वारा, परम्परया पाकक्रियाश्रयत्वाद् गृहादेः । वाच० ।

अधि (हि) गरणकिरिया-अधिकरणक्रिया-स्त्री० । अधिकरणविषयिका क्रिया अधिकरणक्रिया । कलहविषयके व्याधारे, अधिकरणक्रिया द्विविधा-निर्वर्तनाधिकरणक्रिया, सयोजनाधिकरणक्रिया च । तत्राद्या-खड्गादीनां तन्मुष्ट्यादीनां निर्वर्तनलक्षणा । द्वितीया तु-तेषामेव सिद्धानां सयोजनलक्षणेति । अथवा प्राणिनां दुर्गत्यधिकारित्यकारणे, क्रियामात्रे च । "अधिगणकिरियापवसगा बहुविह अनत्थ अवमह अप्पणो परस्स य करेति" प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अ (आ) धि (हि) गरणिया-अधिकरणिकी-स्त्री० । अधिक्रियते स्थाप्यते नरकादिध्यात्मा येन तदधिकरणमनुष्ठानविशेषो बाह्य वस्तु चक्रखड्गादि, तत्र भवा, तेन वा निर्वृत्ता, आधिकरणिकी । प्रश्न० २१ पद । खड्गादिनिर्वर्तनलक्षणे क्रियाभेदे, स० ७ सम० । स्था० ।

अस्या भेदा —

अधिगणिया ण जंते! किरिया कइविहा पणत्ता?। मंनियपुत्ता! दुविहा पणत्ता। तं जहा-संजोयणाधिगण-किरिया य, निव्वत्तणाधिगणकिरिया य ॥

(संजोयणाधिगणकिरिया य त्ति) सयोजन हलगरविष-कूटयन्त्राद्यङ्गानां पूर्वनिर्वर्तिनानां मूलन, तदेवाधिकरणक्रिया सयोजनाधिकरणक्रिया । (णिव्वत्तणाधिगणकिरिया य त्ति) निर्वर्तनमसिशक्तितोमरादीनां निष्पादन, तदेवाधिकरणक्रिया निर्वर्तनाधिकरणक्रिया । म० ३ श० ३ उ० । अधिकरणक्रिया द्विधा-अधिकरणप्रवर्तना, अधिकरणनिर्वर्तना च । तत्र निर्वर्तनेनाधिकरणक्रिया द्विविधा-मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया, उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया च । तत्र मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-पञ्चानां शरीरकाणां निर्वर्तनम् । उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-हस्तपादाङ्गोपाङ्गानां निर्वर्तनम् । अथवा मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-असिशक्तिभिण्डि-पालादीनां निर्वर्तनम् । सयोजनाधिकरणक्रिया-तेषां वियुक्तानां सयोजनमिति । अथवा सयोगः विषगरहलकूटयन्त्रयन्त्रादीनां, निर्वर्तनाधिकरणक्रिया शर्वलकेण कालकूटमुज्जरादीनाम् । कूटपाशनिर्वृत्ते क्रियाभेदे च । आ० चू० ४ अ० ।

अधि (हि) गरणी-अधिकरणी-स्त्री० । कर्मारोपकरणविशेषे, यत्र लोदकारा अयोधनेन लोहानि कुट्टयन्ति । म० ६ श० १ उ० ।

तेणं कालेण तेणं समणं रायगिहे० जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-अत्थि णं जंते! अधिकरणम्मि वाउयाए वइकमइ?। इंता अत्थि। से जंते! किं पुट्टे उदाइ, अपुट्टे उदाइ?। गोयमा! पुट्टे उदाइ, णो अपुट्टे उदाइ। से जंते! किं सवरीरी णिव्वत्तमइ, असरीरी णिव्वत्तमइ?। एवं जहा खंदए जाव से तेणट्टेण जाव णो असरीरी णिव्वत्तमइ ।

(अत्थि त्ति) अस्त्यय पक्षः, (अधिगणमिति) आधिकरण्य, (वाउयाए त्ति) वायुकाय, (वइकमइ त्ति) व्युत्क्रामति अयोधनाभिघातेनोत्पद्यते, अयञ्चाक्रान्तसेजयत्वेनादावचेतनतयोत्पन्नोऽपि पश्चात् स चेत्तनीजवतीति ममाव्यत इति । उत्पन्नश्च सन् प्रियत इति प्रशयन्नाह-"से मते" इत्यादि । (पुट्टे त्ति) स्पृष्ट स्वकायशस्त्रादिना सशरीरश्च कलेवराभिष्क्रामति कर्मणाद्यपेक्षया औदारिकाद्यपेक्षया त्वशरीरीति । म० १६ श० १ उ० ।

अधि (हि) गार-अधिकार-पु० । अधि-क-घञ् । ओघतः प्रपञ्चप्रस्तावे, "अधिगारो पुच्छतो चव्विहो विइयचूलिय-ज्झयण" दश० १ अ० । प्रयोजने, "अधिगारा इह तुमो एण" व्य० ९ उ० । नि० चू० । व्यापारे, "अधिगारो तस्स विजएण" आचा० १ शु० २ अ० १ उ० ।

अधि (हि) इंत-अधितिष्ठत-त्रि० । निवसति, नि० चू० १२ उ० ।

अधि (हि) द्वारण-अधिस्थापन-न० । सनिषद्यावेष्टित एव रजोहरणादेरुपवेशने, " जे निक्खू रयहरण अदिठेर, अदिठत वा साइज्जइ " नि० चू० ५ उ० ।

अधि (हि) द्वेष्टा-अधिष्ठाय-अव्य० । ममेदमिति गृही-
त्वत्यर्थे, नि० चू० १२ उ० ।

अधि (हि) मासग-अधिमासक-पु० । अभिवर्द्धितवर्षद्वा-
दशभागे, " एस अजिवद्वियवरिसवारसभागो अधिमासगो ।
जो पुण ससिसूरगतिविसेसणिप्पणो अधिमासगो अ णणतीस
दिणा विसतिभागा य वत्तीस भवति " नि० चू० २० उ० ।

अधि (हि) मुक्ति-अधिमुक्ति-स्त्री० । शास्त्रधर्मावति, द्वा०
२३ द्वा० ।

अधि (हि) वइ (ति)-अधिपति-पु० । प्रजानामतीव सु-
रक्षके, व्य० १ उ० ।

अधीमहि-अधीमहि-अव्य० । अस्यापत्य इ-कामः । तस्य
महा कामिन्य, ता अधिष्ठत्य-अधीमहि । त्रियोऽधिष्ठत्येत्यर्थे,
" भर्गो दे वस्यधीमहि " गायत्री । वसनीनि वसा विच्प्रत्यये
रूपम् । कृ वासि ? इत्याकाङ्क्षायामाह-अधीमहि, स्त्रीषु तिष्ठ-
माने स्त्रियायत्तात्मनत्याशय । जै० गा० ।

अधीरपुरिस-अधीरपुरुष-पु० । अबुद्धिमति पुरुषे, उक्त०
ए अ० ।

अधुव-अधुव-पुं० । य पुनरायत्यां कदाचिद्व्यवच्छेद प्राप्स्य-
ति स भव्यसबन्धो यो बन्धः स ध्रुवबन्धः । क० ५ कर्म० ।

अधे (हे) कम्म-अधःकर्मन्-न० । अधोगतिनिबन्धनं कर्म
अधःकर्म । आधाकर्मणि, तथाहि-भवति साधूनामाधाकर्ममु-
ज्जानानामधोगति, तन्निबन्धनप्राणातिपाताद्याश्रवेषु प्रवृत्ते ।
अस्य निक्षेप-अध कर्म चतुर्धा । तद्यथा-नामाध कर्म, स्था-
पनाध कर्म, द्रव्याध कर्म, ज्ञावाध कर्म च । एतन्नाधाकर्म-
वत्तावद्वक्तव्य यावन्नोऽगमतो भव्यशरीररूप द्रव्याध कर्म ।
इशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त तु द्रव्याध कर्म निर्युक्तिरुदाह-

जं दन्व उदगाइसु, वृद्धमहे वयइ जं च जारेण ।

सीईए रज्जुएण व, ओयरए दव्पइहेकम्म ॥ ९६ ॥

यत्किमपि द्रव्यमुपलादिकमुदकादिषु उदकद्रुग्धादिषु मध्ये
क्षित सत् भारेण स्वस्य गुरुतया अधो व्रजति तथा (ज चेति)
यच्च (सीईए च्छि) निःश्रेण्या रज्ज्वा वा अवतरण पुरुषादे कूपा-
द्वा, मालादेर्वा भुवि, तद् अधोऽधोव्रजनमवतरण वा द्रव्या-
ध कर्म । द्रव्यस्थोपलादेरधोऽधस्तादमनरूपमवतरणरूप वा
कर्म द्रव्याध कर्मेति व्युत्पत्ते ।

सप्रति ज्ञावाध कर्मणोऽवसर, तच्च द्विधा-आगमतो, नोऽगम-
तश्च । तत्र आगमतोऽध कर्म शब्दार्थज्ञानात् । तत्र चोप-
सुचो नोऽगमत आह-

संजमठाणाणं कं-ढगाण लेसाठिईविसेसाणं ।

जावं अहे करेई, तम्हा तं भावइहेकम्म ॥ ९७ ॥

संयमस्थानाना वक्ष्यमाणानां कएरुकानां संख्यातीतसंयम-
स्थानसमुदायरूपाणाम, उपलक्षणमेतत् पदस्थानकानां संयमश्रे-
णेभ्य । तथा लेख्यानां, तथा सातवेदनीयादिरूपशुभ्रप्रकृतीनां
१४८

सबन्धिनां स्थितिविशेषाणां च सबन्धिषु विशुद्धेषु विशुद्धत-
रेषु स्थानेषु वर्तमान सन्त निज भावमध्यधसाय यस्मादाधा-
कर्म भुज्जान. साधुरध. करोति, हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु वि-
धत्ते । तस्मात्तदाधाकर्म भावाध.कर्म ज्ञावस्य परिणामस्य स-
यमादिसबन्धिषु शुभेषु शुभतरेषु स्थानेषु वर्त्तमानस्य, अथः अ-
धस्तनेषु हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु कर्म क्रिया यस्मात्तद्भावा-
ध.कर्ममिति व्युत्पत्ते ।

एनामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति-

तत्थायंता चारि-त्तपज्जवा होंति संयमहाणं ।

संखाईयाणि उ ता-णि कंमग होइ नायव्व ॥ ९८ ॥

संखाईयाणि उ क-मगाणि ढहाणं विणिदिहं ।

छट्ठाणा उ असखा, संयमसेढी मुणोयव्वा ॥ ९९ ॥

किएहाइया उ लेमा, उकोसविमुच्छिइविसेसा उ ।

एएसि वि मुच्छाण, अप्पं तग्गाहगो कुणइ ॥ १०० ॥

इह सर्वोत्कृष्टादपि देशविरतिविशुद्धिस्थानाद् जघन्यमपि स-
र्वविरतिविशुद्धिस्थानमनन्तगुणता च सर्वत्रापि पदस्थानकचि-
न्तायां सर्वजीवानन्तकप्रमाणेन गुणकारेण दृष्ट्या । इय चात्र
ज्ञावना-जघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थान केवलप्रज्ञाच्छेद-
केन विद्यते, क्तिन्त्वा च निर्विज्ञागा भागा सर्वसकलनया
परिभाष्यमाना सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता नि-
र्विज्ञागा भागा सर्वजीवानन्तकरूपेण गुणकारण गुणयमाना
यायन्तो जायन्ते तावत्प्रमाणा प्राप्यन्ते । अत्राप्यय भावार्थ-
इह किल असत्कल्पनया सर्वोत्कृष्टस्य देशविरतिविशुद्धिस्था-
नस्य निर्विज्ञागा ज्ञागाः १०००० दशसहस्राणि, सर्वजी-
वानन्तकप्रमाणश्च राशिः शतम् । ततस्तेन शतसंख्येन स-
र्वजीवानन्तकप्रमाणेन राशिना दशसहस्रसंख्या सर्वोत्कृष्ट-
देशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विज्ञागा ज्ञागा गुरयन्ते, जा-
तानि १०००००० दशलक्षाणि । एतावन्त किल सर्वजघन्य-
स्यापि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विज्ञागा ज्ञागा प्रवन्ति ।
सप्रति सूत्रमनुश्रियते-तत्र तेषु सयमस्थानादिषु वक्तव्येषु, प्रथ-
मतः सयमस्थानमुच्यते इति शेषः । अनन्ता अनन्तसंख्या पाश्चा-
त्यसकलनया दशलक्षप्रमाणा, ये चारित्रपर्यायाः सर्वजघन्यचा-
रित्रसत्कविशुद्धिस्थानगता निर्विज्ञागा भागास्ते समुदिता स-
यमस्थानम्, अर्थात्सर्वजघन्यज्ञाव प्राप्नुवन्ति । तस्मादनन्तरं यद्
द्वितीयं सयमस्थानं तत् पूर्वस्मादनन्तभागवृद्धम् । किमुक्तं भ-
वति ? प्रथमसयमस्थानगतनिर्विज्ञागाभागापेक्षया द्वितीयसय-
मस्थाने निर्विज्ञागा भागा अनन्तमेव भागेनाधिका भवन्तीति ।
तस्मादपि यद् अनन्तरं तृतीयं तत्ततोऽनन्तभागवृद्धम् । एव पूर्व-
स्मादुत्तरोत्तराणि अनन्तमेव ज्ञागेन वृद्धानि निरन्तरं सय-
मस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावद्वृद्धमात्रक्षेत्रासंख्येयज्ञागत-
प्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । एतावन्ति च समुदितानि स्था-
नानि कएरुकमित्युच्यते । तथा चाऽऽह-संख्यातीतानि असंख्ये-
यानि । तु पुनरर्थः । तानि सयमस्थानानि, कएरुकं प्रवति ज्ञात-
व्यम् । कएरुकं नाम समयपरिभाषया अहुलमात्रक्षेत्रासंख्येय-
भागगतप्रदेशराशिप्रमाणा संख्या विधीयते ।

तथा च भाष्ये उक्तम्-

" कडति इत्थं भन्नइ, अंगुलभागो असंखेज्जो " ।

अस्याश्च कण्ठकात्परतो यदन्यदनन्तरं संयमस्थाने प्रवर्तते तत् पूर्वसादसंख्येयभागाधिकम् । एतदुक्तं भवति-पाश्चात्यकण्ठक-सत्कवरमस्यमस्थानगननिर्विभागजागापेक्षया कण्ठकादनन्तरे संयमस्थाने निर्विजगा भागा असंख्येयतमेन जागेनाधिकाः प्राप्यन्ते, ततः पराणि पुनरपि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तजागवृद्धानि भवन्ति । ततः पुनरेकमसंख्येयभागा-धिकं संयमस्थानं, ततो ज्योऽपि, ततः पराणि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तजागवृद्धानि प्रवर्तन्ति । ततः पुन-रप्येकमसंख्येयजागाधिकं संयमस्थानम्; एवमनन्तभागाधिकैः कण्ठकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितानि असंख्येयजागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्तान्यपि कण्ठकमात्राणि भवन्ति । ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तजागवृद्धानि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति । ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, ततो मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमणामिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । इदं द्वितीयं संख्येयभागाधिकं संयम-स्थानम् । ततोऽनेनैव क्रमेण तृतीयं वक्तव्यम् । अमूनि चैवं संख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावत्क-ण्ठकमात्राणि भवन्ति । ततः उक्तक्रमेण भूयोऽपि संख्येयभा-गाधिकसंयमस्थानप्रसंगे संख्येयगुणाधिकमेकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुन-रप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति प्रवर्तन्ति संयमस्थानानि तावन्ति तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्ठकमात्राणि भवन्ति । ततः उक्तक्रमेण पुनरपि संख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे असंख्येयगुणा-धिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य या-वन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तेनैव क्र-मेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो ज्योऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणा-धिकसंयमस्थानं वक्तव्यम् । यावन्ति अमूनि चैवं संख्येयगुणा-धिकसंयमस्थानानि तावन्त्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थाना-नि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्ठकमात्राणि भवन्ति । ततः पू-र्वपरिपाठ्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे अ-नन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादा-रभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति त-थैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्तगुणा-धिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य ताव-न्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्त-गुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । एवमनन्तगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्ठकमात्राणि भवन्ति । ततो ज्योऽपि तेनामुपरि पञ्चवृत्तात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वक्तव्यानि । यन्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तत्र प्राप्यन्ते, षट्स्थानकस्य परिसमाप्तत्वात् । इत्थञ्चान्यसंख्ये-यानि कण्ठकानि ममुदितानि षट्स्थानकं भवति ।

तथा चाऽऽह नाप्युक्तं—

“संख्यायाणि च कं-रगाणि छुट्टाणां विनिर्दिष्टं” सुगमम् । अस्मिन् षट्स्थानके षोढा वृद्धिरुक्तम् । तद्यथा-अनन्तजाग-वृद्धिः, असंख्यातजागवृद्धिः, संख्यातजागवृद्धिः, संख्येयगुण-वृद्धिः, असंख्येयगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिः । तत्र यावदोऽ-नन्ततमो जागोऽसंख्येयतमं संख्येयतमो वा भूयते ; वाटशस्तु संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तो वा गुणकारः स निरूप्यते-तत्र यदप-क्षया अनन्तजागवृद्धिता तस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते, इते च जागे ह्रियन्ते सोऽनन्ततमो भागः । तेनाधि-कमुत्तरं संयमस्थानम् । किमुक्तं प्रवर्तते ?-प्रथमस्य संयमस्था-नस्य ये निर्विजगा जागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते सति ये ह्रियन्ते ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर्जागैर्द्वि-तीये संयमस्थाने निर्विजगा अधिकाः प्राप्यन्ते, द्वितीयस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागस्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन रा-शिना भागो ह्रियते सति यावन्तो ह्रियन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर-रधिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्विजगा भागाः प्राप्यन्ते । एवं यद् यत् संयमस्थानमनन्तजागवृद्धमुपलभ्यते तत्तत् पाश्चात्य-संयमस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते सति यद् यल्लभ्यते तावत्प्रमाणेनानन्ततमेन भागेनाधिकमवगन्तव्य-म् । असंख्येयभागाधिकानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसं-यमस्थानस्य सत्कानां निर्विभागभागानामसंख्येयलोकाकाश-प्रदेशप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते सति यद् यल्लभ्यते सोऽसं-ख्येयतमो भागः, स्वतस्तेनासंख्येयतमेन जागेनाधिकानि असं-ख्येयभागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयजागाधि-कानि चैवम्-पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य वृत्तहेन संख्येयेन जागे ह्रियते सति यद् यल्लभ्यते स स संख्येयतमो भागः । ततस्ते-न तेन संख्येयतमेन भागेनाधिकानि संख्येयजागाधिकानि स्था-नानि वेदितव्यानि । संख्येयगुणवृद्धानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसंयमस्थानस्य ये ये निर्विजगा जागास्त ते उक्तहेन संख्येयकप्रमाणेन राशिना गुणयन्ते ; गुणिते च सति यावन्तो प्रवर्तन्ते तावत्तावत्प्रमाणानि संख्येयगुणाधिकानि स्था-नानि वृत्तव्यानि । एवमसंख्येयगुणवृद्धानि, अनन्तगुणवृद्धानि च भावनीयानि ; नद्यरमसंख्येयगुणवृद्धौ पाश्चात्यस्य पाश्चात्य-स्य संयमस्थानस्य निर्विजगा भागा असंख्येयलोकाकाश-प्रदेशप्रमाणेनासंख्येयेन गुणयन्ते । अनन्तगुणवृद्धौ तु सर्वजीव-प्रमाणेनानन्तेन । इत्थं च जागहारगुणकारकल्पनं मा स्थमनी-विकाशिरूपकल्पितं मस्या । यत्तु कर्तुं कर्मप्रकृतिसंज्ञाद्वयं षट्स्थानकगतजागहारगुणकारगित्वादाधिकारे—“संख्यजि-याणमसंख-जा जागसंख्यजगस्त जेदुस्त । भागो तिसु गुण-णा तिसु,” ॥ इति । प्रथमाच्च षट्-स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयं षट्स्थानकमुक्तिश्रुतिः, एवमेव तृतीयम् । एव षट्स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसंख्येयलो-काकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्तं च—“वृद्धाणामवसाण, अथ वृद्धाण्य पुणो भव । एवमसंख्य लोगा, वृद्धाण्य मुण्य-व्या” ॥ इत्यत्रानानि च असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्-स्थानकानि संयमस्थानरूप्यते । तथा चाऽऽह—“वृद्धाणां च अस-ंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्-स्थानकानि संयमस्थानरूप्यते । तथा (हे स सि) कृष्णादयो हेद्याः स्थितिविशेषाः, उक्तानां सर्वोक्तानां सातवेदनीयप्रभृती-नां विगुणप्रकृतीनां संबन्धिनो विरुद्धाः स्थितिविशेषा वेदि-

तस्या' । तत एतेषां सयमस्थानादीनां संबन्धिषु शुभेषु स्था-
नेषु वर्तमानस्तद्ग्राहक आधाकर्मग्राहकः , आत्मानमेतेषां
सयमस्थानादीनां विशुद्धानामधोऽधस्तात्करोति ।

यदि नाम सयमस्थानादीनामधस्तात्तस्मान्माधाकर्मग्राही-
करोति तत किं दूषणं तस्यापतितम् ? , अत आह-

भावावयारमाह-उपपत्तेः किंचिन्नुपपत्तेः ।

आहाकर्मग्राही, अहो अहो नेह अप्पाणं ॥ १ ॥

मानानां सयमस्थानादिरूपाणां विशुद्धानामधस्ताद् हीनेषु ही-
नतरेषु अध्यवसायेष्वधस्तात्तस्मिन्मत्तमन्याधाय कृत्या किंचि-
न्यूनचरणाम् इति । इह चरणेनाम् प्रधानचरणाम् ; स च नि-
श्चयनयमनापेक्षया कृष्णकदायादिरकथायचारित्रः परियुज्यते ।
न च तस्य प्रमादसंभवेनापि सौख्यम्, एकान्तेन सोमादिमोहनी-
यस्य विनाशात् । ततो न तस्याधाकर्मग्रहणसंभवः, इति किञ्चि-
न्यूनग्रहणम् । किञ्चिन्यूनचरणेनाम् प्रधानः किञ्चिन्यूनचर-
णाम् । स च परमार्थत उपशान्तमोह उच्यते । अतिशयव्या-
पनार्थं चैतदुक्तम् । ततोऽयमर्थः किञ्चिन्यूनचरणामोऽपि याय-
त्, आस्तां प्रमत्तसयमादिरिति । आधाकर्मग्राही अधोऽधो रत्न-
प्रभादिनरकादौ नयत्यात्मानम् , एतद्व्यपमाधाकर्मग्रादिणः ।

एतदेव प्रावयति-

बध्द अहेभताउं , पकरेइ अहामुहार्हे कम्माइं ।

घण्करणं तिव्वेण उ, जावेण चओवचट्या य ॥ २ ॥

आधाकर्मग्राही विशुद्धेभ्यः सयमादिस्थानेष्वधोऽधनीये अ-
धोऽधोवर्तिषु हीनेषु हीनतरेषु प्रायेषु वर्तमानोऽधोजवस्य
रत्नप्रमादिनरकरूपस्य नवस्य संबन्धि आयुर्यत्नानि । शेषा-
वपि कर्माणि गत्यादीनि अधोमुखानि अधोगत्यभिमुखानि ,
अधोगतिनयनशोभान्तीत्यर्थः । प्रकरोति प्रकरोणं दुस्सहकटुक-
तीव्रानुनाशयुक्ततया करोति बध्नाति । बध्नात् च सनामाधा-
कर्मविषयपरिभोगशान्त्यवृत्तिर्निन्तरमुपजायमानेन ती-
व्रेण तीव्रतरेण भावन परिणामेन घनकरण यथायोग विभक्त-
रूपतया निकाचनारूपतया वा व्यवस्थापनम् । तथा प्रतिकृण-
मन्यान्यपुद्गलग्रहणेन चय उपचयश्च । तत्र स्तोततरा वृद्धिश्च-
य' , प्रभूततरा वृद्धिरुचयः । एतेन च व्याख्याप्रज्ञासूत्र-
भाचार्येणानुवर्तितम् । तथा च व्याख्याप्रज्ञासाधालापक —
" आहाकर्मऽथ लज्जमाणं समणे निगम्ये अचकम्मपगग्गीओ
बध्द ; अहे बध्द , अहे चिण्द , अहे उर्याच्चिगइ " इत्यादि ।
तत एव सति-

तोसिं गुरुणमुदए-ए अप्पगं दुमार्हे पवदंतं ।

न वएइ विप्रारेउं, अहरगतिं निनि कम्माइं ॥ ३ ॥

तेषामधोजवायुगदीनां कर्मणां गुरुणामधोगतिनयनस्वभाव-
तया गुरुणीव गुरुणि तेषामुदयेन विपाकवेदनानुभवरूपेण, विपा-
कवेदनानुभवरूपाद्यवशादित्यर्थः । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं वि-
चारयितुं निवारयितुमाधाकर्मग्राही न शक्नोति । यतः कर्माणि
अधोमवायुरादीनि उदयप्राप्तानि भलादधरगतिं नरकादिरूपा न-
यन्ति । न च कर्मणः कोऽपि बलीयान्, अन्यथा न कोऽपि नरक-
वायात्, न वा कोऽपि दुःखमनुभवेत् । तस्मादाधाकर्म अ-
धोगतिनिबन्धनमित्ययं कर्मोक्त्युच्यते । तदेवमुक्तमधःकर्मैति
नास्ति । पि० ।

अधो (हो) हि-अधोऽधो-पुं० । परमावधेरधोवर्त्यवधेर्यस्य
साध्याऽधोः । परमावधेरधोवर्त्यवधिर्युक्ते जीवे , "अधोहि
समोदणं चैव अप्पाणेणं आया अहेतोणं जाणइ " इथा० २
ठा० २ उ० ।

अन्तर-अन्तर-न० । "यगेऽन्त्यो वा" णा१।३० । इति सूत्रेणानु-
स्वार्यकालिकत्वम् । व्ययधाने, प्रा० ।

अन्तर्मी-स्त्री०-अन्तर्-न० । उदरमध्याययवे, "पाइ विलगगी
अन्तर्मी सिरु सहसिउ खंधस्सु " प्रा० ॥

अभाइम-अन्यादृश-त्रि० । "अन्यादृशोऽभाइसावराइसौ" ८ ।
भा१।३ । इति अन्यादृशशब्दस्य अभाइसेत्यादेशः । अन्यसदृशो,
अन्यप्रकारे च । प्रा० ।

अप-अप्-स्त्री० । ब० व० । जले, "पुन्वापोचवया नफससे किं
देवयाप पणसं ? अपदेवयाप " सू० प्र० १० पाहु० ।

अप'प' इहाण-अप्रतिष्ठान-पु० । न विद्यत प्रतिष्ठानमौदा-
रिकशरीरादे कर्मणो वा यत्र साऽप्रतिष्ठानः । मंके, आच्छा०
१ शु० ५ अ० ६ उ० । सप्तम्यां नरकपूर्वाध्यापञ्चानां कात्तादीनां
नरकाभासानां मध्यवर्तिनि नरकावास, इथा० ४ ठा० ३ उ० ।
सूत्र० । नश्येन्दे च । जी० ३ प्रति० । "अप्यइहाणं नरण एणं
जोयणसयसहस्स आयाणविक्खभेण " प० स० १ द्वा० ॥

अप'प' इहाण-अप्रतिष्ठित-त्रि० । न० न० । प्रतिष्ठानरहितं, स्वा०
५ ठा० १ उ० । कचिदप्रतिष्ठितं, अशरीरिणि च । आच्छा० २ शु० ।

अप'प' इहाण-अप्रतिष्ठित-अप्रकीर्णप्रसृतत्व-न० । सुसबन्ध-
स्य सनः प्रसङ्गे, असबद्धाधिकारित्वातिविस्तारयोरभावे
सम्भवचनातिशये, स० ३५ मम० । औ० ।

अपउल्ल-अपक-त्रि० । अग्निना सस्फुटे, पञ्चा० १ विव० ।

अपएस-अप्रदेश-त्रि० । न० व० । प्रदेशार्हातत्वे, उच्यते १०
अध्या० । अवयवाभावाद् निरशे, भ० २० शा० ५ उ० । निर-
म्यये, विशेषः । इथा० । नय कुतमार्थन्यादादृशकृणिकत्वेनाशि-
ष्टजनकोर्णत्वेन वा कुत्सिते प्रदेशे, पञ्चा० ७ विव० । (जी-
यानां सप्रदेशत्वाप्रदेशत्वचिन्ता 'पएस' शब्दे वक्ष्यते)

अपओस-अपट्टेप-पु० । अमत्सरे माध्यस्थ्ये, पञ्चा० ३ विव० ।

अपंभिय-अपण्णित-पुं० । सद्वृत्तिरहिते, वृ० १ उ० ।

अंथ-अपथ-पु० । अशस्त्रोपहतपृथिव्याम् , वृ० १ उ० ।

अपक-अपक-त्रि० । अन्यादिनाऽसस्फुटे शालिगोधूमौषधादौ,
प्रव० ८ द्वा० । पाकमप्रापिते , प्रअ० ५ सम्ब० द्वा० ।

अपकोसहिजवखणया-अपकौषधिभक्षणता-स्त्री० । अपकाय,
अग्निनाऽसस्फुक्ताया ओषधेः शाल्यादिकाया भक्षणता भोजनम-
पकौषधिभक्षणता । भोजनत उपभोगपरिभोगवतातिचारजेदे,
उपा० १ अ० ।

अपकखगाहि (ए)-अपक्याहिन्-त्रि० । न पक्वं गृह्णतीत्यप-
क्याहि । शास्त्रबाधितपक्वाग्रहणशीले, इथा० ९ ठा० ।

अपगंम-अपगाह-अपगन गण् दोषो यस्मात्तदपनयद्वम् ।
निर्दोषे, उदकफेने च । सूत्र० १ शु० ६ अ० ।

अपगण्डसुक्त-अपगण्डसुक्त-त्रि० । अपगतगणमपद्रव्य यस्य तदपगतगणम्, तच्च शुक्लम् । निर्दोषार्जुनसुवर्णवच्छुक्ले, तथा अपगणैकमुदकफेनं तत्तुल्यमपगण्डशुक्लम् । उदकफेनवदवदाते, "अणुत्तर धम्ममुद्गिरइत्ता, अणुत्तर माणवर क्रियाई । सुसुक्कसुक्क अवगमसुक्क, सखिदुपगनऽवदातसुक्क" सुव० १ भू० ६ अ० ।

अपचय-अपचय-पु० । अभावे, उक्त० १ अ० ।

अप (प्य) च्चक्ख-अप्रत्यय-त्रि० । अचाक्षुषे, आ० म० द्वि० । अप्रत्ययवती बुद्धिः, प्रत्यक्षोऽर्थ इति वचनात् । ल० ।

अप (प्य) च्चक्खाण-अप्रत्याख्यान-पु० । न विद्यते प्रत्याख्यानमणुव्रतादिरूप येषु । स्या० ४ उ० १ उ० । न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यान येषामुदयात्तेऽप्रत्याख्यानाः । देशविरत्याचारकेषु कथा-येषु, यदज्जाणि-"नाल्पमप्युत्सहेयेषा, प्रत्याख्यान महोदयात् । अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो, द्वितीयेषु निवेशिता" ॥ १ ॥ ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । कल्प० । न० त० । मनागपि विरतिपरिणामानां, न० । प्रज्ञा० । प० स० ।

अप (प्य) च्चक्खाणकिरिया-अप्रत्याख्यानक्रिया-खी० । अप्रत्याख्यानेन निवृत्त्यभावेन क्रिया कर्मबन्धादिकरणमप्रत्याख्यानक्रिया । न० १ श० २ उ० । अप्रत्याख्यानजन्ये कर्मबन्धे, अप्रत्याख्यानमेव क्रिया । अप्रत्याख्यानक्रियाया अभावे, भ० १ श० ६ उ० ।

तद्भेदा-—

अपच्छक्खाणकिरिया दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-जी-वअपच्छक्खाणकिरिया चेव, अजीवअपच्छक्खाणकिरिया चेव ।

(जीवअपच्छक्खाणकिरिया चेव स्ति) जीवविषये प्रत्याख्यानभावेन यो बन्धादिव्यापारः सा जीवाप्रत्याख्यानक्रिया । तथा- (अजीवअपच्छक्खाणकिरिया चेव स्ति) यदज्जाणेषु मद्यादिष्वप्रत्याख्यानात् कर्मबन्धनं सा अजीवाप्रत्याख्यानक्रियेति । स्या० २ उ० १ उ० । आ० चू० ।

सा च अविरतस्य-

अपच्छक्खाणकिरिया ए भंते ! कस्स कज्जइ ? गोय-मा ! अन्नयरस्स वि अपच्छक्खाणिस्स ॥

अप्रत्याख्यानक्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्याननिः, अन्यतरदपि, न किञ्चिदपीत्यर्थः । यो न प्रत्याख्याति, तस्येति भावः । प्रज्ञा० २२ पद ।

समैव सा सर्वस्य-

जंते ! चि जगवं गोयमे समयं जगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वदइत्ता एमंनइत्ता एवं वयासी-से ण्णं भंते ! से-ट्टिस्म य तण्णस्म किणस्स खत्तियस्स य समा चेव अपच्छक्खाणकिरिया कज्जइ ? । इत्ता गोयमा ! सेट्टियस्म० जाव अपच्छक्खाणकिरिया कज्जइ । से केणट्ठेणं जंते ! ? गोयमा ! अविरइं पकुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एव बुच्चइ-सेट्टिस्स य तण्ण० जाव कज्जइ ॥

(भते ! इत्यादि) तत्र ' भते ! चि ' हे भदन्त ! इति, एवमाम-

न्येति शेषः । अथवा-भदन्त इति कृत्वा, गुरुविरतिरुत्तेत्यर्थः । (सेट्टिस्म स्ति) भीक्षवनाध्यासितसौम्यपट्टविनृपितशिशोरेष्ट-नोपेनपौरजननायकस्य [तण्णस्स स्ति] दरिद्रस्य [किणस्स स्ति] रक्षस्य [खत्तियस्स स्ति] राज्ञः [अपच्छक्खाणकिरिया स्ति] प्रत्याख्यानक्रियाया अभावोऽप्रत्याख्यानजन्यो वा कर्मबन्धः, [अविरइ स्ति] इच्छाया अनिवृत्तिः, सा हि सर्वेषां समैवेति । न० १ श० ५ उ० । " से नून भते ! हत्थिस्स य कु-युस्स य समा चेव अपच्छक्खाणकिरिया कज्जइ ? । इत्ता गोय-मा ! हत्थिस्स य कुयुस्स य० जाव कज्जइ । से केणट्ठेण एव बुच्चइ० जाव कज्जइ ? । गोयमा ! अविरइ पकुच्च से तेणट्ठेण० जाव कज्जइ " । म० ७ श० ८ उ० ।

अप (प्य) च्चक्खाणि (ण्)-अप्रत्याख्याननि-त्रि० । न० त० । अप्रत्याख्यातरि, अविरते यो न प्रत्याख्याति । प्रज्ञा० ७३ पद । म० । (के केऽप्रत्याख्याननि ? इति " पच्छक्खाण " शब्दे दर्शयिष्यते)

अप (प्य) च्चक्खाय-अप्रत्याख्यात-त्रि० । अकृतप्रत्याख्याने, भ० ८ श० ५ उ० ।

अप (प्य) च्चय-अप्रत्यय-पु० । अविश्वासे, नि० चू० १६ उ० । प्रत्ययानावरूपे चतुर्दिशगौणाहीके, प्रश्न० २ आश्न० द्वा० । सप्तदशे गौणादृत्तादाने च, तस्य अप्रत्ययकारणत्वात् । प्रश्न० ३ आश्न० द्वा० ।

अपचयकारण-अप्रत्ययकारक-त्रि० । विश्वासविनाशके, प्रश्न० २ आश्न० द्वा० ।

अपचल-अप्रत्यय-त्रि० । अयोग्ये, नि० चू० ११ उ० । असमर्थे, अनलोऽप्रत्यय, अयोग्य एकार्थः । नि० चू० ११ उ० । आ० ।

अपच्छाणुतावि (ण्)-अपश्चात्तापिन्-त्रि० । आलोचितेऽपराधे पश्चात्तापमकुर्वति निर्जरानागनि आलोचनादानयोग्ये, न० २५ श० ७ उ० । अपश्चात्तापी नाम य पश्चात्परितापं न करोति- ' हा ! दुष्टं कृतं मया यद् आलोचितमिदानीं प्राबुद्धिस्तत्प- कथं करिष्यामीति ? ' किन्त्वेवं मन्यते-कृतपुण्योऽहं यत्प्रायश्चित्तं प्रतिपन्नवानिति । न्य० १ उ० । स्या० ।

अपच्छायमाणा-अपच्छादयत्-त्रि० । प्रच्छादनमकुर्वति, " अ-णिणहवमाणा अपच्छायमाणा जहातुंयमघितदमसदिद पय-मदु भाइक्खवइ " ज्ञा० १ अ० ।

अपच्छिम-अपश्चिम-त्रि० । न विद्यते पश्चिमोऽस्मादित्यपश्चिमः । सर्वान्तिमं, " तित्थयराणं अपच्छिमे जयइ " न० । चरमे मरणे, कल्प० । आ० । आ० म० । अकारस्त्वमङ्गलपरिहारा-र्थः । पश्चात्कालनाविनि, स० । " अपच्छिमे दरिद्रेण [मेघकुमारस्य] जविस्सइ स्ति कटु " अकारस्यामङ्गलपरिहारार्थत्वात्, पश्चिमं दर्शनं भविष्यति एतत्केशदर्शनमपनीतकेशावस्थस्य मेघकुमारस्य दर्शनं सर्वदर्शनं प्राश्नात्य भविष्यतीति भावः । अपवा न पश्चिममपश्चिमं पौन पुन्येन मेघकुमारस्य दर्शनमेतद्दर्शनेन प्राविष्यतीत्यर्थः । ज्ञा० १ अ० । भ० । प्र० । आ० क० ।

अपच्छिममारणंतियसंदेहणाभूमणा-अपश्चिममारणान्तिक-संलेखनाजोषणा-खी० । पश्चिमैवाऽमङ्गलपरिहारार्थमपश्चि-

मा.मरण प्राणत्यागलक्षणम्, इह यद्यदि प्रतिक्रममाधीचीमरणम-
स्ति तथापि न तद् गृह्यते, किं नहि ?, निवर्त्तितसर्वायुक्तक-
यलक्षणमिति । मरणमेवान्तो मरणान्तः, तत्र जथा मरणान्ति-
की, संक्षिप्यते कृशीक्रियतेऽनया शरीरकषायाद्रीति संलेखना,
तपोविशेषलक्षणा, तन् कर्मधारयान्नपश्चिममारणान्तिकसंले-
खना । तस्या जोषणा सेवा, अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजो-
षणा । मरणकाक्षे संलेखनानास्मा तपसा शरीरस्य कषायादी-
नां च कृशीकरणे, ज० ७ श० २ उ० । कल्प० । स० ।

अपच्छिममारणंतियसंलेहणाभूषणाभूषित-अपश्चिममार-
णान्तिकसंलेखनाजोषणाजोषित [भूषित]-त्रि० । अपश्चिम-
मारणान्तिकसंलेखनाजोषणया जोषितः सेवितस्तथा । अप-
श्चिममारणान्तिकसंलेखनायुक्ते, अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना-
जोषणया भूषितः क्षपित इति । अपश्चिममारणान्तिकक्षपि
तद्वहे, स्था० २ ज० २ उ० ।

अपच्छिममारणंतियसंलेहणाभूषणाराधनता-अपश्चिममार-
णान्तिकसंलेखनाजोषणाराधनता-स्त्री० । अपश्चिममारणा-
न्तिकसंलेखनाजोषणाऽस्य आराधनमस्तद्वैकालकरणं तद्-
जावोऽपश्चिममारणान्तिकजोषणाराधनता । देशोत्तरगुणप्र-
त्याख्यानभेदे, " एतत् सामायादी आसेवियगिदधमेण किं
सावगेण पच्छा निक्खमियध्व, एवं सावगधस्मे उज्जमिओ हो-
इ न सकरुं तादे जत्तपच्चक्खणकाले सधारसमणेण होय-
ध्व ति विजासा अहोच " अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजो-
षणाराधना चातिचाररदिता सम्यक्पालनीयेति धाक्यशेषः ।
भाव० ६ अ० । औ० ।

अस्या भतिचाराः—

तयाणंतरं च णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाभूषणारा-
धनाए पंच अइयारा जाणियन्वा, न समायरियन्वा । तं
जहा-इहलोगासंसपपओगे १ परलोगासंसपपओगे २ जी-
वियासंसपपओगे ३ मरणासंसपपओगे ४ कामजोगासंसप-
पओगे ५ । उपा० १ अ० । आव० । कल्प० । थ० ।

('इहलोगासंसपपओगे' इत्यादिशब्दानां स्वस्वरूपान्ते व्याख्या
द्वितीयादिभागेषु कृष्टव्या)

अपज्जत्त-अपर्याप्त-त्रि० । परि-आप्-क । म० त० । असमर्थे,
असपूर्णे स्वकार्याऽकमे च । वाच० । अपर्याप्तयो विद्यन्ते यस्य
सोऽपर्याप्तः । "अस्त्रादिभ्यः" । ७।२।४६ । इति हैमसूत्रेणाप्रत्ययः ।
अपर्याप्तकर्मोदयेनानिर्वृत्ते, स्था० १ ज० १ उ० । तत्र द्वेधा अप-
र्याप्ता-लक्ष्या करणैश्च । तत्र ये अपर्याप्ता एव सन्तो भ्रियन्ते
न पुनः स्वयंग्यपर्याप्ताः सर्वा अपि समर्थयन्ति ते लक्ष्यपर्याप्ता,
ये च पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावद्विर्वर्तयन्ति,
अथ चाऽयद्वयं पुरस्ताद्विर्वर्तयिष्यन्ति ते करणपर्याप्ता । इह च
पथमागम-लक्ष्यपर्याप्ता अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्या-
प्तिपरिसमाप्तावेव भ्रियन्ते, नावाक् । यस्मादागामिजवायुर्ब-
ध्वा भ्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्या-
प्तानामेव बध्यत इति । कर्म० १ कर्म० ५० सं० न० । प्रश्न० । स० ।

अपज्जत्तग-अपर्याप्तक-पु० । " उविहा णेरइया पससा । तं
जहा-पज्जत्तगा चेव, अपज्जत्तगा चेव, आव वेमाणिया "
स्था० २ ज० २ उ० ।

अपज्जत्तणाम-अपर्याप्तनामन्-न० । अपर्याप्तयो विद्यन्ते
येषां ते अपर्याप्ता इति कृत्वा तन्निबन्धनं नाम अपर्याप्तनाम ।
यद्बुद्ध्याद् जन्तवः स्वयंग्यपर्याप्ति- (परि-समाप्ति) समर्थाः न
भवन्ति, तस्मिन्नामकर्मणि, कर्म० १ कर्म० । स० ।

अपज्जत्ति-अपर्याप्ति-स्त्री० । पर्याप्तिप्रतिपक्षेऽर्थे, जी० १
प्रति० ।

अपज्जज्वमिय-अपर्याप्तवसित-त्रि० । न० त० । अनन्ते, " एत-
त् णं सिक्का भगवतो साद्विया अपज्जज्वसिया चिच्छति " अपर्या-
प्तवसिता रागाद्यभावेन प्रतिपातासंभवात् । प्रज्ञा० २ पद ।

अपज्जुवासणा-अपर्याप्तना-स्त्री० । न० त० । असैवनाया-
म, ज्ञा० १३ अ० ।

अपज्जोसणा-अपर्याप्तवणा-स्त्री० । अप्राप्तायामतीतार्था वा
पर्याप्तवणायाम्, नि० चू० १० उ० ।

अपज्जविय-अप्रत्यापित-त्रि० । अकृतप्रस्थाने, " पुण्वएहमप-
चित्ते अववरएहे उचित्तसु य " नि० चू० ५ उ० ।

अप (प) ढिकम्म-अप्रतिकर्मन्-न० । प्रतिकर्मरहिते, " सु-
खागारे च अप्पमिकम्मे " प्रश्न० ५ सम्ब० ज्ञा० । शरीरप्रति-
क्रियावर्जपादपोषणमे, स्था० २ ज० ४ उ० ।

अप (प) ढिकंत-अप्रतिक्रान्त-त्रि० । दोषादनिवृत्ते, औ० ।

अप (प) ढिचक्क-अप्रतिचक्र-त्रि० । न विद्यते प्रति अनु-
रूप समान चक्र यस्य तदप्रतिचक्रम् । परचक्रैरसमाने, " अ-
प्पमिचक्कस्स अज्जो होइ सया सधचक्कस्स " अप्रतिचक्रस्य
चरकादि च तैरसमानस्य । न० ।

अपमिच्छिरो-देशी-जडमतौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अप (प) ढिष्ण-अप्रतिज्ञ-त्रि० । नास्य मयेदमसदपि समर्थ-
नीयमित्येवप्रतिज्ञा विद्यतेऽस्येत्यप्रतिज्ञ । रागद्वेषरहिते, " त-
त्तेणं अणुसिच्छते, अपमिच्छेण जाणया " सूत्र० १ भु० ३ अ० ३
उ० । आचा० । नाऽस्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाशसिनी वि-
द्यत इत्यप्रतिज्ञः । पेहिकामुष्मिकाकाङ्क्षाराहित्येन तपोऽनुष्ठा-
तरि, सूत्र० १ भु० १० अ० । "गंधेसु वा चदणमाहुं सेट्ट, एव मु-
णीण अपमिच्छमाहुं " सूत्र० १ भु० ६ अ० । न विद्यते प्रतिज्ञा
निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञ । सूत्र० १ भु० २ अ० २ उ० ।
अनिदाने, यो हि धसुदेववत्सुसयमानुष्ठानं कुर्वन् निदानं न क-
रोति प्रतिज्ञा च कषायोदयादाविरतिः । तद्यथा—क्रोधोदयात्
स्कन्दकाचार्येण स्थित्ययन्त्रपीडनव्यतिकरमवलोक्य सबलवा-
दनराजधानीममन्वितपुरोहितोपरि विनाशप्रतिज्ञा अकारि, त-
था—मानोदयाद् बाहुबलिना प्रतिज्ञा व्यधायि, यथा-कथमहं शि-
हन् स्वभ्रातृन् उत्पन्ननिरावरणज्ञानान् उवाच सन् प्रहयामीति,
तथा—मायोदयान्महिस्वामिजीवेन यथाऽपर्याप्तविप्रलम्भो भ-
वति तथा प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा अगृहे । तथा—लोभोदयाद्वाऽवि-
दितपरमार्थाः साम्प्रतेक्षिणो यत्याभासा मासक्षणादिका अपि
प्रतिज्ञाः कुर्वन्ते । आचा० १ भु० २ अ० ५ उ० । प्रतिज्ञारहिते,
आचा० १ भु० ६ अ० २ उ० । सूत्र० ।

अपमिप्पुष्ण-अप्रतिपूर्णे-त्रि० । गुणशून्यत्वादिभिस्तुच्छे इतरपु-
रुषाचीर्णत्वात् सद्वृणविरहास्तुच्छे, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अपमिपोगद्व-अप्रतिपुद्गल-न० । दारिरुधे, नि० चू० ५ उ० ।

अप (प) निवृज्जमान-अप्रतिवृध्यमान-त्रि० । कर्मकर्तृव्यय प्रयोग । स्वचिदपि प्रतिबन्धमकुर्वति, ध्य० २ उ० ।

अप (प) निवृद्ध-अप्रतिवृद्ध-त्रि० । प्रतिबन्धरहिते, अप्रतिवृद्धरहिते, प्रव० १०४ छा० । "अप्रतिवृद्धो अनलो व" प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । महा० । पञ्चा० । अप्रतिवृद्धितेऽनुपहते, षो० ६ विव० ।

अप (प) निवृद्धया अप्रतिवृद्धता-स्त्री० । मनसि निराजि-वृद्धतायाम्, नीरोगत्वे, उक्त० ३० अ० । तत्फलम्—

अपप्रतिवृद्धया एं जंते ! जीवे किं जणयइ ? । अप्रतिवृद्धया एं निससगतं जणयइ, निससगतं जीवे एगे एगगचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्रतिवृद्धे यावि विहरइ ।

अप्रतिवृद्धतया मनसि निरभिष्वङ्गतया निःसङ्गत्व बहिः सङ्गाभाव जनयति, निःसङ्गत्वेन जीव एको रागादिविकलतया नत एवैकाग्रचित्तो धर्मेकतानमना एकाग्रतानिबन्धकहेत्वभाव इति च रात्रौ वाऽसज्ज, कोऽर्थः ?—सर्वदा बहिः सङ्ग त्यजन् अप्रतिवृद्धापि विहरति । कोऽभिप्रायः ?—विशेषतः प्रतिबन्ध विकलो मासकल्पादिनोद्यतविहारेण पर्यटति । उक्त० २९ अ० ।

अप (प) निवृद्धविहार-अप्रतिवृद्धविहार-पु० । अप्रतिवृद्धस्य विहारोऽप्रतिवृद्धविहार । अव्यादिषु सर्वभावेषु अभिष्वङ्गरहितत्वेनैकत्राऽनवस्थाने, प्रव० । अप्रतिवृद्धस्य सदा सर्वकालमभिष्वङ्गरहित इत्यर्थः । गुरुपदेशेन हेतुभूतेन । कः ? इत्याह—सर्वजावेषु अव्यादिषु । तत्र अव्ये आवकादौ, क्षेत्रे निर्वातवसत्यादौ, काले शरदादौ, भावे शरीरोपचयादौ, अप्रतिवृद्धः । किमित्याह—मासादिविहारेण सिद्धान्तप्रसिद्धेन विहारेद्विहारं कुर्यात् । यथोचित सहननाद्यौचित्येन नियमादवश्यभाव इति । एतदुक्तं जवाति-अव्यादिप्रतिवृद्धः सुखानिप्सुनया तावदेकत्र न तिष्ठेत्, किं तर्हि, पुष्टालम्बनेन मासकल्पादिना, विहारोऽपि च द्रव्याद्यप्रतिवृद्धस्यैव सफलः । यदि पुनरमुक नगरादिकं गत्वा तत्र महर्षिकान् आवकानुपार्जयामि, तथा च करोमि, यथा मा विहायापरस्य ते जक्ता न भवन्तीत्यादिद्रव्यप्रतिबन्धेन, तथा-निघातवसत्यादिजनितरत्युत्पादकममुक क्षेत्रमिदं तु न तथाविधमित्यादि क्षेत्रप्रतिबन्धेन, तथा-परिपक्वसुरजिशाल्यादिमस्यदर्शनादिगमणीयोऽयं विहरता शरत्कालादिरित्यादिकालनिबन्धेन, तथा-स्निग्धमधुराद्याहारादिलाभेन तत्र गतस्य मम शरीरपुष्ट्यादिसुखं भविष्यत्यत्र न तत् सपद्यते । अपरं चैवमुद्यतविहारेण विहरन्तं मामेवोद्यतं सोका भाणिष्यन्त्यमुकं तु शिथिलमित्यादिजावप्रतिबन्धेन च मासकल्पादिना विहरति, नदाऽसौ विहागेऽपि कार्यासाधक एव । तस्मादवस्थानं विहारो वा अव्याद्यप्रतिवृद्धस्यैव साधक इति । प्रव० १०४ द्वा० ।

अप (प) निवृज्जमान-अप्रतिवृध्यमान-त्रि० । शब्दान्तगायनयधारयति, अ० ६ श० ३३ उ० ।

अप्रत्युद्गमान-त्रि० । वैराग्यमानसत्यादनपङ्क्तिमात्रमानसे, ज० ए श० ३३ उ० । ओ० ।

अप (प) नियार-अप्रतीकार-पु० । व्यसनापरित्राणे, पञ्चा० २ विव० । आचा० ।

अप (प) हिहव-अप्रतिरूप-त्रि० । अपगनुवृत्त्यात्मके वि-

नये, दश० ए अ० १ उ० ।

अप (प) निवृद्ध-अप्रतिवृद्ध-त्रि० । न० त० । असजाते, शा० १ अ० ।

अप (प) मिलच्छसम्पत्तरयणपटिलंज-अप्रतिलब्धमम्यक्त्व-रत्नप्रतिलम्भ-त्रि० । असजातविपुलकुलसमुद्भवे, शा० १ अ० ।

अप (प) दिलेस्स-अप्रतिलोश्य-त्रि० । अनुवमनोवृत्तिषु, "अप्यदिलेस्सासु सामणेरया दाता इणमेव एण्माथ पावयण पुराओ काउ निहरति" श्री० ।

अप (प) दिलेहण-अप्रत्युपेक्षण-न० । न प्रत्युपेक्षणमप्रत्युपेक्षणम् । गोचरापन्नस्य शय्यादेशक्षुषाऽनिरीक्षणे, आव० ६ अ० ।

अप (प) मिलेहणासील-अप्रतिहोस्वनाशील-त्रि० । दृष्ट्वा प्रमार्जनशीले, कल्प० ।

अप (प) दिलेहिय-अप्रतिलोसि-(प्रत्युपेक्ष) त-त्रि० । जीवरक्षार्थं चक्षुषाऽनिरीक्षिते, उपा० १ अ० ।

अप (प) मिलेहियदुप्पमिलेहियसिञ्चारपासवण्णूमि-अप्रत्युपेक्षितदुष्पत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवण्णूमि-स्त्री० । अप्रत्युपेक्षिता जीवरक्षार्थं चक्षुषा न निरीक्षिता दुष्पत्युपेक्षिताऽसम्यग् निरीक्षिता उच्चारः पुरीषः प्रश्रवणं भूत्रं तयोर्निमित्तं भूमि स्थण्डिलमप्रत्युपेक्षितदुष्पत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवणं भूमि । पोषधोपवासस्य तृतीयातिचारभेदे, उपा० १ अ० । ध० । आ० चू० ।

अप (प) मिलेहियदुप्पमिलेहियसिञ्चारपासवण्णूमि-अप्रत्युपेक्षितदुष्पत्युपेक्षितशय्यामंस्तारक-पु० । अप्रत्युपेक्षितो जीवरक्षार्थं चक्षुषान् निरीक्षित उद्भ्रान्तचेतोवृत्तितयाऽसम्यग् निरीक्षितः शय्या शयनं तदर्थं सस्तारकः । कुशकम्बलफलकादि शय्यासस्तारकः । तत् पदत्रयस्य कर्मधारयं भवत्यप्रत्युपेक्षितदुष्पत्युपेक्षितशय्यासस्तारकः । पोषधोपवासस्य प्रथमातिचारभेदे, अतिचारत्वं चास्य उपभोगस्यातिचारहेतुत्वात् । उपा० १ अ० । आ० चू० । पञ्चा० ।

अप (प) दिलेहियपण्ण-अप्रतिहोस्वितपञ्चक-न० । तृ० स्त्री १ आलिङ्गनिका २ मस्तकोपधानं ३ गल्लमसूरिका ४ आसनक्रिया ५ पञ्चके, जीत० ।

अप (प) निवृज्जमान-अप्रतिवृध्यमान-स्त्री० । आनुकूल्ये, अ० २५ श० ७ उ० । स्वा० ।

अप (प) निवाड(ए)-अप्रतिपातिन्-त्रि० । प्रतिपतनशीलप्रतिपाति, न प्रतिपाति अप्रतिपाति । सदाऽवस्थायिनि, न० । अनुप-रतस्वभावे, ध० ३ अधि० । आमरणान्तभाविनि, आ० म० प्र० । आकेवलतोत्पत्ते स्थिरे, कल्प० । स्था० । केवलज्ञानादवागं प्रशमनुपयाति अवधिज्ञानविशेषे, न० । विशेष० । आ० म० ।

से किं तं अपमिवाड्यं ओहिनाणं ? अपडिवाडि ओहिनाणं जेणं अलोमस्स एगमावि आगामएएमं जाणइ, पामड, तेणे परं अपडिवाडि ओहिनाण । सेत्त अपडिवाडि ओहिनाणं ॥६॥

(से किं नमित्यादि) अथ किं तदप्रतिपात्यवधिज्ञानम् ? सति-

राह-अप्रतिपात्यवधिज्ञान, येनावधिज्ञानेनालोकस्य सवन्धि-
नमेकमप्याकाशप्रदेशम्, आस्ता बहूनाकाशप्रदेशानित्यापि श-
ब्दार्थः । पश्येत् । एतच्च सामर्थ्यमात्रमुपवर्णने नत्वलोके कि-
ञ्चिदप्यवधिज्ञानस्य द्रष्टव्यमस्ति; एतच्च प्राग्वक्तम् । नत आ-
रभ्याऽऽप्रतिपत्त्या केवलप्राप्तेरवधिज्ञानम् । अयमत्र भावार्थः-
एतावति क्षयोपशमे सप्राप्ते सत्यान्मा विनिहितप्रधानप्रतिपत्त-
योधसघातनरर्पातिरिव न भूय कर्मशत्रुणा परिभूयते, किन्तु
समासादिनैतावदालोकजयाप्रतिनिवृत्त शेषमपि कर्मशत्रु-
सघात विनिर्जित्य प्राप्नोति केवलराज्यश्रियमिति, तदेतदप्रति-
पात्यवधिज्ञानम् । तदेवमुक्ता षडप्यवधिज्ञानस्य भेदा ।

सम्प्रति रूपाद्यपेक्षयाऽवधिज्ञानस्य भेदान् चिन्तयति-

तं समासओ चउज्विहं पक्षत्तं । तं जहा-द्वओ, खेत्तओ,
काद्वओ, भावओ । तत्थ दव्वओ एं ओहिनाणी जह-
भेए अणताड रूविदव्वाडं जाणइ, पासइ । उक्कोसेण सव्वाडं
रूविदव्वाडं जाणइ, पासइ । खेत्तओ णं ओहिनाणी जह-
भेणं अगुल्लस्स असखिज्जड भागं जाणइ, पासइ । उक्को-
मेणं अमखिज्जाइ अलोणे लोगप्पमाणमित्ताइ खंकाड जा-
णइ, पासइ । काद्वओ ए ओहिनाणी जहभेए आवालि-
गाए असखिज्जड भागं जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं अमखि-
ज्जाओ उस्सप्पणीओ अवसप्पणीओ अईयमणागयं च
कालं जाणइ पासइ । भावओ ए ओहिनाणी जहभेणं
अणंते जावे जाणइ पामइ । उक्कोसेणं वि अणते भावे
जाणइ, पासइ । सव्वभावाणमणंतजार्गं जाणइ, पासइ ॥

“ओहीजवपच्चइओ, गुणपच्चइओ य वसिओ जुविहो ।

तस्स य बहू विगप्पा, दव्वे खेत्ते य काद्वे य ॥१॥

नेरइय-तित्त्यकारा, ओहिस्स बाहिरा हुंति ।

पासति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासति ” ॥ २ ॥

मेत्तं ओहिनाणं ॥ नं० ।

(टीकाचास्य ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १५१ पृष्ठे अवधि-
ज्ञानप्रकरणेन गतार्था सुगमा च नेहोपन्यस्तेति)

अप (प्य) निसङ्गीण-अप्रतिसंलीन-त्रि० । अकुशलेन्द्रि-
यकषायाद्यनिरोधके, स्था० ।

तस्य च त्राणि सूत्राणि-

चत्तारि अपमिमलीणा पप्पत्ता । तं जहा-कोहअपमिसं-
लीणे, माणअपमिसंलीणे, मायाअपमिसंलीणे, लोभ-
अपमिसंलीणे ॥

पुन.-

चत्तारि अपमिमलीणा पप्पत्ता । तं जहा-माणअपमिसं-
लीणे, वइअपमिसंलीणे, कायअपमिसंलीणे, इदिय-
अपमिसंलीणे ॥ स्था० ४ ठा० २ उ० ।

(टीका चास्य प्रतिसंलीनस्यैव भावनीया)

पत्र अपमिसंलीणा पप्पत्ता । तं जहा-सोईदियअपमि-

संलीणे, जाव फासिंदियअपमिसंलीणे । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अप (प्य) मिठुणेत्ता-अप्रतिश्रुत्य-अव्य० । प्रतिश्रवणमङ्क-
त्वेत्यर्थे, आव० ४ अ० ।

अपमिमेह-अप्रतिपेध-पु० । अनिवारणे, पञ्चा० ६ विष० ।

अपमिस्सावि (ण)--अप्रतिस्माविन-त्रि० । पायाणायामयभा-
जन न प्रतिस्त्वति । प्रतिस्त्वणरहिते, दश० ।

अप (प्य) मिहम-अप्रतिहृत्य-अव्य० । अर्पणमङ्कत्वेत्यर्थे, वृ० ३ उ० ।

अप (प्य) दिहणंत-अप्रतिगन्त-त्रि० । तद्वचनमधिकुट्टयति,
वृ० १ उ० ।

अप (प्य) मिहय-अप्रतिहन-त्रि० । अप्रतिघातरहिते अस्त्रगिरते,
ज्ञा० १६ अ० । कटकुट्टापघनादिभिरस्खलिते, स० १ सम० ।
अविसवावके, आ० १ भ० । केनापि अनिवारिते, उक्त० ११ अ० ।
अन्यैश्च लङ्कयितुमशक्ये, उक्त० ११ अ० ।

अप (प्य) मिहयगड-अप्रतिहतगति-त्रि० । अप्रतिहताविहारे,
“अपमिहयगडं गामे गामे य एगराय गगरे गगरे पचराय
दुज्जने य जिहदि” प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । सयमे गति प्रवृ-
त्तिर्न इत्येतेऽस्य कथञ्चिदिनि भावः । स्था० ६ ठा० ।

अप (प्य) मिहयपच्चखायप.वकम्म-अप्रतिहतप्रत्याख्यानपा-
पकर्मन्-त्रि० । प्रतिहन निराकृतमतीतकालकृत, निन्दादिकर-
णेन प्रत्याख्यात च वर्जितमनागतकालविषय पापकर्म प्राणानि-
पातादि येन स प्रतिहनप्रत्याख्यानपापकर्मा, तन्निषेधादप्रति-
हतप्रत्याख्यातपापकर्मा । अनिषिद्धात्तानागतपापकर्माणि, ज०
१ श० १ उ० ।

अप (प्य) मिहयवल-अप्रतिहतवल-त्रि० । अप्रतिहत केना-
प्यनिवारित बन्ध यस्य स अप्रतिहतवलः । (उक्त०) अप्रतिह-
तमन्यैश्च लङ्कयितुमशक्य बल सामर्थ्यमस्येति अप्रतिहतवलः ।
सदृजसामर्थ्यवति, उक्त० ११ अ० ।

अप (प्य) दिहयवरणाणदंमणधर-अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधर-
पु० । अप्रतिहने कटकुट्टादिभिरस्खलिते, अविसवावके वा । अत
एव क्वायिकत्वाद्वा वरे प्रधाने ज्ञानदर्शने केवलज्ञाख्ये विशेष-
सामान्यवाधात्मके धारयति यः स तथा । केवलज्ञानदर्शनोप-
पयुक्ते जिने, भ० १ श० १ उ० । स० । औ० ।

अप (प्य) मिहयसासण-अप्रतिहतशामन त्रि० । ६ व० । अस्त्र-
गिरताङ्के, “अपमिहयसासणे अ सेणधई” ज्ञा० १६ अ० ।

अप (प्य) मिहारय-अप्रतिहारक-पु० । न० । प्रत्यर्पणायोग्ये
शय्यासस्तारक, आचा० २ भु० २ अ० ३ उ० ।

अप (प्य) ट।कार-अप्रतिहार-त्रि० । स्तिकर्मादिरहिते, “किं ते
स।उरहताणहंखुदवेयणअपमीकारअमविजम्मणा णिअमड-
व्विग्गवासजगाण ” प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अप (प्य) रुप्पस-अप्रत्युत्पन्न त्रि० । अनागमिके प्रतिपत्त्यकुश-
ले, “अपकुप्पसो य तदि, कहेइ तद्विद्धितो अस्से ” । व्य० ६
उ० । नि० खू० ।

अपठम-अप्रथम-त्रि० । न० त० । प्रथमतार्थमरहिते अनादौ,

भ० १८ श० १ उ० । (जीवादिनामर्थानां प्रथमत्वादिविचारः 'पढम' शब्दे दर्शयिष्यते)

अपढमखगङ्-अप्रथमखगति-स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ , कर्म० ५ कर्म० ।

अपढमसमय-अप्रथमसमय-पुं० । द्वितीयादिके समये, स्था० २ उ० १ ।

अपढममयउववण्णग-अप्रथमसमयोपपन्नक-पुं० । भ० त० । प्रथमसमयोपपन्नव्यतिरिक्तेषु नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यन्तेषु, "खेरदया दुविहा पणस्ता । त जहा-पढमसमयोववण्णगा खेव, अपढमसमयोववण्णगा खेव जाव वेमाणिया" स्था० २ उ० १ ।

अपढमनमयउवसंतकसायवीररागसंजम-अप्रथमसमयोपशा-न्तकषाववीतरागसंयम-पुं० । क० स० । न प्रथम समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकषायवीतरागसंयमश्च तथा । उपशमश्रेणिप्रतिपन्नवीतरागसंयमभेदे, स्था० ५ उ० १ ।

अपढमसमयएगिंदिय-अप्रथमसमयैकेन्द्रिय-पुं० । प्रथमसमयैकेन्द्रियजिज्ञे, यस्यैकेन्द्रियस्यैकेन्द्रियत्वे प्रथमः समयो नास्ति । स्था० १० उ० १ ।

अपढमसमयकवीणकसायवीररागसंजम-अप्रथमसमयकीण-कशायीतरागसंयम-पुं० । न प्रथम समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकषायवीतरागसंयमश्च तथा । उपशमश्रेणिप्रतिपन्नवीतरागसंयमभेदे, स्था० ५ उ० १ ।

अपढमसमयसजोगिजवत्थ-अप्रथमसमयसयोगिभवस्थ-पुं० । अप्रथमो ह्यादिः समयो यस्य सयोगित्वे स तथा, स चासौ भवस्थश्चेति अप्रथमसमयसयोगिभवस्थः । सयोगिजवत्थ-भेदे, स्था० २ उ० १ उ० १ ।

अपढमसमयसिद्ध-अप्रथमसमयसिद्ध-पुं० । न प्रथमसमयसिद्धोऽप्रथमसमयसिद्धः । परम्परासिद्धविशेषणाप्रथमसमयवर्तिनि, सिद्धत्वसमयाद् द्वितीयसमयवर्तिनि सिद्धविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । आ० । स्था० ।

अपढमसमयसुहुमसंपरायसंजम-अप्रथमसमयसूहुमसंपरायसं-यम-पुं० । न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ सूहुमः किट्टीकृतः संपरायः कषायः संज्वलनलोभलक्षणो वेद्यमानो यस्मिन्स तथा । संपरायसंयमभेदे, स्था० ५ उ० १ ।

अपमविय-अप्रज्ञापित-त्रि० । प्रज्ञापनामप्रापिते, " सो य से-ज्जानगे अपमविओ पन्नविओ वा घरे भणाति " नि० चू० २ उ० १ ।

अपत्त-अपात्र-त्रि० । अयोग्ये, चू० १ उ० १ । अभाजने, नि० चू० १ ए उ० १ ।

अप्राप्त-त्रि० । पर्यायेणोपस्थापनाभूमिमताधिगते, घ० ३ अ-रि० । अनधिगते, व्य० ४ उ० १ । पि० । पूर्वमश्रुते, द्वा० १५ द्वा० १ ।

अपत्तज्ञान अपवज्ञान-त्रि० । न विद्यते पत्रजार्त पक्कोज्ज-घो येस्यान्नावपत्रज्ञानः । अज्ञानपक्कोज्जये पक्किजाते, " अहा दिवा पोत्तमपत्तज्ञान, सायाम्पणा पविउ मज्जमाण " सूत्र० १ श्रु० १४ अ० १॥

अपत्तजोवणा-अप्राप्तयौवना-स्त्री० । यौवनावस्थामप्राप्तायाम्, सा च गर्भे न धरति प्राय आद्यादशवर्षकादार्तवाभावात् । स्था० ५ उ० २ उ० १ ।

अपत्तजूमिग-(य)-अप्राप्तजूमिक-पुं० । न प्राप्ता भूमिका येन सोऽप्राप्तभूमिकः । दूरस्थत्वेनेष्टस्थानमप्राप्ते " ज्ञायणमादि अपत्तभूमिमा वारसओ जाव " (नि० चू०) " ज ज्ञो-यणमदीसु ठाणेसु जाव वारस ज्ञायणा ते सव्वे अपत्तभूमिया भवति " नि० चू० १० उ० १ ।

अपत्तविसय-अप्राप्तविषय-त्रि० । अप्राप्तोऽसंबद्धोऽस्तुतिष्ठो विषयो ग्राह्यवस्तुत्वे यस्य तदप्राप्तविषयलोचनम् । अप्राप्तकारिणि इन्द्रियजाते, " लोयणमपत्ताविसय, मणो व्व जमणुग-दाह सुणति " । विपा० १ ध्रु० २ अ० १ ।

अपत्तिय-अपात्रिक-त्रि० । अविद्यमानाधारे, भ० १६ श० ३ उ० १ । अप्रीतिका-स्त्री० । अप्रेम्णि, पञ्चा० ७ विव० १ ।

अपत्थ-अपथ्य-त्रि० । अहिते, " अपत्थ अंबग मुष्ठा, राया रज्जं तु दारप " उक्त० ७ अ० १ । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ विव० १॥

अप(प)त्थण-अप्रार्थन-न० । अनिलापस्याऽकरणे, उक्त० ३२ अ० १ ।

अप(प)त्थिय-अप्रार्थित-त्रि० । अमनोरथगोचरीकृते, ज० ३ वक्त्र० १ ।

अप(प)त्थियपत्थ(त्थिय)-अप्रार्थितप्रार्थक-त्रि० । अप्रार्थित केनाप्यमनोरथगोचरीकृत प्रस्तावान्मरण, तस्य प्रार्थकाऽन्नितायी । मरणार्थिनि, ज० ३ वक्त्र० १ । " कसण एस अप्पत्थियप-त्थप दुरतपतलक्खणे " भ० ३ श० २ उ० १ । उपा० ।

अपद(य)-अपद-न० । न० व० । वाहनवृक्षादौ, चरणहीने, परि-ग्रहे, आ० चू० ६ अ० १ । अष्टादशे सूत्रदोषभेदे, यत्र हि पद्यवन्धेऽन्यच्छन्दोऽधिकारेऽन्यच्छन्दोऽभिधानम्, यथाऽऽर्यापदेऽजि-धातव्ये वैताह।यमभिधाय्यात् । विशेषः । यत्र गाथावन्दे गीतिका-पदं वा नवासिकापदं वा क्रियते । चू० १ उ० १ । आ० म० । द्वाहिमाप्रवीजपूरकादौ वृक्ते, विशेषः । अनु० । न विद्यते पदमवस्थाविशेषो यस्य सोऽपदः । मुक्तात्मनि, " अपयस्स पय णत्थि " आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० १ ।

अपदंस-अपदंश-पुं० । पिच्छरुचि, नि० चू० १ उ० १ ।

अप(प)दुस्समाण-अप्रद्विष्यत्-त्रि० । प्रद्वेषमगच्छति, अस्त० ४ वर्गः ।

अपद्वंत-अपद्वत्-त्रि० । श्रियमाणत्वे, ज० २ श० १ उ० १ ।

अपप्यकारित्त-अप्राप्यकारित्व-न० । विषयदेश गत्वा कार्य-कारित्वे, न० । (नयनमनसोरप्राप्यकारित्वं द्वितीयभागस्य ५५७ पृष्ठे 'इदिय' शब्दे वक्ष्यते)

अप(प)दु-अप्रभु-पुं० । मृतकादौ, घ० ३ अधि० । ओघ०

अप(प)मज्जणसील-अप्रमार्जनशील-त्रि० । अप्रमार्ज-नशीले, कल्प० ।

अप(प)मज्जिता-अप्रमार्ज्य-अन्य० । प्रमार्जनामकृतेत्यर्थे, " पासाईसागारिये, अपमज्जिता वि सज्जमो होइ । त वेव पमज्जते, असागारिये सज्जमो होइ ॥ " प्रव० ६६ द्वा० १ ।

अप (प) मज्जिय-अप्रमार्जित-त्रि० । रजोहरणयस्त्राञ्जलादि-
नाऽविशोधिते, प्रव० ६ द्वा० ।

अप (प) मज्जियचारि(ण)-अप्रमार्जितचारिण-पु० । अप्रमा-
र्जिते, अवस्थाननिषीदनशयनादिकरणनिकेपोष्णारादिपरिष्ठापनं
च कुर्वति, "अपमज्जियचारीया वि प्रवद्, " इति षष्ठ्य समाधि-
स्थानम् । दशा० १ अ० । प्रअ० ।

अप (प) मज्जियदुष्पमज्जियउच्चारपासवणचूमि-अप्रमार्जित-
दुष्पमार्जितोच्चारप्रसवणचूमि-स्त्री० । पोषधोपवासस्याति-
चारभेदे, उपा० १ अ० । आच० ।

अप (प) मज्जियदुष्पमज्जियसिज्जासंथार-अप्रमार्जितदुष्पमा-
र्जितशय्यामंस्तार-पुं० । पोषधोपवासस्यातिचारे, इदं प्रमार्ज-
न शय्यादौ सेवनकाले चत्त्रोपान्तादिनेति दुष्पमविधिना प्रमार्ज-
न दुष्पमार्जनम् । आच० ६ अ० । उपा० ।

अप (प) मत्त-अप्रमत्त-त्रि० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः । यद्वा-नास्ति
प्रमत्तमस्येत्यप्रमत्तः । प० स० १ द्वा० । आच० । अज्ञानानि-
ष्टाविकथादिषु प्रमादरहिते, ग० २ अधि० । आ० । ते च
प्रायो जिनकल्पिक-परिहारविशुद्धिक-यथालन्दकल्पिक-प्रति-
माप्रतिपन्नाः, तेषां सनतोपयोगसम्भवात् । न० । स० । न वि-
द्यते प्रमत्त प्रमादो मद्यविषयकषायविकथाप्रमादाभ्यां यस्य ।
अप्रमादिनि, "अहो य राओ य अप्रमत्तेण इति " प्रअ०
५ सम्ब० द्वा० । निष्ठादिप्रमादरहिते, "अप्रमत्त समाहिण
उक्ताह " आच० १ अ० ९ अ० २ उ० । "अप्रमत्ते सया
परिक्रमेज्जा " आच० १ अ० ४ अ० १ उ० । "अप्रमत्ते जप
णिष " (दश०) । "सुस्सुसए आयसियमपमत्ते " (दश०)
प्रयत्नवति च । "अप्रमत्तो अहिंसओ " दश० १ अ० ।

अप (प) मत्तसंजय-अप्रमत्तसंयत-पु० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः,
नास्ति वा प्रमत्तमस्यासावप्रमत्तः, स चासौ सयतश्चाप्रमत्त-
सयतः । कर्म० ३ कर्म० । प्रव० । सर्वप्रमादरहिते सप्तमगुणस्था-
नकवर्तिनि, स० १४ सम० ।

स च-

अप्रमत्तो दुविहो-कसायअप्रमत्तो य, जोगअप्रमत्तो
य । तस्य कनायअप्रमत्तो दुविहो-खीणकसाओ, निगह-
परो य । एत्थ निगहपरेण अदिगारो कहं तस्म अप्प-
मत्तं भवति ? कोहोदयनिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा विफ-
लीकरणं, एव जाव लोभो ति । जोगअप्रमत्तो मणवयणका-
यजोगेहिं तिहिं व गुत्तो । अहवा अकुसलमणनिरोहो,
कुमलमणउदीरणं वा मणसो वा एगत्तीजावकरणं ।
एवं वइए वि, एव काए वि, तद्वा इंदिएसु सोइंदियविसय-
पयारनिराहो वा । सोइंदियविसयए तेसु वा अत्थेसु
रागदांसविणिग्गहो, एस अप्रमत्तो । आ० चु० ४ अ० ।

तस्य कावः-

अप्रमत्तमंजयस्स एं भंते ! अप्रमत्तसंजमे वट्टमाणस्स
सम्भावि यं अप्रमत्तकाकान्नओ केव चिरं होइ ? मंफिया !
१५०

एग जीव पडुच्च जहएणं अंतो मुहुत्तं उकोमेणं पुव्वकोटी
देसूणा णाणा जीवे पडुच्च मव्वच्छं; सेवं जंते ! जंते ! ति ।

(जहणेण अतो मुहुत्तं ति) किलाप्रमत्ताकायां वर्तमान-
स्यान्तर्मुहूर्तमध्ये मृत्युर्न भवतीति, चूर्णिकारमत तु प्रमत्तस-
यतवर्जः सर्वोऽपि सर्वविरतोऽप्रमत्त उच्यते, प्रमादाभावात् ।
स चोपशमश्रेणीं प्रतिपद्यमानो मुहूर्त्ताभ्यन्तरे काव कुर्वन् जघ-
न्यकाशो लज्ज्यन् इति, देशोनपूर्वकोटी तु केवलनिमाश्रित्येति ।
(नाणा जीवे पडुच्च मव्वच्छं) इत्युक्तम् । अथ सर्वाकाभावि-
भावान्तरप्ररूपणायाऽऽह-भते ! जंते ! ति इत्यादि । भ० ३ श० ३
उ० । पञ्चा० । न० ।

अप (प) मत्तसंजयगुणट्टाण-अप्रमत्तसंयतगुणस्थान-न० ।
सप्तमे गुणस्थानके, प्रव० १२४ द्वा० ।

अप (प) माण-अप्रमाण-न० । प्रमाणातिरिक्ते, वृ० ३३० । यदा
सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उक्तोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात् स्वादु
लोभेन अधिकमाहार करोति, तदाऽप्रमाणो द्वितीय आहारदोषः ।
उत्त० २४ भ० । ('प्रमाण' शब्देऽस्य विवृतिः) प्रामाण्यविरुद्धे, रत्ना० ।
प्रसङ्गायातमप्रामाण्यरूपमपि धर्मं प्रकटयन्ति-

तदितरस्वप्रामाण्यमिति ॥१॥

तस्मात्प्रमेयाव्यभिचारित्वादिनरत प्रमेयव्यभिचारित्वमप्रा-
माण्य प्रत्येयम् । प्रमेयव्यभिचारित्वं च ज्ञानस्य स्वव्यातिरिक्त-
प्राज्ञापेक्षैव लक्षणीयम्, स्वस्मिन् व्यभिचारस्यासन्नवात् ।
तेन सर्वे ज्ञान स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम् ।
बहिरर्थापेक्षया तु किञ्चित्प्रमाणम्, किञ्चित्प्रमाणाभासम् ।
रत्ना० १ परि० ।

अप (प) माणजोड (ण)-अप्रमाणभोजिन्-त्रि० । द्वात्रिंशत्-
कवलाधिकाहारजोक्तिरि, प्रअ० ३ सम्ब० द्वा० ॥

अप (प) माय-अप्रमाद-पु० । न प्रमादोऽप्रमादः । प्रमाद-
वर्जनलक्षणे षड्विंशयोगसंग्रहे, स० ३२ सम० ।

तत्र उदाहरणम्-

रायगिह मगहसुंदरि-मगहसिरी कुसुमसत्थपक्खेवो ।

परिहरिअ अप्रमत्ता, नट्टंगी अनर्वा चुक्का ॥ १ ॥

पुरे राजगृहेऽत्रासी-ज्जरासन्धो महानृप ।

गाथक्यौ तस्य मगध-सुदरीमगधश्रियौ ॥ १ ॥

चेन्नासौ स्यान्नुदैकाऽह, राजा च स्याद्वशे मम ।

मगधश्रीस्तनो दुष्टा, तस्या नाट्यस्य घासेर ॥ २ ॥

विषभाविनसौवर्ण-केसरायितसूचिनि ।

सचलितैः कर्णिकारैः, रङ्गोत्सङ्गमपूजयत् ॥ ३ ॥

अक्का मगधसुन्दर्या, चित्ताक्याभ्यूहते स तान् ।

किमेषु कर्णिकारेषु, न लीयन्ते मधुवता ? ॥ ४ ॥

सठोषाणि स्फुट पुष्पा-एयेतान्यत्र च चेदहम् ।

द्रव्ये योग्यानि नार्चाया, भावितानि विषण वा ॥ ५ ॥

प्राप्त्यता स्यान्मम तन-स्तुपायेन बांधव्ये ।

अत्रान्तरेऽवतीर्णा च, रङ्गे मगधसुन्दरी ॥ ६ ॥

मङ्गले गीयमानेऽक्का, प्रागायत्रीतिकामिमाम्- ।

पत्ते वसंतपासे, एआओ अपमोइअम्मि घुट्टम्मि ।

मूत्तूण कसिआरएँ, भमग सेवंनि चूअकुसुमाइं ॥ १ ॥

अवा गीतिमपूर्वां ता, अक्के मगधसुन्दर ।

कर्णिकाराणि दुष्टानि, नत्परीहारतस्तया ॥ ७ ॥
गीतं नृत्तं च साक्षेप, छत्रिना नाप्रमादतः ।
कर्णव्या साधुनाऽप्येव, सर्वदाऽप्यप्रमादिता ॥ ८ ॥
आ० क० । आव० । आ० चू० । प्र० । प्रमादाभावे, आचा०
१ श्रु० ५ अ० ४ उ० । अष्टसु स्थानेषु अप्रमादवतो भवितव्यम् ।
प्रमादो न कार्यः—

अदृहिं ठाणेहिं सम्मं सुंघमियव्वं जदयव्वं परकमियव्वं,
अस्सि च ए अद्वे नो पमाएव्वं जवड, असुयाणं धम्माणं सम्मं
सुणणयाए अञ्जुडेयव्वं, सुयाणं धम्माणं आंगिएहयाए
ओवहारणयाए अञ्जुडेयव्वं जवड, तवाण कम्माणं संज-
मेणं अकरणयाए अञ्जुडेयव्वं जवड, पोराणाणं कम्माणं
तवमा विगिचणयाए विनोहणत्ताए अञ्जुडेयव्वं जवड,
असगिहियपरिजणस्स संगिएहयाए अञ्जुडेयव्वं जवड,
सेहं आयागोयं गहणयाए अञ्जुडेयव्वं जवड, गिलाण-
स्स अगिन्नाए वेयावच्च करणयाए अञ्जुडेयव्वं भवड, सा-
हम्मियाण आहगरणसि उपपन्नेमि तस्य अणिसिओव-
स्सिए अपक्खगाह । मज्जत्यजावचूए कहणु साहम्मिया
अप्पसदा अप्पज्जा अप्पतुमतुमा उवसामणयाए अञ्जुडे-
यव्वं भवड ।

कण्ठ्यम् । नवरमष्टासु स्थानेषु वस्तुषु सम्यग्घटितव्यम्-अप्राप्तेषु
योगः कार्यः । यत्नितव्यम्-प्राप्तेषु तद्विधयोगार्थं यत्नः कार्यः । पगाक-
मितव्यम्-शक्तिक्रयेऽपि तत्पालने पराक्रम उत्साहातिरेको विधे-
यः । किं बहुना ? एतस्मिन्नष्टस्थानकलङ्कणे वक्ष्यमाणेऽर्थे न प्रमाद-
नीयम्-न प्रमादः कार्यो भवति । अश्रुनानामनाकर्णितानां धर्माणं
भुतभेदानां सम्यक् श्रवणनायै वाऽऽयुत्थातव्यमभ्युपगन्तव्यं ज-
वति । एव श्रुतानां ओवेन्द्रियविषयीकृतानामवग्रहणनायै मनो-
विषयीकरणतयोपधारणनायै अविच्युतिस्मृतिवासनाविषयी-
करणायेत्यर्थः । (विगिचणयाए स्ति) विवेचना निर्जरेत्य-
र्थः, तस्यै । अत एव आत्मनो विशुद्धिर्विशोधना, अकल-
ङ्कत्वम्; तस्यै इति । असगृहीतस्यानाश्रितस्य, परिजनस्य
शिष्यवर्गस्येति । (सेहं ति) विभक्तिपरिणामाच्छैक्य-
स्याजिनवप्रव्रजितस्य, (आयागोयं ति) आचार साधुस-
माचारस्तस्य गोचरो विषयो व्रतशृङ्गादिआचारगोचरः । अ-
थवा-आचारश्च ज्ञानादिविषय पञ्चधा, गोचरश्च जिज्ञा-
स्येत्याचारगोचरम् । इह विनक्तिविपरिणामाच्चाचारगोचर-
स्य ग्रहणतायां शिक्षणे शैक्यमाचारगोचर आहयितुमित्यर्थः ।
(अगिन्नाए स्ति) अज्ञान्या असंवेदनेत्यर्थः । वै-
यावृत्य प्रतीति शेषः । (अघिगरणसि स्ति) वि-
रोधे, तत्र साधर्मिकेषु निश्चित रागः, उपाश्रित द्वेषः । अथवा-नि-
श्चितमाहारादिलिप्सा, उपाश्रित शिष्यकुलाद्यपेक्षा । तद्वर्जितो य-
सोऽनिश्चितापाश्रितः । न पक्व शास्त्रबाधित गृह्णतीत्यपक्वग्राही ।
अत एव मध्यस्थजाव भूतः प्राप्नोति यः स तथा । स भवेदिति
शेषः । तेन च तथाभूतेन कथं नु केन प्रकारेण साधर्मिका-
साधवः ? अल्पशब्दा विगततराट्महाध्वनयः ; अल्पज्ज्वा विग-
नतथाविधप्रकीर्णवचनाः, अल्पतुमतुमा विगतक्रोधना वि-
कारविशेषाः जविष्यन्तीति प्रावयतोपशमनायाधिकरणस्या-
भ्युत्थातव्यं जवतीति । स्या० ८ उ० ।

किञ्च-

अणसपरमं नाणी, एो पमाए कयाऽ वि ।

आयगुत्ते सया धीरे, जायमायाए जावए ।

"अणएणपरम" इत्याद्यनुष्टुप् । न विद्यते अन्यः परमः प्रधा-
नोऽस्मादित्यनन्यपरमः सयम, तं ज्ञानी परमार्थवित् नो प्रमाद-
येत्, तस्य प्रमादः न कुर्यात्कदाचिदपि । यथा चाप्रमादवत्ता
भवति तथा दर्शयितुमाह-(आयगुत्ते इत्यादि) इन्द्रियनोद-
न्दियात्मना गुप्त आत्मगुप्तः । सदा सर्वकालम्, यात्रा सयम-
यात्रा, तस्या मात्रा यात्रामात्रा । मात्रा च-'अवाहारो ए सहे'
इत्यादि, तथाऽऽत्मानं यापयेद्, यथा विषयानुदीरणेन दीर्घका-
ल संयमाधारदेहप्रतिपादनं भवति तथा कुर्यात् । आचा० १
श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अपर च-

उदाहु वीरे अप्पमादो महामोहे अलं कुसलस्स पमा-
एणं संति मरणं संपेहाए जिउरधम्मं सपेहाए ॥

(उदाहु इत्यादि) उत्प्राचल्येन आदोक्तत्वात् । कोऽसौ ? वीरः,
अपगतससारभयः, नीर्थकृदित्यर्थः । किमुक्तत्वात् ? तदेव, पूर्वो-
क्तं वा दर्शयति-अप्रमादः कर्तव्यः । कः ? महामोहे अज्ञानमि-
ध्यक् एव महामोहकारणत्वात् महामोहः । तत्र, प्रमादवत्ता न
प्राप्यम् । आह-(अज्ञानमित्यादि) अज्ञं पर्याप्तम् । कस्य ? कुश-
स्य निपुणस्य-सूक्ष्मेक्षिणः । केनालम् ? मद्यविषयकपायनिष्ठा-
विकथारूपेण पञ्चविधेनापि प्रमादेन, यतः प्रमादो दुःखाभि-
गमनायोक्त इति स्थात् । किमात्मन्य प्रमादेनालम् ? इत्युच्यते ।
(सति इत्यादि) शमन शान्तिरशेषकर्मपगम, अतो मांश्च एव
शान्तिरिति । प्रियन्ते प्राणिनः पौनःपुन्येन यत्र चतुर्गतिके स-
सारे स मरणः ससारः । शान्तिश्च मरणश्च शांतिमरणं, समा-
हारद्वन्द्वः । तत्संप्रेक्ष्य पर्यालोच्य, प्रमादवतः ससारानुपरमस्तत्प-
रित्यागाच्च मोक्ष इत्येताद्विचार्येति हृदयम् । स चाकुशलः प्रे-
क्ष्य विषयकपायप्रमादः न विदध्यात् । अथ च शान्त्या उपश-
मेन मरणं मरणावधिः, यावत्सिद्धतो यत्फलं भवति तत्पर्यालो-
च्य प्रमादं न कुर्यादिति । किञ्च-(भिउर इत्यादि) प्रमादो हि
विषयाभिप्रेक्ष्यरूप शरीराधिष्ठानस्य च शरीरं भिउरधम्मं स्व-
त एव जिघ्रत इति । भिउर स एव धर्मः स्वभावो यस्य तद्भि-
दुरधम्मः । एतत्समीक्ष्य पर्यालोच्य प्रमादः न कुर्यादिति संबन्धः ।
आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । प्रमादवर्जनरूपाया ४६ गौणा-
हिसायाम्, प्र० १ स्रव० ४० । यत्नन्तिशये, प० व० १ का० ।
उपयोगपूर्वकरणक्रियायाम्, नि० चू० १ उ० ।

सर्वक्रियास्वप्रमाद इति चतुर्थं साधुक्षिप्त-

सुगइनिमित्तं चरणं, तं पुणं छायासंजमो चेव ।

सो पाक्षिणं न तीरं, विगहाऽपमायजुत्तेहिं ॥ ११० ॥

शोभना गतिः सुगतिः सिद्धिरेव, तस्या निमित्त कारणं, चर-
णं यतिधर्मः । तदुक्तम्-"नो अग्रहा वि सिद्धी, पाविज्जइ ज तओ
इमीए वि ॥ एसो चेव उवाओ, आरजावट्टमाणो उ" ॥ १ ॥

तथा-

"विगहिततरकारमा बाहुदपमै" प्रचरमं,

कथमपि जलराशिं धीधना लब्धयन्ति ।

न तु कथमपि सिद्धिं साध्यते शीलहीनैः,

इदयति यातिधर्मे चित्तमेवं विदित्वा" ॥ १ ॥ इति ।

तत्पुनश्चरणं चत्वार्यसंयमं पथ, पृथ्वीजलज्वलनपवनधनस्पाति-
वसकायजीवरक्षैव । किमुक्तं भवति? एतेषु चरुजीवनिकायेष्वेक-
मपि जीवनिकाय विराधयन् जगद्भर्तुराकाविक्षोपकारित्वाद्वा-
रित्री ससारपरिवर्द्धकश्च ।

तथाचाहुः प्रतिहतसकलसन्ध्यामोहतमिक्षाः श्रीधर्मदासगणि-
मिक्षा -

“सन्ध्यामोगे जह को-इ अमखो नरवहस्स चित्तुण ।
आणाहरणे पावह, वहवधण दव्वहरण वा ॥ १ ॥
तइ उक्कायमहव्वय-सव्वनिविच्छीठ गिण्हकण जई ।
एगमवि विराइतो, अमच्चरन्तो इणह वोहिं ॥ २ ॥
ठो इयवोही पच्छा, कयावरादाणुसरिसमियममिय ।
पुण वि ज्ञवोयहिपमिओ, अमह जरामरणहुग्गम्मि ॥ ३ ॥

किंच—

जजीवनिकायमह-व्वयाण परिपालणाइ जइधम्मो ।
जइ पुण ताई न रक्खइ, जणहि को नाम सो धम्मो? ॥ ४ ॥
जजीवनिकायद्या-विचज्जिओ नेव दिक्खिओ न गिही ।
जइधम्मोओ चुको, चुक्कइ गिहिदाणधम्मोओ” ॥५॥ इत्यादि ।
स पुन संयमः पालयितुं वर्कयितुं (न तीरइ स्ति) न शक्यते,
विकथा विरुद्धा-कथा राजकथाद्या रोहिणीकथायां सप्रपञ्च
प्ररूपिता ; आदिशब्दाद्विषयकथायादिपरिग्रह, तल्लक्षण प्रमा-
दो विकथादिप्रमाद-। तद्युक्तैः संयमः प्रतिपाद्यितुं न शक्यते ।
अतः सुसाधुनिरसौ न विधेय इति ।

प्रमादस्यैव विशेषतोऽप्रायहेतुनामाह—

पव्वज्जं विज्ज वि व, साहतो होइ जो पमाइल्लो ।

तस्स न सिज्जइ एस, करेइ गरुयं च अवयार ॥११॥

प्रवज्यां जिनदीक्षां विद्यामिव स्त्रीदेवताधिष्ठितामिव साध-
यन् जवति य- (पमाइल्लु स्ति) प्रमादवान् ‘आल्लिखल्लोहलाल-
कंत-मंतंचरमणा- मनो-” ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति (हैमसू-
त्रात्) वचनात् । तस्य प्रमादवतो न सिद्ध्यति-न फल-
दानाय सपद्यते, एषा पारमेश्वरी दीक्षा, विद्येव, चकारस्य
भिन्नक्रमत्वात् । करोति च गुरु महान्तमपकारमनर्थमिति ।
भावार्थः पुनरयम्—यथा अत्र प्रमादवत- साधकस्य विद्या
फलदा न भवति, प्रहसकमादिकमनर्थं च सपादयति, तथा
शीतलविहारिणो जिनदीक्षाऽपि न केवलं सुगतिसपत्तये
न भवति, किन्तु दुर्गतिदीर्घमवघ्नमणापायं च विदधाति,
आर्यमङ्गोरिव । उक्तं च—

“सीयलविहारओ खलु, भगवतासायणा-निओएण ।
तओ भवो सुदीहो, किलेसबहुलो जओ भणिय ॥ १ ॥

तित्थयरपवयणसुय, आयरिय गणहर महिद्धीयं ।

आसायता बहुसो, अण्णतससारिओ भणिओ” ॥२॥ स्ति ।

तस्मादप्रमादिना साधुना भवितव्यमिति । ध० २० । (आ-
र्यमङ्गकथा च ‘अज्जमगु’ शब्देऽस्मिन्नेव प्रागे २११ पृष्ठे
वर्णिता) सम्यक्त्वपराक्रमाख्ये एकोनत्रिंशे उत्तराध्ययने,
स० ३५ सम० ।

अप (प्य) मायपक्षिज्ञेहा-अप्रमादप्रत्युपेक्षणा-स्त्री० । य-
द्विधा अप्रमादेन प्रमादविपर्ययेण प्रत्युपेक्षणा अप्रमादप्रत्यु-

पेक्षणा । अप्रमादेन प्रत्युपेक्षायाम्, “छुव्विहा अप्पमायपडि-
लेहा पणत्ता । तज्जा-“अणच्चाविय अचलित, अणाणु-
बंधीममोसिं चैव । छु पुरिमा णव खोडा, पाणीपाणविसो-
हण।” ॥ स्था० ६ ठा० । (‘अणच्चाविय’ शब्दादीनां
व्याख्याऽस्मिन् भागे २८३ पृष्ठे ‘अणच्चाविय’ शब्द, तथा
च स्वस्वशब्देषु छुव्व्या)

अप (प्य) मायजावणा-अप्रमादजावना-स्त्री० । मद्यादि-
प्रमादानामनासेवने, आचा० २ श्रु० १५ अ० ।

अप (प्य) मायवुद्धिजणगतण-अप्रमादवृद्धिजनकत्व-न० ।
अप्रमत्ततत्प्रकर्षोत्पादकत्वे, पञ्चा० ५ विव० ।

अप (प्य) मायपडिमेवणा-अप्रमादप्रतिसेवना-स्त्री० । अप्रम-
त्तकल्पप्रतिसेवायान्, नि० चू० १ उ० ।

अप (प्य) मेय-अप्रमेय-त्रि० । न० त० । प्रमाणनापरिच्छे-
द्ये, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । “अणुतमप्पमेयमवियधम्मचावरत-
चक्कवट्ठी नमोत्थु ते अरहतो स्ति कट्टु बद्ध” अप्रमेय, तद्-
गुणानां परैरप्रमेयत्वात् । आ० म० प्र० । प्राकृतजनापरिच्छेद्ये
मोक्षे, ध० १ अधि० । अशरीरजीवस्वरूपस्य छुप्यस्थैरहं-
तुमशक्यत्वादिति । पा० ।

अपयमाण-अपचमान-पु० । न विद्यन्ते पचमाना- पाचका
यत्रासौ अपचमान । पाकक्रियानिर्वर्तकाऽसेविने, पचते इति
पचमान न पचमानोऽपचमान । पाकमकुर्यति, “ज मए इ-
मस्स धम्मस्स केवलपन्नस्स (इत्यादि) अपयमाणस्स
(इत्यादि) पचमहव्वयजुत्तस्स ” ध० ३ अधि० ।

अपया-अप्रजा-स्त्री० । अपत्यविकलायां स्त्रियाम्, वृ० १ उ० ।

अपर-अपर-पु० । न विद्यन्ते परः प्रधानोऽस्मादित्यपर ।
सयमे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । पूर्वोक्तादन्यस्मिन्, “अ-
परा णाम जा सा पुण्वि भणित्ता ततो जा अण्णा सा अपरा”
नि० चू० २० उ० ।

अपरक्रम-अपराक्रम-त्रि० । न विद्यन्ते पराक्रमः सामर्थ्यम-
स्मिन्नित्यपराक्रमम् । जह्वाबलपरिद्वीणे, आचा० १ श्रु० ८
अ० १ उ० ।

अपरक्रममरण-अपराक्रममरण-न० । न विद्यन्ते पराक्रम-
सामर्थ्यमस्मिन्नित्यपराक्रमम् । सामर्थ्ये नष्टे मरणे, किं तन्म-
रणम्?, तच्च यथा-जह्वाबलपरिद्वीणानामुदधिनाम्नामार्ग्यस-
मुद्राणामपराक्रम मरणमभूत् अयमादेशाद् दृष्टान्तो, वृद्ध-
वादादायात इति । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । (अस्मिन्ने-
व प्रागे २१६ पृष्ठे “अज्जसमुद्” शब्दे विशेषोऽस्य छुव्व्या)

अपरपरिगहिय-अपरपरिगृहीत-त्रि० । अनन्यस्वामिना परि-
गृहीते अव्याकृते, न परोऽपरस्तेन परिगृहीतमपरपरिगृहीतम् ।
द्वितीयैरपरैः साधुभिः परिगृहीते, “अव्वोगडेसु अपरपरिग-
हेसु अपरपरिगोडेसु” वृ० ३ उ० । / ‘उग्गह’ शब्दे द्वितीय-
भागे ७०८ पृष्ठ चतुर्विधा व्याख्याऽस्य वक्ष्यते)

अपराइत (य) -अपराजित-त्रि० । न० त० । पराजयमप्राप्ते,
वाच० । अन्यनाजिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । अपरिभूते, प्रश्न०
४ आश्र० द्वा० । द्वासप्ततितमं महाप्रहे, पु० । “दोअपराजिया

स्था० २ ग० ३ उ० । (पतन्सुत्र एवाऽयमुपलक्ष्यते । चन्द्रप्रज्ञौ धृतसप्रहगाथास्तु तु न दृश्यते) अपरेरन्यैरभ्युदयविघ्नहेतु-
भिर्गजिना अनभिपूना अपराजिता । उक्त० ३६ अ० । अनुस-
रोपपातिकदेवविशेषेषु, प्रज्ञा० १ पद । तद्विमाने च, जी० ३
प्रति० । स्था० । सप्तमे प्रतिवासुदेव, ती० १ कल्प० । जम्ब-
द्वीपस्य चतुर्थे, लवणममुद्रस्य धानकीर्णरुस्य पुष्करोद-
समुद्रस्य काशोदस्य समुद्रस्य च चारे, जी० ३ प्रति० ॥
(जम्बूद्वीपादिशब्देषु विवृतिरस्य द्रष्टव्या) श्रीश्रृंगमस्वामि-
ना त्रिषाष्टतमे पुत्रे, कल्प० । स्वनामख्याते चतुर्दशपूर्वधरे
भाचार्ये च, नन्दिनः । नन्दिमित्रः । अपराजित गोवर्धनो जह-
बाहुश्चेति पञ्च श्रुतकेर्वाहिनः । जै० ६० । मेरोरुत्तरे रुचकपर्व-
तस्य कूटभेदे, न० । स्था० ८ ग० ।

अपराज्ञा-अपराजिता-स्त्री० । महावत्साभिधानविजयक्षेत्रे
वर्तमाने पुरीयुग्मे, " दीअपराज्ञाओ " (स्था०) वप्रकाव-
तीविजयक्षेत्रे वर्तमाने पुरीयुगले च । " दी अपराज्ञाओ "
स्थ० २ ग० ३ उ० । अपराजिता राजधानी, वैश्रमणकूटो
नाम वक्रस्काराद्रिः । ज० ४ वक्र० । दशमगङ्गा, ज० ७ वक्र० ।
कल्प० । अञ्जनाक्षी, उत्तरदिक्स्थायी पुष्करिण्याम्, ती० ३ कल्प० ।
ही० । अङ्गारस्य मदाग्रहस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ग० २ उ० । ए-
व सर्वेषां प्रदादीना चतुर्थी अप्रमदीयी अपराजिता । जी० ३ प्रति० ।
रुचकवासिन्यामष्टम्या दिक्कुमारः । महत्तरिकायाम्, ज० ५ वक्र० ।
भा० म० । स्था० । आ० चू० । अष्टमवलदेववासुदेवयोर्मतरि,
आव० १ अ० । अष्टमतीर्थकरस्य निष्क्रमणशिचिकायाम्, स०
७२ सम० । अहिच्छन्नास्थे महौपधिप्रदे, ती० ७ कल्प० ।

अपरामृष्टविधेयम्-अपरामृष्टविधेयांश-न० । स्वनामख्याते
अनुमानदोषे, अपरामृष्टविधेयांश यथा । अनित्यशब्दः कृतक-
त्वादिति । अत्र हि शब्दस्यानित्यत्व साध्यः, प्राधान्यात् पृथ-
क्निर्देश्यम्, न तु समासे गुणानावकालुष्यकलङ्घितमिति । पृथक्-
निर्देशेऽपि पूर्वमनुवाद्यशब्दस्य निर्देशः शक्यतरः, समानाधि-
करणतायां तदनुविधेयस्यानित्यत्वस्याऽलक्षणास्पदस्य तस्य
विधातुमशक्यत्वात् । रत्ना० ८ परि० । ति० ।

अपरिआइतए-अपर्यादाय-अव्य० । अगृहीत्वैत्यर्थे, अ० २५
श० ७ उ० ।

अपरिआविय-अपरितापित-त्रि० । स्वतः परतो वाऽनुपजात-
कायमन परितापे, आव० ।

अपरिकम्प-अपरिकर्मन्-त्रि० । साधुनिमित्तमाक्षेपनादिपरि-
कर्मवर्जिते, प० व० ४ द्वा० । नि० चू० ।

अपरिक्रम-अपराक्रम-त्रि० । न० त० । पराक्रमरहिते, " तथ एं
तुम मेहाजुषे (इत्यादि) अत्यामे अबले अपरिक्रमे " अपरा-
क्रमो निष्पादितत्वफलाभिमानविशेषरहितत्वात्, अचङ्क्रमणतो
वा । ज्ञा० १ अ० ।

अपरिक्खदिह-अपरीक्ष्यदृष्ट-त्रि० । अविमृश्योक्ते, "अप-
रिक्खदिह ण हु एव सिद्धा" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अपरिक्खिय-अपरीक्षित-त्रि० । अकृतपरीक्षे उपस्थापनायोग्ये,
घ० ३ अधि० । "अपरिक्खिओ माध्वए निसेवमाणे होति अपरि-
क्ख" घ० ३ अधि० । अपरिक्खिओ पुण्वद्धं अपरिक्खितु " अना-

लोच्य भायो हाजः प्राप्तिरित्यर्थः । व्ययो लब्धस्य प्रणाशः । ते च
आयव्वए अनालोचित परिसेवमाणस्स अपरिक्खपमिसेवणा
भवतीत्यर्थः । अपरिच्छ सित गत । नि० चू० १ उ० ।

अपरीक्ष्य-अव्य० । अनालोच्यैत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अपरिखेदितत्त-अपरिखेदितत्व-न० । अनायाससम्भवात्मके
चतुस्त्रिंशे बुद्धवचनातिशये, औ० ।

अपरिग्रह-अपरिग्रह-पुं० । न विद्यते धर्मोपकरणादृते शरी-
रोपजागाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो यस्य स तथा । प्रत्याख्यातप-
रिग्रहे साधौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । "अपरिग्रहा अणार-
जा, भिक्षू ताणं परिव्वए" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । आवा० ।
न विद्यते परिसमन्तात् सुखार्थं गृह्यत इति परिग्रहो यस्यासा-
धपरिग्रहः । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । घनादिरहिते, प्रश्न० ३
सम्ब० द्वा० ।

अपरिग्रहसंवृत-अपरिग्रहसंवृत-त्रि० । क० स० । घनादिर-
हिते इन्द्रियसवरेण च संवृते, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अपरिग्रहा-अपरिग्रहा-स्त्री० । न विद्यते परिग्रहः कस्यापि य-
स्याः साऽपरिग्रहा । इ० ६ उ० । साधारणस्त्वाम्, "अपरिग्रहा
णियाए, सेवगपुरिसो उ कोइ आलत्तो ।" व्य० २ उ० ।

अपरिग्रहिया-अपरिगृहीता-स्त्री० । वेद्यायामन्यसत्कायां गृही-
तभाटिकुलाङ्गनायाम्, अनाथायाम्, आ० । ध० २० । उक्त० ।
आव० । विधवायाम्, ध० २ अधि० । देवपुत्रिकायां, घटका-
स्यां च । " अपरिग्रहिया णाम जो मातादीहिं ण परिग्राहिया,
अग्निं कुलटा य सा । अग्ने पुण भणति-देवपुत्तिया घनवासी
वा-पयमादि, सो पुण भागीए वा अभागीए गच्छति, जो जानीए
गच्छति, तस्स जदि अण्णेण पदमं भागी दिओ सा ण बह-
ति परनियतस्स गतु, जा पुण अजानीए गच्छति, सा जइ
अग्नेण जणिओ-अज्ज अइ तुमए सम सुविस्सामि ; ताए य
पुच्छित्त तस्स ण व सित अतरादय काउ " आ० चू० ५ उ० ।

अपरिग्रहियागमण-अपरिगृहीतागमन-न० । अपरिगृही-
तायां गमनमपरिगृहीतागमनम् । अपरिगृहीतया सह मैथुन-
करणस्वरूपे अस्यदारसन्तोषाख्यचतुर्थांशमतातिचारजदे, अ-
तिचारताऽस्य अतिकमादिभिः । उपा० १ अ० । परदारत्वेन
कृत्वात् । ध० २० । आव० ।

अपरिचत्तकामजोग-अपरित्यक्तकामजोग-पुं० । न परित्यक्ताः
कामजोगा येन । गृहीतकामजोगे, कामौ च शब्दरूपे, भोगाश्च
गन्धरसस्पर्शाः, कामजोगाः । अथवा-कास्यन्त इति कामाः,
मनोहा इत्यर्थः । ते च ते लुज्यन्त इति भोगाश्च शब्दादय इति
कामजोगाः । न परित्यक्ता कामजोगा येन स तथा । स्था० २
ग० ४ उ० ।

अपरिच्छ-अपरीक्ष-त्रि० । पुक्तपरीक्षाधिकारे, व्य० १० उ० ।

अपरिच्छाण-अपरिच्छन्न-त्रि० । परिच्छुद्ररहिते, व्य० ३ उ० ।
परिवाररहिते, व्य० १ उ० ।

अपरिच्छय-अपरीक्षक-त्रि० । उत्सर्गापवादयोरायव्वयाव-
नालोच्य प्रतिसेवमाने, जीत० ।

अपरिणय—अपरिणत—त्रि० । न परिणतं रूपान्तरमापन्नमपरिणतम् । स्वरूपेणावस्थिते परिणाममप्राप्ते, यथा दुग्धं दुग्धजा-
य एवावस्थितं दधिभावमनापन्नमपरिणतम् । पि० । देयं द्रव्यं
मिथमचिन्तत्वेन परिणमनादपरिणतम् । ध० ३ अधि० । अप्रा-
प्तुकीभूते देयद्रव्ये, तद्दाने आपतति सप्तमे पक्षणादोषे च, न० ।
ध० ३ अधि० । प्रव० । अपरिणतमिति यद्देयं न सम्यगचिन्तीभूतं
दातृप्राप्तकयोर्वा न सम्यग्ज्ञावोपेतम् । आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।
यदा द्रव्येण अपरिणतमाहारं ज्ञावोनम, तमयोः पुरुषयोराहारं
वर्तते, तन्मध्ये एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति, एकस्य च
नास्ति, तदाहारमपरिणतदोषयुक्तं स्यात्, अपरिणतदोष—
आद्यः ।

तच्चापरिणतद्वारमाह—

अपरिणयं पि य दुर्विहं, दन्वे जावे य दुर्विहमिक्कं ।

दन्वमि होइ ठक्कं, भावमि य होइ सज्जलगा ॥

अपरिणतमपि चिन्तितं, तद्यथा—द्रव्ये द्रव्याविषयं, भावे जा-
यविषयं, द्रव्यरूपमपरिणतं, भावरूपमपरिणतं चेत्यर्थः । पुनर-
प्येकैकं दातृगृहीतृसंबन्धाद् द्विधा । तद्यथा—द्रव्यापरिणतं, दातृ-
सत्क च । एव जायापरिणतमपि ।

तद् द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह—

जीवचमि अविगए, अपरिणयं गए जीव दिहंतो ।

हुददहीइ अभठं, अपरिणयं परिणयं जठं ॥

जीवत्वे सचेतनत्वे अविगते अन्तर्गृहे पृथिवीकायादिकं द्रव्यम-
परिणतमुच्यते, गते तु जीवे परिणतम् । अत्र दृष्टान्तो दु-
ग्धवध्विनी । यथा हि-दुग्धत्वात्परिणतं दधिभावमापन्नमपरिणत-
मुच्यते, दुग्धजावे चाऽस्ति अपरिणतम्, एवं पृथिवीकायादिकमपि
स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वापरिणतमपरिणतमुच्यते । जी-
वेन च विप्रमुक्तं परिणतमिति । तच्च यदा दातुः सत्तायां वर्तते
तदा दातृसत्कम्, यदा तु गृहीतुः सत्तायां तदा गृहीतृसत्कमिति ॥

संप्रति दातृविषयं भावापरिणतमाह—

दुग्गमाईसामभे, जइ परिणमइ ठ तत्थ एगस्स ।

देमि चि न सेसाणं, अपरिणयं जावओ एयं ।

एव द्विकादिसामान्ये आत्रादिविकादिसाधारणे देयवस्तुनि य-
ैकस्य कस्यचिद् दवामीत्येवंभावः परिणमति, शेषाणामेतद्
प्रावतोऽपरिणतम्, न भावापेक्षया देयतया परिणतमित्यर्थः । अथ
साधारणानिसृष्टस्य दातृभावापरिणतस्य च कः परस्परं प्रति
विशेषः ? । उच्यते—साधारणानिसृष्ट दायकपरोक्षत्वे, दातृ-
जायापरिणत तु दायकसमक्षत्वे इति ।

संप्रति गृहीतृविषयं भावापरिणतमाह—

एगेण वा बि तेसिं, मसुमि परिणापियं न इयरेण ।

तं पि हु होइ अगेडमं, सज्जलगा सामि—साह वा ॥

एकेनापि केनचित् अग्रेतनेन पात्रात्त्येन वा पक्षणीयमिति मन-
सि परिणमति, न इतरेण द्वितीयेन, तदपि भावतोऽपरिणतम्—
पि कृत्वा साधूनामप्राप्तम्, शङ्कितत्वात्, कलहादिदोषसंभवाच्च ।
संप्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह—(सज्जल-
१५१

गेत्यादि) तत्र दातृविषय जायापरिणत आतृविषय स्वामिविषय
च । गृहीतृविषय जायापरिणत साधुविषयम् । उक्तमपरिणतद्वारम् ।
पि० । एतच्च साधूनामकल्प्यम्, शङ्कितत्वात्, कलहादिदोष-
संभवाच्च । ध० ३ प्रति० । ग० । “ अपरिणयं दन्वे मासलहु
चउलहु अह सट्टाणपच्छिन्त ” प० चू० (अपरिणतग्रहणनिषे-
धः ‘ पाणग ’ शब्दे वक्ष्यते)

अपरिणतफलौपधिग्रहणम्—

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव पविसमाणे से आगं-
तारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुद्वेसु वा परियाव-
सहेसु वा अस्सगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरजिगंधाणि
वा अगघाय से तत्थ आसायवडियाए मुच्छिए गिक्के ग-
टिए अज्जोववसे अहो ! गंधो अहो ! गंधो णो गंधमाघा-
एज्जा । से जिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव समाणे मेज्जं पु-
ण जाणेज्जा, माहुर्यं वा विरालियं वा सासवणालियं वा
अस्सतरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं
जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

(से जिक्खु वेत्यादि) (आगतारेसु वे सि) पक्षनाद् बहिर्गृहेषु
तेषु ह्यागत्यागत्य पथिकादयस्तिष्ठन्तीति । तथाऽऽरामगृहेषु वा
पर्यावसथेष्विति, भिक्षुकादिमठेषु चेत्येवमादिष्वन्नपानगन्धान्
सुरमीनाद्यां स भिक्षुस्तेष्वस्वादनप्रतिक्रिया मूर्च्छितोऽभ्युप-
पन्नः सन् अहो ! गन्धः, अहो ! गन्ध इत्येवमादरवान्न गन्ध जि-
घृक्षेदिति । पुनरप्याहारमधिकृत्याह—‘ से जिक्खु वेत्यादि ’ सुगमम् ।
साधुकमिति कण्डको जलजः । वेराहियमिति कन्द एव स्थ-
लजः । (सासवणालियं ति) सर्षपकन्दल्य इति ।

किञ्च—

से जिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं
पुण जाणेज्जा, पिप्पलं वा पिप्पल्लिचुसं वा मिरियं वा मि-
रियचुसं वा सिंगवेरं वा सिंगवेरचुसं वा अस्सतरं वा तह-
प्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं लाभे संते जाव
णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव पविट्ठे
समाणे सेज्जं पुण पल्लवगजातं जाणेज्जा । तं जहा-अंबपल्लवं
वा अंबादगपल्लवं वा तालपल्लवं वा किज्जिरिपल्लवं वा सु-
रभिपल्लवं वा सल्लइपल्लवं वा अस्सतरं वा तहप्पगारं पल्ल-
वजातं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव
लाभे संते नो पडिगाहेज्जा । से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव
पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण पवालजातं जाणेज्जा । तं जहा-आसो-
त्थपवालं वा एगोहपवालं वा पिलक्खुपवालं वा पीयूरप-
वालं वा सल्लइपवालं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं पवाल-
जायं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव
णो पडिगाहेज्जा । से जिक्खु वा भिक्खुणी वा
जाव समाणे सेज्जं पुण सरहुयजायं जाणेज्जा । तं
जहा-अंबसरहुयं वा कविट्ठसरहुयं वा दालिमसरहुयं वा
विट्ठमरहुयं वा अस्सयरं वा तहप्पगारं सरहुयजायं आमं

असत्यपरिणयं अफामुयं जाव णो पमिगाहेज्जा । मे जिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्ज पुण मधुजायं जाणेज्जा । तं जहा-उवग्मंथुं वा एण्णोहमंथु वा पिलक्खुमथु वा आसोत्थमथुं वा अण्णयर वा तह-प्पगार मधुजायं आमय दुरुक्क साणुवीय अफामुयं जाव णो पमिगाहेज्जा ।

‘ से भिक्खू वेत्यादि ’ स्पष्टम्, णवरं (मधुत्ति) चूर्णम् । (दुरुक्क नि) ईषत्पिष्टम् । (साणुवीय नि) अविध्वस्तयोनिबीजमिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, आमराग वा पूतिपिण्णगं वा महं वा मज्ज वा सप्पि वा खोलं वा पुराण एत्थ पाणा अण्णप्पसूया एत्थ पाणा जाया एत्थ पाणा संवुट्ठा एत्थ पाणा अबुक्कंता एत्थ पाणा अपरिणता एत्थ पाणा अविच्छत्या णो पमिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत् पुनरेव जानीयात्तद्यथा- (आमराग वेत्ति) आमपक्ष अरणिकतन्दुलीयकादि । तच्चार्द्धप-कमपक्ष वा, (पूतिपिण्णग नि) कुथितखट्वम् । मधुमये प्रतीते, सर्पिर्घृतम्, खालं मद्याध कर्दम, एतानि पुराणानि न ग्राह्या-णि । यत् एतेषु प्राणिनो अनुप्रसूता जाता, सवृक्षा, अज्युक्ता-न्नाः, अपरिणताः, अविध्वस्ता नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमेका-र्थिकान्यवैतानि, किञ्चिद्वैराद्या भेदः ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, उच्चुमेरुं वा अककरेलुयं वा कसेरुं वा ति-घारुं वा पूतिअलुगं वा अण्णयरं वा तहप्पगार आमगं असत्यपरिणयं जाव णो पमिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) (उच्चुमेरुं वेत्ति) अपनीनत्वगिधुग-पिण्डका (अककरेलुयं वेत्ति) एवमादीन्वनस्पतिविशेषान् जलजा-न् । अन्यद्वा तथाप्रकारमाममशस्त्रोपहतं नो प्रतिगृहीयादिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा, उप्प-खं वा उप्पन्नणालं वा निसं वा निसमणालं वा पोक्खलं वा पोक्खलविजाग वा अण्णयरं वा तहप्पगार जाव णो पमिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत् पुनरेव जानीयात्तद्यथा- उप्पल नौलोत्पलादि, नाद्य तस्यैवाधारः । भिस पञ्चकन्दमूल, भिसमणाल पञ्चकन्दोपखिनिनी हता, पोक्खल पञ्चकेसर, पो-क्खविभाग पञ्चकन्दः । अन्यद्वा तथाप्रकारमाममशस्त्रोपहतं नो प्रतिगृहीयादिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जा-णेज्जा, अग्वीयाणि वा मूलवीयाणि वा खंधवीयाणि वा पोरवीयाणि वा अमाजायाणि वा मूलजायाणि वा खंधजा-याणि वा पोरजायाणि वा एण्णय तक्कलित्त्यएण वा तक्क-लिसीमेण वा एण्णपरित्यएण वा खज्जूरमित्यएण वा ता-हमित्यएण वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमगं असत्यप-रिणयं जाव णो पमिगाहेज्जा ।

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरेव जानीयात्तद्यथा-अग-वीजानि जपाकुसुमादीनि, मूलवीजानि जायादीनि, स्कन्धवी-जानि शलक्यादीनि, पर्ववीजानि इह्वादीनि । तथा अग्रजा-तानि मूलजातानि स्कन्धजातानि पर्वजातानीति । (शंखत्थसि) नान्यस्मादग्रेदरानीयायत्र प्ररोहितानि, किन्तु तत्रैवाग्रादौ जा-तानि, तथा (तक्कलित्त्यएण वा) तक्कली णमित्त वाक्याद्वद्वारे । तन्मस्तक तन्मध्यवर्ती गर्भः । तथा कन्दलीशीर्षकन्दलीस्तच-कः । एव नालिकेरादेरपि छष्ट्यमिति । अथवा कन्दल्याविम-स्तकेन सदृशमन्यद्यच्छिन्नाऽन्तरमं व ध्वसमुपयाति, तत् तथाप्रकारमन्यदाममशस्त्रोपहतं न प्रतिगृहीयादिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, उच्चुं वा काणं अंगारियं सम्मिस्सं वियदूसितं वेत्तगं वा कन्दलीजसुयगं वा अण्णयरं वा तहप्पगार आमं असत्यपरिणयं जाव णो पमिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरेव जानीयात्, तद्यथा-इ-कुं वा (काणं ति) व्याधिविशेषात्सच्छिद्रं, तथा-अङ्गारिकं वि-वर्णीचूत, तथा-सम्मिस्स स्फुटितत्वक् (वियदूसितं ति) वृक्षैः शृ-गाद्वैर्वा ईषद्भक्तितं, न होतावता रम्भाद्युपद्रवेण तत्प्राप्तुकं प्रवृत्ती-ति सूत्रोपन्यासः । तथा वेत्तगं (कन्दलीजसुयगं वेत्ति) कन्दली-मध्यं तथाऽन्यदप्येवप्रकारमाममशस्त्रोपहतं न प्रतिगृहीयादिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जा-णेज्जा, लसुणं वा लसुणपत्तं वा लसुणणालं वा लसुणकं-दं वा लसुणचोयगं वा अण्णयरं वा तहप्पगार आमं असत्यपरिणयं जाव णो पमिगाहेज्जा ॥

लसुणसूत्रं सुगमम् । णवरं (चोयगं ति) कोशकाकारा लसुण-स्य बाह्यत्वकं । सा च यावत्साक्षात् तावत्ताद्विद्येति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, अत्थिअं वा कुंजिपकं तिण्डुगं वा वेत्तुयं वा प-लुगं वा कासवणादियं वा अण्णयरं वा आमं असत्यपरि-णयं जाव णो पमिगाहेज्जा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, कणं वा कणकुंदं वा कणपूयडिं वा चाउलं वा चाउलपिणं वा तिलं वा तिलपिणं वा तिलपप्पकं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव लाभे संते णो पमिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) (अत्थिअं ति) वृक्षाविशेषफलम् । (तैदुअं ति) टेम्बरुयम्, (बिलुअं ति) बिल्वः, (कासवणादियं) श्रीपर्णीफलं, कुंजीपकशब्दः प्रत्येकमजिसवध्यते । एतदुक्तं भ-वति-यद्दस्थकफलादि गर्तोदावप्राप्तपाककालमेव बलात्पाक-मानीयते तदाममपरिणतं न प्रतिगृहीयादिति (से इत्यादि) कणमिति शाल्यादेः कणिकास्तत्र कदाचिन्नाभिः सम्भवेत् । कणि-ककुण्ड कणिकाभिर्मिश्रा कुक्कुसा, (कणपूयलियं ति) क-णिकाभिः पूयलिका, अत्रापि मन्दपकादौ नास्ति सजाव्यते । शेषं सुगमम् । आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । स्वभाववर्णः, नि० चू० १७ उ० । रसरधिरादिधातुत्वेन परिणाममगते, पञ्चा० ३ वि० ।

अपरिणामग-अपरिणामक-पु० । न विद्यते परिणामो यद्-
कार्यपरिणमन यस्य स तथा । व्य० १ उ० । उत्सर्गैकरुचौ पुरुषे,
न० । जी० १ प्रति० ।

अपरिणामकमाह—

जो द्रव्यवित्तकयका-द्वजावओ जं जहा जिणक्खायं ।
त तह असइहंतं, जाण अपरिणामयं साहुं ॥

यो द्रव्यक्षेत्रकालजावकृत तद् न श्रद्धधाति त तथा अश्रद्धधत
जानीहि अपरिणामक साधुम् । वृ० १ उ० । प० व० ।
(' परिणाम ' शब्दव्याख्यानावसरे अतिपरिणामकस्यापि
व्याख्याऽन्यथावि, तत्रैवास्यापि शब्दस्य व्याख्या दृष्टान्तश्च
रूपव्य)

अपरिणिष्वाण-अपरिनिर्वाण-न० । परि समन्ताद् निर्वाण सु-
ख परिनिर्वाण, न परिनिर्वाणमपरिनिर्वाणम् । समन्तात् शरीर-
मनःपीडाकरे, " सर्व्वेसि सत्ताण असाय अपरिनिष्वाण
महम्मय दुक्ख " आचा० १ शु० १ अ० ६ उ० ।

अपरिष्पत्त-अपरिज्ञप्त-त्रि० । अज्ञापिते, कल्प० ।

अपरिष्ठाय-अपरिज्ञात-त्रि० । रूपरिक्त्या स्वरूपतोऽनवगते,
प्रत्याख्यानपरिज्ञाया चाप्रत्याख्याते, स्था० ५ ठा० २ उ० । आचा० ।

अपरितंत-अपरितान्त-त्रि० । अपरितान्ते परिश्रममगच्छति,
न० । प्रश्न० । प० भा० । 'अपरितन्तो सुसत्थ-तद्भुभणसु' प० चू० ।

अपरितंतजोगि (ए)-अपरितान्तयोगिन्-त्रि० । अपरिता-
न्तोऽविश्रान्तो योगः समाधिर्धर्मस्य सोऽपरितान्तयोग । स्वार्थि-
केभन्तत्वाच्चापरितान्तयोगी । अन्त० ७ वर्ग । अविश्रान्तसमा-
धौ, अष्ट० ३ वर्ग । अपरितान्ता अश्रान्ता योगा मनःप्रभृत्य स-
दनुष्ठानेषु यस्य स तथा, तत अपरिश्रान्तसयमे प्रयते, प्रश्न०
१ सम्ब० द्वा० ।

अपरितावणया-अपरितापनता-स्त्री० । शरीरपरितापानु-
त्पादने, म० ५ श० ए उ० । परितापानुत्पादने, ध० ३ अधि० ।
समन्ताच्छरीरसन्तापपरिहारे, पा० ।

अपरिताविय-अपरितापित-त्रि० । स्वतः परतो वाऽनुपजात-
कायमनःपरितापे, जी० ३ प्रति० ।

अपरित्त-अपरीत-पु० । न० त० । साधारणशरीरे, स्था० ३
ठा० २ उ० । अनन्तससारे वा जीवे, म० ६ श० ३ उ० ।

अपरित्ते दुविहे पप्पत्ते । तं जहा-कायअपरित्ते य, संसा-
रअपरित्ते य ॥

कायापरीतोऽनन्तकायिकः, ससारापरीत सम्यक्त्वादिनाऽ
कृतपरिमितससारः । प्रज्ञा० १८ पद । कायापरीत साधारण,
ससारापरीत कृष्णपाक्षिक । जी० २ प्रति० ।

तत्र—

संसारअपरित्ते दुविहे पणत्ते । तं जहा-अणादिए अ-
पज्जवसिए, अणाइए सपज्जवसिए ॥

ससारापरीतो द्विधा-अनाद्यपर्य्यवसितो यो न कदाचनापि
ससारव्यवच्छेदं करिष्यति, यस्तु करिष्यति सोऽनादिसपर्य्य-

वसितः । प्रज्ञा० १८ पद । अनादिकोऽपर्य्यवसितो येन जात-
चिदपि सिद्धिं गन्ता, अनादिको वा सपर्य्यवसितो भवविशेषः ।
जी० २ प्रति० । (कायापरीतादिव्याख्यान ' अतर ' शब्देऽ-
स्मिन्नेव भागे ७७ पृष्ठे दृश्यम्)

अपरिचूय-अपरिचूत-त्रि० । अपरिभवनीये, स्था० ७ ठा० ।

अपरिजोग-अपरिजोग-पु० । परिजोगमात्रे, स्था० ५ ठा० २
उ० । नि० चू० ।

अपरिमाण-अपरिमाण-त्रि० । न विद्यते परिमाण यस्य स
तथा । क्षेत्रतः कालतो वा इत्युत्तरहिते, " अपरिमाण वि आ-
णा, इहमेगसिमाहिय " सूत्र० १ शु० १ अ० ४ उ० । नि० चू० ।

अपरिमिय-अपरिमित-त्रि० । अपरिमाणे, न परिमितोऽपरि-
मित । अनु० । परिमाणरहिते, " अपरिमियमहिच्छकलुसम-
तिवाउधेगउद्धम्ममाण " अपरिमिता अपरिमाणा ये महेश्चा
बृहदभिज्ञाया अविरता लोकास्तेषां कलुषाऽविशुद्धा मतिः स-
एव वायुवेगस्तेन उत्पाद्यमान यत्तत्तथा । प्रश्न० ३ सम्ब०
द्वा० । आव० । "अपरिमियनाणदसणधरंहि" (तार्थकृद्भिः)
प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । वृ० । दर्श० । अनन्ते, औ० । वृद्धति,
"अपरिमिय च वसाणे, कव्व गज्जति नायव्व" दश० २ अ० ।

अपरिमियपरिगह-अपरिमितपरिग्रह-पु० । अपरिमितश्चा-
सौ परिग्रहण परिग्रह । परिमाणरहितपरिग्रहे, आव० ६ अ० ।
अपरिमियवन्न-अपरिमितवन्न-त्रि० । अपरिमित बल यस्य
सोऽपरिमितवन्नः । निर्विशेषवीर्यान्तरायक्यादनन्तबलशा-
लिनि, " तत्तो वल्ल वन्नभहा, अपरिमियवला जिणवरिदा "
विशे० । सूत्र० । " अपरिमियवन्नवारियजुत्ते " अपरिमितानि
बलादीनि, तैर्युक्तो य स तथा । उपा० २ अ० ।

अपरिमियमणंततएहा-अपरिमितानन्ततृष्णा-स्त्री० । अपरि-
माणरूपविषया अनन्ता वाऽक्या या तृष्णाऽविद्यमानरूप्याऽऽ-
येच्छा । अपरिमितवाञ्छायाम्, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अपरिमियसत्तजुत्त-अपरिमितमत्त्वयुक्त-त्रि० । अपरिमित-
मियत्तरहित यत्सत्त्व धृतिबल तेन युक्त । अपरिमितधैर्य्यं,
वृ० ३ उ० ।

अपरियत्तमाणा-अपरावर्तमाना-स्त्री० । न परावर्तमाना अप-
रावर्तमाना, प० स० ३ द्वा० । परावर्तमानप्रकृतिभिश्चासु कर्म-
प्रकृतिषु, प० स० ३ द्वा० । (मूलप्रकृतीनां बन्धादिप्रस्तावे
' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २९१ पृष्ठे दर्शयिष्यन्त एता)

अपरियाइत्ता-अपर्यादाय-अव्य० । परितः समन्तादगृहीत्वे-
त्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० । सामस्त्येनागृहीते, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अपरियाणित्ता-अपरिज्ञाय-अव्य० । रूपरिक्त्याऽज्ञात्वा प्रत्या-
ख्यानपरिज्ञाया चाप्रत्याख्यायेत्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अपरियार-अपरिचार-त्रि० । न० व० । प्रविचारणामैथुनोप-
सेवारहिते, अप्रविचारे, प्रज्ञा० ३४ पद ।

अपरिविदिय-अप्रतिपतित-त्रि० । स्थिरे, पञ्चा० ७ विव० ।

अपरिसा (स्मा) इ (वि) (ए)-अपरिस्त्राविम्-पुं० ।
परिस्त्रावितु शीलमस्य परिस्त्रावी । न परिस्त्रावी अपरिस्त्रावी ।
द्रव्यतः स्त्रावरहिते तुम्बकादौ, भावतः श्रुतार्थकरणकारकेऽ-
नुयोगदानयोग्ये, वृ० ।

एतत्स्वरूप सप्रतिपक्ष निक्षेपदृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वकमुच्यते—
अपरिस्त्राविद्वारमाह—

परिसाङ्ग अपरिसाङ्ग, द्रव्ये जावे य लोग-उत्तरिण ।
एकेको वि य दुविहो, अमच्च-चतुर्दुर्दिष्टो ॥

परिस्त्रावितु शीलमस्येति परिस्त्रावी, तद्विपरितोऽपरिस्त्रावी ।
उभावपि द्विविधौ-द्रव्ये, भावे च । तत्र द्रव्यत परिस्त्रावी घ-
टादिः, अपरिस्त्रावी तुम्बकादिः । भावतः परिस्त्रावी । एकै-
कोऽपि द्विविधः, तद्यथा- (लोग सि) लौकिकः । (उत्तरिण सि)
पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् लोकोत्तरिकः । तत्र लौकिके
भावतः परिस्त्राविणि अमात्यदृष्टान्तः ।

स चायम्—

“ एगो राया, तस्स कन्ना गद्दजस्स जारिसा, सो निच्च को-
लाए अमुक्कियाए अत्थइ । सो अन्नया अमच्चेण एगते
पुच्छिओ-किं तुम्हे जट्टारयपावा कोलाए आवट्टियाए अ-
च्चइ, न कस्सइ सीमं कन्ना य दुरिसेह ? । रत्ता सम्भावो कहि-
ओ, भणिय च-मा रइस्समन्नय काहिसि सि । तेण अगभीर-
याए त रइस्स अप्पहियासमाणेण अरुविं गतु रुक्खकोरुरे मुह
छोदुण्ण भणियं-गद्दजकन्नो राया । राया त रुक्ख अन्नेण केण-
इ तेणुं वादित्त कयं, जवियव्वयावसेण य त रण्णो पुरमो
पदमं वाइयंतवज्ज तं भणइ-गद्दजकन्नो राया । रन्ना अम-
च्चो पुच्छिओ-तुमे परं एयं रहस्स नाय, कस्स ते कहियं ? ।
अमच्चेण जहावत्तं सिट्ठ । एस होइओ अपरिस्सावी । लोवत्तरिओ
जो अप्पहियासमाणो पुच्छिओ वा अपुच्छिओ वा अपरिणयाण
अववायपयाणि कहेइ ” ।

ईदृशस्य परिस्त्राविणः सूत्रं यो ददाति तस्य चत्वारो लघवः ।
अर्थे ददाति तस्य चत्वारो गुरवः । यत एवं ततो अपरिस्त्राविणो
दातव्यम् । सोऽपि द्विधा-लौकिको, लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौ-
किके अपरिस्त्राविणि बहुक्याः दृष्टान्तः ।

स चायम्—

“ राया सिछी अमच्चो आरक्खिओ मूलदेवो य एकाए
पुरोहियजजाए वहुण्णीए अईवरुवंसिणीए अज्जोववन्ना । ताए
सव्वेसिं सकेअओ णितो, ते आगया दुवारे ठिया । ताए भन्नंति-
जइ महिलारहस्स जाणेह तो पविसइ । ते जणंति-ए जाणामो,
मूलदेवेण भणियं-अहं जाणामि । ताए भणियं-पविसइ सि, पमिहो
पुच्छिओ-किं महिलारहस्सं? तेण भणियं-मारिअतोहिं वि अन्नस्स
न कहेयव्व । “ त्वं विदग्धः कामुकः ” इति तुष्ठाए सव्वरसिं रमिओ ।
पजाए रत्ता पुच्छिओ मूलदेवो-किं महिलारहस्सं? मूलदेवो जणइ-
अहं एय उल्लाव पि न जाणामि । रण्णो अवलवइ सि बज्जो
आणुओ, तइ वि न कहेइ, ताहे धेअण्णीए आगतुं रन्नो पुरतो
कहिय-जहा एयं चेव महिलारहस्सं, जं सरीरच्चाए वि न क-
स्सइ मीसइ सि । एस होइओ अपरिस्सावी । लोवत्तरिओ पुण
जो तेअसुअस्स रहस्सियाणि अपवायपयाणि सुणिता उ-
ट्ठिओ, तओ जइ कोइ अपरिणओ पुच्छइ-किं एय कहिज्जइ ? ।
भणइ-वरणकरणं साहूणं वनिज्जइ ” । ईदृशस्यापरिस्त्राविणो
यदि सूत्रं न ददाति तदा चतुर्लघु । अर्थे न ददाति तदा चतुर्गुरु ।
३० १ उ० । स्वा० । परिस्त्रवति आस्त्रवति कर्म बन्नातीत्येवं शीलः
परीस्त्रावी, तन्निषेधादपरिस्त्रावी । अत्रान्वये निरुक्तयोगे, अ-
यं च पञ्चमः ज्ञातकभेदः । उत्तराध्ययनेषु त्वदेन जिनः केव-
लीत्ययं पञ्चमो भेद उक्तः, अपरिस्त्रावीति तु नाधीतम् । ३० २५

श० ६ उ० । स्वा० । न परिस्त्रवति नालोचकदोषानुपसृत्याऽ-
न्यस्मै प्रतिपादयति य एव शीलः सोऽपरिस्त्रावी । आलोचक-
दोषाऽप्रख्यापके आलोचनां प्रतीच्छके, “ जो अन्नयस्स उ
दोसे न कहेइ अपरिस्साई सो होइ ” स्वा० उ उ० । पञ्चा० ।
ध० । व्य० । यो न परिस्त्रवति परिकथितात्मगुणजलमित्येव
शीलोऽपरिस्त्रावी । आलोचनाभाभित्य आचाराङ्गोक्ततृतीयम-
ङ्गमुच्य इत्यर्थः । ३० १ अधि० ।

अपरिसाङ्गि-अपरिशाटि-पुं० । परिशाटिर्वाजिते, प्रश्न० १ आ-
भ० द्वा० । शय्यासस्तारके, नि० चू० २ उ० । फलकादिमये,
३० ३ उ० । अनवयवोद्गने च, “ अपरिसाङ्गि अक्कोवज्ज-
वणाणुलेवणभूयं ति ” भ० ७ श० १ उ० ।

अपरिसाङ्गिय-अपरिशाटित-त्रि० । परिशाटरहिते, उत्त०
१ अ० ।

अपरिसुप्प-अपरिशुप्प-त्रि० । सद्योपे, पञ्चा० ३ विव० । मयु-
क्तियुक्ते, भाव० ४ अ० ।

अपरिसेस-अपरिदोष-त्रि० । निःशेषे, प्रश्न० २ आभ० द्वा० ।

अपरिहारिय-अपरिहारिक-पुं० । न परिहारिकोऽपरिहारिकः ।
पार्थस्यावसन्नकुशीलसंसक्तयथाकृन्द्वरूपे, आचा० १ भु० १
अ० १ उ० । मूलोत्तरगुणदोषाणामपरिहारके, मूलोत्तरगुणानां
वाऽधारके, अन्यतीर्थिकगृहस्थे वा । नि० चू० २ उ० ।

अपरोवताव-अपरोपताप-पुं० । परपीडापरिहारिणि, प० सू० २ सू० ।
अपरोवतावि (न)-अपरोपतापिन् पु० । साधूनां वर्णवादि-
नि, प० चू० ।

अपलिअ-अपक्क-त्रि० । अग्निनाऽसंस्कृते, ध० २ अधि० ।

अपल्लिउंचमाण-अप्रतिकुञ्चयत्-त्रि० । अगोपयति, आचा० ३
भु० ५ अ० १ उ० ।

अपल्लिउंचि-अपरिकुञ्चिन्-त्रि० । अमायाविनि, व्य० १ उ० ।

अपल्लिउंचिय-अप्रति (परि) कुञ्च्य-त्रि० । न परिकु-
ञ्च्यमपरिकुञ्च्यम् । अकौटिल्ये, व्य० १ उ० ।

अप्रति (परि)-कुञ्च्य-अन्य० । मायामकृत्वेत्यर्थे, व्य० १
उ० । नि० चू० ।

अपलिच्छस-अपरिच्छस-त्रि० । परिच्छदरहिते, व्य० ३ उ० ।

अपल्लिमंथ-अपरिमन्य-पुं० । परिमन्यः स्वाध्यायादिकृतिस्तद-
भावोऽपरिमन्यः (उत्त०) स्वाध्यायादौ निरालस्ये, उत्त० २ अधि० ।

अप (प्प) लीण-अप्रलीन-त्रि० । असंबन्धे, सूत्र० १ भु०
१ अ० ।

अपवर्ग-अपवर्ग-पुं० । जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदतया सर्वैः दुःख-
प्रहाणलक्षणे मोक्षे, सूत्र० १ भु० १ अधि० । सथा० । “ तन्नावेऽप-
वर्ग इति ” तस्य रागादिक्रयस्य भावे सकललोकाभोक्तविलोक-
नशालिनोः केवलज्ञानदर्शनयोर्लब्धौ सत्यां निस्तीर्णमवर्ण-
वस्य सतो जन्तोरपवर्गे उक्ते निरुक्तं भवतीति । किं लक्षणं? ,
इत्याह- “ स आत्यन्तिको दुःखविगम इतीति ” सोऽपवर्गः ,
अत्यन्तं सकलदुःखशक्तिनिर्मूलनेन भवतीति आत्यन्तिको

अपवर्ग

दुःखविगमः । सर्वशरीरमानसागमविग्रहः सर्वजघलाकासा-
धारणानन्दानुभवश्चेति । ध० १ अधि० ।

अपवर्गवीथ-अपवर्गबीज-न० । मोक्षस्य कारणे, पं० ६ धिय० ।

अप (प) वृत्त-अपवर्तन-न० । अपवृत्ता, पञ्चा० ४ धिय० ।

अपवाय-अपवाद-पु० । द्वितीयपदे, नि० पृ० २० उ० ।

अप(प)विभ-अपवृत्त-त्रि० । तत्त्वतो व्यावृत्त, पञ्चा० १४ धिय० ।

अप (प) वृत्ति-अपवृत्ति-स्त्री० । गाढ मनोवाष्पायानामनघ-
तारे, ध० १ अधि० ।

अप (प) संमण्ड-अप्रशमनीय-त्रि० । साधुजनैः प्रशस्तं
कर्तुमयोग्ये, तं० ।

अप (प) सज्ज-अप्रसज-त्रि० । अप्रभूये, व्य० ७ उ० ।

अप (प) सज्जपुरिसाणुग-अप्रसजपुरिपानुग-त्रि० । प्र-
प्रभृष्टपुरिपानुसारिणः, (व्य०) "गणिणः । गुणसपञ्चाऽऽसज्जपुरि-
साणुगा ।" न्य० ३ उ० ।

अप (प) सत्य-अप्रशस्त-त्रि० । न० त० । अशोभने, "अ-
पसत्ये सज्जमे चयइ" भाव० ५ भ० । विशेष० । भ० । व्य० ।
अश्रेयसे, अनादेये, स्था० ३ उ० ३ उ० । बलवणोदिनिमित्त
प्रतिसेधिनि, व्य० १० उ० ।

अपसत्यस्तेष-अप्रशस्तक्षेत्र-न० । शरीरादिक्षेत्रे, नि० पृ० १० उ० ।

अपसत्यद्व-अप्रशस्तद्व-न० । अस्थ्यादां अशोभनद्वये,
नि० पृ० ११ उ० ।

अपसत्यक्षेप्सा-अप्रशस्तक्षेप्सा-स्त्री० । कृष्णनीलकापोता-
स्तु तिष्ठतु लेख्यास्तु, उ० ३४ भ० ।

अपसत्यविद्वगगतिनाम-अप्रशस्तविद्वगगतिनाम-न० । वि-
दायोगतिनामजदे, यदुदयात्पुनरप्रशस्ता गतिर्मवति, यथा सदि-
रादीनां तदप्रशस्तविदायोगतिनाम । कर्म० ६ कर्म० ।

अपसारिया-अपसारिका-स्त्री० । पटालिकायाम्, वृ० २ उ० ।

अपसु-अपशु-पुं० । न० भ० । द्विपदचतुष्पदादि (परिग्रह) र-
हिते, " समणे भविस्सामि अणगारे अर्किचण अपुत्ते अपसु
परदत्तजोगी " भाचा० ३ सु० ७ अ० १ उ० ॥

अपस्ममाण-अपश्यत्-त्रि० । अनीकमाणे. " अपस्समाणे प-
स्सामि, देवे अक्खे य गुज्जगे ।" स० ३० सम० ।

अपहिष्ठ-अप्रहृष्ट-त्रि० । अहसति, दश० ५ भ० १ उ० ।

अपहु-अप्रहु-पुं० । भृतकादौ, ध० ३ अधि० ।

अपहुवत-अप्रहुवत्-त्रि० । अप्रभाववति, व्य० १० उ० ।

अपाइया-अपात्रिका-स्त्री० । पात्ररहितायास् (निर्ग्रन्थ्यास्),
निर्ग्रन्थ्या पात्ररहितया न भवितव्यम्—

नो कप्पइ निगंथीए अपाइयाए हुंतए ।

ना कल्पते निर्ग्रन्थ्या अपात्रायाः पात्ररहिताया भवितुमिति
सूत्रार्थः ।

अथ नाप्यम्—

गोणे माणे व्व वने, ओभावण म्मिमाणा कुल्लधरे य ।

णासद्ध ग्वडय लज्जा, सुण्हाए हांति दिट्ठनो ॥

पात्रकमन्तरेण यत्र नत्र समुद्देशनीयम् । ततो लोको भूयाद् यथा-
गायत्रेण चारि प्राप्नोति तत्रैवाग्रेण चरति । यथा वा भवानो यत्रैव
सत्यमप्याहारलज्जेन तत्रैव निम्नपा लुङ्ग । एवमेता अपि गोभान-
सदृशो यत्रैव प्राप्नुयान्ति तत्रैव भुञ्जते । तथा शाक्यस्य पुरतः समु-
द्दिशन्ति-भद्रां । आभिर्गोप्रतः भवान्प्रतः या प्रतिपन्न, एव न प्रवृज्जना
भवति । (त्रिमणा कुलधरे य स्ति) तास्तथा लुङ्गाना दृष्ट्वा
तदीयकुलगृहे गथा लोका म्मिमां कुर्यात् । यथा युष्मद्भाषाया
द्विहितर स्नुया या या. पुत्रं चन्द्रसूर्यकिरणैरप्यस्पृष्टायास्ता
साम्प्रतः सर्वलोकपुङ्गवो गाव इव चरन्त्यो दिण्डुते । एवमुक्ते ते
पुत्रस्ता स्यगृहमागतयन्ति । 'नामदु अत्यर्थं च स्वादिन भक्षण
लोकस्य पुरतः सर्वसु कुर्यात्पु लोकां भूयान्-अदो ! बहुभक्ताऽ,
भस्तिस्त्रीणा च लज्जा विभूयण, मा चैतामां नास्तीति । अत्र च
लज्जायां स्नुया दृष्टान्तो भवति । स च द्विधा-प्रजस्तोऽप्रशस्तम् ।

प्रशस्तं नावदाह—

उच्चासणम्मि सुण्हा, ए णिमीयइ णावि नामए उच्च ।

णावि पणामं चुंजइ. गिएहइ वि य ए णाम अप्पाणं ॥

यथा-स्नुया यधूरुधरासने न निवीडति, नाप्येष मदता श-
ब्देन भावने, न च प्रकाशे नृभागे लुङ्गे, भाव्याय च नाम न
गृह्णाति न प्रकटयति, एव सयनीजिरपि भवितव्यम् ।

अप्रशस्तस्नुयादृष्टान्तः पुनरयम्—

अद्ववा महापथाणि, सुण्हा ससुरे य इक्केक्कस्स ।

दलमाणेण विणामं, दज्जानासेण पावन्ति ॥

अथवा प्रकारान्तरेण स्नुयादृष्टान्तः क्रियते-महापदानि वि-
कृतराणि पदानि, स्नुया इव गुरुरक्षैकैकस्य, परस्परं प्रयच्छन्तो,
यथा लज्जानाशेन विनाश प्राप्नुतः, तथा सयत्यपि निर्लज्जा
विनश्यतीत्यङ्कारार्थः । भावार्थस्त्वयम्-पणस्तः प्रिज्जाइयस्स भ-
ज्जाए मयाए पुत्तेण से अट्ठिया णिमायत्तिका ओगगनीया-
णि इयरेहिं सुण्हाससुरेहिं दासखिदाइय करेनेहिं निद्वज्जत्तण-
ओ निस्सेणिआ रुहिसा अतिघायपुव्वग विगिच्छतराइ पयाइ
हेतेहिं एक्कमेक्कस्स सागारिय पुरुणाय दो वि विणछाणि, एव
निद्वज्जए विणासो हुज्जा ।

द्वितीयपदमाह—

पायस्स वि तेणहिंए. भाभिण्णे बूढे व सावयभए वा ।

बोहिभए खित्ता इव, अपाज्या हुज्ज विइयए ॥

पात्रस्याभावे स्तेनकतया हते अग्निभावाद् ध्यामितं दकप्-
रेण किते पात्रे श्वापदजये बोधिकभये वा शीघ्रं पात्राणि परित्य-
ज्य नष्टा सती किमचित्ता वा, आग्निशब्दाद्यक्षाविष्टा वा अपा-
त्रिका पात्ररहिता द्वितीयपदे जवेत् । वृ० ५ उ० ।

अपात्रक-अपावृत्त-त्रि० । न विद्यते प्रावृत्त प्रावरण यस्ये-
त्यप्रावृत्तक । स्था० ५ उ० १ उ० । औपक्षिकाद्युपरितनोपक-
रणरहिते, वृ० ५ उ० ।

अपाणय-अपानक-वि० । जालवाजिते, ज० २ वक्र० । खतु-

विधादाररहिते, पञ्चा० १७ वि० ॥ “ लुपेण भस्तेण अपाण-
पण ” ज० २ वक्र० ॥ पानकसदृशेषु शीतलत्वेन दाहोपशमहे-
तुषु स्थालीपानकादिषु, गोशालकसम्मतपदार्थेषु च । भ० १५
श० १ उ० । (तत्प्रदर्शनं ‘गोसाहक’शब्दे करिष्यामि) पानकाहार-
वर्जिते, ज० ४ वक्र० । पानीयपानपरिहारवति, स्था० ६ उ० ।
एकान्तरोपवासे, ध० ३ अधि० ।

अपाय-अपाद-त्रि० । विशिष्टलुन्दोरचनायोगोत्पादवर्जिते,
दश० १ अ० । उक्त० ।

अपायच्छिन्न-अपादच्छिन्न-त्रि० । अच्छिन्नचरणे, नि० चू०
१४ उ० ।

अपार-अपार-त्रि० । अनन्ते, स० ।

अपारंगम-अपारङ्गम-त्रि० । पारस्तटः परकूल तद् गच्छती-
ति पारङ्गमः, न पारङ्गमोऽपारङ्गमः । पारगतोपदेशाभावाद-
पारंगमे, “अपारंगमा एष, ण य पारंगमित्तप” । एने कुनीर्थिका
दयः अपारङ्गमा इत्यादि । पारस्तटः परकूलं, तद् गच्छन्तीति पा-
रङ्गमाः, न पारङ्गमा अपारङ्गमाः, एत इति पूर्वोक्ताः । पारगतोप-
देशाभावादपारङ्गता इति भावनीयम् । न च ते पारगतोपदेश-
भूते पारङ्गमनायोद्यता अपि पार गन्तुमलम् । अथवा गमनं
गमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः । सूत्रे त्वनुस्वारोऽलान्त-
णिकः, न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपारगमाय । असमर्थस-
मासोऽयम् । तेनायमर्थः-पारगमनाय ते न भवन्तीत्युक्तं भ-
वति । ततश्चानन्तमपि संसारान्तर्धर्तित एवास्ते । यद्यपि पार-
गमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वत्रोपदेशविकलाः स्वरुचिवि-
रचितशास्त्रवृत्तयो नैव संसारपार गन्तुमलम् । आचा० १
भु० २ अ० ३ उ० ।

अपारग-अपारग-त्रि० । अतीर गामिनि, सूत्र० १ भु० ३ अ० ३ उ० ।

अपारमगो-देशी-विश्रामे, दे० ना० १ धर्मे ।

अपाव-अपाप-त्रि० । अपगताशेषकर्मकलङ्के, सूत्र० १ भु० १ अ०
३ उ० ।

अपावभाव-अपापत्ताव-त्रि० । लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्ध-
चित्ते, दश० ६ अ० १ उ० ।

अपावमाण-अपामुवत्-त्रि० । अनासादयति, ओष० ।

अपावय-अपापक-पुं० । शुचिचिन्तारूपे प्रशस्तमनोविनये, स्था०
७ ठा० । अपापवाकप्रवर्तनरूपे धाम्निनये, ज० २५ श० ७ उ० ।

अपावा-अपावा-स्त्री० । अपापापरनाम्न्यां पुच्याम, यत्र भीम-
दावीरः स्वामी निर्वृत्तः । स्था० ।

अपास-अपाश-पुं० । अबन्धने, आचा० १ भु० १ अ० ३ उ० ।

अपासत्यया-अपार्ष्वस्थता-स्त्री० । न पार्श्वस्थोऽपार्श्वस्थ-
स्तस्य भावस्तत्ता । पार्श्वस्थतापरिहारे, अनया चागमिष्यद्भ-
ताकारणानि कुर्वता आशसाप्रयोगो न विधेयः । स्था० १० ठा० ।

अपासित्वा-अदृष्टा-अन्य० । अनालोच्येत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अपि (वि)-अपि-अन्य० । सम्भावने, उक्त० ४ उ० । स्था० ।
वाढार्थे, रा० ।

अपिष्टणया-अपिष्टनता-स्त्री० । यष्ट्यादितामनपरिहारे, भ० ७
श० ६ उ० ।

अपिय-अप्रिय-त्रि० । अप्रीतिकरे, ज० ६ श० ३३ उ० । अप्रि-
यदर्शने, जी० १ प्रति० । अप्रीतिके, “अचियत्त ति वा अपिय-
त्त नि वा एगट्” व्य० २ उ० ।

अपिवणिज्जोदग-अपानीयोदक-पुं० । अपातव्यजले मेधे, ज०
७ श० ६ उ० ।

अपिसुण-अपिसुन-त्रि० । छेदनभेदनयोरकर्तरि, दश० ए अ०
३ उ० ।

अपीङ्कारग-अप्रीतिकारक-त्रि० । अमनोक्ते, स्था० ३ उ० १ उ० ।

अपीङ्गराहिय-अप्रीतिकरहित-त्रि० । अप्रीतिवर्जिते, पञ्चा०
७ वि० ।

अपीङ्गतर-अप्रीतितर-त्रि० । अमनोक्तरे, विपा० १ भु० १ अ० ।

अपीड(ल)णया-अपीडनता-स्त्री० । पादाद्यनवगाहने, पा० ७ अ० ।

अपीडिय-अपीडित-त्रि० । सयमतपःक्रियया आभवनिरोधा-
नशनादिरूपतया पीडयाऽदुःखिते, पं० सू० ४ सू० ।

अपुच्छिय-अपृष्ट-त्रि० । पृच्छामगते, “अपुच्छिओ न भासि-
ज्जा, नासमणस्स अंतरा । पिट्ठिमस्स न आइज्जा, मायामोसं
विवज्जए ॥” दश० ए अ० ।

अपुज्ज-अपूज्य-त्रि० । न० त० । अवन्दनीये, आव० ३ अ० ।

अपुट्ट-अपुष्ट-त्रि० । दुर्बले, वृ० ३ उ० । अपुष्कले, सूत्र० १
भु० १४ अ० ।

अपृष्ट-त्रि० । अङ्गीप्सिते, भ० ३ श० १ उ० ।

अपुष्टधम्म-अपुष्टधर्मन्-पुं० । अपुष्टोऽपुष्कलः सम्यगपरिज्ञातो
धर्मः श्रुतचारिभ्रातृयो दुर्गतिप्रसूतजन्तुघरणस्वभावो येनासाव-
पुष्टधर्मो । अगीतार्थे, “एवं तु खेहे वि अपुष्टधम्मे, धम्म न जा-
णाह भुज्जुक्कमाणे” सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थे, सूत्र० १ भु०
१४ अ० ।

अपुष्टसाधिय-अपृष्टसाधिक-पुं० । न पृष्टलान्तिकोऽपृष्टसाधि-
कः । हे साधो ! किं ते दीयते ? इत्यादिप्रश्नमन्तरेण भिक्षां लभ-
माने भिक्षाचरकभेदे, धर्मधर्मिणोरजेदोपचाराद् भिक्षाचर्यो
भेदे च । औ० ।

अपुष्टवागरण-अपृष्टव्याकरण-न० । अपृष्टे सति प्रतिपादने,
“एवं सर्व्वं अपुष्टवागरणं नेयत्वं” भ० ३ श० १ उ० ।

अपुष्टाद्वय-अपुष्टाद्वय-न० । अद्वैताद्वयकारणे, प्रव०
३ उ० ।

अपुणकरणसंगय-अपुनःकरणसंगत-त्रि० । पुनरिदं मिथ्याचर-
ण न करिष्यामीत्येव निश्चयान्विते, पञ्चा० ११ वि० ।

अपुणचचव-अपुनचचव-पुं० । न पुनश्च्यवनं व्यबोऽपुनश्च्यवः,
देवेभ्यश्च्युत्वा तिर्य्यगादिषूपत्यभावे, उक्त० ३ अ० ।

अपुणबन्धय-अपुनर्बन्धक-पुं० । न पुनरपि बन्धो मोदनीय-
कर्मोत्कृष्टलितबन्धन यस्य स अपुनर्बन्धकः । पञ्चा० ३ वि० ।
भावसारे चर्माधिकारिभेदे, यो० वि० । यस्तु तां तथैव रूप-
यन् प्रान्थिप्रदेशमागतः पुनर्न तां भङ्गयति नेत्यसि च प्रान्थि

सोऽपुनर्बन्धक उच्यते । “ पाव ण तिब्बजावा कुणइ ” इति वचनात् । ध० ३ अधि० ।

एतद्व्यकरणं यथा—

पावं ण तिब्बभावा, कुणइ ए बहुमन्त्रं भवं घोरं ।

उचिअट्टिं च सेवइ, सन्वत्थ वि अपुणवंधो चि ॥

पापमशुभं कर्म, तत्कारणत्वादिस्ताऽऽद्यपि पापम् । तद् नैव तीव्रजावाद् गाढमस्मिष्टपरिणामात्करोति । अत्यन्तोत्कट-मिथ्यात्यादिक्रयोपशमेन सन्धाऽऽत्मनैर्मल्यविशेषत्वात्तीव्रेति वि-शेषणादापन्नम्-अतीव्रभावात्करोत्यपि, तथाविधकर्मदोषात् । त-था न बहु मन्यते न बहुमानविषयीकरोति, प्रथं ससार, घोर रौद्रं, घोरत्वावगमात् । तथा-उचितस्थितिमनुरूपप्रतिपत्तिं, च शब्दं समुच्चये । सेवते भजते । कर्मसाधवात्सर्वत्रापि, आस्तामेक-त्र, देशकालावस्थापेक्षया समस्तेष्वपि देवातिथिमातापितृप्रभृ-तिषु मार्गानुसारितानिमुखत्वेन मयूरशिंशुहृष्टान्तादपुनर्बन्धकः, उक्तनिर्वचनो जीव इत्येवविधक्रियासिद्धौ भवतीत्यल प्रस-ङ्गेन । ध० १ अधि० । द्वा० ।

प्रकारान्तरेण—

जवाजिनन्दिदोषाणां, प्रतिपद्गुणैर्युतः ।

वर्द्धमानगुणप्रायो, अपुनर्बन्धको मतः ॥१७८॥

मघाभिनन्दिदोषाणां ‘कुष्ठो लोभरतिर्दीनो मत्सरी’ इत्यादिना प्रागेवोक्तानां, प्रतिपद्गुणैरनुव्रतानिलोभतादिभिर्युतो, वर्द्धमा-नगुणप्रायो वर्द्धमानाः शुक्लपद्मकपापतिमपरुलमिव प्रतिक्र-मुल्लसन्तो गुणा औदार्यदाक्षिण्यादयः, प्रायो बाहुल्येन यस्य स तथा । अपुनर्बन्धको धर्माधिकारी मतोऽभिप्रेतः ।

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात्, पूर्वसेवा यथोदिता ।

कल्याणाशययोगेन, शेषस्याप्युपचारतः ॥ १७९ ॥

अस्यापुनर्बन्धकस्यैषा प्रागुक्तमुख्यरूपा निरुपचारिता, स्याद्भ-वेत् । पूर्वसेवा देवादिपूजाकृपा, यथोदिता यत्प्रकारा निरूपिता प्राक् । कल्याणाशययोगेन मनाग् मुक्त्यनुकूलगुणभावसम्बन्धेन, शेषस्यापुनर्बन्धकापेक्षया विसङ्गणस्य सकृद्वन्धकादेः, उपचारत औपचारिकी पूर्वसेवा स्यात्, अद्यापि तथाविधभववैराग्या-भावात्स्य ॥१७९॥

इह केचिन्मार्गपतितमार्गाभिमुखावपि शेषशब्देनाहुः । तच्च न युज्यते, अपुनर्बन्धकावस्थाविशेषरूपत्वात्तयोरपुनर्बन्धकप्र-हणेनैव गतत्वात् । यतो ललितविस्तरायां मार्गलक्षणामित्यमु-कम्-इह मार्गस्तेतसोऽवक्रमनं, वृजक्रमनलिकाऽऽयामनुज्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवादी क्रयोपशमाविशेष इति । तत्र प्रविष्टो मार्गगतितः मार्गप्रवेशयोग्यभावापन्नो मार्गा-भिमुखः, एव च नैनापुनर्बन्धकावस्थायाः परपरतरावस्था-भाजौ वक्तुमुचितौ, जगवदाज्ञावगमयोग्यतया पञ्चसूत्रकवृत्ताव-मयोरुक्तत्वात् । यथोक्तं तत्र-इयं च भागवती सदाज्ञा सर्वेषा-ऽपुनर्बन्धकादिगम्या । अपुनर्बन्धकादयो ये सत्त्वा उत्कृष्टां क-मंस्थितिं तथाऽपुनर्बन्धकत्वेन कृपयन्ति ते खल्वपुनर्बन्धकाः । आदिशब्दान्मार्गापतितमार्गाभिमुखादयः परितृप्तान्ते, इदमप्रति-ज्ञावोचनादिगम्यल्लिङ्गा । एतद्वन्धयेव न ससाराभिनन्दिगम्येति । ससाराऽभिनन्दिनश्चापुनर्बन्धकप्रागवस्थानाजो जीवा इति ।

ननूपचारित वस्त्वेव न भवति, तत् कथमुपचारत शेषस्य पू-र्वसेवा स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

कृत्वास्या उपन्यासः, शेषापेक्षोऽपि कर्तव्यः ।

नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्या-दन्यथैतत्प्रदर्शकः ॥१८०॥

कृतञ्च कृतं पुनरिदं अस्याः पूर्वसेवाया उपन्यास प्रज्ञाप-नारूपं शेषापेक्षोऽपि अपुनर्बन्धकजावासन्नजीवानाश्रित्य, कार्यतो भाविनीं जावरूपां पूर्वसेवामपेक्ष्य नद्वलोदक पाद-रोग इत्यादिदृष्टान्तात् । यतः, न नैवाऽऽसन्नोऽपि समोपयत्यपि, जीवोऽस्यापुनर्बन्धकाभावस्य, किं पुनरयमेवेत्यपिशङ्क्यार्थः । वा-हुल्यात्प्रायेणान्यथाऽपुनर्बन्धाचारविलक्षणो घर्तते इत्येतस्या-र्थस्य प्रदर्शको व्यापकः । न हि मृत्पिण्डादिकारण कार्याद् घटादेर्बाहुल्येन धैलक्षण्यामनुभवद् दृश्यते, किन्तु कथञ्चित्-त्यरूपतामिति ।

इदमेवाधिकृत्याह—

शुद्ध्यन्तोके यथा रत्नं, जात्यं कान्चनमेव वा ।

गुणैः संयुज्यते चित्रैः-स्तद्गदात्माऽपि दृश्यताम् ॥१८१॥

बुद्ध्यन्बुद्धिमनुभवत् क्षारमृत्पुटपाकादिसंयोगेन, लोके व्य-वहारार्हजनमध्ये यथा रत्न पद्मरागादि, जात्यमकृत्रिम, का-ञ्चनमेव वा चामीकरं वा, गुणैः कान्त्यादिभिः, संयुज्यते स-न्निभ्यति, चित्रैर्नानाविधैस्तदुचितैः, तद्वद् रत्नकाञ्चनवत् आ-त्माऽपि जीवः बुद्ध्येत्, किं पुनरत्नकाञ्चने ? इत्यपिशङ्क्यार्थः । दृश्यताम्-ऊहापोहचक्षुराऽवलोक्यतामिति ।

अत्रैव मतान्तरमाह—

तत्प्रकृत्यैव शेषस्य, केचिदेनां प्रचक्षते ।

आलोचनाद्यजावेन, तथाऽज्ञाजोगसङ्गताम् ॥१८२॥

सा वक्ष्यमाणाविशेषणानुरूपा या प्रकृतिः स्वभावस्तथा शेषस्य सकृद्वन्धकादेः, केचित् शास्त्रकारा एनां पूर्वसेवां, प्रचक्षते व्या-कुर्वन्ते, न पुनः सर्वे । कीदृशीम् ? इत्याह— ‘आलोचनाद्यभावेन आलोचनस्योदस्य, आदिशब्दादपोहस्य, निर्णयस्य, मार्गविषय-स्याभावेन, तथाऽज्ञाभोगसगता, तथा तत्प्रकारः, कथञ्चिदपि भवस्वरूपाऽनिर्णायको योऽनाजोग उपयोगाभावस्तत्सगतां पूर्वकारणभावेनोपचारितत्वमुक्तमत्र चानाभोगद्वारेणेति ॥

एतदेव समर्थयमान आह—

युज्यते चैतद्गुणैः, तीव्रे मलविषे न यत् ।

तदावेगो भवांसङ्गः-स्तस्योच्चैर्विनिवर्तते ॥ १८३ ॥

युज्यते च घटते एतदप्यनन्तरोक्तं वस्तु, किं पुन परस्परोक्त-म ? इत्यपिशङ्क्यार्थः । एव यथा केचित्प्रचक्षते । अत्र हेतुः-तीव्रस्य-न्तमुत्कटे, मलविषे कर्मबन्धयोग्यतालक्षणे, न नैव, यद्यस्मात्, तदावेगो मलविषावेगः । किरूपः ? इत्याह-प्रवासङ्गः ससार-प्रतिबन्धः, तस्य शेषजीवस्य, उच्चैरत्यन्तं, विनिवर्तते, मनागपि हि तन्निवृत्तौ तस्यापुनर्बन्धकत्वमेव स्यात् इत्यौपचारिक्येऽपि शेषस्य पूर्वस्यैवेति स्थितम् ॥

अथ यां प्रकृतिमाश्रित्य पूर्वसेवा स्यात्तां, तद्विपर्यय चाऽऽह—

संक्षेपायोगतो न्यूनः, कल्याणाङ्गतया च यत् ।

तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया, तदन्या रूपचारतः ॥ १८४ ॥

सक्तेशाऽयोगतो भूय पुनरपि, तीव्रसक्तेशाऽयोगेन कल्याणा-
कृतया च उत्तरोत्तरभववैगम्यादिकल्याणनिमित्तभावेन वा ।
यद्यस्माद् वर्तते या सा तस्मात्तात्त्विकी वास्तवरूपा, प्रकृति-
स्वभावलक्षणा धर्माऽहंजीवस्य ज्ञेया, तदन्या तु तस्या भ-
न्या पुनः प्रकृतिरुपचारत उपचारितरूपा तारिक्कप्रकृति-
विज्ञकणत्वात्तस्याः ।

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु, व्यवहारः प्रवर्तते ।

ततश्चाधिकृतं वस्तु, नान्यथेति स्थितं तदः ॥ १८५ ॥

एना चैनामेव तात्त्विकी प्रकृति चाश्रित्यापेक्ष्य, शास्त्रेषु यो-
गप्रतिषेधेषु, व्यवहारः पूर्वसेवादि, प्रवर्तते प्रज्ञापनीयतामेति ।
ततश्च तस्मादेव हेतोरधिकृत पूर्वसेवालक्षणं वस्तु तात्त्विक,
नान्यथा पुनर्बन्धक व्यातिरिक्त्य इति स्थितं प्रतिष्ठितं, हि स्फु-
टम्, अद एतत् ।

तथा-

शान्तोदात्तत्वमत्रैव, शुद्धानुष्ठानसाधनम् ।

सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं, तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥ १८६ ॥

शान्तस्वभावविधेन्द्रियकपायविकारविकल, उदात्त उच्चो-
त्तराद्याचरणस्थितिबद्धचित्तं । ततः शान्तश्चासावुदात्तश्च
शान्तोदात्त, तस्य जावस्तरवम् । अत्रैव प्रोक्तप्रकृतौ सत्या, जा-
यते शुद्धाऽनुष्ठानसाधन निरवद्याचरणकारणम् । तथा-सूक्ष्म-
भावोहसंयुक्त बन्धमोक्षादिनिपुणभाषपर्यालोचनयुतम् । अत-
एव तत्त्वसंवेदनानुग तत्त्वसंवेदनसंज्ञितज्ञानविशेषसमन्वितम् ।

तत —

शान्तोदात्तः प्रकृत्येह, शुभजावाश्रयो मतः ।

धन्यो ज्ञोममुखस्येव, वित्ताढ्यो रूपवान् युवा ॥ १८७ ॥

शान्तोदात्त उक्तरूप, प्रकृत्या स्वभावेनेह जने, शुभभावाश्रयः
परिशुद्धचित्तपरिणामस्थान, मनो जन्तुः । अत्र दृष्टान्तमाह-
धन्य सौभाग्यादेयतादिना धनार्हो भोगसुखस्येव शब्दरूपरस-
गन्धस्पर्शसेवालक्षणस्य यथाऽऽश्रयः, वित्ताढ्यो विभवनायकः,
रूपवान् शुभशरीरसंस्थान, युवा तरुण पुमाद् ।

एतदेव व्यतिरेकत आह-

अनीदृशस्य च यथा, न भांगमुखमुत्तमम् ।

अशान्तादेस्तथा शुद्धं, नानुष्ठानं कदाचन ॥ १८८ ॥

अनीदृशस्य च धन्यादिविश्लेषणविकलस्य पुनर्यथा न भोमसु-
ख शब्दादिविषयानुभववृत्तक्रम, उत्तम प्रकृत्यम, अशान्तादेरशा-
न्तस्यानुदात्तस्य च । तथा भोगसुखवत्, शुद्ध निर्वाणावध्यबी-
जकल्प नानुष्ठानं देवपूजनादि, कदाचन कच्चिदपि काले ।

तर्हि किं स्यात्?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

मिथ्याविकल्परूपं नु, द्वयोर्द्वयमपि स्थितम् ।

स्ववृष्टिकल्पनाशिष्टि-निर्मितं न तु तत्त्वतः ॥ १८९ ॥

मिथ्याविकल्परूपं तु मरुमर्गाचिकादिषु मुग्धमृगादीनां जला-
दिप्रतिभासाकार, पुनर्द्वयोर्कल्पविवक्षणाभ्यामभिधामिकयोर्द्वय-
मपि भोमसुखानुष्ठानरूप, किं पुनरेकैकमित्यपिशब्दार्थः । स्थितं

प्रतिष्ठितम् । किमुक्तं जयति ?-स्ववृष्टिकल्पनाशिष्टिनिर्मितम् ।
स्ववृष्टिकल्पना स्वच्छन्दमतिधिकल्परूपा, सैव शिल्पी वैज्ञानि-
कस्तेन निर्मितं घटितम्, न तु न पुनस्तत्त्वतः परमार्थतस्त-
द्भोगसुख धर्मानुष्ठानं चेति ।

तद्भावनाऽर्थमाह-

भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं, दरिद्रायौवनस्थयोः ।

सुरूपरागाशङ्के च, कुरूपस्य स्वयोषिति ॥ १९० ॥

इह भोगाङ्गानि रूपादीनि । यदाह वात्स्यायनः-“रूपवयोवै-
चक्षण्यसौभाग्यमाधुर्यैश्वर्याणि भोगसाधनम्” इति । तत्रापि रूप-
वयोवित्ताढ्यत्वानि प्रधानानि । एतदेव त्रितयमपेक्ष्याऽऽह-
‘भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं’ भोगाङ्गानां रूपादीनां, शक्तिर्भोगासेव-
नलक्षणाया वैकल्यमज्ञाव, दरिद्रायौवनस्थयोर्दरिद्रस्य भोगा-
ङ्गविरहोऽयौवनस्थस्य त्वशक्तिरिति । सुरूपरागाशङ्के च सुरूपे
प्रोक्तुमारब्धे स्त्रीगने सुन्दरे संस्थाने रागोऽभिधेयान्तिरेकः,
आशङ्का च स्त्रीगतानुरागसंवेदरूपा तस्मिन्, ततः सुरूपरागाभा-
शङ्का च सुरूपरागाशङ्के, पुनः कुरूपस्य तु पुनः स्वयोषिति
स्वस्त्रियामिति ।

ततश्च-

अभिमानसुखाभावे, तथा क्रिष्टान्तरात्मनः ।

अपायशक्तियोगाच्च, नहीत्यं भोगिनः सुखम् ॥ १९१ ॥

अभिमानसुखाभावे अहं सुखीत्येव चित्तप्रतिपत्तिरुपलक्षण-
स्याभिमानसुखस्याभावे सति, तथेति विशेषणसमुच्चये । क्रिष्टा-
न्तरात्मनोऽपुन्यमाणेच्छत्वेन साध्याधचित्तम्यापायशक्तियोगाभा-
पायस्य निर्वाहशरीरव्यवच्छेदरूपस्य दरिद्रायौवनस्थयोः कुरूप-
स्य वा रुचिमत्स्त्रीकृतोच्चाटनादेर्यो शक्तियोग्यता, तस्या यो-
गात्संबन्धात्, च समुच्चये । किम्?, इत्याह-नहि नैवेत्यमनाद्य-
त्वादिविशिष्टस्य भोगिनः सुखं भोगज यद्विचक्षणैर्मृग्यत इति ।

यथा च तद्भोगसुखमनुष्ठानं च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन
स्यातां तथाऽऽह-

अतोऽन्यस्य तु धन्यादे-रिदमत्यन्तमुत्तमम् ।

यथा तथैव शान्तादेः, शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥ १९२ ॥

अतः प्रागुक्ताद्भोगिनः सकाशात्, अन्यस्य तु अन्यप्रकार-
भाजः, पुनः धन्यादेरुक्तरूपस्य भोगिन इह भोगसुखमत्यन्त-
मुत्तम, शेषभोगसुखानिशाधि यथा स्यात्तथैव, शान्तादेः शान्तो-
दात्तप्रकृतेरनुष्ठानं प्रस्तुतमित्यपीदमपि ज्ञेयम् ।

एव सति यत्स्यात्तदाह-

क्रोधाद्यबाधितः शान्तः, उदात्तस्तु महाशयः ।

शुभानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टमतिसंगतः ॥ १९३ ॥

क्रोधाद्यबाधितः शान्तः, उदात्तस्तु उदात्तः, पुनर्महाशयो
गाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन महाज्ञेता । शुभानुबन्धिपुण्याच्च पु-
ण्यानुबन्धिनः पुण्यात्सकाशात्पुनर्विशिष्टमतिसंगतो मार्गा-
नुसार्गप्रौढप्रज्ञानुगतः सन् ।

किमित्याह-

ऊहनेऽप्यमतः प्रायो, जववीजादिगोचरम् ।

कान्ताऽऽदिगतमेयाऽऽदि, तथा भोमीव सुन्दरम् ॥ १९४ ॥

ऊहते वितर्कयति, अयमपुनर्बन्धकः, अतो विशिष्टमनिसांगत्यात् प्रायो बहुल्येन । कथम् ? इत्याह-भववीजादिगोचर भववीज भवकारणम्; आदिशब्दाद्भवस्वरूप भवफल च गृह्यते । यथा-“एष ण अणाइजीवे अणाइजीवस्स भवे अणाइकम्म-सयोगनिव्वसिण दुक्खरुवे दुक्खफले दुक्खखणुवधिप्पि” ततो भववीजादिगोचरो यत्र तत्तथा, क्रियाविशेषणमेतत् । अथवा भववीजादिगोचरो विषय ऊहनीयतया भववीजादिगोचरस्तम् । अत्र दृष्टान्तः-कान्तादिगतगेयादि । कान्ता घट्टभा, आदिशब्दात्तद्व्यगयायनादिग्रहः । तत्र तत्प्रतिषेध यद् गेयं गीतम्, आदिशब्दादपरसादिशेषेन्द्रियविषयग्रहः । तथा तत्प्रकारो गेयादृष्टयोगो भोगी, स इव सुन्दर मनोहारीन्द्रियविषयस्थानमागतमिति । यथा विचक्षणो भोगी सुन्दर कान्तादिगतगेयादि ऊहते तथाऽप्य भववीजादिकमिति भावः ।

यथोहते तथैवाऽऽह-

प्रकृतेर्भेदयोगेन, नामपो नाम आत्मनः ।

हेत्वभेदादिदं चिरु, न्यायमुद्राऽनुसारतः ॥ १९५ ॥

प्रकृतेः परपरिकल्पितायाः सत्त्वरजस्तमोरूपाया, स्वप्रक्रियायाश्च ज्ञानावरणादिलक्षणायाः भेदयोगेनैकान्तेनैव भेदेनेत्यर्थः । न नैवासमो विसदृशो, नामः परिणामश्चेत्यन्वयश्चानोन्मीलनादिकः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यमानः, आत्मनो जीवस्य स्यात्, किन्तु सर्वजीवानां सर्वदैव सम एव प्राप्नोति । कुन ? इत्याह-हेत्वभेदात् । हेतोः प्रकृतिभेदलक्षणस्याभेदाद् नानात्वात् । नह्यभिन्ने हेतो कचिदपि फलभेद उपपद्यत इति कृत्वा इदमनेकान्तेनैव प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामवैसदृश्यासाक्ष्यलक्षणवस्तु चारु सगत वर्तते । कुन ? इत्याह-न्यायमुद्राऽनुसारतः, न्यायस्य मुद्रा कृतप्रयत्नैरपि परैरनुसङ्गनीयत्वाद् राजादिमुद्रावत्, तस्या अनुसारतोऽनुवर्तनात् । तथाहि-यदि प्रकृतिभेदे सत्यपि परिणामनानात्वमात्मन इष्यते, तदा मुक्तानामपि प्राप्नोति, ससारिणां मुक्तानामपि च प्रकृतिभेदाधिरोपात् ।

एवं च सर्वस्तद्योगा-दयमात्मा तथा तथा ।

भवे भवेदतः सर्व-प्राप्तिरस्याविरोधिनी ॥ १९६ ॥

एवं च प्रकृतिभेद आत्मन परिणामनानात्वसाङ्ग्ये सति पुन किं स्यादित्याह-सर्वः निरवशेषः, तद्योगात्प्रकृति सयोगात्कथञ्चिद्वैक्यापत्तिलक्षणात्, अयम्-अपुनर्बन्धकाद्यवस्थामाग्न आत्मा जीवः, तथा तथा नरनारकादिपर्यायमाकृत्वेन भवे ससारं, भवेत्स्यात् । अतस्तथा तथा भवनात् सर्वप्राप्तिः ससारापवर्गावस्थालाभरूपाऽस्यात्मनोऽविरोधिनी अधिघटमाना सपद्यते । प्रकृतियोगात्तस्य संसारावस्था, विप्रयोगाच्च मुक्तावस्थेति भावः ।

सासिद्धिकमलाद् यद्वा, न हेतोरस्ति सिद्धता ।

तत्किञ्च यदभेदेऽपि, तत्काद्यादिविभेदतः ॥ १९७ ॥

सासिद्धिकमलात्कर्मवन्धयोग्यतालक्षणादविस्वभावात्, सासिद्धिकमलं परिहृत्येत्यर्थः । यद्वेति ऊहस्यैव पक्षान्तरसूचकः । ‘न’ नैव, हेतोरन्यस्येश्वरानुग्रहादेः परिणामचित्रतायां साध्यायां सिद्धता प्रमाणप्रतिष्ठिता । ईश्वरो हि अप्रतिस्वलितवैराग्यवान् । यतः पठ्यते-“कानमप्रतिध यस्य, वैराग्य च जगत्पते । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्ध चतुष्टयम् ” ॥ १॥ १५३

ततः कथमस्मां कञ्चनानुगृहीयान्निगृहीयाम् ? किञ्चास्मां योग्यतामपेक्ष्य प्रवर्तने, इतरथा वेति द्वयी गतिः । किं चान ? यदि प्रथमः पक्षः, तदा सर्व योग्यता हेतुः किमिष्ट्वरानुग्रहनिग्रहाभ्याम् ? । अथेतस्या, तदा सार्वत्रिकावेवानुग्रहनिग्रहा स्यातां न तु विभागेन, न वा कचिन्, निर्मित्ताभावात् । यतः पठ्यते-“ नित्य सत्प्रसन्नं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥

अपेक्षानो हि भावानां, कादाचित्क वसभयः ” ॥ १ ॥ इति ॥

सांसिद्धिकमलमेवान्मनां परिणामवैचित्र्यहरश्च हेतुः । तत्सांसिद्धिकमलं, भिन्नं नानारूपम्, यद्यस्मात्कारणात् अभेदेऽपि कथञ्चित्सामान्यरूपेण । एतदपि कुन ? इत्याह-तत्कालादिविभेदतः ते शास्त्रान्तरप्रसिद्धा ये कालादयः कातस्वभावनियतिपूर्वकतत्पुरुषकारलक्षणा हेतव सर्वजगत्कायजनका, तेषां विभेदो धेनदृष्टात् । इदमुक्तं भवति-कादाचित्कमेवासांसिद्धिक मलमात्मना सह भेदाभेदवृत्ति स्थानो ना नावृत्त रूप वर्तने, ततस्तदृशादेव परिणामवैचित्र्यमात्मनामनुपचरितमेवापपद्यते, न पुनरीश्वरानुभावात् । प्रागुक्तयुक्त्या तस्य निराकृतत्वात् ; इति वा चिन्तयत्यसाविति ॥

इदमेव समर्थयति-

विरोधिभ्योऽपि चैवं स्या-तथा द्वौकेऽपि दृश्यते ।

स्वरूपेतरहेतुभ्यां, भेदादेः फलचित्रता ॥ १९८ ॥

विरोधिभ्योऽपि च-विघटमानैव च सर्वार्थप्राप्तिरित्यनुवर्तते, न पुनः कथञ्चिदपि विरोधिनी, एव सांसिद्धिकमलादन्येत्वेन्युपगमे सति, स्याद्भवेत् । यथा च विरोधिनी सर्वप्राप्तिः, तथाऽनन्तरमेव दर्शितेति । तथेति हेतुन्तरसमुच्चयः । लोकंऽपि, शास्त्रं तावद्वर्तितवैक्यपिशब्दार्थः । उच्यते विद्वोदयने । स्वरूपेतरहेतुभ्यां स्वरूपेतरहेतु परिणामिकारणम् । यथा-मृदुघटस्य, इतरपुनर्निमित्तहेतुर्यथा-तस्यैव चक्रन्नीयत्वादि । ताभ्यां तावद्विषयार्थः । भेदादेर्भेदादभेदाच्च, यथायोगं सत्यधात्स्वरूपहेतुमप्यथा-भेदात्, इतरापेक्षया च भेदात् । किमित्याह-फलचित्रता कार्याणां नानारूपता । यदि हि मृन्मात्रक एव घट स्यात्तदा सर्वघटानां मृन्मयत्वाविशेषादेकाकागतैव स्यात् । तथा याह्यमात्रनिमित्तत्वे परिणामिकारणविरहेण कर्मरामादेर्यत्र न कस्यचित्कार्यास्योत्पत्तिः स्यादिति । स्वरूपेतरहेतु समाधित्याभेदवृत्त्या भेदवृत्त्या च कार्यमुत्पद्यमान चित्ररूपनां प्रतिपद्यते । एव च सासिद्धिके मले सर्वजीवानां परिणामिकारणे सति तत्कालादिवैक्यकारणसंन्यपेक्षतायां चित्रकर्मवन्धकानां नानापरिणामप्राप्त्या सर्वो लोकः शास्त्रप्रसिद्धो नरनारकादिपर्यायः, तदुप्रासात् पुनरपुनर्बन्धकत्वादि यावत्सर्वकलेशग्रहाणिलक्षणा मुक्तिरिति सर्वमनुपचरितमुपपद्यत इत्युहते इति ॥

ततः किमित्याह-

एवमूहप्रधानस्य, प्रायो मार्गानुसारिणः ।

एतद्वियोगविषयोऽप्येव सम्यक् प्रवर्तते ॥ १९९ ॥

एवमुक्तरूपेण ऊहप्रधानस्य वितर्कसारस्य, प्रायो बहुल्येन, मार्गानुसारिणो निर्वाणपथानुसृतस्यापुनर्बन्धकत्वेन कचिदन्यथाऽपि प्रवृत्तिरस्य स्यादिति प्रायो ग्रहणम् । एतद्वियोगविषयोऽपि आत्मना सह प्रकृतिविघटनगोचरः, किं पुनर्भववीजादिगोचर इत्यपिशब्दार्थः । एव ऊहः, सम्यगूहनीयार्थाः

व्यभिचारः, प्रवर्तते समुन्मीलति । इदमुक्तं भवति-यथा भववी-
जादिगोचरभूतिनिपुणमुदते. तथा क्रमेणात्मनः कर्मणा वियो-
गो घटत एवमप्युदत इति ।

एव सति यत्सिद्धं तदाह-

एवंलक्षणयुक्तस्य. प्रारम्भादेव चापरैः ।

योग उक्तोऽस्य विद्वद्भि-गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥२००॥

एवंलक्षणयुक्तस्य पूर्वोक्तोद्गुणसमन्वितस्य. प्रारम्भादेव प्रा-
रम्भमेव. पूर्वसेवावृत्तमाश्रित्य, अपरैस्तीर्थान्तराथैर्योगो व-
क्ष्यमाणनिरुक्तः, उक्तोऽस्यापुनर्वन्धकस्य, विद्वद्भिर्विचक्षणैः,
गोपेन्द्रेण योगशास्त्रकृता, यथोदित यत्प्रकारमिदं वस्तु, तथो-
दितमिति । यो० वि० ॥

पुनरपि—

शुक्लपक्षेन्दुवत्प्रायो, वर्द्धमानगुणः स्मृतः ।

नवाभिनन्दिदोषाणां-मपुनर्वन्धको व्यये ॥ १ ॥

अस्यैव पूर्वस्यैवोक्ता, मुख्याऽन्यस्योपचारतः ।

अस्यावस्थान्तरं मार्ग-पतिनाभिमुखौ पुनः ॥ २ ॥

(शुक्लेति)शुक्लपक्षेन्दुवदुज्ज्वलपक्षचन्द्रवत्, प्रायो बाह्यलेन,
वर्द्धमानः. प्रतिकूलमुल्लसन्तो, गुणा औदार्यदाक्रियादयो य-
स्य भवाभिनन्दिदोषाणां प्रागुक्तानां कृत्वादीनां व्ययेऽपगमे
सत्यपुनर्वन्धकः स्मृतः ॥ १ ॥ (अस्यैवेति) अस्यैवापुनर्वन्धक-
स्यैवोक्ता गुर्वादिपूजालक्षणा पूर्वसेवा, मुख्या कल्याणाशययो-
गेन निरुपचरिता, अन्यस्यापुनर्वन्धकातिरिक्तस्य सङ्गन्धका-
दे, पुनरुपचारन सा, तथाविधजवैराम्याभावात्. मार्गपति-
तमार्गाभिमुखौ पुनरस्यापुनर्वन्धकस्य, अवस्थान्तरं दशाविशे-
षरूपः, मार्गो हि चेत्सोऽवक्रमन नृजङ्गमनक्षिकाऽस्यामतुल्यो
विशिष्टगुणस्थानावासिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेष,
तत्र प्रविष्टो मार्गपतिनो मार्गप्रवेशयोग्यमवत्तोपपन्नश्च मार्गा-
भिमुख इति । नष्टवमेतत्पुनर्वन्धकावस्थायाः परतरावस्थाज्ञाजौ,
भगवदाज्ञावगमयोग्यनया पञ्चसूत्रकवृत्तावनयोरुक्तत्वात् ।

अपुनर्वन्धकस्यैवानुष्ठानं युक्तम्—

योग्यत्वेऽपि व्यग्रहितौ, परे त्वेतौ पृथग् जगुः ।

अन्यत्राप्युपचारस्तु, सामीप्ये बहुजेदतः ॥ ३ ॥

[योग्यत्वेऽपीति] परे त्वेतौ मार्गपतितमार्गाभिमुखौ योग्यत्वेऽ-
पि व्यवहितावपुनर्वन्धकापेक्षया दूरस्थाविनि, पृथगपुनर्वन्ध-
काङ्गिभौ जगुः । अन्यत्रापि सङ्गन्धकादावपि, उपचारस्तु पु-
र्वसेवाया सामीप्येऽपुनर्वन्धकसन्निधानलक्षणे मति, बहुभेदोऽ-
तिनेत्राभावात् ॥ ३ ॥ द्वा० १४ द्वा० १० सू० । श्रीजाधान-
मपि ह्यपुनर्वन्धकस्य । नचास्यापि पुनरुपचारवर्त ससारः ॥ (३०) न
ह्येव प्रवर्तमानो नेष्टमाधक इति भग्नोऽयेन यत्नलिङ्गोऽपुनर्वन्धक
इति तं प्रपुपदेशसाफल्यं नानिवृत्ताधिकागया प्रकृतावेवभूत
इति कापिला । न वा पुनर्नवाविपाक इति च मौगना । अपुन-
र्वन्धकास्त्वन्वना इति जैनाः । तच्चान्त्यमेतदादरेण परिभा-
षनीयम् । ल० ॥

अपुणवन्धव-अपुनर्वन्ध-त्रि० । न० ब० । पुनर्नवसमन्वितरहिते,
यतः पुनर्जन्म न जवति, "सिद्धिगङ्गिलयं सामय-मन्वावाह
अपुणवन्धव पत्न्यं सोम" (ब्रह्मचर्यं), ततः पुनर्नवसमन्व-
जावात् । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अपुणवन्धव-अपुनर्वन्ध-त्रि० । अपुनस्तथाजायमाने, "अपु-
णवन्धवे सिया" अपुनर्जाव स्यात् कर्म, पुनस्तथाऽवन्धकत्वेन ।
प० सं० १ द्वा० ।

अपुणरागम-अपुनरागम-त्रि० । नित्ये, जन्मादिरहिते चादश० १८० ।

अपुणरावत्तय-अपुनरावर्तक-पु० । न० ब० । अविद्यमानपुन-
र्भावावतारे, सिद्धिगत्याऽप्येऽर्थे, पुनर्नवबीजकमाभावात् तन्मा-
सानां पुनरजननात् । सं० १ सम० । औ० । "अपुनरावत्तय
सिद्धिगत्यामधेयं तान सपाविडकामेण" न० १ श० १ उ० ॥

अपुणरावत्ति-अपुनरावृत्ति-पु० । न० । न पुनरावृत्तिः ससार-
वतारो यस्मात् तत्तथा । सिद्ध्याऽप्येऽर्थे, ध० २ अधि० । रा० ।
पुनरावृत्त्यभावे, प० सू० ।

"अतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः, क्षयं प्रयातः पुनरोति चन्द्रमा ।
गतं गतं नैव तु सनिवर्तते, जलं नदीनां च नृणां च जीवितम्" ।
प० सू० ५ सू० ।

"दग्धे बीजे यथा-ज्यन्तं प्रादुर्भवति नादुर"

कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाद्दुरः" ॥ १ ॥ ल० ॥

अपुणरुत्त-अपुनरुत्त-त्रि० । न० त० । पुनरुत्तिक्षेपरहिते,

"अपुणरुत्तेहि महाविस्तेहि संपूर्णै" । रा० । जं० । आ० म० ।

"अनुवादादरवीप्सा-भृशार्थविनियोगदेत्वसुयासु ।

ईषत्संभ्रमविस्मय-गणनास्तरणेऽप्यपुनरुत्तम्" ॥ १ ॥ दर्श० ।

अपुण्य-अपुण्य-त्रि० । न० ब० । अविद्यमानपुण्ये, विपा० १
सु० ७ म० । तीमासातोदये वर्तमाने, "सामा णेरइयाण, प-
वत्तयती अपुण्णाण ।" सूत्र० १ सु० ५ अ० १ उ० । अनार्ये
पापाचारे, माचा० १ सु० ६ अ० १ उ० ।

अपूर्ण-त्रि० । पूर्णव्यतिरिक्ते, "अदृष्टं अधस्ता अपुष्टा"
अपूर्णा, अपूर्णमनोरथत्वात् । विपा० १ सु० ७ अ० ।

अपुण्यकल्प-अपूर्णकल्प-पु० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यकल्पिय-अपूर्णकल्पिक-पु० । गीतार्थे असहाये,
व्य० १० उ० ।

अपुत्त-अपुत्त-त्रि० । न० ब० । सुतरहिते, "अपुत्तस्य न सति
लोकाः । ('लोगवाय' शब्देऽस्य करणं वक्ष्यते) । स्वजनबन्धुर-
हिते, निर्ममे च । आचा० २ सु० ६ म० २ उ० ।

अपुम-अपुम्-पु० । नपुसके, ओघ० । वृ० । "अदमेसिप
अपुम जणिओ परिसेवामि" नि० चू० १ उ० ।

अपुरस्कार-अपुरस्कार-पु० । पुरस्करणं पुरस्कारः । गुणवा-
नयमिति गौरवाभ्यारोपः, न तथाऽपुरस्कारः । अवज्ञास्पदत्वे,
"गरदणयाप अपुरस्कारं जणयइ" उ० २६ अ० ।

अपुरस्कारगय-अपुरस्कारगत-त्रि० । अपुरस्कार गतः प्राप्तोऽ-
पुरस्कारगतः । सर्वत्रावज्ञाऽऽस्पदीचूते, उ० २६ अ० ।

अपुरव-अपूर्व-त्रि० । पूर्वमदृष्टभूते, 'पूर्वस्य पुरवः' । ॥ १४१२७० ॥
इति शौरसेन्यां पूर्वशब्दस्य पुरवेत्यादेशः । "अपुरव नाडम ।

अपुरवागदं । पक्षे-अपुव पद । अपुवागदं" । प्रा० ॥

अपुरिस-अपुरुष-पु० । न पुरुषः । न० त० । नपुंसके, स्था० ६ उ० ।

अपुरिसङ्कारपरक्रम-अपुरुषाकारपरक्रम-त्रि० । न० ३० । पुरुषाकारः पराक्रमश्च न विद्येते यस्य सोऽपुरुषाकारपरक्रमः । अनिष्पादितप्रयोजनेन निष्पादितप्रयोजनेन वा पौरुषाभिमानेन रहिते, विपा० १ भु० ३ अ० । भ० ।

अपुरिमवाय-अपुरुषवाद-(त्र)-पुं० । स्त्री० । अपुरुषो नपुंसकस्तद्वादः, वाचा । वृ० ६ उ० । नपुंसकोऽयमित्येवधानायाम्, "अपुरिमवाय वयमाणे, दासवाय वयमाणे, श्वेद कप्यम्स" द्वितीयः प्रस्तारः । (व्याख्याऽन्यत्र) । स्था० ६ उ० ।

अपुरोहित्य-अपुरोहित-त्रि० । नास्ति पुरोहितो यत्र । आग्निर्कर्मकारिरहितः, यत्र तथाविधप्रयोजनाभावात् पुरोहितो नास्ति । भ० ३ श० १ उ० ।

अपुत्र-अपूर्व-त्रि० । न० त० । अजिनवे मन्यसदृशे, प्रव० ३२४ श० । प्रति० । अवृत्तपूर्वे, आ० म० द्वि० । अपूर्वकरणे, भाव० ४ अ० । श० ॥

अपुत्रकरण-अपूर्वकरण-न० । अपूर्वमपूर्वा क्रियां गच्छतीत्यपूर्वकरणम् । तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातसंघातगुणधेनिगुणसकमाः, अन्यश्च स्थितिबन्धः, इत्येते पञ्चाप्यधिकारा यौगपद्येन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम् । आचा० १ भु० ए अ० १ उ० । अप्राप्तं पूर्वमपूर्वम्, स्थितिघातः रसघाताद्यपूर्वार्धनिर्वर्तनं वा । अपूर्वे च तत्करणं च अपूर्वकरणम् । भव्यानां सम्यक्त्वाद्यनुगुणे विद्युद्यनरूपे परिणामविशेषे, आ० म० प्र० । पञ्चा० । वृ० । पो० । ('करण' शब्दे तृतीयज्ञाने २५६ पृष्ठे व्याख्यास्यते चैतत्) अपूर्वमजिनवं प्रथममित्यर्थः । करणं स्थितिघातसंघातगुणधेनिगुणसकमस्थितिबन्धानां पञ्चानामर्थानां निर्वर्तनं यस्यासावपूर्वकरणः । अष्टमगुणस्थानकं प्रतिपत्ते जीवे, कर्म० । तथाहि-बृहत्प्रमाणाया ज्ञानावरणायादिकर्मस्थितेरपर्वतनाकरणेन अहरनमर्णीकरणं स्थितिघात उच्यते । रसस्यापि प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्तनाकरणेन अहरनमर्णीकरणं रसघात उच्यते । एतौ द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवान् । अत्र पुनर्विद्युत्कः प्रकृष्टत्वाद् बृहत्प्रमाणतया अपूर्वाविमौ करोति । तथा उपरितनस्थितेर्विशुद्धिचक्षुःपवर्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरङ्गणाय प्रतिक्रमसंख्येयगुणवृद्ध्या विरचन गुणभ्रंशः । स्थापना- * एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वात् कालतोऽधीयसीं दक्षिकरचनामाभित्याप्रथीयसीमल्पदक्षिकस्यापवर्तनाद्विरचितवान् । इह तु तामेव विशुद्धत्वादपूर्वा कालतोऽस्वतरां दलिकरचनामाभित्य पुनः पृथुतरां बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद् विरचयतीति । तथा धर्यमानशुभप्रकृतिप्रवर्धमानाशुभप्रकृतिदक्षिकस्य प्रतिक्रमसंख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिचक्षुःशायन गुणसकमः । तमप्यसापिहापूर्वं करोति । तथा स्थितिं कर्मणामशुद्धत्वात् प्राग्दधीयसीं बद्ध्वाद्, इह तु तामपूर्वा विशुद्धत्वादेव हसीयसीं बध्नातीति (स्थितिबन्धः) । अयं चापूर्वकरणो द्विधा-कपकः, उपशमकश्च । कपणोपशमनाहंत्वाच्चैवमुच्यते, राज्याहंकुमारगजवत् । न पुनरसौ कपयत्युपशमयति वा । कर्म० २ कर्म० । प्रव० । प० स० । दश० । अष्ट० । आचा० ।

अपुत्रकरणगुणद्वानग-अपूर्वकरणगुणस्थानक-न० । अपूर्वकरणस्य गुणस्थानरूपपूर्वकरणगुणस्थानकम् । अष्टमगुण-

स्थानके, प्रव० २२४ श० । एतच्च गुणस्थानकप्रपञ्चानां कालत्रयवर्तिनो नानाजीधानेपेक्ष्य सामान्यनोऽसख्येयज्ञोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति । कथं पुनस्तानि प्रवर्तन्तीति विनेयजनानुग्रहार्थं विशेषनोऽपि प्रकृत्यन्ते-इह तावद्विदं गुणस्थानकमन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं भवति । तत्र च प्रथमसमयेऽपि ये प्रपञ्चा, प्रपञ्चन्ते, प्रपत्स्यन्ते, च तदपेक्षया जघन्यार्दान्युक्तप्राप्तान्यमयंयलांकाकाशप्रदेशप्रमाणाध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, प्रतिपत्तृणां बहुन्वादध्यवसायानां च विचित्रत्वादिनि भावनीयम् । ननु यदि कालत्रयापेक्षा क्रियते तर्हि तद्गुणस्थानकप्रतिपञ्चानामन्तर्नान्यध्यवसायस्थानानि कस्यां भवन्ति ? अनन्तर्जाघेरस्य प्रतिपत्तत्वादनन्तरेव च प्रतिपत्स्यमानत्वादिनि । सत्यम् । स्यादेव यदि तन्प्रतिपत्तृणां सर्वेषां पृथक् पृथक् भिन्नान्येवाध्यवसायस्थानानि स्युः, तच्च नास्ति, बहूनामिषाध्यवसायस्थानवर्तित्वादपीति । ततो द्वितीयसमये तदन्यान्यधिकतराण्यध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते । तृतीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि । चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येव तावन्नर्यं यावच्चरमसमयः । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरक्षं क्षेत्रमभिव्याप्नुवन्ति । तद्यथा-४००००००० सत्र प्रथमसमयजघन्याध्यवसायस्थानात्प्रथमसमयोक्तृष्टमध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्माच्च द्वितीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि चिन्तय-३०००००० समयजघन्यात्तदुक्तृष्टमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्माच्च तृतीय-२०००००० समयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् । ततोऽपि तदुक्तृष्ट-१००००० मनन्तगुणविशुद्धमित्येवं तावन्नर्यं यावच्चरमसमयोक्तृष्टात् चरमसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् । ततोऽपि तदुक्तृष्टमनन्तगुणविशुद्धमिति । एकसमयगतानि चामून्यध्यवसायस्थानानि परस्परमनन्तभागवृद्धसदृशानभागवृद्धिसदृशानभागवृद्धिसख्येयगुणवृद्धसंख्येयगुणवृद्धयनन्तगुणवृद्धिकपकदस्थानकपतिनानि । युगपदेतद्गुणस्थानप्रविष्टानां च परस्परमध्यवसायस्थानान्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते । अत एवोक्तं सूत्रे-" नियद्वि अनियद्वीत्यादि" । कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

अपुत्रगुणगहण-अपूर्वज्ञानग्रहण-न० । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरग्रहणमपूर्वज्ञानग्रहणम् । तच्चाष्टादशं तीर्थकरनामकर्मवन्धकारणम् । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरग्रहणे, आ० म० प्र० । प्रव० ।

अपु (पु) स्मृय-अल्पोत्पुक्-त्रि० । अविमनस्के, भाचा० २ भु० ३ अ० १ उ० ।

अपुद्रत्त-अपृथक्त्व-त्रि० । अविद्यमानपृथक्त्वप्रस्तावात्मन्यमयोगेज्योविमुक्तत्वस्वरूपयस्यासावपृथक्त्वः । सदा स्वयमयोगवति, (उक्त०) संयमयोगेज्योऽजिन्ने, (उक्त०) "अपुहसे सुप्यणिहिप विहरइ" उक्त० ३६ अ० ।

अपुहताणुश्रोग-अपृथक्त्वानुयोग-पु० । अनुयोगभेदे, यत्रैकस्ति-क्षेव सूत्रे सर्व एव चरणादयः प्रकृत्यन्ते, अनन्तागमपर्यायत्वात् सूत्रस्य । दश० १ अ० ।

अपूया-अपूजा-स्त्री० । पूजाभावे, " पूयाऽपूया दिवाऽदिवा " स्था० ५ उ० । ३ उ० ।

अपूत-अपूयन्-त्रि० । अनाचरानि, आ० म० द्वि० ।

अपेय-अपेय-त्रि० । मद्यमांसरसादिके (पातुमनर्ह), नि०
चू० २ उ० ।

अपेयचक्र-अपेतचक्र-त्रि० । लोचनरहिते, वृ० १ उ० ।

अपेहय-अपेक्षक-त्रि० । अपेक्षिणि, निर्जरापेक्षिकर्मक्यापे-
क्षक इति । आव० ४ अ० ।

अपोगल-अपुहल-पु० । न विद्यन्ते पुहला येषां तेऽपुहलाः
सिद्धा । पुहलरहिते, स्था० १ उ० ।

अपोरिभिय-अपौरुषिक-त्रि० । पुरुषः प्रमाणमस्येति पौरुषि-
कम् ; तन्निषेधादपौरुषिकम् । पुरुषप्रमाणाभ्याधिकेऽगाधजला-
दौ, ' अथाहमपोरिसिय पस्विज्जा ' ज्ञा० ५ अ० ।

अपोरिमीय-अपौरुषेय-त्रि० । पुरुषः परिमाण यस्य तत्पौ-
रुषेयः, तन्निषेधादपौरुषेयम् । पुरुषप्रमाणाभ्याधिकेऽगाधे जलादौ
" अथाहमनारमपोरिसीय ति " ज्ञा० १४ अ० । पुरुषेणाकृते
वचने, अपौरुषेयो वेदः, वेदकारणस्याश्रयमाणात्वात् । स्था० १०
उ० । ल० । प० व० । न० । (वेदानामपौरुषेयत्वविमर्शः, ' आगम'
शब्दे द्वितीयभागे ५३ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते)

अपोह-अपोह-पु० । अपोहनमपोहः । निश्चये, " होइ अपोहो
याओ " । अपोहस्तावत् किमुच्यते ? , इत्याह-अपोहो भवन्त्य-
पाय । योऽयमपोहः स मतिज्ञानतृतीयभेदोऽपाय इत्यर्थः ।
विशे० । न० । उक्तिगुक्तिभ्यां विरुद्धार्थाद् हिंसादिकात्
प्रत्यपायव्यावर्तने विशेषज्ञाने, (ध०) एष पष्ठो बुक्तिगुणः ।
ध० १ अधि० । पृथग्भावे, तत्स्वरूपायां प्रतिशेखनायां च तथा
चक्षुरा निरूपयति यदि तत्र सत्त्वसम्भवो भवति, तत उद्धार
करोति सत्त्वानामन्यत्रांमे सति, स चापोहः प्रतिशेखना जवति ।
आद्य० । बौद्धाभिमतं वादविशेषः, तथाहि-अपोहवादिना बु-
द्ध्याकारो बाह्यरूपतया गृहीत शब्दार्थ इतीष्यते । यथो-
क्तम्- " तद्गाऽऽरोपगत्याऽन्य-व्यावृत्त्यधिगतैः पुन । शब्दा-
र्थोऽर्थः स एवेति, वचनेन विरुध्यते " ॥ १ ॥ इति । सम्म० २ ।
कारु । (विशेषस्तु शब्दार्थनिरूपणावसरे ' सहृत्थ ' शब्देऽपोह
विचारो ऋष्य)

अप्प-अल्प-त्रि० । स्तोके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । आ-
चा० । पि० । प्रज्ञा० । औ० । प्रज्ञ० । आव० । स्था० । चं० प्र० ।
नि० चू० । आ० चू० । अभावे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।
उत्त० । अनु० । आ० म० । रा० । अल्पशब्दो भाववाचकः ।
स्था० ७ उ० । वृ० ।

अप्प (ण्)-आत्मन्-पुं० । अन सानत्यगमने । अनति सततं ग-
च्छति विशुद्धिसंज्ञेशात्मकपरिणामान्तराणीत्यात्मा । उत्त० १ अ० ।
आ० चू० । अन् मनिर, प्राकृते- " अस्मात्मनोः पो वा " ८ । २ ।
५ । इति सूत्रेण सयुक्तस्य वा प । प्रा० । जीवे, यत्ने, मन-
सि, वृत्तौ, बुद्धौ, अर्के, धन्द्धौ, वायौ, स्वरूपे च । " अप्पणा चेव
उदोरेइ ' आत्मना स्वयमेव । म० १ श० ३ उ० । ' अप्पणा अप्प-
णां कम्मक्खय करित्थ " अत्मनाऽऽत्मन कर्मक्षयकर्तुमिति ।
ज्ञा० ५ अ० । आ० चा० । " अप्पणा भासाप परिणामेण "
स्वभावापरिणामेनेत्यर्थः । उत्त० २ अ० । " अप्पा णं वेनर-
णी, अप्पा मे कुरुसामली " उत्त० २० अ० । देहे, आत्मन आ-
धारभूतत्वात् । उत्त० ३ अ० । (अस्मिन्नेव भागे ' अणाह '
शब्दे ३२५ पृष्ठे व्याख्यानमेतत्)

अप्पउद्धदुप्पउद्धतुच्छजक्खणय-अपकटुप्पकटुञ्जक्षणक-
न० । अपक अग्निना संस्कृत, दुष्पक चार्कस्विन्न तुच्छ च नि-
सारमिति द्वन्द्वः । तेषां, धान्यानामिति गम्यम् । भक्षणमव-
न तदेव स्वार्थिके कप्रत्यये सति अपकटुप्पकटुच्छभक्षणकम् ।
भोगपरिभोगोपभोगवृत्तातिचारे, पञ्चा० १ विव० ॥

अप्पआयण-अप्रयोजन-न० । अप्रयोजने निष्कारणतायाम्,
अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । आव०
६ अ० ।

अप्पम-अन्पाएम्-त्रि० । अल्पान्यएमानि कीटकादीनां यत्र
तदल्पाएम् । अल्पशब्दोऽत्राभावे वर्तते । अप्रकरहिते,
आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्पकंप-अप्रकम्प-त्रि० । अविचलितसत्त्वे, " मंदरो इव अप्प-
कपे " मेरुविवानुकूलाद्युपसर्गैरविचलितसत्त्वः । स्था० १० उ० ।

अप्पकम्प-अल्पकर्मन्-त्रि० । लघुकर्मणि, स्था० ४ उ० ।
३ उ० ।

अप्पकम्मन्-अल्पकर्मन्-त्रि० । स्तोककर्मन्तरे, अकर्मन्तरे
च । " इगालभूय मुम्मुरज्जुए छारियज्जुए तओ पच्छा अप्पकम्म-
तराए चेव " अद्वाराद्यवस्थामाश्रित्याल्पशब्दः स्तोकाद्यर्थः । द्वारा-
वस्थायां त्वज्जाद्यर्थः । म० ५ श० ६ उ० । नैरयिका ये नरकेषु
उत्पन्नास्तेषु, (के महाकर्मन्तराः ? , केऽल्पकर्मन्तराः ? , इति
' उचवाय ' शब्दे द्वितीयभागे ६७० पृष्ठेऽवलोकनीयम्)

अप्पकम्मपचायाय-अल्पकर्मप्रत्यायात-त्रि० । अल्पैः स्तोकैः
कर्मभिः करणजूनैः प्रत्यायातः । प्रत्यागतो मानुषत्वमिति अल्प-
कर्मप्रत्यायातः । एकत्र जनिनत्वात्ततोऽल्पकर्मा सन् यः प्रत्या-
यातः स तथा । लघुकर्मन्तयोत्पन्ने, स्था० ४ उ० १ उ० ।

अप्पकाल-अल्पकाल-त्रि० । अल्पः कालो यस्य तदल्पकालम् ।
इत्वरकात्वे, अनु० ।

अप्पाकिरिय-अल्पक्रिय-त्रि० । लघुक्रिये, स्था० ४ उ० ३ उ० ।

अप्पाकिरिया-अल्पक्रिया-स्त्री० । निरवद्यायां वसतौ, पं० व०
३ उ० ।

जा पुण जहुत्तदोसे-हिं वज्जिया कारिया सअट्ठाए ।

परिकम्मविप्पमुक्का, सा वसही अप्पाकिरियाओ ॥

या पुनर्यथोक्तदोषैः कालातिक्रान्तादिलक्षणैर्वर्जिता केवल
स्वस्यात्मनोऽर्थाय कारिता परिकर्मणा च विप्रमुक्ता, सर्वस्यापि
परिकर्मण स्वत पञ्चाग्रे प्रवर्तितत्वात्, सा वसतिरल्पाक्रिया
वेदितव्या ।

सम्प्रति यतनां दर्शयितुकाम इवमाह-

हिट्ठिद्धा उचरिद्धा-हिं बाहिया न उ लज्जंति पाहम् ।

पुन्वाण्णाऽज्जिणवं, चउसु भय पच्छिमाऽभिनवा ॥

अधस्तन्य उपरितनान्निर्वाह्यन्ते, बाधिताश्च सत्यो नतु नैव, सज्जन्ते
प्राधान्यम् । इयमत्र भावना-नवाऽपि वसनयः क्रमणे स्थाप्यन्ते,
तत्राल्पक्रिया निर्दोषेति प्रथमम् । तद्यथा-अल्पक्रिया, कालाति-
क्रान्ता, उपस्थाना, अभिक्रान्ता, अनभिक्रान्ता, घर्ज्या, महावर्ज्या,
सावद्या, महासावद्या च । अत्राधस्तनी अल्पक्रिया, अस्यां यदि

अप्यकिरिया

अतिरिक्तकालं निवृत्तिं ततः सा कात्यानिष्क्रान्ता, या बाध्यते सा कात्यानिष्क्रान्ता भवतीति ज्ञाव । कात्यानिष्क्रान्ता नामापि यदि प्रागति-
दितम्यरूपां कात्यामर्यादां द्विगुणां द्विगुणामपगृह्यतोपागच्छन्ति,
ततः सा उपस्थानया बाध्यते, उपस्थाना सा भवतीति भाव । एव
यथासमभवमुपयुज्य वक्तव्यम् । (पुष्पाणुष स्ति) आत्मां च नवानां
शय्यानामध्ये कात्यानिष्क्रान्ता पूर्वा सा अनुज्ञाता, अल्पक्रियाया
अलाभे सा आभयणीया इति ज्ञाव । तस्या अप्यभावे जे-
पाणां पूर्वा उपस्थाना सा अनुज्ञाता, एव या या पूर्वा सा सा
अनुज्ञाता तावद्वक्तव्या यावत् सावद्याया, महासावद्याया, पूर्वा
सामनुज्ञाता । एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या अलाभे उत्तरस्या उत्तरस्या
अनुज्ञा वेदितव्या । अग्निनव (चतसु भयत्ति) चतसृषु चर्मातपु,
अग्निनवेति दोषः स्याध्यते । अग्निनव दोष न ज विकल्पय, कदा-
चिद्वचनि कदाचिन्म भवतीति ज्ञानादीत्यर्थः । अत्रापीय ज्ञावना-
भनतिष्क्रान्तायामपरिजुकेति कृत्वा विरक्तनायामप्याभिनवदोषो
प्रयति । वर्ज्यादिषु पुनर्या अपरिजुक्तास्तासु नाभिनवदोषः ।
एषा भजना पश्चिमा । (अग्निनव स्ति) पश्चिमो नाम महासाव-
द्योपाश्रयः, तस्मिन् अभिनवदोषे वा चिरदोषे वा अपरिजुके
वा अभिनवदोषा भवन्ति, एकपक्षनिर्धारणात् । एतैर्मूत्रगुणा-
द्विद्वैर्यः परिहर्तुं जानाति, स ग्रहणे कल्पिकः ।

कथं पुनर्जानाति परिहर्तुम् ? इति चेद्, आह-

उग्गमउप्पायणए-सणाहिं सुद्धं गवेमए वसहिं ।

तिविहं तिहिं विमुष्कं, परिहर नवगेण जेदेणं ॥

उग्गमेन, उत्पादनया, एषणया, शुद्धां वसन्ति गवेपयति । तत्र
जयाणां पदानामद्यौ भङ्गाः । तेषु चोपरितनेषु सप्तसु भङ्गेष्वशुद्धां
परिहर्तुं यो जानाति स ग्रहणे कल्पिकः । कथं भूतां वसन्तिमु-
क्षमादिशुद्धां गवेपयति ? इत्यत आह-त्रिविधां ज्ञानादिज्ज्ञेय-
स्त्रिप्रकारात् । तथा-त्रिभिर्मनसा वाचा कायेन च, विद्वद्वां
गवेपयति । तथा-ज्ञातादींस्त्रिस्तोषि वसतः । उग्गमाद्यशुद्धा नवकेन
भेदेन परिहरति । तद्यथा-मनसा न शुद्धानि, नापि ग्राहयति,
नापि शुद्धतमनुजानीते । एवं वाचा कायेन च वक्तव्यमिति ।

पटियसुयगुणियधारिय, उवउत्तो जोजणो परिहरति ।

आज्ञोयणमायरिप, आयरिउ विसोहिकारो से ॥

अस्या व्याख्या प्राग्वत् । उक्तः शय्याकल्पिकः । ४० १ ४० ।

इदानीमल्पक्रियाऽभिधानमधिकृत्याऽऽह-

इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं अप्पणो सयछा-
ए तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराई चेइयाई भवंति, तं आ-
एसणाणि वा० जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमारं-
जेणं जाव अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे जवति । जे जयं-
तरो तहप्पगाराई आएमणाणि वा० जाव गिहाणि वा उ-
वागच्छंति, इतरा इतरेहिं पाहुमेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवंति,
अयमाउसो अप्पसावज्जा किरिया वि जवति । एवं खलु
तस्स भिक्खुस्स वा जिकखुणी वा सामगियं ।

इहेत्यादि सुगमम्; नवर अल्पशब्दोऽभाववाचीति । एत-
त्तस्य निष्कोः सामग्र्यं संपूर्णं भिक्षुजाव इति । " कालाह-
१५४

कनुवद्याणा अभिक्रान्ता चेव अणभिक्रान्ता य वज्जा य महावज्जा
साभज्जमहर्पाकारिया य " एताश्च नव वसन्तयो यथाक्रम नव-
भिक्खन-नग्गुणं प्रतिपादिता । आमु च अभिक्रान्ताऽल्पक्रियं
योग्ये, दोषास्त्वयोग्या इति । आचा० २ ४० २ ४० ॥

वसन्तिपरिकर्मज्ञादनक्षेपनादि-

से य णो मृद्वजे फामुप उंठे अहेमणिजे णो य खलु
मुक्के इपेहिं पाहुमेहिं त छाअणओ द्वेवणओ, संथारउ-
वारपिट्ठणाओ पिमवानेमणाओ ॥

इदानीन्तनमृद्वजे अल्पक्रिया शुद्धा वसन्तिर्गमहिना, इहाप्यादि-
मृद्वजे तादृशरीना दग्गयिनुमाह- (से इत्यादि) अत्र च कदा-
चित् काश्चित्साधुवसन्त्यन्वेष्टव्ये भिक्षार्थे, वा गृहपतिपुत्रं
प्रतिष्ठ सन् केनचित्पुत्रकालेनैवमभिधीयते । तद्यथा- 'प्रचुराज-
पानोऽयं ग्रामः, अतोऽत्र भवतो वसन्ति प्रतिगृह्य स्थानु युज्यते'
इत्येवमज्ज्ञेयं सन्नेवमाचर्कान-न केवलं पिणमपातं प्राप्तुको
दुर्लभस्तत्त्वमावाप यत्रासौ भुज्यते स च प्राप्तुको आधाकम्मादि-
रहितं प्रतिश्रयो दुर्लभः । (उक्ते स्ति) छादनागुणरगुणदोषर-
हितः । एतदेव दर्शयति- (अहेसणिज्ज्ञेयं स्ति) यथाऽसौ मूलोत्तर-
गुणदोषरहितन्येनपणीयो भवति, तथाभूतो दुर्लभः इति ।

ने चामो मूलोत्तरगुणा -

" पट्टी वसो दो धा-रणाउ चत्ताहिं मूलवेदीओ ।

मूलगुणोई विमुक्का, एसा य अहागडा वसही ॥ १ ॥

वसगकडणो कपण-गयणवेवणदुवारदुमी य ।

परिकर्माविष्णमुक्का, एसा मूलनग्गुणेषु ॥ २ ॥

दूमियधूमियवासिय-उज्जोविय वलि कडा अवन्ता य ।

सित्ता सम्मछा वि य, विमोहिकोमी गया वसही ॥ ३ ॥

अत्र च प्रायशः सर्वत्र सभविष्यादुत्तरगुणानाम्, नानेव दर्श-
यति । न चासौ शुद्धो भवत्यमीभिः कर्मोपादानकर्मभिः । न-
द्यथा-ग्रादननो दग्गादिना, द्वेपननो गोमयादिना, सस्नाग-
मपवर्तकमाभिन्य, तथा द्वारमाभिन्य बुद्धधुत्वापादननः,
तथा द्वारस्थगन कपाटमाभिन्य, तथा पिण्डपानैवणामाभिन्य ।
तथाहि-कस्मिंश्चिन्प्रतिश्रये प्रतिवसन् साधुश्च शय्यातरपि-
रमेनोपनिमन्त्रयेत्, नदग्रहे निषिकाचरणं, अग्रहे तन्ग्रहेयादि स-
ज्व । इत्यादिजिह्वरगुणैः शुद्धः प्रतिश्रयो दुराप । शुद्धे च प्रति-
श्रये साधुना स्थानादि विधेयम् । यत् उक्तम्- " मूलोत्तरगुणसुद्धः,
धीपसुपडगनिचञ्जिय वसहिं । सेवेज्ज सज्जकाज्ज, विवज्जण
होति दोसाओ " ॥ १ ॥ मूलोत्तरगुणशुद्धावाप्तावपि स्वाध्या-
यादिचूमिसमन्वितो विविको दुराप इति । आचा० २ ४० २
अ० ३ ४० ।

अप्यकिलंत-अल्पकान्त-त्रि० । अल्पस्तोकं ज्ञानं क्लृप्तो वेपां ते
अल्पकान्ताः । अल्पवेदनेषु, ४० २ अधि० । 'कवणिज्ज्ञो भे कलामो
अप्यकिलताणं बहुसुभेण दिवसे वइक्कतो' । आचा० ३ अ० ।

अप्यकुक्कुडिय-अल्पकौकुच्य-त्रि० । ६ ४० । अल्पस्पन्दने,
करादिजिरस्पन्दे च लानि, अल्पशब्दोऽज्ञाववाची, अल्पमसन्,
'कुक्कुड' कौकुच्य करचरणभूतमणायसंघेष्टात्मकमस्येत्यल्पकौ-
कुच्यः । हस्तपादशिरः प्रमुखशरीरावयवानुत्पन्ने, " निसी-
एज्ज अप्पकुक्कुड " । उक्त० १ ४० ॥

अप्यकोउहस्र-अल्पकौतूहल-त्रि० । ६ ४० । स्त्रीकपदर्श-

नादिषु अविद्यमानकौतूहले, अल्पशब्दस्येहाविद्यमानार्थत्वात् ।
वृ० ३ उ० ।

अप्यकोह-अल्पक्रोध-पु० । अविद्यमानकपायनेदे, जावाव-
मोदरिकां प्रतिपन्ने, औ० ।

अप्यक्खर-अल्पाक्षर-न० । अल्पान्यक्षराणि यस्मिन्स्तदल्पा-
क्षरम् । औ० । मिनाक्षरे. गुणवर्तित सूत्रे, यथा सामायिकसूत्रम् ।
अप्रचूताक्षरे, विशेष० । औ० । अनु० । आ० म० । " अप्यक्खर
महत्थ अणुगहत्थ सुविहियाणं " ओघ० ।

अप्यक्खरं महत्थं, महक्खरऽप्यऽप्य दोसु वि महत्थं ।

दोसु वि अप्यं च तथा, जणियं सत्यं चउवियपपं॥१३॥

अत्र च चतुर्भङ्गिका- [अप्यक्खर नि] अल्पान्यक्षराणि यस्मिन् तद-
ल्पाक्षर, स्तोकाक्षरमित्यर्थः । (महत्थास्ति) महानर्थो यस्मिन् तत्
महार्थं, प्रचूतार्थमित्यर्थः । तत्रैक शास्त्र अल्पाक्षरं भवति महार्थं च,
प्रथमो नङ्गः । अथवाऽन्यत्किञ्चूत भवति ? (महक्खरऽप्यऽप्य)
महाक्षर, प्रचूताक्षरं भवतीति हृदयम् । अल्पार्थं, स्वल्पार्थ-
मिति हृदयम्, द्वितीयो नङ्गः । अथवाऽन्यत्किञ्चूत भवति ?
(दोसु वि महत्थ) द्वयोरपीति अक्षरार्थयोः धृतत्वादक्षरार्थो-
नय परिगृह्यते । एतदुक्तं भवति-प्रचूताक्षरं प्रचूतार्थं च, तृती-
या नङ्गः । तथाऽन्यत् किञ्चूत भवति ? इत्याह- (दोसु वि अप्यं च
तथा) द्वयोरपि अल्पम्, अक्षरार्थयोः । एतदुक्तं भवति-अल्पाक्ष-
रमल्पार्थं चेति । तथेति-तेन आगमोक्तप्रकारेण, जणितमुक्त,
शास्त्रं, चतुर्विकल्पं चतुर्विधमित्यर्थः ।

अधुना चतुर्णामपि नङ्गिकानामुदाहरणदर्शनार्थमियं गाथा-
सामायारी ओहे, णायज्झयस्स य दिट्ठिवाओ य ।

लोड्य कथासादि अणु-कमा य पकरोति कारगा चउरो॥१४॥

ओघसामाचारी प्रथमभङ्गके उदाहरणं भवति । ततः प्रचूता-
क्षरत्वमल्पार्थं चेति द्वितीयकम् । ज्ञाताध्ययनादिपञ्चमे प्रथम-
मुतस्कन्धे तेषु कथानकान्युच्यन्ते । ततः प्रचूताक्षरत्वमल्पार्थं
चेति द्वितीयनङ्गके ज्ञाताध्ययनान्युदाहरणम् । चशब्दादन्यथा
यदस्यां कोटौ व्यवस्थितम् । दृष्टिवादश्च तृतीयभङ्गके उदाहरणम् ।
यतोऽसौ प्रचूताक्षर प्रचूतार्थश्च, चशब्दाक्षरदेकदेशोऽपि । चतु-
र्भङ्गोदाहरणप्रतिपादनार्थमाह- (लोड्य कथासादि स्ति) लौकिक
चतुर्भङ्गोदाहरणम्, किञ्चूत ? , कथासादि । आदिशब्दाच्छिव-
भञ्जादिप्रदः । (अणुकम् स्ति) अनुक्रममादिति । अनुक्रमेण परिपा-
त्येव तृतीयार्थं पञ्चमी । कारकाणि कुर्वन्तीति कारकाण्युदाह-
णान्युच्यन्ते । चत्वारितीति । यथासंस्थानेवेति । ओघ० ।

अप्यग-आत्मन्-पुं० । स्वस्मिन्, " जइ अप्यग न साहयमि
तो कह अन्न विणिगतो नगराओ " । भाव० ४ अ० । आचा० ।
सूत्र० । प्रश्न० ।

अप्यगास-अप्रकाश-पु० । अन्धकारे, नि० चू० १ उ० ।

अप्यगुत्ता-देशी-कार्पकच्छाम, दे० ना० १ वर्ग ।

अप्यचिन्तय-आत्मचिन्तक-पु० । अभ्युद्यतमरण वा प्रतिपत्तुं
निश्चिने, अय० १० उ० ।

अप्यज्झम-अल्पच्छन्दमति-त्रि० । आत्मच्छन्दा अत्मायत्ता
मनिर्यस्य कार्येष्वसाध्यात्मच्छन्दमनि । स्वाभिप्रायकार्यकारिणि,
" कस्स न होढी वेसो, अणञ्जुवगतो निरुवगारी य । अप्यज्झ-
मइ तो, पट्टियतो गनुकामो य " ॥ आ० म० प्र० । विशेष० ।

अप्यज्ज- (गु)-आत्मज्ञ-त्रि० । आत्मानं जानातीति आत्मज्ञः ।

" हो ज " ८।२ । ८३ । इति सूत्रेण अस्य वा मुक्त । याथार्थ्येना-
त्मतत्त्वज्ञातरि, प्रा० । अपरायसे, नि० चू० १ उ० ।

अप्यज्जो-आत्मज्योतिष्-पु० । आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽयमा-
त्मज्योतिः । ज्ञानात्मके पुरुषे, वेदे ह्ययं पुरुष आत्मज्योतिश्चेना-
भिधीयते ।

अत्यमिण् आइवे, चंदे संतासु अग्निवायासु ।

किं जोइरयं पुरिसो ? अप्यज्जो चि णिइहो ॥

अस्तमिते आदित्ये, चन्द्रमस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्तायां
वाचि याज्ञवल्क्यः- " किं ज्योतिरेवायं पुरुष ? आत्मज्योतिः सन्ना-
मिति होवाच " । ज्योतिरिति ज्ञानमाह, आदित्यास्तमयादौ ।
किं ज्योतिः ? इत्याह-अयं पुरुष इति, पुरुष आत्मेत्यर्थः । अयं च
कथंभूतः ? इत्याह- (अप्यज्जो चि) आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽय-
मात्मज्योतिः, ज्ञानात्मक इति हृदयम् । निर्दिष्टो वेदविद्भिः
कथितः, ततो न ज्ञानं भूतधर्म इत्यर्थः । विशेष० ॥

अप्यज्जो-देशी-आत्मवशे, दे० ना० १ वर्ग ॥

अप्यज्ज-अल्पज्ज-त्रि० । विगततथाविधाविप्रकीर्णवचने,
स्वा० ८ उ० । न० । भावावमोदरिकां प्रतिपन्ने, रा० ।

अप्यमिकंटय-अप्रतिकण्टक-त्रि० । न विद्यते प्रतिमङ्ग कण्टको
यत्र तदप्रतिकण्टकम् । अप्रतिमङ्गे, रा० ॥

अप्यक्खिरिय-अप्रतिवृत्त-पुं० । प्रादोषिके काले, " अप्यक्खि-
रिय कालं घेनुण य वेयण " प्रादोषिककालं यथा साधवः प्र-
तिजागरितं गृह्णन्ति । वृ० १ उ० ।

अप्यण-आत्मीय-त्रि० । अपञ्चशे, " शीघ्रादीनां बहिष्ठादयः " ॥
८।४।४२२ । इति सूत्रेण आत्मीयस्य 'अप्यण' इत्यादेशः । स्वकीये,
" फोमेति जेहि अमडं अप्यणठ " । प्रा० । स्वस्मिन्, उक्त० १ अ० ।
प्रश्न० । च० प्र० । शरीरे, आचा० १ शु० २ अ० ४ उ० ।

अप्यणन्द-आत्मच्छन्द-त्रि० । स्वतन्त्रे, " बहिष्णु त घर क-
हि किं वण्डं जेत्यु कुबुडं अप्यण-न्दउ " । प्रा० ।

अप्यणद-आत्मार्य-त्रि० । अनेन मे जीविका भविष्यतीति ।
स्वार्थे, दर्श० ।

अप्यणय-आत्मीय-त्रि० । प्राकृते- " ईयस्यात्मनो णय " । ८ ।
२ । १३३ । इति सूत्रेण आत्मनः परस्य यस्य णय इत्यादेशः ।
स्वकीये, प्रा० ।

अप्यण्ण-आत्मज्ञान-न० । ६ त० । वादादिव्यापारकाले
किममु प्रतिवादिन जेतु मम शक्तिरस्ति नवेति आलोचनरूपे
प्रयोगमनिसपञ्चेदे, उक्त० १५ अ० । आत्मपरिज्ञानमित्यप्यत्रा-
घ० २० ।

अप्यणिज्ज-आत्मीय-त्रि० । स्वकीये, " अप्यणिज्जियाप महि-
लाप " । आ० म० द्वि० । नि० चू० । दशा० ।

अप्यणो-स्वयम्-अव्य० । स्वयमित्यव्ययार्थे, " स्वयमोऽर्थे अप्य-
णो न वा " । ८ । २ । २०६ । इति सूत्रेण स्वयमित्यव्ययार्थे 'अ-
प्यणो' इत्यस्य वा प्रयोगः । " विसय विअसति अप्यणो कम-
लसरा " । पक्के-सय चैव मुणसि करणिज्ज " । प्रा० । " अप्यणो

अप्ययो

सेसपाइ ति " आत्मन आत्मीयानि । विपा० १ ध्रु० २ अ० ।
 अप्यतः-अल्पतर-त्रि० । अनिशयिते स्तोत्रे, " अप्यतराण से
 पावे कर्म कज्जह " । भ० ८ अ० ६ उ० । आचा० । सूत्र० ।
 अप्यनग्वध-अल्पतरवन्ध-पु० । अन्यत्वे कर्मणां बन्धे, यदा त्व-
 दधिधादिशुद्धवन्धको भूत्वा पुनरपि सप्तविधाअल्पतरवन्धको
 भवति स एव प्रथमममय एवाल्पतरवन्ध (कर्म०) ।
 यदा तु प्रचूता प्रवृत्तीर्बन्धन् परिणामविशेषतः स्तोका यमुमा-
 रजते यथाऽर्था यथा सप्त यन्नाति, सप्त वा यथा परं वा यथा
 एकां, तदानीं स बन्धोऽल्पतरः । तथा चाऽऽह-" एगाहकण-
 विद्वा " एकादिभिरेकद्विधादिभिः प्रवृत्तिरूपेण बन्धे द्विती-
 यप्रकार, अल्पतर इत्यर्थः । कर्म० ५ कर्म० ।
 अप्यतुमतुम-अल्पतुमतुम-त्रि० । विगतक्रोधमनोविकारविशेषे,
 सा० ८ अ० ।
 अप्यत-अल्पत्व-न० । तुल्यत्वे, प० ध० ४ अ० ।
 अप्यत्तिय-अप्रीतिक-न० । आप्यत्वात्तयारूपम् । सप्रेमिण, भ० ७
 अ० १ उ० । ध० । आ० म० । दर्श० । अप्रीतिस्वभावे, भ० १३
 अ० १ उ० । मनस परायास, साचा० २ ध्रु० ७ अ० २ उ० ।
 क्रोधे, सूत्र० १ ध्रु० १ अ० २ उ० । अपकरणे, नि० चू० १ उ० ।
 अप्यत्याम-अल्पस्यामन्-त्रि० । अल्पसामर्थ्ये, सूत्र० १ ध्रु० २
 अ० ३ उ० ।
 अप्यधण-अल्पधन-त्रि० । अल्पमूल्ये, " मदाधणे अप्यधणे
 व धत्ते, मुच्छिज्जनी जो आविविणभावे " ध्रु० ३ उ० ।
 अप्यपसग-अल्पपदेशक-त्रि० । अल्प स्तोक प्रदेशाप्र कर्म
 वृत्तिकपरिमाण यस्य सः । स्तोकप्रदेशाप्रके कर्मणि, न० १
 अ० १ उ० ।
 अप्यपज्जवजाय-अल्पपर्यायनात-न० । अल्पे तुपादौ त्य-
 जनीये, ध० ३ अधि० ।
 अप्यपरिणयचि-आत्मपरनिवृत्ति-स्त्री ० । आत्मन परेषां च प-
 रेण्यो निवृत्तौ, आलोचनाप्रदानतः स्वयमात्मनो दोषेण्यो निवृ-
 त्तिः, कृतानां तद् दृष्ट्वाऽप्यन्ये आलोचनाभिमुखा भवन्तीत्यन्येषा-
 मपि दोषेण्यो निवर्तनमिति ॥ व्य० १ उ० ॥
 अप्यपरिगह-अल्पपरिग्रह-पुं० । अल्पधनधान्यादिस्वीकारे, औ० ।
 अप्यपरिच्चाय-अल्पपरित्याग-पु० । स्वल्पतरगुणपरिहारे,
 पञ्चा० १८ विव० ।
 अप्यपाण-अल्पप्राण-त्रि० । अल्पशब्दोऽभावाभिधायी तथे-
 हापि, सूत्रत्वेन मत्वर्थीयशेषात् प्राणाः प्राणिन, अल्पा अविद्य-
 मानाः प्राणिनो यस्मिंस्तदल्पप्राणम् । अवस्थितागन्तुकजी-
 वविरहिते उपाश्रयादौ, उक्त० १ अ० । अल्प प्राणः प्राणन-
 क्रिया यस्मिन् । वृणंजेदे, यस्याधारणे अल्पप्राणवायोर्वापारस्त-
 म्मिन्, स च शिक्षायामुक्तः-"अयुमा वर्गयमगा", यणश्चाल्पास-
 व" स्मृताः " इति । तथा च वर्गेषु प्रथमतृतीयपञ्चमवर्गा य-
 मगा यवरलाश्च अल्पासव । तादृशवर्णोच्चारणवाह्यप्रयत्ने,
 बाह्यप्रयत्नस्तु पकादशधा-विचार सवार आसो नादो घोषो-
 ऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति ।
 अल्प प्राण प्राणहेतुक बलमस्य । अल्पवदे, त्रि० । वाच० ।
 अप्यपाणासि (ण)-अल्पपानाशिन-त्रि० । अल्प पानमाशि

तु शीघ्रमप्यासावल्पपानाशी । यन्त्रिज्जन पानपानरि, सूत्र० १
 ध्रु० ८ अ० ।

अप्यपिकाति (ण)-अल्पपिएमाशिन-त्रि० । अल्प स्तोक
 पिएममाशितु शीघ्रमस्यामावल्पपिएमाशी । यन्त्रिज्जनाशानि,
 तथा च आगम-"हे जन्मव" आमीय, जन्म न-य वसुहोवग-
 यनिहा । जेण व तेण व सनु-द्व धीरमुणिआं सिने अप्पा " ॥१॥
 सूत्र० १ ध्रु० १ अ० ।

अप्यभक्ति (ण)-अल्पभक्तिन्-त्रि० । स्तोकाहारकारिणि,
 उक्त० १५ अ० ।

अप्यभन-अल्पभव-पु० । परीतसांसारिकत्वे, प्रति० ।

अप्यनामि (ण)-अल्पनापिन्-त्रि० । कारणे परिमिनघ-
 चारि, दश० ८ अ० । " अप्य भासेज्ज सुवप " । तथा सुमतः
 साधुरल्प परिमित हित च भावेन, सर्वदा यिकधारहितो भवे-
 दित्यर्थः । सूत्र० १ ध्रु० ९ अ० ।

अप्यचूय-अल्पचूत-त्रि० । अल्पसत्त्वे, दशा० ४ अ० १ उ० ।

अप्यमइ-अल्पमति-त्रि० । अल्पबुद्धौ, क० प्र० ।

अप्यमहग्यानरण-अल्पमहार्थानरण-त्रि० । अल्पानि स्तोक-
 भारयन्ति महार्थाभरणानि बहुमूल्यवद्भूषणानि यस्यासौ तत्त-
 था । अल्पभारवद्बहुमूल्यनूषणयुक्ते, " एहाए सुकप्पावेसां
 अप्यमहग्यानरणा साओ गिहाओ पमिनिक्खमइ " उपा० १ अ० ।

अप्यरय-अल्परत-त्रि० । अल्पमिति अधिद्यमान रतमिति क्री-
 मित मोहनीयकर्मोदयजनितमस्येति अल्परत । क्रीकाविरहिते ह-
 वससमादौ, उक्त० १ अ० । कण्ठूपरिगने कण्ठूयनकल्परतर-
 हिते, दश० ९ अ० ४ उ० ।

अल्परजस्-त्रि० । रजोरहिते, उक्त० २ अ० । प्रतनुबध्यमानक-
 र्मणि, " सिक्के वा इवइ सासए देवे वा अप्परए मदिहिए "
 उक्त० १ अ० ।

अप्यलाहलज्जि-अल्पलानज्जि-पुं० । अल्पा तुल्ला वस्त्रपा-
 चादिलाने लब्धिर्यस्य सोऽल्पलानज्जिः । क्लेशेन वस्त्रपात्राणु-
 त्पादके, ध्रु० १ उ० ।

अप्यद्वीण-अप्रद्वीन-त्रि० । असद्यदे तीर्थिकेषु गृहस्थेषु पाभ्यं-
 स्वादिषु सत्प्रेमकुर्वति, " अणुक्कस्से अप्पलीणे, मज्जेण मुण्णि
 जावप " सूत्र० १ ध्रु० १ अ० ४ उ० ।

अप्यलीयमाण-अप्रलीयमान-त्रि० । कामेषु मातापित्रादिके
 वा लोके न प्रलीयमाना अप्रलीयमानाः । अनभिषक्ते, साचा०
 १ ध्रु० ६ अ० २ उ० ।

अप्यलेव-अल्पलेव-त्रि० । ६ अ० । अल्पशब्दोऽनाययाचकः ।
 पृथुकादौ निक्षेपे, आच० ४ अ० । पल्लवणकादौ नीरसे, ध०
 ३ अधि० ।

अप्यदेवा-अल्पलोपा-स्त्री० । निक्षेप पृथुकादि गृह्यतश्चतुर्थ्यां
 पिण्डपणायाम्, आच० ४ अ० । ध० । भाचा० । पञ्चा० । सूत्र० ।
 " जस्स दिज्जमाणदध्वस्स णिप्पायचरणमादिस्स पेयो ण भव-
 ति सा अप्यलेवा " नि० चू० १६ उ० । सा० चू० । अल्पलोपि-
 काऽप्यत्र, दशा० ७ अ० । स्तोकोऽल्पः पञ्चात्कर्मादिजनितः

कर्मबन्धो यस्या साऽल्पलेपा । चतुर्थ्यां पौनपण्यायाम्, तथा चाऽऽचाराद्भ्रम-^१ भस्मिन् खलु पार्श्वगादियसि अप्ये पच्छाकम्मे अप्पञ्जवजाए " ध० ३ अधि० ।

अप्पदस-आत्मतज्ञ-त्रि० । स्वश्रे, ग० २ अधि० ।

अप्पवसा-आत्मवशा-स्त्री० । नार्याम्, तस्या निरुद्धात्वेन स्व-
चञ्चदात्वात् । प्रा० को० ।

अप्पवाइ (ए)-आत्मवादिन्-पु० । 'पुरुष एवद् सर्वमित्या-
दि' प्रतिपञ्चे वादिनि, न० ।

अप्पवीय-अल्पबीज-त्रि० । अविद्यमानानि बीजानि शाल्या-
दीनि नीवारश्यामाकादीना यस्मिंस्तत् अल्पबीजम् । बीजस्योप-
लक्षणत्वात् एकेन्द्रियादिरहिते, वस्त० १ अ० । आचा० ।

अप्पवृद्धि-अल्पवृष्टि-स्त्री० । आसारे, प्रा० को० ।

अप्पवृष्टिकाय-अल्पवृष्टिकाय-पु० । अल्प स्तोकोऽविद्यमानो
वा, वर्षण वृष्टिरध पतन वृष्टिप्रधान कायो निकायोऽल्पवृष्टि-
काय । वर्षणधर्मयुक्त च उदक वृष्टि तस्या कायो राशिर्वृष्टि-
कायः । अल्पभासो वृष्टिकायश्चाल्पवृष्टिकाय । स्तोके व्योमनि
पतदप्काये, स्था० ।

अल्पवृष्टेश्च त्रीणि कारणानि-

तिहिं ठाणेहिं अप्पवृष्टिकाए सिया । तं जहा-तेसिं च एं
देसंसि वा पएसंसि वा णो बह्वे उदगजोणिया जीवा य
पोग्गला य उदगत्ताए वकमंति विउकमंति चयंति उव-
ज्जंति देवा नागा जक्खा एो सम्ममाराहिया भवति ।
तत्थ ममुद्धियं उदगपोग्गलं परिणयं वासिउकाम अन्नं देसं
साहरंति, अन्नवद्दलं च एं समुद्धियं परिणयं वासिउ-
कामं वाउयाए विहूणेऽ । इच्चैहिं तिहिं ठाणेहिं अप्पवृ-
ष्टिकाए सिया ।

(तेसिं ति)मगधादौ, चशब्दोऽल्पवृष्टिकारणान्तरसमुच्चयार्थः ।
णमिन्ध्वन्नकारे । देशे जनपदे, प्रदेशे तस्यैव एकदेशरूपे, बाशब्दौ
विकल्पायौ । उदकस्य योनयः परिणामकारणभूता उदकयोनयः
त एवोदकयोनिका उदकजननस्वभावा, व्युत्क्रामन्ति उत्पद्यन्ते,
व्यपक्रामन्ति, च्यवन्ते, एतदेव यथायोग पर्यायत आचष्टे-च्यवन्ते,
उत्पद्यन्ते, क्षेत्रस्वभावादित्येकम् । तथा देवा वैमनिका ज्योति-
ष्काः, नागा नागकुमारा, जवनपत्युपलक्षणमेतत् । यका भूता
इति व्यन्तरोपलक्षणम् । अथवा देवा इति सामान्यम् । नागादय-
स्तु विशेषम् एतद्वद्गण च प्राय एषामेवविधे कर्मणि प्रवृत्तिरि-
ति ज्ञापनाय विचित्रत्वाच्चा सूत्रगतेरिति, नो सम्यगाराधिता
ज्वन्ति । अविनयकरणाज्ज्ञानपदैरिति गम्यते । ततश्च तत्र मग-
धादौ देशे प्रदेशे वा तस्यैव समुत्थितमुत्पन्नम्-उदकप्रधान पौ-
त्रं पुत्रलसमूहो, मेघ इत्यर्थः । उदकपौत्रल तथा परिणतमुद-
कत्रायकावस्थां प्राप्तम् । अन एव विद्युदादिकारणात् वर्षितुकाम
सदृश्य देश मगधादिकः सद्गन्ति नयन्तीति द्वितीयम् । अन्ना-
णि मेघास्तैर्बर्द्धक दुर्दिनम्, अस्रवर्द्धकम् । (वाउयाए स्ति)
वायुकाय प्रचण्डवानो विधुनानि विध्वंसयन्तीनि तृतीयम् ।
" इच्चै " इत्यादि निगमनमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । अल्प-
शब्दस्याज्ञावचनत्वाद् अविद्यमानवर्त्ते, 'अथवा कयाइ पदम्

सर्दकावसमयसि अप्पवृष्टिकायसि " ज० १५ श० १ उ० ।
अप्पसत्तचित्त-अप्रशान्तचित्त-त्रि० । उत्कर्तकोधादिदृष्टित-
जावे, पञ्चा० २ विव० ।

अप्पसत्तमइ-अप्रशान्तमति-त्रि० । अप्रगिणतशिष्ये, " अप्र-
शान्तमनौ शास्त्र-सद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोर्दीर्घ-
शमनायमिव ज्वरे " ॥ १ ॥ सूत्र० १ भु० १४ अ० ।

अप्पसक्खिय-आत्मसाक्षिक-न० । आत्मा स्वजीवः, स स्व-
सचित्तप्रत्यक्षविरतिपरिणामपरिणतः साक्षी यत्र तदात्ममाक्षि-
कम् । स्वरूपवृत्तेऽनुष्ठाने, " सादृशसक्खिय देवसक्खिय अप्प-
सक्खिय " पा० ।

अप्पसत्तचित्त-अल्पसत्तचित्त-त्रि० । आपत्स्ववैकल्यकरम-
ध्यवसानकर च सत्त्वमुक्तम् । ततश्चाल्प तुच्छ सत्त्व यत्र तद-
ल्पसत्त्व, तच्चित्तं यस्य सोऽल्पमत्त्वचित्तः । चेतसा विफलवे,
" ए हि अप्पसत्तचित्तो धम्माहिगारी जओ होइ " । पञ्चा०
२ विव० ।

अप्पसत्तम-आत्मसत्तम-त्रि० । आत्मना सत्तमः । सत्तानां पू-
रण । आत्मा वा सत्तमो यस्यासावात्मसत्तमः । अन्यैः पद्भिः
सह विद्यमाने, " मल्लीण अरहा अप्पसत्तमे मुमे भविता "
स्था० ७ ठा० ।

अप्पसत्तिय-अल्पसाक्षिक-त्रि० । नि सारे, "सुसमत्थावऽस-
मत्था, कीरति अप्पसत्तिया पुरिसा । दीसति सूरवादी,णारी-
वसगा ए ते सुरा " ॥ १ ॥ सूत्र० १ भु० ४ अ० १ उ० ।

अप्पसद्-अल्पशब्द-पु० । विगतराट्यां ध्वनौ, स्था० ८
ठा० । राज्यादावमयनजागरणभयात् । ज० २५ श० ७ उ० ।
अल्पकसदे, कलङ्कोधकार्ये, औ० ।

अप्पसरयक्ख-अल्पसरजस्क-न० । अध्ये तृणादौ, आचा० २
भु० १ अ० ५ उ० ।

अप्पसार-अल्पमार-न० । अल्पं च तत्सार चेत्यल्पसारम् ।
प्रमाणतोऽल्पे वस्तुनः सारे, ज्ञा० १ अ० । " अप्पसार तुत्थ-
ति जीवा बधण " आ० म० प्र० । "अप्पसारिय एउ उवचर-
ति " नि० चू० १ उ० ।

अप्पमावज्जकिरिया-अल्पसावधक्रिया-स्त्री० । शुद्धायां वसतौ,
आचा० २ भु० २ अ० २ उ० । ('वसही' शब्देऽस्याः सूत्रम्)

अप्पसुय-अल्पश्रुत-त्रि० । अनधीतागमे, ज्ञा० २६ ठा० ।

अप्पसुह-अल्पमुख-त्रि० । ५ उ० । जोगसुखलवसम्पा-
दके, अविद्यमानमुखे च । प्रश्न० १ आ० ४ ठा० ।

अप्पहरिय-अल्पहरित-त्रि० । अल्पानि हरितानि दूर्वाप्रवाहा-
दीनि यत्र तत्तथा । दूर्वादिरहिते, आचा० २ भु० ५ अ०
६ उ० ।

अप्पहिंसा-अल्पहिंसा-स्त्री० । अल्पशब्दोऽज्ञाववाची । अ-
ल्पानामेव प्राणिनां हिंसायाम्, व्य० १ उ० ॥

अप्पा-आत्मन्-पु० । भवति सातत्येन गच्छति तौस्ताद् ज्ञान-
दर्शनसुखादिपर्यायानित्याद्यात्मादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसंज्ञवा-
त् । आ० म० द्वि० । जीवे, वस्त० २० अ० । (आत्मसिद्धादिव-
कल्पना 'आता' शब्दे द्वितीयज्ञाने १६७ पृष्ठे दृष्टव्या)

अप्पाइय-आप्यायित-त्रि० । मनोज्ञाहारैः स्वस्थीभूने, ५०१ उ० ।

अप्पाउअ-अल्पायुष्क-त्रि० । स्तोत्रजीविते, प्र० १०० आ० १०० ।

अप्पाउअत्ता-अल्पायुष्कता-स्त्री० । अल्पमायुर्यस्यासावल्पायुष्क, तद्भावस्तत्ता । अल्पायुष्कतायाम्, म० ५ श० ६ उ० । अल्पमायुर्जीवितं यद् तदल्पायुः, तद् भावस्तत्ता । जघन्यायुद्धे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (अल्पायुष्क. कारण 'आठ' शब्दे द्वितीयभागे ११ पृष्ठे वक्ष्यते)

अप्पाउरु-अप्रोवृत्त-पु० । प्रावरणवर्जके अभिग्रहविशेषग्राहके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अप्पानुरण-अप्रावरण-न० । प्रावरणनिषेधास्तद्विषयोऽभिग्रहोऽप्यप्रावरणम् । पञ्चा० ५ वि० १ । प्रावरणत्यागरूपेऽभिग्रहप्रत्याख्यानजेदे, प्र० ४ ठा० । अत्र पञ्च आकाराः—“ अभिग्रहेषु अप्पाउरणं कोऽप्यवकाशः, तस्स पंच (आगारा) अस्त्यऽणाभोगे, महसागारे, चोलपट्टागारे, महत्तरागारे सन्वसमाहिवत्तियागारे य ” ।

तथा च सूत्रम्—

अप्पाउरणं पमिवज्जति अभत्त्यऽणाभोगेणं, महसागारेणं, चोलपट्टागारेणं, महत्तरागारेणं, सन्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिर ति । आव० ६ अ० ।

चोलपट्टकादन्यत्र सागारिकप्रदर्शने चोलपट्टके गृह्यमाणेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः । प्र० ४ ठा० ।

अप्पाण-आत्मन-पु० । स्वस्मिन्, प्र० २ आ० २ ठा० । “ पु-स्यन भाणो राजवत्त ” । ७।३।५६ । पुल्लिङ्गे वर्तमानस्याभ्यन्तस्य स्थाने भाण इत्यादेशो वा भवति; पक्षे यथादर्शनं राजवत्कार्यं प्रवर्तते । भाणदेशे च “अतः सेमो.” (८।३।२) इत्यादयः प्रवर्तन्ते । पक्षे तु राज्ञः “जस्-शस्-ऊसि-ऊसां यो” (८।३।५०) “टो णा” (८।३।२४) “इणममामा” (८।३।५३) इति प्रवर्तन्ते । अप्पाणो । अप्पाणा । अप्पाण । अप्पाणे । अप्पाणेण । अप्पाणेहि । अप्पाणाओ । अप्पाणासुन्तो । अप्पाणस्स । अप्पाणाण । अप्पाणम्मि । अप्पाणेषु । अप्पाण-कम्मं । पक्षे राजवत् । अप्पा । अप्पाणो । हे अप्पा । हे अप्प ! अप्पाणो चिद्वृत्ति । अप्पाणो प्लुट् । अप्पाणा । अप्पेहि । अप्पाणो । अप्पाओ । अप्पाउ । अप्पाहि । अप्पाहिन्तो । अप्पा । अप्पासुन्तो । अप्पाणो धण । अप्पाण । अप्पा । अप्पासु । प्रा० । (य आत्मानमादर्शादौ पश्यति इति 'अणायार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे दर्शितम्) खजावे, न० । स्था० २ ठा० २ उ० ।

अप्पाणरक्खि (ण)-आत्मारक्षिन्-त्रि० । आत्मानं रक्षति पापेभ्यः । कुगतिगमनादिभ्य इत्येधशील आत्मारक्षी । आत्मन पापेभ्यो निवारके, उक्त० ४ अ० ।

अप्पाधार-अल्पाधार-पु० । अल्पस्य सूत्रस्य अर्थस्य वा आधारेऽल्पाधारः । सूत्रार्थनैपुण्यविक्रमे, व्य० १ उ० ।

अप्पाबहुय(ग)-अल्पबहुत्व-न० । अल्पं च स्तोक बहु च प्रचूतमल्पबहु, तद्भावोऽल्पबहुत्वम् । दीर्घत्वासंयुक्तत्वे च प्राकृतत्वादिति । स्था० ४ ठा० २ उ० । गत्यादिरूपमार्गस्था-मादीनां परस्परस्तोकभूयस्त्वे, कर्म० ४ कर्म० ।

(१) अल्पबहुत्वस्य चानुर्विध्यानिरूपणम् ।

(२) ठागसग्रहः ।

(३) पृथ्वीकायादीनां जघन्याश्रवगाहनयाऽल्पबहुत्वम् ।

(४) द्रव्यस्थानाद्यायुषामल्पबहुत्वम् ।

(५) आहारद्वारे आहारकानाहारकजीवानामल्पबहुत्वम् ।

(६) सेन्द्रियाणां परस्परमल्पबहुत्वम् ।

(७) उद्वर्तनापवर्तनयोरल्पबहुत्वम् ।

(८) उपयोगद्वारे साकागनाकारोपयुक्तानामल्पबहुत्वम् ।

(९) कषायद्वारे क्रोधकषयादीनामल्पबहुत्वम् ।

(१०) कायिकद्वारे सकायिकानामल्पबहुत्वम् ।

(११) क्षेत्रद्वारे जीवाः कस्मिन् क्षेत्रे स्तोकाः कस्मिन् बहव इत्यादिनिरूपणम् ।

(१२) गतिद्वारे चतुःपञ्चाष्टगतिसमासेनाल्पबहुत्वम् ।

(१३) चरमद्वारे चरमाचरमाणामल्पबहुत्वम् ।

(१४) जीवद्वारे जीवपुद्गलादीनामल्पबहुत्वम् ।

(१५) ज्ञानद्वारे ज्ञानिप्रमुखाणामल्पबहुत्वम् ।

(१६) दर्शनद्वारे दर्शनिनामल्पबहुत्वम् ।

(१७) दिग्द्वारे दिग्नुपातेन जीवानामल्पबहुत्वम् ।

(१८) परीतद्वारे परीतापरीतनोपरितानामल्पबहुत्वम् ।

(१९) पर्याप्तद्वारे पर्याप्तापर्याप्तनोपर्याप्तानामल्पबहुत्वम् ।

(२०) पुञ्जलद्वारम् ।

(२१) बन्धद्वारे आयुःकर्मबन्धकादीनामल्पबहुत्वम् ।

(२२) भवसिद्धिकद्वारम् ।

(२३) भाषकद्वारम् ।

(२४) महादण्डकद्वारम् ।

(२५) योगद्वारे चतुर्दशविधस्य संसारसमापन्नजीवस्य योगानामल्पबहुत्वम् ।

(२६) योनिद्वारम् ।

(२७) लेख्याद्वारे सलेख्यानामल्पबहुत्वम् ।

(२८) वेदद्वारम् ।

(२९) शरीरद्वारे आहारकादिशरीरिणामल्पबहुत्वम् ।

(१) तच्चतुर्विधम्—

चउन्विहे अप्पाबहुए पणत्ते । तं जहा-पगऽ-अप्पाबहुए, त्रिऽ-अणुभाव-पप्स-अप्पाबहुए ।

प्रकृतिविषयमल्पबहुत्व बन्धापेक्षया, यथा-सर्वस्तोकप्रकृतिबन्धक उपशान्तमोहादिकविधबन्धक, उपशमकादिसूक्ष्मसंपराय षड्विधबन्धक, बहुतरबन्धकः सप्तविधबन्धक, ततोऽष्टविधबन्धक इति । स्थितिविषयमल्पबहुत्वं यथा—“ सन्वन्थोवो सजयस्स जह्मओ त्रिऽबधो परिणियथायरपज्जल-गस्स जह्मओ त्रिऽबधो असस्सिज्जगुणो ” इत्यादि । अनुज्ञानं प्रत्यक्षबहुत्वं यथा—“ सन्वन्थोवाह अणनगुणवुद्धिछाणाणि असस्सिज्जगुणवुद्धिछाणाणि, असस्सिज्जगुणाणि सस्सिज्जगुणवुद्धिछाणाणि असस्सिज्जगुणाणि जाव अणनभागवुद्धिछाणाणि असस्सिज्जगुणाणि ” । प्रदेशाल्पबहुत्वं यथा-भट्टविदबधगस्स

य आउयभागो थोवो नामगोयाण तुल्लो विसेसाहिओ नाण-
दसणावरणतरायाण तुल्लो विसेसाहिओ मोहस्स विसेसाहि-
ओ वेयणिज्जस्स विसेसाहिओ त्ति । स्था० ४ ग० २ उ० ।

(२) तत्र द्वारसग्रहाद्याद्यम्—

दिसिगइडंढियकाए, जोए वेए कसायद्वेसाओ ।

सम्म तणाणदंसण-संजमउवओगआहारे ॥ १ ॥

भासगपरित्तपज्ज-त्तिसुहुमसणी जवऽत्थि से चरिमे ।

जीवए खेत्तं बंधे, पुग्गल्ल-महदंडए चेव ॥ २ ॥

प्रथम दिग्द्वारम् १, तदनन्तर गतिद्वारम् २, तत इन्द्रियद्वारम् ३, तत. कायद्वारम् ४, ततो योगद्वारम् ५, तदनन्तर वेदद्वारम् ६, तत. कषायद्वारम् ७, ततो वेद्याद्वारम् ८, ततः सम्यक्त्वद्वारम् ९, तदनन्तर ज्ञानद्वारम् १०, ततो दर्शनद्वारम् ११, ततः सयमद्वारम् १२, तत उपयोगद्वारम् १३, तत आहारद्वारम् १४, ततो ज्ञासकद्वारम् १५, तत (परित्त इति) परीताः प्रत्येकशरीरिण ब्रह्मपाक्षिकाश्च, तद्वारम् १६, तदनन्तर पर्याप्तिद्वारम् १७, तत. सूक्ष्मद्वारम् १८, तदनन्तर सद्भिद्वारम् १९, ततो (भव-
त्ति) भवसिद्धिद्वारम् २०, ततोऽस्तीति-अस्तिकायद्वारम् २१, ततश्चरमद्वारम् २२, तदनन्तर जीवद्वारम् २३, तत. क्षेत्रद्वारम् २४, ततो बन्धद्वारम् २५, तत. पुद्गलद्वारम् २६, ततो मदादयस्कः २७, इति सर्वसंख्यया सप्तविंशतिद्वाराणि । प्रज्ञा० ३ पद ।

(तत्र गार्थोपन्यस्तक्रममनाद्याकरानुक्रमतो द्वाराणि निरूप-
यिष्यन्ते, तथा मध्येऽन्वतः किञ्चिद् सगृहीतं प्रक्षिप्य प्ररू-
पयिष्यतेऽल्पबहुत्वम्) (अनुज्ञागवन्धस्थानानामल्पबहुत्व 'बध'
शब्दे द्रष्टव्यम्)

(३) [अवगाहना] पृथ्वीकायादीनां जघन्याद्यवगाहन-

याऽल्पबहुत्वम्—

एएसि णं जंते ! पुढवीकाइयाणं आऊ-तेऊ-बाऊ-
वणस्सइ-काइयाणं सुहुमाणं बादराणं पज्जत्तगाणं अप-
ज्जत्तगाणं जहमुक्कोमिया ओगाहणाए कयरे कयरेहिंतोप
जाव विसेसाहिआ वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमणिगो-
यस्स अपज्जत्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा १ । सुहुमवा-
उकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा अ-
संखेज्जगुणा २ । सुहुमतेऊ० अपज्जत्तगस्स जहप्पिया ओ-
गाहणा असंखेज्जगुणा ३ । सुहुमआऊ० अपज्जत्तगस्स जह-
प्पिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४ । सुहुमपुढवी० अपज्ज-
त्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ५ । बादरवा-
ऊकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा असंखे-
ज्जगुणा ६ । बादरतेऊ० अपज्जत्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा
असंखेज्जगुणा ७ । बादरआऊ० अपज्जत्तगस्स जहप्पिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा ८ । बादरपुढवी० अपज्जत्तगस्स
जहप्पिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ९ । पत्तेयसरीरवा-
दरवणस्सइकाइयस्स बादरनिओयस्स, एएसि णं अपज्ज-

त्तगाण जहप्पिया ओगाहणा दोएह वि तुल्ला असंखेज्ज-
गुणा १० । ११ । सुहुमनिओयस्स पज्जत्तगस्स जहप्पिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा १२ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स
उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिआ १३ । तस्स चेव पज्जत्तग-
स्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिआ १४ । सुहुमवाउकाइ-
यस्स पज्जत्तगस्स जहप्पिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा १५ ।
तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया विसेसाहिआ १६ । तस्स
चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिआ १७ ।
एवं सुहुमतेऊकाइयस्स वि १८ । १९ । २० । एवं सुहुम-
आउकाइयस्स वि २१ । २२ । २३ । एवं सुहुमपुढवीका-
इयस्स वि । २४ । २५ । २६ । एवं बादरवाउकाइयस्स
वि २७ । २८ । २९ । एवं बादरतेऊकाइयस्स वि ३० ।
३१ । ३२ । एवं बादरआउकाइयस्स वि ३३ । ३४ । ३५ ।
एवं बादरपुढवीकाइयस्स वि ३६ । ३७ । ३८ । सव्वोसिं
तिविहेणं गमेणं भाणियन्वं बादरनिओयस्स जहप्पिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा ३९ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स
उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिआ ४० । तस्स चेव प-
ज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिआ ४१ ।
पत्तेयसरीरवादरवणस्सइकाइयस्स जहप्पिया ओगाहणा
असंखेज्जगुणा ४२ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया
ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४३ । तस्स चेव पज्जत्तगस्स
उक्कोसिया असंखेज्जगुणा ४४ ।

इह किल पृथिव्यसेजोवायुनिगोदाः ५ प्रत्येकं सूक्ष्मबादर-
भेदाः । एवमेते दश; एकादश च प्रत्येकं वनस्पतिः । एते च प्रत्येकं
पर्याप्तकापर्याप्तकमेवा. २२ । तेऽपि जघन्योत्कृष्टावगाहना, इत्येव
चतुश्चत्वारिंशत्जीवज्जेषु स्तोकादिपदन्यासेनावगाहना व्या-
ख्येया । स्थापना चैवम्—पृथ्वीकायस्याऽधः सूक्ष्मबादरपदे,
तयोरधः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तपदे, तेषामधः प्रत्येकं जघन्योत्कृ-
ष्टा चावगाहनेति । एवमप्याद्यादयोऽपि स्थाप्याः । प्रत्येकवन-
स्पतेर्माधः पर्याप्तापर्याप्तपदद्वयम्, तयोरधः प्रत्येकं जघन्यो-
त्कृष्टा चावगाहनेति । इह च पृथिव्यादीनामहुलासख्येयजा-
गमावगाहनत्वेऽप्यसंख्येयजेदत्वादहुलासख्येयभागस्येतरे-
तरापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्व न विरुध्यते, प्रत्येकशरीरवनस्पती-
नां चोत्कृष्टावगाहना योजनसहस्रं समधिकमेव गन्तव्येति । ज०
१६ श० ३ उ० ।

(अस्तिकायद्वारे धर्मास्तिकायादीनां ह्यर्थतयाऽल्पबहु-
त्वम् 'अस्थिकाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५१४ पृष्ठे समुक्तम्)
(आत्मनामल्पबहुत्वम् 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १७० पृष्ठे
वक्ष्यते)

(४) [आयु] द्वयस्थानाद्यायुगामल्पबहुत्वम्—

एयस्स णं जंते ! दव्वहाणाउयस्स खेत्तहाणाउयस्स ओ-

गाहणद्वाणाउयस्स जावद्वाणाउयस्स कयरे कयरेहिंतो०
जात्र विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवे मेत्तद्वाणाउए
ओगाहणद्वाणाउए असंखेज्जगुणे, दव्वद्वाणाउए असंखे-
ज्जगुणे भावद्वाणाउए असंखेज्जगुणे, “ खेत्तोगाहणद्वे,
जावद्वाणाउयं च अप्पबहु । खेत्ते सव्वत्थोवे, सेसद्वाणा
असंखेज्जा ” ॥ १ ॥

(एयस्स ए भते ! दव्वद्वाणाउयस्स स्ति) द्रव्य पुञ्जद्रव्य,
तस्य स्थान भेदः परमाणुद्विप्रदेशकादि, तस्यायु स्थितिः ।
अथवा द्रव्यस्याणुत्वादिज्ञावेन यत् स्थानमवस्थान, तद्रूपमायु,
द्रव्यस्थानायु, तस्य; (खेत्तद्वाणाउयस्स स्ति) क्षेत्रस्याका-
शस्य, स्थान भेदः पुञ्जलावगादकृत, तस्यायु-स्थितिः । अथवा
क्षेत्रे एकप्रदेशादौ, स्थान यत्पुञ्जलानामवस्थान, तद्रूपमायु, क्षेत्र-
स्थानायु । एवमवगाहनास्थानायुर्भावस्थानायुश्च, नवरभवगा-
हनानियतपरिमाणक्षेत्रावगाहित्वं पुञ्जलानाम् । भावस्तु काल-
त्वादिः । ननु क्षेत्रस्यावगाहनायाश्च को भेदः ? उच्यते-क्षेत्रम-
वगादमेव । अवगाहना तु-विवक्षितक्षेत्रादन्यत्रापि पुञ्जलानां
तत्परिमाणवगाहित्वमिति । “ कयरे ” इत्यादि कएत्थम् । एषा
च परस्परैणाल्पबहुत्वव्याख्या गाथाऽनुसारेण कार्या । ताम्हेमा-
“ खेत्तोगाहणद्वे, भावद्वाणाउ अप्पबहुयत्ते ।

थोवा असखगुणिया, तिप्पि य सेसा कहं नेया ? ॥ १ ॥

खेत्ताऽनुत्तत्ताओ, तेण सम बधपच्चयाभावा ।

तो पोगलाण थोथो, खेत्तावद्वाणकालो उ ” ॥ २ ॥

अयमर्थ-क्षेत्रस्याऽमूर्तत्वेन क्षेत्रेण सह पुञ्जलानां विशिष्ट-
धर्मप्रत्ययस्य स्नेहादेरजाभाकैकत्र ते चिरं तिष्ठन्तीति शेषः । य-
स्मादेव तत् इत्यादि व्यक्तम् ।

अथावगाहनायुषो बहुत्व भाव्यते-

“ अन्न खेत्तगयस्स वि, त चियमाण चिर पि सधरह ।

ओगाहणनासे पुण, खेत्ताऽन्नत्तं फुमं होह ” ॥ ३ ॥

इह पूर्वार्धेन क्षेत्राकाया अधिकाऽवगाहनाहेत्युक्तम् । उत्तरा-
र्धेन तु अवगाहनाकातो नाधिका क्षेत्रादेति ।

कथमेतदेवम् ? इत्युच्यते-

“ ओगाहणावबद्धा, खेत्तदा मक्किया व बद्धा य ।

न उ ओगाहणकालो, खेत्तदामेत्तसबद्धो ” ॥ ४ ॥

अवगाहनायामगमनक्रियायां च नियता क्षेत्रादा विवक्षिता,
अवगाहनासद्भाव एवाक्रियासद्भावः । एव च तस्या-भावाद्भक्त
व्यतिरेके चाज्ञावात् । अवगाहना तु-न क्षेत्रमात्रनियता, क्षेत्रा-
काया अभावेऽपि तस्या भावादिति ।

अथ निगमनम्-

“ जम्हा तत्थ ऽअत्थ य, सव्वे ओगाहणा ज्वे खेत्ते ।

तम्हा खेत्तदाम्मो-ऽवगाहणद्धा असखगुणा ” ॥ ५ ॥

अथ द्रव्यायुषो बहुत्व भाव्यते-

“ सकोयविकोयण व, उवरमियाए ऽवगाहणाए वि ।

तत्थियमेत्ताण चिय, चिर पि इव्वाणऽवत्थाण ” ॥ ६ ॥

सकोचेन, विकोचेन वा उपरतायामप्यवगाहनायां यावन्ति
द्रव्याणि पूर्वमार्गैस्तावतामेव चिरमपि तेषामवस्थान समवति ।
अनेनावगाहनानिवृत्तावपि द्रव्य न निवर्तत इत्युक्तम् ।

अथ द्रव्यनिवृत्तिविशेषेऽवगाहना निवर्तत एवेत्युच्यते-

“ सघायमेयओ वा, दव्वोवरमे पुणाइ मखित्ते ।

नियमा तद्व्वोगा-इणाइ नासो न सदेहो ” ॥ ७ ॥

सङ्घातेन, पुञ्जलाना भेदेन वा तेषामेव य सकृत्त स्तोकाव-
गाहन स्कन्धो न तु प्राक्तनावगाहन, तत्र यो द्रव्योपरमो द्र-
व्यान्यथात्व, तत्र मति, न च सङ्घातेन न सङ्घिप्तः स्कन्धो भवति,
तत्र सति सुक्लानरत्वेनापि तत्परिणतेः भवणाद् नियमात्तेषां
द्रव्याणामवगाहनाया नाशो भवति ।

कस्मादेवम् ? इत्यत उच्यते-

“ ओगाहणा द्वे, सकोयविकोयओ य अवबद्धा ।

न उ दव्व सकोयण-विकोयमेत्तम्मि सबद्ध ” ॥ ८ ॥

अवगाहनाका द्रव्येऽवबद्धा नियतत्वेन सबद्धा । कथम् ? सङ्को-
चादिकोचाच्च, सङ्कोचादि परिहृत्येत्यर्थः । अवगाहनादिद्रव्ये
सङ्कोचाविकोचयोगभावे सति भवति, तत्सद्भावे च न प्रवर्त-
त्येव द्रव्येऽवगाहना नियतत्वेन सबद्धेत्युच्यते । इमत्वे सदिग-
त्वमिवेति । उक्तविपर्ययमाह-न पुनर्द्रव्य सङ्कोचाविकोचमात्रे
सत्यप्यवगाहनाया नियतत्वेन सबद्ध सङ्कोचाविकोचाज्यामव-
गाहनानिवृत्तावपि द्रव्य न निवर्तत इत्यवगाहनायां तन्निवृत्त-
त्वेनासबद्धमित्युच्यते, सदिगत्वे इमन्ववदिति ।

अथ निगमनम्-

“ जम्हा तत्थ ऽअत्थ व, दव्व ओगाहणाइ त खेव ।

दव्वद्धा सखगुणा, तम्हा ओगाहणद्धाओ ” ॥ ९ ॥

अथ भावायुर्बहुत्व भाव्यते-

“ सघायमेयओ वा, दव्वोवरमे वि पज्जवा सति ।

त कसिणगुणविरामे, पुणाइ दव्व न ओगाहो ” ॥ १० ॥

सङ्घातादिना द्रव्योपरमेऽपि पर्यवा सन्ति, यथा-घृष्टपुटे शु-
क्लादिगुणाः । सकलगुणोपरमे तु न तद्रव्य, न चावगाहनाऽनुव-
र्तते । अनेन पर्यवाणां चिर स्थान, द्रव्यस्य त्वविरमित्युक्तेम् ।

अथ कस्मादेवम् ? इत्युच्यते-

“ सघायमेयबधा-णुत्तिणी णिच्चमेव दव्वद्धा ।

न उ गुणकालो सघा-यमेयमत्तऽदसंबद्धो ” ॥ ११ ॥

सङ्घातभेदलक्षणाभ्यां धर्माज्यां यो बन्धः सन्धस्तदनुव-
र्तिनी तदनुसारिणी, सङ्घाताद्यभाव एव द्रव्याकाया सद्भावात्,
तद्भावे चाज्ञावात् ; नपुनगुणकाल, सङ्घातभेदमात्रकालसबद्धः
सङ्घातादिनायेऽपि गुणानामनुवर्त्तनादिति ।

अथ निगमनम्-

“ जम्हा तत्थ ऽअत्थ व, दव्वे खेत्तावगाहणासु च ।

त खेव पज्जवा स-ति वा तदद्धा असखगुणा ” ॥ १२ ॥

“ आह अणेगतो यं, दव्वोवरमे गुणाण ऽवत्थाण ।

गुणविप्परिणामम्मि य, दव्वविसेसो य ऽणेगतो ” ॥ १३ ॥

द्रव्यविशेषो द्रव्यपरिणामः ।

“ विप्परिणयम्मि दव्वे, कस्सि गुणपरिणहं भवे जुगवं ।

कम्मि विपुलतदवत्थे, वि होइ गुणविप्परिणामो ” ॥ १४ ॥

“ प्रबद्ध सच्च किं पुण, गुणबाहुला न सव्वगुणनासो ।

दव्वस्स तदद्वत्ते, वि बहुत्तराण गुणाण णिहं ” ॥ १५ ॥ ति । भ०
५ भा० ७ उ० ।

(नैरयिकाद्यायुषामल्पबहुत्वम्—“ आठ ” शब्दे द्वितीयभागे ११-१२ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (जातिनामनिधत्तायुरादीनां भेदा ' आठवध ' शब्दे द्वितीयभागे ३६ पृष्ठे वक्ष्यते)

(५) [आहारद्वारम्] आहारकानाहारकजीवानामल्पबहुत्वम्—
एएसि एणं भंते ! जीवाणं आहारगाणं अणाहारगाणं
य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
जीवा अणाहारगा आहारगा असंखिज्जगुणा ।

सर्वस्तोका जीवा अनाहारका, विग्रहगत्यापन्नादीनामेवाना-
हारकत्वात् । उक्तं च—“ विग्रहगत्यापन्ना, केवलिणो समुह-
या अजोगी य । सिद्धाय अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ” ॥१॥
तेज्य आहारका असंख्येयगुणा । ननु वनस्पतिकायिकानां
सिद्ध्योऽप्यनन्तत्वात् तेषां आहारकतयाऽपि लज्यमानत्वात्
कथमनन्तगुणा न भवन्ति ? । नदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् ।
इह सूक्ष्मनिगोदा सर्वसङ्ख्याऽप्यसङ्ख्याः, तत्राप्यन्तर्मुहूर्त-
समयराशितुल्या सूक्ष्मनिगोदा सर्वकालविग्रहे वस्तमाना
लज्यन्ते । ततोऽनाहारका अप्यनिवहवः सकलजीवराश्यस-
ख्येयभागानुल्या इति । तेज्य आहारका असंख्येयगुणाः, ते च
नानन्तगुणा । गतमाहारद्वारम् । प्रज्ञा ० ३ पद । जी० । कर्म ० ।
(इन्द्रियाणामवगाहनयाऽल्पबहुत्व, तेषां कर्कशादिगुणाश्च ' इ-
न्द्रिय ' शब्दे द्वितीयभागे ५५४ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

(६) [इन्द्रियद्वारम्] सेन्द्रियाणां परस्परमल्पबहुत्वम्—
एएसि एणं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं
तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अणेदिआणं य कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया
वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया चउरिंदिया वि-
सेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वेइंदिया विसेसाहिया,
अणिंदिया अणंतगुणा, एगिंदिया अणं ० । सइंदिया वि० ।
सर्वस्तोका पञ्चेन्द्रिया सख्येया, दशयोजनकोटाकोटिप्र-
माणविष्कम्भसूत्राप्रतिप्रतरासख्येयभागवर्त्यसख्येयश्रेणिगता-
काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः,
विष्कम्भसूत्रास्तेषां प्रभूतसख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणत्वात् ।
तेज्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिका, तेषां विष्कम्भसूत्राः प्र-
भूततरसख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि द्वीन्द्रिया
विशेषाधिका, तेषां विष्कम्भसूत्राः प्रभूततरसख्येययोजनको-
टाकोटिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि त्रीन्द्रिया अनन्तगुणा, सिद्धानाम-
नन्तत्वात् । तेज्योऽपि एकेन्द्रिया अनन्तगुणा, वनस्पतिका-
यिकानां सिद्ध्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेज्योऽपि सेन्द्रिया वि-
शेषाधिका, द्वीन्द्रियादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तदेवमुक्तमेक-
मौधिकानामल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा ० ३ पद । जी० । अर्थतत्त्वैत्यम्—
' पणं १ चउ २ ति ३ दुय ४ अणिंदिय ५, एगिंदिय ६ सइ-
दिया कमा हुति । थोवा १ निजि य आहिया ४, दोऽणतगुणा ६
विसेसाहिया ” ॥ १ ॥ म० २५ श० ३ उ० । जी० ।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एणं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं तेइं-
दियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अपज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! पंचिंदिया अपज्जत्ता, चउरिंदिया

अपज्जत्ता विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्ता विसे-
साहिया, वेइंदिया अपज्जत्ता विसेसाहिया, एगिंदिया
अपज्जत्ता अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्ता विसेसाहिया ।

सर्वस्तोका पञ्चेन्द्रिया अपर्याप्ता. एकस्मिन्प्रतरे यावन्त्य-
हुत्वासख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् ।
तभ्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूताहुत्वासख्ये-
यभागखण्डप्रमाणत्वात् । तेज्यस्त्रीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषा-
धिका, प्रभूततरप्रतराहुत्वासख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात् । ते-
ज्योऽपि द्वीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिका, प्रभूततमाहुत्वा-
सख्येयजागखण्डप्रमाणत्वात् । तेज्य एकेन्द्रिया अपर्याप्ता
अनन्तगुणा, वनस्पतिकायिकानामपर्याप्तानामनन्ततया सदा
प्राप्यमाणत्वात् । तेज्योऽपि सेन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः,
द्वीन्द्रियाद्यपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् । गत द्वितीयमल्पबहुत्व-
म् । प्रज्ञा ० ३ पद । जी० ।

अधुनैतेषामेव पर्याप्तापर्याप्तगतमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एणं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं ते-
इंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्ताणं कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया
वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पज्जत्ता चउरिंदिया पंचिं-
दिया पज्जत्ता विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्ता विसे-
साहिया, वेइंदिया पज्जत्ता विसेसाहिया, एगिंदिया
पज्जत्ता अणंतगुणा, सइंदिया पज्जत्ता सखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोकाश्चतुरिन्द्रिया पर्याप्ता, यतोऽल्पायुषश्चतुरिन्द्रियाः,
ततः प्रभूतकाशमवस्थानाभावात् । पृच्छासमये रतोका अपि
प्रतरे यावन्त्यहुत्वासख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणा
वेदितव्याः । तेभ्य पञ्चेन्द्रियपर्याप्ता विशेषाधिका, प्रभूताहुत्वा-
सख्येयजागखण्डप्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि द्वीन्द्रिया पर्याप्ता वि-
शेषाधिका, प्रभूततरप्रतराहुत्वासख्येयजागखण्डप्रमाणत्वात् । ते-
ज्योऽपि त्रीन्द्रिया पर्याप्ता विशेषाधिकाः, स्थमावत एव तेषां
प्रभूततमप्रतराहुत्वासख्येयजागखण्डप्रमाणत्वात् । तेज्य एके-
न्द्रिया पर्याप्ता अनन्तगुणा, वनस्पतिकायिकानां पर्याप्ताना-
मनन्तत्वात् । तेज्य सेन्द्रिया पर्याप्ता विशेषाधिका, द्वीन्द्रिया-
दीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् । गत तृतीयमल्पबहुत्वम् ।
सम्प्रत्येषामेव सेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तगतान्यल्पबहुत्वा-
न्याह—

एएसि एणं भंते ! सइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं क-
यरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहि-
या वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सइंदिया अपज्जत्ता प-
ज्जत्ता सइंदिया सखेज्जगुणा । एएसि एणं भंते ! एगिं-
दियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४
? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगिंदिया पज्जत्ता एगिंदिया
अपज्जत्ता असं ० । एएसि एणं भंते ! वेइंदियाणं पज्जत्ता-
पज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा वेइंदिया पज्जत्ता वेइंदिया अपज्जत्ता असं-

स्वेज्जगुणा । एससि एं जंते ! तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ता-
णं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थो-
वा तेइंदिया पज्जत्तगा, तेइंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्ज-
गुणा । एससि एं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ५ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा
चउरिंदिया पज्जत्तगा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा अमं-
खेज्जगुणा । एससि एं भंते ! पंचेदियाणं पज्जत्तापज्ज-
त्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ५ ! गोयमा ! सव्व-
त्थोवा पंचेदिया पज्जत्तगा, पंचेदिया अपज्जत्तगा
असंखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः सेन्द्रिया अपर्याप्ताः, इह सेन्द्रिया एव बह-
स्तत्रापि सूक्ष्माः, तेषां सर्वस्तोकापन्नत्वात् । सूक्ष्माभ्यापर्याप्ताः
सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः सख्येयगुणा इति । सेन्द्रिया अपर्याप्ता स-
र्वस्तोकाः पर्याप्ताः सख्येयगुणाः । एवमेकेन्द्रिया अपर्याप्ताः
सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः सख्येयगुणा भावनीयाः । तथा सर्वस्तो-
का द्विन्द्रियाः पर्याप्ताः, यावन्ति प्रतरेऽहुलस्य असंख्येयभाग-
मात्राणि खरुमानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तेज्योऽपर्याप्ता
असंख्येयगुणाः, प्रतरगताङ्गुलासख्येयभागखरुमात्रत्वात् ।
एव त्रिचतुरिन्द्रियाल्पत्वान्यपि वक्तव्यानि । गत षडल्पबहु-
त्वात्मक चतुर्थमल्पबहुत्वम् ।

सम्प्रत्येतेषां सेन्द्रियादीनां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानामल्प-
बहुत्वमाह—

एससि एं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाणं
तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचेदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ५ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा
चउरिंदिया पज्जत्तगा, पंचेदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया,
वेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्तगा विसे-
साहिया, पंचेदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, चउरिं-
दिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तगा
विसेसाहिया, वेइंदिया अपज्जत्तगा विमेसाहिया, एगिं-
दिया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्तगा विसे-
साहिया, एगिंदिया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सइंदिया पज्ज-
त्तगा विसेसाहिया, सइंदिया विसेसाहिया ।

इह प्रागुक्तद्वितीयतृतीयाल्पबहुत्वभावनानुसारिणा स्वयं प्रा-
प्तीयम्, तत्त्वतो भावितत्वात् । गतमिन्द्रियद्वारम् ॥ प्रज्ञा० ३ पद ।
जी० । प्रव० । (इन्द्रियोपयोगाद्विषयमल्पबहुत्वम् - 'इन्द्रियव-
यभोगका' शब्दे द्वितीयभागे ५६८ पृष्ठे प्ररूपयिष्यते)

(७) [उद्वर्तनाऽपवर्तनयोरल्पबहुत्वम्] सम्प्रति द्वयोरपि

उद्वर्तनापवर्तनयोरल्पबहुत्व सूत्रकृत् प्रतिपादयति—

योवं पएसगुणहा-णि अंतरे दुसु जहन्ननिकखेवो ।

कमसो अणत्तगुणिओ, दुसु वि अइत्थावणा तुह्वा ॥ २२२ ॥

वाघाण्णऽणुभाग-कंडगमकाववग्गणाऊण ।

उक्किट्ठो निकखेवो, ससंतबंधो य सविमेमो । २२३ ॥

एकस्यां दिशि स्थितौ यानि स्पर्शकानि तानि क्रमशः स्था-
प्यन्त । तथा-सर्वजघन्य रसस्पर्शकमाद्यौ, ततो विशेषाधि-
करस द्वितीयम्, ततो विशेषाधिकरस तृतीयम् । एव तावत्स-
र्घोत्कृष्टरसमन्ते । तत्राऽऽदिस्पर्शकादारभ्योत्तरोत्तरस्पर्शकानि
प्रदेशापेक्षया विशेषादीनानि, अन्तिमस्पर्शकादारभ्य पुनरधोऽध-
क्रमेण प्रदेशापेक्षया विशेषाधिकानि, तेषां मध्ये एकस्मिन् द्विगु-
णवृद्धान्तरे द्विगुणहान्यन्तरे वा यत् स्पर्शकं यानि तत् सर्वस्तो-
कम् । अथवा छेदप्रत्ययस्य स्पर्शकस्य अनुभागद्विगुणवृद्धान्तरे,
द्विगुणहान्यन्तरे वा यदनुजागपटव तत्सर्वस्तोकान्येव प्राप्यन्ते ।
अन्तिमस्थितिषु प्रभूतानि, इति स्पर्शकसंख्यापेक्षया द्वयोरपि नि-
क्षेपस्तुल्यः । एवमतिस्थापनायामुत्कृष्टानिक्षेपेऽपि च भावनीयम् ।
क्रमश इति च सकलगाथाऽपेक्षया यांजनीयम् । ततो द्वयोरप्यति-
स्थापना व्याघातबाह्या अनन्तगुणा, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या ।
ततो "वाघापणेत्यादि" व्याघातेन यद् उत्कृष्ट अनुभागकण्डकमे-
कया वर्णयथा एकसमयमात्रस्थितिगतस्पर्शकसहतिरूपया ऊ-
नम्, एषा उत्कृष्टानुभागकण्डकस्य याऽतिस्थापना, सा अनन्तगुणा ।
तत उद्वर्तनापवर्तनयोरुत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिक, स्वस्थाने तु
परस्पर तुल्य । ततः (ससंतबंधो य सविसेसो सि) पूर्वबद्धोत्कृ-
ष्टस्थितिकर्मानुजागेन सह उत्कृष्टस्थित्यनुभागबन्धो विशेषा-
धिकः । क० प्र० ॥

(७) [उपयोगद्वारम्] साकाराऽनाकारो-

पयुक्तानामल्पबहुत्वम्—

एससि एं जंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताणं अणगारोव-
उत्ताणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थो-
वा जीवा अणगारोवउत्ता सागारोवउत्ता संखिज्जगुणा ।

इहानाकारोपयोग कालः सर्वस्तोकः, साकारोपयोगकालस्तु
सङ्केधयगुणः । ततो जीवा अप्यनाकारोपयोगोपयुक्ताः सर्व-
स्तोकाः, पृच्छासमये तेषां स्तोकानामेवावाप्यमानत्वात् ।
तेभ्य साकारोपयोगोपयुक्ता सङ्केधयगुणाः, साकारोपयोगका-
लस्य दीर्घतया तेषां पृच्छासमये बहूनां प्राप्यमाणत्वात् । गतमु-
पयोगद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । पं० सं० । क० प्र० ।

(कति सञ्चिताना कति असञ्चितानामवक्तव्यकसञ्चितानां षड्-
कसमर्जितानां यावच्चतुरशीतिसमर्जितानां, कर्मप्रदेशाग्राह्या-
मल्पबहुत्व 'बध' शब्दे प्रदेशबन्धावसरे वक्ष्यते)

(८) [कषायद्वारम्] क्रोधकषायादीनामल्पबहुत्वम्—

एससि एं जंते ! जीवाणं सकसाईणं कोहकसाईणं
माणकसाईणं मायाकसाईणं दोजकसाईणं अकमाईणं
य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा
जीवा अकसाई, माणकसाई अणंतगुणा, कोहकसाई विसे-
साहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, दोजकसाई विसेसाहि-
या, सकसाई विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका अकषायिण, सिद्धानां कतिपयानां च मनुष्याणाम-
कषायत्वात् । तेभ्यो मानकषायिणो मानकषायपरिणामधनोऽनन्त
गुणाः, पदस्यपि जीवनिकायेषु मानकषायपरिणामस्याऽवाप्यमान-
त्वात् । तेभ्य क्रोधकषायिणो विशेषाधिका, तेभ्यो मायाकषादि-
णो विशेषाधिका, तेभ्योऽपि लोभकषायिणो विशेषाधिकाः, मा-

नकषायपरिणामकालापेक्षया क्रोधादिकषायपरिणामकालस्य यथोत्तर विशेषाधिकनया क्रोधादिकषायपरिणामवि यथोत्तर विशेषाधिकत्वभावान् । लोभकषायिण्य सामान्यतः सकषायिणो विशेषाधिकाः, मानादिकषायपरिणामवि तत्र प्रक्षेपात् । सकषायिण इत्यत्रैव व्युत्पत्तिः-कषायशब्देन कषायोदय परिगृह्यते, तथा च लोके व्यवहार-सकषायोदय, कषायोदयवानि-त्यर्थः । सह कषायेण कषायोदयेन वर्तन्ते सकषायोदया वि-पाकावस्थां प्राप्ताः स्वोदयमुपदर्शयन्तः कषायकर्मपरिमाणव-न्तस्तेषु सत्सु जीवस्यावश्यं कषायोदयसम्भवात् । सकषाया वि-द्यन्ते येषां ते सकषायिणः, कषायोदयसहिता इति तात्पर्यार्थः । गतं कषायद्वारम् । प्रश्ना० ३ पद । जी० । कर्म० । सकषायि-णामकषायिणां चाल्पबहुत्वचिन्तायां, सर्वस्तोका अकषायि-णः, सकषायिणोऽनन्तगुणाः । जी० ८ प्रति० । (काम-भोगविषयमल्पबहुत्व 'कामभोग' शब्दे बह्यते)

(१०) [कषायद्वारम्] सकषायिकानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं जंते ! सकाड्याणं पुढविकाड्याणं आलकाड्या-
याणं तेउकाड्याणं वाउकाड्याणं वणस्सइकाड्याणं तसकाड्या-
याणं अकाड्याणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोय-
मा ! सन्वत्थोवा तसकाड्या, तेउकाड्या असंखेज्जगुणा,
पुढविकाड्या विसेसाहिया, आलकाड्या विसेसाहिया, वा-
उकाड्या विसेसाहिया, अकाड्या अणतगुणा, वणस्सइ-
काड्या अणतगुणा, सकाड्या विसेसाहिया वा ॥

सर्वस्तोकासकषायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव असकषायिक-
त्वात्, तेषां च शेषकषायपेक्षया अत्यल्पत्वात् । तेन्यस्तेजसका-
यिका असंखेयगुणाः, असंखेयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । ते-
न्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाका-
शप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेन्योष्कायिका विशेषाधिकाः, प्रभू-
नतरासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेन्यो वायुकायिका
विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् ।
तेन्योष्कायिका अनन्तगुणा, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेन्यो
वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशराशिमा-
नत्वात् । तेन्यः सकायिका विशेषाधिका, पृथिवीकायिकादी-
नामपि तत्र प्रक्षेपात् । उक्तमौघिकानामल्पबहुत्वम् । प्रश्ना० ३
पद । जी० । अर्थतत्त्वम्—“तस-तेउ-पुढवि-जल-वा, उकाय-अ-
काय वणस्सइसकाया ७ । थोवा १ ५ संखगुणादिय २, तिज्जि
५ शोऽणतगुणा ७ अहिय” इति । प्र० २५ श० ३ व० १ प० स० ।

इदानीमेतेषामेवापर्यासानां द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! सकाड्याणं पुढविकाड्याणं आलकाड्या-
णं तेउकाड्याणं वाउकाड्याणं वणस्सइकाड्याणं तसकाड्या-
याणं य अपज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोय-
मा ! सन्वत्थोवा तसकाड्या अपज्जत्तगा, तेउकाड्या अ-
पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाड्या अपज्जत्तगा वि-
सेसाहिया, वाउकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउका-
ड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाड्या अपज्ज-

त्तगा अणतगुणा । सकाड्या अपज्जत्तगा विसेसाहिया ।
प्रश्ना० ३ पद । (टीका चास्य सुगमाऽतो न प्रतन्यते)

साम्प्रतमेतेषामेव पर्यासानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! सकाड्याणं पुढविकाड्याणं आलकाड्याणं
तेउकाड्याणं वाउकाड्याणं वणस्सइकाड्याणं तसकाड्याणं
य पज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा !
सन्वत्थोवा तसकाड्या पज्जत्तगा, तेउकाड्या पज्जत्तगा
असंखेज्जगुणा, पुढविकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया,
आलकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाड्या पज्ज-
त्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाड्या पज्जत्तगा अणतगुणा,
सकाड्या पज्जत्तगा विसेसाहिया । प्रश्ना० ३ पद ।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकायिकादीनां प्रत्येकं पर्यासापर्या-

सगतमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! सकाड्याणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया
वा ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा सकाड्या अपज्जत्तगा, सका-
ड्या पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं जंते ! पुढविकाड्याणं
पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा
तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा पुढ-
विकाड्या अपज्जत्तगा, पुढविकाड्या पज्जत्तगा संखिज्ज-
गुणा । एएसि णं जंते ! आलकाड्याणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सन्वत्थोवा
आलकाड्या अपज्जत्तगा, आलकाड्या पज्जत्तगा संखि-
ज्जगुणा । एएसि णं जंते ! तेउकाड्याणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सन्वत्थोवा
तेउकाड्या अपज्जत्तगा, तेउकाड्या पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।
एएसि णं जंते ! वाउकाड्याणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सन्वत्थोवा वाउकाड्या
अपज्जत्तगा, वाउकाड्या पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं
जंते ! वणस्सइकाड्याणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सन्वत्थोवा वणस्सइकाड्या अप-
ज्जत्तगा, वणस्सइकाड्या पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं
जंते ! तसकाड्याणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सन्वत्थोवा तसकाड्या पज्जत्त-
गा, तसकाड्या अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । प्रश्ना० ३ पद ।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकायिकादीनां समुदितानां

पर्यासापर्यासगतमल्पबहुत्व पञ्चममाह—

एप्सि णं जंते ! सहाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मव्वत्थोवा तमकाइया पज्जत्तगा, तसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, तेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, तेउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, पुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, अप्पकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, वणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, मकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, मकाइया विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकासकायिका. पर्यासकाः, तेभ्यस्सकायिका पवाऽपर्यासका असख्येयगुणाः, द्विन्दीयादीनामपर्यासानां पर्यासक्रियादिभ्योऽसंख्येयगुणत्वात् । ततस्तेजस्कायिका अपर्यासा असंख्येयगुणाः, असख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । ततः पृथिव्यम्बुवायवोऽपर्यासाः क्रमेण विशेषाधिकाः । ततस्तेजस्कायिकाः पर्यासका सङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्यासेभ्यः पर्यासानां सख्येयगुणत्वात् । ततः पृथिव्यद्वायवः पर्यासाः क्रमेण विशेषाधिकाः । ततो वनस्पतयोऽपर्यासा अनन्तगुणा । पर्यासा सङ्ख्येयगुणाः । तदेव कायद्वारे सामान्येन पञ्चसूत्राणि प्रतिपादितानि ॥

सम्प्रत्यस्मिन्नेव द्वारे सूक्ष्मवादरादिभेदेन

पञ्चदश सूत्राण्याह—

एप्सि णं भंते ! सुहुपाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमणिओयाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया सुहुमपुढविकाइया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा असंखेज्जगुणा । सुहुमवणस्सइकाइया अणंतगुणा, सुहुमा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका. सूक्ष्मतेजस्कायिकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेषाधिका, प्रचूतासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्माकायिकाः, प्रचूततरासख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिका, प्रचूततमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा असंख्येयगुणा । सूक्ष्ममहण वाद्व्यवच्छेदार्थम् । द्विविधा हि निगोदाः—सूक्ष्मा, वादराश्च । तत्र वादरा. सूरणकन्दादिषु, सूक्ष्मा. सर्वलोकापन्ना, ते च प्रतिगोलकमसङ्ख्येया इति सूक्ष्मवायुकायिकेभ्योऽसंख्येयगुणा । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अनन्तगुणा, प्रतिनिगोदमनन्तानां प्राप्तात् । तेभ्यः सामानिका सूक्ष्मजीवा विशेषाधिका, सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतमौघिकानामिदमल्पवहुत्वम् ।

इदानीमेतेषामेवाऽपर्यासानामाह—

एप्सि णं भंते ! सुहुमअपज्जत्तगाणं सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया ॥

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयम् ।

सम्प्रत्येतेषामेव पर्यासानां तृतीयमल्पवहुत्वमाह—

एप्सि णं जंते ! सुहुमपज्जत्तगाणं सुहुमपुढविकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमआउकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमवाउकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमवणस्सइकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमनिगोदपज्जत्तगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा पज्जत्ता विसेसाहिया ।

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयम् । प्रश्ना० ३ पद ।

पृथिव्यसेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां नवानामल्पवहुत्वचिन्तायामाह—

अप्पावहुगं सव्वत्थोवा पंचिंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वेइंदिया विसेसाहिया. तेउकाइया असंखेज्जगुणा, पुढवि० आउ० वाउ० विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका पञ्चेन्द्रिया. संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणविष्कम्भसूचीप्रमितराश्यसख्येयजागवत्यसख्येयधेनिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिका, विष्कम्भसूच्यास्तेषां प्रचूतसख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिका, तेषां विष्कम्भसूच्या प्रचूततरसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया विशेषाधिका, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततमसख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तेजस्कायिका असंख्येयगुणा, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिका, प्रभूतासख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्यकायिका विशेषाधिका, प्रचूततरासख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाण-

त्वात् । तेज्यो वायुकायिका विशेषाधिका , प्रज्ञतमासख्येय-
लोककाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्यो वनस्पतिकायिका अनन्त-
गुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । जी० १ प्रति० ।

सम्प्रति एतेषामेवानिन्द्रियमहिनानां दशानामल्पबहुत्वमाह-
एएसि एं भंते ! पुढविकाइयाणं अउकाइयाणं तेउ०,
वाउ०, वणप्फति०, वेडदियाणं तेडदियाणं चउरिंदियाणं पचिं-
दियाणं अणिंदियाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० जाव
विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पचेंदिया, चउरिंदिया
विसेसाहिया, तेडदिया विसेसाहिया, वेडदिया वि०, तेउकाइ-
या असखेज्जगुणा । पुढविकाइया वि०, अउकाइया वि०,
वाउकाइया वि०, अणिंदिया अणंतगुणा, वणप्फतिकाइया
अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका. पञ्चेन्द्रिया, चतुरिन्द्रिया विशेषाधिका, त्रीन्द्रि-
या विशेषाधिका, द्वीन्द्रिया विशेषाधिका, तेजस्कायिका
असख्येयगुणाः, पृथिवीकायिका विशेषाधिका, अप्कायिका
विशेषाधिका, वायुकायिका विशेषाधिका, अनिन्द्रिया अन-
न्तगुणा, वनस्पतिकायिका अनन्तगुणा । जी० १० प्रति० ।

अधुनाऽमीषामेव सूक्ष्मादीनां प्रत्येक पर्याप्तगता—

न्यल्पबहुत्वान्याह—

एएसि एं जंते ! सुहुमाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमा अपज्ज-
त्तगा, सुहुमा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं भंते !
सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमपुढविकाइया
अपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।

इदं बादरेषु पर्याप्तेज्योऽपर्याप्ता असख्येयगुणाः, एकैकपर्या-
प्तनिभ्रया असंख्येयानामपर्याप्तानामुत्पादात् । तथा चोक्तं प्राक्
प्रथमे प्रज्ञापनाख्ये पदे—“ पज्जत्तगानिस्साए अपज्जत्तगा
वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असखेज्ज ” इति । सूक्ष्मेषु
पुनर्नाय क्रमः । पर्याप्तापरापर्याप्तापेक्षया चिरकालावस्थायिन
इति । सदैव ते बहवो लभ्यन्ते । तत उक्तम्—सर्वस्तोकाः सूक्ष्मा
अपर्याप्ता, तेज्यः सूक्ष्मा पर्याप्तका संख्येयगुणा, एव पृ-
थिवीकायिकादिष्वपि प्रत्येक भावनीयम् । गत चतुर्थमल्पब-
हुत्वम् ।

इदानीं सर्वेषां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तगता पञ्चममल्पबहु-
त्वमाह—

एएसि एं भंते ! सुहुमआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सु-
हुमआउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा
संखेज्जगुणा । एएसि एं भंते ! सुहुमतेउकाइयाणं पज्जत्ता-
पज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्व-
त्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमतेउकाइया प-
ज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! सुहुमवाउकाइयाणं

पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गो-
यमा ! सव्वत्थोवा सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमवा-
उकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते !
सुहुमवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहु-
मवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्ज-
त्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं भंते ! सुहुमनिगोदाणं
पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा सुहुमनि-
गोदा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि एं भंते ! सुहुमाणं
सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं
सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं
य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमपुढ-
विकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया अ-
पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसे-
साहिया, सुहुमतेउकाइया पज्ज० संखेज्जगुणा, सुहुमपुढवि-
काइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा
विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुम-
निगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जत्त-
गा संखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा,
सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमा वणस्सइकाइया
पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तगा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका. सूक्ष्मास्तेजस्कायिका अपर्याप्ता, कारण प्रागेवो-
क्तम् । तेभ्यः सूक्ष्मा पृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ।
तेज्यः सूक्ष्माप्कायिका अपर्याप्ता विशेषाधिका । तेज्यः सूक्ष्मवा-
युकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिका । अत्रापि कारण प्रागेवोक्तम् ।
तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका पर्याप्ता. संख्येयगुणा । अपर्याप्ते-
भ्यो हि पर्याप्ता. संख्येयगुणाः । इत्यनन्तर भावितम् । तत्र
सर्वस्तोका. सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता उक्ता । इतरे च सू-
क्ष्मपर्याप्ता पृथिवीकायिकादयो विशेषाधिकाः विशेषाधिकत्व च
मनागधिकत्वम्, न द्विगुणत्व न त्रिगुणत्व वा । तत सूक्ष्मते-
जस्कायिकेज्योऽपर्याप्तेज्यः पर्याप्ता सूक्ष्मतेजस्कायिका संख्येय
गुणाः सन्तः सूक्ष्मवायुकायिका पर्याप्तेज्योऽपि असख्येयगुणा
भवन्ति । तेज्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका पर्याप्ता विशेषाधिकाः ।
तेज्यः सूक्ष्माप्कायिका पर्याप्ता विशेषाधिका । तेज्योऽपि सू-
क्ष्मवायुकायिका पर्याप्ता विशेषाधिका । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा
अपर्याप्ता असख्येयगुणा, तेषामतिप्राचुर्यात् । तेज्यः सूक्ष्मनि-
गोदा पर्याप्ता संख्येयगुणा, सूक्ष्मवपरापर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोक्ष-
तः संख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्या-
प्ता अनन्तगुणा, प्रतिनिगोदमननानां तेषां भावात् । तेज्यः
सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तका विशेषाधिका, सूक्ष्मपृथिवी-
कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेज्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायि-

काः पर्याप्तकाः सख्येयगुणाः। सख्येयु हि अपर्याप्तेन्य पर्याप्त-
काः सख्येयगुणाः । यथापान्तराक्षे विशेषाधिकृत्य तद्व्यपमिति
न सख्येयगुणत्वव्याघातः । तेन्य सख्यमपर्याप्तका विशेषाधि-
काः, सख्यमपृथिव्यादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः
सूत्रमा विशेषाधिका, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥ १५ ॥
तदेवमुक्तानि सूत्रमाधितानि पञ्चसूत्राणि ।

सम्प्रति बादराभितानि पञ्चोक्तक्रमेणानिधित्सुराह—

एएसि एं नते ! बादरगाण बादरपुढविकाइयाणं बाद-
रआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं
बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं
बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? । गोय-
मा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया, बादरतेउकाइया असखे-
ज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया असखेज्जगुणा,
बादरनिगोदा असखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया असखे-
ज्जगुणा, बादरआउकाइया असखेज्जगुणा, बादरवाउका-
इया असखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया अणंतगुणा,
बादरा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका बादरप्रसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव बादरप्र-
सत्वात्, तेषां च शेषकायेन्योऽप्यप्यत्वात् । तेन्यो बादरतेज-
स्कायिका असख्येयगुणाः, असख्येयलोकाकाशप्रदेश—
प्रमाणत्वात् । तेन्योऽपि प्रत्येकशरीरबादरचनस्पतिकायिका
असख्येयगुणा, स्थानस्यासख्येयगुणत्वात् । बादरतेजस्का-
यिका हि मनुष्यक्षेत्र एव भवन्ति । तथा चोक्त द्वितीयस्या-
नाख्ये पदे—“कहि णं नते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं
ठाणा पज्जत्ता ? । गोयमा ! सट्ठापेणं अतो मणुस्सपित्ते अट्ठा-
उजेसु दीयसमुदेसु निव्वाघापणं पत्तरसकम्मभूमिसु वाघापण
पच्चसु महाविदेहेसु पत्थ णं वायरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाण
ठाणा पज्जत्ता, तत्थेय वायरतेउकाइयाणमपज्जत्तगाणं ठा-
णा पज्जत्ता” इति । बादरचनस्पतिकायिकेषु त्रिष्यपि श्लोकेषु
भयनादिषु । तथा चोक्त तस्मिन्नेव द्वितीये स्थानाख्ये पदे—“कहि
णं नते ! वायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पज्जत्ता ? ।
गोयमा ! सट्ठापेणं सत्तसु घणोददीसु सत्तसु घणोददीबलपसु
अट्ठोत्तप पायावेसु भयणेसु भयणपत्थमेसु उट्ठोत्तप कप्पेसु
विमाणेसु विमाणावलिआसु विमाणापत्थमेसु तिरियत्तोत्तप अग-
मेसु तत्तापसु नदीसु दहेसु घाणीसु पुक्खारिणीसु दीदियासु
शुज्जालियासु सरसु सरपनियासु सरसरपतियासु विलप-
तियासु उज्जरेसु निज्जरेसु चिह्वरेसु पच्चमेसु विपिजेसु दीवे-
सु समुदेसु सख्येसु वेव जल्लासपसु जलट्ठाणेसु, पत्थ ण वायर-
वणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पज्जत्ता” । तथा—“जत्थेव
वायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा तत्थेव वायरवण-
स्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पज्जत्ता” इति । ततः
क्षेत्रस्यासख्येयगुणत्वादुपपद्यन्ते बादरतेजस्कायिकेभ्योऽसख्ये-
यगुणाः प्रत्येकशरीरबादरचनस्पतिकायिकाः । तेन्यो बादरनि-
गोदा असख्येयगुणा, तेषामत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वात्, जलेषु
सर्वत्रापि च प्राच्यत् । पनकशैवाद्यादयो हि जले अवश्य
भावितः, ते च बादरानन्तकायिका इति । तेभ्योऽपि बादरपृथि-
१५७

वीकायिका असख्येयगुणाः, अष्टसु पृथिवीषु सर्वेषु विमानभ-
वनपर्वतादिषु भावात् । तेभ्योऽसख्येयगुणा बादरायिकाः,
समुद्रेषु जलप्राभूत्यात् । तेन्यो बादरवायुकायिका असख्येय-
गुणाः, सूर्यादेर सर्वत्र वायुसज्जघात् । तेभ्यो बादरचनस्पतिकायि-
का अनन्तगुणाः, प्रतिष्ठादरनिगोदमन्तानां जीवानां भावात् ।
तेन्य सामान्यतो बादरा जीवा विशेषाधिका, बादरप्रसका-
यिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतमेकमाधिकानां बादरा-
णामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह—

एएसि एं नते ! बादरा पज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइया
अपज्जत्तगाणं बादरआउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरते-
उकाइया अपज्जत्तगाणं बादरवाउकाइया अपज्जत्तगाणं
बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं पत्तेयसरीरवणस्सइ-
काइया अपज्जत्तगाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तगाणं बादर-
तसकाइया अपज्जत्तगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा
बहुया वा तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
बादरतसकाइया अपज्जत्तगा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा
असखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्ज-
त्तगा असखेज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असखे-
ज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असखेज्जगुणा,
बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असखेज्जगुणा, बादरवाउ-
काइया अपज्जत्तगा असखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया
अपज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरअपज्जत्तगा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका बादरप्रसकायिका अपर्याप्तका, युक्तिरत्र प्रागुक्त-
व । तेन्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असख्येयगुणा, अस-
ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । इत्येव प्रागुक्तक्रमेणैवमल्पब-
हुत्व भावनीयम् । गत द्वितीयमल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं नते ! बादरपज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइया
पज्जत्तगाणं बादरआउकाइया पज्जत्तगाणं बादरतेउकाइया
पज्जत्तगाणं बादरवाउकाइया पज्जत्तगाणं बादरवणस्सइ-
काइया पज्जत्तगाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्ज-
त्तगाणं बादरनिगोदपज्जत्तगाणं बादरतसकाइया पज्ज-
त्तगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा
विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया
पज्जत्तगा, बादरतसकाइया पज्जत्तगा असखेज्जगुणा,
पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असखेज्जगुणा,
बादरनिगोदा पज्जत्तगा असखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया
पज्जत्तगा असखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तगा
असखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असखेज्जगु-
णा बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अनन्तगुणा, वा-
दरपज्जत्तगा विसेसाहिया ॥ ३ ॥

सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिका पर्याप्ता, आवलिकासमयवर्गस्य कतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयैर्गुणितस्य यावान् समयराशिर्भवति तावत्प्रमाणत्वं तेषाम् । उक्तं च—“आवलिवर्गो य कुणा-घलिप गुणिओ हु बायरा तेऊ ” इति ॥ तेभ्यो बादरत्रसकायिका पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यहुलासख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् । तेभ्यः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यहुलासख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् । उक्तं च—“पत्तेयपञ्जवणका-इया उपथर हरति बोगस्स । अगुलअसखभागे-ण भाइयमिति ” । तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्तका असंख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वात्, जलाशयेषु च सर्वत्र ज्ञावात् । तेभ्यो बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतसंख्येयप्रतराहुलासख्येयभागखण्डरुमानत्वात् । तेभ्योऽपि बादराष्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूततरसंख्येयप्रतराहुलासख्येयभागखण्डरुसंख्यत्वात् । तेभ्यो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, घनीकृतस्य लोकस्यासंख्येयेषु प्रतेरषु सख्याततमज्ञागवर्तिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् । तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादरपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकानामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् । गत तृतीयमल्पबहुत्वम् ॥ ३ ॥

इदानीमेतेषामेव पर्याप्तापर्याप्तानां चतुर्थमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं जंते ! बादराणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरा पञ्जत्तगा, बादरा अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! बादरपुढविकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पञ्जत्तगा, बादरपुढविकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! बादरआउकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरआउकाइया पञ्जत्तगा, बादरआउकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! बादरतेजकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेजकाइया पञ्जत्तगा, बादरतेजकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! बादरवाउकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवाउकाइया पञ्जत्तगा, बादरवाउकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! बादरवणस्सइकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तगा, बादरवणस्सइकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं पञ्जत्ता-

पञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तगा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! बादरनिगोदाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरनिगोदा पञ्जत्तगा, बादरनिगोदा अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! बादरतसकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया पञ्जत्तगा, बादरतसकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा ॥ ४ ॥

इह बादरैकैकपर्याप्तनिधया असंख्येया बादरा अपर्याप्ता उत्पद्यन्ते । “पञ्जत्तगनिस्साए अप्पञ्जत्तगा वक्कमंति जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा ” इति वचनात् । ततः सर्वत्र पर्याप्तेभ्योऽपर्याप्ता असंख्येयगुणा वक्कव्याः । त्रसकायिकसूत्रं प्रागुक्त्युक्त्या ज्ञावनीयम् । गतं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ॥ ४ ॥

सम्प्रत्येतेषामेव समुद्भितानां पर्याप्तापर्याप्तानां पञ्चममल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं जंते ! बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेजकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेजकाइया पञ्जत्तगा, बादरतसकाइया पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरतसकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपत्तेयवणस्सइकाइया पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा । बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तगा अणंतगुणा, बादरा पञ्जत्तगा विसेसाहिया, बादरवणस्सइकाइया अप्पञ्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरा अप्पञ्जत्तगा विसेसाहिया, बादरा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ता । तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरप्रत्येकवनस्पतिका-यिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ता असंख्येयगुणा । तेभ्यो बादरपृथिवीकायिका पर्याप्तका

असंख्येयगुणा । तेभ्यो बादराष्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणा ।
तेभ्यो बादरायुकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणा । एतेषु च-
रंशु युक्तिः प्रागुक्तः अनुसरणीयः ॥ तेभ्यो बादरतेजस्कायिका
अपर्याप्ता असंख्येयगुणा, यतो बादरायुकायिका पर्याप्ताः
संख्येयेषु प्रत्येषु पापन्त काकाशमदेशास्माद्यप्रमाणाः, बादर-
तेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणा काकाशमदेशप्रमाणाः,
ततो अक्षयसंख्येयगुणाः । ततः प्रत्येकशरीरं बादरवर्णस्पर्शिका-
यिका, बादरनिगोदा, बादरपृथिवीकायिका, बादराष्कायि-
का, बादरायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणा य-
त्तस्याः । यद्यपि कृते प्रत्येकमसंख्येयसंकाकाशमदेशप्रमाणाः य-
थाऽप्यसंख्यातस्यासंख्यातमेव भिन्नायादियं यथोत्तरमसंख्ये-
यगुणत्वं न विहायते । तेभ्यो बादरवर्णस्पर्शिकायिका जीवा
पर्याप्ता अक्षयगुणा, प्रतिबादरेकनिगोदमनन्तानां जीवानां
प्राज्ञात् । तेभ्यः सामान्यतो बादरा पर्याप्ता विद्येवाधिका,
बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तास्तत्र प्रहेषात् । तेभ्यो
बादरवर्णस्पर्शिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणा । एकेकपर्याप्त
बादरवर्णस्पर्शिकायिकानिगोदभिन्नाः, असंख्येयानामपर्याप्त-
बादरवर्णस्पर्शिकायिकानिगोदानांमुत्पादात् । तेभ्यः सामान्यतो
बादरा अपर्याप्ता विद्येवाधिका, बादरतेजस्कायिकादीनामप्य-
पर्याप्तानां तत्र प्रहेषात् । तेभ्यः पर्याप्ताः पर्याप्तविद्येवप्राप्तिता-
सामान्यतो बादरा विद्येवाधिका, बादरपर्याप्ततेजस्कायिकादी-
नामपि तत्र प्रहेषात् । गतामि बादराभिगम्यपि यत्र शुक्लानि ।

सम्प्रति सूक्ष्मबादरमुद्रावगतां पञ्चगुणीनामिदानीं प्रथमं
औचित्यं सूक्ष्मबादरमुद्राव-

एषाति णं भंते । सुदुमणं सुदुमपुटविकाइयाणं सुदुम-
आठकाइयाणं सुदुमवठकाइयाणं सुदुमवाठकाइयाणं सु-
दुमवणस्सइकाइयाणं सुदुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुटवि-
काइयाणं बादरआठकाइयाणं बादरवठकाइयाणं बादरवाठ-
काइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पंचेयसरीरादरवणस्स-
इकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं य कयरे कय-
रेहितो अप्पा वा० ४ । गोयमा । सज्जत्थोवा बादरतसका-
इया, बादरवठकाइया असंखेज्जगुणा ७, पंचेयसरीराद-
रवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा २, बादरनिगोदा अ-
संखेज्जगुणा ४, बादरपुटविकाइया असंखेज्जगुणा ५,
बादरआठकाइया असंखेज्जगुणा ६, बादरवाठकाइया
असंखेज्जगुणा ७, सुदुमवठकाइया असंखेज्जगुणा ८,
सुदुमपुटविकाइया विसेसाहिया ९, सुदुमआठकाइया
विसेसाहिया १०, सुदुमवाठकाइया विसेसाहिया ११,
सुदुमनिगोदा असंखेज्जगुणा १२, बादरवणस्सइकाइया
अणतगुणा १३, बादरा विसेसाहिया १४, सुदुमवणस्स-
इकाइया असंखेज्जगुणा १५, सुदुमा विसेसाहिया १६ ॥

(एषाति णं भंते ! इत्यादि) इह प्रथमं बादरगतमप्यवहृत्य
बादरसूत्र्यां यत्प्रथमं सूत्रं तद्व्यापनीयं यावद्बादरायुकायिक-
पक्षः । तदनन्तरं यान्दृग्गतमप्यवहृत्यम् । ततः सूक्ष्मप-
ञ्चगुणां यत्प्रथमं सूत्रं तद्वत्, नायथायान्दृग्मनिगोदचिन्ता ।

तदनन्तरं बादरवर्णस्पर्शिकायिका अनन्तगुणा, प्रतिबाद-
रनिगोदमनन्तानां जीवानां भाव्यात् । तेभ्यो बादरा विद्येवा-
धिका, बादरतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रहेषात् । तेभ्यः
सूक्ष्मवर्णस्पर्शिकायिका असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदेज्ज-
मनिगोदानामसंख्येयगुणत्वात् । तज्ज-सामान्यतः सूक्ष्मा
विद्येवाधिका, सूक्ष्मतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रहेषात् ।
गतमेवमप्यवहृत्यम् । प्रज्ञा ३ पद । जी० ।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह-

एषाति णं भंते । सुदुमअपज्जत्तयाणं सुदुमपुटविकाइयाणं
अपज्जत्तयाणं सुदुमआठकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुदुमते-
ठकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुदुमवाठकाइयाणं अपज्जत्त-
याणं सुदुमवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुदुमनिगोदा
अपज्जत्तयाणं बादरा अपज्जत्तयाणं बादरपुटविकाइया
अपज्जत्तयाणं बादरआठकाइया अपज्जत्तयाणं बादरवठ-
काइया अपज्जत्तयाणं बादरवाठकाइया अपज्जत्तयाणं वा-
दरवणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं पंचेयसरीरादरवणस्सइ-
काइया अपज्जत्तयाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तयाणं बादर-
तसकाइया अपज्जत्तयाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा०
४ । गोयमा । सज्जत्थोवा बादरतसकाइयो अपज्जत्तया १,
बादरवठकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा २, पंचेयस-
रीरादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ३,
बादरनिगोदा अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ४, बादरपुट-
विकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ५, बादरआठका-
इया अपज्जत्तया असंखे० ६, बादरवाठकाइया अपज्ज-
त्तया असंखेज्जगुणा ७, सुदुमवठकाइया अपज्जत्तया
असंखेज्जगुणा ८, सुदुमपुटविकाइया अपज्जत्तया विसेसा-
हिया ९, सुदुमआठकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया
१०, सुदुमवाठकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया ११,
सुदुमनिगोदा अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा १२, बादरव-
णस्सइकाइया अपज्जत्तया अणतगुणा १३, बादरा अप-
ज्जत्तया विसेसाहिया १४, सुदुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया
असंखेज्जगुणा १५, सुदुमा अपज्जत्तया विसेसाहिया १६ ।

सर्वस्तोका बादरवर्णस्पर्शिका अपर्याप्ता । ततो बादरतेजस्का-
यिका बादरवर्णस्पर्शिकायिकायिकायिकायिकायिका अपर्याप्ता । क्रमेण य-
थोत्तरमसंख्येयगुणाः । अत्र भावना बादरपञ्चसूत्र्यां यद् द्विती-
यमपर्याप्तकसूत्रं तद्वत्कर्त्तव्यम् । ततो बादरायुकायिकेभ्योऽ-
संख्येयगुणाः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता, अतिप्रज्ञासंख्ये-
यसंकाकाशमदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः
सूक्ष्माष्कायिकाः सूक्ष्मायुकायिकाः सूक्ष्मनिगोदा अप-
र्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । अत्र भावना सूक्ष्मपञ्चसूत्र्यां
यद् द्वितीयं सूत्रं तद्वत् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तं यो वा-
दरवर्णस्पर्शिकायिका जीवा अपर्याप्ता अनन्तगुणा, प्रति-

बादरैकैकनिगोदमनन्तानां सन्धावात् । तेभ्य सामान्यतो बा-
दरा अपर्याप्तका विशेषाधिका, बादरप्रसकायिकापर्याप्तादी-
नामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता
असख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्याप्तिभ्यः सूक्ष्मनिगोदापर्याप्ता-
नामसख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मापर्याप्ता विशेष-
ाधिका, सूक्ष्मतेजस्कायिकापर्याप्तादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ।
गत द्वितीयमल्पबहुत्वम् । प्रका० ३ पद । जी० ।

अधुनैतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं जंते ! सुहुमपञ्जत्तयाणं सुहुमपुढविकाइयपञ्ज-
त्तयाणं सुहुमआउकाइयपञ्जत्तयाणं सुहुमतेउकाइयपञ्ज-
त्तयाणं सुहुमवाउकाइयपञ्जत्तयाणं सुहुमवणस्सइकाइयप-
ञ्जत्तयाणं सुहुमनिगोदपञ्जत्तयाणं बादरपञ्जत्तयाणं बा-
दरपुढविकाइयपञ्जत्तयाणं बादरआउकाइयपञ्जत्तयाणं बा-
दरआउकाइयपञ्जत्तयाणं बादरतेउकाइयपञ्जत्तयाणं बा-
दरवाउकाइयपञ्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइयपञ्जत्तयाणं
पत्तेयसरैरबादरवणस्सइकाइयपञ्जत्तयाणं बादरनिगोदप-
ञ्जत्तयाणं बादरतसकाइयपञ्जत्तयाणं य कयरे कयरेहिं तो अ-
प्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा बादरतेउकाइया पञ्जत्तया
बादरतसकाइया पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरैर-
बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरनिगो-
दा पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पञ्जत्तया
असं०, बादरआउकाइया पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, बाद-
रवाउकाइया पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया
पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पञ्जत्तया वि-
सेसाहिया, सुहुमआउकाइया पञ्जत्तया विसैसाहिया, सुहु-
मवाउकाइया पञ्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा पञ्जत्त-
या असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तया अणं-
तगुणा, बादरा पञ्जत्तया विसैसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया
पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा पञ्जत्तया विसैसाहिया ।

(सुहुमपञ्जत्तयाणमित्यादि) । सर्वस्तोका बादरतेजस्का-
यिका पर्याप्ता, तेभ्यो बादरप्रसकायिका, बादरप्रत्येकवन-
स्पतिकायिकाः, बादरनिगोदाः, बादरपृथिवीकायिका,
बादराष्कायिका, बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरमसख्ये-
यगुणाः । अत्र प्रावना बादरपञ्चसूत्रां यत् तृतीयं पर्याप्तसूत्रं
तद्वत्कर्तव्यम् । बादरपर्याप्तवायुकायिकेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका-
पर्याप्ता असख्येयगुणा, बादरवायुकायिका हि असख्येयप्रतर-
प्रदेशराशिप्रमाणा, सूक्ष्मतेजस्कायिकास्तु पर्याप्ता असख्ये-
यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा, ततोऽसख्येयगुणाः । ततः
सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः सूक्ष्माष्कायिकाः सूक्ष्मवायुकायिकाः
पर्याप्ता क्रमेण यथोत्तर विशेषाधिकाः । ततः सूक्ष्मवायुकायि-
केभ्यः पर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तका असख्येयगुणाः, तेषा-
मितिप्रचूततया प्रतिगोलकं भावात् । तेभ्यो बादरवनस्पतिका-
यिका जीवाः पर्याप्तका अनन्तगुणा, प्रतिबादरैकैकनिगोदम-
नन्ताना भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्तका विशेषे-

षाधिका, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षे-
पात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असख्येयगुणाः,
बादरनिगोदपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदपर्याप्तानामसख्येयगुणत्वात् ।
तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्का-
यिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ॥ गत तृतीयमल्पबहु-
त्वम् । प्रका० ३ पद । जी० ।

इदानीमेतेषामेव सूक्ष्मबादरादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां
पृथक् २ मल्पबहुत्वमाह—

एएसि एं जंते ! सुहुमाणं बादराणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं
कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा
बादरा पञ्जत्तया, बादरा अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा
अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा पञ्जत्तया संखेज्जगुणा ।
एएसि एं जंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं बादरपुढविकाइ-
याणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ? ।
गोयमा ! सन्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पञ्जत्तया, बादर-
पुढविकाइया अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविका-
इया अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पञ्ज-
त्तया संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! सुहुमआउकाइया-
णं बादरआउकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिं तो
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा बादरआउकाइया
पञ्जत्तया बादरआउकाइया अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा,
सुहुमआउकाइया अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमआ-
उकाइया पञ्जत्तया संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते !
सुहुमतेउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं
कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा
बादरतेउकाइया पञ्जत्तया, बादरतेउकाइया अपञ्जत्तया
असंखेज्जगुणा । सुहुमतेउकाइया अपञ्जत्तया असंखेज्ज-
गुणा, सुहुमतेउकाइया पञ्जत्ता संखेज्जगुणा । एएसि एं
जंते ! सुहुमवाउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं य पञ्ज-
त्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ? । गो-
यमा ! सन्वत्थोवा बादरवाउकाइया पञ्जत्तया, बादर-
वाउकाइया अपञ्जत्तया असंखेज्जगुणा । सुहुमवाउकाइया
अपञ्जत्तया असंखेज्ज०, सुहुमवाउकाइया पञ्जत्तया अ-
संखेज्जगुणा । एएसि एं जंते ! सुहुमवणस्सइकाइयाणं
बादरवणस्सइकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिं तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा बादरवणस्स-
इकाइया पञ्जत्तया, बादरवणस्सइकाइया अपञ्जत्तया अ-
संखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपञ्जत्तया असंखि-
ज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया पञ्जत्तया संखेज्जगुणा ।
एएसि एं जंते ! सुहुमनिगोदाणं बादरनिगोदाणं य पञ्ज-
त्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
सन्वत्थोवा बादरनिगोदा पञ्जत्तया, बादरनिगोदा अप-

पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पञ्जत्तया संखेज्जगुणा ॥

सर्वत्रेय भावना-सर्वस्तोका बादरा पर्याप्ता, परिमितक्रेत्रवर्ति-
त्वात् । तेज्यो बादरा अपर्याप्ता असंख्येयगुणा, एकैकबादरप-
र्याप्तनिधया असंख्येयानां बादरपर्याप्तानामुत्पादात् । तेज्य- सू-
हुमा अपर्याप्ता असंख्येयगुणा, सर्वलोकोत्पत्तितया तेषां क्रेत्र-
स्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूहुमा पर्याप्तका सख्येयगुणा, चि-
रकालावस्थायितया तेषां सदैव सख्येयगुणतयाऽवाप्यमानत्वा-
त् । गत चतुर्थमल्पबहुत्वम् ॥

इदानीमेतेषामेव सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनां बादरपृथिवीका-
यिकादीनां च प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां च समुदायेन पञ्चममल्प-
बहुत्वमाह-

एषसि णं जंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआ-
उकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवण-
स्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुढविकाइयाणं
बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं
बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं
बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा ० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा वा-
दरतेउकाइया पञ्जत्तया १, बादरतसकाइया पञ्जत्त-
या असंखेज्जगुणा २, बादरतसकाइया अप्पञ्जत्तया अ-
संखिज्जगुणा ३, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पञ्ज-
त्तया असंखिज्जगुणा ४, बादरनिगोदा पञ्जत्तया अ-
संखिज्जगुणा ५, बायरपुढविकाइया पञ्जत्तया असंखे-
ज्जगुणा ६, बादरआउकाइया पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा ७,
बादरवाउकाइया पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा ८, बादरते-
उकाइया अप्पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा ९, पत्तेयसरीरबा-
दरवणस्सइकाइया अप्पञ्जत्तया असंखेज्ज ० १०, बादर-
निगोदा अप्पञ्जत्तया असंखे ० ११, बादरपुढविकाइया
अप्पञ्जत्तया असंखे ० १२, बादरआउकाइया अप्पञ्जत्तया
असंखे ० १३, बादरवाउकाइया अप्पञ्जत्तया असंखे ० १४,
सुहुमतेउकाइया अप्पञ्जत्तया असंखेज्जगुणा १५, सु-
हुमपुढविकाइया अप्पञ्जत्तया विसेसाहिया १६, सुहुम-
आउकाइया अप्पञ्जत्तया विसेसाहिया १७, सुहुमवाउका-
इया अप्पञ्जत्तया विसेसाहिया १८, सुहुमतेउकाइया पञ्ज-
त्तया संखे ० १९, सुहुमपुढविकाइया पञ्जत्तया विसे-
साहिया २०, सुहुमआउकाइया पञ्जत्तया विसेसाहिया २१,
सुहुमवाउकाइया पञ्जत्तया विसेसाहिया २२, सुहु-
मनिगोदा अप्पञ्जत्तया असंखे ० २३, सुहुमनिगोदा पञ्जत्तया
संखे ० २४, बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तया अणंतगुणा २५,
बादरा पञ्जत्ता विसेसाहिया २६, बादरवणस्सइकाइया अप-
पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा २७, बादरा अप्पञ्जत्तया विसेसाहिया
२८, बादरा विसेसाहिया २९, सुहुमवणस्सइकाइया अप्पञ्ज-
१५८

त्तया असंखि ० ३०, सुहुमा अप्पञ्जत्तया विसेसाहिया
३१, सुहुमवणस्सइकाइया पञ्जत्तया असंखे ० ३२, सु-
हुमा पञ्जत्तया विसेसाहिया ३३, सुहुमा विसेसाहिया ३४ ।

(एषसि णं जंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणमित्या-
दि) सर्वस्तोका बादरनेज्जकायिका पर्याप्ता आवलि-
कासमयवर्गकतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयैर्गुणिने यावान्
समयगशिस्तावन्प्रमाणत्वात् तेषाम् १ । तेज्यो बादरत्रसका-
यिका पर्याप्ता असंख्येयगुणा, प्रतरे यावन्न्यहुलासंख्येयभा-
गमात्राणि खएरानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् २ । तेज्यो बादरत्र-
सकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणा, प्रतरे यावन्न्यहुलासं-
ख्येयभागमात्राणि खएरानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् ३ । ततः प्र-
त्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिक ४ बादरनिगोद ५ बादरपृथ्वी-
कायिक ६ बादराष्कायिक ७ बादरवायुकायिका ८ पर्याप्ता
यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । यद्यन्येते प्रत्येकं प्रतरे यावन्न्यहुला-
संख्येयभागमात्राणि खएरानि तावत्प्रमाणास्तथाप्यहुलासंख्ये-
यभागस्यासंख्येयमेदमिभ्रत्वादित्य यथोत्तरमसंख्येयगुणत्व-
मभिधीयमानं न विरुध्यते । एतेज्यो बादरनेज्जकायिका अपर्या-
प्ता असंख्येयगुणा, असंख्येयश्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् ६ । ततः
प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिक १० बादरनिगोद ११ बाद-
रपृथिवीकायिक १२ बादराष्कायिक १३ बादरवायुकायिका
अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणा १४, ततो बादरवायुकायिके-
भ्योऽपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणा १५,
ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिक १६ सूक्ष्माष्कायिक १७ सूक्ष्मवायुका-
यिका अपर्याप्ता यथोत्तर विशेषाधिका १८ । ततः सूक्ष्मतेज-
स्कायिकाः पर्याप्ता सख्यातगुणा, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताना-
मोघत एव संख्येयगुणत्वात् १९ । ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिक-
२० सूक्ष्माष्कायिक २१ सूक्ष्मवायुकायिका पर्याप्ता यथोत्तर वि-
शेषाधिका २२ । तेज्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता असंख्येयगुणा,
तेषामतिप्राभूत्येन सर्वलोकेषु भावात् २३ । तेभ्यः सूक्ष्मनि-
गोदाः पर्याप्तका सख्येयगुणा, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताना-
मोघत एव सदा संख्येयगुणत्वात् । एते च बादरापर्याप्तनेज्जका-
यिकादयः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यवसानाः षोडश पदार्था यद्य-
प्यन्यत्राविशेषेणासंख्येयश्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणातया सङ्गीयन्ते,
तथाप्यसंख्येयस्यासंख्येयमेदमिभ्रत्वादित्य मसंख्येयगुणत्व वि-
शेषाधिकत्वं संख्येयगुणत्वं प्रतिपाद्यमानं न विरोधमिति २४ ।
तेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदेभ्यो बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता
अनन्तगुणा, प्रतिषादपैकैकनिगोदमनन्ताना जीवानां भावात् २५ ।
तेभ्यः सामान्यतो बादरा पर्याप्ता विशेषाधिका, बादरपर्या-
प्ततेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् २६ । तेभ्यो बादरवन-
स्पतिकायिका अपर्याप्तका असंख्येयगुणा, एकैकपर्याप्तबा-
दरनिगोदनिधया असंख्येयानां बादरनिगोदापर्याप्तानामुत्पादात् २७ ।
तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिका, बादर-
तेजस्कायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् २८ । तेभ्यः
सामान्यतो बादरा विशेषाधिका, पर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् २९ ।
तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणा,
बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामप्यपर्याप्तानामप्यसंख्येयगु-
णत्वात् ३० । ततः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तका विशेषाधिका,
सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ३१ ।
तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका पर्याप्ता असंख्येयगुणा, सूक्ष्म-
वनस्पतिकायिकापर्याप्तेभ्यो हि सूक्ष्मवनस्पतिकायिकापर्याप्तास-

स्येयगुणा, सूक्ष्मेष्वोघनोऽप्याप्तेभ्य पर्याप्तानां सख्येयगुणत्वात् । तत सूक्ष्मापर्याप्तेभ्योऽप्यसख्येयगुणा, विशेषाधिकत्वस्य सख्येयगुणत्ववाधनायोगान् ३२ । तेभ्य सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिका, पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवोक्त्यायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपान् ३३ । ततः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्तापर्याप्ताविशेषणरहिता विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ३४ । गत सूक्ष्मबादरसमुदायगत पञ्चदशसंख्यबहुत्व, तत्रतौ समर्थिनानि पञ्चदशाऽपि सूत्राणि । इति गत कायद्वारम् । प्रश्ना० ३ पद । नोसूक्ष्मनोबादरबादराणामल्पबहुत्वम् । जी० ३ प्रति० ।

(आरम्भिकयादिक्रियाणामल्पबहुत्व 'किरिया' शब्दे वक्ष्यते)

(११) [क्षेत्रद्वारम्] कस्मिन्नेत्रे जीवाः स्तोकाः कस्मिन् वा बहुवः ? इति चिन्तयन्ते-

खित्ताणुवाणं सवत्थोवा जीवा उहूलोयतिरियलोए अहोलोयतिरियलोए विनेसाहिया, तिरियलोए असखि-गुणा, तेजुके असखेज्जगुणा, उहूलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोहे विनेसाहिया ।

नेत्रस्यानुपातोऽनुसारः क्षेत्रानुपातस्तेन, विचिन्त्यमाना जीवा सर्वस्तोका उर्ध्वलोकनिर्यग्लोके, इह उर्ध्वलोकस्य यदधस्तन-माकाशप्रदेशप्रतर यच्च सर्वतिर्यग्लोकस्य सर्वोपरितनमाकाशप्रदेशप्रतरमेव उर्ध्वलोकप्रतर, तथा प्रवचने प्रसिद्धे । इयमत्र भावना-इह सामस्त्येन चतुर्दशरज्ज्वात्मको लोकः । स च त्रिधा भिद्यते । तद्यथा-ऊर्ध्वलोकः, तिर्यग्लोकः, अधोलोकश्च । रुचकाश्चैतेषां विभाग । तथाहि-रुचकस्याधस्तातवयोजनशतानि, रुचकस्योपरिष्ठातवयोजनशतानि तिर्यग्लोकः, तिर्यग्लोकस्याधस्तादधोलोकः, उपरिष्ठादूर्ध्वलोकः, देशोनसत्तरज्जुप्रमाण ऊर्ध्वलोकः, समधिकसत्तरज्जुप्रमाणोऽधोलोको, मध्येऽष्टादशयोजनशतोत्तरयस्तिर्यग्लोकः । तत्र रुचकसमानाद् भूतल-भागान्नवयोजनशतानि गत्वा यज्ज्योतिश्चकस्योपरितन तिर्यग्लोकसबन्धि एकप्रादेशिकमाकाशप्रतर तत्तिर्यग्लोकप्रतरम् । तस्य चोपरि यदेकप्रादेशिकमाकाशप्रतर तदूर्ध्वलोकप्रतरम् । एते च द्वे अप्यूर्ध्वलोकनिर्यग्लोके इति व्यवहितेने । तथाऽनादिप्रवचनपरिभाषाप्रसिद्धे । तत्र वर्तमाना जीवा सर्वस्तोका । कथम् ? इति चेत् । उच्यते-इह ये ऊर्ध्वलोकास्तिर्यग्लोके तिर्यग्लोका-दूर्ध्वलोके समुत्पद्यमाना विवक्षित प्रतरद्वय स्पृशन्ति, ये च तत्रस्था एव केचन तत्प्रतरद्वयाध्यासिनो वर्तन्ते ते किल विवक्षिते प्रतरद्वये वर्तन्ते नान्ये, ये पुनरूर्ध्वलोकादधोलोके समुत्पद्यमानास्तत्प्रतरद्वय स्पृशन्ति ते न गण्यन्ते, तेषां सूत्रान्तरविषयत्वात् । ततः स्तोका एवाधिकृतप्रतरद्वयवर्तिना जीवा । ननूर्ध्वलोकगतानामपि सर्वजीवानामसख्येयभागोऽनवरत स्त्रियमाणोऽवाप्यते, ते च तिर्यग्लोके समुत्पद्यमाना विवक्षित प्रतरद्वय स्पृशन्तीति कथमधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शिनः स्तोकाः ? । तदयुक्तम्, वस्तुनत्वापरिज्ञानात् । तथाहि-यद्यपि नाम उर्ध्वलोकगतानां सर्वजीवलोकानामसख्येयो भागोऽनवरत स्त्रियमाणोऽवाप्यते तथापि न ते सर्व एव तिर्यग्लोके समुत्पद्यन्ते, प्रभूतनराणामधोलोके ऊर्ध्वलोके च समुत्पादात् । ततोऽधिकृतप्रतरद्वयवर्तिन सर्वस्तोका एव ! । तेभ्योऽधोलोकनिर्यग्लोके विशेषाधिकाः । इह यदधोलोकस्योपरितनमेकप्रादेशिकमाकाशप्रदे-

शप्रतर यच्च तिर्यग्लोकस्य सर्वोऽस्तनमेकप्रादेशिकमाकाश-प्रदेशप्रतरमननुद्यमप्याधोलोकनिर्यग्लोक इत्युच्यते, तथा प्रवचनप्रसिद्धेः । तत्र ये विप्रहगत्या तत्रस्थतया वा वर्तन्ते ते-विशेषाधिकाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह ये अधोलोकास्तिर्यग्लोके तिर्यग्लोकाद्वाऽधोलोके ईलिकागत्या समुत्पद्यमाना अविहृत प्रतरद्वय स्पृशन्ति; ये च तत्रस्था एव केचन तत्प्रतरद्वयमध्यासीना वर्तन्ते ते विवक्षितप्रतरद्वयवर्तिनः, ये पुनरधोलोकादूर्ध्वलोके समुत्पद्यमानास्तत्प्रतरद्वय स्पृशन्ति, ते न परिगृह्यन्ते, तेषां सूत्रान्तरविषयत्वात् । केवलमूर्ध्वलोकादधोलोको विशेषाधिकः, इत्यधोलोकास्तिर्यग्लोके ईलिकागत्या समुत्पद्यमाना ऊर्ध्वलोकापेक्षया विशेषाधिका भवाप्यन्ते; ततो विशेषाधिकाः शतेत्यस्तिर्यग्लोकवर्तिनोऽसख्येयगुणाः, उक्तक्षेत्र-द्विकास्तिर्यग्लोके क्षेत्रस्यासख्येयगुणत्वात् । शतेत्यस्मैलोक्ये त्रि-लोकसस्पर्शिनोऽसख्येयगुणाः, इह ये कंचले ऊर्ध्वलोके अधोलोके तिर्यग्लोके वा वर्तन्ते, ये च विप्रहगत्या उर्ध्वलोकनिर्यग्लोको स्पृशन्ति ते न गण्यन्ते, किन्तु ये विप्रहगत्यापक्षाक्षीनीपि लोकान् स्पृशन्ति ते परिगृह्याः, सूत्रस्य विशेषविषयत्वात् । ते च तिर्यग्लोकवर्तिनोऽसख्येयगुणा एव । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह बहुवः प्रतिममयमूर्ध्वलोके अधोलोके च सूक्ष्मनिगोदा उहूर्तन्ते, ये तु तिर्यग्लोकवर्तिनः सूक्ष्मनिगोदा उहूर्तन्ते तेऽर्धादधोलोके ऊर्ध्वलोके वा केचित्स्मिन्नेत्रे वा तिर्यग्लोके समुत्पद्यन्ते, ततो न ते लोकत्रयस्पर्शिन इति नाधि-कृतसूत्रविषयाः तत्रोर्ध्वलोकाधोलोकगतानां सूक्ष्मनिगोदाना-मुद्धर्तमानानां मध्ये केचित्स्वस्थान एव ऊर्ध्वलोके अधोलोके वा समुत्पद्यन्ते, केचित् तिर्यग्लोके, तेभ्योऽसख्येयगुणा अधोलोकगता ऊर्ध्वलोके, ऊर्ध्वलोकगता अधोलोके समुत्पद्यन्ते । ते च तथोत्पद्यमानास्तीनीपि लोकान् स्पृशन्तीत्यसख्येयगुणाः । कथं पुनरेतद्वचसीयते यदुत एवप्रमाणा बहुवो जीवाः सदा विप्रहगत्यापक्षा लज्यन्ते ? इति चेत्, उच्यते-युक्तिवशात् । तथाहि-प्रागुक्तमिदमत्रैव सूत्रं पर्याप्तिद्वारे-“ सवत्थोवा जीवा नो पज्जत्ता नो अपज्जत्ता, अपज्जत्ता अनतगुणा, पज्जत्ता सखेज्जगुणा ” इति । तत एवंनः मापर्याप्ताः बहुवो ये नैतेभ्यः पर्याप्ताः सख्येयगुणा एव नासख्येयगुणाः ; नाप्यनन्तगुणास्ते चापर्याप्ता बहुवोऽन्तरगतौ वर्तमाना लभ्यन्ते इति तेन्य ऊर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकावस्थिता असख्येयगुणाः, उपपातक्षेत्रस्यातिबहुत्वात् । असख्येयानां च जागानामुद्धर्तनायाश्च सज्जात् । तेभ्योऽधोलोकेऽधोलोकवर्तिनो विशेषाधिका, ऊर्ध्वलोकक्षेत्रादधोलोकक्षेत्रस्य विशेषाधिकत्वात् । तदेव सामान्यतो जीवानां क्षेत्रानुपातेनाल्पबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं चतुर्गतिदण्डकक्रमेण तद्विधिसुः प्रथमतो नैरयिकाणामाह-

खेत्ताणुवाणं सवत्थोवा नेरइया तेजुके अहोलोयति-रियलोगे असंखेज्ज०, अहोलोए असंखेज्जगुणा ॥

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण नैरयिक चिन्त्यमानाः सर्वस्तोका-त्रैलोक्ये लो कत्रयस्पर्शिनः । कथं लोकत्रयस्पर्शिनो नैरयिकाः ? कथं वा ते सर्वस्तोकाः ? इति चेत्, उच्यते-इह ये मेरु-शिखरे अज्जनदधिमुलपर्वतशिखरादिषु वा घापीषु वर्तमाना मत्स्यादयो नारकेषूपितसर्व ईलिकागत्या प्रदेशान् विक्षिपन्ति, ते किल त्रैलोक्यमपि स्पृशन्ति, नारकव्यपदेश च लभ्यते, त-

कालमेव नरकेषूपक्षे नारकायुष्कप्रतिसवेदनात् । ते चेत्थनूना-
कतिपय इति सर्वस्तोकाः । अन्ये तु व्याचक्षते-नारका एव
यथोक्त्यापीषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानाः समुद्रानवशतो
विक्रिसिज्जात्मप्रदेशदृष्टमाः परिगृह्यन्ते । ते हि किञ्च तदा नारका
एव निर्विवादं तदायुष्कप्रतिसवेदनात् त्रैलोक्यमस्पर्शिनश्च य-
थोक्त्यापीषां वदात्मप्रदेशदृष्टस्य विक्रिसत्त्वादिनि । तंभ्योऽधो-
लोकतिर्यग्लोकसङ्गाः प्रागुक्तप्रतरद्वयस्य संस्पर्शिनोऽसख्येयगुणाः,
यतो बहवोऽसख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका नर-
केषूपद्यमाना यथोक्तप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो भवन्ति पूर्वोक्ते-
भ्योऽसख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासख्यातगुणत्वात् । मन्दरादिके-
दसख्येयद्वीपसमुद्रात्मकं क्षेत्रमसख्येयगुणमित्यतो भवन्त्यसं-
ख्येयगुणाः । अन्ये त्वभिदधति-नारका एवासख्येयेषु द्वीपसमु-
द्रेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमाना मारणान्तिकसमुद्रातेन वि-
क्रिसिज्जात्मप्रदेशदृष्टमा दृष्ट्या । ते हि नारकायु प्रतिसवेदना
नारका उद्भूतमाना अप्यसख्येयाः प्राप्यन्ते, इति प्रागुक्तेभ्योऽ-
सख्येयगुणाः, तेभ्योऽधोलोकेऽसख्येयगुणाः, तस्य तेषां सस्या-
मत्वात् । उक्तं नारकागतिमधिकृत्य क्षेत्रानुपातेनाऽल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तिर्यग्गतिमधिकृत्याऽऽह-

खेत्ताणुवापणं सवत्थोवा तिरिक्खजोणिया उह्लोय-
तिरियलोए अहोहोयतिरियलोए विसेमाहिया तिरियलोए
असंखेज्जगुणा, तेषुके असंखेज्जगुणा, उह्लोए असंखि-
ज्ज०, अहोहोए विसेसाहिया ॥

इदं सर्वमपि सामान्यतो जीवत्वमिव भावनीयम् । तदपि
तिरिक्ख एव सुदृढनिगोदानधिकृत्य भावितम् ।

अधुना तिर्यग्योनिकस्त्रीविषयमल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवापणं सवत्थोवा तिरिक्खजोणियाओ उह्लो-
यतिरियलोए असंखेज्ज०, तेषुके असंखेज्ज०, अहो-
होयतिरियलोए संखिज्जगुणाओ, अहोहोए संखेज्जगु-
णाओ, तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ।

क्षेत्रानुपातेन तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोका ऊर्ध्व-
लोके, इह मन्दरादिवापीप्रभृतिष्वपि हि पञ्चेन्द्रियतिर्यग्यो-
निकाः स्त्रियो भवन्ति, ताश्च क्षेत्रस्याऽल्पत्वात् सर्वस्तोकाः ।
ताभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसङ्गे प्रतरद्वये वर्तमाना असख्येय-
गुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-यावत्सहस्रारदेवलोकस्ता-
वदेवा अपि गर्भव्युक्तान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोनिषूपद्यन्ते, किं
पुनः शेषकायाः ? । ते हि यथासंभवमुपरिवर्तिनोऽपि तत्रो-
त्पद्यन्ते ; ततो ये संहस्रारान्ता देवा अन्येऽपि च शेषकाया
ऊर्ध्वलोकातिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेन तदायुःप्रतिसवेदयमाना
उत्पद्यन्ते, या तिर्यग्लोकावर्तिन्यस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रिय ऊर्ध्वलो-
के देवत्वेन शेषकायत्वेन चोत्पद्यमाना मारणान्तिकसमुद्रातेन-
नोत्पत्तिदेशे निजनिजात्मकप्रदेशदृष्टान् विक्रिपन्ति, ना यथोक्तप्र-
तरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिका स्त्रियश्च ताः ततोऽसख्येयगु-
णाः, क्षेत्रस्याऽसख्येयगुणत्वात् । ताभ्यस्त्रीलोक्ये सख्येयगुणाः,
यसादधोलोकाऽवगमनिव्यन्तरनारकाः शेषकाया अपि चो-
र्ध्वलोकेऽपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेनोत्पद्यन्ते । ऊर्ध्वलोकादेवा-
वयोऽप्यधोलोके च ते समवहता निजनिजात्मप्रदेशदृष्टान् स्त्री-
नपि लोकान् स्पृशन्ति । प्रभूताश्च ते तथा तिर्यग्योनिकरूपायु-

प्रतिसवेदनात् । तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्च तन सख्येयगुणाः । ३।
ताभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोकसङ्गे प्रतरद्वये वर्तमाना सख्येय-
गुणाः, वदथो हि नारकादय समुद्रातमन्तरेणाऽपि तिर्यग-
लोके तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेनोत्पद्यन्ते । तिर्यग्लोकवर्तिनश्च
जीवास्तिर्यग्योनिकस्त्रीत्वेनाऽधोलोकिकग्रामेष्वपि च ते च
तथोत्पद्यमाना यथोक्त प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिकरूपा-
यु प्रतिसवेदनाश्च तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽपि तथाऽधोद्वैकिक-
ग्रामा योजनसदस्त्रावगाहाः पर्यन्तेऽर्वाकं कञ्चित्प्रदेशे नवयोजन
शतावगाहा अपि तत्र काश्चित्तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽवस्थानेनाऽपि
यथोक्तप्रतरद्वयाध्यामिन्यो वर्तन्ते, ततो भवन्ति पूर्वोक्ताभ्य
सख्येयगुणाः । ४। ताभ्योऽधोलोके सख्येयगुणाः, यतोऽधोद्वैकिक-
ग्रामाः सर्वेऽपि च समुद्रा योजनसहस्रावगाहा, ततो
नवयोजनशतानामधस्ताद् या वर्तन्ते मत्स्थीप्रभृतिका तिर्य-
ग्योनिकस्त्रियस्ताः स्वस्थानत्वान् प्रचूता इति सख्येयगुणाः,
क्षेत्रस्य सख्येयगुणत्वात् । ताभ्यस्तिर्यग्लोके सख्येयगुणाः ।
उक्तं तिर्यग्गतिमधिकृत्य विहृत्याल्पबहुत्वम् ।

इदानीं मनुष्यगतिविषयमाह-

खेत्ताणुवापणं सवत्थोवा मणुस्मा तेहुके उह्लोयति-
रियलोए असंखेज्जगुणा, अहोहोयतिरियलोए संखिज्ज
गुणा, अहोहोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखिज्जगुणा ।

क्षेत्रानुपातेन मनुष्याश्चिन्त्यमानाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यमस्पर्शिनः
‘सर्वस्तोका’, यतो ये ऊर्ध्वलोकान्धोद्वैकिकग्रामेषु समुत्पत्तिमयो
मारणान्तिकसमुद्रातेन समवहता जवन्ति, ते केचिन्समुद्रा-
तवशाद्दहिर्निर्गते स्वात्मप्रदेशे स्त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति, येऽपि च
वैक्रियसमुद्रातमाहारकसमुद्रातं वा गताः तथाविधप्रयत्नवि-
शेषाद्वरतरमूर्द्धाऽधोविक्रिसात्मप्रदेशाः, ये च केवलसमुद्रातग-
तास्तेऽपि त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति । स्तोकाश्चेति सर्वस्तोका, ते-
न्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसङ्गे प्रतरद्वयस-
स्पर्शिनोऽसख्येयगुणा, यत इह वैमानिकदेवाः शेषकायाश्च यथा-
संभवमूर्ध्वलोकान् तिर्यग्लोके मनुष्यत्वेन समुत्पद्यमाना यथा-
कप्रतरद्वयमस्पर्शिनो भवन्ति । विद्याधराणामपि च मन्दरादि-
षु गमनं, तेषां च बुधरुधिरादिपुङ्गवे समूर्च्छिममनुष्याणामु-
त्पाद इति, ते विद्याधरा रुधिरादिपुङ्गवसामिथा अवगच्छन्ति ।
तथा समूर्च्छिममनुष्या अपि यथोक्तप्रतरद्वयस्पर्शवन्त उपजाय-
न्ते, ते चातिवद्वय इत्यसख्येयगुणाः, तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके अ-
धोलोकतिर्यग्लोकसङ्गे प्रतरद्वये सख्येयगुणाः, यतोऽधोद्वैकिक-
ग्रामेषु स्वभावन एव बहवो मनुष्याः, ततो ये तिर्यग्लोकान् मनुष्ये-
भ्यः शेषकायेभ्यो वाऽधोद्वैकिकग्रामेषु गर्भव्युक्तान्तिकमनुष्य-
त्वेन समूर्च्छिममनुष्यत्वेन वा समुत्पत्तिमयो ये वाऽधोलोकाऽ-
धोद्वैकिकग्रामरूपात् शेषाद्वा मनुष्येभ्यः शेषकायेभ्यो वा ति-
र्यग्लोके गर्भव्युक्तान्तिकमनुष्यत्वेन वा समूर्च्छिममनुष्यत्वेन
वा समुत्पत्तुकामास्ते यथोक्तं किल प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, वधुनरा-
श्च ते तथा स्वस्थानतोऽपि केचिदधोलौकिकग्रामेषु यथाकृप-
तरद्वयस्पर्शिन इति प्रागुक्तेभ्योऽसख्येयगुणाः, तेभ्य ऊर्ध्वलोक
सख्येयगुणाः, सौमनसादिषु क्रीडार्थं चैत्यवन्दननिमित्तं वा
प्रचूततराणां विद्याधरचारणमुनीनां ज्ञात्वात् । तेषां च यथायोग
रुधिरादिपुङ्गवयोगत समूर्च्छिममनुष्यसज्जात् । तेभ्योऽधो-
लोके सख्येयगुणाः, स्वस्थानत्वेन बहुत्वज्ञात्वात् । तेभ्यस्तिर्यग-
लोके सख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य सख्येयगुणत्वात् स्वस्थानत्वाच्च ।

सम्प्रति क्षेत्रानुपातेन मानुषीविषयमल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सन्वत्योवाओ माणुस्सीओ तेलुके उ-
ह्लोयतिरियलोए संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए
संखेज्जगुणाओ, उह्लोए संखेज्जगुणाओ, अहोहोए
संखेज्ज०, तिरियलोए संखेज्ज० ॥

क्षेत्रानुपातेन मानुष्यभित्त्यमानाः सर्वस्तोकाः कर्ष्वलोके सप्तोत्पत्सूनां मारणान्तिकसमुद्रातवश-
विनिर्गतदूरतरात्मप्रदेशानामथवा वैक्रियसमुद्रातगतानां केव-
लिसमुद्रातगतानां वा त्रैलोक्यसंस्पर्शिन्यः तासां चातिस्तो-
कत्वमिति सर्वस्तोकाः ताभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोक-
तिर्यग्लोकसङ्गे प्रतरद्वये संख्येयगुणाः, वैमानिकदेवानां शेष-
कायाणां चोर्ध्वलोकातिर्यग्लोके मनुष्यस्त्रीत्वेनोत्पद्यमानानां
तथा तिर्यग्लोकगतमनुष्यस्त्रीणां ऊर्ध्वलोके समुत्पत्सूनां मार-
णान्तिकसमुद्रातवशाद् दूरतरमूर्ध्वविद्विषात्मप्रदेशानामथापि
काव्यमकुर्वन्तीनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शनभावात्, तासां चो-
न्नयासामपि बहुतरत्वात् । ताभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्रागु-
क्तस्वरूपप्रतरद्वयरूपे संख्येयगुणाः, तिर्यग्लोकान्मनुष्यस्त्रीभ्य
शेषेभ्यो वाऽधोलौकिकग्रामेषु यदि वाऽधोलौकिकग्रामरूपात्
शेषाद्वा तिर्यग्लोके मनुष्यस्त्रीत्वेनोत्पत्सूनां कासाञ्चिद-
धोलौकिकग्रामेष्ववस्थानसोऽपि यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शस-
म्भवात्, तासां च प्रागुक्ताभ्योऽतिबहुत्वात् । ताभ्योऽप्यूर्ध्व-
लोके संख्येयगुणाः, श्रीमार्थं चैत्यवन्दनानिमित्तं वा सौमन-
सादिषु प्रभूततराणां विद्याधरीणां संभवात् । ताभ्योऽपि
अधोलोके संख्येयगुणाः, स्वस्थानत्वेन तत्रापि बहुतराणां
भावात् । ताभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्येयगुण-
त्वात्, स्वस्थानत्वाच्च । गत मनुष्यगतिमधिकृत्याल्पबहुत्वम् ।

इदानीं देवगतिमधिकृत्याऽऽह-

खेत्ताणुवाएणं सन्वत्योवा देवा उह्लोए उह्लोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोहोए
तिरियलोए असंखेज्ज० । अहोलोए संखिज्जगुणाओ,
तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ॥

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमाना देवाः सर्वस्तोकाः, ऊर्ध्वलोके
वैमानिकानामेव तत्र भावात्, तेषां चाऽल्पत्वात् । येऽपि
भवनपतिप्रभृतयो जिनेन्द्रजन्ममहादौ मन्दरादिषु गच्छन्ति
तेऽपि स्वल्पा एवेति सर्वस्तोकाः । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके
ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसङ्गे प्रतरद्वये असंख्येयगुणाः, तद्धि ज्यो-
तिष्काणां प्रत्यासन्नमिति स्वस्थानम् । तथा भवनपतिव्यन्तर-
ज्योतिष्का मन्दरादौ सौधर्मादिकल्पगता स्वस्थानगमागमेन,
तथा ये सौधर्मादिषु देवत्वेनोत्पत्सूवो देवायु प्रतिसवेद्यमा-
नाः स्वोत्पत्तिदेशमभिगच्छन्ति यथोक्तप्रतरद्वय स्पृशन्ति । तत-
स्वामस्येन यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनः परिभाव्यमाना अति-
बहव इति पूर्वोक्तभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यस्त्रीलोक्यसंस्पर्शि-
न संख्येयगुणाः । ननो भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका
देवाभ्यन्थाविधप्रयन्निशेषवशनो वैक्रियसमुद्रातेन समवह-
ता मन्मन्त्रानपि लोकान् स्पृशन्ति, ते चेन्थ समवहताः प्रागु-
क्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिभ्यः संख्येयगुणाः, केवलवेदसोपलभ्यन्त इति
संख्येयगुणा । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके अधोलोकतिर्यग्लो-

कसङ्गे प्रतरद्वये वर्तमानाः संख्येयगुणाः । तद्धि-प्रतरद्विक
भवनपतिव्यन्तरदेवानां प्रत्यासन्ननया स्वस्थान, तथा बहवो
भवनपतयः स्वभावस्थास्तिर्यग्लोकगमागमेन तथोद्धर्तमानाः
तथा वैक्रियसमुद्रातेन समवहतास्तथा तिर्यग्लोकचर्तिनस्ति-
र्यग्लोकोन्द्रियमनुष्या वा भवनपतिव्येनोत्पद्यमाना भवनपत्या-
युरनुभवन्तो यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनोऽतिबहव इति संख्ये-
यगुणाः । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, भवनपतीनां स्वस्था-
नमिति कृत्वा तेभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, ज्योतिष्कव्यन्त-
राणां स्वस्थानत्वात् ।

अधुना देवाराधिकृत्याल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सन्वत्योवाओ देवीओ उह्लोए उह्लोय-
तिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, तेलुके संखेज्जगुणाओ,
अहोहोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, अहोहोए संखे-
ज्जगुणाओ, तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ॥

सर्वं देवसुत्रामेवाऽविशेषेण ज्ञावनीयम् । तदेवमुक्तं देव-
विषयमौधिकमल्पबहुत्यम् ।

इदानीं भवनपत्यादिविशेषविषयं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतो
भवनपतिविषयमाह-

खेत्ताणुवाएणं सन्वत्योवा जवणवासी देवा उह्लोए उह-
लोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, तेलुके संखिज्जगुणा,
अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तिरियलोए असं-
खिज्जगुणा, अहोलोए असंखेज्ज० । खेत्ताणुवाएणं सन्व-
त्योवा जवणवासिणीओ देवीओ उह्लोए तिरिलोए
असंखि०, तेलुके संखेज्जगुणाओ, अहोलोए तिरिय-
लोए असंखेज्ज०, तिरियलोए असंखिज्ज०, अहोहोए
असंखिज्ज० ॥

क्षेत्रानुपातेन भवनवासिन्ने देवाभित्त्यमानाः सर्वस्तोकाः
ऊर्ध्वलोके, तथाहि-केषाञ्चित् सौधर्मादिष्वपि कल्पेषु पूर्वसग-
तिकनिश्चया गमनं भवति । केषाञ्चिन्मन्दरे तीर्थकरजन्ममहिमा-
निमित्तम्, अञ्जनदधिमुखेऽष्टकानिमित्तम्, अपरेषां मन्दिरादिषु
क्रीडानिमित्तं गमनम् । एते च सर्वेऽपि स्वल्पा इति सर्वस्तोकाः ।
ऊर्ध्वलोके तेन्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसङ्गे प्रतरद्वयेऽसंख्ये-
यगुणाः, कथमिति चेत्?, उच्यते-इह हि तिर्यग्लोकस्था वैक्रि-
यसमुद्रातेन समवहता ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकं च स्पृशन्ति ।
यथा ते तिर्यग्लोकस्था एव मारणान्तिकसमुद्रातेन समव-
हता ऊर्ध्वलोके सौधर्मादिषु देवलोकेषु बाह्यपर्याप्तपृथिवीका-
यिकतया बाह्यपर्याप्ताऽपकायिकतया बाह्यपर्याप्तप्रत्येकवनस्प-
तिकायिकतया च सुमेषु मणिविधानादिषु स्थानेष्वल्पसुकामा
अद्याऽपि स्वभावायु प्रतिसवेद्यमाना न पारभाषिक पृथिवी-
कायिकाद्यायुः । द्विविधा हि मारणान्तिकसमुद्रातेन समवहताः
केचित्पारभाषिकमायु प्रतिसवेद्यन्ते, केचिन्नेति । तथा योक्त
प्रकृतेः-“जीवे ण मंते ! मारणतिगसमुद्राएण सम्मोहए सम्मोह-
णित्ता जे जविए मद्दस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेण बायरपुडडि-
काइयत्ताए जववज्जिए, से ण जते ! किं तत्थ गए जववज्जिए,
उयाहु पमिणियत्तेत्ता जववज्जिए ! । गोयमा ! अत्थेगए तत्थ
गए जेव जववज्जिए, अत्थेगए ततो पडिणियत्तिता, दोयं

पि मारणनियसमुद्घाएण समोदणनि, समोदणित्ता तओ पच्चा
बववज्जइत्ति" स्वभावायु प्रतिसवेदनाच्च ने भवनवासिन एव
लभ्यन्ते । ते इत्थंभूता उत्पत्तिदेशे विक्रिस्तात्मप्रदेशदणमास्तथा
ऊर्ध्वलोकगमनागमनस्तत्प्रतरद्वयप्रत्यासन्नक्रीडास्थानञ्च य-
थोक्त प्रतरद्वय स्पृशन्ति । ततः प्रागुक्तैः ज्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्य-
स्त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः सख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वलोके
तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया भवनपतित्वेनोत्पत्तुकामाः, ये च स्वस्थाने
वैक्रियसमुद्घातेन मारणान्तिकप्रथमसमुद्घातेन वा तथाविधतीव्र-
प्रयत्नविशेषेण समवहतास्ते त्रैलोक्यसंस्पर्शिन इति सख्ये-
यगुणाः, परस्थानसमवहतेज्यः स्वस्थानसमवहतानां स-
ख्येयगुणत्वात् । तेज्योऽधोलोकेतिर्यग्गलोके अधोलोकेतिर्य-
ग्लोकेसंज्ञे प्रतरद्वयेऽसख्येयगुणाः; स्वस्थानप्रत्यासन्नतया ति-
र्यग्गलोके गमनागमनभावतः स्वस्थानस्थितक्रोधादिसमुद्घात-
गमनतश्च बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात् । तेज्यः ति-
र्यग्गलोकेऽसख्येयगुणाः, समवसरणादौ घन्दननिमित्त द्वीपेषु च
रमणीयेषु क्रीडानिमित्तमागमसम्भवादागतानां च चिरकालम-
व्यवस्थानात् । तेभ्योऽधोलोकेऽसख्येयगुणाः, भवनवासिनाम-
धोलोकस्य स्वस्थानत्वात् । एव भवनवासिदेवीगतमल्पबहुत्व
भावनीयम् ।

सम्प्रति व्यन्तरगतमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सन्वत्थोवा जोइसिया देवा उह्लोए, उह्लो-
योयतिरियलोए असंखिज्ज०, तेहुके संखेज्जगुणा, अहोहो-
यतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोहोए संखेज्जगुणा, ति-
रियलोए असंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सन्वत्थोवा जो-
इसिणीओ देवीओ उह्लोए, उह्लोयतिरियलोए असंखे-
ज्जगुणाओ, तेहुके संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए
असंखेज्ज०, अहोलोए संखि०, तिरियलोए असंखे० ॥

केत्रानुपातेन ज्योतिष्काश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः ऊर्ध्वलोके,
केषाञ्चिदेव मन्दरे तीर्थकरजन्ममहोत्सवनिमित्तम्, अञ्जनद-
धिमुखेष्वष्टाहिकानिमित्तम्, अपरेषां केषाञ्चिद् मन्दरादिषु क्री-
डानिमित्तं गमनसंभवात् । तेज्य ऊर्ध्वलोकेतिर्यग्गलोके प्रत-
रद्वयरूपेऽसख्येयगुणाः, तन्नि प्रतरद्वयं केचित्स्वस्थाने स्थिता
अपि स्पृशन्ति, प्रत्यासन्नत्वात् । अपरे वैक्रियसमुद्घातसमव-
हताः, अन्ये ऊर्ध्वलोके गमनागमनभावतस्ततोऽधिकृतप्रतरद्व-
यस्पर्शिन पूर्वोक्तैः ज्योऽसंख्येयगुणाः । तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रैलोक्य-
संस्पर्शिनः सख्येयगुणाः । ये हि ज्योतिष्कास्तथाविधतीव्रप्रय-
त्नवैक्रियसमुद्घातेन समवहतास्त्रीनपि लोकान् स्वप्रदेशे स्पृश-
न्ति, ते स्वभावतोऽप्यतिबहव इति पूर्वोक्तैः सख्येयगुणाः । ते-
ज्योऽधोलोकेतिर्यग्गलोके प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येयगुणाः, यतो
बहवोऽधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिनिमित्तम्, अधोलोके
क्रीडानिमित्तं गमनागमनभावतो बहवश्चाऽधोलोका ज्यो-
तिष्केषु समुत्पद्यमाना यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो
घटन्ते पूर्वोक्तैः ज्योऽसख्येयगुणाः, तेज्यः सख्येयगुणाः, अधो-
लोके, बहूनामधोलोके क्रीडानिमित्तमधोलौकिकग्रामेषु सम-
वसरणादिषु चिरकालमवस्थानात् । तेज्योऽसख्येयगुणा-
स्तिर्यग्गलोके, तिर्यग्गलोकस्य तेषां स्वस्थानत्वात् । एव ज्योति-
ष्कदेवीसूत्रमपि भावनीयम् ।

सम्प्रति वैमानिकदेवविषयमल्पबहुत्वमाह—
१५६

खेत्ताणुवाएणं सन्वत्थोवा वैमाणिया देवा उह्लोयतिरि-
यलोए, तेहुके संखेज्ज०, अहोहोयतिरियलोए संखिज्ज०,
अहोहोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्ज०, उह्लोए
असंखिज्ज० । खेत्ताणुवाएणं सन्वत्थोवाओ वैमाणिणी-
ओ देवीओ उह्लोयतिरियलोए, तेहुके संखेज्जगुणाओ,
अहोहोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोहोए संखेज्ज०,
तिरियलोए संखेज्ज०, उह्लोए असंखे० ॥

केत्रानुपातेन केत्रानुसारेण चिन्त्यमाना वैमानिका देवाः सर्व-
स्तोका ऊर्ध्वलोकेतिर्यग्गलोकसङ्घे प्रतरद्वये, यतो ये अधो-
सोके तिर्यग्गलोके वा वर्तमाना जीवा वैमानिकेऽप्युद्यन्ते, ये
च तिर्यग्गलोके वैमानिका गमनागमनं कुर्वन्ति, ये च विव-
क्लिनप्रतरद्वयाध्यासिनः क्रीडास्थानं सन्निताः, ये च तिर्यग्गलोके
स्थिता एव वैक्रियसमुद्घातमारणान्तिकसमुद्घात वा कुर्वा-
णास्तथाविधप्रयत्नविशेषाद् ऊर्ध्वमात्मप्रदेशदणं निवृज्जन्ति, ते
विवक्लिन् प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ते चाल्प इति सर्वस्तोकाः । तेभ्य-
स्त्रैलोक्ये सख्येयगुणाः । कथमिति चेद् ? उच्यते—इह येऽधोलौ-
किकग्रामेषु समवसरणादिनिमित्तमधोलोके वा क्रीडानिमित्तं
गताः सन्तो वैक्रियसमुद्घातमारणान्तिकसमुद्घात वा कुर्वाणा-
स्तथाविधप्रयत्नविशेषाद् दूरतरमूर्ध्वविक्षिप्तात्मप्रदेशदणमाः,
ये च वैमानिकभावादीद्विकागत्या व्यवमाना अधोलौकिकग्रा-
मेषु समुत्पद्यन्ते, ते किल त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति । बहवश्च
पूर्वोक्तैः इति सख्येयगुणाः । तेभ्योऽपि अधोलोकेतिर्यग्गलोके
प्रतरद्वयसङ्घे सख्येयगुणाः, अधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादौ
गमनागमनभावतो विवक्लिन् प्रतरद्वयाध्यासिनः समवसरणा-
दौ वाऽवस्थानतो बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात् । ते-
ज्योऽधोलोके सख्येयगुणाः, अधोलौकिकग्रामेषु बहूनां सम-
वसरणादाववस्थानाभावात् । तेभ्यस्तिर्यग्गलोके सख्येयगुणाः,
बहुषु समवसरणेषु बहुषु च क्रीडास्थानेषु बहूनामवस्थाना-
भावात् । तेज्य ऊर्ध्वलोकेऽसख्येयगुणाः, ऊर्ध्वलोकस्य स्वस्था-
नत्वात्, तत्र च सदैव बहुतरभावात् । एवं वैमानिकदेवीविषय-
सूत्रमपि भावनीयम् ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियादिगतमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सन्वत्थोवा एगिदिया जीवा उह्लोय-
तिरियलोए, अहोहोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, तेहुके अमं०, उह्लोए असंखेज्ज-
गुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सन्व-
त्थोवा एगिदिया जीवा अपज्जत्तगा उह्लोयतिरियलोए,
अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखे-
ज्जगुणा, तेहुके असंखेज्जगुणा, उह्लोए अमंखिज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सन्वत्थोवा ए-
गिदिया जीवा पज्जत्तगा उह्लोयतिरियलोए, अहोलोय-
तिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा,
तेहुके असंखेज्जगुणा, उह्लोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए
विसेसाहिया ॥

केत्रानुपातेन चिन्त्यमाना एकेन्द्रिया जीवाः सर्वस्तोका ऊर्ध्व-
लोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसङ्गे प्रनरद्वये, यतो ये तत्र-
स्था एव केचन, ये चोर्ध्वलोकातिर्यग्लोके, तिर्यग्लोकाद्वा ऊर्ध्व-
लोके समुत्पत्सव. कृतमारणान्तिकसमुद्घातास्ते किल विव-
क्षितप्रनरद्वय स्पृशन्ति, स्वल्पाश्च ते इति सर्वस्तोका । तेभ्योऽ-
धोलोकतिर्यग्लोके विशेषाधिकाः, यतो ये अधोलोकातिर्यग्लो-
के, तिर्यग्लोकाद्वाऽधोलोके ईलिकागत्या समुत्पद्यमाना विव-
क्षितप्रनरद्वय स्पृशन्ति, तत्रस्थाश्च ऊर्ध्वलोकाद्वाधोलोको
विशेषाधिकाः, ततो बहवोऽधोलोकातिर्यग्लोके समुत्पद्यमाना
अत्राच्यन्ते, इति विशेषाधिकाः । तेन्यस्तिर्यग्लोके असंख्येयगु-
णा, उक्तप्रनरद्विककेत्रातिर्यग्लोककेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् ।
नेभ्यस्त्रैलोक्येऽसंख्येयगुणाः, बहवो हि ऊर्ध्वलोकादधोलोके अ-
धोलोकाद्वा ऊर्ध्वलोके समुत्पद्यन्ते । तेषां च मध्ये बहवो मार-
णान्तिकसमुद्घातवशाद्विद्विषात्मप्रदेशदण्डास्तीनपि लोकान्
स्पृशन्ति, ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः । तेन्य ऊर्ध्वलोके असंख्ये-
यगुणाः, उपपातक्षेत्रस्याऽतिबहुत्वात् । तेन्योऽधोलोके विशे-
षाधिकाः, ऊर्ध्वलोककेत्रादधोलोककेत्रस्य विशेषाधिकत्वात् ।
एवमपर्याप्तविषयं पर्याप्तविषयं च सूत्रं ज्ञावयितव्यम् ।

अधुना द्वीन्द्रियादिविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेइदिया उद्धलोए, उद्धलोयति-
रियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असं०, अहोलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा. अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेइदिया अपज्ज-
त्तया उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा, तेलुके
असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए संखे०, तिरियलोए संखे० । खेत्ताणुवाएणं
सव्वत्थोवा वेइदिया पज्जत्तया उद्धलोए, उद्धलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेइदिया उद्धलोए,
उद्धलोयतिरियलोए असं०, तेलुके असंखेज्जगुणा, अधोलोए
संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्व-
त्थोवा तेइदिया अपज्जत्तया उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलोए
असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेइदिया पज्जत्तया
उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखे-
ज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए
संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं
सव्वत्थोवा चउरिंदिया जीवा उद्धलोए, उद्धलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलो-
यतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा,
तिरियलोए संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा चउ-
रिंदिया जीवा अपज्जत्तया उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलो-

ए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा चउरिंदिया
जीवा पज्जत्तया उद्धलोए, उद्धलोयतिरियलोए असंखेज्ज-
गुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असं-
खेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखे० ।

केत्रानुपातेन केत्रानुसारेण चिन्त्यमाना द्वीन्द्रियाः सर्वस्तो-
का ऊर्ध्वलोके, ऊर्ध्वलोकस्यैकदेशे तेषां समवात् । तेभ्य ऊर्ध्व-
लोकतिर्यग्लोके प्रनरद्वये असंख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वलोकात्
तिर्यग्लोके तिर्यग्लोकाद् वा ऊर्ध्वलोके द्वीन्द्रियत्वेन समुत्पत्तुका-
मास्तदायुर्नुभवन्त ईलिकागत्या समुत्पद्यन्ते । ये च द्विन्द्रिया
एव तिर्यग्लोकादूर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकाद्वा तिर्यग्लोके द्वीन्द्रियत्वे-
नान्यत्वेन वा समुत्पत्तुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकममुद्घा-
ता अत एव द्वीन्द्रियायुःप्रतिसंवेद्यमानाः समुद्घातवशाच्च
दूरतरविक्षिप्तनिजात्मप्रदेशदण्डाः, ये च प्रनरद्वयाऽध्यासित-
क्षेत्रसमासीनास्ते यथोक्तप्रनरद्वयस्पर्शिनो बहवश्चेति पूर्वोक्ते-
न्योऽसंख्येयगुणाः । तेन्यस्त्रैलोक्येऽसंख्येयगुणाः, यतो द्वीन्द्रि-
याणां प्राचुर्येणोत्पत्तिस्थानान्यधोलोके तस्माच्चातिप्रभूतानि
तिर्यग्लोके, तत्र ये द्वीन्द्रिया अधोलोकादूर्ध्वलोके द्वीन्द्रियत्वेना-
न्यत्वेन वा समुत्पत्तुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्घाता-
समुद्घातवशाच्चोत्पत्तिदेशं यावद्विद्विषात्मप्रदेशदण्डास्ते द्वी-
न्द्रियायुःप्रतिसंवेद्यमानाः, ये चोर्ध्वलोकादधोलोके द्वीन्द्रि-
याः शेषकाया यावद् द्वीन्द्रियत्वेन समुत्पद्यमाना द्विन्द्रियायुर्नु-
भवन्ति, त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः ते च पूर्वोक्तेन्योऽसंख्येयगुणाः, ते-
न्योऽधोलोकतिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः । यतो ये द्वीन्द्रिया अ-
धोलोकातिर्यग्लोके ये च द्वीन्द्रियास्तिर्यग्लोकादधोलोके द्वी-
न्द्रियत्वेन शेषकायत्वेनोत्पत्सव. कृतप्रथममारणान्तिकसमु-
द्घाता द्वीन्द्रियायुर्नुभवन्तः समुद्घातवशेनोत्पत्तिदेशे याव-
द्विद्विषात्मप्रदेशदण्डास्ते यथोक्त प्रनरद्वय स्पृशन्ति । प्रभूता-
श्चेति पूर्वोक्तेन्योऽसंख्येयगुणास्तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः,
तत्रोत्पत्तिस्थानानामतिप्रचुराणां ज्ञावात् । तेभ्योऽपि तिर्यग्लो-
के संख्येयगुणाः, अतिप्रचुरतराणां योनिस्थानानां तत्र भावात् ।
यथेदमौघिकं द्वीन्द्रियसूत्रं तथा पर्याप्ताऽपर्याप्तद्विन्द्रियसूत्रौधि-
कत्रीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तौघिकचतुरिन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्तिसूत्रा-
णि भावनीयानि ।

साम्प्रतमौघिकपञ्चेन्द्रियविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचेदिया तेलुके, उद्धलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा,
उद्धलोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
असंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचेदिया अपज्ज-
त्तया तेलुके, उद्धलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलो-
यतिरियलोए संखेज्जगुणा, उद्धलोए संखेज्जगुणा, अहो-
लोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा, ॥

केत्रानुपातेन चिन्त्यमाना पञ्चेन्द्रियाः सर्वस्तोका त्रैलोक्ये
त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः, यतो येऽधोलोकादूर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकाद्वा-
ऽधोलोके शेषकाया पञ्चेन्द्रियायुर्नुभवन्त ईलिकागत्या समु-

त्यद्यन्ते ये च पञ्चेन्द्रिया ऊर्ध्वलोकादधोलोके अधोलोका-
दूर्ध्वलोके शेषकायन्वेन पञ्चेन्द्रियन्वेन चोन्पित्सव कृत्तमार-
णान्तिकसमुद्घाताः समुद्घातवशाद्योत्पत्तिदेश यावद् विक्रि-
मात्मप्रदेशदण्डा पञ्चेन्द्रियायुरद्याप्यनुभवन्ति, ते त्रैलो-
क्यसस्पर्शिनः, ते चाल्पे इति सर्वस्तोका । तेन्य ऊर्ध्वलोक-
तिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपेऽसख्येयगुणा, प्रभूततराणामुपपानेन
समुद्घातेन वा यथोक्तप्रतरद्वयसस्पर्शसम्भवात् । तेभ्योऽधो-
लोकतिर्यग्लोके सख्येयगुणा, अतिप्रभूततराणामुपपानसमुद्-
घाताज्यामधोलोकतिर्यग्लोकसङ्गप्रतरद्वयसस्पर्शभावात् । ते-
न्य ऊर्ध्वलोके संख्येयगुणाः, वैमानिकानामवस्थानभावात् ।
तेभ्योऽधोलोके सख्येयगुणाः, वैमानिकदेवेन्य सख्येयगुणानां
नैरयिकाणां तत्र भावात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, स-
मूर्च्छिमज्जचरखचरादीनां व्यन्तरज्योतिष्काणां समूर्च्छिमम-
नुष्याणां च तत्र भावात् । एवं पञ्चेन्द्रियापर्याप्तसूत्रमपि भाव-
नीयम् ।

पञ्चेन्द्रियपर्याप्तसूत्रमिदम्-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पांवेदिया पज्जत्ता उम्हद्वोए,
उम्हद्वोयतिरियद्वोए असं०, तेद्वुके असं०, अहोद्वोयतिरि-
यलोए संखेज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए असं-
खेज्जगुणा ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमाना पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्ताः सर्वस्तोकाः
ऊर्ध्वलोके, प्रायो वैमानिकानामेव तत्र जावात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोक-
तिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपेऽसख्येयगुणाः, चिदाकृतप्रतरद्वयप्रत्या-
सन्नज्योतिष्काणां तदध्यासितक्षेत्राभिनव्यन्तरतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया-
णां वैमानिकव्यन्तरज्योतिष्कविधाधरचारणमुनितिर्यक्पञ्चेन्द्रि-
याणामूर्ध्वलोके तिर्यग्लोके च गमनागमने कुर्वतामधिकृतप्रतर-
द्वयस्पर्शात् । तेभ्यल्लोकेभ्ये त्रिलोकसस्पर्शिन असख्येयगुणा ।
कथमिति चेत् ? यतो ये भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका
विधाधरा वा अधोलोकस्थाः कृतवैक्रियसमुद्घातास्तथाविधप्र-
यत्नविशेषादूर्ध्वलोकप्रदेशविक्रिसात्मप्रदेशदण्डमास्ते त्रीनपि
लोकान् स्पृशन्तीति सख्येयगुणा । तेभ्योऽधोलोकातिर्यग्लोके प्र-
तरद्वयरूपे सख्येयगुणाः, बहुलं हि व्यन्तराः स्वस्थानप्रत्यासन्न-
तया भवनपतयस्तिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोके वा व्यन्तरज्योतिष्कवै-
मानिका देवा अधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादावधोलोके
क्रीडादिनिमित्तं च गमनागमनकरणतः, तथा समुद्रेषु केचित-
तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः स्वस्थानप्रत्यासन्नतया, अपरे तदध्यासि-
तक्षेत्राभिनतया यथोक्तं प्रतरद्वय स्पृशन्ति, तत सख्येयगु-
णाः । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, नैरयिकाणां भवनपतीनां च
तत्रावस्थानात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसख्येयगुणाः, तिर्यक्पञ्चे-
न्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्काणामवस्थानात् । तदेवमुक्त पञ्चे-
न्द्रियाणामल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेकेन्द्रियज्जदाना पृथिवीकायिकादीनां पञ्चानामौघिक-
पर्याप्तापर्याप्तमेदेन प्रत्येक त्रीणि त्रीण्यल्पबहुत्वान्याह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाडया उम्हलोयतिरि-
यलोए, अहोद्वोयतिरियद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए
असंखेज्जगुणा, तेद्वुके असंखिज्जगुणा, उम्हद्वोए असंखे-
ज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्व-

त्थोवा पुढविकाडया अपज्जत्तया उम्हलोयतिरियलोए,
अहोलोयतिरियद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखेज्ज-
गुणा, तेद्वुके असंखेज्जगुणा, उम्हद्वोए असंखेज्जगुणा,
अहोद्वोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा
पुढविकाडया पज्जत्तया उम्हलोयतिरियद्वोए, तिरियलोय-
अहोलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेद्वुके
असंखेज्जगुणा, उम्हद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसा-
हिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाडया उम्हलोयति-
रियद्वोए, अहोद्वोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए
असंखेज्जगुणा, तेद्वुके असंखेज्जगुणा, उम्हद्वोए असंखेज्ज-
गुणा, अहोद्वोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा
आउकाडया अपज्जत्तया उम्हलोयतिरियलोए, अहो-
द्वोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखे-
ज्जगुणा, तेद्वुके असंखेज्जगुणा, उम्हद्वोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आ-
उकाडया पज्जत्तया उम्हलोयतिरियलोए, अहोद्वोयतिरि-
यद्वोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेद्वुके अ-
संखेज्जगुणा, उम्हद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोद्वोए विसे-
साहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाडया उम्हलोय-
तिरियद्वोए, अहोलोयतिरियद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए
असंखेज्जगुणा, तेद्वुके असंखेज्जगुणा, उम्हद्वोए असंखेज्ज-
गुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा
तेउकाडया अपज्जत्तया उम्हलोयतिरियद्वोए, अहोद्वोयति-
रियद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखेज्जगुणा, तेद्वुके
असंखिज्जगुणा, उम्हद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोद्वोए वि-
सेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाडया पज्जत्त-
या उम्हलोयतिरियद्वोए, अहोद्वोयतिरियलोए विसेसाहि-
या, तिरियद्वोए असंखेज्जगुणा, तेद्वुके असंखेज्जगुणा, उ-
म्हद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खे-
त्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाडया उम्हलोयतिरियद्वोए,
अहोद्वोयतिरियद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखेज्ज-
गुणा, तेद्वुके असंखिज्जगुणा, उम्हद्वोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउ-
काडया अपज्जत्तया उम्हलोयतिरियलोए, अहोद्वोयतिरि-
यद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखेज्जगुणा, तेद्वुके
असंखेज्जगुणा, उम्हद्वोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए वि-
सेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाडया पज्ज-
त्तया उम्हलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियद्वोए विसेसा-
हिया, तिरियद्वोए असंखेज्जगुणा, तेद्वुके असंखेज्जगुणा,
उम्हद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोद्वोए विसेसाहिया । खेत्ताणु-
वाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाडया उम्हलोयतिरियलोए,

अहोद्वोयतिरियलोए विसेसाहिया, तेलुके असंखेज्जगुणा, उम्ढद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सड्काइया अपज्जत्तया उम्ढद्वोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियद्वोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखिज्जगुणा, तेनुके असंखिज्जगुणा, उम्ढद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सड्काइया पज्जत्तया उम्ढद्वोयतिरियद्वोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियद्वोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखिज्जगुणा, उम्ढद्वोए असंखेज्जगुणा, अहोद्वोए विसेसाहिया ॥

इमानि पञ्चदशापि सूत्राणि प्रागुक्तैकेन्द्रियसूत्रवद्भावनीयानि । साम्प्रतमौघिकत्रसकायपर्याप्तापर्यासत्रसकायसूत्राण्याह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया तेलुके, उम्ढद्वोयतिरियद्वोए असंखिज्जगुणा, अहोद्वोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, उम्ढद्वोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखिज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया अपज्जत्तया तेलुके, उम्ढद्वोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोद्वोयतिरियद्वोए असंखिज्जगुणा, उम्ढद्वोए संखिज्जगुणा, अहोद्वोए संखिज्जगुणा, तिरियद्वोए असंखिज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तया तेलुके, उम्ढद्वोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोद्वोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, उम्ढद्वोए संखिज्जगुणा, अहोद्वोए संखिज्जगुणा, तिरियलोए असंखेज्जगुणा ।

इमानि पञ्चेन्द्रियसूत्रवद्भावनीयानि । गतं क्षेत्रद्वारम् । प्रश्ना० ३५८ ।

(१२) [गतिद्वारम्] चतुर्गतिसमासेन पञ्चगतिसमासेनाष्टगतिसमासेन वाऽल्पबहुत्वम्—

एतेसि णं जंते ! णेरइयाणं जाव देवाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा, नेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असंखेज्जा, तिरिया अणंता ।

प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धम् । भगवानाह—गौतम ! सर्वस्तोकाः मनुष्याः, भ्रूणसंख्येयजागवर्तिनः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रकैः प्रदेशराशेर्यत् प्रथमवर्गमूलं तद् द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणयते, गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणास्तु भ्रूणेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तेभ्यो देवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां नैरयिकेभ्योऽप्यसंख्येयगुणतया महादण्डके पठितत्वात् । तेज्योऽपि तिर्यञ्चोऽनन्ता, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । जी० ४ प्रति० । प० स० ।

पञ्चगतिसमासेनाल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! नेरइयाण तिरिक्खजोणियाणं मनुस्साण देवाणं सिद्धाण य पचगइसमासेणं कयरे कयरे—

हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा, णेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्याः, षण्णवनिच्छेदनकच्छेधराशिप्रमाणत्वात् । स च षण्णवनिच्छेदनकदायो राशिरग्रे ('सरिर' शब्दे) दर्शयिष्यते । तेज्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रकैः प्रदेशराशेः सप्तध्वनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणास्तु धनीकृतस्य लोकस्यैकप्रदेशिकीषु भ्रूणेषु यावन्तो न प्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च प्रत्येकप्रतरासंख्येयभागवर्तिभ्रूणगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः, अजन्त्येभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेभ्यः स्तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तदेवं नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धपाणां पञ्चानामल्पबहुत्वमुक्तम् । प्रश्ना० ३५८ ।

एतच्चैवमर्थतो गाथा—

“नेर-नेरइया देवा, सिद्धा तिरिया कमेण इह होंति ।

थोव असख असंखा, अणतगुणिया अणतगुणा” ॥१॥भ०२५

श० ३ उ० ।

साम्प्रतं नैरयिकतिर्यग्योनिकतिर्यग्योनिकीमनुष्यमानुषीदेवदेवीलक्षणानां सप्तानामल्पबहुत्वचिन्तायामाह—

अप्पाबहुयं सव्वत्थोवा मणुस्सीओ, मणुस्सा असंखेज्जगुणा, नेरइया असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवा संखेज्जगुणा, देवीओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह—सर्वस्तोका मनुष्य, कतिपयकोटी-कोटिप्रमाणत्वात् । ताज्यो मनुष्या असंख्येयगुणाः, समुच्चिन्ममनुष्याणां भ्रूणसंख्येयजागप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकाः क्लियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवर्तिभ्रूयाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो देवाः संख्येयगुणाः, वाणमन्तरज्योतिष्काणामपि असंख्येयग्योनिकीभ्यः संख्येयगुणतया महादण्डके पठितत्वात् । तेज्यो देव्यः संख्येयगुणाः, द्वाविंशदण्डत्वात् । “बत्तीसगुणा बत्तीसकवमहिया उहोंति देवाण देवीओ” इति वचनात् । ताज्यस्तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तानन्तत्वात् । जी० ५ प्रति० ।

इदानीमेतेषामेव सिद्धसहितानामष्टानामल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! नेरइयाणं तिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं मणुस्सीणं देवाणं सिद्धाण य अट्ठगतिसमासेणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सीओ, मणुस्सा असंखेज्जगुणा, नेरइया असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवा असंखेज्जगुणा, देवीओ संखेज्जगुणाओ, सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मानुष्यो मनुष्यस्त्रियः, सख्येयकोटाकोटिप्रमाण-
त्वात् । ताज्यो मनुष्या असख्येयगुणाः, इह मनुष्या. सम-
र्चनजा अपि गृह्यन्ते, वेदस्याविवक्षात् । ते च समूर्च्छ-
नजा वान्तादिषु नगरनिर्म्मनान्तेषु जायमाना असख्येया प्रा-
प्यन्ते । तेज्यो नैरयिका असख्येयगुणाः, मनुष्या ह्यत्कृष्टपदेऽपि
श्रेयसंख्येयजागतप्रदेशराशिप्रमाणा वक्ष्यन्ते । नैरयिकास्त्व-
हुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसत्कद्वितीयवर्गमूढगुणितप्रथमवर्गमू-
लप्रमाणश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, ततो भवन्त्यसख्ये-
यगुणाः, तेज्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसख्येयगुणाः, प्रतरास-
ख्येयजागवर्त्यसख्येयश्रेणिभः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताज्यो-
ऽपि देवा असख्येयगुणाः, प्रतरासख्येयजागवर्त्यसख्येयश्रेणिग-
तप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्योऽपि देव्यः सख्येयगुणाः, द्वात्रिंश-
द्विगुणात् । ताज्योऽपि सिद्धा अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि निर्य-
ग्योनिका अनन्तगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता । प्रज्ञा० ३ पद ।

अर्थतत्रैव गाथा-

“ नारी नर नेरइया, तिरिक्खि सुर देवि सिद्ध तिरिया य ।
थोव असखगुणा चउ, सखगुणाऽणंतगुण दोळि ॥ २ ॥
अ० २५ श० ३ उ० ।

अथ(समासेन)प्रथमाप्रथमसमयविशेषणेन गतिष्वल्पबहुत्वम-
अप्पाबहु-एतेसि एं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं० जाव पढ-
मसमयदेवाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणुस्सा, पढमसमयणेरइया
असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयति-
रिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा । एतेसि एं भंते ! अपढमसम-
यनेरइयाणं जाव० अपढमसमयदेवाणं कयरे कयरेहिंतो०
जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! एवं चेव; नवरिं अपढमस-
मयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । एतेसि णं जंते ! पढमस-
मयनेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव
विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयणेरइया,
अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, एवं चेव तिरिक्ख-
जोणिया, नवरं अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंत-
गुणा । मणुयदेवाणं अप्पाबहुयं जहा नेरइया । एएसि णं
भंते ! पढमसमयणेरइयाणं जाव अपढमसमयतिरिक्खजो-
णियाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणुस्सा, अपढमसमयमणुस्सा
असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढमसमय-
देवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्ज-
गुणा, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा
असंखेज्जगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।
प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोका प्रथमसमय-
मनुष्या, श्रेयसख्येयभागमात्रत्वात् । तेज्य प्रथमसमयनैरयि-
का असख्येयगुणा, अतिप्रभूतानामेकस्मिन् समये उत्पादसंभ-
वात् । तेज्य प्रथमसमयदेवा असख्येयगुणा, व्यन्तरज्योतिष्का-
णामतिप्रभूततराणामेकस्मिन् समये उत्पादसंभवात् । तेभ्य
प्रथमसमयतिर्यग्योऽसख्येयगुणा, इह ये नारकादिगति-
त्रयादागत्य तिर्यक्प्रथमसमये वर्तन्ते ते प्रथमसमयतिर्यग्यो, न
शेषा, ततो यद्यपि प्रतिनिगोदमसख्येयभागः सदा विप्रवृत्ति-

प्रथमसमयवर्णां वक्ष्यते, तथापि निगोदानामपि तिर्यक्त्वात् न ते
प्रथमसमयतिर्यग्य, एज्यः सख्येयगुणा पद्म । साम्प्रतमेतेषामेव
चतुर्णामप्रथमसमयाना परस्परमल्पबहुत्वमाह-“एएसि शमि-
त्यादि” प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तो-
का अप्रथमसमयमनुष्या श्रेयसख्येयभागमात्रत्वात् । ते-
ज्योऽप्रथमसमयनैरयिका असख्येयगुणा, अहुलमात्रक्षेत्र-
प्रदेशराशे प्रथमवर्गमूढे द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिने यावान्
प्रदेशराशि तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्ता
वत्प्रमाणत्वात् । तेज्योऽप्रथमसमयदेवा असख्येयगुणा, व्य-
न्तरज्योतिष्काणामतिप्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्यो-
निका अनन्तगुणा, घनस्पतीनामनन्तत्वात् । साम्प्रतमेतेषामेव
नैरयिकादानां प्रत्येक प्रथमसमयाप्रथमसमयगतमल्पबहुत्व-
माह-“एएसि णं जने” इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवा-
नाह-गौतम ! सर्वस्तोका. प्रथमसमयनैरयिका, एकस्मिन्
समये संख्यातीतानामपि स्तोकाणामेवोत्पादात् । तेज्योऽप्र-
थमसमयनैरयिका असख्येयगुणा, चिरकालावस्थायिनां तेषाम-
भ्योऽन्योत्पादेनातिप्रभूतभावात् । एव तिर्यग्योनिकमनुष्यदेव-
सूत्राद्यपि वक्तव्यानि, नवर तिर्यग्योनिकसूत्रेऽप्रथमसमयति-
र्यग्योनिका अनन्तगुणा वक्तव्या, घनस्पतिजीवानामनन्त-
त्वात् । साम्प्रतमेतेषामेव प्रथमसमयाप्रथमसमयाना समु-
दायेन परस्परमल्पबहुत्वमाह-“ एएसि शमित्यादि” प्रश्न-
सूत्र सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोका प्रथमसमय-
मनुष्या, एकस्मिन् समये संख्यातीतानामपि स्तोकाणामे-
वोत्पादात् । तेज्योऽप्रथमसमयमनुष्या असख्येयगुणा, चिर-
कालावस्थायितया अतिप्राज्ञत्वेन लभ्यमानत्वात् । तेज्य प्रथ-
मसमयनैरयिका असख्येयगुणा, अतिप्रभूततराणामेकस्मिन्नपि
समये उत्पादसंभवात् । तेज्य प्रथमसमयदेवा असख्येयगुणा,
व्यन्तरज्योतिष्काणामेकस्मिन्नपि समये अतिप्राज्ञत्वेण कदा-
चिदुत्पादात् । तेभ्य प्रथमसमयतिर्यग्योनिका असख्येयगुणा,
नारकवर्जगतित्रयादप्युत्पादसंभवात् । तेभ्योऽप्रथमसमयनैर-
यिका असख्येयगुणा, अहुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशे प्रथमव-
र्गमूढे द्वितीयवर्गमूलेन गुणिने यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमा-
णासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेज्यो-
ऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणा, प्रतरासख्येयजागवर्तिश्रेण्या-
काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका
अनन्तगुणा, घनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । जी० ८ प्रति० ।

अत्र (व्यासेन) चत्वार्यल्पबहुत्वानि, तद्यथा—

सिद्धेण जंते ! सिद्धे सि कालतो केव चिर होति ?
गोयमा ! सादिए अपज्जवमिए । (जी०)

तत्र प्रथममिदम्—

एएसि एं जंते ! पढमसमयनेरइयाणं पढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणुस्साणं पढमसमयदेवाणं य कयरे०
जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणु-
स्सा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा अ-
संखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा ।।
सर्वस्तोका प्रथमसमयमनुष्या. तेज्य प्रथमसमयनैरयिका
असख्येयगुणा । तेज्य प्रथमसमयदेवा असख्येयगुणा । तेभ्य
प्रथमसमयतिर्यग्योनिका असख्येयगुणा, नारकादिशेषगतित्र-

यादागतानामेव प्रथमसमये वर्तमानानां प्रथमसमयतिर्यग्यो-
नित्वात् ।

द्वितीयमेवम्—

एएसि णं जंते ! अपढमसमयणेरइयाणं अपढमसमय-
तिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवा-
णं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा अपढमसमयमणूसा, अपढमसमयणेरइया अ-
संखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, अपढम-
समयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्या, तेज्योऽप्रथमसमयनैरयिका
असंखेयगुणा, तेज्योऽप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणा, ते-
ज्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणा, निगोदजीवानाम-
नन्तत्वात् ।

तृतीयमेवम्—

एएसि णं पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं कयरे
कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढ-
मसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा । ए-
सि णं जंते ! पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयति-
रिक्खजोणियाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमस-
मयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । मणूयदेवाणं अप्पाबहुयं
जहा नेरइया ।

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथमसमयनैरयिका
असंखेयगुणाः । तत्र प्रथमसमयतिर्यग्योनिकाः सर्वस्तोकाः, अ-
प्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणा, तथा सर्वस्तोकाः प्रथम-
समयमनुष्या, अप्रथमसमयमनुष्याः असंखेयगुणाः । तथा स-
र्वस्तोकाः प्रथमसमयदेवाः, अप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः ।

सर्वसमुदायगतं चतुर्थमेवम्—

एएसि णं भंते ! पढममयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइ-
याणं पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं, अपढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणूसाणं अपढमसमयमणूसाणं पढम-
समयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं सिद्धाणं य कयरे कयरेहिं-
तो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमय-
मणूसा, अपढमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेर-
इया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसम-
यतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयणेरइया
असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा
अणंतगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्या, अप्रथमसमयमनुष्या अ-
संखेयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयनैरयिका असंखेयगुणाः, तेज्यो
ऽपि प्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, तेज्योऽपि प्रथमसमयति-
र्यग्योनिका असंखेयगुणाः, तेज्योऽपि प्रथमसमयनैरयिका असंखे-
यगुणाः, तेज्योऽपि प्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, तेज्यः सि-
द्धा अनन्तगुणाः, तेज्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगु-
णाः । जी० ६ प्रति० ।

प्रथमसमयाप्रथमसमयजेदेन भिन्नानां नैरयिकतिर्यग्योनिकम-
नुष्यदेवसिद्धानां दशानामल्पबहुत्वान्यत्रापि चत्वारि ।

तत्र प्रथममिदम्—

एतेसि णं भंते ! पढममयणेरइयाणं पढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणूसाणं पढमसमयदेवाणं पढमसमय-
सिद्धाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा पढमसमयमणूसा
असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढम-
समयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया अ-
संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अष्टोत्तरशतादूर्द्धमभावात् ।
तेभ्यः प्रथमसमयमनुष्या असंखेयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयनै-
रयिकाः असंखेयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयदेवाः असंखेय-
गुणाः, तेज्यः प्रथमसमयतिर्यग्योनिकाः असंखेयगुणाः ।

द्वितीयमिदम्—

एतेसि णं जंते ! अपढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयति-
रिक्खजोणियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवाणं
अपढमसमयसिद्धाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसा-
हिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अपढमसमयमणूसा, अप-
ढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असं-
खेज्जगुणा, अपढमसमयसिद्धा अणंतगुणा, अपढमसमय-
तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्या, अप्रथमसमयनैरयिका अ-
संखेयगुणाः, अप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणा, अप्रथमस-
मयसिद्धा अनन्तगुणा, अप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः ।

तृतीयम्—

एएसि णं जंते ! पढममयणेरइयाणं य अपढमसमयणेरइ-
याणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा पढमसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असं-
खेज्जगुणा । एतेसि णं जंते ! पढमसमयतिरिक्खजोणि-
याणं अपढमसमयतिरिक्खजोणियाणं य कयरे कयरेहिंतो०
जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमस-
मयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणं-
तगुणा । एतेसि णं जंते ! पढमसमयमणूसाणं अपढमस-
मयमणूसाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा
असंखेज्जगुणा । जहा मणूसा तहा देवा वि । एतेसि णं जं-
ते ! पढमसमयसिद्धाणं अपढमसमयसिद्धाणं य कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुष्ठा वा विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा, अपढमसमयसि-
द्धा अणंतगुणा ।

प्रत्येकभाविनैरयिकतिर्यग्योनियुप्यदेवानां पूर्ववत् । सिद्धानामेवं
सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अप्रथमसमयसिद्धा अनन्त-
गुणाः ।

समुदायगत चतुर्थमेवम-

एएसि एं जंते ! पदमसमयणेरइयाणं अपदमसमयणेरइ-
याणं पदमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपदमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पदमसमयमणूसाणं अपदमसमयमणूसाणं पदमस-
मयदेवाणं अपदमसमयदेवाणं पदमसमयसिद्धाणं अपदम-
समयसिद्धाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा
विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पदमसमयसिद्धा,
पदमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, अपदमसमयमणूसा असं-
खिज्जगुणा, पदमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, पदमसमय-
देवा असंखिज्जगुणा, पदमसमयतिरिक्खजोणिया असं-
खेज्जगुणा, अपदमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, अपद-
मसमयदेवा असंखिज्जगुणा, अपदमसमयसिद्धा अणंत-
गुणा, अपदमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, तेज्यः प्रथमसमयमनुष्या
असख्येयगुणा, तेभ्योऽप्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणा,
तेज्यः प्रथमसमयनैरयिका असख्येयगुणाः, तेज्यः प्रथमसम-
यदेवा असख्येयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयतिर्यञ्चोऽसंख्येयगु-
णाः, तेज्योऽप्रथमसमयनैरयिका अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथम-
समयदेवा असख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयसिद्धा अनन्त-
गुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यञ्चोऽनन्तगुणाः । भावना सर्व-
त्रापि प्राप्नुवत् । नवर सूत्रे सङ्केप इति । जी० १० प्रति० ।

संप्रति गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामल्पबहुत्वमाह-

(पण दो खीण दु जोगी, ऽणुदीरग अजोगि) थोव उवसंता ।
संखगुण खीण सुहुमा, नियहिअपुव्व समा अहिया । ६२ ।

(थोव उवसंत सि) स्तोका उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो
जीवाः, यतस्ते प्रतिपद्यमाना उत्कर्षतोऽपि चतुष्पञ्चाशत्प्रमा-
णा एव प्राप्यन्ते इति । तेज्यः सकाशात् क्लीणमोहाः संख्ये-
यगुणाः, यतस्ते प्रतिपद्यमानका एकस्मिन् समयेऽष्टोत्तरश-
तप्रमाणा अपि लज्यन्ते । एतच्चोक्तुष्टपदापेक्षयोक्तम् । अन्यथा
कदाचिद्विपर्ययोऽपि छष्टव्यः । स्तोकाः क्लीणमोहाः, बह्वस्तु
तेज्य उपशान्तमोहाः, तथा तेज्यः क्लीणमोहेभ्यः सकाशात्
सूक्ष्मसंपराया निवृत्तिबाधरापूर्वकरणा विशेषाधिकाः, स्वस्था-
ने पुनरेते चिन्त्यमानास्त्रयोऽपि समास्तुष्या इति ॥ ६२ ॥

जोगि अपेमत्त इयरे, संखगुणा देससासणा मीसा ।

अविरय अजोगि मिच्छा, असंख चउरो दुवेऽणंता । ६३ ।

तेभ्यः सूक्ष्मादिज्यः सयोगिकेवलिन सख्यातगुणाः, तेषां
कोटिपृथक्त्वेन लज्यमानत्वात् । तेभ्योऽप्रमत्ता सख्येयगुणाः,
कोटिसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्नुमानत्वात् । तेभ्य (इयर सि) अ-
प्रमत्तप्रतियोगिनः प्रमत्ता सख्येयगुणाः, प्रमादभावो हि बहु-
ना बहुकास च लज्यन्ते, विपर्ययेण त्वप्रमाद इति न यथोक्त-
सख्याव्याघातः । (देसेत्यादि) देशविरतसास्वादनमिश्राऽविरत-
लक्षणभत्वारो यथोत्तरमसख्येयगुणाः, अयोगिमिथ्यादृष्टि-
सत्त्वौ च द्वौ यथोत्तरमनन्तगुणौ, तत्र प्रमत्तेभ्यो देशविरता
असंख्येयगुणाः, तिरश्चाप्यसख्यातानां देशविरतिभावात् ।

सास्वादनास्तु कदाचित्सर्वथैव न भवन्ति, यदा भवन्ति तथा
जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतस्तु देशविरतेभ्योऽप्यसख्येयगुणा,
तेज्यो मिश्रा असख्येयगुणा, सास्वादनाद्या उन्कर्षतोऽ-
पि प्रमावलिकामात्रतया स्नोक्तत्वात् । मिश्राद्याः पुनरन्त-
र्मुहूर्तप्रमाणतया प्रभूतत्वान् । तेभ्योऽप्यसख्येयगुणा अविरत-
सम्यगृह्यन्ते, तेषां गतिचतुष्टयेऽपि प्रभूततया सर्वकालम-
भवात् । तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवस्थामवस्थभेदजिज्ञा
अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽप्यनन्तगुणा मि-
थ्यादृष्टयः, साधारणवनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।
तेषां च मिथ्यादृष्टिवादिनि । तदेवमजिहित गुणस्थानवर्तिनां
जीवानामल्पबहुत्वम् । कर्म० ४ कर्म० । प० सं० ।

(१३) [चरमद्वारम्] चरमाचरमाणामल्पबहुत्वम्-

एएसि एं जंते ! जीवाणं चरिमाणं अचरिमाणं य कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
जीवा अचरिमा, चरिमा अणंतगुणा ।

इह येषां चरिमो भवः समवी योग्यतयाऽपि ते चरमा उच्यन्ते । ते
चार्थाद् भव्याः, इतरेऽचरमा अभव्याः सिद्धाश्च, उन्नयेषामपि च-
रमाचरमजावात् । तत्र सर्वस्तोका अचरमा, अभव्यानां सिद्धानां
च समुदितानामप्यजघन्योक्तुष्टपदानन्तकपरिमाणत्वात् । ते-
भ्योऽनन्तगुणाचरमाः, अजघन्योक्तुष्टपदानन्तकपरिमाण-
त्वात् । गत चरमद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । (रत्नप्रभादीनां चर-
माचरमगतमल्पबहुत्व, सङ्घातप्रदेशस्य सङ्घातप्रदेशावगाढस्य
परिमणुरलादेश्चरमादिविषयमल्पबहुत्व च ' चरम ' शब्दे एव
दर्शयिष्यते)

(१४) [जीवद्वारम्] जीवपुङ्गवसमयद्रव्यप्रदेशपर्यायाणा-
मल्पबहुत्वम्-

एएसि एं जंते ! जीवाणं पोग्गद्वानं अच्चासमयाणं
सव्वदव्वाणं सव्वपएसाणं सव्वपज्जवाणं य कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पोग्ग-
द्वाना अणंतगुणा, अच्चासमया अणंतगुणा, सव्वदव्वा वि-
सेसाहिया, सव्वपदेसा अणंतगुणा, सव्वपज्जवा अणंतगुणा ।
प्रज्ञा० ३ पद ।

सदेवमर्थत-

' जीवा १ पोग्गल २ समया ३, सव्वपएसा य ५ पज्जवा ६ चेव ।
थोवाऽणताऽणता, विसेसआहिया दुवेऽणंता ' ॥ १ ॥
इह भावना-यतो जीवा प्रत्येकमनन्तान्तैः पुद्गलैर्बद्धाः प्रायो
भवन्ति, पुङ्गलास्तु जीवैः सव्वत्ता असव्वत्ताश्च भवन्तीत्यतः
स्तोकाः पुङ्गलेभ्यो जीवाः ।

यदाह-

" जं पोग्गलावच्छा, जीवा पाएण होंति तो थोवा ।
जीवेहि विरहियाऽविर-हिया व पुण पोग्गला सति " ॥ १ ॥
जीवेभ्योऽनन्तगुणाः पुङ्गलाः । कथम् ? यत्तैजसादिशरीरयेन जी-
वेन परिगृहीत तत्ततो जीवात्पुङ्गवपरिणाममाश्रित्य अनन्तगुणं
भवति, तथा-तैजसशरीरात्प्रदेशतोऽनन्तगुणं कर्मणम्, एव च
ते जीवप्रतिषेधेऽनन्तगुणे जीवविमुक्ते च ते ताभ्यामनन्तगुणे
जघनः, शेषशरीरचिन्ता त्विह न कृता, यस्मात्तानि मुक्ताम्यपि
स्वे स्वे स्थाने तयोरनन्तजागे वर्तन्ते, तदेवमिह तैजसशरीरपुङ्ग-

ला अपि जीवेज्योऽनन्तगुणाः, किं पुनः कर्मणादिपुङ्गवरा-
शिसहिताः । तथा पञ्चदशविधप्रयोगपरिणताः पुङ्गवाः स्तो-
का, तेभ्यो मिश्रपरिणताः अनन्तगुणाः, तेज्योऽपि विस्रसाप-
रिणता अनन्तगुणाः, त्रिविधा एव च पुङ्गवाः सर्व एव भव-
न्ति । जीवाश्च सर्वेऽपि प्रयोगपरिणतपुङ्गवानां प्रतनुकेऽनन्त-
भागे वर्तन्ते यस्मादेव तस्माज्जीवेभ्यः सकाशात् पुङ्गवाः बहु-
निरनन्ताऽन-तकैर्गुणिताः सिद्धा इति ।

आह च-

" जं जेण परिगहियं, तेयादिजिएण देहमेकैकं ।
तत्तो तमणतगुण, पोग्गलपरिणामओ होइ ॥ १ ॥
तेयाओ पुण कम्मग-मणतगुणिय जओ विणिहिदु ।
एव ता वद्धाइ, तेयगकम्माइ जीवेहि ॥ २ ॥
एत्तोऽणतगुणाइ, तेसिं चिय जाणि होति मुक्काइ ।
इइ पुण थोवत्ताओ, अगहण सेसदेहाण ॥ ३ ॥
ज तेसिं मुक्काइ, पि होति सछाणऽणतभागमि ।
तेण तदगाइणमिह, वद्धावद्धाण दोएइ पि ॥ ४ ॥
इइ पुणतेयसरीरग-वद्ध चिय पोग्गला अणतगुणा ।
जीवेहि तो किं पुण, सहिया अवसेसरासीइ ॥ ५ ॥
थोवा भणिया सुत्ते, पत्तरसविहण्णओगयाओमा ।
तत्तो मीसपरिणया-ऽणेतगुणा पोग्गला जणिया ॥ ६ ॥
ते वीससा परिणया, तत्तो भणिया अणतसगुणिया ।
एव तिबिहपणिया, सव्वे वि य पोग्गला लोए ॥ ७ ॥
ज जीवा सव्वे वि य, एक्कमि पओगपरिणयाण पि ।
वट्ठति पोग्गलाण, अणतभागमि तणुयमि ॥ ८ ॥
बहुएहिं अणताण, तहिं तेण गुणिया जिणहिं तो ।
सिद्धा भवति सव्वे, वि पोग्गला सव्वलोगमि " ॥ ९ ॥

ननु पुङ्गवेज्योऽनन्तगुणाः समया इति यदुक्तम् । तन्न सगतम् । ते-
भ्यस्तेषां स्तोक्तत्वात् । स्तोक्तत्वं च मनुष्यक्षेत्रमात्रवर्तित्वात्सम-
यानां पुङ्गवानां च सकललोकवर्तित्वादिति । अत्रोच्यते-सम-
यक्षेत्रे ये केचन छव्यपर्यायाः सन्ति, तेषामेकैकस्मिन् साम्प्रत
समयो वर्तते । एव च साम्प्रत समयो यस्मात्समयक्षेत्रछव्यपर्य-
वगुणो भवति तस्मादनन्ताः समया एकैकस्मिन् समये
प्रवर्तन्तीति । आह च—

" होति य अणतगुणिया, अद्धासमया उ पोग्गलेहिं तो ।

मणु थोवा ते नरखे-त्तमेत्तवत्तणाओ सि ॥ १ ॥
मणणइ समयक्खेत्त-मि सति जे केइ दव्वपज्जाया ।
वट्ठइ सपयसमओ, नेसिं पत्तेयमेकैके ॥ २ ॥
एव सपयसमओ, ज समयक्खेत्तपज्जवज्जुत्थो ।
तेणाणना समया, भवति एक्केकसमयमि " ॥ ३ ॥

एव च वर्तमानोऽपि समयः पुङ्गवेज्योऽनन्तगुणो प्रवर्तितः,
एकछव्यस्याऽपि पर्यायाणामनन्तत्वात् । किं च । केवलमित्थं
पुङ्गवेज्योऽप्यनन्तगुणाः समयाः सर्वलोकछव्यप्रदेशपर्याये-
ज्योऽप्यनन्तगुणास्ते सज्जवन्ति । तथाहि-यत्समस्तलोकद्र-
व्यप्रदेशपर्यवराशेः समयक्षेत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवराशिना भक्ता-
ल्लभ्यते । एतद्भावना चैव किल-असद्भावकल्पनया वृक्षण
लोकछव्यप्रदेशपर्यवराणां तस्य समयक्षेत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवराशि-
ना कल्पनया सहस्रमानेन भागे हते शन वृद्धम्, ततश्च
किल तात्त्विकसमयशने गते लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवसख्या तु-
ल्या समयक्षेत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवरूपसमयसख्या लज्यते । स-
मयक्षेत्रापेक्षया अस्मत्स्यातुगुणलोकस्य कल्पनया शतगुण-

त्वात् । तथाऽन्येष्वपि तावत्सु तात्त्विकसमयेषु गतेषु ताव-
त्त एवौपचारिकसमया प्रवर्तन्तीत्येवमसख्यातेषु कल्पनया श-
तमानेषु तात्त्विकसमयेषु पौनःपुन्येन गतेष्वनन्ततमायां कल्प-
नया सहस्रतमायां वेलायां गता प्रवर्तन्ति । तात्त्विकसमया
लोकछव्यप्रदेशपर्यवमात्राः कल्पनया वृक्षप्रमाणाः, एव चैकै-
कस्मिंस्तात्त्विकसमयेऽनन्तानामौपचारिकसमयानां भावात्स-
र्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराशेरपि समया अनन्तगुणाः प्राप्नुवन्ति,
किं पुनः पुङ्गवेभ्यः ? इति ।

यदाह-

" जं सव्वलोगदव्व-प्पएसपज्जवगणस्स जइयस्स ।
लज्जइ समयक्खेत्त-प्पएसपज्जायपिमेण ॥ १ ॥
एवइसमएहिं गणहिं, लोगपज्जवसमा समयसखा ।
लज्जइ अओहिं पि य, तत्तियमेत्तहिं तावइया ॥ २ ॥
एवमसंखेज्जेहिं, समएहिं गतेहिं तो गयाहिं ति ।
समयाओ दोगदव्व-प्पएसपज्जायमेत्ताओ ॥ ३ ॥
इय सव्वलोगपज्जव-रासीओ वि समया अणतगुणा ।
पावन्ति गणिज्जता, किं पुण ता पोग्गलेहिं तो ? " ॥ ४ ॥

अन्यस्तु प्रेरयति-उत्कृष्टतोऽपि पण्मासमात्रमेव निश्चिते-
रन्तरं भवति. तेन च सेत्स्यद्वयः सिद्धेज्योऽपि च जीवेज्यो-
ऽसंख्यातगुणा एव समया प्रवर्तन्ति । कथं पुनः ? सर्वजीवेज्यो-
ऽनन्तगुणा भविष्यन्तीति इहाप्यौपचारिकसमयापेक्षया स-
मयानामनन्तगुणत्वं वाच्यमिति । अथ समयेज्यो छव्याणि
विशेषाधिकानीति कथम् ? अत्रोच्यते-यस्मात्सर्वे समयाः प्र-
त्येकं छव्याणि, शेषाणि च जीवपुङ्गवधर्मास्तिकायादीनि ते-
ष्वेव क्लिप्तानीत्यतः केवलं छव्यः समयेज्यः सकाशात् समस्तद्रव्या-
णि विशेषाधिकानि भवन्ति, न सख्यातगुणादीनि, समयछ-
व्यापेक्षया जीवादिछव्याणामल्पतरत्वादिति ।

उक्तं च-

" एत्तो समएहिं तो, होति विसेसाहियाइ दव्वाइ ।
ज मेया सव्वे चिय, समया दव्वाइ पत्तेय ॥ १ ॥
सेसाइ जीवपोग्गल-धम्माधम्म वराइ वूढाइ ।
दव्वट्ठयापे समए-सु तेण दव्वा विसेसहिया ॥ २ ॥

नन्वद्धासमयानां कस्माद्द्रव्यत्वमेवेष्ट्यते ? समयस्कन्धापेक्षया
प्रदेशार्थत्वस्यापि तेषां युज्यमानत्वात् । तथाहि-यथा स्कन्धो
द्रव्यं सिद्धं, स्कन्धापर्यवा अपि यथाप्रदेशाः सिद्धाः, एव सम-
यस्कन्धवर्तिनः समया भवन्ति, प्रदेशाश्च छव्ये चेति ? अत्रोच्यते-
परमाणूनामन्योऽन्यसव्यपेक्षत्वेन स्कन्धत्वं युक्तम्, अद्धासम-
यानां पुनरन्योऽन्यापेक्षिता नास्ति । यतः कालसमया प्रत्येक-
त्वे च कालपनिकस्कन्धजावे च वर्तमानाः प्रत्येकवृत्तय एव, त-
त्त्वभावत्वात्तस्मात्तेऽन्योऽन्यनिरपेक्षाः, अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वाच्च
न ते वास्तवस्कन्धनिष्पादका, ततश्च तेषां प्रदेशार्थतोति ।

उक्तं चात्र आह-"अद्धासमयाणं किं, पुण दव्वट्ठपव नियमेण ।
तेसि पएसट्ठा विहु, जुज्जइ खध समासज्ज ॥ १ ॥
सिद्ध खधो दव्व, तदवयवा वि य जहा पएस सि ।
इय तव्वत्ती समया, होति पएस य दव्व च ॥ २ ॥
अणणइ परमाणूण, अओअमवेक्ख खधया सिद्धा ।
अद्धासमयाण पुण, अओअवेक्खया नत्थि ॥ ३ ॥
अद्धासमया जम्मा, पत्ते पत्तेयखधजावे य ।
पत्तेयवत्तिणो चिय, ते तेणओअनिरवेक्खा " ॥ ४ ॥

अथ द्वयेभ्यः प्रदेशा अनन्तगुणा इति । एतत्कथम् ? उच्यते-
प्रदेशसमयस्येच भाकाशप्रदेशानामनन्तगुणत्वात् । ननु के-
प्रदेशानां कालसमयानां च समानेऽप्यनन्तत्वे किं कारणमा-
भित्थाकाशप्रदेशा अनन्तगुणाः, कालसमयाश्च तदनन्तभाग-
वर्तिन इति । उच्यते-एकस्यामनाद्यपर्यवसितायामाकाशप्रदे-
शभित्थामेकप्रदेशानुसारतस्तिर्यगायतश्रेणीनां कल्पनेन ता-
न्योऽपि कैकेयप्रदेशानुसारेणैवाध्यायतश्रेणीविरचनेन
आकाशप्रदेशघनो निष्पद्यते, कालसमयश्रेण्यां तु सैव श्रेणी
भरति, न पुनर्घनः, ततः कालसमयाः स्तोका भवन्तीति ।

इदं गाथा-

"एतो सव्यपयसा-ऽणंतगुणा कल्पयसऽप्यतस्ता ।
स वागासमपत, जेण जिधिदेहि पयस ॥ १ ॥
आह समेऽणंतस-स्मि जेसकाहाह किं पुण निमित्त ? ।
अणिय कमनतगुणं, काहोऽयमणंतभागस्मि ॥ २ ॥
मअह नभसेदीप, अणाइयाप अपज्जवसियाप ।
निप्फज्ज कस्मि घणो, न उ काले तेण सो थोथो " ॥ ३ ॥
प्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः पर्याया इत्येतद्भावनार्थं गाथा-
"एतो य अनंतगुणा, पज्जाया जेण नहपयसस्मि ।
एकेकस्मि भवता, अगुणसह पज्जवा मणिया " ॥ १ ॥ इति ।
भ० २५ श० ३ उ० । गत जीवद्वारम् ।

(१५) [ज्ञानद्वारम्] ज्ञानिनामल्पबहुत्वम्-

एतस्मि णं भंते ! जीवाणं आजिणिबोहियणाणीणं सुय-
णाणीणं ओहिणाणीणं मणपज्जवणाणीणं केवलणा-
णीणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? । गोयमा ! स-
वत्थोवा मणपज्जवणाणी, ओहिणाणी असं०, आजिणि-
बोहियणाणी सुयणाणी दोवि तुद्धा विसेमाहिया, केवल-
णाणी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवज्ञानिनः, संयतानामेवामर्षीषध्यादिक्ल-
दिप्राप्तानां मनःपर्यवज्ञानसंज्ञात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अय-
धिकानिनः, नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानामप्यवधिकान-
संज्ञात् । तेभ्यः आजिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च विशेष-
पाधिकाः, सक्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेवाधिकज्ञानविकला-
नामपि केषाञ्चिदभिनिबोधिकश्रुतज्ञानभावात् । स्वस्थाने तुल्ये
ऽपि परस्परं तुल्या । "जत्थ मइनाणं तत्थ सुअनाणं, जत्थ सुय-
णाणं तत्थ मइनाण " इतिवचनात् । तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्त-
गुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । अतः हि ज्ञानिनामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं प्रतिपक्षभूतानामज्ञानिनामल्पबहुत्वमाह-

एतस्मि णं भंते ! जीवाणं मइअसाणीणं सुयअसाणीणं
विजंगनाणीणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? । गोयमा !
सवत्थोवा जीवा विभंगनाणी, मइअसाणी सुयअसाणी
दोवि तुद्धा अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका विभङ्गज्ञानिनः, कनिषयानामेव नैरयिकदेवतिर्यक्-
पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां विभङ्गभावात् । तेभ्यो मत्तज्ञानिनः श्रुतज्ञा-
नितोऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनामपि मत्तज्ञानश्रुतज्ञानभावात् ।
स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । " जत्थ मइअसाणं तत्थ सुयअ-
साणं, जत्थ सुयअसाणं तत्थ मइअसाण " इति वचनात् ।
१६१

संप्रत्युभयेषां ज्ञानाज्ञानिनामल्पबहुत्वमाह-

एतस्मि णं भंते ! जीवाणं आजिनिबोहियणाणीणं सु-
यणाणीणं ओहिणाणीणं मणपज्जवणाणीणं केवलणा-
णीणं मतिअसाणीणं सुयअसाणीणं विभंगनाणीणं य-
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? । गोयमा ! सवत्थोवा
जीवा मणपज्जवणाणी, ओहिणाणी अमंस्विजगुणा,
आजिनिबोहियणाणी सुयणाणी य दोवि तुद्धा विसेमाह-
या, विजंगनाणी अमंस्वेज्ज०, केवलणाणी अणंतगुणा,
मइअसाणी सुयअसाणी य दोवि तुद्धा अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवज्ञानिनः, संयतानामेवामर्षीषध्याद्वृद्धि-
प्राप्तानां मनःपर्यवज्ञानसंज्ञात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अयधिकानि-
नः, तेभ्यः आजिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च विशेषपाध-
का, स्वस्थाने तु द्वार्षाप परस्परं तुल्या । अत्र ज्ञाना प्रागे-
वोक्ता । तेभ्योऽसंख्येयगुणा विभङ्गज्ञानिनः, यस्मात्सुगतां
निरयगतौ च सम्यग्दृष्टिभ्यो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः पठ्य-
न्ते, देवनैरयिकाश्च सम्यग्दृष्टयोऽवधिकानिनो मिथ्यादृष्टयो
विजङ्गज्ञानिन इत्यसंख्येयगुणाः, तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्तगु-
णाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो मत्तज्ञानिनः श्रुतज्ञानिन-
ज्ञानन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् ;
तेषां च मत्तज्ञानिश्रुतज्ञानिभावात् । स्वस्थाने तु द्वार्षाप परस्परं
तुल्या । गत ज्ञानद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । भ० । जी० । कर्म० ।

इदानीं ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह-

एतस्मि णं भंते ! चंदिमसुरिअगदणवस्वत्तागारूवाणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसे-
साहिया वा ? । गोयमा ! चंदिमसुरिआ दुवे तुद्धा मव्व-
त्थोवा, एक्खत्ता संखेज्जगुणा, गहा मंखेज्जगुणा, ता-
रारूवा संखेज्जगुणा ॥

(एतस्मि णमित्यादि) एतेषामनन्तरोक्तानां प्रत्यक्षप्रमाणगोचराणां
वा, भदन्त ! चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रनारूपणां कतरे कतरेभ्योऽष्ट्या-
स्तोकाः । वाऽत्र विकल्पसमुच्चयार्थः । कतरे कतरेभ्यो बहुका वा
कतरेभ्यस्तुल्या वा, अत्र विभक्तिपरिणामेन तृतीया ध्याख्येया ।
कतरे कतरेभ्यो विशेषावेति ? । गौतम ! चन्द्रसूर्या एते द्वयेऽपि
परस्परं तुल्या, प्रतिद्वीपं प्रति समुद्रं चन्द्रसूर्याणां समसंख्या-
कत्वात् । शेषेभ्यो ग्रहादिभ्यः सर्वेऽपि स्तोकाः, नेभ्यो नक्षत्राणि
संख्येयगुणानि, अष्टादशनिगुणत्वात् । तेभ्योऽपि ग्रहाः संख्ये-
यगुणानि, प्रज्ञतकोटाकोटिगुणत्वादिति । ज० ७ वक्ष० । ज्ञानप-
र्यायाणामल्पबहुत्वम् । ज० ८ श० ३ उ० । " सवत्थोवा नाणी,
अणणाणी अणंतगुणा " । जी० १ प्रति० । त्रसंस्थावरनोत्रसंनो-
स्थावराणामल्पबहुत्वम् - " अप्पाबहु सवत्थोवा तसा, एतोसा
योथावरा अणंतगुणा " । जी० २ प्रति० । (निर्ग्रन्थानां पुलाकादी-
नामल्पबहुत्व ' निग्राथ ' शब्दे वक्ष्यते)

(१६) [दर्शनद्वारम्] दर्शनिनामल्पबहुत्वम्-

एतस्मि णं भंते ! जीवाणं चक्खुदंसणीणं अचक्खुदंस-
णीणं ओहिदंसणीणं केवलदंसणीणं य कयरे कयरेहिं-

तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा ओ-
हिदंसणी, चक्खुदंसणी असखेज्जगुणा, केवलदंसणी
अणंतगुणा, अचक्खुदंसणी अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अवधिदर्शानिन, देवनैरयिकाणां कतिपयानां च
सङ्गिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामवधिदर्शनभावात् । तेभ्यश्चक्षु-
दर्शनिनोऽसंख्येयगुणा, सर्वेषां देवनैरयिकगर्भजमनुष्याणां स-
क्षितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च असक्षितिर्यक्पञ्चे-
न्द्रियाणां चक्षुदर्शनभावात् । तेभ्यः केवलदर्शनिनोऽनन्तगुणाः,
सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽचक्षुदर्शनिनोऽनन्तगुणा, वनस्प-
तिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् । गत दर्शनद्वारम् । प्रहा०
३ पद । कर्म० । जी० ।

(१५) [दिग्धारम्] दिगनुपातेन जीवानामल्पबहुत्वम्—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा जीवा पच्चच्चिमेणं, पुरच्चि-
मेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसे-
साहिया ।

इह दिशः प्रथमे आचाराख्येऽङ्के अनेकप्रकारा व्याख्याताः,
तत्रेह क्षेत्रदिशः प्रतिपत्तव्याः, तासां नियतत्वात् । इतरासां च
प्रायोऽनवस्थितत्वादनुरूपयोगित्वाच्च, क्षेत्रदिशां च प्रभवस्तिर्य-
ग्लोकमध्यगतादष्टप्रदेशाकाद् रुचकाद् । यत उक्तम्—“अदृष्टपक्षो
रुयगो, तिरियलोयस्स मज्झियारस्मि । एस पमवो दिसाण,
एसेव भवे अणुदिसाणं” ॥ १ ॥ इति दिशामनुपातो दिगनुस-
रण, तेन दिशोऽधिकृत्यति तात्पर्यार्थः । सर्वस्तोका जीवा-
पञ्चिमेन पश्चिमायां दिशि । कथमिति चेत् ?, उच्यते—इदं ह्यल्प-
बहुत्वं बादरानाधिकृत्य दृष्टव्यं, न सूक्ष्माणां, सर्वलोकापन्नानां
प्रायः सर्वत्राऽपि समत्वात् । बादरेष्वपि मध्ये सर्वबहवो वन-
स्पतिकायिकाः, अनन्तसंख्यानतया तेषां प्राप्यमाणत्वात् । ततो
यत्र ते बहवः तत्र बहुत्वं जीवानां, यत्र त्वल्पे तत्राल्पत्वम् । वन-
स्पतयश्च तत्र बहवो यत्र प्रचूता आपः । “जलं जलं तत्र वण”
इति वचनात् । तत्रावश्यं पनकशैवासादीनां भावात् । ते च
पनकशैवात्वादयो बादरनामकर्मोदये वर्तमाना अपि अत्य-
न्तसूक्ष्मावगाहनत्वादतिप्रभूतपिण्डीभावाच्च सर्वत्र सन्तोऽपि
न चक्षुषा प्राज्ञाः । तथा चोक्तमनुयोगद्वारेण—“तेणं बाल-
गा सुहुमपणगजीवस्स सररीरोगाहणादितो असंखेज्जगुणा”
इति । ततो यत्रापि नैते दृश्यन्ते तत्रापि ते सन्तीति प्रतिप-
त्तव्याः । आह च भूतटीकाकार—इह सर्वबहवो वनस्प-
तय इति कृत्या यत्र ते सन्ति तत्र बहुत्वं जीवानां, तेषां च बहु-
त्वम् “जलं आउकाओ तन्थ नियमा वणस्सइकाया” इति ।
“पणगसेवालहदार्हं बायरा वि होति, सुहुमा आणुगिज्झा न-
चक्खणा” इति । उक्तं च प्रचूत समुद्रेषु द्वीपद्विगुणवि-
ष्कम्भात् । तेष्वपि च समुद्रेषु अन्येक प्राचीप्रतीचीदिशोर्यथा-
क्रम चन्द्रसूर्यद्वीपाः, यावति च प्रदेशे चन्द्रसूर्यद्वीपा अवगाढा-
स्तावन्मुदकाभावः, उदकाभावाच्च वनस्पतिकायिकामात्रः, के-
वलं प्रतीच्या दिशि लवणसमुद्राधिपसुखिननामदेवावासभूतो
गौतमद्वीपो लवणसमुद्रेऽन्यधिको वर्तते, तत्र च उदकाभा-
वावनस्पतिकायिकानामभावात् । सर्वस्तोका जीवाः पश्चिमायां
दिशि, तेभ्यो विशेषाधिकाः पूर्वस्यां दिशि, तत्र हि गौतमद्वीपो
न विद्यते, ततस्त्रावता विशेषेणाधिका भवन्त्यतिरिच्यन्ते, ते
न्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिका, यतस्तत्र चन्द्रसूर्यद्वीपा

न विद्यन्ते, तत्र भावात्तत्रोदक प्रचूतं, तत्राप्रचूत्याच्च वनस्पतिका-
यिका अपि प्रचूता इति विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्युदीच्यां दिशि
विशेषाधिकाः । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते—उदीच्यां हि
दिशि संख्येययोजनेषु द्वीपेषु मध्ये कस्मिंश्चिद् द्वीपे आयामवि-
ष्कम्भात्त्यां संख्येययोजनकोटाकांटीप्रमाण मानसं नाम सरः स-
मस्ति, ततो दक्षिणदिगपेक्षया अस्यां प्रचूतमुदकम्, उदकाबाहु-
ल्याच्च प्रचूता वनस्पतयः, प्रचूता द्वीन्द्रियाः शब्दादयः, प्रचूता-
स्तादृशप्रज्ञादिकलेखराश्रिताः श्रीन्द्रियाः पिपीलिकादयः, प्र-
चूताः पद्मादिषु चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयः, प्रचूताः पञ्चेन्द्रिया
मत्स्यादयः, इति विशेषाधिकाः ॥

इदानीं विशेषेण तदाह—

दिमाणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढाविकाइया दाहिणेणं, उत्त-
रेणं विसेसाहिया, पुरिच्चिमेणं विसेसाहिया, पच्चच्चिमेणं
विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया पच्च-
च्चिमेणं, पुरिच्चिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहि-
या, उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउ-
काइया दाहिणुत्तरेणं, पुरिच्चिमेणं विसेसाहिया, पच्चच्चिमेणं
विसेसाहिया । दिमाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पुर-
च्चिमेणं, पच्चच्चिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया,
उत्तरेणं विसेसाहिया ॥

दिगनुपातेन दिगनुसारेण, दिशोऽधिकृत्येति ज्ञातः । पृथिवी-
कायिकाभिन्यमानाः सर्वस्तोकाः दक्षिणस्यां दिशि । कथमि-
ति चेत् ?, उच्यते—इह यत्र घनं तत्र बहवः पृथिवीकायिकाः,
यत्र सुषिरं तत्र स्तोकाः, दक्षिणस्यां दिशि बहुनि भवनपतीनां भ-
वनानि, बहवो नरकावासास्ततः सुषिरप्राभृत्यसंभवात्, सर्व-
स्तोका दक्षिणस्यां दिशि पृथिवीकायिकाः । तेन्य उत्तरस्यां दि-
शि विशेषाधिकाः, यत्र उत्तरस्यां दिशि दक्षिणदिगपेक्षया
स्तोकानि भवनानि, स्तोका नरकावासास्ततो घनप्राचृत्यस-
म्भवाद् बहवः पृथिवीकायिका इति विशेषाधिकाः । तेन्योऽपि
पूर्वस्यां दिशि विशेषाधिकाः, रविशशिद्वीपानां तत्र भावात् ।
तेभ्योऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः । किं कारणमिति चेत् ?,
उच्यते—यावन्तो रविशशिद्वीपा पूर्वस्यां दिशि तावन्त पश्चि-
मायामपि, तत एव तावता साम्यम् । परं लवणसमुद्रे गौत-
मनामा द्वीपः पश्चिमायामधिकोऽस्ति, तेन विशेषाधिकाः । अत्र
पर आह—ननु यथा पश्चिमायां दिशि गौतमद्वीपोऽभ्यधिकः
समस्ति, तथा तस्यां पश्चिमायां दिशि अशोलौकिकग्रामा अपि
योजनसहस्रावगाहाः सन्ति, ततः ज्ञातपुरितन्यायेन तसुख्या
एव पृथिवीकायिकाः प्राप्नुवन्ति, न विशेषाधिकाः । नैतदेवम् ।
यतोऽधोलौकिकग्रामावगाढा योजनसहस्र, गौतमद्वीपस्य पुनः
षट्सप्तत्यधिक योजनसहस्रमुच्चैस्त्वं, विष्कम्भस्तस्य द्वादश-
योजनसहस्राणि, यच्च मेरोरारण्याधोलौकिकग्रामेभ्योऽर्वाक-
हीनन्धं हीनतरत्वं तत्पूर्वस्यामपि दिशि प्रभूतगताविसम्भवात्
समानम् । ततो यद्यधोलौकिकग्रामच्छिष्ठेषु बुद्ध्या गौतमद्वीपः
प्रतिप्यते, तथापि समधिक एव प्राप्यते, न तुल्य इति । तेन स-
मधिकेन विशेषाधिकाः पश्चिमायां दिशि पृथिवीकायिकाः । उक्तं
दिगनुपातेन पृथिवीकायिकानामल्पबहुत्वम् । इदानीमप्यायि-
कानामल्पबहुत्वमाह—(दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया

इत्यादि) सर्वस्तोका अप्कायिकाः पश्चिमायां दिशि, गौ-
तमदीपस्थाने तेषामभावात् । तेज्योऽपि विशेषाधिकाः
पूर्वस्यां दिशि, तेज्योऽपि विशेषाधिका दक्षिणस्यां दिशि,
चन्द्रसूर्यद्वीपाभावात् । तेज्योऽयुत्तरस्या दिशि विशेषाधिका,
मानसरःसद्भावात् । तेजस्कायिकानामल्पबहुत्वम्—(दिसा-
णुवाएण सव्वत्थोवा तेउकाइया इत्यादि)नया दक्षिणस्यामुत्तर-
स्यां च दिशि सर्वस्तोकाः तेजस्कायिकाः, यतो मनुष्यकेशे
एव बादरास्तेजस्कायिका नान्यत्र; तत्रापि यत्र बहवो मनुष्याः
तत्र ते बहवो बाहुल्येन पाकारम्भसम्भवात्, यत्र त्वत्पे तत्र
स्तोकाः । तत्र दक्षिणस्या दिशि पञ्चसु जरतेपु, उत्तरस्या दिशि
पञ्चस्वैरावतेपु क्षेत्रस्याल्पत्वात् स्तोका मनुष्याः । तेषां स्तो-
कत्वेन तेजस्कायिका अपि स्तोकाः; अल्पपाकारम्भसम्भवात् ।
ततः सर्वस्तोका दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः तेजस्कायिकाः; स्वस्थाने
तु प्रायः समानाः । तेज्यः पूर्वस्यां दिशि संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य
संख्येयगुणत्वात् । ततोऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः,
अधोद्वैकिकप्रामेपु मनुष्यबाहुल्यात् । इदानीं वायुकायिकाना-
मल्पबहुत्वम्—(दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पुर-
च्छिमेणमित्यादि) । इह यत्र वायुरं तत्र वायुर्यत्र च घनं तत्र
वायवभावः । तत्र पूर्वस्या दिशि प्रचूत घनमित्यल्पा वायवः,
पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधोद्वैकिकप्रामेपु सम्भवात् ।
उत्तरस्या दिशि विशेषाधिकाः, भवननरकावासबाहुल्येन शुष-
रबाहुल्यात् । ततोऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकं, उत्तर-
दिगपेक्षया दक्षिणस्यां दिशि भवनानां नरकावासानां आवि-
प्रचूतत्वात् ।

तथा यत्र प्रभूता आपस्तत्र प्रभूताः पनकादयोऽनन्तकायि-
का वनस्पतयः, प्रचूताः बाह्यादयो ङीन्द्रियाः, प्रचूताः पिण्मी-
भूतशैवात्ताद्याभिताः कुण्डवाद्यः श्रीन्द्रियाः, प्रचूताः पद्-
माद्याभिता त्रमराद्यश्चतुरिन्द्रिया इति ।

इदानीं वनस्पत्यादीनामल्पबहुत्वम्—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया पच्चच्छिमेणं,
पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरे-
णं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वेइंदिया पच्च-
च्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया,
उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा तेइंदिया
पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसा-
हिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । एवं चउरिंदिया वि ॥

वनस्पत्यादिसूत्राणि चतुरिन्द्रियसूत्रपेयन्तानि अप्कायिक-
सूत्रवद्भावनयानि ।

नैरयिकाणामल्पबहुत्वम्—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा णेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उ-
त्तरदाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा
रणणप्पजा पुढविणेइया पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सकर-
प्पजा पुढविणेइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं अ-
संखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा णेरइया बासुयप्पजा

पुढविपुगच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।
दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पक्कप्पजा पुढविणेइया पुरच्छिम-
पच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं
सव्वत्थोवा धूमप्पजा पुढविणेइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं,
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा नमप्पभा
पुढविणेइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखे-
ज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा अहेसत्तमा पुढविणे-
इया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

नैरयिकसूत्रे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विजाविनो नैर-
यिकाः, पुष्पावर्कान्नरकावासानां चात्राल्पत्वात्, बहुना प्रायः
संख्येययोजनविस्तृतत्वात् । तेज्यो दक्षिणदिग्भागविभाविनां
संख्येयगुणाः, पुष्पावर्कान्नरकावासानां नत्र बाहुल्यात्, तेषां
च प्रायोऽसंख्येययोजनविस्तृतत्वात्, कृष्णपाक्विकाणां नस्या
दिशि प्राचुर्येणोत्पादाच्च । तथाहि—द्विविधा जन्तवः, शुक्रपा-
क्विकाः, कृष्णपाक्विकाश्च । तेषां लक्षणमिदम्—किञ्चिद्वनपुत्रलप-
रावर्तार्कमात्रससारस्ते शुक्रपाक्विकाः, अधिकतरससारजाजि-
नस्तुकृष्णपाक्विकाः । उक्तञ्च—'जेस्सिमवस्सं पुग्गल-परिपट्टो सेस-
ओ य ससारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, अहीए पुण कएहपक्खी-
ओ' ॥ १ ॥ अत एव च स्तोका शुक्रपाक्विका, अल्पससारि-
णां स्तोकात्वात् । बहवः कृष्णपाक्विका, प्रचूतससारिणामतिप्र-
चुरत्वात् । कृष्णपाक्विकाश्च प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्प-
द्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभाव्य
पूर्वाचार्यैरेवंयुक्तिभिरुपपृच्छते । तद्यथा—कृष्णपाक्विका दीर्घतरस-
सारजाजिन उच्यन्ते । दीर्घतरससारजाजिनश्च बहुपापोदया-
द्भवन्ति, बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माण, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथा-
स्वाभाव्यात् । तद्ववसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्प-
द्यन्ते, न शेषासु दिक्षु । यत उक्तम्—'पायमिह क्रूरकम्मा भवसि-
द्धिया वि दाहिणहेसु । नेरइयतिरियमणुया, सुराइठाणेसु
गच्छति' ॥ १॥ ततो दक्षिणस्यां दिशि बहुना कृष्णपाक्विका-
णामुत्पादसम्भवात्, पूर्वोक्तकारणद्वयाच्च सम्भवन्ति पूर्वोत्तरप-
श्चिमदिग्भाविभ्यो दाक्षिणात्या असंख्येयगुणा । यथा च सा-
मान्यतो नैरयिकाणां दिग्विजागेनाल्पबहुत्वमुक्तमेव प्रति-
पृथिव्यपि वक्तव्यम्, युक्ते सर्वत्रापि समानत्वात् । तदेव प्रति-
पृथिव्यपि दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं सप्तपि पृथिवीरधिकृत्य दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमाह—

दाहिणेहिंतो अहेसत्तमा पुढविनेरइहिंतो वट्ठीए त-
माए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेण असंखे-
ज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणध्वेहिंतो तमा-
पुढविनेरइहिंतो पंचमा धूमप्पभाए पुढवीए नेरइया पुर-
च्छिमपच्चच्छिमउत्तरेण असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असं-
खेज्जगुणा । दाहिणध्वेहिंतो धूमप्पभा पुढविनेरइहिंतो
चउत्थिए पंकप्पजाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छि-
मउत्तरेण असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।
दाहिणध्वेहिंतो पंकप्पजापुढविणेइहिंतो तइयाए वा-
लूयप्पजाए पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेण अ-

सखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणद्वेहिंतो बाहुयप्पजा पुढविणेरेइएहिंतो बीयाए सकरप्पजाए पु-
ढवीए ऐरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा,
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणद्वेहिंतो सकरप्पभा
पुढविणेरेइएहिंतो इमी से रयणप्पजाए पुढवीए ऐरइया
पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेण असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं
असंखेज्जगुणा ।

सप्तमपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्धिभाविभ्यो नैरधिकेभ्यो ये
सप्तमपृथिव्यामेव दाकिणात्यास्तेऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः षष्ठपृ-
थिव्यां तमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्धिभाविभ्यो-
ऽसंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह सर्वोत्कृष्टपा-
पकारिणः स्तक्षिपञ्चोन्ध्यातिर्यङ्मनुष्याः, सप्तमनरकपृथिव्या-
मुत्पद्यन्ते । किञ्चिद्दीनहीनतरपापकर्मकारिणश्च षष्ठ्यादिषु
पृथिवीषु सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणश्च सर्वस्तोकाः बहवश्च य-
थोत्तर किञ्चिद्दीनतरादिपापकर्मकारिणः, ततो युक्तमसंख्येय-
गुणत्व सप्तमपृथिवीदाकिणात्यनारकापेक्षया षष्ठपृथिव्यां पूर्वो-
त्तरपश्चिमनारकाणाम् । एवमुत्तरोत्तरपृथिवीरप्याधिहृत्य भाव-
यितव्यम् । तेभ्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि
नारका असंख्येयगुणाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्योऽपि पञ्चमपृ-
थिव्यां धूमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्धिभाविभ्योऽसंख्येय-
गुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव षष्ठमपृथिव्यां दाकिणात्या असं-
ख्येयगुणाः । एवं सर्वास्वपि क्रमेण वाच्यम् ।

पञ्चेन्द्रियतिरश्चामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया प-
च्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसा-
हिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

इदं च तिर्य्यकपञ्चेन्द्रियसूत्रमप्यायसूत्रवत् ।

मनुष्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा मणुस्सा दाहिणउत्तरेणं, पु-
रच्छिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया ।

सर्वस्तोका मनुष्या दक्षिणस्यामुत्तरस्या च, पञ्चानां प्ररतके-
त्राणां पञ्चानामैरावतकेत्राणामल्पत्वत्वात् । तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि
संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽपि पश्चिमायां
दिशि विशेषाधिकाः, स्वभावत एवाधोलौकिकप्राप्तेषु मनुष्य-
बाहुल्यभावात् ।

भवनवासिनामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा जवणवासी देवा पुगच्छिम-
पच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखे-
ज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका जवनवासिनो देवाः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि
तत्र भवनानामल्पत्वात् । तेभ्य उत्तरदिग्भाविभ्योऽसंख्येयगुणाः,
स्वस्थानतया तत्र भवनानां बाहुल्यात् । तेभ्योऽपि दक्षिणदिग्भा-
विभ्योऽसंख्येयगुणास्तत्र भवनानामतीव बाहुल्यात् । तथाहि-
निकाये २ चत्वारि चत्वारि जवनशनसदक्षाण्यतिरिच्यन्ते, ह-
ष्णपाक्षिकाश्च यद्व्यस्तत्रोत्पद्यन्ते, ततो जघन्यसंख्येयगुणाः ।

व्यन्तराणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाणमंतरा देवा पुरच्छिमेणं,
पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं
विसेसाहिया ।

व्यन्तरसूत्रे ज्ञावना-यत्र शुषिरं तत्र व्यन्तराः प्रचरन्ति, यत्र
घनं तत्र न । ततः पूर्वस्यां दिशि घनत्वात् स्तोका व्यन्तराः । ते-
भ्योऽपरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, अधोलौकिकप्राप्तेषु शुषिर-
सम्भवात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, स्वस्था-
नतया नगरावासबाहुल्यात् । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि वि-
शेषाधिकाः, अतिप्रभूतनगरावासबाहुल्यात् ।

ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिया देवा पुरच्छिमप-
च्चच्छिमेणं, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ॥
तथा सर्वस्तोका ज्योतिष्काः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि,
चन्द्रादित्यद्वीपेषूद्यानकल्पेषु कतिपयानामेव तेषां भावात् । ते-
भ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, विमानबाहुल्यात्, ह-
ष्णपाक्षिकाणां दक्षिणदिग्भावितात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि
विशेषाधिकाः, यतो मानसे सरसि बहवो ज्योतिष्काः । क्रीमा-
स्नानमिति क्रीमनव्यापृता नित्यमासते । मानससरसि च ये म-
त्स्यादयो जलचरास्ते आसन्नविमानदर्शनतः समुत्पन्नजातिसर-
णात् किञ्चिद्भूतं प्रतिपद्याऽनहनादि च कृत्वा कृतनिदानास्तत्रो-
त्पद्यन्ते । ततो जघन्योत्तराहा दाकिणात्येभ्यो विशेषाधिकाः ।

वैमानिकानामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सोहस्मे कप्पे पुरच्छिम-
पच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसा-
हिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा ईसाने कप्पे पुर-
च्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं
विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सणकुमारि
कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहि-
णेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा माहिदे
कप्पे पुरच्छिमेणं पच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा,
दाहिणेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वंज-
लोए कप्पे देवा पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं अ-
संखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं वंतए कप्पे देवा पुरच्छिमप-
च्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं
सव्वत्थोवा देवा महामुक्के कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं,
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा
देवा सहस्सारे कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं
असंखेज्जगुणा । तेण परं बहुसमोवववणा समणाउसो ।

तथा सौधर्म कल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि
वैमानिका देवाः, यतो वाय्वावलिकाप्रविष्टानि विमानानि तानि
चतुष्टयपि दिक्षु तुल्यानि, यानि पुनः पुष्पावकीर्णानि तानि
प्रभूतानि असंख्येययोजनविस्तृतानि, तानि च दक्षिणस्यामुत्त-
रस्यां दिशि, नान्यत्र, ततः सर्वस्तोकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च
दिशि । तेभ्य उत्तरस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, पुष्पावकीर्णवि-

मानानां बाहुल्यादसंख्येययोजनविस्तृतत्वाच्च । तेन्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विद्योपाधिकाः, कृष्णपाक्षिकाणां प्राचुर्येण तत्र गमनात् । एवमीशानसमत्कुमारमाहेन्द्रकल्पसूत्राण्यपि भावनीयानि । अष्टलोककल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनो देवाः, यनो बह्वयः कृष्णपाक्षिकास्तिर्यग्योनयो दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते । शुक्लपाक्षिकाः पुनः पूर्वोत्तरपश्चिमासु, शुक्लपाक्षिकाश्च स्तोका इति पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनः सर्वस्तोकाः । तेभ्यो दक्षिणस्यां दिशि अमंख्येयगुणाः, कृष्णपाक्षिकाणां बहूनां नञोत्पादात् । एव लान्तकशुकसहस्रासूत्राण्यपि ज्ञावनीयानि । आननादिषु पुनर्मनुष्या एवोत्पद्यन्ते, तेन प्रतिकल्प प्रतिप्रवेयक प्रत्यनुत्तरविमान चतसृषु दिक्षु प्रायो बहुसमा वेदिनस्याः । तथा चाऽऽह—“ तेण पर बहुसमोवबभूव समणउसो ” इति ॥

इदानीं सिद्धानामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सिद्धा दाहिणउत्तरेणं, पुरच्छिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विमेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सिद्धाः दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च दिशि । कथमिति चेत् !, उच्यते—इह मनुष्या एव सिद्ध्यन्ति नान्ये, मनुष्या अपि सिद्ध्यन्तो येष्वकाशप्रदेशेष्विह चरमसमये अवगाढास्तेष्वेवाकाशप्रदेशेष्वर्ध्वमपि गच्छन्ति, तेष्वेव चोपर्यवर्तिष्यन्ते, न जगतापि एक गच्छन्ति, सिद्ध्यन्ति च, तत्र दक्षिणस्यां दिशि पञ्चसु भरतेषु उत्तरस्यां दिशि पञ्चसु खैरावतेषु मनुष्या अल्पाः, क्षेत्रस्याल्पत्वात् । सुब्रह्मसुषमादौ च सिद्धेरभावादिति । तत्क्षेत्रसिद्धाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि सख्येयगुणाः, पूर्वविदेवानां जरतैरावनकेभ्यः सख्येयगुणतया तद्गतमनुष्याणामपि सख्येयगुणत्वात्, तेषां च सर्वकाल सिद्धिजावात् । तेभ्यः पश्चिमायां दिशि विद्योपाधिकाः, अधोलोकोकप्रामेषु मनुष्यादुत्थात् । प्रज्ञा ० ३ पद ।

जय्यदेवादीनाम्—

एएसि एं जंते ! नवियदव्वदेवाणं णरदेवाणं० जाव जावदेवाणं च कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा णरदेवा, देवाहिदेवा संखेज्जगुणा, धम्मदेवा संखेज्जगुणा, जवियदव्वदेवा असंखेज्जगुणा, भावदेवा असंखेज्जगुणा ॥

भरतैरवतेषु प्रत्येक द्वादशानामेव तेषामुत्पत्तेर्विजयेषु च बासुदेवसम्भवात्, सर्वेष्वेकदाऽनुत्पत्तेरिति । (देवाहिदेवा संखेज्जगुणं चि) भरतादिषु प्रत्येक तेषां चक्रवर्तिभ्यो द्विगुणतयोत्पत्तेर्विजयेषु च बासुदेवोपेत्यनुत्पत्तेरिति । (धम्मदेवा संखेज्जगुणं चि) साधूनामेकदाऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वसङ्गावादिति । (नवियदव्वदेवा असंखेज्जगुणं चि) देशविरतादीनां देवगतिगमिनामसंख्यातत्वात् । (भावदेवा असंखेज्जगुणं चि) स्वरूपेणैव तेषामतिबहुत्वादिति ।

अथ जावदेवविशेषाणां भवनपत्यादीनामल्पबहुत्वप्रकरणयाह—

एएसि एं जंते ! जावदेवाणं जवणवासीणं वाणमंतराणं जोरसियाणं वेमाणियाणं सोहम्ममाणं, जाव अचुयगाणं गेवेज्जगाणं अणुत्तरोववाइयाणं य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववाइया जा-

वदेवा, उवरिमगेवेज्जा भावदेवा मखेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, हेट्ठिमगेवेज्जा सखेज्जगुणा, अचुयकप्पे देवा सखेज्जगुणा, जाव आणनकप्पे भावदेवा । एव जहा जीवाभिगमे निविहे देवपुत्तिअप्पावहुयं० जाव जोरमिया जावदेवा असंखेज्जगुणा ॥

(जहा जीवाभिगमे निविहे इत्यादि) इह च “ निविहे ति ” त्रिविधजीवाधिकार इत्यर्थः । देवपुरुषाणामल्पबहुत्वमुक्तं, तथेहापि वाच्यम् । भ० १२ श० ६ उ० । (नञ् २८ अधिकावे वेदद्वारे वक्ष्यते) (निगोद्विपक ‘ निगोद ’ शब्दे दर्शयिष्यते) । कायादिपरिचारकाणामल्पबहुत्व ‘ परिचारणा ’ शब्दे निरूपयिष्यते)

(१८) [परीतद्वारम्] परीतापरीतनोपरीतानामल्पबहुत्वम्—

एएसि एं जंते ! जीवाणं पणित्ताणं अपणित्ताणं नोपणित्ताणं नोअपणित्ताणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पणित्ता, नोपणित्ता नोअपणित्ता अणतगुणा, अपणित्ता अणंतगुणा ।

इह परीता द्विविधाः—भवपरीता, कायपरीताश्च । तत्र भवपरीता येषां किञ्चिद्गुणाऽपार्कं पुद्गलपरावर्तमानससारः ; कायपरिता प्रत्येकशरीरेण, तत्र उज्जयेऽपि परीता सर्वस्तोकाः, शुक्लपाक्षिकाणां प्रत्येकशरीरेणां च शेषजीवावेक्याऽनित्योक्त्यात् । नतो नोपरीता नाभवपरीता अनन्तगुणा, उभयप्रतिषेधवृत्ताच्च सिद्धा, ते चानन्ता इति । तेन्योऽपरीता अनन्तगुणा, कृष्णपाक्षिकाणां साधारणवनस्पतीनां वा सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । गतं परीतद्वारम् ।

(१९) [पर्याप्तद्वारम्] पर्याप्तपर्याप्तनोपर्याप्तानामल्पबहुत्वम्—

एएसि एं जंते जीवाणं पज्जत्ताणं अपज्जत्ताणं नोपज्जत्ताणं नोअपज्जत्ताणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा नोपज्जत्ता नोअपज्जत्ता, अपज्जत्ता अणंतगुणा, पज्जत्ता संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका नोपर्याप्तका नोअपर्याप्तका, उभयप्रतिषेधवर्तिनो हि सिद्धा, ते चापर्याप्तकादिभ्यः सर्वस्तोका इति । तेन्योऽपर्याप्तका अनन्तगुणा, साधारणवनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानां सर्वकालमपर्याप्तत्वेन सख्यमानत्वात् । तेभ्यः पर्याप्ताः सख्येयगुणाः, इह सर्वबहवो जीवाः सूक्ष्माः सूक्ष्माश्च सर्वकालमपर्याप्तिन्यः पर्याप्ता सख्येयगुणा, इति सख्येयगुणा उक्ताः । गतं पर्याप्तद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद ।

(२०) [पुद्गलद्वारम्] पुद्गलानां क्षेत्रानुपातादि—

मिरल्पबहुत्वमाह—

खेसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पोग्गत्ता तेसुके नुह्वोयातिरियलोए अणंतगुणा, अहोवोयातिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, नुह्वोए असंखेज्जगुणा, अहोलाए विमेसाहिया ॥

इदमल्पबहुत्वं पुद्गलानां सूत्रार्थत्वमङ्गीकृत्य व्याख्येयम्, तथा सम्प्रदायात् । तत्र क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण चिन्त्यमाना पुद्गला त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः सर्वरनाका सर्वस्तोका (त्रैलोक्यव्यापीनीति पुद्गलद्रव्याणांति भावः । यस्मान्महात्मा रथा एव त्रैलोक्यव्यापिनस्ते चाल्पा इति । तेभ्य ऊर्द्धलोकति-

र्यग्लोके अनन्तगुणाः, यतस्तिर्यग्भोक्तस्य यत्सत्वापरितनमेकप्रादेशिक प्रतर यत्तुर्ध्वभोक्तस्य सर्वाधस्तनमेकप्रादेशिक प्रतरमेते चे अपि प्रतरे ऊर्ध्वभोक्तिर्यग्लोके उच्यते । ते चाऽनन्ताः सस्येयप्रदेशिकाः, अनन्ता असस्येयप्रदेशिकाः, अनन्ता अनन्तप्रदेशिकाः, स्कन्धाः स्पृशन्तीति द्रव्यार्थतया अनन्तगुणा । तेभ्योऽधोभोक्तोर्यग्लोके प्रागुक्तप्रकारेण प्रतरद्वयरूपे विशेषाधिकाः, क्षेत्रस्य आयामविष्कम्भाभ्यां मन ग् विशेषाधिकत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्भोक्ते असस्येयगुणाः, क्षेत्रस्याऽसस्येयगुणत्वात् । तेभ्य ऊर्ध्वभोक्ते असस्येयगुणाः, यतस्तिर्यग्भोक्तोऽधोभोक्तोऽधोभोक्तस्येयगुणमिति । तेभ्योऽधोभोक्ते विशेषाधिकाः, ऊर्ध्वभोक्तेऽधोभोक्तस्य विशेषाधिकत्वात् । देशेनसत्तरज्जुप्रमाणो ह्यूर्ध्वलोकः, समाधिकसत्तरज्जुप्रमाणस्त्वधोलोकः ।

संप्रति दिगनुपातेनाल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाणं सन्वत्योवा पोगद्वा उद्दिसाए, अहोदिसाए विसेसाहिया, उत्तरपुरच्छिमेण दाहिणपच्चच्छिमेण य दोवि तुद्वा असंखेज्जगुणा, दाहिणपुरच्छिमेण उत्तरपच्चच्छिमेण य दोवि तुद्वा विसेसाहिया, पुरच्छिमेण असंखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेण विसेसाहिया, दाहिणेण विमसाहिया, उत्तरेण विसेसाहिया ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानाः पुद्गलाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वदिशि, इह रत्नप्रभासमनुमितलमेकमध्ये अष्टप्रादेशिको रुचकस्नस्माद्विनिर्गताश्चतुःप्रदेशाः, ऊर्ध्वा दिक् यावन्नोक्तान्तः । तनस्तत्र सर्वस्तोकाः पुद्गलाः, तेभ्योऽधोदिशि विशेषाधिकाः, अधोदिगपि रुचक्रादेव प्रभवति । चतुःप्रदेशा यावन्नोक्तान्तस्ततस्तस्याविशेषाधिकत्वात् । तत्र पुद्गलाविशेषाधिकाः, तेभ्य उत्तरपूर्वस्यां दक्षिणपश्चिमायां च प्रत्येकमसंख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या सन्तस्ते द्वे अपि दिशौ रुचकाद्विनिर्गते मुक्तावलिस्थिते तिर्यग्भोक्तान्तमधोभोक्तान्तमूर्ध्वलोकान्त पर्यवसिते, तेन क्षेत्रस्याऽसस्येयगुणत्वाच्चतुःपुद्गला असस्येयगुणाः, क्षेत्रे तु स्वस्थाने सममिति । पुद्गला अपि स्वस्थाने तुल्याः, तेभ्योऽपि दक्षिणपूर्वस्यामुत्तरपश्चिमायां च प्रत्येक विशेषाधिकाः, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्याः । कथं विशेषाधिका इति चेत्?, उच्यते—इह सौमनसगन्धमादनेषु सप्त सप्त कूटानि, विद्युत्प्रभमाल्यवनेर्नव नव, तेषु च कूटेषु धूमिकावश्यायादिसूदमपुद्गलाः प्रज्ज्वाः समवन्ति, ततो विशेषाधिकाः । स्वस्थाने तु क्षेत्रस्य पूर्वनादेभ्य समानत्वात्तुल्या । तेभ्य पूर्वस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः पश्चिमायां विशेषाधिकाः, अधोलौकिकप्रामेषु श्रुतिरभावतो बहूनां पुद्गलानामवस्थानप्रावात् । तेभ्यो दक्षिणस्यां विशेषाधिकाः, बहुभवनश्रुतिरभावात् । तेभ्य उत्तरस्यां विशेषाधिकाः, यत उत्तरस्यामायामविष्कम्भाभ्यां सस्येययोजनकोटीकोटिप्रमाण मानस सरः, तत्र ये जलचरा, पनकशैवालादयश्च सत्त्वास्ते अतिबहव इति तेषां ये तैजसकार्मणपुद्गलास्ते अधिकाः प्राप्यन्ते, इति पूर्वोक्तेभ्यो विशेषाधिकाः । तदेव पुद्गलविषयमल्पबहुत्वमुक्तम् ॥

इदानीं सामान्यतो द्रव्यविषय क्षेत्रानुपातेनाऽऽह—

खेत्ताणुवाणं मन्वत्योवाइं दन्वाइं नेलुके, उद्दुलोयतिरिपलोए अणंतगुणाइं, अहोदोयतिरिग्यदोए विसेसाहियाइं,

उद्दुवाए असखज्ज०, अहोलोए अणंतगुणाइं, तिरियलोए संखिज्जगुणाइं ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानानि द्रव्याणि सर्वस्तोकानि त्रैलोक्यसंस्पर्शीनि, यतो धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽऽकाशास्तिकायद्रव्याणि पुद्गलास्तिकायस्य महास्कन्धा जीवास्तिकायस्य मारणान्तिकसमुद्रातेनातीवसमवहता जीवास्तिकायव्यापिनः, ते चाल्पे इति सर्वस्तोकानि । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रागुक्तस्वरूपप्रतरद्वयात्मके अनन्तगुणानि, अनन्तैः पुद्गलद्रव्यैरनन्तैर्जीवद्रव्यैः तस्य सस्पर्शनात् । तेभ्योऽधोभोक्तोर्यग्लोके विशेषाधिकानि, ऊर्ध्वलोकतिर्यग्भोक्तेऽधोभोक्तोर्यग्लोक्तस्य मनाग् विशेषाधिकत्वात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्येयगुणानि, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽधोलोके अनन्तगुणानि । कथमिति चेत्?, उच्यते—इहाधोलौकिकप्रामेषु काशोऽस्ति, तस्य च कालस्य तत्तत्परमाणुसंख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रादेशिकद्रव्यक्षेत्रकालज्ञावपर्यायसंबन्धवशात्प्रतिपरगवादिद्रव्यमनन्तता, ततो भवन्त्यधोभोक्तेऽनन्तगुणानि, तेभ्यस्तिर्यग्भोक्तेऽसंख्येयगुणानि, अधोलौकिकप्रामप्रमाणानां क्षणानां मनुष्यलोके कालद्रव्याधारजूते सस्येयानामवस्थानत्वात् ।

सामान्यतो दिगनुपातेन सामान्यतो द्रव्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाणं सन्वत्योवाइं दन्वाइं अहोदिसाए, उद्दुदिसाए अणंतगुणाइं, उत्तरपुरच्छिमेण दाहिणपच्चच्छिमेण दोवि तुद्वाइं असंखेज्जगुणाइं, दाहिणपुरच्छिमेण उत्तरपच्चच्छिमेण य दोवि तुद्वाइं विसेसाहियाइं, पुरच्छिमेण असंखेज्जगुणाइं, पच्चच्छिमेण विसेसाहियाइं, दाहिणेण विसेसाहियाइं, उत्तरेण विसेसाहियाइं ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानानि सामान्यतो द्रव्याणि सर्वस्तोकानि अधोदिशि प्राक्यावर्जितस्वरूपायाम् । तेभ्य ऊर्ध्वदिश्यन्तगुणानि । किं कारणमिति चेत्?, उच्यते—इह ऊर्ध्वलोके मेरोः पञ्चयोजनशतकं स्फटिकमयं कारण, तत्र चन्द्रादित्यप्रजाऽनुप्रवेशाद् द्रव्याणां कणादिकास्तत्प्रतिभागोऽस्ति, कालस्य च प्रागुक्तनीत्या प्रतिपरमाएवादिद्रव्यमानत्वात् । तेभ्योऽनन्तगुणानि, तेभ्य उत्तरपूर्वस्यामीशान्यां, दक्षिणपश्चिमायां, नैर्ऋतकोणे इत्यर्थः । असंख्येयानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । स्वस्थाने तु द्रव्याण्यपि परस्परं तुल्यानि, समानक्षेत्रत्वात् । तेभ्यो दक्षिणपूर्वस्यामाम्नेय्याम्, उत्तरपश्चिमायां, वायव्यकोणे इति भावः । विशेषाधिकानि, विद्युत्प्रभमाल्यवन्तकूटाभितानां धूमिकावश्यायादिस्तब्धपुद्गलद्रव्याणां बहूनां समनत्वात् । तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि असंख्येयगुणानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः पश्चिमायां विशेषाधिकानि, अधोलौकिकप्रामेषु श्रुतिरभावतो बहूनां पुद्गलद्रव्याणामवस्थानात् । ततो दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकानि, बहुभवनश्रुतिरभावात् । तत उत्तरस्यां विशेषाधिकानि, तत्र मानससरसि जीवद्रव्याणां तदाभितानां तैजसकार्मणपुद्गलस्कन्धद्रव्याणां च ज्ञयसां भावात् ।

संप्रति परमाणुपुद्गलानां सस्येयप्रदेशानामसंख्येयप्रदेशानामनन्तप्रदेशानां परस्परमल्पबहुत्वमाह—

एणमि एं भंते ! परमाणुपोगल्लणं संखेज्जपदेसियाणं असंखेज्जपदेसियाणं अणंतपदेसियाणं य खंधाणं दन्वड्ढ-

याए पपसट्टयाए दव्वट्टपदेमट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए, परमाणुपोगला दव्वट्टयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसट्टयाए परमाणुपोगला अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा पदेसट्टयाए सखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसिया खंधा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्टपदेसट्टयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, दव्वट्टयाए ते चेव, पदेसट्टयाए अणंतगुणा, परमाणुपोगला दव्वट्टपदेसट्टयाए अणंतगुणा, संखिज्जपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए सखिज्जगुणा, ते चेव य पदेसट्टयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए असंखिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा ॥

व्याख्यान पाठसिद्धम् । नवरमन्त्राल्पबहुत्वभावनायां सर्वत्र तथास्वाज्ञाय कारणं वाच्यम् ।

संख्येतेषामेव क्षेत्रप्राधान्येनाल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं जंते ! एगपएसोगाढाणं संखेज्जपएसोगाढाणं असंखिज्जपएसोगाढाणं य पोगलाणं दव्वट्टयाए पदेसट्टयाए दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगपदेसोवगाढा पुगला दव्वट्टयाए, संखेज्जपदेसोवगाढा पुगला दव्वट्टयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जपदेसोवगाढा पुगला दव्वट्टयाए असंखिज्जगुणा; पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा एगपदेमोवगाढा पुगला, पदेसट्टयाए संखिज्जपदेसोवगाढा पुगला, पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसोवगाढा पुगला पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्टपदेमट्टयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोवगाढा पुगला, दव्वट्टपदेसट्टयाए संखेज्जपदेसोवगाढा पुगला दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पपसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखिज्जपएसोगाढा पुगला दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पपसट्टयाए असंखिज्जगुणा । एएसि णं जंते ! एगसमयट्ठितीयाणं संखिज्जसमयट्ठितीयाणं असंखिज्जसमयट्ठितीयाणं य पोगलाणं दव्वट्टयाए पदेसट्टयाए दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगसमयट्ठितीया पुगला दव्वट्टयाए, संखेज्जसमयट्ठितीया पुगला दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठितीया पुगला दव्वट्टयाए असंखिज्जगुणा, पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा एगसमयट्ठितीया पुगला, पदेसट्टयाए संखेज्जसमयट्ठितीया पुगला, पपसट्टयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठितीया पुग-

ला पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्टपदेसट्टयाए सव्वत्थोवा एगसमयट्ठितीया पुगला, दव्वट्टपपसट्टयाए संखेज्जसमयट्ठितीया पुगला दव्वट्टयाए सखिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठितीया पुगला दव्वट्टयाए असंखिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । एएसि णं जंते ! एगगुणकाद्वगाणं सखिज्जगुणकालगाणं असंखेज्जगुणकाद्वगाणं अणंतगुणकाद्वगाणं य पोगलाणं दव्वट्टयाए पदेसट्टयाए दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! जहा परमाणुपोगला तहा जाणियव्वा । एव सखेज्जगुणकालयाणं वि । एवं सेसाणं वि वणरमगंधा जाणियव्वा, फासाणं कक्खरुमज्जयगस्यलट्टयाणं जहा एगपदेमो-गाढाणं जाणियं तहा जाणियव्वं, अवसेसा फामा जहा वणणा भणिया तहा जाणियव्वा ॥

इह क्षेत्राधिकारतः क्षेत्रस्य प्राधान्यात्परमाणुकाद्यनन्ताणुकाः स्कन्धा अपि विवक्षितैकप्रदेशावगाढा आधाराधेयोरभेदोपचारादेकद्रव्यत्वेन व्यवहियन्ते । ते इधभूता एकप्रदेशावगाढाः पुद्गलाः पुद्गलद्रव्याणि सर्वस्तोकानि, श्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि-त्यर्थः । नहि स कश्चिदेवभूत आकाशप्रदेशोऽस्ति, य एकप्रदेशावगाहनपरिणामपरिणतानां परमाण्वादीनामवकाशप्रदानपरिणामेन परिणतो न वर्तते इति । तेभ्यः सख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्रव्यार्थतया सख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-इहापि क्षेत्रस्य प्राधान्याद् द्वाणुकाद्यनन्ताणुकास्कन्धा द्विप्रदेशावगाढा एकद्रव्यत्वेन विवक्ष्यन्ते, तानि च तथाभूतानि पुद्गलद्रव्याणि पूर्वोक्तैभ्यः सख्येयगुणानि । तथाहि-सर्वलोकप्रदेशास्तत्त्वतोऽसंख्येया अपि असत्कल्पनया दश परिकल्प्यन्ते, ते च प्रत्येकचिन्तायां दशैवेति दश एकप्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि ब्रह्मानि, तेष्वेव दशसु प्रदेशेष्वन्यग्रहणान्यमोक्षणद्वारेण बहवो द्विकसयोगा लज्यन्ते, इति भवन्त्येकप्रदेशावगाढेभ्यो द्विप्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि सख्येयगुणानि । एव तेभ्योऽपि त्रिप्रदेशावगाढानि । एवमुत्तरोत्तरं यावदुक्तद्रव्येयप्रदेशावगाढानि । ततः स्थितमेतत्-एकप्रदेशावगाढेभ्यः सख्येयप्रदेशावगाढपुद्गला द्रव्यार्थतया सख्येयगुणा इति । एवं तेभ्योऽसख्येयप्रदेशावगाढा पुद्गला द्रव्यार्थतयाऽसख्येयगुणाः, असंख्यातस्य असख्यातभेदभिन्नत्वात् । प्रदेशार्थनासूत्रं द्रव्यार्थपर्याया-र्थनासूत्रं च सुगमत्वात् स्वयं भावनीयम् । कालभावसूत्राण्यपि सुगमत्वात्स्वयन्नावयितव्यानि, नवरं " जहा परमाणुपोगला तहा जाणियव्वा " इति । यथा प्राक् सामान्यं पुद्गला उक्ता-स्तथा एकगुणकाद्वगादयोऽपि वक्तव्याः । ते वैवम्—" सव्वत्थोवा अणतपपसिया खंधा एगगुणकालगा परमाणुपोगला दव्वट्टयाए एगगुणकाद्वगा अणतगुणा, संखेज्जपपसिया खंधा एगगुणकालगा संखेज्जगुणा, असंखेज्जपपसिया खंधा एगगुणकालगा असंखेज्जगुणा, पपसट्टयाए सव्वत्थोवा अणतपपसिया खंधा एगपरमाणुपोगला एगगुणकालगा अणतगुणा " इत्यादि । एव सख्येयगुणकालकानामनन्तगुणकालकानामपि वाच्यम् । एव शेषवर्णगन्धरसा अपि वक्तव्याः । कर्क-शमृदुगुरुलघवः स्पर्शा यथा एकप्रदेशावगाढा भणितास्तथा

वक्तव्याः । ते चैवम्—“ सव्वत्थोवा एगपएसोगादा एगगुणक-
कखरुफासा दव्वट्टयाए सखेज्जपएसोगादा एगगुणककखरु-
फासा दव्वट्टयाए सखेज्जगुणा ” इति । एव संख्येयगुणकर्क-
शस्पर्शा असंख्येयगुणकर्कशस्पर्शा वाच्याः । एव मृदुगुल्ल-
घव भवशेषाभत्वारः शीतादयः स्पर्शाः, यथा घणदिय उक्ता-
स्तथा वक्तव्याः । तत्र पाठोऽप्युक्तानुसारेण सुगमत्वात् स्थयं
भावनीयम् । प्रश्ना० ३ पद ।

एएसि ण जंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुपदेसियाणं य खं-
धाणं य दव्वट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा
तुह्वा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! दुपदेसिएहिंतो खं-
धेहिंतो परमाणुपोग्गला दव्वट्टयाए बहुया । एएसि णं भंते !
दुपदेसियाणं तिपदेसियाणं य खंधाणं दव्वट्टयाए कयरे
कयरेहिंतो बहुया० ? । गोयमा ! तिपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो
दुपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए बहुया । एवं एएणं गमएणं जाव
दसपदेसिएहिंतो एवपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए बहुया ।
एएसि णं जंते ! दमपएममा पुच्छा ? । गोयमा ! दसपदेसिए-
हिंतो खंधेहिंतो संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए बहुया ।
एएसि णं भंते ! संखेज्जा पुच्छा ? । गोयमा ! संखेज्जपए-
सिएहिंतो खंधेहिंतो असंखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्टयाए
बहुया । एएसि णं जंते ! असंखेज्जपदेसिया पुच्छा ? । गोयमा !
असंखेज्जपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो अणंतपदेसिया खंधा द-
व्वट्टयाए बहुया । एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुप-
देसियाणं य खंधाणं पदेमट्टयाए कयरे कयरेहिंतो बहुया ? ।
गोयमा ! परमाणुपोग्गलेहिंतो दुपदेसिया खंधा पदेसट्टयाए
बहुया । एवं एएणं गमएणं जाव एवपएसिएहिंतो खंधे-
हिंतो दसपएसिया खंधा पदेसट्टयाए बहुया । एवं सव्वत्थ
पुच्छियव्वं । दसपएसिएहिंतो खंधेहिंतो संखेज्जपएसिया
खंधा पदेमट्टयाए बहुया, संखेज्जपएसिएहिंतो खंधेहिंतो
असंखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्टयाए बहुया । एएसि णं भंते !
असंखेज्जपएसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंतपएसिएहिंतो
खंधेहिंतो असंखेज्जपएसिया खंधा पएसट्टयाए बहुया । ए-
एसि णं जंते ! एगपएमोगादाणं दुपदेसोगादाणं य पोग्ग-
लाणं य दव्वट्टयाए कयरे कयरेहिंतो विसेसाहिया वा ? । गो-
यमा ! दुपदेसोगादेहिंतो पोग्गलेहिंतो एगपदेसोगादा पोग्ग-
ला दव्वट्टयाए विसेसाहिया । एव एएणं गमएणं तिपदेसो-
गादेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुपदेसोगादा पोग्गला दव्वट्टयाए
विसेसाहिया जाव दमपएमोगादेहिंतो पोग्गलेहिंतो एव
पदेसोगादा पोग्गला दव्वट्टयाए विसेसाहिया । एएसि
णं जंते ! दमपएममा पुच्छा ? । गोयमा ! दमपदेसोगादेहिंतो
पोग्गलेहिंतो मखेज्जपएमोगादा पोग्गला दव्वट्टयाए बहुया,
संखेज्जपएसोगादेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जपएसोगादा
पोग्गला दव्वट्टयाए बहुया । एव पुच्छा सव्वत्थ जाणियव्वम् ।

एएसि णं जंते ! एगपएमोगादाणं दुपदेसोगादाणं पोग्गलाणं
पदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! एगपदेसोगादेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुपदेमोगादा
पोग्गला पदेसट्टयाए विसेसाहिया । एवं जाव णवपदेसोगा-
देहिंतो पोग्गलेहिंतो दसपएसोगादा पोग्गला पदेसट्टया-
ए विसेसाहिया । दमपएमोगादेहिंतो पोग्गलेहिंतो संखेज्ज-
पएसोगादा पोग्गला पदेमट्टयाए बहुया । संखेज्जपएसोगा-
देहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जपदेसोगादा पोग्गला पएस-
ट्टयाए बहुया । एएसि णं जंते ! एगसमयट्ठिरियाणं दुस-
मयट्ठिरियाणं य पोग्गलाणं दव्वट्टयाए जहा ओगाह-
णा वत्तव्वया, एवं तितीए वि । एएसि णं जंते ! एगगु-
णकात्तयाणं दुगुणकात्तयाणं य पोग्गलाणं दव्वट्टयाए ।
एएसि णं जहा परमाणुपोग्गलादीणं तरेव वत्तव्वया जि-
रवसेसा, एवं सव्वेसि वएणगंधरसाणं । एएसि णं भंते !
एगगुणककखमाणं दुगुणककखमाणं य पोग्गलाणं दव्वट्ट-
याए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
एगगुणककखमेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुगुणककखमा पोग्गला
दव्वट्टयाए विसेसाहिया, एवं जाव एवगुणककखमेहिंतो
पोग्गलेहिंतो दसगुणककखमा पोग्गला दव्वट्टयाए विसे-
साहिया, दसगुणककखमेहिंतो पोग्गलेहिंतो संखेज्जगुण-
ककखमा पोग्गला दव्वट्टयाए बहुया । संखेज्जगुणक-
कखमेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जगुणककखमा पो-
ग्गला दव्वट्टयाए बहुया । असंखेज्जगुणककखदेहिंतो पो-
ग्गलेहिंतो अणंतगुणककखमा पोग्गला दव्वट्टयाए बहुया ।
एवं पदेसट्टयाए सव्वत्थ पुच्छा भाणियव्वम्, जहा ककखमा ।
एवं मज्जगुरुयत्तहुवा वि सीयउसिणणिदलुक्खा जहा
वएणा । एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखेज्जपए-
सियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंतपएसियाणं खंधाणं द-
व्वट्टयाए पदेसट्टयाए दव्वट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो०
जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतप-
देसिया खंधा दव्वट्टयाए, परमाणुपोग्गला दव्वट्टयाए
अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा,
असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, पदे-
सट्टयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसट्टयाए
परमाणुपोग्गला, अपदेसट्टयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदे-
सिया खंधा पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया
खंधा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्टपएसट्टयाए स-
व्वत्थोवा अणंतपदेसिया, दव्वट्टयाए ते चैव, पदेसट्टयाए
अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला दव्वट्टयाए अपपएसट्टयाए
अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए संखेज्जगु-
णा, ते चैव पदेमट्टयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया

संथा दब्बट्टयाए असखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए अ-
संखेज्जगुणा । एएसि एं भंते ! एगपदेसोगाढाणं संखेज्जप-
देसोगाढाणं असखेज्जपदेसोगाढाणं पोगगलाए दब्बट्टयाए
पएसट्टयाए दब्बट्टपएसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसे-
साहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगपएसोगाढा पोगगला
दब्बट्टयाए, संखेज्जपएसोगाढा पोगगला दब्बट्टयाए
संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पोगगला दब्बट्ट-
याए असंखेज्जगुणा, पएसट्टयाए सव्वत्थोवा एगप-
एसोगाढा पोगगला, पएसट्टयाए संखेज्जपएसोगाढा पोग-
गला, पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पो-
गगला पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, दब्बट्टपएसट्टयाए सव्व-
त्थोवा एगपएसोगाढा पोगगला, दब्बट्टपएसट्टयाए सखेज्ज-
पएसोगाढा पोगगला, दब्बट्टयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पदे-
सट्टयाए सखेज्जगुणा । असखेज्जपएसोगाढा पोगगला द-
ब्बट्टयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए असंखेज्जगु-
णा । एएसि एं जंते ! एगसमयट्ठितीयाणं सखेज्जममयट्ठि-
तीयाणं असंखेज्जसमयट्ठितीयाणं य पोगगलाणं जहा ओ-
गाहणाए तहा त्रितीए वि जाणियव्वं अप्पाबहुगं । एए-
सि एं जंते ! एगगुणकालगाणं संखेज्जगुणकालगाणं
असंखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाणं य पोगगला-
णं दब्बट्टयाए पदेसट्टयाए दब्बट्टपएसट्टयाए एएसि जहा
परमाणुपोगगलाणं अप्पाबहुगं तहा एएसि पि अप्पा-
बहुगं । एवं सेसाणं वि वण्णगंधरसाणं । एएसि एं भं-
ते ! एगगुणककखमाणं सखेज्जगुणककखमाणं असंखेज्ज-
गुणककखमाणं अणंतगुणककखमाणं य पोगगलाए य दब्ब-
ट्टयाए पदेसट्टयाए दब्बट्टपदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो जाव
विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगगुणककखमा
पोगगला दब्बट्टयाए, संखेज्जगुणककखमा पोगगला दब्बट्ट-
याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुणककखमा पोगगला दब्बट्ट-
याए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणककखमा पोगगला दब्बट्ट-
याए अणंतगुणा, पदेसट्टयाए एवं चेव । एवरं सखेज्जगु-
णककखमा पोगगला पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । सेसं
तं चेव । दब्बट्टपदेसट्टयाए सव्वत्थोवा एगगुणककखमा पो-
गगला, दब्बट्टपदेसट्टयाए संखेज्जगुणककखमा पोगगला द-
ब्बट्टयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा,
असंखेज्जगुणककखमा दब्बट्टयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव
पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणककखमा दब्बट्टयाए
अणंतगुणा, ते चेव पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । एव मउ-
यगुल्लहया वि अप्पाबहुगं । सीयउसिणणिच्छलुक्खा-
णं जहा वण्णणं तहेव ॥

टीका सुगमा प्रज्ञापनापाठेन गतार्था चेति नेहोप यस्यते ।
प्र० २५ श० ४ उ० ।

(प्रयोगादिपरिणतानामलपबहुत्व 'परिणाम' शब्दे वक्ष्यते)
(आहारायाऽस्पृश्यमानानामनास्याद्यमानानां च पुञ्जानां
परस्परमलपबहुत्वम्—'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५०१ पृष्ठे
प्रतिपादयिष्यते) (प्रत्याख्यानविषयमलपबहुत्व 'परुवक्खण' शब्दे
वक्ष्यते) (प्रवेशनकमाश्रित्य 'पवेसण' शब्दे
निरूपयिष्यते)

(२१) [बन्धद्वारम्] आयुःकर्मबन्धकादीनामलपबहुत्वम्—

एएसि एं जंते ! जीवाणं आउस्म कम्मस्स बंधगाणं
अबंधगाणं अपज्जत्ताणं पज्जत्ताणं सुत्ताणं जागराणं स-
मोहयाणं असमोहयाणं सातावेदगाणं असातावेदगाणं ई-
दियउवउत्ताणं एोइंदियउवउत्ताणं सागारोवउत्ताणं अ-
णागारोवउत्ताणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा
तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा
आउस्स कम्मस्स बंधगा. अपज्जत्ता संखिज्जगुणा, सुत्ता
संखिज्जगुणा, समोहया संखिज्जगुणा, सातावेदगा संखि-
ज्जगुणा. इंदियउवउत्ता संखिज्जगुणा, अणागारोवउत्ता
संखिज्जगुणा, सागासेवउत्ता संखिज्जगुणा, नोइंदियउ-
वउत्ता विसेसाहिया, अमातावेदगा विसेसाहिया, अम-
मोहिया विसेसाहिया, जागगा विसेसाहिया, पज्जत्ता
विसेसाहिया, आउस्म कम्मस्स अबंधगा विसेसाहिया ॥

इहायुःकर्मबन्धकाबन्धकानां पर्याप्तपर्याप्तानां सुप्तजाग्रतौ
समवहतासमवहतानां सातावेदकासातावेदकानाम, इन्द्रियोप-
युक्तनोऽन्द्रियोपयुक्तानां साकारोपयुक्ताऽसाकारोपयुक्तानां स-
मुदायेनाऽलपबहुत्व वक्तव्यम् । तत्र प्रत्येक तावद् द्रूम—येन समु-
दाये सुखेन नदयगम्यते । तत्र सर्वस्तोका आयुषा बन्धका., अ-
बन्धका. सख्येयगुणा, यतोऽनुभूयमानजवायुरपि त्रिजागाव-
शेषपारभाषिकमायुर्जीवा वध्जन्ति त्रिभागत्रिभागाद्यवशेषे
वा, ततो द्वौ त्रिभागावबन्धकाल एक त्रिभागो बन्धकाल
इति बन्धकेभ्योऽबन्धका. सख्येयगुणा । तथा सर्वस्तोका अ-
पर्याप्तका, पर्याप्तका. सख्येयगुणा. । एतच्च सूक्ष्मजीवानधि-
कृत्य वेदितव्यम् । सूक्ष्मेषु हि बाह्यो व्याधानो न भवति, न तस्तद-
भावाद्बहुनां निष्पत्तिः, स्तोकानामेव चानिष्पत्तिः । तथा सर्व-
स्तोका सुप्ता, जागरा. सख्येयगुणा, एतदपि सूक्ष्मानेकेन्द्रि-
यानधिकृत्य वेदितव्यम्, यस्मादपर्याप्ता. सुप्ता एव लभ्यन्ते,
जागरा अपि । उक्त मूलटीकायाम्—'जस्मा अपज्जत्ता सुत्ता ल-
ज्जति केह अपज्जत्ता जेसिं सखिज्जा समया अतीता ते य
थोवा, इयरे वि थोयगा चेव, सेसा जागरा पज्जत्ता सखिज्ज-
गुणा' इति । जागराः पर्याप्तास्तेन सख्येयगुणा इति । तथा स-
मवहताः सर्वस्तोका, यत इह समवहता मारणान्तिकसमुद्घा-
तेन परिगृह्यन्ते, मारणान्तिकश्च समुद्घातो मरणकावे, न शेष-
काल, तत्रापि न सर्वेषामिति सर्वस्तोका. । तेभ्योऽसमवहताः
सख्येयगुणा, जीवनकालस्यानिवहुत्वात् । तथा सर्वस्तोकाः
सातवेदका., यत इह बहुव. साधारणशरीरा अल्पे प्रत्येकश-
रीरिण., साधारणशरीराश्च बहवोऽसातवेदका, स्वल्पाः सा-
तवेदिन., प्रत्येकशरीरिणस्तु चूयासः सातवेदका., स्तोका
असातवेदिन, ततः स्तोकाः सातवेदका., तेभ्योऽसातवेदकाः

संख्येयगुणाः, तथा सर्वस्तोका इन्द्रियोपयुक्ताः । इन्द्रि-
योपयोगो हि प्रत्युपपन्नकालविषयः, यतः तदुपयोगका-
लस्य स्तोकात्वात् पृच्छासमये स्तोका अवाप्यन्ते । यदा तु तमे-
वार्थमिन्द्रियेण दृष्ट्वा विचारयत्यथ सकृदाऽपि तदा नोइन्द्रियो-
पयुक्तं स व्यपदिश्यते । ततो नोइन्द्रियोपयोगस्यातीतानागत-
कालविषयतया बहुकालत्वात्संख्येयगुणा नोइन्द्रियोपयुक्ताः,
तथा सर्वस्तोका अनाकारोपयुक्ताः, अनाकारोपयोगकालस्य
स्तोकात्वात् । साकारोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, अनाकारोपयोग-
कालात्साकारोपयोगस्य संख्येयगुणत्वात् । इदानीं समुदाय-
गतं सूत्रोक्तमल्यबहुत्वं भाव्यते, सर्वस्तोका जीवा आयुष्क-
र्मणो बन्धका, आयुर्बन्धकालस्य प्रतिनियतत्वात् । तेन्योऽपर्या-
प्ताः संख्येयगुणा, यस्मादपर्याप्ता अनुनूयमानभवन्निभागाद्यव-
शेषायुषः पारमाविकमायुर्बलान्ति, ततो द्वौ विभागावबन्ध-
कालौ, एकोऽबन्धकाल इति बन्धकालादबन्धकालः संख्येय-
गुणः, तेन सग्येयगुणा एवाऽपर्याप्ता आयुर्बन्धकेभ्यः, तेन्यो-
ऽपर्याप्तेभ्यः सुप्ताः संख्येयगुणाः, यस्मादपर्याप्तेषु च पर्याप्तेषु
च सुप्ता लभ्यन्ते । पर्याप्ताश्चापर्याप्तेभ्यः संख्येयगुणा, इत्य-
पर्याप्तेभ्यः सुप्ताः संख्येयगुणाः, तेभ्यः समवहताः संख्ये-
यगुणाः, बहूनां पर्याप्तेष्वपर्याप्तेषु च मारणान्तिकसमुदातेन
समवहताना सदा लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः सातावेदकाः
संख्येयगुणाः, आयुर्बन्धकापर्याप्तकसुमेवपि सातावेदकानां
लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः इन्द्रियोपयुक्ता संख्येयगुणा, असा-
तवेदकानामपि इन्द्रियोपयोगस्य लभ्यमानत्वात् । तेभ्योऽना-
कारोपयोगोपयुक्ताः, इन्द्रियोपयोगेषु नोइन्द्रियोपयोगेषु वा
ऽनाकारोपयोगस्य लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः साकारोपयुक्ताः
संख्येयगुणाः, इन्द्रियोपयोगेषु नोइन्द्रियोपयोगेषु साकारोप-
योगकालस्य बहुत्वात् । तेभ्यो नोइन्द्रियोपयुक्ता विशेषाधिका,
नोइन्द्रियाऽनाकारोपयुक्तानामपि तत्र प्रक्षेपान्, साकारानाका-
रोपयुक्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् । अत्र विनेयजनानुग्रहायैमसद्भा-
वस्थापनया निदर्शनमुच्यते-इह सामान्यतः किल साकारोप-
युक्ता द्विनवत्यधिकं शतम् १६२ ने च किल द्विधा-इन्द्रियसाका-
रोपयुक्ताः, नोइन्द्रियसाकारोपयुक्ताश्च । तत्रोन्द्रियसाकारोपयु-
क्ताः किलाऽनीवस्तोका इति विज्ञानिसंख्याः कल्पन्ते; शेष
द्विसप्तसुत्तरं शतम् १७२ । नोइन्द्रियसाकारोपयुक्ता नोइन्द्रिया-
नाकारोपयुक्ताश्च द्विपञ्चाशत्कल्पाः । ततः सामान्यतः साकारो-
पयुक्तेभ्यः इन्द्रियसाकारोपयुक्तेषु विंशतिकल्पेष्वपनीतेषु द्वि-
पञ्चाशत्कल्पेषु अनाकारोपयुक्तेषु तेषु मध्ये प्रक्षेपेषु द्वे शते च-
तुर्विंशत्यधिके भवन् । ततः साकारोपयुक्तेभ्यो नोइन्द्रियोपयु-
क्ता विशेषाधिका, तेन्योऽसातवेदका विशेषाधिका, इन्द्रियो-
पयुक्तानामप्यऽसातवेदकत्वात् १० । तेभ्योऽसमवहता विशेषा-
धिका, सातवेदकानामप्यसमवहतत्वाभावात् । तेभ्यो जागरा वि-
शेषाधिका, समवहतानामपि केषांचिज्जागरत्वात् १२ तेभ्यः प-
र्याप्ता विशेषाधिका, सुप्तानामपि केषांचिन् पर्याप्तत्वात् । सुप्ता हि
पर्याप्तापर्याप्ता अपि भवन्ति; जागरास्तु पर्याप्ता एवेति नियमः
१३ । तेभ्योऽपि पर्याप्तेभ्यः आयु कर्माऽबन्धका विशेषाधिका,
अपर्याप्तानामप्यायु कर्माबन्धकाभावात् १४ । इदमेवावबहुत्वं
विनेयजनानुग्रहाय स्थापनाराशिभिरुपदृश्यते-इह द्वे पङ्क्तौ उ-
पर्यथोभावेन न्यस्येते । तत्रोपरितन्या पङ्क्तौ आयु कर्मबन्धका
अपर्याप्ता सुप्ता समवहता सातवेदका इन्द्रियोपयुक्ता अनाका-
रोपयुक्ता क्रमेण व्याप्यन्ते, तस्या अभ्रस्तन्यां पङ्क्तौ तेषामेव

पदानामधस्ताद् यथासंख्येयमायुरबन्धका पर्याप्ता जागरा अस-
मवहता असातवेदका नोइन्द्रियोपयुक्ताः साकारोपयुक्ताः साप-
ना चैयम्-आद्यमिति तत्परिमाणं संख्यायामेकं स्थाप्यते । ततः
शेषपदानि किल जघन्येन संख्येयगुणानीति द्विगुणोऽद्विगुणादस्त-
पु स्थाप्यते । तद्यथा-द्वौ चत्वार अष्टौ षोडश द्वाविंशत् चतुः-
षष्टिः, सर्वोऽपि जीवराशिरनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया
पदपञ्चाशदधिकशतद्वयपरिमाणः परिकल्प्यते । ततोऽस्मादाशे-
रायुर्बन्धकादिगताः संख्याः शोधयित्वा यत् शेषमवतिष्ठते तदा-
युरबन्धकादीनां परिमाणे स्थापयितव्यम् । तद्यथा-आयुरबन्धका-
दिपदे द्वे शते पञ्चपञ्चाशदधिके, शेषेषु यथोक्तक्रमं द्वे शते, चतुष-
पञ्चाशदधिके द्वे शते, द्विपञ्चाशदधिके द्वे शते, अष्टचत्वारिंशद-
धिके द्वे शते, चत्वारिंशदधिके द्वे शते, चतुर्विंशत्यधिके द्वि-
नवत्यधिकं शतम् । एवं च सति उपरितनपङ्क्तिगतान्यनाकारो-
पयुक्तपर्यन्तानि पदानि संख्येयगुणानि, द्विगुणद्विगुणाधि-
कत्वात् । ततः पर साकारोपयुक्तपदमपि संख्येयगुणम्, त्रिगुण-
त्वात् । शेषाणि तु नोइन्द्रियोपयुक्तादीनि प्रतिलोमं विशेषाधि-
कानि, द्विगुणत्वस्यापि कचिदभावात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

(प्रकृतिबन्धादीनाम्)

सम्प्रति प्रागुक्तचतुर्विधबन्धे योगस्थानानि कारणं, प्रकृतयः प्रदे-
शाश्च तत्कार्यं वर्तन्ते । तथा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि का-
रण, स्थितिविशेषास्तु तत्कार्यम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्था-
नानि कारणम्, अनुभागस्थानानि तु तत्कार्यं वर्तन्त इति कृत्वा
सत्तानामप्येषां पदार्थानां परस्परमध्यबहुत्वमभिहितसुराह-

सेदिअसंखिज्जंसे, जोगघाणाणि पयमिदिअभेया ।

विश्वंज्जवसाया-ऽणुजागठणा असंखगुणा ॥८५॥

योगो वीर्यम्; तस्य स्थानानि वीर्याविभागान्नासङ्गातरूपाणि । कि-
यन्ति पुनस्तानि भवन्ति?, इत्याह- (सेदिअसंखिज्जंसे सि) भेजि-
रसंख्येयांशः भेज्यसंख्येयांशः । एतदुक्तं भवति-भेजेर्वैक्यमा-
णस्वरूपाया असंख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति, ताव-
न्ति योगस्थानानि । एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति
शेषः । तत्र यथैनानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते- इह कि-
ल सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यसंख्येयकस्य प्रदेशाः के-
चिदल्पवीर्ययुक्ताः केचित्सु बहुबहुतरबहुतमवीर्योपेताः, तत्र
सर्वजघन्ययुक्तवीर्यस्यापि प्रदेशस्य संबन्धि वीर्यं केवलप्रज्ञा-
च्छेदेन क्षिप्रमानमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान्
प्रयच्छति, तस्यैवोक्तद्वितीययुक्तप्रदेशे यद्वीर्यं तदेतेन्योऽसंख्ये-
यगुणान् भागान् प्रयच्छति ।

उक्तं च-

“ पञ्चाए विज्जता, असखलोगाए जसियपएस ।

तत्तिथवीरियमाणा, जीवपएसमि पकेके ॥ १ ॥

सत्त्वज्जहन्नगरिण, जीवपएसमि तत्तिथा सखा ।

तत्तो असखगुणियं, बहुविरिणं जियपएसमि ” ॥ २ ॥

भार्या अविनागपरिच्छेदा इति स्वानर्थान्तरम् । ततः सर्व-
स्तोका विनागपरिच्छेदकालितानां लोकासंख्येयभागवर्त्यसं-
ख्येयप्रतरप्रदेशराशिसंख्यानां जीवप्रदेशानां समानवीर्यपरि-
च्छेदनया जघन्येका वर्गणा । तत एकेन योगपरिच्छेदेनाधिका-
नां तावतामेव जीवप्रदेशानां द्वितीया वर्गणा । एवमेकैक्यागप-

रिच्छेदवृद्धा यस्मान्मानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा
वनीकृतलोकाकाशभेदेरसस्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणं वर्गेणा
वाच्यः ।

एताश्चेतावत्योऽप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते—

१५	१५	१५
१४	१४	१४
१३	१३	१३
१२	१२	१२
११	११	११
१०	१०	१०

तत्र जघन्यवर्गणायां जी-
वप्रदेशा असस्येयपर्वीर्यजा-
गान्त्रिता । अथ सत्कल्पन-
या त्रयस्त्रयः स्थाप्यन्ते, ए-
ताश्चेतावत्यः समुदिता एक
धीर्यस्पर्ककमित्युच्यते । अथ
स्पर्श इति कः शब्दार्थः ?
उच्यते—एकैकोत्तरवीर्यभाग-
वृद्ध्या परस्परं स्पर्शन्ते वर्ग-
णा यत्र तत् । तत्र ऊर्ध्वमे-
कं द्रव्यादिभिर्वा वीर्यपरि-

च्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते । किं तर्हि ? प्रथमस्पर्क-
कचरमवर्गणायां जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपरिच्छेदास्तेभ्योऽ-
सस्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपरिच्छेदैरधिका जावप्र-
देशाः, अतस्तेषामपि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पर्-
कस्यावर्गणा । तत एकेन वीर्यभागैनाधिकानां समुदायो द्वि-
तीयवर्गणा । एवमेकोत्तरवृद्धिक्रमेणैता अपि भेदस्य सस्येयभा-
गवर्तिप्रदेशराशिमाना वाच्यः । एतासामपि समुदायो द्विती-
य स्पर्शकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धिर्न सभ्यते । किं तर्हि—
असस्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यैरेव वीर्यभागैरधिकास्तत्प्रदेशाः
प्राप्यन्ते, अतस्तेनैव क्रमेण तृतीयस्पर्ककमारभ्यते । पुनस्तेनैव
क्रमेण चतुर्थम्, पुन पञ्चममित्येवमेतान्यपि वीर्यस्पर्शकानि श्रे-
ष्यसस्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि । एषां चैताव-
तां स्पर्शकानां समुदाय एकं योगस्थानकमुच्यते । इदं तावदे-
कस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये सर्वजघन्यवीर्यस्य योगस्था-
नकमभिहितं, तदन्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोः, अनेनैव
क्रमेण द्वितीय योगस्थानकमुत्तिष्ठते । तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण
तृतीयम्, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण चतुर्थम् । इत्यमुना क्रमेणैता-
न्यपि योगस्थानानि नानाजीवानां काश्चिदभेदेनैकजीवस्य वा भेदेर-
सस्येयभागवर्तिनम् प्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । ननु जीवा-
नामनन्तत्वात्तद्देशाद्योगस्थानान्यनन्तानि कस्मात् भवन्ति ? । नै-
तदेवम्—यत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽनन्ताः स्थावरजीवा
वर्तन्ते, त्रसास्वेकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽसख्याता वर्तन्ते,
तेषां च तदेकैकमेव चित्रिततमतो विसदृशानि यथोक्तमानान्य-
व योगस्थानकानि भवन्ति । तथाऽपर्याप्ता सर्वेऽप्येकस्मिन् यो-
गस्थानके एकमयमवतिष्ठन्ते । ततः परमसस्येयगुणवृद्धेषु
प्रतिसमयमन्योन्ययोगस्थानकेषु सक्रामन्ति, पर्याप्तास्तु सर्वेऽपि
स्वप्रायोग्ये सर्वजघन्ययोगस्थानके जघन्यतः समयमुत्कृष्टतम-
तुर समयान् यावद्वर्तन्ते, ततः परमन्ययोगस्थानकमुपजायते,
स्वप्रायोग्योत्कृष्टयोगस्थानके तु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु द्वौ
समयौ, मध्यमेषु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु क्वचित् चतुर,
क्वचित्पञ्च, क्वचित् षट्, क्वचित् सप्त, क्वचिदष्टौ समयान् यावद्व-
र्तन्ते इति । अथ चैतावानपि योगो मन प्रभृतिसदृकार्कारण-
वशात्सक्षिप्य सत्यमनोयोगः १, असत्यमृषामनोयोगः ३, अस-
त्यामृषामनोयोगः ४, असत्यवाग्योगः १, असत्यवाग्योगः २, सत्य-
वाग्योगः ३ असत्यामृषावाग्योगः ४ । औदारिककाययोग १,

औदारिकमिश्रकाययोगः २, वैक्रियकाययोग ३, वैक्रियमि-
श्रकाययोगः ४, आहारककाययोग ५, आहारकमिश्रकाय-
योगः ६, कामर्णकाययोगज्जेदन पञ्चदशधा प्रोक्त इत्यल-
प्रसगेन । एतेभ्यश्च योगस्थानेभ्योऽसस्येयगुणा असख्यात-
गुणिना । (पयमि स्ति) भेदशब्दस्य प्रत्येक सवन्धात् प्र-
कृतिभेदात् स्थितिभेदाच्च ज्ञानावरणादीनां भेदा । " अ-
सखगुण स्ति " पदमनुभागबन्धस्थानानि यावत्सर्वत्र यो-
जनीयम् । इयमत्र भावना—इह तावदावश्यकादिष्ववधिज्ञा-
नदर्शनयोः क्षयोपशमवैचित्र्यादसख्यातास्तावज्जेदा भवन्ति ।
ततश्च तदावगुणबन्धस्यापि तावत्प्रमाणज्जेदा सगच्छन्ते, वैचि-
त्र्येण बन्धस्यैव विचित्रक्षयोपशमोपपत्तेरिति । कथं पुन क्षयो-
पशमवैचित्र्येऽप्यसस्येयभेदत्व प्रतीयते ? इति चेत् । उच्यते—
क्षेत्रतारतम्येनेति । तथाहि—त्रिसमयाहारकसूक्ष्मपनकसत्त्वाव-
गाहनामान जघन्यमवधिद्विकस्य क्षेत्र परिच्छेद्यनयोक्तम् ।
यदाह सकलभुतपारदृशा विभ्वानुग्रहकाम्यया विहितानेक-
शास्त्रसदृशं भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी— " जावश्य तिसम-
याहा—रगस्स सुदुमस्स पणगजीवस्स । ओगाइणा जहन्ना,
ओहीस्सि जह्म तु " ॥ १ ॥ उत्कृष्ट तु सर्वबहुनैजस्कायिक-
जन्तूनां शुचि सर्वतो भूमिना यावन्मात्रं क्षेत्र स्पृशति ताव-
न्मात्र तस्य प्रमाण भवति । यदाहु श्रीमदाराधयपादा— " सख-
बहुभगणिजीवा, निरतर जत्ति य भरिज्जसु । खिण्व सखदि-
साग, परमोही खित्तिनिहिट्ठो " ॥ १ ॥ इति । ततो जघ-
न्यात् क्षेत्रादारण्य प्रदेशवृद्ध्या प्रवृद्धोत्कृष्टक्षेत्रविषयत्वे स-
त्यसस्येयभेदत्वमवधिद्विकस्य क्षेत्रतारतम्येन जवति । अन-
स्तदावारकस्यावधिद्विकस्यापि नानाजीवानां क्षेत्रादिभेदेन
बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्याद्यासस्येयगुणभेदत्वम् । एव ना-
नाजीवानाभित्य मतिज्ञानावरणादीना शेषाणामप्यावरणाना
तथाऽन्यासामपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च क्षे-
त्रादिज्जेदेन बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्याद्यासख्याता जेदा स-
पद्यन्ते इति ।

उक्तं च—

" जग्हा च ओहिधिसओ, उक्कोसे सखबहुयसिहिसई ।

जत्तियमित्त कुसई, तत्तियमित्तप्पएससमो ॥ १ ॥

तत्तारतम्मभेया, जेण बहु भुति आवरणज्जणिया ।

तेणासखगुणत्त, पयमीण ओगओ जाण " ॥ २ ॥

चतसृणामानुपूर्वीणां बन्धोदयवैचित्र्येणासख्याता जेदा, ते
च लोकस्यासस्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या इति बृहच्छत-
कचूर्णिकारोक्ता विशेषाः । ननु जीवानामनन्तत्वात्तेषां बन्धोद-
यवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिज्जेदा कस्मात् भवन्ति ? । नैतदे-
वम्, सदृशानां बन्धोदयानामेकत्वेन विवक्षितत्वाद्विसदृशास्ते-
तावन्त एव तद्देदा भवन्ति । ते च जेदा प्रकृतिज्जेदत्वात्प्रकृ-
तय इत्युच्यन्ते । ततश्च योगस्थानेभ्योऽसख्यातगुणा प्रकृतय,
यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानैर्नानाजीवै कालभेदादेक-
जीवेन वा सर्वा अप्येता प्रकृतयो बध्यन्ते इति । तथा तेज्य-
प्रकृतिभेदेभ्य स्थितिभेदा स्थितिबिधौ अन्तर्मुहूर्तसमयाधि-
कान्तर्मुहूर्तत्रिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिलक्षणा असख्यातगुणा
भवन्ति । एकैकस्या प्रकृतेरसख्यातै स्थितिबिधौ वैवाच्यमानत्वा-
देकमेव हि प्रकृतिज्जेदं कश्चिज्जीवोऽन्येन स्थितिबिधौ वैवाच्यमानत्वा-
स एव च त कदाचिदन्येन, कदाचिदन्यतरेण, कदाचिदन्यत-
मेनेत्येवमेक प्रकृतिज्जेदमेक जीवमाश्रित्यासख्याता स्थितिज्जे-

दा भवन्ति, किं पुन सर्वप्रकृती सर्वजीवानाधित्य प्रकृतिभेदे-
ज्य ? , स्थितिभेदानामसख्यातगुणत्वमित्यतः प्रकृतिभेदे-
भ्यः स्थितिभेदाः असख्यातगुणा भवन्तीति , तथा स्थि-
तिभेदेभ्यः सकाशात् स्थितिवन्धाध्यवसायाः पदैकदेशे पद-
समुदायोपचारात् स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानान्यसख्यातगु-
णानि । तत्र स्थान स्थितिः ? कर्मणोऽवस्थान, तस्या बन्धः स्थि-
तिबन्धः । अध्यवसानान्यध्यवसाया , ते चेह कषायजनिता जीव-
परिणामविशेषाः । तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसा-
या एव स्थानान्यध्यवसायस्थानानि, स्थितिवन्धस्य कारणभू-
तान्यध्यवसायस्थानानि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि, तानि स्थि-
तिभेदेभ्योऽसख्येयगुणानि, यत सर्वजघन्योऽपि स्थितिविशे-
षोऽसख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायस्थानैर्जन्यते । उ-
त्तरे तु स्थितिविशेषास्तैरेव यथोत्तरं विशेषबहुदैर्जन्यन्ते ;
अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानान्यसख्यात-
गुणानि सिद्धानि ज्ञवन्ति । तथा-(अणुभागघाणंति) पदै-
कदेशे पदसमुदायोपचारादनुभागस्थानान्यनुभागबन्धाध्यव-
सायस्थानानि । तत्रानु पञ्चाद्वन्धोत्तरकालं भज्यते सेव्यतेऽनुभू-
यत इत्यनुजागो रसः, तस्य बन्धोऽनुजागबन्ध, अध्यवसानान्य-
ध्यवसाया , ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः । ति-
ष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानान्यध्य-
वसायस्थानानि, अनुभागबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्था-
नान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिवन्धाध्यवसायस्था-
नेभ्यस्तान्यसख्येयगुणानि भवन्ति, स्थितिवन्धाध्यवसायस्थान-
होकेकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुक्तम् । अनुजागबन्धाध्यवसायस्थानं
त्येकैक जघन्यतः सामायिकम्, उत्कृष्टनस्त्वष्टसामायिकान्तमेवो-
क्तमत एकस्मिन्नापि नगरकल्पे स्थितिवन्धाध्यवसायस्थाने त-
दन्तर्गता नगरान्तर्गता चैर्नीचैर्गृहकल्पानि नानाजीवान् काल-
भेदेनैकजीवान् कालभेदेनैकजीव वा समाश्रित्यासख्येयलो-
काकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति ।
तथाहि-जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिवन्धाध्यवसायस्था-
नाना मध्ये यदाह सर्वलघुस्थितिक बन्धाध्यवसायस्थान-
तस्मिन्नापि देशक्षेत्रकालभावजीवभेदेनासख्येयलोकाकाशप्र-
देशप्रमाणान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते । द्विती-
यादिषु तु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्ते इति सर्वे-
ष्वपि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानेषु भावना कार्या । अतः स्थि-
तिवन्धाध्यवसायस्थानेभ्योऽनुजागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसख्ये-
यगुणानीति ।

ततो कम्पणमा, अणंतगुणिया तत्रो रमच्छेया ।

ततस्तेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः, कर्मप्रदेशाः कर्म-
स्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः-प्रत्येकम-
भन्यानन्तगुणैः सिद्धान्तगुणवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नानज-
घ्यानन्तगुणानेद स्कन्धान् मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः प्रतिसमय जी-
वो गृह्यतीत्युक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाण्य-
प्यसख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येवाभिहितानि, अतोऽनुभाग-
बन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणा सिद्धा भवन्ति ।
तथा(तत्रो रसच्छेयंति) तनस्तेभ्यः कर्मप्रदेशेभ्यो, रसच्छेदा भ-
नन्तगुणा ज्ञवन्ति । तथाहि-इह क्षीरनिम्बरसाद्यधिश्रयणैरिवा-
नुभागबन्धाध्यवसायस्थानैस्तन्नुलेप्तिव कर्मपुत्रेषु रसो ज-
न्यते, स चैकस्यापि परमाणो सवन्धी केचक्षिप्रज्ञया विद्यमान

सर्वजीवानन्तगुणानविभागपरिच्छेदान् प्रयच्छति । यस्माद्भागा-
दपि सूक्ष्मनयाऽन्यो भागो नोत्तिष्ठति सोऽविभागपरिच्छेद उ-
च्यते । एव भूताश्चानुभागस्याविभागपरिच्छेदा रसपर्यायाः स-
र्वकर्मस्कन्धेषु प्रतिपरमाणुसर्वजीवानन्तगुणाः संप्राप्यन्ते । यतः-

“गहनसमयमि जीवो, अप्पाएह उ गुणे सपख्यओ ।

सञ्जियाणतगुणे, कम्मपणसेसु सञ्जेसु” ॥

गणशब्देनेहाविभागपरिच्छेदा उच्यन्ते । शेषं हुगमम् । क-
र्मप्रदेशाः पुनः प्रतिस्कन्ध सर्वेऽपि सिद्धानामप्यनन्तभाग एव
वर्तन्ते । अतः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणाः सिद्धा भ-
वन्तीति । कर्म० ५ कर्म० । (भौदारिकादिशरीरबन्धकानामव्यप-
द्वत्वं तु ‘सरीर’ शब्द एव दृश्यम्)

(२२) [भवसिद्धिकद्वारम्] भवसिद्धिकद्वारमाह-

एएसि एं जंते ! जीवाणं जवसिद्धियाणं अजवसिद्धि-
याणं नोजवसिद्धियाणं नोअभवसिद्धियाणं य कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सञ्जत्योवा अभवसिद्धिया,
नोजवसिद्धिया नोअजवसिद्धिया अणंतगुणा, भवसिद्धिया
अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अजवसिद्धिकाः अभव्या, जघन्ययुक्तानन्तकपरि-
माणत्वात् । उक्त चानुयोगद्वारेषु-“उक्कोसप परिमाणतरुवे
पक्खित्ते जडस्यजुत्ताणं तय होइ अभवसिद्धिया वि तसिषा
चेव सि” तेभ्यो नोभवसिद्धिका नोअभवसिद्धिका अनन्तगुणाः,
यत उभयप्रतिषेधवृत्तयः सिद्धास्ते चाजघन्योक्तद्वयुक्तानन्तक-
परिमाणा इत्यनन्तगुणाः । तेभ्यो भवसिद्धिका अनन्तगुणाः,
यतो जघन्यनिगोदस्यैकस्यानन्तभागकल्पाः सिद्धा जघन्यजीवरा-
शिनिगोदाभ्यासख्येया लोके इति । गत भवसिद्धिकद्वारम् ॥
प्रज्ञा० ३ पद ॥

(२३) [भाषकद्वारम्] भाषकाप्रापकाल्पबहुत्वमाह-

एएसि एं भंते ! जीवाणं जासगाणं अजासगाणं य
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुक्खा वा विसेसा-
हिया वा ! गोयमा ! सञ्जत्योवा जीवा जासगा, अजासगा
अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका भाषका भाषालब्धिसंपन्ना, द्वीन्द्रियादीनामेवं
भाषकत्वात् । अभाषका प्राषालब्धिहीना अनन्तगुणाः, धन-
स्पतिकायिकानामनन्तत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद । सत्यादिभेदेन
प्राषाणमव्यपबहुत्वम् । प्रज्ञा० ११ पद । (प्राषाद्रव्याणां स्रष्टा-
दिभिर्भेदैर्भिद्यमानानामव्यपबहुत्वं च ‘जासा’ शब्दे वक्ष्यते)

(२४) [महादण्डकद्वारम्] सर्वजीवाल्लभबहुत्वम्-

अह भंते ! सञ्जजीवप्पहुं महादंमयं वत्तइस्सामि, सञ्ज-
त्योवा गम्भवक्कंतियमणुस्सा, मणुस्सीओ संखेज्जगुणाओ,
वादरतेउकाइया पजत्तया असंखिज्जगुणा, अणुत्तरोववा-
इया देवा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगु-
णा, मज्झिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगुणा, हेडिमगेवेज्जगा,
देवा संखेज्जगुणा, अचुएकपेदेवा संखेज्जगुणा, आरणे क-

प्ये देवा संखेज्जगुणा, पाणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, आणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा; अहेसत्तमाए पुढवीए ऐरइया असंखेज्जगुणा, ठ्ठीए तमाए पुढवीए नेरइया अमं०, सहस्सारे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा, महामुक्के कप्पे देवा असंखेज्जगुणा, पंचमाए धम्मपभाए पुढवीए ऐरइया असं०, लंतए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; चउत्थीए पंक्कपभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, बंधन्नोए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा, तच्चाए बालुयप्पजाए पुढवीए ऐरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे देवा असंखेज्जगुणा, मणकुमारे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; दीच्चाए मक्करप्पभाए पुढवीए ऐरइया असं०, संमुच्चिममणुस्सा असंखेज्ज०, ईसाणे कप्पे देवा अमं०, ईसाणे कप्पे देवीओ संखे०, मोहम्मो कप्पे देवा संखेज्ज०, सोहम्मो कप्पे देवीओ संखेज्जगुणाओ, जवणवासीदेवा असंखेज्जगुणा, जवणवासिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ, इमी से रयणप्पजाए पुढवीए ऐरइया असंखेज्जगुणा, खहचरपचिदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, खहचरपचिदियतिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, थलयरपचिदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, थलयरपचिदियतिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, जलयरपचिदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरपचिदियतिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, बाणमंतरा देवा संखेज्जगुणा. बाणमंतरीओ देवीओ संखेज्ज०, जोडसिया देवा संखेज्जगुणा, जोडसिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ, खहयपंचिदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखेज्ज०, थलयरपचिदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखेज्ज०, जलयरपचिदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखे०, चउरिंदिया पज्जत्तया संखेज्ज०, पंचिदिया पज्जत्ता विसेसाहिया, वेडदिया पज्जत्ता विसे०, पंचिदिया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, चउरिंदिया अपज्जत्तया विसेमाहिया, नेडदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, वेडदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, पत्तेयसरीरवाटरवणस्सइकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वाटरनिगोदा पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वाटरपुढविकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वाटरवाउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वाटरतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरवाटरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वाटरनिगोदा अपज्जत्तया संखेज्जगुणा, वाटरपुढविकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वाटरआउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वाटरआउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढवि-

काइया अपज्जत्तया विसेसाहिया; सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसेमाहिया, सुहुमनेउकाइया पज्जत्तया असंखेज्ज०, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमणिगोदा अपज्जत्ता असंखे०, सुहुमणिगोदा पज्जत्तया संखेज्जगुणा, अजवसिद्धिया अणंतगुणा. पडिवत्तियमम्मदिट्ठी अणंतगुणा, मिच्छा अणंतगुणा; वाटरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा, वाटरपज्जत्ता विसेमाहिया, वाटरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, वाटरअपज्जत्तया विसेसाहिया, वाटरा विसेमाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया संखेज्ज०, सुहुमपज्जत्तया विसेमाहिया, सुहुमा विसेसाहिया, जवसिद्धिया विसेमाहिया, निगोदा जीवा विसेमाहिया, वणस्सइकाइया विसेसाहिया, एगिदिया विसेसाहिया, तिरिक्खजोणिया विसेसाहिया, मिच्छदिट्ठी विसेसाहिया. अविरया विसेमाहिया, छउमत्तया विसेसाहिया, सजोर्मा विसेसाहिया. संसारत्ता विसेमाहिया, सव्वजीवा विसेमाहिया ॥

इदानीं महादण्डक विवश्रुत्तमापृच्छति-(अह भने ! इत्यादि) अथ जदन्त ' सर्वजीवान्पवदुत्व सर्वजीवान्पवदुत्व-वक्तव्यतात्मक महादण्डक वर्तयिष्यामि, रचयिष्यामीति तात्पर्यार्थः । अनेन एतत् ज्ञापयति-तीर्थकरानुज्ञामात्रसापेक्षं पव भगवान् गणधरः स्मरन्तं प्रातः प्रवर्तते, न पुन श्रुताभ्यासपुरस्सरमिति । यद्वैतज्ञापयति-कुशलेऽपि कर्मणि विनेयेन गुरुमनापृच्छ्य न प्रवर्तितव्य, किन्तु तदनुज्ञापुरस्सरम्, अथवा विनेयत्वायोगात् । विनेयस्य हि लक्षणमिदम्-" गुरोर्निर्वाहतात्मा यो, गुरुभावानुवर्तकः । मुक्तयर्थं चेष्टते नित्यं, स विनेयः प्रकीर्तितः " ॥ १ ॥ गुरुरपि यः प्रच्छनीयः स एव रूपः-" धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मप्रवर्तकः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुकथ्यते " ॥ १ ॥ इति । महादण्डक वर्तयिष्यामीत्युक्तम् । ततः प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-(सत्यत्वात्वा गम्भवक्त्रनियमणुस्सत्यादि) सर्वस्तोका गर्भव्युत्क्रान्तिका मनुष्या, सख्येयकोटीकोटिप्रमाणत्वात् १ । तेभ्यो मानुष्ये मनुजस्त्रिय-सख्येयगुणा, सप्तविंशतिगुणत्वात् । उक्तं च-" सत्तात्रोमगुणा पुण, मणुयाण तददिया चेव " इति २ । ताज्यो वाटरतैजस्कायिका. पर्यासा असख्येयगुणा, कतिपयवर्गान्यूनावलिकाघनसमयप्रमाणत्वात् ३ । तेज्योऽनुत्तरोपपानिनी देवा असख्येयगुणा, क्षेत्रपल्योपमासख्येयभागवर्तिनमः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ४ । तेज्य उपरितनप्रेवेयकत्रिकदेवा सख्येयगुणा. बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासख्येयभागवर्तिनमः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । एतदपि कथमवसेयम्, इति चेत् । उच्यते-विमानवाहुल्यात् । तथाहि-अनुत्तरदेवानां पञ्च विमानानि विमानशततूपरितनप्रेवेयकत्रिकदेवानां प्रतिविमानवाऽसख्येया देवा यथा यथा चाधोवर्तिनि विमानानि तथा तथा देवा अपि प्राचुर्येण बभूवन्ते, नतोऽवसीयते-अनुत्तरोपपातिदेवेभ्यो बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणा उपरितनप्रेवेयकत्रिकदेवा । एवमुत्तरत्रऽपि प्राचुर्या

कार्या, यावदान्तकल्पः ५ । तेज्योऽप्युपरितनमैवेयकत्रिकदे-
चेज्यो मध्यमैवेयकत्रिकदेवाः सख्येयगुणाः ६ । तेज्योऽप्य-
धस्तनमैवेयकत्रिकदेवाः सख्येयगुणाः ७ । तेज्योऽप्युनक-
ल्पदेवा सख्येयगुणाः ८, तेज्योऽप्यारणकल्पदेवाः सख्येय-
गुणाः । यद्यप्यारणाच्युनकल्पौ समश्रेणिकौ, समविमान-
सख्याकौ च, तथाऽपि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यात् प्रा-
चुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, नोत्तरस्यां, यद्वयश्च
कृष्णपाक्षिकाः, स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, नतोऽच्युनकल्पदेवापे-
क्षया आरणकल्पे देवाः सख्येयगुणाः ९ । तेज्योऽपि प्राणत-
कल्पे देवाः सख्येयगुणाः १० । तेज्योऽप्याननकल्पे देवाः स-
ख्येयगुणाः, भावना आरणकल्पवत्कर्तव्या ११ । तेज्योऽधःस-
प्तमनरकपृथिव्यां नैरयिका असख्येयगुणाः, श्रेयसख्येयभा-
गगतनमः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १२ । तेज्यः षष्ठपृथिव्यां
नैरयिका असख्येयगुणा, एतच्च प्रागेव दिगनुपातेन नैरयिका-
ल्पबहुत्वचिन्तायां जावितम् १३ । तेज्योऽपि सहस्रारकल्पदेवा
असख्येयगुणाः, षष्ठपृथिवीनैरयिकपरिणामहेतुश्रेयसख्येयजा-
गापेक्षया सहस्रारकल्पदेवपरिणामहेतोः श्रेयसख्येयजाग-
स्यासख्येयगुणत्वात् १४ । तेज्यो महाशुके कल्पे देवा अस-
ख्येयगुणाः, विमानबाहुल्यात् । तथाहि-पदसहस्राणि विमा-
नानां सहस्रारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुके, अन्यश्च
अधोविमानत्रामिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकस्तोकतराश्चोप-
रितनोपरितनविमानवासिनः, ततः सहस्रारदेवेभ्यो महाशुक-
कल्पे देवा असख्येयगुणाः १५ । तेज्योऽपि पञ्चमधूमप्रजाभि-
धाननरकपृथिव्यां नैरयिका असख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेय-
सख्येयभागवर्तिनमः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १६ । तेज्योऽपि
ज्ञान्तके कल्पे देवा असख्येयगुणाः, अतिबृहत्तरश्रेयसख्ये-
यभागगतनमः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १७ । तेज्योऽपि च-
तुर्थ्यां पट्टप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असख्येयगुणाः, युक्तिः
प्रागुक्तैव भावनीया १८ । तेज्योऽपि ब्रह्मलोके कल्पे देवा
असख्येयगुणाः, युक्तिः प्रागुक्तैव १९ । तेज्योऽपि तृतीयस्यां
बालुकाप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाः सख्येयगुणाः २० । ते-
ज्योऽपि माहेन्द्रकल्पे देवा असख्येयगुणाः २१ । तेज्योऽपि सन-
त्कुमारकल्पे देवा असख्येयगुणा, युक्तिः सर्वत्रापि प्रागुक्तैव २२ ।
तेज्यो द्वितीयस्यां शर्कराप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असख्येयगु-
णाः । एते च सप्तमपृथिवीनारकादयो द्वितीयपृथिवीनरकपर्य-
न्ताः प्रत्येक स्वस्थाने चिन्त्यमानाः सर्वेऽपि घनीकृतलोकश्रेय-
सख्येयभागवर्तिनमः प्रदेशराशिप्रमाणा द्रष्टव्याः, केवलं श्रेयसं-
ख्येयभागोऽसख्येयभेदमिह, तत इत्थमसख्येयगुणतया अल्प-
बहुत्वमभिधीयमानं न विरुध्यति २३ । तेज्यो द्वितीयनरक-
पृथिवीनारकेभ्यः समूर्च्छिममनुष्या असख्येयगुणाः, ते हि अङ्गु-
लमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सन्निधिनि तृतीयवर्गमूलेन गुणिने प्र-
थमवर्गमूलं यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानि खण्डानि, या-
वन्त्येकस्यामेव प्रादेशिक्या श्रेण्या भवन्ति तावत्प्रमाणाः २४ ।
तेभ्य ईशाने कल्पे देवा असख्येयगुणा, यतोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्र-
देशराशेः सन्निधिनि द्वितीये वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिने
यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणास्तु घनीकृतस्य लोकस्यै-
कप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नमः प्रदेशरास्तावत्प्रमाणा ईशान-
कल्पगतो देवदेवीसमुदायस्तत्तत्किञ्चिद्वृत्तद्वित्रिशतमभागक-
ल्पा ईशानदेवाः, ततो देवा समूर्च्छिममनुष्येभ्योऽसख्येयगुणाः
२५ । तेज्य ईशानकल्पे देव्योऽसख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुण-

त्वात् । "वर्त्तीसगुणा वर्त्तीसरूपाद्विद्याशो ह्येति देवीशो
इति वचनात् २६ । ताज्यः सौधर्मकल्पे देवाः
तत्र विमानबाहुल्यात् । तथाहि-तत्र
विमानानामष्टाविंशतिशतसहस्राणि ईशाने कल्पे, अपि
क्षिणदिग्धर्ती सौधर्मकल्पः, ईशानकल्पस्तुत्तरदिग्धर्ती, दक्षिण-
स्यां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिकाः समुत्पद्यन्ते । ततः ईशान-
देवेभ्यः सौधर्मदेवाः सख्येयगुणाः । नन्विह युक्तिमोहेकस-
नत्कुमारकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहेन्द्रकल्पापेक्षया सनत्कु-
मारकल्पदेवा असख्येयगुणा वक्ताः, इह तु सौधर्मकल्पे स-
ख्येयगुणाः नदेव तत्कथम् ? उच्यते-यवनप्रामाण्यात् । न चात्र
पानत्रमः, यतोऽन्यत्राप्युक्तम्- "ईशाने सख्येय वि, वर्त्तीस-
गुणा व ह्येति देवीशो । संक्षेपज्ञा सौधर्मे, नमो असंख्य भवत्वा-
सी" ॥१॥ इति ॥२॥ तेज्योऽपि तस्मिन्नेव सौधर्मकल्पे देव्यः सख्ये-
यगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । "सख्येय वि वर्त्तीसगुणाशो ह्ये-
ति देवीशो" इति वचनात् २७ । ताज्योऽप्यसख्येयगुण-
भवनवासिनः । कथम् ? इति चेत् । इह अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशरा-
शेः सन्निधिनि प्रथमे वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिने या-
वान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणास्तु घनीकृतस्य लोकस्यैक-
प्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नमः प्रदेशरास्तावत्प्रमाणा भवनप-
तिदेवदेवीसमुदायः, तत्तत्किञ्चिद्वृत्तद्वित्रिशतमभागकल्पा भवन-
पतयो देवाः, ततो घट्यन्ते सौधर्मदेवीभ्यस्तेऽसख्येयगुणाः २८ ।
तेज्यो भवनवासिनो देव्यः सख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् २९ ।
ताभ्योऽप्यस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असख्येयगुणाः,
अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सन्निधिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन
वर्गमूलेन गुणिने यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणास्तु श्रेणिषु
यावन्त आकाशप्रदेशास्तत्रप्रमाणत्वात् ३० । तेज्योऽपि ज-
लचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः पुरुषा अमङ्गुल्येयगुणाः, प्रतरासंख्य-
यभागवर्त्येयश्रेणिनमः प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३१ । ते-
ज्योऽपि जलचरपञ्चेन्द्रियास्तत्रयोनिकाः स्त्रियः सख्येयगुणाः,
त्रिगुणत्वात् । "तिगुणा तिरूचअहिया, तिरियाण इथिया
मुणेयव्वा" इति वचनात् ३२ । ताज्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रियास्ति-
र्यग्योनिकाः पुरुषाः सख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासख्येयभागव-
र्त्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३३ । तेज्यः स्थ-
लचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः स्त्रियः सख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात्
३४ । ताभ्यो जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः पुरुषाः सख्ये-
यगुणा, बृहत्तमप्रतरासख्येयभागवर्त्येयश्रेणिगताकाशप्र-
देशराशिप्रमाणत्वात् ३५ । तेज्यो जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्यो-
निकाः स्त्रियः सख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् ३६ । ताभ्यो व्यन्तरा-
देवाः पुवेदोदयिनः सख्येयगुणा, यतः सख्येययोजनकोटा-
कोटिप्रमाणानि सूत्रीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे
भवन्ति तावन्तः सामान्येन व्यन्तरा, केवलमिह पुरुषा विव-
क्षिता इति सकलसमुदायापेक्षया किञ्चिद्वृत्तद्वित्रिशतमभागक-
ल्पा वेदितव्याः । तता घट्यन्ते जलचरयुवतिज्यः सख्येयगुणाः
३७ । तेज्यो व्यन्तर्यः सख्येयगुणा, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ३८ ।
ताभ्यां ज्योतिष्कदेवाः सख्येयगुणाः, ते हि सामान्यतः षट्पञ्चा-
शदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणानि सूत्रीरूपाणि खण्डानि याव-
न्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाः, परमिह पुरुषा विव-
क्षिता इति ते सकलसमुदायापेक्षया किञ्चिद्वृत्तद्वित्रिशतमभा-
गकल्पाः प्रतिपद्यन्तः, तत उपपद्यन्ते व्यन्तरीज्यः सख्येयगु-
णाः ४० । तेज्यो ज्योतिष्कदेव्यः सख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुण-
त्वात् ४१ । ताज्यः जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका नपुंसकाः

सख्येयगुणाः। क्वचित् 'असख्येयगुणाः' इति पाठः, स न समी-
चीनः, यत इत ऊर्ध्वं ये पर्याप्तचतुरिन्द्रिया यद्यन्ते तेऽपि ज्यो-
तिष्कदेवापेक्षया सख्येयगुणा एवोपपद्यन्ते । तथाहि-अदृष्टा-
शब्दिकशतद्वयाङ्गप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्ये-
कस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा ज्योतिष्काः । उक्तं च-"उप-
पन्नोऽस्यगुलं सूक्ष्मपसेहि ज्ञाहया पयरा जोइसिर्पहि हीरह" इति ।
अङ्गुलसख्येयभागमात्राणि च सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येक-
स्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाश्चतुरिन्द्रिया । उक्तं च-"पञ्च-
पञ्चता-विति चक्र असक्षिणो अवहरति । अगुलसखाऽसख-
प-
एसमस्य पुढो पयरे" । १। अङ्गुलसख्येयजागपेक्षया अदृष्टाशब्द-
धिकमङ्गुलशतद्वयं सख्येयगुणं, ततो ज्योतिष्कदेवापेक्षया परि-
भाव्यमानाः पर्याप्तचतुरिन्द्रिया अपि सख्येयगुणा एव घटन्ते,
किं पुनः पर्याप्तचतुरिन्द्रियापेक्षया सख्येयभागमात्रसंख्येय-
न्द्रियनपुसका इति ४२ । तेभ्योऽपि स्थलचरपञ्चेन्द्रियनपु-
सकाः सख्येयगुणाः ४३ । तेभ्योऽपि जलचरपञ्चेन्द्रियनपुस-
काः सख्येयगुणाः ४४ । तेभ्योऽपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः सख्ये-
यगुणाः ४५ । तेभ्योऽपि पर्याप्ताः सख्येयसंज्ञितमिच्छाः पञ्चे-
न्द्रिया विशेषाधिकाः ४६ । तेभ्योऽपि पर्याप्ता द्वीन्द्रिया वि-
शेषाधिकाः ४७ । तेभ्योऽपि पर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः
४८ । यद्यपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियादीनां पर्याप्तत्रिन्द्रियपर्यन्तानां
प्रत्येकमङ्गुलासख्येयजागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि याव-
न्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणत्वमविशेषेणान्यत्र वर्ण्यते,
तथाप्यङ्गुलासख्येयजागस्य सख्येयभेदमिच्छत्वादित्य विशेषाधि-
कत्वमुच्यमानं न विरुद्धम् । उक्तं चेत्थमल्पबहुत्वमन्यत्रापि-"तत्रो
नपुसकसद्वयरसंज्ञेया थद्वयरजलयरनपुसका चतुरिन्द्रिया तत्रो
पणविति पञ्चता किंचदहिय ति" ४८ । तेभ्योऽपि पर्याप्तत्रिन्द्रिये-
भ्योऽपर्याप्ताः पञ्चेन्द्रिया असख्येयगुणाः, अङ्गुलासख्येयजाग-
मात्राणि खण्डानि सूचीरूपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति
तावत्प्रमाणत्वात् ४९ । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधि-
का ५० । तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ५१ । तेभ्यो
द्वीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, यद्यपि चापर्याप्ताश्चतुरिन्द्रि-
यादयोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियपर्यन्ताः प्रत्येकमङ्गुलासख्येयजागमात्रा-
णि खण्डानि सूचीरूपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्र-
माणा अन्यत्राविशेषेणोक्ता, तथाप्यङ्गुलासख्येयजागस्य विचित्र-
त्वादित्य विशेषाधिकत्वमुच्यमानं न विरोधमास्कन्दति ५२ ।
तेभ्योऽपि द्वेन्द्रियापर्याप्तेभ्यः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकाः
पर्याप्ता असख्येयगुणाः, यद्यपि चापर्याप्तद्वीन्द्रियादिवत् पर्या-
प्तबादरवनस्पतिकायिका अप्यङ्गुलासख्येयजागमात्राणि सूचीरू-
पाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अ-
न्यत्रोक्ता, तथाप्यङ्गुलासख्येयजागस्यासख्येयभेदमिच्छत्वाद् बा-
दरपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिपरिमाणचिन्तायामङ्गुलासख्येयजागो-
ऽसख्येयगुणहीनः परिगृह्यते, ततो न कश्चिद्विरोधः ५३ । ते-
भ्यो बादरनिगोदा अनन्तकायिकशरीररूपाः पर्याप्ता असख्ये-
यगुणाः ५४ । तेभ्योऽपि बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ताः अस-
ख्येयगुणा ५५ । तेभ्योऽपि पर्याप्तबादराष्कायिका असख्येय-
गुणा, यद्यपि च पर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकाऽष्कायि-
काः प्रत्येकमङ्गुलासख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि
यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्राविशेषेणो-
क्ता, तथाप्यङ्गुलासख्येयजागस्यासख्येयभेदमिच्छत्वादित्यमस-

र्याप्ताष्कायिकेभ्यो बादराष्कायिकाः पर्याप्ता असख्येयगुणाः,
घनीकृतलोकासख्येयजागवर्त्यसख्येयप्रतरगननज-प्रदेशराशि-
प्रमाणत्वात् ५७ । तेभ्यो बादरनेजस्कायिका अपर्याप्ता अस-
ख्येयगुणा, असख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ५८ ।
तेभ्यः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असख्ये-
यगुणाः ५९ । तेभ्योऽपि बादरनिगोदा अपर्याप्तका असख्येय-
गुणाः ६० । तेभ्यो बादरपृथिवीकायिका अपर्याप्तका असख्ये-
यगुणाः ६१ । तेभ्यो बादराष्कायिका अपर्याप्ता असख्येयगुणाः
६२ । तेभ्यो बादराष्कायिका अपर्याप्ता असख्येयगुणा ६३ ।
तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असख्येयगुणा ६४ ।
तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिका ६५ ।
तेभ्यः सूक्ष्माष्कायिका अपर्याप्ता विशेषाधिका ६६ । तेभ्यः
सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिका ६७ । तेभ्यः सूक्ष्म-
तेजस्कायिका पर्याप्तका असख्येयगुणाः, अपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः
पर्याप्तसूक्ष्माणां स्वभावत एव प्राचुर्येण भावात् । तथा चाह
अस्यामेव प्रज्ञापनायां समग्रणीकार - "जीवाणमपञ्चता, बहु-
तरगा बायराण विज्ञेया । सुहृमाणं य पञ्चता, ओहेण य केव-
लं विंति" । ६८ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता
विशेषाधिका ६९ । तेभ्योऽपि सूक्ष्माष्कायिका पर्याप्ता वि-
शेषाधिका ७० । तेभ्योऽपि सूक्ष्मवायुकायिका पर्याप्ता वि-
शेषाधिका ७१ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्तका असख्येय-
गुणा ७२ । तेभ्योऽपि पर्याप्ता सूक्ष्मनिगोदाः सख्येयगुणाः,
यद्यपि च पर्याप्तनेजस्कायिकादयः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यन्ता
अविशेषेणान्यत्राऽसख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा उक्ता,
तथाऽपि लोकासख्येयत्वस्याऽसख्येयनेजमिच्छत्वादित्यमल्प-
बहुत्वमभिधीयमानमुपपन्नं द्रष्टव्यम् ७३ । तेभ्योऽभवसि-
द्धिका अनन्तगुणाः, जघन्ययुक्तानन्तकप्रमाणत्वात् ७४ ।
तेभ्यः प्रतिपतितसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणा ७५ । तेभ्यः सिद्धा
अनन्तगुणाः ७६ । तेभ्योऽपि बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता
अनन्तगुणा ७७ । तेभ्योऽपि सामान्यतो बादरपर्याप्ता वि-
शेषाधिका, बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ।
७८ । तेभ्यो बादरपर्याप्तवनस्पतिकायिका असख्येयगुणाः, ए
कैकबादरनिगोदपर्याप्तनिश्रयासख्येयगुणानां बादरपर्याप्तनिगो-
दानां समवात् ७९ । तेभ्यः सामान्यतो बादरपर्याप्ता विशेषा-
धिका, बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८० ।
तेभ्यः सामान्यतो बादरा विशेषाधिका, पर्याप्तापर्याप्तानां तत्र
प्रक्षेपात् ८१ । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता अस-
ख्येयगुणा ८२ । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्ता विशेषा-
धिका, सूक्ष्माऽपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्
८३ । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका पर्याप्तकाः सख्येयगुणा,
पर्याप्तसूक्ष्माणामपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः स्वभावन सदैव सख्येय-
गुणतया प्राप्यमाणत्वात्, तथा केवलवेदसोऽनुपलब्धे ८४ ।
तेभ्योऽपि सामान्यतः सूक्ष्मा पर्याप्ता विशेषाधिकाः, पर्याप्त-
सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८५ । तेभ्यः
पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणरहिता सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अप-
र्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्र-
क्षेपात् ८६ । तेभ्योऽपि भवसिद्धिका भवेसिद्धिर्येषां ते भव-
सिद्धिकाः भव्या विशेषाधिका, जघन्ययुक्तानन्तकमात्राभ्य-
परिहारेण सर्वजीवानां भव्यत्वात् ८७ । तेभ्यः सामान्यतो नि-
गोदजीवा विशेषाधिका, इह भव्याभव्याभ्यातिप्राचुर्येण

षामपि मिलितानामसख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । अभव्याश्च युक्तान्तकसख्यामात्रपरिमाणस्ततो जभ्यापेक्षया ते किञ्चिन्मात्रा भव्याश्च प्रागभव्यपरिहारेण चिन्तिता । इदानीं तु बादरसूक्ष्मनिगोदचिन्तायां तेऽपि प्रक्षिप्यन्त इति विशेषाधिका. ८८ । तेन्य सामान्यतो घनस्पतिजीवा विशेषाधिका , प्रत्येकशरीरिणामपि घनस्पतिजीवानां तत्र प्रक्षेपात् ८९ । तेन्य सामान्यत एकेन्द्रिया विशेषाधिका , बादरसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९० । तेन्य सामान्यत स्तिर्यग्योनिका विशेषाधिका , पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि तत्र प्रक्षेपात् ९१ । तेन्यभ्रतुर्गतिभाविनो मिथ्यादृष्टयो विशेषाधिका. , इह कतिपयाविरतसम्यग्दृष्ट्यादिसङ्ख्यनिरेकेण शेषा. सर्वेऽपि तिर्यञ्चो मिथ्यादृष्टिचिन्ताया चासख्येयनारकादयस्तत्र प्रक्षिप्यन्ते । ततस्तिर्यग्जीवराश्यपेक्षया चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयस्त्रिन्त्यमाना विशेषाधिका. ९२ । तेभ्योऽप्यविरता विशेषाधिका. , अविरतिसम्यग्दृष्टीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९३ । तेभ्य. सकपायिणो विशेषाधिका. , देशविरतादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९४ । तेभ्यश्चक्षणा विशेषाधिका. , उपशान्तमोहादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९५ । तेन्य. सयोगिनो विशेषाधिका , सयोगिकेवल्लिनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९६ । तेभ्य. ससारस्था विशेषाधिका , अयोगिकेवल्लिनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९७ । तेभ्य. सर्वजीवा विशेषाधिका , सिक्कानामपि तत्र प्रक्षेपात् ९८ । गत महादृष्टमकद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । प० स० ।

(२५) [योगद्वारम्] चतुर्दशविधस्य ससारसमापन्नजीवस्य योगानामप्यवहुत्वम्—

एषमि णं भंते ! चउइसविहाणं संमारसमावसगाणं जीवाण जहएणकोसगस्स जोगस्स कयरे कयरेहिंनो जाव विसेमाहिया वा ! गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स जहएणए जोए १, बादरस्स अपज्जत्तगस्स जहएण जोए असखेज्जगुणे २ , वेइदियस्स अपज्जत्तगस्स जहएणए जोए असंखे० ३ , एव तेइदियस्स ४ , एवं चउरिंदियस्स ५ , अमाणिपचिंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहएण जोए असखेज्जगुणे ६ , साणिपचिंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहएणए जोए असंखे० ७ , सुहुमपज्जत्तगस्स जहएण जोए असंखेज्जगुणे ८ , बादरस्स पज्जत्तगस्स जहएण जोए असखेज्जगुणे ९ , सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखेज्जगुणे १० , बादरस्स अपज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखे० ११ , सुहुमस्स पज्जत्तगस्स उकोसए जोए असखे० १२ , बादरस्स पज्जत्तगस्स उकोसए जोए असखे० १३ , वेइदियस्स पज्जत्तगस्स जहएण जोए असखे० १४ , एव तेइदियस्स वि १५ , एव जाव सप्पिपचिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहएण जोए असखे० १६ , वेइदियस्स अपज्जत्तगस्स उकोसए जोए असंखे० १७ , एवं तेइदियस्स वि १८ , एवं चउरिंदियस्स वि १९ , एवं जाव सप्पिपचिंदियस्स अपज्जत्तगस्स उकोसए जोए असखे० २० , वेइदियस्स पज्जत्तगस्स उकोसए जोए असखे० २१ , एवं तेइदियस्स वि २२ , एव जाव सप्पिपचिंदियस्स पज्जत्तगस्स उकोसए जोए असखेज्जगुणे २३ ।

(जहन्नुकोसगस्स जोगस्स स्ति) जघन्यो निरुद्ध काश्चिद्व्यक्तिमाश्रित्य स एव च व्यक्त्यन्तरापेक्षयोत्कर्ष उत्कृष्टे जघन्योत्कर्षः, तस्य योगस्य वीर्यान्तगायक्षयोपशमादिसमुत्थकायादिपरिस्पन्दस्य एतस्य च योगस्य चतुर्दशजीवस्थानसम्बन्धाज्जघन्योत्कर्षजेदाद्याष्टविंशतिविधस्याल्पत्वबहुत्वादिजीवस्थानकविशेषाद्भवति, तत्र (सव्वत्थोवेत्यादि) सूक्ष्मस्य पृथिव्यादेः सूक्ष्मत्वाच्छरीरस्य तस्याप्यपर्याप्तकत्वेनासम्पूर्णत्वात्त्रापि जघन्यस्य विवक्षितत्वात्सर्वेभ्यो यो वक्ष्यमाणेभ्यो योगेभ्यः सकाशात् स्तोकाः सर्वस्तोको भवति, जघन्यो योगः स पुनर्वैप्रद्विकारमर्मणौदारिकपुत्रप्रहणप्रथमसमयवर्त्ता, तदनन्तरञ्च समयवृत्त्याऽजघन्योत्कृष्टो यावत्सर्वोत्कृष्टो न भवति । (बायरस्सेत्यादि) बादरजीवस्य पृथिव्यादेरपर्याप्तकजीवस्य जघन्यो योगः पूर्वोक्तापेक्षयाऽसङ्ख्यातगुणोऽसख्यातगुणवृद्धो बादरत्वादेवेति । एवमुत्तरत्राप्यसख्यातगुणत्व इदमम् । इह च यद्यपि पर्याप्तकत्रीन्द्रियोत्कृष्टकायापेक्षया पर्याप्तकानां द्वीन्द्रियाणां सङ्किनामसाङ्किना च पञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टः कायः सख्यातगुणो भवति, सख्यातयोजनप्रमाणत्वात्, तथापीह योगस्य परिस्पन्दस्य विवक्षितत्वात्तस्य च कयोपशमविशेषसामर्थ्याद्युक्तमसख्यातगुणत्व न विरुध्यते, न ह्यल्पकायस्याल्प एव स्पन्दो भवति, महाकायस्य वा महानेव, व्यत्ययेनापि तस्य दर्शनादिति । भ० २५ श० १ उ० ।

एतस्यैव योगाल्पबहुत्वस्य व्याख्यायिका गाथा—

सुहुमनिगोयाइखण-ऽपज्जोगवायरविगल असणिएमणा ।

अपज्ज लहुपदमदुगुरु, पज्जहस्सियरो अमंखगुणो ॥१३॥

तत्र सूक्ष्मनिगोदस्य सूक्ष्मसाधारणस्य लब्धपर्याप्तकस्य सर्वजघन्यवीर्यस्येति च सामर्थ्याद् इदमम् । तस्यैव सर्वजघन्ययोगस्य प्राप्यमाणत्वादादिक्रणः प्रथमोत्पत्तिसमय सूक्ष्मनिगोदादिक्रणः, तत्र सप्तम्येकवचनलोपश्च प्राकृतत्वात् । किम् ? इत्याह—(अपज्जोग स्ति) अपज्ज सर्वस्तोको योगो वीर्यं, व्यापार इति यावत् । ततो बादरस्य (विगल णे) विकलस्य । (असण स्ति) असङ्गिन ' अपज्ज स्ति ' प्रत्येक सम्बन्धात्सूक्ष्मनिगोदबादरसङ्गणस्य गुरुत्कृष्टो योगो सख्येयगुणो वाच्यः । ततः प्रथमाद्विकस्य (पज्जहस्सियरो असखगुण स्ति) पर्याप्तस्य हस्त्वो जघन्य इतर उत्कृष्टयोगो यथाक्रममसख्येयगुणो वाच्य इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वम्—सूक्ष्मनिगोदस्य लब्धपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योग सर्वस्तोकाः १ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः २ । ततो द्वीन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः ३ । ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः ४ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः ५ । ततोऽसङ्किपञ्चेन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः ६ । ततः सङ्किपञ्चेन्द्रियस्य लब्धपर्याप्तस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः ७ । ततः सूक्ष्मनिगोदस्य लब्धपर्याप्तस्योत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः ८ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः ९ । ततः सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः १० । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्यात्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः ११ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्यात्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः १२ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्यात्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः १३ ॥

असमत्ततमुक्तिदो, पज्जजइबियर एव ठिइणाणा ।

अपनेपर संखगुणा, परमपजविप असंखगुणा ॥५४॥

असमाप्ता अपर्याप्तास्ते च ते प्रसाक्ष द्वीन्द्रियादयोऽसमाप्त-
साः, अपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, सक्षिपक्षिपञ्चेन्द्रियास्तेषामु-
त्कृष्टोऽसमाप्तसोत्कृष्टोऽसरथेयगुणो वाच्यः । अयमर्थः-पर्याप्तया-
द्वैकेन्द्रियोत्कृष्टयोगाद् द्वीन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो यो-
गोऽसख्येयगुणः १४ । ततस्त्रीन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो
योगोऽसख्येयगुणः १५ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तक-
स्योत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः १६ । ततोऽसक्षिपञ्चेन्द्रियस्य ल-
क्ष्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः १७ । ततः सक्षिप-
ञ्चेन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः १८ ।
(पञ्चजडत्रिंशति) तत्तत्प्रसाक्षाणां पर्याप्ताणां जघन्यो योगोऽसख्ये-
यगुणो वाच्यः १९ । ततोऽपि (इयर त्रिंशति) तत्तत्प्रसाक्षानामुत्कृष्टो
योगोऽसख्येयगुणो वाच्यः २० । इत्येकार्थः । ज्ञानार्थस्त्रयम्-
ततः सक्षिपञ्चेन्द्रियस्य लक्ष्यपर्याप्तकोत्कृष्टयोगात्पर्याप्तद्वीन्द्रिय-
स्य जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः २१ । ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य
जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः २२ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य
जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः २३ । ततोऽसक्षिपञ्चेन्द्रियस्य पर्या-
प्तकस्य जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः २४ । ततः सक्षिपञ्चेन्द्रियस्य
पर्याप्तस्य जघन्यो योगोऽसख्येयगुणः २५ । ततः पर्याप्तद्वीन्द्रि-
यस्योत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः २६ । ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्यो-
त्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः २७ । ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृ-
ष्टो योगोऽसख्येयगुणः २८ । ततः पर्याप्तसप्तयुत्कृष्टयोगादनुष-
रोपपातिनामुत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः २९ । ततोऽप्रेत्येकदेवा-
नामुत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः ३० । ततो भागभूमिजानां तिर्य-
ङ्मनुष्याणामुत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः ३१ । ततोऽप्याहारकशरी-
रिणामुत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः ३२ । ततः शेषदेवनारकतिर्य-
ङ्मनुष्याणां यधोत्तरमुत्कृष्टो योगोऽसख्येयगुणः ३३ ।

अथ सुखावधोधायाल्यवहुत्वपदानां यन्त्रकमुपदर्शयते । तच्छेदम्-

सूक्ष्मनि० अप० ज- घ० योग सर्वस्व० १	बादर० अप० जघ० योग अस० २	द्वीन्द्रि० अप० ज- घ० यो० अस० ३
त्रीन्द्रि० अप० जघ० यो० अस० ४	चतुरि० अप० जघ० यो० अस० ५	असक्षि० अप० ज- घ० यो० अस० ६
सक्षि० अप० जघ० यो० अस० ७	सूक्ष्मनिगो० पर्या० ज० यो० अस० ८	बादरपर्या० जघ० यो० अस० ९
द्वीन्द्रि० पर्या० जघ० यो० अस० १०	त्रीन्द्रिय० अप० जघ० यो० अस० ११	चतुरि० प० जघ० यो० अस० १२
असक्षिपर्या० जघ० यो० अस० १३	सक्षिपर्या० जघ० यो० अस० १४	सूक्ष्मनिगो० अप० उत्कृष्टयो० अस० १५
बादर अप० उत्कृ० यो० अस० १६	द्वीन्द्रि० अप० उ- त्कृ० यो० अस० १७	त्रीन्द्रि० अप० उत्कृ० यो० अस० १८
चतुरिन्द्रि० अप० उ- त्कृ० यो० अस० १९	असक्षिअप० उत्कृ० यो० अस० २०	सक्षि अप० उत्कृष्ट० यो० अस० २१
सूक्ष्मनि० पर्या० उ- त्कृ० यो० अस० २२	बादर पर्या० उत्कृ० यो० अस० २३	द्वीन्द्रि० प० उत्कृ० यो० अस० २४
त्रीन्द्रि० प० उत्कृ० यो० अस० २५	चतुरि० प० उत्कृ० यो० अस० २६	असक्षि पर्या० उत्कृ० यो० अस० २७
सक्षि पर्या० उत्कृ० यो० अस० २८	अनुत्तर० उत्कृ० यो० अस० २९	प्रेत्येकदेव० उत्कृ० यो० अस० ३०
ज्ञानभूमि० तिर्य० उ० यो० अस० ३१	आहारक० उत्कृष्ट० यो० अस० ३२	देवना० ति० मनु० उत्कृ० यो० अस० ३३

गुणकारश्चात्रापि सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमानं ख्येयभागरूप प्रत्येक
प्राप्त । तत्र जघन्ययोगी जघन्यकर्मप्रदेशप्रदण जघन्यस्थिति
च विधाने, योगवृद्धौ च नद्वृक्षिर्गानि स्थितिमिति । (पञ्च
त्रिंशद्विंशदि) एवम्, मकारस्य लोप, प्राकृतनन्वात् । पूर्वोक्त-
योगप्ररूपणान्यायेन सूक्ष्मैकेन्द्रियादिर्जायकमेव स्थितानां
स्थानानि स्थितिस्थानानि, वाच्यानां नि शेष । तत्र जघन्य-
स्थितेरारब्ध एकेकसमयवृद्ध्या सञ्ज्ञोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसाना-
ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्यव्यन्ते । कथं पुनरेतानि वा-
च्यानि ? इति, क्रियकृणानि पुनरेतानि ?, इत्याह-सख्यगु-
णानि । तत्र सख्यात सख्या, नामर्हति सख्यः " दण्कादिभ्यो
य " ६ । ४ । १७८ । इति (हैमसूत्रेण) यप्रत्ययः । ततः
सख्य सख्येयः सख्यात इत्यर्थो गुणो गुणकारो येषां तानि
सख्यगुणानि, सख्यातगुणितानि । किं सर्वपदेषु सख्यात-
गुणान्येव, अदोस्वित्रस्ति कस्मिंश्चित्पदे विशेषः ? इत्याह-
(परमपजविप असखगुण सि) पर केवलम्, अपर्याप्तद्वीन्द्रि-
ये अपर्याप्तद्वीन्द्रियपदे, नानि स्थितिस्थानानि असख्यातगुणानि
२ । ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सख्या-
तगुणानि ३ । ततो शार्दूलैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि
सख्यातगुणानि ४ । एतानि च पल्योपमासख्येयभागसमयतु-
ष्ट्यानि स्थितिस्थानानि भवन्ति । यत एकेन्द्रियाणां जघन्यो-
त्कृष्टस्थितयोरन्तरालमेतावन्मात्रमेवेति, ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य
स्थितिस्थानान्यसंख्यातगुणितानि पल्योपमासख्येयभागमात्रा-
णीनि कृत्वा ५ । ततस्तस्यैव द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थिति-
स्थानानि सख्यातगुणितानि ६ । ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य
स्थितिस्थानानि सख्यातगुणितानि ७ । ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्या-
प्तस्य स्थितिस्थानानि सख्यातगुणितानि ८ । ततश्चतुरिन्द्रिय-
स्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सख्यातगुणितानि ९ । ततः पर्या-
प्तचतुरिन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि सख्यातगुणितानि १० । ततोऽ-
सक्षिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सख्यातगुणितानि
११ । ततोऽसक्षिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि स-
ख्यातगुणानि १२ । ततः सक्षिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थिति-
स्थानानि सख्यातगुणानि १३ । ततः सक्षिपञ्चेन्द्रियस्य पर्या-
प्तस्य स्थितिस्थानानि सख्यातगुणानि भवन्तीति १४ ।

स्थापना-

सू०अप० स्थिति स्तो०	बादरअ- प० स्थि ति सं०	द्वीन्द्रिय अप०स्थि ति असं०	त्रीन्द्रि० अप०स्थि ति सं०	चतु० अप०स्थि ति सं०	असक्षि० अप०स्थि ति सं०	सक्षि०अ- प०स्थि ति सं०
सूक्ष्म० प- र्या०स्थि- ति सं०	बादर प० स्थिति सं०	द्वीन्द्रि० प०स्थि० प०स्थि०	त्रीन्द्रि० प०स्थि० प०स्थि०	चतु० पर्या० स्थि० सं०	अस० प० स्थिति सं०	सक्षि० प०स्थि ति सं०

तदेव निरूपितानि योगप्रसङ्गेन स्थितिस्थानानि । कर्म०५ कर्म०॥

योगस्यैवाप्यवहुत्वं प्रकारान्तरेणाऽऽह-

एयस्म णं भंते ! पञ्चरसविहसस जहणुकोसगसस
कपरं कपरेहिंतो० जाव गिसेसाहिया बा ? । गोयमा !
सन्वत्थोने कम्मगमरीरसस जहणए जोए १, ओराक्षि-
यमीसगसस जहणए जोए असंखेज्जगुणे २, वेजव्विय-
मीसगसस जहणए जोए असंखेज्जगुणे ३, ओराक्षि-
यसरीरसस जहणए जोए असंखेज्जगुणे ४, वेजव्वि-

यसरीरस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ५, कम्मग-
सरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ६, आहारग-
मीसगस्स जहएणए जोगे असंखेज्जगुणे ७, आहा-
रगमीसगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ८, ओरावि-
यमीसगस्स वेउव्वियमीसगस्स । एएसि एं उक्कोसए
जोए ढोएह वि तुद्धे असंखेज्जगुणे ९, असच्चापोस-
मणजोगस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे १०, आ-
हारगस्स सरीरस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ११,
तिविहस्स मणयोगस्स चउव्विहस्स वडजोगस्स एएसि
ए सत्तएह वि तुद्धे जहएणए जोए असंखेज्जगुणे १२,
आहारगसरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १३,
ओरावियसरीरस्स वेउव्वियसरीरस्स चउव्विहस्स य म-
णजोगस्स चउव्विहस्स य वडजोगस्स । एएसि ए दस-
एह वि तुद्धे उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १४ ।

टीका सुगमा । भ० २५ शु० १ उ० ।

मनोयोग्यादीनामल्पबहुत्वम्-

एएसि एं जंते ! जीवाणं सजोगीण मणजोगीणं वयं-
जोगीणं कायजोगीणं अजोगीणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गो-
यमा ! सव्वत्थोवा जीवा मणजोगी, वयजोगी असंखे-
ज्जगुणा, अजोगी अणंतगुणा, कायजोगी अणंतगुणा,
सजोगी विसेसाहिया ।

सर्वस्तोका मनोयोगिनः, संख्यसङ्गिपर्याप्ता एव हि मनोयोगि-
नः, ते च स्तोका इति; तेभ्यो वाग्योगिनोऽसंख्येयगुणा, द्वीन्द्रि-
यादीनां वाग्योगिनां संख्येयगुणाऽसंख्यातगुणत्वात् । तेभ्योऽयोगि-
नोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः काययोगिनोऽनन्ताः,
वनस्पतीनामनन्तत्वात् । यद्यपि निगोदजीवानामनन्तानामेकं
शरीरं तथापि तेनैकेन शरीरेण सर्वेऽप्याहारादिप्रदणं कुर्वन्ती-
ति सर्वेषामपि काययोगित्वान्नानन्तगुणत्वव्याघातः । तेभ्यः
सामान्यतः सयोगिनो विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामपि वाग्यो-
ग्यादीनां तत्र प्रक्षेपात् । गतं योगद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । कर्म०
जी० । प० स० ।

(२६) [योनिद्वारम्] शीतादियोनिकानाम्-

एतेसि एं भंते ! जीवाणं सीतजोणियाणं उसिणजोणियाणं
सीतोसिणजोणियाणं अजोणियाणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सीतोसिणजो-
णिया, उसिणजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंत-
गुणा, सीतजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः शीतोष्णयोनयः शीतोष्णो-
जययोनिका, जवनवासिगर्जजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियगर्जजमनुष्य-
व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामेवोपजययोनिकत्वात् । तेभ्योऽस-
ख्येयगुणा उष्णयोनिका । सर्वेषां सूदनयादरमेदमिन्द्रानां तैज-
स्कान्तिकानां प्रभूततराणां नैरयिकाणां कतिपयानां पृथिव्यव्या-
युप्रत्येकवनस्पतीनां धोष्णयोनिकत्वात् । अयोनिका अनन्तगुणा ।

सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः शीतयोनिका अनन्तगुणाः । अनन्त-
कायिकानां सर्वेषामपि शीतयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽ-
प्यनन्तगुणत्वात् ।

सचित्ताचित्तमिश्रयोनिकानाम्-

एतेसि एं जंते ! जीवाणं सचित्तजोणीणं अचित्तजो-
णीणं मीसजोणीणं अजोणीणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मीसजोणि-
या, अचित्तजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंत-
गुणा, सचित्तजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका जीवा मिश्रयोनिकाः, गर्भव्यु-
त्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेव मिश्रयोनिकत्वात् । ते-
भ्योऽचित्तयोनिका असंख्येयगुणा, नैरयिकदेवानां कतिपयानां च
प्रत्येक पृथिव्यपूनेजोयायुप्रत्येकवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियसमू-
ह्चिन्मतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसमूह्चिन्ममनुष्याणामचित्तयोनिकत्वात् ।
तेभ्योऽप्ययोनिका अनन्तगुणा, सिद्धानामनन्तत्वात् । ते-
भ्यः सचित्तयोनिका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानां सचित्तयो-
निकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।

संवृतविवृतयोनिकानाम्-

एतेसि एं जंते ! जीवाणं संवृतजोणियाणं विवरजोणियाणं
य संवृतवियमजोणियाणं अजोणियाणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा संवृतवियमजोणिया,
विवरजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंतगुणा,
संवृतजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः संवृतविवृतयोनिका, गर्भव्यु-
त्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेव संवृतविवृतयोनिकत्वा-
त् । तेभ्योऽविवृतयोनिकाः संख्येयगुणा, द्वीन्द्रियादीनां चतुरिन्द्रि-
यपर्यवसानानां संसृष्टिर्मतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसमूह्चिन्ममनुष्याणां
च विवृतयोनिकत्वात् । तेभ्योऽयोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानाम-
नन्तत्वात् । तेभ्यः संवृतयोनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतीनां संवृ-
तयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रज्ञा० ५ पद ।

(२७) [लेह्याद्वारम्] सल्लेह्यानामल्पबहुत्वम्-

तत्र सल्लेह्याऽल्लेह्यानामल्पबहुत्वचिन्तायाम्- “सव्वत्थोवा
अल्लेस्सा, सल्लेस्सा अणंतगुणा” जी० १ प्रति० ।

सम्प्रति सल्लेह्यादीनामष्टानामल्पबहुत्वमाह-

एएसि एं भंते ! जीवाणं सल्लेसाणं किएहल्लेसाणं नील-
लेसाणं काउल्लेसाणं तेउल्लेसाणं पम्हल्लेसाणं मुक्कल्लेसाणं
अल्लेसाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा जीवा मुक्कल्लेस्सा, पम्हल्लेस्सा संखिज्जगुणा, तेउ-
ल्लेस्सा मंसिज्ज०, अल्लेस्सा अणंतगुणा, काउल्लेस्सा अणंत-
गुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहल्लेस्सा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः शुक्ललेह्याः, लान्तकादिष्वेवानुसरपर्यवसानेषु
वैमानिकेषु देवेषु कतिपयेषु च गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु कर्मभूमिकेषु
संख्येयवर्षायुष्केषु मनुष्येषु तिर्यक्कस्त्रीपुनपुनकेषु कतिपयेषु स-
ख्येयवर्षायुष्केषु तस्याः सज्जात् । तेभ्यः पल्लेह्याकाः संख्येय-
गुणा, सा हि सनत्कुमारमादेन्द्रब्रह्मलोककल्पयासिषु देवेषु
प्रभूतेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु कर्मभूमिषु संख्येयवर्षायुष्के-

पु मनुष्यस्त्रीपुनपुसकेषु तथा गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यग्योनिकस्त्री-
पुनपुसकेषु असस्येयवर्षायुष्केष्ववाप्यते, मनकुमारादिदेवादय-
श्च समुद्रिता लान्तकादिदेवादिभ्यः सस्येयगुणा, इति ज्वन्ति
शुक्ललेख्याकेन्य पद्मलेख्याका. सस्येयगुणा तेज्यस्तेजोले-
ख्याकाः सस्येयगुणाः, सर्वेषां सौधमैशानज्योतिष्कदेवानां क-
निपयाना च भवनपतिव्यन्तरगर्भव्युत्क्रान्तिकनिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-
मनुष्याणां बादराऽपर्याप्तैकेन्द्रियाणां च तेजोलेख्याभावात् ।
नन्वसस्येयगुणा कस्माच्च भवन्ति, कथं न भवन्ति ?, इति ।
चेत् । उच्यते-इह ज्योतिष्का ज्वनवासिभ्योऽप्यसस्येयगुणाः,
किं पुनः सनत्कुमारादिदेवेभ्यः, ते च ज्योतिष्कास्तेजोलेख्याका-
स्तथा सौधमैशानकल्पदेवाश्च तत् प्राप्नुवन्त्यसस्येयगुणाः । तद्-
युक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । लेख्यापदे हि गर्भव्युत्क्रान्तिकनि-
र्यग्योनिकानां समूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां च कृष्ण-
लेख्याद्यल्पबहुत्वे सूत्रवद्भवति-“सर्व्वत्थोवा गम्भवकृतियतिरि-
क्खजोणिया सुक्कलेस्सा, तिरिक्खजोणियाओ सखेज्जगुणाओ, प-
म्हलेस्सा गम्भवकृतियतिरिक्खजोणिया सखेज्जगुणा, तिरिक्खजो-
णिणीओ संखेज्जगुणाओ, तेज्जलेस्सा गम्भवकृतियतिरिक्खजोणिया
सखेज्जगुणा, तेज्जलेस्साओ तिरिक्खजोणियाओ सखेज्जगुणाओ”
इति महाद्वेषमके च तिर्यग्योनिकस्त्रीभ्यो व्यन्तरज्योतिष्काश्च
सस्येयगुणा वक्ष्यन्ते । ततो यद्यपि भवनवासिभ्योऽप्यसस्येयगुणा
ज्योतिष्काः, तथापि पद्मलेख्याकेभ्यस्तेजोलेख्याकाः सस्येयगुणा
एव । इदमत्र तात्पर्यार्थं-यदि केवलान् देवानेव पद्मलेख्यान-
धिकृत्य देवा एव तेजोलेख्याकाश्चिन्त्यन्ते ततो भवन्त्यसस्येय-
गुणाः, यावता तिर्यक्समिधया पद्मलेख्याकेभ्यस्तिर्यक्समिधया
एव तेजोलेख्याकाश्चिन्त्यन्ते, तिर्यक्श्च पद्मलेख्या अपि अति-
बहवस्ततः संस्येयगुणा इति । तेज्यः अलेख्याका अनन्तगुणाः,
सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः कापोतलेख्या अनन्तगुणा, वनस्प-
तिकायिकानामपि कापोतलेख्यायाः सज्जवात्, वनस्पतिकायि-
कानां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेज्योऽपि नीललेख्या
विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां नीललेख्यासम्भवात् । तेभ्योऽपि
कृष्णलेख्याका विशेषाधिकाः, प्रभूतानां कृष्णलेख्याकत्वात् ।
सामान्यतः सलेख्या विशेषाधिकाः, नीललेख्याकादीनामपि तत्र
प्रक्षेपात् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० ।

तदेव सामान्यतोऽल्पबहुत्वं चिन्तित, सप्रति नैरयिकेषु
तच्चिन्तयन्नाह-

एतेसि एं भंते ! नेरइयाणं कएहलेस्साणं नीललेस्साणं
काउलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा
वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सर्व्वत्थोवा नेरइया
कएहलेस्सा, नीललेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा अ-
संखेज्जगुणा ।

नैरयिकाणां हि तिस्रो लेख्याः । तद्यथा-कृष्णलेख्या, नीललेख्या,
कापोतलेख्या । उक्तञ्च-“काठपदोसु तच्चा-ए मीसिया नीलि-
या चउत्थीए । पचमियाए मिस्सा, कएहा ततो पदमकरदा ”
॥ ? ॥ ततः त्रयाणामेव पदानां परस्परमल्पबहुत्वंचिन्ता, तत्र
सर्व्वस्तोका कृष्णलेख्या नैरयिकाः, कतिपयपञ्चमपृथिवीगतन-
रकावासेषु पृष्ठेषां सप्तम्यां नैरयिकाणां कृष्णलेख्यासम्भवात् ।
ततोऽसस्येयगुणा नीललेख्या, कतिपयेषु तृतीयपृथिवीगतनर-
कावासेषु चतुर्थ्यां सप्तम्यां पृथिव्यां कतिपयेषु पञ्चमपृथि-
व्यगतनरकावासेषु नैरयिकाणां पृथ्यां केभ्योऽसस्येयगुणानां नी-

ललेख्याभावात् । तेज्योऽप्यसस्येयगुणा कापोतलेख्या, प्रथम-
द्वितीयपृथिव्योस्तृतीयपृथिवीगततेषु च कतिपयेषु नरकावासेषु
नारकाणामनन्तरोत्तेज्योऽसस्येयगुणानां कापोतलेख्यासम्भवा-
त् ।

अधुना निर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वाल्पबहुत्वंमाह-

एएसि एं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं कएहलेस्साणं०
जाव सुक्कलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा
तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सर्व्वत्थोवा तिरिक्ख-
जोणिया सुक्कलेस्सा, एव जहा ओहिया, नवरं अलेस्मवज्जा ।

(एव जहा ओहिया इति) एवमुपदर्शितेन प्रकारेण प्राग्वत्
औधिकास्तथा वक्तव्या, नवरमलेख्यावर्जास्तिरश्चामलेख्याना-
मसम्भवात् । ते चैवम-सर्व्वस्तोकास्तिर्यग्योनिका शुक्ललेख्या-
स्ते च अर्धन्यपदे सख्यानां द्रष्टव्याः १, तेज्योऽसस्येयगुणा. प-
द्मलेख्या. २, तेभ्योऽपि सस्येयगुणास्तेजोलेख्या. ३, तेज्यो-
ऽप्यनन्तगुणा कापोतलेख्याः ४, तेभ्योऽपि नीललेख्या वि-
शेषाधिका. ५, तेभ्योऽपि कृष्णलेख्या विशेषाधिका. ६, ते-
भ्योऽपि सलेख्या विशेषाधिका ७ ।

साम्प्रतमेकेन्द्रियेष्वाल्पबहुत्वंमाह-

एतेसि एं भंते ! एगिदियाणं कएहलेस्साणं० जाव तेउ-
लेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! स-
र्व्वत्थोवा एगिदिया तेउलेस्सा, काउलेस्सा अणंतगुणा,
नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया ॥

सर्व्वस्तोका एकेन्द्रियास्तेजोलेख्या, कतिपयेषु बादरपृथिव्य-
पृथ्व्येकवनस्पतिकायिकेष्वाप्यासावस्थायां तस्या सम्भवात् ।
तेज्य कापोतलेख्या अनन्तगुणाः, अनन्तानां सूक्ष्मबादरनिगो-
दजीवानां कापोतलेख्यासम्भवात् । तेज्योऽपि नीललेख्या वि-
शेषाधिका, तेज्योऽपि कृष्णलेख्या विशेषाधिकाः । अत्र भाव-
ना प्रागेवोक्ता ।

सम्प्रति पृथिवीकायिकादिनिषयमल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । तत्र पृ-
थिव्यव्वनस्पतिकायानां चतस्रो लेख्याः, तेजोवायुकायानां तिस्रः
इति तथैव सूत्रमाह-

एतेसि एं भंते ! पुढवीकाइयाणं कएहलेस्साणं० जाव
तेउलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
जहा ओहिया एगिदिया, नवरं काउलेस्सा असंखिज्ज-
गुणा, एवं आउकाइयाणं वि । एतेसि एं भंते ! तेउ-
काइयाणं कएहलेस्साणं नीलकाउलेस्साणं य कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सर्व्वत्थोवा तेउकाइया
काउलेस्सा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसे-
साहिया, एवं वाउकाइयाणं वि । एतेसि एं भंते ! वणस्स-
इकाइयाणं कएहलेस्साणं० जाव तेउलेस्साणं य जहा ए-
गिदियाणं वेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं जहा तेउकाइया-
णं । एतेसि एं भंते ! वंदिदियतिरिक्खजोणियाणं कएह-
लेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा
बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! जहा ओ-
हियाणं तिरिक्खजोणियाणं, नवरं काउलेस्सा असखि-

ज्जगुणा १, संमुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं जहा ते-
उक्काइयाणं २, गन्भवकंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं
जहा ओहियाणं, तिरिक्खजोणियाणं नवरं काउलेस्सा सं-
खिज्जगुणा ३, एवं तिरिक्खजोणियाणं वि ४ ।

'पुढवीकाइयाणमित्यादि' सुगमम् । द्वित्रिचतुरिन्द्रियविषयमपि
पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकसूत्रे कापोतलेइया असस्यातगुणा नत्थ-
नन्तगुणा, पञ्चेन्द्रियतिरिक्खा सर्वसस्ययाऽप्यसस्यातत्वात् ।
समूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिरिक्खा यथा तेजस्कायिकानामुक्तं तथा व-
क्तव्यम् । तेजस्कायिकानामिव तेषामप्याद्यलेइयात्रयमात्रसद्भा-
वात् । गर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकसूत्रम्-तेजोलेइया-
ज्य- कापोतलेइया, सस्येयगुणा वक्तव्याः, तावतामेव तेषां केव-
लवेदसोपलब्धत्वात्, शेषमौघिकसूत्रं वक्तव्यम् । एव तिर्यग्यो-
निकानामपि सूत्रं वक्तव्यम् । तथाचाऽऽह-(एव तिरिक्ख-
जोणियाणि चि) ।

अधुना संमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीविषयं
सूत्रमाह-

एतेसि एं भंते ! संमुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं
गन्भवकंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं य कएहलेस्साणं जाव
सुकलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? गोयमा !
सव्वत्थोवा गन्भवकंतियपंचिदियतिरिक्खजोणिया सुक-
लेस्सा, पम्हलेस्सा मंखिज्जगुणा, तेउलेस्सा संखिज्जगुणा,
काउलेस्सा संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, क-
एहलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्सा संमुच्छिमपंचिदियति-
रिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया,
कएहलेस्सा विसेसाहिया । एतेसि एं भंते ! संमु-
च्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं य
कएहलेस्साणं जाव सुकलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप-
प्पा वा० ४ ? गोयमा ! जहेव पंचमं तद्वा इमं पि उडं जा-
णियव्वं ॥

एतच्च प्राग्वक्ज्ञानीयम् । इदं किं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाधि-
कारे षष्ठं सूत्रम्, अनन्तरं च पञ्चमम् । अत्र उक्तम्-(जहेव
पंचमं तद्वा इमं उडं भाणियव्वं)

अधुना गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्स्त्रीविषयं
सप्तमं सूत्रमाह-

एतेसि एं भंते ! गन्भवकंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं
तिरिक्खजोणियाणं य कएहलेस्साणं जाव सुकलेस्साणं य
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा गन्भ-
वकंतियपंचिदियतिरिक्खजोणिया (सुकलेस्सा, सुकलेस्सा-
ओ तिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा ग-
न्भवकंतियपंचिदियतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, पम्ह-
लेस्साओ तिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, तेउ-
लेस्सा संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ,
काउलेस्सा संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया,

कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ संखिज्जगुणा-
ओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ वि-
सेसाहियाओ ॥

" एएसि एं भंते ! " इत्यादि सुगमम् । नवरं सर्वांस्त्रयि लेइया-
सु स्त्रियः प्रचुरा, सर्वसङ्गधयाऽपि च तिर्यक्पुरुषेज्यास्तिर्यक्-
स्त्रियस्त्रिगुणा, "तिगुणाऽतिरुक्खहिया, तिरियाण इतिथया मुणे-
यव्वा " इति वचनात् । ततः सस्यातगुणा उक्ता, नपुसका-
स्तु गर्भव्युत्क्रान्तिकाः कतिपय इति न ते यथोक्तमदृष्टव्यत्वं
व्याजन्ति ॥

सम्प्रति समूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकगर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चे-
न्द्रियतिर्यग्योनिकतिर्यक्स्त्रीविषयमष्टमं, तथा सामान्यतः पञ्चे-
न्द्रियतिर्यग्योनिकतिर्यक्स्त्रीविषयं नवमं, तथाच सामान्यत-
स्तिर्यग्योनिकतिर्यक्स्त्रीविषयं दशमं सूत्रमाह-

एतोसि एं भंते ! संमुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजोणिया-
णं गन्भवकंतियपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजो-
णियाणं य कएहलेस्साणं जाव सुकलेस्साणं य कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा गन्भवक-
तियतिरिक्खजोणिया सुकलेस्सा, सुकलेस्साओ चि संखि-
ज्जगुणाओ, पम्हलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, तेउलेस्साओ
गन्भ चि संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ चि संखेज्जगुणा, का-
उलेस्साओ चि संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया,
कएहलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ,
नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ विसेसा-
हियाओ, काउलेस्साओ संमुच्छिमपंचिदियतिरिक्खजो-
णिया असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएह-
लेस्सा विसेसाहिया ॥ एएसि एं भंते ! पंचिदियतिरि-
क्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं य कएहलेस्साणं जाव
सुकलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? गोयमा !
सव्वत्थोवा पंचिदियतिरिक्खजोणिया सुकलेस्सा, सुकले-
स्साओ संखिज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, पम्ह-
लेस्साओ संखिज्जगुणाओ, तेउलेस्सा संखेज्जगुणा,
तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, काउलेस्सा संखेज्जगुणा,
नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया,
काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसा-
हियाओ, कएहलेस्साओ विसेसाहियाओ ॥ एतेसि एं
भंते ! तिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणियाणं य कएह-
लेस्साणं जाव सुकलेस्साणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा
वा० ४ ? गोयमा ! जहेव एवमं अप्पाबहुगं, तद्वा इमं पि,
नवरं काउलेस्सा तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । एवं
एते दस अप्पाबहुगा तिरिक्खजोणियाणं १० । एवं मणु-
स्साणं वि अप्पाबहुगा जाणियव्वा; नवरं पच्छिमं अप्पा-
बहुगं एत्थि ॥

भावना प्रागुक्तानुसारेण कर्त्तव्या । तिर्यग्योनिकविषयां सूत्र-
सकलनामाह—“एवमेते इत्थं अप्पाबहुया तिरिक्कजोगिया-
णमिति” सुगमम्; नवरमिहेमे पूर्वाचार्यप्रदर्शिते सप्रदर्शनागोपे-

“ओहियपणदि १ समु-च्छिया य २ गम्भ ३ तिरिक्कइत्थीओ ४।
समुच्छगम्भतिरिया, ५ मुच्छतिरिक्की य ६ गम्भमि ७ ॥ १॥
समुच्छगम्भइत्थी, ८ पण्डितिरिगन्धियाओ ९ इत्थी उ १० ।
इत्थं अप्पाबहुयमेया, तिरियाण हौति णायव्वा ” ॥ २ ॥

यथा तिरिक्कामस्पष्टबहुत्वानुक्तानि तथा मनुष्याणामपि घत्त-
न्यानि, नवर पश्चिम दशममल्पबहुत्व नास्ति, मनुष्याणा-
मनन्तत्वाप्राधातुः, तदभावे “काठलेस्सा अणतगुणा” इति-
पदासंभवात् ।

अधुना देवविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते! देवाणं काण्डलेस्माणं० जाव मुक्कलेस्सा-
ण य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४?। गोयमा! सव्वत्थोवा
देवा मुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा. असंखिज्जगुणा, काउलेस्सा
असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, काण्डलेस्सा
विसेसाहिया, तेउलेस्सा संखिज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका देवाः शुक्लेश्याः, लान्तकादिदेवलोकेष्वेव तेषां स-
द्भावात् । तेज्य पद्मलेश्या असंख्येयगुणाः, भवनपतिव्यन्तरदे-
वेषु सनत्कुमारादिदेवेष्वोऽसंख्येयगुणेषु कापोतलेश्यासद्भावा-
त् । तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां भवन-
पतिव्यन्तराणां तस्याः सम्भवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या वि-
शेषाधिका, प्रभूततराणां तेषां कृष्णलेश्याकत्वात् । तेभ्योऽपि
तेजोलेश्याः सख्येयगुणाः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तराणां स-
मस्तानां ज्योतिष्कसौधमेशानदेवानां तेजोलेश्याकत्वात् ।

अधुना देवीविषयं सूत्रमाह—

एएसि णं भंते! देवीणं काण्डलेस्माणं० जाव तेउलेस्साण
य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुह्या वा विसे-
साहिया वा?। गोयमा! सव्वत्थोवाओ देवीओ काठलेस्सा-
ओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, काण्डलेस्साओ विसे-
साहियाओ, तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ ।

(एएसि णं भंते! देवीणमित्यादि) देव्यश्च सौधमेशानान्ता
एव न परत इति तासां चतस्र एव लेश्यास्तत्तद्विषयमेवा-
ल्यबहुत्वमभिहित्तुना “जाव तेउलेस्साण य” इत्युक्तम् । सर्व-
स्तोका देव्यः कापोतलेश्याः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तरदेवा-
नां कापोतलेश्याभावात् । तेज्यो विशेषाधिका नीललेश्याः, प्र-
भूतानां भवनपतिव्यन्तरदेवानां तस्याः सम्भवात् । तेज्योऽपि
कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूतानां तासां कृष्णलेश्याकत्वात् ।
ताभ्यस्तेजोलेश्याः सख्येयगुणाः, ज्योतिष्कसौधमेशानदेवाना-
मपि समस्तानां तेजोलेश्याकत्वात् ।

सम्प्रति देवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एतेसि णं भंते! देवाणं देवीणं य काण्डलेस्माणं० जाव
मुक्कलेस्माणं य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४?। गोयमा!
सव्वत्थोवा देवा मुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखिज्जगुणा,
काउलेस्सा असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया,
काण्डलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ देवीओ संखिज्ज-
१६६

गुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, काण्डलेस्साओ
विसेसाहियाओ, तेउलेस्सा देवा मविज्जगुणा, तेउलेस्सा-
ओ देवीओ संखिज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका देवाः शुक्लेश्याः, तेज्योऽसंख्येयगुणा पद्मलेश्याः,
तेज्योऽप्यसंख्येयगुणा कापोतलेश्याः, तेभ्यो नीललेश्या विशेष-
पाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिका, एतावन्प्रागेव
भावितम् । तेज्योऽपि कापोतलेश्याका देव्यः सख्येयगुणाः । ताभ्य
भवनपतिव्यन्तरनिकायान्तर्गता वेदिन्य्या, अन्यत्र देवीनां का-
पोतलेश्याया असंभवाम् । देव्यश्च देवेभ्य सामान्यतः प्रतिनि-
काय द्वात्रिंशद्गुणा, नन कृष्णलेश्याभ्यो देवीभ्य कापोतलेश्याया
असंभवात् । देव्यश्च देवेभ्य सामान्यतः प्रतिनिकाय द्वात्रिंश-
द्गुणा, तत कृष्णलेश्याभ्यो देवीभ्य कापोतलेश्यादेव्य सख्ये-
यगुणा अपि घटन्ते, ताभ्यो नीललेश्या विशेषाधिका, ताभ्य
कृष्णलेश्या विशेषाधिका । अत्रापि प्राग्बद् भावना । तेभ्योऽपि
तेजोलेश्या देवाः सख्येयगुणाः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तरा-
णां समस्तानां ज्योतिष्कसौधमेशानदेवानां तेजोलेश्याकत्वात् ।
तेभ्योऽपि तेजोलेश्याका देव्य सख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ।

सम्प्रति भवनवासिदेवविषयं सूत्रमाह—

एतेमि णं भंते! जवनवासीणं देवाणं काण्डलेस्माणं०
जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४?।
गोयमा! सव्वत्थोवा जवणवासी देवा तेउलेस्सा, काउ-
लेस्सा असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, काण्ड-
लेस्सा विसेसाहिया ।

(एएसि णं भंते! इत्यादि) सर्वस्तोकास्तेजोलेश्याः, महर्क-
यो हि तेजोलेश्याका प्रवन्ति, महर्क्यश्चादरे, इति सर्वस्तोकाः ।
तेज्योऽसंख्येयगुणाः कापोतलेश्याः, अतिशयेन प्रभूतानां का-
पोतलेश्यासंभवात् । तेभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, अति-
प्रभूततराणां तस्याः सम्भवात् । तेज्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषा-
धिका, अतिप्रभूततराणां कृष्णलेश्याभावात् । एव जवनपति-
देवीविषयमपि सूत्रं ज्ञावनीयम् ।

तथ—

एतेसि णं भंते! जवणवासिणीणं देवीणं काण्डलेस्सा-
णं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा० ४?।
गोयमा! एवं चेव ।

अधुना भवनपतिदेवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एएसि णं भंते! भवणवासीणं देवाणं देवीणं य काण्ड-
लेस्माणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा०
४?। गोयमा! सव्वत्थोवा भवणवासी देवा तेउलेस्सा, भ-
वणवासिणीओ तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, काउले-
स्सा भवणवासी असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसा-
हिया, काण्डलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ जवण-
वासिणीओ संखिज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहिया-
ओ, काण्डलेस्साओ विसेसाहियाओ, एवं वाणमंतराण वि-
तिषेव अप्पाबहुया जहेव जवणवासीणं तहेव भाणियव्वा ।

(एप्पसि णमित्यादि) सर्वस्तोका भवनवासिनो देवास्तेजो-
लेख्याका । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्यस्तेजोलेख्याका भवनवा-
सिन्यो देव्यः सख्येयगुणाः, देवेभ्यो हि देव्यः सामान्यतः प्र-
तिनिकायं द्वात्रिंशद्गुणास्तत्रोत्पद्यन्ते सख्येयगुणत्वमिति । ते-
भ्यः कापोतलेख्या भवनवासिनो देवा असख्येयगुणाः, तेभ्यो-
पि नीललेख्या विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेख्या विशेषा-
धिकाः । युक्तिरत्र प्रागुक्ताऽनुसरणीया । तेभ्यः कापोतलेख्या भव-
नवासिन्यो देव्यः सख्येयगुणाः, भावना प्रागुक्तभावनानुसारेण
भावनीया । ताभ्यो नीललेख्या विशेषाधिकाः, ताभ्यः कृष्णले-
ख्या विशेषाधिकाः, एव बाणमन्तरविषयमपि सूत्रत्रय भाव-
नीयम् ।

ज्योतिष्कविषयसूत्रम्—

एतेमि एं जंते ! जोइसियाणं देवाणं देवीण य तेउले-
स्माणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थो-
वा जोइसियदेवा तेउलेस्सा, जोइसिणीओ देवीओ तेउले-
स्साओ संखिज्जगुणाओ ।

ज्योतिष्कविषयमेकमेव सूत्रं, तन्निकाये तेजोलेख्याव्यातिरेकेण
लेख्यान्तरासम्भवात्, पृथग् देवदेवीविषयसूत्रद्वयासम्भवात् ।

वैमानिकदेवविषय सूत्रमाह—

एतेसि एं जंते ! वेमाणियाणं देवाणं तेउलेस्माणं पम्ह-
लेस्माणं सुकलेस्माणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा
असंखिज्जगुणा, तेउलेस्सा देवा असंखिज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः शुक्ललेख्याः, लान्तकादिदेवानामेव शुक्ललेख्यास-
म्भवात् । तेषां चोत्कर्षतोऽपि भ्रेण्यसख्येयभागगतप्रदेशराशि-
मानत्वात् । तेभ्यः पद्मलेख्या असख्येयगुणाः, सनत्कुमारमा-
हेन्द्रश्चल्लोककल्पवासिनां सर्वेषामपि देवानां पद्मलेख्यासम्भ-
वात् । तेषां चातिबृहत्तमभ्रेण्यसख्येयभागवर्तिनभ-प्रदेशरा-
शिप्रमाणत्वात् । लान्तकादिदेवपरिमाणहेतुभ्रेण्यसख्येयभागा-
पेक्षया क्षमाया परिमाणहेतुभ्रेण्यसख्येयभागोऽसख्येयगुणः, ते-
भ्योऽपि तेजोलेख्या असख्येयगुणाः, तेजोलेख्या हि सौधमेशा-
नदेवानाम्, ईशानदेवाद्वाहुत्तमात्रेण प्रदेशराशिसम्बन्धिनि
द्वितीयवर्गमूले तृतीयवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्मव-
ति तावत्प्रमाणासु धनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु भ्रेणिषु
यावन्तो नभःप्रदेशाः तावत्प्रमाणाः, ईशानकल्पगतदेवसमु-
दायस्तद्गतकिञ्चिद्दूतद्वात्रिंशत्तमप्रागकल्पाः, तेभ्योऽपि सौध-
र्मकल्पदेवाः सख्येयगुणाः स्वतो जवन्ति, पद्मलेख्येभ्यस्तेजोलेख्या
असख्येयगुणाः, देव्यश्च सौधमेशानकल्पयोरेव, तत्र च केवला ते-
जोलेख्या, तेजोलेख्यान्तरासम्भवात् ; न तद्विषये पृथक्सूत्रमतः ।

सम्प्रति देवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एप्पसि एं जंते ! वेमाणियाणं देवाणं देवीण य तेउले-
स्माणं पम्हलेस्माणं य सुकलेस्माणं य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सु-
कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखेज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखिज्ज-
गुणा, तेउलेस्साओ वेमाणिणीओ देवीओ संखेज्जाओ ।
'एप्पसि ण भंते' इत्यादि सुगमम्, नवर "तेउलेस्साओ वेमाणि-
णीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ" देवेभ्यो देवीनां द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ।

अधुना भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकाविषयं सूत्रमाह—

एप्पसि एं जंते ! भवणवासीणं देवाणं बाणमंतराणं जो-
इसियाणं वेमाणियाणं देवाणं य कएहलेस्माणं जाव सु-
कलेस्माणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! स-
व्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखि-
ज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखिज्जगुणा, तेउलेस्सा जवणवा-
सी देवा असंखिज्जगुणा, काउलेस्सा असंखिज्जगुणा,
नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया,
तेउलेस्सा बाणमंतग देवा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा अ-
संखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा वि-
सेसाहिया, तेउलेस्सा जोइसिया देवा संखेज्जगुणा । एतेसि
एं जंते ! जवणवासिणीणं बाणमंतरीणं जोइसिणीणं
वेमाणिणीणं य कएहलेस्माणं जाव तेउलेस्माणं य कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ! । गोयमा ! सव्वत्थोवाओ दे-
वीओ वेमाणिणीओ तेउलेस्साओ, जवणवासिणी-
ओ तेउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेस्साओ
असंखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएह-
लेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्साओ बाणमंतरीदेवी-
ओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ,
नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कएहलेस्साओ विसेसाहिया-
ओ, तेउलेस्साओ जोइसिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।

(एप्पसि णं भंते ! भवणवासीणमित्यादि) तत्र सर्वस्तोका वैमा-
निका देवा शुक्ललेख्याः, पद्मलेख्या असख्येयगुणाः, तेजोलेख्या
असख्येयगुणाः, इत्यत्र जावनामन्तरमेव कृताः । तेभ्योऽपि भव-
नवासिनो देवास्तेजोलेख्याका असख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?
उच्यते—अहुत्तमात्रेण प्रदेशराशोः सवन्धिनि प्रथमवर्गमू-
लेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्मवति तावत्प्रमाणासु धनीकृ-
तस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु भ्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिस्ता-
वत्प्रमाणो भवनपतिदेवीसमुदायः, तत्तत्किञ्चिद्दूतद्वात्रिंशत्तम-
भागकल्पाः भवनपतयो देवास्तत इमे प्रभूता इति घटन्ते सौ-
धमेशानदेवेभ्यस्तेजोलेख्याका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः कापोत-
लेख्या भवनवासिन एवासंख्येयगुणाः, अल्पार्दिकानामप्यतिप्र-
भूतानां कापोतलेख्यासम्भवात् । तेभ्योऽपि भवनवासिन एव
नीललेख्या विशेषाधिकाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्योऽपि
बाणमन्तरास्तेजोलेख्याका असख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?
उच्यते—इहासख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणानि सूचीरूपाणि क-
रुणानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावान् व्यन्तरदेवदेवीस-
मुदायः, तत्तत्किञ्चिद्दूतद्वात्रिंशत्तमप्रागकल्पा व्यन्तरदेवाः, तत
इमे भवनपतिभ्योऽतिप्रभूततमा इत्युपपद्यन्ते । कृष्णलेख्येभ्यो भ-
वनपतिभ्यो बाणमन्तरास्तेजोलेख्याका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि
बाणमन्तरा एव कापोतलेख्याका असख्येयगुणाः, अल्पार्दिकाना-
मपि कापोतलेख्याजावात् । तेभ्योऽपि बाणमन्तरा नीललेख्या वि-
शेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेख्या विशेषाधिकाः, अत्रापि युक्ति-
प्रागुक्ताऽनुसरणीया । तेजोलेख्या ज्योतिष्का देवाः सख्येयगुणाः,
यत षट्पञ्चाशदधिकान्द्वयप्रमाणानि सूचीरूपाणि याव-

न्ति अण्डानि एकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणो ज्योतिष्कदेवदेवीसमुदाय, तन्नकिञ्चिद्नृणां त्रिंशत्समजागकत्वा ज्योतिष्कदेवा, नतः कृष्णक्षेत्रेभ्यो वाणमन्तरेभ्यः सख्येयगुणा एव घटन्ते ज्योतिष्कदेवाः, न त्वसख्येयगुणा, सूत्रीरूपस्य एव प्रमाणहेतोः सख्येययोजनकार्तीयकोट्यपेक्षया पदपञ्चाशदधिकानुसृतद्वयसख्येयजागमात्रवर्तित्वात् ।

सम्प्रति भवनवास्यादिदेवदेवीविषयं, तदनन्तरं प्रवनवास्यादिदेवदेवीसमुदायविषयं सूत्रमाह—

एतासि एं जंते ! जवणवासीणं० जाव वेमाणियाणं देवाण य देवीण य कएहलेस्साणं० जाव सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४१ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा अमंखेज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ देवीओ वेमाणियाओ सखेज्जगुणाओ, तेउलेस्सा भवणवासीदेवा असं०, तेउलेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, काउलेस्सा जवणवासी असं०, नीललेस्सा विसेमाहिया, कएहलेस्सा विसेमाहिया, काउलेस्साओ भवणवामिणीओ संखेज्ज०, नीललेस्साओ विसेमाहियाओ, कएहलेस्साओ विसेमाहियाओ, तेउलेस्सा वाणमंतरा असं०, तेउलेस्साओ वाणमंतरीओ संखे०, काउलेस्सा वाणमंतरा असं०, नीललेस्सा विसेमाहिया, कएहलेस्सा विसेमाहिया, काउलेस्साओ वाणमंतरीओ संखे०, नीललेस्साओ विसेमाहियाओ, कएहलेस्सा विसेमाहिया, तेउलेस्सा जोइसिया संखे०, तेउलेस्साओ जोइसियाओ संखेज्जगुणाओ ।

एतच्च सूत्रद्वयमपि प्रागुक्तभावनाऽनुसारेण भावनीयम् । प्रज्ञा० १७ पद । (क्षेत्रास्थानानामल्पबहुत्व तु 'लेस्सा' शब्दे वक्ष्यते) (वर्णनाया अल्पबहुत्व बन्धप्रकरणवसरे वक्ष्यते)

(२८) इदानीं वेदद्वारमाह—

एतासि एं जंते ! जीवाणं सवेदगाणं इत्थीवेदगाणं पुरिसवेदगाणं नपुंसगवेदगाणं अवेदगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४१ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेदगा, इत्थीवेदगा संखेज्जगुणा, अवेदगा अणंतगुणा, नपुंसगवेदगा अणंतगुणा, सवेदगा विसेमाहिया ।

सर्वस्तोकाः पुरुषवेदाः, सङ्गिनामेव तिर्यक्रमनुप्याणां देवानां च पुरुषवेदभावात् । तेभ्य स्त्रीवेदा सख्येयगुणाः, यत उक्तं जीवामिगमे—“तिरिक्खजोणियपुरिसेहिंतो तिरिक्खजोणियइत्थीओ तिगुणाओ निरुवाहियाओ य तहा मणुस्सपुरिसेहिंतो मणुस्सइत्थीओ सत्तावीसगुणाओ सत्तावीसरुपुत्तराओ य तहा देवपुरिसेहिंतो देवत्थीओ वत्तीसगुणाओ वत्तीसरुपुत्तराओ य ” इति । वृद्धाचार्यैरप्युक्तम्—

“ तिगुणा तिरुवअहिया, तिरियाण इत्थिया मुण्येव्वा । सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाण तद्दहिया खेव ॥ १ ॥ वत्तीसगुणा वत्ती—सरुवअहिया य तह य देवाण । देवीओ पन्नत्ता, जिणेहि जियरागदोसेहि ” ॥ २ ॥

अवेदका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो नपुंसकवेदा अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । सामान्यतः सवेदका विशेषाधिकाः, स्त्रीवेदकपुरुषवेदकानामपि तत्र प्रक्षेपात् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

सवेदानामल्पबहुत्वचिन्तायाम्—

अप्पावहुग—सव्वत्थोवा अवेदगा, सवेदगा अणंतगुणा । एवं मकसाती चेव अकसाती चेव जहा सवेया य तद्देव जाणियेव्वा । जी०१ प्रति० । भ० ।

अथ वेदविशेषयनां स्त्रीपुनपुसकानां प्रत्येकमल्पबहुत्वम्—तत्र स्त्रीणां पञ्चाल्पबहुत्वानि । तद्यथा—प्रथम सामान्येनाल्पबहुत्वम्, विशेषचिन्तायां द्वितीय त्रिविधतिर्यक्कृष्णानाम्, तृतीय त्रिविधमनुप्यत्राणाम्, चतुर्थ चतुर्विधदेवस्त्रीणाम्, पञ्चम मिश्रस्त्रीणाम् । तत्र प्रथममल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

एतासि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं मणुस्मित्थियाणं देवित्थियाणं कयरा कयराहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुह्वा वा विसेमाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ मणुस्मित्थियाओ, तिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

(एतासि एं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोका मनुप्यस्त्रियः, सख्यातकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसख्येयगुणाः, प्रतिद्वीप प्रतिसमुच्च तिर्यक्कृष्णानामतिबहुतया समवात्, द्वीपसमुच्चानां वाऽसख्येयत्वात् । तस्माभ्योऽपि देवस्त्रियोऽसख्येयगुणाः, भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कसौधमेशानदेवीनां प्रत्येकमसख्येयभेदाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । १ ।

द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एतासि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरीणं थद्वयरीणं खद्वयरीणं य कयरा कयराहिंतो अप्पाओ वा बहुयाओ वा तुह्वाओ वा विसेमाहियाओ वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवाओ खद्वयरतिरिक्खजोणियाओ, थद्वयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोकाः खचरतिर्यग्योनिकास्त्रियः, ताभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकास्त्रियः सख्येयगुणाः, खचराभ्यः स्थलचराणां स्वभावत एव प्राचुर्येण ज्ञावात् । ताभ्यो जलचरस्त्रियः सख्येयगुणाः, लवणे कालोदे स्वयभूरमणे च समुद्रे मत्स्यानामतिप्राचुर्येण ज्ञावात् । स्वयभूरमणसमुच्चस्य च शेषसमस्तद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽतिप्रचुरत्वात् ।

अधुना तृतीयमाह—

एतासि एं भंते ! मणुस्सित्थियाणं कम्मचूमियाणं अकम्मचूमियाणं अंतरदीवियाणं य कयरा कयराहिंतो अप्पा वा०४१ ! गोयमा ! सव्वत्थोवाओ अंतरदीवग अकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ, देवकुरुत्तरकुरुअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुह्वाओ संखेज्जगुणाओ, हरिवासरम्मगवामअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुह्वाओ संखेज्जगुणाओ, हेमवयहिरण्यवयासअकम्मचूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुह्वाओ

संखेज्जगुणाओ, जरहेरवयवासकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुद्धाओ संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्म-
जूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुद्धाओ संखेज्जगुणाओ ।
सर्वस्तोका अन्तरद्दीपकाऽकर्मजूमकमनुप्यस्त्रियः, क्षेत्रस्याल्प-
त्वात् । ताभ्यो देवकुरुत्तरकुरुत्तरस्त्रिय सख्येयगुणा, क्षेत्रस्य संख्ये-
यगुणत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, समानप्रमाण-
क्षेत्रत्वात् । ताभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मजूमकमनुप्यस्त्रियः स-
ख्येयगुणा, देवकुरुत्तरकुरुत्तराग्रेक्षया हरिवर्षरम्यकक्षेत्रस्यातिप्र-
चुरत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य समानत्वा-
त् । ताभ्योऽपि हैमवतहैरण्यवताकर्मजूमकमनुप्यस्त्रियः सख्ये-
यगुणा, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽपि अल्पस्थितिकतया बहूनां तत्र तासां
सम्भवात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि
भरतैरवतकर्मभूमकमनुप्यस्त्रियः सख्येयगुणाः, कर्मजूमित-
या स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण संभवात् । स्वस्थानेऽपि द्वयो-
रपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्म-
जूमकमनुप्यस्त्रिय सख्येयगुणा, क्षेत्रबाहुल्यादजितस्वामि-
काले इव च स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण जावात्, स्वस्थानेऽपि
द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । उक्तं तृतीयमल्पबहुत्वम् ॥

अधुना चतुर्थमाह-

एतासि णं जंते ! देवत्थियाणं जवणवासीणं वाणमंतरीणं
जोड्मियाणं वेमाणिणीणं य कयरा कयराहितो अप्पा वा० ४
! गोयमा ! सव्वत्थोवाओ वेमाणियदेवित्थियाओ, जवणवा-
सीदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवित्थियाओ
असंखेज्जगुणाओ, जोड्सियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।
सर्वस्तोका वैमानिकदेवस्त्रियः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यद्
द्वितीय वर्गमूलं तस्मिन् तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावत्
प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य षोकस्य एकप्रादेशि-
कीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशा द्वात्रिंशत्तमजागहीनास्तावत्
प्रमाणत्वात् । प्रत्येकं सौधमेशानदेवस्त्रीणां ताभ्यो भवनवासि-
देवस्त्रियोऽसख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यद् प्रथम
वर्गमूलं तस्मिन् द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावत्प्रदेशरा-
शिस्तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिर्द्वात्रिंशत्तमजाग-
हीनस्तावत्प्रमाणत्वात् । ताभ्यो व्यन्तरदेवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः,
सख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि आण्डानि यावन्त्ये-
कस्मिन् प्रतरे प्रवन्ति, तेभ्योऽपि द्वात्रिंशत्तमजागेऽपनीते यच्चे-
षमवनिष्ठे तावत्प्रमाणत्वात् तासाम् । ताभ्यः सख्येयगुणा
ज्योतिष्कदेवस्त्रियः, बृहस्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणैकप्रा-
देशिकश्रेणिमात्राणि आण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे प्रवन्ति
ताभ्यो द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपसारिते यावत्प्रदेशराशिर्भवति
तावत्प्रमाणत्वात् । उक्तं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ॥

इदानीं समस्तस्त्रीविषयं पञ्चममल्पबहुत्वमाह-

एतासि णं जंते ! तिरिक्खजोणियाणं जल्लयरीणं थ-
ल्लयरीणं खल्लयरीणं मणुस्सित्थियाणं कम्मभूमियाणं
अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाणं देवित्थियाणं जवणवा-
सिणीणं वाणमंतरीणं जोतिसियाणं वेमाणिणीणं य क-
यरा कयराहितो अप्पा वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थो-

वा अंतरदीवगअकम्मजूमगमणुस्सित्थियाओ, देवकुरु-
त्तरकुरुअकम्मजूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्ज-
गुणाओ, हरिवासरम्मगवासअकम्मजूमगमणुस्सित्थिया-
ओ दो वि संखेज्जगुणाओ, हैमवतहैरववासअकम्मजूमग-
मणुस्सित्थियाओ दो वि असंखेज्जगुणाओ, जरहेरवयवा-
सकम्मजूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्व-
विदेहअवरविदेहवासकम्मजूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि सं-
खेज्जगुणाओ, वेमाणियदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ,
जवणवासिदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, खल्लयरति-
रिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, थल्लयरतिरि-
क्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जल्लयरतिरिक्खजो-
णित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखे-
ज्जगुणाओ, जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका अन्तरद्दीपकाऽकर्मभूमकमनुप्यस्त्रियः, ताभ्यो देवकुरु-
त्तरकुरुवर्षकर्मजूमकमनुप्यस्त्रियः सख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि हरि-
वर्षरम्यकस्त्रियः सख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि हैमवतहैरण्य-
वतस्त्रियः सख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि भरतैरवतकर्मभूमकमनु-
प्यस्त्रियः सख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहमनु-
प्यस्त्रियः सख्येयगुणाः । अत्र भावना प्राग्वत् । ताभ्यो
वैमानिकदेवस्त्रियोऽसख्येयगुणा, असख्येयभ्रेण्याकाशप्रदे-
शराशिप्रमाणत्वात्तासाम् । ताभ्यो जवनवासिदेवस्त्रियोऽस-
ख्यातगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता । ताभ्यः अचरतिर्य-
ग्योनिकस्त्रियोऽसख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवर्त्यसंख्येय-
श्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासाम् । ताभ्यः स्थल-
चरतिर्यग्योनिकस्त्रियः सख्येयगुणा, बृहत्तरप्रतरासंख्येयजागव-
र्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो जल-
चरतिर्यग्योनिकस्त्रियः सख्येयगुणाः, बृहत्तमप्रतरासंख्येयजाग-
वर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो वाण-
मन्तरदेवस्त्रियः संख्येयगुणा, संख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणैक-
प्रादेशिकश्रेणिमात्राणि आण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे प्रवन्ति ते-
भ्यो द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपहृते यावाद् राशिस्तियति तावत्प्रमा-
णत्वात् । ताभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवस्त्रियः सख्येयगुणा । एतन्न प्रा-
गेव भावितम् । उक्तानि स्त्रीणां पञ्चाप्यल्पबहुत्वानि । श्री०२२प्रति०
साम्प्रतं नपुंसकानामुच्यते-

एतेसि णं भंते ! नेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजोणियन-
पुंसकाणं मणुस्सनपुंसकाणं य कतरे कतरेहितो जाव विसे-
साहिया वा ! गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सनपुंसका, ने-
रइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियनपुंसका
अणंतगुणा ।

प्रभसूत्र सुगमम् । जगवानाह-मैतम ! सर्वस्तोका मनुप्यन-
पुंसका, भ्रेण्यसख्येयमागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो-
ऽपि नेरयिकनपुंसका असख्येयगुणा, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशरा-
शौ तद्वगतप्रथमवर्गमूलगुणिते यावाद् प्रदेशराशिर्भवति ता-
वत्प्रमाणासु घनीकृतस्य षोकस्य एकप्रादेशिकासु श्रेणिषु
यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तासाम् । तेभ्यस्तिर्यग्यो-
निकनपुंसका अनन्तगुणाः, निमोदजीवानामनन्तत्वात् ।

अप्पाबहुय (ग)

सम्प्रति नैरयिकनपुसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि ण जंते ! नेरइयनपुसकाणं० जाव अहेसत्तमपुद-
विनेरइयनपुसकाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया
वा ! गोयमा ! सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुदविनेरइयनपुसका, छ-
इपुदविणेरइयणपुसका असंखेज्जगुणा० जाव दोचा, पुदवि-
नेरइयनपुसका असंखेज्जगुणा, डमी सेरयणप्पभाए पुदवीए
नेरइयणपुसका अमंखेज्जगुणा ॥

(एवासि णमित्यादि) सर्वस्तोका-अथ मममपृथिवीनैरयिक-
नपुसका, अल्पतरधेयसख्येयजागवत्यसख्येयश्रेणिगताका-
शप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि षष्ठपृथिवीनैरयिकनपुसका असख्येयगुणाः,
तेभ्योऽपि षष्ठमपृथिवीनैरयिकनपुसका असख्येयगुणाः, ते-
भ्योऽपि चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुसका असख्येयगुणा, तेभ्यो-
ऽपि तृतीयपृथिवीनैरयिकनपुसका असख्येयगुणा, तेभ्योऽपि
द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुसका असख्येयगुणा, मयंपामप्येनेया
पूर्वपूर्वनैरयिकपरिमाणदेतुभ्येयसख्येयजागापेक्षया अमख्ये-
यगुणा, सख्येयगुणभ्येयसख्येयभागार्धिनभ प्रदेशराशिप्रमा-
णत्वात् । द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुसकेभ्योऽस्या रक्षप्रभाया
पृथिव्या नैरयिका असख्येयगुणा, अद्भुतमात्रकेयप्रदेशराशौ
तद्गतप्रथमयगमूलगुणिने यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा-
स्तु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादोशकीषु धेणिषु यावन् छा-
काशप्रदेशस्तावत्प्रमाणत्वात् । प्रतिपृथिवीं च पूर्वोत्तरपश्चि-
मदिग्भाविनो नैरयिका सर्वस्तोका तेभ्यो दक्षिणदिग्भाविनो
ऽसख्येयगुणा, पूर्वपूर्वपृथिवीगतदक्षिणदिग्भागभाविभ्योऽप्यु-
त्तरस्यामुत्तरस्यां पृथिव्यामसख्येयगुणाः पूर्वोत्तरपश्चिमदि-
ग्भाविन इत्यादि ॥

सम्प्रति तिर्यग्योनिकनपुसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेमि णं भंते ! तिरिक्खजोणियनपुंसकाण एगिंदिय-
तिरिक्खजोणियनपुसकाणं पुदविकाइयएगिंदियणपुसका-
णं० जाव वनस्मइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका-
णं वेइदियतिरिक्खजोणियणपुसकाणं तेइंदियचउरिंदिय-
पंचेदियतिरिक्खजोणियणपुसकाण जलयरथतयरखहय-
राण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ! गोयमा !
सव्वत्थोवा खहयगतिरिक्खजोणियणपुसका, यलयरातिरि-
क्खजोणियनपुसका सखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजोणि-
यनपुसका सखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरिक्खजोणियनपुंस-
का विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वेइंदिया विसेसा-
हिया, तेउकाइयएगिंदियतिरिक्खा असंखेज्जगुणा, पुद-
विकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया विसेसाहिया, एवं
आउवाउ०, वणस्मइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंस-
का अणंतगुणा ॥

(एवासि णमित्यादि) सर्वस्तोका-अथ नवरपञ्चेन्द्रियनिर्यगन-
पुसका, प्रतरासख्येयभागवत्यसख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशरा-
शिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः स्थलचरनिर्यग्योनिकनपुसका सख्ये-
यगुणा, इहत्तरप्रतरासख्येयजागवत्यसख्येयश्रेणिगतनभ प्र-
१६७

देशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि जलचरनिर्यग्योनिकनपुसका
सख्येयगुणा, इहत्तरप्रतरासख्येयजागवत्यसख्येयश्रेणिगताका-
शप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि चतुरिंदियनिर्यग्योनिकन-
पुसका विशेषाधिका, असख्येयकोटिकोटिप्रमाणाकाशप्रदेश-
राशिप्रमाणास्तु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादोशकीषु श्रेणिषु
यावन्तो नभ प्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यस्त्रीन्द्रियनिर्यग्यो-
निकनपुसका विशेषाधिका, प्रभूतनरश्रेणिगताकाशप्रदेशराशि-
मानत्वात् । तेभ्योऽपि द्वान्द्वियनिर्यग्योनिकनपुसका विशेषा-
धिका, प्रभूततमश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्य ते-
जस्कार्यैरुन्नेन्द्रियनिर्यग्योनिकनपुसका असख्येयगुणा, इहम-
गादभेदभिन्नाना नेयामसख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् ।
तेभ्य पृथिवीकायिकैर्केन्द्रियनिर्यग्योनिकनपुसका विशेषाधि-
का, प्रचूनासख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्या-
दिकैर्केन्द्रियनिर्यग्योनिकनपुसका विशेषाधिका, प्रभूतनरा-
सख्येयलोकाकाशप्रदेशमानत्वात् । तेभ्योऽपि चायुक्तायिकैर्के-
न्द्रियनिर्यग्योनिकनपुसका विशेषाधिका, प्रभूतनमासख्येय-
लोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि वनस्पतिकायिकै-
र्केन्द्रियनिर्यग्योनिकनपुसका अनन्तगुणा, अनन्तलोकाकाश-
प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ।

अधुना मनुष्यनपुसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेमि ण भंते ! मणुस्मणपुसकाण कम्मजमिकाण अकम्म-
जमिकाणपुंसकाण अंतरदीरकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा
वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा अतरदीरगाऽकम्मजममणु-
स्मणपुसका, देवकुरुजत्तकुरुअकम्मजमगा दो वि सखेज्ज-
गुणा, एवं जाव पुज्जारेइहअरगवेइहकम्मजममणुस्म-
णपुंसगा दो वि सखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका अन्तरदीरजमनुष्यनपुसका, एते च समर्जनजा
द्रष्टव्याः, गर्भज्युक्तास्तिकमनुष्यनपुसकाना तत्रासमयात्,
महतामु कम्मभूमिजास्तत्र भवेयुरपि । तेभ्यो देवकुरुत्तरकुरु-
कर्मभूमकमनुष्यनपुसका सख्येयगुणा, तद्गतगर्भजमनुष्या-
णामन्तरदीरजगर्भजमनुष्येभ्य सख्येयगुणात्वात् । गर्भजमनु-
ष्योद्याराद्याभयेण च समर्जनजमनुष्याणामुत्पादात् । स्वस्थाने
तु ह्येऽपि परस्पर तुल्या । एव तेभ्यो एरिचपरम्यक्पर्वा-
कर्मभूमकमनुष्यनपुसका सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु ह्येऽपि
परस्पर तुल्या । इहमघनंदरयवतचर्पाकर्मजमनुष्यनपुसका
सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु ह्येऽपि परस्पर तुल्या । तेभ्यो
भरतेरचतचर्पाकर्मभूमकमनुष्यनपुसका सख्येयगुणा, स्व-
स्थाने तु ह्येऽपि परस्पर तुल्या । तेभ्यः पूर्वदिदेहापर-
विदेहकर्मजमनुष्यनपुसका सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु
ह्येऽपि परस्पर तुल्या । युक्तिः सर्वत्रापि तथैवानुसर्तव्या ।

सप्रति नैरयिकतिर्यग्योनिकनपुसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि ण जंते ! नेरइयनपुंसकाण रयणपुदविनेरइयनपुं-
सकाण० जाव अहेमत्तमपुदविनेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजो-
णियनपुंसकाण एगिंदियतिरिक्खजोणियाण पुदविकाइय-
एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुसकाण० जाव वणस्मइकाइयए-
गिंदियनपुंसगाण वेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचेदियतिरि-

क्वजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं म-
शुस्मणपुसकाणं कम्मजूमिकाणं अकम्मजूमिकाणं अंतर-
दीवकाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा० ४ । गोयमा !
सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसका, उट्टपुढविनेरइ-
यनपुसका असखेज्जगुणा० पजाव दोच्चा, पुढविनेरइयनपुंसका
असखेज्जगुणा, अंतरदीवगमणुस्सणपुंसका अमखेज्जगु-
णा, देवकुरुत्तरकुरुअकम्मजूमिका दो वि संखेज्जगुणा, पजाव
पुब्बविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका दो वि सं-
खेज्जगुणा, रयणप्पभापुढविनेरइयणपुंसका अमखेज्जगुणा,
खहयरपवेदियतिरिक्खजोणियणपुसका अमखेज्जगुणा,
अन्नयरा संखेज्जगुणा, जन्नयरा संखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरि-
क्खजोणियणपुसका विसेसाहिया, तेइंदियनपुंसगा विसेमाहि-
या, वेइंदियनपुसगा विसेमाहिया, तेउक्काइयण्णिंदियनपुंसगा
असखेज्जगुणा, पुढविक्काइयण्णिंदियनपुसगा विसेसाहिया,
आउक्काइयनपुसगा विसेसाहिया, वउक्काइया विसेसाहिया, व-
णस्सइक्काइयण्णिंदियतिरिक्खजोणियणपुसका अणतगुणा ।

सर्वस्तोका अथ सप्तमपृथिवीनैरयिकनपुसका, तेज्य' षष्ठपञ्च-
मचतुर्थतृतीयद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुसका यथोत्तरमसखे-
यगुणा, द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुसकेभ्योऽन्तरद्वीपजमनुष्यन-
पुसका असखेयगुणा, एतदसखेयगुणत्व समूर्जनमनुष्या-
पेक्ष, तेषां नपुसकत्वाद्, एतावतां च तत्र समूर्जनसमवात् । ते-
भ्यो देवकुरुत्तरकुरुअकम्मजूमकमनुष्यनपुसका दैमवतहैरण्यव-
ताकर्मभूमकमनुष्यनपुसका भरतैरवतकर्मजूमकमनुष्यनपु-
सका, पूर्वविदेहापरविदेहकर्मजूमकमनुष्यनपुंसका यथोत्तर
संखेयगुणा, स्वस्थानचिन्तायां तु द्वये परस्पर तुल्या, पू-
र्वविदेहापरविदेहकर्मजूमकमनुष्यनपुसकेभ्योऽस्या प्रत्यक्त उ-
पलभ्यमानाया रत्नप्रभायां पृथिव्या नैरयिकनपुसका असखे-
यगुणा, तेभ्यः सचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसका, असखे-
यगुणा, तेभ्यः स्थलचरपञ्चाद्रियतिर्यग्योनिकनपुसका जल-
चरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसका यथोत्तर संखेयगुणा, ज-
लचरपञ्चेन्द्रियनपुसकेभ्यश्चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपु-
सका यथोत्तर विशेषाधिका, द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसके-
भ्यस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंखेयगुणा,
तेज्यः पृथिव्यम्बुवायुतिर्यग्योनिकनपुसका यथोत्तर विशेषा-
धिका, वाय्वेकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसकेभ्यो वनस्पतिकायि-
कैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसका अनन्तगुणा । युक्तिः सर्वत्रा-
ऽपि प्रागुक्तानुसारेण स्वयं भावनीया । इत्युक्तानि पञ्च नपुस-
कानामपि अल्पबहुत्वा नि । जी० २ प्रति० ।

सास्पत पुरुषाणामुच्यन्ते-तानि च पञ्च । तद्यथा प्रथमं सामा-
न्याल्पबहुत्वम् १, द्वितीयं त्रिविधतिर्यग्यपुरुषविषयम् २, तृतीयं
विविधमनुष्यपुरुषविषयम् ३, चतुर्थं चतुर्विधदेवपुरुषविषयम्
४, पञ्चमं मिश्रपुरुषविषयम् ५ ।

तत्र प्रथमं तावदभिधिसुराह—

(एतेसि ण जते ! देवपुरिमाणं जवणवासीणं काणमंत-
राणं जोइसियाणं वेमाणियाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा

वा बहुया वा तुह्णा वा त्रिसेसाहिया वा । गोयमा ! सव्व-
त्थोवा नेमाणियदेवपुरिमा, जवणवइदेवपुरिमा असंखे-
ज्जगुणा, काणमंतरदेवपुरिमा असंखेज्जगुणा, जोइसिय-
देवपुरिमा संखेज्जगुणा ।)

(एषानि ण भते । इत्यादि) सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, संखेयको-
टीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः तिर्यग्योनिकपुरुषा असखेयगु-
णाः । प्रतरासखेयभागवत्संखेयभेणिगताकाशप्रदेशराशि-
प्रमाणत्वात्तेषाम् । तेभ्यो देवपुरुषा संखेयगुणाः, बृहत्तरप्रतरा-
संखेयभागवत्संखेयभेणिगताकाशप्रदेशराशितुल्यत्वात् ।
तिर्यग्योनिकपुरुषाणां यथा तिर्यग्योनिकस्त्रीणां मनुष्यपुरुषाणां
यथा मनुष्यस्त्रीणामल्पबहुत्व वक्तव्यम् । सप्रति देवपुरुषाणाम-
ल्पबहुत्वमाह—सर्वस्तोका अनुत्तररोपपातिकदेवपुरुषाः, क्षेत्रप-
त्योपमासंखेयभागवत्संखेयभेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः
उपरितनप्रैवेयकदेवपुरुषाः संखेयगुणाः, बृहत्तरक्षेत्रपत्योपमा-
संखेयभागवत्तिनभ'प्रदेशराशिमानत्वात् । कथमेतदवसेय-
मिति चेत्, उच्यते—विमानबाहुल्यात् । तथाहि—अनुत्तरदेवानां
पञ्च विमानानि, विमानशतं त्परितनप्रैवेयकप्रस्तटे, प्रतिविमानं
चासखेया देवाः, यथाऽत्राऽधोऽधोवर्तीनि विमानानि तथा
तथा देवा अपि प्राचुर्येण लभ्यन्ते, ततोऽवर्सायते—अनुत्तरवि-
मानवासिदेवपुरुषापेक्षया बृहत्तरक्षेत्रपत्योपमासंखेयभागव-
त्तिनभ'प्रदेशराशिप्रमाणा उपरितनप्रैवेयकप्रस्तटे देवपुरुषाः,
एवमुत्तरत्रापि भावना विधेया । तेभ्यो मध्यमप्रैवेयकप्रस्तटे
देवपुरुषाः संखेयगुणाः, तेभ्योऽप्यधस्तनप्रैवेयकप्रस्तटे देवपु-
रुषाः संखेयगुणाः, तेभ्योऽप्युत्तकल्पदेवपुरुषाः संखेयगुणाः,
यद्यप्यारणाच्युतकल्पौ समभ्रेणिकौ समविमानसंख्याकौ च,
तथापि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यान् प्राचुर्येण दक्षिणस्यां
दिशि समुत्पद्यन्ते । अथ केते कृष्णपाक्षिकाः, उच्यते—इह द्व-
ये जीवाः, तद्यथा—कृष्णपाक्षिकाः, शुक्लपाक्षिकाश्च । तत्र येषां
किञ्चिन्नोपार्कपुञ्जलपरावर्तः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः, इतरं
दीर्घसंसारभाजिनः कृष्णपाक्षिकाः । उक्तं च—“जेसिमवहो
पोगात्त-परियटो सेसओ य संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु,
अहिण पुण कएदपक्खीओ” ॥१॥ अत एव स्तोकाः शुक्लपा-
क्षिका, अल्पसंसाराणां स्तोकानामेव भावात् । बहवः कृ-
ष्णपाक्षिका, दीर्घसंसाराणामनन्तानां भावात् । अथ कथमेत-
दवसातव्यं कृष्णपाक्षिकाः प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्प-
द्यन्ते, उच्यते—तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभाव्यमेव पू-
र्वाचर्यैर्युक्तिनिरूपबृंहितम्, कृष्णपाक्षिकाः खलु दीर्घसंसारभा-
जिन उच्यन्ते, दीर्घसंसारभाजिनश्च बहुपापोदयाव, बहुपा-
पोदयाश्च क्रूरकर्माणः, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्यात् ।
तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, यत उक्तम्—
“पायमिह क्रूरकर्मा, भवासिद्धिया वि दादिणिह्वेसु । नेरइय-
तिरियमणुया, सुरा य गणेषु गच्छति” ॥१॥ ततो दक्षिण-
स्यां दिशि प्राचुर्येण कृष्णपाक्षिकाणां समवादुपपद्यतेऽच्यु-
तकल्पदेवपुरुषापेक्षया आरणकल्पदेवपुरुषा संखेयगुणाः, ते-
भ्योऽपि प्राणनकल्पदेवपुरुषाः संखेयगुणाः, तेभ्योऽप्यनत-
कल्पदेवपुरुषाः संखेयगुणाः, अत्रापि प्राणतकल्पापेक्षया स-
खेयगुणत्व, कृष्णपाक्षिकाणां दक्षिणस्यां दिशि प्राचुर्येण भा-
वात् । एते च सर्वेऽप्यनुत्तरविमानत्वाद्यादय आनतकल्पवा-
सिपरीन्तदेवपुरुषाः प्रत्येक क्षेत्रपत्योपमासंखेयभागवत्तिनभः

प्रदेशराशिप्रमाणा छष्ट्या । “आणयपाणयमाई पल्लस्साऽस-
 ञ्जभागा उ” इति वचनात् । केवलमसख्येयो भागो विचित्र-
 इति परस्पर यथोक्त सख्येयगुणत्व न विरुध्यते । आनतकल्प-
 देवपुरुषेभ्य सहस्रारकल्पवासिदेवपुरुषा असख्येयगुणा ,
 घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसख्येयतमे भागे
 यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम्, तेभ्योऽपि महाशु-
 क्रकल्पवासिदेवपुरुषा असख्येयगुणा , बृहत्तरश्रेण्यसख्येयभा-
 गाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । कथमेतत् प्रत्येयमिति चेत् ? ,
 चक्ष्यते-विमानबाहुल्यात् । तथाहि-षट्सहस्राणि विमानानां
 सहस्रारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्रे, अन्यद्वाधोवि-
 मानवासिनो देवा बहुबहुतरा , स्तोक्तस्तोक्ततरा उपरितनवि-
 मानवासिन , तत् उपपद्यते सहस्रारकल्पदेवपुरुषेभ्यो महाशु-
 क्रकल्पवासिदेवपुरुषा असख्येयगुणा , तेभ्योऽपि लान्तककल्प-
 देवपुरुषा असख्येयगुणा , बृहत्तमश्रेण्यसख्येयभागवर्तिनभ-
 प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि ब्रह्मलोककल्पवासिनो
 देवपुरुषा असख्येयगुणा , ज्योबृहत्तमश्रेण्यसख्येयजागवर्त्या-
 काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषा
 असख्येयगुणा , ज्योबृहत्तमश्रेण्यसख्येयभागगताकाशप्रदे-
 शमानत्वात् । तेभ्य सनत्कुमारकल्पदेवा असख्येयगुणा , विमा-
 नबाहुल्यात् । तथाहि-द्वादशशतसहस्राणि सनत्कुमारकल्पे वि-
 मानानाम्, अष्टौ शतसहस्राणि माहेन्द्रकल्पे, अन्यच्च दक्षिणदि-
 ग्भागवर्ती सनत्कुमारकल्पो, माहेन्द्रकल्पश्चोत्तरदिग्वर्ती, दक्षिण-
 स्यां च दिशि बहवः समुत्पद्यन्ते कृष्णपाक्षिका , तत् उपपद्यन्ते
 माहेन्द्रकल्पात्सनत्कुमारकल्पदेवा असख्येयगुणा । एते च सर्वेऽपि
 सहस्रारकल्पवासिदेवाद्य सनत्कुमारकल्पवासिदेवपर्यन्ता
 प्रत्येक स्वस्थाने चिन्त्यमाना घनीकृतलोकैकश्रेण्यसख्येयजाग
 गताकाशप्रदेशराशिप्रमाणा छष्ट्या । केवलमसख्येयभा-
 गोऽसख्येयभेदस्तत् इत्यमसख्येयगुणनया अल्पबहुत्वमभिधी-
 यमान न विरोधभाक् । सनत्कुमारकल्पदेवपुरुषेभ्य ईशानकल्प-
 देवपुरुषा असख्येयगुणा , अद्भुतमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सवन्धि-
 नि द्वितीयवर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशि-
 स्तावत्सख्याकासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीसु श्रेणी-
 शु यावन्तो नञ् प्रदेशास्तेषा यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्र-
 माणत्वात् । तेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुषा सख्येयगुणा ,
 विमानबाहुल्यात् । तथाहि-अष्टाविंशतिः शतसहस्राणि विमाना-
 नामीशानकल्पे, द्वात्रिंशच्च शतसहस्राणि सौधर्मकल्पे, अपि च
 दक्षिणदिग्वर्ती सौधर्मकल्प, ईशानकल्पश्चोत्तरदिग्वर्ती, दक्षिण-
 स्यां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिका उत्पद्यन्ते । नत ईशानकल्प-
 वासिदेवपुरुषेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुषा सख्येयगुणा ।
 नन्विय युक्ति सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोरप्युक्ता, पर तत्र माहे-
 न्द्रकल्पापेक्षया सनत्कुमारकल्पदेवा असख्येयगुणा उक्ता , इह
 तु सौधर्मकल्पे सख्येयगुणा, तदेतत्कथम् ? , उच्यते-तथावस्तु-
 स्वाभाव्यात् । एतच्चावसीयते प्रज्ञापनादौ, सर्वत्र तथा भणनान् ।
 तेभ्योऽपि भवनवासिदेवपुरुषा असख्येयगुणा , अद्भुतमात्रक्षेत्र-
 प्रदेशराशेः सवन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गु-
 णिते यावान् प्रदेशराशिरुपजायते तावत्सख्याकासु घनीकृतस्य
 लोकस्य एकप्रादेशिकीसु श्रेणिषु यावन्तो नभ प्रदेशास्तेषा या-
 वान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो व्यन्तरदेवपु-
 रुषा सख्येयगुणा, सख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणैकप्रादेशि-
 कश्रेणिमात्राणि स्रष्टमानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तेषां

यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेन्य सख्येय-
 गुणा ज्योतिष्का देवपुरुषा , षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाकुलप्रमाणै-
 कप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि स्रष्टमानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भव-
 न्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात्/जी० २
 प्रति० । इति चन्वार्थल्पबहुत्वान्युक्तानि । (इति अप्र टीका-
 कारस्यान्यादृश पाठः सम्मत इदानीं ननप्रतिपु तु अन्यादृश
 इति शब्दतो जेद आभाति, अर्थनस्तु न जेद)

सम्प्रति पञ्चममल्पबहुत्वमाह—

एतेसि एं भते ! तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जलयगणं
 थलयगणं खह्यराणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मजूमगाणं अ-
 कम्मजूमगाणं अंतरदीवगाणं देवपुरिसाणं जवणवामीणं
 वाणमंतराणं जोतिमियाणं वेमाणियाणं सोधम्माणं जाव
 सव्वड्डसिद्धगाणं य कयरे कयरेहिं तो० जाव विमेषाहिया ?
 गोयमा ! मव्वत्थोवा अतरदीवगमणुस्सपुरिसा, देवकुरुउत्त-
 रकुरुअकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, इ-
 रिवासरम्मवासअकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्ज-
 गुणा, हेमवतहेरएवतवासअकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो
 वि संखेज्जगुणा, जरहेरवयवासअकम्मजूमगमणुस्सपुरि-
 सा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मजु-
 मगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, अणुत्तरोववा-
 तिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेवेज्जगदेवपुरिसा सं-
 खेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जदेवपुरिसा सखेज्जगुणा, हि-
 ढिमगेवेज्जदेवपुरिसा सखेज्जगुणा, अचुत्ते कप्पे देवपु-
 रिसा संखेज्जगुणा, आरणकप्पे देवपुरिसा सखेज्ज-
 गुणा, पाणयकप्पे देवपुरिसा सखेज्जगुणा, आणतकप्पे
 देवपुरिसा सखेज्जगुणा, सहस्सारकप्पे देवपुरिसा अ-
 सखेज्जगुणा, महासुक्ककप्पे देवपुरिसा असखेज्जगुणा०
 जाव माहिंदे कप्पे देवपुरिसा असखेज्जगुणा, सणकुमार-
 कप्पे देवपुरिसा असखेज्जगुणा, ईसाणकप्पे देवपुरिसा अमं-
 खेज्जगुणा, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा .
 भवणवासिदेवपुरिसा असखेज्जगुणा, खह्यरतिरिक्खजो-
 णियपुरिसा असखेज्जगुणा, थलयरतिरिक्खजोणियपु-
 रिसा सखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा सखे-
 ज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोतिमिक्ख-
 देवपुरिसा संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपजमनुष्यपुरुषा , क्षेत्रस्य स्तोक्तत्वात् ।
 तेन्यो देवकुरुत्तरकुरुमनुष्यपुरुषा सख्येयगुणा , क्षेत्रस्य बाहु-
 ल्यात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्पर तुल्याः, तेभ्योऽपि हरि-
 वर्धरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाः सख्येयगुणा , क्षेत्रस्या-
 तिबहुत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य
 समानत्वात् । तेभ्योऽपि हैमवतहेरएवतवासकर्मभूमकमनु-
 ष्यपुरुषाः सख्येयगुणा , क्षेत्रस्याल्पत्वेऽप्यल्पस्थितिकतया प्रा-
 चुर्येण लभ्यमानत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्पर तुल्याः ।

तेभ्योऽपि नरतैवतवर्षकर्मचूमकमनुष्यपुरुषाः सख्येयगुणाः, अजितस्वामिकात्वे उत्कृष्टपदे स्वभावत एव नरतैरवतेषु च मनुष्यपुरुषाणामतिप्राचुर्येण सभवात् । स्वस्थाने च द्वयेऽपि परस्पर तुल्याः, क्षेत्रस्य तुल्यत्वात् । तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापर-विदेहादकर्मचूमकमनुष्यपुरुषाः सख्येयगुणाः, क्षेत्रवाहुल्यात् । अजितस्वामिकात्वे ह्य स्वभावत एव मनुष्यपुरुषाणां प्राचुर्येण सज्जवात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्पर तुल्याः, तेभ्योऽप्यनुत्तरोपपातिदेवपुरुषा असख्येयगुणाः, क्षेत्रपदयोपमासख्येयजागवत्याकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तदनन्तरमुपरितननप्रैवेयकप्रस्तद-देवपुरुषा अच्युतकल्पदेवपुरुषा आरणकल्पदेवपुरुषा प्राणत-कल्पदेवपुरुषा आनतकल्पदेवपुरुषा यथोत्तर सख्येयगुणाः । ज्ञावना प्रागिव । तदनन्तर सदस्त्रारकल्पदेवपुरुषा हान्तककल्प-देवपुरुषा ब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषा माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषा सनकु-मारकल्पदेवपुरुषा ईशानकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरमसख्येयगु-णाः, हौधर्मकल्पदेवपुरुषा सख्येयगुणाः, सौधर्मकल्पदेवपु-रुषेभ्यो भवनवासिदेवपुरुषा असख्येयगुणाः । भावना सर्व-त्रापि प्रागिव । तेभ्यः स्वचरतिर्यग्योनिकपुरुषा असख्येयगुणाः, प्रतरासख्येयजागवत्यसख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाण-त्वात् । तेभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषा सख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः सख्येयगुणाः । युक्तिरत्रापि प्रा-गिव । तेभ्योऽपि वाणमन्तरदेवपुरुषा सख्येयगुणाः, सख्येय-योजनकोटीकोटिप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिकमात्राणि खान्जानि बाधन्त्येकस्मिन् प्रतरे नवन्ति तेषां यावान् द्वाविंशत्तमो भाग-स्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो ज्योतिष्कदेवपुरुषा सख्येयगुणा । युक्तिः प्रागेवोक्ता । जी० २ प्रति० । इति प्रतिपादितानि स्त्री-पुनपुसकानां प्रत्येकमल्पबहुत्वात् ।

इदानीं समुद्रितानामुच्यन्तेतानि चाष्ट । नत्र-प्रथम सामान्येन तिर्यक्स्त्रीपुरुषनपुसकप्रतिषेधम्, एवमेतदेव मनुष्यप्रतिषेध द्वि-तीयम्, देवस्त्रीपुरुषनारकनपुसकप्रतिषेध तृतीयम्, सकलस-न्मिथ चतुर्थम्, जलचर्यादिविभागनः पञ्चमम्, कर्मजूमिजादि-मनुष्यादिविभागतः षष्ठ्यवनवास्यादिव्यादिविभागतः सप्तमः, जलचर्यादिविजातीयव्यक्तिव्यापकमष्टमम् ॥

तत्र प्रथममभिधित्सुगह—

एतेसि ए भते ! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणि-यपुरिसाण तिरिक्खजोणियणपुंसकाण य कयरे कयरेहिं-तो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्ख-जोणियपुरिमा, तिरिक्खजोणियत्थीओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकास्तिर्यक्पुरुषा, तेभ्यस्तिर्यक्स्त्रिय सख्येयगुणा, त्रिगुणत्वात् । तान्यस्तिर्यहनपुसका अनन्तगुणा, निगोदजी-धानामनन्तत्वात् ।

सप्रति द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि एं जंते ! मणुस्मित्थीणं मणुस्सपुरिमाणं मणु-स्सणपुसकाणं कयरे कयरेहितो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज्जगुणा-ओ, मणुस्सणपुमका असंखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोकाः मनुष्यपुरुषा, कोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो मनुष्यास्त्रिय सख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात् । तेभ्यो

मनुष्यनपुसकाश्च सख्येयगुणाः, श्रेण्यसख्येयजागतप्रदेशरा-शिप्रमाणत्वात् ।

सप्रति तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं जंते ! देवित्थीणं देवपुरिसाणं नेरइयनपुंसकाण य कयरे कयरेहितो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा नेरइयनपुंसगा, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थीओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका नैरयिकनपुसका, अहुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ स्वप्र-थमवर्गमूलेन गुणिता यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभ प्र-देशस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवपुरुषा असख्येयगुणा, अ-सख्येययोजनकोटीकोटिप्रमासायां शुची यावन्तो नभःप्रदेशा-स्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवस्त्रिय-सख्येयगुणाः, द्वाविंशद्गुणत्वात् ।

सप्रति सकलसमिथ चतुर्थमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि ए भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणियपु-रिसाण तिरिक्खजोणियनपुंसगाणं मणुस्सित्थीण मणु-स्सपुरि एणं मणुस्सनपुंसगाणं देवित्थीणं देवपुरिसाणं ने-रइयनपुसकाण य कयरे कयरेहितो० ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज्ज-गुणाओ, मणुस्सनपुंसका असंखेज्जगुणा, नेरइयणपुं-सका असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियपुरिसा असं-खेज्जगुणा, तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणियनपुमका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, तेभ्यो मनुष्यास्त्रिय सख्येयगुणा । तेभ्यो मनुष्यनपुसका असख्येयगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागुक्ता । ते-भ्यो नैरयिकनपुसका असंख्येयगुणाः, असख्येयश्रेण्याकाशप्रदे-शराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकपुरुषा असख्येयगुणा, तेभ्यस्तिर्यग्योनिकस्त्रिय सख्यातगुणा, त्रिगुणत्वात् । तान्यो देवपुरुषा सख्येयगुणाः, प्रभूततरप्रतरासख्येयभागवत्यसख्ये-यश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवस्त्रिय सख्ये-यगुणाः, द्वाविंशद्गुणत्वात् । तान्यस्तिर्यग्योनिकनपुसका अनन्त-गुणा, निगोदजीवानामनन्तत्वात् ।

सप्रति जलचर्यादिविभागतः पञ्चममल्पबहुत्वमाह—

एतासि एं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं जल्यरीणं यल्यरीणं खह्यरीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जल्यराणं यल्यराणं खह्यराणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजो-णियणपुंसकाणं पुढविकाइयणं गिंदियतिरिक्खजोणियनपुस-गाणं जाव वणस्सइकाइयणं गिंदियतिरिक्खजोणियनपुसगा-णं वेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं, तेइंदियचतुर्गिंदियपं-चेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जल्यराणं यल्यराणं ख-ह्यराणं कयरे कयरेहितो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा खह्यरीतिरिक्खजोणियपुरिसा, खह्यरातिरि-

कवजोणित्थियाओ सखेज्जगुणाओ, थद्वयरतिरिक्खजोणि-
यपुरिसा सखेज्जगुणा, थद्वयरतिरिक्खजोणित्थियाओ स-
खेज्जगुणाओ, जद्वयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा,
जद्वयरतिरिक्खजोणित्थियाओ सखेज्जगुणाओ, खद्वयर-
पंचेदियतिरिक्खजोणियणपुंसका संखेज्जगुणा, थद्वयरपंचे-
दियतिरिक्खजोणियणपुंसका संखेज्जगुणा, जलयरतिरि-
क्खजोणियणपुंसकपंचेदिपा सखेज्जगुणा, चउरिंदियान-
रिक्खजोणियणपुंसका विसेसाहिया, तेइंदियणपुंसका विसे-
साहिया, बेइंदियणपुंसका विसेसाहिया, तेउकाइयएगिदि-
यतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्जगुणा, पुढाविनपुंसका
विसेसाहिया, आउप विसेसाहिया, वाउ० विसेसाहिया,
वणप्फातिएगिंदियणपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकपुरुषा । तेज्यः खच-
रतिर्यग्योनिकस्त्रियः सख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः स्थ-
लचरतिर्यग्योनिकपुरुषा सख्येयगुणाः । तेज्यः स्थलचरनि-
र्यग्योनिकस्त्रियः सख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः जलच-
रतिर्यग्योनिकपुरुषा सख्येयगुणाः । तेज्यः जलचरतिर्यग्यो-
निकस्त्रियः सख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः खचरपञ्चे-
न्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसका सख्येयगुणाः । तेज्यः स्थ-
लचरतिर्यग्योनिकनपुसका यथाक्रम सख्येयगुणाः । ततश्च-
तुरिन्द्रियत्रैन्द्रियद्वैन्द्रिया यथोत्तर विशेषाधिकाः । ततस्तेज-
स्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसका असंख्येयगुणा । तत
पृथिव्यम्बुवायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसका यथोत्तर
विशेषाधिकाः । ततो घनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकन-
पुसका अनन्तगुणा ।

सप्रति कर्मभूमिजादिमनुष्यख्यादिविभागतः पष्ठम-
ल्लपबहुत्वमाह-

एयासि णं भंते ! मणुस्सित्थीणं कम्मजूमियाणं अकम्म-
जूमियाणं अंतरदीवियाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मजूमिकाणं
अकम्मजूमिकाणं अंतरदीविकाणं मणुस्सणपुसकाणं कम्म-
जूमगाणं अकम्मजूमगाणं अंतरदीविकाणं य कयरे कयरेहिं-
तो अप्पा वा० भुं० । गोयमा ! अतरदीवकअकम्मजूमकमणुस्सि-
त्थियाओ मणुस्सपुरिसा य एतेसि णं दोषि वि तुद्धा सव्व-
त्थोवा, देवकुरुजत्तरकुरुअकम्मजूमकमणुस्सित्थियाओ मणु-
स्सपुरिसाओ एतेणं दोषि वि तुद्धा संखेज्जगुणा; हरि-
वासरम्मकवासअकम्मभूमकमणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरि-
सा य एते णं दोषि वि तुद्धा संखेज्जगुणा, हेमवते हेराण
वते अकम्मभूमकमणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य दो वि
तुद्धा संखेज्जगुणा, जरहेरवतकम्मजूमगमणुस्सपुरिसा दो वि
संखेज्जगुणा, जरहेरवयकम्मजूमगमणुस्सित्थियाओ दो-
वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सपु-
रिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मजु-
मगमणुस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, अंतरदीवगअक-
म्मजूमगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा, देवकुरुजत्तरकुरुअ-

कम्मजूमगमणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, एव तदेवप
जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मजूमकमणुस्सणपुंसका दो
वि संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकमनुष्यस्त्रियोऽन्तरद्वीपकमनुष्यपु-
षाश्च । एते च द्वयेऽपि परस्पर तुल्या । तत्रत्यस्त्रीपुमानां युग-
लधर्मेऽपेतेत्वान् । तेज्यो देवकुरुत्तरकुरुवर्चकम्मभूमकमनुष्यस्त्रियो
मनुष्यपुरुषा सख्येयगुणा । युक्तिश्च प्रागेवोक्ता । स्वस्था-
ने तु परस्पर तुल्या । पच हरिवर्षगम्यकमनुष्यपुरुषास्त्रियो
हेमवतहेरएयवतमनुष्यपुरुषास्त्रियो यथोत्तर सख्येयगुणा,
स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या । ततो जरतगम्यकम्मभूमकम-
नुष्या द्वय सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या ।
तेभ्यो भरतरवतकर्मभूमकमनुष्यास्त्रियो द्वयोऽपि सख्येय-
गुणा, समाविशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या ।
ताभ्यः पूर्वाविदेहापरविदेहकम्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयोऽपि
सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या । तेज्यः पुव्व-
विदेहापरविदेहाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि सख्येयगु-
णा, सप्तविशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या ।
ताभ्योऽन्तरद्वीपकमनुष्यनपुसका असख्येयगुणा, श्रेयसख्ये-
यभागगताकाशप्रदेशराक्षीप्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवकुरुत्तरकुरु-
वर्चकम्मभूमकमनुष्यनपुसका द्वयोऽपि सख्येयगुणा स्वस्थाने तु
परस्पर तुल्या । तेभ्यो हरिवर्षगम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपु-
सका द्वयोऽपि सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या ।
तेज्यो हेमवतहेरएयवतकर्मभूमकमनुष्यनपुसका द्वयोऽपि
सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या । तेज्यो जर-
तैरवतकर्मभूमकमनुष्यनपुसका द्वयोऽपि सख्येयगुणा, स्व-
स्थाने तु परस्पर तुल्या । तेभ्योऽपि पूर्वाविदेहापरविदेहक-
र्मभूमकमनुष्यनपुसका द्वयोऽपि सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु
परस्पर तुल्या ।

सप्रति प्रधनवास्याद्विदेव्यादिविभागतः सप्तमल्लपबहुत्वमाह-

एतासि णं जंतं ! देवित्थीणं जवणवासीणं वाणमत्तीण
जोइसीणं वेमाणिणीणं देवपुरिसाणं भवणवासीणं जाव
वेमाणियाणं सोधम्मकाणं० जाव गेविज्जकाणं अणुत्तगेववा-
इयाणं नेरइयनपुसकाणं रयणप्पभापुढाविनेरइयनपुसकाणं०
जाव अहेसत्तमापुढाविनेरइयनपुसकाणं कयरे कयरेहितां०
जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा अणत्तरोववा-
इया देवपुरिसा, उवरियगेवेज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा, तदे-
व० जाव आणतकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए
पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, उट्टीए पुढवीए
नेरइयनपुसका असंखेज्जगुणा, सहससारे कप्पे देवपुरिसा
असंखेज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखेज्जगुणा,
पचमाए पुढवीए नेरइयनपुसका असंखेज्जगुणा, लंतए
कप्पे असंखेज्जगुणा, चउत्थीए पुढवीए नेरइया अस-
खेज्जगुणा, वंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,
तच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे कप्पे दे-
वपुरिसा असंखेज्जगुणा, मणकुमारे कप्पे देवपुरिसा
असंखेज्जगुणा, दोच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा,

ईसाणे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, ईसाणे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा सखेज्जा, सोधम्मे कप्पे देवित्थियाओ सखे०, जवन-वासिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, जवणवासिदेवित्थियाओ संखे०, इमी से रयणप्पजापुदवीनेरइया असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवित्थियाओ सखेज्जगुणाओ, जोतिसियदेवपुरिसा सखेज्जगुणा, जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ॥

सर्वस्तोका अनुत्तरोपपानिकदेवपुरुषा, तत उपरितनग्रैवेय-कमध्यग्रैवेयकाधस्तनग्रैवेयकाच्युतारणप्राणतानकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरसंख्येयगुणा । ततोऽथ सप्तमषष्ठपृथिवीनैरयिकनपुसकसहस्रारमहाशुक्रकल्पदेवपुरुषपञ्चमपृथिवीनैरयिकनपुसकलान्तकल्पदेवपुरुषचतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुसकब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषतृतीयपृथिवीनैरयिकनपुसकमाहेन्द्रसनत्कुमारकल्पदेवपुरुषद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुसका यथोत्तरमसंख्येयगुणा । तत ईशानकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणा, तेज्य ईशानकल्पदेवस्त्रिय संख्येयगुणा, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । ततः सौधर्मकल्पे देवपुरुषा संख्येयगुणा, तेज्य सौधर्मकल्पे देवस्त्रिय संख्येयगुणा, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । ताज्यो भवनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणा, तेज्यो भवनवासिदेव्यः संख्येयगुणा, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । ताज्यो रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुसका असंख्येयगुणा, तेज्यो वाणमन्तरदेवपुरुषा असंख्येयगुणा, तेज्यो वाणमन्तरदेव्यः संख्येयगुणा, ताज्यो ज्योतिष्कदेवपुरुषाः संख्येयगुणा, तेज्यो ज्योतिष्कदेवस्त्रियः संख्येयगुणा, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ।

सम्प्रति विजातीयव्यक्तिय्यापकमष्टमसहस्रद्वत्तमाह—

एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीणं तिरिक्खजोणियपुरिसा जलयराणं थलयराणं खहयराणं तिरिक्खजोणियपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं पुदवीकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं आजकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं जाव वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं वेइदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं तेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं चउरिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं पंचेदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मण्णस्मिन्थीणं कम्मजूमियाणं अकम्मजूमियाणं अंतरदीवयाणं मण्णस्सपुरिसाणं कम्मजूमकाणं अकम्मभूमकाणं अंतरदीवकाणं मण्णस्सनपुसकाणं कम्मजूमिकाणं अकम्मजूमिकाणं अंतरदीवकाणं देवित्थीणं भवणवामिणीणं वाणमन्तरीणं जोतिसिणीणं वेमाणिणीणं देवपुरिसाणं भवणवासीणं वाणमन्तराणं जोतिसियाणं वेमाणि-याणं मोधम्मकाणं जाव गेविज्जकाणं अणुत्तरोववाइयाणं नेरइयनपुसकाणं रयणप्पजपुदविनेरइयनपुसकाणं जाव अट्टेमत्तमापदविनेरइयनपुंसकाणं य कयरे कयरेदितो अप्पा

वा० ४ ! गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवकअकम्मजूमिकमण्णस्सित्थीओ मण्णस्सपुरिसा य एतेणं दो वि तुद्धा सव्वत्थोवा, देवकुरुत्तरकुरुअकम्मजूमगमण्णस्सित्थीओ मण्णस्सपुरिसा य एतेणं दो वि तुद्धा संखेज्जगुणा; एवं हरिवासरम्मवासे, एवं हेमवते हेरणवते, जरहेरवतवास-कम्मजूमगमण्णस्सपुरिसा दो वि संखे०, जरहेरवयकम्मजूमगमण्णस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मजूमगमण्णस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मजूमगमण्णस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, अणुत्तरोववातियदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा; उवरिमगेवेज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा जाव आणतकप्पे देवपुरिसा सखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए पुदवीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, छट्ठीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, सहस्रारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, महासुक्के कप्पे असंखेज्जगुणा, पंचमाए पुदवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, लंतए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, चउत्थीए पुदवीए नेरइयनपुसका असंखेज्जगुणा, बंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, तच्चाए पुदवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे कप्पे असंखेज्जगुणा, सणकुमारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, दोव्वाए पुदवीए एरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, अंतरदीवगअकम्मजूमगमण्णस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा । देवकुरुत्तरकुरुअकम्मजूमगमण्णस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, एवं जाव विदेहोत्ति । ईसाणकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, ईसाणकप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, मोधम्मे कप्पे देवित्थियाओ सखेज्जगुणाओ, जवनवासिदेवपुरिसा असंखे०, जवणवासिदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ; इमी से रयणप्पजाए पुदवीए नेरइयनपुसका असंखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, थलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे०, जलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमन्तरदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, वाणमन्तरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोइसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ । खहयरपंचेदियतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्जगुणा, थलयरनपुंसका संखे०, जलयरनपुंसका संखे०, चतुरिंदियणपुंसका विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, वेदिया विसेसाहिया, तेज्जकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका असंखे०, पुदवि० विसेसाहिया, आज० विसेसाहि-

अप्पाबहुय (ग)

या, वा० विसेसाहिया, वणप्फइकाइयएगिंदियतिरि-
कवजोणियणपुंसका अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः अन्तरहीपकमनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषाश्च, स्व-
स्थाने तु द्वयेऽपि तुल्या, युगलधर्मोपेतत्वात् । एव देवकु-
त्तरकुर्वकर्मजूमकहरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मजूमकहैमवतहैरण्य-
वताकर्मजूमकमनुष्यस्त्रीपुरुषा यथोत्तर सख्येयगुणा, स्व-
स्थाने तु परस्पर तुल्या । तेज्यो भरतैरवतकर्मजूमकमनुष्यपु-
रुषा द्वयेऽपि सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या । ते-
ज्यो भरतैरवतकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि सख्येयगुणाः,
स्वस्थाने तु परस्पर तुल्या । तान्य पूर्वविदेहापरविदेहक-
र्मजूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु पर-
स्पर तुल्या । तेज्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मजूमकमनु-
ष्यस्त्रियो द्वयोऽपि सख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्व-
स्थाने तु परस्पर तुल्या । ताभ्योऽनुत्तरोपपातिकोपरितनग्रैवेय-
कमध्यमग्रैवेयकाधस्तनग्रैवेयकाच्युतारणप्राणताननकल्पदेवपु-
रुषा यथोत्तर सख्येयगुणा, ततोऽध सप्तमपष्टपृथिवीनैरयि-
कसहस्रारकल्पदेवपुरुषा महाशुककल्पदेवपुरुषा पञ्चमपृथि-
वीनैरयिकलान्तकल्पदेवपुरुषाश्चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुसक-
ग्रहश्लोककल्पदेवपुरुषतृतीयपृथिवीनैरयिकनपुसकमाहेन्द्रकल्प-
स्तनकुमारकल्पदेवपुरुषद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुसकान्तरही-
पनपुसका यथोत्तरमसंख्येयगुणा । ततो देवकुरुत्तरकुर्वकर्म-
जूमकहरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मजूमकहैमवतहैरण्यवताकर्मजूमक-
भरतैरवतकर्मजूमकपूर्वविदेहापरविदेहकर्मजूमकमनुष्यनपुस-
का यथोत्तर सख्येयगुणा, स्वस्थाने तु द्वये परस्पर तुल्या ।
तत ईशानकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणा, तत ईशानकल्पे दे-
वास्त्रियः संख्ये० । ताम्य सौधर्मकल्पे देवपुरुषस्त्रियः संख्ये० । ते-
भ्यो भवनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणा, तेज्यो भवनवासिदे-
वास्त्रियः संख्येयगुणा । ताभ्योऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैर-
यिकनपुसका असंख्येयगुणाः । तत सचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः
सचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः स्थलचर-
तिर्यग्योनिकस्त्रिय जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषा जलचरतिर्यग्यो-
निकस्त्रियो वाणमन्तरदेवपुरुषा वाणमन्तरदेवस्त्रियो ज्योति-
ष्कदेवपुरुषा ज्योतिष्कदेवस्त्रियो यथोत्तर संख्येयगुणा ।
तत सचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसका असंख्येयगुणाः ।
तत स्थलचरजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसका क्रमेण
संख्येयगुणा, ततश्चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रियतिर्यग्योनिक-
नपुसका यथोत्तर विशेषाधिका । ततस्तेजस्कायिकैकेन्द्रिय-
तिर्यग्योनिकनपुसका असंख्येयगुणा, तत पृथिव्यव्वायुका-
यिकतिर्यग्योनिकनपुसका यथोत्तर विशेषाधिका । घनस्प-
तिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुसका अनन्तगुणाः, निगोद-
जीवानामनन्तत्वात् । जी० २ प्रति० ।

शरीरमाश्रित्य सहारीराशरीराल्पबहुत्वचिन्तायाम्-

"संवत्थोवा ससरीरी, असरीरी अणंतगुणा"

(२९) [शरीरद्वारम्] आहारकादिशरीरिणाम्-

अप्पाबहुं-संवत्थोवा आहारगसरीरी, वेजवियमरीरी
असंखेजगुणा, ओरावियसरीरी असंखेजगुणा, अ-
सरीरी अणंतगुणा, तेयाकम्मासरीरी दो वि तुल्ला अ-
णंतगुणा ।

सर्वस्तोका आहारकशरीरिण, चत्कर्षनोऽपि सत्सपृथक्त्वेन
प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्यो वैक्रियशरीरिणोऽसंख्येयगुणा, वनार-
काणां कनिषयगर्जजनिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यवायुकायिकानां च वै-
क्रियशरीरत्वात् । तेज्य औदारिकशरीरिणोऽसंख्येयगुणा, इहा-
नन्तानामपि जीवानां यसांदकमौदारिक शरीर ततः स एक-
औदारिकशरीरी परिगृह्यते, ततोऽसंख्येयगुणा एवादारिकशरी-
रिणो नानन्तगुणा । आह च मूलटीकाकारः 'औदारिकशरीरिभ्यो-
ऽशरीरा अनन्तगुणा', सिद्धानामनन्तत्वात्, औदारिकशरीरिणां
च शरीरापेक्षया असंख्येयत्वादिति । तेज्योऽशरीरिणोऽनन्त-
गुणा, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेज्यः तैजसशरीरिणः कर्मणश-
रीरिणः अनन्तगुणा, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्पर तुल्या । तै-
जसकर्मणयोः परस्पराविनाभावित्वात् । इह तैजसशरीर का-
र्मणशरीर च निगोदेवपि प्रतिजीव विद्यते, इति सिद्धेज्योऽप्य-
नन्तगुणत्वम् । जी० ६ प्रति० । (औदारिकादिशरीराणां चाल्पब-
हुत्वं 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते) (सकर्मविषयमल्पबहुत्वं 'सकर्म'
शब्दे द्रष्टव्यम्) (समुद्रातविषयमल्पबहुत्वं 'समुग्घाय' शब्दे
प्ररूपयिष्यते)

[सहिद्वारम्] सख्यसंज्ञिनोसहिनाश्रसहिनामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं सन्नीणं असन्नीणं नोसन्नीणं
नोअसन्नीणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोय-
मा ! संवत्थोवा सन्नी, नोसन्नी नोअसन्नी अणंतगुणा,
असन्नी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः सहिनः, समनस्कानामेव सत्त्वित्वात् । तेज्यो नोसं-
ज्ञिनो नोऽसहिनोऽनन्तगुणा, उभयप्रतिषेधवृत्ता हि सिद्धाः, तेच
सहिभ्योऽनन्तगुणा एवेति । तेभ्योऽसहिनोऽनन्तगुणा, वनस्पती-
नां सिद्धेज्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद । (आहारः।दिसहो-
पयुक्तानां नैरयिकादीनामल्पबहुत्वं 'तल्ला' शब्दे वक्ष्यते) (सा-
मायिकादिसंयतविषयमल्पबहुत्वं 'संजय' शब्दे एव द्रष्टव्यम्) (सा-
यमस्थानानामल्पबहुत्वं 'सजमट्टाण' शब्दे भावयिष्यते)

[संयमद्वारम्] संयतानामसयतानां नोसयत-

नोअसंयतानामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं जंते ! जीवाणं संजयाणं असंजयाणं संजयासं-
जयाणं नोसंजयाणं नोअसंजयाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा
वा० ४ ? । गोयमा ! संवत्थोवा जीवा संजया, संजयासंजया
असंखेजगुणा, नोसंजता नोअसंजता अणंतगुणा, अ-
संजता अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः सयताः, उत्कृष्टपदेऽपि तेषां कोटिसहस्रपृथक्त्वप्र-
माणतया लज्यमानत्वात् । "कोटिसहस्रपुहुत्त मण्डयलोप
संजयाण" इति वचनात् । तेज्यः सयतासंयता देशविर्द्धा असं-
ख्येयगुणाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामसंख्यातानां देशाविरतिसङ्गा-
वात् । तेज्यो नोसयता नोअसयता अनन्तगुणाः, प्रतिषेध-
वृत्ता हि सिद्धा, ते चानन्ता इति । तेज्योऽसंयता अनन्त-
गुणा, वनस्पतीनां सिद्धेज्योऽप्यनन्तत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

संयतानामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं जंते ! परिमंरुवद्वचउरंसंतसआयतअजित्थत्था-
णं संगणायं दव्वड्याए पदेसद्वयाए दव्वडपदेसद्वयाए कय-

रे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा परिमंडलसंठाणा दव्वट्टयाए, वट्टासंठाणा दव्वट्टयाए सखेज्जगुणा, चउरंसा संठाणा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, तसा संठाणा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, आयतसंठाणा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा, अणित्थंत्या संठाणा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा । पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा परिमंमला संठाणा, वट्टासंठाणा पदेसट्टयाए संखेज्जगुणा । जहा दव्वट्टयाए तहा पदेसट्टयाए वि० जाव अणित्थंत्या संठाणा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । दव्वट्टपदेसट्टयाए सव्वत्थोवा परिमंमलसंठाणा, दव्वट्टयाए सो चेव गमगो भाणियव्वो० जाव अणित्थंत्या संठाणा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, अणेत्थंत्येहिंतो संठाणेहिंतो दव्वट्टयाएहिंतो परिमंमला पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, वट्टासंठाणा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, सो चेव पदेसट्टयाए गमओ जाणियव्वो० जाव अणित्थंत्या संठाणपदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा । न० २५ श० ३ उ० ।

(पदकसमर्जिताना यावच्चतुरशीतिसमर्जितानामल्पबहुत्व उचवाय ' शब्दे द्वितीयमाने ६२२ पृष्ठे निरूपयिष्यते)
[सम्यक्त्वद्वारम्] सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टीनामल्पबहुत्वम्-

एएसि एं भंते ! जीवाणं सम्मादिट्ठीणं मिच्छादिट्ठीणं सम्मामिच्छदिट्ठीणं च कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सम्मामिच्छदिट्ठी, सम्मादिट्ठी अणंतगुणा, मिच्छादिट्ठी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, सम्यग्मिथ्यादृष्टिपरिणामकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणनयाऽतिस्तोक्तत्वेन तेषां पृच्छासमये स्तोकाणामेव सन्न्यत्वात् । तेभ्यः सम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धा-नामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, वनस्पति-कायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् तेषां च मिथ्यादृष्टि-त्वादिनि । प्रज्ञा० ३ पद ।

सम्यक्त्वद्वारे सास्वादनसम्यग्दृष्टयः स्तोकाः, औपशमिकसम्यक्त्वाक्तेषांचिदेव प्रच्यवमानानां सास्वादनत्वात् । तेभ्य औपशमिकसम्यग्दृष्टयः सङ्ख्यातगुणा ।

मीमा संखा वेयग-असंखगुण खइय मिच्छ वु अणंता । संनियर थोवऽणंता-ऽणहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥

तेभ्य औपशमिकसम्यग्दृष्टिभ्यो मित्रा संख्यातगुणाः, तेभ्यो (वेयगंति) क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयोऽसंख्यातगुणाः । तेभ्यः क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः, क्षायिकसम्यक्त्ववता सिद्धा-नामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धेभ्योऽपि वनस्पतिजीवानामनन्तगुणत्वात्, तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादि-नि । कर्म० ४ कर्म० ।

[सिद्धिविषयकम्] सिद्धासिद्धयोरल्पबहुत्वम्-

एएसि एं जंते ! सिद्धाण असिद्धाण य कयरे कयरे-हिंतो जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सिद्धा, असिद्धा अणंतगुणा ।

"एएसि णमित्यादि" प्रश्नसूत्र सुगमम् । प्रगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः सिद्धा, असिद्धा अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामति-प्रभुतत्वात् ।

(सूत्रद्वारम्) सूत्रमबादरनोसूत्रमनोबादराणामल्पबहुत्वम्-
एएसि एं जंते ! सुहुमाणं बादराणं नोसुहुमाणं नोबा-दराण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्व-त्थोवा जीवा नोसुहुमा नोबादरा, बादरा अणंतगुणा, सु-हुमा असंखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका जीवा नोसूत्रमा नोबादराः, सिद्धा इत्यर्थः; तेषां सूत्रमजीवराशेर्बादरजीवराशेभ्यानन्तभागकल्पत्वात् । तेभ्यो बा-दरा अनन्तगुणा, बादरनिगोदजीवानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वा-त् । तेभ्य सूत्रमा असंखेयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूत्रमनिगो-दानामसंखेयगुणत्वात् । गत सूत्रमद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । कर्म० क० प्र० । प० स० । (स्थितिबन्धानामल्पबहुत्व ' बध ' शब्दे द्रष्टव्यम्)

अप्पाभिणिवेस-आत्मानिनिवेश-पुं० । पुत्रप्राप्तकलत्रादिष्वा-त्मीयामिनिवेशे, नैरात्म्यावगतौ आत्मानिनिवेशः । न० ।

अप्पायंक-अल्पातङ्क-त्रि० । अल्पशब्दोऽभाववाची । अल्पः सर्वथाऽविद्यमान मानङ्को ज्वरादियस्याऽसावल्पातङ्कः । जी० ३ प्रति० । रा० । अनातङ्के नीरोने, भ० १४ श० १ उ० । अरो-गिणि, आचा० १ सु० २ म० ६ उ० । उपा० । रोम्मके, ध० ३ अधि० । ओघ० ।

अप्पारंभ-अल्परम्भ-त्रि० । कृप्यादिरूपं पृथिव्यादिजीवोपम-द्वे एवं कुर्वाणे, औ० ।

अप्पावय-अप्रावृत-त्रि० । अलगिते, सूत्र० १ सु० ५ अ० १ उ० ।

अप्पावयदुवार-अप्रावृतद्वार-पुं० । अप्रावृतमस्थगित द्वारं गृह-मुख यस्य सोऽप्रावृतद्वारः । दृढसम्यक्त्वे, यस्य हि गृहं प्रविश्य परतीर्थिकोऽपि यद्यत् कथयति तदसौ कथयतु, न तस्य परिज-नोऽप्यन्यथा भावयितु सम्यक्त्वाच्छावयितु शक्यते इति यावत् । सूत्र० २ सु० ६ अ० ।

अप्पाह-संदिश-चा० । सम-दिश-तुदा० । वार्ताकथने, प्राकृते-
"सदिशेरप्पाह" ॥ ८ । ४ । १५० ॥ इति सूत्रेण संपूर्वकस्य विशेषेरप्पाहादेशः । प्रा० ४ पाद । अप्पाहति सदिशति व्य० १ उ० । अप्पाहति संदेशं कथयति, यथा-मया कृतोऽमुकस्य समीपे कार्यात्सर्ग इति । व्य० ४ उ० ।

अप्पाहण-अप्राधान्य-न० । अप्रधानत्वे, पञ्चा० १ विव० ।

अप्पाहार-अन्पाहार-पुं० । अल्पभासौ आहारश्च अन्पा-हारः । स्तोकाहारे, अल्प आहारो यस्य सोऽन्पाहारः । स्तो-कमाहारमाहारयति साधौ, म० ।

अट्टकुकुमिअंगणपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे ।

कुक्कुट्यणमकस्य यत्प्रमाणं मानं तत्परिमाणं मानं येषां ते तथा । अथवा कुटीव कुटीरकमिव जीवस्याभयत्वात् कुटी शरीर, कुत्सिता मद्युच्चिप्रायत्वात् कुटी कुकुटी, तरया अणक-

अपाहार

मिवागमकमुद्रपुष्पत्वादाहारः ककुट्यागमकम्, तस्य प्रमाणतो मात्रा द्वात्रिंशत्तमागरूपा येषां ते ककुट्यागमकप्रमाणमात्रा । अतस्तेषामयमभिप्रायः—यावान् यस्य पुरुषस्याहारस्य द्वात्रिंशत्तमो भागस्तत्पुरुषापेक्षया कवलः । इदमेव कवलमानमाश्रित्य प्रसिद्धकवलचतुषष्ट्यादिमानाहागस्यापि पुरुषस्य द्वात्रिंशता कवलैः प्रमाणप्राप्तनोपपन्ना स्यात्, नहि स्वतन्त्रजनस्यार्द्धं युक्तवत् प्रमाणप्राप्तत्वमुपपद्यते । प्रथमव्याख्यानं तु प्राथमिकपक्षमवगन्तव्यमिति । (अपाहारे ति) अल्पाहारः साधुर्भवतीति गम्यम् । अथवाऽष्टौ ककुट्यागमकप्रमाणमात्रान् कवलानाहागमाहारयति कुर्वती साधौ अल्पाहारः स्तोकाहारः, आहारचतुर्थीशरूपत्वात्तस्य । अ० ७ अ० १ उ० । अ० । आचा० । (अल्पाहारस्य द्वात्रिंशत्तमं विषयेषु न वर्तन्त इति 'जिणकपिपय' शब्दे वक्ष्यते)

अपाहिगरण—अल्पाधिकरण—पु० । अल्पमविद्यमानमधिकरणं स्वपक्षपरपक्षाविषयो यस्य तत्तथा । आ० ६ अ० १० उ० । निष्कलहे, स्था० ८ अ० ।

अपिच्छ—अद्वेष्ट—त्रि० । अल्पा स्तोका धर्मोपकरणप्राप्तिमात्रविषयत्वेन, न तु सत्कारादिकाभिनया महती, अल्पगन्धस्याभाववाचित्वेनाविद्यमाना इच्छा वाञ्छा यस्येत्यल्लेखः । उक्त० ३ अ० । अमहेच्छे, औ० । धर्मोपकरणमात्रप्राप्ति, उक्त० २ अ० । न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागिनि, दश० ८ अ० । अल्पाः स्तोकाः परिप्रहारमेष्ट्विच्छास्तत्करणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा । सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । मणिकनकादिविषयप्रतिबन्धरहिते, जी० ३ प्रति० । त० । ज० ।

अपिय—अप्रिय—अ० । प्रियस्याभावोऽप्रियम् । वित्तदुःखालिकायाम्, सूत्र० १ ध्रु० ४ अ० १ उ० । न प्रियमाप्रियम् । अप्रीतिहेतौ, अ० १ अ० ५ उ० । उपा० । द्वेष्ये, स० । यद्धि दर्शनायातकादेषपि न प्रिययुक्तिमुत्पादयति । जी० १ प्रति० । प्रेमाऽविषये, स्था० ८ अ० । “अणिद्वा अकता अपिया अमणुआ अमणा एकता” विपा० १ ध्रु० १ अ० । “कोह असच्च कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमपिय” । अप्रियमपि कर्णकटुकतया तद्विषमपि, गुरुवचनमिति गम्यते । उक्त० १ अ० ।

अर्पित—त्रि० । प्राकृतनसुहृतेन दौकिते, उक्त० ३ अ० । आहिते, ज० ११ अ० ७ उ० । दौकिते, विपा० १ ध्रु० २ अ० । विशेषिते, स्था० १० अ० । “अपियमय विसेसो, सामन्नमणपियनयस्स” विशेषः । “जहा दवियमपिय त तहेव” यद् व्यमर्पितं प्रतिपादयितुमभीष्टम् । सम्म० १ काण्ड ॥

अल्पित—त्रि० । अल्प क्रियते स्म, अल्प-कृतार्थे णिच्, कर्मणि क्त । अल्पीकृते, “मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादप” वाच० ।

अपियकारिणी—अप्रियकारिणी—स्त्री० । ओतुमृतनिवेदनादिरूपायां भाषायाम्, “अपियकारिणि च भास न ज्ञासिज्जा सया सपुज्जो” दश० ६ अ० ३ उ० ।

अपियणय—अर्पितनय—पु० । अर्प्यते विशेष्यते इत्यर्पितो विशेषः, तद्वादी नयोऽर्पितनयः । विशेष एवास्ति न सामान्यमिति समयप्रसिद्धे नये, विज्ञे० । सम्म० ।

अपियता—अप्रियता—स्त्री० । अप्रेमहेतुतायाम्, अ० ६ अ० ३ उ० ।

अपियववहार—अर्पितव्यवहार—पु० । अर्पित इति व्यवहारो १६६

यस्मिन् माऽयमर्पितव्यवहारः । मगुरव्यसकादित्यात् समाम् । अर्पितानामर्पयिकादिनाम् । स्वाचार भाववर्ति ज्ञाताऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्य यादिरूपेण वदन्त्यापारण यस्या स्थापित व्यवहारः उक्त० १ अ० ।

अर्पियवद—अर्पियव १—त्रि० । अर्पिय दुःखकारणं न हर्षणीति अर्पियवधा । दुःखहेतुनिवारकः ‘सर्व पाणापियाउया मुदसाया दुक्खपमिकुला अर्पियवहा’ आचा० १ अ० ३ उ० ।

अर्पियस्स—अर्पियस्वर—त्रि० । प्रमाऽविषयस्वरः स्था० ८ अ० ।

अर्पियाणपिय—अर्पितानपित—न० । द्रव्यं ह्यर्पितं विशेषितं यथा जीवद्रव्यं किञ्चिदम्, सत्सारीनि सत्सार्यपि तन्मरुपं त्रसरुपमपि पञ्चैन्द्रियम् तदपि नरुपरामित्यादि । अर्पितमविशपितमेव यथा जीवद्रव्यमिति । ततश्चापितं च तदनपि अन्यर्पितानपित इत्येव वर्तन्ती समान्यविशयकथनरूपं द्रव्यानुयोगमन्तः, स्था० १० अ० ।

अर्पिकय—आन्मीकृत—त्रि० । आत्मना गाढतन्मागृहिणे, “पुट्टरेण च तलुमि वडमर्पिकय” विशेषः । आत्मप्रदं स्तनुवन्नतोयवद् मिश्रीकृतम् । आ० म० ८ अ० ।

अर्पुड्डा (ए) अल्लोन्धायिन—त्रि० । अल्पमुत्थानं शीघ्रमस्येत्यल्लोन्धायी । प्रयोजनेऽपि अपुन पुनरुत्थानशोत्रे उक्त० १ अ० । “अर्पुड्डाई निरुड्डाई निरुड्डाई निरुड्डाई निरुड्डाई उक्त० १ अ० ।

अर्पुत्तिगणगदगमद्वियामकममंताण—अल्लोत्तिगणपनकोटकमृत्तिकामर्कटसन्तान—त्रि० । उत्तिगणपनकोटकमृत्तिकामर्कटसन्तानगृहिणे, तत्रोत्तिगणपिपीलिकासन्तानक पनको नूम्यातावुल्लिविशेषः, उक्कमृत्तिका अचिरात्कायाऽर्कटना मृत्तिका मर्कटसन्तानको हनानन्तुजालम् । आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६ उ० । अर्पुदय—अर्पुदक—त्रि० । भौमान्तरिकोदकरहिते, आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अर्पुल्ल—आन्मीय—त्रि० । आत्मनि भवम् । ‘हस्व सयोगे’ ॥ ८१॥ ४॥ ‘भस्मात्मनो. पो वा’ ॥ ८१॥ ५॥ इति त्मस्य प । “अनादौ-” ॥ ८२॥ ८॥ इति प । ‘दिल्लुल्लो भवे’ ॥ ८२॥ ९॥ इति सूत्रेण “उल्ल” प्रत्ययः । आत्मनि ज्ञेये प्रा० ३ पाठः ।

अर्पुस्सुय—अर्पुस्सुक्य—त्रि० । औत्सुक्यवर्जिते, औ० ज० अनुत्सुके, ज्ञा० १ अ० । अविमनस्के, आचा० १ ध्रु० ३ अ० ३ उ० । अर्पु—देशी—पु० । पितरि दे० ना० १ वर्गे ।

अर्पुअंभ—आप्पोपादम्भ—पु० । आप्तेन हिनेन, गुरुणेत्यर्थः । उपादम्भो विनेयस्याविहितविधायिन आप्पोपादम्भ । अविधिप्रवृत्तस्य शिष्यस्य गुरुणा मार्गे स्थापनाय उपादम्भे, (तीर्थकृता) “अर्पुल्लज्जनिमित्तं पढमस्स णायज्जयणस्स अयमठे पण्णत्ते त्ति वेमि” ज्ञा० १ अ० ।

अर्पुल्ल—देशी—त्रि० । दृढवेदनादमृपिरे, “अर्पुल्ल मिडुपएह च, पमिपुअ हत्थपुरिस वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अर्पुवगरणसधारण—अर्पुपकरणसन्धारण—न० । अल्पमेवोपकरणे सन्धारणीये, षो० १ विव० ।

अर्पुनहित—अर्पुपधित्व—न० । अनुवर्णयुक्तस्तोकोपधित्वे, दश० १ चू० ।

अर्पुस—अन्मावश्याय—त्रि० । अधस्तनोपरितनः वश्यायविप्रुस्वर्जिते, आचा० १ ध्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अप्पोसहिमतवत्त-अट्ठपौषधिमन्त्रवत्त-त्रि० । अल्पं स्नोकमौ-
षधिमन्त्रवत्त यस्य स तथा । स्नोकेनौषधिमन्त्रवत्तेन युते.
'अप्पोसहिमतवत्तो नहु अप्पाण निगिच्छिहासि' आ० ४ अ० ।
अप्पालण-आस्फालन-न० । हस्तेनाऽऽतामने उत्तेजने,
औ० । दशा० । भस्माहोरभाण वादनमास्फालनमिति प्र-
सिद्धम् । रा० । आ० चू० ।

अप्पालिज्जन-आस्फालयमान-त्रि० । हस्तेनाऽऽताम्यमाने,
" अप्पालिज्जनाण भभाण होरभाण " रा० ।

अप्पा (फा) लिय-आस्फालित-त्रि० । आ समन्तात्स्फार
प्रापिते, व्य० १ उ० ।

अप्पिह-अस्पृह-त्रि० । स्पृहाविरहिते " उपसर्गानिष्टेष्टा-
त्तेकोऽभीरस्पृह" क्षमेत् " आ० म० द्वि० ।

अप्पुमिय-अस्फुटित-त्रि० । अजर्जरे, जं० २ वक्त्र० । " अस-
डप्पुमिया कायव्वा " अस्फुटिता. सर्वधिराधनापरित्यागेन,
दश० ६ अ० ।

अप्पुमियदंत-अस्फुटितदन्त-त्रि० । अस्फुटिता अजर्जरा ज-
रारहिता दन्ता येषां तेऽस्फुटितदन्ता । जी० ३ प्रणि० । अजर्ज-
रदन्तेषु जं० २ वक्त्र० । औ० । राजिरहितदन्तेषु त० । व्य० । कल्प० ।

अप्पुष्प-आक्रान्त-त्रि० । आ-क्रम-क्त । " केनाप्पुष्पादयः "
= । ४ । १४८ । इति कविशिष्टस्याऽऽक्रान्तशब्दस्याप्पुष्पादेशः ।
प्रा० ४ पाद । व्याप्ते, " अप्पुष्पा समाना । " नि० । अप्पुष्पं चि,
आस्पृष्टा व्याप्ता, आक्रान्ता इति यावत् । अनु० । जं० । रा० ।
अप्पोआ (या)-अफोया-स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, जी० ३
प्रणि० । व्य० । जं० । प्रज्ञा० ।

अप्पोडिअ (ह)-आस्फोटिन-न० । करास्फोटे, जं० ३ वक्त्र० ।
प्रश्न० । जं० । ज्ञा० । कल्प० ।

अप्पो (फो) व-अप्पोव-पु० । वृक्षाद्याकीर्णे, अफोव इति
किमुक्त भवति-आस्तीर्णवृक्षगुच्छगुल्मशृङ्गासङ्घ इत्यर्थः, इति
वृद्धा० । उक्त० १८ अ० ।

अप्पोवममव-अप्पो (फो) वममव-पु० । अफोवश्चासौ म-
ण्डप । नागवह्नीकादिभिर्विष्टिते स्थाने, " अप्पोवममवमि,
उक्तायइ क्खवियासवे " उक्त० १ अ० ।

अफरुस-अपरुप-न० । अनिष्ठुरे, मन प्रह्लादकं, व्य० ३ उ० ।

अफरुमज्जमि (ए)-अपरुषभापिन्-त्रि० । अपरुषमनिष्ठुर
नङ्गावणशीलोऽपरुषमार्थी । त्रिग्विनयविशेषं प्रतिपन्ने, व्य० १ उ० ।

अफलवादि (ए)-अफलवादिन्-पु० । न त्रिद्यने कस्याश्चि-
त् क्रियाया फलमित्येववादिनि. सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अफ-
लवादिनश्चाऽक्रियावादिन इति तत्रैवतन्मतनुपपन्नस्य दूषितम् ।

नीर्थान्नरीयाणामफलवादिशब्दम्-

अगारमावसना वि, अरणा वा वि एवमया ।

इम दरिसणमावसमा, सच्चत्तुक्खा त्रिमुच्चै ॥ १ ए ॥

ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एव, न ते ओहतराहिया ॥ २० ॥

ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एव, न ते ससारपारगा ॥ २१ ॥

ते णावि संधि णच्चा ए, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एव, न ते गब्बस्स पारगा ॥ २२ ॥

ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एव, न ते जम्मस्स पारगा ॥ २३ ॥

ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एव, न ते दुक्खस्स पारगा ॥ २४ ॥

ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एव, न ते मारस्स पारगा ॥ २५ ॥

साम्प्रत पञ्चज्जनात्माऽद्वैततज्जीवतच्छरीराकारकामयप्रकृति-
कपञ्चस्कन्धवादिनामफलवादित्वं घटुकामः सूत्रकारस्तेषां स्व-
दर्शनफलवाभ्युपगमं दर्शयितुमाह- (भगवत्त्यादि) भगवत् गृहं
तदावन्तस्तस्मिंस्तिष्ठन्तो गृहस्था इत्यर्थः । आरण्या वा ता-
पसादयः, प्रव्रजिताश्च शाक्यादयः । अपि. सम्भावने । इव ते
सजावयन्ति-यथेदमस्मदीयं दर्शनमापन्ना आश्रिताः सर्व-
त्र क्षेत्र्यो विमुच्यन्ते । आर्पत्वादेकवचनं सूत्रे कृतम् । तथाहि-
पञ्चज्जतज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशयः-यथेदमस्मदीयं दर्श-
नं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः सन्तः सर्वेभ्यः शिरस्तुल्यमुत्तम-
दण्माजिनजटाकाषायचौरधारणकेशोल्लुञ्चनभाग्यस्तपश्चर-
णकायक्लेशरूपेभ्यो दुःखेभ्यो मुच्यन्ते । तथाहुः-"तर्पांसि यात-
नाश्रिताः, सयमो जोगवञ्चनम् । अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीमेव
सदयते " ॥ १ ॥ इति । सांख्यादयस्तु-मोक्षवादिन एव सभा-
वयन्ति-यथा येऽस्मदीयं दर्शनमकर्तृत्वात्माऽद्वैतपञ्चस्कन्धा-
दिप्रतिपादकमापन्नाः प्रव्रजितास्ते सर्वेभ्यो जन्मजरामरणार्म-
परम्पराऽनेकशरीरमानसाऽतितीव्रतराऽसातोदयरूपेभ्यो दुः-
खेभ्यो विमुच्यन्ते । सकलद्वन्द्वविनिर्मुक्तं मोक्षमास्मदन्तर्गत्यु-
क्तं भवति ॥ १६ ॥ इदानीं तेषामेवाऽफलवादित्वाविष्करण-
माह- (ते णावीत्यादि) ते पञ्चज्जतवाद्याद्याः, नापि नैव, सन्धि-
छिन्नं विवर, स च छल्यजावमेवाद् द्वेधा-तच्च छल्यसन्धिः
कुरुणादि, प्रावमन्धिर्हानावरणादिविवररूपः, तमहात्वा ते
प्रवृत्ताः । णमिति वाक्यालङ्कारे । यथा-आत्मकर्मणोः स-
न्धिर्द्विधा भावलक्षणो भवति, तथा भवुधा इव ते वराका
दुःखमोक्षार्थमभ्युद्यता इत्यर्थः । यथा त एवभूतास्तथा प्रति-
पादिन, लेशतः प्रतिपादयिष्यते च । यदि वा संधानं सन्धि-
रुत्तरोत्तरपदार्थपरिज्ञानं, तदहात्वा प्रवृत्ता इति । यतश्चैवम-
तस्ते न सम्यग्धर्मपरिच्छेदे कर्तव्ये विद्वांसो निपुणाः, जनाः प-
ञ्चज्जतास्तित्वादिवादिनो शोका इति । तथाहि-कान्त्यादिको द-
शविधो धर्मस्तमहात्वेवान्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्ति । यत्फला-
भावाच्च तेषामफलवादित्वं तदुत्तरग्रन्थेनोद्देशकपरिसमाप्त्य-
वसानेन दर्शयति-ये ते न्विति । तुशब्दश्चशब्दार्थः । य इत्यस्या-
मन्तरं प्रयुज्यते । ये च ते एवमनन्तरोक्तप्रकारवादिनो नास्ति-
कादयः, ओषो भवौघं ससारं, तत्तरणशीलास्ते न भवन्तीति
श्लोकार्थः ॥ २० ॥ तथा न ते वादिनः ससारगर्भजन्मदुःखा-
रादिपारगा भवन्तीति । २१ । २२ । २३ । २४ । २५ ।

नाणाविहाइं दुक्खवाइं, एण्हवीति पुणो पुणो ॥

संसारचक्रवालमि, मच्चुवाहिजगकुले ॥ २६ ॥

उच्चावपाणि गच्छता, गब्बमेस्सतिऽणंतमो ।

नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे । २७ ।

अफलवादि (ए)

अनुनस्ते प्राप्नुवन्ति तद्दर्शयितुमाह—(नागादिहाइ इत्यादि)
नानाविधानि यद्विप्रकाराणि दुस्त्वान्यमानोदयलक्षणान्यनुनस्ते
पुन पुन । तथाहि—नरकेषु करपत्रदागण कुर्भापाक नमाय-
शाहमलीममालिङ्गनादीनि, निर्यक्तु च शीनोष्णादिदमनाङ्गनाम-
नाऽनिसारागोपणकुत्तुमादीनि, मनुष्येषु छष्टवियोगानिष्टमयोग-
शोकाक्रन्दनादीनि, देवेषु चाभियोगेभ्योऽपि क्लिप्तविकल्पवचना-
दीन्येकप्रकाराणि दुस्त्वानि, ये एवञ्चाना वादिनस्ते पौन पुन्येन
समनुभवन्ति । एतच्च श्लोकार्थं सर्वेषु तत्तत्श्लोकार्थेषु योज्यम् ।
शेष सुगम यावदुद्देशकममासिरिति ॥ २६ ॥ नचमुद्यावचा-
नीति-अधमोत्तमानि नानाप्रकाराणि वामस्थानानि गच्छन्तीनि
गच्छन्तो ज्ञमन्तो गर्जाङ्गमेप्यन्ति यास्यन्त्यनन्तशो निर्विच्छेद-
मिति ब्रवीमीति । सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिन प्रत्याह—वर्षाभ्यह
तीर्थङ्गगङ्गाया न स्वमनीषिकया, स चाहं ब्रवीमि, येन मया ती-
र्थङ्करसकाशाच्छ्रुतम् । एतेन च क्षणिकवादिनिरासो दृष्ट्यः ।
। २७ । सूत्रं १ भू० १ अ० १ उ० ।

अफास—अस्पृश—त्रि० । न विद्यते स्पृशोऽष्टप्रकारो मृदुकर्क-
शादिरस्पृश्यर्थः । षो० १६ विव० । अद्युजस्पृशे एकान्तोद्वेजनी-
ये, सूत्रं १ भू० ५ अ० १ उ० ।

अफासुय—अप्रासुक—न० । न प्रगता असवोऽसुमन्तो यस्यास-
वप्रासुकम् । सजीवे, भ० ५ श० ६ उ० । सचिसे, आचा० १
भू० १ अ० १ उ० । सूत्रं १ ।

अफासुयपादिसेवि (ए)—अप्रासुकप्रतिसेविन्—त्रि० । अप्रासु-
क सचिसे प्रतिसेवितु शीलमस्य स भवत्यप्रासुकप्रतिसेवी ।
सचेतनजहादिवस्तुप्रतिसेवनशीले, “अफासुयपमिसेविय, णाम
हृज्जो य सीलवादी य ।” सूत्रं १ भू० ७ अ० ।

अफुस—अस्पृश्य—त्रि० । स्पृष्टमयोग्ये, “अफुस दुष्कल” अ-
स्पृश्य कर्माकृतवादेव । स्था० ३ उ० २ उ० ।

अफुसमाणगई—अस्पृशद्गति—पु० । अस्पृशन्ती सिद्ध्यन्त-
रालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गतिः । अन्तरालप्रदेशाना-
मस्पृशनेनैवोर्ध्वं गच्छति सिद्धे, औ० ।

उज्जुसेदीपनिवन्ने अफुसमाणगई उहं एकसमणं अ-
विगहेणं उहं गता सागारोवउचे सिज्जिहि ति ॥

अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिः, इष्यते च त-
त्रक एव समयः, अ एव त्रायुष्कादिकर्मणा स्वयसमय स एव
निर्वाणसमयोऽतोऽन्तराले समयान्तरस्याभावादन्तरालप्र-
देशानामसस्पृशानमिति सूक्ष्मत्रायमर्थं केवलमिगम्यो प्रा-
प्त इति । औ० ॥ “अफुसमाणगती वितिय समय ण फुसति,
अहवा जेसु अवगाढो जे य फुसति उहमविगच्छमाणो तत्तिप
सेव आगासपदेसे फुसमाणो गच्छति” । आ० सू० १ अ० ।

अवन्त—अवन्ध—त्रि० । न वन्धयमवन्धम् । अवश्यकार्यका-
रिणि, सूत्रं १ । अवन्धमेकादश पूर्वम्, वन्ध नाम निष्फल, न
विद्यते वन्धय यत्र तदवन्धम्, सफलमित्यर्थः । तत्र हि—सर्वे-
ऽपि ज्ञानतप सयमयोगा शुभफलेन सफला वर्यन्ते, अप्रशस्ता-
श्च प्रमादादिका सर्वे अशुनफला वर्यन्तेऽतोऽवन्धम्, तस्य
च परिमाणं षड्विंशतिपदकोटयः । स० । “अवभक्तुव्यस्त ण
वारस वत्थु पणत्ता” न० । स० । अवश्यकार्यकर्तारि, सूत्रं
२ भू० १ अ० ।

अवन्ध—अवन्ध—पु० । वन्धयमावे, प० म० ७ उ० ।

अवन्ग—अवन्धक—पु० । निरुद्धयोगे, भ० २५ श० ६ उ० । आ०
म० द्वि० ।

अवन्धव—अवन्धव—त्रि० । स्वजनमम्याद्यकार्यरहिते, प्रश्न०
१ आश्र० उ० ।

अवज—अवज्जन—न० । अकुशले कर्मणि, तच्च मैथुन विवर्जितम्,
अन्यन्नाकुशलत्वास्य । प्रश्न० ४ आश्र० उ० ।

तच्छाष्टादशधा—

अट्टारसविदे अवन्ते ओगान्नित्रं च दिव्वं, मणवयकाप-
ण जोण्ण अणुमोअण्णकागवणकरणेणऽट्टाग्मा वध ॥

इह मूलतो द्विधा ब्रह्म जवन्ति—श्रौतारिक नियमनमुद्याणा, दि-
व्य च जवनवाम्यादीना, चशब्दस्य व्यवहितं स्वन्ध । मनो-
वाक्काया कारण, त्रिधा योगेन त्रिविधेनैवानुमोदनकारणकरणेन
निरूपित, पञ्चाक्षु पूर्वोपन्यास्य अवस्थाष्टादशधा जवन्ति । इय
जावना—श्रौतारिक स्वयनकरोति मनसा वाचा कायेन, नान्येन
कारयति मनसा वाचा कायेन, कुर्वन्त नानुमोदने मनसा वाचा
कायेन । एव वैकियमपि । आच० ४ अ० । एतच्च प्रश्नव्याकरणानां
चतुर्थेऽध्याये यथा यादृशाद्विद्वारपञ्चकेन । द्वापञ्चक चेदम-
“जारिस्सओ १ जनामा २, जह य कओ ३ जारिस्स फज्ज दिनि ४ ।
जे वि य करेति पावा ५, पाणवह त निसामेह” ॥ १ ॥
प्रश्न० ५ आश्र० उ० ।

तत्र यादृशमग्रं निवारार्थप्रतिपादनायेत सूत्रम्—

जंजू ! अवन्तं च चउत्थं सदेवमण्णामृगस्स लोयस्स प-
त्थणिज्जं पकपण्णपासजादन्नूयं इत्थीपुरिसनपुसगवेदावि-
एह तवमजगवभवेगविग्गं भेदायणवहुपमादमूल कायग्वा-
पुरिससेवियं सुयणजणवज्जणिज्ज उहन्गयनिरियतिहो-
क्कपड्डाणं जरामण्णरोगमोगवहुलं वधवधविघायदुव्विघायं
दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं चिरपरिचयमण्णयगयं हुरतं
चउत्थं अहम्मदारं ॥

(जंजू ! इत्यादि) जम्बू ! इति शिष्यामन्त्रणम् । अग्रज अकुशल
कर्म, तच्च मैथुन विवर्जितम्, अन्यन्नाकुशलत्वास्य । आह च-
“नो किञ्चि मण्णसाय, पणिसिद्ध वा यि जिणवर्दिहि । मुत्तं मेहुण-
मेग, न ज विणा रागदोसेहि” ॥ १ ॥ चकार पुनरर्थः । चतुर्थे सूत्र-
क्रमापेक्षया सहदेवमणुजासुरैर्यो लोकः स तथा, तस्य प्रार्थनी-
यमजित्तवर्णीयम् यतः—“हरिहरहिरण्यगर्भ—प्रमुखे भुवनेन को-
ऽप्यसौ शूर । कुसुमविशिखस्य विशिखा—नस्त्वहयद्यो जिनाइ-
न्यः” ॥ १ ॥ पञ्जे महान् कर्षम्, पनकः स एव प्रतलः, सूक्ष्मः
पाशो बन्धनविशेषः, जाल मत्स्यबन्धनम् । एतद्वृत्तमेतदुपम
कलङ्कनिमित्तत्वेन दुर्मोचनत्वेन च साधर्म्यात् । उक्तं च—

“सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
हज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
श्रुचापाकृष्टमुक्ता भवणपथजुषो नीलपद्ममाण एते,
यावल्लीलावतीनां न इदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति” ॥ १ ॥
तथा स्त्रीपुरुषनपुसकवेदानां चिह्नं लक्षणं यत्तत्तथा । तत्र स-
यमग्रहचर्यविघ्नमिति व्यक्तम् । तथा भेदस्य चारित्रजविन-
विनाशस्यायत नान्याभया ये बहव प्रमादा मद्यविकथादय-

स्तेषां मूल कारण यत्तत्तथा । आह च- ' किं किं न कुण्ड किं किं न भासय चित्तं य किं किं न । पुष्पिणो विमयासत्तो, विह लघलिङ्गव मज्जेन ' ॥१॥ कातरा परिरहभीरव, अत एव कापु-
वया, कुत्सितनरास्ते सेविन यत्तत्तथा । सुजनानां सर्वपापवि-
रतानां यो जनसमूहस्तस्य वजंतीय परिहरणीय यत्तत्तथा ।
उर्ध्वं च ऊर्ध्वलोको नरकश्चायोलोकस्त्रियलोक एतल्लक्षण
यत्रैलोक्य तत्र प्रतिष्ठान यस्य तत्तथा । जगमरणगो-
शोकबहुल, तत्रा-यत्र च जन्मनि जगमरणादिकारणत्वात् ।
उच्यते च- ' जो सेवइ किं लब्धइ, ' इति (गाहा) वध-
स्तामन, बन्ध सयमन, विघातो मारणम्, परिमरये दुष्करो
विघातो यस्य तद्वधबन्धविघातदुर्विघातम् । गाढरोगाणां हि
मदापद्यप्यद्वेष्टा नोपशाम्यति । आह च-

' कुश काण खड्ग भवणरदिन पुच्छविकल,
क्षुधाक्षामो जीर्णः पित्ररक्कपालापितगल ।

ग्रणे पूयक्रिन्ने कृमिबुलचित्तैराचितननुः,

शुनीमन्वेति श्वा इतमपि च हत्येव मदन " ॥ १ ॥

दर्शनचारित्रमोहस्य हेतुभूत तन्निमित्तम् । ननु चारित्रमोह-
स्य हेतुरिदमिति प्रतीतम् । यदाह- " तिष्ठकसामो बहुमो-दप-
रिणो रागदोससज्जुतो । बंधइ चरित्तमोह, दुविह पि चरित्त-
गुणघाह " ॥१॥ द्विविध कषायनोकषायमोहनीयभेदान् । यत् पुन-
दर्शनमोहस्य हेतुभूतमिदमिति, तन्न प्रतिपद्यामहे, तद्धेतुबन्धनाभ-
णनात् । तथाहि- ' नक्तुप्रतिपादिका गाथेव श्रूयन् ' अरदतसिरु-
चेइय-तवसुयगुरुसाहुसद्यपरणीओ । वधइ दसणमोह, अणंत-
ससारिओ जेण " ॥१॥ भवतीह वाक्यशेष । सत्यम्, किन्तु स्व-
पक्षाब्रह्ममेवनेन या सप्रत्ययनीकता, तथा दर्शनमोह वन्ततोऽ-
ब्रह्मचर्य दर्शनमोहहेतुना न व्यभिचरति । भण्यते च स्वपक्षाब्र-
ह्मसेवकस्य मिथ्यात्वबन्ध, अन्यथा कथं दुर्लभचोधिस्ताव-
मिदिन ? । आह च- " सज्जइचउत्थभगे, चेइयद्वे य पव-
यण्डुहाइ । रिमिघाये य चउत्थे, मूलग्गी बोहिलाजस्स " ॥१॥
इति । चिर परिचित्तमनाटिकालासेवितम् । चिरपरिगत वा
पाठ । अनुगत अनवच्छिन्न दुर्गन्त दुष्टफल चतुर्थमधर्मद्वारमा-
श्रवद्वारमिति अब्रह्मस्वरूपमुक्तम् ।

अथ तत्रेकार्थकठारमाह-

तस्म य णामाणि गोणाणि एमाणि हुनि तीसं । तं जहा-
अबंभ १ मेदुण २ चरत ३ संसग्गि ४ सेवणादिकारो ५
संकप्पो ६ वाहणा पढाण ७ ढप्पो ८ मोहो ९ मणमंखो-
भो १० अण्णिगहो ११ विग्गहो १२ विघाओ १३ वि-
भंगो १४ विज्जमो १५ अहम्पो १६ असीलया १७ गाम-
धम्मनची १८ रती १९ रागचिन्ता २० कामजोगमारो २१
वेग २२ रहस्स २३ गुज्जं २४ बहुमाणो २५ वज्जवेर-
विग्गो २६ वावत्ति २७ विगहणा २८ पसंगो २९ का-
मगुणो त्ति ३० वि य । तस्म एयाणि एवमादीणि नामधे-
जाणि हुनि तीसं ॥

' तस्मैत्यादि ' सुगमम् । अब्रह्माकुशलानुष्ठान १, मैथुन मिथुनस्य
गुणस्य कर्म २, चतुर्थमाश्रवद्वारमिति गम्यते पाठान्तरेण ।
' चरत नि ' चरन् विषय व्याप्नुवन् ३ संसर्ग सम्पर्क, नन स्त्री-
पुलस्तर्गविशेषत्पत्न्यात् तस्मर्गज्वात्मसर्गादित्युच्यते । आह च-
" नामापि स्त्रीनि म्हादि, विकरोत्येव मानभम् । किं पुनर्द-

शनं तस्या, विलासोल्लासितजुवः " ॥१॥ ४ । सेवनां चौर्यादि-
प्रतिसेवनामधिकारो नियोग सेवनाधिकार, अब्रह्मप्रवृत्तो
हि चौर्याद्यनर्थमवास्वधिकृतो भवति । आह च- " सर्वेऽनर्था
विधीयन्ते, नरैरर्थैकलालसै । अर्थस्तु प्रार्थयते प्रायः, प्रेयसी-
प्रेमकामिभिः " ॥१॥ इति ५ । सकल्पो विकल्प, तत्प्रभवत्वादस्य
सकल्पा इत्युक्तम् । उक्तं च- " काम जानामि ते रूप सकल्पा-
त्किं जायसे । न त्वां सकल्पयिष्यामि, तनो मे न भवि-
ष्यसि " ॥ १ ॥ इति ६ । बाधना बाधदेतृत्वात् । केयाम् ? इत्या-
ह-पदानां सयमस्थानानां प्रजानां वा लोकानाम् । आह च-
" यथेह लोकेष्वपर नगणा-मुत्पद्यते दुःखमसह्यवेगम् । विका-
शिनीलोत्पलचारुनेत्रा, युक्त्वा स्त्रियस्तत्र न हेतुरन्यः " ॥१॥
इति ७ । दर्पो देहरसता, तज्जन्यत्वादस्य दर्प इत्युच्यते । आह
च- " रसा पगाम न निसेवियव्वा, पर रसा वित्तिकरा हवति ।
वित्तं च कामा समजिहवति, दुम जहा सावफलं तु पक्खी " ॥१॥
अथवा दर्पे सौभाग्याद्यभिमानस्तस्य भव चेद न हि प्रशमाहै-
न्याद्वा पुरुषस्यात्र प्रवृत्तिः सम्भवतीति दर्प एवोच्यते । तदुक्तं-
" प्रशान्तवाहिचित्तस्य, सम्भवत्यस्त्रिणां क्रियाः । मैथुनव्यतिरेकि-
ण्यो, यदि राग न मैथुनम् " ॥१॥ इति ८ । मोहो मोहन वेदरूपमोहनी-
योदयसंपाद्यत्वादस्याज्ञानरूपत्वाद्वा मोह इत्युच्यते । आह च-

" इदं वस्तु परं न पश्यति जगत्पन्धः, पुरोऽवस्थितं,

रागान्धस्तु यदस्ति तत् परिहरन् यथास्ति तत्पश्यति ।

कुन्देन्द्रीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमत्पद्मापस्रये,

रोषो नोऽद्युचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते " ॥ १ ॥ ९ ।

मनःसङ्गोऽचित्तचलन, तद्विनेद न जायते इति । उच्य-
ते च- " तिष्ठककङ्कलकम्-पद्मारनिजिज्जजोगसन्नाहा । प्र-
हरिसि जो वा जुवई-ण ज निसेवति गयगव्वा " ॥ १ ॥ १० ।
अनिग्रहोऽनिवेधो मनसो विषयेषु, प्रवर्तमानस्येति गम्यते ।
एतत्प्रभवत्वाच्चास्यानिग्रह इत्युक्तम् ११ । (विग्गहो त्ति)
विग्रहः कण्डः । तद्धेतुत्वादस्य विग्रह इत्युच्यते । उक्तं च-
" ये रामरावणादीनां संग्रामप्रस्तमानवाः । श्रूयन्ते स्त्रीनि-
मित्तेन तेषु कामो निबन्धनम् " ॥१॥ अथवा (विग्गहो त्ति) वि-
ग्रहो विपरीतोऽभिनिवेशस्तत्प्रभवत्वादस्य तथैवाच्यते । यतः
कामिनामिदं स्वरूपम्- " दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखानिमानः, सौ-
ख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखानुष्ठितिः । उत्कीर्णवर्णपदपाङ्क्तिरिवा-
न्यरूप, साक्ष्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् " ॥१॥ १२ । विघातो
गुणानामिति गम्यते । यदाह- " जइ वा णो ' गाथाद्वयम् १३ । वि-
भङ्गो विराधना गुणानामेव १४ । विभ्रमो भ्रान्तत्वमनुपादेयेष्वपि
विषयेषु परमार्थतुल्यता प्रवर्तनाद्, विभ्रमाणां मदनविकाराणां
माश्रयत्वाच्चिभ्रमा इति १५ । अधर्म, अचारित्ररूपत्वात् १६ ।
अशीलता चारित्रवर्जितत्वम् १७ । ग्रामधर्मी शब्दादयः काम-
गुणास्तेषां तस्मिन्नेवेषणं पालनं च ग्रामधर्मनासि, अब्रह्मपुरोहि-
त कुर्वन्तीति अब्रह्मापि तथोच्यते १८ । रति रत, निधुवनमि-
त्यर्थः १९ । रागो रामानुभूतिरूपत्वादस्य, क्वचिद्रागचिन्तेति
पाठः २० । कामभोगे सह मारो मदन मरण वा कामभोग-
मारः २१ । वैरं वैरहेतुत्वात् २२ । रहस्यमेकान्तकृत्यत्वात् २३ ।
गुह्य गोपनीयत्वात् २४ । बहुमानः बहुनां मतत्वान् २५ । ब्रह्म-
चर्य मैथुनविरमण, तस्य विघ्नो व्याघातो य स तथा २६ ।
व्यापत्ति भ्रमो, गुणानामिति गम्यते २७ । एव विराधना २८ । प्र-
सङ्गकामेषु प्रमज्जनमभिपुङ्गः २९ । कामगुणो मकरहेतुकार्थः ।
३० । इति रूपप्रदर्शने । अपिचेति समुच्चये । तस्याब्रह्मस्य एता-

नि उपदर्शितस्वरूपाणि, एषमादीनि एवप्रकाराणि, नामधेया-
नि त्रिशद्वन्ति । काकाऽऽधेय प्रकारान्तरेण पुनरन्यान्यपि
भवन्तीति भाव । उक्त यन्नामेति धारम् ।

अथ ये तत्तुर्वन्ति तद् द्वारमुच्यते—

तं च पुण निसेविति मुरगणा अचक्रा मोहमोहित-
मती असुर ? जुयग २ गरुल ३ विज्जुज्जलणदीवउद-
हिदिसिपवणथणिय १० अणपन्नियपणपन्नियडसिवाइय
जुयवादिपकंदियमहाकंदियकूहंरुपयंगदेवा पिसायचूयज-
क्खरक्खसकिण्णरकिपुरिसमहोरगंधव्वतिरियजोइसवि-
माणवासिमाणयगणा जलयरयलयरखद्वचरा य मोह-
पमिवचचित्ता अवितणहा कामजोगतिसिया णं तएहाए
बलवईए महईए समाजिजूया गठिता य अतिमुच्छिता य
अवजे ओसएणा तामसेण भावेण अणुमुक्का दंसणचरित्त-
मोहस्म पंजरं पि व करेति अष्टमएणं सेवमाण, जुज्जो २
असुरसुरतिरियमणुयजोगरतिविहारसंपञ्चता य चकवट्टी-
सुरनरवतिसक्या सुरवर व्व देवलोए जरहनगणगरनिगम-
जणवयपुरवरदोणमुद्वेककव्वममं वसंवाहपट्टणमहस्समं-
कियं थिमियमेयणियं एगच्छत्तं ससागरं जुजिऊण वसुहं न-
रसीहा नरवतिनरिंदा नरवसहा मरुयवसजकप्पा अञ्ज-
हियं रायतेयलच्छीए दीप्पमाणा सोमा रायवंसतिलगा र-
विससिंखवरचक्खसोत्थियपमागजवमच्छकुम्भरहवरजग—
भवणविमाणतुरंगतोरणगोपुरमणिरयणनंदियावत्तमुसल-
खंगलसुरइयवरकप्पस्वस्वमिगवतिभदासणसुरुइयुजवरमड-
असरियकुएमलकुंजरवरवसजपदीवमदरगरुलज्जभयइंदकेड-
दप्पणअट्टावयचाववाणनक्खत्तमेहमेहलवीणालुगच्छत्त—
दामदामिणिकमंमलुकमलघंटावरपोतसूचीसागरकुमुदागर-
मगरहारगागरनेडरणगणगरवइरकिण्णरमयूरवररायहंस-
सारसचक्रोरचक्रोवागमिहुणचामरखेरुगपव्वीसगविपंचिव-
रतालियंतमिरियाभिसेयमेयणिखगंगकुमविमन्नकलसार्जि-
गारवक्खमाणगसत्थउत्तमविजत्तवरपुरसलक्खणधग व-
क्कीसरायवरसहस्साणुजायमग्गा चउसड्डिसहस्सपवरजुव-
तीणयणकंता रत्ताभा पउमपम्हकोरटगदामचंपगसुत्त-
वरकणकनिकसवएणा सुजायमव्वंगसुंदरंगा महग्घवर-
पट्टणुगयविचित्तरागणीपणीनिम्मियदुगुद्ववरचीणप-
ट्टकोसेज्जसोणीसुत्तकविचूसियंगा वरसुरभिगधवरजुएणवा-
सवरकुमुमजरियसिरया कप्पियच्छेयायरियसुकयरइदमाल-
करुगंगयतुभियवरत्तुसणपिण्णदेहा एकावलिकउसुरइयव-
च्छपलंवलवमाणसुकयपमउत्तरिज्जमुदियापिगलंगुद्वि—
या उज्जलनेवत्तरइयाचिद्वगविरायमाणा तेएण दिवाकरो
व्व टित्ता सारयनवत्थणियमहुरगभीरनिच्छोसा उप्पएण-
समत्तरयणचकरयणपहाणा नवनिहिपइणा समिक्खकोमा

चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाडज्जमानमग्गा तुरंग-
पतीगयपतीरहपतीनरपतीविपुलकुद्ववीसुयजसा सारयससि-
सकलमोम्मवयणा सूरा तिलोक्कनिगयपभावलप्पसदा
समत्तजरहाहिवा नरिंदा ससेलवणकाणणं च द्विमवंतमा-
गरंतं धीरा भोत्तण जरहवास जियसत्तु पवररायसीहा
पुव्वकमतवप्पजावा निविद्धसंचियमृहा अणेगवाससयमा-
उव्वंतो जज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं द्वाडियता अतुल्लम-
इफरिसरसरुवगंधेय अणुजवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्म
अवितित्ता कामाणं, जुज्जो वलदेवा वासुदेवा य, पवरपुरिसा
महाबद्धपरकमा महाधणुवियट्टका महासत्तसागगा दुद्धरा
धणधरा नरवसजा रामकेसवा भायरो सपरिसा वसुदेवस-
मुद्विजयमादिदमाराणं पज्जुएणपयिवसवअनिरुक्कनिम-
दउम्मयसारणगयमुमुदुम्मुहादीणं जायवाण अद्दुद्धाण वि
कुमारकोणीणं हिययदइया देवीए रोहिणीए देवीए देवईए
य हियाणंदहियजावनंदणकरा सोलमरायवरसहस्साणं जा-
यमग्गा सोलसदेवीमहस्मवरणयणहिययदइया णाणाम-
णिकणगरयणमोत्तियपवाद्धधणधससंचया रिद्धिमभिद्धको-
सा हयगयरहसहस्ससामी गामागरणगरखेडकव्वरुमरुवदा-
णमुद्वपट्टणसमसंवाहसहस्साधिमियनिव्वुयप्पमुद्वितजण--
विविहसस्सेयनिप्पज्जमाणमेडणीसरसरियतत्तागसेद्वका—
णणआरामुज्जाणमणाभिरामपरिमहियस्म दाहिणद्वेयद्व-
गिरिविजत्तस्म द्धवणजलपरिगहस्स उव्विहकाद्वगुणकम-
जुत्तस्म अद्धजरहस्म सामिका धीरकित्तिपुरिसा ओहवत्ता अ-
तिवत्ता अनिहया अपराजियसत्तुमहणा रिउमहस्ममानमहणा
साणुकोसा अमच्छरी अचवत्ता अचंसा मियमजुद्धप्पद्वावा
हसियगंभीरमहुरज्जणिया अञ्चुवगयवच्छला सरस्सा ल-
क्खणवंजणुणोववेवा माणुम्माणपमाणपमिपुएणसुजायस-
व्वंगसुदरंगा ससिसोमाकारकता पियदंसणा अमस्सणा प-
यंमदंमप्पयारंगंजीरदरिसिज्जा ताद्वज्जयउविच्छगरुलकेउ-
वद्धवगज्जंतदरितदप्पियमुड्डियचाणुरचरगा रिद्धवसभया-
ती केसरीमुद्वविप्फामगा दरियजागदप्पमहणा जमलज्जुष्-
भंजगा महासड्डिणपूयणरिपू कममउभमोडगा जरासंधमाण-
महणा तेहि य अविरत्तसमसहियचंदमरुलसमप्पजेहिं सू-
रमरीयकवयविणिमुयंतेहिं सप्पकिंदमेहिं आयवत्तेहिं ध-
रिज्जंतेहिं विगयता ताहि य पवरगिरिकुद्वरविहरणस-
मुप्पियाहिं निरुवहयचमरिपत्तिममरीरसजायाहिं अम-
इलसियकमद्वाविमुकुलुज्जद्वितगयतगिरिसिहरविमन्नससिकि-
रणमरिसकद्वहोयनिम्मलाहिं पवणाहयचवत्तचलियसलि-
लियनचियवीथिपसरियखीरोदगपव्वसागरूपूचवत्ताहिं मा-
णससगपसरपराचियावासविसयावेसाहिं कणगगिरिमिहरस-
सियाहिं ओवाउप्पायचवलजवियसिग्घवेगाहिं हम्बधुयाहिं

चेव कश्चिया नाणामणिकणमहग्निहृतवणिज्जुज्जलविचित्त-
दंमाहिं सालिञ्चियाहिं नरवृत्तिरिममुदयप्पकासणकराहिं
वरपट्टण्णगयाहिं समिद्धरायकुलमेवियाहिं कात्तागुरुपवरकुंदुरु-
कतुरुक्कधूववासविसिद्धगधुप्पूयाजिरामाहिं चिद्धियाहिं उ-
जयो पासं पि चामराहिं उक्खिप्पमाणाहिं सुद्धसीयलवाय-
वीयियगा अजिता अनियरहा हत्तमुसत्तकणगपाणी संखच-
कगयसत्तिणदगधरा पवरुज्जत्तसुकयाविमत्तकोधुजकिरीम-
धारी कुंडलउज्जोवियाण्णया पुमरीयणयणा एगावत्तिकउरइ-
यवच्छा सिग्गिच्छसुलंछणा वरजसा सन्वाउयसुरज्जि-
सुमरइयपलवसोहंतवियसतविचित्तवणमालरइयवच्छा अ-
ट्टासयविजत्तत्तक्खणपसत्थसुंदरविराइयगुपंगा मत्तगयव-
रिद्धत्तदियविक्रमविलसियगती कभिसुत्तकनीलपीयकोसे-
ज्जवाससा पवरदित्तयेया सारयणवथणियमधुगंजीराणि-
प्पधोमा नरसीहा सीहविक्रमगती अत्थमिया-पवरराय-
सीहा सोम्मा वारवयिपूण्णचदा पुव्वकयतवप्पजावा नि-
विट्ठसंचियसुहा अणोगवामसयमाउवंतो जज्जाहि य जण-
वयप्पहाणाहिं द्वात्तियता अतुलसद्धफरिसरसरूवगंधे य
अणुजवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्म अवितित्ता का-
माण, जुज्जो मंरुत्तियणरवरिंदा मवद्धा सअंतेउरा सपरिसा
सपुरोहिंया अमच्चडंढणायकसेणावतिमंतिणीतिकुसला
णाणामणिरयणाविपुत्तधणधणसंचयनिहिसमिद्धकोमा र-
ज्जसिरिविपुत्तमणुजवित्ता विक्रोसंता बद्धेण मत्ता ते वि
उवणमंति मरणधम्म अवितित्ता कामाणं, जुज्जो उत्तरकु-
रुदेवकुरुवणविवरपायचारिणो नरगणा भोगुत्तमा जोगल-
क्खणधरा जोगसत्तिरीया पसत्थसोमपट्टिपूण्णरूवदरि-
सणिज्जा मुजायसव्वगसुदरंगा रत्तुप्पलपत्तकत्तकरचरण-
कोमलतत्ता सुपडिद्वियकुम्भचारुचलणा आणुपुव्वसुसंहयगुली-
या उष्णयतणुतबनिच्छनखा संठियसुसिद्धिद्वगूढोफा एणी-
कुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजघा समुगनिमग्गगूढजाणू गयगम-
णमुजायसनि जोखरवारणमत्ततुत्तविक्रमविल्लासियगती व-
रतुरगमुजायगुज्जदेसा आयणहयो व्व निरुवत्तेवा पमुइयवगु-
रयसीहअइरेगवट्टियकमी गगावत्तगदाहिणावत्तरंगजंगुरर-
विकिरणवोहियविकोसायतपम्हगंभीरवियडनाभी साहयसा-
णंदमुसत्तदप्पणनिगारियवरकणगउरुसरिसवरवडरवडियम-
ज्जा उज्जगमममंदिगजत्तणुकसिणनिष्आदिज्जलमहसु-
कुमालमन्थरोमरायी उत्तविहगमुजायपीणाकुच्छी भत्तोदे-
रा पम्हवियरुणाभी संनयपासा संगतपासा सुंदरपामा मु-
जायपासा सितमाइयपीणरइयपासा अकरंमुयकणगरुयगनि-
म्मत्तमुजायनिरुवहयदेहधारी कणगसिद्धात्तत्तपसत्थसमत-
त्तउवइयवित्थिणपिहुलवच्छा जुयसत्तिभा पीणरइयपीवर-
पउट्टसठियसुसिलिद्धविसिद्धरुद्धसुणिचियधणयिरसुवंधसंधी

पुरवरफलिहवट्टियत्तुजा जूइसरविपुलभोगआयाणफलि-
हउच्छूढदीहवाहुरत्ततलोवइयमउयमंसत्तमुजायत्तक्खणपम-
त्थअच्छिदजात्तपाणी पीवरमुजायकोमत्तवंगुली तंवनत्तिण-
सुइरुद्धनिच्छणखा निद्धपाणिद्वेहा चंदपाणिद्वेहा सूरपाणि-
द्वेहा संखपाणिद्वेहा चक्काणिद्वेहा दिसासोवत्थियपाणिद्वेहा
रविससिसंखवरचक्कादिसासोवत्थिविभत्तसुरइयपाणिद्वेहा व-
रमहिसवराहसीहसद्धरिमहनागवरपामेपुत्तविउलखंधा चउ-
रंगुलीप्पमाणकंबुवरसरिमगीवा अवट्टियसुविजत्तचित्तसमं-
सुउवचियमंसत्तपसत्थसद्धत्तविपुत्तहणुया उवचियसिलप्प-
वात्तविंवफलसत्तिजा उधरोट्टा पडुरसमिमकत्तविमत्तसंखगो-
खीरफेणकुददगरयमुणालियाधवलदंतमेदी अखरुदंता अ-
फुमियदंता अविरत्तदंता सुणिद्धदंता मुजातदंता एगदंत-
सेदी व्व अणोगदंता हुतवहनिद्धं तथोतत्तत्तवणिज्जरत्तत्त-
तात्तुजीहा गरुत्तायतउज्जतुंगनासा अवदालियपुंमरीयनय-
णा विकोसियधवत्तपत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्त-
न्नरायिसंठियसंगयायत्तमुजायत्तमग्गा अट्टाणिपमाणजुत्त-
सवणा सुस्सवणा पीणमसत्तकवोलदेसभागा अचिरुगय-
वात्तचदसंठियमहानिद्धाहा उडुपत्तिपमिपुत्तसोमवयणा उ-
त्तागारुत्तमंगदेसा धणनिचियसुवत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्त-
निभपिंभिवग्गमिरा हुतवहनिद्धंतथोतत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्त-
तकेसज्जुमी सामत्तिपौरुधणनिचियच्छोकियमिच्छविमयपस-
त्थसुहुत्त-
द्धभपरगणनिच्छनिउरंभनिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसि-
रया मुजायसुविभत्तसंगयंगा द्वाक्खणवज्जणगुणोववेया पस-
त्थवत्तीसत्तक्खणधरा हसस्सरा कौचस्सरा दुंदुहिस्सरा सीह-
स्सरा मेघस्सरा ओघस्सरा सुस्सरा सुस्सरनिग्गोमा वज्जरि-
सभनारायसंघयणा समचउरंससंठाणसंठिया ठाया उज्जोवे-
यगमंगा पसत्थत्तवी निरातंका कंकगहणा कवोत्तपरिणामा
सउणिपासपिट्ठतरोरुपरिणया पउमुण्णत्तसरिसंगंधसाससु-
रभिवयणा अणुत्तोमवाउवेगा अवदायनिष्कात्ता विग्ग-
हउत्तयकुच्छी अमयरसफलाहारी तिगऊयममुच्छिया तिप-
लिओवमद्धितीया तिप्पि य पद्धिओवमाइं परमाउं पात्तइत्त ते
वि उवणमंति मरणधम्म अवितित्ता कामाणं, पमदा वि य तेसिं
हुंति सोमा मुजायसव्वंगसुंदरिओ पहाणमहिद्धागुणेहिं जुत्ता
अतिकत्तविसप्पमाणमउयसुकुमात्तकुम्भमंठियसिलिद्धचलणा
उज्जुपउयपीवरसुसंहंतगुलीओ अब्भुत्ततरइयतत्तिणतं-
वसुइनिच्छनखा रोमरहियवट्टसठियअजहत्तपसत्थलक्ख-
णअक्कोप्पजंघजुयत्ता सुणिम्मित्तमुनिग्गुत्तानुपंसत्तपसत्थ-
सुवत्तसंधी कयत्तीखंभाजरेगमंठियनिव्वणसुकुमात्तमउयको-
मलअविरत्ता ममसहितवट्टपीवरनिरंतरोरु अट्टावयवीतिपट्ट-
संठियपसत्थवित्थिणपिहुत्तसोणी वट्टणायामप्पमाणदुगु-

णियविसाद्वमसत्रमुवज्जहणवरधरीओ वज्जविराडयपस-
 त्वज्जञ्चणनिरोदरीओ तिवालिवधिततणुनमितमज्झभाओ
 उज्जुयसमसद्वियजञ्चतणुकासिणनिष्ठादेज्जलरुहमुकुमा-
 द्दमउयसुविभत्तरोमराई गंगावत्तगदाहिणावत्तरगमं-
 गरविकिरणतरुणवोदितअकोमायंतपजमगंजीरविगमनाभी
 अणञ्जदपमत्यसुजायपीणकुच्छी समतपासा सन्नयपासा
 सुजायपासा मियमायितपीणरायियपासा अकरंभुयकणगरु-
 यगनिम्मलसुजायनिरुवहयगायलढी कंचणकलसम्पमाण-
 समसंहितलड्ढुचुयआमेद्वगजमलजुयद्ववट्टियपओहरा भुय-
 गअणुपुवत्तणुयगोपुच्छवट्टममसहितनिम्मियआदेज्जलरुह-
 बाहा तवनहा मंसलग्गहत्था कोमलपीवरंगुद्धीया णिष्ठा-
 पाणिद्वेहा ससिसूरसंखचक्रवरसोत्थियविभत्तमुविरडयपा-
 णिद्वेहा पीणुषयककखवात्थिप्पदेमपमिपुषगद्वकपोला चउ-
 रगुलमुप्पमाणकंबुनरसरिसगीवा मंसलसत्रियपसत्थहणुया
 दाद्विमपुप्फप्पकासपीवरपद्ववकोचियवराधरा सुंदरोत्तरडा
 दहिदगरयकुदचदवासतिमउद्वअग्निहविमलदसणा रत्तुप्प-
 लरचपजमपत्तसुकुमालतालुजीहा कणवीरमउद्वकुडिलअ-
 न्नुषयउज्जतुगनासा सारदनवकमद्वकुमुयकुवलदलनिग-
 रसरिमलवखणपसत्थनिम्मलकतनयणा अनामियचावरु-
 लाकियहरासंगयसुजायतणुकमिणनिष्ठाचमगा अद्वीण-
 पमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमद्वगंमलेहा चउरगुल-
 विसाद्वसमनिमाला कोमुदिरयाणिकरविमद्वपमिपुषमोमव-
 यणा उत्तुषयउत्तमंगा अकविलसुमिणिष्ठादीहमिरया उ-
 त्तज्जुयजुवधूजढामणिक्कमंरुलुकद्वसवाविसोत्थियपढागज-
 वमउकुम्परहवरमयरज्जयअंकथाद्वअंकुसअट्टावयसुपतिट्ट-
 अमरासिरियाभिसेयतोरणमेयिणिउदधिवरपवरभवणगिरि-
 वरवरायंससुलद्वियगयवसभसीद्वचामरपसत्थवत्तसिलकख-
 णधरीओ हंससरिञ्जतीओ कोइलमहुयरिगिराओ
 कंता मन्वस्स अणुमयाओ ववगयवढीपद्वियवंगद्ववसवाहि-
 दोजगसोयमुक्काओ उच्चत्तेण य नरथोवूणमूसियाओ सिं-
 गारागारचारुवेमा सुंदरथणजहणवयणकरचद्वणयणा द्वा-
 वस्ररुवजोव्वणगुणोव्वंया णदणवणविवरचारिणीओ अ-
 च्छराओ उत्तरकुरुमाणसच्छराओ अच्चेरगयेच्छिणिया-
 ओ तिप्पि पलिओवेमाई परमाउ पालयित्ताओ वि उवण-
 मंति मरणधम्मं अतित्ता कामाणं, मेहुणसन्नपगिद्धा य मोहभ-
 रिया सत्थेहिं हणंति एकमेकं विसयं विमउदीरपहिं अवरे
 परदारेहिं हणति विसुणिया धननासं मयणविप्पणासं च
 पाउणति, परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणससुसपणि-
 ध्वा य मोहभरिया अस्मा इत्थी गवा य महिमा मिगा य मा-
 रिति एकमेकं मणुयगणा वानरा य पक्खी य विरुज्जति
 भित्ताणि खिप्पं जवंति, सत्तू समयधम्मगणे य जिंदंति

पागदारी धम्मगुणरया य वजयारी खणेण उल्लोहयचरि-
 ताओ जसमंतो मुव्वया य पावति अयमकिंति रोगचा वाहि-
 ता वृष्टंति रोयवाही, दुव्वे य द्वायदुराराहगा जवति, इहद्वोए
 चेव परलोए परस्म दाराओ जे अविरया तदेव केड परस्म
 दारं गेमेमाणा गहिया य हया य वच्छरुद्धा य एवं० जाव
 गच्छति विपुत्तमोहाजिन्नुयससा मेहुणमूदं च मुव्वण तत्थ
 तत्थ वत्तपुव्वा मगामा जणक्खयकरा मीताए दोवतीए य
 कए रूपिणीए पजमावतीए नाराए कंचणाए रत्तमुजदाए
 अद्विद्धायाए सुवसुगुलियाए किन्नरिए य सुरूवविज्जमती-
 ए रोहिणीए य अस्सेसु य एवमाइसु वहवे महिलाकए
 सुव्वाति अतिकंता सगामा गामधम्ममूद्धा, इह लोए ताव
 नद्धा परलोए य नद्धा महया मोहतिमिरंधकारे धोरे तम-
 थावरसुहुमवायारेसु पज्जत्तमपज्जत्तत्ताहारणसरीरपत्तेयमरी-
 रेसु य अंभजपोयजराउजरसनससेइमसमुच्चिमउज्जिज्जउ
 ववाइएसु य नरगतिरियदेवमाणुसेसु जगमरणरोगसोगव-
 हुले पडिओवमसागरोवमाइं मणादीयं अणवदग्ग दीहमद्व
 चाउरतससारकतार अणुपरियट्टति जीवा महामोहवसंसनि-
 विद्धा; एसो सो अवजस्स फट्ठाविवागो इह लोइओ परदोइ-
 ओ य अप्पसुहो बहुदुक्खो मदञ्जओ वदुरयप्पगाढो दारुणो
 कक्कसो असाओ वाससइस्सेहिं मुच्चाति न य अवयेइत्ता
 अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहसु नायकुद्वनदणो महप्पा
 जिणो वरवीरनामधेज्जो कहेसी य अवभस्स फट्ठाविवागो,
 एयं त अवज पि चउत्त पि सदेवमणुयासुरस्स लोगस्म
 पत्थणिज्ज एव चिरपरिचियमणुगय दूरं तं चउत्तं अहम्म-
 दारं सम्मत्तं त्ति वेमि ।

(त च पुण निसोविति । त्ति) तच्च पुनरब्रह्म निषेवन्ते सुर-
 गणा वैमानिकदेवसमूहा साप्सरस सदेवीका, देव्योऽपि
 सेवन् इत्यर्थ (इत्यादिटीकाऽनुपयोगिनी महती चेत्युपेक्षिता)
 प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

शेषद्वारच्य मध्य एवायातम् । अब्रह्म मैथुनमिति पर्यायै ।
 (मैथुनशब्देन चोच्यमानो विषयो ' मेहुण ' शब्द एव वक्ष्यते)
 " अबभचारिय घोर, पमाय डुरहिठिय । नायरति मुणी होप,
 भेयापणविचज्जण " ॥१॥ दश० ६ अ० ।

अवंभवज्जण-अब्रह्मवर्जन-न० । दिवा रात्रौ वा पत्न्याद्याश्रि-
 त्य मैथुनत्यागरूपायां षष्ठ्यामुपासकप्रतिमायाम्, तत्स्वरूप
 चैवम्- ' पुत्रोदियगुणजुत्तो, विसेसओ विजयमोहणिज्जो य "
 प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । (' उवासगपमिमा ' शब्दे द्वितीयभागे
 ११०५ पृष्ठे व्याख्याऽस्य द्रष्टव्या)

अवज्ज-अवध्य-त्रि० । वधमर्हति यत् । न० त० । वधानर्हं,
 " अवमाणय वज्जाण " अकारलोपे ' वज्जाण ' इति भवति ।
 तत्र अवध्यानां वधानर्हाणामपि विद्वेषिवचननो वध्यत्वेन स्था-
 पितानां सुदर्शनसुजानादीनामिव देवनाप्रातिहार्यतो निराकृत-
 बध्यत्वदोषाणां । तथा० ।

इह कर्मप्रवादान्मन्यष्टमे पूर्वे कर्मविचारे प्रस्तुते दुर्बलिका-
पुष्पमित्र एव व्याख्यानयति । तद्यथा-जीवप्रदेशे सह बद्ध बद्ध-
मात्रमेव कर्म जवति । यथा-प्रकषायस्येयोपधप्रत्यय कर्म, तच्च
कालान्तरस्थितिमवाप्यैव जीवप्रदेशेऽन्यो विघटते, शुष्ककुड्या-
पतितचूर्णमुष्टिवदिति । अन्यत्तु (पुष्ट ति) बद्धमित्यत्रापि
सबध्यते, ततश्च बद्धं स्पृष्टं चेत्यर्थः । तत्र बद्ध जीवेन सह
सयोगमात्रमापन्न, स्पृष्ट तु जीवप्रदेशैरात्मीकृतम् । एतच्चेत्य बद्धं
सत्कालान्तरेण विघटते आर्द्धलेपकुड्ये सखेहचूर्णवदिति ।
(निकाश्यं ति) बद्धं स्पृष्टं चेत्यत्रापि सबध्यते । ततश्चापर-
किमपि कर्म बद्धं स्पृष्टं निकाचितं भवतीत्यर्थः । तत्र तदेव ब-
द्धस्पृष्ट गाढतराध्यवसायेन बद्धत्वादपवर्तनादिकरणयो-
ग्यतां नीत निकाचितमुच्यते । इह च कालान्तरेऽपि विपाक-
तोऽनुभवमन्तरेण प्रायेणापगच्छति, गाढतरबद्धत्वाद्, बाह्य-
कुड्यपक्षेऽपि निविडभ्वेतकाहस्तकवदिति । अयं च त्रिविधोऽपि
बन्धः सूचीकलापोपमानाद्भावनीयः । तद्यथा-गुणावेष्टितसूची-
कलापोपम बद्धमुच्यते, लोहपट्टबद्धसूचीसघातसदृश तु बद्ध-
स्पृष्टमभिधीयते, बद्धस्पृष्टनिकाचितं त्वग्निप्रसघनाहतिक्रोमी-
कृतसूचीनिचयसन्निभ भावनीयमिति । नन्वनिकाचितस्य क-
र्मणः को विशेषः ? इत्याह-(उव्वट्टणेत्यादि) इह कर्मविषया-
ण्यष्टौ करणानि भवन्ति । उक्तं च-"बध्णसंकमऽणुव-ट्टणा य
उव्वट्टणा उईरणया । उवसावणा निवत्ती, निकायणा वत्तिकर-
णाह" ॥१॥ तत्र निकाचिते कर्मणि स्थित्यादिखण्डनरूपा (उव-
ट्टणं ति) उपवर्तना प्रवर्तते । तथा-(उक्केरो ति) स्थित्यादिवर्द्धन-
रूप उत्कोच उव्वर्तना । तथा-(सट्ठोमो ति) असातादे' सातादौ
क्षेपणरूप सक्रम । तथा-(खवणं ति) प्रकृत्यन्तरसक्रामितस्य
कर्मणः प्रदेशोदयेन निर्मरण क्षणम् । तथा-(अणुभवो ति)
स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकतो वेदनमनुभव । इदं
चोपलक्षणमुदीरणादीनां, तदेतान्यपवर्तनादीनि सर्वाण्यप्यानि-
काचिते कर्मणि प्रवर्तन्ते । निकाचिते तु प्रीयो विपाकेनानु-
भवमेव प्रवर्तते, न पुनरपवर्तनादीनीत्यनयोर्विशेष । नमावी-
र्णविकृष्टतपसामुत्कटाध्यवसायबन्धेन 'तवसा च निकाश्याण
पीति' वचनान्निकाचितेऽपि कर्मण्यपवर्तनादिकरणप्रवृत्ति-
र्भवतीति प्रायोग्रहणम् । तदत्र व्याख्याने क्षीरनीरन्यायेन
बहिनसायोगोलकन्यायेन वा जीवप्रदेशैः सह कर्म सबद्ध-

मिनि पर्यवसितम् । विन्ध्यसमीपे भुत्वा तथाविधकर्मोदयादभि-
निवेशेन विप्रतिपन्नो गोष्ठामाहितः । प्रतिपादयति-ननु सद्योप-
मिदं व्याख्यानम्-यस्मादेव व्याख्यायमाने भवता मोक्षाभावः
प्राप्नोति, जीवप्रदेशैः सह कर्मणामभिभागेन तादात्म्येनाव-
स्थानादिति ।

अमुमेवार्थं प्रमाणनः साधयन्नाह-

न हि कम्पं जीवाद्भ्यो, अवेडं अविभागश्चो पपसो व्व ।
तदणवगमादमोक्त्वो, जुत्तमिणं तेण वक्खाणं ॥

नहि नैव कर्म जीवात्पैतीति प्रतिज्ञा । अविभागाद् बहुष्यो-
गोलकन्यायतो जीवेन सह तादात्म्यादित्यर्थः, पप हेतुः ।
(पपसो व्व स्ति) जीवप्रदेशराशिवदित्यर्थः, एष दृष्टान्तः ।
इह यद्येन सदाविभागेन व्यवस्थितं न तत्ततो विद्युज्यते, यथा
जीवात्तत्प्रदेशनिकुरम्बम् । इष्यते चाविभागो जीवकर्मणो-
र्भेदिरिति न तस्माद्विद्युज्यते, ततस्तदपगमात्तस्य कर्मणो-
जीवादनपगमादवियोगात्सर्वदैव जीवानां सकर्मकत्वान्मोक्षा-
प्राप्तिः, तेन तस्माद्विदमिदं मदीयं व्याख्यानं कर्तुं युक्तमिति ।

तदित्याह-

पुडो जहा अबच्छो, कंचुइणं कंचुओ समभेइ ।
एव पुठमवच्छं, जीवं कम्मं समभेइ ॥

यथा स्पृष्टः स्पर्शनमात्रेण संयुक्तोऽवच्छिन्नः क्षीरनीरन्यायादलोली-
भूत एव कञ्चुको विषधरनिर्माकः कञ्चुकिन विषधरं समन्वेति
समनुगच्छति, एव कर्मापि स्पृष्टं सर्पकञ्चुकवत्स्पर्शनमात्रे-
णैव संयुक्तमवच्छिन्नं बहुष्यः पिरडादिन्यायादलोलीभूतमेव जीव
समन्वेति, एवमेव मोक्षोपपत्तेरिति । विशेषः । “यतो यज्ञेत्स्य-
ते तेन, स्पृष्टमात्रं तदित्येताम् । कञ्चुकी कञ्चुकेनेव, कर्म
मेत्स्यति चात्मनः ” ॥ १ ॥ प्रयोगः-यद्येन भविष्यत्पृथग्भावं,
तत्तेन स्पृष्टमात्रं, यथा कञ्चुकः कञ्चुकिना, भविष्यत्पृथग्भावं
व कर्म जीवेन । उक्तं ३ अ० ।

[प्रत्याख्यानविषया विप्रतिपत्तिः]

तदेव कर्मविचारे विप्रतिपत्तिमुपदर्शयद्दानीं प्रत्याख्यानविष-
यां विप्रतिपत्तिमुपदर्शयन्नाह-

सोऊण भन्नमाणं, पच्चक्खाणं पुणो नवमपुव्वे ।
सो जावजीव विहियं, तिविहं तिविहेण साहूणं ॥

स गोष्ठामाहितः कर्मविचारे विप्रतिपन्नः पुनरन्यदा नवम-
पूर्वे “ करेमि भंते ! सामास्यं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि
जावजीवाय ” इत्यादि । यावज्जीवावधिकं साधूनां संबन्ध-
प्रत्याख्यानं भण्यमानं विन्ध्यसमीपे विचार्यमाणं शृणोति ।

तदेव कृत्वा किं करोति ?, इत्याह-

जंपडं पच्चक्खाणं, अपरीमाणं होइ सेयं तु ।
जेसिं तु परीमाणं, तं दुट्ठं आसंसा होइ ॥

गोष्ठामाहितो जल्पति-ननु प्रत्याख्यानं सर्वमपि अपरिमाण-
तया अवधिरहितमेव क्रियमाणं श्रेयोहेतुत्वाच्छ्रेयः शोभन
भवति, येषां तु व्याख्यानं प्रत्याख्यानस्य यावज्जीवादिपरिमाण-
मवधिर्विधीयते तेषामनेन तत्प्रत्याख्यावमाशसाद्योपद्रुत्वात्
दुष्टं सद्योप प्राप्नोति ।

अत्र भाष्यम्-

आमंसा जा पुणे, सेविस्सामि ति दसियं तीए ।
जेण सुयम्मि वि जणियं. परिणामाओ असुच्छं तु ॥

आशसातः प्रत्याख्यानं दुष्टमित्युक्तम् । तत्राशसा का ?, इ-
त्याह-(जस्ति) या एवविधपरिणामरूपा । कथंभूतं परिणामः?,
इत्याह-पूर्णे प्रत्याख्याने देवलोकादीं सुगङ्गनासभोगादिभो-
गानहं सेविष्ये, इत्येवभूतपरिणामरूपा च या आशसा, तथा
प्रत्याख्यानं दूषितं भवति । कुतः ?, इत्याह-येन श्रुतेऽप्यागमे-
ऽपि भणितं, दुष्टपरिणामाशुद्धे प्रत्याख्यानमशुद्धं भवति ।
तथा चागम-“ सोही सद्वणा जा-णणा य विण्णपण्णभा-
सणा चेव । अण्णपाहणा विसोही, भारविसोही भवे उछा ” ॥
तत्र ‘पच्चक्खाणं सव्वमुदसियं’ इत्यादिना भ्रष्टानादिषु व्या-
ख्यातेषु भावविशुद्धेर्यद् व्याख्यानं तत्प्रकृतोपयोगीति दृश्यते ।
“रागेण च दोसेण, परिणामेण च न दसियं ज तु । तस्सु पच्च-
क्खाणं, भावविशुद्धं मुण्येव” ॥१॥ इति । विशेषः । (एते विप्र-
तिपत्ती २५६ पृष्ठे ‘कम्म’ शब्दे, ‘पच्चक्खाणं’ शब्दे च वक्ष्येते)
एवं युक्तिभिः प्रज्ञापितेऽपि यावदसौ न किञ्चित्प्रतिपद्यते ततः
किं सजातम् ?, इत्याह-

इयं पणविओ वि न सो, जाहे सद्वहं पूसमिन्तेण ।
अन्नगणत्थेरोहि य, काउं तो संघरुमवायं ॥
आहूय देवय वे-इ जाणमाणो वि पच्चयणिमित्तं ।
वच्च जिणिदं पुच्छमु, गयागया सा परिकहेइ ॥
संघो सम्मावाइ, गुरुपुरो गो ति जिणवरो जणइ ।
इयरो मिच्छावाइ, सत्तमओ निणहओऽयं ति ॥
एइसे सामत्थं, कचो गंतुं जिणिदमूलम्मि ।
वेइ कडपूयणाए, सघेण तओ कओ बज्झो ॥

चतसृणामप्यासामङ्गरार्थं झुगम एव । जावार्थस्तु कथानक-
शेषादवसेयः । तच्चेदम्-एव युक्तिभिः प्रज्ञाप्यमानो यावदसौ न
किमपि भ्रूते तावत्पुष्पमित्राचार्यैरन्यगच्छगतबहुश्रुतस्थवि-
राणामन्तिके नीतः, ततस्तैरप्युक्तोऽसौ-यादृशं सूरयः प्ररूपय-
न्त्यार्यैरन्तिसूरिभिरपि तादृशमेव प्ररूपितं, न हीनाधिकम्, ततो
गोष्ठामाहितेनोक्तम्-किं यूयमृषयो जानीथ ?, तीर्थं करैस्तादृशमेव
प्ररूपितं यादृशमहं प्ररूपयामि । ततः स्थविरैरुक्तम्-मिथ्याभि-
निविष्टो मा कार्षीस्तीर्थंकराशातनाम्, न किमपि त्वं जानासि ।
ततः सर्वविप्रतिपत्तेः तस्मिन् सर्वैरपि तैः सघसमवायः कृतः ।
सर्वेणापि च संघेन देवताज्ञानार्थं कायोत्सर्गो विहितः । ततो ज-
डिका काचिद्देवता समागता । सा वदति स्म-सदृशं किं क-
रोमि ? । ततः संघः प्रस्तुतमर्थं जानन्नपि सर्वजनप्रत्ययनिमित्तं
ब्रवीति-महाविदेहं गत्वा तीर्थंकरमापृच्छस्व, किं दुर्बलिकापु-
ष्पमित्रप्रमुखः संघो यद्गच्छति तत्सत्यमुत यद्गोष्ठामाहितो वद-
ति ? । ततस्तथा प्रोक्तम्-मम महाविदेहे गमनागमने कुर्वन्त्याः
प्रत्यूहानुघातार्थमनुग्रहं कृत्वा कायोत्सर्गं कुरुत, येनाहं गच्छा-
मि । ततस्तथैव कृतं सघेन । गता च सा । पृष्ट्वा च भगवन्तं प्र-
त्यागता कथयति स्म-यदुत तीर्थंकरः समादिशति-दुर्बलिका-
पुष्पमित्रपुरस्मरसघं सम्ब्रूवादी । गोष्ठामाहितस्तु मिथ्या-
वादी; सप्तमध्यायं निहव इति, तदेतच्छ्रुत्वा गोष्ठामाहितो
ब्रवीति-नन्वल्पार्थिकेयं धराकी, का नामैतस्याः कटपुतना-

यास्तीर्थकरान्तिके गमनशक्तिरित्येवमपि यावदसौ न किञ्चि-
न्मन्यते तावत्सधेनोदात्त बाह्यः कृतोऽनाहोचितप्रतिक्रान्तश्च
काल गत ॥ ५४२ ॥ विशेषः ॥

अवम्हञ्ज-अब्रह्मण्य-त्रि० । न० ब० । मागध्याम्-“न्य-
एय-ऊ-०जां ङ्य ” । ८ । ४ । २६३ ॥ इति मूत्रेण एयस्थाने छि-
रुक्तो ङ्य । प्रा० ४ पाद । ब्रह्मण्यशून्ये, अर्थाभा० अव्ययी०, त०
वा । ब्रह्मण्यजाये, वाच० ।

अबल-अवल-न० । न बल सामर्थ्यमुत्कर्षो वा । अभावं न०त० ।
बलाभावे, वाच० । शरीरबलवर्जिते, त्रि० । विपा० १ श्रु० ३ अ० ।
सूत्र० । भ० । विषमपदादौ गर्तुमसमर्थे, जार घोटुमसमर्थे च ।
मूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । ज० । ज्ञा० ।

अबलत्त-अबलत्व-न० । अबलस्य जावोऽबलत्वम् । बला-
भावं, वृ० ६ उ० ।

अबला-अबला-स्त्री० । महिलायाम्, की० । अकिञ्चित्करा-
याम्, वृ० १ उ० ।

अबहिद्व-अबहित्य-न० । आकारगोपने, वाच० । मैथुने, सूत्र०
१ श्रु० ६ अ० ।

अबहिम्पण-अबहिर्मनस्-त्रि० । न विद्यते बहिर्मनो यस्यासा-
वबहिर्मना । सर्वज्ञोपदेशवर्तिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

अबहिल्लेस्म-अबहिल्लेश्य-त्रि० । अविद्यमाना बहिः संयमा-
द् बहिस्ताल्लेस्या मनोवृत्तिर्यस्यासावबहिल्लेश्य । भ० २ श०
१ उ० । प्रश्न० । औ० ।

अबहुवादि (ण)-अबहुवादिन्-त्रि० । असकृदव्याकुर्वाणे,
आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अबहुस्मुय (त)-अबहुश्रुत-पुं० । बहु श्रुत यस्य स बहुश्रुतः,
न बहुश्रुतोऽबहुश्रुत । अनधीतनिशीथाध्ययने, अश्रुनाघस्तन-
कृते च । नि० चू० १ उ० । अबहुश्रुतो नाम येनाचारप्रकल्पो
निशीथाध्ययननामकः सूत्रतोऽर्थेनश्च नाधीतः । व्य० ३ उ० ।

बहुश्रुतस्वरूपं च तद्विपर्ययपरिज्ञाने तद्विवेकं सुखेनैव ज्ञायत
इत्यबहुश्रुतस्वरूपमाह-

जे यावि होइ निविज्जे, यखे लुद्धे अणिगहे ।

अनिक्खणं उल्लवङ्ग, अविणीए ऽबहुस्सुए ॥ २ ॥

(जे यावि ति) य कश्चित्, चापिशब्दौ भिन्नक्रमत्वाद् उत्त-
रत्र योह्येते, भवति जायते, निर्गतो विद्यायाः सम्यक्शाला-
वगमरूपाया निर्विघ्नोऽपि यस्तन्धोऽहङ्कारी, लुब्धो रमादिगृ-
हिमात्र, न विद्यते विग्रह इन्द्रियनियमनात्मकोऽस्येत्यनिर्गहो
ऽर्भादणं पुन पुनस्तप्राबल्येनासबद्धभाषितादिकेण तपति यकिं
उल्लपति । अविनीतश्च त्रिनयविरहितो (अबहुस्सुए ति) य-
त्तदोर्निन्यानि सवन्धात् सोऽबहुश्रुत उच्यत इति शेषः । सवि-
यस्याऽप्यबहुश्रुतत्वं, बहुश्रुतफलाभावादिति भावनीयम् । एत-
द्विपरिणतस्त्वर्थाद्बहुश्रुत इति सूत्रार्थः ।

कुनः पुनरीदृशमबहुश्रुतत्वं लभ्यते, इति तत्कारणमाह-

अह पचाहि णाणोहिं, नेहिं मिकखा न लब्धऽ ।

यंभा कोहा पमाणं, रोगेणालस्सएण य ॥ ३ ॥

अथेत्युपन्यासार्थः । यश्च अभि पञ्चसुख्येस्तिष्ठन्त्येषु कर्मवशमा
जन्तव इति स्थानानि, नै, यैरिति वक्ष्यमाणैर्हेतुभिः शिक्षण शि-
क्षा, ग्रहणसेवनात्मिका न लज्यते नावाप्यते, तैरीदृशमबहुश्रु-
तत्वमवाप्यत इति शेषः । कैः पुनः सा न लभ्यते ? इत्याह-
स्तम्भाद् मानात्, क्रोधात् कोपात्, प्रमादेन मद्यविषयादिना,
रोगेण गलतकुप्यादिना, आलस्येनानुत्साहात्मना, शिक्षा न ल-
ज्यत इति । क्रमश्च समस्तानां व्यस्तानां च हेतुत्वमेवां द्योत-
यतीति । उक्त० ११ अ० ।

अबालुया-अबालुका-स्त्री० । अबाधुशब्दायै चिकणप-
दार्थे, त० ।

अबाहा-अबाधा-स्त्री० । बाधु-लोमने, बाधत इति बाधा, कर्मण
उदयः । न बाधाऽबाधा । कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरे, भ०
६ श० ३ उ० । स० । ज० । बाधा परस्पर सन्निपेतः पीडन,
न बाधाऽबाधा । भ० १४ श० ८ उ० । व्यवधानापेक्षयाऽन्तरे,
स० ४२ सम० । विशेषः । आ० चू० । (अबाधया अन्तरम्-‘अतर’
शब्देऽस्मिन्नेव जागे ७८ पृष्ठे उक्तम्)

मंदरस्स णं जंते ! पव्वयस्स केवइयाए अबाहाए जोइसं चारं
चरइ ? । गोयमा ! इकारसेहिं इकवीसेहिं जोयणसएहिं अबाहाए
जोइसं चारं चरइ । लोगंताओ णं जंते ! केवइयाए अबाहाए
जोइसं चारं चरइ । गोयमा ! एकारसिं एकारसेहिं जो-
अणसएहिं अबाहाए जोइसे पण्णत्ते । धराणितलाओ णं
जंते ! सत्तहिं णउएहिं जोअणसएहिं जोइसं चारं चरइ ।
एवं सूरविमाणे अट्ठहिं सएहिं चंदविमाणे अट्ठहिं अ-
सीएहिं उवरिल्ले ताराखे खविं जोअणसएहिं चारं
चरइ । जोइसस्स णं जंते ! हेडिद्धाओ तलाओ केवइयाए
अबाहाए सूरविमाणे चारं चरइ ! । गोयमा ! दसहिं जो-
अणेहिं अबाहाए चारं चरइ । एवं चंदविमाणे णउएहिं
जोअणेहिं चारं चरइ । उवरिल्ले ताराखे दसुत्तरे जोअ-
णसए चारं चरइ , सूरविमाणाओ चंदविमाणे असौए जो-
अणेहिं चारं चरइ, सूरविमाणाओ जोअणसए उवरिल्ले
ताराखे चारं चरइ, चंदविमाणाओ बीसाए जोअणेहिं
उवरिल्ले ताराखे चारं चरइ ।

(मंदरस्स णं जंते ! इत्यादि) मन्दरस्य मदन्त ! पर्वतस्य
कियत्या अबाधयाऽपान्तरात्तेन ज्योतिश्च चारं चरति ? । ज-
गवानाह-गौतम ! जगत्स्वभावादेकादशजिरेकाविंशत्यार्धकै-
र्योजनशैतिल्येवरूपयाऽबाधया ज्योतिष चारं चरति । कि-
मुक्तं नवति ? मेरुतश्चक्रवातेन एकविंशत्यधिकान्येकादशयोज-
नशतानि मुक्ता चलन् ज्योतिश्चक्रं ताराखं चारं चरति, प्र-
क्रमाश्चन्द्राणां पगतमवसेयम् । अन्यथा लवणसमुद्रादिय्योति-
श्चक्रस्य मेरुतो दूरवर्तित्वे प्रमाणासम्भवः । पूर्वं तु सूर्यच-
न्द्रवत्कथ्यताधिकारे अबाधाद्वारे सूर्यचन्द्रयोरेव मेरुतोऽबाधा
उक्ता, साम्प्रत तारापटलस्य, इति न पूर्वापरविरोध इति । अथ
स्थिर ज्योतिश्चक्रमलोकतः । कियत्या अबाधया अर्वाणं भवति-
मत इति विपृच्छिषुश्चतुर्थे द्वारमाह-(लोगंताओ णमित्यादि)

अबाहा

लोकान्ततः अलोकादितोऽर्वाकं कियत्या अबाधया प्रक्रमात् स्थिर ज्योतिष्मक प्रहस्तम् । भगवानाह—गौतम ! जगत्-स्वजायाद् एकादशभिरेकादशाधिकैर्योजनशतैरबाधया ज्योतिष प्रहस्त, प्रक्रमात् स्थिर बोध्यम्, चरज्योतिष्मकस्य तत्राभावादिति । अथ पञ्चमद्वार पृच्छन्ति—' धरणिनलाभो ण जते ! ' इत्यनेन तत्सूत्रैकदेशेन परिपूर्णं प्रश्नसूत्र बोध्यम् । तच्च—' धरणिनलाभो ण भने । उहु चप्पइत्ता केयइत्ताप अबाहाप दिठिठ्ठे जोइस्से चार चरत् । ' गोयमा । " इत्यन्तं वस्तु-देशस्य वस्तुस्थित्यस्मारकत्वनिष्ठमात् । तत्रायमर्थः—धरणिनलात् समयप्रसिद्धात् समभूतलज्जनागादूर्ध्वमुत्पत्य वि-यत्याऽबाधया अधस्तन ज्योतिष तारापटलं चारं चरति । भगवानाह—गौतम ! सप्तभिर्नवत्यधिकैर्योजनशतैरित्येवरूपया अबाधया अधस्तन ज्योतिष्मक चारं चरति । अथ सूर्यादिय-पयमबाधास्वरूपं सक्रियं भगवान् स्वयमेवाह—(एव सूर्यविभागे भद्राहं सदाहं चदं) इत्यादि । एवमुक्त्यायेन यथासमभूमिनागादधस्तन ज्योतिष्मक नवत्यधिकसप्तयोजन-शतैस्तथा समभूमिनागादेव सूर्यविमानमप्यभियोजनशतैश्च-न्द्रविमानमशीत्याधिकैरभियोजनशतैरुपरितन ताराकूपं नव-भियोजनशतैश्चारं चरति । अथ ज्योतिष्मकचारं केत्रापेक्षया अ-बाधप्रश्नमाह—(जोइस्सस्स णमित्तादि) ज्योतिष्मकस्य द-शाक्षरयोजनशतं दुदपस्याधस्तनात्तात् किमप्या अबा-धया सूर्यविमानं चारं चरति । गौतम ! दशानेयोजनैरित्येव-रूपया अबाधया सूर्यविमानं चारं चरति । अत्र च सूर्यसमभू-जागादूर्ध्वं नवत्यधिकसप्तयोजनाऽतिक्रमे ज्योतिष्मकबाहुल्य-मूलजुत आकाशप्रदेशप्रतर सोऽग्रधिर्नन्त्य । एव चन्द्रा-दिसूत्रेऽपि । एव चन्द्रविमानं नवत्या योजनैरित्येवरूपया अबाधया चारं चरति । तथा उपरितन ताराकूपं दशाधिके योजनशते ज्योतिष्मकबाहुल्यप्रान्ते इत्यर्थः, चारं चरति । अथ गतार्थमपि शिष्यव्युत्पादनार्थमाह—सूर्यादीनां परस्पर-मन्तर सूत्ररुदाह—(सूर्यविमाणाओ इत्यादि) सूर्यविमानात् चन्द्रविमानं अशीतिर्योजनैश्चारं चरति । सूर्यविमानात् योज-नशतैऽतिक्रान्ते उपरितन तारापटलं चारं चरति । चन्द्रविमानाद् विंशत्य योजनैरुपरितन तारापटलं चारं चरति ॥ अत्र सूचनामा-त्रत्वात् सूत्रेऽनुक्ताऽपि प्रद्वानां नक्षत्राणां च क्षेत्राणां च क्षेत्रवि-जागव्यवस्था मतान्तराभिता समदणिवृत्त्यादौ दर्शिता भिद्यते-

" शतानि सप्त गरजोर्ध्वं, योजनानां तुषस्तलात् ।

नवर्ति च स्थितास्ताराः, सर्वाऽधस्तान्नस्तले ॥ १ ॥

तारकापटलाद्वा, योजनानि दशोपरि ।

सूराणां पटलं तस्मा-दशीति शीतरोचिषः ॥ २ ॥

चत्वारि तु ततो गत्वा, नक्षत्रपटलं स्थितम् ।

गत्वा ततोऽपि चत्वारि, बुधानां पटलं भवेत् ॥ ३ ॥

शुक्राणां च गुरुणां च, प्रौमानां मदसक्किनाम् ।

त्रीणि त्रीणि च गत्वोर्ध्वं, क्रमेण पटलं स्थितम् ॥ ४ ॥ इति ।

अ० ७ वल० ।

(मन्दरस्य णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । मन्दरस्य पर्वतस्य जम्बूद्वीपगणस्य सकृन्नतिर्यग्लोकमध्यवर्तिनः कि-यत्क्षेत्रमबाधया सर्वतः कृत्वा चारं चरति । भगवानाह—(ता पञ्चारसेत्यादि) ता इति पूर्ववत् । एकादश योजनशतानि एकविंशत्यधिकानि अबाधया कृत्वा चारं चरति । किमुक्तं भ-

वति, मेगे-सर्वतः एकादश योजनशतानि एकविंशत्यधिकानि मुक्तं तदनन्तरं चक्राक्षनया ज्योतिष्मक चारं चरति । (ता लोप-ताभो णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । लोकान्तादूर्वाकं, णमिति वाक्यालङ्कारे । कियन्त्रेप्रमथाधया कृत्वा ज्योतिष प्रहस्तम् । भगवानाह—(पञ्चारमेत्यादि) एकादश योजनशतानि एकादशाधिकानि अबाधया कृत्वा अगान्तगालं विधाय ज्योतिष प्रहस्तम् । (ता जवृद्धाये ण द्वीये कथरे नपचत्ते) इत्यादि सुगमम् । नवग्रमभिर्जिज्ञक्षन् सर्वार्थयन्तं नक्षत्र-मगमलमपेक्ष्य, एव मूलादीन्यपि संप्रवासादीनि वेदितव्यानि । (ता चर्वाविभागे णमित्यादि) सप्तधानाग्रपथ प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह—(ता भद्रकचिदुत्पादि) भद्रकचिदुत्पात्तानां नक्षत्र-मर्दमात्रं कपिष्य नस्य च तत्स्थानेनेत्य सस्थितमर्दकपि-ष्यसंस्थानसंस्थितम् । आह—यदि चन्द्रविमानमर्दमात्रं कपिष्य-फलमस्थानमस्थितं तन उदयकाले अस्तमनकाले यदि वा नित्यं कपिष्यमतं यौगमास्या कस्मात्तद्वर्दकपिष्यफलकारं नो-पलभ्यते, काम शिरस उपरि वर्तमानं वर्तुलमुपसन्नयने अर्द्ध-पित्तस्य शिरस उपरि दूरमवस्थापितस्य परजातदशननो वर्तुलतया दृश्यमानत्वात् । उच्यते—इहाहं कपिष्यफल-कारं चन्द्रविमानं न सामस्येन प्रतिपत्तव्यम्, किंतु तस्य चन्द्रविमानस्य पीठं, तस्य च पीठस्योपरि चन्द्रस्यस्य ज्योति-ष्मकराजस्य प्रासादः, तथा कथञ्चनपि व्यवस्थितो यथा पीठेन सह भूयान् वर्तुल आकारो नवति, स च दूरनायात एकान्-तरत समपृत्ततया जनानां प्रतिभासने, ततो न कश्चिद् द्रोणः । नचैतत् स्वमनोविकाया जृम्भितम् । यदेतदेव जिनमद्रगाणिक-माभ्रमणेन विशेषणवायामाक्षेपपुस्तसमुक्तम्-

" भद्रकचिदुत्पादा, उदयऽधमण्डिमि कद न द्वीमति ।

ससिसूराण विमाणा, निरियक्खेत्तठियाण च ? ॥ १ ॥

उत्ताणऽरुक्खिहा-गार पीठं तदुचरि पासाओ ।

वद्धा हेम्मेण तओ, समयट्ठ दूरभावाओ ॥ २ ॥

तथा सर्वं निरवशेषं स्फटिकमय स्फटिकविशेषमणिमय, तथा मभ्युक्ता आभिमुस्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा दीतिस्तथा सित शुक्लमभ्युक्ता-प्लूतप्रभासितः, तथा विविधा अनेकप्रकारा मणयश्चन्द्रकान्त्या-दयो रत्नानि कर्केननादीनि तेषां भक्तयो विच्छिन्तिविशेषा ता-भिभिप्रमनेकरूपवत्, आश्चर्यघट्टा विविधमणिरत्नचित्रमः, तथा धातोऽसृता धामुकम्पिता विजयोऽभ्युदयस्तत्ससुचिका वैजय-न्यभिधाना या. पताकाः । मथया विजया इति वैजयन्तीनां पा-थ्यकारिका उच्यते, तत्प्रधाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः पता-कास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः, उत्रातिच्छत्राणि च उप-र्युपरि स्थितानपत्राणि तैः कक्षितं, ततो यानां स्रुतविजयवैजयन्ती-पताकाच्छत्रातिच्छत्रकक्षितं, तुङ्गमुद्यमः, अत एव (गगनतक्षमणु-क्षिप्तं सिहरति) गगनतक्षमस्वरतक्षमनुक्षिप्तं, अजिह्वयाच्छिस्-रयस्य तद् गगनतलानुलिखच्छिस्त्रम् । तथा जालानि जाहका-नि तानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि, तदनन्तरेषु विशि-ष्टशोजनिमित्त-रत्नानि यत्तद् जात्रान्तररत्नम्, सुत्रे चाप प्रथमै-कचनलोपो छण्डः । तथा पञ्चरादुन्मीक्षितमिव बहिष्कृतमिव पञ्चरोन्मीक्षितमिव । यथा हि किञ्च किमपि वस्तु पञ्चराद् वशाद्विमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टायात्वा-त् शोभने, एव तदपि विमानमिति भावः । तथा—मणिजनकानं

सबन्धिनं स्तूपिका शिखर यस्य तद् मणिकनकस्तूपिकाकम् ।
तथा विकसितानि शनातपत्राणि पुरुररीकाणि द्वारादौ प्रतिह-
नित्वेन स्थितानि तिष्ठकाश्च भित्त्यादिषु चन्द्राणि रत्नमयाश्चा-
र्द्धचन्द्रद्वाराग्रादिषु तैश्चित्र विकसितम्, आतपत्रपुण्डरीक-
तिष्ठकार्कचन्द्रचित्रम् । तथा-अन्तर्बहिश्च ऋक्षेण मण्डण-
मित्यर्थः । तथा-तपनीयं सुवर्णविशेषस्तन्मर्या बालुकायाः
सिकतायाः प्रस्तटः प्रतरो यत्र तत्तथा, तपनीयबालुका-
प्रस्तटतया सुवर्णस्पर्शं शुभस्पर्शं वा । तथा सञ्जीकाणि
सञ्जीकानि रूपाणि नरयुग्मादीनि रूपाणि तत्र तद् सञ्जीक-
रूपम् । प्रासादीयं मनःप्रासादहेतु । अत एव दर्शनीय द्रष्टुं यो-
ग्य, तद्दर्शनेन तृप्तेरसन्नवात् । तथा प्रतिविशिष्टमसाधारण रूप
यस्य तत्तथा । (एव सूरविमाणे वीत्यादि) यथा चन्द्रविमान-
स्वरूपमुक्तमेव सूर्यविमान ताराविमानं च चकव्य, प्रायः सर्वे-
षामपि ज्योतिर्विमानानामेकरूपत्वात् । तथा चोक्तं समवायाङ्गे-
“ केचन्या ए भंते ! जोहसियान्वासा पञ्चत्ता ! गोयमा ! इमो-
से रयणप्पभाप पुढवीप बहुसमरमाणिज्जाओ तूमिजागाओ स-
त्तनउयाइ जोयणसयाइ उहु उप्पइत्ता दसुत्तरजोयणस-
यवाइहे तिरियमसखेजे जोहसविसप जोहसियाणं देवाण
असखेजा जोहसिया विमाणावासा पञ्चत्ता ; तेणं जोहसि-
यविमाणावासा अण्णुगा पमुसियपहसिया विविहमाणिरय-
णत्तित्तचित्ता त चेवञ् जाव पासाइया दरिसणिजा पमिक्कावा” ।
च० प्र० १७ पाहु० । न बाधा अबाधा । अनाक्रमणे, रा० । जी० ।
स्था० । औ० ॥

अबाहिरिय-अबाहिरिक-त्रि० । बाहिर्भवा बाहिरिका । “ अ-
भ्यात्मादिभ्य ङकण्” । ६ । ३ । ७७ । इति हैमसूत्रेण ङकण्प्रत्ययः ।
प्राकारबहिर्वर्तिनां गृहपकृतिरित्यर्थः । न विद्यते बाहिरिका
यत्र तद्बाहिरिकम् । यस्य प्राकाराद् बहिर्गृहाणि न सन्ति
तस्मिन् स्थाने, वृ० १ उ० ॥

अबाह्य-त्रि० । आमस्यात्यन्तमबहिर्भूते, “ अबाहिरप कप्पइ
हेमतगिम्मासु मासं वत्थप ” व्य० १ उ० ।

अबाह्यणिया-अबाधोनि-स्त्री० । अबाधया उक्तलक्षणया
ऊनिका अबाधोनि । ज० ६ श० ३ उ० । अबाधाकालप-
रिहीनायाम्, “ अबाह्यणिया कम्मठिई पणत्ता” । जी० २ प्रति० ।

अविद्ध-अविद्ध-त्रि० । बेधगहिते, व्य० ८ उ० । तं० ।

अविद्धकृत्-अविद्धकर्ण-पु० । स्वनामक्याते तीर्थिकमेवे,
यदपि गजतुरगस्यन्दनादिव्यतिरिक्तनिमित्तप्रजवः संख्याप्र-
त्ययः, गजादिप्रत्ययविलक्षणत्वाद्, वल्लचर्मकम्बले नीलप्रत्य-
यवदिति संख्याप्रसिद्धप्रत्यये अविद्धकर्णोक्त प्रमाणम् । तदयु-
क्तम् । गजादिव्यतिरिक्तसकेतादिप्रभवत्वेनेष्टत्वात् सिद्धसाध्य-
तादोषाघातत्वात् । सम्म० २ काण्ड ।

अवीथ-अद्वितीय-त्रि० । केनचिदपरेण सहावर्तमाने, यथाहि
ऋषभश्चतुस्सहस्रया राक्षां सार्द्धं, मल्लिपाह्वौ त्रिभिस्त्रिभिः
शते, वासुपुत्र्यः पदशत्या, शंषाश्च सदस्त्रेण सह प्रव्रजितास्तथा
भगवान् न केनाप्यनोऽद्वितीयः । कल्प० ।

अबुद्ध-अबुद्ध-त्रि० । अविपश्चिति, दश० २ अ० । अविवेकि-
नि, सूत्र० १ शु० ११ अ० ।

अबुद्धनिन्दा-

जे अबुद्धा महाभागा, वीराऽमम्भत्तदंसिणो ।

असुखं तेसि परकंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥ २० ॥

ये केचनाऽबुद्धा धर्मे प्रत्यविज्ञातपरमार्था व्याकरणशुक्तकर्ता-
दिपरिज्ञानेन जातावलेपा पण्डितमानिनोऽपि परमार्थवस्तुत-
त्त्वानवबोधोधादबुद्धा इत्युक्तम् । नच व्याकरणपरिज्ञानमात्रेण
सम्यक्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वावबोधो भवतीति । तथा चोक्तम्-

“ शास्त्रावगाढपरिघट्टनतत्परोऽपि,

नैवाऽबुद्धः समजिगच्छति वस्तुतत्त्वम् ।

नानाप्रकाररसज्ञावगताऽपि दर्शो,

स्वादं रसस्य सुखिरापि नैव वेत्ति ” ॥ १ ॥

यदि वा अबुद्धा इव बलवीर्यवन्तः, तथा महान्तश्च ते
भागाश्च महाभागाः । भागशब्दः पूजावचनः । ततश्च म-
हापूज्या इत्यर्थः । लोकविश्रुता इति । तथा वीराः परानी-
कजेदिनः सुमदा इति । इदमुक्तं जवर्ति-पण्डिता अपि त्या-
गादिभिर्गुणैर्लोकपूज्याः । अपि च-तथा सुमदाद बह-
न्तोऽपि सम्यक्तत्त्वपरिज्ञानविकला केचन जवर्तीति दर्श-
यति-न सम्यग् असम्यक्, तद्भावोऽसम्यक्त्वम् । तद् ऊष्टु
शील येषां ते तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः । तेषां च बालानां य-
त्किमापि तपोदानाध्ययनयमनियमादिषु पराक्रान्तमुद्यम-
स्तदशुक्रमविशुद्धकारि, प्रयुत कर्मबन्धाय, माधोपहतत्वात्,
सनिदानत्वादेति, कुवैद्यचित्तिः सावद्विपरीताऽनुबन्धीति । तच्च
तेषां पराक्रान्त सह फलेन कर्मबन्धेन धर्तेन इति सफलम् । सर्वश
इति । सर्वाऽपि तत्किंया तपोऽनुष्ठानादिका कर्मबन्धायैवेति
॥ २२ ॥ सूत्र० १ शु० ८ अ० । बोधाविषये, वाच० ।

अबुद्धजागरिया-अबुद्धजागरिका-स्त्री० । अस्थज्ञानवतां
जागरिकायाम्, भ० । “ अबुद्धा अबुद्धजागरिय जागरति ति”
अबुद्धाः केवलज्ञानाभावेन यथासंभव शेषज्ञानसङ्गावाच्च बु-
द्धसदृशा ते च, अबुद्धानां अस्थज्ञानवतां या जागरिका सा
तथा तां जाग्रति । ज० १२ श० १ उ० ।

अबुद्धसिरी-देशा-मनोरथाधिकफलप्राप्तौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अबुद्धि-अबुद्धि-त्रि० । तत्त्वज्ञानरहिते, ग० १ अधि० । अ-
ज्ञानिनि, प० चू० । बुद्धिरहिते, सूत्र० १ शु० २ अ० १ उ० ।

अबुद्ध-अबुद्ध-पु० । विरोधे, अप्राशस्त्ये वा । न० त० । बु-
धभिन्ने मूर्खे, अल्पज्ञाने च । वाच० । अज्ञानाने, सूत्र० १ शु० २
अ० १ उ० । बालिशे, प्रह्न० १ आश्र० द्वा० । तत्त्वपरिज्ञान-
विकले, वृ० १ उ० ।

अबुद्धजण-अबुद्धजन-त्रि० । अबुद्धोऽविपश्चित्तः परिजनो य-
स्य स अबुद्धजनः । अकल्याणमित्रपरिजने, “ विसयसुहेसु प-
सत्थं, अबुद्धजणकामरागपिबद्ध ” दश० २ अ० ॥

अबोह-अबोध-पु० । न० त० । अमवगमे, ध० १ अधि० ।

अबोहंत-अबोधयत्-त्रि० । अजागरयति, उक्त० २६ अ० ।

अबोहि-अबोधि-स्त्री० । न० त० । अज्ञाने, सूत्र० २ शु० ६ अ० ।
जिनधर्मानवाप्तौ, औत्पत्यादिबुद्ध्यभावे च । भ० १ श० १ उ० ।
मिथ्यात्वकार्ये ज्ञाने, “ अबोधि (हिं) परियाणामि बोहिं उव-
सपञ्जामि ” आव० ४ अ० ।

कस्याबोधिर्भवति ?, इति प्रश्नस्योत्तरमाह-

मिच्छादसणरत्ता, सनिदाणा किएहलेसमोगाढा ।

अवोहि

इह जे मरंति जीवा, तेमि छलहा जवे बोही ॥

मिथ्यादर्शन विपर्यस्तदर्शन, मिथ्यात्व तु मिथ्याक्रियाप्रमिलाय-
रूप, तत्र रता, तथा सह निदानेन देवत्वादिप्रार्थनारूपेण वर्तन्ते
इति सनिदानाः । तथा कृष्णां सर्वाधर्मरूपां देव्या जीवपरिणाम-
रूपामवगाढाः प्राप्ता इहास्मिन् जगति एवविधा ये जीवा
स्त्रियन्ते तेषां छलमो भवेद् बोधिः । आनु० ।

अवोहिकलुस-अवोधिकलुप-वि० । मिथ्यादृष्टौ, दश० ४ अ० ।
अवोहिवीय-अवोधिवीज-न० । अवोधेर्जन्मान्तरे जिनधर्माऽ-
प्राप्तौ धीजमिव बीज हेतुरवोधिवीजम् । पञ्चा० ४ विध० । स-
म्यग्दर्शनप्राप्तयेनौ, पञ्चा० ७ विध० ।

अवोहिय-अवोधिक-न० । अर्थाज्ञा० अव्ययी० स० । मिथ्यात्व-
फले (अज्ञाने), दश० ६ अ० । न विद्यते बोधिर्यस्य सोऽवो-
धिकः । बोधरहिते, " निच्छयत्थ न जाणति, मित्रक्खु व्व अ-
बोहिया " सुत्र० १ सु० १ अ० २ अ० । अविद्यमानबोधिके, औ० ।
अविद्यमानो बोधोऽस्मात् । जवान्तरप्राप्तव्यजिनधर्मलाभाप्रति-
जागरेणाहो, " अप्पणो य अबोहीए, महामोह पकुव्वइ " ।
स० ३० सम० ।

अव्युय-अवुद-पु० । स्वनामख्याते (आबू) पर्वते, ती० ।

तत्कथा चैवम्-

अहन्तौ प्रणिपत्याऽहं, श्रीमन्नामनेमिनौ ।
महादेवबुद्धाख्यस्य, कल्प जल्पामि शेषतः ॥ १ ॥
देव्याः श्रीमातुरुत्पत्ति-मादौ वक्ष्ये यथाश्रुतम् ।
यदधिष्ठानतो ह्येष, प्रख्यातो ह्येव पर्वतः ॥ २ ॥
श्रीरत्नमालनगरे, राजाऽभूच्छलशेखरः ।
सोऽनपत्यतया दूनः, प्रैषीच्छाकुनिकान् बहिः ॥ ३ ॥
शिरस्थां काष्ठभारिण्या-स्ते दुर्गो दुर्गतस्त्रियाः ।
वीक्ष्य व्यजिह्वपन् राहो, जाव्यस्यास्त्वत्पदे सुतः ॥ ४ ॥
राज्ञाऽऽदिष्टा सगर्भैव, सा हन्तु तन्नरैर्निशि ।
गते क्षिप्ता कायचिन्ता-व्याजात् तस्माद् बहिर्निरेत् ॥ ५ ॥
साऽसूत सूनुमत्याऽऽर्ता, छागं वनातान्तरेऽमुचत् ।
गते चाऽऽनीय तदृक्षा-नभिर्हैस्तैरघानि सा ॥ ६ ॥
पुण्यैरितामै स्तन्यं चा-पीप्यत् सन्ध्याद्वये मृगी ।
प्रवृद्धेऽर्षिष्ठशाला-महालक्ष्याः पुरोऽन्यदा ॥ ७ ॥
मृग्याश्चतुर्णां पादानां मधो नूतननाणकम् ।
जातं भुत्वा शिशुरूप, लोके वार्ता व्यजृम्भत ॥ ८ ॥
नव्यो नृपोऽनृत कोऽपीति, भुत्वा प्रैषीद् मटान्मृपः ।
तद्वधायाथ त दृष्ट्वा, साय ते पुरगोपुरे ॥ ९ ॥
बालदत्ताग्निप्राप्नुञ्चन्, गोयूथस्यायतः पथि ।
तत्तथैव स्थित भाग्या-देकस्तृत्वा पुरोऽनवत् ॥ १० ॥
तत्प्रेर्य च चतुष्पादा-न्तराले त शिशु न्यधात् ।
तच्छ्रुत्वा मान्त्रिवाक्यात्, राजाऽमस्तौरस मुदा ॥ ११ ॥
श्रीपुञ्जाख्यः क्रमात्सोऽनृत, नृपस्तस्याऽभवत्सुता ।
श्रीमाता रूपसपत्ना, केवलं सवगानना ॥ १२ ॥
तद्वैराग्यान्निर्विषया, जातु जातिस्मरा पितुः ।
न्यवेक्ष्यत् प्राग्भव स्व, यदाऽह वानरी पुरा ॥ १३ ॥
सचरन्त्यर्षुदे शास्त्रि-शास्त्रा तालुनि केनचित् ।
धिद्धा वृक्षाब्धे रागमे, कुण्डेऽपतत् तरोरध ॥ १४ ॥
तस्य कामिततीर्थस्य, माहात्म्याद् नृतनुर्मम ।
मस्तकं तु तथैवास्ते-ऽद्याप्यत कापिमुष्यहम् ॥ १५ ॥
१७२

श्रीपुञ्जोऽक्षेपयच्छीर्षं, कुण्डे प्रेष्य निजान् नरात् ।
तत्र सा नृमुखी जज्ञे, तपस्वी चार्बुदे गिरौ ॥ १६ ॥
न्योगगामन्यदा योगी, दृष्ट्वा तां रूपमोहितः ।
स्नातुर्त्तीर्यालपत् प्रेम्णा, मां कथं वृणुषे शुभे ? ॥ १७ ॥
सोचेऽत्यगादाययामो, रात्रेस्तावदत्र परम् ।
ताम्रचूरुनादर्वाक्, कयार्चिद्विद्यया यद्वि॥ १८ ॥
शैलेऽत्र कुरुषे इद्या, पद्या द्वादश तर्हि मे ।
वरः स्या एतं चेद्वैस्त्वै-द्विद्याम्याऽवीकरत्स ताः ॥ १९ ॥
स्वशक्त्या कुक्कुटरवे, कृतके कारिते तथा ।
निषिकोऽपि विवाहाय, नास्थात्तत्कैतव विदन् ॥ २० ॥
सरिस्तीरेऽथ त स्वस्ना, कृतवीचाहसभृतिम् ।
सोचे त्रिशूलमुत्सृज्य, विबोदु सनिधेहि मे ॥ २१ ॥
तथाकृत्योपागतस्य, पादयोर्विकृतान् शुनः ।
नियोज्य साऽस्य गूलेन, हृद्यस्त्रेण वध व्यधात् ॥ २२ ॥
इत्याजन्माखण्डमशीला, जन्म नीत्वा स्वराप सा ।
श्रीपुञ्जः शिखरे तत्र तत्प्रासादमचीकरत् ॥ २३ ॥
षण्मासान्तेऽर्बुदाख्योऽस्या-ऽधोभागेऽक्षेभलत्यहिः ।
ततो त्रिकम्पस्तत्सर्वं, प्रासादशिखरं विना ॥ २४ ॥

लौकिकास्त्वाहुः-

नन्दिवर्धन इत्यासीत्, प्राक् शैलोऽयं हिमाद्रिजः ।
कालेनार्बुदनागाधि-ष्ठानात्तवर्बुद इत्यनृत ॥ २५ ॥
वसन्ति द्वादश ग्रामाः, अस्योपरि धनोद्गुराः ।
तपस्विनो गौगाविकाः, राष्ट्रिकाश्च सहस्रशः ॥ २६ ॥
न स वृत्तो न सा वल्ली, न तत्पुष्पं न तत्फलम् ।
न स स्कन्धो न सा शास्त्रा, या नैवात्र निरीक्ष्यते ॥ २७ ॥
प्रदीपवन्महौषधो, जाज्वलन्मन्त्र रात्रिषु ।
सुरभीणि रसाख्यानि, वनानि विविधान्यपि ॥ २८ ॥
स्वच्छन्दोच्छलदच्छोर्मि-स्तीरशृङ्गसुमान्विता ।
पिपासुतप्ताऽऽनन्दाऽत्र, ज्ञाति मन्दाकिनीं पुनी ॥ २९ ॥
चकासत्यस्य शिखरा-पयुक्तुक्कानि सहस्रशः ।
परिस्त्रवन्ति सूर्यस्य, येषु रथ्या अपि कृणम् ॥ ३० ॥
चरमाधीवज्रतैलेभ-कन्दाद्या कन्दजातयः ।
दृश्यन्ते च प्रतिपद, तत्तत्कार्यप्रसाधिकाः ॥ ३१ ॥
प्रदेशाः पेशला कुण्डै-स्तत्तदाश्चर्यकारिभिः ।
अस्य धातुखनीजिभ, निर्भरैश्चामृनोदकैः ॥ ३२ ॥
काकूयिते कृते चोच्चै-द्रांकोकूयितकुण्डितः ।
प्रादुर्भवति वाऽपूरः, कुर्वन् खलहलारवम् ॥ ३३ ॥
श्रीमाताऽचक्षेभ्वरस्य, वशिष्ठाश्रम एव च ।
अत्रापि लौकिकास्तीर्थाः, मन्दाकिन्यादयोऽपि च ॥ ३४ ॥
महादेवस्य नेतारः, परमारनरेश्चरा ।
पुरी चन्नावती तेषां, राजधानी निधिः श्रियाम् ॥ ३५ ॥
कलयन् विमलां बुक्तिं, विमलो दण्डनायकः ।
चैत्यमन्त्रर्षजस्याधात्, पैतृप्रतिमान्वितम् ॥ ३६ ॥
आराध्याम्भा जगवर्ता, पुत्रसपदस्पृहः ।
तीर्थस्यापनमन्यर्थ, चम्पकद्वयसन्निधौ ॥ ३७ ॥
पुष्पस्रग्दामराचर, दृष्ट्वा गोमयगोमुखम् ।
तत्राग्रहीद् भुवं दण्डमेव, श्रीमातुर्भवान्तिके ॥ ३८ ॥ (युग्मम्)
राजानके श्रीधान्युके, कुरु श्रीगुर्जरेश्वरम् ।
प्रसाद्य भक्त्या त चित्र-कूटादानाय तन्निरा ॥ ३९ ॥
वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८, मितेऽन्दे भूरिरैवयात् ।

सत्प्रासादं सुविमल-वसत्याङ्ग व्यधापयत् ॥ ४० ॥
 यात्रोपनम्रसघस्या-निष्प्रविष्टविघातनम् ।
 कुरुतेऽन्नाम्बिका देवी, पूजिता बहुनिर्विघ्नैः ॥ ४१ ॥
 युगादिदेवचैत्यस्य, पुरस्तादत्र चाश्मनः ।
 एकरात्रेण घटित, शिल्पिना तुरगोत्तमः ॥ ४२ ॥
 वैक्रमे वसुवम्बर्क १२८८, मितेऽन्दे नेमिमन्दिरम् ।
 निर्ममे लूणिगवस-त्याङ्ग्य सचिवेन्दुना ॥ ४३ ॥
 कपोपलमय बिम्ब, श्रीतेजःपालमन्त्रिराद ।
 तत्र न्यास्यत् स्तम्भतीर्थे, निष्पन्न दृक्सुधाऽञ्जनम् ॥ ४४ ॥
 मूर्ती स्वपूर्ववश्यानां, हस्तिशाल च तत्र स ।
 न्यवीविशद्विशा पत्युः, श्रीसोमस्य निदेशतः ॥ ४५ ॥
 अहो ! शोभनदेवस्य, सूत्रधारशिरोमणेः ।
 तथैतयरचनाशिल्पा-ज्ञाम क्षेत्रे यथार्थताम् ॥ ४६ ॥
 वज्रातत्रातः समुदये, मैनाकोऽस्यानुजो गिरेः ।
 समुद्रस्त्रातोऽन्वनेन, दामेत् मन्त्रीश्वरो भवात् ॥ ४७ ॥
 तीर्थद्वयेऽपि जम्भेऽस्मिन्, दैवान् स्नेह्यै प्रचक्रतुः ।
 अस्योद्धार द्वौ शकाब्दे, वङ्गिदेवार्कसम्मिले १२४३ ॥ ४८ ॥
 तत्राद्यतीर्थस्योक्तार्ता, लङ्को महर्णसिहभूः ।
 पीथमस्त्वितरस्याभूदुक्तार्ता, चण्डसिंहजः ॥ ४९ ॥
 कुमारपालभूपाल-इचौलुफ्यकुलचन्द्रमाः ।
 श्रीवीरचैत्यमस्योच्चैः, शिखरे निरमीमपत् ॥ ५० ॥
 तत्तत्कौतूहलाकीर्ण, तत्तद्दोषविबन्धुरम् ।
 धन्याः पश्यन्त्यर्बुदादि, नैकतीर्थपवित्रितम् ॥ ५१ ॥
 हृद्यः श्रोत्रसुधाकल्प, श्रीजिनप्रभसूरिभिः ।
 श्रीमदर्बुदकल्पोऽय, चतुरैः परिवीयताम् ॥ ५२ ॥
 इति श्रीअर्बुदाचलकल्पः समाप्तः ॥ ती० ८ कल्पः ।

अब्ज-अब्ज-न०। अपो विमर्तीति अब्जम् । मेघे, रा० । अपभ्रं-
 शो-“ लिङ्गमतम्भम् ” ॥ ८ । ४ । ४४४ ॥ इति सूत्रेण पुंस्त्वम् ।
 “अब्जम् लङ्गा नौगरिहि, पहित इडंतव जाइ । जो एहा गिरि-
 निगण-मण्ड, सो किं धणहि धणाइ” ॥१॥ प्रा० ४ पाद । अस्यमणि
 सन्त्यस्मिन्नित्यम्भम् । ‘अब्जादिभ्यः’ । ७।२।४६। इति हैमसूत्रेण म-
 त्त्वर्पीयोऽप्रत्ययः । आकाशे, “ अब्जवद्वलप विडव्वह ” । अब्जे
 यानि वार्दलकानि तानि विकुर्वन्ति, आकाशे मेघान् विकुर्वन्ती-
 त्यर्थः । रा० । स्वा० । आ० म० ।

अब्जगङ्गा-अन्यद्गङ्गा-पुं० । अग्नि-अब्ज-भावे घञ् ; कुत्वम् ।
 स्तोकेन तैलादिना मर्दने, एकवारं तैलमर्दने च । नि०चू० ३३० ।

अब्जगङ्गा-अन्यञ्जन-न० । घृतवशादिना (प्रभ० ४ सम्प्र०
 द्वा०) महस्त्रपाकनैलादिभिर्वा (आचा० १ ध्रु० ६ म० ४ उ०)
 अङ्गणे, कल्प० ३ कण । स्वा० । नि०चू० । आ० म० । ४० । प्र० ।

साधूनामन्यञ्जन न कार्यम्—

नो कप्पइ निगंथाण वा निगंथीण वा परिवासिएण
 तेद्वेण वा घणण वा नवणीएण वा वसाए वा गत्तं अब्ज-
 गित्तए वा पक्खित्तए वा नभत्थ आगादंदि गंगायंकेहि ।

अन्य सम्बन्धमाह—

ससिणोहो अमिणेहो, दिज्जइ मक्खित्तु वा तगं दिति ।
 सव्वो वि वणो दिप्पइ, रुहा उ वा मक्खणा भूया ॥

आलेप सक्केहोऽक्केहो वा दीयते, ततो यथा क्लेदेन अक्षितं क्रियते,
 नवा, तथाऽनेनाऽभिधीयते । यद्वा व्रणं अक्षित्वा तत्कमनन्तरसूत्रोक्त
 माक्षेप प्रयच्छन्ति, न वा सर्वोऽपि व्रण आक्षेप्यते । द्विधा वा अङ्ग-
 णा भूयात्, कृतो व्रणोऽपि अक्षयते, आलेपोऽपि अक्षितुं दीयत इति
 ज्ञात्वा । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते परिवासा-
 तेन वा तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा गात्रमन्य-
 क्रितुं वा, बहुशेन तैलादिना अक्षितुं वा स्वल्पेन तैलादिना, नान्यत्र
 गाढगाढेभ्यो रोगातङ्गेभ्यः, तान्मुक्त्वा न कल्पते इत्यर्थः । दोषाश्चात्र
 त एव सचयादयो मन्तव्याः ।

आह—यद्येवं परिवासितेन न कल्पते अक्षितुं, ततस्तद्विषयानी-
 तेन कल्पिष्यते ।

सुरिराह—

तद्विषयमक्खणम्पी, लहुओ मासो उ होइ बोधव्वो ।

आणायणा विराहण, धूलि सरक्खो य तसपाणा ॥

तद्विषयानीतेनापि यदि अक्षयति तदा लघुमासः, आह्लादयश्च
 दोषाः, विराधना च संयतस्य भवति । तथाहि-अक्षिते गात्रे
 धूलिर्लगेति; सरजस्को वा सचिचरजोरूपो वा तेनोक्तो लग-
 ति, तेन चीधराणि मलिनीक्रियन्ते, तेषां धावने सयमविराधना,
 स्नेहगन्धेन वा ये असप्राणिनो जगन्नि तेषां विराधना भवेत् ।

धुवणाधुवणे दोसा, निसि भत्तं उप्पिन्नावणं चैव ।

चउसत्त स मइ तलिया, उव्वट्टणमाइ पल्लिमणो ॥

स्नेहेन मलिनीकृतानां चीधराणां गात्राणां च धावनाधावनयो-
 रमयोरपि दोषाः । तथाहि—यदि न धाव्यन्ते तदा निशि भक्तम्,
 अथ धाव्यन्ते ततः प्राणिनामुन्मूल्यना भवेत् । उपकरण-
 शरीरयोर्वा कृशत्व च भवति । (स मइ त्ति) स एव हेवाको ल-
 गति, अक्षिते च गात्रपादयोर्मां धृष्टी लगिष्यति इति कृत्वा तस्मि-
 काऽपि नष्टाति, तत्र गर्वो निर्माद्वधतेत्यादयो दोषाः । यावत्स्व-
 गात्रस्योद्धर्तनादिक करोति तावत्सुत्रार्थपरिमन्थो भवति ।

तद्विषयमक्खणेण उ, दिट्ठा दोसा जहा उ मक्खिज्जा ।

अद्धाणेषुब्बाए-ऽपवाएँ अरुक्कचुजयणाओ ॥

तद्विषयमङ्गणेन अनिता एते दोषा दृष्टाः । द्वितीयपदे यथा
 अक्षयेत् तथाऽभिधीयते-अध्वगमनेनाभारोहान्तः, परिभ्रान्तो वा,
 तेन वा कटी गृहीता, अरुक्व तद्धाररेपे जात कच्छू पामा,
 तथा वा कोऽपि गृहीतस्ततो यतनया अक्षयेदपि ।

तामेवाह—

सक्काईकयकज्जो, धुवितं मक्खेउ अत्थए अंते ।

परिपीय गोमयाई-उव्वट्टणा धोवणे जयणा ।

सक्का गमनम्, आदिशब्दादागमनादिक च कायकृते कृतकार्यो, न
 ससद्वादकृतकार्यं, सर्वाणि बहिर्गमनकार्याणि समाप्येत्यर्थः ।
 स यावन्मात्रं अक्षणीयं तावन्मात्रमेव धावित्वा प्रकाट्य ततो
 अक्षयति, अक्षयित्वा च प्रतिश्रयस्यान्तस्तावदास्ते यावत्तेन
 गात्रेण तन् तैलादिकमक्षयणं परिपीतं भवति । ततो गोमया-
 दिना तस्योद्धर्तनं कृत्वा यतनया यथा प्राणिनां प्लावना न भव-
 ति तथा धावनं कार्यम् ।

जह कारण तद्विषयं, तु कप्पइ तह जवेज्ज इयरं पि ।

आयरियवाहि वसभे-हिँ पुच्छिए वेज्ज संदेसो ॥

यथा कारणे तद्विषयानीनं अङ्गणं कल्पते, तथेतरदपि परिवा-

अभ्यन्तराग्निय

सिन भक्षण कारणे कल्पते । कथमिति चेत् ? अत आह-आन्ना-
यस्य कोऽपि व्याधिरुत्पन्नस्ततो घृष्टं वैद्यः पूर्वोक्तविधिना
प्रष्टव्यः, तेन च संदेश उपदेशो दत्तो भवेत्, यथा-शनपा-
कादीनि तैलानि यदि भवन्ति तत चिकित्सा क्रियते ।

ततः किं कर्तव्यम् ? इत्याह-

सयपाग महस्सं वा, सयमाहम्सं व हसमकतेहं ।

दूरा उ एणीय असई, परिगामिज्जा जयं धीरे ॥

शनपाक नाम तैल तदुच्यते-यदौषधानां शनेन पच्यते । यथा-
एकेनाप्यौषधेन शतवार एक परिचासयेत् । एष सहस्रपाक
शनसदृशपाक च मन्यम् । हसपाक नागदंसेन औषधस-
मारम्भद्वयेन यदेतत्तैल पच्यते । महत्तैल मरुदेशे पर्येनादुत्पद्यते ।
एतद्विधानि दुर्लभव्यापि प्रथम तद्वैद्यासिकानि मार्गणीया-
नि, अथ दिने दिने न लभ्यन्ते तत पञ्चकपरिहाण्या चतु-
र्गुणप्राप्तौ दूरव्यापनीय धीरो गीतायौ यतनया अल्पसागारि-
के स्थाने अन्वहं चोरेण वेष्टयित्वा परिचासयेत् ।

इदमेव मुख्यकमाह-

एयाणि मक्खण्णट्ठा, पाणट्ठा पमिदिगं ए लभेज्जा ।

पण्हाणीण जड्ठं, चउगुरु पत्तो अटोसोउ ॥

एतानि शतपाकादीनि भक्षणार्थं पानार्थं वा प्रतिदिनं यदि न
लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा चतुर्गुणक, यदा प्राप्तो
भवति तदा परिचासपञ्चदशो न प्रायश्चित्तमाह । ॥ ७५ ॥ उ० ।
सूत्र० ॥ "सेसे परो काय तेहेण वा घण्ण वा यसाए वा मक्खेज्ज
वा अभग्गेज्ज वा णो त सातिए णो त णियमे " आचा० २
ध्रु० १३ अ० । " जे भिक्षु अगादाण तेहेण वा घण्ण वा ण-
यणीएण वा यसाए वा अभग्गेज्ज वा मक्खेज्ज वा अभगत
वा मयंत वा साइइ " नि० चू० १ उ० । (' अगादाण '
शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४० पृष्ठे व्याख्यातमेतत्) " अभगण
विहिपरिमाणं करेइ " उपा० १ अ० । (' आण्ड ' शब्दे द्वितीय-
भागे १०९ पृष्ठे दर्शयिष्यते सूत्रम्)

अभ्यन्तराग्निय-अन्यद्वित-त्रि० । स्नेहाभ्यन्तराग्निय, ४० १ उ० ।
पि० । आ० म० । ओघ० ।

अभ्यन्तराग्निय (गे) सा-अन्यद्वित-अन्य० । तैलादिना अन्यद्वितं
कृतेत्यर्थे, स्था० ३ उ० १ उ० । आचा० ।

अभ्यन्तराग्निय-अन्यद्वित-त्रि० । स्नेहेन मर्दिते, पि० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिज) तर-अन्यन्तर-त्रि० । पुत्रकलत्रादिवत्
प्रत्यासन्ने, स्था० ७ उ० ।

आभ्यन्तर-त्रि० । अभ्यन्तरे भवमाभ्यन्तरम् । मध्यस्थे, स्था०
२ उ० १ उ० । पि० । विपा० । का० । अभ्यन्तरभागवर्तिनि,
रा० । जी० । " सव्यभतराणतर मङ्गल उपसकमिन्ता चारं
चरइ " ज० ७ वृत्त० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिभ) तरओसचित्तकम्प-अन्यन्तरतःसचित्र-
कर्तव्य-त्रि० । मध्ये चित्रकर्मरमणीये, कर्म० २ कर्म० । कल्प० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिभ) तरकरण-अन्यन्तरकरण-न० । मायसग्रह-
भेदे, स्था० १ न० । अभ्यन्तरकरण नाम द्वयोः साज्वोर्गन्धमेढीभूत-
योरभ्यन्तरे कुलादिकार्यनिमित्त परस्परमुष्णपतोस्तृतीयस्यो-

पशुधूपोर्वेदि-करण, अथवाऽपदिष्ट मध्यभ्यन्तरे गत्वा तद् ग-
च्छादिप्रयोजनं घृते, एतदभ्यन्तरकरणम् । यदि वा नेन मह
ये यागमाद्य मन्यन्ते तानपि तथाऽनुवर्तयन्ति यथा त तेजस्विन-
मभिमन्यन्ते, एतदभ्यन्तरकरणम् (व्य०) ।

पुण्य जहा गुरुणं, अभ्यन्तराग्नियमुद्भवनाणं ।

तस्यं कुणनी वहिया, वेड गुरुणं च तं पिटो ॥

पुत्रनयथाक्रम गुरुणामभ्यन्तरकरणं यदभ्यन्तरे द्वयोरुष्णपतो-
स्तृतीयमुष्णधूपं यदि करोति, यदि वा तद् गच्छादिप्रयोजनं
पृष्ट मध्यभ्यन्तर गत्वा गुरुणा घृते कथयति । व्य० ३ उ० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिज) तरग-अन्यन्तरक-पु० । आसन्नमग्निप्रभृतौ,
विपा० १ ध्रु० ३ अ० । स्था० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिज) तरगाणिज्ज-अन्यन्तरस्थानीय-पु० । आ-
भ्यन्तरनामसु प्रेष्यपुरुषेषु, " अभ्यन्तरगाणिज्जे पुरिसे सहा-
चेइ " का० १३ अ० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिज) तरगव-अन्यन्तरतपस्-न० । अभ्यन्तरमन्न-
रस्यैव शरीरस्य तापनासम्यगृह्यभिर्ग्रेव नपस्तया प्रतीयमान-
त्वाच्च, नञ् तत्तपश्चेति अभ्यन्तरतप । श्री० । लौकिकैरनभिज्ञ-
एष्यत्वात् तन्त्रान्तराग्नियैश्च परमाधेनोऽनासेत्यमानत्वात् मो-
क्षप्राप्त्यन्तराग्नियैश्चान्यन्तरमिति । स्था० ६ उ० । स० । प०
ध० । पञ्चा० । ग० । भ० । उत्त० । अभ्यन्तरस्यैव शरीरस्य
कामेणभक्षणस्य तापकत्वादन्यन्तरतप । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।
प्रायश्चित्तादौ तपोभेदे, श्री० । " प्रायश्चित्तं ध्यानं, धैर्यावृत्त-
यित्तमधोत्सर्गं । स्वाध्याय इति तपः षट्-प्रकारमाभ्यन्तर-
तप इति " ॥ १ ॥ ध० १ अधि० । ग० । उत्त० । " कृत्विहे अभ्य-
न्तरि तपे पञ्चते । त जहा-पायाच्चित्तं विण्णो वेयावच्च स-
ज्झाओ भाणं वि उत्तमो " स्था० ६ उ० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिभ) तरतो-अन्यन्तरतस्-अन्य० । सप्तमर्थे त-
स्मिन् । अभ्यन्तरे मध्ये इत्यर्थे, " सत्तएह पयसीण, अभ्यन्तर-
तो व कोकिकोडीए " । आ० म० प्र० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिज) तरदेवसिय-अन्यन्तरदेवसिक-न० । दिव-
साभ्यन्तरसम्भवेऽतिचारे, " अभ्यन्तराग्नियो अभ्यन्तरदेवसिय
वा आमेव " इति । ध० २ अधि० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिभ) तरपरिस-अन्यन्तरपरिपत्-पु० । श्री० । घ-
यस्यमण्डलीस्थानीयायां परममिश्रसहस्रां समित्यपरिणामि-
काया देवेन्द्राणां पर्येति, रा० । स्था० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिज) तरपाणीय-अन्यन्तरपानीय-त्रि० । मध्यन्तरे
पानीय यस्य स तथा । मध्यस्थजलयुक्ते चौरपटस्यादावर्थे,
का० १७ अ० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिज) तरपुष्कर-अन्यन्तरपुष्करार्ध-न० । मा-
नुषोत्तरपर्वताद्वर्षाग्नये पुष्करवर्षापस्याद्धे, जी० ३ प्रति० । सू०
प्र० । (नामनिरुक्त्यादि 'पुष्करवर्षादीव' शब्दे व्याख्यास्यते)

अभ्यन्तराग्निय (गिज) तरपुष्पफल-अन्यन्तरपुष्पफल-त्रि० । अ-
भ्यन्तराणि अभ्यन्तरजागवर्त्तानि पुष्पाणि च फलानि च पु-
ष्पफलानि येषाम् । पत्रावृत्तत्वाद् बहिरदृश्यपुष्पफलके वृत्ते, रा० ।

अभ्यन्तराग्निय (गिज) तरवाहिरिय-अन्यन्तरबाहिरिक-त्रि० । सहा-

ज्यन्तरेण नगरमध्यभागेन बाहिरिका नगरबहिर्भागो यत्र त-
त्तथा । नगरमध्ये बाहिरिकाया विद्यमानत्वे, दशा० १० अ० ।

अब्जं (बिज) तरय-अन्यन्तरक-पु० । राजानमतिप्रत्या-
सन्नीभूयावत्तगति, व्य० १ उ० ।

अब्जं (बिज) तरलद्धि-अन्यन्तरलद्धि-स्त्री० । अन्यन्त-
रावधेः प्राप्तौ, तथाचोक्त चूर्णौ-“ तत्तथ अभ्यन्तरलद्धि नाम
जत्तथ से त्रियस्स ओहिनाण समुप्पम्भ ततो ठाणाओ आ-
रब्भ सो ओहिजाणी निरतरसब्ब सखेज्ज वा असखेज्ज
वा खित्तओ ओहिणा जाणइ पासइ एस्स अभ्यन्तरलद्धि सि ”
विशे० । “अभ्यन्तरलद्धि सा, जत्तथ पईवप्पन्न व्व सव्वत्तो । स-
ब्बओहिनाण, अभ्यन्तरओऽवहीनाणी ” ॥७५३॥ विशे० ।

अब्जं (बिज) तरसंबुक्का-अन्यन्तरशम्बुक्का-स्त्री० । अभ्यन्त-
राद् मध्यजागात् शङ्खवृत्तगत्या निक्कमाणस्य बहिर्निस्सरणे
भवन्त्यां गोचरचूर्णौ, ध० ३ अधि० । यस्यां क्षेत्रबहिर्भागाच्छ-
ङ्खवृत्तत्वगत्याऽटन् क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरशम्बुक्का ।
स्था० ६ उ० ।

अब्जं (बिज) तरसगडुद्धिया-अन्यन्तरशकटोद्धिका-स्त्री० ।
अद्भुष्टौ मीलयित्वा विस्तार्य पाष्णीं तु बाह्यतस्तिष्ठत्युत्सर्गे,
एष भणितोऽभ्यन्तरशकटोद्धिकादोष इति । कायोत्सर्गस्यो-
द्धिकादोषजेदे, प्रव० ५ द्वा० । आव० ।

अब्जं (बिज) तरोहि-अन्यन्तरावधि-पुं० । अवधिमेदे, अथ
अन्यन्तरावधिः प्रदीपप्रभापटलवदवधिमता जीवेन सह सर्व-
तो नैरन्तर्व्येण सम्बद्धोऽखण्डो देशरहित एकस्वरूपोऽत एवा-
य सम्बद्धावधिर्देशावधिश्चोच्यते । विशे० ।

अब्जं (बिज) तरिया-अन्यन्तरिकी-स्त्री० । अभ्यन्तरभाग-
वर्तिन्यां जवनिकायाम्, द्वा० १ अ० ।

अभ्यन्तरावधि-अन्यन्तरावधि-त्रि० । (अभ्याख्यानदाप्ये,)
अभ्याख्यान नामाऽसदभियोगः, यथा चौरं चौरमित्याह । आचा०
१ भु० १ अ० ३ उ० ।

अभ्यन्तरावधि-देशी-अकीर्ती, दे० ना० १ वर्ग ।

अभ्यन्तरावधि-अन्यन्तरावधि-न० । अभिमुख्येन आख्यानं दो-
षाविष्करणमन्याख्यानम् । प्र० ५ श० ६ उ० । औ० । प्रक-
टमसदोषारोपणे, प्रज्ञा० २२ पद । प्रज्ञ० । आव० । अस-
दृष्टणाभिधाने, प्रज्ञ० २ आश्र० ८० । अभिन्यसने, असदभ्या-
रोपणे च । आव० ५ अ० । परस्याभिमुख दृष्टणवचने, प्रज्ञ० २
आश्र० ८० । प्रव० । असदभियोगे, यथा चौरं चौरमित्याह ।
आचा० १ भु० १ अ० ३ उ० । औ० । सूत्र० । “ एगे अभ्य-
न्तरावधि ” स्था० १ उ० १ उ० ।

अधिकरत्नाधिकमवमरत्नाधिकोऽन्याख्याति-

दो साहस्रमिया एगतो विहरति, तेहि एगे तत्तथ अण्णयं
अकिच्चट्ठाणं पमिसेवित्ता आलोइज्जा-अह णं भंते !
अमुएणं साहुणा सच्चिं इमियम्मि कारणम्मि मेहुणप-
मिसेवी । पच्चयहेउं च सय पमिसेविय जएणति । तत्तथ
पुच्छियन्वे-किं पमिसेवी ? अपमिसेवी ? । से य वण्ज्जा-

पमिसेवी परिहारपत्ते । से य वण्ज्जा-णो पमिसेवी, णो
परिहारपत्ते । जे से पमाणं वदति से य पमाणउ घेतव्वं
सिया । मे किमाहु भंते !, सच्चपइसा ववहारा ॥ २२ ॥

द्वौ साधर्मिकौ सांभोगिकौ, एकत एकेन सघाटकेन विहरतः, तत्र
तयोर्द्वयोर्मध्ये एक इतरस्याभ्याख्यानप्रदाननिमित्तमन्यतरद्व-
‘अवियत्त’ अभ्युपगच्छति, न परस्यैव केवलस्याभ्याख्यान-
ददाति, तत आह-(पच्चयहेउं चेत्यादि) परेषामाचार्याणा-
मन्येषां च साधूनामेव सवर्दति, अन्यथा को नामात्मानं प्रति से-
वितमभिमन्यत इति प्रत्ययो विश्वास स्यादिति हेतोः स्वयमपि
च प्रतिसेवितमिति भणति । एवमुक्तो यस्याभ्याख्यानमदायि
स प्रष्टव्यः-किं वा प्रवान् प्रतिसेवी, न वा ? । तत्र यदि स
वदेत्-प्रतिसेवी, ततः स परिहारतपोभाक् क्रियते, उपलब्ध-
णमेतत् । छेदादिप्रायश्चित्तभागपि क्रियते इति द्रष्टव्यं । अथ स
वदेत्-नाह प्रतिसेवी, तर्हि परिहार प्राप्तः स्यात् । न परिहार-
तप प्रभृति प्रायश्चित्तभाक् क्रियते इति भावः । स च प्रतिसेवी
वा यदभ्याख्यानदाता “ से ” तस्य प्रतिसेवनायां प्रमाणं चर-
कादि वक्ति; तस्मात्प्रमाणाद् गृहीतव्यो निश्चेतव्यः स । अथ किं
कस्मात्कारणादेवमाहुर्जघन्ते ? हे जघत् ! । सूरिराह-सत्यप्रति-
ज्ञव्यवहारास्तीर्थकारैर्देशितास्ततो न यथाकर्थाऽतः प्रतिसेवी
अप्रतिसेवी वा क्रियते । एष सूत्राकारार्थः ।

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः । तत्र भिक्षाचर्याविचारचुमि-
गमनविहारादिषु यो रत्नाधिकतरः कुतश्चिदोपादधमो जातः
स तमवमरत्नाधिकं यैः कारयैरभ्याख्यानेन दूषयति तानि
प्रतिपादयिषुराह-

रयणाहियवायएणं, खलियमिलियपेठ्ठणाएँ उदएणं ।

देव उह मेहुणम्मि य, अभ्यन्तरावधिं कुंरंगम्मि ॥

रत्नाधिकवातेन रत्नाधिकोऽहमिति गर्वेण अवमरत्नाधिक-
शविधचक्रवाहसामाचार्यामरत्नाहितमपि कषायोदयेन तर्जय-
ति । यथा-हे दुष्ट ! शैल ! स्खलितोऽसीति । तथा पेयापथिकीं
प्रतिक्रम्य प्रथममेव परावर्तयन्त, यदि वा अभिमतपद पदेन
धिच्छिन्नं सूत्रमुच्चारयन्तं हा दुष्ट ! शैल ! मिलितमुच्चारय-
सीति तर्जयति । तथा (पेल्लणं सि) अन्यैः साधुभिर्चार्यमा-
णोऽपि कषायोदयतः स्वहस्तेन प्रेरयति तर्जयति । ततः सो-
ऽवमरत्नाधिकः कषायितः सन् चिन्तयति-एष रत्नाधिक-
वातेनेत्य बहुजनसमक्षं तर्जयति, अथैव सामाचारी, रत्ना-
धिकस्य सर्वं क्लृप्तव्यमिति, ततस्तथा करोमि यथैष मम
सधुको भवति । एव चिन्तयित्वा तौ द्वावपि भिक्षाचर्यायै ग-
तौ, तत्र च तृषितौ बुद्धितौ चेत्येव चिन्तितवन्तौ-अस्मिन्नार्या-
देवकुले वृद्धविषमे वा प्रथमाक्षिकां कृत्वा पानीयं पास्याम इति,
एव चिन्तयित्वा तौ तदभिमुखं प्रस्थितौ, अत्रान्तरे अवमरत्ना-
धिकः परिव्राजिकामेकां तदभिमुखं गच्छन्तीं दृष्ट्वा स्थितः,
उपलब्ध एष इदानीमिति चिन्तयित्वा तं रत्नाधिकं वदति-अ-
हो ! अद्य ज्येष्ठार्ये ! कुरु त्वं प्रथमाक्षिकां, पानीयं वा पिब, अह
पुनः सज्ञां व्युत्सृज्यामि, एवमुक्त्वा त्वरितं मैथुने अभ्याख्यानं
दातुं वसतावागत्यालोचयति ।

तथा दर्शयति-

जेहउज्जेण अकज्जं, सज्जं अज्जाधरे कयं अज्जं ।

उवजीवितोऽयं जंते !, मए वि ससइकप्पो व्व ॥

ज्येष्ठार्येणाद्य सद्य इदानीमार्यागृहे कृतमकार्यं मैपुनाजिसे-
वाहकण, ततो भदन्त ! तत्ससर्गतो मयाऽपि ससृष्टकल्पो मै-
युनप्रतिसेवा, अत्रास्मिन्प्रस्तावे उपजीवितः ॥

अहवा उच्चारगतो, कुमंगमाईकमिहदेसम्मि ।

वेती कयं अकज्जं, जेह्ज्जेणं सह मए वि ॥

अथवेत्यभ्याख्यानस्य प्रकारान्तरप्रदर्शने। कुमङ्गादौ कदिल्लदे-
शे गहनप्रदेशे उच्चाराय गनस्तत्र च ज्येष्ठार्येण सह मयापि कृ-
तमकार्यमिति । तस्माद् व्रतानि मम साम्प्रतमारोपयत ।

एवमुक्ते सुरिभिः स एव वक्तव्यः—

तम्मागते वयाइं, दाहामो देंति वाऽऽउरंतस्स ।

जुयत्थे पुण नाए, अलियनिमित्तं न मूळं तु ॥

योऽसौ त्वया अन्याख्यातः स यदा आगतो भविष्यति तदा
तस्मिन्नागते व्रतानि दास्याम । अथ स त्वरमाणो घृते-भग-
वन् ! कुशाग्रस्थितवाताहतजलविह्वलिरिवातिचञ्चल जीविनामि-
ति न शक्यते क्षणमात्रमप्यव्रतेन स्थातुम्, इत्यधुनैव ममारोप्यतां
व्रतादीनीति । तस्यैव त्वरमाणस्य इदं व्रतानि, पाहाण्णो
विकल्पार्थः । तत्र पुनर्हृताथो गवेषणीयः, किमयं सत्यं घृते,
उतालीकम् ? तत्र यथा नूतार्थो गवेषणीयस्तथाऽनन्तरमेव घ-
टयते । नूतार्थं च ज्ञाते यदि सत्यं, तदा द्वयोरपि मूलं दीयते ।
अधालीकम्, ततो योऽन्याख्यातः स ह्यहं, इतरस्य त्वभ्या-
ख्यातुर्मूलं न दीयते, किन्त्वलीकानिमित्तं मृपावादप्रत्ययं चतु-
र्गुणक प्रायश्चित्तमिति ।

सम्प्रति यथा नूतार्थो ज्ञायते तथा प्रतिपिपाद-
विपुद्गास्माधामाह—

चरियापुच्छणपेसण, कावाडिय तत्रसंघो य जं जणइ ।

चउजंग निरिक्खा दे-वया य तहियं विही एसो ॥

तत्र नूतार्थे ज्ञातव्ये एव विधि—चरिका परिमाजिका, तस्या-
प्रच्छनाय वृषमाणं प्रेषणं स चेत्सत्यवादी न मन्यते तनस्तौ
अथपि पृथगाश्रये प्रेक्ष्य तत्र वृषभा तत्स्वरूपगवेषणाय का-
पाक्षिकरूपेण प्रेष्यन्ते । कापाक्षिकप्रदणमुपसङ्गणम्, तेन सरज-
स्कादिरूपेणापीत्यपि द्रष्टव्यम् । एवमपि नूतार्थानिर्णये (तयो-
स्ति) तपः स्वकायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य पृच्छति । एतस्यापि
प्रकारस्याभावे सद्यो मेलयित्वा प्रच्छनीयः, तेन च निरीक्षिणो
निरीक्षकानाधिकृत्य चतुर्भङ्गी-केचिच्चयात्न तथाज्ञायेन पश्य-
न्तीत्यादिरूपा घटयमाणा प्रकल्प्यते । गाथायां पुस्त्य प्राकृतत्वा-
त् । सा च चतुर्भङ्गी जद्रप्रान्तदेवता आधित्यं सम्भवति । एव
द्वारागायासकेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथा विवरः। पुराह—

आलोइयम्मि तिउणो, कज्जं से सीसए तयं सव्वं ।

पभिसिद्धिम्मि य इयरो, भणाइ वीयं पि ने नत्थि ॥

अभ्याख्यातः साधुरागन् सन् आलोचयति—प्रथमाक्षिकां या-
यन्न जानामि द्वितीयः सघाटकः कापि गत इति केवलोऽहमा-
गनोऽस्मि । तत आचार्यां व्रुवते—सम्यगालोचय । तन स स्मृ-
त्वा आलोचयति, यावत्तस्मिन्नपि वृत्तीये घारे तदालोचितम् ।
ततस्त्रिगुण त्रि-कृत्य आलोचिते यदि न प्रतिसेवितमित्यालोचय-
ति, ततो येन कारणेन त्रीन् धारान् आलोचयितस्तत्कार्यं कारणं
सर्वे तस्य शिष्येने कथ्यते, यथा—स एव तत्र संचाटकस्त्वया सह
१७३

किञ्चिन्मात्रं द्विपित्वा समागतो घृते-ज्येष्ठार्येण आर्यागृहे वृष्ट-
विषमे च क्वचित्प्रदेशे कृतमकार्यम्, तत्ससर्गतो मयाऽपि स-
सृष्टकल्प उपजीवित इति । ततोऽभ्याख्यातसाधुर्वदति-
न मया प्रनिसेवितम् । एव तेन प्रतिपिपे प्रतिसेवने इतरोऽभ्या-
ख्यानप्रदाना भवति—अहो ! ज्येष्ठार्य ! तव द्वितीयमपि व्रत
नास्ति, आस्तां चतुर्थमित्यपिशब्दार्थः ।

दोएहं पि अणुमण्णं, चरिया वसहे पुच्छियपमाणं ।

अभत्थ वसह तुम्हे, जा कुणिमो देव उस्सग ॥

एव द्वयोरपि विषयतोर्यमुच्यते—चरिका पृच्छयता यत्सा
घटयति तत्प्रमाणायिष्यते । एवमुक्ते यदि तौ ह्यवप्यनुमन्येते,
ततो द्वयोरनुमतेन, समत्या इत्यर्थः । वृषभाश्चरिकां प्रष्टुं प्रेष्य-
न्ते, ते च तत्र गता प्रथमनश्चरिका प्रज्ञापयन्ति, प्रज्ञाप्य पृच्छ-
न्ति—किमत्र सत्यम्, अलीक वा ? एव वृषभैश्चरिका पृष्टा सती
यद् घृते तत्प्रमाणं कसंच्यम् । तत्र चरिकयोक्तम्—भगवन् ! अभ्य-
ख्यान तेन द्वितीयेन तस्यै दत्तमिति । एतद्योक्तं वृषभा वस-
तायागत्य गुरवे निवेदयन्ति । यथावस्थिते निवेदिते यद्यन्य-
तरो घटति—गूढयति चरिका न सम्यक्कथयति । तदा गुरवो
ह्यपि घृवते यूयमन्यत्र वसन्ति याचयित्वा तत्र वसथ, या-
घटय रात्रौ देवताराधनार्थं कायोत्सर्गे कुर्मः । किमुक्तं प्रय-
ति ?—कायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य पृच्छाम—कोऽत्र सत्य-
वादी, को पाऽलीकवादी ? इति ।

एवमुक्ते तौ ह्यपि वसत्यन्तरे गते यद्

भवति तदभिधित्सुराह—

अट्टिगमादी वसभा, पुज्जि पच्छा वजति निसि सुणणा ।

आवस्सग आउट्टण, सन्भावे वा असन्भावे ॥

अस्थिका कापालिका, आदिशब्दात्सरजस्कादिपरिग्रहः, त-
दृपा सन्तः । किमुक्तं प्रयति ?—कापालिकं घेयं सरजस्कवेयं
कृत्वा यस्यां वसतौ ह्यपि जनां तिष्ठतस्तत्र पूर्वं वृषभा गच्छ-
न्ति । यदि वा तयोर्गतयोः पश्चात्तत्र च गन्वा रात्रौ मातृस्थाने
सुप्ता इव तिष्ठन्ति, तथापि तयोः परस्परमुल्लापं शृण्वन्ति ।
तयोश्चावश्यं कर्तुं कामयोर्योऽसाववमरत्नाधिकोऽभ्याख्यान-
दाता, स इतरं प्रति मिथ्यादुष्टतेनोपस्थित एतद्वदति—त्व मया
असता अभ्याख्यानेनाभ्याख्यातोऽस्तौ मिथ्यादुष्टतमिति ।
ततो रत्नाधिको घृते—किं नाम तथापहतं मया, येनासदाभ्या-
ख्यान मे दत्तमिति ? । अवमरत्नाधिको भाषते—त्वं नित्य-
मेव यत्र तत्र वा कार्यं सम्यग् प्रवर्त्तमानमपि हे दुष्ट ! शैक्ष-
क ! इति तर्जयसि, तेन मया त्वमसदभ्याख्यानेनाभ्याख्यातः ।
एवमावश्यं आवश्यकवेलायामावर्त्तने भावप्रत्याग्याने अ-
लीकाभ्याख्याने सद्भाषो ज्ञायते । अथ न परस्परसभाषणतः
सद्भाषो ज्ञायते, तदा सद्भाषपरिज्ञानाभावे तपस्थी प्रष्टव्य
इति शेषः ।

तथाचाऽह—

सदो त्ति मं जाससि निच्चमेव,

बहण मज्झम्मि तत्रो कहेमि ।

अभासमाणाण परोप्परं वा,

देवाण—मुस्सग तत्रस्सि कुज्जा ॥

नित्यमेव सर्वकालमेव यद् हे शत्रु ! शैक्षक ! इति मां भाष-
से, तेन त्वमसताभ्याख्यानेनाभ्याख्यातः । अथ स रत्नाधिक-

स्तमवमरन्नाधिक इत्यात्-यदि मया कदापि युवत्या सह कृत-
मकार्यं तन किं त्वया वदूना मध्ये अहमेवमप्यारगत-अनेन
कृता प्रतिसेवनेति । किन्त्वहमेवैकान्ते वक्तव्यो भवामि । यथा
उपु कृतमालोचनां गृहाण गुरुणामन्तिक इति । मम गोपेण त्वया-
ऽऽत्मीयमपि शील विगोपितम्, एव सद्भावो ज्ञायते । एतावता
“ आवस्मग आउट्टण, सन्भावे वा ” इति व्याख्यातम् । इदा
नीमसद्भावे इति व्याख्यानयति-‘ अभासमाणाण परोपर
वा ’ इति । अथ कदाचित्तौ रोपन परस्पर न सत्पन’ तदा
तयो परस्परमभापमाणयोर्भूतार्थपरिज्ञानाज्ञावे तपस्वी कपको
देवताध्यानार्थं कायोन्मगं कुर्यात् । कायोन्मगेण च देवतामाक-
म्प्य पृच्छति-कोऽनयोर्द्वयोर्मध्ये सम्यग्वादी, को वा मिथ्या-
वादीति ? । तत्र यदेवता ब्रूते तन्प्रमाणम् । तेन तप इति द्वार
व्याख्यातम् ।

अधुना सहृदय व्याचिख्यासुगिदमाह—

किंचि तद्वाऽतद् दीसड, चउभगे पत देवया जहा ।

अत्तीकरेइ मूल, इयरे सच्चपतिमाओ ॥

सर्वप्रकारेणाज्ञायमाने भूतार्थे सधसमवाय कृत्वा तस्मै आवे-
द्यते-रत्नाधिको वदति नाह कृतवान्प्रतिसेवनाम्, इतरो ब्रूते
द्वावपि प्रतिसेवितवन्ताविति, तत्र किं कर्त्तव्यमिति ? । एवमा-
दिना कृते ये सधमध्ये गीतार्थास्ते वदन्ति-किञ्चित्त्वाभाव तथा
भावेन दृश्यते, किञ्चित्त्वाभावमन्यथाभावेन, किञ्चिदन्यथाभा-
व तथाभावेन, किञ्चिदन्यथाभावमन्यथाभावेन । एषा चतुर्जङ्गी ।
अस्या चतुर्जङ्ग्या प्रथमो भङ्ग प्रतीतिः । द्वितीयभङ्गभावना त्वे-
वम्-कोऽपि कथापि वनप्रदेशे गच्छति । तत्र केचिद्वारक्षका अ-
पगतक्रमा असिन्धुग्रहस्ता वलगन्ति । ततः कदाचिद्देवता भक्ति-
का मा विनश्यत्वेण पुरुष इति त दूरान्तरित दर्शयति । तृतीय-
भङ्गः-भगवतो वर्द्धमानस्यामिन सागारिकमकषायिन सङ्ग-
मकः कषायित दर्शयति । चतुर्थभङ्गः-कस्याश्चिद्विपदि दास
राज्ञा कारितराजनेपथ्य विनश्यन्त दृष्ट्वा कदाचिद्देवता
तदनुकम्पया स्त्रिय दर्शयति । एव प्रान्ता भङ्गा च देवता
अन्यथाचूत यद्वस्तु अन्यथा करोति-अन्यथा भूत दर्शयति,
ततो दृष्टमपि तावदप्रमाणमत्र । ननु ज्ञायते-किमपि दृष्टमवम-
रत्नाधिकन, अथ च सत्यप्रतिज्ञा व्यवहारास्तीर्थकृद्भिरुपादिष्ठा-
स्तस्माद्यद् रत्नाधिको ब्रूते-न मया प्रतिसेवितमिति तत्प्र-
माणनः शुद्ध एव न प्रायश्चित्तमिति । यदपि चावमरत्नाधि-
को वक्ति-मया प्रतिसेवितमिति, तदपि प्रमाणमतस्तस्य मूल
प्रायश्चित्तमिति । ७० २ उ० ।

अब्जच्छाण-अब्जच्छन्न-त्रि० । मेघावुने, वृ० १ उ० ।

अब्जह-देशी-प्रसिद्धशब्दः । अनुव्रजने, “ अभमवचिउ बे
पयई, पेम्मु निअत्तइ जावँ । सव्वासण-रिठ-सभव-हो, कर
परिअत्ता तावँ ” । प्रा० । प्रेमशब्देन प्रिया वाच्या, अनेदोप-
चारात् । यथा प्रेमवतीत्युच्यते, तथा प्रेमापीत्युच्यते । प्रिया
प्रियमिति शेषः । प्रियम्, (अभमवचिउ इति) अनुव्रज्य
मुत्कालाद्य यावद् द्वौ पादौ निवर्त्तते तावत् सर्वाशनरिपु-
सभवस्य चन्द्रस्य कगा किरणा परिवृता, प्रसृता इत्यर्थः ।
सर्वमश्नातीति ‘नन्यादि०’ ॥ ५ । १ । ५२ ॥ इत्यन प्रत्ययः ।
सर्वाग्नोऽग्निः, तस्य रिपुर्जल, तत्समयश्चन्द्रः । अनुव्रजेन रते
‘अभम’ इति ‘वच कटाप्र०’ वचयने लोफान् ‘स्वराणां०’
॥ ८ । ४ । २३८ ॥ अभमवचिउ ॥ दु० ४ पाद ॥

अब्जणुष्ठा-अच्यनुज्ञा-स्त्री० । कर्त्तव्यानुमतिदाने, स्था० ।

अथात्र भगवतो महावीरस्याऽच्यनुज्ञातानि प्रदर्शयन्ते—

पंच ठाणां समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं नि-
गंधाणं णिच्च वसियाइं णिच्चं कित्तियाइं णिच्चं बुड्याइं
णिच्चं पमत्थाइं निच्चमब्जणुष्ठाइं भवंति । तं जहा-खती
मात्ती अज्जवे मद्वे लाधवे । पंच ठाणां समणाणं जाव
अब्जणुष्ठायाइं भवति । तं जहा-सच्चे संजमे तवे चियाए
वंभचेरवासे । पंच ठाणां समणाणं जाव अब्जणुष्ठायाइं
जवति । तं जहा-उक्खित्तचरणे णिक्खित्तचरणे अंतचरणे
पंतचरणे बूहचरणे । पंच ठाणां जाव अब्जणुष्ठायाइं भवं-
ति । तं जहा-अन्नायचरणे अब्जेलचरणे मोणचरणे ससट्ठक-
प्पिए तज्जायसंसट्ठकप्पिए । पंच ठाणां जाव अब्जणुष्ठायाइं
जवंति । तं जहा-उवनिहिणं सुद्धेसणिए संखादत्तिणं दिट्ठि-
भिणं पुट्ठिभिणं । पंच ठाणां जाव अब्जणुष्ठायाइं ज-
वंति । तं जहा-आयविट्ठणं निविट्ठणं पुरिमिणं परिमिय-
पिमवाइणं निज्जपिमवाइणं । पंच ठाणां जाव अब्जणुष्ठा-
याइं जवति । तं जहा-अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे
पंताहारे बूहाहारे । पंच ठाणां जाव भवंति । तं जहा-
अरसजीवी विरसजीवी अंतजीवी पंतजीवी बूहजीवी । पंच
ठाणां जाव भवंति । तं जहा-ठाणाइणं उक्कुनु ग्रामणिए
पनिमट्ठाइवीरामणिए णेसज्जिए । पंच ठाणां जाव ज-
वति । तं जहा-दंडायणं लंगंडसाइं आयावणं अवाउडणं
अकंसुयणं ॥

नित्यं सदा वर्णितानि फलनः कीर्तितानि सशब्दितानि, ना-
मतः (बुड्याइ ति) व्यक्तवाचोक्तानि, स्वरूपतः प्रशस्तानि
प्रशंसितानि श्लाघितानि, शसु स्तुताविति वचनात् । अभ्यनु-
ज्ञातानि कर्त्तव्यतया अनुमतानि भवन्तीति । अथ च सूत्रोक्तोप-
प्रतिषेधे वैयावृत्यसूत्र यावत् दृश्यत इति । स्था० ५ वा० १ उ० ।
(क्षान्त्यादीनां व्याख्या स्वस्थाने वक्ष्यते)

असत्याऽच्यनुज्ञानं कुर्वत क्रिया-

जे णं जंते ! पर अझिएणं असब्बूएणं अब्भक्खाणेणं
अब्जक्खाइ, तस्स णं कट्ठप्पगारा कम्मा कज्जाति ! गोयमा !
जे णं पर अझिएणं असंतएणं अब्भक्खाणेणं अब्जक्खाइ,
तस्स णं तहप्पगारा चेव कम्मा कज्जाति, जत्येव णं अभि-
समागच्छं तत्येव णं पमिसंवेदेइ । तसो से पच्छा वेदेइ
सेवं जंते ! भंते ! चि ।

अक्षीकेन चूतनिह्वयरूपेण पात्रितव्रह्मचर्यसाधुविषयेऽपि
नानेन ब्रह्मचर्यमनुपालितमित्यादिरूपेण (असम्भूएण नि)
अभूतोद्भावनरूपेण अक्षीरेऽपि क्षीरेऽयमित्यादिना । अथवा
अक्षीकेन असत्येन तच्च द्रव्यतोऽपि भवति, सुब्धकादिना मृगा-
दीनृदस्य जानतोऽपि नाहं जानामि इत्यादि । अत आह-अस-

ज्ञेने दुष्टान्निसन्धित्वाद्दशोभनरूपेणाचौरेऽपि चौरोऽयमित्यादिना (अभ्युत्थानेन ति) आन्निमुख्येनाख्यान ढोपायिष्करणाभ्याख्यान, तेन अभ्याख्याति धूने । (कटपगार स्ति) कथप्रकाराणि ? किंप्रकराणीत्यर्थ । (नटपगार स्ति) अभ्याख्यानफलानीत्यर्थ । (जत्येव णमित्यादि) यत्रैव मानुषत्वादायभिसमागच्छति उत्पद्यते तत्रैव प्रतिसवेद्यत्यभ्याख्यानफलकर्म, ततः पश्चाद्वेदयति निर्जरयतीत्यर्थ ॥ ज० ॥ ५ श० ७ व० ।

अभ्यागुप्ताय-अज्यनुज्ञात-त्रि० । कर्तव्यनयाऽनुमते, स्था० ५ ना० १ उ० ।

अभ्युत्थ-अज्यस्त-त्रि० । अभि-अस्-क्त । पौन पुन्येनैकजातीयक्रियाकर्मणि पुन पुनरावर्तिते, " शेषवेऽज्यस्तविद्याना यौवने विषयैषिणाम् " । " उभे अज्यस्तम् " ॥ ६ । १ । ५ ॥ उ-क्तयोः कृतद्वित्वयोरुक्तयोः धातुभागयोः । " नाभ्यस्ताच्छतुः " ॥ ७ । १ । ७७ ॥ " अभ्यस्तस्य च " ॥ ६ । १ । ३३ ॥ वाच० । गुणिते, विशेषे । आ० म० । प० व० ।

अज्यत्थणा-अज्यर्थना-खी० । परस्परप्रवर्तनायां ' त्व ममेद कार्यममुष्य वा कुर्व' इत्येव रूपायाम्, पञ्चा० ११ विव० । " जह अज्यत्थे अपर, कारणजाने करेज सो को वि । नत्थ वि इच्छा-कारो, न कप्पइ बलामिओगाओ " ॥ १॥ आ० म० द्वि० । (अभ्यर्थनायां मरुकदृष्टान्तः " इच्छकार " शब्दे द्वितीयभागे ५७५ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अभ्यपटल-अज्यपटल-न० । मेघवृन्दे, पृथिवीकायपरिणामविशेषे च । (अज्य-तबक) । " अभ्यपटलपिगुञ्जलेण " (उन्नेण) अज्यपटलमिव मेघवृन्दमिव वृहच्छायाहेतुत्वात् अज्यपटल, पिङ्गलं च कपिश सुवर्णकञ्चिकानिर्मितत्वात् लज्जल निर्मल यत्तत्तथा । अथवा अभ्यपटलक पृथिवीकायपरिणामविशेषस्तपटलमिव पिङ्गल लज्जल च तत्तथा । तेन । औ० । सूत्र० । जी० । प्रज्ञा० ।

अभ्यपिसाय-देशी-राहौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अभ्यवाह्या-अज्यवाह्या-खी० । अभ्यपटलमिश्रवाह्यकारूपे स्वरवादपृथिवीकायनेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । सूत्र० ।

अज्यरहिय-अज्यर्हित-त्रि० । राजामात्यादिपुत्रे गौरविके, (वृ०) राजमान्ये, वृ० १ उ० । नि० चू० ।

अभ्यराग-अभ्यराग-पु० । सायं सूर्यकरयोगाद् मेघानां नानावर्णे मेघे, प्रज्ञा० १७ पद ।

अभ्यरुक्त्व-अभ्यवृक्ष-पु० । अभ्यात्मको वृक्षोऽभ्यवृक्षः । म० ३ श० ६ उ० । वृक्षाकारेण परिणतेऽन्ने, जी० ३ प्रति० । अनु० ।

अभ्यवदलय-अज्यवदलय-न० । अभ्यरूपचारो जलस्य दलक कारणमभ्यवदलकम् । मेघे, म० १५ श० १ उ० । अग्रे आकाशे वदलकमभ्यवदलकम् । नजोगतमेघे, " अभ्यवदलयाइ वि-उवइ " आ० म० प्र० । अज्याणि मेघास्तैर्वादलकम् । मेघैः कृते, स्था० ३ ना० ३ उ० । रा० ।

अज्यसंभा-अभ्यमन्या-खी० । सन्ध्याकाक्षे नीलाद्यभ्यपरिणतौ, जी० ३ प्रति० ।

अभ्यसंयम-अज्यसंयुत-न० । मेघैराकाशाच्छादने, स्था० ४ ना० ४ उ० ।

अज्यमण-अज्यमन-न० । अजि-अस्-ल्युट् । अभ्यासे, पौन पुन्येनैकक्रियाकरणे पुनःपुनरावर्तने, वाच० । " अभ्यसण नि वा गुणण ति वा एगछा " दृश० १ अ० ।

अज्यमिय-अज्यस्य-अव्य० । अभ्यासीकृत्येत्यर्थे, छव्या० ६ अध्या० ।

अभ्यहिय-अज्यधिक-त्रि० । अत्यर्थे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । ज० । " अभ्यहियभीममेग्वपगारेण " । अभ्यधिक यथा भवत्येव भीमजैरवोऽतिभीमो रवप्रकारो यस्य स तथा तेन (यनद्वेन) ज्ञा० १ अ० । प्रज्ञा० । " अभ्यहिय सोभितुमादत्तो " आ० म० प्र० । " अभ्यहियरायतेयलच्छीए " कल्प० ३ कण ।

अज्यहियतरग-अज्यधिकतरग-त्रि० । विपुलतरे (विस्तीर्णं,) न० ।

अभ्यागम-अज्यागम-पु० । आन्निमुख्येनागम्यतेऽत्र । अभि-आ-गम्-क्त-अप् । युक्ते, कर्मणि अप् । अतिके, करणे अप् । निरोधे, भावे अप् । अभ्युत्थाने, अभिघाते च अभिमुखगमने, वाच० । प्रा० । आसन्नवासे, नि० चू० २ उ० ।

अभ्यागमिय-अज्यागमिक-पु० । आगन्तुकेषु, सूत्र० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

अभ्यागय-अज्यागत-पु० । अभि-आ-गम्-क्त । निष्प्रप्राप्तीने गृह गतेऽतिथौ, वाच० । " तिथिपर्वोत्सवा " सर्वे, येन त्यक्ता महात्मना । अतिथि त विजानीया-च्छेपमज्यागत विदुः " ॥ १॥ इत्यतिथेर्मेदोऽस्य । आचा० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

अज्यावगमिय-अज्यावकाशिक-न० । सहकारादेर्मूवाधोभा-गवर्तिनि प्रतिश्रये, वृ० २ उ० ।

अभ्यास-अज्यास (श)-पु० । अभ्यसनमज्यास । अशू-व्यासावित्यस्यानिपूर्वस्य घञ् । कर्म० ५ कर्म० । हेवाके, स्था० ४ ना० ४ उ० । परिचये, शो० १ विव० । गुणने, अनु० । ज्ञावनायाम्, " अभ्यास स्ति वा भावण स्ति वा " (प-कार्थम्) वृ० १ उ० । अभ्यासादेव हि सर्वक्रियासु सुकौशलमुन्मीलति, अनुजवमिद्ध चेद् लिखनपठनसस्यानगाननृत्यादिसर्वकलाविज्ञानेषु सर्वेषाम् । उक्तमपि- " अभ्यासेन क्रियाः सर्वा, अभ्यासात्सकलाः कलाः । अभ्यासाद्भ्या-नमौनादि, किमज्यासस्य दुष्करम् ? " ॥ १ ॥ निरन्तरं विर-तिपरिणामाज्यासे च प्रेत्यापि तदनुवृत्ति स्यात् । यन उक्तम्- " ज अभ्यासइ जीवो, गुण च दोस च एत्थ जम्ममि । तं पा-वइ परलोए, तेण य अभ्यासजोएण " । घ० २ अधि० । अत्र दृष्टान्त-कश्चिजोपस्तदहर्जात नर्णकमुत्किप्य गवान्तिके नयत्यान-यति वा ततोऽसावनेनैव क्रमेण प्रत्यह प्रवर्द्धमानमपि यत्समु-त्तिपश्रभ्यासवशाद् द्विहायन त्रिहायणमप्युत्किपत्येव साधुर-प्यज्यासात् शनैः शनैः परीषहोपमर्गजय विधत्त इति । सूत्र० १ भु० ११ अ० । ध्याने, एकावलम्बनेन मनःस्थैर्ये च । विशेषे । " तत्राज्यास स्थितौ श्रम " तत्राज्यासः स्थितौ वृत्तिरहित-स्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठे परिणामे श्रमो यत्नः पुन पुनस्तथा-त्वेन चेतासि निवेशनरूपः । तदाह- " तत्र स्थितौ यत्नोऽज्या-स इति । " स च चिरं चिरकाल नैरन्तर्येणादरेण चाश्रितो दृढभूमि स्थिरो भवति । तदाह- " स तु दीर्घकालनैरन्तर्यस-त्कारसेवितो दृढभूमिरिति " । द्वा० ११ ङा० ।

शुद्धोऽन्यासः-

अन्यासोऽपि प्रायः, प्रभूतजन्मानुगो जवति शुद्धः ।

कुलयोग्यादीनामिह, तन्मूलाधानयुक्तानाम् ॥ १३ ॥

(अव्यासोऽपीत्यादि) अव्यासोऽपि परिचयोऽपि प्रायो बा-
हुल्येन, प्रभूतजन्मानुगोऽनेकजन्मानुगतो, भवति जायते. शुद्धो
निर्दोषः, कुत्रयोग्यादीनां गोत्रयोगिव्यतिरिक्तानां कुलयोगिप्र-
वृत्तचक्रप्रभृतीनामिह प्रक्रमे, तान्मां मैत्र्यादीनां मूलाधान मू-
लस्थापन बीजन्यासस्तदुक्तानाम् । कुलयोगिहक्षण चेदम्-“ये
योगिनां कुले जाता-स्तद्धर्मानुगताश्च ये । कुलयोगिन उच्यन्ते,
गोत्रवन्तोऽपि नापरे” ॥ १ ॥ गोत्रयोगिनश्च-“सामान्येनोत्तमा
जव्याः, सर्वत्राद्वेषिणश्च ते । दयालवो विनीताश्च, बोधवन्तो जि-
तेन्द्रियाः” ॥ १ ॥ इत्याद्यभिधानात् ॥ १३ ॥

कस्य पुनर्यमभ्यास शुद्धो भवति? इत्याह-

अविराधनया यतते, यस्तस्यायमिह सिद्धिमुपयानि ।

गुरुविनयः श्रुतगर्भो, मूल चास्या अपि ज्ञेयः ॥ १४ ॥

(अविराधनयेत्यादि) विराधना अपराधासेवन, तन्निषेधाद-
विग्राधनया हेतुचूनया, यतते प्रयत्न विधत्ते, यः पुरुषस्तस्य
प्रयत्नमानस्यायमन्यास, इह प्रस्तुते, सिद्धिमुपयानि सिद्धिभाग्
जवति । गुरुविनयः प्रागुक्तः, श्रुतगर्भे आगमगर्भो, मूल च का-
रण चास्या अप्यविराधनाया, ज्ञेयो ज्ञातव्यः । षो० १२ विव० ।

अथाऽभ्यासप्रेदा -

अन्ने जणंति तिविहं, सययविसयजावजोगओ एवरं ।

धम्मम्मि अणुट्ठाणं, जहुत्तरपहाणरुव तु ॥ ? ॥

एअं च ए ज्ञुत्तिसमं, णिच्छयणयजोगओ जओ विसए ।

भावेण य परिहीणं, धम्माणुट्ठाणमो किहणु ॥ २ ॥

ववहारओ उ जुज्जइ, तहा तहा अणुणवंधगाईसु ॥ इति ॥

एतदर्थो यथा-अन्ये आचार्या ब्रुवन्ते-त्रिविध विप्रकार सतत-
विषयजावयोगतः, योगशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् सतता-
दिपदानां सतताभ्यासादौ लाक्षणिकत्वात्सतताभ्यास-विषया-
भ्यास-भावाभ्यासयोगादित्यर्थः । नवर केवल धर्मेऽनुष्ठानं य-
थोत्तर प्रधानरूपम्, तुरेवकारात् । यदुत्तरं तदेव सतत प्रधान-
मित्यर्थः । तत्र सतताभ्यासो-नित्यमेव मातापितृविनयादिवृत्तिः ।
विषयाभ्यासो-मोक्षमार्गनायकेऽर्हत्त्वक्षणे पौनःपुन्येन पूजना-
दिप्रवृत्तिः । जावाभ्यासो-भावानां सम्यग्दर्शनादीनां अवोद्वेगेन
भूयोभूयः परिशीलनम् । एतच्च द्विविधमनुष्ठानं न शुक्तिरूपं नो-
पपत्तिसहं, निश्चयनययोगेन निश्चयनयाभिप्रायेण, यतो-माता-
पित्रादिविनयस्वभावे सतताभ्यासे सम्यग्दर्शनाद्यनाराधनारूपे
धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव । विषय इत्यनन्तरमापिगम्य । विषये-
ऽपि अर्हदादिपूजालक्षणे विषयाभ्यासेऽपि । भावेन भववैराग्या-
दिना परिहीण धर्मानुष्ठानं कथं न, कथञ्चिदित्यर्थः । ओकार-
प्राकृतत्वात् । परमार्थो योगरूपत्वाद्धर्मानुष्ठानस्य निश्चयनयम-
ते भावाभ्यास एव धर्मानुष्ठानम्, नान्यद्वयमिति निर्णयः । व्यव-
हारात्तु व्यवहारनयदेशात्तु युज्यते द्वयमपि तथा तथा तेन
तेन प्रकारेण अपुनर्बन्धकादिषु अपुनर्बन्धकप्रवृत्तिषु । तत्रापुनर्ब-
न्धकः पापं न तीव्रजावात्करोतीत्याद्यलक्षणम् । आदिशब्दादपु-
नर्बन्धकस्यैव विशिष्टोत्तरावस्थाविशेषभाजौ मार्गान्निमुखमार्ग-
पतितौ, अविरतसम्यग्दर्शनादयश्च गृह्यन्ते इति । षो० १ अधि० ।

अव्भासकरण-अन्यासकरण-न० । पार्श्वस्थादिधर्माच्छ्रुत-
स्य पुनस्तत्रैव सम्यगनलक्षणे सजोगभेदे, स० ए० सम० । ध्य० ।
ये अभ्यासगतास्तेषामात्मसमीपवर्तित्वकरणे, व्य० ३ उ० ।

अव्भामग-अन्यासक-पु० । निकेपे, “ णिक्खेवो स्थापनाभ्या-
सक इत्यनर्थान्तरम् ” आ० चू० १ अ० ।

अव्भामगुण-अन्यासगुण-पु० । गुणभेदे, स च भोजनादि-
विषयः । तद्यथा-तदहर्जातवात्रकोऽपि जवान्तराभ्यासात् स्त-
नादिकं मुख एव प्रक्षिपति, उपरतरुदितश्च भवति । यदि बा-
भ्यासवशात्सततमसेऽपि कवलादेर्मुखविधरप्रक्षेपाद् व्याकुलित-
चेतसोऽपि च तुदन्नात्रकण्डूयनमिति । आ० १०१ अ० २ अ० १ उ० ।

अव्भानसजणियपसर-अन्यासजनितपसर-त्रि० । आसेवनोद्-
भूतवेगे, प० व० १ द्वा० ।

अव्भासस्थ-अन्यासस्थ-त्रि० । निकटवर्तिनि, व्य० ६ उ० ।

अव्भासवर्त्तिअ-अन्यासवर्त्तित्व-न० । अभ्यासो गौरव्यस्य
समीप तत्र वर्त्तितुं शीलमस्येत्यभ्यासवर्त्ती, तन्नावोऽभ्यासवर्त्ति-
त्वम् । म० ३५ श० ७ उ० । गुरुपादधीठिकाप्रत्यासन्नवर्त्तित्व-
लक्षणे लोकोपचारविनये, व्य० १ उ० । औ० । स्था० । ग० ।

अन्यासप्रत्यय-पु० । अभ्यासो देवाको वर्णनीयासन्नता वा
प्रत्ययो निमित्तं यत्र दीयते तदभ्यासप्रत्ययम् । देवाकेन
वर्णनीयासन्नतया वा प्रकाशनादौ, एतेन सतो गुणान् दा-
पयति । इत्यते ह्यन्यासाच्चिर्विषयाऽपि निष्कृताऽपि च प्र-
वृत्तिः, सन्निहितस्य च प्रायेण गुणानामेव ग्रहणमिति । स्था०
४ ग० ४ उ० । नि० चू० ।

अन्यासप्रीतिक-न० । अन्यासे प्रीतिकं प्रेम अभ्यासप्रीति-
कम् । लोकोपचारविनयभेदे, म० २ श० ५ उ० ।

अव्भासवित्ति-अन्यासवृत्ति-स्त्री० । नरेन्द्रादीनां समीपेऽव-
स्थाने, दश० ६ अ० १ उ० ।

अव्भासाइसय-अन्यासातिशय-पुं० । अभ्यासप्रकर्षे, षो०
१० विव० ।

अव्भानासासन-अन्यासासन-न० । उपवरणीयस्यान्तिकेऽव-
स्थाने, स० ११ सम० ।

अव्भानासिय-अन्यासित-त्रि० । कविनादिदेशोद्भवे, षू० ३ उ० ।

अव्भिग-अन्यङ्ग-पु० । स्नेहने, शा० १७ अ० । पञ्चाङ्गमर्दने,
दशा० ६ अ० ।

अव्भिजगिय-अन्याङ्कित-त्रि० । अभ्यङ्गः क्रियते स्म यस्य ।
तस्मिन्, शा० १ अ० ।

अव्भिज-सम-गम-धातु । मेलेने, “ समा अभिज ” -उ ।
४ । १६४ इति सूत्रेण समा युक्तस्य गमेरभिज आदेशः । अ-
भिज-सगच्छते । प्रा० ४ पादः ।

अव्भिज-अभिज-त्रि० । अविद्वते, ध० २ अधि० ।

अव्भुक्खणीया-अन्युक्खणीया-स्त्री० । पवनप्रेरितासु उदक-
निकासु, षू० १ उ० ।

अव्भुगम-अन्युगम-पु० । उदये, सूत्र० १ षू० १५ अ० ।

अभुगय-अच्युत-त्रि० । अभिमुखमुद्रतोऽच्युत । उत्पा-
दिते, औ० । अभिमुखेन सर्वतो विनिर्गते, च० प्र० १७ पादु० ।
अकुरवदुत्पन्ने वर्द्धितु प्रवृत्ते, उभते च । ज्ञा० १ अ० । ज० ।
विपा० । अभिमभागे मनागुभते, रा० । ज० । अभ्युक्ते,
रा० । जी० । भूदयमभ्यतो विनिर्गते, ज० २ वक्र० । अति-
रमणीयतया द्रष्टृणां प्रत्यभिमुखमुद्राबल्येन स्थिते, रा० ॥
“ अभुगयमवलमल्लियाविमलधवलदत ” अभ्युदगतमु-
कुला आयतकुर्मशा ये मल्लिकाविचकिलास्तद्वद् विमलौ द-
न्तौ यस्य । अथवा प्राकृतत्वात् मल्लिकामुकुलवदभ्युदगता-
वुभतौ विमलधवलदन्तौ यस्य तदच्युदगतमुकुलमल्लिकावि-
मलधवलदन्तम् (हस्तिनम्) । उपा० २ अ० । “ अभुगयमउ-
लमल्लियाधवलसरिससत्राण ” अभ्युदगतान्युभतानि मुकुलम-
ल्लिकेव कोरकावस्थविचकिलकुसुमवद् धवलानि तथा स-
दृशं सम संस्थान येषां तानि । ज० ७ वक्र० । “ अभुगय-
सुकयवस्वेरश्यतोरणवररश्यवीलद्वियसालिमजियागं ” अ-
च्युदगते उच्छ्रिते सुदतवज्रवेदिकायाः सम्प्रन्धिनि तोरणवदे-
रचिता वीलास्थिताः शालजञ्जिका यस्यां सा तथा, ताम् ।
(शिबिकाम्) भ० ९ श० ३३ उ० । ज्ञा० म० । ज्ञा० । रा० ।
अकुरवदुत्पन्ने च, ज्ञा० १ अ० ।

अभ्रोदत-त्रि० । उभे, भ० १२ श० ५ उ० ।

अभुगयभिगार-अच्युतचृङ्गार-अभ्युक्तोऽभिमुखमुद्रत उत्पा-
दितो भृङ्गारो यस्य स तथा । तथाभूते महामागे, औ० । भ० दशा० ।

अभुगयमुसिय-अच्यु(त्रो)क्तोच्छ्रित-त्रि० । अभ्युदगतभासा-
कुच्छ्रितश्चेत्यभ्युदगतोच्छ्रितः । अत्यर्थमुभे, भ० । “ अभुगयमुसि-
यपहसिया ” अभ्युदगतमभ्रोदगत वा यथा भवत्येवमुच्छ्रि-
तश्चेत्यच्युदगतोच्छ्रितः । अत्यर्थमुच्च इत्यर्थः । प्रथमैकवच-
नलोपश्चात् इत्यः । तथा प्रहसित इव प्रजापटलपरिगततया
प्रहसितः । प्रभया वा सितः शुक्लः, सबद्धो वा प्रभासित
इति । भ० २ श० ८ उ० । स० । ज० । जी० ।

अभुज्जय-अच्युत-त्रि० । वर्द्धितु प्रवृत्ते, “ अभुगयसु
अभुज्जयसु अभुज्जयसु ” (मेघेषु) ज्ञा० १ अ० । सोद्यमे,
ज्ञा० ५ अ० । उद्यतविहारिणे, व्य० ४ उ० । “ अभुज्जय दुविध-
अभुज्जयमरणेण, अभुज्जयविहारेण वा ” नि० चू० १६ उ० ।

अच्युतविहारमरणयो स्वरूपमाह—

जिण-सुख-जहालंदे, तिविहो अभुज्जओ अह विहारो ।

अभुज्जयमरणं पुण, पाउवगमणिगिणिपरिभा ॥

जिनकल्पः, शुरुपरिहारकल्पो, यथातन्त्रकल्पश्चेति त्रिविधो-
ऽच्युतः; अथैव विहारो मन्तव्यः । अच्युतमरणं पुनस्त्रि-
विधम्—पादपोपगमनमिङ्गिनीमरणं, परिहृति मत्प्रत्याख्यानम्,
शुद्धिआप्येतेषु अच्युतरूपतया भेयसी ।

अतः कतरदनयोः प्रतिपत्तव्यम् ? उच्यते—

सयमेव आउकाल, नाउं पेठितु वा बहुं सेसं ।

सुवहुगुणलाजकंखी, विहारमभुज्जयं जवड ॥

स्वयमेवायुः काय सातिशयभृतोपयोगाद्बहु दीर्घं शेषमवाशि-
ष्यमाणं ज्ञात्वा दृष्ट्वा वाऽन्य भुताद्यतिशययुक्तमाचार्यं बहु शेष-
१७४

मवबुध्य; ततः सुवहुगुणलाभकाङ्क्षी सन् विहारमभ्युद्यत भवति,
प्रतिपद्यत इत्यर्थः । वृ० १ उ० । (‘जिणकल्पिय’ शब्देऽस्य विधि)

अभुज्जयमरण-अच्युतमरण-न० । अभ्युद्यतस्य मरणे, तन्नि-
षिद्धमिति अनन्तरमुक्तम् । वृ० १ उ० । नि० चू० । प० व० ।
सथा० । (पादपोपगमनादियु वक्तव्यताऽस्य)

अभुज्जयविहार-अच्युतविहार-पु० । अच्युतानां जिन-
कल्पिकादीनां विहारे, प० व० ४ द्वा० । वृ० । (स च त्रिविध
इति ‘ अभुज्जय ’ शब्दे उक्तम्)

अभुगय-अच्युतान-न० । अभिमुखेनोत्थानमुदगमन-
मभ्युत्थानम् । ग० २ अधि० । उच्य० । तदुचितस्यागतस्य अ-
भिमुखमुत्थाने, पञ्चा० १७ विव० । दश० । द्वा० । चिनयार्ह-
स्य दर्शनादेवाऽऽसनन्यजने, स्था० ७ ठा० । ससन्नममासन-
मोचने, उच्य० ३ अ० । व्य० । प्रव० ।

एष दर्शनचिनयभेद इत्थं समाचरणीयः—

अभुगयाणे लहुगा, पामत्थादन्नतित्थीणं ।

संजडणीण पुणो तह, सजइवगे य गुरुगा उ ॥

साधुभिः साधूनामेवाच्युत्थान विधेयं न गृहस्थादीनां, त-
त्रापि सविज्ञानामेव न पार्श्वस्थादीनाम् । अथ पार्श्वस्थादीना-
मन्यतीर्थिकानां गृहिणां वाऽभ्युत्थानं करोति तदा चत्वारो ल-
घवः । तथा सयत्यादीनामन्यतीर्थीनां सयतवर्गस्य अभ्यु-
त्थाने चतुर्गुरवः ।

अथात्रैव दोषानुपदर्शयति—

उट्टेइ इत्थि जह एम चित्तिं, धम्मे त्रिओ नाम न एस साहू ।
दक्खिन्नपणा वसमेइ चेवं, मिच्छत्तदोसा य कुल्लिगिणीसु ॥

संयत कस्या अपि स्त्रिया अच्युत्तिष्ठन्त दृष्ट्वा भावकादिश्चि-
न्तयेत्—यथैष साधु स्त्रियमायान्त दृष्ट्वा अच्युत्तिष्ठति । तथा
नामेति सभावनायाम् । सभावनायाम् नैव सम्यग्धर्मे भृतचा-
रित्रात्मके स्थितः, अन्यथा किमेष एनामभ्युत्तिष्ठेत् ? अपि
च—एव स्त्रिया अच्युत्तिष्ठन् दाक्षिण्यवान् जवति । दाक्षिण्यप-
ण्यत्वे तस्या वशमायत्ततामुपैति । ततश्च ब्रह्मचर्यविराघनाद-
यो दोषाः । यास्तु कुलिङ्गिन्यस्ता परिव्राजिकाप्रभृतयः, तासु-
अच्युत्थीयमानासु यथा भद्रकादीनां मिथ्यात्वगमनादयो
दोषा भवन्ति ।

अन्यतीर्थिकेषु पुनरिमे दोषा—

ओजावणा पवयणे, कुतित्थउन्भावणा अबोही य ।

स्त्रिसिज्जंति य तप्प—क्वणादि गिहिसुच्चया बलियं ॥

भो भागवत ! सौगतादीनामन्यतीर्थिकानामच्युत्थाने प्रथम-
चरममहती अपम्राजना भवति—अहो ! निस्सार प्रवचनममी-
षां यदेवमन्यदर्शनिनामभ्युत्थानं विदधाति, तदीयस्य च
कुतार्थस्योद्भावना प्रभावना जवति—एतदेव दर्शनं शोभनतर-
यदेव जैना अन्येतत्प्रतिपन्नानच्युत्तिष्ठन्तीति । (अबोही य-
ति) प्रवचनलाघवप्रत्यय मिथ्यात्वमोहनीय कर्मोपचित्य म-
वोदधौ परिश्रमन् बोधिलाभ नासादयन्ति । ये च गृहिणः सु-
प्रता शोभनाणुवतधारकाः, सुआचका इत्यर्थः, ते तत्पाक्षिकैः
शाक्यादिपक्षपातिभिरुपासकैः, बालिकमत्यर्थं स्त्रियन्ते—अस्मा-
कमेव दर्शनं सर्वोत्तमं, भवदयगुरूणामपि गौरवार्हत्वात् ।

एष चेव य दोसा, सविसेसयरऽन्नतित्थिगीसु पि ।

लाघवत्राणुज्जियत्तं, तद्वागयाणं अवएणो य ॥

एते एव दोषाः प्रवचनापम्राजनादयोऽन्यतीर्थिकीष्वपि प्रव-
न्ति, नवर सविशेषतराः शङ्कादिभिर्देवैः समधिकतरा मन्त-
व्या । गृहिणामन्यतीर्थिकादीनां चाज्युत्थाने सामान्यत इमे
दोषाः । तद्यथा-लाघवमेतेज्योऽप्यय हीन इत्येव लक्षणो लघु-
भाव उपजायते । अनूर्जितत्व वराकत्वमुपदर्शितं भवति ।
तथाहि-लोको ध्यातु अहो ! अदत्तादानां भवान इव वरा-
का अमी यदेवमाहारादिनिमित्तमवितरकाणामपि चादूनि
कुर्वन्ति । तथा तेन यथावस्थितपदार्थोपलम्भात्मकेन प्रकारेण
गत ज्ञानमेषां तथागताः, सद्गतार्थवेदिनस्तीर्थकरा गणधरा इ-
त्यर्थः । तेषामवर्णवादो भवति । यथा-नामी सम्यग्मोक्षमार्गं
दृष्टवन्तः ।

अथ सयतीनामज्युत्थाने दोषान् विशेषतो दर्शयन्नाह—

पायं तवस्सिणीओ, करंति किङ्कम्म मो सुविहियाणं ।

एसुत्तिह्म वतिणिं, जवियव्वं कारणेणेत्य ॥

सयतीनामज्युत्तिष्ठन्तं दृष्ट्वा कश्चिदभिनवधर्मा चिन्तयेत्-प्राय-
स्नपस्विन्य सयत्य' सुविहितानां कृतिकर्म कुर्वन्ति । 'मो'
इति पादपूरणे । एष पुनर्मेतिनीमुत्तिष्ठति, तद्भविष्यमत्र का-
रणेनेति । एव शङ्कायां चतुर्गुरु, नि शङ्किते मूलम्, यत एते
दोषास्ततो नैषामज्युत्थान विधेयम् ।

अथ येषामज्युत्थानतव्यं तदज्युत्थानाकरणे प्रायश्चित्त-

सममिधत्सुराह—

आयरिए अभिसेगे, जिक्वुम्मि तहेव होइ खुइ य ।

गुरुगा लहुगा लहुगो, जिन्ने पमिलोमवितिण्ण ॥

आचार्ये अभिषेके भिक्षो तथैव कुल्लके; आचार्यादीन् प्राघु-
णिकान् यथाक्रममनज्युत्तिष्ठति गुरुका लघुका लघुको मि-
श्रमासाश्चेति प्रायश्चित्तानि । द्वितीयादेशेन इदमेव प्रायश्चित्तं
प्रतिद्वोम प्रतीपक्रमेणाचार्यादीनां वक्तव्यम् । आचार्यस्य
मिश्रमासः, अभिषेकस्य लघुमासः, भिक्षोः चतुर्लघवः, कु-
ल्लकस्य चतुर्गुरव इति भावः । एवं सग्रहणायासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

आयरियस्सायरियं, अणुट्ठयंतस्स चउगुरु होंति ।

वसजे जिक्वुक्खुइ, लहुगा लहुगो य मिन्नो य ॥

आचार्यस्य आचार्यं प्राघूर्णकमायान्तमनुत्तिष्ठतश्चतुर्गुरवो भ-
वन्ति, वृषभमनुत्तिष्ठतः चतुर्लघुकाः, कुल्लकमनुत्तिष्ठतो लघुकः,
निष्ठुमनुत्तिष्ठतो निष्ठमासः । एवमाचार्यस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

शेषाणामतिदिशति—

मट्ठाणपरट्ठाणे, एमेव वसज्जिक्वुक्खुइणं ।

जं परठाणे पावइ, त चेव य सोवि सट्ठाणे ॥

एवमेव वृषभमिच्छुल्लकानामपि स्वस्थानपरस्थाने प्रायश्चित्तं
वक्तव्यम्, स्वस्थानं नाम वृषभस्य वृषभस्थानं, वृषभस्याचार्यो मि-
श्रस्थानम् । एव भिक्षुकुल्लकयोरपि स्वस्थानपरस्थानभावना कर्त-
व्या । अत्र च यत्परस्थाने आचार्यं प्राप्नोति तदसावपि वृषभादि-
स्वस्थाने प्राप्नोति । किमुक्तं भवति-वृषभस्य प्राघूर्णकमाचार्यम-
नज्युत्तिष्ठतश्चतुर्गुरुकाः, वृषभस्थानमज्युत्थाने चतुर्लघवः, भिक्षो-
रनज्युत्थाने मासद्वयः, कुल्लकस्थानमज्युत्थाने मिश्रमासः । एव

भिक्षुकुल्लकयोरपि मन्तव्यम् । अत्र परस्थानमाचार्यस्य वृषभा-
दयः, तेषामज्युत्थाने यथाऽसौ चतुर्लघुकादिकमापन्नवान् तथा
वृषभादयोऽपि स्वस्थानमनज्युत्तिष्ठन्तस्तदेव प्राप्नुवन्ति ।

अथैतदेव प्रायश्चित्तं तपः कालाभ्यां विशेषयन्नाह—

दोहिं वि गुरुगा एते, आयरियस्स तवेण काळेण ।

तवगुरुगा काळगुरु, दोहि वि लहुगा य खुइस्स ॥

आचार्यस्यैतानि चतुर्गुरुकादीनि प्रायश्चित्तानि, द्वाज्यामपि
गुरुकाणि कर्तव्यानि । तद्यथा-तपसा, काळेन च वृषभस्य तपो-
गुरुकाणि । भिक्षोः कालगुरुकाणि, कुल्लकस्य द्वाभ्यामपि तपः-
कालाभ्यां लघुकाणि ।

अहवा अधिसिहं चिय, पाहुणयागंतुए गुरुगमादं ।

पावेति अणुट्ठिता, चउगुरु लहुगा लहुगजिन्नं ॥

अथवेति प्रायश्चित्तस्य प्रकारान्तरताद्योतकः । अविशिष्टमेवा-
च्चार्यादिभिर्विशेषैर्विरहितं प्राघूर्णकमागतुकमनुत्तिष्ठन्तो गुरु-
दय आचार्यप्रभृतयो यथाक्रमं चतुर्गुरुकचतुर्लघुकलघुमासमि-
श्रमासान् प्राप्नुवन्ति । तद्यथा-आचार्यस्य य वा त वा प्राघूर्णक-
मागतमनज्युत्तिष्ठतश्चतुर्गुरु, वृषभस्य चतुर्लघु, भिक्षोर्लघुमा-
सः, कुल्लकस्य मिश्रमास इति ।

अहवा जं वा तं वा, पाहुणगं गुरुमणुट्ठिहं पावे ।

जिन्नं वसजो सुकं, जिक्वु लहु खुइ चउगुरुगा ॥

अथवा य वा त वा प्राघूर्णकमनुत्तिष्ठन् गुरुराचार्यो मिश्रमासं
प्राप्नोति, वृषभः शुक्लमासः, लघुमासमित्यर्थः । भिक्षुश्चतुर्लघुकम,
कुल्लकः चतुर्गुरुकम् । एतेन " पडिद्वोमवितिण्ण ति " पदं
व्याख्यातम् ।

अथ किमर्थमयं द्वितीयादेशः प्रवृत्तः ? इत्याह—

वायणवापारणध-म्मकहुणसुत्तत्थाचित्ताणुं च ।

वाउद्विए आयरिए, बिइयादेसो उ जिक्काई ॥

इहाचार्यस्यानेकधा व्याक्षेपकः । तद्यथा-वाचनानामनुयोगः ।
सा विनेयानां दातव्या । व्यापारण साधूनां वैयावृत्त्यादिषु यथा-
योग्यं विधेयम् । आश्रानां धर्मकथन विधातव्यम् । भूयस्त्रा-
र्थयोश्चिन्तनानुपेक्षा कर्तव्या । एवमादिषु कार्येषु निरन्तरमा-
चार्यो व्याकुलितो भवति । वृषभादयस्तु न तथा व्याकुला इ-
त्यतोऽयं मिश्रमासादिर्द्वितीय आदेशः प्रवृत्तः । इयमत्र भाव-
ना-आचार्यो बहुव्याकुलतया प्राघुणकमागच्छन्तं दृष्ट्वाऽपि ना-
नज्युत्थानं पारयेत् ; अतस्तस्य स्वल्पतर प्रायश्चित्तम् । वृषभ-
भिक्षुकुल्लकास्तु यथाक्रममद्वयपराद्वयतमव्याक्षेपाः, ततो लघु-
मासादीनि प्रभूतप्रभूततरप्रभूततमानि तेषां प्रायश्चित्तानीति ।

अथ कुल्लकस्य गुप्तमप्रायश्चित्तदाने विशेषकारणमाह

वेसइए लहुगुइइ, धूलीधवल्लो असंफुनो खुइ ।

इति तस्स होंति गुरुगा, पालेइ हु चंचलं दंमो ॥

कुल्लको बालः स लघुशरीरतया सुक्ष्मेन उपविशति, उत्ति-
ष्ठति वा; क्रीडनशीलतया च प्रायेण धूलीधवल्लो रजोगुरिह-
तदेह, असंफुटश्चासवृतोऽसौ भवति । अतो यद्यसावपि
प्राघुणकमागतं नोत्तिष्ठति महद्वषयमाप्नोति । अत एतस्य चतु-
र्गुरुकाः प्रायश्चित्तम् । किञ्च-यश्चञ्चलः स्वभावाच्चपलोऽपि

अब्जुद्धारण

सन् गुणादीनां नाभ्युत्तिष्ठति; त दण्डः प्रायश्चित्तक्षणे दीय-
मान पातयति, चञ्चलत्वमपनयतीत्यर्थः ।

अपि च—

जइ ता दंरुत्थाणं, पावइ बालो वि पयणुए दोसे ।

हणु दाणिं अक्खमणं, पमाइं रक्खणा सेसे ॥

बालस्यापि गुरुके प्रायश्चित्ते दत्ते सति शेषसाधवश्चिन्तयेयु-
यदि तावदय बालोऽपि प्राघूर्णके अनन्युत्थानमात्रलक्षणे प्रनु-
के स्वल्पेऽप्यपराधे एव दण्डस्थानं प्राप्नोति । (हणु दाणिं ति)
तत इदानीमस्माकं प्रमत्तमन्युत्थाने प्रमादं कर्तुमक्षमनुचित-
मिति शेषसाधुवर्गस्यापि रक्षणं कृतं भवति । आह—अन्युत्था-
नमकुर्वतामात्मसमयमोस्तावत्काचिदपि विराधना नास्ति
ततः किंकारणमेवमेव प्रायश्चित्तं दीयते ? ।

उच्यते—

दिट्ठंतो वुक्खरए, अब्जुत्तिहेहिं जइ गुणो पत्तो ।

तस्सा उट्ठेयव्वो, पाहुणओ गच्छ आयारिओ ॥

इह प्राघूर्णकमाचार्यमनुत्तिष्ठद् भगवतामाज्ञामतिक्रामति । तथा-
चात्र द्व्यक्षरकेण दासेन दृष्टान्तः—“ एगो राया, से केणइ दुअ-
क्खरणेण आराहिओ । रत्ता से पट्टे बाधुउ पहाण रज्जं दिअ । तत्थ
दमभरुओइयाणो अ दुअक्खरो सि काठ परिजावेण तस्स प्र-
ब्जुत्ताणइयन करैति । ताहे तेण ते अणुत्तुहेता दमिया, मारिया
य । जे विणीया ते अब्जुत्तिहेहिं, तेसिं तेण परितुट्ठेण रज्जसवि-
भागो दिओ ” । अथार्थोपनयः—यथा तैरभ्युत्तिष्ठद्भिरिह लोके
गुणः प्राप्तः तथा साधवोऽपि प्राघूर्णकमाचार्यमभ्युत्तिष्ठन्त
इह परत्र च गुणानासादयन्ति, तस्मात्प्राघूर्णक आचार्यः सफ-
लेनापि गच्छेनान्युत्थातव्यः ।

अमुमेव द्व्यक्षरदृष्टान्तं व्याख्यानयति—

आराहितो रज्ज सपट्टवथं, कासी य राया उ वुक्खरस्स ।

पसासमाणं सुकुलीणमादी, नादंति त तेण य ते विणीया ॥

आराधितः केनापि गुणविशेषेण परितोषं प्रापितः सन् राजा
द्व्यक्षरकस्य सपट्टबन्धं राज्यमकार्षीत्, पट्टबन्धनृपतिं त विहि-
तवानिति भावः । तत त द्व्यक्षरकराजं राज्यं प्रशासतं कु-
लीनादयो नाक्षिपन्ते, वयं कुलीना, अयं तु हीनकुलोत्पन्नः
आदिशब्दाद् वयं प्रधानपुरुषाः, अयं पुनः कर्मकर इत्यादि
परिभवबुद्ध्या नाच्युत्थानादिक्रमादत्र तस्य कुर्वन्ति, ततः ते तेन
राज्ञा विनीताः शिक्षां प्रापिताः, ‘ विनयः शिक्षाप्रणत्यो ’
इति वचनात् ।

कथं शिक्षिताः ?, इत्याह—

सव्वस्सं हाऊणं, निज्जूदा मारिया य विवदंता ।

जोगेहिं संविज्जता, अणुक्खअणुक्खणा जे उ ॥

सर्वस्वमपहृत्य ते स्वनगराभिर्युदा निष्काशिताः, ये च तत्र
निष्काश्यमाना विवदन्ते—किमस्माभिरपराद्धं यो यो द्व्यक्षरको
भविष्यति तस्य तस्य किं वयमन्युत्थानं करिष्याम ? इत्यादि
कलहायन्ते, ते विवदमाना मारिताः । ये तु तत्रानुकूला अन्यु-
त्थानादिकारिणाऽनुव्रज्या अगर्वितास्ते भोगैः सविभक्ताः, रा-
ज्यभोगसविभागस्तथा कृतः । एष दृष्टान्तः ।

अथमर्थोपनयः—

अहिराया तित्थयरो, इयरो उ गुरु उ होइ नायव्वो ।

साह जहा व दंभिय, पमत्थमपसत्थगा होंति ॥

यथा अहिराजो मौलपृथिवीपतिः, तथा तीर्थंकरः, यथा इतरो
द्व्यक्षरकराजः, तथा तीर्थंकराधिराजेनैवानुज्ञाताचार्यः पदपट्ट-
बन्धमहितगणाधिपत्यराज्ये गुरुराचार्यो ज्ञातव्यो भवति ।
यथा च ते प्रशस्ताप्रशस्तरूपा दण्डिकास्तथा साधवोऽप्युज्य-
स्वजावा भवन्ति ।

तत्र—

जह ते अणुत्तिहेता, हियसव्वस्सा उ पुक्खमाज्जागी ।

इय एणो आयारियं, अणुत्तिहेताण वोच्छेदो ॥

यथा ते दण्डजटमोजिकादयो द्व्यक्षरकनृपतिमनुत्तिष्ठन्तो ह-
तसर्वस्वा पेहिकस्य दुःखस्याभागिनः संजाताः । इत्येवमा-
चार्यमप्यनुत्तिष्ठता दुर्विनीतसाधूनां ज्ञाने, उपसङ्गणत्वाद्दर्शनचा-
रित्रयोश्च व्यवच्छेदो भवति । ततश्चानेकेषां जन्मजरामरणा-
दिदुःखानामाजोगिनस्ते सजायन्ते, एषोऽप्रशस्तोपनयः ।

अथ प्रशस्तोपनयः—

उट्ठाणसिज्जासणमाएहिं, गुरुस्स जे होंति सयाऽणुकूला ।

नाउं विणीए अह ते गुरु उ, सगिहई देइ य तेसिं सुत्तं ॥

उत्थान-गुरुमागच्छन्तं दृष्ट्वा ऊर्ध्वं भवनं, शय्या सुन्दराव-
काशे गुरुणां सस्तारकरचनम्, आसनमुपवेशनयोग्यनिषद्या-
दिरचनम् । यद्वा—(सेज्जासणं ति) गुरुणा शय्याया आसनाच्च
नीचतरशय्यासनयोराश्रयणम् । आदिशब्दाद्दक्षिणप्रग्रहणादि
परिग्रहः । एवमादिभिर्विनयजैर्यैः शिष्या सदैव गुरोरनुकूला
भवन्ति तान् विनीतान् ज्ञात्वा, अथानन्तरं गुरुं सगृह्णाति ।
मयैते सम्यक्पालनीया इत्येवं सग्रहबुद्ध्या स्वीकरोति, सूत्रं च
तेषां प्रयच्छति, ततश्च ते इह परत्र च कल्याणपरम्पराजानन
जायन्ते ।

अथ प्रशस्तोपनयं विशेषतो प्राचयन्नाह—

पज्जायजाइमुत्तओ य बुद्धा, जत्तमिआ सीससमिद्धिमंता ।

कुव्वंतउव्वं अह ते गणाउ, निज्जूहई नो य ददाइ सुत्तं ॥

पर्यायतो ये बुद्धास्ते अवमरात्मिकोऽयमिति बुद्ध्या, जातिम-
धिकृत्य ये वृक्षाः, पट्टिवर्षजन्मपर्याया इत्यर्थः, ते बालकोऽयमि-
ति बुद्ध्या, श्रुततश्च तमङ्गीकृत्य ये वृद्धास्तेऽप्यश्रुतोऽयमिति वृ-
त्त्वा, जात्यान्विता विशिष्टजातिसन्ता हीनजातुद्भवोऽयमिति
मत्या, शिष्यसमृद्धिमन्तः परिवारसपहुपेता अल्पपरिवारोऽय-
मिति बुद्ध्या, गुरोरवज्ञामनभ्युत्थानलक्षणां कुर्वन्ति । अथैवमव-
ज्ञाकरणानन्तरं गुरुस्तान् स्वगच्छनगराभिर्युहति ये च व-
हुपक्षिकत्वादिभिः कारणैर्निर्युहयतु न शक्यन्ते, तेषां भोग-
सविजागकल्पसूत्रं श्रुतं न प्रयच्छति । एव तावत्प्राघूर्णकमाचा-
र्यमङ्गीकृत्यान्युत्थानानभ्युत्थानयोग्योद्गोपा उपवाषेताः ।

अथ सामान्यतो गच्छमध्ये स्थितस्यैवासाधैर्यस्थानन्युत्थाने

दोषमाह—

मज्झत्थ पोरिसीए, लेवे पमिहोह आइयण धम्मो ।

पयइ गिलाणे तह उ—चमड सव्वेसिं उट्ठाणं ॥

आचार्यमागच्छन्तं दृष्ट्वा गच्छसाधवो मध्यस्थास्तिष्ठन्ति, ततः

पूर्वोक्तमेव प्रायश्चित्तम् । सुप्रार्थयैरुषीं लेपप्रदानं प्रतिलेखनम् (आश्रयणं ति) 'आदान' समुद्देशेन धर्मकथां वा विदधाना प्रचलायमाना वा नाच्युत्तिष्ठति । अत्रापि तदेव धृषभादिविषयं प्रायश्चित्तम् । ग्लानो वा उक्तमार्थप्रतिपक्षौ वा शङ्का सत्यां यदि नास्तिष्ठति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः सर्वेषामच्युत्थानं भवति । इदमत्र हृदयम्-आचार्याणामनच्युत्थाने सुत्रपौ-रुषीकरणादीनि कदालम्बनानि, यथा ममायमालापकोऽर्द्ध-पण्डितो वर्तते, वेपो वा पात्रके नाद्यापि परिपूर्णं दक्षः, प्रति-लेखनादिकं वा सम्प्रति कुर्वाणोऽस्मि, ग्लानो वा कृतभक्तप्रत्या-ख्यानो वा ऽहमस्मीति, किन्तु सर्वैरपि सुत्राध्ययनादिव्या-पार परिहृत्याच्युत्थातव्यम्, एव तावदुपाश्रये विधिरभिहितः ।

अथान्यत्र गृहादौ रथ्यादिषु वा यत्र दृश्यते तत्राय विधिः-

दूरागयमुद्वेजं, अजिनिगंतुं नमंति ए सव्वे ।

ददगहणं च मोक्षं, दिष्टे उद्वाणमन्त्रये ॥

दूरादाचार्यमागत दृष्ट्वा आभिमुख्येन निर्गत्य सर्वेऽपि साधवो (णमिति) एनमाचार्यं नमन्ति शिरसा वन्दन्ते, यदा च गुरव उपाश्रयं प्रविशन्ति तदा दण्डकप्रहणमपि कर्त्तव्यम्, अन्यत्र तु गृहादौ दृष्टे गुरौ दण्डकप्रहणं मुक्त्वा अच्युत्थानमेव कर्त्तव्यम् ।

एवमच्युत्थाने के गुणाः ?, इत्याह--

परपक्खो य सपक्खो, होइ अगम्पत्तणं च उद्वाणे ।

सुयपूयणा थिरत्तं, पभावणा निज्जरा चेव ॥

परपक्क परपाखाण्डनः, सपक्कः पार्श्वस्थादिधर्मः, तयोरगम्य-त्यमनमिभवनीयता गुरोरच्युत्थाने भवति, तथा गुरवो ब-हुभुता भवन्तीति भुतपूजनमपि कृतं स्यात् । अन्येषामच्यु-त्थानादौ विनये सीदनां स्थिरत्वमनुष्ठितं भवति । प्रभावना च शासनस्यैव कृता भवेत्-अहो ! शोभनमिदं प्रवचनं यत्रैवविधो विनयो विधीयते, निर्जरा च कर्मक्यरूपा विपुला जयति, विनयस्याभ्यन्तरनपोभेदत्वात् तस्य च निर्जरानिबन्धन-तया सुप्रतीतत्वात् ।

आह-यः प्रव्रजितः सर्वपापोपरतस्तस्य किं नाम विनयेन कार्यम् ?, इति उच्यते--

अकारणा नत्थिह कज्जसिच्छी,

नयाऽणुवाण उ वैंति तण्णा ।

सुवायवं कारणसंपज्जो,

कज्जाणि साहेइ पयचवं च ॥

अकारणा कार्यस्य सिद्धिरिहास्मिन् अगति नास्ति, यद्यस्य कार्यस्योपादानं कारणं तत्तेन विना न सिध्यतीत्यर्थः । यथा मृत्पिण्डं विना घट इति । कारणासङ्गावेऽपि न च नैव, अनु-पायेन उपायाभावेन कार्यं भवतीति तज्ज्ञाः कार्यसिद्धिबेदिनो वदन्ति । यथा मृत्पिण्डसङ्गावेऽपि चक्रीवीरवकाशुपाय-मन्तरेण घटो न सिद्ध्यति; य पुनः उपायवान् कारणसमुत्क-प्रयत्नवान् भवति स साधयति, यथा कुम्भकारो मृत्पिण्डमासा-द्य चक्रीवीराशुपायसाधिव्यजनितोपहृम्भः स्वहस्तव्यापार-णरूपं प्रयत्नं कुर्वन् घटं निर्माति ।

आह-यद्येवमुपायकारणयुक्तं कार्याणि साधयति

ततस्तु ते किमायातम् ?, इत्याह--

धम्मस्स मूळं विणयं वयति,

धम्मो य मूळं खलु सोगईए ।

सा सोगई जत्थ अवाहया उ,

तम्हा निसेव्वो विणयो तदद्दा ॥

धर्मस्य भुतचारित्ररूपस्य मूलं प्रथममुत्पत्तिकारणं विनयम-च्युत्थानादिरूपं वदन्ति, तीर्थकरादय इति गम्यते । स च धर्मः, खलुरवधारणे, सुगतेर्मूलं कारणं मन्तव्यम् । दुर्गतौ प्रपतन्त प्राणिन धारयति सुगतौ च स्थापयतीति निश्चितसिद्धत्वात्, तस्येति भावः । अथ सुगतिः कीदृशी गृह्यते ?, इत्याह--सा सुगतिरभिधीयते-यत्राबाधना, क्षुत्पिपासारोगशोकादीनां श-रीरमानसानां बाधानामजावसिक्कित्यर्थः । यत एव तस्मात्तदर्थं सुगतिनिमित्तं विनयो निषेधः । इदमत्र हृदयम्-इह कार्ये तावद्व्याबाधसुखलक्षणो मोक्षः, तस्य च कारणं भुतचारित्ररू-पः सर्वकृभाषितो धर्मः सद्गुरोरच्युत्थानवन्दनादिविनयलक्ष-णमुपायमन्तरेण न साधयितुं शक्यते । अतः परम्परया मोक्ष-कारणमेवायमिति मत्वा तदर्थं विनयं आमेव्यत इति ।

आह-युक्तं पौरुषीहेपप्रदानादिकारणादच्युत्थानम्, ग्लानोक्तमार्थप्रतिपक्षयोस्तु किमर्थमच्युत्थानम् ?, उच्यते-

मंगससच्छाजणणं, विरियायारो न हाविओ चेव ।

एण्हिं कारणेहिं, अतरंतपरिखुड्डाणं ॥

अतरन्तो ग्लानः (परिन्तं सि) मनुष्यत्ययलोपात् परिक्लावाक् अनशनी, एतया गुरुणामच्युत्थाने मङ्गलं जयति, ततश्च ग्लान-स्याचिरादेव प्रगुणीभवनं, कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य तु निर्विज-मुक्तमार्थसाधनं स्यात् । यथा ग्लानपरिक्ला भवति तथा गुरुम-च्युत्तिष्ठति, शेषाणामच्युत्थाने भ्रष्टाजननं विहितं, यद्येवोऽप्येव गुरुमच्युत्तिष्ठति, ततोऽस्माभिः सुतरामच्युत्थातव्यम् । अवि च-एव कुर्वता ग्लानेन परिक्लावता च धीर्याचारो न हापितो भवति, अत एतैः कारणैरेताज्यामच्युत्थातव्यम् ।

(अच्युत्थानाकरणे प्रायश्चित्तम्)

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमुपदर्शयन्नाह-

चंक्रमणे पासवणे, वीयारे साहु संजई सक्की ।

सक्किणि वाइ अमच्चे, संघे वा रायसहिण वा ॥

पण्णं च भिक्खमासो, मासो लहुगो य होइ गुरुगो य ।

चत्तारि उट्ट लहु गुरु, उदो मूळं तह उगं च ॥

इह प्रथमगाथायां द्वितीयगाथायाञ्च पदानां यथासक्येन योजना । तद्यथा-आचार्यं चकक्रमणं कुर्वाणं दृष्ट्वा नाच्युत्तिष्ठति पञ्चक पञ्च रात्रिदिवानि प्रायश्चित्तम्, प्रभवणभूम्यामागतं ना-च्युत्तिष्ठति भिक्खमासं, विचारसङ्गा कृत्वा समागतस्यानच्युत्था-ने मासगुरुं, सयतीभिः सार्द्धमागतस्यानुत्थाने चतुर्घेषु, सक्कि-नः भावकाः, तैः सममायातमनुत्तिष्ठतभ्युत्तुर्गुरुं, असक्किभिः सममायातस्यानच्युत्थाने षट्सु, संक्किनीजिरसंक्किनीभिश्च क्कीभिः सममायान्तमनच्युत्तिष्ठतः षट्सु । वादिना सार्द्धमा-याते अनच्युत्थिते द्वेदः, अमात्येन सार्द्धमागतं मूलम्, सधेन सार्द्धं समायाते अनुत्थिते अनवस्थाप्यम्, यद्वा सहितं सूरि-मागतमनुत्तिष्ठतः पाराजिकम् ।

अथ किमर्थं क्कीभिः सममायाते शुद्धतरं प्रायश्चित्तम् ?, उच्यते-

पूर्यंति पूर्यं ऽ-त्थियाउ पाएण ताउ लहुमच्चा ।

अब्जुद्गाण

एएण कारणेणं, पुरिसेसुं इत्थिया एत्थ ॥

इह स्त्रियः प्रायेण पूजित पूजयन्ति, यमेवाचार्यादिक साधु-
आवकादिभिरभ्युत्थादिना पूज्यमान पश्यन्ति तस्यैव पूजां वि-
दधति, ताम् स्त्रियः प्रायेण लघुसस्वास्तुच्छाशया भवन्ति । ततः
साधुभिरनन्युत्थीयमानमाचार्यं गाढतरं परिजवदुद्धा पश्य-
न्ति, न किमप्येष आचार्यो जानाति, न वाऽयं विशिष्टगुणवान् स-
ज्जायते, अन्यथा किमेते साधवो नाभ्युत्तिष्ठन्ति, एवमेतेन का-
रणेन पुरुषेषु साधुआवकादिषु पूर्वं लघुतरप्रायश्चित्तमुक्त्वा
पश्चात् स्त्रियोऽधिकृत्य गुरुतरमुक्तम् ।

अथ राज्ञा सार्कं समागतस्यानभ्युत्थाने किं कारणं
पाराञ्चिकम् ? इत्याह-

पाएणिद्धा एंति महायणेण समं फातिं दोसो गच्छइ एएसु
तएण वि गज्जं वक्क होज्ज कहं वा परिज्जेते वेमुज्जं वा कु-
त्थियवेसम्मि मणुस्से वट्ठा ॥

राजादयः प्रभृतिमन्तः प्रायेण बाहुल्येन महाजनेन सामन्तमन्त्रिम-
हत्तमादीनां महता समवायेन सम समागच्छन्ति, तत एतेषु तनु-
रपि स्वल्पोऽपि अनन्युत्थानमात्रलक्षणो दोषः स्फूर्तिं गच्छति,
सर्वत्र विस्तरतीति भावः । अपि च साधुभिरनन्युत्थीयमाने आ-
चार्यः परिभूतो भवति, परिभवपदमुपगच्छतीत्यर्थः । परिभूत-
स्य च वाक्यं वचनं कथं नाम राजादीनां ग्राह्यमुपादेयं भवेत् ?
वैद्वर्यमिव रत्नं कुत्सितवेष्टे कार्पटिकवेष्टधारिणि मनुष्ये वर्तमान
यथा तदीये हस्ते स्थितं सदन्त्यमपि तत्र जनस्योपादेयम्, एव
गुरुणामपि धर्मकथावाक्यं गार्हपत्यमाधुर्यगुणैरनर्घ्यमपि परिभू-
ततया न राजादीनामुपादेयं भवति । तदनुपादेयतायां च तेषां
सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिरपि न भवति, अतो राज्ञा सार्कं समा-
याते अनन्युत्थीयमाने पाराञ्चिकम् ।

परः प्राह-युक्त प्रभ्रवणभूम्यादेरागतस्याभ्युत्थानम्, यत्तु च-
ङ्क्रमणं कुर्वतोऽभ्युत्थानं तन्मास्माकं युक्तिज्ञं प्रतिभाति ।

यतः-

अवस्सकिरियाजोगे, वट्ठे साहुपूजया ।

परिफगुं तु पासामो, चंकमंते वि उट्ठाणं ॥

विचारविहारादिको योऽवश्यं कर्तव्यः क्रियायोगस्तत्र वर्त-
मानो यदा समागच्छति तदा साध्वी श्रेयसी तस्य पूज्यता ।
यदा तु चङ्क्रमणं करोति तदा निरर्थको योगो वर्तते । अतश्च-
ङ्क्रमत्यपि गुरौ यदुत्थानं तत्परिफगुं निर्मूलमेव पश्यामः । यत-
ङ्कं प्रगवत्याम्-“ जावं च ण से जीवे आरजे वट्ठे सरमे वट्ठ-
इ ठाव च णं तस्स जीवस्स अतकिरिया न भवइ ” ॥

अत्र सूत्रप्रतिविधानमाह-

कामं तु एअमाणो, अरंजाईसु वट्ठे जीवो ।

सो उ अण्णही णट्ठो, अवि बाट्ठण पि उक्खोवे ॥

काममनुमत यदेष जीव एजमान आरम्भादिषु कर्मबन्धकार-
णेषु वर्तते, स तु स पुनः परस्परद्वोऽनर्थो निष्कारण नेष्टो नाभि-
मत । अपि बाह्योक्तेषु बाह्योक्तेषु पमात्रेऽपि, किं पुनः चङ्क्रम-
णादिरित्यपिशब्दार्थः । अथोदात्त-यः सार्थक चङ्क्रमणा-
दिव्यापार स इष्ट एवेति ।

अथ सार्थकोऽपि न्यापार कथमिष्टः ? इत्यस्यां जिज्ञासायां यथा
१७५

योगत्रयेऽपि व्यापार्यमाणे दोषा यथा च गुणा भवन्ति तदेतत् प्र-
तिपादयन्ति-

मणो य वाया काओ अ, तिविहो जोगसंगहो ।

ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स य गुणावट्ठा ॥

मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति त्रिविधो योगसंग्रहो भव-
ति, संक्षेपतस्त्रिधायोगो प्रवर्ततीत्यर्थः । ते मनोवाक्काययोगा
अयुक्तस्य अनुपयुक्तस्य दोषाय कर्मबन्धाय प्रवन्ति, युक्तस्य तु
त एव गुणावहकर्मनिर्जराकारिणः संपद्यन्ते ।

इदमेव ज्ञाययति-

जह गुत्तस्सरियाई, न होंति दोसा तदेव समियस्स ।

गुत्तीठियप्पमायं, रुंभइ समिई सचेट्ठस्स ॥

यथा किं मनोवाक्कायगुप्तस्य ईयादिप्रत्यया अनुपयुक्तगम-
नादिक्रिया समुत्था दोषा न भवन्ति, तथैव समितस्यापि च-
ङ्क्रमणं कुर्वत ईयादिप्रत्यया दोषा न प्रवन्त्येव । किं कारणम् ?
इत्याह-यदा किं गुप्तिषु मनोगुप्त्यादिषु स्थितो भवति तदा
योऽगुप्तिप्रत्ययः प्रमादस्त निरुणद्धि, तन्निरोधाच्च तत्प्रत्ययकर्मपि
न वर्त्तते, यस्तु समितौ स्थितः सचेष्टस्य यः प्रमादो यश्च तत्प्र-
त्ययः कर्मबन्धस्तयोर्निरोधं विदधाति ।

परः प्राह-यो गुप्तः स समितौ प्रवत्युत नेति ? यो वा समितः
स गुप्तो भवत्युत नेति ? ।

अत्रोच्यते-

समितो नियमा गुत्तो, गुत्ते समियत्तणम्मि भइअण्वो ।

कुसलवइमुदीरंतो, जं वइसमिनो वि गुत्तो वि ॥

इह समितयः प्रतीचाररूपा इष्यन्ते, गुप्तयस्तु प्रतीचाराप्र-
तीचारोभयरूपाः । प्रतीचारो नाम काथिको धाचिको व्यापारः,
ततो यः समितः सम्यग्गमनजावणादिचेष्टायां प्रवृत्तः, स नि-
यमाद् गुप्तो गुप्तियुक्तो मन्तव्यः । यत्र गुप्तः समितत्वे भक्त्यो
विकल्पनीयः, तत्र समितः कथं नियमाद् गुप्तः ? इत्याह-कुशलं
निरवद्यतादिगुणोपेतां वाचमुदीरयन् यस्माद्वाक्समितोऽपि गु-
प्तोऽपि । किमुक्तं भवति ?-यः सम्यगनुविचिन्त्य निरवद्यां भाषां
प्रापते स प्राषासमितोऽपि वाग्गुप्तोऽपि च भवति, गुप्तेरप्र-
तीचाररूपतयाऽप्यभिधानात् । अतः समितो नियमाद् गुप्त इति ।

गुप्तः समितत्वे कथं प्रजनीयः ? इत्याह-

जो पुण कायवईओ, निरुज्ज कुमलं मण उदीरेइ ।

चिट्ठइ एकगमणा, सो खलु गुत्तो न समितो उ ॥

यः पुनः कायवाचौ निरुध्य कुशलं शुभं मन उदीरयन् एका-
ग्रमना धर्मेध्यानाद्युपयुक्तचित्तः तिष्ठति स खलु गुप्त उच्यते, न
समितः, प्रतीचाररूपत्वात् । यस्तु कायवाचौ सम्यक् प्रयुक्ते
स गुप्तोऽपि समितोऽपि मन्तव्यः ।

अथ समितिगुप्तीनां परस्परमवतार दर्शयन्नाह-

वायगसमिई बिइया, तइया पुण माणसी भवे समिई ।

सेसा उ काइया उ, मणो उ सव्वासु अवरिद्धो ॥

वाचिकसमिति, सा द्वितीया वाग्गुप्तिर्मन्तव्या । यदा कि-
ल भाषासमितो भवति तदा यथा भाषाया असमितिप्र-
त्ययकर्मबन्ध निरुणद्धि तथा वाग्गुप्तिप्रत्ययमपि कर्मबन्ध नि-
रुणद्धि, एव भाषासमितिवाग्गुप्त्योरेकत्वम् । तृतीयं पुनरेव-

अनिरोहसुहो वासो, रोहिणे इत्य विहामि ॥

अब्जुणय

अस्माकं पूर्वस्मिन् गच्छे बसतामाचार्यस्य चङ्क्रमणादिषु धारं धार अभ्युत्थानेन कटी प्रगता, अथासौ नाभ्युत्थीयते तदा शोधि प्रायश्चित्तं प्रयच्छति, गार्दं च खरपरुषैः खरएयति, अस्मिन् गच्छे न प्रायश्चित्तं, न च खरएटना, अनोऽनिरोधोऽनि यन्त्रणा, तेन सुखं सुखदायी धासोऽत्र 'ये' अस्माकं न विस्थिति, तिष्ठामो वयमत्रेति कृत्वा तत्रैव तिष्ठेयुः, न भूयः स्वगच्छं गच्छेयुः ।

जे पुण उज्जयचरणा, पंजरभगो न रोयए ते उ ।

अकत्थ वि सङ्गरत्तं, न लब्धं एति तत्थेव ॥

जे पुनरुद्यनचरणा स्वल्पेऽप्यनभ्युत्थानादावपराधे सम्यक्-प्रतिनोदनाकारिण तान् पञ्जरज्जो न रोचयति, न रुचिपथं प्रापयति । चिन्तयति च-अन्यत्रापि गच्छान्तरे स्वैरिव स्वातन्त्र्यं न लभ्यत इति विचिन्त्य तत्रैव स्वगच्छे एति समागच्छति ।

अत्र सयमाजिमुखोऽसौ समागन्तस्तत् किम् ? इत्याह-

चरणोदासीणे पुण, जो विण्जहाय आगतो ममाणो ।

सो तेसु पाविममाणो, सट्ठ वट्ठे ओजओ वि ॥

य पुनः अमणश्चरणोदासीनान् पार्श्वस्थादीन् सुखशीलादिहारिणो विप्रहाय संयमाभिमुखः समागतः स तेषु गच्छान्तर-रीयेषु साधुषु प्रविशन् उभयेषामपि साधूनां अर्चां वर्कयति । तथाहि-यत्र गच्छे असौ प्रविशति तदीया साधवः चिन्तयन्ति-एष "सुन्दरा अमी" इति परिज्ञाव्यास्माकं मध्ये प्रविशति, अतः सुन्दरतरं कुर्महे । यस्मादपि गच्छादायातः तदीया अपि चिन्तयन्ति-अस्मान् सुखशीलानिति विज्ञायैव गच्छान्तरं गच्छति, अतो वयमुद्यता भवाम इति ।

अथासौ संयमाजिमुखस्तत्रापि सामाचारीहापन प्रतिनोदना-या अभावः च पश्यति, ततश्चिन्तयति-

इत्थं वि मेराहाणी, एते वि हु सारवारणासुका ।

अक्के वयं अभिमुद्धो, तप्पवपनिज्जराहाणी ॥

अत्रापि गच्छे, न केवलं पूर्वस्मिन् अत्यपिशब्दार्थः । मर्यादाया अभ्युत्थानादिसामाचार्या हानिरवस्यते, एतेऽपि च साधवः सारणवारणया मुकाः परिरुद्धाः प्राक्तनगच्छसाधव इव निरर्गला समीक्ष्यन्ते, अतः को नामामीषां समीपे स्थास्यतीति मत्वा स सयमभिमुखः साधुरन्यान् गच्छान्तररीयान् साधून् व्रजति प्रविशति । प्रविशतु नाम गच्छान्तरं, का नो हानिरिति चेत् ? अत आह-तत्प्रत्यया-तस्य साधोः सयमानुपासनो पष्टम्भकारणहेतुका या निर्जरा, तस्या हानिः प्राप्नोति, सा न भवतीत्यर्थः ।

आह-किं कारणमसौ तेषु तत्र विशति ? इत्याह-

जहि नत्थि सारणा वा-रणा य पडिवायणा य गच्छम्मि ।

सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तवो ॥

विस्मृते कचित् कर्तव्ये भवतेदं न कृतमित्येवरूपा स्मरणा सारणा, अकर्तव्यनिषेधो धारणा, उपलक्षणत्वादित्यथा कर्तव्य-मनाभोगादिना अन्यथा कुर्वतः सम्यक् प्रवर्तना प्रेरणा, धारित-स्यापि पुनः पुनः प्रवर्तमानस्य खरपरुषोक्तिभिः शिक्षणं प्रति-नोदनापताः सारणाद्यो यत्र गच्छे न सन्ति स गच्छो गच्छुः कार्यकरभादगच्छो मन्तव्यः । अतः एव सयमकामिना सयमा-

भिमुखेन साधुना मोक्तव्योऽसौ, नाभ्यणीय इति भावः । गा-थाया प्राकृतत्वादिकारस्य दीर्घत्वम् ।

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमभिधत्तुः प्रस्तावनामाह-

अयमपरो उ विकप्पे, पुब्बावरवाहयं ति ते बुद्धी ।

लोए वि अणेगविहं, नणु भेमज मो रुजोवसमे ॥

अयमग्रेतनगाथायां वक्तव्यमाणोऽपरः प्रायश्चित्तस्य विकल्प-प्रकारः । अत्र परः प्राह-पूर्वापरव्याहृतमिदम्, पूर्वमन्यादृशं प्रायश्चित्तमुक्त्वा यदिदानीमन्यादृशमभिधीयते तदेतत् पूर्वापरवि-रुद्धमिति ते तव बुद्धिः स्यात् । तत्रोच्यते-ननु लोकेऽपि रुजोपश-मे विधातव्ये यथा त्रिफलात्रिकटुकादिभेदादनेकविधं ज्ञेयं, 'मो' इति पादपूरणे । प्रयुज्यमानं दृष्टमेव, एवमत्राप्येकस्यै-वानभ्युत्थानस्य तथा क्षेत्रमहाजनादिभेदानेकविधं प्रायश्चित्त-मभिधीयमानं न विरुद्ध्यते ।

इत्थं पराजिचृतं परिहृत्य प्रायश्चित्तमाह-

वीयारसाहुसंजं-निगममसंघरायसहिणं तु ।

लहुगो लहुगा गुरुगा, ठम्मासा छेदमूलदुगं ॥

आचार्यं विचारभूमेरागतं नाभ्युत्तिष्ठन्ति मासलघु, साधुभिः सममायातमनभ्युत्तिष्ठतां चतुर्लघवः, सयतीजिं समं चतुर्गुर-वः, निगमैः पौरवणिग्विशेषैः समं पञ्चलघवः, घटया महत्तरा-दिगोष्ठीपुरुषसमवायलक्षणया समं छेदः, सधेन समं मूलम्, राज्ञा सममनवस्थाप्यम् । (सहिए सि) सघसहितेन राज्ञा सममायातमनभ्युत्तिष्ठतां पाराञ्चिकम् । गतमभ्युत्थानम् । ३० ३ उ० । (यत्रावसरे यैर्वा कारणैरभ्युत्थानं न कर्तव्यं तदे-तत् सर्वं 'अस्सेस' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४ पृष्ठे दर्शितम्) पुनर्नैतत्करिष्यामीत्यभ्युपगमे, स्था० ३ उ० ३ उ० । प्रयत्ने, स्था० २ उ० १ उ० । आसनत्यागरूपे, संभोगासंभोगस्थाने यथा पार्श्वस्थादेरभ्युत्थानं कुर्वन्नादिसंभोगे । स० १२ सम० । प्रव० । आव० । आ० चू० । गुरुनागतान् दृष्ट्वा स्वकीय-स्थानादूर्ध्वमिवने, उत्त० ३३ अ० । (अभ्युत्थाने दण्डकः 'सकार' शब्दे दर्शयिष्यते) (त्रिभिः स्थानैर्देवा अभ्युत्तिष्ठे-युरिति 'मणुस्सलोय' शब्दे दर्शयिष्यते) ।

अब्जुट्ठित्तए-अभ्युत्थातुम्-अन्य० । अभ्युपगन्तुमित्यर्थे, स्था० २ उ० १ उ० ।

अब्जुट्ठिय-अभ्युत्थित-त्रि० । कृतोद्यमे, "अब्जुट्ठियं रायदि-सि, पञ्चज्जागणमुत्तम" उत्त० ९ अ० । "अब्जुट्ठिपसु मेहेसु" प्रवर्षणाय कृतोद्यमे, ज्ञा० १ अ० । प्रारब्धे, ध० ३ अधि० । अभ्युदिते, उत्त० ६ अ० । से० ।

अब्जुट्ठेत्ता-अभ्युत्थातु-त्रि० । अभ्युपगन्तरि, स्था० ५ उ० १ उ० ।

अब्जुट्ठेयव-अभ्युत्थातव्य-त्रि० । अभ्युपगन्तव्ये, स्था० ८ उ० ।

अब्जुणय-अभ्युत्थित-त्रि० । उन्नतिमति, ज्ञा० १ अ० ।

"अब्जुणययइयतलिणतवसुइनिइनखा" अभ्युत्थिता रतिदाः सुखदाः, अथवा रचिता इव रचिता, तस्मिन्नाः प्रतप्ता, ताम्रा आरकाः, शुचयः पवित्राः, स्निग्धाः कान्ताः, नखा येषां ते तथा । प्रश्न० ४ आश्न० ३० । "अब्जुणयपीणरइयसउयपओहरा" अभ्युत्थितावुक्षौ पीनौ स्थूलौ रतिदौ सुखप्रदौ सखितौ विशिष्ट-

सस्यानवन्तौ पयोधरौ स्तनौ यस्या सा तथा । (वरतरुणी)
जा० ३ प्रति० । झा० । अत्युत्कटे, आ० म० प्र० । ज० । रा० ।

अब्जुत्त-स्ना-धा०, पर०, अदा० । शौचे, " स्नातेरब्जुत्त. "
। ८ । ४ । १४ । इति सूत्रेण धातो. ' अब्जुत्त ' इत्यादेशः ।
अब्जुत्त-स्नाति । प्रा० ४ पाद । प्र-दीप्-धा०, दिवा० ।
आत्मप्रकाशे, " प्रदीपेस्तेअव-सप्तमसधुक्ताब्जुत्ता. " ८ । ४ ।
१५२ । इति सूत्रेण प्रदीप्यते. ' अब्जुत्त ' आदेशः । अब्जु-
त्त-प्रदीप्यते । प्रा० ४ पाद ।

अब्जुदय-अच्युदय-पु० । राजलक्ष्म्यादिलाभे, झा० २ अ० । अ-
च्युदयो यथेह राज्याभिषेकादिप्रीतये भवति तथा स्वर्गापवर्ग-
प्राप्तिहेतुत्वादस्य सस्नारकस्य, अत एषोऽप्यच्युदयः । सथा० ।
अब्जुदयफल-अच्युदयफल-त्रि० । अभ्युदयनिवर्तके, षो०
ए विव० ।

अब्जुदयहेतु-अच्युदयहेतु-पु० । कल्याणनिमित्ते, पञ्चा० ८
त्रिव० ।

अब्जुदयावुच्छित्ति-अच्युदयावुच्छित्ति-स्त्री० । स्वर्गादेरव्य-
वच्छेदे सन्ततौ, षो० ६ विव० ।

अब्जुय-अद्भुत-त्रि० । सकललुवनातिशायिनि भुतशिल्प-
त्यागतप शौर्यकर्मादिके अपूर्वे वस्तुनि, उपचारात् तद्दर्श-
नश्रवणादिभ्यो जाते विस्मयरूपे रसविशेषे, पुं० । अनु० ।

अद्भुतरस स्वरूपतो लक्षणतश्चाऽऽह-

विम्बयकरो अपुव्वो, अनुत्तुअपुव्वो य जो रसो होइ ।
हरिसत्रिमाओपत्ती-लक्षणा उ अब्भुओ नाम ॥ ६ ॥

अब्जुओ रसो जहा-

अब्जुअतरमिह एत्तो, अन्नं किं अत्थि जीवलोगम्मि ।
जं जिणवयणे अत्था, तिकालजुत्ता भुणिज्जंति ।

कस्मिंश्चिदनुभूते वस्तुनि दृष्टे विस्मयं करोति, विस्मयोत्कर्ष-
रूपो यो रसो भवति सोऽद्भुतो नामेति सटङ्कः । कथंभूतः ? ,
अपूर्वोऽनुभूतपूर्वो वा । अनुभूतपूर्वः किंलक्षणः ? , इत्याह-
दर्पविषादोत्पत्तिवृत्तः, कुमे वस्तुन्यद्भुते दृष्टे हर्षजननल-
क्षण, अद्भुते तु विषादजननलक्षण इत्यर्थः । उदाहरणमाह-"अ-
ब्जुय"-गाहा । इह जीवन्नेकेऽद्भुतरस इतो जिनवचनात् कि-
मन्यदस्ति, नास्तीत्यर्थः । कुत ? , इत्याह-यद्यस्माज्जिनवचने-
नार्था जीवादयः सूत्रमव्यवहिततिरोहिताऽनीन्द्रियामूर्तादि-
स्वरूपा अनीतानागतवर्तमानरूपाः त्रिकालयुक्ता अपि ज्ञायन्ते
इति । अनु० । " अब्भुए गीए अब्भुए वाइए अब्भुए नट्टे " अ-
द्भुतमाश्चर्यकारि । रा० ।

अब्जुवगम-अच्युपगम-पु० । अङ्गीकरणे, स्था० २ गा० ४ ब० ।

अब्जुवगमसिद्धन्त-अच्युपगमसिद्धान्त-पुं० । सिद्धान्तभेदे, वृ०

स च-

ज अब्भुविच्च कीरइ, सेच्छाए कटा स अब्भुवगमो उ ।

सीतो बन्ही गयजू-इ तणगं मग्गुवगसिगा ॥

यत्त अच्युपेत्य स्नेच्छया अभ्युपगम्य वादकथा क्रियते । यथा-
शीनो बन्धि गजयूयं तृणाग्रे, मज्जोर्जलकाकस्य, खरस्य च शृङ्ग-

म्, इत्येयोऽभ्युपगमसिद्धान्तः । वृ० १ उ० । अपरीक्षितार्थाभ्युप-
गमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः । तद्यथा-किंशब्दः ? ,
इति विचारे कश्चिदाह-अस्तु द्रव्यशब्दः, स तु किं नित्योऽ-
थानित्य इत्येव विचारः । सूत्र० १ भु० १२ अ० ।

अब्जुवगय-अच्युपगत-त्रि० । अजि अभिमुख्येनोपगतः ।
आचा० २ भु० ३ अ० १ उ० । अभ्युपगमवनि, व्य० ७ उ० ।
सप्राप्ते, पा० । भुतसपदोपसपन्नं, आ० म० प्र० । अङ्गीकृते,
प० व० १ द्वार ।

अब्भोवगमिया-आच्युपगमिकी-स्त्री० । अच्युपगमेनाङ्गीक-
रणेन निर्वृत्ता तत्र भवा वाऽऽभ्युपगमिकी । स्वयमभ्युपगतायां
(वेदनायाम्) । स्था० २ गा० ४ ब० । या हि स्वयमभ्युपगम्यते
यथा-साधुभिः प्रयज्याप्रतिपत्तितो ब्रह्मचर्यचतुर्मिश्रयनकेशो-
ल्लुञ्जनातापनादिभिः शरीरपीमाभ्युपगमनम् । ज० १ श० ४
ब० । " दुविहा वेदणा पणत्ता । त जहा-अब्भोवगमिया य
उवक्कमिया य " प्रज्ञा० ३४ पद ।

अभग-अजग-त्रि० । न भग्नोऽजग्नः । सर्वथाप्रविनाशिते,
" एवमादिपहिं आगारेहिं अजग्नो अविराहिओ हुज्ज मे काव-
स्सगो " । आव० ५ अ० । ध० । ल० । आ० चू० ।

अभगसेण-अभगसेन-पुं० । विजयान्निधानचौरसेनापति-
पुत्रे, विपा० । तत्कथानक चेदम्-

तच्चस्स लक्खेवो एवं खलु-जंबू ! तेणं कालेणं तेणं
समएणं पुरिमतालणामं एयरं होत्था, रिद्धिं तस्म एं
पुरिमतालस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ एं अ-
मोहदंसी ठज्जाणे, तत्थ एं अमोहदंसिस्स जक्खस्स
जक्खायतणे होत्था, तत्थ एं पुरिमताले महब्बले
णामं राया होत्था, तत्थ एं पुरिमतालस्स एयरस्स
उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए देसपंते अरुवी संसया । एत्थ
एं सालारुवी णामं चोरपल्ली होत्था, विसमगिरिकं-
दरकोलंबसण्णिविद्धा वंसीकलंकपागारपरिक्खत्ता नि-
एणसेल्लविममपवायफरिहोवगूढा अज्जितरपाणिया सु-
दुद्धमजलपेरंता अणेगल्लंढी विदितजणदिणनिगम-
पवेसा सुबहुयस्स विक्कविजयस्स जणस्स दुप्पवेसाया
वि होत्था । तत्थ एं सालारुवी चोरपल्ली विजए
णामं चोरसेणावड परिवसइ, अहम्मिएण जाव लो-
हियपाणी बहुणयरणिगयजसे सूरे ददप्पहारे साहस्मिए
सइवेही असिद्धिपदममद्धे, से ए तत्थ सालारुवी चोर-
पल्ली पंचाहं चोरसयाणं आहिवच्चं जाव विहरइ । तए एं
से विजए चोरसेणावड बहुणं चोराण य पारदारियाण
य गंतिच्चेयाण य संधिच्चेयाण य खंरुपट्टाण य अएणे-
सिं च वडूणं निएणभिणवाहिगऽहियाणं कुरुगेया वि
होत्था । तएणं विजयचोरसेणावडपुरिमतालस्स एयरस्स
उत्तरपुरिच्छिमिद्धं जणवयं वडूहिं गामघाएहि य एयर-

घाएहि य गोमहणेहि य वंदिगहणेहि य पंथकोट्टेहि य
खत्तखणणेहि य उबीलेमाणे उबीलेमाणे विद्धंसेमाणे
विद्धंसेमाणे तज्जेमाणे तज्जेमाणे तात्तेमाणे तात्तेमाणे
णित्थाणे णित्थाणे णिकणे करेमाणे विहरइ, मह-
न्वलस्म रणणे अजिक्खणं २ कप्पाइं गिएहइ, तत्थ एं
विजयस्स चोरसेणावइस्स खंधसिरी णामं जारिया होत्था ।
अहीणं तत्थ एं विजयचोरसेणावइस्स पुत्ते खंधसिरीए
भारियाए अत्तए अजगसेणं णामं दारए होत्था अही-
णं । तेणं कात्तेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरं
पुरिमतालणामं एयरे जेणेव अमोहदंमी उज्जाणे तेणेव
समोसदे परिमा राया निग्गओ, धम्मो कहिओ, परिमा राया
विग्गओ, तेणं कात्तेणं तेणं समएणं समणस्स जगज्जओ
महावीरस्स जेहे अन्तेवासी गोयमे० जाव रायमगं समो-
वगादे तत्थ एं बहवे हत्थी पासइ, तए एं तं पुरिसं राया
पुरिसा पढमंसि चच्चरंमि णिसियाविति, णिसियावितित्ता
अट्ठचुद्धपिउए अगगउघाएइ कसप्पहारेहि तात्तेमाणे २
कट्ठुणं काकणिमंसाइं खावेइ, खावेइत्ता रुहिरपाणं च पाय-
त्ति । तयाणंतरं च एं दोब्बं पि चच्चरंसि अट्ठदुमहाउयाओ
अगगयो घाएयति, घाएयत्तित्ता एवं तच्चे० अट्ठमहापिउए,
चउत्थे० अट्ठमहापाउए, पंचमे पुत्ता, छे छे सुएहा, सत्तमे
जामाउया, अट्ठमे धूयाओ, णवमे णत्तुया, दसमे एत्तुयओ,
एकारसे एत्तुयावइ, बारसमे णइणीओ, तेयारसमे उस्सिय-
पतिया, चउदसमे पिउस्सियाओ, पच्चरसमे मासियाओ पइ-
याओ, सोदसमे मासियाओ, सत्तरसमे मासियाओ, अट्ठा-
रसमे अवसेसं भित्तणाइणियगसयणसंबधिपरिजणं अगग-
ओ घायंति, घायंतिच्चा कसप्पहारेहि तात्तेमाणे २ कट्ठुणं का-
कणिमंसाइं खावेइ रुहिरपाणं च पाएइ । तए एं से भगवं गो-
यमे तं पुरिसं पासइ, पासइत्ता अयमेयारूवे अज्जवत्थिये ५
समुप्पखे० जाव तहेव णिग्गए एवं वयासी-एवं खलु अहं
भंते !-से एं जंते ! पुरिसे पुन्वभवे के आसी० जाव विहरइ ।
एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्वीवे
जारहेवासे पुरिमतात्ते णामं एयरे होत्था, रिद्धि० ३ तत्थ एं
पुरिमताले उदये णामं राया होत्था, महया तत्थ एं पुरिमतात्ते
निअए णामं अंरुवाणियए होत्था, अट्ठे० जाव अपरिभूए
अहम्मिए० जाव दुप्पमियाणंदे तस्स एं णिएणियस्स अं-
दयवाणियस्स बहवे पुरिसा दिस्सज्जित्तवेयणा कट्ठाकट्ठि
कोडालियाओ य पत्थियाए पमिए गेएहइ, गेएहइत्ता पुरि-
मतात्तस्स एयरस्म परिपेरेते सुवहुकाकअंमए य घूतिअंम-
ए य पारेवइट्टेज्जिस्सगिमयूरिकुडिअंमए य अएणेसिं
चेव बहूणं जलयरथलयरखहयरमाइंणं अंमाइं गेएह-

इ, गेएहइत्ता पत्थियपमिगाइं जरेइ, जरेइत्ता जेणेव
निएणए अंमवाणियए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता
णिएणयस्स अंरुवाणियस्स उवणेइ, तए एं तस्म
णिएणयस्स अंमवाणियस्स बहवे पुरिसा दिएणभए
बहवे कायअंमए य० जाव कुकुरुअंमए य अएणेसिं च बहूणं
जलथलखेचरमाइंणं अंमए तवएसु य कंरुएसु य जज्ज-
णएसु य इंगात्तेसु य तल्लित्ति जज्जंति सोद्धित्ति, तद्धित्ता
जज्जंता सोद्धित्ता य रायमगं अंतरावणंसि अंदयपणियणं
वित्ति कपेमाणे विहरइ, अप्पणो वि य एं से णिएणए
अंरुवाणियए तेसिं बहुहि कायअंमएहि य० जाव कुकुडि-
अंमएहि य सोद्धेहि तद्धि भज्जे सुरं च ४ आसाए ४
विहरइ, तए एं से णिएणए अंमए एयकम्मे ४ सुवहुपावं
समाजित्ता एणं वाससहस्मं परमाउं पालइ, पालइत्ता कालमामे
काल० तच्चाए पुढवीए उक्कोससत्तसागरोवमट्ठितीएसु खेरइ-
एसु खेरइयत्ताए उववस्से, से एं ताओ अणंतरं उन्वट्ठित्ता
इहेव सालाववीए चोरपट्ठीए विजयस्स चोरसेणावइस्स खं-
दसिरीए भारियाए कुच्चिसि पुत्तत्ताए उववस्से, तए एं से
खंदसिरीजारियाए अस्सया कयाइं तिहं मासाणं बहुपणि-
पुष्पाणं इमेयारूवे दोहत्ते पाउन्नुए-धम्माओ ए ताओ अम्भ-
याओ ४ जाणं बहुहि भित्तणाइणियगसयणसंबधिपरियण-
महिद्धाएहिं अस्सेहि य चोरमहिद्धाहिं सच्छि संपरिवुमा
एहाया० जाव पायच्छित्ता सन्वाहंकारचूसिया विउलं
असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणे ४ विह-
रइ । जिमियभुत्तचरागयाओ पुरिसयेवत्थिया समुद्ध० जाव
पहरणावरणाभरिएहि य फलएहिं णिकिद्धाहिं असीहिं
अंसागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणुहिं समुक्खित्तेहिं सरेहिं
समुद्धावेलियाहिं य दामाहिं लंविआहिं उसारियाहिं
उरुघंटाहिं ठिप्पत्तरेणं विज्जमाणे विज्जमाणे महया २
उकिट्ठ० जाव समुद्धरवज्जुयं पि व करेमाणीओ सात्ताह-
वीए चोरपट्ठीए सन्वओ समंताओ दोएमाणीओ २ अ-
हिममाणीओ २, दोहलं वि णित्ति-तं जइ अइं अहं पि
बहुहिं णाइणियगसयणसंबधिपरियणमहिद्धाइं अस्सेहिं सा-
त्ताहवीए चोरपट्ठीए सन्वओ समंताओ दोएमाणीओ २
आहिंरुमाणीओ २ दोहलं विणिज्जामि त्ति कट्ठु तंसि
दोहलंसि अत्रणिज्जमाणंसि० जाव जिज्यामि तए एं से
विजए चोरसेणावइ खंदसिरीजारियं उहय० जाव पासइ
एवं वयासी-किएहं तुम्हं देवा उहय० जाव जिज्यामि,
तए एं सा खंदसिरी भारिया विजयं एवं वयासी-एवं
खलु देवाणुप्पिया ! ममं तिहं मासाणं० जाव जिज्यामि, तए
एं से विजये चोरसेणावइ खंदसिरीजारियाए अंतियं
एयमट्ठतोच्चा णिसम्म खंदसिरीभारियं एवं वयासी-

अहामुहं देवाणुप्पिण् ! एयमट्ठं पमिसुणेइ, पडिणेइत्ता तथा-
णतर मा खदमिगी चारिया विजएणं चोरसेणावडणा अब्ज-
णुष्ठाया समाणी दट्ठनुद्ववहुहिं मित्तं जाव अष्सेहि यवहुहिं
चोरमहिदाहिं सद्धिं पग्गिबुमा एहाया० जाव विजूसिया विपुलं
असण पाणं खाइम साइम सुर च ५ आसाएमाणी ४ विहरइ ।
जिमियजुत्तुत्तरागया पुरिसाणेवत्था सण्णवद्धं जाव आ-
हिंइमाणी दोहल वि णिंति, तए णं मा खदसिरी चारिया
सपुष्पदोहत्ता समाणीयदोहत्ता विणियदोहत्ता चोच्छि-
एणदोहत्ता मंपुएणदोहत्ता तं गब्धं मुहं मुहेणं पग्गिबुइ,
तए ण सा खदसिरी चोरसेणावडणी एवएहं मासाणं व-
हुपमिपुष्पाणं दारयं पयाया । तए णं से विजयचोरसेणा-
वड तस्स दारगस्स इमीसक्कारसमुदएण दसरत्ताडिइपमियं
करेइ, तए णं से विजयचोरसेणावड तस्स दारगस्स ए-
क्कागस्से द्विसे विपुल अमणं पाण खाइमं साइमं उवक्ख-
णावेइ, उवक्खणावित्ता मित्तणाइ० आमंतएइ, आमंतइत्ता०
जाव तस्सेव मित्तणाइपुरओ एव वयासी-जम्हा णं अम्हं
इमसि दारगसि गब्धगयसि ममाणंसि इमेया रूवे दोहले
पाउवज्जए तम्हा णं होउं मम्हं दारग अमगसेणणामेणं,
तए णं से अजंगसेणकुमारे पंचयाइ० जाव परिघायइ, तए
णं से अजंगसेणे णाम कुमारे उम्मुक्कवालजावे यावि हो-
त्था, अट्ठचारियाओ० जाव अट्ठओ दाओ चप्पि जुंजइ ।
तए ण से विजए चोरसेणावड अएगया कयाइ काद्वभम्मु-
णा संजुत्ते, तए णं से अजंगसेणकुमारे पंचहिं चोरसएहिं
सद्धिं सपरिबुमे रोयमाणे विजयस्स चोरसेणावडस्स महया
इमीसक्कारसमुदएण एहीहरणं करेइ, करेइत्ता वहुहिं होइयाइं
मयकिचाइ करेइ, करेइत्ता काद्वेणं अप्पए जाए यावि होत्था,
तए ण से अजंगसेणकुमारे चोरसेणावड जाए अहम्मिए०,
जाव कप्पाइ गेएहइ, गेएहइत्ता तए णं ते जाणवया पुरिसा
अजंगसेणचोरसेणावडणा बहुगामघायावणाहिं ताविया स-
माणा अष्ममणं नदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-एव खलु
देवाणुप्पिया ! अजंगसेणचोरसेणावडया पुरिमताले एयरे
पुरिमतालेणयरस्स उत्तरिज्जं जणवयं वहुहिं गामघाएहिं०
जाव निष्ण करमाणे विहरइ, त सेय खलु देवाणुप्पिया !
महव्वलस्स रामो एयमट्ठं विणवित्तए तए णं जाणवया
पुरिमा एयमट्ठ अएणमएणं पमिसुणेइ, पमिसुणेइत्ता महत्थ
महग्घं महरिहं रायरिहं पाहुमं गिएहइ, गेएहइत्ता जेणेव पु-
रिमताले एयरे तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता जेणेव म-
हव्वले राया तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता महव्वलस्स
रणो तं महत्थ० जाव पाहुमं उवणेइ करयज्जअज-
लिं कट्ठ महव्वल गयं एव वयासी-तुब्ब वाहुच्छा-
या परिगदिया निजया णिरुविग्गा सुहं सुहेणं प-

रिवसित्तए सालामवीचोरपट्ठीए अजंगसेणे चोरसेणा-
वड अम्हं वहुहिं गामघाएहिं य० जाव णिद्धणे करे-
माणे विहरइ, तं उच्छामि णं सार्मी ! तुब्बं वाहुच्छाया परि-
ग्गादिया णिब्जया निरुविग्गा सुहं सुहेणं परिवसित्तए ति
कट्ठ पायवमीया पंजलिउमा महव्वलरायं एयमट्ठं विणवन्ति
तए णं से महव्वले राया तोसिं जणवयाणं पुरिसाण अं-
तिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आरुमुत्ते० जाव मिसिमिमे-
माणे ति वलियं भिज्जामिं णिद्धामे साहुट्ठं दंढं सदावेइ, सदा-
वेइत्ता एव वयासी-गच्छइ णं तुब्ब देवाणुप्पिया ! साला-
मविचोरपट्ठीं विद्धुं पाहिं अभंगसेणचोरसेणावडं जीवग्गाहिं
गिएहइत्ता ममं उवणेहिं, तए णं से दंढे तह ति
एयमट्ठ पडिसुणेइ, पमिसुणेइत्ता तए णं से दंढे वहुहिं पुरि-
सेहिं सण्णवद्धं जाव पहरणेहिं सद्धिं संपग्गिबुमे मगइएहिं
फट्ठएसिं० जाव डिप्पतरेहिं वज्जमाणेणं महया उकिट्ठणव्यं
करमाणे पुरिमतालेणं एयरे मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, नि-
ग्गच्छइत्ता जेणेव सालादवी चोरपट्ठी तेणेव पट्टारेत्थग-
मणाए तए ण तस्स अभगसेणावडस्स चोरपुरिसे इमी से
कहाए द्वाच्छे समाणे जेणेव सालादवी चोरपट्ठी जेणेव अ-
भंगसेणावड तेणेव उवागया करयल० जाव एवं वयासी-
एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले णयरे महव्वलेणं र-
ष्ठा महया भमचरुगरेणं परिवारेण दंढे आणए-गच्छइ णं
तुमं देवाणुप्पिया ! सालादवीचोरपट्ठीं विद्धुं पाहिं, अभं-
गसेणं चोरसेणावडं जीवग्गाहिं गिएहोहिं, गिएहइत्ता ममं
उवणेहिं । तए णं से दंढे महया भमचरुगरेणं जेणेव सा-
लामवी चोरपट्ठी तेणेव पट्टारेत्थ गमणाए तए णं से अजं-
गसेणचोरसेणावड तोसिं चोरपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा
णिसम्म पंचचोरसयाइं सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-एव
खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले णयरे महव्वले० जाव तेणेव
पट्टारेत्थ गमणाए आगए, तए णं से अभंगसेणे ताइ पंच
चोरसयाइ एवं वयासी-तं से यं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं
तं दंढं मालामविं चोरपट्ठीं अमं पत्त अंतरा चेव पग्गिसेहि-
त्तए, तए णं ताइ पंच चोरसयाइं अजंगसेणस्स तह ति०
जाव पमिसुणेइ, पमिसुणेइत्ता तए णं से अभंगसेणे चोर-
सेणावडं विपुल असणं पाण खाइम साइमं उवक्खमावेइ, उ-
वक्खमावेत्ता पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं एहाए० जाव पायच्छि-
त्ते जोयणमरुवाति त विपुलं असणं पाण खाइमं साइम सुरं
च ५, आमाएमाणे ४ विहरइ । जिमियजुत्तुत्तरागए वि य
णं समाणे आयते चोक्खे परमसुइज्जए पंचहिं चोरसएहिं
सद्धिं अल्लं चम्मं उरुहइ, उरुहइत्ता मण्णं० जाव पहरणे
मगइ तेहिं० जाव रवेण पञ्चावरएहकालसमयांसि साला-
मवी चोरपट्ठीयाओ णिग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता विसमदु-

गगहण त्रिं गहियनत्तपाणिं तं दंम पांरुगत्तेपाणे चि-
 ड्ड, तए ण मे दमे जेणेव अभंगसेणे चोरसेणावड्ढे तेणे-
 व उवागच्छेड्, उवागच्छेड्त्ता अजंगसेणेणं चोरसेणावड्ढा
 सद्धिं संपल्लगेया वि होत्था । तए णं से अजंगसेणे चोर-
 सेणावड्ढे तं दंम स्विप्पमेव हयमहियं जाव पमित्तेहंति,
 तए ण से दमे अभंगसेणे चोरसेणावड्ढे हयं जाव प-
 मित्तेहिए समाणे अत्थामे अवले अवीरिए अपुरिसका-
 रपरकमे आधाराणिज्जेमि त्ति कहु जेणेव पुरिमनात्ते ण-
 यरे जेणेव महव्वत्ते राया तेणेव उवागच्छेड्, उवागच्छेड्त्ता
 करयलं एवं वयासी-एव खलु सामी ! अभंगसेणचोरसे-
 णावड्ढे विममहुगगहणं त्रिं गहियनत्तपाणिं एणो ख-
 लु से सक्का केणड सुवहुएण वि आमयलेण वा हत्थिवले-
 ण वा जोह्वत्तेण वा रह्वत्तेण वा चालरंगिण पि उर
 डरेण गिएहत्तए, ताहे सामेण य भेदेण य डयप्पदाणेण य
 वीसंजमाणे उवत्तेपावि होत्था । जे दंमेण य वियसे अ-
 र्भितरगा सीसगसमापित्तणाटणियसयणमंबधिपरियणं च
 विपुलेणं धणकणगरयणमतसारमावए जेणं भिदं अज-
 गसेणस्स य चोरसेणावड्ढे अजिखण अभिखण महत्माइं
 महग्याइं महरिडाइं पाहुडाइं पेसेडत्ता अजंगसेणं च चोरसे-
 णावड्ढे वीसंजमाणेड, तए णं से महव्वत्ते राया आणया
 कयाइ पुरिमताले णयरे एणं मह महड महालिय दूमागार-
 सालं करेड, अणेगसंभमयपासा ४, तए णं महव्वत्ते राया
 आणया पुरिमताले णयरे उस्सुक्कं जाव दसरत्त पमोयं उ-
 ग्घोसावेड, उग्घोमावेडत्ता कोमुवियपुरिसे सदावेड, सदावेडत्ता
 एवं वयासी-गच्छह ण तुब्भ देवाणुप्पिया ! मात्तामत्रीए
 चोरपट्ठीए तत्थ णं तुब्भे अजंगसेण चोरसेणावड्ढे कर-
 यलं जाव वयह-एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमतां
 महव्वत्तस्म रणो उस्सुक्कं जाव दसरत्ते पमोडुग्घोसिए
 तं क्कियं देवाणुप्पिया ! विपुलं अमणं पाणं खाइमं साइमं
 पुप्फवत्त्यगधमद्वालकारे य इह हव्वमाणिज्ज उदाहु सयमेव
 गच्छित्ता तए ण कोमुवियपुरिसे महव्वत्तस्म रणो करयलं
 जाव पभिमुणेड, पमिसुणेडत्ता पुरिमतालाओ णयराओ
 पंमिं पमिं णाशविकटोहिं अक्काणेहिं सुहेहिं पातरासेहिं
 जेणेव मात्तामत्री चोरपट्ठी तेणेव उवागच्छेड्, उवागच्छेड्त्ता
 अजंगसेणं करयलं जाव एव वयासी-एव खलु देवा-
 णुप्पिया ! पुरिमतालं महव्वत्तस्म रणो उस्सुक्कं जाव
 उदाहु सममेव गच्छित्ता, तए ण से अभंगसेणे ते कोहुं-
 वियपुरिसे एवं वयासी-अहं णं देवाणुप्पिया ! पुरि-
 मतां सयमेव गच्छामिए कोमुवियपुरिसे सकारेड, सका-
 रेडत्ता पमिवित्तजेड । तए णं से अजंगसें बहुहिं मित्तं
 जाव पारिबुमे, एहाएणं जाव पाथच्छित्ते सव्वालकारविज्जु-

सिए मात्तामत्री चोरपट्ठीओ पमिणियग्गमड्ढे, पडिणिक्ख-
 मडत्ता जेणेव पुरिमतां जेणेव महव्वत्ते राया तेणेव
 करयलपरिगमिय महव्वत्तं रायं जएणं विजएणं वद्धावेड,
 वद्धावेडत्ता महत्थं जाव पाहुम उवणेड, तएणं मे महं
 अजंगसेणस्स चोरस्म तं महत्थं जाव पमिच्छेड्, अजंग-
 सेणचोरसें सकारेड संमाणेड, संमाणेडत्ता विमज्जेड कू-
 मागारसालवणे आवासएहिं दत्तयड्ढे । तए णं से अजंग-
 सेणे चोरमेणावड्ढे महव्वत्तेणं रणा विमज्जिए समाणे जेणेव
 कूमागारगात्रा तेणेव उवागच्छेड्, उवागच्छेड्त्ता तए ण मे
 महं कोमुवियपुरिसे सदावेड, सदावेडत्ता एवं वयासी-ग-
 च्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विपुलं अमणं पाणं खाइमं
 साइमं उवक्खमावेड, उवक्खमावेडत्ता तं विपुलं असण पाणं
 खाइमं साइमं सुरं च ५ सुवहुपुप्फगंधमद्वालकार च अभ-
 गमेणस्स चोरसें कूमागारसालाए उवणेह । तए णं ते
 कोहुंवियपुरिसा करयलं जाव उवएणेड, तए णं से अजंग-
 सें बहुहिं मित्तसद्धिं तं पारिबुमे एहाएणं जाव गव्वालकार-
 विज्जुसिए त विपुल असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च आ-
 साएमाणे ४ पमत्ते विहरड । तए णं से महं कोमुवियपुरिसे
 सदावेड, सदावेडत्ता एव ययासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणु-
 प्पिया ! पुरिमतालस्स णयस्स दुवाराइं पिहित्ति, पिहित्तिता
 अजंगसेण चोरसेणावड्ढे जीवगाह गेएहंति, गेएहंतिता मह-
 व्वत्तस्म रणो वे उवणेह, तए ण महं अभंगमेण चोरो एते
 ण विहाणेण वज्ज आणवेड, एवं खलु गोयमा ! अभंगसेण
 चोणं पुरां जाव रिहरड । अजंगसेणेणं जंते ! चोरेमे-
 णावड्ढे कालमामे कालं क्किया कहिं गच्छिहिंति कहिं उवव-
 जिहिंति ! गोयमा ! अभंगसेणचोरसें सत्तावीस वासाइं
 परमाउ पाहिता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे सूली जिण-
 कए समाणे कालमासे कालं क्किया इमीसे रयणप्पभाए उक्को-
 सेणं गेगडएमु उववज्जिहिंति, से णं ताओ अणंतरं उवट्ठित्ता
 एवं संसारो जहा पढमे जाव पुढवीं, ताओ उवट्ठित्ता वाणा-
 रसीए णयरीए सूयरत्ताए पचायाहिंति, से ण मच्छसोयारि-
 एहिं जीविपाओ विवरोविए ममाणेणं तत्थेव वाणारसीए
 णयरीए सेट्टकुलंसि पुत्तत्ताए पचाहिंति, से णं तत्थ उम्मुक्क-
 वाज्जनावे एवं जहा पढमे जाव अंतकाहिं ति णिकत्तेवो ।

(एव कानु त्ति) एव घट्टयमाणप्रकारेणार्थः प्रकृत, खलु वाक्या-
 लङ्कारे । (जवू त्ति) आमन्त्रणे, (देसप्पत्ते त्ति) मण्डलप्रान्ते
 (विसमगिरिकदरे कोलम्यसन्निविद्धा) विषम धिक्कित्ते. कन्दर
 कुण्डर तस्य य कोलम्य प्रान्तः तरय सन्निविष्टा सन्निवेशिता
 या मा तथा । कोलम्यो हि लोके अवनत वृक्षशाखाप्रमुच्यते ।
 इतोपश्चरत कन्दर प्रातः कोलम्यो व्याख्यात । विपा० ३ ध्रु०
 ३ अ० । (इत्यादिटीका सुगमेति न गृहीता) पारतपुरगजनि,
 आ० न्यू० ६ अ० ।

अज्जिय-अभय-त्रि० । अमर्दिते अविराधिते, आचा० १ भु०
१ अ० १ उ० ।

अज्जपवेमा-अभटप्रवेशा-स्त्री० । अविद्यमानो भटानां राजा-
ज्ञादायिना पुरुषाणां प्रवेशः कुटुम्बिगृहेषु यस्यां सा तथा । यत्र
राजाज्ञा दातु भटाः प्रवेष्टु न शक्नुवन्ति तादृश्या पुर्याम,
भ० १२ श० ४ उ० । ज० । ज्ञा० । विपा० ।

अजत्तङ्ग-अभक्तार्थ-पु० । भक्तेन भोजनेनार्थः प्रयोजन भक्ता-
र्थ, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः । अथवा न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन्
प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थः । उपवासे, ध० २ अधि० ।

अत्र पञ्चाकाराः, तथा च सूत्रम्—

सूरे उगए अभत्तङ्गे पच्चक्खाइ, चउव्विहं पि आहारं
असण पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं
पारिष्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सन्वममाहिवत्तियागा-
रेणं वोसिरइ ।

अस्यार्थः—(सूरे उगए) सूर्योज्जमादारज्य, अनेन भोजनानन्तर
प्रत्याख्यानस्य निषेध इति ज्ञेते । भक्तेन भोजनेनार्थः प्रयोजन
भक्तार्थः, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः । अथवा—न विद्यते भक्तार्थो य-
स्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थः, उपवास इत्यर्थः । आका-
राः पूर्ववत् । नवर पारिष्ठापनिकाकारे विशेषः, यदि त्रिविधा-
हारस्य प्रत्याख्याति तदा पारिष्ठापनिकं कल्प्यते, यदि तु चतु-
र्विधाहारस्य प्रत्याख्याति पानकं च नास्ति तदा न कल्प्यते,
पानके तृद्धरिते कल्प्यत एव । (वोसिरइ) भक्तार्थमशनादि
वस्तु व्युत्सृजति । प्रव० ४ द्वार । ध० । आव० । आ० चू० ।
ल० प्र० । पचा० ।

अजत्तङ्गिय-अभक्तार्थिक-पुं० । उपवासिके, ओघ० । द्वितीयेऽ-
हि भोक्तारि, प० व० २ द्वार ।

अभत्तपाण-अभक्तपान-न० । प्रक्तपानालाभे, व्य० ७ उ० ।

अजय-अभय-न० । न० त० । विशिष्टे आत्मनः स्वास्थ्ये निभ्रे-
यसधर्मभूमिकानिबन्धनभूतायां धृतौ, ल० । रा० । “अभय
पत्थिवा तुम्भ, अजयदाया भवाहि य” । उक्त० १८ अ० । प्रा-
णिरत्तायाम्, सूत्र० १ भु० ६ अ० । अविद्यमान जयमस्मिन् स-
त्त्वानामित्यजयः । सप्तदशविधे सयमे, आचा० १ भु० १ अ० ५
उ० । सप्तप्रकारकभयरहिते, त्रि० । सूत्र० १ भु० ६ अ० । भ्रेणि-
कपुत्रे अजयकुमारे, पुं० । आ० चू० १ अ० । आ० म० । ध० ।
अभयंकर-अजयङ्कर-त्रि० । अजय प्राणिनां प्राणरक्ताकूप स्व-
त परतश्च सदुपदेशदानात् करोतीत्यजयङ्करः । स्वतो हिंसानि-
वृत्तत्वेन परतश्च हिंसां सा कार्षीरित्युपदेशदानेन प्राणिनामनु-
कम्पके, “अभयंकरे वीरघ्नांतचक्रवृ” सूत्र० १ भु० ६ अ० ।
निर्मयकरे, तं० ।

अभयकरण-अभयकरण-न० । जीवानामभयकरणे, (पं० व०)

मुचूण अजयकरणं, परोवयारो वि नत्थि असो ति ।

हंमिगितेणगणायं, न य गिहिवासे अविगलं तं ॥ ५५ ॥

मुक्त्वाऽजयकरणमिहलोकपरलोकयोः परोपकारोऽपि नास्त्य-
न्य इति । अत्र दृष्टान्तमाह—रुहिमकीस्तेनकक्षातमत्र रुष्टव-
म् । न च गृहवासे अविकलं तद्-अभयकरणमिति गाथार्थः ॥
प० व० १ द्वार ।

अभयकुमार-अजयकुमार-पु० । भ्रेणिकस्य गुरु नन्दादेव्यामु-
त्पन्ने पुत्रे, ज्ञा० ।

तद्वक्तव्यता—

पदमस्स य एं भंते ! अज्जयणस्स के अट्टे पस्सते ? ।
एवं खलु जंजू ! तेषां कालेणं तेषां समएणं इहेव जम्बुदी-
वे दीवे चारहेवासे दाहिणहृत्तरहे रायगिहे णामं नयरे
होत्था । वस्सओ—गुणसिलए चेईए वस्सओ—तत्थ एं
रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था । महिमाहिमव-
तवणओ—तस्स णं सेणियस्स रत्तो नंदा नाम देवी
होत्था, सुकुमावपाणिपाया वएणओ—तस्स णं सेणियस्स
पुत्तो नंदाए देवीए अत्तए अजए नामं कुमारे होत्था ।
अहीण० जाव सुरूवे सामजेयदंरुवप्पयाणणीतिसुप्पत्त-
नयविहिन्नु ईहापूहमगाणगवेसणं अत्थसत्थमई विसारए
उप्पत्तियाए वेणइयाए कमयाए परिणामियाए चउव्विहाए
वुक्किए उव्वेए, सेणियस्स रणो बहुसु कज्जेसु य कुटुवे-
सु य मंतेसु य गुज्जेसु य रहस्सएसु य निच्छएसु य आ-
पुच्छिणिज्जे पमिपुच्छणिज्जे मेदीपमाणे आहारे आलंबणे
चक्खुमंटीनए पमाणनए आहारनए आलंबणनए चक्खु-
सन्वकज्जेसु सन्वत्तमियासु द्वाप्पपच्च विइणवियारे २
रज्जधुरचित्ते यावि होत्था, सेणियस्स रणो रज्जं च
रट्ठं च कोसं च कोट्टागारं च वल्लं च वाहणं च पुरं च अं-
तेउर च सयमेव समुप्पेक्खमाणे समुप्पेक्खमाणे विहरति ॥
एवमित्यादि सुगम, नवरम्-एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारोऽर्थः प्रकृत
इति प्रक्रमः । अलु वाक्यालङ्कारे । जम्बूरित्यामन्त्रणे । इहेवेति ।
देशतः प्रत्यासन्नेन पुनरसत्थेयत्वात् जम्बुद्वीपानामन्यत्रेति-
भावः । (इत्यादिटीका सुगमा नोपपन्नस्यते) ज्ञा० १ अ० १ न० ।
नि० । स्था० । विशेषः । आ० म० । ध० २० । (‘मेहकुमार’ शब्दे-
ऽपूर्वसाङ्केतिकदेवमेजनं वक्ष्यते)

अभयकुमारकथा चेत्यम्—

अस्ति स्वस्तिकवत् पृथ्याः, पृथ्याः सपद् आस्पदम् ।
सुचक्रमल्लव्यास, पुर राजगृहाभिधम् ॥ १ ॥
प्रकटप्रौढमिथ्यात्व-काननैकपरवधः ।
सुधोज्ज्वलगुणश्रेणिः, भ्रेणिकस्तत्र पार्थिवः ॥ २ ॥
आगमार्थपरिज्ञान-विस्फूर्जद्वुक्किबन्धुरः ।
तस्याभयकुमाराख्यो, नन्दनो विश्वनन्दनः ॥ ३ ॥
आगच्छदन्वदा तत्र, मुनिपञ्चशतीयुतः ।
प्रकटीकृतसद्धर्मा, सुधर्मा गणभृद्वरः ॥ ४ ॥
वन्दितुं तत्पदद्वन्द्वं, सर्वद्वर्षा भ्रेणिको नृपः ।
शसिनोत्सर्पणामिच्छ-अगच्छत्सपरिच्छदः ॥ ५ ॥
नानायानसमाकट-स्तथाऽन्योऽपि पुरीजनः ।
प्रक्तिसभारसजात-रोमाञ्चोच्चसितां गतः ॥ ६ ॥
एवं प्रजावना प्रेक्ष्य, तत्रैकः काष्ठभारिकः ।
गत्वा प्रक्त्या गुरुप्रत्वा-ऽभौषादर्ममिमं यथा ॥ ७ ॥
जन्तुघातो मृषाऽस्तेय-मग्न्यश्च परिग्रहः ।
भो भो जगत्या ! विमुक्त्यन्तां, पश्यते पापहेतवः ॥ ८ ॥

इत्याकर्ण्य नरेन्द्राद्या, पर्वन्त्रा गृहेऽगमत ।
 रुमकः स तु तत्रैव, स्वार्थार्थं तस्थिधान स्थिरः ॥ ९ ॥
 गुरुस्तमूचे चित्तह-स्थितित घृही ! सोऽप्रवीत ।
 जानामि यदि वः पादान्, वरिषस्यामि सर्वदा ॥ १० ॥
 ततः प्रवाज्य त सद्यो, गुरव कृतयोगिनाम् ।
 अर्पयामासुराचारं, शिष्यामासुरागु ते ॥ ११ ॥
 त गीतार्थयुत भिक्षा-चर्यायामन्यदा गतम् ।
 प्रागवस्थाविद् पौराः, प्रेक्ष्य प्राहुरहयवः ॥ १२ ॥
 अहो ! महर्कस्त्यक्ताऽय, महासत्त्वो महामुनिः ।
 इति वक्तोक्तिं विद्वै-रुपहास्यत सोऽन्वहम् ॥ १३ ॥
 ततोऽसौ शैक्वकत्वात्, परीपदमसासहि ।
 सुधर्मस्वामिना प्रोचे-ऽनूचनेन वचस्विना ॥ १४ ॥
 संयमे किं समाधान-मस्ति ते सुष्ठु सोऽभ्यधात् ।
 अस्ति युष्मत्प्रसादेन, विहारोऽन्यत्र चेद् भवेत् ॥ १५ ॥
 विधास्याने समाधिस्ते, वत्सेत्युक्त्वा गुरुस्ततः ।
 अभयस्यागतस्यास्या-द्विहारो नो भविष्यति ॥ १६ ॥
 अभयः स्माह नः कस्मा-दकस्माद्विद्वत् प्रभो ! ।
 अत्रसादोऽथ तेऽत्रोचु-मुनेरस्य परीपदम् ॥ १७ ॥
 अत्रयोप्यभ्यधादेकं, दिवस स्थीयतां प्रभो ! ।
 निवर्त्तत न चेदेव, न स्यात्तव्य ततः परम् ॥ १८ ॥
 भोमित्युक्ते मुनीन्द्रेण, निस्तन्द्रः शासनोन्नतौ ।
 जगाम धाम सद्धर्म-धामधामाऽभयस्ततः ॥ १९ ॥
 रत्नानामसपत्नानां, रत्नगर्जाधिपोऽङ्गणे ।
 कोटिप्रयीं समाकृष्य, राशिप्रयमर्चाकरत् ॥ २० ॥
 तुष्टो राजा ददात्युष्टै-रत्नकोटिप्रयीं जना ! ।
 गृहीतैनां यथेष्ट हि, पटहेनेत्यघोषयत् ॥ २१ ॥
 ततोऽमिलद् द्रुत लोको, लोभुषः सोऽभयेन तु ।
 बभापे गृह्यतामेवा, रत्नकोटिप्रयीं मुधा ॥ २२ ॥
 युष्माभि स्वगृहं गत्वा-ऽनया किन्तु गृहीतया ।
 यावज्जीव विमोक्तव्य, जलमग्निं स्त्रियस्तथा ॥ २३ ॥
 इत्याकर्ण्य जनास्तूर्ण-मुक्कर्णान्तर्जिघृक्षुः ।
 विन्यतो निश्चलास्तस्य, सिंहनाद मृगा इव ॥ २४ ॥
 अत्रयः प्राह भो ! कस्मा-द्विद्वयस्तेऽप्यदोऽवदन् ।
 लोकोत्तरमिदं लोकं, किं कश्चित्कर्तुमर्श्वरः ? ॥ २५ ॥
 सोऽवाद्भिन्मुनिना तेन, तत्पजे त्रयमप्यदः ।
 तत्कुनो हसतैव त-मतिदुष्करकारकम् ? ॥ २६ ॥
 न जानीमो वयं स्वामि-स्तस्यपे सत्त्वमीदृशम् ।
 तमृषिमर्चयिष्याम-स्तदिदानीं महामते ! ॥ २७ ॥
 अभयेन सम गत्वा, धीमन्तस्ते प्रणम्य तम् ।
 महर्षिं कामयामासु, स्वापराध मुहुर्मुहुः ॥ २८ ॥
 इत्येवमत्रयो जैन-शासनार्थविशारदः ।
 अतिष्ठिपज्जन मुग्ध, चिर धर्मे जिनोदिते ॥ २९ ॥
 इत्येत्य हतपापकश्मल,
 सज्जना अभयवृत्तमुज्ज्वलम् ।
 शिष्यान्तु कृतसर्वमङ्गल,
 सतत प्रवचनार्थकौशलम् ॥ ३० ॥ ४० २० ॥

अभयघोष-अभयघोष-पु० । स्वनामख्याते वैद्ये, ४० २० ।

अत्रयगोत्रकथा नेयम्-

आसीत् पूर्वादिदेहेषु, शत्रुसहानिदुर्जये ।

१७७

वत्सावत्याख्यत्रिजये, प्रवग पू' प्रभङ्गरा । १ ॥
 तस्या सुविधिपैद्यस्य, मृनु' स-कर्मकर्मत' ।
 आर्मादभयघोषाख्यो, वैद्यविद्याविशारदः ॥ २ ॥
 नरेन्द्रमन्त्रिसार्धेश-नगरश्रेष्ठिनां सुता ।
 प्रशम्या सद्गुणश्रेष्ठो, वयस्यास्तस्य जीह्वे ॥ ३ ॥
 मिलितानामथार्माया-मन्येष्टुर्वैद्यमन्दिरे ।
 आगादनगावृत्तिः, साधुर्माधुर्गर्ग चरन् ॥ ४ ॥
 त पृथ्वापालभूपाल-पुत्र नाम्ना गुणाकरः ।
 निरुष्टकुपु ने हृष्टा, प्रोचिरे वैद्यनन्दनम् ॥ ५ ॥
 सदाऽर्धदग्निर्वैद्यवद्, भवन्ति न च्यते जनः ।
 न कस्यचित्तपस्यादे-श्चिकित्सा क्रियते किल ॥ ६ ॥
 जगाद् वैद्यजन्माऽपि, चिकित्सोऽय मुनिर्मया ।
 भो भद्रा ! निश्चित किन्तु, भेषजानि न सन्ति मे ॥ ७ ॥
 तेऽन्युत्तुर्दग्धे मूल्य, शाधि साध्वौषधानि न ।
 उवाच सोऽपि गोशीर्ष-चन्दन रत्नकमलम् ॥ ८ ॥
 लक्ष्मणेन तत् क्रय, तृतीय तु मदोकासि ।
 विद्यते लक्ष्मणाकास्य, तैल तद् गृह्यता द्रुतम् ॥ ९ ॥
 लक्ष्मण गृहीत्वाऽथ, गत्वा ते कुत्रिकापणे ।
 अयाचन्तौषधे तौस्तु, श्रेष्ठपुत्रे किं प्रयोजनम् ? ॥ १० ॥
 तेऽवोचन् कुष्ठिनः साधो-श्चिकित्साऽऽज्ञया विधास्यते ।
 आकर्ण्य तद्वचः श्रेष्ठी, चेनस्येवमचिन्तयत् ॥ ११ ॥
 क्वैषा प्रमादशार्दूल-कानन यौवन हव ।
 विवेक्यधुरा बुद्धि, क्व चेय वार्धकोचिता ? ॥ १२ ॥
 मादशार्माऽथ योग्य, जराजर्जरवर्षणम् ।
 यत् कुर्वन्त्यपि तद्दहो !, धन्यैर्भारोऽयमुद्यते ॥ १३ ॥
 एव विचिन्त्य स श्रेष्ठी, ते समर्थौषधे मुधा ।
 भावितात्मा प्रवद्राज, घमाज च महोदयम् ॥ १४ ॥
 कृत्वा समप्रसामर्ग्य, तेऽमिमा नृक्षिशालिनाम् ।
 सम वैद्यवरेण्येन, प्रययुः साधुसन्निधौ ॥ १५ ॥
 नत्वाऽनुज्ञाप्य तत्तेन, सर्वाङ्गे भक्तिः स तै ।
 वेष्टितः कम्बलेनाथ, निरीयु कृमयस्ततः ॥ १६ ॥
 शीतत्वात्तत्र ते लग्ना, निर्यङ्गितैः प्रपीडित ।
 लिप्तश्च चन्दनेनाशु, स्वास्थ्यमाप मुनिः कृणात् ॥ १७ ॥
 त्रिरेवमाद्यभेलायां, निर्ययु कृमयस्त्वचः ।
 मासगास्तु द्वितीयस्या, तृतीयस्या च तेऽस्थिगाः ॥ १८ ॥
 तान् कृमींस्ते दयावन्त-श्चिकित्तिपुर्गोक्तेश्वरे ।
 सरोहण्या च त साधु, सद्यः सज्ज प्रचक्रिरे ॥ १९ ॥
 क्रमयित्वा च नत्वा च, गत्वाऽन्तर्नगर ततः ।
 चैत्य चक्रुश्च विक्रीय, तेऽर्द्धमूढ्येन कम्बलम् ॥ २० ॥
 गृहीत्वा गृहिधर्मे च, पश्चात् कृत्वा च समयम् ।
 ते पञ्चाप्यच्युनेऽभूव-चिन्द्रसामानिका सुराः ॥ २१ ॥
 तनश्च्युत्वा विदेहेषु, नृन्वा पञ्चापि सोदराः ।
 ते प्रव्रज्य च सर्वार्थ-सिद्धेऽनूवन् सुरोत्तमाः ॥ २२ ॥
 ततोऽप्यभयघोषस्य, जावद्भयुत्थाऽत्र भारते ।
 यत्तत्र नव्यसदोह-योधन प्रथमो जिनः ॥ २३ ॥
 वेगास्त्र भरतो बाहु-बलिर्माखी च सुन्दरी ।
 जङ्गरे तदपत्यानि, प्रापुञ्च परम पदम् ॥ २४ ॥

एव निशम्याऽभयघोषवृत्त,

मुदा गुरुणा गुणराजिनाजाम् ।

दाने मदाऽप्यौषधभेषजादे,

कृतोद्यमा भव्यजना भवन्तु ॥ २५ ॥ ४० २० ।

अभयणंदा-अभयनन्दा-स्त्री० । बुद्धिनिधाने, अणु० १ वर्ग ।

अभयदय-अभयद(कोय)-पुं० । अभयविशिष्टमात्मन स्वास्थ-
म, नि श्रेयसधर्मनिबन्धनभूता परमा धृतिरिति ज्ञाव । तत अभय
ददातीति अभयदः । जी० ३ प्रति० । ल० । तदित्यतमभय
गुणप्रकर्षयोगादचित्त्यज्ञाते युक्तत्वात् सर्वथा परार्थकारित्वा-
द् जगवन्त एव ददतीति । प्र० २ अधि० । रा० । न प्रय द-
यने ददाति प्राणापहरणरसिकेऽप्युपसर्गकारिप्राणिनीत्वजन्यद-
य । अथवा-सर्वप्राणिजयपरिहारवती दयाऽनुकम्पा यस्य सो-
ऽभयदय । अहिंसाया निवृत्ते, उपदेशदानतो निवर्तके च ।
भ० १ श० १ उ० । औ० । ध० । भवानामज्ञावाद् जयस्याज्ञावो
ऽभय, तदायक । तीर्थकरे, कल्प० १ क० ।

अभयदाण-अभयदान-न० । दानप्रेदे, ग० ।

" य स्वज्ञावात्सुखैषिण्यो, जूतेभ्यो दीयते सदा ।
भभय दु खभीतेभ्यो-ऽभयदान तदुच्यते " ॥ १ ॥ ग० २ अधि० ।
नहि जूयस्तमो धर्म-स्तस्मादभ्योऽस्ति जूनले ।
प्राणिना भयजीनाना-मभय यत्प्रदीयते ॥ ५१ ॥
द्रव्यधेनुधरादीनां, दातारः सुलजा ह्रुवि ।
दुर्लभं पुरुषो लोके, य प्राणिष्वभयप्रद ॥ ५२ ॥
महनामपि दानानां, काशेन क्रीयते फलम् ।
भीताजयप्रदानस्य, कृय एव न विद्यते ॥ ५३ ॥
इत्तमिष्ट तपस्तप्त, तीर्थसेवा तथा धृतम् ।
सर्वाण्यभयदानस्य, कला नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ५४ ॥
एकतः कृतव सर्वे, समप्रवरदक्षिणा ।
एकतो भयजीतस्य, प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥ ५५ ॥
सर्वे वेदा न तत्कुर्यु सर्वे यज्ञा यथोदिता ।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत्कुर्यात्प्राणिनां दया ॥ ५६ ॥ ध० २० ।

अभयदेव-अभयदेव-पुं० । नवाङ्गवृत्तिकारके स्वनामख्याते
आचार्ये, स्था० ।

(१) तत्परित्र त्वेवमाख्यानि-

धारापुर्या नगर्या महीधरस्य श्रेष्ठिनो धनदेव्यां नाम भार्याया-
मजयकुमारो नाम पुत्ररत्नं जज्ञे । स च धारायामेव समवसूत-
स्य वर्द्धमानमृगिशिष्यजिनेश्वरसूरिणोऽन्निके प्रवव्राज । ननं प्र-
ज्ञानिश्यान्धोरुश्वर्षजन्मपर्यायः । कुमारवस्थ एव वर्द्धमानसू-
रिणाऽन्यनुज्ञातो विक्रमीयम् १०८८ मिने वर्षे आचार्यपदम-
भ्यतिष्ठन् । तदानीं दुष्कालादिभिरध्ययनवैखनादिषु विरहाडा-
गमाना वृत्तयो व्युत्क्रिञ्चप्राया आसन्, इत्येकदा निशि गृजध्या-
नाऽवस्थित नमजयदेवमूर्तिर शामनदेवताऽवोचत्-मगवन् ।
पूर्वाचार्यैरेकादशस्त्रपञ्चेपु टीका कृता, तास्तु द्वे एवावशिष्टे,
शेषा व्युत्क्रिञ्चान् इति सप्रति ना पुनरुज्जीव्य सङ्घोऽनुग्राह्य इति ।
आचार्येणोक्तम्-शामनाऽर्धाश्वरि मात । अल्पबुद्धिरहमेतद्
गहनं कार्यं कर्तुं कथं शक्नुयाम् ? यतस्तत्र यदि किञ्चिदप्यु-
न्मृशं म्यानन्महतऽनर्थाय संनारपाताय भवेदिति । ततो देव-
तयोक्तम्-मगवन् । त्वामहं नमधमेव मन्वाऽनोचम् । यत्र च
त्व सर्गावस्थसे तत्र तत्क्षणमेवाहं स्पर्त्तव्या, अहं च महावि-
देह गत्वा तत्र सीमन्धर्म्यामिन पृष्ट्वा त्वा चक्षुर्मांनि न कि-
ञ्चिदनुपपन्नं न विष्यति, इति प्रवचनदेवोत्पाहिनस्तन्कार्यं प्रा-
रभन् । समाप्ते पूर्वमेव आचामात्मनपसा निशि जागरणेन
धानुप्रकोपाद् विकृतर्क्षधर समजायत । तदा द्विष्टलोकै सह-
र्षं प्रावाद्यन्-यद्यमभयदेव उन्मृश व्याख्यानि स्मेति, कुपिना

शासनदेवी अस्य करीरे कुष्ठरोगमुदपादयत् । तमपवादमा-
कर्ण्य दुःखितमाचार्यं रात्रावागत्य धरणेन्द्रस्त रुधिररोमं
व्यनाशयत् । अकथयन् च-स्तम्भनग्रामपार्श्वे सेढिकानद्यास्तटे
चूमिमध्ये श्रीपार्श्वनाथप्रतिमाऽस्ति, यस्याः प्रभावाद् नागा-
र्जुनेन रससिद्धिराप्ता; तां प्रकटय तत्र महातीर्थं प्रवर्त्तय,
ततस्त्व विधूताऽपकीर्तिर्भविष्यति । ततस्तत्राऽभयदेवसूरिणा
' जय तिहुअणु ' इत्यादि द्वाविंशद्गाथात्मक स्तोत्रमुद्गीर्य
सङ्गममङ्गं सा प्रतिमा प्रकटयिता, तस्मात्तस्याचार्यस्य महद्य-
शः सर्वत्र प्रोदच्छतत् । पञ्चाकरणेन्द्रवचसा तस्य स्तोत्रस्य द्वे
गाथे वियोज्य त्रिंशद्गाथात्मकमेव प्राचीकटत्, तादृशमेवाद्यापि
उपलभ्यते । सा च प्रतिमा ' सम्भात ' नगरेऽद्यापि पूज्यमाना
वर्तवर्त्ति । सा च नेमिनाथशासनसमये २२२२ वर्षे कृतेति तत्प्र-
तिमाया आसनपृष्ठे टङ्कितमस्ति, पञ्चाद् नवाङ्गेषु वृत्तीः पञ्चा-
शकादिटीकाश्च निर्माय कर्पटवणिजनगरे वि०स० ११३५
मिते देवलोक गतः । जै० ६० । इत्येकोऽभयदेवसूरिः ।

अनेन चात्मकतत्त्वप्रवचनेष्वेव स्वपरिचयोऽदर्शितः-

श्रीमदभयदेवसूरिनाम्ना मया महावीरजिनराजसन्तानवर्त्ति-
ना महाराजवशजन्मनेव सविन्नमुनिवर्गप्रवरश्रीमजिनचन्द्रा-
चार्यान्तेवासियशोदेवगणिनामधेयसाधोरुत्तरसाधकस्येव वि-
द्याकिंप्राधान्यस्य सादाय्येन समर्थितम्, तदेव सिद्धमहानि-
धानस्येव समापिताधिहृतानुयोगस्य मम मङ्गलार्थं पूज्यपूजा-
नमो भवते वर्तमानतीर्थनाथाय श्रीमन्महावीराय, नमः प्रति-
पन्थिसार्थप्रमथनाय श्रीपार्श्वनाथाय, नमः प्रवचनप्रबोधिकायै
श्रीप्रवचनदेवतायै । नमः प्रस्तुतानुयोगशोधिकायै श्रीलोणा-
चार्यप्रमुखपण्डितपर्यदे, नमस्तुर्वर्णाय श्रीधर्मणसङ्गमङ्गरका-
येति । एव च निजवशवत्सलराजसन्तानिकस्येव ममासमा-
नमिममायासमानेसफलतां नयन्तो राजवश्या इव वर्त्तमान-
जिनसन्तानवर्त्तिनः स्वीकुर्वन्तु, यथोचितमिदोऽर्घजातमनुति-
ष्ठन्तु सुष्ठुचितपुरुषार्थसिद्धिमुपपुञ्जता च योग्येभ्य इति ।

किञ्च-

सत्सम्प्रदायहीनत्वा-त्सद्दृश्य वियोगतः ।
सर्वस्वपरशास्त्राणा-मदष्टेरस्मृनेभ्य मे ॥ १ ॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः ।
सूत्राणामतिगाम्भीया-न्मतिभेदाच्च कुत्रचित् ॥ २ ॥
कृष्णानि सज्जवन्नीह, केवलं सुविवेकिभिः ।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः, सोऽस्माद्वाह्यो न चेतनः ॥ ३ ॥
शोध्य चैतज्जिने ज्ञेयै-र्ममवर्द्धिदेयापरै ।
ससारकारणाद् घोरा-दपसिद्धान्तदेशनात् ॥ ४ ॥
कार्यो न वा क्षमाऽस्मासु, यतोऽस्माभिरनाग्रहः ॥
एनक्रमनिकामात्र-मुपकारीति चर्चितम् ॥ ५ ॥
तथा सभाव्य सिद्धान्ताद्, बोध्यं मध्यस्थया धिया ।
द्रोणाचार्यादिभिः प्राक्षै-रनेकैराहृतं यतः ॥ ६ ॥
जैनग्रन्थविशालपुर्णमवनाकुचित्य गाढधमः,
सद्भाषयानफलान्यमूनि मयका स्थानाङ्गसङ्गाजने ।
संस्थाप्योपहितानि पुर्णतनरप्रायेण तद्व्याख्याना,
श्रीमत्पद्मविजोगत परमसावेव प्रमाणद्वकृता ॥ ७ ॥
श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकाशा-
चन्द्रनेन विशय्यधिकेन युक्तै ।
समासद्वयेऽतिगते (वि०स० ११२०) निवद्या
स्थानाङ्गटीकाऽल्पधियोऽपि गम्या ॥ ८ ॥ स्था० १० उ० ।

तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मदवठादिप्रतिस्पर्द्धिन ,
तद्वन्धोरपि बुद्धिसागर इति कथातस्य सुरेभुवि ।
उन्दोबन्धनिश्चलवधुरवच शब्दादिमल्लमणः,
भीसविम्विहारिण भुनानिधेभ्यारित्रचूषामणे ॥ ८ ॥
शिष्येणाभयदेवस्य-सूरिणा विधति कृता ।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य, भुतभक्त्या समासत ॥ ९ ॥ (युग्मम्)
निवृत्तिककुलनभस्त-चन्द्रोपास्यासूरिमुख्येन ।
परिमतगणेन गुणध-त्रिप्रेण सशोधिता चैयम् ॥ १० ॥
एकादशसु शतेष्वध, विशाखधिकेषु विक्रमसमानाम् (स० १२०)
अणहितपाटकनगरे, विजयदशम्या च सिद्धेयम् ॥ ११ ॥ का० २ भु० ।
यस्मिप्रतीते भुतसयमभिया-
वप्राप्नुवत्यथ पर तथाविधम् ।
स्वस्याभय सवसतोऽतिदुर्जिते,
भीवर्त्मान स वतीश्वरोऽभवत् ॥ १ ॥
शिष्योऽभवत्सस्य जिनेश्वराख्य, सूरि-कृतानिन्धविचित्रशारम् ।
सदा निराहम्बविहारवर्ती, चन्द्रोपमश्चन्द्रकुलाम्बरस्य ॥ २ ॥
अन्योऽपि विज्ञो भुवि बुद्धिसागरः, पापिडत्यचारित्रगुणैरनूपमे ।
शब्दादिलक्ष्मप्रतिपादफानघ-प्रन्धप्रणेता प्रवर समावताम् ॥ ३ ॥
तयोरिमां शिष्यवरस्य वाक्याद्,
वृत्ति व्यधात् भीजिनचक्रसूरे ।
शिष्यस्तयोरेष विमुग्धबुद्धि-
प्रन्धार्थबोधेऽभवदेवसूरिः ॥ ४ ॥
बोधो न शास्त्रार्थगतोऽस्ति तादृशो,
न तादृशी वाक्पदुताऽस्ति मे तथा ।
न चास्ति टीकेह न वृत्तिनिर्मिता,
हेतुः पर मेऽत्र कृतौ विभोवचः ॥ ५ ॥
यदिह किमपि दग्ध बुद्धिमान्पाद् विरुद्ध,
माये विहितकृपास्तधीधना शोधयन्तु ।
विपुलमतिमतोऽपि प्रायशः सावृते स्या-
अहि न मतिविमोह किं पुनर्मादृशस्य ? ॥ ६ ॥
चतुरधिकविंशतियुते, वर्षसहस्रे शते (स० १२४) च सिद्धेयम् ।
धवलकपुरे प्रसरै, धनपत्योर्वकुञ्जचन्द्रिकयोः ॥ ७ ॥
अणहितपाटकनगरे, सद्यश्चैरधर्तमानमुधमुख्ये ।
भीद्रोणाचार्याद्यै-विद्वद्भि शोधिता चेति ॥ ८ ॥ पञ्चा० १६ वि० ।
“अविस्तरं तववत्यो, जिगृन्नाहो पणसयाइ वरिसाण ।
तयण्ण धेरणिदनिमिअ-सन्निज्जो विअसुअसारो ॥ ५५ ॥
सिरिअजयदेवसूरी, दूरीकयदुदिरोगसघाओ ।
पयड तित्थ काही, अहीणमाहव्वदिप्यत” ॥ ५६ ॥ ती० ६ कल्प ।
(२) राजगच्छाये प्रद्युम्नसूरिशिष्ये, येन वादमहाणवो नाम
ग्रन्थो विरचितः, ‘न्यायवनसिंह’ इति च विरुद्ध लेखे । वि० स०
१२७६ वर्षे पार्श्वनाथचरित्रनाम्नो ग्रन्थस्य कर्त्रा माणिक्यचन्द्रसू-
रिणा तत्र लिखितम् यद्वादमहाणवकृतोऽजयदेवसूरेण नवमो-
ऽस्मीनि । अभयदेवसूरेरेव शिष्य धनेश्वरसुग्निमुञ्जराजस्य मान्यो
गुरुरासीदिति तत्समयोऽनुमानु शक्यते । अनेनैव अभयदेवसूरि-
णा तत्रबोधविधायिनी नाम सम्मतिटीका विरचितेति । जै० १० ।
एतच्च स्फुटमेव प्रतिप्राति ग्रन्थसमाप्तौ-
“इति कतिपयसूत्रव्याख्यया यन्मयाऽऽप्त,
कुशलमनुलमस्मात्सम्मतेर्नैव्यमायै ।
नवभयमभिभूय प्राप्यता ज्ञानगर्भं,
विषममनयदेवभ्यानमनिन्दसारम् ॥ १ ॥
पुण्यद्वादानवादिद्विरदघनघटाकु-तधीकुम्भपीठ-

प्रत्नमोद् नूतमुकाफलविशदयशोराशिप्रियस्य तूर्णम् ।
गन्तु दिग्दन्तिवन्तच्छतनिहितपद व्योम पर्यन्तभागान्,
स्वल्पग्रह्यापडभाणमोदरनिविटनरोत्पिपरितैः सप्रतस्थे ॥ २ ॥
प्रद्युम्नसूरे शिष्येण, तत्त्वयोधविधायिनी ।
तस्यैवाऽभयदेवेन, सम्मतेर्विद्वन् कृता ॥ ३ ॥ सम्म० ३ काण्ड ।
इत्यथ द्वितीयोऽभयदेवसूरिः ॥

(३) इषपुरीसगच्छोदभये मलधारीत्वपरनामके गुरौ, स च
कोटिकगणस्य मध्यमशाखाया प्रभयाहनकुलसभूत स्थूलजड-
स्वामिनो वश्य । एकदा हर्षपुराद् विहरन् अणहितपाटननगरे
दाहि प्रदेशे सपरिवार स्थितः, अन्यदा श्रीजयसिंहदेवनरे-
न्द्रेण गजस्कन्धारुढेन राजपाटिकाऽऽगतेन दृष्टो मतमस्तिनधस्त्र-
देह, राता च गजस्कन्धादयनीर्धे दुष्करकारफ इति दत्त तस्य
“मलधारी” इति नामेति । जै० ६० ।

तथा च विविधतीर्थकल्पे जिनप्रभसूरि --

“सिरिपणहवाटणकुलसज्जुओ दुरिसपुरीयगच्छाहकारमूलि-
ओ अभयदेवसूरी हरिसओ गओ पणया गामाणुगाम विहर-
तो सिरिप्रणदिहवाटवपट्टणमागओ, विओ वादि पणसे सप-
रिवारो, अत्रवा सिरिजयसिंहदेवनरिदेण गवखधारुढेण रायया
डियागणण दिठो मतमल्लिणवत्थदेहो, राणण गयसधाओ ओअ-
रिऊण दुष्करकारओ ति दिण्ण ‘मलधारि’ चि नाम, अत्रत्यऊण
नयरमज्जे नीओ रणा, दिण्णो उवस्सओ वयवसहीसमीवे, तत्थ
विमा सूरिणो” ती० ४० कल्प । अस्य गुरुर्जयसिंहसूरिर्नामाऽस्ति,
हेमचन्द्रसूरिनामा च शिष्योऽभवत् । येन वि० स० ११७० वर्षे ‘म-
वभावना’ नाम ग्रन्थो वर्तते, येनैकसहस्र ब्रह्मणा जैनीकृता,
यदुपदेशादजयमेरुनगरादद्वारवर्तिनि ‘मेमता’ ग्रामे प्रसिद्ध
तस्मिन्मन्दिर कारितम् । किञ्च-अस्यैव अभयदेवसूरेण उपदेशाद्
चूचनपालराजेन जिनमन्दिरे पूजाकृद्भिर्देय करो मोचित । अ-
जयमेरुराजेन जयसिंहेनापि तदुपदेशात्मासस्य ह्योरहृभ्योर्द-
योभ्यतुर्दयो लृक्पञ्चम्या च स्वराज्ये प्राणिमात्रवधो निवा-
रित । शाकम्भरीराजेन पृथ्वीराजेन च तदुपदेशाद् रणस्तम्भ-
पूरे स्वर्णफलशोपशोभित जिनमन्दिर कारितम् । यदा च सो-
ऽभयदेवसूरिरनशनेन देवलोक गतस्तदा तस्य शव चन्दनमय-
रथे निधायाम्निस्फार कृत, तस्य च शवरथस्य पश्चात् सर्व
एव नागरो लोको जयसिंहराजश्च पृष्ठतोऽनुजगाम । दग्धे च
तदज्ञस्म रोगोपचवनाशकमिति मत्वा सर्वलोका उद्विक्त्यु ।
इत्येतत्सर्वं रणस्तम्भपुरीयजिनमन्दिरे शिलाया सिंखितमुपल-
भ्यते । इत्यथ तृतीयोऽभयदेवसूरिः । जै० ६० ।

(४) जकेश्वरसूरिशिष्ये स० १२४८ वर्षे विवेकमञ्जर्या
कारकस्य आसमस्य गुरौ, अनेन च भद्रबाहुकृतसामुद्रिकशा-
स्त्रोपरि टीका कृता । केचिदेन श्रीशान्त्याचार्यशिष्य मन्यन्ते ।
इत्यथ चतुर्थोऽजयदेवसूरिः । जै० ६० ।

(५) रुद्रपात्नीयगच्छोद्भवे विजयेन्द्रसूरिशिष्ये देवजसूरि-
गुरौ, अनेन काशिराजाद् ‘वादिसिंह’ इति विरुद्ध लेखे । ‘ज-
यन्तविजय’ नाम महाकाव्य च वि० स० १२७८ वर्षे निर्ममे ।
इत्यथ पञ्चमोऽजयदेवसूरिः । जै० ६० ।

(६) गुणाकरसूरिसहवासिनि, येन वि० स० १४२६ वर्षे
सरस्वतीपाटननगरे जक्तामरस्तोत्रटीका कृता, १४५१ वर्षे तिज-
यपहुत्त नामक स्तोत्र च निर्मितम् । जै० ६० ।

अभयप्रदान-अभयप्रदान-न० । दानमेदे, " दानाण सेठ अभयप्रदान ' तथा स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानम-
नेकधा. तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां प्राणकारित्वादत्रय-
दान श्रेष्ठम् । तदुक्तम्- " दीयते म्रियमाणस्य, कोटि जीवित-
मेव वा । धनकोटिं न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति " ॥१॥
गोपालाङ्गनाडीना दृष्टान्तदारेणार्थो बुद्धौ सुखेनारोहतीति ।
अतोऽभयप्रदानप्राधान्यस्थापनार्थं कथानकमिदम्-

' वसन्तपुरे नगरे अरिदमनो नाम राजा । स च कदाचिच्चतुर्व-
धूसमेतो वातायनस्थं क्रीडामानसिष्ठति । तेन कदाचिच्चोरो
रक्तकर्णरक्तनुष्णमात्रो रक्तपश्चिन्नो रक्तचन्दनोपलितश्च
प्रहृतवध्यमिष्टिमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः ।
दृष्ट्वा च ताभिः पृष्टम्-किमनेनाकारीति ? । तासामेकेन राज-
पुरुषेणाऽऽवेदिनम्-यथा-परद्रव्यापहारेण राजविरुद्धमिति ।
तत्र एकया राजा विज्ञप्त-यथा यो भवता मम प्राग् वरः प्रति-
पन्नः सोऽधुना दायताम्, यथाऽहमस्योपकरोमि किञ्चित् । रा-
ज्ञाऽपि प्रतिपन्नः ततस्तथा स्नानादिपुरःसरमलङ्कारेणाऽऽहङ्कृतो
दीनारसद्वयव्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानेकमहं प्रा-
पिन । पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयमहो दीनारशतसहस्र-
व्ययेन लालितः । ततस्तृतीयया तृतीयमहो दीनारकोटिव्ययेन
सत्कारितः । चतुर्थ्या तु राजानुमत्या मरणारुक्षितोऽभयप्रदा-
नेन । ततोऽसावन्याभिर्हसिता, नास्य त्वया किञ्चिदुत्तमिति ।
तदेव तासां परस्परं बहुपकारविषये विवादे जाते राज्ञाऽसा-
वेच चौरः समाहूय पृष्टः, यथा केन तव बहुपकृतमिति ? । तेना-
ऽप्यभाणि-यथा न मया मरणमहाभयभीतेन किञ्चित् स्नाना-
दिकं सुखं त्रिजार्थाति । अभयप्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवा-
त्मानमवर्माति । अतः सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमिति स्थित-
म् । सूत्र० १ श्रु ६ अ० ।

अभयमेण-अभयसेन-पु० । वारतकपुरराजनि, पि० । धाव० ।

अभया-अभया-स्त्री० । दधिवाहनजूपस्य स्वनामख्यातायां
गङ्गाम्, ती० २५ कल्प । त० । इरीतक्याम्, नि० चू० १५
उ० । ध० । आत्मा० ।

अजयारिष्ट-अजयारिष्ट-न० । स्वनामख्याते मद्यविशेषे, सूत्र०
१ श्रु ८ अ० ।

अजयमिष्टिय-अजयसिद्धिक-पु० । न भवसिद्धिकोऽभव-
मिष्टिकः । अजये, स्था० १ उ० १ उ० । न० । " जेरइया दु-
विहा पस्यत्ता । त दा-भवसिद्धिया चेव, अभवसिद्धिया चेव०
जाव वेमाणिया " स्था० २ उ० २ उ० ।

अजयविय (व्व)-अजय-पु० । न० न० । तथाविधानादिपा-
णिनामिकभावात् (कदाचनाऽपि) सिद्धिगमनायोम्ये जीवे,
कर्म० ३ कर्म० । कुतो नाजयः । सिद्धिं गच्छति । आह-ननु
जीवन्वन्मात्रेऽयं भव्यः, अयं चाजय इति किं कुतोऽयं विशे-
षः ? । नच वक्तव्यं यथा जीवन्वे समानेऽपि नारकनिर्यगादयो
विशेषास्तथा ज्ञव्याऽभव्यत्वाविशेषोऽपि भविष्यतीति, यतः
कर्मजनिता एव नारकादिविशेषा, न तु स्वाभाविका, ज्ञव्या-
ऽभव्यत्वाविशेषोऽपि यदि कर्मजनितस्तदा जयतु, को निवा-
रयिता ? , न चैवम् । इत्येतदेवाऽऽह-

होतुं व जऽ कम्पकञ्चो, न विरोहो नाग्गाइनेद व्व ।

जम्पद भव्वाज्जवा, सजावञ्चो तेण सदेहो ॥

ननु भव्वाज्जवा, सजावञ्चो तेण सदेहो जीवानामिष्यते.

नात्र कश्चिद्विरोधः, नारकादिभेदवत् । नचैतदस्ति, यतो भव्याऽ-
भव्याः स्वभावत एव जीवाः, न तु कर्मत इति यूयं प्रणथ, ते-
नास्माकं सदेह इति, परेणैवमुक्ते सतीत्याह-

दव्वाइत्ते तुल्ले, जीवनहाणं सहावओ भेओ ।

जीवाजीवाइगओ, जह तह जन्वेयरविसेसो ॥

यथा जीवनजसोर्ध्वत्वस्त्वप्रमेयत्वहेयत्वादौ तुल्येऽपि जी-
वाजीवत्वचेतनाचेतनत्वादिस्वभावतो भेदः, तथा जीवानामपि
जीवत्वसाम्येऽपि यदि भव्याऽभव्यकृतो विशेषः स्यात्तर्हि को
दोषः ? , इति ।

इत्थं सवोधितो भव्यत्वादिविशेषमन्युपगम्य दूषणान्तरमाह-

एवं पि जन्वजावो, जीवत्तं पि न सभावज्जिओ ।

पावड निच्चो तम्मि य, तदवत्थे मत्थि निव्वाणं ॥

नन्वेवमपि ज्ञव्यभावो नित्योऽविनाशी प्राप्नोति, स्वभावजाती-
यत्वात्स्वाभाविकत्वाज्जीवत्ववत् । भवत्ववमिति चेत्, तदयुक्तम् ।
यतस्तस्मिन् ज्ञव्यभावे तदवस्थे नित्यावस्थायिनि नास्ति नि-
र्वाणम्, 'सिद्धो न भव्यो नाप्यभव्यः' इति वचनादिति ।

नैवम्, कुतः ? , इत्याह-

जह धरुपुव्वाजावो-ऽनाइसहावो वि संनिहाणेवं ।

जइ भवत्ताभावो, जवेज्ज किरियाएँ को दोसो ? ॥

यथा घटस्य प्रागजावोऽनादिसंभावजातीयोऽपि घटोत्पत्तेः स-
न्निधाने विनश्वरो दृष्टः, एव भव्यत्वस्यापि ज्ञानतपःसचिवचरण-
क्रियोपायतोऽभावः स्यात्तर्हि को दोषः सपद्यते ? , न कश्चिदिति ।

आक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह-

अणुदाहरणमभावो, खरासिंगं पि व मई न तं जम्हा ।

भावो च्चिय स विसिद्धो, कुंजाणुप्पत्तिमेत्तेणं ॥

स्यान्मतिः परस्य तत्तु-अनुदाहरणमसौ प्रागभावः, जावरूपत-
यैवावस्तुत्वात्, खराविषाणवत् । तन्न, यस्माद्भाव एवासौ घटप्रा-
गभावस्तत्कारणभूतानादिकालप्रवृत्तपुद्गलसघातरूपः, केवलं
घटानुत्पत्तिमात्रेण विशिष्ट इति, भवतु तर्हि घटप्रागभाववद्भव्य-
त्वस्य विनाशः केवलम्, इत्थं सति दोषान्तरं प्रसज्यति, किम् ? ,
इत्याह-

एवं भव्वाज्जो, कोट्टागारस्म अवचउच्च चि ।

तं नाणंतत्तणञ्चो-ऽणागयकाइवगणं व ॥

नन्वेव सति ज्ञव्योच्छेदो भव्यजीवैः अस्य शून्यः प्राप्नोति,
अपचयात् । कस्य यथा समुच्छेदः ? , इत्याह-स्तोकस्तोकाऽऽकृष्य-
माणधान्यस्य जूनकोष्ठागारस्य । इदमुक्तं भवति-कालस्यान-
न्त्यात्वात्प्राप्तपर्यन्ते जावश्यमेकस्य ज्ञव्यस्य जीवस्य सिद्धिग-
मनात्कमेणापचीयमानस्य धान्यकोष्ठागारस्येव सर्वस्यापि
भव्यराशेरुच्छेदः प्राप्नोतीति । अत्रोत्तरमाह-तदेतन्न, अनन्त-
त्वाद्भव्यराशेः, अनागतकालाकाशवदिनि । इह यद् बृहद्वनन्तकेना-
ऽनन्तस्तोकस्तोकनयाऽपचीयमानमपि नोच्छिद्यते, यथा-प्रतिस-
मयं वर्तमानतात्माऽपचीयमानोऽप्यनागतकालसमयराशिः,
प्रतिसमयं बुद्ध्या प्रदेशापहारेणापचीयमानः सर्वजनं प्रदेशा-
शिर्वा, इति न ज्ञव्योच्छेदः ।

कुत ? , इत्याह-

जं चानीयाणागय-काला तुल्ला जओ य संसिद्धो ।

एकौ अणंतभागो, जव्वाणमईयकालेण ॥
एस्सेण तत्तिओ च्चिय, जुत्तो जंतो वि सव्वजव्वाण ।
जुत्तो न समुच्छेओ, होज्ज मई कहमिणं सिध्दं ।
जव्वाणमणंतत्तण-मणंतजागो व कह विमुक्कोसि ।
काळादओ व पमिय !, मह वयणाओ वि पमिवज्जा ।

यस्माच्चातीतानागतकालौ तुल्यावेव, यतश्चातीतेनामन्तेनापि का-
लेनैक एव निगोदानन्ततमो भागोऽद्यापि जव्यानां सिद्धः, एष्यता-
ऽपि भविष्यत्कालेन तावन्मात्र एव भव्यानन्तभागः सिद्धिं गच्छन्
युक्तो घटमानको न हीनाधिकः, भविष्यतोऽपि कालस्याती-
ततुल्यत्वात् । तत एवमापि सति न सर्वभव्यानामुच्छेदो युक्तः,
सर्वेणापि कालेन नदनन्तभागस्यैव सिद्धिगमनसम्भोपदर्शनात् ।
अथ परस्य मतिर्भवेत्-कथमिदं ससबद्धम्-यदुतानन्ता
जव्याः, तदनन्तभागश्च सर्वेणैव कालेन सेत्स्यति ? इति ।
अत्रोच्यते-काळाकाशादय इवानन्तास्तावद्भव्या, तदनन्तभा-
गस्य च मुक्तिगमनात्कालाकाशयोरिव न सर्वेषामुच्छेद इति
प्रतिपद्यस्व । मद्रचनाद्वा मरिक्क ! सर्वमेतच्छुद्धेहीति । विशेषेण
पञ्चा० । हा० कर्म० । आ० । न० । वृ० । दशा० ।

अज्ञारिय-अभार्य-पु० । अपत्तीके, कल्प० ।

“ पद्मावती च समुवाच विना वधूर्ती,
होत्रा न काचन नरस्य भवत्यवश्यम् ।
नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,
विश्वासमेव विट एव जवेदभार्यः ” ॥ १ ॥ कल्प० १ क० ।

अभाव-अभाव-पु० । अज्ञमभावे, उक्त० १ अ० । जीवाद्यः
पदार्था अन्यापेक्षया अभावाः । निवेधे, भ० ४२ श० १ उ० ।
विनाशे, वृ० १ उ० । असम्भवे, दश० १ उ० । असत्तायाम्,
पञ्चा० ३ विव० । स० (अभावप्रामाण्यम्) यदपि—

“ प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।
साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञान धाऽन्यवस्तुनि ” ॥ १ ॥

(सेति) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः, आत्मनो घटादिग्राहकतया परिणा-
माभावः प्रसज्यपक्षे, पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घटविविक्तस्थे
वस्तुनि अभावे घटो नास्तीति विज्ञानम्, इत्यभावप्रमाण-
मभिधीयते । तदपि, यथासम्भव प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव । तथाहि—

“ गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानस नास्तिता ज्ञान, जायतेऽज्ञानपेक्षया ” ॥ १ ॥

इयमभावप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतलादिकं वस्तु
प्रत्यक्षेण घटादिभिः प्रतियोगिभिः ससृष्टम्, अससृष्टं वा गृह्ये-
त ? । नाद्यः पक्षः । प्रतियोगिससृष्टस्य भूतलादिवस्तुनः
प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रतियोग्यभावग्राहकत्वेनाभावप्रमाण-
स्य प्रवृत्तिविरोधात् । प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगि-
नः सत्त्वेऽपि तत्प्रवृत्तेः । द्वितीयपक्षे तु-अभावप्रमाणवैयर्थ्यं,
प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामभावप्रतिपत्तेः । अथ न
ससृष्टं नाप्यससृष्टं प्रतियोगिभिर्भूतत्वादि वस्तुप्रत्यक्षेण गृह्यते,
वस्तुमात्रस्य तेन ग्रहणाभ्युपगमादिति चेत् । तदपि दुष्टम् ।
ससृष्टत्वासंश्लेषयोः परस्परपरिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिपेधे-
ऽपरविधानस्य परिहर्तुमशक्यत्वात्, इति सदसद्रूपवस्तुग्रह-
णप्रवणेन प्रत्यक्षेणैवाय वेद्यते । क्वचित्तु-तदघटं चूतलमिति
स्मरणेन, तदेवेदमघटं भूतलमिति प्रत्याभिज्ञानेन, योऽभिज्ञानश्च
१९८

भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमो नाग्निरित्यनुमानेन,
गृहे गगौ नास्तीत्यागमेनाभावस्य प्रतीतिः क्वाऽभावप्रमाणं प्रव-
र्तताम् ? । रत्ना० २ परि० ।

अस्यैव प्रकारानाह—

स चतुर्धा-प्रागभावः प्रध्वंसाज्ञाव इतरेतराभावोऽत्य-
न्ताज्ञावश्च ॥ ५८ ॥

प्राक् पूर्वं वस्तुत्पत्तेरभावः, प्रध्वंसश्चासावभावश्च, इतरस्ये-
तरस्मिन्नभावः, अत्यन्तं सर्वदाऽभावः । विधिप्रकारास्तु प्रा-
कनैर्नोचिरे । अतः सूत्रकृद्भिरपि नाभिदधिरे ॥ ५८ ॥

तत्र प्रागभावमाविर्भावयन्ति—

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागजा-
वः ॥ ५९ ॥

यस्य पदार्थस्य निवृत्तावेव सत्यां, न पुनरनिवृत्तावपि, अ-
तिव्याप्तिप्रसक्तेः । अन्धकारस्यापि निवृत्तौ क्वचिद् ज्ञानोत्प-
त्तिदर्शनादन्धकारस्यापि ज्ञानप्रागभावत्वप्रसङ्गात् । नचैवमपि
रूपज्ञान तन्निवृत्तावेवोत्पद्यत इति तत्प्रति तस्य तत्त्वप्रसक्ति-
रिति वाच्यम् । अतीन्द्रियदर्शिनि नक्तचरादौ च तद्भावेऽपि
तद्भावात् । (स इति) पदार्थः, (अस्येति) कार्यस्य ॥ ५९ ॥

अत्रोदाहरन्ति—

यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पि-
ण्डः ॥ ६० ॥

प्रध्वंसाभावं प्राहुः—

यद्भुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाज्ञा-
वः ॥ ६१ ॥

यस्य पदार्थस्योत्पत्तौ सत्यां प्रागुत्पन्नकार्यस्यावश्यं नियमेन,
अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । विपत्तिर्विघटनं, सोऽस्य कार्यस्य प्रध्वं-
साज्ञावोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

उदाहरन्ति—

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य क-
लशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

इतरेतराभावं वर्णयन्ति—

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभावः ॥ ६३ ॥
स्वभावान्तरात् पुनः स्वस्वरूपादेव तस्याभावप्रसक्तेः, स्व-
रूपव्यावृत्तिः स्वस्वभावव्यवच्छेद इतरेतराभावोऽन्यापोहनामा
निगद्यते ॥ ६३ ॥

उदाहरणमाहुः—

यथा स्तम्भस्वजावात्कुम्भस्वजावव्यावृत्तिः ॥ ६४ ॥

अत्यन्ताभावमुपदिशन्ति—

कालत्रयापोक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ता-
भावः ॥ ६५ ॥

अतीतानागतवर्तमानरूपकालत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरि-
णामनिवृत्तिरेकत्वपरिणतिव्यावृत्तिः, सोऽत्यन्ताभावोऽभिधी-
यते ॥ ६५ ॥

निदर्शयन्ति-

यथा चेतनाचेतनयोः ॥ ६६ ॥

न खलु चेतनमात्मनस्त्वमचेतनपुङ्गवात्मकतामचक्षत, कश्च-
यति कश्चयिष्यति वा. तच्चैतन्यविरोधात् । नाप्यचेतन पुङ्ग-
लतत्त्व चेतनस्वरूपनाम्, अचेतनत्वविरोधात् ॥ रत्ना० २
परि० । न० । सम्म० । अज्ञावचातुर्विध्यं चावश्यमाश्रयणीयम् ।
तदुक्तम्- 'कार्यद्रव्यमनादि स्यात्, प्रागज्ञावस्य निहवे ।
प्रध्वसस्य त्वभावस्य, प्रव्यवेऽनन्तता व्रजेत् ॥ १ ॥ सर्वात्मक
तदेक स्या-द्व्यायोद्भव्यनिक्रमे' इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १
व० । (सम्मत्यादिग्रन्थभ्यां विशेषोऽवगन्तव्यः) परिचाराज्ञावो
द्विविध-विद्यमानाज्ञावोऽविद्यमानाभावश्च । विद्यमानः सन्
अभावोऽसन् वैयावृत्त्यादिकरणत्वाद् विद्यमानाज्ञावः । अवि-
द्यमानः सन्नभावोऽविद्यमानाभावः । व्य० २ उ० ।

अज्ञाविय-अज्ञावित-त्रि० । असम्मग्राप्ते प्राप्तसम्मगे वा व-
ज्रतन्तुवक्रकल्पे, अयोग्ये च । " अज्ञाविया परिसा " तृतीयमा-
श्रयम् ॥ स्था० १० वा० ।

अज्ञावियकलेत्त-अज्ञावितक्षेत्र-न० । क० स० । सविग्रसाधु-
विषयश्रद्धाविकल्पे, पार्श्वस्थादिभाविने च क्षेत्रे, वृ० ३ उ० ।

अज्ञावुग-अज्ञावुक-न० । न० त० । वेल्लुकादिरूपभावुकवि-
लक्षणे चक्षनादौ, प० व० ३ द्वार । आच० ।

अभासग-अज्ञापक-पु० । ज्ञावाऽपर्याप्ते अयोगिसिद्धे, एके-
न्द्रिये च । स्था० २ वा० ४ व० । अनु० । च० प्र० । (" भासग "
शब्दे द्वावरुकोऽस्य वक्ष्यते)

अज्ञासा-अज्ञावा-स्त्री० । मृषामाषायाम्, सत्यामृषायां च ।
भ० ५५ श० ३ उ० ।

अभासिय-अभासिक-त्रि० । अर्दाप्तिमति भूम्यादिके द्रव्ये,
नि० चू० १३ उ० ।

अभि-अभि-अव्य० । आभिमुख्ये, अनु० । आचा० । विपा० ।
समुखे, न० । विकल्पे, पदार्थसज्ञावने च । नि० चू० १ उ० । क-
ञ्चित्प्रकार प्राप्तस्य द्योतने, आभिमुख्ये, अजिलापे, वीप्सायां,
लक्षणे, समन्तादर्थे च । वाच० ।

अभिआवत्त-अज्ञापक-त्रि० । अजिमुखं समापन्ने, सूत्र० १
श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अभि (भी) ५-अभिजिन्-न० । ब्रह्मदेवताके नक्षत्रभेदे, स्था०
२ वा० ३ उ० । अनु० । " दो अभिर्द् " स्था० २ वा० ३ उ० ।
ज० । तच्च उत्तराषाढानक्षत्रस्य शेषचतुर्थांशसहितश्रवणनक्ष-
त्राद्यकलाचतुष्कल्पम् । शब्द० । " अजीङ्गकक्षसे तितारे "
प० सू० २ द्वार । नक्षत्रेण सदाऽस्य योगस्तत्रैव । ज्यो० ६ पादु० ।
चानभयनगरराजस्योदयनस्य प्रजावत्यां देव्यामुन्पन्ने पुत्रे, भ० ।
स च प्रव्रजता स्वपिण्डतद्भागिनेये केशिकुमारधर्मणे राज्यम-
विष्ठापिते द्विष्ठ सन् सल्लेखनया मृत सन्नसुरकुमारदेवन्वेनो-
त्पन्नः । भ० १३ श० ६ उ० । स्था० ।

तए णं तस्स अजीङ्कुमारस्स अण्णा कयाइं पुण्वरत्ता-
वरत्तकालसमयसि कुट्टवजागरियं जागरमाणस्स अयमेया-

रुवे अज्जत्तिए जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु अहं उदा-
यणस्म पुत्ते पजावइए देवीए अत्तए । तए णं से उदायणे
राया ममं अवहाय णियग भायाणिज्जं केसीकुमारं रज्जे ठा-
वेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए । इ-
मेणं एयारुवेणं महता अपत्तिएणं मणोमाणसीएणं दुक्खेणं
अनिज्जूए समाणे अंतेउरपरियाहसंपरिवुमे सजंरुमतोवग-
रणमायाय वीडभयाओ णयराओ णिगच्छइ, णिगच्छ-
इत्ता पुव्वाणुपुत्तिं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणोव
चंपा णयरी, जेणोव कूणिए राया, तेणोव उवागच्छइ, उवा-
गच्छइत्ता कूणियं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तए वि
एणं से विज्जलभोगसमितिममसागए यावि होत्था । तए णं
से अभीङ्कुमारे समणोवामए यावि होत्था; अभिगयंजाव
विहरइ । उदायणम्मि रायरिसिग्गि समणुवक्खेरे यावि हो-
त्था । तेणं काट्ठेणं तेणं समएणं इमीसे रयणप्पजाए पुढवीए
णिरयपरिसामंतेसु चोयडिअसुरकुमारावाससयसहस्सा प-
सुत्ता । तए णं से अजीङ्कुमारे बहूइं वासाइं समणोवासगं
परियायं पाज्जणइ, पाज्जणइत्ता अद्धमासियाए संदोहणाए
तीसं भत्ताइं अणसणं २ तस्स ठाणस्स अणादोइयपरिकंते
काट्ठमामे काट्ठं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णिर-
यपरिसामंतेसु चोयडिअ आतावां जाव सहस्सेसु अक्षय-
रंसि आयावा असुरकुमारावामंसि आतावाससि असुर-
कुमारदेवत्ताए उववसो, तए णं अत्थेगइयाणं असुरकुमा-
राए एग पडिओवमडिई पसुत्ता । तस्स णं अजीइस्स देवस्स
एणं पत्तिओवमं डिई पसुत्ता । से णं अभीइदेवे ताओ देव-
लोगाओ आउक्खएण ३ अणंतरं उव्वट्ठित्ता कहिं गच्छि-
हिति, कहिं उव्वज्जिहिति ? । गोयमा ! महाविदेहे वामे
सिज्जिहितिं जाव अतं काहिति, सेवं जंते ! जंते ! सि ॥

(अप्पत्तिएण मणोमाणसिएण दुक्खेण ति) अप्रीतिकेना-
प्रीतिस्वभावेन मनसो चिकारो मानसिक, मनसि मानसिक, न
बहिरूपसद्व्यमाणविकार यत्तन्मनोमानसिक, तेन । केनैर्वाविधे-
न ? , इत्याह-डु.खेन । (सन्नरुमतोवगरणमायाय सि) स्वां
स्वकीयां भावममात्रां भाजनरूपपरिच्छेदमुपकरणं च शय्या-
दि, गृहीत्वैत्यर्थः । अथवा-सह भावममात्रया यदुपकरण त-
त्तथा, तदादाय (समणुवक्खेरे सि) अव्यवच्छिन्नवैरिज्ञावः ।
(निरयपरिसामंतेसु सि) नरकपरिपार्श्वतः । (चोसडीए आ-
यावा असुरकुमारावासेसु सि) इह " आयाव सि " असुर-
कुमारविशेषा, विशेषतस्तु नावगम्यन्त इति । भ० १३ श० ६ उ० ।
लोकोत्तररीन्या द्वादशे दिवसे, कल्प० ६ क० । श्रेणिकस्य धारिण्यां
जाते पुत्रे, अणु० । स च वीरान्तिके प्रव्रज्य पञ्च वर्षाणि भ्रामयं
परिपाह्य विजये विमाने उत्पन्न इति अनुसरोपपातिकदशा-
नां १ वर्गे १० अध्ययने सूचितम् । अणु० १ वर्गः । अभि-
मुखीचूए जयति शत्रून्, अभि-जि-क्विण् । शत्रुजयि-
नि, यात्रानुकूलक्षणभेदे, पञ्चदशधा विभक्तदिनस्याष्टमे भा-
गे, स्मृतिप्रसिद्धे कुतयकाले च । वाच० । द० प० ।

अभिज्ञान-अभियुज्य-अव्य० । सम्बन्धमुपागत्य प्रतिस्प-
र्द्धे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । वशीकृत्याश्लेष्य वा इत्येतेषामर्थं,
दशा० १० अ० ।

अभिज्ञान-अभियोग-पु० । अभियुज्यमानतायास्, स द्विवि-
धो-द्वैवो मानुषिकश्च । व्य० ८ उ० । (स च 'उत्तमगपत्' शब्दे
द्वितीयभागे १०२६ पृष्ठव्याख्यास्यते) अभियोजनमभियोग ।
राजानियोगादिके अनिच्छतोऽपि व्यापारणे, ध० २ अधि० । आ-
देशकर्मणि, औ० । प्रश्न० । आज्ञायाम्, स्था० १० ठा० । वशी-
करणे, नि० चू० १ त० । अभिज्ञे, आव० ५ अ० । वृ० । सूत्र० ।
गर्वे, आव० ५ अ० । अभियोजन विद्यामन्त्रादिभिः परेषां व-
शीकरणादिरभियोगः । स च द्विधा । यदाह-

दुविहो खलु अभिज्ञानो, दब्धे भावे य होइ नायवो ।
दन्वामि हौति जोगा, विज्जामंताइ भावमि ॥

इदानीम् (अभिज्ञानोति) व्याख्यानयन्नाह-(दुविहो खलु अभि-
ज्ञानोति) इह द्विविधो अभियोगः-द्रव्याभियोगो, ज्ञावाभि-
योगश्च ज्ञातव्यः । तत्र द्रव्ये योगो रूपाभियोगश्चूर्णम्, तन्मिथ-
पिण्डो द्रव्याभियोगपिण्डः, स च परित्यजनीय । भावाभियोग-
श्च, विद्यया मन्त्रेण वा पिण्ड इति स च भावाभियोग-
पिण्डः । स च परिष्ठापनीय इति । अत्र अगार्या दृष्टान्तः-
“एगा अविरह्या, सा अणिछा पश्यो, ताए परिव्याह्या अ-
भित्थिया-किंचि मतेण अभिमतिऊण मम देहि, जेण पई
मे वसो होइ, ताहे ताए अभिमतिऊण कूरो दिहो । अवि-
रह्याए चित्तिय-मा एसो दिहो मरेज्ज, तओ ताए अणुक्क-
पाए उक्कडरुडियाए छुड्डिओ, सो गह्वेण खाइओ, सो रत्ति
घरदारं खोदिउमारओ, ताणि निग्गयाणि जाव पेच्छति ग-
ह्वेण खोदिज्जत, सा अविरह्या जखइ-किमेय चि ? , ताए स-
म्भावो कहिओ, तोहिं वि सा चरिया दमाविया, एस दोसो,
एव ताव जइ तिरियाण एसो अत्तथा होइ, माणुसस्स पुण
सुहयं होइ, अओ एरिसो पिंडो न वेत्तवो ” ॥

अमुमेवार्थं गाथाभिरुपसर्हरन्नाह-

विज्जाए हो अगारी, अवियत्ता सा य पुच्छए चरियं ।

अभिमतणोदणस्स उ, अणुक्कपत्तणमुस्समं च खरे ॥ ६०४ ॥

विद्याभिमान्त्रिते पिण्डे अगारीदृष्टान्त-सा भर्तृस्वायत्ता न रो-
चते । सा च चरिकां परिव्राजिकां पृच्छति पत्युर्वशीकरणार्थम् ।
तया अभिमन्त्रणमोदनस्य कृत्वा दत्त, तथाऽपि अगार्या पत्युर्म-
रणानुक्कम्पया न दत्तः स ओदनः, किन्तु उत्सन्नः, परित्याग-
कृतः । स च खरेण भक्ति इति ।

वारस्स पिट्ठणम्मि य, पुच्छण कइणं च हो अगारीए ।

सेहे चरिआ दमे, एवं दोसा इहिं पि सया ॥

स च गर्जन आगत्य द्वारं पिट्ठति मन्त्रवशीकृतः सन्, शेष
सुगमम् । एव भावाभियोगे दृष्टान्त उक्तः ।

इदानीं रूपाभियोगे चूर्णवशीकरणपिण्डः, स उच्यते-

“एगा अविरह्या, सा य गुरुअस्स जिक्खणो अज्झोववमा
अणुरत्ता, ताहे सा त पर्येइ, अणिउत्तस्स चुष्ठाभिओणेण
संजोएउ भिक्ख पडिबेसिय घरे काऊण दवावियं ताए, जओ
चेव तस्स साहुस्स पमिगहे पडिय तओ चेव तस्स साहुस्स
तत्तो मणो हीरह, तेण य णाय, ताहे णियट्ठति, णियट्ठो आया-

गियाण पडिमाइ काउ काइयभूमि वचनइ, जाव आयागियाण
पि तत्तो दुत्तो जावो हीरह, ताहे सो मीसो आगनु आओणइ,
मम पि अन्थि मावो, त ण्य सजोगन्धेण कओ पिमो अन्थि,
ताहे पण्डविज्जइ, जो विहि पण्डवणे मो उवागि मणिहि
त्ति” । एवमेव विसकय पि । “एगा अगारी साहुणो अज्झोव-
वमा, सो य णो इच्छति, ताए रट्ठाए विमेण मिस्सा जिक्खा
दिमा । तस्म य टिक्खेत्ताण चेव मिरोवेयणा जाया, पण्णि-
यट्ठो गुरुणो समण्णेऊण काईण वोमिह, जाव गुरुणो वि मी-
सवेयणा जाया, त च गुरुणा गधेण णाय जहा इम विममि-
स्स, अहवा नय लवन्नकया जिक्खा पमिया, ताहे त विस
उप्पिसइ । एव णाने पण्डविज्जति ” ॥

इदानीममुमेवार्थं गाथाभिरुपसर्हरन्नाह-

जोगम्मि उ अविरह्या, अज्झोवन्ना मृस्वजिक्खुम्मि ।

कमयोगिमणिच्छंत-स्स देइ जिक्खं अमृदजावो ॥ ६०६ ॥

योगे अविरतिकागृहस्थीदृष्टान्त-अधुपपन्ना रक्ता मृकपे मि-
त्तौ, अनिच्छित्तस्तत्कर्मकर्तुं कृत्ययोगा भिक्का, भिक्कापिण्ड
ददानि । पुनश्च तस्य साधोर्ग्रहणानन्तरमेव अशुभमाचो जान ।

तदभिमुखं चिन्तयति-

संकाए स नियट्ठो, दाऊण गुरुस्स काइयं विमरे ।

तेसिं पि अमृदजावो, पुच्छा य मम पि उस्समयणा ॥ ६०७ ॥

तथा च शङ्कया योगकृतभिक्काशङ्कया निवृत्तं जिज्ञापरिभ्रम-
णात् । शेष सुगमम् ।

एमेव संकियम्मि वि, दाऊण गुरुस्स काइयं विमरे ।

गंधाई विष्ठाए, उस्समसविही सियालवहे ॥ ६०८ ॥

एवमेव विषकृतोऽपि दृष्टान्त-गुरोर्दत्त्वा समर्थयित्वा कायिकां
व्युत्सृजति, तेन गुरुणा गन्धादिना विज्ञानम् । आदिग्रहणात्
तत्तस्य उत्सर्जनं परित्यागं क्रियते, तत्र विधिना परिष्ठापनं
कर्त्तव्यम्, नानाविधिना अविधिपरिष्ठापने सति शृगालादिवधो
भवति । ओ० । वृ० ।

अभिज्ञानगी-अभिज्ञानगी-स्त्री० । आ समन्तादाभिमुख्येन यु-
ज्यन्ते प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः । किङ्करस्थानी-
या देवविशेषास्तेषामभियोग्याभिज्ञानगी । ज्ञावनायाम्, वृ० ।

अथाभियोगीमाह-

कोउअ-जूई-पसिणे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।

रिद्धिरससायगुरुओ, अभिज्ञानगीभावण कुणइ ॥

अद्धिरससातगुरुकः सन् कौतुकाजीवी भूतिकर्माजीवी,
प्रआजीवी, प्रआप्रआजीवी, निमित्ताजीवी च जवति एवविध
आभिज्ञानगीभावनां करोतीति ॥ (वृ०)

अथ अद्धिरससातगुरुक इति पदव्याख्यानार्थमाह-

एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभिज्ञानगियं बंधइ ।

वीयं गारवरहिओ, कुवं आराह गुत्तं च ।

एतानि कौतुकादीनि अद्धिरससातगौरवार्थं कुर्वाणः प्रयुज्या-
न सन्नाभियोगिक देवादिप्रेष्यकर्मव्यापारफले कर्म बध्नाति ।
द्वितीयमपवादपदमत्र भवति-गौरवगदितं सन्नतिशयज्ञाने
सति निस्पृहवृत्त्या प्रवचनप्रभावनार्थमेतानि कौतुकादीनि कु-
र्वन्नाराधको जयति, उच्चैर्गात्रं च कर्म बध्नाति, तोयोजति-

करणादिति । गता आभियोगिकी भावना । वृ० १ उ० ।
भ० । स्था० । औ० ।

अभियोयण-अभियोजन-न० । परेषां विद्यामन्त्रादिभिर्वशी-
करणे, प्रज्ञा० २० पद । आव० ।

अजिकंत्वमाण-अभिकाङ्क्ष-त्रि० । कर्तुमिच्छति, दश० ६
अ० ३ उ० ।

अभिकंत्वा-अभिकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाषे, सूत्र० १ भु० २
अ० २ उ० । आचा० ।

अभिकंत-अजिक्रान्त-त्रि० । अतिवह्निते, आचा० १ भु० ४
अ० ५ उ० । भावे निष्ठाप्रत्ययः । अभिक्रमणे, दश० ४ अ० ।

अभिकतकिरिया-अभिक्रान्तक्रिया-स्त्री० । चरकादिभिर-
नवसेवितपूर्वाया वसतौ, आचा० २ भु० २ अ० २ उ० ॥

अनिकंतकूरकम्प-अभिक्रान्तकूरकर्मन्-त्रि० । हिंसादिक्रिया-
प्रवृत्ते, सूत्र० २ भु० २ अ० । आचा० ।

अभिकतवय-अजिक्रान्तवयस्-न० । जरामतिमृत्यु वाऽतिक्रा-
न्ते, आद्यवयोद्वयानिक्रमे जरान्निमुखे वयसि, बालादीनां चयोप-
चयवत्यवस्था-तामभिमुखमाक्रान्ते, आचा० १ भु० २ अ० १ उ० ।

अजिक्रमण-अजिक्रमण-न० । अजिमुख क्रमणे, आचा० १
भु० ७ अ० ८ उ० ।

अभिक्रममाण-अजिक्रममाण-त्रि० । गच्छति, आचा० १ भु०
१ अ० २ उ० ।

अभिक्रम्य-अभिक्रम्य-अव्य० । आभिमुख्येन क्रान्तेत्यर्थे, सूत्र०
१ भु० १ अ० ३ उ० ।

अभिक्रवणं-अजीर्णम्-अव्य० । अनवरते, आ० म० प्र० ।
ज० । प्रअ० । विशेष० । सूत्र० । आचा० । पुनःशब्दार्थे, स्था० ५
ग० १ उ० । “एगे समुपप्लेज्जा अभिक्रवण अभिक्रवण इत्थि-
कह भक्तकह” स्था० २ ग० ४ उ० । अभीर्णं पुनःपुनः । विशेष० ।
वृ० । नि० चू० । दश० । स० । ज्ञयोभूयः । दशा० १० अ० ।
रा० । वारवारम् । कल्प० ६ क० । उत्त० । असकृत् । दशा० २
अ० । भृशम् । स० ३० सम० । “अभिक्रवणमोधारणं भा-
सह” आव० ४ अ० ।

अजिक्रवणसेवण-अजीर्णनिषेवण-न० । अभीर्णप्रतिसे-
वने, व्य० ३ उ० ।

अजिक्रवमाइण-अजीर्णमायिन्-त्रि० । बहुशो मायाविनि,
व्य० ३ उ० ।

अजिक्रवमेवा-अभीर्णसेवा-स्त्री० । प्रमाणाधिकसेवायाम्,
नि० चू० १ उ० ।

अजिक्रवाभिय-अभिक्षाद्वाजिक-पु० । अतुच्छानवज्ञानप्रा-
हके भिक्षाचर्याविषयकाभिग्रहविशेषधारके साधौ, औ० सूत्र० ।

अजिक्रवासेवणा-अभीर्णासेवना-स्त्री० । असकृदासेवना-
याम्, नि० चू० १ उ० ।

अजिगज्जन्त-अभिगर्जत्-न० । धनध्वनिमुञ्चने, उपा० २ अ० ।

अजिगम-अजिगम-पुं० । सम्यग्धर्मप्रतिपत्तौ, पा० ध० दशा० ।

अजिगमा-—

येरे भगवन्ते पंचविहेणं अजिगमेणं अजिगच्छन्ति । तं जहा-
सचित्ताणं दम्बाणं विउसरण्याए, अचित्ताणं दम्बाणं
अविउसरण्याए, एगसाहिणं उत्तरसंगकरणेणं, चक्खु-
प्फासेअंजलिपगहेणं, मणसा एगत्तीकरणेणं ॥

(अभिगमेण ति) प्रतिपत्त्या अजिगच्छन्ति समीप गच्छन्ति ।
(सचित्ताण ति) पुष्पताम्बूलादीनां (विउसरण्याए स्ति)
व्यवसर्जनया त्यागेन, (अचित्ताण ति) वस्त्रमुष्णिकादीनां, (अ-
विउसरण्याए स्ति) अत्यागेन, (एगसारिण ति) अनेको-
त्तरीयशाटकानां निषेधार्थमुक्तम् । (उत्तरासंगकरणेण ति)
उत्तरासङ्ग उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेष, चक्खुःस्पर्शे दृष्टिपाने,
(एगत्तीकरणेण ति) अनेकत्वस्यानेकालम्बनत्वस्य एकत्व
करण एकात्म्यम्बनत्वकरण एकत्वीकरण, तेन । भ० २ श० ५ उ० ।
दर्श० । सूत्र० । वस्तुन परिच्छेदे प्राप्तौ अभिगम्यतेऽस्मिन्नित्य-
भिगमः, इति व्युत्पत्त्या वस्तुपरिच्छेदाधिकरणे, दश० ४ अ० ।

अभिगमण-अजिगमन-न० । अजिमुखगमने, दशा० १० अ० ।
ध० । ज्ञा० । नि० । सूत्र० । सर्वबाह्यमाणलादभ्यन्तरप्रविशने,
सू० प्र० १३ पाहु० । “अजिगमणच्याए ” अवगमलक्षणया-
र्थायेत्यर्थः । ज्ञा० १२ अ० ।

अजिगमणजोग-अभिगमनयोग्य-त्रि० । अजिमुखगमनायो-
चिते, रा० ।

अभिगमरुद्-अजिगमरुचि-पु० । अभिगमो विशिष्ट परिज्ञान,
तेन रुचिर्यस्यासौ अभिगमरुचिः । सम्यक्त्वभेदे, तद्वति च ।
प्रव० १४ए द्वार ।

सो होऽ अजिगमरुद्, सुयनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं ।

एकारस अंगाई, पइष्मगा दिट्ठिवाओ य ।

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्टमेकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकमित्यत्र जा-
तावेकवचनम् । ततोऽयमर्थः-प्रकीर्णानि उत्तराध्ययनादीनि,
दृष्टिवाद, चशब्दादुपाङ्गानि च, स भवत्यभिगमरुचिः । प्रज्ञा०
१ पद । वृत्त० ।

अजिगमसह-अजिगमभाक्-पुं० । प्रतिपञ्चाणुवते, ध० ३ अधि० ।

अभिगमसम्भत्त-अजिगमसम्यक्त्व-न० । जीवाजीवपुण्यपा-
पाश्र्वसम्भरनिर्जराबन्धमोक्षेषु परीक्षितनवपदार्थाभिगमप्रत्य-
यिके सम्यक्त्वभेदे, आ० चू० ४ अ० । “अजिगमसम्भदसणे
दुविहे पञ्चसे । तं जहा-पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव” ।
स्था० २ ग० १ उ० ।

अजिगय-अभिगत-पुं० । न० । आभिमुख्येन गतः । प्रविष्टे,
वृ० १ उ० ।

अभिगिज्झ-अभिगृह्य-अव्य० । अङ्गीकृत्य अभिमुखीभूयेत्यर्थे,
स्था० २ ग० १ उ० ।

अभिगिज्जंत-अभिगृह्यत्-त्रि० । आभिमुख्येन लुज्यमाने
लोमवशागीभवने, सूत्र० २ भु० २ उ० ।

अजिगाह-अभिग्रह-पु० । आभिमुख्येन ग्रहोऽभिग्रहः । नि० चू०
२ उ० । अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः । प्रतिज्ञाधिकारे, आव० ६ अ० ।

साध्वाचारविशेषे, यथेत्थमाहारादिकममीषां कल्पते, इत्थं च न कल्पते । ३० १३० । स च द्रव्यादिविषयभेदाच्चतुर्विधः । ४० ३ अधि० । तत्र छव्याभिग्रहो लेपकृदादिद्रव्यविषयः, क्षेत्राभिग्रहः स्वग्रामपरग्रामादिविषयः, कालाभिग्रहः पूर्वा-एहादिविषयः, भावाभिग्रहस्तु गानहसनादिप्रवृत्तपुरुषादिविषयः । औ० । प्रव० ।

हिमंति तत्रो पञ्चा, अमुच्छ्रिया एसणाएँ उवज्जता ।

दन्वादिभिगहजुआ, मोक्खदा सव्वजावेणं ॥ ६७ ॥

हिमन्ति अटन्ति ततः पञ्चाट्, विधिनिर्गमनान्नरमित्यर्थः । अमुच्छ्रिता आहारादौ मूर्च्छामकुर्वन्तः, एषणायां ग्रहणविषयायाम्, उपयुक्तास्तत्पराः, छव्याद्यभिग्रहयुता वक्ष्यमाणद्रव्याद्यभिग्रहोपेताः, मोक्षार्थं तदर्थं विहितानुष्ठानत्वात्, भिक्षाटनस्य सर्वभावेन सर्वभावाभिसन्धिना तद्व्यावृत्त्यादेरपि मोक्षार्थत्वादिति गार्थार्थः ।

तत्र छव्याभिग्रहानाह—

लेपमलेवजुअं वा, अमुगं दव्वं व अज्ज यिच्छामि ।

अमुगेणं च दव्वेणं, अह दन्वाभिगहो चेव ॥ ६८ ॥

लेपवज्जुगार्यादि, तन्मिअं वा, अलेपवद्धा तद्विपरीतम्, अमुकं द्रव्यं वा मणरुकादि, अद्य ग्रहीष्यामि अमुकेन वा छव्येण दर्वी-कुन्तादिना, अथाय छव्याभिग्रहो नाम साध्वाचरणविशेष इति गार्थार्थः ।

क्षेत्राभिग्रहमाह—

अट्टव गोअरजूमि, एलुगविकखंभमेत्तगहणं च ।

मगामपरगामे, एवअ गिहाण खेतम्मि ॥ ६९ ॥

अष्टौ गोअरजूमयो वक्ष्यमाणलक्षणा, तथा एलुकविकखम्म-मात्रग्रहणं च, यथोक्तम्—'एलुकविकखम्मइत्ता' । तथा स्वग्रामपरग्रामयोरेतावन्ति च गृहाण क्षेत्रे इति, स क्षेत्रविषयोऽभिग्रह इति गार्थार्थः । ५० व० २ द्वार ।

कालाभिग्रहमाह—

काले अभिगहो पुण, आई मज्झं तदेव अवसाणे ।

अप्पचे सइ काले, आई विइओ अ चरिमम्मि ॥

काले कालविषयोऽभिग्रहः पुनरयम्—आदौ मध्ये तथैवावसाने भिक्षावेलायाः, एतदेव व्याचष्टे—अप्राप्ते भिक्षाकाले यत्पर्यटति स प्रथमोऽभिग्रहः । यस्तु सति ग्रामे भिक्षाकाले चरति स द्वितीयो मध्यविषयोऽभिग्रहः । यत्पुनश्चरमेति कालान्ते भिक्षाकाले पर्यटति सोऽवसानविषयोऽभिग्रहः ।

कालत्रयेऽपि तु गुणदोषानाह—

दित्तगपडिच्छमाणं, हविज्ज सुहुमं पि मा हु अवियत्तं ।

इय अप्पचे अइए, पवत्तणं मा ततो मज्जे ॥

वक्ष्यप्रतच्छकयोरिति—भिक्षादानुरगारिणो भिक्षाप्रतीच्छकस्य च वनीपकादेर्मा जूत्तं सूक्ष्ममप्यवियत्तमप्रीतिकम्, इत्थस्मादेतोरप्राप्तेऽतीते च—भिक्षाकालेऽटनं श्रेय इति गम्यते । (पवत्तणं मा ततो मज्जेति) अप्राप्ते अतीते वा पर्यटतः प्रवर्त्तनं पुरःकर्मपञ्चा-त्कर्मादेर्मा भूत्, तत एतेन हेतुना मध्येप्राप्ते भिक्षाकाले पर्यटति॥

अथ भावाभिग्रहमाह—

उक्खित्तमाइचरगा, भावजुया खलु अभिगहा होंति ।

गायंतो व रुदंतो, जं देइ निससुमादीया ॥

उत्क्रिप्त पाकपिठरात्पूर्वमेव दायकेनोद्धृतं नद् ये चरन्ति गवे-पयन्ति ते उत्क्रिप्तचरकाः । आदिशब्दाद् निक्षिप्तचरकाः, मग्या-दत्तिका, इष्टलाभिका, पृष्टलाभिका इत्यादयो गृह्यन्ते । न एते गुणगुणिनोः कथञ्चिदनेदाद्भावयुताः सत्त्वभिग्रहा जवन्ति, भावाभिग्रहा इति ज्ञाव । यद्वा—गायन् यदि दास्यति तदा मया ग्रहीतव्यम्, एव रुदन् वा, निपष्ठादिर्वा, आदिग्रहणादुत्थितं, स-प्रस्थितश्च यद्दाति तद्विषयो योऽभिग्रहः स सर्वोऽपि ज्ञावा-भिग्रह उच्यते ।

तथा—

ओस्मकणअहिसकण, परमुहालंकिण य इयरो वा ।

ज्ञावऽन्नयरेण जुओ, अह ज्ञावाभिगहो नाम ॥

अवश्वक्कन्नपसरण कुर्वन्, अजिप्पक्कन्न समुत्तमागच्छन् परा-कुसुम्भ-प्रतीतः ; अलङ्कृतं कटककेयूरादिभिः, इतरो वा अनलङ्क-कृतः पुरुषो यदि दास्यति तदा ग्राह्यमित्येतेषां भावानामन्यत-रेण भावेन युतः, अथाय भावाभिग्रहो नामेति । ३० १ उ० । आचा० । "तए खं समणे जगव महावीरे गम्भत्येचेव इमेया रुवे अभिगहं अजिगिहइ—नो खलु मे कप्पइ अम्मापिउदि जीचतेहि मुमे जविच्चा अगाराओ अण्णगारिय पव्वइत्तए" । कल्प० ५ क० । श्रीवीरः पञ्चाभिग्रहानां भिगह्यास्थिकग्रामं प्राप्तिं प्रस्थितः । अभिग्रहाश्चेते—'नाप्राप्तिमदृष्टे वास' १, स्थेय प्रतिम-या सदा २ । न गोहि विनय कार्यं ३, मौन ४ पाणौ च भोजनम् ५ । ॥१॥ कल्प० ५ क० । प्रत्याख्यानभेदे, "पच चउरो अभिगहे" पञ्च चत्वारश्चाभिग्रहे आकाराः—"अभिगहेसु अप्पाउरण कोइ पञ्चक्खाइ, तस्स पच (आगारा,) अस्सयऽणामोणे सहसा-गारे चोलपट्टागारे महत्तरागारे सेसेसु चोलपट्टागारे णत्थि विगहणं अट्ट नव य आगारा" आवा० ६ अ० । ४० । ल० प्र० । इदमेव दर्शनं शोभनं नान्यदित्येवरूपे कुमतपरिग्रहे, स्था० २ उ० १ उ० । गुरुनियोगकरणाजिसन्धौ, द्वा० २ए द्वा० । एष कायिकविनयभेदः । व्य० १ उ० । दश० । ५० स० । प्रकाशकरणे, अभियोगे, अभिमुख्येनोद्यमे गौरवान्विते च । वाच० ।

अभिगहियसिज्जासाणिय—अभिगृहीतशय्यासनिक—पु० । शय्यासनाभिग्रहयुते साध्वाचारे, कल्प० ।

नो कप्पइ निगंथाण वा निगथीण वा अण्णभिगहिय-सिज्जासाणिएण हुत्तए ॥

नो कल्पते साधुनां, साध्वीनां वा (अण्णभिगहियसि) न अभिगृहीते शय्यासने येन स अनभिगृहीतशय्यासनः, अन-भिगृहीतशय्यासन एव अनभिगृहीतशय्यासनिकः । स्वार्थे इकण प्रत्ययः । तथाविधेन साधुना (हुत्तए सि) जवितुं न क-ल्पते । वर्षासु मणिकुट्टिमे पीठफलकादिग्रहणवतैव प्राव्यम्, अन्यथा शीतलायां भूमौ शयन उपवेशने च कुन्वादिविराध-नोत्पत्तेः । कल्प० ९ क० ।

अभिगहिया—अभिगृहीता—स्त्री० । अभिग्रहवत्यामेषणायाम्, प्रव० । अभिग्रहश्चैवम्—तासां सप्तानामेषणानां मध्ये आद्ययो-र्योरग्रहणं, पञ्चसु ग्रहणं, पुनरपि विवक्षितदिक्से अन्त्यानां पञ्चानां मध्ये द्वयोरभिग्रहः । प्रव० ६ द्वा० । 'अभिग्राहयिहिया ए-सणा जिणकप्पियाण' नि० चू० ४ उ० । प्रतिनियतावधारणे, यथा इदमिदानीं कर्तव्यमिदं नेति । प्रज्ञा० ११ पद ।

अभिघट्टिजमाण-अभिघट्टयमान-त्रि० । वेगेन गच्छति, रा० ।

अभिघाय-अभिघात-पु० । अभिहनने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

लकुटादिप्रहारे, जीत० । नि० चू० । " गोफणधनुमा-
दिअभिघातो " गोफणा च दवरकमयी प्रसिद्धा-तया, धनुप्रभृ-
तिभिर्वा द्वेष्टुकमुपल वा यत्प्रक्षिपति, एषोऽअभिघात उच्यते ।

अथवा-

विह्वलणंतकुसादी-सिणेहउदगादि आवरिसणं तु ।

काआं तु विवसत्थे, खारो तु कञ्चिवमादीहिं ॥

विधुवन बीजनक, खतकं वस्त्र, कुशो दर्भस्तत्प्रभृतिभिर्बीज-
यन् यत्प्राणिनो अभिहन्ति, एष वा अभिघात उच्यते, ऐहो नाम
उदकेन, आदिशब्दाद् घृतेन तैलेन वा, आवर्षणं करोति । कायो
नाम द्विपदादीनां विष्वम, प्रतिरूपमित्यर्थः । वृ० ४ उ० ।

अभिचंद-अभिचन्द-पु० । अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते प-
ञ्चदशानां दशमे, सप्तानां चतुर्थे वा कुलकरे, ज० २ वक्र० ।

" अभिचन्देण कुलकरे गृध्रणुसयाहं उद्धं उच्चसेण होत्था "
स्था० २ ग्रा० १ उ० । आ० क० । आ० म० । कल्प० । (पत्न्या-
दयः ' कुलकर ' शब्दे वक्ष्यन्ते) दशार्हपुरुषभेदे, अन्न० १
वर्ग । दिवसस्य षष्ठे मुहूर्ते, चन्द्र० १० पाहु० । स० । ज्यो० ।

अभिजप्प-अभिजट्प-पु० । शब्दार्थकीकरणे, सम्म० । अन्ये तु (सौ-
गतविशेषाः) शब्द एवाभिजट्पत्वमागतः शब्दार्थ इति । स चा-
भिजट्प शब्द एवार्थ इत्येवं शब्देऽर्थस्य निवेशनम्, सोऽय-
मित्यभिजट्पस्य । तस्माद्यथा शब्दस्यार्थेन सहैकीभूत रूपं प्रवति
तदा न स्वीकृतार्थाकार शब्दमभिजट्पमित्याहुः । सम्म० १ का-
ण्ड । (एषां खण्डनम् ' आगम ' शब्दे द्वितीयभागे ७५ पृष्ठे वक्ष्यते)

अभिजाइ-अभिजाति-स्त्री० । कुलीनतायाम्, उक्त० ११ अ० ।

अभिजाणमाण-अभिजानत्-त्रि० । आसेवनापरिक्रियाऽऽसे-
वमाने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

अभिजाय-अभिजात-त्रि० । अभि प्रशस्तं जातं जन्म यस्य
स । कुलीने, वाच० । जं० । कुलीनलक्षणम्-

" प्रदानं प्रच्छन्न गृहमुपगते संज्जमविधिः,

प्रिय कृत्वा मौनं सदासि कथनं चाप्युपकृते ।

अनुत्तसेको लक्ष्म्या निराभिजवसारा परकथा,

श्रुते चाऽसन्नोष कथमनभिजाते निवसति ? " ११ ध० १ अधि० ।

लोकोत्तररीत्या दिवसभेदे, च० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

अभिजायत्-अभिजातत्-न० । चक्रु प्रतिपाद्यस्येव सूमि-
कानुमारितायां सत्यवचनानिश्चयरूपायाम्, स० ३५ सम० ।

अभिजायमह-अभिजातश्रद्ध-त्रि० । उत्पन्नतत्त्वचौ, उक्त०
१४ अ० ।

अभिजुंजिता-अभियोजुम्-अव्य० । विद्यादिसामर्थ्यतत्सद-
नुप्रवेशन व्यापारयितुम् । भ० ३ श० ५ उ० ।

अभिजुंजिय-अभियुज्य-अव्य० । वशीकृत्य, आश्लिष्य, भ० २
श० ५ उ० । व्यापार्य, स्मारयित्वा-एषामर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५
अ० २ उ० ।

अभियोजुम्-अव्य० । विद्यादिसामर्थ्यनस्नदनुप्रवेशेन व्या-
पारयितुमित्यर्थे, प्रति० ।

अभिजुत्त-अभियुत्त-त्रि० । परिउते, न० । सपादितदूषणे, झा०
१४ अ० । स्या० ।

अभिज्जा-अभिध्या-स्त्री० । अभिध्यानमभिध्या । स० ५२ सम० ।
धनादिष्वसन्तोषे परिग्रहे, हा० १३ अष्ट० द्वा० । तदात्मके गौ-
णमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० ।

अभिहुय-अभिपुत-त्रि० । आभिमुख्येन स्तुतोऽभिपुतः । आ-
व० २ अ० । स्वनामभिः कीर्तिते, ल० । अनु० ।

अभिहुय-अभिपुत-त्रि० । अध्यवसायरूपेण व्याप्ते, गर्जाधा-
नादिषु लै. पीडिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अभिणंदण-अभिजिन्दन-पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते भरत-
क्षेत्राये चतुर्थे तीर्थकरे, (आ० म०) तथा अभिनन्दते देवेन्द्रादि-
भिरित्यभिजिन्दनः । सर्व एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इत्यतो
विशेषहेतुप्रतिपादनायाह-" अभिजिन्दण अभिजिन्दणा तेण " शक्रो
गर्जादारभ्यार्भाणं प्रतिक्षणं यममिचन्द्रितवानिति अभिनन्दन ।
कृद्बहुलमिति वचनात् कर्मण्यनद् । तथा च वृक्षसम्प्रदाय-
" गन्धर्वाभिर्ह अभिक्खणं सक्केण अभिचदिया इतो तेण सो अ-
भिजिन्दणो सि नाम कय " आ० म० छि० । ध० । स० । आ०
वृ० । आ० क० । " अभिजिन्दणो अ भरहे, परवप नदिसेणजिण-
चदे " सि (समकालमुत्पन्नौ) ती० ६ कल्प । स्था० । प्रव० ।
लोकोत्तररीत्या आवणमासे, सू० प्र० १० पाहु० ।

अभिणंदत-अभिजिन्दयत्-त्रि० । राजानं समृद्धिमन्तमाचक्ष्णा-
णे, श्रौ० । जय जीवेत्यादिजननतोऽभिवृद्धिमाचक्ष्णाणे, भ० ८
श० ८ उ० । प्रीतिं कुर्वति, सथा० ।

अभिणंदमाण-अभिजिन्दयत्-त्रि० । समृद्धिमन्तमाचक्ष्णाणे,
कल्प० ५ ज० ।

अभिणंदिजमाण-अभिजिन्दयमान-त्रि० । जनमनःसमूहैः स-
मृद्धिमुपनीयमाने जय जीव नन्देत्यादिपर्यालोचनात् । औ० ।
सस्तूयमाने, स्था० ए ग्रा० ।

अभिणंदिय-अभिजिन्दित-पुं० । लोकोत्तररीत्या आवणे मासि,
ज्यो० ४ पाहु० ।

अभिणय-अभिजय-पुं० । अभि-नी-करणे अच् । हज्जतभाव-
व्यञ्जके शरीरचेष्टादौ, भावे अचि-अभिनेयपदार्थस्य शरीरचे-
ष्टाभाषणादिभिरनुकरणे, अभिनयति बोधयत्यर्थमत्र-आधारे
अच् । शरीरचेष्टादिभिर्हृदयपदार्थज्ञापके रूपकादौ दृश्यकात्वे,
वाच० । " चउव्विहे अभिणय पण्णसे । त जहा-दिट्ठतिप, पामसुप,
सामतोवणिप लोगमज्जवासिप " स्था० ४ ग्रा० ४ उ० । अत्ये-
ककाश्चतुर्विधमभिनयमभिनयन्ति । तद्यथा-दार्ष्टान्तिक, प्राति-
श्रुतिक, सामान्यतो विनिपातिक, लोकाध्यवसानिकमिति । एते
नाट्यविधयोऽभिजयविधयश्च प्ररतादिसङ्गीतशास्त्रज्ञेभ्योऽव-
सेया । आ० म० प्र० । रा० ।

अभिणव-अभिजव-त्रि० । प्रत्यग्रे अजीर्णे, षो० ५ विव० ।
विशिष्टवर्णादिगुणोपेने, जी० ३ प्रति० ।

अभिणवधम्म-अभिजवधर्म-पु० । अधुनैव गृहीतप्रव्रज्ये, वृ० ४ उ० ।

अभिणिर्कृत-अभिनिर्कृत-त्रि० । अधीनाचारादिशास्त्रे, तद-
र्थभावनोपश्रुतचरणपरिणामे च । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिणिगिज्ज-अभिनिगिज्ज-अव्य० । अयस्येत्यर्थे, आचा०
१ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अभिणिचारिया-अभिनिचारिका-स्त्री० । अभिमुख्येन निय-
ता चरिका, सूत्रोपदेशेन बहुव्रजिकादिषु दुर्बलानामाप्यायनि-
मित्त पूर्वाह्ने काले समुत्कृष्टसमुदाने दधुगमने, व्य० ४ उ० ।

अभिणिपया-अभिनिप्रजा-स्त्री० । अभि प्रत्येक नियता वि-
विका प्रजा अभिनिप्रजा । प्रत्येक विविक्ताया प्रजायाम्,
व्य० ६ उ० ।

अभिणिबोध-अभिनिबोध-पु० । अर्थभिनिमुखो नियतः प्र-
तिनियतस्वरूपो बोधो बोधविशेषोऽभिनिबोधः । अभिनिबु-
ध्यतेऽनेनास्मादस्मिन् वेति । मतिज्ञाने, तदावरणक्षयोपशमे च ।
आ० म० प्र० । सम्म० । न० । आव० । स्या० । अभिमुख्येन
निश्चितत्वेन च बुध्यते सवेदयते आत्मा तदित्यभिनिबोधः ।
अवग्रहादिज्ञाने, अभिनिबुध्यते वस्त्ववगच्छतीति अभिनि-
बोधः । मतिज्ञानात्मनि, विशेषे ॥

अभिणियट्टण-अभिनिवर्तन-न० । व्यावर्तने, आचा० १ श्रु०
३ अ० ४ उ० ।

अभिणिविट्ट-अभिनिविट्ट-त्रि० । बद्धाऽऽदरे, उक्त० १४ अ० ।
बद्धाऽऽग्रहे, उक्त० १४ अ० । अभिविधिना निविष्टम् । ज० १२
श्रु० ३ उ० । जीवप्रदेशेषु अभिव्याप्त्या निविष्टे अतिगाढतां
गते, म० १३ श्रु० ७ उ० ।

अभिणिवेश-अभिनिवेश-पुं० । अतत्त्वाग्रहे, पञ्चा० १४ वि० ।
चित्तावष्टम्भे, ओघ० । तद्रूपे योगशास्त्रप्रसिद्धे क्लेशभेदे, द्वा० ।

विदुषोऽपि तथारूढः, सदा स्वरसवृत्तिकः ।

शरीराद्यवियोगस्या-भिनिवेशोऽज्जिलाषतः ॥ ५० ॥

(विदुषोऽपीति) विदुषोऽपि पण्डितस्यापि, तथारूढः पूर्व-
जन्मानुभूतमरणदुःखाभाववासनावत्ताद् भूय समुपजायमानः,
शरीरादीनामवियोगस्याज्जिलाषतः शरीरादिवियोगो मे मा-
भूदित्येवं लक्षणाद्, अभिनिवेशो प्रवर्तते, सदा निरन्तर, स्वर-
सवृत्तिकोऽनिरुद्धाधीनप्रवृत्तिकः । तदुक्तम्—‘स्वरसवाही
विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः’ इति । २० । द्वा० २५ द्वा० । “कह
बको एत्थ विचारे सोऽभिणिवेसेण अग्रहा कम्मं वज्जइ”
आ० म० द्वि० ।

अभिणिवेह-अभिनिवेध-त्रि० । वेधने, वाच० । उन्माने,
आ० म० प्र० ।

अभिणिवगमा-अभिनिवगमा-स्त्री० । अभि प्रत्येक निय-
तो वगडः परिक्रमो यस्यां सा अभिनिवगमा । पृथक्परिक्र-
मायाम्, व्य० ६ उ० ।

अभिनिर्व्याकृता-स्त्री० । पृथग्निर्व्याकृतायां वसतौ, व्य० १ उ० ।

अभिणिवट्ट-अभिनिर्वृत्त-त्रि० । साङ्गोपाङ्गाद्युशिरोरोमा-
दिक्रमाभिनिर्वृत्तनात्सपादिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिणिवट्टिता-अभिनिर्वृत्य-अव्य० । समाकृत्येत्यर्थे, अ-
भिणिवट्टिता ण उचदसेज्जा ’ मत्र० २ श्रु० १ अ० । विधाये-
त्यर्थे, “दमसहस्स अभिणिवट्टिता ए उचदमित्तए” म० ५
श्रु० ४ उ० ।

अभिणिवृत्त-अभिनिर्वृत-त्रि० । क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूते,
मुक्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । विषयकपायाद्युपशमाच्छान्ती-
भूते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । दोषाद्विजयाभिगतुगे,
“स्वनेऽभिनिवृत्ते दत्ते, वीतगिहं सदा जण” । क्रोधादिपरित्या-
गाच्छान्तीभूते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । “पाचाओ विरतेऽभिनिवृत्ते”
सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । ‘अभिनिवृत्ते अमाई’ अभिनिर्वृत-
ग्रहण ससारमहातरुकन्दोच्छेद्यविप्रतिपत्त्या । आचा० १ श्रु० १
अ० १ उ० ।

अभिणिसज्जा-अभिनिपद्या-स्त्री० । अभि रात्रिमभिव्याप्य
स्वाध्यायनिमित्तमागता निपीदत्यस्यामित्यभिनिपद्या । अभि-
नैषेधिक्या स्वाध्याय कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रत्यूषे प्रतियातायां
वसतौ, व्य० १ उ० ।

बह्वे परिहारियाऽपरिहारिया इच्छेज्जा-एगंतओ अभि-
निसिज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेति; नए एणं कप्पनि थेरे
अण्णापुच्छिता एगंतओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं
वा चेत्तए । कप्पइ एहं थेरे आपुच्छिता ते एगंतओ अभिनि-
सेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेत्तवाए; थेरा य एहं से (ते)
वियारिज्जा-एवं एहं कप्पइ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं
वा चेतेतए । थेरा एहं नो विनरेज्जा-एवं एहं एणं कप्पइ
एगंतओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेतेतए । जो
णो थेरेहिं अविच्छिं एहं अभिनिसेज्जं वा अभिनिमीहियं
वा चेतेति, से संतरा छेदे वा पण्हारे वा ॥ ५१ ॥

बहवस्त्रिप्रभृतयोऽनेके पारिहारिका उक्तशब्दार्था, बहवोऽपारि-
हारिका इच्छेयुरेकान्ते विधिक्षेपदेशान्तरे वसत्यन्तरे वा अभिनि-
पद्याम्, अभि रात्रिमभिव्याप्य स्वाध्यायनिमित्तमागता निपीद-
त्यस्यामित्यभिनिपद्या, तां वा तथा निषेध-स्वाध्यायव्यतिरेकेण
सकलव्यापारप्रतिषेधः ; नेन निर्वृत्ता नैषेधिका । अभि आभिमु-
ख्येन सयतप्रायोग्यतया नैषेधिका अभिनैषेधिका, तां वा । इय-
मत्र भाषना-तत्र दिवा स्वाध्याय कृत्वा रात्रौ वसतिमेव साध-
यः प्रतियन्ति, सा अभिनैषेधिका । अभिनैषेधिक्यामेव स्वा-
ध्याय कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रत्यूषे वसतिमुपागच्छन्ति सा
अभिनिपद्येति । तः अभिनिपद्यामभिनैषेधिकां वा (चेति तप इति)
गन्तु, तत्र, नो नैव, ‘से’ तेषां पारिहारिकाणामपारिहारिकाणां च
कल्पते, एविरान् आचार्यादीन् अनापृच्छ्य (एकान्ततः) एकान्ते
विविक्षे प्रदेशे, वसत्यन्तरे वा अभिनिपद्यामभिनैषेधिकां वा ग-
न्तुम्, उच्छ्वासनिश्वासव्यतिरेकेण शेषसाधुव्यापाराणां समस्ना-
नामपि गुरुपूज्याऽनान्वत्वात् । तदेवं प्रतिषेधसूत्रमभिधाय स-
म्प्रति विधिसूत्रमाह—(कप्पति एहं थेरे आपुच्छिता) इ-
त्यादि सुगमम् । इह पारिहारिका नाम आपन्नपरिहारतत्त्वो-
ऽभिधीयन्ते ।

तत्र चोदक प्राह -

पुणंसि अप्पमत्तो, भिक्खू उववसितो जयंतेहिं ।

एको व द्रुवे होजा, बहुया उ कहं समावन्ना ॥

पूर्वस्मिन् कल्पे नास्ति अध्ययने भिन्नप्रमत्तो जदन्तैः परमक-
ल्याणयोगिभिरुपवर्णितं नत कथं परिहारतप प्रायश्चित्ताऽऽप-
त्तिर्धनं पारिहारिका जवेयुः ? अपि च-एको द्वौ वा पारिहारत-
प आपद्येयानाम्, एकस्य एकाकिदोषाणां द्वयोरसमासकल्पदो-
षाणां सभवात् । ये च बहवस्ते च समासकल्पकल्पत्वात्
परस्पर रक्षणपरायणाः कथं पारिहारिकत्वं समापन्ना इति ?

अत्राचार्य आह—

चोयग ! बहुउपपत्ती, जोहा व जहा तहा समणजोहा ।
दव्वच्छन्नणे जोहा, भावच्छलणे समणजोहा ॥

हे चोदक ! परीपहानामसहनेन श्रोत्रेन्द्रियादिविषयेष्विष्टानि
ष्टेषु रागद्वेषाभिगमनेन परिहारतप प्रायश्चित्तस्थानापत्त्या चहू-
ना पारिहारिकाणामुत्पत्तिर्न विरुद्धा । अथवा-यथा योधा स-
न्नद्धबद्धकवचा अपि रणे प्रविष्टः प्रतिपन्थिपुरुषैस्तथाविध
कमप्यवसरमवाप्य देशतः सर्वतो वा छल्यन्ते, तथा भ्रमण-
योधा अपि मूलगुणोत्तरगुणेष्वत्यन्तप्रमत्ततया यतमाना अ-
पि छलनामाप्नुवन्ति । सा च छलना द्विधा-छल्यतो, भावत-
श्च । छल्यतश्छलना खड्गादिभिः । भावत परीषदोपसर्गाद्यैः ।
तत्र छल्यच्छन्नने छल्यतश्छलनविषयाः, योधा रणे प्रविष्टा भटा,
भावच्छन्नने ज्ञावच्छलनविषयाः भ्रमणयोधा ॥

सम्प्रति यदुक्तं यथा योधास्तथा भ्रमणयोधा इति तद् व्याख्या-
नयति-

आवरिया वि रणमुहे, जहा उद्विज्जंति अप्पमत्ता वि ।
उद्वण्णा वि होऽ छविहा, जीवन्तकरी य ड्यरी य ॥

यथा योधा आवृता अपि सन्नद्धसन्नाहा अपि अप्रमत्ता अपि
च रणमुखे प्रविष्टा प्रतिजट्टैश्छल्यन्ते । सा च छलना द्विधा-
जीवितान्तकरी, इतरा च । नत्र यथा जीवताद् व्यपरोप्यते
सा जीवितान्तकरी, यथा तु परिनापनाऽऽद्यापद्यते नापन्नावण
सा इतरा ।

मूलगुणोत्तरगुणे, जयमाणा वि हु तहा उद्विज्जंति ।

भावच्छन्नणा य पुणो, सा वि य देमे य सन्वे य ॥

तथा यतयो रागादिप्रतिपक्षभावनासन्नाहसन्नद्धा यथा-
गम मूलगुणोत्तरगुणेषु चात्यप्रमत्ततया यतमाना अपि 'हु'
निश्चिन, भावच्छलनया परीषदोपसर्गादिभिः सन्मार्गव्यावनरु-
पया छल्यन्ते । साऽपि च ज्ञावच्छलना द्विधा-देशतः, सर्वतश्च ।
तत्र यथा तपोऽहं प्रायश्चित्तमापद्यते-सा देशतो ज्ञावच्छलना ।
यथा मूलमाप्नोति-सा सर्वतः ।

एव परिहारीया-ऽपरिहारीया व होज्ज बहुया तो ।

ते एगत निसीहि-मज्जिसिज्जं वा वि चेएज्जा ॥

यतो रणे प्रविष्टा योधा इव भ्रमणयोधा अपि परीषदादि-
भिश्छल्यन्ते, नत एवमुक्तेन प्रकारेण, बहवः पारिहारिका अपा-
रिहारिकाश्च जवेयुः । तदेव पारिहारिकापारिहारिकबहुत्वमुप-
पाद्याधुना सूत्रावयवान् व्याख्येयानुराह-(ते पणंत इत्यादि) ते
बहवः पारिहारिका अपारिहारिका वा एकान्तन एकान्ते विवि-
क्ते प्रदेशे प्रत्यासन्ने दूरतरे वा नैपथिकीमभिधायं वाऽपि अजि-
निषद्यामपि चेतयेयुगच्छेयुः, गन्तुमिच्छेयुरित्यर्थः ।

तत्र का नैपथिकी, का वा अजिषय्या ? इति व्याख्यानयनि-
ठाण निसीहि य त्ति य, एगद्ध जत्थ ठाणमेवेगं ।

चेतेति निसि दिया वा, सुतत्थ निसीहििया सा उ ॥
मज्जभायं काऊणं, निसीहििया तो निसिं चिय उवेति ।
अजिवासिउं जत्थ निसिं, उवेति पातो तई सेज्जा ॥

निष्ठन्ति स्वाध्यायव्यापृताः अस्मिन्निति स्थानम् । निषेधेन
स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैपथिकी ।
ततः स्थानमिति वा, नैपथिकीति वा (एगद्धमिति) एकार्थम्,
द्वावप्येतौ तुल्यार्थादिति भावः । व्युत्पत्त्यर्थस्य द्वयोरप्यविशिष्ट-
त्वात् । यत्र स्थानमेव स्वाध्यायनिमित्तमेकं, न तु ऊर्द्धस्थान
अवाग्वर्त्तनस्थानं वा चेतयन्ति । निशि रात्रौ दिवा वा सा
सूत्रार्थहेतुत्वात् नैपथिकी । एतेनास्मिन् या नैपथिक्यु-
क्ता सा सूत्रार्थप्रायोग्या नैपथिकी प्रतिपत्तव्या, नतु काल-
करणप्रायोग्या नैपथिकी प्रतिपत्तव्या । किमुक्तं भवति ?
यस्यां नैपथिक्यां दिवा स्वाध्यायं कृत्वा दिवैव, यदि वा
निशि च स्वाध्यायं कृत्वा निश्येव निशायामवश्यं नैपथि-
कीं वसतिमुपयन्ति सा अभिनैपथिकी । यस्या पुनर्नैपथिक्या
दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रातर्वसतिमु-
पर्यान्ति (तई इति) तत्रा अभिशय्या अभिनिषद्येति प्रावः ।

अथ स्थविरा आपृष्टा अपि यदा न झुगन्ति, तदा किं
कल्पते, न वा ? इत्याशङ्कयामाह—(येरा एहमित्यादि)
स्थविरा आचार्यादयः, चशब्दो वाक्यभेदे, एहमिति
वाक्यालङ्कारे, स तेषां पारिहारिकानामपारिहारिकाणां वा वि-
तरेयुरनुजानीयुरनैपथिकीमभिधायं वा गन्तुं, एवममुना प्रका-
रेण, एहमिति पूर्ववत्, कल्पते अभिशय्यायामभिनिषेधिक्यां वा
(चते तप इति) गन्तुम् । (येरा एहमित्यादि) स्थविरा, एह-
मिति प्राग्वत् । नो नैव, तेषां वितरेयुरेवममुना प्रकारेण नो
कल्पते एकान्ततोऽभिनिषद्यामभिनिषेधिकीं वा गन्तुम् । (जे श-
मित्यादि) य' पुनर्णमिति वाक्यालङ्कृतौ, स्थविरैरवितीर्णोऽनु-
ज्ञानं सन् एकान्ततो अभिनिषद्यामभिनिषेधिकीं वा (चेतै)
गच्छति, तत' (से) तस्य स्वान्तरात् स्वकृतमन्तरं स्वान्तरं
तस्मात्, यावन्न मिलति यावद्वा स्वाध्यायभूमेर्नोपिष्ठति ता-
वद् यद् विचालं तद् अन्तरं तस्मात्स्वकृतादन्तरात् भेदो वा
पञ्चरात्रिन्दिधादिकः, परिहारो वा परिहारतपो वा मासलघु-
कादि । एष सूत्रार्थः ॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः—

निकारणामि गुरुगा, कज्जे लहुया अपुच्छणे द्दहुओ ।

पमिसेहम्मि य द्दहुया, गुरुगमणे होतऽगुग्घाया ॥

यदि निष्कारणे कारणाभावे अजिषय्यामभिनिषेधिकीं वा
गच्छन्ति, ततस्तेषां प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । अथ
कार्ये समुत्पन्ने गच्छन्ति, तत्र प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघु-
मासाः । कार्यमुपरिष्ठाद् वर्णयिष्यते । यदि पुनः कार्ये समुत्पन्ने
अनापृच्छं गच्छन्ति, तदा अपृच्छने लघुको मासलघुः ।
पृच्छायामपि कृतायां यदि स्थविरैः प्रतिषेधे गच्छन्ति ततो
लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः । (गुरुगमणे इत्यादि) गुरुआचार्यः
स यदि गच्छत्यभिषय्यामभिनिषेधिकीं वा ततस्तस्य भवन्त्य-
नुद्धानगुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः ॥

ये पुनर्वसतिपाद्या समर्था जिकवस्ते यदीच्छन्ति ततस्तेषामि-
मे दोषा -

तेणाऽऽदेमगिलाणे, कामणइत्थीनपुंसमुच्छा वा

ऊणत्तणेण दोसा, हवंति एए उ वमहीए ।

ये वसतिपाद्यास्तैर्वसतेरुनत्वे हीनत्वे एते गाथापूर्वाङ्गोक्ता दोषा भवन्ति । तद्यथा—स्तेनाञ्जोरास्ते 'गताः साधवो वसतेः' इति ज्ञात्वा वसतावापतेयुः, आदेशा आधूर्णकास्ते वा समागच्छेयुः, तेषां च समागतानामविभ्रामणादिप्रसाक्तिः, समर्थसाध्वजा-वात् । (गिज्ञाणं चि) ग्लानो वा, तेषामभावे व्याधिपीमितो समाधिमाप्नुयात् । (कामणं चि) दाहो वा प्रदीपनकेन वस-तेर्नूयात् । तथा स्तोकाः साधवो वसतौ तिष्ठन्तीति स्त्रियो नपुंसका वा कामविह्वलाः समागच्छेयुः । तत्रात्मपरोभयस-मुत्था दोषाः । तथा मूर्गा कस्यापि पिशादिवशतो भूयात् । तदेवं यतो वसतिपाद्यानामिमे विनिर्गमे दोषास्तस्मात्तैरपि शय्यादिषु न गन्तव्यमित्येष द्वारगाथासङ्केपार्थः ।

व्यासार्थं तु भाष्यरूपाह—

उविहाऽवहार सोही, एसणघातो य जा य परिहाणी ।

आएसमविस्सामण—परितावणया य एकत्तरे ॥

स्तेनैरपहारो द्विविधः । तद्यथा—साध्वपहारः, उपप्यपहारश्च । तस्मिन् द्विविधेऽप्यपहारे शोधिः प्रायश्चित्तम् । तद्यथा—यद्येक साधुमपहरन्ति स्तेनास्तदा वसतिपाद्यानां प्रायश्चित्तं मूलम् । अथ द्वावपहरन्ति ततोऽनवस्थाप्यम् । त्रिप्रभृतीनामपहारे पारा-ञ्चिकम् । तथा जघन्योपप्यपहारे पञ्चरात्रिन्दिवम् । मध्यमो-पप्यपहारे मासलघु । उत्कृष्टोपप्यपहारे चतुर्गुरुकम् । तथा एष-णाया घातः प्रेरणमेषणघातः, स च स्यात् । तथाहि—अधत्यु-पधिपात्रादिकमन्तरेण एषणाघातः, तत एषणाप्रेरणे यत्प्राय-श्चित्तं तदापद्यते तेषां वसतिपालानामिति । तथा (जा य प-रिहाणि चि) या च परिहाणिरुपधिमन्तरेण शीतादिबाधित-स्य, तद्वेषणप्रयतमानस्य वा, सूत्रार्थस्य च भ्रंशः, तन्निमित्तकम-पि समापद्यते प्रायश्चित्तम् । तत्र सूत्रपौरुष्या अकरणे मासलघु । अर्थपौरुष्या अकरणे मासगुरु । अथोपधिगवेषणेन दीर्घकाक्षतः सूत्रं वाशयन्ति ततश्चतुर्गुणं । अर्थनाशने चतुर्गुरु । तथा तेषु वसतिपाक्षेषु साधुष्वभिशय्यादिगतेषु आदेशानामाधूर्णकानां समागतानामध्वपरिभ्रान्तानामविभ्रामणे वा अनागादा प-रितापनोपजायते, तन्निष्पन्नमपि तेषामापद्यते प्रायश्चित्तम् । (एकत्तरे चि) तेषु वसतिपालेष्वभिशय्यादिगतेषु यो मुक्त एकतरो वसतिपालः, स एको द्वौ बहवो वा, 'यथागच्छन्ति प्राधूर्णकाः ते सर्वेऽपि नियमतो विभ्रमयितव्याः' इति जिनप्रवच-नमनुसरन् बह्वुआधूर्णकान् विभ्रामयन् यदनागादमागाद वा प-रितापनामाप्नोति तन्निमित्तकमपि समापद्यति तेषां प्रायश्चित्तम् ।

साम्प्रतमस्या एष गाथायाः पञ्चार्धं व्याख्यानयति—

आदेसमविस्सामण—परितावण तेसऽवच्छलत्तं च ।

गुरुकरणे षि य दोसा, हवंति परितावणादीया ॥

आदेशानां प्राधूर्णकानामविभ्रामणे, 'गाथायां मकारोऽप्लासणि-कः', एवमन्यत्रापि दृष्टव्यम् । दीर्घाध्वपरिभ्रमतो यदनागादमा-गाद वा परितापनः तथा तेष्वदेशेषु समागतेषु अवत्सस्तत्त्वम-वात्सल्यकरणं तन्निष्पन्नं तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्यच्च वसति-पालेष्वपि शय्यादिगतेषु प्राधूर्णकानां समागतानामन्याभावे गुरु स्वयं वात्सल्यं करोति, गुरुकरणेऽपि च दोषा जघन्ति परि-तापनादयः । तथाहि—गुरो स्वयं करणे सुकुमारतया अनागादमा-गाद वा परितापनं स्यात्, परितापनाच्च रोगसमागमः, रोगसमा-

गमे च बहूनां स्वगच्छपरगच्छीयानां सूत्रार्थहानि, श्रावकादीनां धर्मदेशनाश्रवणव्याघातः, लोके चावर्णवादः । यथा—उविर्नोता एते शिष्या इति । गतमादेशद्वारम् ।

अधुना ग्लानद्वारमाह—

सयकरणमकरणे वा, गिज्ञाणपरितावणा य उविहो वि ।

बालोवहीण दाहो, तदधमसो व आदिचे ॥

वसतिपालेष्वभिशय्यादिगतेषु, द्विधा द्वाच्यामपि प्रकाराभ्यां ग्लानस्य परितापना । तद्यथा—स्वयंकरणे, अकरणे वा । तथाहि—ग्लानो यदि स्वयमुद्धर्तनादिकं करोति, तदाऽपि तस्याऽ-नागादादिपरितापनासम्भवः । अथ न करोति, तथापि परिता-पनासम्भवः, ततस्तन्निमित्तं आपद्यते तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्यच्च यः पञ्चान्मुक्तो वसतिपालः स यदा प्रचूर्तं ग्लानस्य ग्लानानां वा कर्तव्यं करोति, तदा सोऽपि परितापनमनागादमागाद वा-ऽऽपद्यते, ततस्तद्वेतुकमपि प्रायश्चित्तम् । गतं ग्लानद्वारम् । अधुना कामणद्वारमाह—(बालोवहीणमित्यादि) तेषु समर्थेषु वसतिपालेषु बाह्यं वसतिपालं मुक्त्वा अभिशय्यामभिनेषेधि-कीं वा गतेषु अग्निकायेन प्रदीप्ते उपाश्रये बाह्यानामुपधीनां च दाहो भवेत् । तत्र यद्येकोऽपि साधुस्त्रियते तदा चरमं पाराञ्चि-कं प्रायश्चित्तम् । अथ न स्त्रियते किन्तु दाहमागादमनागाद वा परितापनामाप्नोति तदा तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथोपधिजघ-न्यो मध्यम उत्कृष्टो वा दह्यते ततस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । (तदधमसो व चि) तदर्थं बालनिस्तारणार्थम्, उपधिनिस्तारणा-र्थं वा अन्यः प्रविशेत्, तदा कदाचित्तोऽपि बालो दह्येत अन्यच्च प्रविशन् ततस्तदुभयानिमित्तमापद्यते प्रायश्चित्तम्, लोके च महान् अवर्णवादः । गतमग्निद्वारम् ।

अधुना स्त्रीनपुंसकद्वारमाह—

इत्थीनपुंसगा वि य, ओमत्तणओ तिहा भवे दोसा ।

अजिघाय पित्तो वा, मुच्छा अंतो व बाहिं च ॥

स्त्रियो नपुंसकां वा, अवमत्वेन हीनत्वेन, 'स्तोकाः साधवो वसतौ तिष्ठन्ति, परिणतव्रताश्चान्यत्र गता वर्तन्ते' इति ज्ञात्वा समागच्छेयुस्तदागमने च त्रिधा आत्मपरोजयसमुत्थत्वेन दो-षाः स्युः । तथाहि—यत् रुयादिकमुपलभ्य स्वयं क्रोममुपय-न्ति साधवः, एष आत्मसमुत्थो दोषः । यत्पुनः स्वयमलुभ्यतः साधून् बलात् रुयादिकं लोभयति, एष परसमुत्थः । यदा तु स्वयमपि लुच्यन्ति, रुयादिकमपि च लोभयति, तदा उभय-समुत्थ इति ॥ मूर्गाद्वारमाह—(अजिघातेत्यादि) वस-तेरन्तःस्थितस्य वसतिपालस्य कथमपि जराजीर्णत्वादिना पतन्त्यां वसतौ काष्ठादिभिः शरीरस्योपरि निपतद्भिर्ब-हिर्वा वसतेः स्थितस्य कथमपि वातादिना पात्यमानेन तरुणा, तरुशाखाया वा अजिघातेन मूर्गा भवेत् । उ-पलक्षणमेतत्—अनागादा आगादा वा परितापना स्यात् । यदि वा वसतेरन्तर्बहिर्वा व्यवस्थितस्यापि ततः पित्तप्रकोपतो मू-र्गं भवेत् । तत एकाकिनः सतस्तस्य को मूर्गमुपशमयेत् ? । ततस्तन्निष्पन्नप्रायश्चित्तसम्भवः, प्रभूतश्च जनापवादः । तदेवं प-ञ्चान्मुक्तानां वसतिपालानां दोषा अभिहिताः ।

सम्प्रति ये अजिघात्यादिगतास्तेषां दोषानभिधित्सुरिदमाह—

जत्थ वि य ते वयंती, अभिसेज्जं वा निसीहियं वा वि ।

तत्थ वि य इमे दोसा, होंति गयाणं मुणेयच्चा ॥

यत्रापि च विविक्ते प्रदेशे ते निष्कारणगामिनो अभिशय्या-
मभिनैषेधिकीं वा व्रजन्ति, तत्रापि तेषां गतानामिमे वक्ष्यमा-
णा दोषा भवन्ति ज्ञातव्याः ।

तानेवाऽभिधित्सुर्कारगामाह-

वीथारतेणार-क्खितिरिक्खा इत्थिओ नपुंसा य ।

सविसेसतग दोसा, दप्पगयाणं हवंतेते ॥

कथमप्यकालगमने विचारे विचारभूमावप्रत्युपेक्षितायां,
तथा स्तेनाशङ्कायां, [आरक्खित्ति] आरक्ककाशङ्कायां वा, तथा
निरश्वा चतुष्पदादीनां सज्जे, तथा स्त्रियो वा दत्तसकेतास्तत्र
तिष्ठन्ति, नपुंसका वा दत्तसकेतास्तत्र तिष्ठन्ति-इत्याद्याशङ्का-
यामेते वक्ष्यमाणाः सविशेषतरा दोषा दर्पगतानां निष्कारण-
गतानां भवन्ति ।

तदेव सविशेषतरव दोषाणां प्रतिष्ठागमभिधित्सुः प्रथमतो
विचारद्वारमधिकृत्याऽऽह-

अप्पमिलेहियदोसा, अविदिमि वा हवंति उज्जयमि ।

वसहीवापाण य, एतमणते य दोसा उ ॥

यदि नाम ते दर्पहना. कथमप्यचक्षुर्विषयवेलयां गता भ-
वेयु, तत सस्नागकोच्चारप्रश्रवणादिषु भूमिष्वप्रत्युपेक्षितासु ये
क्षेपे ओघनिर्मुक्तौ सविस्तरमाख्यातास्ते सर्वेऽप्यत्रापि वक्त-
व्याः । तथा विकालवेलयां गमने यदि कथमपि शय्यातर उ
च्चारप्रश्रवणयोग्यमवकाश न वितरेत् ततोऽवितीर्णोऽननुज्ञाते
अवकाशे उज्जयस्मिन् उच्चारप्रश्रवणवृत्तौ भवन्ति दोषा । तथाहि-
यदि अननुज्ञाते अवकाशे उच्चार प्रश्रवण वा कुर्वन्ति तदा कदा-
चित् शय्यातरस्तेषामेव वसत्यादिव्यवच्छेदं कुर्यात्, यदि वा
सामान्येन दर्शनस्योपरि विद्वेषतः सर्वेषामपि साधूनामिति अथ-
वा कथमप्यवकाशिकतया वसतेरनिशय्यारूपाया व्याघातो भ-
वेत्, ततो रात्रिं मूत्रवसतिमागच्छतां तेषां ह्वापदादिभिरात्मवि-
राधना । अथ नायान्ति वसन्ति तदा अभिशय्याया. समीपे अप्र-
त्युपेक्षितस्थानाश्रयणतः सयमविराधना । गत विचारद्वारम् ।

अधुना स्तेनद्वारमारक्षिकद्वार च युगपदभिधित्सुराह-

सुणाई मेहाई उवेंति तेणा,

आरक्खिया ताणि य संचरंति ।

तेणो त्ति एसो पुररक्खिओ वा,

अन्नोन्नमंकाएँऽतिवायएज्जा ॥

शून्यानि गृहाणि, स्तेना. विवक्षितगृहे प्रवेशनाय वेलां प्रती-
कमाणा, आराक्षिकादिभयनो वा उपयन्ति । तानि च शून्यानि
गृहाणि आराक्षिका. पुररक्षिका. 'मा काश्चिदत्र प्रविष्टश्चौरो भू-
यात्' इति संचरन्ति प्रविशन्ति । एवमुभयेषां प्रवेशसमवे अन्यो-
ऽन्याशङ्कया आराक्षिका अभिशय्यायामग्रे प्रविष्ट साधुमुपलभ्य
स्तेन एव व्यवतिष्ठते इति, स्तेना अग्रे प्रविष्टास्त्र प्रविशन्त
साधु दृष्ट्वा पुररक्षक एव प्रविशतीत्येवरूपया, स्तेना आराक्षिका
वा अतिपातयेयु व्यापादयेयु । गत स्तेनारक्षिकद्वारम् ।

सम्प्रति तिर्यग्द्वारमाह-

दुगुन्जिया वा अदगुन्जिया वा,

दिता अदिता व तहिं तिरिक्खा ॥

चउप्पिया वालसगीसिवा वा,

एगो व दो तिप्पि व जत्थ दोसा ॥

तत्र अभिशय्यायामभिनैषेधिक्यां वा चतुष्पदाः तिर्यञ्चो द्विधा
भवेयु । तद्यथा-जुगुप्सिता नाम निन्दिता, ते च गर्दभीप्रवृत्तयः ।
तद्विपरीता अजुगुप्सिताः, गोमहिष्यादयः । एकैके द्विधा, तद्य-
था-दत्ताश्च दर्पाभाता, तद्विपरीता अदत्ताः, न केवलामित्थ-
म्भूताश्चतुष्पदा भवेयु, किंतु व्याघ्रा ज्ञजङ्गादयः, सरीसृपा वा-
गृहगोधिकादयः, इत्थम्भूतेषु च तिर्यञ्चु चतुष्पदेषु व्याघ्रसरी-
सृपेषु, एको द्वौ त्रयो वा दोषा भवेयु । तत्र एकः-आत्मविरा-
धनादीनामन्यतमः, द्वौ साधुजनेनात्मविराधनासयमविराधने,
त्रय-कस्याप्यात्मविराधना, कस्यापि सयमविराधना, कस्या-
प्यभयविराधनेति । अत्र चतुर्भङ्गी-कस्याप्यात्मविराधना, न
सयमविराधना १, कस्यापि सयमविराधना, नात्मविराधना २,
कस्याप्यात्मविराधनाऽपि संयमविराधना ३, कस्यापि नो-
भयविराधनेति ४ । उपलक्षणमेतत्-जुगुप्सितातिर्यक्चतुष्पदस-
भवे विरूपाऽऽशङ्कासभवतः प्रवचनोद्गाहोऽपि स्यादिति ।
गत तिर्यग्द्वारम् ।

अधुना स्त्रीनपुंसकद्वारे युगपदभिधित्सुराह-

संगारादिन्ना व उवेंति तत्थ,

ओहा पमिच्छंति निलिच्छमाणा ।

इत्थी नपुंसा व करेज्ज दोसे,

तस्सेवणट्ठाएँ उवेंति जे उ ॥

संगार सकेत, स दत्तो येस्ते संगारदत्ता, निष्ठान्तस्य पर-
निपातः प्राकृतत्वात्, सुखादिदर्शनाच्चा । दत्तसकेता इत्यर्थः ।
इत्थम्भूता. सन्तस्तत्राभिशय्यादिषु उपयन्ति गच्छन्ति, एवं
लोकानामाशङ्का भवेत् । अथवा तत्र गतेषु जनानामेव-
माशङ्का समुपजायते । तथा स्त्रियो नपुंसका वा ओघा इति ।
तन्मुखान् निरीक्षमाणाः प्रतीक्षन्ते, ततोऽप्री गताः । यदि वा
तासां स्त्रीणां नपुंसकानां वा सेवनार्थं ये तत्रोपयन्ति पुरुषास्ते
'अस्मत्पुरुषादिसेवनार्थमेतेऽत्र सयता. समागता.' इति दोषान्
अभिधाताऽवर्णवादादीन् कुर्युः ।

तदेव यस्मादकारणे निर्गतानामिमे दोषास्तस्मान्न निष्कारणे
गन्तव्य, कारणे पुनर्गन्तव्यम् । तथाचाऽऽह-

कप्पइ उ कारणेहिं, अजिमेज्जं गंतुमजिनिसीहिं वा ।

लहुगा उ अगमणम्मी, ताणि य कज्जाणिमाई तु ॥

कल्पते पुन कारणैरस्वाध्यायादिवक्त्रैर्वक्ष्यमाणैराभिशय्या-
मभिनैषेधिकीं वा प्रागुक्तशब्दार्थी गन्तु, यदि पुनर्न गच्छन्ति
ततो लघुकाश्चत्वारो लघुमासा. प्रायश्चित्तम् । तानि पुनः
कार्याणि कारणानि इमानि वक्ष्यमाणानि ॥ तान्येवाऽऽह-

अमजाइयपाहुणए, संसट्ठे बुद्धिकायसुयरहसे ।

पढमचरमे दुगं तू, सेसेसु य होइ अभिसेज्जा ॥

वसतावस्वाध्यायः, प्राधूर्णका वा यद्वच. समागता, वसतिश्च
सकटा, तत. स्वाध्याये, प्राधूर्णकसमागमे, तथा ससकै प्रा-
शिजातिभिरुपाश्रये. तथा बुद्धिकाये निपतति गलन्त्यां घसतौ,
तथा भुतरहस्ये वेदभुतादौ व्याख्यातुमुपक्रान्ते, अभिशय्या.

अभिनेषेधिकी वा गन्तव्या । तत्र (पदमचरमे दुर्गतू इति) प्रथमे सूत्रक्रमप्रामाण्यादस्वाध्याये, चरमे श्रुतरहस्ये, द्विकमभिशय्या-भिनेषधिकीलक्षणं यथायोग्य गन्तव्य, शेषेषु च प्राधूर्णकस-सक्तवृष्टिकायरूपेषु, भवत्यभिशय्या गन्तव्या ।

तत्रास्त्यनानुपूर्व्यपि व्याख्याया इति न्यायव्यापनार्थं प्रथ-मत श्रुतरहस्यमिति चरमद्वारं धिवरीपुरिदमाह-

येयमुपविज्जमंता, पाहुमि अवगीय महिमदिट्ठता ।

इइ दोसा चरमपण, पदमपण पोरिसीभंगो ॥

वेदश्रुतानि प्रकल्पव्यवहारादीनि, तानि घसतौ अपारिणाम-कोऽतिपरिणामको वा शृणुयात्, तथा विद्यामन्त्रांश्च वसतौ क-स्यापि दीयमानान् अवगीतो निर्द्धर्मा शृणुयात्, प्राज्ञान् वा यो-निप्राज्ञतादिरूप वसतौ व्याख्यायमानम्, अवगीतः कथमपि शृणुयात् । तच्छ्रवणे च महान् दोष । तथाचात्र महिपदष्टान्त-“कयाह जोषिपाहुने वक्खाणिज्जमाणे एगेण आयरियाईण अदिस्समाणेण निरुस्सेण सुय । जहा-अमुगदन्वसजोगे माहिसो समुच्छइ; त सोड सो उत्थाविमो गतो मन्नस्मि ठाणे, तदय महिसे दन्वसजोगेण समुच्छावित्ता सागारियइत्ये स विक्किणइ, त आयरिया कहमवि जाणिस्ता तत्थ आगया, उद-तो से पुच्छितो, तेण सज्जावो कदिओ । आयरिया भणति-अण्ण सुंदरसुवण्णरयणजुत्तादि गेणइ । तेण अज्जुवगयं । ततो आयारिपहिं भणिय-अमुगाणि दन्वाणि य तिरिक्खसजोपज्जा-सि ततो पचूयाणि सुवण्णरयणाणि भविस्सति । तेण तदा कय, समुत्थितो दिट्ठीविसो सप्पो, तेण दिट्ठो मतो” । ततोऽ-भिशय्याऽभिनेषेधिकी वा गन्तव्या । तथा प्रथमपदमस्वा-ध्यायवृत्तं, तत्र दोषः पौरुषीभङ्गः । इयमत्र प्रावना-अस्या-ध्याये वसतावुपजाते स्वाध्यायकरणार्थमवश्यमभिशय्यायाम-भिनेषेधिकायां वा गन्तव्यम्, अन्यथा सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्या वा भङ्गः । तद्वद्दे च तन्निष्पन्नप्रायश्चित्तापत्तिः । गतं चरमद्वार-मस्वाध्यायद्वारं च ।

सम्प्रति प्राधूर्णकादिद्वारत्रितयमाह-

अभिसंघट्टे हत्था-दियट्ठणं जगणे अजिप्पादी ।

दोसु असंजमदोसा, जगण अट्ठोवहीया वा ॥

कदाचिदन्यत्तथाविधवसत्यलाभे साधयः सफटायां घसतौ स्थिता प्रवेयुः, प्राधूर्णकाश्च साधवो भूयांसः समागताः, तत्र द्वित्रसे यथा तथा वा तिष्ठन्ति, रात्रौ भूमिषु अप्रयमाणासु यद्य-भिशय्या न प्रजन्ति तदा तस्मिन्नुपाश्रये अतिशयेन सघट्ट-परस्पर सहननाभिसकटतया सोऽभिसघट्टः, तस्मिन्नेव स्थिता-नां परस्पर इस्तपादादीनां घट्टन प्रवेत्त, तद्भावे च कलहा-समाध्यादिदोषसम्भवः । अथैतद्दोषजयादुषविष्टा एव तिष्ठन्ति, ततो जागरणे रात्रौ जाग्रतामजीर्णादिदोषसम्भवः । अजीर्ण-माहारस्याजरण, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः । रोगे च चिकित्साया अकरणे असमाधिः, क्रियमाणायां च चिकित्सायां पदकाय-व्यापत्तिः । इति गत प्राधूर्णकद्वारम् ॥ अधुना ससक्तद्वारं चाह- (दोसु असंजमेत्यादि) द्वयो-ससक्ते उपाश्रये वृष्टिकाये च निपतति, असयमविराधनारूपौ दोषौ । तथाहि-ससक्तत्वे दु-धन्युपेक्षणीया वसतिरिति, तत्रावस्थाने स्फुटा सयमविरा-धना । तथा वृष्टिकायेऽपि निपतितेषु कचित्प्रदेशेषु वसतिर्ग-

तनीति तत्रापि सयमविराधना, अस्कायविराधनासंज्ञात् । अन्यच्च वृष्टिकाये निपतति उपश्रिता येन स्नीम्यते, स्तीमितेन चोपधिरा शरीरद्वग्नेन रात्रौ निद्रा नायाति, निद्राया अजावे च अजीर्णदोषः । तस्मात् ससक्तायां वसतौ वृष्टिकाये च नि-पतति नियमतो गन्तव्या अभिशय्येति । तदेवमुक्तं गन्तव्यका-रणम् । तथा चाऽऽइ-

टिठ्ठं कारणगमणं, जइ य गुरु वच्चण तत्रो गुरुगा ।

ओरालइतिषेठ्ठण, मंका पच्चत्थिया दोसा ॥

दृष्टमुपपन्नं प्रगवदुपदेशनः पूर्वसूरिभिः, कारणे अस्वाध्या-यादिलक्षणेऽभिशय्यायां गमनं, तत्र यद्येव दृष्टे कारणगमने गुरुभिः अभिशय्यामभिनेषेधिकां वा व्रजेत् ततस्तस्य प्रायश्चित्त-स गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । को दोषो गुरुगमने इति चेत्?, अनन्नाह-(ओरालेत्यादि) आचार्यं प्राय उदारशरीरो भवेत्, सहाया अपि च कथमपि तस्य स्तोका अभूवन् ततः काश्चन स्त्रिय सहायादीन् स्थापयित्वाऽस्य हृदयादिना प्रेरयेयुः । अन्यच्च शय्यातरादीनां शङ्का समुपजायते, तथाहि-किं वसता-वाचार्यो नोषितः, नूनमगारीं प्रतिसेवितुं गत इति । यदि वा प्रत्यर्थिका प्रत्यनीकाः प्रतिवाद्यादयोऽल्पसहायमुपपन्न्य विना-शयाऽऽयुः । तत एवमाचार्यगमने दोषा, तस्मात्तेन न गन्तव्य-मिति, न केवलमाचार्येण न गन्तव्यं किन्त्वैतैरपि न गन्तव्यम् ।

के ते पते?, इत्याह-

गुरुकरणे पटियारी, भएण वलवं करेज्ज जे रक्खं ।

कंदप्पविगह्णी वा, अवियत्तो ठाणहुट्ठो वा ॥

गुरोराचार्यादेः करणे करणविषये ये प्रतिचारिणः प्रतिचार-का कायिकमात्रकादिसमर्पका विश्रामकाश्च, तैर्न गन्तव्यं, तेषां गमने गुरोः सीदनात् । तथा भयेन पञ्चाद्वसतावपान्तराले-ऽभिशय्यायां वा तस्करादिभयेन समुत्थितेन सर्वैरपि साधुभि-र्न गन्तव्यम्, आत्मसयमविराधनादोषप्रसङ्गात् । तथा यो व्रतवान् गुर्वादीनां तस्करादिभ्यो रक्षां करोति, तेनापि न गन्तव्यं, तस्मिन्नेव गुर्वादीनामपायसंभवात् । तथा यः कन्दर्प-कन्दर्पशीलः, यश्च विग्रही, तथाचाऽऽरादिकरणशीलः, यो वा यत्र गम्यते तत्र शय्यातरादीनां कैश्चिदपि कारणैः पूर्ववैरादिभिः (अवियत्तो ति) अप्रीतो, यश्च स्थानदुष्टः, पुरादिदुष्टः, एतैरपि सर्वैर्न गन्तव्यम्, प्रवचनोद्वाहात्मविराधनादिदोषप्रसङ्गात् । यदि कथमपि ते गच्छन्ति ततो वलादाचार्यादिभिर्भारयितव्या इति ।

अथ कारणे समुत्पन्ने तेषां गच्छतां को नायकः

प्रवर्तयितव्यः?, उच्यते-

गंतव्यं गणावच्छे-दयपत्रसिधेरयगीयभिक्षू य ।

एएसि असतीए, अगीयए मेरकहणं तु ॥

कारणे अस्वाध्यायादिलक्षणे समुत्पन्ने सति शेषसाधुभिर्ग-न्तव्यमभिशय्यादि, तेषां च गच्छतां नायकः प्रवर्तनीयो गणाव-च्छेदको वक्ष्यमाणस्वरूपः । तदभावे प्रवर्ती, सोऽपि वक्ष्यमाण-स्वरूपः, तदभावे स्थविरः, तस्याप्यभावे गीतभिर्गुर्गात्तार्थ-सामान्यवर्ती । एतेषामसति अभावेऽगीतार्थोऽपि माध्यस्थ्य-गुणयुक्तः प्रवर्तनीयः । केवलं तस्मिन्मगीतार्थे (मेरकहणं तु इति) मर्यादायां सामाचार्याः कथनम्-यथा साधूनामावश्यकैः आलोचनायां प्रायश्चित्तं दीयते, नमस्कारपौरुष्यादिकं च

प्रत्याख्यायने यस्मै दातव्यमित्येवमादि सर्वं कथ्यते इति भावः ।
कथं किंस्वरूपं सोऽङ्गीतार्थो नायकः स्थापनीयः ? इत्यत आह—
मञ्जुत्थोऽकदर्पा, जो दोसे द्विहृद् द्वेहृत्त्रो चैव ।

केसु उ ते सीएज्जा, दोसेसु ते इमे सुणसु ॥

मध्यस्थो-रागद्वेषविराहितः, अकन्दर्पो-कन्दर्पोद्दीपनभाषिता-
टिविकलः, एवभूतो नायकः स्थापनीयः । तेन च साधयोऽ-
समाचारी समाचरन्तः शिक्षणीया, शिक्षमाणाश्च यदि कथ-
येयुः, यथा-यदि वयमेव कुर्मस्ततस्तव किम् ? , कस्त्वम् ? ,
इत्यादि, तदा स (लेहृत्त्रो चैव चि) लोचकवत् तेषां सर्वेषां
साधूनां दोषान् अविस्मरणनिमित्तं मनसि लिखति, सम्यगव-
धारयतीत्यर्थः । अथ केषु ते साधवः सीदेयुः, यान् स स्व-
चैनसि धारयति ? । सुरिराह—तान्दोषानिमान् वक्ष्यमाणा-
न् शृणुत ।

तत्र यदुक्तं “एपसि असतीए” इत्यादि, तद्व्याख्यानार्थमाह—
थेरपविच्चीगीया-ऽसतीए मेरकहंतऽङ्गीयत्ये ।

भयगौरवं च जस्स उ, करेंति सयमुज्जतो जो य ॥

स्थविरस्य, प्रवर्तिनः, उपलक्षणमेतत्-गणावच्छेदस्य च, तथा
गीतस्य गीतार्थस्य भिन्नोरसनि अभावे अङ्गीतार्थोऽपि प्रेषणी-
यः, तस्मिन्नाङ्गीतार्थे प्रेष्यमाणे (मेर चि) मर्यादां सामाचार्य-
यथोक्तस्वरूपां कथयन्ति, किंविशिष्टः सोऽङ्गीतार्थः प्रेष्यः ? ,
आह—(भयगौरवमित्यादि) यस्य भय साधवः कुर्वन्ति, यस्य
चानुवर्तना गुणतो भयतो गौरव यथोचितं कुर्वन्ति । यस्तु स्व-
यमात्मना समुद्युक्तोऽप्रमादी, सोऽङ्गीतार्थो नायकः प्रवर्तनीयः ।
किं कारणमिति चेत् ? , उच्यते-असमाचारीरूपदोषप्रतिषे-
धनार्थम् ।

अथ के ते असमाचारीरूपा दोषाः ? , अत आह—

पमिलेहणऽसज्जाए, आवस्सगदमविशयराइत्थी ।

तेरिच्छवाणमंतर-पेहा नह्वीणिकंदप्पे ॥

प्रतिषेखनायामस्वाध्याये आवश्यकदण्डे, उपलक्षणमेतत्-दण्ड-
कादौ विषये, तथा विनये वन्दनकादौ, तथा राक्षि, स्त्रियां, तिर्यक्षु
हन्त्यादिषु, चाणमन्तरे चाणमन्तरप्रतिमायां विपणिषु रथेन ग-
च्छन्त्यां प्रेक्षायां काष्ठग्रहणादौ, (नह्वीण चि) नखवीणिकायां, क-
न्दर्पे वा समाचारीरूपा दोषाः । एष चारगाथासङ्केपार्थः । एतेन
यदुक्तं प्रागुक्तानिमान् दोषान् शृणुनेति तद्व्याख्यानमुपक्रान्त-
मिति छप्यम् ।

तत्र प्रतिलेखनाद्वारमस्वाध्यायद्वारं च विवरीबुराह—

पमिलेहणसज्जाए, न करेंति हीणाहियं च विवरीयं ।

सेज्जोवहिसंधारय-दंडगउच्चारमादीसु ॥

प्रतिषेखना स्वाध्यायं वा मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा ही-
नमधिकं विपरीतं वा विपर्यस्तक्रमं कुर्वन्ति । तत्र येषु स्थानेषु
प्रतिषेखना सभवति, तानि स्थानान्युपदर्शयति-शम्योपधिस-
स्तारकदण्डकोष्ठादिषु । इयमत्र भावना-शम्या वसति, त-
स्याः प्रत्युपेक्षणं मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं
वा कुर्वन्ति, अथवा यः शम्यायाः प्रत्युपेक्षणाकालस्तस्मिन् न
कुर्वन्ति, किन्तु कालातिक्रमेण । एवमुपधे, सस्तारकस्य, दण्डका-
देश्च भावनीयम् । तथा उच्चारादिभूमि न प्रत्युपेक्षन्ते, हीनम-
धिकं वा, यदि वा कालातिक्रमेण प्रत्युपेक्षन्ते इति । स्वाध्याय-

मपि मूलत एव न कुर्वन्ति । यदि वा अप्रस्थापिते कुर्वन्ति ।
यदि वाऽकाक्षिकवेलायामुत्काक्षिकवेलायां वा कुर्वन्ति ।

सम्प्रति आवश्यकदिद्वारत्रितयमाह—

न करेंती आवस्सं, हीणाहियनिविट्टपाउयनिसभा ।

दंडगहणादि विणयं, रायणियादीण न करेंति ॥

आवश्यकं मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं वा, कायो-
त्सर्गाणां हीनकरणतः कुर्वन्ति, अधिकं वाऽनुपेक्षार्थं कायोत्सर्गा-
णामेव चिरकालकरणतः कुर्वन्ति । यदि वा निविट्टा उपविट्टा,
प्रावृता शीतादिभयतः, कल्पादिकप्राघरणप्रावृता निप-
ष्ठास्त्ववगवर्तनेन निपातिताः प्रकुर्वन्ति । गतमावश्यकद्वारम् ।
(दंडगहणादि चि) दण्डग्रहादौ, दण्डग्रहणं भाणरुमात्रकादी-
नामुपलक्षणम्, दण्डकादीनां ग्रहादौ ग्रहणे, निक्षेपे च, न प्रत्युपेक्ष-
ण, नापि प्रमार्जन, दुष्प्रत्युपेक्षितादि वा कुर्वन्ति । गत दण्डग-
रम् । विनयद्वारमाह—(विणयं ति) विनय रत्नाधिकादीनामा-
चार्यादीनां यथा रत्नाधिकं न कुर्वन्ति । गत विनयद्वारम् ।

राजादिद्वारकदम्बकमाह—

रायं इत्थि तह अ-स्समादि वंतर रहे य पेहंति ।

तह नक्खवीणियादी, कंदप्पादी वि कुर्वन्ति ॥

राजानं निर्गच्छन्तं वा, स्त्रियं वा सुरुपामिति विशिष्टाभरणा-
लङ्कृतामागच्छन्तीं वा, तथा ‘ तिरिक्ख ’ इत्यस्य व्याख्यानम्-
अभ्यादिकमभ्य वा हस्तिन वा राजवाहनमतिप्रभूतगुणाकीर्णं,
व्यन्तरं तथात्वविभूत्या विपणिमार्गेषु गच्छतः प्रत्यागच्छतो वा
प्रेक्षन्ते । एतेन राजस्त्रीतिर्यग्वाणमन्तरद्वाराणि व्याख्यातानि ।
तथेत्यनुक्तसमुच्चयार्थः, स चेदमनुक्तं समुच्चिनोति-काष्ठप्रत्यु-
पेक्षणं न कुर्वन्ति, न वा काष्ठं प्रतिजागरति । गत प्रेक्षाद्वारम् ।
तथा नखवीणिकादिकं नखवीणावादनम् । आदिशब्दाद् नखानां
परस्परं घर्षणमित्यादिपरिग्रहः । तथा ‘ कन्दर्पादि ’ कन्दर्पकौ-
कुच्यकोयुकादि कुर्वन्ति ।

एपसु वट्टमाणे, अट्टिणं पमिसेहए इमा मेरा ।

हियए करेइ दोसे, गुरुए कहुणं स देइ ते सोहिं ॥

एतेष्वनन्तरोदितेषु दोषेषु वर्तमानान्, धारयतीति क्रियाव्या-
हारः । कृतेऽपि वारणे यदि ते न तिष्ठन्ति, प्रतिषेधन्ति वा-यदि
वयमेव कुर्मस्ततः किं तव ? , को वा त्वम् ? , इत्यादि । ततो-
ऽस्थिते, प्रतिषेधिते वा नायके इयमनन्तरमुच्यमाना (मेर चि)
मर्यादा सामाचारी । तामेवाह-इदमे तान् दोषान् करोति, कृत्वा
च गुरुते कथयति, स च गुरुर्ददाति तेषां शोधिं प्राय-
श्चित्तमिति ।

सम्प्रति वक्ष्यमाणार्थसंग्रहाय द्वारगाथामाह—

अतिबहुयं पच्छित्तं, अदिषु वाहे य रायकभा य ।

ठाणाऽसति पाहुणए, न उ गमणं मास ककरणे ॥

चोदकवचनम्-अतिबहुकं प्रायश्चित्तं गुरुमासादि न दातव्यम्,
तद्वाते व्रतपरिणामस्यापि हानिप्रसक्तेः । अत्र गुरुवचनम्-“ जो
अच्छिपणं सुज्झइ ” इत्यादि वक्ष्यमाणं, यः पुनरालोचनाप्र-
दानेन प्रायश्चित्तलक्षणं शक्यं नोक्तुरति-तस्मिन्नदत्ते अदत्ता-
लोचने व्याधो दृष्टान्तः । यः पुनराचार्यः शिष्यस्य प्रायश्चित्त-
स्थानापत्तिं जानन्नपि न , तस्मिन्नदत्ते अदत्तप्रा-

यस्मिन्ने गुरौ दृष्टान्तो राजकन्या । पदैकदेशेन राजकन्याऽन्त-
पुष्पाक्षकः । तथा-“ठाणाऽसति” इत्यादि । सकटायां वमनौ
प्राघूर्णके समागते सति स्थानस्य योग्यभूमिप्रदेशस्य अर्सात-
(भावप्रधानोऽयं निर्देशः) सविद्यमानत्वे, उत्सर्गतो ननु नैव
गमन, किन्तु यतना चक्षुष्यमाणा कार्या, तस्यां च यननायां
कर्तुमशक्यमानायामभिषिष्यादिषु प्रेक्ष्यमाणा यदि केचन
कर्करायन्ते-यथा-घस्यद्वाय प्राघूर्णका समागता, यद् गन्-
व्यमस्माभिरभिषिष्यादिषु, कर्कश्य घा रात्रौ जागरणमिति,
तदा तेषां कर्करणे प्रायश्चित्त मासलघु देयमिति द्वारागाथा-
सङ्केपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विचरीषुः प्रथमतोऽतिवहुक प्रा-
यश्चित्तमिति व्याख्यानयति-

अतिवहुयं वेदिज्जड, भते ! मा हु दुरुवेदो भवेज्ज ।

पच्छित्तेहि अयमे, निदयदिषोहिं जजेज्जा ॥

प्रदन्त ! परकल्याणयोगिन् ! गुरोर्वादि प्रनूत गुरुमासादि प्रा-
यश्चित्तं पदे दीयते, ततः स प्रायश्चित्तं समन्ततोऽनिशयेन
वेष्टयते अतिवेष्टितं सन्, मा निवेधे, ‘हु’ निश्चित, दुरुवेदो नू-
यात्-उत्तेन तस्य प्रायश्चित्तं य उठेष्टन स्यात्, अनिप्रनूतेषु हि
गुरुषु प्रायश्चित्तं पदे दीयमानेषु कदाऽऽप्मानमुठेष्टयिष्यतीति
भावः । अपि च-अकाशमे यत् तत्र चापदे पदे निर्दयैः सद्रिगु-
ष्माभिर्दत्तं प्रायश्चित्तं स जज्येत-भग्नपरिणामो भूयात् ।
तथा च सति महती हानिः ।

तस्मात्-

तं दिज्जड पच्छित्तं, जं तरती सा य कीरऊ मेरा ।

जा तीरइ परिहरिउं, मोसादि अपचओ इहरा ॥

तत्प्रायश्चित्तं दीयतां यत्तरति शक्नोति कर्तुं, सा च क्रियतां
'मेरा' मर्यादा या परिहर्तुं शक्यते । पाठान्तरं घा-(परिवर्द्धितमि-
ति) तत्र या परिवोदु शक्यते इति व्याख्येयम् । उन्नयप्राप्यय
भावार्थः-या परिपालयितुं शक्यते इति । मासादि (अपच-
ओ इहरा इति) इतरथा प्रनूते प्रायश्चित्तं दत्ते मृगदोष उज-
योरपि समुपजायते । तत्र गुरोर्मात्राधिकप्रायश्चित्तदानात्,
इतरस्य तु जग्नपरिणामतया तथा परिपालनायोगात् । अन्य-
त्र-अतिमात्रे प्रायश्चित्तं दत्ते गुष्माभिरपि पूर्वमाशतनादोष
उद्गायित । अपत्ययश्च शिष्यस्योपजायते, यथा-अनिप्रनूतमा-
चार्याः प्रायश्चित्तं ददति; नचैव रूप प्रायश्चित्तं जिना प्र-
पिनवन्तः, सकलजगज्जन्तुहितैषितया तेषामतिकर्कशप्राय-
श्चित्तोपदेशदानायोगात् । तस्मात् सर्वमिदं स्वमतिपरिकल्पि-
तमसदिति । एव चोदकेनोक्ते गुरुराह-

जो जत्तिएण सुज्जइ, अवराहो तस्म तत्तिरं देइ ।

पुव्वमियं परिकहिंयं, घरुपमगाइएहिं नाएहि ॥

चोदक आह-त्वया सर्वमिदमयुक्तमुच्यते, यतो देशकालसं-
हननाद्यपेक्षया योऽपराधो यावन्मात्रेण प्रायश्चित्तेन मुक्त्यति त-
स्यापराधस्य शोधनाय तावन्मात्रमेव सूरिः प्रायश्चित्तं ददाति,
नाधिक, नापि हीनम्, एतच्च पूर्वमेव घटपटादिभिर्ज्ञानैरुदा-
हरणैः “जलनिक्षेपणकुम्प” इत्यादिना ग्रन्थेन परिकथितं,
तस्मान्न दोषः ॥

साम्प्रतमदत्तालोचने यो व्याधदृष्टान्त

उपन्यस्तस्त भावयति-

कटगमादिपविष्टे, नोष्करं सयं न भोइए कहइ ।

१८१

कमठीचूर्णे वणगण, आगलणं ग्वोन्निया मरणं ॥

इह किल व्याधा घने सचरन्त उपानहौ पादेषु नोपनहति,
मा हस्तिन उपानहोः शब्दान्त्रौपुगिति । तत्रैकस्य व्याधस्या-
न्यदा घने उपानहौ विना परिभ्रमतो द्वयोरपि पादयोः कण्ट-
कादयः प्रविष्टा, आदिशब्दात् शृङ्गाकलिज्जादिपरिग्रहः । ता-
न्प्रविष्टान् कण्टकादीन् स्वयं नोद्धरति, नापि भोजिकायै निज-
भार्यायै व्याधौ कथयति । ततः स तैः पादनलप्रविष्टैः कण्टका-
दिभिः पीमितः सन् चनगतो हस्तिना पृष्ठतो धावता प्रेक्षमाणो
धावन् कमठीभूत-स्थले कमठ इव मन्दगतिरञ्जन्, ततः 'प्रा-
प्तो हस्ती प्रत्यासन्न देशम्' इति जानन् क्षुब्धवाक् क्रौञ्चगत्रा, (आ-
गलणमिति) वैकल्यं प्राप्नोति । नतो मरणम् । एष गाथाऽङ्करार्थः ।
प्राचाधेस्त्वयम्-“एगो वाहो उवाहणाओ विणा वणे गनो नस्स
पायतला कटगाईण भरिया, ने कटगाइया नो सयमुद्धरिया,
नो पि य वाहीए उद्धराविया, अन्नया वणे सचरतो हन्थिया
दिष्ठो, तो तस्स धावतस्स कटगाइया इतर मसे पविट्ठा, ता-
हे अतिदुक्खेण अहिनो महापायवो इव त्रिभूलो हत्थिजण-
ण वेयणभूतो पडितो, हन्थिया विणासितो” ।

त्रिति ए सयमुद्धरती, आणुडि ए नोइयाए नीहइ ।

परिमदणदंतमझा-टिपूरणं वणगयपझानो ॥

अन्यो द्वितीयो व्याध उपानहौ विना घने गतः, तस्य घने
सचरत कण्टकादयः पादतले प्रविष्टास्तान् स्वयमुद्धरति, ये
च स्वयमुद्धर्तुं न शक्यास्तान् अनुद्धृतान् भोजिकया निजभार्याया
व्याध्या नीहारयति-निष्काशयति, तदनन्तरं तेषां कण्टका-
दिघेधस्थानानामङ्गुष्ठादिना परिमर्दनं, तदनन्तरं दन्तमलादि-
ना-आदिशब्दात् कर्णमलादिपरिग्रहः । पूरणं कण्टकादिवे-
धानाम् । ततोऽन्यदा घनं गतः सन् हस्तिना दृष्टोऽपि पत्या-
यितो जातो जीवितव्यसुरानामाजानी । एष दृष्टान्तः ।

साम्प्रत दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

वाहत्थाणीं साहू, वाहिगुरु कंटकादि अवराहा ।

सोही य ओमहाई, पमत्थनाएणवणओ ऊ ॥

व्याधस्थानीयाः साधवः, व्याधस्थानीयो गुरु, कण्टकादिस्था-
नीया अपराधा, ओषधानि दन्तमलादीनि, नत्स्थानीया शोधिः ।
अत्र द्वौ व्याधदृष्टान्तौ, तत्र प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । आद्योऽप्रशस्तो,
द्वितीयः प्रशस्तः । तत्र प्रशस्तेन ज्ञातेन दृष्टान्तेनोपनयः कर्त-
व्यः । आचार्योऽपि यदि तान् उपेक्षते, ततः कण्टकादीनामुपे-
क्षको व्याध इव सोऽपि दुस्तरामापदमामोति ॥

तथाचाऽऽह-

पदिसेवंत उवेक्खइ, न य एणं ओवील्लए अकुवन्तो ।

संमारहत्थिहत्थं, पावइ पिचरीयमियरो दि ॥

इतरोऽपि आचार्योऽपि, तुशब्दार्थोऽपिशब्दार्थः, य प्रतिसेव-
मानान् उपेक्षते, न तु निषेधति; न वाऽकुर्वन्तोऽकुर्वाणान् प्राय-
श्चित्तमुत्पीडयति-न भूयः प्रायश्चित्तदानदण्डेन ताडयन् (प्रा-
यश्चित्तं) कारयति, न विपरीतम्, आचार्यपदस्य हि यथोक्त-
मीत्या परिपालनफलमचिरात् मोक्षगमनं, तद्विपरीतं संसार
एव हस्तिहस्तं प्राप्नोति, हस्तर संसारमागच्छतीति ज्ञावः ।

उपसंहारमाह-

आलोयमणादोयण, गुणा य दोसा य वखिया एए ।

अयमन्नो दिष्टतो, सोहिमदिते य दिते य ॥

एते अनन्तरोदिता आलोचनायां गुणाः, अनालोचनायां दोषा वर्णिताः । सम्प्रति यः प्रायश्चित्तं ददाति तस्मिन् शोधिमददाने, ददाने च, अयं वक्ष्यमाणो राजकन्यान्त-पुरपालक-रूपोऽन्यो दृष्टान्तः ।

तमेवाह—

निज्जूहादिपलोयण, अवारण पसंगअगदारादि ।

धुत्तपलायण निवकह—ए दडणं अन्नठवण च ॥

“एगो कन्ननेउरपात्तगो, सो गोखलण कन्नाओ पलोपनीओ न वारेइ, ततो ताओ अगदारेण निफिडिउमादत्ता, ततो वि न वारेइ, ताहे ततो अनिवारिज्जमाणोओ कयाइ धुत्तेहिं सम पलायाओ, एव सव्वमचारणादि केणइ रओ कहियं, ततो राणा नस्स सव्वस्सहरण कय, विणासितो य, अणो कण्ठेउरपात्तो ठवितो । अक्करगमनिका-निर्गहो गवात्त । गोखलक इत्यर्थः । आदिशब्दात्तदन्यतथाविधप्रदेशपरिग्रहः । तेन निर्यूहादिना प्रज्ञोक्ते अवारणं कृतवान्, ततोऽप्रद्वारादिष्वपि प्रसङ्गः, अग्र-द्वारे अन्यत्र वा यथास्वेच्छा तासां कन्यानां प्रसङ्गः । ततोऽन्यदा धूर्तैः सह पलायनम् । एतस्य च सर्वस्यापि वृत्तान्तस्य नृपस्य पुरतः कथनं, ततो राजा तस्य कन्यान्त-पुरपालकस्य दण्ड-नम्, अन्यस्य कन्यान्त-पुरपालकस्य स्थापनं चाकार्षीत् ।

निज्जूहगयं दडुं, वि तिओ कन्नाळ वाहरिचा णं ।

विणयं करेइ तीसे, मेसभयं पूयणा रत्ता ॥

अन्यो द्वितीयः कन्यान्त पुरपालको निर्यूहगतां गवाक्गतामे-का कन्यां दृष्ट्वा (वाहरिचा णं ति) एना व्याहृत्य आकार्यं विनयं शिक्षां तस्याः करोति, ततः शेषाणां कन्यानामुदपादि भयं, तेनैव काऽपि गृहद्वारादिषु नावतिष्ठते, न च धूर्तरूपहरणम्, ततः सम्यक्कन्यान्त-पुरपालकं कृतवानिति राज्ञा पूजना कृता । एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः—

राया इव तित्थयरा, महतरय गुरू उ साहु कष्ठाओ ।

ओलोयण अवराहा, अपसत्थपसत्थगोक्काओ ॥

राजा इव राजस्थानीयास्तीर्थकराः, महत्तरः कन्यान्त-पुरपालकः, तत्स्थानीया गुरुवः, साधवः कन्यास्थाङ्गीयाः, अवलोकन-मपराधः । अत्राप्रशस्तेन कन्यान्त पुरपालकेन, प्रशस्तेन चोप-नयः कर्तव्यः । तद्यथा-आचार्यः प्रमादिनं शिष्यान् न वारय-ति, न च प्रायश्चित्तं ददाति, स विनश्यति, यथा प्रथमं कन्या-न्त-पुरपालकः । यस्तु प्रमाद्यतः शिष्यान् वारयति, प्रायश्चित्तं च यथापराधं प्रयच्छति, स इह लोके प्रशसादिप्रजां प्राप्नोति, परलोके च सम्यक्कन्यान्त-पुरपालकत्वं निर्वाणमचिरादानुया-दिति ।

सम्प्रति यदुक्तं प्राघूर्णकसमागमे ससक्ते उपाधये वृष्टिकाये च निपतति अग्निशय्या गन्तव्येति तद्विषयमपवादः क्रमेणा-ग्निधित्सुराह—

अमभाइए असंते, ठाणाऽमति पाहुणागमे चेव ।

अन्नत्थ न गंतव्व, गमणे गुरुगा उ पुव्वुत्ता ॥

अस्वाध्यायिके असति अविद्यमाने, प्राघूर्णकानामागमे चाऽ-

सति स्थानस्य-सस्तारकयोग्यभूमिलक्षणस्य असाति, अपि-शब्दोऽत्र सामर्थ्यादवगम्यते । असत्यपि, भावप्रधानोऽयं निर्दे-शः । इत्यत्रावेऽपि, अन्यत्राभिप्राय्यादौ न गन्तव्यम्, किन्तु यतना कर्तव्या । यदि तथा अन्यत्र गमनं कुर्वन्ति, ततो गमने पूर्वोक्ता गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः प्रायश्चित्तम् ।

का पुनर्यतना ? , तामाह—

वत्थन्वा वारंवा—रणे जगंतु मा य वत्तु ।

एमेव य पाहुणए, जगण गाढ अणुच्चाए ॥

वास्तव्या वारवारेण जाग्रतु । इयमत्र भावना-वास्तव्यानां मध्ये यो यावन्मात्रमर्क्यामादिकं जागरितुं शक्नोति, तावन्मात्रं जाग-र्ति, तदनन्तरं जागरितुमशक्नुवन् अन्यं साधुमुत्थापयति, सोऽ-पि स्वजागरणवेलातिक्रमेऽन्यम्, एव वारेण वारेण जाग्रतु । यदि पुनर्वास्तव्याः समस्ता अपि रात्रिं वारेण जागरितुं न शक्नुव-न्ति, ततो यदि गाढं न परिभ्रान्ता प्राघूर्णकाः, ततः प्राघूर्णके (अणुच्चाए इति) अपरिभ्रान्ते, एवमेव-वारेण जागरणं स-मर्पणीयं, मा पुनः, चशब्दः पुनः-शब्दार्थे, व्रजन्त्वभिप्राय्याम्, य-दि पुनर्वास्तव्या प्राघूर्णकाश्च न वारेण जागरितुं शक्नुवन्ति, तदाऽग्निशय्या गन्तव्येति ।

एमेव असंसत्ते, देसे अगलंतए य सव्वत्थ ।

अम्हवहा पाहुणगा, उर्वेति रिक्खा उ ककरणा ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, ससक्ते उपाधये यो देशः प्रदेशोऽ-ससक्तस्तस्मिन्नससक्ते देशे, तथा वृष्टिकाये निपतति यः प्रदे-शो न गलति तस्मिन् प्रदेशे, यतना कर्तव्या । तद्यथा-ससक्ता-यां वसतौ येष्ववकाशेषु ससक्तिस्तां परिहृत्य शेषेष्ववकाशे-षु ससक्तिरहितेषु पूर्वप्रकारेण जागरणयनना कर्तव्या । ततो वृष्टिकायेऽपि निपतति येष्ववकाशेषु वसतिः निर्गच्छति तानव-काशान्परिहृत्य शेषेष्ववकाशेषु यतना पूर्ववत्कर्तव्येति । (सव्वत्थं चि) यद्वि पुनः सर्वत्र ससक्ता, सर्वत्र वा गलति, तदाऽग्निशय्या गन्तव्येति । यदुक्तं “मासो उ ककरणे” इति, तत्र ककरणं व्याख्यानयति—एते रिक्खा प्राघूर्णका अस्मद्विषयं उपयन्ति समागच्छन्ति । एवमादिभाषणं ककरणेति ।

सम्प्रति यदवादीत-आचार्येण न गन्तव्यम्, अनापृच्छया वा (साधुभिः) न गन्तव्यमिति, तद्विषयमपवादमाह—

वितियपरं आयरिए, निदोसे दूरगमणऽणापुच्छा ।

पमिसेहियगमणम्मी, तो तं वसन्ना बलं नेति ॥

द्वितीयमपवादपदमाचार्यविषये, कसति ? , इत्यत आह—निर्दोषे स्थाविदोषाणामभावे, यदि वा निर्गता दोषा यस्मात्तद् निर्दोषं केन, तस्मिन्, तथा दूरे अभिप्राय्या, ततस्तत्र दूरगमने अनापृच्छा, तथा प्रतिषेधितस्य गमने द्वितीयपदमिदम्—(तो चि) तस्मादेव सहादिस्थानात्परतो यदा वृषजा बहान्नयन्ति, तदा प्रतिषेधितः प्रतिपृच्छामन्तरेणापि गच्छतीति । एष गायसक्तेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथा विवरिषु प्रथमतः “आयरिए

निदोसे” इति व्याख्यानयति—

जत्थ गणी न वि नज्जइ, जडेसु य जत्थ नत्थि ते दोसा ।

तत्थ वयंतो मुच्छो, इयरे वि वयंति जयणाए ॥

यत्र गणी आचार्यो न ज्ञायते, अपिशब्दान्न च तथाविधो-दारशरीरो, नापि केनचिदपि सह वादोऽभवत् । यत्र स्वभाषत

एव भद्रेष्वनुक्तदरागद्वेषेषु लोकेषु प्रागुक्ताः रुधादिसमुत्था दोषा न सन्ति, तत्राभिषिञ्ज्यामपि गच्छन्नाचार्यं शुद्धं, इतरेऽपि ये अनापृच्छया गच्छन्ति, येऽपि च प्रतिषेधितास्तेऽपि च यतनया गच्छन्ति ।

का यतना ? इति चेदत आह—

वसतीं असज्जाप, सञ्जादिगतो य पादुणो ददु ।

सोऽं व असज्जायं, वसहिं उर्वेति जणइ अने ॥

वसतावस्वाध्यायो जातो, गुरुवश्च सङ्गाचूम्यादिषु गताः, ततोऽस्वाध्याये, तथा स्वयं (सञ्जादिगतं) सङ्गाचूमिम, आदिशब्दादन्य-
द्वा स्थानं प्रयोजनेन गतः सन् प्राघूर्णकान् समागच्छन्तो दृष्ट्वा नूनमस्माकं वसतिः सकटा प्राघूर्णकाश्च बहवः समागताः, ततो न सर्वेषां सस्तारकयोग्यभूमिरवाप्यते इति विचिन्त्य, तथा पूर्वं वसतावस्वाध्यायो नाभूत् सङ्गादिगतेन च तेन श्रुतं, यथा-जा-
तो वसतावस्वाध्यायस्ततोऽस्वाध्यायं च श्रुत्वा यावद् गुरुणां प्रभु वसतावागच्छति तावद् रात्रिं समापतति, दूरे चाग्नि-
शय्या, रात्रौ च गच्छन्नाभारककमयं, ततोऽनापृच्छयैव तत् स्थानादभिषिञ्ज्यां गच्छति, केवलं येऽन्ये साधवो वसतिमुपय-
न्ति, तान् भणति-प्रतिपादयति, सदिशतीत्यर्थः ।

किं तद् ? इत्याह—

दीवेह गुरुण इमं, दूरे वसही इमो विकालो य ।

संधारकादकाइय-चूर्मीपेहइ एमेव ॥

दीपयत प्रकाशयत-कथयतेति यावत् । गुरुणां, यथा-दूरे वस-
तिरभिषिञ्ज्या । अथ च प्रत्यक्षत उपलब्ध्यमानो विकालः समा-
पतितः, तत एवमेव अनापृच्छयैव युष्मान्, संस्तारकभूमेः काल-
भूमीनां कायिकीचूर्मीनां (कायिकी सञ्जा) उपलक्षणमेतत्-प्रध-
वणचूर्मीनां च प्रेक्षाऽर्थमभिषिञ्ज्यां गत इति । एवमनापृच्छाया-
मपवाद उक्तः ।

सम्प्रति प्रतिषिद्धेऽपवादमाह—

एमेव य पमिसिद्धे, सञ्जादिगयस्स कचि पमिपुच्छे ।

तं पि य होदा असमि-क्खिउण पमिसेहितो जम्हा ॥

कस्यापि साधोरभिषिञ्ज्यादिगमने गुरुणा प्रतिषिद्धे, सञ्जादिग-
तस्य कायिक्यादिगतस्य कायिक्यादिभूमिगतस्य सत एवमेव-
मनन्तरोक्तेन प्रकारेण, गुरुन् प्रति सदेशकथनं ज्ञातव्यम् । कथ-
म् ? इत्याह—(कचि पमिपुच्छे चि) कमपि वृषभं प्रतिपृच्छे-
त्-यथा न मम किमपि गमनप्रतिषेधकारणमभूत्, केवल-
मेवमेव गुरुणा प्रसिद्धः, अथ च मया स्वाध्यायः कर्तव्यः,
वसतौ वा स्वाध्यायादिकमुपजातमतः किं करोमि ? यामि वस-
तिं, प्रतिपृच्छामि गुरुमिति । एवमुक्ते ते वृषभादयोऽभिषिञ्ज्यां गन्तु-
कामाः कालस्य स्तोत्रत्वात् यावद् वसतौ गत्वा गुरुन् प्रतिपृ-
च्छ्य समागच्छन्ति तावद् रात्रिं पततीति तं प्रत्येवमुदी-
रयन्ति । (तं पि येत्यादि) तदपि गुरुणां प्रतिपृच्छनं (होदा
इति) देशीपदमेतत् । दक्षमेव, कृतमेवेत्यर्थः । यस्मादसमी-
क्ष्यापर्यालोच्य, अनाभोगत एवेत्यर्थः । त्वं प्रतिषेधितः, ततो य-
दत्र किमपि गुरवो वक्ष्यन्ते तत्र वयं प्रत्याख्यामः-यथैष न
किमपि गमनप्रतिषेधकारणं कृतवान्, प्रतिपृच्छार्थं चागच्छन्
अस्मान्निर्गारितं, तावत्कालस्याप्राप्यमाणत्वात् । एवमुक्त्वा ब-
लादपि तं वृषभा नयन्ति, सोऽपि च बलाधीयमानश्चिन्तयति-
यथा नास्ति मम कश्चिद्दोषः ? किं न गच्छामीति । स च तत्र ग-

च्छन्, वृषभाश्च येऽन्ये साधवो वसतिमुपयान्ति, नेपा सदेश-
प्रयच्छन्ति ।

अधाममीदृशं प्रतिषिद्धं इति वृषभा' कथं जानन्तीत्यत आह—

जाणंति व तं वमजा, अहवा वमजाणं तोणं सञ्जावो ।

कहितो न मेऽस्थि दोमो, तोणं वसजा बद्धा निति ॥

जानन्ति स्वयमेव तं वृषजाः, यथा-निर्दोष एषोऽकारणे गुरुणा
प्रतिषिद्धः, अस्मत्समक्रमेणास्य प्रायोऽवस्थानात् । अथवा तेन
वृषजाणां सङ्गावः कथितः-यथा न मे कश्चन दोष इति । तत
एतद् ज्ञात्वा गुरुमनापृच्छयैव यथोक्तप्रकारेण वृषजा बद्धाभ्य-
न्ति । योऽपि आचार्यस्य प्रतिचार्यस्य प्रतिचारी पूर्वं प्रतिषिद्धः-
सोऽपि, 'तत्कर्तव्यं यद् वृषभैः सम्पादितं भवति' इति ज्ञात्वा
ततो गच्छत्यभिषिञ्ज्यामिति न कश्चिद्दोषः ।

सम्प्रति अभिषिञ्ज्याया नैषेधिकायाश्च ज्ञेयानाह—

अभिसेज्जमज्जिनीसीहिय, एकैका दुविह दोऽनायव्वा ।

एगवगमाएँ अंतो, वहिया संवच्छऽमंवच्छा ॥

या गन्तव्या अभिषिञ्ज्या, अभिनैषेधिका वा, सा एकैका द्विवि-
धा भवति । तद्यथा-साधुवसते. (एगवगडाए इति) एकवृत्ति-
परिक्षेपायामन्तर्बहिश्च । इयमत्र जावना-द्विविधा अभिषिञ्ज्या,
एका वसतेरेकवृत्तिपरिक्षेपाया अन्तः, अपरा वहिः । एव नैषे-
धिक्यपि द्विविधा भावनीया । नूनं एकैकाऽभिषिञ्ज्या द्विविधा ।
तद्यथा-संबद्धा, असंबद्धा च । तत्र यस्या अभिषिञ्ज्याया वसते-
श्च एक एव पृष्ठवशः सा संबद्धा । यस्या पुनः पृथक् पृष्ठवशः
सा असंबद्धा । अथैकवृत्तिपरिक्षेपस्यान्तरभिषिञ्ज्या द्विविधाऽपि
यथोक्तप्रकारा घटते, या त्वेकवृत्तिपरिक्षेपस्य बहिः सा नूनम-
संबद्धा स्यात्, तस्याः सुप्रतीतत्वात् । या पुनः संबद्धा, सा
कथमुपपद्यते ? उच्यते—यस्या अभिषिञ्ज्याया वृत्तिपरिक्षे-
पस्य बहिर्भूतायाः, वसतेश्च तल्लगनायाः पृष्ठवशोऽपान्तराले च
भित्तिः, सा बहिर्भूताऽपि संबद्धेति । नैषेधिका पुनरन्तर्बहि-
र्वा नियमादसंबद्धैव । हस्तशतस्यान्यन्तरतोऽस्वाध्यायिके
समुत्पन्ने स्वाध्यायासम्भवात् ।

तथा चाऽऽह—

जा सा उ अभिनीसीहिय, सा नियमा होउ ऊ असंबद्धा ।

संवच्छमसंबद्धा, अभिमेज्जा होति नायव्वा ॥

अत्र येति-अवगते, सेनि-यदुक्तं तद्दोषाभावोपक्रमप्रदर्शनार्थमि-
त्यदुष्टम् । याऽस्य अभिनैषेधिका, सा नियमाद्भवत्यसंबद्धा ।
कारणमनन्तरमेवोक्तम्, या त्वभिषिञ्ज्या सा संबद्धा असंबद्धा
च भवति ज्ञातव्या ।

अथ कस्यां वेलायां तत्र गन्तव्यम् ? तत्र आह—

धरमाणच्चिय सूरै, संथारुच्चारकादचूर्मीओ ।

पमिलेहियऽणुसविण, वसहीहें वयंतिपं वेले ॥

योऽसावभिषिञ्ज्यायाः शय्यातरस्तं वृषभा अनुज्ञापयन्ति, यथा-
स्वाध्यायनिमित्तं वयमत्र वत्स्याम इति । तत एव वृषभैरनुज्ञा-
पिते शय्यातरे, धरमाण एव अनस्तमिते एव सूर्ये, तत्राभिषि-
ञ्ज्यायां सस्तारकोच्चारकालभूमी' प्रत्युपेक्ष्य भूयो वसतावागत्य
इमां वेलांमिति " कालाध्वनोर्व्याप्तौ " ॥ ३ । २ । २४ ॥ इति
(हैम) सूत्रेण सप्तम्यर्थे द्वितीया । अस्यामनन्तरं वक्ष्यमाणायाम्
वेलायां व्रजन्ति ।

कस्यां वेलायाम् ? इत्यत आह—

आवस्सय तु काञ्चं, निव्वाघाएण होइ गंतव्वं ।

वाघाएण उ भयणा, देसं सव्व अकाऊण ॥

व्याघातस्य स्तेनादिप्रतिबन्धस्याभावो निर्व्याघातः, तेन निर्व्याघातेन भवति गन्तव्य वसतेराचार्यैः सममावश्यक कृत्वा । व्याघातेन पुनर्हेतुचूतेन भजना विकल्पना । का भजना ? इत्यत आह—देश वा आवश्यकस्याकृत्वा, सर्वे वाऽवश्यकमकृत्वा ।

सम्प्रति यैः कारणैः प्रतिबन्धस्तान्युपदर्शयति—

तेणा सावय-वाला, गुम्मियआरक्खिउवणपभिणीए ।

ऽत्थिनपुंगसं-त्तवासचिक्खिउवणकंटे य ॥

स्तेनाश्चौरास्ते सध्याममये अन्धकारकलुषिते सचरन्ति, इवापदानि वा दुष्टानि भूयांसि तदा उद्वृत्तानि हिपरन्ते, व्याला वा जुजझमादयो वातादिपानाय भूवांसं सचरन्ति, तथा गुल्मेन समुदायेन सचरन्तीति गौडिमका आरक्षिकाणामप्युपरि स्थायिनो हिण्डका, आरक्षका, पुररक्षका, ते अकाले हिण्डमानान् गृह्णन्ति । तथा (उवणं चि) कचिद्देशे एवरूपा स्थापना क्रियते । यथा—अस्तमिते सूर्ये रथ्यादिषु सर्वथा न सचरणीयमिति ; प्रत्युनीको वा कोऽप्यन्तरादिघातकरणार्थं तिष्ठन् वर्तते, स्त्रियो नपुंसका वा कामबहुलास्तदा उपसर्गयेयुः, ससक्तो वा प्राणजातिभिरपान्तराले मार्गः, ततोऽन्धकारेणैर्यापथिकान् शुद्ध्यति । वर्षे वा पतत् सभाव्यते, (चिक्खिउवणं चि) कर्दमो वा पथि चूयानास्ति, ततो राज्ञौ पादलग्न कर्दमः कथं क्रियते ? (कंटे चि) कण्टका वा मार्गेऽतिबहवः, ते राज्ञौ परिहर्तुं न शक्यन्ते । एतैर्व्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशतः सर्वतो वाऽऽवश्यकमकृत्वा गच्छन्ति ।

तत्र देशतः कथमकृन्वेत्यत आह—

शुतिमंगल कितिकम्मे, काउस्सगो य तिविह कियिकम्मे ।

ततो य पभिकमणे, आलोयणयाएँ कितिकम्मो ॥

स्तुतिमङ्गलमकृत्वा, स्तुतिमङ्गलाकरणे चायं विधि—आवश्यकं समाप्ते द्वे स्तुती उभार्य तृतीयां स्तुतिमकृत्वा अभिश्रय्या गच्छन्ति । तत्र च गत्वा पर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य तृतीयां स्तुतिं ददति । अथवा आवश्यकं समाप्ते एका स्तुतिं कृत्वा द्वे स्तुती अभिश्रय्या गत्वा पूर्वविधिनोष्ठाग्यन्ति । अथवा समाप्ते आवश्यकं अभिश्रय्यां गत्वा तत्र निव्रज्य स्तुतीर्ददति । अथवा स्तुतिच्यो यद् वक्ति, तत् कृतिकर्म, तस्मिन्नकृते तेऽभिश्रय्यां गत्वा तत्रैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य मुखवस्त्रिका च प्रत्युपेक्ष्य कृतिकर्म कृत्वा स्तुतीर्ददति । (काउस्सगो य तिविहं चि) त्रिविधे कायोत्सर्गे क्रमेणाकृते, तद्यथा—चरमकायोत्सर्गमकृत्वा अभिश्रय्या गत्वा तत्र चरमकायोत्सर्गादिकं कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कायोत्सर्गौ चरमावकृत्वा, यदि वा त्रीनपि कायोत्सर्गान् अकृत्वा, अथवा कायोत्सर्गभ्योऽर्वाक्कन यत् कृतिकर्म तस्मिन्नकृते, उपलक्षणमेतत्—ततोऽप्यर्वाक्कने क्षामणे, यदि वा ततोऽप्यर्वाक्कने कृतिकर्मणि अकृते अथवा ततोऽप्यर्वाक्कने प्रतिक्रमणे अकृते, यदि वा ततोऽप्यर्वाक्कने आलोचने अकृते, अथवा ततोऽप्यारात्तने वृत्तवर्माणे अकृते, अत्रिंशत्यामुपगम्य तत्र नदाद्यावश्यकं कर्तव्यमिति । एवमावश्यकस्य देशतोऽकरणमुक्तम् ।

इदानीं सर्वस्याऽकरणमाह—

काउस्सगमकाञ्चं, कितिकम्मालोयणं जह्णेषणं ।

गमणम्मि एस विही, आगमणम्मि विहिं वोच्छं ॥

यो दैवासिकानि वारानुप्रेक्षार्थं प्रथमः कायोत्सर्गः, तमप्यकृत्वा । किमुक्तं भवति—सर्वमावश्यकमकृत्वाऽभिश्रय्यां गच्छन्ति, किमेवमेव गच्छन्ति, उतास्ति कश्चन विधिः । उच्यते—अस्तीति धूमः । तथा चाऽऽह—(कितिकम्मालोयणं जह्णेषणं चि) जघन्येन जघन्यपदे सर्वमावश्यकमकृत्वा, सर्वे गुरुच्यो वन्दन कृत्वा, यश्च सर्वोत्तमो ज्येष्ठः स आलोच्य, तदनन्तरमभिश्रय्यां गत्वा सर्वमावश्यकमहीनं कुर्वन्ति । एषोऽभिश्रय्यायां गमने । अभिश्रय्यातः प्रत्यागमने पुनर्यो विधिस्तस्मिदानीं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

आवस्सगं अकाञ्चं, निव्वाघाएण होइ आगमणं ।

वाघायम्मि उ जयणा, देसं सव्वं च काऊणं ॥

यदि कश्चनापि व्याघातो न भवति ततो निर्व्याघातेन व्याघाताभावेनाऽऽवश्यकमकृत्वाऽभिश्रय्यातो वसतावागमनं भवति । आगत्य च गुरुभिः सहावश्यकं कुर्वन्ति । व्याघाते तु भजना । का पुनर्भजना ? इत्यत आह—देशमावश्यकस्य कृत्वा, सर्वे वा आवश्यकं कृत्वा ।

तत्र देशतः आवश्यकस्य करणमाह—

काउस्सगं काञ्चं, कितिकम्मालोयणं पभिकमणं ।

किङ्कम्मं तिविहं वा, काउस्सगं परिष्सा य ॥

कायोत्सर्गमाद्य कृत्वा वसतावागत्य शेषं गुरुभिः सह कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कायोत्सर्गौ कृत्वा, यदि वा त्रीन् कायोत्सर्गान् कृत्वा, अथवा कायोत्सर्गत्रयानन्तरं यत् कृतिकर्म तत्कृत्वा, अथवा तदनन्तरमालोचनामपि कृत्वा, यदि वा तत्परं यत्प्रतिक्रमणं तदपि कृत्वा, अथवा तदनन्तरं यत्कृतिकर्म तस्मिन्निदं—तत् क्षामणादर्वाक्कन, परं वेत्यर्थः, तदपि कृत्वा । पाठान्तरम्—“ तिविहं ते वि ” मूलकृतिकर्मापेक्षया त्रिविधं वा कृतिकर्म कृत्वा । अथवा कायोत्सर्गं चरमं पाण्मासिकं कृत्वा, परिष्ठा प्रत्याख्यानं, तामपि वा कृत्वा । अत्रायं विधिः—सर्वे साधवश्चरमकायोत्सर्गं वसतावागत्य गुरुसमीपे वन्दनं कृत्वा, सर्वोत्तमश्च ज्येष्ठ आलोच्य, सर्वे प्रत्याख्यानं गृह्णन्ति । अथवा—सर्वमावश्यकं कृत्वा, एकां च स्तुतिं दत्त्वा, शेषे द्वे स्तुती कृत्वा, शेषं गुरुसकाशे कुर्वन्ति । तदेवमुक्तं देशतः आवश्यकस्य करणम् ।

अधुना सर्वतः करणमाह—

शुति मंगलं च काञ्चं, आगमणं होति अभिनिषिज्जातो ।

वित्तिपदे जयणा उ, गिह्वाणमादी उ कायव्वा ॥

अथवा प्रत्याख्यानं, तदनन्तरं स्तुतिं, मङ्गलं च स्तुतित्रयाकर्षणरूपं तत्र कृत्वा अभिश्रय्यात आगमनं प्रवर्ति । तत्रैव सामाचारी—गुरुसमीपे ज्येष्ठ एक आलोचयति, आलोच्य प्रत्याख्यानं गृह्णाति, शेषे ज्येष्ठस्य पुरत आलोचना । प्रत्याख्यानं च कृतं, वन्दनं च सर्वे ददति, क्षामणं च । द्वितीयपदे अपवादपदे ग्लानादिषु प्रयोजनेषु भजना कर्तव्या । किमुक्तं भवति—ग्लानादिकं प्रयोजनमुद्दिश्य वसतौ नागच्छेयुरपीति ।

ग्लानादीन्वेव प्रयोजनान्याह—

गेहस्य वास महिआ, पटुड अंतरे निवे अगणी ।

अहिगणहृत्थिसंभम-गेद्वस निवेयणा नवरिं ॥

ज्ञानत्वमेकस्य बहूनां वा साधूनां तत्राभवत्, तन्न सर्वेऽपि साधवस्तत्र व्यापृतीभूता इति न वसतावागमनम् । अथवा वर्ष पतितुमारब्धम् । महिका वा पतितु लग्ना । यद्वा- (पट्टुत्ति) प्रद्विष्टः कोऽप्यन्तरा विरूपकरणाय तिष्ठति । अन्त पुर वा तदानीं निर्गन्तुमारब्धं, तत्र च राज्ञा वदूघोषितम्-यथा पुरुषेण न केनापि रथ्यासु संचरितव्यम् । राजा वा तदा निर्गच्छति, तत्र हयगजपुरुषादीनां संमर्दः । अशिकायो वाऽपान्तराले महान् उत्थितः । अधिकरण वा गृहस्थेन सम कथमपि जातं वृहद्, वृषजास्तदुपशमयितु लग्ना । इस्ति सन्नमो वा जातः । किमुक्त भवति? हस्ती कथमप्यालानस्तम्भ भङ्क्त्वा शून्यासनः स्वेच्छया तदा परिभ्रमति । एतेषु कारणेषु नागच्छेयुरपि वसतिम् । नवरमेतेषु कारणेषु मध्ये ग्लानत्वे विशेषः, यदि ग्लानत्वमागादमुपजातमेकस्य बहूनां वा, तदा गुरुणां निवेदना कर्त्तव्येति । समाप्ता प्राक्तनसूत्रस्य निर्विशेषा व्याख्या । व्य० १ उ० ।

अभिणिषम-अभिनिस्तट-त्रि० । अभिविधिना निर्गता सटास्तदवयवरूपाः, केशरिस्कन्धसटा वा यस्य तदभिनिस्तटम् । बहिरभिनिर्गतावयवे, भ० १५ श० १ उ० ।

अभिणिषिद्ध-अभिनिस्तट-त्रि० । बहिरभागाभिमुखं निस्तटे, जी० ३ प्रति० । रा० ।

अभिणिसेहिया-अभिनेपेधिकी-त्री० । निषेध-स्वाध्याय-व्यतिरेकेण सकलव्यापारप्रतिषेध, तेन निर्वृत्ता नैषेधिकी । अभि अभिमुख्येन सयतप्रायोग्यतया नैषेधिकी अभिनेपेधिकी । दिवा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ प्रतिगन्तव्यायां वसतौ, व्य० १ उ० । (तन्मनवक्तव्यताऽनन्तरमेव 'अभिणिषज्जा' शब्दे ७१५ पृष्ठे दर्शिता)

अभिणिस्सड-अभिनिस्तट-त्रि० । बहिराभिर्गते, "बहिया अभिणिस्सरुओ पमासैति" । भ० १५ श० १ उ० ।

अभिण्णमकम-अभिण्णमकृत-त्रि० । आभिमुख्येन कर्मणा माया वा कृते, "अभिण्णमकडेहिं मुच्छिप, तिव्व से कस्मेहिं किञ्चती" । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अभिण्ण-अभिण्ण-त्रि० । अविशीर्ण, उपा० २ अ० । भिन्नशब्दार्थविरुद्धे, वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अभिण्णगति-अभिण्णग्रन्थि-पु० । सकृदप्यनवाप्तसम्यग्दर्शने, पञ्चा० ११ विव० ।

अभिण्णपुडो-देशी-रिक्तपुटे, शिशुभिः क्रीमया जनप्रहोभार्थं विपणिमार्गे रिक्ता पुटिका या किप्यते सैवमुच्यते । दे० ना० १ वर्ग ।

अभिण्णाय- (जाणिय)-अभिज्ञाय-अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । बुद्धेत्यर्थे, आन्ना० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० । आभिमुख्येन परिच्छिद्य इत्येतेषां शब्दानामर्थेषु, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिण्णायदंसण-अभिज्ञातदर्शन-त्रि० । सम्यक्त्वभावनया प्राविते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अभिण्णायार-अभिज्ञाचार-पुं० । न भिन्नो न केनचिदप्यतीचारविशेषेण स्वरिडत आचारो ज्ञानाचारादिको यस्यासाव-
१८३

भिज्ञाचारः । (व्य०) जात्योपजीवनादिपरिहरति, व्य० ३ उ० । अजितत्त-अभितप्त-त्रि० । अग्निना अभिमुख्येन सन्तापिते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अजितप्पमाण-अभितप्यमान-त्रि० । कदर्थ्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अभिताव-अभिताप-अव्य० । तापाग्निमुखे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तपुपानशाल्मल्यालिङ्गनादिरूपे सन्तापे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । दाहे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अभिष्टुय-अभिष्टुत-त्रि० । विशिष्टगुणोत्कीर्तनेन व्यावर्णिते, संथा० ।

अभिष्टुवमाण-अभिष्टुवत्-त्रि० । संस्तुवति, स्था० ६ उ० । अभिष्टूयमान-त्रि० । अभिनन्दमाने संस्तूयमाने, स्था० ६ उ० । कल्प० । आ० म० ।

अभिदुग्ग-अभिदुर्ग-पु० । कुम्भीशाल्मल्यादौ, (सूत्र०) अतिविषमे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । अग्निस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अभिदुय-अभिद्रुत-त्रि० । अथवसायरूपेण व्याप्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । गर्माधानादिद्वैः पीडिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अभिधारण-अभिधारण-न० । प्रव्रज्यार्थमाचार्यादेर्मनसा सकल्पने, तच्च द्विधा-अनिर्दिष्टं, निर्दिष्ट च । अनिर्दिष्टं नाम अभिधारयन् कमप्याचार्य विशेषतो न निर्दिशति । स च अभिधारको द्विधा-सही, असही च । पुनरेकैको द्विधा-गृहीत-विह्वः, अगृहीत-विह्वः । (वृ०) मनसि करणे, वृ० ३ उ० । व्य० ।

अभिधेज्ज-अभिधेय-त्रि० । अर्थे शब्दवाच्ये, यथा घटशब्देन घटोऽभिधीयते । विशेषः । नि० चू० ।

अभिपवुट्ठ-अभिप्रवृष्ट-त्रि० । कृतवर्षे, "वासावासे अभिपवुठे बहवे पाणा" । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिप्रायणाम-अभिप्रायिकनामन्-न० । अभिप्रायतः क्रियमाणे नामनि, अनु० ।

से किं तं अभिप्रायणामे ? । अभिप्रायणामे अंवाणं निबुणं वकुलणं पलासणं सिणणं पीलुणं करीरणं । सेत्तं अभिप्रायणामे ॥

इह यदृक्षादिषु प्रसिद्धम् 'अम्बक-निम्बक' इत्यादि नाम देशरुद्ध्या स्वाभिप्रायानुरोधतो गुणनिरपेक्ष पुरुषेषु व्यवस्थाप्यते, तदभिप्रायिक स्थापनानामेति । प्रावार्थ-तदेतत्स्थापनाप्रमाणनिष्पन्नं सप्तविधं नामेति । अनु० ।

अभिप्राय-अभिप्राय-पु० । मनोविकल्पे, विशेषः । बुद्धिविपर्यये, आ० म० द्वि० । बुद्धेरध्यवसाये, आ० म० प्र० । चेन-प्रवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अभिप्रायश्चतुर्विध-औत्पत्तिकी, वैयर्थिकी, कर्मजा, पारिणामिकीत्यादिना । आ० चू० । संविज्ञानमवगमो प्रावोऽभिप्राय इत्यनर्थान्तरम् । आ० म० प्र० । (अस्य च 'बुद्धि' शब्दे व्याख्या द्रष्टव्या)

अभिप्रायसिद्ध-अभिप्रायसिद्ध-पु० । बुद्धिसिद्धे, आ० म० ।

साम्प्रतमभिप्रायसिद्ध प्रतिपादयन्नाह—

विपुला विमला सुहृमा, जस्स मई जो चउविहाए वा ।
बुद्धीए संपन्नो, स बुद्धिसिद्धो इमा सा य ॥

विपुला विस्तारवती, एकपदेनानेकपदानुसारिणीति भावः ।
विमला संशयविपर्ययानध्यवसायमलरहिता, सुहृमा अतिदुर्लभ-
बोधसूक्ष्मव्यवहितार्थपरिच्छेदसमर्था, यस्य मतिः स बु-
द्धिसिद्धः । यदि वा—यश्चतुर्विधया श्रौतपत्तिकयादिभेदभिन्नया
बुद्ध्या संपन्नः स बुद्धिसिद्धः । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।
(अस्य कथा 'उपपत्ति' शब्दे द्वितीयभागे ८२५ पृष्ठे कृष्टः)

अभिप्रेय-अभिप्रेत-त्रि० । मनोविकल्पिते, विशेष० । आचा० ।
कामयति, दश० ६ अ० । अभिप्रेतविषये, सयोगे च । उक्त० १
अ० । ('सजोग' शब्देऽस्य विवृतिः)

अभिभव-अभिजव-पुं० । अभियोगे, आव० ५ अ० । पगजये,
आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आ० चू० । अभिभवो नामादिभेद-
तश्चतुर्धा । द्रव्याभिजवो रिपुसेनादिपराजयः, आदित्यतेजसा
वा चन्द्रग्रहनक्षत्रादितेजोऽभिभवः । भावाभिजवस्तु-परीषदो-
पसर्गानीकजयात् ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायकर्मनिर्वहण, प-
रीषदोपसर्गादिसेनाविजयाद्विमल चरण, चरणशुद्धेर्ज्ञानावर-
णादिकर्मकृत्, तत्कृत्याभिरावरणमप्रतिहतमशेषज्ञेयग्राहि केव-
लमुपजायते । इदमुक्तं भवति-परीषदोपसर्गज्ञानदर्शनावरणीय-
मोहान्तरायाण्यभिभूय केवलमुत्पाद्य तैरुपलब्धमिति । आचा०
१ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अभिजाविय-अभिज्यू-अव्य० । जित्वेत्यर्थे, म० ६ श० ३३ उ० ।

अभिज्यू-अभिज्यू-अव्य० । अभिमुख्येन पीमयित्वेत्यर्थे,
सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जित्वेत्यर्थे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । परा-
जित्वेत्यर्थे सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दश० । तिरस्कृत्येत्यर्थे च । आ-
चा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अभिज्यूत-त्रि० । व्याप्ते, ज० २ वक्त्र० । तिरोहितशुभव्यापारे
च । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिज्यूणाणि (ण)-अभिज्यूज्ञानिन्-पुं० । अभिज्यू
पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवला-
व्य तेन ज्ञानेन ज्ञानी । केवलानि, सूत्र० १ श्रु० ६ उ० ।

अभिमतिकण-(अभिमतिय)-अभिमन्य-अव्य० । मन्त्र-
पात्रेन सस्कृत्येत्यर्थे, "रायगणे जे खमा, अच्चाति ते अभिम-
निय आगासेण उप्पाइया" आ० म० द्वि० । नि० चू० ।

अभिमन्जु-अभिमन्यु-अव्य० । "न्यएयोर्झः" ८ । ४ । ३०५ ।
इति पैशाच्यां न्यएयोः स्थाने ङो जातः । अर्जुनस्य सुमद्रायां
जाते पुत्रे, प्रा० ४ पाद ।

अभिमय-अभिमत-त्रि० । इष्टे, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । विशेष० ।

अभिमयड-अभिमतार्थ-पुं० । अवधारितार्थे, ज्ञा० १ अ० ।

अभिमाण-अभिमान-पुं० । अभि-मन्-भावे घञ् । आत्मन्यु-
त्कर्षारोपे, मिथ्यागर्वे, अर्थादिदपे, ज्ञाने, प्रलये, हिंसायां च ।
वाच० । "अभिमाणो माणो नएणनि" । नि० चू० १ उ० ।
('इन्द्रजित्' शब्दे द्वितीयभागे ५४४ पृष्ठे नदिममानो कृष्टः)

अभिमाणवक्त्र-अभिमानवक्त्र-त्रि० । अभिमानारूपदे, सूत्र० १
श्रु० १३ उ० ।

अभिमार-अभिमार-पुं० । विशेषतोऽग्निजनके धृक्विशेषे,
उक्त० ३ उ० ।

अभिमुद्-अभिमुख-त्रि० । अभि भगवन्तं सद्यीकृत्य मुख-
मस्येति अभिमुखः । भगवतः समुखे, रा० । कृतोद्यमे, पा० ।
च० प्र० । ज्ञा० । स्था० । अन्त० । सू० प्र० । औ० ।

अभियंद-अभिचन्द-पुं० । महाबलस्य राक्षः स्वनामख्याते
प्रियवयस्ये, ज्ञा० ७ अ० ।

अभियावण-अभ्यापन्न-त्रि० । अभिमुख्येन जोगानुकूल्ये-
नाऽऽपन्नो व्यवस्थितः । सावधानुष्ठानेषु प्रतिपन्ने, सूत्र० १ श्रु०
४ अ० २ उ० ।

अभिरद्-अभिरति-स्त्री० । लोकेऽर्थादिभ्य आभिमुख्येन रतौ,
विशे० ।

अभिरमंत-अभिरममाण-त्रि० । अभितो रतिं कुर्वाणे, "अभि-
रममाणा तुष्टा" प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अभिराम-अभिराम-त्रि० । रस्ये, ज्ञा० १३ अ० । औ० । अभिर-
मणीये, च० प्र० २० पादु० । विपा० । रा० । आ० म० । स० ।
मनोहरे, ज्ञा० १७ अ० । मनोहरे, कल्प० १ क० ।

अभिरुद्-अभिरुचित-त्रि० । स्वादुजावमिचोपगते, म० ६
श० ३३ उ० ।

अभिरुव-अभिरूप-त्रि० । अभि आभिमुख्येन सदाऽवस्थितानि
रूपाणि राजहंसचक्रवाकसारसादीनि गजमहिषमृगयूयादीनि
वा जलान्तर्गतानि करिमकरादीनि वा यस्मिंस्तदभिरूपमिति ।
सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अभिरूपं प्रति प्रत्येकमभिमुखमतीव
चेतोहारित्वाद् रूपमाकारो यस्य स अभिरूपः । रा० । अभि-
सर्वेषां रूपानां मनःप्रसादानुकूलतया अभिमुख रूप यस्य तत्
अभिरूपम् । अत्यन्तकमनीये, तं० । जी० । प्रज्ञा० । स्था० ।
अभिमतरूपे, विपा० १ श्रु० २ अ० । ज० । छद्म छद्म प्र-
त्यभिमुखं न कस्यचिद्विरागहेतुरूपमाकारो यस्य सोऽभिरूपः ।
रा० । अभिमुखमतीवोत्कट रूपमाकारो यस्य स । सू० प्र० १
पादु० । मनोहररूपे, ज्ञा० १ अ० । उपा० । औ० । म० । अभि-
प्रतिक्षणं नव नवमिव रूप यस्य तदभिरूपम् । आ० म० प्र० ।
अनुसमयमहीयमानरूपे, स० । "अभिरुवं अभिरुवं पभिरुवं
पभिरुवं पासादीयं पासादीय" आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अभिलप-अभिलाप्य-त्रि० । कथनयोग्ये, प्रज्ञापनयोग्ये,
आ० म० प्र० । सूत्र० । "जे पुण अभिलप्या ते दुविहा भव-
ति । तं जहा-परणवणिज्जा, अपएणवणिज्जा य । तत्थ जे ते
अपएणवणिज्जा तेसु वि ण चेव अहिगारो अत्थि सि । जे पुण
पणवणिज्जा भावा ते केवलणाणेण पासिऊण तित्थयरो ति-
त्थकरनामकम्मोदपण सव्वसत्ताण अणुगहनिमित्त प्रासति" ।
आ० चू० १ अ० ।

अभिलाव-अभिलाप-पुं० । अभिलप्यते आभिमुख्येन व्यक-
मुच्यते अनेनार्थ इत्यभिधापः । वाचके शब्दे, तद्विषये सयोगे
च । उक्त० १ अ० । आ० म० । विशेष० । प्रज्ञा० ॥

अजिलावपावियठ-अभिलापपुर्वितार्थ-पु० । शब्दसमष्टेऽर्थे,
कर्म० ६ कर्म० ।

अजिलावपुरिम-अभिलापपुरुष-पुं० । अभिलप्यतेऽनेनेति
अभिलापः शब्दः, स एव पुरुषः पुलिङ्गतयाऽभिधानात् । पु-
रुषभेदे, यथा-घटः कुटो वेति । आह च-"अजिलावो पुलि-
गाजिहाणमेतं घटो ज्व" । स्था० ३ ठा० १ उ० । आ० चू० ।
विशे० । आ० म० ।

अभिलास-अभिलाष-पु० । इच्छायाम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।
लब्धेऽप्यधिकतरस्य चाच्छायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० । यदि-
दमह प्राप्नोमि ततो ज्वय भवतीत्याद्यन्तरानुविद्धायां प्रार्थना-
याम्, न० । ममैवंरूपं घस्तु पुष्टिकारि, तद्यदीदमवाप्यते ततः
समीचीनं जवतीत्येवं शब्दार्थोद्धेखानुविद्धे स्वपुष्टिनिमित्तप्रत-
प्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसाये, न० । आ० म० । दृष्टेषु श-
ब्दादिषु जोगेच्छायाम्, ज्ञा० ए अ० ।

अजिवाह्वि-अभिवाह्वित-त्रि० । मासभेदे, संवत्सरभेदे च । स्था० ।
तत्र एकत्रिंशद्दिनानि, एकत्रिंशत्युत्तरशतं चतुर्विंशत्युत्तरशन-
जगानामजिवाह्वितमासः, एवविधेन मासेन द्वादशप्रमाणोऽ-
जिवाह्वितसंवत्सरः । स च प्रमाणेन त्रीणि शतान्यह्नां ज्योति-
त्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्विषष्टिजागा-३८३ । ४४ । ६२ ।
स्था० ५ ठा० ३ उ० । वृ० कल्प० । स० । च० प्र० । व्य० । यस्मिन्
संवत्सरे अधिकमाससमवेन त्रयोदश चन्द्रमासा भवन्ति, सो-
ऽजिवाह्वितसंवत्सरः । उक्तं च-"तेरस य चंदमासा, एसो
अभिवह्विओ उ नायवो" ज० २ वक्त्र० ।

ता एषसि णं पंचएहं संवच्छराणं पंचमस्स अभिवह्वि-
यसंवच्छरस्स अभिवह्वियमासे तिमतीमुहुत्तेणं अहोरत्तेणं
गणिज्जमाणे केवइयराइंदियगेणं आहिए ? । ता एकतीसं
राइंदियाइं एगुणतीसं च मुहुत्ता सत्तरसवावह्विभागे मुहुत्तस्स
राइंदियगेणं आहितेति वदेज्जा । ता से णं केवइए मुहुत्तगे-
णं आहिता ? । ता एव एगुणसट्ठे मुहुत्तसते सत्तरस य वाव-
ह्विभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तगेण आहिता । ता एतेसि णं अक्का
उवालसखुत्तकडा अजिवाह्विए संवच्छरे । ता से णं केवइय
राइंदियगेणं आहिता ति वदेज्जा ? । ता तिप्पि तेसीए रा-
इंदियसते एकवीसं च मुहुत्ते अट्ठारसवावह्विभागे मुहुत्त-
स्स राइंदियगेणं आहिता ति वदेज्जा । ता से णं केव-
तियमुहुत्तगेणं आहिता ति वदेज्जा ? । ता एकारमुहुत्तस-
हस्सा पंचए एकारे मुहुत्ते सते अट्ठारस य वावह्विभागे
मुहुत्तस्स मुहुत्तगेणं आहिता ति वदेज्जा ॥

ता एषसि ण, इत्यादि पञ्चमाभिवाह्वितसंवत्सरविषय
प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह-(एकतीसमित्यादि) ता
इति पूर्ववत् । एकत्रिंशद् रात्रिन्दिवानि, एकोनत्रिंशच्च मु-
हूर्ता, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदश द्वाषष्टिजागा रात्रिन्दि-
वाप्रेणाख्याता इति वदेत् । तथाहि-त्रयोदशजिह्वन्द्रमासै-
रजिवाह्वितसंवत्सरः । चन्द्रमासस्य च परिमाणमेकोनत्रि-
शत् रात्रिन्दिवानि, एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वात्रिंशद् द्वा-
षष्टिभागा । २६ । १३ । एतत् त्रयोदशभिर्गुण्यते ततो यथा-
सनव द्वाषष्टिभागः रात्रिन्दिवेषु कृतेषु जातमिदं त्रीण्यहो-

रात्रिशतानि ज्योतिष्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिजागा
अहोरात्रस्य-३८ । ३ । १३ । एतदभिवाह्वितसंवत्सरपरिमाण-
म् । तत्र त्रयाणां अहोरात्रशतानां ज्योतिष्यधिकानां द्वादशभि-
र्भागे कृते लब्धा एकत्रिंशद् अहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्त्येकादश । ते
मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जानानि त्रिंशदधिका-
नि त्रीणि शतानि ३३० । येऽपि च चतुश्चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा
रात्रिन्दिवस्य, तेऽपि मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जानानि
त्रयोदशशतानि त्रिंशत्यधिकानि १३२० । तेषां द्वाषष्ट्या भागो
ह्रियते, लब्धा एकत्रिंशतिमुहूर्ताः, शेषास्तिष्ठन्त्यष्टादश । तत्रै-
कत्रिंशतिमुहूर्ता मुहूर्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जानानि मुहूर्तानां
त्रीणि शतान्येकपञ्चाशदधिकानि ३५१ । एतेषां द्वादश-
भिर्भागो ह्रियते, लब्धा एकोनत्रिंशत् मुहूर्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति
त्रयः । ते द्वाषष्टिजागकरणार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जानं
षडशीत्यधिकं शतम् १८६ । ततः प्रागुक्ता शेषीकृता मु-
हूर्तस्याष्टादश द्वाषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते चतु-
रसरे २०४ । तयोर्द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा मुहूर्तस्य
सप्तदश द्वाषष्टिभागाः । (ता से णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् ।
सोऽजिवाह्वितमासं कियान् मुहूर्ताप्रेणाख्यात इति वदेत् ? ।
भगवानाह-(ता नवेत्यादि) नव मुहूर्तशतानि एकोनषष्ट्यधि-
कानि ९५६ । सप्तदश च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागाः । तथाहि-
एकत्रिंशदप्यहोरात्राः त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि
त्रिंशदधिकानि मुहूर्तानाम् । तत उपरितना एकोनत्रिंशन्मुह-
ूर्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्तानामेकोनषष्ट्यधिकानि नव-
शतानि । (ता एषसि णमित्यादि) प्राग्वद् व्याख्येयम् । (ता से
णमित्यादि) रात्रिन्दिवप्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवानाह-(ता
तिष्ठीत्यादि) त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि ज्योतिष्यधिकानि एक-
त्रिंशतिमुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्याष्टादश द्वाषष्टिभागा रात्रि-
दिवाप्रेणाख्याता इति वदेत् । तथाहि-एकत्रिंशद् अहोरात्रा द्वा-
दशभिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि द्विसप्तत्यधिकानि रा-
त्रिन्दिवानाम् ३७२ । तत एकोनत्रिंशत् मुहूर्ता द्वादशभिर्गुण्यन्ते,
जातानि त्रीणि शतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ३४८ । तेषां
महोरात्रकरणार्थं त्रिंशता भागो ह्रियते, लब्धा एकादश अहोरा-
त्राः, अष्टादश तिष्ठन्ति । येऽपि च सप्तदश द्वाषष्टिजागा मुहूर्त-
स्य, तेऽपि द्वादशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते चतुरसरे २०४ ।
ततो द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयो मुहूर्ताः, ते प्राक्तेषु
अष्टादशसु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकत्रिंशतिमुहूर्ताः । शेषा-
स्तिष्ठन्त्यष्टादश द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य । (ता से णमित्यादि)
प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-(एकारसेत्यादि) एकादश
मुहूर्तसहस्राणि पञ्च मुहूर्तशतानि एकादशाधिकानि अष्टा-
दश च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्येति मुहूर्ताप्रेणाजिवाह्वितसंवत्सर
आख्यात इति वदेत् । तथाहि-अभिवाह्वितसंवत्सरस्य परिमाणं
त्रीण्यहोरात्रशतानि ज्योतिष्यधिकानि एकत्रिंशतिमुहूर्ताः, एक-
स्य च मुहूर्तस्याष्टादश द्वाषष्टिभागास्तत्र एकैकास्मिन् रात्रि-
दिवे त्रिंशद् मुहूर्ता इति त्रीण्यहोरात्रशतानि ज्योतिष्यधिका-
नि त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितना एकत्रिंशतिमुहूर्ता-
स्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो यथोक्ता मुहूर्तसंख्या भवतीति ।
च० प्र० १२ पाहु० । नि० चू० । ज्यो० । ज० । (अवशेषा च-
कन्यता " मास " " संवत्सर " शब्दयोः करिष्यते)

अभिवहेमाण-अभिवह्वयत्-त्रि० । अभिवह्वि कुर्वाणे, ज० ७ वक्त्र० ।

अभिवायण-अभिवादन-न० । वाहनमस्कारे, दश० २ चू० ।
उत्त० । पादयोः प्रणिपतने, त० । कायेन प्रणिपाते, सथा० ।
आचा० ।

अभिवायमाण-अभिवादयत्-त्रि० । अभिवादने कुर्वाणे, आ-
चा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिवाहरण-अभिव्याहरण-स्त्री० । संशब्दनायाम्, पञ्चा०
२ विव० ।

अभिवाहार-अभिव्याहार-पुं० । अभिव्याहरणमभिव्याहारः ।
कालिकादिश्रुतविषये उद्देशसमुद्देशादौ, आलोचनादिषु अष्टमे
वये, विशेष० । आ० म०

अधुना चरमद्वारं व्याचिख्यासुराह—

अभिवाहारो कालिय-सुयस्स सुत्तत्थतदुभयं ति ।

दन्वगुणपज्जर्वोद्धं य, दिष्ठीवायम्मि बोधव्वे ॥

अभिव्याहरणं शिष्याचार्ययोः वचनप्रतिवचने अभिव्याहारः ।
स च कालिकश्रुते आचारादौ, (सुत्तत्थतदुभयं ति) सूत्रतो
ऽर्थतः, तदुभयतश्च । इयमत्र भावना-शिष्येण इच्छाकारेणोदम-
क्षाद्युद्दिष्टस्त्वैत्युक्ते सति इच्छापुरस्सरमाचार्यवचनम्-“अहमस्य
माधोरिदमङ्गमभ्ययनमुद्देशं वा उद्दिशामि” वदामीत्यर्थः । आसो-
पदेशपारम्पर्यव्यापनार्थं कृमाश्रमणानां हस्तेन सोत्प्रेक्षया सूत्र-
तोऽर्थतस्तदुभयतो वाग्रसिद्धिः कालिकश्रुते । अथोत्कालिके दृष्टिवादे
कथम् ? इत्यत आह-द्वयगुणपर्यायैश्च दृष्टिवादे बोद्धव्योऽभि-
व्याहारः । एतदुक्तं भवति-शिष्यवचनानन्तरमाचार्यवचनम्-“उ-
दमुद्दिशामि सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतो ह्यव्यगुणपर्यायैरनन्तरम-
ङ्गसहितैरिति” । एवं गुरुणा समादिष्टेऽभिव्याहारे शिष्याभिव्या-
हारः । शिष्यो ब्रवीति-“उद्दिशस्वेदं मम, इच्छाम्यनुशासनं कि-
यमाणं पुण्यैरिति । एवमभिव्याहारद्वारमष्टमं नीतिविशेषनये ।
आ० म० प्र० ।

अभिवाहि-अभिविधि-पुं० । सामस्त्ये, पञ्चा० १५ विव० ।
आ० म० ।

अभिवृद्धि-अभिवृद्धि-पुं० । अहिर्बुजापरनामके उत्तरभाक्ष-
दनकृत्रे, ज० ७ वक्त्र० ।

अभिवृद्धि-अभिवर्ध-अव्य० । अभिवृद्धिं कारयित्वेत्यर्थे,
सू० प्र० १ पाहु० ।

अभिर्वज्रण-अभिव्यञ्जन-न० । स्वरूपतः प्रकाशने, सूत्र० १
श्रु० १ अ० १ उ० ॥

अभिसंका-अभिशङ्का-स्त्री० । तथ्यानिर्णये, सूत्र० २ श्रु० ६
अ० । स्था० । “भूयाभिसंकां दुग्गुभाणे, ण णिव्वहे मतप-
हेण गोय” मूनेषु प्राणिषु अभिशङ्का उपमर्दशङ्का, तयाऽऽशी-
र्वादं सावद्य, जुगुप्सां वा न भ्यात् । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अभिसंकि (ए)-अभिशङ्किन्-त्रि० । “उज्जु मारामिशं-
की मरणा पमुच्चति” । मरणं मारं, तदभिशङ्की मरणा-
दुद्विग्नस्तत्करोति येन मरणात् प्रमुच्यते । आचा० १ श्रु० ३
अ० १ उ० ।

अभिसं (स्तं) ग-अभिष्वङ्ग-पुं० । भावरान्ते, विशेष० । अशु-
पपत्तौ, स्था० ३ वा० ४ उ० ।

अभिसंजाय-अभिसंजात-त्रि० । पेशीं यावदुत्पन्ने, आचा०
१ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंधारण-अभिसंधारण-न० । पर्व्यालोचने, आचा० १
श्रु० १ अ० १ उ० ।

अभिसंधिय-अभिसंधित-त्रि० । गृहीते, आचा० १ श्रु० ४
अ० २ उ० ।

अभिसंचय-अभिसंचय-त्रि० । यावत्कलत्रं तावदभिसंभूता ।
आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रादुर्भूते, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिसंवह-अभिसंवह-त्रि० । धर्मश्रवणयोग्यावस्थायां वर्तमाने,
आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंनुह-अभिसंनुह-त्रि० । धर्मकथादिकं निमित्तमासाद्यो-
पलब्धपुण्यपापतया ज्ञाते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसमन्वाग-अभिसमन्वागत-त्रि० । अभिराजिमुख्येन स-
म्यगिष्टानिष्टवध्वारणतया अन्विति शब्दादिस्वरूपापगमात् प-
श्चादागतो ज्ञातः परिच्छिन्नः । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । प्रज्ञानं
आभिमुख्येन व्यवस्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । परिभो
गत उपजोगं प्राप्ते, ज्ञा० २ श्रु० । विशेषतः परिच्छिन्ने, म० ५ श०
४ उ० । मिहिते, ज० १५ श० १ उ० । अभिविधिना, सधार्णीत्य-
र्थः । समन्वागतानि सप्राप्तानि जीवेन रसानुभूतिं समाश्रित्य
(ज० १३ श० ४ उ०) उदयावलिकायामागतेषु, ज० १३ श० ७
उ० । भोग्यावस्थां गतेषु, स्था० ४ वा० ३ उ० ॥

अभिसमागम-अभिसमागम-पुं० । अभिर्त्याभिमुख्येन न तु
विपर्यासरूपतया समिति सम्यक् न संशयतया तथा आ-म-
र्यादया गमनमभिसमागमः । वस्तुपरिच्छेदे, स्था० ।

तिविहे अभिसमागमे पञ्चत्वे । तं जहा-उद्धं अहं तिरियं ।
जया णं तहा स्वस्स समणस्स वा माहणस्स वा अइसेसे
णाणदंसणे समुप्पज्जइ, से णं तप्पदमयाए उद्धमजिसमेइ,
तओ तिरियं, तओ पच्चा, अहे अहोवोणेणं डुर-
जिगमे पञ्चत्ते समणाउसो ! ॥

(अइसेसं ति) शेषाणि उग्रसंज्ञानान्वतिक्रान्तमतिशेषं ज्ञानं
दर्शनं, तच्च परमावधिरूपमिति सम्भाव्यते, केवलस्य न क्रमे-
णोपयोगः ; येन-तत्प्रथमतयेत्यादि सूत्रमनवद्यं स्यादिति । तस्य
ज्ञानादेरुत्पादस्य प्रथमता तत्प्रथमता, तस्याः (उद्धं ति) ऊर्ध्व-
लोकमभिसमेति-समभिगच्छति जानाति । ततस्तिर्यगिति ति-
र्यङ्लोकं, ततस्तृतीये स्थाने अथ इत्यधोलोकमभिसमेति । एव च
सामर्थ्यात्प्राप्तमधोलोको दुरभिगमः, क्रमेण पर्यन्ताधिगम्यत्वा-
दिति । हे अमणायुप्पन्न ! इति गौतममन्त्रमिति । स्था० ३
वा० ४ उ० ।

अभिसमागम-अभिसमागम-अव्य० । अभिराभिमुख्ये, स-
मेकीजावे, आह-मर्यादाभिविध्योः । गम्ल-सुप्ल-गतौ, सर्व एव
गत्यर्थां ज्ञानार्थां हेयाः । आभिमुख्यं सम्यग्ज्ञातेत्यर्थः, “एव
अभिसमागम-चित्तमादाय आउसो” दशा० ५ अध्या० ।
आचा० ॥

अभिसमेच्च-अभिसमेत्य-अव्य० । आभिमुख्येन सम्यगित्वा
ज्ञात्वा । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आभिमुख्येन सम्यक्

परिच्छिद्य पृथक् प्रवेदितं वा । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।
अवगम्येत्यर्थः, स्था० ७ उ० । आचा० । समधिगम्य अवबु-
ध्येत्यर्थः, अभिसमेत्य धर्म यावत्केवलित्वमुपादयेत् । "धर्मोपा-
देयतां ज्ञात्वा, सजातेच्छ्रोऽत्र भावतः । दृढ स्वशक्तिमाहोच्य,
ग्रहणे संप्रवर्तते " ॥१॥ स्था० २ उ० १ उ० ।

अभिसरण-अभिसरण-न० । आपेक्षिकसमुच्चाराभिगमने, प्रश्न०
१ आध० द्वा० ।

अभिसरित-अभिसरित-त्रि० । रत्यर्थं सङ्केतस्थलं प्रापिते,
आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ॥

अभिसव-अभिषव-पुं० । अनेककल्पसन्धाननिष्पन्नसुरासौवी-
रकादौ मांसप्रकारस्त्रणादौ सुरामध्वाद्यभिष्यादिद्रव्ये, कल्पो-
पयोगे च । अथ च सावपाहारवर्जकस्यानाभोगातिक्रमादि-
नाऽतिचारः । प्रव० ६ द्वार ।

अभिसिच-अभिविक्त-त्रि० । कृतान्निषेके जातान्निषेके, "अ-
णेन अमयकक्षसेण अभिसिचो अन्मदिय सोजितुमादत्तो"
आ० म० प्र० ।

अभिसेग-अभिषेक-पुं० । द्युक्रयोणितानिषेकादिकमे, आचा०
१ श्रु० ६ अ० १ उ० । सर्वौषधिसमुपस्कृततीर्थोदकै राज्याधिष्ठा-
तृत्वादिप्राप्त्यर्थं मन्त्रोच्चारणपूर्वकं तद्योग्यशिरसोऽभ्युक्षणम् ।
स्था० ।

तत्रेन्द्राणामनिषेक इत्यम्-

जेणामेव अभिसेयसभा तेषामेव उवागच्छति, उवागच्छि-
त्ता अभिसेयसत्तं अणुपयाहिणं करेमाणे पुरच्छिमिद्वेष्टेणं
दारेणं अणुपविसति, अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणे-
व उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणवरगते पुर-
च्छाभिमुहे साणिसण्ये । तए यं तस्स विजयस्स देवस्स
सामाणियपरिसोववाणगा देवा आभिओगीए देवे सदावे-
ति, सदावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव जो देवाणुप्पिया ! तुम्हे
विजयस्स देवस्स महत्तं महत्तं महत्तं विपुलं इंदानिसेयं
उवट्ठवेह । तए णं ते आनिओगिया देवा सामाणियपरिसो-
ववणएहिं देवेहिं एवं उत्ता समाणा इट्ठं जाव हियया कर-
तन्नपरिगहिय सिरसावचं मत्थए अंजलिं कट्ठु 'एवं देवा तह
त्ति' आणाए विणएणं वयणं पमिसुणेंति, पमिसुणेंत्ता उत्त-
रपुरच्छिमं दिसीजागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता वेउन्वियसमु-
ग्घाएणं समोहणंति, समोहणेंत्ता मंखिजाइ जोयणाइ ममं
णिसरंति, णिसरित्ता तावइयाइं पोग्गलाइं गेएइइ । तं जहा-
रयणाए० जाव रिट्ठाए अहा वायरे पोग्गले परिसामेंति, परि-
साहित्ता अहा सुहमे पोग्गले पणित्तायनि, पणित्ताइत्ता दोचं पि
विउन्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणंत्ता अट्ठमयं सोव-
क्षियाणं कलसाणं, अट्ठमयं रूपमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं
मणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं सुवस्सरूपमयाणं कलसाणं,
अट्ठसहस्सं सुवस्सरूपमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं रूपमणिमा-
णं कलसाणं, अट्ठसयं सुवस्सरूपमणिमयाणं कलसाणं, अट्ठ

सयं जूमियाणं कलसाणं, अट्ठसयं जिगाराणं कलसाणं,
एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं चि-
त्ताणं रयणकरंढगाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमह-
त्थचंगेरीणं पुप्फपरुद्धगाणं० जाव लोमहत्थपरुद्धगाणं अ-
ट्ठमयं सीहासणाणं ठत्ताणं चामराणं अवपमगाणं वट्ठ-
काणं सिप्पीणं खोरकाणं पीणगाणं तेलसमुग्गकाणं अट्ठस-
हस्सं धूवककुत्थकाणं विउन्वंति । तेमा भावियए विउन्वियए
य कलसे य० जाव धूवककुत्थए य गेएहंति, गेएहत्ता विज-
याओ रायहाणीओ पमिनिक्खमंति, पमिनिक्खमित्ता ताए
उक्किट्ठाए० नाव उक्कत्ताए दिव्वाए देवगतीए तिरियमसंखे-
ज्जाणं दीवममुद्दाणं मज्जं मज्जेणं वीथीवयमाणा वीथीव-
यमाणा जेणेव खीरोदे समुहे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवा-
गच्छित्ता खीरोदगं गेएहंति, खीरोदगं गेएहत्ता जाइं तत्थ
उप्पलाइं० जाव सयसहस्सपत्ताइं गेएहंति, ताइं गेएहत्ता
जेणेव पुक्खरोदे समुहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता
पुक्खरोदगं गेएहंति, पुक्खरोदगं गेएहत्ता जाइं तत्थ
उप्पलाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं गेएहंति, ताइं गेएहत्ता
जेणेव ममयखेत्ते जेणेव भरहेरवयाडवासाइं जेणेव मा-
गधवरदामप्पभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति, तेणेव
उवागच्छित्ता तित्थोदगं गेएहंति, तित्थोदगं गेएहत्ता ति-
त्थमट्ठियं गेएहंति, तित्थमट्ठिय गेएहत्ता जेणेव गंगामिधुर-
चवतीओ सल्लिलाओ तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवाग-
च्छित्ता सरितोदगं गेएहंति, सरितोदगं गेएहत्ता उजयो
तट्ठमट्ठियं गेएहंति, तट्ठमट्ठियं गेएहत्ता जेणेव चुट्ठाहिमवत-
सिहरिवासपन्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता
सन्वतुवरे य सन्वपुप्फे य सन्वगंभे य सन्वमट्ठे य सन्वोसहिं
सिच्छत्थए य गेएहंति, गेएहत्ता जेणेव पउमदहं पुंमरियदहा
तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता दहोदगं गेएहंति, दहो-
दगं गेएहत्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं
गेएहंति, ताइं गेएहत्ता जेणेव हेमवतेरसवयाड वासाइं जेणेव
रोहिता रोहितातंसा सुवस्सरूपकलाओ तेणेव उवाग-
च्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सल्लिलोदगं गेएहंति, सल्लिलोदगं
गेएहत्ता उभयो तट्ठमट्ठियं गेएहंति, उजयो तट्ठमट्ठियं गे-
एहत्ता जेणेव सदावतित्रियमावतिमालवंतपणियागावट्ठ-
वेयहपन्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सन्वतु-
वरे य० जाव सन्वोमहिसिद्धत्थए य गेएहंति, सिच्छत्थए
गेएहत्ता जेणेव महाहिमवतरुप्पिवासहरपन्वते तेणेव उवाग-
च्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सन्वपुप्फे त चेव० जेणेव महापउ-
मदहमहापुंमरीयदहा तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता
जाइं तत्थ उप्पलाइं तं चेव० जेणेव हरिवासरम्मगवासाइं जे-
णेव हरिकानाओ मल्लिलाओ नरगताओ तेणेव उवागच्छंति,

तेणेव उवागच्छिता सल्लिहोदगं गेहंति, सल्लिहोदगं गे-
 एहिता तं चेव० जेणेव विरहावतिगंधावति० वट्टवेयहूपव्या
 तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छिता मव्वपुप्फे य तं चेव०
 जेणेव णिसद्वणीद्ववंतवासहरपव्वता तेणेव उवागच्छति,
 तेणेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य तं चेव० जेणेव तिगिच्छि-
 हं केमरिहं तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छिता द-
 होदगं गेहंति, दहोदगं गेहिहता तं चेव० जेणेव पुव्ववि-
 देहवरविदेहवासाणि जेणेव सीयामीओयामहानईओ
 जहा नईसु जेणेव सव्वचक्कवट्टिविजया जेणेव विदेहवरवि-
 देहवासाइं जेणेव सव्वमागहवरदामपभामाइं तित्थाइं जेणेव
 सव्वंतरणदीओ० सल्लिहोदगं गेहंति, मल्लिहोदगं गेहिहता
 तं चेव० जेणेव सव्ववक्कवारपव्वता० मव्वतुवरे य तं चेव०
 जेणेव मंदरे पव्वए जेणेव जइमात्तवणे तेणेव उवागच्छति,
 तेणेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिंसिद्धत्थए
 य गेहंति, गेहिहता जेणेव नंदणवणे तेणेव उवागच्छति,
 तेणेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिंसिद्धत्थए
 य सरसं च गोसीसचदणं गेहंति, गेहिहता जेणेव सोमण०
 सवणे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छिता सव्वतुवरे
 य० जाव सव्वोहिंसिद्धत्थए य सरसं च गोसीसचदणं दिव्वं
 च सुमणदामं गेहंति, सुमणदामं गेहिहता जेणेव पंगुगवणे
 तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छिता सव्वतुवरे य० जाव
 सव्वोसहिंसिद्धत्थए य सरसं च गोसीसचदणं दिव्वं च
 सुमणदामं दहरमत्तयसुगंधिगधिं य गंधं गेहंति, गेहिहता
 एगतो मिलंति, एगतो मिद्धिता जंबूदीवस्स पुरच्छिमिद्धेणं
 दारेणं णिगच्छति, पुरच्छिमिद्धेणं दारेणं णिगच्छिता
 ताए उक्किट्टाए० जाव दिव्वाए देवगतीए तिरियमसखेज्जाणं
 दीवममुहाणं मज्जं मज्जेणं दीतीवयमाणा जेणेव विजया
 रायहाणी तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छिता विजय ग-
 यहाणि अणुप्पयाहिण करेमाणे करेमाणे जेणेव अजिमेयम-
 ज्ञा जेणेव विजयदेवे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छि-
 ता करयत्तपरिगहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कटु जण-
 णं विजएण वद्धावेति, वद्धावित्ता विजयस्स देवस्स तं
 महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं अभिसेयं उवड्ढेति ॥

टीका पाठसिद्धा । जी० ३ प्रति० । रा० । औ० । ज० । आचा-
 र्यपदेऽजिषिको य सोऽजिषेक । नि० चू० १५ उ० । सूत्रार्थ-
 तदुभयोपेते आचार्ये, व्य० १ उ० । आचार्यपदस्थापनाई, वृ०
 ३ उ० । उपाध्याये, जीत० । गणावच्छेदके, नि० चू० १५ उ० ।

अभिसेगजलपूयप (ए)-अभिषेकजलपूतात्मन्-पु० । अ-
 भिषेकनो जज्ञेन पवित्रित आत्मा यैस्ते तथा । तथाविधज-
 लचोक्षेषु धानप्रस्थेषु, औ० ।

अभिसेगपेह-अभिषेकपीठ-पु० । न० । अभिषेकमरुपान्तर्गते
 अभिषेकसिंहासनाधिष्ठाने पीठे, ज० ३ वक्क० ।

अभिसेग (य) भरु-अभिषेकभाण-न० । अभिषेकयोग्ये
 उपस्करे, रा० । जी० ॥

अभिसेग (य) सभा-अभिषेकसत्ता-स्त्री० । अभिषेका-
 र्थसभायाम्, यस्यां राज्याभिषेकेणाभिषिच्यते । स्था० ५
 उ० ३ उ० ।

अभिसेगसिल्ला-अभिषेकशिला-स्त्री० । तीर्थकराणामभिषे-
 कार्थशिलायाम्, स्था० ।

जंबू ! मंदरपव्वयपंगुगवणे चत्तारि अभिसेगसिल्लाओ
 पणत्ताओ । तं जहा-पंगुकंबलसिद्धा, अतिपंगुकंबलसिद्धा,
 रत्तकंबलसिद्धा, अतिरत्तकंबलसिद्धा ।

अभिषेकशिला चूलिकायाः पूर्वदाकिणापरोत्तरासु दिक्षु क्रमे-
 णावगम्या इति । स्था० ४ उ० २ उ० ।

अभिसेगा-अभिषेका-स्त्री० । गच्छमहत्तरिकायाम्, नि० चू० ६
 उ० । प्रवर्तिनी आगमपरिभाषयाऽभिषेकेत्युच्यते, ध० ३ अधि० ।
 जिज्ञुष्यां च । नि० चू० १५ उ० ।

अभिसेज्जा-अभिषेकशय्या-स्त्री० । अभिनिषद्यायाम्, व्य० १
 उ० । यस्यां नैषेधिकायां दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा
 रात्रिमुषित्वा प्रातर्वसतिमुपयान्ति । व्य० १ उ० ।

अभिसेसंग-अभिषेक-पु० । गेहादिष्वभिषेके, प० व० ।

जो एत्थ अभिसेसंगो, संतासंतेसु पावहेतुं ति ।

अट्टज्जाणविअप्पो, ॥

लोकेऽभिषेकं मूर्च्छालक्षणः सदसत्सु गेहादिषु पापहेतुरि-
 ति पापकारणमार्तध्यानविकल्पः । अणुमध्यानभेदोऽभिषेकः ।
 प० व० १ उ० । पञ्चा० ।

अभिहट्टु-अभिहृत्य-अव्य० । बलात्कृत्येत्यर्थे, “ सेवं वदंत-
 स्स परो अभिहट्टु अंतो पमिनाहसि बहुअठियं मसं परिभाए-
 ता णिहट्टु दलपज्जा ” आचा० २ श्रु० १ उ० १ उ० ॥

अभिहट्टु-अभिहृत्य-न० । अभि-साध्याजिमुखं हृतमार्तं स्था-
 नांतरादभिहृतम् । अभ्याहृते, पञ्चा० १३ विध० । साधुदानाय
 स्वग्रामान्तरग्रामाद् वा समानीते एकादशोद्गमदोषदुष्टे, पि० ।

अथाभ्याहृतचारमाह-

आडन्नपणाइत्तं, निसीहमनिसीहयं अभिहट्टं वा ।

तत्थ निसीहानीयं, ठप्पं वोच्छामि नोनिसीहं तु ॥

अभ्याहृत द्विविधम् । तद्यथा-आचीर्णम्, अनाचीर्णं च । तत्राना-
 चीर्णं द्विधा । तद्यथा-निशीथान्ध्याहृतं, नोनिशिथान्ध्याहृतं च । तत्र
 निशीथमर्द्धरात्रं, तत्रानीतं किल प्रच्छन्नं भवति, यत्र साधूना-
 मपि यदाविदितमभ्याहृतं तन्निशीथान्ध्याहृतम् । तद्विपरीतं नो-
 निशीथान्ध्याहृतम्-यत्साधूनामभ्याहृतमिति विदितं भवति ।
 तत्र निशीथान्ध्याहृतं स्थाप्यम् । अग्रे वक्ष्यत इति भावः । सप्र-
 ति पुनर्वक्ष्यामि नोनिशिथान्ध्याहृतमिति ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

सग्गामपरग्गामे, सदेसपरदेसयेव वोधव्वं ।

उविहं तु परग्गामे, जलथल नावोडुजंयाए ॥

नोनिशीयाभ्याहृत द्विविधम् । तद्यथा-स्वप्नामे स्वप्नामविषय, परप्नामे परप्नामविषयम् । तत्र यस्मिन् प्रामे साधुनिधयसति स किञ्च स्वप्नामः । शेषस्तु परप्नामः । तत्र परप्नामे परप्नामविषयमभ्याहृत द्विविधम् । तद्यथा-स्वदेश परदेश च । स्वदेशं स्वप्नामाभ्याहृत, परदेश परप्नामाभ्याहृतं चेति । तत्र स्वदेशो यत्र देशमण्डले साधुनिधयते, शेषस्तु परदेशः । एतद् द्विविधमपि प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-(जलपक्षे चि) सुचनारमूत्रमिति कस्या जलपयेनाभ्याहृतं, स्वपयेनाभ्याहृतं च । तत्र जलपयेनाभ्याहृतं द्विधा-नाया, उजुपेन च । उपसक्तपमेतत् । तेन स्लोकजलमभायनायां जहास्यामपि । तत्र गीर्वाणिका, उजुपं तरणकाष्टम् । तुम्बकादि बोहुपान्मिदमेतत् गृहीतं जहप्यम् । स्वपयेनाभ्याहृतं द्विधा । तद्यथा-जहया, पवप्याम् । उपसक्तपमेतत् । तेन गजवादिना च ।

तत्रामूलेय जलस्वप्नाभ्याहृतभेदान् समपञ्चं विनायपन्
दोषान् प्रदर्शयति-

जंयाबाहृतगीष्, जले पले गंधप्ररगुरनिबद्धा ।
मंनमआयविराहण, तदिय पुण संनमे काया ॥
अत्थाह गाहपंका, मगरोहारा जले अवायाओ ।
कंटाहिनेणमावय, पलस्मि एए जने दोसा ॥

तत्र जलमार्गे स्तोत्रसभायनायां जहास्याम्, स्वप्नोक्तसभायनायां बाहुप्याम्, यदि वा तद्विषया । उपसक्तपमेतत् । उजुपेन वाहप्याहृतं स्वपयति । स्वप्नमार्गे तु स्वपयेन, यथा-(अरगुरनिबद्धं चि) अत्र गृहीतपार्थ प्रथमा । ततोऽपमर्षं अस्मात्पट्टा मन्त्री, तथा । गुरनिबद्धा रामनवमीयदादय, मै । अत्र च दोष मयम गंधा धना, आत्मविराधना च । तत्र स्वप्नामविषयनामात्त मयम विषया विराधना जलमार्गे स्वप्नमार्गे वा-वाया अकाश-दया विराधयमाना जहप्या । जलमार्गे आत्मविषयनामात्त (अथाहप्यादि) अत्र प्राहृतत्वात् कयविष् विमर्षासोप, कयविष् विमर्षविषयिणाम् । ततोऽपमर्षं-अस्मात्पे वादादिमिदमयमनोऽधोभूभागे अपोमिदमनननननोऽपाधो भयति । तथा प्राहृत्यो जलपरविशेयेन, यथा गहृत्तं वर्दमरुपात् ; स्वपया मकरप्य, यथा-(उहारे चि) कच्छपेन्य । उपसक्तपमेतत्-प्रत्येक्यं वाहप्यं वाहप्यं वाहप्यं वाहप्यं विनाशायो शोवा मययति । स्वप्नमार्गे आत्मविषयनामात्त (कंटाह्यादि) कण्टकंरया, याद या महिष्यो, यथा स्तोत्रेन्य, मयया भावयेत्य । उपसक्तपमेतत्-मयराष्ट्रगादकपरिधेयेन्य स्वपले स्वप्नमार्गे, पलेऽपमर्षा दोषाः प्रसिपलप्याः । उक्तमनाचीर्ण परप्नामाभ्याहृत नोनिशीयम् ।

सप्रति तदेव स्वप्नामाभ्याहृत नोनिशीय गाथाद्वयेनाह-

मग्नामे वि य दुषिद्ध, घरतर नोयंतरं चेय ।
तिपरंतरा परेण, घरतर तत्तु नायज्वं ॥
नोपरतरऽनेगविहं, वाटगमाहीनिवेसणगिहेयु ।
कापोयवधमिम्य-कंसेण य त तु आणेजा ॥

स्वप्नामविषयमभ्याहृत द्विविधम् । तद्यथा-गृहान्तरं, नो-गृहान्तरं च । तत्र त्रिगृहान्तरादपरेण-श्रीणि गृहाण्यन्तरं गृह्या परतो यदानीत तद् गृहान्तरम् । एव च सति किमुक्तं भवति ? यद् गृहप्रथमयादानीयते, उपयोगश्च तत्र सभवति, तद् आचीर्णम-

यसेयम् । नोगृहान्तरमनेकविधम्, तच्च पाटकादिविषयम् । तत्र पाटक-प्रतिच्छन्नं प्रतिनियतं सन्निवेश । सादी-पतनी, सैवे-वा अपातगलेपिचने, मनु गृहा-तरमिषयं । निधेशनम् एक-निष्क्रमप्रवेशानि आदिगृहाणि । गृह-केयस मन्दिरम् । एतच्च सकलमपि पाटकादिविषयमनार्त्तमनुपयोगसजये वेदितव्यम् । तदपि च गृहान्तराभ्यां च नोनिशीयं स्वप्नामाभ्याहृत प्रतिलाभयितुमीप्सितस्य साधोऽपाधयमानयेत्-कापोऽप्या, यदि वा स्कन्धेन । उपसक्तपमेतत्-तेन करादिना च, यदि वा मृन्मयेन प्राजनेन, यथा कांश्येन ।

सप्रत्यक्षेय स्वप्नामविषयिणो नोनिशीयाभ्याहृतस्य संभवमाह-

मुखं च असङ्कातो, पण्यं च परेण च पामुत्ता ।

इय एइ काय मेचुं, दीवेइ य कारणं तं तु ॥

इह साधुनिधामटन इपि गृहे प्रविष्ट, पर तत्तदानीं शून्यं बहिर्निर्गतमानुषमासीत् । यथा-भवापि तत्र रायते, इत्यस्य स्वप्नमार्गे भिक्षाकाशः । यदि वा तत्र प्रवृत्त गौरवादिस्वजनो-जनादिकं गते, ततो न तदानीं साधये भिक्षा दातु प्रसारिता, यदि वा विहृत्य साधोर्गतस्य पक्षाप्रदेणक सदेणकमागत, त-थोत्पत्त्यात् किल साधये दातव्यम् । अथवा तदा आदिका प्रसुता-श्रापता आसीत्, ततः साधये भिक्षा न दत्ता । इति एतैः कारणैः, कथितं आदिका मद्गृहाद् गृहीत्या साधोऽपाधयमानयेत्, तन्नामयनस्य कारणं 'तद् शून्यं गृहमासीत्' इत्यादिरूप दीवर्षात् प्रकाशयति । तत् एव नोनिशीयस्वप्नामाभ्याहृतस-प्रत्यक्षेयम् । स्वप्नामपरप्नामभेदमिदं नोनिशीयाभ्याहृतम् ।

तत्र स्वप्नामपरप्नामभेदमिदं नोनिशीयाभ्याहृतमपि देशेनाह-

पसेन कपो निगमा, निर्मीहमभिहरे वि होइ गापज्वो ।

अविडगदापगनारं, निर्मीहमभिहरे तु नायज्वं ॥

य एव तत्र स्वप्नामपरप्नामादिको नोनिशीयाभ्याहृते उक्तः, स एव निर्मीयाभ्याहृते नियमाद् ज्ञानव्यः । सप्रति निर्मीयाभ्याहृतस्य रूपं कथयति-"अपिहय" इत्यादितः । यतिना न विहृतो दापकस्याभ्याहृतदामपरिणामो यत्र, तेन अपिहितदय-कमाय निर्मीयाभ्याहृतमपगतव्यम् । किमुक्तं भवति ?-मयथा नापुना अभ्याहृतयेन यद् अपरिहृतं तन्निशीयाभ्याहृतमिति परप्नामाभ्याहृत उक्तः ।

स एव निर्मीयाभ्याहृतो नाथाचतुष्टयेनोच्यते-

अट्टर जज्ञंतगिया, कम्पामंकाए ठान पेच्छंति ।

आणेति मंगरीओ, मट्टा मट्टी व पच्छं ।

निगम टेज्ज दाण, टियाए मन्नाइनिगए दाणं ।

मिट्टाम्पि मेमगमण, टिज्जे चारयतऽप्पे ।

जुजण अजीगुज्ज-कृगाऽ अच्छति जुत्तमेसं वा ॥

आगम निर्मीहिगाई, न भुंजई सावगामंका ।

ठाक्खत्तं निक्खत्तं, आमगयं मट्टगम्पि पासगए ।

खामिजु गया सट्टा, ते वि य सुद्धा असदभावा ॥

कचित् प्रामे धनायदप्रमुखा यदव आधकाः, धनप्रतीप्रभृत-यश्च आधिका, एते चाप्येककुटुम्बपरिनि । अन्यथा तेपामावसथे विवाहः समजनि, गृहे च तस्मिन् प्रचुरमोक्षापुद्गरितम्, तत-स्मैरचिन्ति-यौतम् साधुच्यो दीयता, येन मटःपुण्यमस्माकं

जायते । अथ च केचित् साधवोऽतिदूरेऽवतिष्ठन्ते, केचित् पुनः प्रत्यासन्नाः, परमन्तराले नदी विद्यते, ततस्तेष्वप्यायेषु विराधनां भावयन्तो नागमिष्यन्ति, आगता अपि च प्रचुरमोदकादिकमवलोक्य कथ्यमानमपि शुद्धमाधाकर्मशङ्कया न ग्रहीष्यन्ति । ततो यत्र ग्रामे साधवो निवसन्ति तत्रैव प्रच्छन्न गृहीत्वा व्रजाम इति । तथैव च कृतम् । ततो भूयोऽपि चिन्तयन्ति-यदि साधूनाहूय दास्यामस्ततोऽगुह्यमाशङ्क्य ते न ग्रहीष्यन्ति । तस्मात् तद् द्विजादिभ्योऽपि किमपि दत्तं, तच्च तथादीयमानमपि यदि साधवो न प्रेक्ष्यन्ते ततस्तदवस्थैव तेषामगुहाऽऽशङ्कया न विष्यति । ततो यत्रोच्चारादिकार्यार्थं निर्गताः सन्तः साधवः प्रेक्ष्यन्ते तत्र दत्त इति । एवं च चिन्तयित्वा विवक्षिते कस्मिंश्चित् प्रदेशे कस्याचिद् देवकुलस्य घटिर्भागे द्विजादिभ्यः स्तोके स्तोके दातुमारब्धम्, तत उच्चारादिकार्यार्थं विनिर्गताः केचम साधवो दृष्ट्वा, ततस्ते निमग्नानाः । यथा भो साधवः ! अस्माकमुद्धरितं मोदकादिकं प्रचुरमवतिष्ठते ततो यदि शुष्माकं किमप्युपकरोति तर्हि तत् प्रतिगृह्यतामिति । साधवोऽपि शुष्ममित्यवगम्य प्रत्यगृह्णन् । तैश्च साधुभिः शेषाणामपि साधूनामुपादेशि-यथाऽमुकस्मिन् प्रदेशे प्रचुरमेवणीयमशनादि लभ्यते । ततस्तेऽपि तद्गृह्णाय समाजगमुः । तत्र चैके श्रावकाः प्रचुरमोदकादिकं प्रयच्छन्ति । अन्ये च मातृस्थानतो (मायाविशेषात्) निवारयन्ति-यथैवं तावद्दीयतां माऽधिकं, शेषमस्माकं भोजनाय भविष्यति । अन्ये पुनस्ता-नेव निवारयन्तः प्रतिषेधयन्ति । यथा-न केऽप्यस्माकं भोक्ष्यन्ते, सर्वेऽपि प्रायो ह्युक्ता, तनः स्तोकात्रेण किञ्चिदुद्धरितेन प्रयोजनं, तस्माद् यथेच्छं साधुभ्यो दीयतामिति । साधवश्च ये नमस्कारसहितप्रणामान्नास्ते भुक्ता, ये चापौरुषीप्रत्याख्यानास्ते ह्युज्जाना वर्तन्ते । ये चाजीर्णवन्तः पूर्वाद्धादिप्रतीक्ष्यमाणा वर्तन्ते ते नाद्यापि जञ्जने । श्रावकाश्च चिन्तयामासु-यथेदानीं साधवो भुक्ता न विष्यन्ति, ततो वन्दित्वा निजस्थानं व्रजाम इति । एव च चिन्तयित्वा समधिकप्रहरवेलाया साधुभ्यो वसनावागत्य नैवेद्यक्यादिका सकलामपि श्रावकक्रियां कृतवन्तः । ततो ज्ञानं यथाऽत्र श्रावकाः परमविवेकिनो ज्ञातारश्च परस्परया विवक्षितमभवा-स्तव्याः, ततः सम्यग्विमर्शयोद्भावितम्-नूनमस्माभिर्मत्तमेतत् स्वग्रामादभ्याहृतमिति, ततो यैश्चैतैर्भुक्तमेव, ये त्वद्यापि पूर्वा-र्द्धादिप्रतीक्ष्यमाणा न भुञ्जते, तैर्न भुक्ता, येऽपि च भुञ्जाना अवतिष्ठन्ते, तैरपि यः कवल उत्क्रिस्तः स भाजने मुच्यते, यत्तु मुखे प्रक्षिप्तं नाद्यापि गिहितं, तद् मुखाद् निःसार्य समीपस्थापिते मल्लिके प्रतिक्षिपेत् । शेषं तु प्राजनगतं सर्वमपि परिस्थापितम् । श्रावकश्राविकावर्गश्च सर्वोऽपि क्षमयित्वा स्वस्थानं जगाम । तत्र ये भुक्ता ये चाऽर्द्धभुक्तास्तेऽपि सर्वेऽप्यशुभभावा इति शुद्धा । सूत्रं सुगमम् । केवलं (अद्दूरं जलतरियं चि) केचित् अतिदूरे, कचित् नद्यन्तरिता । उक्तं परग्रामाभ्याहृतं निशीथम् ।

अथ स्वग्रामाभ्याहृतं तदेव गाथाद्वयेनाह—

लज्जं पहेणग मे, अमुगत्थगयाएँ सखमीए वा ।

वंदणगट्टपविट्ठा, देऽ तय पाट्टिय-नियत्ता ॥

नीयं पहेणग मे, निद्रगाण नेच्छिय च तं नेहिं ।

सागरियसज्जिया वा, पम्पिकुट्टा सखमे रुट्ठा ॥

इह काचिदन्याहृतशङ्कानिवृत्त्यर्थं किमपि गृहं प्रति प्रस्थिता, त-

तो निवृत्ता सती साधो' प्रतिवाभनायोपाश्रयं प्रविश्य साधुसमु-खमेवमाह-जगवन् ! प्रहेणकमिदममुकास्मिन् गृहे गतया सखम् । यद्वा-क्वापि सखड्यां सप्रति वन्दनार्थमहं प्रस्थिता, तत्रात्र प्रतीष्टं, ततो यदि शुष्माकमिदमुपकरोति तर्हि प्रतिगृह्यतामिति तत् आनीतं ददाति । यद्वा एवमाह-निजकानां स्वजनानामर्थाय प्रहेणकं मया स्वगृहाणीत, परं तैर्नैच्छितं ततस्तद्गृहात् प्रतिनिवृत्ता वन्दनार्थमत्रागतेति, ततस्तद्गृहात् । यदि वा मायया काचिदभ्याहृतमानीय सागारिकां शय्यातरिं, यद्वा-‘सज्जित’ वसतिप्रतिवेशनीं पूर्वगृहीतसकेतां, यथा साधवः शृण्वन्ति तथा प्रवक्षि-गृहाणेद् प्रहेणकमिति । तथा च मातृस्थानतः प्रतिषिद्धम् । यथा-त्वयाऽप्यमुकस्मिन् दिने मदीयं प्रहेणकं न जगृहे, ततोऽहमपि त्वदीयं न गृहीष्यामीत्येव निषिद्धा । ततः साऽपि मातृस्थानतः किञ्चित्परुषं प्रत्युक्तवती । द्वितीययाऽपि तथैव भाषितं, त एव परस्परं सखमे कलहे सति सा प्रहेणकनेत्री रुष्टा रोषवती वन्दनार्थं वसतौ प्रविशति, ततोऽनन्तरं वृत्तं वृन्तातं कथयित्वा तदानीतं ददाति । उक्तं स्वग्रामाभ्याहृतमपि निशीथम् ।

संप्रत्यनाचीर्णं निगमयन्नाचीर्णस्य भेदानाह—

एयं तु अणाञ्जं, दुविहं पि य आहटं समक्खायं ।

आइन्न पि य दुविहं, देसे तद् देसदेसे य ॥

एतत् पूर्वोक्तमभ्याहृतं निशीथ-नोनिशीथभेदाद्, यद्वा-स्वग्रामपरग्रामभेदाद् द्विविधमभ्याहृतमनाचीर्णमकल्पनीयम् । संप्रत्याचीर्णं वक्ष्ये । तदपि द्विविधम्, तद्यथा-देशो, देशदेशे च ।

सप्रति देशस्व देशदेशस्य च स्वरूपमाह—

हत्थसयं खलु देसो, आरेणं होइ देसदेसो य ।

आइन्नं तिन्नि गिहा, ते चि य ठवओगपुव्वगा ॥

हस्तशतं हस्तशतप्रमितं क्षेत्रो देशः । हस्तशतादारात् हस्तशतमध्ये इत्यर्थः, देशदेशः । अत्र हस्तशतप्रमाणे आचीर्णे यदि गृहाणि त्रीणि प्रवन्ति, नाधिकानि, ततः कल्पते । तान्यपि चेद्गृहाणि उपयोगपूर्वकाणि प्रवन्ति । उपयोगस्तत्र दातुं शक्यते इत्यर्थः । ततः कल्पते, नान्यथेति ।

सप्रति गृहत्रयव्यतिरेकेण हस्तशतादिसंभव

तद्विषये कल्पविधिं चाऽऽह—

परिसेवणपंतीए, दूरपसे य घंघसालगिहे ।

हत्थसया आइन्नं, गहणं परओ ठ पम्पिकुट्टं ॥

परिविष्यते ततो भोजनं दीयते येभ्यस्ते परिवेषणा भुजानाः पुरुषा, तेषां पङ्क्तिः श्रेणिः, तस्यां तत्र, यस्मिन् पर्यन्ते साधुसघाटको वर्तते, द्वितीयं तु देयं तिष्ठति । तत्र च स्पृष्टास्पृष्टभयादिना गन्तुं शक्यते । एवमुत्तरयोरपि पदयोर्भावनीयम् । ततः परिवेषणपट्टस्याम् । यद्वा-दूरप्रदेशे प्रलम्बगमनमार्गं गिरिकादौ, यदि वा घट्टशालागृहे, हस्तशतादानीतस्य ग्रहणमाचीर्णं कल्पत इत्यर्थः । परतस्तानीतस्य ग्रहणं प्रतिगृह्य-निराकृतं तीर्थकरादिभिः ।

संप्रत्यस्यैवाचीर्णस्य भेदान् प्रदर्शयति—

उक्कोसमज्जिमज्ज-न्नगं तु तिविहं तु होइ आइन्नं ।

करपरियत्तं जहन्नं, सयमुक्कोसं मज्जमं सेसं ॥

त्रिविधमाचीर्णमभ्याहृतम् । तद्यथा-उत्कृष्टं, मध्यमं, जघन्यं च । तत्र यदा ऊर्जाकुपारिधात् कथमपि हस्तयोगेन मुष्टिशुद्धीतेन वा मयमकादिना, यदि वा स्वपत्यादिपविषणार्थमोदनभृतशकरोटिकयोत्पादितया व्यवतिष्ठते । अत्रान्तरे च कथमपि साधुरागच्छति भिक्षार्थं, तस्मै च यदि करस्थ ददाति तदा करप्रवर्तनमात्र जघन्यमभ्याहृतमाचीर्णम् । इस्तशतादभ्याहृतमुत्कृष्टम् । शेषं तु हस्तशतमध्यवर्ति मध्यमम् । तदेवमुक्तमभ्याहृतम् । पि० ध० आचा० स्था० । आच० । व्य० । सूत्र० । नि० चू० "गिहिणो अभिहमं सेयं, ह्रुजीओ ण उ भिक्खुणो" गृहिणा गृहस्थानां यदभ्याहृतं तद्यतेर्जोक्तुं श्रेयः श्रेयस्कर, न तु भिक्षुणां सक्तीति (प्रश्नः) । अत्र तनुत्वं चास्या वाच एव द्रष्टव्यम्-यथा गृहस्थाभ्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां नृजमादिदोषरहितमिति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । "अत्र प्रायस्वग्रामाभिहडे मासलहुं, परगमाभिहडे निष्पञ्चवाप चउलहु, सपञ्चवाप चउगुरु" । पि० चू० ।

अभिहृतशब्दव्याख्या-

जे भिक्खू गाहावइकुलं पिंढवायपामियाए अणुपाविट्ठं समाणे परं तिघरंतराओ असणं वा पाणं वा खाइम वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

"जे भिक्खू गाहावतिकुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं तिघरंतराओ" इत्यादि । तिषि गिहाणि तिघिर, तिघरमेव अंतर तिघरंतरं । किमुक्तं भवति ?-गृहत्रयात्परत इत्यर्थः । अहवा तिषि दो अंतरात्परत इत्यर्थः । आचारा शुद्धीत्वा किंचित् असणादी अभिहडदोसेण जुत्त आहट्टु साहुस्स देज्ज, जो अणाइसु तिघरतरापरेण, आइसो वा अणुवउत्तो गेएहति, तस्स मासलहु । नि० चू० ३ उ० । (अन्ययुक्तैः सहाभिहृतग्रहणव्याख्या 'अणुजत्थिय' शब्दे ४६६ पृष्ठे उक्ता)

जे भिक्खू परं अणुजोयणमेराओ सपञ्चवायांसि अभिहडमाहट्टु दिज्जमाणं पमिगाहेइ, पमिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ।

अणुजोयणाओ परओ सपञ्चवापण पदेण अभिहमं-अजिराभिमुख्ये, इज्ज-हरणे, अभिमुख हृतम्, आनीतमित्यर्थः । त पडिगाहेति जो भिक्खू, सो आणादी पावति, चउगुरु च से पच्छिच । एसो चेव अत्थो इमो-

परमणुजोयणाओ, सपञ्चवायांसि अभिहडाणीयं ।

वं जे भिक्खू पायं, पमिच्छते आणमादीणि ॥ १७ ॥

कंज । इमेहि वा सावायो पदे-

सावय तेणा उविहा, सन्वालजला महानदी पुत्रा ।

वणहत्थिदुद्रसप्पा, पडिणीया चेव नु अवाया ॥ १८ ॥

सीहादिया सावया । तेणा उविहा-सरीरोवगरणे । जलेगाहमगराहपहि सन्वाला महानदी वा अगाधा पुत्रा, वणहत्थो वा उज्जे पदे । कुर्माणसादिसप्पा वा पदे विज्जति, गिहिण वा वेत्तियादिपमिणीया संति, एवमादिआऽवार्णीह इमे दोसा ॥ १८ ॥

तेणादिसु जं पावति, विराहए अंतरा काया ।

बद्धहियमारिते वा, उट्ठाहपदोमवोच्छेदो ॥ १९ ॥

सो गिहत्थो आणत्तो तेणसमयातो अं घातादि पावति । १८४

आदिसहातो सिंहवग्घादियाण वा समीवानो ज पावति, सो वा गिहत्थो आणत्तो ज कमाइए तेणादिपहारे पावति, अतरा वा पुढवादीए काए विराहेज्जा, वदिमाहे तेणेहि वा बद्धो हिओ वा जुज्जतो वा मारितो वा, ताहे सयणादिजणो भासति-सजयाण पादे नैतो सावगो मारिओ ति । एवं उट्ठाहो । तस्स वा सयणिज्जा पदोस गच्छेज्जा, नहव्वस्स वा वोच्छेद करेज्जा । सो वा पदोसं गच्छे वोच्छेद वा करेज्जा, जम्हा एवमादि, तम्हा आहंरणो गेएहेज्जा, अप्पणा गवेसेज्ज । वित्थियपदेण गिहत्थाणीत पि गेएहेज्जा ॥ १९ ॥

असिने ओमोयरिए, रायदुट्ठे नए व गेल्ले ।

सेहे चरित्तसावय-नए य जयणा इमा तत्थ ॥ २० ॥

सक्खेत्ते पादाए असतीए दुल्लेसु वा, असिबगहितो वा गंतुमसमत्थो, अहवा पायज्जमीए अंतरा वा असिब ओम वा, एवं रायदुट्ठवोहिगमयं वा, सयं गिहाणे वाचमो वा, सेहस्स वा तत्थ सारिय मा सदिजेज्जा । चरित्तदोसा वा, तत्थ अणेसणादिया दोसा, सावयभयवा, तत्थ एवमादिकारणेहि इमं जयणं करोति ।

अप्पाहिंति पुराणा-दि पादमत्थेण आणयह पायं ।

तेहिं च सयमाणीए, गहणं गीतेतरे जयणा ॥ २१ ॥

अप्पाहण सदेसो, पुराणस्स सदिसति । आदिगहणेणं गिही-ताणुव्वयसावगस्स वा, सम्मदिहिणो वा सदिसति । पादसत्थेण आणयध, तेहिं वा आणीता जदि सव्वे गीयत्थातो गेएहति, इतरा अगीयत्था तेसु जयणं करोति, पुण्ण पमिसेहिंत्ता जिन्ने भावे तेहिं तेहिं य जदा अत्तट्ठिया तदा गेएहंति ।

एसेव कपो णियमा, आहारे सेमए य उवकरणे ।

पुव्व अवरे य एए, सपज्जवा एतरे लहुगा ॥ २२ ॥

जो पादे विही भणितो एसेव विधी आहारे, सेसोवगयणे य ददुव्वो । सपज्जवा ते, इतरे पुण निपज्जवा, ते अप्पसत्था चउलहुगा । नि० चू० ११ उ० ।

अभिहणण-अभिहनन-न० । वेदनोदीरणे, प्रश्न० १ आअ० द्वा० । पादाभ्यामाभिमुख्येन हनने, प्र० ८ श० ७ उ० । अजि-मुसमागच्छतो हनने, भ० ५ श० ६ उ० । आचा० ।

अभिहणमाण-अभिघ्नत्-वि० । पादान्यामभिघात कुर्वति, "खुरचलणचचुपुमेहि धराणिअल अभिहणमाणं" जं० ३ वक्क० ।

अभिहय-अभिहत-वि० । आभिमुख्येन हतोऽभिहतः । चरणेन घट्टिते, "चउरिंदिया अभिहया चत्तिया व्हेसिया" आच० ४ अ० । ध० । आचा० ।

अभिहाण-अभिधान न० । अभिधीयते येन तदभिधानम् । नि० चू० १ उ० । सङ्गायाम्, विशेष० । शब्दे, विशेष० । नामानि, विशेष० । अर्थोभिधानप्रत्ययाश्च लोके सर्वत्र तुल्यनामधेयाः । विशेष० । भावे ल्युट् । उच्चारणे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । इह द्विविधमभिधानं भवति-सतामसतां च । सतां यथा जीवादीनाम्, असतां यथा शशचिपाणादीनाम् । आ० चू० १ अ० ।

अभिहाणजेय-अभिधानजेद-पुं० । वाचकध्वनिभेदे, विशेष० ।

अभिहाणहेतुकुसल-अभिधानहेतुकुशल-पुं० । अभिधानेपु

शब्देषु हेतुसाध्यगमकेषु कुशलो दक्कोऽभिधानहेतुकुशलः । शब्द-
मार्गे चातीव क्षुधे, व्य० ए उ० । वृ० ॥

अजिहित (य)-अजिहित-त्रि० । उक्ते, आचा० १ भु० ८
अ० ५ उ० ।

अजीरु-अजीरु-त्रि० । भी-रुक् । न० त० । शतमूल्याम्, अ-
सकुचितपत्रत्वात्तस्या अजीरुत्वम् । घाच० । सप्तप्रकारभयर-
हिते, आचा० २ भु० १५ अ० १ उ० ३ चू० । सत्त्वसपत्रे, ओघ० ।
उत्पन्ने महत्यपि कार्येऽबिज्यति, वृ० १ उ० । अभीरुर्नाम कु-
तश्चिदपि स्तेनोद्ग्रामकादेर्विविधां विभीषिकां दर्शयतो न वि-
भेति । वृ० १ उ० । मध्यमग्रामस्य मूर्धनाभेदे, स्था० ७ ग० ।

अजुंजिजुं-अनुक्त्वा-अव्य० । अननुभूयेत्यर्थे, आ० ॥

अभुज्जंतग-अन्युज्यमान-त्रि० । अव्यापार्यमाणे, वृ० २ उ० ।

अनुत्तजोग-अनुक्तजोग-त्रि० । न भुक्ता जोगा येन स अनुक्त-
भोगः । पं० वृ० १ द्वा० । स्त्रीजोगाननुक्त्वा प्रव्रजिते कौमार-
कभावप्रतिबद्धे, नि० चू० १ उ० ॥

अनूज्ञाव-अनूतिज्ञाव-पु० । अनूतेर्भावोऽभूतिभावः । असंप-
द्भावे, दश० ६ अ० १ उ० ।

अभूउभावण-अभूतोद्भावन-न० । अलीकभेदे, यथाऽऽत्मा श्या-
माकतन्तुवमानः । अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि । घ० २ अधि० ।

अनूयाजिमंकण-अभूतानिशङ्कन-पु० । न नूतान्यभिशङ्कन्ते
बिज्यति यस्मात्स तथा । प्रशस्तवाचिनयभेदे, स्था० ७ ग० । ज० ।

अनेज्ज-अनेद्य-त्रि० । नेद्यः सूच्यादिना चर्मवत्, तन्निवे-
धादमेद्य । म० २ श० ५ उ० । सूच्यादिना नेत्तुमशक्ये, “ त-
न्मो अनेज्जा पयसा । तं जहा-समय पयसे परमाणू ” स्था०
३ ग० २ उ० ॥

अनेज्जकवय-अभेद्यकवच-पुं० । परप्रहरणभेदावरणे, ज०
७ श० ए उ० ।

अनेय-अनेद-पु० । सामान्ये अविशेषे, आ० म० द्वि० ॥

अनोग-अभोग-पु० । अव्यापारणे सयमोपबृहणार्थस्वसत्ता-
याः स्थापने, वृ० १ उ० ॥

अभोजघर-अनोज्यगृह-न० । अदिपरुन्नीयकुक्षेषु रजका-
दिसबन्धिषु, वृ० १ उ० ॥

अनोयण-अनोजन-न० । अनन्यवहारे, पि० ॥

अमइल-अमलिन-त्रि० । स्वच्छे निर्मले, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अमंगलनिमित्त-अमंगलनिमित्त-त्रि० । अङ्गस्फुरणादिषु अमा-
ङ्गलिकनिमित्तेषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ॥

अमग-अमार्ग-पु० । मिथ्यात्वकषायादौ, घ० ३ अधि० ।

“ अमग परियाणामि, मग उवसपज्जामि ” आच० ४ अ० ॥

अमगलग-अमार्गलग्न-पु० । पार्श्वस्थादिकुतीर्थिमार्गप्रवाहप-
तिते, सामान्यप्राणिनि च । दर्श० ॥

अमघा (माघा) य-अमाघात-पु० । मा लक्ष्मीः, सा च दे-
धा-घनलक्ष्मीः प्राणलक्ष्मीश्च । तस्या घातो हननं, तस्याऽभा-
वोऽमाघातः, ‘ अमघाय सि ’ प्राकृतत्वात् । अङ्गव्यापहारे,

अमारिप्रदाने, प्राणिघातनिवारणे च । पञ्चा० ए विव० । उपा० ।
घ० । प्रश्न० ॥

अमञ्च-अमात्य-पुं० । सहजन्मानि मन्त्रिणि, कल्प० ३ कृ० ।
सथा० । नि० चू० । राज्यचिन्तके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । नि० चू० ।
राज्याधिष्ठायके, औ० । ज० । द्वा० । अष्टादशानां प्रकृतीनां म-
हत्तरे, वृ० ३ उ० ।

अमात्यलक्षणमाह-

सज्जणवयं पुरवरं, चिंततो अत्यई नरवर्ति च ।

ववहारनीतिकुसलो-अमञ्चो एयारिसो अहवा ॥

यो व्यवहारकुशलो, नीतिकुशलश्च सन्न सजनपद पुरवरं नरपतिं
च चिन्तयन्नवतिष्ठते, स एतदृशो जवति अमात्यः । अथवा-यो
राज्ञेऽपि शिक्षां प्रयच्छति स अमात्यः ॥

तथा चैतदेव सविस्तरं विभावयिषुराह-

राया पुरोहितो वा, संधिद्वान्न नगरम्मि दो वि जणा ।

अंतेउरे धरिसिया-अमञ्चेणं खिसिया दो वि ॥

राजा पुरोहितश्च । वाशब्दः समुच्चये । एतौ चावपि जनौ
(संधिद्वान् चि) संघातवन्तौ, परस्पर मरुकावित्यर्थः । नगरे वर्त-
ते । तौ च तथावर्तमानावन्तः पुराज्या निजनिजकलत्रेण धर्षितौ,
अमात्येन-बद्धावपि खिसितौ, निन्दापुरस्सरं शिक्षितावित्यर्थः ।
एष गाथाक्षरार्थः । ज्ञावार्थः । कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-

“ एगो राया, तस्स पुरोहितो, तेसि दोण्ह वि जज्जाओ परो-
प्पर जगिणीओ । अज्जा तेसि समुल्लावो जातो । रायभज्जा
भण्ह-मम वस्सो राया । पुरोदियभज्जा जण्ह-मम वस्सो
बज्जाओ । तो पेच्छामो कयरह्य वस्सो पती । ततो पुरोदियभ-
ज्जाए जत्त उवसाहिच्चा रसो जज्जा जगिणी निम-
तिया । रसि पुरोहितो भणिओ-मए ओवाइय कय,
जह मम दरो अमुओ समिज्जिह सि, ततो जगिणीए सम
तव सिरे जायणं काठ जेमेमि । सो य मे दरो संपसो । स-
पय तव मूलातो पसायं मग्गामि । पुरोहितो जण्ह-अणुगगहो
मेयसि । रायभज्जाए रसो भणिओ-अज्ज रसि तव पिट्ठीए विल-
गिउ पुरोदियघरं वज्जामि । राया भण्ह-अणुगगहो मे, ताहे
सा रायं पल्लाणिच्चा पिट्ठीए विलगिता पुरोदियघरं गंतु पठि-
या । पुरोहितो वाहणो सि काठं अजे बको । ताओ दो वि जणी-
ओ पुरोदियस्स उवरि मत्थए भायणं काउं पुरोदियण धरिज्ज-
माणे मायणे भुजंति । राजा अजे बको हयहेसिय करेह । मो-
त्तुं गया रायभज्जा । ततो रसा पुरोदियण धरिसितोमि सि
तस्स सिर मुडाविय । अमञ्चेण तं सर्व्वं नार्थं, पमाए राया पुरो-
दिओ य खिसितो । ”

अमुमेवार्थमाह-

छंदाणुवत्ति तुन्नं, मज्झं मीमंसणा निवे खल्लिणं ।

निसि गमण मरुग थालं, धरेति जुजंति तो दो वि ॥

तव वा पतिर्मम वा पतिश्चन्दानुवर्तित्वेन विमर्शव्यतिरेकेण
ज्ञातुं शक्यते । ततो मीमांसापरा सा परीक्षां कर्तुमारब्धा ।
तत्र राज्ञार्थया नृपे खलीनमारोपितं, ततो निशि रात्रौ पुरो-
हितगृहे गमनं, ततो मरुको ब्राह्मणः पुरोहितः शिरसा स्थाल
धरति । तत्र च द्वे अपि नृज्जाते । एषा गाथाक्षरयोजना ।
मावार्थोजन्तरमेव कथितः ।

अथ कथममात्यो द्वावपि तौ शिक्षितवान् ? तत आह-
पमिवेसियरायाणो, सोउमिणं परिजवेण हसिदिं ति ।

अमर्य

धीनिजितो पमत्तो, नञ्चा रज्जं पि पेलेज्जा ॥

प्रातिवेशिका नाम सीमान्तर्वाञ्छितं प्रत्यर्थिनो राजान इहं
भुञ्चा परिमयेन परिमयोत्पादनबुद्ध्या हसिष्यन्ति, न केवलं
हसिष्यन्ति किंतु स्त्रीनिर्जितं प्रमत्त एव इति ज्ञात्वा राज्य-
मपि प्रेरयिष्यन्ति, गृहीतुरित्यर्थः ।

धिं तेसि गामनगरा-ण जोसि इत्थी पणायिगा ते य ।

धिद्विकया य पुरिसा, जे इत्थीणं वसं जाया ॥

धिद्विनिन्द्याम, तेषां ग्रामनगराणां, येषां स्त्री प्रणायिका प्रकर्षेण
स्यत्तव्रतया नायिका । अथ धिद्वयोने द्वितीया प्राप्ताऽपि पणो,
प्रावृत्तत्वात् । तथा तेऽपि पुरया धिद्विता धिद्वितारं प्राप्तपन्तो
ये स्त्रीयां पश्यमायच्छतां जाता ।

तथा-

इत्थीओ बलवं जत्य, गामेसु नगरेसु वा ।

सो गामो नगरं वा वि, तिप्पमेव विणस्सइ ॥

यत्र ग्रामेसु नगरेसु वा स्त्रियो वसतः । स ग्रामो नगरं वा स्त्रि-
प्रमेय विनश्यति । बहुयचनेनैव स शारे जातौ बहुयचनमेव-
चन प्रयतीति ज्ञापनार्थः ।

यद्यमुक्ते राजा पुरोधा वा ययं मनसि संप्रचारयेत् । यथा-
'नास्माकं ग्रामेसु नगरेसु वा स्त्रियो वसताम्' इति, तत आह-

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सञ्जसूयगा चेव ।

पुरिसा कयविच्चीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥

तस्यामात्यस्य पुरयाः कृतवृत्तवः कृतजीविकाः, कृतसुपु दि-
क्षु चरा ज्ञानार्थे सामन्तराज्येषु प्रातिवेशिकराज्येषु वसन्ति । त-
द्यथा-सूचकाः, अनुसूचकाः, प्रतिसूचकाः सर्वसूचकाश्च । सूचकाः-
सामन्तराज्येषु गताः अन्तःपुरवासकैः सह मैत्री कृत्वा यत्र यत्र रहस्यं
वास्यं जानन्ति । अनुसूचकाः-नगराभ्यन्तरे चारगुपसप्तन्ते ।
प्रतिसूचकाः-नगराभ्यन्तरे अप्यप्यापाय भयतिष्ठन्ते । सर्व-
सूचकाः-स्वनगरं पुनरागच्छन्ति, पुनर्यान्ति । तत्र ये सूच-
कास्ते भुन दृष्ट वा सर्वमनुसूचकेभ्यः कथयन्ति । अनुसूचकाः
सूचकायैतं स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकेभ्यः । प्रतिसूचकाः
अनुसूचकायैतं स्वयमुपलब्धं च सर्वसूचकेभ्यः । सर्वसूचकाः
अमात्याय कथयन्ति । यथा तस्यामात्यस्य चतुर्विधाः पुरयाः
सामन्तराज्येषु वसन्ति, तथा महिषा अपि ।

तथा चाऽऽह-

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सञ्जसूयगा चेव ।

महिषा कयविच्चीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥

अस्या व्याख्या प्राप्यन् । यथा च पुरयाः स्त्रियश्च सामन्तराज्येषु
समस्तेषु वसन्ति तथा सामन्तनगरेष्वपि राजधानीरूपेषु ।

तथा चाऽऽह-

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सञ्जसूयगा चेव ।

पुरिसा कयविच्चीया, वसंति सामंतनगरेसु ।

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सञ्जसूयगा चेव ॥

महिषा कयविच्चीया, वसंति सामंतनगरेसु ॥

इह गाथाठयमपि पूर्ववत् । यथा च परराज्येषु परनगरेषु च
पुरयाः स्त्रियश्च वसन्ति, तथा निजराज्ये निजनगरे अन्तःपुरे ।

तथा चाऽऽह-

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सञ्जसूयगा चेव ।

पुरिसा कयविच्चीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सञ्जसूयगा चेव ।

महिषा कयविच्चीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सञ्जसूयगा चेव ।

पुरिसा कयविच्चीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ॥

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सञ्जसूयगा चेव ॥

महिषा कयविच्चीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ।

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सञ्जसूयगा चेव ॥

पुरिसा कयविच्चीया, वसंति अन्तेउरे रणणो ॥

सूयग तहाऽणूसूयग, पमिसूयग सञ्जसूयगा चेव ।

महिषा कयविच्चीया, वसंति अन्तेउरे रणणो ॥

गाथापट्टस्यापि व्याख्या पूर्ववत् । तत एव निजचारपुटपैः
महिषाभ्यो राहा पुरोभस्य निशि वृत्तममात्यो ज्ञातवान् ।
तदेवं राहोऽपि यः शिक्षाप्रदानेऽधिकारी सोऽमात्य इति । अ-
न्तममात्यस्य स्वरूपम् । ५५० १ उ० ।

अमर्य-पु० । देवे, ५५० ।

अमर्यपूज-अमर्यपूज-त्रि० । देवारापे तीर्थं ददाद्वा, ५५० ।

अमर्यरि (ण्)-अमर्यरि-त्रि० । परस्य दण्डे विनि, दश० १
पू० । परगुणप्राप्ति, अथ ४ आ३० ठा० ।

अमर्यरियया-अमर्यरियया-त्री० । मत्स्यिका परगुणाना-
मनोहा, तन्नापनिषेधोऽमर्यरियता । भ० ७ श० ९ उ० ।
परगुणप्राप्तिायाम्, भी० ।

अमर्यमंसासि (ण्)-अमर्यमंसासि-त्रि० । मद्यमांसमन-
नति, सूत्र० २ सु० २ भ० । अमर्यये, अमानासिनि च ।
दश० २ पू० ।

अमर्यादृष्ट-अमर्यादात्-पुं० । "मज्जाया सीमायाथा, न मज्जा-
या अमर्याया, तीणं जो पट्टति सो अमर्यादृष्टो" नि० पू० १
उ० । मर्यादाया अयेत्तरि प्रयत्ने के आचार्ये च । नि० पू० ४ उ० ।
अमर्य-अमर्य-त्रि० । न० य० । विनागचय कर्तुमशक्ये, "त-
यो अमर्यता पणसा । त जहा-समप, पणसे, परमाणु" । ५५०
३ ठा० ४ उ० । यिपमसंख्याययभावात् क्षेत्रपरमाणी, भ०
२० श० ६ उ० ।

अमर्य-अमर्य-न० । अधिगमने, अन्तःपरिच्छेदे च । ५५० ३
ठा० ४ उ० ।

अमर्य-न० । मनोविद्ये विनिर्णये, "तिविद्ये समणे पणसे । तं
जहा-णोत्तमणे णोत्तयप्रमणे अमणे" । ५५० ३ ठा० ३ उ० ।
अधिमानान्त करणे, दश० । "आयह सुखिप्पकम्पो, भाण
अमणो जिणो होह" प्रयत्नविशेषाद् मनः अपनीय समना अ-
धिमानान्त करणे जिणो भयति । आय० ४ अ० । ज० । अ-
सङ्गिनि च, क० प्र० ।

अमर्या-अमर्या-अव्य० । न मनागमनाह । नितरां शब्दार्थे,
सूत्र० २ ध्रु० १ भ० ।

अमणाम-अमनआप-त्रि० । न जातुचिदापि भोज्यतया जन्तू-
नां मनांसि आग्नेति । जी० १ प्रति० । न मनसा आप्यते प्राप्य-
ते चिन्तया यत्तत्तथा । उपा० ८ अ० ।

अमनोऽम-त्रि० । न मनसा अम्यते गम्यते पुनः पुनः स्मरणतो
यत्तदमनोऽमम् । अत्यर्थं मनोऽनिष्टे, भ० १ श० ५ उ० ।

अवनाम-त्रि० । अवनामयतीति अवनाम-। पीडाविशेषकारिणि,
“अमणुजाओ अमणामओ दुक्खाओ ” सूत्र० ७ शु० १ अ० ।

अमणुष-अमनोऽम-त्रि० । मनसोऽनुकूल मनोऽमः, न मनोऽम-
मनोऽमम् । आव० ४ अ० । न मनसा ज्ञायते सुन्दरतया इत्यम-
नोऽमम् । भ० ६ श० ३३ उ० । स्वरूपतोऽशोभने, (कदम्बादौ)
स्था० ३ ठा० १ उ० । मन-प्रतिकूले, सूत्र० १ शु० ६ अ० । असु-
न्दरे, प्रअ० ५ सम्ब० द्वा० । अनिष्टे, ग० १ अधि० । स्था० ।
अशुभस्वभावे, स्था० ८ ग० । विपा० । अमन प्रह्लादहेतौ विपा-
कनो दुःखजनके, जी० १ प्रति० । “अमणुषद्रूपमुत्तपूष्य-
पुरीसपुष्पा ” अमनोऽज्ञाश्च ते दुरूपमूत्रेण पूतिकपुरीषेण च पू-
र्णाश्चेति विग्रहः । इह च दूरूप विरूप, पूतिक च कुथितम् ।
(कामभोगा) भ० ६ श० ३३ उ० । “अमणुषसपओगसप-
उत्ते तस्स विप्पओगसइसमसागय या वि जवति ” अमनोऽज्ञो-
ऽनिष्टो यः शब्दादिस्तस्य यः सप्रयोगो योगस्तेन संप्रयुक्तो यः
स तथा, स च तथाविधः सन्न, तस्यामनोऽज्ञस्य शब्दादेर्विप्रयो-
गस्मृत्तिसमन्वागतश्चापि जवति । विप्रयोगविच्छिन्नाऽनुगतः स्यात् ।
चापीत्युत्तरवाक्यापेक्षया समुच्चयार्थः । असावार्तध्यानं स्यादि-
ति शेषः, धर्मधर्मिणोरभेदादिति । भ० २५ श० ७ उ० । ग० ।
जिन्नसामाचारीस्थिते सविज्ञे, प० व० २ द्वा० । असांमो-
गिके, वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अमणुषतर-अमनोऽमतर-त्रि० । अकान्ततरे, अप्रीततरे च ।
विपा० १ शु० १ अ० ।

अमणुषसमुत्पाय-अमनोऽममुत्पाद-त्रि० । न मनोऽममनो-
ऽमसदनुष्ठानम् । तस्मादुत्पादः प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तद-
मनोऽमसमुत्पादम् । स्वरूपतासदनुष्ठानाज्जाते दुःखे, सूत्र० १ शु०
१ अ० ३ उ० ।

अमणुस्स-अमनुष्य-पुं० । देवादौ, न० । रक्ष-पिशाचादौ,
(सिद्धान्तकौमुदी) । नपुसके, नि० चू० १ उ० ।

अमत्त-अमत्र-न० । प्राजने, सूत्र० १ शु० ए अ० ।

अमम-अमम-त्रि० । ममत्वरहिते, कल्प० ६ क० । उच० । पं०
सू० । दश० । निर्दोषत्वात्-(औ०) निरभिष्वङ्गाद् अविद्यमा-
नममेत्यभिलाषे, स्था० ६ ग० । युगलिकमनुष्यजातिभेदे, ज०
४ वत्त० । उत्सर्गिण्यां भविष्यति द्वादशे तीर्थकरे, अन्त० ५
वर्ग । प्रव० । ति० । स० । अवसर्पिण्यां जातो नवमो वासुदेव-
कृष्णो भारते वर्षे पुण्ड्रेषु जनपदेषु शतद्वारे नगरे द्वादशस्तीर्थ-
करो भविष्यति । स्था० ८ ग० । ती० । पञ्चविंशतितमे दिवस-
मुहूर्ते च । च० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

अममत्तय-अममत्वक-त्रि० । न विद्यते ममत्वं मूर्ध्ना यस्य स
अममत्वकः । ‘शेषाद्वा’ । ७।३।१७५। इति (हैम)सूत्रेण कच् प्रत्य-
यः । मूर्द्धारहिते, वृ० १ उ० । निर्ममताके, “अममत्ता परिकस्मा,
दारविलम्बंगजोगपरिहीणा ” पं० व० ४ द्वा० ।

अममायमाण-अममीकुर्वत्-त्रि० । अस्वीकुर्वति मनसाऽप्यनाद-
दाने, आचा० १ शु० २ अ० ५ उ० ।

अमम्मणा-अमम्मना-स्त्री० । अनवरतवञ्जमानायां वाचि, उपा०
२ अ० । रा० ।

अमय-अमृत-न० । सुधायाम्, पञ्चा० ३ विव० । क्षीरोदधि-
मथिते, आ० म० प्र० । “अमयमहियफेणपुजसन्निगासं ” अ-
मृतस्य क्षीरोदधिजलस्य मथितस्य यः फेणपुञ्जो डिण्णरूपरस्त-
त्सन्निकाश तत्समप्रज्ञम् । रा० । न-मृ-क्त । न० त० । मोक्षे, होमाव-
शिष्टव्ये, जले, घृते, अयाचिते वस्तुनि च । परब्रह्मणि, न० ।
मरणशून्ये, त्रि० । विभीतके, स्त्री० । वाच० ।

अमय-त्रि० । अविकृतौ, “अमओ य होइ जीवो, कारणविर-
हा जहेव आगासं । समयं च हो अनिच्छ, भिम्मयघडत्तं तु माई-
यं ” अमयइच भवति जीवः । विशेष० । चन्द्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयकलस-अमृतकलश-पुं० । अमृतपूर्णघटे, “अमयकल-
सेण अभिसिद्धो ” आ० म० प्र० ।

अमयघोस-अमृतघोष-पुं० । काफन्धा नगर्यां स्वनामख्याते
राजनि, स च स्वपुत्र राज्ये स्थापयित्वा धर्ममनशन प्रतिपन्न
इति । संथा० ।

अमयणिहि-अमृतानिधि-पुं० । काञ्जनबलानके प्रतिष्ठिते भग-
वति, ती० ४५ कल्प ।

अमयतरंगिणी-अमृततरङ्गिणी-स्त्री० । महोपाध्यायश्रीकल्या-
णविजयगणेशिष्य-मुख्यपरिद्वतश्रीलाभविजयगणेशिष्यावत-
स-परिद्वतश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यतिलकपरिमतश्रीनयवि-
जयगणचरणकमलसेविना परिद्वतश्रीपद्मविजयगणिसहोद-
रेणोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणिना विरचितायां नयोपदेशटी-
कायाम्, नयो० ।

अमयनिगम-देशी-चन्द्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयप्प(ण)-अमृतात्मन्-पुं० । धर्ममेघसमाधौ, द्वा० २० द्वा० ।

अमयफल-अमृतफल-न० । अमृतोपमफले, ज्ञा० ए अ० ।

अमयवह्वी-अमृतवह्वी-स्त्री० । बल्लीविशेषे, प्रव० ४ द्वा० ।
घ० । गुमूच्याम्, वाच० ।

अमयचूय-अमृतचूत-त्रि० । माधुर्यादिभिर्गुणैः सुधासद्विदेरे,
वृ० २ उ० ।

अमयरसासायण-अमृतरसास्वाद-त्रि० । अमृतरसस्या-
स्वादस्त जानाति इति अमृतरसास्वादः । अमृतरसास्वाद-
वेत्तरि, “अमृतरसाऽऽस्वादः, कुञ्जरसलासितोऽपि बहु-
कालम् ” । षो० ३ विव० ।

अमयवास-अमृतवर्ष-पुं० । तीर्थकृज्जन्मादौ देवैः कृतायाम्-
मृतवृष्टौ, आचा० २ शु० १५ अ० ।

अमयसाय-अमृतस्वाद-पुं० । अमृतवत् स्वाद्यते इत्यमृतस्वा-
दम् । अमृततुल्ये, सम्म० ३ काण्ड ।

अमयसार-अमृतसार-न० । न विद्यते मृतं मरणं यस्मिन्नसा-
वमृतो मोक्षः । तं सारयति प्रापयतीति वा । मोक्षप्रतिपादके,
सम्म० ३ काण्ड ।

अमर-अमर-पुं० । देवे, कर्म० ५ कर्म० । आव० । को० । आ०
म० । त्रयोदशे ऋषमदेवपुत्रे, कल्प० ७ क० । भविष्यतस्त्रयो-
विंशस्यानन्तवीर्यतीर्थकरस्य पूर्वभवजीवे, ती० २१ कल्प । सि-

अमर

हेषु च, तेषामायुषोऽभावात् । औ० । " इमस्स चैव पडिबूह-
णट्ठाणं धमरायणं महासद्धी " (अमरायणं इत्यादि) अमरा-
यते-न मरं सत् उच्यते । यत्तु प्रकृत्युत्तररूपाऽवसक्तोऽमर इवा-
वगतिः अमरायते । आचा० १ ध्रु० २ अ० ४ उ० ।

अमरकेट-अमरकेतु-पु० । विजये (केत्रे) तमालवतानामनगर्या
राक्षः समरनन्दनस्य मन्दागमज्या उदरसंभवे पुत्रे, दर्श० ।

अमरचंद-अमरचन्द्र-पु० । नागेन्द्रगच्छीये महेन्द्रसुरिशिष्य-
शान्तिसुरिशिष्ये, येन गुर्जरदेशाधिपतिसिद्धराजसकाशाद्
ध्याप्रशिष्यक इति पदवी लेभे, सिद्धान्तार्णवनामा ग्रन्थश्च
धरन्ति । इत्येकोऽमरचन्द्रसुरिः । (१)

(२) धायटीयगच्छीये जिनदत्तसुरिशिष्ये, येन चतुर्विंशति-
जिनचरित्रं पद्मानन्दाद्युदयापरनामकं महाकाव्यं, वात्सभारतं,
काव्यकल्पलता, काव्यकल्पलतापरिमलः, उन्दोरत्नावली, क-
लाकलापश्चेत्येवमादयो ग्रन्था विद्वच्चित्तचमत्कृतिकृतो नि-
रमायिपतः । एतस्य शीघ्रकवित्वशक्तैर्मुग्धः वीरलदेवो नाम
गुर्जरधरित्रीक्षयोऽस्मै बहुमानमदात् । अयं च वैकमीयसव-
त्सराणां प्रयोदशशतकेऽवर्तत । जै० ६० ।

अमरण-अमरण-न० । मृत्योरभावे, ध० १ अधि० ।

अमरणधम्म-अमरणधर्मन्-त्रि० । तीर्थकरे, प० व० ४ द्वा० ।

अमरदत्त-अमरदत्त-पु० । जयघोषध्रेष्ठिपुत्रे, ध० २० ।

कथानकं पुनरेवम्—

" विद्वद्भूमसिरिपरिक्लृप्तिय, अलंकिय बहुसमिद्धलोपाहि ।
रयणायरमज्जं पि व, रयणपुर अतिथि वरनयर ॥ १ ॥
कयसुगयसमयपोसो, पुरसिद्धो अतिथि तत्थ जयघोसो ।
जिणमुणिविहियपभोसो, सुजसा नामेण से भज्जा ॥ २ ॥
अमरानिहाणकुलदे-वयापे दिन्नु त्ति तो अमरदत्तो ।
नागेण ताण पुत्तो, पसध्विचो सहावेण ॥ ३ ॥
आजम्म तच्चभिय-मयवासियहिययइम्भवरफन्न ।
पियरेहिं पढमज्जुयण-भरम्म परिणाविओ सो व ॥ ४ ॥
अहं बहुसमयम्म कया-यि अमरदत्तो समित्तसंजुत्तो ।
पुण्णकरंजुज्जाणे, कीलाइफ प समणुपत्तो ॥ ५ ॥
सो कीलतो तहियं, तस्स दिट्ठा निपइ मुणिमेगं ।
तस्स य पासे एग, रुयमाणं पहियपुरिस च ॥ ६ ॥
तो कोठगेण अमरो, आसन्न तस्स होउ पुच्छेइ ।
किं नइ ! रोयसि तुम ? , सगगायं सो वि इय भणइ ॥ ७ ॥
कपिलपुरे सिंधुर-सिद्धिस्स वसुधरायं दइयाप ।
आवाइयलफ्फेहिं, एगो पुत्तो अहं जाओ ॥ ८ ॥
सेणु त्ति विहियनाम-स्स अइया जाय मज्ज उम्मासा ।
ता सपलविहयसहिया, अम्मापियरो गया निहणं ॥ ९ ॥
सत्पभिइ पालिओऽहं, जेहिं सयणीहिं गरुयकरुणेहिं ।
मम पुण्णयजमनिइया, पचस ते धि सपत्ता ॥ १० ॥
बहुलोपाण सता-वकारण विसतरु व्व कमसोऽह ।
देहेण दुग्गरेण य, पडुहिओ इधिर फास ॥ ११ ॥
सपइ पुण वडुओयदि, पिडगसमाणा अमारपुप्फकरा ।
मइ देइ जरुपमुहा, रोगा वइये समुप्पजा ॥ १२ ॥
किंच पिसामो भूओ, य कोवि मइ अतरतरा अगं ।
पीनेइ तइ अदिओ, जइ त वुत्तु पि न तरोमि ॥ १३ ॥
तो जीविपप्पनमो, नग्गोहनरम्मि जाव अत्तायं ।
अत्ताय अदिधे-मि ताव पासो यि सइ तुहो ॥ १४ ॥
१०५

अहिं वेरगगओ, पुग मए किं कय ति पुच्छेउ ।
मुणिणो इमस्स पासे, जो मइ ! इह अहं पत्तो ॥ १५ ॥
जम्माउ वि निययइहं, सुमारिय रोयमि इय भणेऊण ।
तेणं पहियनरेण, नियवुत्ततं मुणी पुत्तो ॥ १६ ॥
अहं विम्वयरसपुओ, किं तु कहिस्सइ इमो सुसाहु त्ति ? ।
सो अमरदत्तपमुहो, एकमामणो जणो जाओ ॥ १७ ॥
अहं वज्जियं मुणिणा, भो पहिय ! तुम इओ भवे तइय ।
मगहे गुव्वरगामे, देविहनामाऽऽसि कुलपुत्तो ॥ १८ ॥
अण्णदिणे रायगिहे, तुहं गच्छतस्स कोवि मग्गम्मि ।
मिलिओ पहिओ कमसो, तप धणरूदुत्ति सो नाओ ॥ १९ ॥
त वीससिउं रयणीयं, हणिय गहिऊण तरुण सव्व ।
जा जासि तुम पुरओ, हरिणा ब्रुहिण ताव इओ ॥ २० ॥
पत्तो पढमे नरप, असरिसइय्वाइ सहिय बहुयाइ ।
तो उव्वट्ठिय इहयं, सो एसो सेण संजाओ ॥ २१ ॥
जो सेण ! तप तइया, पहिओ पइओ भवम्मि सो पत्तो ।
अन्नाण तव काउ, असुरनिफाए सुरो जाओ ॥ २२ ॥
संभरिय पुव्ववइरे-ण तेण हणिया तुहंम्मपित्तसयणा ।
निधण धण च खीय, जाणिया रोगा तुहं सरिरे ॥ २३ ॥
विओ तहेव पासो, एसो सुचिर दुहो इवेउ त्ति ।
सो कुणइ अतरा अ-तरा य वियण परमघोर ॥ २४ ॥
त सोउ भवभीओ. पहिओऽणसण गहिउ मुणिपासे ।
सुमरतो नवकार, जाओ वेमाणिप्पसु सुरो ॥ २५ ॥
इय सुणिय पहियचरिय, अमरो सवेगपरिगओ अहिय ।
नमित्त विज्जवइ मुणि, भयव ! मइ कहसु जिणधरम ॥ २६ ॥
ध० २० ।

इच्छामि समणुसिद्धिं, ति भणिय नमित्तं च सुगुरुचलणदुगं ।
तत्तो समित्तजुत्तो, गेहं पत्तो अमरदत्तो ॥ २७ ॥
सो पिठणा सलत्तो, किं वच्च ! चिराइयं तप तत्थ ।
तो मिच्छेहिं वुत्तो, वुत्तंतो तस्स सयहो वि ॥ २८ ॥
अहं कुविओ जयघोसो, भणेइ पुण्ण ! किं अरे ! तुमए ।
मुत्तु कुलागय समम, धम्म धम्मतरं गहिय ॥ २९ ॥
ता सुंच इम धम्म, सियभियक्खण करेसु निक्खवूण ।
अअइ तप सम मम, सभासो वि इ न जुत्तु त्ति ॥ ३० ॥
अणइ य कुमरो हे ता-य ! पस सुपरिक्खिऊण चित्तव्वो ।
धम्मो वरकणं पि व, न कुलागयमित्तओ चेव ॥ ३१ ॥
पाणिवहालियचोरि-क्खविरइपरजयइवज्जणपढाणो ।
पुव्वावरमविरुओ, धम्मो एसो कहमजुत्तो ? ॥ ३२ ॥
जइ गिपइतो उत्तम-पणिय वणिओ भवे ण वयणिज्जो ।
पडिबन्नुत्तमधम्मो, न हीयणिज्जो तदाइह पि ॥ ३३ ॥
त सुणिय अग्निणिविओ, सिद्धो जपेइ ने चुरायार ! ।
ज रोयइ कुरासु तयं, न इओ न आसिउं उच्चिओ ॥ ३४ ॥
एय निसामिऊण, ससुरेण भणविओ इमो एव ।
जइ मइ सुयायं फज्ज, ता जिणधम्मं चयसु मिण्ण ॥ ३५ ॥
मुत्तु जिणधम्ममिम, सेस मच्चमविऽणंतसो पत्त ।
एव चित्तिय अमरो, जिन्नजए पिठगिहे भत्त ॥ ३६ ॥
अण्णदिणे जणगीए, भणिओ एसो जइ तुम वच्च ! ।
जो रोयइ तुहं धम्मो, नं कुणसु एय न विण्णकरा ॥ ३७ ॥
किंतु अमराग्निहाणं, कुन्देहिं निधमेव चत्तेसु ।
एयप्पमापनवो, तुहं उम्मो तो इमो अहं ॥ ३८ ॥
अय ! न मंरइ कप्पइ, जिणमुत्तिवहरिस्सदेवदियसु ।

देवगुरु स्ति मई मे, भत्ती तह पणमणप्पमुहा ॥ ११० ॥
 नो मह तेसु पओसो, मणयं पि न भत्तिमित्तमवि किंतु ।
 देवगुरुगुणविओगा, तेसु उदासत्तण अव ॥ १११ ॥
 गयरगदोसमोह-त्तणेण देवस्स होइ देवत्तं ।
 तच्चरियागमपमिमा-ख दसणा देवतं नेय ॥ ११२ ॥
 सिवसाहगुणगणगव-रवेण सत्थत्थसम्मगिरणेण ।
 इह गुरुणो वि गुरुत्त, होइ जहत्थ पसत्थं च ॥ ११३ ॥
 ता अंच ! पणमिय जिण, नमिज्जए तिहुयणे वि कह अओ ? ।
 नहु रोयइ लवणजलं, पीए खीरोहियजलम्मि ॥ ११४ ॥
 इय तेणं पणिभणिया, जणणी मोण अकासि सविसाया ।
 अह कुविया कुवदेवी, से दंसइ जीसणसयाइ ॥ ११५ ॥
 व य तस्स किं पि पहवइ, सत्तिक्खणस्स धम्मनिरयस्स ।
 चइइ पओसं अहिय, तो अमरा अमरदत्तम्मि ॥ ११६ ॥
 पच्चक्खीहोउ कया-वि तीए सो निदुर इम भणियो ।
 रे कूडधम्मगाविय !, न पणाम मज्ज वि करोसि ॥ ११७ ॥
 ता इण्ह हणेमि तुम, दढधम्मो त जणेइ अमरो वि ।
 जइ आउय पि बलव-तो मारिज्जइ न को वि तए ॥ ११८ ॥
 अह कह वि त पि तुहु, मरियव्वे वहरइ वि ता जाए ।
 को सइसणममव, मइलइ जवकोडिसयदुलह ॥ ११९ ॥
 तो अमरा सामरिसा, तस्स सरीरे विउव्वए पावा ।
 सीसच्छिसवणवदर-तनिसिस्थथा वेयणा तिब्बा ॥ १२० ॥
 जा इक्का वि दु जीय, इरेइ नियमेण इयरपुरिसस्स ।
 दढसत्तो तह वि इमो, एय चित्ते विंचितेइ ॥ १२१ ॥
 रे जीव ! तए पत्तो, सिवपुरपहपत्थिण ण सत्थाहो ।
 देवो सिरिअरिहतो, अपत्तपुव्वो जवअरन्ने ॥ १२२ ॥
 ता ऋणि चिचथ हियय-द्विपण मरण पि तुज्झ जइकरं ।
 एयम्मि पुण विमज्जे होसि जियतो वि तमणाहो ॥ १२३ ॥
 कित्थियमित्त-च इम, डक्ख तुह दसणे अपत्तम्मि ।
 पाविय अणंतपुगल-परियदुहस्स नरएसु ॥ १२४ ॥

किञ्च—

पमिकूला हवठ सुरा, मायापियरो परमुहा हुंतु ।
 पीरंतु सरीर वा-हिणो वि किंसतु सयणा य ॥ १२५ ॥
 निवडतु अवयाओ, गच्छउ वच्छी वि केववं इक्का ।
 मा आठ जिणे भत्ती, तदुत्ततत्तेसु तिच्छी य ॥ १२६ ॥
 इयनिच्छयप्पहाणं, तच्चिस्त नाठ ओहिणा अमरा ।
 तस्सत्त-रजियमणा, भणेइ सहरिय उवसमो ॥ १२७ ॥
 धन्नोसि त महासय !, ते चिय सवहिज्जसे तिहुयणम्मि ।
 सिरिधीयरायचरणे-सु जस्स तुह इय ठढाऽऽसत्ती ॥ १२८ ॥
 अज्जप्पनिई मज्ज वि, सुच्चिय देवो गुरु वि सो चेव ।
 तत्त पि त पमाण, ज पमिवन्न तए धीर ! ॥ १२९ ॥
 इय भणिरीए तीए, मुक्का अमरस्स उवरि तुछाए ।
 परिमवमिद्विय अड्डिला, दसरूवन्ना कुसुमवुछी ॥ १३० ॥
 त दहु महच्छुरिय, तणियरो पुरजणो ससुरवग्गो ।
 अमराए वयणेण, जाओ जिणदसणे जत्तो ॥ १३१ ॥
 ससुरेण पडिट्ठेण, तो धूया पेसिया पडिगिहम्मि ।
 तप्पमिइ अमरदत्तो, सकुडयो कुणइ जिणधम्मं ॥ १३२ ॥
 सुचिर निम्मज्जदंसण-सार पालिय गिहत्थधम्ममिमो ।
 जाओ पाणयं अमरो, महाविदेहम्मि सिज्जिहिइ ॥ १३३ ॥

अमरदत्तचरित्रमिदं मुदा,
 गतमल परिभाष्य विवेकिनः ।

भजत दर्शनशुक्तिमनुस्तरां,
 भवत येन महोदयशास्त्रिनः ॥ १३४ ॥ घ० र० ।

अमरपरिगाहिय-अमरपरिगृहीत-त्रि० । देवै स्वीकृते, वृ० ३८० ।
 अमरप्पभ-अमरप्रभ-पुं० । विक्रमसंवत्सराणां चतुर्दशशतके
 विद्यमाने जक्तामरस्तोत्रटीकाकारके कल्याणमन्दिरस्तोत्रटीका-
 कारकगुणसागर-गुरु-सागरचन्द्रस्य गुरौ, जै० इ० ।
 अमरवइ-अमरपति-पु० । देवेन्द्रे, " अमरवइ माणिजहे " भ०
 ३ श० ८ उ० । प्रज्ञा० । मल्लिनाथेनार्हता सहानुप्रमजिते ज्ञात-
 कुमारे, ज्ञा० ८ अ० ।

अमरवर-अमरवर-पु० । महामहर्षिकदेवे, त० ।

अमरसागर-अमरसागर-पु० । अञ्जलगच्छीये कल्याणसाग-
 रसूरिशिष्ये, अयं च उदयपुरनगरे वैक्रमीये १६६४ वर्षे
 जन्म लब्ध्वा १७०५ वर्षे प्रव्रज्य १७१४ वर्षे स्वभातनगरे
 आचार्यपदवीं प्राप्तः । ततः १७१८ वर्षे भुजनगरे गच्छेशपदं ग्रहे ।
 ततः स० १७६२ मिते धवलकपुरे स्वर्गं गतः । जै० इ० ।

अमरसुह-अमरसुख-ब० । देवसुखे, आव० ४ अ० ।

अमरसेण-अमरसेन-पुं० । मल्लिनाथेनार्हता सहानुप्रमजिते
 स्वनामख्याते ज्ञानकुमारे, ज्ञा० ८ अ० । स्वनामख्याते राजा-
 न्तरे च । दर्श० ।

अमरिस-अमरिष-पुं० । न-मृष्-घञ् । " शर्षतत्तवज्जे वा " । प ।
 २ । ५ । इति सयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनस्येकारः । प्रा० २ पाद ।
 मत्सरविशेषे, आ० म० द्वि० । महाकदाग्रहे, उक्त० ३४ अ० ।
 कोपे, प्रह्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अमरिसण-अमरिषण-त्रि० । अपराधाऽसहिष्णौ, प्रह्न० ४
 आश्र० द्वा० । अपराधिष्वकृतकमे, स० ।

अमसृण-पु० । प्रयोजनेष्वनलसे, स० ।

अमरिसिय-अमरिषित-त्रि० । अमरिषः संजातोऽस्यामरिषितः ।
 संजातमत्सरविशेषे, आ० म० द्वि० ।

अमल-अमल-पु० । न विद्यते मल इव मलो निसर्गनिर्मल-
 जीवमास्तिन्यापादनहेतुत्वादष्टप्रकारक कर्म येषां ते अमलाः ।
 सिद्धेषु, प्रब० २१४ द्वार । निर्मलमात्रे, त्रि० । आ० म० प्र० ।
 ऋषजदेवस्य सप्तमे पुत्रे, कल्प० ७ द्वा० ।

अमलचंद-अमलचन्द्र-पुं० । वैक्रमीये ११५८ वर्षे मृगुकच्छे
 विहरति स्वनामख्याते गणिते, जै० इ० ।

अमलवाहण-अमलवाहन-पु० । विमलवाहने महापद्मतीर्थ-
 करे, ती० २१ कल्प ।

अमला-अमला-स्त्री० । स्वनामख्यातायां शक्राग्रमहिष्याय,
 ज० १० श० ५ उ० । ती० । स्था० । (' अगमहिप्ती ' शब्देऽ-
 स्मिन्नेव भागे १७३ पृष्ठे तत्पूर्वापरजवावुक्तौ)

अमहगधय-अमहार्घक-त्रि० । महती अर्घा यस्य स महार्घः,
 महार्घ एव महार्घकः, न महार्घकोऽमहार्घकः । अमहमूल्ये,
 उक्त० २० अ० ।

अमहच्छण

अमहच्छण-अमहाधन-त्रि० । अमहमूल्ये, पञ्चा० १७ विव० ।

अमाइ (ए)-अमायिन्-त्रि० । माया अस्यास्तीति मायी । न मायी अमायी । व्य० १ उ० । शाठ्यरहिते, प्रव० ६४ छार । कौटिल्यशून्ये, दश० ए अ० ३ उ० । सर्वत्र विज्ञास्ये, स चालोचनादेरर्द्धे । आचा० १ अ० १ अ० १ उ० । " नो पलि-उचमाई " स्था० १० ठा० । व्य० । " आव राया चपे रज्ज, न य दुबलियं कहे तदा माई " । पञ्चा० १५ विव० ।

अमाइरूप-अमायिरूप-त्रि० । अमायिनो रूप यस्यासावमायिरूपः । अशेषच्छणरहिते, सूत्र० १ शु० १३ अ० ।

अमाइल्ल-अमायाविन्-त्रि० । मायारहिते, आचा० १ शु० १ अ० ४ उ० ।

अमाइल्लया-अमायाविता-स्त्री० । माइल्लो मायावैस्तदमावस्तत्ता । (मायात्यागे), निरुत्सुकतायाम्, स्था० १० ठा० ।

अमाणिय-अमान्य-त्रि० । अभ्युत्थानाकाफरणादित्यक्ते, " जया य माणियो होइ, पच्छा होइ अमाणियो । सिट्ठी व कव्वडे दूदो, स पच्छा परितप्पई " । दश० १ चू० ।

अमाव (वा) सा-अमाव (वा) स्या-स्त्री० । अमा-सह घसतश्चन्द्राकौ यत्र । घस्-यत्, एयत् वा । कृष्णपक्षशेषदिने, तद्दिने चन्द्राकौ एकराशिस्थौ प्रवतः । वाच० ।

एकस्मिन् वर्षे द्वादश अमावस्याः । तद् यथा-

बारस अमावमाओ पन्नचाओ । तं जहा-साविट्ठी, पोछवती, अस्सोती, कत्तिया, मगसिरी, पोसी, माही, फग्गुशी, चेत्ती, विसाही, जेहामूली, आसादी ।

द्वादश एव अमावस्याः प्रकृताः । तद्यथा-आविष्टी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र आविष्टा धनिष्ठा, तस्या भवा आविष्टी-आवणमासभाविनी । प्रौष्ठपदा उत्तरभाद्रपदा, तस्या भवा प्रौष्ठपदी-भाद्रपदमासभाविनी । अश्वयुजि भवा आश्वयुजी-अश्वयु-मासभाविनी । एव मासक्रमेण तत्तन्नामानुरूपनक्षत्रयोगावशेषा अपि घटन्त्याः । च० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० ।

सम्प्राति (नक्षत्रयोगम्) अमावास्यायकल्पतायामाह-

जुवात्तस अमावासाओ पण्चाओ । त जहा-सावट्ठी पोछवती-जाव आसादी । ता सावट्ठी णं अमावासा कति एकखत्ता जोएति ? । ता दोएण एकखत्ता जोएति । तं जहा-असिलेसा १, महा २ य । एवं एएणं अभिलावेणं ए-यणं । ता पोछवती णं दोषि एकखत्ता जोएति । तं जहा-पुण्वफगुणी १, उत्तरा २ य । असोति दोषि । तं जहा-रत्तो १, चित्ता २ य । कत्तियं दोषि । तं जहा-माति १, विमादा २ य । मगसिरं तिणिण । तं जहा-अपुराहा १, जेहा २, मूलो ३ य । पोमि च दोषि । तं जहा-पुण्वमादा १, उत्तरासादा २ य । माहि तिणि । तं जहा-अभिई १, समणो २, पणिहा ३ य । फग्गुणं दोषि । तं जहा-मतजिमया १, पुण्वपोहवती २ य । चोत्ति तिणि । तं जहा-उत्तरभद्रवदा १, रेवती २, आस्मिणी ३ य । चि-

साहिं दोषि । तं जहा-भरणी १, कत्तिया २ य । जेहामूलिं दोषि । तं जहा-रोहिणी १, मगसिरं २ च । ता आसादीं णं अमावासं कति एकखत्ता जोएति ? । ता तिणि न-कखत्ता जोएति । तं जहा-अदा १, पुण्ववसू २, पूसो ३ य ।

(जुवात्तसेत्यादि) द्वादश अमावास्याः प्रकृताः । तद्यथा-आविष्टी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र मासपरिसमापकेन आविष्टा-नक्षत्रेणोपलक्षितो यः आवणो मासः, सोऽप्युपचारात् आविष्टा, तस्यां भवा आविष्टी । किमुक्तं भवति ?-आविष्टी नक्षत्रपरिसमाप्यमानभावणमासभाविनी इति । प्रौष्ठपदी नक्षत्रपरिसमाप्यमानभाद्रपदमासभाविनी । एव सर्वत्राऽपि वाक्यार्थो प्रावनी-यः । (ता साविष्टी णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । आविष्टीममावास्यां कति नक्षत्राणि युज्यन्ति, कति नक्षत्राणि यथायोगं चन्द्रेण सह सयुज्य आविष्टीममावास्या परिसमापयन्ति ? । मगधानाह-(ता दोषिमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । द्वे नक्षत्रे यु-क्तः । तद्यथा-अश्लेषा, मघा च । इह व्यवहारनयमतेन यस्मिन् नक्षत्रे पौर्णमासी प्रवति तत् आरभ्य अर्धरात्रौ पञ्चदशे नक्षत्रे अमावास्या । तत् आरभ्य पञ्चदशे नक्षत्रे पौर्णमासी । ततः आविष्टी पौर्णमासी किल भ्रवणे धनिष्ठायां चोक्ता । ततोऽमावस्यायामप्यस्यां आविष्टवामश्लेषा मघा चोक्ता । लोके च निधिगणितानुसारतो गतायामप्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि यस्मिन्नहोरात्रे प्रथमतोऽमावस्याऽनूत् स सकतोऽप्यहोरात्रोऽमावास्यायेति व्यवहिते । ततो मयानक्षत्रमप्येव व्यवहारतोऽमावास्यायां प्राप्यते, इति न कश्चिद् विरोधः । परमार्यतः पुनरिमाममावास्या आविष्टीमिमानी त्रीणि नक्षत्राणि परिसमापयन्ति । तद्यथा-पुनर्वसु, पुष्योऽश्लेषा च । तथाहि-अमावास्या चन्द्रयोगपरिक्रानार्थं करण प्रागेवोक्तम् । तद् तद्भावेना क्रियते । कोऽपि पृच्छति-युगस्यादौ प्रथमा आविष्टमावास्या केन चन्द्रयुक्तेन नक्षत्रेणोपेता सती समाप्तिमुपयाति ? । तत्र पूर्वोदितस्वरूपोऽवधार्यराशि पट्टपट्टिमुदृताः, एकस्य च मुदृत्तस्य पञ्च षष्टिभागा, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभाग इतिप्रमाणो ध्रियते । तत् एकेन गुण्यते, प्रथमाया अमावास्यायाः स्पृष्टत्वात् । एकेन च गुणित तदेव प्रवतीति राशिस्तावानेय जातः । तत्रस्तस्माद् द्वाषष्टिमुदृताः, एकस्य च मुदृत्तस्य पट्टत्वारिंशतिद्वाषष्टिभागा, इत्यवपरिमाण पुनर्वसुशोधनक शोध्यते । ततः पट्टपट्टिमुदृत्तयो द्वाषष्टिमुदृताः शुक्ला, स्थिताः पञ्चात् चतुदशत्वारिंशत् ४४ । तेन एक मुदृत्तमपहृष्य तस्य द्वाषष्टिभागा क्रियन्ते, कृत्या च ते द्वाषष्टिभागपश्चिमपक्षे प्रक्षिप्यन्ते, जाता सप्तषष्टि । तेन च पट्टत्वारिंशत् शुद्धा, शेषास्तिष्ठन्त्येकविंशतिः । अत्र चारिंशतो मुदृत्तस्य त्रिंशता मुदृत्तैः पुष्यः शुक्ल, स्थिताः पञ्चान् त्रयोदश मुदृताः । अश्लेषा नक्षत्रं चापारंक्षेत्रमिति पञ्चदशमुदृत्तप्रमाणं, तत् इदमागतमश्लेषानक्षत्रमेकस्मिन् मुदृत्तैः, एकस्य च मुदृत्तस्य चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभाग निप्रस्य पट्टपट्टिमस्येषु भागेषु शेषेषु प्रथमाऽमावास्या समाप्तिमुपगच्छति । तथा च पट्टपट्टि- " ता पट्टपट्टि स पञ्चदशमपहृष्य पट्टम अमावास्या नक्षत्रे केन मगधानेन जो-यत् ? । ता मासमेमाहि असिलेमाण पणो मुदृत्तो मगधानं च द्वाषष्टिभागा, मुदृत्तस्य द्वाषष्टिभाग च सप्तषष्टि । तेन द्वाषष्टि शुद्धया भागा सेमा " इति । यदा मुदृत्तः पट्टपट्टिमावास्या

चिन्त्यते, तदा सा युगस्यादित आरभ्य त्रयोदशी । ततः स ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ त्रयोदशभिर्गुण्यते । जातानि मुहूर्तानामष्टौ शतानि अप्रापञ्चादधिकानि ८५८ । एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चषष्टिजागाः ६५ । एकस्य च द्वाषष्टि भागस्य ६२ सत्काः । त्रयोदश १३ सप्तषष्टि ६७ जागाः । तत्र—“चत्वारि य वायाला, अह सोज्जा उत्तरासाढा” इति वचनात् । चतुर्भिर्द्वाचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तशतैः पञ्चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरुत्तरासाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात् मुहूर्तानां चत्वारि शतानि षोडशोत्तराणि, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशतिर्द्वाषष्टिजागाः । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः । ४१६ १३ १३ । ततः पतस्मात् त्रीणि शतानि नवनवत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः ३६९ १३ १३ इति शोधनीयम् । तत्र षोडशोत्तरेभ्यः चतुःशतेभ्यः त्रीणि नवनवत्यधिकानि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् सप्तदश मुहूर्ताः । तेभ्य एक मुहूर्तं गृहीत्वा द्वाषष्टिभागाः क्रियन्ते । कृत्वा च द्वाषष्टिभागा राशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकाशीतिः । तस्याश्चतुर्विंशतिः शुद्धा, स्थिताः पश्चात् सप्तपञ्चाशत् । तस्या रूपमेकमादाय सप्तषष्टिभागा क्रियन्ते, तेभ्यः षट्षष्टिः शुद्धा, पश्चादेकोऽयनिष्ठते, सप्तषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाताश्चतुर्दशसप्तषष्टिभागाः । आगत पुष्यनक्षत्रम् । षोडशसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य षट्षष्ट्यानि द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्दशसु सप्तषष्टिजागेष्वतिक्रान्तेषु द्वितीयां आविष्टीममावास्या परिसमापयति ॥ यदा तु तृतीया आविष्टममावास्या चिन्त्यते, तदा सा युगादित आरभ्य पञ्चविंशतितमेति स ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ पञ्चविंशत्या गुण्यते, जातानि षोडश शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चविंशदुत्तरशत द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशति सप्तषष्टिभागाः १६५० १३ १३ । तत्र चतुर्भिर्द्वाचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तशतैरेकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैः प्रथममुत्तरासाढापर्यन्त शोधनक शुद्धम्, स्थितानि पश्चान्मुहूर्तानां द्वादशशतान्यष्टोत्तराणि १२०७; द्वाषष्टिभागाश्च मुहूर्तस्य एकोनविंशतिः ७७, एकस्य द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशतिसप्तषष्टिभागा १३ । ततोऽष्टमिः शतैरेकोनविंशत्यधिकैः ७१७ मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिजागैः, एकस्य च द्वाषष्टिजागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरेको नक्षत्रपर्यायः शुद्ध्यति । स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि नवाशीत्यधिकानि मुहूर्तानाम् ३८७ । एकस्य च मुहूर्तस्य चतुष्पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागाः १३, एकस्य च द्वाषष्टिजागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिजागा १३ । ततो भूयस्त्रिभिर्नवोत्तरेर्मुहूर्तशतैः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिजागैः, एकस्य च द्वाषष्टिजागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि रोहिणिकापर्यन्तानि शुद्धानि स्थितानि, पश्चाद् मुहूर्ता अशीतिः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशद् द्वाषष्टिजागानि, एकस्य द्वाषष्टिजागस्य सप्तविंशति सप्तषष्टिजागाः ८० १३ १३ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिर शुद्धा, स्थिताः पञ्चाशद् मुहूर्ताः ५० । ततः पञ्चदशभिरार्द्रा शुद्धा, स्थिताः पञ्चत्रिंशत् ३५ । आगत पुनर्वसु नक्षत्रम् । पञ्चत्रिंशति मुहूर्तेष्वेक-

स्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशति द्वाषष्टिजागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु तृतीयां आविष्टीममावास्या परिसमापयति ॥ एव चतुर्थी आविष्टीममावास्यामश्लेषानक्षत्र प्रथमस्य मुहूर्तस्य सप्तसु द्वाषष्टिजागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिजागस्य एकचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु ७ । ४१ ; पञ्चमी आविष्टीममावास्यां पुष्यनक्षत्र त्रिषु मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य द्विचत्वारिंशति द्वाषष्टिजागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु ३ । ४२ । ५४ परिणमयति । एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरादितेनाभिजापेन, शेषमप्यमावास्याजात नेनव्यम् । विशेषमाह—(पौष्क्य दोषि । त जहा—पुष्यफल्गुणी, उत्तरा य च्छि) तत्रैव सूत्रपाठः—“ता पौष्क्येण अमावास कश्च नक्षत्रा जोपति ? ता दोषि नक्षत्रा जोपति । तं जहा—पुष्यफल्गुणी, उत्तरफल्गुणी य,” इदमपि व्यवहारत उच्यते । परमार्थत पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि प्रौष्ठपदीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा—मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी च । तत्र प्रथमां प्रौष्ठपदीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्र चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्षष्ट्यौ द्वाषष्टिभागेषु एकस्य द्वाषष्टिभागस्य द्वयोः सप्तषष्टिभागयोः ४ । २६ । २ अतिक्रान्तयोः, द्वितीया प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्र सप्तसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य एकषष्टौ द्वाषष्टिजागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिजागस्य पञ्चदशसु सप्तषष्टिजागेषु ७ । ६१ । १५ गतेषु, तृतीया प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशति द्वाषष्टिजागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ११ । ३४ । २८ गतेषु, चतुर्थी प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वादशसु द्वाषष्टिजागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु ३१ । १२ । ४२ गतेषु; पञ्चमी प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्र चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चपञ्चाशति सप्तषष्टिजागेष्वतिक्रान्तेषु २४ । ४७ । ५५ परिसमापयति । (आसोर्दोषेण । त जहा—हृत्थो, चित्ता य च्छि) । मन्वाप्येव सूत्रपाठः—“ता आसोर्दोषं अमावास कश्च नक्षत्रा जोपति ? । ता दोषेण नक्षत्रा जोपति । त जहा—हृत्थो, चित्ता य” । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयत पुनराश्वयुजीममावास्यां द्वे नक्षत्रे परिसमापयतः । तद्यथा—उत्तरफाल्गुनी, हस्तश्च । तत्र प्रथमां भास्वयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकत्रिंशति द्वाषष्टिजागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिजागस्य त्रिषु सप्तषष्टिजागेषु २५ । ३१ । ३, द्वितीयामाश्वयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं चतुश्चत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्षु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिजागस्य षोडशसु सप्तषष्टिभागेषु ४४ । ४ । १६ गतेषु; तृतीयामाश्वयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तदशमुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य द्वाषष्टिभागस्य एकोनविंशति सप्तषष्टिभागेषु १७ । ३६ । २६, चतुर्थीमाश्वयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं द्वादशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १२ । १७ । ४३ गतेषु; पञ्चमीमाश्वयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं त्रिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्विपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्-

पञ्चाशति सप्तषष्टिजागेषु ३० । ५२ । ५६ गतेषु परिसमापयति ।
(कसिअ दोषि । तं जहा-साई, विसादा य चि) अत्राप्येव
सूत्रपाठ- "ता कसिअं ण अमावासं कइ नक्खत्ता जोपति । ता
दोषि नक्खत्ता जोपति । त जहा साई, विसादा य चि" एत
दपि व्यवहारनयमेतत् । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि कार्ति-
कीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-चित्रा-स्वातिर्विशाखा
च । तत्र प्रथमां कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं षोडशमुद्-
र्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्त्रिंशति द्वाषष्टिजागेषु, एकस्य च द्वाष-
ष्टिभागस्य चतुर्षु सप्तषष्टिजागेषु १६ । ३६ । ४ गतेषु; द्वितीयां कार्-
तिकीममावास्यां स्वातिनक्षत्रं पञ्चसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
नवसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तदशसु षष्टिजा-
गेषु ५ । ९ । १७ गतेषु; तृतीयां कार्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्र-
मष्टसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभा-
गेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तषष्टिजागेषु ८ । ४४ ।
३०, चतुर्थी कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रयोदशमुद्-
र्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च
द्वाषष्टिभागस्य चतुश्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १३ । २२ । ४४
गतेषु; पञ्चमी कार्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रमेकविंशतौ
मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु,
एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु २१ ।
५६ । ६७ । गतेषु समाप्तिमुपनयति । (मग्गसिरी तिषि । त
जहा-अणुराहा, जेछा, मूलो य चि) अत्रापि सूत्रालापक एवम्-
"ता मग्गसिरी ण अमावासं कइ नक्खत्ता जोपति । ता तिषि
नक्खत्ता जोपति । त जहा-अणुराहा, जेछा, मूलो य " इति ।
एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरिमानि त्रीणि
नक्षत्राणि मार्गशीर्षीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-
विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा च । तत्र प्रथमां मार्गशीर्षीममावा-
स्यां ज्येष्ठानक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकचत्वारिंश-
ति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चसु सप्तषष्टिजागेषु
७ । ४१ । ५, द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रमे-
कादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दशसु द्वाषष्टिजागेषु,
एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टादशसु सप्तषष्टिभागेषु ११ । १४ । १८,
तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रमेकोनविंशति मु-
हूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य
एकविंशति सप्तषष्टिजागेषु २६ । ४९ । ३१ गतेषु; चतुर्थी मार्ग-
शीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च
मुहूर्तस्य सप्तविंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य
पञ्चचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु २४ । २७ । ४५ गतेषु; पञ्चमी मार्ग-
शीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रिचत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य
च मुहूर्तस्य सप्तविंशति द्वाषष्टिभागस्य अष्टापञ्चाशति सप्तषष्टि-
भागेषु ४३ । ० । ५८ परिसमापयति । (पोसि च दोषि ।
तं जहा-पुव्वासादा य, उत्तरासादा य चि) तत्रैव सूत्राला-
पक- "ता पोसी ण अमावासं कइ नक्खत्ता जोपति । ता दो-
षि नक्खत्ता जोपति । त जहा-पुव्वासादा य, उत्तरासादा य
चि " एतदपि व्यवहारतः उक्तम् । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्ष-
त्राणि परिसमापयन्ति । तद्यथा-मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा
च । तथाहि-प्रथमा पौषीममावास्या पूर्वाषाढानक्षत्रमष्टाविंश-
तौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु,
एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिजागेषु २८ । ४६ । ६ गतेषु;
द्वितीयां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं द्वयोर्मुहूर्तयोरे-

कस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाष-
ष्टिभागस्य एकोनविंशतौ सप्तषष्टिजागेषु २ । १६ । १९ ; तृती-
यामधिकमासमाविनी पौषीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रमेका-
दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु,
एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयविंशति सप्तषष्टिजागेषु ११ । ५६ ।
३३ गतेषु; चतुर्थी पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं षट्चदशसु
मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य
च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिजागेषु १५ । ५६ । ४६;
पञ्चमी पौषीममावास्यां मूलनक्षत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य
च मुहूर्तस्य षट्पञ्चाशद्व द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य ए-
कोनविंशतौ सप्तषष्टिजागेषु १६ । ५० । ५६ अतिक्रान्तेषु परिसमापय-
न्ति । (माहि तिणिण । त जहा-अभिर्ह, सचणो, धनिष्ठा य चि)
अत्राप्येव सूत्रालापक- "ता माही ण अमावासं कइ नक्ख-
त्ता जोपति । ता तिणिण नक्खत्ता जोपति । त जहा-अभिर्ह,
समणो, धनिष्ठा य " । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनर-
मूनि त्रीणि नक्षत्राणि माघीममावास्यां परिसमापयन्ति । त-
द्यथा-वत्सराषाढा, अभिजित, भ्रवणक्ष । तथाहि-प्रथमां माघी-
ममावास्यां भ्रवणनक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्त्रि-
ंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टसु सप्तषष्टिभा-
गेषु १० । ७६ । ८ गतेषु; द्वितीयां माघीममावास्यामभिजितक्षत्रं त्रिषु
मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्त्रिंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च
द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ३ । २६ । २० गतेषु; तृतीयां
माघीममावास्यां भ्रवणनक्षत्रं त्रयोविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मु-
हूर्तस्यैकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिजागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य
पञ्चविंशति सप्तषष्टिजागेषु ३३ । ३६ । ३५; चतुर्थी माघीममावा-
स्यामभिजितक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंश-
ति द्वाषष्टिजागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति
सप्तषष्टिभागेषु ६ । ३७ । ४७ गतेषु; पञ्चमी माघीममावास्या-
मुत्तराषाढानक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य दशसु
द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टौ सप्तषष्टिभागे-
षु २५ । १० । ६० अतिक्रान्तेषु परिणमयति । (फग्गुणी दोषि ।
त जहा-सयभिसया, पुव्वभइवया य चि) अत्राप्येव सू-
त्रालापक- "ता फग्गुणी ण अमावासं कइ नक्खत्ता जोपति । ता
दोषि नक्खत्ता जोपति । तं जहा-सयभिसया, पुव्वभइवया
य चि " । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरमूनि त्रीणि
नक्षत्राणि फाल्गुनीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-ध-
निष्ठा, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपदा च । तत्र प्रथमां फाल्गुनीममा-
वास्यां पूर्वभाद्रपदा एकस्मिन् मुहूर्ते, एकस्य च मुहूर्तस्य
एकविंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य नवसु
सप्तषष्टिभागेषु १ । ३१ । ६ गतेषु; द्वितीयां फाल्गुनीम-
मावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
चतुर्द्वाषष्टिजागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाविंशतौ सप्तष-
ष्टिभागेषु २० । ४ । २२, तृतीयां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वाषा-
ढानक्षत्रं चतुर्दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुश्चत्वारिंश-
ति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंशति सप्तषष्टि-
भागेषु, १४ । ४४ । ३६, चतुर्थी फाल्गुनीममावास्यां शतभिष-
क्नक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदशसु द्वाषष्टि-
जागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनपञ्चाशति सप्तषष्टि-
भागेषु ३ । १७ । ४९, पञ्चमी फाल्गुनीममावास्यां धनि-
ष्ठानक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्विपञ्चाशति द्वा-

षष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्केषु द्वाषष्टौ सप्तष-
ष्टिभागेषु ६ । ५२ । ६२ गतेषु परिणमयति । (चेत्ती-
तिणिण । त जहा—उत्तरभद्रवया, रेवई, अस्तिष्णी य
त्ति) अत्राप्येव सूत्रालापक —“ ता चित्ती ण अमावास कइ
नक्खत्ता जोएति ? । ता तिणिण नक्खत्ता जोएति । त जहा-
उत्तरभद्रवया, रेवई, अस्तिष्णी य त्ति” । एतदपि व्यवहारनयम-
तेन । निश्चयनयमतेन पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि चैत्रीममावा-
स्या समापयन्ति । तद्यथा—पूर्वभाद्रपदा, कर्तरभाद्रपदा, रेवती
च । तत्र प्रथमा चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्षत्र सप्तत्रि-
शन्मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चविंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य
च द्वाषष्टिभागस्य दशसु सप्तषष्टिभागेषु, ३७ । ३६ । १०,
द्वितीया चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्ते-
षु, एकस्य च मुहूर्तस्य नवसु द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टि-
भागस्य त्रयोविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ११ । ६ । २३, तृतीयां चै-
त्रीममावास्यां रेवती नक्षत्र पञ्चसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
एकोनपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तत्रि-
शति सप्तषष्टिभागेषु ५ । ४६ । ३७, चतुर्थी चैत्रीममावास्यामु-
त्तरभाद्रपदा नक्षत्र चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वा-
विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चाशति सप्त-
षष्टिभागेषु २४ । २१ । ५०; पञ्चमी चैत्रीममावास्या पूर्वभाद्रपदा
नक्षत्र सप्तविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तपञ्चाशति
द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु
२७ । ५७ । ६३ अतिक्रान्तेषु परिसमापयन्ति । (विसाहिं भरणी
कत्तिया इति) अत्राप्येव सूत्रपाठ —“ ता विसाहिं ण अमावा-
स कइ नक्खत्ता जोएति ? । ता दोणिण नक्खत्ता जोएति ।
त जहा—भरणी, कत्तिया य ” इति । एतच्च व्यवहारतः । नि-
श्चयन पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि वैशाखीममावास्यां परिसमापय-
न्ति । तानि चामूनि । तद्यथा—रेवती, अश्विनी, भरणी च । तत्र
प्रथमा वैशाखीममावास्यामश्विनी नक्षत्रमष्टाविंशतौ मुहूर्तेषु, ए-
कस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाष-
ष्टिभागस्य एकादशसु सप्तषष्टिभागेषु ३७ । ४० । ११, द्वि-
तीया वैशाखीममावास्यामश्विनी नक्षत्र द्वयोर्मुहूर्तयोरेकस्य च
मुहूर्तस्य एकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टि-
भागस्य त्रयोविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २ । ३६ । २३, तृतीयां
वैशाखीममावास्या भरणीनक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च
मुहूर्तस्य चतुष्पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य
अष्टत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ११ । ५४ । ३७ गतेषु, चतुर्थी वै-
शाखीममावास्यामश्विनीनक्षत्र पञ्चदशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुह-
र्तस्य सप्तविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एक
पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु १५ । २७ । ५१, पञ्चमी वैशाखीममा-
वास्या रेवती नक्षत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य स-
वन्धिनो द्वाषष्टिभागस्य सत्केषु चतुष्पष्टौ सप्तषष्टिभागेषु १६ । ० ।
६४ परिणमयति । (जेष्ठामूली रोहिणी मिगसिर चेति) अत्रा-
प्येव सूत्रालापक —“ ता जेष्ठामूलि ण अमावास कइ नक्ख-
त्ता जोएति ? । ता दोषि नक्खत्ता जोएति । त जहा—रोहिणी, मि-
गसिर च ” । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयन पुनरिमे द्वे न-
क्षत्रे ज्येष्ठामूलीममावास्या परिसमापयन् । तद्यथा—रोहिणी,
कनिका च । तत्र प्रथमा ज्येष्ठामूलीममावास्या रोहिणी नक्षत्र-
मेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चचत्वारिंशति द्वाष-
ष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादशसु सप्तषष्टिभागेषु

१६ । ४६ । १२ गतेषु, द्वितीयां ज्येष्ठामूलीममावास्यां कनिका
नक्षत्र त्रयोविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनविंशतौ
द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशतौ सप्तषष्टिमा-
गेषु २३ । १६ । २५ अतिक्रान्तेषु, तृतीयां ज्येष्ठामूलीममावास्यां
रोहिणी नक्षत्र द्वात्रिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनपष्टौ
द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनचत्वारिंशति
सप्तषष्टिभागेषु ३२ । ५९ । ३६, चतुर्थी ज्येष्ठामूलीममावा-
स्यां रोहिणी नक्षत्र षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वात्रिंशति
द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्विपञ्चाशति सप्तषष्टि-
भागेषु ६ । ३२ । ५२, पञ्चमी ज्येष्ठामूलीममावास्या कृत्ति-
का नक्षत्र दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चसु द्वाषष्टि-
भागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु
१० । ५ । ६५ गतेषु परिसमापयति । (ता आसाढी णमित्या-
दि) ता इति पूर्ववत् । आषाढी, णमिति वाक्यालङ्कारे । कति
नक्षत्राणि युञ्जन्ति ? । भगवानाह— (ता इत्यादि) ता इति
पूर्ववत् । त्रीणि युञ्जन्ति । तद्यथा—आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्यश्च ।
एतदपि व्यवहारत उक्तम् । परमार्थतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि
आषाढीममावास्या परिणमयन्ति । तद्यथा—मृगशिर, आर्द्रा, पुन-
र्वसुश्च । तत्र प्रथमा आषाढीममावास्यामार्द्रा नक्षत्र दशसु मुहूर्तेषु,
एकस्य च मुहूर्तस्य एकपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाष-
ष्टिभागस्य त्रयोदशसु सप्तषष्टिभागेषु १० । ५ । १३, द्वितीया आषाढी-
ममावास्या मृगशिर नक्षत्र सप्तविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुह-
र्तस्य चतुर्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य धन्वि-
शतौ सप्तषष्टिभागेषु २७ । २४ । २६; तृतीया आषाढीममावा-
स्या पुनर्वसु नक्षत्र नवसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वयोर्द्वाष-
ष्टिभागयोरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु
६ । २ । ४०; चतुर्थी आषाढीममावास्या मृगशिर नक्षत्र सप्तविं-
शतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, ए-
कस्य च द्वाषष्टिभागस्य विपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु २७ । ३७ ।
५३ गतेषु, पञ्चमी आषाढीममावास्या पुनर्वसु नक्षत्र द्वाविंशतौ
मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडशसु द्वाषष्टिभागेषु २३ । १६ । ०
गतेषु परिसमापयन्ति इति । तदेव द्वादशानामप्यमावास्यानां
चन्द्रयोगोपेतनक्षत्रविधिरुक्तः । च० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

संप्रत्येतासामेव कुलादियोजनामाह—

ता सावित्री णं अमावासं किं कुलं जोएति, उक्कुलं
जोएति, कुलोवकुलं वा जोएति पुच्छा ? । ता कुलं वा जो
एति, उक्कुलं वा जोएति, णो लज्ज कुलोवकुलं, कुलं
जोएमाणे महाणक्खत्ते जोएति, उक्कुलं जोएमाणे असि-
लेमा णक्खत्ते जोएति । ता सावित्री णं अमावासं कुलं
जोएति, उक्कुलं वा जोएति, कुलेण वा जुत्ता उक्कुलेण
वा जुत्ता सावित्री अमावासं जुत्त त्ति वत्तव्व सिया, एवं
णेयव्व । मगसिरीए १ माहीए २ फगुणीए ३ आसा-
ढीए ४ कुलोवकुलं जाणियव्व । सेसाणं कुलोवकुला ण-
त्थि० जाव कुलोवकुलेण वा जुत्ता आसाढी अमावासं
जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया ॥

(ता सावित्री णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । सावित्री आवण-
मासजाविनीममावास्या किं कुलं युनात्ति, उपकुलं युनात्ति, कु-
लोपकुलं वा युनात्ति ? । भगवानाह—(ता कुलं वेत्यादि)

कुलमपि युनक्ति, 'वाशब्दोऽपिशब्दार्थः' उपकुल वा युनक्ति । न लभने योगमधिगृह्य कुलोपकुलम् । तत्र कुल कुलसङ्ग नक्षत्र धाविष्टीममावास्या युञ्जन्मघानक्षत्र युनक्ति । एतच्च व्यवहारत उच्यते । व्यवहारो हि गतायाम्भमावास्याया धर्नमानायामपि च प्रतिपदि योऽहोरात्रो मूले अमावास्यायां सवन्धस सकलोऽप्यहोरात्रोऽमावास्योति व्यवहियते । तत एव व्यवहारत धाविष्टधाममावास्याया मघानक्षत्रसज्जवाङ्कम्-कुल युञ्जन् मघानक्षत्र युनक्तीति । परमाधेन पुन कुल युञ्जन् पुष्यनक्षत्र युनक्तीति प्रतिपत्तव्यम्, तस्यैव कुलप्रसिद्ध्या प्रालेख्य धाविष्टधाममावास्याया सज्जवात् । एतच्च प्रागेव भावितम् । एवमुत्तरसूत्रमपि व्यवहारनयमतेन यथायोग परिभाषनीयम् । उपकुल युञ्जन् अहोरात्रक्षत्रयुनक्ति । संप्रत्युपसहाग्माह- (ता सावित्री णमित्यादि) यत उक्तप्रकारेण द्वाभ्या कुलोपकुलान्या धाविष्टधाममावास्यायां चन्द्रयोगः समस्ति, न कुलोपकुले, न तत धाविष्टीममावास्या कुलमपि 'वाशब्दोऽपिशब्दार्थः' युनक्ति, उपकुल वा युनक्ति इति वक्तव्य स्यात् । यदि वा कुलेन वा युक्ता, उपकुलेन वा युक्ता सती धाविष्टधाममावास्या युनक्ति वक्तव्य स्यात् । (एव नेपथ्यमिति) एवमुक्तेन प्रकारेण शेषमप्यमावास्याजात नेपथ्यम् । नत्र मार्गशीर्ष्या माघ्यां फाल्गुन्यामाघादया च कुलोपकुल जणितव्यम्, शेषाणां त्वमावास्यानां कुलोपकुल नास्ति, ततो न धर्नयम् । संप्रति पाठकानुग्रहाय सूत्रालापका दृश्यन्ते- "ता पोद्वयं ए अमावास किं कुल जोष, उचकुल वा जोष, कुलोपकुल वा जोष ?" ता कुल वा जोष, उचकुल वा जोष, नो लग्न कुलोपकुल, कुल जोषमाणे उत्तरफल्गुणी जोष, उचकुल जोषमाणे पुष्याफल्गुणी जोष । ता पोद्वयं ण अमावास कुल वा जोष, उचकुल वा जोष, कुलेण वा जुत्ता उचकुलेण वा जुत्ता पोद्वयया अमावासा जुत्ता ति वक्तव्य सिया । ना आसोऽ ण अमावास किं कुल जोष, उचकुल जोष, कुलोपकुल जोष ? । ता कुल वा जोष, उचकुल वा जोष, नो लग्न कुलोपकुल, कुल जोषमाणे चित्ता नक्षत्रसे जोष, उचकुल जोषमाणे हस्तनक्षत्रसे जोष । ता आसोऽ ण अमावास कुल वा जोष, उचकुल वा जोष, कुलेण वा जुत्ता उचकुलेण वा जुत्ता आसोऽ अमावासा जुत्ता ति वक्तव्य सिया । ता कस्ति ण अमावास किं कुल जोष, उचकुल वा जोष, कुलोपकुल वा जोष ? । ता कुल वा जोष, उचकुल वा जोष, नो लग्न कुलोपकुल । कुल जोषमाणे विमला नक्षत्रसे जोष, उचकुल जोषमाणे सातिनक्षत्रसे जोष । ता कस्ति ण अमावास कुल वा जोष, उचकुल वा जोष, कुलेण वा जुत्ता उचकुलेण वा जुत्ता कस्ति अमावासा जुत्ता ति वक्तव्य सिया । ता मगसिरी ण अमावास किं कुल जोष, उचकुल वा जोष, कुलोपकुल वा जोष ? । ता कुल वा जोष, उचकुल वा जोष, कुलोपकुल वा जोष, कुल जोषमाणे मूलनक्षत्रसे जोष, उचकुल जोषमाणे जेष्ठनक्षत्रसे जोष, कुलोपकुल जोषमाणे अश्लेषानक्षत्रसे जोष । ता मगसिरी ण अमावास कुल वा जोष, उचकुल वा जोष, कुलोपकुल वा जोष, कुलेण वा जुत्ता उचकुलेण वा जुत्ता कुलोपकुलेण वा जुत्ता जुत्ता ति वक्तव्य सिया " इत्यादि । निश्चयत पुन कुलादियोजना प्रागुक्तचन्द्रेण योगमधिगृह्य स्वय परिजावनीया । च० प्र० १० पाद० । " पञ्च सवन्धरिण जुगे वावटि अमावासाओ " जुगे पञ्च सवन्धरा, तत्र प्रथम्यान्ता, तेषु पदत्रिंशद्

अमावास्या भवन्ति, द्वौ चाभिधर्दिता सवन्धरा, तत्र प्रथमिशतिरमावास्या । स० ६२ सम० ।

अथैवरूपा जुगे कियन्वोऽमावास्या कियन्वश्च पौर्णमास्य ?- इति जुगे तद्गतसर्वसंख्यामाह-

तत्थ खलु अमाओ वावटि पुणिमाओ, वावटि अमावासाओ पणत्ताओ । एए रुमिणा रागा वावटि, एए कसिणा विगागा वावटि, एए चउव्वीमे पव्वसते, एवं चउव्वीमे कसिणरागविरागसण । ता जावडया ए पचएह मवन्धराण ममया एएणं चउव्वीसेणं सतेण ऊणगा एवनिगा ए परिमिना असंखेजा देमरागविगागसमया जवन्तीति जत्थ चउव्वीसे ममयसण तत्थ वावटिममए कसिणो रागो, वावटिसमए कसिणो विरागो, तन्वज्जियमवखाया ।

(तत्थ खलु इत्यादि) तत्र जुगे गल्लिमा एवस्वरूपा द्वावटि पौर्णमास्यो, द्वावटिमावास्या प्रज्ञता । तथा जुगे चन्द्रमस एते अनन्तरोदितस्वरूपा कृत्स्ना परिपूर्णा रागा द्वावटि, अमावास्यानां जुगे द्वावटिसंख्याप्रमाणत्वात्, तास्येव चन्द्रमस परिपूर्णरागसंभवात् । एते अनन्तरोदितस्वरूपा जुगे च द्रमस कृत्स्ना विगागा सर्वात्मना रागाजाया द्वावटि, जुगे पौर्णमासीनां द्वावटिसंख्यात्मकत्वात्, तास्येव चन्द्रमस परिपूर्णविरागसंभवात् । तथा जुगे सर्वसंख्यया एक चतुर्विंशत्यधिक पर्वशतम्, अमावास्यापौर्णमासीनामेव पर्वशब्दस्य वाच्यत्वात्, तासां च पृथक् पृथक् द्वावटिसंख्यानामेकत्र मीलने चतुर्विंशत्यधिकशतत्वात् । एवमेव जुगमध्ये सर्वसंख्यनया चतुर्विंशत्यधिक कृत्स्नरागविरागशतम् । (ता जावडयाणमित्यादि) यावन्त पञ्चानां चन्द्राभिधर्दितरूपाणां सधर्माणां समया एकेन चतुर्विंशत्यधिकेन समयशतेन ऊनका एताव तः परिमिता कसंख्याता देशरागविगागसमया भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि चन्द्रमसो देशतो रागविगागभावात् । यत्र चतुर्विंशत्यधिक समयशतं, तत्र द्वावटिसमयेषु कृत्स्नो राग द्वावटिसमयेषु कृत्स्नो विराग, तेन तदूर्जनमित्याख्यातम्, मयेति गम्यते । जगद्वचनमेतत्सम्यक् श्रूयम् । च० प्र० १३ पाद० ।

सम्प्रत्यमावास्याधिपय चन्दनक्षत्रयोग सूर्यनक्षत्रयोग च

प्रतिपिपादयिषु प्रथमामावास्याधिपयप्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेमि णं पचएह मवन्धराणा पदम अमावास चंदे केण एक्कवत्तेण जोएति ? ता असिलेसाहिं, असिलेसाणं एक्को मुहुत्तो, चत्तादीसं च वावटिभागा मुहुत्तस्म, वावटिजागं च सत्तट्टिहा छेत्ता द्वावटि जुणिणया जागा सेसा । त समय च णं सूरै केण णक्खत्तेणं जोएति ? ता असिलेसाहिं चैव, असिलेसाण एक्को मुहुत्तो, चत्तादीम वावटिजागा मुहुत्तस्म, वावटिजाग च सत्तट्टिहा छेत्ता द्वावटि जुणिणया जागा मेसा ।

" ता एएसि ण " इत्यादि जुगमम् । भगवानाह- (ता असिलेसाहिं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । अश्लेषाभि सह स-युक्तश्चन्द्रः प्रथमामावास्यां परिसमापयति, अश्लेषानक्षत्रस्य च पदार्थकत्वात् तदपेक्षया बहुवचनम् । तदानीं च प्रथमामावास्यापरिसमाप्तिवेलायामश्लेषानक्षत्रस्य एको मुहुत्तं, चत्वारिंशच्च द्वावटिभागा मुहुत्तस्य, द्वावटिजाग च सप्तषष्ठिधा छित्त्वा पदषष्ठिचूणिका भागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः

६६ । ५ । १ प्रथमाऽभावास्या किल सप्रति चिन्त्यमाना वर्तते, इत्येकेन गुणयते, एकेन च गुणित तदेव भवतीति तावानेव जातः । तत एतस्मात्—“वावीस च मुहुत्ता, वायालीस च स-
चिभागा य । एय पुणवसुस्स य, सोहेयव्व हव्व पुअ” ॥१॥
इति वचनाद् द्वाविंशतिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा इत्येव प्रमाणं शोधनकं शोध्यते । तत्र षट्प-
ष्टिमुहूर्तस्यो द्वाविंशतिमुहूर्ता शुक्लः, स्थिताः पञ्चात् चतुश्च-
त्वारिंशत् ४४ । तेभ्य एक मुहूर्तमपाकृत्य तस्य द्वाषष्टिभागाः
कृताः, ते द्वाषष्टिभागराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तषष्टिः ।
तेभ्य षट्चत्वारिंशत् शुक्लः, शेषास्तिष्ठन्त्येकविंशतिः । त्रिच-
त्वारिंशतौ मुहूर्तस्यस्त्रिंशता पुष्यः शुक्रः, स्थिताः पञ्चात् त्रयो-
दश मुहूर्ताः, अश्लेषानक्षत्र चार्द्धक्षेत्रमिति पञ्चदशमुहूर्तप्रमाण-
म् । तत इदमागतम्—अश्लेषानक्षत्रस्य एकस्मिन्मुहूर्ते चत्वारिं-
शति मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टि-
धा विभक्त्य षट्पष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमाऽभावास्या परिसमा-
प्तिमुपगच्छति । सप्रत्यस्यामेव प्रथमायामभावास्यायां सूर्यन-
क्षत्र पृच्छति—(त समय च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता उत्तरा-
हि इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । उत्तराभ्यामेव फाल्गुनीचर्या
युक्तः सूर्यो द्वितीयामभावास्या परिसमापयति । तदानीं च
द्वितीयामभावास्यापरिसमाप्तिवेद्यामुत्तरयोः फाल्गुन्योश्चत्वारिं-
शद् मुहूर्ताः । “त चेव जाव ति” वचनादेकस्य च मुहूर्तस्य
पञ्चविंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य (पञ्चष्टिं शु-
णिण्या भागा सेस ति) एतच्चोभयोरपि चन्द्रसूर्ययोर्नक्षत्रयोग-
परिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वादवसेयम् ।

द्वितीयामभावास्याविषय सूत्रमाह—

ता एतेसि एं पंचएहं संवच्छराणं दोचं अभावसां चं-
दे केण एक्खचेणं जोएति ? । ता उत्तराहिं फग्गुणी-
हिं, उत्तराणं फग्गुणीणं चत्तालीस मुहुत्ता, पणतीसं च
वावट्टिजागा मुहुत्तस्स, वावट्टिभागं च सत्तट्टिहा ठेत्ता
पएणट्टि चुण्णिण्या जागा सेसा । तं समयं च एं सूरैके-
ण एक्खचेणं जोएउ पुच्छा ? । ता उत्तराहिं चेव
फग्गुणीहिं, उत्तराणं फग्गुणीणं चत्तालीसं मुहुत्ता तं चेव
जाव पएणट्टि चुण्णिण्या जागा सेसा ॥

(ता एतेसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता उत्तराहि-
मित्यादि) उत्तराभ्या फाल्गुनीचर्या युक्तश्चन्द्रो द्वितीयामभावा-
स्यां परिसमापयति । तदानीं च द्वितीयामभावास्यापरिसमाप्तिवे-
द्यामुत्तरयोः फाल्गुन्योश्चत्वारिंशद् मुहूर्ताः, पञ्चविंशद् द्वाष-
ष्टिभागा मुहूर्तस्य, द्वाषष्टिभागं च सप्तषष्टिधा विभक्त्वा तस्य
सत्का पञ्चषष्टिचूर्णिका भागाः शेषाः । तथाहि—स एव ध्रुव-
राशि ६६ । ५ । १ द्वाभ्यां गुणयते, जात द्वात्रिंशदधिकमुहूर्ता-
नां शतम् । एकस्य मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागा दश, एकस्य च
द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा विभक्त्य द्वौ चूर्णिकाभागा १३२ ।
१० । २ । तत्र प्रथमतः पुनर्वसुशोधनकं शोध्यते—द्वात्रिंशदधि-
कमुहूर्तशतान् द्वाविंशतिमुहूर्ता शुक्लः, स्थितः पञ्चादशोत्तर
शतम् । तेभ्योऽप्येको मुहूर्तो गृहीत्वा द्वाषष्टिभागीक्रियते,
कृत्वा च ते द्वाषष्टिभागा द्वाषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता
द्विसप्ततिद्वाषष्टिभागा । तेभ्य षट्चत्वारिंशत् शुक्लः । स्थिताः

पञ्चात्पञ्चविंशतिः । नवोत्तराश्च मुहूर्तशतान् त्रिंशता पुष्यः शुक्रः,
स्थिताः पञ्चादेकोनाशीतिः । ततोऽपि षट्चदशभिर्मुहूर्तैरश्लेषा
शुद्धा, स्थिताः पञ्चात्तुषष्टिः, ततोऽपि त्रिंशता मघा शुद्धा, स्थि-
ताश्च त्रिंशत् । ततोऽपि त्रिंशता पूर्वाफाल्गुनी शुद्धा, स्थिताः
पञ्चात्चत्वारः, उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रं च अर्द्धक्षेत्रमिति पञ्चच-
त्वारिंशत् मुहूर्तप्रमाणम् । तत इदमागतमुत्तराफाल्गुनीनक्षत्रस्य
चन्द्रयोगमुपागतस्य चत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
पञ्चविंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा-
विभक्त्य षट्चषष्टौ चूर्णिकाभागेषु शेषेषु द्वितीयाऽभावास्या
समाप्तिं याति । सप्रत्यस्यामभावास्यायां सूर्यनक्षत्र पृच्छति—
(त समय च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता उत्तरा-
हि इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । उत्तराभ्यामेव फाल्गुनीचर्या
युक्तः सूर्यो द्वितीयामभावास्या परिसमापयति । तदानीं च
द्वितीयामभावास्यापरिसमाप्तिवेद्यामुत्तरयोः फाल्गुन्योश्चत्वारिं-
शद् मुहूर्ताः । “त चेव जाव ति” वचनादेकस्य च मुहूर्तस्य
पञ्चविंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य (पञ्चष्टिं शु-
णिण्या भागा सेस ति) एतच्चोभयोरपि चन्द्रसूर्ययोर्नक्षत्रयोग-
परिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वादवसेयम् ।

तृतीयामभावास्याविषय प्रश्नसूत्रमाह—

ता एतेसि एं पंचएहं संवच्छराणं तच्च अभावसां चंदे
पुच्छा ? । ता इत्येणं, इत्यस्स चत्तारि मुहुत्ता, तीसं वाव-
ट्टिभागा मुहुत्तस्स, वावट्टिभागं च सत्तट्टिहा ठेत्ता चउसट्टि-
चुण्णिण्या जागा सेसा । तं समयं च एं सूरैकेण एक्खचेणं
नोएति पुच्छा ? । ता इत्येणं चेव । इत्यस्स णं तं चेव चंदस्स ।

(ता एतेसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता इत्येण-
मित्यादि) इस्तेन युक्तश्चन्द्रस्तृतीयामभावास्यां परिसमापयति ।
तदानीं च इस्तनक्षत्रस्य चत्वारो मुहूर्ताः, त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा
मुहूर्तस्य, द्वाषष्टिभागं चैकं सप्तषष्टिधा विभक्त्वा तस्य सत्काश्च-
तुषष्टिचूर्णिका भागाः शेषाः । तथाहि—स एव ध्रुवराशि
६६ । ५ । १ तृतीयस्यामभावास्यायां सप्रति चिन्तति त्रि-
जिगुणयते, जातमष्टनवत्यधिक मुहूर्तानां शतम् । एकस्य च मु-
हूर्तस्य पञ्चदश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः
सप्तषष्टिभागाः । १९७ । १५ । ३ । तत एतस्माद्विसप्तत्यधि-
केन मुहूर्तशतेन षट्चत्वारिंशता च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागैः पुनर्व-
सादीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, पञ्चादवति-
ष्ठन्ते पञ्चविंशतिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकत्रिंशद् द्वाषष्टि-
भागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः सप्तषष्टिभागा २५ । ३१ ।
३ । तत आगत इस्तनक्षत्रस्य चन्द्रेण सह योगमुपागतस्य
चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एक-
स्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुष्षष्टौ, सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु तृतीया-
मभावास्यां परिसमापयति । अत्रैव सूर्यविषय प्रश्नसूत्रमाह—
(त समय च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता इत्ये-
ण चेव ति) इस्तेनैव नक्षत्रेण युक्तः सूर्योऽपि तृतीयामभावा-
स्यां परिसमापयति । एतच्चोभयोरपि करणस्य समानत्वादव-
सेयम् । एवमुत्तरसूत्रयोरपि द्रष्टव्यम् । शेषविषये भतिदेशमा-
ह—“इत्यस्स णं तं चेव चंदस्स” यथा चन्द्रस्य विषये शेषमुक्तं
तदेव सूर्यस्यापि विषयं वक्तव्यम् । तथैव—“इत्यस्स चत्तारि
मुहुत्ता, तीसं च वावट्टिभागा मुहुत्तस्स, वावट्टिभागं च सत्त-
ट्टिहा ठेत्ता चउसट्टि चुण्णिण्या भागा सेसा” इति ।

सप्रति द्वादशमावास्याविषय प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेसि ए पचएहं संवच्छराणं दुबालसमं अमावासं चंदे केणं नक्खत्तेण जोएति पुच्छा ? । ता अदाहिं, अदाण चत्तारि मुहुत्ता, दस च वावट्टिभागा मुहुत्तस्स, वावट्टिजागं च सत्ताट्टिहा वेत्ता चउप्पस चुप्पिया जागा सेसा । तं समयं च णसूरे केण एक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता अदाए चेव । अदाए जं चेव चंदस्स, तं चेव ॥

(ता एतेसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता अदा-हिमित्यादि) आर्क्षयुक्तश्चन्द्रो द्वादशीममावास्या परिसमापयति । तदानीं आर्क्षयाश्चत्वारो मुहूर्ता, दश च मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागा, द्वापष्टिभाग च सप्तपष्टिधा छित्त्वा चतुष्पञ्चाशत्त्रिंशद्भागानां शेषा । तथाहि-स एव ध्रुवराशि ६६ । ५ । १ द्वादश्यमावास्या चिन्त्यमाना वर्तते इति द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि सप्तशतानि चिन्त्यधिकाणि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य षष्टिद्वापष्टिभागा, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वादश सप्तपष्टिभागा ७६२ । ६० । १२ । एतस्माच्चतुर्भिः शतैर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चत्वारिंशता द्वापष्टिभागैः पुनर्वस्वादीन्युत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दश द्वापष्टिभागा, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वादश सप्तपष्टिभागा ३५० । १४ । १२ । ततस्त्रिंशति शतैर्नवोत्तरैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापष्टिभागैः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पट्षष्ट्या सप्तपष्टिभागैः अनिजिदादीनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि, स्थिता पश्चाच्चत्वारिंशन्मुहूर्ता, एकस्य च मुहूर्तस्य एकपञ्चाशद् द्वापष्टिभागा, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तपष्टिभागा ४०५१ । १३ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिर शुक्ल, स्थिता पश्चाद्दश मुहूर्ता, शेष तथैव १०५१ । १३ । तत आगतमार्कङ्गनक्षत्रस्य चन्द्रेण सह सयुक्तस्य चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च दशसु द्वापष्टिभागेषु, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तपष्टिभागेषु ४ । १० । ५४ द्वादशी अमावास्या परिसमाप्तिमिति । सप्रति सूर्यविषय प्रश्नमाह-(त समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता अदाए चेव) आर्क्षयैव युक्तं सूर्योऽपि द्वादशीममावास्या परिसमापयति । शेषपाठाविषये अतिदेशमाह-" अदाए जं चेव चंदस्स, तं चेव " चन्द्रस्य विषये आर्क्षया शेषयुक्तम्, तदेव सूर्यविषयेऽपि वक्तव्यम् । "अदाए चत्तारि मुहुत्ता, दश च वावट्टिभागा मुहुत्तस्स, वावट्टिजागं च सत्ताट्टिहा वेत्ता चउप्पस चुप्पिया भागा सेसा " इति ।

चरमद्वापष्टिमामावास्याविषय प्रश्नमाह-

ता एतेसि ए पचएहं संवच्छराणं चरिमं वावट्टि अमावासं चंदे केण एक्खत्तेण जोएति पुच्छा ? । ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स ए वावीसं मुहुत्ता, वायालीस च वावट्टिभागा मुहुत्तस्स सेसा । तं समयं च एं सूरे केण एक्खत्तेण जोएति पुच्छा ? । ता पुणव्वसुणा चेव, पुणव्वसुस्स ए वावीसं मुहुत्ता, वायालीस च वावट्टिभागा मुहुत्तस्स सेसा ।

(ता एतेसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता पुणव्वसु-

णा इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । पुनर्वसुना एकश्चन्द्रश्चरमा द्वापष्टिमाममावास्यां परिसमापयति । तदानीं च चरमद्वापष्टिमाममावास्यापरिसमाप्तिवेदाया पुनर्वसुनक्षत्रस्य द्वाविंशतिमुहूर्ता, षट्चत्वारिंशच्च द्वापष्टिभागा मुहूर्तस्य शेषा । तथाहि-स एव ध्रुवराशि ६६ । ५ । १ द्वापष्ट्या गुण्यते, जातानि मुहूर्तानां चत्वारिंशच्चतानि चिन्त्यधिकाणि, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वापष्टिभागानां त्रिणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वापष्टिसप्तपष्टिभागा ४०६२ । ३१० । १३ तत एतस्माच्चतुर्भिः शतैर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चत्वारिंशता द्वापष्टिभागैः प्रथमशोधनक शुद्धम्, जातानि षट्त्रिंशन्शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वे शते चतुष्पष्ट्यधिके द्वापष्टिभागानाम्, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य द्वापष्टिसप्तपष्टिभागा ३६५० । २८४ । ६७ । ततोऽनिजिदाद्युत्तराषाढापर्यन्तसकद्वनक्षत्रपर्यायविषय शोधनकम् । अष्टौ शतानि एकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य चतुर्विंशतिद्वापष्टिभागा, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पट्षष्टि-सप्तपष्टिभागा ८१९ । २४ । ६६ इत्येव प्रमाणं चतुर्भिर्गुणयित्वा शोध्यते । स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि चतुः सप्तत्यधिकाणि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुष्पष्ट्यधिकं शतं द्वापष्टिभागानाम्, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पट्षष्टि-सप्तपष्टिभागा ३७४ । १६४ । ६६ । ततो भूयस्त्रिंशति शतैर्मुहूर्तानां नवोत्तरैः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापष्टिभागैः, एकस्य च द्वापष्टिभागस्य पट्षष्ट्या सप्तपष्टिभागैः ३०६ । २४ । ६६ अनिजिदादीनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात्सप्तपष्टिर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडश-द्वापष्टिभागा ६७ । १६ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिर, पञ्चदश-भिरार्द्रा शुद्धा, स्थिता पश्चात् शेषा द्वाविंशतिर्मुहूर्ता, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडश द्वापष्टिभागा २० । १६ । तत आगत चन्द्रेण सह सयुक्त पुनर्वसुनक्षत्रं द्वाविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वापष्टिभागेषु, शेषेषु चरमां द्वापष्टिमाममावास्यां परिसमापयति । सूर्यविषय प्रश्नसूत्रमाह-(त समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता पुणव्वसुणा चेव स्ति) सूर्य पुनर्वसुना चैव सह योगमुपागतश्चरमा द्वापष्टिमाममावास्यां परिसमापयति । शेषे अतिदेशमाह-(पुणव्वसुस्स ण वावीसं मुहुत्ता इत्यादि) एतच्च प्राग्वद्वाचनीयम् । चन्द्रमसः सूर्यस्य चामावास्याविषये नक्षत्रयोगपरिज्ञानहेतोः करणस्य सम्मानत्वात् । च० प्र० १० पादु० ।

सप्रति कियन्सु मुहूर्तेषु गतेषु अमावास्यातोऽनन्तरा पौर्णमासी, कियन्सु वा मुहूर्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरममावास्या, इत्यादि निरूपयति-

ता अमावासाओ ण पुण्णिमासिणी चत्तारि वायाले मुहुत्तसते, वायालीस वावट्टिजागे मुहुत्तस्स आहिनाति व-देज्जा ; ता अमावासाओ णं अमावामा अट्ठा पंचासीते मुहुत्तसते, तीसं च वावट्टिजागे मुहुत्तस्स अहियाति व-देज्जा ; ता पुण्णिमासिणीओ णं अमावामा चत्तारि वायाले मुहुत्तमते त चेव, ता पुण्णिमासिणीओ णं पुण्णिमासिणि । अट्ठा पंचासीते मुहुत्तसते, तीसं च वावट्टिजागे मुहुत्तस्स आहिता० । एस ण एवइए चंदे मासे ; एस ण एवइए सगळे जुगे ॥

(ता अमावासाश्चो णमित्यादि) सुगमम् । नवरं अमावा-
स्याया अनन्तरं चन्द्रमासस्याह्नेन पौर्णमासी, पौर्णमास्या अ-
नन्तरमर्द्धमासेन चन्द्रमासस्यामावास्या, अमावास्यायाश्च अ-
मावास्या परिपूर्णेन चन्द्रमासेन, पौर्णमास्या अपि पौर्णमासी
परिपूर्णेन चन्द्रमासेन भवति यथोक्ता मुहूर्त्तसंख्या । उपस-
हारमाह- (एस णमित्यादि) एष अष्टौ मुहूर्त्तशतानि पञ्चाशी-
त्यधिकानि त्रिंशच्च द्वापष्टिभागा मुहूर्त्तस्येति, एतावान् एता-
वत्प्रमाणश्चन्द्रमासः । तत एतावत्प्रमाणं शकल खण्डरूप युग,
चन्द्रमासप्रमित युग शकलमेतदित्यर्थः । च० प्र० १३ पाहु० ।

पूर्णिमानक्षत्रात् अमावास्यायाम्, अमावास्यानक्षत्राच्च
पूर्णिमाया नक्षत्रस्य नियमेन सवन्धमाह-

जया एं भंते ! साविट्ठी पुष्पिमा जवइ तथा एं माही
अमावासा भवइ, जया एं भंते ! माही पुष्पिमा जवइ तथा
णं साविट्ठी अमावासा जवइ ? । हुंता, गोयमा ! जया
ए साविट्ठी० तं चेव वत्तव्वं । जया एं भंते ! पोद्धवई पुण्णि-
मा जवइ तथा एं फग्गुणी अमावासा जवइ, जया एं
फग्गुणी पुष्पिमा भवइ तथा एं पोद्धवई अमावासा जवइ ? ।
हुंता, गोयमा ! तं चेव एवं । एतेणं अजिल्लावेणं इमाओ
पुष्पिमाओ अमावासाओ एेअव्वाओ । अस्मिणी पुष्पिमा
चेत्ती अमावासा, कत्तिगी पुष्पिमा विसाही अमावासा,
मग्गमिरी पुष्पिमा जेड्डामूली अमावासा, पोसी पुष्पिमा
आसादी अमावासा ।

(जया ण भंते ! इत्यादि) यदा भदन्त ! आविष्टी अविष्टानक्षत्र-
युक्ता पूर्णिमा भवति तदा तस्या अर्वाकतनी अमावास्या माघी
मघानक्षत्रयुक्ता भवति । यदा तु माघी मघानक्षत्रयुक्ता पूर्णिमा
भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या आविष्टी अविष्टानक्षत्र-
युक्ता भवतीति काका प्रश्नः । मगवानाह- (हुतेनि) जव-
नि । तत्र गौतम ! यदा आविष्टीत्यादि, तदेव वक्तव्यं, प्रश्नेन समा-
नोत्तरत्वात् । अयमर्थः - इह व्यवहारनयमतेन यस्मिन्नक्षत्रे पौर्ण-
मासी भवति तत आरज्य अर्वाकते पञ्चदशे चतुर्दशे वा नक्षत्रे
नियमनोऽमावास्या, ततो यदा आविष्टी अविष्टानक्षत्रयुक्ता
पौर्णमासी भवति तदा अर्वाकतनी अमावास्या माघी मघानक्ष-
त्रयुक्ता जवति, अविष्टानक्षत्रादारज्य मघानक्षत्रस्य पूर्वं चतुर्द-
शत्वात् । अत्र सूर्यप्रज्ञसिचन्द्रप्रज्ञसिचतुस्तु मघानक्षत्रादारज्य
अविष्टानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वादिति पाठः, तेनात्र विचार्यम् ।
एतच्च आश्रयमासमधिकृत्य भावनीयम् । यदा भदन्त ! मा-
घी मघानक्षत्रयुक्ता पूर्णिमा भवति तदा आविष्टी अविष्टानक्ष-
त्रयुक्ता पाश्चात्या अमावास्या भवति, मघानक्षत्रादारज्य पूर्वं
अविष्टानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । इदं च माघमासमधिकृत्य
भावनीयम् । यदा भदन्त ! प्रौष्ठपदी उत्तरभाद्रपदायुक्ता पौर्ण-
मासी भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या उत्तरफाल्गुनीनक्षत्र-
युक्ता जवति, उत्तरभाद्रपदादारज्य पूर्वमुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्य
पञ्चदशत्वात् । एतच्च भाद्रपदमासमधिकृत्य अवसेयम् । यदा
उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा अमावास्या
प्रौष्ठपदी । उत्तरभाद्रपदोपेता जवति, उत्तरफाल्गुनीमारज्य पूर्व-
मुत्तरभाद्रपदानन्तरस्य चतुर्दशत्वात् । इदं च फाल्गुनमासमधि-
कृत्योक्तम् । एवमेतेनान्निलापेन इमाः पूर्णिमा अमावास्याश्च ने-

तव्याः । यदा आश्विनीपूर्णिमा अश्विनीनक्षत्रोपेता भवति तदा
पाश्चात्याऽनन्तरा अमावास्या चैत्री चित्रानक्षत्रयुक्ता भवति, अ-
श्विन्या आरज्य पूर्वं चित्रानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । एतच्च व्यव-
हारनयमधिकृत्योक्तमवसेयम्, निश्चयत एकस्यामप्याश्वयुग्मा-
सभाविन्याममावास्यायां चित्रानक्षत्रासम्भवात् । एतच्च प्रागेव
दर्शितम् । यदा च चैत्री चित्रानक्षत्रोपेता पौर्णमासी भवति
तदा पाश्चात्या अमावास्या आश्विनी अश्विनीनक्षत्रयुक्ता
भवति, एतदपि व्यवहारतः । निश्चयत एकस्यामपि चैत्रमास-
भाविन्याममावास्यायामश्विनीनक्षत्रस्यासम्भवात् । एतदपि सूत्र-
माश्विनचैत्रमासावधिकृत्य प्रवृत्तम् । यदा च कार्तिकी कृत्ति-
कानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा वैशाखी विशाखानक्षत्र-
युक्ता अमावास्या भवति, कृत्तिकातोऽर्वाक विशाखायाः पञ्च-
दशत्वात् । यदा वैशाखी विशाखानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी जव-
ति तदा ततोऽनन्तरा पाश्चात्याऽमावास्या कार्तिकी कृत्तिका-
नक्षत्रोपेता जवति, विशाखात पूर्वं कृत्तिकायाः चतुर्दशत्वात् ।
एतच्च कार्तिकवैशाखमासावधिकृत्योक्तम् । यदा च मार्गशीर्षी
मृगशिरययुक्ता पौर्णमासी भवति तदा ज्येष्ठा मूली ज्येष्ठमूलन-
क्षत्रोपेता अमावास्या, यदा ज्येष्ठमूली पौर्णमासी तदा मार्ग-
शीर्षी अमावास्या । एतच्च मार्गशीर्षज्येष्ठमासावधिकृत्य भाव-
नीयम् । यदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी तदा आषाढी
पूर्वाषाढानक्षत्रयुक्ता अमावास्या जवति, यदा पूर्वाषाढानक्षत्रयुक्ता
पौर्णमासी भवति तदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुक्ता अमावास्या जव-
ति । एतच्च पौषाषाढमासावधिकृत्योक्तमिति । उक्तानि मासा-
र्द्धमासपरिसमापकानि नक्षत्राणि । ज० ७ वक्त्र० ।

अमि (मे) ज्ञ-अमेय-त्रि० । अमिताज्ञेकवस्तुयोगाद् कय-
विकयनिषेधाद् वा (कल्प० ५ क०) अविद्यमानदातव्ये नगरा-
दौ, ज० ३ वक्त्र० । अविद्यमानमाय्ये, ज० ११ श० ११ व० ।

अमि (मे) ज्ञ-अमेध्य-न० । न० त० । अगुचिद्रव्ये, स्था०
१० ग० । विष्टायाम्, तं० । “ अमिज्जेण लिप्तोसि न जाणइ
केण विलित्तो ” । आ० म० द्वि० ।

अमि (मे) ज्ञपुष्प-अमेध्यपूर्ण-त्रि० । विष्टावृत्ते, तं० ।

अमि (मे) ज्ञमय-अमेध्यमय-त्रि० । अमेध्य प्रचुरमसिभि-
ति । गूयात्मके, तं० ।

अमि (मे) ज्ञरस-अमेध्यरस-पु० । विष्टारसे, तं० ।

अमि (मे) ज्ञसंजूय-अमेध्यसंभत-त्रि० । विष्टासभवे, तं० ।

अमि (मे) ज्ञुक्कर-अमेध्योत्कर-पु० । उच्चारानिकरकल्पे, वो०
१ विव० ।

अमित्त-अमित्र-न० । अहितसाधके, स्था० ४ ग० ४ व० ।
आत्मा० । (‘ पुरिसजाय ’ शब्देऽस्य चतुर्भङ्गी छष्ट्या)

अभिय-अमृत-त्रि० । अमरधर्मिणि, विशेषः । मरणाभावे, आ०
म० द्वि० । तत्पथ्ये, आव० ४ अ० । “ वर्षास्तु लवणममृतं, शरीरं
जलं गोपयश्च हेमन्ते । शिशिरे चामलकरसो, घृतं वसन्ते
गुह्यश्चान्ते ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ व० ।

अमित-त्रि० । परिमाणरहिते, ध० २ अधि० । अपरिशेषे, आ०
चू० १ अ० । अनन्ते, असंख्येये वनस्पतिपृथिवीजीवव्यादौ च

अभिय

" केवली पुरच्छिमेण मियं पि जाणइ, अभिय पि जाणइ " । म०
५ श० ४ उ० । केवलज्ञाने च । विशेष० ।

अभियगइ-अमितगति-पु० । दाक्षिणात्ये दिक्कुमारेन्द्रे, म०
३ श० ८ उ० । स० । प्रज्ञा० । स्वनामख्याते मायुरसधीये
माधवसेनाचार्यशिष्ये दिगम्बरजैनाचार्ये, स च वैक्रमीये
१०५० वर्षे अजयत् । येन धर्मपरीक्षा-सुभाषितरत्नसोदना-
मानौ च ग्रन्थौ निर्मितौ । जै० इ० ॥

अभियचंद-अमृतचन्द-पु० । कुन्दकुन्दाचार्यकृतसमयसारग्र-
न्थोपरि ' आत्मख्याति ' नाम्न्याः टीकायाः, तथा प्रवचनसार
टीका-पञ्चास्तिकायटीका-तत्त्वार्थसार-पुरुषार्थसिद्धिपुण्य-त-
त्त्वार्थपिकादिग्रन्थानां च कारके वैक्रमीये द्वाषष्ट्युत्तरनवमश-
तके (६६२) विद्यमाने आचार्ये, जै० इ० ।

अभियणाणि(ण)-अमितज्ञानिन्-पु० । अमित च तद् ज्ञानं
आमितज्ञानम्, तद्यस्यास्ति सोऽमितज्ञानी । आ० म० प्र० । सर्वज्ञे,
स० । अपरिशेषज्ञानिने, अनन्तज्ञानिनि च । आ० चू० १ म० ।
केवलिनि, प० चू० ।

अभियमणंतं नाण, तं तेसिं अभियणाणिणो तो ते ।

तं जेण णेयमाणं, तं चाणंतं जओ नेयं ॥ १०५० ॥

अनन्तत्वान्मातुमशक्यममित केवलज्ञानलक्षणं ज्ञानं, तत्तेषां
विद्यते, ततोऽमितज्ञानिनस्ते । कथं पुनः केवलज्ञानस्यानन्त्यम् ?
इत्याह-तत्केवलज्ञानं, येन कारणेन ज्ञेयमानं वर्तते, ज्ञानस्य
ज्ञेयानुवर्तितत्वात् । तच्च ज्ञेयं सर्वमपि यतोऽनन्तमत केवल-
ज्ञानस्यानन्त्यमिति ॥ विशेष० ॥

अभियतेयसूरि-अमिततेजःसूरि-पु० । स्वनामख्याते सूरिजेदे,
" एपसिं अभियतेयसुरीण अतिप सहजायाप पव्वइ पयं वि
सेसकारण तेण भणिय " । दर्श० ।

अभियचूय-अमृतचूय-न० । जूतशब्द उपमार्थः । परमपदहेतु-
त्वाज्जरामरणादिविघातकत्वेनाऽमृततुल्ये जिनवचने, " जिण-
वयणसुभासिय अभियचूय " । आतु० ।

अभियमेह-अमृतमेघ-पु० । दुष्पमदुष्पमान्ते वर्षिणि चतुर्थे
महामेघे, ज० ।

चतुर्थमेघवक्तव्यतामाह-

तंसि च णं धयमेहंसि सत्तरच णिवातितांसि समाणं-
सि पत्थ णं अभियमेहे णामं महामेहे पाउब्जाविस्सइ,
भरहप्पमाणमिचे आयामेणं जाव वासं वासिस्सइ, जे णं
भरहे वासे क्खखगुच्छगुम्मलयवद्धितणपव्वगहरितगओ-
सहिपवालं कुरमाइए तणवणप्फइकाइए जणइस्सइ ॥

(तसि इत्यादि) तस्मिंश्च घृतमेघे सप्तरात्र निपतति सति, अत्र
प्रस्तावेऽमृतमेघो नाम यथार्थनामा महामेघः । प्राप्नुर्मविष्यति
वर्षिष्यति इतिपर्यन्तं पूर्ववत् । यो मेघो प्ररते वर्षे वृक्षगुच्छ-
गुल्मलतावल्लयः, तृणानि प्रतीतानि, पर्वगा इच्चादयः, हरि-
तानि दुर्वादीनि, औषधः शाल्यादयः, प्रवालाः पल्लवाः, अङ्गु-
राः शाल्यादिषीजसूचय इत्यादीनि तृणवनस्पतिकायिकान्
बादरवनस्पतिकायिकान् जनयिष्यतीति । ज० ३ वक्त्र० ।

अभियरसरसोवय-अमृतरसरसोपम-त्रि० । अमृतरसेन रसस्यो-
पमा यत्र तदमृतरसरसोपमम् । सुधाऽऽस्वादमधुरे, " सेसाण
(तीर्थरुताम) अभियरसरसोवय आसि " । आ० म० प्र० ।

अभियवाहण-अमितवाहन-पुं० । औसराहदिकुमारैन्द्रे,
स्था० २ ग० ३ उ० । म० । प्रज्ञा० । स० ।

अभियासणिय-अमितासनिक-पु० । अवद्यासने, सुदृग्मुहः
स्थानात् स्थानान्तरं गच्छति, अनेकान्यासनानि सेवमाने,
कल्प० ६ क० ।

अमिल-अमिल-न० । ऊर्णावस्त्रे, ध० २ अधि० । दश० । मि०
चू० । आचा० ।

अमिलवत्तु-अम्लेच्छ-पु० । आर्ये म्लेच्छभाषाऽनभिज्ञे, सूत्र० १
श्रु० १ म० २ उ० ।

अमिला-अमिला-स्त्री० । श्रीनेमिनाथस्य प्रथमशिष्यायाम्,
स० । पमिकायां द्रुस्वमहिष्याम्, वृ० १ उ० ।

अमिलान-अम्लान-त्रि० । अमल्लिने, औ० । नि० चू० ।

अमिलाय-अम्लान-त्रि० । न म्लायते शीघ्रं तदिति । चिर-
ममलिने, नि० चू० २ उ० ।

अमिलायमद्वदाम-अम्लानमाल्यदामन्-न० । अम्लानपुष्प-
दामानि, म० ११ श० ११ उ० । विपा० ।

अमिलिय-अमिलित-त्रि० । अससके, विशेष० । अनेकशास्त्र-
सबन्धीनि सूत्राण्येकत्र मीलयित्वा यत्र पठति तन्मिलितम् ।
असदृशधान्यमेलकवत् । अथवा परावर्तमानस्य यत्र पदादि-
विच्छेदो न प्रतीयते तन्मिलितम्, न तथा अमिलितम् । मिलित-
दोषविप्रमुक्ते सूत्रगुणे, अनु० । प० चू० । ग० । अमिलितं यद् अ-
स्थान्तरवर्तिभिः पदैरभिहितं यथा-सामायिकसूत्रे दशवैकालि-
कोत्तराध्ययनादिपदानि न क्षिपति । वृ० १ उ० ।

अमुइ-अमोचिन्-त्रि० । अमोचनशाले, वृ० ४ उ० । " अमु
समुचे वि जो ण मुप " पं० भा० । प० चू० ।

अमुकपुण्णय-अमुक्तपूर्णत-त्रि० । अमुक्ता पूर्णता येन तत्
अमुकपूर्णतम् । पूर्णे, ध० २ अधि० ।

अमुग-अमुक-त्रि० । अदस्-अकच् । उत्त्वमत्वे कस्य गः ।
प्रा० १ पाद । अदःशब्दार्थे अज्ञातनामरूपे विवक्षितेऽर्थे,
" अमुगहि भोवं " असुकस्मिन् भवतु । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।
" अमुग गाम वच्चाओ, तत्थ दो तिन्नि वा दिवसो अच्छिस्सा-
ओ " । आ० म० द्वि० । प्रव० ।

अमुग-अमुग-त्रि० । आविद्यमानमुक्ते, अनु० ।

अमुच्छिय-अमूर्छित-त्रि० । न मूर्च्छितोऽमूर्च्छितः । सूत्र० १
श्रु० १० अ० । दश० । आहारादौ मूर्ध्नि कुर्वति, प० व० २ द्वार ।
पिएमे शब्दादिषु वा गृह्ये, दश० ५ अ० १ उ० । आचा० ।

अमुण-अङ्ग-पु० । अहो, मूर्खे च । वृ० १ उ० ।

अमुणिय-अज्ञात-न० । नास्ति मुणितं ज्ञातं यत्र तदमुणित-
म् । ज्ञानविकले, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अमुत्त-अमुक्त-त्रि० । लोकव्यापारप्रवृत्ते सकर्मणि, स्था० १० ग० ।
अमूर्त्त-त्रि० । अरूपिणि, आव० ४ अ० ।

अमुत्त-अमूर्त्त-न० । मूर्त्तत्वाभावसमानियतत्वे, ख्या० २
अध्या० । " मूर्त्तिं दधाति मूर्त्तत्व-ममूर्त्तत्व विपर्ययात् " ।

मूर्ति रूपरसगन्धस्पर्शादिसन्निवेशता, तस्या धारणस्वभावो मूर्तत्व, मूर्तस्वभाव, तस्माद्यद्विपरीत तदमूर्तत्वम्, अमूर्तस्वभावः । द्रव्या० १३ अध्या० ।

अमुत्ति-अमुक्ति-स्त्री० । मुक्तिर्मोक्षगति, न मुक्तिरमुक्तिः । ससार-सुखाभिवाधे, आतु० । सलोभतायां षमिशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अमुत्तिमग्न—अमुक्तिमार्ग—न० । न विद्यते मुक्तेरशेषकर्मप्रच्यु-तिवृत्तताया मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यात्मको यस्मिन्स्तदमु-क्तिमार्गम् । अधर्मपक्षे विभक्तस्थाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अमुय—अस्मृत—त्रि० । मनोऽपेक्षया स्मृतिमनागते, प्र० ३ श० ६ उ० ।

अमुयग—अमृतक—त्रि० । अबाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरी-रिणि जीवे, स्था० । "अमुयगो जीवेति" देवाना बाह्याभ्यन्त-रपुद्गलादानविरहेण वैक्रियवता दर्शनाद् बाह्याभ्यन्तरपुद्गलर-चितावयवशरीरो जीव इत्यध्यवसायवत् पञ्चम विभक्त्या-नम् । स्था० ७ उ० ।

अमुसा—अमृषा—अव्य० । सत्ये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अमुह—अमुख—त्रि० । निरुत्तरे, व्य० ९ उ० ।

अमुहरि (ए)—अमुखरिन्—त्रि० । अवाचाले, वच० १ अ० ।

अमूढ—अमूढ—त्रि० । अविष्णुते, दश० १० अ० । सन्मार्गज्ञे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । तत्त्वज्ञानिनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

अमूढाण—अमूढज्ञान—त्रि० । यथावस्थितज्ञाने, आ० म० द्वि० ।

अमूढादिष्टि—अमूढदृष्टि—स्त्री० । अमूढा तपोविद्यातिशयादिकु-तीर्थिकद्विदर्शनेऽप्यमोहस्वभावादविचलिता, सा च दृष्टिश्च सम्यग्दर्शनममूढदृष्टिः । प्रव० ६ द्वार । बुद्धिमत्कुतीर्थिकद-र्शनेऽप्यविगीतमेवास्मद्दर्शनमिति मोहविरहितायां बुद्धौ, वच० २ अ० । अमूढबुद्धिसपत्ने, मुह्यते स्म अस्मिन्मिति मूढ । न मूढोऽमूढस्तस्य दृष्टिः । याथातथ्यदृष्टौ, नि० चू० १ उ० । बाल-तपस्वितपोविद्याऽतिशयदर्शनैर्न मूढा स्वरूपाश्च चलिता दृष्टिः सम्यग्दर्शनरूपेण यस्याऽसौ अमूढदृष्टिः । ग० १ अधि० । ध० । पञ्चा० । दश० ।

इत्राणि अमूढादिष्टि ति दार—

मुह्यते स्म अस्मिन्मिति मूढ, न मूढोऽमूढः । अमूढादिष्टि, याथातथ्यदृष्टिरित्यर्थः ॥

जहा सा भवति तदा जणति—

ऐगविहा इष्टीओ, पूयं परवादिणं च ददूणं ।

जस्स ए मुज्जइ दिट्ठी, अमूढादिष्टिं तगं वेति ॥ २६ ॥

(ऐगविहं ति) णाणप्पगारा, का ता ? (इष्टि ति) इष्टीओ-इ-स्मारिय, न पुण विज्जामत तवोमत वा विज्जवणाऽऽगासगमण-विभगणाणादि पेक्ष्यम् । (पूयं ति) असणपाणसादिमसादिमव-त्थकवत्तादी-जस्स वा ज पाउम्मा नेण से पडिलान्नेण पूया । केसिं सा ? (परवादिणं ति) जज्जणासणवहरत्तापरा, ते य परि-व्वाययरत्तपमियादी पासरत्था, चसदाओ गिदत्था धीवरादि । अदवा चसदाओ ससासणे वि जे इमे पासत्था, ते पूयासक्कारा-दी ददू, 'च अनुकरिन्मणे, पायपूरणे वा ददूवो' । (ददूणं ति) ददूवा जहा तेसिं परवादीण पूया सक्कारादिद्विसेसा दीसति, ण तदा अम्ह । माणुसए चेव मोक्खमग्गो विसिचतरो जवजेजा अतो

जणति—(जस्स ति) जस्स पुरिसस्स, 'ण इति पडिसेहे' मो-हो विण्णणविवच्चासो, दिट्ठी । दरिसण, स एवगुणविसिद्धो अमूढादिष्टिं दरिसण भएणति । जगारुदिष्ठस्स तगारेण सिद्धेसो कीरति—(तग ति) । (वेति) भवन्ति आचार्याः, कथयन्तीत्यर्थः । अमूढादिष्टि ति दार गय ॥ नि० चू० १ उ० ।

इयानि दिष्टतो—

सुलसा अमूढादिष्टि, ।

सुलसा साविगा अमूढादिष्टिचे उदाहरण भणति-मगव चपाए णयरीए समोसरिओ । भगवथा य भवियथिरीकरणत्थ भवदो परित्रायगो रायगिह गच्छतो भाणिओ-सुलस मम वयणा साय पुच्छेज्जसि । सो चित्तेति-पुष्पमतिथा सा, ज अरदा पुच्छति । तेष परिक्खणणिमिच्च जस मग्गिता, अलभमाणेण बहूणि क्वाणि काळण मग्गिता । ए दिष्ट । जणति य-पर अणुकपाए हेमि, ण ते पत्तबुक्कीए । तेण भणिय-जदि पत्तबुक्कीए देहि ? सा भणति-ए देमि । पुणो पउमासण विज्जविय । सा भणति जइ वि सिक्खा बभणो तदा वि ते ण देमि पत्तबुक्कीए । तओ तेण उवसथारिय सम्भाव च से कहिय । ण दिष्टिमाहो सुलसाए जाओ । एव अ-मूढादिष्टिणा होयव्व" । नि० चू० १ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ११२ पृष्ठ 'अवड' शब्देऽपि कथयम्)

अमूढलक्ख—अमूढलक्ष—त्रि० । अमूढः धुनिर्णयो लक्षो बोध-विशेषो यस्य सोऽमूढलक्षः । पञ्चा० १४ विव० । अष्ट० । य-थावस्थितवस्तुवेदिनि, वृ० १ उ० । समस्ततत्त्वाविपरीतवेद-ने, आ० म० द्वि० ।

अमेत्तणाण—अमात्रज्ञान—न० । मात्रा मान, तेन रहितममात्रम्, अमात्र च तज्ज्ञान च अमात्रज्ञानम् । अप्रमिते केवलज्ञानिनि, अष्ट० १२ अष्ट० ।

अमेहा—अमेधा—स्त्री० । मेधोपघाते, नि० चू० १ उ० ।

अमोसलि—अमुशालि—न० । न मुशाली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपे-क्षणे तदमुशालि । सुप्रत्युपेक्षणनेदे, ओघ० ।

अणचाविय अचलियं, अणाणुवधी अमोसलिं च ।

अपुरिमा ए च खोमा, पाणी पाणे पमज्जणया ॥ २७ ॥

(अमोसलिं ति) न मुशाली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे त-दमुशालि प्रत्युपेक्षणम् । यथा मुशलं कुट्टने ऊर्ध्वं गति, अधस्तिर्यग् च । एवं न प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या । किंतु यथा प्रत्युपेक्षमाणस्य ऊर्ध्वं पीठिषु न गति, न च तिर्यक्षु येन जूमौ, तथा कर्तव्यम् । ओघ० । ध० । स्था० । उत्त० । नि० चू० ।

अमोह—अमोघ—त्रि० । अर्थबलाऽऽयातत्वेनाविफले, अमिथ्या-रूपे, विशेष० । अवन्ध्ये, दश० ८ अ० । आदित्योदयास्तसमय-योरादित्यकिरणविकारजनितेषु आताम्रेषु रुक्मेषु श्यामेषु वा शकटादिसंस्थितेषु (सूर्यबिम्बस्याध स्थेषु कदाचिदुपलब्ध-मानेषु रेखाकूपेषु) दण्डेषु, म० ३ श० ६ उ० । जी० । अनु० । अमोह—त्रि० । मोहन मोहो विनयग्राह, न मोहोऽमोहः । अ-विनयग्राहे, विशेष० । मोहरहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० । जम्बूमन्दरस्य रुक्मकवरे पर्वते कूटभेदे, स्था० ८ उ० । द्वि० । शोभाञ्जया नगर्या उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे चैत्ये पूज्यमाने यक्षे, विशेष० ॥

अमोहणाधारि (ए)—अमोहनाधारिन्—पु० । अमोहन मो-हरहित समस्तमा समन्ताद् धारयतीत्येवशरीरतोऽमोहनाधारी । सूत्रादेर्निमोह धारके, व्य० १० उ० ।

अमोहदंति (ण)-अमोघदर्शिन-पु० । अमोघ पश्यति य-
थावत्पश्यति, दश० ६-अ० ।

अमोहवयण-अमोहवचन-न० । धर्मदेशनारूपेऽव्यर्थवचने,
स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अमोहा-अमोघा-स्त्री० । जम्बाः सुदर्शनाया नाम्नि, (मोघं
निष्फलम्) न मोघा अमोघा । अनिष्फला इत्यर्थः । तथाहि-
शाश्वतस्वामिभावेन प्रतिपन्ना सती जम्बुद्वीपाधिपत्यमुपजन-
यति, तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामिप्रावस्यैवायोगात्, ततोऽ-
निष्फलेति । जी० ३ प्रति० । ज० । उत्तराब्जनाजेर्देक्षिणदि-
ग्भागवर्तिन्यां पुष्करिण्याम्, द्वी० । स्था० । जी० ।

अम्ब-आम्ब-पु० । “ ताम्बां मे भवः ” । ८ । २ । ५६ । इति सू-
त्रेण संयुक्तस्य मयुक्तो ‘म्बः’ । चूत- (आंब) वृक्षे, तत्फले च ।
प्रा० २ पाद ।

अम्बकूणगदुत्यगय-आम्बफलहस्तगत-त्रि० । स्वकीयतप-
स्तेजोजनितदाहोपशमनार्थमात्रास्थिक चूषति, ज० १५ श० १ उ० ।

अम्बम-अम्बम-पुं० । स्वनामख्याते परिव्राजके, भ० १४ श०
८ उ० । औ० । स्था० । (तद्वचकव्यता अनुस्वारप्रकरणे ‘ अ-
ब (म) ड ’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११० पृष्ठे निरूपिता)

अम्बया-अम्बा-स्त्री० । पुत्रमातरि, ज्ञा० १ अ० । प्र० ।
भ० । नि० ।

अम्बहे-अम्बहे-अव्य० । हर्षे, “ अम्बहे हर्षे ” ८ । ४ ।
२८४ । इति शौरसेन्यम् ‘ अम्बहे ’ इति निपातो हर्षे प्रयोक्त-
व्यः । “ अम्बहे एवाप सुमित्राय सुपक्षिगदिदो भव ” ।
प्रा० ४ पाद ।

अम्बापितिसमाण-अम्बापितुसमान-पु० । मातापितृच्यां स-
माने पुत्रेषु मातापित्रोरिव व्यवहारादिष्वविषमदर्शिनि, व्य० ३
उ० । उपचारं विनाऽपि साधुषु एकान्तेनैव वत्सत्वे अमणो-
पासके, स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अम्बापियर-अम्बापितृ-पु० । द्वि० व० । मातापित्रोः, स्था०
३ ग० १ उ० ।

अम्बापैत्य-अम्बापैतृक-न० । मातापितृसम्बन्धिनि, भ० ।

अम्बापैत्य एं भंते ! सरीर ए केवयं कालं संचिह्म ? ।
गोयमा ! जावयं कालं से जवधारणिजे सरीर ए अ-
व्वावसे जवइ, एवयं कालं संचिह्म । अहे एं समए
समए वोयसिजमाणे चरिमकालसमयंसि वोच्छिण्णणे
जवइ ।

(अम्बापैत्य ण ति) अम्बापैतृकं शरीरावयवेषु शरीरोपचा-
रात्, उक्तलक्षणानि मातापित्रङ्गानीत्यर्थः । (जावइय ति) याव-
न्त काल, (से ति) तत्तस्य वा जीवस्य, भवधारणीयं भवधा-
रणप्रयोजनं, मनुष्यादिजवोपग्राहकमित्यर्थः । (अव्वावणे
ति) अविनष्टम्, (अहे ए ति) उपचयान्तिमसमयादनन्तरमे-
तद् अम्बापैतृक शरीरम् (वोयसिजमाणे ति) व्यवकुल्यमा-
ण दीयमानमिति । भ० १ श० ७ उ० ।

अम्भि-अहम्-अस्मदः प्रथमैकवचनान्तस्य “ अस्मदो म्भि
अम्भि अम्भि ह अहं अहय सिना ” । ८ । ३ । १०५ । इत्यनेन
‘ अम्भि ’ इत्यादेशः । “ उन्नम न अम्भि कुविआ ” प्रा० ३ पाद ।
१८८

अम्भो-अव्य० । “ अम्भो आक्षर्ये ” । ८ । २ । १०८ । इति सूत्रेण
अम्भो इत्याक्षर्ये प्रयोक्तव्यम् । “ अम्भो कह पारिज्जइ ” ॥
प्रा० २ पाद ।

अम्ह-अस्माकम्-अस्मद आमा सहितस्य “ जे णो मज्झ अम्ह
अम्ह ” । ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणाम्हादेशः । प्रा० ३ पाद ॥
वयम्-अस्मदो जसा सहितस्य “ अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं मे
जसा ” । ८ । ३ । १०६ । इति सूत्रेण अम्हादेशः । प्रा० ३ पाद ।
“ अम्ह चोक्खा चोक्खायारा ” औ० ॥

अम्हइ-वयम्-अस्मान्-“ जशसोरम्हे अम्हइ ” । ८ । ४ । ३७६ ।
इत्यपञ्चमे अस्मदो जशि शशि च प्रत्येकमम्हे अम्हइ इत्या-
देशौ । “ अवस न सुअहिं सुअच्छिअहिं, जिवे अम्हइं तिवे वे
वि ” । “ अम्हइं देवअइ ” प्रा० ४ पाद ।

अम्हं अस्माकम्-“ जे णो मज्झ अम्ह अम्हं ” । ८ । ३ । ११४ । इत्या-
दिसूत्रेणामा सहितस्यास्मदोऽम्हमादेशः । प्रा० ३ पाद । ‘ अम्ह
घ्या णो आढाइ ” विपा० १ सु० १ उ० ।

अम्हकेर-अस्मदीय-त्रि० । “ इदमर्थस्य केर ” । ८ । २ । १४७ । इ-
तीदमर्थस्य प्रत्ययस्य ‘ केर ’ इत्यादेशः । “ सेवादौ वा ” ८ । ३ ।
१९ । इति कवित्वम् । अस्मत्सत्के, प्रा० ३ पाद ।

अम्हत्तो-अस्मज्यम्-“ ममाम्हौ भ्यसि ” ८ । ३ । ११३ । इति
सूत्रेण ज्यसि ‘ अम्ह ’ इत्यादेशः । प्रा० २ पाद ।

अम्हाण-अस्माकम्-अस्मद आमा सहितस्य “ जे णो मज्झ
अम्ह ” ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेण अम्हाणादेशः । प्रा०
३ पाद ।

अम्हातिस-अस्मादृश-त्रि० । “ यादृशादेर्दुस्ति ” । ८ । ४ । ३१७ ।
इति पैशाच्यां ‘ दृ ’ इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । प्रा० ४ पाद ।

अम्हार-मम-पैशाच्यां “ पष्ठथा ” । ८ । ४ । ३४५ । इति सूत्रेण च-
ष्ठथा लुक् । “ सगर-सएहिं जु वधिअइ, देवखु अम्हारा कंतु ”
प्रा० ४ पाद ॥

अम्हारिस-अस्मादृश-त्रि० । “ इश किप्-इक्कसकः ” ८ । १ ।
१४२ । इति सूत्रेण किवाद्यन्तस्य झृतो तिरादेशः । “ पद्धम-इम-
म्म स्म-ह्यां म्हुः ” ८ । २ । ७४ । इति संयुक्तस्य स्मभागास्य मका-
राक्रान्तो हकारः । प्रा० २ पाद । “ अम्हारिसो ’ अस्मत्सदृशेषु,
प्रा० १ पाद ।

अम्हासुन्तो-अम्हाहिन्तो-अस्मज्यम्-“ ममाम्हौ भ्यसि ”
८ । ३ । ११२ । इत्यस्मदो भ्यसि अम्हादेशः । “ ज्यसस् सो दो दु
हि हिन्तो सुन्तो ” ८ । ३ । ६ । इति सूत्रेण ज्यस- ‘ सुन्तो, हि-
न्तो ’ इत्यादेशौ । प्रा० ३ पाद ॥

अम्हि-अहम्-“ अस्मदो म्भि अम्भि अम्भि हं अहं अहय सि-
ना ” ८ । ३ । १०५ । इति सूत्रेण सिना सह ‘ अम्हि ’ इत्यादेशः ।
प्रा० ३ पाद ॥

अम्हिपा-अस्मिता-स्त्री० । महङ्काराऽनुगमे, द्वा० २६ द्वा० । य-
त्रान्तर्मुक्ततया प्रतिलोमतापरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि स्त-
त्तामात्रमेव भाति साऽस्मिता । द्वा० २० द्वा० । अस्मिता हृद्-
शेनैकता, हृद्दर्शनयोः परस्परजस्तमोऽनभिज्ञानसात्त्विकपरिणा-

मयो. भोक्तृजोग्यत्वेनावस्थितयोरेकता अस्मिता । तदुक्तम्-“ह-
र्द्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता ” द्वा० २५ द्वा० ।

अम्हे-वयम्-अस्मान्-“ जश्शसोरम्हे अम्हइ ” ८ । ४ । ३७६।
इत्यपञ्चशे मस्मदो जसि शसि च ‘अम्हे’ इत्यादेश । प्राकृतेऽप्ये-
वम्-‘ अम्हे थोवा रिउ बहुअ, कायर एम्ब भणति ” प्रा० ४ पाद ॥
अम्हेचय-आस्माक-त्रि० । अस्माकमिदम् । “ युष्मदस्मदोऽअ
एचय. ” ८ । २ । १४ए । इ-यस्मद परस्येदमर्थस्याज. ‘एचय’
इत्यादेश. । अस्मदीये, प्रा० ४ पाद ॥

अम्हो-अस्माकम्-“ जे णो मज्ज अम्ह अम्ह अम्हे अम्हो ”
८ । ३ । ११४ । इत्यामा सहितस्यास्मद ‘ अम्हो ’ इत्यादेश. ।
प्रा० ३ पाद ।

अय-अज-पु० । अजैकपादेवे, स च पूर्वोक्ताद्रूपदानकृत्रस्य
देवता । ज्यो० ६ पादु० । ‘ दो अया ’ स्था० २ ठा० ३ ठा० ।
अनु० । सूर्यवशीये रघुपुत्रे, वाच० ।

अय-पुं० । अयनमयः । इणू गतौ इति धातो. “ परच् ” ३ । ३ ।
५६ । इति [पाणि०] सूत्रेण अच् प्रत्ययः, आ० म० द्वि० । वेदने,
वामे, प्रातौ च । विशेष० । आ० म० । आव० । इष्टफले, न० । स्था०
१ ठा० १ उ० । बुभे, स्था० १० ठा० ।

अयस्-न० । लोहे, नि० चू० ५ ठा० । जी० । प्रश्न० । उत्त० ।

अयआगर-अयआकर-पु० । लोहाऽऽकरे, यत्र लोहमुत्पद्यते ।
नि० चू० ५ उ० । यत्र वा लोहकारो लोह आपयति । स्था० ७ ठा० ।

अयं-अयम्-पु० । “ पुत्रियोर्नवाऽयमिमिआ सौ ” ॥ ८ । ३ । ७३ ॥
इति इदमशब्दस्य सौ अयादेशे अय । प्रा० ३ पाद । “ अये परमठे
सेसे अणठे ” अयमिति प्राकृतत्वादिवम् । औ० ।

अयंत-आयत्-त्रि० । आगच्छति प्रविशति, “ जाव अयंतो
निसीहिय कुणइ ” आ० म० द्वि० ।

अयपुल-अयपुल-पु० । अजीविकोपासके गोशावकशिष्ये,
भ० ८ श० ५ उ० ।

अयसंधि-अयसन्धि-त्रि० । “ अयं संधीति ” अयमिति प्रत्य-
कगोचरापन्न, आर्यकैत्रसुकुलोत्पत्तीन्द्रियनिर्वृत्तिश्रद्धासवेग-
लक्षण. सन्धि । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ‘ अयस-
न्धीनि ’ सन्धानं (सन्धि) सन्धीयते वाऽसाविति सन्धि ।
अय सन्धिर्यस्य साधोरसावयसन्धिः । छान्दसत्वाद् वि-
भक्तैरलुक् । यथाकालमनुष्ठानविधायिनि, यो यस्य वर्त-
मान. काल. कर्तव्यतयोपस्थितस्तत्करणतया तमेव सधत्ते ।
एतदुक्तं प्रवर्ति-सर्वा. क्रिया प्रत्युपेक्षणोपयोगस्वाध्याय-
भिक्षाचर्याप्रतिक्रमणादिका असपन्ना अन्योन्यावाधयाऽऽ-
त्मीयकर्तव्यकाले करोतीत्यर्थ इति । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।
अयकंत-अयस्कान्त-पु० । अयसां मध्ये कान्त रमणीय ।
कस्कादित्वात् सन्ध्वम् । कान्तिलोह इति ख्याते लोहभेदे,
वाच० । सन्निधमात्रेण लोहाकर्षके, [चुम्बक] इति ख्याते प्रस-
रभेदे च । अयसा प्रियत्वात्तथात्वम् । आ० म० प्र० ।

अयककरजोड (ण्)-अजककरजोजिन-त्रि० । अजस्य गा-
गादे कर्करमतिभ्रष्ट यश्चणकवेद् रुज्यमान कर्करायते तन्मेदो-
दन्तुर पक्ष श. गकृत मांस, तद् भुङ्क्ते इत्येवशीलोऽजककरभोजी ।
भजादे कर्करायितमानभुजि, “ अयककरभोई य, तुन्दिछे

चिय सोणिण । आउय नरए कखे, जहा एस व पलए ” ॥ ७ ॥
उत्त० ७ अ० ।

अयकमिद्व-अयःकमिद्व-न० । अयो लोहं तन्मयं यत्कमिद्वं
तत् । लोहकटाहे, ओष० ।

अयकरय-अजकरक-पु० । सप्तदशे महाग्रहे, सू० प्र० २० पादु० ।
कटप० । च० प्र० । ज० । “ दो अयकरगा ” स्था० २ ठा० २ ठा० ।

अयकोट्टय-अयःकोष्ठक-न० । लोहप्रतापनार्थे कुशले, भ० १६
श० १ उ० । उपा० । जी० ।

अयकवत-अयस्कान्त-पु० । लोहाकर्षके चुम्बके मणौ, आ०
म० प्र० ।

अयगर-अजगर-पु० । शयुःपर्याये, उर. परिसर्पविशेषे, प्रश्न०
१ आश्च० द्वा० । महाकायसर्पे, ज० २ वक्ष० । “ से किं त अ-
यगरा ? अयगरा एगागारा पन्नत्ता, सेत्तं अयगरा ” । प्रश्न०
१ पद । जी० ।

अयगोद्वय-अयोगोद्वक-पु० । अयो लोह, तस्य गोल. पिण्डोऽ-
योगोल. । नि० चू० १ उ० । अय पिण्डे, दशा० ७ अ० । सूत्र० ।

अयङ्ग-कृष्-धा०-विलेखने, “ कृषे कहु-साअक्काञ्जाणञ्जा-
यञ्जाङ्गा. ” ८ । ४ । १८७ । इति सूत्रेण कृषे. अयञ्गादेश. ।
अयञ्जइ-कृषति । प्रा० ४ पाद ।

अयण-अयन-न० । गमने, आ० म० द्वि० । उत्त० । स्था० । द्वा० ।
प्रापणे, अनु० । परिच्छेदे, न० । ऋतुत्रयमाने, कर्म० ४ कर्म० ।
परमासात्मके काले, त० । ज० । भ० । अनु० । अयनानिषाणमा-
सिकानि दक्षिणायनोत्तरायणलक्षणानि । कल्प० ५ क० ।

साम्प्रतमयनपरिमाणं वक्तुकाम आह-

उहिं पासेहिं दिणयरो, तेसीयं चरइ मंरुलमयं तु ।

अयणम्मि उत्तरे दा-हिणे य एसो विही होइ ॥

परमिर्मासैर्दिनकर. सूर्यः ऽयशीत्यधिकं मणरुलशतं चरति ।
तथाहि-सर्वाभ्यन्तरमन्त्रे द्वितीयमणरुले यदा सूर्य उपसक्रम्य
चार चरति तदा स नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य प्रथमोऽहोरात्रः ।
द्वितीयेन चाहोरात्रेण सर्वाभ्यन्तरात् तृतीयमण्डलं चरति; पञ्च
परमिर्मासैरुयशीत्यधिकं मण्डलशतं चीर्णं प्रवति । एष दक्षि-
णायनस्य षणमासप्रमाणस्य पर्यन्तः । ततः सवेवाह्याद् मण-
वाद्वागन्तरे द्वितीये मणरुले यदोपसक्रम्य सूर्यश्चार चरति
तदा स उत्तरायणस्य प्रथमो दिवसः । सर्वबाह्याद् मणरुलादर्वा-
कन तृतीय मण्डलं द्वितीयेनाहोरात्रेण चरति, एव परमिर्मा-
सैरुयशीत्यधिकं मणरुलशतं सर्वाभ्यन्तरमणरुलपर्यवसानम् ।
एष दक्षिणस्मिन् उत्तरास्मिन् वा अयने विधि. प्रकारो भवति ।
अत्रार्थं च करणं विवक्षुः प्रथमतः तदुपपत्तेरमाह-

तेसीयं दिवसमयं, अयणे सूरस्स होइ पडिपुत्र ।

सुण तस्स कारगविहिं, पुञ्चायरिओवएसेणं ॥

सूर्यस्यायनं दक्षिणमुत्तरं वा भवति परिपूर्णं ऽयशीत्यधिकं
दिवसशतम् । कथमेतदवसीयते इति चेत् ? उच्यते-इह
युगमध्ये दश सूर्यस्यायनानि भवन्ति, युगे च दिवसानामष्टाव-
शशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । ततस्त्रैषां शिकमवतारयति-
यदि दशभिरयनैरष्टादशदिवसशतानि त्रिंशदधिकानि वृज्यन्ते,

तन एकेनायनेन किं लभ्यम् ? । आह-राशित्रयस्थापना १०+१७ १०+१ । अत्रान्त्येन राशिना एकद्व्यक्षणेन मध्यमस्य राशेरुणन एकेन च गुणित तदेव भवतीति, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि, तेषामाद्येन राशिना दशकलक्षणेन भागो द्वियते, बन्ध इत्यशीत्यधिक दिवसशतम् । एतावदेकस्य दक्षिणस्योत्तरस्य परिमाणम् । सम्प्रति तस्य दक्षिणस्यैवायनस्य परिज्ञानविषये कारकविधि करणरूप प्रकार पूर्वोच्योपदेशेन प्रतिपाद्यमानं गृह्यते ।

तत्र करणमाह-

सूर्यस्य अयणकरणं, पञ्च पञ्चरमसंगुणं नियमा ।

तिहिसंखितं संतं, वावट्टीजागपरिहीण ॥

तेसीयसयविभक्त-मि तस्मि लब्धं तु रूवमाएजा ।

जइ लब्धं होइ समं, नायव्वं उत्तरं अयणं ॥

अह हवइ जागद्वद्धं, विसमं जाणाहि दक्खिणं अयणं ।

जे अंसा ते दिवसा, होति पवत्तस्स अयणस्स ॥

सूर्यस्यायनपरिज्ञानविषये करणमिदं, वक्ष्यमाणमिति शेषः । तदेवाह-पर्व पर्वसंबन्धानं पञ्चदशगुण नियमात् कर्त्तव्यम् । किमुक्तं भवति?—युगमध्ये विवक्षितदिनात् प्राग् यानि पर्वणि अतिक्रान्तानि तत्संख्या पञ्चदशगुणा कर्त्तव्येति । ततः पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्तास्तत्र सक्षिप्यन्ते । ततो (वावट्टीभागपरिमाणमिति) प्रत्यहोरात्रम् एकैकेन द्वाषष्टिभागेन परिहीयमानेन ये निष्पन्ना अवमरात्रास्तेऽप्युपचाराद् द्वाषष्टिभागा इत्युच्यन्ते, नैः परिहीन विधेयम् । ततस्तस्मिन् ज्यशीत्यधिकेन शतेन विभक्तं सति यल्लब्ध रूपमेकद्व्यादिकं तद् आदेयात्, गृहीयात्, पृथक् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः । तत्र यदि बन्ध सम चित्तुरादिरूपं प्रवति, तदा उत्तरमयनमनन्तरमतीतं ज्ञातव्यम् । अथ भवति भागे बन्ध विषम, तदा जानीहि दक्षिणमयनमनन्तरमतीतम् । ये तु शेषा अंशाः पञ्चादवतिष्ठन्ते तत्कालं प्रवृत्तस्यायनस्य दिवसस्य दिवसा भवन्ति ज्ञातव्याः ॥ तथाहि-युगमध्ये नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां केनापि पृष्ठम्-किमयनमनन्तरमतीतम् ? किं वा साम्प्रतमयनं वर्तते ? इति । तत्र नवसु मासेषु अष्टादश पर्वणि, ततोऽष्टादश पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७० । नवमासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्ठमिति पञ्च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५, नवसु मासेषु चत्वारोऽवमरात्रा जवन्ति, तथा ते चतुर्भिर्हीनाः क्रियन्ते, जाते द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१ । अस्य राशेऽयनशीत्यधिकेन शतेन भागो द्वियते, लब्धमेक रूपम्, शेषास्तिष्ठन्त्यष्टाशीतिः । तत आगतमिदमेकमयनमतीतं, नदपि च दक्षिणायनम् । साम्प्रतमुत्तरायणं वर्त्तते, तस्य चाष्टाशीत्यो दिवसो व्रजतीति, तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्ठम्-क्रियन्त्ययनानि गतानि ? किं वाऽनन्तरमयनमतीतम् ? किं वा साम्प्रतमयनं वर्त्तते ? इति । तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पञ्चाशत्पर्वणि, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चादशशतानि षष्ठ्यधिकानि ७६० । पञ्चविंशतिमासेषु वाऽवमरात्रा अजवद् द्वादश, ते ततोऽपनीयन्ते, जातानि सप्तशतानि अष्टवत्वारिंशदधिकानि ७४८ । एतेषां ज्यशीत्यधिकेन शतेन भागो द्वियते, लब्धाश्चत्वार, शेषास्तिष्ठानि षोडश, आगतानि चत्वार्ययनान्यतिक्रान्तानि, चतुर्थं वाऽयनमनन्तरमतीतमुत्तरायणम् । सम्प्रति दक्षिणाय-

नस्यापवर्तमानस्य षोडशो दिवसो वर्त्तते इति । एवमन्यदपि भावनीयम् ।

साम्प्रतं चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वाऽयनस्य परिमाणमाह-
तेरस य मंमद्वाइ, चउचत्ता सत्तमट्टिभागा य ।

अयणेण चरइ मोमो, नखत्ते अच्च्मासेणं ॥

इह नक्षत्रमासार्द्धपरिमाणं चन्द्रायणम् । तन आह-नक्षत्रविषये योऽर्द्धमासस्ततस्तावत्परिमाणेनायनेन सोमश्चरति तत्र त्रयोदश मासज्ञानं चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागान् । किमुक्तं नवनि?—त्रयोदश अहोरात्रा, एकस्य च अहोरात्रस्य सत्काश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा दक्षिणस्योत्तरस्य वा चन्द्रायणस्य परिमाणमिति । कथमेतदवसीयते इति चेत् ? , उच्यते-इह नक्षत्रमासस्य परिमाणं सप्तविंशतिदिनानि, एकस्य च दिनस्य सत्का एकविंशतिः सप्तविंशतिभागाः । तत एतस्यार्द्धं यथोक्तं चन्द्रायणपरिमाणं जवति । अथवा—युगे चन्द्रायणानां चतुर्विंशदधिकं शतं भवति, अहोरात्राणां च युगे अष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि । ततोऽत्र त्रैराशिककर्मावकाशः । यदि चतुर्विंशतेन शतेन अहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि प्राप्यन्ते, तत एकेन चन्द्रायणेन किं प्राप्नुम ? । राशित्रयस्थापना-१३४ + १८३० + १ । अत्र मध्यस्य राशेरन्त्येन राशिना गुणन, एकेन च गुणित तदेव जवतीति जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १७३० । तेषामाद्येन राशिना चतुर्विंशदधिकशतरूपेण भागो द्वियते, बन्धाश्चत्वारोऽष्टाशीतिः । तत आद्यस्य राशेऽयनश्चत्वारिंशत् गुणने जातानि अष्टपञ्चाशत् षण्णवत्यधिकानि ४८६६ । तेषां चतुर्विंशतेनाधिकेन शतेन भागो द्वियते बन्धाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः ।

सम्प्रति चन्द्रायणपरिज्ञानमिति करणमाह-

चंदायणस्स करणं, पञ्च पञ्चरमसंगुणं नियमा ।

तिहिपखितं संतं, वावट्टीभागपरिहीणं ॥

नखत्तअच्च्मासे-ण भागलब्धं तु रूवमाएजा ।

जइ लब्धं हवइ समं, नायव्वं दक्खिणं अयणं ॥

अह हवइ जागद्वद्धं, विसमं जाणाहि उत्तरं अयणं ।

सेसाणं अंसाणं, ओसिस्सइ सो भवे करणं ॥

सत्तट्टीए विजत्ते, जं द्वादं तइ हवन्ति दिवसाओ ।

अंसा य दिवसभागा, पवत्तमाणस्स अयणस्स ॥

चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वा अयनस्य परिज्ञानाय करणमिदम्—यानि युगमध्ये पर्वण्यनिक्रान्तानि तत्पर्वसंख्यां पञ्चदशभिर्गुण्यते, ततः पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो द्वाषष्टिभागपरिहीनमवमरात्रपरिहीनं क्रियते, ततो नक्षत्रस्यार्द्धमासेन तस्मिन् भक्ते सति यद् लब्धमेकद्विज्यादिरूपं तद् आदेयात्, पृथक् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः । तत्र यदि बन्धं भवति समं तदा दक्षिणं चन्द्रायणमनन्तरमतीतमवसेयम् । अथ भवति भागलब्धं विषमं तदा उत्तरं चन्द्रायणमनन्तरमतीतं जानीहि । इह युगस्यादौ प्रथमं चन्द्रायणमुत्तरं, ततो दक्षिणायनमतोऽत्र समं भागे दक्षिणायनमनन्तरमतीतमवसेयम्, विषमे बन्धे उत्तरायणमिति । शेषास्तु अंशा ये चत्वारिंशत्तेषामंशानां सप्तषष्ट्या विभक्ते सति यद् लब्धं तत् प्रवर्तमानस्यायनस्य जवति दिवसाः, तत्राऽप्युच्यते अंशा दिवसभागा ज्ञानव्याः । तथाहि-युगमध्ये नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां

केनापि पृष्ठम्-किं चन्द्रायणमन्तरमतीति? किं वा साम्प्रतमुत्तर
दक्षिणं वा वर्त्तते? तत्र नवसु मासेषु पर्वाणि अष्टादश, तानि
पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७०। नवानां च
मासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्ठमिति पञ्च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे
शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५। नवसु च मासेषु चत्वारोऽवमरा-
त्रा, ते ततोऽपनीयन्ते, जाते द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१। ए-
तस्य राशेर्नक्षत्रे मासार्द्धेन जागहरणं, तत्र नक्षत्रार्द्धमासो न
परिपूर्णः, किन्तु कतिपयसप्तषष्टिभागाधिकः, तत एव सर्वोऽप्य-
वमरात्रशुक्ल सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्यष्टादशशतानि शतमेकं
पञ्चाशदधिकम् १८१५०। नक्षत्रार्द्धमासस्य च दिवसपरिमाणं त्रयो-
दशदिवसा १३, एकस्य च दिवसस्य चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टि-
भागाः ६४। तत्र त्रयोदश दिनानि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्त-
षष्ट्या गुण्यन्ते, जानान्यष्टादशशतानि एकसप्तत्यधिकानि, तत्र
उपरितनाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि
नवपञ्चदशाधिकानि ६१५। एतैः पूर्वराशेर्भागे हृते लब्धा एको-
नविंशतिः १६। शेषमुद्धरन्ति सप्तशतानि सप्तसप्तत्यधिकानि
७७७। तेषां दिवसाऽऽनयनाय सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते,
लब्धा एकादश दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चविंशत् सप्तषष्टि-
भागाः। आगतमेकोनविंशतिश्चन्द्रायणान्यतिक्रान्तानि, अनन्तरं
चन्द्रायणमतिक्रान्तमुत्तरायणम्, दक्षिणस्य चन्द्रायणस्य स-
म्प्रति प्रवृत्तस्यैकादश दिवसा गताः, द्वादशस्य च दिवसस्य
पञ्चविंशत्सप्तषष्टिभागः, पञ्चम्यां समाप्तायां प्रविष्यन्तीति ॥
तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्ठम्-
कियन्ति चन्द्रायणान्यतिक्रान्तानि? किं च साम्प्रतमनन्तरमती-
तं चन्द्रायणं, किं वा सम्प्रति वर्त्तते चन्द्रायणं, दक्षिणमुत्तरं
वेति? तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पर्वाणि पञ्चाशत्, तानि
पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि
७५०। तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्तशतानि ष-
ष्ट्यधिकानि ७६०। पञ्चविंशतिमासेषु चावमरात्रा अभवन्
द्वादश, ते पूर्वराशेरपनीयन्ते, जातानि सप्तशतानि अष्टाचत्वारिं-
शदधिकानि ७४८। तानि षष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्य-
न्ते, जातानि पञ्चाशत्सद्व्याणि षष्ठ्यत्यधिकानि ५००। ए६।
तेषां नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः ६१५ भागो ह्रियते, लब्धा-
श्चतुष्पञ्चाशत्। शेषमुद्धरत्यष्टौ शतानि षडशीत्यधिकानि
८८६। तेषां दिवसानयनाय सप्तषष्ट्या जागहरणं, लब्धास्त्रयो-
दश दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चदश, आगतानि चतुष्पञ्चाशत्
चन्द्रायणानि अतिक्रान्तानि। अनन्तरं चातिक्रान्तं चन्द्रायणं द-
क्षिणं, सम्प्रति वर्त्तते उत्तरं चन्द्रायणम्, नस्य च त्रयोदश दिव-
साश्चतुर्दशस्य च दिवसस्य पञ्चदश सप्तषष्टिभागा दश-
म्यां समाप्तायां प्रविष्यन्तीति। एवमन्यदपि भावनीयमिति ॥
ज्यो० ११ पाहु०। च० प्र०। सू० प्र०।

अथपाद (य)-अथःपात्र-न०। लोहपात्रे, “अथपादाणि
वा तवपादाणि वा” आचा० ५ श्रु० ६ अ० ६ उ०।

अथमग्न-अजमार्ग-पुं०। द्रव्यमार्गभेदे, यत्र वस्त्येनाजेम गम्यते।
तद्यथा-सुवर्णभूम्यां चारुदसो गतः ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ॥

अथवीहि-अजवीधि-स्त्री०। हस्तचित्रास्वातीविशाखाऽनुरा-
धापञ्चकूपमहाग्रहचारविशेषमार्गे, स्था० ए० ग०।

अयसी-अतसी-स्त्री०। माहवकप्रसिद्धे धान्यविशेषे, (तीसी-
अतसी) झा० ५ अ०। प्रव०। प्रज्ञा०। आ० म०। औ० अन्त०।

जं०। रा०। उ०। को०। मङ्गधाम्, प्र० ६ श० ७ उ०।
अयसीकुसुमप्यास-अतसीकुसुमकाश-त्रि०। नीले, झा० १
अ०। अन्त०। उपा०। रा०।

अयसीपुष्प-अतसीपुष्प-न०। धान्यविशेषस्य प्रसूने, उ०
३५ अ०।

अयसी (सि) वण-अतसीवर्ण-त्रि०। अतसीकुसुमवर्णे
दयामवर्णे, उ० १६ अ०।

अयहारि (ण)-अयोहारिन्-त्रि०। लोहस्याहर्तरि, सूत्र०
१ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

अयाकिवाणिज-अजाकृपाणीय-न०। ममोपरि कृपाण पति-
प्यतीत्यजा न वेत्ति, तथा सति अजागले कृपाणपतनरूपे अ-
तर्कितोपस्थिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

अयाकुक्षि-अजाकुक्षि-त्रि०। अजायाः कुक्षिरिव कुक्षिर्यस्य
तदजाकुक्षि। उपा० २ अ०।

अयागर (न०)-अयत्राकर-पुं०। प्राकृतत्वात्पुसकत्वम्।
लोहाकरे, येषु निरन्तरं मदासूषास्वयोदल प्रक्षिप्यास्य उत्पाद्य-
ते। जी० ३ प्रति०।

अथायंत-अजानत्-त्रि०। अविदुषि, “पावस्स फलाविधागं
अयाणमाणा वट्ठंति”। प्रअ० १ सम्ब० चा०।

अयावय-अजावज-पुं०। अजावाटके, “कहं पुरिसे अयासय-
स्स एगं महं अयावयं करेज्जा”। अ० १ ए० श० ३ उ०।

अयावयद-अयावदर्थ-पुं०। न यावदर्थः। अपरिसमाप्ते,
दश० ५ अ० २ उ०।

अय्य-आर्य-पुं०। “न वा र्यो य्यः”। उ० ४। २६६। इति ‘य’
प्रागस्य य्यः। [अस्म्यर्थस्तु ‘अज्ज’ शब्देऽत्रैव भागे २०८ पृष्ठे
रुष्टव्य] “अय्य! एशे खु कुमाले मलयकेदु”। आर्य! एव
खलु कुमारो मलयकेतु। प्रा० ४ पाद।

अय्युत्त-आर्यपुत्र-पुं०। “न वा र्यो य्यः”। ८। ४। ३६६।
इति शौरसेन्यां र्यस्य स्थाने य्यः। श्रेष्ठपुत्रे, नाटकसंक्षेपे नाय-
कादौ, “अय्युत्त! पर्याकुलीकदम्हि” आर्यपुत्र! पर्याकुली-
कृताऽस्मि। प्रा० ४ पाद।

अय्युण-अर्जुन-पुं०। “जद्ययां य”। उ० ४। २६२। इति मागध्यां
जस्य स्थाने यः। (‘अज्जुण’ शब्दे २२४ पृष्ठेऽत्रैवास्यार्थः)
प्रा० ४ पाद।

अर-अर-पुं०। न०। अर-अर। चक्रनाजिनेम्योर्मध्यस्थे काष्ठे,
शीघ्रे च। वाच०। न०। सर्वोत्तमे महासत्त्व-कुले य उपजायते।
तस्याभिवृद्धये वृद्धै-रसावर उदाहृतः”॥१॥ इति वचनाद्-अरः।
तथा गर्जस्थेऽस्मिन् जनन्या स्वप्ने सर्वरत्नमयोऽरो हृष्ट इति
अरः। घ०२ अधि०। जम्बूद्वीपे जरतक्षेत्रे वर्त्तमानायामवसर्पि-
ण्यां जाते सप्तमे चक्रवर्त्तिनि, स०। अष्टादशे तीर्थकरे, स०।
आव०। ति०। स्था०। प्रव०।

सुमिणे अरं महरिहं, पासइ जणणी अरो तम्हा ॥४६॥
तथ सव्वे वि सव्वुत्तमे कुले सुविच्चिकरा एव जायति, विसेसो
पुणो- (सुमिणे अरं महरिहं इति) गाहापञ्चदं। गजगते माताप
सुमिणे सव्वरयणमयो अइसुंदरो अइपमाणो जम्हा अरो
दिठो तहा अरो चि से णाम कंतं ति गाथार्थः ॥४६॥ आब० २
अ०। आ० यू०।

अर

अरजिनचरित्र त्विधम्—

सागरतं चइत्ता णं, नरह नरवरीसरो ।

अरो य अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४० ॥

च पुनः, अरो अरनामा नरवरेभ्वर सप्तमचक्री सागरान्त स-
मुद्रान्त भरतक्षेत्र पदखण्डराज्य त्यक्त्वा अरजस्व प्राप्तः सन्
अनुत्तरां गतिं सिद्धगतिं प्राप्तः, मोक्षगत इत्यर्थः । चक्रीभूत्वा नी-
र्थकरपदं त्यक्त्वा मोक्षगत इत्यर्थः । अत्र अरनाथदृष्टान्तः । अ-
रनाथवृत्तान्तस्तूत्तराख्ययनवृत्तिद्वयेऽपि नास्ति, तथापि ग्रन्था-
न्तराल्लिख्यते—प्राग्निदेहविचूषणे मङ्गलावतीविजये रत्नसञ्चया
पुरी अस्ति । तत्र महीपालनामा भूपाहोऽस्ति स्म, प्राज्य
राज्यं हृष्टे स्म । अन्यदा गुरुमुखाद्धर्मं श्रुत्वा स वैराग्यमागतः,
स तृणमिव राज्यं त्यक्त्वा दीक्षां लब्धौ । गुर्वन्तिके एकादशाङ्गानि
अधीत्य गीतार्यो बभूव । बहुवत्सरकोटीः स सयममाराध्य
विशुद्धविंशतिस्थानकैरर्द्धभ्रामकर्मं यवन्ध । ततो मृत्वा स-
र्वाथसिद्धिदिमाने देवो बभूव । ततश्च्युत्वा इह भरतक्षेत्रे इस्ति-
नागपुरे सुदर्शननामा नृपो बभूव । तस्य राज्ञी देशनाम्नी ब-
भूव । तस्याः कुक्षौ सोऽवततार । तदानीं रेवतीनक्षत्रं बभूव ।
तया चतुर्दश स्वप्ना दृष्टाः । ततः पूर्णेषु मासेषु रेवतीनक्षत्रे तस्य
जन्म यन्त्रं । जन्मोत्सवस्तदा पटपञ्चाशद्विक्रुमारिकाभिः
चतुष्पष्टिसुरेन्द्रैर्निर्मितं, ततः सुदर्शनराजाऽपि स्वपुत्रस्य जन्मो-
त्सवे विशेषोत्सवकारः । अस्मिन् गर्भगते मात्रा प्रौढो रत्नमयोऽर-
स्वमे दृष्टः । ततः पित्राऽहं 'अर' इति नाम कृतम् । देवपरि-
वृत्तं स वयसा गुणैश्च वर्धते स्म । एकविंशतिसहस्रवर्षेषु अर-
कुमारस्य पित्रा राज्यं दत्तम्, एकविंशतिवर्षसहस्राणि यावद्वाज्यं
शुक्लवत् । तस्य शस्त्रकोशे चक्ररत्नं समुत्पन्नं, ततो भरतससा-
ध्य एकविंशतिसहस्रवर्षाणि यावदाकवर्षित्वं बुभुजे । ततः स्वा-
मी स्वयं बुद्धोऽपि लोकान्तिके देवयोधितो धार्मिक दानं दत्त्वा
चतुष्पष्टिसुरेन्द्रैः सेवितो वैजयन्त्याख्या शिविकामारुढः सदस्त्रा-
भ्रवणे सहस्रराजजिः समं प्रवर्जितः । ततश्चतुर्दशानीं असौ त्री-
णि वर्षाणि दृश्यन्त्यो विदित्य पुनः सहस्राभ्रवणे प्राप्तः । तत्र शु-
क्लप्यानेन ध्वस्तपापकर्मारः केवलज्ञानं प्राप । ततः सुरै-
रसमवसरणे कृते स्वामी योजनगामिना शब्देन देशनां चका-
र । ते देशनां श्रुत्वा केऽपि सुधावका जाताः, केऽपि च प्रव-
र्जिताः । तदानीं कुम्भचूषः प्रवर्ज्य प्रथमो गणधरो जातः ।
अरनाथस्य पष्टिसहस्रा साधवो जाताः, साध्य स्वामि-
नस्तावत्प्रमाणा एव जाता । आवकाश्चतुरशीतिसहस्राधि-
फलकत्रयमाना बभूवुः । सम्मत्तशैलशिखरे मासिकाज्जशनेन भ-
गवान्निवृत्तः । देवैर्निर्वाणोन्सवो भृशं कृतः ॥ उक्तं १८ अ० ।
"अरे ण अरहा तीस धणू उट्ट चच्चत्तेण होत्था " । स० ३०
सम० । कल्प० । अग्नौ, जै० गा० । (अस्यान्तर 'अतर' शब्दे-
ऽस्मिन्नेव भागे ६६ पृष्ठे प्रदर्शितम्)

अरइ—अरति—स्त्री० । रमण रतिः—सयमविषया धृतिः, तद्वि-
परीता त्वरति । उक्तं २ अ० । सयमविषयेऽर्थे, उक्तं २ अ० । सं-
यमोद्विग्नतायाम्, आचा० १ अ० ६ अ० ३ उ० । चहेगलक-
णे मोहनीयोदयजे चित्तविकारे, स्या० १ उ० १ उ० । सूत्र० ।
दश० । दशा० । वातादिजन्ये चित्तोद्वेगे, उक्तं ११ अ० । अ-
मनोक्षेपु शब्दादिविषयेषु सयमे वा जीवस्य चित्तोद्वेगे, वृ०
१ उ० । सूत्र० । अनिष्टप्रयोगसम्प्रवे मनोदुःखे, प्रव० ४१
ठार । इष्टप्राप्तिविनाशोत्थे मानसे विकारे, आचा० १ अ० ३
अ० १ उ० । सूत्र० । स० ।

१७६

अरइं आउट्टे से मेहावी

रमण रतिस्तदभावोऽरतिः, नां पञ्चविधाचारविषयां मोहोदया-
त्कपायाभिष्वङ्गजनितां मानापितृकलशान्धापितां, (स घति)
अरतिमान्, मेहावी विदिनासारससारस्वभावः सन्, भावनेन
निवर्तयेदित्युक्तं भवति । सयमे चारतिर्न विषयानिष्वङ्गमृते,
कण्डरीकस्येव, इत्यतः हृदमुक्तं प्रवति—विषयाभिष्वङ्गे रतिं
निवर्तते । निवर्तते चैवमुपजायते—यदि दशविधचक्रवाहसा-
माचारीविषया रतिरुपपद्यते, पौण्डरीकस्येवेति, ततश्चेदम-
प्युक्तं प्रवति—सयमे रतिं कुर्वीत, तद्विहितरतेस्तु न किञ्चि-
द्वाधायै नापीहापरसुखोत्तरबुद्धिरिति । आह च—

"कितितलशयन वा प्रान्तभिक्षाऽशन वा,

सहजपरिजवो वा नीचदुर्भाषित वा ।

महति फलविशेषे नित्यमभ्युद्यतानां,

न मनसि न शरीरे दुःखमुत्पादयन्ति " ॥ १ ॥

"तणसथारणिसण्णो, विमुणिवरो जघरागमयमोहो ।

जपावइ मुत्तिसुह, कत्तो तं चक्रवट्टी वि " ॥ १ ॥ आचा० १

अ० १ अ० १ उ० ।

"अरइ च वोसिरे " अरतिं चानभिमतक्षेत्रादिविषयां व्यु-
त्सजामि । आनु० ।

अरइकम्म—अरतिकर्मन्—न० । नोकपायघेदनीयकर्मभेदे, यदुद-
यात् सचित्ताचित्तेषु यावद्वाज्येषु जीवस्यारतिरुपपद्यते ।
स्या० ९ उ० ।

अरइकारग—अरतिकारक—त्रि० । अरतिजनके, दश० १ चू० ।

अरइपरि (री) सह—अरतिपरि (री) पद—पुं० । रमण रतिः
सयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरति, सैव परीपहः, अर-
तिपरीपहः । उक्तं २ अ० । अरतिर्मोहनीयजो मनोविकारः,
सा च परीपहः, तन्निषेधेन सहनदिति । भ० ८ श० ८ उ० ।
विहरतस्तिष्ठनो वा यद्यरतिरुपपद्यते तत्रोत्पन्नारतिनाऽपि स-
म्यग्धर्मारामरतेनैव ससारजायमालोच्य भवितव्यम् । परी-
पहभेदे, आच० ४ अ० ।

"गच्छंस्तिष्ठजिषण्णो वा, नारतिप्रवणो भवेत् ।

धर्मारामरतो नित्यं स्वस्थचेता जवेन्मुनिः " ॥ १ ॥ आ० म० द्वि० ।

न कदाऽप्यरतिं कुर्याद्, धर्मारामरतिर्यति ।

गच्छंस्तिष्ठंस्तथाऽऽसीनः, स्वास्थ्यमेव समाश्रयेत् " ॥ १ ॥

अ० ३ अधि० ।

अरतिपरीपहमाह—

गामाणुगामं रीयंत, अणगारं अकिंचणं ।

अरइं अणुप्पविसे, त तितित्खे परीसहं ॥ १४ ॥

ग्रामसुत्रम्—असते बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः । स च जिगमिषि-
त, अनुग्रामश्च तन्मार्गानुकूलः, अननुकूलगमने प्रयोजनाज्ञावा-
त्, ग्रामानुग्रामश्च । यद्वा—ग्रामश्च स एव बहुग्रामश्च तम् । अथवा
ग्रामानुग्राममिति रुद्धिशब्दत्वादेकस्माद् ग्रामादन्योऽनुग्रामः ।
ततोऽपि ग्रामानुग्राममुच्यते । नगराद्युपलक्षणमेतत्—ततो नग-
रादींश्च । किमित्याह—(रायत ति) व्यत्ययाद्रीयमाणं विहरन्तम्,
अनगारमुक्तस्वरूपम्, अकिञ्चन नास्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पदं
धनकनकाद्यस्नीत्यकिञ्चनो निष्परिग्रहः, तथाचूतम्, अरतिरुक्त-
रूपा, अनुप्रविशेन्मनसि लब्धाऽऽस्पदा भवेत्, (तमिति) अरति-
स्वरूपं, तितित्खे सहेत, परीपहमिति सूत्रार्थः ।

तत्सदनोपायमेवाऽऽह-

अरइं पिड्ढो किच्चा, विरए आयरविस्वए ।

धम्मारामे निरारंभे, उवसंते मुणी चरे ॥ १५ ॥

अरतिं पृष्ठतः कृत्वा विरतो हिंसादेः, आत्मा रक्षितो दुर्गत-
हेतोरपध्यानादेरनेनेत्यात्मरक्षितः, आयो वा ज्ञानादिलाभो र-
क्षितोऽनेनेत्यायरक्षितः, धर्मे आरमते रतिमान् स्यात् इति ध-
ममाराम । यद्वा-धर्मे एवानन्दहेतुतया पाल्यतया वाऽऽरामो ध-
ममाराम, तत्र स्थितः, निरारम्भ उपशान्त एवविधो मुनिश्चरेत्
संयमाद्यनि, न पुनरुत्पन्नारतिरपध्यानेच्छुः स्यात् ॥ १५ ॥

अत्र पुरोहितराजपुत्रयोः कथा । यथा-अचलपुरे जिनशत्रुनृपपुत्र-
अपराजितनामा रोहाचार्यपाश्वे दीक्षितः, अन्यदा विहरन् तग-
रां नगरीं गतः, तावता उज्जयिन्या आर्यरोहाचार्यशिष्यास्तत्ता-
गताः । पृष्ठ साधुना तेन उज्जयिन्याः स्वरूपम् । तैरुक्तम्-सर्वे तत्र
वरम्, परं नृपपुत्रमात्यपुत्रौ साधुनुद्वेजयतः । ततो गुरुनापृच्छ्य
स्वभ्रातृव्यबोधार्थं शीघ्रमुज्जयिन्यां गतः, तत्र भिक्षावेद्यायां लोकै-
र्वार्यमाणोऽपि वादस्वरेण 'धर्मलाभ' इति पठन् राजकुले प्र-
विष्टः, राजपुत्राऽमात्यपुत्राभ्यां सोपहासमाकारितः । अत्राग-
च्छतः, वन्द्यते । ततः स गतः । तान्यां उक्तम्-वेत्सि नर्ति-
तुम् ? । तेनोक्तम्-चादम्, परं युवां वादयतं, तौ तादृशं वाद-
यितुं न जानीतः । ततस्तेन तथा तौ कुट्टितौ पृथक्कृत-
हस्तपादादिसन्धिबन्धनौ, यथा अत्यन्तमारुष्टिं कुरुतः । तौ
तादृशावेव मुक्त्वा साधुरुपाश्वये समायातः । ततो राजा सर्व-
लेन तत्राऽऽयातः, तमुपलक्ष्य प्रसादनाय तस्य पादयोः पपात ।
उवाच-स्वामिन् ! सापराधावपि इमौ सज्जीकार्यौ, अतः परम-
पराधं न करिष्यतः । साधुनोक्तम्-यदीमौ प्रव्रजतस्तदा मुञ्चा-
मि । राज्ञोक्तम्-एवमप्यस्तु । ततस्तौ प्रथमं लोचं कृत्वा प्रवा-
जितौ, तत्र राजपुत्रो नि शङ्कितो धर्मे करोति, इतरस्तु अमर्ष-
वहति, अहं बलेन प्रवाजित इति चेत्तस्योद्वेगं वहति । परं पात्र-
यित्वा द्वावपि चारित्र्यं शृद्धं मृत्वा तौ दिव गतौ । असिन्नवसरे
कौशाम्यां तापसश्रेष्ठी मृत्वा स्वगृहे शूकरो जातः, तत्र जातिस्मर-
ण प्राप्तवान्, सर्वं स्वसुतादिकुटुम्बं प्रत्यभिजानाति परं वक्तुं न
किञ्चित् शक्नोति स्म । अन्यदा सुनैरेव शूकरो मारितः, ततः स्व-
गृहं एव सपौ जातः । तत्रापि जातिस्मरणवान्, पुनस्तैरेव मारितः,
ततः पुत्रपुत्रो जातः । तत्रापि जातिस्मरणमापः । स एव चिन्तयति-
कथमेता पूर्वजवधू मातरमहमुल्लपामि; कथं चेम पूर्वभवपुत्र पि-
तरमहमुल्लपामि? इति विचार्य मौनमाश्रितो मूकव्रतभाग् जातः ।
अन्यदा केनचित् चतुर्ज्ञानिना तद्वेद्यं ज्ञात्वा स्वाशिष्ययोर्मुखात्
गाथा प्रेषिता-“तावस ! किमिणा मूत्र-व्वएण पाडिवज्ज जाणिअ
धम्मं ? । मरिऊण सुअरोरग-जाओ पुत्तस्स पुत्तं ति” ॥ १॥ एता गाथां
श्रुत्वा प्रतिबुद्धो गुरुणां सुआवकोऽभूत् । पतस्मिन्नवसरे सोऽ-
मात्यपुत्रजीवदेवो महाविदेहे तीर्थङ्करसमीपे पृच्छति-जगवन् !
किमहं सुलभबोधिर्दुर्लभबोधिर्वा ? , इति प्रश्ने प्रोक्तं तीर्थङ्करे-
ण-“त्वं दुर्लभबोधि कौशाम्या मूकमाना भावी” इति लब्धोत्तरः
स सुरो गतो मूकपाश्वे । तस्य बहु लक्ष्यं दत्त्वा प्रीकृतवान्-यदाऽहं
त्वन्मातुरुदरे उत्पत्स्ये तदा तस्या आम्नदोहदो भविष्यति, स
दोहदः साम्प्रतं महर्षिनैः सदाफलाग्रफलैस्त्वया तदानीं
तस्याः पूर्णकार्यं । पुनस्त्वया तथाविधेव यथा तदानीं
मम धर्मप्राप्तिः स्यात्, एवमुक्त्वा गतो देव । अन्यदा
देवलोकात् व्युत्त्वा स देवस्तस्या गर्भे समुत्पन्नः, तस्या-

आम्नदोहदः समुत्पन्नो मूकेन पूर्वोक्तरीत्या पूरितः । पुत्रो जातः । मू-
कस्तु तं बालं बहुमपि करे कृत्वा देवान् साधून् वन्द्यापयति,
परं स दुर्लभबोधित्वेन तान् दृष्ट्वा रटति । एवमावाक्यान्वावपि
भृशं प्रतिबोधितोऽपि स न बुध्यते । ततो मूकः प्रवाजितो गतः
स्वर्गम् । अथ देवीभूतेन मूकजीवेन स दुर्लभबोधिर्बाहः प्रति-
बोधितो जलोदरव्यथावान् कृतः । वैद्यरूपं कृत्वा देवेन उक्तः-
अहं सर्वरोगोपशमं करोमि । जलोदरी वाक्कि-मम जलोदरोपश-
न्तिं कुरु । वैद्येनोक्तम्-तवासाध्योऽयं रोगः, तथाऽप्यहं प्रतीकार-
करोमि, यदि मम पृष्ठे औषधकोत्थलकं समुत्पाद्य मयैव सहाग-
मिष्यसि । तेनोक्तम्-एव भवतु । ततो वैद्येन स जलोदरी सज्जी-
कृतः समाधिभाग् जातः । ततस्तस्योत्पादनाय औषधकोत्थलक-
स्तेन दत्तः । स तत्पृष्ठे भ्रमन् तं कोत्थलकमुत्पादयति । देवमाय-
या स कोत्थलकोऽतिजारवान् जातः, तमतिजारं वहन् स
क्षिद्यति, परं तमुत्सृज्य पश्चात्तुं न शक्नोति, मा दूष्यपश्चात्त-
स्य मे पुनर्जलोदरव्यथेति विमर्शं कुर्वन् वैद्यस्यैव पृष्ठे कोत्थ-
लकं वहन् भ्रमति । एकदा एकस्मिन् देशे स्वाध्यायं कुर्वन्तः सा-
धवो दृष्टाः । तत्र तौ गतौ । वैद्येनोक्तम्-त्वं दीक्षां यदा गृहीष्यसि,
तदा त्वां मुञ्चामि । स जारजन्मो वक्त्रि-गृहीष्याम्येव । ततो वै-
द्येन अस्य दीक्षा दापिता । देवे च स्वस्थानं गते तेन दीक्षा
परित्यक्ता । देवेन पुनरापितथैव जलोदरं कृत्वा वैद्यरूपधरेण पु-
नरसौ दीक्षां प्रादितः । पुनर्गते च देवे तेन दीक्षा त्यक्ता । त-
तीयवारं दीक्षां दापयित्वा वैद्यरूपो देवः सार्कं तिष्ठति क्षिती-
करणाय । एकदा तृणभारं गृहीत्वा स देवः प्रज्ज्वलन्नामे प्रवि-
शति । ततस्तेन साधुनोक्तम्-ज्वलति ग्रामे कथं प्रविशसि ? ।
देवेनोक्तम्-त्वमपि क्रोधमानमायालोभैः प्रज्वलिते गृहवा-
से वार्यमाणोऽपि पुनः पुनः कथं प्रविशसि ? । वैद्यरूपेण
देवेनैवमुक्तोऽपि स न बुध्यते । अन्यदा तौ अटव्यां गतौ । देवः
कण्टकाकुले मार्गे चरति । स ग्राह-कस्मादुन्मार्गेण यासि ? ।
देवेनोक्तम्-त्वमपि विशुद्धं निर्मलं सयममार्गे परित्यज्य आधि-
व्याधिरूपे कण्टकाकीर्णे संसारमार्गे कस्माद् यासि ? । एव देवे-
नोक्तोऽपि स न बुध्यते । पुनरेकस्मिन् देवकुले तौ गतौ । तत्र यत्नं
शृण्वितपूजापूज्यमानोऽपि पुनः पुनरधोमुखः पतति । स कथयति-
अहो ! यत्नस्य अधमत्वं, यत्पूज्यमानोऽप्ययमधोमुखः पतति । दे-
वेनोक्तम्-त्वमप्येतादृशोऽधमः, यत्नन्धमानः पूज्यमानोऽपि त्वं पुनः
पुनः पतसि । ततः स साधुर्वकि-कस्त्वम् ? । देवेन मूकस्वरूपं द-
र्शितं, पूर्वभवसम्बन्धश्च कथितः । स वक्त्रि-अत्र कः प्रत्ययः ? ।
ततो वैताळ्ये चैत्यचन्द्रापनार्थं देवेनाऽसौ प्रापितः । तत्रैकस्मिन्
सिंहायतनकोणे दुर्लभबोधिदेवेन स्वबोधाय मूकविदितं स्व-
कुण्डलयुगलं स्थापितमभूत् । तत्तदानीं दर्शितं, ततस्तस्य
जातिस्मरणं जातं; तेनाऽस्य चारित्र्ये दृढताऽभूत् । अस्य पूर्व-
भरति, पश्चाद् रतिः । उक्तं २ अ० ।

अरइपरि(री)सहविजय-अरतिपरि(री) सहविजय-पुं० । अर-
तिपरित्यजने, प० स० । सूत्रोपदेशतो विहरतः तिष्ठतो वा क-
दाचनापि यद्यरतिरुत्पद्यते तदाऽपि स्वाध्यायभ्यानप्राधान्यरूप-
धर्मारामरतत्वेन यदरतिपरित्यजनं सोऽरतिपरिहविजयः ।
प० स० ४ द्वार ।

अरइमोहणिज्ज-अरतिमोहनीय-न० । नोकषायभेदे, यदुदया-
त्सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य बाह्यान्त्यन्तरेषु वस्तुष्वप्रीति-
र्भवति । कर्म० १ कर्म० ।

अरंडरइ

अरंडरइ-अरतिरति-स्त्री० । मोहनीयोदयाच्चित्तप्राप्तिः । इति वृद्धः । कल्प० ६ क० । रत्यरत्योर्द्वन्द्वे, “ एणा अरतिरती ” । अरतिश्च तन्मोहनीयोदयजम्बिसविकार उद्वेगवृत्तः, रतिश्च तथा-विधानस्वरूपा; अरतिरति इत्येकमेव विवक्षितम्, यतः क्वचन विषये या रतिस्तामेव विषयान्तरापेक्षया अरतिं व्यपदिशति, एवमरतिमेव रतिम्, इत्यौपचारिकमेकत्वमनयोरस्तीति । (समा० स० न०) रत्यरत्योरेकतायाम्, स्था० १ गा० १ उ० ।

अरंडरइसह-अरतिरतिसह-पु० । अरतिरती सहते इत्यरतिरतिसहः । रत्यरत्योर्द्वन्द्वविषयावकुर्वाणे, कल्प० ५ क० ।

अरइसमावणचिच-अरतिसमापञ्चचिच-त्रि० । समये उद्वेगगताभिप्राये, दश० १ चू० ।

अरंजर-अरंजर-न० । लज्जरमिति प्रसिद्धे उदककुम्भे, स्था० ६ गा० ।

अरक्खरी-(अरसापुरी)-स्त्री० । चन्द्रध्वजनुपपलिते स्वनामक्या-ते प्रत्यन्तनगरे, “ततः प्रत्यन्तनगरे, अरक्खरीति नामनि । अस्ति माण्डलिकस्तत्र, जिनचन्द्रध्वजामिधः ” ॥ १४ ॥ आ० क० । आ० चू० । आव० ।

अरगाउत्त-अरकायुक्त-त्रि० । अरकैरभिधाविनाऽन्विते, भ० ३ श० १ उ० ।

अरगाउचासिय-अरकोआसित-त्रि० । अरका उच्चासिता आस्फालिता यत्र । आस्फालिताऽरके, भ० ३ श० १ उ० ।

अरञ्जुयपास-अरञ्जुकपाश-पु० । रञ्जुकं विना बन्धने, तं० ।

अरज्जिय-अरहित-त्रि० । निरन्तरे, “ अरज्जियमितावा तह की तथिति ” मरहितो निरन्तरोऽमितापो दादो येषां तेऽरहितामितापाः । सूत्र० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

अराणि-अराणि-पु० । अन्यर्थे निर्मेयनीयकाष्ठे, नि० ३ वर्ग । विशेष० । आव० । झा० । “ अराणि महिऊण अग्निं पामेह ” आ० भ० द्वि० । “ अतिथ ण घाणसदगया अराणिसदगया ” । अराणेरन्यर्थे निर्मेयनीयकाष्ठे तेन सह गतो यः स तथा । भ० २५ श० ८ उ० ।

अरणिआ-अरणिआ-स्त्री० । स्कन्धर्षाजवनस्पतिभेदे, आ-आ० १ शु० १ अ० ५ उ० ।

अरस-अरस-न० । कान्तारे, स्था० १ गा० १ उ० । उक्त० । आव० । निर्जने, अष्ट० ४ अष्ट० । वने, उक्त० १४ अ० ।

अरसवर्निसग-अरस्यावतंसक-न० । एकादशदेवलोकाविमानभेदे, स० ३२ सम० ।

अरत्त-अरत्त-त्रि० । रागरहिते, आचा० १ शु० ३ अ० २ उ० ।

अरत्तपुट्ट-अरत्तद्विष्ट-न० । रागद्वेषरहिते, दर्श० । घ० २० ।

अरय-अरक-पु० । अवसर्पिण्युत्सर्पिणीवृक्षस्य काष्ठचक्रस्य सुषमसुषमाऽऽदिके द्वादशे प्रागे, ति० । अरशब्दार्थे, आ० म० द्वि० । अरकाणां परस्परसादृश्यं यथा—“ कुमुदगि हरिरम्भयदुगि, हेमवपरवहदुगि विदेहे ॥ कमसो सयाऽवसपिणि, अरय-चक्राह समकाहो ” ॥ १०८ ॥ लघुकेत्रसमासप्रकरणे ।

अरजम्-त्रि० । स्वामाविकरजोरहिते, स० । कल्प० । प्रज्ञा० । रजोगुणकामक्रोधादिशून्ये, धूलीशून्ये च । वाच० । अयःसप्त-तितमे महाप्रदे, “ दो अरया ” स्था० २ गा० ३ उ० । च० प्र० । कल्प० । सू० प्र० । ब्रह्मलोकस्थविमानप्रस्तटभेदे, न० । स्था० ६ गा० । कुमुदविजयस्य राजधान्याम्, “ कुमुदे विजये अरजाराजधानी ” । जं० ४ वक्र० । रजसोऽभावे (अव्य० न०) उक्त० १८ अ० ।

अरत-त्रि० । आरम्भनिवृत्ते, निर्भमत्वे च । आचा० १ शु० ५ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

अरयंवरवत्थधर-अरजोऽम्बरवत्थधर-त्रि० । अरजांसि रजो-रहितानि च तानि अम्बरवत्स्थानि स्वच्छतयाऽऽकाशकल्पव-सनान्यरजोऽम्बरवत्स्थानि, तानि धारयतीति यः स तथा । तथाविधवत्स्थानधारे देवादौ, भ० ३ श० २ उ० । उक्त० । प्र-ज्ञा० । ज० ।

अरयणि-अरणि-पुं० । विनताहुतौ करे, स्था० ४ गा० ४ उ० ।

अरविंद-अरविन्द-न० । पद्मविशेषे [कमले,] आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । “ पुष्पेसु वा अरविंदं पहाण ” । सूत्र० १ शु० ६ अ० । स्था० ।

अरस-अरस-न० । अविद्यमानाहारार्थरसे हिङ्गवादिभिरसं-स्कृते, प्रज्ञा० ५ सम्ब० झा० । अप्राप्तरसे, द० ५ अ० २ उ० । झा० । भ० । औ० ।

अरसजीवि (ण)-अरसजीविन्-पुं० । अरसेन जीवितुं शी-लमाजन्माऽपि यस्य स तथा । अरसाऽऽहारे, स्था० ५ गा० १ उ० ।

अरसाल-अरसाल-त्रि० । विरसे, “ अरसालं पि भोयणं सुजं गंधजुषं ” । नि० चू० २ उ० ।

अरसाहार-अरसाहार-पुं० । अरसं हिङ्गवादिभिरसंस्कृतमाहा-रयन्तीति; अरसो वाऽऽहारो यस्यासावरसाहारः । तथाविधा-भिग्रहविशेषधारके, स्था० ५ गा० १ उ० । प्र० । औ० ।

अरह-अरहस्-पुं० । न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्थ, सकल-संनिहितव्यवहितस्थूलसूक्ष्मपदार्थसार्थसाहकारित्वात्, इत्य-रहा । स्था० ४ गा० १ उ० । न विद्यते रहो विजिन यस्य सर्व-ज्ञत्वादसावरहा । स्था० ६ गा० ।

अर्हत्-पुं० । अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हतीत्य-र्हत् । पा० । कल्प० । स्था० । उक्त० । अशोकादिप्रातिहार्यपूजा-योग्ये, कल्प० ६ क० । सूत्र० । इन्द्रादिभिः पूज्ये, उक्त० ६ अ० । तीर्थकृति, सूत्र० १ शु० ६ अ० । जिने, स्था० ३ गा० ४ उ० । “ तन्नो अरहा पञ्चत्ता । तं जहा-ओहिनाणअरहा, मणपज्जव-णाणअरहा, केवलणाणअरहा ” । स्था० ३ गा० ४ उ० ।

अरहंत-अर (र) हत्-पुं० । अर्हन्ति देवादिकृतां पूजा-मित्यर्हन्तः । अथवा नास्ति रहः प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यक्षज्ञानित्वात्तेऽरहन्तः । शेष प्राग्वत् । पते च सत्तेषां अपि भवन्तीति । स्था० ३ गा० ४ उ० । अमरवरनिर्मिताऽशोकादि-महाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः । अविद्यमानरहस्येषु, अनु० । दशा० १ अ० । प० सू० ।

अरहंते सिद्धे आयरिए उवज्जाए साहवो जत्थ । एएसिं
चेव गब्जत्थसम्भावो इमो । तं जहा-मनराभरासुरस्स एं
सव्वस्सेव जगस्स अट्टमहापादिहाराए पूयाए समोवद्वाक्खियं
अणन्नसरिसमर्चितमाहप्पं केवलाहिद्धियं पवरुत्तमत्तं ॥

(अरहते ति) अरहता असेसकम्मकखण्ण णिहृज्जवकुर-
न्नाओ न पुणो हि जवति, जम्मनि, उवज्जति वा, अरहता
वा णिम्महियनिहयनिहलियविल्लुयनिहवियअज्जित्तयसुदुज्जा-
या ॥ महा० ३ अ० । आ० । प्रव० । दश० । त्रिभुवनपूजा-
योग्येषु तीर्थकरेषु ऋषभादिषु, कल्प० १ त्त० । आजीवि-
ककल्पनया गोशालकोऽप्यर्हन्, अत एव तेऽर्हदेवताका इत्युच्य-
न्ते । “अरहतदेवयागा” गोशालकस्य तत्कल्पनयाऽर्हत्वात् ।
भ० ८ श० ५ उ० । “जो जाणइ अरहते, दव्वत्तगुणत्तपज्जव-
सेहि । सो जाणइ अप्पाण, मोहो खलु जाइ तस्स लय” ॥ १॥ न० ।
अरहोऽन्तर-न० । अविद्यमान रह एकान्तरूपो देशोऽन्त-
श्च मध्य गिरिशुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्र-
च्छन्तत्वस्याभावेन येषां ते अरहोन्तरः । अर्हत्सु जिनेषु,
भ० २ श० १ उ० ।

अरथान्त-पु० । अविद्यमानो रथः स्यन्दन. सकलपरिग्रहो-
पलक्षणभूतः, अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां तेऽर-
थान्ताः । ज० १ श० १ उ० ।

अरहयत्-पु० । कचिदप्यासक्तिमगच्छत्सु क्षीणरागत्वात् प्रकृष्ट-
रागादिहेतुचूतमनोक्तेतरविषयसपक्वैऽपि वातरागत्वादिक स्व-
भावमत्यजत्सु जिनेषु, भ० १ श० १ उ० ।

अरहंतमगगामि (ण)-अर्हन्मार्गगामिन्-त्रि० । अर्हदुपदि-
ष्टेन मार्गेण गन्तुं शीलं यस्य । जैने साधौ, “अरहतमगगा-
मी, दिष्ठतो साहुणो वि समाचित्ता । पागरपसु गिहासु, एसते
अवहमाणा उ” ॥ १५१ ॥ दश० १ अ० ।

अरहंतद्विधि-अर्हद्विधि-स्त्री० । द्विधिजेदे, ययाऽर्हत्वं स-
मवाप्नोति । प्रव० २७० द्वार ।

अरहट्ट-अरघट्ट-पु० । घटीयन्त्रे, “जम्मणमरणारहट्टे,
जिच्छूण भवा विमुच्चिदिसि” ॥ १ आतु० । अ० ।

अरहस्य-अरहन्त-पु० । अर्हन्मित्रातरि, ग० ।

तद्वृत्त चेत्यम-

क्षितिप्रतिष्ठित नाम, पुर द्वौ तत्र सोदरौ ।

अर्हन्तोऽर्हन्मित्रश्च, ज्येष्ठभार्या लघ्वा रता ॥ १ ॥

लघुर्नैच्छति तां चाऽऽह, ज्ञानर मे न पश्यसि ।

पतिं व्यापाद्य सा भूय-स्तमूचे न त्वमस्त स ॥ १ ॥

निर्वेदेनाऽथ तेनैव, स लघुर्वतमाददे ।

तद्रक्ता साऽपि मृत्वाऽभूद्, ग्रामे काप्यर्चितः शुनी ॥ ३ ॥

साधवोऽपि ययुस्तत्र, शुन्याऽऽर्शि मुनि स च ।

तदेवाऽऽगत्य सा श्रेष्ठ, मुहुर्भर्तुरिवाऽकरोत् ॥ ४ ॥

नष्ट साधुर्वृता साऽथ, जाताऽऽर्च्या च मर्कटी ।

तस्या एव च मध्येना-ऽऽव्या याना कथञ्चन ॥ ५ ॥

अन्तर्मुनीनां त वीक्ष्य, प्रेम्णा शिश्रेष्ठ मर्कटी ।

ता विमोच्याऽथ कष्टेन, स कथञ्चित्पलायित ॥ ६ ॥

मृत्वा तत्रापि सा जज्ञे, यक्षी त प्रेक्ष्य साऽवचेः ।

नैच्छन्मामेष तच्छिखा-शीकृते न त्ववैक्षत ॥ ७ ॥

समानवयसोऽवोचन्, हसन्तस्त च साधवः ।

त्वमर्हन्मित्र ! धन्योऽसि, यच्चुर्नीमर्कटीप्रियः ॥ ८ ॥

अन्यदा क्रमणात्तद्वयं जलवाहं विलाङ्घितुम् ।

प्रमादाकृतिजेदेन, पदं प्रासारयन्मुनि ॥ ९ ॥

तस्य तच्छिखमासाद्य, सा चिच्छेदाद्विमूरुनः ।

स मिथ्यापुष्कृतं जल्प-अपतत्तज्जज्ञाद्वहिः ॥ १० ॥

सम्यग्दृष्टिं सूरौ तां च, निर्धातुं त मुनेः क्रमम् ।

तथैवालगयद् भूयो, देवताऽतिशयेन च ॥ ११ ॥ ग० २ अधि०
आ० म० । आ० चू० ।

अरहन्क-पु० । तारानगर्यामर्हन्मित्राचार्यपाश्वे प्रव्रजितया
दत्तवणिग्भार्यया सह प्रव्रजिते पुत्रे, उत्त० २ अ० । (स चोष्णपरी-
पहमसहमान उत्प्रव्रजित इति ‘उपपरीसह’ शब्दे द्वितीयभागे
७५४ पृष्ठे वक्ष्यते) चम्पानगरीवासिनि देवदत्तकुण्डलयुगलं
मह्वीनाथाय समर्पके स्वनामख्याते सायात्रिकवणिजि, का० ।

अर्हन्ककथा-

तत्थ णं चंपाए णयरीए अरहस्यपामोक्खा बहवे संजत्ता
णावावाणियगा परिवसति अट्ठा जाव अपरिभूया । तए
णं से अरहणणे समणोवासगे यावि होत्था अज्जिगय-
जीवाजीवे । वएणओ-तए ण तेसिं अरहस्यपामोक्खाणं
संजत्तानावावाणियगाणं अणया कयाई एगओसहिया-
णं इमेया रूवे मिहो कहासंलावे समुप्पजेत्था । सेयं खलु
अम्हं गणिमं च धरिमं च मेज्जं च परिच्छेज्जं च जंमं
गहाय दवणसमुदं पोयवहणेण उवगाहितए ति कहु अण-
मएणस्स एयमदं पमिसुणेति, पमिसुणेत्ता गणिमं च ४
गिएहेइ, गिएहेइत्ता सगदी-सागम सज्जेति, सज्जेतिता
गणिमस्स ४ भंमस्स सगदी-सागमियं जरेति, भरेइत्ता
सोहणंसि तिहिकरणकखत्तमुहुत्तंसि विउदं असणं पाणं
खाइमं साइमं उवक्खमावेइ, उवक्खमावेइत्ता मित्ताणो-
अणवेत्ताए जुंजावेति० जाव आपुच्छेति, आपुच्छेत्ता ग-
णिमस्स ४ जाव सगदी-सागदियं जोयति, जोयतिता चं-
पाए णयरीए मज्जं मज्जेणं णिग्गच्छेति, णिग्गच्छेत्ता
जेणेव गंजीरपोयपट्टणए, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छ-
इत्ता सगमी-सागदियं मोयंति, पोयवहणं सज्जेति, सज्जे-
इत्ता गणिमस्स ४ जाव चउव्विहस्स भंमस्स जरंति, त-
दुत्ताण य समियस्स य तेद्वस्स य धयस्स य गुहस्स य
गोरसस्स य उदगस्स य भायाणाण य ओमहाण य भेसजा-
ण य तणस्स य कडस्स य आवरणाण य पहरणाण य
अणोसिं च बहूणं पोयवहणपाउगाणं दव्वाणं पोयवहणं
भरोति, जरेइत्ता सोहणंसि तिहिकरणकखत्तमुहुत्तंसि वि-
उदं अमणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खमावेइति, मित्ताणं
आपुच्छति, जेणेव पोयट्टाणे, तेणेव उवागच्छति, उवाग-
च्छतिता तए णं तेसिं अरहस्यपामोक्खाणं वाणियगाणं

ते परियणो जाव ताहिं इडाहिं कंताहिं जाव वग्गहिं अभिणंदंता य अभिसंधुयमाणा य एवं वयासी-अज्ज ! ताय ! भाय ! माउल ! जाइणेज्ज ! जगवया समुदेणं अभिरक्खि-ज्जमाणा चिरं जीवह, भइं च जे; पुणरपि लच्छे कयक-ज्जे अणहसमगे णियगं घरं हव्वमागए पासामो त्ति कट्ठु ताहिं सोमाहिं णिप्पाहिं दीहाहिं सपिवासाहिं पप्पुयाहिं दिट्ठीहिं णिरक्खमाणा मुहुचमेत्तं संचिट्ठंति, तओ समाणिएसु पुप्फवलिकम्मेसु दिस्सेसु सरसरत्तचंद-णदहरपंचगुदितत्तेसु अणुक्खित्तंसि धूवसि पुइएसु समु-इवाएसु संसारियासु वल्लयवाहासु ऊसिएसु सिएसु ज्ज-यग्गेसु पमुप्पवाइएसु तूरेसु जइएसु सव्वसउणेषु गहिएसु रायवरसासणेसु माहिया उक्किट्ठीसीहणाय जाव रवेणं पक्खुभियमहासमुहरवचूयं पि व मेइणिं करेमाणा एगदिसिं जाव वाणियगा पोयणेसु उरूढा तओ पुस्समाणवो वकं समु-दाहु । हंभो ! सव्वेसामवि मे अत्थासेप्पओ उवट्ठियाइं कट्ठा-णाइं, पढेइयाइं मव्वपावाइं, जुत्तो पुस्तो विजयमुहुत्तो अयं देसकादो, तओ पुस्समाणए एं वक्के उदाहरिए इहत्तु-ट्ठे कप्पधारकुच्छिधारगग्भिज्जसंजत्ताणावावाणियगा वाव-रिंत्तु तं एणं पुप्पुच्छंगं पुण्यमुहिं वंधणाहिं तो मुचंति । तए एं सा एणा विमुक्कबंधणा पवणवत्तसमाहया ऊसि-यसियपभा विततपक्खा इव गरुडजुवई गंगासलिलति-क्खसोयवेगेहिं संखुब्भमाणी संखुब्भमाणी उम्मीतरंगमात्ता-सइस्साइं समइकमाणी समइकमाणी कइवएहिं अहोरेचेहिं दवणसमुहं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढा । तए एं तोसिं अरहएणगपामोक्खाणं वाणियगाणं लवणस-मुहं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढाणं समाणाण बहुइं उप्पाडयसयाइं पाळन्नूयाइं । तं जहा-अकादो गाज्जिए अकादो विज्जुए अकाले थणियसदे अभिक्खणं अजि-क्खणं आगासे देवतया एच्चंति । एगं च एं महं पिसायरूवं पासति-तालजंयं दिवंगयाइं बाहाहिं मस्सिम्मसगमहिमका-द्वगं भरियमेहवस्सं लंबोहं णिगयगदत्तं निह्वालियगजमद-जुअलजीहं आऊसियवयणंगं रुदेसं चीणचिविरुनासिगं वि-गयज्जुगमभूहिं खज्जोयगादिच्चक्खुरागं उत्तासणगं विसा-लवच्छं विसालकुच्छिं पलंबकुच्छिं पइसियपयलियपव-नियगत्तं पणच्चमाणं अप्फोमंतं अभिवग्गंतं अजिगज्जंतं बहुसो बहुसो अइहहासो विणिमुयंतं नीलुप्पलगवलगुलि-यअयसिकुसुमप्पगासं खुरधारं असिं गहाय अजि-मुहमापमंतं पासति । तए एं ते अरहस्यगवज्जा संजत्ता-णावावाणियगा एगं च एं महं तालपिसायं पासति । ता-लजंयं दिवंगयाहिं बाहाहिं फुट्टसिरं जपरणिगरवरमास-रासिमहिसकालगं भरियमेहवस्सं सुप्पणहं फाल्लसरिसजीहं

लंबोहं धवत्तवट्टअसिद्विट्ठित्ठिक्खथिरपीणकुभिलदाढावगू-दवयणं विकोसियधारासिज्जुयद्वममसरिसतणुयचंचलग-लंतरसलोवचवदफुरफुरंतनिह्वालियगजीहं अवयत्थिबं महद्वविगयबीभच्छदालापगदंतरत्तताद्वयं हिगुद्वयसग-ब्भकंदरविद्वं च अंजणगिरिस्स अग्गिजालुग्गिद्वंतवयणं आउसियअक्खचम्पोहगंदेसं चीणचिविमवंकभग्गणासं रोसागयधमधमंतमारुयनिधुरखरफरुसत्तुसिरउज्जुगणाभियपु-हं घाडुब्भदरइयभीसणमुहं उह्मद्वहकप्पसक्कुद्वियमहंत-विगयद्वोमसंखाद्वगद्वंतत्तद्वियकप्पं पिंगलदिप्पंतद्वोअणं भिउमितिभिनिमालं एरसिरमाद्वपरिणद्वचिंधं विचित्तगो-णसमुवच्छपरिकरं अवहोलंतफुप्फुयंतसप्पविच्छुयगोद्धं-दरणउद्वसरमविरइयविचित्तवेयच्छमालियागं जोगकूरक-प्पसप्पधमधमंतद्वंतत्तकप्पूरं मज्जारसियाललगियग्वंधं दित्तं धुग्गुयंतधूयकयकुंभलसिरं घंटारवेण जीमज्जयंकं कायरज-णहिययफोमणं दित्तमट्टहासं विणिमुयंतं वसारुहिरपूयमं-समलियपोच्चदतणं उच्चामणयं विसालवच्छं पेच्छंताजि-प्पणहमुहणयणकप्पवरवग्गचित्तकित्तीणिवमणं सरसर-हिरगयचम्पविततत्तसवियबाहुजुयलं ताहिं य खरफरुसअ-सिणिद्वदित्तअणिद्वअसुभअप्पियअकंतवग्गहिं य तज्ज-यंतं पासति । त ताद्वापिसायरूवं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता भीया संजातजया अप्पमएणस्स कायं समतुरंगेमाणा व-हूणं इदाण य खंदाण य रुदिसिववेसमणणागाणं नूयाण य जक्खाण य अज्जकोट्टकिरियाण य बहूणि उवयाइयसयाइणि उवचीयमाणा चिट्ठंति ॥ तए एं ते अरहस्यए समणोवासए तं दिव्वं पिसायरूवं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता अभीए अतत्थे अचल्लिए असंजंते अणाउद्वे अणुव्विग्गे अभिप्पमुहरागणय-णवस्से अदीणविमणमाणसे पोयवाहणस्स एगदेसंसि वत्थं तेणं जूमिं पमज्जेति, पमज्जइत्ता ठाणं ठायति, ठायइत्ता करद्व-य जाव त्ति कट्ठु एवं वयासी-एमोत्तु एं अरिहंताणं जाव ठाणं संपत्ताणं जइ एं अहं एत्तो उवसग्गओ मुंचामि तो मेक-प्पइ पारेत्तए, अह एं एत्तो उवसग्गतो ए मुंचामि, तो मे तहा प-च्चक्खाएव्वं ति कट्ठु सागारभत्तं पच्चक्खाइ । तए एं ते पिसायरूवे जेणेष अरहस्यए समणोवासए तेणेव उवा-गच्छइ, उवागच्छइत्ता अरहस्यगं समणोवासयं एवं व-यासी-हंभो अरहस्यगा ! अपत्थियपत्थिया ! जाव परिवज्जिया नो खद्वु कप्पइ तवसीलव्वयगुणवेरमणप-च्चक्खाणपोसहोववासाइं चाञ्चित्तए वा एवं खोजित्तए वा खंभित्तए वा भंजित्तए वा उज्झित्तए वा परिच्चित्तए वा तं जइ एं तुमं सीलव्वयं ए परिच्चयसि, तो मे अहं पोयवहणं दोहिं अंगुलियाहिं गिएहामि, गेहिहत्ता सत्त-द्वतलपमाणेत्ताइं उहं वेहासं उव्विहामि । अंतो जलसि

णिन्वोक्षेमि जेणं तुमं अट्टुहट्टवसट्टे अकाले चैव जीवि-
याओ ववरोविज्जसि । तए णं से अरहस्यए समणोवासए
त देवं मणसा चैव एवं वयासी-अहं णं देवाणुप्पिया । अर-
हस्यए णामं समणोवासए अहिगयजीवाजीवे नो खलु अहं स-
क्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा० जाव णिग्गथाओ
पावयणाओ चालित्तए वा खोजित्तए वा विपरिणामित्तए
वा तुमसं जा सट्ठा तं करोहिं त्ति कट्ठु अजीए० जाव अ-
जिएणमुहरागनयणवण्णे अदीणविमणमाणसे णिच्चले
णिप्फंदे तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ । तए णं से
दिव्वे पिसायरूवे अरहस्यगं समणोवासगं दोब्बं पि तच्चं
पि एवं वयासी-हंजो अरहस्यगा !० जाव धम्मज्झाणोव-
गए विहरइ । तए णं से दिव्वे पिमायरूवे अरहस्यगं सम-
णोवासयं धम्मज्झाणोवगय पामइ, पासइत्ता बलियतरागं
आसुरत्ते तं पोयवहणं दोहिं अंगुलियाइं गिएहइ, गिएह-
इत्ता सत्तट्टतल० जाव अरहस्यगं एव वयासी-हंजो अरह-
स्यगा ! अपत्थियपत्थिया ! नो खलु कप्पइ तवसीन्नव्वय गुण-
वेरमणं, तहेव० जाव धम्मज्झाणोवगए विहरइ । तए णं से पि-
सायरूवे अरहस्यगं जाहे नो संचाएइ, निग्गथाओ चालि-
त्तए वा तहेव मंते० जाव णिन्विस्से तं पोयवहणं सणियं स-
णियं उवरि जले संठवेइ । संठवेइत्ता तं दिव्वं पिसायरूवं प-
मिमाहरइ । पमिसाहरित्ता दिव्वं देवरूवं विउव्वंति, अंनद्धि-
क्खपडिवस्से मत्तिखणियं० जाव परिहिए अरहएणगं सम-
णोवासयं एवं वयासी-हंभो अरहएणगा ! धम्मोमि णं तुमं
देवाणुप्पिया !० जाव जीवियफट्ठे जस्स णं तव निग्गंये पाव-
यणे इमेयरूवे पक्खित्ती द्वाप्पा पत्ता अजिसमसागया, एवं
खलु देवाणुप्पिया ! मक्के देविंदे देवराया सोहम्मो कप्पे सोह-
म्मावमिसए विमाणे सजाए सुहुम्माए बहूणं देवाणं मज्जगए
महया सदेणं आडक्खइ भासइ पणवेइ परूवेइ । एवं खलु
जंबुदीवे दीवे जारहे वासे चंपाए णयरीए अरहस्यए सम-
णोवासए अहिगयजीवाजीवे नो खलु सक्का केणइ देवेण वा०
जाव निग्गंथाओ पावयणाओ० जाव परिणामत्तए वा । तए
णं अहं देवा सक्कस्म देविंदस्स एयमं नो महहामि नो पत्ति-
यामि नो रोचयामि । तए णं मम इमेयरूवे अब्भत्थिए०
जाव ममुण्यजित्था गच्छामि णं अहं अरहस्यगस्स समणो-
वासयस्स आतियं पाउञ्जवामि जाणामि ताव अहं अरह-
स्यगं किं पियधम्मो नो पियधम्मो ददधम्मो सीदधम्मयगुणे किं
चाक्षेति० जाव परिच्चइ नो परिच्चय । त्ति कट्ठु एवं संपेहेमि
संपेहिता ओहिं पउजेमि, देवाणुप्पिया ! ओहिणा आभो-
पमि उत्तरपुरन्धिंम दिसीजागं उत्तरपुरन्धिंमं विउव्विय म-
मुग्घाति, ताए ठक्किचाए० जाव जेणेव तवणसमुदे जेणेव
तुम्हे तेणेव उवागच्छामि, तुम्हाणं उवसगं करोमि । नो चैव

णं तुम्हे जीया वातं जसं सक्के देविंदे देवराया एवं वयंति-
सब्बेण एसमट्ठे तं दिट्ठेणं देवाणुप्पिया णं इही जुई जसे बले
वीरिए पुरिसक्कारे पारिकमे लच्छे पत्ते अजिसमसागए तं
खामेमि णं देवाणुप्पिया जुज्जो भुज्जो० जाव णो एवं करण-
याए त्ति कट्ठु पंजल्लिउमे पायवमियाए एयमं विणए-
णं भुज्जो भुज्जो खामेइ, खामेतित्ता अरहस्यगस्स पुवे कुं-
मलजुयलं दलइ, दलइत्ता जामेव दिंसि पाउञ्जए तामेव
दिंसि पडिगए । तए णं से अरहएणए समणोवासए
निरुवसग्गे त्ति कट्ठु पडिमं पारेति । तए णं अरहएण-
गपामोक्खा० जाव वाणियगा दक्खिणाणुकूलेणं वा-
एणं जेणेव गभीरपोयपट्टणे तेणेव उवागच्छइ, उवा-
गच्छइत्ता पोयं ठवेइ । पोयं ठवेइत्ता सगमी-सागमं स-
ज्जेइ । सज्जेइत्ता गणिमं च ४ सगमिं संकामेइ, सगमी
सागमं जोवेति जेणेव मिहिला रायहाणी तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मिहिलाए रायहाणीए बहि-
या अंगुज्जाणंसि सगमी-सागमिं मोएइ । तए णं अरह-
एणगे समणोवासए तं महत्थं विउव्वं० जाव रायारिहं
पाहुं कुंमलजुयलं गिएहइ, गिएहइत्ता मिहिलाए रायहा-
णीए अणुप्पविसइ । अणुप्पविसइत्ता जेणेव कुंजए राया
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव कट्ठु तं
महत्थं रायारिहं पाहुं दिव्वं कुंमलजुयलं च पुरओ ठवे-
इ । तए णं से कुंभए राया तेमि संजत्तगाणं० जाव पमि-
च्छइ, पडिच्छइत्ता मत्तिं विदेहरायवरकएणं सहावेइ । सहा-
वेइत्ता तं दिव्वं कुंमलजुयलं मल्लीए विदेहरायवरकसागए
पिण्णइ । पिण्णइत्ता पडिविसज्जेइ । तए णं से कुंजए
राया ते अरहस्यगपामोक्खे० जाव वाणियए विउव्वेणं
वत्थगंधमद्वालंकारेणं० जाव उस्सुकं वियरेइ । रायमग्गे मोगा-
दे य आवासे वियरइ पडिविसज्जेइ । पमिविसज्जेइत्ता तए
णं अरहएणगसंजत्तगा वाणियगा जेणेव रायमग्गे मोगा-
दे आवासे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता भंमगववहर-
णं करोति पक्खिंमे गिएहइ । गिएहइत्ता सगमी-सागमं भरे-
ति; जेणेव गंभीरपोयपट्टणे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइ-
त्ता पोयवहणं सज्जेइ जंमं संकामेइ, दक्खिणाणुकूलेणं
वाएणं जेणेव चंपा णयरी तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता
पोयपट्टाणे तेणेव पोयलंवेइ । पोयलंवेइत्ता सगमी-सागमिं
सज्जेइ । तं गणिमं ४ सगमी संकामेइ० जाव महत्थं
पाहुं दिव्वं कुंमलजुयलं गिएहइ । गिएहइत्ता जेणेव चं-
दच्छाए अंगराया तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता तं
महत्थं कुंमलजुयलं च उवणेइ । तए णं चंदच्छाए अंग-
राया तं दिव्वं महत्थं च कुंमलजुयलं पमिच्छइ । पमिच्छ-
इत्ता ते अरहस्यगपामोक्खे एवं वयासी-तुम्हे णं देवाणु-

पिया ! बहूणि गामागरं जाव आहिंमह लवणसमुद्रं च
आभिकखणं अभिकखणं पोयवहणेहिं उगगहेह, तं अत्थि-
याहिं भे केह किं वि अच्छेरएदिट्टपुच्चे । तए ण ते अरहस्य-
गपामोक्खा चंदच्छायं अंगगयं एवं वयासी-एवं खलु
सामी ! अम्हे इहेव चंपाए नयरीए अरहस्यगपामोक्खा
बहवे संजत्तानावावाणियगा परिवमामो, तए णं अम्हे
अस्यया कयाहं गणिमं च ४ तहेव अहीणं अतिरिचं
जाव कुंजगस्स रसो लवणेमो, तए ण से कुंभए राया
मल्लीए विदेहरायवरकक्षाए तं दिचं कुंजजुयत्तं पिण्ठे-
इ । पिण्ठेइत्ता पमिविसज्जेइ । तए णं सामी ! अम्हेहिं
कुंजगरायभवणंसि मल्लीए विदेहरायवरकक्षाए अच्छेरए
दिडे एत्तो खलु अस्सा कावि तारिमिया देवकक्षगां
जाव जारिसिया णं मल्ली विदेहकएणा, तए णं चंदच्छाए
राया अरहएणगपामोक्खे सकारेइ सम्माणेइ । सम्माणेइत्ता
लसुक्कं वियरइ पमिविसज्जेइ । तए णं चंदच्छाए राया
वाणियमजणियहासे दूरं सहावेइ । सहावेइचां जाव जइ
वि य ण सासयं रज्जमुक्का तए णं से दूर हट्टुडे पमि-
मुणेइ, जेणेव सए गेहे जेणेव चाउघंटे आसरहे डुरुडे
जाव पहारेत्थगमणाए ॥

(संजत्तानावावाणियग सि) सगता यात्रा वेशान्तरगमन
सयात्रा, तत्प्रधाना नौवाणिजका, पोतवणिज, सयात्रानौवाणि-
जकाः । (अरहस्ये समणोवासगे यावि होत्थ सि) न केवल-
माख्यादिगुणयुक्तः, अमणोपासकश्चाप्यभूत् । (गणिमं चेत्पा-
दि) गणिमं-नालिकेरपूगफलादि, यद्गणितं सद्यवहारे प्रविश-
ति । धारिम-यन्तुलाधृत सद्यवहियते । मेयं-यत्सेतिकापलादिना
मीयते । परिच्छेद्य-यद्गुणतः परिच्छिद्यते परीक्ष्यते वस्त्र-
मण्यदि । (समियस्स य सि) कणिकायाश्च, (ओसहाण य ति)
त्रिकटुकादीनाम् । (जेसजाण य सि) पथ्यानामाहारविशे-
षाणाम् । अथवा औषधानामेकद्रव्यरूपाणां, भेषजानां द्रव्यसंयो-
गरूपाणाम् । आवरणानामङ्गरत्नकादीनां, बोधिस्थप्रकराणां च
(अज्जेत्थादि) आर्य !-हे पितामह !, हे तात !-हे पितृ !, हे
आत्ता !, हे मातुल !, हे भागिनेय ! भगवता समुत्तेजाभिरक्कमा-
णाश्चिर यूय जीवन, भद्रं च भवतां, भवत्विति गम्यते । पुनरपि
लब्धार्थान् कृतकार्यान्, अनघसमग्रान्, अनघत्व निर्दूषणतया,
समग्रत्वमहीनधनपरिवारतया, निजक गृह, 'हव्व' शीघ्रमागता-
न् पश्यामि इति कृत्वेत्यभिधाय, (सोमाहिं ति) निर्विकार-
त्वात् । (निच्चाहिं ति) सङ्गहत्वात् । (दीहाहिं ति) दूरं या-
वद्वलोकनात् । (सपिप्पासाहिं ति) सपिप्पासाभिः पुनर्देश-
माकाङ्क्षावतीभिः, दर्शनात्तामिर्वा । (पप्पुयाहिं ति) प्रप्नुता-
निरश्रुजशार्द्राभिः, (समाणिप्पसु सि) समापितेषु दत्तेषु,
नाधीति गम्यते । सरसरक्तचन्दनस्य दर्दरेण चपेटाप्रकारेण प-
ञ्चाङ्गुलिषु तलेषु, हस्तकेष्वित्यर्थः । (अणुक्खित्तसीति) अ-
नुलिप्ते पञ्चाङ्गुलपटिते धूपे, पूजितेषु समुद्रवातेषु, नौसांयात्रि-
कप्रक्रियायां समुद्राधिपत्रेवपादेषु वा (ससारियासु वज्जयवा-
हासु सि) स्थानान्तरादुचितस्थाननिवेशितेषु दीर्घकाष्ठसत्त-
णबाहुषु आवेष्टकैश्चिति समाव्यते । तथा-उच्छिक्तेषु पूर्वाङ्गुलेषु

सितेषु ध्वजाग्रेषु पताकाग्रेषु पटुभिः पुर्यैः, पटु वा यथा भव-
तीत्येव प्रवादितेषु तूर्येषु जयिकेषु जयावहेषु, सर्वशकुनेषु वा-
यसादिषु, गृहीतेषु राजवरशासनेषु आज्ञासु पट्टकेषु वा, प्रक्षु-
जिनमहासमुद्ररवभूतमिव तदात्मकमिव, न प्रदेशमिति गम्यते ।
(तत्रो पुरस्समाणवो वक्कं समुदाहु ति) ततोऽनन्तर मागधो म-
ङ्गलवचनं ब्रवीति स्मेत्यर्थः । तदेवाह-सर्वेषामेव ज्ञवतामर्थसि-
द्धिर्भवतु, उपस्थितानि कल्याणानि, प्रतिहतानि सर्वपापानि,
सर्वविघ्नाः । (जुत्तो सि) युक्तः पुण्यो नक्षत्रविशेषः चन्द्रमसा, इ-
हावसरे इति गम्यते । पुण्यनक्षत्रं हि यात्रायां सिद्धिकरम् । यदाहु-
'अपि द्वादशमे चन्द्रे, पुण्यः सर्वार्थसाधनः' इति, मागधेन तदु-
पन्यस्तम् । विजयो मुहुर्त्तं विजयो मुहुर्त्तानां मध्यात् अयं देश-
कावः, एष प्रस्तावो गमनस्येति गम्यते । (वक्के उदाहिण सि)
वाक्ये उदाहृते, इष्टगुणः, कर्णधारा नियामका, कुक्षिधारा नौ-
पाश्वनियुक्ता आवेष्टकवाहकादयः, गर्भे भवा गमजा, नौ-
मध्ये वच्चावचकर्मकारिणः, सयात्रानौवाणिजका, भागम-
पतयः, एतेषां द्वन्द्वः । (वावरिसु सि) व्यावृत्तवन्तः स्वस्वव्या-
पारेष्विति । ततस्तां नाव पूर्णोत्सङ्गां विविधभाण्डनृतमध्यां,
पुण्यमध्यां वा, मध्यभागनिवेशितमाङ्गल्यवस्तुत्वात् । पूर्णमुखी,
पुण्यमुखी वा । तथैव बन्धनेभ्यो मुञ्चन्ति विसर्जयन्ति पथनवल-
समाहृता वा वातसामर्थ्यात्प्रेरिताः । (कसियसिय सि) उच्छि-
कृतसितपटाः, यानपात्रे हि वायुसप्रहार्यं महान् पट उच्छि-
क्रियते । एव चासावुपमीयते-विततपक्षेव गरुडयुवतिः । ग-
ङ्गासलिलस्य तीक्ष्णा ये स्रोतोवेगाः प्रवाहवेगास्तैः सक्षुभ्य-
न्ती सक्तुभ्यन्ती प्रेर्यमाणा प्रेर्यमाणा, समुद्रं प्रवीति । कर्मयो
महाकल्लोलाः, तरङ्गा ह्रस्वकल्लोलाः, तेषां माहाः समूहाः तत्सह-
स्राणि, (समतिक्रमाणि सि) समतिक्रामन्ती (ओगाद सि)
प्रविष्टा । (तालजघमित्यादि) तालो वृक्षविशेषः, स च दीर्घ-
स्कन्धो जवति । ततस्तालवज्जङ्घे यस्य तत्तथा । (दिच गयाहिं
बाहाहिं ति) आकाशप्रासाभ्यामतिदीर्घाभ्यां भुजाभ्यां युक्तमि-
त्यर्थः । (मसिमुसगमादिसकावग ति) मषी कज्जल, मूषक उ-
न्धुरविशेषः । अथवा मषीप्रधाना मूषा ताम्रादिधातुप्रतापनजाज-
नं मषीमूषा, महिषश्च प्रतीत एव । तद्वत्कालक यत्तत्तथा (म-
रियमेहवण ति) जलद्रुतमेघवर्णमित्यर्थः । तथा दम्भोष्टम्,
[निगायगदत सि] निर्गतानि मुख्यादग्राणि येषां ते तथा, नि-
गसाग्रा दन्ता यस्य तत्तथा । [निह्मालियजमलजुयलजीह ति]
निर्लोहित विवृतमुखान्निस्सारित यमल सम युगल द्वय जि-
ह्वोर्येन तत्तथा । [आऊसियवयणगडदेस ति] " आऊ-
सिय सि, आपूसिय सि वा " प्रविष्टौ वदने गण्डदेशौ क-
पोवप्रागौ यस्य तत्तथा । [चीणचिचिमनासिय ति] चीना
हस्ता, चिपिटा च निम्ना, नासिका यस्य तत्तथा । [विगाय-
जुगजमुहिं ति] विकृते विकारवत्यौ, जुग्ने, जग्ने इत्यर्थः । पा-
उन्तरेण-भुग्नजग्ने अतीववक्त्रे भुवौ यस्य तत्तथा । [खज्जोय-
गठितचक्कुराग ति] खद्योतको ज्योतिरिक्कणः, तच्छीतश्चक्षू-
रागो लोचनरक्तव्य यस्य स तथा । उद्गासनक भयङ्करम् । वि-
शालवक्त्रो विस्तीर्णो रस्यम, विशालकुक्षि विस्तीर्णो रददेशम् ।
एव प्रलम्बकुक्षि [पहासियपयलियपमिचडियगत्ति ति] प्रहसिता-
नि प्रहसितुमारब्धानि, प्रचक्षितानि च स्वरूपात्, प्रवक्षिकानि वा
प्रजानवर्तीकानि, प्रपतितानि च प्रकर्षेण श्लथीभूतानि, गा-
त्राणि यस्य तत्तथा । वाचनान्तरे-" विगायजुगमभुयपहानि-
यपयलियपडियकुलिगखज्जोयदि चक्कुराग सि " पाठ । तत्र

विकृते घृणे भुवौ प्रहसिते प्रचलिते प्रपतिते च यस्य स्फु-
लिङ्गवत् खद्योतकवच्च दीप्तश्चक्षुरागच्छ यस्य तत्तथा । “ पण-
चचमाणं ” इत्यादि विशेषणपञ्चकं प्रतीतम् । (नीलुप्पलेत्या-
दि) गवल महिषशृङ्गम् । अतस्ती मातृवकदेशप्रासिद्धो धान्य-
विशेषः । [खुरहार ति] खुरस्येव धारा यस्य स तथा तम-
सि, खड्ग, खुरो ह्यतितीक्ष्णधारो भवति, अन्यथा केशानाममु-
रुनादिति क्रुरेणोपमा खड्गधरायाः कृतेति । अभिमुखमाप-
तपश्यन्ति । सर्वेऽपि सांयात्रिकाः, तत्रार्हजकवर्जा यत्कुर्वन्ति
तद्दर्शयितुमुक्तमेव पिशाचस्वरूप सविशेषम् । तेषां तद्दर्शनचानु-
वदन्निदमाह— [तप णमित्यादि] ततस्ते अर्हजकवर्जाः सा-
यात्रिकाः पिशाचरूप वक्ष्यमाणविशेषण पश्यन्ति, दृष्ट्वा च यद्-
नामिन्दादीनां बहून्युपयाचिनश्तान्युपचिन्वन्तस्तिष्ठन्तीति स-
मुदायार्थः । अथवा—“तप ण ते अरहजगवज्जा” इत्यादि गमान्त-
रम् “आगासे देवयाओ नच्चति ” इतोऽनन्तर दृष्टव्यम् । अत
एव वाचनान्तरे नेदमुपलभ्यते । उपलभ्यते चैवम्—“अभिमुहं
आवयमाण पासति, तप ण ते अरहजगवज्जा नावावाणियगा
भीया ” इत्यादि । [तत्र तालपिसाय ति] तालवृक्षाकारोऽति-
दीर्घत्वेन पिशाचस्तालपिशाचः, तम् । विशेषणद्वय प्रागिव ।
[फुट्टसिर ति] स्फुटितमवन्धनत्वेन विकीर्णं शिर इति शि-
रोजातत्वात्केशा यस्य स तथा तम् । भ्रमरनिकरवत् घरमाष-
राशिवत् महिषवच्च कावको यः स तथा तम्, भृतमेघवर्णम्,
तथैव शूर्पमिव धान्यशोधकजानविशेषवक्षसा यस्य स श-
र्पनखस्तम् । फालसदृशजिह्वमिति—फालं द्विपञ्चाशत्पलप्रमा-
णद्वयोर्मयो द्रव्यविशेषः, तच्च वद्विप्रतापितमिह ग्राह्यम्, तत्सा-
धर्म्यं चेह जिह्वाया वर्णदीप्तिदीर्घत्वादिभिरिति । लम्बोष्ठ प्रती-
तम् । धवलानिर्वृत्तानिरन्तरिष्ठामिर्विशरत्वेन तीक्ष्णाभिः, स्थि-
राभिर्निश्चलत्वेन, पीनाभिरुपचितत्वेन, कुट्टिन्नाजिश्च वक्रतया,
दण्डभिरवगूढ व्याप्तु वदन यस्य स तथा, तम् । विकोशितस्या-
पनीतकोशकस्य, निरावरणस्येत्यर्थः । धारास्योर्ध्वारप्रधानख-
ड्गयोर्यद् युगल द्वितय तेन समसदृशावन्यन्ततुल्ये तनुके प्रत-
ले, चञ्चल, विमुक्तस्यैर्य वथाभवत्यविश्रममित्यर्थः । गलन्त्यौ
रसातिवैल्याद् बालां विमुञ्चन्त्यौ रसलोक्षे नृह्यरसवम्पटे
चपले चञ्चले फुरफुरायमाणे प्रकम्पे निर्वालिते मुक्ताक्षिष्काशिते
अग्रजिह्वे जिह्वग्रे इत्यर्थः, येन स तथा, तम् । (अवत्थिय
ति) प्रसारितमित्येके । अन्ये तु यकारस्याबुसत्वात् ‘अवत्थिय-
य’ प्रसारितमुखत्वेन दृष्ट दृश्यमानमित्याहुः । (महद्व ति) महद्
विकृत वीमत्स लालाभिः प्रगलत् रक्तचतालु काकुद् यस्य स
तथा तम् । तथा हिङ्गुवकेन वर्णकद्रव्यविशेषेण सगर्भकन्दर-
क्षण विहं यस्य स तथा, तमिव । (अजणगिरिस्स ति) विभ-
क्तिविपरिणामादज्जनगिरिं कुण्णवर्णपर्वतविशेषम् । अथवा
‘अवत्थियेत्यादि’ ‘हिङ्गुलयेत्यादि’ च कम्मधारबेणैव वक्ष्यमा-
णवदनपदस्य विशेषण कार्यम् । यस्य तमित्येवरूपश्च वाक्यशेषो
दृष्टव्यः । तथा अग्निज्वाला उज्जिरद्वदन यस्य स तथा तम् ।
(आरसिय ति) सकुचित यदङ्गचर्म जलापकर्षणकोशस्तद्वत् ।
(वड्ढ ति) अपरुष्टानपकर्षवन्तौ संकुचितौ गण्डदेशौ यस्य स
तथा, तम् । अन्ये त्वाहुः—आचूषितानि सकुचितानि अक्षाणी-
न्द्रियाणि चर्म च ओष्ठौ च गण्डदेशौ च यस्य स तथा तम् ।
र्वी ना हुम्वा (चिविम ति) चिपिटा निम्ना ‘वका’ वक्रा भग्नेव
जम्भा, अयोधनकुट्टितेवेत्यर्थः, नासिका यस्य स तथा, तम् ।
रापादागतः (धमधमत ति) प्रवहतया धमधमेति शब्द कुर्वाणो

मारुतो वायुर्निष्ठुरो निर्भरः, खरपरुणोऽयन्तकर्कशः, द्युधि-
रयोरन्ध्रयोर्यत्र तत्तथा । तदेवविधमवच्युप्तं च धर्मं नासिका-
पुट यस्य स तथा तम् । इह च पदानामन्यथानिपातः प्राकृत-
त्वादिति । घाताय पुरुषादिवधाय, घाटाभ्यां वा मस्तकावयध-
विशेषाभ्याम्, उद्गट विकराल रचितम्, अत एव भीषण मुख
यस्य स तथा, तम् । कर्णमुखे कर्णशङ्कुत्वौ कर्णावयवौ ययो-
स्तौ तथा तौ च महान्ति दीर्घाणि विकृतानि होमानि ययोस्तौ
तथा तौ च (सखालग ति) शङ्खवन्तौ च शङ्खयोरक्षिप्रत्यास-
त्रावयवविशेषयोरालम्बौ संयद्धावित्येके, लम्बमानौ च प्रलम्बौ,
चलितौ च चलन्तौ कर्णौ यस्य स तथा, तम् । पिङ्गले कपिले
दीप्यमाने ज्ञास्यरे होचने यस्य स तथा तम् । भृकुटिः कोप-
कृतभ्रूविकारः, सैव तमिद्विद्युद्यस्मिस्तत्तथा, तथाविधम् । पाठा-
न्तरेण—भृकुटित कृन्तुकुटिल लघाट यस्य स तथा, तम् । नर-
शिरोमालया परिणुक्तं वेष्टितं चिह्नं पिशाचकेतुर्यस्य स तथा,
तम् । अथवा—नरशिरोमालया यत्परिणुक्तं परिणहन तदेव चिह्नं
यस्य स तथा तम् । विचित्रैर्धुविधैर्गोनसैः सरीसृपविशेषैः
सुयद्धः परिकर सन्नाहो येन स तथा तम् । (अवहोहत ति)
अवघोषयन्तो डोलायमानाः, [पुण्डुयत ति] फूत्कुर्वन्तो ये सर्पा
वृश्चिका गोघ्रा चन्द्रा नकुलाः सरटाश्च तैर्विरचिता विचित्रा वि-
विधरूपवती वैकक्षेणोत्तरासङ्गेन मर्कटवन्धेन स्कन्धधम्वनमा-
प्रतया वा मालिका माला यस्य स तथा तम् । जोगः फणः
स क्रूरो रौद्रो ययोस्तौ, तथा तौ च कृष्णसर्पौ च तौ च तौ धमध-
मायमानौ च तावेव लम्बमानौ कर्णपूरौ कर्णाग्रविशेषौ य-
स्य स तथा तम् । मार्जारशृगालौ बगितौ नियोजितौ स्कन्ध-
योर्येन स तथा तम् । दीप्त दीप्तस्वर यथा भवत्येव (पुण्डुयत
ति) घूत्कारशब्द कुर्वाणो यो घूकः कौशिकः स हतो विहितः
(कुजल ति) शेखरकः शिरसि येन स तथा तम् । घण्टाना र-
वः शब्दस्तेन भीमो यः स तथा स चासौ जयकरश्चेति, त, का-
तरजनाना इदं स्फोटयति यः स तथा, तम् । दीप्तमदृष्टास
घण्टारवेण भीमादिविशेषणविशिष्ट विमुञ्चन्तं वसारुधि-
रपूयमांसमद्वैर्मलिना (पोच्छल ति) विलीना च तनु शरीर य-
स्य स तथा तम्; उत्रासनक विशालवक्रसं च प्रतीते । (पेच्छत
ति) प्रेक्ष्यमाणा दृश्यमाना, अभिन्ना अखण्डा नखाश्च मुख च
नयने च कर्णौ च यस्यां सा तथा, सा चासौ वरव्याघ्रस्य चित्रा
कर्तुं रा कृत्तिश्च चर्ममिति सा तथा, सैव निवसनं परिधानं य-
स्य स तथा तम् । मरस रुधिरप्रधानं यज्ञजचर्मं तद्वितत वि-
स्तारित यत्र तत्तथा । तदेवविध (ऊसाविय ति) उच्छिन्नतमूर्त्ति-
कृन्त वाहुयुगलं येन स तथा तम् । तामिश्च तथाविधाभिः, ख-
रपरुषा अतिकर्कशाः, अस्तिग्धा स्नेहविहीनाः, रीसा ज्वल-
न्त्यभ्योपतापहेतुत्वात् । अनिष्टा अनभिज्ञापाविषयभूताः, अ-
शुजा स्वरूपेण, अप्रिया अप्रीतिकरत्वेन, अक्रान्ताश्च विस्वर-
त्वेन यावाचस्तान्निष्ठस्तान् कुर्वाण प्रस्यन्त तर्जयन्त वा प-
श्यन्ति स्म । पुनस्तालपिशाचरूपं (एज्जमाण ति) नाव प्रत्यागच्छ-
न्त पश्यन्ति । (समतुरगेमाण ति) अत्रिष्ठयन्तः—स्कन्दः कार्त्तिके-
यः, रुद्रः प्रतीतः, शिवो महादेवः, वैश्रवणो यक्षनायकः, नागो
भवनपतिविशेषः, भूतयक्षा ज्यन्तरभेदाः, आर्षा प्रशान्तरूपाः,
दुर्गा कोट्टक्रिया, सैव महिषारुद्ररूपा पूजाऽन्युपगमपूर्वकाणि प्रा-
र्थनानि उपयाचिनान्युपचिन्वन्ते । उपाचिन्वन्तो बिभ्रधतस्तिष्ठ-
न्ति स्मेति । अर्हजकवर्जानामियमितिकस्येत्येताका । अथुनाऽर्ह-
जकस्य तामाह—“ तप णमित्यादि ” । (अपत्थियपत्थिय

सि) अप्रार्थित यत्केनापि न प्रार्थ्यते तत्प्रार्थयति स्म यः स तथा, तदामन्त्रणम् । पाठान्तरेण-अप्रस्थित सन् यः प्रस्थित इव मूर्धुरित्यर्थः, स तथोच्यते, तदामन्त्रणम्-हे अप्रस्थितप्रस्थित !, यावत्करणात् (दुरतपतलक्षणं सि) दुरन्तानि दुष्टपर्यन्तानि प्रान्तान्यपसदानि लक्षणानि यस्य स तथा, तस्यामन्त्रणम् । (हीणपुष्पचाणहसी इति) हीना असमग्रा पुण्या पवित्रा चतुर्दशी तिथिर्यस्य जन्मनि स तथा । चतुर्दशीजातो हि किञ्च ज्ञायमानो भवतीति । आक्रोशे तदभावो दर्शित इति । “ सिरिहिरिधीकांसेवज्जिय ति ” प्रतीतम् । (तवसीलव्वपत्यादि) तपः, शीलव्रतान्यगु-
व्रतानि, गुणा गुणव्रतानि, विरमणानि रागादिविरतिप्रकारा, प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि, पोषधोपवासोऽष्टादि-
कादिषु, पर्वदिनेषूपवसनमाहारशरीरसत्काराग्रहव्यापारपरि-
चर्जनमित्यर्थः । एतेषां द्वन्द्वः । [चावित्तप सि] जङ्गकान्तर-
गृहीतान् भङ्गकान्तरेण कर्तुं, क्षोभयितुमेतानेव परिपालयामि ।
[क्षोभित्तप सि] क्षोभविषयान् कर्तुं, सङ्गृह्यितुं देशतः, प्रकुञ्चं स-
र्वत, ‘उज्जितुं’ सर्वस्यादेशविरतेस्त्यागेन परित्यक्तुं, सम्यक्त्व-
स्यापि त्यागत इति । [दोहिं अगुलयाहि ति] अहुष्टकनर्जनी-
ज्याम्, अथवा-तर्जनीमध्वमाभ्यमिति । [सत्तल्लप्पमाणमे-
साह ति] तत्रो हस्ततालाभिधानो वाऽतिदीर्घो वृक्षविशेष, स एव प्रमाण मान तल्लप्रमाणं, सप्ताष्टौ वा सप्ताष्टानि तल्लप्रमा-
णानि परिमाण येषां ते सप्ताष्टतल्लप्रमाणमात्रा, तान् गगनमा-
गान् यावदिति गम्यते । [उच्च वेहास ति] उर्ध्वं विहायसि गगने । [उव्विहामि सि] नयामि, [जेणं तुमं ति] येन त्वं
[अट्टुदुहड्वसट्टे सि] आर्तस्य ध्यानविशेषस्य यो [दुहड्व सि] दुर्बलः दुःस्थगो दुर्निरोधो, वशः पारतन्त्र्य, तेन हतः पीडितः, आर्तदुष्टद्वयशतैः । किमुक्तं जवति ?-असमाधिप्राप्तः । [ववरोवि-
ज्जसि सि] व्यपरोपयिष्यसे अपेती भविष्यसीत्यर्थः । [चावित्त-
प सि] इह चलनमन्यधात्रावत्त्व, कथम् ? [क्षोभित्तप सि] क्षोभयितुं सशयोत्पादनतः, तथा [विपरिणामित्तप सि] विपरिणामयितुं विपरीताध्यवसायोत्पादनत इति । ‘ संते ’ इति यावत्करणात् । ‘ तते परितते ’ इति द्रष्टव्यम् । तत्र श्रान्तः शान्तो वा मनसा, तान्तः कायेन खेदवान्, परितान्तः सर्वतः खिन्नः, निर्विष्यस्तस्मादुपसर्गकरणादुपरतः । [लद्धेत्यादि] तत्र हन्त्रा उपार्जनतः, प्राप्ता तत्प्राप्तेः, अजिसमन्वागता सम्यगासेवन-
तः [आइक्खइ इत्यादि] आख्याति सामान्येन, ज्ञापते विशेष-
तः । एतदेव द्वय क्रमेण पर्यायशब्दाभ्यामुच्यते-प्रज्ञापयति, प्ररूपयति । “ देवेण वा दाणवेण वा ” इत्यादाविदं द्रष्टव्यम् । अपर-
र-“ किंनरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गधव्वेण व सि ” तत्र देवो वैमानिको, ज्योतिष्को वा । दानवो भवनपतिः, श्रेष्ठा व्यन्तरभेदाः, ‘ नो सद्धहामीत्यादि ’ न अद्वये प्रत्ययं न करोमि । [नो पत्तियामि सि] तत्र प्रीतिक प्रीतिं न करोमि, [नो रोचयामि] अस्माकमप्येवभूता गुणप्राप्तिर्भवत्वेव न रुचिविष-
यीकरोमीति [पियधम्मं सि] धर्मप्रियो, दृढधर्मा आपद्यापि ध-
र्मादविचलः, यावत्करणादृष्ट्यादिपदानि दृष्ट्यानि । तत्र [इत्ति-
सि] गुणर्द्धः, द्युतिरान्तरं तेजः, यशः ख्याति, बलं शरीर, वीर्यं जीवप्रभवम्, पुरुषकारोऽजिमानविशेषः, पराक्रमः स एव नि-
ष्पादितस्वविषयः, लब्धादिपदानि तथैव । [उस्सुक्कं विरयेह सि]
बुद्धाभावमनुजानातीत्यर्थः । ज्ञा० न अ० । स्था० ।

अरहमित्त-अर्हन्मित्र-पु० । अर्हन्तल्लघुभ्रातरि, यस्मिन्नासक-
१६१

या त्रातृजाययाऽर्हन्तो मारितः । ग० २ अधि० । [अस्य क-
था ‘ अरहस्य ’ शब्द एवोक्ता] द्वावतीवास्तव्ये कृणत्वे वै-
द्योपदिष्ट मांसं निर्वन्धेऽप्यस्वादितवत्या अनुकुर्या पत्यौ, आ०
चु० ४ अ० । आव० । [‘ अत्तदोसोवसहार ’ शब्देऽस्मिन्नेव
प्रागे ५०३ पृष्ठेऽस्य कथा समुक्ता]

अरह्या-अर्हता-स्त्री० । तीर्थकरत्वे, पञ्चा० न विष० ।

अरहस्सधारक-अरहस्यधारक-पुं० । नास्ति अपर (रहस्य)रह-
स्यान्तर यस्मात्तदरहस्यम् । अत एव रहस्यं छेदशास्त्रार्थतत्त्व-
मित्यर्थः । तद्यो धारयति अपात्रेभ्यो न प्रयच्छति सोऽरहस्यधा-
रकः । योग्यायैव छेदसूत्रदायके, वृ० ६ उ० ।

अरहस्सभाणि (ण्)-अरहस्यजागिन्-पु० । रहस्यस्य प्र-
कृतस्याभावोऽरहस्यं, तद् भजते इत्यरहस्यभागी । अर्हति,
स्था० ए० ग० । कल्प० ।

अरहस्सर-अरहःस्वर-त्रि० । अप्रकटस्वरे महाशब्दे, सूत्र० १
श्रु० ५ अ० १ उ० । बृहदाकन्दशब्दे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अराइ-अराति-पु० । व्याधौ, आ० म० द्वि० । आचा० । विशेषः ।
आ० क० । शत्रौ, वाच० ।

अरि-अरि-पु० । द्विषत्प्रत्ययिरेपुपर्यायः । निर्दये रिपौ, त० ।
सामान्यतः शत्रौ, जं० २ वक्त्र० । ज्ञा० । जी० । आ० म० ।
आव० । जन्मान्तरवैरिणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । रथाङ्गे
चक्रे, विद्वद्दिरे, वदसु कामादिषु, वाच० ।

अरिजय-अरिञ्जय-पु० । श्रीऋषभदेवस्य द्वाशीतितमे पुत्रे,
कल्प० ७ क० ।

अरिउव्वग-अरिषम्वर्ग-पु० । षष्ठां वर्गः समुदायः षड्वर्गः ।
अरीणां षड्वर्गः । वाच० । कामक्रोधलोभमानमोहमदाख्ये आ-
न्तरशत्रुषट्के, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । तथा अरयः शत्र-
वस्तेषां षड्वर्गः, अयुक्तिः प्रयुक्ताः कामक्रोधलोभमानमदहर्षा-
यनस्ते शिष्टगृहस्थानामन्तरङ्गारिकार्यं कुर्वन्ति । तत्र परपरि-
गृहीतास्वनूढासु वा स्त्रीषु दुरभिसन्धिः काम, अविचार्य पर-
स्याऽऽत्मनो वाऽपायहेतुरन्तर्बहिर्वा स्फुरणाऽऽत्मा क्रोधः, दानार्हेषु
स्वधनाप्रदानम्-अकारणपरधनग्रहणं च लोभः, दुरजिनिवेशारो-
हो युक्कोचाग्रहणं वा मानः, कुलबलैश्वर्यविद्यारूपादिजिरहङ्कार-
करणः परप्रधर्षनिबन्धनं वा मदः, निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पाद-
नेन स्वस्य द्यूतपापद्वार्यजन्यसन्धयेण वा मनःप्रमोदो हर्षः,
ततोऽस्यारिषम्वर्गस्य त्यजनमनासेवनम्, एतेषां च त्यजनीयत्व-
मपायहेतुत्वात् । यदाह-“ राएरुक्क्यो नाम जोजः कामाद्
ब्राह्मणकन्यामजिमन्यमानः सवन्धुराष्ट्रो विननाशः करालश्च वै-
देह ॥१॥ क्रोधाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्तः, तावजङ्गश्च भृगु
षु ॥२॥ लोभादैवश्चातुर्धर्षमभ्याहारायमाणः, सौवीरश्चाजविन्दुः
॥३॥ मानाद्भावणः परदारान् प्रार्थयन्, दुर्योधनो राज्यादश च ॥४॥
मदादम्भोद्भवो चूतावमानी, हैहयश्चाज्जेनः ॥५॥ हर्षाद्वातापिरग-
स्त्यमभ्यासादयन्, वृष्णिषत्तु द्वैपायनमिति ॥६॥ ध० १ अधि० ।

अरिउ-अरिउ-पुं० । रिष्-हिंसायाम्-क । न० त० । लशु-
मे, वाच० । पिचुमन्दे, प्रज्ञा० १ पद । काके, फलविशेषे
च । औ० । रुचकद्वीपस्थे रुचकपर्वतस्य पौरस्त्ये पञ्चमे कूटे,
द्वि० । पञ्चदशस्य तीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स० । अप्रशस्ते, आ०

ख० २ अ० । वृषजामुदे, कङ्कपाक्षिणि, कङ्के [रीग] इति
ख्याते फेनिलफलकवृक्षे च । पु० । अश्वजे मरणचिह्ने, तत्रो,
चक्षुर्जने, सृष्टिकागारे, मध्ये च । न० । वाच० । ल० प्र० ।

अरिहकुमार--अरिहकुमार--पु० । कौमार्ये वर्त्तमानेऽरिहनेमौ,
" भृशमरिहकुमार ! विचारय " कल्प० ७ क० ।

अरिहनेमि--अरिहनेमि--पु० । [धर्मचक्रस्य नेमिवनेमिः, गर्भ-
स्थे माताऽरिहरत्नमयनेमेकपतनदर्शनादरिहनेमिः] अवसर्पि-
ण्यां भरतक्षेत्रजे द्वाविंशे तीर्थकरे, अनु० । धर्मचक्रस्य नेमिव-
नेमिः । ' सन्ने धम्मचक्रस्स नेमीज्जुयं सि सामन्नं; विसेसो ग-
भगते तस्स मायाए अरिहरयणमयो [महति] मढास्यो नेमी
उप्पिज्जमाणो सुमिणे दिठो सि तेण सोऽरिहनेमि सि' । आव०
२ अ० । आ० च० ॥

अथारिहनेमिचरितम्—

तेणं कालेणं तेणं समणं अरहा अरिहनेमी पंच चित्ते
होत्था । तं जहा—चित्ताहिं चुए, चइत्ता गम्भं वक्कते, त-
हेव उक्खेवो० जाव चित्ताहिं परिनिव्वुए ॥ १७० ॥

[तेण कालेणं इत्यादि] तस्मिन्काले तस्मिन् समये अर्ह-
नेमे पञ्च-कल्याणकानि चित्रायामभवन् । तद्यथा-चित्रायां
व्युत्तः, व्युत्त्वा गर्भे उत्पन्नः, तथैव चित्राभिज्ञापेन पूर्वोक्तपाठो
वक्तव्य इत्यर्थः । अथ चित्रायां निर्वाणं प्राप्तः ॥ १७० ॥

अथारिहनेमेऽव्यवनम्—

तेणं कालेणं तेणं समणं अरहा अरिहनेमी, जे से वा-
साणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कच्चिअवहुले, तस्स एं
कच्चियवहुलस्स बारसीदिवसेणं अपराजिआओ महावि-
माणाओ वत्तीसं सागरोवमड्डिआओ अणंतरं चयं चइ-
त्ता इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे सोरियपुरे नगरे स-
मुद्विजयस्स रत्ने भारिआए सिवाए देवीए पुव्वरत्ता-
वरत्तकालसमयंसि जाव चित्ताहिं गज्जत्ताए वक्कते स-
व्वं तहेव सुमिणदधणद्विणसंहरणाइअं एत्थ जाणि-
यव्वं ॥ १७१ ॥

(तेण कालेणं इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्ह-
नेमिः, योऽसौ वर्षाकालस्य चतुर्थो मासः सप्तमः पक्षः
कार्तिकस्य बहुलपक्षः, तस्य कार्तिकबहुलस्य द्वादशीदिवसे अ-
पराजितनामकाद् महाविमानाद् द्वाविंशत्सागरोपमाणि स्थि-
तिर्यत्र ईदृशात्-अनन्तरं व्यवनं कृत्वा अस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे
द्वीपे भरतक्षेत्रे सौर्यपुरे नगरे समुद्रविजयस्य राज्ञः मायायाः
शिवाया देव्याः कुक्षौ पूर्वापररात्रसमये मध्यरात्रौ यावत्
चित्रायां गर्भतया उत्पन्नः सर्वं तथैव स्वप्नदर्शनव्यसहरणा-
दिवर्णनमत्र प्रणितव्यम् ॥ १७१ ॥

अथ भगवतो जन्म, अपरिणयनं च—

तेणं कालेणं तेणं समणं अरहा अरिहनेमी, जे से
वासाणं पढमे मासे दुत्थे पक्खे सावणसुद्धे, तस्स एं
मावणसुद्धस्स पंचमीदिवसेणं नवएहं मासाणं बहुपमिपुत्ताणं
जाव चित्ताहिं नक्खत्तेणं चंदजोगमुवाएण आरोगाऽऽ-
रोगं दारय पयाया, जम्मणं समुद्विजयाजिज्ञावेणं नेयव्वं०

जाव तं होऊणं कुमारे अरिहनेमी नामेणं ॥

(तेण कालेणं इत्यादि) तस्मिन्काले तस्मिन्समये अर्ह-
नेमिः, योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासः, द्वितीयः पक्षः
श्रावणशुद्धः, तस्य श्रावणशुद्धस्य पञ्चमीदिवसे नवसु मासेषु
बहुपरिपूर्णेषु सत्सु यावच्चित्रानक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति अ-
रोगा शिवा अरोग दारक प्रजाता । जन्मोत्सवः समुद्रविजया-
भिधानेन ज्ञातव्यः, यावत् तस्माद्भवतु कुमारोऽरिहनेमिर्नास्ति
कृत्वा, यस्माद् भगवति गर्भस्थे माताऽरिहरत्नमय नेमि चक्र-
धारां स्वप्नेऽप्राप्नोति, ततोऽरिहनेमिः, अकारस्य अमङ्गल-
परिहारार्थत्वाच्च अरिहनेमिरिति । रिष्टशब्दो हि अमङ्गलधा-
र्त्तः । कुमारस्तु अपरिणीतत्वात् । कल्प० ७ क० । उक्त० ।

अपरिणयनं तु एवम्-एकदा यौवनाजिमुख नेमिं निरीक्ष्य
शिवा देवी समवदत्-‘वत्स ! अनुमन्यस्व पाणिग्रहणं, पूर्य
व्यास्मन्मनोरथम् । स्वामी तु योग्यां कन्यां प्राप्य परिणेष्यामीति
प्रत्युत्तरं ददौ । ततः पुनरेकदा कौतुकराहितोऽपि जगवान्
मित्रप्रेरितः सक्रीडमानः कृष्णायुधशालायामुपागमत् । तत्र कौतु-
कोत्सुकैर्मित्रैर्विहसतोऽह्वयमे कुलाक्षचक्रवच्चक्रं आमितवान्,
शार्ङ्गं धनुर्मुणालवन्नामितवान्, कौमोदकीं गदां यष्टिवज्रत्पादि-
तवान्, पाञ्चजन्यं शङ्खं च मुखे धृत्वा आपूरितवान् । तदा च-

“निर्मल्याऽऽज्ञानमूलं प्रजातिं गजगणं खण्डयन् वेश्ममालां,
धावन्त्युन्नोद्य बन्धान् सपदि हरिदया मन्दुरायाः प्रणष्टाः ।
शब्दाद्वैतं समस्तं वधिरितमजवत् तत्पुत्रं व्यग्रमुग्र,
भीनेमेवैकप्रपन्नप्रकटितपवनैः पूरिते पाञ्चजन्ये ” ॥ १ ॥

तं तादृशं च शब्दं निशम्योत्पन्नः कोऽपि वैरीति व्याकुलाचितः
केशवस्त्वरितमायुधशालायामागतः, दृष्ट्वा च नेमिं चकितो
निजमुज्ज्वलतुलनाय ‘आघात्र्यां बलपरीक्षा क्रियते’ इति
नेमिं वदस्तेन सह मध्वाकाटके जगाम । भीनेमिराद-

“अनुचितं ननु भूलुठनादिकं, सपदि बान्धवयुक्मिहावयोः ।
बलपरीक्षणकृद् भुजवासनं, भवतु नान्यरणं खलु युज्यते” ॥ १ ॥

आत्र्यां तथैव स्वीकृतम्—

“कृष्णप्रसारितं बाहुं, नेमिनैव्रततामिव ।

मृणालदण्डमवच्छिन्नं, वासयामास लीलया ” ॥ १ ॥

शास्त्रानिमे नेमिजिनस्य बाहौ, ततः स शास्त्रामृगवद्विभ्रमः ।
चक्रे निजं नाम हरिर्यथार्थं-मुद्यद्विषाद्विगुणासितास्य ” ॥ २ ॥
ततो महताऽपि पराक्रमेण नेमिमुजेऽवलिते सति विषमविषः
कृष्णो मम राज्यमेष सुखेन गृहीष्यतीति चिन्ताऽऽतुरः स्वचिह्ने
चिन्तयामास-

“क्लिश्यन्ते केवलं स्यूताः, सुधीस्तु फलमश्नुते ।
ममन्य शङ्करः सिन्धुः, रत्नान्यापुर्दिवौकसः ” ॥ १ ॥

अथवा-

“क्लिश्यन्ते केवलं स्यूताः, सुधीस्तु फलमश्नुते ।
दन्ता दलन्ति कष्टेन, जिह्वा गिलति ह्रीलया ” ॥ १ ॥

ततो बलमष्टेन सहाऽऽलोचयति-किं विधास्ये, नेमिस्तु राज्य-
विक्षुर्बलवाञ्छ ॥ तत आकाशवाणी प्रादुरभूत्-अहो हरे ! पुरा
नेमिनाथेन कथितमासीद्-यद्भुतं द्वाविंशस्तीर्थकरो नेमिनामा
कुमार एव प्रव्रजिष्यतीति श्रुत्वा निश्चिन्तो निश्चयार्थं नेमिना
सह जलक्रीडां कर्तुमन्त पुरीषरिवृत्तः सरोऽन्तरे प्रविष्टः । तत्र
च-“प्रणयतः परिगृह्य करे जिन, हरिरेवेश्यदाह्य सरोऽन्तरे ।

तदनु श्रमिमांशेन मेमेन, कनककटुजसैमुमुणापिमेः ॥ १ ॥
 तथा रश्मिर्जाग्रदगोपिका अपि ज्ञापितया, यदयं मेमेनि -
 शब्दं कथया पाणिप्रहामिमुगोकार्यः । ततश्च ता भवि-
 "कथं न वेदयत्तानोरोमैरैराज्योदयमे प्रभु,
 कथं न वेदयत्तानोरोमैरैराज्योदयमे प्रभु,
 कथं न वेदयत्तानोरोमैरैराज्योदयमे प्रभु,
 कथं न वेदयत्तानोरोमैरैराज्योदयमे प्रभु,
 कथं न वेदयत्तानोरोमैरैराज्योदयमे प्रभु, ॥ १ ॥

ततश्च-

"तावायः प्रमदा, सुगन्धिपयसा स्यर्षोदित्कीर्तिं,
 मृगा तज्जनिर्भरे पृथुरैः कर्तुं प्रभुं प्याकुलम् ।
 प्रायश्चित्तं मिथो हसन्ति सततं कीमोक्षसमानसा-
 इत्याद्योमनि देवगीरिति समुद्रता मृता चासिले ॥ २ ॥
 मृगाः च प्रमदा ! यतोऽमरगिरौ शीर्याणनाथेभ्यः-
 चक्षुषा योजनमानयककुहरेः कुम्भे, सदस्त्राधिके ।
 बाल्येऽपि स्वविनो य एव भगवात्प्राभून्मनागाकुलः,
 कर्तुं तस्य सुयत्नतोऽपि किमहो ! युष्माभिरीक्षिष्यते ?" ॥ ३ ॥
 ततो नेमिरपि हरिं तावत् सखा जलैराच्छादयति स्म, कमरा-
 पुष्पककुक्षेस्ताडयति स्म, इत्यादि सविस्तरं जसकीटां कृत्या
 तटमागत्य नेमिं स्वर्णासने निवेश्य सखा अपि गोप्य, परिवे-
 ह्य दियताः । तत्र रुक्मिणी जगौ-

"निराहंकातरतयोद्दहसे न यत्स्य,
 कन्यां तदेतदपिस्वार्तमेव नेमे । ।
 प्राप्ता तवास्ति विदितः सुतरां समर्थो,
 शक्तिरादुग्धितसहस्रपृष्ठिबोढा " ॥ १ ॥

तथा सत्यमामाऽप्युपाच-

"शूचनमुक्थजिनाः कल्पीडन,
 विदधिरे दधिरे च महीशताम् ।
 कुहजिरे विषयाश्च बहून् सुतान्,
 सुबुधिरे शिवमप्यथ हेभिरे ॥ २ ॥
 तमसि किन्तु नवोऽयं शिवगमी,
 मृगमरिहकुमार ! विचारय ।
 कलय देवर ! चारुहृदस्पतां,
 रक्षय बभ्रुमनःसु च सुस्थताम् ॥ ३ ॥
 मय जगाद् च जाम्बयती जयात्,
 शृङ्ग पुन हविशयित्पणम् ।
 न मुमिसुवततीधंपतिगृही,
 शिवमगादिह जातसुतोऽपि हि ॥ ४ ॥
 एतद्वर्तति समुपाच पिना यधूर्तो,
 शोभा न वाचन मरस्य भवत्यपश्यत् ।
 नो वेदयत्तानोरोमैरैराज्योदयमे प्रभु,
 विभासमेव विद एव भवेदभार्यः" ॥ ५ ॥

ततोऽपि किं देवा ! मृदक मयम् ॥ ७ ॥

मृदमणाऽप्युपाच-

"स्नानादिसर्वं द्वागिष्कियागां,
 विषयं प्रीतिरमाभिरामः ।
 विष्मन्तपात्रं विष्णुं सहायः,
 कोऽन्यो नयेन्नमृते प्रियाया" ॥ ८ ॥

सुर्वामाऽप्युपाच-

"पिना प्रियां को मृदमागतानां,
 प्राधूर्णकाणां मुनिमत्तमानाम् ।
 करोति पूजाप्रतिपत्तिमन्यः,
 कथं च शोभां समने मनुष्य ?" ॥ ९ ॥

एवमन्यासामपि गोपाङ्गनाना चाचोयुक्त्या यदुनामाप्रदा-
 मौनायसम्बितमपि स्मिताननं जिनं निर्दिष्ट्य, "यनिपिक्कमनुम-
 तम्" इति न्यायाद् नेमिना पाणिप्रहणं स्मृतिमिति ताभिर्बाह-
 मुदघोषितम्, तथैव जनोक्तिरिति । ततः कृष्णेनोपरेणपुत्री रा-
 जीमती मार्गिता, लग्नं पृष्ट, कोष्टिकनामा ज्योतिषिणः प्राह-

"यथासु शुनकार्याणि, नान्यान्यपि समाचरेत् ।

गृहिणां मुख्यकार्यस्य, विवाहस्य तु का कथा ? ॥ १ ॥

समुद्रस्त वभावेऽयं, कालक्षेपाऽत्र नादिति ।

नेमिः कथञ्चित् कृष्णेन, विवाहाय प्रयच्छित ॥ २ ॥

मा भूद्विषादप्रत्युहो, नेदीयस्तद्दिनं यद् ॥

आयणे मासि तेनोक्ता, ततः पृष्टी समुग्न्यता ॥ ३ ॥

चलितश्च धीनेमिकुमारः स्फारशृङ्गारः प्रजाममोदकरो रथा-
 रुढो धृताऽनपत्रसारः श्रीसमुद्रपिञ्जयारिदशाहकेशयश्चन्द्रा-
 दिविशिष्टपरिवारः शिवादेवीप्रमुखप्रमदाजंगीयमानधयसमङ्गल-
 विस्तरः पाणिप्रहणाय समतो गच्छन् चोदय सारथिं प्रति-
 कस्येद् हुतमङ्गलभर धयसमन्दिरम्, इति पृष्टवान् । ततः शोभ-
 न्प्रेण दर्शयन् इति जगाद्-"समसेननृपस्य तय भवशूरस्याय
 प्रासाद इति, इमे च तय भार्याया राज्ञीमत्याः सख्यौ च द्रान-
 ना-मृगलोचनाभिधाने मिथो वार्तयतः" । तत्र मृगलोचना वि-
 श्लोक्य चञ्चलानां प्राशङ्क-हे चन्द्रानने ! स्त्रीयगै एका राज्ञीमत्ये-
 य वर्णनीया, यस्या अयमेतादृशो वरः पार्थि प्रदीप्यति । चन्द्र-
 पदनाऽपि मृगलोचनामाह-

"राज्ञीमतीमद्वतरूपरस्यां, निर्माय धाताऽपि यदीदृशेन ॥

परेण नो योजयति प्रतिष्ठां, समेत विमानविशङ्करः वज्रम् ?" ॥ १ ॥

इतश्च तूर्यशब्दमाकर्ष्य मातृगृहाद् राज्ञीमतीं सखीमप्ये प्राप्ता
 हे सख्यौ ! भयनीयामेव स्मरन्मरमागच्छन्नापि परो विलोक्य-
 ते, महमापि विलोकार्थितुं न लभेयमिति बलात्तदन्तरे स्थित्या
 नेमिमातृलोक्य साक्षर्यं चिन्तयति स्म-

न वरे दूषणं तु दुग्धमध्यात् पूतरकर्षणप्रायमसम्भाव्यमेव ।
तदनु ताभ्यां सविनोदं कथितम्-भो राजीमति ! वरः प्रथम
गौरो विहोष्यते, अपरे गुणास्तु परिचये सति ज्ञायन्ते । तन्नौरत्वं
तु कज्जलानुकारमेवास्मिन् दृश्यते । राजीमती सेष्यै सख्यौ प्र-
त्याह-अथ यावत् युवां चतुरे इति मम भ्रमोऽभवत्, साम्प्रतं तु स
भग्नः । यत् सकलगुणकारण इयामत्र दूषणमपि दूषणतया
प्ररूपितम्, शृणुत तावत् सावधानीभूय भवत्यौ इयामत्रे इया-
मवस्त्वाश्रयणे च गुणान्, केवलगौरत्वे दोषोऽयम् । तथाहि-
“नू१ चित्तचलिते अगुरु ३, कत्पूरी ४ घण ५ कणीणिगा ६ केसा ७,
कसवट्ट ८ मसी ९ रयणी १०, कसिणा ११ अणुघफला ” ॥ १ ॥
इति कृष्णत्वे गुणाः ।

“कप्पूरे अगारो १, चदे चिंधं २ कणीणिगा णयणे ३ ।
चुजे मरिय ४ चित्ते, रेहा ५ कसिणा वि गुणहेतु ” ॥ २ ॥
इति कृष्णवस्त्वाश्रयणे गुणाः ।

“खार ववणं १ दहिण, हिमं च २ अङ्गोरविग्नहो रोगी ३ ।
परवसगुणो अचुषो, केवलगौरत्तये ऽवगुणा ” ॥ ४ ॥

एव परस्पर तासां जल्पे जायमाने श्रीनेमिः पशूनामार्त्तस्वर
श्रुत्वा साक्षेपम-हे सारथे ! कोऽयं दारुणः स्वरः ? सारथिः प्राह-
युष्माकं विवाहे भोजनकृते समुदायीकृतपशूनामयं स्वरः, इत्युक्ते
स्वामी चिन्तयति स्म । धिक्विवाहोत्सवं, यत्रानुत्सवोऽग्नीषां जी-
वानाम् । इतश्च-“ हल्ली सहिओ ! किं मे दाहिणं चक्खु
परिण्फुडडं ? ति ” वदन्ती राजीमती प्रति सख्यौ प्रतिहतम-
ङ्गलम्, इत्युक्त्वा थुथुत्कारं कुरुत । नेमिस्तु हे सारथे ! रथमितो
निवर्त्तय । अत्रान्तरे नेमिं पश्यन्नेको हरिणः स्वग्रीवया हरिणी-
ग्रीवा पिधाय स्थितः । “ अत्र कविघटना ”-स्वामिन निरीक्ष्य
हरिणो ब्रूते-

‘ मा पहरसु मा पहरसु, पयं महं हिययहारिणिं हरिणिं ।
सामी ! अम्हं मरणं, वि दुस्सहो पियतमाविरहो ” ॥ १ ॥

हरिणी नेमिमुखं निमात्य हरिणं प्रति ब्रूते-
“ एसो पसन्नवयणो, तिहुयणसामी अकारणं वधू ।
तविवरणवेसु वल्लह !, रक्खत्थं सव्वजीवाण ” ॥ २ ॥

हरिणोऽपि पत्नीप्रेरितो नेमिं ब्रूते-

“ निज्झरणनीरपाण, अरण्णनभक्खणं च वणवासो ।
अम्हाणं निरवराहा-णं जीवियं रक्ख रक्ख पदो ! ” ॥ ३ ॥

एव सर्वेऽपि पशवः स्वामिनं विज्ञपयन्ति । तावत्स्वामी वभाषे-
भो पशुरक्ताः ! मुञ्चन्तं मुञ्चन्तं इमान् पशून्, नाहं विवाहं क-
रिष्ये । पशुरक्ताः श्रीनेमिवचसा पशून्मुञ्चन्ति स्म । सारथिरपि
रथं निवर्त्तयति स्म । अत्र कविः-

“ हेतुरिन्दो कलङ्गे यो, विरहे रामसीतयोः ।
नेमे राजीमतीत्यागे, कुरङ्गं सत्यमेव स ” ॥ १ ॥ इति ।

समुद्रविजयशिवाविजयशिवादेवीप्रमुखाजनास्तु शीघ्रमेव
रथं स्वलयन्ति स्म । शिवा च सचाप्यं ब्रूते-

“ पत्थेमि जणणिबल्लह-वच्छ ! तुमं पढमपत्थणं किंपि ।
काऊणं पाणिगहणं, महं दसे निअवहुवयण ” ॥ १ ॥

नेमिराह-

“ मुञ्चाग्रहमिमं मानं !-मानुषीषु न मे मनः ।
मुक्तिस्त्रीसङ्गमोत्कण्ठ-मकुण्ठमवतिष्ठते ” ॥ १ ॥

यतः-

“ या रागिणि विरागिण्य-स्ताः स्त्रियः को निषेवते ? ।

अतोऽहं कामये मुक्तिं, या विरागिणि रागिणी ” ॥ १ ॥
इत्यादि ।

राजीमती-हा दैव ! किमुपस्थितमित्युक्त्वा मूर्ध्नि प्राप्ता, स-
खीभ्यां चन्दनचैराभ्यासिता कथमपि लब्धसङ्गा सचाप्यं
गाढस्वरेण प्राह-

“ हा जायवकुलदिणयर !, हा निरुवमनाण ! हा जगसरण ! ।
हा करुणायर ! सामी !, मं मुञ्चणं कहं चलिओ ? ” ॥ १ ॥
“ हा हिअयं धिठ ! निट्टुर !, अज्झ वि निल्लज्ज ! जीविअं वहसि ।
अज्झत्थं बरुराओ, जइ नाहो अत्तणो जाओ ” ॥ २ ॥

पुनर्निःश्वस्य सोपात्म्यं जगाद-

“ जइ सयलसिद्धं वृत्ता-इ मुत्तिगणिआइ धुत्त ! रत्तोऽसि ।
ता एव परिणयणा-रमेण विरुविआ किमहं ? ” ॥ ३ ॥

सख्यौ सरोपम-

“ लोअपसिद्धी वत्तमी, सहिए इक्कं सुणिज्ज ।
सरत्तं विरत्तं सामलं, चुक्किअं विहो करिज्ज ” ॥ १ ॥
पिम्मराहिअस्मि पिअसहि ! एअस्मि वि किं करोसि पिअभाव ?
पिम्मपरं किं पि वरं, अन्नयरं ते करिस्सामो ” ॥ २ ॥
राजीमती कणौ पिधाय हा ! अभाव्य किं आवयथः-
“ जइ कहं वि पच्छिमाए, उदयं पावेइ दिणयरो तइ वि ।
मुत्तूणं नेमिनाहं, करोमि नाहं वरं अन्न ” ॥ १ ॥

पुनरपि नेमिनं प्रति-

“ व्रतेऽनुरिच्छाधिकमेव दत्ते, त्वं यान्तेभ्यो गृहमागतेभ्यः ।
मयाऽर्थयन्त्या जगतामधीश !, हस्तोऽपि हस्तोपरि नैव लब्धः । २ ॥

अथ विरक्ता राजीमती प्राह-

“ जइ वि हु एअस्स करो, मज्झं करो नो आसि परिणयणे ।
तइ वि सिरे महं सुधिअं, दिक्खासमए करो होही ” ॥ ३ ॥
अथ नेमिनं सपरिकरः समुद्रविजयो जगौ-
“ नाजेवाद्याः कृतोद्वाहाः, मुक्तिं जग्मुर्जिनेश्वराः ।
ततोऽप्युच्चैः पदं ते स्यात्, कुमारव्रह्मचारिणः ” ॥ १ ॥
नेमिराह-हे तात ! कीणभोगकर्माऽहमास्मि । किञ्च-
“ एकस्त्रीसङ्गहेऽनन्त-जन्तुसघातघातके ।
जवतां जवतान्तेऽस्मिन्, विवाहे कोऽयमाग्रहः ? ” ॥ १ ॥

अत्र कविः-

“ मन्येऽङ्गनाविरक्तः, परिणयनमिषेण नेमिरागत्य ।
राजीमतीं पूर्वभव-प्रेम्णा समकेतयन्मुक्त्यै ” ॥ १ ॥

कुमारावस्थावासः-

अरहा अरिष्टनेमी दक्षेण जावतिभि वाससया-
इं कुमारे अगारवासमज्जे वसित्ता पुणरवि द्योतिपहिं
सव्वं तं चेव भाणियव्वं जाव दाण दाइयाण परि-
भाइत्ता ॥

अहं अरिष्टनेमि दक्षः, यावत् श्रीणि वर्षशतानि कुमारं सन्
गृहस्थावस्थामप्ये उषित्वा पुनरपि लोकान्तिकैरित्यादि सर्वं
तदेव पूर्वोक्तं भणितव्यम् । लोकान्तिका देवा यथा-“ जय नि-
जितकन्दर्प !, जन्तुजाताभयप्रद ! । नित्योत्सवावतारार्थं, नाथ !
तीर्थं प्रवर्त्तय ” ॥ १ ॥ इति स्वामिनं प्रोच्य स्वामी वार्षि-
कदानानन्तरं त्रिभुवनमानन्दयिष्यतीति समुद्रविजयादीन् प्रो-
त्साहयन्ति स्म । ततः सर्वेऽपि सन्तुष्टाः । दानविधिस्तु श्रीवी-
रवद् द्रष्टव्यः ॥ १७२ ॥ कल्प ७ अं ॥ २० ।

अथ निष्कमणस्-

जे से वासाणं पदमे मासे दुबे पक्खे सावणसुब्बे, तस्स
णं सावणसुदस्स उट्ठीपक्खेण पुब्बएहकावममयंसि उ-
त्तरकुराए सीयाए सदेवमणुआसुराए परिसाए समणुग-
म्ममाणे० जाव बारवईए मज्झं मज्जेणं निग्गच्छइ । निग्ग-
च्छइत्ता जेएव रेवयए उज्जाणे तेणेव उपागच्छइ । उ-
पागच्छइत्ता असोगवरपायवस्म अहे सीयं ठावेइ । ठावेइत्ता
सीयाओ पच्चोरुइ । पच्चोरुइत्ता सयमेव आभरणमद्वालं-
कारं ओमुयइ । ओमुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं त्थोयं करेइ । क-
रेइत्ता छट्ठेणं जत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जो-
गमुपागएणं एणं देवदूतमादाय एगेणं पुरिससहस्सेणं स-
द्धिं मुंढे भविता आगाराओ अणगारियं पव्वए ॥ १७१ ॥

(जे से वासाण पदमे इत्यादि) योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासो
द्वितीयः पक्क-आवणस्य शुक्ल पक्षः । तस्य धावणस्य षष्ठस्य षष्ठोदि-
वसे पूर्वाह्णकालसमये उत्तरकुरायां शिविकायां स्थितो देवम-
नुष्यासुरसहितया वर्षदा समनुगम्यमानो यावद् द्वारघट्या
नगर्यां मध्यभागे निर्गच्छति । निर्गत्य यत्रैव रैयतकमुधानं तत्रैव
उपागच्छति । उपागत्य अशोकनामवृक्षस्य अधस्तात् शिविकां
स्थापयति । सस्थाप्य शिविकात् प्रत्ययतरति । प्रत्ययतीर्य स्वयमे-
व आभरणमादालङ्कारान् अयमुञ्चति, अयमुच्य स्वयमेव पञ्चमी-
ष्टिकं लोच करोति । कृत्या च पृष्ठेन भक्तेन अपानकेन जलरहितेन
चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति एकं देवदूतं गृहीत्वा
एकेन पुरुषाणां सहस्रेण सार्द्धं मुण्णो त्वा प्रहरगाराणिष्क-
म्य साधुतां प्रतिपन्नः ॥ १७३ ॥ कल्प० ७ क० । स० ।

अथ केयलोत्पादः-

अरहा अरिष्टनेमी चउप्पन्नं राइंदियाइं निचं वोसट्ठकाए
तं चेव सव्वं० जाव पणपन्नगस्स राइंदिगस्स अंतरा वट्टमा-
णस्स जे से वासाणं तजे मासे पंचमे पक्खे आसोयवहु-
ले, तस्स णं आसोयवहुलस्म पन्नरसीपक्खेणं दिवसस्स
पच्चिमे जाए उज्जितसेत्तासिहरे वेयसस्स पायवस्स अहे
अट्टमेणं जत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोगमु-
वागएणं जाणतरियाए वट्टमाणस्स अणंते० जाव जाण-
माणे पासमाणे विहरइ ॥ १७४ ॥

(अरहा अरिष्टनेमी इत्यादि) अर्हन् अरिष्टनेमिः चतु-
ष्पञ्चाशत् अहोरात्रान् यावद् नित्यं ध्युत्सृष्टकायः तदेव-पूर्वोक्तं
सर्वं वाच्यं यावत् पञ्चपञ्चाशत्तमस्य अहोरात्रस्य अन्तरा
वर्तमानस्य योऽसौ वर्षाकालस्य तृतीयो मासः, पञ्चमः पक्षः-
आश्विनस्य कृष्णपक्षः, तस्य आश्विनघटुलस्य पञ्चदशे दि-
वसे दिवसस्य पश्चिमे भागे उज्जयन्तनामशैलस्य शिख-
रे वेतसनामवृक्षस्य अधस्तात् अष्टमेन भक्तेन अपानकेन ज-
लरहितेन चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति शुक्ल-
ध्यानस्य मध्यभागे वर्तमानस्य प्रज्ञोरनन्तं केवलज्ञानं स-
मुत्पन्नं यावत् सर्वज्ञावाद् जानन् पश्यश्च विहरति, तत्र
केवलज्ञानं रैयतकस्थे सहस्राग्रये समुत्पेदे, तत उद्यान-
पालको विष्णोर्व्यजिह्वपत् । विष्णुरपि महर्ष्यां प्रगव-
१६२

न्तं धन्विनुमाययौ । राजीमत्यपि तत्रागता । अथ प्रमोदेषा-
नां निशम्य वरदत्तनृपः सहस्रद्वयनृपयुतो व्रतमाददे । ह-
रिणा च राजीमत्याः स्नेहकारणे पृष्ठे प्रहृधनवतीजवादा-
रम्य तया सह स्वस्य नवभवसम्बन्धमाचष्टे । तथाहि-प्रथ-
मे भवेऽहं धननामा राजपुत्रः, तदेव धनवती नाम्नी म-
त्पत्नी अनूक् १ । ततो द्वितीये भवे प्रथमे देवलोके आवां
देवदेव्यौ २ । ततस्तृतीये भवेऽहं चित्रगतिनामा विद्याधरः,
तदेव रत्नवती मत्पत्नी ३ । ततश्चतुर्थे भवे चतुर्थे कल्पे द्वा-
वापि देवौ ४ । पञ्चमे भवेऽहं अपराजितराजा, एषा प्रिय-
तमा राज्ञी ५ । षष्ठे एकादशे कल्पे द्वावापि देवौ ६ । स-
प्तमेऽहं शङ्खो नाम राजा, एषा तु यशोमती राज्ञी ७ । अ-
ष्टमेऽपराजिते द्वावापि देवौ ८ । नवमेऽहमयम्, एषा राजीम-
ती ९ । ततः प्रचुरन्यत्र विद्वत्य क्रमात्पुनरपि रैवतके सम-
पासरत् । अनेकराजकन्यापरिवृता राजीमती तदा रथनेमि-
श्च प्रभुपाश्वे दीक्षां जगृहतु । अन्यदा च राजीमती प्रभुं न-
न्तु प्रतिमजन्ती मार्गे वृष्ट्या बाधिता । एकां च गुहां प्राविशत् ।
तस्यां च गुहायां पूर्वं प्रविष्ट रथनेमिमजानती सा क्लिन्नानि
घट्नाणि शोषयितुं परितश्चिक्षेप । ततश्च तामपहसितत्रिदश-
तरुणीरामणीयकां साक्षात् कामरमणीमिव रमणीयां तथा
धिवसानां निरीदयन् आनुर्वैरादिव मदनेन मर्मणि दतः कुलल-
ज्जामुत्सृज्य धीरतामवधीर्य रथनेमिस्तां जगाद-

"अयि ! सुन्दरि ! किं देहः, शोष्यते तपसा त्वया ? ।

सर्वाङ्गभोगसयोग-योग्य सौभाग्यशेवधिः ॥ १ ॥

आगच्छ स्वच्छया मदे ! कुर्वहे सफलं जनुः ॥

आवाभुभापयि प्रान्ते, चरिष्यावस्तपोविधिम् ॥ २ ॥

ततश्च महासती तदाकर्ण्य तं दृष्ट्वा च धृताद्भुतधैर्या तप्रत्युवाच-

'महानुभाव ! कोऽयं ते-ऽज्जिलापो नरकाध्वनि ।

सर्वं सायद्यमुत्सृज्य, पुनर्धाञ्छन्नं लज्जसे ॥ १ ॥

अगन्धनकृते जाता-स्तिर्यञ्चो ये नुजङ्गमाः ।

तेऽपि नो घान्तमिच्छन्ति, त्वं न च किं ततोऽप्यसि ? ॥ २ ॥

इत्यादिवाक्यैः प्रतियोधितः श्रीनेमिपाश्वं तद्दुःखीष्माहोच्य

तपस्तप्या मुक्तिं जगाम । राजीमत्यपि दीक्षामाराध्य शिवश-
प्यामारुढा, चिरप्रार्थितशाश्वतिकश्रीनेमिसंयोगमवाप । यदाह-

"छुल्लस्था घत्सर स्थित्वा, गेहे वर्षेचतु शतीम् ।

पञ्चवर्षशर्ती राजी, ययौ केवलिनी शिवम् ॥ १ ॥ १७४ ॥

(कृष्णाग्रमाहिणीप्रवाजनम् 'अगमदिक्षी' शब्देऽस्मिन्नेव जागे
१७४ पृष्ठे उक्तम्)

अथ गणादिसंपत्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स अट्टारस गणा

अट्टारस गणहरा हुत्था ॥ १७५ ॥

(अरहओ ण अरिष्टनेमिस्स सि) अर्हंतोऽरिष्टनेमेरष्टादश
गणाः, अष्टादश गणधराश्च अभवन् ॥ १७५ ॥ कल्प० ७ क० ।

अथ भ्रमणभ्रमणीसंपत्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स वरदत्तपामुक्खाओ अट्टारस
समाणसाहस्सीओ उक्कोसिया समाणसंपया हुत्था ॥ १७६ ॥(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्सेत्यादि) अर्हंतोऽरिष्टनेमेः वरदत्तप्र-
मुखाणि अष्टादश भ्रमणानां सहस्राणि, उत्कृष्टा यतावती भ्रम-
णसम्पदा अभवत् ॥ १७६ ॥

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स अज्जजक्खिणीपामुक्खाओ चत्तालीसं अज्जियासाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया संपया हुत्था ॥ १७७ ॥

(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमेः, आर्ययक्षिणीप्रमुखाणि चत्वारिंशत् आर्यासहस्राणि उत्कृष्टा एतावती आर्यासम्पदा अभवत् ॥ १७७ ॥ कल्प० ७ क० । स० । आ० घू० ।

अथ भ्रावकसप्त-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स नंदपामुक्खाणं समणोवासगाणं एगासयसाहस्सी अ ऊणत्तरिं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासगाणं संपया हुत्था ॥ १७८ ॥

(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः, नन्दप्रमुखाणां भ्रावकाणामेको लक्ष एकोनसप्ततिश्च सहस्राः, उत्कृष्टा एतावती भ्रावकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १७८ ॥

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स महासुवयापामुक्खाणं समणोवासियाणं तिनि सयसाहस्सीओ उक्कीसं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासयाणं संपया हुत्था ॥ १७९ ॥

(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमेः महासुवताप्रमुखाणां भ्राविकाणां त्रयो वक्त्राः षट्त्रिंशत्सहस्रा उत्कृष्टा एतावती भ्राविकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १७९ ॥

अथ चतुर्दशपूर्विणाम्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स चत्तारि सया चउदसपुव्वीणं अजिण्णणं जिणसंकासाणं जाव संपया हुत्था ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमेऽष्टवारि शतानि चतुर्दशपूर्विणाम्, अकेयलिनामपि केवलितुल्यानां यावत् सम्पदा अभवत् । कल्प० ७ क० ।

अथावधिज्ञान्यादि-

पन्नरससया ओहिनाणीणं पन्नरससया केवलनाणीणं पन्नरससया वेउव्वियाणं दससया विउलमईणं ॥

पञ्चदश शतानि अवधिज्ञानिनां सम्पदा अभवत्, पञ्चदश शतानि केवलज्ञानिनां संपदा अभवत्, पञ्चदश शतानि वैक्रियवृद्धिमतां संपदा अभवत्, दश शतानि विपुलमतीनां संपदा अभवत् । कल्प० ७ क० ।

" अरहो णं अरिष्टनेमिस्स अछसया वार्डणं सदेवमसुयासुराए परिसाए चाए अपराजियाण उक्कोसिया वाहसपया होत्था " । स्था० ८ ग० । स० ।

अनुत्तरोपपातिकानाम्-

सोलससया अणुत्तरोववाइयाणं, पन्नरस समणसया सिद्धा, तीसं अज्जियासयाइं सिद्धाइं ॥ १८० ॥

षोडशशतानि अनुत्तरोपपातिनां संपदा अभवत्, पञ्चदश भ्रमणानां शतानि सिद्धानि, त्रिंशत् आर्याशतानि सिद्धानि ॥ १८० ॥ कल्प० ७ क० ।

अथान्तकृद्भूमि-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स दुविहा अंतगरुजूमी हुत्था । तं जहा-जुगंतगडजूमी य, परियायतगडजूमी य० जाव अट्ट-माओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडजूमी, दुवासपरिआए अंतमकासी ॥ १८१ ॥

(अरहओ अरिष्टनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः द्विविधा अन्तकृद्भूम्या अजवत् । तद्यथा-युगान्तकृद्भूमिः, पर्यायान्तकृद्भूमिश्च । यावत्, इदमग्रे योज्यम्-अष्टम पुरुषयुग पट्टधरं युगान्तकृद्भूमिरासीत्, द्विवर्षपर्याये जाते कोऽपि अन्तमकार्य-त् ॥ १८१ ॥ कल्प० ७ क० । स्था० ।

अथ भगवत आयुः-

तेणं कालेणं तेणं समणं अरहा आरिष्टनेमी तिन्नि वाससयाइं कुमारवासमज्जे वसित्ता, चउप्पन्नं राइं-दियाइं उउमत्थपरिआयं पाउणिच्चा, देसणाइं सत्तवासस-याइं केवलिपरिआयं पाउणिच्चा, पडिण्णनाइं सत्तवासस-याइं सामन्नपरिआयं पाउणिच्चा, पणं वाससहस्सं सव्वा-उअं पालइच्चा, खीणे वेयणिज्जा उपनामगुत्ते इमीसे ओसप्पिणीए दूसमसुसमाए बहुविडकंताए, जे से गिम्हाणं चउत्ते मासे अछमे पक्खे आसादमुद्धे, तस्स णं आसाद-मुद्धस्स अट्टमीपक्खेणं उप्पि उज्जितसेलसिहरंसि पंचहिं उक्कीसेहिं अणगारसएहिं साह्मि मासिण्णं नत्तेणं अपाण-पणं चित्तानक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पुव्वरत्तावरत्तकादस-मयंसि नेसजिए कादगएणं जाव सव्वदुक्खपहीणे ॥ १८२ ॥

[तेणं कालेणं इत्यादि] तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्हन् अरिष्टनेमिः त्रीणि वर्षशतानि कुमारवस्थायां स्थित्वा चतुष्पञ्चाशदहोरात्रान् उग्रस्थपर्यायं प्राप्तयित्वा, किञ्चिदुनानि सप्तवर्षशतानि केवलिपर्यायं प्राप्तयित्वा, प्रतिपूर्णाणि सप्तवर्ष-शतानि चारित्रपर्यायं प्राप्तयित्वा, एकं वर्षसहस्रं सर्वायुः प्राप्त-यित्वा, क्षीणेषु सत्सु वेदनीयार्युर्नामगोत्रेषु कर्मसु अस्यामेव अवसर्पिण्यां दुष्पमसुषमनामके चतुर्थेऽरके बहुव्यातिक्रान्ते सति, योऽसौ उष्णकालस्य चतुर्थो मासः अष्टमः पक्षः-आषा-ढशुक्लः, तस्य आषाढशुक्लस्य अष्टमीदिवसे उपरि उज्जयन्तना-मशैलशिखरस्य पञ्चभिः षट्त्रिंशद्युतैरनगरशतैः साहस्रमासिकेन अनशनेन अपानकेन जलरहितेन, चित्रानकत्रे चन्द्रयोगमुपाग-ते सति पूर्वाषररात्रिसमये मध्यरात्रौ निषण्णः सन् कालगतः, यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः ॥ १८२ ॥ इति ॥ कल्प० ७ क० । स० ।

अथ नेमिनिर्वाणात् कियता कालेन (प्रकृत)

पुस्तकलिखनादि जातमित्याह-

अरहओ णं आरिष्टनेमिस्स कालगयस्स जाव सव्वदु-क्खप्पहीणस्स चउरासीइं वाससहस्साइं विडकंताइं पंचा-सीइमस्स वाससयस्स नववाससयाइं विडकंताइं दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे कादो गच्छइ ॥ १८३ ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमेः कालगतस्य यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणस्य चतु-रशीतिवर्षसहस्राणि व्यतिक्रान्तानि, पञ्चाशीतितमस्य वर्षसह-स्रस्यापि नव वर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि, दशमस्य च वर्षशतस्य अयं अशीतितम-संवत्सरः कालो गच्छति ॥ १८३ ॥ अनेमिनि-र्वाणात् चतुरशीत्या वर्षसहस्रैः अर्वादिनिर्वाणमभूत्, श्रीपार्श्व-निर्वाणं तु वर्षाणां त्र्यशीत्या सहस्रैः सार्द्धैः सप्तभिश्च शतैरभू-दिति सुधिया ज्ञेयम् । कल्प० ७ क० । ती० ।

अरिहनेमि

"उज्जतसेलसिद्धे, दिक्का नाण निसीदिया जस्स ।
तं धम्मचक्रवर्ति, अरिहनेमि नमस्सामि " ॥१॥ ध० २ अधि० ।
(अरिहनेमिना राजीमनीपरित्यागः, तथा प्रयोजितया कामा-
संरथनेमिप्रतिबोधः ' रहनेमि ' शब्दे वक्ष्यते)
अणहिलपट्टे पूज्यमाने श्रीअरिहनेमिदेवे, ती० ।

तत् कथा चेत्यम्-

पणमिय अरिहनेमिं, अणहिलपुरपट्टणावयंसस्स ।
बंजाणगच्छनिस्सिय-अरिहनेमिस्स किस्सिमो कप्पं ॥१॥

"पुणं किर सिरिकअज्जनयरे जक्को नाम मदद्धिसपपो नेगमो
होत्था । सो अज्जा याणिकज्जे मदया बहलसत्थेण कयाण-
गाणि गणेरुण कअज्जजपडिबक्क कअज्जाहिचसुआप मदण-
गाय कंजुलिभासबाधविष गुज्जरेस्स पडिअमो, आपासिमो अ ।
कमेण लक्खारामे सरस्सईतने पुण्वि अणहिल्लुवाइयपट्ट-
णनिवेसद्वाण कारित आसी । तथ सत्थं निवेसित्ता अत्थतस्स
तस्स नेगमस्स पपो वासारत्तो । वरिसिउ पयत्ता जलहरा ।
अज्जा भइयमासे सो बहलसत्थो सव्यो पि कथ पि गमो, को
वि न जाणइ, सव्यय गयेसाधिमो न लखो । तमो सव्यस्स ना-
से इव अज्जतचित्ताउरस्स तस्स रत्तीय आगया सुमिणंसि
भगवई अवा देयी । नमियं च तीए-यच्छ ! जगसि, सुवासि पा ।
जक्केण बुत्त-अम्मो ! कम्मो मे निहाई, जस्स बहलसत्थो सव्य-
स्स नूअमो विण्णणो । देवीय सादियं-भइ ! पयमि लक्खारामे भ-
विलियायूसस्स हिट्ठे पडिमातिग यट्ठ । पुरिसतिग घणापि-
त्ता तं गाइयन्व । एगा पमिमा अरिहनेमिसामिणो, अयरा
सिरिपासनादस्स, अज्जा य अविद्यदेयी । जक्केण पायदिभ-
तय य अविस्सिमापुण्णं बाहुत्ते सो पयसो कइ नायणो । दे-
वीय जंपिअ-योउमय मंजल पुण्णपयं अत्थ पाससि, तं वेप ना-
णं पमिमातिगस्स जाणिज्जामि । तम्मि पमिमातिगे पयमीकप पू-
इज्जेत भत्तुज्ज बहला सयमेय आगच्छिहति । पहाण तेण उट्ठे-
ण बलिविदाणपुण्यं तहाकप पयमीअमो तिवि पि पमिमाओ ।
पूयाओ विहिपुण्व । अणमिसेण अतक्कियमेव आगया बहला ।
सतुओ नेगमो । कमेण कारिमो तथ पासओ । जायियाओ
पमिमाओ ॥ अज्जा अरिहण्य वासारत्ते भगगारगामाओ
अट्टारससयपट्टसासियघरअक्षकियाओ बजाणगच्छमडणसिरि-
जलोभइसुरिणो अभाइतनयरोवरि विहरता तथ आगया । सो-
गेहि विअविअं-भगवं ! तिय उल्लघिठ गतु न कप्पइ । पुरओ
तमो तेहि सूरिहि तथ ताओ पडिमाओ भगसिरपुणिमाय ध-
यारोवो महुसवपुण्व कम्मो । अज्जि पइ यरिस तम्मि चेव
दिट्ठो धयारोवो कीरइ । सो य धयारोयमहुसवो विअमाइआओ
पचसु सणसु दुउत्तरेसु (५०२) वरिसाण अज्जतेसु सयुत्तो । तमो
अज्जसणसु दुउत्तरेसु विअमयासेसु (८०२) अणहिल्लुगोवालप-
रिक्कियपपसे लक्खारामाणे पट्टणं चाउकडयसमुत्ताहलेण
वणरायराइणा निवेसिय । तथ वणराया ममरायत्तुअरुवय-
रसीइरयणाइवसामतसीइनामाणो सत्त चाउकरुवसरायणो
जाभाओ । तथेव पुरे चालुकयसे मूसरायचामुमरायवज्जरायदु-
ल्लभरायजीमदेवकअजयसिंहदेवकुमारपालदेवजयदेवपालमू-
लरायभीमदेवाभिहाणा पगारस नरिदा । तमो वाधेलाभत्तप
लुण्णसायधीरधवलवीसइदेवअज्जुणदेवसारगदेवकण्णदेवा न-
रिदा संजाया । ततो अज्जायदीणसुरत्ताणाण गुज्जरधारिणीय
आणा पयइ । सो अरिहनेमिसामी कोहंभीयपामिहारो अज्ज-
धि तदेव पूइज्जइ पि " ॥

अरिहनेमिकल्पोऽयं, लिखितः श्रेयसेऽस्तु यः ।

मुखात् पुरा विदां श्रुत्वा, श्रीजिनप्रज्ञसूरिभिः ॥ १ ॥ ती० २६
कल्प० । "दो तित्थगरा नीमुप्पलसमा वणेण पयत्ता । तज्जा-
सुणिसुव्वय चेत, अरिहनेमी चेत " । स्था० २ गा० ४ उ० ।

अरिह्वा-अरिह्वा-स्त्री० । कच्छविजयक्षेत्रधर्चिराजधानीयुगले,
ज० ४ वक्क० । " दो अरिह्वाओ " । स्था० २ गा० ३ उ० ।

अरिह्वारि-अरिह्वारि-पुं० । अरिह्वार्यवृषभासुरमर्दके श्री-
रुणे, "अधूर्ति देवकी चक्रे, पृष्टाऽरिह्वारिणा कृणात् " । मा० क० ।

अरिह्वा-अरिता-स्त्री० । सामान्यतः शत्रुनावे, न० १ ए श० ।
४ उ० ।

अरिदमण-अरिदमन-पुं० । सप्ततितमे श्रीश्रुपन्नपुत्रे, कल्प० ७
दा० । वसन्तपुरराजनि, यस्य पत्न्याऽभय दत्त्वा चौरा मोचितः ।
सूत्र० १ सु० ६ अ० । (अस्य कथा-'अभयपदाण' शब्देऽ-
स्मिन्नेव भागे ७०८ पृष्ठे दर्शिता) श्रीप्रभनृपोपस्त्रावके नृपे,
ध० २० ।

अरिरिहो-अव्य० । पादपूरणे, प्रा० २ पाद ।

अरिस-अर्शस्-न० । 'हरस' इति लोकप्रसिद्धे गुदाद्वारे
रोगे, त० । जी० । ज० । झा० । धिपा० । उपा० । यद्वलेन वायु-
भ्रंशं पुरीषं च प्रघर्षयते तासां गुदप्रविष्टानां शिराणां विघाते-
ऽशौ रोगो जयति । प्रव० २५२ द्वार ।

अरिसिद्ध-अर्शस-त्रि० । अशौक्षणे, "अरिसिद्धस्स व अरि-
सा, मा खुम्भं तेण बंधप कमणी " । नि० चू० २ उ० । अशौ-
षतः पादतलदैर्बल्यादशौंसि मा शुभ्येरभिति कृत्वा क्रमणिके
अमौ बन्नाति । वृ० ३ उ० ।

अरिह-अर्ह-धा०-पूजने, सक० । योग्यत्वे, अक० ज्वादि०
पर० सेट । वाच० । " ह-धी-ही-कृत्स्न-क्रिया-दिष्टास्वित् " ।
८ । २ । १०४ । इति सूत्रेण सयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः ।
अरिह-अर्हति । प्रा० २ पाद ।

अर्ह-त्रि० । योग्ये, सूत्र० १ सु० ३ अ० २ उ० । स्था० । लक्ष-
णोपेततयाऽऽचार्यपदयोग्ये, व्य० १० उ० । पूज्ये, विशेषे । प्रश-
स्ततया पूज्ये, स० ।

अरिहंत-अर्हत्-पुं० । अर्हन्त्यशोकाद्यष्टप्रकारां परमभक्तिपरसु-
रासुराधिसरविचित्तां जन्मान्तरमहालवालविरुद्धानवधवास-
नाजालाभिषिक्तपुण्यमहावरुकल्याणफलकल्पां महाप्रातिहार्य-
रूपां निखिलप्रतिपत्तिप्रकृयात् सिद्धिसौधशिक्षारोहणं चेत्य-
र्हन्तः । स्था० २ गा० १ उ० । आच० । ज० । सूत्र० । अनु० ।
आ० म० । जी० । आ० चू० । विशेषे । आचा० । तीर्थकृत्सु,
आ० म० द्वि० ।

सम्प्रति प्राकृतशैल्या अनेकधाऽर्हच्छन्दनिरुक्तसंज्ञ
इति दर्शयन्नाह—

इंदियविसयकसाए, परिसहनेयणाए उवसगो ।

एए अरिणो हंता, अरिहता तेण बुच्चंति ॥

इन्द्रियादयः पूर्ववत् । वेदना त्रिविधा-शारीरी, मानसी, उभ-
यरूपा च । 'एए अरिणो हंता' इत्यत्र प्राकृतशैल्या क्खान्दसत्या-
च्च विभक्तिव्यत्ययः । ततोऽयमर्थः-पतेषामरीणां हन्तारोऽर्हन्त

इति पृथोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः । स्यादेतत्, अनन्तरगाथा-
यामेत एवोक्ताः, पुनरप्यमीयामेवेहोपन्यासो न युक्तः । उच्यते
अनन्तरगाथायां नमस्कारार्हत्वेहेतुत्वेनोक्ताः, इह पुनरभिधा-
निरुक्तिप्रतिपादनार्थं उपन्यासः ।

साम्प्रत प्रकारान्तरतोऽयं आख्यायन्ते, ते चाष्टौ ज्ञानावर-
णादिसङ्गाः सर्वसत्त्वानामव । तथाचाऽऽह-

अष्टविहं पि य कम्मं, अरिहंतं होऽ सन्वजीवाणं ।
तं-कम्ममरीहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अष्टविधमष्टप्रकारम्, अपिशब्दादुत्तरप्रकृत्यपेक्षया अनेकप्र-
कारम् । चशब्दो भिन्नक्रमः, स चावधारणे । ज्ञानावरणादि कर्म-
व अरिभूत शत्रुभूत भवति सर्वजीवानां सत्त्वानाम्, अनवबोधा-
दिषु खहेतुत्वात् । तत्कर्मोऽरिहन्तारो यतः, तेनार्हन्त उच्य-
न्ते । रूपानिष्पत्तिः प्राग्वत् ।

अथवा-

अरिहंति वंदनमं-सणाणि अरिहंति पूयसकारं ।
सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अर्ह-पूजायाम् । अर्हन्ति वन्दननमस्करणे, तत्र वन्दनं शिर-
सा, नमस्करणं वाचा । तथा-अर्हन्ति पूजासत्कारः, तत्र वस्त्र-
माल्यादिजन्या पूजा, अन्युत्थानादिसम्पन्न-सत्कारः । तथा-
सिध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्त्यस्यां प्राणिनः सिद्धिः लोकान्तद्वेज-
लक्षणा । वक्ष्यति-"इह बौद्धिं चइत्ता ण, तत्थ गन्तूणं सिज्जहं"
तत्तमनं प्रति अर्हन्तीत्यर्हाः योग्याः । "अच्" । ५ । १ । ४५ । इत्यच् ।
तेन कारणेनार्हन्त उच्यन्ते । अर्हन्तीत्यर्हन्तः ।

तथा-

देवासुरमणुपसु य, अरिहा पूया सुरुत्तमा जम्हा ।
अरिणो हंताऽरिहता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

देवासुरमनुजेभ्यः-"सूत्रे पञ्चम्यर्थे सप्तमी, प्राकृतत्वात्" पूजाम-
र्हन्ति प्राप्नुवन्ति । कुत इति चेत् ? अत आह-यस्मात्सुरोत्त-
मा उपचितसकलजनासाधारणपुण्यप्राग्भारतया समस्तदेवा-
सुरमनुजोत्तमा, ततः पूजामष्टमहाप्रातिहार्यलक्षणमर्हन्तीत्य-
र्हन्तः । इत्यमनेकधा त्वर्थमभिधाय पुनः सामान्यविशेषाभ्यामु-
पसहरआह-(अरिणो हता इत्यादि) यतोऽरीणां हन्तारः, तथा-
रजो बध्यमानक कम, तस्य रजसो यतो हन्तारः, तेनार्हन्त उ-
च्यन्ते । "अरिहन्तारः" इति वा स्थितस्य अर्हन्त इति निष्पत्तिः
प्राग्वत् । आ० म० द्वि० । ४० । न० । ओ० । सू० प्र० । आव० ।
अर्हन् जैनानां परमपूज्यः । यो० वि० ।

"अरुचीर्यं देसियत्त, तहेव निज्जामया समुदग्गि ।
उक्कायरक्खण्डा, महगोवा तेण वुच्चति" ॥ विशेष० ।
रागहोसकसाप, य इद्विद्याणि य पचवि परीसहे ।
उवसग्गे नामयता, नमोऽरिहा तेण वुच्चति" ॥ विशेष० ।

आ० चू० । स्या० । ("णमोक्कार" शब्देऽस्य व्याख्या यथास्थान च)
'णमो अरिहताणं प्रगवताणं' । अर्हन्तो नामादिजेदाद्यनेकजिदेदा',
'नाम-स्थापना-छव्य-भावनस्तन्यासः' इति वचनात् । तत्र
भावोपकारित्वेन भावार्हत्सपरिग्रहार्थमाह-भगवद्भूषः । स०
प्र० । "अरिहताणमवन्न वदमाणे अरहतपणुत्तस्स ध-
म्मस्स अवन्न वदमाणे" इत्यादि 'अवष्यवाय' शब्देऽ-
त्रैव जागेऽप्रे वक्ष्यते) (अर्हदाशातना 'आसायणा' शब्दे

द्वितीयजागे ४८३ पृष्ठे दृष्टव्या) "अरिहंता लोमुत्तमा अ-
रिहंते सरणं पवज्जामि" । आव० ४ अ० । (अर्हन्तो
लोकोत्तमा इति 'चउसरणगमण' शब्दे वक्ष्यते) (उ-
अस्थोऽन्निन्द्रियमर्थं न जानाति, तमेवाहर्न जानातीति वक्ष्यते
"छउमत्थ" शब्दे) (अर्हन्त एव सर्वज्ञा इति "सन्वण्ण" शब्दे
निरूपयिष्यते)

जम्बूद्वीपे दीपे जरहेरवपसु वासेसु एगसमप एगजुगे दो
अरिहंतवंसा उप्पजिंसु वा, उप्पजिज्जि, उप्पजिस्संति वा ॥

पञ्चादिकः काव्यविशेषो युगं, तत्रैकस्मिन्; तस्याप्येकस्मिन्समये,
"एगसमप एगजुगे" इत्येवंपाठेऽपि व्याख्योक्तक्रमेणैव, इत्यमे-
वार्थसम्बन्धात्, अन्यथा वा ज्ञावनीयेति । आर्हतां वशौ प्र-
वाही-एको भरतप्रभवः, अन्य देवतप्रजव इति । स्या० २
ग० ३ व० ।

एकस्मिन् क्षेत्रे एकसमये आर्हन्तौ नोत्पद्येते इति कपिल-
वासुदेव प्रति मुनिसुखतोक्तिः । ज्ञा० १६ अ० । जम्बूद्वीपे मन्द-
रपौरस्त्ये शीताया महानद्या उत्तरे दक्षिणे च उत्कर्षेण अष्टौ
अष्टौ, जम्बूद्वीपे मन्दरपश्चिमेन शीतोदाया महानद्या उत्तरे
दक्षिणे च उत्कर्षेण अष्टौवष्टौ । प्रतिकच्छादिविजयक्षेत्रमेकैक-
स्मिन् चार्त्रिंशत्तीर्थकरा इति । स्या० ८ ग० । (अर्हत्युत्पद्यमाने
लोकान्धकारोद्योताविति "अंधयार" शब्देऽस्मिन्नेव जागे १०७
पृष्ठे समुक्तम्, तथा 'तित्थयर' शब्दे सर्वा वक्ष्यन्ता दृष्टव्या)
"ससिधवला अरिहंता" इति गाथायामर्हदादीनां श्वेता-
द्यारोपः किहेतुकः ? इति प्रश्ने, अर्हन्तः पञ्चवर्णाः, सिद्धास्त्व-
वर्णाः शास्त्रेषु व्यक्ततथैवोक्ताः सन्ति, आचार्यादयोऽपि केवल-
पीतादिवर्णा एव भवन्ति, तेनैतेषु पूर्वार्चायैवैकमेव ध्याय-
मानेषु श्वेताद्येकैकवर्णारोपणपूर्वक्रमेण ध्यानं सिद्धिदं प्रव-
तीति, ते तु सर्वास्वपि क्रियासु द्रव्यक्षेत्रकालजावादिसामग्रीवि-
भिन्नासु प्रवर्तन्ते इति न काऽप्यनुपपत्तिः । १५७ । सेन० २ उल्ला० ।

अरिहंतकर्मभोयभव-अर्हत्कमाम्भोजभव-त्रि० । अर्हतां भौ-
तीर्थकराणां क्रमाश्रयणाः । त एवाम्भोजानि कमलानि, तेभ्यो
भव उत्पत्तिर्यस्य तदर्हत्कमाम्भोजभवम् । जिनेश्वरचरण-
पङ्कजसम्भवे, द्रव्या० ५ अध्या० ।

अरिहंतकर्मजोयसमासिय-अर्हत्कमाम्भोजसमाश्रित-त्रि० ।
अर्हतां वीतरागणां क्रमाश्रयणास्त एवाम्भोजानि कमलानि तत्र
समाश्रितः । अर्हच्चरणाब्जशरणाञ्जुते, द्रव्या० १३ अध्या० ।

अरिहंतचेड्य-अर्हचैत्य-न० । अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादि-
रूपां पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः तीर्थकराः, तेषां चैत्यानि प्रति-
मालक्षणानि अर्हचैत्यानि । इदमत्र भावना-चित्तमन्तकरणं,
तस्य भावे कर्मणि वा ("वर्णद्वयादिच्यष्ट्यश्च वा ")
७ । १ । ५६ । इति हैमसूत्रेण दृष्टानि) कृते चैत्वम् ।
तत्रार्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधिचित्तोत्पादकत्वादु अर्हचै-
त्यानि भण्यन्ते । अर्हत्प्रतिमासु, "अरिहत्तचेड्याणं करेमि
'कावस्सग्गा" आव० ५ अ० । आ० चू० । प्रति० । ४० ।

अरिहंतजासिय-अर्हदजावित-त्रि० । अर्हदजिः सम्यगास्था-
ते, सूत्र० १ अ० ६ अ० ।

अरिहंतमणुषाय-अर्हदनुज्ञात-त्रि० । अर्हदभिः कर्तव्यतया-
ऽनुज्ञाते, प्रज्ञा० १२ पद ।

अरिहंतसंख्य-अर्हत्साक्षिक-न० । अर्हन्तस्तोर्थकरास्ते
साक्षिकाः समकृभाववर्तिनो यत्र तत् । “ शेषाद्वा ” ७ । ३ ।
१७५ । इति [हैम] सूत्रेण कप्रत्ययविधानादर्हत्साक्षिकम् ।
अर्हदभिः कृतसाक्षित्वे, पा० ।

अरिहंतसमणसिज्जा-अर्हच्छ्रमणशय्या-स्त्री० । अर्हतां भ्रम-
णानां च शय्याऽर्हच्छ्रमणशय्या । चैत्याद्ययोपाधयरूपासु श-
य्यासु, जीत० ।

अरिहंतसासन-अर्हच्छासन-न० । जिनागमे, प्रश्न० ५ सम्ब०
द्वा० ।

अरिहंतसिज्जा-अर्हच्छ्रय्या-स्त्री० । चैत्यगृहे, ध० २ अधि० ।

अरिहदत्त-अर्हदत्त-पु० । आर्यसुस्थित-सुप्रतिबुद्धयोः पञ्चमे
शिष्ये, कल्प० ८ क० ।

अरिहदिष्-अर्हदत्त-पु० । सिंहगिरेःश्रुत्यै शिष्ये, कल्प० ८ क० ।

अरुवसग-अरुगुपसर्ग-पुं० । रोगरहिते उपसर्गे, तं० ।

अरुपोपसर्ग-पु० । आर्षत्वाद् वकारलोपः । रुपरहिते उत्पा-
ते, त० ।

अरुग-अरु-न० । व्रणे, “ अरुगं इहुरा कुत्थइ ” । वृ० ३ उ० ।

अरुण-अरुण-पु० । नन्दीश्वरवरसमुद्रस्य परतोऽरुणोदस-
मुद्रपरिवेष्टिते क्षीपभेदे, स च वृक्षवत्याकारसंस्थानसंस्थि-
तः । तत्र अशोकवीतशोकौ देवौ । सू० प्र० १६ पाहु० । अनु० ।
द्वा० । जी० । प्रज्ञा० । न० । स्या० । “ रुयगा उ समुद्राओ,
दीवसमुद्रा भवे असंखिज्जा । गतूण होइ अरुणो, अरुणो दीवो
तमो उदही ” ॥ ६४ ॥ द्वा० । हरिवर्षनामाऽकर्मभूमिवृक्षवैता-
ल्यपर्वतस्याधिपतौ देवे, स्या० ४ उ० ३ उ० । अरुणोपपात-
ग्रन्थप्रतिपाद्ये देवे, स्या० १० उ० । उपा० । सू० प्र० । वि-
मानभेदे, अरुणादीनि दश विमानानि-“ अरुणे १ अरुणाभे २
खड्ग, अरुणपद् ३ अरुणकंत ४ सिद्धेय ५ । अरुणजम्प य छुटे
६, जूय ७ वमिसे ८ गवे ९ काले १० ” ॥ ५ ॥ शिष्टादिनामा-
न्यरुणपदपूर्वाणि दृश्यानि । उपा० ६ अ० । ऋ-ठनन् । सूर्ये,
सूर्यसारथी, गुडे, सन्ध्यारागे, नि शब्दे, दानवभेदे, कुष्ठभेदे,
पुष्पागवृत्ते, अव्यकरणे, कृष्णमिश्रितरक्तवर्णे च । तद्वति, त्रि० ।
कुडुमे, सिन्दूरे च । न० । मडिज्जायां, श्यामाकायाम्, अतिवि-
षायां, नदीभेदे, कदम्बपुष्पायां च । स्त्री० । वाच० ।

अरुणगंगा-अरुणगङ्गा-स्त्री० । महाराष्ट्रजनपदभूमौ बहति
नदीभेदे, ती० ३८ कल्प ।

अरुणप्पज-अरुणप्पज-पु० । चतुर्थेऽनुवेलन्धरनागराजे, नदा-
वासपर्वते च । जी० ३ प्रति० । स्या० । विमानभेदे, उपा० ६
अ० । राहोअन्द्र गृह्णतो दशमे कृत्स्नपुत्रले, चं० प्र० २० पाहु० ।

अरुणप्पभा-अरुणप्पभा-स्त्री० । नवमस्य तीर्थकरस्य निष्क-
मणशिषिकायाम्, स० ।

अरुणवर-अरुणवर-पु० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । तत्र
अरुणवरे द्वीपे अरुणवरभद्रारुणवरमहाभक्षौ, अरुणवरे समुद्रे
अरुणभक्षारुणमहाभक्षौ देवौ । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० ।
अनु० । ६० प० ।

अरुणवरोभास-अरुणवरावजास-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपवि-
शेषे, समुद्रविशेषे च । तत्रारुणवरावभासे द्वीपे अरुणवराव-
भासभद्रारुणवरावभासमहाभक्षौ, अरुणवरावभाससमुद्रे
१६३

अरुणवरावजासवरावरावभासमहावरो देवौ । सू० प्र०
१६ पाहु० । जी० । च० प्र० ।

अरुणाभ-अरुणाभ-पु० । अरुणकान्तौ, चन्द्र गृह्णतो राहोर्दशमे
कृत्स्नपुत्रले, सू० प्र० २० पाहु० । विमानभेदे, स० ७ सम० । स्या० ।
अरुणोत्तरवमिसग-अरुणोत्तरावतसक-न० । विमानभेदे, स०
८ सम० ।

अरुणोदग-अरुणोदक-पुं० । अरुणद्वीपस्य परितः प्रसृते
समुद्रे, अरुणोदे समुद्रे सुमरुमनोभद्रौ देवौ । सू० प्र० १६
पाहु० । च० प्र० । द्वी० । ज० ।

अरुणोववाय-अरुणोपपात-पु० । अरुणो नाम देवस्तत्समय-
निष्करो ग्रन्थस्तदुपपातहेतुररुणोपपातः । सक्षेपिकानां दशानां
षष्ठेऽध्ययने, स्या० ।

नन्धध्ययनटीकायां चूर्णिकारो भाषयति-

जाहे तमज्जयणं उवउत्ते समाणे अणगारे परियट्ठे ताहे
से अरुणे देवे ससमयनिबद्धचणओ चलियासणे संभु-
भंतओयणा पञ्चावही विष्णाय हट्ठपट्ठे चलचवलकुं-
मलधरे दिव्वाए जुईए दिव्वाए विचूर्ईए दिव्वाए गईए
जेणामेव से जगव समणे निगंथे अज्जयणं परियट्ठेमाणे
अत्थेइ तेणामेव उवागच्छइ । उवागच्छिता भत्तिभरोणयव-
यणे विमुक्कवरकुसुमगंधवासे उवेइ । उवयइत्ता ताहे से सम-
णस्म पुरतो ठित्ता अंताठिए कयजलीओ उवउत्ते संवेग-
विमुज्झमाणज्जवसाणे तमज्जयणं सुणमाणे चिट्ठइ । स-
म्मत्ते अज्जयणे भणइ-जयवं ! सुसज्झाइयं सुस-
ज्झाइयं वरं वरेहि त्ति, ताहे से इहलोयनिप्पिवासे
समतणमणिमुत्ताहल्लहेहुकंचणे मिच्छवरमणिपमिबद्धनि-
व्वराणुरागे समणे पमिज्जणइ-न मे भो ! वरेणं अट्ठो त्ति ।
ततो से अरुणदेवे आहिगयरजायमंवेगे पयाहिणं करेत्ता
वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पमिगच्छइ ॥ नं० टी० ॥

यदा तदध्ययनमुपयुक्तः सन् भ्रमण परिवर्तयति, तदाऽ-
सावरुणो देवः स्वसमयनिबद्धत्वाच्चलितासनः संभ्रमोद्धा-
स्तलोचनः प्रयुक्तावधिस्तद्धिहाय दृष्टप्रहृष्टश्चलचलकुण्डल-
धरो दिव्यया सुत्या दिव्यया विभूत्या दिव्यया गत्या यत्रैवासौ
भगवान् भ्रमण अध्ययन परिवर्तयति तत्रैवोपागच्छति । उपा-
गत्य च भक्तिभरावनतवदनो विमुक्कवरकुसुमवृष्टिरवपतति ।
अवपत्य च तदा तस्य भ्रमणस्य पुरतः स्थित्वाऽन्तर्हितः कृता-
ञ्जलिक उपयुक्तः सवेगाविशुद्धमानाध्यवसानः तमध्ययनं
शृण्वैस्तिष्ठति । समाप्ते च भणति-सुस्वाध्यायित सुस्वाध्यायित-
मिति वरं वृण्वति । ततोऽसाविहल्लोकनिष्पिपासः समवृणमणि-
मुक्तालोष्टकाञ्चनः सिरुवरधूनिर्भरानुगतचित्त भ्रमणः प्रति
जणति-न मे वरेणार्थ इति । ततोऽसावरुणो देवोऽधिकतरजातसं-
वेगः प्रदक्षिणा कृत्वा चन्दते, नमस्यति । वन्दित्वा नमसित्वा प्र-
तिगच्छति । एव वरुणापपातादिष्वपि भणितव्यमिति । स्या०
१० उ० । न० । पा० । द्वादशवर्षपर्यायस्य भ्रमणस्य कल्पतेऽ-
रुणोपपातः । व्य० १ उ० ।

अस्य-अरु-न० । व्रणे, “ नातिकरूइयं सेय, अस्यस्तावरज्ज-
ति ” । अरुणो व्रणस्यातिकरूयित नस्यैर्विबेसन न श्रेयो न

शोभन भवति, अपि त्वपराध्यति, तत्कण्डूयन व्रणस्य दोषमा-
वहति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ अ० ।

अरुज्-त्रि० । आधिख्याधिबेदनारहिते, ध० २ अधि० । शरी-
रमनसोरजावाद् अविद्यमानरोगे सिद्धिस्थाने, स० १ सम० ।
श्रौ० । जी० । कल्प० ।

अरुह-अर्हत्-पु० । “उच्चार्यति” । ८ । २ । १११ । इति
सूत्रेण सयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात् पूर्व उद्, अदितौ च भवतः ।
अरुहो, अरहो, अरिहो । प्रा० २ पाद । योग्ये, तीर्थ-
करे च । प्रव० १७५ द्वार ।

अरुह-पु० । न रोहति भूय संसारे समुत्पद्यते इत्यरुहः, संसा-
रकारणानां कर्मणां निर्मूलकाप कथितत्वात् । अजन्मनि सिद्धे,
प्रव० २७५ द्वार । क्षीणकर्मबीजत्वात् (अरुहः) । आह च-
“दग्धे बीजे यथाऽप्यन्तः प्रादुर्भवति नादुरः । कमबीजे तथा दग्धे,
न रोहति भवाद्दुरः” ॥१॥ म० १ श० १ उ० । भाव० । दर्श० ।
अरुव-अरूप-त्रि० । न विद्यते रूप स्वभावो यस्यासावरूप ।
अतस्त्वभावे, अने० ४ अधि० ।

अरुवकाय-अरूपकाय-पु० । अमूर्त्ते धर्मास्तिकायादौ, ज०
७ श० १० उ० ।

अरुवि (ए)-अरूपिन्-त्रि० । रूपं मूर्तिर्वर्णादिमत्त्वः, तदस्या-
स्तीति रूपी, न रूपी अरूपी । अमूर्त्ते, स्था० ५ उ० ३ उ० ।
धर्मास्तिकायादौ, प्रज्ञा० १ पद । म० । आव० ।

“धर्मास्तिकाय तद्देसे, तत्पदसे य आहिष ।
अहम्मे तस्स देसे य, तत्पदसे य आहिष ॥ ५ ॥
आगासे तस्स देसे य, तत्पदसे य आहिष ।

अस्मासमयप चैव, अरुवी दसदा भवे” ॥ ६ ॥ उक्त० ३६ अ० ।

(टीकाऽनयोः ‘अजीव’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०३ पृष्ठे दर्शिता)
रूपातीते अमूर्त्ते आत्मनि, म० १७ श० २ उ० । दर्श० । कर्मरहिते
सिद्धे, आ० म० द्वि० । मुक्ते, स्था० २ उ० १ उ० । “अरुवी
सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि, से ण सदेण रुवेण गधेण रसेण
फासे इस्सेतावति त्ति वेमि” । (अरुवी सत्त त्ति) तेषां मुक्ता-
त्मनां या सत्ता साऽरूपिणी । अरूपित्वं च दीर्घादिप्रतिषेधेन
प्रतिपादितम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अरुविअजीवपणवणा-अरूप्यजीवप्रज्ञापना-स्त्री० । रूप-
व्यतिरेकेणारूपिणो धर्मास्तिकायादयः, त च ते अजीवाश्च अरु-
प्यजीवाः ; तेषां प्रज्ञापना अरूप्यजीवप्रज्ञापना । अजीवप्रज्ञा-
पनाभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अरे-अरे-अव्य० । रतिकलदे, “अरे ! मय समं मा करेसु उव-
हास” । प्रा० २ पाद । रोषाह्वाने, नीचसन्बोधने, अपकृतौ, अ-
सूयायां च । वाच० ।

अरोग-अरोग-त्रि० । निष्पीमे, म० १८ श० १ उ० । अशेष-
वन्द्यरहिते सिद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अल-अल-न० । अल-अल । वृद्धिकपुच्छस्थे कण्टकाकारे
पदार्थे, हरिताले च । वाच० । अभीष्टकार्यसमर्थे, आचा० २
श्रु० ५ अ० १ उ० । अलादेव्या सिंहासने, ज्ञा० २ श्रु० ।

अलं-अलम्-अव्य० । पर्याप्ते, नि० चू० १ उ० । आचा० । म० ।
ज्ञा० । दश० । समर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अत्यर्थे, श्रौ० ।
प्रतिषेधे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । शूषणे, सामर्थ्ये, निवारणे, नि-
बेधे, निरर्थकत्वे, अस्यर्थे, अवधारणे च । वाच० ।

अलंकरण-अलङ्करण-न० । शोभाकारके, कल्प० ३ क० ।
अलंकार-अलङ्कार-पु० । अलङ्कृत्यते प्रुष्यतेऽनेनेत्यलङ्कारः ।
कटककेयूरादिके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । औ० । प्रअ० ।
रा० । दशा० । आभरणविशेषे, रा० । आ० म० । वृ० । अलम्-
क-करणे घञ् । शूषायाम्, हारादौ शूषणे, साहित्यवि-
षयदोषगुणप्रतिपादके ग्रन्थे, शब्दशूषणे-अनुप्रासादौ, शब्दा-
र्थशूषणे-उपमादौ च । वाच० । “चउव्विहे अलंकारे पम्पसे । त
जहा-केसालकारे वत्थालकारे मल्लालकारे आभरणात्तकारे” ।
स्था० ४ उ० ४ उ० । आ० चू० ॥

अलंकारचूलामणि-अलङ्कारचक्रामणि-पु० । स्वनामक्यातेऽ-
लङ्कारग्रन्थे, यस्य वृत्तिः प्रतिमाशतक-नयोपदेशकृता कृता ॥
नयो० । प्रति० ।

अलंकारिय-अलङ्कारिक-पु० नापिते, ज्ञा० १३ अ० ।

अलंकारियकम्प-अलङ्कारिककर्मन्-न० । नखस्र [म] एम-
नादौ, ज्ञा० २ अ० । क्षुरकर्मणि, विषा० १ श्रु० ६ अ० ।

अलंकारियसहा-अलङ्कारिकसञ्जा-स्त्री० । नापितकर्मशाला-
याम्, ज्ञा० १३ अ० । अलङ्कारिकसभा यस्यामलङ्कृत्यते । स्था०
५ उ० ३ उ० ।

अलंकि-अलङ्कृत-त्रि० । मुकुटादिभिः [प्रअ० ५ सम्भ०
द्वा०] विभूषिते, दशा० १० अ० । औ० । ज्ञा० । कृतालङ्कारे,
ज० ६ श० ३३ उ० । उत्प्रेक्षादिजिरलङ्कारैर्विभूषिते, विशेष० ।
अनु० । उपमादिभिः काव्यालङ्कारैरुपेतैः, आ० म० द्वि० । स्था० ।
उत्त० । अन्यान्यस्फुटगुणस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् । स्था०
७ उ० । अनु० । अन्यान्यस्वरविशेषकरणेनालङ्कृतमिव गी-
यमाने गीतगुणभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अलं चपक्खगाहि (ए)-अलञ्चापकग्राहिन्-पुं० । “अलं-
चपक्खगाही, परिसया रुवजक्खाम्भो” । न कस्यापि लज्जा-
मुत्कोचं गृह्णन्ति, नाप्यात्मीयोऽयमिति कृत्वा पक्कं गृह्णन्ति, ते
पतादृशा अलञ्चापकग्राहिणः । रूपेण मूर्त्या यक्ता इव रूपयक्ताः,
मूर्तिमन्तो धर्मेकनिष्ठा देवा इत्यर्थः । इव्यं गृहीत्वाऽस्मीयत्वेन
पक्कापरिग्राहकेषु रूपयक्तेषु, व्य० १ उ० ।

अलं धूम-अलं धूम-पुं० । अत्यन्तमहिने, अष्ट० ३ अष्ट० ।

अलं वुसा-अलम्बुषा-स्त्री० । उत्तरदिग्भागवर्षिचक्रकवासिन्ध्यां
दिक्कुमार्याम्, ज० ५ वक्र० । आ० म० । द्वि० । आ० क० ।
स्था० । आ० चू० ।

अलंजोगसमत्थ-अलंजोगसमर्थ-त्रि० । अत्यर्थं भोगालुजवनस-
मर्थे, श्रौ० ।

अलङ्क-अलङ्क-पुं० । धाराणसीनगर्या राजजेदे, अन्त० । तत्कथा-
नकं तु अन्तर्दृशानां षष्ठ्यवर्गस्य षोडशेऽध्ययने प्रतिपादितम् ।
तद्यथा-“तेण काहेण तेण समपणं वाणारसीय णयरीय कामम-
हावणे चेतिय । तत्थ ण वाणारसीय णयरीय अलङ्के नाम राया
दोत्था । तेण काहेण तेणं समपणं समणे भगव महावीरे० जाव
विहरइ, परिसा निग्गया । तपणं अलङ्के राया इमी से कहाय सइ० ।
हट्ठुत्त० जइ कुणिय जगवओ महावीरस्स० जाव पज्जुवासति,
धम्मकहात से अलङ्के राया समणस्स जइ उदायणे राया तइ
निक्खतो, नवर जेट्ठुपुत्त रज्जे अनिसिक्खति० जाव एक्कारस अगाइ
बहुहि वासाइ परियातो० जाव विपुत्ते सिद्धे” । अन्त० ७ वर्य । स्था० ।

अलक्षणाया-अलक्षणाता-स्त्री० । असमञ्जसाभिधायिताया-
म, विशेषः ।

अलगापुरी-अलकापुरी-स्त्री० । वैभरणयक्षपुर्ग्याम, मन्त० १८१८ ।

अलचपुर-अलचपुर-न० । "अचलपुरे च-लो." । ८ । ११८ ।
इति सूत्रेण अचलपुरशब्दे चकारसकारयोर्व्यत्ययः । कृष्णावे-
णानघोः समीपस्थानगरे, प्रा० २ पाद ।

अलक्ष-अलक्ष-पु० । साक्षारसे, अनु० ।

अलक्षय-अलक्षय-पु० । साक्षारसेन रक्ते, "जे रक्षते अलक्ष-
य" । यो रक्तो साक्षारसेन- [प्राकृतशैल्यां कन् प्रत्ययः] स एव
रक्षतेत्युक्त्या अलक्षक उच्यते । अनु० ।

अलक्ष-अलक्ष-प्रि० । अनुपाते, स्था० ५ ग्रा० २ उ० । अत्रा-
से च, सूत्र० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । स्वकीयलाभविहीने, पञ्चा०
१८ विष० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । अलक्षितमिति अलक्षिते, ओष० ।

अलक्षित-अलक्षित-स्त्री० । अलादेव्या मातारि, ज्ञा० २ अ० ।

अलक्षित-अलक्षित-पु० । समयभाषया समर्थे, स्था० ४ ग्रा० २ उ० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । अलक्षितनिषेधो भयतु, य एवमा-
ह सोऽलमस्त्वित्युच्यते । निषेधके, स्था० ४ ग्रा० २ उ० ।

अलक्षित-अलक्षित-पु० । कृषिककण्टके, " अलक्षितं मंजापेह " इति
कृषिककण्टकाद् शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थः ॥ विपा० १ भु० ६ अ० ।

अलक्षित-अलक्षित-स्त्री० । कैलासस्य पूर्वतः पुर्याम, ङी० ।

अलक्षित-अलक्षित-स्त्री० । वैभरणयक्षपुर्ग्याम, ज्ञा० ४ अ० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । लपतीति क्षपा घाचाक्षा । घोषितानेकनक-
विचित्रदण्डका, तथा न क्षपा अलक्षपा । मौनप्रतिकेपु निष्ठितयोगेषु
गुटिकादिपुकेषु, यद्वशाद् अभिधेयविषया यागेय न निस्सरति ।
सूत्र० २ भु० ६ अ० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । विदिष्टसंस्काररहिते,
व्य० ४ उ० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । निरुद्यमे, पु० १ उ० । मन्दे, जीवा० । असमर्थे
च । सूत्र० २ भु० २ अ० । स्था० । गण्डोलके, पु० । " अलक्षितो
सि वा गंद्दगो सि वा सुसुगानो सि वा एगट्ट " । नि० चू० १ उ० ।

अलक्षित-अलक्षित-पु० । " नोर्ध्वं व्रजति नाधस्ता-वादारो न
च पच्यते । आमाशयेऽलसीजुत-स्तेन सोऽलसक स्मृतः " ।
॥ १ ॥ इत्युक्तत्रकणे विशाचिकाविशेषलक्षणे, उपा० ८ अ० ।
हस्तपादादिस्तम्ने इवययी, आचा० १ भु० २ अ० १ उ० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । अनलसोऽलसो भवतीति
अलसायते, अलसायत इति अलसायमानः । अत्र " मात्
लोहितादिभ्यः पित् " । ३ । ४ । ३० । इति हेमसूत्रेण लोहिता-
देराकृतिगणत्वात् व्यर्थे क्यङ्प्रत्ययः, स च पित् । आलस्य
भजमाने, ग० १ अधि० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । कापुरूपे, वृ० १ उ० ।

अलक्षित-अलक्षित-स्त्री० । " अमती-सातवाहने लः " । ८ । २ । ११ ।

इति सूत्रेण तस्य लः । प्रा० १ पाद । धान्वभेदे, आचा० १ भु०
१ अ० ५ उ० ।

अलक्षित-अलक्षित-न० । अत्यन्तसूक्ष्मे, स्था० १० ग्रा० ।

अलक्षित-अलक्षित-स्त्री० । विष्णुकुमारीमहत्तरिकाभेदे, स्था० ६ ग्रा० ।

धरणस्व नागकुमारे-द्रस्याप्रदिप्याम्, ज्ञा० २ भु० । (' अग्न
महिषी ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७० पृष्ठेऽस्या पूर्वापरभावबुक्तौ)

अलक्षित-अलक्षित-न० । तुम्बके, औ० । अनु० । सूत्र० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । अलक्षित-प्रि० । अलक्षित-प्रि० । अलक्षित-प्रि० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । अलक्षित-प्रि० । अलक्षित-प्रि० ।

अलक्षित-अलक्षित-प्रि० । अलक्षित-प्रि० । अलक्षित-प्रि० ।

अथालाघवता व्याचष्टे-

उवां हि-सरीरमलाघव, देहे णिद्धा इव च सरीरो ।

संसंगसासभया, ए विहरइ विहारकामो वि ॥

अलाघव गौरवम् । तच्च द्विधा-उपघौ, शरीरे च । तत्र देहे देह-
विषयमलाघवमिदम्-जिग्ध घृतादि, तेन; आदिशब्दाद् गुडश-
र्करादिमधुगन्धैः । प्रतिदिनमस्य च द्विपमाणैर्बृहच्छरीरः सन्
मार्गे गच्छत शरीरजात्यसमुत्थो यो गात्रसघर्षो, यच्च श्वास-
स्तन्द्रयाद्विहरणकामोऽपि न विहरति ।

अथोपकरणेऽलाघवमाह-

सागारि पुत्तभाउग-एणहग दाण अविस्सज्ज चारजया ।

ण विहरति ओम सावय, निर्यइअगणि भाण एज्जोत्ति ॥

सागारिकेण शय्यातरेण, तदाऽऽदौ स्वपुत्रैर्भ्रातृजिर्नष्टमिच्छ यौत्रैः
कस्यापि साधोरविषहस्यातीवप्रभूतस्य कम्पव्याधुपकरणस्य
दानमकारि । स च साधुस्तद्भारजयात्र विहरति । अन्यदा तत्रा-
धमं दुर्जिक्कं सजातम् । स च तदापि न विहरति [सावय स्ति]
भावकेण चिन्तितम्-एष साधु किमद्यापि न विहरति, नूनं बहुप-
करणप्रतिषेधोऽयम् । ततस्तेन भावकेण तस्य सयतस्य भिक्षाद्य-
र्थं विनिर्गतस्य सर्वमप्युपकरणं निष्काश्यान्वत्र संगोप्य निह-
त्या मायया तदीयं उपाश्रयः । सर्वोऽपि [अगणि स्ति] अग्निना
प्रदीपितः । ततः समायात, एण प्रतिश्रयो दग्धः । कृतवान्
हा । कष्ट, हाहा ! कष्ट, बहुपकरणं दग्धमिति । परिक्षेदं
पृष्ट्वा भावका-किञ्चिदुपकरणं निष्काशितं न वेति ? ।
स प्राह-न शक्त किमपि निष्काशयितुं, परं [भाण स्ति]
भाजनद्वयं महता कष्टेन निष्काशितम् । ततः साधुना भणितम्-
विहरामि सप्रति दस्यां दिशि सुनिजितम् । भावक प्राह-[एज्ज
स्ति] सुभक्षीजने भूयोऽप्यागच्छः । तन प्रतिपन्न साधुना
तद्वचनम् । समागतः कालान्तरेण पुनरपि तत्रैवासौ । निवेदितः
भावकेण यथावस्थितो व्यतिकरः, क्लमयित्वा च दत्त सर्वमपि त
दीयमुपकरणम् । एवमादयो दोषा उपकरणात्ताघवे भवन्ति ।
वृ० २ उ० । पञ्चा० । नि० चू० ।

अलाभ (ह)-अलाभ-पु० । लभन लाभः, न लाभोऽला-
भः । अत्रिलपितविषयाप्राप्तौ, उक्त० २ अ० ।

अलाभ (ह) परि (री) सह-अलाभपरिषह-पु० ।

अलाभ प्रतीत, तत्परिषहणं च तत्र दैन्याभावः । भ० ८ श०
८ उ० । प्रव० । स० । प्रअ० । नानादेशविहारिणो विभव-
मपेक्ष्य बहुषूचनीचैर्गृहेषु भिक्षामनवाप्याऽप्यसक्लिष्टचेतसो दा-

तृविशेषपरीक्षानिरुक्तस्य 'अलाभो मे परमं तपः' इत्येवमधिकगुणमलाज मन्यमानस्याऽज्ञाजपीडासहने, प० स० ४ द्वार । स चैवम्-याचितालाभे सति प्रसन्नचेतसैवाविकृतवदनेन प्रवितव्यम् । आ० ४ अ० । तदुक्तम्-

“ परात्परार्थं स्वार्थं वा, लभेताऽज्ञादिनाऽपि वा ।

माघेन्न लाभो नालाभाद्, निन्देत्स्वमथवा परम् ” १। ४० ३ अधि०

“ परकीय परार्थं च, लभ्येताऽज्ञादिनैव वा ।

लब्धे न माघेद् निन्देद् वा, स्वपरान् नाप्यज्ञातः ” ॥ १ ॥
आ० म० द्वि० ।

प्रवृत्तेष्व कदाचित् लाभान्तरायदोषतो न लभेतापीत्व-
लाभपरिषहमाह—

परेषु घासमेसेज्जा, भोयणे परिनिष्ठिए ।

लब्धे पिमे अलब्धे वा, णाणुतप्पेज्ज संजए ॥ १ ॥

अज्जेवाहं न लब्जामि, अवि लाभो मुए सिया ।

जो एवं पमिसचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥ २ ॥

आ० चू० ४ अ० ।

(परेषु इत्यादि) परेष्विति गृहस्थेषु प्राप्तं कवक्षम्, अनेन च मधुकरवृत्तिमाह । पश्येद्भवेवयेत्, जुज्यत इति भोजनमोदनादि, तस्मिन्परिनिष्ठिते सिद्धे मा नृत्प्रथमगमनात्तदर्थं पाकादिप्रवृत्तिः, ततश्च लब्धे गृहिभ्यः प्राप्ते, पिण्डे आहारेऽलब्धे वाऽप्राप्ते नानुत्पद्येत सयतः । तद्यथा-अहो ! ममाघन्यता, यदहं न किञ्चिन्नभे । उपलक्षणत्वात्-लब्धे वा लब्धिमानहमिति न हृष्येत् । यद्वा-लब्धेऽप्यलोऽनिष्टे वा समवत्येवानुताप इति सूत्रार्थः । किमात्मनमालम्ब्य नानुत्पद्येत ? इत्याह- (अज्जेवेत्यादि) अद्यैवास्मिन्नेवाहन्यहं न लब्धे न प्राप्नोमि । अपि सभावने । संभाव्यते-पतल्लभः प्राप्तिश्च भवः आगामिनि दिने, स्याद् जवेत् । उपलक्षणत्वात् इव इत्यन्येचुरन्यतरेषुर्वा मां स्यादित्यनास्थामाह । य एवमुक्तप्रकारेण (पमिसचिक्खे सि) प्रतिसमीकृते अर्दीनमना स-अलाजमाश्रित्यालोचयति, अलाभोऽज्ञाभपरीषहः, तं न तर्जयति नाभिजवति, अन्यथा नृत्स्त्रजिज्ञुयत इति ज्ञावः ॥ उक्त० ३ अ० ॥

अथ ' नाणुतप्पेज्ज संजये सि ' सूत्रावयवमर्थतः

स्युशान्नुदाहरणमाह—

जायणपरीसहम्मी, बहदेवो इत्थ होइ आहरणं ।

किसिपारासर ढंडो, अलाभए हो उदाहरणं ॥ ५० ॥

उक्त० नि० १ खाण्ड ।

याज्ञापरीषहे बहदेवोऽत्र भवत्याहरणमुदाहरणम् । कृषिप्रधानः पाराशरः कृषिपाराशरो, जन्मान्तरे (ढण्ड इति) दण्डणकुमारोऽलाभकेऽज्ञाभपरीषहे भवत्युदाहरणमिति गाथाऽङ्गरार्थः । भावार्थस्तु संप्रदायादवसेयः । उक्त० ३ अ० ।

अत्र अज्ञाभपरीषहे कथाद्वयम्-लौकिक १, लोकोत्तरं च २ । तत्र प्रथमं लौकिकं कथानकं कथ्यते-एकदा कृष्णः १, बलदेवः २, सात्यकिः ३, दारुणः ४, एते चत्वारोऽप्यश्वपटता अटव्यां घटवृक्षाधो रात्रौ सुप्ताः, आद्ये प्रहरे दारुको यामिको जातः, अन्ये त्रयः सुप्ताः, तदानीं क्रोधपिशाचः तत्रायातो दारुकं प्रत्याह-अहमेतान् सुप्तान् साम्प्रतं भक्षयामि, यदि तत्रैषां रक्षणे शक्तिरास्ति तदा युद्धं कुरु । दारुकणोक्तम्-बाढम् । ततो लग्नं युद्धम् । यथा यथा दारुकस्त पिशाचं हन्तुं न शक्नोति तथा तथा तस्य क्रोधो वर्धते । तथा च दारुकस्य न युद्धलाभो जातः, पराभूत एव दारुकं सुप्तः । द्वितीये प्रहरे सात्यकिरुत्थितः । क्रोधपिशाचेन

तथैव जितः । तृतीये प्रहरे बलदेवः । सोऽपि तथैव जितः, तुर्ये प्रहरे उत्थितः कृष्णः क्रोधपिशाचस्तथैव प्रोक्तवान् । कृष्णः प्राह-मां जित्वा मत्सहायान् भक्षय । ततो यथा यथा क्रोधपिशाचो युध्यति तथा तथा कृष्णः-‘अहो ! बलवान् एव म-बलः’ इति तुष्यति । यथा यथा कृष्णस्तोषवान् भवति तथा तथा पिशाचः क्षीयते । एव कृष्णेन पिशाचः सर्वथा क्षीणः स्ववस्त्रमध्ये क्लिप्तः । प्रभाते तद्द्वानि दृष्ट्वा कृष्णेनोक्तम्-किमेतद्भवतां जातम् ? । ते सर्वेऽपि रात्रिवृत्तान्तं प्राहुः । कृष्णेन स्ववस्त्रमभ्यादा-कृष्य दर्शितः । एव कृष्णवद् यस्तोषवान् भवति सोऽज्ञाभपरीषहः जेतुं शक्नोति ।

अथ द्वितीय लोकोत्तरं दण्डणकुमारकथानकं कथ्यते-कस्मिंश्चिद् ग्रामे कोऽपि कृशशरीरी कुटुम्बी (पाराशरो विप्रः) वसति स्म । अन्येऽपि बहुवस्तत्र कुटुम्बिनो वसन्ति स्म । शरकेण ते राज-वेष्टि कुर्वन्ति स्म । राजसत्कपञ्चशतहलानि बाहयन्ति स्म । एकदा तस्य कृशशरीरिण पञ्चशतहलवाहनवारकः समयातः, तेन च बाहिता वृषजाः भक्षयान् वेलायामप्येकोऽधिकश्चापो दापितः । तदाऽन्तराय कर्म यद्धम्, ततो मृत्वाऽसौ बहुकालमितस्ततः ससारं परिभ्रम्य कस्मिंश्चिद्भवे कृतमुक्तवशेन द्वारिकायां कृष्णवासुदेवस्य पुत्रत्वेन समुत्पन्नः । दण्डणेति तस्य नाम प्रतिष्ठितम् । स दण्डणकुमारः श्रीनेमिपार्श्वे अन्यदा प्रव्रजितः । लाभान्तरायवशान्महत्यामपि द्वारिकायां हिण्डमानो न किञ्चिदस्मादि लभते, यदि कदाचिन्नभते तदा सर्वथाऽसारमेव । ततस्तेन स्वामी पृष्टः । स्वामिना तु सकलः पूर्वभववृत्तान्तः तस्य कथितः । तेन चाऽयमभिप्रदो गृहीतः-परलाभो मया न प्राप्यः । अन्यदा घासुदेवेन स्वामिना इति पृष्टम्-भगवन् ! एतावत्सु भ्रमणसहस्रेषु को दुष्करकारकः ? । स्वामिना दण्डणवर्षेव दुष्करकारक इति उक्तम् । कृष्णेनोक्तम्-स इदानीं कास्ति ? । स्वामी प्राह-त्वं नगरं प्रविशन् तं उद्ध्यसि । दृष्टः कृष्णः श्रीनेमिजिनप्रणम्य उत्थितः । पुरद्वारे प्रविशन् तं साधुं दृष्ट्वा, इस्तिस्कन्धादुत्तीर्य कृष्णस्तं ववन्दे । तेन वन्द्यमानोऽयं साधुरेकेनेत्येव दृष्टः । चिन्तितं च तेन-अहो ! एष महात्मा कृष्णेन वन्द्यते । एव चिन्तयत एव तस्य गृहे दण्डणवर्षः प्रविष्टः । तेन मोदकैः प्रतिलाभितः । ततः स्वामिसमीपे गत्वा पृच्छति-मम लाभान्तरायः क्षीणः । स्वामिना उक्तम्-एष वासुदेवलाजः । मम परलाभो न कल्पते इत्युक्त्वा नगराद् बाहिर्गत्वा उचितस्थितिं मोदकान् विधिना परिष्ठापयन् गुञ्जध्यानारोहेण केवली जातः । एवमन्ये-रपि अलाभपरीषहः सोढव्यः । अलाभाद् अनिष्टाहारलाभात्, अन्त्याहारप्रान्ताहारभोजनात् शरीरे रोगा उत्पद्यन्ते, अतो रोगपरीषहोऽपि सोढव्यः ॥ उक्त० २ अ० ।

अलाय-अज्ञात-न० । उल्लुके, वृ० ५ उ० । ज्ञा० । जी० । प्रज्ञा० । दश० । स्या० । अग्रमाने ज्वलत्काष्ठे, न० ।

अलावमिसक-अज्ञावतंसक-न० । अलावेण्या भवने, ज्ञा० २ अ० ।

अलावु-अलावु-न० । “बो वः” ७।२ । २३७ । इति सूत्रेण वस्य वः । प्रा० १ पाद । तुम्ये, ज० ३ वक्र० । “अलावुगा ण प्ररिज्जति” नि० चू० १ उ० ।

अलाहि-अन्य० । “अलाहि इति निवारणे” ८।२ । १७६ ।

अलाहि इति निवारणे प्रयोक्तव्यम् । “अलाहि किं बाउपणं हेहेण” प्रा० २ पाद ।

अलम्-अन्य० । पर्याप्तौ, अलमत्यर्थं पर्याप्तः शकः । म० १५ अ० १ उ० ।

अलिउल-अलिकुल-न० । अमरसमूहे, “ छीबे अहशसोरि ”
। ८ । ४ । ३५३ । इति जहशसोः ‘इ’ इत्यादेशः । “कमलई मेखवि
अलिबलई, करि-गडाई महति” । प्रा० ४ पाद ।

अलिङ्ग-अलिङ्ग-न० । प्रधाने, (साङ्ख्यपरिकल्पितप्रकृतौ,)
द्वा० २० द्वा० ।

अलिङ्गर-अलिङ्गर-न० । महद्वकभाजनविशेषे, उपा० ७
अ० । उदककुम्भे, स्था० ४ ता० २ उ० ।

अलिदग-अलिन्दक-पुं० । गृहाद्विर्द्धाराप्रवर्तिगण्डिकायाम्,
द्व० २ उ० । नि० चू० ।

अलिङ्ग-अलिन्दुक-न० । जगत्वे, अनु० ॥

अलित्त-अलिप्त-त्रि० । अकृतलेपे, अलित्तस्य तत्त्वसमाधिर्न-
वति, पूर्णानन्दवृत्तिरपि । अष्ट० ११ अष्ट० ।

अरित्र-न० । नौकेपणकाष्ठोपकरणभेदे, आचा० २ शु० ३
अ० १ उ० ।

अलिपत्त-अलिपत्र-न० । वृद्धिकपुष्पाकृतौ, विपा० १ शु० ६ अ० ।

अलिय-अलीक-न० । पु० । “ पानीयादिष्वित् ” । ॥ १।१०१।

इति सूत्रेण ईकारस्य इत्वम् । प्रा० १ पाद । कषायवशाग्निम्या-
भाषणे, अनुतभाषणे, उक्त० १ अ० । मृषावादे, प्रव० २३७
द्वा० । स्था० । प्रश्न० । दर्श० । द्विधा अलीकम्-अभूतो-

ज्ञावन, भूतनिहवश्च । यथा-‘ ईश्वरकर्तृक जगत् ’ इत्याद्यभू-
तोज्ञावनम् । ‘ नास्त्यात्मा ’ इत्यादिस्तु भूतनिहवः । विशेष० ।
आ० म० । नि० चू० । अनु० । म० । अलीकवादजनितकर्माग्नौ,
प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । “ अलियनियडिसातिजोयबहुल ” अ-
लीकः शुभफलापेक्षया निष्फलो यो निकृतेर्वन्धनप्रच्छादनार्थ-
वचनस्य [साह सि] अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य यो-
गो व्यापारस्तेन बहुल प्रचुर यत् तत्तथा । प्रश्न० २ आश्र०
द्वा० । “ अलिय न भासियव्वं, अत्थि हु सच्च पि ज न वत्तव्व ।
सच्चं पि होइ अलिय, जं परपीमाकर वयण ” ॥१॥ दर्श० ।

अलियणिमित्त-अलीकनिमित्त-न० । मृषावादप्रत्यये, व्य० २ उ० ।

अलियजीरु-अलीकजीरु-पुं० । सत्यवादिनि, व्य० ७ उ० ।

अलियवयण-अलीकवचन-न० । वितथभाषणे, प्रव० ४१ द्वार ।
यथा-किं दिवा प्रचलायसि ? इत्यादिप्रश्ने-न प्रचलयामीत्यादि-
भणने, प्रव० २३५ द्वार । उक्त० । स्था० । (पञ्चालीकानि)

अथ द्वितीयमणुव्रतं दर्शयति-

द्वितीयं कन्यागोचूम्य-लीकानि न्यासनिहवः ।

कूटसाह्यं चेति पञ्चा-सत्येन्यो विरतिर्मतम् ॥ ५६ ॥

इन्द्रा-ते श्रूयमाणाऽलीकशब्दस्य प्रत्येक संयोजनात् कन्या-
लीक, गवालीक, घूम्यलीक चेति, तानि । तथा-न्यासनिहवः,
कूटसाह्यं चेति, पञ्च पञ्चसत्याकानि, अर्थात् क्लिष्टाशयसमुत्थ-
त्वात् स्थलासत्यानि, तेभ्यो विरतिर्विरमणं, द्वितीयं अधिकारा-
दणुव्रतं मतं, जिनैरिति शेषः । तत्र कन्याविषयमलीक कन्याली-
क द्वेषादिभिरविषयकन्यां विषयकन्यां, विषयकन्यामविषयकन्यां वा,
सुशीलां वा दुःशीलां, दुःशीलां वा सुशीलाम्, इत्यादि वदतो
भवति । इदं च सर्वस्य कुमारादिद्विपदविषयस्यालीकस्योपप-
न्नम् १। गवालीकम्-अल्पकीरा बहुकीरां, वदुकीरां वाऽल्पतो-
१६४

रामित्यादि वदत । इदमपि सर्वचतुष्पदविषयालीकस्योपपन्न-
म् २ । घूम्यलीकं परसकामप्यात्मादिसकाम्, आत्मादिस-
कां वा परसकाम, ऊषर वा क्षेत्रमनूषरम्, अनूषर वोषरमित्या-
दि वदत । इदं चाशेषाऽपदद्रव्यविषयालीकस्योपपन्नम् ।
यदाह-“ कष्णागहणं दुपया-णसूभगं चतुपयाणं गोवयणं ।
अपयाणं दन्वाणं, सन्वाणं घूमिवयणं तु ” ॥ १ ॥ ननु य-
द्येव तर्हि द्विपदचतुष्पदापदग्रहणं सर्वसंग्राहकं कुतो न क-
तम् ? । सत्यम् । कन्याद्यलीकानां लोकेऽतिगर्हितत्वेन कूट-
त्वादिशेषेण वजनार्थमुपादानम् । कन्याऽलीकादौ च भोगान्त-
रायद्वेषवृद्धादयो दोषा स्फुटा एव । यत आवश्यकचूर्णौ-
“ मुसावाण के दोसा, अकज्जते वा के गुणा ? । तत्थ दोसा
कष्णां चैव अकष्णां भणनो भोगंतरायदोसा, पडुछा वा आ-
तधातं करेज्ज, कारवेज्ज वा; एवं सेसेसु भाणिअव्वा ” इत्या-
दि । तथाऽन्यस्य ते रक्षणायान्यस्मै समर्प्यते इति ३ । न्यासः
सुवर्णादि, तस्य निहवोऽपलापस्तद्वचनं स्थूलमृषावादः । इदं
चानेनैव विशेषणैः पूर्वालीकेभ्यो भेदेनोपात्तम् । अस्य चाद-
त्तादाने सत्यपि च तस्यैव प्राधान्यविवक्षणान्मृषावादत्वम् ४।
कूटसाह्यं द्रव्यदेयविषये प्रमाणीकृतस्य लज्जामत्सरदिना कूटं
वदत । यथा-‘ अहमत्र साक्षीति ’ अस्य च परकीयापसमर्थ-
कत्वलक्षणविशेषमाश्रित्य पूर्वैर्न्यो भेदेनोपन्यासः ५ इति । अ-
त्रायं भावार्थः-मृषावादः क्रोधमानमायालोभत्रिविधरागद्वेष-
हास्यभयव्रीणाप्रीडारत्यरतिदाक्षिण्यमात्सर्यविषादादिभिः सं-
भवति । पीडाहेतुश्च सत्यवादोऽपि मृषावादः । सन्नद्यो हितं स-
त्यमिति व्युत्पत्त्या परपीमाकरमसत्यमेव । यत-“ अलिअं न प्रा-
सिअव्व, अत्थि हु सच्चं पि जं न वत्तव्व । सच्चं पि तं न सच्चं, जं
परपीमाकर वयण ” ॥ १ ॥ स च द्विविधः-स्थूल, सूक्ष्मश्च ।
तत्र परिस्थूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टविषयसमुद्भवश्च स्थूलः, त-
द्विपरीतः सूक्ष्मः । आह हि-“ दुविहो अमुसावाओ, सुहुमो थूहो
अ तत्थ इह सुहुमो । परिहासाइप्पमवो, थूलो पुण तिच्चसकेसा ”
॥ १ ॥ श्रावकस्य सूक्ष्ममृषावादे यतना, स्थूलस्तु परिहार्य एव ।
तथाऽऽवश्यकसूत्रम्-‘ थूलगमुसावादं समणोवासओ पच्चक्खाइ,
से अमुसावाए पच्चविहे परणत्ते । त जहा-कष्णालिए १,
गवालालिए २, जोमालालिए ३, णासावहारे ४, कूरुसक्खे अ ५
इति । तच्चूर्णावपि-“ जेण भासिएण अप्पणो परस्स वा अ-
तीव वाग्धाओ अइसकिलेसो य जायते, त अट्ठाए वाऽण्णए
वा ए वएज्जत्ति ” । एतच्चासत्यं चतुर्धा-भूतनिहवः १,
अभूतोद्भवः २, अर्थान्तर ३, गर्हा च ४ । तत्र भूतनिहवो
यथा नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापमित्यादि १ । अभू-
तोद्भवः यथा-आत्मा इयमाकतन्हुलमात्रं, अथवा सर्वगत
आत्मेत्यादि २ । अर्थान्तरं यथा-गामश्चमभिवदतः ३ । गर्हा
तु त्रिधा-एका सावधन्यापारप्रवर्तिनी, यथा-कैत्रं कृषेत्यादि
१ । द्वितीया अप्रिया-काणं कारणं वदतः २ । तृतीया आक्रो-
शरूपा, यथा-अरे ! बान्धकिनेय ! ३ इत्यादि । ध० २ अधि० ।
दर्श० । पञ्चा० । आ० ।

अलीकवचनप्रकरणम्-

जे निक्खुं लहुमयं मुमं वयइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥१॥

मुस अलिय, लहुसय अल्प, तं वदओ मासलहु ।

त पुण मुस चरन्विह-

दन्वे खेत्ते काले, जावे लहुसग मुसं होति ।

एतेसि पाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुन्वीए । ६० ।

पाणत्ते विसेसो, आणुपुन्वीए दब्बादिउवन्नासकमेण व-
क्खाणं ।

इमे दब्बादि उदाहरणा—

दब्बे वत्थपयादिमु, खेत्ते संथारवसहिमादीसु ।

कालेऽतीतमणागा, जावे भेदा इमे होंति ॥ ६१ ॥

पढमपादस्स वक्खाणं—

मज्झ पुणो एोस तुहं, एयावि सो तस्स दब्बतो अलियं ।

गोरस्सं च जणंते, दब्बंजुते व जं भणति ॥ ६२ ॥

वत्थ पायं च सहसा भणेज्जा-मज्झ एस ण तुज्ज, सहसा
गोरस्सं जूते, द्रव्यजुतो वा अनुपयुक्त इत्यर्थः ।

अहवा दब्बालिय इमं—

वत्थं वा पायं वा, अस्सेणुप्पाइयं तु सो पुट्ठो ।

भणति मए उप्पाइय, दब्बा अलियं जवे अहवा ॥ ६३ ॥

वत्थपात्तादि अस्सेण उग्गमिया, अस्सो जणइ-मए उप्पाइया ।
दब्बओ अलियं गय ।

खेत्तओ (संथारवसतिमादीसु इत्यादि) अस्य व्याख्या—

णिसिमादीसंमूढो, परसंथारं भणाति मज्झे णं ।

सो खेत्तवसही व अस्से-ऽणुग्गमिया वेति तु मए चि । ६४ ।

(णिसि चि) राईए अंधकारस्समूढो परसंथारजूर्मि अ-
प्पणो भणइ । मासकप्पपाउग्ग वा वासावासपाउग्ग वा खित्त
वसही रिउत्तमा अस्सेऽणुग्गमिया भणाति-मए चि । खित्तओ
वा मुसावाओ गओ ।

‘कालातीतमणागए चि’ अस्य व्याख्या—

केणुवसमितो सट्ठो, मए चि उवसामितोऽणयाऽतीए ।

को णु हु तं उवसामे, अणातिसचो अहं एस ॥ ६५ ॥

एको अभिगहमिच्छो एगेण सामिणा उवसामिओ । अओ साहु
पुच्छिओ-केयोस सट्ठो उवसामिओ ? । अजया विहरंतेण मए
चि । अवनीए एगो अभिगहमिच्छो अरिहंतसाहुपडिणीओ ।
साहुण य समुल्लावो-को णु त उवसामेज्ज ? । तत्थ एगो साहु
अणातिसचो भणति-सो य अवस्स मया उवसामियव्वो । एवं
एण्यकालं प्रति मृषावाद ।

अथवा काल पडुब्ब इमो मुसावाओ—

तीतम्मि य अडुम्मी, पच्चुप्पस्से यऽणागते चेव ।

विधिसुत्ते जं जणितं, भणाति णिस्संकितं जावे ॥ ६६ ॥

तीतमणागतपडुप्पस्से कालेसु जं अपरिआय त निस्संकियं
भासंतस्स मुसावाओ भवति । विधिसुत्त दसवेयालिय, तत्थ वि
वक्खुदी । तत्थ जे कालं पडुब्ब मुसावायसुत्ता ते इह दट्ठ्वा ॥
जावे भेओ इमो चि । नि० चू० २ उ० ।

तेषां च षण्णामपि यथाक्रममिय प्ररूपणा, तामेव प्ररूपणां
चिकीर्षुर्लीकवचनविषयां द्वारगाथामाह—

वत्ता वयणिज्जो वा, जेसु थ ठाणेषु जा विसोही य ।

जे य जणओ अवाया, सपमीपक्खा उ पोयव्वा ॥

यो वक्ता अलीकवचनजायकः, यश्च वचनीयः-अलीकवचनं
यमुद्दिश्य भण्यते, तेषु च स्थानेष्वलीक संजघति, यादृशी च
तत्र शोधिः प्रायश्चित्तम्, ये चाऽलीक भणतो अपाया दोषाः, ते
सप्रतिपत्ताः सापवादा अत्र भणनीयतया ज्ञातव्याः । इति द्वा-
रगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतं तामेव विवृणोति—

आयरिए अनिसेगे, जिकखुम्मि य थेरेए य खुइं य ।

गुरुगा लहुगा गुरुलहु-जिएणे पमिलोम विइएणं ॥

इहाचार्यादिवक्ता, वचनीयोऽपि एकैकतरः । तत इदमुच्यते-
आचार्यमलीकं भणति चतुर्गुरुं, अभिषेकं भणति चतुर्लघुं,
भिषु भणति मासगुरुं, स्थविरं भणति मासलघुं, कुल्लकं जणति
जिअमासः । (पडिलोम विइएणं ति) द्वितीयेनादेशेनैतदेव
प्रायश्चित्तं प्रतिलोम वक्तव्यम् । तद्यथा-आचार्यमलीकं भणति
भिअमासः, अभिषेकं जणति मासलघुं, एव यावत् कुल्लकं
जणतश्चतुर्गुरुं, एवमभिषेकादीनामप्यलीकं भणतां स्वस्थाने
परस्थाने च प्रायश्चित्तमिदमेव मन्तव्यम् । अभिलाषेयं
कर्तव्यः-अभिषेकमाचार्ये अलीकं जणति चतुर्लघुं इत्यादि ॥

तत्त्वलीकवचनं येषु स्थानेषु समवति, तानि सप्रायश्चित्ता-
नि दर्शयितुकामो द्वारगाथाद्वयमाह—

पयला उट्ठे मरूप, पच्चक्खाणा थ गमण परियाए ।

समुदेससंखमीओ, खुइंगपरिहारियमुहीओ ।

आवस्सगमणं दिसा-सु एगकुत्ते चेव एगदब्बे य ॥

पमियाखित्तागमणं, पमियाखित्तायणंजणयं ॥

प्रचलापदमार्कपदं मरुकपदं प्रत्याख्यानपदं गमनपदं पर्याय-
पदं समुदेशपदं संखडीपदं क्षुल्लकपदं पारिहारिकपदं [मुही-
ओ चि] पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् घोटकमुक्तीपदम्, अ-
वश्यं गमनपदं दिग्विषयपदं, एककुलगमनपदं, एकद्रव्यग्रहण-
पदं, प्रत्याख्याय गमनपदं, प्रत्याख्याय भोजनपदं चेति द्वारगा-
थाद्वयसमासार्थः ।

अथैतदेव प्रतिहारं विवृणोति—

पयलासि किं दिवा? ए य, पयलामि दाहु दुह णिएहवे गुरुगा ।

अअदरसितनिहवे, दाहुगा गुरुगा बहुतराणं ।

कोऽपि साधुर्विधा प्रचलायते, स चान्येन साधुना जणितः-
किमेव दिवा प्रचलायसे ? । स प्रत्याह-न प्रचलाये, एवं प्रथम-
वारं निहुवानस्य मासलघुं, ततो भूयोऽप्यसौ प्रचलायितुं
प्रवृत्तः । तेन साधुना जणितः-मा प्रचलायिष्ठा । स प्रत्याह-
न प्रचलाये । एवं द्वितीयवारं निहुवे मासगुरुं । ततस्तेयैव
प्रचलायितुं प्रवृत्तः, तेन च साधुना अन्यस्य साधोर्वर्जितः-
यथैवं प्रचलायते, परं न मन्यते ततस्तेनान्येन साधुना भणितो-
ऽपि यदि निहुते तदा चतुर्लघुं । अथ तेन साधुना बहुतराणां
द्विष्यादीनां साधूनां दर्शितः, तैश्च भणितोऽपि यदि निहुते तदा
चतुर्गुरुं ।

निएहवणे निएहवणे, पच्छिचं वट्ठए उ जा सपयं ।

लघुगुरुमासो लहुंगो, लहुगादी वायरे हुंति ॥

एव निहवने निहवने प्रायश्चित्त वक्षते यावत् स्वपदम्; पारा-
ञ्चिक तराञ्चिकम् । तद्यथा पञ्चम वार निहुगानस्य पम्बधु, पण
वार पम्बधु, सप्तमं मूलम्, नवममनपस्थाप्यं, दशमं वार
निहुवानस्य पाराञ्चिकम् । अत्र च प्रचलादिषु सर्वेष्वपि
हारेषु यत्र यत् लघुमासो वा प्रपति तत्र तत्र सृष्टमो मृपावा-
दः, यत्र तु चतुर्लघुकादिक भवति तत्र पादरो मृगावादो भवति ।
गत प्रचलाद्वारम् ।

अथाहंकारमाह—

किं णीमि वासमाणे, ए णीसि एण वासविंदो एए ।

भुंजंति हीण मरुता, कहिं ति नणु सस्तगेहेसु ॥

कोऽपि साधुर्ये पतति प्रस्थित, स चापरणे भणित—किं 'या
समाणे' वर्धति निर्गच्छामि ? एव माणित्या तथैव प्रस्थितः । तत
इतरेण साधुना भणितम्—कथं न निर्गच्छामीति माणित्या निर्ग-
च्छामि । स प्राह—वास-शब्दे इति धातुपाठाद् वासति श-
ब्दायमाने यो गच्छति स वासति निर्गच्छतीत्यभिधीयते ।
अत्र तु न कश्चिद् वासति, किन्तु पर्यवेन्द्य एते, तेषु गच्छा-
मि । एव उलवादेन प्रत्युत्तर दानस्य तथैव प्रथमवारादिषु
मासलघुकादिकं प्रायश्चित्तम् ॥ अथ मरुतद्वारम् । कोऽपि सा-
धु कारणे विनिर्गत उपाधयमागत्य साधून् भणति—साध-
वो यात, हज्जते मरुका । एवमुक्ते ते साधव उल्लाहितभा-
जना भणन्ति—(कहिं ति सि) क ते मरुका हज्जते ? इतरः
प्राह—ननु सर्वे आत्मीयगृहेषु, एव हस्तेनोत्तरं प्रयच्छति ॥

अथ प्रत्याख्यानद्वारमाह—

हुंजमु पक्खत्तातं, मए चि तक्खण पत्तंनओ पुटो ।

किं च ए मे पंचविहा, पक्खत्ताया अविरईओ ॥

कोऽपि साधुना भोजनवेलायां भणितः—मुह्येव समुद्दिष्टः । स
प्राह—प्रत्याख्यात मयेति । एवमुक्त्वा मयद्वत्त्यां तत्तत्कणादेव
प्रहृष्टो-नोक्तु प्रवृत्तः । ततो द्वितीयेन साधुना पृष्टः—आर्य ! त्व-
येव भणितम्—मया प्रत्याख्यातम् ? स प्राह—किं वा मया प्रा-
णातिपातादिका पञ्चविधा मधिरतिर्न प्रत्याख्याता, येन प्रत्या-
ख्यान न घटते ? ।

अथ गमनद्वारमाह—

वच्चासि नाहं वच्चे, तक्खण वच्चए पुच्छिओ भणइ ।

सिद्धंतं न वि जाणसि, नाणु गम्मइ गम्माणं तु ॥

केनापि साधुना त्रैत्यवन्दनादिप्रयोजने प्रजता कोऽपि साधु-
रुक्—किं त्वमपि प्रजसि ? गच्छामीत्यर्थः । स प्राह—नाहं प्रजा-
मि । एवमुक्त्वा तत्तत्कणादेव प्रजितुं प्रवृत्तः । तेन पूर्वप्रस्थितसा-
धुना पृष्टः—कथं न प्रजामीति भणित्या प्रजसि ? स भणति—सि-
द्धान्तं न जानीये त्वम् । नन्विन्याक्षेपे । भो मुरध ! गम्यमान-
मेव गम्यते, नागम्यमानम्, यस्मिन् समये त्वयाऽहं पृष्टस्तस्मिन्नाहं
गच्छामि ? इति ॥

अथ पर्यायद्वारमाह—

दसएयस्स य मज्झ य, पुच्छिय परियाय वेइ उ छलेण ।

मम नवए वंदिअम्मि, भणइ वे पंचगा दसओ ॥

कोऽपि साधुरात्मद्वितीयः केनापि साधुना वन्दितुकामेन पृ-

ष्टः—कति वर्षाणि भवतां पर्यायः ? इति । स एवं पृष्टो भणति—
एतस्य माधोर्मम च दश वर्षाणि पर्याय इति । एव छलेन ते-
नोक्ते, स प्रच्छक साधुः—मम नव वर्षाणि पर्याय इत्युक्त्वा प्रवन्दि-
तो वन्दितु लग्नः । इतरश्चलवादी भणति—उपविशत, भवन्तः
स्वयमेव वन्दनीया इति । कथं पुनरहं वन्दनीयः ? इति तेनोक्ते, उ-
लवादी भणति—मम पञ्च वर्षाणि पर्यायः, एतस्यापि साधोः
पञ्च । एवं द्वे पञ्चके मीक्षिते दश भवन्ति । ततो यूयमाधयोरुज-
योरपि वन्दनीया इति भणति ।

अथ समुदेशद्वारमाह—

वट्ठ उ समुद्देशो, किं अत्यहं कत्थ एस गगणम्मि ।

वट्ठंति संखमीओ, घरेसु नणु आठखंडणया ॥

कोऽपि साधुः कायादिभूमौ निर्गत्य आदित्यं राहुणा प्रस्यमा-
मानं दृष्ट्वा साधून् स्वस्वान् मौनान् प्रणति—आर्या ! समुद्देशो
पतंते किमेवमुपविष्टास्तिष्ठथ ? ततस्ते साधवो नायमहीक मृते
इति हृत्या गृहीतजानमपस्थिताः पृच्छन्ति । कुत्रासौ समुदे-
शो भवति ? स प्राह—नन्वेव गगनमार्गे सूर्यस्य राहुणा समुद्देशः
प्रत्यक्षमेव दृश्यते ॥ अथ संखद्वारम् । कोऽपि साधुः प्रथमासि-
कापानकादिनिमित्तं विनिर्गतः प्रत्यागतो भणति—प्रचुराः संख-
द्वयो वर्तन्ते, किमेव तिष्ठथ ? ततस्ते साधवो गन्तुकामाः पृच्छन्ति—
मृत ताः सन्नमय । स छलवादी भणति—तेषु तेषु गृहेषु संखद्वयो
पतन्त एव । साधवो भणन्ति—कथं ता अप्रसिद्धाः संखद्वय उ-
च्यन्ते ? छलवादी भणति—[नणु आठपंरुणय सि] नन्वित्या-
क्षेपे । पृथग्यादिजीवानामायुषि गृहे गृहे रन्धनादिभिरार-
म्भे. सगच्छन्ते, ताः कथं न संखद्वयो भवन्ति ? ।

अथ कुल्लकद्वारमाह—

खुहुग ! जणणी ते मिया, रुए जीवइ चि अण्ण भणितम्मि ।

माइत्ता सव्वजिया, जवेसु तेणेस ते माता ॥

कोऽपि साधुरुपाश्र्वसमीपे मृतां शुनीं दृष्ट्वा कुल्लकमपि भ-
णति—कुल्लक ! जननी तव मृता । ततः कुल्लकं प्रवदितो—रो-
पितु लग्न । तमेव रुदन्त दृष्ट्वा स साधुराह—मा रुदिहि, जीवति
ते जननी । एवमुक्ते कुल्लकोऽपरे च साधवो प्रणन्ति—कथं पू-
र्वं मृतेत्युक्त्वा सप्रति जीवतीति प्रणसि ? । स प्राह—एषा या
शुनी मृता सा तव माता भवति । कुल्लको मृते—कथमेषा मम
माता ? मृपावादी साधुराह—सर्वेऽपि जीवा मृतीते काले तव
मातृत्वेन वधूषु । तथा च प्रहसिष्वत्तम्—“एगमेगस्स ण जीवस्स
सव्वजिया माइत्ताए पिइत्ताए भायत्ताए पुत्तत्ताए धूयत्ताए
भूतपुब्बा ? । हत्ता गोयमा ! एगमेगस्स जीवस्स जीवा तहा
भूतपुब्बा ” । तेनैव कारणेनैषा शुनी त्वदीया मातेति ॥

अथ परिहारिकद्वारमाह—

उज्जाणे दह्णं, दिछा परिहारग चि लहु करणे ।

कत्थुज्जाणे गुरुयं, वयंति दिट्ठेसु लहुगुरुगा ॥

उद्धउगा उ णिउत्ते, आलोइए तम्मि उगुरू होंति ।

परिहरपाणा वि कहं, अप्परिहारी जवे छेदी ॥ २ ॥

किं परिहरंति एणु था-णुकंटए मूल तुज्ज सव्वे य ।

अट्ठमेगो अणवट्ठं, चहिं पवणस्स पारंची ॥ ३ ॥

कोऽपि साधुरुद्याने स्थितानवसन्नान् दृष्ट्वा प्रतिभयमागत्य
भणति—मया परिहारिका दृष्टा इति । साधवो जानते, यथा-

शुरूपरिहारिकाः समागताः । एव बलाभिप्रायेण कथयत एव मासलघु । न्ययस्ते साधवः परिहारिकसाधुदर्शनोत्सुकाः पृच्छन्ति-कुत्र ते दृष्टा ? । स प्राह-उद्याने, एव भणतो मासगुरु । ततः साधवः परिहारिकदर्शनार्थं चालिताः, व्रजन्तो यावत् पश्यन्ति तावत्स्य कथयतश्चतुर्दश । तत्र गतैर्दृष्टेष्ववसरेषु कथयतश्चतुर्गुरु । अवसन्ना अमी इति कृत्वा निवृत्तेषु कथयतः परुषधवः । ते साधव इर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य गुरुणामाश्लोचयन्ति-विप्रतारिता वयमनेन साधुनेति, एवं ब्रुवाणेषु तस्य वसगुरु । आचार्यैकम्-किमेव विप्रतारयसि ? । स चेष्टोत्तर दातुमारब्ध-परिहरन्तोऽपि कथमपरिहारिणो भवन्ति ? एव ब्रुवतश्चेदः । साधवो भणन्ति-किं ते परिहरन्ति येन परिहारिका उच्यन्ते ? । इतरः प्राह-स्थाणुकण्टकादिकं तेऽपि परिहरन्ति, एवमुत्तर ददतो मूलम् । ततस्तैः सर्वैरपि साधुनिरुक्तो दुष्टोऽसि यदेवगतेऽप्युत्तरं ददासीति । ततः स प्राह-सर्वेऽपि यूयमेकत्रीभूता, अह पुनरेकोऽसहायोऽतः पराजीये, न परिफल्यु मदीय जल्पनम्, एव भणतोऽनवस्थाप्यम् । अथ ज्ञानमदावलिप्त एव ब्रवीति-सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्याः, एव सर्वानधिक्रियन्तः पाराश्रिक भवति ।

इदमेवान्त्यपद व्याचष्टे-

किं गगलेण जंघह, किं मं कोप्पह एवऽजाणंतं ।

बहुएहिं को विरोहो, सलभेहिं व नागपोयस्स ? ॥

किमेव गगलेन न्यायेन जल्पथ, बोकडवन्मूर्खतया किमेवमेवं प्रलपथेत्यर्थः । किञ्च-मामेवाजानतोऽपि (कोप्पह) गले धृत्वा प्रेरयथ । अथवा एवमपि पटुभिः सह को विरोधः ? , सलभेरिव नागपोतस्येति ।

अथ घोटकमुखीद्वारमाह-

जणइ य दिट्ठ नियत्ते, आलोए आमंति धोरुगमुहीओ ।

पूरुस सव्वे एगे, सव्वे वाहिं पवयणस्स ॥

मासो द्दहुओ गुरुओ, चउरो मासो हवति द्दहुगुरुगा ।

अम्मासा लहुगुरुगा, ठेओ मूळं तह वुगं च ॥ २ ॥

एकः साधुर्विचारभूमौ गतः, उद्यानोद्देशे वरुवाश्चरन्तीरवलोप्य प्रतिश्रयमागतः, साधून् विस्मितमुख कथयति-शृणुत, यद्य मया यादृशमाश्रयं दृष्टम् । साधवः पृच्छन्ति-कीदृशम् ? । स प्राह-घोटकमुख्य स्त्रियो दृष्टा ; एव भणतो मासलघु । ते साधव ऋजुस्वभावाश्चिन्तयन्ति-यथा घोटकाकारमुखमनुप्यस्त्रियोऽनेन दृष्टा इति । ततस्ते पृच्छन्ति-कुत्र तास्त्वया दृष्टा ? । स प्राह-उद्याने, एवं ब्रुवतो मासगुरु । साधवो रुष्टव्यास्ता इत्यभिप्रायेण व्रजन्ति, तदानीं कथयतश्चतुर्दश । दृष्टासु वमवासु चतुर्गुरु । प्रतिनिवृत्तेषु साधुषु वसतः । गुरुणामाश्लोचिते वसगुरु । ततो गुरुभिः पृष्ठो यदि जणति आम, घोटकमुख्य एवैता यतो दीर्घमधोमुख प्रमुख वडवानां भवतीत्येव ब्रवीति तदा छेदः । ततः साधुभिर्मणितः-कथ ताः स्त्रिय उच्यन्ते ? । इतरः प्रत्याह-यदि न स्त्रियस्तर्हि किं पुरुषाः ? , एव ब्रुवाणस्य मूलम् । सर्वे यूयमेकत्र मिलिता अह पुनरेक एव, एव जणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेऽपि प्रवचनस्य बाह्या इति भणतः पाराश्रिकम् ।

अथान्त्यप्रायश्चित्तं प्रकारान्तरेण प्राह-

सव्वेगत्था मूल, अहगं एकद्वओ य अणवडे ।

सव्वे वहिभावा पव-यणस्स वयमाण चरिमं तु ॥

यूय सर्वेऽप्येकत्र मिलिता इति भणतो मूलम् । अहमेकाकी किं करोमीति भणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्या इति वदति पाराश्रिकम् ।

इदमेवान्त्यपदं व्याख्यानयति-

किं गगलेण जंघह, किं मं कोप्पह एव जाणंता ।

बहुएहिं को विरोहो, सलभेहिं व नागपोयस्स ? ॥

गतार्थः ।

अथावश्यगमनद्वारमाह-

गच्छसि ए ताव गच्छं, किं खुण जासि ति पुच्छितो भणति ।
वेला ए ताव जायति, परलोणं वा वि मोक्खं वा ॥

कोऽपि साधुः केनापि साधुना पृष्ट-आर्य ! गच्छसि जिज्ञाचर्याम् । स प्राह-अवश्य गमिष्यामि । इतरेण साधुना भणितम्-यद्येव तन उच्छिष्ट, व्रजामः । स प्राह-न तावदद्यापि गच्छामि । इतरेण भणितम्-किं खुरिति वितर्के । न यासि गच्छसि, त्वया हि जणितम्-अवश्य गमिष्यामि ? । एव पृष्ठो भणति-न तावदद्यापि परलोकं गन्तु चेद्वा जायते, अतो न गच्छामि । यद्वा-मोक्षं गन्तु नाद्यापि वेला, अतो न गच्छामि । अपि-समावने । किं समावयति-अवश्यं परलोक मोक्षं वा गमिष्यामीति ।

अथ 'दिसासु सि' पदं व्याख्यानयति-

कतरि दिसि गमिस्ससि, पुव्वं अवरं गतो जणति पुव्वे ।

किं वा ए होति पुव्वा, इमा दिसा अवरगामस्स ॥

एकः साधुरेकेन साधुना पृष्टः-आर्य ! कतरां दिशं जिज्ञाचर्या गमिष्यासि ? । स एव पृष्ठो ब्रवीति-पूर्वा गमिष्यामि । ततः प्रच्छकः साधुः पात्रकाण्युद्वाह्याऽपरा दिशं गत । इतरोऽपि पूर्वदिग्गमनाप्रतिज्ञातां तामेवापरां दिशं गत । तेन साधुना पृष्टम्-पूर्वा गमिष्यामीति भणित्वा कस्मादपरामायातः ? । स प्राह-किं वा अपरस्य ग्रामस्येय दिक् पूर्वा न भवति, येन मदीय वचन निरुध्येत ।

अथैककुलद्वारमाह-

अहमेगकुलं गच्छं, वच्चह बहुकुलपवेसणे पुट्ठो ।

जणति कहं दोम्मि कुले, एगसरीरेण पविसिस्सं ॥

कश्चित्केनचिज्जिज्ञास्यं समपृच्छा तेनोक्तम्-आर्य ! एहि व्रजावो भिक्षाम् । स प्राह-व्रजन् यूयमहमेकमेव कुलं गच्छामि । एवमुक्त्वा बहुषु कुलेषु प्रवेष्टुं लग्नः । ततोऽपरेण साधुना पृष्टः-कथमेक कुलं गमिष्यामीति जणित्वा बहूनि कुलानि प्रविशसि ? । स एव पृष्ठो भणति-त्रे कुले एकेन शरीरेण युगपद कथं प्रवेक्ष्यामि ? । एकमेव कुलमेकस्मिन् काले प्रवेष्टुं शक्यम्, न बहु-नीति भावः ॥

अथैकद्रव्यग्रहणद्वारमाह-

वच्चह एगं दव्वं, घेत्यं ऐगगहे पुच्छितो जणति ।

गहण तु दव्वणं पो-गलाण गेहंमि तेणऽहं एगं ॥

कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं गच्छन् कमपि साधु भणति-व्रजामो जिज्ञायाम । स प्राह-व्रजन् यूयमहमेकं द्रव्यं ग्रहीष्यामि । एवमुक्त्वा जिज्ञा पर्यटन्ननेकानामोदनद्वितीयाङ्गादीनां बहूनां द्रव्याणां ग्रहणं कुर्वन् साधुभिः पृष्ठो जणति-(ग्रहणं तु इत्यादि) गतिवृत्तणो धर्मास्तिकाय, स्थितिलक्ष्योऽधर्मास्तिकायः,

अवगाहलक्षण आकाशास्तिकायः, उपयोगलक्षणो जीवा-
स्तिकायः, ग्रहणलक्षणः पुरुषास्तिकायः । एषां च पञ्चा-
नां रूपानां मध्यापुञ्जलानामेव ग्रहणरूप लक्षणं, नान्येषां
धर्मास्तिकायादीनाम्, तेन ग्रहमेकमेव रूपं गृह्णामि न बहु
नीति व्याख्यातं द्वितीयद्वारगाथायाः पूर्वार्द्धम् । अथ “ प-
नियाइक्षिताय भुज्जय चि ” पञ्चार्द्धं व्याख्यायते-प्रत्याख्या-
य ‘नाह गच्छामीति प्रतिषिध्य’ गमन करोति । प्रत्याख्याय
च ‘नाह हृष्टे इति भाणित्वा’ भुज्जे । अपरेण च साधुना पृष्टो
ब्रवीति-गम्यमान गम्यते नागम्यमानम्, भुज्यमानमेव हृज्यते
नाभुज्यमानम् । अनेन पञ्चार्द्धेन गमनद्वारप्रत्याख्यानद्वारे व्या-
ख्याते इति प्रतिपत्तव्यम् । इह सर्वत्रापि प्रथमवारं प्रणतो
मासलक्षणे । अथाभिनिवेशेन वदन् निकाचयति तदा पूर्वोक्तनीत्या
पाराश्रिक यावद्ब्रह्मण्यम् । तदेव येषु स्थानेष्वलीकं समवति या-
दृशी च यत्र शोधि. तदभिहितम् । सप्रति ये अपायास्ते सापवा-
दा इति द्वारम् । नान्तरोक्तान्यलीकानि प्रणतो द्वितीयसाधुना
सहासखडाद्युत्पत्तिः संयमात्मविरोधनारूपा सप्रपञ्चं सुधिया
वक्तव्या । अपवादपदं तु पुरस्ताद् जगिष्यते । बृ० ६ उ० १ जीत० ।

अलीकवचनाख्याधर्मद्वारस्य व्याख्या-

जम्बू ! नितियं च अलियवयणं बहुसगलहुचवलजणियं
जयकरदुहकरअयसकरवेरकरं अरतिरतिरागदोसमाणसंकि-
लेसविपरेणं अलियनियडिसाइजोयबहुलं एणियजणणिसे-
वियं निसंसं अप्पञ्चयकारं परमसाहुगरहणिज्जं . परपीला-
कारकं परमकाहल्लेससहिंयं दुग्गतिविणिपायवहुणं जवपुण-
न्नवकरं चिरपरिचितमणुगयं दुरंतं कित्तियं वित्तियं अह-
म्मदारं ॥

‘जम्बू’ इति शिष्यामन्त्रणवचनम् । ‘द्वितीयं च’-द्वितीयं पुनरा-
श्रवणम्, अलीकवचनं मृषावादः । इदमपि पञ्चजिर्यादशका-
दिद्वारैः प्रकृत्यते । तत्र यादृशमिति द्वारमाश्रित्यालीकवचनस्य
स्वरूपमाह-‘बहुगुणगौरवरहितः, स्व आत्मा येषां ते लघुस्व-
काः, तेभ्योऽपि ये ब्रह्मवस्ते ब्रह्मस्वकलघवः, ते च ते चपलाश्च,
कायादिभिरिति कर्मधारयः । तैरेव भाणितं यत्तत्तथा । तथा-
भयकरं दुःखकरमयशुःकरं वैरकरं च यत्तत्तथा । अरतिरति-
रागद्वेषलक्षणं मनःसङ्गेश वितरति यत्तत्तथा । अलीकः शुभफ-
लापेक्षया निष्फलो यो निरुतेर्बन्धनप्रच्छादनार्थवचनस्य, (सा
इ चि) अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन
बहुलं प्रसुरं यत्तत्तथा । नाचैर्जात्यात्रिहीनैः प्राय इदं निषेधितं
तत्तथा । नृशसं सूकावर्जितं, निःशसं वा श्लाघाघातितम्, अ-
प्रत्ययकारकं विश्वासविनाशकम् । इतः पदचतुष्टयं कण्ठ्यम् ।
तथा-मवे ससारे पुनर्नैव पुन पुनर्जन्म करोतीति, नच पुनर्भव-
करम्, चिरपरिचितमनादिससारेऽन्यस्तम्, अनुगतमव्यवच्छे-
देनानुवृत्तं, दुरन्तं विपाकदारुणं, द्वितीयमधर्मद्वारं कीर्तितम् ।
एतेन यादृश इत्युक्तम् ।

अथ यन्नामेत्यभिधानुक्तम् आह-

तस्स य एणामाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा-अलि-
यं ? सत्तं २ अणज्जं ३ मायामोसो ४ असंतगं ५ कूम-
कवडमवत्थुं ६ निरत्थयमवत्थगं च ७ विदेसगरहणिज्जं
८ अणुजुगं ९ ककतकारणा य १० वंचणा य ११ मिच्छा-
१६५

पच्छाकमं च १२ साती १३ उच्छत्तं १४ उक्कूलं च १५
अट्टं १६ अञ्जक्खाणं च १७ किच्चिसं १८ वलयं १९
गहणं च २० मम्मणं च २१ नूमं २२ नियती २३ अ-
पच्चओ २४ असमओ २५ असच्चसंधत्तणं २६ विव-
क्खो २७ अवहीयं २८ उवहिअसुद्धं २९ अवलोवो
त्ति आविय ३०; तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि
हुंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वज्जोगस्स अणेगाइ ।

“तस्स” इत्यादि सुगमं यावत्तत्तथा । अलीक १, शठः, शठस्य
मायिनः कर्तृत्वात् २, अनार्यवचनत्वादनायः ३, मायालक्षणक-
षायानुगतत्वात्, मृषारूपत्वाच्च मायामृषा ४, (असंतगं ति)
असदर्थान्निधानरूपत्वादसत्यम् ५, (कूमकवडमवत्थुं चि) कूटं
परवञ्चनार्थं न्यूनाधिकभाषणं, कपटं भाषाविपर्ययकरणम्, अ-
विद्यमानवस्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु; पदत्रयस्याप्येतस्य
कथाश्चित् समानार्थत्वेनैकतमस्यैव गणनादिदमेकं नाम ६, (नि-
रत्थयमवत्थय चेति) निरर्थकं सत्यार्थान्निष्क्रान्तम्, अपार्थक्यम्-
अपगतसत्यार्थम्, इहापि द्वयोः समानार्थतया एकतरस्यैव ग-
णनादेकत्वम् ७, (विदेसगरहणिज्जं ति) विद्वेषो मत्सरस्त-
स्माद् गर्हति निन्दति येन, अथवा-तत्रैव विद्वेषाद् गर्हते साधु-
निर्यत्तद्विद्वेषगर्हणीयमिति ८, अनुजुगं वक्रमित्यर्थः ९, कल्क
पापं माया वा, तत्कारणं कल्कं माया पापं च १०, वंचना च ११,
(मिच्छापच्छाकमं च चि) मिथ्येति कृत्वा पश्चात्कृतं निराकृतं न्या-
यवादिर्निर्गच्छत्तथा १२, (साती ति) अविश्रम्भः १३, (उच्छत्तं
ति) अपसदं विरूपं उत्र स्वदोषाणां परगुणानां चाऽऽवरणमप-
च्छन्नम्, उच्छन्नं वा न्यूनत्वम् १४, (उक्कूलं च चि) उत्कूलयति
सन्मार्गादपध्वंसयति, कूलाद्वा न्यायसरित्प्रवाहतटादूर्ध्वं यत्तदु-
त्कूलम् । पाठान्तरेण-उत्कूलम्-ऊर्ध्वं धर्मकलायां यत्तत्तथा १५,
आर्तम्-श्रुतस्य पीडितस्येदं वचनमिति कृत्वा १६, अज्ज्याख्या-
नं चोद्घाटनम्-असतां दोषाणामित्यर्थः १७, किच्चिष किच्चि-
वस्य पापस्य हेतुत्वात् १८, वलयमिव वलयः, चक्रत्वात् १९,
गहनमिव गहनं, दुर्लभ्यान्तस्त्वात् २०, मम्मनमिव मम्मन
च, अस्फुटत्वात् २१, (नूमं ति) प्रच्छादनम् २२, निष्कृतिर्मा-
यायां प्रच्छादनार्थं वचनम् २३, अप्रत्ययः प्रत्ययाज्जावः २४,
असमयोऽसम्यगाचारः २५, असत्यमलीकं संदधाति करो-
तीति असत्यसन्धस्तद्भावोऽसत्यसन्धत्वम् २६, विपक्ष-‘स-
त्यस्य, सुकृतस्य चेति भावः २७, (अवहीयं ति) अपसदा
निन्धा धीर्थस्मिंस्तदपधीकम् । पाठान्तरेण-‘अणामाण्य’
आज्ञां जिनादेशमतिगच्छत्यतिक्रामति यत्तदाज्ञातिगम् २८ ।
(उवहिअसुद्धं ति) उपधिना मायया अशुक्लं सावद्यमुपपद्य-
द्धम् २९, अवलोपो वस्तुसङ्गावप्रच्छादनम्, इत्येवप्रकारार्थः ।
अपि चेति समुच्चयार्थः ३० । (तस्स एयाणि एवमाईणि
नामधेज्जाणि हुंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वज्जोगस्स
अणेगाइ चि) इह वाक्ये एवमकारघटना कार्या-तस्याली-
कस्य सावद्यस्य वाग्योगस्य एतान्यनन्तरोदितानि त्रिंशत् एव-
मादीन्येवप्रकाराणि चानेकानि नामधेयानि नामानि भवन्ती-
ति ॥ यन्नामेति द्वारं प्रतिपादितम् ।

अथ ये यथा चालीक वदन्ति तौस्तथा चाऽऽह-

तं च पुणं वदंति केइ अलियं पावा असजया आविरया
कवमकुमिलकडुयचडुलजावा कुप्पा लुप्पा जया-य हस्स-

स्थिया य सक्खीचोरा चारभरा खंडरक्खा जियपूकरा
य गह्तिगहणा कक्कगुरुगकारिका कुलिंगा उवहिया वा-
णियगा य कूरुतुला कूरुमाणा कूमकाहावणोत्रजीवी पम-
कारककझायकारुज्जा वंचणपरा चारियचदुयारनगर-
गुत्तियपरिचारकदुट्टुवाइसूयकअणवन्नणिग्या य पुव्व-
कालियवयणदक्खा सहस्सिका लहुस्सगा असच्चा गार-
विया अमवत्थावणाहिचित्ता उव्वंदा अणिग्गाहा अणि-
यया उंदेण मुक्कवादी भवंति । अलियाहिं जे अविरया
अवरे एत्थिकवादिणो वामलोकवादी भवंति ॥

(त चेत्यादि) तत्पुनर्धेदन्त्यलीकम् । (केह सि) के-
चिन्न सर्वेऽपि, सुसाधूनामलीकवचननिवृत्तत्वात् । किंवि-
शिष्टाः ? पापाः पापात्मानः, असंयता असंयमवन्तः, अवि-
रता अनिवृत्ताः । तथा- (कवडकुमिलकडुयचमुलमाव सि)
कपटेन हेतुना कुटिलो वक्रः कटुकाश्च विपाकदारुणत्वात्,
चटुलश्च विविधवस्तुषु कृणे कृणे आकाङ्क्षादिप्रवृत्तेः, मावश्चि-
त्त येषां ते तथा । 'कुद्धा, सुद्धा' इति सुगमम् । (भया-य सि)
परेषां भयोत्पादनाय, अथवा-जयाश्च (हस्सात्थिया-य सि)
हासार्थिकाश्च हासार्थिनः । पाठान्तरेण-हासार्थाय (सक्खि
सि) साक्षिणः चौराः । चारमट्टाश्च प्रतीनाः । (खडरक्ख सि)
शुष्कपालाः । (जियपूकराय सि) जिताश्च ते पूतिकराश्चेति
समासः । (गहियगदण सि) गृहीतानि ग्रहणकानि यैस्ते
तथा । (कक्कगुरुगकार सि) कक्कगुरुकं माया, तत्कारकाः ।
(कुलिग सि) कुलिङ्गिणः कुतीर्थिकाः । (उवहिया वाणियग
सि) उपाधिका मायाचारिणः, वाणिजका वणिजः । किंचू-
ताः ? कूटतुला, कूटमानिनः, कूटकार्वाणोपजीविन इति पदत्रयं
व्यक्तम्; नवरं कार्वाणो छम् । (पडकारककलायकारुज्ज
सि) पटकारकास्तन्तुवायाः, कलादाः सुवर्णकाराः, कार-
केषु वरुट्छिम्पकादिषु भवाः कारुकायाः । किंविधा एते अ-
लीक वदन्ति?, इत्याह-वञ्चनपराः, तथा-चारिका हैरिकाः, चटु-
काराः सुखमङ्गलकाराः, नगरगुप्तिका कोट्टपालाः, परिचारका
ये परिचारणां मैथुनाभिष्वङ्गं कुर्वन्ति, कामुका इत्यर्थः । दुष्टवा-
दिनोऽसत्यकप्राहिणः, सूचकाः पिशुना, (अणवलमणियाय
सि) अणुण गृहीतव्ये बलं यस्यासौ अणुणबलं-बलवानुत्तम-
र्थः, तेन जयिता अस्मद् द्रव्यं देहीत्येवमाभिहिता ये अधम-
र्णास्ते तथा । नतश्चारकादीनां इन्द्रः । (पुव्वकालियवय-
णदक्ख सि) वक्तुकामस्य वचनाद् यत्पूर्वतरमभिधीयते परा-
निप्रायं सङ्कयित्वा, तत्पूर्वकालिक वचनं, तत्र वक्तव्ये दृक्तास्ते
तथा, अथवा पूर्वकालिकानामर्थानां वचने अदक्ता निरतिशय-
निरागमास्ते तथा । सहसा अवितर्क्यभाषणे ये वर्तन्ते ते
साहसिका, लघुस्वकाः बधुकात्मानः, असत्याः सङ्गोऽहिताः,
गौरविकाः श्रुत्यादिगौरवत्रयेण चरन्ति ये असत्यानामसङ्गता-
नामर्थानां स्थापनं प्रतिष्ठामधिचित्तं येषां ते असत्यस्थापना-
धिचित्ताः । उव्वो महानात्मोत्कर्षणप्रवण इन्दोऽनिप्रायो येषां
ते उव्वच्छन्दाः । अनिग्रहाः स्वैरा । अनियता अनियमवन्तोऽ-
नवस्थिता इत्यर्थः । अनिजका वा अविद्यमानस्वजना, अलीक
वदन्तीति प्रकृतम् । तथा इन्देन स्वानिप्रायेण मुक्कवाचः प्रयुक्त-
वचनाः, अथवा इन्देन मुक्कवादिन सिद्धवादिनस्ते प्रवन्ति ।
के ? इत्याह-अलीकाद् ये अविरता, तथाऽपरे उक्तेभ्योऽन्ये ना-

स्तिकवादिनो लौकायतिकाः, वाम प्रतीपं लोक वदन्ति ये सर्ता
लोकवस्तूनामसत्त्वस्य प्रतिपादनाच्चे वामलोकवादिनः, जणन्ति
प्रकृत्यन्ति । प्रश्न० २ आश्र० छा० ।

तथा किमन्यद्वदन्तीत्याह-

तम्हा दाणवयपोसहाणं तवसंयमवञ्चचैरकट्ठाणमादि-
याणं नत्थि फलं, न वि य पाणवहअलियवयणं, न चेव
चोरककरणं, परदारासेवणं वा, सपरिगहपावकम्माइकर-
णं पि नत्थि किंचि, न नेरइयतिरिक्खमणुयजोणी, न
देवलोको वा अत्थि, न य अत्थि सिद्धिगमणं, अम्मापि-
यरो वि नत्थि, न वि य अत्थि पुरिसकारो, पच्चखाण-
मवि नत्थि, न वि यऽत्थि काट्टमच्चू, अरिहंतचक्कवट्ठी वल-
देवा वासुदेवा नत्थि, नेवऽत्थि केइ रिसओ, धम्माधम्मफलं
वि न अत्थि किंचि बहुयं व थोवं व; तम्हा एवं जा-
णिऊणं जहा सुवहुइंदियाणुकूलेसु सव्ववित्तसु वट्टह;
नत्थि काइ किरिया वा. एवं जणंति नत्थिकवादिणो; इमं
पि वित्तियं कुदंसणं असब्बावं वादिणो पस्सवेंति म्हा,
संचूओ अंमकाओ लोको, सयंजुणा सयं च निम्मिओ,
एवं एतं अलियं, पयावइणा इस्सरेण य कय चि केइ,
एवं विणहुमयं जयाण सयं च निम्मिओ कसिणमेव य
जगदिति केइ, एवमेके वदंति मोसं-एको आया, अकारको
वेदको य सुकयस्स य दुक्कयस्स य करणानि कारणाणि य
सव्वहा सव्वहिं च, णिचो य, णिक्किओ, निग्गुणो य, अणुवड्ढे-
वओ चि अवि य । एवमाहंसु असब्भावं जंप्पि एहिं किंचि जी-
वड्ढोके दीसंति सुकयं वा दुक्कयं वा-एयं जदिच्छाए वा, सहावे-
ण वा पि, दयिवयप्पभावओ वा वि भवति, नऽत्थि तत्थ किंचि
कयकं तत्तं, दक्खणाविहाणं नियतिकारिया एवं केइ जंप्पि,
इहीरसमायगारवपरा बहवे करणादसा परव्वेति धम्मवी-
मंसएण मोसं, अवरे अहम्माओ रायदुट्ठं अण्णक्खाणं ज-
णंति अलियं, चोरो चि अचोरियं करेत्तं । ममराओ चि
वि य एमेव उदासीणं, दुसीलो नि य परदारं गच्छंति चि
मइल्लिति सीलकलियं अयं पि गुरुतप्पओ चि अण्णे ए-
वमेव जणंति, उवहणंति, मित्तकलत्ताइं सेवंति अयं पि
दुत्तधम्मो, इमो वि वीमंजघायओ पावकम्मकारी, अकम्म-
कारी अगम्मगामी अयं दुरप्पा बहुएसु य पातगेसु जुत्तो
चि एवं जंप्पि मच्छरी जइके वा गुणाकित्तिनेहपरलोगनि-
प्पिवासा; एवं एते अलियवयणदक्खा परदोदुप्पायणसंस-
त्ता वेदंति, अक्खयियवीएणं अप्पाण कम्मबंधणेण मुहरि
असमिक्खियप्पलावी निक्खेवे अवहरंति, परस्स अ-
त्थम्मि गहियाणिक्का, अजिजुंजंति य परं अमंतएहिं
लुद्धा य करेति कूमसाक्खित्ताणं, असच्चा अत्थालियं च,
कम्मालियं च, जोमादियं च, तथा गवादियं च, गरुयं म-

रुंति, अहरगतिगमणं, अण पि य जाइरुवकुलसीदप-
च्चवमायानिगुणं, चवडा पिसुणं परमचनेदकमसंतकं वि-
हेसमणत्थकारकं पावकम्ममूळं छुदिठं दुस्सुयं अमुणियं
निलज्जं लोगगरहणिज्जं वहवंधपरिकिहेसवहुलं जराम-
रणुक्खलसोगनेमं असुप्पपरिणामसंकिद्धिदं भणंति ॥

यस्माच्चरीरं सादिकमित्यादि, तस्माद्दानव्रतपौषधानां वितर-
णनियमपर्वोपवासानां, तथा-तपोऽनशनादि, सयम वृ-
त्त्यादिरक्षा, ब्रह्मचर्यं प्रतीतम् । एतान्येव कल्याण कल्याणहेतु-
त्वात्तदादिशेषां ते ज्ञानभ्रूवादीनां तानि तथा, तेषां, नास्ति फल
कर्मकृत्यसुगतिगमनादिक, नापि च प्राणिवधाक्षीकवचनमशु-
भफलसाधनतयति गम्यम् । तथैव नैव च चौर्यकरण, परदार-
सेवनं वाऽस्त्यशुभफलसाधनम्, तथैव सह परिग्रहणे यद्वर्त्तते
तत्सपरिग्रह, तच्च तत्पापकर्मकरणं च पातकक्रियानेवन तदपि
नास्ति किञ्चित्, क्रोधमानाद्यासेवनरूपा नारकादिका च जगतो
विविचित्रता स्वभावादेव न कर्मजानेता । तदुक्तम्-“ कण्टकस्य
च तीक्ष्णत्व, मयूरस्य च चित्रता । वर्णाश्च ताम्रचूमानां, स्व-
प्नावेन भवन्ति हि ” ॥१॥ इति । मृषावादिता चैवमेतेषाम्-स्वभावो
हि जीवाद्यनर्थान्तरभूतः, तदा प्राणातिपातादिजनितकर्मैक-
कत्रकरोऽसावनर्थान्तरभूतः, ततो जीव एवासौ, तदव्यतिरेका-
त्तत्स्वरूपवत् ; ततो निर्हेतुका नारकादिविविचित्रता स्यात् । नच
निर्हेतुकं किमपि भवति, अतिप्रसङ्गादिति । तथा-न नैरयिकति-
र्यङ्मानुष्यजानां योनिरुत्पत्तिस्थान पापपुण्यकर्मफलभूताऽस्तीति
प्रकृतम् । न देवलोको वाऽस्तीति पुण्यकर्मफलभूतः, नैवास्ति सि-
द्धिगमनः, सिद्धेः, सिद्धस्य वाऽज्ञावात् । अस्यापिनरावपि न स्तः,
उत्पत्तिमात्रनिबन्धनत्वाद् मातापितृत्वस्य । नचोत्पत्तिमात्रनिब-
न्धनस्य मातापितृतया विशेषो युक्तः ; यतः कुतोऽपि किञ्चिदु-
त्पद्यत एव । यथा-सचेतनाच्चेतन यूकामत्कुणादि, अचेतन च
मूत्रपुरीषादि । अचेतनाच्च सचेतन, यथा-काष्ठाद् घुणकी-
टकादि, अचेतनं च चूर्णादि । तस्माज्जन्यजनकजावमात्रमर्था-
नामस्ति नान्यो मातापितृपुत्रादिविशेष इति । तदभावाच्चङ्गो-
विनाशापमाननादिषु न दोष इति भावः । मृषावादिता चैषां-
षस्त्वन्तरस्य पित्रोः स्वजनकत्वे समानेऽपि तयोरत्यन्तहिततया
विशेषवत्त्वेन सत्त्वात् । हितत्वं च तयोः प्रतीतमेव । आह च-
तुष्टप्रतीकारावित्यादि । नाप्यस्ति पुरुषकारः, तं विनैव नियतितः
सर्वप्रयोजनानां सिद्धेः । उच्यते च-“ प्राप्त्यो नियनिबन्धाभ्रयेण
योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुजाऽशुजो वा । भूतानां महति कृते-
ऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्य प्रवति न भाविनोऽस्ति नाशः ” ॥ १ ॥
मृषाभाषिता चैवमेषाम्-सकललोकप्रतीतपुरुषकारापलापेन
प्रमाणातीतनियतिमताभ्युपगमादिति । तथा-प्रत्याख्यानमपि ना-
स्ति, धर्मसाधनतया धर्मस्यैवाभावादिति । अस्य च सर्वज्ञव-
चनप्रामाण्येनास्तित्वात् तद्वादिनामसत्यता । तथा-नैवास्ति
काष्ठमृत्युः, तत्र काष्ठो नास्ति, अनुपलभ्यमात् । यच्च वनस्पति-
कुसुमादिकाललक्षणमाचकृते, तत्तेषामेव स्वरूपमिति मन्तव्यम् ।
असत्य तेषामपि-स्वरूपस्य वस्तुनोऽनतिरेकात् कुसुमादिकर-
णमकारणं तदुक्तं स्यात् । तथा-मृत्युः परलोकप्रयाणलक्षणः,
असावपि नास्ति, जीवाभावेन परलोकगमनाज्ञावात् । अथवा
कालक्रमेण विवर्कितायुष्कर्मणः सामस्त्यानिर्जराऽवसरे मृत्युः
कालमृत्युः, तदभावश्च; आयुष एवाभावात् । तथा-अर्हदादयोऽपि

[नत्थि च्ति] न सन्ति, प्रमाणाविषयत्वात् । [नेवऽत्थि केइ रि-
सन्नो च्ति] नैव सन्ति केचित्पि ऋषयो गौतमादिमुनयः, प्रमा-
णाविषयत्वादेव, वर्तमानकाले वा ऋषित्वस्य साध्वनुष्ठानस्या-
सत्त्वात्, सतोऽपि वा निष्पन्नत्वादिति । अत्र च शिक्षाऽऽदिप्र-
वाहानुमेयत्वादर्हदाद्यसत्त्वस्यानन्तरोक्तवादिनामसत्यता, ऋ-
षित्वस्यापि सर्वज्ञवचनप्रामाण्येन सर्वदा भावादित्येवमाज्ञाप्रा-
प्त्याऽपलापिनां सर्वत्रासत्यत्वादिना भावनीयेति । तथा-धर्मा-
धर्मफलमपि नास्ति किञ्चिद् बहुक वा स्तोक वा, धर्माधर्मयो-
रदृष्टत्वेन नास्तित्वात् । “ नत्थि फल सुकए ” इत्यादि यदुक्तं
प्राक् तत्सामान्यजीवापेक्षया, यच्च “ धम्माधम्म ” इत्यादि, तद्-
विशेषापेक्षयेति न पुनरुक्तेति । [तम्ह च्ति] यस्मादेव तस्मादे-
वमुक्तप्रकारं वस्तु विज्ञाय [जहा सुवहुशदियाणुकूलेसु च्ति]
यथा यत्प्रकारा सुबहुधा अत्यर्थमिन्द्रियानुकूला ये ते तथा, तेषु
सर्वेषु विषयेषु वर्तितव्यम् । नास्ति काचित् क्रिया वा-अनि-
त्याक्रिया वा पापक्रिया वा, उभयक्रिययोरास्तिककल्पितत्वेना-
परमार्थिकत्वात् । भणन्ति च-

“ पिष खाद च चारलोचने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
नहि ज्रीह ! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ” ॥१॥

एवमित्यादिनिगमनम् । तथा-इदमपि द्वितीय नास्तिकद-
र्शनापेक्षया कुदर्शनं कुमतमसद्भाव वादिनः प्रज्ञापयन्ति
मूढाः । व्यामोहवन्तः । कुदर्शनता च वक्ष्यमाणस्यार्थस्याप्रा-
माणिकत्वाद् वादिप्रोक्तप्रमाणस्य प्रमाणाभासत्वाद् ज्ञाव-
नीया । किंभूतं कुदर्शनम् ? इत्याह-सम्भूतो जातोऽण्डकाद्
जन्तुयोनिविशेषाद् लोकः कितिजलानलानिलनरनारकिनाकि-
तिर्यगरूपः । तथा स्वयमुवा ब्रह्मणा स्वयं चात्मना निर्मितो
विहितः । तत्राण्डकप्रभूतब्रुवनवादिनो मतमित्यमाचकृते-

“ पुब्बं आसि जगमिणं, पंचमहब्भूयवज्जियं गभीर ।
एगम्भवं जलेणं, महप्पमाणं तर्हि अड ॥ १ ॥
वीईपरंपरेण, धोलतं अत्थि उ सुइरकाव ।
फुट्टं दुभागजाय अज्जं धूमी य संवुचं ॥ २ ॥
तत्थ सुरासुरनारग-समणुय सच्चरण्यं जग सव्वं ।
उप्पस भणियमिण, धमंडपुराणसत्थम्मि ” ॥ ३ ॥

तथा स्वयंज्निर्मितजगद्वादिनो जणन्ति-

“ आसीदिदं तमोभूत-मप्रज्ञातमलक्षणम् ।
आवितर्क्यमविज्ञेय, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टोरगराक्षसे ॥ २ ॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते ।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ ३ ॥
तत्र तस्य शयानस्य, नात्रेः पञ्च विनिर्गतम् ।
तरुणरयिमण्डलनिज, हृद्य काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
तस्मिन् पक्षे स जगवान्, दण्डी यक्षोपवीतसयुक्तः ।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न-स्तेन जगन्मातरः सृष्टा ॥ ५ ॥
आदितिः सुरसघानां, दितिरसुराणां मनुर्मेनुभ्याणाम् ।
विनता विहङ्गमानां, माता सर्वप्रकाराणाम् ” ॥ ६ ॥

नकुलादीनामित्यर्थः ।

“ कद् मरीसृपाणां, सुवसा माता च नागजातीनाम् ।
सुराभिश्चतुष्पदानां-मिला पुनः सर्ववीजानाम् ” ॥ ७ ॥ इति ।

एवमुक्तक्रमेण एतदन्तरोदितं वस्तु अलीकं, भ्रान्तज्ञानिभिः प्ररूपितत्वात् । तथा-प्रजापतिना लोकप्रचुरा ईश्वरेण च महेश्वरेण कृतं विहितमिति केचिद्वादिनो, वदन्तीति प्रकृतम् । भणन्ति चेश्वरवादिन- “बुद्धिमत्कारणपूर्वकं जगत्, सस्थानविशेषयुक्तत्वाद् घटादिवदिति” । कुदर्शनता चास्य-वल्मीकबुद्बुदादिभिर्हेतोरनैकान्तिकत्वात् । कुमालादितुल्यस्य बुद्धिमत्कारणस्य साधनेन चेष्टविघातकारित्वादिति । तथा-एव यथेश्वरकृतं तथा विष्णुमयं विष्णवात्मकं कृत्स्नमेव च जगदिति, केचिद्वदन्तीति प्रकृतम् । भणन्ति च एतन्मतावलम्बिनः-

“ जज्ञे विष्णुः, स्थज्ञे विष्णुः, विष्णुः पर्वतमस्तके ।

ज्वालामाद्याकुले विष्णुः, सर्वं विष्णुमयं जगत् ” ॥ १ ॥

तथा-“ अहं च पृथिवी पार्थ !, वाय्वग्निजलमप्यहम् ।

वनस्पतिगतश्चाहं, सर्वजगतोऽप्यहम् ” ॥ १ ॥

“ सो किल जलमयसमुद्ये-पुदपणेगणवन्मि लोगम्मि ।

धीर्परंपरेण, घोषतो उदयमज्जम्मि ” ॥ १ ॥

स किञ्च मार्कण्डेय ऋषिः-

“ मिच्छइ सो तसथावर-पण्डसुरनरतिरिक्खजोणीय ।

पण्णव जगमिण, महज्जयविवाज्जिय गहर ॥ २ ॥

एवविहं जगम्मी, पिच्छइ नमोहपायव सहसा ।

मंदरगिरिं व तुग, महासमुद्द वऽविच्छिन्नं ॥ ३ ॥

खधम्मि तस्स सयण, अच्छइ तद् वालो मणभिरामो ॥

सचिओ सुद्धिओ, मिउकोमलकुचियसुकेसो ॥ विष्णुरित्यर्थः ।

इत्यो पसारिओ से, म्हरिलिणो पहि वच्छ ! जणिओ य ।

अधे मम विलज्जसु, मामरिहिसि उदयवुद्धीप ॥ ५ ॥

तेण य वेत्तु ह्मथे, मिलिओ सो रिसी तओ तस्स ।

पिच्छइ उदरम्मि जय, ससेववणकाणण सच्च ॥ ६ ॥ ति ॥

पुनः सृष्टिकावे विष्णुना सृष्टम् । कुदर्शनता चास्य प्रतीतिधाव-

त्वात् । तथा-एव वक्ष्यमाणन्यायेन एव केचन आत्माद्वैतवा-

द्यादयो वदन्ति-मृषा अलीक, यदुत एक आत्मा । तदुक्तम्-

“ एक एव हि जृतात्मा, भूते जृते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ” ॥ १ ॥ तथा-“ पुरुष एवेद सर्वं

यद् भूतं यच्च भाव्यम् ” इत्यादि । कुदर्शनता चास्य सकललो-

कविलोक्यमानज्जदनिबन्धनव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । तथा-अ-

कारकं सुखहेतूनां पुण्यपापकर्मणामकर्ताऽऽत्मेत्येव वदन्ति,

अमूर्तत्वनित्यत्वाभ्यां कर्तृत्वानुपपत्तेरिति । कुदर्शनता चास्य

ससार्यात्मनो मूर्तत्वेन परिणामित्वेन च कर्तृत्वोपपत्तेः, अक-

र्तृत्वे चाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । तथा-वेदकश्च प्रकृतजनितस्य

सुकृतदुष्कृतस्य च प्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोक्ता । अमूर्तत्वे हि

कदाचिदपि वेदकता न युक्ता, आकाशस्येवेति कुदर्शनता चा-

स्य । तथा सुकृतदुष्कृतस्य च कर्मणः करणानीन्द्रियाणि कारणा-

नि हेतवः सर्वथा सर्वप्रकारैः सर्वत्र च देशे काले च, न वस्त्व-

गुणश्च, सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणत्रयव्यतिरिक्तत्वात् ; प्रकृतेरेव

होते गुणा इति । यदाह-“ अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपि-

लदर्शने” इति । असिद्धता चास्य सर्वथा निगुणत्वे, चैतन्यं पुरु-

षस्य स्वरूपमित्युपगमात् । तथा-(अणुवक्षेवमो ऽस्ति) अनुपक्षे-

पकः कर्मबन्धनरहितः । आह च-“ यस्मान्न बध्यते नापि, मुच्य-

ते नापि संसरन् ” । “ संसरति बध्यते, मुच्यते च नानाश्रया

प्रकृतिः ” इति । असच्चैतत्-मुकामुक्तयोरेवमविशेषप्रसङ्गा-

त् । पाठान्तरम्-(अणोवक्षेवमो ऽस्ति) अत्र अन्यस्यापरोक्षेपनः,

कर्मबन्धनादिति । एतदप्यसत्-कथञ्चिदिति शब्दानुपादानात् ।

इत्यपि च-इती रूपप्रदर्शने, अपिचेति-अलीकवादान्तरसमुच्च-

यार्थः । तथा-एव वक्ष्यमाणप्रकारेण (आहसु ऽस्ति) वक्ष्यते

स्म असद्भावमसन्तमर्थं, यदुत यदपि यदेव सामान्यतः, सर्व-

मित्यर्थः ; इहास्मिन्, किञ्चिदविवक्षितविशेषं, जीवलोके मर्त्य-

लोके, दृश्यते सुकृतं वा आस्तिकमतेन सुकृतफलं, सुख-

मित्यर्थः । दुष्कृतं वा दुष्कृतफलं, दुःखमित्यर्थः । एतत्

(जहच्छास्त्रं व ऽस्ति) यदृच्छया वा, स्वभावेन वाऽपि, दैवकप्रजा-

वतो वाऽपि विधिसामर्थ्यतो वाऽपि प्रवर्तितं, न पुरुषकारः कर्म वा

हिताहितनिमित्तमिति भावः । तत्र-अनभिनिमित्तपूर्विकाऽर्थप्राप्तिः

यदृच्छा । पठ्यते च-“ अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्र ज-

नानां सुखदुःखजातम् । काकस्य तादृशेन यथाऽभिघातो, न बुकि-

पूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ” ॥ १ ॥ तथा-“ सत्यं पिशाचस्य घने

वसामो, भेरीं करामैरपि न स्पृशाम । यदृच्छया सिद्ध्यति लोक-

यात्रा, भेरीं पिशाचाः परितारयन्ति ” ॥ १ ॥ नि स्वभावः पुनर्वस्तु-

नः स्वत एव तथा परिणमति इति भावः । उक्तं च-“ कः कण्ट-

कानां प्रकरोति तैदृशं, विचित्रभावः मृगपक्षिणां च । स्वभावतः

सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? ” ॥ १ ॥ इति ।

दैव तु विधिरिति लौकिकी भाषा । तत्रोक्तम्-“ प्राप्तव्यमर्थं लभते

मनुष्यः, किं कारणं दैवमवद्वनीयम् । तस्मान्न शोचामि न वि-

स्मयो मे, यदस्सदीयं नहि तत्परेषाम् ” ॥ १ ॥ तथा-“ द्वीपादन्यस्मा-

दपि, मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् । आनीय जटिति घट-

यति, विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ” ॥ १ ॥ इति । असद्भूतता चात्र

प्रत्येकमेवां जिनमनप्रतिकूलत्वात् । तथाहि-“ कासो सहाव नि-

यई, पुष्पकं पुरिसकारणेगता । मिच्छन्ते ते चैव उ, समासओ

हुंति सम्मत्त ” ॥ १ ॥ इति । तथा-नास्ति न विद्यते, तत्र लोके, कि-

ञ्चिच्छुभ्रमशुभ्रं वा, कृतकं पुरुषकारनिष्पन्नकृतं च कार्यं, प्रयोज-

नमित्यर्थः । पाठान्तरेण-“ नत्थि किञ्चि कयक तत्त ” । तत्र

तत्त्व वस्तुस्वरूपमिति । तथा-लक्षणानि वस्तुस्वरूपाणि विवि-

धाश्च भेदा लक्षणाविधास्तासां लक्षणाविधानां, नियतिश्च स्वभाव-

विशेषश्च कारिका कर्त्री, सा च पदार्थानामवश्यतया । तद्यथा-

भवने प्रयोजयित्री, प्रवितव्यतेत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः-यत मुञ्जा-

दीनां राक्षिस्वभावत्वमितरन्नातस्त्वजावत्वम् । यच्च राक्षावपि

नियनरस्त्व, न शाब्द्यादिरसना, सा निर्यतिरिति । “ नहि प्रवति

यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन । करतलगतमपि

नश्यति, यस्य तु भवितव्यता नास्ति ” ॥ १ ॥ असत्यता चास्व

पूर्ववत् । एवमित्युक्तप्रकारेण, केचिन्नास्तिकादयो जल्पन्ति ।

ऋक्षिरससातगौरवपराः, ऋक्ष्यादिषु गौरवमादरस्तत्प्रधाना

इत्यर्थः । बहवः प्रचूताः करणालसाभरणालसा धर्म्मं प्रत्यनु-

द्यमा, स्वस्य परेषां च चिन्ताभ्यासनिमित्तमिति भावः ; तथा

प्ररूपयन्ति । धर्म्मविमर्शकेण धर्म्मविचारणेन, (मोस ति) मृषा

पारमार्थिकधर्म्ममपि स्वबुद्धिदुर्विलसितेनाधर्म्मं स्थापयन्ति ।

एतद्विपर्यय चेति भावः । इह च ससारमोचकादयो निदर्शन-
मिति । तथा-अपरे केचन, अधर्मतोऽधर्ममङ्गीकृत्य राजदुष्टं नृ-
पविहङ्गम-‘अभिमतोऽयमित्यादिकम्’ अभ्याख्यानं परस्याजिमुख
दूषणवचन, भणन्ति भ्रुवते, अक्षीकमसत्यम् । अभ्याख्यानमेव दर्श-
यितुमाह-चौर इति जणन्तीति प्रकृतम् । क प्रति?, इत्याह-अचौर्यं
कुर्वन्त चौरतामकुर्वाणमित्यर्थः । तथा-डामरिको विग्रहका-
रीति । अपिचेति समुच्चये । जणन्तीति प्रकृतमेव । (एमेव चि)
एवमेव चौरादिक प्रयोजन विनैव, कथंभूत पुरुष प्रति?, इत्याह-
वदासीन डामरादीनामकारणम् । तथा दु शील इति च हेतोः पर-
दारान् गच्छतीत्येवमभ्याख्यानेन मलिनयन्ति नाशयन्ति, शील-
कवित सुशोद्धतया परिहारविरतम्, तथा-अयमपि न केवलं स एव
गुरुत्वक इति दुर्विनीत इति, अन्ये केचन, मृषावादिन, एवमे-
व निष्प्रयोजन भणन्ति, उपपन्नन्तः । विध्वंसयन्तः तद्वृत्तिकीर्त्या-
दिकमिति गम्यते । तथा-मित्रकलत्राणि सेवते सुहृद्द्वारान् भ-
जते; अयमपि न केवलमसौ, पुनर्लुप्तधर्मा विगतधर्म इति ।
(इमे वि चि) अयमपि विश्रमघातक पापकर्मकारीति
वक्तव्यम् । अकर्मकारी स्वभूमिकाऽनुचितकर्मकारी, अगम्यगा-
मी भगिन्याद्यजिगन्ता, अयं दुरात्मा (बहुपसु य पातयेसु
चि) बहुभिश्च पातकैर्युक्त इत्येव जल्पन्ति, मत्सरिण इति
व्यक्तम् । भद्रके वा निर्दोषे विनयादिगुणयुक्ते पुरुषे वा,
शब्दभद्रके वा, एव जल्पन्तीति प्रक्रमः । किंभूतास्ते?,
इत्याह-गुण उपकार, कीर्तिः प्रसिद्धा, स्नेहः प्रीति, परद्वोको
जन्मान्तरम्, एतेषु निष्पिपासा निराकाङ्क्षा एते । तथा-एवमु-
क्कमेण, एतेऽलीकवचनद्वया, परदोषोत्पादनप्रसक्ताः, वेष्टय-
न्तीति पदत्रय व्यक्तम् । अकृतिकवीजेन अकथेण दुःखहेतुने-
त्यर्थः । आत्मानं स्व, कर्मबन्धनेन प्रतीतेन, [मुहरिति] मुखमेव
अरिः शत्रुरनर्थकारित्वाद्येषां ते मुखारयोऽसमीक्षितप्रक्षापिनः-
अपर्यालोचितानर्थकवादिन, निक्षेपान्माषकानपहरन्ति; परस्य
सबन्धिनि अर्थे द्रव्ये प्रथितगृह्याः अत्यन्तगृहिमन्तः । तथा-
अभियोजयन्ति च परमसद्भिः, दूषणैरिति गम्यम् । तथा-
सुब्धाश्च कुर्वन्ति कूटसाक्षित्वमिति व्यक्तम् । तथा-जीवानाम-
हितकारिणः; अर्थालीक च व्याख्यानमसत्य, भणन्तीति योगः ।
कन्यालीक च कुमारीविषयमसत्य, भ्रूम्यलीकं च प्रतीतम् ।
तथा-गवालीक च प्रतीत, गुरुकं बादर खस्य जिह्वाच्छेदाद्यन-
र्थकर परेषाञ्च गाढोपतापादिहेतु, भणन्ति भाषन्ते । इह कन्याऽऽ-
दिभिः पदैर्द्विपदापदचतुष्पदजातय उपलक्षणत्वेन संगृहीता
द्रष्टव्याः । कथञ्चूत तत्?, इत्याह-अधरगतिगमनम्-अधोगतिग-
मनकारणम्, अन्यदपि चोक्तव्यतिरिक्त, जातिरूपकुलशीलानि
प्रत्ययकारण यस्य तत्तथा; तच्च मायया निगुण निहतगुणं
इति समासः । तत्र जातिकुल मातापितृपक्षः, तद्धेतुकं
च प्रायोऽलीक संजवति, यतो जात्याविदोषात्केचिदक्षी-
कवादिनो भवन्ति । रूपमाकृतिः, शीलं स्वभाव, तत्प्रत्ययस्तु प्रव-
त्येव, प्रशसानिन्दाविषयत्वेन वा जात्यादीनामलीकप्रत्ययना ज्ञा-
यनीयेति । कथञ्चूतास्ते?, चपला-मनश्चापव्यादिना । किंभूत तत्?,
पिष्टान् परदोषाविष्करणरूपम्, परमार्थभेदक मोक्षप्रतिघातकम् ।
[असतग ति] असत्कमविद्यमानार्थम्, असत्यमित्यर्थः । असत्त्व-
क वा सत्त्वहीन, विद्वेष्यमप्रियम्, अनर्थकारक पुरुषार्थोपघातक,
पापकर्मभूत क्रिष्टज्ञानावरणादिर्बाज, दुष्टमसम्यक् दृष्टं दर्शनं यत्र
तद् दुर्दृष्टम्, दुष्टं भुत भवणं यत्र तद् दुःभुत, नास्ति मुणित ज्ञानं यत्र
तदमुणितम्, निर्लज्ज लज्जारहित, लोकगर्हणीय प्रतीतम्, वध-

बन्धपरिक्षेशबहुलं, तत्र-बधो यद्यथादिभिस्ताडन, बन्धः सय-
मन, पारकक्षेत्रमुपताप, ते बहुधा प्रचुरा यत्र तत्तथा । भ-
वन्ति चेते असत्यवादिनामिति । जराभरणं स्रशोकनेमम्-जरा-
दीनां मूलमित्यर्थः । अशुद्धपरिणामेन सक्लिष्ट सक्लेशवत्त-
त्तथा भणन्ति ।

के ते भणन्ति ?-

अद्वियाहिसंधिसंनिविद्धा असंतगुणुदीरगा य संतगुण-
नासका य हिंसाचूतोवधातियं अलियसंपउत्ता वयणं
सावज्जमकुसद्वं साहृगरहणिज्जं अधम्मजणणं जणंति
अणजिगहियपुष्पपावा पुणो य अहिकरणकिरियापवत्तका
बहुयिहं अनत्थं अवमहं अप्पणो परस्स य करेति एवमेव
जंपमाणा, माहिसे सूकरे य माहिंति घायकाणं, ससपसयो-
हिं य साहिंति वागुरीणं, तिचिरवट्टकलावके य कविज-
लकवोयके य माहिंति सउणीणं, जसमगरकच्छजे य सा-
हिंति मच्छियाणं, संखंके खुद्धए य साहिंति मकराणं,
अयगरगोणसमंमिलिदव्वीकरमउली य साहिंति बालि-
पाणं, गोहा सेहा य सल्लगसरमके य साहिंति लुच्छगा-
णं, गयकुलवानरकुले य साहिंति पासियाणं, सुक-
वरहिणमयणसालकोइलहंसकुले सारसे य साहिंति पोस-
गाणं, वधबंधजायणं च साहिंति गोम्मियाणं, धणधन्न-
गवेलए य साहिंति तकराणं, गामे नगरपट्टे य साहिंति
चोरियाणं, पारघातियपंधघातियाओ साहिंति गंधिजेया-
णं, कयं च चोरियं एगरगुत्तियाणं साहिंति, दंडणनि-
ल्लंछणधमणदुहणपोसणवणणदुवणवाहणादियाइं साहिं-
ति बहूणि गोमियाणं, धाउमणिसिलप्पवाहणयणागरे य
साहिंति आगरीणं, पुप्फाविहिं च फट्ठाविहिं च साहिंति
माद्वियाणं, अत्थमहुकोसए य साहिंति वणचराणं, जंताइं,
विसाइं, मूळकम्मआहेवणआभिओगजणणाणि चोरियाए
परदारगमणस्स बहुपावकम्मकरणो अवकंदणे गामघा-
तिए वणदहणतत्तागभेयणए बुद्धिविसए वसीकरणं
भयमरणकिंसेमुव्वेगजणिआइं जावबहुसंकिलिड्ढमाद्वि-
णाणि चूयघाओवघाइयाइं सच्चाणि वि ताइं हिंसकाइं
वयणाइं उदाहरंति पुट्टा वा अपुट्टा वा, परतत्तिवावमा य
असमिक्खियजासिणो उवदिसंति-सहसा उट्टा गोणा गव-
या दमंतु, परिणयवया अस्सा हत्थीगवेदगकुक्कमा य कि-
जंतु, किणावेध य, विकेह, पचह, सयणस्स देह, पीयह
दासीदासजयकभाइल्लगा य सिस्सा य पेसकजणो कम्म-
करा किंकरा य एए सयणपरिजणे य कीस अत्थंति भारि-
या जे करेतु कम्मं, गहणाइं वणाइं खित्तखिल्लभिवल्लराइं
उत्तणधणसंकमाइं डज्जंतु य सूमिज्जंतु य हक्खा भिज्जंतु
जंतं जंटाइयस्स उवहिस्स कारणाए, बहुविहस्स य अट्टाए
उच्छु दुज्जंतु, पीलियतु य तिज्जा, पचावेह इड्काओ मम

घरट्टयाए, खेत्ता य कसत, कसावेह वा, लहुं गामनगरखे-
मकव्वमं संनिवेसेह अमवीदेसेसु विपुलसीमं, पुप्फाणि
कंदमूलां कालपत्ताइं गिएह, करेह संचयं परिजणस्सट्ठ-
याए, साझीवीहीनवा य दुच्चंतु मझिजंतु उप्पू-
यंतु य, लहुं च पविसंतु कोछागारं, अप्पमहक्को-
सगा य हंणंतु पोतसत्था, सेणा णिज्जाउ, जाउ मपरं,
घोरा चटंतु, जयंतु य संगामा, पवहंतु य सगमवाहणां.
उवणयणं चोलगं विवाहो जज्जो अमुगम्मि होउ दिवसे
सुकरणे सुमुहुत्ते सुनक्खत्ते सुतेहिम्मि य अज्ज होउ एह-
वणं, सुदितं बहुखज्जपेज्जकलियं कोउकविहवणसंतिक-
म्माणि कुण्ह, ससिरविगहोवरागविसमेसु, सजणस्स
परिजणस्स य निययस्स य जीवियस्स परिक्खणट्टयाए
परिसीसकाइं च देह, देह य सीसोवहारे विविहोसहिमज्ज-
मंसजक्खअप्पपाणमद्वाणुलेवणपदीवजालिउज्जहा सुगंध-
धूवोवयारपुप्फफलसमिद्धे, पायच्छित्ते करेह, पाणातिवाय-
करणेन बहुविहेण विवरीउप्पायसुविणपावसउणअसो-
मगहचरियअमंगलानिमित्तपमियायदेउं वित्तिच्छेयं करेह
वा देह किंचिदाणं, सुहु हण ३, सुहु विस्सो भिस्सो चि उव-
दिसंता, एवंविहं करेति अलियं मण्णं वायाए कम्मूणा य ।

अलीके योऽजिसधिरभिप्रायस्तत्र निविष्टा अलीकाजिसन्धि-
निविष्टा, असद्गुणोदीरकाश्चेति व्यक्तम् । सद्गुणनाशकाश्च,
तदपलापका इत्यर्थः । तथा—हिंसया मृतोपघातो यत्रास्ति
तद् हिंसाभूतोपघातिकं, वचनं जणन्तीति योगः । अलीक-
संप्रयुक्ता संप्रयुक्तालीकाः, कथञ्चतं वचनम्, सावधं गहिं-
तं गहितकर्मयुक्तम् । अकुशल, जीवानामकुशलकारित्वात्,
अकुशलनरप्रयुक्तत्वाद्वा । अतएव साधुगर्हणीयम्, अधर्मजननं,
भणन्तीति पदत्रयं प्रतीतम् । कथभूताः, इत्याह—अनाधिगत-
पुण्यपापा—अविदितपुण्यपापकर्महेतव इत्यर्थः । तदधिगमे हि
नालीकवादे प्रवृत्तिः सम्भवति । पुनश्च—अज्ञानोत्तरकालम्, अधि-
करणविषया या क्रिया व्यापारस्तत्प्रवर्तकाः । तत्राधिकरणक्रि-
या द्विविधा—निवर्तनाधिकरणक्रिया, सयोजनाधिकरणक्रिया
च । तत्राद्या-सङ्गादीनां तन्मुष्ट्यादीनां निवर्तनलक्षणा, चिर्त्तया
तु तेषामेव निष्क्रान्तां सयोजनलक्षणेति । अथवा—दुर्गतौ यकाभि-
रधिक्रियते प्राणी, ताः सर्वाः अधिकरणक्रिया इति, बहुविधम-
नर्थमनर्थहेतुत्वाद् अपमर्दमुपवर्तनम्, आत्मनः परस्य च कुर्व-
न्ति, एवमेव अबुद्धिपूर्वकं, जल्पन्तो भाषमाणाः । एनदेवाह—महि-
षान् शूकरांश्च प्रतीतान्, साधयन्ति प्रतिपादयन्ति, घातकानां
तद्विषयकानाम्, शशप्रशयरोहितांश्च साधयन्ति वागुरिणां, श-
शादय आटव्याश्वतुष्पदविशेषा, वागुरा मृगबन्धनं, सा एवाम-
स्ति ते वागुरिणः । तिस्रिर्वचनं कलावकांश्च कपिज्जलकपोतकाश्च
पक्षिविशेषान् साधयन्ति, शकुनेन श्येनादिना मृगयां कुर्वन्तीति
शाकुनिकास्तेषाम्, 'सउणीण' इति च प्राकृतत्वात् । भयमकरान्
कच्छपांश्च जलचरविशेषान् साधयन्ति, मत्स्याः पण्यं येषां ते
मात्सिकास्तेषाम्, (सखक चि) शङ्खाः प्रतीताः, अङ्काश्च रु-
दिगम्या, अतस्तान्, चुल्लकांश्च कपर्दकान्, साधयन्ति मकरा इव
मकरा जलविहारित्वाक्कीधराः, तेषाम् । पाठान्तरे—'मगिराण'

मार्गयतां तन्नेपिणाम् । अजगरगोनसमण्डलिद्वीकरमुकुलिन-
श्च साधयन्ति, तत्र अजगरादयः उरगविशेषाः, र्वीकराः फणा-
मृताः, मुकुलिनस्तदितरे, व्यालान् वृजङ्गान् पान्तीति व्यालपा-
स्ते विद्यन्ते येषां ते व्यालपिनः, तेषाम् । अथवा—व्यालपानामत्र
प्राकृतत्वेन 'वालवीति' प्रतिपादितम् । वाचनान्तरे—'वाहियाणं
ति' दृश्यते । तत्र व्यालैश्चरन्तीति; वैयालिकानामिति । तथा-
गोधाः सेदाश्च शल्यकशरटकांश्च साधयन्तीति लुब्धकानां,
गोधादयो वृजपरिसर्पविशेषाः, शरटकाः कृकलासाः । गजकु-
लवानरकुलानि च साधयन्ति पासिकानां कुलं कुटुम्बं, यूयमित्य-
र्थः । पाशेन बन्धनविशेषेण चरन्तीति पाशिकास्तेषाम् । तथा-
शुकाः कीराः, बहिण्यो मयूराः, मदनशालाः शारिकाः, कोकिलाः
परप्लवः, ईसाः प्रतीताः, तेषां यानि कुलानि वृन्दानि तानि, तथा-
सारसांश्च साधयन्ति, पोषकाणां पक्षिपोषकाणामित्यर्थः । तथा-
वधस्नामन, बन्धः सयमन, यातन च कर्द्वेनमिति समाहारबन्धः ।
तच्च साधयन्ति गौलिमिकानां गुप्तिपासानाम् । तथा—धनधान्यग-
वेषकांश्च साधयन्ति, तत्स्मरणांमिति प्रतीतम् । किं तु गावो बली-
वर्दसुरमयः, पलकाः उरभ्राः । तथा—ग्रामनगरपत्तनानि साधय-
न्ति चौरिकाणां, नकरं करवर्जितम्, पत्तनं द्विविधम्—जलपत्तनं,
स्थलपत्तनं च । यत्र जलपथेन भाएनानामागमस्तदाद्यम्, यत्र च
स्थलपथेन तदितरत् । चौरिकाणां प्रणिधिपुरुषाणाम् । तथा पारे
पर्यन्ते मार्गे घातिका गन्तृणां हननं पारघातिकाः (पथघात्य-
चि) पथि मार्गे, अर्द्धपथे इत्यर्थः । घातिका गन्तृणां हननं, प-
थिघातिकाः, अनयोर्द्वन्द्वोऽस्तस्मै साधयन्ति च ग्रन्थिभेदानां चौर-
विशेषाणां, कृतां च चौरिकां चोरणं, नगरगुप्तिकानां नगरर-
क्षिकाणां, साधयन्तीति वर्त्तते । तथा—लाञ्छनं कर्णदिकर्तना-
ङ्गनादिभिः, निर्वाञ्छनं वदितकरणं, (ध्रमणं ति) आनं
वायुपूरणं, दोहनं प्रतीतं महिष्यादीनाम्, पोषणं यवसादिदानतः
पुष्टीकरणं, वननं वत्सस्यान्यमातरि योजनं, (दुवणं चि) दुक्-
नमुपतापनमित्यर्थः । वाहनं शकटाद्याकर्षणम्, एतदादिकानि
अनुष्ठानानि साधयन्ति बहूनि, गौमिकानां गोमताम् । तथा—घातु-
गौरिकं, घातवो होहादयः, मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः, शिला इषदः,
प्रवालानि विद्रुमाणि, रत्नानि कर्कतनादीनि, तेषामाकराः स्न-
यस्ता साधयन्ति, आकरिणाम् आकरवताम् । पुष्पेत्यादिवाक्यं
प्रतीतम्, नवरं विधिः प्रकारे तत्र । अर्थश्च मूल्यमानं, मधुकोश-
काश्च कौष्ठोत्पत्तिस्थानम्—अर्धमधुकोशकाः, तान् साधयन्ति,
वनचराणां पुलिन्दानाम् । तथा—यन्त्राणि उच्चाटनाद्यर्थकरलेख-
नप्रकारान्, जलसग्रामादियन्त्राणि वा, उदाहरन्तीति योगः ।
विषाणि स्थावरजङ्गमभेदानि हालाइसानि, मूलकम् मूलादि-
प्रयोगतो गर्जपातनादि (आहेवणं चि) आक्षेपणं पुरस्कोमादि-
करणम् । पाठान्तरेण—(आहिबणं ति) आहित्यं अहितत्वं शशु-
ज्रावम्, पाठान्तरेण (अविधणं ति) अव्याधनं मन्त्रादेशनमित्य-
र्थः । आभियोग्य वशीकरणादि, तच्च उच्यते उच्यसयोगज-
नितं, ज्रावनो विद्यामन्त्रादिजनितं, बलात्कारो वा मन्त्रीवधिप्र-
योगाभ्यानामप्रयोजनेषु तद्व्यापारणानीति बन्धः, तान् । तथा—चो-
रिकायाः परदारगमनस्य बहुपापस्य च कर्मणो व्यापारस्य
यत्करणं तत्तथा, अवस्कन्दनाः छलेन परबलमर्दनानि, ग्राम-
घातिकाः प्रतीताः, वनदहनतडागभेदनानि च प्रतीतायेव,
बुद्धेर्विषयस्य च यानि च तानि । तथा—वशीकरणादिकानि
प्रतीतानि, त्रयमरणकेशोद्वेगजनिनानि, कर्तुरिति गम्यते । भा-
वेनाध्यवसायेन बहुसंक्रिष्टेन मक्षिनानि कलुषानि यानि, तथा भू-
तानां प्राणिनां घातश्च हननम्, उपघातश्च परम्पराघातः, तौ विद्येते

येषु तानि भूतघातोपघातकानि, सत्यान्यपि द्रव्यतस्तानीति यानि पूर्वमुपदर्शितानि हिंसकानि हिंसाणि वचनान्युदाहरन्ति। तथा-पृष्ठा वा अपृष्ठा वा प्रतीताः, परतृप्तिव्यापृताश्च परकृत्यचिन्तनाङ्गणिका, असमीक्षितभाषिणः अपर्यालोचितवक्तार, उपदिशन्ति अनुशासति, सहसा अकस्माद्-यदुत उष्ट्रा-करजाः, गो-एयो गावो, गवया अटव्याः पशुविशेषाः, दम्यन्तां विनीयन्ताम्। तथा-परिणतवयसः सपन्नावस्थाविशेषाः, तरुणा इत्यर्थः। अम्बाः, हस्तिन-प्रतीताः, गवेलककुक्कुटाश्च उरत्रताप्रचूमाश्च क्रीयन्तां मूल्येन गृह्यन्तां, क्रापयत च एतान्येव प्राहयत च, विक्रीणीध्व विक्रेतव्यम्। तथा-पचत पचनीय, स्वजनाय च दत्त, पिबत च पातव्य मदिरादि। वाचनान्तरेण-खादत पिबत दत्त च। तथा-दास्यश्चेटिकाः, दासाश्चेटकाः, भृतका भक्तदानादिना पोषिताः, (भाङ्गुलं चि) ये लाभस्य भागं चतुर्भागादिकं लभन्ते, एतेषां द्वन्द्वः। ततस्ते च, शिष्याश्च विनेयाः, प्रेष्यकजनः प्रयोजनेषु प्रेषणीयलोक, कर्मकरा नियतकालमादेशकारिणः, किंकराश्च आदेशसमाप्तावपि पुनः पुनः प्रश्नकारिणः, एते पूर्वोक्ताः, स्वजनपरिजनं च कस्मादासते अवस्थानं कुर्वन्ति? (भारिया जे करिब कम्म ति) कृत्वा विधाय, कर्म कृत्य, तत्समाप्तौ यतो भारिका दुर्निर्वाहाः 'मे' 'भवतां' 'करेतु' चि 'कचित्पाठ'। तत्र (भारय चि) भार्या 'जे' भवतः सम्बन्धिन्यः, कर्म कुर्वन्तु। अन्यान्यपि पाठान्तराणि सन्ति, तानि च स्वयं गमनीयानि। तथा-गहनानि गह्वराणि, वनानि वनखण्डानि, क्षेत्राणि च धान्य-वपनचूमयः, खिलभूमयश्च हलैरुष्टाः, वल्लराणि च क्षेत्रविशेषाः, ततस्तानि उच्यन्ते। कुर्वन्तस्तृणैः, घनमत्यर्थं, संकटानि सकीर्णानि यानि तानि तथा, तानि दह्यन्ताम्। पाठान्तरेण-गहनानि वनानि छिद्यन्तां, खिलचूमिवल्लराणि उच्यन्तस्तृणघनसंकटानि दह्यन्ताम्। (सुडिज्जतु य चि) सुड्यन्तां च वृक्षाः, जिन्दन्तां छिन्दन्तां वा यन्त्राणि च तिलयन्त्रादिकानि, भाण्डानि च प्राजानि कुण्डादीनि, भाण्डी वा गन्त्री, एतान्यादिर्यस्य तत्। तथा-उपधिरूपकरण तस्य (कारणाणं चि) कारणाय हेतवे। वाचनान्तरे तु-यत्र नाण्डस्योत्तररूपस्य कारणाद् हेतोः। तथा-बहुविधस्य च, कार्यसमूहस्येति गम्यम्। अर्थाय इक्षवो (उज्जतु चि) दूयन्तां लूयन्तामिति, धातूनामनेकार्थत्वात्। तथा-धीर्यन्तां च तिलाः, पाचयत चेष्टका गृहार्थम्। तथा-क्षेत्राणि कृपतां कर्षयतां वा। तथा-लघु शीघ्र, ग्रामादीनि निवेशयत, तत्र ग्रामो जनपद-प्रायजनाश्रितः, नगरमविद्यमानकरदान, कर्षट कुनगरम्। कर्? अटवीदेशेषु। किंभूतानि ग्रामादीनि? विपुलसीमानि। तथा-पुष्पादीनि प्रतीतानि। [कालपत्ताइ ति] अवमरप्राप्तानि गृहीत, कुरुत सचय परिजनार्थम्। तथा-शाखय प्रतीताः, लूयन्तां, मल्यन्तास्, उत्पूयतां च, लघु च प्रविशन्तु कोष्ठागारम्। [अप्पमहुक्को-सगा य चि] अल्पा लघवो, महान्तस्तदपेक्षया, मध्यमा इत्यर्थः। उत्कृष्टा उष्ट्रमाश्च, हन्यन्ता पोतसार्थाः बोदित्यसमुदाया, शावकसमूहा वा। तथा-सेना सैन्य, निर्यातु निर्गच्छतु। निर्गत्य च यातु गच्छतु डमर विम्वरस्थानम्। तथा-घोरा रौक्षा वर्तन्तां च, जयन्तां सग्रामा रणा। तथा-प्रवडन्तु च प्रवर्तन्तां शकटवाहनानि-गन्धो यानपात्राणि च। तथा-उपनयनं बालानां कक्षाग्रहणं [चोन्नग ति] चूमोपनयनं बाह्यकप्रथममुण्डनम्, विवाहः पाणिग्रहणं, यज्ञो याग, अमुष्मिन् भवतु दिवसे। तथा-सुकरणं बवादिकानामेकादशानामन्यतद्दानिमत्, सुमुहूर्तो रौक्षादीनां त्रिशतोऽयतरोऽभिमतो यः, एतयोः समाहारद्वन्द्वः, त-

तस्तत्र। तथा-सुनक्त्रेषु पुष्पादौ, सुतिथौ च पञ्चानां नन्दादीनामन्यतरस्यामजिमतायाम्। 'अज्ज' अस्मिन्नहनि, भवतु स्नपनसौजाय्यपुत्राद्यर्थं बध्वादेर्मज्जन, मुदित प्रमोदवत्, बहुखाद्य-पेयकानि प्रभूतमांसमद्याद्युपेतम्। तथा-कौतुकरक्षादिकं (वि-एहावणं चि) विविधैर्मन्त्रमूत्राभिः सस्कृतजलैः स्नापनक वि-स्नापनक, शान्तिकर्म चाग्निकारिकादिकमिति द्वन्द्वः। ततस्ते कु-रुत। केषु? इत्याह-शशिरव्योश्च-सूर्ययोर्ग्रहेण राहुलक्षणेन उ-पराग उपरज्जन, ग्रहणमित्यर्थः, शशिरविग्रहोपराग। स च वि-षमाणि च विधुराणि दुःस्वप्नाशिवादीनि, तेषु। किमर्थम्? इत्याह-स्वजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा जीवितस्य प-रिरक्षणार्थमिति व्यक्तम्। प्रतिशीर्षकाणि च दत्त स्वशिरःप्रति-रूपाणि पिष्टादिमयशिरांसि आत्मशिरोरक्षार्थं यच्छत, च-पिडकादिज्य इत्यर्थः। तथा दत्त च शीर्षोपहारान् पशवादि-शिरोधलीन्, देवतानामिति गम्यते। विविधौषधिमद्यमांसज-द्यान्नपानमाल्यानुवेपनानि च, प्रदीपाश्च ज्वलितोज्ज्वला, सुगन्धिधूपस्योपकारश्चोपकरणम्-अङ्गारोपरि क्षेप, पुष्पफलानि च, तैः समृद्धाः सपूर्णा ये शीर्षोपहाराः, ते तथा, नान्, दत्त चेति प्रकृतम्। तथा-प्रायश्चित्तानि प्रतिविधानानि कुरुत। केन? प्राणातिपातकरणेन हिंसया, बहुविधेन नानाविधेन। किमर्थम्? इत्याह-विपरीतोत्पाता अशुभसूचकाः प्रकृतिविकारा, दुःस्व-प्नाः, पापशकुनाश्च प्रतीताः। असौम्यग्रहचरितं च क्रूरग्रहचा-राः, अमङ्गलानि च यानि निमित्तानि अङ्गस्फुटितादीनि, एतेषां द्वन्द्वः, तत एतेषां प्रतिघातहेतुमुपहनननिमित्तमिति। तथा वृ-त्तिच्छेदं कुरुत, मा दत्त किञ्चिद्धानमिति। तथा-सुष्ठु हत हत, इह तु सन्नमे द्वित्वम्। सुष्ठु छिन्नो जिह्वश्च विवक्षितः कश्चिदिति, पवमुपादिशन्तः। पवविधं नानाप्रकारम्। पाठान्तरं वा-त्रिविधं त्रिप्रकारं, कुर्वन्त्यङ्गीक, द्रव्यतो नाङ्गीकमपि सत्त्वोपघातहेतुत्वा-द् प्रावतोऽलीकमेव। त्रैविध्यमेवाह-मनसा, वाचा, [कस्मुणा य चि] कायक्रियया। तदेतावतो यथा क्रियतेऽलीक, येऽपि तत् कुर्वन्तीत्येतद् द्वारद्वय मिश्र परस्पररेणोकम्।

अथ ये तान् कुर्वन्ति तान् भेदानाह-

अकुसला अण्जा अलियऽष्ठा अलियधम्मनिरया अलियासु कहासु अभिरमंता तुडा अक्षियं करेउ हुंति य बहुप्पगारं, तस्स य अक्षियस्स फलस्स विवागं अ-याणमाणा वहुंति महब्जयं अविस्सामवेयणं दीहका-ल्लवहुदुक्खसंकमं एणयतिरियजोणिं, तेण य अलि-एण समणुवप्पा आइट्ठा पुण्णभवंधकारे जमंति, भीमे पुग्गइवसहिमुवगया ते य दीसंति इह दुग्गया डुरता पर-वसा अत्थभोगपरिचज्जिया अमुहिता फुडितच्छवी-वीभ-च्छविवरणा, खरफरुसविरत्तज्जमाप्पज्जुसिरा निच्छाया ल-ल्लविफलवाया असक्कयमसक्कया अगंधा अचेयणा पुब्भगा अकता काकस्सरा हीणभिन्नयोमा विहिसा जमवहिरभूया य मम्मणा अकतविकंतकरणा णीया णीयजणमेविणो लोगगरहिणिज्जा जिच्चा असरिसजणस्स पेसा दुम्मेहा लो-गवेदअज्जप्पसमयसुतिवज्जिया नरा धम्मबुद्धिवियला अ-लिण य तेण य मज्जमाणा असंतएणं अवमाणएणिडि-

मंसाहिकवेवपिसुण भेषणगुरुबंधवसयणमित्तऽवक्खवारणाऽऽ
दियाइं अब्भक्खाणां बहुविहाइं पावलि अमणोरमाइं हि-
ययमणदूमगाइ जावजीव हु दुप्फराइं अणिदुस्वरफरुसवयण-
तज्जणणिब्बत्थणदीणवयणविमणा कुचोयणा कुवास-
सा कुवसहीसु किद्विस्मंता नेव सुहं नेव निब्बुइं उववज्जं-
ति, अच्चतविपुलदुक्खसयसंपलित्ता, एसो सो अलियवय-
णस्स फलविवाओ इहलोओ परलोओ अप्पसुहो व-
हुदुक्खो महब्भओ बहुप्पादो दारुणो ककसो असाओ
वाससहस्सेहिं मुच्चतो ए य अब्बेदयित्ता अत्थि हु मो-
क्खो त्ति, एवमाहसु नायकुल्लनंदणो महप्पा जिणो उ वी-
रवरनामधेज्जो कहेसीमं अलियवयणस्स फलविवांगं; एयं
त वित्थियं पि अलियवयणं लहुस्सगलहुचवलभणियं भ-
यकरदुहकरअयमकरवेरकरणं अरतिरतिरागदोसमणसांकि-
द्वेसवियरणं अलियनियमिसातिजोगवहुलं नीयजणनिसे-
वियं निसंसं अप्पच्चयकारकं परमसाहुगरहाणेज्जं परपी-
माकारकं परमकिहल्लेससहियं दुग्गातिविणिवायववृणं
जवपुणब्बवकरं चिरपरिचियमणुगयदुरतं ति वेमि ॥

अकुशला वल्लव्यावकव्यविभागानिपुणा अनार्याः पापकर्मणो
दूरमयाताः । [अलियवयणं त्ति] अलीका आह्ना आगमो येषां
ते तथा, त एवालीकधर्मनिरताः, अलीकासु कथास्वमि-
रममाणा । तथा- [तुहा अलिय करेउ हुंति य बहुप्पगारं ति]
अत्र-तुहा भवन्ति चालीक बहुप्रकार कृत्वा उल्लेख्येवमकरघटना
कार्येति । तथाऽलीकविपाकप्रतिपादनायाह- [तस्स ति] द्वि-
तीयाऽऽभवत्येनोच्यते-तस्याऽलीकस्य फलस्य कर्मणो वि-
पाक उदयः, साध्यमित्यर्थः । तमजानन्तो वर्चयन्ति महाजयम-
विश्रामवेदनां, दीर्घकाक्षधदु खसकटां, नरकतिर्यग्योनिं, तत्रो-
त्पादनमित्यर्थः । तेन चालीकेन, तपोजनितकर्मणेत्यर्थः ।
समनुवक्ता अविरहिताः, आदिष्टा भाषिणिना, पुनर्जवान्धकारे
आम्यन्ति, भीमे दुर्गतिवसतिमुपगतास्ते च दृश्यन्ते इह जी-
वलोके । किञ्चना ? इत्याह-दुर्गता दुःस्था, दुःरन्ताः दुष्पर्य-
वसाना, परवशा अस्वतन्त्राः, अर्थभोगपरिचार्जिताः रुच्येण
भोगैश्च रहिताः, [असुहियं त्ति] असुखिताः, अविद्यमान-
सुहृदो वा, स्फुटितच्छवयः विशादिकाविस्त्रिंकादिभिः विकृत-
त्वचः, धीजत्सा विकृतरूपाः, विवर्णा विरूपवर्णा इति पदत्रय-
स्य कर्मधारयः । तथा-स्वरपक्खा अतिकर्कशस्पर्शाः, विरक्ता
रतिं कचिदप्यप्राप्ता, ध्यामा अनुज्ज्वलच्छायाः, फुबिरा असा-
रकाया इति पदचतुष्कस्य कर्मधारयः । निश्चायाः विशोभाः,
लज्जा अव्यक्ता विफला फलासाधनी वाग्येषा ते तथा । [अस-
कयमसकयं त्ति] न विद्यते सस्कृत सस्कारो येषां ते अस-
स्कृता एतादृशा असस्कृता अविद्यमानसस्काराः, ततः कर्मधा-
रयः । मकारश्च द्वाक्पणिक' । अत्यन्तं वा असस्कृता' । अत एवा-
गन्धा, अचेतनाः, विशिष्टचेतन्याज्जावात् । दुर्जगा अनिष्टा, अ-
कान्ता अकमनीया, काकस्येव स्वरो येषां ते काकस्वरा',
हीनो ह्रस्वो निम्नश्च स्फुटिनो घोषो येषां ते तथा । (विहिंसं त्ति)
विहिंसा, जमाश्च मूर्खा, वधिरान्धका ये ते तथा । पाणान्तरे-
ण-जमवधिरा मूकाश्च, मन्मना अव्यक्तवाचः, अकान्तानि अक-

मनीयानि विकृतानि च करणानोन्मियाणि कृत्यानि वा येषां
ते तथा । वाचनान्तरे-अकृतानि न कृतानि विकृतानि च
विरूपतया कृतानि करणानि यैस्ते तथा । नीचा जात्या-
दिभिः, नीचजननिपेक्षिणो, लोकगर्हणीया इति पदद्वय व्य-
क्तम् । भृत्या भर्तव्या एव । तथा-असदृशजनस्य भस्म-
मानशीललोकस्य द्वेष्या द्वेषस्थान, प्रेष्या वा आदेश्याः, दुर्मेध-
सो दुर्बुद्धयः । [लोगेत्यादि] श्रुतशब्दस्य प्रत्येक सवन्धात्-लो-
कश्रुतिः लोकाभिमत शास्त्र प्रारतादिः, वेदश्रुतिः श्रुक्सामादि
वेदशास्त्रम्, अध्यात्मश्रुतिः चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रम्,
समयश्रुतिः आर्हन्बौद्धादिसिद्धान्तशास्त्रम्, तार्मिर्वर्जिता ये ते
तथा । क एते एवजृता ? इत्याह-नरा मानवाः, धर्मबुद्धि-
कक्षा' प्रतीतम् । अलीकेन च अलीकवादजनितकर्मणिना, तेन
कालान्तरकृतेन, दह्यमानाः । [असतपणं ति] अशान्तकेनानु-
पशान्तेन असता वा अशान्तत्वेन रागादिप्रवर्तनयेत्यर्थः । अप-
माननादि प्राप्नुवन्तीति सम्बन्धः । तत्रापमाननं च मानहरणं,
पृष्ठमांसं च परोक्षस्य दूषणाविष्करणम् । अधिकपेक्ष निन्दा-
विशेषः, अलैर्जैदनं च-परस्पर प्रेमसम्बन्धयोः प्रेमच्छेदनं, गुरु-
बान्धवस्वजनमित्राणां सत्कर्मपकारणं च अपशब्द काराव-
माण वञ्चनपराभिचूतस्य वा एवामपक्ककरणं, सानिध्याकरण-
मित्यर्थः । एतानि आदिर्येषां तानि तदादिकानि । तथा-अ-
भ्याख्यानानि असददूषणानिधानानि बहुविधानि, प्राप्नुवन्ति
लभन्ते इति । अनुपमानि । पाणान्तरेण अमनोरमाणि, इदयस्य
उरसो, मनसश्च चेतसो, [दूमगा इति] दावकान्युपतापकानि
तानि तथा । यावज्जीव दुर्धराणि आजन्माप्यानुद्धरणीयानि,
अनिष्टेन स्वरपक्वेण चातिकठोरेण वचनेन यत्तर्जनम्-रे । दा-
सपुरुषेण भवितव्यमित्यादि । निर्भर्त्सनम्-अरे दुष्टकर्मकारिन् ।
अपसर दष्टिमाणादित्यादिरूप, ताज्यां दीनं वदनं, [विमणं त्ति]
विगतं मनो येषां ते तथा । कुमोजना, कुवासस, कुवसतिषु
क्षिप्र्यन्तो, नैव सुखं शरीरं, नैव निर्वृत्तिं मनःस्वास्थ्यम्, उ-
पलभन्ते प्राप्नुवन्ति, अत्यन्तविपुलदुःखशतसप्रदीप्ताः, तदि-
यता अलीकस्य फलमुक्तम् । 'एसो' इत्यादिना त्वधिकृतदार-
निगमनमिति । व्याख्या त्वस्य प्रथमाध्ययनपञ्चमद्वारनिगम-
नवत् । (एयं त वित्थियं पि) इत्यादिनाऽध्ययननिगमनम् ।
प्रश्न०२ आश्र० द्वाण अपवादपदे-"पदम विगिचणट्ठा" आद्यम्-
अलीकवचनम्, अयोम्यशैक्षस्य विवेचनार्थं वदेत् । ३०६ उ० ।

अट्टवित्थ (ए)-अरुत्तिन्-प्रि० । अरुक्कस्पर्शसद्भावादरु-
क्कि । स्निग्धस्पर्शवति, प्र० ११ श० ४ उ० ।

अट्टुक्क-अलुब्ध-प्रि० । अलस्पदे लोभरहिते, प्रश्न० ५ सम्ब०
द्वा० । "आरादुक्कोस जो, लदूधूणं तयं न अस्ते । एस अट्टु-
ओ दार," ॥ प० भा० । पञ्चा० ।

अट्टे-अरे-अव्य० । नीचसंबोधने, "अले किं एरो महेदे क-
द्वअले" प्रा० ४ पाद ।

अट्टेव-अट्टेप-पु० । अलिसतायाम्, प्रव० ४ द्वार । अट्टेपमजे
मोअणा नी रोटी खाकरादिकं कल्पते नवेति प्रश्ने-बहुषु प्रत्येषु
अलेपशब्देन वल्लचणकादिक व्याख्यातमास्ति, बृहत्कल्पमाप्यवृ-
त्तिमज्जे तु-'मोअणादिरोटि खाकरासायुअट्टु' इत्यादि-
कमट्टेपमध्ये कल्पते इति व्याख्यातमस्ति ४१ । सेन०२ ब्रह्मा० ॥

अलेवकड-अलेपकृत-न० । वल्लचणकादावपिच्छित्ते कल्पे,
पि० । पञ्चा० ।

तत्रालेखकतानि तावदाह—

कंजुसिणचाउलोदे, संमझायामकडमूदरसे ।
कंजियकडिह सोणे, कुट्टा पिज्जा य निजुप्पा ॥
कंजियउदगविलेनी, ओदणकुम्माससत्तुए पिडो ।
मंगसामियोसिमे, कंजियपत्ते अलेखकमे ॥

काञ्चिकमारनासम्, कण्ठोदकमुद्धृत्य त्रिदण्डम्, (चाठलोदगंति)
तन्मुसधावनम्, ससृष्टं नाम गोरसससृष्टे भाजने प्रक्षिप्तं सद्युद्ध-
कगोरसेन परिणामितम्, आयाममवभयणम्, (कट्टमूदरसेति)
काष्ठमूलं चणुकवल्गुकादिद्विदश, तदीयेन रसेन यत्परिणामितं
तत्काष्ठमूदरसं नाम पानकम् । तथा-यत्काञ्चिककथितं, [सोणे
सि]सप्तवर्ष यावत् । कुट्टा चिञ्चिनिका, पेया च प्रतीता, निजुप्पा-
अचेत्पट्टा अवधारिता वा । तथा-विद्येपिका द्विविधा-एका
काञ्चिकविद्येपिका, द्वितीया उदकविद्येपिका । ओदनस्तन्दुसा-
विमकम्, कुट्टमाया उडदाः, राजमाया वा । सक्तवो भृष्टयवलोद-
रूपाः, पिष्टमुन्नादिचूर्णं, मण्डकाः सक्कणिकामया, समितम्-अट्ट-
क, उत्तिवन्न मुक्केकादि, काञ्चिकपत्रं काञ्चिकेन वाष्पितम्-अराणि-
कादिशाकम्, पतानि काञ्चिकादीन्यलेपकृतानि मन्तव्यानि । वृ० १
उ० १३० । अलेखकपात्रस्य त्ववश्यं कल्पो दातव्यः । घ० ३ अधि० ।

अलेखी-अलेखियन्-पु० । अलेखारहिते अयोगिनि, सिद्धे च ।
स्था० ३ ना० ४ उ० ।

अलोग (य)-अलोक-पुं० । न० त० । धर्मादीनां छव्याणां
वृत्तिर्भवति यत्र तद, तादृशकेशमिह लोकः, तच्चिपरीतं ह्यलो-
कास्य क्षेत्रम् । आव० ५ अ० । लोकविस्तरे अनन्ताकाशस्ति-
कायमात्रे, सूत्र० १ ध्रु० १२ अ० । आ० म० । प्रव० । यत्र क्षेत्रे
समवगाढौ धर्मास्तिकाया धर्मास्तिकायौ, तावत्प्रमाणो लोकः,
शेषस्त्वलोकः । जी० १ प्रति० । “एते अलोप” एकोऽल्लोकोऽनन्त-
प्रदेशोऽपि द्रव्यार्थतया । स० १ सम० । सू० प्र० ।

लोगस्सऽत्थि विवक्खो, सुद्धत्तणओ धम्मस्स अघडो व्व ।
स धर्मा ई चैव मई, न निसेहाओ तदणुरूवो ॥

अस्ति लोकस्य विपक्षः, व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदामिधेयत्वात् । इ-
ह यद् व्युत्पत्तिमता शुद्धपदेनाभिधीयते तस्य विपक्षो दृष्टः, यथा-
घटस्याघटः । यत्र लोकस्य विपक्षः सोऽल्लोकः । अथ स्यान्मतिर्न
सोकोऽल्लोक इति । योऽल्लोकस्य विपक्षः स घटादिपदार्थानामन्यतम
एव भविष्यति, किमिह वस्त्वन्तरपरिकल्पनया ? तदेतन्न । पर्यु-
दासनञ्च निषेधान्निषेधस्यैवानुरूपोऽत्र विपक्षोऽन्वेषणीयः । न-
ल्लोकोऽल्लोक इत्यत्र च ल्लोको निषेधः, स चाकाशविशेषः, अतोऽ-
ल्लोकेनापि तदनुरूपेण भवितव्यम् । यथेहापि द्रव्य इत्युक्ते विशि-
ष्टज्ञानविकल्पेन एव पुरुषविशेषो गम्यते, नाचेतनो घटादिः,
एवमिहापि ल्लोकानुरूप एवाऽल्लोको मन्तव्यः । उक्तं च-“नन्यु-
कमित्युक्तं वा, यत्किं कार्यं विधीयते । तुम्हाधिकरणेऽन्यस्मि-
न्ल्लोकेऽप्यर्थगतिस्तथा” ॥१॥ “नञ्चिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे
तथा ह्यर्थगतिः” । तल्लोकविपक्षत्वादस्त्यल्लोक इति । विशेष । प्रे-
रक प्राह-“स घटाई चैव मती, ” गुरुः प्राह-“न निसेहाओ
तदणुरूवो” । स्था० १ ना० १ उ० । “सिक्का निगोयजीवा, वणस्सई
कालपुण्णसा चैव । सव्वमल्लोगागासं, अप्पेएऽणतया पेया” प्रव०
२५६ प्रा० । (अल्लोके छव्यक्षेत्रकालभावाः सन्ति नवेति ‘अणुभोग’
१६७

शब्देऽस्मिन्नेव प्रागे ३४३ पृष्ठे दशमाधिकारे समुक्तम् । कि-
यानल्लोक इति तु ‘लोग’ शब्दे बह्व्यते)

अलोभया-अलोभता-स्त्री० । लोभत्यागरूपेऽष्टमे योगसमूहे,
स० ३२ सम० । प्र० । आव० ।

अलोभतामाह-

साएए पुंडरिए, कंडरिए चैव देवि जसजहा ।
सावात्थि अजिअसेणे, किन्तिमई सुद्धगकुमारे ॥ १ ॥
जसजहे सिरिकंता, जयसिंधो चैव कन्नपाट्टे अ ।
नट्टविहीपरिओसे, दाणं पुच्छाइ पव्वज्जा ॥ २ ॥
सुद्ध वाइअं सुद्ध गाइअं, सुद्ध नच्चिअं सामसुंदरि ! ।
अणुपालिअ दीहराइया-ओ सुमिणंते मा पमायए ॥ ३ ॥

अर्थः कथांतो ज्ञेयः-

“साकेतं नाम नगर, पुणरुरीको नरेश्वरः ।
युवराजः कण्ठरीको, यशोभद्रा च तत्प्रिया ॥ १ ॥
रक्तस्तां धीव्य दृत्योचे, सा नैच्छद् मारितोऽनुजः ।
नष्टा सार्थेन तत्पत्नी, आवर्त्ती नगरीं ययौ ॥ २ ॥
तत्राऽऽचार्योऽजितसेनः, कीर्तिमती महत्तरा ।
तत्र साऽपि प्रवव्राज, धारिणीवत्तदन्तिके ॥ ३ ॥
परं न साऽत्यजत्पुत्रं, किन्तु धुल्लमचीकरत् ।
स वय स्थो व्रतं कर्तुं-मङ्गमो जननीं जगौ ॥ ४ ॥
यामीति स्यापितो भात्रो-परोक्ष द्वादशाब्दिकाम् ।
एवं महत्तराऽऽचार्यो-पाष्यायेरपि स व्रजन् ॥ ५ ॥
स्थापितोऽन्वाहते, कृत्स्नो-ऽष्टाचत्वारिंशदब्दिकाम् ।
तथाऽप्यतिष्ठन् प्रैषि मा-त्रोचे त्वं माऽन्यतो गमः ॥ ६ ॥
साकेते पुणरुरीकस्ते, पितृव्योऽस्ति नृपस्ततः ॥
मुद्रा कम्बलरत्नं चा-ऽऽदाय तत्र व्रजेः सुत ! ॥ ७ ॥
ततोऽस्याद् यानशास्त्रायां, राक्षः श्वो नृपमीक्षितुस् ।
पर्वद्याभ्यन्तरायां स, प्रैक्षत प्रेक्षणं निशि ॥ ८ ॥
नर्षकी तत्र नर्तित्वा, रङ्गेण सकलां निशाम् ।
विभातायां विभावरी, निनिद्रासुरचूततः ॥ ९ ॥
तन्माताऽचिन्तयत्यर्थ-सोषिता तरुनं बहु ।
चेत्प्रमादोऽस्या मुष्टाः स्म-स्ततो गीतिमिमां जगौ ॥ १० ॥
“सुद्ध वाइअं सुद्ध गाइअं, सुद्ध नच्चिअं सामसुंदरि !” इत्यादि ।
अत्रान्तरे स च कुल्ल-कुमारो रत्नकम्बलम् ।
युवराजो यशोभद्रो, निर्मलं रत्नकुण्डलम् ॥ ११ ॥
सार्थवाही निजं द्वार, राजेभाऽऽरोहकोऽङ्गुशम् ।
मन्त्री च कटक लक्ष-मूल्यानि निखिलान्यपि ॥ १२ ॥
त्याग यस्तत्र दत्ते स्म, स समस्तोऽप्यल्लिख्यत ।
ज्ञात्वा त्यागे कृते राक्ष-स्तोपो रोपोऽन्यथा पुनः ॥ १३ ॥
सर्वेऽपि प्रातराहता, सुद्ध पृष्ठेऽववीददम् ।
यावत्सन्मूलमायातो, राज्यलक्ष्मीसमीहया ॥ १४ ॥
गृहाण राज्य राक्षोये, स नैच्छद्विदमूचिवान् ।
व्रत निर्वाहयिष्यामि, मुक्तो गीत्याऽनयाऽस्म्यहम् ॥ १५ ॥
युवराजोऽवदद्राजा, वृत्तो राज्यं ददाति न ।
मारयित्वा तद्वादास्ये, इति चिन्ताऽभवन्नम ॥ १६ ॥
कृत्वा राजाऽधुनाऽप्येतद्, गृह्यतां सोऽपि नैदत ।
सार्थवाही जगौ पत्यु-गतस्य द्वादशाब्दतः ॥ १७ ॥

ततोऽन्याऽऽनयनेच्छातः, भुत्वा गीतिमिमां स्थिता ।
 मन्युचेऽन्यनृपैः सार्धं, घटनात स्थितोऽधुना ॥ १८ ॥
 प्रत्यन्तराजभिर्मिष्ट, प्रोक्तो हस्तिनमानय ।
 यद्वा मारय तन्मेने, निवृत्त गीतिकाभुतेः ॥ १९ ॥
 अस्मत्तुनेऽनया गात, किञ्चेति प्रतिबोधतः ।
 दसोऽस्माजिः प्रजो ! त्याग-स्तुष्ट सर्वेषु रूपतिः ॥ २० ॥
 सर्वे क्षुब्धकुमारस्य, मार्गलक्षाः प्रववजुः ।
 अलोभतैव कर्त्तव्या, सर्वैरपि महात्मभिः ॥ २१ ॥ आ० क० ।
 अलोभ-अलोभ-त्रि० । अमुष्णे, नि० चू० १० उ० । अप्राप्त-
 प्रार्थनाऽनल्परे, दश० १० अ० ।
 अलोभुप-अलोभुप-पुं० । सरसादारादिलास्पृष्टपरहिते, उक्त०
 २ अ० ।
 अल्ल-आर्ज-त्रि० । जलसपृक्ते, “अल्लं चम्मं डुरुह” । आर्ज-
 चर्माधिरोहति । झा० १२ अ० ।
 अल्लङ्कुसुम-अल्लङ्कुसुम-न० । पीतवर्णे लोकप्रसिद्धे
 गुच्छविशेषपुष्पे, प्रज्ञा० १ पद । ज० । रा० ।
 अल्लकचूर-आर्द्रकचूर-पुं० । तिक्तद्रव्यविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।
 अल्लग-आर्द्रक-न० । शृङ्गवेदे, (आदा इति क्यते) ध० २
 अधि० । प्रव० । ज० ।
 अल्लतथ-उत्-क्षिप्-धा० । ऊर्ध्वक्षेपे, “उत्क्षिपेर्गुलगुच्छोत्थङ्गा-
 ल्लत्योन्मुक्तोस्सिक्क-हक्खुवा” । उ० । ४ । १४३ । अल्लतथ-उत्-
 क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।
 अल्लमुत्था-आर्द्रमुस्ता-स्त्री० । (नागरमोया इति क्यते)
 आर्द्राऽवस्थे गन्धप्रधाने वनस्पतिमूले, प्रव० ४ द्वार । ध० ।
 अल्लावपुर-न० । अल्लावुदीननिवासिते म्लेच्छदेशस्थे नगरमेवे,
 यत्र गत्वा श्रीजिनप्रभसूरिभिर्मल्लैः प्रतिबोधिताः । “पत्ता
 रायभूमिमडण सिरिअल्लावपुरदुग्ग” । ती० ४ ए कल्प ।
 अल्लावुदीणसुरचाण-अल्लावुदीनमुद्रतान-पार० श० । वैक-
 मवत्सराणां द्वादशशतकादौ गुर्जरधरिऽपुष्पावके तत्कालिक-
 राजजेतुरि यवनराजे, ती० ३६ कल्प ।
 अल्लिअ-उप-सृप्-धा० । समीपगमने, “उपसर्पेरल्लिअः” ।
 उ० । ४ । १३६ । उपपूर्वस्य सृपेः कृतगुणस्य ‘अल्लिअ’ इत्यादे-
 शः । अल्लिअ-उपसर्पति । प्रा० ४ पाद । “तस्स सरणमल्लि-
 यह” । दश० १ उ० ।
 अल्लियावणवन्ध-आलायनवन्ध-पुं० । द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण
 श्लेषादिनाऽऽलीनकरणरूपे बन्धे, “से किं त अल्लियावणवधे ? ।
 अल्लियावणवधे चउन्विहे पण्णसे । तं जहा-लेसणावधे, उअय-
 वधे, समुअयवधे, साहणणावधे” । अ० ८ श० ए उ० ।
 (चतुर्णामेपां व्याख्या स्वस्वस्थाने प्रदर्शयिष्यते)
 अल्लियावणवन्धण-आलायनवन्दनक-न० । आचार्यादीनामा-
 श्रयणाय प्रतिक्रमणान्ते ज्येष्ठानुक्रमेण वन्दने, आव० ४ अ० ।
 अल्लिव-अर्पि-अ-णिव-पुक् । प्रदाने, “अर्पेरल्लिवचचुप्प-
 पणामा” । ८ । ४ । ३९ । इत्यर्पेण्यन्तस्य अल्लिवादेशः । अ-
 ल्लिव-अर्पयति । प्रा० ४ पाद ।
 अल्लि-आ-ली-धा० । आत्म० प० । आभयणे, “आलीकोऽ-

ल्ली” । उ० । ४ । ३४ । इत्यालीयतेर्लीत्यादेशः । अल्लिअ-
 आलीयते । प्रा० ४ पाद ।
 अल्लिअं-आलीतुम्-अव्य० । आभयितुमित्यर्थे, वृ० ६ उ० ।
 अल्लिण-आलीन-त्रि० । आ-ईपद् लीनः । जीत० । आभिते,
 आतु० । कल्प० । प्रति० । झा० । गुरुसमाभिते संलीने, आ सम-
 न्तात्सर्वोसु क्रियासु लीनो गुप्तः । अनुल्लघनचेष्टाकारिणि, जी० ३
 प्रति । तं० । गुरुजनमाभितेऽनुशासनेऽपि न गुरुषु द्वेषमापद्यमा-
 ने, जं० २ अ० । झा० । ज्ञानादिष्वासमन्ताल्लिने, व्य० १० उ० ।
 अल्लिणपलीणगुत्त-आलीनपलीनगुत्त-त्रि० । अल्लोपाङ्गानि
 सम्यक्संयमयति, दश० ८ अ० ।
 अव-अव-अव्य० । आधिक्ये, स० १ सम० । अवःशब्दार्थे,
 प्रव० २१६ द्वार । विशेष० । आ० म० । प्रज्ञा० । न० । अवममवः
 “तुदादिभ्यो न कौ” इत्यधिकारे “अकितो वा” (उणा-) इत्य-
 नेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः । गमने वेदने, आ० म० प्र० ।
 विशेष० । स्था० ।
 अवअक्ख-हग्-धा० । प्रेक्षणे, “दृशो निमच्छ-पेच्छावयच्छा-
 वयज्ज-वज्ज-सव्वव-देक्खोमक्खावक्खाऽवअक्ख-पुलोम-पु-
 लम-निआऽवआस-पासाः” । ८ । ४ । १८१ । इति सूत्रेण दृशोः
 ‘अवअक्ख’ आदेशः । अवअक्ख-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।
 अवअक्खिअ-देशी-निवापितमुक्ते, दे० ना० १ वर्ग ।
 अवअक्ख-देशी-कक्षावक्ते, दे० ना० १ वर्ग ।
 अवअक्ख-हादि-धा० । आह्वातोत्पादने, “ह्वादेरवअक्खः” । ८ ।
 ४ । १२२ । ह्वादेतेर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च ‘अवअक्ख’ इत्यादे-
 शः । अवअक्ख-ह्वादयति । प्रा० ४ पाद ।
 अवअच्छिअ-देशी-निवापितमुक्ते, दे० ना० १ वर्ग ।
 अवअणिअ-देशी-असंघटिते, दे० ना० १ वर्ग ।
 अवआस-हग्-धा० । “दृशो निमच्छ-” । ८ । ४ । १८१ ।
 इत्यादिना सूत्रेण दृशोः ‘अवआस’ इत्यादेशः । अवआस-
 पश्यति । प्रा० ४ पाद ।
 अवइ-अवतिन्-पुं० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, वृ० १ उ० ।
 अवउज्जिय-अवकुञ्ज-अव्य० । अधोऽवनम्येत्यर्थे, आवा० २
 भु० १ अ० उ० ।
 अवउज्जिअ-अपोह-अव्य० । परित्यजेत्यर्थे, “अवउज्जि-
 अण इह्मी” । वृ० ३ उ० ।
 अवउरुग-अवकोटक-न० । कृकाटिकाया अधोनयने, विपा०
 १ भु० २ अ० । प्रज्ञा० ।
 अवउरुगवन्धण-अवकोटकवन्धन-त्रि० । अवकोटकेन कृका-
 टिकाया अधोनयनेन बन्धनं यस्य स तथा । ग्रीवायाः पञ्चाङ्गा-
 गानयनेन बन्धे, विपा० १ भु० २ अ० । बाहुशिरसां पृष्ठदेशे ब-
 न्धने, प्रज्ञा० १ आभ० द्वा० ।
 अवउसणग-अपवसनक-अवजोषणक-न० । तपोविशेषसे-
 वायास्, पञ्चा० १६ विव० ।
 अवक-अवक-पु० । वक्रोऽसंयतः, न वक्रोऽवक्रः । संयते विर-
 ते, व्य० १ उ० । सर्वोपाधिभ्युदे श्रुजौ, आवा० १ भु० ३ अ० १ उ० ।

अवंग-अपाङ्ग-पुं० । नयनोपास्ते, ज० १ वक्र०। हा०। आचा०।
अवंगुयडुवार-अपावृतद्वार-त्रि० । कपाटादिभिरस्पृगितगृह-
द्वारे, "अवंगुयडुवारा" तद्दर्शनलाजेन कुतोऽपि पास्त्राणिमादृ-
विन्यति शोननमार्गपरिमृदेणोद्वाहादिरसस्तिष्ठन्तीति प्राघ-
इति वृद्धस्याख्या । अयमे त्वादु-निष्कृकप्रवेशार्थमौदार्यादस्पृ-
गितगृहद्वारा इत्यर्थः । भ० ३ श० ५ उ० । दशा० । औ० ।
वृद्धादितद्वारे, न० । वृ० १ व० । रा० ।

अवंचक-अवञ्चक-त्रि० । पराश्रयसमवेतौ, " अवंचिगा कि-
रिया" । अवञ्चिका पराश्रयसमवेतौ क्रिया मनोवाक्याव्यापार-
रूपेति द्वितीयमनुव्यवहारलक्षणम् । ध० २० । ध० ।

अवंचकयोग-अवञ्चकयोग-पुं० । अवञ्चकस्यधिकले योगे,
बो० । अवञ्चकयोगाश्च त्रयः । तद्यथा-सद्योगाऽवञ्चकः, क्रिया-
ऽवञ्चकः, फलावञ्चकः । तत्तत्स्वरूपं चेदम्-
"साङ्गिः कल्याणसंपन्नै-वंशनादपि पापनैः ।
तथादर्शनतो योग, आयोऽवञ्चक उच्यते ॥ १ ॥
तेषामेव प्रणामादि-क्रिया नियम इत्यलम् ।
क्रियाऽवञ्चकयोगः स्यान्महापापकरोदयः ॥ २ ॥
फलावञ्चकयोगस्तु, सङ्गय एव नियोगतः ।
सानुबन्धफलावाप्ति-धर्मसिद्धौ सतां मता ॥ ३ ॥ बो०
८ वि० ।

अवजणजाय-अव्यञ्जनजात-त्रि० । व्यञ्जनान्युपस्थरोमा-
दि जातानि यस्य स तथा । अजातोपस्थरोमणि, व्य०
१० व० ।

अवजणिज्ज-अवन्त्य-त्रि० । निष्कारणे यद्वनानर्हं, यथा-
"पासतो ओसओ, होह कुसीलो तदेव संसत्तो । सद्वन्दो वि-
य एव, अवजणिज्जा जिगमयस्मि" । ध० २ अ० ।

अवंतरसामञ्ज-अवान्तरसामान्य-न० । कृत्यत्यकर्मत्यादौ-स-
त्ताषट्कापरसत्तायाश्च, आ० भ० द्वि० ।

अवन्तिवृण-अवन्तिवर्द्धन-पुं० । अवन्तिराजप्रद्योनात्मजपाल-
कराजस्य पुत्रे, आव० ४ अ० । आ० क० । घा० चू० ।

अवन्तिमुकुमाञ्ज-अवन्तिमुकुमार-पुं० । प्रजाभेदनीपुत्रे, दर्श० ।
" वज्रेणीय नयरीय अर्धतन्मामिपमिमाय भज्जमुहयिणामेण
सूरिवरा पञ्जुवासणत्थ उज्जाणे समोसदे । भणिया य
साहुणो-जहा वसहिं मग्गह । ततो साहुणो विहरमाणा गया
भहाय सेट्ठिणीय घरे । तीय वि वदिकुण पुच्छिया-जहा कओ
भयवन्ताणं आगमण ! । तेहिं सिट्ठ-देसतराओ भज्जमुहयिणस्स-
रिसतिया वसाहिं जाणमो । ताय वि हट्ठुत्ताय जाणसान्ना वरि-
सिया । अत्रया आयरिया महुवरणीय नसिणिगुम्म नाम भज्ज-
यण परियचंति । तीसे पुत्तोऽयत्तिमुकुमाओ णाम । सो वि दे-
वकुमारोवमो सत्तत्ते पासायधरगओ वत्तीसाय भज्जाहिं सम
वोहुणो एव देवो लल्लह । तेण वि मुत्तविठ्ठेण निस्सुय । चित्ति-
य च-न एयं नाहयसरस ति सत्तओ उपरिभूमीओ भूमी सप-
हारेह, कथमन्थे गय परिस सुयमणुभूयपुव्व । एव र्ह्हापोह-
मण्णेण गवेसण कुणतस्स भयियव्वयावसेण तथाऽऽवरणिज्ज-
कम्मफलधोवसमेण जाइसरण संपत्तो । तओ य आयरियाण
पायमूले वदिकुण भणिय-भयध ! एव सव्व मज्झ चणिय-अहं
तत्थ देवो आसि, ता सपय देहि वय, उस्सुगांसह तिज्जि वास-

स्स । सूरिहिं भग्ग-वेठ ताव जाव पभाय मायर ते पुच्छामो ।
ततो तेण सयमेव लोअ काठ पयट्ठो । सूरिहिं चित्ति-मा एस
सय गिहीयल्लिगो होउ सि कल्लिउ से समप्पिओ वेसो, विअ
विक्खा । ततो निवमिठ्ठण चलणेसु भणितो-असमत्थोऽह दी-
दपन्वज्जापरियायपरिवालणस्स, ता सपय चेव अणसण का-
ऊण इगिणि करेमि । ततो पपण अणुजाणविओ नीइरिउ
सत्ताणामो पत्तो कथारिकुमंगिसमीवे, इगिय एस काऊण
विओ काउस्सणेण । अइसुकुमारयाय सरीरस्स धराणितल-
फाससंजायकहिरण्यघादेण समागया सियाली सह सत्तहिं
पिल्लपहिं । ततो एग जंघ सियालीय खाइयं, वीय पिल्लकपहिं
पदमजामे, एव ऊरु विइयजामे, तइयजामे पेट्ठ, एवं सो जय-
य त धंयण सममाहियासिऊण तइयजामे समाहीय काल
काऊण गतो तम्मि चेव विमाणे । ततो समागया पच्चासन्न-
देया, मुक्कं गंधोदय कुसुमवरिस, आहयाओ देवदंडुहीओ,
उगुट्ट च हरिसभरनिज्जरोहिं-अहो ! एस महाफालो । घरे य
से भज्जाण परोप्पर समानोओ जाओ, तेहिं सिट्ठ-उत्तो कथ
यि गओ । ततो य से प्रहा पुच्छिया । तीय वि समारलमणाय
सूरिहिं सव्व साणियं । ततो पमायाय रयणीय सन्निवट्ठीय नीह-
रिया भहा, सह सव्वसुम्माहिं सुसारं पत्ता । दिट्ठं च कुमंगाओ
नेरहयदिसाय आसयट्ठिय कलेवर । ततो सोयभरविउरिया उ-
म्मुक्ककंठं मणेगपलायणेण तदा रोइय जहा वसीण वि य तुज्ज-
ति दिययाह । ततो कहमवि संठविथा सयणधमेण, गया य
सिणाय नईय तमे, कयं तत्थ सकुकरणं, पच्चालोइयकिच्चाणि,
साययणाणि य काराविऊण भहाय अइ सवेगाओ सह सुएहाहिं
गदिया पयज्जा । एगा उण गुव्विणि सि काऊण ठिया घरे । जातो
पुत्तो । तेण पिउमरणत्ताणे काराविया पिउपमिमा, समुग्घोसि-
य महाफालो सि नामेण आययणं । त च संपय होइयाहिं प-
रिगाहिय महाफालो सि विक्खायं । अवन्तिमुकुमारकथानकं
समाप्तमिति ॥ दर्श० । संथा० ॥

अवन्तिसेण-अवन्तिमेन-पुं० । चणमप्रचोतपौत्रे पात्तकस्य राज्ञः
पुत्रे, आ० क० । ('अष्टायया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४९४
पृष्ठेऽस्य कथोक्ता)

अवन्ती-अवन्ती-स्त्री० । उज्जयिनीनगरीप्रतिचन्द्रे जनपद-
विशेषे, आ० म० द्वि० ।

अवन्तीगंगा-अवन्तीगङ्गा-स्त्री० । गोशालकमतप्रसिद्धे कालवि-
शेषे, "एगा अवन्तीगंगा सत्त अवन्तीगंगाओ, सा एगा परमाऽव-
न्तीगंगा" । भ० १४ श० १ उ० ।

अवदिम-अवन्त्य-त्रि० । वन्दनानर्हं, " पच्चा होह अव-
दिमो" । दश० १ चू० ।

अवकंखमाण-अवकाङ्क्षत्-त्रि० । पश्चाद्भागमवलोकयति,
हा० ६ अ० ।

अवकंखा-अवकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाषे, आचा० १ वृ० २ अ०
२ उ० । सूत्र० । औत्सुक्ये, स्या० ४ ता० ३ उ० ।

अवकारि (ण्)-अपकारिन्-त्रि० । अपकारकरणशीले, हा०
२६ अ० ।

अवकिरण-अवकिरण-न० । उत्सर्गे, आव० ५ अ० ।

अवकिरियव्व-अवकिरणीय-न० । विक्षेपणीये त्याज्ये, प्रश्न०
५ आश्र० द्वा० ।

अवर्कत

अवर्कत-अपक्रान्त-त्रि० । सर्वज्ञानभावेज्योऽपगते त्रये, तद-
न्येज्योऽतिनिष्ठे अपक्रमणीये, " जंबुद्वीपे दीवे मंदरस्स पव्व-
यस्स दाहिणेण इमीसे रयणप्पजाय पुढवीप उ अवर्कतमहानि-
रया पणत्ता । तं जहा-भोले, लोसुप, उहहे, निहहे, जरप, प-
ज्जरप । चउत्थीप ण पक्कभाय पुढवीप उ अवर्कतमहाधिरया
पणत्ता । तं जहा-भारे, चारे, भारे, रारे, रोरुप, साडखडे " ।
स्था० ६ ग० ।

अव्युत्क्रान्त-त्रि० । न व्युत्क्रान्तमव्युत्क्रान्तम् । सचेतने, मिमे
च । नि० चू० १७ उ० ।

अवर्कति-अपक्रान्ति-स्त्री० । गमने, आचा० १ भु० ८ अ० ६
उ० । परित्यागे, झा० ८ अ० ।

अवक्रमण-अपक्रमण-न० । विनिर्गमे, स्था० ७ ग० । आचा० ।
अपसर्पणे, दश० १ अ० । अपसरणे, भ० १५ श० १ उ० । झा० ।
" निगमणमवक्रमणं, निस्सरण पत्तायण य पगछा " । व्य०
१० उ० ।

अवक्रमित्ता-अवक्रम्य-अव्य० । गत्वेत्यर्थे, दश० ५ अ० १ उ० ।

अवक्रम-अवक्रम्य-अव्य० । विनिर्गतेत्यर्थे, व्य० १ उ० । वृ० ।

अवक्रय-अवक्रय-पुं० । भाटकप्रदाने, वृ० १ उ० ।

अवकास-अप (व) कर्ष-पुं० । अपकर्षणमवकर्षणं वा अप-
[व] कर्षः । अभिमानादात्मनः परस्य वा क्रियारम्भात्कुतोऽ-
पि व्यावर्त्तने, प्र० १२ श० ५ उ० ।

अपकाश-पुं० । अभिमानादान्ये, भ० १२ श० ५ उ० । त-
दात्मके मोहनीयकर्माणि, स० १२ सम० ।

अवक्खंद-अवस्कन्द-पुं० । अव-स्कन्द-आधारे घञ् । जिगीषू-
णां सैन्यनिवेशस्थाने शिबिरे, आक्रमणे, भावे घञ् । वाच० ।
" अवक्खयोर्नास्ति " । ८ । २ । ४ । इति स्कन्धः । प्र० २ पाद ।

अवक्खकण-अवप्पक्खण-न० । पश्चाद् गमने, प्रव० २ द्वार ।

अवक्खारण-अपक्खारण-न० । अपशब्दकारणे, प्रअ० २ आध० झा० ।
अपक्षरण-न० । साक्षित्याकरणे, प्रअ० २ आध० झा० ।

अवक्खेवण-अवक्खेपण-न० । अव-क्लिप्-धा०-ल्युट् । अध-स्थान-
संयोगहेतौ, क्रियाविशेषे अध-पातने च । आ० म० छि० ।

अवगमसुक्क-अपगमसुक्क-त्रि० । अपगतं गण्डमपद्रव्यं यस्य
तदपगतगण्डम्, तद्वच्छुक्कम् । निर्दोषार्जुनसुवर्णवच्छुक्के, यदि
वा गरुमुदकफेनम्, तद्वच्छुक्कम् । उदकफेनतुल्यशुभ्रे, सूत्र०
१ भु० ६ अ० ॥

अवगमिज्जवदम-अपकर्णितजवदम-त्रि० । अवधीरितस-
सारजये, जीवा० १ अधि० ।

अवगम-अपगम-पुं० । विनाशे, विशेष० ।

अवगम-पुं० । विनिश्चये, विशेष० ।

अवगय-अवगत-त्रि० । " अवापोते च " । ८ । १ । १७२ । इत्य-
स्य कचिदप्रवृत्तेर्न ओत् । प्र० १ पाद । अवधारिते, आचा०
१ भु० १ अ० १ उ० । सम्यगवबुद्धे, " अवगयपत्तसरुवे " ।
अवगत सम्यगवबुद्ध पात्रस्य आवर्णीयस्य प्राणिनः स्वरूपमात्रं
येन सोऽवगतपात्रस्वरूपः । ध० २० ।

अवगयवेय-अपगतवेद-त्रि० । क्षपितवेदे, प्रव० २६१ द्वार ।

अवगाद-अवगाद-त्रि० । आभिते, स्था० १ ग० १ उ० ।

अवगादगाद-गादावगाद-त्रि० । अधोव्याप्ते, " अवगादगादासि-
रीप अतीव उवसोन्नेमाणा उवसोन्नेमाणा चिच्छंति " । गाद
वादमवगादास्तैरेव सकलक्रीडास्थानपरिमोगनिहितमनोभि-
रघोऽपि व्याप्ता, गादावगादा इति वाच्ये, प्राकृतत्वाद्वावगादगा-
दाः । इह च देवत्वयोग्यस्य जीवस्याभिधानेन तद्योग्यः साम-
र्थ्यादवसीयत एवेति । प्र० १ श० १ उ० ।

अवगार-अपकार-पुं० । विरूपाचरणे, " अपकारसमेन कर्मणा, न
नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमात्र । अधिकां कुरुते हि यातनां, द्विषतां
यातमशेषमुद्धरेत् " १ ॥ सूत्र० १ भु० ८ अ० ।

अवगास-अवकाश-पुं० । गमनादिचेष्टास्थाने, आव० ६ अ० ।
" ततो लब्धावगासो सत्यं बुद्धो भणइ " । आ० म० प्र० । अ-
वस्थाने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । उत्पत्तिस्थाने, सूत्र० २ भु० ३ अ० ।

अवगाह-अवगाह-पुं० । अवकाशे, वृ० २८ अ० ।

अवगाहणा-अवगाहना-स्त्री० । जीवादीमाश्रये, देहे च ।
स्था० ४ ग० ३ उ० । (कस्य कीदृगवगाहनेति ' ओगाहणा '
शब्दे तृतीयभागे ७६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

अवगाहणागुण-अवगाहनागुण-पुं० । अवगाहना जीवादीना-
माश्रयो गुणः कार्ये यस्य सः । तस्या वा गुण उपकारो यस्मात्
सोऽवगादनागुणः । स्था० ५ ग० ३ उ० । जीवादीनामवकाश-
हेतौ बदराणां कुपम इवाकाशास्तिकाये, भ० २ श० १० उ० ।

अवगिज्झिय अवगृह्य-अव्य० । उद्दिश्येत्यर्थे, कल्प० ९ क० ।

अवगुण-अवगुण-पुं० । उर्गुणे, " अवगुण कयज मुपण । " प्रा०
४ पाद सू० ३९५ ॥

अवगुणंत-अवगुणत्-त्रि० । अपावृण्वति, भ० १५ श० १ उ० ।

अवगूढ-अवगूढ-त्रि० । व्याप्ते, झा० ८ अ० ।

अवगबोहि-अपग्रबोधि-पुं० । समीपगतबोधौ सुलभबोधौ, प्रतिग०

अवगह-अवग्रह-पुं० । अवग्रहणमवग्रहः । इन्द्रियानिन्द्रिय-
निबन्धने सांख्यचहारिकप्रत्यक्षप्रकारचतुष्टयान्यतमे, रत्ना० ।

विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतमत्तामात्रगोचरद-
र्शनाज्जातमाद्यमन्त्रान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमव-
ग्रहः ॥ ७ ॥

विषयः सामान्यविशेषात्मकोऽर्थः, विषयी चक्षुरादिः, तयोः
समीचीनो भ्रान्त्याद्यजलकत्वेनानुकूलो निपातो योम्यदेशाद्य-
वस्थान, तस्मादनन्तर समुद्भूतमुत्पन्न यत्सत्तामात्रगोचर
निःशेषविशेषवैमुख्येन सम्मात्रविषय इदं निराकारो बोधः,
तस्माज्जातमाद्य सत्त्वसामान्याद्वान्तरे सामान्याकारैर्भु-
ष्यत्वादिभिर्जातिविशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो यद् ग्रहणं ज्ञानं त-
द्वग्रह इति नाम्ना गीयते । रत्ना० २ परि० । आव० । प्रका० ।
स्था० । योनिद्वारे, प्रव० ३० द्वार । अवगृह्णाति इति अवग्रहः ।
उपधौ, ओघ० । (अवग्रहमेवादिः ' उग्राह ' शब्दे द्वितीयभागे
६९८ पृष्ठे वक्ष्यते)

अवचय-अपचय-पु० । अपचये, अनु० । दश० । सूत्र० । देशतो-
ऽपगमे, म० ११ श० ११ उ० । कयोपगमे, सूत्र० १ भु० २ अ०
३ उ० ।

अवचिय-अपचित-त्रि० । शोषिते, उक्त० २५ अ० । जीवप्रदेशै-
र्विरहिते, अनु० ।

अवचियमंससोणिय-अपचितमांसशोषित-ने० । शोषितमांस-
सकथिरे, उक्त० २५ अ० ।

अवचुल्ली-अवचुल्ली-स्त्री० । बुद्ध्या अव पश्चाद् अवचुल्ली ।
राजदन्तादित्वादवशब्दस्य पूर्वनिपातः । अवहृक्के, पि० ।

अवच-अपत्य-न० । न पतन्ति यस्मिन्नुत्पत्ते दुर्गतौ अयशः-
पदे वा पूर्वजास्तदपत्यम् । पुत्रादौ, कटप० ७ स० । पुत्रे, पुत्र्यां
च । भाव० १ अ० । सयत्या अपत्ये जानिते आजवनव्यवहार-
व्य० ।

सांप्रतमन्यं व्यवहारमुपदर्शयति-

अह्वा अक्षकुला, पदिभाजिउकाम समणसमणीओ ।

अणुसद्धा पर ण ठिया, करेति वायंति-ववहारं ॥

अथवेति व्यवहारस्य प्रकारान्तरोपदर्शने । अमणः अमणी
वेति ब्राह्मण्यन्यकुलौ, अन्यकुलः अमणः, अन्यकुला अमणी,
प्रतिभङ्गुकामौ प्रतिपतितुकामौ, स्वस्याचार्येण च तौ प्रभूतम-
नुशिष्टौ, परं न स्थितौ स्वस्वकुलममत्वेन घागान्तिकव्यवहारं
वागेवान्तः परिसमाप्तिर्वागन्तः, तत्र प्रबो वागन्तिक । स चासौ
व्यवहारश्च, त कुलः । तथाया-यानि भस्माकमपत्यानि जनि-
भ्यन्ते तेषां मध्ये ये पुरुषास्ते सर्वे मम, याः स्त्रियस्ताः सर्वा-
स्तव । अथवाअमणीभूते ये पुरुषास्ते सर्वे मम, स्त्रियः सर्वा-
स्तव । यदि चेदं भणति-सर्वाण्यपत्यानि तव, अथवा-सर्वाण्यप-
त्यानि ममेति, तयोः संसारे स्थित्वा पुनः प्रमज्यां प्रत्युपस्थितयो-
र्यदेव वागन्तिकेन व्यवहारेण निश्चितं तदेव तयोः संजघति ।

अहं न कतो तो पच्छा, तेसिं अनुचियाण ववहारो ।

गोणीआमुज्जामिग-कुडुंवि खरए य खरिया य ॥

अथ न कृतः पूर्वं वागन्तिको व्यवहारः, पश्चात्तयोः प्रमज्या-
यामन्युत्थितयोः स्वस्वकुलममत्वेन व्यवहारो जगहनमभूत् । तत्र
सयतीकुलसत्काः गोदृष्टान्तमुद्वज्जामिकादृष्टान्तं खरकखरिकाद-
ृष्टान्तं चान्तराऽन्तरोपन्यस्यन्ति । संयतकुलसत्काः-अभ्वदृष्टान्तं,
कौटुम्बिकदृष्टान्तं च ।

अथ चेयमन्या दृष्टान्तपरिपाटी-

गोणीणं संगिह्णं, उज्जामइला य नीयपरदेसं ।

तत्तो खेत्ते देवी, रसो अभिसेयणे चैव ॥

संयतीसमानकुलकाः गवां संगिह्णं समुदायं दृष्टान्तीकुर्वन्ति ।
तदनन्तरं सयतसकुलका या उज्जामिन्ना परदेशं नीता, तां दृष्टा-
न्तीकुर्वन्ति । ततः पुनरपि संयतीसकुलकाः क्षेत्रे धीजम् । ततः
सयतकुलकाः देवीं राक्षोऽभिषेचनं चैवेति ।

तत्र भणने जाते यथा संयतीसकुलका गोदृष्टान्तं कुर्वन्ति
तथा प्रतिपादयति-

संजइत्त जणंती, -संमे अक्षस्स जं तु गोणीए ।

जायति तं गोणिवइ-स्स होति एवइम्ह एयाइ ॥

(संजइत्ता) सयतीसत्काः समानकुलकाः भुवने अन्यस्य सत्केन
१९८

षाणेन यद् गोर्जायतेऽपत्यं तत् सर्वं गोपतेर्गोस्वामिनो भवति,
न षण्णस्वामिनः । एवमनेनैव दृष्टान्तेनास्माकमप्येतान्यपत्यान्या-
भवन्ति, न युष्माकमिति ।

एवमुक्ते-

वैतियरे अम्हं तू, जइ वडवाए अ अक्षआसेणं ।

जं जायति मोल्ले नो, दिन्ने तं असिसयस्सेव ॥

इतरे संयतसमानकुलका भुवने-अस्माकमेतान्यपत्यानि भव-
न्ति, यथा-मृत्ये अदत्ते यदन्वेना-यसत्केनाह्वेन वरुवाया जायते-
ऽपत्यं तद् अभिवकस्यैव-अहवस्वामिन एव, व्यावहारिकैरेवमेव
व्यवहारनिश्चयात् । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते-

जस्स महिलाए जायति, उज्जामइलाए तस्स तं होइ ।

संजइत्त जणंती, इयरो वंती इमं सुणसु ॥

यस्य महिलाया प्रार्यायाः, उद्वज्जामिलायाः स्वैरिण्याः, जायते
सुतः परन्तु तस्य तत्सर्वमाभवति, एवमस्माकमपि, इति
(संजइत्ता) सयतीसत्का समानकुलका भणन्ति । इतरे
भुवन्ते-इदं वक्ष्यमाणमुद्वज्जामिककौटुम्बिककृतं शृणुत-

तेणं कुडुंविणं, उज्जामइलेण दोएइ वी दंमो ।

दिन्नो सां वि य तस्सा, जाया एवइम्ह एयाइ ॥

येन स्वैरिण्या अपत्यानि जनितानि तेन कौटुम्बिकेन उद्वज्जामि-
नेन राजकुले गत्वा कथितम्-यथाऽहं देव ! तस्याः सर्वं भोगभरं
घशामि स्म, सोऽपि च तत्पतिर्मदीयेन भोगजरेण निर्युद्धवान्,
तस्मात्प्रसादं कृत्वा मदीयान्यपत्यानि दापयतेति । तत एवमुक्ते
राजा कुपितः, तथा-भोगजरसंवाददर्शनत एवमिमावपत्याय का-
रणाविति ब्राह्मणं सर्वस्वापहरणतो दण्डितवान् । तथा चाह-
भयोरपि दण्डो दत्तो, दापित इत्यर्थः । सा चापत्यापहरणतोऽ-
नन्यगतिका सती तस्य जाता । एवमस्माकमेतान्यपीति ।

पुणरपि य संजइत्ता, वैति खरियाए अक्षखरण ।

जं जायति खरियाहिव-तिस्स होति एवइम्ह एयाइ ॥

पुनरपि संयतीसत्का भुवने-खरिकायां गर्दज्यामन्यखरकेण
अन्यसत्केन गर्दजेन, यद् जायते तत्सर्वं खरिकाधिपतेर्भवति, एव-
मस्माकमप्येतानीति । तदेव प्रथमदृष्टान्तपरिपाटी प्राविता ॥

सप्रति द्वितीयां विभावयिषुः प्रथमतो गोवर्ग-

दृष्टान्तं भावयति-

गोणीणं संगिह्णो, नइ अदवीए अक्षगोणेणं ।

जायाइ वच्छागाइ, गोणाहिवतीओ गेहंति ॥

गवां स्त्रीगवानां संगिह्णः समुदायो नष्टोऽदव्यां पतितः, तत्र च
तस्यान्यगवेनान्यसत्केन पुङ्गवेन, जातानि वत्सकानि वत्सरूपाणि
तानि, गवेपणतः कथमपि गवां लाभे गवाधिपतयः स्त्रीगवी-
स्वामिनो गृह्णन्ति, न पुङ्गवस्वामिनः । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते सयतसत्का उद्वज्जामिकादृष्टान्तं पूर्वोक्तमु-

पन्यस्यन्ति, तथा चाऽऽह-

उज्जामिय पुचुत्ता, अह्वा नीया उ जा परविदेसं ।

तस्सेव सा आभवती, एवं अम्ह तु आभवति ॥

उद्वज्जामिका पूर्वमुक्ता । यथा-सापत्या तस्य जाता । अथवा या

परं विदेशं नीता सा तस्यैवान्नवति, पश्चादपि नान्यस्य । एवमे-
तान्यपत्यान्येषा चाऽस्माकमाज्ञवतीति ।

एवमुक्ते-

इयरे ज्ञांति वीयं, तुभं तं नीयमन्नखेचं तु ।

तं होइ खेचित्यस्सा, एवं अम्हं तु एयाइ ॥

इतरे संयतीसत्का भणन्ति-वीजं युष्मदीयं तत्कालक्रेत्रसादृश्य-
विप्रवृत्ततः कथमपि वापैरन्यत् क्षेत्र नीतम्; अन्यत्र क्षेत्रे उत्त-
मित्यर्थः । तद् लोके क्षेत्रिकस्य भवति; एवमेतान्यपत्यान्यस्मा-
कमिति ।

संयतसत्का अत्र प्रत्युत्तरमाह-

रसो धूयाओ खलु, न माउळंदाउ ताउ दिज्जंति ।

न वि पुत्तो अजिसिज्जइ, तासिं छंदेण एवऽम्हं ॥

न खलु ध्या रासो दुहितरः, ता मातृच्छन्दतो मातृणामभिप्रायेण,
दीयन्ते; नापि पुत्रोऽभिषिच्यते तासां मातृणां छन्देनाभिप्रायेण ।
किन्तु राज्ञः स्वभिप्रायेण । ततो यथा-राजा प्रधानमिति सर्वे
राज्ञ आयत्तम्, एवमत्रापि पुरुषः प्रधानमिति सर्वे पुरुषस्याय-
त्तमतः सर्वमस्माकमाज्ञवति ।

एवं व्यवहारे वर्तमाने श्रुतधर आचार्यो व्यवहारं

छेत्तुकाम इदमाह-

एमादिउत्तरोत्तर-दिट्ठा बहुविहा न उ पमाणं ।

पुरिसोत्तरिओ धम्मो, होइ पमाणं पवयणं तु ॥

एवमादय उत्तरोत्तरदृष्टान्ता बहुविधा अभिधीयमाना न प्रमा-
णम्, किन्तु प्रवचने पुरुषोत्तरिको धर्म इति पुरुषः प्रमाणम् ।
अतः सर्वे पुरुषा ब्रह्मन्ते, नेतरे इति । व्य० ४ उ० ।

अवचामेलिय-अव्यत्याग्रेमित-न० । एकस्मिन्नेव शास्त्रेऽन्या-
न्यस्थाननिबद्धान्येकार्थानि सूत्राण्येकत्र स्थाने समानीय पठतो
व्यत्याग्रेमितम् । अथवा-आचारादिसूत्रमध्ये मतिचर्चितानि न-
त्सदृशानि सूत्राणि कृत्वा प्रक्षिपतो व्यत्याग्रेडितम् । अस्थान-
विरतिक वा व्यत्याग्रेडितम्, तथाऽव्यत्याग्रेडितम् । व्यत्याग्रेमि-
तद्विपरहिते सूत्रगुणे, अनु० । ग० । विशेष० । प० चू० ।

अवच्छलत्त-अवत्सलत्व-न० अवात्सल्यकरणे, व्य० १ उ० ।

अवच्छेय-अवच्छेद-पु० । त्रिभागोऽशौ, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

अवजाणमाण-अवजानान-त्रि० । अपलपति, सूत्र० १ श्रु०
४ अ० ४ उ० ।

अवजाय-अपजात-पु० । अप इत्यपसदो हीनः पितुः सम्पदो
जातोऽपजातः । पितुः सकाशादावकीनगुणे पुत्रजेदे, यथाऽऽदि-
त्ययश्च, भरतापेक्षया तस्य हीनत्वात् । स्था० ४ ठा० १ उ० ॥

अवजुय-अवजुत-त्रि० । पृथग्भूते, व्य० ७ उ० । पृथग्भावे, नि०
चू० १६ उ० ।

अवज्ज-अवद्य-न० "अवद्यपण्य०" । ३ । १ । १०१ । इत्यादिना
(पाणि०) सूत्रेण निपातः । "द्यय्योऽज्ज" । १८ । २ । २४ । इति द्यस्य
ज्ज । प्रा० २ पाद । पापे, आ० म० द्वि० । आव० । आ० चू० ।
सूत्र० । विशेष० । आचा० । निर्दोषे, उत्त० ६ अ० । वृ० । सथा० ।
मिथ्यात्वकषायलक्षणे, आ० म० प्र० । गहौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ०

२ उ० । विशेष० । "कम्ममवज्ज जं गर-हिय ति कोहाइणो व स-
चारि" । कर्मानुष्ठानमवद्य ज्ञायते । किमविशेषेण ? नेत्याह-वत्
गर्हित निन्द्यम्, अथवा क्रोधादयश्चत्वारोऽवद्यं, तेषां सर्वाव-
द्यहेतुतया कारणे कार्योपचारात् । आ० म० द्वि० । म० ॥

अवज्जकर-अवद्यकर-पु० । अवद्य पापं तत्करणशीलः । पापि-
नि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अवज्जभीरु-अवद्यनीरु-त्रि० । पापजीरौ, ओघ० । पापाच्चाक-
ते, वृ० ३ उ० ।

अवज्जभाण-अपध्यान-न० । अप्रवृत्तं ध्यानमपध्यानम् । आ-
र्त्ताधिधाने, औ० । पापकर्माणपदेशे हिंसकार्पणे, ध० २ अधि० । इह
देवदत्तभावककोट्टणसाधुप्रभृतय उदाहरणानि । आव० ६ अ० ।
अवज्जभाणया-अपध्यानता-स्त्री० । भार्त्तरौद्रादिध्यायित्वे,
स्था० ३ ठा० ३ उ० ॥

अवज्जभाणायारिय-अपध्यानाचरित-पुं० । अपध्यानभार्त्तरौद्र-
रूपं तेनाचरित आसेवितो योऽनर्थदण्डः स तथा । अनर्थदण्ड-
भेदे, उत्त० ३ अ० । ध० ।

अवज्जाय-अपध्यात-त्रि० । दुर्ध्यानविषयीकृते, उत्त० ६ अ०
दुष्टचिन्तावति, स्था० १४ अ० ॥

अवदु-अवदु-पु० । कृकाटिकायाम्, म० १५ श० १ उ० । विपा०

अवद्वंभ-अवद्वम्भ-पु० । स्तम्भाद्यवलगने, ध० ३ अधि० ।

इदानीमवच्छिन्नद्वारं प्रतिपादयन्माह-

अन्वोच्छिन्ना तसा पाणा, पमिलेहा न मुज्जई ।

तम्हा इहसमत्थस्स, अवद्वंभो न कप्पइ ॥ ५०७ ॥

अवद्वम्भ-स्तम्भादौ न कर्तव्यः, यस्मात्प्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मिन्
पश्चादपि अव्यवच्छिन्ना अनवरतं त्रसा प्राणा जघन्ति, ततश्च तत्र
प्रत्युपेक्षणा न शुष्यति । [तम्हा इहसमत्थस्सेति] तस्माद् इहो
नीरोगः, समर्थस्तरुणः, तस्य एवविधस्य, साधोरवद्वम्भो न क-
ल्पते नोक्तः ।

इदानीं के ते त्रसाः प्राणिनः ? इत्येतत् प्रदर्शनायाह-

संचरकुंथुदेहिय-बूआ वा होइ दाली य ।

एवं घरकोइलिया, सण्णे वीसंजरे सररे ॥ ५०८ ॥

तत्रावद्वम्भे स्तम्भादौ, संचरन्ति प्रसर्पन्ति; के ते ? कुन्थुसत्वाः
उद्देहिकाश्च लूना कोलियकाः, तद्वृत्तो जेदः भक्षणं भवति,
तथा च दाली राजिर्भवति, तस्यां च वृद्धिकादेराश्रयो भवति,
तथा च-गृहकोलिया घरोलिका, इयमुपरिस्था भूजयति,
तन्मूत्रेण चोपघातश्चक्षुषो भवति । सर्पो वा तत्राश्रितो भ-
वति, वीसभरो जीवविशेषः, उन्दुरो वा भवेव, सरटः क-
कलासः, स वा दशनादि करोति ।

इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयन्माह-

संचारगा चउदिसि, पुव्वं पमिलेहिए वि अण्णैति ।

उद्देही मूल पुणो, विराहणा तदुभए भेओ ॥ ५०९ ॥

संचारकाः कुन्धादयः पूर्वोक्ताश्चतसृष्वपि दिक्षु तस्मिन्नावद्वम्भे
परिभ्रमन्ति, पूर्वप्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मिन् स्तम्भाद्यवद्वम्भे अन्ये
आगच्छन्ति । [उद्देहि ति] कदाचिदसौ स्तम्भादिरवद्वम्भः मूले

अवष्टम्भ

उद्देशिकादिप्रदत्तः, ततश्च अवष्टम्भं कुर्वत उपरि पतति, पुनश्च विराधना तदुज्ये भवति, आत्मनि सयमे च भवति, मे-
दश्च पत्रकश्च भवति ॥

लूआइ य मदणे सं-जमम्मि आयाइ विच्छुगाईया ।

एवं घरकोइलिया-अहिउंदरसरदमाईसु ॥ ५१० ॥

लूआदौ च मदने मर्दने सयमविषया विराधना भवति, आत्म-
विराधना च वृश्चिकादिभिः क्रियते, पत्र गृहकोकिलिकाअहि-
उन्दुरसरदादिविषया सयमविराधना, आत्मविराधना च भव-
तीत्युक्त उत्सर्गः ॥

इदानीमपवाद उच्यते-

अतरंतस्स च पासा, गादं पुक्खंति तेणऽवष्टम्भो ।

सजयपिठे थंजे, सेलमुहाकुडुवेटीए ॥ ५११ ॥

अतरन्तस्य च तिष्ठतो ग्लानादेः पार्श्वानि गादमत्यर्थं दुःख-
न्ति, तेन कारणेन अवष्टम्भं कुर्वति । क १, अत आह-सयत-
पृष्ठे स्तम्भे वा [सेल सि] पाषाणमये स्तम्भे, सुधाऽर्जिते कुण्ड्ये
वा अवष्टम्भं कुर्वति । अवधिकाया वेष्टिकायां वा कुण्ड्यादौ
कृत्वा ततोऽवष्टम्भं करोति । उक्तमवष्टम्भचारम् । ओघ० । ध० ।

अवष्टग-अपार्यक-त्रि० । अपगतपरमार्थप्रयोजने, द्वा० १६ द्वार ।

अवष्टाण-अवस्थान-न० । व्यवस्थायाम्, व्यवस्था सस्थितिः
स्थितिरवस्थानमवस्था चैतान्येकार्थिकानि पदानि । वृ० ५
उ० । स्थितौ, आव० ४ अ० । (तत्र साधोः किमवस्थान श्रेय
उतादनमिति ' आवस्सिमा ' शब्दे द्वितीयभागे ४६३ पृष्ठे
यह्यते, अवधिज्ञानस्याऽवस्थान द्रव्यादिभेदनिश्चयमिति ' अप-
डिबाइ (ए) ' शब्दे अत्रैव प्रागे ५६५ पृष्ठे, ' ओहि ' शब्दे
तृतीयभागे १५१ पृष्ठे च छल्यम्)

अवष्टिइ-अवस्थिति-स्त्री० । मर्यादायाम्, स्था० ३ उ० ४
उ० । अवस्थाने निष्पकम्पतया वृत्तौ, आव० ४ अ० ।

अवष्टिय-अवस्थित-त्रि० । शाश्वते, स्था० ३ उ० ३ उ० ।

नित्ये, द्वा० ५ अ० । " सिञ्जायरपिजे य १, चाठज्जामे य २
पुरिसजेठ्ठे य ३ । किइकम्मस्स य करणे ४, चत्तारि अवष्टिया
कप्पा " ॥ १ ॥ स्था० ६ उ० । निश्चले, स्था० ५ उ० ३ उ० ।
अवधिण्णौ, जी० ३ प्रति० । यन्त हीयमान न वा वर्धमानम् ।
त० । स० । " अवष्टियसुविमत्तविचित्तमसू " । अवस्थितान्यव-
धिण्णानि सुविमत्तानि विधित्तानि विचित्ताणि अतिरम्यतया-
ऽद्भुतानि इमंश्रुण कूचकेशा येषां तेऽवस्थितसुविज्जकविचि-
प्रश्मभव । जी० ३ प्रति० । अनन्तपर्यायात्मके वस्तुनि, तत्र
पर्यायाणामानन्त्येन अधिरहाद् अव्यावस्थितत्वम् । ज० २ श०
१ उ० । स्वप्रमाणे स्थिते, जी० ३ प्रति० । अनवस्थितविलङ्घने
अनुयोगदानयोग्ये स्वलिङ्गावस्थिते, सविज्ञविहारावस्थिते च ।
वृ० १ उ० । [' अणवष्टिय ' शब्देऽत्रैव भागे ३०१ पृष्ठे व्या-
ख्यात एषः] स्थित्या रक्षिते, " अवष्टिण आणाय आराहप
यावि प्रवह " । आच्चा० २ श्रु० १५ अ० ३ चू० ।

अवष्टियबंध-अवस्थितबन्ध-पु० । यदा तु यावन्तीः प्रथमसम-
ये बध्वात् तावतीरेव द्वितीयादिष्वपि समयेषु बध्नाति, तदा
स बधोऽवस्थितत्वादवस्थितबन्ध इति । पं० स० ५ द्वार । प्रकृ-
तिबन्धभेदे, क० प्र० । यथाऽष्टौ बध्नाति सप्त बध्नाति सप्त वा बध्वा
पदं षड् बध्वा एका बध्नाति तथा स एव नृयस्कारोऽल्पतरो वा

द्वितीयादिसमयेषु तन्मात्रस्तावन्मात्रतया प्रवर्त्तमानोऽवस्थि-
तबन्धो भवति । कर्म० ५ कर्म० ।

अवष्ट-अवष्ट-पु० । कूपे, स्था० २ उ० ४ उ० । अनु० । प्रज्ञा० ।
आ० म० ।

अवष्टु-अपार्द्ध-न० । अपगतमर्कं यस्य तदपार्द्धम् । अर्द्धमात्रे,
सू० प्र० १० पाहु० । च० प्र० । अर्द्धदिवसे, म० १६ श० ३ उ० ।

अवष्टुत्वेत्त-अपार्द्धक्षेत्र-न० । अपगतमर्कं यस्य तदपार्द्धम्-
र्द्धमात्रम् । अपार्द्धमर्द्धमात्र क्षेत्रमहोरात्रप्रमित येषां चन्द्रयोग-
स्यादिमधिकृत्य तान्यपार्द्धक्षेत्राणि । च० प्र० १० पाहु० । सू०
प्र० । समयक्षेत्रापेक्षया पञ्चदशमुदूर्तेषु, स्था० ६ उ० ।

अवष्टुगोलगोलच्छाया-अपार्द्धगोलगोलच्छाया-स्त्री० । गो-
लैर्बहुविधैर्मिलित्वा यो निष्पादित एको गोलः स गोलगोलस्तस्य
छाया गोलगोलच्छाया, अपार्द्धमात्रस्य गोलगोलस्य छाया
अपार्द्धगोलगोलच्छाया । अर्द्धमात्रमिलितानेकगोलच्छायाया-
म्, चं० प्र० ८ पाहु० ।

अवष्टुगोलच्छाया-अपार्द्धगोलच्छाया-स्त्री० । अपार्द्धमात्रस्य
गोलस्य गायायाम्, सू० प्र० ८ पाहु० । चं० प्र० ।

अवष्टुगोलपुञ्जच्छाया-अपार्द्धगोलपुञ्जच्छाया-स्त्री० । गो-
लानां पुञ्जो गोहोत्कर इत्यर्थः । तस्य गाय गोलपुञ्जच्छायाः
अपार्द्धस्य गोलपुञ्जस्य छाया अपार्द्धगोलपुञ्जच्छाया । अपा-
र्द्धमात्रगोलपुञ्जच्छायायाम्, चं० प्र० ८ पाहु० । सू० प्र० ।

अवष्टुगोलावलिच्छाया-अपार्द्धगोलावलिच्छाया-स्त्री० । गोला-
नामावलिगोलावलिस्तस्याभ्यां गोलावलिच्छाया, अपार्द्धा या
गोलावलिच्छाया अपार्द्धगोलावलिच्छाया । अपार्द्धमात्रगोला-
वलिच्छायायाम्, चं० प्र० ८ पाहु० । स्था० ॥

अवष्टुचंदसठाण-अपार्द्धचन्द्रसंस्थान-न० । अपकृष्टमर्कं चन्द्र-
स्तस्यापार्द्धचन्द्रः, तस्य यन्तस्थानमाकारः । गजदन्ताकृतौ,
स्था० २ उ० ३ उ० ।

अवष्टुभाग-अपार्द्धभाग-पु० । चतुर्थभागे, आच्चा० २ श्रु० १
अ० १ उ० ।

अवष्टुमोयरिया-अपार्द्धमौदरिका-स्त्री० । अवमस्योनस्यो-
दस्य करणमवमौदरिका, अपकृष्ट किञ्चिदूनमर्कं यस्यां साऽपार्द्धा,
द्वात्रिंशत्कवलपेक्षया द्वादशानामपार्द्धरूपत्वात् । अपार्द्धा च
साऽवमौदरिका चेति । अवमौदरिकाभेदे, " दुयादस कुकुडिअ-
रुगण्णमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवष्टुमोयरिया " । द्वा-
दशकुकुटाएरुक्रममाणमात्रान्कवलानाहारमाहारयति अपार्द्धाऽ-
वमौदरिका उक्तशब्दार्थो भवतीत्येव सप्तम्यन्तव्याख्यान नेयम् ।
प्रथमान्तव्याख्यान तु धर्मधर्मिणोरभेदादपार्द्धमौदरिका सा-
धुर्भवतीत्येव नेतव्यम् । ज० ७ श० १ उ० । व्य० ।

अवण-अवन-न० । गमने, वेदने च । न० ॥

अवणंत-अपनयत्-त्रि० । अशक्नुवति, नि० चू० १ उ० ।

अवणमंत-अवनमत्-त्रि० । नीचीभवति, रा० ॥

अवणय-अपनय-पु० । पूजासत्कारादेरपनयने, स्था० ८ उ० ।

दोषजाषणे, निन्दायां च । प्रव० १४३ द्वार । आ० म० ।

अवनत-त्रि० । ऊच्यतो नीचकाये, भावतोऽर्द्धने, दश० ५ अ० ।

अवणयण-अपनयन-न० । निवेधने, विशेष० ।

अवणीयवणीयवयण-अपनीतोपनीतवचन-न० । अरूपवती स्त्री किन्तु सद्बुद्धेतिकूपे षोडशवचनानां द्वात्रिंशे, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । प्रज्ञा० । प्रव० ।

अवणीयचरय-अपनीतचरक-पु० । अपनीत देयद्रव्यमध्याह्न-पसारितम्, अन्यत्र स्थापितमित्यर्थः । तदर्थमभिप्रहृतश्चरति तद्गवेषणाय गच्छतीति अपनीतचरकः । अजिप्रहविशेषधारके, औ० ।

अवणीयवयण-अपनीतवचन-न० । कुरुपा स्त्रीतिवचनभेदे, प्रव० १४० द्वार ।

अवण-अवर्ण-त्रि० । न विद्यते वर्णं पञ्चविधः सितादिरस्येत्य-वर्णम् । वर्णरहिते अमूर्च्छये, षो० १५ विव० । अन्त्याघायाम्, प० व० ४ द्वार । स्था० । अयशसि अकीर्तौ, नि० चू० १० उ० । वर्ण-ताया अकरणे, औ० । एकदिग्याप्यसाधुवादवादे, ग० २ अधि० ।

अवणवन्त-अवर्णवत्-त्रि० । अन्त्याघाकारिणि, स० ३० सम० ।

अवणवाङ् (ण्)-अवर्णवादिन्-पु० । अवर्णं वदितुं शीलम-स्येत्यवर्णवादी । अकीर्तिकरे, “ नाणस्स केवलीणं, धम्मा-यरियाणं सव्वसाहणं । माई अवणवाङ्, किंविस्सिय भावणं कुणह् ” ॥ १ ॥ ग० २ अधि० । वृ० ।

अवणवाय-अवर्णवाद-पु० । अन्त्याघायाम्, ध० २ अधि० । अ-न्त्याघावादे, दश० । “ अवणवायं च परमुहस्स, पञ्चकल्लो ” (न भासिज्ज) अवर्णवादं चान्त्याघावादं पराङ्मुक्तस्य पृष्ठतः प्रत्य-क्षतश्च, न भायेत इत्यर्थः । दश० ए अ० ३ उ० ।

अहंवादिपञ्चकावर्णं वदन् दुर्लभबोधि-

पंचाहं ठाणेहि जीवा दुह्मभवोहियत्ताए कम्मं पकरेति । तं जहा-अरहंताणमवन्नं वदमाणे, अरहंतपणत्तस्स ध-म्मस्स अवन्नं वदमाणे, आयरियजवज्जायाणमवन्नं वदमा-णे, चाउवन्नसंघस्स अवन्नं वदमाणे, विविक्तववंभचेराणं देवाणं अवन्नं वदमाणे ।

“पंचाहं” इत्यादि सुगमम्, नवरं दुर्लभा बोधिर्जिनधर्मो यस्य स तथा, न ज्ञावस्तत्ता । तथा दुर्लभबोधिकनया, तस्यैव वा कर्म मो-हनीयादि, प्रकुर्वन्ति धनन्ति, अहंतामवर्णमन्त्याघां वदन् । यथा-“नत्थी अरहन्त्ती, जाणंतो कीस भुज्जप ज्ञेय । पाहुडिय उवजी-वह्, स समवसरणादिरूपाए । १ । एमाह जिण्णण अवणो ” । न च ते नाह्ववन्, तत्प्रणीतप्रवचनोपलब्धेः । नापि भोगानुभवनादेर्दोषः, अवश्यवेद्यत्वात् तस्य । तीर्थकरनामादिकर्मणश्च निर्जरणोपाय-त्वात्तस्य । तथा-वीतरागत्वेन समवसरणादिषु प्रतिबन्धाभावा-दिति ॥ तथा-अहंत्प्रकृतस्य धर्मस्य श्रुतचारित्र्यरूपस्य । प्राकृत-भाषानिबन्धमेतत्, तथा-किं चारित्र्येण, दानमेव श्रेय इत्यादिकमव-र्णं वदन् । उत्तरं चात्र-प्राकृतभाषात्वं श्रुतस्य न दुष्टं, बालादीनां सुखाध्येयत्वेनोपकारित्वात् । तथा-चारित्र्यमेव श्रेयो, निर्वाणस्या-नन्तरदेतुत्वादिति ॥ आचार्योपाध्यायानामवर्णं वदन् । यथा-बालोऽयमित्यादि । न च बालत्वादि दोष, बुद्ध्यादिभिर्वृद्धत्वादिति । तथा-चत्वारो वर्णा प्रकाराः भ्रमणादयो यस्मिन् स तथा । स एव स्वार्थिकाऽणविधानाच्चातुर्वर्णं, तस्य सघस्यावर्णं वदन् । यथा-

कोऽयं सघः?, यः समवायबलेन पञ्चसघ इव अमार्गमपि मार्गी-करोतीति । न चैतत्, साधुक्रानादिगुणसमुदायात्मकत्वात् सत्यतेन च मार्गस्यैव मार्गीकरणादिति ॥ तथा-विषयं सुपरिनिष्ठितं, प्रक-र्षपर्यन्तमुपगतमित्यर्थः । तपश्च ब्रह्मचर्यं च भवान्तरे येयाम्, वि-पकं वा उदयागतं तपो ब्रह्मचर्यं तदेतुकं देवायुष्कादिकर्म येषां ते तथा; तेषामवर्णं वदन् । न सन्त्येष देवाः, कदाचनाप्यनुपलभ्य-मानत्वात् । किञ्च-तैर्विदिरिव कामासकमनो निरविरतैस्तथा नि-र्निमेवैरचेष्टैश्च म्रियमाणैरिव प्रवचनकार्यानुपयोगिमिच्छेत्यादि-कम् । इहोत्तरम्-सन्ति देवाः, तत्कृताऽनुग्रहोपघातादिवर्श-नात् । कामसक्तता च मोहसातकमोदयात् ; इत्यादि । स्था० ५ ग० २ उ० ।

अथ (ज्ञानादीनां) व्यासार्थमाह-

काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमायअप्पमाया य ।

मोक्खाहिगारियाणं, जोइसजोणीहिं किंच पुणो ॥

इह केचिदुर्विदग्धाः प्रवचनाशातनापातकमगणयन्त इत्यं भुत-स्यावर्णं श्रुते । यथा-यद्जीवनि कायामपि बद्धायाः प्रकल्पन्ते, शा-स्त्रपरिज्ञायामपि त एव, अन्येष्वप्ययनेषु बहुशस्त एवोपवर्ण्यन्ते । एव व्रतान्यपि पुनः पुनस्तान्येव प्रतिपाद्यन्ते । तथा-त एव प्रमादाप्रमादाः पुनः पुनर्वर्ण्यन्ते । यद्योत्तराध्ययने आचारान्ते च । एवं च पुनरुक्तदोषः । किञ्च-यदि केवलस्यैव मोक्षस्य सा-धनार्थमयं प्रयासस्तर्हि मोक्षाधिकारिणां साधूनां सूर्यप्रकल्प्या-दिना ज्यातिः शास्त्रेण, योनिप्राभूतेन वा किं पुनः कार्यम्?, न किञ्चि-दित्यर्थः । तेषामित्थं श्रुवाणानामिदमुत्तरम्-इह प्रवचने यत् त एव कायादयो भूयो ज्ञेयः प्रकल्पन्ते, तन्महता प्रयत्नेनामी परिपा-लनीयाः, इदमेव धर्मरहस्यमित्यादरातिशयक्यापनार्थत्वाच्च पु-नरुक्तम् । “ अनुवादाऽऽहंरवीप्सा-नृशार्थविनियोगहेत्वस्वभावाः । ईषत्सन्नमविस्मय-गणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ” ॥ १ ॥ ज्योतिः शास्त्रादेरेव शिष्यप्रव्रजनादिषु शुभकार्योपयोगफलत्वात्परम्प-रया मुक्तिफलमेवेति न कश्चिदोषः । गतो ज्ञानावर्णवाद् ।

अथ केवलस्यवर्णवादमाह-

एगंतरमुप्पाए, अन्नोन्नावरणया दुवेएहं पि ।

केवलदंसेणणाणे, एगे काले व एगचं ॥

इह केवलानामवर्णवादो यथा-किमेवां ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमेण भवतः, उत युगपत् ? । यद्याद्यः पक्षः-ततो य समय जानाति त स-मय न पश्यति, य समय पश्यति त समयं न जानातीत्येवमेका-न्तरिते उत्पादे द्वयोरपि केवलज्ञानदर्शनयोरन्योन्यावरणता प्रवेत्तः । ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः समूलकाश्च कथितत्वात् । अपरस्य चा-धारकस्याभावात्परस्परवारकतैवानयोः प्राप्नोतीति भावः । अथ युगपदिति द्वितीय पक्षः कक्षीक्रियते, सोऽपि न होदकम् । कुत ?, इत्याह-एककाले युगपदुपयोगद्वये अक्षीक्रियमाणे, वाशब्दं पक्षा-न्तरद्योतनार्थं । द्वयोरपि साकारानाकारोपयोगयोरेकत्वप्राप्नोति, तुल्यकालमावित्वादिति । अत्रोत्तरम्-इह यथा जीवस्वभाव्यादेः सर्वस्यापि केवलिन एकस्मिन् समये एकतर एवोपयोगो प्रव-ति, न द्वौ, “ सव्वस्स केवलस्सि, जुगवं दो नत्थि उवणोणा ” इति वचनात् । यथा चाबमेकैकसमये उपयोग उपपद्यते, तथा विशेषावश्यकदिषु श्रीजिनमरुत्तमाभ्रमणादिभिः पूर्ववृत्तिभिः सम्पन्नमुपदर्शित इति नेदोपदर्शितः, ग्रन्थगौरवभयात् । द्वि-तीयपक्षानुपपत्तिनोदना त्वनभ्युपगतोपासकत्वादाकाशरोमन्य-तमिध केवलं भवतः प्रयासकारिणीति ।

अथ धर्माचार्याऽवर्णवादमाह-

जबर्हिर्हिं अवस्रं, भासइ वदइ न यावि उववाए ।

अहितो द्विहपेही, पगासवादी अणगुक्कले ॥

मात्या, आदिशब्दात् कुलादिभिश्च दोषैरवर्णं भाषते । यथा-नैते विशुद्धजातिकुलोत्पन्ना, न वा लोकव्यवहारकुशलाः, नाप्येने औचित्यं विदन्तीत्यादि । नचापि वर्तते उपपाते गुरुणां सेवावृत्तौ, अहितोऽनुचितविधायी । त्रिद्विप्रेक्षी-मत्सरितया गुरोर्दोषस्थाननिरीक्षणशीलः, प्रकाशवादी-सर्वसमक गुरुदोषभाषी, अननुकूलो-गुरुणामेव प्रत्यानीकः, क्रूरबालकवद । एष धर्माचार्यावर्णवादः ।

अथ सर्वसाधूनामवर्णवादमाह-

अविसइणाऽतुरियगई, अणागुवत्ती य आवि गुरुणं पि ।

खणमिचपीयोसा, गिहिवच्छलकाऽइसंचइआ ॥

अहो ! अमी-सम्भवोऽविग्रहणा न कस्यापि परामर्शं सहन्ते, अपि तु स्वपक्षपरपक्षापमाने सजाते सति देशान्तर गच्छन्ति । (तुरियगई चि) अकारप्रत्येयवात्वरितगतयो मायया लोकावर्जनाय मन्दगामिनः । अननुवर्तिनः प्रकृत्यैव निष्ठुराः, गुरुणामपि महतामपि, आस्तां सामान्यलोकन्येत्यपिशब्दार्थः । द्वितीयोऽपिशब्दः सजाधनायाम् । सभाव्यन्त एवविधा अपि साधव इति । कणमात्रप्रीतिरोषाः-सदैव यथाः तदैव च तुष्टा, अनवस्थितचित्ता इत्यर्थः । गृहवत्सलाः-तैस्तैश्चादुधचनैरात्मान गृहस्थस्य रोचयन्ति । अतिसंचयिनः-सुबहुवत्सकम्बलादिसग्रदशीलाः, सोमबहुला इति भावः ॥ अत्र निर्वचनानि-इह साधवः स्वपक्षापमाने यद्देशान्तर गच्छन्ति तदप्रीतिकपरोपतापादिभिरुक्त्या, न परांजवाऽसहिष्णुतया । अत्वरितगनयोऽपि स्थावरत्रसजन्तुपीडापरिहारार्थं, न तु लोकरञ्जनार्थम् । अननुवर्तिनोऽपि संयम-बाधाविधायिन्या अनुवर्तनाया अकरणात्, न प्रकृतिनिष्ठुरतया । क्षणमात्रप्रीतिरोषा अपि प्रतनुकषायतया न निर्व्यवस्थितचित्ततया । गृहवत्सला अपि कथं नु नामामी धर्मदेशनादिना यथानुरूपोपायेन धर्मं प्रतिपद्येरन्निति बुद्ध्या, न पुनश्चादुकारितया । सचयवन्तोऽपि मा भूदुपकरणाज्जावे सयमाऽऽत्मविशोधनेतिबुद्ध्या, न तु लोचनबहुलतयेत्युत्तरम् ॥ वृ० १ वृ० ।

(अर्हतामवर्णं वदन्, अर्हत्प्रकृतस्य धर्मस्यावर्णं वदन्, आचार्योपाध्यायानामवर्णं वदन्, चातुर्वर्ण्यस्य सङ्गस्य चाऽवर्णं वदन् सन्माद् प्राप्नुयादिति 'उम्माद्' शब्दे द्वितीयभागे ८४८ पृष्ठे वक्ष्यते) ज्ञान्यवर्णवादेन ज्ञानावरणीयं कर्म बध्यते । कर्म० १ कर्म० ।

अत्र प्रायश्चित्तमाह-

जे भिक्खु धम्मस्स अवस्रं वदइ, अवस्रं वदंते वा साइ-ज्जइ ॥ ११२ ॥

धृष्ट धारणे, धारयतीति धर्मः । ए वज्रो अवस्रो णाम-अयसो, अकीर्तिरित्यर्थः । वद व्यक्तायां वाचि ।

दुविहो य होइ धम्मो, सुयधम्मो समणधम्मो य ।

सुयधम्मो खड्डु दुविहो, सुचं अत्ये य होति नायव्वा ॥ ११३ ॥

दुविहो य चरणधम्मो, अगारमणगारियं चेव ।

दुविहो तस्स अवस्रो, देसे सव्वे य होति नायव्वा ॥ ११४ ॥

मूलगुणउत्तरगुणे, देसे सव्वे य चरणधम्मो उ ।

अहं देस एत्थ लहुगा, सुत्ते अत्थम्मि गुरुमादी ॥ ११५ ॥

सव्वम्मि तु सुयणाणे, नूया वा ते य जिकखुणो मूलं ।

गणि आयरिण सपदं, उ दाणमावज्जणा चरिमं ॥ ११६ ॥

गिहियं मूलगुणेषु, देसे गुरुगा तु सव्वहिं मूलं ।

उत्तरगुणेषु देसे, लहुगा गुरुगा तु सव्वेसिं ॥ ११७ ॥

मूलगुणउत्तरगुणे, गुरुगा देसम्मि होति साहूणं ।

सुत्तणिवातो देसे, तं सेवंतस्स आणादी ॥ ११८ ॥

सामादियमादी उं, सुयधम्मो जाव पुव्वगतं ।

सामादियरोई ए-कारसमा उ जाव अंगा तो ॥ ११९ ॥

एवविहो सज्जाओ सुयधम्मो । सो पुणो दुविहो-सुत्ते, अत्ये य । चरित्तधम्मो दुविहा-अगारधम्मो, अणगारधम्मो य । एकेको दुविहो-मूलउत्तरगुणेषु देसे सव्वे वा सुयधम्मो अवस्रं वदति । एवं चरित्ते दुविहो अवस्रो । सुत्तस्स देसे च-उत्तरगुणा, अत्यस्स देसे चउत्तरगुणाः, सव्वसुयस्स अवस्रे जिकखुणो मूलं, अभिसेयस्स अणवत्तो, गुरुणो चरिमं । एवं दाणपच्छित्तं । आवज्जणाए तिह वि सव्वे सुत्ते अप्पे वा पारं-चित्तं । गिही मूलगुणेषु यदि देसे अवस्रं वदति तो चउत्तरगुणं, सव्वहिं मूलं, गिही उत्तरगुणेषु यदि देसे अवस्रं वदति तो चउत्तरगुणा । गिहीणं सव्वउत्तरगुणेषु गुरुगा । साहूणं मूलगुणेषु वा यदि देसे अवस्रं वयति तो चउत्तरगुणा । दोसु वि सव्वेसु मूलं । एत्थ अत्यस्स देसे गिहीणं य मूलगुणदेसे । साहूणं य उत्तरगुणदेसे सुत्तणिवातो भवति । एव अवस्रवयं सेवंतस्स आणादिया दोसा जवति । पुव्वकं गतार्थत्वात्कंठं, सुयस्स सामादियादि जाव एकारस अंगा ताव देसो, एवं चेन्न सह पुव्वगणं सव्वसुय ॥

कहं पुण वदेतो आसादेति ?-

जीव विरहिण पेहा, जीवाउलमुगदंमता मायं ।

दोसो य परकमेसु, चरणे एमादिया देसे ॥ १२० ॥

काया वया य ते चिय, ते चेव पमायअप्पमाया य ।

जोतिसजोऽणिमिचे-हिं किं व वेरगपवणाणं ॥ १२१ ॥

(जीवविरहिणं वि) जीववि विरहिते जाव पमिहेहणा कज्जति, सा निरात्थिया, जीवाउले वा लोके चकमणादिकिरियं करेतो कह निहोसो ? परिसेगिदियाणं य सघट्टणे मासवहुदाणे एव, अप्पावराहे उगादक्या अजुत्ता । ज च वितियपदेण माया यमण मणिय, त पि अजुत्तं, आहाकम्मादिणसु परकडेसु को दोसो ? एवमादि चरणस्स देसे अवस्रो । सर्वं यमनियमात्मक चारित्र कुशलपरिकल्पितम् । एष सर्ववर्णवादः । इमेरिससुप्ते अवस्रं वदति-(काया वया) अयुत्त पुणो पुणो कायवयाण वस्रणं, पमायापमादाणं य, किं वा वेरगपवणाणं जोतिसेण, जोणीपाहुमेण वा, णिमिचेण वा सव्वं वा वदेत जासाणिवहुं । एवमादिसु य आसायणा । एव अवस्रं वदेतो आणादिया य दोसा, सुयदेवया वा जित्तादिचित्तं करेज्ज; अन्नेण वा साहूणा सह संसर्गं भवे-की-स अवस्रं भाससि चि ? जम्हा एते दोसा तम्हा णो अवस्रं वदे ।

कारणे वदेज्जा वि-

वितियपदमणपज्जे, वएज्ज आवि कोविते व अप्पज्जे ।

जाणते वा वि पुणो, जयऽवत्तव्वादिसु चेव ॥ १२२ ॥

अण्णज्जो वा अवि कोवितो, सो वा चण्ण अवसन्नादिसु वि, जो अवसन्नादपक्खगहणं करेति, सो य उ रायादिबलवन्तो त-
भया वदेज्ज, ए दोसा । नि० चू० ११ उ० । (अधर्मस्यावर्णवाद्-
'अदम्म' शब्दे अत्रैव भागेऽप्ये वक्ष्यते । रात्रिजो जनस्यावर्णवाद्दो-
'रात्र भोयण' शब्दे प्रेक्षणीयः)

अवस्था-अवज्ञा-स्त्री० । अनादरे, स्त्री० । षो० ॥

अवाहवण-अपहवन-न० । मृषादण्डे, आचा० १ शु० ५
अ० १ उ० ।

अवाहाण-अपस्नान-न० । तथाविधसंस्कृतजलेन स्नाने, वि-
पा० १ शु० १ अ० । स्नेहापनयनहेतुर्लघुसंस्कृतजलेन स्नाने, आ०
१३ अ० ॥

अवतड्ड-अवतट्ट-त्रि० । तनूकते, सूत्र० १ शु० ५ अ० २ उ० ।

अवत्त-अव्यक्त-पुं० । अद्याप्यपरिणतवयासि, वृ० १ उ० । श-
ब्दोऽयं रूपादिर्वा इत्यादिना प्रकारेणानिर्देश्ये, विशेषे । उगण-
लिम्पनादिना संस्कृते, ध० ३ अधि० । स्था० । अवत्ता नाम
वसति-उगणमृत्तिकाभ्यां जलेन चोपलितभूमितला अव्यक्तस्था-
नयुक्ता वा, निर्वाता वा । ग० १ अधि० । नि० चू० । अगीतार्ये,
नि० चू० २ उ० ।

अवत्तव-अवत्तव्य-त्रि० । अनुधारणीये, दश० ७ अ० । आ-
नुपूर्वनानुपूर्वीप्रकाराभ्यां वक्तुमशक्ये ह्ये, अनु० । द्विप्रदेशि-
कस्कन्धोऽवत्तव्यमित्याख्यायते । अनु० ॥

अवत्तवगसंचिय-अवत्तव्यकसञ्चित-त्रि० । यः परिणामविशेषो
न कति नाप्यकतीति शक्यते वक्तु सोऽवत्तव्यकः, स चैक इति,
तत्सञ्चिता अवत्तव्यकसञ्चिताः । समये समये एकतयोत्पत्तेषु
नैरयिकादिषु, उत्पद्यन्ते हि नारक्त एकसमये एकादयोऽस-
क्येयान्ताः । उक्त च—“एते व दो व तिभि व, संस्ममसंस्मा य
एगसमपणं । उववज्जते चइया, उव्वट्ठता वि एमेव” ॥ १ ॥
स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अवत्तव्वबंध-अवत्तव्यबन्ध-पुं० । बन्धमेदे, यत्र तु सर्वथाऽ-
बन्धको भूत्वा पुनः प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमये अव-
त्तव्यबन्धः, अयं पुनरुत्तरप्रवृत्तीनामेव भवति न मूलप्रवृत्तीनाम्,
तासां सर्वथाऽबन्धकस्याऽयोगिकेवलिनः सिरुस्य वा प्रतिपाता-
भावेन पुनर्बन्धाभावात् । कर्म० ५ कर्म० । प० सं० ।

अवत्तव्वा-अवत्तव्या-स्त्री० । अमुत्र स्थिता पक्षीति कौशिक-
भाषावत्; सावद्यत्वेनानुधारणीयायां भाषायाम्, दश० ७ अ० ।

अवत्तसत्थकोटि-अवाप्तस्वास्थ्यकोटि-पुं० । अवाप्ता लब्धा
स्वास्थ्यकोटिरनावाधताप्रकर्षपर्यन्तो येस्ते तथा । सिक्केषु, हा०
३३ अ० ।

अवत्तासण-अवत्रासन-न० । बाहुभ्यां स्निग्धा निष्पीमने कामा-
क्षे, नि० चू० १ उ० ।

अवत्थंतर-अवस्थान्तर-न० । दशाविशेषे, द्वा० ११ द्वार ।
पर्यायान्तरे, पञ्चा० १८ वि० ।

अवत्थग-अपार्थक-न० । पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबन्धार्थे सूत्रदोषे,
यथा-दश दामिमानि, वमपूपाः, कुण्ड बद्धराणि । आ० म० द्वि० ।
प्रश्न० । विशेषे । यस्यावयवेष्वर्थो विद्यते न समुदाये; असंबन्ध-

मित्यर्थः । यथा-शङ्खः कदल्याः कन्दली मेर्याम् । अथवा—“धंजु-
लपुप्फुम्मीसा, उबरकमकुसुममालिया सुरभी । वरतुरगस्स
वि रायइ, ओलइया अगसिगेसु” ॥ १ ॥ वृ० १ उ० ।

अवत्थव-अवास्तव-त्रि० । वस्तु पदार्थः, तस्येदं वास्तवम् । न
वास्तवमवास्तवम् । परसयोगोद्भवे, अष्ट० १ अष्ट० ।

अवत्था-अवस्था-स्त्री० । भूमिकायाम्, हा० २६ अष्ट० ।

अवत्थातिग-अवस्थान्त्रिक-न० । दशाविशेषत्रये-छद्मस्थाव-
वस्थाकेवल्यवस्थासिद्धावस्थास्वभावे जिनानां छद्मस्थकेवलि-
सिद्धत्वे, दर्श० ।

अवत्थापरिणाम-अवस्थापरिणाम-पुं० । घटस्य प्रथमद्विती-
ययोः कृण्वोः सदृशयोरन्वयित्वेनेव परिणामे, द्वा० २४ द्वा० ।

अवत्थाभरण-अवस्थाभरण-न० । अवस्थोचिते आभरणे,
स्था० ८ ठा० ।

अवत्थिय-अवस्तुत-त्रि० । प्रसारिते, द्वा० ८ अ० ।

अवत्थु-अवस्तु-न० । असति, आ० म० द्वि० । अविद्यमानं व-
स्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु । अनर्थके, प्रश्न० २ आश्च० द्वा० ॥

अवत्थोचिय-अवस्थोचित-त्रि० । भूमिकाऽनुकूपे, पञ्चा० १८ वि० ।

अवदग्ग-अवदग्र-न० । पर्यन्ते, सूत्र० २ शु० २ अ० । अवसाने,
सूत्र० २ शु० ५ अ० ॥

अवदल-अपत्न-दल-पुं० । अपदलमपसदं द्रव्यं कारणभूत मृ-
त्तिकादि यस्याऽसौ अपदलः । अवदलति वा दीर्यते इत्यव-
दलः । आमपकतया असारे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अवदाय-अवदात-पुं० । गौरे, प्रश्न० ४ आश्च० द्वा० ।

अवदाहिय-अवदारि(लि)त-त्रि० । विकाशिते विवृतीकृते, द्वा०
२ अ० । “अवदाहियपुनरीयवयणा (नयणा) ” अवदारितं रवि-
किरणैर्विकाशितं यत्पुनरीकं सितपद्मं तद्वद्वनं मुक्तं, नयने
वा येषां ते तथा । ज० २ वृ० ।

अवदार-अपदार-न० । द्वारिकायास्, द्वा० २ अ० । “तेण अव-
दारेण, सो अतिगतो असोगवणियाए” । आ० म० द्वि० ॥

अवदाहण-अपदाहन-न० । तथाविधदम्भने, विपा० १ शु० १ अ० ।

अवच्छंस-अपध्वंस-पुं० । अपध्वंसनमपध्वंसः । चारित्रस्य तत्क-
स्य चाऽसुरादिभावनाजनिते निवासे, स्था० ।

चउज्विहे अवच्छंसे पण्णसे । तं जहा-आसुरे, अनियोगे,
संमोहे, देवकिज्विसे ॥

तत्रासुरजावनाजनित आसारो येषु चानुष्ठानेषु वर्तमानोऽसुरत्व-
मर्जयति तैरात्मनो वासनमासुरभावना । एवं भावनाभ्रतरमपि ।
अनियोगभावनाजनितः अनियोगः, संमोहभावनाजनितः
संमोहः, देवकिज्विषभावनाजनितो देवकिज्विष इति । इह च
कन्दर्पजावनाजनितः कन्दर्पोऽपध्वंसः पञ्चमोऽस्ति, स च सज्जपि
नोक्तः, चतुःस्थानकानुरोधात् । भावना हि पञ्चाऽऽगमेऽभिहितः ।
आह च—“कदप्प १ देवकिज्विष २, अभियोगा ३ आसुरा य ४
संमोहा ५ । पसा च सकिलिछा, पचविह-भावणा भणिवा”
॥ १ ॥ आसां च मध्ये यो यस्यां भावनायां वर्तते, स तद्विधे-
ष्वेव देवेषु गच्छति, चारित्रलोपभावात् । उक्त च—“जो सज्जो

विषया-सु अप्ससत्यासु घट्टर कर्हि चि । सो तन्विहेसु गच्छर,
सुरेसु भरभो चरराहीणो ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।
अवधारियन्व-अवधारयितव्य-न० । सप्रधारणीये, पञ्चा० ३
विष० ।

अवधीरिय-अवधीरित-त्रि० । अपमानिते, वृ० ४ उ० ।

अवधूय-अवधूत-पुं० । अवधू-क । अजिन्ते, निघातिने,
चासिते, सनाहते च । "यो विलहयाऽऽधमान् घर्णान्, सात्मन्येष
स्थित पुमान् । अतिघर्णाधमी योगी, अवधूतः स उच्यते" ॥१॥
इत्युक्तकृणे परमहसे, वाच० । म्यनामस्याते लौकिके अप्या-
त्मचिन्तके आचार्ये, यदाहायधूताचार्य-न प्रत्ययानुप्रदमन्त-
रेण तत्त्वशुभूपादयः, उदक पयोऽमृतकल्पकानाजनकत्वात् ।
ल० । विहिते, भाष० ४ अ० ।

अवप्पओग-अवप्पयोग-पु० । विरुद्धौषधियोगे, वृ० १ उ० ।

अववप्-अववप्-त्रि० । अर्थग्रहणपूर्वकं विद्याऽऽदिप्रदणनि-
मित्त विवक्षितकालपरायणे, ध० ३ अधि० । ग० ।

अवबुद्ध-अवबुद्ध-त्रि० । अस्माते, अने० २ अधि० ।

अवबोद्ध-अवबोध-पुं० । निष्ठापरिहारे, ध० २ अधि० । ज्ञानि-
त्वे, विशेष० । संज्ञायाम्, स्मृती, सद्म स्मृतिरयबोध इत्यनर्था-
न्तरम् । भाचा० १ भू० १ अ० १ उ० ।

अवबोद्ध-अवबोधन-न० । प्रतारणे, पञ्चने, शिक्षणे च ।
कन्या० ८ अ० १० ।

अवबोहि-अवबोधि-पुं० । निश्चयार्थप्रतिपत्तौ, आ० चू० १ अ० ।

अवभंस-अपभ्रंश-पु० । अपभ्रंश्यते इत्यपभ्रंश । संस्कृतभाषा-
विरुद्धौ, "बहोऽत्र भूरिमेवो देशयिषेपादपभ्रंशः" तत्परिज्ञान-
मेकोनत्रिंशः कलाभेदः । कल्प० ७ क० ।

अवजास-अवजास-पुं० । तेजसो ज्ञानस्य च प्रतिभासे, वृ० प्र०
३ पाद० ।

अवभासिय-अवजासित-त्रि० । प्रकाशिते, विशेष० ।

अपभाषित-त्रि० । दुष्टभाषिते, व्य० १ उ० ॥

अवमक्षंत-अवमन्यमान-त्रि० । परिहरति, "मा एयं अवमक्षता,
अप्येण लुपदा बहु" । सूत्र० १ भू० ३ अ० ४ उ० ।

अवमह-अपमर्द-पुं० । अपयसने, "अवमह अप्यणो परस्स य
करेति" । प्रभ० २ आभ० द्वार ।

अवमाण-अपमान-न० । अनादरे, उच्य० १ ए अ० । विनयमंशे,
प्रभ० ५ आभ० द्वार ।

अवमान-न० । हस्तादौ कृत्यप्रमाणे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अवमाण-अपमानन-न० । यूयमित्यादिवाच्ये त्वमित्यादिक-
पे अपूजावचने, प्रभ० ५ सम्भ० द्वार । अनभ्युत्थानादिभि-
अपूजने, औ० । प्रभ० ॥

अवमाणिय-अपमानित-त्रि० । अपमान प्राहिते, "अवमा-
णिनो नरिंदेण" । व्य० १ उ० । वृ० ॥

अवमाणियदोहला-अवमानितदोहदा-स्त्री० । क्षणमपि ले-
शेनापि च अनापूर्णमनोरथायाप्त, ज० ११ श० ११ उ० ।

अवमार-अपस्मार-पु० । चित्तविकृतिजे गदे, स च वानपित-
स्तेष्मसनिपातजत्वाच्चतुर्धा । तदुक्तम्-"अमाऽऽवेशः ससर-
म्भो-द्वेषोद्वेको हतस्मृतिः । अपस्मार इति ज्ञेयो, गदो घोरश्च-
तुर्विधः" ॥ १ ॥ आचा० १ भू० ६ अ० १ उ० ।

अवमारिय-अपस्मारित-त्रि० । अपस्मारः सजातोऽस्य । अप-
स्माररोगवाति-अपगतसदसद्विषेकसमभूत्तादिकामवस्थामनु-
भवति, आचा० १ भू० ६ अ० १ उ० ॥

अवमिय-अवमित-त्रि० । अग्निने, वृ० ३ उ० ॥

अवय-अपद-न० । वृत्तादौ, सूत्र० १ भू० ११ अ० । गोशीर्षचन्द-
नप्रभृतौ, सूत्र० १ भू० ८ अ० । आ० चू० । पदहीने, वाच० ।
अवज-न० पक्षे, प्रज्ञा० १ पद ।

अवच-त्रि० । अनुच्चे, उच्य० ३ अ० । जघन्ये, सूत्र० १ भू०
१० अ० ।

अवयवखंत-अवमेक्षमाण-त्रि० । पृष्ठतोऽभिमुखं निरूपयति, ओघ० ।

अवयवखमाण-अपेक्षमाण-त्रि० । अपेक्षमाणे, अवकाङ्क्षति च ।
"मग्ने रुपाहं अवयवखमाणस्स" अवकाङ्क्षतोऽपेक्षमाणस्य
या । भ० १० श० २ उ० ।

अवयवग-देशी-न० । पर्यन्ते, स्था० २ ठा० १ उ० । "अवयवग"
इति देशीयचनोऽन्तयाचक । भ० १ श० १ उ० ।

अवयवज-वृज्-धा० । "वृजो निमज्ज० ७ । ४ । १८१ । इत्यादिना
वृजोरयवज्जादेशः । अवयवज्ज-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवयवण-अवचन-न० । नञः कृत्यार्थत्वात् कुत्सिते वचने,
स्था० ६ ठा० ।

अवचनानि-

नो कल्प इति निर्गन्थाण वा निर्गन्धीण वा इमां उ अवयवणा-
इं वदत्त । तं जहा-अलियवयणे, हीलियवयणे, खिमिय-
वयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे, विउवसमियं वा पुणो
उदीरित्त ॥

[नो कल्प इति] वचनव्यत्ययाद् नो कल्पन्ते निर्गन्धानां नि-
र्गन्धीनां वा इमानि प्रत्यक्षासन्नानि, यदिति यदसंख्याकानि,
अवचनानि-नञः कृत्यार्थत्वात्प्रशस्तानि वचनानि, घटितुं भा-
षितुम् । तद्यथा-अलीकवचन, हीलितवचन, खिसितवचनं, प-
रुषवचनम्, अगारस्थिता गृहिणस्तेषां वचन, व्यवशमित या
उपशमितकरण, पुन' भूयोऽपि, उदीरयितु न कल्पत इति क्रमः ।
अनेन व्यवशमितस्य पुनरुदीरणवचन नाम षष्ठमवचनमुक्तमिति
सूत्रसंक्षेपायः ।

अथ भाष्यकारो विस्तरार्थमभिधितुराह-

उच्चैव अवचत्वा, अलिगे हीलीय-खिस-फरुसे य ।

गारत्थ-त्रिओसमिण, तेसिं च परुवणा इणमो ॥

यमेवावचनान्यवचन्यानि साधूनां वक्तुमयोग्यानि । तद्यथा-अ-
लीकवचन, हीलितवचनं खिसितवचन, परुषवचन, गृहस्थव-
चन, व्यवशमितोदीरणवचनम्, तेषां च षष्ठ्यामपि यथाक्रममि-
य प्ररूपणा ॥ वृ० ६ उ० । (अलीकवचनव्याख्याऽस्मिन्नेव भागे
'अलियवयण' शब्दे ७७४ पृष्ठे निरूपिता)

अत्र प्रायश्चित्तम्-

एमेव य हीलाए, खिसा फरुसवयणं च चदमाणो ।

मारत्य-वि ओसामिए, इमं च जं तेसि णाणत्तं ॥

एवमेव हीलितवचनं, खिसावचनं, परुषवचनमगारस्य वचनं, व्यवशमितोदीरणवचनं च घटतः प्रायश्चित्त मन्तव्यम् । यथै-
तेषां नानात्व तदिदं भवति-

आदिहोसुं चउसुं, विसोहि गुरुगादि जिन्नमासंता ।

पणुवीसओ विजाओ, विसेसितो वितिय पमिलोमं ॥

आदिमेषु चतुर्ष्वपि हीलितखिसितपरुषगृहस्थवचनेषु शोधि-
अतुर्गुरुकादिका जिन्नमासान्ता आचार्यादीनां प्रायश्चित्त मन्तव्या ।
तद्यथा-आचार्य आचार्य हीलयति चतुर्गुरु १, उपाध्याय हीलय-
ति चतुर्वेधु २, भिक्षुं हीलयति मासगुरु ३, स्थविरं हीलयति
मासलघु ४, कुल्लकं हीलयति भिक्षमास ५ । एतान्याचार्यस्य त-
प-कालाभ्यां गुरुकाणि भवन्ति, एते आचार्यस्य पञ्च संयोगा उ-
क्ताः । उपाध्यायादीनामपि चतुर्णामेवमेव पञ्च पञ्च संयोगा भव-
न्ति । सर्वसङ्ख्यायां ते पञ्चविंशतिर्भवन्ति । अत एवाह-पञ्चविंश-
तिकः पञ्चविंशमङ्गपरिमाणो विभागोऽत्र भवति । स च तपः-
कात्याभ्या विशेषित कर्तव्यः । द्वितीयादेशेन चैतदेव प्रायश्चि-
त्त-प्रतिलोम विज्ञेयम्, जिन्नमासाद्य चतुर्गुरुकान्तमित्यर्थः ।
एव खिसितपरुषगृहस्थवचनेष्वपि शोधिमन्तव्या । वृ० ६३० ।

अथ द्वितीयपदमाह-

पढमं विगिंचउट्टा, उवलं नविगिंचणा य दोसु जवे ।

अणुसासणा य देसी, छुट्टे य विगिंचणा जणिता ॥

प्रथममलीकवचनमयोग्यशैक्षस्य विवेचनार्थं वदेत्, द्वयोस्तु
हीलितखिसितवचनयोर्यथाक्रममुपाध्यायमविवेचने कारणे भव-
त-शिक्षादानम्, अयोग्यशिक्षापारित्यागश्चेत्यर्थः । परुषवचन
तु परसाध्यस्यानुशासनां कुर्यन्, गृहस्थवचनं पुनर्देशी देशभा-
षामाश्रित्य भवेत् । षष्ठे च व्यवशमितोदीरणवचने, शैक्षस्य
विवेचन कारण भणितम् । गाथायां स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् ।
इति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनां विवरीषुराह-

कारणिं दिक्खंता, तरियम्मि कज्जे जहंति अणलं तु ।

संजमजसरक्खट्टा, होटुं दाठण य पत्ताई ॥

कारणे अशिवादावनहोऽयोग्य शैक्षोऽधीक्षितः, ततस्तस्मिन् स-
मापिते तस्मिन् कार्ये तमनस्र जहति । कथम् ? इत्याह-सयमय-
शोरक्षार्थ-संयमस्य, प्रवचनयश प्रवादस्य च रक्षणार्थं, ' होटुं '
गाढमलीकं दत्त्वा पलायन्ते; शीघ्रमन्यत्र गच्छन्तीत्यर्थः ।

य पुनराचार्यः समाचार्यो, सारणादिप्रदाने वा सीदति तमु-
द्दिश्येत्थ हीलितवचनं वदेत्-

केण स गणिं चि कतो, अहो गणी जणति वा गणिं अगणिं ।

एव तु सीयमाण-स्स कुणति गणिणो उवलंभं ॥

केनासमीकितकारिणाऽय गणीकृतः । यच्चा-अहो ! अय गणी,
अथवा गणितमप्यणिनं भणति । एव गणिनः सामाचार्यो शि-
क्षादाने वा विषादने उपालम्भ करोति ।

अगणिं व जणति गणिं, यदि नाम पठेज्ज गारवेण वि तं ।

एमेव सेसणसु वि, वायगमादीसु जोएज्जा ॥

यदि कोऽपि बहुशोऽपि भण्यमानो न पठति ततस्तमगणिन-

मपि गणिन भणति, यदि नाम गौरवेणापि पठेत् । एवमेव श्रे-
ष्ठपि वाचकादिषु पदेषु द्वितीयपदं योजयेद्-योजनां कुर्यात् ।

खिसावयणविहाणा, जे शिय जातीकुआदिया वुत्ता ।

कारणियदिविखयाणं, ते खेव विगिंचणोवाया ॥

खिसावचनविधानानि नान्येव आतिक्रान्तादीनि पूर्वमुक्तानि, त
एव कारणिकदीक्षितानामयोग्यानां कारणप्रयोजितानां विवेचने
परिष्ठापने उपाया मन्तव्याः ।

खरसज्जं मज्जयवयं, अगणेमाणं जणंति फरुसं च ।

दव्वओ फरुसवयणं, वयंति देसिं समासज्ज ॥

इह यः कठोरवचनभणनमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपद्यते स खर-
साध्य उच्यते । तं खरसाध्यं मृदुवाचमगणयन्तं परुषमपि भण-
न्ति । देशी देशज्जायां समासाद्य उच्यते : परुषवचनमपि वदन्ति;
उच्यते नाम न दृष्टभाषतया परुषं भणन्ति, किन्तु तत्स्वाभाव्यात्,
यथा-मालवास्थामिच्छति; अथवा यथा यथा लोको भणति, तथा
तथा देशी देशभाषामाश्रित्य साधवोऽपि भणन्ति ।

खामियदोसवियाई, उप्पाएऊण दव्वतो रुट्टो ।

कारणादिविखय अनलं, असंखदीओ चि धामेति ॥

यः कारणे अनलो दीक्षितस्तेन सम समापिते कार्ये पुनः क्षामि-
तव्युत्सृष्टान्यधिकारणान्युत्पाद्य उच्यते दुष्टभाव विना रुट्टो कु-
पितो बहिः कृत्रिमान् कोपविकाराद् दर्शयन्नित्यर्थः । असंखदि-
कोऽयमिति दोषमुत्पाद्य तमनस्रं शैक्षं धाटयति-गच्छाशिक्षास-
यति । वृ० ६३० ।

अवयव-अवयव-पुं० । अवयविन एकदेशे, अनु० । अनुमितिवा-
क्यैकदेशेषु, ते च पञ्च-प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यव-
यवाः । दश० १ अ० । सूत्र० । दशावयवा वा-प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा-
विशुद्धिः, हेतुहेतुविशुद्धिः, दृष्टान्तो दृष्टान्तविशुद्धिः, उपसंहार
उपसंहारविशुद्धिः, निगमन निगमनविशुद्धिः । दश० १ अ० ।

से किं तं अवयवेणं ? । अवयवेणं-

सिंगी सिही विमाणी, दादी पक्खी खरी नही बाली ।

उपय चउप्पय बहुपय, लंगूली केसरी कइही ॥१॥

परिअरवंधणभरु जा-णिज्जा महिलिअं निवसणेणं ।

सित्थेण दोणवायं, कविं च एकाए गाहाए ॥ २ ॥

सेत्तं अवयवेणं ।

(से किं तं अवयवेणमित्यादि) अवयवोऽवयविन एकदेशस्ते-
न नाम यथा-'सिंगी सिहीत्यादि'गाथा । अष्टमस्यास्तीति श्रु-
त्यादीन्यवयवप्रधानानि सर्वाण्यपि सुगमानि, नवर द्विपद स्या-
दि, चतुष्पद गवादि, बहुपद कर्णशृङ्गाद्यादि । अत्रापि पादसङ्ख्या-
वयवप्रधानता भावनीया । [कविं चि] ककुद् स्कन्धाऽऽसन्नोक्त-
देहावयवसङ्कणमस्यास्तीति ककुदी वृषज इति । 'परिअर' गाथा ।
परिकरवन्धेन विशिष्टं पथ्यरचनासङ्कणेन, अट शूरपुरुष, जानी-
यास्तुत्येत । तथा-निवसनेन विशिष्टरचनारचितपरिहितपरिधान-
लङ्घनेन महिला स्त्री तां, जानीयादिति सर्वत्र संबध्यते । धाम्नां
कोणस्य पाकः स्निग्धता रूपः, तं च तस्मभ्याद् युहीत्वा मिरीकिते-
नैकेन सिक्थेन जानीयात् । एकया च गाथया लासित्वादिका-
व्यधर्मोपेतया श्रुतया कविं जानीयात् । एवमत्राभिप्रायः-यदा स
नेपथ्यपुरुषाद्यवयवरूपपरिकरवन्धादिदर्शनद्वारेण भट्टमहिम्ना-

पाककविशब्दप्रयोग करोति तदा भटादीन्यपि नामान्यवयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वादेवयवनामान्युच्यन्ते इति इह तदुपन्यास इति । इदं चावयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वात्सामान्यरूपतया प्रवृत्ता-
ज्ञानान्नो निधत्त इति ॥ अनु० ॥

अवयवि (ए)-अवयविन्-त्रि० । प्रदेशिद्रव्ये, स्था० । रत्ना० ।

नत्वयविद्रव्यमेव नास्ति, विकल्पद्वयेन तस्याऽयुज्यमानत्वा-
त्, अविषाणवत् । तथाहि-अवयविद्रव्यमवयवेभ्यो भिन्न-
म्, भिन्नं वा स्यात् । न तावदभिन्नम् । अनेदे हि अवय-
विद्रव्यवदवयवानामेकत्वं स्यात्, अवयववद्वाऽवयविद्रव्य-
स्याप्यनेकत्वं स्यात्, अन्यथा नेद एव स्यात्, विरुद्धधर्मा-
भ्यासस्य भेदनिबन्धनत्वादिति । भिन्नं चेत् तत् तेभ्यः, तदा
किमवयविद्रव्यं प्रत्येकमवयवेषु सर्वात्मना समवेति, देशतो
वेति । यदि सर्वात्मना तदाऽवयवसंख्यमवयविद्रव्यं स्यात्,
कथमेकत्वं तस्य । अथ देशैः समवेति, ततो यैर्देशैरवयवेषु
तर्हते तेभ्योपि देशेषु तत्कथं प्रवर्तते-देशतः, सर्वातो वा ।
सर्वतश्चेत्, तदेव दूषणम् । देशतश्चेत्तेष्वपि देशेषु कथम्, इत्या-
दिरनवस्था स्यादिति । अत्रोच्यते-यदुक्तं विकल्पद्वयेन तस्या-
युज्यमानत्वादिति । तदयुक्तम् । एकान्तेन भेदाभेदयोरनभ्यु-
पगमात् । अवयवा एव हि तथाविधैरूपपरिणामतया अवयविद्र-
व्यतया व्यपदिश्यन्ते; त एव च तथाविधविचित्रपरिणामावेक-
या अवयवा इति । अवयविद्रव्याभावे तु पते घटाद्ययथा एते
च पटाद्ययथा इत्येवमसङ्कीर्णवयवव्यवस्था न स्यात् । तथा च
प्रतिनियतकार्याणि प्रतिनियतवस्तुपादानं न स्यात्, तथा
च सर्वमसमञ्जसमापनीयेत । सन्निवेशविशेषाद्घटाद्यवय-
वानां प्रतिनियतता भविष्यतीति चेत् । सत्यम्, केवलं स
एव सन्निवेशविशेषेऽवयविद्रव्यमिति । यच्चोच्यते-विरुद्ध-
धर्माभ्यासो भेदनिबन्धनमिति । तदपि न सूक्तम् । प्रत्यक्सत्वे-
दनस्य परमार्थापेक्षया भ्रान्तत्वेन सव्यवहारपेक्षया त्वभ्रा-
न्तत्वेनाच्युपगमादिति । यदि नाम भ्रान्तत्वमभ्रान्तत्वं कथ-
मिति, एवमत्रापि वक्तुं शक्यत्वादिति । किञ्च-विद्यते अव-
यविद्रव्यम्, अवयमिचारितया तथैव प्रतिभासमानत्वात्, अव-
यववन्नीलवद्वा । नचायमसिद्धो हेतुः, तथाप्रतिभासस्यानुसूय-
मानत्वात् । नाप्यनैकान्तिकत्वविस्तृत्वे, सर्ववस्तुव्यवस्थायाः
प्रतिभासाधीनत्वात् । अन्यथा न किञ्चनापि वस्तु सिद्धोदि-
ति । स्था० १ डा० १ उ० । रत्ना० । आचा० । सम्म० ।

अवयामण-अवत्रासन-न० । वृक्षादीनां प्रभावेन चालने, प०
व० ४ द्वार ।

श्लेषण-न० । वृक्षादीनामालिङ्गापने, घृ० १ उ० ।

अवयासाविय-आश्लेषित-त्रि० । आलिङ्गिते, विपा० १ शु० ४ अ० ।

अवयासेऊण-अवकाश्य-अव्य० । प्रकाश्यं प्रकटीकृत्येत्यर्थे, तं० ।

अवर-अपर-त्रि० । अन्यस्मिन्, सूत्र० २ शु० २ अ० । प्रश्न० । नि०

चू० । सू० प्र० । ज्ञा० । “अवर वोच्छ” अपरमिति उक्तादन्यद् व-
क्ष्यामि । सूत्र० १ शु० ३ अ० २ उ० । द्वितीयस्मिन्, च० प्र० ३
पाहु० । पश्चात्कालमाविनि, आम्बा० १ शु० ३ अ० ३ उ० ।
आ० म० । पश्चिमे, “अवरेण पनास तादे सिधुदेवि ओवेह ” ।
आ० म० प्र० । न परोऽपरः । स्वस्मिन्, घृ० ३ उ० ।

अवरकंका-अपरकंका-स्त्री० । धातकीखण्डभरतकेत्रराजधा-
ग्याम, ज्ञा० १ अ० । (तत्र इताया द्वौपथा आनयनाय कृष्णस्य
२००

गमन ‘दुवर्ह’ शब्दे वक्ष्यते) पतदर्थप्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथा-
याः बोद्धेऽध्ययने, स० १८ सम० । प्रश्न० । ज्ञा० । आच० ।
स्था० । “कण्डस्सऽवरकका” कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य द्वौ-
पदीनिमित्तमपरकंकागमनमाश्चर्यम् । कल्प० २ स० ॥

अवरञ्ज-अपरोक्ष-न० । अविद्यमानानि परेषामक्षीणि द्रष्ट-
व्यतया यत्र तदपरोक्षम् । असमक्षे, त्रिशप्तमे गौणचौथे च ।
प्रश्न० ३ आश्च० द्वार ।

अवरज्झंत-अपराध्यत्-त्रि० । दोषमावहति, सूत्र० १ शु० ३
अ० ३ उ० । रजसा श्लिष्यमाणे, सूत्र० १ शु० १ अ० ३ उ० ।
नश्यति, उक्त० ७ अ० ।

अवरएह-अपराह-पु० । दिनस्य चरमप्रहरे, स्था० ४ डा०
२ उ० । “पुष्पावरणहकालसमयसि” । पाश्चात्यापराहका-
लसमयो दिनस्य चतुर्थप्रहरलक्षणः । नि० ३ वर्ग ॥

अवरएहकाल-अपराहकाल-पु० । सूर्यस्य गतिपरिणतस्य
पश्चिमेन गमने, आ० चू० १ अ० ।

अवरत्त-अपररात्र-पु० । रात्रेरपरे प्रागे, स्था० ४ डा० २ उ० ।
“पुष्पावरणकालसमयसि” । विपा० १ शु० ६ अ० ।

अवरदारिय-अपरद्वारिक-न० । पश्चिमद्वारिकेषु नक्षत्रेषु,
स० ७ सम० । “पुस्तारया ए सप्त एवखत्ता अवरदारिया पक्षत्ता ।
त जहा-पुस्तो, असिहोसा, मघा, पुष्पाफगुणी, उत्तराफगु-
णी, हत्थो, चित्ता” । स्था० ४ डा० ४ उ० ।

अवरदाहिण-अपरदक्षिण-पु० । अपरदक्षिणादिग्भागे, पञ्चा०
२ विध० ।

अवरदाहिणा-अपरदक्षिणा-स्त्री० । नैर्ऋत्या दिशि, व्य० ७ उ० ।

अवरद्ध-अपराद्ध-न० । अपराधनमपराद्धम् । पीडाजनकता-
याम्, पि० । विनाशिते, त्रि० । ज्ञा० १ अ० ।

अवरद्विय-अपराद्विक-पु० । अपराधनमपराद्धम्-पीडाजनकता,
तदस्यास्तीति अपगादिकः । लूतास्फोटे, सर्पादिद्वये च । पि० ।
अवरफाण-अपरपाष्णी-स्त्री० । पार्श्विकायाम्, व्य० ८ उ० ।

अवरमम्मवेहित-अपरमर्मवेधित्व-न० । परमर्मानुद्धट्टनस्वरू-
पत्वे विंशतितमे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० ।

अवरराय-अपररात्र-पु० । रात्रे गच्छास्ये यामद्वये, आचा० १
शु० ५ अ० ३ उ० ।

अवरविदेह-अपरविदेह-पु० । अपरश्चासौ विदेहश्च । स्था० २
डा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे पश्चिमनो महाविदेहजागे, स्था० १०
डा० । तत्र सदा दुष्पमसुषमोत्तमर्द्धि । स्था० २ डा० ३ उ० ।
ज० । “दो अवरविदेहार्ह” स्था० २ डा० ३ उ० ।

अवरविदेहकूम-अपरविदेहकट्ट-न० । निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य
नीलवर्षधरपर्वतस्य च स्वनामख्याते कूटे, ज० ४ वक्ता० स्था० ॥

अवरसामष्ठ-अपरसामान्य-न० । उच्यत्वाद्दौ-सामान्यव्या-
प्यसामान्ये, स्था० ।

अवरहा-अपरथा-अव्य० । अन्यथाऽर्थे, पञ्चा० ७ विव० ॥

अवराइया-अपराजिता-स्त्री० । महावत्सविजयकेतस्य रा-

जधानीयुगले, जं० ४ वल० । स्था० । शङ्खविजयकेत्रयुगले
राजधानीयुगले, स्था० २ ग० ३ उ० । ज० । उक्त० ।

अवराह—अपराध—पु० । गुरुविनयलङ्घने, आव० १ अ० ।

“ एतय मे अवराहं मरिसेह ” । आव० म० द्वि० । (अपराधमर्षणे
वधूदृष्टान्तोऽन्यत्र) “ अवराहसहस्सघरणीओ ” । अप-
राधसहस्रगृहणिरूपाः (स्त्रिय) , ब्रह्मदत्तमातृसुत्रनीधत् । त० ।

अवराहपय—अपराधपद—न० । मोक्षमार्गं प्रत्यपराधस्थाने, दश० ।

अपराधपदमाह -

इन्द्रियविसयकसाया, परीसहा वेयणा य लवसगा ।

एए अवराहपया, जत्थ विसीयंति दुम्मेहा ॥१८१॥

इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि विषयाः स्पर्शादयः, कषायाः क्रोधा
दयः । इन्द्रियाणि चेत्यादि द्वन्द्वः । परीसहाः कृत्पिपासादयः, चे-
दना अशानानुभववृत्तानां, उपसर्गो दिव्यादयः । एतान्यपराधप-
दानि मोक्षमार्गं प्रत्यपराधस्थानानि । यत्र येऽपिन्द्रियादिषु सत्सु
विषीदन्ति आवध्यन्ते । किं सर्वं एव ? नेत्याह—दुर्मैधसः, क्षुल्ल-
कवत् । कृतिनस्तु एमिरेव कारणभूतैः ससारकान्तारं तरन्तीति
गाथाऽर्थः । कुलसकस्तु पदे पदे विषीदन् सकल्पस्य वशं गतः ।
कोऽसौ क्षुल्लकः ? कथानकम्—“ कुकणओ जहा एगो सतो
सपुत्तओ पव्वइओ । सो य चेत्तओ तस्स अईव इठो सीयमाणो य
भणइ—सता ! ण सक्केमि अणुवाहणो हिंडिउ । अणुकपाए स-
तेण दिण्णाओ उवाहणाओ । ताहे भणइ उवरितला सीएण फुं-
ट्टति । सद्धिता से कयाओ । पुणो भणइ—सीसं मे अईव रुज्जइ । ता-
हे सीसद्धवारिया से अणुवाया । ताहे भणइ—न सक्केमि भि-
क्ख हिंडिउ । तो से पडिस्सए त्रियस्स आणेइ । एव ण तरा-
मि सत ! भूमीए सुविउ । ताहे लयारी से अणुवायाओ । पुणो-
भणइ—ए तरामि सत ! लोयं काउं । तो खुरेण पकिज्जिय । ताहे
भणति—अन्हाणयं न सक्केमि । तओ से कासुयपाणएण कप्पो
दिज्जइ । आयरियपाउग्ग च जुयल धिप्पति । एवं ज ज भणति
तं त सो सतो णेहपमिबद्धो तस्सऽणुजाणति । एव कावे गच्छमा-
णे पमणिओ—न तरामि अविरइयाए विणा अच्चिउं सत ! सि ।
ताहे सतो जणइ—सदो अजोगो सि काऊण पमिसयाओ णिप्फे-
डिओ । कम्म काउ ण याणइ । अयाणंतो छणसंखडीए
धाणि काउं अजिषेण मओ । विसयविसट्ठो मरिउ महिसो
आयाओ वाहिज्जइ । सो य सतो सामरणपरियागं पालेऊण
आउक्खए कावगओ देवसु उववसो, ओहिं पउजइ । ओहिणा
आभोएऊण तं चेल्लयं तेण पुव्वणेहेण तेसिं गाहाणं हत्थओ
किणइ । वेउव्वियमंडीए जोएइ वाहेइ य गरुग त । अतरतो
चोदुं तोत्तएण विंधेउ भणइ—ए तरामि सता ! निक्खं हिंडिउं । ए-
वं भूमीए सयण लोयं काउ । एव ताणि वयणाणि सव्वाणि उ-
चारेति, जाव अविरइयाए विणा न तरामि सत ! सि । ताहे
एव भणतस्स तस्स महिसस्स इम चित्त जाय—कहं एरिस
चकं सुअं ति ? ताहे ईहापूहमगणगवेसणं करेइ । एव चिनय-
तस्स तस्स जातिसरण समुप्पन्न । देवेण ओही पउत्ता । संबु-
द्धो पच्छा भत्तं पच्छक्खइत्ता देवलोय गओ ” । “ एव पए पए
विसीदंतो सकप्पस्स वसं गच्छति । जम्हा एसो दोसो तम्हा
अट्टारससीलंगसहस्सारं सारणाणिमिच्च एए अवराहपय
वज्जेज्ज ” । तथाचाह—

अट्टारस उ सहस्सा, सीलंगाणं जिणेहिं पमत्ता ।

तेसि पमिरक्खेणट्ठा, अवराहपय उ वज्जेज्जा ॥१८२॥

अष्टादश सहस्राणि; तुरवधारणे; अष्टादशैव, शील भावसमा-
धिलक्षण, तस्याङ्गानि भेदाः, करणानि वा शीलाङ्गानि, तेषां जिनैः
प्राप्तिरूपितशब्दार्थैः प्रकृतानि प्ररूपितानि । तेषां शीलाङ्गानां,
परिरक्षणार्थं परिरक्षणानिमित्त, अपराधपदानि प्रागभिहितस्व-
रूपाणि, वज्रयेद् जह्यादिति गाथार्थः । दश० २ अ० । आ० सू० ।

अवराहसल्लपजव—अपराधशब्दप्रजव—त्रि० । पृथ्वीसघट्टाद्य-
तिचाररूपशल्यानिमित्ते, पञ्चा० १६ विव० ।

अवराहुत्त—अपराभृत—पुं० । पद्मान्मुखे, “ अवराहुतो ग-
यति ” । आव० ४ अ० ।

अवरिं—उपरि—अव्य० । “ धोपरौ ” उ । १ । १०८ । इति उतोऽ-
त्यम् । “ वक्रादावन्तः ” । ८ । १ । १६६ । इत्यनुस्वारगमः । प्रा० १
पाद । प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तार्थवृत्तेरुर्ध्वशब्दस्यार्थे, वाच० ।
अवरिद्ध—(न०)उपरि—अव्य० । प्रावरणे, “ उपरेः सव्याने ” ।
८ । ३ । १६६ । इति सव्यानेऽर्थे वर्तमानादुपरिशब्दात् स्वार्थे
हुविधानात् । प्रा० २ पाद ।

अवरिसण—अवर्षण—न० । अपानीयपाते, दश० ।

अवरुत्तर—अपरोत्तर—पुं० । अपरोत्तरस्यां दिशि, पञ्चा० २ विव० ।

अवरुत्तरा—अपरोत्तरा—स्त्री० । वायव्यां दिशि, व्य० ७ उ० ।

अवरोप्पर—अपरस्पर—न० । “ परस्परस्यादिरः ” । ८ । ४ । ४०६ ।
इति अपभ्रंशे परस्परशब्दस्यादिरकारः । अन्योऽन्यशब्दार्थे,
“ अवरोप्पर जोहंताहं, सामिउ गजिउ जाहं ” । प्रा० ४ पाद ।

अवरोह—अवरोध—पुं० । अन्तःपुरे, औ० । परचक्रणावेष्टने,
त्रि० सू० ८ उ० । (तत्र भिक्षाटनोऽऽदिव्यवस्था ‘उवरोह’ शब्दे
द्वितीयभागे ९०७ पृष्ठे दृष्टव्या)

अवलंब—अवलम्ब—त्रि० । अधोमुखतयाऽवलम्बमाने, औ० ।

अवलंबग—अवलम्बक—न० । दण्डके, व्य० ४ उ० ।

अवलंबण—अवलम्बन—न० । अवलम्ब्यत इति अवलम्बनम् । हृद्-
बहुलमिति वचनात्कर्मण्यनन् । विशेषसामान्यार्थावग्रहे, न० । क-
थं विशेषसामान्यार्थावग्रहोऽवलम्बनम्, इति चेत् । उच्यते । इह
शब्दोऽयमित्यपि ज्ञानं विशेषावगमरूपत्वादवायज्ञानम् । तथा-
हि—शब्दोऽयं, नाशब्दो रूपादिरिति शब्दस्वरूपावधारण वि-
शेषावगमः, ततोऽस्माद् यत्पूर्वमनिर्देश्यसामान्यमात्रमवग्रहण-
मेकसामायिकं स पारमार्थिकोऽर्थोवग्रह । तत् ऊर्ध्वं तु यत्कि-
मिदमिति विमर्शनं सा ईहा, तदनन्तरं तु शब्दस्वरूपावधारणं
शब्दोऽयमिति तदवायज्ञानम् । तत्रापि यदा उत्तरधर्मजिज्ञासा
भवति—किमयं शब्दः शास्त्रं, किं वा शास्त्रः ? इति, तदा प्राप्तात्
शब्द इति ज्ञानमुत्तरविशेषावगमापेक्षया सामान्यमात्रावलम्बन-
मित्यवग्रह इत्युपचर्यते । स च परमार्थतः सामान्यविशेषरूपार्था-
वलम्बन इति विशेषसामान्यार्थावग्रह इत्युच्यते । इदमेव च श-
ब्द इति ज्ञानमालम्ब्य किमयं शास्त्रं, किं वा शास्त्रः ? इति ज्ञान-
मुच्यते । ततो विशेषसामान्यार्थावग्रहोऽवलम्बनम् ॥२॥ अवल-
म्ब्यते इत्यवलम्बनम् । अवतरतामुत्तरतां वायलम्बनहेतुभूते प्र-
बलम्बनवादातो विनिर्गतेऽवयवे, ज० १ वक्र० । २ । १० । औ० ।

आ० म० । अवलम्ब्यते इत्यवलम्बनम् । वेदिकायाम्, मस्त-
कावलम्बे च । नि० चू० ।

अवलंबणं तु दुर्विहं, जूमीए संक्रमे य एणय्वं ।

दुहतो व एगतो वा, वि वेदिया सा तु एणय्वं ॥

अवलंबणं दुर्विह-भूमिप वा, सक्रमे वा भवति । भूमीप विस-
मे लग्गणमिस्त कज्जति । सक्रमे वि लग्गणमिस्त कज्जति । सो
पुण दुहजो एगओ य भवति । सा पुण (वेदय स्ति) मनावलबो,
नि० चू० १ उ० । भावे व्युद, करेण बाह्यादि गृहीत्वा धारणे,
“सन्वणिय तु गहण, करेण अवलबन तु देस्सिम” स्ति । स्थः०५
उ० २ उ० । (पर्वतादौ पतन्त्या निम्नस्था अवलम्बन ‘गह-
ण’ शब्दे वक्ष्यते)

अवलंबणया-अवलम्बनता-स्त्री० । अवलम्बनस्य भावोऽवल-
म्बनता, अवग्रहे, न० ।

अवलंबणवाहा-अवलम्बनवाहा-स्त्री० । उभयो. पार्श्वयोरव-
लम्बमानानामाश्रयभूताया मिसौ, आ० म० प्र० । जं० । जी० ॥

अवलंबिष्ठण-अवलम्ब्य-अव्य० । आश्रित्येत्यर्थे, प० व० ३
द्वार । ग० । विषयीकृत्येत्यर्थे, आव० ५ अ० ।

अवलंबित्तप-अवलम्बितुम्-अव्य० । आकर्षयितुमित्यर्थे, दशा०
७ अ० ।

अवलंबिय-अवलम्बित-त्रि० । अविच्छिन्ने, क्ता० १ अ० ।

अवलम्ब्य-अव्य० । लगेत्येत्यर्थे, “णो गाहावतिकुलस्स दुवा-
रसाह भवत्तविय अवलंबिय चिट्ठेजा” । आचा० २ शु० १ म० ६ उ० ।

अवलम्ब-अपलम्ब-त्रि० । न्यकारपूर्वतया लब्धे, स्था० ए
ग० । “परधरपवेसे लद्धावलम्बाह” । अन्त० ५ वर्ग ।

अवलाव-अपलाप-पु० । निह्वे, नि० चू० । यथा कस्य
सकाशेऽधीतम्, इति प्रश्ने अन्यसकाशेऽधीतमन्यस्यै कथ-
यति । नि० चू० १ उ० । आव० ।

अवलिंब-अवलम्ब-पु० । देशविशेषे, स्था० २ ग० ५ उ० ।

अवलोहणिया-अवलोहणिका-स्त्री० । अवलोक्यमानस्य वश-
शलाकादेर्वा प्रतन्त्यां त्ववि, स्था० ४ ग० २ उ० । धर्वावास-
कर्मस्फेदनिकायां पादसेनिकायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अवलोहिया-अवलोहिका-स्त्री० । तदुल्लङ्घनचूर्णकसिद्धे कुम्भे,
सिद्धे सेहाविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।

अवलोअण-अवलोकन-न० । दर्शने, रक्षाधिकादौ मृते क-
पणमस्वाध्यायश्च कार्यः । ततोऽन्यदिने परिक्रानावावलोक-
न कार्यम् । आय० ४ अ० ।

अवलोअणसिहरमिह्या-अवलोकनशिररशिला-स्त्री० । उ-
ज्जयन्तपर्वतशिलाविशेषे, उज्जयन्ते-“अवलोअणसिहरमिह्या, भ-
धरेण तत्थ वररसो सबह । सुअपक्खसरिसवओ, करेह सुअवर
हेम” ॥ २७ ॥ ती० ४ कल्प ।

अवलोव-अवलोप-पु० । वस्तुसद्भावप्रच्छादने त्रिशक्तमे गौ-
णाक्षीके, प्रभ० २ आभ० द्वार ।

अवक्षय-अवक्षक-न० । नौकाक्षेपणोपकरणभेदे, आचा० ३
शु० ३ म० १ उ० ।

अवव-अवव-न० । सङ्ख्याविशेषे, चतुरशीतिरववाङ्गशतसह-
स्राणि एकमववम् । जी० ३ प्रति० । भ० । कर्म० । जं० ।
अनु० । स्था० ।

अववंग-अववाङ्ग-न० । सङ्ख्याविशेषे, चतुरशीतिरववङ्गसहस्रा-
णि एकमववाङ्गम् । जी० ३ प्रति० । कर्म० । अनु० । स्था० ।

अववका-अवपाक्या-स्त्री० । तापिकायाम्, भ० ११ श० ११ उ० ।

अववगा-अपवर्ग-पु० । मोक्षे, आ० म० द्वि० ।

अववट्टण-अपवर्त्तन-न० । कर्मपरमाणूनां दीर्घस्थितिकालता-
मपगमय्य ह्रस्वस्थितिकावतया व्यवस्थापने, प० सं० ५ द्वार ।

अववट्टणा-अपवर्त्तना-स्त्री० । अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते स्थि-
त्यादि यया साऽपवर्त्तना । स्थित्यनुज्ञागयोर्ह्रस्वीकरणे, क० प्र० ।

तत्र तावत् स्थितिविषयाऽपवर्त्तनामाह-

ओवट्ठतो य ठिडं, उदयावलिवाहिरा ठिड्विसेसा ।

निकखवड् से तिजागे, समयाहिणं सेसमवड् य ॥ २१ ॥

वड्ड ततो अतित्या-वणा य जावालिगा हवड् पुत्ता ।

तन्निकखेवो समय-हिगादिगुणकम्मठिडणा ॥ २१ ॥

स्थितिमपवर्त्तयन् उदयावलिकाबाह्यान् स्थितिविशेषान् स्थि-
तिज्ञेदान् अपवर्त्तयति । के ते स्थितिविशेषाः ? इति चेत् । उ-
च्यते-उदयावलिकाया उपरि समयमात्रा स्थितिः । द्विसमयमात्रा
स्थितिः, एव तावद्वाच्य यावद् बन्धावलिकोदयाऽवलिका ही-
ना सर्वा कर्मस्थितिः । एते स्थितिविशेषा । उदयावलिकाग-
ता च स्थितिः सकलकरणयोग्येति कृत्वा तां नापवर्त्तयति । तत
उक्तम्-उदयावलिकाबाह्यानि । कुत्र निक्षिपतीति चेत् ? उ-
च्यते । अत आह-निक्षिपति-आवलिकायास्त्रिभागे तृतीये जागे
समयाधिके शेषं समयं न मुञ्चत्युपरितन त्रिभागद्वयमतिक्रम्य ।
इयमत्र भावना-उदयावलिकाया उपरितनी वा स्थितिस्तस्या
दक्षिणमपवर्त्तयन् उदयावलिकाया उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ
समयोनावतिक्रम्याधस्तने समयधिके तृतीये जागे निक्षिपति;
एष जघन्यो निक्षेपो, जघन्या चातिस्थापना । यदा उदयाव-
लिकाया उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ द्वितीया स्थितिरपवर्त्तयते
तदा अतिस्थापना प्रागुक्तप्रमाणा द्विसमयाधिका भवति । नि-
क्षेपस्तु नावन्मात्र एव । एवमनिस्थापना प्रतिसमयं तावद्द्वि-
मुपनेतव्या यावदावलिका परिपूर्णा भवति । ततः परमतिस्था-
पना सर्वत्रापि तावन्मात्रैव भवति, निक्षेपस्तु वर्त्तते । स च ता-
वद् यावद् बन्धावलिकाऽतिस्थापनाऽऽवलिकाराहिता सर्वाऽपि
कर्मस्थितिः । उक्तं च-“समयाहि अहत्थवणा, बधावहिंया य
मोक्षु निक्खेवो । कम्मठिडं बंधोदय-आवलिस्र मुक्षु ओवट्ठे” ॥ १ ॥
कर्मस्थितिबन्धावलिकामुदयावलिकां च मुक्त्वा शेषा सर्वाऽपि
अपवर्त्तयति इत्यर्थः । तदेवमुदयावलिकाया उपरितन समय-
मात्र स्थितिस्थानं प्रतीत्य वर्त्तमानायामपवर्त्तनायां समया-
धिके आवलिकायाः त्रिभागो निक्षेपः प्राप्यते । स च सर्वजघ-
न्यः । सर्वोपरितन च स्थितिस्थानं प्रतीत्य प्रवर्त्तमानायामपव-
र्त्तनायां यथोक्तं उक्तं निक्षेपः । उक्तं च-“उदयावलि उप-
रित्थ, ठाण अहिकि होह अहीणो । निक्खेवो सव्वोपरि, ठि-
डणावसा भवे परमो” ॥ १ ॥ एष निर्व्याघाते अपवर्त्तनाऽधि-
कारविधिरुक्तः ।

सप्रति व्याघाते तमाह-

वाधाए समऊणं, कंरुगमुकस्सिआ अइत्यवणा ।

मायठिई किंचूणा, ठिइ कंडुकस्सगपमाणं ॥ २२० ॥

अत्र व्याघातो नाम स्थितिघातः, तस्मिन् सति त कुर्वन् इत्यर्थः । समयोन कएमकमात्रमुत्कृष्टा अतिस्थापना । कथं समयोनमिति चेत् ? उच्यते-उपरितनेन समयमात्रेण स्थितिस्थानेनापवर्तमानेन सद् अधस्तात् कण्डकमतिक्रम्यते । ततस्तेन विना कण्डक समयोनमेव जवति । कण्डकमानमाह-“ डाय-ठिई इत्यादि ” । यस्याः स्थितेरारभ्य तस्या एव प्रकृतेरुत्कृष्टं स्थितिबन्धमाधत्ते, ततः प्रवृत्तिं सर्वा साऽपि स्थितिर्वाय-स्थितिरिति उच्यते । उक्तं च पञ्चसङ्कहमूलटीकायाम्-यस्या यस्याः स्थितेरारभ्य उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विधत्ते निर्मापयति तस्या आरभ्य उपरितनानि सर्वाण्यपि स्थितिस्थानानि मायस्थितिसङ्गानि जयन्ति, सा मायस्थितिः किञ्चिदूना कएमकस्योत्कृष्ट प्रमाणम् । पञ्चसङ्कहे पुनरेवं मूलटीकाव्याख्या-कृता-“सा मायस्थितिरुत्कर्षतः किञ्चिदूना किञ्चिदूनकर्मस्थिति-प्रमाणा वेदिन्या । तथाहि-अन्तःकोटीकोटीप्रमाण स्थितिबन्ध-माधाय पर्याप्तसङ्क्षिपञ्चेन्द्रिय उत्कृष्टसंज्ञेशवशादुत्कृष्टां स्थितिं विधत्ते इति सा डायस्थितिरुत्कर्षतः किञ्चिदूनकर्मप्रमाण-स्थितिप्रमाणेति, सा चोत्कृष्ट कण्डकमुच्यते । इयमुत्कृष्टव्याघा-तोऽतिस्थापना । एतच्चोत्कृष्ट कएमक समयमात्रेणापि न्यून कण्डकमुच्यते । एव समयद्वयेन, समयत्रयेण, एवं तावद् न्यून वाच्यं यावत् तत्पल्योपमासंस्थेभागमात्र प्रमाणं जवति; तच्च जघन्य कएमकम्, इयं च समयोनजघन्या व्याघातेऽतिस्थापना । सप्रत्य-दपबहुत्वमुच्यते-तत्रापवर्त्तनायां जघन्यो निक्षेपः सर्वस्तोकः, नस्य समयाधिकावलिक्वात्रिभागमात्रत्वात् । ततोऽपि जघन्या-तिस्थापना द्विगुणा त्रिसमयोना, कथं त्रिसमयोनं द्विगुणत्वमिति चेत् ? उच्यते-व्याघातमन्तरेण जघन्या अतिस्थापना आवलिक्वा त्रिभागद्वय समयोनं जवति, आवलिक्वा चाऽसत्कल्पनया नवस-मयप्रमाणा कल्प्यते, ततोऽत्रिभागद्वय समयोनं पञ्चसमयप्रमाण-मवगन्तव्यम् । निक्षेपोऽपि जघन्यः समयाधिकावलिक्वात्रिभा-गरूपोऽसत्कल्पनया चतुः समयप्रमाणो द्विगुणीकृतात्रिसमयोनं सन् तावानेव भवतीति । ततोऽपि व्याघातं विना उत्कृष्टा अतिस्था-पना विशेषाधिका, तस्याः परिपूर्णावलिक्वामात्रत्वात् । ततो व्याघा-ते उत्कृष्टा अतिस्थापना असंख्येयगुणा, नस्या उत्कृष्टमायस्थिति-प्रमाणत्वात् । ततोऽप्युत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः, तस्य समया-धिकावलिक्वा द्विकोनसकलकर्मस्थितिप्रमाणत्वात्, ततः सर्वा कर्मस्थितिर्विशेषाधिका । सप्रत्युद्धर्त्तनापवर्त्तनयोः समयोनोऽप-बहुत्वमुच्यते-तत्रोद्धर्त्तनायां व्याघाते जघन्यावनीस्थापनानिक्षे-पो सर्वस्तोकैः, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यौ, आवलिक्वासंख्येय-भागमात्रत्वात् । ततोऽपवर्त्तनायां जघन्यो निक्षेपोऽसंख्येयगुणः, तस्य समयाधिकावलिक्वात्रिभागमात्रत्वात् । ततोऽप्यवर्त्तनायां जघन्यातिस्थापना द्विगुणा त्रिसमयोना । अत्र भावना प्रागेव कृता । ततोऽप्यपवर्त्तनायामेव व्याघातं विना उत्कृष्टा अतिस्थापना वि-शेषाधिका, तस्याः परिपूर्णावलिक्वाप्रमाणत्वात् । तत उद्धर्त्तना-यामुत्कृष्टातिस्थापना संख्येयगुणा, नस्या उत्कृष्टाभाधारूपत्वात् । ततोऽपवर्त्तनायां व्याघाते उत्कृष्टा अतिस्थापना असंख्येयगुणा, तस्या उत्कृष्टमायस्थितिप्रमाणत्वात् । तत उद्धर्त्तनाया उत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः, ततोऽप्यपवर्त्तनायामुत्कृष्टो निक्षेपो विशेषा-धिकः, ततोऽपि सर्वा स्थितिर्विशेषाधिका” । क० प्र० । पं० स० ।

संप्रत्यनुभागापवर्त्तनामतिदेशेनाह-

..... एवं ओवट्टणाई उ ॥ १५१ ॥

एवमुद्धर्त्तनाप्रकारेणापवर्त्तनाऽप्यनुभागविषया वर्तक्या, केव-लमादित आरभ्य स्थित्यपवर्त्तनावत् । तद्यथा-प्रथमं स्पर्शकं नापवर्त्तते, नापि द्वितीयं, नापि तृतीयं, एव तावद्वर्त्तयं याव-दावलिकामात्रस्थितिगतानि स्पर्शकानि भवन्ति । तेन्य उप-रितनानि तु स्पर्शकान्यपवर्त्तन्ते । तत्र यदा उदयावलिक्वाया उपरि समयमात्रस्थितिगतानि स्पर्शकानि अपवर्त्तयति तदा समयोनावलिक्वात्रिभागद्वयगतानि स्पर्शकानि अनिक्रम्याधस्तनेषु आवलिक्वासत्कसमयाधिकत्रिभागगतेषु स्पर्शकेषु निक्षिप्यते । यदा तदयावलिक्वाया उपरि न द्वितीयसमयमात्रस्थितिगतानि स्पर्शकान्यपवर्त्तयति, तदा प्रागुक्ता अतिस्थापना समयो-नावलिक्वात्रिभागद्वयप्रमाणा समयमात्रस्थितिगतैः स्पर्शकैर-धिकाऽवगन्तव्या । निक्षेपस्तु तावन्मात्र एव, एव समय-वृद्ध्या अतिस्थापना तावदुद्धर्त्तमुपनतव्या यावदावलिक्वा प-रिपूर्णा भवति, ततः परमनिस्थापना सर्वत्रापि तावन्मात्रैव । नि-क्षेपस्तु वर्त्तते, एव निर्व्याघाते सति द्रष्टव्यम् । व्याघाते पुनरनुभा-गकएमक समयमात्रस्थितिगतस्पर्शकन्यूनमतिस्थापना द्रष्टव्या । कएमकमान समयमात्रन्यूनत्वं च यथा प्राक् स्थित्यपवर्त्तनायामु-क्तं तथाऽत्रापि द्रष्टव्यम् । अत्रापवबहुत्वमुच्यते-सर्वस्तोकैः ज-घन्यनिक्षेपः, ततो जघन्यातिस्थापना अनन्तगुणा, ततो व्याघाते अतिस्थापना अनन्तगुणा, तत उत्कृष्टमनुभागकण्डक विशेषा-धिकम्, तस्य एकसमयगतैः स्पर्शकैरातिस्थापनातोऽधिकत्वा-त् । तत उत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः, ततोऽपि सर्वोऽनुभागो विशेषाधिकः । क० प्र० । पं० स० ।

अववट्टणासंकम-अपवर्त्तनासंकम-पु० । प्रभूतस्य सतो रस-स्य स्तोकीकरणे, पं० स० । अपवर्त्तनासंकमस्तु बन्धेऽवधे वा प्रवर्त्तते । “ सव्वत्थाऽववट्टणा ठिहरसाणं ” इति दह्यमाणब-चनात् । पं० स० ५ द्वार ।

अववयमाण-अवपतत्-त्रि० । मृषावाढमकुर्वति, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अववरोचित्ता-अव्यवरोपयिता-ली० । अत्रशकतायाम्, “जि-मामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ” । स्था० ६ ग० । अववाय-अपवाद-पु० । परदूषणाभिधाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । द्वितीयपदाश्रये, दर्श० घ० । विशेषोक्तविधौ, यथा-“पु-दवाइसु आसेवा, उप्पजे कारणमि जयणाए । मिगरहियस्स त्रियस्सा, अववाओ होइ नायवो” ॥१॥ दर्श० घ० । पञ्चा० । प्रति० नि० चू० । उत्सर्गस्य प्रतिपक्षे, वृ० १ उ० । (विशेषवक्तव्य-ता ‘सुत्त’ शब्दे वीक्ष्या) तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पञ्चकादियतनयाऽनेपसीयादिग्रहणे, स्या० । अनुज्ञायाम्, नि० चू० १ उ० । निश्चयकथायाम्, नि० चू० ५ उ० ॥

अववायकारि(ण्)-अवपातकारिन्-पु० । आज्ञाकारिणि, पं० स० १ द्वार ।

अववायसुत्त-अपवादसूत्र-न० । अपवादिकार्यप्ररूपके सूत्र-भेदे, वृ० १ उ० । (‘सुत्त’ शब्दे विवृतिरस्य द्रष्टव्या)

अवविह-अवविध-त्रि० । स्वनामस्थाने आज्ञाविको-(गोशास्त्र-कमतो-) पासके, म० द श० ५ उ० ।

अवशल-अवसर-पु० । मागध्याम "रसोर्लशौ" ॥८॥१२७॥
इत्यनेन रूपनिष्पत्तिः । प्रस्तावे, "ण अवशलोपमप्यणिया ला-
आणो" । प्रा० ४ पाद २०३ सूत्र ।

अवस-अवश-पु० । कर्मपरवशे, उत्त० ६ अ० । परवशे, सूत्र० १
श्रु० ३ अ० १ उ० । उत्त० । प्रश्न० ।

अवश्यम्-अव्य० । "अवश्यमो ङे-मौ" । ८ । ४ । ४२७ । इत्य-
पञ्चशे स्वार्थे मः । निश्चये, अशक्यनिवारणे च । "अवस न सु-
अहि सुअच्छिअहि" । प्रा० ४ पाद ।

अवसज्ज-अपशकुन-न० । अश्वजसूचके निमित्तभेदे, शृ० ।
तानि च—

मलिणकुचले अञ्ज-गियद्वय साणखुज्जवमभे य ।

एए तु अप्पसत्था, हवन्ति खिचाउ णितस्स ॥

मलिन शरीरेण कुचैर्वा मलीमस, कुचेलो जीर्णादिवस्वपरि-
धान, अम्पङ्गितः स्नेहाभ्युक्तशरीरः, अवा वामपार्श्वदक्षिणपा-
श्वेगामी, कुञ्जो वरुशरीरः । वममो वामनः । एते मलिनाद-
योऽप्रशस्ता नवन्ति क्षेत्राभिर्गच्छन्तः ॥

तथा—

रत्तपमचरगतावस-रोगियविगत्ता य आउए विज्जा ।

कासायवत्थवद्-विषा य जचं न साहंति ॥

रूपपटाः सौगताः, चरकाः काणादाः, घाटीवाहका वा; तापसा
सरजस्काः, रोगिणः कुष्ठादिरोगाक्रान्ताः, विकलाः पाणिपादाद्य-
व्यवस्थिता, आतुरा विविधदुःखोपहृताः, वैषा प्रसिद्धाः,
काषायवत्त्वाः कषायवत्स्वपरिधानाः, उद्धूलिता प्रस्मोद्धूयित-
गताः धूलीधूसरा वा । एते क्षेत्राभिर्गच्छन्तिर्दृष्टाः सन्तो यात्रा
गमन, तत्प्रवर्तकं कार्यमप्युपचारात् यात्रा, तां न साधयन्ति ।
उक्ता अपशकुनाः । शृ० १ उ० ।

अवसकण-अवप्पकण-न० । साध्वर्थायावसर्पणे, पञ्चा० १३
विव० । आ० । पश्चाद्गमने, प्रव० २ द्वार ।

अवसकि (ण्)-अवप्पकिन्-त्रि० । अवसर्पणशाले, सूत्र० २
श्रु० ६ अ० २ उ० । दूरगमनशाले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ॥

अवसज्ज-गम्-धा० । "गमेरङ्-अश्छाणुवज्जावसज्जसोकु०
। ८ । ४ । १६२ । इत्यादिना गमेरवसज्जाऽऽदेशः । अवसज्ज-
गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसपि [ण्] अवसर्पिन्-त्रि० । परिहारिणि, सूत्र० १ श्रु० २
अ० २ उ० ॥

अवसय-अपसद-त्रि० । तुच्छे, स्था० ४ ग० ४ उ० ॥

अवसर-अवसर-पु० । प्रस्तावे, विज्ञाने च । दर्श० १ अ० ।
"अहुणाऽवसरो णिसीहचूलाए" । नि० चू० १ उ० ।

अवसरण-अवसरण-न० । समवसरणे, प्रव० ६२ द्वार । भ० ।

अवसवस-अपस्ववश-त्रि० । अपगतात्मतन्त्रत्वे, द्वा० १६ अ० ।

अवसह-अवसथ-पु० । पृष्टे, उत्त० ३२ अ० ॥

अवसावण-अवश्रावण-न० । काष्ठजिके, "अवसावण लाडाण
कजिअ भज्ज" चि । इह लाटदेशेऽवश्रावणक काष्ठजिक भ-
गयते । श्रु० १ उ० ।

अवसिच्छन्त-अपसिच्छन्त-पु० । सिद्धान्तादपक्रान्ते, "ससार-
कारणाद् घोरा-दपसिच्छन्तदेशनात्" । स्था० १० ग० ॥

अवसे-अवउयम्-अव्य० । "अवश्यमो ङे-मौ" । ८ । ४ । ४२७ ।
इत्यपञ्चशेऽवश्यम स्वार्थे 'मे' प्रत्ययः । 'अवसे' सुकृदि पणङ्गं
प्रा० ४ पाद ॥

अवसेस-अवशेष-पु० । अवशिष्टे, स्था० ७ ग० । आतु० । तद-
तिरिक्ते, उपा० १ अ० ॥

अवसेह-गम्-धा० । "गमेरङ्-अश्छाणुवज्जा०" ७ । ४ । १६१
इति सूत्रेण गमेरवसेहादेशः । अवसेह-गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसेह-नम्-धा० । अदर्शने, "नशोर्णिणिणास-णिवहावसे-
ह०" । ८ । ४ । १७८ । इत्यादिसूत्रेणावसेहादेशः । अवसेह-
नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवसोग-अपशोक-पु० । वीतशोके, जम्बूद्वीपापेक्षया द्वादश-
द्वीपाधिपतौ देवे, द्वीप० ।

अवस्स-अवश्य-त्रि० । अवश्यपर्यायोऽवश्यशब्दोऽकारा-
न्तोऽप्यस्ति । आ० म० द्वि० । प्रश्न० । नियते, आव० ४ उ० ।

अवस्सकम्म-अवश्यकर्मन्-न० । अवश्यक्रियायाम्, आ०
चू० १ अ० ।

अवस्सकरणिज्ज-अवश्यकरणीय-न० । मुमुक्षुभिरवश्य
क्रियते इति अवश्यकरणीयम् । विशेषः । आवश्यके,
मुमुक्षुभिर्नियमानुष्ठेयत्वात्तस्य । अनु० । अवश्यकरणमिति
प्रश्ने प्रदर्श्यते—अन्वयत्वादवश्यकरणसङ्गाया, भास्करव-
त्, अवश्यकरणीयत्वादवश्यकरणं कुर्वन्तीति । कथमिदमव-
श्यकरणं, कथमियमन्वयेति ? दर्श्यते—अर्थमनुगता या सङ्गा
साऽन्वर्था, अर्थमङ्गीकृत्य प्रवर्तन् इत्यर्थः । कथमिदं? यथा-भा-
स्करसङ्गा अन्वर्था, कथमन्वर्था ? ज्ञास करोतीति ज्ञास्कर इति
यो भासनार्थः, तमङ्गीकृत्य प्रवर्तन् इत्यन्वर्था । तथाऽवश्यकरण-
मिति इय सङ्गा अन्वर्था । कथमिति चेत् ? ब्रूमहे-अवश्य क्रियत
इत्यवश्यकरणमिति योऽवश्यकरणार्थोऽवश्यकर्तव्यता तमङ्गी-
कृत्य प्रवर्तने यस्मात्तस्मात्सर्वेकेवलमि- सिद्ध्यद्भिरवश्यं क्रि-
यमाणत्वादवश्यकरणमित्यन्वयसङ्गासिद्धिः । आ० चू० २ अ० ।

अवस्सकिरिया-अवश्यक्रिया-स्त्री० । पापकर्मनिषेधे, "अ-
वस्सकम्म ति वा अवस्सकिरिय ति वा एगछा" । आ० चू०
१ अ० ।

अवह-कृप्-धा० । सामर्थ्ये, "कृपोऽवहो णिः" । ८ । ४ । १५१ ।
इति कृपे 'अवह' इत्यादेशो एयन्तो भवति । अवहावेह-कल्पते ।
प्रा० ४ पाद ।

अवह-रच्-धा०-चुरा० । प्रतियक्षे, "रच्चेरुगहावह-वडविह्वा"
। ८ । ४ । १५४ । इति रच्चेर्धातो 'अवह' आदेशः । अवह-रच-
यति । प्रा० ४ पाद ।

अवह-अपहति-स्त्री० । विनाशे, विशेषः । आ० म० ।

अवह-अपहृत्य-अव्य० । परिहृत्य, (औ०) परित्यज्य,
(सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । दर्श० । दर्श०) निकृष्येत्यर्थे,
आ० चू० २ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अवह-अवह-त्रि० । "प्रत्यादौ ह" । ८ । १ । २०६ । इति
तस्य म । प्रा० १ पाद । परिहृते, नि० चू० १० उ० । आव० ।

“वालभा अवहाय० अवहमे विसुद्धे भवद्” । निःशेषवालाप्रले-
पापहारात् । म० ६ श० ७ उ० । नि० चू० । आच० । देशान्तर
नीते, प्रव० १ शर ।

अवहत्यय-अपहस्तित-त्रि० । निराकृते. न० ॥

अवहृदुसंजम-अपहृत्यसंयम-पु० । अवधिनोच्चारादीनां परि-
ष्ठापनतः क्रियमाणे, स० १३ सम० ।

अवहृन्-अवहनन-न० । उदूखले, वृ० १ उ० ।

अवहमाण-अग्रत्-त्रि० । न घ्नन् अघ्नन् । आरम्भाऽकरणेन पी-
मामकुर्वति, “ एसंते अवहमाणा उ ” । दश० १ अ० ॥

अवहर-गम्-धा० । “ गमेरईशब्दा० ” ८ । ४ । १६२ । इत्यादिना
गमेरवहरादेशः । अवहरइ-गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

नश्-धा०-दिवा० । अवर्शने, “ नशेर्णिरिणास-णिवहावसेह-प-
डिसा-वमेहावहराः ” । ८ । ४ । १७८ । इति नशेरवहरादेशः ।
अवहरइ-नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अप-हृ-धा० । चोरणे, स्था० ५ अ० १ उ० । स्वीकरणे, सू०
१ अ० १ अ० । प्रभ० । उपा० । भूते तु-‘ अवहरिस्तु ’ अपहृ-
तवाद् । स्था० १० ठा० ।

अवहाय-अपहाय-अव्य० । त्यक्तत्वेत्यर्थे, म० १५ श० १
उ० । सूत्र० ॥

अवहार-अपहार-पुं० । अपहरणमपहारः । आ० म० द्वि० ॥
गर्जादेर्वहिष्करणे, नि० चू० ।

वमणविरेगादीर्हि, अब्रंतरपोगलाण अवहारो ।

तेल्लुव्वट्टणजलपु—एफुएणमादिर्हि वज्झाणं ॥

अन्तराण दूस्सियमसियपित्तस्सहिरादियाण वमणविरेवणादी-
र्हि अवहारो बाहिरो सरीरातो पूयसोणियसिष्ठाणगलाणगम्भ-
महादि तेल्लुव्वट्टणादिर्हि वज्झ अवहरति । नि० चू० ७ उ० ।
चौर्ये, उक्त० ४ अ० । प्रश्न० । जज्ञचरविशेषे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अवहारवं-अवधारवत्-पुं० । अवधारणावति, स्था० १० ठा० ।

अवहि-अवधि-पु० । अवशब्दोऽध-शब्दार्थः । अव अधो वि-
स्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः । यद्वा-अवधिर्म-
यादा रूपिष्वेव वस्तुषु छव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपतया,
तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः । प्रत्यक्ज्ञानमंश, प्रज्ञा० २५ पद ।
(‘ ओहि ’ शब्दे तृतीयभागे १४० पृष्ठे व्याख्यास्यते)

अवहेम-मुच्-धा० । मोचने, “ मुचेश्छुवावहेड-मेल्लोस्सिक-रे
अव-णिलुञ्ज-धसाडाः ” । ८ । ४ । ११ । इति मुञ्चनेरवहेडादे-
शः । ‘ अवहेडइ ’-मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

अवहेमिय-अवाधःकृत-अवकोटित-त्रि० । प्राकृतत्वात्तथा-
रूपम् । अधस्तादामोदिने, ‘ अवहेमियपट्टिसवत्तमगे ’ । उक्त०
१२ अ० ।

अवहोर्ले-अवदोद्ययत्-त्रि० । दोषायमाने. ज्ञा० ८ अ० ।

अवाऽअसगया-अवाधसङ्गता-स्त्री० । जज्ञादिनाऽप्रतिरुद्धता-
याम्, ठा० ।

“ समानस्य जयाद्धामो-दानस्यावाधसङ्गता ” । उदानस्य

कृकाटिकादेशाश्च शिरोवृत्तेर्जथादिनरेषां वायूनां निरोधाद्-
ध्वैगतित्वसिद्धेरवादिना जज्ञादिनाऽसगताऽप्रतिरुद्धता । जि-
तोदानो हि योगी जले महानद्यादौ महति वा कर्दमे तीक्ष्णेषु
वा कण्टकेषु न सजति, किन्तु लघुत्वाच्च लपिण्डवज्जलादाय-
निमज्जन्नुपरि तेन गच्छतीत्यर्थः । तदुक्तं-“ उदानजयाञ्जलप-
ङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उक्ताग्निश्च ” । ज्ञा० १६ ज्ञा० ।

अवाऽईण-अवातीन-त्रि० । वातीनानि वातोपहतानि; न वाती-
नानि अवानीनानि । वातेनापनितेषु, रा० । जी० । ज्ञा० ।

अवाऽउह-अप्रावृत्-त्रि० । प्रावरणरहिते, दश० ३ अ० । प्राव-
रणाभावे, न० । न० २ श० १ उ० ।

अवागिह-अवागिन्-त्रि० । अवाचाक्षे, व्य० ७ उ० ।

अवामणिज्ज-अवामनीय-न० । संसर्गजं गुण दोषं वा ससर्गा-
स्तरेणाऽवमतिं छव्ये, स्था० १० ठा० ।

अवाय-अपा(वा)य-पुं० । अप-इ-अच् । रागादिजनितेषु प्राणिना-
मैहिकामुष्मिकेष्वनर्थेषु, स्था० १ अ० १ उ० । अपायोऽनर्थः, स यत्र
द्रव्यादिषु अभिधीयते, यथा-एतेषु द्रव्यादिविशेषेषु अस्यपायः,
विवक्षितद्रव्यादिप्रतिषेधेष्विव, हेयता चाऽस्य यत्राभिधीयते तदा-
हरणमपाय इति । उदाहरणभेदे, स्था० ४ अ० ३ उ० । विना-
शे, ध० १ अधि० । विनेषे, न० । तत्रापायश्चतुःप्रकारः । तद्य-
था-‘ छव्यापायः ’, ‘ क्लेशपायः ’, ‘ कालापायः ’, ‘ भावापायश्चेति ।
तत्र छव्यादपायो छव्यापायः । अपायोऽनिष्टप्राप्तिः । छव्य-
मेव वाऽपायो छव्यापायः, अपायहेतुत्वादित्यर्थः । एव क्लेश-
दिध्वपि भावनीयम् ।

साम्प्रतं द्रव्य पायप्रतिपादनायाऽऽह—

दन्वावाए दोन्ने उ, वाणियगा जायरो धणनिमिच्चं ।

वहपरिणएकमेकं, दहम्मि मच्छेए निव्वेओ ॥ ५५ ॥

द्रव्यापाये उदाहरणमन्वौ तु (तुशब्दादन्यानि च) वणिजौ त्रा-
तरौ धननिमित्तं धनार्थं, वधपस्थितौ एकैकजन्योन्यं द्वे मत्स्ये-
न निर्वेद इति गाथाऽङ्गार्यः । तत्रार्थस्तु कथानकादवसेयः ।
तच्चेदम्-“ एगम्मि सनिवेसे दो भायरो वरिद्विणाया; तेहि सोरठं
गेतूण साहस्सिओ णउलओ रुवगाण विद्विओ । ते अ मय
गामं सपत्थिया, इता त णउलय वारएण वहति । जया एगस्स
हत्थे तदा इयरो चित्तेह-‘ मारेमि णवरमेए रुवगा ममं हौतु ’ ।
एव बीओ चित्तेह-‘ जहाऽह एअ मारेमि ’ । ते परोप्परं वहप-
रिण्या अज्जवस्संति । तओ जाहे सग्गामसमीध पत्ता, तत्थ नई-
तडे जिष्ठेअरस्स पुणरावत्ती जाया । ‘ धिरत्थु ममं, जेण मएद-
व्वस्स कए भाउविणासो चित्तिओ ’ । परुओ य इयरेण पुच्छिओ ।
कहिणं णणइ-मम पि एयास्सि चित्तं हौत । ताहे एयस्स दोसे-
ण अस्सेहिं एय चित्ति य ति काउं तेहिं सो नउत्तओ वहे वूदो ।
ते य घर गया । सो अ णउलओ तत्थ पमतो मच्छएण गिलिओ ।
सो अ मच्छो मेएण मारिओ, वीहीए ओयारिओ । तेसिं च
भाउगाण भणिणी मायाए वीहिं पछविणा, जहा-मच्छे आणेह ।
जं प्राउगाण सिज्ज ति । ताए अ समावसीए सो चेव मच्छओ
आणीओ । चेमीए फालितीए णउलओ दिट्ठो । चेडीए चित्ति-
एस एउत्तओ मम चेव भविस्सह सिं वच्छगे कओ । ठावज्जतो
य थेरीए दिट्ठो, णाओ अ । तीए भणिय-किमेय तुमे वच्छगे कय ।
साऽवि लोह गया ए साहइ । ताओ दो वि परोप्परं पहरतो । सा

धेरी ताए चेडीए तारिले मम्मपपसे आइया, जेण तक्खणमेव जीवियाओ वधरोविया । तेहिं तु दारपाहिं सो कइहवइयो नाओ । स एउलओ दिट्ठो । धेरी गाढपपहारा पाणविमुक्का णिस्सहु धरिणिअहे पाडिया दिट्ठा । चितिय च णोहिं—इमो सो अवायबहुलो अत्थो अणत्थो चि । एव दव्व अवायहेउ चि । लौकिका अप्पाहु—

“अर्थानामर्जने दु ख-मर्जिनानां च रक्षणे ।

आये दुःख व्यये दु ख, धिग् व्यये दु खवर्द्धनम् ॥ १ ॥

अपायबहुल पाप, ये परित्यज्य ससृता ।

तपोवन महासत्या-स्ते धन्यास्ते मनस्विनः ” ॥ २ ॥ इत्यादि ।

एतावत्प्रकृतोपयोगि । “तओ तेसि तमवाय पिच्छिऊण णिवेओ जाओ । तओ त दारिय कस्सइ दाऊण निविअकाममोआ पवइय चि” गाथार्थः ।

इदानीं क्षेत्राद्यपायप्रतिपादनायाऽऽह—

खेचमि अवक्कमणं, दसारवगस्स होइ अवरेणं ।

दीवायणो अ काहे, जावे मंडुक्कियाखवओ ॥ ५६ ॥

तत्र क्षेत्र इति द्वारपरामर्शः । ततश्च क्षेत्रादपाय, क्षेत्रमेव वा, तत्कारणत्वादिति । तत्रोदाहरणम्—अपक्रमणमपसर्पण दसारवर्गस्य दशारसमुदायस्य भवति । अपरेणाऽपरत इत्यर्थः । जावार्थ कथानकादवसेयः । तच्च वक्ष्यामः । द्वैपायनश्च काहे । द्वैपायन आविः । काल इत्यत्रापि कालादपायः, काल एव वा, तत्कारणत्वादिति । अत्राऽपि जावार्थः कथानकगम्य एव । तच्च वक्ष्यामः । भावे मण्डुक्किकाक्षपक इति । अत्रापि भावादपायो भावापाय, स एव वा, तत्कारणत्वादिति । अत्रापि च भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्च वक्ष्याम इति गाथार्थः । जावार्थ उच्यते—“क्षित्तापाओदाहरण-दसारा हरिवंसरायाणो । एत्थ महई कहा-जहा हरिवसे उवओगिय चैव जणइ-कस्समि विण्णियाए सावाय खेत्तमेय ति काऊण जरासधरायमएण दमारवगो महुराओ अवक्कमिऊण बारवइ गओ चि ” । प्रकृतयोजना पुनर्निर्मुक्तिकार एव करिष्यति किमकारण एव नः प्रयासेन ? “कासावाप उदाहरण पुण-कणहपुच्छिऊण भगवयाऽरिट्ठणेमिणा वागारिय-वारसाहिं सवच्छुरेहिं दीवायणाओ बारवईनयरीविणासो । उज्जोतरायणगरीए परपरएण सुणिऊण दीवायणपरिव्वायओ मा ण गरि विणासेहामि चि कालावाधिमसओ गमेमि चि उत्तरावह गओ । सम्म कालमाणमयाणिऊण य बारसमे चैव सवच्छुरे आगओ । कुमारेहिं खलीकओ कयाणियाणो कोवो उववओ । तओ य णगरीए अवाओ जाओ चि ; णऽसुहा जिणजासिय ति ” । “भावावाप उदाहरण खमओ-एगो खमओ चेदलएण समभि-क्खायरिय गओ । तेण तत्थ महुक्कलिया मारिता । चेदलएण जणिय-महुक्कलिया तए मारिया । खमगो जणति-रे दुठ ! सेह विरमइया चैव एसा । ते गओ । पच्छा रसि आवस्सए आलोइत्ताण खमगेण सा महुक्कलिया नाहोइया । ताहे चेदलएण भणिय-खमगा । त महुक्कलिय आलोएहि । खमओ रुठो नस्स चेदलयस्स खेलमइय घेत्तण उठाइओ असियालए खमे आवडिओ वेगेण । इतो मओ य जोइसिएसु उववओ । तओ चइत्ता दिठीविसाणं कुले दिठीविसो सण्णो जाओ । तत्थ एगेण परिहिंडतेण नगरे रायपुत्तो सण्णेण खइओ । आहिउड-एण विज्जाओ सव्वे सण्णा आवाहिआ मडवे पवेसिआ भणिया-अण्णे सव्वे गच्छतु, जेण पुण रायपुत्तो खइओ सो अत्थउ । सव्वे गता । एगो ठिओ । सो भणिओ-अहवा चिस आ-

वियह, अइवा एत्थ भग्गिमि णिवडाहि । सो अ अगंधणो । स-प्पाण कित्त दो जाईओ-गधणा, अगधणा य । ते अगधणा माणि-णो । ताहे सो अग्गिमि पविट्ठे, ण य तेण त वतय पच्चाविइय । रायपुत्तो वि मओ । पच्छा रखा रुठेण घोसाविय-रज्जे जो मम सप्पसीस आणेइ तस्साह दीणार देमि । पच्छा लोओ दीणार-लोणेण सण्णे मारेउ आटत्तो । त च कुल, जत्थ सो खमओ चप्पणो, तं जाइस्स रसि हिंडइ, दिवसओ न हिंडइ, मा जीवे दहेहामि चि काउं । अखया आहिंदिगेहिं सण्णे मग्गतेहिं रसिच-रेण परिमलेण तस्स खमगसप्पस्स बिअ दिठ ति । दारे से ठिओ ओसहिओ आवाहेइ । सो चितेइ-दिठो मे कोवस्स विवाओ । तो जइ अह भग्गिमुहो णिग्गच्छामि तो दहिहामि, ताहे पुच्छेण आटत्तो णिप्फिडिअ जत्थिय णिप्फेमेइ तावइयमेव आहि-मिओ ठिदेति, जाव सीस छिअ । मओ य सो सण्णो देवया-परिग्गहिओ । देवयाए रखो सुमिणए दरिसणं दिअ । जहा-मा सण्णे मारेइ, पुत्तो ते नागकुलाओ उव्वट्ठिऊण भविस्सइ; तस्स दारयस्स नागदत्तनाम करेआहि । सो य खमगसप्पो मरित्ता तेण पाणपरिआएण तस्सेव रखो पुत्तो जाओ, जाए दारए णाम कय णागदत्तो । खुदलओ चैव सो पवइओ । सो अ किर तेण तिरियाणुभावेण अतीव दुहासुओ दोसीणवेलाए चैव आढवेइ जुजिउ जाव सुरत्थमणवेअ उवसतो धम्मसाद्धिओ य । तम्म अ गच्छे चत्तारि खमगा त चाउम्मासिओ तेमासिओ दोमासिओ एगमासिओ चि । रसि च देवया वदिउ आगया । चाउम्मासिओ पढमठिओ । तस्स पुरओ तेमासिओ । तस्स पुर-ओ दोमासिओ । तस्स पुरओ एगमासिओ । ताण य पुरओ खुइ-ओ । सव्वे खमगे अतिक्रमिआ ताए देवयाए खुइओ वदिओ, प-च्छा ते खमगा रुठा निग्गच्छति य गहिया चाउम्मासिअख-मएण पोत्ते भणिया य अणेण-कडपुयणि । अम्हे तवस्सिणो ण वंदसि, एय कूरभायण वदसि चि । सा देवया जणइ-अइ भा-वखमय वदामि, ण पूयासकारपरे माणिणो अ वदामि । पच्छा ते चेदलए तेण अमरिस वइति । देवया चितेइ-मा एते चेदलए खरि-टेहिं ति, तो सखिइया चैव अत्थामि, ताऽइ पडिओहेहामि । वि-तियदिवसे अ चेदलओ सदिसावेऊण गओ । दोसीणस्स पडि-आगओ आलोइत्ता चाउम्मासियखमग णिमतेइ । तेण पडिग्गहं से खेअ णिच्छूड । चेदलओ भणइ-मिच्छा मे डुक्कड, ज तुम्मे मए खेलमल्लओ ण पणामिओ त तेण उप्पराओ चैव फेरित्ता खल्लम-ल्लए छूड । एव जाव तिमासिएणं जाव एगमासिएणं बिच्छूड । त तेण तहा चैव फेमिय अकुयाणितालवणे गिएहामि चि काउ खमएण चेदलओ बाहं गदिओ । त तेण नस्स चेदलगस्स अदीण-मणसस्स विसुद्धपरिणामस्स वेस्साहिं विसुज्जमाणीहिं तदाऽऽ-वरणिज्जाण कम्माण खएण केवलनाण समुप्पन्न । ताहे सा देव-ता भणति-किह तुम्मे वदियच्चा ?, जेणेव कोहाभिभूया अत्थ-ह । ताहे ते खमगा सवेगमावणा मिच्छा मे डुक्कड ति, अहो ! बालो उवसतचित्तो अम्हेहिं पाचकम्मोहिं आसाइओ । एव तेसि पि सुहज्जमवसाणेण केवलनाणं समुप्पन्नं । एव पसगओ काइय कहाणय । उवणओ पुण-कोहादिगाओ अप्पसत्थभा-वाओ डुगाइए अवाओ चि” ॥

परलोकचिन्तायां प्रकृतोपयोगितां दर्शयन्नाह-

सिक्खगअसिक्खगाणं, संवेगथिरइयाएँ दोएहं पि ।

दव्वाइया एवं, दंसिज्जंते अवायाओ ॥ ५७ ॥

शिक्षकाशिक्षकयोः अभिनवप्रवृत्तितत्त्वप्रवृत्तितयोः, अभिनव-
प्रवृत्तितगृहस्थयोर्वा, सवेगस्थैर्यार्थं द्वयोरपि रूपाद्या, एवमुक्तेन
प्रकारेण, वक्ष्यमाणेन वा दर्शयन्ते अपाया इति । तत्र सवेगो
मोक्षमुखाभिप्रायः, स्थैर्यं पुनरन्युपगतापरित्यागः । ततश्च कथं
तु नाम दुःखनिवन्धनद्रव्याद्यवगमात्तयोः सवेगस्थैर्यं स्यातां,
रूपादिषु वा प्रतिबन्ध इति गाथार्थः । तथा चाऽऽह-

दविषं कारणगहिर्यं, विगिंचिअवमसिवाइखेत्तं च ।

बारसहि एस कालो, कोहाइविवेगभावमि ॥५८॥

इहोत्सर्गतो मुमुक्षुणा रूपाद्येव-अधिक वक्ष्यमाणादि, अन्यथा कल-
कादि, न ग्राह्यम् । शिक्षकाहिसदृष्टादिकारणगृहीतमपि तत्परिस-
माप्तौ परित्याज्यम् । अत एवाह-द्रव्यं कारणगृहीतं विकिञ्चित्तव्यं
परित्याज्यम्, अनेकैहिकामुष्मिकापायहेतुत्वात् । दुरन्ताग्रहाद्य-
पायहेतुत्वात्, दुरन्ताग्रहाद्यपायहेतुता च मध्यस्थैः स्वाधिया भाव-
नीयेति । एवमशिवादिक्षेत्रं च, परित्याज्यमिति वर्तते । अशिवा-
दिप्रधान क्षेत्रमशिवादिक्षेत्रम् । आदिशब्दात्तु-कनोदरता-राजद्वि-
ष्टादिपरिग्रहः । परित्याज्यं चेदम्, अनेकैहिकामुष्मिकापायसंज्ञा-
दिति । तथा-द्वादशभिर्वर्षैरप्येवत्कालः, परित्याज्य इति वर्तते ।
तत एवापायसंज्ञादिति भावना । एतदुक्तं भवति-अशिवादि-
दुष्ट एव्यत्कालो द्वादशभिर्वर्षैरनागत एवोत्क्रान्तव्य इति । उक्तं
च-“सवच्छरवारसप-ण होहि असिचित्ते ते तत्रो गिति । सु-
त्तत्थ कुवता, अतिसयमादीहि नाकण” ॥१॥ इत्यादि । तथा-क्रो-
धादिविवेकाभाव इति । क्रोधाद्योऽप्रशस्ता प्रावाः, तेषां वि-
वेकं नरकपातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्यागः । भाव इति प्रावापाये
कार्यं इत्ययं गाथार्थः । एव तावद्वस्तुतश्चरणकरणानुयोगमधि-
कृत्यापायः प्रदर्शितः । दश० १ अ० । (रूपाद्यनुयोगसंबन्धपा-
यस्तु 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १८८ पृष्ठे समुक्तः)

अवग्रहीतस्य ईहितस्य चार्थस्य निर्णयरूपे अव्यवसाये-शाङ्क-
एवायं शाङ्कं एवायमित्यादिरूपे अवधारणात्मके मतिभेदरूपे
प्रत्यये, आ० म० प्र० । प्रक्रान्तार्थविशेषनिश्चये, स्था० ४ ठा०
४ उ० । व्य० । रा० । दशा० । म० । ईहितस्यैव वस्तुन स्थाणु-
रेवायमित्यादिनिश्चयात्मके बोधविशेषे, प्रव० २१६ द्वार । न० ।
सम्म० । विशेष० ।

ईहितविशेषनिर्णयोऽत्रायः ॥ ए ॥

ईहितस्य ईहया विषयीकृतस्य विशेषस्य कर्णोत्प्लाटादेर्नि-
र्णयो याथात्म्येनावधारणमत्राय इति । रत्ना० २ परि० ।

अथ मतिज्ञानतृतीयभेदस्यापायस्य स्वरूपमाह-

महुराङ्गुणत्तणओ, संखम्मेवेति जं न संगस्स ।

विष्णाणं सोऽवाओ, अण्णमवग्गरेजावाओ ॥५८०॥

मधुरस्निग्धादिगुणत्वात् शब्दस्वैवायं शब्दो न शृङ्गस्येत्यादि
यद् विशेषविज्ञानं सोऽवायो निश्चयज्ञानरूपः । कुतः, इत्याह-पु-
रोवर्त्यर्थधर्माणामनुगमप्रावात्-अस्तित्वनिश्चयसंज्ञात् । तत्राऽ-
विद्यमानार्थधर्माणं तु व्यतिरेकाभावात्नास्तित्वनिश्चयसंज्ञात् ।
अयं च व्यवहारार्थप्रवृत्तान्तरमासीत् अवाय उक्तः । निश्चया-
दवग्रहान्तरमासीत् तु स्वयमपि रूपाद्यः । तद् यथा-भोतुर्ग्राह-
त्वादिगुणतः शब्द एवायं, न रूपादिरिति ईहापायविषयाश्च
विप्रतिपत्तयः प्रागपि निराकृता इति नेहोक्ताः । इति गाथार्थः
॥२८०॥ विशेष० “ववमायमि अवाओ,” न० । विशिष्टोऽवसायो
व्यवसायः । निर्णयो निश्चयोऽवगम इत्यनर्थान्तरम् । तं व्यव-
सायम्, अर्थानामिति वर्तते, अवायं भुवत इति सत्सर्गः । एत-

दुक्तं भवति-शाङ्कस्य एवाऽयं शाङ्कं एवायमित्याद्यवधारणात्मकः
प्रत्ययोऽवाय इति । व्यवसायमेवावायं भुवत इति । आ० म० प्र० ।
भेदास्तस्य-

से किं तं अवाए । अवाए णव्विहे पाएणत्ते । तं जहा-सो-
इंदियअवाए, चर्खिअदियअवाए, घाणिंदियअवाए, जि-
ग्भिंदियअवाए, फासिंदियअवाए, नोइंदियअवाए । तस्स
एणं इमे एगादिया नाणाघोसा नाणावजणा पंच नामधिजा
जवन्ति । तं जहा-आउट्टणया पचाउट्टणया अवाए बुक्का
विष्णाणे । सेत्तं अवाए ।

‘से किं तमित्यादि’ । अत्र भोत्रेन्द्रियेणावायः भोत्रेन्द्रियावायः भोत्रे-
न्द्रियनिमित्तमर्थान्तरप्रवृत्तिरिति यः प्रवृत्तोऽवायः स भोत्रेन्द्रिया-
वाय इत्यर्थः । एव शेषा अपि ज्ञावनीयाः । ‘तस्स णमित्यादि’ प्राप्तम् ।
अत्रापि सामान्यत एकार्थिकानि, विशेषचिन्तायां पुनर्नानार्थानि ।
तत्र आवर्तने-ईहातो निवृत्त्याऽपायज्ञावप्रतिपत्त्यभिमुखो वर्तते येन
बोधपरिणामेन स आवर्तनः, तद्भाव आवर्तनता १ । तथा आवर्तन
प्रति ये गता अर्थविशेषेषु सरोजरेषु विवक्षिताऽपायप्रत्यासन्नतरा
बोधविशेषास्ते प्रत्यावर्तनाः, तद्भाव प्रत्यावर्तनता २ । तथा-अपा-
यो निश्चयः सर्वथा ईहाऽभावाद्भिनिवृत्तस्यावधारणाऽवधारित-
मर्थमवगच्छतो बोधविशेषः सोऽवाय इत्यर्थः ३ । ततस्तमेवावधा-
रितमर्थं ज्ञायोपशमविशेषात् स्थिरतया पुनः पुनः स्पष्टतरमव-
बुध्यमानस्य या बोधपरिणतिः सा बुद्धिः ४ । तथा-विशिष्टं ज्ञानं
विज्ञानं ज्ञायोपशमविशेषादेवावधारितार्थविषय एव तीव्रतरधा-
रणाहितुर्बोधविशेषः । “ सेत्तं अवाए ” इति निगमनम् । न० ।

अवायमा-अव्याकृता-स्त्री० । गम्भीरशब्दार्थायाम्, अविभा-
विनार्थत्वात् अव्यक्ताक्षरयुक्तायां वा प्रापायाम्, घ० २ अघि० ।

अवायणिज्ज-अवाचनीय-पु० । वाचनया अयोम्ये, स्था० १

ठा० ४ उ० । “चत्तारि अवायणिज्जा पक्खत्ता । तज्जहा-अविणीय, वि-
गइपादिबद्धे, अधिउत्तवियपाहुमे, माई” । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अवायदसि (ण)-अपायदर्शिन-पु० । अपायान् दुर्मित्रदुर्बल-
त्वादिकान् ऐहिकाननर्थान् पश्यति । अथवा-दुर्लभबोधिकत्वा-
दिकान् सातिचाराणां तान् दर्शयतीत्येवशीलोऽपायदर्शी । व्य० २
अघि० । अपायाननर्थान् चित्तजङ्गाऽनिर्वादादीन् दुर्मित्रदौर्ब-
ल्यादिकृतान् पश्यतीत्येवशीलः । सम्यगालोचनायां च दुर्लभ-
बोधिकत्वादीनपायान् शिष्यस्य दर्शयतीति अपायदर्शीति । स्था०
८ ठा० । इहलोकापायदर्शनशीले आलोचनाईनेदे, व्य० १
उ० । यः सम्यगालोचयति कुञ्चितं वा आलोचयति दत्तं वा
प्रायश्चित्तं सम्यग् न करोति, तस्य यदि त्वसम्यगालोचयिष्यसि
प्रतिकुञ्चितं वा करिष्यसि दत्तं वा प्रायश्चित्तं न सम्यक् पूर-
यिष्यसि ततस्ते भूयान् मासिकादिको दण्डो प्रविष्यतीत्येव-
मिहलोकापायान्, तथा ससारे जन्ममरणादिकं त्वया प्रभूतम-
नुभवितव्यं, दुर्लभबोधिता च तवैवं प्रविष्यतीत्येव पर-
लोकापायाश्च दर्शयति, सोऽपायदर्शीति भावः । व्य० १
उ० । “ दुर्लभबोधितुर्लभार्थं, इहलोप जाणए अवाओ ।
दसेइ य परलोप, दुर्लभबोधितुर्लभससारे ” ॥ १ ॥ स्था० ८
ठा० । दर्श० । पञ्चा० ।

अवायविजय-अपायविज (ज) य-न० । अपायारागादि-
जनिता प्राणिनामैहिकामुष्मिका अनर्थाः । (विधीयते निर्णयः)

न्ते पर्याप्तोच्यन्ते वा यस्मिंस्तदपायविजयम्) प्राकृतत्वेन विजयमिति । अपाया वा विजीयन्ते अधिगमद्वारेण परिचिती- क्रियन्ते यस्मिन्नित्यपायविजयम् ॥ स्था० ४ ठा० ३ उ० । ग० । सम्म० । रागद्वेषकथायाधवादिक्रियासु प्रवर्तमानानामि- दपरलोकयोरपायानां ध्याने, ध० २ अधि० । दुष्टमनोवा- कायव्यापारविशेषाणामपायः कथं नु मे न स्यादित्येवंभूते संक- र्पप्रबन्धे, दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वात् । सम्म० १ काण्ड । धर्मध्यानस्य प्रथमे भेदे, आव० ४ अ० । आ० चू० । (विस्तर- तोऽस्य स्वरूप ' धम्मग्भाण ' शब्दे वक्ष्यते)

अवायसत्तिमालिप्त-अपायशक्तिमाक्षिन्य-न० । नरकाद्यपाय- शक्तिमलिनत्वे, द्वा० २२ द्वा० ।

अवायहेतुत्वेमणा-अपायहेतुत्वदेशना-स्त्री० । असदाचारा- नर्थमूलतादेशनायाम्, ध० । अपायहेतुत्वदेशनेति । अपायाना- मनर्थानाम् इहलोकपरलोकगोचराणां हेतुत्वं प्रस्तावादसदा- चारस्य यो हेतुजावस्तस्य देशना विधेया । यथा-“ यत्र प्रयान्ति पुरुषाः, स्वर्गं यत्र प्रयान्ति विनिपातम् । तत्र निमित्त- मनार्थः, प्रमाद इति निश्चितमिदं मे ” ॥१॥ प्रमादश्चासदाचार इति । ध० १ अधि० ।

अवायाण-अपादान-न० । अपादीयते वियुज्यते यस्माच्च द्वि- गुज्यमानावधिजुतम्-अपादानम् । अनु० । दोऽवस्वरुने । दानं खण्डनम् । अपसृत्य वा मर्यादया दानं खण्डनं वियोजनं यस्मात्तदपादानम् । विशेष० । आ० चू० । अपादीयते अपा- यतो विस्तेषतः आ मर्यादया दीयते दोऽवस्वरुण्डने इति वच- नात् खण्डयते भिद्यते, आदीयते वा गृह्यते यस्मात्तदपा- दानम् । अवधिमात्रे तत्र पञ्चमी भवति । यथा-अपनय गृ- हाद् धान्यम्, इतो वा कुशूलाद् गृह्णाणेति ॥ स्था० ८ ठा० ।

अवायाण्ये (वे) हा-अपायानुपेक्षा-स्त्री० । अपायानां प्रा- ष्णातिपाताद्याध्वचारजन्यानर्थानामनुपेक्षाऽनुचिन्तनमपायानु- प्रेक्षा । ग० १ अधि० । भ० । शुक्लध्यानाऽनुप्रेक्षाभेदे, यथा-“कोदो य माणो य अणिमाहीया, माया य लोमो य पवहुमाणा । चत्तारि एते कसिणा कसाया, सिंचिति मूलाई गुणम्भवस्स” ॥१॥ इह गाथा-“ आसवदारावाप, तह ससारो सुहाणुभाव च । भवसताणमनतं, वत्थूण विपरिणाम च ” ॥१॥ इति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अवारिय-अवारित-त्रि० । अनिवारिते, अकृत्यं कुर्वति तत्प्र- भर्तकेनानिषिद्धे, निरदुशे, “अज्जा अवारियाओ, इत्थीरज्ज न तं गच्छु” । ग० २ अधि० ।

अवताट्य-अव्य० । अव उत्तार्येत्यर्थे, दश० ५ अ० २ उ० ।

अवावकहा-अवापकथा-स्त्री० । शाकघृतादीन्येतावन्ति तस्यां रसवत्यामुपयुज्यन्त इत्येवैकपायां कथायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अवि-अपि-अव्य० । सम्भावने, उत्त० ३ अ० । स्था० ।

आचा० । सूत्र० । व्य० । नि० चू० । दश० । आ० भ० द्वि० ।

पदार्थसजावने, नि० चू० ४ उ० । समुच्चये, भ० १ श० ३

उ० । अष्ट० । दर्श० । अवधारणायाम्, नि० चू० १ उ० ।

आचा० । साक्योपन्यासे, आचा० १ भु० ६ अ० १ उ० । प्रेरणा-

याम्, निर्णयमवनेतौ च । दर्श० । सत्त्वर्थे, व्य० १ उ० ।

अविअ-अपिच-अव्य० । समुच्चये, ज० ४ वक्ष० ।

अविअकखंत-अवीक्षमाण-त्रि० । पृष्ठतो निरूपयति, ध० ३ अधि० । अविड्य-अद्वितीय-त्रि० । द्वितीयरहिते, द्वितीयनिष्ठे च । भ० ३ श० २ उ० ।

अविउट्टमाण-अवित्रुट्ट्यमान-त्रि० । पीड्यमाने, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अविउप्पगमा-अव्युत्पकटा-स्त्री० । न विशेषतः उत्प्राबल्य- तश्च प्रकटा अव्युत्पकटा । विशेषतोऽप्रकटायाम्, भ० ७ श० १० उ० ।

अविद्वत्प्रकृता-स्त्री० । अविद्वद्भिरजानद्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । भ० १८ श० ७ उ० । अविद्वत्प्रकृत्याम्, भ० १ श० १ उ० । “अम्ह इमा कहा अविउप्पकमा” । ज० १८ श० ७ उ० । “अविउप्पकडे सि” अपिशब्दः सम्भावनार्थः । उत्प्राबल्येन प्रस्तुता प्रकटा वोत्प्रकृतोत्पकटा वा, अथवा अविद्वद्भिरजान- द्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । ज० १८ श० ७ उ० ।

अविउसरणया-अव्युत्सर्जनता-स्त्री० । अत्यागे, भ० १ श० ५ उ० ।

अविउस्समा-अव्युत्सर्ग-पु० । अमुक्तवने, व्य० १ उ० ।

अविओग-अवियोग-पु० । पुत्रमित्राद्यविरहे, त० ।

अविओसिय-अव्यवसित-त्रि० । अनुपशान्ते, वृ० ४ उ० । अ- नुपशान्ते द्वावे, “अविओसिए चासति पावकम्मी” सूत्र० १ भु० १३ अ० ।

अविओसियपाहुम-अव्यवसितप्राभृत-त्रि० । अव्यवसितमनु- पशान्त प्राभृतमिव प्राभृत (नरकपालकौशिक) तीव्रक्रोधल- क्षण यस्यासावव्यवसितप्राभृतः । वृ० ४ उ० । अनुपशान्तको- पे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । “अप्ये वि पारमाणि, अधराहे वयइ ज्ञा- मियत च । बहुसो उदीरयतो; अविओसियपाहुडो स खमु” ॥ १ ॥ पारमाणि परमक्रोधसमुद्भातं व्रजतीति भावः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । (‘वायणा’ शब्देऽस्याऽवाचनीयत्वम्)

अविंदमाण-अविन्दमान-त्रि० । अवबमाने, विपा० १ भु० २ अ० ।

अविकंप-अवेकम्प-त्रि० । मनःशरीराभ्यामचले, पञ्चा० १८ विव० । निःस्पन्दे, पञ्चा० १२ विव० ॥

अविकंपमाण-अविकम्पमान-त्रि० । क्रोधकार्यस्य कम्पनस्या- ऽकर्तारि, “विगिंच कोहं अविकंपमाणे” । क्रूराध्यवसायः क्रो- धस्तं त्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिषेधं दर्शयत्यविकम्पनः । आचा० १ भु० ४ अ० ३ उ० ।

अविकत्थण-अविकत्थन-पुं० । नातिबहुभाषिणि, स्वल्पेऽपि केनचिदपराधे पुनः पुनस्तद्वत्कीर्तनेन रहिते गुणवत्सुरी, प्रव० ६४ द्वार । ग० । हितमितभाषिणि, आचा० १ भु० १ अ० १ उ० ।

अविकरण-अविकरण-न० । पूर्वगृहीतवस्त्वानां यथास्थानम- प्रक्षेपे, “संधारय आवाप, अविकरणं कमुय सपण्डित्ताप” । अवि- करणं कृत्वा, अविकरणं नाम यत्साधुना करणं कृतं तृणानां प्र- स्तरणं, कम्बिकानां बन्धनं, फलकस्य स्थापनं तदपनीयं सप्रव- जितुं विहर्तुम् । वृ० ३ उ० ।

अविकार-अविकार-त्रि० । गीतादिविकाररहिते, वृ० १ उ०

अविकारि (ण्)-अविकारिन्-पु० । अनुद्भटवेष्टे, अकन्दर्प-
शीले च । वृ० ३ उ० ।

अविकोवियपरमत्थ-अविकोपितपरमार्थ-त्रि० । अविकोपित-
समयसद्भावे, प० व० १ द्वार ।

अविगड्य-अविकृतक-त्रि० । निर्विकृतिके घृतादिविकृतित्या-
गिनि, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अविगमिय-अविकटित-त्रि० । अनालोचिते, व्य० १ उ० ।

अविगण्य-अविकल्प-पु० । निश्चये, आ० म० द्वि० । निर्भेदे च ।
सम्म० १ काण्ड ।

अविगय-अविगत-त्रि० । अस्रष्टे, पि० ।

अविगल-अविकल-त्रि० । परिपूर्ण, प० १ विव० । पञ्चा० ।
अस्त्रणमे, षो० ५ विव० ।

अविगलकुल-अविकलकुल-त्रि० । आदिपरिपूर्णकुले, ज० ८
श० ३३ उ० ।

अविगिट्ट-अविकृष्ट-त्रि० । विकृष्टजिह्वे अविकृष्टतपःकर्मका-
रिणि-षष्ठान्ततप कारिणि, पञ्चा० १२ विव० ।

अविगियवयण-अविकृतवचन-त्रि० । अनत्यन्तनिर्वादितमुखे,
ओघ० ।

अविगीय-अविगीत-पु० । विशिष्टगीतार्थरहिते, व्य० ३ उ० ।
निर्धर्मेणि, व्य० १ उ० ।

अविग्रह-अविग्रह-पुं० । वक्त्ररहिते, औ० ।

अविग्रहगडसमावन्न-अविग्रहगतिसमापन्न-पु० । उत्पासिको-
त्रोपपन्ने, म० १४ श० ५ उ० । अविग्रहगतिनिषेधाद् ऋजुग-
तिके अवस्थिते, म० २५ श० ३ उ० ।

अविग्रह-अविघ्न-न० । विघ्नभावे, कल्प० ५ क० । औ० । नि-
ष्पत्यूहे, वृ० १ उ० । दर्श० । कारण एवाहृष्टसामर्थ्यादपाया-
भावे, द्वा० २३ द्वा० ।

अविघुट्ट-अविघुष्ट-न० । विक्रोशनमिव यद्विस्वरं न भवति
तद्विघुष्टम्, अनु० । विक्रोशन इवाविस्वरे, रा० । स्था० । जी० ।

अविचित्त-अविचित्र-त्रि० । रोहिते, " अविचित्तो लोहिल्लमि-
त्यर्थः । नि० चू० १६ उ० ।

अविच्छुः-अविच्युति-स्त्री० । तदुपयोगादविच्यवनमविच्यु-
ति । धारणजिदे, न० । आ० म० ।

अविच्छिन्न-अविच्छिन्न-त्रि० । विच्छेदाननुबन्धे, स्था० ४
ग० १ व० ।

अविजाणअ-अजानत्-त्रि० । सुप्तप्रज्ञे, अपगतावधिविवेके,
" जसी गुहाय जलयेतिउट्टे, अविजाणओ डज्झरु सुत्तपणो ।
सूत्र० १ भु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० ।

अविज्जमाणजाव-अविद्यमानजाव-पु० । नास्तिजावे, "अस-
पज्जय सि वा सत्थिजावो सि वा अविज्जमाणजावो सि वा एग-
छा " आ० चू० १ अ० ।

अविज्जा-अविद्या-स्त्री० । कर्मणि, "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽ-
विद्यामुपासते विद्यया मृत्युतीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " न० ।

अनवमनने, अग्रहणे, अतत्त्वग्रहणे च । सम्म० २ काण्ड । अविद्या
वेदान्तिनां क्रेशः । द्वा० १६ द्वा० । योगशास्त्रप्रसिद्धे क्रेशभेदे, द्वा०
१५ द्वा० । "नित्यशुच्यात्मताख्याति-रनित्याशुच्यनात्मसु । अ-
विद्या " । अष्ट० १४ अष्ट० । अविद्योपप्लवादविद्यमानमपि दृ-
श्यते । यत उक्तम्-"कामस्वप्नभयोन्मादै-रविद्योपप्लवात्तथा ।
पश्यत्यसन्तमप्यर्थं जनः केशेन्दुकादिवत् " इति । विशेषः ।

अविणय-अविनय-पु० । कुशास्त्र, उक्त० ३४ अ० । विशिष्टो न-
यो विनयः प्रतिपत्तिविशेषः, तत्प्रतिषेधोऽविनय । अप्रतिपत्तिवि-
शेषे, स्था० ।

अविणयं तिविहे पञ्चते । तं जहा-देसवर्द्ध, शिरा-
हंभणया, णाणपेम्मदोसे ॥

(अन्येषां सर्वेषां शब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या) नवरमियमत्र
भावना-आराध्यविषयमाराध्यसम्मतविषयं वा प्रेम, तथाऽऽ-
राध्यसम्मतविषयो द्वेष इत्येव नियतावेतौ विनयः स्यात् । उक्तं
च-" सख्ये नतिस्तुतिवचन, तदभिमतं प्रेम तद्विधि द्वेषः ।
दानमुपकारकीर्तन-ममन्त्रमूल वशीकरणम् " ॥ १ ॥ इति
नानाप्रकारौ च तान्माराध्य तत्सम्मतनरसङ्गणविशेषानपेक्षत्वे-
नानियतविषयावविनय इति । स्था० ३ ग० ३ उ० ।

अविणासि (ण्) अविनाशिन्-त्रि० । कणापेक्षयाऽपि अनि-
रन्वयनाशधर्मेणि, दश० ४ अ० । पा० ।

अविणिच्छय-अविनिश्चय-पु० । प्रमाणाभावे, पं० व० ४ द्वार ।
प्रति० ।

अविणीय-अविनीत-त्रि० । अविनयवति, उक्त० १ अ० । विनय-
विरहिते, उक्त० ११ अ० । अविनीतलक्षणमाह-

अह चउदसगणेहिं, वट्टमाणे उ संजए ।

अविणीए बुद्धं सो उ, निच्चारणं च न गच्छइ ॥

अदेत्यादि सूत्राष्टकम् । अथेति प्राग्बुद्धतुर्जिराधिका दश वतु-
र्दश; तेषु चतुर्दशसंख्येषु स्थानेषु; सूत्रे तु सुख्यत्ययेन सप्तम्यर्थे
तृतीया । वर्तमानस्तिष्ठन् । तुः पूरणं । सयतस्तपस्व । अविनीत उ-
च्यते । स तु इति । अविनीतः । पुनः किम्, इत्याह-निर्वाणं च मोक्षं
चशब्दादिहेतुं ज्ञानार्थं न गच्छति न प्राप्नोति । उक्त० ११ अ० ।

कानि पुनश्चतुर्दश स्थानानि ? इत्याह-

अजिक्खणं कोही हवइ, पवंधं च पकुवइ ।

मिच्छिज्जमाणो वमडं, सुयं लक्खणं मज्जइ ॥ ७ ॥

अवि पावपरिक्खेवी, अवि मिचेसु कुण्ड ।

सुपियस्सावि मिच्छस्स, रहे जासइ पावमं ॥ ८ ॥

पइसवाई लुहिल्ले, थप्पे लुप्पे अणिग्गहे ।

असंविज्जागी अवियत्ते, अविणीए सि बुद्धं ॥ ९ ॥

अजीहणं पुनः पुनः, यद्वा-क्षणं कणमपि अभिज्ञमनवरतं, को-
धी क्रोधनो प्रवति-सनिमित्तमनिमित्तं वा कुप्यन्नेवास्ते; प्रबन्धं
च प्राकृतत्वात् कोपस्यैवाविच्छेदात्मकं (पकुवइ सि) प्रकर्षणं
कुरुते, कुपितः सन् सान्त्वनेनैरकैरपि नोपशम्यति; विकथादिषु
वा अविच्छेदेन प्रवर्तते प्रबन्धः, तच्च प्रकुरुते । तथा-(मिच्छिज्जमा-
णो सि) मित्रीयमाणोऽपि मित्रं ममायमस्त्विति इहयमाणोऽपि,
अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्, धमति त्यजति, प्रस्तावाद् मित्रीवि-

तारंमैत्रीं वा । किमुक्त भवति? यदि कश्चिद्व्याप्तिकृतया वक्ति, यथा-
त्व न वेत्सीत्येव तव पात्र लेपयामि । ततोऽसौ ग्रन्थुपकारभीरुतया
प्रतिवक्ति-ममाश्रमेतेन । कृतमपि वा कृतघ्नतया न मन्यत इति चम-
तीत्युच्यते । तथा (सुय ति) अपेर्गम्यमानन्वान्, अनमपि आगममपि,
सन्ध्याप्राप्य माद्यति दर्पं याति । किमुक्त भवति? भुत हि मदाप-
हारहेतुः, स तु तेनापि हृष्यति । तथा-अपि. समावनायाम् । सभा-
व्यत एतत्-यथा-असौ पापैः कथञ्चित्समित्यादिषु स्थासितवृत्त-
सौ. परिक्रिपति तिरस्कुरुन इत्येवशांश. पापपरिक्रिपेयी, आचार्यादी-
नामिति गम्यते । तथा-अपिभिन्नक्रम, नतो मित्रेभ्योऽपि सुहृद्व्यो-
ऽपि, आस्तामन्येभ्य कुप्यति क्रुध्यति । सूत्रे चतुर्थ्यर्थे सप्तमी ।
"कुध्रुद्वेर्ष्यासूयाथानां य प्रतिक्षोप" । १।४।३९। इत्यनेन (पाणि०)
सूत्रेण चतुर्थीविधानात् । तथा-सुप्रियस्याप्यतिवहन्नस्यापि
मित्रस्य, रहस्येकान्ते, भाषते वक्ति, पापमेव पापकम् । किमुक्त
भवति?-अग्रतः प्रिय वक्ति, पृष्ठतस्तु प्रतिसेवकोऽयमित्यादि-
कमनाचारमेवाविष्करोति । तथा-प्रकीर्णमितस्ततो विक्रितम्,
असबद्धमित्यर्थः । वदति जल्पनीत्येवशांश प्रकीर्णवादी । घ-
स्तुनत्वविचारेऽपि यदकिञ्चनवादीत्यर्थः । अधवा-य पात्र-
मिदमपात्रमिति चाऽपरीक्ष्यैव कथञ्चिदधिगत धनरहस्य वद-
तीत्येवशांश प्रकीर्णवादीति । प्रतिज्ञया च दमित्यमेवेत्येकान्ताभ्य-
पगमरूपया वदनशाल प्रतिज्ञावादी । तथा-(दुहिल ति) द्रोहण-
शालो द्रोह्या, न मित्रमप्यनभिदुह्यास्ते । तथा-स्तथा तपस्व्य-
हमित्याद्यद्वृत्तिमान् । तथा-लुब्धोऽन्नादिष्वभिकाङ्क्षावान् । तथा-
अनिग्रहः प्राग्वत् । तथा-असविभजनशीलोऽसविभागो, नाहा-
रादिकमवाप्यातिगर्हनोऽन्यस्मै स्वल्पमपि यच्छति, किन्वात्मा-
नमेव पोषयति । तथा-(अविद्यत ति) अप्रीतिकरो, हृदयमान सं-
ज्ञाप्यमाणो वा सर्वस्याप्रीतिमेवोपादयति । एवाविधदोषान्वितो-
ऽविनीत इत्युच्यते इति निगमनम् ॥ उत्त० ११ अ० । ('विणय' शब्द
सर्वमधिकार व्याख्यास्याभि) सूत्रार्थदातुर्वन्दनादिविनयरहिते,
वृ० ४ उ० । अविनीता नाम ये बहुशोऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमा-
द्यन्ति । वृ० १ उ० ॥ सूत्रार्थदातुर्वन्दनादिविनयरहिते, स्या० १
ग० ४ उ० । (अस्यावाचनीयत्व 'वायणा' शब्दे वक्ष्यते)
अविणीयप (ए)-अविनीतात्मन्-पु० । विनयरहिते अना-
त्मके, प्रज्ञा० ३ पद । दश० ।

अविष्ठा-अविज्ञा-स्त्री० । अविज्ञानमविज्ञा । अनाभोगकृते, सूत्र०
शु० १ अ० १ उ० ।

अविष्ठा-अविज्ञात-त्रि० । अविदिते, आचा० १ शु० १ अ०
१ उ० ॥

अविष्ठा-अविज्ञातकर्मन्-न० । अविज्ञातमविदि-
त कर्म क्रिया व्यापारो मनोवाक्यालक्षणो यस्य । अज्ञातमन
आदिव्यापारे, आचा० १ शु० १ अ० १ उ० ।

अविष्ठा-अविज्ञातधर्मन्-त्रि० । पापादनिवृत्ते अज्ञातध-
र्मेण, अविरतसम्यग्दृष्टौ च । ज० ८ श० १० उ० ।

अविष्ठावश्य-अविज्ञोपचित-न० । अविज्ञानमविज्ञा, तयोपचि-
तम् । अनाभोगकृते कर्मणि, सूत्र० । तन्न वक्ष्यते शाक्यसमये ।
यथा-मातु स्तनाद्याक्रमणेन पुत्रव्यापसावप्यनाभोगाश्च कर्मो-
पचीयते । सूत्र० १ शु० १ अ० १ उ० । केवलकायक्रियोच्छेदे क-
र्मणि, सूत्र० १ शु० १ अ० २ उ० ।

अवितक-अवितर्क-पु० । न विद्यते वितर्कोऽश्रद्धानक्रियाफलं

देहरूपो यस्य (जिज्ञो.) सोऽवितर्कः । कुतर्करहिते, "सुसमाहि-
तलेसस्स अवितकस्स जिक्खुणो" । दशा० ५ अध्या० ।

अवितह-अविनथ-त्रि० । न वितथमविनथम्-सत्यम् । आच० ४ अ० ।
अव्यभिचारिणि, पञ्चा० ५ वि० । "णिगथ पावयणं अवितह-
मेय" । पूर्वमजितप्रकारयुक्तमपि सदन्यदा विगताभिमत-
प्रकारमपि किञ्चित्स्यात् । अत उच्यते-अवितथमेतत्, न
कासान्तरेऽपि विगताभिमतप्रकारमिति । भ० १० श० ५ उ० ।
प्रश्न० । आचा० । तथ्ये, आ० चू० ४ अ० । यथास्थिते, कल्प०
१ क० । याथानर्थ्येन व्यवस्थिते, सूत्र० १ शु० १३ अ० । य-
थावदननुष्ठिते, सूत्र० १ शु० २ अ० २ उ० । यथाऽवस्थितपि-
ण्डितार्थवचने, सूत्र० १ शु० १६ अ० । सदृशार्थे, औ० ।

अवितिष्ठ-अवितीर्ण-त्रि० । तितीर्थे पारमगते, सूत्र० १ शु० २
अ० १ उ० ।

अविदिष्ठ-अवितीर्ण-त्रि० । अदत्ते, वृ० ३ उ० । आ० म० । नि० चू० ।

अविदित-अविदित-त्रि० । न विदितमविदितम् । वस्तुतोऽप-
रिज्ञाते, "सवेदनमात्रमविदितं त्वन्यत्" । सवेदनमात्र वस्तु-
स्वरूपपरामर्शशून्यमविदितं त्वन्वत्, कथञ्चित् वस्तुमाहित्वे ऽपि
न विदितं वस्तु तदित्यविदितमुच्यते । वी० १२ वि० ।

अविदुय-अविद्रुत-त्रि० । उपद्रवरहिते अनुपसवे, वी० १२ वि० ।

अविष्ट-अविध्वस्त-त्रि० । अव्युत्क्रान्ते, अपरिणते, आचा०
२ शु० १ अ० ८ उ० । अप्रासुके, आचा० २ शु० १ अ० ७ उ० ।
प्ररोहसमर्थे बीजादौ, दश० ४ अ० ।

अविधि-अविधि-पु० । असमाचार्य्याम, वृ० ३ उ० ॥

अविधिपरिहारि (ए)-अविधिपरिहारि-पु० । सयमार्थे आ-
युक्ते, "सजमद्रापचि वा आउत्ते चि वा अविधिपरिहारि चि वा
परद्रा" । आ० चू० १ अ० ।

अविष्पत्रोग-अविप्रयोग-पु० । रक्षायाम्, "सुक्खाण अविष्प-
त्रोगेण" स्या० ४ ग० ४ उ० ।

अविष्पकट-अविप्रकट-त्रि० । न विप्रकटं दूरम् । आसन्नं,
ज्ञा० १ अ० ।

अविष्पणस-अविप्रणश-पुं० । शाश्वतत्वे, विशेष० ।

अविबुध-अविबुध-त्रि० । भावसुप्ते, व्य० ३ उ० ।

अविभज्ज-अविजाज्य-त्रि० । विज्रकमशक्ये, स्या० ३ ग०
२ उ० । ज्यो० ।

अविभक्त-अविभक्त-त्रि० । अकृतत्रिभागे, वृ० । तत्र यावान्
सागारिकादीनां साधारणचोक्तक उपस्कृतस्तावानघाप्यस्वरुः
पुञ्ज एव अधस्तनाजागादिविचक्षा कृता सा आशिका अवि-
ज्रक्युच्यते ॥ वृ० २ उ० ।

अविभाक्ते-अविजाक्ते-स्त्री० । विभागाभावे, व्य० ३ उ० ।

अविजव-अविजव-पु० । अदारिद्र्ये, व्य० ६ उ० ।

अविज्ञाडम-अविज्ञागिम-त्रि० । अविभागेन निर्वृत्तोऽविभागि-
म । एकरूपे, म० २० श० ५ उ० । विभागेन निर्वृत्तो वि-
ज्ञागिम, तन्निषेयादविभागिम । ज्ञागान्ये, स्या० ३ ग० २ उ० ।

अविज्ञाद्वय-अविज्ञाद्वय-त्रि० । विभक्तुमशक्ये, " तत्रो अवि-
भादया परणत्ता । तजहा-समप, पपसे, परमाणू " । स्था० ३
ठा० २ उ० ।

अविभाग-अविज्ञाग-पुं० । संबद्धो विभागो नैरन्तर्याभाव,
तदज्ञावोऽविभागः । नैरन्तर्ये, पि० ॥

अविभागपल्लिच्छेय-अविभागपरिच्छेद-पुं० । परिच्छिद्यन्त
इति परिच्छेदा अशा, ते च सविभागा भवन्त्यतो विशेष्यन्ते । अ-
विभागाश्च ते परिच्छेदाश्चेत्यविभागपरिच्छेदा । निरशेषु अशे-
षु, ज० ८ श० १० उ० । केवलिप्रज्ञया छिद्यमानो यः परम-
निकृष्टोऽनुभागांशोऽभिसुद्धमतयाऽर्कं न ददाति सोऽविज्ञागप-
रिच्छेद उच्यते । उक्तं च- " बुद्धीः चिज्जमाणो, अणुज्ञाग सो
न देहो जा अरू । अविज्ञागपल्लिच्छेयो, सो इह अणुभागबंध-
मि " ॥ १ ॥ कर्म० ५ कर्म० । वृ० ।

अविभागुत्तरिय-अविभागोत्तर-त्रि० । एकैकस्नेहाविभागेषु,
क० प्र० ।

अविभाव-अविज्ञाव्य-त्रि० । अविभावनीयस्वरूपे, प्रश्न० १
आध० द्वार ।

अविज्ञूसिय-अविभूषित-त्रि० । विचूषारहिते, वृ० १ उ० ।

अविज्ञूमियप्प (ण्)-अविज्ञूषितात्मन्-त्रि० । विचूषाविर-
हितदेहे, प्रश्न० ७२ द्वार । आव० ।

अविमण-अविमनस्-त्रि० । अविगतचेतसि, अनु० । अशून्यचि-
त्ते, अन्त० ७ वर्ग । प्रश्न० । अज्ञाभादिदोषात् अविगतमानसे,
प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अविमुक्तया-अविमुक्तता-स्त्री० । सपरिप्रदत्तायाम्, स्था० ४
ठा० ४ उ० ।

अविमुक्ति-अविमुक्ति-स्त्री० । सलोज्जतायाम्, पञ्चा० १७ विव० ।
गृह्यै, नि० चू० २ उ० ।

अविमुक्तिद्वारमाह-

दब्बे भावेऽविमुक्ती, दब्बे वीरद्वएहाण्णबंधणता ।

सउण्णगहणे कमणे, पइच्च मुच्चो वि आणेइ ॥

अविमुक्तिर्द्विधा-रूप्यतो, भावतश्च । दब्बाविमुक्ती- 'वीरद्वयो'
हायकः पक्षी दृष्टान्तः । स च स्नायुसन्तानबन्धनेन पादे बद्धो यत्र
तिष्ठिरिप्रभृतिक' पक्षी दृश्यते तत्र मुच्यते, ततस्तेन यदा तस्य
शकुनस्य ग्रहणं कृतं स्यात्तदा भूयोऽपि तथैव त शय्यातरस्य
कर्षणं क्रियते, तत आगतस्य हस्ततालमांसं दीयते ततो मांसे
प्रगृह्य आसक्त' सन् मुक्तोऽपि स्नायुबन्धनमन्तरणापि शकुनिम-
नयति, आनीय च तत्रैवावतिष्ठते । एषा द्रव्याविमुक्तिः ।

अथ प्राधाविमुक्तिमाह-

जावे उक्कोमपणी-यगिप्पितो तं कुलं न उठ्ठेति ।

एहाणादीकज्जेसु व. गते वि दूरं पुणो एंति ॥

भावो भावाविमुक्तिः पुनरयम्-उत्कृष्टद्रव्यं शाल्योदनादि, प्रणीतं
घृतादि, तयोर्था गृह्यैर्लौक्यं ततस्तत्कुलं शय्यातरसबन्धिनं परि-
त्यजति । अथवा-स्नानरथमात्रादौ पर्वणि कार्येषु च गणसङ्ग-
प्रयोजनेषु, दूरमपि गता भूयस्तत्रैव समागच्छन्ति । वृ० २ उ० ।

अविमोयणया-अविमोचनता-स्त्री० । वस्त्रादीनामत्यागे, म०
६ श० ३३ उ० ।

अविय-अपिच-अव्य० । अन्युष्ये, तं० । म० ।

अविक-पु० । मेघे, आचा० १ भु० १ अ० ६ उ० ।

अवियत्त-अव्यक्त-त्रि० । अपरिस्फुटे, सूत्र० १ भु० ४ अ० २
उ० । मुग्धे, सद्भविवेकविकले च । सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

अवियत्त-देशी-न० । अप्रीतिके, आ० म० प्र० । स्था० । ग० ।

अप्रीतिकारणि, प्रश्न० १ आभ० द्वार । उत्त० । प्रति० ।
दश० । स्था० ।

अवियत्तजंजग-अव्यक्तजृम्भक-त्रि० । अज्ञाद्यविभागेन जृम्भ-
के, म० १४ श० ८ उ० ।

अवियत्तविसोहि-अवियत्तविशोधि-पुं० । अवियत्तस्याप्रीति-
कस्याविशोधि, तन्निवर्तनादवियत्तविशोधिः । विशोधिभेदे,
स्था० १० उ० ।

अवियत्तोवधाय-अवियत्तोपघात-पुं० । अप्रीतिकेन विनयादे-
रुपघाते, स्था० १० उ० ।

अवियाउरी-अविजनित्री-स्त्री० । रूपत्यानामविजननशीला-
यां स्त्रियाम्, शां० २ अ० । " तस्स बभुमहे जज्जा, अविया-
उरी " । आ० म० प्र० ।

अवियाणय-अविज्ञायक-त्रि० । विशिष्टावबोधरहिते, आचा०
१ भु० १ अ० २ उ० ।

अवियार-अविचार-न० । न विद्यते विचारोऽर्थव्यञ्जनयोरित-
रस्मादितरत्र, तथा-मनःप्रभृतीनामन्यतरस्मादन्यत्र, यस्य तद-
विचार इति । ग० १ अधि० । अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतोऽसक्रमण्ये,
आच० ४ अ० । म० घ० । " एगत्तचित्ते अवियारे " बुद्ध्यान्त-
भेदे, स्था० ४ उ० १ उ० ।

अवियारमणवयणकायवक्क-अविचारमनोवचनकायवाक्य-
त्रि० । अविचाराण्यविचारितरमणीयानि परमाथविचारगुणनया
युक्त्या वा विघट्टमानानि मनोवाक्यावाक्यानि यस्य स तथा ।
अविचाराण्यविचारणीयानि अशोभनतया निरूपणीयानि अप-
र्योचनीयानि मनोवाक्यावाक्यानि यस्य स तथा । अविचा-
रयुगन्त-करणयान्देहवाक्ये, सूत्र० २ भु० ४ अ० ।

अवियारसोहणद्व-अविचारशोधनार्थ-पु० । सयमस्सलित-
विशुक्तिनिमित्त, प० व० २ द्वार ।

अविरह-अविरति-स्त्री० । सावधयोगेभ्यो निवृत्त्यज्जात्रे, कर्म० । द्वा-
दशप्रकाराऽविरतिः । कथम् ? इत्याह-मनःस्वान्त, करणानीन्द्रि-
याणि पञ्च, तेषां स्वस्वविषये प्रवर्तमानानामनियमोऽनियन्त्र-
णं, तथा वृण्णां पृथिव्यसेजोवायुवनस्पतिप्रसरुपाणां जीवानां
बधो हिंसेति । कर्म० ४ कर्म० । प्राणतिपातादीनामनिषेधे, जी-
त० । अन्नहृणि, स्था ६ उ० । " अविरहं पशुबाले आदिज्जहं
येयमविरतिरस्यमरूपा सम्यक्त्वाज्जावाद् मिथ्यादृष्टेर्द्रव्यतोऽ-
विरतिरप्यविरतिरेव, तां प्रतीत्याश्रित्य बालवद् बालोऽहः ।
" तस्य यं जा सा सन्नतो अविरहं पसद्दुण्ये आर-
प्रज्ञाणे " तत्र पूर्वोक्तेषु येय सर्वात्मना सर्वस्माद् अविर-
तिर्विरतिपरिणामाभावः । सूत्र० २ भु० २ अ० । " अविरहो
विषयावेशाद्, भवेदविरतिः । किल " विषयावेशाद् बालेन्द्रि-
यार्थव्याक्रेपलक्षणद्वन्द्वोऽनुपरमलक्षणः किञ्चाविरतिर्भवेत् ।

द्वा० १६ द्वा० । अविरमणेपु, प्रश्न० ५ सम्प्र० द्वार । अप्रत्याख्यानै
स्था० १० द्वा० । “अवि अ न जाव सव्व-स्थ कोइ देहेण माणवो
एय । अविरट् अन्वयवधो, तदा वि निष्को भवे तस्स” ॥ १॥ ध०
२ अधि० ।

अविरट् (य) वाय-अविरति (क) वाद्-पु० । अविरतिरग्रह, त-
द्वादे वात्ता । मैथुनचर्चायाम्, स्था० ६ द्वा० ।

अविरट्या-अविरविका-स्त्री० । न विद्यते विरतिर्यस्याः सा
अविरतिका । स्त्रियाम्, स्था० ६ द्वा० । वृ० ।

अविरत्त-अविरक्त-त्रि० । अनुरक्ते, औ० ।

अविरय-अविरत-त्रि० । अविरमति स्म सावधयोगेभ्यो नियतं ते
स्मेति । प० स० १ द्वार । सावधादविरते, स्था० २ द्वा० १ उ० ।
उत्त० । च० प्र० । पापस्थानेभ्योऽनिवृत्ते, दश० १० अ० । प्रश्न० ।
ध० । प्राणातिपातादिविरतिरहिते विशेषेण तपस्थगते, भ०
१ श० १ उ० । गृहस्थे, सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० । मिथ्यादृष्टौ
च । आव० ४ अ० ।

अविरयवाङ् (ए)-अविरतवादिन्-पु० । वदनशीलो वादी, अवि-
रतस्य वाद्यविरतवादी । परिग्रह्यति, भावा० १ भु० ४ प्र० १ उ० ।
अविरयसम्मत्त-अविरतसम्पत्त्व-पु० । अविरतसम्पत्तौ,
कर्म० ५ कर्म० ॥

अविरयसम्मद्विष्टि-अविरतसम्पद्विष्टि-पु० । विरतिर्विरतम्,
क्लृप्ते कप्रत्ययः । तत्पुनः सावधयोगे प्रत्याख्यानं, तत्र जानातीति
नान्युपगच्छति, न तत्पालनाय च यतत इति त्रयाणां पदाना-
मष्टौ भङ्गः । स्थापना—

५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५
५	५	५

तत्र प्रथमेषु चतुर्षु भङ्गेषु मिथ्यादृष्टिः, भङ्गानि-
त्वात् । शेषेषु सत्यदृष्टिः, ज्ञानित्वात् । सप्तसु
भङ्गेषु नास्य विरतमस्तीत्यविरतः । “अभ्रादि-
भ्यः” । ७ । २ । ४६ । इति कप्रत्ययः । चरमभङ्गे-
षु विरतिरस्तीति । यद्वा-विरमति स्म सावधयो-
गेभ्यो नियतं ते स्मेति विरतः । “गत्यर्थकर्मक-
पिबहुजे” । ५ । १ । ११ । इति कर्तारि कप्रत्यये
विरतः । न विरतोऽविरतः, स चासौ सम्प-

गृष्टिश्चाविरतसम्पद्विष्टिः । इदमुक्तं भवति-य पूर्ववर्णि-
तोपशमिकसम्पद्विष्टिः । गुरुदर्शनमोदपुत्रोदयवर्ती कायोपश-
मिकसम्पद्विष्टिः । क्लीणदर्शनसप्तको वा ज्ञायिकसम्पद्विष्टि-
र्चा परममुनिप्रणीतां सावधयोगविरतिं सिद्धिसौधाध्यागो-
हणनिश्रेष्ठिकत्वा जानन्नप्रत्याख्यानक्रयायोदयविहितत्वाभा-
व्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतन इत्यसावविरतसम्पद्वि-
ष्टिरुच्यते ॥ कर्म० २ कर्म० । देशविरते भावके, स० १४ सम० ।
आव० । प्रव० । प० स० । दश० ।

अविरयसम्मद्विष्टिगुणद्वान-अविरतसम्पद्विष्टिगुणस्थान-
न० । अविरतसम्पद्विष्टेः गुणस्थानमविरतसम्पद्विष्टिगुणस्था-
नम् । चतुर्थे गुणस्थाने, कर्म० ।

उक्तं च—

“अथ अविरट्हेवं, जाणतो रागदोसद्वृत्तं च ।
विरट्पुहं च्छन्दो, विरट् काउ च असमत्थो ॥ १ ॥
एस असजय सम्भो, निदतो पायकम्मकरणं च ।
आदिगयर्जावाजीवो, अवलियदिष्टो वलियमोदो ॥ २ ॥
कर्म० २ कर्म० । प० स० ।
१०३

अविरल-अविरल-त्रि० । घने, औ० । “अविरलममसदि-
य-चमडलसमणमेहि” । अविरलानि घनशलाकावत्त्वेन समानि
तुल्यशलाकानया सहितानि सदिनानि अनिम्नाऽनुन्नतशला-
कायोगान् च द्रमण्डलसमप्रभाणि च शशिधर्गविव्वत् प्रभा-
न्ति वृत्तनया शोभन्ते यानि तानि तथा तैः (छत्रैः) ॥ प्रश्न० ४
आध० द्वार ।

अविरलदत-अविरलदन्त-त्रि० । अविरला दन्ता यस्य । घन-
रङ्गे, औ० । यस्य हि यथा अनेकदन्ता अपि सन्त एका-
कारदन्तपङ्क्तय इव लक्ष्यन्ते । त० ।

अविरलपत्त-अविरलपत्र-त्रि० । घनपत्रे, “अविरलपत्ता
भविष्यत्ता” । अत्र द्वेनौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यतोऽविरलपत्रा
अनोऽच्छिद्यपत्रा । जी० ३ प्रति० । रा० ।

अविरह-अविरह-पु० । विरहाजावे, व्य० १ उ० । सातत्ये-
नावस्थाने, आचा० १ धु० १ अ० ६ उ० ।

अविरहिय-अविरहित-त्रि० । सन्तते, पञ्चा० १० विव० ।

अविराद्विष्टि-अविराध्य-अन्य० । अखण्डमनुपाल्येत्यर्थे,
पा० । सम्यक्पालायित्वेत्यर्थे, ध० ३ अधि० ।

अविराद्विष्टि-अविराधित-त्रि० । न विराधितोऽविराधितः ।
देशभक्ते, त० । अपराद्धे, प्रश्न० ३ आध० द्वार ।

अविराद्विष्टिसंजम-अविराधितसंजम-पु० । प्रमज्याकालादा-
रम्याऽभग्नचारिप्रपरिणामे सज्वलनकषायसामर्थ्यात् प्रमत्त-
गुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वल्पमायाऽऽदिदोषसम्भवेऽप्यनाच-
रितचरणोपघाते, भ० १ श० २ उ० ।

अविराद्विष्टिसामाण-अविराधितश्रामण-त्रि० । आराधि-
तचरणे, भ० १४ श० १ उ० । प्रसन्निरुतसकलसुयतिममाचा-
रे, दश० । (अस्योपपात ‘अवधाय’ शब्दे द्वितीयभागे ए८१
पृष्ठे दृश्यते)

अविरिक-अविरिक्त-त्रि० । अविभक्तीकृते, व्य० ९ उ० ।

अविरिक्त-त्रि० । अविभक्तादिष्वे, व्य० ९ उ० ।

अविरिय-अवीर्य-त्रि० । वीर्यरहिते, विपा० १ भु० ३ अ० ।

अविरुद्ध-अविरुद्ध-त्रि० । सद्गते, पञ्चा० ६ विव० । युक्ते, पञ्चा०
१७ विव० । पूर्वपुरुषमर्यादाऽनतिक्रमेणाऽविरोधभाजि, व्य० १
उ० । वैनयिके, उक्तं च-“अविरुद्धो विणयकारी, देवीर्हण प-
रायं भक्तीय ॥ जड वेसियायणमुग्रो, एव अत्रे वि नायव्या ”
॥ १ ॥ द्वा० १४ अ० । औ० । धर्माद्यप्रतिपन्थिनि, “अविरुद्धकु-
लाचार-पातने मितभाषिता” । (अविरुद्धस्येति) धर्माद्यप्रतिप-
न्थिन कुलाचारस्य पालनमनुयत्तनम् । द्वा० १२ द्वा० । विरु-
द्धराज्यविरहिते ग्रामादौ, वृ० १ उ० ।

अविरुद्धवेण्ड्य-अविरुद्धवैनयिक-पु० । तृतीशमातापितृ-
गुरुणामविरोधेन विनयकारिणि, अनु० ।

अविलविय-अविलम्बित-त्रि० । नातिमन्धरे, भ० १ श० ७
उ० । कल्प० ।

अविला-अवी-स्त्री० । ऊरण्याम्, पि० ।

अविलुत्त-अविलुप्त-त्रि० । समृतराज्ये, व्य० ७ उ० ।

अविवज्जय-अविपर्यय-पुं० । अतस्मिंस्तद्विपर्ययः, न वि-
पर्ययोऽविपर्ययः । तत्त्वाभ्यवसाये सम्यक्त्वे, विशेष० ।
अविवेग-अविवेक-पुं० । असदुपयोगे, अष्ट० १५ अष्ट० ।
अविवेगपरिच्चाग-अविवेकपरित्याग-पुं० । ज्ञाततोऽज्ञानपरि-
त्यागे, पं० व० १ द्वार ।
अविसंधि-अविसन्धि-पुं० । अन्यवच्छिन्ने, आध० ४ अ० ।
आ० चू० । ध० ।
अविसंवाइ (ए)-अविसंवादिन्-त्रि० । दृष्टेष्टाऽविरोधिनि, पा० ।
अविसंवाइय-अविसंवादित-त्रि० । सद्रूतप्रमाणाबाधिते, पा० ।
अविसंवाद-अविसंवाद-पुं० । सवादे, स च प्राप्तिनिमित्तं प्रवृ-
त्तिहेतुभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्यप्रदर्शनम् । सम्म १ काणम् ।
अविसंवायण (ए)-अविसंवादन (ना) योग-पुं० । विस-
वादनमन्यथाप्रतिपक्षस्यान्यथाकरण, तद्रूपो योगो व्यापारः, तेन
वा योगः सम्बन्धो विसंवादनयोगः, तन्निबन्धोऽविसंवादनयोगः ।
म० ७ श० ६ उ० । अनामोगादिना गवादिकमभवादिक यच्छति,
कस्मैचित् किञ्चिदप्युपगम्य वा यन्न करोति सा विसंवादाना,
तद्विपक्षेण योगः सम्बन्धोऽविसंवादानायोगः । संवादानास-
म्बन्धे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।
अविसम-अविषम-त्रि० । समतले, तं० ।
अविमय-अविषय-न० । बाह्यार्थाभावेन निर्गोचरे, पञ्चा०
५ विव० ।
अविसहण-अविसहन-त्रि० । कस्यापि पराजवाऽलोढरि,
वृ० १ उ० ।
अविसाड (ए)-अविषादिन्-त्रि० । विषादवर्जिते, अष्ट० ३
वर्ग । ध० । अदीने, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार । खेदरहिते, ध० ३ अधि० ।
किं मे जीवितेनेत्यादिचिन्तादिरहिते, अन्त० ७ वर्ग । परीषहा-
द्यभिहतत्वेन कायसंरक्षणादौ दैन्यमनुपयाते, पं० व० १ द्वार ।
अविसारय-अविशारद-त्रि० । अचतुरे, उक्त० ३८ अ० ।
अविमुद्-अविशुद्-त्रि० । विशुद्धवर्णादिरहिते, स्था० ३
ठा० ४ उ० ।
अविमुद्दोस्स-अविशुद्दोस्स-त्रि० । कृष्णादिलेश्ये, जी० ३
प्रति० । विज्जज्ञानिनि, म० ६ श० ६ उ० । (तत्र अविशुद्दोस्सो
देवो विशुद्दोस्सो देवं पश्यतीति ' विज्ज ' शब्दे वक्ष्यते)
अविसेस-अविशेष-त्रि० । निर्विशेषे, पञ्चा० १३ विव० । नग-
नगरनद्यादिकृतविशेषरहिते अविशेषलक्षणे भूजागादौ, स्था०
२ ठा० ३ उ० ।
अविसेसिय-अविशेषित-त्रि० । विभागरहिते, वृ० ३ उ० ।
अनर्पिते, स्था० १० ठा० ।
अविसेसियरसपगड-अविशेषितरसप्रकृति-स्त्री० । रसः स्ने-
होऽनुभाग इत्येकार्थः, तस्य प्रकृतिः स्वभावः । अविशेषिता अवि-
वक्षिता रसप्रकृतिः, उपलक्षणत्वात् स्थित्यादयो यस्मिन्नासाव-
विशेषितरसप्रकृति । अविवक्षितानुभावे, क० प्र० ।
अविसोहि-अविशोधि-पुं० । उपघाते, शबलीकरणे च ।
ओघ० । अतिचारे, आ० चू० १ म० ।

अविसोहिकोदि-अविशोधिकोदि-स्त्री० । आधाकर्माविगुणेऽ
विशुद्धवर्गे, ताम्र वभिमाः-स्वतो हन्ति घातयति अन्तमनु-
जानीते । तथा-पचति, पाचयति, पचन्तमनुजानीते इति ।
आचा० १ शु० १ अ० १ उ० ।
अविस्स-अविश्र-न० । मांसरुधिरे, प्रथ० ४० द्वार ।
अविस्ससाणिज्ज-अविश्रवनीय-त्रि० । विश्वासकर्तुमयोग्ये, त० ।
अविस्सामवेयणा-अविश्रामवेदना-स्त्री० । विश्रान्तिरहिताया-
मसातवेदनायाम्, प्रश्न० १ आध० द्वार ।
अविहटा-वेशी-पुं० । बालके, " सीहं पालेश गुहा, अविहरं तेव
सा मदह्मी य " । वृ० १ उ० ।
अविहसमाण-अविहन्यमान-त्रि० । न विहन्यमानोऽविहन्य-
मानः । विविधपरिषदोपसर्गैरहन्यमाने, " अविहसमाणो फ-
लगावतठी " । विघातमक्रियमाणे, आचा० १ शु० ६ अ० ५ उ० ।
अविहववहू-अविधववधू-स्त्री० । जीवत्पतिकनार्याम्, म० १२
श० २ उ० ।
अविहाम-अविघाट-स्त्री० । अविकटावर्ते, व्य० ७ उ० ।
अविहिंस-अविहिंस-त्रि० । न विघते विहिंसा केषां तेऽविहिं-
साः । विविधैरुपायैरहिंसकेषु, आचा० १ शु० ६ अ० ४ उ० ।
अविहसा-अविहिंसा-स्त्री० । विविधा हिंसा विहिंसा, न विहिं-
सा अविहिंसा । विविधप्राणातिपातवर्जने, " अविहिंसामेव पव-
प, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो " । सूत्र० १ शु० २ अ० १ उ० ।
अविहिकय-अविधिकृत-त्रि० । अविधिना कृतमविधिकृतम् ।
अशक्त्यादिना न्यूनाधिककरणे, दर्श० ।
अविहिण्ण-अविधिङ्ग-त्रि० । न्यायमार्गोऽपवेदिनि, दश० १ अ० ।
अविहिजोयण-अविधिजोयन-व० । " कागसियालययुत्त दवि-
यरस सव्वओ परामुठ । एसो उ हवे अविही " । इत्युल्लक्षणे
काकडुष्टादिभोजने, ओघ० ।
अविहिसेवा-अविधिसेवा-स्त्री० । अविधेर्विधिविपर्ययस्य सेवा
सेवनम्-अविधिसेवा । निषिक्ताचरणे, धो० ५ विव० ।
अविहेहय-अविहेठक-पुं० । न काचिदप्युचिते आदरशून्ये, " अ-
विहेमय जो स भिक्खू " । दश० १० अ० ।
अवीइदन्व-अवीचिद्वन् न० । न वीचिद्वन्मवीचिद्वन्म । स-
म्पूर्ण आहारद्रव्ये, सर्वोत्कृष्टायामाहारवर्गणाया च । ज० १३
श० ६ उ० । (' वीइदन्व ' शब्देऽस्य व्याख्या)
अवीइमंत-अवीचिमत्-त्रि० । अकपायसबन्धवति, ज० १० श०
२ उ० ।
अवीइय-अविचिच्य-अव्य० । अपृथग्भूयेत्यर्थे, म० १० श० २ उ० ।
अविचिन्त्य-अव्य० । अविकल्पयेत्यर्थे, ज० १० श० २ उ० ।
अवीय-अद्वितीय-त्रि० । न० व० । एकाकिनि, कट्टप० ६ व० ।
असह्ये, विपा० १ शु० २ अ० ।
अवीरिय-अवीर्य-पुं० । मानसशक्तिवर्जिते, म० ७ श० ६ उ० ।

अवीसंभ

अवीसंभ-अविश्रम्भ-पु० । अविश्रम्भे, गौणे तृतीये प्राणातिपाते च । प्रश्न० । प्राणवधप्रवृत्तो हि जीवानामविश्रम्भणीयो नवती-
ति प्राणवधस्याविश्रम्भकारणत्वादविश्रम्भव्यपदेशः । प्रश्न० १
आभ० द्वार ॥

अवीसत्य-अविश्वस्त-त्रि० । विश्वासरहिते, ग० २ अधि० ।

अवुगहट्टाण-अविग्रहस्थान-न० । कलहाडनाश्रये, स्था० । "आय-
रियउवज्जायस्स एं गणसि पच्च अवुगहट्टाणा पञ्चत्ता । त जहा-
आयरियउवज्जापण गणंसि आण वा धारण वा सम्म पउज्जिता
भवइ १, एव महाराशिययाय सम्म० २, आयरियउवज्जापणं ग-
णसि जेसु य पञ्चवजाय धारेइ ते काले सम्म० ३, एव गिला-
णसेहवेयावच्चं सम्म० ४, आयरियउवज्जापणं गणसि आपु-
च्छियचारी याचि भवइ, णो अणापुच्छियचारी ।" स्था० ५
ठा० १ उ० ।

अवुत्त-अनुत्त-त्रि० । केनाप्यप्रेरिते, स्था० ८ ठा० ।

अवुसराइय-अवसुराज-पु० । रत्नभेदे, तद्वद्दीप्तिमति पदार्थमा-
त्रे, नि० चू० ।

वसुराजमवसुराजं भणति-

जे भिक्खु वुसराइयं अवुसराइयं वदइ, वदंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ १३ ॥

वसुरिय रयणाणि, तेसु रामो वसुराओ । अधवा-राई वीसिमान्,
राजते शोभत इत्यर्थः । तं विवरीयं जो भणति, तस्स वट्ठइ ।

इमा शिज्जुत्ती-

वसुमं ति वा वि वसिमं, वसतिरातिणिओ पज्जया चरणे ।

तेसु रतो वुसराई, अवुसिमि ततो अवुसराई ॥ ३५८ ॥

ते दुविधा-द्वे, जावे य । द्वे मणिरयणादिया, भावे णाणा-
दिया । इह भाववसुहि अधिकारो । ताणि जस्स अत्थि सो वसु-
मति जण्णति । अहवा-इदियाणि जस्स वसे वट्ठति, सो वसिमं भण-
ति । अहवा-णाणदंसणचरित्तेसु जो वसति शिषकाल सो वस-
तिरातिणिओ जण्णति । अहवा-व्युत्सृजति पापम्-अन्यपदार्थाख्या-
न, चारित्र वा वसुम ति वुञ्चति । वसति वा चारित्रे वसुराती-
भणति । अहवा (पज्जयाचरणे चि) एते चारित्तयस्स पज्जाया,
एगट्ठिया इत्यर्थः । एस वुसराई जण्णति । पमिपक्खे अवुसराई ।
अहवा-

वुसि संविग्गो भणितो, अवुसि असंविग्ग ते तु वोच्चत्थं ।

जे भिक्खु उ वएज्जा, सो पावति आणमादीणि ॥ ३५९ ॥

कठा । 'वोच्चत्थ ति' वुसिराइय अवुसिराइयं, अवुसिराइय
वुसिराइय भणति ।

एत्थ पदमं वुसिराइयं अवुसिराइयं जण्णति इमेहि

कारणोहि-

रोसेण पमिणिवेसे-ण वा वि अकयंत मिच्छभावेणं ।

संतग पोच्छाएत्ता, भासति अणुणेषणे ते उ ॥ ३६० ॥

कोइ कस्स वि कारणे अकारणेवा रुठो पमिणिवेसेण 'सो पू-
इज्जति, अहण पूज्जामि' । एवमादिविभासा अकयपूयाए । 'एतेण
तस्स उवदारो कओ, ताहे मा एयस्स पडिउवयारो कायव्वो
होहि' ति मिच्छभावेणं मिच्छसेणं उदिसेण । सेस कठ ।

असंविग्गा संविग्गजणं इमेण आलंबणेण हीद्वति-

धीरपुरिसपरिहाणी, नाऊणं मंदधम्मिया केइ ।

हीलंति विहरमाणं, संविग्गजणं असंविग्गो ॥ ३६१ ॥

कठा । के पुण धीरपुरिसा ?, इमे-

केवलमादि हि चोइस, एवपुव्वीहिं विरहिण एहिं ।

सुद्धमसुद्धं चरणं, को जाणति कस्स भावं च ? ॥ ३६२ ॥

बाहिरकरणेण समं, अञ्जितरयं करोति अमुणेचा ।

एगेतेणं च जवे, विवज्जिओ दिस्सते जेण ॥ ३६३ ॥

एते संपदं एत्थि, जदि एते हांता तो जाणता, असीदताणं
चरण सुद्ध, इयोसि असुद्ध । केवलमादि णो णाठ पमिचोयंता
पच्छिन्न च जहाइ देतो चिंतंति, अञ्जितरगो वि परिसो
चेव भावो । ण य एगतरेण बाहिरकरणजुत्तो अञ्जितरकरण-
युक्तो भवति । कह ? । उच्यते-जेण विवज्जितो दीसति-जहा-
उदाइमारगस्स पससचदस्स य बाहिरे अविसुद्धो, जरहो
विसुद्धो चेव ।

जइ दाणि गिरतिचारा, हवेज्ज तव्वज्जिआ व मुज्जिज्जा ।

न य हुंति निरतिचारा, संघयणधित्तीण दोव्वल्ला ॥ ३६४ ॥

संपयकाखं जदि गिरतिचारा हवेज्ज, अहवा-तव्वज्जियाणाम
ओहिणाणादिवज्जिआ जइ चरित्तसुद्धी हवेज्ज, तो जुत्त वसुं-इमे
अविसुद्धचरणा सघयणधित्तीण दुव्वल्लत्तणओ य पच्छिन्नं करोति ।

सघयणधित्तिदुव्वल्लत्तओ चेव इम च ओसखा भणंति-

को हा ! तहा समत्थो, जं तेहिं कयं तु धीरपुरिसोहिं ।

जहसत्ती पुण कीरति, ददा पइएणा हवइ एवं ॥ ३६५ ॥

धीरपुरिसा तित्थकरादी जहासत्ति कीरति एव भणमाणे
ददा पइएणा भवति जो एवं भणति, जो पुण अणहवा वदति,
अणहवा य करोति, तस्स सखा पइएणा भवति ।

आयरिओ जण्णति-

सव्वेसिं एव चरणं, पुणो य मोयादगं दुहसयाणं ।

मा रागदोसवसगा, अप्पण सरणं पलीवेह ॥ ३६६ ॥

सव्वेसिं भवसिद्धियाण, चरणं-सरीरमाणसाणं दुक्खाण वि-
मोक्खणकरं, त तुज्जे सय सीयमाणो अप्पणो चरित्तेण रागा-
णुगता उज्झयचरणेण दोसमावसा मा भणइ-चरण णत्थि,
मा तत्थेव वसह, त चेव सरणं पलीवेह, णो सहेत्थयर्थः ।

किंच-

संतगुणणामणा खल्लु, परपरिवाओ व होति अलियं वा ।

धम्मे य अवहुमाणा, साहुपदोसे य संसारो ॥ ३६७ ॥

चरणं एत्थि चि एवं भणतोहिं साधूणं सतगुणणासो कतो
भवति, पवयणस्स य परिज्जवो कतो भवति; अलियवयण च
भवति । चरणधम्मे पलोविज्जते, चरणधम्मे य अवहुमाणो
कतो भवति, साधूण य पदोसो कतो भवति, साधुपदोसेण
य संसारो वट्ठितो भवति ॥

किंच-

खय-उवसम-भीसं पि अ.जिणकाळे वि तिविहं भवे चरणं ।

मिस्सातो चिय पावति, खयउवसमं च णाणत्ता ॥ ३६८ ॥

तित्थकरकावे वि तिविह चारित्त-खाइय, उवसमिय, खाइओव-
सामिय च । तस्मि वि तित्थकरकावे मिस्साओ चैव चारित्ताओ
खाइय उवसामिय वा चारित्त पावति, नान्यस्मात् । बहुतरा य
चरित्तविसेसा सओवसमभावे भवति ।

किंच तीर्थकरकावे वि—

अइयारो वि हु चरणे, उतस्स मिस्सेण दोस इतरेसु ।

वच्छानुरदिहता, पच्छित्तेण म तु विमुज्झो ॥ ३३६ ॥

(इयरेसु त्ति) खाइय उवसमिय वा । जहा-वच्छं सारावीहिं
सुज्जति, आनुरस्स वा रोगो वमणविरेयणओसइपओगेहिं सो-
हिज्जति, तथा साधुस्स चरणादिअइयारो पच्छित्तेण सुज्जति ।

ज च भणिय-अनिसयरदिपहिं सुखासुखचरणेण सुव्रति-

पुविहं चैव पमाणं, पक्खस्वं चैव तह परोक्ख च ।

चउ वा तिविहा पदमं, अणुमाणोपम्मसुत्तितरं ॥ ३४० ॥

ओहि-मणपजव-केवन्न च-पय तिविध पक्खस्स, धूमादग्निज्ञान-
मनुमानम्, यथा गौ तथा गवय औपम्य, सुत्तमिति आगमः,
इयर ति पय तिविध परोक्ख ।

सुद्धमसुद्ध चरणं, जहा उ जाणति ओहिणाणीओ ।

आगारेहि मणं पि व, जाणति तहेतराभावं ॥ ३४१ ॥

पुव्वद्ध कउ । जहा परस्स सुद्धो ति बादिरागारेहिं अंतर-
गतो मणो णज्जति, तथा इयर ति परोक्खणाणी आलोयणाविहाणं
सोउ पुव्ववरबादियाहि गिराहिं आचरणेहिं य जाणति चरित्त
भाव च सुद्ध, सुद्धेतर च ।

चोदग आह-जइ आगारेण भावो णज्जति तो उदाइमार-

गादीण किं ण णाओ ? । आचार्य आह-

काम जिणपक्खवा, गूढाचाराण दुम्पणो जावो ।

तह वि य परोक्खमुद्धी, जुत्तस्स व पणवीसाए ॥ ३४२ ॥

काममिति अनुमतार्थे । जइ वि जे उदाइमारगादिगूढाचारा,
तेनि उउमत्थेण दुक्ख उवल्लभति, भावो सो जिणाण पुण
पक्खस्सो तहा वि परोक्खणाणी आगमाणुसारेण चरित्तसुकिं
करेति चैव । कह ? । उच्यते- (जुत्तस्स वात्ति) जहा सुत्तोव-
उत्तो मीसजायज्जोयरो रागो ति पअरस उगमदोसा, दस एम-
णा दोसा, एते पणवीस जहा सुत्ताणुसारेण सोहनो चरण सोहे-
ति, तथा सुत्ताणुसारेण पच्छित्त देतो करेत्तो य चरित्त सोधेति ।

अणुज्जनचरणो इमेहिं कज्जेहिं होज्जा-

होज्ज हु वसण्णत्तो, सरीरदोव्वल्लताएँ असमत्थो ।

चरणकरणे असुद्धे, सुद्धं मणं परुवेज्जा ॥ ३४३ ॥

व्यसन आवती, मज्जगीनाविय वा, तस्मि वज्जमति, अहवा-
सरीरदुव्वल्लक्षणओ असमत्थो सज्जायपाडिलेहणादि किरिय
काव, अकप्पियादिपमिसेहण च । अथवा-सरीरदोव्वलो, अस-
मत्थो य, अहदधम्मा, एवमाधिकारणेहिं चरणकरणे से अवि-
सुद्ध । तथा वि अप्पाण गरिहतो सुद्ध साहुमग्ग परुवेत्तो आ-
राधगो चैव भवति ।

इमे चैव अत्थो भणति-

ओमणणादिविहारे, कम्मं सिदिलेति सुल्लजवोहीए ।

चरणकरणेणिगूहति, न य वाहिं दुव्वल्ल जाणे ॥ ३४४ ॥

कएत्था । जो पुण ओसणो होउ ओसण मग्ग उववूहइ, सुद्ध

चरणमग्गं गूहति, इमेहिं कारणेहिं इम च से उल्लभवोही (अत्थ)
फल । अइवा-

गुणसयसहस्सकलियं, गुणतरं वा अभिलसंताणं ।

चरणकरणजिलासी, गुणुत्तरतरं तु सो लहइ ॥ ३४५ ॥

गुणाण सयं गुणसय, गुणसयाण माहस्सी, उदोन्नमया सकार-
स्स हस्सता कता, ते य अट्टारस सील्लगसइस्सा, तेहिं कवियं जु-
त्त सखिय वा । किं न ? चारित्त, त जो य पससति । किंच-गुणआ-
सौ उत्तरच गुणोत्तरम् । अथवा-अन्येऽपि गुणा सन्ति क्षमाद-
यः, तेषामुत्तर, त च गुणुत्तर सरागचारित्त । गुणुत्तरतर पुण अह-
पक्खायचारित्त भवति, त च जे अभिलसति ते च उज्जतचरणा
इत्यर्थः । ते य उववूहते जो ओसणो अप्पणा य उज्जयचरणो
होइ ति चरणकरणाभिलासी भवति, स पववादी गुणुत्तरतर
लभति, अहपक्खायचारित्रमित्यर्थः । अथवा-गुणुत्तरतर पुण
मोक्खसुह भणति, त लभति ।

जो पुण ओसणो-

जिणवयणजावितेण तु, गुणुत्तरं सो वि जाणेत्ता ।

चरणकरणजिलासी, गुणुत्तरतरं तु सो हणति ॥ ३४६ ॥

गुणुत्तरतर चारित्त, साधू वा, अप्पणा य चरणकरणावघाते वट्ट-
ति, अहवा-चरणकरणस्स जुत्ताण वा निंदा परोवघाय करेइ, स
पववादी गुणुत्तर-चारित्त, मोक्खसुहं वा, हणति ण लभति; जेण
सो दीहससारित्तण णिव्वत्तेति ।

जो ओसण ओसणमग्ग वा उववूहति-

सो होती पणिणीतो, पंचएहं अप्पणो अहितिओ य ।

सुयसील्लवियत्ताणं, नाणे चरणे य मोक्खे य ॥ ३४७ ॥

पंचपासत्थादिसुयसीलो विहारलिंगाओ घाओ कामा, अ-
वियत्ता अगीयत्था णाणचरणमोक्खस्स य एतेसि सव्वोसं पणि-
णीतो जवति ।

इमेहिं पुण कारणेहिं ओसण ओसणमग्ग वा उववूहेज्जा-

वित्तियपदमणप्पज्झो, वणज्ज अविक्कोविते व अप्पज्झो ।

जाणंते वा वि पुणो, जयमातव्वादिगच्छट्ठा ॥ ३४८ ॥

रायासि य ओसणणुवत्तिओ भया भरणज्जा तव्वाद ति ।
कश्चिद्वादी ब्रूयात्-तपस्विनमतपस्विन भुवत् । पाप भवतीति न-
प्रतिष्ठा । तत्प्रतिघातकरणे बुसिराइय अबुसराइय भणेज्ज,
दुब्भिक्खादिसु वा ओसणभाविपसु खेत्तेसु अत्थतो ओस-
णाणुवत्तीओ गच्छपरिपालणट्ठा भणेज्ज ॥

जे जिकखू अबुसराइयं बुसराइयं वदइ, वदंतं वा साइ-
उज्जइ ॥ १४ ॥

एमेव वित्तियसुत्ते, बुसराइयं अबुसराइं व ।

जो पुण वणज्ज भिक्खू, अबुसिराइं तु बुसिराइं ॥ ३४९ ॥

कएत्था ।

एंगचारियं जणंता, सयं व तेसु य पदेसु वट्टंते ॥

सगटोसट्ठायाणट्ठा, केऽ पसंसति णिच्छम्मे ॥ ३५० ॥

कोइ पासत्थादीण एंगचारिय भवति-'एस सुद्धो, एयस्स ए-
गाणिणो ण केणइ सह रागदोसा उप्पज्जति' । सो वि अप्पणा
गच्छपजरभग्गो तस्मि चैव उणे वट्टति । सो य अप्पणिज्जदोसे
गदिवकामो त पासत्थादिय एंगचारिं णिच्छम्म पससति ।

इमं च भणति-

हुकरयं खु जहुत्ता, वाहड्डिया विमीदंति ।

एसो निविडयमगो, जस्स जवती य चरणसुष्पी ३५१ ॥

एवं जणते इमे दोसा-

अन्भक्काणं णिस्मं-कयाइ अस्संजमस्स य थिरत्तं ।

अप्पा उम्मगाठिओ, अवणवादो य तित्थस्स ॥ ३५२ ॥

असजतभावुज्झावणं अन्नजस्साणं अणुसिरातियं भणति । सो य पससिज्जमाणो णिस्मको भवति । मंदधम्माणं वि असजमे थिरीकरणे करेति । अस्स च उम्मगापसंस्साणं अप्पणा य उम्मगा-
द्धितो, ततो तित्थस्स य अन्यपदार्थेन अवणवाद-कृतो जवति ।

किंच-

जो जत्थ होइ मगो, ओयासं सो परस्स अविदंतो ।

गंतुं तत्थ वणंतो, इमं पहाणं ति घोसंति ॥ ३५३ ॥

अक्काणिगदिद्धतेण ओस्सएणो उवसथारेयवो । सेस कठं ।

किंच-

पुव्वगयकालियसुय-संतासंतोहि केइ खोजेति ।

ओस्सएणचरणकरणा, इमं पहाणं ति घोसंति ॥ ३५४ ॥

पुव्वगयकालियसुयणियधपच्चयतो दीसति । तत्थ कालियसुये इमेरिसो आलावगो-“यहुमोहो वि यण पुव्व विदरित्ता पच्छा सबुमे काल करेज्जा किं आराहप, विराहप ? गोयमा आराहप, यो विराहप” । एवं पुव्वगदिप वि जे के वि आलावगा ते उच-
रित्ता पर ओमेति, अप्पणा वा खुभति । सीदतीत्यर्थः । ते य ओसस्यचरणकरणा इमं ति अप्पणो चरिय पहाण घोसेति ।

इमेसिं पुरतो-

अवहुस्सुए अगीयत्थे, तरुणे मंदधम्मिणो ।

परियारपूइयाहेउं, समोहेउ निरुज्जाति ॥ ३५५ ॥

जेण आयारपगणो एणज्जाइतो एस अवहुस्सुतो, जेण आच-
स्सगादियाण अत्थो ए सुओ सो अगीयत्थो, सोलसवरिसाण आदवेसु जाय चत्ताहीसवरिसो एस तरुणो, असयेगी मंदधम्मो । एते पुरिसे विपारिणमेति अप्पणो परिचारदेउं, एतेहि य परि-
चारितो लोगस्स पूयाणिज्जो होइ, कालिय दिड्डियाये भणितेहि अहवा अभणितेहि वा समोहेउ अप्पणो पासे णिस्मति, अ-
स्तीत्यर्थः । अहवा-जो एव पणवेति एसो चेव अवहुस्सुओ अगीयत्थो तरुणो वा मंदधम्मो वा । सेस कठ ।

जत्थोचिओ विहारो, तं चेव पसंसए मुलजबोही ।

ओसस्यविहारं पुण, पसंसए दीहसंसारी ॥ ३५६ ॥

जो सविग्गविहाराओ जुओ त पससवि जो सो सुबभबोही ।
जो पुण ओसस्यविहार पससवि सो अमुलभबोही दीहस-
सारी भवति ॥

वितियपदमणप्पज्झो, वएज्ज अविकोविण व अप्पज्झो ।

जो जाणंता वि पुणो, जयसातन्वादिगच्छट्ठा ॥ ३५७ ॥

पूर्ववत् ।

जे निकखु बुमराइयाओ गणाओ अवुसराइयं गणं सं-
कमइ, सकपंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

बुसिराइयागणाओ, जे भिक्खु संकमे अवुसिराइ ।

२०४

पदमवितियचउत्थे, सो पावति आणमादीणि ॥ ३५८ ॥

तो बुसिरातिय चउमंगो कायव्वो । चउत्थजगे अवत्थु, त-
तियजगे अणुत्थे, पदमवितियसु संकमो पडिसिक्खो । पदमे स-
कमतस्स मासलहु, वितिय चउलहु । चोदगाह-जुत्त वितिय प-
डिसेहो, पदमजगे किं पडिसेहो ? । आचार्याह-तत्थ णिक्कार-
णे पडिसेहो, कारणे पुण पदमभगे उवसपदं करेति ।

सा य उवसंपया कावं पमुच्च तिविहा इमा-

उम्मासे उवसंपद, जहण वारससमा उ मज्झिमिया ।

आवकहा उक्कोसा, पमिच्छसीसे तु आजीवं ॥ ३५९ ॥

उवसपदा तिविहा-जहणा, मज्झिमा, उक्कोसा य । जहणा उ-
म्मासे, मज्झिमा वारसवरिसे, उक्कोसा जावज्जीव । एव पमि-
च्छगस्स एगविहा चेव जावज्जीव आयरिओ ण मोचव्वो ।

उम्मासेऽपूरैता, गुरुणा वारससमासु चउलहुगा ।

तेण पर मासियत्तं, भणितं पुण आरते कज्जे ॥ ३६० ॥

जेण पमिच्छगेण उम्मासिमा उवसपया कया, सो जदि उम्मासे
अपूरित्ता जाति, तस्स चउगुरुणा जेण वारस वरिसा कया, ते अ-
पूरित्ता जाइ तो चउलहु । जेण जावज्जीवं उवसपदा कता, तस्स
मासलहु । उम्मासाणं परेण णिक्कारणे गच्छतस्स मासलहु । जेण
वारससमा उवसपया कया, तस्स वि उम्मासे अपूरैतस्स चउ-
गुरुणा चेव, तस्सेव वारससमाओ अपूरैतस्स चउलहुगा । एस
सोही गच्छतो णितस्स जणिता ॥ नि० चू० १६ व० ।

अवेक्खमाण-अपेक्षमाण-त्रि० । निरीक्षमाणे, ज्ञा० ६ अ० ।

अवेज्ज-अवेद्य-त्रि० । स्वसमानाधिकरणसमानकाहीनसाक्षा-
त्काराऽविषये, द्वा० ३० द्वा० ।अवेज्जसंवेज्जपय-अवेद्यमवेद्यपद-न० । महामिथ्यात्वनिबन्धने
पशुत्वादिशब्दवाच्ये, द्वा० २३ द्वा० ।अवेद-अवेद-पु० । पुरुषवेदादिवेदरहिते, प्रश्ना० २ पद । सि-
द्धादौ, स्था० २ वा० १ व० ।अवेयइत्ता-अवेदयित्वा-अव्य० । वेदनमकृत्वेत्यर्थे, प्रश्न० १
आध० द्वार ।अवेपण-अवेदन-त्रि० । न विद्यते वेदना यस्य स अवेदनः ।
अल्पवेदने वेदनारहिते, वस्त० १६ अ० । साताऽसातवेदनाभा-
वात् सिक्के च । प्रश्ना० २ पद ।

अवेयवच्च-अपेतवाच्य-त्रि० । वचनीयतारहिते, वृ० १ उ० ।

अवेरमाणजाण-अविरमाणध्यान-न० । न विरमणमविरमणम;
तस्य ध्यानम । मा चूत् पुत्रयोर्विरतिबुद्धिरित्यक्लीकृतामपि देश-
विरतिं परित्यज्य प्रान्तग्रामसमाश्रितयो ' एते साधवो मांसा-
शिनो राक्षसाः ' इत्यतस्तत्पार्श्वे न गन्तव्यमिति तनयविदितविप्र-
तारणयोर्भृगुपुत्रयोरिव, जयदेवेन प्रतिबोध्यमानस्यापि मुहुर्मुहु-
र्विरतिं त्यजतस्तस्मात्तुरिव, मेतार्यस्येव वा दुर्ध्याने, आनु० ।अवोगमा-अव्याकृता-स्त्री० । अतिगम्भीरशब्दार्थायाम्-अव्य-
काकरप्रयुक्तायां वा अविभाधितार्थत्वाद् ज्ञापयाम, प्रश्न० १
सम्ब० द्वार । “अवोच्छिन्नप अवोगडाप” । स० ६ सम० । अव्या-
कृता, यथा-बालकादीनां थपनिका । दश० ७ अ० ।

अवोच्छिन्न-अव्युच्छिन्न-त्रि० । उत्तरोत्तरानुवृत्त्या व्यवच्छेद-
शून्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

अवोच्छित्तिणय-अव्यवच्छित्तिनय-पुं० । भुतस्य कालान्तरप्रा-
पणे, स्था० ५ डा० ३ उ० । अव्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयो-
ऽव्यवच्छित्तिनयः । व्यास्तिकनये, न० ।

अवोच्छित्तिणयद्व-अव्यवच्छित्तिनयार्थ-पुं० । ६ त० । छन्दे, न० ।

अवोच्छित्तिणयद्वया-अव्यवच्छित्तिनयार्थता-स्त्री० । अव्यवच्छि-
त्तिनयार्थस्य भावोऽव्यवच्छित्तिनयार्थता । द्रव्यापेक्षायां, न० ।

अवोसिरण-अव्युत्सर्जन-न० । अपरित्यागे, दशा० १० अध्या० ।

अवोह-अपोह-पुं० । अपोहनमपोह । निश्चये, न० । आ० म० ।
प्राप्तार्थं " ततो अवोहप वा " ततः पर्यालोचनानन्तरम-
पोहते । आ० म० प्र० । अपोह्यते स्वाकारादिपरीत आकारो-
ऽनेनेत्यपोहः । स्वाकारविपरीताकारोन्मूलके, रक्षा० ४ परि० ।
अव्यापोहपदार्थाधिगतिफलत्वादपोह इत्युच्यते । सम्म० १ का-
ण्ड । (अपोहः शब्दार्थः प्रसिद्ध इति 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे
६५ पृष्ठे द्रष्टव्यः) अपगत ऊहो वादिसमुद्भावितस्तर्को य-
स्मात् 'बहु० । वादिसमुद्भाविततर्कनिरासार्थके प्रतिवादिमु-
द्भाविते तद्विरुद्धे तर्कभेदे, वाच० । ('अपोह' शब्देऽस्मिन्नेव
भागे ६१२ पृष्ठे संक्षेपतोऽयं निरूपितः, विस्तरतस्तु 'सहस्र'
शब्दे वक्ष्यते)

अवोहराणिज-अव्यवहरणीय-त्रि० । जीर्णे, नि० चू० १ उ० ।

अव्वर्जनाव-अव्ययीनाव-पुं० । अनव्ययमव्ययं भवत्यनेन ।
अव्यय-चिन्-भू-करणे घञ् । व्याकरणप्रसिद्धे समासभेदे,
वाच० । अनु० ।

से किं न अव्वर्जनावे ? । अव्वर्जभावे अणुगामा, अणुण-
इया, अणुपरिहा, अणुचरिआ । सेत्तं अव्वर्जनावे समासे ॥

पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, तत्र ग्रामस्य अनु समीपेन मध्येन
वाऽशानिर्निर्गता अनुग्रामम् । एव नद्या समीपेन मध्येन वा नि-
र्गता अनुनदि, इत्याद्यपि ज्ञावनीयम् । अनु० ।

अव्वग-अव्यग-न० । अकृते, यस्य कृतं कृतं न विद्यते । व्य०-
७ उ० ।

अव्वक्खित्त-अव्याक्षिप्त-त्रि० । स्थिरे, 'अव्वक्खित्तेण चेतसा'
अव्याक्षितेन स्थिरेण चेतसा । उक्त० २० अ० । अन्यत्रोपभोग-
मगच्छतेत्यर्थः । दश० ५ अ० १ उ० । प० च० । व्याक्षेपमकुर्वति,
प्रतीच्छनायोग्ये, " वक्खेवणा दुसद्धा, दिवसएसु लीहावे ।
दुगमादी जो य पढ-तो न करेतिविकखेवं ॥ १ ॥ अव्वक्खित्तो
एसो, आत्तो अणहमणसो उ ॥ " प० मा० ।

अव्वगमण-अव्यग्रमण-त्रि० । अव्यग्रमनाकुञ्चितमसमञ्जस-
चित्तोपरमतो मनश्चित्तमस्येत्यव्यग्रमना । अनुकूलचित्ते, उक्त०
१५ अ० ।

अव्वत्त-अव्यक्त-न० । न व्यक्तमव्यक्तम् । अनिर्देश्ये स्वस्व-
रूपनामजात्यादिकल्पनारहिते, न० । सर्वप्रकृतौ म्नाङ्गपरिक-
ल्पिते प्रधाने, आ० म० प्र० । स्या० । अव्यक्तादव्यक्तं प्रभवति,
ततः षष्ठितन्त्रं जातम् । आ० म० प्र० । श्रुतवयोच्यां लघौ,
आचा० २ श्रु० ५ अ० ३ उ० । वयसा लघौ श्रुतेनात्यल्पश्रुते, जीत० ।
व्य० । यावत्कक्षादिषु रोमसभवो न भवति तावदव्यक्तो भव-

ति । नि० चू० १८ उ० । व्य० । अव्यक्तोऽपानां वर्षाणां मर्त्य-
वातः । ओघ० । अगीतार्थे, नि० चू० २ उ० । अनवगतच्छे-
दग्रन्थरहस्ये, ध० २ अधि० । अव्यक्तोऽगातार्थस्तस्याऽव्यक्तस्य
शुरोः पुरतो यदपराधालोचनं तदव्यक्तम् । आलोचनादौषे, व्य० १
उ० । स्था० । " जो य अगीयत्थस्सा, आलोप तं तु होह
अव्वत्तं " सत्या सत्यजामेतिवदव्यक्तवादी । सयताऽभ्युपगमे
सदिग्धबुद्धौ निहये, आ० म० द्वि० ।

अव्वत्तगम-अव्यक्तगम-त्रि० । गमनाभावे, नपुंसकमर्थे च । सूत्र०
१ श्रु० १४ अ० ।

अव्व(व)त्तव्वगसंचिय-अव्यक्तव्यकसंचित-पुं० । आदिः सत्या-
व्यवहारतः शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽसंख्यायाश्च संख्यावेनासं-
ख्यात्वेन च वक्तुं न शक्यते असाव्यक्तव्यः । स च एककस्तेनाऽव्यक्त-
व्येन एककेन एकत्वोत्पादेन सचिता अव्यक्तव्यकसचिताः ।
कतित्वेनाऽकतित्वेन चानिर्वचनीयोत्पादेषु, ज० २० श० १० उ० ।
(अत्र दण्डक 'वचवाय' शब्दे द्वितीयभागे ए२१ पृष्ठे वक्ष्यते)

अव्वत्तदंमाण-अव्यक्तदर्शन-पुं० । अव्यक्तमस्पष्ट दर्शनमनुम-
वः स्वमार्थस्य यत्रासावव्यक्तदर्शनः । स्वमदर्शनभेदे, म० १६
श० ६ उ० ।

अव्वत्तमय-अव्यक्तमत-पुं० । न ज्ञायतेऽत्र कोऽपि सयतः को-
ऽप्यसयत इत्यव्यक्तस्यैव सर्वस्याभ्युपगमाच्च व्यक्तमस्फुटमव्यक्तं
मतं येषां तेऽव्यक्तमताः । सयताद्यवगमे सदिग्धबुद्धिषु निह-
वेषु, विश० । आ० म० । आ० चू० ।

अव्वत्तरूप-अव्यक्तरूप-त्रि० । अमूर्तत्वादव्यक्तं रूपमस्याऽ-
साव्यक्तरूपः । तथा-करचरणशिरोम्रीवाद्यनवयवतया स्वतोऽ-
वस्थानाज्जीवे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अव्वत्तिय-अव्यक्तिक-पुं० । अव्यक्तमस्फुटं वस्तु अभ्युप-
गमतो विद्यते येषां ते अव्यक्तिकाः । सयताद्यवगमे सदिग्धबुद्धि-
षु, स्था० ७ डा० । उक्त० । औ० ।

तदुत्पत्तिर्मतं चेत्यम्-तृतीयनिहववक्तव्यतामाह-

चोदा दो वामसया, तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।

तो अव्वत्तियदिट्ठी, सेयवियाए समुप्पका ॥

चतुर्दशाधिक वर्षशतद्वयं तदा श्रीमन्महावीरस्य सिद्धिं गत-
स्याऽऽसीत्, ततोऽव्यक्तानिधाननिहववक्तव्यतामाह-
कायां नगर्या समुत्पन्नेति ।

कथम् ? इत्याह-

सेयवियपोलसादे, जोगे तदिवसाहिययसुले य ।

सोहम्मिनलिणिगुम्मे, रायगिहे मुरियवन्नजदे ॥

इह श्वेतविकायां नगर्या पौलाषादचैत्ये आर्याषाढनामान आचा-
र्याः स्थिताः । तेषां च बहवः शिष्या आगादयोगं प्रपन्ना । अपरवा-
चनाचार्यासञ्चे च त एवाऽऽचार्याषाढसुरयस्नेषां वाचनाचा-
र्यत्वं प्रतिपन्नाः । तथाविधकर्मविपाकतश्च ते तत्रैव दिवसे रज-
न्यां हृदयशूलेन काष्ठं कृत्वा सौधमे देवशोके नक्षिणीगुल्मिधमाने
देवत्वेनोत्पन्नाः । नच विज्ञाता केनापि गच्छमस्ये । ततोऽवधिना
प्राक्तनव्यक्तिकरं विज्ञाय साध्वनुकम्पया समागत्य तदेव शरीरम-
धिष्ठायात्थाप्य च प्रोक्तास्तेन साधवः । यथा-चैरात्रिककालं गृ-
हीतः । ततः कृतं साधुभिस्तथैव, श्रुतस्योद्देशसमुद्देशानुशास्त्रं तद-

अव्वत्तिय

प्रतः कृताः । एष दिव्यप्रभावतस्तेन देवेन तेषां साधूनां कालभङ्गादिविघ्न रक्ता शीघ्रमेव विस्तारिता योगाः । ततोऽनेन तच्छरीर मुक्त्वा दिव गच्छता प्रोक्ता साधवः । यथा- 'कर्मणीय भदन्तैर्यदसंयतेन सता मया आत्मनो वन्दनादौ न वारिताः ; चारित्रिणो यूयम् । अहं ह्यमुकदिने कालं कृत्वा दिवं गतो युष्मदनुकम्पयाऽत्रागत , निस्तारिताश्च भवतामागादयोगाः । इत्याद्युक्त्वा कर्मयित्वा च स्वस्थान गतः । ततस्ते साधवस्तच्छरीरकं परिस्थाप्य चिन्तयन्ति-अहो ! असयतो बहुकाल वन्दितः । तदित्यमन्यत्रापि शङ्का-को जानाति कोऽपि सयत , कोऽप्यसयतो देव इति ? ततः सर्वस्याप्यवन्दनमेव श्रेयः , अन्यथा ह्यसंयतवन्दन, मृषावाद्वा स्यात् । इत्थं तथाविधगुरुकर्मोदयासेऽपरिणतमतयः साधवोऽव्यक्तवाद् प्रतिपन्नाः परस्परं न वन्दन्ते । ततः स्थगिरैस्तेऽभिहिता-यदि परस्मिन् सर्वत्र प्रवृत्तां सदेहस्तर्हि यदुक्तं 'देवोऽहमिति' तत्रापि भवतां कथं न सदेह ? किं स देवो वाऽदेवो वा ? इति । अथ तेन स्वयमेव कथितम्- 'अहं देवः , तथा देवरूपं च प्रत्यक्ष एव दृष्टमिति न तत्र सदेह । हन्त ! यद्येव तर्हि य एव कथयन्ति वयं साधवः , तथा साधुरूपं प्रत्यक्षत एव दृश्यते , तेषु कः साधुत्वसदेहः , येन परस्परं यूयं न वन्दध्वे ? न च देववचनादेव वचनं सत्यमिति शक्यते वक्तुम् , देववचनं हि क्रीमाद्यर्थमन्यथाऽपि सम्भाव्यते । न च तथा साधुवचनं , तद्विरतत्वात्तेषामिति । एव च युक्तिर्यावन्न प्रज्ञाप्यन्ते तावदुद्धाट्य बाह्याः कृताः पर्यटन्तश्च राजगृहं नगरं गताः । तत्र च मौर्यवशसभूतो धनञ्जयो नाम राजा , स च आह- । ततः तेन विज्ञाताः । यथा-अव्यक्तवादिनो निवृत्त्वा इह समायाता गुणशिक्षकचैत्ये तिष्ठन्ति , ततः स्वपुरुषान् प्रेष्य राजकुले आनायिताः । तेन ते कटकमर्देन मारणार्थं चाह्विताः । ततो हस्तिनिकटेषु च तन्मर्दनार्थमानीतेषु तैः प्रोक्तम्-राजन् ! वयं जानीमः-आवकस्त्व , तत्कथं श्रमणानस्मानित्य मारयसि ? ततो राजा प्रोक्तम्-युष्मत्सिद्धान्तेनैव को जानाति किं आवकोऽहं , न वा ? । भवन्तोऽपि किं चौराश्चारिका अभिमरा वेत्यापि को वेत्ति ? तैः प्रोक्तम्-साधवो वयम् । यद्येवमव्यक्तवाकितया किमिति परस्परमपि यथाज्येष्ठ वन्दनादिकं न कुरुथ ? , इत्यादिनिष्ठुरैर्मृदुभिश्च वचनैः प्रोक्तास्ते नरपतिना । ततः सवुद्धा लज्जिताश्च नि शङ्किताः सन्मार्गं प्रतिपन्नाः । ततो राजा प्रोक्तम्-भवतां सवोधनार्थमिदं मया सर्वमपि विहितमिति कर्मणीयमिति ।

अमुमेवार्थं भाष्यकारः प्राह-

गुरुणा देवीचूए, समणरूपेण वाऽया सीसा ।

सञ्जावपरो कहिओ, अव्वत्तियदिट्ठिणी जाया ॥

गतार्था ।

कथमव्यक्तवृत्त्यो जाता ? , इत्याह-

को जाणइ किं साहु, देवो वा तं न वंदणिज्जो त्ति ।

होज्जाऽसंजयनमणं, होज्ज मुसावायममुगो । त्ति ॥

को जानाति किमयं साधुवेषधारी साधुर्देवो वा ? , नास्त्येषात्र निश्चय इति । अत्र न च वक्तव्यं साधुरेवाय तद्वेषसमाचारदर्शनाद्भवानिव, आर्याषाददेवेषां साधुवेषसमाचारदर्शनेनानैकान्तिकत्वात् । तस्मान्न कोपि वन्दनीय , सशयविषयत्वात् । यदि पुनर्वन्द्येत, तदा आर्याषाददेववन्दन इवासंयतवन्दनं स्यात्, अमुको ब्रवीतीति भाषणे च मृषावाद् स्यादिति ।

अथ प्रतिविधानमाह-

थेरवयणं जइ परं, संदहो किं सुरो त्ति माहु त्ति ? ।

देवे कहं न संका, किं सो देवो न देवो त्ति ? ॥

तेण कहियं ति च मई, देवोऽहं ख्वदरिसणाओ य ।

साहु त्ति अहं कहिए, समाणरूपमि किं संका ? ॥

देवस्स च किं वयणं, सच्चं ति न साहुरूवधारिस्स ।

न परोप्परं पि वंदह, जं जाणंता वि साहु त्ति ॥

तिस्रोऽप्युक्तार्थाः ।

किञ्च-यदि प्रत्यक्षेणैव यतिषु भवतां शङ्का, तर्हि परोक्षेण जीवादिषु सुतरामसौ प्राप्नोति, ततः सम्यक्त्वस्याप्यभाव इति दर्शयन्नाह-

जीवाइपयत्थेसुं सुहु-मव्ववहियविगिहुरूवेसुं ।

अचंतपरोक्खेसु य, किह न जिणईसु ने संका ? ॥

गतार्था ।

अथ जिनवचनाज्जीवादिषु न शङ्का, तदेतदिहापि मानमित्याह-

तव्वयणाओ व मई, नणु तव्वयणे सुसाहुवित्तो त्ति ।

आलयविहारसमिओ, समणोऽयं वंदणिज्जो त्ति ॥

अथ तद्वचनाज्जिनवचनाज्जीवादिषु न शङ्का । ननु यद्येव, तद्वचने इदमप्यस्ति-यदुत शोभनं साधुवृत्तं श्रमणशीलं यस्यासौ सुसाधुवृत्त इति हेतोः श्रमणोऽयमिति निश्चयावन्दनीयः । सुसाधुवृत्तोऽपि स कथं ज्ञायते ? , इत्याह-आलयविहारसमित इति कृत्वा । उक्तं च-" आसणं विहारेणं, उणा चकमणा ण य । सक्का सुविहियं नाठ, नासा वेणइए णये" ॥ १ ॥

उपपत्त्यन्तरमाह-

जह वा जिणिदपेमिमं, जिणगुणरहिय त्ति जाणमाणा वि ।

परिणामविमुक्कत्थं, वंदह तह किं न साहुं पि ? ।

होज्ज न वा साहुत्तं, जइरूवे नत्थि चेव पमिमाए ।

सा कीस वंदणिज्जा, जइरूवे कीस पमिसेहो ? ॥

सुगमे । नवर प्रथमगाथायां प्रतिमायाः साधुरूपेण सह वन्दनीयत्वे साम्यमुक्तम् । द्वितीयगाथायां तु साधुरूपे विशेषं दर्शयति-यतिरूपे प्राणिनि साधुत्वं प्रवेदं न वेति सदिग्धमेव, प्रतिमायां तु जिनत्वं नास्त्येवेति निश्चयः । ततः किमिति सा वन्दनीया, यतिरूपे च किमिति वन्दनप्रतिषेधः ? ।

अत्रोत्तरमाह-

अस्संजइजइरूवे, पावाणुमई मई न पमिमाए ।

नणु देवाणुगयाए, पमिमाए वि होज्ज सो दोसो ॥

अथैवमुक्ता मतिः परस्य प्रवेत्-असयतेऽधिष्ठितयतिरूपे वन्द्यमाने तद्वतासयमरूपपापाऽनुमतिर्भवति, न त्वसौ प्रतिमायाम् । अत्रोच्यते-ननु देवताऽधिष्ठितप्रतिमायामप्ययमनुमति-लक्षणो दोषो भवेदिति ।

अथैव ब्रूयात्परः, किमित्याह-

अहं पमिमाए न दोसो, जिणवुक्कीए नमिउ विसुक्कस्स ।

तो जइरूवं नमिउं, जइवुक्कीए कहं दोसो ? ॥

अथ प्रतिमाया नानुमतिलक्षणो दोषः, किं कुर्वतः ? , नमस्यतः,

कया?, जिनबुद्ध्या, कथभूतस्य?, विद्युकाध्यवसायस्य। यद्येव ततो यतिबुद्ध्या यतिरूप विद्युत्स्य नमस्यतः को दोषो येन भवन्तः परस्पर न वन्दन्ते?। अत्रापर कश्चिदाह-यद्येव, विद्मन्मात्रधारिणं पार्श्वस्थादिकमपि यतिबुद्ध्याऽविद्युत्स्य नमस्यतो न दोषः। तदयुक्तम्, पार्श्वस्थादीनां सम्यग्यतिरूपस्याप्यज्ञावात्। तदज्ञावश्च 'आलपण विहारेण' इत्यादियतिलिङ्गस्यानुपलम्भात्। ततः प्रत्यक्दोषवतः पार्श्वस्थादीन्वन्दमानस्य तत्सावधानुज्ञानलक्षणो दोष एव। उक्तं च- 'जह चेन्नवगलिङ्ग, जाणतस्स नमिउ हवइ दोसो। निव्वधस पि नाउं, ए वदमाणे धुवो दोसो' ॥१॥ इत्यादि। प्रतिमायास्तु दोषाभावात्तद्वन्दने सावधानुज्ञानावतो न दोष इति।

अत्र पुनरपि पराजिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह पभिमं पि न वंदह, देवासंकाए तो न धेत्तव्वा ।

आहारोवाहिसेज्जा-ओ देवकया भवे जं नु ॥

अथ प्रतिमामपि न वन्दध्वे यूयम्। हन्त 'यद्येवं शङ्काचारी भवान्, तर्हि-मा देवकृता भवेयुरित्याहारोपधिशय्याद्योऽपि न ग्राह्या इति।

किञ्चेत्थमतिशङ्कालुतायां समस्तव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः,

कुत?, इत्याह-

को जाणइ किं भत्तं, किमओ किं पाणयं जहं मज्जं ।

किमलावुं माणिकं, किं सण्णो चीवर हारो ? ॥

को जाणइ किं सुद्धं, किमसुद्धं किं सजीवनिज्जीवं ।

किं जक्खं किमजक्खं, पत्तमभक्खं तओ सव्वं ? ॥

को जानाति किमिदं भक्त, कृत्यो वेत्याद्याशङ्कायां जक्कादावपि कृत्यादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमभक्कमेव प्राप्तं भवतः। तथा-अलावुचीवरादौ मणिमाणिक्यसर्पादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमज्जो-भ्यं च प्राप्तामिति।

तथा-

जण्णा वि न संवासो, सेओ पमया-कुसीदमंका वा ।

होज्ज गिही व जइ ति य, तस्माऽसीसा न दायव्वा ॥

न य सो दिक्खेयव्वो, भव्वोऽभव्वो ति जेण को मुणइ ? ।

चोगे ति चारिओ ति य, होज्ज य परदारगामि ति ॥

को जाणइ को सीसो, को वा गुरुओ न तव्विसेसो वि ।

गज्जा न वोवण्मा, को जाणइ सव्वमालिय पि ॥

किं बहुणा सव्वं चिय, संदिद्धं जिणमयं जिणिंदा य ।

परद्वोयसगमोक्खा, दिच्छाए किमत्थ आरंभो ? ॥

अह संति जिणवरिंदा, तव्वयणाओ य सव्वपमिवत्ती ।

तव्वयणाओ चिय जइ-वंदणयं वि ते कहं न मतं ॥

सर्वा अपि प्रकटार्थाः। नवरं "अहणा वि न संवासो" इत्यादिनाऽच्युपगमविरोधो दर्शितः। (अह सतीत्यादि) अथ सन्ति जिनवरेन्द्रा, तद्वचनसिद्धत्वात् तेषाम्। तद्वचनादेव च सर्वस्यापि परलोकस्वर्गमोक्षादेः प्रसिद्धिर्भवति। एवं तर्हि तद्वचनादेव यतिवन्दनमपि कस्मान्न सम्मनमिति ?।

अपि च-

जइ जिणमयं पमाणं, मुणि ति तो वज्झकरणपरिसुद्धं ।

देवं पि वंदमाणो, विमुद्धजावो विमुद्धो ति ॥

यदि जिनमतं प्रवृत्तां प्रमाणं तर्हि मुनिरित्यनया बुद्ध्या आल-यविहारादिबाह्यकरणपरिसुद्धं देवमप्यमरमपि वन्दमानो वि-द्युत्समावो भवेदोपरहितो विद्युत् एव। उक्तं चागमे-"परग-रहस्समिसीण, संमत्तगणिपिरुग्गम्भसारणं। परिणामियं प-माणं, निच्छयमवलंबयमाणं" ॥ १ ॥ इत्यादि।

जइ वा सो जइरूवो, दिट्ठो तह केत्तिया सुरा अग्गे ।

तुब्जेहिं, दिट्ठपुव्वा, सव्वत्थापच्चओ जं जे ॥

वा इति अथवा, यथा आर्यावाढदेवो यतिरूपधरोऽत्र दृष्टः, तथा कियन्तः सुरास्ततोऽन्ये भवद्भिर्दृष्टपूर्वाः, यद्येतावन्मात्रेणापि सर्वत्राप्रत्ययो (मे) भवतां नहि कदाचित्कथाश्चित् कचिदाश्चर्यं लये कस्मिंश्चित्थाभावाशङ्का युज्यत इति भावः। तस्माच्छाव-हारनयमाश्रित्य युक्तं भवतामन्योऽन्यवन्दनादिकम्। उक्तं च-"निच्छयउ दुब्भियको, भावे कम्म वट्ठए समणो। ववहारओ य जुअइ, जो पुव्वविओ चरितम्मि" ॥१॥ इत्यादि।

एतदेव समर्थयन्नाह-

उउमत्थसमयवज्जा, ववहारनयाणुसारिणी सव्वा ।

तं तह समायरंतो, सुज्झइ सव्वो विमुद्धमणो ॥

संववहारो वि बह्वी, जमसुद्धं पि गहिंयं मुयविहीए ।

कोवेइ न सव्वएणु, वंदइयस्स जाइ उउमत्थं ॥

निच्छयववहारनओ-वणीयमिह सासनं जिणिंदाणं ।

एगयरपरिच्चाओ, मिच्छुं संकादओ जे य ॥

जइ जिणमयं पवज्जइ, तो मा ववहारनयमयं मुयइ ।

ववहारपरिच्चाए, तित्थुच्छेओ जवेऽवस्सं ॥

चतस्रोऽपि सुगमाः। नवरं (कोवेइ इत्यादि) न कोपयति-नाप्र-माणीकरोति न परिहरति, जुद्धे इत्यर्थः। (संकादओ इत्यादि) येऽपि शङ्काकाङ्क्षादयस्ते हि मिथ्यात्वमिति सवन्धः।

एतावत्युक्ते तत् किं तत्र सजातम्?, इत्याह-

इय ते नासग्गाहं, मुयंति जाहे बहुं पि जणंता ।

ता संघपरिच्चत्ता, रायगिहे निवड्ढा नाउं ॥

वत्तज्जेण पयाया, भणंति सावयं तवस्सि ति ।

मा कुरु संकमसंका-रुहेसु जणिए भणइ राया ॥

को जाणइ के तुब्भे, किं चोरा चारिया अभिमरे वत्ति ? ।

संजयरुवच्चन्ना, अज्जमहं भे वि वाएमि ॥

नाणचरियाहिं नज्जइ, समणोऽसमणो व कीस जाणंतो ।

तं सावयसंदेहं, करेमि भणिए निवो जणइ ॥

तुब्भं चिय न परोप्पर-वीसंभो साहवो ति किह मव्वं ।

नाणचरियाहिं ता जइ, चोराण व किं न ता संति ॥

उवउत्तिओ भयाउ य, पमिवन्ना उ ते समयसग्गाहं ।

निवव्वाभियाजिगंतुं, गुरुमूद्धं ते पमिकंता ॥

सर्वेऽप्युक्तार्थाः सुगमाश्च, नवरं नृपतिना बलमद्वेण 'ते आग-ता' इति ज्ञात्वा आघ्राता आहृता, 'के यूयम्?', इति पृष्टाश्च भ-णन्ति-'हे आर्यक' इत्यादि। (नाणचरियाहिंति) ज्ञानक्रियाभ्यां यो जवतामपि साधव इति विश्रम्भ-परस्पर नास्ति, स ताभ्यां कथ

मे जायते । अपि च-किं ते कृत्रिमे ज्ञानक्रिये चोराणामपि न स्तः,
न भवतः इति वयस्मिंश्चात्थार्थः ॥३७॥ इति तृतीयोऽव्यय-
मिधाननिष्कः समाप्तः । विशेषः । आ० म० । आ० ७० ॥

अव्यय-अव्यय-पु० । न० त० । अस्मरामने, कथमप्यात्मनोऽव्य-
यात् । आ० ७ आ० । कियतामप्यवयवानां व्ययाऽभावात् । आ०
५ आ० । सदाऽवस्थापिनि, विशेषः । स्था० । सूत्र० । “ ध्रुवे णियए
सासए अक्खए अव्यए ” अव्ययः, तत्प्रदेशानामव्ययत्वात् । म०
३ श० १ उ० । द्वादशाङ्गं प्रवचनमव्यय, मानुषोत्तराद् बहि-
समुद्रवदव्ययत्वादेव । न० । ननु ‘यत्कोकिलः किल मधौ’ इ-
त्यत्र यच्चन्द्राग्रे का विभक्तिः ? ‘तश्चारुचूतकलिका’ इत्यत्र तच्च-
न्द्राग्रे च का विभक्तिः ? । अत्र यत्तच्चन्द्रावव्ययौ वा, अनव्ययौ
वेति प्रश्ने-यच्चन्द्राग्रे क्रियाविशेषणत्वे द्वितीया विभक्तिर्वाक्या-
र्थमादाय, अव्ययत्वे तु प्रथमाऽपि संभवति । तच्चन्द्राग्रे तु तस्य
पूर्वपरामर्शित्वेन प्रथमा विजक्तिः ; व्याख्यानान्तरेण सप्तम्यपी-
ति यत्तच्चन्द्रावव्ययावनव्ययौ च वर्तन्ते इति सर्वं सुस्थमिति ।
सेन० ३ उल्ला० १५३ प्रश्न० ।

अव्यवसिय-अव्यवसित-त्रि० । अनिश्चयवति, पराक्रमवति च ।
स्था० ।

तत्रोठाणा अव्यवसिअस्स अहियाए अमुहाए अक्ख-
माए अणिससेसाए अणायुगामियचाए जवंति । तं जहा-से
एणं मुंमे भविचा अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिगंणे
पावयणे संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेदसमावक्खे कटुस-
समावक्खे णिग्गय पावयणं णो सहइइ, णो पत्तियइ, णो रो-
एइ; तं परीसहा अजिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवन्ति ।
नो से परीसहे अभिजुंजिय अभिजुजिय अभिजवइ ।
से एणं मुंमे जवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए पंच-
हिं महव्वएहिं संकिए० जाव कटुससमावक्खे; पंच महव्वयाइ
णो सहइइ० जाव नो से परीसहे अजिजुंजिय अभिजुजिय
अजिजवइ । से एणं मुंमे भविचा अगाराओ अणगारियं
पव्वइए गहिं जीवनिकाएहिं० जाव अजिजवइ ॥

क्षीणि स्थानानि प्रवचनमहाव्रतजीविकायलक्षणानि अव्यव-
सितस्थानिश्चयवतोऽपराक्रमवतो वाऽहितायाऽपथ्याय, असुखा-
य दुःखाय, अज्ञमाय असगतत्वाय, अनिःश्रेयसाय अमोक्षाय,
अनानुगामिकत्वाय-अबुभानुबन्धाय भवन्ति । (सि णं ति) यस्य
क्षीणि स्थानानि अहितादित्वाय भवन्ति, स शङ्किनो-देशतः स-
श्रुतो वा सशयवान्, काङ्क्षिनः । तथैव मतान्तरस्यापि साधुत्वेन
मृतो, विचिकित्सितः । फलम्प्रति शङ्कोपेतः, अत एव भेदसमाप-
नो द्वैधीभावमापन्न-एवमिदं न चैवमिति मतिक, कलुपसमा-
पन्नो नैतदेवमिति प्रतिपत्तिकः । ततश्च निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थिक
प्रशस्तं प्रगतं प्रथमं वा वचनमिति प्रवचनम्-आगमः । क्षीर्णत्व
प्राकृतत्वात् । न अदृष्टे सामान्यतः, न प्रत्येति न प्रीति-
विषयीकरोति, न रोचयति न चिकीर्षाविषयीकरोति । तमि-
ति, य एवम्भूतस्त प्रवजिताभास, परिपश्यन्ते इति परीषदाः
सुधादयः, अजियुज्व अजियुज्य सम्बन्धमुपागत्य प्रतिरूप-
क्ष्यं वा अभिभवन्ति न्यक् कुर्वन्ति इति । शेषं सुगमम् । स्था०
३ ग० ४ उ० ।

अव्यसण-अव्यसन-पुं० । लोकोत्तररीत्या द्वादशे दिवसे,
ज० ७ वक्र० ।

अव्यह-अव्यथ-न० । देवाद्युपसर्गजनितं जय चक्षन वा व्यथा,
तद्वज्रविऽन्यथा । व्यथाऽभावे शुक्लव्यानाश्रयत्वे, ज० २५ श०
७ उ० । स्था० । ग० । औ० ॥

अव्यहिय-अव्यथित-त्रि० । परेणानापादितं दुःखे, जी० ३ प्रति० ।
प० सू० । अनामिते, ज० ३ श० ३ उ० । अर्दानमनासि, दश० ७
अ० । अपीडिते, पञ्चा० ५ वि० । निष्पक्वमाने धीरे, वृ० १ उ० ।

अव्याह-अव्याविद्ध-न० । सूत्रगुणभेदे, अव्याविद्धं यत्तस्य सू-
त्रस्याधस्तनपदमुपरितनम्, उपरितनमधो न क्रियते । वृ० १ उ० ।

अव्याहृक्स्वर-अव्याविष्ठाक्षर-न० । विपर्यस्तरन्तमाला-
गतत्वनानि इव व्याविष्ठानि विपर्यस्तानि भक्तराणि यत्र तद्
व्याविष्ठाक्षरं, न तथाऽव्याविष्ठाक्षरम् । व्याविष्ठाक्षरत्वदोषरहि-
ते सूत्रगुणे, ग० २ अधि० । आ० म० । अनु० ॥

अव्यागम-अव्याकृत-त्रि० । अव्यक्तेऽपरिस्फुटे, आचा १ शु० १
म० १ उ० ।

अव्याबाह-अव्याबाध-न० । न विद्यते व्याबाधा यत्र तदव्या-
बाधम् । द्रव्यतः खड्गाद्यभिघातकृत्या, जावतो मिथ्यात्वादिहृ-
तया, द्विरूपयाऽपि व्याबाधया रहिते वन्दने, प्रव० २ द्वार । “अ-
व्याबाह दुविह-दव्वे, भावे य” इत्यतः खड्गाद्यभिघातव्याबाधा-
कारणविकहे, भावतः सम्यग्दृष्टेऽस्माद्विचरितो वन्दने, आव० ३
अ० । शरीरबाधानामभावे, “ किं ते जने ! अव्याबाह ? । सो-
मिला ! ज मे वातियपिस्सियसमियसस्सिवाइयाविविहरोगायंका
सरीरगया दोसा उवसता णो उदीरेति । सेत्त अव्याबाह ” ।
म० १८ श० १० उ० । विविधा व्याबाधा व्याबाधा, तन्निषेधात् ।
औ० । व्याबाधावर्जितसुखे, औ० । “अव्याबाहसुवगयाण” । आ०
म० ८ । “अव्याबाहमव्याबाहेण” । अव्याबाधमव्याबाधेन, सुखं
सुखेनेत्यर्थः । ज० ५ श० ४ उ० । कल्प० । अमूर्तत्वात् (रा०)
अकर्मकत्वात् (ध० २ अधि०) परेषामपीडाकागित्वात् (ज०
१ श० १ उ०) केनापि व्याबाधयितुमशक्यत्वात् (जी० ३ प्रति०)
व्याबाधारहिते सिद्धिस्थाने, रागादयो हि न तद् बाधितु
प्रमथिष्णवः । प्रज्ञा० ३१ पद । कल्प० । रा० । सुधादिबाधारहि-
तत्वात् (ब्रह्मचर्यम्) प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । गन्धर्वादिस्वकण-
माद्यव्याबाधाधिकलो (ध्यानदेशः) अव्याबाधशब्देन विशिष्यते ।
आव० ५ अ० । व्य बाधन्ते पर पीडयन्तीति व्याबाधाः; त-
न्निषेधादव्याबाधाः । त्रि० । म० १४ श० ८ उ० । उत्तरयोः कृष्णरा-
ज्योरन्तर्गतसुप्रतिष्ठाभविमानवासिहोकातिकदेवेषु, स्था० ८
ठा० म० । “अव्याबाहाण देवाण नव देवा नव देवसया पण-
त्ता; एव अगिच्छा वि, एव रिट्ठा वि । ” स्था० ८ ग० ।

अत्थि एणं जंते ! अव्याबाहा देवा ? । इता अत्थि । से
केणट्टेणं जंते ! एवं बुद्धं अव्याबाहा देवा ? । अव्याबाहा
देवा गेयमा ! पत्तुणं एगमेगे अव्याबाहे देवे एगमेग-
स्स पुरिसस्स एगमेगंसि अच्चिपत्तंसि दिव्वं देवहिं दिव्वं
देवजुत्तिं दिव्वं देवाणुजावं दिव्वं बत्तीसइविहं नट्ठविहिं च,
वदसेत्तए णो चेव एणं तस्स पुरिसस्स किंचि आवाहं वा

पवाहं वा वावाहं वा उप्पाएइ, उविच्छेदं वा करेइ, ए सुहुयं
च णं उवदंसेज्जा; से तेणट्ठेणं जाव अव्यावाहा ॥५॥

(अच्छिपत्तन्ति स्ति) अक्षिपत्रे अक्षिपद्मणि (आवाह व
त्ति) ईषद्वाधां (पवाह व स्ति) प्रकृष्टवाधां (वावाह ति)
क्वचित्, तत्र तु व्यावाधां विशिष्टमावाधां (छविच्छेय ति)
शरीरच्छेदं (ए सुहुयं च णं ति) । सूक्ष्मेव सूक्ष्मं यथा
भवत्येवमुपदर्शयेत्, नाट्यविधिमिति प्रकृतम् । अ० १४
श० ८ उ० ।

अव्यावह-अव्यापृत-त्रि० । व्यापारवर्जिते, “ सडियपडियं न की-
रह, जहिय अव्यागम तय वत्थु” । यन् शटितपतितेयत्र व्यापारः
कोऽपि न क्रियते तद्वान्तु अव्यापृतमुच्यते । इति तत्कित-
स्वरूपे वास्तुभेदे, वृ० ३ उ० ।

अव्यावन्न-अव्यापन्न-त्रि० । अविभिन्ने, व्य० १ उ० । अविनष्टे, अ०
१ श० ७ उ० ।

अव्यावारपोसह-अव्यापारपौषध-पु० । व्यापारप्रत्याख्यान-
पूर्वक क्रियमाणे पौषधोपवासव्रते, “अव्यापारपोसहो दुविहो-
देसे, सव्ये य । देसे अमुग वावार करेमि, सव्वे ववहारे से बल-
सगडघरपरिकम्मादयो न कीरह” । आवा० ६ अ० ।

अव्यावारसुहिय-अव्यापारसुखित-त्रि० । तथाविधव्यापारर-
हिततया सुखिनि, वृ० ३ उ० ।

अव्याहय-अव्याहृत-त्रि० । अनुपहने, अ० १४ विव० । स्वपरा-
विरोधिनि, व्य० १ उ० । अव्याधिते, न० ।

अव्याहयपुव्वावरत्त-अव्याहृतपूर्वापरत्व-न० । पूर्वापरवा-
क्याऽविरोधरूपे सत्यवचनातिशये, रा० । स० ॥

अव्याहिय-अव्याहृ(कु त-त्रि० । अनाहृते, जी० ३ प्रति० । अ-
कथिते, ‘अव्याहिते कसाह्या’ आचा० १ श्रु० १९ अ० २ उ० ।

अव्युक्त-अव्युत्क्रान्त-त्रि० । अपारिणतविध्वस्तप्राप्तके, ग० ।
२ अधि० ।

अव्वो-अव्वो-अव्य० । संबोधनादौ, व्य० ७ उ० ।

अव्वो सूचना-दुःख-संभाषणापराध-विस्मयानन्दादर-
जय-खेद-विषाद-पश्चात्तापे ८ । १ । १०४ ॥

‘अव्वो’ इति सूचनादिषु प्रयोक्तव्यम् । सूचनायाम्-“अव्वो
हुक्करयारअ” । दुःखे-“अव्वो दलति हिअअ” । संभाषणे-“अव्वो
किमिणं किमिण ?” । अपराधविस्मययो —

“अव्वो इरंति हिअअ, तह वि न वेसा हवति जुवईण ।

अव्वो किं पि रहस्से, मुणति धुत्ता जणम्महिआ” ॥ १ ॥

आनन्दादरजयेषु-

“अव्वो सुपहायमिणं, अव्वो अज्जम्ह सप्फलं जीअ ।

अव्वो अइअम्मि तुमे, नवर जइ सा न जूरिहिइ” ॥

खेदे-“अव्वो न जामि छेत्तं” । विषादे-

“अव्वो नासंति दिहिं, पुण्य वहुंति देति रणरणयं ।

एहिह तस्सेव गुणा, ते अिअ अव्वो कह णु एअ ?” ॥ १ ॥

पश्चात्तापे-“अव्वो तह तेण कमा, अहअ जह कस्स साहेमि ?” ।
प्रा० २ पाद ।

अव्वोगड-अव्याकृत-त्रि० । आविशेषिते, वृ० २ उ० । “अव्वो-
गडमविज्जत्त” । अव्याकृत नाम यदायादैरविज्जकमिति । वास्तुने-

दे; वृ० ३ उ० । (अत्र दृष्टान्तः ‘उमाह’ शब्दे द्वितीय-
भागे ७०७ पृष्ठे छप्य) अविसंस्तृते, दशा० ३ अ० ।

अव्वोच्छिन्न-अव्यवच्छिन्न-त्रि० । स्ववंशस्य परम्परया समा-
गते; व्य० ७ उ० ।

अव्वोच्छित्ति-अव्यवच्छित्ति-त्रि० । “अमानोनाः प्रतिषेधे” न
व्युच्छित्तिरव्युच्छित्तिः । प्रतिपत्तौ, य स्वयं कृतार्थोऽप्युक्तमव्याप्य
धर्मं परेभ्य उपदिशति । प० चू० । अव्यवच्छित्या ध्रुव वाचयेत्,
श्रुतस्य शिष्यप्रशिष्यपरम्परागततयाऽव्यवच्छित्सिद्ध्यदिति प-
ञ्चममव्यवच्छित्तिः कारणम् । आ० म० प्र० ॥

अव्वोच्छित्तिणयट्ट-अव्यवच्छित्तिनयार्थ-पुं० । अव्यवच्छि-
त्तिप्रधानो नयोऽव्यवच्छित्तिनयः, तस्यार्थः । छव्ये, अ० ७
श० ३ उ० ।

अव्वोयमा-अव्याकृता-स्त्री० । गम्भीरशब्दार्थायां मन्मता-
क्षरप्रयुक्तार्थां वा अभाविताार्थायां वा ज्ञापयाम्, अ० १० श० ४ उ० ।

असइ-असृति-स्त्री० । अश्रुते तत्प्रभवेन समस्तधान्यमानानि
व्याप्नोति इत्यसृतिः । अवाह्मुसहस्ततलरूपे, तत्परिच्छिन्ने
धान्ये च । अनु० । प्रसृतेरर्के, आ० ७ अ० । “दो असईमो
पसई” । ओघ० ।

असृति-स्त्री० । असरणे, अ० ३ अधि० ।

असई-असकृत्-अव्य० । अनेकश इत्यर्थे, पञ्चा० १० वि० ।
आचा० । अ० । “असइ तु मणुस्सेहिं, मिच्छादमो पजुजइ” अ-
सकृद् वारंवारम् । उक्त० ९ अ० । प० व० । जी० । षो० । “असइ
वोसइच्चदंहे” । न सकृदसकृत्, सर्वदेत्यर्थः । दश० १० अ० ।
असई-असती-स्त्री० । दुःशीलायाम्, अ० २ अधि० । दास्याम्,
अ० ७ श० ६ उ० । प्रव० ।

असईजणपोसणया-(स्त्री०) असतीजनपोषण-न० । असतीज-
नस्य दासीजनस्य पोषणतद्गायिकोपजीवनार्थं यत् तत्तथा ।
एवमन्यदपि क्रूरकर्मकारिणः प्राणिन पोषणमसतीजनपोषण-
मेवेति । दासीजनस्य क्रूरकर्मकारिणो वा पोषणे, उपा० १ अ० ।

असईपोस-असतीपोष-पुं० । असत्यो दुःशीलास्तासां दासी-
सारिकादीनां पोषण पोषोऽसतीपोषः । तत्र लिङ्गमतन्म, तेन
शुकश्वादीनामपि पुसां पोषणमसतीपोषः । यद्वाचि-“मञ्जा-
रमोरमकड-कुकरुसारीयकुक्कुराईण । छुट्ठिन्धिनपुसाई-ण
पोसण असइपोसणय” ॥ १ ॥ प्रव० ६ द्वार । दुःशी-
लानां शुकसारिकामयूरमार्जारमर्कटकुक्कुरशुकुरादिति-
रञ्जां पोषणे, भाटीग्रहणार्थं दास्यान् पोषे, गोक्षेत्रे प्रसिद्धो-
ऽयं व्यवहारः । एषां च दुःशीलानां पोषण पापदेतुरेवेति
दोषः । पञ्चदशं कर्मादानमेतत् । अ० २ अधि० । आ० । म० ।
अ० २० । (असतीपोषण तु शुजानेन साधुना कर्मकेन्यो न
देयमिति ‘जोधण’ शब्दे बह्यते)

असज्जण-अशकुन-पुं० । न० त० । आक्रन्दस्वनिप्रतिषेधप्रब-
नप्रवृत्तौ शकुनविपरीते अनिष्टार्थसंयुक्ते, पञ्चा० ७ वि० ।
प० व० । अ० ।

असंक-अशङ्क-न० । न विद्यते शङ्का यस्य मनसस्तदशङ्कम् ।
नि शङ्के, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

असंकाणिज्ज

असंकाणिज्ज--अशङ्कनीय-त्रि० । कूटपाशादिरहिते अशङ्काहं
स्थाने, सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

असंकापिय-असङ्कल्पित-त्रि० । स्वार्थं संस्कुर्वता साध्वर्थतया
मनसाऽप्यकल्पिते, भ० ७ श० १ उ० ।

असंक्रम-असङ्क्रम-पु० । परस्परममीलने, अष्ट० १४ अष्ट० ।

असंक्रमण-अशङ्कमनस्-त्रि० । अशङ्कं मनो यस्यासौ अशङ्क-
मनाः । तपोदमनियमफलत्वाऽऽशङ्कारहिते आस्तिक्यमत्युप-
पेते, आचा० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

असंकि (ण्)-अशङ्किन्-त्रि० । शङ्कामकुर्वाणे, सूत्र० १ भु०
१ अ० २ उ० ।

असंक्रिय-अशङ्कित-त्रि० । अशङ्कनीये, “ असक्रियाह सक-
ति, सक्रियाह असक्रियो । ” सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

असंक्रिलिङ्ग-असंक्रिष्ट-त्रि० । विशुद्धाध्वसाये, आनु० ।
निर्दोषणे, “ असक्रिलिङ्गाह वत्थाह । ” औ० । विशुध्यमान-
परिणामवति, प्रअ० १ सम्ब० द्वार ।

असंक्रिलिङ्गायार-असंक्रिष्टाचार-पु० । असक्रिष्ट इहपर-
लोकाशंसारूपसङ्केशविप्रमुक्त आचारो यस्य सोऽसंक्रिष्टाचा-
रः । व्य० ३ उ० । सकलदोषपरिहारिणि, व्य० ३ उ० ।

असंक्रिलेसे-असंक्लेश-पु० । विशुद्धमानपरिणामहेतुके सं-
क्लेशाभावे, “ तिविहे असक्रिलेसे- णाणसक्रिलेसे, दसणसं-
क्रिलेसे, चरित्तसक्रिलेसे ” । स्या० २ ग० ४ उ० । “ दसविहे असं-
क्रिलेसे पणसे । तं जडा-उवहिअसक्रिलेसे० जाव चरित्तअस-
क्रिलेसे ” स्या० १० ठा० । (अस्य ‘संक्रिलेस’ शब्दे व्याख्या)

असंख-असङ्ख्य-त्रि० । अविद्यमानसङ्ख्ये, उक्त० ५ अ० । अवि-
द्यमानपरिमाणे च । हा० २६ अष्ट० ।

असंखगुणवीरिय-असंखगुणवीर्य-त्रि० । असंख्यातगुणयो-
गे, कर्म० ५ कर्म० । अष्ट० ।

असंखरु-असंखम-न० । वाचिके कलहे, नि० चू० १ उ० ।
ग० । वृ० ॥

असंखमिय-असंखमिक-पु० । कलहशीले, वृ० १ उ० ।

असंखय-असंस्कृत-त्रि० । उत्तरकरणेनाश्रुदिते पटादिचत्स-
धातुमशफ्ये, उक्त० ।

असंस्कृत जीवितमित्युक्तमतस्तद्व्याचिख्यासुराह निर्युक्तिरुत्-
उत्तरकरणेण कयं, जं किं वी संखयं तु णायव्व ।

सेसं असंखयं खलु, असंखयस्सेस णिज्जुत्ती ॥

उक्त० नि० १ खणम ।

मूलतः स्वहेतुत उत्पन्नस्य पुनरुत्तरकालं विशेषाधानात्मकं
करणमुत्तरकरणं, तेन कृतं निर्धर्तितं यत् किञ्चिद्वित्याविवक्षितघ-
टादि, (यत्तदोर्नित्यमाभिसम्बन्धत्वात्) तत् सस्कृतम् । तुरवधा-
रणे । सचैव योज्यते-यदुत्तरकरणकृत तदेव सस्कृतं ज्ञातव्यम् ।
शेषमतोऽन्यत् सस्कारानुचितं विदीर्णमुकाफलोपममसस्कृत-
मेव, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । असंस्कृतमित्यस्य सूत्राव-
यवस्यैवा ध्वज्यमाणलक्षणा निर्युक्तिरिति निक्षेपनिर्युक्तिः । बहुव-
क्त्यतया च प्रतिज्ञातम् । अथवा-यथाऽऽचारपञ्चमाध्ययनस्य

‘आवती’ इत्यादिना पदेन नाम, तथाऽस्याप्यसंस्कृतमिति नाम ।
ततश्चासंस्कृतनामोऽस्यैवाध्ययनस्यैवा नामनिष्पन्ननिक्षेपनिर्यु-
क्तिः, तत्प्रस्ताव एव व्याख्यातव्येति गाथाऽर्थः । उक्त० ४ अ० ।

येन करणेनात्र प्रकृत तदाह-

कम्मगसरीरकरणं, आनुयकरणं असंखयं तं तु ।

तेणऽहिगारो तम्हा, उ अप्पमादो इह चरित्तम्मि ॥

कर्मकशरीरकरणं कर्मण्येहेनिर्वर्तनं, तदपि ज्ञानावरणादि-
ज्जेदतोऽनेकविधमित्याह-आयुःकरणमिति । आयुःप. पञ्चमक-
र्मप्रकृत्यात्मकस्य करणं निर्वर्तनमायुःकरणम् । तत्किम् ? इत्याह-
(असंखयं तत्तु चि) तत्पुनरायुःकरणमसंस्कृतमुत्तरकरणेन शु-
द्वितमपि पटादिचत्सधातु न शक्यम् । यत् “ फट्ठा तुट्ठा च इह,
पडमादी सत्तवति नयनिउणा । सा का वि नत्थि नीती, संधिज्जइ
जीविय जीए ” ॥१॥ एव च स्वरूपतो हेतुतो विषयतश्च व्याख्ये-
ति । स्वरूपतो हेतुतश्च ‘ उत्तरकरणेन कय ’ इत्यादिना प्रत्येन
व्याख्यातम् । अनेन त्वायुःकरणस्यासंस्कृतत्वोपदर्शनेन विष-
यतः । इदानीं तूपसहारमाह-(तेण अहिगारो चि) तेनेत्यायु-
कर्मणा संस्कृतेनाधिकारः । (तम्हा उ चि) तस्मात् । तुशब्दोऽ-
वधारणार्थः, तस्य च व्यवहितः सबन्धः । ततोऽयमर्थः-यस्मा-
दसंस्कृतमायुःकर्म तस्मादप्रमाद एव-प्रमादाभाव एव, चरित्तं
इति चरित्रविषयः कर्तव्य इति गाथार्थः । उक्त० ४ अ० ॥

संस्कृति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सति

भवति । तच्चेदम्-

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नाति य ताणं ।

एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, क्खुं विहिंसा अजया मिहिंति ॥

संस्कृत इति संस्कृत, न तथा असंस्कृतम् । शक्रशतैर-
पि सतो वर्क्यितु शुद्वितस्य वा कर्णेपाशवदस्य संघातुमश-
क्यत्वात् । किं तत् ? जीवित प्राणधारणरूपम् । तत् किमि-
त्याह-मा प्रमादी । किमुक्तं भवति ?-यदीदं कथञ्चित् संस्क-
र्तुं शक्यं स्याच्चतुरङ्गघाते धर्मेऽपि प्रमादो दोषायैव स्यात्;
यदा त्विदमसंस्कृतं तदेतत्परिक्लेशे प्रमादिनस्तदतिदुर्लभमिति
प्रमादं मा कृथाः । कुतः पुनरसंस्कृतम् ? जरया घयोहानिरु-
पया, उपनीतस्य प्रक्रमान्मृत्युसमीप प्रापितस्य, प्रायो जराऽन-
न्तरमेव मृत्युरित्येवमुपदिश्यते । हुहेतौ, यस्मान्नास्ति न विद्यते
प्राण शरणं, येन मृत्युरक्ता स्यात् । उक्तं च वाचकैः-“ मङ्गलैः
कौतुकैर्योगैर्विद्यामन्त्रैस्तथैषधैः न शक्ता मरणात् प्रातु, सेन्द्रा
देवगणा अपि ” ॥ १ ॥ यद्वा-स्यादेतत् । वार्धक्ये धर्मे विद्या-
स्यामीत्याशङ्क्याह-जरामुपनीतः प्रापितो गम्यमानत्वात्स्व-
कर्मनिर्जरोपनीतः, तस्य नास्ति प्राण, पुत्रादयोऽपि हि न तदा
पालयन्ति, तथा चात्यन्तमवधीरणा स्यात्-अस्य न धर्मं प्रति
शक्तिः, अद्धा वा भावना । यद्वा-प्राण येनासावपनीयते पुनर्यौ-
धनमानीयते न तादृकरणमस्ति, ततो यावदसौ नासादयति ता-
वद्धर्मे मा प्रमादी । उक्तं हि-“ तथावदिन्द्रियबलं, जरया रोगैर्न
बाध्यते प्रसभम् । तावच्छरीरमूर्च्छां विहाय धर्मे कुरुष्व मति-
म् ॥१॥ उक्त० ४ अ० । (जरोपनीतस्य च प्राण नास्तीत्यत्र दृष्टा-
न्तोऽदृष्टमलं, तत्कथा च ‘ अदृष्ट ’ शब्दे अत्रैव भागे २३२ पृष्ठे
उक्ता) उत्तराऽध्ययनेषु चतुर्थेऽध्ययने, तच्च प्रमादाप्रमादाऽभि-
धायकमप्यादानपदेनासंखयमित्युच्यते । सूत्र० १ भु० १० अ० ।
असंखलोगसम-असङ्ख्यलोकसम-त्रि० । असंख्यलोकऽऽ-
काशप्रदेशप्रमाणे, कर्म० ५ कर्म० ।

असंखेज्ज-असंखेय-त्रि०। सख्याऽतीते, भ० १ श० ५ उ० । गणनामतिक्रान्ते, भा० सू० १ अ० ।

असंखेज्जकालसमयद्वि०-अमङ्गल्येयकालसमयस्थिति-पु० । प-
त्न्योपमाऽसंखेयभागादिस्थितिषु नैरयिकादिषु एकेन्द्रियविक-
लेन्द्रियवर्जं वैमानिकपर्यन्तेषु, स्था० । “दुविहा णेरइया
पणत्ता । तं जहा-संखेज्जकालसमयद्विइया चेव, असंखेज्जका-
लसमयद्विइया चेव । एव एगिदियविगळेदियवज्जा० जाव
वाणमंतरा” । स्था० २ ता० २ उ० ॥

असंखेज्जगुणपरिहीण-असंख्यातगुणपरिहीण-त्रि० । अ-
संख्यातगुणेन परिहीणो यः स तथा । असंखेयभागमात्रे, औ० ।

असंखेज्जजीविय-असंख्यातजीवित-पु० । असंख्यजीवा-
त्मकेषु वृक्षेषु, भ० । “से किं त असंखेज्जजीविया ? असंखे-
ज्जजीविया दुविहा पणत्ता । तं जहा-एगठिया, बहुद्विया य” ।
भ० ५ श० ३ उ० ।

असंखेज्जय-असंखेयक-न० । गणनासख्याभेदे, अनु० ।

से किं तं असंखेज्जए ? असंखेज्जए तिविहे पणत्ते ।
तं जहा-परित्तासंखेज्जए, जुत्तासंखेज्जए, असंखेज्जा-
संखेज्जए । से किं तं परित्तासंखेज्जए ? परित्तासंखेज्जए
तिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उकोसए, अजहणमणु-
कोसए । से किं तं जुत्तासंखेज्जए ? जुत्तासंखेज्जए
तिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उकोसए, अजहणम-
णुकोसए । से किं तं असंखेज्जासंखेज्जए ? असंखेज्जासंखे-
ज्जए तिविहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उकोसए, अज-
हणमणुकोसए ॥

असंखेयक तु-परीतासंखेयकं, युक्तासंखेयकं, असंखेया-
ऽसंखेयकम् । पुनरेकैक जघन्यादिभेदात् त्रिविधमिति सर्व-
मपि नवविधम् ॥

अथ नवविधमसंखेयकं प्रागुद्दिष्ट निरूपयितुमाह-

एवामेव उकोसए संखेज्जए रूपे पविस्सत्ते जहणयं परि-
त्तासंखेज्जयं भवइ । तेण परं अजहणमणुकोसयाइं ठा-
णाइं जाव उकोसयं परित्तासंखेज्जयं न पावइ । उको-
सयं परित्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? जहणयं परित्तासंखे-
ज्जयं, जहणयपरित्तासंखेज्जमेत्ताणं रासीणं अजमणभासो
रूपुणो उकोसं परित्तासंखेज्जयं होइ ।

(एवामेव चि) असंखेयकेऽपि निरूप्यमाणे एवमेवानवस्थि-
तपत्त्यादिनिरूपणा क्रियत इत्यर्थः । तावद्यावदुत्कृष्टसंखेय-
कमाणीत, तस्मिंश्च यावदेकं रूपं पूर्वमधिकं दर्शितं तद्यथा तत्रै-
व राशौ प्रक्षिप्यते तदा जघन्यं परीतासंखेयकं भवति ।
(तेण परमित्यादि) ततः परं परीतासंखेयकस्यैवाजघन्योत्कृ-
ष्टानि स्थानानि भवन्ति यावदुत्कृष्टं परीतासंखेयकं न
प्राप्नोति । शिष्यः पृच्छति-क्रियत्पुनरुत्कृष्टं परीतासंखेयकं भव-
ति ? अत्रोत्तरम्-(जहणयं परित्तासंखेज्जयं ति) जघन्यप-
रीतासंखेयकं यावत्प्रमाणं भवतीति शेषः, तावत्प्रमाणानां
जघन्यपरीतासंखेयकमात्राणां, जघन्यपरीतासंखेयकगतकूप-

संख्यानामित्यर्थः । राशीनामन्योन्यमन्यासः परस्परं गुण-
नास्वरूप एकेन रूपेणो न उत्कृष्टं परीतासंखेयकं भवतीति ।

इदमत्र हृदयम्-प्रत्येकं जघन्यपरीतासंखेयस्वरूपा जघन्य-
परीतासंखेयका एव यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावन्तः पुञ्जा
व्यवस्थाप्यन्ते । तैश्च परस्परं गुणितैर्यो राशिर्भवति स एकेन
रूपेण हीनमुत्कृष्टं परीतासंखेयकं मन्तव्यम् । अत्र सुखप्रति-
पत्त्यर्थमुदाहरणं दर्शयते-जघन्यपरीतासंखेयके किलासत्क-
ल्पनया पञ्च रूपाणि सप्रधार्यन्ते । ततः पञ्चैव धाराः पञ्च पञ्च
व्यवस्थाप्यन्ते । तथाहि-५ । ५ । ५ । ५ । ५ । अत्र पञ्चभिः पञ्च
गुणिताः पञ्चविंशतिः । सा च पञ्चभिरादता जात पञ्चविंश-
शतमित्यादिकमेणामीषां राशीनां परस्परान्यासे जातानि प-
ञ्चविंशत्याधिकान्येकत्रिंशच्चतानि । एतत्प्रकल्पनया एतावन्मा-
नः । सद्भावतस्त्वसंखेयरूपो राशिरैकेन रूपेण गुणहीन उत्कृ-
ष्टं परीतासंखेयमित्याद्यनन्तरोक्ताद्वियुक्तासंखेयकादेकस्मिन्
रूपे समाकर्षिते उत्कृष्टं परीतासंखेयकं निष्पद्यते इति प्रतीयत
एव । इत्युक्तं जघन्यादिभेदभिन्न त्रिविधं परीतासंखेयकम् ॥

अथ तावन्नेदमिदमस्यैव युक्तासंखेयकस्य निरूपणार्थमाह-

जहणयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? जहणयं जुत्ता-
संखेज्जयं जहणयपरित्तासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अज-
मणभासो पमिपुणो जहणयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा-
उकोसए परित्तासंखेज्जए रूपं पविस्सत्तं जहणयं जुत्तासंखे-
ज्जयं होइ । आवहिआ वि तत्तिआ चेव । तेण परं अजहण-
मणुकोसयाइं ठाणाइं जाव उकोसयं जुत्तासंखेज्जयं न
पावइ । उकोसयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? जहण-
एणं जुत्तासंखेज्जएणं आवहिआ गुणिआ अजमणभासो
रूपुणो उकोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा जहण-
असंखेज्जासंखेज्जयं रूपुणं उकोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ ॥

(जहणयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअमित्यादि) । अत्रोत्तरम्-(ज-
हणयं परित्तासंखेज्जमित्यादि) व्याख्या पूर्ववदेव । नवर-(अ-
जमणभासो पमिपुणो सि) अन्योन्याभ्यस्तः स परिपूर्ण एव
राशिरिदं गृह्यते, न तु रूपं पात्यत इति ज्ञातः । (अहवा उकोसए
परित्तासंखेज्जए इत्यादि) प्राविचार्यमेव । (आवहिआ तत्ति-
या चेव चि) यावन्ति जघन्ययुक्तासंखेयके सर्वैरूपरूपाणि प्रा-
प्यन्ते आधिकायामपि तावन्तः समया प्रवन्तीत्यर्थः । ततः
सर्वे यत्रावलिका गृह्यते तत्र जघन्ययुक्तासंखेयकतुल्यसमय-
राशिमाना सा रूढ्या । (तेण परमित्यादि) ततो जघन्ययु-
क्तासंखेयकात्परत एकोत्तरया वृद्ध्या असंखेयान्यजघन्योत्कृ-
ष्टानि युक्तासंखेयस्थानानि भवन्ति, यावदुत्कृष्टं युक्तासंखेयकं
न प्राप्नोति । अत्र शिष्यः पृच्छति-(उकोसयं जुत्तासंखेज्जयं
मित्यादि) अत्र प्रतिवचनम्-(जहणएणमित्यादि) जघन्येन
युक्तासंखेयकेनावलिका समयराशिर्गुणयते । किमुक्तं भवति ?
अन्योन्यमन्यासः क्रियते, जघन्ययुक्तासंखेयराशिस्तेनैव राशिना
गुणयत इति तात्पर्यम् । यद्वं च कृते यो राशिर्भवति स एव एके-
न रूपेणो न उत्कृष्टयुक्तासंखेयकं भवति । यदि पुनस्तदेव तद्रूप
गुणयते तदा जघन्यमसंखेययासंखेयकं जायते । अतः पञ्चाह-
(अहवा जहणयं असंखेज्जासंखेज्जयं रूपुणमित्यादि) गता-
र्थम् । उक्तं युक्तासंखेयकं त्रिविधम् ॥

इदानीमसंखेयासंखेयक त्रिविध विभक्तिपुण्य-

जहण्य असंखेज्जासंखेज्जय केवडय होइ ? । जहण्यण
ठाणां जुत्तासंखेज्जणं आवलिआ गुणिआ अणमण-
वभासो पमिपुणो जहण्य असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ।
अहवा उकोसए जुत्तासंखेज्जए रुव पविम्वत्त जहण्य अ-
संखेज्जासंखेज्जय होइ । तेण परं अजहण्यणकोसयां
जाव उकोसय असंखेज्जासंखेज्जयं ए पावड । उकोसयं
असंखेज्जासंखेज्जयं केवडयं होइ ? । जहण्यअसंखेज्जासं-
खेज्जयपेत्ताणं रासीण अणमणवभासो रुवूणो उकोसयं
असंखेज्जासंखेज्जय होइ ॥

(जहण्य असंखेज्जासंखेज्जयमित्यादि) इदं तु सूत्र भा-
वितार्थमेव । नवर (पमिपुणो सि) परिपूर्णो रूप न पा-
त्यन इत्यर्थः । 'अहवा' इत्याद्यपि गतार्थम् । (तेण पमिपुणो सि)
ततः परं (असंखेज्जासंखेज्जयं वेत्तिवमित्यादि) अयो-
त्तम्- (जहण्य असंखेज्जासंखेज्जयमित्यादि) जघन्यमसंखे-
यक यावद्वयतीति शेषः । तावत्प्रमाणानां जघन्यासंखेयक-
रूप संशयानामित्यर्थः । रासीणामन्योन्यमन्यास परस्पर गु-
णनास्वरूप, एकेन रूपेणोत्पत्त्युत्पत्त्यसंखेयक भवति ।
अयमत्र जायार्थः प्रत्येक जघन्यासंखेयकसंखेयकरूपा जघ-
न्यासंखेयासंखेयका एव यापयन्ति कृपाणि भवन्ति तावन्तो रा-
शयो व्यवस्थाप्यन्ते । तेषां परस्परगुणितैर्यो राशिर्भवति स
एकेन रूपेण हीन उत्पत्त्युत्पत्त्यसंखेयक प्रतिपत्त्ययम् ।
उदाहरणं चाप्युत्पत्त्युत्पत्त्यसंखेयकोत्पत्त्युत्पत्त्येव धाव्यम् ।
अनु० ॥

साम्प्रतमसंख्यातानन्तरकस्वरूपमाह—

इयं मुत्तुत्त अन्ने, वगियमेवसि चउत्तयपसम् ।

होइ असंखेज्जय, लहु रुवजुय तु तं मज्झ ॥ ८० ॥

(अन्नेवगियमित्यादि) अन्ने भान्नायां एके मूरय एवमाहु यथा-
चतुर्थकमसंख्यं जघ ययुक्तासंखेयकस्वरूप, वगियं तावत्तैव राशिना
गुणितं सत्, (एवमित्ति) एवमार, भवति जायते सपद्यतेऽस-
ंखेयासंखेय, लहु जघन्य, जघ यासंखेयतासंखेयतकं भवतीत्यर्थः ।
अत्रापि नतेऽसंखेयकमुद्दिश्य मध्यमोत्पत्त्युत्पत्त्यप्रकृपा पुत्रां-
येति दर्शयन्माह—(रुवजुय तु तं मज्झेति) रूपेण संपल-
त्त्येन युत रूपयुतम् । तुर्यधारणे, रयवहितमसंख्यम् । त-
द्विदिति—तदेवानन्तराभिहितं जघन्यासंखेयासंखेयादिकम् । किं
भवतीत्याह—मध्य मध्यमासंखेयासंखेयादिकं भवति ॥ ८० ॥

रुवूणमाडयं गुरु, तिगिगिउ तं इमं दसरखे ।

दोगागामपएमा, धम्माधम्मगेनीवदेमा य ॥ ८१ ॥

तदेव जघन्यासंखेयासंखेयादिकं रूपोनमेकेन रूपेण रहितं
सत्, आदिमं तदपेक्षयाऽऽद्यस्य राशे सखन्धि गुरु उत्पत्त्यं जघ-
तीति । अयमत्राशयः—जघन्यासंखेयासंखेयक रूपोनं सद् युक्ता-
संखेयकमुत्पत्त्यं भवति, जघन्यपरीतानन्तरक रूपोनमसंखेया-
संखेयकमुत्पत्त्यं भवति, जघन्ययुक्तानन्तरक तु रूपोनमुत्पत्त्यं प-
रीतानन्तरक भवति, जघन्यान्तरानन्तरक तु रूपोनमुत्पत्त्यं युक्ता-
नन्तरक भवतीति । अधुना जघन्यपरीतानन्तरक मतान्तरेण
प्ररूपयन्माह—(तिगिगिउ तं इत्यादि) तद्विदिति प्रागाभिहितं ज-
२०६

घन्यासंखेयासंखेयक त्रिवर्गमित्या सट्शट्तिगिगी, परस्पर
श्रीन् चारानन्त्यस्येत्यर्थः । अयमत्राशयः—जघन्यासंखेयासं-
खेयकराशे सट्शट्तिगिगिगुणनलक्षणं वर्गो विधीयते, तस्या-
पि वर्गराशे पुनर्वर्गं क्रियते, तस्यापि वर्गराशे पुनरपि वर्गो
निष्पाद्यते इति । ततः किमन्याह—इमान् घट्यमाणस्वरूपान्,
(इमेति) इदं सत्त्वान् क्रियन्ते न इति । 'कर्मणि घञि' शेषा—प्र-
कृषणायगण्यमान् क्रियन्ते निषेधो युत्तरगाथायाः सत्यन्धः ।
नद्यादि—लोकाकाशस्य प्रदेशाः, धर्मस्यायमर्थः कर्माकाशस्य धर्मो-
क्तार्थाः, तेना देशा प्रदेशाः । अयमत्रार्थः—धर्मोक्तकाश-
प्रदेशाः, अधर्मोक्तकाशप्रदेशाः, पञ्चार्थप्रदेशाश्च ॥ ८१ ॥

तथा—

ठिडवधज्जकरसाया, अणुभागा जोगेयपत्तिजागा ।

हुएहय ममाणसमया, पत्तेयनिगोयणं यिवमु ॥ ८२ ॥

स्थितिष्वन्यथा कारणभूतान्यध्वन्यायस्थानानि कदाचोदय-
रूपाण्यध्वन्यायशब्देनोच्यन्ते तान्यसंखेयान्येव । तथाहि—
इमानाधरणस्य जघ यान्तमुत्पत्त्यप्रमाणं स्थितिरध्व, उत्पत्त्य-
स्तु प्रिण्मागरोपमकोटिकोटिप्रमाणं, मध्यमपदे, त्रैकाष्ट्रि-
चतुरादिसमयाध्वानुत्पत्त्यदिकोऽसंखेयज्जघ । एषा स्थि-
तिरध्वानां निर्धनकान्यध्वन्यायस्थानानि प्रत्येकमसंखेयलो-
काकाशप्रदेशप्रमाणानि भिन्ना येव । एव च सत्येकस्मिन्पि
क्षानाधरणोऽसंखेयानि स्थितिष्वध्वन्यायस्थानानि लक्ष्य-
न्ते । एव दर्शनायस्थानादियत्र धाव्यम् । (सण्णजगं सि)
अनुभागा क्षानाधरणोऽसंखेयज्जघ यमध्यमाद्विभेदमिदं रास-
विशेषाः, एतेषां चानुभागाविशेषाणां निर्धनकान्यध्वन्यायलोका-
काशप्रदेशप्रमाणान्यध्वन्यायस्थानानि भवन्त्यन्योऽनुभागाध-
रणेऽप्येतायन्त एव दृष्टव्याः, कारणनेष्टाध्वन्यायस्थानाभेदा-
नाम् । (जोगेयपत्तिजागा सि) योगो मनोयाक्षायापिपय धी-
र्य, तस्य केथितप्रमाद्वेदेन प्रविशिशिष्टा निर्विजागा भागा यो-
गच्छेदपरिमणा । ते च निगोटादनां सङ्क्षिप्तज्जघियपर्यमाना
जीवानामाधिना जघ याद्विभेदमिदं सत्येयं मन्तरया ।
(हुएहय ममाणसमया सि) द्वयोश्च समयोदरसंघिण्यवस-
तिणीकासंखेयकयोः समया असंखेयस्वरूपाः । (पत्तेयनि-
गोयणं सि) अनन्तरकालिकान् वर्जयित्वा शेषा पृथिव्यपनेजो-
पायुपनस्पतिप्रमा प्रत्येकशरीरिण, सत्रेऽपि जीवा इत्यर्थः, ते
चासंखेया भवन्ति । निगोटा मध्यमाणा बादराणां चानन्तरका-
लिकपनस्पतिजीवानां शरीराणीत्यर्थः, ते चासंखेयाः । एव-
मेते प्रत्येकमसंखेयस्वरूपा दश केपास्तान् क्रियन्ते ॥ ८२ ॥

अथ राशिदशकप्रमाणानन्तरं तस्यैव राश्यास्सिन् विहिते
यद्व्यति तदाह—

पुणरपि तस्मिन्निवगिगि, पत्तिज्जघणं लहु तस्स रासीणं ।

अव्वासे लहु जुत्ता—एतं अवबन्धजिअमाण ॥ ८३ ॥

पुनरपि (तस्मिन्निवगिगि) तस्मिन्नन्तरोदिते प्रक्षिप्तप्रक्षेप-
दशके, निवगिगिने श्रीन् चारान् वर्गिते सति, परीतानन्तरं लहु
जघ य भवति । इदमुक्तं भवति—जघन्यासंखेयासंखेयक-
स्वरूप धाव्यं वर्गिते राशौ ते केपाः सिध्यन्ते । तत इत्थं
पिण्डितो यो राशिः सपद्यते स पुनरपि चारत्रयं वर्ग्यते ।
ततो जघन्य परीतानन्तरक भवतीति । इदमिदानीं जघ ययुक्तान-
न्तरकनिरूपणायाह—(तस्स रासीणेत्यादि) तस्य जघन्यपरी-

तानन्तकस्य, सवन्धिनां राशीनामन्योन्वमन्यासे सति, बहु ज-
घन्य युक्तानन्तकमभव्यजीवमान भवति । इयमत्र भावना-जघ-
न्यपरीतानन्तके ये राशयः सर्वपरूपा, ते पृथक् पृथक् व्यव-
स्थाप्यन्ते, तेषां तथाव्यवस्थापिताना जघन्यपरीतानन्तकमा-
नाना राशीनामन्योऽन्याच्यामे सति युक्तानन्तक जघन्यं प्र-
वर्तते । तथा जघन्ययुक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि वर्तन्ते, अभ-
वसिद्धिका अपि जीवा केवलिना तावन्त एव दृष्टा इति ॥८३॥

अथ प्रसङ्गतो जघन्यानन्तानन्तकप्ररूपणमप्याह-

तत्त्वगो पुण जायड, एताणंत बहु तं च तिकरुत्तो ।

वगसु तह वि न त हो-५ एतखेवे खिवसु अ डमे ॥८४॥

तस्य जघन्ययुक्तानन्तकराशेर्वर्गे सकृदन्यासे-तद्वर्गे कृते स-
ति, पुनर्भूयोऽपि, जायते सपद्यतेऽनन्तानन्तं बहु जघन्य, जघ-
न्यानन्तक प्रवर्तीत्यर्थः । उक्तप्रानन्तानन्तकप्ररूपणप्याह- (तं-
च निरुत्तुत्तो इत्यादि) तच्च तत्पुनर्जघन्यमनन्तानन्त त्रिःकृत्वा
अन् वारान् वर्गयस्व-तावतैव राशिना गुणय । अयमर्थः-
जघन्यानन्तानन्तकराशेस्तावतैव राशिना गुणनस्वरूपो वर्गः
क्रियते, ततस्तस्य वर्गितराशेः पुनर्वर्गं, तस्यापि वर्गितराशेर्भू-
योऽपि वर्ग इति । तथाऽपि-एवमपि, वारत्रय वर्गे कृतेऽपि, त-
दुक्तप्रमनन्तानन्तक, न भवति न जायते । ततः किं कार्यम् ? इ-
त्याह-अनन्तकैपाविमान् वक्ष्यमाणस्वरूपान् पद् पद् सख्यान्
क्षिपस्व निधेहीति ॥८४॥

तानेव परानन्तकैपानाह-

सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई, काल पुगुगत्ता चेव ।

सव्वमल्लोगनहं पुण, तिवागिउं केवल्लुगम्मि ॥ ८५ ॥

सर्व एव सिद्धा निष्ठितानि जेपकर्माण, निगोदजीवा सम-
स्ता अपि सूक्ष्मबद्धरभेदमिन्ना अनन्तकायिकसत्त्वा, वनस्पतयः
प्रत्येकानन्ताः सर्वेऽपि वनस्पतिजीवा । काल इति-सर्वोऽप्य-
तीतानागतवर्तमानकालसमयराशिः, पुङ्गलाः समस्तपुङ्गलरा-
शे परमाणव । सर्वे समस्तम्, अलोकनभोऽल्लोकाकाशमिति,
उपलक्षणत्वात् सर्वोऽपि लोकालोकप्रदेशराशिः, इत्येतच्छाशि-
षद्वप्रक्षेपानन्तर यस्मिन् कृते यद्भवति तदाह-पुनः पुनरपि त्रिध-
र्गयित्वा त्रान् वारस्तावतैव राशिना गुणयित्वा, केवलद्विके के-
वलज्ञानकेवलदर्शनयुगले क्लिप्ते सति ॥ ८५ ॥

खित्तेऽणनाणंतं, हवई जिडं तु ववहरइ मज्झं ।

इय सुहमत्थावियारो, लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥ ८६ ॥

क्लिप्ते न्यस्ते सति, अनन्तानन्तक भवति जायते, ज्येष्ठमुत्कृष्टम् ।
तु. पुनरर्थः, व्यवहितसम्बन्धश्च । व्यवहारानि व्यवहारकारि मध्यं
तु मध्यम् पुन । इयमत्र भावना-इह केवलज्ञानकेवलदर्शनश-
ब्देन तत्पर्याया उच्यन्ते, ततः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः पर्या-
येष्वनन्तेषु क्लिप्तेषु मत्स्विति छेद्यम् । नवरं क्षेत्रपर्यायाणा-
मानन्त्याज्ञानपर्यायाणामप्यानन्त्य चेदित्यव्ययम् । एवमनन्तानन्त
ज्येष्ठ भवति, सर्वस्यैव वस्तुज्ञानस्यात्र सगृहीतत्वात् । अतः प-
र वस्तुसत्त्वस्यैव सख्याविषयस्याज्ञावादित्यभिप्रायः । सूत्राभि-
प्रायतस्त्वित्थमप्यनन्तानन्तकमुत्कृष्टं न प्राप्यते, अनन्तकस्याष्ट-
विधस्यैव तत्र प्रतिपादितत्वात् । तथाचोक्तमनुयोगद्वारेण-
“ एवमुक्तोसय अणनाणतय नत्थि ” । तदत्र नस्व केवलिनो
विदन्ति । सूत्रे तु यत्र क्वचिदनन्तानन्तक गृह्यते तत्र सर्वत्रापि-

जघन्योत्कृष्टशब्दवाच्यमनन्तानन्तक द्रष्टव्यम् । कर्म०४ कर्म० ।
(यद्यपीदं पूर्वं ' अणुतग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३६१ पृष्ठे जावि-
त, तथापि मनान्तरेणोपन्यस्तम्)

अमंखेज्जवित्थम-असंख्येयाविस्तृत-त्रि० । असंख्येयानि यो-
जनसहस्राणि आयामविष्कम्भेण, असंख्येयानि, योजनसहस्राणि
परिक्षेपेण च विस्तृते, जी० ३ प्रति० ।

असंग-असङ्ग-त्रि० । बाह्याभ्यन्तरसङ्करहिते, प्रज्ञा० १ पद ।
आवा० । प्रव० । न विद्यते सङ्कोऽमूर्तत्वाद् यस्य स तथा ।
आवा० १ श्रु० ५ अ० १५ उ० । आत्मनि सङ्गविकले, बो० ८
विष० । अभिष्वङ्गाभाववति, बो० १४ विष० । मोक्षे, प० ४०
३ द्वार । सकलकलेशाऽज्ञावात् (औ०) सिद्धे, तत्कल्याणस्ये,
च । “ भये च हर्षे च मतेरविक्रिया, सुखेऽपि दुःखेऽपि च नि-
र्विकारता । स्तुतौ च निन्दासु च तुल्यशीलता, वदन्ति तां त-
त्त्वविदोऽहसङ्गताम् ” ॥ १ ॥ बो० १५ विष० ।

असंगह-असंग्रह-पु० । असंग्रहशीले, व्य० ४ उ० ।

असंगहृद्-असंग्रहृत्-पु० । न विद्यते संग्रहे रुचिर्यस्य सा ।
गच्छेत्पग्रहकरस्य पीठादिकस्योपकरणस्यैषणप्रदोषविमुक्तस्य
लज्जमानस्यात्मभरित्वेन संग्रहे रुचिमनाद्धाने, प्रज्ञा० ३
सम्ब० द्वार ।

असंगहिय-असंग्रहिक-पु० । व्यवहारनयमतानुसारिणि वि-
शेषवादिनि नैगमे, विशेषः ।

असंगृहीत-त्रि० । अनाश्रिते, स्या० ८ उ० ।

अमंगाणुद्वाण-असङ्गानुष्ठान-न० । निर्विकल्पस्वरसवादि-
प्रवृत्तौ, ध० १ अधि० । अष्ट० ।

ध्यानं च विमले बोधे, मदैव हि महात्मनाम् ।

सदा प्रसमरोऽनन्ते, प्रकाशो गगने विधोः ॥ १० ॥

(ध्यानं चेति) विमले बोधे च सति महात्मनां सदैव हि
ध्यानं भवति, तस्य तन्मयतत्वात् । दृष्टान्तमाह-अनन्तेऽनन्तरिते
गगने विधोरुदितस्य प्रकाशः सदा प्रसमरो जवति, तथाऽ-
वस्थास्वाभाव्यात् ॥ १० ॥

सत्प्रवृत्तिपदं चेह-सङ्गानुष्ठानसंज्ञितम् ।

संस्कारतः स्वरसतः, प्रवृत्त्या मोक्षकारणम् ॥ ११ ॥

(सदिति) सत्प्रवृत्तिपदं चेह प्रमायामसङ्गानुष्ठानसंज्ञितं
भवति, संस्कारतः प्राच्यप्रयत्नजात्, स्वरसत इच्छानैरपेक्षेण,
प्रवृत्त्या प्रकृष्टवृत्त्या, मोक्षकारणम् । यथा-इह दारुनोदनादन-
न्तरमुत्तरश्चक्रमिसतानस्तत्संस्कारानुवेधादेव भवति, तथा
प्रथमाभ्यासाद् ध्यानानन्तर तत्संस्कारानुवेधादेव तदसह-
शपरिणामप्रवाहोऽसङ्गानुष्ठानसङ्गं लभत इति प्रावार्थः ॥ ११ ॥

प्रशान्तवाहितासंज्ञं, विसजागपरिहृत्यः ।

शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति, योगिजिगीयते इदः ॥ १२ ॥

(प्रशान्तेति) प्रशान्तवाहितासङ्गं साक्षात्स्थानां, विसजागपरिहृ-
यो बौद्धानाम्, शिववर्त्मं शैवानां, ध्रुवाध्वा महाप्रतिकानाम्, इत्ये-
वं हि योगिभिरदोऽसङ्गाऽनुष्ठानं गीयते ॥ १२ ॥ द्वा० १४ ध्या० बो० ।
असंघयण-असंहनन-न० । भावौचित्यं सहननैर्वर्जिते, नि०
चू० २० उ० ।

असंघाडम--असंघातिम--त्रि० । द्विकादिफलकेषु कपाटवदस-
घातेन निर्वृत्तेषु, नि० चू० २ उ० ।

असंचय-असाञ्चयिक-पु० । बहुकाल रक्षितमशक्ये दुग्धद-
धिपक्वाश्नादौ, कल्प० ९ क्ष० ।

असंचयित-त्रि० । असंजातसचये, मासिकत्रैमासिकचातुर्मासि-
कपाञ्चमासिकषाण्मासिके वा प्रायश्चित्ते वर्त्तमाने, व्य० १ उ० ।

असंजई-असंयत-त्री० । अविरतिकायाम्, वृ० १ उ० ।

असंजण-असंज्जन-न० । असंज्ञे, अगृह्यै च । नि० चू० १ उ० ।

असंजम-असंयम-पु० । न समयोऽसंयम । प्रतिषिद्धकरणे,

आ० चू० ४ अ० । पं० स० । सावधानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।
प्राणातिपातादौ, "असंजम परियाणामि, संजम उवसपञ्चामि"

ध० ३ अधि० प्रश्न० । आ० चू० । बालभावे, आचा० १ शु० ५ अ०
५ उ० । "अस्संजममग्नाण, मिच्छत्त सव्वमेव य ममत्त" असं-

यम विराघनास्वजावमेकविधम् । आतु० सूत्र० । "पंचिदिया ण
जीवा समारभमाणस्स पचविहे असंजमे कज्जइ । त जहा-

पुढविकाइयअसंजमे० जाव वणस्सइकाइयअसंजमे०" । स्था०
५ उ० २ उ० । असंजमा- "तेइदिया ण जीवा समारभमाणस्स

अविहे असंजमे कज्जइ । त जहा-घाणामाओ सोक्खाओ च-
वरोवेत्ता ऋवइ, घाणामएण दुक्खेण संजोपत्ता भवइ० जाव

फासमएण दुक्खेण संजोयेत्ता भवइ" ॥ इह चाव्यपरोपण-
भसयोजन च समयोऽनाश्रयरूपत्वादितरदसंयम इति । स्था०

६ उ० । "चउरिदिया ण जीवा समारभमाणस्स अउविहे
असंजमे कज्जइ । त जहा-चक्खुमाओ सोक्खाओ चवरोवे-

त्ता ऋवइ, चक्खुमएण दुक्खेण संजोपत्ता भवइ" । स्था० ८
उ० । "पचिदिया ण जीवा समारभमाणस्स पचविहे असं-

जमे कज्जइ । त जहा-सोइदियअसंजमे० जाव फासिदियअसं-
जमे०" । स्था० । "सव्वपाणभूयजीवस्सत्ता ण समारभमाणस्स

पचविहे असंजमे कज्जइ । त जहा-पणोइदियअसंजमे० जाव प-
चोइदियअसंजमे०" । स्था० ५ उ० २ उ० । पं० स० । "सत्ताविहे

असंजमे पण्णत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअसंजमे० जाव तस-
काइयअसंजमे अजीवकाइयअसंजमे०" । स्था० ७ उ० ॥ "दस-

विहे अमजमे पण्णत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअसंजमे० अजी-
वकाइयअसंजमे०" । स्था० १० उ० ।

सत्तरसविहे असंजमे पण्णत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअसंजमे,
आउकाइयअसंजमे, तेउकाइयअसंजमे, वाउकाइयअसंजमे, व-

हास्सइकाइयअसंजमे, वेइदियअसंजमे, तेइदियअसंजमे, च-
उरिदियअसंजमे, पंचिदियअसंजमे, अजीवकायअसंजमे,

पेहाअसंजमे, उपेहाअसंजमे, अवहइअसंजमे अपमज्ज-
णाअसंजमे, मणअसंजमे, वइअसंजमे, कायअसंजमे ।

अजीवकायासंयमो विकटसुवर्णवहुमूल्यवस्त्रपात्रे पुस्तकादि-
ग्रहणम् । प्रेक्षायामसंयमो यः न तथा । स च स्थानोपकरणा-

दीनि अग्रत्युपेक्षणमविधिप्रत्युपेक्षण वा । उपेक्षाऽसंयमयोगेषु
व्यापारण, संयमयोगेष्वव्यापारण वा । तथाऽपहृत्यसंयमः-अ-

विधिनोच्चारणादीना परिष्ठापनतो यः । तथा-अप्रमार्जनाऽसंयमः
पात्रादेरप्रमार्जनया चेति । मनोवाक्कायाऽसंयमास्तेषामकुशला-

नामुदीरणानीति । स० १७ सम० ध० प्रश्न० पं० भा० आ०
चू० । (मैथुन सेवमानस्य कीदृशोऽसंयम इति 'मैथुण' शब्दे)

असंजमकर-असंयमकर-त्रि० । साधुनिमित्तमसंयमकरणशीले, पि० ।

असंजमहाण-असंयमस्थान-न० । असंमाधिस्थानादिषु, व्य० ।

असमाहिहाणा खलु, सत्रला य परीसहा य मोहम्मि ।

पद्विओवमसागरोवम-परमाणु ततो असखेज्जा ॥

एष प्रायश्चित्तराशिः । कुनः ? । उच्यते-यानि खल्वसमाधि-
स्थानानि विंशतिः । खलुशब्दः सजावने । स चैतत्संभावयति-
असंख्यातानि देशकाव्यपुरुषज्जेटोऽसमाधिस्थानानि, एवमेक-
विंशतिः शवलानि, द्वाविंशतिः परीषहाः । तथा-मोहे मोहनीये
कर्मणि ये अष्टाविंशतिर्भेदाः, अथवा मोहविषयाणि त्रिंशत्
स्थानानि, एतेभ्योऽसंयमस्थानेभ्य एष प्रायश्चित्तराशिरूप-
यते । व्य० १ उ० ।

असंयमस्थानभेदा —

से जयवं ! केवइए असंजमहाणे पण्णत्ते ? । गोयमा !

अणेगे असंजमहाणे पण्णत्ते० जाव एं कायासंजमहाणे ।

से जयवं ! कयरे कायासंजमहाणा ? । गोयमा ! काया-

संजमहाणे अणेगहा पण्णत्ते । तं जहा-

"पुढविदगामणिवाऊ, वणप्फती तह तसाण विविहाणं ।

इत्थेण वि फरिसणय, वज्जेज्जा जावजीवं पि ॥

साउएणखारखित्ते, अग्गी द्वाणूमअंविद्वेणाहे ।

पुढवीदीण परोप्पर, खयंकरे वज्जसत्थेए ॥

एहाणुम्मइणखोभण-हत्थंगुलिअक्खिसायकरणेणं ।

आवीयते अणंते, आऊजीवे खय जांति ॥

संधुक्कजादणणहि, एवं उज्जीयकरणमादीहिं ।

वीयणफूमणउज्जा-वणेहिं सिद्धिजीवसंघाय ॥

जाइ खयं अणे वि य, उज्जीवानिकायमइएण ।

जीवे जदणो सुइ उ-उ वि हु संभक्खइ दस दिसाखं च ॥

ओवीयणगतादियं-टयचामरओक्खेइत्थतादोहिं ।

धोवणमेवणलंघण-ऊसाईहिं च वाऊणं ॥

अंकुरकुहरकिसइय-प्पवालपुप्पफलकंदलाईणं ।

इत्थफरिसेण बहवे, जांति खय वणप्फई जीवे ॥

गमणगमणनिसीयण-सुयण्णछाणअण्वउत्तयपमत्तो ।

वियलेंदियवित्तिचउपं-चेंदियाण गोयम ! खय नियमा ॥

पाणाऽवायविरई, सेयफइया गिरिहउण ता धीमं ! ।

मरणावयम्मि पत्ते, मरेज्ज विरइं न खडिज्जा ॥

अद्वियवयणस्स विरई, सावज्जं सव्वमवि न जासिज्जा ।

परदव्वहरणविरई, करेज्ज दिक्खे वि मा लोचं ॥

धरणं दुप्परवंभ-व्वयस्म काउं परिग्गहव्वायं ।

राईजोयणविरई, पचिदियनिग्गहं विहिणा ॥ "

महा० ७ अ० ।

असंजमपंक-असंयमपङ्क-पु० । पृथिव्याद्यपमर्दकर्मभे, वृ० १ उ० ।

असंजप-असंयत-त्रि० । न विरतोऽसंयतः । अविरते, आ० ४

अ० । स्था० । मिथ्यादृष्ट्यादौ, भ० ६ श० ३ उ० । अविरत-
सम्यग्दृष्टिपर्यन्ते, आतु० । न० -। कुनाश्रिदप्यनिवृत्ते, सूत्र० १
श्र० १० अ० । दश० । गृहस्थे आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।
नि० चू० । स च आवक, प्रकृतिभङ्गको वा स्यात् । आचा० २
श्रु० १ अ० २ उ० । गृहस्थकर्मकारिण प्रव्रजिते, सूत्र० १ श्रु० ७
अ० । असाधौ सयमरहिते, भ० १ श० १ उ० । औ० । प्रश्र० ।
ज्ञा० । असयमवति आरम्भपरिग्रहप्रमत्ते अब्रह्मचारिणि, स्था०
१० ग० । पार्श्वस्थादौ, ध० २ अधि० । (असयताना कृतिकर्म
न कर्त्तव्यमिति 'किङ्कर्म' शब्दे वक्ष्यते) (असयतानां
पञ्च जागरा. 'जागर' शब्दे वक्ष्यन्ते)

असंजयपूया-असंयतपूजा-स्त्री० । असयमवतामारम्भपरिग्रह-
प्रसक्ताना ब्राह्मणादीना पूजायाम्, कल्प० २ द० । स्था० ।
(सा च नवमदशमजिनयोरन्तरे प्रवृत्तेति 'अच्छेरे' शब्दे-
ऽस्मिन्नेव भागे २०० पृष्ठे उक्ता) जिनानामन्तरेषु साधुषु वि-
च्छेदे सति प्रत्येकबुद्धादि केवली प्रवति, न वा । यदि भ-
वति, तर्हि अन्येषा धर्म कथयति, न वेति ? प्रश्ने, उत्तरस्-ती-
र्थोच्छेदे प्रत्येकबुद्धादेः केवलित्वप्रवने साक्षादङ्गराणि प्रवच-
नसारोद्धारवृत्त्यादौ दृश्यन्ते, पर परेषां धर्मकथने च निवेधा-
ङ्गराणि ग्रन्थे दृष्टानि न स्मर्यन्ते । सेन० १ उल्ला० २९ प्र० ॥

असंजल-असंज्वल-पु० । अनन्तजिनसमकालीने परवतजिने,
“ भरहे अण्णत्तं जिणो, परवत्तं असज्जले जिणवरिदो ” ।
ति० । स० ।

असंजोएत्ता-असंयोगायितु-त्रि० । सयोगमकारयति, “ सो-
यामएण डक्खणे असज्जोएत्ता भवइ ” । स्था० १० ग० ।

असंजोगि (ण)-असंयोगिन् पु० । सयोगरहिते, सिद्धे च ।
स्था० २ ग० १ उ० ॥

असंजविय-असंस्थापित-त्रि० । असंस्कृते, न० ।

असणि (सनि) हिंसचय-असन्निधिमंचय-पु० । न विद्येत
सनिधेमोदकोदकखर्जूरदरीतक्यादे पर्युपितस्य सचयो धारण
यत्रासावसन्निधिसचय । सन्निधिविकले, “मस्स धम्मस्स०
पचमहव्वयजुत्तस्स असन्निहिसचयस्स” । पा० ।

असत-असत्-त्रि० । अविद्यमाने, नि० चू० १ उ० । अशोभने,
सूत्र० १ श्रु० ए अ० । प्रश्र० ।

अशान्त-त्रि० । अनुपशान्ते, प्रश्र० २ आश्र० द्वार ।

असंतइ-असन्तति-स्त्री० । शिष्यप्रशिष्यादिसन्तानानुपजनने,
वृ० १ उ० ।

असंतग-अमन्त-न० । असदर्थान्निधानरूपन्यात् पञ्चमे गौणाढी-
के, प्रश्र० २ आश्र० द्वार । अविद्यमानार्थके असत्ये, प्रश्र० २
आश्र० द्वार । अमद्भूते वचने अशोभने, प्रश्र० २ सम्ब० द्वार ।

अशान्तक-न० । अनपशमप्रधाने, प्रश्र० २ सम्ब० द्वार ।

असंतय-अमान्त-न० । रागादिप्रवर्त्तने, प्रश्र० ७ आश्र० द्वार ।
असंताचेल-असदचेल-पु० । अविद्यमानेषु चेदेषु, अवाससि
तीर्थकरे, देवदूष्यापगमानन्तरतथाभावात् । पञ्चा० १७ विव० ।

असंति-अशान्ति-स्त्री० । शान्त्यभावे, अनिर्वाणे, सख्यतौ च ।
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

असथम-असंस्तुत-त्रि० । शकट इव विशारास्तया सचरितुम-
शक्नुवति, व्य० ७ उ० । वृ० । असमर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ।

तवगेहन्नट्टाणा, तिविहो तु असथहो तिहे तिविहो ।

नवसंथममीसस्ता, मासादारोपणा इणमो ॥

असंस्तुतो नाम षष्ठाष्टमादिना तपसा क्लान्तो ग्लानत्वेन असम-
र्थो दीर्घाध्वनि वा गच्छन् पर्याप्त न लभते, एष त्रिविधोऽसंस्तु-
त । (तिहे तिविहो) त्रिविधे अध्वनि योऽसंस्तुतः स त्रिविधः ।
तद्यथा-अध्वप्रवेशे, अध्वमध्ये, अध्वोत्तारे च । तत्र तपोऽसंस्तु-
तस्य निर्विविकित्सस्य मासादिका इह समाहिरारोपणा प्रव-
ति । वृ० ५ उ० ।

असंथरण-असंस्तरण-न० । अनिर्वाहे, वृ० १ उ० । दुर्जिक्कत्वा-
नाद्यवस्थायाम्, ध० ३ अधि० । अपर्याप्तलाभे, प० व० ३ द्वार ।
“ संथरणम्मि असुद्ध, दुएह पि गिहतदितयाण हिय । आवर-
दिठ्ठेण, त चेव हिय असंथरणे ” । नि० चू० १ उ० ।

असंथरण-असंथरत-त्रि० । गवेषणामप्यकुर्व-
ति, व्य० ४ उ० ।

असंथुय-असंस्तुत-त्रि० । असंबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

असंदिद्ध-असंदिग्ध-त्रि० । संदेहवर्जिते, दशा० ४ अ० । कल्प० ।
निश्चिते सकलसंशयादिदोषरहिते, स्था० ६ ग० ।

असंदिद्धत्त-असंदिग्धत्त-न० । असंशयकारितायाम्, एकादशे
सत्यवचनातिशये च । स० ३५ सम० । औ० । रा० । सैन्धवशब्दव-
ल्लवणवसनतुरगपुरुषाद्यनेकार्थसंशयकारित्वदोषमुक्ते सूत्रगुणे,
विशे० । अनु० । आ० म० ।

असंदिग्धवयणया-असंदिग्धवचनता-स्त्री० । परिस्फुटवचन-
तारूपे वचनसम्पदे, उक्त० १ अ० । स्था० ।

असंदिग्धवचनमाह-

अव्वत्तं अफुमत्थं, अत्यबहुत्ता व होति संदिद्धं ।

विवरीयमसंदिद्धं, वयणे सा संपया चउहा ॥

अव्यक्त-वाचो व्यक्तताया अभावतः, अस्फुटार्थमसंशयतां स-
न्निवेशविशेषतः, विवक्तिार्थबहुत्वाद्वा भवति संदिग्धम् । त-
द्विपरीतमसंदिग्धम्, तद्वचनं अस्यासावसंदिग्धवचनम् । एषा
वचने संपञ्चतुर्धा चतुष्पकारा ॥ व्य० १० उ० ।

असंदीण-असंदीन-त्रि० । पक्षमासाबुदकेनाऽप्लाव्यमाने सिं-
हलक्ष्मीपादौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

असंधिम-असन्धिम-त्रि० । अपान्तराले सन्धिरहिते, वृ०
५ उ० ।

असंपउत्त-असंपयुक्त-त्रि० । अयुक्ते, नि० चू० १ उ० ।

असंपओग-असंपयोग-पु० । विप्रयोगे, ध० ३ अधि० । अयोगे,
भ० २५ हा० ७ उ० ॥

असंपगहियप्प (ण)-असंपगृहीतात्मन्-त्रि० । असंपगृही-
तोऽनुत्सेकवानात्मा यस्य सोऽसंपगृहीतात्मा । निरभिमाने, अ-
हमाचार्यो बहुश्रुतः तपस्वी सामाचारीकुशलो जात्यादिमान
वा इत्यादिमदरहिते, दशा० ३ अ० ॥

असंपगहियया-असंपगृहीतता-स्त्री० । संप्रग्रहरहितताकूपे आचार्यसम्पद्भेदे, व्य० । असंपगृहीतता नाम जात्यादिमदैरनुत्सिकता । तथाह-

आयरिओ बहुस्तुओ, तवसि अहं जाइएहि मयएहि ।

जो होइ अणुस्सित्तो, असंपगहियओ वि सो भवइ ॥

आचार्योऽह बहुभुतोऽह तपस्यहमिति मदैः, जात्यादिनिर्वा भदैर्यो प्रवत्यनुत्सिक स भवत्यसंपगृहीतः, मदसंप्रग्रहरहितत्वात् । व्य० १० उ० ।

असंपगह-असंपग्रह-पुं० । समन्तात् प्रकर्षेण जात्यादिप्रकृतलक्षणेन प्रदणमात्मनोऽवधारणं संप्रग्रहः । तदभावोऽसंप्रग्रहः । उक्त० १ म० । आत्मनो जात्याद्युत्पत्तिकरूपप्रदवर्जने, वाचनासपद्वेदे, स्था० ८ उ० ।

असंपत्त-असंपात्त-त्रि० । असंलभ्ये, रा० ।

असंपत्ति-असंपत्ति-स्त्री० । प्रायश्चित्तजारवहनासामर्थ्ये, "असंपत्तीय मासलड्ड, संपत्तीय मासगुरु" नि० चू० १ उ० । "असंपत्तिपत्तान रयहरणं पल्लुपेहिज्जा" । महा० ७ अ० ।

असंपहिट्ट-असंप्रहट्ट-त्रि० । अहर्षिते, उक्त० १५ अ० । "अवगामणे असंपहिट्टा जे से भिक्खु" । उक्त० १५ अ० ।

असंपुत्त-असंपुट्ट-त्रि० । अन्यावृत्ते, "मुहं वा असंपुट्टं वाताऽऽरभदोत्तेण अच्चेज्ज" नि० चू० २० उ० ।

असंपुर-असंस्फुर-त्रि० । असंवृते, वृ० ३ उ० ।

असंवद्ध-असंवद्ध-त्रि० । असंस्त्रिष्टे, "असंवद्धो हविज्जा जगणिसिस्स" । पश्चिमीपत्रोदकवद् गृहस्थे । दश० ८ अ० ।

सप्रत्यसब्ध इति पञ्चदश नेद निरूपयितुमाह-

जावंतो अणवरयं, खणभंगुरयं समत्यवत्थुणं ।

संबंधो वि धणाइसु, वज्जइ पमिवंधसंबंधं ॥ ७४ ॥

जावयन् पर्यालोचयन्, अनवरत प्रतिकरणं, कृणजहुरतां सतत विनश्वरतां, समस्तवस्तुनां तनुधनस्वजनयौवनजीवितप्रभृतिसर्वभावानां, सवद्धोऽपि बाह्यवृत्त्या प्रतिपालनवर्द्धनादिरूपया युक्तोऽपि, धनादिषु धनस्वजनकारिहरिप्रभृतियु, वर्जयति न करोति बन्धो भूच्छां नद्रूप सवन्ध सयोग, नरसुन्दरनरेश्वर इव, यतो प्रावतो भावयत्येव प्रावभावकः- "चिन्ता ह्रुपाय च चउप्पयं च, खित्तं गिह धणधम्म च सव्वं । कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, पर भव सुंदरपावग व" ॥ १ ॥ इत्यादि । घ० २० । (नरसुन्दरनरेश्वरकथा 'एरसुंदर' शब्दे वक्ष्यते)

असंबुद्ध-असंबुद्ध-त्रि० । अनवगततत्त्वे, उक्त० १ अ० ।

असंभंत-असंभ्रान्त-त्रि० । अनन्यचित्ते, पं० व० १ द्वार । यथा-बहुपयोगादि कृत्वाऽनाकुले, दश० १ अ० । भ्रमरहिते, विपा० १ अ० । रा० । अनुत्सुके, म० ११ श० ११ उ० ।

असंजम-असंभ्रम-पुं० । भयाऽकरणे, ओघ० ।

असंभाविद-असंभाविता-त्रि० । "तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य" । ना० १६० इति तस्य द । सभ्रमकारिते, प्रा० ४ पाद । २०७

असंमोह-असंमोह-पुं० । देवादिकृतमायाजनितस्य, सूक्ष्मपदार्थविषयस्य च संमोहस्य मूढताया निवेधे, औ० । ग० । स्था० ।

असंलप-असंलप्य-त्रि० । सलपितुमशक्येषु प्रतिबद्भु, अनु० ।

असंलोय-असंलोक-पुं० । अप्रकाशे, भावा० । असंलोकवति, त्रि० । अनापातेऽसंलोके स्थितिद्वये व्युत्सृजेत् । असंलोकं गत्वोच्चारं प्रस्रवण वा कुर्यात् । आचा० २ श्रु० १० अ० । घ० ।

असवर-असंवर-पुं० । सवरण संवरः, न सवरोऽसवरः ।

पा० । आश्रये, स्था० । "पंचविहे असवरे पण्णत्ते । त जहा-सोइदियमसवरे० जाव फासिदियअसवरे" । स्था० ५ उ० २ उ० । "अव्विहे असवरे पण्णत्ते । त जहा-सोइदियअसवरे० जाव फासिदियअसवरे शोइदियमसवरे" । स्था० ६ उ० । "अट्टविहे असवरे पण्णत्ते-त जहा-सोइदियअसवरे० जाव कायअसवरे" स्था० । "दसविहे असवरे पण्णत्ते । त जहा-सोइदियमसवरे० जाव सुइकुसग्गअसवरे" । स्था० ८ उ० ।

असंवद्विय-असंवद्वित-त्रि० । अवर्धिते, तं० ।

असंविग-असंविग-त्रि० । न सविगोऽसंविगः । पार्श्वस्थादौ, नि० चू० १ उ० । शीतलविहारिणि, पं० व० २२ द्वार । व्य० । असंविगा अपि द्विविधा-सविगपाक्षिका, असंविगपाक्षिका-श्च । सविगपाक्षिका निजानुष्ठाननिन्दिनो यथोक्तसुसाधुसमाचारप्ररूपकाः, असंविगपाक्षिका निर्धर्माश्च । सुसाधुशुश्रूषका ।

उक्तञ्च-

"तथावायं दुविहं, सपक्खपरपक्खओ य नायव्वं ।

दुविहे होइ सपक्खो, संजय तद सजईण च ॥ १ ॥

सविगमसविगा, सविगमगुत्त पयरा चेव ।

असंविगा वि य दुविहा, तप्पक्खिय पयरा चेव" ॥ २ ॥ प्रव० ६१ द्वार ।

असंविगपक्खिय-असंविगपाक्षिक-पुं० । निर्धर्मणि सुसाधुशुश्रूषके, प्रव० ९१ द्वार ।

असंविजाग-असंविजाग-पुं० । संविभागाभावे, दश० ९ म० ।

असंविभागि (ण्)-असंविजागिन्-पुं० । सविमज्जति भानी-ताहारमन्येन्यः साधुभ्यः प्रापयतीत्येवशीलः सविभागी, न सविभागी असंविभागी । आहारेण स्वकीयमेव उदर विभर्ति इत्यर्थः । अन्यस्मै न ददाति । उक्त० ३३ अ० । आचार्यग्लानादीनामेवणागुणविशुद्धिलब्धमविज्जमाने, प्रश्न० ३ सव० द्वार । यत्र कचन लाभोऽसंविभागवति, "असंविभागी न दु तस्स मोक्खो" । दश० ६ अ० ।

असंभुम-असंभुत-त्रि० । इन्द्रियनोऽन्द्रियैरसंयते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । हिंसादिस्थानेन्यो निवृत्ते असंयतेन्द्रिये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अनिरुद्धाश्रवद्वारे, म० १ श० १ उ० । प्रमत्ते, म० ७ श० २ उ० । (असंभुतस्यानगरस्य वक्तव्यता 'अणगार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७३ पृष्ठे समुक्ता) (स्वमश्रु 'सुविण' शब्दे वक्ष्यते)

असंसइय-असंशयित-त्रि० । नि संशयिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

असंसद-असंसृष्ट-त्रि० । अन्यदीपपिण्डैः साहाऽमीलिते, श्रु० २ उ० । अखरिणिते, औ० ।

असंसृष्टचरय-असंसृष्टचरक-पु० । असंसृष्टेन हस्तादिना दी-
यमानस्य ग्राहके, औ० ॥

असंसृष्टा-असंसृष्टा-स्त्री० । असंसृष्टेन हस्तेनाऽसंसृष्टेन च
पात्रकेण[सावशेष इव] जिह्वां गृह्यतः साधोः प्रथमायां पिण्डै-
षणायाम्, प्रब० ६६ द्वार । स्था० । आ० चू० । नि० चू० ॥ भाव० ।
आचा० सूत्र० । ध० पञ्चा० ('लित्त' शब्देऽसंसृष्टायाः प्ररूपणस्य)

असंसृष्ट-असंसृष्ट-त्रि० । असंसृष्टेन, उक्त० २ अ० । विशेष० ।
अप्रतिबद्धे, दश० ८ अ० । असंसृष्टे, उक्त० ३ अ० ।

असंसृष्ट-असंसृष्ट-न० । निश्चिते, द्वा० २० द्वा० । निःसंदेहे,
वृ० १ उ० ।

असंसृष्ट-असंसृष्ट-पुं० । न संसारोऽसंसृष्टः । संसारप्रति-
पक्षचूते मोक्षे, जी० १ प्रति० । संसारान्नावे, द्वा० ११ द्वा० ।

असंसृष्टसमावृष्ट-असंसृष्टसमावृष्ट-पुं० । न संसारोऽसंसृष्टो
मोक्षस्तु समावृष्टः असंसृष्टसमावृष्टः । मुक्ते, प्रश्ना० १ पद ।
सिद्धे, स्था० २ ठा० १ उ० । जी० ॥

असंसृष्ट-असंसृष्ट-त्रि० । कर्तुमपार्यमाणे, ध० । असंसृष्टे भाव-
प्रतिपत्तिरिति । असंसृष्टे ज्ञानाचारादिविशेष एव कर्तुमपार्यमाणो
कुतोऽपि धृतिसहनकालबलादिवैकल्याद्भावप्रतिपत्ति-भावे-
नान्तःकरणेन प्रतिपत्तिरनुबन्धः, न पुनस्तत्र प्रवृत्तिरपि; अ-
कालौत्सुक्यस्य तत्त्वत आर्तध्यानत्वादिति । ध० १ अधि० ।

असंसृष्ट-असंसृष्ट-त्रि० । न विद्यते संस्कृतं संस्कारो यस्य
सोऽसंसृष्टः । अविद्यमानसंस्कारे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असंसृष्टमसंसृष्ट-असंसृष्टतासंसृष्ट-त्रि० । कर्मधारयः । मका-
रोऽत्रालाक्षणिकः । अत्यन्तमसंसृष्टे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

असंसृष्टा-असंसृष्टा-स्त्री० । अशोभनकथायाम्, तृश० ।

असंसृष्टिरिया-असंसृष्टिरिया-स्त्री० । अशोभनायां चेष्टायाम्, प-
ञ्चा० ६ विव० ।

असंसृष्टिरियारहित-असंसृष्टिरियारहित-त्रि० । अक्षितपिहितदि-
द्वारेण जीवोपमर्दरूपाप्रशस्तन्यापाररहिते, पञ्चा० १३ विव० ।

असंसृष्टा-असंसृष्टा-स्त्री० । शकटैरुपयुक्तं नीतत्वात्स्वनामख्या-
ते आजीरकन्यारत्ने, दश० ३ अ० । (तद्वृत्त 'उवहाण' शब्दे
द्वितीयभागे १०४६ पृष्ठे उदाहरिष्यते)

असंसृष्ट-असंसृष्ट-पु० । अशोभनाभिनिवेशे आसवचनबाधि-
सार्थपक्षपाते, पञ्चा० १ विव० । चारित्र्यवतोऽपि असंसृष्टः समव-
ति, मतिमोहमाहात्म्यादिति । ध० २० ।

असंसृष्ट-असंसृष्ट-न० । सत्यविपरीते, नास्ति जीव एकान्तसद्रूपो
चेत्यादिकुविकल्पनपरे, प० सं० १ द्वार । उक्त० । अलीके, प्रश्न० २
आश्र० द्वार । असंसृष्टं च महत्तमं पातकं यतो योगशास्त्रान्तर-
श्लोके-“ एकत्राऽसत्यं पापं, पापं नि शेषमन्यतः । द्वयोस्तु-
लाविधृतयो-राद्यमेवातिरिच्यते” ॥१॥ इति । ध० २ अधि० ।
प्रश्न० । आ० चू० ।

असंसृष्टमणजोग-असंसृष्टमनोयोग-पु० । कर्म० स० । नास्ति जी-
व एकान्तसद्रूपो विश्वव्यापीत्यादिकुविकल्पचिन्तनपरे म-
नोयोगे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असंसृष्टमणजोग-असंसृष्टमनोयोग-पुं० । न विद्यते
सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृषः । अस-
त्यश्चासौ अमृषश्च; “ कं नशादिभिर्भैः ” । ३ । १ । १०५ । इति
कर्मधारयः । असंसृष्टमणजो मनोयोगश्चासंसृष्टमनोयो-
गः । मनोयोगभेदे, कर्म० ४ कर्म० ।

असंसृष्ट-असंसृष्ट-पुं० । असंसृष्टे मृषाभाषणे असंसृष्टे वा
रुचिर्यस्याऽसावसंसृष्टरुचिः । असंसृष्टं रोचयमाने, व्य० ३ उ० ।

असंसृष्टजोग-असंसृष्टवाग्योग-पुं० । वाग्योगभेदे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असंसृष्टसंधत्तण-असंसृष्टसंधत्व-न० । असंसृष्टमलंकिं संधत्ता-
ति करोतीति असंसृष्टसंधः, तदभावोऽसंसृष्टसंधत्वम् । पश्चि-
मे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असंसृष्टमोसा-असंसृष्टमृषा-स्त्री० । यत्र सत्यं नापि मृषा, तत्र
असंसृष्टमृषा । वस्तुप्रतिषेधमन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरे-
‘अहो देवदत्त ! घटमानय, गां देहि मह्यम्’ इत्यादिविचिन्तनपरे भा-
षाभेदे, इदं हि स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वात्प्रयथोक्तलक्षणं सत्यं,
नापि मृषा । प० सं० १ द्वार । “ जं णेव सच्च, णेव मोस, णेव
सच्चमोस-असंसृष्टमोस णाम, तं चरुत्थं भासज्जातं ” चतु-
र्थी प्राचा-योच्यमाना न सत्या, नापि मृषा, नापि असंसृष्टमृषा
आमन्त्रणाऽज्ञापनादिका साऽत्रासंसृष्टमृषेति । आचा० ३ कु०
४ अ० १ उ० ।

सांप्रतमसंसृष्टमृषामाह—

आमन्त्रणी आणवणी, जायाणि तद् पुच्छणी अपन्नवणी ।

पन्नवणी जासा, जासा इच्छाणुलोमा य ॥ ४२ ॥

आमन्त्रणी, यथा-हे देवदत्त ! इत्यादि । एषा किलाप्रवर्तकत्वात्
सत्यादिभाषात्रयलक्षणवियोगतस्तथाविधद्वन्द्वेपक्षेऽसंसृष्टमृषे-
ति । एवमाज्ञापनी, यथा-इदं कुद । इयमपि तस्य करणाकरण-
भावतः परमार्थेनैकप्राप्यनियमात्तथाप्रतीतेः । अदुष्टविवक्षाप्रसू-
तत्वादसंसृष्टमृषेति । एव सवृक्ष्याऽप्यत्रापि प्रावना कार्येति । याच-
चनी, यथा-भिक्षां प्रयच्छेति । तथा प्रच्छुनी, यथा-कथमेतदि-
ति । प्रज्ञापनी, यथा-हिंसादिप्रवृत्तौ दुःखितादिर्भवति । प्रत्य-
क्ष्यानी भाषा, यथा अदित्सेति । भाषा इच्छाणुलोमा च, यथा-
केनाचित् कश्चिदुक्तः-साधुसकाशं गच्छाम इति । स आह-शो-
भनमिदमिति गाथाऽर्थः ॥ ४२ ॥

आणजिगहिआ जासा, भासा अ आणजिगहिमि बोधव्वा ।

संसयकरणी जासा, वायम अव्वायमा चेव ॥ ४३ ॥

अनभिगृहीता भाषा-अर्थमनभिगृह्य योच्यते, हित्यादिवत् ।
भाषा चाभिग्रहे बोधव्या-अर्थमभिगृह्य योच्यते, घटादिवत् ।
तथा संशयकरणी च भाषा-अनेकार्थसाधारणा योच्यते, सैन्धव-
मित्यादिवत् । व्याकृता-रूपं प्रकटार्थ-देवदत्तस्यैव ज्ञातेत्यादि-
वत् । अव्याकृता चैव अस्पष्टाऽप्रकटार्थ-बालकादीनां थपनि-
केत्यादिवदिति गाथार्थः । उक्ताऽसंसृष्टमृषा । दश० ७ अ० ।

असंसृष्टोवाहिसच्च-असंसृष्टोपाधिसत्य-न० । सशब्दार्थत्वेनास-
त्या उपाधयो विशेषा बलयाहुलीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्व-
भेदानुयायिनः सुवर्णादिसामान्यात्मनस्तत् सत्यमसत्योपाधि-
इति । सम्म० १ काण्ड ।

असज्ज-अमज्जत्-त्रि० । सङ्गमकुर्वति, "असज्जमिच्छीसु वण्ण पूयण" आवा० १ भु० ५ अ० ४ उ० ।

असज्जमाण-असज्जत्-त्रि० । सङ्गमकुर्वति, वृत्त० १४ अ० । "ते कामजोगेसु असज्जमाणा, माणुस्सपसु जे यावि दिव्वा" ॥१४॥ वृत्त० १४ अ० । "असज्जमाणो य परिव्वज्जा" असज्जमानः सङ्गमकुर्वन् गृहपुत्रकन्यादिषु परिव्रजेदुद्युक्तविहारी । सूत्र० १ भु० १० अ० ।

असज्जभ्य-असाध्य-त्रि० । अशक्ये, पि० । अनिवर्त्तनीयस्वभावे, आ० म० छि० ।

असज्जाइय-अस्वाध्यायिक-न० । आ मर्यादया सिद्धान्तोक्तन्यायेन पठनम्-आध्यायः ; सुष्ठु शोभन आध्यायः स्वाध्यायः ; स एव स्वाध्यायिकम् । नास्ति स्वाध्यायो यत्र तदस्वाध्यायिकम् । रुधिरादौ स्वाध्यायाकरणहेतौ, प्रव० २६८ द्वार । न स्वाध्यायिकमस्वाध्यायिकम् । कारणे कार्योपचाराद् रुधिरादौ, घ० ३ अधि० ।

अस्वाध्याये स्वाध्यायो न कर्तव्यः—

णो कप्पइ निगंथाणं वा निगंथीणं वा असज्जाइए सज्जायं करित्तए; कप्पइ निगंथाणं वा निगंथीणं वा सज्जाइए सज्जायं करित्तए ॥

अस्य व्याख्या-न कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा अस्वाध्यायिके स्वाध्याय कर्तुम्; कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा स्वाध्यायिके स्वाध्याय कर्तुमिति सूत्राक्षरसंस्कारः ॥

अधुना भाष्यप्रपञ्चः—

असज्जाइयं च द्विविहं, आयसमुत्थं परसमुत्थं च ।

जं तत्थ परसमुत्थं, तं पंचविहं तु नायव्वं ॥

द्विविधं जलवस्वाध्यायिकम् । तद् यथा-आत्मसमुत्थं, परसमुत्थम् । चशब्दोऽस्वाध्यायिकतया तुल्यकक्षतासूचकः । तत्र यत् परसमुत्थं तत् पञ्चविधं ज्ञातव्यम् ।

तानेव पञ्च प्रकारानाह-

संजमयाउप्पाए, सदेवए दुग्गहे य सारीरे ।

एएसु करेमाणे, आणाइय मो उ दिट्ठतो ॥

संयमघाति सयमोपघातिकम्, औत्पातिकमुत्पातनिमित्तं, सदैवं देवताप्रयुक्तं, व्युद्ग्रह, शरीर च । एतेषु पञ्चैव स्वाध्यायिकेषु स्वाध्याय कुर्वत्याज्ञादयः । आज्ञामज्ञादयो दोषाः, तथाऽऽज्ञां तीर्थकराणां यो भजति, तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुणम् । अनवस्थयाऽन्येऽपि तथा करिष्यन्तीति, तत्रापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुणम्, यथा वादी तथा कारी न प्रवर्तते मिथ्यात्वं, तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं चतुर्गुणम् । विराधना द्विधा-नयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र सयमविराधना ज्ञानाचारविराधना । आत्मविराधनायामेवमुदाहरणम् ।

तदेवाह-

मेच्छजय घोसण निवे, दुग्गाणि अतीह मा विणस्सहिहा ।

फिडिया जे उ अतिगया, इयरा हय सेस निवदमो ॥

"कस्स वि रसो मेच्छसधावारो विसय आगतु इणियकामो, त मय जाणित्ता रसो सविसय सकसे वि घोसावियमिथ-मेच्छसधावारो आगतु विसय इणियकामो वट्ठति, तुज्जे दुग्गाणि अतीह । तत्थ जेहिं रसो आणा कया, ते मेच्छमयातो फि-

डिआ, जेहिं न कया आणा, ते मेच्छेहिं कूसिमा मारिया य, जे वि तत्थ केइ परिमुक्का ते वि रसो दडिया" ।

अकरयोजना त्वेवम्-म्लेच्छजन्यमाकर्ण्य नृपेण (गाथायां सप्तमी तृतीयाथै) घोषणा कारिता । यथा-दुर्गाण्यतिगच्छथ, मा विनङ्गुधथ, तत्र ये अतिगतास्ते म्लेच्छभयात् स्फिटिताः; इतरे हताः, कृतसर्वस्वापहाराश्च कृता । येऽपि शेषाः कथमपि म्लेच्छभयविप्रमुक्तास्तोषामाज्ञाभङ्गकरणतो नृपेण दण्डः कृतः । व्य० ७ उ० ।

"कितिप्रतिष्ठितपुरे, जितशत्रुर्नराधिपः ।

स्वदेशे घोषित तेना-गच्छति म्लेच्छभूषतौ ॥ १ ॥

त्यक्त्वा ग्रामपुरादीनि, दुर्गेषु स्थीयतां जनैः ।

ये राजवचसा दुर्ग-मारुढास्ते सुख स्थिताः ॥ २ ॥

नारुढा ये पुनर्दुर्गं, म्लेच्छाद्यैस्ते विलुपिटताः ।

आज्ञाजङ्गान् नृपेणापि, गतशेषं च दण्डिताः ॥ ३ ॥

अस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायाद्, दण्डः स्यादुभयादपि ।

देवताच्छन्नेत्येक, प्रायश्चित्तागमोऽपरः ॥ ४ ॥

इहलोके परस्मिन्, ज्ञानाद्यफसता भवेत् ॥ आ० क० ।

एव दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः—

राया इव तित्थयरो, जाणवया साहु घोसणं मुच ।

मेच्छा य असज्जाओ, रयणधणाइं व नाणादी ॥

अत्र राजा इव तीर्थकरः, जानपदा इव साधवः, घोषणमिव सूत्रं, म्लेच्छा इव अस्वाध्यायः, रक्षणधनानी च ज्ञानादीनि । तत्र ये साधवो जानपदस्थानीया राजस्थानीयस्य तीर्थकरस्याज्ञां नानुपालयन्ति, ते प्रान्तदेवतया उच्यन्ते, प्रायश्चित्तदण्डेन च दण्ड्यन्ते । व्य० ७ उ० । आ० क० ।

केन पुनः कारणेनाऽस्वाध्यायिके स्वाध्याय करोति?,

तत आह-

थोवावसेसपोरिसि, अज्जयणं वा वि जो कुणइ सोउं ।

णाणाइसारहीण-स्स तस्स उल्लना उ संसारे ॥

स्तोकावशेषायामपि पौरुष्यामध्ययनपाठ उद्देशोवाऽद्यापि समाप्तिर्न नीत इति कृत्वा उद्धाटायामपि पौरुष्यामस्तमिते वा सूर्ये, अथवा अस्वाध्यायिकमिति श्रुत्वाऽपि योऽध्ययनपाठम्, अपि-शब्दादुद्देशनं च करोति, तस्य ज्ञानादिभिरपि तत्त्वतोऽपगतं, तीर्थकराऽज्ञाभङ्गकरणादिति । ज्ञानादिभिरपि सारहीनस्य संसारे न-रकादिजन्ममलक्षणे उल्लना प्रवर्तते, अपारघोरसंसारे निपतनं प्रवर्ततेति प्रायः ।

अत्रैव दृष्टान्तान्तरं समभिधित्सुराह-

अह्वा दिट्ठतियरो, जह रसो पंच केइ पुरिसा उ ।

दुग्गादी परितोसिउ, तेहि अ राया अह कयाइं ॥

तो देति तस्स राया, नगरम्मी इच्छियं पयारं तु ।

गहिण य देइ मोल्लं, जणस्स आहारवत्थादी ॥

एगेण तोमियतरो, गिहेऽगिहे तस्स सव्वाहिं विधरे ।

रत्थाऽसुं चउएहं, एविह सज्जाइए उवमा ॥

अथवेति दृष्टान्तस्य प्रकारान्तरसूचने । इतरो दृष्टान्तः । यथा-राज्ञः केचित्पञ्च पुरुषाः सेवकास्तैरथ कदाचिद् राजा दुर्गादिषु पतितो निस्तारितः, तत्रापि तेषां पञ्चानां मध्ये एकेन केनचित्परमसाध्वसमवलम्ब्य न्यूनस्तर साहायिकमकारि, ततस्तेषां

तेनैकेन जितानां चतुर्णां राजा परितुष्टः सन् नगरे रथ्यादिषु गृहचर्यादिषु प्रचारमीप्सितं ददाति । यथा-‘यत्किमपि रथ्यायामापणादिषु, त्रिकचतुष्कचत्वरदिषु वा यदेव बस्त्राहारादिकं प्राप्नुयात् शुभमाकमेव’ । एव प्रसादे कृते वस्त्राहारादौ नगरादितः स्वेच्छया गृहीते, राजा यस्य सत्कं यद् गृहीतं, तस्य मूल्यं ददाति । येन चैकेन पुरुषेण भूयस्नरसाहायिकं कुर्वता राजा तोषिततरः, तस्य राजा गृहेऽगृहे वा सर्वत्र नगरमध्ये प्रचारमीप्सितं विरतिमन्तराऽनुजानाति । तत्रापि यस्य सत्कं तेन गृह्यते वस्त्राऽऽहारादि, तस्य मूल्यं राजा दीयते । इतरेणां चतुर्णां रथ्याऽऽदिष्वेव प्रचारमनुज्ञातवान्, न गृहेषु । एवमुक्तेन प्रकारेण इह प्रस्तुते ऽस्वाध्यायिके उपमादृष्टान्तः । तदेवमुक्तो दृष्टान्तः ।

सम्प्रति दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

पदमस्मि सन्वचेष्टा, सज्जाओ वा वि वारितो नियमा ।

सेसेसु य मज्जाओ, चेष्टा न निवारिआ अण्णा ॥

प्रथमेऽस्वाध्यायिके सयमोपघातिलक्षणे, सर्वा कायिकी वाचिकी चेष्टा, स्वाध्यायश्च नियमाद्वारितः, तोषकतरपुरुषस्थानीयतया तस्य सर्वत्र साधुव्यापारेषु प्रवृत्तेः । शेषेषु पुनः चतुर्ष्वस्वाध्यायिकेषु, स्वाध्यायः, स्वाध्याय एव केवलो निवारितो, नास्या कायिकी वाचिकी वा प्रतिलेखनादिका चेष्टा वारिता, तेषां शेषपुरुषचतुष्टयस्थानीयानां यहि रथ्यादाविच स्वाध्यायमात्र एव व्यापारजावात् । तदेव पञ्चस्यऽस्वाध्यायिकेषु सामान्यतो विशेषतश्चोदाहरणमुक्तम् ।

इदानीं प्रथममस्वाध्यायिकं संयमोपघाति प्ररूपयति-

महिया य भिन्नवासो, सच्चित्तरं य संजमे तिबिहे ।

दन्वे खेचे काहे, जहियं वा जच्चिरं सन्वं ॥

महिका गर्भमासे पतन्ती प्रसिद्धा, तस्यां, तथा गृहादौ यत्पतति वर्षे तद्भिन्नवर्षे, तस्मिन्, तथा सच्चित्तरजसि च, एवविधे त्रिप्रकारे सयमे-पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सयमोपघातिनि अस्वाध्यायिके निपतति, द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च वर्जनं प्रवति । तत्र द्रव्यतः-एतदेव त्रिविधमस्वाध्यायिकं द्रव्यम् । क्षेत्रतो-(जहियं ति) यावति क्षेत्रे तत्पतति तावत् क्षेत्रम् । कालतो-(यच्चिरं ति) यावन्त कालपतति तावन्त कालम् । जावत-सर्वं कायिक्यादिचेष्टादिकं वर्ज्यते ।

एनामेव गाथां व्याख्यानयति-

महिया उ गज्जमासे, वासे पुण ह्योति तिन्नि उ पगारा ।

बुवुएँ तच्च फुसीए, सच्चित्तरजो य आयंबो ॥

महिका गर्भमासे प्रतीता । गर्भमासो नाम कार्तिकादिर्यावत् माघमासः । वर्षे पुनस्त्रयः प्रकारा भवन्ति । तानेवाह-(बुवुएँ ति) यत्र वर्षे निपतति पानीयमध्ये बुद्बुदास्तोयशलाकारूपाः उत्पद्यन्ति, ततो वर्षमप्युपचाराद् बुद्बुदमित्युच्यते । तद्वर्जं बुद्बुदवर्जं द्वितीयं वर्षम्, तृतीयं (फुसीए ति) जलस्पर्शकनिपतन्त्यं, तत्र बुद्बुदे वार्यनिपतति यामाष्टकादूर्ध्वम् । अन्ये तु व्याचक्रते-त्रयाणां दिनानां परतः, तद्वर्जं पञ्चानां दिनानां जलस्पर्शकारूपे सप्तानां परतः सर्वमपकायस्पृष्टं प्रवति । ततस्तत्र द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो जावतश्च वर्जनं प्राग्वद्भावनीयम्, यावच्चापकायमयं न भवति, यावदुपाश्रयो निर्गलस्तत्र सर्वं स्वाध्यायप्रतिलेखनादि क्रियते, यदिस्तु निर्गम्यते इति । ‘सच्चित्तरजो’ नाम-व्यवहारसमान्विता वातोद्धता ऋद्धणधूलिः, तच्च सच्चित्तरजो

वर्ज्यते, ततोऽस्यां गाथाया पुस्तकं प्राकृतत्वात् । तच्च दिगन्तरेषु दृश्यते, तदपि निरन्तरपाते त्रयाणां दिनानां परतः सर्वपृथिवीकायाभावितं करोति, तत्रापि पतितद्रव्यादितो वर्जनं प्राग्वत् ।

तदेव व्याख्यातुमाह-

दन्वे तं चियं दन्वं, खेचे जहियं तु जच्चिरं काहे ।

गाणादि जास जावे, मोत्तु ऊसासउम्मेसं ॥

द्रव्ये द्रव्यतः तदेवास्वाध्यायिकं माहिकं भिन्नवर्षं सच्चित्तरजो वा वर्ज्यते । क्षेत्रतो-यत्र क्षेत्रे निपतति, कालतो-यावच्चिरं कालपतति, भावतो-मुक्त्वा उच्छ्वासमुन्मेषं च, तद्वर्जने जीवितव्याघातसम्भवात् । शेषा स्थानादिकाम्, आदिशब्दाद् गमनागमनप्रतिलेखनादिपरिग्रहः । कायिकां चेष्टां भाषा च वर्जयति ॥

वासत्ताणाऽऽवरिया, निक्कारणं ठवंति कज्जं जयणाए ।

इत्थं गुलिसन्नाए, पोत्तावरिया व जासंति ॥

निष्कारणे कारणाभावे वर्षत्रयाणां कम्बलमयः कल्पः, तेन सौत्रिककल्पान्तरितेन सर्वात्मना भावृतास्तिष्ठन्ति, न कामपि क्षेत्रतोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति । कार्ये तु समापतिते यतनया इत्तसङ्ख्या अहुत्तिसङ्ख्या च व्याहरन्ति । पोत्ताऽऽवरिया वा प्रापन्ते ग्लानादिप्रयोजने वर्षाकल्पाऽऽवृता गच्छन्ति । गतं सयमोपघात्यऽस्वाध्यायिकम् ।

इदानीं मौत्पातिकमाह-

पंसुयमंसयरुहिरं-केसरिहावुद्धिं तह रओघाए ।

मंसरुहिरंऽहरत्तं, अवसेसे जच्चिरं सुत्तं ॥

अत्र वृष्टिशब्दः प्रत्येकमभिसव्ययते । पांशुवृष्टौ, रुधिरवृष्टौ केशवृष्टौ, शिलावृष्टौ च । तत्र पांशुवृष्टिर्नाम यदि रजो निपतति, मांसवृष्टिर्मांसजपूरानि पतन्ति, रुधिरवृष्टिः-रुधिरादिन्द्रवः पतन्ति । केशवृष्टिर्द्वारा केशाः पतन्ति, शिलावृष्टिः-पाषाण-निपतनं, करकादिशिलावर्षमित्यर्थः । तथा-रजउद्धाते रजस्वलासु दिक्षु सूत्रं न पठ्यते, शेषाः सर्वा अपि चेष्टाः क्रियन्ते । तत्र मांसे रुधरे च पतति अहोरात्रं वर्ज्यते, अवशेषे पांशुवृष्ट्यादौ यावच्चिरं पांशवादिपतनकालं, तावत् सूत्रं नन्द्यादिर्न पठ्यते, शेषकालं तु पठ्यते ।

सम्प्रति पांशुरजउद्धातव्याख्यानमाह-

पंसू अ अचित्तरजो, रयोसलाओ दिसा रउग्घाते ।

तत्थ सवाते निव्वा-यए य सुत्तं परिहरंति ॥

पांशवो नाम धूमाकारमापाणुरमचित्तरजः । रजउद्धातो रजस्वला दिशः, यासु सतीषु समन्ततोऽन्धकार इव दृश्यते. तत्र पांशुवृष्टौ, रजउद्धाते वा सवाते निर्वाते च पतति यावत्पतनं तावत्सूत्रं परिहरन्ति ॥

अत्रैवापवादमाह-

साभाविणं तिप्पि दिणा. सुगिम्हए निक्खिन्वन्ति जइ जोगं ।

तो तम्मि पन्तम्मी, कुण्णंति संवच्छरज्ज्जायं ॥

यदि सुग्रीष्मकालप्रारम्भ उष्णप्रारम्भे, चैत्रशुक्लपक्षे इत्यर्थः । इ-शम्याः परतो यावत् पौर्णमासी, अप्रान्तरे निरन्तरं त्रीणि दिनानि यावत् यदि योगं निक्षिपन्ति एकादश्यादिषु त्रयोदशीपर्यन्तेषु, यदि वा त्रयोदश्यादिषु पौर्णमासीपर्यन्तेषु अचित्तरजोऽपहेठ-

नार्थं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति, तदा तस्मिन् पांशुवर्षे रजोदधाने वा स्वाभाविके पतति, सवत्सर यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति, इतरथा नेति । न्य० ७ उ० । “दसविहे ओरालिप असज्जाइय पण्णत्ते । तज्जा-अट्ठी मंसे सोणिण असुइसामन मसाणसामन चदोवराण सूरु-घराण पण्णे रायवुग्गह उवस्सयस्स अतो ओरालिप सरीरे” । (स्था०) “दसविहे अतसिक्खिण असज्जाइय पण्णत्ते । तं जहा-उक्कावाप दिसिदाहे गज्जिण वीज्जुण निग्घाण जूयण जक्खसिक्खिण धूमिण महिया रज्जुग्घाण” । स्था० १० ठा० । भा० सू० । न्य० ।

इदानीं सदेवमाह-

गंधर्वदिसाविज्जुक्क-गज्जितए जूवज्जखदित्ते य ।

एकेकपोरिमि ग-ज्जियं तु दो पोरिसिं हणति ॥

गन्धर्वनगर नाम यश्चक्रवर्त्यादिनगरस्योत्पत्तिसूचनाय सध्या-समये तस्य नगरस्योपरि द्वितीयं नगरं प्राकारादालकादिस-स्थितं दृश्यते (दिसं स्ति) दिग्दाहः, विद्युत्प्रतीता, उल्का सरेखा, प्रकाशयुक्ता वा, गर्जितं प्रतीतं, यूपको वक्ष्यमाणलक्षणः, यत्त-दीप्तं नाम एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा यद् दृश्यते विद्युत्सदृशं प्रकाशः । एतेषु मध्ये गन्धर्वनगरादिकमेकैकामेककां पौरुषीं च हन्ति, गर्जितं पुनर्द्वे पौरुषीं हन्ति ।

गंधर्वनगर नियमा, सदेवयं सेसगाणि भजिणीओ ।

जेण न नज्जांति फुडं, तेण य तेसिं तु परिहारो ॥

अत्र गन्धर्वनगरादिषु मध्ये गन्धर्वनगरं नियमात्सदेवकम्, अन्यथा तस्याभावात् । शेषकाणि तु दिग्दाहादीनि भक्तानि विकल्पितानि, कदाचित् स्वभाविकानि भवन्ति, कदाचित् देवकृतानि । तत्र स्वभाविकेषु स्वाध्यायो न परिह्रियते किन्तु देवकृतेषु परम् । येन कारणेन स्फुटं वैविक्त्येन तानि न ह्रायन्ते, तेन तेषामविशेष-परिहारः ।

सम्प्रति दिग्दाहादिव्याख्यानमाह-

दिसि दाहं विज्जमूलो, लक्क सरेहा पगासज्जुत्ता वा ।

संज्जच्छेयाऽऽवरणो, उ जूवओ सुक्कदिण तिप्पि ॥

दिशि पूर्वादिकायां विज्जमूलो दाहं प्रज्वलनं दिग्दाहः । किमुक्कं जवति ?—अन्यतमस्या दिशि महानगरप्रदीप्तमि-धोपरि प्रकाशोऽधस्तादन्धकार इति दिग्दाहः । उल्का पृष्ठन-सरेखा, प्रकाशयुक्ता वा । यूपको नाम शुद्धे शुक्लपक्के त्रीणि दिनानि यावत् द्वितीयस्या तृतीयस्या चतुर्थी चेत्यर्थः । सध्याच्छेदः सध्याविभागः, स आत्रियने येन स सध्याच्छे-दावरणश्चन्द्रः । इयमत्र भावना-शुक्लपक्कद्वितीयातृतीयाचतुर्थी-रूपेषु त्रिषु दिनेषु सध्यागतश्चन्द्र इति कृत्वा सध्या न विभाव्य-ते, ततस्तानि शुक्लपक्के त्रीणि दिनानि यावत् चन्द्र सध्या-च्छेदावरणं स यूपक इति । एतेषु च त्रिषु दिवसेषु प्रादोषि-क्री पौरुषी नास्ति, सध्याच्छेदादिभयनादिति ।

अत्रव मतान्तरमाह-

केसिंचि होंति मोहा, उ जूवओ ते तु होंति आइष्ठा ।

जेसिं च अण्णइत्ता, तेसिं खलु पोरिसी दोष्णि ॥

केषाञ्चिदाचार्याणां मतेन ये भवन्ति शुक्लपक्के प्रतिपदा-दिषु दिवसेषु मोघा शुभाशुभमूचननिमित्ता विनयोत्पादा आदित्यकिरणविकारजनेना आदित्यस्योदयभयमेव अस्तमय-समये वा आताप्रा, कृष्णइयामा वा ‘यूपक इति’ ते भवन्ति ।

वर्तन्ते आचीर्णा, नैतेषु स्वाध्यायं परिह्रियते इत्यर्थः । येषां त्वाचार्याणामनाचीर्णास्तेषां मतेन यूपको द्वे पौरुषीं हन्ति ।

न केवलममूनि सदेवानि, किन्त्वमून्यपि, तान्येवाह-

चदिममूरुपगगा, निग्घाण गुज्जिने अहोउत्त ।

चद जहृषेणऽह उ, उक्कोसा पोरिमि विउक्क ॥

सूरो जहृष वागस, उक्कोसं पोरिमीउ सोद्वमओ ।

सगह निव्वुन एव, सुगादी जेणऽहोरत्ता ॥

चन्द्रोपरागे सूर्योपरागे च, तद्दिनापरागे इति वाक्यशेषः । तथा-साध्वे निरग्ने वा न तस्मिन् व्यन्तरक्तानो महागर्जितसमो ध्वनिनिर्घा-तः । गर्जितस्यैव विकारो गुरुजावत् गुरुजमानो महाध्वनिगु-ञ्जित, तस्मिन् निर्घाते गुञ्जितं च, प्रत्येकमहोगात्रं यावत् स्वा-ध्यायपरिहारः । तत्र जघ यन् उत्कर्षनश्च चन्द्रोपरागं सूर्यो-परागं वाऽधिकृत्य स्वाध्यायोचिनकालमानमाह-च द्वो जघन्ये-नाष्टौ पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षनं पौरुषीर्हृत्पदकम् द्वादश पौरुषी-रित्यर्थः । कथमिति चेत् ? उच्यते-उक्तं चन्द्रमा राहुणा गृ-हीतस्ततश्चतस्रं पौरुषीं रात्रेर्हन्ति चतस्रं आगामिनो दिवसस्य, एवमष्टौ । द्वादश पुनरेवम्-प्रभातकाले चन्द्रमा सग्रह एवास्त-मुपगतं ततश्चतस्रं पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति, चतस्रं आगामिन्या रात्रे, चतस्रो चितीयस्य दिवसस्य । अथवा-श्रौत्यानिकग्रहणेन सर्वरात्रिकं ग्रहणं जानम, सग्रह एव निमग्नः ततः सदापितरात्रे-श्चतस्रं पौरुषीं, अन्यथाहोरात्रम् । अथवा-अभ्रच्छन्नतया विशेष-परिज्ञानाभावाच्च न ज्ञान-कस्या वेलाया ग्रहणं, प्रभाते च ग्रहो-निमज्जनं दृष्टं, ततः समग्ररात्रिं परिहृता, अन्यथाहोरात्रमिति द्वा-दश । सूर्यो जघन्येन द्वादश पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतं षोडश । कथ-मिति चेत् ? उच्यते-सूर्यः सग्रह एवास्तमुपगतश्चतस्रं पौ-रुषीं रात्रेर्हन्ति, चतस्रं आगामिनो दिवसस्य, चतस्रस्ततः पर-स्या रात्रे, एव द्वादश । षोडश पुनरेवम्-सूर्य उक्तं राहुणा गृही-तः सकृच्च दिनं समुत्पत्तयशात्सग्रहः स्थित्वा सग्रह एवास्त-मुपगतः । ततश्चतस्रं पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति, चतस्रं आगामिन्या रात्रे, ततश्चतस्रं परदिवसस्य, ततोऽपि चतस्रं परतराया रात्रे, एव षोडश पौरुषीर्हन्ति, सग्रहनिमग्नः, सग्रह एवास्तमितः । तथा चोक्तम्-“एय उग्गमल्लन्न गहिण सगहनिव्वुमे दडुव्व-मिति” । (सूरादी जेणऽहोरत्तं स्ति) सूर्यादयो येनाहोरात्रा ।

ततः किमित्याह-

आइत्तं दिणमुक्के, सो चिय दिवसो य राती य ।

निग्घायगुंजणसुं, सो चिय वेला उ जा पत्ता ॥

यत सूर्यादिरहोरात्रं, ततो दिनमुक्ते सूर्य-स एव दिवसः, सैव च रात्रिः । स्वाध्यायिकतया परिह्रियते । चन्द्रे तु तस्यामेव रात्रौ मुक्ते यावदपरश्चन्द्रो नोदेति, तावदस्वाध्यायः, इति सैव रात्रिः, अपरं च दिनमिति, एवमहोरात्रमस्वाध्यायः । अन्ये पुनराहुराचीर्णमिदम्-चन्द्रो रात्रौ गृहीतो रात्रावेव मुक्तः, तस्या एव रात्रेः शेषं वर्जनीयं यस्माद्भागामिसूर्योदये समाप्ति-रहोरात्रस्य जाता । सूर्योऽपि यदि दिवा गृहीतो दिवैव मुक्त-स्तस्यैव दिवसस्य शेषः, रात्रिश्च वर्जनीया इति । तथा निर्धा-तगुञ्जितयोः प्रत्येकम्, यस्या वेलाया निर्धातो गुञ्जितं वाऽधि-कृते दिने भवेत्, द्वितीयेऽपि दिने यावत्सैव वेला प्राप्ता भवति तावदस्वाध्याय एव । तथोरप्यस्वाध्यायस्याहोरात्रप्रमाणत्वात् ।

उक्त च-निर्घातो गुञ्जित च लोकप्रतीतौ, “ एष अहोरत्त उ-
वहणति चि ” ।

तथा-

चउसंजासु न कीरइ, पाभिवएसुं तहेव चउसुं पि ।
जो जत्थ पूजती तं, सव्वेहि सुगिम्हतो नियमा ॥

चतस्रः सन्ध्या, तिस्रो रात्रौ । तद्यथा-प्रस्थिते सूर्ये, अर्धरात्रे, प्रभाते च; चतुर्थी दिवसस्य मध्यभागे । एतासु चतसृष्वपि स्वा-
ध्यायो न क्रियते । शेषक्रियाणां तु प्रतिद्वेक्षनाऽऽशीनां न प्रति-
षेधः । स्वाध्यायकरणे चाज्ञाभङ्गादयो दोषाः । तथा-चतस्रः प्रति-
पदः । तद्यथा-आषाढपौर्णमासीप्रतिपत्, अश्वयुक्पौर्णमासीप्र-
तिपत्, कार्तिकपौर्णमासीप्रतिपत्, सुप्रीष्मप्रतिपत्, चैत्रमासपौ-
र्णमासीप्रतिपदित्यर्थः ४ । एतास्वपि चतसृष्वपि प्रतिपत्सु तथै-
व-स्वाध्याय एव न क्रियते, न शेषक्रियाणां प्रतिषेधः । इह प्रति-
पद्ग्रहणेन प्रतिपत्पर्यन्ताश्रित्वारो महा. सूचिना इति, एषां चतुर्णां
महानां मध्ये यो महो यस्मिन् देशे यतो दिवसादारभ्य
यावन्त कालं पूर्यते तस्मिन् देशे ततो दिवसादारभ्य तावन्त
कालं स्वाध्याय न कुर्वन्ति । यत्पुनः सर्वेषां पर्यन्तः “सव्वेसि जाव
पाभिवतो” इति वचनात् सुप्रीष्मकश्चैत्रमासमासी पुनर्महा-
महः सर्वेषु देशेषु शुक्लपक्षप्रतिपद आरभ्य चैत्रपूणमासीप्र-
तिपत्पर्यन्तो नियमात् प्रसिद्धः, ततो यद्यध्वान प्रतिपन्नस्तथापि
चैत्रमासस्य शुक्लपक्षप्रतिपद आरभ्य सर्वे पक्ष पौर्णमासीप्रति-
पत्पर्यन्त यावदवश्यमनागाढो योगो निक्षिप्यते, शेषेषु आगाढा-
दिकेषु योगो न निक्षिप्यते, केवलं स्वाध्याय न कुर्वन्ति । गत
सदेवमस्वाध्यायिकम् । अ० ७ उ० १० । ग० ।

“जो कप्पइ णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा चउहिं महापाणि-
वपहिं सज्जाय करेत्तए । त जहा-आसाढपाडिवप, इदपाडिवप,
कत्तिअपाभिवप, सुगिम्हपाभिवप । जो कप्पइ णिग्गथाण वा
णिग्गथीण वा चउहिं सज्जाहिं सज्जाय करेत्तए । त जहा-पढ-
माए पच्छिमाए मज्झएहे अद्धरत्ते । कप्पइ णिग्गथाण वा णि-
ग्गथीण वा चउक्काल सज्जायं करेत्तए । पुव्वएहे अचरएहे
वओसे पच्चूसे ।” स्था० ४ उ० २ उ० ।

इदानीं व्युद्ग्रहजमाह-

बुग्गह दंभियमादी, संखोमे दंडिए य कालगते ।

अणरायए य सज्जए, जच्चिरमनिदोच्चऽहोरत्त ॥

व्युद्ग्रहे परस्परविग्रहे दण्डिकादीनाम्, आदिशब्दात्सेनापत्या-
दीनां च परस्पर विग्रहे अस्वाध्यायः । इयमत्र भावना-द्वौ दण्डिकौ
सस्कन्धावारौ परस्पर सग्राम कर्तुकामौ यावन्नोपशम्यत-
स्तावत्स्वाध्याय कर्तुं न कल्पते । किं कारणमिति चेत् ? , उ-
च्यते-तत्र वाणमन्तरा कौतुकेन स्वस्वपक्षेण समागच्छन्ति, ते
बलयेयुः, भूयसां च लोकानामप्रीतिः-वयमेव भीता वर्तामहे,
कामप्यापदं प्राप्स्यामः, एते च भ्रमणका निर्दुःखं पठन्ति ।

अत्राऽऽदिशब्दव्याख्यानार्थमिमां गाथामाह-

सेणाहिवभोइयमह-यरपुंसित्थीण मद्दुजुद्धे वा ।

होडादिजंमणे वा, गुज्जगउड्डाह अविचत्तं ॥

द्वयोः सेनाधिपत्योर्द्वयोर्वा तथाविधप्रसिद्धिपात्रयोः, तयोः
परस्पर व्युद्ग्रहे वर्तमाने, अथवा मद्दुजुद्धे, तथा-द्वयोः ग्रामयोः

परस्पर सकलुषभावे बहवस्तृणाः परस्परं लोष्टैर्युध्यन्त, ततो
यष्टिभिर्वा लोष्टादिभिर्वा परस्परं भ्रमणे कलहे यावन्नोपशमो
भवति सेनाधिपादिव्युद्ग्रहस्य तावत्स्वाध्यायः । अत्र कार-
णमाह-(गुज्जगउड्डाह अविचत्तं) गुह्यकाः कौतुकेन प्रेक्षमाणा-
भ्रूलयेयुः, तथा बहुजनो ‘निर्दुःखा एते’ इति मन्यमानोऽप्रीत्यो-
ड्डाहं कुर्यात्-‘लोकोपचारबाह्या एते’ इति । तथा-दण्डिके काल-
गते (अणरायए) यावदन्यो राजा नाभिषिक्तो भवति तावत्प्र-
जानां महान् सङ्कोभो भवति, तस्मिन्सङ्कोभे सति स्वाध्यायो न
कल्पते । किमुक्तं भवति? यावत्सङ्कोभस्तावदस्वाध्यायः । अत्रापि
पूर्वोक्ता दोषाः । सभय म्लेच्छादिभयाकुल, तस्मिन्नपि स्वाध्यायो
न कर्तव्यः । एतेषु व्युद्ग्रहादिष्वस्वाध्यायविधिमाह-(जच्चि-
रमनिदोच्चहोरत्त) व्युद्ग्रहादिषु यच्चिर यावन्तं कालम्, (अनिदोच्चं
ति) अनिर्जयमखल्यमित्यर्थः । तावन्तं कालमस्वाध्यायः । स्वस्म-
वनानन्तरमप्येकमहोरात्रं परिहृत्य स्वाध्यायः कर्तव्यः ।

उक्त च-

“निहोसीभूते वि अ-होरत्तमो परिहरित्ता उ ।

सज्जाओ कीरइ इह, संखोमे दंडिए य कालगए ॥”

अनेनैतदपि सूचितमस्ति ततस्तदभिधित्सुः “संखोमे
दंडिए” इत्येतदपि व्याख्यानयति-

दंभिए कालगयम्मी, जा संखोभो न कीरते ताव ।

तद्विवस भोइमहतर-वाग्गपतिसेज्जयरमादी ॥

दण्डिके कालगते सति यावत्सङ्कोभस्तावत्स्वाध्यायो न क्रियते,
अन्यस्मिन्सु सुरादि स्थापितेऽहोरात्रातिक्रमेण क्रियते, स्व स्थ-
भवनात् । तथा-जोड्डिके ग्रामस्वामिनि, मद्दुचरिके ग्रामप्रधाने, वा-
टकपतौ वसत्यनुरते वाटकैकस्वामिनि, तथा-शय्यातरे, आदि-
शब्दादन्यस्मिन्वा शय्यातरे सन्नधिनि मानुषे कालगते, तद्वि-
समस्वाध्यायः, एकमहोरात्रं यावत्स्वाध्यायपरिहार इत्यर्थः ।

तथा-

पगए बहुपक्खिए वा, सत्तपरंतर मते च तद्विवसं ।

निहुक्ख चि य गरिहं, न पढंति सणीयगं वा वि ॥

अन्योऽपि यो नाम ग्रामे प्रकृतेऽधिकृतो महामनुष्यः, तस्मिन्;
यदि वा-बहुपाक्षिके बहुस्वजने कालगते, अन्यस्मिन्वा प्राकृते
स्ववसत्यपेक्षया सप्तगृहान्यन्तरे कालगते तद्विवसमेकमहोरा-
त्रमस्वाध्यायः । किं कारणमत आह-‘निर्दुःखा अमी’ इत्यप्रीत्या
गर्हणसंभवात्, ततो न पठन्ति । अथवा-तथा पठन्ति यथा न
कोऽपि गृणोतीति । महिष्वादिदंशक्योऽपि यावत् श्रूयते ता-
वन्न पठन्ति ॥

हत्थसयमणाहम्मी, जइ सारियमादितो विमिचिज्जा ।

तो मुच्छं आविविचे, अन्नं वसहिं वि मगंति ॥

कोऽप्यनाथो हस्तशताभ्यन्तरे मृतः, तस्मिन्नाथे हस्तशताभ्य-
न्तरे कालगते स्वाध्यायो न क्रियते । तत्रैवं यतना-शय्यातरस्य
वा, तथाविधस्य भ्रमकस्य वा भद्रकस्य वार्त्ता कथ्यते-यथा
स्वाध्यायान्तरायमस्माकमनाथमुनकेन कृतमस्ति, ततः सुन्दरं
भवति यदीदं उच्यते । एवमभ्यर्चितो यदि शय्यातरादिविगिञ्च-
येत् परिष्ठापयेत्, ततः शुरु भवतीति स्वाध्याय कार्यः । अथ न
शय्यातरादिर्न कोऽपि परिष्ठापयितुमिच्छति तदा तस्मिन्नाथे
मृतके आविविचे अपरिष्ठापिते अन्यां वसतिं मार्गयन्ति ।

असज्जाइय

असज्जाइयं असती, तादे रात्ते वसभा विवेचंति ।
विकिन्ने व समंता, जं दिष्ट अरादण मुष्ठा ॥

अन्यस्या वसतेरभावो यदि, ततो रात्रौ सागरिकासलोके वृष-
भास्तदनाथमृतक विविचन्ति, अन्यत्र प्रक्षिपन्ति । अथ तत्कले-
वर च शुगाद्यादिभिः समन्ततो विकीर्णं, ततो विकीर्णं तस्मिन्स-
मन्ततो निभालयन्ति, तत्र यद् दृष्टं तत्सर्वमपि विविचन्ति । इतर-
स्मिन्स्तु प्रयत्ने कृतेऽप्यदृष्टे 'अराठा' इति कृत्वा शुकाः स्वाध्याय
कुर्वन्तोऽपि न प्रायश्चित्तभागिन इति भावः । गत व्युत्पन्नजम् ।

इदानीं शारीरिकमाह—

शारीरं पि य दुविहं, माणुसतेरिच्छियं समासेण ।
तोरिच्छं तत्थ तिहा, जलथलखद्वजं पुणो चण्डहा ॥

शरीरे जवं शरीरं, नदपि समासेन संक्षेपतो द्विविधं द्विप्रका-
रम् । तद्यथा-मानुष तैरश्च च । तत्र तैरश्चं त्रिधा-जलज जलम-
त्स्यादितिर्यग्जवम्, एव गवादीनां स्थलज, खजं मयूरादी-
नाम् । पुनरैकैक चतुर्धा-चतु प्रकाराः ।

तानेव प्रकारानाह—

चम्म रुहिरं च मंसं, अट्ठि पि य होइ चणविगपं तु ।
अहवा दव्वाइयं, चणव्विहं होइ नायव्वं ॥

चर्म शोणित रुधिर मांसमस्थि इत्येतानि प्रतीतानि । एवमे-
कैक जलजादि चतुर्विकल्प जवति । अथवा-जलजादिक प्रत्ये-
क चर्मादिजेदतश्चतुर्विकल्प सत्पुनर्द्वयादिक द्रव्यादिजेदत-
श्चतुर्विध भवति ज्ञातव्यम् ।

तानेव प्रत्येक द्रव्यादीन् चतुरो भेदानाह—

पंचिदियाण दव्वे, खित्ते सठिहत्थ पोगलाकिस्से ।
तिक्कुरत्थंतरिए वा, नगरे दाहिं तु गामस्स ॥

द्रव्ये-द्रव्यत पञ्चेन्द्रियाणां जलजादीनां चतुष्टयमस्वाध्या-
यिक, न विकल्पोन्द्रियाणाम् । क्षेत्रे-क्षेत्रतः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे परिह-
रणीयं, न परतः । अथ तत्स्थान तैरश्चेन पौत्रलेन मांसेन समन्ततः
काककुर्कुराऽऽदिभिर्व्याप्तिसेनाऽऽकीर्णं व्याप्तं, तदा यदि सग्राम-
मस्तर्हि तस्मिन् तिसृभिः कुरथ्याभिरन्तरिते विकीर्णं पुद्गले
स्वाध्यायः क्रियते । अथवा-नगरे, तदा तत्र यस्यां राजा सबल-
वाहनो गच्छति, देवयान, रथो वा, विविधानि वा सबाहनानि ग-
च्छन्ति, तथा महत्याऽप्येकया स्थया अन्तरिते स्वाध्यायः कार्यः ।
अथ स ग्राम समस्तोऽपि विकीर्णं पौत्रलेन व्याप्यते, तदा ग्रामस्व
बहिः स्वाध्यायो विधेयः । गता क्षेत्रतो मार्गणा ।

सप्रति कालतो भावतश्च तामाह—

काद्वे तिपोरिसि अट्ट व, जावे सुत्त तु नंदिमादीयं ।
बहिधोरप्पपके, वूढे वा होति सुद्धं तु ॥

तत एकैक जलजादि गत चर्मादि कालतस्तिष्ठ पौरुषीर्हन्ति ।
(अष्ट वेति) यत्र महाकायपञ्चेन्द्रियस्य मूषिकादेराहननं तत्रा-
ष्टौ पौरुषीर्यावत्स्वाध्यायविघातः । गता कालतोऽपि मार्गणा ।
भावत आह-भावतो नन्द्यादिक सूत्रं न पठति (बहिधोरप्पत्त्यादि)
यदि षष्टिहस्तेभ्यः परतो बहिः प्रकाल्य मांसमानीन, यदि वा
राक्षा स्यादी पाकेन, तदा तस्मिन् बहिर्धौते यही राद्धे बहिः पके
वा तत्रानीते शुरुम्, अस्वाध्यायिकं न भवतीति भावः । अथवा-

यत्र षष्टिहस्ताभ्यन्तरे पतितमस्वाध्यायिक रुधिरं, तेनावकाशेन
पौनीयप्रवाह आगतः, तेन व्यूढं, तदा पौरुषीत्रयमध्येऽपि
शुरुमस्वाध्यायिकमिति स्वाध्यायः कार्यः ।

अतो पुण सट्ठीणं, धोयम्मी अवयवा तहिं होंति ।
तो तिप्पि पोरिसीओ, परिहरियव्वा तहिं हुंति ॥

यदि पुनः षष्टिहस्तानामभ्यन्तरे मांसं प्रकालयति तदा तस्मिन्
धौते यतस्तत्र नियमादवयवाः पतिता भवन्ति, ततस्तिष्ठः पौरु-
ष्यः स्वाध्यायमधिकृत्य तत्र परिहर्तव्या भवन्ति ।

'अठ वा' इति यदुक्तं तदिदानीं भावयति—

महाकाये ऽहोरत्तं, मंजारादीण मूसगादि हते ।
अविभिस्से गिस्से वा, पणंति एगे जइ पट्ठाति ॥

महाकाये मूषिकादौ मार्जारादिना हते मारिते अहोरात्रमष्टौ
पौरुषीर्यावद्ऽस्वाध्यायः । अत्रैव मतान्तरमाह—(अविभिस्से इ-
त्यादि) एके प्राहुः—यदि मार्जारादिना मूषिकादिरविभिन्न एव
सन् मारितो मारयित्वा च गृहीत्वा, अथवा गलित्वा तत स्था-
नात्पलायते, तदा पठन्ति साधवाः सूत्रं, न कश्चिद्दोषः । अन्ये ने-
च्छन्ति—यतः कस्त जानाति अविभिन्नो भिन्नो वा मारित इति ।
अपरे एवमाहुः—यत्र मार्जारादि स्वयं मृतोऽन्येन वा केनाप्यवि-
भिन्न एव सन् मारितस्तत्र यावत्कलेवरं न भिद्यते तावन्नाऽ-
स्वाध्यायिकम्, विभिन्ने अस्वाध्यायिकमिति । तदेतदसमीचीन-
म् । यतश्च कर्मादिभेदतश्चतुर्विधमस्वाध्यायिकं, तस्मादविभि-
न्नोऽप्यस्वाध्यायिकम्—तस्मादविभिन्नेऽप्यस्वाध्याय एव ।

अतो बाह च भिन्ने, अंमयविंदू तहा वियाताए ।
रायपहवूढसुद्धे, परवयणे साणमादीणि ॥

अन्तरुपाश्रयमध्ये, यदि चोपाश्रयाद् बहिः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे
अण्डके पतिते यदि तदण्डकमभिन्नमद्याप्यस्ति, तदा तस्मिन्नु-
ज्झिते स्वाध्यायः कल्पते । अथवा—पतितं सत् तदण्डकं जि-
ह्व-तस्य वाऽण्डकस्य कलिलबिन्दुर्भूमौ पतितः, तदा जिह्वे अ-
ण्डके, बिन्दौ च भूमौ पतिते न कल्पते स्वाध्यायः । अथ कलिलं
पतितं सदण्डकं जिह्व कलिलबिन्दुर्वा तत्र लग्नः, तदा तस्मि-
न् षष्टिहस्तेभ्यः परतो बहिर्नीत्वा धौते कल्पते । तथा—विजाता-
यां प्रसूतायां तैरश्चामस्वाध्यायः पौरुषीत्रितय यावत् । तथा-
ये राजपथे अस्वाध्यायिकबिन्दवो गलितास्ते न गणयन्ते । तथा-
ऽन्यत्र प्रतिपतित एवास्वाध्यायिकम्, ततो वर्षोदकप्रवाहेण त-
स्मिन् व्यूढे कल्पते । अत्र श्वादिकमाभित्य परस्य वचनं, तदग्रे
भावयिष्यते । इति गाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीशुरिदमाह—

अंढयसुज्झियकप्पे, न य च्छुमि खणंति इहरहा तिप्पि ।
असज्जाइयपरिमाणं, माच्छियपाया जहिं खुप्पे ॥

यद्यण्डकमभिन्नमेव पतितं, तदा तस्मिन्नुज्झिते स्वाध्या-
यः कल्पने, अथ जिह्व तदा न कल्पते । न च भूमिं खन-
न्ति, इतरथा भूमिखननेन यदि तदस्वाध्यायिकमपनयन्ति त-
थाऽपि तिष्ठः पौरुषीर्यावत्स्वाध्यायः । अण्डकबिन्दुरस्वाध्या-
यिकस्य प्रमाणं, यत्र मक्षिकापादा निमज्जन्ति । किमुक्तं भव-
ति?—यावन्मात्रे मक्षिकापादा भ्रुमन्ति तावन्मात्रेऽप्यण्डकवि-
न्दौ भूमौ पतति सति अस्वाध्यायः ।

अधुना 'विधाताए' इति व्याख्यानार्थमाह-

अजराउ तिष्ठि पोरिसि, जराउयाणं जरे पामिणं तिष्ठि ।
निज्जतुवस्सपुरतो, गलियज्जति निगलं होज्जा ॥

अजरायुप्रसूतास्तिस्रः पौरुषीः स्वाध्यायं हन्ति अहोरात्र-
च्छेदं मुक्त्वा, अहोरात्रे तु त्रिन्ने आसन्तायामपि प्रसूतायां
कल्पते स्वाध्यायः, जरायुजानां यावज्जरायुर्धम्बते तावदस्वा-
ध्यायः, जरायौ पतितेऽपि सति तदनन्तरं तिस्रः पौरुषीयाव-
दस्वाध्यायः । तथा-उपाश्रयस्य पुरतो नीयमानं तदस्वाध्यायिकं
गणितं भवति, तदा पौरुषीयवदस्वाध्यायः । यदि पुनर्निर्गतं
भवेत्तदा तस्मिन्नीते स्वाध्यायः ।

"रायपहं वूढे" इति व्याख्यानार्थमाह-

रायपहे न गणिज्जति, अहं पुणं अस्मत्थं पोरिसी तिष्ठि ।
अहं पुणं वूढं हुस्सा, वासोदेणं ततो सुप्पं ॥

राजपथे यद्यस्वाध्यायिकविन्दवो गलिनास्तदा तदस्वाध्यायि-
कं न गण्यते । किं कारणमिति चेत् ? उच्यते-यनस्तनं स्वयो-
ग्यनं आगच्छना गच्छनां च मनुष्यनिरश्चं पदनिपातैरेवोक्तिस्त-
भवति । जिनाश्चात्र प्रमाणमनो न दोषः । अतः पुनस्तदस्वा-
ध्यायिकं नैरश्च राजपथादन्यत्र षष्टिहस्ताभ्यन्तरे पतति तदा
तिस्रः पौरुषीयावदस्वाध्यायः । अथ तदपि वर्षोदकेन व्यूढं भ-
वेत्, उपलक्षणमेतन्-प्रदीपनकेन च दग्धं, तदा शुरु तत्स्थान-
मिति कल्पते स्वाध्यायः ।

सप्रति 'परवयणे साणमादीण' इति व्याख्यानयनि-
चोदेति समुद्दिशिउं, सा जो जडं पोगलं तु पज्जाहि ।
उदरगणेणं चिट्ठइ, जा तान उ हो असज्जाओ ॥
अत्र परश्चोदयनि-श्वा यदि पौडल नैरश्च मांसं वहि समुद्दि-
श्य (निगल्य) तत्रागच्छेत्, तर्हि यावत्स तत्र तिष्ठति तावत्ते-
नोदरगतेन पौडलेन अस्वाध्यायः कस्मान्न भवति ?

सुरिराह-

भस्यति जडं ते एवं, सज्जाओ एव तो उ नत्थि तुहं ।

असज्जाइयस्म जेण, पुष्पोसि तुम सयाकाल ॥

जण्यते-अत्रोत्तरं दायते-यदि ते एव पूर्वोक्तप्रकारेण मतिः,
ततस्तत्र स्वाध्यायः कदाचनपि नास्त्येव । एवकारो जिज्ञासकः,
स च यथास्थानं योजितः । कस्मान्न स्वाध्यायः कदाचनपीति ?
अन आह-येन कारणेन सदाकालं सर्वकालं त्वमस्वाध्यायि-
कस्य पूर्णः, शरीरस्य रुधिरादिचतुष्टयात्मकत्वात् ।

जइ फुसती तर्हि तुमं, जइ वा लेढागिणं संचिडे ।

इहरा न होति चोयग, वतं त परिणयं जम्हा ॥

यदि श्वा क्षरणेन मुखेन तत्रागत्याऽऽसीयं तुरणं फवापि स्पृ-
शति । यदि वा क्षरपिष्टेनैव मुखेन सतिष्ठते, तदा भवत्यस्वा-
ध्यायः, इतरथा यदि पुनर्बाहिरैव सुखं लीढ्वा समागच्छति तदा
न भवति । तथा-यद्यप्यागत्वा वसति, तथापि चोदकं 'ना-
स्वाध्यायिकम्, यस्मात्तद् चान्तं परिणतम् । एव मार्जारादिकम-
प्यधिकृत्य भावनीयम् । गतं नैरश्चम् ।

अधुना मानुषमाह-

माणुस्समं चउप्पा, अट्ठिं मुत्तूणं सयमहोरत्तं ।

परियावणविवक्षा, सेसे तिगं सत्तं वड्ढे वा ॥

मानुष्यकं मानुषमस्वाध्यायिकं चतुर्कम् । तद् यथा-चर्म, रुधिरं,
मांसमस्थि च । एतेष्वस्थिमुक्त्वा शेषेषु सत्सु क्षेत्रतो हस्तशता-
भ्यन्तरे न कल्पते स्वाध्यायः । कालतोऽहोरात्रम् । (परियावण-
विवक्षति) मानुषं तैरश्च वा यद् रुधिरं तद् यदि पर्यापन्नं तेन
स्वभाववर्णाद्विवर्णीयं भवति स्नादिरसारसमाससारादिक-
द्वयं, तदा स्वाध्यायिकं भवतीति क्रियते, तस्मिन् पतितेऽपि स्वा-
ध्यायः । (सेसं स्ति) पर्यापन्नं विवर्णं मुक्त्वा शेषे स्वाध्यायिकं
भवति । (तिगं स्ति) यत् अविरताया मासे मासे आर्तवमस्वा-
ध्यायिकमागच्छति तत्स्वभावतस्त्रीणि दिनानि यावदस्वा-
ध्यायः । त्रयाणां दिवसानां परतोऽपि कस्याश्चित् गलति, परं
तदार्तवं न भवति, किं तु तन्मदारक्तं नियमात्पर्यापन्नं विवर्णं
भवतीति नाऽस्वाध्यायिकं गण्यते । तथा-यदि प्रसूताया दारको
जातस्तदा सप्त दिनान्यस्वाध्यायिकम्, अष्टमे च दिवसे स्वा-
ध्यायः कर्तव्यः । अथ दारिका जाता तर्हि सा रक्तोत्कटेति,
तस्यां जातायामष्टौ दिनान्यस्वाध्यायः, नवमे दिने स्वा-
ध्यायः कल्पते ।

एतमेव गाथाऽवयव व्याचिख्यासुराह-

रत्तुकमए इत्थी, अट्ठं दिणा तेण सत्तं मुक्कइहिण ।

तिण्हं दिणाणं परेणं, अणाउयंतं महारत्तं ॥

निषेककाले यदि रक्तोत्कटता, तदा स्त्री इति, तस्यां जातायां
दिनान्यष्टावस्वाध्यायः । दारकः शुक्राधिकः, तेन तस्मिन् जाते
सप्त दिनान्यस्वाध्यायः । तथा-स्त्रीणां त्रयाणां दिनानां परतस्त-
न्महारक्तमनार्तवं भवति, ततो न गणनीयम् ।

दंते दिट्ठे विगिंचणं, सेमइट्ठिगं वारसे न वासाइ ।

जामितं वूढे सीया-ण पाणमादीणं रुद्धरे ॥

यत्र हस्तशताभ्यन्तरे दारकादीनां दन्तं पतितो भवति तत्र नि-
भालनीयं, यदि दृश्यते तदा परिष्ठाप्य । अथ सस्यग्मृगयमायैरपि
न दृष्टस्तदा शुक्रमिति कल्पने स्वाध्यायः । अन्ये तु युवते-तस्य
अवहेरुनार्थं कायोत्सर्गं करणीयः । दन्तं मुक्त्वा शेषाद्दोषाद्वा-
दिसवान्धिन्यस्थितिं हस्तशताभ्यन्तरे पतिते द्वादश वर्षाणि न
कल्पते स्वाध्यायः । अथ तत्स्थानमग्निकायेन ध्यामितं, पानीयेन
वा व्यूढं, तदा शुक्रमिति, ध्यामिते व्यूढे वा स्वाध्यायः कल्पते ।
तथा-(सीयाणं स्ति) श्मशाने यानि कलेवराणि दग्धानि तान्य-
स्वाध्यायिकानि न भवन्ति, यानि पुनस्तत्र अनाथकलेवराणि न
दग्धानि, निष्वातीकृतानि वा तानि द्वादश वर्षाणि स्वाध्याय-
यन्ति । यद्यपि च नाम श्मशानं वर्षोदकेन प्रव्यूढं, तथापि तत्र
न कल्पते स्वाध्यायः, मानुषास्थिवहुलत्वात् । (पाणमादीणं स्ति)
पाणनामाऽऽरुम्बरो नाम यक्षो हिरमिक्कापरनामा दैवतः, तस्या-
ऽऽयतनस्याधस्ताद् मानुषान्यस्थीनि निक्षिप्यन्ते-ततस्तत्र,
तथा-मातृगृहे चामुण्डायतने, रुद्रगृहे वाऽधस्ताद् मानुष-
कपात्रं निक्षिप्यते । ततस्तथोपि द्वादश वर्षाण्यस्वाध्यायः ।

अमुमेव गाथाऽवयव व्याचिख्यासुराह-

सीयाणे ज दट्ठं, न तं तु मुत्तूणं अणाहनिहयाइ ।

आदंवरं रुद्धमादी-धरेसु हेडइट्ठिया वारा ॥

श्मशाने यत् दग्धमस्थिजातं तदस्वाध्यायिकं न भवति । तन्मु-
क्त्वा, शेषाणि यानि न दग्धानि, निष्वातानि वा, तानि द्वादश व-
र्षाणि स्वाध्यायं यन्ति । तथा-आदंवरं आरुम्बरयज्ञायतने, रुद्धे

असज्जाइय

रुद्रायतने मानृष्टेषु भाडम्बरादीनामधस्तादस्थीनि सन्ति,
तेन कारणेन तत्र द्वादश वर्षाण्यऽस्वाध्यायः ।

असिवोमधायणेष्टं, वारस अवसोद्वियम्मि न करेति ।

जामिय वृढे कीरइ, आवासियसोद्विह चैव ॥

अत्र ग्रामे समुत्पन्नेनाशिवेन भूयान् जनः कालगतः, न च निष्काशिनः, यदि वा-अवमौदयेण प्रचूतो जनो मृतो, न च निष्काशितः, अथवा-आघातस्थानेषु भूयान् जनो मारयित्वा निक्षिप्तो वर्तते । एतेष्वशिवामौदर्यायतनस्थानेषु पूर्वं विशोधनं क्रियते, विशोधने च क्रियमाणे यद् दृष्टं तत्परित्यज्यते । अदृष्टविषये च देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा पठन्ति । अथ न क्रियते विशोधनं, ततस्त्वस्मिन्निक्षिप्तो द्वादश वर्षाणि यावत् स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । अथ तत् अशिवदिस्थानमाग्निभायेन ध्यायित्वा, वर्षोदकेन वा प्लावितः, तदा क्रियते तत्र स्वाध्यायः । (आवासियसोद्विह चैव चित्) श्मशानं यदि ज्योत्जनैरावासितं ततस्त्वस्मिन्निक्षिप्तो शोधनं क्रियते, यद् दृश्यते तत् विविच्यते । एव शोधिते तस्मिन् अदृष्टाद्युपघातया देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति ।

महरगाममयम्मी, न करेती जा न नीसियं होति ।

पुरगामे च महंते, बाहुअसाहिं परिहरति ॥

इदंके छुल्लके ग्रामे कोऽपि मृतः, तस्मिन् मृते तावत्स्वाध्यायो न क्रियते यावत् कलेषरं न निष्काशितं भवति । पुरे पत्तने महति वा ग्रामे घाटके साही वा यदि मृतो जवति तदा तं घाटकं साही वा परिहरन्ति । किमुक्तं भवति ? तत्र न कुर्वन्ति स्वाध्यायं यावत्तद्घाटकात् साहीतो वा निष्काशितं जवति, घाटकात् साहीतोऽन्यत्र मृते नास्वाध्यायः ।

जइ य उवस्सथपुरतो, नीइज्जइ तं महद्वयं ताहे ।

हत्थसयंतो जावड, तावड न करेति सज्जायं ॥

यदि तत् कलेषरं मृतकं नीयमानं सयतानामुपाख्यस्य पुरतो हस्तशताभ्यन्तरेण नीयते, ततो यावत् हस्तशतान्तो हस्तशतं व्यतिक्रम्यते, तावन्न कुर्वन्ति स्वाध्यायम्, हस्तशतं व्यतिक्रान्ते पठन्ति ।

अत्र पर आह-

कोवी तत्थ भणेज्जा, पुप्फादी जाव तत्थ परिसाही ।

जा दीसंती तावड, न कीरए तत्थ सज्जाओ ॥

कोऽपि तत्र भूयात्-या तत्र मृतके नीयमाने पुष्पादीनाम्, आदिशब्दाद् जीर्णचीवरक्षणमादीनामुपाख्यस्य पुरतो हस्तशताभ्यन्तरे परिशाट्टिः, सा यावत् दृश्यते तावत्तत्र न क्रियते स्वाध्यायः ।

अत्र सूरिराह-

भस्सइ न य तं तु वहिं, निज्जंतो मोत्तु हो असज्जायं ।

जम्हा चउप्पयारं, सारीरमतो न वज्जति ॥

अण्यते-अत्रोत्तरदीयते-तत्र नीयमानं मृतकं मुक्त्वा अन्यत् कनकपुष्पादिकं पतितमस्वाध्यायिकं न भवति, यस्मात् शरीरमस्वाध्यायिकं चतुःप्रकारं रुधिरादिभेदतश्चतुर्विधम् । पुष्पादिकं च तद्व्यतिरिक्तम्, अतो न स्वाध्यायिकतया तत्र वर्जयन्ति । आत्मसमुत्थं त्वग्नेतनसूत्रे व्याख्यास्यते । न्य०७ उ० । 'ईदं' दिनेऽस्वाध्यायः । यथा-महार्हिसावत्वेनाऽऽश्विनचैत्रदिनानि सिद्धान्तवाचना-

दिषु अस्वाध्यायदिनानीति कृत्वा त्यज्यन्ते, तद्वत् 'ईदं' दिनमपि, तेन हेतुना कथं न त्यज्यते ? केचित् मतिनस्तद्दिनं त्यजन्ति, आत्मना का मर्यादा ? इति प्रश्ने, उत्तरम्-'ईदं' दिनास्वाध्यायविषये बृद्धाऽनाचरणमेव निमित्तमवसीयते । ह० ३ प्रका० ११ प्र० ।

जे भिक्खु असज्जाए सज्जायं करेइ, करतं वा साइ-ज्जइ ॥ १५ ॥

जम्मि जम्मि कारणे सज्जाओ ण कीरति त सव्व असज्जायं, तच्च बहुविह वक्खमाणं, तत्थ जो करेइ, तस्स चउलहु, आणाभगो, अणवत्था, मिच्छुस, आयसजमविराइणा य । नि० चू० १६ उ० । (स्वाध्याये एव स्वाध्यायः कर्तव्य इति 'सज्जाय' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते)

णो कप्पइ णिगंथाणं वा णिगंधीणं वा अप्पणो असज्जाइए सज्जायं करित्थए, कप्पति ण अस्समस्स वा-यणं दिलिइत्थए ॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वाऽत्मनः समुत्थेऽस्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्तुं, किन्तु कल्पते परस्परस्य वाचनां दापयितुमन्यत्र । यदि वा प्रकाशनानन्तरं गाढबन्धे प्रवृत्ते सति तत्रापि स्वयमपि वाचनां दातुं कल्पते इति वाक्यशेषः ।

एतदेव भाष्यकारः सप्रपञ्चमाह-

आयसमुत्थमसज्जा-इयं तु एगविह होइ दुविहं वा ।

एगविहं समणाणं, दुविहं पुण होइ समणीण ॥

आत्मनः शरीरात्समुत्थं सञ्चूतमात्मसमुत्थमस्वाध्यायिकमेकविधमाजवति, द्विविधं वा । तत्र यत् एकविधम्-अशौ भगन्दरादिविषयम्, तत् भ्रमणानां भवति । भ्रमणीनां पुनर्भवति द्विविधम्-अशौ भगन्दरादिसमुत्थम्, श्रुतसंभवः च ।

तत्र यतनामाह-

धोयम्मि व निप्पगले, बंधा तिष्ठेव होति उक्कोसा ।

परिगलमाणे जयणा, छुविहम्मी होइ कायन्वा ॥

व्रणादौ निप्रगले धौते उपरि सारप्रक्षेपपुरस्सरं त्रयो यन्धा उत्कर्षतो भवन्ति । तथाऽपि परिगलति द्विविधे व्रणाद्वावात्सवे च यतना वक्ष्यमाणा कर्तव्या ।

एतदेव सप्रपञ्चं प्राचयति-

समणो उ वणे व जगं-दरे व बंधेकओ य वाएति ।

तह गालंते ठारं, छोटुं दो तिणिण बंधाओ ॥

अमणो वणे वा, जगन्दरे वा परिगलति हस्तशताद् बाहिर्गत्वा निप्रगले प्रकाश्यं चीवरे क्वां क्वां उपरि अन्यन् चीवरं कृत्वा वणं जगन्दरं वा बध्नाति, ततः पश्चमेकं बन्धं कृत्वा प्राचयति । यदि तथापि परिगलत्यऽस्वाध्यायिकं, ततः उपरि क्वां निक्षिप्य द्वितीयं बन्धं ददाति, ततो प्राचयति । तथाऽप्यतिष्ठति तृतीयमपि बन्धप्रत्यवतारं कृत्वा प्राचयति ।

जाहे तिणिण विजिन्ना, ताहे हत्थसयत्राहिरा धोउं ।

बंधिउ पुणो वि वाए, गतुं अण्णत्थ व पढंति ॥

यदा त्रयोऽपि बन्धास्तेनाऽस्वाध्यायिकेन विजिन्ना भवन्ति, तदा हस्तशताद् बाहिर्गत्वा निप्रगले प्रकाश्यं, पुनः क्वां निक्षिप्यो-

परि स्तीवरेण बध्वा पुनरपि वाचयति, अन्यत्र वा गन्तुं पठन्ति ।

एमेव य समणीणं, वणम्मि इयरम्मि सत्त बंधा उ ।

तह वि य अट्ठयमाणे, धोक्कणं अहव अजत्थ ॥

एवमेव भ्रमणीनामपि व्रणविषये यतना कर्त्तव्या भवन्ति । इतरस्मिन्कार्तवे सप्त बन्धा पूर्वप्रकारेण प्रवन्ति । तथापि व्रणे इतरस्मिन् वाऽतिष्ठति हस्तशताद् बहिः प्रकाल्य तथैव बन्धान् दत्त्वा वाचयति, अन्यत्र वा गत्वा पठन्ति ।

एतेसामन्नयरे, असज्जाए अप्पणो उ सज्जायं ।

जो कुण्ड अजयणाए, सो पावड आण्मादीणि ॥

एतेषामनन्तरोदितानामन्वतरस्मिन्नात्मनोऽस्वाध्यायिके सति य स्वाध्याय करोति, तत्राप्ययतनवा, स प्राप्नोत्याकादीनि तीर्थ-कपकाभङ्गादीनि दूषणानि, आदिशब्दादनवस्थादिपरिग्रहः ।

न केवलमिमे दोषाः किं त्विमे-

सुयनाणम्मि अजत्ती, लोगविरुद्धं पमत्तल्लणा य ।

विज्जा साहणवेगु-सधम्मया एव मा कुणसु ॥

अस्वाध्यायिके पठने भुक्तज्ञानस्याऽभक्तिर्विराधना कृता प्रवति, तद्विराधनायां दर्शनाविराधना, चारित्रविराधना च, तद्भावे मोक्षाभावः । तथा-लोकविरुद्धमिदं बदात्मनोऽस्वाध्यायिके पठनम् । तथा हि-लौकिका अपि व्रणे आर्तवे च परिगलति परिवेषण देवतार्चनादिक वा न कुर्वन्ति । तथा-प्रमत्ताभूतस्य प्रान्तदेवतया छलना स्यात् । तथा-यथा विद्या उपचारमन्तरेण साध्यसाधनवैगुण्यभ्रमंतया न सिध्यति, तथा भुक्तज्ञानमपि । तस्माद् मैव कार्पी ।

अत्र परायकाशमाह-

चोयड जड एवं सो-णियमादीहि होड सज्जमाओ ।

तो जरितो च्चिय देहो, एएसिं किएहु कायव्वं ? ॥

परब्रह्मोदयति-यद्येनमुक्तप्रकारेणास्वाध्यायो प्रवति । तत एतेषां शोणितादीनां देहो भूत इति तत्र कथं स्वाध्यायः ? ।

अत्र सूरिराह-

कामं भरितो तेसिं, दंतादी अवजुया तह वि वज्जा ।

अणवजुया उ अवज्जा, लोए तह उत्तरे चेव ॥

काम मन्यामहे एतत्त-तेषां शोणितादीनां भूतो देहः, तथापि ये दन्तादयोऽवजुया पृथग्भूताः, ते भर्ज्या वर्जनीया, ये त्वनवजुयाः अपृथग्भूता लोक उत्तरे च अवर्ज्या अपरिहर्त्तव्या ।

एतदेव भावयति-

अवन्नंतरमल्लिचो, कुणती देवाणमच्चणं लोए ।

बाहिरमल्लित्तो उण, ण कुणड अवणेड व ततो णं ॥

आभ्यन्तरमल्लित्तोऽपि देवानामर्चनं लोके करोति, बाह्यमल्लित्त-पुनर्न करोति । अपनयति वा मह ततः शरीरात् । एवमत्रापि प्रावनीयम् ।

आउट्टियावराहं, सन्नाहिया न क्वमेड जह पमिमा ।

इय परलोए दंमो, पमत्तल्लणा इह सिया उ ॥

उपेत्य कृतमपराधसन्निहितासन्निहितप्रातिहार्यप्रतिमा यथा न क्षाम्यति, इति एवममुना प्रकारेण भुक्तज्ञानमपि कृतमपराधं, न कृते । तत्र परलोकेषु गतिप्रपातो दयम्, इह लोके प्रान्तदेव-ताछलना स्यात् ।

सगो दोसो मोहो, असज्जाए जो करेड सज्जायं ।

आसायणा व का सा, को वा जणितो अणायारो ? ॥

रागात् दोषात् मोहाद्वा योऽस्वाध्याये स्वाध्याय करोति तस्य का कीदृशी फलत आशातना ? , को वा कीदृशः फलद्वारेण मणितोऽनाचारः ? ।

तत्र रागद्वेषमोहान् व्याख्यानयति-

गणिसद्दमाइमहितो, रागे दोसम्मि न सहते सई ।

सव्वमसज्जायमयं, एमादी होड मोहे उ ॥

गणी आचार्यः, आदिशब्दादुपाध्यायो गणाबन्धक इत्यादिपरिग्रहः । एवमादिभिः शब्दैर्महित उत्कर्षतो योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति, स रागे द्रष्टव्यः । यस्त्वन्यस्य गणिशब्दमुपाध्यायशब्द वा न सहते-अहमपि पठित्वा गणी उपाध्यायो प्रविष्यामि इति विचिन्त्य यत्रादरपरोऽस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायं निदधाति, स द्वेषेऽवसातव्यः । यस्तु सर्वमस्वाध्यायमयमित्येवमादि विचिन्त्या-स्वाध्याय करोति, एष भवति मोह इति ।

सम्प्रत्याचार्यः फलद्वारेणाऽऽशातनामाह-

उम्मायं व लजेज्जा, रोगायकं व पाउणे दीहं ।

तित्थयरभासिआओ, भस्मइ सो संजमाओ वा ॥

इहलोए फलमेयं, परलोए फलं न देति विज्जाओ ।

आसायणा सुयस्स य, कुण्ड दीहं तु संसारं ॥

उन्माद् वा लजेत, रोगाऽऽनङ्क वा दीर्घं प्राप्नुयात्, तीर्थेकरभा-षिताद्वा सयमाद् अश्रयति, इहलोके विद्या अङ्गभुतस्कन्धादिज्ञ-क्षणाः फलं, परलोके च मोक्षलक्षणं न ददति न प्रयच्छन्ति । न केवलं फलदानाज्ञावः, किं तु भुतस्याऽऽशातना दीर्घं संसारं करोति । तदेव फलत आशातनाऽभिहिता ।

साम्प्रतमनाचार फलत आह-

नाणायार विराहिँ, दंसणयारो वि तह चरितं च ।

चरणविराड्णयाए, मुक्खाभावो मुण्येव्वो ॥

अस्वाध्याये स्वाध्यायं कुर्वता ज्ञानाचारो विराधितः, तद्विराध-नायां दर्शनाचारधारित्र च विराधितम् । चरणविराधनतायां मोक्षाभावः ।

अत्रैवापवादमाह-

वितियागादे सागा-रियादि काळगय असति वुञ्जेए ।

एएहि कारणोहिं, जयणाए कप्पए काउं ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । ज्य० ७ उ० । ध० ।

जे निक्खु अप्पणो अस्सज्जमाइए सज्जायं करेड, करंतं दा साइज्ज ॥ १६ ॥

अप्पणो सरीरे समुत्थे असज्जमाइए ति सज्जाओ अप्पणो ण कायव्वो । परस्स पुण ण वायणा दायव्वो महत्तेसु गच्छेसु ।

अव्वाउलाण णिव्वो-दयाण व होज्जं ति सज्जाओ ।

अरिसाभगंदत्तासुं, इति वायणसुत्तसंबंधो ॥ १३६ ॥

अस्वाङ्गत्तणओ समणीण य शिवोदुयसज्जो नाम सज्जाओ
ण भविस्सति, तेण वायणसुत्ते विही भवति ॥ नि० चू० १४
उ०। अस्वाध्यायदिनत्रयान्तं कृत उपवास आलोचना तपसि एति,
न वा ? इति परिहृतविसागरगणिकृतप्रश्नस्य हीरविजयसूरि-
कृतमुत्तरम्—अस्वाध्यायदिनत्रयान्तं कृत उपवास आलो-
चना तपसि नाभाति । ही० २ प्रका० । चैत्राश्विनमासचतु-
र्मासकक्षिकसत्का अस्वाध्यायाः पञ्चमीचतुर्दशीयामद्वयाऽनन्तर
यद्गन्ति तद्यामद्वय तिथिभोगापेक्षया, किं वा औदयिकापे-
क्षयेति प्रश्ने, चैत्राश्विनमासयोः पञ्चमीतिथेरकादस्वाध्याया
लग्नि, न तु सूर्योदयात्, एव चतुर्मासकस्याऽस्वाध्यायोऽपि
चतुर्दशीतिथेरकादलग्नीति धृत्सप्रदाय इति (१५६) । तथा-
तिरश्चोऽस्थि सरस भवति, तस्यास्वाध्यायिक कियत् प्रह-
रान् यात्रद्भवतीति प्रश्ने, तिर्यगस्थि त्रिप्रहराणामुपरि यात्र-
त्सरस तावदऽस्वाध्यायिकं जवतीति ज्ञायते (२१३) । तथा-
ऽऽश्विनमासाऽस्वाध्यायदिनेषु सिद्धान्तगाथापञ्चक पठन्ति,
तस्य तत्पठनं कल्पने नवेति प्रश्ने, अस्वाध्यायदिनेषु सिद्धान्त-
सबन्धेकगाथापाठोऽपि न शुद्ध्यतीति (२३७) । तथा-सूर्यग्रह-
ण यद्भवति तदस्वाध्यायिकं कृत आरभ्य कियद्यावद्भवति ?
तथा-योगिकानां कियन्ति प्रवेदनानि न शुद्ध्यन्तीति प्रश्ने, यत्सूर्य-
ग्रहणं भवति तत् आरभ्याऽहोरात्र यावदस्वाध्यायिकं, तदनु-
सारेणैव प्रवेदनमशुचि ज्ञायत इति (२१०) । (सेन०३ उद्गा०)
तथाऽऽश्विनाऽस्वाध्यायिकदिनत्रयमुपदेशमालादिन गण्यते,
तथा चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिके तद्वप्यते नवेति प्रश्ने, त-
दस्वाध्यायिके दिनत्रयमुपधानमध्ये, न तथा चतुर्मासकत्रये,
तस्माच्चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिके उपदेशमालादि गण्यते
(५४) । सेन० ४ उद्गा० ।

असज्जाइयणिज्जुत्ति—अस्वाध्यायिकनिर्गुत्ति—ओ० । अस्वा-
ध्यायिकप्रतिपादकाऽऽवश्यकान्तर्गतप्रतिक्रमणाध्ययनमध्यगते
भक्षबाहुस्वामिकृते निर्गुत्तिप्रश्ने, आव० ।

“अनन्नाइअनिज्जुत्तिं, वुच्चामी धीरपुरिसपन्नत्ता ।

ज नाकण सुविहिआ, पवयणसार उवलदति” ॥ १ ॥

“असन्नाइअनिज्जुत्तिं, काहिआ भे धीरपुरिसपन्नत्ता ।

सजमतवछाण, निग्गथाण महरिसीण ॥ २० ॥

असन्नाइअनिज्जुत्तिं, जुत्त ज ताव चरणकरणमाउत्ता ।

साइ अवति कम्म, अणेगमवसच्चिअमणत्त” ॥ ११ ॥

गाथाद्वय निगम्निद्धम् । आव० ४ अ० ।

असद—अशठ—पु० । शठभावरहिते, ओघ० । रागद्वेषरहिते
कालिकाचार्यादिव-प्रमाणस्थे, वृ० ३ उ० । अभ्रान्ते, द्वा० २
द्वा० । अमायाविनि, जीत० । सरलात्मनि, जीत० । आ० म० ।
पराऽवञ्चके, ध० १ अधि० । ध० २० । अनुष्ठानं प्रति अनाल-
स्यवति, दर्श० । इन्द्रियविषयनिग्रहकारिणि, नि० चू० १० उ०।
सप्तमशुणवत्साधौ, शठो हि वञ्चनप्रपञ्चचतुरतया सर्वस्वाप्य-
विवरसनीयो भवति । प्रब० २३१ द्वार ।

साम्प्रतमशठ इति सप्तम स्पष्टयन्नाह—

असदो परं न वंचइ, वीससणिज्जो पसंसणिज्जो य ।

उज्जपइ जावसारं, उच्चिओ धम्मस्म तेणेसो ॥ १४ ॥

शठो मायावी, तद्विपरीतोऽशठः परमन्य न वञ्चति नामि-
सधत्तेऽन एव विश्वसनीय, प्रत्ययस्थानं भवति । इतर. पुन. पुन
वञ्चयन्नपि न विश्वासकारणम् । यदुक्तम्—“मायाशील-पुरुषो,

यद्यपि न करोति किञ्चिदपराधम् । सर्प इवाऽविश्वास्यो, जवति
तथाऽप्यान्मदोषदतः” ॥ १॥ तथा-प्रशसनीयः श्लाघनीयश्च स्यात्,
अशठ इति प्रक्रम । यदऽवाचि—“यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वा-
चस्तथा क्रियाः । धन्यास्ते त्रितये येषां, विसवादो न विद्य-
ते” ॥ १॥ तथोद्यच्छति प्रवर्तते, धर्मानुष्ठाने इति शेषः । भावसा-
र सद्भावसुन्दर स्वचित्तरञ्जनानुगतं, न पुनः पररञ्जनायेति, दु-
ष्प्राप च स्वचित्तरञ्जनम् । तथाचोक्तम्—“भूयांसो नूरिलो-
कस्य, चमत्कारकरा नरा । रञ्जयन्ति स्वचित्तं ये, भूतले
तेऽथ पञ्चपाः” ॥ १॥ तथा—“कृत्रिमैर्दम्बरैश्चिद्वै, शक्य-
स्तोषयितुं पर । आत्मा तु वास्तवैरेव, हतक परितुष्य-
ति” ॥ १॥ इति । उचितो योग्यो, धर्मस्य पूर्वव्यावर्णितस्वरूप-
स्य, तेन कारणेनैषोऽशठः ; सार्धवाहपुत्रचक्रदेववत् ।

चक्रदेवचरितं त्वेवम्—

अथि विवेदे चपा-ऽऽवासपुर पउरपउरपरिकलियं ।

तत्थाऽऽसि सत्थवाहो, अइरुहो रुहदेवुत्ति ॥ १ ॥

तस्स य जज्जा सोमा, सहावसोमा कयाइ गिहिधम्म ।

सा पमियज्जइ गणिणी-एँ बालचदाएँ पासम्मि ॥ २ ॥

त किंकिं विसयविमुद, दडु पउछो भणेइ से भत्ता ।

मुच पिण । धम्ममिम, भोगिं पि व भोगविग्घकर ॥ ३ ॥

सा साइइ भोगेहि, रोणेहि व मह कय, इमो आह ।

किं चइइ विट्ठमदि-ठकप्पण कुणसि त मूढ ! ॥ ४ ॥

सा भणइ इमे विसवा, पसुगणसाहारणा वि पयक्खा ।

आणिस्सरिवाइफलो, विकिज्जधम्मो समक्को ते ॥ ५ ॥

उतरदाणअसत्तो, विलक्खच्चित्तो अइच स विरत्तो ।

आलवणाइविरत्तो, तीएँ सम वयइ सव्वत्तो ॥ ६ ॥

अज मग्गइ कम्म, सोमा अथि ति बहइ न य तोसो ।

तम्मरणहेउमहिं, उवइ गिट्ठो घडे खिविउ ॥ ७ ॥

भणइ पिण ! अमुगघडा-उ दाममाणेसु सा वि सरलमणा ।

जा खिवइ कर कुमे, ता रुक्का कसिण्णुयणेण ॥ ८ ॥

डक्का अइ ति पइणो, सा साइइ सो वि गाढसदयाए ।

गारुमिया गारुडिया, इच्छाइ करेइ इल्लोब ॥ ९ ॥

सिग्घ से उल्लडिय, चिउरेहिं निबडिय च दसणेहिं ।

विसभीपहिं व पाणे-हिं दूरदूरेण ओसरिय ॥ १० ॥

अचइय सोमा सोइ-मकप्पलीलावयससुविमाणे ।

पलिओघमोहिंया, सोमा सुरसुदरी जाया ॥ ११ ॥

रुहो स रुहदेवो, नागसिंरिं नागदत्तसिंछिसुय ।

परिणीय नोइवाहा-इ जुजिउ पच्चविहविसए ॥ १२ ॥

रुइज्जाणोवगओ, नरयावासाम्मि पढमपुढवीए ।

आडक्खडामिहाणे, पलियाऊ नारयो जाओ ॥ १३ ॥

अइ सो सोमाजीवो, चविउ सोइम्मओ विदेइम्मि ।

सेलम्मि सुसुमारे, जाओ दती धवलकती ॥ १४ ॥

इयरो वि तओव्वट्ठिय, जाओ कीरो तहिं चिय गिरिम्मि ।

कीरीएँ सह रमतो, नरमासाभासिरो भमइ ॥ १५ ॥

कइया वि त गइइ, करेणुयानियरपरिणय वडु ।

पुण्वजवग्मासाओ, वडुलीवडुलो विचिंतेइ ॥ १६ ॥

विसयसुहाउ इमाओ, किह णु मए घचियव्वओ एस ।

एव उवाचिचिण-पवणो पत्तो सए नीरे ॥ १७ ॥

ता तत्थ चदलेहा-भिहाणसयरिं हरिसु सपत्तो ।

सीलारइ इति अयरो, भयज्जोओ जणइ त कीर ॥ १८ ॥

भो ! इत्थ गिरिनिउजे, चिछामेगो इहागमी खयरो ।

न हु से कहियव्वोऽह, गओऽयमसो कहियव्वो ॥ १९ ॥
 तो कीर ! खीरमहुमहुर-वयण ! मइ एवमुवकयं तुमए ।
 तुज्ज वि अहं अवस्स, करिस्समणुक्कवमुवयारं ॥ २० ॥
 अह आगओ स खयरो, अदद्दु वीलारइ पडिनियत्तो ।
 कहियं सुएण एय, इमस्स सो हरिसिओ दियए ॥ २१ ॥
 इत्थंतरम्मि तत्था-गय गय त जहिच्छिन्ना भमिर ।
 पासित्तु चितइ सुओ, अहइ अहो ! सुदरोऽवसरो ॥ २२ ॥
 तो निवडिनियमिनाडिओ, ठाठ करिस्सनिदिम्मि जणइ पिय ।
 भणिय वसिठरिसिणा, कामियतित्थ इम सिंसं ॥ २३ ॥
 जो इत्थ भिगुनिवाय, करेइ सो लइइ कामिय खु फल ।
 इय भणिय पियाए सम, तहिं वि पत्तो निलुक्को य ॥ २४ ॥
 तव्वयणपेरिओ पुण, वीवारइखेयरो पियासहिओ ।
 चलचववकुलधरो, चप्पइओ गयणमभाम्मि ॥ २५ ॥
 तं दठ चितइ करी, कामियतित्थ इमं खु ज इदयं ।
 खेयरमिहुण जाय, पमिय किर कीरमिहुण पि ॥ २६ ॥
 तो किं इमिणा तिरिय-सणेण मज्ज ति चितिय नगाओ ।
 कपावइ सो तहिय, अहुइय कीरमिहुण त ॥ २७ ॥
 सच्चुनियगुवगो, इत्थी गवइत्थिओ वि वियणाए ।
 फुरिय सुहज्जवसाओ, जाओ वतरसुरो पवरो ॥ २८ ॥
 अइसयकिडिठचित्तो, विसयपसत्तो सुओ वि सपत्तो ।
 रयणाइलोहियक्खे, नरए अशितक्खइइदक्खे ॥ २९ ॥

इतश्च-

अत्थि विदेहे सिरिच-कवालनयरम्मि सत्थवाइधरो ।
 अप्पमिहयचक्कखो, सुमंगला पणइणी तस्स ॥ ३० ॥
 अइ सो करिंदजीवो, चविण्ण ताण नदणो जाओ ।
 नामेण चक्कदेवो, सया वि गुरुजणविहियसेवो ॥ ३१ ॥
 उव्वट्टिय इयरो वि हु, जाओ तत्थेव जअदेवु त्ति ।
 सोमपुरोदियपुत्तो, दुवे वि तरुणत्तमणुपत्ता ॥ ३२ ॥
 सव्भावकइयवेहिं, जाया मित्तीइ तेसिमन्तोत्त ।
 पुव्वकयकम्मदोसा, कया वि चितइ पुरोहियसुओ ॥ ३३ ॥
 कह एस चक्कदेवो, इमाउ अतुच्छलच्चित्थिरओ ।
 पाविहिइ फुड भस, हु नाय अत्थि इह चवाओ ॥ ३४ ॥
 चदणसत्थाहगिह, मुसिठ दविण च्चिवित्तु पयगिहे,
 कहिउ निवस्स पुरओ, भसिस्स सपयाव इम ॥ ३५ ॥
 काउ तहेव स जणइ, वयंस ! गोवेसु मज्ज दविणमिण ।
 नियगेहे सो वि तओ, एव चिय कुणइ सरलमणो ॥ ३६ ॥
 वत्ता पुरे पवत्ता, मुठ चदणगिह ति तो पुट्टो ।
 सत्थाहसुएणसो, दविणमिण कस्स भो मित्त ! ? ॥ ३७ ॥
 सो आह मज्ज दव्व, तायभया गोविय तुह गिहम्मि ।
 आसका न मणागवि, कायव्वा चक्कदेव ! तए ॥ ३८ ॥
 इत्तो य चदणेण, अमुग अमुग च मइ गय दव्वं ।
 कहिय निवस्स तेण, नयरे घोसाविष पव ॥ ३९ ॥
 चदणगिह पमुठ, जेण केण त्रि कदेउ सो मज्ज ।
 इरिहं न तस्स दडो, पच्छा सारीरिओ वओ ॥ ४० ॥
 अइ दिणपणगम्मि गए, पुरोहिपुत्तो निव मणइ देव ! ।
 जइ वि न जुज्जइ नियमि-सदोसफुरुवियदण काउ ॥ ४१ ॥
 परमइविरुक्कमेय, ति धारिउ पारिमो न दिययम्मि ।
 चदणधण अवस्सं, अत्थि गिहे चक्कदेवस्स ॥ ४२ ॥
 (राजा) नणु सो गरिडुपुरिसो, रायविरुक्कं इम कह करिज्ज ! ।
 (यक्कदेव) गरया वि लोहमोहिय-मणो चिट्ठति बाल दव्वइ

(राजा) सो संतोससुहारस-पाणप्पवणो सुणिज्जए सबय ।
 (यक्कदेव) अवि तरुणो दविणमिण, पाविय पायहि पसरतेइइ
 (राजा) नणु सो महाकुलीणो,
 (यक्कदेव) को दोसो इह कुलस्स विमलस्स ! ।
 अइबडलपरिमलेसु वि,
 कुसुमेसु न हुति किं किमओ ? ॥ ४५ ॥
 (राजा) अइ एव ता किज्जउ, समतओ गेहसोहणं तस्स ।
 (यक्कदेव) एव किं देवस्स वि, पुरओ अपिज्जए अए अन्नियइइ
 तो निषइणा तलारो, चदणभडारिएण सह भणिओ ।
 भो ! चक्कदेवगेहे, नहु दव्व गवेसेहि ॥ ४७ ॥
 सो चितइ नरवइणा, अहइ ! असभावणिज्जमाइठ ।
 किं कहया पाविज्जइ, रविर्विवे तिमिरपम्भारो ? ॥ ४८ ॥
 अहवा पडुणो आण, करेमि पत्तो तओ गिहे तस्स ।
 पमणइ चदणदव्वं, नठं जाणेसि भो भइ ! ॥ ४९ ॥
 (चक्रदेव) नहु नहु मुणेमि किंवि वि,
 (तलवर) तो भो ! तुमए न कुप्पियव्व मे ।
 जं रायसासणेण, तुह गेह किपि जोइस्सं ॥ ५० ॥
 (चक्रदेव) कोवस्स को गु सभओ,
 सया पयापालणत्थमेव जओ ।
 नयकुलहरस्स देव-स्स एस सयलो वि सरजो ॥ ५१ ॥
 तो तव्वचरो गिहतो, पविसिय-जो निठणयं निहालेइ ।
 ता कंचणवासणय, चंदणनामकिय इइ ॥ ५२ ॥
 तो भणइ सदुक्कमिमो, कुओ तए चक्कदेव ! पसमिण ।
 किह मिच्छत्थवणीयं, पयमेमि निय ति सो जणइ ॥ ५३ ॥

तलवरः-

कह चंदणनामकं, (चक्र०) नामविधज्जासओ कह वि जायं ।

तलवरः-

जइ एव ता किस्सिय-मिच्छ इह वासणे कणग ॥ ५४ ॥

चक्रदेवः-

चिर गोवियं ति न तहा, सुमरेमि अहं सयचिय निपइ ।

तलवरः-

भंमारिय ! किंसल, धणमिह सो आह अज्जयमियं ॥ ५५ ॥

तो गेडाविय नउल, नियति सव्व तहेव त मिलिय ।

भणइ पुणो रक्खिपहु, भो जइ ! फुडक्खर कहसु ॥ ५६ ॥

अइ वासत्थं सहय, सुकीलिय कीलिय पचित्तमी ।

मिच्छ दूसेमि कह, तो चक्कदेवो पुणाह निय ॥ ५७ ॥

तलवरः-

किस्सियमिच्छं परस-तिय धण तुह गिहम्मि चिठेइ ।

चक्रदेवः-

नियय पि अत्थि बहुयं, पज्जत्तं मम परधणेण ॥ ५८ ॥

तो तलवरेण सव्व, गिह नियंतेण त धण पत्त ।

कुविएण चक्कदेवो, इडेण नीओ निवसमीवे ॥ ५९ ॥

रत्ता भणिय नणु जइ, अप्पमिहयचक्कसत्थवाइसुए ।

नहु सजवइ इम तो, कहसु को इत्थ परमत्थो ? ॥ ६० ॥

परदोसकहणाविमुहो, न किंवि जा जपइ एमो ताहे ।

बहुय धिमविऊण, निविसओ कारिओ रत्ता ॥ ६१ ॥

अइ सो विसायविहुरो, गुरुपरिजवदवज्जलकियसरीरो ।

चित्तइ किं मम सपइ, पणट्टमाणस्स जीएण ? ॥ ६२ ॥

“वर प्राणपरित्यागो, मा मानपरिखण्डना ।

प्राणत्यागो क्षण दुःख, मानभङ्गे दिने दिने” ॥ ६३ ॥

इय चित्तिय पुरवारिह, वडविम्विणि जाव वधए अण्ण ।
ता तग्गुणगणरंजिय-हियया पुरदेवया भूति ॥ ६४ ॥
ठाउ निवज्जणणिमुहे, निवपुग्गो त कहेइ बुत्तंत्त ।
उच्चधणपेरत, तो दुहिओ चित्तए राया ॥ ६५ ॥
“उपकारिणि विश्वास्ये, आर्यजने य समाचराति पापम् ।
तं जनमसत्यसध, जगवति वसुधे । कथं ब्रह्मसि ?” ॥ ६६ ॥
इय परिजाविय रत्ता, पुरोहिपुत्त धराविउ तुरिय ।
तन्थ गण ढिओ, सत्थाहसुओ तह कुणतो ॥ ६७ ॥
छिदिस्तु जत्ति पासं, सो गयमारोविकुण दिट्ठेण ।
महया वि चित्तमेणं, पेसिओ नयरमञ्जमि ॥ ६८ ॥
भणिओ य भो महायस !, तुज्ज कुडीणस्स जुत्तमेव इमं ।
तह पुच्छिरस्स वि मम, ज परदोसो न ते कहिओ ॥ ६९ ॥
किं तु तुह जमवरद्ध, अघाणपमायओ इहऽम्हेहि ।
त खमियच्च सच्च, खमापहाणा खु सप्पुरिसा ॥ ७० ॥
इत्थतरे भमेहि, बधिय तत्थाऽऽणिओ पुरोहिसुओ ।
रोसारुणनयणेण, रत्ता वज्जो समाणत्तो ॥ ७१ ॥
तो भणइ चक्रदेवो, वच्छलहियण पगस्सरत्तेण ।
महमित्तेण इमेण, किं नाम विरुद्धमायरिय ? ॥ ७२ ॥
पुरदेवयापे कहियं, कइइ निवो दुट्ठचित्थं तस्स ।
मन्नुजरजरियचित्तो, तो चित्तइ सत्थवइपुत्तो ॥ ७३ ॥
अमयरसाव विस पि व, ससहरविवाउ अग्निबुत्ति व्व ।
परिसमित्ताउ इमं, किमसमसमजस जाय ? ॥ ७४ ॥
एव सो परिमाविय, गाढ निवडित्तु निवइचल्लेसु ।
भोयावइ नियमित्त, तो दिट्ठो भणइ नरनाहो ॥ ७५ ॥
“उपकारिणि बीतमत्सरेवा, सद्यत्थ यदि वत्त कोऽतिरेकः ?
अहिते सहसाऽपराधलब्धे, सघृण यस्य मनः सतां स धुर्यः ७६ ॥
अह सत्थवाहपुत्तो, सयवत्तसुपत्तनिम्मवचरित्तो ।
जडवडगपरीयरिओ, नियगेहे पेसिओ रत्ता ॥ ७७ ॥
तेणावि जलदेवो, आलविओ पणयसारवयणेहि ।
सक्कारिय समाणिय, पट्टविओ निययजवणमि ॥ ७८ ॥
जाओ जणप्पवाओ, धओ एसेव सत्थवाहसुओ ।
अवयारपरे वि नरे, इय जस्स मरु परिप्फुरइ ॥ ७९ ॥
वेरगमगलगो, कयावि सिरिआगेभूरुगुपासे ।
गिणहेइ चक्रदेवो, दिक्क दुहककलदहणसम ॥ ८० ॥
अहुकाल परिपालिय, सामन्नं सो अणसामन्नं ।
जाओ अजिमवमो, नवअयरज सुरो वमो ॥ ८१ ॥
तत्तो चविय विदेहे, अरिअजिप मगलवईविजण ।
बहुरयणे रयणवरे, सत्थप्पहुरयणसारस्स ॥ ८२ ॥
सिरिमइपियापे जाओ, चदणसारु त्ति नदणो तस्स ।
कंता य चदकंता, दुवे वि जिणधम्मपरिकलिया ॥ ८३ ॥
मरिठ स जलदेवो, वि छल्लपुढवापे नारओ जाओ ।
पुण आहेमयसुणओ, मरिठ तत्थेव चववसो ॥ ८४ ॥
तत्तो जमिय बहुजव, जाओ सो रयणसारदासिसुओ ।
अहणगनामा पीई, पुव्वुत्ता तेसि सजाया ॥ ८५ ॥
अन्नादिणे रयणवरे, दिसि जत्ताण गयमि निवइमि ।
सवरवइ विज्जकेऊ, जजिय गिणहइ बहु वंद ॥ ८६ ॥
हरिया य चदकता, सेसजणो को वि कत्थ वि य नट्ठो ।
आवासिओ य वल्लिउ, सवरवई जिअकूवतडे ॥ ८७ ॥
वोडीणे सयवादिणे, निसावसेसे पयाणकालमि ।
अहरइसवसपुरकलड-नियनियकिञ्चेसु निञ्चेसु ॥ ८८ ॥
२१०

उत्तालकाहलातर-लवहलरवपसरभरियनहविचरे ।
अग्गाणीयमि वड-तयमि दीणे य वदिजणे ॥ ८९ ॥
सा चदणपाणपिया, सत्तीवनियसील्लसडणभण ।
पचनमुक्कारपरा, ऊपावइ तमि कूवमि ॥ ९० ॥
जवियच्चयानिओगा, पमिया नीरमि ज्जाविचा तेण ।
पडिकूवयमि ठाउ, गमेइ सा वासरे कइ वि ॥ ९१ ॥
इत्तो य गया धामि-त्ति चदणो नियपुरे समणपत्तो ।
दइया हड त्ति नाउ, जाओ अइविरहदुहडुहिओ ॥ ९२ ॥
तो तीरे मोयणत्थ, सबल्लय दवियणउल्लय गहिय ।
अहणगवीओ चल्लिओ, वारेण बहति त भार ॥ ९३ ॥
पत्ता कमेण त जि-अकूवदेस तथा पुणो अत्थि ।
धणजाय पासे दा-सयस्स इयरस्स पाहेय ॥ ९४ ॥
तो पुव्वजवज्जासा, दासो चित्तेइ सुन्न-रत्तमिण ।
अत्थमिओ गगणमणी, ओल्लसिओ गरुयनिमिरमरो ॥ ९५ ॥
ता इत्थ कूवकुहरे, विविऊण सत्थवाहसुहमेय ।
धणजाएण इमेणं, भवामि भोगाण आमागी ॥ ९६ ॥
तो जणइ निविडनियमी, जित्त तिसा वाहए मम सामि ! ।
सोवि हु सहावसरत्तो, जा कूवे नियइ तत्थ जल ॥ ९७ ॥
ता तेण पावपज्जा-रपिक्खिण स पिक्खिओ अवमे ।
तत्तो वि पणसाओ, पाधिओ अहणगो णत्तो ॥ ९८ ॥
अह चदणो जलतो, सिरिठियपाहेयपुट्ठो पडिओ ।
पमिकूवे बहु जग्गो, य चदकता कह वि छित्ता ॥ ९९ ॥
भयविहल्ल मणइ नमो, अरिइताण ति त सरेण पुड ॥
उवल्लक्खिय आह इमो, जिनधम्मण अजयमज्ज ॥ १०० ॥
त सुणिय मुणिय दइय, सरेण रोपइ तारतारमिमा ।
तो अन्दुअ सुहदुह-वत्ताहि गमति त रयणि ॥ १०१ ॥
उइए सहस्सकिरणे, त पाहेय दुवे वि भुजति ।
कच्चयदिणेसु एव, पक्खीण सधज सच्च ॥ १०२ ॥
अह चदणो पयंवइ, दइए ! एयाउ वियडअवडाओ ।
गंजीराउ जवाउ व, उत्तारो छुत्तरो नूण ॥ १०३ ॥
तम्हा कुण्णिमोऽणसण, मा मणुयजव निरत्थय नेमो ।
इय जा कहेइ ता से, दाहिणनयणेण विप्फुरिय ॥ १०४ ॥
इयरीए वामेण, सो आह पिणइ अगकुरणेहि ।
एस किळेसो न चिर, होही अम्ह ति तक्केमि ॥ १०५ ॥
इत्थंऽतरमि पत्तो, सत्थवई नादिवद्धणो तत्थ ।
रयणवरनयरगामी, उदयत्थ पेसए पुरिसे ॥ १०६ ॥
ते जा नियति कूव, ता चदणचदकतमज्जिदट्ठु ।
साहित्तु सत्थवइणो, कढंति य मच्चियापे लहु ॥ १०७ ॥
पुट्ठो य सत्थवइणा, बुत्तत कइइ चदणो सच्च ।
सच्चल्लिओ नियनयरा-भिसुह वूढो य दिणपण्ण ॥ १०८ ॥
दिओ तेण निवपदे, छुट्ठादिणे हरिचिद्वारिओ पुरिसो ।
नाउ धणोवल्लंजा, हहा ! वराओ अहणगु त्ति ॥ १०९ ॥
त दव्व गहिऊण, पकामसुविमुक्कमाणपरिणामो ।
रयणवरे सपत्तो, पत्ते सुनिउजिउ दव्व ॥ ११० ॥
गिहित्त विजयवरुण-सूरिसमीवेऽणवज्जपव्वज्ज ।
जाओ य सुक्ककप्पे, सोलसअयरठिई अमरो ॥ १११ ॥
तो चविउ इह मरहे, रहवीरपुराभिहाणनयरमि ।
गेहवइनदिवद्धण-सुदरिपुत्तो इमो जाओ ॥ ११२ ॥
नामेणऽणगदेवो, अणगदेवु व्व वहुलरुवेण ।
सिदिदेवसेणुगुणो, पासे पमिवत्तमिहिधम्मो ॥ ११३ ॥

अह अहणगो वि हरिणा, हणिओ सेलाइनारओ जाओ ।
सीहो भविय तर्हिचिय, पुणो वि पत्तो असुहाचित्तो ॥ ११४ ॥
तो हिंडिय भूरिभवे, तथेव य सोमसत्थवाहस्स ।
मंदिमझारियाए, जाओ धणदेवनामसुओ ॥ ११५ ॥
असठत्तदमाणसाण, तेसिं पीई परुप्पर जाया ।
ते दवियज्जणमणसो, कया वि पत्ता रयणदीवे ॥ ११६ ॥
कश्चयदियेहि वलिया, सपुराभिमुह विदत्तवहुवित्ता ।
अह धणदेवो जाओ, नियमित्तपवचणप्पवणो ॥ ११७ ॥
कम्म वि गामे दहे, कराविया मोयगा दुवे तेण ।
इक्कम्म विस खित्त, पय मित्तस्स दाह ति ॥ ११८ ॥
आउलमणस्स जाओ, मग्गे इतस्स तस्स वच्चासो ।
सुओ सहिणो दिओ, सय तु विसमोयगो जुत्तो ॥ ११९ ॥
अइविसमविसविसप्पिर-गुहवेयणपसरपरिणओ भुत्ति ।
धणदेवोपरि चत्तो, धम्मण व जीविण्णावि ॥ १२० ॥
बहु सोऊण तस्स य, मयकिञ्च काउणऽगदेवो वि ।
पत्तो कमेण सपुरे, तन्नियगाण कहइ सव्व ॥ १२१ ॥
तेसिं पभूयद्व, दाउ पुच्छित्तु पियरपमुहजण ।
सो पुव्वगुरुसमीवे, गिएहइ वयमुभयलोयहिय ॥ १२२ ॥
दुक्करनवचरणपरो, परोवयारिक्कमाणसो मरिउ ।
गुणवीससागराउ, पायणकप्पे सुरो जाओ ॥ १२३ ॥
कालेण तओ वि चओ, जवुदीवम्मि परवयवासे ।
गयपुरनयरे हरिण-द्विसेठिणो परमसद्धस्स ॥ १२४ ॥
लच्छिमइपणइणीए, जाओ पुत्तो य वीरदेवु ति ।
सिरिमाणभगसुहगुरु-समीवकयगिहिवउच्चारो ॥ १२५ ॥
धणदेवो वि हु तइया, उक्कविसवेगपत्तपचत्तो ।
नवसागरोवमाऊ, उववओ पकपुढवीए ॥ १२६ ॥
पुणरवि भविय जुयगो, दारुणवणदावदुसव्वगो ।
जाओ तर्हि वि किञ्चू-णअयरदसगाउ नेरइओ ॥ १२७ ॥
तिरिएसु जमिय सो त-तथ गयपुरे इदनागसिद्धिस्स ।
नद्धिमईभजाए, दोणगनामा सुओ जाओ ॥ १२८ ॥
पुव्वुत्तपीइजोगा, इगदहे ववहरति ते दोवि ।
वित्त बहु विदत्त, तो चिन्इ दोणगो पावो ॥ १२९ ॥
कह एसो असहरो, हणियव्वो हु कराविठ इरिह ।
नवधवलहर उच्च-त्तणेण नहमणुलिहन व ॥ १३० ॥
तत्थुवरि जुवि अओमय-कीलगजाहानियतियगवक्ख ।
भोयणकए निमति-त्तु वीरदेव कुडुवजुय ॥ १३१ ॥
तो से दसिस्समिम, रमणीयत्ता सय स आरुहिही ।
खडहडिऊण निवडिही, पाणेहि वि ऊत्ति मुच्चिहिही ॥ १३२ ॥
अह निव्विवायमेसो, विहवजरो मज्झ चैव किर होही ।
नय कोइ जणचवाओ, इय चिन्तिय कारइ तदेव ॥ १३३ ॥
जा भुत्तुत्तरमेए, दुवे वि धवलहरसिहरमारुढा ।
सम्मइरहिओ टोणो, अणपसकप्पभरियमणो ॥ १३४ ॥
भो मित्त ! पहि इहय, निज्जूहे विससु जपिरो तत्थ ।
सयमारुढो इक्को, पडिओ मुक्को य पाणेहि ॥ १३५ ॥
हाहारवमुहलमुहा, तुरिय उत्तरिय वीरदेवो वि ।
जा नियइ ता पडिहो, मित्तो पवत्तमणुपत्तो ॥ १३६ ॥
हा मित्त ! मित्तवच्छल !, उअदूसणरहिय ! रहियनंयमज्जो ।
इय वहुविहं पलिविउ, मयकिञ्च कुणइ सो तस्स ॥ १३७ ॥
जललवनरत्ते जीए, विज्जुलयाचचलम्मि तरुणत्ते ।
को नाम गेहवासे, पन्निय कुणइ सविवेओ ॥ १३८ ॥

इय चित्तिकण सम्म-त्तदाइगुपासपत्तसामन्नो ।
उववन्नो गेधिज्जे, सो तइए भासुरो अमरो ॥ १३९ ॥
अत्थिह विदेहवासे, वासवदेह व सज्जवज्जहर ।
अवयसहस्सकाविय, चपावास ति वरनयर ॥ १४० ॥
तत्थाऽऽसि माणिज्जो, जहोवज्जणमणो सया सिंही ।
जिणधम्मरम्मकामा, तस्स पिया हरिमई नामा ॥ १४१ ॥
सो वीरदेवजीवो, नत्तो गेधिज्जगाउ चविकण ।
नामेण पुन्नभहो, ताण पुत्तो समुप्पन्नो ॥ १४२ ॥
तेण च पढणसमए, घोस पढममवि उच्चरतेण ।
अमरु त्ति समुल्लविय, बुद्धइ अमरो वि तेणेसो ॥ १४३ ॥
दोणो वि मओ धूमा-ए वारअयरान्न नारओ जाओ ।
मच्छो सयसुरमणे, जविउ तथेव उववन्नो ॥ १४४ ॥
भमिय भवे तत्थ पुरे, नदावत्तऽभिहसिचिइयाए ।
सिरिन्द्राए धूया, सजाया नदयति ति ॥ १४५ ॥
भवियव्वयावसेण, परिणीया सा उ पुन्नजहेण ।
सा पुव्वकम्मवत्तओ, जाया पव्वचणिकमणा ॥ १४६ ॥
से परियणेण कहिय, वद्धुत्तरकूडकवडनियडिकुमी ।
सामिय ! पिया तुहेमा, न य सहहिय पुणो तेण ॥ १४७ ॥
कइया वि सव्वसार, कुरुवज्जुयल सय अवहरित्ता ।
आगंलहियय व्व इमा, साहइ पइणो पणत्त ति ॥ १४८ ॥
तेण वि नेहवसेण, घमाविठ नवयमप्पिय त से ।
इय हरियमन्नमन्न, तीए दिन्न पुण इमेण ॥ १४९ ॥
न्हाणावसरे कइया, मुहारयण समप्पिय तीसे ।
सम्भाए मगिय पुण, सा आह कहि वि नणु पडिय ॥ १५० ॥
तत्तो अइसजतो, निठण एसो निहालइ गिहतो ।
भज्जाभरणसमुग्गे, नत्त दव्वं नियइ सव्व ॥ १५१ ॥
कि कुमलाइ दव्व, गय पि लक्क इमीए न गय वा ।
करकलियदवियजाओ, एसो चित्तेइ सवियक्क ॥ १५२ ॥
इत्तो य सा तर्हि चिय, पत्ता इयरो य भुत्ति नीहरिओ ।
जापइ नदयती, धुवमिमिणा जाणिया अहय ॥ १५३ ॥
जा सयणाण वि मज्जे, नो उप्पाएइ लाघव मज्ज ।
सज्जो सजोइयक-म्मणेण मारेमि ताव इम ॥ १५४ ॥
कात्त तय सयचिय, अणेगमरणावहेहि व्वेहि ।
तमिसम्मि सठवती, मक्का दुट्टेण सप्पेण ॥ १५५ ॥
पमिया भस ति धरणि, जाओ हाहारवो अइमहतो ।
तत्थागओ पई से, आहूया पवरगारुडिया ॥ १५६ ॥
स्व्वेसि नियताण वि, खणेण निहण गया गया पावा ।
गठीए पुढवीए, पुरओ जमिही अणत्तभव ॥ १५७ ॥
त दहु पुअभहो, सोयजुओ तीइ काउ मयकिञ्च ।
वेरगाभावियमणो, जाओ समणो विजियकरणो ॥ १५८ ॥
सुक्कजाणानयद-दुसयलकर्मिधणो धुणियपावो ।
सो जयव सपत्तो, लोयगसुसट्ठियट्टाण ॥ १५९ ॥
निरुनिज्वेयनिमित्त, पकिसिया पुरिमपच्छिमिल्लभा ।
इहय असठगुणम्मा, पगय पुण चक्कदेवेण ॥ १६० ॥
इति फलमानिरम्य चक्रदेवस्य सरयक,
प्रतिभवमापि आव्य भावभाजो निशम्य ।
भवत्त भविकलोकाः स्पष्टसतोपपोषा,
कथमपि हि परेषां वञ्चनाचञ्चवो मा ॥ १६१ ॥
॥ इति चक्रदेवचरित समाप्तम् ॥

असठकरण-असठकरण-पु० । मायामदविप्रयुक्तो भूत्वा य-

असदकरण

शोकविहितानुष्ठानकारके, वृ० ६ उ० । “ असदकरणो नाम सव्वत्थादानतो अप्पाण मायाए त्ति असदो होऊण कसिण करेति ” । (न शरो यस्मादिनि विग्रहाभिप्रायेण) नि० चू० २० उ० ।

असदनाव-अशठनाव-पु० । अमायाविनि, व्य० ४ उ० । शुद्धचित्ते, आव० ६ अ० । स्ववीर्यं प्रति मान्द्य कुर्वाणे, नि० चू० २० उ० ।

असण-अशन-न० । अश भोजने, व्युद् । भोजने, नि० चू० ११ उ० । स्थ० । सूत्र० । अश्यते इत्यशनम् । अश भोजने इत्यस्मात् व्युद् । ध० २ अधि० एव लोके, लोकोत्तरिके तु आशु क्षुधां शमयति इति “ खीरलयादिफलाणि वा ” आ० चू० ६ अ० । ओदनादिभक्ते, प्रव० ४ द्वार । दश० आचा० । आव० । उत्त० । दर्श० ।

तत्र अशनमाह-

असणं ओअणसत्तुग-मुग्गजगाराड खज्जगविही य ।
खीराड सूरणाई, मंगगपभिई उ विचये ॥

आदिशब्द स्वगतानेकमेदसूचक सर्वत्र संबध्यते । तत् ओदनादि, सक्त्वादि, सुदूगादि, जगार्यादि, जगारीशब्देन समयभाषया “ रब्धा ” भण्यते । तथा खज्जकविधिश्च-खाद्यक-मण्डिका-मोदक-सुकुमारिका-घृतपूर-लपनश्री-स्वर्यच्युताप्रभृति-पक्वान्नाविधिः । तथा-क्षीरादि, आदिशब्दादधि-घृत-तक-सीमन-रसास्वादपरिग्रहः । तथा-सूरणादि, आदिशब्दादार्क-कादिसकलवनस्पतिविकारव्यञ्जनपरिग्रहः । मण्डकप्रभृति च-मण्डका प्रभृतिर्यस्य त्रोटिका-कुल्लुरिका-चूरीयका-इदुरिका-प्रमुखवस्तुजातस्य तन्मण्डकप्रभृति, विज्ञेय ज्ञातव्यमशनम् । प्रव० ४ द्वार । “ असणाणि य चउससी ” स० ।

“ असण ओयण सत्तुग, मडग पयरव विद्वज्जगाराड ।
कदवजाई सव्वा, सज्जविही सत्त विगई य ॥ ३९ ॥
असणमि सत्त विगई, साइम गुल महु सुरा य पाणमि ।
खाइम पक्कज फळा-ण उहेणय सव्वअसणम्मी ॥ ४० ॥
चण ओद मसुर तुवरी, कुल्लथ निप्पाव मुग्ग मासा य ।
चवल कजाया राई, पमुह दुदव व निषेह ॥ ४१ ॥
तिव अयसि सिग्गिद कग्ग, कुदव अणुयादव सिणेदज ।
नण्णति केइ दुदव, पाय धन्नु व्व त सव्व ॥ ४२ ॥
कट्टदव पक्कज, तकर दहि दुदपाय मीस ज ।
जमणतकायजाय, पत्त फल पुप्फ वीय च ॥ ४३ ॥
पुढाविकाळ सव्वो, बलकिम्पपभिइ सव्वजिण्णधन ।
हिगुलवाणीउल्ले-प्पभिई असण वहुविह ज ॥ ४४ ॥ ल० प्र० ।
नीलवर्णे बीजकाभिधाने वृत्तविशेषे, आचा० २ श्रु० १० अ० ।
प्रज्ञा० । रा० । ही० ।

अमणग-अशनक-पु० । बीजकाभिधाने वनस्पतिभेदे, औ० ।

असणदाण-अशनदान-न० । अश्यत इत्यशनमोदनादि, तस्य दानमशनदानम् । तस्मिन्नशनदाने अशनशब्दः पानाद्युपलक्षार्थः । आहारदाने, प० व० २ द्वार । आव० ।

असणाणिमतण-अशनादिनिमन्त्रण-न० । गुरोराहारनिमन्त्रणे, ध० । अशनादिनिमन्त्रणमिति । अशनादिभिरशन-पान-खादिम-स्वादिम-वस्त्र-पात्र-कम्बज-पादप्रोञ्जन-प्रातिहारिकपीठफल-शय्यासस्तारकौषधभैषज्यादिभिः निमन्त्रण, प्रस्तावाद्

गुरोरेव । तच्च गुरोः पादयोर्लङ्गित्वा “ इच्छकारि भगवन् ” पसा-जगरी कासुएण एसणिजेण असणपाणखाइममाइमेण वन्द-पडिग्गहकम्बलपायपुच्छणेण पामिहारिअपीठफलगसिज्जासथारणओसहमेसजेण य भयव ‘ अणुगहो कायव्वोत्ति ’ पात्रपूर्व भक्त्या कार्यम् । एतच्चोपलक्षणे शेषकृत्यप्रशस्यापि । यतो दिनकृत्ये “ पञ्चकपाण च काऊण पुच्छए सेसकिञ्चय । कायव्व मणसा काउ, ओअण च करे इम ” इति । ‘ पुच्छए ’ इत्यादिना पृच्छति साधुधर्मनिर्वाहशरीरनिरावाधवात्ताद्यशेषकृत्यम् । यथा-निर्वहति युष्माकं समयमात्रा, सुख रात्रिर्गता भवता, निरावाधा शरीरेण यूय, न वाधने वः कश्चिद्वाधिः, न प्रयोजन किञ्चिद्यौषधादिना, नाथ कश्चित् पथ्यादिनेत्यादि । एव प्रश्नश्च महानिर्जराहेतुः । यदुक्तम्-‘ अभिगमणवदणनम-सणेण पामिपुच्छणेण साहूण । चिरसच्चिअ पि कम्म, सणेण चिरलत्तणमुवेड ’ । प्राग्वन्तनाचसरे च सामान्यतः ‘ सुहराई सुहतपसररीरनिरावाध ’ इत्यादिप्रश्नकरणेऽपि, विशेषेणात्र प्रश्नः सम्यगुत्तररूपपरिज्ञानार्थः, तदुपायकरणार्थश्चेति प्रश्नपूर्व निमन्त्रण युक्तिमदेवेति । सप्रति त्वि-निमन्त्रण गुरुणां बृहद्वन्दनदानानन्तर आकाः कुर्वन्ति, ये च प्रतिक्रमण गुरुभिः सह कृत, स नृयोदयादनु वदा स्वगृहादयाति, तदा तत्करोति, येन च प्रतिक्रमण बृहद्वन्दनक चेत्युज्जयमपि न कृत, तेनापि वन्दनाद्यवसरे एव निमन्त्रण क्रियते, ततश्च यथाविधि तत्कालमिति । एव बहिर्दृष्टस्य विधिः । कारणविशेषे तु तत्प्रतिश्रयेऽपि गम्यते, तत्राप्येष एव विधिः, अप्रेतनोऽपि च ।

कारणान्याह-

परिआय-परिस-पुरिस, खेतं कालं च आगमं नच्चा ।

कारणनाए जाए, जहारिहं जस्स जं जोग्गं ॥ ४ ॥

पर्यायो ब्रह्मचर्यं, तन् प्रभूतकालं येन पात्रित, परिषद् विनीता साधुसहति, तत्प्रतिषेधक पुरुष ज्ञात्वा, कथम्?, कुलशुणसङ्घकार्याण्यस्याऽऽयत्तानीति, एव तदधीन क्षेत्रमिति, कालमवमप्रतिजागरणमस्य शुण इति, आगम सूत्रार्थो जयरूपमस्यास्ताति ज्ञात्वेति ।

साम्प्रतमेतदकरणे दोषमाह-

एआइ अकुवतो, जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे ।

ए भवइ पवयणजत्ती, अभत्तिमंताइआ दोसा ॥ ५ ॥

तथा-

उप्पन्नकारणम्मी, किडकम्मं जो न कुज्ज दुविहं पि ।

पासत्थाईआणं, उग्घाया तस्स चत्तारि ॥ ६ ॥

(दुविह पीति) अभ्युत्थानप्रन्दनवृत्तणम्, इत्यत्र प्रसङ्गेन । ध० २ अधि० ।

असणि-अशनि-पु० । पविरित्यस्य पर्यायः । है० । आकाशे पतत्यग्निमये कणे, प्रज्ञा० १ पद । विशेषे, सू० प्र० २० पाहु० । त० । विद्युद्वज्रे, वाच० ।

असणिमेह-अशनिमेघ-पु० । करकादिनिपातवति पर्वतादिदारणसमर्थजलत्वेन वा वज्रमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

असणी-अशनी-स्त्री० । वले. सोमस्य महाराजस्याग्रमहिष्या-म, भ० १० श० ५ उ० । स्था० ।

अससि (ण)-असंझिन्-पु० । सञ्ज्ञिविपरीतोऽसञ्ज्ञी । विशिष्टसरणादिरूपमनोविज्ञानविकले कर्म० ४ कर्म० । “ शेरइया दुविहा पण्णा । त जहा-ससि चैव, अससि चैव । एव पचिदिया

सन्वे विगलितियवजा० जाव वेमाणिया" स्था० २ ग्रा० २ व० ।
प० स० । न० । " अससि डुविहा-अणागाढमिच्छदिट्टी, आ-
गाढमिच्छदिट्टी य " नि० चू० ५ उ० ।

अससिआउय-असंश्यायुप्-न० । असंशिना सता वस्ते परजव-
प्रायोग्ये आयुषि, भ० १ श० २ व० । ("आउ" शब्दे द्वितीय-
जाग १५ पृष्ठे १३ अधिकारे चैतद् व्याख्यास्यते)

अससिचूय-असङ्गिचूत-पु० । मिथ्यादृष्टौ, भ० १ श० २ व० ।

अससिसुय-असङ्गिश्रुत-न० । मिथ्यादृष्टिश्रुते, तच्च कालिको-
पदेशेन हेतूपदेशेन दृष्टिवादोपदेशेन च त्रिविधम् । न० । आ०
चू० (' ससिसुय ' शब्दे चैतद् वक्ष्यते) ।

अससिहिसंचय-असंनिधिसंचय-पु० । न विद्यते सनिधे प-
र्युषितस्त्राद्यादेः सञ्चयो धारण येषां ते तथा । सनिधिशून्ये युग-
लिकमनुष्ये, ज० २ वक्त्र० । त० । ज० ।

असती-असत-।-स्त्री० । असप्राप्तौ, नि० चू० १२ उ० । " प-
मापण वा असती चुक्खद्विपण वा " महा० ५ अ० ।

अमत्त-अशुक्त-त्रि० । असमर्थे, दर्श० । पि० ।

असक्त-त्रि० । अपाकृतमदनतया समतृणमणिलेष्टुकाञ्चने समता-
पन्ने, आचा० । " जे असता पावेहिं कम्मेहिं " ये अपाकृतमदनतया
समतृणमणिलेष्टुकाञ्चनाः सभनापन्ना पापेषु कर्मस्वसक्ताः
पापोपादानानुष्ठानारताः । आचा० १ शु० ५ अ० २ व० ।

असत्त्व-न० । नास्तित्वे, स्या० । पररूपेणाविद्यमानत्वे, न० ।

असत्ति-अशक्ति-स्त्री० । असयोगे, असपर्के, षो० ४ विव० ।

असत्थ-अशस्त्र-न० । निरवद्यानुष्ठानरूपे सयमे, " से असत्थ-
स्स खेयस्से, जे असत्थस्स खेयस्से से पज्जवजातस्स खेयस्से "
आचा० १ शु० ३ अ० १ व० ।

असत्थपरिणय-अशस्त्रपरिणत-त्रि० । अशस्त्रोपहते, आचा०
२ शु० १ अ० ८ व० । (' अपरिणय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे
६०१ पृष्ठेऽस्य सूत्रायुक्तानि)

असदायार-असदाचार-पु० । सदाचारविलक्षणे हिंसाऽनु-
तादौ, ध० । असदाचारः सदाचारविवक्षणे हिंसाऽनुतादिर्दश-
विधः पापहेतुर्भेदरूपः । यथोक्तम्- " हिंसाऽनुतादयः पञ्च,
तत्त्वाश्रद्धानमेव च । क्रोधादयश्च चत्वारः, इति पापस्य हे-
तवः " ॥ १ ॥ तस्य गह्रां यथा—

' न मिथ्यात्वसमं शत्रु-र्न मिथ्यात्वसमं विषम् ।

न मिथ्यात्वसमो रोगो, न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ १ ॥

द्विषद्विषतमो रोगैर्दुःखमेकत्र दीयते ।

मिथ्यात्वेन दुरन्तेन, जन्तोर्जन्मनि जन्मानि ॥ २ ॥

वरं ज्वालाकुले क्षिप्तो, देहिनाऽत्मा हुताग्ने ।

न तु मिथ्यात्वसंयुक्तः, जीवितव्यं कदाचन ॥ ३ ॥

इति तत्त्वाश्रद्धानं गह्रां, एव हिंसादिष्वपि गह्रां योजना कार्या ।

तथा-नस्याऽसदाचारस्य हिंसादेः स्वरूपकथनं यथा-प्रमत्तयो-
गादप्राणिव्यपरोपणं हिंसा, असदभिधानं मृषा, अदत्तादानं
स्तेयं मैथुनमव्रह्म, मूर्च्छा परिग्रह इत्यादि । तथा-स्वयमाचार-
कथकेन परिहारोऽसदाचारस्य सपादनीयः, यतः स्वयम-
सदाचारमपरिहृतो धर्मकथनं नटवैराग्यकथनमिवानादेयमय-

स्यात्, न तु साध्यसिद्धिकरमिति । तथा-अनुभावस्य कौटि-
ल्यत्यागरूपस्यासेवनमनुष्ठानं देशकेनैव कार्यम् । एव हि त-
स्मिन्नाविप्रतारणकारिणि संभाविते सति शिष्यस्तदुपदेशान्न कु-
तोऽपि दूरवर्ती स्यादिति ॥ ध० १ अधि० ।

असदारंज-असदारम्भ-पुं० । प्राणवधादौ, प० व० ३ द्वार ।
" बाहो ह्यसदारम्भः " बाहो हि पूर्वोक्तः, असन् असुन्दर आरम्भो-
ऽस्येत्यसदारम्भः, अविद्यमान वा यदागमे व्यवच्छिन्नः, तदारभते
इत्यसदारम्भः । न सदा सर्वदा स्वस्तिकालाद्यपेक्षं आरम्भोऽ-
स्येति वा । " वृत्त चारित्रं ख-त्वंसदारम्भविनिवृत्तिमत्तम् ।
सदनुष्ठानम् " असदारम्भोऽशोभनारम्भः प्राणातिपाताद्याश्रव-
पञ्चकरूपः, ततो विनिवृत्तिमद् हिंसादिनिवृत्तिरूपमहिंसाद्यात्म-
कम् । षो० १ विव० । पञ्चा० ।

असद-अशब्द-पु० । अर्द्धदिग्व्याप्यसाधुवादे, ग० २ अधि० ।
व० स० । शब्दवार्जिते, वृ० ३ व० ।

असदहंत-अश्रद्धात-त्रि० । अस्वामकुर्वति, " भस्मच्छे वाणि-
ओ असदहतो उज्जेणिय " वृ० ३ व० । " एको देवो असदहतो "
नि० चू० १ उ० ।

असदहण-अश्रद्धान-न० । निगोदादिविचारविप्रत्यये, ध० ।
२ अधि० ।

असप्पवित्ति-असत्प्रवृत्ति-स्त्री० । असुन्दरप्रवृत्तौ, षो० १६ विव० ।

असप्पलावि (ण)-असत्प्रदापिन्-त्रि० । असद्भावप्रलापि-
नि, नि० चू० १६ उ० ।

असवल-अशवल-पु० । मालिन्यमात्ररहिते, प्रश्न० १ सव०
द्वार । शवलस्थानदूरवर्त्तिनि, आतु० । निरतिचारे, स्था० ५
ग्रा० ३ व० । अतिचारपङ्कभावात् एकान्तविशुद्धचरणे, भ०
२५ श० ७ उ० ।

असबद्धायार-अशवलाचार-पुं० । विशुद्धाचारे, अशवलः सिता-
सितवर्णोपेतबद्धीवर्दः ष्वाकर्तुर आचारो विनयशिक्षाज्ञाषाणो-
चरादिको यस्य सोऽशवलाचारः । व्य० ३ व० ।

असञ्ज-असञ्ज-त्रि० । सज्जोपवेशनाऽयोग्ये खले, औ० । आ-
व० । स्था० । अशोजने असद्भावप्ररूपकेऽसञ्जे, यथा-इयमा-
कतण्डवमात्रोऽयमात्मा' इतिषदन्तः परिहृताः । नि० चू० १६ उ० ।
असम्भवयण-असम्भवचन-त्रि० । स्वरकर्कशादिके दुर्वचने,
" असम्भवयणेहि यं कलुणा विवक्ष्यता " दश० ८ अ० २ उ० ।

असञ्जाव-अमद्भाव-त्रि० । अविद्यमानार्थे, औ० । प्रश्न० ।
ज्ञा० । अतथ्यभावे, आव० ५ अ० । सञ्जावस्याभावे, पि० । अ-
विद्यमानाः, सन्तः-परमार्थसन्तः, भावा जीवाद्योऽभिधेयभूता
यस्मिन्स्तदसद्भावम् । सर्वव्याप्यादिरूपात्मादिप्रतिपादके कु-
प्रवचने, उच्यते ३ अ० ।

असम्भाववृण-असद्भावस्थापना-स्त्री० । अक्कादिषु मुन्या-
कारवत्यां स्थापनायाम्, साध्याद्याकारस्य तत्रासद्भावात् । अनु० ।
असञ्जावपट्टवणा-असञ्जावप्रस्थापना-स्त्री० । असद्भूतार्थ-
कल्पनायाम्, ज० ११ श० १० उ० । जी० ।

असम्भावुञ्जावणा-असद्भावोदजावना-स्त्री० । ६ त० । अवि-
द्यमानार्थानामुद्येक्षणे, औ० । यथाऽस्त्यात्मा सर्वगतः, इयामा-

तेऽंदिया ण जीवा असमारभमाणस्स उव्विहे संजमे क-
ज्जइ। तज्झा-घाणामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता नवइ,
घाणामएण दुस्सयेणं असयोएत्ता नवइ, जिब्भामयाओ
सोक्खाओ अववरोवेत्ता नवइ, एव चेव फामामयाओ वि।
तेऽंदिया एं जीवा समारंजमाणस्स उव्विहे असयमे कज्जइ।
तं ज्झा-घाणामाओ सोक्खाओ चवरोवेत्ता नवइ, घाणाम-

एणं दुक्खेण संजोयेत्ता जवइ०, जाव फासमएणं दुक्खेणं संजोएत्ता जवइ ।

(तेऽदिगणमित्यादि) कण्ठ्य, नवर(असमारंभमाणस्सत्ति) अव्यापादयत । (घाणामाओत्ति)घाणमयात् सौख्याद् गन्धोपादानरूपात् अव्यपरोपयेना अभ्रशकता घ्राणमयेन गन्धोपालम्भाभावरूपेण दु खेनासयोजयिता भवति । इह चाव्यपरोपणमसयोजनं च नयम, अनाश्वरूपत्वात् इतरदसयम इति । स्था० ६ ठा० ।

“चउरिंदिया ण जीवा असमारंभमाणस्स अछविहे सजमे कज्जइ । त जहा-चक्खुमाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, चक्खुमएण दुक्खेण असजोएत्ता जवइ, एव जाव फासामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामएण दुक्खेण असजोएत्ता भवइ । चउरिंदिया ण जीवा समारंभमाणस्स अछविहे असजमे कज्जइ । त जहा-चक्खुमाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, चक्खुमएण दुक्खेण ज जाएत्ता भवइ । एव जाव फासामाओ सोक्खाओ ” ॥ स्था० ८ ठा० । “ पचिंदिया ण जीवा ण असमारंभमाणस्स दसविहे सजमे कज्जइ । त जहा-सोयामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, सोयामएण दुक्खेण असजोएत्ता जवइ । एव जाव फासामएण दुक्खेण असजोएत्ता भवइ । एव असजमो वि भाणियव्वो ” ॥ स्था० १० ठा० ।

असमाहड-असमाहृत-त्रि० । अशुद्धे, “ वित्तिगिच्छसमावण्णेण अप्पाणेण असमाहडाए वेस्साए ” अशुद्ध्या लेश्ययाद्विमादिदोषदुष्टमिदमित्येव चित्तविप्लुत्या । आचा० २ शु० १ अ० ३३३० ।

असमाहडसुच्छलेस्स-असमाहृतसुच्छलेश्य-त्रि० । असमाहृताऽनङ्गीकृता शुद्धा शोभना देश्या येन स तथा । आर्त्तध्यानोपहनतयाऽशोभनलेश्ये, सूत्र० २ शु० ३ अ० ।

असमाहि-असमाधि-पु० । अपध्याने, सूत्र० १ शु० २ अ० २२० । समाधान समाधि-स्वास्थ्यम्, न समाधिरसमाधिः । अस्वास्थ्यनिबन्धनायां कायादिचेष्टायाम्, आ० म० द्वि० । स्था० । “दसविहा असमाही पप्पत्ता । पाणाइवाए० जाव परिगहेरिया असमिह० जाव उधारपासवणस्सेद्वसिह्वाणगपारिछावणिया असमिह” । ज्ञानादिभावप्रतिषेधे अप्रशस्ते जावे, स्था० १० ठा० ।

असमाहिकर-असमाधिकर-त्रि० । असमाधिकरणशीलोऽसमाधिकर । आ० म० द्वि० । चित्ताऽस्वास्थ्यकर्त्तरि, प्रश्न० ३ सव० द्वार । आ० चू० । असमाधिररणे च, व्य० ४ उ० ।

असमाहिङ्गाण-असमाधिस्थान-न० । समाधिश्चेतसः स्वास्थ्यम्, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः । न समाधिरसमाधिः, तस्य स्थानस्याश्रयाः । अ० ३ अधि० । असमाधिर्ज्ञानादिभावप्रतिषेध, अप्रशस्तो भाव इत्यर्थः । तस्य स्थानानि पट्टानि असमाधिस्थानानि । स्था० १० उ० । चित्ताऽस्वास्थ्यस्याश्रयेषु, प्रश्न० ५ सव० द्वार । यैहिं आसेविनैरात्मपरोभयानामिह परत्रोभयत्र वाऽसमाधिरुत्पद्यते । स्था० १० ठा० ।

सुयं मे आजसतेणं जगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीम असमाहिङ्गाणा पणत्ता । कयरे खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिङ्गाणा पणत्ता । इमे खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिङ्गाणा पणत्ता । त जहा-

दवदवचारिया वि जवति १, अपमज्जियचारिया वि भवइ २, दुपमज्जियचारिया वि भवति ३, अतिरित्तसेज्जासणिए ४, रायणियपरिभासी ५, थेरोवघातिए ६, जूतोवेघा-तिए ७, सजलणे ८, कोहणे ९, पिट्ठीमंसए यावि भवति १०, अनिक्खण अतिक्खणं ओहारिए ११, एवाइं अधिकरणाइं अणुप्पएणाइं उप्पाइ वा जवति १२, पोराणाइं अधिकरणाइं खामित्तविउसमिताइ उदीरित्ता जवति १३, अकाले सज्जायकारिया वि जवति १४, ससरक्खपायिणाए १५ सहकरे १६ भेदकरे ऊंऊकरे १७ कल्ल-हकरे असमाहिकरे १८ सूरप्पमाणभोडए १९ एसणाए असमिते यावि जवति २० । एवं खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिङ्गाणा पणत्ता त्ति वेमि पढमा दसा सम्पत्ता ॥

ननु यथाकथञ्चिद् गुरुविनयभीत्या गुरुपर्वद्वयितेज्यो वा सकाशात्, यथोच्यते—“ परिसुद्धियाण पासे सुणेइ, सो विणयपरिभासी त्ति ” । यदुक्तं स्थविरैः विशति-रसमाधिस्थानानि प्रवृत्तानि । तत्र किं स्थविरैः अन्यतः पुरुष-विशेषात्, अपौरुषेयागमान्, स्वतो वाऽतत्रोच्यते-भयवत्-सकाशादेवावगम्य तैरधिगम्य प्रवृत्ता, ‘थेरेहिं ति’ कथनाद् ज्ञान-स्थविरैरित्यवेदितं भवति, न तु जातिपर्यायस्थविरैः । जाति-पर्यायस्थविरत्वेऽपि भूतस्थविरा एव प्रज्ञापयितुं समर्था जवन्ति, इति कृतं प्रसङ्गेन । इत्युक्तं उद्देशः । पृच्छामाह-(कयरे इत्यादि) कतराणि किमभिधानानि तान्यनन्तरसूत्रोद्दिष्टानि, खलु-र्वाक्यालङ्कारे । शेषं प्राग्वादीति । निर्देशमाह-इमानि अनन्तरवक्ष्यमाणत्वाद् हादि परिवर्त्तमानतया प्रत्यक्षाणि तानि इति, यानि त्वया पृष्ठानि शेषं पूर्ववत् । तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । (दवदवचारिया वि जवति) दुर्गतौ यो हि दुतं दुतं सयमात्म-विराधनानिरपेक्षो व्रजति-आत्मानं प्रपतनादिभिरसमाधौ योजयति, अन्यांश्च सत्त्वान् जननसमाधौ योजयति, सत्त्ववधजनितेन च कर्मणा परलोकेऽप्यात्मानमसमाधौ योजयति, अतो दुतं हन्तु-त्वसमाकुलतया चलाधिकरणत्वाद् समाधिस्थानम्, एवमन्यत्रापि यथायोगमवसेयम् । चशब्दाद् भुञ्जानो नाशमाणः प्रतिलेखना च कुर्वन् आत्मविराधनां सयमविराधनां च प्राप्नोति । अपिग्रहणात् तिष्ठन् आकुञ्चनप्रसारणादिकं वा दुतं दुतं कुर्वन् पुन पुनरवलोकयन्नप्रमार्जयन् आत्मविराधनां च प्राप्नोति । शब्दार्थस्तु भावित एव । ननु स्थानशून्यनादिषु दुतत्वनिषेधे सति किमर्थं गमनमेवोपन्यस्तस्मात् ? उच्यते यत् पूर्वमीर्या-समितितस्तनोऽप्या, इति हेतोर् पूर्व गमनमेव मुख्यत्वेनोपात्तमिति १ । तथा-(अपमज्जिय त्ति) अपमार्जिते अवस्थान-निर्षादन-शयनोपकरण-निकोपोच्चादिप्रतिष्ठापनं च करोति २ । तथा-दुष्पमार्जितचारी ३ । तथा-(अतिरित्तसेज्जासणिए त्ति) अतिरित्ता-अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च पीठकादीनि यस्य सन्ति सोऽतिरित्तशय्यासनिक । स च-अतिरित्तायां शय्यायां घट्टशाखा-दिरूपायामन्येऽपि कार्पाटिकादय आवासयन्तीति तै सहधिकरणसम्भवाद्वात्मपरावसमाधौ योजयतीति । एवमासनाधिक्येऽपि वाच्यमिति ४ । तथा-(रायणियपरिभासी त्ति) रत्तिकपरिभाषी आचार्यादिपूज्यगुरुपरिभवकारी, अन्यो वा महान् कश्चिज्ज्ञानिभूतपर्यायाद्वा शिक्षयति, त परिभवति अवमन्यते, जात्यादि-

मिर्मद्वानैः। अथ वा-“महरो अकुलीणो ति य, दुम्मेही दमगम-
दबुद्धिं ति। अवि अण्णत्ताभलद्धी, सीसो परिजवनि आयरिय” १।
इति। एव च गुरु परिभवन् आङ्गोपपात वा कुर्वन् आत्मानमन्या-
ञ्चाऽसमाधौ याजयत्येव ५। तथा-(येगेवघाह ति) स्वविरा आ-
चार्यादिगुरव, तान् आचारदोषेण शीलदोषेणाऽवज्ञादिभिर्घोष-
हन्तीत्येव शील, स एव चेति स्वविरोपघातिकः ६। तथा-(चूतो-
वघातिप ति) भूतान्येकेन्द्रियादीनि तानि उपहन्ति। भूतोप-
घातिक, प्रयोजनमन्तरेण, ऋदिरसातगौरवैर्वा, विभूयानिमित्त
वा, आधाकर्मादिक वा, पुष्टालम्बनेऽपि समादान, अन्यद्वा ता-
दृश किञ्चित् ज्ञाषते वा करोति, येन भूतोपघातो भवति ७।
(सज्जहणे ति) सज्वलतीति सज्वलन-प्रतिक्षण रोपण, स
च तेन क्रोधेनात्मीय चारित्र्य सम्यक्त्वं वा हन्ति, दहति वा
ज्वलनवत् ८। तथा-(कोहणे ति) क्रोधनः सकृत्कुद्धोऽत्यन्त-
क्रुद्धो भवति, अनुपशान्तवैरपरिणाम इति भावः ९। तथा-(पि-
ट्ठीमसप ति) पृष्टिमांसाशिक, पराङ्मुखस्य परस्यावर्णनादका-
री, अगुणज्ञापीति भावः, सचैव कुर्वन् आत्मपरोपज्ञेया च इह
परत्र चासमाधौ योजयत्येव। अपिशब्दान् साक्षाद् वा वक्ति इति
हेयम् १०। तथा-(अभिक्खण २ ओहारिप ति) अभीक्ष्ण अभीक्ष्ण
अवधारयिता शङ्कितस्याप्यर्थस्य निःशङ्कितस्येव-एवमेवायमि-
त्येव वक्ता। अथ वा-अवधारयिता परगुणानामपहारकारी यथा
तथा, हासादिकमपि पर प्रति तथा प्रणति दासश्चोस्त्वमित्या-
दि ११। तथा-(णवाह इत्यादि) नवानामनुत्पन्नानामधिकर-
णानां कलहानामुत्पादयिता, तांश्चोत्पादयन् आत्मान पर चाऽ-
समाधौ योजयति। तथा-

“ वादो भेदो अयसो, हाणी दसण्णचरित्तणाणाण ।
साहुपदोसो ससा-रवद्धणो साधिकरणस्स ॥ १ ॥
अतिमणिं अमणिं वा, तावो भेदो चरित्तजीवाण ।
रूवसरिस्स ण खीलं, जिम्ह ति य सो चरति लोप ॥ २ ॥
ज अज्जिय समीख-ल्लण्हि तवणियमवममइयहिं ।
मा हु नय जिज्जेहिद, बहुवत्तासागपत्तेहिं ” ॥ ३ ॥

अथवा नवानि अधिकरणानि यन्त्रादीनि तेषाम्-“न वावत्त-
कलहो वि ण, पढति अवच्छलउ दसणे हीणो। जह कोवाहि वि-
बुद्धी, तह हाणी होति चरणे वि ” ॥ १ ॥ नवोत्पादयिता १२।
(पाराणा इ ति) पुरातनानां कलहानां क्षमितव्यवशामितानां
मर्षितत्वेनोपशान्तानां पुनरुदीरयिता भवति १३। तथा-(अ-
काले सज्जायेत्यादि) अकाले स्वाध्यायकारकः। तत्र
काल-उत्काक्षिकसूत्रस्य दशवैकालिकादिकस्य सध्याचतुष्टय
त्यक्त्वाऽनवरत भणनम्, कालिकस्य पुनराचाराङ्गादिक-
स्योद्घाटापौरुषी यावद्भणनम्। अवसानयाम च दिवसस्य,
निशायाश्चायाम च त्यक्त्वा अपरस्त्वकाल एव। अकाल-
स्वाध्यायकरणद्वयानि तु बृहत्कल्पवृत्तितोऽवसेयानि नेह
विस्तरत्वाहुक्तानि १४। तथा-(ससरक्खपाणीत्यादि)
सरजस्कपाणिपादो-यः सचेननादिरजोगुण्डनेन दीयमानां
भिक्षा गृह्णाति। तथा-यो हि स्यण्डलादौ सक्रामन् न पादौ
प्रमार्ष्टि। अथ वा-यस्तथाविधकारणे सचित्तादिपृथिव्या
कल्पादिनाऽनन्तरितायामासनादि करोति स सरजस्क-
पाणिपाद इति। स चैव कुर्वन् सयमे असमाधिना आ-
त्मानं संयोजयति १५। तथा-(सद्धकरो ति) शब्दकर
सुप्तेऽहं प्रहरमात्रादूर्ध्वं रात्रौ महता शब्देनोत्थापस्वाध्याया-
दिकारको गृहस्थभाषाभाषको वा वैरात्रिक वा कालप्रद-

ण कुर्वन् महता शब्देनोत्थापानि टोपाश्चेहोत्तराध्ययनवृत्ते
रवसेया १६। तथा-(भेडकरो ति) येन कृतेन गच्छन्त्य
भेदो जवति तत्तदानीष्टने (अमकरो ति) तन्करोति येन
गणस्य मनोऽनु खमुपचने, नद्रापते वा १७। तथा-(कलह-
करो ति) आक्रोशादिना येन कलहो भवति तन्करोति, स चैव
गुणयुक्तो हि असमाधिरस्यान भवति इति वाक्यशेष १८।
तथा-(सूरप्पमाणजोऽं) सूरप्रमाणजोऽं सूर्योदयादस्तनसम-
य यावदशनपानाद्यन्यवहारां, उचितकाले स्वाध्यायादि न क-
रोति, प्रणिप्रेरितो रूप्यति अर्जाणै च बह्वाहारेऽसमाधि सजाय-
त इति दोष १९। तथा-(एसणासमिण् अममिण् यावि
भवति ति) एषणार्थां ममित्तश्चापि सयुक्तोऽपि नानैषणा परि-
हरति, अतिप्रेरितश्चासौ साधुभि सह कलहायते। अनेषणा-
य मा परिहरन् जीवोपरोधि वर्तते। एव चात्मपरयोरस-
माधिकरणादसमाधिस्थानमिदं विंशतितममिति २०। (एव
खल्वित्यादि) एवमित्यनन्तरोक्तेन विधिना, खमुर्वाक्या-
लङ्कृतौ। शेष व्याख्यातार्थम्। (इति वेमि ति) इति परिसमा-
प्तावेवमर्थो वा। एतानि अन्वमाधिरस्थानानि अनेन वा प्रकारेण
ब्रवीमीति गणधरादिगुरूपदेशतो, नतु स्वोत्प्रेक्ष्येत्युक्तोऽनुगमः;
नवप्रस्तावस्त्वन्यतोऽवसेयः। दशा० १ अ०। स०। आ०
चू०। भाव० ॥

असमाधिपरण-असमाधिपरण-न०। बालमरणे, आतु०।

असमाधिपरणे दोषाः-

जे पुण अट्टमईया, पयलियसन्ना य वक्कभावा य।

असमाधिणा मरति उ, न हु ते आराहगा मणिया ॥ ५० ॥

ये पुनर्जीवाः, अष्टौ मवस्थानानि येषां तेऽष्टमादिका। ‘अत्तमई-
आ’ इति पाठे आर्त्तार्थे मरति येषां ते आर्त्तमरतिका। स्वा-
र्थे इकप्रत्ययः, प्रचलिता विषयकषायादिभिः सन्मार्गात्प-
रिप्रसृष्टा सन्ना बुद्धिर्येषां ते प्रचलितसन्ना। प्रगलितसन्ना वा,
च समुच्चये; वञ्च्यते सवश्यते आत्मा परो वा ऐहिकपारत्रिक-
लाभाद्येन स वक्कः, कुटिलो वा भावो येषां ते तथा, यन एववि-
धा अत एवाऽसमाधिना चित्तास्वास्थ्यरूपेण म्रियन्ते। नहु नैव,
हुरेवार्थे, ते आराधका उत्तमार्थसाधका भवन्तीत्यर्थः। आतु०।

असमाधिपरणज्जाण-असमाधिपरणध्यान-न०। ‘असमाधिना
एव म्रियताम्’ इति चिन्तनमसमाधिपरणध्यानम्। स्कन्दकाचार्य
प्रतिकुष प्रथम, यन्त्रे पीलयतो भव्यपालकस्येव दुर्ध्याने, आतु०।

असमाधिय-असमाहित-त्रि०। अशोभने नीजन्ते दृष्टे च।
सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। सत्साधुप्रद्वेषित्वात् शुभाध्यवमा-
यरहिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। मोक्षमार्गाख्याद् भावस-
माधेरसवृत्ततया दूरेण वर्तमाने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

असमिक्खियकारि (ण)-असमीक्षितकारिन्-त्रि०। अना-
लोचिनकारिणि, ठश० ६ अ०।

असमिक्खियपप्लावि (ण)-असमीक्षितप्रप्लाविन्-पुं०।
अपर्यालोचितानर्थकवादिनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। “ अण-
हित पुष्पावर इहपरलोगगुणद्रोसं वा जो सहसा भणइ, सो
असमिक्खियपप्लावी ”। नि० चू० ८ उ०। (‘चंचल’ शब्दे
एतत्स्वरूपं वक्ष्यते)

असमिक्खियजासि (ण)-असमीक्षितभाषिन्-पुं०। अपर्या-
लोचितवक्त्रि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

असमिय-असमित-पु० । समितिषु प्रमत्ते, पञ्चा० १६ वि० ।
ईर्यादिषु समितिषु अनुपयुक्ते, कल्प० ६ कृ० । “एसो समिओ
भणिओ, असो पुण असमिओ इमो होइ । सो काइयमोमादी,
एकेक नवरि पडिबेहे ॥१॥ नव तिनि तिनि पेहे, वेति किमेथ
निविट्ठाहो ।” आच० ४ अ० ।

असम्यक्-त्रि० । असङ्गते, आच० ।

असमिय ति मसमाणस्स एगदा समिया होइ, समियं
ति मसमाणस्स एगदा असमिया होइ ।

कस्यचिन्मिथ्यात्वलेद्वानुविद्धस्य-कथ पौद्गलिक शब्दः ?
इत्यादिकमसम्यगिति मन्यमानस्यैकदेति मिथ्यात्वपरिमाणप-
शमनया शङ्काविचिकित्साऽऽद्यजावे गुर्वीद्युपदेशतः सम्यगिति
भवति । आच० १ शु० ५ अ० ५ उ० ॥

असमोहय-असमवहत-त्रि० । दण्डादुपरते, अकृतसमुद्घाते
च । ज० १ ए श० ३ उ० ।

असम्मत-असम्यक्त्व-न० । दर्शनादुद्वेगे, आच० ४ अ० ।

असम्मतपरीसह-असम्यक्त्वपरीषह-पु० । असम्यक्त्वसहनका-
रिणि, सर्वपापस्यानेभ्यो विरत प्रकृष्टनपोऽनुष्ठायी निस्सङ्ग आह,
तथाऽपि धर्माधर्मात्मदेवनारकादिनात्र नेत्ते, अतो मृषा समस्तमेत-
दिति असम्यक्त्वपरीषह । तत्रैवमाद्योच्यते-धर्माधर्मौ पुण्यपापल-
क्षणौ यदि कर्मरूपौ पुद्गलात्मकौ, न तस्तयो कार्यदर्शनादनुमानस-
माधिगम्यत्वम् । अथ क्रमाक्रोधादिकौ धर्माधर्मौ, ततः स्वानुजव-
त्त्वादात्मपरिणामरूपत्वात्प्रत्यक्षविरोधः । देवास्त्वत्यन्तसुखासक्त-
त्वाभ्यनुष्यलोके च कार्याजायादमनुष्यभावाच्च न दर्शनगोचरमा-
यन्ति । नारकास्तु तीव्रवेदनाती । पूर्वकृतकर्मोदयनिगडबन्धनव-
शीकृतत्वादस्वन्त्रा कथमायान्तीत्येवमालोचयतोऽसम्यक्त्वप-
रीषहजयो भवति । आच० ४ अ० ।

असय-अस्यम्-अव्य० । परत इत्यर्थे, ज० ६ श० ३२ उ० ।

अशरण-अशरण-त्रि० । अत्राणे, स्था० ४ वा० १ उ० ।
स्वार्थप्रापकवार्जिते, प्रव० १ आश्र० द्वार । शरणम्—
नाद्वयमाने, आच० । शरणं गृह, नात्र शरणमस्तीति अशरणः ।
सयमे, “सोगे अदक्खु एताइ सोउलाइ गच्छति णायपुत्ते
अगरणाए” आच० १ शु० ८ अ० १ उ० ।

अशरणभावणा-अशरणभावना-स्त्री० । आत्मनोऽशरणत्व-
पर्यालोचनायाम्, प्रव० । सा च अशरणभावना-

“पितुर्मातुर्मातुस्तनवदधितादेअ पुरत,
प्रभूताऽऽधिव्याधिजनिगडिता कर्मचरटै ।
रटन्तं किप्यन्ते वममुक्कगृहान्तस्तनुभूतो,
हहा ! कष्टं लोकं शरणरहितं आस्यति कथम् ? ॥ १ ॥
ये जानन्ति विचित्रशास्त्रविसरं ये मन्त्रतन्त्रक्रिया-
प्रार्थय प्रथमन्ति ये च दधन्ति ज्योति कलाकौशलम् ।
तेऽपि प्रेतपतेरमुष्य सकलत्रैलोक्यविध्वंसन-
व्यग्रस्य प्रतिकारकर्मणि न हि प्रागद्व्यमाभिज्ञाने ॥ २ ॥
नानाशस्त्रपरिश्रमोद्भूतभटैरावेष्टिता सर्वतो,
गत्युद्दाममदीर्घसिन्धुरशतैः केनाप्यगम्या क्वचित् ।
शक्रश्रीपतिचक्रिणोऽपि सहस्रा कानाशवासैर्धला-
टाकुशा यमवेश्म यान्ति हह हा ! निष्प्राणता प्राणिनाम् ॥ ३ ॥
उद्दण्डं ननु दण्डमसात्सुरगिरि पृथ्वी पृथुच्छत्रसात् ,

ये कर्तुं प्रजविष्णव कृशमपि क्लेश विनैवात्मनः ।
निःसामान्यवत्प्रपञ्चचतुरास्तीर्थकरास्तेऽप्यहो !,
नैवाशेषजनौघघसरमपाकर्तुं कृतान्त क्रमाः ॥ ४ ॥
कलत्रमित्रपुत्रादि-खेहप्रहनिवृत्तये ।

इति शुद्धमति-कुर्या-दशरणयत्वभावनाम्” ॥१॥ प्रव० ६ उद्वा० ।

अशरणभावना चैवम्-

“इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते, यन्मृत्योर्यान्ति गोचरम् ।
अहो ! तदन्तकातङ्गे, कः शरणं शरीरिणाम् ? ” ॥ १ ॥

शरणे साधु शरणम् । तथा-

“पितुर्मातुः स्वसुर्मातुः-स्तनयानां च पश्यताम् ।

अत्राणो नीयते जन्तुः, कर्मभिर्यमसञ्जानि ॥ २ ॥

शोचन्ति स्वजनान्ऽन्तः, नीयमानान् स्वकर्मजि ।

नेभ्यमाणं न शोचन्ति, नात्मानं मूढबुद्धयः ॥ ३ ॥

ससारे दुःखदावाग्नि-ज्वलद्ज्वालाकरालिते ।

वने मृगाभेकस्येव, शरणं नास्ति देहिनि” ॥४॥ ध० ३ अधि० ।

असरणाणुपेक्षा-अशरणाऽनुपेक्षा-स्त्री० । जन्मजरामरणम-
थैरभिमुते व्याधिवेदनाग्रस्ते जिनवरवचनादन्यन्नास्ति शरणं
क्वचिल्लोके इत्येवमशरणस्य (अत्राणस्य) अनुपेक्षायाम्, स्था०
४ वा० १ उ० ।

असरिस-असदृश-त्रि० । विसदृशे, “असरिसजणद्धावा न-
हु सद्दियव्वा” आय० ४ अ० ।

असरिसवेगगृहण-असदृशवेगग्रहण-न० । आर्यादेरनार्यादि-
नेपथ्यकरणे, प० व० ४ द्वार ।

असररीर-अशरीर-त्रि० । अविद्यमानशरीरोऽशरीरः । औदा-
रिकादिपञ्चविधशरीररहिते, आ० म० द्वि० । सिद्धे, “असररीरा
जीवघणा दसणनाणोवडत्ता” औ० । स्था० ।

असररीरपमिवद्ध-अशरीरपमतिवद्ध-त्रि० । त्यक्तसर्वशरीरे, म०
१८ श० ३ उ० ।

असत्ताहा-अरुताहा-स्त्री० । अकीर्तिसाधने असाधुवादे,
ग० ३ अधि० ।

असलिलप्पलाव-असलिलप्लाव-पु० । अजबध्वावे, जल वि-
ना रेक्लिरित्यर्थः । न० ।

असलिलप्पवाह-असलिलप्रवाह-पु० । अजलप्रवाहे, तं० ।

असवणया-अश्रवणता-स्त्री० । अनाकर्णने, “इमस्स धम्मस्स
असवणयाए” ध० ३ अधि० ।

असव्वज्झण-असद्व्ययोजन-न० । पुरुषार्थानुपयोगिनि-
वृत्तिविनियोगत्यागे, न सद्व्ययोऽसद्व्यस्तत्र धनोऽभ्युत्थम् ।
द्वा० १२ द्वा० ।

असव्वदध-असर्वध-न० । न विद्यते सर्वधं यत्र तदसर्वधम् । के-
वलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरहिते आवरणे, प० स० ४ द्वार ।

असव्वएणु-असर्वहु-त्रि० । कुदस्ये अर्वाग्दर्शिनि, “सर्वहोऽ
साविनि ह्येतव, तत्कालेऽपि युभुत्सुभि । तज्ज्ञानक्षेयधिज्ञान-
रहितैर्गम्यते कथम् ? ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ शु० १ अ० २ उ० ।

असव्वदरिसि(ए)-असर्वदर्शिन-त्रि० । कुदस्ये, द्वा० २३ द्वा० ।
असव्वय-असद्व्यत-न० । असत्ये, “मिच्छंति वा, वितहंति

असव्यय

वा, असव्ययति वा, असव्ययति वा, अकरणीयति वा पण्डितः ।
आ० चू० १ अ० ।
असव्यासि (ए)-असर्वाशिन-त्रि० । सत्यजोजिनि, व्य०
१ उ० ।
असह-असह-त्रि० । असमर्थे, व्य० १ उ० । जीत० ।
असहाय-असहाय-त्रि० । एकाकिनि, घृ० ४ उ० । आ० म० ।
अविद्यमानसहाये, य. कुतीर्थिकप्रेरितोऽपि सम्यक्त्वादाविचलन
प्रति परसाहाय्यमनयेत्तमाणस्तस्मिन्, दशा० १० अ० आ० ८ ।
असाहिज्ज-असाहाय्य-त्रि० । न विद्यते साहाय्योऽस्य । साहा-
य्यमनयेत्तमाणे, उपा० १ अ० (' आणद् ' शब्दे द्वितीयभागे
११० पृष्ठेऽस्य सूत्रं यद्व्यते)
असहीण-अस्वाधीन-त्रि० । अस्वचशे, "असहीणेहि सारही-
चाउरगोहि" । दश० ८ अ० ।
असहु-असह-त्रि० । चरणकरणे अशक्ते, पं० भा० । सुकुमारे
राजपुत्रादौ प्रयोजिते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । असमर्थे, ओच० ।
ग्वाने, नि० चू० १ उ० ।
असहिष्णु-त्रि० । राजादिदीक्षिते सुकुमारपादे, घृ० ३ उ० ।
असहुवग-असहवर्ग-पु० । असमर्थे राजपुत्रादौ, पं० २ अ-
धि० । प० चू० ।
असहेज्ज-असाहाय्य पुं० । अविद्यमानं साहाय्यं परसाहायिक-
मत्यन्तसमर्थत्वाद् येषां तेऽसाहाय्याः । आपद्यपि देवादिसाहा-
य्यकानपेक्षेण स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यपीनमनोवृ-
त्तिषु, म० २ श० ५ उ० । ये पात्रशिरानि. प्रारब्धाः सम्य-
क्त्वाद् विचलनं प्रति, किन्तु न परसाहायिकमपेक्षन्ते स्वयमेव
तत्प्रतीयातममर्थराजिनशासनत्यन्तनाशिनत्वात् तेषु तथा-
विधेषु धावकेषु, म० २ श० ५ उ० ।
असागारिय-असागारिक-त्रि० । सागारिकसपातरहिते प्रदेशा-
दौ, व्य० ३ उ० । गृहस्थेनादृश्यमाने, नि० चू० १ उ० ।
असाधा (हा) रण-असाधारण-त्रि० । अन-यसदृशे, दर्श० ।
उपादानहेतौ, अने० २ अधि० ।
असाधारणाणेतिय-असाधारणानैकान्तिक-पु० । नित्य. श-
ब्द, धावणत्वात् इत्यादिसपक्षविषयव्यावृत्तत्वेन सशयजनके
हेत्वानासे, रत्ना० ६ परि० ।
असाय (त)-असात-न० । न०त० । दु.खे, सूत्र० २ ध्रु० १ अ०
१५ उ० । असुप्ते, आचा० १ ध्रु० २ अ० ३ उ० । स्या० । असात-
वेद्यकर्मणि-सविपाकजे, आचा० १ ध्रु० ४ अ० ६ उ० । मन प्रतिकृते
दु.खे, आचा० १ ध्रु० ४ अ० २ अ० । अप्रतियुत्पादके, अनु० । असा-
तवेदनीयकर्मोदये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । "उद्विहे आसाप पण-
से । तं जहा-सोऽद्विद्यअसाप० जाव नोऽद्विद्यअसाप" । स्था० ६
ठा० । असातवेदनीये कर्मणि, उक्त० ३३ अ० । असातारूपवेदनीये
वेदनीयकर्मजैदप्रभवयाम् (प्रश्न० १ आश्र० द्वार) दु.खरूपा-
या वेदनायाम्, स्त्री० । प्रश्ना० ३४ पद ।
असायज्जण-अस्वादन-न० । अननुमनने, व्य० २ उ० ।
अमा (ससा) यण-आश्वयन-पु० । अश्वयंसन्ताने, ज० ७
वक्र० ।
असायवहुल-असातवन्-त्रि० । दु.खं मथा० । "सुजो
११२

असायवहुल मणुस्सा " । दश० १ चू० । (एतच्च तृतीय स्थानम्
'अष्टादशशृणु शब्देऽत्रैव भागे २४६ पृष्ठे व्याख्यानम्)
असाय (या) वेयणिज्ज-असातवेदनीय-न० । असात दु-
ख, नद्वयेण यद् वेयने, नदसातवेदनीयम् । कर्म० ६ कर्म० । प०
म० । प्रश्ना० ३३ अ० । प्राकृतत्वात् । म० ३३ सम० । वेदनीयक-
र्मजैदे, स्था० ७ ठा० ।
असार-असार-त्रि० । साररहिते त० । " उगमुपायणात्सुल",
पसणाशोसयज्जि । साधारणं अयाणतो, साहु होइ असार-
सो " ॥ ॥ ओच० ।
असारंभ-अमारंभ-पु० । प्राणिवधार्थमसकल्ये, " सत्तविहे
असारंभे पणसे । त जल-पुदविकाद्यभसारने० जाव अजी-
यकाद्यभसारंभे । " स्था० ७ ठा० ।
असावगपाउग-अत्रावकप्रायोग्य-त्रि० । न० त० । धावकानु-
चिते, पं० २ अधि० ।
असावज्ज-असावज्ज-त्रि० । अयापे, " असावज्जमकम्म "
दश० ७ अ० । " अदो जिणेहि असावजा, विती साहुण देसि-
या " । दश० ४ अ० । चौर्यादिगदितकर्मानालम्बने प्रशस्तमनोवि-
नयजैदे, स्था० ७ ठा० ।
असासय-अशाश्वत-त्रि० । तेन तेन रूपेणोदकधाराचन्द्रश्चद्
भयतीति शाश्वत, ततोऽन्यदशाश्वतम् । आचा० १ ध्रु० ४ अ०
२ उ० । अशाश्वत्तयनस्वभावे, रा० । प्रतिक्षणं विशरणे, प्रश्न० ५
आध० द्वार । कृण कृण प्रति धिनश्चै, त० । आ० म० । म० आचा० ।
अपराऽपरपर्यायप्रापिते, स्था० १० ठा० उक्त० । स्वप्नेन्द्रजाल-
सदृशे अनित्ये, सूत्र० १ ध्रु० १ अ० ३ उ० । ससारिणि, स्था० २
ठा० १ उ० । " अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि चेह च ।
देवासुरमनुष्याणा-सृक्षयश्च सुगानि च " ॥ १ ॥ सूत्र० १ ध्रु० ८
प० । जन्ममरणादिसहितत्वात् ससारिणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।
(जावप्राधान्येन नु) विनाशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अविद्यमान
शाश्वतमस्मिन्नायशाश्वत ससार । अशाश्वत हि सकल-
मिह राज्यादि । तथा हारिलवाचक -
" चत्तं राज्येभ्वये धनकनकसार पण्णिजो,
नृपत्ताद् यत्तम्य चलममरसौख्यं च विपुलम् ।
चल रूपारोग्यं चलमिह चल जीवितमिदं,
जनो दूषो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चल " ॥ १ ॥ उक्त० ८ अ० ।
असाहीण-अस्वाधीन-त्रि० । परायत्ते, आचा० १ ध्रु० २
अ० १ उ० ।
असाहु-असाधु-त्रि० । अमङ्गले घृ० १ उ० । अशोभने, सूत्र० १
ध्रु० ५ अ० २ उ० । असद्वृत्ते, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । अनर्थो-
दयहेतौ, सूत्र० १ ध्रु० २ अ० २ उ० । निर्वाणसाधकयोगावे-
क्षया (दश० ७ अ०) प्राजीविकादौ कुदर्शननिनि, नि० ३ वर्ग ।
असयने, स्था० ७ ठा० । पञ्जीविकायवधाशनवृत्ते औद्देशि-
कादिजोजिनि अग्रहचारिणि, स्था० १० ठा० । अविशिष्टकर्म-
कारिणि, सूत्र० १ ध्रु० १२ अ० ।
असाहुकम्म-असाधुकर्म-न० । क्रूरकर्मणि, सूत्र० १ ध्रु० ५
अ० १ उ० । जन्मान्तरहृताऽद्युभानुष्ठाने, सूत्र० १ ध्रु० ५
अ० २ उ० ।
असाहुदिदि-असाधुदृष्टि-पु० । पञ्जीर्थिकदृष्टौ, व्य० ४ उ० ।

असाधुधम्म--असाधुधर्म-पु० । वस्तुदानस्नानतर्पणादिके अस-
सयतधर्मे, सूत्र० १ भु० १४ अ० ।

असाधुया-असाधुता-स्त्री० । कुगतिगमनादिकरूपायाम्, सूत्र०
१ भु० ४ अ० २ उ० । होहस्वभावनायाम् उक्त० ३ अ० ।

असाधुव-असाधुवत्-अव्य० । असाधुमर्तते यत्प्रेक्षणं सुकुट्टिभ-
ङ्गादियुक्तं तस्मिन्, असाधुना तुल्यं वर्तने, उक्त० ३ अ० ।

असि-असि-पु० । यद्वा उपा० २ अ० । नि० चू० । जी० । रा० ।
द्वय० विपा० स० । औ० । असिमोग्गरमत्तिकुतहत्था । असिमु-
द्गरशक्तिकुन्ता हस्ते येषां ते असिमुद्गरशक्तिकुन्तहस्ता ।
'प्रहरणम् ॥ ३१११०४॥ इति समस्यन्तस्य पाक्षिकं परनिपा-
तः । जी० ३ प्रति० । अस्युपलक्षिते सेवकपुरुषे, 'असिमभीकृषी-
वाण्येवर्जिता " तत्रासिनोपलक्षिता सेवका पुरुषा अम-
यमा, मध्युपलक्षिता लेखनज्ञा विन मध्य, कृषिरिति-कृषिकर्मो
पजीविनः, वाणिज्यमिति-वाणिजनोचितवाणिज्यकलोपजी-
विनः । त० । असिना यो देवो नारकान् छिनत्ति सोऽसिरेव ।
परमाधार्मिकनिकाये, भ० ३ श० ६ उ० ।

इत्थे पाए ऊरु, बाहु मिरा पाय अगमणाणि ।

डिङ्गति पगामं तू, असि ऐरइए निरयपाला ॥ ७८ ॥

(इत्येत्यादि) असिनामानो नरकपाला अशुभकर्मोदयव-
र्तिनो नारकानेव कर्तव्यन्ति । तद्यथा-हस्तपादोरुवाहुशिर-
पाश्वर्धान्यङ्गप्रत्यङ्गानि छिन्दन्ति प्रकाममत्यर्थं खण्डयन्ति, तु-
शब्दोऽपरदुःखोपादनविशेषणार्थं इति ॥ सूत्र० १ भु० ५ अ० १
उ० । वाराणस्या सरिद्वेदे, ती० ३८ कल्प० ।

अमिकुम्भनित्य-असिकुम्भनीर्थ-न० । स्वनामत्याते मथुरास्थे
नीर्थे, ती० ए कल्प० ।

अमिक्खग-अशिक्षक-त्रि० । चिरप्रव्रजिते, दश० १ अ० ।

असिखुरधार-अमिखुरधार-पु० । कुरस्येव धारा यस्य असेः
अनिच्छदके खड्गे उपा० २ अ० ।

असिखेमग-अमिखेटक-न० । असिना सह फटके, प्रश्न०
१ अश्र० द्वार ।

असिचम्मपाय-असिचर्मपात्र-न० । स्फुरके, भ० । "असिचम्म-
पाय गहाय" । असिचर्मपात्र स्फुरकः । अथवा-असिश्च खड्गः,
चर्मपात्र च स्फुरकः, खड्गकोशका वा असिचर्मपात्रं, तद् गृ-
हीत्वा । "असिचम्मपायहृत्यकिञ्चगण्य अप्पाणेण ति" । असि-
चर्मपात्र हस्ते यस्य स तथा, कृत्यं सद्यादिप्रयोजनं गतः
आश्रितः कृत्यगन्, नतः कर्मधारयः, अतस्तेन आत्मना । अथ-
वा-असिचर्मपात्रं कृत्वा हस्ते कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्त-
कृत्वाकृतः, तेन । प्राकृतत्वाच्चैव समासः । अथवा-असिचर्मपात्र-
स्य हस्तकृत्य हस्तकरणं गतः प्राप्तो यः स तथा, तेन । भ० ३
श० ५ उ० ।

अमिद्ध-अशिष्ट-त्रि० । अनाख्याने, नि० चू० २ उ० । अक-
थिते, वृ० २ उ० । आ० म० ।

प्रसिणाण-अस्नान-त्रि० । अविद्यमानस्नाने, पचा० १० वि-
व० । "अभिणाणविद्यड्भोई" अस्नानोऽरात्रिभोजी चेत्यर्थः ।
उपा० १ अ० । आचा० ।

"तम्हा ते ण सिणायति, सीएण उसिणेण वा ।

जावजीव वय घोर, असिणाणमहिहिया" ॥ ६३ ॥

दश० ६ अ० । घ० ।

असित्थ-असिक्थ-न० । सिक्थवर्जिते पानकाहारे, पञ्चा०
५ विव० ।

असिद्ध-असिद्ध-पु० । ससारिणि न० । जी० । स्था० । सूत्र०
देत्वाभासनेदे, रत्ना० ।

तत्रासिद्धमजिदधीत-

यस्यान्यथाऽनुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः
॥ ४८ ॥

अन्यथाऽनुपपत्तेर्विपरीताया अनिश्चिनायाश्च विरुद्धनैकान्ति-
कत्वेन कीर्त्तयिष्यमाणत्वादिह हेतुस्वरूपा प्रतीतिद्वारैकैवान्य-
थाऽनुपपत्त्यप्रतीतिरवशिष्टा दृष्ट्या, हेतुस्वरूपा प्रतीतिश्चेयम-
ज्ञानात्, सन्देहाद्, विपर्ययाद् वा विज्ञेया ॥ ४८ ॥

अधामु भेदतो दर्शयन्ति-

स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

उभयस्य वादिप्रतिवादिमुदायस्यासिद्धः, अन्यतरस्य वादि-
नः प्रतिवादिनो वाऽसिद्धः ॥ ४९ ॥

तत्राद्यनेदं वदन्ति-

उजयामिद्धो यथा-परिणामी शब्दश्चाक्षुपत्वात् ॥ ५० ॥

चक्षुषा गृह्यत इति चाक्षुषः, तस्य भावश्चाक्षुपत्वः, तस्मात् ।
अयं च वादिप्रतिवादिनोरुभयोरप्यसिद्धः, आवणत्वाच्च-
व्यस्य ॥ ५० ॥

द्वितीयं भेदं वदन्ति-

अन्यतरासिद्धो यथा-अचेतनास्तरवो, विज्ञानेन्द्रियायु-
निरोधप्रवृत्तमरणरहितत्वात् ॥ ५१ ॥

ताथागतो हि तरुणामचेतन्य साधयन् विज्ञानेन्द्रियायुर्नि-
रोधलक्षणमरणरहितत्वादिति हेतूपन्यासः कृतवान् । स च
जैनानां तरुचैतन्यवादिनामसिद्धः । तदागमे दुर्मेष्ट्वपि विज्ञाने-
न्द्रियायुषां प्रमाणतः प्रतिष्ठितत्वात् । इदं च प्रतिवाद्यसिद्धये-
त्योदाहरणम् । वाद्यसिद्धयेत्येता तु-अचेतनाः सुखादयः, उ-
त्पत्तिमत्त्वादिनि । अत्र हि वादिनः साङ्ख्यस्योत्पत्तिमत्त्वमप्र-
सिद्धम्, तेनाविर्भावमाप्रस्यैव सर्वत्र स्वीकृतत्वात् ।

नन्वित्यमसिद्धप्रकारप्रकाशनं परैश्चक्रे-स्वरूपेणासिद्धः, स्वरू-
पवाऽसिद्धः यस्य सोऽयं स्वरूपासिद्धः, यथा-अनित्यं शब्दः,
चाक्षुषत्वादिनि । ननु चाक्षुषत्वं रूपादावस्ति, तेनास्य व्यधिक-
रणासिद्धत्वं युक्तम् । न । रूपाद्यधिकरणत्वेनाप्रतिपादितत्वात् ।
शब्दधर्माणि चोपदिष्टा चाक्षुषत्वं न स्वरूपतोऽस्तीति स्वरूपा-
सिद्धम् । विरुद्धमधिकरणं यस्य, स चासावसिद्धश्चेति व्यधि-
करणासिद्धः, यथा-अनित्यं शब्दः, पटस्य कृतत्वादिति ।
ननु शब्देऽपि कृतत्वमस्ति, सत्यं, न तु तथा प्रतिपादितम् ।
नचान्यत्र प्रतिपादितमन्यत्र सिद्धं भवति । मीमांसकस्य वा
कुर्वतो व्यधिकरणासिद्धम् । २ । विशेष्यमसिद्धं यस्यासौ विशेष-
ध्यासिद्धः, यथा-अनित्यं शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वा-
त् । ३ । विशेषणासिद्धः, यथा-अनित्यं शब्दः, चाक्षुषत्वे सति
सामान्यवत्त्वात् । ४ । पक्षैकदेशासिद्धपर्यायं पक्षभागेऽसिद्धत्वा-
त् भागासिद्धः, यथा-अनित्यं शब्दः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् ।
ननु च वाद्यादिमनुशब्दानामपीश्वरप्रयत्नपूर्वकत्वात् कथं
भागासिद्धम् ? नैतत् । प्रयत्नस्य तीव्रमन्दादिजायमानतरं श-

लस्य तथाभायो हि प्रयत्नानन्तरीयकस्य विरक्तिरूपः । नचोभ-
यप्रयत्नस्य तीव्रादिभावोऽस्ति, निर्ययान् । यन्म्युपगमेभ्यः
प्राप्तं वा ज्ञायासिद्धत्वं । ॥ आश्रयासिद्धं यथा भस्म प्र-
ग्नं, विश्वस्य परिणामिकारणत्वात् । ६ । आश्रयैकदेशासिद्धः ।
यथा निर्या प्रघानपुरुषेभ्यः, अत्रनक्तत्वात् । अत्र जैनस्य
पुरुष सिद्धो, न प्रधानेभ्यः । ७ । सन्दिग्धाश्रयासिद्धं यथा-
गोत्रेण सद्विद्यमाने गवये आरग्यकोऽयं गौ, जनदशनेत्यत्र
प्राप्तत्वात् । ८ । सदिग्धाश्रयैकदेशासिद्धः यथा-गोत्रेण सदि-
द्यमाने गवये गवि च आरग्यकायेमौ गौ, जनदशनेत्यत्र प्रा-
प्तत्वात् । ९ । आश्रयसन्दिग्धवृत्तसिद्धः यथा-आश्रयदेशो
स्वरूपनिश्चये आश्रये हेतुवृत्तिसमशये मयूरानय प्रदेश, के-
कायितोपेतत्वात् । १० । आश्रयैकदेशसदिग्धवृत्तसिद्धः यथा-
आश्रयहेतुो स्वरूपनिश्चये सत्येवाऽऽश्रयैकदेशो हेतुवृत्तिसमशये
मयूरवृत्तायेतौ सहकारकणिष्ठागौ, तत एव । ११ । व्यर्थवि-
शेषणासिद्धः यथा-भनित्य शब्द, सामान्यरूपे सति एतक-
त्वात् । १२ । व्यर्थविशेषणासिद्धः यथा-भनित्य. गटः, एत-
कत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । १३ । सदिग्धासिद्धः यथा-धू-
मवाणादिविशेषकान्त्यये कश्चिदाह-यक्षिमानय प्रदेश, धूमव-
त्त्वात् । १४ । सदिग्धविशेषणासिद्धः यथा-मद्यापि रागादेयु-
क्तः कपिलः, पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुपपन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । १५ ।
सदिग्धविशेषणासिद्धः यथा-सद्यापि रागादेयुक्तः कपिलः,
सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वात् । १६ । एकदेशा-
सिद्धः यथा-प्रागभायो घस्तु, विनाशोत्पादधर्मत्वात् । १७ ।
विशेषणकदेशासिद्धः यथा-तिमिरमभायस्वभाव, इत्यगुण-
कर्मातिरिक्तत्वे सति कार्यत्वात् । अत्र जैनान् प्रति तिमिरे ह-
व्यातिरेको न सिद्धः । १८ । विशेष्यैकदेशासिद्धः यथा-ति-
मिरमभावस्वभाव, कार्यत्वे सति इत्यगुणकर्मातिरिक्तत्वात् ।
१९ । सदिग्धैकदेशासिद्धः यथा-नाय पुरुष सर्वज्ञः, रागय-
पतृत्वोपेतत्वात् । अत्र लिङ्गदनिश्चिते रागित्ये सदेहः । २० ।
सदिग्धविशेषणैकदेशासिद्धः यथा-नाय पुरुष सर्वज्ञः, रा-
गयपतृत्वोपेतत्वे सति पुरुषत्वात् । २१ । सदिग्धविशेष्यैकदेश-
ासिद्धः यथा-नाय पुरुष सर्वज्ञः, पुरुषत्वे सति रागयपतृ-
त्वोपेतत्वात् । २२ । व्यर्थैकदेशासिद्धः यथा-अभिमानय पर्यत-
प्रदेश, प्रकाशधूमोपेतत्वात् । २३ । व्यर्थविशेषणैकदेशासिद्धः
यथा-गुण शब्द, प्रमेयत्वसामान्यवत्त्वे सति यावैकेन्द्रियप्रा-
प्तत्वात् । अत्र यावैकेन्द्रियप्राप्तस्यापि रूपत्वादिसामान्यस्य
गुणत्वाभावाद्यभिचारपरिहाराय सामान्यवत्त्वे सतीति सार्ध-
कम्, प्रमेयत्व तु व्यर्थम् । २४ । व्यर्थविशेष्यैकदेशासिद्धः यथा-
गुण शब्द, यावैकेन्द्रियप्राप्तत्वे सति प्रमेयत्वसामान्यवत्त्वात् ।
२५ । एवमन्येऽप्येकदेशासिद्धादिविशेषणं नृयासोऽसिद्धमे-
दा स्वयमभ्यूह्य वाच्या । उदाहरणेपु चतेषु दूषणान्तरस्य स-
म्भवतोऽप्यप्रकृतत्वादनूपदर्शनम् । त एते भेदा भवन्ति. कथं
नाभिहिताः ? ॥

उच्यते—पतेषु ये हेत्वान्नासतां प्रजन्ते, ते यदोजयवाद्य-
सिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते, तदोजयसिद्धेऽन्तर्भवन्ति । यदा त्वन्य-
तरासिद्धत्वेन तदाऽन्यतरासिद्ध इति । व्यधिकरणासिद्धस्तु
हेत्वाभासो न भवत्येव । व्यधिकरणादपि पित्रोर्ब्राह्मण्या-
त्पुत्रे ब्राह्मण्यानुमानदर्शनात्, नटनटार्जनामपि ब्राह्मण्य क-
स्मान्नय साधयतीति चेत् ? पक्षधर्मोऽपि पर्वतद्वयता तत्र
त्रिविधानु किमिति नानुमापयति ? इति समानम्. व्यभिचारा-

न्येन नदपि तुल्यम् । तद्विचित्राश्रय हि तदमकम् । एव
नहि प्रयोजकसम्बन्धेन सम्बन्धो हेतु कथं व्याधिकरणः ? इति
चेत् । ननु यदि साध्याधिगमप्रयोजकसम्बन्धः प्राज्ञायाः वैयधि-
करणमनुपपत्ते, तदानीं समतमेऽनदस्माक दोष किन्तु प्रमय-
न्वादयोऽपि व्याधिकरणा एव वाच्या स्थित व्याभिचारापादय ।
तस्मान्नान्यत्र मन्त्राभिधानादेव व्याधिकरणो हेत्वाभासस्त-
सम्मतः, स चागमक इति नियम प्रयोजकमपे । अथ प्रतिबो-
दशक्याऽयथाभिधानेऽपि ब्राह्मणज-यन्वाटित्येव हेत्वर्थे प्रति-
पद्य साध्य प्रतिपत्ते इति चेत्, एव नहि प्रतिबोदशक्यैव पटस्य
एतक्यादिसिद्धाभिधानेऽपि पटस्य एतक्यादित्यन्य दृष्टम् । एव
शब्दस्यापि तत एव तदस्मिन्ति प्रतिपत्ता नायमपि व्याधि-
करणं स्थान, तस्मात्प्रयोगात्तो हेतुस्तथैव तदमकं च वि-
ननीयम् । नच यस्मान्नपटस्य एतकत्वं तस्मात्तदन्त्येता-
नित्येन भवितव्यमित्यस्ति व्याप्ति । अनोऽसौ व्याभिचारा-
देवागमकः । एव वाक्याप्यर्थादिवि । कथं वा व्याधिकर-
णोऽपि जलचन्दो ननश्चन्दस्य, कृत्स्नोदयो वा शस्त्रोद-
यस्य गमकः स्थान् ? इति नास्ति व्याधिकरणो हेत्वाभासः ।
आश्रयासिद्धताऽपि न युक्ता । अस्ति सर्वज्ञः, चन्दोपरागादि-
ज्ञानान्यथाऽनुपपत्तेरित्यादेरपि गमक्यभिधानात् । कथमत्र
सर्वज्ञधर्मिणः सिद्धिः ? इति चेत्, अभिहितरपि कथमिति
कथ्यताम् ? प्रमाणानुचिन्त्यादित्येति चेत्, एव नहि तदापि
तत्सिद्धिः कथं स्थान् ? ननु को नाम सर्वज्ञधर्ममणमन्यथात्,
येनैव पर्यनुयोग सोपयोग स्यादिति चेत् ? नैवम् । प्रमाणा-
गोचरत्वादित्यत सर्वज्ञो धर्मो न भवतीति सिद्ध्यर्थं विनियतम् ।
अप्येदमस्य प्रति निश्चिततर-तरवारिव्यापारमाय ज्ञेयम् ।
एव च-

" आश्रयासिद्धता तेऽनुमाने न चेत् :

साऽनुमाने मदीये नदा किं भवेत् ? ।

आश्रयासिद्धता तेऽनुमानेऽस्ति चेत्,

साऽनुमाने मदीये, तदा किं भवेत् ? " ॥

यदि तदीयानुमानेनाश्रयासिद्धिरस्ति, तदा प्रकृतेऽप्यसौ मा
नृदः धर्मिण उभयत्राप्येक्यान्. अन्यस्यास्य प्रकृतानुपयोगि-
त्वात् । अथास्ति तत्राश्रयासिद्धिः, तदा बाधकाभावात् एव
कथं मदीयेऽनुमाने स्यादिति भावः ।

तथा च--

" विकल्पाधर्मिणः सिद्धिः, क्रियतेऽथ निविध्यते ।

विद्याऽपि धर्मिणः सिद्धिः-विकल्पात्ते समागता " ॥ १ ॥

द्वयमपि नास्मि करोमात्यप्यनभिधेयम्, विधिप्रतिषेधयोर्न-
पक्षिधानस्य प्रतिषेधस्य चासंगत्वात् । यदि च द्वयमपि न करापि
तदा व्यक्तममूल्यकयी कथं नोपहासाय जायसे ? नधानायामाश्र-
यासिद्धिस्तु जावनाऽघटनात् । ननु यदि विकल्पसिद्धेऽपि धर्मिणि
प्रमाणमन्वेषणीयम्, तदा प्रमाणसिद्धेऽपि प्रमाणान्तरमन्विष्य-
ताम् । अन्यथा तु विकल्पसिद्धेऽपि पर्याप्त प्रमाणा-न्वेषणेन, अ-
हमदमिकया प्रमाणलक्षणपरीक्षणं परीक्षकाणामकर्त्तव्यं
च स्यात्, तावन्मात्रेणैव सर्वस्यापि सिद्धे । तथा च चाकृपन्वा-
दिरपि शब्दानित्यत्वे साध्यं सम्यग्हेतुरेव भवेदिति चेत् । तद-
त्यल्पम् । विकल्पादि सत्त्वासत्त्वसाधारण धर्मिमात्रं प्रतीयते,
न तु तावन्मात्रेणैव तदस्त्वस्यापि प्रतीतिरस्ति यतोऽनुमाना-
न्तर्भव्य भवेत् । अन्यथा पृथिवीधरसाक्षान्करे कृतानुमत्तसा-
धनमप्यपार्थक्य भवेत् । तस्याग्निमतोऽनग्निमतो वा प्रत्यक्षेणैव प्रे-

कृणात् । अग्निमत्वाऽनग्निमत्त्वविशेषशून्यस्य शैलमात्रस्य प्रत्य-
क्षेण परिच्छेदाद् नानुमानानर्थक्यमिति चेत्, तर्ह्यस्मिन्त्वना-
मित्वविशेषशून्यस्य सर्वज्ञमात्रस्य विकल्पेनाऽऽकलनात् क-
थमत्राप्यनुमानानर्थक्यं स्यात् ? । अस्तिन्वनास्तित्वव्यतिरेकेण
कीदृशी सर्वज्ञमात्रसिद्धिरिति चेत् ? , अस्तिमत्त्वानग्निमत्त्वव्य-
तिरेकेण क्लोणीध्रग्मात्रसिद्धिरिति कीदृशी ? इति वाच्यम् । क्लो-
णीध्रगेऽयमित्येतावन्मात्रज्ञप्तिरेवेति चेत्, इतरत्रापि सर्वज्ञ इ-
त्येतावन्मात्रज्ञप्तिरेव साऽस्तु, केवलमेका प्रमाणलक्षणोपपन्न-
त्वात् प्रामाणिकी, तदन्या तु तद्विपर्ययाद्वैकल्पिकीति । नमुकि-
मनेन दुर्भगाऽभरणभारायमाणेन विकल्पेन प्रामाणिकः कुर्या-
दिति चेत् ? । तदयुक्तम् । यतः प्रामाणिकोऽपि पदार्थपरित-
र्ककंशशेषमुपविशेपसङ्ख्यावद्विराजिराजसभाया खरविषाण-
मस्ति नास्ति वेति केनापि प्रसर्पद्दुर्भगादुरकन्धरेण सापेक्ष प्र-
त्याहतोऽवश्यं पुरुषाभिमानो । किञ्चिद् ध्याद्, न तूष्णीमेव पु-
ष्णीयात्, अप्रकृतं च किमपि प्रज्ञपन्नं सन्निकार निस्सार्येत, प्र-
कृतभाषणे तु विकल्पसिद्धिर्धर्मिण विधाय काऽन्या गतिरास्ते ? ।
अप्रामाणिके वस्तुनि मूकवाचदूकयो कतरः श्रेयानिति स्वय-
मेव विवेचयन्तु तार्किकाः ? इति चेत् । ननु भवान् स्वोक्तमेव
तावद्विकेचयतु, मूकतैव श्रेयसीति च पूत्करोति निष्प्रमाणके
वस्तुनीति विकल्पसिद्धिर्धर्मिण विधाय मूकताधर्मं च विदधा-
तीत्यनात्मज्ञेश्वरः । तस्मात्प्रामाणिकेनापि स्वीकर्त्तव्येव कापि
विकल्पसिद्धिः । नच सैव सर्वत्रास्तु, कृतप्रमाणेनेति वाच्यम् ।
तदन्तरेण नियतव्यवस्थाऽयोगात् । एको विकल्पयति अस्ति स-
र्वज्ञः, अन्यस्तु नास्तीति किमत्र प्रतिपद्यताम् ? । प्रमाणमु-
द्राव्यवस्थापिते त्वन्यतरस्मिन् धर्मे दुर्करोऽपि क किं
कुर्यात् ? । प्रमाणसिद्धयर्हं तु धर्मिणि सर्वज्ञपुष्पादौ
विकल्पसिद्धिरपि साधीयसी; तार्किकचक्रचक्रवर्ति-
नामपि तथाव्यवहारदर्शनात् । एव शब्दे चाक्षुषत्वमपि
सिद्धोदिति चेत् ? । सत्यम् । तद्विकल्पमिद्ध विधाय यदि त-
त्रास्तित्व प्रमाणेन प्रसाधयितुं शक्यते, तदानीमस्तु नाम तत्सि-
द्धिः, नचैवम्, तत्र प्रवर्त्तमानस्य सर्वस्य हेतोः प्रत्यक्षप्रति-
क्षिप्तपक्षत्वेनाकर्त्तृकारार्हत्वात्, ततः कथमस्तित्वाप्रसिद्धौ
शब्दे चाक्षुषत्वसिद्धिरस्तु ? । एव च नाश्रयासिद्धौ हेत्वाभासः
समस्तीति स्थितम् ॥ नचैव विश्वस्य परिणामिकारणत्वादि-
त्यस्यापि गमकता प्राप्नोति, अस्य स्वरूपासिद्धत्वात् प्रधा-
नासिद्धौ विश्वस्य तत्परिणामित्वासिद्धेः । एवमाश्रयैकदेशासि-
द्धोऽपि न हेत्वाभासः । तर्हि प्रधानात्मानौ नित्यावृत्तकत्वा-
दित्ययमप्यात्मना च प्रधानेऽपि नित्यत्व गमयेत् । तदसत्यम् ।
नित्यत्व खल्वान्तशून्यसद्रूपत्वम्, आद्यन्तविरहमात्र वा वि-
वक्षितम् ? । आद्येऽन्यन्ताभावेन व्यभिचारः, तस्याकृतकस्या-
प्यतद्रूपत्वात् । द्वितीये सिद्धसाध्यता, अत्यन्ताभावरूपतया
प्रधानस्याद्यन्तरहितत्वेन तदभाववादिनिरपि स्वीकारात् ।
तर्हि देवदत्तवान्त्येयौ वज्रवन्तौ, वज्रतृत्वादित्यय हेतुरस्तु ।
नैवम् । न वान्त्येयो वज्रवन्तः, असत्त्वादित्यनेन तद्विधानात् ।
तदमत्त्वं च सायकप्रमाणाभावात् सुप्रसिद्धम् ॥ सदिश्रा-
श्रयासिद्धिरपि न हेतुदोषः, हेतोः साध्येनाऽविनाशसम्भवात् ।
धर्म्यमिच्छिस्तु पक्षदोष स्यात् । साध्यधर्मविशिष्टतया प्रसिद्धौ
हि धर्मो पक्षं प्रोच्यते, नच सदेहाम्पदीभूतस्यास्य प्रसि-
द्धिर्गन्तीति पक्षदोषेणैवाम्य गतत्वान्न हेतोर्दोषो वाच्यः । स-
दिश्राश्रयैकदेशासिद्धोऽपि तथैव । आश्रयसदिश्रवृत्त्यभि-

क्षोऽपि न साधु, यतो यदि पक्षधर्मत्व गमकत्वाद्गमकत्वाद्गमक-
त्वात् तदा स्यादयं दोषः, नचैवम् । तत्किमाश्रयवृत्त्यभिधेयेऽपि
केकायितान्नियतदेशाधिकरणमयूरसिद्धिर्भवतु ? । नैवम् । के-
कायितमात्रं हि मयूरमात्रेणैवाविनाभूत निश्चितमिति तदेव ग-
मयति । देशविशेषविशिष्टमयूरसिद्धौ तु देशविशेषविशिष्टस्यै-
व केकायितस्याविनाभावसाय इति केकायितमात्रस्य तद्व्य-
भिचारसम्भवादेवागमकत्वम् । एवमाश्रयैकदेशसदिश्रवृत्ति-
रप्यासिद्धो न प्रवर्त्तते । व्यर्थविशेषणविशेष्यसिद्धावपि ना-
सिद्धजेदौ, वस्तुरकौशलमात्रत्वाच्चनवैयर्थ्यदोषस्य । एव व्य-
र्थैकदेशासिद्धादयोऽपि वाच्याः । ततः स्थितमेतद्-एतेष्वसि-
द्धभेदेषु सन्नवन्त उभयासिद्धान्यतरासिद्धयोरन्तर्भवन्ति । न-
न्वन्यतरासिद्धौ हेत्वाभास एव नास्ति । तथाहि-परेणासिद्ध-
इत्युद्भाविते यदि वादी न तत्साधक प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमा-
णाभावादुभयोरप्यसिद्धः । अथाचक्षीत, तदा प्रमाणस्यापक्ष-
पातित्वादुभयोरप्यसौ सिद्धः । अथवा-यावद् न परं प्रति प्रमा-
णेन प्रसाध्यते तावत्त प्रत्यसिद्ध इति चेत्, गौणं तर्ह्यसिद्धत्वम्;
नहि रत्नादिपदार्थस्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावन्तमपि कालमु-
च्यतस्तदाभासः । किञ्च-अन्यतरासिद्धौ यदा हेत्वाभास-
स्तदा वादी निगृहीतः स्यात्, न च निगृहीतस्य पश्चादनिग्रह-
इति युक्तम्, नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद् युक्तम्, निग्रहान्तत्वाद्वा-
स्येति । अत्रोच्यते-यदा वादी सम्यग्हेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि
तत्समर्थनन्यायविस्मणादिनिमित्तेन प्रतिवादिन प्राश्नकान् वा
प्रतिबोधयितुं न शक्नोत्यसिद्धतामपि नानुमन्यते, तदाऽ-
न्यतरासिद्धत्वेनैव निगृह्यते । तथा-स्वयमनभ्युपगतोऽपि प-
रस्य सिद्ध इत्येतावतैवोपन्यस्तो हेतुरन्यतरासिद्धौ निग्र-
हाधिकरणम् । यथा-सादृश्यस्य जैन प्रत्यचेतनाः सुखादयः,
उत्पत्तिमत्त्वादृष्टवदिति । ननु कथं तर्हि प्रसङ्गसाधनं सू-
पादं स्यात् ? ; तथा च प्रमाणप्रसिद्ध्यासिद्धेन वाक्येन पर-
स्यानिष्ठत्वापादनाय प्रसञ्जनं प्रसङ्गम् । यथा-यत्सर्वथैकं तन्ना-
नेकत्र वर्त्तते, यथैकं परमाणुस्तथा च सामान्यमिति कथमने-
कव्यक्तिवर्ति स्यात् ? ; अनेकव्यक्तिवर्तित्वाभाव व्यापकमन्तरेण
सर्वथैक्यस्य व्याप्यस्यानुपपत्तेः । अत्र हि वादिनः स्याद्वादिनः
सर्वथैक्यमसिद्धमिति कथं धर्मान्तरस्यानेकव्यक्तिवर्तित्वाभा-
वस्य गमकं स्यादिति चेत् ? तदयुक्तम् । एकधर्मोपगमे ध-
र्मान्तरोपगमसदृशनिमात्रतत्परत्वेनास्य वस्तुनिश्चायकत्वाभा-
वात्, प्रसङ्गविपर्ययरूपस्यैव मौलहेतोस्तन्निश्चायकत्वात् । प्र-
सङ्गः खल्वत्र व्यापकविरुद्धोपलब्धिरूपः । अनेकव्यक्तिवर्ति-
त्वस्य हि व्यापकमनेकत्वम्, एकान्तैकरूपस्यानेकव्यक्तिवर्ति-
त्वविरोधात् । एकान्तैकरूपस्य सामान्यस्य प्रतिनियतपदार्था-
ध्येयत्वसम्भवात्परस्य स्वज्ञावस्याऽभावेनाऽन्यपदार्थाध्येय-
त्वासम्भवात् तद्भावस्य तदभावस्य चाऽन्योन्यपरिहारस्थितल-
क्षणत्वेन विरोधादिति सिद्धमनेकत्र वृत्तेरनेकत्व व्यापकम्,
तद्विरुद्धं च सर्वथैक्य सामान्ये समतं तत्रेति नाऽनेकवृत्ति-
त्वस्याद्विरोधैक्यसम्भवेन व्यापकस्यानेकत्वस्य निवृत्त्या व्या-
प्यस्यानेकवृत्तित्वस्याऽवश्यं निवृत्तेः । नच तन्निवृत्तिरन्युप-
गतेति लब्धावसरं प्रसङ्गविपर्ययाख्यो विरुद्धव्याप्तिरुपलब्धि-
रूपोऽत्र मौलो हेतुः, यथा-यदनेकवृत्ति तदनेकम् । यथा-अ-
नेकजाजनगतं तालफलम्, अनेकवृत्ति च सामान्यमिति एक-
त्वस्य विरुद्धमनेकत्वम् । तेन व्यापकमनेकवृत्तित्वम् तस्योपल-
ब्धिरिह मौल्यत्वं चास्यैतदपेक्षयैव प्रसङ्गस्योपन्यासात् । न च

यमुभयोरपि न सिद्ध, सामान्ये जैनयौगाभ्यां तदभ्युपगमात् । ततोऽयमेव मौलो हेतुरयमेव च वस्तुनिश्चायक । ननु यद्ययमेव वस्तुनिश्चायकः कदाकियते, तर्हि किं प्रसङ्गोपन्यासेन, प्रागेवायमेवोपन्यस्यताम् । निश्चयाङ्गमेव हि घृचाणो घादो घादिनामवधेयवचनो भवतीति चेत् । मैवम् । मौल्यहेतुपरिकरत्वात् । अवश्यमेव हि प्रसङ्गं कुर्वतोऽर्थः । कश्चिद्विश्वाययितुमिष्टो, निश्चयश्च सिद्धहेतुनिमित्त इति यस्मिन् सिद्धो हेतुरिष्टस्तस्य व्याप्यव्यापकज्ञावसाधने प्रकारान्तरमेवैतत् । यत्सर्वपैकं तन्नानेकत्र वर्तते इति व्याप्तिदर्शनमात्रमपि हि बाधक विरुद्धधर्माध्यासमाक्षिपनीत्यन्योऽयं साधनप्रकारः । एव च नान्यतरासिद्धस्य कस्यापि गमकत्वमिति ॥ ५१ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

अभिष्टिपगम्-असिष्टिपार्ग-न० । न विद्यते सिद्धेर्मोक्षस्य विशिष्टस्थानोपलक्षितस्य मार्गो यस्मिन्स्तदसिद्धिमार्गम् । निश्चयहेतौ, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अभिप्रावव्यं-असिधाराव्रत-न० । असिधारायां सचरणीयमित्येव रूपे नियमे, ज्ञा० १ अ० ।

असिधाराग-असिधाराक-न० । असेर्धारा यस्मिन् व्रते आक्रमणीयतया, तदसिधाराकम् । असिधारावदनाक्रमणीये, भ० । “असिधाराग वयं चरिष्ये” असेर्धारा यस्मिन् व्रते आक्रमणीयतया तदसिधाराक, व्रतं नियम, चरितव्यमासेवितव्यम्, तदेतत्प्रवेचनानुपादानं तद्वद्दुष्कस्मित्यर्थः । भ० ६ श० ३३ उ० ।

असिधारागमण-असिधारागमन-न० । ७ त० । खड्गधारायां चक्षणे, उक्त० १६ अ० ।

असिपंजर-असिपञ्जर-न० । खड्गशक्तिपञ्जरे, प्रश्न० २ सव० द्वार ।

असिपंजरगय-असिपञ्जरगत-त्रि० । असिपञ्जरे शक्तिपञ्जरे गतः । खड्गशक्तिव्यग्रकरिपुपुरुषवेष्टिते, प्रश्न० २ सव० द्वार ।

असिपत्त-असिपत्र-न० । असि खड्ग, स एव पत्रम् । स्था० ४ ग० ४ उ० । असिः खड्गस्तस्य पत्रमसिपत्रम् । जी० ३ प्रति० । अस्यार्कारपत्रे, भ० ३ श० ६ उ० । खड्गे, ज्ञा० १६ अ० । स० । असि खड्गस्तदाकारपत्रवद्वनं विकुर्व्यं यस्तत्समाभितनारकानसिपत्रपातनेन तिलशशिञ्जनिं सोऽसिपत्रम् । पु० । स० १५ सम० । न० । नवमे परमाऽभार्मिके, प्रव० १८ द्वार ।

अत्र निर्युक्तिः-

कषोष्ठणसकरचरण-दसण्डणफुगजस्वाहूणं ।

जेयण जेयण सारण, असिपत्तधण्णहि पामंति ॥ ७९ ॥

(कषोष्ठ इत्यादि) असिप्रधानाः पत्रधनुर्नामानो नरकपाला असिपत्रवन बीभत्सं कृत्वा तत्र छायाऽर्थिनं समागतान् नारकान् घराकान् अस्यादिभिः पाटयन्ति, तथा-कर्णौष्ठनासिकाकरचरणदशनस्तनस्फिगुरुवाहूनां छेदनमेदनशातनादीनि विकुर्वितवाताहतचलिततरुपातितासिपत्रादिना कुर्वन्तीति । तदुक्तम्-“ विनापादद्युजस्कन्धा-श्लेष्मकर्णौष्ठनासिका । मिनन्तालुशिरोमेढ्रा, जिन्नाक्किहृदयोदरा ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० चू० ।

असिपज्जीवि (ए)-अशिल्पज्जीविन्-पु० । न शिल्पजीवी अशिल्पजीवी । चित्रकरणादिविज्ञानेनाऽऽजीविकामकुर्वन्ति, उक्त० १५ अ० । “असिपज्जीवे अगिहे अमेत्ते” उक्त० १५ अ० । २१३

असिमसिसारिच्छ-असिमसिसट्ठ-त्रि० । करवालकजलतुल्ये, त० ।

असिय (त) असित-त्रि० । कृष्णे, प्रश्न० ३ आध० द्वार । आ० म० । इयामे, जं० १ वक्त० । अशुभे, विशेष० । अनववदे मूर्च्छामकुर्वाणे पङ्काधारपङ्कजवत्तत्कर्मणा दिद्यमाने, त्रि० । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । असङ्गं कुर्वन्ति, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

असियकेस-असितकेश-त्रि० । असिता. कृष्णा केशाः येषां ते असितकेशा । कृष्णकेशे (युगलिके), जी० ३ प्रति० ।

असियग-असितक-न० । दात्रे, भ० १४ श० ७ उ० । आचा० ।

असियगिरि-अमितगिरि-पु० । स्वनामख्याने पर्वते, “ स-व्वाणि वि असियगिरिस्मि तावसा सम तथ गया ” आच० ४ अ० । आ० चू० ।

असिरयण-असिरत्न-न० । चक्रवर्तिनां रत्नोन्मुष्टे खड्गे, स्था० ७ ग० । स० ।

असिरावणिक्पखननसम-असिरावणिकूपखननसम-त्रि० । असिरायामवनौ कूपखननमखननमेव, अनुदकप्राप्तिफलत्वात्, तेन समम् । अविवक्षितफले, बो० १० विव० ।

अमिलवखण-असिदक्ष-न० । खड्गलक्षणपरिज्ञाने, ज० ।

तच्चैवम्-

“अद्भुतशतोर्द्धमुत्तमं केन” स्यात् पञ्चविंशतेः खड्गम् ॥

अद्भुलमानाद् ज्ञेयो, वणोऽशुभो विषमपर्वस्थ ” ॥ १ ॥

अद्भुलशतोर्द्धमुत्तमं खड्गं पञ्चविंशत्यद्भुतेन केन, अनयो प्रमाणयोर्मध्यस्थित । प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमादिष्वद्भुलेषु यः स्थितो घण स अद्भुतः, अर्थादेव समाद्भुलेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिषु यः स्थितः स द्भुतः, मिथपु समविषमाद्भुलेषु मध्यम इत्यादि । ज० ३ वक्त० । ज्ञा० । औ० । असिदक्षप्रतिपादके शास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

असिलाट्टि-असियष्टि-स्त्री० । खड्गवृत्तायाम्, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञा० । औ० ।

असिलाहा-अश्लाघा-स्त्री० । असह्योपोद्घट्टने, स्था० ४ अ० १ उ० ।

असिलील-अश्लील-न० । अमङ्गलजुगुप्सावीडाव्यञ्जके दोषविशेषे, यथा-नोदनार्थे चकारादिपदम् । रत्ना० ७ परि० ।

असिलेसा-अश्लेषा-स्त्री० । सर्पदेघनाके नक्षत्रेदे, ज्यो० ६ पाङ्ग० । सू० प्र० । “असिलेसाणक्खत्ते छत्तारे पण्णत्ते” । स्था० ७ ठा० ।

असिलोग-अश्लोक-पु० । अकीर्तौ, स० ७ सम० । अयशसि, भाव० ४ अ० । अप्रशसायाम्, आच० १ अ० । अवर्णे, व्य० ६ उ० ।

असिलोगजय-अश्लोकजय-न० । अश्लोकोऽश्लाघाऽकीर्तिरित्यनर्थान्तरम् । स एव जयमश्लोकभयम् । अकीर्तिभये, यथा केनचिद्धानादिना श्लाघोपार्जिता पश्चादपि तद्विनाशभीत्याऽकाम एव दानादौ प्रवर्त्तनं इति । दर्श० । एव हि क्रियमाणे महदयशो भवतीति नद्वयात् प्रवर्त्तत इति । स्था० ७ ठा० । भाव० । स्था० ।

असिव-अशिव-न० । छुद्रदेवताकृतज्वराद्युपद्रवे, व्य० २ उ० ।
ओघ० । व्यन्तरुक्ते व्यसने, आव० ४ अ० । नि० चू० । मारौ,
व्य० ४ उ० ।

असिवण-असिवन-न० । खड्गाकारपत्रवने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असिवप्पमणी-अशिवप्रशमनी-स्त्री० । कृष्णवासुदेवस्य मे-
र्याम, " सा तत्थ तालिज्जइ जत्थ म्मासे सच्चरोगा पसम-
ति जो तं सह सुणति । " वृ० १ उ० ।

असिवाइस्वेत्त-अशिवादिक्षेत्र-न० । अशिवादिप्रधानक्षेत्रे,
" विगिचियव्वमसिवाइस्वेत्त च । " दश० १ अ० ।

असिवाण-अशिवापन-न० । विनाशप्राप्तौ, व्य० ७ उ० ।

असिह-अशिख-पु० । य. शिरसो मुण्णनमात्र कारयति न च
रजोहरणदण्डकपात्रादिक धारयति तस्मिन् गृहस्थभेदे,
व्य० ४ उ० ।

असीइ-अशीति-स्त्री० । विंशत्यूनशतसंख्यायाम्, प्रज्ञा० २
पद । त० ।

असीभरक-असीभरक-पुं० । सीभरो नाम बलपन् परं बाल-
या सिञ्चति, तत्प्रतिषेधादसीभरकः । प्राकृतत्वात्स्वार्थिकप्रत्ययवि-
धानदसीभरकः । लाक्ष्या परमसिञ्चति, व्य० ३ उ० ।

असीदया-अशीदता-स्त्री० । चारित्रवर्जित्वे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असीलमंत-अशीलवत्-त्रि० । सावद्ययोगाविरते, अविरतमात्रे
च । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

असुअ-असुत-त्रि० । अपुत्रे, उत्त० २ अ० ।

असुआगइ-अस्वाकृति-स्त्री० । न्यग्रोधपरिमण्डलादिषु अप्र-
शस्तसंस्थानेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुइ-अशुचि-त्रि० । न० त० । अपवित्रे, आ० म० प्र० । प्रज्ञा० ।
अस्पृश्यत्वात् (ज्ञा० ६ पद) आशौचवति, औ० । विष्ठाऽसृक्क्रेद-
प्रधाने, सूत्र० २ श्रु० २ उ० । दशा० । स्नानब्रह्मचर्यादिवर्जितत्वात्त-
थाविधे साधौ, म० ७ श० ६ उ० । सदाऽविशुद्धे, तं० । विष्ठायां,
दश० । पि० । अमेधे, स्था० ९ उ० । जी० । " जष अमह किंचि
असुई भवति, तष उदण्ण य मट्ठिआप अ पक्खालिअ सुई भ-
वति, एव खडु अमह चोक्खाचोक्खायारा सुइसुइसमायारा ज-
वेत्ता अभिसेअजलपूआप्पाणो अविघ्णेण सगं गमिस्सामो"
औ० । रा० । तं० । " असुइविलीणविगयवीभच्छादरिसणिजे" ।
अशुचिषु विलीनो मनस कल्लिमलपरिणामहेतुः, (विगय इति)
विप्रनष्ट तदभिमुखतया प्राणिनां गत गमनं यस्मिन् स तथा,
वीभत्सया निन्दयाद्दर्शनीयो वीजत्सादर्शनीय । ततो विशेषण-
समासः । अशुचिविलीनविगतवीजत्सादर्शनीयः । जी० ३ प्रति० ।
आहाराद्यर्थमव्यवहारिणि, व्य० ।

तमेवाशुचिं हव्यन्नावभेदतः प्ररूपयति-

दब्बे जावे असुई, जावे आद्धारवंदणादीहिं ।

कप्पं कुणइ अरुप्पं, विविहेहिं रागदोसेहिं ॥

अशुचिर्द्विधा-हव्यनो भावतश्च । तत्र योऽशुचिर्नास्तिगात्रो यो
वा पुरीषमुत्सृज्य पूतो न निर्लेपयति स हव्यतोऽशुचिः । भावे
भावतः पुनरशुचिराहारवन्धनादिभिर्विविधैर्वा रागाद्वैषै कल्प्य-
मकल्प्य करोति । किमुक्तं भवति ?-आहारोपधिशय्यादिनिमित्त

वन्दननीचैर्वृत्त्यादिना वा तोषितः, यदि वा एष मम स्वगच्छु-
सवन्धी स्वकुलसवन्धी स्वगणसवन्धीनि रागतः, अथवा-न
मामेष वन्दते, विरूप वा भाषितवानित्यादिवृत्ततोऽयं श्रुतोपदेशे-
नाभाव्यमनाभाव्य करोति, अनाभाव्यमप्यभाव्यम्, सोऽव्यव-
हारी भावतोऽशुचिः ।

एतदेव सुव्यक्तमाह-

दब्बे जावे असुई, दब्बम्मी विट्ठमादीदित्तो ॥

पाणऽतिवायादीहिं, भावम्मी होइ असुईओ ॥

अशुचिर्द्विधा-हव्ये भावे च । तत्र हव्ये-विष्ठादिना लिप्तः,
आदिशब्दान्मूत्रश्लेष्मादिपरिग्रहः । जावे-प्राणतिपातादिभि-
र्भवत्यशुचिः । व्य० ३ उ० ।

अश्रुति-त्रि० । शास्त्रवर्जिते, म० ७ श० ६ उ० । प्रश्न० ।

असुडकुणिम-अशुचिकुणिम-न० । अपवित्रमांसे, तं० ।

असुइजायकम्मकरण-अशुचिजातकर्मकरण-न० । अशुचीनां
जातकर्मणां करणे, म० ११ श० ११ उ० । रा० । नालच्छेदादि-
करणे, कल्प० ५ क० ।

असुइट्ठाण-अशुचिस्थान-न० । विद्वद्धाने स्थाने, आव० ३
अ० । विष्ठास्थाने, दर्श० ।

असुइत्तजावणा-अशुचित्वभावना-स्त्री० । देहस्याऽशुचित्वप-
र्यालोचनायाम्, ध० ।

अशुचित्वजावनाऽपीत्यम्-

रसासृग्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाशुकान्त्रवर्चसाम् ।

अशुचीनां पदं कायः, शुचित्व तस्य तत्कुतः ? ॥ ११ ॥

नवस्रोतःस्रवद्विस्तरसनिःस्पन्दापिच्छिन्ने ।

देहेऽपि शुचिसंकल्पो, महन्मोहविजृम्भितम् ॥ १२ ॥

नवज्यो नेत्र २ ओत्र २ नासा २ मुख १ पायूपस्थेभ्यः १ स्त्रो-
तेभ्यो निर्गमद्वारेभ्यः स्रवन् विस्तर आमगन्धिर्यो रक्तः, तस्य नित्य-
न्दो निर्यासः, तेन पिच्छिन्ने विज्जिते । शेष सुगमम् । ध० ३ अधि० ।

अथाशुचित्वजावना-

" लवणाकरे पदार्थाः, पतिता लवणं यथा भवन्तीह ।

काये तथा महा. स्यु-स्तदसावशुचि सदा कायः ॥ १ ॥

कायः शोणितशुक्रमीलनभवो गर्भे जरावेष्टितो,

मात्राऽऽस्वादितखाद्यपेयरसकैर्दृक् क्रमात्प्रापितः ।

क्लिद्यक्तातुसमाकुप्यः क्लमिरुजागणूपदाद्यास्पदः,

कैर्मन्येन सुबुद्धिभिः शुचितया सर्वैर्मलैः सकुलः ॥ २ ॥

सुस्वादं शुभगन्धि मोदकदधिकीरेकुशाल्योदन-

क्षाक्पापपट्टिकाप्रमृताघृतपुरस्वर्गच्युताऽऽम्नादिकम् ।

भुक्तं यत्सहसैव यत्र मलसात्सपद्यते सर्वतः,

त कायः सकलाशुचिं शुचिमहो ! मोहान्धिता मन्वते ॥ ३ ॥

अम्भ कुम्भशतैर्वपुर्ननु वहिर्मुग्धाः शुचित्वं कियत्-

कालं लम्बयथोत्तम परिमलं कस्तूरिकाद्यैस्तथा ।

विष्ठाकोष्ठकमेतदङ्गकमहो ! मध्ये तु शौचं कथं-

कार नेव्यथ सूत्रयिष्यथ कथंकार च तत्सौरजम् ? ॥ ४ ॥

दिव्याऽऽमोदसमृद्धिवासितदिशः श्रीखण्डकस्तूरिका-

कर्पूराऽऽशुक्कुङ्कुमप्रभृतयो भावा यदाश्लेषतः ।

दौर्गन्ध्यं दधति क्षणेन मलता चाविभ्रते सोऽप्यहो !

असुहृत्भावणा

देहं कैश्चन मन्यते शुचिनया वैधेयनां पश्यत ॥ ५ ॥
 इत्याशौच शरीरस्य, विभाव्य परमार्थतः ।
 सुमतिर्ममता तत्र, न कुर्वीत कदाचन ॥ ६ ॥ प्रव० ६७ द्वार ।
 असुहृद्विद्-अशुचिविल-न० । परमाऽपवित्रविवरे, त० ।
 असुहृद्विद्-अशुचिक-त्रि० । अपवित्रस्वरूपे, त० । ज्ञा० । स्था० ।
 अमेधे मूत्रपुरीषादौ, स्था० १० ठा० ।
 असुहृद्विद्-अशुचिसंक्षिप्त-न० । न० त० । अमेधेन दुष्टे,
 भ ६ श० ३३ उ० ।
 असुहृद्विद्-अशुचिसमुत्पन्न-त्रि० । अपवित्रोत्पन्ने, त० ।
 असुहृद्विद्-अशुचिसामन्त-न० । अमेध्याना मूत्रपुरीषादीनां
 समीपे, स्था० १० ठा० ।
 असुखगद्-असुखगति-स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० ५
 कर्म० ।
 असुजाङ्ग-असुजाति-स्त्री० । एकद्वित्रिचतुरिन्ध्रियजातिलक्षणा-
 सु अप्रशस्तगतिषु, कर्म० ५ कर्म० ।
 असुज्जमाणा-अशुद्धगत्-त्रि० । अनपगच्छति, " असुज्जमाणे
 ह्येविविसेता विसोहति " पञ्चा० १६ विव० । नि० च० ।
 असुद्ध-अशुद्ध-त्रि० । सावधे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अवि-
 शुद्धकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । " असुरूपरिणामसकिलिष्ठ
 भणति " । अशुद्धपरिणामेन सकलित्वं सकेहेशवत्तत् तथा भण-
 न्ति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
 असुद्धजाव-अशुद्धभाव-पु० । अनन्तानुबन्ध्यादिसङ्गतमातृ-
 स्थानरूपे अप्रशस्ताऽध्यवसाये, पञ्चा० १८ विव० ।
 असुद्धसभाव-अशुद्धस्वभाव-पु० । औपाधिके-उपाधिजनि-
 तवहिर्जावपरिणमनयोधे, छव्या० १२ अध्या० ।
 असुभ (ह)-अशुभ-त्रि० । अशोभने, दर्श० । अशुभरसगन्धस्पर्श-
 श्रुत्युक्ते, जी० १ प्रति० । अशुभकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १
 उ० । पापप्रकृतिरूपे कर्मणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आच० ।
 अपुण्यवधे, स्था० ५ ठा० १ उ० । अशर्मणे, दर्श० ८ अ० ।
 असुभ (ह) कम्मबहुल-अशुभकर्मबहुल-त्रि० । कलुष-
 कर्मप्रचुरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
 असुज (ह) किरियादिरहित-अशुभक्रियादिरहित-त्रि० ।
 अप्रशस्तकायचेष्टाप्रभृतिविकले, आदिशब्दादश्रद्धादुष्टमनोयो-
 गविकलतापरिग्रहः । पञ्चा० १३ विव० ।
 असुज (ह) जलवसाण-अशुजाध्यवसान-न० । क्लिष्टप-
 रिणामे, पञ्चा० १६ विव० ।
 असुज (ह) ग्राम-अशुभनामन्-न० । अशुजानुबन्धि नामकर्मभे-
 दे, उक्त० ३३ अ० । यदुदयान्नामेरधः पादादीनामवयवानामशुभ-
 ता भवति, तदशुभनाम । प्रादादिना हि स्पृष्टः परो रुष्यतीति ते-
 षामशुभत्वम् । कामिनीव्यवहारेण व्यभिचार इति चेत् । नैवम् ।
 तस्य मोहनिबन्धनत्वात् । वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यत इति ततोऽ-
 दोषः । प० स० ३ द्वार । कर्म० । अशुभनामकर्मणः प्रकृतयो मध्यम-
 भेदविवक्षया चतुर्विंशद्भेदा भवन्ति । तद्यथा-नरकगति १ ति-
 र्य्यगति २ एकेन्द्रिय ३ द्वीन्द्रिय ४ त्रीन्द्रिय ५ चतुरिन्द्रियजा-
 ति ६ ऋषभनाराच ७ नाराच ८ अर्द्धनाराच ९ कीलिका १०

सेवार्तकमहनानि ११ न्यग्रोत्रमण्डलसंस्थान १२ सादि १३
 वामन १४ कुञ्ज १५ हुण्डक १६ अप्रशस्तवर्ण १७ अप्रशस्त-
 गन्ध १८ अप्रशस्तरस १९ अप्रशस्तस्पर्श २० नरकानुपूर्वी २१
 निर्यगानुपूर्वी २२ उपग्रान २३ अप्रशस्तविहायोगति २४ स्था-
 वर २५ सूक्ष्म २६ साधारण २७ अपर्याप्त २८ अस्थिर २९
 अशुभ ३० दुर्भग ३१ दुःस्वर ३२ अनादित्य ३३ अयशीऽकीर्ति-
 ३४ रिति । उक्त० ३३ अ० । प्रव० । अशुभमनादेयत्वादि । अपूज्ये
 च कर्मभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

असुभ (ह) तरङ्गुत्तरणप्राय-अशुभ (असुख) तरण्डो-
 त्तणप्राय-त्रि० । अशुभमशोभन, कण्टकादिदोषादसुख वा, नत
 एव दुःखहेतुत्वात् तच्च तत् तरणम् च काष्ठादि, तेन यदुत्तरण
 पारगमन, तत्प्रायस्तत्कल्पो य स तथा । पञ्चा० ६ विव० ।
 कण्टकानुगतशाल्मलीतरण्डोत्तरणतुल्ये, " असुहृतसुत्तर-
 णप्रायो दध्वत्थञ्च असमत्थो । " प्रति० ।

असुज (ह)-अशुजत्व-न० । अमङ्गलतायाम्, भ० ६
 श० ३ उ० ।

असुभ (ह) दुःखभागि (ण)-अशुभदुःखभागि-त्रि० ।
 अशुजानुबन्धि यद् दुःख, तद्भागिनः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
 दुःखानुबन्धिदुःखभागिषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

असुभ (ह) विवाग-अशुजविपाक-न० । असातादित्वेनो-
 दयवति कर्मणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

असुजा (हा)-अशुजा-स्त्री० । न विद्यते शुभो विपाको या-
 सां ता अशुभा । प० स० ३ द्वार । विपाकदारुणकटुकर-
 सासु पापकर्मप्रकृतिषु, प० स० ३ द्वार । (सर्वाश्चैताः 'कम्म'
 शब्दे तृतीयभागे २५२ पृष्ठे वदन्ते)

असुभा (हा) गुण्पेहा-अशुजानुपेक्षा-स्त्री० । ससाराऽशुज-
 त्वानुचिन्तने, भ० २५ श० ७ उ० । ग० । " कोहो य माणो य अणि-
 ग्गहीया, माया य लोभो य पवहुमाणा । चत्तारि एते कसिणा
 कसाया, सिंचति मूलाइ पुण्णभवस्स " ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० ।

असुय-अश्रुत-त्रि० । अनाकर्णिते, स्था० ८ ठा० । आच० ।
 प्रवचनद्वारेणानुपलब्धे, भ० २ श० ८ उ० ।

असुयणिस्सिय-अश्रुतनिश्चित-न० । सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहि-
 तस्य तथातथाविधक्रयोपशमजावत एवमेव यथावस्थितव-
 स्तुसंस्पर्शमतिज्ञानरूपे बुद्धिचतुष्के, न० । ('आभिणिचोहियणा-
 ण' शब्दे द्वितीयभागे २५३ पृष्ठेऽस्य व्याख्या वदन्ते)

असुर-असुर-पु० । भवनपतिव्यन्तरत्नरूपे देवभेदेऽप्ये, स्था०
 ३ ठा० १ उ० । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादसुरकुमारे, प्रव०
 १६४ द्वार । न० । प्रश्न० भ० । औ० । आ० । म० । सूत्र० । स्था० ।
 असुरस्थानोत्पन्नेषु नागकुमारादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।
 दानवे, अनु० ।

असुरकुमार-असुरकुमार-पु० । असुराश्च ते नवयौवनतया कु-
 माराश्चेत्यसुरकुमाराः । स्था० १ ठा० १ उ० । भवनपतिभेदेषु,
 प्रज्ञा० १ पद । स्था० ('ठाण' शब्दे 'तदावासा' वदन्ते)

नवरामिह-

जगवं गोयमे सपणं भगवं महावीरं वेदइ नमंसइ, नमं-
 सइत्ता एवं वयासी-अत्थि ए भते ! इमीमे रयणप्पणाए

पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति ?। एो इण्ठे समडे,
एव० जाव अहे मत्तमाए पुढवीए सोहम्मस्स कप्पस्स अहे
जाव । अत्थि ण भंते ! ईसिप्पजाए पुढवीए असुरकुमारा देवा
परिवसति ?। एो इण्ठे समडे । से कहिं खाए ण भंते ! असु-
रकुमारा देवा परिवसंति ?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए
पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सवाहद्वाए एवं असुदे-
ववत्तव्वयाए० जाव दिव्वाइ जोगभोगाई जुजमाणा विहरति ।
अत्थि ण भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविसए ? ।
हंता अत्थि । केवइयाण भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे
गतिविमए पप्पत्ते ?। गोयमा ! जाव अहे मत्तमाए पुढवीए,
तच्च पुण पुढविं गया य गमिस्संति य । किं पत्तियं णं भंते !
असुरकुमारा देवा तच्च पुढविं गया य गमिस्संति य ?। गोयमा !
पुव्ववेगियस्स वा वेयणउदीरणयाए पुव्वसगइयस्स वेदण-
उवमामप्पयाए एव खनु असुरकुमारा देवा तच्च पुढविं गया
य गमिस्संति य । अत्थि ए भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं
तिरियगडविसए पप्पत्ते । हंता अत्थि । केवइयाणं भंते !
असुरकुमारा देवाणं तिरियगडविसए पप्पत्ते ?। गोयमा !
जाव अमंखेज्जा दीवसमुदा नंदिस्सरवर पुण दीवं ग-
या य गमिस्संति य । किं पत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा
देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य ?। गोयमा !
जे इमे अरहंता जगवंतो एएसि णं जंमणमहेसु वा नि-
क्खमणमहेसु वा एणुप्पायमद्धिमासु वा परिनिव्वाणमद्धि-
मासु वा एवं खनु असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं
गया य गमिस्संति य । अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं दे-
वाण उट्ठगइविसए ?। हंता अत्थि । केवइयं च णं भंते !
असुरकुमारा देवा णं उट्ठं गतिविसए ?। गोयमा ! जाव अ-
च्चुए कप्पे सोहम्मं पुण कप्पं गया य गमिस्संति य । किं
पत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया
य गमिस्संति य ?। गोयमा ! तेमिं देवाणं जवपच्चइवेरा-
णुववे तेण देवा विक्खवेमाणा वा परियारेमाणा वा आ-
यरक्खे देवे वित्तार्सेति, अहलहुस्सगाई रयणाड गहाय
आयाए एगंतमतं अवक्रमंति । अत्थि णं जंते ! तेसिं
देवाणं अहलहुसगाई रयणाई ?। हंता अत्थि । से कहमि-
दाणिं पक्कंति, तओ से पच्छा काय पव्वहंति । पच्चू ! णं भं-
ते ! तेमिं असुरकुमारा देवा तत्थ गया चैव समाणं ताहिं
अच्छेगाहिं सच्चि दिव्वाइ जोगजोगाई जुजमाणा विह-
रत्ति । एो इण्ठे समडे, नेणं तओ पमिनियत्तति, पडि-
नियत्तिता इहमागच्छइ, इहमागच्छइत्ता जड णं ताओ
अच्छगाओ आदायंति परियाणति । पच्चू ! णं भंते ! असुर-
कुमारा देवा ताहिं अच्छगाहिं सच्चि दिव्वाइ भोगभोगाई

भुजमाणा विहरत्ति, अह णं ताओ अच्छराओ नो आ-
दायंति नो परियाणंति, एो णं पच्चू ! ते असुरकुमारा देवा
ताहिं अच्छराहिं सच्चि दिव्वाइ जोगभोगाई जुजमाणा
विहरत्ति । एवं खनु गोयमा ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं
कप्पं गया य गमिस्संति य । केवइकालस्स णं भंते ! असु-
रकुमारा देवा उट्ठं उप्पयंति० जाव सोहम्मं कप्पं गया य
गमिस्संति य ?। गोयमा ! अणंताहिं ओमप्पिणीहिं अणं-
ताहिं अवसप्पिणीहिं समइकंताहिं अत्थि णं एमजवे लो-
यच्छेरयजूए समुप्पज्जइ । जसं असुरकुमारा देवा उट्ठं उप्प-
यंति०, जाव सोहम्मं कप्पे ।

(एव खनु असुरकुमारेत्यादि) एवमनेन सूत्रक्रमणेति । स चैवम-
"अवरिं पग जोयणसहस्स ओगाहेत्ता हेछा वेग जोयणसहस्स
वज्जेत्ता मज्जे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ ण असुरकु-
माराण देवाण चोसठि जवणावाससयसहस्सा भवतीति
अक्खायमित्यादि" । (विउव्वेमाणा वत्ति) सरम्मेण महदैकिय-
शरीर कुर्वन्तः । (परियारेमाणा वत्ति) परिचारयन्तः परकीयदेवी-
नां भोगं कर्तुकामा इत्यर्थः । (अहलहुस्सगाई ति) यथेति
यथोचितानि द्रघुस्वकानि अमहास्वरूपाणि, महतां हि तेषां नेतु
गोपयितुं वा शक्यत्वादिति यथाद्रघुस्वकानि । अथवा-लघुनि
महान्ति वरिष्ठानीति च वृत्ताः । (आयाए ति) आत्मना, स्वयमि-
त्यर्थः । (एगंतं ति) विजयं । (अतं ति) देश । (से कहमियाणिं
पक्कंति ति) अथ किमिदानीं रत्नग्रहणानन्तरमेकान्तापक्रम-
णकाले प्रकुर्वन्ति वैमानिका, रत्नादातृणामिति । (तओ से पच्छा
कायं पव्वहति ति) ततो रत्नादानात् । (पच्छं ति) अन-
न्तरं । (से ति) एषां रत्नादातृणामसुराणां कायं देहं प्रव्यथन्ते
प्रदारैः प्रघ्नन्ति वैमानिका देवाः, तेषां च प्रव्यथितानां वेदः ॥
भवति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कृष्टत एवमासान् यावत् । ज० ३
श० २ उ० ।

किं निस्साए णं जंते ! असुरकुमारा देवा उट्ठं उप्पयंति०
जाव सोहम्मं कप्पे ?। गोयमा ! से जहा नामए इहं सबराइ वा
वव्वराइ वा टंकणाइ वा जूचुयाइ वा पाहायाइ वा पुद्धि-
दाइ वा एगं महं वणं वा गड्ड वा दुग्गं वा दरिं वा विसपं
वा पव्वयं वा एणीसाए सुमहल्लमवि अस्मवलं वा हत्थिवड्डं
वा जोहवलं वा धणूवड्डं वा आगिहंति, एवमेव असुरकु-
मारा देवा एषत्थ अरहंते वा अरहंतवेइयाणि वा अण-
गारे भावियप्पणो निस्साए उट्ठं उप्पयंति० जाव सोहम्मं
कप्पे । सच्चे वि य णं भंते ! असुरकुमारा देवा उट्ठं उप्प-
यंति० जाव सोहम्मं कप्पे । गोयमा ! एो इण्ठे समडे ।
महिद्धिया ण असुरकुमारा देवा उट्ठं उप्पयंति० जाव सोह-
म्मं कप्पे ।

'सबराइ वा' इत्यादौ शबरादयोऽनार्यविशेषाः [गड्डं वत्ति] गर्त्ताः,
[दुग्गं वत्ति] जलदुर्गादिः, [दरिं वत्ति] दरीं पर्वतकन्दराः,
[विसमं वत्ति] विषमं गर्जनवाद्याकुलभूमिरूपम् । [निस्साए ति]
निश्वासाऽऽश्रित्य [धणूवलं वत्ति] धनुर्धरवल [आगलैति ति]
आकलयन्ति-जेप्याम इत्यध्यवस्यन्तीति । [नत्थ ति] ननु

असुरकुमार

निश्चितमत्र इहलोके, अथवा (अरिहते वा णिस्साए उह उ-
प्पयति) नान्यत्र-तन्निधया अन्यत्र न, तां विनेत्यर्थः ॥ ज० ३
श० २ उ० ।

किंपचियं एं जंते ! असुरकुमारा देवा उहं उप्पयंति०
जाव सोहम्मे कप्पे ! गोयमा ! तोसे एं देवाणं अहुणोवव-
सगाण वा चरिमज्जवत्थाण वा इमेया रूवे अजत्थिएण जाव
समुप्पज्जइ, अहो एं अम्हेहिं दिव्वा देविह्मी वप्पा पत्ता
अजिसमप्पागया जारिसियाणं अम्हेहिं दिव्वा देविह्मी
० जाव अभिसमप्पागया तारिसियाणं सकेणं देविदेणं दे-
वरप्पा दिव्वा देविह्मी० जाव अजिसमप्पागया, जारिसि-
याणं सकेणं देविदेणं० जाव अजिसमप्पागया तारिसियाणं
अम्हेहिं वि जाव अभिसमप्पागया, तं गच्छामो एं सकस्स
देविदस्स देवरप्पो अंतियं पाठव्वज्जवामो पासामो, ताव सक-
स्स देविदस्स देवरप्पो दिव्वं देविहिं जाव अजिसमप्पा-
गयं पासतु, ताव अम्हेहिं वि सकं देविदे देवराया दिव्वं
देविहं जाव अजिसमप्पागयं तं जाणामो, ताव सकस्स दे-
विदस्स देवरप्पो दिव्वं देविहिं० जाव अभिसमप्पागयं जा-
णओ, ताव अम्हे वि सके देविदे देवराया दिव्वं देविहिं
आभिसमप्पागयं । एवं खट्ठु गोयमा ! असुरकुमारा देवा
उहं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे ॥

(किंपचियं ति) क प्रत्ययो यत्र तत् किंप्रत्ययम् । (अहु-
णोववसगाणं ति) उत्पन्नमात्राणां (चरिमज्जवत्थाणं व ति)
भवचरमभागस्थानं, व्यववनावसरे इत्यर्थः । म० ३ श० २ उ० ।
असुरदार-असुरद्वार-न० । सिक्कायतनानां दक्षिणद्वारेषु, यत्रा-
सुरा वसन्ति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

असुरसुर-असुरसुर-त्रि० । सुरसुरेत्यनुकरणशब्दोऽयम् । ज०
७ श० १ उ० । न० ब० । सुरसुरेत्येवचतुशब्दवर्जिते, प्र०
१ सव० द्वार ।

असुरिंद-असुरेन्द्र-पुं० । चमरे, बलानि च । स० । ('इंद' शब्दे
द्वितीयजाने ५३४ पृष्ठेऽस्य व्याख्याऽवसेया)

आयप्पवायस्स एं पुव्वस्स सोलस वत्थू पप्पत्ता । चमर-
वलीणं उवारियालेण सोलस जोयणसहस्साइं आया-
मविकलंभेणं पप्पत्ता ।

चमरवलयोर्दक्षिणोत्तरयोरसुरकुमारराजयोः (उवारियाले-
ण च्ति) चमरचञ्चावलीचञ्चाऽभिधानराजधान्योर्मध्योन्नता-
ऽवतरत्पार्श्वपीठरूपेऽवतारिकल्पने षोडश योजनसहस्राण्य-
यामविष्कम्भाभ्यां वृत्तत्वाच्चयोरिति । स० १६ सम० ।

असुरिंदवज्जिय-असुरेन्द्रवर्जित-त्रि० । चमरवलीवर्जिते, प्र०
१४ श० ए उ० । अष्ट० ।

असुलज-असुलभ-त्रि० । दुर्लभे, षो० ५ विव० ।

असुवण-असुवपन-न० । निष्ठाऽऽलस्यघाते, वृ० १ उ० ।

असुवण-असुवर्ण-त्रि० । न सुवर्णमसुवर्णम् । अप्रशस्तवर्ण-
गन्धरसस्पर्शेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुविर-अस्वापिन्-त्रि० । अनिच्छावौ, नि० चू० १० उ० ॥

असुसंघयण-असुसंहनन-न० । ऋषभनाराचादिषु अप्रशस्त-
सहननेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुह-असुख-न० । दुःखे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

असू-असूयिन्-त्रि० । असूयतीति नच्छां । लोऽसूयी । असूयधा-
तोस्ताच्छीति कणकप्रासावपि बाहुलकाद् गिन् । असूयाऽसूय-
स्येति असूयी । मत्वर्थीय इति । गुणेषु दोषाऽऽविष्कारिणि,
स्था० १७ श्लो० ।

असूय-असूचिन्-त्रि० । व्यञ्जनादिग्रहिते, अकथयित्वा वा
इत्ते जोजनादौ, वश० ५ अ० २ उ० ।

असूज-असूय-त्रि० । मत्सरिणि, 'अहो ! सुदृष्टवदसूयदृष्टम्'
इति पाठे न किञ्चिदचारु । असूयशब्दस्योदन्तम्योऽयनाद्यैर्न्याय-
तात्पर्यपरिशुद्धादौ मत्सरिणि प्रयोगादिति । स्था० १७ श्लो० ।

असूण-असून्-त्रि० । अवलवति, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

असूया-असूया-स्त्री० । न० त० । परस्य दोषप्रतिषेधेनात्मन-
स्तादृशदोषभाषणे, "अप्पणो दोस भासति ए परस्स, एसा अ-
सूया । यथा-" अम्हे मो धणहंणा, आम्हि आगारम्मि इद्धिम
तुम्हे । एस असूया सूया, णवर परवन्नुणिहेसो " ॥ १ ॥ नि०
चू० १० उ० । (इत्यादि 'आगादवयण' शब्दे द्वितीयभागे
६२ पृष्ठे वक्ष्यते)

असूया-स्त्री० । गुणेषु दोषाविष्कारणे, "गुणेष्वसूयां दधतः प-
रेऽमी, मा शिष्यिन्नाम ज्वन्तमीशम् ।" स्था० ३ श्लो० ।

असूयावयण-असूयावचन-न० । अकामवचांसि, दर्श० ।

असूरिय-असूर्य-पुं० । न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सोऽसूर्यः ।

बहुलान्धकारे कुम्भीपाकादृष्टौ, सर्वस्मिन् वा नरकावासे, "अ-
'सूरिय' नाम महाभिताव, अधतम दुष्पतर महत " । सूत्र० १
श्रु० ५ अ० १ उ० ।

असूववाय-असूवपाद-त्रि० । दुर्घटे, "अतोऽन्यथा सत्त्वमसूव-
पादम् ।" स्था० २२ श्लो० ।

असेज्जायर-अशय्यातर-पुं० । वसतित्यागादिहेतुभि शय्या-
तरत्वेनाव्यवहार्ये वसतिदातरि, नि० चू० २ उ० । (तत्कार-
णानि 'सागारियपिण्ड' शब्दे वक्ष्यन्ते)

असेय-अश्रेयस्-न० । अकल्याणे, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

असेत्तेसिपमिवजग-अशैलेशीप्रतिपन्नक-पुं० । शैलेशीना-
माऽयोग्यवस्था, तां प्रतिपन्ना । शैलेशीप्रतिपन्ना । स्वार्थिकः
कप्रत्ययः । तद्व्यतिरिक्ता अशैलेशीप्रतिपन्नका । अयोग्य-
वस्थामनापन्ने सयोगिनि ससारिणि, प्रज्ञा० २३ पद ।

असेम-अशेष-त्रि० । शेषरहिते कृत्स्ने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

सकले, पञ्चा० १५ विव० । सर्वस्मिन्, पञ्चा० १० विव० । आचा० ।

असेससत्तहिय-अशेषसत्तहित न० । समस्तप्राणयुपकारके,
"जिणिद्वयण असेससत्तहिय " । पञ्चा० १६ विव० ।

असेहिय-असैष्टिक-न० । न० त० । सांसारिके, क्रियासिद्धौ
अजाते आकस्मिके, सूत्र० ।

सुहं वा जइ वा पुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥

सुख सैद्धिक-सिद्धौ मोक्षे भव सैद्धिक, यदि वा दुःखमसैद्धिक सांसारिकम् । अथवा-सैद्धिकमसैद्धिक च सुखम् । यथा-सङ्गचन्दनाङ्गनाद्युपजोगक्रियासिद्धौ भव सैद्धिकम्, आन्तर सुखमानन्दरूपमसैद्धिकम् । तथा-सैद्धिकमसैद्धिक च दुःखम् । यथा-कशा-ताडनाङ्गनादिक्रिया-सिद्धौ नव सैद्धिकम्, ज्वराशिरोऽर्निशलादिरूपमद्रोथमसैद्धिकं दुःखम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । असोग-अशोक-पु० । कङ्कलीनामके एकास्थिकवृक्षमेदे, औ० । प्रज्ञा० । कल्प० । स्था० । अशोकादयः पञ्च वर्णा भवन्ति ततो विशेषणम्-“किराहासोपइ वा” रा० । आचा० । अनु० । मल्लि-जिनस्य चैत्यवृक्षोऽशोकः । स० । चम्पाया स्वनामख्याते पार्श्व-नार्थे, ती० १० कल्प । पूर्वजने चतुर्थबलदेवजीवे, स० । ति० । चतु-सप्ततितमे महाप्रदे, “दो असोगा ।” स्था० २ ठा० ३ उ० । च० प्र० । सू० प्र० । कल्प० । अशोकवनदेवे च, जी० ३ प्रति० । वातशोके, त्रि० । वाच० ।

असोगचन्द-अशोकचन्द्र-पुं० । श्रेणिकपुत्रे कृणिके, स च पितु-श्रेणिकस्य पूर्ववैरति दास्या अशोकवाटिकायामुज्जित इत्यशो-कचन्द्रनामाऽभवत् । आ० चू० ४ अ० । आव० । ती० । (‘कृणि-य’ शब्दे चैतद् दर्शयिष्यते) “राया तप असोगचदप वेसाहिं नगरि गहेत्थि” आ० म० प्र० । आ० चू० । (‘पारिणामिया’ ‘कूलबालुक’ शब्दयोश्चोदाहरिष्यते)

असोगजक्ख-अशोकयक्ख-पुं० । विजयपुरे नगरे नन्दनवने उद्या-ने स्वनामख्याते यक्के, विपा० २ श्रु० ३ अ० ।

असोगदत्त-अशोकदत्त पु० । साकेतनगरे स्वनामख्याने इभ्ये, य-स्य समुद्रदत्तसागरदत्तनामानौ भ्रातरौ । दर्श० ।

असोगराय-अशोकराज-पु० । चम्पायां वासुपूज्यजिनेन्द्रपुत्रम-द्यवचपतिपुत्रीलक्ष्मीकुक्किजातरोहिणीनाम्या अष्टभ्रातृभगिन्याः स्वयंवरे वृते पत्यौ, ती० ३५ कल्प ।

असोगद्वया-अशोकलता-स्त्री० । तिर्यक्शास्त्राप्रसराभावा-स्तृताकृतिष्वशोकवृक्षे, ज० १ धक्० ।

असोगवर्ममग-अशोकावतंसक-न० । सौधर्मादिविमानानां पूर्वस्थां दिश्यवतसके, रा० । प्रज्ञा० । जी० ।

असोगवण-अशोकवन-न० । अशोकप्रधाने वने, अनु० ।

असोगवणिया-अशोकवनिका-स्त्री० । अशोकप्रधाने वधुवने, आ० म० द्वि० ।

असोगवरपायव-अशोकवरपादप-पु० । अत्युत्कृष्टे अशोकवृक्षे, “ईसि असोगवरपायवसमुवट्ठिया उ” जी० ३ प्रति० । रा० । असोगसिरि-अशोकश्री-पु० । ६ व० । चन्द्रगुप्तस्य पौत्रे विन्दुसा-रस्य पुत्रे, पाटलिपुत्रे नगरे वीरमोक्षानन्तर चन्द्रगुप्तो-विन्दुसा-रोऽशोकश्री-सम्प्रति, राजानश्चैने उत्तरोत्तरसमृद्धिभाजो महा-राजा अभवन् । कल्प० ८ क० । “चदशुत्तपुत्तो उ, विन्दुसा-रस्स नत्तुओ । असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागणि” ॥ ८६३ ॥ विशेष० । वृ० । नि० चू० ।

असोगा-अशोका-स्त्री० । धरुणनागकुमारेन्द्रसत्ककाञ्चमहा-राजस्याऽग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । श्रीशीतलस्य शासनदेव्याम्, सा च नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाश-युक्तदक्षिणपाणिद्वया फलाडशयुक्तामपाणिद्वया च । प्रव० २७

द्वार । नलिनविजयक्षेत्रपुरीयुगले, नलिनो विजयश्च अशोका-पुः । ज० ४ वक्त्र० । ‘दो असोगाओ’ । स्था० २ ठा० ३ उ० । असोच्चा-अश्रुत्वा-अव्य० । प्राकृतधर्मानुरागादेव धर्मफलादि-प्रतिपादकवचनमनाकर्ण्येत्यर्थे, भ० ।

अथाश्रुत्वा केवलपर्यन्तं हभते न वा ?-

रायगिहे० जाव एवं वयासी-असोच्चा एं भंते ! केवलस्सि-वा केवलिसावगस्स वा केवलिसावियाए वा केवलित्वासा-गस्स वा केवलित्वासियाए वा तप्पक्खियस्स वा तप्पक्खि-यसावगस्स वा तप्पक्खियसावियाए वा तप्पक्खियउ-वासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा केवलपिणत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए ? । गोयमा ! असोच्चा एं केवलस्सि-वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा अत्येगइए केवलपिणत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्येगइए केवलपिणत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं बुच्चइ असोच्चा एं० जाव नो हभेज्ज सवणयाए ? । गो-यमा ! जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे भवइ, से एं असोच्चा केवलस्सि-वा० जाव तप्पक्खि-यउवासियाए वा केवलपिणत्तं धम्मं हभेज्ज सवणया-ए । जस्स ए नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे भवइ, से एं असोच्चा केवलस्सि-वा० जाव तप्पक्खिय-उवासियाए वा केवलपिणत्तं धम्मं नो हभेज्ज सवण-याए । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ, तं चेव० जाव नो हभे-ज्ज सवणयाए । असोच्चा एं जंते ! केवलस्सि-वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं वोहिं बुज्जेज्जा ? । गो-यमा ! असोच्चा एं केवलस्सि-वा० जाव अत्येगइए केवलं वोहिं बुज्जेज्जा, अत्येगइए केवलं वोहिं नो बुज्जेज्जा, से केणट्ठेणं भंते !० जाव नो बुज्जेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे भवइ, से एं असोच्चा केवलस्सि-वा० जाव केवलं वोहिं बुज्जेज्जा, जस्स एं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे भ-वइ, से एं असोच्चा केवलस्सि-वा० जाव केवलं वोहिं नो बुज्जेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो बुज्जेज्जा । असोच्चा एं जंते ! केवलस्सि-वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केव-लं मुंभे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा णं केवलस्सि-वा० जाव उवासियाए वा अत्येगइए केवलं मुंभे जवित्ता आगाराओ अणगा-रियं पव्वएज्जा, अत्येगइए केवलं मुंभे जवित्ता आगारा-ओ अणगारियं नो पव्वएज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो पव्व-एज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं धम्मंतराइयाणं कम्माणं ख-ओवसमे कमे भवइ, से एं असोच्चा केवलस्सि-वा० जाव केवलं मुंभे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ।

जस्स ए धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ, से एं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव मुंमे भविता० जाव नो पव्वएज्जा, से तेणट्टेणं गोयमा ! ० जाव नो पव्वएज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलस्सिस्स वा० जाव उवासिया ए वा केवलं वंभचेरवास आवसेज्जा ? । गोयमा ! अत्थेगइए केवलं वंभचेरवासं आवसेज्जा, अत्थेगइए नो आवसेज्जा । से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव नो आवसेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे जवइ से णं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव केवलं वंभचेरवासं आवसेज्जा, जस्स एं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ, से एं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव नो आवसेज्जा, से तेणट्टेणं जाव नो आवसेज्जा । असोच्चा एं भंते ! केवलस्सिस्स वा० जाव केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा णं केवलस्सिस्स वा जाव० उवासियाए वा अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं नां संजमेज्जा । से केणट्टेणं जाव नो संजमेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे जवइ, से एं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, जस्स एं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे भवइ, से एं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव नो संजमेज्जा, से तेणट्टेणं गोयमा ! ० जाव अत्थेगइए नो संजमेज्जा । असोच्चा एं भंते ! केवलस्सिस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा एं केवलस्सिस्स वा० जाव अत्थेगइए केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं जाव नो संवरेज्जा । से केणट्टेणं जाव नो संवरेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं अज्जवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे भवइ, से एं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, जस्स एं अज्जवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ, से एं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव नो संवरेज्जा, से तेणट्टेणं जाव नो संवरेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलस्सिस्स वा० जाव केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पामेज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा एं केवलस्सिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्थेगइए केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पामेज्जा, अत्थेगइए केवलं आभिनिबोहियनाणं नो उप्पामेज्जा । से केणट्टेणं जाव नो उप्पामेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं आभिणिबोहियनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे जवइ से एं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पामेज्जा, जस्स एं आभिणिबोहियनाणावरणिज्जा एं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ, से णं

असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव केवल आभिणिबोहियनाणं नो उप्पामेज्जा, मे तेणट्टेणं जाव नो उप्पामेज्जा । असोच्चा एं भंते ! केवलस्सिस्स वा० जाव केवलं सुयनाणं उप्पामेज्जा ? । एवं जहा आभिणिबोहियनाणस्स वत्तव्वया भणिथा, तहा सुयणाणस्स वि भाणियव्वा, नवरं सुयनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमो भाणियव्वो । एव चेव केवलं ओहिनाणं जाणियव्वं, नवरं ओहिनाणावरणिज्जाणं खओवसमो भाणियव्वो । एवं केवलं मणपज्जवणाणं उप्पामेज्जा, नवरं मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमं भाणियव्वं, असोच्चा एं भंते ! केवलस्सिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलनाण उप्पामेज्जा एवं चेव, नवरं केवलनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए जाणियव्वे, सेसं तं चेव । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव केवलनाणं नो उप्पामेज्जा ॥

बुद्धदन्तोद्देशक इति उक्तरूपाध्वार्थं केवलधर्माज्ज्ञायन्ते, तज्ज्ञाश्रुत्वाऽपि कोऽपि लभत इत्याद्यर्थप्रतिपादनार्थमाह—(रायगिदेत्यादि) तत्र च (असोच्चं च) अश्रुत्वा धर्मफलादिप्रतिपादकवचनमनाकार्यं, प्राकृतधर्मानुरागादेवेत्यर्थः (केवलस्सिस्स वत्ति) केवलिनो जिनस्य । (केवलिसावगस्सिस्स वत्ति) केवली येन स्वयमेव पृष्टं, श्रुतं वा येन तद्वचनमसौ केवलिश्रावकः, तस्य (केवलिउवासगस्सिस्स वत्ति) । केवलिन उपासनां विदधानेन केवलिनैवान्यस्य कथ्यमानं श्रुतं येनासौ केवल्युपासकः । (तप्पक्खियस्सिस्स वत्ति) केवलिपाक्खियस्स स्वयं बुद्धस्य (धम्मं ति) श्रुतचारित्ररूपम् (वभेज्जं चि) प्राप्नुयात् । (सवणयाए चि) श्रवणतया श्रवणरूपतया, श्रोतुमित्यर्थः । (नाणावरणिज्जाणं ति) बहुवचनं ज्ञानावरणीयस्य मतिज्ञानावरणादिभेदेनावग्रहमत्यावरणादिभेदेन च बहुत्वात् । इह च क्षयोपशमग्रहणाद् मत्यावरणाद्येव तद् ग्राह्यं, न तु केवलावरणम्, तत्र क्षयस्यैव भावात्, ज्ञानावरणीयस्य क्षयोपशमश्च गिरिसरिदुपलघोक्षनान्यायेनापि कस्यचित्स्य्यात्, तत्सद्भावे चाश्रुत्वाऽपि धर्मं लभेत, श्रोतुं क्षयोपशमस्यैव तद्व्याप्तिरन्तरङ्गकारणत्वादिति । (केवलं बोहिं ति) बुद्धं सम्यग्दर्शनं (वुज्जेज्जं चि) बुद्धेतानुभवेदित्यर्थः । यथा प्रत्येकबुद्ध्यादिरेवमुत्तराप्प्युदाहर्त्तव्यम् । (दरिसणावरणिज्जाणं ति) इह दर्शनावरणीयं दर्शनमोहनीयमभिगृह्यते बोधः, सम्यग्दर्शनपर्यायत्वात् । तल्लक्षणस्य च तत्क्षयोपशमजन्यत्वादिति । (केवलं मुंमे भविता आगाराओ अणगारियं ति) केवलं श्रुत्वां सम्पूर्णं वाऽनगरतामिति योगः । (धम्मंतराइयाणं ति) अन्तरायो विघ्नः, सोऽस्ति येषु तान्यन्तरायिकाणि धर्मस्य चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणस्यान्तरायिकाणि धर्मान्तरायिकाणि, तेषां, वीर्यान्तरायचारित्रमोहनीयभेदानामित्यर्थः । (चरित्तावरणिज्जाणं ति) इह वेदलक्षणानि चारित्रावरणीयानि विशेषतो ग्राह्याणि, मैथुनविरतिलक्षणस्य ब्रह्मचर्यवासस्य विशेषतस्तेषामेवावारकत्वात् । (केवलेणं सजमेणं सजमेज्जं चि) इह समयः प्रतिपन्नचारित्रस्य तदतिचारपरिहाराय यतनाविशेषः । (जयणावरणिज्जाणं ति) इह तु यतनावरणी-

यानि चारित्रविशेषविषयवीर्यान्तरायलक्षणानि मन्तव्यानि ।
(अञ्जवसाणावरणिज्जाणं ति) सवरशब्देन श्रुताध्यवसायवृत्ते-
र्विवक्षितत्वात्तस्याश्च प्रावचारित्ररूपत्वेन तदावरणकृतोपश-
ममभ्यत्वाद्ध्यवसानावरणीयशब्देनेह भावचारित्रावरणीयान्यु-
क्तानीति ।

पूर्वोक्तानेवार्थान् पुन समुदायेनाह-

असोच्चा णं जंते ! केवलस्स वा० जाव तप्पविखयज्जासि-
याए वा केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं वो-
हिं बुज्जेज्जा, केवलं मुंभे भवित्ता आगाराओ अणगारि-
यं पव्वएज्जा, केवलं वज्जेचरं वामं आवसेज्जा, केवलेणं
संजमेणं संजमेज्जा, केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, केवलं आ-
भिणिबोहियनाणं उप्पामेज्जा० जाव केवलं मणपज्जवनाणं
उप्पामेज्जा० जाव केवलनाणं उप्पामेज्जा ! गोयमा ! अ-
सोच्चा णं केवलस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्येगए
केवलपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्येगए केवलप-
न्नत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए, अत्येगए केवलं वोहिं
बुज्जेज्जा, अत्येगए केवलं वोहिं नो बुज्जेज्जा, अत्येगए
केवलं मुंभे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वए-
ज्जा, अत्येगए० जाव नो पव्वएज्जा, अत्येगए केव-
लं वज्जेचरवासं आवसेज्जा, अत्येगए केवलं० जाव नो
आवसेज्जा, अत्येगए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा,
अत्येगए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा, एवं संव-
रेणं वि अत्येगए केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पा-
मेज्जा, अत्येगए० जाव नो उप्पामेज्जा, एवं० जाव
मणपज्जवनाणं अत्येगए केवलनाणं उप्पामेज्जा, अ-
त्येगए केवलनाणं नो उप्पामेज्जा । से केणट्ठेणं जंते !
एवं बुच्चइ असोच्चा णं तं चेव० जाव अत्येगए केव-
लनाणं नो उप्पामेज्जा ! गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जाणं
कम्माणं खओवसमे नो कढे जवइ, जस्स णं दंसणावरणि-
ज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ, जस्म णं धम्मं-
तराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कढे भवइ, एवं चरि-
त्तावरणिज्जाणं जयणावरणिज्जाणं अञ्जवसाणावरणि-
ज्जाणं आभिणिबोहियनाणावरणिज्जाणं० जाव मणपज्जव-
नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे जवइ,
जस्स णं केवलनाणावरणिज्जाणं० जाव खए नो कमे
जवइ, से ण असोच्चा केवलस्स वा० जाव केवलपन्नत्तं
धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए, केवलं वोहिं नो बुज्जेज्जा०
जाव केवलनाणं नो उप्पामेज्जा, जस्स णं नाणावरणि-
ज्जाणं खओवसमे कमे जवइ, जस्स णं दरिसणावरणि-
ज्जाणं खओवसमे कमे जवइ, जस्म णं धम्मंतराइयाणं
पव्व० जाव जस्म णं केवलनाणावरणिज्जाणं कम्माणं
खए कमे जवइ, से ण असोच्चा केवलस्स वा० जाव केव-

द्विपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं वोहिं बुज्जेज्जा
केवलनाणं उप्पामेज्जा ॥

(असोच्चा णं जंते ! इत्यादि) अथाश्रुत्वैव केवल्यादिवचनं
यथा कांश्चेत्केवलज्ञानमुत्पादयेत् तथा दर्शयितुमाह-

तस्स णं जंते ! उट्ठं छट्ठेणं अनिविखत्तेणं तवोक्कमेणं
उट्ठं वाहाओ पणिज्जिय पणिज्जिय सूरामिमुइस्स आया-
वणचूर्मीए आयावेमाणस्स पगइभइयाए पगइवसंतयाए
पगइपयणुकोहमाणमायालोभयाए मिउमइवसंपन्नयाए अ-
ह्दीणयाए भइयाए विणीययाए अन्नया कयाइ सुभेणं
अञ्जवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं दोसाहिं विसुज्जमाणीहिं
विसुज्जमाणीहिं अह्दीणयाए तयावरणिज्जाणं कम्माणं
खओवसमेणं ईहापोहमगणगवेसणं करेमाणस्स विज्जे
नामं अन्नाणे समुप्पज्जइ, से णं तेणं विज्जंगनाणसमुप्प-
न्नेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइजाणं उक्कोसेणं असं-
खेज्जाइं जोयणसहस्साइं जाणए पामइ, से णं तेणं विज्जंग-
नाणेणं समुप्पन्नेणं जीवे वि जाणइ, अजीवे वि जाणइ, पा-
संरुत्थे सारंजे सपरिगहे संकिट्ठस्समाणे वि जाणइ, विसु-
ज्जमाणे वि जाणइ, से णं पुव्वामेव सम्मत्तं पडिवज्जइ,
समणधम्मं रोएइ २ चरित्तं पमिवज्जइ, द्विगं पडिवज्जइ,
तस्स णं तेहिं मिच्छत्तपज्जवेहिं परिहायमाणोहिं सम्मइसण-
पज्जवेहि वट्ठमाणोहिं, से विज्जे अन्नाणे सम्मत्तपरिग-
हिणं खिप्पामेव ओही परावत्तइ ॥

(तस्स स्ति) योऽश्रुत्वैव केवलज्ञानमुत्पादयेत् तस्य कस्या-
पि " उट्ठं छट्ठेणमित्यादि " च यदुक्तम्, तत्प्रायः बहुतप-
श्चरणवतो बालतपस्विनो विभङ्गज्ञानविशेष उत्पद्यन् इति
ज्ञापनार्थमिति । (पणिज्जिय स्ति) प्रगृह्य, धृत्वेत्यर्थः । " पगइ-
भइयाए " इत्यादीनि तु प्राग्वत् । (तयावरणिज्जाणं नि) वि-
भङ्गज्ञानावरणीयानां (ईहापोहमगणगवेसणं करेमाणस्स स्ति)
इहेहा सदर्थोभिमुखा ज्ञानचेष्टा, अपोहस्तु विपक्षनिरासो,
मार्गेण चाऽन्वयधर्मालोचनं, गवेषणं तु व्यतिरेकधर्मालोच-
नमिति (सेस्स स्ति) असौ बालनपत्नी (जीवे वि जाणइ स्ति)
कथञ्चिदेव न तु साक्षाद्, मूर्त्तगोचरत्वात्तस्य । (पासइत्थेस्ति)
व्रतस्थान् (सारंभसपरिगहे स्ति) सारम्भान् सपरिग्रहान्सतः ।
किंविधान् जानातीत्याह—(संकिलिस्समाणे वि जाणए स्ति)
महत्या संकियमानतया संकिलियमानानपि जानाति (विसु-
ज्जमाणे वि जाणइ स्ति) अल्पीयस्या विशुद्धमानतया विशुद्ध-
मानानपि जानाति, आरम्भादिमतामेवस्वरूपत्वात् । (सेण ति)
असौ विभङ्गज्ञानी जीवाजीवस्वरूपपाक्षरामस्थसंकिलियमान-
तादिज्ञापक सन् (पुव्वामेव स्ति) चारित्रप्रतिपत्ते पूर्वमेव,
(सम्मत्तस्ति) सम्यग्भाव (समणधम्म ति) साधुधर्म (रोए-
इ स्ति) अरुत्ते चिकीर्षति वा । (ओहीपरावत्तइ स्ति) अवधि-
भवतीत्यर्थः । इह च यद्यपि चारित्रप्रतिपत्तिमादावनिधाय
सम्यक्त्वं परिग्रहीन्, विभङ्गज्ञानमवधिभवतीति पश्चादुक्तं,
तथापि चारित्रप्रतिपत्तेः पूर्वं सम्यक्त्वप्रतिपत्तिकाल एव विभ-

ज्ञानस्यावधिभावो ह्यस्य, सम्यक्त्वचारित्रभावे विभक्तज्ञान-
स्याज्ञावादिति ।

अथैनमेव लेश्यादिनिर्णयरूपयथाह-

से एं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु
विमुक्कलेस्सासु होज्जा । तं जहा-तेउलेस्साए पम्हलेस्साए
सुक्कलेस्साए । से एं जंते ! कइसु नाणेसु होज्जा ? । गो-
यमा ! तिसु आभिणिबोहियनाएसयनाएओहिनाणेसु
होज्जा । से एं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ? ।
गोयमा ! सजोगी होज्जा, नो अजोगी होज्जा । जदि
सजोगी होज्जा, किं मणजोगी होज्जा, वड जोगी कायजोगी
वा होज्जा ? । गोयमा ! मणजोगी होज्जा, वडजोगी होज्जा,
कायजोगी वा होज्जा । से एं जंते ! किं मागारोवउत्ते होज्जा,
अणगारोवउत्ते वा होज्जा ? । गोयमा ! सागारोवउत्ते
वा होज्जा, अणगारोवउत्ते वा होज्जा । से एं जंते !
कयरम्मि संघयणे होज्जा ? । गोयमा ! वडरोमहनारायसंघय-
णे होज्जा । से एं भंते ! कयरम्मि संघाणे होज्जा ? । गोयमा !
व्वाहं संघाणाणं अस्सयरे संघाणे होज्जा । से एं भंते !
कयरम्मि उच्चत्ते होज्जा ? । जह्मेणं सत्तरणीए उक्को-
सेणं पंचधणुमइए होज्जा । से एं जंते ! कयरम्मि आ-
उए होज्जा ? । गोयमा ! जह्मेणं साइरेगडवासाउए उक्को-
सेण पुव्वक्कोनिआउए होज्जा । से एं भंते ! किं सवेदए
होज्जा, अवेदए होज्जा ? । गोयमा ! सवेदए होज्जा, नो
अवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा, किं इत्थिवेदए
होज्जा, पुरिसवेदए होज्जा, पुरिमनपुंसगवेदए होज्जा, नपुस-
गवेदए होज्जा ? । गोयमा ! नो इत्थिवेदए होज्जा, पुरिस-
वेदए वा होज्जा, नोनपुसगवेदए होज्जा, पुरिनपुसगवेदए
वा होज्जा । से एं जंते ! किं सकसाई होज्जा, अकसाई
होज्जा ? । गोयमा ! सकसाई होज्जा, नो अकसाई होज्जा ? ।
जइ सकसाई होज्जा से एं जंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ? ।
गोयमा ! चउसु सजज्ञणकोहमाणमायालोनेसु होज्जा । तस्स
णं भंते ! केवइया अज्जवमाणा पस्सत्ता ? । गोयमा ! असंखेज्जा
अज्जवसाणा पस्सत्ता । ते एं भंते ! किं पसत्था, अप्पसत्था ? ।
गोयमा ! पसत्था, नो अप्पसत्था । से एं जंते ! तेहिं पसत्थे-
हिं अज्जवसाणेहिं वड्ढमाणेहिं अणंतेहिं नेरइयजवग्गहणे-
हिं तो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं तिरिक्खजोणियं
जाव विसंजोएइ, अणंतेहिं मणुस्सभवग्गहणेहिं तो अप्पाणं
विसंजोएइ, अणंतेहिं देवजवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ,
जाओ वि य से इमाओ नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवग्ग-
नामाओ चत्तारि उत्तरप्पगमीओ य, तासिं च एं उवग्गहिए
अणंताणुवंधी कोहमाणमायालोने खवेइ, खवेइत्ता अपचक्खा-
णकसाए कोहमाणमायालोने खवेइ, खवेइत्ता पचक्खाणा-

वरणे कोहमाणमायालोने खवेइ, खवेइत्ता मज्जणे कोह-
माणमायालोने खवेइ, खवेइत्ता पचविह नाणावग्गिज्ज
नवविहं दरिसणावरणिज्ज पचविहं अंगगट्टं नालमन्था-
कड च ए मोहणिज्जं कइ कम्मरयविकिग्गणकं अपुव्वकर-
णं पविट्ठस्म अणते अणुत्तरे निव्वाद्याए निगवग्गे कसिणे
पमिपुएणे केवडवरणाणदमणे समुप्पज्जइ ॥

[से एं भंते ' इत्यादि] तत्र [मे एं ति] स यो विभक्तज्ञानी भूत्वा-
अधिज्ञान चारित्र च प्रतिपन्नः । [तिसु विमुक्कलेस्सासु होज्जा ति]
यतो भावलेख्यासु प्रशस्तास्तेव सम्यक्त्वादि प्रतिपद्यते, नावि-
शुद्धास्त्विति । [तिसु आभिणिबोहियेत्यादि] सम्यक्त्वमति-
भूताधिज्ञानानां विभक्तिनिवर्त्तनकाले तस्य युगपद्वादाः-
चे ज्ञानत्रय एवासौ तदा वर्त्तन इति । [एं अजोगी होज्जा ति]
अवधिज्ञानकाले अयोगित्वस्याभावात् । 'मणजोगी' इत्यादि च
एकनरयोगप्रधान्यापेक्षयाऽवगन्तव्यम् । [सागारोवउत्ते वेत्यादि]
तस्य हि विभक्तज्ञानान्निवर्त्तमानस्योपयोगद्वयेऽपि वर्त्तमानस्य
सम्यक्त्वावधिज्ञानप्रतिपत्तिरस्तीति । ननु- "सव्याओ लक्खीओ
सागारोवउत्तो गोवउत्तस्स भवति" इत्यागमादनाकारोपयोगे स-
म्यक्त्वावधिद्विविधोऽपि नैवम् । प्रवर्त्तमानपरिणामजीवविप-
यत्वात्तस्यागमस्यावस्थितपरिणामापेक्षया चानाकारोपयोगेऽपि
लब्धिलाजस्य सम्भवादिति । [वडरोमहनारायसंघयणे होज्जा
ति] प्राप्तव्यकेवलज्ञानत्वात्तस्य, केवलज्ञानप्राप्तिश्च प्रथमसह-
नन एव जवताति । एवमुत्तरत्रापीति । [सवेयए होज्जा ति] विज्ज
कस्यावधिज्ञानकाले न वेदकयोऽस्तीत्यसौ सवेद एव । [नो इत्थि-
वेयए होज्जा ति] स्त्रिया एवविधस्य व्यतिकरस्य स्वभावत ए-
वाभावात् । [पुरिमनपुसगवेदए व ति] वार्द्धनकत्वादित्वेन न-
पुसक पुरुषनपुसक । [सकसाई होज्जा ति] विभक्तावधिकाले
कषायकृत्यस्याभावात् । [चउसु सजज्ञणकोहमाणमायालोनेसु
होज्जा ति] स ह्यवधिज्ञानतापरिणतविभक्तज्ञानधरण प्रतिपन्न
उक्त, तस्य च तत्काले चरणयुक्तत्वात्, सज्जवना एव क्रोधादयो
भवन्तीति [पसत्थ ति] विभक्तस्यावधिज्ञावो हि नाप्रशस्ताध्य-
वसानस्य भवतीत्यत उक्तम्-प्रशस्तान्यध्यवसायस्थानानीति ।
[अणतेहिं ति] अनन्तरनन्तानागतकालभाविभि । [विस-
जोएइ ति] विसयोजयति, तत्प्राप्तियोग्यताऽपनोदादिति ।
(जाओ वि य ति) या अपि च । (नेरइयतिरिक्खजोणिय-
मणुस्सदेवगतिनामाओ ति) एतदभिधाना । (उत्तरप्पय-
डीओ य ति) नामकर्माभिधानाया मूत्रप्रवृत्तेरुत्तरभेदभू-
ता । (तासिं च एं ति) तासां च नैरयिकगत्याद्युत्तरप्रवृ-
त्तीना, चशब्दादन्यासां च, (उवग्गहिए ति) औपग्राहिकान्
उपएज्जप्रयोजनान् अनन्तानुवन्धिन क्रोधमानमायालोभान् क-
पयति । तथा प्रत्याख्यानादींश्च तथाविधानेव क्षपयतीति । (पच-
विह नाणावरणिज्जा ति) मतिज्ञानाचरणादिभेदान् (नवविहं दरि-
सणावरणिज्जा ति) चक्षुर्दर्शनाद्याचरणचतुष्कस्य, निद्रापञ्चक-
स्य च मीलनाश्रयविधत्वमस्य । (पंचविहमताराइय ति) दान-
स्नानभोगोपभोगवीर्यविशेषितत्वात् पञ्चविधत्वमन्तरायस्य, त-
त्क्षपयतीति सवन्धः । किं कृत्वेत्यत्र आह (तालमत्थाकम च एं
मोहणिज्ज कइ ति) मस्तक मस्तकसूचीकृत छिन्न यस्यासौ मस्तक-
कृतस्तालश्चासौ मस्तकस्तथा तादृमस्तककृतः ॥ बान्दसत्त्वाच्चैव नि-
वेश । तादृमस्तककृत इव यत्तत्तालमस्तककृतम् अयमर्थः-छिन्न-
मस्तकतादृकत्वं च मोहनीय कृत्वा । यथाहि-विभक्तमस्तकस्तादृ-

क्षीणो भवति, एव मोहनीय च कृत्वा क्षीणकृत्वेति भावः । इदं चोक्तमोहनीयभेदशेषापेक्षया द्रष्टव्यमिति । अथ कस्मादनन्तानुबन्धादिस्वभावे तत्र क्षपिते सति ज्ञानावरणीयादि क्षपयत्येवेत्यन आह—(तालमस्तकस्यादि) तालमस्तकस्यैव कृत क्रिया यस्य तत्तालमस्तककृत. तदेवविध च मोहनीयम् । (कट्टं चि) इतिशब्दस्येह गम्यमानत्वात्, इति कृत्वा इति हेतोः, तत्र क्षपिते ज्ञानावरणीयादि क्षपयत्येवेति, तालमस्तकमोहनीययोश्च क्रियासाधर्म्यमेव । यथा-तालमस्तकविनाशक्रियाऽवश्यजाविताश्रविनाशा, एव मोहनीयकर्मविनाशक्रियाऽप्यवश्यभाविशेषकर्मविनाशेति । आह च—“ मस्तकसूत्रिविनाशो, तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः । तद्वत्कर्मविनाशो-ऽपि मोहनीयक्षयनित्यम् ” ॥१॥ ततश्च कर्मरजोविकिरणकर तद्विक्रोकमपूर्वकरणम्-असदृशाभ्यवसायविशेषमनुप्रविष्टस्याऽनन्तम्, विषयानन्त्यात्, अनुत्तर सर्वोत्तमत्वात्, निर्व्याघात कुट्यादिभिरप्रतिहननात्, निरावरण सर्वथा स्वावरणक्षयात्, कृत्स्न सकलार्थग्राहकत्वात्, प्रतिपूर्ण सकलस्वांशयुक्तनयोत्पन्नत्वात्, केवलवरज्ञानदर्शन केवलमभिधानतो वरज्ञानान्तरापेक्षया, ज्ञान च दर्शन च ज्ञानदर्शनम् । समाहारद्वन्द्वः । ततः केवलादीनां कर्मधारयः । इह च क्षपणाक्रम “अष्टमिच्छमीससम्म, अट्ट नपुसिस्थिवेयञ्च च । पुमवेय च खवेई, कोहाईप य मज्जणे ” ॥१॥ इत्यादिग्रन्थान्तरप्रसिद्धो नचायमिहाश्रित, यथा कथञ्चित्क्षपणामात्रस्यैव विवक्षितत्वादिति ।

से एं भंते ! केवलपिपसत्तं धम्मं आघवेज्ज वा पञ्चवेज्ज वा परूवेज्ज वा ? । नो इण्ठे समडे । नसत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा । से एं भंते ! पव्वावेज्ज वा मुंमावेज्ज वा ? । नो इण्ठे समडे, उवदेमं पुण करेज्जा । से एं जंते ! किं सिज्झइ० जाव अत करेइ ? । हुंता मिज्झइ० जाव करेइ । से एं जंते ! किं उहू होज्जा, अहे होज्जा, तिरियं होज्जा ? । गोयमा ! उहू वा होज्जा, अहे वा होज्जा, तिरियं वा होज्जा, उहू होज्जमाणे सदावइ वियडावइ गंधावइ मादवंतपरियाएसु वट्टवेयहपव्वएसु होज्जा, साहरणं पमुच्च सोमणसवणे वा पंरुगवणे वा होज्जा, अहे होज्जमाणे गड्डए वा दरीए वा होज्जा, साहरणं पडुच्च पायाळे वा भवणे वा होज्जा, तिरियं होज्जमाणे पणसरसु कम्मभूमीसु होज्जा, साहरणं पमुच्च अट्टाऽज्जदीवसमुदतदेकं देसभाए होज्जा । ते एं भंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ? । गोयमा ! जहप्पेण एक्को वा दो वा तिप्पि वा उक्कोसेणं दस, से तेण-हेण गोयमा ! एवं बुच्चइ, असोच्चा एं केवलसिस्स वा० जाव अत्येगइए केवलपिपसत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्येगइए केवल० जाव नो लभेज्ज सवणयाए० जाव अत्येगइए केवलनाण उप्पाडेज्जा, अत्येगइए केवलनाणं नो उप्पामेज्जा ।

[आघवेज्ज चि] आग्राहयेच्छिष्यान्तर्यापयेद्वा, प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेत् । [पञ्चवेज्ज चि] प्रज्ञापयेद् भेदभणनता बोधयेद्वा । [परूवेज्ज चि] उपपत्तिकथनतः [एगवागरणेण व चि] न इति योऽय निबोध, सोऽयत्र एकज्ञानादेकमुदाहरणं वर्जयित्वेन्यर्थः, तथाविद्यकल्पत्वादस्येति । [एगवागरणेण व

चि] एकव्याकरणादेकोत्तरादित्यर्थः । [पव्वावेज्ज व चि] प्रवाजयेद् रजोहरणादिछज्जलिङ्गदानतः । [मुंमावेज्ज व चि] मुण्डयेत् शिरोमुञ्चनतः [उवएस पुण करेज्ज चि] अमुप्य पार्श्वे प्रवज्जेत्यादिकमुपदेशं कुर्यात् । “ सदावइत्यादि ” शब्दापातिप्रवृत्तयो यथाक्रमं जम्बूद्वीपप्रहृष्यभिप्रायेण हैमवतहरिवर्धरम्यकैरयचतेषु, क्षेत्रसमासाभिप्रायेण तु हैमवतैरयवतहरिवर्धरम्यकेषु जवन्ति, तेषु च तस्य भाव आकाशगमनद्विभ्रसपन्नस्य तत्र गतस्य केवलज्ञानोत्पादसद्भावे सति [साहरणं पडुच्च चि] देवेन नयन प्रतीत्य [सोमणसवणे चि] सौमनसवन मेरौ तृतीय [पडगवणे चि] मेरौ चतुर्थ (गड्डए व चि) गते निम्ने भूजगे अधोद्वोकग्रामादौ (दरीए व चि) तत्रैव निम्नतरप्रदेशे (पायाळे व चि) महापातालकलशे वल्लयामुखादौ (भवणे व चि) जवनवासिदेवनिवासे (पणसरसु कम्मभूमीसु चि) पञ्चभरतानि पञ्चैरवतानि पञ्च महाविदेहा इत्येवमक्षणासु कर्माणि कृषिवाणिज्यादीनि तत्प्रधानभूमया कर्मभूमयस्तासु (अट्टा इत्यादि) अर्हं तृतीय येषां तेऽहं तृतीया, ते च ते द्वीपाश्चेति समास, अर्हं तृतीयद्वीपाश्च समुद्रौ च तत्परिमितावर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्राः, तेषां, स चासौ विवक्षितो देशरूपो भागोऽहं तृतीयद्वीपसमुद्रतदेकदेशभागः, तत्र ।

अनन्तर केवल्यादिवचनाश्रवणे यत्स्यात् तदुक्तम्, अथ तच्छ्रवणे यत्स्यात्तदाह—

सोच्चा णं जंते ! केवलसिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलपिपसत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए ? । गोयमा ! सोच्चा णं केवलसिस्स वा० जाव अत्येगइए केवलपिपसत्तं धम्मं एवं जा चेव असोच्चाए वत्तव्वया, सा चेव सोच्चाए वि भाणियव्वा, नवरं अभिज्ञावो सोच्च चि, सेसं तं चेव पिरवसेसं० जाव जस्स एं मणपज्जवणाणावरणिज्जाणं कम्माण खओवसमे कमे भवइ, जस्स एं केवलनाणावरणिज्जाणं कम्माण वसमे कमे भवइ, से एं सोच्चा केवलसिस्स वा० जाव उवामियाए वा केवलपिपसत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं वोहिं बुज्जेज्ज० जाव केवलनाणं उप्पामेज्जा, तस्स एं अट्टमं अट्टमेणं अणिकित्तेणं तवोक्कमेणं अप्पाणं जावेमाणस्स पगइभइयाए तहेव० जाव गवेसणं करमाणस्स ओहिणाणे समुप्पज्जइ, से एं तेणं ओहिणाणेणं समुप्पाणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अट्टोए होअप्पमाणमेत्ताइं खमाइं जाणइ पासइ । से एं जंते ! कइसु वेस्सासु होज्जा ? । गोयमा ! उसु वेस्सासु होज्जा । तं जहा—कएहलेस्साए० जाव सुक्खेस्साए । से णं जंते ! कइसु एणएसु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु आभिणिबोहियणाणमुअणाणओहिणाणएसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे आभिणिबोहियणाणसुअणाणओहिणाणमणपज्जवणाणएसु होज्जा । से एं जंते ! किं सजोगी होज्जा ? । एवं, जोगोवओगो मंघयणसराणं उच्चत्त आउय च, एयाणि सव्वाणि जहा असोच्चाए तहेव

भाणियन्वाणि । से ए जने ! कि मवेदए पुच्छा ? गोयमा !
सवेदए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा । जइ अवेदए वा
होज्जा, किं उयमंनवेदए, खीणवेदए होज्जा ? गोयमा !
एणो उवमतवेदए होज्जा खीणवेदए होज्जा । जइ सवेदए
होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा पुच्छा ? गोयमा ! इत्थी-
वेदए वा होज्जा, पुरिसवेदए वा होज्जा, पुरिसणपुंस-
गवेदए वा होज्जा । मे एणं भंते ! मकसाई होज्जा, अक-
साई होज्जा ? गोयमा ! सकसाई वा होज्जा, अकसाई
वा होज्जा । जइ अकसाई होज्जा, किं उवसंतकसाई
होज्जा, खीणकसाई होज्जा ? गोयमा ! एणो उवसंतकसाई
होज्जा, खीणकसाई होज्जा । जइ सकसाई होज्जा से एणं
भंते ! कस्सु कसाएसु होज्जा ? गोयमा ! चउसु वा तिसु
वा दोसु वा एकम्मि वा होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु
संजलणकोहमाणमायालोजेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे
तिसु संजलणमाणमायालोजेसु होज्जा, दोसु होज्जमा-
णे दोसु संजलणमाणमायालोजेसु होज्जा, एगम्मि होज्ज-
माणे एगम्मि संजलणमाणे होज्जा । तस्म णं जंते ! के-
वइया अज्जवमाणे पस्सत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा, एवं
जहा असोच्चाए तदेव० जाव केवलणाणं समुणज्जइ ।
से एणं जंते ! केवलपस्सत्तं धम्मं आघवेज्ज वा पण-
वेज्ज वा परुवेज्ज वा ? हंता गोयमा ! आघवेज्ज वा पण-
वेज्ज वा परुवेज्ज वा । से एणं जंते ! पण्वावेज्ज वा मुं-
मावेज्ज वा ? हंता पण्वावेज्ज वा मुंमावेज्ज वा । से एणं
जंते ! सिज्जइ बुज्जइ० जाव अंतं करेइ । तस्स णं जंते !
सिस्सा वि सिज्जंति० जाव अंतं करेति ? हंता सिज्जं-
ति० जाव अंतं करेति । तस्स एणं जंते ! पसिस्सा वि मि-
ज्जंति ? एवं चेव० जाव अंतं करेति । से एणं जंते ! किं
उच्छं होज्जा, अहे वा ? जहा असोच्चाए० जाव तदेकदेस-
भाए होज्जा । से णं जंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ?
गोयमा ! जहसेणं एको वा दो वा तिसि वा, उकोसेणं
अट्टसयं, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ, सोच्चा णं के-
वलिसस वा० जाव, केवलित्ठवामियाए वा० जाव अत्थेग-
इया केवलणाणं लप्पामेज्जा, अत्थेगइया केवलणाणं णो
लप्पामेज्जा ॥

(सोच्चाणमित्यादि) अथ यथैव केवलयादिवचनाश्रवणावाप्त-
योध्यादेः केवलज्ञानमुत्पद्यते, न तथैव तच्छ्रवणावाप्तयोध्यादेः, कि-
न्तु प्रकारान्तरेणेति दर्शयितुमाह—“ तस्स णमित्यादि ” [तस्स
सि] यं श्रुत्वा केवलज्ञानमुत्पाद्येत्तस्य कस्यापि, अर्थात्प्रतिपन्न
सम्यग्दर्शनचारित्र्यविज्ञस्य “ अचम अट्टमेण ” इत्यादि च यदु-
क्तं, तत्प्रायो विकृष्टतपश्चरणवत् साधोरवधिज्ञानमुत्पन्न इति
ज्ञापनार्थमिति । [लोयप्पमाणमेत्ताइ नि] लोकस्य यन्प्रमाण मा-
त्रा, तदेव परिमाण येषां तानि तथा । अथैनमेव श्रेयादिनिर्दि-

पयमाह—[से ण जने ' इत्यादि] नत्र [से ण नि] सोऽनन्तरो-
क्तविशेषणोऽर्थावज्ञानी । [उमु लेसासु होज्ज सि] यद्यपि भाव-
क्षेप्यासु प्रशस्नाम्येव निगृह्यार्थावज्ञानं ज्ञाने न तथापि प्रशस्ने-
इया प्रशान्त्य षट्सर्वापि क्षेप्यासु वसने, सम्यक्-व्यश्रुतवत् । यदाह-
“ सम्मत्तसुय सञ्चासु लज्ज सि ” तद्वाने चामौ पदम्यापि जय-
तीत्युच्यत इति । [तिसु व सि] अर्थावज्ञानस्याऽऽयज्ञानद्वयाव-
नाचूतत्वादधिकृतार्थावज्ञानी त्रिषु ज्ञानेषु सर्वोर्ध्वान् । [चउसु वा
होज्ज सि] मतिश्रुतमन पर्यवज्ञानिनोऽर्थावज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानचतु-
ष्टयजावाद्यनुष्ठे ज्ञानेस्वाधिकृतार्थावधिज्ञानी प्रवर्द्धति । [मवेयए वे-
त्यादि] अक्षाणवेदस्यावधिज्ञानोत्पत्तौ सवेदक सन्नवार्थावज्ञा-
नी भवेत्, क्षीणवेदस्य चाऽवधिज्ञानोत्पत्ताववेदक सन्नय स्या-
त् [नो उवसतवेयए होज्ज सि] उपशान्तवेदोऽयमवधिज्ञानी न
भवति, प्राप्तव्यक्तेरज्ञानस्यास्य विवर्त्तितत्वादिनि । [सकसाई
वेत्यादि] च कपायकये सत्यवधि लज्जते स सरुपाय । सन्नवधि-
ज्ञानी भवेत्, यस्तु कपायकयेऽसाधकपायीति [चउसु वेत्या-
दि] यद्येकाणकपाय सन्नवधि लज्जते तदाऽयं चारित्र्ययुक्तत्वाद्य-
नुष्ठे सज्यन्ननकपायेषु जवति । यदा तु क्षणकश्रेणिशक्तिव्येन स-
ज्वलनक्रोधे क्षीणेऽर्थावधि ज्ञाने, तदा त्रिषु सज्यन्ननमानादिषु,
यदा तु तथैव सज्वलनक्रोधमानयोः क्षीणयोस्तदा ह्यो, एवमे-
कवेति । भ० ए श० ३१ उ० ।

भगवतीनवमशतकोक्तोऽभुत्वाकेयसी धर्मोपदेशं दत्ते न वे-
त्यत्र एक ज्ञान एक प्रश्न च मुक्त्वा धर्मोपदेशं न दत्ते इति
तत्रैवोक्तमस्तीति । ही० २ प्रका० ।

असोणिय-अशोणित-त्रि० । अरुधिरप्राप्ते, पञ्चा० १६ विध० ।

असोम्मगहचरिय-असौम्यग्रहचरित-न० । क्रूरग्रहचारे, प्र-
भ० २ आध० द्वार ।

असोयणया-अशोचनता-खी० । शोकानुत्पादने, पा० १० ध० १० ।

असोहिट्टाण-अशोधिस्थान-न० । कुशीलसंसर्ग्याम, ओघ० ।

अस्स-अश्व-पु० । घोटके, दश० १ अ० । त० । प्रज्ञा० । अश्विनी-
नक्षत्रदेवतायाम्, ज्यो० १५ पाहु० । सू० प्र० । “ दो अस्सा ”
स्था० १ ठा० १ उ० ।

अस्व-पु० । न विद्यते स्वं ज्ञानमस्य सोऽयमस्वः । निर्ग्रन्थे,
आचा० २ धु० १ अ० १ उ० ।

अस्सकण्ठ-अश्वकर्ण-पु० । अश्वमुखस्य परतोऽन्तर्हीपे, न० ।

अस्सकणी-अश्वकर्णी-खी० । कन्दभेदे, भ० ७ श० २ उ० ।
जी० । प्रज्ञा० ।

अस्सकरण-अश्वकरण-न० । यत्राऽश्वानुद्दिश्य किञ्चित् क्रियते
तस्मिन् स्थाने, आचा० २ धु० १० अ० ।

अस्सचोरग-अश्वचोरक-पु० । घोटकचौरे, प्रभ० ३ आध० द्वार ।

अस्सतर-अश्वतर-पु० । पकखुर [खच्चर] भेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अस्समुह-अश्वमुख-पु० । आदर्शमुखस्य परतोऽन्तर्हीपे, प्रज्ञा०
१ पद । न० । (‘ अतरदीव ’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६८ पृष्ठेऽ-
स्य वर्णक उक्तः) अश्वकारमुखे पुरुषाकाराऽन्याङ्गे च कि-
ञ्चरे, वाच० ।

अस्समेह-अश्वमेध-पु० । अश्वो मेधयेते हिंस्यते ऽत्र । मेध-घञ् ।
यज्ञमेधे, वाच० । "यद् सहस्राणि गुज्यन्ते, पशूना मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनाद्, न्यूनाणि पशुभिस्त्रिभिः ।" ॥ १ ॥ अनु० ।
विशे० । स्मा० ॥

अस्ससेण-अश्वसेन-पु० । पार्श्वनाथस्य जिनस्य पितरि,
प्र० ११ द्वार । आच० । चतुर्दशे महाप्रहे, च० प्र० २० पाहु० ।
स० प्र० । स्था० ।

अस्साउदिस्स-असादोदीर्ण-त्रि० । असादनेन कर्मणोदीरिते,
प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अस्साएमाण-अस्वादयत्-त्रि० । ईषत्स्वादयति इच्छुस्वएडादे-
रिव बहु त्यजति, भ० १२ श० १ उ० । आच० ।

अस्सात-आस्वाद-पु० । रसनाऽऽह्लादके स्वादे, वृ० १ उ० ।

अस्सामित्त-अस्वामित्व-न० । निःसङ्गतायाम्, प० व० ७ द्वार ।

अस्साववोहितित्थ-अश्वववोधितीर्थ-न० । स्वनामख्याते
तीर्थे, ती० ।

नमिऊण मुव्वयाजिणं, परोवयारिकरसिअमसिअरुइ ।

अस्साववोहितित्थ-स्स कप्पमप्पं भणामि अहं ॥ १ ॥

‘सिरिमुणिसुव्वयसामी उप्पन्नकेवलो विहरतो एगयाए
इद्धपुराओ एगयाए ठाणगरयणिए सच्चिजोअणाणि वधिअ पार-
कअस्समेहजखेण जियसत्तराइआ निअसेणा-तुरगम सव्व-
लक्खणसपन्न होमिठ मुच्छिओ । इमो अट्टज्जाणाओ दुग्गहं
जाहिं ति पडिवाहेउ लामदेसमडणे नम्मयान्दअत्तकिए भ-
रुअन्ननयरे कोरिटवण पत्तो । समससरणे गया लोआ वदिअं,
राया विगयाऊढो आगम्म भगवत पणमिओ । इत्यतरे सो हरी
सिच्छाए विहरतो नियसपुरिसेहिं सम तत्थागओ सामिणो क-
वमप्पडिक्ख पासिनो निअलो सजाओ । सुआ य धम्मदेसणा ।
तेण ज्ञाणिओ अ सो पुव्वज्जो भगवया । जहा पुव्वभव इहेव जवु-
हीवे अवरविदेहे पुक्खलविजए चपाए नयरीए सुरासिओ ना-
म राया अहमासि, मज्झपरममिच्च तुमं मइसारो नाम मती
हुत्था । अह नदणगुरुपायमूले दिक्ख पडिअज्जिय पत्तो पाणय-
कप्पे । तत्थ वीस मागरोवमाइ आउ परिपालित्ता तओ खुओ ह
तित्थयरो जाओ । तुम च उवज्जिअ नराओ भारहेवासे पउमि-
णिसडनयरे सागरदत्तो नाम सत्थवाहो अदेसि मिच्छदि-
ट्ठो विण्णोओ अ । अन्नया तुमए कारिय सिवाययण, तप्पूयण-
त्थ च आरामो रोविओ । भावओ अ एगो तस्स चिंताकरणे
निवत्तो, गुरुआए से ण सव्वओ वि किरिआओ सज्जाचि-
तो तुम काल गमेसि, जिणधम्मनामएण सावएण तुज्झ आया
परमा मिच्छी, तेण सकिं एगया गओ तुम साहुसगासे । तेहिं दे-
सणतरे भणिय-“जो कारवेअ पमिम, जिणाण अंगुट्टपव्वमिस-
म्मि । तिरिनरयगइडुवारे, तूण तेणऽगगला दिस्सा” ॥ १ ॥ एव सोऊण
तुमे गिहिमागंतूण कारिआ हेममई जिणिंदपमिमा, पडिआविकण
निसऊ पुउमढत्तो । त अन्नदिअहे सपत्ते माहमासे लिंगपूर-
णपव्व आराहेउ तुम सिवाययण पत्तो । तओ जडाधारीहिं वि-
रस विअ धय कुभीओ उत्तरिओ लिंगपूरणत्थ । तत्थ लग्गाओ
घयपिण्णिलियाओ, जमिणहि निहय पाप्पहिं माहिज्जाणओ द-
ट्टण सिर धणिच्चा सारिउ लग्गो तुम । अहो’ एयसि दसणीण
वि निहयया । अम्हारिआ गिहिणोवराया कह जीवदय पालह-

स्सति । तओ निअचेल बलोहिं ताओ पउमज्जिया रुठो तुम तेहिं
निज्जस्थिउरे धम्मसकरकारयअरदतपासमीहिं न विडविओसि
त्ति । तओ सो सव्वधम्मविमुहो जाओ, परमकिविणो धम्मर-
सिअ लोअ हसनो मायार तेहिं तिरिआओ अवधित्ता मव भ-
मिऊण जाओ तुम गयवाहण तुरगमो । तुज्झ चैव पमिवोहणत्थ
अम्हाण वि मित्थाणगमण ति । सामिणो वयण सुच्चा तस्स जाय
जाइस्सरण । गहिआ य सम्मत्तमूलदेसविरई, पञ्चकजायं
सचित्त फासुअ तेण नीर च गिरहइ, छम्मासे निव्वाहिअ
त्ति अ सो मरिऊण सोहम्मे महिद्धिओ सुरो जाओ । सो ओहिणा
मुणिअ पुव्वजव सामिसमोसरणठाणे रयणमय चेअमकासी ।
तत्थ सुव्वयसामिणो पडिम अप्पाण च अस्सरूव गाविअ गओ
सुपव्वय । तओ अस्साववोहितित्थ त पसिअ । सो देवो जसिअस-
घविधहरणेण तित्थ पज्जाविंतो कालेण नरजवे सिज्झिहइ ।
कात्ततरेण सउल्लिआविहारु ति त तित्थ पसिअ । कह’ इहेव अ-
बुद्दीवे सिद्धलदीवे रयणदेसे सिरिपुरनयरे चदगुत्तो राया । तस्स
चदवेहा मारिआ । तीसे सत्तएह पुत्ताण उवोर नरदत्ता देवी
आगहणेण सुदसणा नाम धूआ जाया, अह’ अ सकलविज्जा पत्ता
जुव्वण । अन्नया अत्थाए पि उच्चगरायाए तीसे धणेसरो नाम
नेगमो जरुअच्छाओ आगतो । विज्जपासच्चिअतियमुअगधे वा-
णिए य छीय । तेण नमो अरदताण’ ति पडिअ सोउ मुच्छिआ सा,
कुट्ठिओ अ वाणिअओ, पत्ते वेयणाए य जाइसरणमुवगया ए-
सा दट्टण धम्मवधु ति मोइओ । रक्षा मुच्छाकारण पुच्छिआए
तीए भणिअ-जहाऽह पुव्वभव जरुअच्छे नम्मयातीरे कोरिटव-
णे वरुपायवे सउल्लिआ आसी । पाउसे अ सत्तरत्त महावुट्ठी जा-
या । अछमदिणे तुहाकित्ता पुरे जमती अह बाहस्स घरऽगणा-
ओ आमिसं धित्तु उट्ठीणा, वमीसहे निविछा य, अणुपयमाग-
एण वाहेण सरेण विक्का, मुहाओ पडिअ पल, सर च गिरहत्ता
गओ सोऽवट्टाण । तत्थ करुण रसती उव्वत्तणपरिअत्तणपरादिट्ठ
एगेण सूरिणा, सिच्चा य जलपत्तजलेण, दिओ पचनमुक्कारो सइ-
हिओ अ मय । मरिऊण अह तुम्ह धूआ जाय ति । तओ सा विस-
यविरत्ता महानिब्वधेण पिअरे आपुच्छिय तेणेव सज्जिणण स-
हिं पडिआ वाहणाण सत्तसएहिं भरुअच्छे, तत्थ पोअसय व-
त्थाए पोअसय दव्वनिचयाण, एव चदणागरुदारुण धन्नजलि
धणाण नाणाविदपक्कलफलाण, पहरणाण एव छुसया पोआण
पष्ठास, सत्थधराण पष्ठास पाहुडाण, एव सत्तसयवाहण-
जुत्ता पत्ता समुदतीर । तओ रक्षा त वाहणवूह सिद्धे-
सरअवक्खदसाकिष्सा मज्झिआए सेष्साए पुरक्खोभनिवा-
रणाए गतु पाहुड च दाउ सुदसणाआगमणेण विअत्तो
राया तेण सज्जिणण । तओ सो पच्चोणीए निग्गओ । पाहुम
दाऊण पणमिओ । कक्षाए य वेसमहूसवो अ जाओ । दिठ त चे-
इअ, विहिणा वदिअ पूइअ च, तित्थोववासो अ कओ, रक्षा दि-
खे पासा पच्छिआ रायणा य अट्ट वेल्लाउन्नाअ अउसया गामाण
अट्टसवा वप्पाण अट्टमया पुराण दिएणा, एगदिने अ जसिअ
भूमि तुरगमो चरइ, तत्तिअ पुव्वदिसाए, जत्तिअ व हत्थी जाइ,
तत्तिआ पच्छिमाए दिएणा । उवरोहेण सव्व पमिवएण । अन्नया
तस्सेवायरियस्स भसे निअपुव्वभव पुच्छइ । जहा-भयवं’ केण
कम्मुणा अह सउल्लिआ जाया, कह च तेण वाहेण अह निहय-
त्ति’ आयरिपहिं भणिअ-भदे’ वेयवपव्व उत्तरसेदीए सुरम्मा
नाम नयरी । तत्थ विज्जाहरिंदो सखो नाम राया । तस्स विज्जया-
भिदाणा तुम धूआ आसि । अन्नया दाहिणसेट्ठीए महिसगामे

वञ्चनीए तुमए नईतडे कुक्कुडसप्पो दिट्ठो । सो य रोसवमेण तए सारिओ । तथ नईए तीरे जिणाययण दूण वदिअ भयव-
ओ विव परमज्जत्तिपरवसाए तुमए । जाओ परमाणदो । तओ चेइयाओ निग्गच्छतीए तुमए दिट्ठा एगा परिस्समखिआ साहुणी । तीए पाए वदिता भम्मणोहिआ अज्जाए तुम । तुमए वि तीसे विस्सामणाईहि सुस्सुसा कया, चिर गिहमागया । का-
हेण कालभम्म पवसा अट्टक्काणपराइया कोरटयवणे सउणी जाया तुम । सो अकुक्कुसप्पो मरिक्कण वाहो सजाओ । तेण पुव्व-
वेरेण सउणीभवे तुम वाणेण पइया । पुव्वभवकयाए जिणभ-
त्तीए, गिलाणसुस्सुसाए अ अते घोहिं पत्तासि तुम । सपय पि कुणसु जिणप्पणीअ दाणाइभम्म ति । एव गुरुण वयण सुधा सव्व त दव्व सत्तखितीए वि वेइ । चेइअस्स उच्चार करेइ । चउ-
वासि च देवकुलयाओ पोसइसाहा-दाणसाहा-अज्जयणसाहा-ओ कारेइ । अओ त तित्थ पुव्वभवनामेण सउलिआविहार ति भइइ । अतो य सलेहण दव्वभावमेयभिन्न काउ कयाणसणा सा वइसादे सुइपचमीए ईसाण देवहोग पत्ता । सिरिसुव्वयसा-
मिसिद्धिगमणांतर इक्करसेहिं लक्खेहिं चुलसीइमइस्सेहिं च-
उसयसत्तेहिं च वासाण अईएहिं थिक्कसाहिय ज्व सव्वउरो पयट्ठो । जीवंतसुव्वयसामिअविकखाए पुण एगारसलक्खेहिं अठावीसुणपचणवइसइस्सेहिं च वासाण विक्कमो भायी । एसा सउलिआविहारस्स उप्पत्ती । लोइअतिथानि अणेगाणि भरुअत्थे वट्ठनि । कमेण उदयपुत्ते वाहमदेवेण सिसुजय-
पासायउच्चारकारिण, तदणुजेण अयडेण पुणऽत्थ सउलिआवि-
हारस्स उच्चारो कारिओ । मिच्छदिट्ठीए सिधवादेवीए अष-
डस्स पासायसिहरे नब्बंतस्स उवसग्गो कभो । सो उ निघारिओ विज्जाबलेण सिरिदेमचदमूरीहिं । 'अस्साववोह-
तित्थ-स्स एस कप्पो समासओ रइओ । सिरिजिणपइसुरीहिं, भ-
विपार्हिं पडिज्जत तिकाल' ॥ १ ॥ अश्ववयोधकल्पः समाप्तः ॥ ती० १० कल्प ।

अस्सावि (ए)-आस्साविण्-त्रि० । आ समन्तात् स्रवति तच्छी-
ल आस्सावी । सच्छिद्रे, सूत्र० । "जइ अस्साविणि नाव, जाइ
अधो दुरुहए ।" सूत्र० १ ध्रु० १ अ० २ उ० ।

अस्सि-अस्सि-पुं० । चतुर्विंशतिभागोपलक्षितासु कोटिपु, स्था० ६
ठा० ।

अश्विन्-पुं० । अश्विन्या देवतायाम्, स्था० २ ठा० २ उ० ।

अस्सिणी-अश्विनी-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, ज० ७ वक्र० । स्था० ।

अनु० । अश्विन्या अहवो देवता । सू० प्र० १० पाहु० । "अस्सि-
णी नक्खत्ते नितारे पणसे ।" स० ३ सम० ।

अस्सेमा-अश्लेषा-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, ज० ७ वक्र० । विशेष० ।

अस्सोक्ता-अश्वोत्क्रान्ता-स्त्री० । मध्यमग्रामस्य पञ्चम्या
मूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ।

अस्सोती-आश्वयुजी-स्त्री० । अश्वयुजि भवाऽऽश्वयु जी । अ-
श्वयुद्मासजाविन्याममाया, पौर्णमास्या च । च० प्र० १० पङ्क० ।
सू० प्र० ।

अस्तवदि-अर्थपति-पुं० । "अर्थयोः स्त" । ८ । ४ । २९१ । इति
र्थस्य स्त । "पो वः । ८ । १ । २३१ । इति यस्य व । धनिनि,
प्रा० ४ पाद । दु० ।

अह-अथ-अन्य० । आनन्तर्ये, प्रा० चू० ४ अ० । सूत्र० । नि०
चू० । दर्श० । अनु० । क० प्र० । उपन्यासे, न० । वत्तव्यान्तरो-
पन्यासे, वत्त० ३ अ० । अवसानमङ्गलार्थे, सूत्र० १ ध्रु० २६
अ० । वाक्योपन्यासे, आचा० १ ध्रु० ६ अ० २ उ० । सूत्र० । उप-
प्रदर्शने, आचा० १ ध्रु० ८ अ० २ उ० । उत्त० । पक्षान्तरन्योने,
ज० ५ श० ६ उ० । विकल्पे, जी० १ प्रति० । विशेषे,
स्था० ७ ठा० । प्रक्रियादिष्वर्थेषु, यत उक्तम्-अथ प्रक्रिया
प्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु । वृ० १ उ० ।
जी० । आ० म० । दश० । अनु० । स्था० । प्रश्न० ।
यथार्थे, प्रा० म० प्र० । वाक्यालङ्कारे, सूत्र० १ ध्रु० ७ अ० ।
पादपूरणे, पञ्चा० १ ए ध्रु० १ ।

अभस्-न० । अभस्ताच्छब्दार्थे, आचा० १ ध्रु० १ अ० ५ उ० । स्था० ।
सू० प्र० । जीवा० । अभोगतौ, "अहो न्निष्ठा" प्रश्न० । ३ आश्र०
द्वार । अधोलोके, स्था० ३ ठा० ४ उ० । दिग्भेदे, स्था० ६ ठा० ।

अहं-अहम्-अस्मद् सिना सहाऽऽमादेशः । प्रा० । "ये ण मि
अस्मि०" ॥ ८ । ३ । १०७ ॥ इत्यादिभूषणे अस्मदोऽमा सहाह-
मादेशः । प्रा० ३ पाद । आत्मनिर्देशे, प्रा० म० प्र० । आच० ।

अहकार-अहङ्कार-पुं० । अहोऽह, नमो मह्यमित्येवमहङ्कारम-
हङ्कारः । निजगुणेषु वहुमाने, विशेष० । ऐश्वर्यजात्यादिमदज-
निने अभिमाने, सूत्र० १ ध्रु० १ अ० । सुख्यह न दुःखीत्येव-
मात्मन प्रत्यये, सूत्र० १ ध्रु० २ अ० । आ० म० ।
अहमिति स्वस्वजाघेनोन्मादपरे परभावकरणे कर्तृत्वरूपे, अष्ट० ४
अष्ट० । सूत्र० । अह शब्देऽह स्पर्शोऽह गन्धोऽह रूपेऽह रसेऽह स्वा-
मी अहमोभरोऽमौ मया हतं, न सत्त्वोऽमु हनिष्यामीत्यादिप्रत्य-
यरूपे, म्या० १५ श्लो० । अजिमाने, आच० ३ अ० । यत्रान्त करणम-
हमित्युल्लेखनविषय वेदयते । द्वा० २० ठा० । बुद्धिरेवाहङ्कारव्या-
पार जनयन्ती अहङ्कार इत्युच्यते । द्वा० ११ ठा० ।

अहकम्-यथाक्रम-अन्य० । यथापरिपाटि इत्यर्थे, दश० ४ अ० ।

अहक्खाय-अथा(यथा)ख्यात-न० । अथशब्दो यथार्थे, आइ
अभिविधौ, याथातथ्येन, अजिनिविधिना च यत् आख्यात(कथितम-
कथाय चारित्रमिति) तदथाख्यातम् । यथा सर्वस्मिन् जीवलोके
ख्यात प्रसिद्धमकथाय भवति चारित्रमिति तथैव यत् तद् य-
थाख्यात प्रसिद्धम् । आ० म० प्र० । आर्षे यकाग्लोप । प्रा० २
पाद । अकषाये चारित्रे, आ० चू० १ अ० । पञ्चा० । प०
स० । विशेष० ।

अथ यथाख्यात शिवृणवआह-

अहसदो जाहृत्ये, आहोऽजिनिविहीर्षे कहियमक्खायं ।

चरणमकमायमुदितं, तमहक्खाय जहक्खाय ॥ १२७ए ॥

अत्येत्यय याथातथ्यार्थे, आइ अजिनिविधौ, ततश्च याथातथ्येना-
जिनिविधिना वाऽऽख्यात कथित यदकषाय च चरण तदथाख्या-
तम्, यथाख्यात वा उदितमिति ॥ १२७ए ॥

एतच्च कतिविधमिन्त्याह-

तं दुविगप्प छउम-तथेवेलिविहाणओ पुणेकेकं ।

खयसमज-सजोगाजो-गिकेवलिविहाणओ दुविहा ॥ १२८० ।

तच्च यथाख्यातचारित्र अस्सक्खेवलिस्यामिनेवात्त विविधम् । दृश-
स्यसब्धि पुनरापेक्षिविधम् मोहकयसमुत्थ नदुपशमप्रभव च ।

केवलसवन्धपि सयोग्ययोगिकेवलज्जेदतो द्विविधमेवेति । १२८० ।
विशे० । पञ्चा० । उत्त० । आ० म० । अनु० । तदपि द्विविध-
मुपशमकक्षयकत्रेणिमेदात् । शेष तथैवेति । ज० ८ श० २ उ० ।

अहक्खायसंजम-अथाख्यातसयम-पु० । अथशब्दो यथार्थः,
यथैवाऽकषायतयेत्यर्थः । आख्यातमजिहितमथाख्यातम् । तदेव
सयमोऽथाख्यातसयमः । अथ च क्षयस्थस्योपशान्तमोहस्य क्षा-
णमोहस्य च स्यात् केवलिनः, सयोगस्याऽयोगस्य च स्या-
दिति । अकषायसयमे, स्था० ५ ग० २ उ० । कर्म० ।

अहक्खायसजय-अथाख्यातसंजत-पु० । अकषायचारित्रिणि,
'अहक्खायमजय पुच्छा । गोयमा ! कुविदे पण्णत्ते । त जहा-छउ-
मत्थे य केवली य ' । ज० २५ श० ७ उ० ।

अहट्टाण-यथास्थान-न० । स्थानमनतिक्रमेत्यर्थे, द्वा० २ द्वा० ।

अहत (य)-अहत-त्रि० । अकृते, अन्यथानीते च । च० प्र०
१९ पाहु० । सू० प्र० ।

अहत्त-अधस्त्व-न० । जघन्यतायाम्, भ० ६ श० ३ उ० ।

अहन्थ-यथास्थ-त्रि० । यथावस्थिते, स्था० ५ ग० ३ उ० ।

यथार्थ-त्रि० । यथाप्रयोजने, यथाकन्ये च । "अहत्थे वा प्रावे
जाणिस्सामि " । स्था० ५ ग० ३ उ० ।

अहन्थच्छिन्न-अहस्तच्छिन्न-त्रि० । हस्तौ अच्छिन्नौ यस्य स
तथा । अकृतकरे, नि० चू० १४ उ० ।

अहन्थवाय-यथार्थवाद-पु० । यथाऽवस्थितवस्तुतत्त्वप्रस्थापने,
स्था० २ श्लो० ।

अहन्थाम-यथास्थाम-न० । प्राकृतलक्षणेन धकारस्य श्लोके केव-
ल स्वरः । यथावत्ते, नि० चू० १ उ० ।

अहप्पदाण-यथाप्रधान-अन्य० । प्रधानमनुरूपेत्यर्थे, वो यः
प्रधानो जन इत्यर्थः । भ० १५ श० १ उ० ।

अहम-अधम-त्रि० । जघन्ये, भाव० ४ अ० । नित्ये, उत्त० १३
अ० । निकृष्टे "नरेदजार्ह अहमा नराण" उत्त० १३ अ० । सूत्र० ।
सुद्धे स्था० ४ ठा० ४ उ० । (अधमपुरुषाणां मानम् 'अगुह'
शब्देऽत्रैव भागे ४४ पृष्ठे उक्तम्)

अहमनि-अहमन्तिन्-पु० । अहमेव आत्यादिभिरुक्तमतया प-
र्यन्तवर्तीत्यभिमानवति, स्था० ।

दसहिं ठाणोहिं अहमंतीति थंजेज्जा । तं जहा-जाडमण
वा कुलमण वा० जाव इस्सरियमण वा नागमुवन्ना वा
मे अनिअ हव्वमागच्छति पुरिसधम्माओ वा मे उत्तरिण
अहोवहिण नाणदंसणे ममुप्पन्ने ।

(दसहत्त्यादि) स्पष्ट, नवर (अहमंतीति) अहम, प्रन्ती इति ।
अन्तो जान्यादिप्रकर्यपर्यन्तोऽस्यास्तीत्यन्ती । अहमेव आत्यादि-
निरुक्तमतया पर्यन्तवर्ती । अथवाऽनुस्वारः प्राकृततयेति । अहम-
अति अनिशयवानिति । एवविधोऽस्तेन (यमेज्जति) स्तन्नीयात्
स्त्वन्धो भवेत्, माधेतिन्यर्थः । यावत्करणात् 'बलमण क्वमण-
ण सुयमण नवमण लाभमण' इति दृश्यम् । तथा (नागमु-
वन्ना) नागकुमारा सुवर्णकुमाराश्च । वा विकल्पाय । मे मम
अन्तिर समीप 'हव्व' शीघ्रमागच्छन्तीति । पुरवाणा प्राकृतपु-

रुषाणां धर्मो ज्ञानपर्यायलक्षणस्तस्माद्वा सकाशादुत्तरं प्रधा-
नं स एवौत्तरिकः । (अहोवहिणं ति) नियतकोत्रविषयोऽवधि-
स्वरूप ज्ञानदर्शनं प्रतीतमिति ॥ स्था० १० ठा० ।

अहमहमितिदप्पिय-अहमहमितिदर्पित-त्रि० । अहमहमित्येवं
दर्पयति, प्रश्न० ३ आभ० द्वार ।

अहम्म-अधर्म-पु० । पापे, सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० । दशा०
सावधानुष्ठाने, दशा० ६ अ० । अधर्मस्य वर्णं वदति, नि० चू० ।
जे जिकवू अधम्मस्स वधं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । ११३ ।

इह अहम्मो जारहरामायणादि पावसुत्त, चरगादियाण या-
जपचगितवादिना वयविसेसा, अहवा-पाणादिया मिच्छाद-
सणपज्जवसाणा अछारस पावछाणा, एतेसि वन्न वदतीत्यर्थः ।

एसेव गमो नियमा, वोच्चत्थे होति तं अहम्मे वि ।

देसे सव्वे य तहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ १३ ॥

वोच्चत्थो, विपक्खे वन्नवायं वदतीत्यर्थः । सेस कठं ।

इहरह वि ताव लोए, मिच्छत्तं दिप्पए सहावेणं ।

किं पुण जइ उववूहति, साहू अजयाण मज्झम्मि ॥ १४ ॥

(इहरह वि ति) सहावेण प्रदीप्यते प्रज्ज्वलते । किमिति निर्देशे,
पुनर्विशेषणे । किं विशेषयति ? सुतरा दीप्यते इत्यर्थः । यदीत्यमु-
पगमे । "मज्झा अगगतो उववूहति, ताहे धिरतरं तेसि मिच्छस
भवतीत्यर्थः । शेष पूर्ववत् । नि० चू० ११ उ० । धर्मरहिते,
विपा० १ भु० २ अ० ।

अहम्मओ-अधर्मतस्-अन्य० । अधर्ममङ्गीकृत्यर्थे, प्रश्न० २
आभ० द्वार ।

अहम्मकेउ-अधर्मकेतु-पुं० । केतुर्ग्रहविशेषः, स इव यः स तथा ।
पापप्रधाने, द्वा० १८ अ० ।

अहम्मक्खाइ-अधर्मरूपायिन्-पुं० । न धर्ममाख्यातीत्येव शीतो-
ऽधर्माख्यायी । अथवा-न धर्माख्यायी अधर्माख्यायी । धर्मकथ-
नाशीले, दशा० ६ अ० ।

अधर्माख्याति-पुं० । अधर्मादाख्यातिर्यस्य स अधर्माख्यातिः ।
पापकर्मतया प्रसिद्धे, दशा० ६ अ० ।

अहम्मजीवि(ण्)-अधर्मजीविन्-पुं० । अधर्मेण जीवति प्राणात्
धारयतीति अधर्मजीवी । अधर्मेण प्राणधारके, दशा० ६ अ० ।
अहम्मट्टाण-अधर्मस्थान-न० । पापस्थाने, सूत्र० २ भु० २
अ० । त्रयोदशषु क्रियास्थानेषु, सूत्र० २ भु० २ अ० । धर्मादपेते
स्थाने, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अहम्मट्टि(ण्)-अधर्मायिन्-पुं० । अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थी, अध-
र्मोणार्थी अधमार्थी । अधर्मप्रयोजने, आत्मा० १ भु० ६ अ० ४ उ० ।
अहम्मदाण-अधर्मदान-न० । अधर्मपोषक दानमधर्मदानम् ।
अधर्मप्रतिपादकत्वाद् वाऽअधर्म एव । चौरादिन्यो दाने,
स्था० १० ठा० ।

अहम्मसेवि(ण्)-अधर्मसेविन्-पुं० । कलत्रादिनिमित्तपदकायो-
पमर्दकारिणि, "सुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो ।" दशा० १ चू० ।
अहम्माणि(ण्)-अहम्मानिन्-पुं० । अहमेव विद्वानिति मानो
गवोऽस्येति अहम्मानि । अहद्वारिणि, आ० म० द्वि० ।

अह्य

अह्य-अहत-त्रि० । अक्षते अयादने, आ० म० प्र० । जी० ।
नवे, म० = श० ६ उ० । रा० । अव्ययचिह्नौ, कल्प० १ क० ।
अखण्डिते, सूत्र० २ भु० २ अ० । मलमूषादिनिगुपदुते प्रत्य-
ये, डा० १ अ० ।

अहर-अधर-पुं० । अधस्तात्काये, आव० ३ म० । अधस्तन-
वन्तच्छदे, औ० । प्रज्ञा० । त० ।

अहरगङ्गमण-अधरगतिगमन-न० । अयोगतिगमनकारणे,
प्रअ० २ आ० २ द्वार ।

अहरायणिय-यथारत्नाधिक-अव्य० । यथाज्येष्ठार्थनयेत्यर्थे,
प० व० २ द्वार ।

अहरी-अधरी-स्त्री० । पेणशिलायाम्, उक्त० ।

अहर्(रो)ह-अधरोह-पुं० । "ह्रस्वः संयोगे" ॥ ८ । १ । ८४ ॥
इति दीर्घस्य ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । दृष्टिकायाम्, कल्प १ क० ।

अहव-अथवा-अव्य० । " घाऽव्ययोत्सातादाघदातः " ।
८ । १ । ६७ । इत्यातोऽत्वम्; अहव अहवा । विकल्पे, प्रा० १
पाद । स० ।

अहवण-(अथवा)-अव्य० । 'अहवण सि' अक्षपदमव्ययपद-
म् । अथवेत्यस्यार्थे, वृ० १ उ० । विकल्पप्रदर्शने, नि० चू० १
उ० । वाक्यालङ्कारे, अनु० ।

अहवा-अथवा-अव्य० । सवन्धस्य प्रकारान्तरतोपदर्शने, व्य० १
उ० । पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतने, पञ्चा० ३ धिव० ।
नि० चू० । घ० । प० स० । ग० । भ० । पञ्चान्तरे, सूत्र० १ भु०
१३ अ० । वाक्योपन्यासे, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अहवण-अथर्वन्-पुं० । ऋग्वेदादीनां चतुर्थे वेदे, म० २ श०
१ उ० । अनु० । औ० ।

अहस्स-अहास्य-न० । हास्यपरित्यागे, आव० ४ अ० ।

अहह-अहह-अव्य० । अह जहाति, अहम्+हा-क-पृथो० । स-
म्बोधने, आभ्यर्थ्ये, स्नेहे, क्लेशे, प्रकर्षे च । घाच० प्रा० २ पाद ।

अहा-अधस्-अव्य० । दिग्नेदे, स्या० ६ ता० ।

अथ-अव्य० । याथातथ्ये, विशेषे । आनन्तर्ये, "अहा पशुरल्प-
भाप" । रजनीविघातानन्तरम् । दीर्घत्वमार्पत्वात् । कल्प० ३ क० ।

अहाअथ-यथार्थ-अव्य० । नियुक्त्यादिव्याख्यानानतिक्रमे,
स्या० ७ ता० ।

अहाउओवक्रमकाल-यथायुष्कोपक्रमकाल-पुं० । यथा वक्षस्या-
युष्कस्योपक्रमेण दीर्घकालमोग्यस्योपक्रमेण यथायुष्कोपक्रमः,
स चासौ कालश्च यथायुष्कोपक्रमकालः । कालभेदे, विशेषे ।

अहाउणिव्रत्तिकाल-यथायुर्निवृत्तिकाल-पुं० । कालभेदे,
स्या० । यथा यत्रकार नारकादिभेदेनायु कर्मविशेषो यथाऽऽ-
युः । तस्य त्रैधादिध्यानादिना निवृत्तिर्बन्धन, तस्या सकाशात्
य काळो नारकादित्वेन स्थितिर्जीवानां स यथायुर्निवृत्तिकाल-
ल । अथवा-यथाऽऽयुषो निवृत्तिस्तथा यः कालो नारकादिज-
येऽवस्थान, स तथेति । अयमप्यस्माकाल एवायुष्ककर्मानुभव-
विशिष्ट सर्वससारजीवानां वर्तनादिरूप इति । उक्तं च-
" आश्रयमिच्छविसिद्धौ, स एव जीवाण घत्तणाऽऽदिमश्रौ ।

अमृद् अहाउकाळो, वलङ्गो ज जिह्र नेण " ॥ ८ ॥ स्या० ४
ता० ७ । "सैकिंन अहाउणि व्रत्तिकाले", अहाउणि व्रत्तिकाले-
काले ज ण णेरदण वा तिारदणजोणिण वा माणस्तेण वा
देवेण वा अहाउणि व्रत्तिकाले सेत्त पालेमाणे अहाउणि व्रत्तिकाले-
ले " ॥ म० ११ श० ११ उ० ।

अहाउय-यथायुक्त-न० । देवाद्यायुष्कलक्षणे कालभेदे, आ० म०
वि० । ('काल' शब्दे तृतीयभागे चैनद्व्याख्यास्यते, यथायुक्ते
आयुषि च । स्या० ।

दो अहाउय पाले । तं जहा-देवञ्चैव नेरदणञ्चैव ॥
(दो इत्यादि) यथावदुमायुयंथायु, पात्रयः यनुनव्रान नोपक्र-
म्यते तदिनि यावदिदति । "देवा नेरदया वि य, असम्भवात्माऽ-
या तिरियमणुया । उत्तमपुग्गिमा य तहा, चरमसररीग निमवक
मर्ता" ॥ १ ॥ इति वचने सत्यपि देवनागकयोगेवेह भणन, डि-
स्थानकानुरोधादिनि । स्या० २ ता० ३ उ० ।

अहाक (ग) ह-यथाकृत-त्रि० । आन्मार्थमर्तानिर्धर्तने आहा-
रादौ, "अहागमेसु रीयति, पुष्केसु प्रमरो जहा " दश० १ अ० ।
नि० चू० । वृ० ।

अहाकल्प-यथाकल्प-अव्य० । यथाऽत्रोक्त तथाकरणे कल्पोऽ-
न्यथा त्वकल्प इति यथाकल्पम् । कल्प० ए क० । प्रतिमाकल्या-
नतिक्रमे तत्कल्पवस्त्यनतिक्रमे, दशा० ७ अ० । स्या० । हा० । क-
ल्पानतिक्रान्ते, स्थविरकल्पोचिने कल्पनीये च । न० । पा० । ध० ।
अहाकम्म-यथाकर्म-अव्य० । कर्मानतिक्रमे, डा० १६ डा० ।

अहापदिग्गाहिय-यथाप्रतिगृहीत-त्रि० । यथाप्रतिपक्षे पुनर्हास-
मनीते, म० २ श० ५ उ० ।

अहाछंद-यथाछन्द-पुं० । यथा छन्दोऽभिप्राय इच्छा, तथैवाऽऽ-
गमनिरपेक्षं यो वर्तते स यथाछन्दः । व्य० १ उ० । प्रव० । ध० ।
नि० चू० । यथाकथञ्चिद् नागमपरतन्त्रतया छन्दोऽभिप्रायो बोध
प्रवचनार्थो यस्य स यथाछन्दः । म० १ श० ४ उ० । स्वच्छन्दम-
तिविकल्पिते, माव० ३ अ० ।

जे निक्खु गणाओ अवकम्म अहाछंद विहारं विहरेज्जा,
से य इच्छेज्जा दोषं पि तमेव गण उवमंपजित्ता ए विह-
रत्ति ए अच्छिज्जा इच्छा से पुणो आलोएज्जा, पुणो पमि-
कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवहाइआ ॥

यः भिक्षुर्गणादपक्रम्य यथाछन्दविहारेण विहरेत्स इच्छेद्
द्वितीयमपि धार तमेव गणमुपसपद्य विहरेत्तुम्, तत्र स पुनरा-
लोचयेत्, पुनः प्रतिजामेत, पुनश्चेदपरिहारस्यालोचयेत् ।
व्य० अ० २ उ० ।

इदानीं यथाछन्द-स्वरूपमुपवर्णयति-
उत्सुत्तमायरंतो, उत्सुत्तं चैव पन्नवेमाणो ।

एसो य अहाछंदो, इच्छा छंदो य एगहा ॥

सूत्रादूर्ध्वम्-उत्तीर्णम् (परिनिष्ठमित्यर्थः) उत्सुत्तं, तदाचरन् प्रति-
सेवमानः, तदेव यः परेज्य' प्रज्ञापयन् वर्तते, एष यथाछन्दोऽ-
भिधीयते । सम्प्राति छन्द शब्दार्थं पर्यायेण व्याचष्टे-इच्छा छन्द
इत्येकार्थं । किमुक्तं भवति? छन्दो नाम इच्छेति । व्युत्पत्तिश्च यथा-
छन्द शब्दस्य प्रागेवोपदर्शितः ।

उत्सुत्तमित्युक्तमन उत्सुत्तं व्याख्यानयति-

उत्सुत्तमणुवादिहं, सच्छदाय' अणणुपाती

परतित्तियप्पवित्ते, मतितणेऽयं अहाबंदो ॥

उत्सूत्र नाम यत्तीर्थङ्करादिभिरनुपदिष्टम्, तत्र या सूरिपरम्परा-
गता मामाचारी, यथा-नागिना रजोहरणमूर्ध्वमुख कृत्वा कायो-
त्सर्गं कुर्वन्ति । चारणानां वन्दनके कथमपीत्युच्यते इत्यादि,
साऽयं यङ्गेषूपोद्गेषु नोपदिष्टेत्यनुपदिष्टम् । सङ्केततोऽनुपदिष्टमाह-
स्वच्छन्दने स्वाभिप्रायेण विकल्पित, स्वेच्छाकल्पितमित्यर्थः ।
अत एवानुपाति । सिद्धान्तेन सहाय्यमानकम् । न केवलमूत्सू-
त्रमात्रं प्रज्ञापयश्च यथाच्छन्दः, किन्तु यः परतृप्तिषु गृहस्थ-
प्रयोजनेषु करणकारणानुमतिभिः प्रवृत्तः परतृप्तिप्रवृत्तः । तथा
'मततिणो नाम यः स्वल्पेऽपि केन चित्साधुनाऽपराधेऽनवरत
पुनस्तं रूपज्ञास्ते, अयमेव रूपो यथाच्छन्दः ।

तथा-

सच्छन्दमतिविगपिय, किंची सुखसायविगपामिवद्धो ॥

तिहि गारवेहि मज्जइ, त जाणाही अहाबंदं ॥

स्वच्छन्दमतिविकल्पित किञ्चित् तल्लोकाय प्रज्ञापयति, ततः
प्रज्ञापनगुणेन लोकादिकृतीर्लभते, ताश्च विकृतीः परिच्छिन्नान्
स्वसुखमामादयति । तेन च सुखासादनेन तत्रैव रतिमातिष्ठ-
ति । तथाचाह-सुखासादे सुखासादनविकृतौ च प्रतिबद्धः ।
तथा-तेन स्वच्छन्दमतिविकल्पितप्रज्ञापनेन लोकपूज्यो भवति,
अभीष्टसाक्षाद्वारान् प्रतिभभते, वसत्यादिक च विशिष्टमतः
सन्ध्येभ्यो बहु मन्यते । तथाचाह-त्रिभिः गौरवैर्ऋक्षिरससा-
तलकैर्माद्यति य एवभूतः, त यथाच्छन्दो जानीहि ।

इह वत्सूत्रं प्ररूपयन् यथाच्छन्द उच्यते, तत उत्सूत्रप्र-
रूपणामेष भेदतः प्ररूपयति-

अहच्छन्दस्स परूवण, उस्सुत्ता दुविठ होइ नायव्वा ॥

चरणेषु गईसु जा, तत्थ य चरणे इमा होति ॥

यथाच्छन्दसः प्ररूपणा उत्सूत्रा सूत्रादुत्तीर्णां विधा भवति ज्ञा-
तव्या । तद्यथा-चरणेषु चरणविषया, गतिषु गतिविषया, तत्र
या चरणविषया, सा इय वक्ष्यमाणा भवति ।

तामेवाह-

पमिलेहण मुहपोत्तिय, रयहरण निसेज्ज पायमत्तए पट्टे ।

पमलाइ चोल उष्ठा-दसिया पडिद्वेहणापोत्ते ॥

या मुखपोत्तिका मुखवस्त्रिका, सैव प्रतिवेखनी-पात्रप्रत्युपेक्षया
पात्रके सरिका, किं द्वयोः परिग्रहेण, अतिरिक्तोपधिग्रहेण स-
ज्जवात् । तथा-(रयहरणनिसेज्जं चित्) किं रजोहरणस्य द्वाभ्यां
निषद्याभ्यां कर्तव्यम्, एका निषद्याऽस्तु ? (पायमत्तए चित्) यदेव
पात्र तदेव मात्रक कियता, मात्रक वा पात्रम्, किं द्वयोः परिग्रहेण ?
तथा-(पट्टं चित्) य एव पट्टचोदकः स एव रात्रौ सस्नारकस्यो-
त्तरपट्टं कियता, किं पृथगुत्तरपट्टपरिग्रहेण ? । तथा-(पमलाइ
चोलं चित्) । पट्टानि किमिति पृथक् धियन्ते, चोलपट्ट एव भि-
न्नार्थं हि एवमानेन द्विगुणस्त्रिगुणो वा कृत्वा पट्टलकस्थाने निवेश्य-
ताम् । (उष्ठादसियं चित्) रजोहरणस्य दशा किमित्यूर्णामयं
क्रियन्ते ? मौक्तिका क्रियन्ते, ता हयूष्णामयीभ्यो मृदुतरा भव-
न्ति । तथा-(पमिलेहणापोत्ते चित्) प्रतिवेखनावेलायामेकं पोत
प्रस्तार्य तस्योपरि समस्तवस्तुप्रेक्षणं कृत्वा तदनन्तरमुपाश्रया-
त् तद् यदि प्रत्युपेक्षणीयम् । एव हि सहती जीवदया कृता इति ।

दत्तच्छिन्नमतिच, हरियद्विय पसज्जणा य णितस्स ।

अणुवाइ-अणुवाइ, परूवणा चरणमाईसुं ॥

इस्तगता पाठगता वा नखाः प्रवृक्षा दन्तैश्छेत्तव्याः, न नख-
रदनेन । नखरदनं हि प्रियमाणमधिकरणं भवति । तथा-
(अश्लिष्टमिति) पात्रमश्लिष्टं कर्तव्यम्, न पात्रं लेपनीयमिति प्राव ।
पात्रलेपने बहुसयमदोषसज्जवात् । (हरियद्वियं चित्) हरितप्र-
तिष्ठित भक्तपानादि ग्राह्य, तद्ग्रहणे हि तेषां हरितकायजीवा-
नां भारापहारः कृतो भवति । (पमज्जणा य नितस्स चित्) यदि
छुन्ने जीवदयानिमित्तं प्रमार्जना क्रियते, ततो यहिरप्यच्छुन्ने क्रि-
यतां, जीवदयापरिपालनरूपस्य निमित्तस्योभयत्रापि समवात् ।
अक्षरघटना त्वेवम्-'नितस्स' निर्गच्छतः प्रमार्जना भवन्तु,
यथा वसतेरन्तरिति । एव यथाच्छन्देन चरणेषु च प्ररूप-
णाऽनुपातिनी अनुसारिणी, अननुपातिनी च क्रियते ।

अथ किंस्वरूपाऽनुपातिनी ?, इत्यनुपातिन्यननुपातिन्योः
स्वरूपमाह-

अणुवाइ ची नज्जइ, जुत्तीरठिय खु जासए एसो ।

जं पुण सुत्तावेयं, तं होति अणुवाति चित् ॥

यद्भाषमाणं सत् यथाच्छन्दो ज्ञायते-यथा 'खु' निश्चितं यु-
क्तिसङ्गतमेष भाषते, तदनुपातिप्ररूपणम् । यथा-यैव मुखपोत्ति-
का सैव प्रतिवेखनिका इत्यादि । यत् पुनर्भाष्यमाणं सूत्रापेत
सूत्रपरिग्रहं तद्वद्व्यननुपाति । यथा-चात्तपट्टं पट्टानि कि-
यताम्, यद्युपधिकापतनसंभवतो युक्त्यसङ्गततया प्रतिभास-
मानत्वात् । तत्र चरणे प्ररूपणमनुपात्यननुपाति चोक्तमिदं
चान्यद् दृष्टव्यम् ।

तदेवाह-

सागारियादिपलियं-कनिस्सेज्जासेवणा य गिहिमत्ते ।

निगंथिचेडणाइं, सेहो वा मा सकप्पस्स ॥

सागारिकः शय्यातरस्तद्विषये भूते-यथा शय्यातरपिण्डे पृ-
ष्ठमाणे नास्ति दोषः, प्रत्युत गुणः, वसतिदानतो भक्तपानादि-
दानतश्च प्रभूततरनिर्जरासंभवात्, आदिशब्दात्स्थापनाकुले-
ष्वपि प्रविशतो नास्ति दोषः । (पलियं चित्) पर्यङ्कादिषु प-
रिच्छिज्यमानेषु न कोऽपि दोषः, कवलं चूमाचुपवेशने हाधवा-
दयो बहुतरा दोषा (निस्सिज्जासेवणा चित्) गृहिनिषद्यायामा-
सेव्यमानाया, गृहेषु निषद्याग्रहणे इत्यर्थः । को नाम दोषः ? अपि-
त्वतिप्रभूतो गुणः, ते हि जन्तवो धर्मकथाश्रवणतः सत्त्वो-
माप्नुवन्ति (गिहिमत्ते चित्) गृहिमात्रके भोजनं कस्मान्न क्रियते ?
एव हि प्रवचनोपघातः परिहृतो भवति । तथा-(निगंथिचे-
डणादि चित्) निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये अवस्थानादौ को दोषः ?, स-
क्लिष्टमनोनिरोधेन हास्यक्रिष्टं तु मा विहारक्रमं कार्षुरिति ।

चारे वेरज्जे वा, पदमसमोसरणं तद् य निति एसु ।

सुन्ने अकप्पए वा, अन्नाउठे य संजोए ॥

चारः, चरणः, गमनमित्यकाऽर्थः । तद्विषये व्रतार्थं, तद्यथा-चतुर्षु
मासेषु मध्ये यद्वर्षं पतति नाचन्मा विहारक्रमं कार्षीं, यदा तु न
पतति वर्षं, तदा को दोषो हि एवमानस्येति ? तथा वैराज्येऽपि भूते-
यथा वैराज्येऽपि साधवो विहारक्रमं कुर्वन्तु, परित्यक्तं हि सा-
धुभिः परमार्थतः शरीरं, तथा हि ते गृहीष्यन्ति किं क्षणं साधू-
नाम्, सोढव्या खलु साधुभिरुपसर्गाः । ततो यद्वक्तव्यम्-'नो क-
प्यहं निगमाया-ण वेरज्जविरुद्धरज्जसि । सज्जं गमणं सज्जमा-
गमणं चित् । तदयुक्तमिति । (पदमेण समोसरणे चित्) प्रथमं स-

अष्टाब्द

मवसरण नाम प्रथमवर्षाकाल, तत्र घूने-यथा प्रथममन्मथसरणे उज्जमादिदोषपरिशुद्ध घट्ट पात्र वा किं न कल्पने गृहीतुम्? द्वितीयसमवसरणेऽपि इष्टुज्जमादिदोषपरिशुद्धमिति कृत्वा गृह्णते । सा च दोषशुद्धिरभयप्राप्त्यविशिष्टेति । (तदयं निनिपत्युत्ति) तथा-नित्येषु नित्यवासेषु प्ररूपयति-यथा-नित्यवासेऽपि यष्टुक्रमोपा-दनेषणाशुद्ध एवमेव ज्ञापयानादि, तत्र को दोषः ? प्रत्युत काष्ठदीर्घमेकक्षेत्रे घसतां सूत्रार्थादयः प्रभूता भवति । तथा (सुप्र-ति) यष्टुपरकरण न केनापि हियते, ततः शून्याया घसनां प्रिय-माणाया को दोषः ? । अथो-सद्यद्वेनेनोपद-यने, तच्च चेतस्यौष-धिक उपघातः (तथा अकल्पिय (स) सकल्पिको नामागीतार्थः ; तद् विशये घूने-यथा-सकल्पिकेन प्रथमशैलकरूपेण शुद्धमसा-तोऽहं घट्टपात्राधानीति किं न परिभुज्यते ? ; तस्य ज्ञानोऽन-या विशेषतः परिभोगाहंरात् । (समोप इति) तथा समोपे घूने-यथा-सर्वे पञ्च महाप्रतधारिण साधवः, साभोगिका एव युक्ता नासाभोगिका इति ।

साम्प्रतमकल्पिकोक्तिं विप्रोक्ति-

किंवा अकल्पिणं, गहिर्यं फामुयं तु दोः उ अभोजं ।

अष्टाब्दं को वा, दोः गुणो कल्पिण गहिर्यं ? ॥

किं वा केन वा करोतः अकल्पिकेन अगीतार्थेन गृहीतं प्राप्तु-कमज्ञातोऽहमपि अभोज्यमपरिमोलस्य प्रवृत्तिः । को वा कल्पि-केन (अत्र गाथाया सप्तमी नृतीयाऽप्ये) गृहीतो गुणो जयति, उज्जयप्रापि शुद्धत्यविशेषात् ।

अधुना (समोप) इति ध्यायमानयति-

पंचमहन्वयधारी, समणा मज्जेमि किं न जुनंति ।

इय चरण-वितहवादी, एतो चोऽत्रं गतीं तु ॥

पञ्चमहाप्रतधारिण सर्वे धमणाः किं नैव नृजने ? , किं ना-त्रिदोषेण सर्वे साभोगिका जयन्ति ? , येनैके साभोगिका, अपरे असाभोगिका क्रियन्ते इति । इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेण यथा-चन्द्रोऽनालोचितगुणदोष, चरणे चरणविषये वितपवादी । अत ऊर्ध्वं तु गतिषु वितपवादिन वक्ष्यामि ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

- खेचं गतो य अहवि, एको संचिष्ट ए तद्धि चैव ।

तित्यगरो ति य पियरो, खेच पुण भावनो सिद्धि ॥

स यथाचन्द्रो गतिषु विशये एव प्ररूपणा करोति-"यतो गह-वतो, तस्स निशि पुत्ता, ते मध्ये ऐतकम्मोयजायिलो विव-रेण निष्ठकम्मे नियोजिया । तथेगो खेचकम्म अदाणत्त करेइ । एगो अहवि गतो, देस देसेण हिंइइ इत्यर्थः । एगो जिमिस्ता जिमिस्ता देवकुलादिसु अस्थिति । कालतरेण मेमि पिया मतो । तोहिं दव्व पिनिस्सिय ति काठ मव्व सम्म विरिक्क । एव तेमि जं एणेण उवज्जिय त सध्वेसिं सामण जाय । एव अहं पिया तित्यगरो, तस्स यथोयदेनेण सध्वे समणा कायाकिलेस कु-व्वति । अहं न करेमो, ज तुमोहिं कय । अहं सामन्न जहा तु-म्मे देवलोग तुक्कलपव्वयाइ वा सिद्धि वा गच्छइ, तहा अहं वि गच्छिस्सामो" । एव गाथाभावात् । अक्षरयोजना त्रियम-एक पुत्र क्षेत्र गतः । एकोऽष्टर्षाम देशान्तरेषु परित्रमतीत्यर्थः । अपर एकस्मिन्त्रैव मतिष्ठते । पितरि च मृते धन सर्वेषामपि स-मानम् । एवमत्रापि पिता वितृश्चानां यस्तीर्थंकरः । क्षेत्रफलं धनं पुनर्विभागतः परमार्थतः सिद्धिः, तां यूयमिव युष्मदुपार्जनेन २१७

यद्यपि गमिष्याम । उता गतिर्वाप यथाच्छन्दस्य त्रिनय-प्ररूपणा ।

सप्रति नेषा यथाच्छन्दानामेवदना दोषसुपदर्शयति-

जिणवयण सच्चसार, मूलं समारदुस्सवमुत्तमम् ।

सम्पत्त म्फलेत्ता, ने दोग्गइवमुगा इति ।

ते यथाचन्द्राभ्यासेषु गतिषु चैव प्ररूपणाः । सम्यक्प्र सम्यग्दर्श-नम् । कथन्तमिष्याद-जिगाना सर्वज्ञाना चञ्चल जिनचञ्चल ग्राह-काह, तस्य सार प्रधान, प्रज्ञानत्रयोऽस्य तदन तरेण धृनस्य पति-तस्याप्यधुनत्वान् । पुन किञ्चिजिष्टमित्याह-मूलं प्रथम कारण स-सारदुःखमोक्षस्य समस्तमासारिकदुःखमधिकमोक्षमोक्षस्य तदेव-ज्ञानं सम्यक्प्र मतिनयित्वा आत्मनो दुर्गतिवर्जका तवान्ति । दुर्गतिस्तेषामेवदनां फलमिति भावः । इह पूर्वमुक्तयेऽनुस-ये वा गृहीतस्य पार्श्वस्थस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

तत्र उत्तमप्ररूपणार्थमाह-

सकमहादीया पुण, पासत्थे ऊतवा मुण्येववा ।

अहंउंते ऊमवो पुण, जीण् पग्गिमाणं उ क्खेइ ॥

पार्श्वस्थे पार्श्वस्थस्य, उत्तमया ज्ञानस्या सकमहादयः इन्द्र-महादयः । आदिशब्दान् एकदण्डमहादिपरिग्रहः । यथाचन्द्र-स्य पुनरुत्तमयो यस्याः पर्वद पुरतो यथाचन्द्र स्वच्छन्दविक-ल्पित प्ररूपयति सा पर्वत ज्ञानस्याः । एतदपि च उत्तमचञ्चे-यः पर्वद स्थर्शयपुनतप्ररूपण चतुर्मासवर्षमन्वयैषु कदा-चिहा करोति, अनीक्षण वा, तत एतेषु चकल्पम्, तच्च पार्श्व-स्थाऽऽगमानुसारेण होयम् ।

यत आह-

जहिं झुगो तहिं झुगो, जहिं झुगो चउगुरू तहिं ठाणे ।

जहिं ठाणे चउगुरूगा, उम्मासे तत्थ ऊ जाणे ॥

जहिं पुण उम्मासा तहिं, येयं पुण ऐयणाण ए मूलं ।

पासत्थे न जणियं, अहंउंते विवहिय जाणे ॥

यत्र पार्श्वस्थस्य माससप्त पुत्रायश्चित्तमुक्तः तत्र यथाचन्द्रसि चत्वारो लघुकाः । यत्र चत्वारो सप्तकाः, तत्र स्थाने च चत्वारो गुरवः । यत्र च-त्वारो गुरुकास्तत्र पणमासान् गुरुन् जानीहि । यत्र पुन षणमासा-स्तत्र ज्ञातव्यः वेदः, च्छेदस्थाने च मूलम् । तथा-यष्टुसत्तवाभावे क-दाचित्कथयति ततश्चत्वारो सप्तका मासाः ; अथाभीक्षण कथयति ततश्चत्वारो गुरुकाः ; अथोत्तम कदाचित् घूने ततश्चत्वारो गुरुकाः ; अनीक्षणकथने षणमासा गुरवः । षणमासा यावदानीक्षणक-थने मूलम् । अत्रोत्तमयानुत्तमविशेषरहिततया सामान्यतोऽजि-धानमुक्तमोघेन प्रायश्चित्तम् । अधुना विभागत उच्यते-चतुरो मा-सान् यावत्कदाचिदुत्तमभावे प्ररूपणाया चत्वारो लघुमासा । षणमासान् यावच्चत्वारो गुरवः । वर्षे यावत्षणमासा गुरवः । तथा-चतुरो गुरुमासान् यावदुत्तमभावेऽभीक्षणप्ररूपणायाः चत्वारो गुरुकाः । षणमासान् यावदुत्तमभावेऽभीक्षणप्ररूपणाया षणमासा गुर-वः । वर्षे यावद्वर्षप्ररूपणाया छेदः । चत्वारो मासान् यावदुत्तमवे क-दाचित्प्ररूपणात् चत्वारो मासा गुरवः । षणमासान् यावद्वर्षप्ररूप-णाया षणमासा गुरवः । वर्षे यावत्प्ररूपणाया वेदः । तथा-च-तुरो मासान् यावदुत्तमवेऽभीक्षण प्ररूपणाया चतुर्गुरुक छेदः । वर्षे यावद्वर्षप्ररूपणाया मूलमिति । एतदेव सामान्यतो ग्रहणम् । (पासत्थेत्यादि) पार्श्वस्थे यत्र स्थाने यत् अणिन प्रायश्चित्त त-

स्मिन् स्थाने यथाच्छन्दो विवर्कित-विशेषेण वर्कित, जाहीहि । तच्च तथैवानन्तरमुपदिशितम् । कस्मादि वर्कित जानीहि इति चेत् ? उच्यते-प्रतिसेवनात् प्ररूपणाया बहुदोषत्वात्, इह पार्श्वस्थत्वं प्रयाणमपि सम्भवति । तद्यथा-जिज्ञोर्गणावच्छेदिनः, आचार्यस्य च । यथाच्छन्दत्व पुनर्जिज्ञोरेव । तत् पार्श्वस्थविषय सूत्र त्रिसूत्रात्मक यथाच्छन्दविषय त्वेकस्वरूपमिति ।

सम्प्रति कुशीलादीना प्रायश्चित्तविधिमतिदेशन आह-
पासत्ये आरोपण, ओहविजागेण वन्निषा पुर्वं ।
सर्वे वि निग्वसेसा, कुर्मीलमादीण नायन्वा ॥

यैव पूर्वं पार्श्वस्थे प्रायश्चित्तस्योद्येन, विजागेन वाऽऽरोपणप्रदानमुपवर्णिता, सैव निरवशेषा ओद्येन, विजागेन च ज्ञानव्या । यत्र तु विशेष स तत्र तु वदयते । गत यथाच्छन्दसूत्रम् । व्य० १ उ० । भ० ।

जे भिक्खू अहाडं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ ॥१८८॥

जे निक्खू अहाडं वंदइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥१८९॥

अहच्छदस्ति यकाररूपव्यञ्जनलोपे कृते, स्वरेव्यवस्थिते च प्रवर्तते । उच्छोऽभिप्राय, यथाऽस्याभिप्रेत तथा प्रज्ञापयन् अहाच्छदो भवति । तं जो पससति, वदति वा तस्स चउगुरुग, आणादिया य दोसा । (नि० चू०) (इतोऽग्रे व्यवहारेण गतार्थे)

कारणे पुन पससति वदति वा-

वितियपदमणप्पज्जे, पसम अविकोविते व अप्पज्झो ।

जोऽणते वावि पुणो, भयसा तव्वादि गच्छट्ठा ॥१९१॥

अहाच्छदो कोइ राइस्सिओ, तम्भया त पससति, वदति वा (तव्वादि स्ति) कश्चिदेव वाढी प्रमाण कुर्यात्-अहाच्छदो न वन्थो, नापि प्रशस्यः, इति प्रतिज्ञा कस्माक्तेतो ? । उच्यते-कर्मबन्धकारणत्वात् । को दृष्टान्त ? अविरतमिथ्यात्ववन्दनप्रशंसनवत् । ईदृशप्रमाणस्य दूषणेन दोषमात्रहानि प्रशंसनवन्दनप्ररूपण कुर्वन् (गच्छट्ठा स्ति) कोइ अहाच्छदो ओमाइसु गच्छरक्खण करेति, त वदति पससति वा, ण दोसो । नि० चू० ११ उ० । आचार्ये यथाच्छन्दे जानेऽन्यत्रोपसपत् । व्य० ४ उ० ।

अहाडविहारि (ए) यथाउन्डाविहारिन्-पु० । आजन्मापि यथाच्छन्दे, न० १० श० ४ उ० ।

अहाजाय-यथाजात-न० । यथाजात नाम यथा प्रथमतो जनन । जन्मनिर्गतो, यथा च श्रमणो जातस्तथैव जातत्वक्रमेण दीयमाने वन्दनके, वृ० ३ उ० । यथाजात जन्म श्रमणत्वमाश्रित्य, योनिनिष्क्रमण च, तत्र रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोत्पट्टकमात्रया श्रमणो जात, रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गत, एवम्भूत एव वन्दति, तद्व्यतिरेकाच्च यथाजात भण्यते कृतिकर्मवन्दनम् । आव० ३ अ० । यथाजन्त-जात जन्म, तच्च देधा-प्रसव प्रव्रज्याग्रहण च । तत्र प्रसवकोले रचितकरसपुटो जायते, प्रव्रज्याकाजे च गृहीतरजोहरणमुखवस्त्रिक इति । अत एव रजोहरणादीनां पञ्चानां शास्त्रे यथाजातत्वमुक्तम् । तथा च तत्पाठ - " पच अहाजायाः, चोदयपट्टो १ तहेव रयहण २ । उस्सिअ ३ जोमिअ ४ निस्सिअ-जय-जुअल तह य मुहपोत्ती ॥१॥ यथा जातमस्य स यथाजात, तथाभूत एव वन्दते, इति वन्दनमपि यथाजातम् । ध० १ अधि० ।

अहाणुपुन्वी-यथानुपूर्वी-स्त्री० । यथाक्रमे, ज्यो० २ पाहु० । "अहाणुदुव्वीए स पत्थिया" । रा० ।

अहातच्च-यथातच्च-न० । अभिधानार्थानतिक्रमे, अन्वर्थसत्यापने च । स्था० ५ ठा० १ उ० । दशा० । शब्दार्थानतिक्रमे तत्त्वानतिक्रमे च । भ० २ श० १ उ० । स्या० ।

यथातथ्य-न० । सत्ये, कल्प० ६ ज्ञ० व्य० । एकान्ततः यथा येन प्रकारेण तथ्य सत्य, 'तच्च वा' तेन यो वर्ततेऽसौ यथा-तथ्यो 'यथातच्च' वा । दृष्टार्थाविसर्वादिनि, फलाविसर्वादिनि च स्वप्नप्रेदे, भ० । तत्र दृष्टार्थाविसर्वादी स्वप्न, किल कोऽपि स्वप्न पश्यति-यथा-मह्य फल हस्ते दत्त, जागरितस्तत्तथैव पश्यतीति । फलाविसर्वादी तु किल कोऽपि गोवृषकुजराद्यारूढमात्मान पश्यति, वुरुश्च कालान्तरे सम्पद लभत इति । भ० १६ श० ६ उ० ।

अहापज्जत्त-यथापर्याप्त-त्रि० । ग्रथालब्धे, अणु० ३ वर्ग० ।

अहापडिरूव-यथाप्रतिरूप-त्रि० । उचिते, औ० । नि० चू० । येन प्रतिरूपेण साधूचितस्वरूप तस्मिन्, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अहापणिहिय-यथाप्रणिहित-त्रि० । यथाऽवस्थिते, "अहापणिहिण्हि गाण्हि" भ० ३ श० २ उ० ।

अहापरिगहिय-यथापरिगृहीत-त्रि० । परिग्रहणानुरूपेण स्वीकृते, "अहापरिगहियाइ वत्थाइ धारेज्जा" । आचा० १ भु० ८ अ० ४ उ० ।

अहापरिष्साय-यथापरिज्ञात-त्रि० । परिज्ञानानुरूपेणाभ्युपगते, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । "अहापरिष्सातं वसामो" यथापरिज्ञात यावन्मात्र क्षेत्रमनुजानीते भवान् तावत्क्षेत्रम् । आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अहापवत्त-यथाप्रवृत्त-न० । येनैव प्रकारेणानादिकाहेऽभूत् तेनैव प्रवृत्तवद् नाप्राप्तपूर्वस्वभावान्तरप्राप्ते, पञ्चा० ३ विव० ।

अहापवित्तिकरण-यथाप्रवृत्तिकरण-न० । यथाप्रवृत्तस्य कारणे सम्यक्त्वानुगुणे करणभेदे, कर्म० ५ कर्म० । अष्ट० ।

अहापवित्तिसंकम-यथाप्रवृत्तिर्मक्रम-पु० । यथा यथा जघन्यमध्यमेत्कृष्टानां योगानां प्रवृत्तिस्तथा तथा सक्रमणे, प० स० ५ द्वार । क० प्र० । ('सकम' शब्दे विवरिष्यते)

अहावायर-यथावादर-त्रि० । असारे, भ० ३ श० १ उ० स्थूलप्रकारे, "अहावायराइ कम्माइ" भ० ६ श० १ उ० । कल्प० । यथोचितवादरे आहारपुत्तले, प्रति० ।

अहावीय-यथावीज-न० । यद् यस्योत्पत्तिकारण, तस्मिन्, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अहावोह-यथावोध-अ० । बोधानतिक्रमे, ध० १ अधि० ।

अहाभइग-यथाभइक-पु० । साध्वनुकूले श्रावके, वृ० १ उ० । आव० । शासनबहुमानवति, वृ० १ उ० ।

अहाभाग-यथाभाग-अव्य० । यथाविषये, दशा० ५ अ० ।

अहाज्यू-यथाज्यू-पु० । तात्त्विके, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अहामग-यथामार्ग-अव्य० । ज्ञानादिमोक्षमार्गानतिक्रमेण क्रयोपशमजावानतिक्रमे, दशा० ७ अ० ज्ञा० स्था० । श्रौदयिकमावापगमे, स्था० ७ ठा० व्य० । कल्प० । भ० ।

अहारायणिय-यथारानिक-अध्य० यथा यथा ग्लेराधको न-
वेत्तदननिक्रमे ५० ३ ३० । "अहारायणिय गामाणुगाम दू-
इजेजा " आचा० २ ५० ३ अ० ३ ३० ।

अहारि (ए)-अहारिन्-वि० । मनमोऽनिष्टे, आचा० १ ५०
६ अ० २ ३० ।

अहारिय-यथर्जु-अध्य० ऋजुताऽननिक्रमे "अहारियविप्लो"।
यथा ऋजु भवति तथा गच्छेद्, नार्क्षितर्द्, विकार वा कुर्वन्
गच्छेत् । आचा० २ ५० ३ अ० २ ३० ।

यथारीत-अध्य० । रीत रीति, स्वभावा इत्यर्थः । नदननिक्रमे-
ण यथारीतम् । स्वभावाननिक्रमे, "अहारीय रीयड" यथारीत
रीयने गच्छति, यथा स्थानाधिकारिकशरीरगत्या गच्छन्तीत्य-
र्थः । अ० ५ ३० २ ३० ।

यथार्ह-वि० । यथोचिते, स्या० २ ३० १ ३० । यथार्ह या य-
स्योचिता लोकयात्रा-लोकोचितानुवृत्तिरूपो व्यवहारः, सा
विधेया । यथार्हलोकयात्राऽतिक्रमे हि लोकचित्तविराधनेन ते-
षामात्मन्यनादेयतया परिणामापादनेन स्वस्वायमेवेत्पादित
भवति । एव चान्यस्यापि स्वगतस्य सम्यगाचारस्य सधुत्व-
मेवोपनीत स्यादिति । उक्तं च-" लोक खट्वाधारः, सर्वेषां
धर्मचारिणां यस्मात् । तस्माज्जोकयिरुद्ध, धर्मयिरुद्ध च सत्या-
ज्यम् " ॥ ३३ ॥ अ० १ अ० १ । औचित्ये, यो० १० वि० ० ।

अहलंद-अथ (यथा) लन्द-पु० । यावन्मात्रे काले, आचा०
२ ५० ७ अ० १ अ० । अथेत्यवयवम्, सन्दर्भेन काल उच्यते ।
तत्र यावन्मात्रे कालेनोदकार्क करः शृण्वति, जघ-यतस्तावति का-
ले, कल्प० ८ क० ।

मेदा -

हंदं तु होइ कात्रो, सो पुण लकोसमज्झिमज्झो ।

लदउल्ल करो जाविह, सुकइ सो होइ ल जहन्नो । ६१६ ।

सन्द तु भवति कात्र । समयपरिज्ञापया लदशब्देन कालो भ-
यत इत्यर्थः । स पुन कात्रस्त्रिधा-उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च ।
तत्र उत्कृष्टं करो यावन्मात्रे कालेन इह सामान्येन लोकेषु शृ-
ण्वति, तावान् कालविशेषो जघति जघन्यः । अस्य च जघ-यत्व
प्रत्याख्याननिषमविशेषादिषु विशेषत उपयोगिन्वान्, अन्यथा-
ऽतिसूक्ष्मतरस्यापि समयादिलक्षणस्य सिद्धान्तोक्तस्य कालस्य
संज्ञावात् ।

उकोम पुज्जकोमी, मज्जे पुण हंति ऐगउणाइ ।

इत्थ पुण पंचरत्तं, उकोसं होइ अहलंद ॥ ६२० ॥

उत्कृष्टः पूर्वकोटीप्रमाण, अयमापि चारित्रिकात्ममानमाश्रित्य
उत्कृष्ट उक्त, अन्यथा पल्योपमादिरूपस्यापि कालस्य सम्भवात् ।
मध्ये पुनर्जघन्यनेकानि स्थानानि वर्णादिभेदेन कालस्य । अत्र
पुनर्यथालन्दकस्य प्रक्रमे पञ्चरात्र यथेत्यागमानतिक्रमेण सन्द-
काल उत्कृष्ट भवति, तेनैवाधोपयोगात् ।

जम्हा उ पंचरत्तं, चरंति तम्हा उ हंति अहलंदी ।

पचेव होइ गच्छो, तेमि उकोमपरिमाण ॥ ६२१ ॥

यस्मात्पञ्चरात्र चरन्ति पेटार्क, पेटाग्न्यतमाया वीर्यां भैकनि-
मित्त पञ्च रात्रिदिवान्यटन्ति नस्माद्भवन्ति यथालन्दिन विव-
क्षितयथालन्दभावात् । तथा पञ्चवै पुरुषा भवन्ति गच्छो गण ,

तेषां यथालन्दिनानां पञ्चको हि गणोऽसु कल्प प्रतिपद्यते
इति उत्कृष्टमेकैकस्य गणस्य पुरुषपरिमाणमेनादित ।

अथ यदुत्कृष्टस्याशिरवशेषाभिधाने ग्रन्थगौरवप्रसक्त्या
यथालन्दिनकल्पस्यातिदेशमाह-

जा चेव य जिणकप्पे, मेग सा चेव हादियाण पि ।

नाणन पुण सुने, भिक्खायणि मामरुप्पे य ॥ ६२२ ॥

यैव च जिनकल्पे जिनकल्पविषया ' मेग ' मर्यादा पञ्चवि-
धतुलनादिरूपा, मैव च यथालन्दिनानामपि प्रायशः नाना-
जेदा पुनर्जिनकल्पिकेभ्यो यथालन्दिनानां मूले मूलाविषये
तथा जिज्ञासयायां, मासकल्पे च । चक्राग-प्रमाणविषय चेति
अथानिदेशपूर्वकमल्पयत्तन्त्यान्वयप्रथम मासकल्पनाना वमेवाह

अहलंदियाण गच्छे, अप्पभिवद्धाण जह जिणाणं तु ।

नवरं कात्तविमेमो, उउवासे पणगचउमासो ॥ ६२३ ॥

यथालन्दिनका हिंसा गच्छे प्रतिपद्य अतिप्रतिपद्य । गच्छे च प्रति-
पद्योऽर्था काग्न्यन, किञ्चिदधुनस्यार्थस्य अथवार्थमिति स
तव्यम् । ततो यथालन्दिनानां गच्छे अतिप्रतिपद्यानाम, उपलक्षण
त्यान्प्रतिपद्यानां च, ' नयेण सत्तेण ' इत्यादिनाऽनारुपा मर्यादा
सामाचारः । यथा जिनकल्पिकानां पूर्वमुक्ता, तथैव समयमेया
' नवर ' केवल द्विविधानामपि यथालन्दिनानां जिनकल्पिकेभ्य
काले कालविषये विशेषो भेदो ज्ञानव्यः । तमेवाह- (उउवासे
पणगचउमासो ति) ऋतौ ऋतुवर्ककाले, वर्षं वर्षकाले च, य-
थासत्य दिनपञ्चक मानचतुष्टय त्रैकत्रायस्थान भवति । इयम्
त्र भावना-ऋतुवर्के काले यथालन्दिनकल्पाधयो यदि विस्तीर्णे
ग्रामादिभवंति, तदा न गृहपट्टिरूपानि यम्भिर्बोधाभिः परिक-
ल्प्य एकैकस्या वीर्यां पञ्च दिवसानि जिक्रामटन्ति, तत्रैव च
वसन्ति । एव यम्भिर्बोधाभिरेकस्मिन् ग्रामे मासः परिपूर्णो जघ-
ति । तथाविधविस्तीर्णग्रामाभावे तु निकटनमेव गच्छु ग्रामे
पञ्चपञ्चदिवस वसन्ति । उक्तं च कल्पजाप्ये-

एकेक पंचदिणे, पण पण ऊ निट्ठिओ मागो । पं० जा० ।

एनच्छूर्णिअ-"जइ एगो चेव मासो सविचारो ति विट्ठिओ
तो उव्वीहीओ काउ एकेकाए पच्च एव दिवसाणि हिडन्ति । विइ
याए वि पच्चदिवसे० जाव उव्वीए वि पच्चदिवसा । एव एगामे
मासो भवइ । अह नत्थि एगो मासो सविचारो, नो हव जहालन्दि-
याण कृगामयित्तस्स परिपेरत्तेण नेसि एक्केक्क पच्चदिवसाणि
अत्थन्ति । एव मामो विभिज्जमाणो पण पण निट्ठिओ होइ ति ।"

अथ यथालन्दिनानामेव परस्पर जेदमाह-

गच्छे पभिवद्धाणं, अहलंदीण तु अह पुण वितेसो ।

ओगह जो नेसिं तु, सो आयरियाण आभवइ ॥

गच्छप्रतिपद्यानां पुनर्यथालन्दिनानां गच्छप्रतिपद्येऽयः सका-
शाद् विशेषो भेदो भवति । तमेवाह-नेषा गच्छप्रतिपद्यथा-
लन्दिनानां यत्कोशपञ्चकलक्षणक्षेत्रावग्रहः, स आचार्याणामेव भ-
वति । यस्याऽऽचार्यस्य निधया ने विहरन्ति तस्यैव स क्षेत्रावग्र-
हो जघतीति भावः । गच्छप्रतिपद्यानां तु जिनकल्पिकवत् जे-
त्रावग्रहो नास्तीति ।

अथ द्विविधानामपि यथालन्दिनानां जिक्राचर्यानां ताव-
विचक्षुगह-

एगवसहीए पणगं, उव्वीहीओ य गाप्पे कुव्वन्ति ।

दिवसे दिवसे अन्नं, अमतिं वार्द्धीषु नियमेण ॥६९५॥

ऋतुवक्षे काले एकस्यां वसतौ पञ्चक पञ्च दिवसानि यावद-
वतिष्ठन्ते । वर्षीसु पुनश्चतुरो मासान् यावदेकस्या वसतौ ति-
ष्ठन्ति । ग्रामे बद्धांश्च कुर्वन्ति । अयमर्थः—यथालन्दिका गृहप-
ङ्क्तिरूपाभिः वृक्षजिर्वीथीभिर्ग्रामं परिकल्पयन्ति । एकैकस्या च
वीथ्या पञ्च पञ्च दिवसानि भिक्षां पर्यटन्ति । तत्रैव च वसन्ति
विदधति । उक्तं च पञ्चकल्पचूर्णौ—“अन्नाग्रे गामो कीरह, एगेगो
पचदिवस भिक्षव हिडन्ति. तत्थेव वसन्ति वासासु एगत्थ चउ-
म्मासो त्ति” । तासु च व्रीथीषु दिवसे दिवसे नियमतोऽन्यामन्या
भिक्षामटन्ति; चट्टत्तादिभिर्ज्ञापञ्चकमध्यादेकस्मिन् दिवसे या
भिक्षामटन्ति न पुनर्हिनीयेऽपि दिने तामेवाटन्ति, किन्त्वन्यामन्या-
मिव भावः । इत्थं तावदस्मान्निर्व्याख्यातं, सुधिया तु समया-
विराधेनान्यथाऽपि व्याख्येयमिति ।

अथ सूत्रनानात्व निर्दिदिक्षुर्यथालन्दिक्नेदानेनाह-

पमित्रज्ज्ञा इयरे वि य, इक्षिका ते जिणाय थेराय ।

अत्यस्स उ देसम्मि य, असमत्ते तेसि पमिवधो ॥६५६॥

यथालब्धिका द्विविधा — गच्छप्रतिबद्धा, इतरे च गच्छा-
प्रतिबद्धा । ते पुनरेकैकशो द्विभेदा — जिनकल्पिका स्थवि-
रकल्पिकाश्च । तत्र यथालब्धिककल्पपरिसमाप्त्यनन्तर ये जि-
नकल्प प्रतिपन्थन्ते ते जिनकल्पिका, ये तु स्थविरकल्पमेवाश्र-
यिष्यन्ति ते स्थविरकल्पिका । इह च ये गच्छे प्रतिबद्धास्तेषां
प्रतिबन्धो अनेन कारयेन भवति — (अत्यस्सेत्यादि) अर्थस्यैव, न
सूत्रस्य, देश एकदेशोऽद्याप्यसमाप्तो, न गुरुसमीपे परिपूर्णो गृ-
हीत इति तद्ग्रहणाय गच्छे प्रतिबन्ध, तेषां तस्यावश्यं गुरुसमी-
पे ग्रहीष्यमाणत्वादिति ।

अथ परिपूर्णं सूत्रार्थं गुरुसमीपे गृहीत्वैव कथं कल्पं न
प्रतिपद्यन्त इत्याह-

लग्गाडसु चरंते, तो पमिवज्जित्तु खेत्तवाहिनिआ ।

गिएहवि ज अगहिंयं, तत्थ य गंतूण आयरिओ॥६५॥

तोमिं तयं पयच्छइ, खेत्तं इताण तेसिमे दोस्त ।

वदतमवदने, लोगम्मी होइ परिव्राज्यो ॥ ६२७ ॥

न तरेज्ज नई रातुं, आयरिओ ताहि एइ सो चेव ।

अंतरपल्लि पमिवम-जगायवसहिं य वसहिं वा ॥६१६॥

तीए य अपरिजोगे, ते ब्रंढने न बढई सो उ ।

तं घेतुमपमिवष्ठा, तादृि जहिच्छाणं विद्गंति ॥६३०॥

लघ्नादिषु न्वरमाणेषु शृम्भेषु वृषयोगवन्धवन्धादिषु ऊगित्यागनेषु
सन्धु अन्येषु च लग्नादिषु दूरकालवर्तिषु न तथा भव्येषु वा
गृहीतापरिपूर्णमूत्रार्था अपि वृषनाडिप्रव्यनया कल्प प्रतिपद्यन्ते ।
तत्र प्रतिपद्य न कल्प गच्छाधिर्गन्ध गुर्वधिष्ठितात् क्षेत्रप्रामनग-
रादेर्द्दिर्दृग्देशे स्थिता विशिष्टतरनिष्ठुरनिखिन्ननिजानुष्ठाननि-
रता गृह्णन्ति यद्गृहीतमनधा नमर्थज्ञ न तत्र चाय विधि -यदुत-
आचार्य स्वय तत्र गन्वा नेभ्यो यथावद्विन्दकेभ्यः (नय नि) तम-
र्थं शेष प्रयच्छति वदति । अथ न एवाचार्यसमीपमागत्य किमि-
ति नमर्थशेष न गृह्णन्तीत्याह-(त्रेन इनाणेत्यादि) क्षेत्रमध्य स-
मागच्छता नेषा यथावद्विन्दकानाम् एने वक्ष्यमाणा द्रोषा । नथाहि-
चन्द्रमानेषु गच्छत्रासिषु माधुषु अवन्तमानेषु च कट्टपस्थितेषु लो-
कमध्ये परिवाटो निन्दा प्रवृत्ति । नथाहि-यथावद्विन्दकाना कल्प-

स्थित्यैव आचार्यं मुक्त्वा अन्यस्य साधो प्रणाम कर्तुं न कल्पते, गच्छसाधवश्च महान्तोऽपि तान् वन्दन्ते, ततो लोको वदेत्-यथा दुष्टशीला निर्गुणाश्च एते, येन अन्यान् साधून् वन्दमानानपि न व्याहरन्ति, न वन्दन्ति वा । गच्छसधन्विन्साधूनां वा उपरि भ्रष्टत्वाऽऽज्ञा भवेत्-अवश्यमेते दुःशीला निर्गुणाश्च, ये न वन्दन्ते, आत्मार्यिका वा एते, येन अप्रतिवन्दमानानपि वदन्ते' इति । अथ यदि जहावलक्षीणतया तत्सकाशं गन्तुं (न त-रेज्जं सि) न शक्नुयात् । आचार्यस्तदा एति आगच्छति । केत्या-ह-अ-तरपल्लीं मूलक्षेत्रात् सार्धद्विगव्यूतिस्थ ग्रामविशेष, यद्वा, प्रतिवृषभग्रामाद् मूलक्षेत्राद् द्विगव्यूतिस्थात् भिक्षाचार्याग्रा-मान्, अथ वा बहिर्मूलक्षेत्राद् मूलक्षेत्र एव वा अन्यवसति, वाशब्दात् मूलवसतिम् । इयमत्र जावना-यथाचार्यो य-थालान्दिकसमीपे गन्तुं न शक्नोति तदा यस्तेषां यथालान्दि-कानां मध्ये धारणाकुशलः, सोऽन्तरपल्लीमागच्छति, आचार्य-स्तु तत्र गत्वा अर्थं कथयति । अत्र पुनः साधुसघाटको मूल-क्षेत्राद्भक्त पानं गृहीत्वा आचार्याय ददाति, स्वयमाचार्य-स-न्यासमये मूलक्षेत्रमायाति । अथान्तरपल्लीमागन्तुं न शक्नोति तदा अन्तरपल्लीप्रतिवृषभग्रामयोरन्तरालं गत्वा अर्थं कथय-ति । तत्रापि गन्तुं शक्यभावे प्रतिवृषभग्रामे, तत्रापि गन्तुमशक्ते प्रतिवृषभग्राममूलक्षेत्रयोरन्तराले, तत्रापि गन्तुमसामर्थ्ये मूल-क्षेत्रस्यैव बहिर्विजने प्रदेशे, अथ तत्रापि गन्तुमसमर्थस्तदा मूलक्षेत्रमध्य एवान्यस्या वसतौ गत्वा, तत्रापि गमनशक्यभावे मूलवसतावेव प्रच्छन्नमाचार्यस्तस्मै यथालान्दिकायार्थशेषं प्रय-च्छतीति । उक्तं च कल्पचूर्णे-"आयुरिष सुप्तपोरिसि अत्यपो-रिसि च गच्छे नियाण दाउ अहालदियाण सगाम गतु, अथ सा-रेह । अह न तरह, दो वि पोरिसीओ दाउ गतु तो सुप्तपोरिसि दाउ वच्छह, अत्यपोरिसि सीसेण दवावेह । अत्यसुप्तपोरिसि पि दातु गतु न तरह, तो दो वि पोरिसीओ सीसेण वा-यावेह अप्पणा अहालदिण वापह । जह न सकेह आयुरिओ केत्तपहि अयालदियसगास गतु, ताहे जो तेसि अहालदि-याण धारणाकुसलो सो अतरपल्लिआसओ केत्तवसहिं एति, आयुरियो तस्स गतु अथ कहति । एथ पुण सगामो भत्त-पाण गहाय आयुरियस्स नेह, गुरु वेयालिय पडिण इति । एव पि असमर्थे गुरु अतरपल्लियाए पडिवसमगामस्स य अतर-वाएइ सि । असति पडिवसमे वाएइ, असति पडिवसभस्स घासगामस्स य अनरा वापसि, असति वसभगामस्स बहियाए वापति । अतरने सगामे अस्माए वसहीए, अतरने एगवसही-ए चेव अपरिभोगे उवासे वापति इत्यादि" ॥ (तीए य अपरभो-गो सि) तस्यां च मूलवसतायपरिभोगे तथाविधजनाकीर्णे स्थाने, तेभ्योऽर्थशेषं प्रयच्छतीति योगः । तत्र च ये ग-च्छसाधवो महान्तोऽपि यथालान्दिकं वन्दते, स पुनर्यथाल-न्दिकस्ताश्च वन्दत इति । एव तमर्थंशेषं गृहीत्वा परिनिष्ठितप्र-योजनत्वाद् गच्छे अप्रतिवक्ताः सन्तो यथालान्दिकां खेच्छया स्वकल्पानुरूपं विहरन्ति निजकल्पं परिपालयन्ति इति । प्रव० ७० द्वार । व० । ध० । विशेष ।

अथ जितकल्पिकस्थानिककल्पिकभेदभिन्नानां परस्परं
विशेषमाह-

जिणकप्पिया य तद्धियं, किंवि तिगच्छं पि ते न कारिति ।
निप्पमिकम्मसुरीरा, अवि आच्छिमहं पि नऽवप्येति । ६३१ ।
जिनकल्पिका अ ययाहन्दिक्का, तदा कल्पकाहो मारणान्तिकेऽ

अहलंद

प्रातरे समुत्पन्ने, न कामवि चिक्विरसा ते काव्यन्ति, तथाक-
ल्पस्थिते । अपि च-निष्पन्निकर्मशरीरा प्रतिकर्मरहितदेहास्ते
नगवन्तस्तत आस्तां तावद्वन्त, अकिमलमपि नापनयन्ति, अ-
प्रमादालिप्तादिति ।

येराणं नाणत्तं, अतरंते अप्पिणंति गच्छस्स ।

ते वि य से कासुणं, करिंति सत्वं पि पमिकम्पं ॥६३॥

स्विरकल्पिकयथाहन्दि कानां जिनकल्पिकयथाहन्दिनेयो ना
नात्व भेदः, यथा अश्वनुयन्ते व्याधिवाधिन मन्त समाधु-
मयेयन्ति गच्छन्त्य गच्छपासिमाधुममूदस्य स्वकीय पञ्चकग-
णपरिपूर्णाथं च तस्य स्थाने विशिष्टभूतसहननादिसमन्वित-
मयं मुनि स्वकल्पे प्रयेयन्ति । तेऽपि च गच्छपासिमाधु-
म (से ति) तस्य अश्वनुयन्तः प्राशुकेन निरूपयेनात्पाना-
दिना कुर्वन्ति सर्वमपि परिकर्म प्रतिज्ञागणमिति ।

विश्व—

एकेषपरिगहगा, मप्पाउरणा हवन्ति येराओ ।

जे पुण ति निणरूपे, नावे सि वन्धपायाणि ॥६३॥

स्वविरकल्पिका यथाहन्दिना कययमेव एवैकपदप्रदका.
प्रत्येकमेकैकपदप्रदधारिण, तथा मप्पाउरणा अर्थात् । ते
पुनरेवा यथाहन्दिनां जिनकल्पे मदिशति, जिनकल्पिक-
यथाहन्दिना इत्यर्थः । नावे तेषां वन्धपात्रे मप्पाउरणा प्राय-
रणपदप्रदधारिणाणिनाममेकमिष्टमायिजिनकल्पावेत्तया के-
पाविहन्तपायलक्षणमुपकरणं भवति, केषां च नेत्यर्थः । प्रप०
३० द्वार । ३० ।

अथ सामान्येन यथाहन्दिनाप्रमाणमाह—

गणमाणओ जहन्ना, निमि गण तयगसो य उणोमा ।

पुरिणपमाणे पनरस, सहस्ससो चेव उणोसो ॥ ६३४ ॥

गणमानतो गणमाधिय जघन्यतत्त्वो गणाः प्रतिपद्यमान-
का भवन्ति । शनाप्रशदन शमपृथक्यमुत्तरणो गणमानं, पुरुष-
प्रमाण त्वेतेषा प्रतिपद्यमानकानां जघन्यत पञ्चदश, पञ्चको
हि गणोऽमु कल्प प्रतिपद्यते । गणश्च जघन्यतत्त्वः, तत्.
पञ्चमिगुणिता. पञ्चदश, बह्वृष्टनः पुन पुन्यप्रमाणं सहस्रश
सहस्रपृथक्यम् ।

पुरुषप्रमाणमेवाधिय पुनर्यिहोवमाह—

पादेवजमाणगा वा, इकाइ ह्वेज ठणपसवे वि ।

होति नहन्ना एण, मयगसो चेव उणोसा ॥ ६३४ ॥

पुण्वपमिवन्नगाण वि, उणोसजहन्नमो परीमाणं ।

कोमिपहुच जणिय, होइ अह्लादियाणं तु ॥६३॥

प्रतिपद्यमानका एते जघन्यत एकादयो वा प्रयेयुर्नूनप्रक्षेपे स-
ति, यथाहन्दिनाकल्पे हि पञ्चमुनिमयो गच्छः, तत्र च यथा गान-
त्वादिकारणशरीरो गच्छसमपण्णादिना तेषा न्यूनता भवति त-
दैकादिक. नाधुस्त कल्प प्रवेदयते, येन पञ्चको गच्छो भवति, एव
जघन्यापक्षे. प्रतिपद्यमानकास्तथा शनाप्रश उच्छ्रष्टाः प्रतिपद्य-
मानका एवेति ॥६३४॥ पूर्वप्रतिपद्यमानमपि सामान्येनोच्छ्रष्टो ज-
घन्यतश्च परिमाण कोटिपृथक्य जणित भवति यथाहन्दिनामा
उक्त च कल्पचूर्णी—“पादेवजमाणगा जहन्नेण तिग्नि गणा, उणो-
सेण सयपुहत्त गणाण पुरिसण्यमाणेण पमिवजमाणगा, जहन्नेण
२१८

पनरस पुन्मा उणोनेण सहस्सपुहत्त पुण्वपमिवन्नगाण जह-
न्नेण कोमिपुहत्त. उणोनेण वि कोमिपुहत्तमिति । केवल जय-
म्याहु-रुष्ट विशिष्टतर देवमिति । प्रप० ३० द्वार । ३० ।

अथ गच्छप्रतिपद्यमानादिवहन्माह—

पादेवज्जे को दोमो, आगमणेगागिणस्स वातासु ।

सुपसयणणाओओ, मो चेव गमो निग्वसेसो ॥

प्रतिपद्यमान प्रतिपद्य, गच्छप्रतिपद्य इत्यर्थः । तत्र कारणे यथा-
हन्दिनां च यथाहन्दिना (को दोमो ति) को नाम दोषो भवति य-
से यथाहन्दिना आचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे न तिष्ठन्ति । (साममणेगा-
गिणस्स ति) यथाचार्याः स्वय क्षेत्रपरिगमं तु न शक्नुवन्ति तत्र
एकान्तो यथाहन्दिनागमन भवति (वातासु ति) यथासु
उपयोगं दृष्ट्वा यत्र जानानि यत्र न पतिष्यन्ति तत्र भागच्छति, अ-
न्यथा तु नेति । पुनसहननादिकस्तु गमः स एव निरूप्यते य-
त्तस्यो यो जिनपदिकानाम्, यस्तु विज्ञेय स प्रागेवोक्तः ।

अथ प्रतिपद्यमानं व्याख्याने—

सुतन्यमारसेसो, पमिवथो तेभिमो जने कप्पो ।

आचार्ये किंरुम्मं, ज्ञानं वदिया य वमहीए ॥

सूत्रार्थस्यैव ह्येतत् परमपाणि साधनेषो न संपूर्णः, एव तेषां ग-
च्छप्रतिपद्यमानं च । तेषां चाय वदयमाण वदो, यथा-आचार्य-
स्यैव एतिकर्म पन्दनक दातव्यं, तथा-यथाचार्यो न शक्नोति
गम्तु ततोऽतथा या प्रामस्य, यद्विषां पमती, यथाहन्दिनास्य
याचर्गो ददाति । पनसूतस्य भाषयिष्यते ।

अथ को दोष इति द्वारं शिष्यं पृच्छति । यथाऽऽचार्याधि-

ष्ठिते क्षेत्रे ते तिष्ठेयुस्मन्त को दोषः स्यात्? उच्यते—

नमणं पुण्वन्भासा, अणमण दुस्सीलपपगासका ।

आयउ कुमुमसि य वाटो लोगे त्रिड चेव ॥

यथाहन्दिनाना न यस्मिन् आचार्यं मुक्त्या भयस्य साधो-
प्रणाम कर्तुं, तथाकल्पात् । नन्मन्ने क्षेत्रान्तरास्तुन्न पूर्वाच्या-
साधमन प्रणाम साधूनां कृतं, गच्छपासिनश्च यथाहन्दिनान्
पन्दन्ते ते पुनर्यथाहन्दिनास्मान् भूयो न प्रतिपद्यन्ते, ततस्तेषा-
मनमने लोको प्रपात-दुःशीला अशीला सन्मन्मन्त्रा अमी, य-
तोऽयेषामिधयन्मानानामपि न प्रतिपद्यन् प्रयच्छन्ति, न या
कमप्यालाप कुर्यान्ति । गच्छपासिषु या लोकस्य स्थाप्यकत्तान
भवति-अयस्य स्याप्या दुःशीलत्याजघन्यनीया. कृता समी,
अन्यथा कथ न प्रतिपद्यन्ते । आत्माधिका या अमी येनाप्रतिपद्यन्-
मानानां पन्दन्ते, कौकुटिका या मागृस्थानकारिणोऽमी लोक-
पङ्क्तिनिमित्तमस्य पन्दन्ते । एव लोके याद् उपजायते, कारणैः
क्षेत्र्याहस्तिष्ठन्ति । अपि च स्थितिरेव कल्प पद्यायममीषां, यत्
क्षेत्रान्य तरे न तिष्ठन्ति ।

अथार्थापामेय कल्पमाह—

दोभि वि दाउं गमण, धारणकुसलस्स देस्स वहि देइ ।

कड्कम्पं चोलपट्टे, ओवगहिया निसिज्जा य ॥

आचार्यः सूत्रार्थपौकष्यो हे अपि गच्छपासिनां दृष्ट्वा यथाहन्दि-
नानां समीपे गमन करोति, गत्या च तत्र तेषामर्थं कथयति । अ-
थाचार्यो न शक्नोति तत्र गन्तु ततो यस्तेषा यथाहन्दिनाना मध्ये
धारणाकुशलोऽधारणाशक्तिमान, क्षेत्रवहिरन्तरा पक्षिकायाः प्र-
त्यामन्ने भूनामे समायाति, तत्र च गत्या आचार्यस्तस्यार्थं ददा-

ति । स च श्रुतभक्तिहेनोराचार्याणां कृतिकर्म वन्दनक दत्त्वा चोल-
पट्टकठितीय औपग्रहिक्यां निषद्यायामुपविष्टश्चार्थं शृणोति ।

अथ " दोष्णि वि दाउ गमण " इत्येव दर्शयन्नाह-

अत्थं दो च अदाउं, वच्च वायावए व अणेणं ।

एव ता उउवच्चे वासासु य काउमुवओगं ॥

यथाचार्यो द्वे अपि पौरुष्यौ दत्त्वा गन्तु न शक्नोति ततोऽर्थ-
मदत्त्वा, तथाऽप्यशक्तो द्वावपि सूत्रार्थावदत्त्वा व्रजति, अन्येन
वा शिष्येण स्वशिष्यान् वाचयति वाचनां दापयति । अथाचार्य-
स्तत्र गन्तुमशक्तस्ततो यथाहान्दिक सूरिसमीपमायाति, एवं ता-
वत् ऋतुवद्धे रुष्टव्यम् । वर्षासु, चशब्द पुनरर्थे । वर्षासु पुनरय वि-
शेषः-उपयोग कृत्वा किं वर्षे पतिष्यति नवेति विमृश्य यदि
जानाति पतिष्यति ततो न आचार्याणां समीपमायाति ।

अथ गुरवस्तत्र गता कथं समुद्दिशन्तीत्याह-

संघामो मग्गेणं, जत्तं पाणं च नेइ उ गुरुण ।

अच्छुएहं थेरा वा, तो अंतरपद्धिण एइ ॥

गुरुणा यथालन्दिकसमीपमुपगतानां योग्यं जक्तं पानं च गृ-
हीत्वा संघाटको मार्गेण पृष्ठतो गत्वा गत्वा तत्र नयति । अथ या-
वता कालेन यथाहान्दिकानामुपाश्रयं गुरवो व्रजन्ति तावता, अ-
त्युष्णमता वा तपश्चरन्ति, स्थविरा वा वार्त्तिकवयं प्राप्तास्ते
आचार्यास्ततोऽन्तरपद्धिकायामेको यथाहान्दिको धारणास-
पन्नं समायाति, तत्र गुरवोऽपि गत्वा तस्य वाचनां दत्त्वा
संघाटकेनाऽऽनीत भक्तपानं समुद्दिश्य संध्यासमये मूलक्षे-
त्रमायाति ।

अथाऽन्तरपद्धिमपि गन्तुमसमर्था गुरवः, तन किमित्याह-

अंतरपमिवमजे वा, विइयतर वाहि वसजगापस्स ।

अन्नाए वसहीए, अपरीजोगम्मि वाएइ ॥

अन्तरपद्धिकाप्रतिवृषजग्रामयोरन्तराद्धे गत्वा यथाहान्दिक वा-
चयति, तत्र गन्तुमशक्तो प्रतिवृषभग्रामे, अथ तत्रापि गन्तु न श-
क्नोति ततो (विइयतर ति) द्वितीयं प्रतिवृक्षमूलक्षेत्रत्रयोरपान्त-
राखलक्षणं यदन्तरं तत्र गत्वा वाचनां प्रयच्छति, तत्रापि गमना-
शक्तौ वृषभग्रामस्य मूलक्षेत्रस्य बहिर्विजने प्रदेशे गत्वा वाच-
यति, यदि तत्रापि गन्तु न प्रभविष्यु ततो मूलक्षेत्रे एवान्यस्यां
वसतौ, तत्रापि गन्तुमशक्तौ तस्यामेव मूलवसतौ अपरिभोग्ये
अवकाशे वाचयति ।

तत्र चेय सामाचारी-

तस्म जई किइकम्म, करिंति सो पुण न तेसि पकरेइ ।

जा पढइ ताव गुरुणो, करेइ न करेइ उ परेणं ॥

तस्य यथालन्दिकस्य यतयो गच्छवांसिनः साधवः कृतिकर्म
कुर्वन्ति स पुनर्यथालन्दिकस्तेषां गच्छवासिना कृतिकर्म न
करोति, यावच्च पठति अर्थशेषमधीते गुरोरपि तावदेव क-
रोति, परतस्तु न करोति, तथाकल्पत्वात् ।

अग्नीषामेव मासकल्पविधिमाह-

एको मासविचारो, हवंतऽहादद्याणं ऊगामा ।

मासो विभज्जमाणो, पण्णेण उ निळिओ होइ ॥

यदि मूलक्षेत्रस्य बहिरेको ग्राम सविचार सविस्तरो वर्तते,
आह च चूर्णिकृत्- सविचारो च विस्तृतं ततस्तस्मिन्

ग्रामे षट् वीथीः परिकल्प्य यथालन्दिका एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च
पञ्च दिवसान् भिक्षामटन्ति तस्यामेव च वीथ्यां वसतिमपि गृ-
ह्णन्ति । एव प्रतिवीथ्यां ' पण्णेण ' रात्रिदिवपञ्चकेन मासो
विभज्यमानः सन् बद्धिरहोरात्रपञ्चकैर्निष्ठितः सम्पूर्णो भवति ।
अथ नास्ति विस्तीर्णो ग्रामस्ततो (हवतऽहादद्याणं ऊगामा
इति) मूलक्षेत्रपार्श्वतो ये लघुनरा षट् ग्रामा भवन्ति, तेषु प्रत्येक
पञ्च पञ्च दिवसान् पर्यटन्ति यथाहान्दिकानां तथैव बद्धिरहो-
रात्रपञ्चकैर्मासः परिपूर्णा जवतीति । वृ० १ उ० ।

अहालहुस्सय-यथालघुस्वक-न० । यथेति यथोचितानि लघु-
स्वकानि अमहास्वरूपाणि, महतां हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा श-
क्यत्वादिति यथालघुस्वकानि । अथवा लघूनि महान्ति वरि-
ष्ठानीनि च वृक्षा । अमहास्वरूपेषु, भ० । " देवाणं अहालहुस-
गाइ रयणाइ इता अत्थि " । भ० ३ श० २ उ० । अनेकान्तद्वयुक्ते
वीणाग्रहणग्राह्ये, व्य० ७ उ० । स्तोके, व्य० ।

यथालघुस्वकादिव्यवहारप्रकरणमाह-

गुरुओ गुरुस्सतरगो, अहागुरुसो य होइ ववहारो ।

लहुसो लहुस्सतरगो, अहालहुसो य होइ ववहारो ॥

एएसिं पच्चित्तं, वुच्छामि अहाणुपुच्चिण ।

व्यवहारस्त्रिविधः । तद्यथा-गुरुको गुरुस्वतरको यथागुरुस्वक-
श्च । तत्र यो गुरुकः स त्रिविधः । तद्यथा-लघुशो लघुस्वतरको
यथालघुस्वकश्च । एतेषां व्यवहाराणां, यथानुपूर्व्यां यथोक्तपरि-
पाट्या, प्रायश्चित्तं वक्तव्यमि । किमुक्तं जघनि ? एतेषु व्यवहारेषु
समुपस्थितेषु यथापरिपाट्या प्रायश्चित्तपरिमाणं अभिधास्ये ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरगो चउम्मासो ।

अहंगुरुओ उम्मासो, गुरुगयपक्खम्मि पमिवत्ती ॥

गुरुको नाम व्यवहारो मासो मासपरिणामः, गुरुके व्यवहारे
समापतिते मास एकः प्रायश्चित्तं दातव्यं इति ज्ञातः । एव गुरु-
तरको भवति चतुर्मासपरिमाणः । यथागुरुकः षण्मासः, षण्-
मासपरिमाणः । एषा गुरुकपक्षे गुरुकव्यवहारे त्रिविधे यथा-
क्रम प्रायश्चित्तप्रतिपात्तिः ।

सम्प्रति लघुस्वकव्यवहारविषयं प्रायश्चित्तप्रमाणमाह-

तीसा य पसुवीसा, पन्नरसे पसुवीसा य ।

दस पंच य दिवसाइ, लहुसगपक्खम्मि पमिवत्ती ॥

लघुको व्यवहारस्त्रिशतं त्रिंशद्विषयपरिमाणः । एवं लघुतरकः
पञ्चविंशतिदिनमानः । एषा लघुस्वकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रम
प्रायश्चित्तप्रतिपात्तिः । यथालघुको व्यवहारः पञ्चदशपञ्चविं-
शतिदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः । एव लघुस्वतरको दशदिवस-
मानः । यथालघुस्वकः पञ्च दिवसानि पञ्चदिवसप्रायश्चित्तानि
परिमाणः । एषा लघुस्वकव्यवहारपक्षे प्रायश्चित्तपरिमाणप्र-
तिपात्तिः । व्य० २ उ० ।

सम्प्रति भाग्यकृत् यथालघुस्वकग्रहणं, तृतीयस्व-
गतमन्यतरग्रहणं च व्याख्यानयति-

दुविहो य अहालहुसे, जहण्णो मज्झिमो य उवहीओ ।

अन्नयरग्गहणेण उ, येप्पइ तिविहो उ उवहीओ ॥

यथावधुस्वके उपधिर्द्विविधो जवति—जघन्यो मध्यमश्च । अन्यतरग्रहणेन तु त्रिविधोऽप्युपाधिः परिगृह्यते । तदेव कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता । व्य० ६ उ० ।

अहावगाम—यथावकाश—अव्य० । यो यस्यावकाशः यद्यस्योत्पत्तिस्थानम्—अथवा भूम्यम्बुकाशाऽऽकाशबीजसंयोगः, तदनतिक्रमे, सूत्र० । “तेसिं च ए अहावापिण अहावगासेण इत्थीए” । यथावकाशेनेति । यो यस्यावकाशो मातुरुष्टरकुट्यादिकस्तत्रापि किल वामा स्त्रियो, दाक्षिणा कुक्किः पुरुषस्योभयाश्रित पण्ड इति । अत्र चावेध्वस्ता योनिरविध्वस्त बीजमिति चत्वारो नङ्गाः । तत्राप्याद्य एव भङ्गक उत्पत्तेरवकाशो, न शेषेषु त्रिविधिति । सूत्र० २ शु० ३ अ० ।

अहावच्च—यथापत्य—पु० । यथाऽपत्यानि तथा ये, ते यथापत्याः । पुत्रस्थानीयेषु, भ० ३ श० ६ उ० । कल्प० ।

अहावच्चाभिषाय—यथापत्यानिज्ञात—त्रि० । यथाऽपत्यमेव अभिज्ञाता भगता यथापत्यानिज्ञाताः; अथवा—यथापत्याश्च तेऽनिज्ञाताश्चेति कर्मधारयः । पुत्रस्थानीयेष्वभिज्ञातेषु, भ० ३ श० ६ उ० ।

अहाविह—यथाविध अव्य० । शास्त्रीयन्यायानतिक्रमे, द्वा० ७ द्वा० ।

अहासंखरु—यथासखरु—न० । निष्पक्षे पट्टादौ, नि० चू० २ उ० ।

अहासंधद—यथासस्तुत—न० । शयनयोग्ये, आचा० २ शु० २ अ० ३ उ० ।

यथासस्तुत—न० । यत् तृणादि यथोपभोगार्हं भवति तथैव लज्यते तस्मिन्, स्या० ३ ग० ४ उ० । आचा० ।

अहासविभाग—यथा (आधा) संविज्ञाग—पु० । यथा सिद्धस्य स्वार्थं निर्वर्तितस्येत्यर्थः, अज्ञानादेः समितिसिद्धतत्वेन पश्चात्कर्मादिदोषपरिहारेण विभजन साधये दानद्वारेण विज्ञागकरण यथासविज्ञागः । अतिथिसविज्ञागव्रते, उपा० १ शु० १ अ० । “अहासविभागो नाम यदि अहाकम्म देनि तो साधुमहे जजति देट्टिद्वेहिं सज्जमहाणेहिं उत्तारेति, तेण अहाकम्मेण सो अहासविभागो जवति । जो अहापवत्ताण अक्षपाणवत्थओ—सहजेसज्जपीढफलगसेज्जासथारगार्दाण सविज्ञागो सो अहासविज्ञागो भवति । फासु एसणिज्ज सविभागो स्ति भगिय होइ” । आ० चू० ६ अ० । आधासविभाग इत्यनुवदितव्यः । अस्यातिचारा—“तथाऽणतर च ण अहासविभागस्त एव अइआरा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा—सच्चित्त—निक्खेवणया १ सच्चित्तपेहणया २ कात्ताइक्कमदण्णे ३ परोवदेशे मच्छरया ४” । उपा० १ अ० । (‘अहिंसविभाग’ शब्दे—ऽस्मिन्नेव भागे ३४ पृष्ठे उक्तोऽस्य विस्तरः)

अहासच्च—यथासत्य—न० । याथातथ्ये, आचा० १ शु० ४ अ० २ उ० ।

अहासत्ति—यथाशक्ति—अव्य० । स्वशक्त्यौचित्ये, द्वा० २२ द्वा० । शक्त्यनुरूपे, प० सू० ४ सू० । शक्त्यनुसारे, प० सू० ३ सू० ।

अहासुत्त—यथासूत्र—अव्य० । सामान्यन सूत्रानतिक्रमे, दशा० ७ अ० । स्या० । उपा० । ज्ञा० । सूत्रानुसारेणापादितसत्यताके, व्य० ए उ० । सूत्राविरुद्धे, कल्प० ६ ज्ञ० ॥

अहासुह—यथासुख—अव्य० । सुखानतिक्रमे, द्वा० १ अ० ।

अहासुह—यथासुख—त्रि० । सारे, भ० ३ श० १ उ० । “अहावायरे पुगले परिसामेइ” । कल्प० २ कृ० ।

अहाह—अहाह—अव्य० । खेदे, संबोधने, आश्चर्ये, क्लेशे, प्रकर्षे च । वाच० । प्रा० ।

अहि—अहि—पु० । उरःपरिसर्पभेदे, उक्त० ३६ अ० । सर्पे, उक्त० ३४ अ० । ज्ञा० । सूत्र० ।

अस्य भेदाः—

से किं तं अही ? । अही दुविहा पणत्ता । तं जहा—दब्बीकरा य, मउलिणो य ॥

अथ के ते अहय ? । गुरुराह—अहयो द्विविधा प्रज्ञाः । तद्यथा—दर्वीकराश्च मुकुलिनश्च । तत्र दर्वीव दर्वी फणा, तत्करणशीला दर्वीकराः, मुकुल फणाविरहयोग्या शरीरावयवविशेषाकृतिः, सा विद्यते येषां ते मुकुलिनः, फणाकरणशक्तिविकृता इत्यर्थः । अत्राऽपिचशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ । प्रज्ञा० १ पद । आचा० । (दर्वीकरमुकुलिभेदा स्वस्वस्थाने द्रष्टव्याः)

अहिअ—अहित—त्रि० । हिताऽकारिणः, स० ३० सम० ।

अहिअणियहि—अहितनिवृत्ति—स्त्री० । प्राणातिपाताद्यकरणे, प० व० २ द्वार ।

अ (आ) हिआइ—अभिजाति—स्त्री०-पुं० । “खद्यथभां०” । ॥ १ । १८७ । इति भस्य ह । “कगचज०” । ॥ १ । १७७ । इत्यादिना तजयोर्लुक् । “अतः समृद्धादौ वा” । ॥ १ । ४४ । इति अकारस्य दीर्घः । सत्कुलोत्पत्तौ, प्रा० १ पाद । दु० १ पाद । अहिआहिअसंपत्ति—अधिकाधिकसमाप्ति—स्त्री० । वृद्धौ, प० व० ४ चार ।

अहिऊल—दह—धा०—भस्मीकरणे, सक० “दहेरहिऊलाहुद्धौ” । ॥ ४ । २०७ । इति दहधातोर्हिऊलादेशः । अहिऊलइ, डहइ, दहति । प्रा० ४ पाद ।

अहिसअ—अहिसक—त्रि० । अवधके, प्रअ० १ सव० द्वार ।

अहिंसण—अहिंसन—न० । अव्यापादने, ध० १ अधि० ।

अहिंसा—अहिंसा—स्त्री० । न हिंसाऽहिंसा । नि० चू० २ उ० ।

प्राणवियोगप्रयोजनव्यापाराभावे, द्वा० २१ द्वा० । प्राणिघातवर्जने, प० व० १ द्वार ।

(१) अहिंसास्वरूपनिर्वचनम् ।

(२) अहिंसाव्रतलक्षणम् ।

(३) अहिंसाख्यसत्परिहारस्याशेषा वक्तव्यता ।

(४) यैरियमुपबन्धा सेविना च नभिरूपणम् ।

(५) अहिंसापालनोद्यनस्य यद् विधेय तन्निरूपणम् ।

(६) प्रथमव्रतस्य पञ्च भाषणा ।

(७) सर्वे प्राणा न हन्तव्या ।

(८) वैदिकहिंसाविचारः ।

(९) किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादिति प्रतिपादनम् ।

(१०) अहिंसाप्रसिद्धार्थनिरूपणम् ।

(११) मनान्तरेऽहिंसा न तादृशी ।

(१२) सर्वे प्रावादुका अहिंसा मोक्षाद्भूतां प्रतिपद्यन्ते, न प्राधान्येन ।

- (१३) अहिंसाविवेचनम् ।
 (१४) एकान्तनित्यानित्यात्मनि हिंसा न घटत इति निरूपणम् ।
 (१५) आत्मनः परिणामित्वे हिंसायाः भविगोधनिरूपणम् ।
 (१६) स्वर्गादयो हि यदि स्वकृतकर्मानापादिता एव स्युरिति तदा कर्माभ्युपगमो निरर्थक इति हिंसाऽपि भग्नभवा जैतानामिति विचारः ।
 (१७) आत्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहाद्विज्ञाभिन्नत्वस्य च साधने प्रमाणोपदर्शनम् ।
 (१८) आत्मनोऽसर्वगतत्वे गुणवर्णनम् ।

(१) अस्य निक्षेप -

हिंसाए पडिवक्खो, होइ अहिंसा चउव्विहा सा उ ।

दब्बे जावे य तद्वा, अहिंसं ऽजीवाइवाउ चि । ४५॥ दश० नि० ।

तत्र प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा । अस्या हिंसायाः, किम्?, प्रतिकूलं पक्षः, प्रतिपक्षः, अप्रमत्तनया गुणयोगपूर्वकं प्राणाभ्युपरोपणमित्यर्थः । किम्?, भवत्यहिंसेति । तत्र चतुर्विधा चतुष्पकारा अहिंसा । (दब्बे भावे य चि) द्रव्यतो भावतश्चेत्येको भङ्गः । तथा-द्रव्यतो नो भावत । भावनो न द्रव्यतः । तथा-न द्रव्यतो न भावत इति । तथाशब्दसमुच्चितो भङ्गत्रयोपन्यासः, अनुक्तसमुच्चयार्थकत्वादस्येति । उक्तञ्च-“तथा समुच्चयनिर्देशावधारणसादृश्यप्रेषेषु” इत्यादि । तथाचायं भङ्गकभावार्थः द्रव्यतो भावतश्चेति-“जहा केइ पुरिसे मियवहपरिणामपरिणप मिय पासित्ता आयशाइछियकोदरुजीवे सर णिसिरिज्जा, से य मिय तेण सरेण विदे मय, सिया एसा दव्वओ हिंसा, भावओ वि । या पुनद्वैव्यतो न भावत, मा खल्वीर्यादिसमितस्य साधोः कारणे गच्छत इति । उक्तं च-

“ उच्चाहियम्मि पाय, इरियासमियस्स सकमट्ठाए ।

वावेज्जेज्ज कुलिगी, मरिज्ज त योगमासज्जा ॥ १ ॥

न य तस्स त निमित्तो, बधो सुद्धो वि देसिओ समए ।

जम्हा सो अपमत्तो, सा उ पमांआ चि निदिट्ठा” ॥ २॥ इत्यादि । या पुनर्भावतो, न द्रव्यतः, संयमः-“जहा के वि पुरिसे मदमदप्पगासप्पदेसे सण्णिय ईसिवल्लिअकाय रज्जुं पासित्ता एस भहि चि तव्वहपरिणामए णिकट्ठियाऽसिपत्ते दुअ दुअ णिदिज्जा । एसा भावओ हिंसा, न द्रव्वओ । चरमभङ्गस्तु शून्यः । इत्येवम्भूताया हिंसाया प्रतिपक्षोऽहिंसेति । एकार्थिकाभिधित्सयाऽऽह- (अहिंसर्जीवाइवाओ चि) न हिंसा अहिंसा, न जीवाति-तिपातः, अजीवातिपातः । तथा च तद्वत्, स्वकर्मातिपातो भवत्येयाऽज्ञावश्र कर्ममिति भावनीयमिति । उपलक्षणत्वाच्चेह प्राणातिपातविरत्यादिग्रह इति गार्थः । दश० १ अ० । तस्यैवावरजीवरक्कायाम्, सथा० । प्रमादयोगात्सत्त्वव्यपरोपणविरतिरूपे प्रथमे व्रते, ध० ।

(२) प्रथममहिंसाव्रतलक्षणमाह-

प्रमादयोगाद्यत्सर्व-जीवास्वव्यपरोपणम् ।

सर्वथा यावज्जीवं च, प्रोचे तत् प्रथमं व्रतम् ॥ ४ ॥

प्रमादो हानसशयनिर्पर्ययरागद्वेषस्मृतिभ्रंशयोगदुष्प्राणिधानधर्मानादरभेदादष्टविधः । नद्योगात् तत्सबन्धात् सर्वेषां सूक्ष्मादिभेदभिन्नानां, जीवानां प्राणिनां, येऽस्तव प्राणाः पञ्चेन्द्रियबलत्रयोच्क्षासायुर्लक्षणा दश, तेषां यथासंभवेनाभ्युपरोपणमविनाशनम् । तद्देशतोऽपि स्यादित्यत आह-सर्वथेति । सर्वप्रकारेण त्रि-

विधात्रिविधेन भङ्गेन । तच्चेत्वरमपि स्यादित्यत आह-यावज्जीवप्राणधारणं यावत् । तत्किमित्याह-प्रथमं व्रतम्-अहिंसाव्रतं, प्रोचे जिनैरिति शेषः । प्रथमत्वं चास्य शेषाधारत्वान् सूत्रक्रमप्रामाण्याच्चावसेयम् । द्वितीयो हेतुश्च द्वितीयव्रतादिष्वपि भाव्य इत्युक्तं प्रथमं व्रतम् । ध० ३ अधि० । “ तत्थिम पढम ठाण, महावीरेण देसिय । अहिंसा निऊणा दिट्ठा, सव्वभूएसु सय-मो” ॥ ९॥ दश० सू० ६ अ० । (अष्टदशविधस्थानगणस्य, त्र-तषट्कादीनां च व्याख्या ‘ अट्टारसट्ठाण ’ शब्देऽस्मिन्नेव प्रागे २४९ पृष्ठे, स्वस्वस्थाने च द्रष्टव्या)

(३) अहिंसाख्यसवरद्वारस्यैवाऽशेषा वक्तव्यता-

तत्थ पढम अहिंसा, तसथावरसव्वचूयस्सेमकरी ।

तीसे सभावणाए, उ किंचि वोच्च गुणुहेसं ॥

(तत्थ चि) तत्र तेषु पञ्चसु मध्ये प्रथमं सम्बरद्वारमहिंसा (तसथावरसव्वचूयस्सेमकरी चि) तस्यैवावराणां सर्वेषां भूतानां कैमकरणशीला । तस्या अहिंसायाः सभावनायास्तु भावनापञ्चकोपेताया एव (किंचि चि) किञ्चनाल्प, वक्ष्ये गुणोद्देशं गुणलेशमिति । प्रश्न० ।

अथ प्रथमसम्बरनिरूपणायाह-

तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमनुयासुरस्स लोगस्स जवति दीवो, ताणं, सरणगती, पड्डा, निव्वाणं, निव्वुइ, समाही, संती, किंती, कंती, रइय विरइय सुयंग तिंती, दया, विमुत्ती, खंती, सम्मत्ताराहणा, महंती, बोही, बुद्धी, धिती, समिद्धी, रिद्धी, विद्धी, ठिती, पुद्धी, नंदी, नहा, विमुच्छी, लच्छी, विसिद्धदिट्ठी, कट्ठाणं, मंगलं, पमोओ, विज्जुति, सिद्धावासो, रक्खा, अणासवो, केवल्लीणं ठाणं, सिव समियी, सीह संजमो चि य, सीलधरो, संवरो य, गुत्ती, ववसाओ, उस्सतो य, जसो, आयतणं, जयण-मप्पमाओ, अमासो, विसासो, अजओ, सव्वस्स वि अमाघाओ, चोक्खपवित्ती, सुत्ती, पूया, विमलपभासा य, निम्मलतर चि । एवमादीणि नियगुणनिर्मायसि पज्ज-वनामाणे हुंति अहिंसाए जगवतीए ।

(तथेत्यादि) तत्र तेषु पञ्चसु सम्बरद्वारेषु मध्ये प्रथममाद्यं सम्बरद्वारमहिंसा । किंभूता?, या सा सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य भवति (दीवति) द्वीपो दीपो वा । यथा प्राधजलधिर्मध्यमप्रा-नां स्वैरश्वापदकदम्बकदर्थितानां महोर्मिमालामध्यमज्जमानगात्राणां त्राण भवति द्वीपः प्राणिनाम्, एवमयमहिंसा ससारसागरमध्यगतानां व्यसनशतश्रृंगपदप्रपीभितानां संयोगवि-योगवीचिविधुराणां त्राण भवति, तस्याः ससारसागरोत्सारहेतुत्वात्, इति अहिंसा क्षीप उक्ता । यथा वा-दीपाधकारनि-राकृतदहकप्रसराणां हेयोपादेयार्थहीनोपादानमूढमनसां ति-मिरनिकरनिराकरणेन प्रवृत्त्यादिकारणं प्रवर्तते; एवमहिंसा ज्ञा-नावरणादिकर्मनमिच्छासनेन विशुद्धबुद्धिप्रभापटप्रवर्तनेन प्रवृत्त्यादिकारणत्वादीप उक्ता । तथा-त्राण, स्वपरेशामापद स-रक्कणात् । तथा-शरणम् । तथैव-सम्पदः, सम्पादकत्वात् । गम्य-ते श्रेयोऽर्थमिराश्रीयत इति गतिः । प्रतिष्ठन्ते आसते सर्वे गुणा सुखानि वा यस्यां सा प्रतिष्ठा । तथा-निर्वाणमोक्षः, तद्देतुत्वा-

निर्वीणम् । तथा-निर्वृत्तिः स्वास्थ्यम्, समाधिः समता, शक्तिः, शक्तिहेतुत्वात् । शान्तिः, ओहविरतिः, कीर्तिः, ख्यातिहेतुत्वात् । कान्तिः, कमनीयताकारणत्वात् । रतिश्च रतिहेतुत्वात् । विरतिश्च निर्वृत्तिः पापात् । श्रुतः श्रुतज्ञानमङ्गल कारण यस्याः सा श्रुताङ्गा । आह च-“पदम नाण तओ दया ” इत्यादि । तृप्तिहेतुत्वात् तृप्तिः । तनः कर्मधारयः । तथा-दया देहिर्का । तथा-त्रिमुच्यते प्राणी सकलवन्धनेन्यो यया सा विमुक्तिः । तथा-ज्ञान्तिः क्रोधनिग्रहः, तज्जन्यत्वादाहिंसाऽपि ज्ञान्तिरुक्ता । सम्यक्त्वः सम्यग्बोधरूपमाराध्यते यया सा सम्यक्त्वाराधना । (महतिं त्ति) महती सर्वधर्मानुष्ठानाना बृहती । आह च-“एकविय एकवय, निदिठ जिणवरेहिं सव्वेहिं । पाणाइवायविरमण-सव्वासत्तस्स रफस्सठा ” ॥ १ ॥ बोधिः सर्वज्ञधर्मप्राप्तिः, अहिंसारूपत्वाच्च तस्या अहिंसा-बोधिर्रुक्ता । अथवाऽहिंसा सानुकम्पा, सा च बोधिकारणमिति बोधिरेवोच्यते । बोधिकारणत्वं चानुकम्पायाः-“अणुकपा कामनिज्जर-भाइतवे दाणविणयविभगे । सजोगविप्पओगे, सव्वसूस्सव्वइहिसिक्कारे ” ॥ १ ॥ इति वचनादिति । तथा-बुद्धिः, साफल्यकारणत्वाद् बुद्धिः । यदाह-“वाइत्तरिकलकुसला, प-मित्यपुरिसा अपडिया चैव । सव्वकलाणं पवर, जे धम्मकला न जाणति ” ॥ १ ॥ धर्मआहिंसैव । धृतिश्चित्तदाढ्यं, तत्परिपालनीयत्वादस्या धृतिरेवोच्यते । समृद्धिहेतुत्वेन समृद्धिरेवोच्यते । एव अस्मिन्बुद्धी । तथा-साद्यपर्यवसितमुक्तिस्थितिहेतुत्वात् स्थितिः । तथा-पुष्टिः, पुण्योपचयकारणत्वात् । आह च-“पुष्टिः पुण्योपचयनम् ” । नन्दयति समृद्धिं नयतीति नन्दा । भन्दते कल्याणीकरोति देहिनामिति भन्दा । विशुद्धिः पापक्षयोपायत्वेन जीवनिर्मलतास्वरूपत्वात् । आह च-“शुद्धिः पापक्षयेण जीवनिर्मलता ” । तथा-केवलज्ञानादिद्विधनिमित्तत्वाद्बुद्धिः । विशिष्टाष्टिः प्रधानदर्शनमतमित्यर्थः, तदन्यदर्शनस्याप्राधान्यात् । आह च-“किं तीए पडियाप, पयकोमीए पलावजूयाए । जत्येसिय न नाय, परस्स पीडा न कायव्वा ” ॥ १ ॥ कल्याण, कल्याणप्रापकत्वात् । मङ्गल, दुरितोपशान्तिहेतुत्वात् । प्रमोदः, प्रमोदोत्पादकत्वात् । विभूतिः, सर्वविभूतिनिबन्धनत्वात् । रक्षा, जीवरक्षणस्वभावत्वात् । सिक्कावासः, मोक्षावासनिबन्धनत्वात् । अनाश्रवः, कर्मबन्धनिरोधोपायत्वात् । केवलज्ञाना स्थान, केवलज्ञानमहिंसायां व्यवस्थितत्वात् । (सिवसमिति सीलसंजमो त्ति य) शिवहेतुत्वेन शिवसमिति सम्यक्प्रवृत्तेः, तद्रूपत्वादाहिंसा शिवसमिति । शीलः समाधानः, तद्रूपत्वाच्छीलम् । सयमोऽहिंसात उपरमः । इति रूपप्रदर्शने, च समुच्चये । (सीलघरो त्ति) शीलशृङ्खला चारित्रस्थानम् । सम्बरश्च प्रतीतः । गुप्तिरगुमानां मनःप्रभृतीनां निरोधः । विशिष्टोऽवसायो निश्चयो व्यवसायः । उच्छ्रयः स्वभावोन्नतत्वम् । यज्ञो प्रावतो देवपूजा । आयतन गुणानामाश्रयः । यजनमभयस्य दानं, यतनं वा प्राणिरक्षणं प्रति यत्नः । अप्रमादः प्रमादवर्जनम् । आश्वास आश्वासनं प्राणिनामेव । विश्वासो विश्रम्भः । (अभमो त्ति) अभयः सर्वस्यापीति प्राणिगणस्य । अमाघातः अमारिः । चोक्षपवित्रा, एकार्थशब्दद्वयोपादानात् अतिशयपवित्रा । शुचिर्भावशौचरूपा । आह च-“सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च पञ्चमम् ” ॥ १ ॥ इति । (पूयं त्ति) पवित्रा,

पूजा वा भावतो देवताया अर्चनम् । विमलप्रभासा तन्निबन्धनत्वात् । (निम्मलनगं त्ति) निम्नं जाय करोति या सा तथा, अनिशयेन वा निर्मला निर्मलनगा । इति नाम्ना समामौ । एवमादीन्येवप्रकाराणि निजकगुणनिर्मितानि, यथार्थानान्यर्थः । अन एवाह-पर्यायनामानि तत्तद्धर्माश्रिताभिधानानि भवन्त्याहिंसायाः, भगवत्या इति पूजावचनम् ।

एसा भगवती अहिंसा, जा सा जीयाणं पिव सरणं, प-क्खीणं पिव गयणं, निसियाणं पिव सल्लिदं, खुहियाणं पिव असणं, ममुद्धमज्जे व पोतवट्ठण, चउप्पयाणं च आसमपय, उहट्ठियाणं च ओसट्ठिवल, अरुवीमज्जे च सत्थगमणं, एत्तो विसिद्धतरिका अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगाणि-मारुय-वणप्फती-वीज-हरिय जलचर-थलचर-खहचर-तस-थावर-सव्वज्जूयस्वेमकरी ।

एसा सा भगवत्याहिंसा या सा जीतानामिव शरणमित्यत्रा-श्वासिका, देहिनामिति गम्यम् । पक्खीणं पिव गयणं त्ति) पक्षिणामिव गगनं, हिता, देहिनामिति गम्यम् । एवमन्यान्यपि वट् पदानि व्याख्येयानि । किं भूनादीनां शरणादिसमैव सा ? नेत्याह-“एत्तो त्ति) एतेन्योऽनन्तरोदितेन्यः शरणादिभ्यो विशिष्टतरिका प्रधानतरिका अहिंसा, हिततयेति गम्यते । शरणादिनो हितमनैकान्तिकमनात्यन्तिकं भवति, अहिंसातस्तु तद्वी-र्यं मोक्षावाप्तिरिति । तथा-‘या सा’ इत्यादि, याऽसौ पृथिव्यादीनि च पञ्च प्रतीतानि, वीजहरितानि च वनस्पतिविशेषा आहारार्थत्वेन प्रधानतया शेषवनस्पतिभेदेनोक्ता, जलचरादीनि च प्रतीतानि, त्रसस्थावराणि सर्वभूतानि, तेषां कैमकरी या सा तथा, एसा एवैव, भगवती अहिंसा, नान्या । यथा लौकिकैः कल्पिता-“कुलानि तारयेत् सप्त, यत्र गौर्वितृषी भवेत् । सर्वथा सर्वयत्नेन, भूमिष्ठमुदकं कुरु ” ॥ १ ॥ इह गोविषये या दया सा किल तन्मतेनाऽहिंसाऽस्यां च पृथिव्युदकपूतरकादीनां हिंसाऽस्तीत्येवरूपा न सम्यगाहिंसेति ।

(४) अथ यैरियमुपलब्धा सेविता च नानाह-

एसा जगवती अहिंसा जा सा अपरिमियनाणदंसण-धरेहिं सीलगुणविणयतवसंजमनायकोहिं तित्थकरेहिं सव्वजगवच्छेहेहिं तिलोगमहितेहिं जिणचंदेहिं सुहुदिष्ठा ओहिनाणेहिं विष्णाया उज्जुमतीहिं वि दिष्ठा विपुलतीहिं विदिता पुव्ववरेहिं अधिया विउव्वीहिं पत्तिष्ठा आजिणि-वोहियनाणीहिं सुयनाणीहिं मणपज्जवणाणीहिं केवल-णाणीहिं आमोसहिपत्तेहिं खेत्तोमहिपत्तेहिं जत्तोमहिपत्ते-हिं विप्पोसहिपत्तेहिं सव्वोसहिपत्तेहिं वीजबुद्धीएहिं को-ट्टबुद्धीहिं पयाणुसारीहिं संभिस्सोतेहिं सुयधरेहिं मण-बट्टएहिं वयवलएहिं कायवलएहिं नाणवलएहिं दंसण-वट्टएहिं चरित्तवलएहिं खीरासवेहिं महुआसवेहिं साप्पि-यासवेहिं अखीणमहाणसिएहिं चारणेहिं विज्जाहरेहिं च-उत्थभत्तिएहिं उट्टनात्तिएहिं अट्टमभत्तिएहिं दसमजत्ति-एहिं एव उवाट्टसचउदससोलसअप्पमासमासदोमा-सतिमासचउमासपंचमामउमासजात्तिएहिं उक्खित्तचर-

एहिं एवं निक्खित्तचरणहिं अतचरणहिं पंतचरणहिं लूह-
चरणहिं समुदाणिचरणहिं अस्सगिलाइएहिं मोणचरणहिं
संसङ्कप्पिएहिं तज्जायसंसङ्कप्पिएहिं उवनिहिएहिं सुप्पे-
सणिएहिं मखादत्तिएहिं दिङ्खलाभिएहिं आदिङ्खलानिएहिं
पुडलानिएहिं आयंबोलिएहिं पुरमत्तिएहिं एकासणिए-
हिं निवित्तिएहिं भिस्सपिण्वातिएहिं परमियपिण्वातिएहिं
अंताहारेहिं पंताहारेहिं अरसाहारेहिं विरमाहारहिं तु-
च्छाहारेहिं लूहाहारेहिं अंतजीवीहिं पंतजीवीहिं लूहजीवी-
हिं तुच्छजीवीहिं उवसंतजीवीहिं पमंतजीवीहिं विविज-
जीवीहिं अखीरमधुसप्पिएहिं अमज्जमंसासिएहिं ठाणाइ-
एहिं पक्खिमाइएहिं ठाण्णकुमुएहिं विरामणिएहिं पोस-
ज्जिएहिं रुंकायएहिं द्वागरुसातिएहिं एगपासाएहिं आया-
वएहिं अवाउएहिं अण्डिहुम्भएहिं अकडुयएहिं धूतकेस-
मंमुलोमनखेहिं सव्वगायपक्खिम्मविप्पमुक्केहिं समण्णचि-
न्नासुयधरविदित्तकयवुद्धीहिं धीरमत्तिशुष्णिणे य जे ते
आसींविमज्जगतेयकप्पा णिच्छयववसायपज्जत्तकयमतीया
णिच्चं मज्जायज्झाणं अण्णवंधधम्मज्झाणा पचमहव्व-
यचरित्तजुत्ता समिया समितीसु समितपावा ठाव्वहजगव-
च्छला णिच्चमप्पमत्ता एयहिं य अस्सेहिं य जा सा अ-
ण्णपाद्विया जगवत्तं ॥

(पदानामर्थे स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यं.) नवर (एतेहिं य ति) ये
ते पूर्वोक्तगुणा एतैश्चान्यैश्चानुक्कूलकलैर्गुणवर्जित्वाऽसावनुपा-
क्षिता भगवती अहिंसा, प्रथम सम्बरद्वारमिति इदम ।

(५) अथाहिंसापालनोद्यतस्य यद्विधेयं तदुच्यते-

इमं च पुढवी-दग-अगणि-मारुय-तरुण-तस-यावर-
सव्वनूयसंजयदयइयाए सुद्धं उंळं गवेमियव्वं अकयम-
कारियमणाहुयमण्णुइडि अकयकं नवकोणीहिं परिमुक्क-
दमहिं य दोसेहिं विप्पमुक्क उगमउप्पायणेमणासुक्खवगय-
चुयचइयचत्तदेहं च फासुयं च न निसिज्ज कदा पयोय-
णफासुजवणीयं न तिगिच्छामंतमूळजेसज्जकज्जहेउं न
लक्खणुपायसुमिणजोइसनिमित्तकहकुहकप्पओत्तं न वि-
रुंभणाए न विरक्खणाए न वि सासणाए न विरुंजण-
रक्खणसासणाए भिक्ख गवेसियव्वं, न विवंदणाए न वि-
माणणाए न वि पूयणाए न वि वंदणमाणणपूयणाए भि-
क्खं गवेसियव्वं, न वि हीलणाए न वि नंदणाए न वि ग-
रहणाए न वि हीलणानिदणागरहणाए निक्खं गवेसि-
यव्वं, न वि भेसणाए न वि तज्जणाए न वि तालणाए न वि
जेसणतज्जणतादण्णाए भिक्खं गवेसियव्वं, न वि गारवेणं
न वि कुट्टणाए न वि वणिमयाए न वि गारवकुहण-
वणिमयाए निक्खं गवेसियव्वं, न वि मित्तयाए न वि प-
त्थणाए न वि सेवणाए न वि मित्तयपत्थणसेवणाए निक्ख

गवेसियव्वं, अस्साए अगहिं अदुद्धे अदीण अविमणे अ-
क्खुणे अविसाती अपरितंतजोगी जयणधरुणकरणच-
रियविनयगुणजोगसंपउत्ते भिक्खु निक्खेसणाए णिरए इमं
च सव्वजगज्जीवरक्खणदयइयाए पावयण भगवया सुक्क-
हियं अज्जेहिंयं पेच्चा भावियं आगमेसि जइं सुप्पं नेया-
उय अकुमिदं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाण विउसमण ॥

(इमं चेत्यादि) अयं च वक्ष्यमाणविशेष उच्छ्रो गवेषणीय
इति सम्बन्धः । प्रश्न०१ सम्यग्द्वारः । (उच्छ्राद्यर्थोऽन्यत्राऽन्यत्र)
अथ यदुक्तं " तस्मै सभावणाए, उ किंचि बोच्छ गुणुइस "
इति, तत्र का भावना ?, अस्यां जिज्ञासायामाह-

(६) प्रथमव्रतस्य (अहिंसारूपस्य) पञ्च भावना -

तस्मै इमा पंच भावणाओ पढमस्स वयस्स हुंति, पाणा-
इवायवेरमणं परिरक्खणइयाए पढमं ठाण्णगमण्णुणजो-
गजुंजणजुगंतरनिवतियाए दिट्ठीए इरियव्वं कीरुपयंगत-
सथावरदयावरेण निच्चं पुप्फफलतयपवालकंदमूलदगमट्ठि-
यवीयहरियपरिवज्जणएण समं, एवं खु सव्वे पाणा ए ही-
द्वियव्वा न निंदियव्वा न गरहियव्वा न हिंसियव्वा न
निंदियव्वा न निंदियव्वा न वहेयव्वा न भयं दुक्खं च
किंचि लज्जा पावेउ जे एवं इरियासमिज्जंगेण जाविओ
जवति अंतरप्पा असवलमसंकिलिङ्गनिव्वणचरित्तजाव-
णाए अहिंसए संजए सुसाहु ? ॥

(तस्सेत्यादि) तस्य प्रथमस्य व्रतस्य, भवन्तीति घटना,
इमा वक्ष्यमाणप्रत्यक्षाः पञ्च भावनाः; भाव्यते वास्यते व्रते-
नात्मा यकामिस्ता प्रावना ईर्यासमित्यादयः । किमर्थं जवन्ती-
त्याह-(पाणा इत्यादि) प्रथमव्रतस्य यत्प्राप्तातिपातविरमण-
लक्षणस्य परिरक्षणस्वरूप, तस्य परिरक्षणार्थाय (पढम ति)
प्रथमभावनावस्थितिर्गम्यते, स्थाने गमने च गुणयोगे च स्वपर-
प्रवचनोपघातवर्जनलक्षणगुणसम्बन्धं योजयति करोति या
सा । तथा-युगान्तरे युगप्रमाणचूभागे निपतति या सा युगान्त-
रनिपातिका, ततः कर्मधारयः । ततस्तथा, इदं चक्रुषा (इरिय-
व्व ति) ईरितव्यं गन्तव्यम् । केनेत्याह-कीटपनक्कादयश्च असाश्च
स्थावराश्च कीटपतङ्गप्रसस्थावराः, तेषु दयापरो यस्तेन, नित्यं
पुष्पफलत्वक्प्रवालकन्दमूलदकमृत्तिकावीजहरितपरिवर्जकेन,
सम्यगिति प्रतीतं, नवर प्रवाल- पद्मवाङ्मू, दकमुदकमिति ।
अथेयांसमित्या प्रवर्तमानस्य यत् स्यात्तदाह-(एवं खु ति) एव
च ईयांसमित्या वर्तमानस्येत्यर्थः, सर्वप्राणा सर्वजीवा न ही-
नयितव्या अवज्ञातव्या जवन्ति, सरक्षणप्रयत्नत्वाच्च तानवज्ञावि-
षयीकरोनीत्यर्थः । तथा-न निन्दितव्या, न गर्हितव्या भवन्ति, स-
र्वथा पीडावर्जनोद्यतत्वेन गोरव्याणामिव दर्शनात् । निन्दा च स-
समक्षा, गहां वा परसमक्षा । तथा-न हिंसितव्या- पादाक्रमणेन
मारणतः, एवं न च्छेत्तव्या द्विधाकरणतः, न जेतव्या स्फोटनतः,
(न वहेयव्व ति) न व्यथनीया- परतापनात्, न भयं भीतिः, दुःखं
वा शरीरादि किञ्चिद्रूपमपि, लज्जा योग्या प्रापयितुम्; ' जे ' इति
निपातो वाक्यालङ्कारे, एवमनेन न्यायेनेयांसमितियोगेन ईर्या-
समितिव्यापारेण, जावितो वासितो जवत्यन्तरात्मा जीवः । कि-

अहिंसा

मिथ इत्याह—अश्वत्थेन मालिन्यमाश्रितेन, असहिष्णु-
निग्रहमानपरिणामवतो, निर्द्वेष्टनाक्षणेनाक्षणेनेति यावत् ।
चारित्र्य सामायिकादिना भावना वासना यस्य सोऽश्वत्था-
सक्तिरुपनिर्गच्छति चारित्र्यभावनाकः । अथवा-अश्वत्थासक्तिरुपनि-
र्गच्छति चारित्र्यभावनाया हेतुतया अहिंसकोऽवधारकः, सयतो मृ-
षावादाद्युपरमाद् मोक्षसाधक इति । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अजिह्वेज्ज वा वत्तेज्ज वा परियावेज्ज वा वेसेज्ज वा उ-
ह्वेज्ज वा इरियामपि से णिग्गये णो इरियाअसमिपि
त्ति पढमा जावणा ॥

ईरण गमनमीर्या, तस्यां समितो दत्तावधान, पुरतो युगमात्र-
पुत्रभागन्यस्तद्विष्टामात्यर्थं नत्वसमितो भवेत् । किमिति?, यत्
केवलो भूयात् कर्मोपादानमेतद् गमनक्रियायामसमितो हि प्राणि-
नोऽभिहन्त्यात् पादेन तामयेत्, तथा-अर्चयेदन्यत्र पातयेत्, तथा-
परितापयत्पीडामुत्पादयेत्, अपद्रापयद्वा जीविताद् व्यपरोप-
योदित्यत इर्यासमितेन भावितव्यमिति प्रथमा भावना । आचा०
२ श्रु० ३ चू० ।

वित्तियं च मणेण पावणं पावकं अहम्मिकदारुणं नि-
संसं बहुबंधपरिकिलेसबहुलं जरामरणपरिकिलेससकिलिद्धं
न कया वि मणेण पावणं पावग किंचि वि जायव्वं, एवं
मणसमितिजोगेण जावितो जवति अंतरप्पा असवलमसंकि-
लिद्धनिव्वणचरित्तजावणाए अहिंसए संजए सुसाहु २ ॥

द्वितीय पुनर्जावनावस्तु मनःसमितिस्तत्र मनसा पाप न ध्यातव्य-
म् । एतदेवाह—मनसा पापकेन पापकमिति काका ध्येयम् । ततश्च
पापकेन दुष्टेन सता मनसा यत्पापकमशुभं तत्र कदाचिन्मन-
सा पापक किञ्चिद्भातव्यमिति वक्ष्यमाणवाक्येन सम्बन्धः ।
पुनः किंचित् पापकमित्याह—अधर्मिकाणामिदमाधर्मिकं, तच्च
तदारुणं चेति आधर्मिकदारुणं, नृशस शूकावर्जितं, वधेन हन-
नेन, बन्धेन सयमेन, परिकलेशेन च परितापनेन हिंसागतेन
बहुलं प्रचुर यत्तत्तथा । जरामरणपरिकलेशै फलभूतै, वाच-
नान्तरे-‘भयमरणपरिकलेशै’ सकलिष्टमशुभं यत्तत्तथा । न कदा-
चिन्न कञ्चनापि काले (मणेण पावणं ति) पापकं नैव मनसा
(पावग ति) प्राणातिपातादिक पाप किञ्चिदल्पमपि ध्यातव्यमेका-
ग्रतया चिन्तनीयम् । एवमेव प्रकाशेन मन समितियोगेन चि-
त्तसत्प्रवृत्तिक्षणव्यापारेण भावितो वासितो भवत्यन्तरात्मा
जीवः । किंचिद् इत्याह—अश्वत्थासक्तिरुपनिर्गच्छति चारित्र्यभा-
वनाकः, अश्वत्थासक्तिरुपनिर्गच्छति चारित्र्यभावनाया वा अहिंसकः,
सयतः सुसाधुरिति प्राग्वत् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा दाच्चा जावणा मणं परिजाणइ, से णिग्गये जे
य मणे पावए सावज्जे साकिरिए अएहयकरे छेयकरे भेय-
करे अधिकराणि पाडासिए परिताविते पाणाइवाइए चू-
त्तेवधातिए तहप्पगार मणं णोपधारेज्जा, मणं परिजाणति,
से णिग्गये जे य मणे अपावते ति दोच्चा भावणा ॥

द्वितीयभावनायां तु मनसा दुष्प्रणिहितेन नो भाव्यम् । त-
द्दर्शयति—यन्मन पापक सावद्य सक्रिय (अएहयकर ति)
कर्माश्रयकारि, तथा-भेदनभेदनकरम्, अधिकरणकर कञ-

हकर, प्रकृष्टदोष प्रदोषिक, तथा—प्राणिनां परितापकारीत्यादि
न विधेयमिति । आचा० १ श्रु० ३ चू० ।

तडयं च वइए पावए पावग अहम्मिकदारुणं निसंसं
बहुबंधपरिकिलेसबहुलं जरामरणपरिकिलेससंकिलिद्धं न
कयावि वइए पावियाए ओ पावग किंचि वि भासियव्वं, एवं
वइसमितिजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असवलमसंकि-
लिद्धनिव्वणचरित्तजावणाए अहिंसओ संजओ सुसाहु ३ ।

(तडयं च ति) तृतीय पुनर्भावनावस्तु वचनसमितिर्यत्र वाचा
पापं न मणितव्यम् । इत्येतदेवाह—(वइए पावियाए इति) काका
ध्येतव्यम् । एतद् व्याख्यानं च प्राग्वत् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा तच्चा भावणा वइ परिजाणति, से णिग्गये
जाव वाइपाविया सावज्जा साकिरियां जाव जूतोवधाइया
तहप्पगारं वइ णो उच्चारेज्जा वइ परिजाणइ, से णिग्गये
जाव वइ अपाविय ति तच्चा भावणा ॥

अथापरा तृतीया भावना, तत्र निर्ग्रन्थेन साधुना समितेन ज-
न्यतव्यमिति । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

चउत्थं आहारएसणाए सुद्ध उच्छं गवेसियव्वं, अस्माए
अकहिए असिद्धे अदीणे अकलुणे अविसाती अपरित्त-
जोगी जयणघट्टणकरणचरित्तविनयगुणजोगसंपत्तत्ते नि-
क्खू निक्खेसणाए जुत्ते समुदाणिऊण निक्खचरियं उ-
ठ्ठ घेत्तुणं आगए गुरुजणस्स पासं गमणागमणातिचारप-
मिकमणपमिकते आहोयणदायणं च दाऊण गुरुजणस्स
जहोवएसं निरइयारं अप्पमत्तो पुणरवि अणोसणाए प-
यत्तो पमिकमित्ता पसत-आसीण-सुहानिससो मुहुत्तमेत्तं च
जाणसुहजोगणाणसज्जायगोवियमणे धम्ममणे अवि-
मणे सुहमणे अविग्गहमणे समाहियमणे सच्चासंवेगनिज्जर-
मणे पवयणवच्छद्दजावियमणे उट्टेऊण य पढडो जहराइणि-
यं निमंतइत्ता य साहवे जावओ य विइस्से य गुरुजणेणं उ-
पविट्ठे संपमज्जिऊण ससीसं कायं तहा करयद्धं अमुच्छिइए
अगिच्छे अगट्टिए अगएहिए अणज्जोववस्से अणाइहे अ-
तुच्छे अणत्तट्टिए अमुरसुरं अवचवं अणन्तुयमविद्धं वियम-
परिसामि आहोयणजायणे जयमप्पमत्तेणं ववगयसंजोगम-
णिगाहं च विगयधूम अक्खोवंजणवणाणुलेवणज्यूसजम-
जायामायानिमित्तं संजमभारवाहणइयाए जुंजेज्जा पाण-
धारणइयाए संजएणं समियं एवमाहारसमितिजोगेण जा-
वितो भवति अंतरप्पा असवलमसंकिलिद्धनिव्वणच-
रित्तजावणाए अहिंसए संजए सुसाहु ४ ॥

(चउत्थं ति) चतुर्थभावनावस्तु आहारसमिति रिति । तामेवा-
ह—(आहारएसणाए सुद्ध उच्छं गवेसियव्वं ति) व्यक्तम् । इ-
दमेव जावयितुमाह—अज्ञातः श्रीमत्प्रजाजिनादित्वेन दायकजनाऽ
नवगतः, अकथितः स्वयमेव यथाह श्रीमत्प्रजाजिनादिरिति,
अशिष्टोऽप्रतिपादितः परेण । वाचनान्तरे—‘अस्माए अकहि-

ए मद्बुद्धेति ' दृश्यते । 'अदीणे' इत्यादि तु पूर्ववत् । जिह्वाभि-
क्षेपणया युक्त (समुदाणेउण सि) अटित्वा जिह्वाचर्या गोचर-
मिवोष्ठमद्वयात्पगृहीत भेद्य गृहीत्वा आगतो गुरुजनस्य
पार्श्वं समीप गमनागमनातिचाराणा प्रतिक्रमणेन ईर्यापधि-
कादृष्टकेनेत्यर्थः । प्रतिक्रान्त येन स तथा (आलोयण सि)
आलोचन यथागृहीतभक्तपाननिवेदन तथोरेवोपदर्शनं च (डा-
ऊण सि) कृत्वा (गुरुजनस्य सि) गुरोर्गुरुसदिष्टस्य वा वृषभ-
स्य (जहोवपम ति) उपदेशानतिक्रमेण, निरतिचार च दोष-
वर्जनेन अप्रमत्त , पुनरपि च अनेषणाया अपरिज्ञातानालोचि-
तदोषरूपाया , प्रयतो यत्नवान्, प्रतिक्रम्य कायोन्मगकरणेनेति
भावः । प्रशान्त उपशान्तोऽनुत्सुक , आसीन उपविष्ट । स एव
विशेष्यते-सुखनिषण्ण अनाथाधृत्योपविष्ट । तन पदत्रयस्य क-
र्मधारय मुहूर्तमात्रक च काल ध्यानेन धर्मादिना, शुभयोगेन स-
यमव्यापारेण गुरुविनयकरणादिना, ज्ञानेन ग्रन्थानुप्रेक्षणरूपेण,
स्वाध्यायेन त्राऽधीतगुणनरूपेण गोपित विषयान्तरगमने निरु-
द्ध मनो येन स तथा । अन एव धर्मे धुनचारित्र्यरूपे मनो यस्य
स तथा । अन एवाविमना अगूय्यचित्त , शुभमना असक्लिष्ट-
चेता , (अविगदमणे सि) अविग्रहमना असक्लिष्टकलहचेता ,
अव्युद्धमना वा अविग्रहमानासदभिनिवेश , (समादियमणे सि)
सम तुल्य रागद्वेषानाकलित आदितमुपनीतमात्मनि मनो येन स
समाहितमना , शमेन चोपशमेन अधिक मनो यस्य स समाधि-
कमना , समाहित वा स्वस्थ मनो यस्य स समाहितमना । श्रद्धा
च तत्त्वश्रद्धान, सयमयोगविषयो वा निजानिलाप , सवेगश्च मो-
क्षमार्गाभिप्राय ससारजय वा, निर्जरा च कर्मफलमनसि य-
स्य स श्रद्धानवेगनिर्जरामना । प्रयत्नवात्मस्यभावितमना इति
कथ्यते । उत्थाय च प्रहृष्टस्तुष्टोऽतिशयप्रमुदितो, यथागतिक
यथाज्येष्ठ, निमन्त्र्य च साधून् साधर्मिकान् जावनश्च भक्त्या
(विश्रुय सि) विनीतं च हृद्भव त्वमिदमशनादीन्येवमनुज्ञाते
च सति भक्तादौ गुरुजनेन गुरुणा, उपविष्ट उचितासने सप्रसृज्य
मुखत्रयिकारजोहरणाभ्या सशीर्षं काय नमस्कृत शरीरं, तथा-
करतल हस्ततल च, अमूर्च्छिते आहारविषये न मूढिमागतम् ।
अगृह्य, अप्रसारसेऽनाकाङ्क्षवान्, अग्रथित रसानुगतन्तुभिरस-
दमित , अगर्हित आहारविषये अकृतगर्ह इत्यर्थः । अनध्युप-
शो न रनेषु एकाग्रमना , अनाविलोऽकलुष , अलुब्ध लोभविर-
हित , (अणुत्तिष्ठ सि) नार्थार्थ एव अर्थो यस्यास्यसावना-
त्मार्यिक , परमार्थकारीत्यर्थः । (असुरसुर नि) एवचूतशब्द-
जित (अवचव ति) वचवचेतिशब्दरहितम्, अनद्धतमनुत्सुकम् ।
अविनम्रितम् अननिमन्दम् । अपरिशाटि परिशाटिर्वर्जित , 'शु-
जेज्जा' इति क्रियाया विशेषणनामानि । (आलोयजायणे सि)
प्रकाशमुक्ते अथवाऽऽलोके प्रकाशेनाऽन्धकारे पिपीलिकावाला-
दीनामनुपलम्भात्, तथा भाजने पात्रे, पात्र विना जलादि सम्पति-
तस्त्वादशनादिति, यतो मनोवाक्कायस्यतत्त्वेन प्रयत्नेनादरेण
व्यपगतसयोग सयोजनादोषरहित (अणिगाल च सि) रागप-
रिहारेणेत्यर्थः । (विगयधूम नि) द्वेषरहितम् । आह च- "रागेण स
इगाल, दोषेण स धूमग विगयणीहि सि" । अहस्य धुर उपाञ्जनम्
अक्षोपाञ्जन, तच्च व्रणानुलेपनं च ते भूत प्राप्त यत्तत्तथा, तत्क-
ल्पसित्यर्थः । सयमयात्रा सयमप्रवृत्ति, सैव सयमयात्रा मात्रा
तन्निमित्त हेतुर्न तत्सयमयात्रामात्रनिमित्तम् । किमुक्तं जवति-
संयमभारवहनाथनया इय जावनेद-यथाऽकस्योपाञ्जनं जारव-
हनायैव विधीयेत न प्रयोजनान्तरे, एव सयमभारवहनायैव

साधु भुञ्जीत न बलरूपनिमित्त, विषयलौल्येन वा । अविकलो
हि भोजनसयमसाधन शरीर धारयितु समर्थो भवतीति
(भुजेज्ज सि) भुञ्जीत भोजनं कुर्वीत । तथा भोजने कारणान्त-
रमाह-प्राणधारणार्थनया जीवितव्यसरक्षणयेत्यर्थः । सयत-
साधु । णमिति वाक्याद्वक्त्रे । (समिय ति) सम्यक् । निगमयन्नाह-
एवमाहारसमितियोगेन भाविनः सन् जवत्यन्तरात्मा अश्वत्थास-
क्लिष्टनिर्वणचारित्रजावनाक , अश्वत्थासक्लिष्टभावना हेतु-
भूतया वा अहिंसकः सयतः सुसाधुरिति । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा चउत्था जावणा आयाणजंमनिकखेवणास-
मिण् से णिगंथे णो अणायणभमणिकखेवणासमिण्
णिगंथे केवली वूया आयाणभडाणिकखेवणाअसमिण् णि-
गंथे पाणाइ जूयाइ जीवाइ सत्ताइ अभिहणेज्ज वा० जाव
उदवेज्ज वा आयाणभमणिकखेवणासमिण्, से णिगंथे णो
आयाणजंमणिकखेवणा असमिण् सि चउत्था जावणा ॥

तथा चतुर्थी भावना आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति , तत्र
निर्ग्रन्थेन साधुना समितेन अवितव्यमिति । आचा० ३ शु०
३ चू० ।

पंचमगं पीढपट्टगसेज्जासंधारगवत्पत्तकंबददंडकरय-
हरणचोलपट्टगमुहपोत्तियपायधुंढणादि एयं पि संजमस्स
उवचूहणट्टयाए वातातपदंसमसगसीयपरिरक्खणट्टयाए उ-
वगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजएण निच्च पढिद्वे-
हणपप्फोमणपमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण
होइ सयय निक्खियव्वं च गिण्हियव्वं च जायणभदोवहि
उवकरण, एवं आयाणजंमणिकखेवणासमिण् जोगेण जा-
वितो जवति अंतरणा असवत्तमसंकिद्विद्वानिक्खणचारत्त-
भावणाए अहिंसए संजए सुसाहु ५ ॥

(पंचमग नि) पञ्चमभावनावन्तु आदानसमितिनिके-
पसमितिलक्षणम् । एतदेवाह-पीठादिद्वादशविधमुपकरण प्र-
सिद्धम् । (एय पीनि) एतदपि अनन्तरोदितमुपकरणम्, अपिश-
ब्दादन्यमपि सयमस्योपबृहणार्थतया सयमपोवणाय, तथा-
वातातपदशमशकशीतपरिरक्षणार्थतया उपकरणमुपकारकम्
उपधि , रागद्वेषरहित क्रियाविशेषणामिदम् । (परिहरियव्वं ति)
परिभोक्तव्यं, न विभूयादिनिमित्तमिति भावना, सयतेन साधुना
नित्यं सदा, तथा-प्रत्युपेक्षणाप्रस्फोटनाभ्यां सह या प्रमार्जना
सा तथा तथा, तत्र प्रत्युपेक्षण्या चक्षुर्व्यापारेण, प्रस्फोटनया
आस्फोटनेन, प्रमार्जनया च रजोहरणादिव्यापाररूपया (अहो
य राओ सि) अहिं च रात्रौ च, अप्रमत्तेन भवति सततं निक्षे-
पव्य च भोक्तव्यं, प्रदीतव्यं चादातव्यम् । आदातव्यं किं तत् ?
इत्याह-भाजन पात्र, भाण्डं तदेव मृदमय, उपधिश्च वस्त्रा-
दि, एतत् त्रयलक्षणमुपकरणमुपकारकारि वस्त्विति कर्म-
धारयः । निगमयन्नाह-एवमादानेत्यादि पूर्ववत्, नवर इह-
प्राकृतशैल्याऽन्यथा पूर्वापरपदनिपात , तेन भाण्डस्योपकरण
स्यादानं च ग्रहणं, निक्षेपणा च मोचनं, तत्र समितिर्भाण्डा-
ननिक्षेपणासमितिरिति वाच्ये, आदानभाण्डनिक्षेपणासमिति-
रित्युक्तम् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा पंचमा भावणा आलोक्ष्यपाणभोई, से णिगंथे

णो अणालोडयपाणभोयणभोई केवली वूया अणालोडय-
पाणभोयणभोई से णिग्गये पाणातिवा० ४ अजिहणेज्ज
वा० जाव उद्वेज्ज वा तस्सा अलोडयपाणभोयणभोई से
णिग्गये णो अणालोडयपाणभोई ति पंचमा जावणा ॥

तथा परा पञ्चमी भावना आहोकिता प्रत्युपेक्षितमशानादि भो-
कस्य, तदकरणे दोषसम्भवात् । आचा० १ भु० ३ चू० ।

अथाध्ययनार्थं निगमयन्नाह-

एवमियं संवरस्स दारं संमं संचरियं हुंति, सुप्पाणिहियं, इ-
मोहं पंचाहिं वि कारणाहिं मणवयकायपरिक्खिण्हिं, नि-
च्च आमरणत्तं च एस जोगो नियव्वो धित्तिमता मतिमता
अणासवो अकलुसो अच्छिदो अपरिस्सती असंकिञ्चिदो
सुद्धो सव्वज्जेणपणुष्ठातो, एव पढमं सवरदार फासिय पा-
लिय सोदिय तिरिय किट्टियं आराहियं आणाए अण-
पाक्षिय जवति, एव नायमुणिणा जगवया पाणवियं परू-
वियं पसिद्ध सिद्ध सिद्धवरसासणमिणं आपविय सुदेसियं
पसत्थ पढमं सवरदार सम्मत्तं ति वेमि ॥

एवमिति उक्तक्रमेण, इदमहिंसा लक्षण, संवरस्यानाश्रयस्य, द्वार-
मुपाय, नम्यक सवृत्तम् आसेवितं भवति, किंवित्र सदित्याह-
सुप्रणिहितं सुप्रणिधानवत्, सुरक्षितमित्यर्थः । कै किंविधैरि-
त्याह-पञ्चभिः पञ्चभिः कारणैः भावनाविशेषैः अहिंसापावनहे-
तुभिः मनोवाक्यायपरिरक्तिभिरिति । तथा-नित्यं सदा आमरणा-
स्त च मरणरूपमन्तं यावत् मरणात्परतोऽप्यसम्भवात्, पप यो-
गोऽनन्तरोदितभावनपञ्चकुरूपो व्यापारो, नेतव्यो बोद्धव्य इति
भावः । केन ?-धृतिमता स्वस्थचितेन, मतिमता बुद्धिमता, कि-
भूतोऽयं योगः ?-अनाश्रयः नवकर्मानुपादानरूपः, यनोऽकलु-
षोऽपापस्वरूपः, विद्वन्मित्र विद्वन् कर्म जलप्रवेशात्तन्निषेधेना-
च्छिर्द्धं, अस्त्रिरूपत्वादेवापरिस्त्रावी न परिस्त्रवति कर्म ज-
लप्रवेशतः, असंक्लिष्टो न चित्तसंक्लेशरूपः, शुद्धो निर्दोषः,
सर्वजिनैरनुकृतं सर्वार्हतामनुमतः, एवमितीर्यासमित्यादि-
भावनापञ्चकयोगेन, प्रथमं सम्यग्दर्शनमहिंसा लक्षण, (फासिय-
ति) स्पष्टमुचिते काले विधिना प्रतिपन्नं, पालितं सततं स-
म्यगुपयोगेन प्रतिचरितं, (सोदियंति) शोभितमन्येषामपि
तदुचितानां दानादतिचारवर्जनाद्वा, शोधितं वा निरतिचारं कृतं,
तीरितं तीरं पारं प्रापितं, कीर्तितमन्येषामुपविष्टम्, आराधितमे-
भिरेव प्रकारैर्निष्ठा नीतम्, आहूया सर्वज्ञवचनानुपालितं भ-
वति पूर्वकालसाधुभिः पालितत्वादिवर्जितकालसाधुभिश्चानु-
पश्यात्पादितमिति । केनेद् प्ररूपितमत्याह-एवमन्युत्तररूपं, ज्ञा-
तमुनिना क्षत्रियविशेषरूपेण यतिना, श्रीमन्महावीरेणेत्यर्थः । भ-
गवतैश्वर्यादिजगद्युक्तेन, प्रज्ञापितं सामान्यतो विनयेभ्यः कथितं,
प्ररूपितं त्रेदानुभेदकथनेन, प्रसिद्धं प्रख्यातं, सिद्धं प्रमाणप्रतिष्ठितं,
सिद्धानां निष्ठितार्थानां वरशासनं प्रधानाज्ञा सिरुवरशासनम्,
इदमेतत् । (आश्रयवियंति) अर्थं पूजा तस्य आसि प्राप्तिर्जाता
यस्य तदर्थोपायितम्, अर्थं वा आपितं प्रापितं यत्तदर्थोपायितं, सु-
देशितं सुष्टु दर्शितं, सदेवमनुजासुगया पर्वादि नानाविधनय-
प्रमाणैरभिहि- सुदेशितं, प्रशस्तं मङ्गल्यमिति, प्रथमं सवरद्वार-
समाप्तमिति । सम्भ० १ द्वार ।

पचमा भावणा एतावया च सहव्ययं सम्म काएण फा-
सिए पाक्षिए तीगिए किट्टिते अवट्टिते आणाए आहा-
रिए याविं जवति, पढमे जंते महव्वए पाणाइवायाओ वेरमण ।
इति इत्येव पञ्चभिर्भावनाभिः प्रथमं वत स्पर्शितं पालितं तीर्णं
कीर्तितमवस्थितमाह्वयाऽऽराधितं भवतीति । आचा० २ भु० ३ चू० ।

(९) सर्वे प्राणा न हन्तव्या -

सेवेमि जे य अतीता जे य पडुपणा जे य आगमिस्सा
अरइता जगवतो ने सव्वे एवमाइक्खंति एवं जासति
एव पणवोति एव परवोति सव्वे पाणा सव्वे जूया सव्वे
जीवा सव्वे सत्ता ण हतव्वा ण आणावेत्तया ण परि-
घेत्तव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्वेपव्वा ॥

येऽतीता अतिक्रान्ता, ये च प्रत्युपपन्ना वर्तमानकालभाविनः ये
चागामिनः, त एव प्ररूपयन्तीति सत्यन्तः । तत्रातिश्रान्तास्ती-
र्यकृतः कालस्यानादित्यादिति यत्तमतिक्रान्ता, अनागतता अ-
प्यनन्ता आगाभिकालस्यानन्तत्वादिति । वर्तमानतीर्थकृता प्र-
ज्ञापकापेक्षितयाऽनवस्थितत्वे सत्यप्युत्तरः पञ्चम्यपठितं एव क-
थ्यन्ते, तत्रोत्सर्गतं समयक्षेत्रसमन्वितं न सत्युत्तरज्ञानं पञ्च-
स्वपि विदेहेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशत् क्षेत्रात्मकत्वादेकैकस्मिन् द्वात्रिं-
शतापञ्चस्वपि भगवेषु पञ्च, एवमैरावनेष्वपि, तत्र द्वात्रिंशत् प-
ञ्चभिर्गुणिता पष्टुत्तरं शतं भर्तैरावतदशप्रक्षेपेण ससत्यविक-
शतमिति, जघन्यतस्तु विंशतिः सा चैव पञ्चस्वपि महाविदेहेषु
विदेहान्तर्महानद्युनयनदसङ्गावासीर्धकृता प्रत्येकं चत्वारः, तेऽ-
पि पञ्चभिर्गुणिता विंशतिर्भर्तैरावतयोस्त्येकान्तसु प्रमादाव-
भावः पवेति । अन्ये तु व्याचक्षते मेरोः पूर्वापरविदेहैकैकशस्तावा-
न्महाविदेहद्वयोः पञ्चस्वपि दशैवेति । तथा ने आहुः - सत्तरसय-
मुक्तोऽस, इतरे वससमपक्षेत्तज्जिणभाण । चोत्तीस पढमदीवे, अ-
णत्तरद्वे यदुण्णिंति । क इमे अर्हन्तः ? अर्हन्ति पूजासत्कारादि-
कमिति । तथा-ऐश्वर्याद्युपेता भगवन्, ते सर्वे एव परप्रश्नावसरे
एवमाचक्षते, यदुत्तरं वक्ष्यन्ते, वर्तमाननिर्देशस्थोपलक्षणार्थ-
त्वादिदमपि द्रष्टव्यमेवमाचक्षन्तिरे एवमाद्यास्थन्ति एव सामा-
न्यतः सदेवमनुजाया पर्यवर्त्तमानाया सर्वसत्त्वस्वभावाणुगा-
मिन्या ज्ञातया भावन्ते, एव प्रकर्षेण सशीत्यपनोदायान्तेवासि-
नो जीवाजीवाश्रवसम्बरबन्धनिर्जराभोक्तापदार्थान् ज्ञापयन्ति,
प्रज्ञापयन्ति । एव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गो मिथ्या-
त्वाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः स्वपरभावेन सदसती
तत्त्व सामान्यविशेषात्मकमित्यादिना प्रकारेण प्ररूपयन्ति, ए-
कार्थानि चेतानीति । किं तदेवमाचक्षत इति दर्शयति-यथा सर्वे
प्राणा सर्वे एव पृथिव्यपृथिव्यजोवायुधनस्पतय द्वित्रिचतुष्प-
ञ्चेन्द्रियाश्चेन्द्रियबलोच्चासनिश्वासायुष्कक्षकणप्राणधारणात्मा-
णा, तथा-सर्वाणि भवन्ति त्रिष्यन्त्यभूवन्निति चतुर्दश-
भूतग्रामा-तपातीति, एव सर्वे एव जीवन्ति जीविष्यन्त्यजी-
विषुरिति जीवा नारकतियंनरामरद्वक्काश्चतुर्गतिः, तथा-
सर्वे एव स्वकृतसातासातोदयसुखदुःखभाजः सत्त्वा एकार्था-
श्चेते शब्दास्तत्त्वभेदपर्यायैः प्रतिपादनमिति कृत्येति एते च
सर्वेऽपि प्राणिनः पर्यायशब्दावेदिना न हन्तव्या दण्डमकशाऽऽ-
दिभिः नाज्ञापयितव्याः प्रसह्याजियोगदानतः न परिग्राह्या
भूयदासतास्यादिममत्त्वपरिग्रहतो, न परितापयितव्या शरीर-

मानसपीमोत्पादनतो, नाऽपद्रावयितव्याः प्राणव्यपरोपणतः ।
आचा० १ भु० ४ अ० १ उ० ।

(८) वैदिकहिंसाविचारः—

अप्रमत्तस्य योगनिबन्धनप्राणव्यपरोपणस्य अहिंसात्वप्रतिपा-
दनार्थं 'हिंसातो धर्मः' इति वचनं रागद्वेषमाह । योगनिबन्धनस्य
प्राणव्यपरोपणस्य दुःखसवेदनीयफलानिर्वर्तकत्वेन हिंसात्वोप-
पत्तेः, अत एव वैदिकहिंसाया अपि तन्निमित्तत्वेऽप्यप्यहेतुत्वमन्य-
हिंसावत्प्रसक्तम्, न च तस्या अतन्निमित्तत्व, 'चित्रया यजेत प-
शुकाम' इति तृष्णानिमित्तश्रवणात् । न चैवविधस्य वाक्यस्य प्र-
माणनाऽप्युपपत्तिमती, तन्नास्तिनिमित्ततद्विषयोपदेशकत्वात्, तृ-
ष्णादिवृत्तिनिमित्ततदन्यतद्विधातोपदेशवाक्यवत् । न चापौरुषेये
प्रामाण्यम्, तस्य निषिद्धत्वात् । न च पुरुषप्रणीतस्य हिंसावि-
धायकस्य तस्य प्रामाण्यम्, ब्राह्मणो हन्तव्य इति वाक्यवत् । न
च वेदविहितत्वात्तद्विहाया अहिंसात्वम्, प्रकृतहिंसाया अपि त-
थोपपत्तेः । न च 'ब्राह्मणो न हन्तव्य', इति तद्विधायकत्वात्तत्वात् प्र-
कृतहिंसायास्तद्विहितत्वम् । न च हिंसो भवेत् इति वेदवाक्यवाधि-
तचित्रादियजनवाक्यविहितहिंसावत् प्रकृतहिंसाया तद्विहित-
त्वोपपत्तेः । अथ ब्राह्मणो हन्तव्य इति वाक्यं न कश्चिद्वेदे भूयते । न ।
उच्छिन्नाऽनेकशाखानां तत्राऽन्युपगमात् । तथा च 'सहस्रवर्मा
सामवेद' इत्यादिश्रुतिः । अथ यज्ञादन्यत्र हिंसाप्रतिषेधः, तत्र च
तद्विधानम् । यथा चान्यत्र हिंसाऽप्यप्यहेतुरित्यागमात् सिद्धं तथा
तत एव तत्र स्वर्गहेतुरित्यापि सिद्धम् । न च यदेकदैकप्राणयहे-
तुत्वेन सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धे तृष्णादिनिमित्ता च प्रकृतहिंसेति
प्रतिपादितत्वात् न यन्निमित्तत्वेन यत्प्रसिद्धं तत्फला-
न्तरार्थत्वेन विधीयमानमौत्सर्गिकं दोषं न निर्वर्तयति । य-
थाऽऽयुर्वेदप्रसिद्धाहादिक रोगनाशार्थतया विधीयमानं निमि-
त्तं दुःखं क्लिष्टसर्वहेतुतया च मन्त्रविधानादन्यत्र हिंसादिक
शास्त्रे प्रसिद्धमिति, मन्त्रान्तावपि तद्विधीयमानं काम्यमानफल-
सङ्गावेऽपि तत्कर्मनिमित्तं तद्भवत्येव । न च हिंसात्, स्वर्गादिसुख-
प्राप्ता वस्तुनिर्वर्तकक्लिष्टकर्महेतुनाऽसगता, नरेश्वराऽऽराधननिमि-
त्तब्राह्मणादिवानन्तरावाप्तप्रामादिनाजनितासुखसंप्राप्तौ तद्व-
दस्यापि तथात्वोपपत्तेः । अथ प्रामादिब्राह्मणं ब्राह्मणादिविधनिर्व-
र्तिनादृष्टनिमित्तो न भवतीति समानम् । अथाश्वमेधादावात्तन्य-
मानानां गंगादीनां स्वर्गप्राप्तेर्न तद्विसेति, तर्हि ससारमोचकवि-
रचिनाऽपि न एव हिंसा स्यात्, देवतोदेशतो म्लेच्छादिविर-
चिना च ब्राह्मणगवादिहिंसा च न हिंसा स्यात् । अथ तद्वागम-
स्याप्रमाणत्वात् तदुपदेशजनिता हिंसा अहिंसा । ननु वेदस्य कुत
प्रामाण्यसिद्धिः ? न गुरुत्पुरुषप्रणीतत्वात्, परैस्तस्य तत्राऽन्युप-
गमात् । नापौरुषेयत्वात्, तस्याऽसम्भवात् । तत्र प्रदर्शिताभिप्रायो
हि न हिंसातो धर्मावसिर्गुक्ता, परमप्रकर्षावस्थज्ञानत्वात्मात्मकमु-
क्तिमार्गस्य दीक्षाशब्देनाभिधाने दीक्षानो मुक्तिरूपस्यैव, अविक-
लकारणस्य कार्यनिर्वर्तकत्वात्, अन्यथा कारणत्वायोगात् । तत्र
तद्भक्त्यपादानार्थं चैवमभिधानाददोषात् । न हि तद्भक्त्यभावे
उपादेयफलप्राप्तिनिमित्तसम्यग्ज्ञानादिपुष्टिनिमित्तदीक्षाप्रवृत्ति-
प्रवणो भवेत्, तन्नास्त्यपरत्वं प्रदर्शितवत्तत्सामान्युपगमनव्ययम् ।
तथाऽन्युपगमे वाऽनास्तत्वं वेदानां प्रसज्येत, तत्र पूर्वोक्तदोषा-
नतिवृत्ते ॥ सम्म० ३ कारणम्, गाथा १५८ ।

" न हिंस्यात्सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ।
आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्मिक " ॥१॥ अनु० ।

उपदेशमाह—

उरालं जगतो जोगं, विवज्जास पलिति य ।

सर्वे अकृतदुक्त्वा य, अओ सर्वे अहिंसिता ॥ ए ॥

(उरालमिति) स्थूलमुदार, जगत औदारिकजन्तुग्रामस्य, योग
व्यापार, चैष्टमवस्थाविशेषमित्यर्थः । औदारिकशरीरिणो हि ज-
न्तव प्राक्तनादवस्थाविशेषात्तन्मूलकलक्षणरूपाद् विपर्यासभूत
बालकौमारयौवनादिकमुदार योग परि समन्तादयन्ते गच्छन्ति
पर्ययन्ते । एतदुक्तं भवति—औदारिकशरीरिणो हि मनुष्यादेर्बा-
लकौमारादिकः कालादिकृतोऽवस्थाविशेषोऽन्यथा चाऽन्यथा-
भवन् प्रत्यक्षेणैव लभ्यते, न पुनर्यादृक् प्राक् तादृगेव सर्वदेति ।
एव सर्वेषां स्थावरजङ्गमानामन्यथाऽन्यथा च भवन् द्रष्टव्यमि-
ति । अपि च—सर्वे जन्तवः, आक्रान्ता अभिभूता, दुःखेन शरी-
रमानसेनाऽसातोदयेन दुःखाक्रान्ता सन्तोऽन्यथाऽवस्थाभाजो
लभ्यन्ते, अतः सर्वेऽपि ते यथाऽहिंसिता भवन्ति तथा विधेयम् ।
यदि वा सर्वेऽपि जन्तवाऽकान्तमननिमित्तं दुःखं येषां तेऽका-
न्तदुःखाः, चशब्दात् प्रियसुखाश्च ते, तान् सर्वान् न हिंस्यादि-
त्यनेन वाऽन्यथात्यदृष्टान्तो दर्शितो प्रवृत्त्युपदेशश्च दत्त इति ॥ ६ ॥

(६) किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादित्याह—

एवं तु नाणिणो सारं, जन्न हिंसं किंचण ।

अहिंसासमया चेव, एतावंतं वियाणिया ॥ १० ॥

(एवं तु इत्यादि) खुरवधारणे । एतदेव, ज्ञानिनो विशिष्टवि-
वेकवत्, सारं न्याय्यं, यत्किञ्चन प्राणिजातं स्थावरजङ्गमं वा, न
हिनस्ति न परितापयति । उपलक्षणं चैतत्—तेन न मूषा भ्या-
न्नादत्तं गृह्णीयात्तत्राऽब्रह्माऽऽसेवेत न परिग्रहं परिगृहीयात्
न च लुब्धजितेत्येवं ज्ञानिनः सारं यत्र कर्माश्रवेषु वर्तत इति ।
अपि च—अहिंसया समता अहिंसासमता, ता चैतावद्विजानीया-
त् । यथा मम मरणं दुःखं वाऽप्रियम्, एवमन्यस्याऽपि प्राणिहो-
स्येति । एवकारोऽवधारणे । इत्येव साधुना ज्ञानवत्ता, प्राणिनां
परितापनाऽपद्रावणादि वा न विधेयमेवेति ॥ १० ॥ सूत्र० १ भु०
१ अ० ४ उ० ।

(१०) तत्राहिंसाप्रसिद्धार्थमाह—

पुढवीआलगाणिवाळ, तणरुक्खसवीयागा ।

अमया पोयजराळ, रससंसेयलज्जिया ॥ ८ ॥

(पुढवी आल इत्यादि) तत्र पृथिवीकायिका, सूक्ष्मबादरपर्या-
सकाऽपर्यासकजेदमिन्ना, तथाऽपृकायिका अग्निकायिका, वायु-
कायिकाश्चैवभूता एव । वनस्पतिकायिकान् लेशतः समेदनाह-
तृणानि कुशवल्गकादीनि, वृक्षाः चूताशोकादिका, सह बीजैर्वर्तन्ते
इति, सवीजानि तु शास्त्रिगोधूमयवादीनि, एते एकेन्द्रियाः पञ्चा-
पि कायाः । षष्ठ्यसकायनिरूपणायाह—अष्टमजाः शकुनिगृहकौ-
किल्लकसरीसृपादयः । तथा—पोता एव पोतजा हस्तिशरपादयः ।
तथा—जरायुजा ये जम्बाखवेष्टिता समुत्पद्यन्ते गोमनुष्यादयः तथा
रसात् दधि सौवीरकादेर्जाता रसजाः, तथा—सस्वेदाज्जाताः स-
स्वेदजा यूकामत्कुणादयः । उद्भिज्जा खज्जरीटकदुर्गदयः
इति । अज्ञातभदा हि दुःखेन रक्ष्यन्ते इत्यतो प्रेदेनोपन्यास इति ।

एतेहिं छणहिं काणहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।

मणसा कायवक्केणं, एणजी ए परिगही ॥ ए ॥

एभि पूर्वोक्तैः, यस्मिन्परि कायैस्सस्थावररूपैः, सूक्ष्मबादरप-

यासकऽपयसकभेदभिन्नैर्नारम्भो नाऽपि परिग्रही स्यादिति स-
बन्धः । तदेतद्विद्वान् सञ्जातिको रूपग्न्याय परिज्ञाय प्रत्याख्यान-
परिज्ञया मनोवाक्यायकर्मभिर्जीवोपमर्दकारिणामारम्भ परिग्र-
ह च परिहरेदिति ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० ए अ० ।

सन्वाहिं अणुजुचीहिं, मतिमं पमिलेहिया ।

सन्वे अकतडुक्खा य, अतो सन्वे अहिंसया ॥ ६ ॥

सर्वा या. काश्चनानुरूपा. पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेना-
नुकूता युक्तय. साधनानि । यदि वा-ऽसिक्विच्छानैकान्तिकपरि-
हारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसङ्गता
युक्तयस्ताभिर्मतिमान् सन्निवेकी, पृथिव्यादिजीवनिकायान्प्रत्यु-
पेक्ष्य पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य, तथा सर्वेऽपि प्राणिनो ऽका-
न्तदुःखा दुःखद्विषः सुखद्विषस्य मत्वाऽतो मतिमान् सर्वान-
पि प्राणिनो न हिंस्यादिति । युक्तयश्च तत्प्रसाधिकाः सङ्क्षेपेणे-
मा इति-सात्मिका पृथिवी, तदात्मनां विद्रुमलवणोपलादीनां
समानजातीयाङ्गुरसङ्गावादर्शोषिकाराङ्गुरवत् । तथा-सचेतन-
मम्भो, भूमिखननादाविष्कृतस्वभावसज्जवाद्दुर्गवत् । तथा-सा-
त्मक तेज, तद्योग्याहारवृद्ध्या वृध्युपलब्धेर्बालकवत् । तथा-सा-
त्मको वायु, अपराप्रेरितनियततिरस्त्रीनगतिमत्त्वादम्भोवत् ।
तथा-सचेतना वनस्पतयो, जन्मजरामरणरोगादीनां समुदितानां
सङ्गावात्, स्त्रीवत् । तथा-कृतसरोहणाहारोपादानदौर्हृदसङ्गा-
वस्पर्शसकोचसायाहस्वापप्रबोधश्रयोपसर्पणादिभ्यो हेतुभ्यो
वनस्पतेश्चैतन्यासिक्कि । द्वीन्द्रियादीनां तु पुन कम्पादीनां स्पष्ट-
मेष चैतन्यम्, तद्देवनाम्भोपक्रामिका स्वामाविकाश्च समुपलब्ध-
माना मनोवाक्यायै कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेन तत्पी-
डाकारिण उपमर्दाभिर्वर्तितव्यमिति ॥ ६ ॥

एतदेव (पुन.) समर्थयन्नाह—

एवं तु पाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण ।

अहिंसासमय चेव, एतावतं विजाणिया ॥ १० ॥

(एवम् इत्यादि) खुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा । एत-
देवान्तरोक्त प्राणानिपातनिवर्त्तन, ज्ञानिनो जीवस्वरूपतद्वध-
कर्मबन्धवेदिन, सार परमार्थप्रधानम् । पुनरप्यादरव्यापनार्थमे-
तदेवाह-यत्कञ्चन प्राणिनमनिष्टं ख सुखैषिणं न हिनस्ति, प्र-
भूतवेदिनोऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतर ज्ञान, यत्प्राणानिपातनि-
वर्त्तनमिति । ज्ञानमपि तदेव परमार्थतो, यत्पीकृतो निवर्त्तनम् ।
यथोक्तम्-“किं तापं पठियाप, पयकोमीए पयालभूयाए ॥ जतिं
सिच ण पाय, परस्स पीडा न कायन्वा” ॥ १ ॥ तदेवमहिंसा-
प्रधान समय आगम सकेतो वाऽपदेशरूप, तदेवभूतमहिंसा-
समयमेतावन्तमेव विज्ञाय, किमन्येन बहुना परिज्ञानेनैतावतैव
परिज्ञानेन मुमुक्षोर्विवर्त्तितकार्यपरिसमाप्तेरतो- न हिंस्यात्क-
ञ्चनोति ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ॥

(११) मतान्तरेऽहिंसा न तादृशी—

आहु-कथमेतं प्रावादुका मिथ्यावादिनो भवन्ति? अत्रोच्यते-
यतस्तेऽप्यहिंसा प्रतिपादयन्ति, न च तां प्रधानमोक्षाङ्गभूता सम्य-
गनुतिष्ठन्ति । कथम्? साङ्ख्यानां तावज्ज्ञानादेव धर्मो न तेषामहिं-
सा प्राधान्येन व्यवस्थिता, किंतु पञ्च यमा इत्यादिको विशेष इति ।
तथा-शाक्यानामपि दश कुशला धर्मपथा अहिंसाऽपि तत्रोक्ता,
न तु सैव गरीयसी धर्मसाधनत्वेन तैराश्रिता । वैशेषिकाणांम-
पि-अभिसेवनोपवासब्रह्मचर्यशुभकुलवासवानप्रस्थदानयज्ञादि-

नक्षत्रमन्त्रकालनियमा दृष्टाः, तेषु चाभिषेचनादिषु पर्यालोच्यमा-
नेषु हिंसैव सपद्यते, वैदिकानां हिंसैव गरीयसी धर्मसाधन, य-
ज्ञोपदेशात् । तस्य च तथा विनाऽभावादित्यभिप्रायः । उक्तं च-
“ ध्रुवः प्राणिवधो यज्ञे ” ॥ ७६ ॥

(१२) तदेव सर्वे प्रावादुका मोक्षाङ्गभूतामहिंसां न प्राधान्येन
प्रतिपद्यन्त इति दर्शयितुमाह-

ते सन्वे पावाडया आदिकरा धम्माणं पाणापन्ना णा-
णाण्डा पाणासीद्वा पाणादिट्ठी पाणारुई पाणारंजा
पाणाज्जवसाणसंजुत्ता एगं भह मंरुलिबधं किच्चा सन्वे
एगयाड चिट्ठंति ॥ ८० ॥

(ते सन्वे इत्यादि) प्रवदनशीला. प्रावादुका सर्वेऽपि त्रिष-
ष्टयुत्तरत्रिंशत्परिमाणा अपि, आदिकरा यथास्व धर्माणाम्, ये-
ऽपि च तच्छिष्यास्तेऽपि सर्वे, नाना भिक्षा प्रज्ञा ज्ञान येषां ते ना-
नाप्रज्ञा । आदिकरा इत्यनेनेदमाह-स्वरुचिचिरचित्तास्ते न-
त्वनदिप्रवाहायाता । ननु चार्हतानामपि आदित्वविशेषणम-
स्येव । सत्यमस्ति । किन्तु अनादिहेतुपरम्परेत्यनादित्वमेव, तेषां
च सर्वज्ञप्रणीतागमानाश्रयणाश्रित्यन्धानाभावः, तदज्ञावच्च भि-
न्नपरिज्ञानमत एव नानाछन्दा, उन्धोऽभिप्रायः ; भिक्षाभिप्रा-
या इत्यर्थः । तथाहि-उत्पादव्ययध्रौव्यात्मके वस्तुनि साङ्ख्यै-
रेकान्तेनाविर्भावतिरोभावाश्रयणादन्वयिनमेव पदार्थं सत्य-
त्वेनाश्रित्य नित्यपक्ष समाश्रिता । तथा-शाक्या अत्यन्तकाणि-
केषु पूर्वोत्तरभिन्नेषु पदार्थेषु सत्सु स एवायमिति प्रत्याभिज्ञा-
प्रत्यय सदृशापरापरोत्पत्तिर्वितथानां भवतीत्येतत्पक्षसमाश्रय-
णादनित्यपक्ष समाश्रिता इति । तथा-नैयायिकवैशेषिका केवा
श्रद्धाकाशपरमाणवादीनामेकान्तेन नित्यत्वमेव, कार्यद्रव्याणां
च घटपटादीनामेकान्तेनानित्यत्वमेवाश्रिता । एवमनयाऽदिशा-
ऽन्येऽपि मीमांसका तापसादयोऽन्यूह्या इति । तथा-ते तीर्थिका
नानाशील येषां ते तथा, शील व्रतविशेष, स च भिन्नस्तेषामनु-
भवसिद्ध एव । तथा-नाना दृष्टिर्देशन येषां ते । तथा-नाना रुचि-
रेषां ते नानारुचयः । तथा-नानारूपमध्यवसानमन्त करणप्रवृत्ति-
र्येषां ते तथा । इदमुक्तं जवति-अहिंसा परम धर्माङ्गम् । सा च
तेषां नानाभिप्रायत्वादविकलत्वेन व्यवस्थिता । तस्या एव सूत्र-
कारः प्रधान्यं दर्शयितुमाह-ते सर्वेऽपि प्रावादुका यथास्वपक्ष-
माश्रिता एकत्र प्रदेशे सयुता मण्डलिवन्धमाधाय तिष्ठन्ति ॥ ८० ॥

(१३) अहिंसाप्रसिध्यर्थं विवेचनमाह-

पुरिसेयं सागणियाणं इगालाण पाइ बहुपमिपुत्रं गहाय अ-
उमएणं सदासएण गहाय ते सन्वे पावाडए आङ्गरा धम्मा-
णं पाणापन्ना० जाव पाणाज्जवसाणसंजुत्ते एव वयासी-
हंजो पावाडया ! आङ्गरा धम्माण पाणापन्ना० जाव पाणा-
अज्जवसाणसंजुत्ता ! इम ताव तुम्ह सागणियाणं इगाला-
णं पाइ बहुपमिपुत्रं गहाय मुहुत्तय पाणिणा वरेह, एो
बहु संमासग संसारियं कुज्जा, णो बहु अग्गियजणियं
कुज्जा, एो बहु साहम्मिय वेयावडियं कुज्जा, एो बहु पग्ग-
म्मिय वेयावडियं कुज्जा, उज्जया णियागपमिपन्ना अमायं
कुव्वमाणा पाणिं पसारह. इति बुद्धा से पुरिसे तेमिं पावा-
डयाण त सागणियाणं इगालाणं पाइ बहुपमिपुत्रं अ-

उमएण सडासएण गहाय पाणिंसु णिसिरिति, तए णं ते पावाडुया आइगरा धम्माणं णाणापन्नां जाव णाणा-
वसाणसंजुत्ता पाणिं पक्किमाहरंत । तए णं से पुरि-
से ते सव्वे पावाडए आदिगरेधम्माणं जाव णाणाज्ज-
वसाणसंजुत्ता एव वयासी-हंभो पावाडुया ! आइगरा ध-
म्माणं णाणापन्नं जाव णाणाज्जवमाणसंजुत्ता कम्हा ए
तुब्भे पाणिं पक्किमाहरह, पाणिं नो महिज्जा, दहे किं ज-
विस्सइ, पुक्खंति मन्नमाणा पक्किमाहरह, एस तुब्हा एस प-
माणे एम समोसरणे पत्तेयं तुब्हा पत्तेयं पमाणे पत्तेयं स-
मोसरणे, तत्थ णं जे ते ममणा माहणा एवमाइक्खतिं
जाव परूवेति-सव्वे पाणां जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावेय-
व्वा पारेवेतव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उइवेतव्वा
ते आगतुं छेयाए ते आगंतुं जेयाए जाव ते आगंतुं जाइ
जरामरणजोणिजम्भणससारपुणब्भवगज्जवासजवपवंच-
कलकलीभागिणो भविस्संति ॥ ८१ ॥

तेषां चैवव्यवस्थितानामेक कश्चित्पुरुष, तेषां सविदर्थं ज्व-
लनामङ्गागणा प्रतिपूर्णा पात्रीमयोमय भाजनमयोमयेनैव सद-
शकेन गृहीत्वा तेषां क्वीकितवानुवाच तान्-यथा भो. प्रावादुका !
सर्वोक्तोद्योगविशिष्टाः । इदमङ्गाभृत भाजनमेकैक मुहूर्तं प्र-
त्येक सांनारिकाणामिवाऽग्निस्तम्भेन विधत्ते, नापि च साध-
र्मिकाऽन्यधर्मिकाणामग्निदाहोपशमादिनोपकारं कुरुत इति,
ऋजवो मायामकुर्वाणा पाणिं प्रसारयत । तेऽपि च नयैव कुर्युः ।
ततोऽसौ पुरुष तद्भाजनं पाणौ समर्पयति । तेऽपि च दाहश-
ङ्कया हस्तं सकोचयेयुरिति । ततोऽसौ तानुवाच-किमिति पाणिं
प्रतिसहरत यूयम् ? एवमभिहितान्ते ऊचुः-दाहजयादिति । एत-
दुक्तं भवति-अवश्यमग्निदाहमयागं कश्चिदग्न्यभिमुखं पाणिं द-
दातीत्येतत्परोऽयं दृष्टान्तः । पाणिना दग्धेनापि किं जवता भविष्य-
ति ? दुःखमिति चेत्, यद्येव जवन्तो दाहापादितदुःखं जीरयन् सुख-
क्षिप्तवस्तदेव सति सर्वेऽपि जन्तवः ससारोदरविचरवर्तिन एव-
भूता एवेत्येवमात्मतुलयाऽन्मौपम्येन यथा मम नाजिमततु स-
मित्येव सर्वजन्तूनामित्यवगम्याऽहिंसैव प्राधान्येनाश्रयणीया ।
तदेतन्प्रमाणम् । एषा युक्तिः - 'आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति
स पश्यति' । तदेव समवसरणं, स एव धर्मविचारो यत्रा-
हिंसा सपूर्णा तत्रैव परमार्थतो धर्म इत्येवव्यवस्थिते तत्र
ये केचनाविदितपरमार्था श्रमणब्राह्मणादय एव चन्द्रमालामा-
चक्षते, परेषामात्मदाढ्योत्पादनायैव भाषन्ते, तथैवमेव धर्मं प्र-
क्षापयन्ति व्यवस्थापयन्ति, तथाऽन्येन प्राणयुपतापकारिणा प्रका-
रेण परेषां धर्मं प्ररूपयन्ति व्याचक्षते । तद्यथा-सर्वे प्राणा
इत्यादि यावद्वन्तया दण्डादिभिः परितापयितव्या धर्मार्थमर-
घ्टादिवहनादिभिः परिग्राह्या विशिष्टकाले श्राद्धादौ रोदितम-
त्स्या इव, तथाऽपद्रवायितव्या देवतायागादिनिमित्तं वस्त्रादय-
इवेत्येव ये श्रमणादयः प्राणिनामुपनापकारिणो भाषां प्रावन्ते,
आगामिनि कालेऽनेकशो बहुश स्वशरीरोच्छेदाय च भाष-
न्ते, तथा ते सावद्यभागिणो भविष्यन्ति, काले जानिज्जरामरणानि
बहुनि प्राप्नुवन्ति । योन्यां जन्म योनिजन्म तदनेकशो बहुशो
गभव्युत्पन्नज्जाऽवस्थायां प्राप्नुवन्ति, तथा-ससारप्रपञ्चान्तर्ग-

तास्तेजोवायुपूञ्चैर्गोत्रोद्धतनेन कलकलीजावभाजो भवन्ति, ब-
हुशो भविष्यन्ति च ॥ ८१ ॥

ते बहूणं दंमणाणं बहूणं मुण्डणाणं तज्जणाणं ताहणाणं
अदु वधणाणं जाव धोलणाणं माइमरणाणं पितामरणाणं
जाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूतसुएहामरणाणं
दारिदाणं दोह्मणाणं अप्पयसत्रासाणं पियविप्पओगाणं
बहूणं पुक्खदोम्मणस्माणं आभागिणो जविस्संति अणा-
दियं च णं अणवयगं दीहमद्धं चाउरतंससारकंतारं जुज्जो
जुज्जो अणुपरियट्ठिस्संति, ते णो सिज्जिस्संति, णो बु-
ज्जिस्सतिं जाव णो सव्वदुक्खाणं अनं करिस्संति, एस
तुब्हा एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुब्हा पत्तेयं
पमाणे पत्तेयं समोसरणे ॥ ८२ ॥

तथा-ते बहूनां दण्डादीनां शरीराणां च खानामात्मानं भाजनं
कुर्वन्ति, तथा-ते निर्विधेका मातृवधादीनां मानुषाणां दुःखानां,
तथाऽन्येषामप्रियसयोगार्थनाशादिभिर्दुःखदौर्मनस्यानामाना-
गिनो भविष्यन्तीति । किं बहूनोंकेनोपसहारव्याजेन गुरुतर-
मर्थसवन्धं दर्शयितुमाह-(अणादियं इत्यादि) नास्यादिरस्ती-
त्यनादि ससार । तदनेनेदमुक्तं भवति-यत्कैश्चिदभिहितं-यथा
ऽयमएककादिक्रमेणेत्यादित इति । एतदप्यास्तम् । न विद्यतेऽवदप्र-
पर्यन्तो यस्य सोऽयमनवदप्रोऽपर्यन्त इत्यर्थः । तदनेनेदमुक्तं न-
वति-यदुक्तं कैश्चिद्यथा प्रलयकालेऽशेषसागरजलप्लावनं, दा-
दशादित्योक्तेन चात्यन्तदाहः, इत्यादिकं सर्वं मिथ्येति । दीर्घ-
मित्यनन्तपुल्लपरावत्स्वरूपं कालावस्थानम्, तथा-चत्वारोऽन्ता-
गतयो यस्य स तथा, चातुर्गतिक इत्यर्थः । तत्ससार एव का-
न्तारं ससारकान्तारो निर्जलं सनयस्त्राणुराहितोऽरण्यप्रदेशः
कान्तार इति । तदेवभूतं भूयो दूयः पौन पुन्येनानुपरिवर्तिष्यन्ते
अग्रहदृष्टीन्यायेन तत्रैव भ्रमन्त इथास्यन्तीति । अत एवाह-यन-
स्ते प्राणिनां हन्तारः । कुत एतदिति चेत्, सावद्योपदेशात् । एतदीपि
कथमिति चेदत औद्देशिकादिपरिमोक्षानुस्यूतेत्येवमवगन्तव्य-
मित्यतस्ते कुप्रावचनिका नैव सेत्स्यन्ति नैव ते लोकाप्रस्थामा-
क्रमिष्यन्ति । तथा-न ते सर्वपदार्थान् केवलज्ञानायाप्या मो-
क्षयन्ते; अनेन ज्ञानातिशयजावमाह । तथा-न तेऽष्टप्रकारेण
कर्मणा मोक्षयन्ते । अनेनाप्यसिद्धेरकैवल्यावाप्तेश्च कारणमाह ।
तथा-परिनिर्वृतिः । परिनिर्वाणमानन्दसुखावाप्तिः, तां ते नैव प्रा-
प्स्यन्ते, नेनापि सुखातिशयाभावः प्रदर्शितो भवतीति । तथा-
नैत शरीरमानसानां दुःखानामात्यन्तिकमन्तं करिष्यन्तीत्यन-
नाप्यपायानिशयाभावः प्रदर्शितो भवति । एषा तुब्हा, तदतड-
पमानं, यथा सावद्यानुष्ठानपरायणाः सावद्यभाषिणश्च कुप्राव-
चनिका न मिथ्यन्त्येव स्वयुक्त्या अप्यौद्देशिकादिपरिमोक्षिनो
न सिध्यन्तीति । तदेतन्प्रमाणं प्रत्यक्षानुमानादिकम् । तथाहि-
प्रत्यक्षेणैव जीवपीडाकारि चौर्यादिबन्धनान् मुच्यते । एवमन्ये-
ऽपीत्यनुमानादिकमप्यायोज्यम् । तथा-तदेतत्समवसरणमाग-
मविचाररूपमिति प्रत्येकं च प्रतिप्राणिं प्रतिप्रावादुक्तमेतत्तुला-
दिकं द्रष्टव्यमिति ॥ ८२ ॥

तत्थ णं जे ते ममणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परू-
वेति सव्वे पाणा सव्वे जूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण
हंतव्वा, ए अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ए उइवेयव्वा,

दुष्टादुष्टाभिसाधित्वात् । एतदेव व्यतिरेकेणाह-दुष्टा दोषवती कर्मबन्धनियन्धनत्वाद् दुष्टानुयन्धतो दुष्टचित्ताभिसाधेर्भवति । यदाह-“जो उ पमत्तो पुगिसो, तस्स उ जोग पनुच्च जे सत्ता । वावज्जती नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ” ॥१॥ ननु बुद्धाभिसाधे, यदाह-‘जा जयमाणस्स जय, विराहणा सुत्तविहिंसमग्गस्स । सो होइ निज्जरफला, अज्जत्थविसोहिज्जुत्तस्स’ ॥१॥ एतेन च यदुक्तं वैयावृत्यकरस्येव हिंसकस्य कर्मनिर्जरणसहायत्वाभिर्जरालाज इति । तदपि परिहृतम् । यतो न हिंसको वैयावृत्यकरवचनाभिसान्धिः । शेषं त्वन्युपगमाभिगस्तमिति । अधिकृतश्लोकार्थसवादिना ज्ञेयं गाथा-‘नियकयकम्मुवभोगे, विसकिलेसो धुव चहतस्म । तत्तो बधो त खलु, तव्विरईए विवज्ज चि’ ॥ १ ॥

एव परिणामिन्यात्मनि हिंसायाः सम्भवमाविर्भाव्याहिंसायास्तमाह-

ततः सनुपदेशादेः, क्लिष्टकर्मवियोगतः ।

शुभजावानुबन्धेन, हन्तास्या विरतिर्भवेत् ॥ ४ ॥

यत परिणामिन्यात्मनि हिंसा घटते ततस्तस्माद्विंसाघटनात्, अस्या विरतिर्भवेदिति योगः । सतां ज्ञानगुरुणां जिनादीनामुपदेशो हिंसाहिंसयो स्वरूपफलादिप्रतिपादन सनुपदेश, सतांवा प्रावानामुपदेशः, सन् वा शोभन उपदेश, स आदिर्यस्य स तथा, तस्मात्, आदिशब्दात् ज्ञानश्रद्धानपरिग्रहोऽभ्युत्थानादिपरिग्रहो वा । आह च-“अभ्युत्थाने विणय, पक्कमे साहुसेवणापया सम्महसण्णजो, विरयाविरईय विरईय” ॥१॥ तथा क्लिष्टकर्मणां दीर्घस्थितिक्रानावरणादीनां वियोगः कथोपशम, तस्मात् क्लिष्टकर्मवियोगात् । आह च-“सत्तएह पयडीण, अग्निंतरओ य कोमिकोमीए । काऊण सागराण, जइ लहइ चउएहमन्नयर” ॥१॥ शुभजावानुबन्धेन प्रशस्ताभ्यवसायाव्यवच्छेदेन, इत्येव कारणपरस्परया हन्तेति प्रत्यवधारणार्थं, कोमलामन्त्रणार्थो वा । अस्या परिणाम्यात्महिंसायाः, विरतिर्निवृत्तिर्भवेत् जायेत, घटत इत्यर्थः ॥४॥

तत किं जातमित्याह-

अहिंसैवा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

एतत्सरक्षणार्थं च, न्याय्य सत्यादिपादनम् ॥ ५ ॥

अहिंसा अव्यापादनम्, एषा भनन्तरोक्तोपपत्तिका हिंसाविरतिः, मता इष्टा विप्रुषां, मुख्या निरुपचरिता । इयं च प्रासङ्गिकप्रधानफलापेक्षया क्रमेण स्वर्गमोक्षप्रसाधनी देवलोकनिर्वाणहेतुभूता । अथैतस्या एव स्वर्गादिसाधनत्वात्किं सत्यादिपादनेनेत्याशङ्क्याह-एतत्सरक्षणार्थमनन्तरोदिनाहिंसाव्रतपरिष्कारार्थम्, अशब्द पुनरर्थोऽवधारणार्थो वा । न्याय्य न्यायादनपेतम्, उपपन्नमित्यर्थः । सत्यादिपात्रन मृषावादादिनिवृत्तिनिर्वाणम्, अहिंसामस्य स्मरणे वृत्तिकल्पत्वात्सत्यादिब्रतानामिति ॥

(१७) अथ पूर्वोक्तस्यात्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहाद्वि-

ज्ञानिभूतस्य च साधने प्रमाणोपदर्शनायाऽऽह-

स्मरणप्रत्यभिज्ञान-देहसंस्पर्शवेदनात् ।

अस्य नित्यादिसिद्धिश्च, तथा लोकप्रसिद्धितः ॥ ६ ॥

स्मरण पूर्वोपलब्धार्थानुस्मृति, प्रत्यभिज्ञानसोऽयमित्येवरूपप्रत्ययमर्शः, तथा-देहस्य शरीरस्य संस्पर्शो वस्त्वन्तेरण स्पर्शन, तस्य वेदनमनुभवन, देहसंस्पर्शेन वा वेदन स्पर्शनीयवस्तुपरि-

ज्ञानदेहसंस्पर्शवेदनमिति ! पदत्रयस्यास्य समाहारद्वन्द्वः, तस्मादस्यात्मनो, नित्यादिसिद्धिः । नित्यानित्यत्वदेहाद्विज्ञानिभूतत्वप्रतिष्ठा, अशब्द पुन शब्दार्थः । नित्यानित्यत्वादिविशेषणे आत्मन्यहिंसादिसिद्धिः, नित्यानित्यत्वादिसिद्धिः पुन स्मरणादेरिति भावः । प्रयोगश्चात्र-नित्यानित्य आत्मा, स्वयनिहितद्रव्यादिसंस्मरणान्यथानुपपत्तेः । तथाहि-न तावदेकान्तनित्ये स्मरणसंज्ञा, तस्यैकरूपतयाऽनुभवस्यैव स्पष्टरूपेणानुवर्तनात्, इतरथा नित्यताहानेः, नाप्यनित्यत्वे स्मरणसंज्ञोऽनुभवकालानन्तरक्षण एव कर्तुर्विनेष्टत्वात्कस्य स्मरणमस्तु ? ; न ह्यन्येनानुभूतमन्यस्मरानि । अथानुभवक्षणसंस्कारात्साधविधः स्मरणक्षण, समुत्पद्यते । नैवम् । यतोऽनुगमलेशेनापि वर्जितानामत्यन्तविलक्षणानामसंख्येयक्षणानामतिक्रमे जायमानस्य स्मरणक्षणस्य पूर्वोक्तानानुभवक्षणसंस्कारो यदि पर श्रद्धानगम्यो न युक्तिप्रत्याय्यः, प्राक्तनानुभवक्षणस्य चिरतरनष्टत्वात्, अप्रान्तरालक्षणेषु च संस्कारलेशस्याप्यनुपलब्धे सहसैवानन्तरक्षणस्य विलक्षणस्मरणक्षणोत्पादोपलब्धेरिति । परिणामपक्षे तु प्राक्तनानुभवक्षणेनाऽऽहितसंस्कारानुगमवत् तत्क्षणप्रवाहरूपान्नाविधधर्मसमुद्भवस्वभावादात्मनः सकाशात् स्मरणक्षणोत्पादो युक्तियुक्त इति । न च वाच्यमप्रान्तरालक्षणेऽनुभवसंस्कारो नोपलभ्यत इति कथं तन्मतेति निर्वीजत्वेन स्मरणस्यानुपपत्तिप्रसङ्गादिति । तथा-नित्यानित्य आत्मा, प्रत्यभिज्ञानान्यथानुपपत्तेः । तथाहि-एकान्तनित्यत्वेऽनुभवस्यैव साक्षादनुवृत्तेर्न प्रत्यभिज्ञानसंभवः । अनित्यत्वे तु अनित्यत्वादेव पूर्वद्रष्टुः पूर्वदृष्टवस्तुनश्च नष्टत्वादपूर्वयोश्चोत्पन्नत्वात् प्रत्यभिज्ञानसंभवः । नचादृष्टवतोऽदृष्टे प्रत्यभिज्ञानमस्ति, तथा अप्रतीतेरिति । अथ श्रूये-लूनपुनर्जातकेशादिष्वपि प्रत्यभिज्ञानमस्तीति प्राह्य प्रति तस्य व्यभिचारित्वेनाऽप्रमाणतया सर्वत्राप्रामाण्यम् । नैवम् । प्रत्यक्षास्यापि क्वचिद्व्यामिचारात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गादिति । तथा-देहाद्विज्ञानिभूत आत्मा, स्पर्शवेदनाऽन्यथाऽनुपपत्तेः । तथाहि-यद्यसौ देहाद्विज्ञो भवेत्, तदा देहेन स्पृष्टस्य वस्तुनो न संवेदन स्याद्, देवदत्तस्पृष्टवस्तुन इव यज्ञदत्तस्य न । अथामिन्नो, देहमात्रत्वेन तस्य परलोकाज्जावप्रसङ्गादवयवान्तरहानौ चैतन्यहानिप्रसङ्गाद्येति । तथेति समुच्चये लोकप्रसिद्धितो जनप्रतीतेर्नित्यानित्यमात्मादिविच्छित्तिमवस्थान्तरापत्तिश्च प्रतिपद्यमानो जनो लक्ष्यते । नञ् लोकप्रतीतिविरुद्धमर्थमुपकल्पयन्प्रमाण प्रमाणताभासादयतीति ॥ ६ ॥

(१८) आत्मनो विस्तृत्वे पूर्व दोष उक्तोऽथासर्वगतत्वेऽस्य गुणमाह-

देहमात्रे च सत्यस्मिन्, स्यात् सकोचादिधर्मिणि ।

धर्मादेरुर्ध्वगत्यादि, यथार्थं सर्वमेव तु ॥ ७ ॥

देह एव शरीरमेव मात्र परिमाण यस्य स देहमात्र, तस्मिन् देहमात्रे । देहमात्रता चास्य देह एव तद्गुणोपलब्धे । अशब्द पुनरर्थः । नित्यानित्यादिधर्मके आत्मनि हिंसादिरूपपद्यते, देहमात्रे पुन सति भवति । असिद्धात्मनि, स्याज्जवेत्, सर्वं यथार्थमिति सन्धः । किंभूते तत्र, सकोचादि सकोचनादि, आदिशब्दात् प्रसरण, धर्मः स्वज्ञावो यस्य स तथा, तस्मिन्, सकोचादिधर्मकत्व चास्य सूक्ष्मेन शरीरव्याप्ते । किं तत्स्यादित्याह- (धर्मादेरुर्ध्वगत्यादि) “ धर्मेण गगनमूर्ध्वं, गगनमधस्ताद्भवत्प्रधर्मेण । ज्ञानेन चा-

पवर्गः" इत्यादिक वचनमिति गम्यते । यथार्थं निरूपचरित, सर्वमेव निरवशेषमेव, तुशब्दः पूरण इति ॥ ७ ॥

उपसहरन्नाह-

विचार्यमेतत्सद्वृत्त्या, मध्यस्थेनान्तरात्मना ।

प्रतिपत्तव्यमेवेति, न खल्वन्यः सतां नयः ॥ ८ ॥

विचार्य विचारणीयम्, एतद्यदनन्तरमाहिंसादि विचारितं, सद्वृत्त्या शोभनप्रज्ञया, मध्यस्थेनाऽपक्वपतितेन, अन्तरात्मना जीवेन, मनसा वा न केवलं विचार्य, तथा प्रतिपत्तव्यमेव न तु न स्वीक र्त्तव्यम् । इतिशब्दो विवक्षितार्थपरिसमाप्तौ । अथ कस्मात्प्रति- पत्तव्यमेवेत्याह-न खलु नैव, अन्य उत्तनयविलक्षणः, सतां स- त्पुरुषाणां, नयो न्याय इति ॥८॥ हारि० १६ अष्ट० । द्वा० । विशेष० । अहिंसालक्षण-अहिंसालक्षण-पुं० । अहिंसा प्राणिसरक्- ष, वृक्षेण चिह्न यस्य स अहिंसालक्षणः । सत्त्वानुकम्पानुमेय- समवे, पा० । द्याचिह्ने, ध० ३ अधि० ।

अहिंसासमय-अहिंसासमय-पुं० । अहिंसाप्रधाने आगमे, स- केते चोपदेशरूपे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अहिंसिय-अहिसित-त्रि० । अमारिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४४ व० ।

अहिकंखंत-अजिकाङ्क्षत-त्रि० । अभिक्षपति, " अहिकंखते- हिं सुमासियाद् " । प० व० ४ द्वार ।

अहिकरण-अधिकरण-न० । नरकतिर्यग्गतिषु, आत्मनो- ऽधिकरण वा तुल्यसत्त्वे इत्यर्थः । कलहे, नि० चू० ४ उ० ।

अहिकरणी-अधिकरणी-स्त्री० । सुवर्णकारोपकरणे, स्था० ८८० ।

अहिकिच-अधिकृत्य-अन्य० । प्रतीत्येत्यर्थे, " पशुश्च सि वा पश्व सि वा अहिकिच सि वा पश्व " । आ० चू० १ अ० ।

अहिग-अधिक-त्रि० । विशिष्टे, पञ्चा० ३ विव० ।

अहिगुणस्य-अधिकगुणस्य-त्रि० । अधिकगुणवर्तिनि, यो० ७ विव० ।

अहिगत-अधिकत्व-न० । विशिष्टेतरत्वे, पञ्चा० ३ विव० ।

अहिगम-अधिगम-पुं० । विशिष्टपरिज्ञाने, प्रव० १४६ द्वार । अवबोधे, स्था० ७ ठा० । " एण ति वा सवेदण ति वा अहिग- मो सि वा वेयणि सि " । आ० चू० १ अ० ।

अजिगम-पुं० । उपचारे, "अजिगमेण अभिगच्छति" । औ० । ('अभिगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७१२ पृष्ठेऽस्य जेदा उक्ताः)

अहिगमण-अधिगमन-न० । परिच्छेदने, विशेष० ।

अहिगमरु-अधिगमरुचि-पुं० । स्त्री० । सम्यक्त्वजेदे, तद्वति च । प्रव० १४५ द्वार । (५६८ पृष्ठे तथा ७१२ पृष्ठे चास्मिन्नेव भागे अधि० अग्नि० प्रकारेण कृष्यम्)

अहिगमाम-अधिकमास-पुं० । अभिवर्द्धितमासे, ज्यो० १ पादु० ।

अहिगय-अधिकृत-त्रि० । प्रस्तुते, विशेष० । पञ्चा० । भावे क्त, अधिकारे, न० । विशेष० ।

अधिगत-त्रि० । परिज्ञाते, अनु० । गीतार्थे, व्य० १ उ० । दीक्षा- विप्रतिपत्त्याऽङ्गीकृत्ये प्राप्ते, पञ्चा० ० विव० ।

अहिगयगुणवृद्धि-अधिकृतगुणवृद्धि-स्त्री० । सम्यक्त्वाद्विगुण- वृद्धिने, पञ्चा० २ विव० ।

अदिगयजीव-अधिकृतजीव-पुं० । प्रस्तुतसत्त्वे, यथा दीक्षाधि- कारे दीक्षणीय इति । पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयजीवाजीव-अधिगतजीवाजीव-त्रि० । अधिगतौ सम्यग्बिज्ञातौ जीवाजीवौ येन स तथा । जीवाऽजीवयोः पर- मार्थतो विज्ञानवति, रा० ।

अहिगयद्व-अधिगतार्थ-पुं० । अधिगतोऽर्थो येन स तथा, अ- धिगतार्थो वाऽर्थावधारणात् । तत्त्वज्ञे, दशा० १० अ० ।

अहिगयतिथविहाया-अधिकृततीर्थविधातृ-पुं० । वर्त्तमानप्र- वचनकर्तारि भगवति महावीरे, पञ्चा० ९ विव० ।

अहिगयरगुण-अधिकतरगुण-पुं० । प्रकृष्टतरगुणे, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिगयविसिष्ठभाव-अधिगतविशिष्टभाव-पुं० । प्रस्तुतप्रकृष्ट- शुभाध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

अहिगयसुंदरभाव-अधिकृतसुन्दरभाव-पुं० । प्रस्तुतशोभनप- रिणामे, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिगरण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽधिकारीक्रियते दुर्गतावात्मा येन तदधिकरणम् । बाह्ये वस्तुनि, स्था० २ ठा० १ उ० । आब० । प्रव० । पापोत्पत्तिस्थाने, आतु० । दुरुनुष्ठाने, प्रश्न० ३ सम्य० द्वार । स्वपक्षपरपक्षविषये विग्रहे, स्था० ७ ठा० । राटौ, नत्करवचने च । कल्प० ९ क० । कलहे, ग० ३ अधि० । सङ्गतिवर्त्तनादां, ज्ञा० ५ अ० । औ० । सूत्र० । कषायाद्याश्रयचूने हलशकटादौ, म० ७ श० १ व० । (अधि- करणस्य कर्त्तव्यता कामणा च 'अधिगरण' शब्देऽस्मिन्नेव जागे ५७२ पृष्ठे ५७१ पृष्ठे च उक्ता, नवर चातुर्मास्ये)

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पऽ निगंथाण वा नि- गंथीण वा पर पज्जोसवणाओ अहिगरणं वडत्तण, जे ए निगंथो वा निगंथी वा पर पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ, से ए 'अकप्पेणं अज्जो वयमि' ति वदन्वे सिया, जे ए निगंथाण वा निगंथीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ, से ए निज्जुहियन्वे सिया ॥ ५८ ॥

(वासावास पज्जोसवियाणमित्यादि) चतुर्मासक स्थितानां नो कल्पते साधूनां साध्वीनां च पर्युषणात् परम, अधि- करण राटि, तत्कर वचनमपि अधिकरण, तत् वक्तु न कल्पते । अथ य कोऽपि साधुर्वा साध्वी वा पर पर्युषणात् अधिकरणं क्लेशकारि वचनं वदति, स एव वक्तव्य स्यात्-यत् हे आर्य ! त्वमकल्पेन अनाचारेण वदसि, यतः पर्युषणादिनतो- ऽर्वाक, तद्दिने एव वा यदधिकरणमुत्पन्नं तत्पर्युषणाया ज्ञामितं, यच्च त्वं पर्युषणान् परमपि अधिकरणं वदसि, सोऽयमकल्प इति भावः । यश्चैव निवारितोऽपि साधुर्वा साध्वी वा पर्यु- षणात् परम, अधिकरणं वदति स निर्युहितव्य । ताम्बूलिकपत्र- दृष्टान्तेन सहाद् वहि कर्त्तव्य । यथा-ताम्बूलिकेन विनष्ट पत्र- मन्यपत्रविनाशनभयाद् वहि क्रियते, तद्वदयमप्यनन्तानुबन्ध- क्रोधाविष्टो विनष्ट एवेत्यतो वहि कर्त्तव्य इति भावः । तथा-

ऽन्योऽपि द्विजहृष्टान्तः । यथा-खेटवास्तव्यो रुद्रनामा द्विजो वर्षाकाल कदारान् क्रपु हृष्ट लात्वा क्षेत्रं गतः । हल वाहय-तस्तस्य गली बलीवर्धे उपविष्टः । तोत्रेण ताड्यमानोऽपि या-वन्नोत्तिष्ठति तदा क्रुधेन तेन केदारत्रयमृत्खण्डैरेवाहन्यमानो मृत्खण्डस्थगिनमुख श्वासरोधामृतः । पश्चात्स पश्चात्ताप वि-दधानो महास्थाने गत्वा स्ववृत्तान्तं कथयन्नुपशान्तो न वेति तैः पृष्टो, नाद्यापि ममोपशान्तिरिति वदन् द्विजैरपाङ्गुलैश्चक्रैः । एवमनुपशान्तकोपतया वार्षिकपर्वण अकृतज्ञामण साध्वा-दिरपि उपशान्तापस्यितस्यैव मूलं दातव्यम् ॥ ५८ ॥

वासावासं पञ्जोसवियाणं० इह खलु निगंथाण वा नि-गंथीण वा अज्जेव कक्खनं कपुणं विगंहे समुपज्जि-त्या, सेहे राडणियं खामिज्जा, राडणिए वि सेहं खामिज्जा, खमियव्वं खमावियव्वं उवसमियव्वं उवसामियव्वं सुमडसं-पुञ्जणावहुत्वेणं होयव्वं, जो उवसमइ तस्म अत्थि आराहणा, जो न उवसमइ तस्म नत्थि आराहणा; त-म्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं । से किमाहु भेंट !, उव-समसारं खु मामन्नं ॥ ५९ ॥

चतुर्मासक स्थितानामिह खलु निश्चयेन साधुसाध्वीनां च (अज्जेवत्ति) अद्यत्र पर्युषणादिन पव च ' कक्खम ' उ-च्चैश्चरुप कदुको जकारमकारादिरूपो विग्रहः कत्रहः स-मुत्पद्यते, तदा (सेहे त्ति) शैलौ लघु रात्तिकं ज्येष्ठ क्वा-मयति । यद्यापि ज्येष्ठ सापराधस्थथापि लघुना ज्येष्ठ क्षम-णीय, व्यवहारात् । अथापरिणतधर्मत्वाद्युज्येष्ठ न क्षमयति तदा किं कर्त्तव्यमित्याह-(रायणिए वि सेहं खामिज्जा नि) ज्येष्ठाऽपि शैल क्षमयति । ततः कृन्तव्य स्वयमेव क्षमयितव्यः परः, उपशमितव्य स्वयमुपशमितव्यः परः (सुमइ त्ति) शो-भना मति सुमतः । रागद्वेषरहितता, तत्पूर्वया संपृच्छना सूत्रार्थ-विषया समाधि प्रश्ना वा तद्बहुलेन ज्वितव्य, येन सहाधिक-रणमुत्पन्नमास।त्तेन सह निमलमनसा आलापदि कार्यमि-ति भावः । अथ द्वयोर्मध्ये यद्येक क्षमयति नापरस्तदा का ग-तिरित्याह-(जा उवसमइ इत्यादि) य उपशामयति, अस्ति तस्या-ऽऽराधना, यो नोपशामयति नास्ति तस्याऽऽराधना । तस्मात् आत्मना उपशमितव्यम् । (से किमाहु त्ति) तत्कृत इति प्रश्ने गुरुगद-(उवसमेत्यादि) उपशमसारमुपशमप्रधानम्, खु नि-श्चये, आमण्य भ्रमणत्वम् । कल्प० ए क० ।

साधिकरणस्य प्रतिक्रिया-

साहिगरणं जिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणा-वच्चेयस्स निज्जुहित्थं अगिलाए कण्णिज्ज वेयावमि-य जाव रोगायकानो निप्पमुक्के ततो पच्छा अहालदुस्सगे नामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया इति ।

अथास्य सूत्रस्य फ सवन्थ ? इति सवन्धप्रतिपादनार्थमाह-

अभिजयमाणो समगो, परिगहो वा मे वागितो कलहो ।

उवसामेयव्वो उ ततो, अह कुज्जा दुविहजेय नु ॥

भ्रमण साधुमभिभवन् गृहस्थो यदि, या (स) नम्य गृह-स्थस्य परिग्रहः परिजन वारितः सन् कलहं कुर्यात्, ततः स कत्रह उपशमितव्यः । एतद्वददर्शनार्थमाधिकृतसूत्रारम्भः । अस्य

व्याख्या प्राग्वत् । अथ सोऽनुपशान्तः सन् कुर्याद्विभेदं द्विप्र-कार, सयमभेदं जीवितभेदं चेत्यर्थः ।

तत आह-

संजमजीवियभेदे, संरक्खणं साहुणो य कायव्वं ।

परिवक्खनिराकरणं, तस्स मसत्तीए कायव्वं ॥

सयमभेदे जीवितभेदे वा तेन क्रियमाणे सरक्खणं साधोः क-र्तव्यम् । तथा-तस्य साधार्यः प्रतिपक्षः, तस्य निराकरणं स्व-शक्त्या कर्तव्यम् ॥

कथं कर्तव्यमित्यत आह-

अणुसासणभेमणया, जा द्दद्धी जस्म तं न हावेज्जा ।

किं वा मति सत्तीए, हांड सपक्खे उवेक्खाए ? ॥

तस्य प्रथमतः कोमलवचनैरनुशासनकर्तव्यम् । तत्राप्यातिष्ठति जीवणमुत्पादनायम् । तथाऽप्यतिष्ठति यस्य या लब्धिः स नां न हापयेत्, प्रयुज्जीतेत्यर्थः । एतदेव विपक्षे फलाभावोपदर्शनं रुढयति-किं वा सत्यां शनौ नवति स्वपक्षे स्वपक्षस्य उपक्षा ?, नैव किञ्चिदिति प्राव । केवलं स्वशक्त्यैफल्यमुपकानिमित्तं, प्रा-यश्चित्तापत्तिश्च भवति । तस्मादवश्यं स्वशक्तिः परिस्फोर्णीये-ति । व्य० १ उ० । स्था० । "अधिकरणे प्रायः कतिकिंच कलहं ऊज मम वा करेज्जा गच्छवज्जो " महा० ७ अ० । " अहि-करणं पवट्टु, नाहे न करेइ " । आव० ६ अ० । आश्रयः, पो० ३ विव० । सन्निधाने आधारे, स च देगकालादिः । यथा चक्रम-स्तकादौ स्वप्रस्तावे च निष्पद्यते घट इति, एव पटादावपि भा-व्यम् । आ० चू० १ अ० । आ० म० । स चतुर्मेदः । तद्यथा-व्या-पक औपश्रेयिक, सामीप्यका, वैषयिकश्च । तत्र व्यापका यथा-तिष्ठेषु तैलम् औपश्रेयिको यथा-कटे आस्ते, सामीप्यका यथा-गङ्गायां घोषः, वैषयिको यथा-रूपे चक्षुः । आ० म० द्वि० नि० चू० विशेषः । स्वपरिणामे च सामाधिक्यमव्यवच्छिन्न धरतीत्य-धिकरणम् । अधिकरणपरिणामाऽनन्ये सामाधिक्यकर्तारं सा-ध्वादौ, विशेषः ।

अहिगरणकर (म)-अधिकरणकर-त्रि० अधिकरणं कत्र-हस्तं करोति नच्छीलश्चेत्यधिकरणकरः । कलहकरे, "अधिक-रणकडस्स जिक्खुणो" सूत्र० १ भू० १ अ० १ उ० । आचा० ।

अहिगरणज्जाण-अधिकरणं ध्यान-न० । अधिकरणं पापान्य-सिद्देतुस्थानं, तस्य ध्यानमधिकरणध्यानम्, वापीध्यानतत्पर-स्य नन्दिमणिकारस्यैव । दुध्यान, आनु० ।

अहिगरणसाद्व-अधिकरणशाल-न० । बोहपरिकर्मगृहे, भ० १६ श० १ उ० ।

अहिगरणसिद्धत-अधिकरणसिद्धान्त-पु० । यत्सिद्धाव-न्यस्यार्थस्यानुपपन्नेन सिद्धिः, तस्मिन् सिद्धान्तभेदे, सूत्र० १ भू० १ अ० । " स चासौ अहिगरणो, जहिय सिद्धे सेस अणु-त्तमवि सिद्धे, जह निव्वसे सिद्धे अन्नत्तामुत्तत्तसिद्धी " यस्मिन् सिद्धे शेषमनुक्रमेण सिध्यति, यथाऽऽत्मनो नित्यत्वे सिद्धे, शरीरादन्यन्वससिद्धिरमूर्तत्वससिद्धिः । एषोऽधिक-रणसिद्धान्तः । सूत्र० ।

अहिगरणि-अधिकराणि-त्री० । अधिक्रियते कुट्टनार्थं लोहा-दि यस्या साऽधिकराणि । लौहकारसुवर्णकाराद्युपकरणे, भ० १६ श० १ उ० । स्था० ।

अहिगरणखोडि-अधिकरणखोडि-खी० । अधिकरणनिवे-
शनकाष्ठे, यत्र काष्ठेऽधिकरणी निवेश्यते । भ० १६ श० १ उ० ।
अहिगरणिया-अधिकरणिकी-खी० । अधिकरणविषये व्या-
पारे, प्रश्न० । सा च द्विविधा निवर्तनाधिकरणक्रिया, सयोजनाधि-
करणक्रिया च । तत्राद्या खड्गादीना तन्मुष्ट्यादीना निवर्तनलक्षणा ।
द्वितीया तु-तेषामेव सिद्धानां सयोजनलक्षणेति । दुर्गतौ
यकामिरधिक्रियते प्राणी तासु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । प्रति० ।
आव० । "अहिगरणिया ण भते ! किरिया कनिविहा पणत्ता ?
गोयमा ! दुविह्य पणत्ता । त जहा-सजोयणाहिगरणिया य,
णिवत्तणहिगरणिया य " । प्रज्ञा० २२ पद ।

अहिगा(या)-अधिकार-पु० । प्रयोजने, प्रस्तावे च । विशेष० ।
आ० भ० । दश० । नि० च० । व्यापारे आचा० १ श्रु० २ अ० १
उ० । सघा० । अधिक्रियन्ते समाश्रियन्ते इत्यधिकाराः । प्रस्ताव-
विशेषेषु, प्रव० १ द्वार ।

अहिगारि-(ण) अधिकारिन्-त्रि० । तद्योग्ये, प्रव० २ द्वार ।
आलम्बनापरपर्याये योग्ये, सघा० । पञ्चा० । दश० ।

अहिच्छत्ता-अहिच्छत्रा-खी० । जङ्गलदेशप्रतिषेधे पुरीभेदे,
"अहिच्छत्ता जंगलो चेव " अहिच्छत्रा नगरी, जङ्गलो देश,
आर्यक्षेत्राणि । प्रव० १४८ द्वार । सूत्र० । "चपाप नयरीए उत्तर-
पुरच्छिमे दिसि भाए अहिच्छत्ता नाम नयरी होत्था " ज्ञा०
१६ अ० । तत्कल्पप्रश्न-

" तिहुअणभाणु तिजए, पयड नमिऊण पासजिणचद ।
अहिच्छत्ताए कए, जहासुह किपि जपेमि " ॥ १ ॥

" इहेव जवुदीवे दीवे जारहे वासे मज्झमखडे कुट्ज-
गतजणवए संखावडे नाम नयरी रिक्सिमिहा दुत्था ।
तथ जयव पाससामी ङउमत्थविहारेण विहरतो काठ-
सगो त्रिश्रो पुव्वनिवद्धवेरेण कमठासुरेण अविच्छि-
न्नधाराए वापहिं वरिसतो अयुद्धो विठविश्रो । तेण सयले
महीमडले पगज्जवीभूए आकठमग्ग भगवत ओहिणा
आमोएऊण पवगिसाहणजुय कमठमुणि आणाविअ कट्ठा
ग्वीमी अतरमज्जनमएभवउवयार सुमरेण धरणिदेण
नागराएण अगमहिर्साहिं सह आगंतूण मणिरयणविचर-
अ सहस्ससखफणामडलउत्त सामिणो उवारिं करेऊण
हिठे कुमलीकयलोयण सगिहएअ सो उवसगो निवारिओ ।
तओ पर तांसे नयरीए अहिच्छत्त ति नामं सजाय । तथ
पायारणहिं जहा जहा पुगओ त्रिश्रो उरगरुवा धरणिंदो कुडि-
लगए सए तहा तहा इट्टनिवेशो कओ । अज्ज वि तहेव
पायारे रयणा दासइ । सिग्गिपाससामिणो चेइय सघेण कारिय,
चेइआओ पुव्वट्टिसि अइमहुगपसओदगाणि कमठजलदरो-
ज्जियजलपुष्पाणि मत्त कुमाणि त्रिष्ठति । तज्जले सुविहिअएदा-
णाओ निदिआ यिरवत्थाओ हवनि । तेसि कुमाण मट्टियाए धा-
उवाइआ धाउसिक्कि मणिनि, पाहाणलठिमुठिअ महासिद्ध-
रसकूविआ य इत्थ दीसइ । तथ निच्छुरायणस्स अणेगे
अभिदाणाइउग्घामिणोवक्कमा निफक्कीहूआ । तीसे पुरीए
अतो बहिं पत्तेय कूवाण वीहियाण च सवाय लक्ख अत्थइ
महुरोदगाण । जत्तागयजणाण पाससामिचेएण एदवण कुण-
ताए अज्जवि कमठो खरपयरदुहिएगुट्टिगाज्जिअविज्जुमाइ
इरिसेइ । मूलदेवइआओ नाइदूरे सिद्धयित्तमि पाससा-
मिणो धराणिदपउमावईसेविअस्स चेइअपायारसमीवे सि-
२२२

रिनेमिमुत्तिसिहिआ सिक्खुद्धकलिआ अयवुविहत्था निह-
वाहणा ओवा देवी चिट्ठइ । ससिक्खग्गिम्मलसलिलपडि-
पुष्पा उत्तरागिहाणा वावी । तथ मज्जणे कए तवट्टे मट्टि-
आहेवे अ कुट्टीण कुट्टोरोगोवसमो हवइ । धम्मतीक्खम्म
य पिजरवष्ठाए मट्टिआए गुरुवएसा कचण उप्पज्जइ । अ-
भकुमनमयरुद्धाए महुक्कवर्जाए दव्वल्लुणेण एगल्लुणेण खी-
रेण सम्म पीएण पन्नामहामपन्नो निरोगो किनरस्सरो अ हो-
इ । तथ य पाएण उववएसे सु मच्चमहीइहाण वदया उव-
लज्जति, ताणि ताणि अ कज्जाणि माहति । तहा जयती-नाग-
दमणी-सहदेवी-अपराजिआ-लक्खणा-तिवल्ली-नउली-स-
उली-मणक्खो-सुवणसिला-मोहली-सोमली-गविमत्ता-नि-
व्विसी-मोगसिहा-मत्ता-विसल्लापजिहओ महोमर्हाओ एत्थ
वट्टनि । छोइआणि अ अणेगाणि हरिहरइग्गणज्जच-
डिआजवणवमकुमाईणि तित्थाणि । तहा एसा नयरी म-
हातवसिस्स सुगिहीयनामधेयस्स कएहरिसणो जम्मभू-
मि सि, तप्पयपकयपगगकणानिकएण पविक्कीकयाए य वच्चव-
स्स पाससामिस्स सभरणेण आहिवाहिस्सपविमदरिक्कार-
ण चोरजजलणरायडुडगहमारिचूअपेअसाइणीपमुहखुदो-
वहवा न हवति भविआण ति " ।

" इअ एस अहिच्छत्ता-कप्पो उववसिओ समासेण ।

सिरिजिणपहसूरीहिं, पउमावईवरणकमठपिओ " ॥ १ ॥

इति अहिच्छत्राकल्प समाप्तः । ती० ७ कल्प० । आचा० ।

अहिजाय-अभिजात-त्रि० । कुलीने, 'अहिजाय महक्खम' अ-
भिजात कुलीन महती क्रमा यत्र तथा पूज्य क्रम समर्प्यत्व यत्त-
त्तथा । तत् कर्मधारय । अथ वा-अभिजाताना मध्ये महत् पूज्य
क्रम समर्थं च यत्तत्तथा । भ० ए श० ३३ उ० ।

अहिज्जग-अधीयान-त्रि० । प्रकृति-प्रत्यय-लोपा-ऽऽगम वर्ण-
विकार-काल-कारकादिवेदिनि, दश० ५ अ० ।

अहिज्जमाण-अधीयमान-त्रि० । पत्रति, द्य० ४ उ० । सूत्र० ।

अहिज्जितं-अध्येतुम्-अव्य० । पठितुमित्यर्थे, दश० ४ अ० ।

अहिजित्ता-अधीत्य-अव्य० । अध्ययन कृत्वेत्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

पठित्वेत्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

अहिज्जयता-अभिध्यतता-खी० । मिथ्या लोच, सा सजा-
ता यत्र न निश्चिन । न निश्चितोऽनिश्चित । तद्भावस्तत्ता ।
अलोभे भ० ६ श० ३ उ० ।

अहिट्टाण-अधिष्ठान-न० । सन्निपद्यावेष्टिते एवोपवेशने, नि०
चू० ५ उ० । भावे लुपुट्-आश्रयणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।
'अहिट्टाण काऊण ठितो' आ० भ० द्वि० । पतिर्ये, स्वामित्वे च ।
आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

अहिट्टिजमाण-अधिष्ठीयमान-त्रि० । समाक्रम्यमाणे, स्था० ४
ग० १ उ० ।

अहिट्टितए-अधिष्ठातुम्-अव्य० । निषदादिना परिभोक्तुमि-
त्यर्थे, वृ० ३ उ० ।

अहिट्टिय-अधिष्ठित-त्रि० । अध्यासिते, ज्ञा० १४ अ० । " स-
वो जुद्धमहिट्टिनो " । आ० भ० प्र० । आविष्टे, स्था० ५ ग० २ उ० ।
वश्यता गते, ' राजाहिट्टिया " राजाधिष्ठिता राजाधीना ।
ज्ञा० १४ अ० ।

अहिण उलमयमयाहिवयसुह—अहिनकुलमृगमृगाधिपप्रमुख—
त्रि० । छजगवधुहरिणसिंहप्रभृतिके, प्रमुखग्रहणादश्चमहि-
प्यादिपरिग्रहः । पञ्चा० ३ विव० ।

अहिणंदण—अजिनन्दन—पु० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते भर-
तक्षेत्रीये चतुर्थे तीर्थकरे, ध० २ अधि० ।

" अत्रन्तिषु प्रसिद्धस्य, सिद्धस्येद्धतरायते ।

अभिनन्दनदेवस्य, कल्प जल्पामि देशतः " ॥ १ ॥

इह कुले इत्वाकुवशमुकामणे श्रीसवरराजसुनो' सिद्धा-
र्याकुक्षिरसीराजसुनो सिद्धार्थाकुक्षिरसीराजहसस्य क-
पिलाञ्जनस्य चामीकररुचे. स्वजन्मपात्रितथीकोशलापुरस्य
सार्द्धधनु शतत्रिनयोद्धायकायस्य चतुर्थनीथेश्वरस्य श्रीमद-
भिनन्दनदेवस्य चैत्य मालवदेशान्तर्वर्त्तिमङ्गलपुरप्रत्यासन्नायां
महाटवीगताया मेदपल्लयामासीत् । तस्यां त्रिविधचित्रपापकर्म-
वतायामजातनिर्वेदा मेदाः प्रतिवसन्ति स्म । अन्यदा तुच्छमेच्छ-
सैन्येन तत्रोपेत्य भग्न तज्जिनायननम, नवखण्णीकृत च । प्रमदोदुर
तया दुरधिष्ठायकानीकाक्षिकाद्युर्ध्वलितानामकवनीयतया प्रति-
हतप्रणतजनविम्बमपि तच्चैत्यालङ्कारचूतां भगवतोऽभिनन्दनदेव-
स्य बिम्ब केचित्सप्तखण्डानीत्याहुः । तानि च शकलानि संजात-
मन. खेदैर्मेदै समीत्य एकत्र प्रदेशे धारितानि । एव यदीयसि
गतवत्यनेहसि हरहमिनगुणग्रामाभिरामाद् धारादुपेत्य नित्य
वणिगेक. स्वकलाच्छेको वज्राभिषयस्तत्र क्रयाक्रयिकरूप
वाणिज्यमकार्षीत् । स च परमार्हतः । ततः प्रत्यह गृहमागत्य दे-
वमपूजत् । सत्यकृतायां देवपूजायां न जातु शुभुजे । ततः
पल्लीपल्लीमुपेयिवानेकदाऽनेकदारुणकर्मभित्तैरामिदधे स श्रावः ।
किमर्थं त्यमेहिरेयाहिराङ्कुरे अस्यामेव पल्लयाम्, अणिगुचि-
तभोज्यपूरणकल्पवल्यां वल्ल्यां किं न भुङ्क्ते ? । ततश्च जणित
वणिजा भो राजन्या । यावदहमर्हन्तं देवाधिदेव त्रिभुवनकृतसेवन
न पश्यामि न पूजयामि चेत्तावन्न वल्ल्यां प्रगल्ने । किरानैर्जगदे-
यद्येव देव प्रति तथ निश्चयस्तदा तुच्य दर्शयामस्त्वदभिमत दै-
वतम् । वणिजा प्रोचे-तथाऽस्तु । ततस्तैस्तानि नवापि वा सप्तापि वा
खण्डानि यथावयवव्यास सयोज्य दर्शनं भगवतोऽभिनन्दनस्य
त्रिम्य, तद्वसुचिनरम्यमाणपाषाणघटित विलोक्य प्रमुदितमुदि-
तयासनातिशयेन तेन वणिग्वरेण ऋजुमनसा नमस्कृतस्तिर-
स्कृतदुरन्तदुरिनो जगवान् पूजितश्च पुष्पादिभिश्चैत्यवन्दना च
विरचिता । ततः स तत्रैव भोजनमकरोत् । गुरुनरामिग्रह इत्यकार
प्रतिदिनं जिनपूजानीष्टामनुतिष्ठति सति तस्मिन् वर्णिजि अपरे-
गुरुयद्विनेकातिरेकबहुवैर्नाहवैस्तस्मात्किमपि द्रव्य धनार्थि-
स्तद्विम्बशकलानि युतकीकृत्य कचिदपि सगोपितानि, वृत्ते या-
चन्पूजावसरे ता प्रतिमामनालोक्य नाम्नौ शुभुजे, ततस्तेन विषम-
मनसा विहिन भयानकमुपवासत्रयम् । अथ स मेदैरपृच्छि-किमर्थं
नाऽश्रामि ? । स यथान्त्यमेवाकययत् । इतः किरानवातिरेवादि-य-
द्यस्मभ्य गुप्तं ददासि तदा तुच्य दर्शयामस्त देवम् । वणिजा बभा-
णे विनरिष्याम्यवश्यामिति न तस्मैस्तन्मकलमपि शकलाना नवक
सप्तक वा प्राग्वत् सयोज्य प्रकटीकृतम् । दृष्ट च तेन सयोज्यमान
तद्विम्ब सुतरां निषादस्पर्शविषादकलुषितहृदय समजनि ।
स श्रावधुरीणस्तदनु सार्विकतयाऽभिग्रहमग्रहीत्-यावदिदं
विम्बमखण्ड न विलोक्येन तावदोदनमश्रामि । तम्येन्यमनुदि-
समुपवसतस्तद्विम्बाधिष्ठायकैः स्वप्ने निजगदे-यद्वम्य बिम्ब-
स्य नवखण्डसन्ध्रयश्चन्दनलेपेन पूरणीया, तत इदमखण्डतामे-

स्यतीति प्रबुद्धेन प्रातर्जातप्रमोदेन तथैव चक्रे । समपादि
भगवानखण्डवपु, सन्धयश्च मिहिताश्चन्दनलेपमात्रेण क्षणमा-
त्रेण । भगवन्त विशुद्धश्रद्धया सपूज्य भुक्तवान् । पण्याजीवः
पीवरां मुदमुदवदन् ददौ च गुमादि मेदेभ्यः । तदनन्तर तेन
वणिजा मणिजातमिव प्राप्य प्रहृष्टेन शून्यखेटके पिप्पलतरो-
स्तले वेदिकाबन्ध विधाय सा प्रतिमा मणिमता । ततः प्रभृति
श्रावकसघाश्चातुर्वर्ण्यलोकाश्चतुर्दिगन्तादागत्य यात्रोत्सव सूत्र-
यितु प्रवृत्ताः । तत्र अजयकीर्त्तिभानुकीर्त्तिशम्भाराजकुलास्तत्र
मठपत्याचार्याश्चैत्यचिन्तां कुर्वते स्म । अथ प्राग्वाटवंशावतसे-
न थाहडात्मजेन साधुहालाकेन निरपत्येन पुत्रार्थिना विरचितमु-
पयाचिनकम्-यदि मम तनुजो जनिता तदाऽत्र चैत्यं कारयि-
ष्यामीति । क्रमेणाधिष्ठायकविद्दशसाम्निध्यतः पुत्रस्तस्योदप-
द्यत कामदेवाख्यः । ततश्चैत्यमुखैस्तरशिखरमचीकरत्साधुदा-
लाक । क्रमात्साधुजावडम्य दुहितर परिणामित. कामदेवश्च
पित्राऽपि माहाग्रामादाहूय मलयसिंहादयो देवान्का' स्था-
पिताः । महणियाभिष्यो मेद स्थाहुर्ला जगवदुद्देशेन कृतवान्-
किलाहमस्य भगवतोऽहुर्दीवर्द्धित. सेवक इति । भगवद्विलेप-
नचन्दनगलनाद्य तस्याहुर्लि पुनर्नवीवभूव । तमतिशयमतिशा-
यिनं निशम्य श्रीजयसिंहदेवो मालवेश्वर स्फुरद्भक्तिप्राग्भा-
रभाखरान्त करण. स्वामिन स्ययमपूजयत् । देवपूजार्थं चतुर्वि-
ंशतिहलकृष्यां भूमिमदत्त मठपतिभ्यः । द्वादशहलवाक्षां चवर्नी
देवाचकेभ्यः प्रददावर्चनिपति । अद्यापि दिग्मण्डलव्यापिप्रजाव-
चैजवो भगवानजिनन्दनदेवस्तत्र तथैव पूज्यमानोऽस्ति ।

" अभिनन्दनदेवस्य, कल्प एष यथाशुतम् ।

अल्पीयान् रचयांचक्रे श्रीजिनप्रजसूरिभिः " ॥ १ ॥

इति सकलभूवल्यनिवासलोकभिनन्दनस्य श्रीभिनन्दन-
देवस्य कल्पः । ती० ३३ कल्पः ।

अहिणव-अभिनव-त्रि० । नूतविशिष्टवर्णादिगुणोपेते, रा० ।

अहिणवसह-अजिनवश्राव-पु० । व्युत्पन्नभावके, पि० ।

अहिणिवोह-अजिनिबोध-पु० । अर्थान्निमुखो नियतः प्र-
तिस्वरूपको बोधविशेषोऽभिनिबोधः । मतिज्ञाने, अजिनिबु-
ध्यतेऽस्मादस्मिन् वेति अजिनिबोधः । मत्यावरणकथोपशमे,
प्रज्ञा० २६ पद ।

अहिषु-अजिङ्ग-त्रि० । सयोगादेर्जस्य सुक शस्य णत्वक्षित्वे,
"क्षो णत्वेऽजिङ्गाटौ" । ॥ १ । ५६ । इति णकाराडुत्तरस्यात च ।
अहिण्यु । प्रा० १ पाद । "क्षो अ " । ॥ २ । ८३ । इति अस्य
लुक्, अहिजो । प्रा० २ पाद । प्राज्ञे, वाच० ।

अहितत्त-अजिनत्त-त्रि० । अत्यन्तपीमिते, उक्त० २ अ० ।

अहिता-अधीत्य-अव्य० । पाठित्वेत्यर्थे, " अदृग्मेव बहवे अ-
हिता, लोगसि जाणाते अणागताः " । सूत्र० १ शु० १२ अ० ।

अहिदष्ट-अहिदष्ट-न० । सर्पदशने, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिदष्टाह-अहिदष्टादि-त्रि० । सर्पदशनप्रभृतौ, "अहिदष्टाह
क्षेयाह वज्रयतीह तह सेस " । पञ्चा० १८ विव० ।

अहिधारणा-अभिधारणा-स्त्री० । प्रस्विन्नो यद्वहिरवतिष्ठते
धातागमनमार्गे तस्मिन्, आचा० १ शु० १ प्र० ७ व० ।

अहिपञ्चुअ-ग्रह-धा० । "ग्रहो वल-गेणह-हर-पङ्क-निरवारा-

हिपञ्चुभाः" । ७ । ४ । २०६ । इति प्रहेरहिपञ्चुअ आदेशः ।
अहिपञ्चुअ-गृह्णाति । प्रा० ४ पाद ।

अहिमञ्चु-अग्निमन्पु-पु० । "न्यएयङ्गञां ञः" । ७ । ४ ।
२६३ । इति द्विरुक्तो ञः । प्रा० ४ पाद । "अग्निमन्यौ जञ्जौ वा"
८ । २ । २५ । इति ञ्भास्य जो ञ्जश्च । पक्षे—'अहिमन्' ।
प्रा० २ पाद ।

अहिम-अहिमृत-पु० । मृताहिदेहे, जी० ३ प्रति० । सर्पकक्षे-
वरे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अहिमर-अग्निमर-पु० । अग्निमुखाः पर मारयन्ति ये तेऽभि-
मराः । प्रश्न० ३ सव० द्वार । दर्दरचौरेषु अश्वहरेषु, नि० चू०
१ उ० ।

अहिमाङ्ग-अह्मादि-पुं० । उर परिसर्पादौ, उक्त० ३६ अ० ।

अहिमास-अधिमास-पु० । अग्निवर्द्धितमासे, आव० १ अ० ।

अहिय-अधिक-त्रि० । आधिक्यविशिष्टे, "आरुढो सोढश्च
अहियसिरे चूडामणिजहा" उक्त० २२ अ० । ज० । औ० । अक्ष-
रपदादिभिरनिमात्रमधिके, अनु० । हेतोर्दृष्टान्तस्य चाधिक्ये स-
ति, अधिक यथा-अनित्य शब्दः, कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वा-
भ्याम्, घटपटवदित्यादि । एकस्मिन् साध्ये एकएव हेतुर्दृष्टान्तश्च
वक्तव्य । अत्र च प्रत्येकं द्वयानिधानाधिक्यमिति भावः । अनु० ।
विशे० । वृ० । अधिक यत्पञ्चानामवयवानामन्तरेण समधिकम् ।
वृ० १ उ० । आ० म० द्वि० । "अहियसस्तिरीय" अधिकरूपे-
ण सश्रीकः शोभनो यः स तथा तम् । कल्प० ३ क० । अधिकम-
पि द्विधा-ऊन्ये भावे च । तत्र द्रव्याधिके तथैव द्वेऽविरातके
दृष्टान्त औपधौ पीडकेन च (एवं तावदक्षरपदादिभिरधिके
सूत्रे दोषा मासवधुप्रायश्चित्तादयः "हीणक्षर" शब्दे व-
क्ष्यन्ते) सम्प्रति भावाधिक एवोदाहरणमाह-

"पामर्लसोग कुणाले, उज्जेली लेहलिहण सयमेव ।

अहिय सवत्तीमत्ता-ऽहिएण सयमेव वायणया ॥

मुरियाण अप्पडिहया, आणा सयमजण निवे णाण ।

गामग सुयस्स जम्म, गधन्नाउट्टणा केइ ॥

अदगुत्तपुत्तो य, विट्टसारस्स नत्तुओ ।

असोगसिरिणो पुत्तो, अथो जायइ कार्णि" ॥ वृ० १ उ० । विशे० ।

अहित-त्रि० । अपथ्ये, म० ७ श्रु० ६ उ० । स्या० । अपाये,
स्या० ५ ठा० १ उ० । भावप्रधानोऽय निर्देशः । परिणामासुन्द-
रत्वे, दशा० ६ अ० ।

अहियदिण-अधिकदिन-न० । दिनवृद्धौ, स्या० ६ ठा० ।

अहियपोरिसीय-अधिरूपौरुषीक-त्रि० । पुरुषप्रमाणाधिके,
"कुर्मीमहताहियपोरिसीया, समूसिता लोहियपूयपुम्मा" ।
सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अहियप्पसाण-अहितप्रज्ञान-त्रि० । अहित प्रज्ञानं यो धो
यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । अहितबोधे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अहियरूवसस्तिरीय-अधिकरूपसश्रीक-त्रि० । अतिशोजिते,
कल्प० ३ क० ।

अहियहिय-अहितहित-त्रि० । अतिबहुकादिषु तथाविधे
भोजने, पि० ।

सांप्रतमहितहितस्वरूपमाह-

दहितेष्ट समाजोगा, अहिओ खीरदहिकंजियाणं च ।
पत्थं पुण रोगहरं, न य हेळ होइ रोगस्स ॥ ६१० ॥

दधितैलयोः तथा-क्षीरदधिकाञ्जिकानां च यः समायोगः सो-
ऽहितो, विरुद्ध इत्यर्थः । तथा चोक्तम्-"शाकमूलाफलपि-
ण्याककपित्थलवलैः सह । करीरदधिमत्स्यैश्च, प्राय क्षीर
विरुध्यते" ॥ १ ॥ इत्यादि । अविरुद्धरूपमेतन् पुनः पथ्य, तच्च
रोगहर प्रादुर्भूतरोगविनाशकरम् । न च भावितो रोगस्य हेतुः
करणम् । उक्तञ्च-"अहिताशनसपर्का-त्सर्वरोगोद्भवो यतः ।
तस्मात्तदहित त्याज्यं, न्याज्य पथ्यनिवेशणम्" ॥ १ ॥ पि० ।

अहियास-अध्यास-पु० । परीषहादीनां सम्यक्तितित्तायाम्,
आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० । सूत्र० । वर्तने पाक्षने, सूत्र० १
श्रु० ७ अ० ।

"कान्तं न क्रमया गृहोचिनसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः,
सोढा दुःसहतापशीतपवना क्लेशान्न तप्त तपः ।

ध्यात विस्रमहर्निश नियमितं द्वन्द्वैर्न तत्त्वं परः,

यद्यत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरहो ! तैस्तैः फलैर्वञ्जितः" ॥ १ ॥

सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आचा० । उक्त० । स्या० । अवि-
चलकायतया (ज्ञा० १ अ०) सौष्टवातिरेकेण सहने, स्या०
४ ठा० ३ उ० ।

अहियासण्या-अहिताऽऽसनता-स्त्री० । अहितमननुकूल टो-
लपाषाणाद्यासन यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता । अननुकूलासने,
स्या० ६ ठा० ।

अध्यशनता-स्त्री० । अध्यशनमेवाध्यशनता । दीर्घत्व तु प्राकृ-
तत्वात् । अजीर्णं भोजने, "अजीर्णं भुज्यते यत्तु, तदध्यशनमु-
च्यते" इतिवचनात् । स्या० ६ ठा० ।

अहियासित्त-अध्यासयितुम्-अव्य० । अधिसोढुमित्यर्थे,
आचा० १ श्रु० ७ अ० ४ उ० ।

अहियासित्ता-अधिसह-अव्य० । सोढेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३
अ० ४ उ० ।

अहियासिय-अध्यासित-त्रि० । भावे क्त । कृतेऽधिसहने, "द-
वियाण पासअहियासिय ।" आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

अहियासेतु-अध्यासह-अव्य० । अधिकमासह । अत्यर्थं सोढे-
त्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अहियासेमाण-अध्यासयत्-त्रि० । सम्यक्तितित्तायाम्, आचा०
१ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अहिरससौवर्णिय-अहिरायसौवर्णिक-पु० । हिरण्य रजन, सुवर्णं
च हेम, ते विद्येते यस्य स हिरण्यसौवर्णिकः । तथा न । प्रश्न० ३
सव० द्वार । हिरण्य रजन सौवर्णिक सुवर्णमय कनककलशादि
न विद्येते हिरण्यसौवर्णिके यत्राऽसौ अहिरण्यसौवर्णिकः । उप
लक्षणत्वात् सर्वपरिग्रहहिते, पा० । रजतसुवर्णमयकलशा-
दिरहिते, घ० ३ अधि० ।

अहिराय-अधिराज-पु० । मैलिपृथिवीपतौ, वृ० ३ उ० ।

अहिरियया-अहीकता-स्त्री० । निर्द्वन्द्वतायाम्, उक्त० ३४ अ० । पि० ।

अहिरीमण-अहीमनस्-त्रि० । सज्जाकारिणि शीतोष्णादौ परीषदे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अहिरेम-पूरि-धा० । पूरणे । " पूरेरगघामोघवोदुमागुमाहिरेमा " । उ० । ४ । १६६ । अहिरेमइ पूरइ, पूरयते । प्रा० ४ पाद ।

अहिलंघ(ख)-कादृक्ष-धा० । अभिलाषे, " काह्वेराहाहिल-ह्वहिलवृक्ष० । ८ । ४ । १६७ । इत्यादिसूत्रेण काह्वेराहिल-धाहिलस्त्रादेश । आहिलस्त्रइ, अहिलघइ । प्रा० ४ पाद ।

अहिलान-अहिलान-न० । मुखबन्धनविशेषे, झा० १७ अ० । मुखसयमने, ज० ३ वक्त० । औ० । कविके, झा० ४ अ० ।

अहिलवित्थी-अभिलापस्त्री-स्त्री० । अभिलप्यत इत्यजिलाप, स एव स्त्री । स्त्रीलिङ्गाभिधाने शब्दे, यथा-शालामालासिद्धिरिति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १० उ० ।

अहिलोयण-अभिलोकन-न० । अभिलोक्यते अवलोक्यते यत्र तदभिलोकनम् । उन्नतस्थाने, प्रश्न ४ सब० द्वार ।

अहिवइ-अधिपति-पु० । नायके, स्था० ५ ज० १ उ० । रत्नके, ज० १ वक्त० । नरेन्द्रे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अहिवइजंजग-अधिपतिजम्भक-पु० । राजादिनायकविषये जम्भके, भ० १४ श० उ० ।

अहिवदंत-अधिपतत्-त्रि० । आगच्छति, ओघ० ।

अहिवासण-अधिवासन-न० । शुद्धिविशेषापादनेन विम्बप्रतिष्ठायोग्यताकरणे, पञ्चा० ८ वि० ।

अहिमकण-अभिष्वक् -न० । विवक्षितकालस्य सवर्द्धने परत करणे, वृ० १ उ० । घ० ।

अहिसरिय-अभिसृत-त्रि० । प्रविष्टे, आ० म० द्वि० ।

अहिमहण-अधिसदन-न० । तितिक्षणे, स्था० ६ उ० ।

अहीकरण-अधीकरण-न० । अधीश्वरुडिमान पुरुष, स तं करोतीत्यधीकरणम् । कलहे, नि० चू० १० उ० ।

अहीण-अधीन-त्रि० । स्वायत्ते, प्रश्न० ४ सब० द्वार ।

अहीन-त्रि० । अन्यूने, "अहीणपमिपुष्पपचिदियसरीरा" अहीनान्यनूनानि स्वरूपतः प्रतिपूर्णानि लक्षणतः पञ्चापीन्द्रियाणि यस्मिन् तत् तथाविध शरीर यस्या सा तथा । औ० । झा० । विपा० । भ० । अहीनमङ्गोपाङ्गप्रमाणतः परिपूर्णपञ्चेन्द्रिय, प्रतिपुण्यपञ्चेन्द्रियं वा शरीर यस्य साऽहीनपरिपूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरोऽहीनप्रतिपुण्यपञ्चेन्द्रियशरीरो वा । स्था० ६ उ० । कल्प० ।

अहीणक्खर-अहीनाक्षर-न० । एकेनाप्यक्षरेणाहीने, ग० २ अधि० । सूत्र० । गुणे, अनु० । ग० । विशेष० । संघा० । (' हीण-क्खर ' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अहीणदेह-अहीनदेह-त्रि० । परिपूर्णदेहावयवे, व्य० ३ उ० ।

अहीय-अधीन-त्रि० । आगमिषे, "उवयारोत्ति वा अहीत नि वा आगमिष ति वा पगट्ट " नि० चू० १ उ० । स्था० ।

अहीयसुत्त-अधीतसूत्र-त्रि० । गृहीतसूत्रे, " सम्म अहीयसुत्तो ततो विमलयरबोहजोगाभो " प० व० १ द्वार ।

अहीरग-अहीरक-न० । विद्यमानस्यैव न विद्यते हीरिकास्तन्तुलक्षणा मध्ये यस्य तदहीरकम् । तन्तुहीने, प्रव० ४ द्वार ।

अहुणाधोय-अधुनाधौत-त्रि० । अचिरधौते, अपरिणते च । दश० ५ अ० ।

अहुणुवासिय-अधुनोद्वासित-त्रि० । अचिरोद्वासिते, ओघ० । साम्प्रतोद्वासिते, व्य० ४ उ० ।

अहुणोवलित्त अधुनोपक्षिप्त-त्रि० । साम्प्रतोपलिते, दश० ५ अ० ।

अहुणोववन्नग-अधुनोपपन्नक-त्रि० । अचिरोपपन्ने, स्था० ।

अधुनोपपन्नो देवो देवलोके-

तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोग हव्वमागच्छित्तए, णो चेव ण संचाएइ हव्वमागच्छित्तए । तं जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए गिच्छे गट्टिए अज्जोववन्ने से णं माणुस्सए कामजागे णो आदाइ, णो परियाणाइ, णो अइ वंधइ, णो णियाणं पगरेइ, णो ठिडप्पकप्पे पकरेइ, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए गिच्छे गट्टिए अज्जोववन्ने, तस्स णं माणुस्सए पेमे वोच्छिन्ने विच्छिन्ने दिव्वे संकंते जवइ २ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० जाव अज्जोववन्ने, तस्स णं मेवं भवइ इयएहिं गच्छं मुहुत्तं गच्छं, तेणं काह्वेणमप्पा-उया माणुस्सा कालधम्मणा संजुत्ता जवइ । इधेएहिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोग हव्वमागच्छित्तए, नो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए अगिच्छे अगट्टिए अणज्जोववन्ने तस्स णं मेव जवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे आयरिएइ वा उवज्जाएइ वा पवत्तेइ वा घेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेएइ वा जेसिं पजावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देवही दिव्वा देवजुइ दिव्वे देवाणुभावे हप्पे पत्ते अजिसमप्पागए तं गच्छामि णं तं जगव वदामि णमंसामि सकारेमि सम्माणेमि कट्ठाणं मंगल देवयं चेडयं पज्जुवासेमि ॥ १ ॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए० जाव अणज्जोववन्ने तस्म णं एवं भवइ, एस णं माणुस्सए जवे णाणीइ वा तवस्सीइ वा अइ दुकरदुकरकारगे तं गच्छामि णं जगवते वंदामि णमंसामि० जाव पज्जुवासामि ॥ २ ॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु० जाव अणज्जोववन्ने तस्म णमेव जवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए जवे मायाइ वा० जाव सुएहाइ वा तं गच्छामि णं तेमिमंनिय पाटञ्जवामि, पासतु ता मे इमं एयारूव दिव्व

अहुणोववन्नग

देवहिं दिव्व देवजुइ दिव्व देवाणुभाव वृष्टं पत्तं अजिस-
मण्णायं ; इवेहिं तिहिं गणोहिं अहुणोववन्ने देवे देव-
लोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए संचारित्त-
ए हव्वमागच्छित्तए ॥ ३ ॥

अधुनोपपन्नो देव, केन्याह—(देवलोगेसु स्ति) इह च वहु-
चचनमेकस्यैकदा एनेकेषुत्पादासम्भवादेकार्थे दृश्यम्, वच-
नव्यत्यादेवलोकानेकत्वोपदर्शनार्थं वा; देवलोकेषु मध्ये क-
चिद्वलोक इति, इच्छेदमित्येव पूर्वसङ्गनिकदर्शनार्थं मा-
नुषाणामय मानुषस्तम् । (हव्व ति) शीघ्रम् (सचाएस्ति)
शक्नोति । दिवि देवलोकं भवा दिव्यास्तेषु कामौ च शब्दरूप-
लक्षणौ भोगाश्च गन्धरसरस्पर्शा कामभोगाः तेषु । अथवा—का-
म्यन्त इति कामा मनोह्रा, ते च इति नृज्यन्त इति भोगा-
शब्दादयः, ते च कामभोगास्तेषु, मूर्च्छित इव मूर्च्छितो मूढ, न-
स्त्वरूपस्यानित्यत्वादेर्विबोधात्तमन्त्रात् गृह्य, तदाकाङ्क्षावानतृ-
प्त इत्यर्थः । प्रथित इव प्रथितस्तद्विषये स्नेहरज्जुभिः सद्मित
इत्यर्थः । अधुपपन्न आधिक्येनासक्तोऽत्यन्ततन्मना इत्यर्थः । नो
आक्षिप्यते न तेष्वद्वयान् भवति, नो परिजानानि-एतेऽपि च व-
स्तुचूता इत्येव न मन्यते । तथा तेष्विति गम्यते । नो शयं वध्नाति-
यतैरिदं प्रयोजनमिति न निश्चय करोति । तथा—तेषु नो निदानं
प्रकरोति-एते मे चूयासुरित्येवमिति । तथा—तेष्वेव नो स्थितिप्र-
कल्पमवस्थाने विकल्पनम्—एतेष्वहं तिष्ठेयमिति, एते वा मम तिष्ठ-
न्तु स्थिराभवन्तिवत्येवरूप स्थित्या वा मर्यादया विशिष्टप्रक-
रूप आचार आसेवेत्यर्थः । त प्रकरोति कर्तुंभारमते, प्रशब्दस्या-
दिकर्मार्थत्वादिति । एवं दिव्यविषयप्रशक्तिरित्येक कारणम् । तथा
यतोऽसावधुनोपपन्नो देवो दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छितादिवि-
शेषणो भवति, अतस्तस्य मानुष्यक मनुष्यविषय, प्रेम स्नेहो,
येन मनुष्यलोके भागम्यते तद्व्यवच्छिन्नम्, दिवि भव दिव्य स्वर्ग-
गतवस्तुविषय सक्रान्त तत्र देवे प्रविष्ट भवतीति दिव्यप्रेमसक्रा-
न्तिरिति द्वितीयम् ॥२॥ तथाऽसौ देवो यतो दिव्यकामभोगेषु मू-
च्छितादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् (तस्स ण ति)
तस्य देवस्य (एव ति) एवप्रकार चित्तं प्रवति, यथा (इय-
हिं ति) इदानीं गच्छामि (मुहुत्त ति) मुहुर्तेन गच्छामि, कृत्य-
समाप्तावित्यर्थः । (तिण कालेण ति) येन तत्कृत्य समाप्यते स च
कृतकृत्यत्वादागमनशक्ते भवति, तेन कालेन, गतेनति शे-
पः । तस्मिन्वा काले गते, ' ए ' शब्दो वाक्याद्वङ्कारे । अल्पा-
युष स्वनाथादेव मनुष्यमात्रादयो यद्दर्शनार्थं नाजिगमिपति
तेन कालधर्मेण मरणेन सयुक्तो भवति । कस्यासौ दर्शनार्थमा-
गच्छति असमाप्तकर्तव्यता नाम तृतीयमिति (इच्छेत्यादि) नि-
गमनम् ॥३॥ देव कामेषु कश्चिदमूर्च्छितादिविशेषणो भवति ।
तस्य च मन इति गम्यते । एवभूत भवति आचार्यप्रतिबोधक-
प्रवाजकादिरनुयोगाचार्यो वा । इति एवप्रकारार्थो, वाश-
ब्दो विकल्पार्थः । प्रयोगस्त्वेवम्—मनुष्यजन्मवेऽय ममाचार्योऽस्ती-
ति वा, उपाध्याय सूत्रज्ञाना, सोऽस्तीति वा । एव सर्वत्र, नवर
प्रवर्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु धैयावृत्यादिष्विति प्रवर्ती ।
उक्तं च—“तवसं प्रयोगेसु, जो जोगो तत्थ त पयट्टेइ । असुह
च नियत्तेइ, गणतत्तिष्ठो एवचीओ ” ॥ १ ॥ प्रवर्तिव्यापा-
रितान् साधून् सयमयोगेषु सीदत स्थिराकरोतीति स्थविरः ।
उक्तञ्च—“ थिरकरणा पुण धेरो, पवत्ति वावारिणसु अल्लेसु ।
जो जत्थ सीयइ जइ, सतबलो त थिर कुणइ ” ॥ १ ॥ ग-

णोऽस्यास्तीति गणी गणाचार्यः गणधरो जिनशिष्यविशेषः ।
आचार्यकाप्रतिजागर्को वा साधुविशेषः । उक्तञ्च—“ पियध-
म्मे ददधम्मे, सविग्गो उज्जओ य नेयसी । सगहुवग्गहकुम्भो,
सुत्तन्धविकु गणाहिवई ” ॥ १ ॥ गणम्यावच्छेदो विजागोऽशो-
ऽस्यास्तीति । यो हि गणान् सगृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवो-
पधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति स गणावच्छेदिक । आह च—
“ ओहावणापहावण—खेत्तोवहिमग्गणासु अदिसाई । सुत्त-
त्थतत्तुभयविकु, गणवन्थो णसो होइ ” ॥ १ ॥ (इमं स्ति)
इयं प्रत्यक्षासन्ना, एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरे रूपान्-
तभाक् सा एतद्वृत्ता, दिव्या स्वर्गमन्त्रवा प्रधाना वा देवा-
नां सुराणामृक्त्वा श्रित्विमानगन्नादिसर्वदेवधिं, एव सर्वत्र, नवर
शुनिर्वासि शरीराभरणादिसम्भवा, शुनिर्वा युक्तिरिष्टपविधा-
रादिसयोगलक्षणाऽनुभावोऽचिन्त्या वैक्रियकरणादिका शक्ति-
लब्ध उपार्जितो जन्मान्तरे प्राप्त इदानीमुपगत, अजिसमन्वा-
गतो भोग्यता गतः । तदिति तस्मात्तान् भगवन् प्रज्यमा-
नान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोम्यत्यादिरकर-
णेन वन्नादिना वा समानयाम्यचिन्तप्रतिपत्त्या कल्याण मङ्गल
दैवत चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपासे सेवे इत्येकम् । (एस ण ति)
एषोऽवध्यादिप्रत्यङ्गीकृतं मानुष्यके भवे, वर्तमान इतिशेषः ।
मनुष्य इत्यर्थः । ज्ञानीति वा कृत्वा नपस्वीति वा कृत्वा, किमि-
ति दुष्कराणां सिंहगुहाकायोत्सर्गकरणादीनां मध्ये दुष्करम-
नुरक्तपूर्वोपप्लुक्तप्रार्थनापरतरुणीमन्दिरवासाप्रकम्पग्रह्यचर्यानु-
पासनादिकं करोतीति अनिदुष्करकारक, स्थूलभूतवत्,
तस्मात् । (गच्छामि स्ति) पूर्वमेकवचननिर्देशोऽपीह पूज्य-
विवक्षया बहुवचनमिति । तान् दुष्करकारकान् भगवतो
वन्दे इति द्वितीयम् । तथा—‘ मायाइ वा पियाइ वा भज्जाइ वा
मइणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा ’ इति । यावच्छब्दाङ्केप-
स्तुषा पुत्रनार्या । तदिनि तस्मात्तेषामन्तिके समोपे प्राप्नुजेवमि
प्रकटीभवामि । (ता मे स्ति) तावत् मे ममेति तृतीयम् ॥ स्था०
३ ग० ३ उ० ।

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि इ-
च्छेज्जा माणुम लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव ए संचा-
एइ हव्वमागच्छित्तए ॥१॥ अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलो-
गंसि समुञ्ज्य वेधणं वेयमाणे इच्छेज्जा माणुमं लोग ह-
व्वमागच्छित्तए. णो चेव ए संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥२॥
अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि णिरयपाळेहिं भुज्जो
भुज्जो अहिट्टिज्जमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोग हव्वमाग-
च्छित्तए, नो चेव ए संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥३॥ अहु-
णोववन्ने णेरइए णिरयवेयणिज्जंसि कम्मसि अक्खीणंसि
अवेइयसि अणिजिणसि इच्छेज्जा. नो चेव ए संचाएइ,
एव निगइया ओअसि कम्मसि अक्खीणंसि० जाव णो चेव
ए मचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥४॥ इवेहिं चउहिं ठा-
णेहिं अहुणोववन्ने णेरइए० जाव नो चेव ए संचाएइ
हव्वमागच्छित्तए ॥५॥

अधुना जीवसाधर्म्यान्नारकजीवानाश्रित्य तदाह—(चउही-
त्यादि) सुगम, केवल (ठाणेहिं ति) कारणै । (अहुणोवव-
न्ने स्ति) अधुनोपपन्नोऽचिरोपपन्नो निर्गतोऽयं शुभमस्मादिति

निरयो नरकः, तत्र भवो नैरायिक । तस्य चाऽनन्योत्पत्तिस्थानता दर्शयितुमाह-निरयलोके नस्मादिच्छेन्मानुषाणामय मानुषस्तं लोकं केष्विंशत् (हव) शीघ्रमागन्तु (नो चेव चि) नैव, 'ण' वा-कपालङ्कारे । (संचाएइ) सम्यक् शक्नोति आगन्तु (समुञ्जय ति) समुद्भूता मतिप्रबलतयोत्पन्ना । पाठान्तरेण-समुखजूतामेकहे-लोत्पन्नाम् । पाठान्तरेण-अमहनो महतो भवन महद्भूत तेन सह या सा समहद्भूता, ता समहद्भूतां वा वेदना दुःस्वरूपा वेदयमा-नोऽनुजवन् इच्छेदिति मनुष्यलोकागमनेच्छायाः कारणमेतदेव वाऽशक्तस्य, तीव्रवेदनाभिभूतो हि न शक्त आगन्तुमिति । तथा-निरयपालैरेववादिभिः भूयोभूय-पुनःपुनरधिष्णीयमानः समाक-र्ममाण आगन्तुमिच्छेदित्यागमनेच्छाकारणमेतदेव वाऽगमना-शक्तिकारण, तैरत्यन्ताक्रान्तस्यागन्तुमशक्तत्वादिति । तथा-निर-ये वेद्यते अनुभूयते यद् निरययोग्यं वा यद्वेदनीयम् अत्यन्ताशु-जनामकर्मादि, असातवेदनीयं वा, तत्र कर्मणि अक्षीणे स्थित्या अवेदितेऽननुभूतानुभागतयाऽनिर्जाणं जीवप्रदेशेभ्योऽपरि-शदिते इच्छेन्मानुष लोकमागन्तु, न च शक्नोति अवश्यवेद्यक-र्मनिगमयन्त्रितत्वादित्यागमनाशक्त एव कारणमिति । तथा- (एवमिति) "अहुणोववन्ने " इत्याद्यभिलापसस्वचनार्थः । नि-रयायुक्ते कर्मणि अक्षीणे, यावत्कारणात् 'अवेइ' इत्यादि द-इयमिति निगमयन्नाह- (इच्छेयहिं ति) । इति एवप्रकारैरैतैः प्र-त्यक्षैरनन्तराकत्वादिति । अनन्तर नारकस्वरूपमुक्तम् । ते चास्य-भोपष्टन्नकपरिग्रहादुत्पद्यन्त इति ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० ॥

अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु—

चउहिं ठाणोहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव संचाएइ हव्वमा-गच्छित्तए । त जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिणं गिच्छे गदिणं अज्जोववन्ने से णं मा-णुस्सए कामभोगे णो अढाड, णो परियाणाइ, णो अड्डं बंधइ, णो णियाणं पगरेइ, णो तिडप्पगप्पं पगरेइ ॥१॥ अहु-णोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिणं ४ तस्स णं माणुस्सए पेमे वोच्छिण्णे दिव्वे सक्कं जवइ ॥२॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिणं ४ तस्स णं एवं भवइ इयएहिं गच्छ मुहुत्तेण गच्छतेणं कालेणमप्पाज्जा मणुस्सा कालधम्मणा सजुत्ता भवं-ति ॥३॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगे-सु मुच्छिणं ४ तस्स णं माणुस्सए गंधे पमिक्खे पडि-द्वोमे यावि जवइ, उट्ट पि य णं माणुस्सएणं गंधे चत्तारि पंच जोयणसयाइ हव्वमागच्छइ ॥४॥ इच्छेहिं चउहिं ठा-णोहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव ण संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ।

विस्थानके तृतीयोद्देशके प्रायो व्याख्यानमेवेद तथापि किञ्चि-दुच्यते- (चउहिं ठाणोहिं नो संचाए चि) सवन्ध । तथा-देव

लोकेषु, देवमध्ये इत्यर्थः । (हव्वं) शीघ्रम् (संचाएइ) शक्नोति । कामभोगेषु मनोःकामादिषु मुच्छिणं इव मुच्छितो मूढस्तत्स्य-रूपस्यानित्यत्वादिर्बोधाक्रमत्वात् गृह्य, तदाकाङ्क्षावान् अतृप्त इत्यर्थः । अग्रित इव अग्रितः, तद्विषयस्नेहरज्जुभिः सद्भित्त इत्यर्थः । अधुपपन्नोऽत्यन्तनन्मना इत्यर्थः । नाद्रियते-न तेषा-दरवान् भवति । न परिजानाति एतेऽपि वस्तुजूता इत्येवं न मन्यते-तथा तेष्विति गम्यते । नोऽर्थं प्रतिबन्धाति-एतैरिदं प्रयो-जनमिति निश्चय करोति । तथा-नो तेषु निदानं प्रकरोति-एते मे ज्ञ्यासुरित्येवमिति । तथा-नो तेषु स्थितिप्रकल्पमवस्थानवि-कल्पनम्-एतेष्वहं तिष्ठामि, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरा भवन्ति-त्येवरूपं स्थित्या वा मर्यादया प्रकृष्टः कल्प आचारः स्थिति-प्रकल्प, तत्र प्रकरोति कर्तुमारजते, प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वादिति । एव दिव्यविषयप्रसक्तिरेक कारण, तथा-यतोऽसावधुनोपपन्नो देवः कामेषु मुच्छिणं तादिविशेषणोऽतस्तस्य मानुष्यकामित्यादीति दिव्यप्रेमसक्रान्तिर्द्वितीयम् । तथा-सौ देवो यतो भोगेषु मुच्छि-तादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् । (तस्स णमित्यादी-ति) देवकार्यायस्तथा मनुष्यकार्यानायस्तत्त्व तृतीयम् । तथा-दि-व्यभोगमुच्छिणं तादिविशेषणत्वात्तस्य मनुष्याणामय मानुष्यः, स एव मानुष्यको गन्धः प्रतिकूलो दिव्यगन्धविपरीतवृत्तिः प्रति-बोमश्चापि इन्द्रियमनसोरनाह्लादकत्वादेकार्थौ चेतावत्कृतमनो-ज्ञताप्रतिपादनायोक्ताविति । यावदिति परिमाणार्थः । (चत्तारि पचेति) विकल्पदर्शनार्थं कदाचिद्भरतादिष्वेकान्तसुषमादौ च-त्वार्येव, अन्यदा तु पञ्चापि मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिरश्चा बहुत्वेनौ-दारिकशरीराणां तदवयवतन्महानां च बहुत्वेन दुरभिगन्ध-प्राचुर्यादिति । आगच्छति मनुष्यलोकादाजिगमिषु देवप्रतीति । इदञ्च मनुष्यलोत्रस्याशुभस्वरूपत्वमेवोक्तम् । न च देवोऽन्यो वा नवच्यो योजनेन्यः परत आगतं गन्धं जानातीति । अथवा मत एव वचनात् यदिन्द्रियविषयप्रमाणमुक्तं तदौदारिकशरीरेन्द्रि-यापेक्षयैव सजाव्यते, कथमन्यथा विमानेषु योजनलक्षादिप्र-माणेषु दूरस्थिता देवा घण्टाशब्दं शृणुयुः, यदि परं प्रति शब्द-द्वारेणान्यथा वेति नरभवाद्युभयं चतुर्थमनागमनकारणमिति । शेष निगमनम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

चउहिं ठाणोहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा मा-णुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए संचाएइ हव्वमागच्छित्तए । तं जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु कामभोगेसु अमुच्छि-णं जाव अणज्जोववन्ने तस्स णं एवं जवइ-अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे आयरिएइ वा उवज्जाएइ वा पवित्तीइ वा येरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेइ वा जेसिं पचावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देवही दिव्वा देव-जुई लच्छा पत्ता अजिसमण्णागया तं गच्छामि णं, ते भ-गवंते वंदामि० जाव पज्जुवामामि । अहुणोववन्ने देवे देव-लोगेसु० जाव अणज्जोववन्ने तस्स एमेव जवइ, एस ण माणुस्सए जवे णाणीइ वा तवस्सीइ वा अज्जुकरकारणं तं गच्छामि णं ते जगवन्ने वंदामि० जाव पज्जुवासांमि ॥२॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु० जाव अणज्जोववन्ने तस्स

णमेवं जवइ, अत्थि एं मम माणुस्सए जवे मायाइ वा०
जाव सुएहाइ वा तं गच्छामि एं, तेसिमंतियं पाउञ्जवामि,
पासंतु ता मे इममेयारूवं दिव्वं देवहिं दिव्वं देवजुइं लच्छं पत्तं
अभिसमस्यगयं ॥३॥ अहुणोववन्नगे देवे देवलोपेसु० जाव
अणुज्जोववन्नगे तस्स णमेवं भवइ, अत्थि एं मम माणुस्सए
जवे पिचेइ वा सुहीइ वा सहाएइ वा संगइएइ वा तैत्ति
च एं अम्हे अस्समस्यस्स संगारे पडिमुए जवइ, जो मे
पुत्तिं चयइ से संबोहियन्वे इच्चेएहिं० जाव संचाएइ इ-
व्वमागच्छिच्चए ॥ ४ ॥

आगमनकारणानि प्रायः प्राग्वत्, तथापि किञ्चिदुच्यते-कामभो-
गेष्वमूर्च्छितादिविशेषणो यो देवस्तस्य (एवमिति) एवजुत मनो
जवति-यदुत अस्ति मे; किं तदित्याह-आचार्य इति वाऽऽचार्य एत-
द्वाऽस्ति; इति रूपप्रदर्शने; वा विकल्पे। एवमुत्तरत्रापि। क्वचिदिति-
शब्दो न दृश्यते, तत्र सूत्र सुगममेवेति। इह आचार्यः प्रतिबोधप्रदा-
जकादिरनुयोगाचार्यो वा, उपाध्याय सूत्रदाता, प्रवर्त्तयति सा-
धूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्यादिष्विति प्रवर्त्ती, प्रवर्त्तिव्यापारितान्
साधून् नयमयोगेषु स्वीदत। स्थिरीकरोतीति स्थविरो, गणोऽस्या-
स्तीति गणी, गणाचार्यो गणधरो वा जिनाशेष्यविशेष आर्यिका-
प्रतिजागरको वा साधुविशेषः, समयसिद्धान्तो गणस्यावच्छेदोऽ-
स्यास्तीति गणावच्छेदकः। यो हि तं शुहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवो-
पधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति (इमे स्ति) इय प्रत्यक्षासन्ना
एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरादावपि रूपान्तरज्ञाक सा,
तथा दिव्या स्वर्गसमवा प्रधाना वा देवर्द्धिर्विमानरत्नादिका
द्युतिः। शरीरादिसम्भवा युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवारादिसयो-
गवृत्तणा वृत्ता उपार्जिता जन्मान्तरे प्राप्तेदानीमुपगता, अभि-
समन्वागता ज्ञेय्यावस्थां गता (त ति) तस्मात्तावद् जगवत् पू-
ज्यान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोमि, आदरकरणे-
न वज्रादिभ्य वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं
दैवत चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपास्ये सेवामीत्येकम्। तथा-ज्ञाने
शुतज्ञानादिनेत्यादि द्वितीयम्। तथा-(भायाइ वा मज्जाइ वा म-
इणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वेनि) यावत् शब्दाक्षेपः, स्तुपा पु-
त्रजार्या (त) तस्मात्तेषामन्तिक समीपं प्राप्नुम्वामि प्रकटी-
भवामि (ता) तावत् (मे) मम इति पाठान्तरमिति तृतीय-
म्। तथा-भिन्न पञ्चात् स्नेहवत् सखा बाहव्यस्य. सुहृत्सज्जनो
हितैषी सहायः सहचरस्तदेककार्यप्रवृत्तो वा, सगत विद्यते य-
स्यासौ साकृतिकः परिचितस्तेषां (अम्हे स्ति) अस्माभि (अ-
स्समस्यस्स स्ति) अन्येभ्य (संगारे स्ति) सकेतः प्रतिश्रुतोऽन्युप-
गतो भवति स्मेति । (जो मे स्ति) योऽस्माकं पूर्वं च्यवते देव-
लोकात्स संबोधयितव्य इति चतुर्थम्। इदं च मनुष्यजवे क्लृप्त-
केतयोरैकस्य पूर्वलक्षादिजीविषु भवनपत्यादिपूष्य च्युत्वा
च नरतपोत्पन्नस्यान्यः पूर्वलक्षादि जीवित्वा सौधर्मादिपूष्य
संबोधनार्थं यदिहागच्छति तदवसेयमिति । इत्येतैरित्यादि नि-
गमनामिति ॥ स्था० ४ ग० ३ उ० ।

अहे-अधस्-दिग्भेदे, नि० चू० १८ उ० । भ० ।

अथ-अव्य० । अथार्थे, भ० १ श० ६ उ० । 'अहे ण से अस्मापियर'

अथ चैतत्, णमिति वाक्यालङ्कारोऽस्था० ३ ग० १ उ० । आचा० ।
क्षेपे, नियोगे च । स० ।

अहेउ-अहेतु-पुं० । यथोक्तहेतुप्रतिपत्ते, स० । अनुमानानु-
त्थापके हेत्वाभासे, स्था० ।

पंच अहेऊ पस्यत्ता । तं जहा-अहेउं ए जाणइ० जाव
अहेउउमत्थमरणं मरइ ॥ ६ ॥ पंच अहेऊ पस्यभा । तं
जहा-अहेउणा न जाणइ० जाव अहेउणा उमत्थमरणं
मरइ ॥ ७ ॥ पंच अहेऊ पस्यत्ता । तं जहा-अहेउं जाणइ
० जाव अहेउकेवलमरणं मरइ ॥ ८ ॥

तथा पञ्चाऽहेतवो य प्रत्यक्ज्ञानादितयाऽनुमानानपेक्षं स धू-
मादिकमहेतुनाऽय हेतुर्ममानुमानोत्थापक इत्येव जानाती-
त्यतो हेतुभूत त जानन्नहेतुरेवासाबुध्यते । एव दर्शनबो-
धाभिसमागमापेक्षयाऽपि तदेवमहेतुचतुष्टयं छद्मस्थमाश्रित्य
देशनिषेधत आह-! अहेतुमिति) धूमादिक हेतुमहेतु-
भावेन न जानाति न सर्वथाऽवगच्छति, कथञ्चिदेवावगच्छती-
त्यर्थः । नञो देशनिषेधार्थत्वात्, ज्ञातुश्चावध्यादिकेवलित्वेनानु-
मानावयवहर्तृत्वादित्येकोऽयमहेतुर्देशप्रतिषेधत उक्तः । एवमहेतु
कृत्वा धूमादिक न पश्यतीति द्वितीयः । न बुध्यते न श्रूयते
इति तृतीयः । नाभिसमागच्छतीति चतुर्थः । तथा-अहेतुमध्य-
वसानादिहेतुनिरपेक्षं निरुपक्रमतया छद्मस्थमरणमनुमानव्यव-
हर्तृत्वेऽप्येकेवलित्वात्तस्याय च स्वरूपत एव पञ्चमो हेतुरुक्तः ।
तथा-पञ्चाहेतवो योऽहेतुना हेत्वभावेनावध्यादिकेवलित्वाद्
जानात्यसावहेतुरेवेत्येव पश्यतीत्यादयोऽपि । एव च छद्मस्थमा-
श्रित्य पदचतुष्टयेनाहेतुचतुष्टयं देशप्रतिषेधत आह । तथाऽ-
हेतुनोपक्रमाभावेन छद्मस्थमरणं त्रियत इति पञ्चमोऽहेतुः
स्वरूपत एव उक्तः ६ । तथा-पञ्चाहेतवोऽहेतु न हेतुभावेन विक-
ल्पित धूमादिक जानाति केवलितया योऽनुमानाव्यवहारित्वा-
त्सोऽहेतुरेव । एव यः पश्यतीत्यादि । तथा अहेतु निर्हेतुकमनु-
पक्रमत्वात् केवलमरणमनुमानाव्यवहारित्वाद् त्रियते यात्य-
सावहेतु पञ्चमः । एते पञ्चापीह स्वरूपत उक्ताः । ७ । एव तृतीया-
न्तसूत्रमप्यनुसर्तव्यमिति । ८ । गमनिकामाश्रमेतत्, तत्त्व तु बहुश्रुता
विदन्तीति ॥ स्था० ५ ग० १ उ० । न विद्यते हेतुरस्येति, अना-
द्यपर्यवसिते नित्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । भ० ।

अहेउवाय-अहेतुवाद-पुं० । हिनोति गमयत्यर्थमिति हेतु, त-
त्परिच्छिन्नोऽर्थोऽपि हेतुः, न वदति य आगम स हेतुवादः ।
यस्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपार्दकत्वेऽपि तद्विपरीतोऽसावहेतुवादः ।
दृष्टिवादादन्यस्मिन्, सम्म० ।

(दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य) ।
तत्थ उ अहेउवाओ, जवियाभवियादओ जावा ॥ १४० ॥

भव्यामव्यस्वरूपप्रतिपादक आगमः, तद्विभागप्रतिपादने अध्य-
क्षादेः प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः । नह्यय भव्योऽयमभव्य इत्यत्रागम-
प्रमाणेन प्रमाणान्तरप्रवृत्तिसंज्ञा । अस्सदाद्यपेक्षया न तु तद्विभाग-
प्रतिपादक वचो यथार्थमर्हद्वचनत्वात्, अनेकान्तरात्मकवस्तुप्रतिपा-
दकवचोवदित्यनुमानात् तद्विभागप्रतिपत्तौ कथं न तस्यानुमानवि-
पयता । न । एवमर्थ्यागमादेव तद्विभागप्रतिपत्तेस्तद्व्यतिरेकेण प्र-
माणान्तरस्य तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनस्याज्ञावात् । अर्हदागमस्य च प्रा-

धान्यार्थसवादानिबन्धनतत्प्रणीतत्त्वनिश्चयेऽनुमानतोऽतीन्द्रिया-
र्थविषये प्रामाण्य निश्चीयत इत्यभ्युपगम्यत एव । आगमनिरपेक्ष-
स्य तु प्रमाणान्तरस्यास्मददेस्तत्र प्रवृत्तिर्न विद्यत इत्येतावता
अहेतुवादत्वमेव विषयागमस्योच्यत इति वचनव्यापार केवल-
मपेक्षयाय क्रमः । यदा तु ज्ञानदर्शनचारित्र्यत्रितये यथा तदनु-
ष्ठानप्रवणस्तद्विकलश्च पुरुष प्रतीयते, तदाऽनुमानगम्योऽपि त-
द्विज्ञागो भवति । यथा भव्योऽभव्यो वाऽय पुरुष, सम्यग्ज्ञाना-
दिपरिपूर्णत्वाच्याम, लोकप्रसिद्धभव्याभव्यपुरुषवत् । अहेतुवा-
दागमावगते धर्मिणि भव्याभव्यस्वरूपे तद्विपरीतनिर्णयफलो
हेतुवादः, प्रवृत्ते योऽयमागमे ज्ञानादिरभिहितः स तथैव, य-
थोक्तेतुसद्भावादिति । आह-

भवित्रो मम्मदसण-एणचारिचपामिवत्तिसंपन्नो ।

णियमा पुक्खंतकमो, चि लक्खणं हेउवायस्स ॥१४१॥

भव्योऽय सम्यग्दर्शनचारित्र्यप्रतिपत्तिसंपूर्णत्वान्, उक्तपुरुषवत्,
तत्परिपूर्णत्वादेव नियमाससारदु खान्त करिष्यति, कर्मव्याधे-
रात्यन्तिकविनाशमनुजविष्यति, तन्निबन्धनमिध्यात्वादिप्रतिप-
क्षाभ्यामसात्मीयावान्, व्याधिनिदानप्रतिकूलाचरणप्रवृत्तनथा-
विधाऽऽतुरवत्, य पुनर्न तत्प्रतिपक्षाभ्याससात्म्यवाचासौ दु-
खान्तकृत् जविष्यति, तन्निदानानुष्ठानप्रवृत्तनथाविधाऽऽतुरवद्
इति हेतुवादस्य लक्षणम् । हेतुवादः प्रायो दृष्टिवादः, तस्य द्रव्या-
नुयोगत्वात्, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इत्यादेर-
नुमानादिगम्यस्यार्थस्य तत्र प्रातिपादनात् । यथाऽत्रानुमानादिग-
म्यता तथा गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विकान्तमिति नेह प्रदर्श्यते, प्र-
त्यविस्तरजयान् ॥ सम्म० ३ काण्ड ।

अहेकम्म-अधःकर्म-न० । विशुद्धसंयमस्थानेभ्यः प्रतिप-
त्त्याऽऽन्मानमविशुद्धसंयमस्थानेषु यदधोऽधः करोति तदध-
कर्म । वृ० ४ उ० । अधो नरकादेर्येन भक्तेन सुकेवाऽत्मा क्रियते
तदध कर्म । दश० ५ अ० । अन्विशुद्धेभ्य संयमादिस्थाने-
ऽधोऽधस्तरामागमने, पि० । आधाकर्मणि, पि० । ('अधेकम्म'
शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५ ए१ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अहेकाय-अधःकाय-पु० । ऊर्वादिके, सूत्र० १ शु० ४ अ०
१ उ० ।

अहेगारवपरिणाम-अधोगैरवपरिणाम-पु० । येनायु स्वभावेन
जीवस्याधो दिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति, तस्मिन्
गौरवपरिणामनेदे, स्था० ए ठा० ।

अहेचर-अधश्चर-पु० । विलवास्तत्वात् सर्पादौ, आचा० १ शु०
८ अ० ८ उ० ।

अहेताग-अधस्तारक-पु० । पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अहेपन्नगच्छरूप-अधःपन्नगार्जरूप-त्रि० । अधोऽधस्तन, यत्
पन्नगस्य सर्पस्यार्कं तस्यैव रूपमाकागे येषां तेऽध पन्नगार्जरूप-
पा । अत्र पन्नगार्कं वदति, सरलेषु दीर्घेषु च । जी० ३ प्रति० रा० ।

अहेसणिज्ज-यथैषणीय-त्रि० । उत्कर्षणापकर्षणरहिते, अप-
स्किर्मणि, "अहेसणिज्जाइ वत्थाइ जाएज्जा" । आचा० १ शु० ८
अ० ४ उ० ।

अहेसत्तमा-अधःसप्तमी-स्त्री० । तमस्तमाया पृथिव्याम्, भवो-
ग्रहण विना सप्तमी उपरिष्ठाच्चिन्त्यमाना रक्षप्रजाऽपि स्यादित्य-
धोग्रहणम् । "अहेसत्तमाए पुढवीए" स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अहो-अहो-अव्य० । न हा-मो । शोके, धिगर्थे, विषादे, व्या-
याम्, सम्बोधने, प्रशसायाम्, चित्तके, असूयायां च । वाच० ।
विस्मये, आ० म० प्र० । दश० । म० । स्था० । उक्त० । सूत्र० । आ-
श्चर्ये, अष्ट० १८ अष्ट० । प्रति० । आचा० । विपा० । दैन्ये, आम-
न्त्रणे च । ग० २ अधि० । अनु० । सूत्र० ।

अहोकरण-अधःकरण-न० । अधोऽधस्तादात्मन करणम् ।
कलहे, नि० चू० १० उ० ।

अहोकाय-अधःकाय-पु० । अधस्तात्कायोऽधः कायः । पादे,
आच० ३ अ० ।

अहोणिस-अहर्निश-न० । अहोरात्रे, "गिरये षेरद्वयार्थं अहो-
णिस पच्चमाणाण" सूत्र० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

अहोतरण-अधस्तरण-न० । अधोऽधस्तादवतारभूमिं गृह्ण-
न्नेषया इव करणमधःकरणम् । कलहे, नि० चू० १० उ० ।

अहोदाण-अहोदान-न० । विस्मयनीये दाने, "अहोदाण च-
घुठ" अहो इदिविस्मये, विस्मयनीयमिदं दानं कोऽन्यो दाता ॥
उक्त० २ अ० । कलप० । आ० म० । अहोदानस्यायमर्थः-एव
दीयते एव हि दत्तं भवतीति । आच० १ अ० ।

अहोदिसिन्वय-अधोदिग्वत-न० । दिग्धोऽधोदिक्, तत्सन्धि,
तस्या वा व्रतमधोदिग्वतम् । एतावती दिग्ध इच्छकृपाद्यवतार-
णादवगाहनीया न परत इत्येवरूपे दिग्वतभेदे, आव० ६ अ० ।

अहोजागि (ण)-अधोभागिन्-त्रि० । अधस्ताद् भागिनि,
सूत्र० २ शु० ३ अ० ।

अहोरत्त-अहोरात्र-पु० । त्रिंशन्मुहूर्तात्मके, ज्यो० २ पाहु० । ज० ।
कर्म० । म० । त्रिंशत्सराश्वयुज्यात्मके, सू० प्र० १० पाहु० । सूत्र० ।
विशे० । अनु० । आ० म० । उक्त० । स्था० । काशभेदे, न० ।
"तिविहे अहोरत्ते तीते, पुरुषन्ने, अणागए" । स्था० ३ ठा०
४ उ० । अहोरात्रे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । (पौरुषीकाल'
'काल' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

अहोरास्या-अहोरात्रिकी-स्त्री० । त्रिभिर्दिवसैर्याति प्रति-
मा । अहोरात्रस्यान्ते पष्ठभक्तकरणात् प्रतिमाभेदे, पञ्चा० १८
विश० । "अहोराहंदिद्या णवर छुत्तेण जत्तेण अपाणएण बहि-
यागमस्स वा० जाव रायहाणीए वार्हणि दोवि पादे वग्घारि
पाणिस्स द्वाणं गइ तए, सेस त चेव० जाव अणुपालिया
भवइ" आ० चू० ४ अ० ।

अहोलोय-अधोलोक-पु० । लोच्यते केवत्रिप्रज्ञया परिच्छिद्य-
ते इति लोकः । अधोव्यवस्थितो लोकोऽधोलोकः । अधवा-
ऽध शब्दोऽशुनपर्यायः, तत्र च क्षेत्रानुजावाद् बाहुल्येनाशु-
भ एव परिणामो ह्यव्याणां जायतेऽतोऽशुभपरिणामवद्द्रव्य-
योगादधोऽशुभो लोकोऽधोलोकः ॥

अहवा अहो परिणामो, खेत्ताणुजावेण जेण उसलं

असुनो अ होति भणिओ. दन्वाणं तेणऽहोलोगो चि ॥

लोकभेदे, स च अस्यां रत्नप्रभायां बहुसमभूभागे मेरुमध्येननः प्रतरद्वयश्च प्रदेशो रुचक, समस्थितस्य च प्रतरद्वयस्य मध्ये एकस्मादधस्तनप्रनरादारभ्याधोऽभिमुख नवयोजनशतानि परि- हृत्य परत सातिरेकसत्तरज्ज्वायतोऽधोसोक । अनु० । चमरा- दिनवने, आव० १ अ० । स्या० । प्रज्ञा० । आ० म० । अधोलौकि- केषु ग्रामेषु, नं० । "अहोलोपेण चत्तारिं वि सरीरा अहोशोए णं सत्त पुदवीओ पण्णत्ताओ, सत्त घणोदहीओ पण्णत्ताओ, सत्त घणवाओ पण्णत्ताओ, सत्त तण्णवाया पण्णत्ताओ, सत्त उवास- तरा पण्णत्ता, पण्णत्तु ण सत्तसु उवासंतरेसु सत्त तण्णवाया प- षट्ठिया, पण्णत्तु णं सत्तसु तण्णवापसु सत्त घणवाया पण्णट्ठिया, स- त्तसु घणवापसु सत्त घणोदही पण्णट्ठिया, पण्णत्तु ण सत्तसु घ- णोदहीसु पिडलगविट्ठलसंठाणसंठियाओ सत्त पुदवीओ प- षत्ताओ । त अहा-पडमा० आव सत्तमा" । स्या० ७ ग० ।

अहोवाय-अधोवात-पुं० । अधो गच्छन् यो वाति घातः सो- ऽधोवातः । प्रज्ञा० १ पद । अधोनिमज्जति घायुभेदे, ज्ञा० १ पद । अपानजे वायौ च । जीत० । आ० म० ।

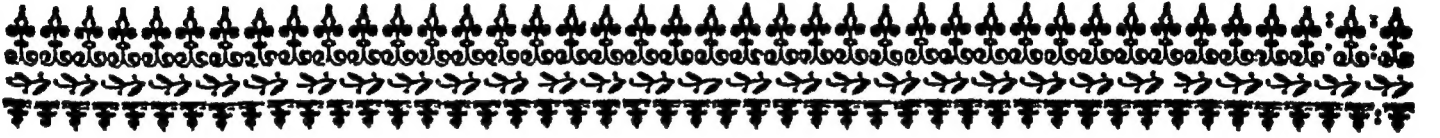
अहोविषट-अधोविषट-त्रि० । अधः कुड्यादिरहिते, छत्रे दधु- परि तदनावे च । आचा० १ ध्रु० ६ अ० २ व० ।

अहोविहार-अहोविहार-पुं० । अहो इत्याश्रयं, विहरणं वि- हारः । आश्रयभूतोऽहोविहारः । सयमानुष्ठाने, "समुत्तिप अहो- विहारए" आचा० १ ध्रु० २ अ० १ व० ।

अहोसिर-अधःशिरस्-त्रि० । अधोमुखे, "अहोसिरा कंटया जायति" अधोमुखाः कण्टकाः प्रवन्तीति चतुर्दशस्तीर्थकरा- तिशयः । स० ३४ सम० । अधोमस्तके, सत्त० २३ अ० । "उहुं जाणू अहोसिरे" अधोमुखो नोर्हं तिर्यग्वा विक्रितदृष्टिः, किन्तु नियतभूभागनियमितदृष्टिः । ज्ञा० १ अ० । विपा० । जं० । सू० प्र० । म० । औ० । च० प्र० । नि० ।

अहोहि-अधोऽवधि-त्रि० । परमावधेरधोवर्त्यवधिर्यस्य सोऽ- धोवधिः । परमावधेरधोवर्त्यवधियुक्ते, रा० । स्या० ।

अहोहिय-यथावधि-त्रि० । यत्प्रकारोऽवधिरस्येति यथावधिः । नियतक्षेत्रविषयाऽवधिद्वानिनि, स्या० २ ग० ९ व० । स० ।



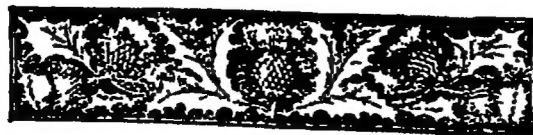
इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-

श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री १००० श्री-

विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे

ह्रस्वाकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

॥ समाप्तश्चायं प्रथमो जागः ॥



॥ श्रीपञ्चपरमेश्वर्यो नमः ॥

• श्रीः •

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-
कलिकाल-सर्वज्ञ-श्रीमद्भट्टारक
जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री
१००० श्रीविजयराजे-
न्द्रसूरिविरचिते अ-
भिधानराजेन्द्रे
प्रथमो भागः समाप्तः ।



